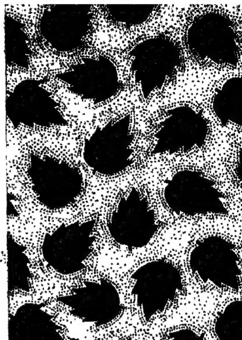
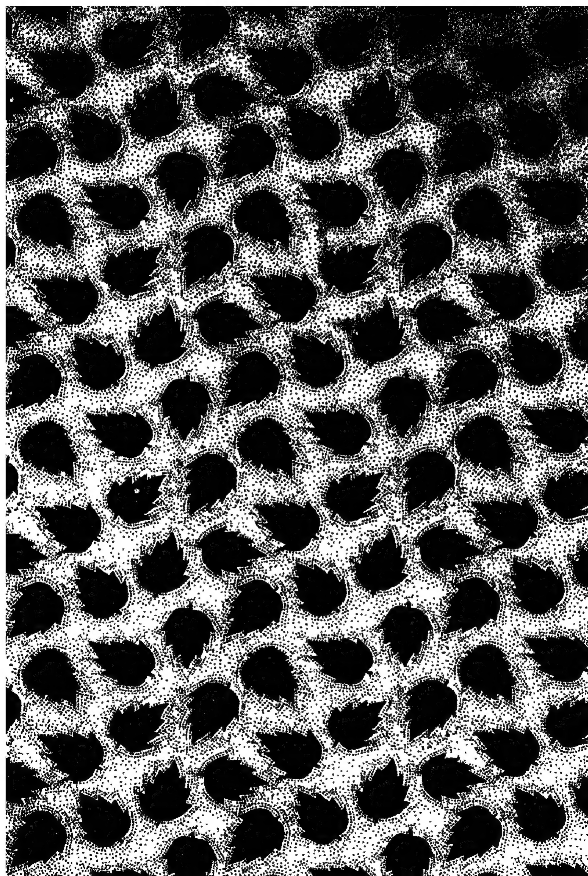




श्रीवृषभनाथदिगम्बरजैनग्रन्थमाला

श्रीपरमात्मने नमः ।

'अज्झयणमेव झाणं' [रयणसारे, ९५]



श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतः

समयसारः

श्रीमदाचार्यामृतचन्द्रविरचितात्मख्यातिः, स्वोपज्ञतत्त्वप्रबोधिनी, श्रीमज्जयसेना-
चार्यविरचिततात्पर्यवृत्तिश्चेति टीकात्रयसम्वलितः हिंदिभाषानिबद्धात्म-
ख्यात्यनुवादतद्विवेचनाभ्यां च विभूषितः फलपत्तननगरान्तर्वर्तिमुधोजि-
कॉलेजसञ्ज्ञकमहाविद्यालयस्य संस्कृतभाषाध्यापकचरेण कोठारी-
त्युपाह्वगौतमचन्द्रतनुजनुषा भाण्डारकरपारितोषिकविजेत्रा
श्रीमज्जिनसेनाचार्यविरचितपार्श्वाभ्युदयकाव्यटीकाकर्त्रा च

मोतीलालजैनेन

'एम्. ए.' इत्युपपदधारिणा

सम्पादितः ।

फलपत्तननगरस्थश्रीवृषभनाथदिगम्बरजैनग्रन्थमालाधिकारिभिः

प्राकाश्यं नीतः ।

तारीख २५-२-६९] मूल्य २०-०० [श्रीविक्रमसंवत् २०२५

[प्रतयः- १०००]

प्रकाशक :
श्रीमान् चुनिलाल मोतीचंद गांधी,
मंत्री, ग्रंथराज-समयसार-प्रकाशन समिति,
फलटण, जि. सातारा [महाराष्ट्र]

प्रथमावृत्ति- वि. सं. २०२५

मुद्रक :
श्री. शेठ गंगाराम कामचंद दोशी,
चेअरमन, नेमि मुद्रण मंदिर,
फलटण (सातारा)

समिती का कार्यवाह–मण्डल

१) श्री. मोतीचंद गौतमचंद कोठारी, *M. A.* अध्यक्ष

२) श्री. माणिकचंद वीरचंद गांधी, उपाध्यक्ष

३) श्री. गंगाराम कामचंद दोशी, कोषाध्यक्ष

४) श्री. रामचंद तलकचंद गांधी, कोषाध्यक्ष

५) स्व. श्री. माणिकचंद मलुकचंद दोशी, *B. A., LL. B*, मंत्री

६) श्री. चुनिलाल मोतीचंद गांधी, मंत्री

७) श्री. रामचंद हिराचंद शहा, *B. Sc., LL. B.*, मंत्री

सम्पादककर्तृकनिवेदनम् ।

निर्दोषं कथनं यदत्र विहितं तद्ग्रन्थकृद्भिः कृतं
यद्युक्त्यादिपराहतं च वचनं तन्मे मुखान्निःसृतम् ।
तद्दोषापहृतिं विधाय सुधियो गृह्णन्तु यन्निर्मलं
किं जम्बालगतं न शुद्धधिषणा गृह्णन्ति जाम्बूनदम् ? ॥ १ ॥

द्वेषावेशवशेन नैव मनसा न ज्ञानगर्वेण वा
कीर्तिस्तोमवशेन नैव विहितं कार्यं मयैतन्महत् ।
शुद्धज्ञानगुणात्मगोचरचरी या चातुरी संविदः
यत्नोऽकारि मयाऽत्र दभ्रमतिनाऽदभ्रस्तदावाप्तये ॥ २ ॥

किं छादनाबद्धविशुद्धलोचना मुह्यन्ति मार्गे न कृतक्रमा जनाः ।
कर्मप्रबद्धाकुलशुद्धलोचनोऽप्याहो न मुह्यानि न शास्त्रपद्धतौ ॥ ३ ॥



तुष्टो भवतु वा मा वा कश्चिच्चिन्ता न काचन ।
शास्त्रेषु यद्यथा दृष्टं तत्तथा प्रकटीकृतम् ॥

सन्मोहमल्लप्रतिसारणसारशक्तिसम्यक्त्वसङ्ख्यनिशितायुधयोजनेन ।
मोहं महान्तमतिशीघ्रमवार्यवीर्यं जित्वा भवान्भवतु बोधघनस्वभावः ।।
आत्मप्रकारि भ्रमणं भववारिराशावज्ञानसन्तमससंवृतभेददृष्टे ।
दुःखं त्वया समनुभूतमनन्तवारानुद्घाट्य दर्शनमिदं प्रविलोकय स्वम् ।।

समर्पण

श्रीसमयसार ग्रंथ के स्वाध्याय करनेके विषय में प्रेरित करनेवाले स्वर्गीय प. पू. १०८ आचार्य श्रीशांतिसागर जी महाराज की स्मृतिपूर्वक, स्वर्गीय प. पू. १०८ आचार्य श्रीवीरसागर जी महाराज की और स्वर्गीय प. पू. १०८ आचार्य श्रीशिवसागर जी की स्मृतिपूर्वक यह ग्रंथ प. पू. १०८ मुनिराज श्रीनेमिसागर जी महाराज के, प. पू. १०८ आचार्य श्रीधर्मसागर जी महाराज के, प. पू. १०८ मुनिराज श्रीश्रुतसागर जी महाराज के और वर्तमानकालीन प. पू. १०८ मुनिराजों के करकमलों में सादर समर्पित है।

जिनमुनिचरणचचरीक विनम्र

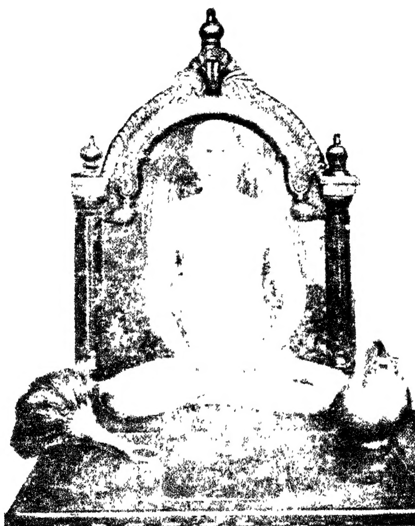
मोतीलाल जैन

और

समिति का कार्यवाह-मण्डल



स्व. चा. च. प. पू. श्री १०८ आचार्यवर्य शांतिसागर महाराज



स्व. पू. १०८ श्री नेमिसागर महाराज

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

'श्री ग्रंथराज समयसार प्रकाशन समिति, फलटण

नम्र निवेदन

श्रीमान् शेठ

सादर जयजिनेंद्र विनंति विशेष :–

आपकी धर्मभावनासे भरपूर तथा ज्ञानधारासे ओतप्रोत ऐसी उच्चकोटीकी आत्माके लिए यह निवेदन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस महत्त्वपूर्ण निवेदन को आप बहुत सावधानीसे पढे यही नम्र विनति है।

—— ग्रंथराज समयसार का अत्यंत उचित महान् प्रकाशन :——

भगवान कुंदकुंदाचार्यके समयसारजीकी मूल प्राकृत गाथाओंपर आचार्यप्रवर अमृतचन्द्र सूरीजीकी आत्मख्याति और आचार्य जयसेनजीकी तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकाएँ विख्यात हैं। आचार्यप्रवर अमृतचन्द्रजीकी आत्मख्याति टीका अतीव विख्यात है और इसकी संस्कृत भाषा अभिजात और उच्चस्तर की है तथा यह अध्यात्म रसिकोंको पढते पढतेही भावरसास्वादनमें–स्वसंवेदनमें ले जाकर पहुँचानेवाली शक्तिसे ओतप्रोत भरी हुई है।

अखिल जैन जगत्‌मेंही यह टीका बहुत ऊँची और बेजोड है। अजैनोंमें यह टीका होती तो आज इसके अनेक विविध प्रकाशन, विविध आकार प्रकारोंसे, विविध पद्धतियोंसे अलंकृत, विविध ढँगोंमें देखने मिलते। जैन वाङ्मयमें तो इससे ऊँची आध्यात्मिक विषयाधारित टीका-ऐसी प्रगल्भ, प्रौढ भाषासे भरपूर टीका 'आत्मख्याति' को छोडकर तो अन्य एकभी दिखाई नही देती! भ० कुन्दकुन्दाचार्य स्वामीके 'समयप्राभृत' अपरनाम 'समयसार' नामक इस ग्रंथराजके बारेमे और भ० अमृतचन्द्र सूरीजीकी "आत्मख्याति" टीकाके बारेमे अधिक कहनेकी आवश्यकता नही है; क्यो कि अध्यात्मविषयक सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठग्रंथ और सर्वश्रेष्ठ टीका एक यही है इसमे कोई संदेह नहीं। समयसारजीके कलशके चरणसे साफ बता दिया गया है कि 'न खलु समयसारात् उत्तरं किंचिदस्ति' ऐसी इस अतुल्य "आत्मख्याति" टीकाका यथार्थ, हार्द, गहरा अंतरंग स्पष्ट–सुस्पष्ट रूपसे पूरापूरा खोलकर जिज्ञासु मुमुक्षुओंके सामने रखनेका भरसक प्रयत्न अब इस अत्यंत उचित और महान् ऐसे नये प्रकाशनमें हो रहा है!

(१) यथार्थ अधिकारसंपन्न व सुयोग्य टीकाकार– विद्वद्रत्न पण्डित मोतिचंद गौतमचंद कोठारी, एम. ए इस ग्रंथके टीकाकार संस्कृतभाषाविदग्ध, व्याकरणके वेत्ता, अनेकान्तात्मक स्याद्वादमय जिनागमके यथार्थ अटल श्रद्धालु, अध्यात्मरसिक तथा ज्ञानवृद्ध है। आपमें 'आत्मख्याति' की गहरी असलीयत को जैसे के वैसे हिन्दी भाषामें अभिव्यक्त करनेका बहुत बडा अधिकार है। उसमे मुख्य कारण यही मालुम होता है कि, इस समय समयसारजीका पठन ४६ वीं बार प्रारंभ करके आप विशेष आस्वादन ले रहे है। आपने एम. ए. पास करनेके वक्त भी तथा श्री. १०८ प. पू. चा. च. आचार्य शांतिसागर महाराजजी तथा अनेक त्यागियोकी सेवामें भी इस ग्रंथका पठन किया है। ऐसे बहुयोग्य और बहुमुखी प्रतिभावान अध्यात्म प्रेमी पण्डितजीसे यह "आत्मख्याति" टीका व तदन्तर्गत कलशोंका वैभवशाली विस्तारके साथ स्पष्टीकरण हो रहा है यह इस प्रकाशन की प्रथम विशेषता है। तात्पर्य, एक सुयोग्य और इस विषय के अधिकारी व्यक्तिके हाथोसेही यह कार्य संपन्न हो रहा है।

जिससे अर्थाभिव्यक्ति के लिए अधिक सुलभता निर्माण होनेसे अध्यात्मप्रेमीका आनंद वृद्धिगत हो जाता है और वह इस अमृत कलशोंमें भरे हुए अमृतरसका आनंदपूर्वक और सहजतासे आस्वादन कर सकता है। यह पांचवी विशेषता है। अन्वय के नीचे उसका हिन्दीमें सरलार्थ फिर 'त. प्र.' उपटीका और अन्तमें वैशिष्ट्यपूर्ण विवेचनादि यथाक्रम हुआ हैं।

(६) महत्त्वमय प्रारंभिक प्रकरण– ग्रंथकी पहली मंगल गाथा शुरू करनेसे पहले एक प्रारंभिक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है जो अवश्यमेव उल्लेखनीय ऐसी विशेषता है। ग्रंथराज समयसार के अंतस्तलमें प्रविष्ट होनेके लिये आवश्यक ऐसी प्रायः सभी महत्त्वकी सामग्री इसमें दी गयी हैं। इस प्रारंभिक भागमें न्याय की कुछ महत्त्व की कठिन चर्चायें, कुछ विवाद्य प्रश्नोंपर प्राचीन जिनागमके आधारयुक्त गभीर विवेचन वगैरह होनेसे यह प्रास्ताविक विभाग बहुत विद्वत्ताप्रचुर, पाण्डित्यपूर्ण और सौन्दर्यसे भव्य प्रवेशद्वार बन गया है। इसमें अनेक समस्याओंके स्पष्टतापूर्ण समाधान आये हुये है। अनेक अत्युपयुक्त उत्तर आये है। विद्वताप्रचुर होते हुए भी इस भाग की कठिनता सुलभ रूपमें परिवर्तित की गयी है। अध्यात्मके लिए अत्यधिक न्याय की प्रायः आवश्यकता न होनेपर भी जिज्ञासुओंके लिए तथा न्यायप्रेमियों के लिए और विद्वज्जनोंके लिए यह प्रारंभिक विभाग बहुतही प्रशंसनीय लगेगा इसमें संदेहही नहीं। वैसे तो यह भाग स्वतंत्ररूपसे एक पुस्तकरूप में भी प्रकाशित होनेके योग्य है। यह अतिमहत्त्वपूर्ण अग्रिम विभाग भी इस ग्रंथराज के प्रकाशनमें मौलिक और स्मरणीय दृष्टि विशेषता रखेगा। इसप्रकार अनेक विशेषताओंसे अलंकृत होकर यह प्रकाशन विशाल रूपमें उपस्थित हो रहा है।

(७) प्रकाशन की रूपरेखा– इस विशालता से यह ग्रंथराज लगभग ग्रंथाकार ७$\frac{1}{2}$" × १०" आकार में, तथा १२ और १४ पॉईंट के टाईप में, कुछ २५०० / ३००० पृष्ठोंमें, तथा तीन खंडोंमें प्रकाशित होगा। प्रकाशन अपनी विशालताको लेकर सौन्दर्यसे पूर्ण होगा। आजतक इतना विशाल प्रकाशन इतने सर्वोच्च अध्यात्म ग्रंथपर नहीं हुआ है। भविष्यमें इस ग्रंथराज का यह अनन्य–साधारण प्रकाशन एक गौरवमय प्रमाणभूतताको भी धारण करके अनेक मुमुक्षुओंका आधारदीप बनेगा इसमें संदेह नहीं लगता।

(८) समुचित मुद्रण व्यवस्था— श्री नेमि मुद्रण मंदिर, मुद्रणालय फलटणमें इस प्रकाशनका मुद्रणकार्य शुरू है। स्वयं पण्डितजी मुद्रणादि दोषोंको दूर करनेके (Proof reading & corrections) कष्ट उठाते हैं और उसमें अत्यंत सावधानीपूर्वक अधिक परिश्रम करते हैं। उनके वे प्रयत्न और परिश्रम इस अवस्थामें भी प्रकर्ष को प्राप्त होते जा रहे है जो प्रशंसनीय और आश्चर्यावह है। इस प्रकाशन से सच्चे ज्ञानी, अध्यात्मरसिक, धर्मप्रेमी, व त्यागी जन अवश्य लाभ उठावेंगे और इस प्रकाशन की जरूर प्रशंसा करेंगे इसमें संदेह नहीं।

(९) कार्यके लिये संकल्पित खर्चः– रुपिया ४५००० होगा अभीतक रु. १६००० प्रत्यक्ष प्राप्त और रुपये १०००० आश्वासित मिलकर कुल रू. २६००० हो गये है। इस तरह धनकी कुछ कार्यपूर्ति हो रही है। तथापि रु. २०००० की सख्त जरूरत इस कार्यपूर्तिके लिये है। शेष रकम, एक मुश्त आपके द्वारा या महासभाके प्रकाशन विभागद्वारा या भारतीय ज्ञानपीठ, काशीद्वारा, या अन्य किसी संस्कृति व धर्मसंरक्षक प्रभावक संस्थाओंके द्वारा अथवा किसी विश्वस्थ निधिके द्वारा प्राप्त होनेसे यह एक महान् कार्य जल्दही पूरा हो सकेगा और सारे भारतमें या अन्यत्र देश–विदेशोंमें भी अपना आध्यात्मिक प्रकाश फैलानेका गौरवमय कार्य कर देगा।

(१०) यह प्रार्थना श्री १००८ ऋषभनाथग्रंथमालाकी संस्थाकी तरफसे प्रस्तुत की जा रही हैं। इस संस्था का स्थायी फंड लगभग लाख रूपयों का बनवाकर उसमेंसे ऐसे अत्यावश्यक कार्य करनेकी मनीषा रखकर विचार निश्चित हुआ है। इस संस्थाकी तरफसे फलटणमें जैन व जैनेतर धर्मग्रंथोंकी लायब्ररी (Reference

(२) प्रकाशन का स्वरूप व विशेषता– प्रारंभ में मूल प्राकृत गाथा, उसकी संस्कृत छाया, गाथाका एक एक शब्द लेकर अन्वयार्थ और नीचे आत्मख्याति टीका दी है ! तदनंतर ' आत्मख्याति ' टीकापर ' त. प्र., ' नामक सहज बोध करा देनेवाली संस्कृत भाषामें एक उपटीका प्रगट की गयी है । यह इस प्रकाशन की दूसरी विशेषता है । इस टीकाशिशुमें जैनोंकेही विश्वलोचनादि शब्दकोष, जैनोंकेही जैनेंद्रमहाव्याकरणादि व्याकरण तथा प्रसगोपात्त अन्य भी व्याकरण भाषा साहित्यादि बारीकोसे आधार लेकर पूरी पूरी शक्तिके साथ आत्मख्याति के एक एक अक्षरका प्रच्छन्न अर्थ उद्घाटित कर दिया है । कहीं कहीं उचित अनेक प्रतिशब्द रखकर टीकागत मूल शब्द का अर्थ उद्घाटित कर दिया है और वह भी सम्यक्‌रूपसे अभिव्यंजित कर दिया है। कुछ सूक्ष्म बारीकियों तथा मर्मभरे स्थानोंको महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक सिद्धातो द्वारा (Points) खोल दिया हैं । जैसे शिशु पूरी ऋजुतासे जो जैसा देखा है उसे वैसेका वैसाही कह देता है, वहाँ कोई छिपाव वगैरेह नही जानता वैसे इस टीकाशिशुने जो जैसा देखा आत्मख्यातिमें उसे वैसेके वैसे कह डाला है । बिलकुल सहज ऋजुतासे । संस्कृतकी अल्प जानकारी रखनेवालोंको भी इसमें सुगमतासे प्रवेश होगा जिससे मूल आत्मख्यातिमें वह सानंद और सहज प्रवेश कर सकेगा और स्वतः स्वात्मोपलब्धिके पुरुषार्थमें यश पा सकेगा । सारांश, यह नवीन प्रकाशन आत्मख्यातिमें सहजतासे प्रवेश करनेके लिये इस सुलभ उपटीकाके द्वारा एक " सुखप्रवेशक महाद्वार " ही निर्माण कर रही है। गत सहस्र वर्षोंमें इतनी विशेषतायुक्त प्रकाशन शायद यही पहला ही होगा । ऋजुहृदयी, यथार्थ अध्यात्मरसपिपासु, गुणप्रेमी तथा ज्ञानी ऐसे सभी त्यागी मुनिगणादि भी तो इस सुकार्य की प्रशंसा किये बिना नहीं रह पावेंगे । तथा सरल परिणामी, निःपक्षपाती व निमंत्सर पण्डित विद्वज्जन आदि महानुभाव भी इसकी प्रशंसाही नहीं बल्कि खुले दिलसे इससे पर्याप्त लाभभी उठावेंगे। ' समयसार ' ग्रंथ सुयोग्य विवेचनसहित न हो तो निःसंशय एकान्तवादी या विपरीतपथगामी बना देता हैं इसको पण्डितजी भूले नहीं है । यह ग्रंथ की दूसरी विशेषता है ।

(३) आत्मख्याति टीकाका सरल अनुवाद– 'त. प्र.' नामक इस उपटीकाके बाद ' आत्मख्याति ' का अन्यून, अनतिरिक्त, अविपरीत ऐसा यथातथ्य अर्थ सरल हिन्दी भाषामें दिया है । उस हिन्दी अनुवादपरसे भी " आत्मख्याति का अर्थबोध आत्मार्थी को सहजतासे हो सकेगा । यह कार्य पण्डितजी ने बहुत सावधानीपूर्वक और सुगम रीतिसे किया है । अनेक दोषोंको टालकर यह अनुवाद किया है यह प्रकाशन को तीसरी विशेषता है ।

(४) वैशिष्टचपूर्ण विवेचन– ' आत्मख्याति ' टीका के सरलानुवाद के बाद पण्डितजी ने ' विवेचन ' लिखा है । यह यथार्थ वैशिष्टचपूर्ण विवेचन इस प्रकाशन की अद्वितीय आत्मा कहे तो अत्युक्ति न होगी । इस विवेचन में पण्डितजीने अपना ज्ञानवैभव अपनी अत्यधिक शक्तिका उपयोग करके प्रकट किया हैं । आत्मख्याति टीकान्तर्गत आये हुये कुछ पेंचीले प्रश्न, कुछ दुर्बोध ग्रथियाँ, कुछ द्व्यर्थी, त्र्यर्थी उपयोजितवाक्य, शब्द वगैरेह कुछ न्यायके, सिद्धान्त के व प्रमाणके महत्त्वगर्भित स्थल, अध्यात्मदृष्टि से जिसका खुलासा होना अत्यावश्यक है ऐसे कुछ प्रतिपाद्य विषय आदिपर पण्डितजीने बहुत अच्छा प्रकाश डाला है । उसमें भी पण्डितजीने अपनी बुद्धिके अतिरिक्त प्राचीनातिप्राचीन आचार्योंके आगमोपर ज्यादातर जोर दिया है । अष्टसहस्री, प्रमेय-कमलमार्तण्डादि न्याय ग्रंथोंका भी तथा अन्य अनेक सैद्धान्तिक ग्रंथ, भक्तिरसान्वित ग्रंथ, साहित्यिक, अलंकारादि ग्रंथ, तथा महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रंथों आदि अनेक आचार्यप्रणीत ग्रंथोंका आलोडन-विलोडन करके उन्होंने आत्मख्याति टीकान्तर्गत प्रसंगोपात्त आये हुये रहस्योंपर सुंदर प्रकाश डालने का भरसक प्रयत्न किया हैं । जिससे समूचा विषय अच्छी तरह समझनेमें सच्ची सहाय्यता मिलती है । इस विवेचन से ग्रंथराज के इस वैशिष्टचपूर्ण प्रकाशन का सौन्दर्य निश्चित रूपसे वर्द्धमान हो गया है । इस प्रकार यह चौथी विशेषता है। यह प्रकाशन पूर्ण होनेपर पाठक इसपर गंभीर दृष्टिक्षेप करेंगे तो इस बातकी सत्यता उनकी समझमें अवश्य अवश्य आयेगी ।

(५) कलश अन्वय के साथ– कलशोंका सुसंगतिपूर्ण अन्वय भी उनके नीचे स्वतंत्ररूपसे दिया है।

Library) बनानेका विचार निश्चित हुआ है। इस विषय में आपका मार्गदर्शन अत्युपयुक्त होगा।

आप अखिल भारतीय कीर्तिके दिगंबर जैन धर्म के प्रभावक समाज सेवक, सन्मार्गप्रवर्तक प्रेरक, तथा महत्त्वपूर्ण कार्यों के सहाय्यक होनेसे यदि यह प्रकाशनकार्य आपकी सहायतासे अथवा दूसरोंको प्रेरणा देकर प्राप्त सहायतासे भी पूरा होगा तो जरूर ही इस कार्य की शोभा वृद्धिगत होगी और इस महान् धर्मप्रभावक कार्यकी सिद्धि अत्यधिक सुचारुरूपसे होगी जिसका महान् श्रेय आपके पदपर विराजमान रहेगा।

आप जैसे विचारवंत, ज्ञानवंत, धार्मिक, दाता, धनी व्यक्तिको अधिक कहने की तो आवश्यकता नहीं है फिर भी यह कार्य आपके सामने पूर्तिहेतुसे रखा है। आपका अभिप्राय हम समझनेके उत्सुक हैं।

इति भद्रं भूयात्।

आपके विनीत

१) श्री १०५ क्षुल्लक दयासागर महाराज
(ब्र. श्री वसंतकुमार जैन)
२) श्री. पंडित मोतीचन्द गौतमचंद कोठारी, M. A., अध्यक्ष
३) श्री. माणिकचंद वीरचंद गांधी, फलटण, उपाध्यक्ष
४) श्री. गंगाराम कामचंद दोशी, फलटण, कोषाध्यक्ष
५ श्री रामचंद नानचंद गांधी, फलटण, कोषाध्यक्ष
६) श्री माणिकचंद मलुकचंद दोशी, B.A. LL.B., फलटण, मंत्री
७) श्री. चुनिलाल मोतीचंद गांधी, फलटण, मंत्री
८) श्री. रामचंद हिराचंद शहा, B.A. LL.B., मंत्री
९) श्री. गुरुभक्त चंदुलाल ज्योतीचंद सराफ, बारामती
१०) श्री. चंदुलाल कस्तुरचंद शहा, मुंबई
११) श्री. शांतिनाथ सोनाज, अकलूज
१२) श्री. पंडित जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले, सोलापूर
१३) श्री. मलुकचंद रावजी दोशी, फलटण
१४) रावजी हिराचंद कोठडिया, नीरा
१५) श्री. गौतमचंद नेमचंद गांधी, नातेपुते
१६) श्री. माणिकचंद नेमचंद व्होरा, लोणंद
१७) श्री. अभयकुमार माणिकचंद गांधी, मुंबई
१८) संघपति मोतिलाल पूनमचन्द जव्हेरी, मुंबई
१९) श्री. शांतिलाल गुलाबचंद शहा, सांगली
२०) श्री. हिराचंद खेमचंद फडे, अकलूज
२१) श्री रामचंद धनजी दावडा नातेपुते
२२) श्री आनंदलाल जिवराज दोशी, फलटण
२३) श्री. गुलाबचंद गौतमचंद कोठारी, फलटण
२४) श्री. सौ. चंचळाबाई रावसाहेब शहा, अधरी
२५) श्री. माणिकचंद तलकचंद शहा, फलटण
२६) श्री माणिकचंद नानचंद दोशी, गुणवरेकर
२७) श्री. वीरचंद फुलचंद दोशी, फलटण
२८ नेमचंद भाईचंद दोशी, फलटण
२९) नेमचंद वीरचंद गांधी, फलटण
३०) श्री जिवराज खुशालचंद गांधी, B. E., कुर्ला
३१) श्री. महेंद्रकुमार मलुकचंद गांधी, फलटण
३२) श्री. पन्नुलाल जिवराज शहा फलटण
३३) गुलाबचंद हुकमचंद शहा, पाचवडकर, फलटण
३४) श्री. हिराचंद माणिकचंद मेथा, फलटण
३५) श्री. दत्तात्रय मारुतराव मोहिकर, पुणे

पत्रव्यवहारके लिए स्थान
श्री. चुनीलाल मोतीचंद गांधी
शुक्रवार पेठ, फलटण
फलटण ता ३०-१०-१९६६

दो शब्द

ग्रंथराज श्रीसमयसार भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य की एक अनुपम कृति है। शुद्धनयपर आरूढ होनेके लिये व्यवहारनयावलंबी जीवों का यह अनिवार्य साधन है; क्यों कि शुद्ध आत्मा के स्वरूप के ज्ञान के बिना परपदार्थों का परिहार करके इस शुद्ध आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि असंभव है। ग्रंथकार ने इस ग्रंथ में शुद्ध आत्मा का स्वरूप यथार्थरूप से बताया है। इस ग्रंथ की आचार्यप्रवर श्रीमदमृतचंद्रविरचित आत्मख्यातिनामक टीका इस ग्रंथ के हार्द को समझनेके लिये उत्तम साधन है। न्याय, साहित्य, सिद्धान्त और व्याकरण के ज्ञान के बिना इस टीका के अभिप्राय को जानना आसान बात नहीं है। आत्मख्यातिगत कलश तो साहित्य–न्याय–आदिविषयक और अध्यात्म–विषयक टीकाकार आचार्य के ज्ञान की चरमसीमा की सिद्धि करनेवाले अंतर्गत प्रमाण (Internal evidence) है। इसप्रकार के इस महान् ग्रंथ की गाथाओं का और उनकी आत्मख्यातिनामक टीकाओं का अनुवाद और स्पष्टीकरण करने का मेरे जैसे एक छद्मस्थ अल्पज्ञ जीव के द्वारा प्रयत्न किया गया है। वह कहांतक सफल हुआ है इस बात का निर्णय विद्वान ही कर सकते हैं। इस ग्रंथ के टीकार्थ आदि में पाये जानेवाले दोषोंपर प्रकाश डालनेके लिये विद्वानों से मेरी प्रार्थना है; क्यों कि दोषपरिमार्जन के बिना निर्दोष अभिप्राय का प्रकटन असंभव हो जाता है। शास्त्रीय विषय का यथार्थ ज्ञान ही आत्मोद्धार कर लेनेमें सहायक होता है, अयथार्थ ज्ञान नहीं होता। अयथार्थ ज्ञान को यथार्थज्ञानस्वरूप माननेसे और उसीप्रकार उपदेश करनेसे श्रुत का अवर्णवाद हो जाता है और अवर्णवाद से दर्शनमोहनीय का बंध हो जाता है। अत श्रुतावर्णवाद सभी प्रकारों से अनिष्ट है। जिज्ञासु जीव ज्ञान का गर्व नहीं करता; क्यों कि जिसको ज्ञेय विषय का ज्ञान नहीं होता, उसकी ही जिज्ञासा जागृत होती है। ज्ञेयविषय के ज्ञान के अभाव में किस ज्ञानपर गर्व किया जा सकता है? जो वस्तुतः ज्ञानी होता है वह गर्व नहीं करता। इस ग्रंथ में पाये जानेवाले दोषों का आविष्करण किया गया तो मेरा मन आनंदित ही होगा। इस भाग का शुद्धिपत्रक द्वितीय भाग में दिया जायगा।

इस ग्रंथ के स्वाध्याय की प्रेरणा मुझे दिवगत प. पू. आ. च. १०८ शांतिसागर जी से मिली थी और संपादन की प्रेरणा प. पू. मुनिराज १०८ श्रीनेमिसागर जी से मिली थी। इस प्रेरणा के अनुसार नेमि–मुद्रण–मंदिर की स्थापना की गयी थी। उसके बाद कई वर्ष बीत जानेपर यह ग्रंथराज समयसार जी का प्रथम भाग प्रकाशित हो रहा है। समिति के कार्यवाह–मण्डल ने जो सहयोग दिया उसके लिये मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं। श्री. सेठ चुनिलाल जी गांधी, मंत्री धन्यवाद के विशेष पात्र हैं। इत्यलं पल्लवितेन।

विनीत

मोतीलाल जैन, फलटण

प्रकाशकीय निवेदन

इस ग्रंथ के संपादन के विषय में जिन पूज्य त्यागियों ने प्रेरणा दी उनमें प. पू. १०५ क्षुल्लक दयासागर जी महाराज का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में आपने अत्यधिक कष्ट उठाये हैं। प. पू. १०८ वृषभसागर जी महाराज ने श्रावकों को दानप्रवृत्त किया इसलिये वे भी धन्यवाद के नितरां पात्र हैं। द्वितीय भाग का कार्य शीघ्र ही शुरू हो जायगा। जिन दानी महानुभावों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन के कार्य में आर्थिक सहायता पहुंचायी है और जो सहायता पहुंचावेंगे उनकी नामावली धन्यवादपूर्वक आगे प्रकाशित की जायगी। ग्रंथ का मूल्य लगभग लागतमात्र ही रखा गया है। आशा है कि जैनसमाज इस संस्था की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखेगी और सहायता पहुंचावेगी।

आपका विनीत

चुनिलाल मोतीचंद गांधी, मंत्री

* विषयानुक्रमणिका *

जीवाजीवाधिकार

कर्तृकर्माधिकार





अन्तरात्माधिगम्याय मे नमोऽस्तु परात्मने ।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतः

समयसारः

जीवाजीवाधिकारः ।

सिद्धा शुद्धात्मबोधप्रकटनपटवः क्षालितांहःप्रभावाः
नैव स्पृश्या रजोभिर्निरवधिसमये संवृताशान्तरालैः ।
अर्णोस्पृश्यस्वभावासितदलकमलौपम्यरूपत्वतो ये
सिद्धौ स्वात्मोपलब्धावनवधिपरमज्ञानवार्द्धौ निमग्नाः ॥ १ ॥

बुद्धानुद्धूतकर्मारीञ्ज्ञानमात्रैकरूपकान् ।
क्रमाक्रमात्मपर्यायज्ञायकान्प्रणमीम्यहम् ॥ २ ॥

चन्द्रप्रभजिनेशाय शीतभाशीतभानवे ।
कर्मोदयनिमित्तोत्थाज्ञानध्वान्तप्रभेदिने ॥ ३ ॥

घातिजीमूतसन्दोहध्वंसव्यक्तात्मतेजसे ।
निर्मुमुक्षुजनाज्ञानध्वंसकृद्देशनाकृते ॥ ४ ॥

स्वाज्ञानध्वान्तनाशार्थं भेदविद्वित्तिना भृशं ।
शुद्धात्मभावबोधाय मे नमोऽस्तु गरीयसे ॥ ५ ॥

या वस्तुनोऽनन्तगुणात्मकत्वं स्याद्वादविद्यापरनामधेया ।
व्यावर्तकैकात्मगुणात्मकस्य युक्त्या महत्या सुदृढीकरोति ॥ ६ ॥

जिनेन्द्रवक्त्राब्जविनिःसृता या सुनिर्मला चान्द्रमसी प्रभेव ।
अज्ञानभावावृतशुद्धबुद्धेर्वस्तुस्वरूपं विशदीकरोति ॥ ७ ॥

अनादिमिथ्यात्वपरिवृतानां प्रकाशयन्ती विशदात्मरूपम्
विधाय तूर्णं तमसो विनाशं विकासनी भव्यसरोरुहाणाम् ॥ ८ ॥

भक्त्या तस्यै सरस्वत्यै विमलज्ञानमूर्तये ।
शुद्धात्मभावबोधार्थं मुमुक्षोर्मे नमोनमः ॥ ९ ॥

त्रिशुद्ध्या प्रणिपत्यैवं जिनान्सिद्धान्सरस्वतीम् ।
आत्मख्यात्याख्यटीकाया व्याख्यानं क्रियते मया ॥ १० ॥

न्यायसाहित्यसिद्धान्तशब्दराद्धान्तराधिता ।
मुमुक्षवे जनायेयं टीका राध्यति निर्मला ॥ ११ ॥
क्वेयं टीकातिगम्भीरा क्व मेऽज्ञानमयी मतिः ।
गतिस्तत्र कथं तस्या इति मे व्याकुलं मनः ॥ १२ ॥
यतः पुरुषकारेण दुःसाधमपि सिध्यति ।
ततः किमत्र विषये यत्नो मे फल्गुतां व्रजेत् ? ॥ १३ ॥
दैवपौरुषयोः स्पर्धे पौरुषं जयतीतरत् ।
यत्नानुकूल्ये दैवस्य किमसाध्यं भवेन्नृणाम् ? ॥ १४ ॥
विधाय मनसीत्येवं व्याख्येयं क्रियते मया ।
भावशुद्धिविधानेन स्वात्मशुद्धिं चिकीर्षुणा ॥ १५ ॥
आत्मानात्मार्थरूपावबोधाभावे न भेदवित् ।
यतस्तदवबोधार्थं यतितव्यं मनीषिणा ॥ १६ ॥
ग्रन्थः समयसारोऽयं भेदविज्जनने क्षमः ।
यतस्तदवबोधार्थं यतितव्यं मनीषिभिः ॥ १७ ॥
व्याख्या समयसारस्य कुरुताच्छुद्धिमान्तरीं ।
विभावनाशिनीं पूर्णां विशुद्धात्मानुभूतिवत् ॥ १८ ॥
जिनेन्द्रवचनाम्भोधिपयःपानाभिलाषिणः ।
मोदन्या शाम्यतात्तावद्यावन्मे नास्ति केवलम् ॥ १९ ॥

ज्ञातात्मानात्मरूपैः प्रवरमुनिवरैः कुन्दकुन्दैः स्फुटं य-
च्छुद्धात्मद्रव्यरूपं गलितमलमलं शुक्लयोगाधिगम्यम् ।
प्रोक्तं स्वे ग्रन्थराजे समयसमभिधे प्राप्तये तस्य भव्यै-
रारम्भः संविधेयः प्रगुणगुणगणैर्ध्यानयोगे निमग्नैः ॥ २० ॥

अथ शुद्धात्मस्वरूपाधिजिगमिषुविस्तररुचिमुमुक्षुभव्यजीवप्रतिबोधनार्थं श्रीमद्भिः कुन्दकुन्दाचार्यदेवैर्विरचितस्य समयसाराभिधानग्रन्थराजस्य व्याख्यानस्यारम्भे श्रीमद्भिरमृतचन्द्राचार्यपादैर्विरचितस्य 'नमः समयसाराय' इत्यादिमङ्गलश्लोकस्यात्मख्यातिगतस्य व्याख्यानं क्रियते–

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ १

अन्वय–स्वानुभूत्या चकासते सर्वभावान्तरच्छिदे चित्स्वभावाय समयसाराय भावाय नमः ॥ १ ॥

अर्थ– जो अनुभूति से प्रकट होता है (अर्थात् आत्मा जब अपने विभावात्मक परिणामों को दूर हटाकर अपने शुद्ध स्वभाव का अनुभव करती है तब हि क्रमसे पूर्णरूप से प्रकट हो जाती है, अन्यथा प्रकट नहीं होती ।), जिसका स्वभाव चैतन्य है और जो सभी अन्यभावों का अर्थात् विभावरूप परिणामों का और द्रव्य कर्मोंका नाश-अभाव करती है और केवलज्ञान जिसका स्थिर अर्थात् अविनश्वर स्वभाव है ऐसी आत्मा को (मेरे सभी द्रव्यभावकर्मों का अभाव हो जानेके लिये) मेरा नमस्कार है ।

आत्मख्यातिप्रबोधिनी—

'नमः समयसाराय' इत्यादि। स्वानुभूत्या आत्मानुभवेन। स्वस्यात्मनः अनुभूतिः अनुभवनं स्वानुभूतिः। तया। स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेत्यर्थः। चकासते प्रकाशमानाय। स्वपरार्थस्वरूपभेदावबोधानन्तरं येनांशेन विभावपरिणामाः परिहीणाः भवेयुः तेनांशेनाधिक्येन प्रकटीभवतः शुद्धात्मस्वरूपस्याधिक्येन संवेदनं भवति। यदा तु पूर्णत्वेन विभावभावानामभावो भवति तदाऽऽत्मनः पूर्णशुद्धावस्थायाः प्रादुर्भावात् पूर्णत्वेन शुद्धावस्थायाः अनुभवः सम्भवति। एवं शुद्धात्मानुभूतिवृद्धिक्रमेणात्मानुभूतेरपि क्रमेण वृद्धिर्भवति। तथा च स्वानुभूत्यैवात्मा पूर्णत्वेन प्राकट्यमटति। चित्स्वभावाय चैतन्यात्मकस्वभावेन तादात्म्यमापन्नाय। संसारासंसारकालयोः सर्वास्वप्यवस्थासु कर्मावरणसञ्जाततारतम्येऽपि तदभाव-जनितशुद्धावस्थायामपि च विद्यमानचैतन्यस्वभावाय। भावाय पदार्थाय। 'भावः स्वभावचेष्टाभिप्राय-सत्त्वात्मजन्मनि। भावः क्रियायां लीलायां पदार्थेऽभिनयान्तरे। जन्तौ बुधे विभूतौ च नाट्योक्त्या पण्डितेऽपि च' इति विश्वलोचने। सर्वभावान्तरच्छिदे। अन्ये भावाः विभावपरिणामाख्यभावकर्माणि द्रव्यकर्माणि च भावान्तराणि। सर्वाणि च तानि भावान्तराणि च सर्वभावान्तराणि। तानि छिनत्ति आत्मनः पृथक्करोतीति सर्वभावान्तरच्छिद्। क्विप्। तस्यै। एतत् समयसारायेति पदस्य विशेषणम्। यद्वा सर्वाणि भावान्तराणि छेत्तुमित्यर्थः, च्छिदा च्छित्। 'क्विप्' इति क्विप्। सर्वभावान्तराणां छिद् छेदनम्। तस्यै। 'तादर्थ्ये' इत्यप्। अनेन नमस्कारस्य प्रयोजनमुक्तम्। समुत्पन्नभेदज्ञानः सप्तप्रकृति-क्षयजनितशुद्धिप्रादुर्भूतसामर्थ्यविशेषविनाशितविभावभावत्वेन क्रमकृतनिर्जरणत्वादन्ते च कृतकृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षत्वादात्मन सर्वभावान्तरच्छित्त्वम्। तस्यै सर्वभावान्तरच्छिदे। समयसाराय केवलज्ञानस्वरूपा-विनश्वरस्वभावाय। सम् समीचीनः अयः ज्ञानं समयः। निर्दोषाविकलकेवलज्ञानमित्यर्थः। स एव सारः स्थिरांशः यस्य सः समयसारः। तस्मै। केवलज्ञानस्य यावद्द्रव्यभावित्वादात्मना सह तादात्म्यसम्बन्ध-वत्त्वाद्द्रव्यस्य च ध्रुवत्वात्तस्यापि ध्रुवत्वसम्भवात् स्थिरत्वं द्रव्यार्थिकनयेनेत्यवसेयम्। 'सारः स्यान्मज्ज-न्मनि बले स्थिरांशेऽपि पुमानयम्। सारं न्याय्ये बले वित्ते सारं स्याद्वाच्यवद्वरे' इति विश्वलोचने। नमः नमोस्तु। अत्र समयसारनमस्कारः सर्वभावान्तरविच्छेदेन शुद्धात्मस्वभावाप्तिप्रयोजनः इत्यवसेयम्।

विवेचन— शुद्ध आत्मद्रव्य एक ऐसा पदार्थ है जो उसकी अनुभूति के बिना प्रकट नहीं हो पाता। उसकी प्राप्तिका उपाय उसका निर्विकल्प अनुभव ही है। उसको प्रकट करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियगोचर नहीं है। यदि वह इन्द्रियगोचर होती तो पुद्‌गलके समान वह मूर्तस्वरूप ही होती। यद्यपि शरीर के साथ सम्बद्ध होनेसे वह कथंचित् मूर्तस्वरूप भी है तो भी परमार्थतः वह मूर्तस्वरूप नहीं है। शुद्ध आत्मा शुद्धद्रव्या-र्थिक नयकी दृष्टिसे अमूर्त ही होती है। अतः उसको स्वसंवेदनप्रत्यक्षगोचर कहा है। यद्यपि वह द्रव्य-पदार्थ है तो भी वह अन्यद्रव्यों से भिन्न है; क्योंकि उसका असाधारण और व्यावर्तक धर्म चैतन्य है। अन्य पदार्थों का असाधारण धर्म चैतन्य नहीं है। यदि अन्य द्रव्यों का असाधारण धर्म चैतन्य होता तो सभी पदार्थ चेतनात्मक बन जाते और सर्वसंकर हो जाता—आत्मानात्मपदार्थों का भेद मिट जाता। चैतन्यस्वभाव आत्माको अन्यपदार्थों से अलग कर देता है इसलिये वह उसका असाधारण धर्म है। यदि आत्माने अन्यद्रव्यों के स्वभाव को अपना लिया तो वह अचेतन बन जायगी। इस अवस्थामें सर्वसंकर हो जायगा। यदि वह क्रोधादिभावों को स्वीकार करने लगी तो उसका स्वभाव क्रोधादिभावरूप मानना पड़ेगा, जिससे उसका संसारी और मुक्त आत्मरूप भेद मिट जायगा और वह सदा संसारी ही बनी रहेगी। वस्तुतः यह शुद्ध होनेवाली आत्मा अपने अशुद्ध परिणामों का और द्रव्यकर्मों का प्रध्वंसाभाव कर देती है। वह अन्य सभी द्रव्योंको जानती भी है। यदि विभावपरिणाम और द्रव्यकर्म आत्मा से अलग न हुए तो

उसको अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव होना असम्भव है। सारांश, यहां चैतन्यस्वभाववाले, अन्यभावों से पृथग्भूत, स्वानुभवगोचर और केवलज्ञानरूप अनाद्यनन्त स्वभाव के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुई आत्मा को नमस्कार किया गया है। सभी विभावभावों का और द्रव्यकर्मों का प्रध्वंसाभाव होना यह नमस्कार का प्रयोजन है।

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

अन्वय– अनन्तधर्मणः आत्मनः तत्त्वं प्रत्यक् पश्यन्ती अनेकान्तमयी मूर्तिः नित्यं एव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

अर्थ–निश्चयनय की दृष्टिसे अविनश्वर ज्ञानमात्रस्वभाववाली और व्यवहारनय की दृष्टि से अनन्तधर्मोंवाली आत्मा का स्वरूप अन्तरंग में देखनेवाली अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा को जाननेवाली, सभी पदार्थों को जाननेवाली, अनेकान्तप्रधान स्याद्वादविद्या अर्थात् आत्मस्वभावभूत ज्ञान नित्य हि प्रकाशित हो–मेरी आत्मा में प्रकट हो।

अनन्तधर्मण इत्यादि। अनन्तधर्मणः अविनश्वरज्ञानमात्रैकधर्मवतः अनन्तसङ्ख्याकधर्मवतः वा। अनन्तः अविनश्वरः धर्मः ज्ञानाख्यः यस्य सः। तस्य। 'धर्मात्केवलादन्' इति केवलधर्मशब्दस्योत्तरपदत्वादस्माद्वसादन्। 'अन्तं विशुद्धे व्याप्ते स्यादन्तो नाशे मनोहरे। स्वरूपेऽन्तं मतं क्लीबं न स्त्री प्रान्तेऽन्तिके त्रिषु॥' इति विश्वलोचने। अन्तः नाशः। न अन्तः यस्य सोऽनन्तः। अविनश्वरः इत्यर्थः। यद्वा अनन्तसङ्ख्याकाः धर्माः गुणाः शक्तयः वा यस्य सोऽनन्तधर्मा। तस्यानन्तधर्मणः। आत्मनः स्वशुद्धगुणपर्यायात्मकस्यात्मद्रव्यस्य। 'अनन्तधर्मणोऽप्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रैकधर्मत्वं, कथ वा ज्ञानमात्रैकधर्मवतोऽनन्तधर्मत्वमात्मनः?' इति चेत्, ब्रूम. आत्मनस्तथात्वस्य युक्त्यागमप्रसिद्धत्वादिति। तदुक्तममृतचन्द्रदेवैः– 'इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्। अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्॥' (स. सा. क. २४६) इति। तथा च "अत्र स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्तत्वात्। तत्र 'यदेव तत् तदेवातत्, यदेव एकं तदेवानेकं, यदेव नित्यं तदेवानित्यं' इत्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः। तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्, बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपरस्वरूपेणातत्त्वात्, सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशशक्तिसमुदयरूपाविभागद्रव्यरूपेणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात्, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभावत्वेन सत्त्वात्, परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभावत्वेनासत्त्वात्, अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात् तदतत्त्वं, एकानेकत्वं, सदसत्त्वं, नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव। ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्तः प्रकाशते, तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनऽनुशास्यतेऽनेकान्तः? अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः। न खलु अनेकान्तमन्तरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिद्ध्यति। तथा हि इह हि स्वभावतः एव बहुभावनिर्भरविश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव। तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भावः शेषभावैः सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेयसम्बन्धतयाऽनादिज्ञेयपरिणमनात् ज्ञानतत्त्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी भूत्वा नाशमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानीकुर्वन् अनेकान्तः एव तमुद्गमयति।·· ·· तदा ज्ञान–

विशेषरूपेणानित्यत्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति। "[समयसारपरिशिष्टे]" इति। एवं ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनोऽनेकान्तत्वं प्रसिद्ध्यति। अनन्तधर्मण आत्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वं तैरेवाध-स्तनप्रकारेण प्रसाधितम्। ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानन्तधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वम्? परस्पर-व्यतिरिक्तानन्तधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्। अत एवास्य ज्ञानमा-त्रैकभावान्तःपातिन्योऽनन्ताः शक्तयः उत्प्लवन्ते।" शक्तिशब्दोऽत्र गुणार्थवचनः। तदुक्तं पञ्चा-ध्याय्यां– 'शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च। प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः॥ [१–४८]'। अमी गुणाः ज्ञानगुणपर्यायात्मकाः एव, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवत्। तथा चोक्तममृतचन्द्राचार्यदेवैः– "मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादि-श्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं, जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं, रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।" [स. सा. गा. १५५, टीका]। एवं ज्ञानमात्रस्यात्मनोऽनेकान्तत्वसिद्धेरनन्तानां चात्मधर्माणां ज्ञानादभेदस्य सिद्धेः 'अनन्तधर्मणः' इत्यस्य सामासिकशब्दस्य प्रोक्तप्रकारविग्रहद्वैविध्यं सिद्धम्। तत्त्वं यथार्थं स्वरूपं प्रत्यक् अन्तः पश्यन्ती स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणानुभवन्ती अनेकान्तमयी। प्रायेण सर्वाधिक्येन प्राधान्येन वाऽनेकान्तः स्याद्वादोऽस्यामित्यनेकान्तमयी। 'अस्मिन्' इति मयट्। टित्वात् ङी स्त्रियाम्। यद्वा अनेकान्तादागताऽनेकान्तमयी। 'मयट्' इति तत आगतेऽर्थे मयट्टित्वाच्च स्त्रियां ङी। अनेकान्तात्मकवस्तुविषयत्वाज्ज्ञानरूपायाः सरस्वत्या अप्यनेकान्तमयत्वम्। ज्ञानात्मक-सरस्वत्या अनन्तधर्मात्मकवस्तुविषयत्वाज्ज्ञानरूपायाः सरस्वत्या अप्यनेकान्तमयत्वम्। ज्ञानात्मकस-रस्वत्या अनन्तधर्मात्मकज्ञेयज्ञप्त्याकारपरिणमनसमुपजातानन्तपरिणामापन्नत्वादनेकान्तस्वभावत्वमिति भावः। मूर्तिः सर्वज्ञेयविषयव्यापिनी। मूर्च्छति सपर्यायसकलवस्तुजातं व्याप्नोति ज्ञेयविषयतां नयतीति मूर्तिः। मूर्तिशब्देनात्र ज्ञानात्मिकाया एव, न शब्दात्मिकायाः ग्रहणं, अत्र शास्त्रे पुरुषस्वभावभूतज्ञान-मात्रस्यैव प्राधान्यात्। नित्यमेव प्रकाशतां प्रकटीभवतात्। अत्र प्रार्थनायां लिङ्। सम्यग्दर्शनज्ञानचा-रित्राद्यनन्तज्ञानपरिणामानां ज्ञानेन वस्तुवृत्त्या तादात्म्यादविनश्वरज्ञानमात्रैकधर्मवत्त्वमात्मनो निश्च-यनयेन, ज्ञानात्सदनन्तपरिणामानां परमार्थतोऽभेदेपि कथञ्चिद्भेदो व्यवहारेण यतस्ततस्तस्यानन्तसङ्-ख्याकधर्मवत्त्वमपि व्यवहारेणैव॥

विवेचन– द्रव्य होनेसे आत्मा अनन्तधर्मात्मक है। 'अनन्तधर्मणः' इस सामासिकपद के दो अर्थ होते हैं 'अविनश्वरधर्मवाली अर्थात् अविनश्वर एक ज्ञानमात्र स्वभाववाली' यह एक अर्थ और 'अनन्तसंख्याकधर्मोंवाली' यह दूसरा अर्थ। शुद्धनिश्चय की दृष्टिसे यदि आत्मा शुद्ध ज्ञानरूप हि हो तो उसे अनन्तसंख्याकधर्मवाली या अनन्तसंख्याकधर्मवाली हो तो उसे ज्ञानमात्ररूप एकधर्मवाली कैसे कहा जा सकता है?' इस प्रकार के प्रश्न का उपस्थित होना स्वाभाविक है। यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा का एकधर्मत्व और अनन्तधर्मत्व युक्ति और आगम से सिद्ध होते हैं। उन दोनों के होनेमे कोई दोष नहीं आता। यद्यपि आत्मा को ज्ञानमात्र एकस्वभाव-वाली कहा गया है तो भी उससे उसका अनन्तधर्मात्मकत्व बाधित नहीं होता; क्योंकि निश्चयनय की दृष्टिसे ज्ञानमात्रस्वरूप आत्मा व्यवहारनय की दृष्टिसे अनन्तसंख्याक धर्मोंसे युक्त है।

जो हि अपने स्वभाव से अर्थात् असाधारण धर्मसे नित्य युक्त होता है वह तत् होता है और जो हि अपनेसे भिन्न पदार्थ के स्वभाव से अर्थात् भिन्न पदार्थ के असाधारण धर्म से कदापि युक्त नहीं होता वह अतत् होता है-परपदार्थरूप नहीं होता। अतः जो हि तत् होता है वह हि अतत् होता है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। पदार्थ में जो व्यवहारनय

की दृष्टि से अनन्त धर्म होते हैं उनमें से प्रत्येक धर्म पूर्ण पदार्थ का अंशमात्र होता है और वह धर्म पदार्थ का अंशमात्र होने से अंशमात्ररूप पर्याय के समान पर्यायहि है। फर्क इतना हि है कि पर्यायें क्रम से उत्पन्न होती है और गुण द्रव्य के साथ अनादि काल से अनन्तकालतक रहता है। व्यवहारनय की दृष्टि से पदार्थ के गुणरूप अंश और पर्यायरूप अंश अनन्त होनेपर भी पदार्थ गुणपर्यायों का एक समूहरूप हि होता है। गुणपर्यायों का समूह एक होनेसे गुणपर्यायसमूहात्मक पदार्थ भी द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य की प्रधानता से एक हि होता है। पदार्थ के गुणरूप अंश और पर्यायरूप अंश अखण्ड एक द्रव्य के द्वारा अपने स्वभावसे व्याप्त होते हैं। यदि पदार्थ के गुण और पर्याय द्रव्य के असाधारणधर्म से व्याप्त न हो तो वे गुण और पर्याय उस पदार्थ के नहीं कहे जायंगे। उन गुणपर्यायोंका आश्रयभूत एक अखण्ड पदार्थ की गौणता से और उन अनन्त गुणपर्यायों की मुख्यता से व्यवहारनय कि दृष्टि से द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से अखण्डरूप पदार्थ एक होनेपर भी उसका अनेकत्व सिद्ध हो जाता है। इस से जो हि एक होता है वह हि अनेक होता है। प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भिन्नभिन्न हुआ करते हैं। पदार्थ की अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमें तादात्म्य से स्थिर रहने की जो शक्ति होती है उसरूप जो पदार्थ का स्वभाव उससे नित्यसंबद्ध होनेसे पदार्थ का सत्त्वधर्म सिद्ध हो जाता है। अर्थात् पदार्थ अपने गुणपुंजरूप द्रव्यमें, अपने संपूर्ण प्रदेशों में, अपनी पर्यायों में और अपने गुणोंमें या स्वभाव में स्थिर रहने के स्वभाव से नित्य युक्त होनेके कारण उसका सत्त्वधर्म सिद्ध हो जाता है—वह सत् कहा जाता है। परपदार्थ के अनन्तगुणात्मक पिण्डके साथ, उसके संपूर्ण प्रदेशों के साथ, उसके पर्यायों के साथ और उसके गुणों के या स्वभाव के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर न रहनेकी शक्ति पदार्थ की होती है। पदार्थ उस शक्तिरूप स्वभाव से युक्त होनेसे असत् और नास्तिरूप कहा जाता है। इस प्रकार पदार्थ के सत्त्व और असत्त्व धर्मोंकी सिद्धि हो जाती है। अतः जो हि सत् होता है वह हि असत् होता है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। आदि-अन्तरहित, भेदरहित एकरूपसे परिणत होनेके स्वभाव से पदार्थ का नित्यत्वधर्म सिद्ध हो जाता है। क्रम से उत्पन्न होनेवाले, एकसमयस्थितिक अनेक पर्यायों के रूप से परिणत होनेके स्वभाव से नित्ययुक्त होनेके कारण पदार्थ के अनित्यत्व धर्म की सिद्धि हो जाती है। अतः जो हि नित्य होता है वह हि अनित्य होता है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार एक पदार्थ के पदार्थत्व को निष्पन्न करनेवाली परस्परविरुद्ध दो शक्तियों को प्रकट करने का नाम हि अनेकान्त है।

आत्मा ज्ञानमात्र अर्थात् ज्ञान हि है। ऐसा ज्ञानमात्र होनेपर भी वह इन्द्रियगोचर न होनेसे अन्तरंग में प्रकाशमान अर्थात् स्वसंवेदनगम्य ज्ञान उसका स्वभाव है। उसके ज्ञानस्वरूप होनेकी दृष्टि से आत्मा का तत्त्व-तत्पना सिद्ध हो जाता है। आत्मा से भिन्न पदार्थ आत्मद्रव्य को छोडकर अन्यत्र प्रकट होते हैं। वे पदार्थ अनन्तसंख्याक हैं और ज्ञान के विषय-ज्ञेय हैं। वे आत्मा का जो स्वरूप है उससे उनका स्वरूप भिन्न होता है। ऐसे जो परपदार्थ हैं उनके स्वरूप से आत्मपदार्थ कदापि युक्त नहीं होता। उनके स्वरूप से युक्त होनेके कारण आत्मपदार्थ अतत् है अर्थात् परपदार्थरूप नहीं है। परपदार्थ के स्वरूप से युक्त न होना हि आत्माका अतत्पना है। इस प्रकार आत्माका तत्पना अर्थात् स्वरूप से युक्त होना और उसका अतत्पना अर्थात् परपदार्थों के स्वरूप से युक्त न होना ये दो विरोधी धर्म सिद्ध हो जाते हैं। कहनेका भाव यह है कि आत्मभिन्न पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनसे भिन्न होनेसे आत्मा परभावरूप न होनेसे आत्मा का अतत्पना सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आत्मा का स्वद्रव्यादिचतुष्टय की दृष्टि से कथंचित् तत्पना और परपदार्थ के द्रव्यादिचतुष्टय से व्यतिरिक्त-भिन्न होनेसे कथंचित् अतत्पना ये दो विरोधी धर्म सिद्ध हो जाते हैं। यह विरोध वास्तव विरोध न होकर विरोधाभासरूप है।

व्यवहारनय की दृष्टिसे आत्मद्रव्य अनन्तधर्मात्मक है। आत्मा का प्रत्येक गुण उसका अंश होनेसे उसकी पर्यायसंज्ञा भी होती है; किंतु पर्याय की तरह गुण विनश्वर न होनेसे अर्थात् अनादि से अनन्त कालतक आत्मा के साथ तादात्म्य को प्राप्त होनेसे वे सहभावी कहे जाते हैं। पर्यायें उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती हैं। अपने उपादान से क्रम से उत्पन्न होनेवाली होनेसे वे क्रमभावी कही जाती हैं। आत्मा के गुण और पर्यायें आत्मा के अंश अर्थात्

चिदंश हैं। वे गुण और पर्यायें संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं । आत्मा के सहभावी गुणरूप और क्रमभावी पर्यायरूप अंश-चिदंश अनन्त हैं। आत्मा गुणपर्यायरूप चिदंशों का समूह है । आत्मा के वस्तुतः विभाग नहीं होते । अतः वह अखण्ड एक द्रव्य है। गुणपर्यायसमूहरूप और (कल्पित प्रदेश असंख्येय होनेपर भी) विभागशून्य होनेसे यह आत्मा एक है । कहनेका भाव यह है कि यद्यपि अनंतगुणपर्यायात्मक होनेके कारण व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा अनेक स्वरूप है तो भी उन गुणपर्यायों के कारण होनेवाले अनन्तरूपत्व को-अनेकत्व को गौण करके और आत्मा के अखण्डत्व को द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से प्रधान बनाकर आत्मा का एकत्व सिद्ध किया गया है । विभागशून्य अत एव अखण्ड एक द्रव्य जो आत्मा और उसके सहभावी गुण और उसमें क्रमसे प्रादुर्भूत होनेवाली उसकी पर्यायें इनमें तादात्म्य होता है । अतः वह आत्मद्रव्य अपने उन गुणों को और पर्यायों को अपने स्वभाव से व्यापता है । आत्मद्रव्य से व्याप्त सहभावी गुणरूप और क्रमभावी पर्यायरूप अनन्त चिदंशों की-चेतनपरिणामों की मुख्यता से अखण्ड आत्मद्रव्य का व्यवहारनय की दृष्टि से अनेकत्व सिद्ध हो जाता है । अनंत चिदंशों की जब मुख्यता होती है तब अखण्ड एक आत्मद्रव्य गौण पडता है । इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से आत्मा का एकत्व और पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उसका अनेकत्व सिद्ध हो जानेसे आत्मा के एकत्व और अनेकत्व इन दो विरोधी धर्मों की सिद्धि हो जाती है । यह विरोध भी वास्तव विरोध न होकर विरोधाभासरूप है ।

आत्मा के अपने जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव हैं उनमें नित्य स्थिर रहनेकी आत्मा की शक्ति होती है। उस शक्तिरूप स्वभाव से आत्मा नित्य युक्त होती है । उसके साथ तादात्म्य को प्राप्त हुई होती है । आत्मा इस अपने स्वभाव के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुई होनेसे उसका सत्त्वधर्म सिद्ध हो जाता है । अपने अनंत गुणों के पिण्ड के साथ, अपने असंख्येय प्रदेशों के साथ, अपनी उपादेयभूत पर्यायों के साथ, और अपने गुणोंके या स्वभाव के साथ तादात्म्यसंबंध को प्राप्त होनेसे या अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वरूप से परिणत होनेके कारण आत्मा का सत्त्वधर्म सिद्ध हो जाता है । पर पदार्थ भी अनन्तगुणों का पिण्ड होता है । उस पर पदार्थ के अनन्तगुणात्मक पिण्ड के साथ, उसके प्रदेशों के साथ, उसकी पर्यायों के साथ और उसके स्वभाव के या गुणों के साथ तादात्म्य को प्राप्त न होनेकी शक्ति आत्मा में होती है । उस शक्तिरूप स्वभाव से नित्य युक्त होनेसे या पर पदार्थ के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वरूप से परिणत न होनेकी शक्तिरूप स्वभाव से नित्य युक्त होनेसे आत्मा का असत्त्वधर्म सिद्ध हो जाता है । कहने का भाव यह है कि द्रव्यव्यतिरेक (आत्मा का परपदार्थ से भेद), क्षेत्रव्यतिरेक (आत्मप्रदेशों का परद्रव्य के प्रदेशों से भेद), कालव्यतिरेक (आत्मा की पर्यायों का पर द्रव्य की पर्यायों से भेद) और भावव्यतिरेक (आत्मस्वभाव का या आत्मगुणों का परपदार्थ के स्वभाव से या गुणों से भेद) होनेसे आत्मा परद्रव्य के स्वरूप से परिणत न होनेकी शक्ति रखती है । उस शक्तिरूप स्वभाव से नित्य युक्त होनेसे आत्मा का असत्त्वधर्म-नास्तित्व सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार आत्मा के सत्त्व और असत्त्व इन दो विरोधी धर्मोंकी सिद्धि हो जाती है । यह विरोध भी वास्तव विरोध नहीं है अपि तु विरोधाभासरूप है ।

आदि-अन्तरहित, भेदरहित एकरूप से परिणत होनेका आत्मा का स्वभाव है । उस स्वभावसे उसके नित्यत्वधर्म की सिद्धि हो जाती है । क्रम से प्रवृत्त होनेवाली, एकसमयस्थितिक अनेक पर्यायों के रूप से परिणत होनेका आत्मा का स्वभाव है । उस स्वभाव से नित्य युक्त होनेसे आत्मा के अनित्यत्वधर्म की सिद्धि हो जाती है। इसप्रकार आत्मा के नित्यत्व और अनित्यत्व इन दो विरोधी धर्मोंकी सिद्धि हो जाती है । यह विरोध भी वास्तव विरोध न होकर विरोधाभासरूप है ।

इसप्रकार आत्मा के तत्त्वातत्त्व, एकत्वानेकत्व, सत्त्वासत्त्व और नित्यत्वानित्यत्व धर्म सिद्ध हो जाते हैं ।

शंका- आत्मद्रव्य का ज्ञानमात्र स्वभाव होनेपर भी यदि अनेकान्त स्वयमेव प्रकट हो जाता है, तो आत्मा के अनेकान्तत्व की सिद्धि करनेके लिये अनेकान्त का साधनरूप से कथन अर्हन्तों ने क्यों किया ?

समाधान- अज्ञानियों के विषयमें आत्मद्रव्य ज्ञानमात्र स्वभाववाला है इस बातकी सिद्धि करनेके लिये अनेकांत को अर्हन्तों ने साधन कहा है । अनेकान्त के बिना ज्ञानमात्रस्वभाववाला आत्मद्रव्य हि सिद्ध नहीं

होता। खुलासा— स्वभावतः अनेक पदार्थोंसे भरे हुए इस विश्वमें सभी पदार्थोंका अपने अपने स्वभावकी दृष्टिसे अद्वैत होनेपर भी—पदार्थ के द्वित्व का ज्ञान न होनेपर भी उसके द्वित्वका (पदार्थ के द्विरूपता का) निषेध करना अशक्य होनेसे हरएक पदार्थ अपने स्वरूप में स्थिर रहना और पर पदार्थ के द्रव्य के रूपसे क्षेत्र के रूपसे, काल के रूपसे और भाव के रूपसे पृथक् – अलग रहना इन दो भावों से – स्वरूपोंसे युक्त है हि।

इसप्रकार ज्ञानमात्रस्वभाव का अनेकान्तत्व सिद्ध हो जाता है। अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य का ज्ञानमात्रत्व निम्नप्रकार से सिद्ध किया गया है।

शंका— क्रम से होनेवाले और अक्रम से प्रवृत्त अर्थात् सहप्रवृत्त अनन्तधर्मों से नित्य युक्त आत्मा का ज्ञानमात्ररूप–एकधर्मत्व कैसे सिद्ध हो सकता है?

समाधान— एक दूसरेसे भिन्न ऐसे अनन्तधर्मों के समुदायरूप से परिणत हुई एक ज्ञप्तिमात्रस्वभावरूप से आत्मद्रव्य स्वयमेव परिणत होनेवाला होनेसे उसका ज्ञानमात्रैकधर्मत्व सिद्ध हो जाता है। इसीलिये हि इस आत्मा की ज्ञानमात्र एक धर्म में अन्तर्भूत होनेवाली अनन्त शक्तियां प्रादुर्भूत होती हैं। शक्तिशब्द का अर्थ है गुण। ये गुण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की तरह ज्ञानगुण की पर्यायरूप है। "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का कारण-साधकतम साधन है। जीवादि सात तत्त्वों के श्रद्धानरूप से ज्ञानगुण का जो परिणमन वह सम्यग्दर्शन है, जीवादि पदार्थों के ज्ञानरूप से ज्ञानगुण का जो परिणमन वह सम्यग्ज्ञान है और रागादिरूप विभावभावों की परिहरणक्रिया के कर्तृत्वरूप से ज्ञानगुण का जो परिणमन वह सम्यक्चारित्र है। अतः इसप्रकार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयी मिलकर एक हि ज्ञान का परिणमन है यह स्पष्ट हुवा। ज्ञान हि परमार्थतः मोक्ष का कारण है यह स्पष्ट हो जाता है"। (समयसार गाथा १५५ की आत्मख्याति)। आत्मा का ज्ञानमात्रस्वभाव और आत्मा के अनन्तधर्म इन में अविनाभावसंबंध होता है यह अभिप्राय 'प्रसिद्ध हि ज्ञानं ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानः तदविनाभूतानन्तधर्मसमुदायमूर्तिः आत्मा। ततो ज्ञानमात्राचलितनिखाततया दृष्टया क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनन्तधर्मजातं यद्यावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खलु आत्मा।' (समयसारपरिशिष्ट) इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है। जिसका जिसके साथ यथार्थ अविनाभावसंबंध होता है उसका उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमाण "स्यादेतत्-' गुणविशेषग्रहणे सति रसादीनामग्रहणं प्रसक्तं' इति, तन्न। किं कारणम्? तदविनाभावात् तदन्तर्भावसिद्धेः। रूपाविनाभाविनो हि रसादयो रूपग्रहणेन गृह्यन्ते। [राजवा. ५।५।३ भाष्य]" [विशेष गुण का ग्रहण किया जानेपर रसादिकों का ग्रहण न होनेका प्रसंग आ जाता है। यह आक्षेप ठीक नहीं है इसका कारण? रसादिकों का उस विशिष्ट गुण के साथ अविनाभावसबंध होनेसे उनका उस विशिष्ट गुण में अन्तर्भाव हो जाता है इसलिये। रूपके साथ जिनका अविनाभाविसबंध है ऐसे रसादिकों का रूपगुण का ग्रहण करनेसे ग्रहण हो जाता है।] इस उद्धरण से उपर्युक्त अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। आत्मा के ज्ञानमात्र स्वभाव के साथ उसके अनन्तधर्मों का यथार्थ अविनाभावसंबंध होनेसे वे अनन्त धर्म ज्ञानमात्र स्वभाव में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः आत्मा का स्वभाव निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञानमात्र हि है और व्यवहारनय की दृष्टि से वह आत्मा अनन्तधर्मोंवाली है।

ऐसी निश्चयनय से ज्ञानमात्रस्वभाववाली और व्यवहारनय से अनन्तधर्मोंवाली आत्मा का यथार्थ स्वरूप आत्मा से अभिन्न होनेवाला ज्ञान अन्तरंग में देखता है- अनुभव करता है। आत्मद्रव्य अमूर्त होनेके कारण इंद्रियगोचर न होनेसे वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से हि जाना जाता है। इस स्वसंवेदनक्रिया में ज्ञाता और ज्ञेय एक आत्मा हि होती है। यह ज्ञान पर्यायरूप से परिणत होनेसे और उसके विषयभूत अनन्त ज्ञेय अनन्तधर्मोंवाले होनेसे अनेकान्तप्रधान होता है। अपनी शुद्ध अवस्था में यह ज्ञान विश्व के सम्पूर्ण ज्ञेयों को अपनी ज्ञप्तिक्रिया से व्यापता है इसलिये उसको मूर्ति कहा गया है। ऐसा शुद्ध ज्ञान अपनी आत्मा में नित्य प्रकट हो ऐसी इच्छा टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र कर रहे हैं। यहां 'नित्यमेव' का अर्थ अविच्छिन्नरूप से ऐसा होता है।

पूर्ण, निर्दोष और असहाय ज्ञान की केवलज्ञान यह संज्ञा है। इसमें सभी पदार्थ अपने अनन्त गुणपर्यायोंसहित प्रतिभासित होते हैं। इसके द्वारा हि अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य का स्वरूप प्रत्यक्षरूपसे जाना जाता है।

स्याद्वाद भावभूतरूप है। यह स्याद्वाद 'स्यात्' पदके द्वारा अनन्त धर्मोंको अविरोधरूपसे एक पदार्थमें सिद्ध करता है। आत्मद्रव्य में अनन्तधर्मों के अस्तित्व की अविरोधरूप से सिद्धि यह स्याद्वादविद्या हि करती है। 'प्राश्निकप्रश्नवशादेकस्मिन्वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पनं सप्तभङ्गी' ऐसा स्याद्वाद का लक्षण पूर्वाचार्यों ने दिया है। इसी स्याद्वाद का दूसरा नाम अनेकान्त है। आत्मद्रव्य में अनन्तधर्मों का अविरोधरूप से अस्तिरूप होना यह स्याद्वादविद्या हि सिद्ध करती है। अनन्तधर्मों में जो एक ज्ञानधर्म है वह आत्मा का असाधारण धर्म है और इस असाधारणधर्म के साथ अन्यधर्मों का अविनाभाव होनेसे उस असाधारणधर्म में अन्य अवशिष्ट धर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। ज्ञानधर्म को जीव का असाधारणधर्म इसलिए कहा जाता है कि वह आत्मभिन्न पदार्थों में नहीं पाया जाता। प्रत्येक आत्मा का ज्ञानरूप असाधारण धर्म अवस्थाभेद से और द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों के भेद से भिन्न भिन्न है। यहि ज्ञान अन्तरात्मा का साध्य है, अन्तरात्मा की निर्विकल्प अवस्था साधन है और अन्तरात्मा साधक है।

इस कलश में न नमस्कार का विधान है और न आशीर्वचन की गन्ध है। आचार्यश्री समयसार जैसे महान् अध्यात्मग्रन्थका व्याख्यान करने की इच्छा करते हैं। अतः स्याद्वादविद्यास्वरूप निर्दोष आत्मज्ञान की आवश्यकता उन्हें महसूस होती है; क्योंकि उसके बिना अनेकान्तात्मक आत्मद्रव्य का यथार्थस्वरूप प्रकट करना दुष्कर है। दूसरी बात यह है कि मुमुक्षा के कारण उन्हें शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति अभिलषित है। प्रथम कलश में उन्होंने समयसार को नमस्कार भी किया है। अतः 'प्रकाशतां' इस पद का प्रार्थनापरक अर्थ लेना हि युक्तिसंगत है।

श्रीमान् पं. जयचंद्रजी ने 'अनन्तधर्मणः' इत्यादि कलश का भावार्थ लिखते समय 'यहां सरस्वती की मूर्ति को आशीर्वचनरूप नमस्कार किया है।' ऐसा वाक्य लिखा है। नमस्कार पूज्य व्यक्ति को किया जाता है और आशीर्वाद छोटी व्यक्ति को दिया जाता है। यहां सरस्वतीरूप से केवलज्ञान हि अभीष्ट है। आचार्य अमृतचंद्रसूरि केवलज्ञान के धारक नहीं थे। केवलज्ञान की प्राप्ति उनका साध्य था। केवलज्ञान उनके विषय में आराध्य था। अतः केवलज्ञान की प्रार्थना करना या उसको नमस्कार करना हि आचार्यश्रीका कर्तव्य था। आचार्यश्री सरीखे अनुपम विद्वान् केवलज्ञान को कदापि आशीर्वाद नहीं दे सकते थे और वास्तवरूप से देखा जाय तो उन्होंने दिया भी नहीं है। 'प्रकाशता' यह लिङन्तरूप है और लिङ्का अर्थ 'अधीष्ट' इच्छा है और प्रार्थना भी है। देखिए 'विधिनिमंत्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थने लिङ्'। अतः इस नियम के अनुसार 'प्रकाशतां' इस पद का अर्थ 'प्रकाशरूप हो ऐसी इच्छा अथवा प्रार्थना है' ऐसा करना चाहिये।

'अनेकान्तमयीमूर्तिः' इस पाठ के विषय में भी विचार करना क्रमप्राप्त है। 'अनेकान्तमयी' और 'मूर्तिः' ये दोनों पद अलग अलग लिखकर कहींकहींपर अर्थ किया गया है और कहींपर दोनों पद संयुक्त समझकर अर्थ किया गया है। जहां सामासिक पद समझकर अर्थ किया गया है वहां वह समास बहुव्रीहि समझकर अर्थ किया गया है। यह समास यदि बहुव्रीहि मान लिया गया तो समानाधिकरणबहुव्रीहि मानना पडेगा। ऐसे बहुव्रीहि समास में जो स्त्रीप्रत्ययान्त पूर्वपद होता है उसका 'स्त्र्युक्तपुंस्कादनूरेकार्थेऽङट्प्रियादौ स्त्रियाम्' इस नियम के अनुसार पुंवद्भाव हो जाता है। प्रकृत समास में 'अनेकान्तमयी' यह पूर्वपद ज्यों का त्यों स्त्रीप्रत्ययान्त है। अतः यह समास समानाधिकरणबहुव्रीहि नहीं लिया जा सकता। समास हि लेना हो तो षष्ठीतत्पुरुष लेना चाहिये। 'अनेकान्तमय्या मूर्तिः सारः अनेकान्तमयीमूर्तिः।' इसप्रकार विग्रह करके 'अनेकान्त से बनी हुई जो जिनवाणी उसका सार अर्थात् संपूर्ण और निर्दोष स्वभाव' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। मैंने दो अलग अलग पद लेकर अर्थ किया है। जो पदार्थ अपने पास नहीं होता और जिसकी अपने को आवश्यकता होती है ऐसे पदार्थ के लिये हि प्रार्थना की जाती है। आचार्यश्री को आत्मपदार्थ के स्वरूप का विवेचन करना है और उसके लिये उन्हें निर्दोष स्याद्वादविद्या की आवश्यकता है। निर्दोष स्याद्वादविद्या ज्ञानरूप है और ज्ञान आत्मा का स्वभावभूत भाव है। उन्हें अपने स्वभावभूतज्ञान की प्राप्ति कर लेनी है। अतः अपनेमें स्याद्वादविद्या के स्वरूप का प्रकाश हो जानेके लिये प्रार्थनाका किया जाना युक्तिसंगत मालूम होता है।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

अन्वय – परपरिणतिहेतोः मोहनाम्नः अनुभावात् अविरतं अनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः मम शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः समयसारव्याख्यया एव अनुभूतेः परमविशुद्धिः भवतु ।

अर्थः– भविष्यकाल में होनेवाली कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों की द्रव्यकर्मसंज्ञक पररूप परिणति का निमित्त-कारण, भूतकाल में हो गयी कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों की द्रव्यकर्मसंज्ञक पररूप परिणति जिसका निमित्तकारण पडती है ऐसे, और अशुद्ध आत्मा की अज्ञानात्मक सामान्य [और अनादिसे चली आयी] पररूप परिणति जिसका उपादान-कारण होती है ऐसे भावमोह की और भविष्यकाल में होनेवाली अशुद्ध अर्थात् अज्ञानी आत्मा की भावकर्मसंज्ञक पररूप परिणति का निमितकारण, भूतकाल में हो गयी अशुद्ध अर्थात् अज्ञानरूप विभावभावरूप से परिणत हुई आत्मा की भावकर्मसंज्ञक पररूप परिणति जिसका निमित्तकारण पडती है ऐसे और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य की कर्मरूप-विभावात्मक सामान्य पररूप परिणति जिसका उपादान कारण होती है ऐसे द्रव्यकर्म की अर्थात् भावद्रव्यरूप मोहनीयकर्म की सामर्थ्य से अनुभाव्य-क्रोधादिविभावपरिणामों के रूप से परिणत होनेके कारण अनादि से वर्तमान-कालतक अविच्छिन्नरूप से कलंकित बनी हुई अर्थात् अशुद्ध अवस्था को प्राप्त हुई, शुद्ध निश्चय की दृष्टिसे शुद्धचैत-न्यमात्रस्वभावरूप मेरी आत्मा की समयसारग्रंथ की व्याख्या करनेसे हि प्राप्त होनेवाली अनुभूति से और शुद्ध आत्मा के ज्ञानमात्रस्वभाव का विशेषरूप से विशदीकरण करनेसे प्राप्त होनेवाली अनुभूति से परम-उत्कृष्ट विशुद्धि हो।

परपरिणतीत्यादि– मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्य शुद्धात्मस्वभावभूतशुद्धज्ञानवैपरीत्यादज्ञान-रूपत्वान्मोहसञ्ज्ञायाः, मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्य शुद्धात्मस्वभावभूतशुद्धज्ञानवैपरीत्यस्य विभाव-परिणामस्योत्पत्तेः स्वोदयेन निमित्तभूतस्य कर्मतापन्नकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य च मोहसञ्ज्ञायाः मोहस्य भावद्रव्यमोहसञ्ज्ञं द्वैविध्यमनुरुध्यास्य कलशस्य व्याख्यानं कर्तव्यम् । परपरिणतिहेतोः परस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य या परिणतिः परिणामः कर्मसञ्ज्ञकविभावपरिणामत्वेन परि-णमनं वा । तस्याः हेतुः निमित्तकारणम् । तस्य । यद्वा परा शुद्धात्मपरिणतेर्भिन्ना चासौ परिणतिः क्रोधादिरूपविभावात्मकः परिणामश्च परपरिणतिः । ‘ पुंवद्यजातीयदेशीये ’ इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । तस्याः हेतुरुपादानकारणं प्रभवो वा । तस्य । अत्र हेतुशब्द उपादानकारणार्थवचनः । अत्र प्रमाणं ‘ हेतोर्हेतुमता सार्धमभेदो हेतुरुच्यते ’ इति । मोहोदयनिमित्तजन्याज्ञानात्क्रोधादिविभाव-भावानां कार्यतयोत्पत्तेरत्राज्ञानाख्यस्य जीवविभावपरिणामस्योपादानकारणत्वम् । भवत्क्रोधादिरूप-विभावपरिणामप्रध्वंसाभावानन्तरभाविनो विभावपरिणामस्योपादानकारणत्वमित्यर्थः । यद्वा परा शुद्धात्मस्वभावभूतशुद्धज्ञानस्वरूपभिन्नस्वभावा विभावभावात्मिका चासौ परिणतिः परिणामश्च परपरिणतिः । पूर्वपदस्य पूर्ववत्पुंवद्भावः । सा हेतुरुपादानकारणं यस्य । तस्य । बसः । उत्पन्न-प्रध्वंसिनोऽनन्तरपूर्वकालभवस्य विभावपरिणामस्य भवद्विभावभावोपादानकारणत्वादिति भावः । यद्वा परस्य आत्मद्रव्याद्भिन्नस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य परिणतिः कर्मरूपः परिणामः कर्मत्वेन परिणमनं वा परपरिणतिः । सा हेतुः कर्मोदयरूपं निमित्तकारणं यस्य । तस्य । क्रोधादिक-षायरूपविभावात्मकात्मपरिणामे निमित्तभूते सति एव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलाः द्रव्यकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमन्तीति हेतोः, संसारिणो जीवस्यानाद्यज्ञानरूपो विभावपरिणामो द्रव्यमोहकर्मो-

दयात्मके पुद्गलद्रव्यस्य विभावपरिणामे निमित्तभूते सति क्रोधादिकषायरूपविभावात्मकात्मपरिणामस्वरूपेण स्वयमेव परिणमतीति हेतोश्चात्र मोहशब्देन भावमोहस्य ग्रहणमवश्यम्भावि । परपरिणतिहेतोरिति सामासिकपदस्य षष्ठीतत्पुरुषसमासत्वेन ग्रहणमुत्तरकालभाविकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यकर्मविभावपरिणामापेक्षयोत्तरकालभाव्यात्मविभावपरिणामापेक्षया च, तस्यैव च बहुव्रीहिसमासत्वेन ग्रहणमनन्तरपूर्वकालभाविजीवविभावपरिणामात्मकोपादानकारणापेक्षयेत्यवसेयम् । परस्य कर्मत्वापन्नपुद्गलद्रव्याद्भिन्नस्याज्ञानिन आत्मनः परिणतिरज्ञानरूपादुपादानात्प्रादुर्भवन्क्रोधादिविभावभावात्मकः परिणामः क्रोधादिविभावभावात्मकत्वेन परिणमनं वा परपरिणतिः। तस्याः हेतुर्निमित्तकारणम् । तस्य । यद्वा परा वर्तमानकालभवद्द्रव्यकर्मोदयाख्यविभावरूपायाः पुद्गलपरिणतेर्भिन्ना चासौ परिणतिः उदयकालानन्तरोत्तरकालभाविफलदानसामर्थ्यविकलपुद्गलकर्मपरिणामश्च परपरिणतिः । कर्मधारयत्वात्पूर्वपदस्य पूर्ववत्पुंवद्भावः । तस्याः हेतुरुपादानकारण प्रभवो वा । तस्य । उदयावस्थापन्नद्रव्यकर्मण एव फलदानानन्तरं फलदानसामर्थ्यवैकल्यविशिष्टावस्थापन्नत्वादुदयावस्थाविशिष्टस्य द्रव्यकर्मण उपादानकारणत्वम् । यद्वा परा शुद्धपुद्गलस्वभावात्कथञ्चिद्भिन्नस्वभावा चासौ परिणतिः कर्मसञ्ज्ञकविभावभावात्मकः परिणामश्च परपरिणतिः । पूर्वपदस्य पूर्ववत्पुंवद्भावः । सा हेतुरुपादानकारणं यस्य । तस्य । बसः । अनन्तरपूर्वकालभवानुदयावस्थापन्नपुद्गलद्रव्यात्मककर्मस्वरूपविभावपरिणामस्योदयावस्थापत्तिरूपभवद्विभावभावस्योत्पत्त्यनन्तरपूर्वावस्थस्य द्रव्यकर्मण उपादानकारणत्वम् । यद्वा परस्यानादेरज्ञानिन आत्मनः परिणतिः विभावभावस्वरूपभावकर्मात्मकः परिणामः विभावभावात्मकत्वेन परिणमनं वा परपरिणतिः । सा हेतुर्निमित्तकारणं यस्य । तस्य । अनाद्यज्ञानोपादानसम्भूतक्रोधादिस्वरूपविभावपरिणामे निमित्तभूते सत्येव यतः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलाः द्रव्यमोहकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमन्ति ततो द्रव्यमोहकर्मणोऽज्ञानिजीवविभावभावनिमित्तकारणकत्वं स्पष्टीभवति। द्रव्यमोहोदये सत्यनादेरज्ञानिनोऽसमर्थस्य संसारिणो जीवस्य भावमोहाख्यक्रोधादिकषायस्वरूपविभावभावात्मकपरिणामस्य सम्भवादज्ञानिनो जीवस्य च क्रोधादिरूपविभावभावोत्पत्तौ निमित्तभूतायां सत्यां कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य वैस्रसिकी द्रव्यमोहकर्मत्वेन परिणतिर्भवतीति हेतोर्मोहशब्देन द्रव्यमोहस्य ग्रहणं सम्भवति। अत्रापि पूर्वोत्तरपरिणामापेक्षया परपरिणतिहेतोरितिपदस्य बहुव्रीहिसमासत्वेन षष्ठीतत्पुरुषसमासत्वेन च ग्रहणम् । मोहशब्दस्योभयार्थग्रहणेऽपि प्रोक्तसामासिकपदस्य षष्ठीतत्पुरुषसमासत्वेन ग्रहणमज्ञानिजीवद्रव्यकर्मणोरुत्तरपर्यायापेक्षया बहुव्रीहिसमासत्वेन ग्रहणं च भवत्पर्यायापेक्षयेत्यवसेयम् । पूर्वबद्धोदयप्राप्तकर्मणस्तत्पूर्वकालभावी विभावस्वरूपोऽज्ञानिन आत्मनः परिणामो निमित्तकारणं भवति । भविष्यति काले बन्धावस्थामापत्स्यमानस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्य वर्तमानकालभवो विभावात्मकोऽज्ञानिनो जीवस्य परिणामो निमित्तकारणं भवति । वर्तमानकालभवस्याज्ञानिनो विभावपरिणामस्य पूर्वबद्धद्रव्यकर्मोदयो निमित्तकारणं भवति । भविष्यत्कालभाविनोऽज्ञानिनो विभावपरिणामस्येदानीन्तनकालबद्धद्रव्यकर्मणो भविष्यति काले प्रादुर्भवन्नुदयो निमित्तकारणं भवति । अनादेरिदानीन्तनकालं यावत् पुद्गलकर्माज्ञानात्मकविभावभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावः परम्परयाऽविच्छेदेन निश्चयनयेन शुद्धस्यापि चैतन्यस्य परिणतिः कल्माषिता भूता भवति च ।

अज्ञानोपादानकक्रोधादिविभावरूपपुद्गलद्रव्यकर्मोदयादिरूपपरिणत्योर्निमित्तनैमित्तिकभावपरम्पराविच्छेदस्याभावात्केवलज्ञानप्रादुर्भूतिकालं यावद्भविष्यति च । अशुद्धस्यात्मनोऽनन्तरपूर्वकालभाविविभाव-

परिणामो भवद्विभावपरिणामस्य, भवद्विभावपरिणामोऽनन्तरोत्तरकालभाविविभावपरिणामस्य चोपादानकारणं भवति। पुद्गलद्रव्यकर्मण उदयादिरूपभवद्विभावपरिणामस्यानन्तरपूर्वकालभवोदयादिविभावपरिणामः, अनन्तरोत्तरकालभवोदयादिरूपविभावपरिणामस्योदयादिरूपभवद्विभावपरिणामश्चोपादानकारणं भवतीत्यवबोद्धव्यम्। एतादृशो मोहनाम्नः भावद्रव्यमोहसञ्ज्ञकस्य कर्मणः। अनुभावात् सहपरिणमनाद्धेतोः। विभावभावात्मकपरिणामाभिमुखस्याज्ञानिनः आत्मनो विभावात्मकपरिणतिक्रियया सहोदयात्मकवैभाविकक्रियारूपेण द्रव्यकर्मणः परिणमनाद्धेतोरित्यर्थः। तेनानुभावादित्यस्य मोहपदेन द्रव्यमोहस्य ग्रहणे निमित्ताद्द्रव्यमोहाभिधानादित्यर्थं। अनु सह भावो भवनं अनुभावः। तस्मात्। भावो भवनम्। परिणमनमित्यर्थः। 'श्रिभ्वोऽगौ' इत्यनुपसृष्टाद्भूधातोर्घञ्भावे। अनुरत्र सहार्थवचनः। 'अनुत्वनुक्रमे हीने पश्चादर्थसहार्थयोः। आयामेपि समीपार्थे सादृश्ये लक्षणादिषु'॥ इति विश्वलोचने। यदाऽज्ञानिजीवो मिथ्यादर्शनादिरूपविभावपरिणात्मकत्वेन परिणमति तदा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गला अपि स्वयमेव कर्मत्वेन परिणम्यात्मपुद्गलप्रदेशसंश्लेषात्मकबन्धावस्थां प्राप्नुवन्ति, यदा तु बन्धावस्थां प्राप्तं मोहनीयादिद्रव्यकर्म उदयात्मकत्वेन परिणमति तदैवानादेरज्ञानिनो जीवस्य मिथ्यादर्शनादिरूपविभावपरिणामात्मकत्वेन परिणमनं भवति। उपादानस्य परिणमनक्रियया सहैव तत्परिणमनानुकूलं परिणमनं यस्य भवति तस्यैव निमित्तत्वं, निमेदति सह करोतीति निमित्तमिति निमित्तशब्दस्य व्युत्पत्ते, भवितृभवनव्यापारानुकूलव्यापारवन्निमित्तमित्येवंविधलक्षणत्वान्निमित्तस्य, एवंविधस्य निमित्तलक्षणस्यामृतचन्द्राचार्यैः स्वोपज्ञटीकायां समर्थितत्वाच्च। अत्रानुभावशब्दस्य सामर्थ्यार्थवचनत्वमप्यर्थानुकूल्याद्युक्तमेव। नायमनुभवाभिधेयविपाकार्थवचनः, विपाकार्थाभिधेयस्य अनुभवशब्दस्यानुभावशब्दाद्भिन्नत्वात् तस्य घप्रत्ययान्तसोपसर्गभूधातुसाधितत्वाच्च। 'श्रिणीभुवोऽगौ' इतिसूत्रस्य जैनेन्द्रमहावृत्तिकारकृतं व्याख्यानं यथा–'अगिपूर्वेभ्यः श्री णी भू इत्येतेभ्यो घञ्भवति। श्रायः। नायः। भावः। अगादिति किम्? प्रश्रयः। प्रभवः। कथं प्रभावो धर्मस्य? प्रकृष्टो भावः प्रभावः इति प्रादिसः।' मल्लिनाथेनाप्येतादृश एवाभिप्रायः किरातार्जुनीयटीकायां प्रकटीकृतः। 'अनुभावः सामर्थ्यम्। अनुगतः भावः अनुभाव इति घञन्तेन प्रादिसमासः, न तूपसृष्टाद्घञ्प्रत्ययः, 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' [पा० ३।३।२४] इत्यनुपसर्गाद्भुवतेर्धातोर्घञ्विधानात्। अत एव काशिकायां कथ प्रभावो राज्ञाम्? प्रकृष्टः भावः इति प्रादिसमासः।' [किराता० १।६] अनुगतः सहभावो प्रविष्टो वा भावः सामर्थ्यमनुभावः। द्रव्येण तादात्म्यमापन्नं सामर्थ्यमित्यर्थः। 'प्रात्यवपरिनिःप्रत्यादयो गतक्रान्तकृष्टग्लानक्रान्तस्थितादिषु वेदभाप्केभिः' इति प्रादिसः। अत्र सामर्थ्यार्थवचनोऽप्यनुभावशब्दः प्रकरणानुविधायी। मोहकर्मण फलदानसामर्थ्यस्याज्ञानिनो जीवस्य परिणमनशक्त्याख्यबलस्योद्बोधकत्वाद्बलाधायकत्वात्तस्य जीवस्य विभावपरिणतेः प्रादुर्भवनक्रियायां निमित्तत्वं स्पष्टतामाटीकते, निमित्तकार्यस्य बलाधानमात्रस्वरूपत्वात्। बलाधानं नाम बलस्योत्तेजनं प्रबोधनं वा। तेनानुभावादित्यस्य निमित्तादित्यर्थोऽपि सम्भवति। 'यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते।' इति तत्त्वार्थसारेऽमृतचन्द्राचार्यैरुक्तम्। अविरतमनादेर्वर्तमानकालं यावदविच्छेदेन। अनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः भावमोहाख्याज्ञानस्य रागद्वेषादिविभावपरिणामोपादानकारणभूतस्य सामर्थ्याज्जायमाना अनुभाव्याः अनुभवगोचरीभवनार्हा रागद्वेषादिरूपाः अज्ञानिनो जीवस्य ये विभावपरिणामाः तेषां या व्याप्तिः व्यापनक्रियाविशिष्टाऽप्तिः प्रादुर्भावो वा

तया कल्माषिता सञ्जातकल्मषा। तस्याः। 'तदस्य सञ्जात तारकादिभ्य इतः' इति इतस्त्यः। यद्वा द्रव्यमोहाख्यपुद्गलकर्मणो रागद्वेषादिरूपजीवविभावभावनिमित्तकारणभूतस्य फलदानसामर्थ्याज्जीवेऽज्ञानिनि स्वोपादानभूताज्ञानात्मकाद्भावात्प्रादुर्भवन्तोऽनुभाव्याः रागद्वेषादिरूपा अज्ञानिनो जीवस्य ये विभावपरिणामास्तेषां या व्याप्तिर्व्यापनक्रिया विशिष्टाऽऽप्तिः प्रादुर्भावो वा तया कल्माषिता सञ्जातकलङ्का। तस्याः। यद्वाऽनुभाव्यानां सहावश्यं भाव्यानामुदयात्मकत्वेन परिणमनीयानां द्रव्यकर्मणां या व्याप्तिरात्मप्रदेशैः सह संश्लेषः तया कल्माषिता मलिनीभूता। अशुद्धतां प्राप्तेत्यर्थः। यद्वाऽज्ञानिन आत्मनो विभावपरिणतिप्रादुर्भवनक्रियायां निमित्तीभूय समर्थतां प्राप्तस्य मोहाख्यद्रव्यकर्मणः प्रभावात्सञ्जातानामनुभाव्यानामज्ञानिनो दुर्बलस्यात्मनो रागद्वेषादिरूपविभावपरिणामानां या व्याप्तिर्विशिष्टाऽऽप्तिर्लब्ध्याख्यः प्रादुर्भावस्तया कल्माषिता कलुषीभूता। तस्याः। 'ध्याः' इत्यावश्यके गम्यमाने ध्यः। शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः संसार्यपेक्षया विभावभावमापन्नत्वान्मलिनीभूतस्य अपि शुद्धनिश्चयापेक्षया शुद्धचैतन्यस्वरूपस्य मम समयसारव्याख्ययैव समयसाराभिधग्रन्थराजस्य यथार्थभावाविष्कारेणैव। यद्वा समयस्यात्मनः सारः शुद्धज्ञानस्वरूपः स्थिरांशस्तस्य विशिष्टा आख्या ज्ञापनं ज्ञानमनुभूतिश्च। तयैव। 'सारः स्याज्जन्मनि बले स्थिरांशेऽपि पुमानयम्। सारं न्याय्ये जले वित्ते सारं स्याद्वाच्यवद्वरे॥' इति विश्वलोचने। तयैव। हेतौ भा। तयैव हेतुभूतया याऽनुभूतिरनुभवः। तस्याः। हेतौ का। परमविशुद्धिः सर्वोत्कृष्टा विशुद्धिर्भवतु भूयात्। परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीः शुद्धात्मज्ञानस्वरूपा यस्याः सा परमा। सा चासौ विशुद्धिश्च परमविशुद्धिः। 'पुंवद्यजातीयदेशीये' इति पुंवद्भावः। 'लोट्' इति प्रार्थने लोट्। प्रार्थनमभिलाषः। श्रीमांष्टीकाकृदाचार्यः भगवानमृतचन्द्रसूरिः स्वात्मशुद्धिमभिलषति। अनादेर्मोहनीयोदयजन्यविभावपरिणामैर्मलिनीभूतस्य मम टीकाकर्तुरात्मनः परमविशुद्धिर्भवत्विति ग्रन्थकारोऽभिलषति। 'शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः अनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ममानुभूतेः समयसारव्याख्ययैव परमविशुद्धिर्भवतु' इत्यन्वयमनुरुध्य व्याख्यानान्तरं यथा--शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः शुद्धा चिदेव ज्ञानमेव मूर्तिः स्वरूपं यस्य स शुद्धचिन्मात्रमूर्तिः। तस्य। 'स्वार्थे द्वयसण्मात्रटौ बहुलं वक्तव्यौ' [जै० वार्तिकं] इत्यवधारणे स्वार्थस्य मात्रट्। शुद्धज्ञानस्वरूपस्येत्यर्थः। अनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः रागादिविभावात्मकपरिणत्या कलुषीभूतायाः ममानुभूतेरनुभवस्य समयसारग्रन्थव्याख्यानेनैव शुद्धात्मशुद्धज्ञानघनस्वभावप्रकटीकरणेन वा परमविशुद्धिर्भवतु भूयादित्याशंसते भगवानमृतचन्द्रसूरिरित्यभिप्रायः।

विवेचन.- (१) जीव जिस समय विभावरूप से परिणत होने लगता है उसी समय कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल स्वयमेव आत्मा के साथ मिलकर कर्मरूप से परिणत होने लगता है। जीव का विभावरूप से परिणत होनेका काल और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलो का कर्मात्मक विभावरूप से परिणत होनेका काल इन दो कालों में पौर्वापर्य नहीं होता- ये दोनो क्रियाएं समकालभाविनी हुआ करती हे। कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल विभावरूप से परिणत होने लगी आत्मा के साथ संयुक्त होते हि उनकी उस संयुक्त अवस्था में कर्मरूप परिणति होने लग जाती है। 'हेतु की सिद्धि हुए विना हेतु कार्यकारी नहीं होता। अतः हेतु सिद्ध होना चाहिये। हेतुमान् अर्थात् कार्यरूप परिणति हेतुके मिल जाने पर हि अस्तिरूप बन जानेसे हेतु के बाद परिणतिरूप कार्य होता है। अतः हेतु और हेतुमान् अर्थात् कार्यरूप परिणति इनमें पौर्वापर्य अवश्यमेव होना आहिये। ऐसी अवस्था में हेतु और हेतुमान् का अर्थात् कार्य और कारण का समकालभावित्व कैसे सिद्ध हो सकता है?' ऐसी शंका का उपस्थित होना अनिवार्य है। इस शंका का समाधान घट--कुम्भकार के दृष्टान्त के द्वारा किया जाता है। मिट्टी घटनिर्मिति के योग्य बनाई जानेपर घुमाये जानेवाले चक्रपर रखकर

कुम्हार जब अपने हाथों से क्रिया करने लग जाता है तब मिट्टी से घट बन जाता है। मिट्टी की घटरूप से परिणत होने की क्रिया और कुम्हारकी मानसपरिणतियुक्त हस्तसंचालनादिरूप शारीरिक क्रिया ये दोनों क्रियाएं जब समकालभाविनी होती हे तब हि मिट्टी घटरूप से परिणत होती है। यदि ये दोनों क्रियाएं समकालभाविनी न हो तो घटरूप परिणति का होना असम्भव है। इस दृष्टान्त से यह बात सिद्ध हो जाती है कि साध्य के पूर्व काल में सामान्यरूप से निमित्त सिद्ध है हि, किन्तु कुम्हाररूप निमित्त की यदि मानसपरिणति और शारीर परिणति मिट्टी की घटरूप परिणति की समकालभाविनी न हो तो घट की निर्मिति होना असंभव है। अतः वस्तुतः कुम्हार की मानसपरिणति से युक्त शारीरपरिण्यति हि निमित्तसंज्ञा को प्राप्त हो सकती है। यह कुम्हार की मानसपरिणतियुक्त शारीरपरिण्यति की क्रिया और मृत्तिका को घटरूप से परिणत होनेकी क्रिया समकालभाविनी होनेपर कार्य की निष्पत्ति हो सकती है अर्थात् उपादान और निमित्त की संयुक्त अवस्था में होनेवाली परिणतिक्रियाएं समकालभाविनी होनेपर हि कार्योत्पत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं; यह अभिप्राय यथार्थ और युक्तिसंगत है। यहांपर विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि उपादान की परिणमनरूप क्रिया उपादानाश्रित और निमित्त की परिणमनरूपक्रिया निमित्ताश्रित होनेपर भी दोनों की परिणमनक्रिया दोनों की संयुक्त अवस्था में होनेपर हि उपादान का परिणाम अस्तिरूप बनता है। अतः निमित्त और उपादान की परिणतिक्रियाएं जब समकालभाविनी और संयुक्त अवस्था में होती है तब हि कार्यरूप परिणति की निष्पत्ति होती है। उपादान की कार्यरूप परिणतिक्रिया का प्रारंभ हो जानेपर निमित्त आकर मिलता है यह अभिप्राय युक्तिसंगत नहीं है। अज्ञानी जीव का अज्ञान स्वजातीय और कथंचित् भिन्नरूप विभाव परिणाम के रूप से विशिष्ट मोहनीय के निमित्तरूप से अर्थात् उदयावस्था के रूप से प्राप्त होनेपर जब विभावरूप से परिणत होने लग जाता है तब कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल आत्मा के साथ संयुक्त अवस्था को प्राप्त होकर स्वयमेव कर्मरूप से परिणत होने लग जाते हैं। कर्मयोग्य पुद्गलों की कर्मरूप परिणति का काल और अशुद्ध जीव के अज्ञान की स्वजातीय और अपनेसे कथंचित् भिन्न ऐसी विशिष्ट परिणति का काल एक होता है। इस परिणति के पूर्वकाल में अज्ञानरूप सामान्य निमित्त सिद्धावस्थारूप से अवश्य मौजूद रहता है। अज्ञान की विशिष्ट परिणति के साथ संयुक्त होते हि पुद्गल की कर्मरूप परिणति होने लग जाती है। अज्ञानी जीव की या उसके अज्ञान की विभावपरिणति का आश्रय अज्ञानी जीव या उसका अज्ञान होता है और द्रव्यकर्मरूप विभाव परिणति का आश्रय कर्मयोग्य पुद्गलों की विभावरूप परिण्यति होती है। अतः किसी भी द्रव्य की परिणति के पूर्वकाल में यद्यपि निमित्त सामान्यरूप से सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ होता है तो भी उस निमित्त का परिणमनकाल और उपादान की परिणतिक्रिया का काल एक हि होता है और वह काल संयुक्त अवस्था का जो काल होता है वही होता है। संयुक्त अवस्था मे होनेवाली दोनों परिणतियों के कालो में पौर्वापर्य नहीं हो सकता। यदि पौर्वापर्य का होना आवश्यक माना गया तो उपादान की कार्यरूप परिणति की निष्पत्ति का होना हि असंभव है। उपादान विभावरूप से या स्वभावरूप से परिणत होता है और निमित्त बाद में आकर मिलता है ऐसा यदि माना गया तो निमित्त का अभाव होनेपर भी उपादान की विभावरूप या स्वभावरूप परिणति की निष्पत्ति का प्रसंग खडा हो जायगा; क्योंकि निमित्त के मिलने के पूर्वकाल में जब उपादान स्वयमेव परिणत होता है तो बाद में भी निमित्त का अभाव होनेपर भी उपादान की परिणति होनी ही चाहिये। जब उपादान निमित्त के मिल जाने के पूर्वकाल में परिणत हो सकता हो अर्थात् विशिष्ट काल में निमित्त का अभाव होनेपर उपादान परिणत हो सकता हो तो वह निमित्त का सर्वथा और सर्वदा अभाव होनेपर भी क्यों परिणत नहीं होगा? यदि सर्वथा और सर्वदा निमित्त का अभाव होनेपर वह परिणत नहीं हो सकता तो निमित्त के मिल जाने के पूर्वकाल में वह निमित्त का अभाव होनेपर भी कैसे परिणत हो सकता है? अतः उपादान की परिणति या तो निमित्त के सर्वथा सद्भाव में माननी चाहिये या सर्वथा उसके अभाव में माननी चाहिये। यदि निमित्त का अभाव होनेपर भी उपादान की परिणति का होना मान लिया तो धर्म, अधर्म और काल इन द्रव्यों का परिणतिके निमित्तकारणत्व के वैफल्य का प्रसंग आ जानेसे सिद्धान्तहानि दुर्निवार या अनिवार्य हो बैठेगी। दूसरी बात यह है कि ऐसा माननेसे जीव की विभावरूप परिणति का अभाव होनेपर भी कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल जीव के

साथ स्वयमेव संबद्ध होकर कर्मरूप अवस्था को प्राप्त होते हुए उसके साथ बंध अवस्था को प्राप्त होगा और जीव भी कर्मोदयरूप निमित्त का अभाव होनेपर भी विभावरूप से परिणत होगा। परिणामतः जीव भी विभावभावों का अभाव होनेपर भी कर्मों से बद्ध होगा और कर्मोदय का अभाव होनेपर भी विभावरूप से परिणत होगा जिससे जीव की सदा के लिये संसार–अवस्था हि बनी रहेगी। ऐसा होनेपर जीव के संसारी और मुक्त ये दो भेद विफल बन जायंगे, इतना हि नहीं अपि तु तीर्थप्रवृत्ति का हि विच्छेद हो जायगा। जैनसिद्धान्त के अनुसार परिणाम जिस-प्रकार द्रव्यपरिणामरूप उपादान के बिना अस्तिरूप नहीं बन सकता उसीप्रकार अन्यद्रव्य के परिणामरूप निमित्त का अभाव होनेपर अस्तिरूप नहीं बन सकता। देखिए–

तथैव स्वात्मसद्भावानुभूतौ सर्ववस्तुनः।
प्रतिक्षणं बहिर्हेतुः साधारण इति ध्रुवम् ॥
प्रसिद्धद्रव्यपर्यायवृत्तौ बाह्यस्य दर्शनात्।
निमित्तस्यान्यथा भावाभावाभिश्चीयते बुधैः ॥

[श्लो. वा., अ. ५, सू. २२, वार्तिककारिका ९-१०]

"उसीप्रकार (चावलों की ओदनरूप परिणति के समान) सभी वस्तुओं का अपने द्रव्य को न छोडते हुए जो उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक ऐसा प्रतिसमय होनेवाला परिणमन अस्तिरूप बनने लग जाता है तब प्रतिसमय बाह्य हेतु साधारण हुआ करता है ऐसा निश्चित है; क्यों कि लोकविज्ञात द्रव्यों की जब पर्यायरूप परिणति होने लगती है तब बाह्य पदार्थ का निमित्तत्व (उपादान की उपादेयरूप परिणति के समय निमित्त होना) दिखाई देता है। यदि ऐसा न हुआ तो परिणामों का अभाव हो जाता है ऐसा विद्वानों के द्वारा निश्चय किया गया है।"

इस से पर्याय चाहे एकसमयवर्ती सूक्ष्म अर्थपर्याय हो या दीर्घकालवर्ती स्थूल व्यंजनपर्याय हो निमित्त अवश्य होना चाहिये यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

इसप्रकार भावमोह कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों की कर्मरूपपरिणति का निमित्तकारण पडता है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। इससे 'परपरिणतिहेतोः' इस सामासिक पद के 'परस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य वा परिणतिः परिणामः कर्मसंज्ञकविभावपरिणामत्वेन परिणमनं वा। तस्याः हेतुः निमित्तकारणम्। तस्य।' इस प्रकार के विग्रह के द्वारा प्रकट किये गये अभिप्राय का खुलासा हो जाता है।

(२) पूर्वकाल में आत्मा के साथ बंधावस्था को प्राप्त हुए द्रव्यमोहकर्म के उदयरूप निमित्त से उत्पन्न होनेवाले अज्ञानी आत्मा के अज्ञानात्मक भावक्रोधादिरूप विभाव परिणाम अपने प्रध्वंसाभाव के बाद फिर से उत्पन्न होनेवाले भाविविभावपरिणामों के उपादान कारण पडते हैं। संसारी जीव का मोहोदयनिमित्तक अज्ञान उसके साथ अनादि से चला आ रहा है। भावक्रोधादिरूप विभावभाव उस अज्ञान के हि विशिष्टद्रव्यमोहोदयरूपनिमित्तजन्य परिणाम होने से भ्रान्तज्ञानरूप अज्ञान उन भावक्रोधादिरूप विभावभावों का उपादान कारण पडता है। अतः यह विभावभावरूप अज्ञान सामान्यतः भूतकालीन, वर्तमानकालीन और भविष्यकालीन क्रोधादिरूप विभाव परिणामों का अपनी पर्याय के साथ उपादानकारण पडता है। भावक्रोधादिकों को विभावभाव कहनेका कारण यह है कि उनका स्वरूप चैतन्यसामान्य से अन्वित होनेपर भी शुद्धज्ञान के स्वरूप से विपर्यस्त होता है और उन्हें वैभाविकभाव कहने का प्रयोजन उनके उपादानकारणभूत अज्ञान के परिणाम होना। 'विभावः प्रयोजनमस्येति वैभाविकः। स चासौ भावः परिणामश्च वैभाविकभावः।' यह वैभाविकभाव इस शब्द का खुलासा है। सारांश, अज्ञान अपने विभावसंज्ञक परिणामों के साथ उत्तरकालीन क्रोधादिरूप विभावपरिणतियों का उपादान कारण पडता है। यदि अज्ञानी जीव को भी विभावभाव का उपादान कारण माना गया तो भी कोई दोष नहीं है। जिसप्रकार हेतुशब्द का अर्थ निमित्तकारण ऐसा होता है उसी प्रकार उपादानकारण ऐसा भी होता है। 'हेतोर्हेतुमता सार्धमभेदो हेतुरुच्यते' इस उक्ति से हेतु इस शब्द का अर्थ 'उपादानकारण' ऐसा भी होता है इस अभिप्रायका खुलासा हो जाता है। 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः,

[दे. स्तो. का. ५८] इस आचार्य समन्तभद्रोक्त कारिका में प्रयुक्त हेतुशब्द का अर्थ उपादानकारण ऐसा है और आचार्यविद्यानन्द ने निमित्तकारण ऐसा भी अर्थ स्वीकृत किया है। 'परा शुद्धात्मपरिणतेर्भिन्ना चासौ परिणतिः क्रोधादिरूपविभावात्मकः परिणामश्च परपरिणतिः। तस्याः हेतुरुपादानकारणं प्रभवो वा' यह 'परपरिणतिहेतोः' इस सामासिक पदका विग्रह सिद्ध हो जाता है। जिस अज्ञान का वर्तमानकाल में जो क्रोधादिरूप विभावपरिणमन होता है उसका प्रध्वंसाभाव हो जानेपर उसी अज्ञान का उत्तर काल में अन्य विभावरूप से परिणमन होता है इस अभिप्राय को सामने रखकर ऊपर दिया हुआ स्पष्टीकरण किया गया है।

(३) शुद्ध आत्मा का स्वभावभूत जो शुद्धज्ञानरूप स्वभाव उस स्वभाव से भिन्न अर्थात् विपर्यस्त स्वभाववाला क्रोधात्मक जो अज्ञानी जीव का स्वभावरूप परिणाम वह शुद्ध जीव की स्वभावरूप परिणति की दृष्टि से भिन्न होने से परपरिणतिरूप है। अज्ञानी जीव की भूतकालीन विभावपरिणति अपने उपादानकारणभूत अज्ञान के साथ वर्तमानकालीन विभावरूपपरिणति का उपादानकारण पडती है; क्यों कि पूर्वकालीन विभावपरिणति के प्रध्वंस का नाम हि वर्तमानकालीन विभावपरिणति का उत्पाद है। वर्तमानकालीन क्रोधादिरूप भावमोहात्मक परिणति का पूर्वकालीन विभावरूप से परिणत हुआ अज्ञान उपादानकारण पडता है यह स्पष्टीकरण एक उपादान की होनेवाली अनेक क्रमवर्ती पर्यायों की दृष्टि से किया गया है। अतः 'परपरिणतिहेतोः' इस पद का उसको बहुव्रीहि समास समझकर और हेतुशब्द का 'उपादानकारण' यह अर्थ लेकर जो 'परा शुद्धात्मस्वभावभूतशुद्धज्ञान-स्वरूपभिन्नस्वभावा विभावभावात्मिका चासौ परिणतिः परिणामश्च परपरिणतिः। सा हेतुः उपादानकारणं यस्य। तस्य। बसः।' यह स्पष्टीकरण टीकामें दिया गया है वह आगम के अविरुद्ध और युक्तिसंगत है।

(४) कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गलद्रव्य आत्मा की विभावरूप परिणति को यद्यपि निमित्त पाकर कर्मात्मक विभावपरिणति के रूप से परिणत होता है तो भी उसका स्वभाव आत्मा के चेतनात्मक स्वभाव से भिन्न है; क्यो कि चैतन्य उसका स्वभाव नहीं है। अतः वह चेतन आत्मद्रव्य से भिन्न होने से पर अर्थात् परद्रव्य है। उस पररूप कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गलद्रव्य का जो कर्मरूप विभावपरिणमन होता है वह केवल कालद्रव्य के निमित्त से नहीं होता; क्यों कि कालद्रव्य स्वभावरूप और विभावरूप दोनों परिणतियों में निमित्तकारण पडता है। यदि कालद्रव्य के निमित्त से हि सिर्फ पुद्‌गलद्रव्य कर्मरूप मे परिणत होने लग जाय तो निमित्तभूत कालद्रव्य सर्वदा अविच्छेदरूप से विद्यमान होनेसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गलों का कर्मरूप परिणमन सर्वकाल होता रहेगा; किंतु ऐसा नहीं होता। अतः सिर्फ कालद्रव्य के निमित्त से पुद्‌गलद्रव्य कर्मरूप से परिणत नहीं होता यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य भी अपने परिणामों से पुद्‌गलद्रव्य को कर्मात्मक विभावपरिणाम के रूप से परिणत नहीं करते। शुद्ध आत्मद्रव्य भी अपने शुद्ध परिणाम के द्वारा पुद्‌गलद्रव्य की विभावरूप से परिणति नहीं करता। ऐसी अवस्था में पुद्‌गल की कर्मरूप परिणति को निमित्तकारणरूप से शास्त्रकारोंने जो जीव के विभावपरिणामों को बताया है वही ठीक और युक्तिसंगत है। इसप्रकार पुद्‌गलद्रव्य का कर्मरूप परिणमन होते समय जीव की भावमोहात्मक विभावपरिणति निमित्तकारण पडती है। इस दृष्टि को सामने रखकर 'परपरिणतिहेतोः' इस पदका उसको बहुव्रीहि समास समझकर और हेतु शब्दका 'उपादानकारण' यह अर्थ लेकर जो 'परस्य आत्मद्रव्याद्भिन्नस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्‌गलद्रव्यस्य परिणतिः कर्मरूपः परिणामः कर्मत्वेन परिणमनं वा परपरिणतिः। सा हेतुः कर्मोदय-रूपं निमित्तकारणं यस्य। तस्य।' यह स्पष्टीकरण टीका में दिया गया है वह आगम के अनुकूल है और युक्तिसंगत भी है।

अज्ञानी जीव के क्रोधादिकषायात्मक विभावरूप से बने हुए परिणाम निमित्तभूत बन जानेपर हि कर्मवर्गणाओं के योग्य पुद्‌गल द्रव्यकर्मरूप से स्वयमेव परिणत होनेवाले होनेसे और संसारी जीव का अनादि अज्ञानरूप विभावपरिणाम द्रव्यमोहकर्मोदयरूप पुद्‌गलद्रव्य का विभाव परिणाम निमित्तभूत हो जानेपर क्रोधादिकषायरूप विभावात्मक आत्मा के परिणाम के रूप से स्वयमेव परिणत होनेवाला होने से इस श्लोक में प्रयुक्त किये गये मोहशब्द से भावमोह का ग्रहण आवश्यक जानकर किया गया है।

अब मोहशब्द से द्रव्यमोह का ग्रहण कर 'परपरिणतिहेतोः' इस सामासिक पद का स्पष्टीकरण किया जाता है।

(१) अनादि काल से संसारी जीव मोहात्मक विभावपरिणामों के रूप से परिणत होता आया है। यह उसका परिणमन स्वाभाविक न होकर विभावरूप है, क्यों कि सम्यक्त्व की अर्थात् स्वपरद्रव्यों के भेदज्ञान की प्राप्ति होनेके कालतक उसे स्वपरपदार्थों की भिन्नता का ज्ञान नहीं होता है। इस सामान्य अज्ञान की जो क्रोधादिरूप परिणतियां होती आयी हैं और होती हैं वे सिर्फ स्वभाव से होती हैं ऐसा नहीं है; किन्तु आत्मा के अज्ञान की और निमित्तभूत द्रव्यमोह की युगपत् होनेवाली परिणति क्रियाओं से होती हैं। अनादिपरंपरा से चली आयी इन विभाव-परिणतियों का सामान्यरूप से द्रव्यमोह और विशेषरूप से द्रव्यमोह का उदयरूप परिणाम निमित्तकारण पड़ता है। अचेतन द्रव्यमोह की दृष्टि से अज्ञानी आत्मा परद्रव्य है, क्यों कि अज्ञानी होनेपर भी चेतनान्वित होनेसे वह अज्ञानी आत्मा अचेतनद्रव्यमोह से भिन्न पदार्थ है। ऐसी अज्ञानी आत्मा के मोहाक्रान्त सामान्य अज्ञान का क्रोधादिरूप विशिष्ट विभावात्मक परिणमन होते समय विशिष्ट द्रव्यमोहरूप कर्म का उदयरूप परिणाम निमित्तकारण होनेसे कर्मत्वापन्न पुद्गलों का जीव के विभावपरिणामों के विषय में निमित्तकारणत्व सिद्ध हो जाता है। इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर 'परपरिणतिहेतोः' इस पद का उसको षष्ठीतत्पुरुष समास समझकर और हेतु शब्द का 'निमित्तकारण' यह अर्थ स्वीकार कर जो 'परस्य कर्मत्वापन्नपुद्गलद्रव्याद्भिन्नस्याज्ञानिन आत्मनः परिणतिरज्ञानरूपादुपादानात्प्रादुर्भवन्क्रोधादिविभावभावात्मकः परिणामः क्रोधादिविभावभावात्मकत्वेन परिणमनं वा परपरिणतिः। तस्याः हेतुः निमित्तकारणम्। तस्य।' यह स्पष्टीकरण टीका में दिया गया है वह आगम के अनुकूल है और युक्तिसंगत भी है।

(२) जो कर्म जिस आत्मा के साथ पूर्वकाल में बंध अवस्था को प्राप्त हुआ होता है उस आत्मा की परिणतिक्रिया के साथ साथ उदयरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता है वह हि उस अज्ञानी आत्मा की विभावरूप से परिणत होने की शक्ति को अपनी शक्ति के द्वारा प्रबोधित–उत्तेजित करता है। इसी का नाम पूर्वकाल में बंधे हुए कर्मका फलदानसामर्थ्य है। किसी चीज को किसी को उठाकर देना यह जो फलदान का अर्थ है वह यहांपर अभिप्रेत नहीं है। [इसका अधिक खुलासा आगे यथाप्रसंग किया जायगा।] पुद्गलपर्यायरूप कर्म का उदय कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों का विभावात्मक परिणाम है; क्यों कि कर्मरूप से परिणत न हुए कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य में विभावात्मक उदयादिरूप से परिणत होनेका स्वभाव नहीं होता। उदयरूप अवस्था को प्राप्त हुए कर्म की फल देने की शक्ति विशिष्ट काल के बाद उदयावस्था नष्ट हो जानेपर नष्ट हो जाती है। अतः कर्म की जो फलदान-शक्तिविहीनावस्था होती है वह भी पुद्गल का एक विशिष्ट परिणाम है, जैसे संसारी जीव की मुक्तावस्था। वह परिणाम पुद्गल के फलदानसामर्थ्य से युक्त परिणाम से कथंचित् भिन्न होता है। दोनों अवस्थाओं में पुद्गलद्रव्य उपादान के रूप से विद्यमान रहता है। फलदानसामर्थ्य से युक्त विभावात्मक परिणाम के साथ पुद्गलकर्म फलदान-सामर्थ्यविहीन उत्तरपर्याय का उपादानकारण होता है। अतः वर्तमानकालीन कर्म की उदयरूप परिणति के साथ कर्मपुद्गल उत्तर–अनन्तरोत्तरकालीन परिणति का उपादानकारण होनेपर भी पूर्वोत्तरकालीन परिणामो में कथंचित् भिन्नता होनेसे कर्म की फलदानसामर्थ्यशून्य अनन्तरोत्तर कालमें उत्पन्न होनेवाली परिणति पररूप है। ऐसी द्रव्यमोह की उदय के अनन्तर उत्तर कालमें होनेवाली शक्तिशून्य परिणति का वर्तमान कालमें उदयावस्था को प्राप्त हुआ द्रव्यमोहकर्म अपनी वर्तमानकालीन पर्याय के साथ उपादानकारण पड़ता है। इस अभिप्राय के अनुसार 'परपरिणतिहेतोः' इस पदका उसको षष्ठीतत्पुरुष समास समझकर और हेतुशब्द का 'उपादानकारण' यह अर्थ स्वीकार कर जो 'परा वर्तमानकालभवद्रव्यकर्मोदयाख्यविभावरूपायाः पुद्गलपरिणतेर्भिन्ना चासौ परणतिः उदयकालानन्तरोत्तरकालभाविफलदानसामर्थ्यविकलः पुद्गलकर्मपरिणामश्च परपरिणतिः। तस्याः हेतुः उपादानकारणं प्रभवो वा।' यह स्पष्टीकरण टीका में दिया गया है वह आगमानुकूल और युक्तिसंगत है।

(३) उदयावस्था को प्राप्त होनेके अनन्तरपूर्व कालमें जो द्रव्यकर्म होता है वह कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलोंका

विभावपरिणामरूप होता है; क्यों कि वह प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध के रूप से परिणत हुआ होता है। वह यद्यपि द्रव्यदृष्टि से पुद्गलस्वरूप होता है तो भी पूर्व अवस्था का त्याग करनेसे उत्पन्न हुए विशिष्ट-शक्तियुक्त कर्मरूप विभावपरिणाम के स्वरूप से परिणत होनेसे अपने उपादान से और पूर्व अवस्था से कथंचित् भिन्न होता है। ऐसा अनुदयावस्था को प्राप्त द्रव्यकर्म वर्तमानकालीन उदयावस्थारूप परिणति का उपादानकारण पडता है। इस दृष्टि को मनश्चक्षु के सामने रखकर, 'परपरिणतिहेतोः' इस पदको बहुव्रीहि समास समझकर और हेतुशब्द का 'उपादानकारण' यह अर्थ स्वीकारकर 'परा शुद्धपुद्गलस्वभावात् कथञ्चिद्भिन्नस्वभावा चासौ परिणतिः कर्मसञ्ज्ञकविभावभावात्मकः परिणामश्च परपरिणतिः। सा हेतुः उपादानकारणं यस्य। तस्य।' यह जो स्पष्टीकरण टीकामें दिया गया है वह आगमानुकूल और युक्तिसंगत है।

(४) पूर्वकाल में बंधावस्था को प्राप्त हुआ कर्म उदयावस्थारूप से परिणत होनेपर अज्ञानी जीव उस उदय के निमित्त से विभावरूप से परिणत हो जाता है। अज्ञानी जीव की जब विभावरूप परिणति होने लग जाती है तब कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल जीव के साथ संयुक्त अवस्था को प्राप्त होकर कर्मरूप से स्वयमेव परिणत हो जाते हैं। अतः जीव की यह विभावपरिणति कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य की कर्मरूप विभावपरिणति का निमित्त पडती है। इस अभिप्राय को मनमें रखकर, 'परपरिणतिहेतोः' इस पद को बहुव्रीहि समास समझकर और हेतुशब्द का 'निमित्तकारण' इस अर्थ को यहां प्रधान समझकर उक्त सामासिक पद का जो 'परस्यात्मादेरज्ञानिन आत्मन. परिणतिः विभावभावस्वरूपभावकर्मात्मकः परिणामः विभावभावात्मकत्वेन परिणमनं वा परपरिणतिः। सा हेतुर्निमित्तकारणं यस्य। तस्य।' यह स्पष्टीकरण टीका में दिया गया है वह आगम और युक्ति के अनुकूल है।

इसप्रकार 'परपरिणतिहेतोः' इस सामासिक पद का आठ प्रकारों से स्पष्टीकरण हो सकता है। द्रव्यमोह का उदय होनेपर हि अनादि से अज्ञानी अत एव असमर्थ संसारी जीव का भावमोहात्मक क्रोधादिकषायरूप विभावभावात्मक परिणाम का संभव होनेसे और अज्ञानी जीव की क्रोधादिस्वरूप विभावभावात्मक परिणति निमित्तकारण पडनेपर कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य की हि द्रव्यमोहरूप परिणति होनेसे मोहशब्द से द्रव्यमोह का ग्रहण किया जा सकता है। 'कर्मनोकर्मबन्धो यः सोऽपि प्रायोगिको भवेत्' इस प्रकार तत्त्वार्थसार के अजीवतत्त्व के प्रकरण में आचार्य अमृतचंद्र सूरिने प्रायोगिक कहा है। कर्म और नोकर्म का बन्ध होनेमें पुरुष-आत्मा के विभाव-परिणाम निमित्तमात्र होनेपर भी जिसप्रकार उस बंध को प्रायोगिक कहा गया है उसीप्रकार कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलो की कर्मरूप परिणति में भी जीवके विभाव परिणाम हि निमित्तभूत होनेसे उस पुद्गलों की कर्मरूप परिणति को प्रायोगिक कहने में कोई दोष नहीं है। पुद्गल की कर्मरूप विभावपरिणति में बन्धरूप परिणति के समान जीवकृत विभावपरिणामों को वे मात्र निमित्तभूत होनेपर भी प्रधान समझकर और जीवकृत वि..वपरिणामों के अभाव में पुद्गलपरिणति का होना असम्भव जानकर और पुद्गल की कर्मरूप परिणति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलाश्रित होनेपर भी उसे गौण समझकर जीवकृत विभावपरिणति प्रेरक निमित्त होनेसे पुद्गल की कर्मरूप परिणति बंध के समान प्रायोगिकी है। द्रव्यकर्म के बंधको प्रायोगिक कहनेमें आचार्यप्रवर अमृतसूरी का यह अभिप्राय दिखाई देता है कि स्वभावरूप से या विभावरूप से परिणत होनेके विषय में उपादान कितना भी सामर्थ्य रखता हो किन्तु सहकारिकारण के अभाव में जब उसकी परिणति हि हो नहीं सकती तब निमित्त की प्रधानता को भी स्वीकार करना होगा। इसप्रकार निमित्त की प्रधानता से पुद्गलों की परिणति प्रायोगिकी कही गयी है। जो पौरुषेय अर्थात् पुरुष के निमित्त से बनता है उसे प्रायोगिक कहते हैं। पुरुष शब्द का अर्थ है आत्मा।

इस कलश में प्रयुक्त किया गया 'अनुभाव' यह शब्द 'सहपरिणमन' और 'सामर्थ्य' इन दो अर्थों का वाचक है। इसका खुलासा संस्कृत टीका में किया गया है। यह शब्द 'विपाक' इस अर्थ का वाचक नहीं है। उस अर्थ का वाचक 'अनुभव' यह शब्द है–'अनुभाव' यह शब्द नहीं। अनुभाव इस शब्द के दोनों अर्थ प्रकरणसंगत हैं। उसी प्रकार इस कलश में प्रयुक्त 'व्याप्ति' इस शब्द के 'व्यापन' और 'परिणमन' ऐसे दो अर्थ हैं और वे दोनों अर्थ प्रकरणसंगत हैं।

द्रव्य-भाव-मोहों के निमित्तनैमित्तिकभावों की और अज्ञान और क्रोधादिकों के उपादानोपादेयभावों की परंपरा अनादि काल से चली आरही है। इस परंपरा से आत्मा अविच्छिन्नरूप से अशुद्ध ही बनी रही। शुद्धनिश्चय की दृष्टि से यह आत्मा शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप है। इस शुद्धस्वरूप की प्राप्ति आत्मानुभूति से हि हो सकती है। समयसार ग्रंथ की व्याख्या से और आत्मा के सारभूत शुद्धज्ञानघनस्वभाव का विशदीभवन हो जानेसे प्राप्त होनेवाली आत्मा की अनुभूति से अपनी आत्मा की विशुद्धि आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचंद्रसूरि चाहते हैं।

भगवान् कुन्दकुन्दस्वामी के द्वारा विरचित इस समयसारनामक ग्रंथ में आत्मस्वरूप का विचार करते समय अनेक स्थानोंपर उपादान, निमित्त और परिणाम इन शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। इन के यथार्थ स्वरूप को समझे बिना ग्रन्थकार का यथार्थ अभिप्राय समझना कठिन होने की संभावना रहती है। कठिनाई के कारण अनेक मतभेदों की संभावना होती है। ऐसे मतभेदों को स्थान न रहे इस भावना से प्रेरित होकर उपादान, निमित्त और परिणाम इनके स्वरूपपर यथाशक्ति विचार किया जाता है।

उपादानविचार–

"उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव, हेतोर्नियमात्। यस्तु ततोऽन्यस्तस्य न न हेतोर्नियमो दृष्टो यथाऽनुपादानक्षयस्यानुपादेयोत्पादस्य च। नियमश्च हेतोरुपादानक्षयस्योपादेयोत्पादस्य च। तस्मादुपादानक्षय एवोपादेयोत्पादः। न तावदत्रासिद्धो हेतुः कार्यकारणजन्मविनाशयोरेकहेतुकत्वनियमस्य सुप्रतीतत्वात्, तयोरन्यतरस्यैव सहेतुकत्वाहेतुकत्वनियमवचनस्य निरस्तत्वात्।

ननूपादानघटविनाशस्य बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागात्संयोगविनाशादेव प्रतीतेरुपादेयकपालोत्पादस्य तु स्वारम्भकावयवकर्मसंयोगविशेषादेरेव सम्प्रत्ययात् तयोरेकस्माद्धेतोर्नियमासम्भवादसिद्धमेव साधनमिति चेत्, न, अस्य विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीतिकत्वाद्बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापारादेव घटविनाशकपालोत्पादयोरवलोकनात्। ततो घटावयवेषु कपालेषु क्रियैवोत्पद्यते इति चेत्, सैवैको हेतुस्तयोरस्तु। क्रियातोऽवयवविभागस्यैवोत्पत्तिरिति चेत्, स एवैकं कारणमनयोरस्तु। विभागात्तदवयवसंयोगविनाश एव दृश्यते इति चेत्, स एव तयोरेकं निमित्तमस्तु। तदवयवसंयोगविनाशादवयविनो घटस्य विनाश इति चेत्, स एव कपालानां तदवयवानां प्रादुर्भावः। इति कथं नैकहेतुनियमः सिध्येत्? महास्कन्धावयवसंयोगविनाशादपि लघुस्कन्धोत्पत्तिदर्शनाद् 'भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते' इति वचनात्।

मिथ्यैवेदं दर्शनं सूत्रकारवचनं च बाधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्बाधकम्? स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धानि कपालानि कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानं बाधकमिति चेत्, न, एतदुदाहरणस्य साध्यविकलत्वात्। तन्तवो हि किमपटाकारपरिणताः पटस्य समवायिनः, पटाकारपरिणता वा? न तावदाद्यः पक्षः, पटकारापरिणतेषु तन्तुष्विह पट इति प्रत्ययासम्भवात्। द्वितीयपक्षे तु न पटपरिमाणास्तन्तवः पटस्य कारणं, तेषां पटसमानपरिमाणतया प्रतीतेः समुदितानामेवातानवितानाकाराणां पटपरिणामाश्रयत्वादन्यथातिप्रसंगात्। न हि तथाऽपरिणतं तद्भवति, 'तद्भावः परिणामः' इति वचनात्। न चैवं परिणामपरिणामिनोरभेदः स्यात्, प्रत्ययभेदात्कथञ्चिद्भेदसिद्धेः परस्यापि तद्भेदे विवादाभावात् तन्तुद्रव्यपटपर्याययोरन्वयव्यतिरेकप्रत्ययविषयत्वाच्च। तन्तुद्रव्यं हि प्राच्यापटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते; पटाकारस्तु पूर्वाकाराद्व्यतिरिक्तः। इति सिद्धं सर्वथा त्यक्तरूपस्यापूर्वरूपवर्तिन एवोपादानत्वायोगादपरित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिवत् तथाऽप्रतीतेर्द्रव्यभावप्रत्यासत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपादेयभावस्य। भावप्रत्यासत्तिमात्रासद्भावे समानाकारण-

मखिलार्थानां तत्प्रसङ्गात्, कालप्रत्यासत्तेस्तद्भावे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिनामशेषार्थानां तत्प्रसक्तेः, देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशानामशेषतस्तद्भावापत्तेः, सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि तद्भावानियमात्, असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते । तदुक्तं– ' त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते। कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥ यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा । तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥ २ ॥ ' इति । ततो न तन्तुविशेषाकारः पटस्योपादानं येनाल्पपरिमाणादेव कारणान्महापरिमाणस्य पटस्योत्पत्तेरुदाहरणं साध्यशून्यं न भवेत् । हेतुश्चानैकान्तिकः, प्रशिथिलावयवमहापरिमाणकार्पासपिण्डादल्पपरिमाणनिबिडावयवकार्पासपिण्डोत्पत्तिदर्शनात् । विरुद्धश्चायं हेतुः, पुद्गलादिद्रव्यस्य महापरिमाणस्य यथासंभवं सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण वा पर्यायेण वर्तमानस्य स्वकार्यारम्भकत्वदर्शनात् कार्यत्वस्य महापरिमाणकारणारब्धत्वेन व्याप्तिसिद्धेः स्वपरिणामादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वविपरीतसाधनात् । ततो नेदमनुमानं बाधकं कपालोत्पादस्य घटविनाशस्य चैकहेतुत्वनियमप्रतीतेरेकस्मादेव मृदाद्युपादानात्तद्भावस्य सिद्धेरेकस्माच्च मुद्गरादिसहकारिकलापात्तत्संप्रत्ययात् । इति सिद्ध्यत्येव हेतोर्नियमात्कार्योत्पाद एव पूर्वाकारविनाशः ।

न चैवं सर्वथोत्पादविनाशयोरभेद एव, लक्षणात्पृथक्त्वसिद्धेः । तथा हि । कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ कथंचिद्भिन्नौ, भिन्नलक्षणसंबंधित्वात्, सुखदुःखवत् । नात्रासिद्धं साधनं, कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात् कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसंबन्धित्वसिद्धेः । नाऽप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, क्वचिदेकद्रव्येऽपि परिमाणयोः कथंचिद्भेदमन्तरेण भिन्नलक्षणसंबन्धित्वस्यासंभवात् । न च तयोर्भेद एव, कथंचिद्भेदग्राहकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि । उत्पादविनाशौ प्रकृतौ स्यादभिन्नौ, तदभेदस्थितजातिसंख्यात्मकत्वात् , पुरुषवत् । नात्रासिद्धो हेतुः, मृदादिद्रव्यव्यतिरेकेण नाशोत्पादयोरभावात् । पर्यायापेक्षया नाशोत्पादौ भिन्नलक्षणसम्बन्धिनौ न तौ, जात्याद्यवस्थानात्, सद्द्रव्यपृथिवीत्वादिजात्यात्मनैकत्वसंख्यात्मना शक्तिविशेषान्वयात्मना च तदभेदात् तथैव प्रत्यभिज्ञानात्, तदेव मृद्द्रव्यमसाधारणं घटाकारतया नष्टं कपालाकारतयोत्पन्नमिति प्रतीतेः सकलबाधकरहितत्वात्, य एवाहं सुख्यासं स एव च दुःखी सम्प्रतीत्येकपुरुषप्रतीतिवत् । ' नन्वेवमुत्पादव्ययध्रौव्याणामभेदात् कथं त्रयात्मकवस्तुसिद्धिः ? तत्सिद्धौ वा कथं तत्तादात्म्यम् ? विरोधात् ' इति चेत्, न, सर्वथा तत्तादात्म्यासिद्धेः कथंचिल्लक्षणभेदात् । तथा हि । उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं स्याद्भिन्नं, अस्खलद्भानाप्रतीतेः, रूपादिवत् । सर्वस्य वस्तुनो नित्यत्वसिद्धेरुपादानविनाशप्रतीतेरस्खलत्वविशेषणमसिद्धमिति चेत्, न, कथंचित्क्षणिकत्वसाधनात् । तत एव ध्रौव्यप्रतीतेरस्खलत्वं सिद्धं, सर्वथाक्षणिकत्वनिराकरणात् । न चोत्पादादीनां कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वं विरुद्धं, तदात्मनो वस्तुनो जात्यन्तरत्वेन कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वादन्यथा तदवस्तुत्वप्रसङ्गात् । उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव । तथा हि । उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, वियत्कुसुमवत् । तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ । स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादरहितत्वात्, तद्वत् । विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वदेव । इति योजनात् सामर्थ्यादुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति प्रकाशितं भवति, तदन्यतमापाये सत्त्वानुपपत्तेः । प्रत्येकमुत्पादादीनां सत्त्वे त्रयात्मकत्वप्रसङ्गादनवस्थेत्यपि दूरीकृतमनेन, तेषां परस्परमनपेक्षाणामेकशः सत्त्वनिराकरणात् । " [अ. स. पृष्ठ २०९–२१०–२११]

" कार्य की उत्पत्ति की पूर्वकालीन उपादान की विशिष्ट परिणति का नाश होनेका नाम कार्य की उत्पत्ति है; क्यों कि एक हि उपादान से क्रमवर्ती परिणामों की निष्पत्ति होनेका नियम है। उपादान के पूर्वाकाररूप से होनेवाले नाश से जो भिन्न नाश होता है उसके विषय में एकहेतुत्व का नियम देखनेमें नहीं आया, जैसे जो उपादान नहीं है ऐसे पदार्थ के नाश के और जो उपादेय नहीं है ऐसे पदार्थ की उत्पत्ति के विषय में एकहेतुत्व का नियम नहीं होता। [तन्तु कपासरूप उपादान की विशिष्ट आकारवाली परिणतिरूप हैं। अग्न्यादि से विशिष्ट आकार के रूप से परिणत हुए कपास का नाश हो जानेपर तन्तुओं का उपादेय – कार्य न होनेवाले घट की निष्पत्ति नहीं होती। जब एक पदार्थ किसी कार्य का उपादानकारण नहीं होता और जब कार्य भिन्न पदार्थोपादानक होता है तब इन दोनों का हेतु एक नहीं होता अर्थात् तन्तुरूपविशिष्टाकार से परिणत हुए कार्पास के नाश से मृत्तिकोपादानक घट की निष्पत्ति नहीं होती। अतः भिन्नोपादानक परिणाम के नाश से भिन्नोपादानक उपादेय की-कार्य की-परिणाम की निष्पत्ति जब नहीं होती तब ऐसी अवस्था में एकहेतुत्व का नियम घटित नही होता। तन्तुओ के नाश का हेतु अग्न्यादि पदार्थ होता है और घटोत्पत्ति में मृत्तिका के पूर्वाकारका नाश होता है। मतलब यह है कि उपादान के स्वभाव में और उपादेय के स्वभाव में जब सर्वथा भेद होता है तब एकहेतुत्व का नियम नहीं बन पाता है।] उपादान का कार्योत्पत्ति के पूर्वकाल के आकाररूप से क्षय के और उसी उपादान के क्षय से उत्पन्न होनेवाले उपादेय की निर्मिति के विषय में एकहेतुत्व का नियम होता है। इसलिये उपादानका जो क्षय वही उपादेय की निष्पत्ति है। 'हेतोर्नियमात्' अर्थात् 'एकहेतुत्वात्' यह हेतु असिद्ध नहीं है; क्यों कि कार्य की उत्पत्ति के और (उपादान) कारण के नाश के विषय में एकहेतुत्व का नियम साक्षात् अनुभव में आता है-जाना जाता है और कार्य की उत्पत्ति और उपादानकारण का नाश इन में कार्योत्पत्ति हि सहेतुक होती है और नाश अहेतुक (हेतुरहित) होता है ऐसा जो नियम बताया जाता है उसका (पहले हि) परिहार किया गया है।

बलवान् पुरुष के द्वारा प्रेरित किये गये मुद्गरादि से किये गये आघात से घट के अवयवो में उत्पन्न होनेवाली क्रिया से अवयवों में उत्पन्न होनेवाले विभागों के कारण होनेवाले संयोग के विनाश से हि कपालो के उपादानभूत घट का विनाश होता है ऐसा अनुभव होने से और अपने अर्थात् कपाल के अवयवों में अर्थात् परमाणुओं में होनेवाली क्रिया से होनेवाले विशिष्ट संयोग से घट के उपादेयभूत कपाल की निष्पत्ति होती है ऐसी प्रतीति होने से घटविनाश और कपालोत्पत्ति में से किसी एक हेतुका संभव न होनेसे एकहेतुत्वरूप साधन-हेतु असिद्ध हि है ऐसा यदि कहना हो तो वह ठीक नहीं है; क्यों कि बलवान् पुरुष के द्वारा प्रेरित मुद्गरादिकों की क्रिया से हि घट के विनाश का होना और कपालों की उत्पत्ति का होना अवलोकन में आ जानेसे बलवान् पुरुष के द्वारा प्रेरित मुद्गरादि की क्रिया से घट का विनाश होता है और कपाल के उपादानभूत अवयवों से–परमाणुओं से कपाल की निष्पत्ति होती है इसप्रकार दो भिन्न हेतुओं का कथन अनुभवगोचर नहीं होता। तब घटके अवयवभूत कपालो मे क्रिया हि उत्पन्न होती है ऐसा कहना हो तो कपालों में उत्पन्न होनेवाली वह एक क्रिया हि घट के विनाश की और कपालों की उत्पत्ति की (एक) हेतु बन जाओ। कपालगत क्रिया से अवयवों के विभाग की हि उत्पत्ति हो जाती है ऐसा कहना हो तो वह विभाग हि घटविनाश का और कपालों की उत्पत्ति का एक निमित्तकारण बन जाओ। उन अवयवो के संयोग के विनाश से अवयववान् घट का विनाश हो जाता है ऐसा कहना हो तो वह घट का विनाश होना हि घट के अवयवभूत कपालों की उत्पत्ति का होना है। इसप्रकार घटादिरूप महास्कंधो के अवयवों के संयोग के विनाश से भी कपालादिरूप छोटे स्कंधो की होती हुई उत्पत्ति दिखाई देनेसे 'भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते' इस वचन से घट के विनाश का और कपालों की उत्पत्ति का मुद्गरादिकों की क्रियामात्ररूप एक हेतु की सिद्धि कैसे नही हो सकती?

उपादान के पूर्वाकार के नाश का और उसके कार्योत्पत्ति का एक हि हेतु होता है यह मत और 'भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते' यह सूत्रकार का वचन ये दोनों मिथ्या है, क्यों कि उन दोनों को बाधित करनेवाला प्रमाण विद्यमान है ऐसा कहना हो तो वह बाधक प्रमाण कौनसा है कहो। 'कपालरूप अपने परिणामों से छोटे परिमाणवाले कारणों से कपाल बन जाते हैं; क्यों कि वे कार्यरूप हैं, जैसे वस्त्र' यह अनुमान उक्त मत का और सूत्रकार

के वचन का बाधक है यह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि अनुमान में दिया गया दृष्टान्त साध्यविकल है अर्थात् सिद्धि में सहायक नहीं है। क्या पट के आकार से परिणत न हुए तन्तु पट के समवायिकारण (उपादानकारण) होते हे या पट के आकार से परिणत हुए ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है; क्यों कि पटाकार से परिणत न हुए तन्तुओं में 'इन तंतुओं में पट है' इस प्रकार का ज्ञान होना असम्भव है। [अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदंप्रत्ययः सम्बन्धः समवायः।' (प्रशस्तपाद) इस लक्षण के अनुसार आधार में आधार्य का 'यहां यह आधार्य है' इस प्रकार का ज्ञान होना आवश्यक है।] द्वितीय पक्ष मान लिया तो पट के परिमाण से छोटे परिमाणवाले तन्तु पट के [समवायि अर्थात् उपादान] कारण नहीं होते, क्यों कि समूहरूप बने हुए आतान-वितानरूप से परिणत हुए तन्तु पटरूप परिणाम के आश्रय होने से पट के परिमाण के समान तन्तुओं का परिमाण होता है ऐसी प्रतीति होती है। यदि पट का परिमाण और तंतुओं का परिमाण समान हुआ तो अतिप्रसंग हो जाता है। [अर्थात् थोडे से तंतुओं से लम्बाचौडा बडाभारी वस्त्र बन जायगा।] उसरूप से परिणत न हुआ पदार्थ उसरूप नहीं होता, क्यों कि 'तद्भावः परिणामः' ऐसा वचन है। [यदि तन्तु आतान-वितान बनकर पटाकाररूप न बने तो वे पटरूप से परिणत नहीं होते।] इसप्रकार परिणाम और परिणामि में अभेद नहीं होता; क्यों कि परिणाम का ज्ञान और परिणामि का ज्ञान इन में भेद होने से परिणाम और परिणामि में कथंचित् भेद की सिद्धि होती है, प्रत्ययभेद से परिणाम और परिणामि इन के भेद के विषय में प्रतिवादी का भी विवाद नहीं है और तन्तुद्रव्य और पटपर्याय 'तन्तुओ का अस्तित्व होनेपर पटपर्याय का अस्तित्व और तन्तुओं के न होनेपर पटपर्याय का अस्तित्व न होना' इस प्रकार के अन्वयज्ञान का और व्यतिरेकज्ञान का विषय होता है। तन्तुद्रव्य पटोत्पत्ति के पूर्वकाल में पटाकार से भिन्न जो उनका आकार होता है उसका त्याग करके और अपनी तंतुत्व जाति का त्याग न करके पटाकार के उत्पत्ति के पूर्वकाल में जो पटाकार विद्यमान नहीं था उस रूप से परिणत होता हुआ दिखाई देता है और पटाकार अपनी उत्पत्ति के पूर्वकालीन आकार से भिन्न है यह सिद्ध हो गया; क्यों कि जिसने सर्वथा अर्थात् पर्यायरूप से और द्रव्यरूप से भी अपने स्वरूप का त्याग किया है और नये स्वरूप से परिणत हुआ है ऐसे हि द्रव्य का अपना पूर्वरूप न छोडने से उसी पूर्वरूप से विद्यमान रहनेवाले कूटस्थनित्य द्रव्य के समान उपादानकारणत्व उपादानोपादेयभाव का द्रव्यप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति कारण होनेसे पूर्वोक्त प्रकार के [अर्थात् द्रव्यरूप से भी उपादानभूत द्रव्य के अपने स्वरूप के त्याग से] उपादानोपादेयभाव की प्रतीति न होने से घटीत नहीं होता।

अनेक पदार्थों की समानाकारतारूप भावप्रत्यासत्तिमात्र से उपादानोपादेयभाव घटित होता है ऐसा माननेपर समान आकारवाले सभी पदार्थों का उपादानोपादेयभाव घटित हो जाने का प्रसंग खडा हो जाने से, समनन्तरपूर्वकालरूप और समनन्तरोत्तरकालरूप कालप्रत्यासत्तिरूप से उपादानोपादेयभाव घटित होता है ऐसा माननेपर समनन्तरपूर्वकालवर्ती और समनन्तरोत्तरकालवर्ती सभी पदार्थों का उपादानोपादेयभाव घटित हो जानेका प्रसंग खडा हो जानेसे, समानदेशरूपप्रत्यासत्ति के रूप से उपादानोपादेयभाव घटित होता है ऐसा माननेपर एक हि स्थान में रहनेवाले सभी पदार्थों का उपादानोपादेयभाव घटित हो जाने का प्रसंग उपस्थित हो जानेसे, और सत्त्व द्रव्यत्व आदि साधारणधर्म जिन में पाये जाते है ऐसे द्रव्यों की प्रत्यासत्ति से भी उपादानोपादेयभाव का नियम सिद्ध न होनेसे असाधारण (जैसे आतान-वितान बने हुए तन्तु) द्रव्य की प्रत्यासत्ति और (कार्यरूप से) उत्पत्ति के पूर्वकाल की विशिष्ट आकारवाली परिणति की प्रत्यासत्ति ये दोनों (प्रत्यासत्तियां) मिलकर हि अपने उपादेयभूत परिणाम के विषय में जो द्रव्य उपादानकारण बनता है उसके उपादानत्व का कारण बन जाते हें। कहा भी है कि—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते ।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥
यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥ २ ॥

जो कार्य की पूर्वकाल की पर्याय का त्याग करने से कार्यावस्था में अपूर्वरूप से वर्तता है और जो अपने द्रव्य का त्याग न करनेसे कार्यावस्था में पूर्वरूप से वर्तता है वह द्रव्य तीनों कालों में भी उपादान होता है ऐसा स्मरण किया गया है ॥ १ ॥ [बौद्धों के क्षण के समान] जो अपने स्वरूप का सर्वथा त्याग हि करता है और जो अपने स्वरूप का सर्वथा त्याग नहीं करता वह द्रव्य क्षणिक और शाश्वत अर्थात् कूटस्थ नित्य द्रव्य के समान कार्यरूप परिणति का उपादानकारण नहीं हो सकता ॥ २ ॥ उस कारण से तन्तुओं का उन्दुकरूप विशिष्ट आकार (परिणति) पट का उपादानकारण नहीं होता जिससे जिसका परिमाण अल्प हि होता है ऐसे उपादानकारण से जिसका परिमाण बडा होता है ऐसे पटरूप कार्य का उदाहरण साध्यशून्य नहीं हो सकेगा । और 'कार्यत्वात्' यह हेतु अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी [पक्षवृत्ति और विपक्षवृत्ति] है, क्यों कि अवयव शिथिल होनेसे जिसका परिमाण बडा होता है ऐसे कार्पासपिण्ड से अल्पपरिमाणरूप और घननिविष्ट अवयवों से युक्त कार्पासपिण्ड की उत्पत्ति दिखाई देती है। यथासंभव सूक्ष्म आकारवाले या स्थूल आकारवाले पर्यायरूप से परिणत होनेवाले बडे परिमाणवाले पुद्गलद्रव्य का अपने कार्य का आरंभकपन देखनें में आ जाने से कार्यत्व हेतु की बडे परिमाणवाले उपादानकारण के द्वारा आरब्धपन के साथ व्याप्ति की सिद्धि हो जानेसे कार्य के परिमाण से अल्पपरिमाणवाले उपादानकारण से आरब्धत्व के विपरीत अर्थात् महापरिमाणवाले कारण से आरब्धत्व की सिद्धि की जानेसे 'कार्यत्वात्' यह हेतु विरुद्ध भी है। इस कारण से [प्रतिवादी के द्वारा दिया गया] अनुमान कपालों की उत्पत्ति के और घट के विनाश के नियम की [कपालोत्पत्ति और घट के मुद्गरादिप्रहाररूपनिमित्तकारण के एकत्व के और उन दोनों के उपादानकारणभूत मृत्पिण्ड के एकत्व के नियम की] प्रतीति का बाधक नहीं है; क्यों कि एक हि मृत्तिकादि उपादान से कपालों की उत्पत्ति की और घट के विनाश की सिद्धि की गई है और मुद्गरादि सहकारियों के एक हि समूह से घट का विनाश होनेकी और कपालों की उत्पत्ति होनेकी प्रतीति होती है। इसप्रकार एकहेतुत्वनियम से कार्य का उत्पाद हि उपादान के पूर्वाकार का विनाश है यह सिद्ध हि हो जाता है।

इसप्रकार एकहेतुत्वनियम के कारण उत्पाद और विनाश में सर्वथा अभेद हि है ऐसा नहीं है; क्यों कि उत्पाद और विनाश के लक्षण भिन्नभिन्न होनेसे उन दोनों का भिन्नत्व सिद्ध हो जाता है। उसीका खुलासा—कार्य का उत्पाद और (उपादान) कारण का (उसके पूर्वाकार का) विनाश ये दोनों कथंचित् (दोनों एक उपादानद्रव्य के पर्याय होनेसे पर्यायों की मुख्यता से) भिन्न हैं; क्यों कि दोनों भिन्नभिन्न स्वरूपों के साथ संबद्ध हुए हैं; जैसे सुखदुःख। भिन्न लक्षणोंसे (युक्त) होनारूप हेतु यहां (इस अनुमान में) असिद्ध नहीं है; क्यों कि अपने स्वरूप की (आकार की) प्राप्ति होना यह कार्योत्पाद का लक्षण होनेसे और कार्योत्पत्ति के पूर्वकाल का अपना जो परिणाम उसकी प्रच्युति यह कारणविनाश का लक्षण होनेसे कार्योत्पाद और कारणविनाश का भिन्नभिन्न लक्षणों से संबद्ध होनेकी सिद्धि हो गई है। उक्त हेतु न अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है और न विरुद्ध भी; क्यों कि किसी एक द्रव्य के विषय में भी कार्यरूप परिणाम और कार्योत्पत्ति के पूर्वका उपादानकारण का परिणाम कथंचित् भेद के विना (पूर्वोक्त) भिन्नभिन्न लक्षणों के साथ संबद्ध होना असंभव हो जाता है। कार्योत्पाद और कारणविनाश इन में भेद हि होता है ऐसा नहीं है; क्यों कि उन दोनों में कथंचित् (द्रव्य की मुख्यता से और पर्याय की गौणता से) अभेद का ग्रहण (ज्ञान) करनेवाला प्रमाण विद्यमान् है। उसीका खुलासा—प्रकृत कार्यका उत्पाद और कारण का विनाश ये दोनो कथंचित् (द्रव्य की अपेक्षासे) अभिन्न हैं; क्यों कि उनके साथ अभेद से रहनेवाले जाति, संख्या आदि जो हैं उसस्वरूप उत्पाद और विनाश होते हैं; जैसे पुरुष। यहां इस अनुमान में 'तदभेद''''' इत्यादि हेतु असिद्ध नहीं है; क्यों कि मृदादिद्रव्यरूप उपादान का अभाव होनेपर नाश और उत्पाद का अभाव हो जाता है। पर्यायों की अपेक्षा से (उपर्युक्त) भिन्न लक्षणों के साथ जिनका संबंध है ऐसे नाश और उत्पाद भिन्न नहीं हैं; क्यों कि प्रत्येक पर्याय जो होती है उसमें उपादान की जाति आदि की अवस्थिति (अस्तित्व, अन्वय) होती है; तत्त्व, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जातियों से युक्त होनेके रूप से एकत्वसंख्या से युक्त होनेके रूप से (उपादान की) विशिष्ट शक्ति के अन्वय से युक्त होनेके रूप से उन दोनों में भेद न होनेसे उसीप्रकार से हि पहिचाने जाते हैं; अन्यपदार्थोपादानक कार्यों

में न पाया जानेसे असाधारण ऐसा वही मृत्तिकाद्रव्य घटाकार से उत्पन्न होनेके बाद नष्ट होकर कपालों के आकार के रूप से उत्पन्न हुआ है यह प्रतीति संपूर्ण बाधकप्रमाणों से रहित है, जैसे जो हि मैं सुखी था वही मै अभी दुःखी हूं इसप्रकार की एक पुरुष की प्रतीति। 'इसप्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य में अभेद होनेसे उत्पादव्ययध्रौव्यत्रय से युक्त वस्तु की सिद्धि कैसी होगी ? त्रयात्मक वस्तु की सिद्धि हो जानेपर उन तीनों का तादात्म्य कैसे ? क्यों कि विरोध खडा हो जाता है।' यह आक्षेप ठीक नहीं है; क्यों कि उन तीनों का लक्षण भिन्नभिन्न होनेसे उन तीनों का सर्वथा तादात्म्य सिद्ध नहीं होता। उत्पाद का लक्षण, विनाश का लक्षण और ध्रौव्य का लक्षण भिन्न हैं; क्यों कि निर्दोषरूप से उनके भिन्नत्व की प्रतीति होती है, जैसे रूपादिकी। हरएक वस्तु का नित्यत्व सिद्ध हो जाने से उत्पाद की और विनाश की प्रतीति का अस्खलत्व यह विशेषण असिद्ध है यह कहना ठीक नहीं है; क्यों कि वस्तु का (पर्याय की अपेक्षासे) कथंचित् क्षणिकत्व सिद्ध किया गया है। वस्तु के कथंचित् क्षणिकत्व की सिद्धि की जानेसे ध्रौव्य की प्रतीति का अस्खलत्व सिद्ध हो जाता है; क्यों कि (वस्तु के) सर्वथा क्षणिकत्व का निराकरण किया गया है। उत्पादादिकों के लक्षणों का कथंचित् भिन्नत्व विरुद्ध नहीं है; क्यों कि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तु से वे उत्पादादि भिन्नजातीय होनेसे उनका लक्षण कथंचित् भिन्न है– यदि उनका लक्षण वस्तु से कथंचित् भिन्न न हो तो उत्पादादिकों का वस्तु न होनेका प्रसंग आ जायगा। उत्पादादिक एक दूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाले हो तो आकाशकुसुम के समान अस्तित्व हि नहीं रहेगा। उसीका खुलासा–स्थिति और विनाश से रहित होनेसे केवल उत्पाद का आकाशकुसुम के समान अस्तित्व नहीं रह सकता। विनाश और उत्पाद इन दोनों से रहित होनेसे केवल स्थिति का उत्पाद के समान अस्तित्व नहीं रह सकता। स्थिति से और उत्पत्ति से शून्य होनेसे केवल उत्पाद के समान हि केवल विनाश का अस्तित्व नहीं रह सकता। इसप्रकार की ग्रन्थ रचना होनेसे सामर्थ्य से 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस प्रकार सूत्रकारका वचन विशद किया गया है; क्यों कि इनमेंसे किसी एक का अभाव होनेपर द्रव्य का अस्तित्व हि अशक्यप्राय हो जाता है।

इस उद्धरण में पायी जानेवाली कुछ ज्ञातव्य बातें—

(१) संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सभी सद्रूप हैं। सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होता है। अतः प्रत्येक पदार्थ के व्यंजनपर्याय और एकसमयवर्ती अर्थपर्याय होते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक पदार्थ पर्यायसहित होता हि है इस बात को मानना हि होगा। पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे पर्यायरूप परिणति का होना अनिवार्य है। एक उपादान के युगपत् दो पर्यायें नहीं हो सकती। जब एक पर्याय का नाश होने लगता है तब दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होने लगती है। अतः ध्रुवांशयुक्त पदार्थ के एक पर्यायका नाश हि उससे उत्तरकालीन पर्याय की उत्पत्ति है। सारांश, उपादानके कार्योत्पत्ति के पूर्वकाल के परिणाम का नाश हि उसी उपादान की उत्तर परिणामरूप कार्यकी उत्पत्ति है।

(२) कार्य की उत्पत्ति में एक हि द्रव्य उपादानकारण होता है–दो द्रव्य नहीं; क्यों कि दो द्रव्यों का एक परिणाम कभी नहीं हो सकता। सुवर्णोपादानक कलश का उपादान एक सुवर्ण हि होता है – मिट्टि और सुवर्ण दोनों मिलकर नहीं। मिलाये हुए सुवर्ण और चांदिका कलश यद्यपि हो सकता है तो भी उस कलश को शुद्ध सुवर्ण का कलश नहीं माना जाता–वह अशुद्ध सुवर्ण का परिणाम कहा जाता है और इसीकारण से उसका मूल्य भी कम हो जाता है। कार्य का निमित्तकारण सहकारिकारणकलापरूप से एक हि होता है–अनेक सहकारिकारणकलाप नहीं होते।

(३) उपादान की स्वाश्रित परिणति और निमित्त की स्वाश्रित परिणति जब युगपत् होती है तब हि उपादान कार्यरूप से परिणत होता है। दोनों परिणतियों में यदि कालभेद हो अर्थात् पौर्वापर्य हो तो उपादान का कार्यरूप से परिणत होना असम्भव है। यदि दोनों की परिणतियों में कालकृत भेद होनेपर भी उपादन कार्यरूप से परिणत होता है ऐसा मान लिया तो कुम्हार की स्वाश्रित हस्तसंचालनादिक्रियारूप परिणति सुबह होनेपर सूर्यास्त

के समय घटपरिणामाभिमुख मृत्तिका घटरूप से परिणत होने लगेगी। कहनेका भाव यह है कि निमित्ताश्रित मृत्तिकासम्पृक्त क्रिया का अभाव होनेपर भी मृत्तिका स्वयमेव घटरूप से परिणत होने लगेगी। ऐसा होनेपर मृत्तिका परिणामी द्रव्य होनेसे सर्वदा और सर्वथा घटरूप से परिणत होने लग जायगी और संपूर्ण संसार घटों से हि भरा हुआ बन जायगा; किंतु ऐसा कहींपर भी देखनेमें नहीं आया, आता है और भविष्य में नहीं आवेगा। मुद्गर की चोट सुबह लग जानेपर घट का भंग या स्फोट सूर्यास्त के समय होता हुआ क्या कभी किसीके द्वारा देखा गया है? घट की भंजनक्रिया का और मुद्गर की आहनन क्रिया का काल एक हि देखनेमें आता है। मुद्गर को सिर्फ उठाकर गिरानेकी क्रियाको आहनन या आघात नहीं कहा जा सकता। गिराते समय घट के साथ होनेवाले स्पर्श को आघात कहते हैं। उठाकर गिराये मुद्गर का घटस्पर्शकाल और घट की भंगक्रिया का काल एक हि होता है। अतः घट के भंग का काल और मुद्गर के स्पर्शनक्रिया का काल एक हि होता है। इससे उपादानाश्रित परिणतिरूप क्रियाका काल और निमित्ताश्रित क्रिया का काल एक हि होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

(४) उपादान का परिणाम उपादेय के परिणाम से अल्प हि होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी कभी वह समान भी होता है और कभीकभी बडा भी होता है।

(५) कार्योत्पत्ति के काल के अनन्तरपूर्व काल में होनेवाला उपादान का परिणाम कार्य का–परिणाम का उपादानकारण पडता है।

(६) केवल भावप्रत्यासत्ति से, केवल देशप्रत्यासत्ति से और केवल सत्त्वद्रव्यत्वादि साधारणद्रव्यप्रत्यासत्ति से उपादानोपादेयभाव की सिद्धि नहीं होती। असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्ति और पूर्वाकाररूप भावप्रत्यासत्ति इन दोनों विशिष्ट प्रत्यासत्तियों से हि उसकी सिद्धि होती है।

(७) जो द्रव्य कार्योत्पत्ति के पूर्वकालीन अपनी परिणति का त्याग करके कार्यरूप अपूर्व अवस्था को–परिणति को धारण करता है और अपने देश का-गुणपुंजरूप द्रव्य का त्याग न करनेसे कार्यमें अपने पूर्वस्वभाव से अन्वित होनेसे पूर्वरूप से पाया जाता है वह हि उपादानसञ्ज्ञा को धारण कर सकता है। वस्त्ररूप कार्य के अनन्तरपूर्वकालीन आतान-वितान अवस्था का त्याग कर के वस्त्ररूप अपूर्व अवस्था को जो धारण करते हैं और कार्यस्थित होनेपर भी तन्तुत्वजाति को छोडते नहीं वे तन्तु हि उपादान कहे जाते हैं। सर्वथा क्षणिक द्रव्य या कूटस्थ नित्य द्रव्य उपादान बन हि नहीं सकता।

(८) द्रव्यके भिन्नकालीन (पूर्वकालीन और उत्तरकालीन) परिणाम एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न भी नहीं होते और सर्वथा अभिन्न भी नहीं होते-वे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होते हैं; क्यों कि द्रव्य परिणामिनित्य अर्थात् उत्पाद्व्ययध्रौव्यात्मक होते हैं।

(९) उपादान की और उपादेय की जाति एक होती है। सुवर्णकलश की सुवर्णत्वजाति और उसके उपादान की सुवर्णत्वजाति एक होती है। पर्याय की जाति और पर्यायवान् कि जाति में यदि भेद माना तो सुवर्णरूप उपादान से कार्यरूप मृत्तिकाकलश की उत्पत्ति माननेका प्रसंग खडा हो जायगा। मृद्घटकी जाति का और मृत्तिका की जाति का एकत्व सर्वविश्रुत है।

(१०) उपादानभूत द्रव्य के अनन्तरपूर्वोत्तरकालीन जितने भी परिणाम होते हैं वे सब परस्परसापेक्ष होते हैं। वे परस्परनिरपेक्ष हो तो अस्तिरूप बन हि नहीं सकते।

(११) केवल उत्पाद, केवल विनाश और केवल ध्रौव्य अस्तिरूप नहीं बन सकते। इनमें से किसी एक का अभाव होनेपर अवशिष्ट दोनों का भी अभाव हो जाता है।

(१२) उपरितन उद्धरण में जिसका उल्लेख नहीं पाया जाता और जिसका यहां उल्लेख किया जाना आवश्यक है वह बात यह है कि उपादान समर्थ होनेपर भी निमित्तकारण के अभाव में वह कार्यरूप से परिणत नहीं होता। (१) 'समर्थो हि बहिरङ्गकारणापेक्षः कालपरिणामत्वे सति कार्यत्वात् व्रीह्यादिवदिति। येन तत्कारणं बाह्यं स कालः।' (श्लो. वा., मु., पृ. ४१४, नि. सा. सं.) 'जो समर्थ होता है वह बहिरंग कारण की

अपेक्षा रखता है; क्यों कि काल का परिणाम होनेपर हि कार्य होता है, जैसे तंदुल आदि। जो उसका बाह्य कारण है वह काल है।' (२) सोऽयं परिणामः कालस्योपकारः, सकृत् सर्वपदार्थगस्य परिणामस्य बाह्यकारणमन्तरेण अनुपपत्तेः वर्तनात्। यत् तद्बाह्यं निमित्तं स कालः।' (श्लो. वा., मु., पृ. ४१८ नि. सा. सं.)

'यह जो परिणाम है वह काल का उपकार है; क्यों कि संसार के सभी पदार्थों का जो युगपत् परिणमन चल रहा है वह बाह्य कारण के विना घटित नहीं होता। जो वह बाह्य निमित्त है वह काल है।' इन दोनों प्रमाणों से उक्त अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। इस अभिप्राय के समर्थन में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, अ. ५, सू. २२, वा. ९-१०, पृ. ४१३, नि. सा. सं. देखनके योग्य है।

निमित्तविचार—

निमित्तशब्द की निरुक्ति 'निमेदति सह करोतीति निमित्तं' ऐसी है। इस निरुक्ति में 'करोति' इस मिङन्त या तिङन्त पद से परिणमनक्रिया का बोध होता है; क्यों कि परिणमन के विना 'करोति' इस पद की वाच्यभूत क्रिया नहीं हो सकती। इस परिणतिक्रिया का आश्रय निमित्तसंज्ञक पदार्थ होता है। इस क्रिया का आश्रय होनेसे वह निमित्तसंज्ञक पदार्थ कर्तृसंज्ञा को प्राप्त होता है। यह उसकी संज्ञा अनुपचरित अर्थात् यथार्थ है। उपादान की परिणतिक्रिया के निमित्त की परिणति अनुकूल होनेसे निमित्त को दी जानेवाली कर्तृसंज्ञा उपचरित अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से दी गयी है; क्यों कि निमित्त की परिणतिक्रिया का उत्पत्ति की दृष्टि से आश्रय निमित्तभूत पदार्थ से भिन्न जो उपादानभूत पदार्थ होता है वह नहीं होता। निरुक्ति में प्रयुक्त किया गया 'सह' यह शब्द 'यौगपद्य' इस अर्थ का द्योतक अथवा वाचक है। इस शब्द से दो पदार्थों का या उनकी परिणतियों का अस्तित्व ध्वनित होता है, क्यों कि दो पदार्थों के या परिणतियों के विना यौगपद्य इस शब्द का या साहचर्य इस शब्द का भाव व्यक्त नहीं होता। इमसे जब दो पदार्थों की परिणतिया समकालभाविनी होनेपर जिसकी परिणति उपादानभूत अन्य पदार्थ की परिणतिक्रिया में सहायक होती है तब उस पदार्थ को निमित्त यह संज्ञा प्राप्त होती है यह बात स्पष्ट हो जाती है। उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होनेवाली अन्य द्रव्य की परिणति को सहायक परिणति कहनेका कारण यह है कि वह उपादान की विशिष्ट कार्यरूप से परिणत होनेकी शक्ति को अपनी शक्ति के द्वारा उत्तेजित-प्रबोधित करती है। एक द्रव्य या उसकी परिणति अन्य द्रव्य को या उसकी परिणति को अपनी शक्ति दे नहीं सकता। वह अपनी शक्ति के द्वारा अन्य द्रव्य की शक्ति को उत्तेजित-प्रबोधित करता है। विश्व के संपूर्ण पदार्थों का कालद्रव्य के निमित्त से प्रतिसमय परिणमन होता ही है; किन्तु पदार्थ की विशिष्ट परिणति के लिए कालद्रव्य के साथसाथ अन्य सहकारिकारणकलाप की निहायत आवश्यकता होती है, क्यों कि उसके विना द्रव्य का विशिष्ट परिणमन हो हि नहीं सकता। काष्ठ का कालद्रव्यनिमित्तक परिणमन तो होता हि है; किन्तु जब उससे कुर्सी बनाई जाती है तब बढई जैसे कारीगररूप निमित्तकर्ता की आवश्यकता होती है, क्यों कि उसके अभाव में केवल कालद्रव्यरूप निमित्त का अस्तित्व होनेपर काष्ठ से कुर्सी नहीं बन पाती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ की विशिष्ट परिणति के लिए कालद्रव्य के साथसाथ अन्य द्रव्य की विशिष्ट परिणति की भी निमित्तरूप से आवश्यकता होती है। यदि केवल कालद्रव्यरूप निमित्त से पदार्थों की विशिष्ट परिणतिया भी होती है ऐसा माना तो कालद्रव्य और उससे भिन्न पदार्थ अनादि से विद्यमान होनेसे सभी पदार्थों की विशिष्ट परिणतियां सर्वदा होती रहती—पत्थर, लकडी आदि पदार्थों से बढई आदि कारीगरों का अभाव होनेपर भी मकान आदि बन जाते। इसप्रकार का पदार्थों का परिणमन कभी भी किसी के भी देखनेमें नहीं आया। अतः पदार्थों की विशिष्ट परिणतियों के लिए कालद्रव्य के समान निमित्तभूत अन्य द्रव्यों की परिणतियों की भी आवश्यकता होती है इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जिनागम के अनुसार जीवद्रव्य की सामान्य परिणति कालद्रव्य के निमित्त से जिसप्रकार होती है उसीप्रकार उस द्रव्य की विशिष्ट परिणतियाँ द्रव्यकर्म के निमित्त से होती है। द्रव्यकर्म अपने उदयरूप, क्षयरूप, क्षयोपशमरूप और उपशमरूप परिणतियों से जीव की परिणतियों के उत्पन्न होनेमें निमित्तकारण पडते हैं। वह कर्म अपने उदय से जीव की औदयिकभावरूप परिणति का, क्षय से जीव की क्षायिकभावरूप परिणति का, क्षयोपशम से क्षायोपशमिकभावरूप

परिणति का और उपशम से औपशमिक भावरूप परिणति का निमित्तकारण पड जाता है। 'जीव के क्षायिकभावरूप परिणति का कर्मों का प्रध्वंसाभावरूप क्षय निमित्त कैसे हो सकता है; क्यों कि द्रव्य अपना सद्भाव होनेपर हि परद्रव्य की परिणतिक्रियामें सहकारिकारण बन सकता है?' इसप्रकार की शंका उपस्थित की जा सकती है; किंतु यह शंका ठीक नहीं है; क्यों कि प्रध्वंसाभावरूप क्षय से द्रव्य का तुच्छाभाव अभीष्ट नहीं है, अपि तु द्रव्यकर्म के फलदानसामर्थ्ययुक्त अवस्थाविशेष का नाश अभीष्ट है। द्रव्यकर्म की उस अवस्था का विनाश अन्य अवस्था की उत्पत्तिरूप है। कर्म की इस विशिष्ट अवस्था का नाश और जीव की शुद्धावस्थारूप परिणति युगपत् होती है। अतः द्रव्यकर्म अपनी उदयावस्था के नाश के रूप से जीव की शुद्ध परिणति का निमित्तकारण पडता है। यहांपर एक-शास्त्रीय प्रमाण पेश किया जाता है–'तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत् सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते, तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत् सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम्। (स. सा. गा. ७४ की टीका)' जिस काल में (जीव) समीचीनरूप से आस्रवों से निवृत्त होता है उसी काल में विज्ञानघनस्वभाव से युक्त होता है और जिस काल में समीचीनतया विज्ञानघनस्वभाव से युक्त होता है उसी काल मे वह आस्रवों से निवृत्त होता है। इस प्रकार से विज्ञानघनस्वभाव के रूप से जीव का परिणमन और आस्रवों की निवृत्ति अर्थात् द्रव्यभावरूप कर्मो का अभाव होना इनका काल एक है अर्थात् ये दोनों द्रव्यों की परिणतियां युगपत् होती हे। यहां 'विज्ञानघनस्वभाव की प्राप्ति और आस्रवनिवृत्ति इन में निमित्तनैमित्तिकभाव है यह बात सुतरां स्पष्ट हो जाती है। आस्रवनिवृत्ति का नाम हि द्रव्यकर्मों की उदयरूप परिणति का प्रध्वंसाभावरूप अभाव है। द्रव्यकर्मों की परिणतिरूप अवस्था का अभाव और जीव की शुद्धपरिणति का प्रादुर्भाव इन दोनों मे से आस्रवनिवृत्ति निमित्त है और आत्मा की शुद्धावस्था का प्रादुर्भाव नैमित्तिक है। शुद्धावस्था के प्रादुर्भाव का उपादानकारण जीवद्रव्य है और निवृत्तिक्रिया का आश्रय आस्रुत द्रव्यकर्म है। ऐसा होनेपर भी उन दोनों में निमित्तनैमित्तिकभाव अवश्य विद्यमान है। इसी विषय को स्पष्ट करनेके लिये ओर एक शास्त्रीय प्रमाण पेश किया जाता है—

निःक्रियत्वात् गतिस्थित्यवगाहनक्रियाहेतुत्वाभाव इति चेत्,
न, बलाधानमात्रत्वात्, इन्द्रियवत् ॥ ४ ॥

स्यादेतत्–'यदि एतानि निःक्रियाणि, गतिस्थित्यवगाहनक्रियाहेतुत्वं एषां नोपपद्यते। क्रियावन्ति हि जलादीनि मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानि' इति। तन्न। किं कारणम्? बलाधानमात्रत्वात्, इन्द्रियवत्। यथा दिदृक्षोश्चक्षुरिन्द्रिय रूपोपलब्धौ बलाधानमात्रमिष्टं; न तु चक्षुष तत्सामर्थ्यं, इन्द्रियान्तरोपयुक्तस्य तदभावात्। यथा वाऽऽयुःसङ्क्षयात् आत्मनि शरीरान्निःक्रान्ते सदपीन्द्रियं रूपाद्युपलब्धौ समर्थ न भवति। ततो 'ज्ञायते आत्मन एवैतत्सामर्थ्यं, इन्द्रियाणां तु बलाधानमात्रत्वम्' इति। तथा स्वयमेव गतिस्थित्यवगाहनपर्यायपरिणामिनां जीवपुद्गलानां धर्माधर्माकाशद्रव्याणि गत्यादिनिर्वृत्तौ बलाधानमात्रत्वेन विवक्षितानि, न तु स्वयं क्रियापरिणामीनि। कुतः पुनरेतदेवमिति चेत्, उच्यते-द्रव्यसामर्थ्यात्। यथा–आकाशमगच्छत्सर्वद्रव्यैः सम्बद्धं; न चास्य सामर्थ्यमन्यस्यास्ति। तथा च निःक्रियत्वेप्येषां गत्यादिक्रियानिर्वृतिं प्रति बलाधानमात्रत्वमसाधारणमवसेयम्। (रा. वा. अ. ५, सू. ७, वा. ४.)

'धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य यदि निष्क्रिय हो तो अन्यद्रव्यों को गतिक्रिया का धर्मद्रव्य, स्थितिक्रिया का अधर्मद्रव्य और अवगाहनक्रिया का आकाशद्रव्य हेतु नही बन पाता; क्यों कि सक्रिय जलादि द्रव्य हि मत्स्यादिकों की गत्यादिक्रियाओं के निमित्त होते हुए देखे जाते हे' ऐसा आक्षेप किया जा सकता है; किंतु वह ठीक नहीं है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि वे इंद्रियो के समान सिर्फ बलाधान करते हे। जिसप्रकार देखनेकी इच्छा करनेवाले पुरुष के रूप जानते समय बलाधान करनेवाली चक्षुरिन्द्रिय इष्ट है।

चक्षुरिन्द्रिय रूप को जानने की सामर्थ्य से संपन्न नहीं है; क्यों कि जिसका उपयोग अन्य इंद्रिय में लग हुआ होता है उसके रूपज्ञान का अभाव होता है। अथवा जिसप्रकार आयु का क्षय हो जानेसे आत्मा का शरीर के बाहर निष्क्रमण हो जानेपर चक्षुरिन्द्रिय विद्यमान होनेपर भी वह रूपादि को जाननेमें समर्थ नहीं होती। उससे 'रूपादि को जाननेकी सामर्थ्य आत्मा की हि है और इंद्रियों का सिर्फ बलाधायकत्व-बलाधान करना' ये दो बातें जानी जाती हें। उसीप्रकार स्वयमेव गतिपर्याय, स्थितिपर्याय और अवगाहनपर्याय रूप से परिणत होनेवाले जीवों की और पुद्गलों की गत्यादिरूप से परिणत होनेकी क्रियाओं में धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य सिर्फ बलधान करनेके रूप से विवक्षित हे-वे स्वय क्रियारूप परिणत होनेवाले के रूप से विवक्षित नहीं हे। 'फिर यह ऐसा है ऐसा जो कहा गया है वह कैसे बन सकता है?' इस शंका का 'द्रव्य की सामर्थ्य से बन सकता है' यह समाधानवाक्य कहा जाता है। जैसे गतिक्रियाशून्य आकाश सभी द्रव्यों के साथ सबद्ध हुआ है-इस की सामर्थ्य दूसरे द्रव्य की नहीं होती, उसप्रकार धर्म, अधर्म और आकाश ये द्रव्य निष्क्रिय होनेपर भी अन्य द्रव्यों की गत्यादिरूप से जब परिणति होने लगती है तब उनका सिर्फ बलाधानत्व-बलाधायकत्व होता है ऐसा जानना। उनका यह बलधायकत्व असाधारण होता है।

बाह्य ज्ञेय पदार्थ के स्वरूप को जानते समय जिसप्रकार द्रव्येन्द्रिया क्षायोपशमिक ज्ञान के रूपसे परिणत हुई आत्मा की जब विशिष्ट परिणति होने लगती है तब उस आत्मा के बल का सिर्फ साधकतम साधन-निमित्त बन जाती हें उसीप्रकार स्वयं गतिक्रियारूप से, स्थितिक्रियारूप से और अवगाहनक्रियारूप से परिणत होनेके लिये जब आत्मद्रव्य और पुद्गलद्रव्य तैयार रहते हे, तब धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य यथाक्रम उन दोनों द्रव्यो के बल का आधान करने की क्रिया के रूप से साधकतम साधन अर्थात् करण बनते हें। आचार्य पूज्यपाद-स्वामी ने सर्वार्थसिद्धिसंज्ञक ग्रथ मे अध्याय ५, सूत्र ७ की टीका में 'बलाधाननिमित्तत्वात्' इस सामासिक पद का जो प्रयोग किया हे उसको देखनेमे 'बलाधान का निमित्तमात्र होते हे' यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस अभिप्राय को मनश्चक्षु के सामने रखकर राजवार्तिक में प्रयुक्त 'बलाधानमात्रत्वात्' इस सामासिक पद का अर्थ करना चाहिये। 'बलमाधीयतेऽनेनेति बलाधानम्। बलाधानमेव बलाधानमात्रम्।' 'साधकतमं करणम्' और 'करणाधारे चानट्' इन दो जैनेन्द्रीय सूत्रों के अनुसार करणार्थ मे 'अनट्' प्रत्यय लगाकर 'बल की आधानक्रिया का सिर्फ साधकतम साधन' यह अर्थ व्यक्त किया गया हे। मात्रट् प्रत्यय लगाकर 'बल की आधानक्रिया का साधकतम साधन-करण हि है' यह अर्थ स्पष्ट किया गया है। इससे 'आत्मद्रव्य और पुद्गलद्रव्य अपनी सामर्थ्य से परिणतिक्रिया के लिये जब तैयार रहते हे तब धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य उन दोनो द्रव्यों की परिणति-क्रिया का साधकतम साधन-सहकारिकारण-करण बन जाते हें-धर्मादि द्रव्यो के बिना आत्मद्रव्य और पुद्गलद्रव्य समर्थ होनेपर भी उन दोनो की परिणति होती ही नहीं' यह अर्थ स्पष्ट हो जाता हे। 'बलाधानमात्रमेव निमित्त' इस विग्रह का अर्थ 'बलाधान हि निमित्त' ऐसा होता हे। इसप्रकार आचार्य अकलकदेव के 'बलाधान-मात्रत्वात्' इस सामासिक पद का करणार्थ और अवधारणार्थ प्रकट हो जाता है। मात्रट् प्रत्यय से जो 'अवधारण' वह अर्थ प्रकट होता है उससे धर्मादि द्रव्यों की उपादानसदृशता का परिहार हो जाता है। यहां जो 'आधान' यह शब्द पाया जाता है उसके अर्थ के विषय में आगे सप्रमाण विचार किया जायगा।

अधिक स्पष्टता के लिये नीचे दिया हुआ शास्त्रीय प्रमाण पठनीय है-

क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम्। आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते ॥ ३३ ॥
जीवाना पुद्गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे। जलवन्मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः ॥ ३४ ॥
स्थित्या परिणतानां तु सचिवत्वं दधाति यः। तमधर्मं जिनाः प्राहुर्निरावरणदर्शनाः ॥ ३५ ॥
जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये स्थित्युपग्रहे। साधारणाश्रयोऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ ॥ ३६ ॥
आकाशन्तेऽत्र द्रव्याणि स्वयमाकाशतेऽथवा। द्रव्याणामवकाशं वा करोत्याकाशमस्त्यतः ॥ ३७ ॥

जीवानां पुद्गलानां च कालस्याधर्मधर्मयोः । अवगाहनहेतुत्वं तदिदं प्रतिपद्यते ॥ ३८ ॥
क्रियाहेतुत्वमेतेषां निःक्रियाणां न हीयते । यतः खलु बलाधानमात्रमत्र विवक्षितम् ॥ ३९ ॥
क्रियाहेतुत्वमेतेषां निःक्रियाणां न हीयते । यतः खलु बलाधानमात्रमत्र विवक्षितम् ॥ ४० ॥
अन्तर्नीतैकसमया प्रतिद्रव्यविपर्ययं । अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना ॥ ४१ ॥
आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः । वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ॥ ४२ ॥
न चास्य हेतुकर्तृत्वं निःक्रियस्य विरुध्यते । यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते ॥ ४३ ॥

जो स्वयं हि क्रियावान् अर्थात् क्रियारूप से परिणत होनेकी शक्ति से सदा युक्त हुआ करते हैं वे जब क्रियारूप से परिणत होने लगते हैं तब जो सहायत्व को धारण करता है अर्थात् जो मदद पहुंचाता है वह धर्मद्रव्य कहा जाता है । मछली कि गतिक्रिया मे जिसप्रकार जल आश्रय होता है उसीप्रकार जीव और पुद्गलो की गतिरूप से परिणत होनेकी शक्ति प्रकट होनेमें धर्मद्रव्य साधारण आश्रय-निमित्तकारण होता है। ('द्रव्याणा शक्त्यन्तराविर्भावे कारणभावोऽनुग्रह उपग्रह इत्याख्यायते ।' रा. वा अ. ५, सूत्र १२, वा. ३) जो स्थितिरूप से परिणत होने लग जाते हैं उनका जो साचिव्य करता है अर्थात् स्थितिरूप परिणतिक्रिया में मदद पहुचाता है उसे जिनका दर्शन निरावरण हो गया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान् अधर्म कहते हैं । पशुओं की स्थितिरूप परिणतिक्रिया में जिसप्रकार भूमि आश्रय–कारण होती है उसीप्रकार जीव और पुद्गलों की स्थितिरूप से परिणत होने की शक्ति व्यक्त होनेमें अधर्मद्रव्य साधारण आश्रय–निमित्तकारण होता है । जिसमे द्रव्य प्रकाशित होते हैं अथवा जो स्वयप्रकाशित होता है अथवा जो द्रव्यो को अवकाश देता है वह आकाश है । वह आकाशद्रव्य जीव, पुद्गल, काल, अधर्म और धर्म इन द्रव्यो के अवगाहन का हेतु होता है–अवकाश देता है । इन निष्क्रियद्रव्यो का क्रियापरिणति मे हेतु बननेका स्वभाव नष्ट नही होता, क्यों कि यहां क्रियारूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य रखनेवाले द्रव्यो की सामर्थ्य को उत्तेजित–प्रबोधित करना हि विवक्षित है । परिणामादिक्रियाए जिसके निमित्त से होती है वह कालद्रव्य है । विद्वज्जन वर्तना को उसका लक्षण बताते हैं । द्रव्य की प्रत्येक पर्याय से द्रव्यकी एकसमयमात्र–अवधिवाली उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हि सत्ता है अन्य नहीं इसप्रकार की बुद्धि आदि जो होते हैं उन्हे वर्तना कहा है । अपनी पर्यायों की रूप से स्वय परिणत होनेवाले द्रव्यों की वर्तना–समयमात्रावधिकपरिणति–अर्थपर्याय मे करण–निमित्तकारण बन जाने से कालद्रव्य हेतुकर्तृता को धारण करता है-निमित्त पडनेसे हेतुकर्ता कहा जाता है । इस काल के हेतुकर्ता होने मे किसी बात का विरोध नही है; क्यो कि जो सिर्फ निमित्त होता है उसका हेतुकर्ता होना इष्ट-अभिलषित है ।

इससे नीचे दी हुई बातें स्पष्ट हो जाती हैं - (१) जीव और पुद्गलो की गति और स्थिति ये दोनों परिणाम हैं । (२) धर्मद्रव्य सक्रिय द्रव्यों की गतिरूप परिणति मे निमित्तकारण पडता है और अधर्मद्रव्य उन्हीं द्रव्यो की स्थितिरूप परिणति में निमित्तकारण पडता है । (३) धर्म, अधर्म आदि द्रव्य निष्क्रिय होनेपर भी उनका निमित्तकारणत्व या निमित्तकर्तृत्व बाधित नहीं होता; क्यो कि स्वय परिणत होनेवाले द्रव्यो की परिणतिक्रियामे निमित्त परिणममान द्रव्य का बल उत्तेजित करना है इतना हि भाव विवक्षित होता है । (४) द्रव्य स्वय परिणत होता है । दूसरा निमित्तभूत द्रव्य-वह चाहे सक्रिय हो या निष्क्रिय, चाहे वह प्रेरक हो या न हो-परिणमनशील द्रव्य की परिणमनशक्ति को सिर्फ उत्तेजित-प्रबोधित करता है । (५) निमित्त में प्रेरकत्व का अभाव और निष्क्रियत्व होनेपर भी हेतुकर्तृत्व इष्ट है । (६) निमित्त को हेतुकर्ता, निमित्तकर्ता, प्रयोजक या प्रयोजककर्ता और निमित्तकारण कहनेमे कोई बाधा उपस्थित नहीं होती ।

आचार्यप्रवर पूज्यपादस्वामीने इसी आशय को दृष्टान्तद्वारा सुतरा स्पष्ट किया है । देखिए -

को णिजर्थः ? वर्तते द्रव्यपर्यायः । तस्य वर्तयिता कालः । 'यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति, यथा शिष्योऽधीते उपाध्यायः अध्यापयति ।' नैष दोषः । निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्ट यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति । एव कालस्य हेतुकर्तृता । (स. सि. अ. ५, सूत्र २२, पृ. १८५, सो. स.)

णिच् का-प्रयोजक का क्या अर्थ है ? द्रव्य का पर्यायरूप से परिणमन हो रहा है। द्रव्य की परिणति को काल कराता है। (पू. प.) 'यदि द्रव्य की परिणति को काल कराता है ऐसा माना तो कालद्रव्य को (जीव और पुद्गलद्रव्यों के समान) क्रियावान् मानना होगा। (जैन शास्त्रों में कालद्रव्य को निष्क्रिय माना है।) जैसे शिष्य अध्ययन करता है और अध्यापक अध्ययन कराता है। (अध्यापक सक्रिय होनेसे उसकी अध्यापनक्रिया ठीक है। इस अध्यापकको तरह कालद्रव्य को भी उसको प्रयोजक माननेपर सक्रिय मानना पडेगा।)' यह दोष नहीं है। द्रव्य निमित्तमात्र होनेपर भी उसकी हेतुकर्ता यह संज्ञा देखनेमें आती है, जैसे कंडों का अग्नि अध्यापन कराता है। (अध्येता स्वयं अध्ययनक्रियारूप से परिणत होता है। कंडों का अग्नि स्वयं प्रकाशित होता है और अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है। इस प्रकाश का सहारा पानेपर अध्येता स्वयं अध्ययनक्रियारूप से परिणत होने लग जाता है। इस प्रकार अध्येता की अध्ययनक्रिया में सिर्फ सहायक होनेपर भी अर्थात् अध्येता की अध्ययनशक्ति को सिर्फ प्रबोधित करनेवाला होनेपर भी कारीष अग्नि को हेतुकर्ता कहा जाता है।) इसी प्रकार काल की भी हेतुकर्तृता स्पष्ट हो जाती है। (अग्नि का प्रकाशनकाल और अध्ययनक्रिया का काल समान होनेसे अग्नि को अध्ययनक्रिया का हेतुकर्ता कहा जाता है। अग्नि के प्रकाशनकाल में और अध्ययनक्रिया के कालमें पौर्वापर्य होनेपर अंधेरेमें अध्ययन-क्रिया का होना असंभव है। अतः दोनों की क्रियाएं समकालभाविनी होनेपर हि अग्नि और अध्ययनक्रिया में निमित्त-नैमित्तिकभाव घटित हो सकता है, अन्यथा नहीं यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। अग्नि में प्रेरकत्व का अभाव होनेपर भी यहां उसकी हेतुकर्तृता स्पष्ट हो जाती है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य निष्क्रिय होनेपर भी जीव-पुद्गलों की परिणतिक्रिया में उन दोनो के बल का सिर्फ आधानमात्र करते हैं। अतः उनकी जो हेतुकर्तृ यह संज्ञा की जाती है वह विरुद्ध नहीं पडती। जीव और पुद्गल स्वयं परिणत होते हैं तो भी उनकी परिणति निमित्त के अभाव में नहीं हो सकती, फिर वह परिणति चाहे एकसमयमात्रवर्तिनी हो या अनेकसमयमात्रवर्तिनी। परिणतियां चाहे अर्थपर्यायरूप हों या व्यंजनप-र्यायरूप हो वें निमित्त का अभाव होनेपर अस्तिरूप नहीं बन सकती। पिछले उद्धरण में भी जो 'बलाधानमात्रम्' यह पद पाया जाता है उसमे भी करणार्थ और अवधारणार्थ का बोध हो जाता है। कार्योत्पत्ति के समय उपादान बल अर्थात् परिणमशक्ति से अवश्य हि युक्त होता है, किंतु उसका आधान–उत्तेजन–प्रबोधन निमित्त या हेतुकर्ता हि करता है या उससे हि होता है।

अब यहांपर 'आधान' इस शब्द के अर्थपर विचार किया जाता है। जिसप्रकार उपादान की कार्यरूप परिणति के अनन्तरपूर्वकाल में बलसम्पन्न-शक्तिसम्पन्न-परिणमनाभिमुख होता है उसीप्रकार निमित्त या हेतुकर्ता भी शक्तिसम्पन्न होता है। उपादान अपनी शक्ति निमित्त को और निमित्त अपनी शक्ति उपादान को नहीं दे सकता। कर्मरूप या कर्मोदयादिरूप निमित्त अपनी फलदानशक्ति से अशुद्धजीवरूप अशुद्ध उपादान की कर्मफल भोगने की पर्यायशक्ति को उत्तेजित-प्रबोधित करता है।

सहकारिसामग्री– जिसे निमित्त भी कहते हैं–भी शक्तिसम्पन्न होती है इस अभिप्राय का समर्थन करनेके लिये नीचे शास्त्रीय प्रमाण पेश किये जाते हैं--

"किं ग्राहकप्रमाणाभावात् शक्तेः अभावः, अतीन्द्रियत्वात् वा ? तत्र आद्यः पक्षः अयुक्तः, कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तिजनितानुमानस्य एव तद्ग्राहकत्वात्। 'ननु सामग्र्यधीनोत्पत्तिकत्वात् कार्याणां कथं तदन्यथानुपपत्तिः यतः अनुमानात् तत्सिद्धिः स्यात् ?' इत्यप्यसमीचीनं यतः न अस्माभिः सामग्र्याः कार्यकारित्वं प्रतिषिध्यते; किन्तु प्रतिनियतायाः तस्याः प्रतिनियकार्यकारित्वं अतीन्द्रियशक्तिसद्भावं अन्तरेण असम्भाव्यं इति असावपि अभ्युपगन्तव्या " (प्र. क. मा., नि. सा. सं., पृ. १९७)

शक्ति का जो अभाव बताया जाता है वह क्या उस शक्ति को ग्रहण करनेवाले प्रमाण का अभाव होनेसे बताया जाता है या वह शक्ति अतीन्द्रिय होनेसे-इन्द्रियग्राह्य न होनेसे ? उन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष समीचीन

नहीं है-अयोग्य है; क्यों कि शक्ति का अभाव होनेपर कार्य की उत्पत्ति न होनारूप हेतु के द्वारा उत्पादित किया गया अनुमान हि उस शक्ति का ग्रहण कराता है। 'कार्यों की उत्पत्ति सहकारिसामग्री के अधीन होनेसे जिस अनुमान से शक्ति की सिद्धि होनेवाली है उस अनुमान की निष्पत्ति करनेवाला कार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तिरूप हेतु कैसे सिद्ध होगा?' यह आक्षेप भी ठीक नहीं है; क्यों कि सामग्री के कार्यकारित्व का प्रतिषेध हम नहीं करते। हमारे कहने का भाव यह है कि अतीन्द्रिय शक्ति के सद्भाव के बिना विशिष्ट सहकारिसामग्री को विशिष्ट कार्य के विषय में कर्तापन असम्भव है। अतः इस शक्तिका भी स्वीकार करना आवश्यक है। दूसरा प्रमाण—

'यत् कार्यं तत् असाधारणधर्माध्यासितात् एव कारणात् आविर्भवति, सहकारीतरकारणमात्रात् वा न भवति, यथा सुखाङ्कुरादि, कार्यं चेदं निखिलं आविर्भवत् वस्तु इति।'

(प्र. क. मा., नि. सा. सं., पृष्ठ १९९)

जो कार्य होता है वह असाधारण धर्म-शक्ति से युक्त हि सहकारिकारण से अस्तिरूप बनता है—वह सहकारिकारण से भिन्न कारणमात्र से अर्थात् सिर्फ उपादानकारण से अस्तिरूप नहीं बनता, जैसे सुख, अंकुर आदि। अंकुररूप कार्य का बीज उपादानकारण है। भूमि, जल आदि सहकारिसामग्री न हो तो बीजरूप उपादान से अंकुररूप कार्य की उत्पत्ति देखनेमें नहीं आती। भूमि, जल आदि सहकारिसामग्री विद्यमान होनेपर भी वह बीज से अंकुररूपकार्य की उत्पत्ति के अनुकूल असाधारणशक्ति से युक्त न हो तो भी बीज से अंकुररूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। ऊषर भूमि में बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सहकारिसामग्री का अभाव होनेपर सिर्फ उपादान से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती और सहकारिसामग्री विद्यमान होनेपर भी यदि वह कार्योत्पत्ति के अनुकूल असाधारण धर्म—शक्ति से युक्त न हो तो भी कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती। कर्म सत्ता में होनेपर भी जबतक वह उदयावस्था को प्राप्त होकर अपनी फलदानसामर्थ्यरूप असाधारणशक्ति उसमें व्यक्त नही होती तबतक अज्ञानी जीव मे विभावरूप से परिणत होनेकी शक्ति विद्यमान होनेपर भी अज्ञानी जीव विभावरूप से परिणत नहीं होता। यदि ऐसा नहीं होता तो बद्धकर्म अपनी अनुदय अवस्था में भी जीव को फल देने लग जाता। और एक बात यह भी है कि यदि अज्ञानी जीव कर्म की अनुदय अवस्था मे भी विभावरूप से परिणत होने लगा तो सभी प्रकारों के विभावरूपो से वह परिणत होने लगेगा जो कि असभव है; क्यो कि एक विशिष्ट काल में एक हि परिणाम होता है— जिस समय जीव सुखरूप से परिणत होता है उसी समय उसकी दुःखरूप परिणति नहीं होती। सारांश, असाधारण और उपादान की परिणति में उपकारक ऐसी शक्ति से युक्त द्रव्य हि निमित्तपना को प्राप्त होता है।

इन दो उद्धरणो से '(१) उपादान के समान निमित्तकारण की विशिष्टशक्तिसपन्नता और (२) निमित्तकारण का अभाव होनेपर उपादानकारण समर्थ होनेपर भी उससे कार्य की उत्पत्ति न होना' इन दो बातों का ज्ञान हो जाता है।

शक्ति और शक्तिमान् इन मे कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद होता है। अभेद का कारण यह है कि उसका शक्तिमान् से सर्वथा भिन्नरूप से अस्तित्व का ज्ञान नही होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति का शक्तिमान् के साथ अयुतसिद्धसंबंध या तादात्म्यसंबंध है। 'कथंचिद्भेदाभेदौ तादात्म्य' ऐसा तादात्म्य का लक्षण है। उपादान की शक्ति का उपादान के साथ और निमित्त की शक्ति का निमित्त के साथ तादात्म्यसंबंध होनेसे उपादान अपनी शक्ति का निमित्त को और निमित्त अपनी शक्ति का उपादान को प्रदान नहीं कर सकता और दोनों मे से कोई भी दूसरे की शक्ति को अपना नहीं सकता। अतः ऐसी अवस्था मे 'बलाधानमात्रत्वात्' इस समास में प्रयुक्त किये गये 'आधान' इस शब्द का आदान या प्रदान अर्थ असगत होने से उसका 'उत्तेजन, प्रबोधन' यह अर्थ हि युक्त्यागमसंगत मालुम होता है।

निमित्तनैमित्तिकभाव की द्विनिष्ठता—

यद्यपि इस विश्व में अनन्तपदार्थ पाये जाते है, तो भी महासत्ता की अपेक्षा से उनमें कथंचित् अभेद

होता है और अवान्तरसत्ता की या प्रत्येक पदार्थ के असाधारणधर्म की अपेक्षा से कथंचित् भेद होता है। पदार्थों की परस्पर भिन्नता या उनकी अनन्तता पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है। 'एकं द्रव्यं अनन्तपर्यायम्' यह आगमवाक्य इसी अभिप्राय का समर्थन करता है। योग्यता रखनेवाले विभिन्न पदार्थों में निमित्तनैमित्तिकभाव होता है अर्थात् पदार्थों में विभिन्नता होनेपर हि उनमें निमित्तनैमित्तिकभाव होता है, अन्यथा नहीं। ऐसा होते हुए भी इस विषय में और एक विशेष उल्लेखनीय बात का यहां प्रतिपादन किया जाना आवश्यक है। एक द्रव्य की पूर्वापरकालीन दो पर्यायों में निमित्तनैमित्तिकभाव होता है। जब दो पर्यायों में निमित्तनैमित्तिकभाव होता है तब पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होती है और द्रव्यार्थिकनय की गौणता। पूर्वपर्याय का असाधारणस्वरूप उत्तरपर्याय में नहीं पाया जाता; क्यों कि उत्तरपर्याय का असाधारणस्वरूप पूर्वपर्याय के असाधारणस्वरूप से भिन्न होता है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपर्याय के विनाश के विना उत्तरपर्याय उत्पन्न नहीं होती। पूर्वपर्याय अपने विनाश के द्वारा उत्तरपर्याय की उत्पत्ति में सहायक होती है और पूर्वपर्याय के विनाश का और उत्तरपर्याय की उत्पत्ति का काल एक होता है। अतः द्रव्य की पूर्वपर्याय उसकी उत्तरपर्याय की उत्पत्ति में सहायक होनेसे और पूर्वपर्याय का असाधारण स्वरूप उत्तरपर्याय में पाया न जानेसे पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय की उत्पत्ति में निमित्तकारण बन जाती है। इस विषय के समर्थन के लिये नीचे जो प्रमाण पेश किया गया है वह अत्यधिक विचारणीय है।

मतिपूर्वकत्वे श्रुतस्य तदात्मकत्वप्रसङ्गो घटवत्, अतदात्मकत्वे वा तत्पूर्वकत्वाभावः ॥ ३ ॥ कश्चिदाह मतिपूर्वं श्रुतं। तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति। कारणगुणानुविधानं हि कार्य दृष्टं, यथा मृन्निमित्तः घटः मृदात्मकः। अथाऽतदात्मकत्वमिष्यते, तत्पूर्वकत्वं तर्हि तस्य हीयते इति।

न वा, निमित्तमात्रत्वाद्दण्डादिवत् ॥ ४ ॥ न वैष दोषः। किं कारणम्? निमित्तमात्रत्वाद्दण्डादिवत्। यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्डचक्रपौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति। यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामनिरुत्सुकत्वान्न घटीभवति, ततः मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसानिध्याद घटो भवति, न दण्डादयः, इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वं। तथा पर्यायिपर्याययो स्यादन्यत्वादात्मनः स्वयमन्तःश्रुतभवनपरिणामाभिमुख्ये मतिज्ञानं निमित्तमात्रं भवति। यतः सत्यपि सम्यग्दृष्टेः श्रोत्रेन्द्रियबलाधाने बाह्याचार्यपदार्थोपदेशसन्निधाने च श्रुतज्ञानावरणोदयवशीकृतस्य स्वयमन्तःश्रुतभवननिरुत्सुकत्वादात्मनो न श्रुतं भवति। ततो बाह्यमतिज्ञानादिनिमित्तापेक्ष आत्मा एव अभ्यन्तरश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमापादितश्रुतभवनपरिणामाभिमुख्याच्छ्रुती भवति। न मतिज्ञानस्य श्रुतभवनमस्ति, तस्य निमित्तमात्रत्वात्।

अनेकान्ताच्च ॥ ५ ॥ नायमेकान्तोऽस्ति 'कारणसदृशमेव कार्यम्' इति। कुतः? तत्रापि सप्तभङ्गीसम्भवात्। कथम्? घटवत्। यथा घटः कारणेन मृत्पिण्डेन स्यात्सदृशः, स्यान्न सदृश इत्यादि। इति मृद्द्रव्याजीवानुपयोगाद्यादेशात्स्यात्सदृशः, पिण्डघटसंस्थानादिपर्यायादेशान्न सदृशः। पूर्ववदुत्तरे भङ्गा नेतव्याः। यस्यैकान्तेन कारणानुरूपं कार्यं, तस्य घटपिण्डशिबकादिपर्याया न उपलभ्येरन्। किंच–घटेन जलधारणादिव्यापारो न क्रियेत, मृत्पिण्डे तददर्शनात्। अपि च मृत्पिण्डस्य घटत्वेन परिणामः स्यात्, एकान्तसदृशत्वात्। न चैव भवति। अतो नैकान्तेन कारणसदृशत्वम्। तथा श्रुतं सामान्यादेशात्स्यात्कारणसदृशं, यतो मतिरपि ज्ञानं, श्रुतमपि। अव्यवहिताभिमुखग्रहणनानाप्रकारार्थ-, प्ररूपणसामर्थ्यादिपर्यायादेशात्स्यान्न कारणसदृशम्। पूर्ववदुत्तरे भङ्गा नेतव्याः। [रा. वा. अ. १ सू. २० वा० ३।४।५]

'श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक अर्थात् मतिकारणक कहा गया है। अतः श्रुतज्ञान भी मतिस्वरूप हो जानेकी आपत्ति खडी हो जाती है। कारण के गुणों से युक्त हि कार्य देखने में आता है, जैसे मृत्तिकाकारणक घट मृत्तिका के स्वरूप से युक्त होता है। कार्य का कारण के स्वभाव से युक्त होना यदि अभिप्रेत न हो तो कार्य का कारणपूर्वकत्व बाधित हो जाता है' ऐसा कोई कहता है; किंतु यह दोष उपस्थित न होनेका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि घट की उत्पत्ति में दण्डचक्रादि जिसप्रकार निमित्तमात्र होते हैं उसीप्रकार श्रुतज्ञानरूप परिणति में पूर्ववर्ती मतिज्ञान निमित्तमात्र होता है। घटरूप परिणति के लिये अंतरंग परिणाम के रूप से मृत्तिका के स्वयं तैयार रहनेपर दण्ड, चक्र, पुरुषप्रयत्न आदि का समूह सिर्फ निमित्त होता है। स्वयं कंकरों से भरा हुआ मृत्तिका का पिण्डरूप परिणाम घटरूप परिणति के लिए अंतरंग में परिणाम के रूप से स्वयं तैयार न रहने से दंडादिरूप निमित्तकारणों के विद्यमान रहनेपर भी घटरूप से परिणत नहीं होता। इससे बाह्य दण्डादिरूप निमित्तकारणों की अपेक्षा रखनेवाला मृत्तिका का पिण्ड हि आभ्यन्तर परिणाम का सान्निध्य होने से अर्थात् घटरूप परिणति के अनन्तरपूर्वकाल में घटनिष्पत्ति के योग्य मृत्परिणाम की प्रत्यासत्ति होनेसे घटरूप से परिणत होता है—दण्डचक्रादि घटरूप से परिणत नहीं होते। इसप्रकार दण्डचक्रादिकों का निमित्तमात्रत्व है। इस दृष्टान्त के समान पर्याय और पर्यायवान् में कथंचित् भेद होनेसे श्रुतज्ञानरूप परिणति के लिए अंतरंग में परिणाम के रूप से परिणत होनेके लिए आत्मा के स्वयं तैयार रहतेसमय मतिज्ञान सिर्फ निमित्त होता है। सम्यग्दृष्टि की श्रोत्रेन्द्रिय का बल उत्तेजित होनेपर और पदार्थों का आचार्यकृत बाह्य उपदेश का सान्निध्य होनेपर भी श्रुतज्ञानावरणकर्म के उदय के द्वारा वश की गयी श्रुतज्ञान के रूप से परिणत होनेके लिए तैयार न हुई इस आत्मा का श्रुतज्ञान आविर्भूत नहीं होता। उस कारण से बहिरंग (श्रुतज्ञानरूप पर्याय से बहिर्भूत) मतिज्ञानादिरूप निमित्तकारणों की अपेक्षा रखनेवाली आत्मा हि श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के कारण बने हुए श्रुतरूप से परिणत होनेवाले अभ्यन्तरपरिणाम के रूप से तैयार होनेसे श्रुतज्ञानरूप से परिणत होती है। मतिज्ञान का श्रुतज्ञान के रूप से परिणमन नहीं होता; क्यों कि मतिज्ञान आत्मा की श्रुतज्ञानरूप परिणति में सिर्फ निमित्तकारण पडता है। पूर्वपक्षकार ने ऊपर जो दोषापादन किया है वह ठीक नहीं है; क्यों कि 'कार्य कारण के सदृश हि होता है' इसप्रकार का एकान्त नहीं है—वह अंशतः कारण के सदृश होता है और अंशतः विसदृश भी होता है। कार्य का कारण के साथ अंशतः सादृश्य और अंशत वैसदृश्य होनेका क्या कारण है? समाधान—उस सदृशता के और विसदृशता के विषय में भी सप्तभंगीन्याय का सावकाश होना उसका कारण है। वह न्याय वहां सावकाश कैसे होता है? समाधान— घट के समान अर्थात् जैसे मृत्तिका का घट कथंचित् कारणभूत मृत्तिका के पिण्ड के समान होता है और कथंचित् समान नहीं होता इत्यादि। खुलासा-मृत्तिकाद्रव्य, अजीव, उपयोग का अभाव आदि की मुख्यता की दृष्टि से वह कथंचित् सदृश होता है और पिंड, घटाकार आदिरूप पर्याय की मुख्यता से वह कथंचित् सदृश नहीं होता। पूर्व के समान आगेके भंग जानना। जिसके मत में कार्य एकान्तरूप से अर्थात् सभी प्रकारों से कारण के समान होता है उसे घट, पिंड, शिवक आदि पदार्थों की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। दूसरी बात है कि मृत्तिका के पिंडमें जलधारणादिक्रियाएं दिखाई न देनेसे वे क्रियाएं घट के द्वारा भी नहीं की जा सकेगी इस के अतिरिक्त एक बात यह है कि जिसप्रकार मृत्तिका के पिंड का घटरूप से बना हुआ परिणाम सर्वथा मृत्पिण्ड के समान होता है उसीप्रकार मुद्गरादि के आघातके कारण होनेवाला घट का परिणाम भी घटाकार के रूप से हि होगा; क्यों कि (पूर्वपक्षकार की दृष्टि से) कार्य और कारण में सर्वथा सादृश्य होता है। किंतु ऐसा नहीं होता। अतः कार्य का कारण के साथ सर्वथा सादृश्य नहीं है। उस प्रकार मतिज्ञान भी ज्ञान होनेसे और श्रुतज्ञान भी ज्ञान होनेसे ज्ञानसामान्य की मुख्यता की दृष्टि से श्रुतज्ञानरूप परिणाम कथञ्चित् कारणसदृश अर्थात् मतिज्ञान सदृश होता है। इंद्रियां और ज्ञेयपदार्थ इन में व्यवधान का अभाव होनेपर जब ज्ञेयपदार्थ इंद्रियों के सामने साक्षात् आ जाते हैं तब हि उनको जानने की सामर्थ्य मतिज्ञान में होती है। ऐसे सन्निकृष्ट अर्थ को ग्रहण करनेकी सामर्थ्य से युक्त ज्ञानसामान्य की मतिज्ञानरूप पर्याय की मुख्यता की दृष्टि से नानाप्रकार से अर्थों का चिंतन करने की सामर्थ्य से युक्त ज्ञानपर्यायरूप श्रुतज्ञानरूपपर्याय अपने कारणरूप मतिज्ञान

के कथंचित् सदृश नहीं है अर्थात् विसदृश हैं। पूर्वकर्मों के समान उत्तरबंध समझना।

इस उद्धरण में नीचे दी हुई बातों का ज्ञान होता है– (१) निमित्तनैमित्तिकभाव योग्यता रखनेवाले दो विभिन्न द्रव्यों में होता है। (२) एक द्रव्य की दो पर्यायें पर्यायार्थिक नय की प्रधानता की दृष्टि से (द्रव्यार्थिकनय गौण होनेपर) विभिन्न होनेपर उन दोनों पर्यायों में निमित्तनैमित्तिकभाव होता है। (३) द्रव्य की पूर्वपर्याय अनन्तरोत्तरकालभावी पर्याय का उपादानकारण होती है। (४) उपादान और उपादेय में कथंचित् भिन्नता होती है और कथंचित् अभिन्नता भी। (५) उपादान हि कार्यरूप से परिणत होता है–निमित्त उसरूप परिणत नहीं होता। [निमित्त को अकिंचित्कर माननेसे उसका निमित्तत्व हि नष्ट हो जानेसे निमित्तनैमित्तिकभाव की द्विनिष्ठता का भी अभाव हो जाता है। अतः निमित्त को अकिंचित्कर कैसे माना जाय ?]

पूज्यपाद और पाणिनि आदि वैयाकरणों ने 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस प्रकार कर्ता की व्याख्या की है। इस लक्षणसूत्र में जो 'स्वतन्त्रः' यह पद प्रयुक्त किया गया है उसका अर्थ जानना आवश्यक है; क्यों कि उसके यथार्थ ज्ञान का अभाव होनेपर कर्ता का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। जो स्वातन्त्र्य से युक्त होता है उसे स्वतन्त्र कहते हैं। वैयाकरणों ने 'प्रधानीभूतधात्वर्थक्रियाश्रयवृत्तित्वं स्वातन्त्र्यं' इसप्रकार 'स्वातन्त्र्य' इस पद का अर्थ दिया है। वाक्यान्तर्गत मुख्य धातु के द्वारा जिसका प्रतिपादन किया गया है उस क्रिया का आश्रय होनेका नाम स्वातन्त्र्य है। तत्त्वबोधिनीकार ने भी इसी आशय को पुष्ट करनेवाला स्वातन्त्र्यशब्द का अर्थ 'प्रधानीभूतधात्वर्थाश्रयत्वं स्वातन्त्र्यं' इस वाक्य के द्वारा स्पष्ट किया है। 'मृत्तिका परिणमति' इस वाक्य में स्थित 'परिणम्' धातु के द्वारा प्रोक्त परिणमनक्रिया का मृत्तिका आश्रय होनेसे उसका कर्तृत्व उक्त लक्षण के अनुसार निर्बाधरूप से सिद्ध हो जाता है। जिसको प्रयोजककर्ता, हेतुकर्ता या निमित्तकर्ता कहते हैं ऐसा भी एक कर्ता होता है। यह कर्ता अपने हस्तसंचालनादिरूप क्रियात्मक परिणामों का उपादानकर्ता होनेसे उसकी कर्तृसंज्ञा वास्तव होनेपर भी नैमित्तिकपरिणाम या परद्रव्य के कार्यभूत परिणाम का वह उपादान के समान यथार्थरूप से कर्ता नहीं है; क्यों कि उपादान जिसप्रकार अपने स्वरूप से उपादेय-कार्य में अन्वित होता है उसीप्रकार निमित्त अपने स्वरूप से नैमित्तिक में–उपादेय में–कार्य में अन्वित नहीं होता। अतः निमित्त–हेतु–प्रयोजक की कर्तृसंज्ञा व्यवहाराश्रित है–उपचरित है–पारमार्थिक नहीं है। कुम्हार घटनिर्माणक्रिया में निमित्तकर्ता होनेपर भी उसके बिना मृत्तिकारूप उपादान की घटाकाररूप परिणति होना असम्भव है। यदि कुम्हार को सर्वथा अकिंचित्कर माना तो कुम्हार का अभाव होनेपर भी मृत्तिका अपनेआप घटादिकार्यरूप से परिणत होने लगेगी जो कि असंभव और प्रतीति के विरुद्ध है। हां, उपादानभूत मृत्तिका जिसप्रकार घटादिरूप से परिणत होती है उसीप्रकार निमित्त या सहकारिसामग्री घटादिरूप से परिणत नहीं होती। इस दृष्टि से निमित्त अवश्य अकिञ्चित्कर है और कर्ता भी नहीं है। सारांश, निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता। वायुवेग के कारण सागरपर उठनेवाली तरंगे सागर के परिणाम हैं, समीरण के–वायु के परिणाम नहीं है यह सर्वजनप्रतीत सत्य है। यद्यपि तरंगे सागर की परिणतिरूप हैं तो भी उनका उत्थान वायुवेग के बिना नही होता। यदि ऐसा होता तो सागर अनादि से अनन्तकालतक प्रक्षुब्ध हि रहा करता। किंतु वास्तव स्थिति ऐसी नही है। अत. उपादान से कार्य की उत्पत्ति होनेमें निमित्त भी अपना कुछ महत्त्व रखता है। यदि सागर परिणमशील न होता–कूटस्थ नित्य होता तो कल्पान्तकाल का भी पवन सागर को उत्तरंग नहीं बना सकता है यह अभिप्राय बिलकुल ठीक है, किन्तु इससे अपनी परिणमनशीलता से हि सागर उत्तरंग होता है इस अभिप्राय की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस निमित्तकर्ता–प्रयोजककर्ता का लक्षण आचार्यश्री देवनन्दि ने अपने जैनेन्द्रव्याकरण में 'तद्योजको हेतुः' इस प्रकार से दिया है। आचार्य पाणिनि का किया हुआ लक्षणसूत्र 'तत्प्रयोजको हेतुः' इसप्रकार है। जैनेंद्रियसूत्र का व्याख्यान महावृत्ति मे 'योजक. प्रेरकः। तस्य स्वतन्त्रस्य योजकः यः अर्थः, तत् कारकं हेतुसञ्ज्ञं भवति। पुल्लिङ्गकर्तृसञ्ज्ञासमावेशात् कर्तृसञ्ज्ञं च' इस प्रकार किया गया है। यहां 'योजकः' इस पद का 'प्रेरकः' ऐसा अर्थ किया गया है। प्रधानीभूतधात्वर्थाश्रयरूप स्वतन्त्र कर्ता का जो अर्थ प्रेरक होता है उसे हेतु कहते हैं और कर्ता भी।

' तत्प्रयोजको हेतुः ' इस पाणिनीयसूत्र की भट्टोजिदीक्षितकृत व्याख्या ' कर्तुः प्रयोजकः हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात् ' इसप्रकार की है। महावृत्तिकार की व्याख्या का और भट्टोजिकृत इस व्याख्या का आशय एक हि है। अधिक स्पष्टता के लिए यहांपर तत्त्वबोधिनी का उद्धरण पेश किया जाना आवश्यक है। " तच्छब्देन ' स्वतन्त्रः कर्ता ' इति पूर्वसूत्रोपात्तः कर्ता परामृश्यते। तस्य कर्तुः प्रयोजकः प्रेरकः तद्व्यापारानुकूलव्यापारवानित्यर्थः। चकारः एकसंज्ञाधिकारबाधनार्थः। तदाह ' हेतुसंज्ञश्चे 'ति। " " सूत्रस्थित ' तत् ' इस शब्द के द्वारा ' स्वतन्त्रः कर्ता ' इस पूर्वसूत्र में लिया गया ' कर्ता ' यह पद इस सूत्र में लिया जाता है। उस कर्ता का प्रयोजक अर्थात् स्वतन्त्र कर्ता की क्रिया के अनुकूल क्रिया करनेवाला जो होता है उसे हेतु और कर्ता कहते हैं। सूत्रस्थित चकार एक-संज्ञाधिकार को बाधित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। इसी अभिप्राय से व्याख्याकार ने ' हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च ' ऐसा कहा है। "

इससे स्पष्ट हो जाता है कि- स्वतन्त्र कर्ता की क्रिया के अनुकूल दूसरे द्रव्य की जो क्रिया होती है उस क्रिया से युक्त-उस क्रिया का आश्रय होता है उसे हेतु और कर्ता कहते हैं। अतः ' भवितृभवनव्यापारानुकूल-व्यापारवन्निमित्तम् ' यह निमित्त का लक्षण घटित होता है। तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार ' प्रेरक ' का अर्थ ' स्वतन्त्र कर्ता की क्रिया के अनुकूल क्रिया से जो युक्त होता है वह ' ऐसा है और वह अर्थ अध्यात्मशास्त्र में स्वीकृत किया गया है। इस विषय का समर्थक आचार्यप्रवर अमृतचन्द्रसूरी के आत्मख्यातिटीका का अंश यहां नीचे पेश किया जाता है।

" यथा किल कुलालः कलशसम्भवानुकूलं आत्मव्यापारपरिणामं आत्मनः अव्यतिरिक्तं आत्मनः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः कलशकरणाहङ्कार-निर्भरः अपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकाया अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति; तथा आत्मा अपि पुद्गल-परिणामानुकूलं अज्ञानात् आत्मपरिणामं आत्मनः अव्यतिरिक्तं आत्मनः अव्यतिरिक्तया परिणति-मात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु, न पुनः पुद्गलपरिणामाहङ्कारनिर्भरः अपि स्वपरि-णामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलात् अव्यतिरिक्तं पुद्गलात् अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु। " [स. सा. गा. ८६, आ. टी.]

कुम्हार का घटोत्पत्ति के अनुकूल जो मानस और शारीर व्यापार (क्रिया) होता है वह कुम्हार की आत्मा से अभिन्न होता है और उसकी आत्मा से अभिन्न ऐसी सिर्फ परिणतिरूप क्रिया के द्वारा किया जाता है। ऐसे आत्मव्यापाररूप परिणाम का कुम्हार या कुम्हार की अशुद्ध आत्मा (उपादान) कर्ता होती है। [कलशोत्पत्ति के अनुकूल होनेसे कलशरूप परिणाम चेतनान्वित न होने से और आत्मा का कलशोत्पत्ति के अनुकूल व्यापार चेतनानुगत होनेसे व्यापारवान् कुम्हार की आत्मा कलशोत्पत्ति मे निमित्तकारण पडती है।] मृत्तिका का कलशरूप परिणाम अपने उपादानभूत मृत्तिका से अभिन्न है और मृत्तिका से अभिन्न ऐसी सिर्फ परिणतिक्रिया के द्वारा किया जाता है। ' मैं कलश का निर्माता हूं ' इस प्रकार के मानसिक भाव से युक्त होनेपर भी उस कलशरूप परिणाम को अपने चेतनानुगत क्रिया के स्वरूप से युक्त नहीं करता। [अतः कलशोत्पत्ति के अनुकूल अपने मानस और शारीर व्यापाररूप परिणाम से युक्त होनेपर भी कुम्हार कलशरूप मृत्तिकापरिणाम का उपादान कर्ता नहीं होता।] मृत्तिका से बननेवाला परिणाम (घट) यद्यपि कुम्हार की क्रिया के अनुकूल कलशाकार को धारण करता है तो भी वह विशिष्टाकाररूप से होनेवाला परिणमन मृत्तिका का होनेसे कुम्हार उस कलश का उपादान-कारण या उपादानकर्ता नहीं बन सकता। मृत्तिका से बननेवाला कलश मृत्तिका के स्वरूप से भिन्न स्वरूपवाला (चेतनस्वरूपवाला) न होनेसे मृत्तिका से कथंचित् अभिन्न होता है और मृत्तिका से कथंचित् अभिन्न ऐसी उसकी परिणतिमात्ररूप क्रिया के द्वारा किया जाता है। ऐसे मृत्तिकोपादानक कलश का निमित्तभूत कुम्हार उपादानकर्ता

नहीं हो सकता; क्यों कि कलशरूप परिणाम अचेतन होता है और निमित्तभूत कुम्हार चेतन होता है और उसके हस्तसंचालनादिरूप शारीरपरिणाम और उसके मानसपरिणाम चेतनान्वित होते हैं। अतः कलश जैसे अचेतन परिणाम का चेतन आत्मा या उसका चेतनात्मक परिणाम उपादानकर्ता नहीं हो सकता।

जिसप्रकार कुम्हार अपने हस्तसञ्चालनादिरूप परिणाम का और अपने मानस परिणाम का उपादानकर्ता होता है उसीप्रकार आत्मा अपने विभावभावों का उपादानकर्ता है। अज्ञान के कारण आत्मा के होनेवाले विभाव-परिणाम पुद्गलोपादानक कर्मरूपपरिणति के अनुकूल होते हैं। ये विभावरूप परिणाम अशुद्ध आत्मा से अभिन्न होते हैं। यह अभिन्नता अशुद्धनिश्चयनय से है। ये शुद्ध आत्मा से भिन्न होते हैं; क्यों कि शुद्ध आत्मा के परिणाम शुद्ध हि हुआ करते हैं। जिसप्रकार का उपादान होता है उसीप्रकार का उसका उपादेय-परिणाम-कार्य होता है ऐसा नियम है। ये विभावपरिणाम अशुद्ध आत्मा से कथंचित् अभिन्न ऐसी आत्मा की परिणतिक्रिया के द्वारा किये जाते हैं। अशुद्ध निश्चय की दृष्टि से अशुद्ध आत्मा अपने अशुद्ध परिणामों का उपादानकर्ता हो सकता है। आत्मा का यह विभावरूप परिणमन कर्मयोग्य पुद्गलों की कर्मरूप परिणति के अनुकूल पड़ता है और पुद्गलों की कर्मरूप परिणति अज्ञानी जीव के विभावभाव के अनुरूप होती है। कर्मयोग्य पुद्गलों की यह कर्मरूप परिणति पुद्गल से कथंचित् अभिन्न होती है और पुद्गल से कथंचित् अभिन्न ऐसी परिणतिमात्ररूप क्रिया के द्वारा की जाती है। ऐसी पुद्गलो-पादानक कर्मरूप परिणति का अशुद्ध आत्मा भी उपादानकर्ता नहीं हो सकती। आत्मा का विभाव परिणाम चेतना-न्वित होता है तो पुद्गल का कर्मरूप परिणाम अचेतन होता है। अतः अचेतन परिणाम का उपादानकर्ता चेतन आत्मा नहीं हो सकती, फिर भले हि वह अशुद्ध भी हो।

कुम्हार मृत्तिका के घटरूप परिणाम का निमित्तकर्ता-हेतुकर्ता-प्रयोजककर्ता होता है; क्यों कि उसका हस्त-सञ्चालनादिव्यापाररूप परिणाम कलशोत्पत्तिक्रियाके अनुकूल होता है और आत्मा का परिणाम पुद्गल के कर्मरूप परिणाम का निमित्तकर्ता होता है; क्यो कि आत्मा का विभावपरिणाम पुद्गल की कर्मरूप परिणति के अनुकूल होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिसका परिणाम उपादान की कार्यरूपपरिणति के अनुकूल होता है और जिसके परिणमन का काल उपादान की परिणति के काल से अभिन्न होता है वह निमित्त, निमित्तकर्ता, हेतुकर्ता या प्रयोजककर्ता होता है और यह निमित्तकर्ता उपादेय का-कार्य का कर्ता नहीं बनता। अतः उपादान का स्वरूप और निमित्त का स्वरूप इनमें विभिन्नता होनेसे और उपादान के स्वरूप के समान निमित्त का स्वरूप परिणाम में न पाया जानेसे परिणाम की उत्पत्ति के विषय में निमित्त सहकारि होनेपर भी अकिञ्चित्कर है यह अभिप्राय भी स्पष्ट हो जाता है। भवितृभवनव्यापारानुकूलव्यापारवत्व का नाम हि सहकारित्व है। अतः निमित्त को सहकारिकारण यह संज्ञा दी जाती है। निमित्त को कर्ता कहनेमात्र से वह यथार्थ कर्ता या उपादानकर्ता नहीं बन पाता। निमित्त की कर्ता यह संज्ञा व्यवहाराश्रित है। उसको यथार्थ कर्ता मानना अज्ञान है। यद्यपि निमित्त परमार्थतः कर्ता नहीं है तो भी उसकी उपादान की परिणतिक्रिया की सहभाविनी परिणति के विना उपादान परिणमनाभिमुख होनेपर भी वह विशिष्ट-आकाररूप से परिणत नहीं होगा। निमित्त की सहभाविनी क्रिया के अभाव में भी या उसके अकिंचि-त्कर होनेपर भी यदि उपादान विशिष्ट कार्यरूप से परिणत होता है ऐसा माना तो कुम्हार तटस्थ होनेपर भी मृत्तिका घटरूप मे परिणत होगी इतना हि नहीं अपि तु वह सतत विशिष्ट कार्यरूप से परिणत होती रहेगी और उसके कार्य की अनेकविधता नष्ट हो जायगी। कर्म के उदयादिक का अभाव होनेपर भी अज्ञानी जीव विभावपरि-णामरूप से परिणत होता रहेगा, उसके विभावरूप परिणाम की अनेकविधता नष्ट हो जायगी, विभावों की मंदता, तीव्रता आदिरूप प्रकर्षाप्रकर्ष नहीं बनेगा इतना हि नही, अपि तु उसका अज्ञान सदा के लिए बना रहेगा। अतः निमित्त की उपादान के साथ होनेवाली परिणति से हि उपादान का परिणाम विशिष्ट आकार को धारण करता है-अन्यथा नहीं इस अभिप्राय को स्वीकार करना हि पडता है। निमित्त उपादान की परिणति क्रिया के साथ अनुकूल रूप से परिणत होकर उपादान का सहकारी बनता है यह अभिप्राय वास्तव है-केवल व्यवहाराश्रित नहीं है, फिर भले हि उसका कर्तृत्व उपादान के कर्तृत्व के समान न होनेसे उपचरित या अयथार्थ हो। 'नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः' (कलश २००) इस वाक्य से अज्ञानी आत्मा के विभाव परिणाम और पौद्गलिक

कर्म के उदयादिरूप परिणाम इनमें होनेवाले निमित्तनैमित्तिकसंबंध का अभाव नहीं हो सकता। उक्त वाक्य का अभिप्राय यह है कि शुद्ध आत्मतत्त्व और परद्रव्य इन में किसी भी प्रकार का संबंध नही होता। यह अभिप्राय सर्वथा ग्राह्य है; क्यों कि शुद्ध आत्मा का पौद्गलिक कर्म के साथ संबंध सर्वथा छूट गया हुआ होनेसे उसकी विपाकरूप परिणामों की उत्पत्ति का सर्वथा अभाव हो जानेसे और शुद्ध आत्मा अनन्तवीर्य से युक्त होनेसे न वह कर्मयोग्य पुद्गलों की कर्मरूप परिणति का निमित्तकारण हो सकता है और न कर्मभाव को प्राप्त न हुई कर्मयोग्य पुद्गलवर्गणाएं उसकी विपाकरूप परिणाम की उत्पत्ति में निमित्तकारण पड़ती है। उन दोनो में निमित्त-नैमत्तिकभाव का अभाव होता है इतनाहि नहीं, अपितु वैयाकरणों के द्वारा बताये गए १०८ संबंधों में से और न्यायशास्त्रसम्मत संबंधों में से किसी भी संबंध का सद्भाव नहीं है। ऐसी अवस्था में कर्तृकर्मत्वसंबंध की बात हि क्या ? यहां प्रकरण शुद्ध आत्मतत्त्व का है नहीं। अनादिसे कर्मबद्ध हुई अज्ञानी आत्मा का और कर्मरूप से परिणत हुए पुद्गलरूप परद्रव्य का। यदि इनमें भी निमित्तनैमित्तिकभाव का अभाव माना तो कर्मसिद्धान्तकृत व्यवस्था स्वयमेव धराशायिनी हो जायगी और तीर्थंकरोपदिष्ट कर्मसिद्धान्त की व्यर्थता सिद्ध हो जानेसे भगवान् तीर्थंकर की वाणी का समीचीनत्व हि नष्ट हो जायगा।

इस अभिप्राय का अधिक स्पष्टीकरण करनेके लिए 'कुम्भकारः मृद्घटं करोति' यह उदाहरण पेश किया जाता है। 'कुम्हार मिट्टी का घट (गागर) करता है' इस वाक्य का अभिप्रेत अर्थ लौकिक दृष्टि से 'कुम्हार घट का कर्ता है' ऐसा होता है। लौकिक दृष्टि से कुम्हार का जो घटकर्तृत्व है उसका कारण है कुम्हार की घट की उत्पत्ति की समकालभाविनी और सहकारिणी शारीर और मानस परिणति। वस्तुतः परिणति की योग्यता रखनेवाली मिट्टी जिस समय घटरूप से परिणत होने लगती है उसीसमय होनेवाली कुम्हार की मानस परिणति और हस्तसंचालनादिरूप शारीर परिणति सफल होती है अर्थात् मिट्टी से घट बन पाता है। यहां पर 'सफल' इस शब्द का जो प्रयोग किया है वह विफल नहीं है। जब मिट्टी कंकरीली होनेसे घटरूप से परिणत होनेके लिए योग्य नहीं होती, तब कुम्हार की मानस और शारीर समभाविनी परिणतियां सफल नहीं होती; क्यों कि उसप्रकार की मिट्टी घटरूप से परिणत नहीं हो सकती। मिट्टी की परिणमनक्रिया और कुम्हार की उस परिणति के अनुकूल हस्तसंचालनादिक्रिया समकालभाविनी–एकसाथ होनेवाली होनेपर हि मिट्टी घटरूप से परिणत होती है। उन दोनों की परिणतियों में पौर्वापर्य हो तो घटरूप परिणाम की उत्पत्ति होना असंभव है। यहां घटरूप परिणति-क्रिया का कर्ता उस परिणतिक्रिया का आश्रयभूत मिट्टी है और घट रूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल क्रिया का कर्ता तदाधारभूत कुम्हार है यह अभिप्राय सुतरां स्पष्ट हो जाता है। कुम्हार मिट्टी की घटरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय न होनेसे वह घट का वास्तव कर्ता नहीं है। उसका घटकर्तृत्व उसकी घट-संभवानुकूल क्रिया का सिर्फ आश्रय होनेसे उपचरित है-व्यवहाराश्रित है-यथार्थ नहीं है। यदि कुम्हार का घट-कर्तृत्व मिट्टी के घटकर्तृत्व के समान माना तो घट को चेतनाचेतनरूप दो विरोधी स्वभावों से युक्त मानना पडेगा। या कुम्हार को अचेतन मानना पडेगा जो कि वस्तुस्वभाव के विरुद्ध होनेसे असंभव है।

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः
किञ्चनाऽपि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं
नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥ (स. सा. कलश २१४)

स्वयं परिणत होनेवाली अन्य वस्तु का एक वस्तु जो कुछ भी करती है वह करना व्यवहारिक दृष्टि से है ऐसा अभिप्राय है। निश्चय की दृष्टि से एक परिणत होनेवाली वस्तु में दूसरी कौनसी भी वस्तु नहीं होती। कहनेका भाव यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु अपने असाधारण अत एव व्यावर्तक स्वरूप से अन्य असाधारण स्वभाववाली सभी वस्तुएं भिन्न होनेसे एक वस्तु दूसरी का कर्ता–उपादान नहीं बन सकती। एक वस्तु को दूसरी वस्तु का उपादान कर्ता माना तो दोनों वस्तुओं को एक स्वभाववाली मानना होगा जो कि असंभव है।

परिणाम में परिणामी का स्वभाव अन्वित होता है। एक असाधारण स्वभाववाली वस्तु का अपने असाधारण स्वभाववाली अन्यवस्तु में अपने स्वरूप से अन्वय नहीं पाया जाता। अतः वे भिन्न स्वभाववाली दो वस्तुओं में कर्तृकर्मभाव अर्थात् उपादानोपादेयभाव का होना असंभव है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु का जो कभी कर्ता कहा जाता है वह सिर्फ व्यवहार है। वह कथन निश्चयनय की दृष्टि से नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निमित्तकर्तृत्व उपचरित अर्थात् व्यवहाराश्रित है--वास्तव नहीं है।

अधिक स्पष्टता के लिए नीचे दिया जानेवाला प्रमाण सुतरां पठनीय है। देखिए---

मृत्तिका कुम्भभावेन उत्पद्यमाना किं कुम्भकारस्वभावेन उत्पद्यते किं मृत्तिकास्वभावेन ? यदि कुम्भकारस्वभावेन उत्पद्यते तदा कुम्भकरणाहङ्कारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकारः कुम्भः स्यात्। न च तथाऽस्ति, द्रव्यान्तरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य अदर्शनात्। यदि एवं तर्हि मृत्तिका कुम्भकारस्वभावेन न उत्पद्यते किन्तु मृत्तिकास्वभावेन एव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमात् न कुम्भकारः कुम्भस्य उत्पादकः एव; मृत्तिका एव कुम्भकारस्वभावं अस्पृशन्ती स्वस्वभावेन कुम्भभावेन उत्पद्यते। एवं सर्वाणि अपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेण उत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यान्तरस्वभावेन उत्पद्यन्ते किं स्वभावेन ? यदि निमित्तभूतद्रव्यान्तरस्वभावेन उत्पद्यन्ते, तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारः तत्परिणामः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यान्तरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य अदर्शनात्। यदि एवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेन उत्पद्यन्ते किन्तु स्वस्वभावेन एव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति सर्वद्रव्याणां न निमित्तभूतद्रव्यान्तराणि स्वपरिणामस्य उत्पादकानि एव। सर्वद्रव्याणि एव निमित्तभूतद्रव्यान्तरस्वभावं अस्पृशन्ति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेन उत्पद्यन्ते। अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनां उत्पादकं उत्पश्यामः यस्मै कुप्यामः। [स. सा. गा. ३७२, आ. टी.]

कुंभरूप से परिणत होनेवाली मृत्तिका कुम्हार के स्वभाव को लेकर कुम्भरूप से परिणत होती है या मृत्तिका के स्वभाव को लेकर ? यदि कुम्हार के स्वभाव को लेकर मृत्तिका कुंभरूप से परिणत होती है ऐसा माना तो कुंभ के उत्पादन के विषय में 'मैं कुंभ का कर्ता हूं' इस प्रकार के विचारों से भरे हुए कुम्हार के द्वारा नियंत्रित अत एव कुंभ की उत्पादन क्रिया में जिसके दोनों हाथ लगे हुए हैं ऐसे कुम्हार के शरीर के आकार का कुंभरूप परिणाम होगा। किंतु कुंभ कुम्हार के शरीर के आकारवाला नहीं होता; क्यों कि उपादानभूत द्रव्य के परिणाम का उत्पाद अन्यद्रव्य के (निमित्तभूत द्रव्य के) स्वभाव से युक्त होता हुआ देखनेमें नहीं आता। यदि ऐसा है तो अर्थात् यदि उपादानभूत द्रव्य के परिणाम का उत्पाद निमित्तभूत अन्यद्रव्य के स्वभाव से जब युक्त नहीं है तब मृत्तिका कुम्हार के स्वभाव को लेकर कुंभरूप से परिणत नहीं होती किंतु मृत्तिका के अपने स्वभाव को लेकर हि वह कुंभरूप से परिणत होती है, क्यों कि उपादानभूत द्रव्य का कार्यरूप परिणाम उपादान के अपने निजी स्वभाव से युक्त हि देखा जाता है। ऐसा होनेपर कुंभरूप से परिणत होनेवाली मृत्तिका अपने स्वभाव को छोडनेवाली न होनेसे कुम्हार कुंभरूप कार्य का उत्पादक-उपादानकर्ता है हि नहीं-कुम्हार के स्वभाव को स्पर्शतक न करनेवाली मृत्तिका हि अपने निजी स्वभाव को लेकर कुंभात्मक कार्यरूप से परिणत होती है। इसप्रकार अपने परिणामात्मक पर्यायरूप से परिणत होनेवाले सभी के सभी उपादानभूत द्रव्य निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव को लेकर कार्यरूप से परिणत होते हैं या अपने निजी स्वभावों को लेकर ? यदि सभी उपादानभूत द्रव्य निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव को लेकर अपने कार्यरूप से परिणत होते हैं ऐसा माना तो उन सभी द्रव्यों के परिणाम निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के आकार के होंगे। किंतु वैसा नहीं है; क्यों कि सभी द्रव्यों के परिणामों का उत्पाद निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभावों से युक्त नहीं देखे जाते ? जब ऐसा है तब अर्थात् उपादानभूत द्रव्यों के परिणाम निमित्तभूत

अन्य द्रव्यों के स्वभावों से मुक्त जब नहीं देखे जाते हैं तब सभी द्रव्य निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभावों को लेकर कार्यरूप से परिणत नहीं होते; किंतु अपने निजी स्वभाव को लेकर हि कार्यरूप से परिणत होते हैं; क्यों कि उपादानभूत द्रव्यों के परिणामों के उत्पाद उपादान के अपने निजी स्वभाव को लिये हुए देखे जाते हैं। ऐसा होनेपर सभी उपादानभूत द्रव्यों के अपने परिणामों के निमित्तभूत अन्य द्रव्य उत्पादक अर्थात् उपादानकर्ता है हि नहीं। सभी के सभी द्रव्य हि निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभावों को स्पर्शतक न करते हुए अपने निजी स्वभावों को लेकर हि अपने परिणामों के रूप से परिणत होते हैं। अतः परद्रव्य अर्थात् निमित्तभूत द्रव्यकर्म जीवद्रव्य के रागादिरूप विभावभावों का उपादानकर्ता होता हुआ हम नहीं देखते कि जिसपर हम कोप करें !

इस से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि जीव के विभावभाव कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों की कर्मरूप परिणति में निमित्तकारण पडते हैं और कर्मों का उदयरूप परिणाम अज्ञानी जीव की विभावरूप परिणतियों में निमित्तकारण पडता है तो भी विभावभाव पुद्गलों की कर्मरूप परिणति का उपादानकारण नहीं हो सकता और पौद्गलिक कर्म जीव के विभावभावों का उपादानकारण होता। अतः निमित्त का कर्तृत्व उपचरित अर्थात् व्यवहाराश्रित है। यह निमित्त अर्थात् प्रयोजक-प्रेरक दो प्रकार का है—(१) चेतन और (२) अचेतन। प्रमाण—'प्रयोजकः चेतनाचेतनसाधारण्येन विवक्षितः।' (त. बो., पृ. ४२८, नि. सा. सं.)

यह हेतुत्व-हेतुकर्तृत्व-निमित्तकर्तृत्व-प्रेरकत्वरूप-प्रयोजकत्व मुख्य और गौण इसप्रकार दो प्रकार का है। एतद्विषयक प्रमाण —

"प्रेरक उपदेशकः व्यापारकः इत्यर्थः। न चान्येन प्रयुज्यमानस्य स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यं हीयते। अन्यथा हि अकुर्वत्यपि कारयतीति स्यात्। प्रयोजकत्वं द्विविधं-मुख्यं इतरत् च। 'देवदत्तः कटं कारयति' इत्यत्र देवदत्तस्य मुख्यम्। 'भिक्षा वासयति' इत्यत्र भिक्षाणां वासहेतुत्वात् प्रयोजकत्वं उपचरितं, न मुख्यम्। न हि भिक्षा 'यूयं वसथ' इत्येवं प्रयुञ्जते।"

(काशिकाविवरणपञ्जिका, पृ. ३०१, चौ. सं.)

"प्रेरक का अर्थ है उपदेश देनेवाला-क्रिया करानेवाला। दूसरेके द्वारा प्रेरित किया जानेवाले का स्वक्रिया-विषयक स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं होता। यदि वह नष्ट होता है ऐसा मान लिया तो क्रिया न करनेवाले के विषय में भी 'कराता है' इस प्रयोजक क्रियापद के प्रयोग का प्रसंग खडा हो जायगा। मुख्य और इतर (उपचरित) इसप्रकार प्रयोजकत्व दो प्रकार का है। 'देवदत्त चटाई कराता है' इस वाक्य में देवदत्त का जो प्रयोजकत्व है वह मुख्य है। 'भिक्षा ठहराती है' इस वाक्य में निवसन क्रिया का हेतु भिक्षा होनेसे भिक्षा का प्रयोजकत्व उपचरित है-मुख्य नहीं है। 'तुम ठहरो' इसप्रकार भिक्षा प्रेरित नहीं करती।

इस उद्धरण से प्रयोजक के विद्यमान रहते हुए भी उपादान का स्वातन्त्र्य अर्थात् कर्तृत्व नष्ट नहीं होता यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस से प्रयोजकत्व के द्वैविध्य का खुलासा हो जाता है। चेतन कर्ता उपदेशक के या अन्य के रूपसे उदासीन भी होता है और अनुदासीन भी। अचेतन कर्ता या प्रेरक नियम से उदासीन होता है। प्रयोजक चाहे चेतन हो या अचेतन, उदासीन हो या अनुदासीन, वह परिणममान स्वतन्त्र कर्ता की परिणमनक्रिया के अनुकूल क्रिया से युक्त होकर परिणाम की उत्पत्ति मे सिर्फ सहायक होता है-वह उपादान के समान स्वतन्त्र कर्ता नही होता, फिर भले हि वह अपनी परिणमनक्रिया का उपादान हो। परिणममान उपादान कर्ता के समान वह परिणाम को आदि, मध्य और अन्त में नहीं व्यापता अर्थात् उपादान नहीं बनता।

'देवदत्तः कटं कारयति' इस उदाहरणवाक्य का प्रकरण की उपयोगिता की दृष्टि से थोडा अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता है। तृणादिरूप उपादानकारण जब कार्यरूप परिणति के अभिमुख-योग्य होता है तब हि चटाई बनानेवाला चटाई बनानेके लिए प्रयत्नशील होता है। जब चटाई बनाई जाती है तब तृणादिरूप उपादानकारण कटभवनरूप परिणतिक्रिया का आश्रय होता है और चटाई बनानेवाला तृण की कटरूप से परिणत होनेकी

क्रिया के अनुकूल ऐसी अपनी हस्तसंचालनादिरूप क्रिया से युक्त होता है। उपादान की अपेक्षा से तृण की कटरूप से परिणत होनेकी क्रिया का या कटरूप निर्वर्त्य कर्म का कर्ता तृणपदार्थ है और कटभवनव्यापारानुकूलव्यापारवान् चटाई बनानेवाला प्रयोजक है-हेतुकर्ता है। जिस किसी संसारी जीव को चटाई की आवश्यकता महसूस होती है वह चटाई बनानेवाले से चटाई बनवाता है। बनवानेवाले की प्रेरणक्रिया बनानेवाले की क्रिया के और परंपरा से कटरूप से परिणत होनेवाले तृण की कटरूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल पडती है। अतः लौकिक व्यवहार में बनवानेवाला भी प्रयोजक-प्रेरक हेतु या निमित्तकर्ता कहा जाता है। बनवानेवाले का और बनानेवाले का निमित्त-कर्तृत्व असिद्ध नहीं है; क्यों कि उनका अपने प्राप्यकर्म के साथ यथाक्रम साक्षात् और परंपरा से बाह्य व्याप्य-व्यापकभाव मौजूद रहता है। उपादानकारण का या कर्ता का अपने कार्यरूप कर्म-परिणाम के साथ अन्तर्व्याप्य-व्यापकभाव होता है। यद्यपि लौकिक व्यवहार में जो निमित्तभूत होता है उसे कर्ता कहते है तथापि आध्यात्मिक क्षेत्र में उसे उपचार से कर्ता कहते हैं, क्यों कि उपादान का कार्य-परिणाम-उपादेय और हेतुकर्ता या निमित्तकर्ता इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता, फिर भले हि इन दोनों में बाह्यव्याप्यव्यापकभाव हो। यद्यपि उपादान और उपादेय में होनेवाले अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव से बाह्यव्याप्यव्यापकभाव भिन्न है और निमित्त और नैमित्तिक में कथंचित् अभेद क प्रस्थापित नहीं करता, तो भी निमित्त की कार्यभवनानुकूल परिणतिरूप क्रिया के बिना उपादान की कार्यरूप परिणति होना असंभव होनेसे निमित्त और नैमित्तिक इन में बाह्यव्याप्यव्यापकभाव का अस्तित्व स्वीकार करना पडता है। यदि निमित्त और नैमित्तिक में बाह्यव्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है ऐसा माना तो कुम्हारादि का अभाव होनेपर भी मिट्टि से विनायास घट बन जायगा और कार्य का अभाव होनेपर भी अज्ञानी जीव को विभावरूप परिणति सदा के लिये होती रहेगी और अपवर्ग अवस्था का अभाव हो जायगा। अतः निमित्त और नैमित्तिक इनमें बाह्यव्याप्यव्यापकभाव का सद्‌भाव स्वीकार करना हि होगा। जब उपादानकारण या कर्ता अपने कार्यरूप परिणाम में-कर्म में अपने असाधारण स्वरूप से विद्यमान रहता है और कारण का अभाव होनेपर कार्य का भी अभाव हो जाता है, फिर वह कारण निमित्तरूप हो या उपादानरूप। कारण का अभाव होनेपर कार्य का अभाव होनेसे उपादानकारणरूप कर्ता और उसका कार्यरूप कर्म इन दोनो में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्‌भाव और निमित्तकर्ता और उपादान का कार्यभूत नैमित्तिक इन दोनों मे बाह्यव्याप्यव्यापकभाव का सद्‌भाव ये दोनो बातें अवश्य स्वीकार करनी पडेगी। उपादान और उपादेय इन दोनों में से उपादान को व्यापक और उसके कार्यभूत उपादेय को व्याप्य कहते है। उपादान को व्यापक इसलिए कहते है कि वह अपने परिणाम को आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् संपूर्णरूप से व्यापता है और अपने कार्य के स्थितिकालतक उसका साथी बना रहता है। कार्य को व्याप्य इसलिए कहते है कि वह अपने उपादान के द्वारा पूर्णरूप से व्याप्त किया जाता है। अतः 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म क्रियया व्याप्यम्' इस वचन के अनुसार ऐसे कर्म को व्याप्यकर्म कहते है। उपादान का संभव होनेपर उसका भी अभाव हो जाता है। जब उपादानकारण अपने परिणामिस्वभाव के कारण कार्यरूप परिणति के अभिमुख होनेपर भी जिस निमित्तकारण का अभाव होनेपर कार्यरूप से परिणत नहीं होता और जो उपादान के कार्यभूत परिणाम में उपादान के समान अपने असाधारणस्वरूप से विद्यमान नहीं रहता-उपादान के कार्य को आदि, मध्य और अन्त में नहीं व्यापता तब उपादान का कार्य और निमित्तकारण इन दोनों में बाह्यव्याप्यव्यापकभाव होनेपर भी अन्तर्व्याप्यव्यापक-भाव नहीं होता। इन दोनों में बाह्यव्याप्यव्यापकभाव का अस्तित्व इस लिए माना जाता है कि उपादान कार्यरूप परिणति के अभिमुख होनेपर भी निमित्त का अभाव होनेपर वह कार्यरूप से परिणत नहीं होता। इस कारण से निमित्त को बाह्यव्यापक-कार्य को आदि, मध्य और अन्त में न व्यापनेवाला और उपादान के कार्य को बाह्यव्याप्य-निमित्त के स्वरूप से आदि, मध्य और अन्त में अव्याप्त कहते हैं। निमित्त और नैमित्तिक में अर्थात् उपादेय में व्याप्यव्यापकभाव का अस्तित्व इसलिए माना जाता है कि उपादान कार्यपरिणति के योग्य होनेपर भी कार्यरूप से परिणत नहीं होता-निमित्त की उपादान के परिणमनक्रिया के अनुकूल परिणति के बिना उपादान कार्यरूप से परिणत नहीं होता। अतः कार्यरूप परिणति के समय-उपादानकारण की कार्यरूप परिणति की योग्यता के अस्तित्व के समय निमित्तकारण की उपादान की कार्यरूप परिणति की अनुकूल परिणति का अस्तित्व अनिवार्य है और इसी कारण से जिसप्रकार

उपादान और उसके कार्य में एक प्रकार का व्याप्यव्यापकभाव होता है उसीप्रकार उपादान का कार्य और उसका निमित्तकारण इन दोनों में भी व्याप्यव्यापकभाव है फिर भले हि वह व्याप्यव्यापकभाव दूसरे प्रकार का हो। उपादान और उसका कार्य इनमें जो संबंध होता है उसको अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव कहते हं और उपादान का कार्य-परिणाम और उसका निमित्तकारण इन में जो संबंध होता है उसको बाह्यव्याप्यव्यापकभाव कहते हैं।

यहांपर एक शंका पेश की जाती है–'उपादान कारण अपने परिणामिस्वभाव के कारण कार्यरूप परिणति के अभिमुख होनेपर भी निमित्तकारण का अभाव होनेपर उपादान कार्यरूप से परिणत नहीं होता' यह कथन यथार्थ नहीं है। सिद्धान्त यह है कि हरसमय हरएक द्रव्य के हरएक गुण की पर्याय होती है-नहीं होती ऐसा कदापि बनता नहीं। हरसमय उचित उपादान और उचित निमित्त होता नहीं है ऐसा एक भी समय नहीं है ऐसा अबाधित नियम हं। तर्कशास्त्रों में निमित्त को न माननेवाले जीवों को निमित्त का ज्ञान करानेके लिए यह एक प्रकार की पद्धति है, किंतु जिसने निमित्त को स्वीकार किया है उसके लिए वह दलील उपयुक्त नहीं है। ऊपर दिया हुआ सिद्धान्त निश्चयनय की दृष्टि से यथार्थ है। तर्क-(न्याय) शास्त्र तथा सिद्धान्तशास्त्रों का अर्थ परस्परविरोध न हो ऐसा करना चाहिये।'

यह शंका आश्चर्यावह है। क्या न्यायशास्त्र में जिस बातका समर्थन किया जाता है वह सर्वथा सिद्धान्त के विरुद्ध होता है? न्यायशास्त्र का कथन एक और सिद्धान्त का कथन दूसरा हो सकता है? दूसरों के लिए जो कथन न्यायशास्त्र में पाया जाता है वह अपने लिए नहीं होता? क्या न्यायशास्त्र में उपादान की परिणति का और निमित्त की परिणति का एकरूपत्व सिद्ध किया गया है? क्या सिद्धान्तशास्त्र में या अध्यात्मिकशास्त्र में न्याय को बिलकुल स्थान नहीं है? आचार्यप्रवर अमृतचंद्रसूरी ने अनेकान्तविद्या की प्राप्ति की अभिलाषा क्यों व्यक्त की? उन्होंने समयसारपरिशिष्ट में स्याद्वादशुद्धि का प्रकरण क्यों लिखा? क्या अनेकान्त और स्याद्वाद के विरुद्ध अध्यात्मविषयक शास्त्र में निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर बताया है? इसप्रकार का अभिप्राय अध्यात्मशास्त्र में नहीं पाया जाता? क्या ये दोनों विद्याएं परस्परभिन्न हैं? जिसप्रकार अध्यात्मशास्त्र में उपादान और उसके उपादेय में हि वास्तव कार्यकारणभाव, व्याप्यव्यापकभाव और भाव्यभावकभाव होता है ऐसा कथन पाया जाता है उसीका हि समर्थन न्यायशास्त्र में पाया जाता है। शास्त्रों में 'निमित्तमात्र' यह शब्द जो पाया जाता है उससे उपादान का परिहार अभिप्रेत है। उसका मतलब यह है कि उपादान की अर्थक्रिया से निमित्त की अर्थक्रिया भिन्न है, फिर भले हि कार्य की निष्पत्ति दोनो की समकालभाविनी परिणतियों से होती हो। यदि न्यायशास्त्र का कथन निश्चय की दृष्टि से नहीं है तो 'शुद्ध्यशुद्धी यत· शक्ती' इस न्यायशास्त्रोक्त कारिका का अध्यात्मविषयक प्रबंध में क्यों स्वीकार किया जाता है? उक्त शंका में जो अभिप्राय व्यक्त किया गया है वह मनमाना मालुम होता है। प्रवचनसारशास्त्र के पांचवे अध्याय में जो विषय पाया जाता है वह वस्तुस्वरूप–विषयक है। उपरितन अभिप्राय के समर्थन में पांचवे अध्याय की एक समर्थ आचार्य के द्वारा की गई टीका आगे इसी प्रकरणमें उद्धृत की जायगी। शंकाकार का 'सिद्धान्त यह है कि हरसमय हरएक द्रव्य के हरएक गुण की पर्याय होती है.' यह जो कथन है उसको शतशः मान्य करना होगा। पर्यायें अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय इसप्रकार दो प्रकार की होती हैं। अर्थपर्याय प्रतिसमय होनेवाली सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पर्याय होती है और व्यंजन पर्याय स्थूल और इंद्रियग्राह्य पर्याय होती है। पदार्थ की व्यंजनपर्याय की अवस्था में भी अर्थपर्यायें प्रतिसमय होती रहती हैं। इस विषय का सविस्तर खुलासा परिणामविचार के प्रकरण में किया जायगा। उपर्युक्त कथन के बाद उन्होंने जो 'हरसमय उचित उपादान और उचित निमित्त होता नहीं है ऐसा नहीं है' यह कहा है उससे शंकाकार का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य की जब कार्यरूप से परिणति होती है तब जिस उचित निमित्त का सद्भाव होता है वह निमित्त उपादान की परिणति में उपकारक अत एव अनुकूल ऐसी परिणति से सहकारी बनता है या नहीं? यदि सहकारी बनता है ऐसा कहोगे तो विवाद हि नहीं रहता। यदि सहकारी बनता नहीं ऐसा कहना हो तो निमित्त सर्वथा अकिञ्चित्कर बनता है। यदि वह सर्वथा अकिंचित्कर बन गया तो निमित्त

का सद्भाव अभाव के बराबर बन जाता है और निमित्त की निमित्तता हि नष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्था में निःस्वभाव निमित्त के सद्भाव की आवश्यकता हि नहीं रहती। अतः अन्य वादी के समान द्रव्य का परिणमन निर्निमित्तक मानना पडेगा जो कि असंभव है; क्यों कि ऐसी अवस्था में कुम्हार के अभाव में भी मृत्तिका घटरूप से परिणत होने लगेगी–संसार घटमय बन जायगा। घटरूप से परिणत होना यह मृत्तिका का स्वभाव बन जायगा अर्थात् घटको सर्वथा स्वयंभू मानना होगा। जीव का विभावरूप परिणमन कर्मोदयरूप निमित्त का अभाव होनेपर भी होता रहेगा इतनाहि नहीं, अपि तु कर्मक्षयरूप निमित्त का अभाव होनेपर भी जीव को अपवर्ग अवस्था की प्राप्ति होगी, जीव का अनादि काल से चला आया अज्ञानभाव अन्तरात्म अवस्थाका अभाव होनेपर भी नष्ट हो जायगा। आगमविहित बन्धमोक्षव्यवस्था टूट जायगी और समयसारकृत शुद्ध आत्मस्वरूप की विवेचनपद्धति अनावश्यक होगी, कर्म अपनी उदयरूप, उपशमरूप, क्षयोपशमरूप और क्षयरूप परिणतियों से जीव के विभिन्न परिणामों की उत्पत्ति में निमित्त पडता है इस शास्त्रीयसिद्धान्त की हानि हो जायगी, जीव के औदयिकादि भावो का अभाव हो जायगा, संसारी जीवों की विभावादि परिणतियों का सद्भाव नही रहेगा और यदि रहा तो उनका कदापि अभाव नहीं होगा।

इस अभिप्राय के समर्थन में नीचे दिया जानेवाला प्रमाण विचारणीय है–

" सुखं तावत् सद्वेद्यस्य कर्मणः कार्यं; दुःखं असद्वेद्यस्य; जीवितं आयुषः; मरणं असद्वेद्यस्य एव, आयुःक्षये सति तदुदयात् परमदुःखात्मना तस्य अनुभवात्। ततः सातवेद्यादिकर्मात्मानः पुद्गलाः सुखाद्युपग्रहेभ्यः अनुमीयन्ते। अत्र उपग्रहवचनं सद्वेद्यादिकर्मणां सुखाद्युत्पत्तौ निमित्त-मात्रत्वेन अनुग्राहकत्वप्रतिपत्त्यर्थम्। परिणामिकारणं जीवः सुखदुःखादीनां, तस्य एव तथा परिणामात्। अत एव जीवविपाकित्वं सद्वेद्यादिकर्मणां, जीवे तद्विपाकोपलब्धेः। 'ननु आयुः भवविपाकि श्रूयते। तत् कथं जीवविपाकि स्यात्?' भवस्य जीवपरिणामत्वविवक्षायां तथा विधानात् अदोषः। तस्य कथञ्चित् अजीवपरिणामत्वे जीवपरिणामविशेषत्वे वा जीवपरिणाममात्रात् भेदविवक्षायां आयुः भवविपाकि प्रोक्तं इति न विरोधः। 'ननु आहारादिपुद्गलानां अपि सुखाद्युपग्रहे वृत्तिदर्शनात् तेषां सुखाद्युपग्रहः उपकारः अस्तु' इति चेत्, न, तेषां अनुमेयत्वात्, नियमाभावात् च। कस्यचित् कदाचित् सुखोपग्रहे वर्तमानस्य अपि स्रक्चन्दनादेः अपरस्य दुःखाद्युपग्रहे अपि वृत्त्यविरोधात् न नियमः। सद्वेद्यादिकर्माणि तु सुखाद्युपग्रहे प्रतिनियतस्वभावानि एव; अन्यथा तत्सम्भावनानुपपत्तेः अतः तेभ्यः तदनुमानम्। [श्लो. वा., अ. ५, सू. २०, पृ. ५३१ हस्तलिखितप्रतौ]

सुख जो है वह सातावेदनीय कर्म का कार्य है; दुःख असातावेदनीय कर्म का कार्य है; जीवित आयुःकर्म का कार्य है और मरण असातावेदनीयकर्म का हि कार्य है; क्यों कि आयुःकर्म का (बद्धायुःकर्म का) क्षय होनेपर असातावेदनीयकर्म के उदय से परमदुःखरूप से असातावेदनीयकर्म का या मरण का अनुभव हो जाता है। उस कारण से सातावेदनीयादिकर्मरूप पुद्गल सुखादिरूप अनुग्रहो के द्वारा अनुमित किये जाते हैं। यहा 'उपग्रह' इस शब्द का प्रयोग सातावेदनीयादिरूप द्रव्यकर्मों के सुखादिरूप जीवपरिणामो की उत्पत्ति में निमित्तमात्र होकर उसके द्वारा उनका अनुग्राहकत्व है इस बात का ज्ञान कराने के लिये किया गया है। सुखदुःखादिरूपपरिणतियों का जीव परिणामी अर्थात् उपादानकारण है; क्यो कि जीव का हि सुखदुःखादिरूप से परिणमन होता है। इसी कारण से सातावेदनीयादि कर्मों का जीवविपाकित्व है; क्यों कि जीव में हि सातावेदनीयादि कर्मों का विपाक पाया जाता है। 'शास्त्रो में आयुःकर्म को भवविपाकी कहा है। वह आयुःकर्म जीवविपाकी कैसे होगा?' यह शंका ठीक नहीं है; क्यों कि भव की जीवपरिणामरूप से विवक्षा होनेपर आयु का जीवविपाकी होनेका विधान किया गया है। आयु कथंचित् अजीव का परिणाम होनेसे और जीव का कथंचित् परिणामविशेष होनेसे उसके

जीवपरिणाम से हि निमित्तत्व की विवक्षा होनेके कारण आयु को वह जीवविपाकी है ऐसा कहने में विरोध उपस्थित नहीं होता। 'आहारादि पुद्गलों की भी आहार ग्रहण करनेवाले की सुखादिरूप परिणति में निमित्तता पायी जानेसे उन आहारादिकों का सुखादिरूप परिणति में निमित्त बननारूप उपकार हो जाओ' ऐसा कहना हो तो वह ठीक नहीं है; क्यों कि उन आहारादिकों का निमित्तत्व अनुमेय है और आहारादिकों से आहार का ग्रहण करनेवाले की सुखादिरूप परिणति होती है ऐसा नियम नहीं है। [आहार का ग्रहण करनेके बाद आहार का ग्रहण करनेवाले की सुखरूप परिणति को देखनेपर आहार ग्रहण करनेवाले की सुखादिरूप परिणति में उपकारक है–निमित्तकारण है ऐसा अनुमान किया जाता है। आहार आहार करनेवाले की सुखरूप परिणति में कभी निमित्तकारण पडता है तो कभी दुःखरूप परिणति में। अतः आहार से आहार ग्रहण करनेवाले की सुखरूप परिणति होती हि है ऐसा नियम नहीं बन पाता। सातावेदनीयादि कर्मों की स्थिति अलग है। सातावेदनीय के उदय से जीव की सुखरूप परिणति अवश्य होती है। अतः जीव की सुखदुःखादिरूप परिणतियों से सातावेदनीयादि कर्मों का उदय अनुमान से निश्चितरूप से जाना जाता है; क्यों कि सातावेदनीयादि कर्मों का उदय और सुखदुःखादिरूप परिणाम इनमें बाह्य व्याप्यव्यापकभाव या व्याप्ति होती है। सातावेदनीयादि कर्मों का अभाव होनेपर सुखदुःखादिरूप परिणतियों की सिद्धि नहीं होती।] किसीके कदाचित् सुखरूप परिणति में निमित्त-कारण बनकर उपकारक होनेवाले माला, चंदन आदि दूसरे की दुःखरूप परिणति में निमित्तकारण होकर उपकारक होनेमें विरोध न होनेके कारण उनका सुखरूप परिणति में या दुःखरूपपरिणति में निमित्तकारण होनेका नियम नहीं है। सातावेदनीयादि कर्म तो सुखादिरूप परिणतियों में निमित्तकारण होकर उपकारक बननेके स्वभावों के निश्चितरूप से धारक है हि; क्यों कि यदि उनका प्रतिनियत स्वभाव न होता तो सुखादिरूप परि-णतियों की उत्पत्ति घटित न होती–उत्पत्ति न हो पाती। अतः उन सुखदुःखादिरूप परिणतियों से सातावेदनीयादि कर्मों का यथार्थ अनुमान हो जाता है।

इस उद्धरण में सुख को सातावेदनीय कर्म का, दुःख को असातावेदनीय का, जीवित को आयुःकर्म का और मरण को असातावेदनीय का कार्य बताया है। यद्यपि ये परिणाम सातावेदनीयादि द्रव्यकर्मों के हं ऐसा कहा है तो भी उन परिणामों का द्रव्यकर्मकर्तृत्व व्यवहारनयाश्रित है; क्यों कि उपादान के समान यह निमित्तभूत द्रव्यकर्म सुखदुःखादिरूप जीवपरिणामों को आदि, मध्य और अन्त में व्यापता नहीं। द्रव्यकर्म निमित्तभूत है और सुखदुःखादिरूप जीवपरिणाम नैमित्तिक हे। ये सुख, दुःख, जीवित और मरण अशुद्ध आत्मा के हि परिणाम हं; क्यों कि सुखदुःखादिरूपपरिणतियों का आश्रय जीव हि होता है। ऐसा होनेपर भी सुखदुःखादि कर्मों के कार्य हं ऐसा जो कहा गया है वह कर्मरूपतापन्न पुद्गलो की निमित्तकारणता की प्रधानता की दृष्टि से कहा गया है। सातावेदनीयादि द्रव्यकर्मों की उदयादिरूप परिणतियो के बिना जीव की सुखदुःखादिरूप परिणतियां होती हि नहीं। अतः अज्ञानी जीव की सुखदुःखादिरूप परिणतिया और सातावेदनीयादिरूप द्रव्यकर्म इनमें अविनाभावसंबंध है इस बात को स्वीकार करना पडता है। सातावेदनीयादिकर्मों की उदयरूपपरिणतियों का अभाव होनेपर जीव की विभावात्मक परिणतियों का भी अभाव हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो उपशांतकषायगुणस्थान में भी जीव कषायात्मकविभावरूप से परिणत हो जायगा। अतः जीव के विभावपरिणाम और कर्मों की उदयरूप परिणतियां इन में अन्यथानुपपन्नत्व का सद्भाव मानना हि पडेगा। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीव के विभावपरिणाम और कर्मों के उदयरूप परिणाम इनमें व्याप्यव्यापकभावरूपसंबंध का सद्भाव है। यह व्याप्य-व्यापकभाव बहिरंग है–अंतरंग नही; क्यों कि द्रव्यकर्म अपने पुद्गलस्वरूप से जीव के विभावभावों को मृत्तिका अपने घटरूप कार्य को जिसप्रकार सर्वथा अर्थात् आदि, मध्य और अन्त में व्यापती हं उसीप्रकार सर्वथा व्यापता नहीं। अतः मृत्तिका के कार्यभूत घट के विशिष्ट आकार को देखकर उसके निमित्तकारणभूत जिसप्रकार चेतन कुम्हार के कार्य को अनुमान से जाना जाता है उसीप्रकार जीव के सुखदुःखादिरूप विशिष्ट परिणतियों को देखकर उसके निमित्तकारणभूत द्रव्यकर्म की उदयात्मक परिणतियों को अनुमान से जाना जाता है। घट की

विशिष्टाकारात्मक परिणति को देखकर मृत्तिका परिणमनशील और परिणमनाभिमुख [परिणमन के योग्य] होनेपर भी कुम्हाररूप निमित्त की विशिष्ट प्रकार की शारीरपरिणति का अभाव होनेपर मृत्तिका की घटाकार-रूप विशिष्ट परिणति का सद्भाव होना असंभव होनेसे कुम्हार की विशिष्ट शारीरपरिणति को अनुमान से जाना जाता है और वह ज्ञान अविसंवादि होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिसप्रकार कुम्हार की शारीरपरिणति का मृत्तिका की कार्यरूप परिणतिपर असर होता है उसीप्रकार परिणमनशील अज्ञानी जीव की परिणतियोंपर कर्म की उदयरूप परिणति का अवश्यमेव असर होनेसे अर्थात् जीव की अज्ञानात्मक परिणति विशिष्ट प्रकार की होनेसे उस परिणतिपर द्रव्यकर्म की उदयात्मक परिणति का अवश्यमेव असर होनेसे निमित्तभूत द्रव्यकर्म जीव की परिणति को सर्वथा व्यापनेवाला न होनेसे उपादान की दृष्टि से अकिंचित्कर होनेपर भी वह सर्वथा अकिंचित्कर है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि द्रव्यकर्म को सर्वथा अकिंचित्कर माना तो सुखदुःखादिरूप जीवपरिणाम साता-वेदनीयादिरूप कर्मों का कार्य है इसप्रकार का प्रतिपादन करनेवाला जो आगमप्रमाण ऊपर उद्धृत किया गया है उसका विरोध हो जायगा, क्रोधादिरूप विभावपरिणतियां एकरूप से अविच्छिन्नरूप से होती रहेगी और कर्म-सिद्धान्त भी उथलपुथल हो जायगा। गोम्मटसार में कर्मों के पुद्गलविपाकि, भवविपाकि, क्षेत्रविपाकि और जीवविपाकि ऐसे चार भेद बताये हैं। देखिए–

देहादीफासंता पण्णासा, निमिण–तावजुगलं च।
थिरसुहपत्तेयदुगं अगुरुतियं पुग्गलविवाई ॥
आऊणि भवविवाई, खेत्तविवाई य आणपुव्वी य।
अट्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा ॥

जिस कर्म का विपाक अर्थात् फलनिष्पत्ति जीव के शरीरभूत पुद्गल में होता है–जीव के साथ असबद्ध पुद्गल में नहीं होता उस कर्म को पुद्गलविपाकि कहते हैं। देह से लेकर स्पर्श के अन्ततक की पचास प्रकृतिया, निर्माणनाम, आतपयुगल, स्थिरनाम, शुभनाम, प्रत्येकद्विक और अगुरुलघुनाम ये सब प्रकृतिया पुद्गलविपाकि हैं। आयुःकर्म भवविपाकि है, आनुपूर्व्यनामकर्म क्षेत्रविपाकि है और बाकी के अठत्तर कर्म जीवविपाकि हैं। जिस कर्म का विपाक अर्थात् फलनिष्पत्ति जीव के शरीरभूत पुद्गल में होता है–जीव के साथ असंबद्ध पुद्गल में नहीं होता उस कर्म को पुद्गलविपाकि कहते हैं, जैसे शरीरनामकर्म। इस कर्म के उदय से देह की निर्मिति होती है। यह कर्म जीव में किंचिन्मात्र भी साक्षात्–प्रत्यक्षरूप से विकार पैदा नहीं करता। आयुःकर्म को भवविपाकि इसलिए कहा जाता है कि वह नरकादि गतियों में प्राप्त हुए शरीर में जीव का अवरोध होनेमें निमित्तकारण पडता है। यह कर्म जीव की परिणति में साक्षात् निमित्तकारण नहीं पडता। शरीर में जीव का अवरोधमात्र होनेमें निमित्तकारण पडनसे जीव का विकृत होना असम्भव है। आनुपूर्व्यनामकर्म मरण के बाद नये शरीर का ग्रहण करने के लिए विग्रहगति में जीव के शरीरपरिणामता के उत्पादक औदारिकादिशरीरों का अभाव होनेपर भी जीव की मरणकालीनशरीराकारता को बनाए रखता है। अतः वह क्षेत्रविपाकि कहा गया है। इस क्षेत्रविपाकि आनुपू-र्व्यनामकर्म के द्वारा भी जीव में साक्षात् कोई विकार निष्पादित नहीं किया जाता; क्यों कि जीव के पूर्वाकार को तदवस्थ बनाये रखनेमें निमित्तकारण पडनेपर भी उस कर्म से जीव में विकृति का पैदा होना असंभव है। जो कर्म किसीप्रकार जीव में साक्षात् विकार पैदा करते हैं वे कर्म जीवविपाकि कहे जाते हैं। ज्ञानावरणादि घातिकर्म जीवविपाकि हैं। उन ज्ञानावरणादि घातिकर्मों के द्वारा ज्ञानादिगुण आवृत करके विकृत किये जाते हैं। जीवविपाकि कर्म की अठत्तर प्रकृतिया हैं। नीचे दी हुई गाथा में उनका परिगणन पाया जाता है।

वेयणिय–गोद–घादीणेक्कावण्ण तु णामपयडीणं।
सत्तावीस चेदे अट्ठत्तरि जीववाई दु ॥

वेदनीय की दो, गोत्रकर्म की दो, ज्ञानावरणादि घातिकर्मों की सेंतालीस और नामकर्म की सत्ताईस

कर्मप्रकृतियों का मिलान करनेसे कुल अठत्तर प्रकृतियां होती हैं। वे जीवविपाकि हैं। तीर्थंकर, उच्छ्वास, विहायोगति, त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, चार गतियां और एकेन्द्रियादि पांच जातियां ये नामकर्म की सत्ताईस प्रकृतियां जीवविपाकि हैं। इनके कारण से जीव के प्रदेशों में और जीव के गुणों में विकार उत्पन्न होता है। अतः नामकर्म की प्रकृतियां जीवविपाकि हैं। इस प्रकार चार प्रकार के कर्मों में से जो कर्म जीवविपाकि होते हैं उनके विपाक के लिये पुद्गल (जीवशरीर) की अपेक्षा नहीं होगी इसप्रकार का भाव मन में प्रादुर्भूत होनेपर 'जीवविपाकि कर्मों का पौद्गलिकत्व कैसे संभवनीय हो सकता है; क्यों कि जीवविपाकि कर्मों का पुद्गल के संबंध से विपाक नहीं होता ?' ऐसी शंका उपस्थित होती है। समाधान– यद्यपि वे प्रकृतियां जीवविपाकि हैं तो भी उनका विपाक सकर्म जीव में हि होता है। सकर्म जीवों का पुद्गल शरीर में प्रवेश होनेके कारण वे कथंचित् मूर्त माने गये हैं। मूर्तत्व का हि नाम पौद्गलिकत्व होनेसे जीवविपाकि कर्मों का भी पुद्गल (शरीर) के साथ होनेवाले संबंध से विपक्व होना अविछिन्नतरह से घटित हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि कुछ कर्म साक्षात् जीवविपाकि होनेसे उनके उदय से हि जीव की विभावरूप परिणतियां होती हैं। अतः निमित्तभूत कर्मपरिणतियों का अज्ञानी जीव जब विभावरूप से परिणत होता है तब निमित्त का भी उसके ऊपर जरूर असर होता है। यहां 'असर होता है' इस वाक्य का 'अज्ञानी जीव अचेतन बनता है या अचेतन कर्म चेतन बनता है' यह अभिप्राय नहीं है। कुम्हार की शारीरपरिणति का मृत्तिका के विशिष्ट आकार के रूप से परिणमन होते समय जो असर होता है उससे 'मृत्तिका चेतनात्मक या चेतन कुम्हार अचेतनात्मक बनता है' ऐसा नहीं है और इसप्रकार द्रव्य के स्वस्वभाव का त्याग और परद्रव्य के स्वभाव का स्वीकार कहींपर भी देखने में नहीं आता। क्या द्रव्यकर्मों के उदयादिरूप परिणामों का निमित्तकारणत्व भी उपचरित है–वास्तव नहीं है ? यदि उनका जीवविपाकित्व उपचरित है तो उनका भवविपाकित्व और क्षेत्रविपाकित्व भी उपचरित क्यों नहीं ? कर्मविषयक सिद्धान्त ग्रन्थों में आयु को भवविपाकि कहा है और ऊपर दिये हुए उद्धरण में आयुःकर्म को जीवविपाकि कहा है। भव के जीवपरिणामत्व की विवक्षा होनेसे आयुःकर्म को जीवविपाकि कहने में किसी भी प्रकार से बाधा उपस्थित नहीं होती। आयुःकर्म कथंचित् अजीव का परिणाम होनेसे या जीव का विशिष्ट परिणाम होनेसे जीव के परिणामसामान्य से भेद की विवक्षा होनेपर उसको भवविपाकि कहा है। अतः भवविपाकि आयुःकर्म को जीवविपाकि कहनेमें किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता।

यहांपर प्रश्न उठता है कि यदि निमित्त अर्थात् निमित्तभूत द्रव्यकर्म या उसका उदयरूप परिणाम सर्वथा अकिञ्चित्कर है, तो इन द्रव्यकर्म की प्रकृतियों को जीवविपाकि क्यों कहा ? यदि ये प्रकृतियां भी जीव के प्रदेशों की या उसके गुण की परिणति के या विकृति के विषय में जीव की विभावपरिणति की अनुकूल-सहायभूत अपनी परिणति की दृष्टि से भी सर्वथा अकिंचित्कर है तो उन्हें जीवविपाकि क्यों कहा ? यह शंका निमित्त को सर्वथा अकिञ्चित्कर मानने से उपस्थित हुई होनसे योग्य है। वस्तुतः जीवविपाकि कर्मप्रकृतियां जीवविपाकि इसलिये कही जाती हैं कि वे अपने उदय से अज्ञानी जीव की विभावरूप परिणतियों में सहकारिणी होती हैं। यदि वे इसप्रकार अकिंचित्कर मानी गयी तो जीव अपनेआप हि निष्प्रतिबंधरूप से विभावरूप से परिणत होने लगेगा, जिससे कर्मसिद्धान्त की व्यवस्था भी अकिंचित्कर हो जायगी। मृत्तिका घटरूप से जब परिणत होती है तब कुम्भकारादिरूप सहकारिसामग्री को अकिंचित्कर मानना होगा, जो कि असंभव है; क्यों कि सहकारिसामग्री के अभाव में मृत्तिका का घटरूप परिणमन देखने में नहीं आता।

इसी विषय को अधिक विशद करनेवाला नीचे पेश किया हुआ उद्धरण पठनीय है। देखिए—

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाज्ञानाद्वीतमोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥ ९८ ॥

मोहनीयकर्मप्रकृतिलक्षणादज्ञानाद्युक्त. कर्मबन्धः स्थित्यनुभागाख्यः स्वफलदानसमर्थः, क्रोधा-

विकषायैकार्थसमवायिनो मिथ्याज्ञानस्य च अज्ञानस्य च मोहनीयकर्मप्रकृति लक्षयतः पुंसो बन्धनिबन्धनत्वोपपत्तेः 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः' इति वचनात्, ततोऽन्यतोऽपि बन्धाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, क्षीणोपशान्तकषायस्याप्यज्ञानाद्बन्धप्रसक्तेः। प्रकृतिप्रदेशबन्धस्तथाप्यस्तीति चेत्, न, तस्याभिमतेतरफलदानासमर्थत्वात्सयोगकेवलिन्यपि सम्भवादविवादापन्नत्वात्। न चात्रागममात्रं, युक्तेरपि सद्भावात्। तथा हि–विवादापन्नः प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसम्बन्धः कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनस्तथात्वात्पथ्येतराहारादिसम्बन्धवत्। ....

न चेष्टानिष्टफलदानसमर्थः कर्मबन्धः पुद्गलविशेषसम्बन्धो न भवति, पुद्गलसम्बन्धेन विपच्यमानत्वात्, व्रीह्यादिवत्। 'जीवविपाकिषु कर्मसु तदभावात्पक्षाव्यापको हेतुः' इति चेत्, न, तेषामपि सकर्मजीवसम्बन्धेन विपच्यमानत्वात् पुद्गलसम्बन्धेन विपच्यमानत्वस्य प्रसिद्धेः पुद्गलक्षेत्रभवविपाकिकर्मवत् पक्षव्यापकत्वसिद्धेः। 'पूर्वानुभूतविषयस्मरणेन सुखदुःखदायिषु कर्मसु तदभावात् पक्षाव्यापकत्वमस्य हेतोः' इत्यप्यनेन निराकृतं, परम्परया पुद्गलसम्बन्धेनैव तेषां विपच्यमानत्वाच्च। न किंचित्कर्म साक्षात्परम्परया वात्मनः पुद्गलसम्बन्धमन्तरेण विपच्यमानमस्ति येन पौद्गलिकं न स्यात्। ततो न कर्मबन्धस्य पुद्गलविशेषसम्बन्धित्वमसिद्धम्। नापीष्टानिष्टफलदानसमर्थत्वं, दृष्टकारणव्यभिचारे शुभेतरफलानुभवनस्य स्वसंविदितस्यादृष्टहेतुत्वसिद्धेः, रूपादिज्ञानस्य चक्षुराद्यदृश्यहेतुवत्। 'नन्वेवमज्ञानहेतुकत्वे बन्धस्य मिथ्यादर्शनादिहेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरुध्यते?' इति चेत्, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगानां कषायैकार्थसमवाय्यज्ञानाविनाभाविनामेवेष्टानिष्टफलदानसमर्थकर्मबन्धहेतुत्वसमर्थनात् मिथ्यादर्शनादीनामपि सङ्ग्रहात् सङ्क्षेपतः इति बुध्यामहे। ततो 'मोहिन एवाज्ञानाद्विशिष्टः कर्मबन्धो, न वीतमोहात्' इति सूक्तम्। तथैव बुद्धेरपकर्षान्मोहनीयपरिक्षयलक्षणान्मोक्ष्यति विपर्यये विपर्यासावित्यधिगन्तव्यं, प्रकृष्टश्रुतज्ञानादेः क्षायोपशमिकात् केवलापेक्षया स्तोकादपि छद्मस्थवीतरागचरमक्षणभाविन साक्षादार्हन्त्यलक्षणमोक्षस्य सिद्धेः। तद्विपरीतात्तु मोहवतः स्तोकज्ञानात् सूक्ष्मसाम्परायान्तानां मिथ्यादृष्टयादीनां कर्मसम्बन्ध एव। [अ. स. पृष्ठ २६५, २६६, २६७]

मोहयुक्त अज्ञान से बंध होता है। जो मोहयुक्त नहीं होता ऐसे अज्ञान से बंध नहीं होता। मोहरहित अल्पज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोहसहित अल्पज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती–बंध होता है। ['यहां अज्ञान इस शब्द से क्षायोपशमिक अज्ञान का ग्रहण अभीष्ट है या औदयिक अज्ञान का या उस पद के 'अल्पज्ञान' इस अर्थ का ?' इसप्रकार की शंका उपस्थित होती है। क्षायोपशमिक अज्ञान का ग्रहण यहां अभीष्ट नहीं है। मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान ये क्षायोपशमिक अज्ञान के तीन भेद हैं। ये तीनों अज्ञान ज्ञानविशेषरूप होनेपर भी मिथ्यात्वकर्म के उदय से 'अज्ञान' कहे जाते हैं। प्रकृत कारिका में 'अज्ञानात्' इस पद का जो 'मोहिनः' यह विशेषण पाया जाता है उससे निर्विशेषण अज्ञानशब्द से मिथ्यात्वोदयसहित ज्ञान का बोध नहीं होता। यदि उस शब्द से मिथ्यात्वोदयसहित ज्ञान का बोध होता है ऐसा मानना हो तो 'मोहिनः' यह विशेषण विफल हो जायगा। अतः अज्ञानशब्द से क्षायोपशमिक अज्ञान का ग्रहण नहीं किया जा सकता। औदयिक अज्ञान का भी यहांपर ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्यों कि औदयिक अज्ञान से अक्षरश्रुताज्ञान, असंज्ञित्व और अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इनका अभाव इनका ग्रहण होता है। अज्ञानशब्द से इन का ग्रहण अभीष्ट नहीं है। अतः यहा अज्ञानशब्द से औदयिक अज्ञान का भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। यहां अज्ञानशब्द से अल्पज्ञान का ग्रहण अभीष्ट है। यद्यपि 'नञोऽन्' इस सूत्र के अनुसार नञर्थक अन् ज्ञानशब्द के पीछे लगा हुआ है तो भी

यह नञर्थक अञ् अल्पार्थ में लगा हुआ है; क्यों कि नञ् का 'तदल्पता' यह भी एक अर्थ है। अतः अज्ञानशब्द का यहां 'अल्पज्ञान' यह अर्थ अभीष्ट है। 'ततो मोहिन एवाज्ञानादिविशिष्टः कर्मबन्धः, न वीतमोहादिति सूक्तम्' इस अष्टसहस्त्रीगत वाक्य को देखकर 'न ज्ञानाद्वीतमोहतः' यह पाठ 'नाज्ञानाद्वीतमोहतः' इस रूप से परिवर्तित किया गया है।] क्रोधादिकषायरूप एक अर्थ के साथ जिसका तादात्म्यसंबंध है ऐसे मोहनीय की (द्रव्यमोहनीयकर्म की) प्रकृति का ज्ञान करानेवाले मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान का आत्मा के बंध का कारणत्व घटित होनेसे 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः' इस आगमवचन से 'मोहरहित अल्पज्ञानरूप अज्ञान से भी आत्मा के बंध होता है' ऐसा माननेसे क्षीणकषाय और उपशांतकषाय गुणस्थानवाले अल्पज्ञानी जीव के बंध हो जानेका अतिप्रसंग खडा हो जानेसे द्रव्यमोहनीयकर्मप्रकृति का ज्ञान करानेवाले अज्ञान–मिथ्याज्ञान से अपना फल देनेमें समर्थ स्थितिबंधसंज्ञक कर्मबंध का होना युक्तिसंगत है–युक्तिशून्य नहीं है। 'क्षीणकषाय और उपशान्तकषाय गुणस्थानवाले जीव के भी प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होते हैं' ऐसा कहना हो तो वह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि उन दोनों बन्धों के इष्टानिष्टफल देनेकी सामर्थ्य का अभाव होनेसे सयोगकेवली में भी दोनों बंधों का अस्तित्व होनेसे किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। इस विषय में सिर्फ आगम का हि प्रमाण है ऐसा नहीं है, अपि तु इस विषय को सिद्ध करनेवाली युक्ति भी विद्यमान है। वह इसप्रकार–' विवाद का विषय बना हुआ प्राणियों को इष्टानिष्टफल देनेमें समर्थ ऐसे (द्रव्यकर्मरूप) पुद्गलविशेष के संबंध का कषायरूप एक अर्थ के साथ तादात्म्यसंबंध को प्राप्त हुआ अज्ञान कारण (निमित्तकारण) है; क्यों कि कषायसामान्यरूप एक अर्थ के साथ तादात्म्यसंबंध को प्राप्त अज्ञान जिसका कारण (निमित्तकारण) है ऐसा बंध हि यथार्थबन्धरूप है, जैसे पथ्यापथ्य आहार का संबंध। [पथ्यापथ्य आहार का संबंध जिसप्रकार कषाय के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ अज्ञान जिसका कारण (निमित्तकारण) है ऐसा हि इष्टानिष्टफल देनेकी सामर्थ्य से युक्त पुद्गलविशेष (आहार) का संबंध है उसीप्रकार प्राणियों को इष्टानिष्टफल देनेमें समर्थ ऐसे पुद्गलविशेष का संबंध कषाय के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए अज्ञान के कारण से होता है।] ... .

(जीव को) इष्टानिष्टफल देनेमें समर्थ ऐसा कर्मबन्ध पुद्गलविशेष के सबंध से रहित होता है ऐसा नहीं है; क्यों कि चावल-आदि के समान वह पुद्गल के (शरीर के) सबंध से विपक्व होता है। [जैसे चावल-आदि उष्णता, जल आदि के साथ सबंध को प्राप्त होनेपर पक्व होनेसे पुद्गलरूप देखे जाते हैं, उसीप्रकार पुद्गल के साथ संबद्ध होनेपर पक्व होनेसे कर्म पुद्गलरूप है] 'जीवविपाकिकर्मों का पक्व होना पुद्गल (शरीर) के साथ होनेवाले संबंधपर निर्भर न होनेसे पुद्गल के साथ संबद्ध होनेपर विपक्व होनारूप हेतु संपूर्ण पक्ष का व्यापक नहीं है' ऐसा कहना हो तो वह ठीक नही है; क्यों कि जीवविपाकि कर्म सकर्म जीव से साथ होनेवाले संबंध से विपक्व होनेवाले होनेसे उनके विषय में भी पुद्गलविपाकि, क्षेत्रविपाकि और भवविपाकि कर्मों के समान पुद्गल (शरीर) के साथवाले सबंध से विपक्व होनेकी सिद्धि हो जानेसे पुद्गल (शरीर) के साथ संबंध हो हो जानेपर विपक्व होनारूप हेतु के सपूर्णपक्षव्यापकत्व की सिद्धि हो जाती है। 'पूर्वकाल में अनुभूत विषयों के स्मरण से होनेवाली जीव की सुखदुःखरूप परिणतियो मे निमित्तकारण पडनेवाले कर्मों के बारे में पुद्गल के साथ के संबध से विपक्व होना घटित न होनेसे पुद्गल के साथ संबंध हो जानेपर विपक्व होनारूप हेतु पक्ष को व्यापता नहीं' यह अभिप्राय भी पूर्वोक्त कथन से और जीवविपाकिकर्म परपरा से पुद्गल न साथ जीव के होनेवाले संबंध से हि विपक्व होनेवाले होनेसे निराकृत हो जाता है। कोई भी कर्म साक्षात् अथवा परंपरा से जीव का पुद्गल (शरीर) के साथ संबंध हुए विना विपक्व नहीं होता जिस से कि जीवविपाकिकर्म न होता हो। उस कारण से कर्मबंध का पुद्गलविशेष के साथ संबंधयुक्त होना असिद्ध नहीं है। कर्मबध का इष्टानिष्टफल देनेकी सामर्थ्य से युक्त होना भी असिद्ध नहीं है; क्यों कि जिसप्रकार नेत्रेन्द्रिय आदि इंद्रियगोचर न होनेसे अदृश्य होनेपर भी रूपादि का ज्ञान चक्षुरादि अदृश्य इंद्रियों का (ज्ञापक) हेतु बन जाता है उसीप्रकार दृष्टकारण का (दृष्ट ज्ञापक हेतु का) अभाव होनेपर स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से जाने जानेवाला शुभाशुभफल का अनुभवन अदृष्ट

कर्म का (ज्ञापक) हेतु सिद्ध हो जाता है । 'इसप्रकार बन्ध का हेतु अज्ञान है ऐसा माननेपर मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के हेतु हैं ऐसा जो सूत्रकार ने कहा है उसका विरोध कैसे नहीं होता ?' ऐसा कहना हो तो वह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि कषाय के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए अर्थात् एकरूप बने हुए अज्ञान के साथ जिनका अविनाभाविसंबंध बना हुआ है ऐसे मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनका इष्टानिष्टफल देनेमें समर्थ ऐसे कर्मों के बन्ध का हेतु बन जाना समर्थित किया जानेसे मिथ्यादर्शन आदिकों का संग्रह हो जानेसे संक्षेप हो जाता है ऐसा हम समझते हैं । उसकारण मोहयुक्त अज्ञान से (अल्पज्ञान से) कर्मबंध होता है, मोहरहित अज्ञान से (अल्पज्ञान से) बंध नहीं होता ऐसा जो कहा है वह ठीक हि कहा है । उसीप्रकार मोहनीयकर्म के परिक्षय से युक्त अर्थात् मोहनीयकर्म के उदय के अभाव से युक्त अल्पज्ञान से जीव मुक्त हो जायगा; क्यों कि जिसमें मोहनीय कर्म के परिक्षय का अभाव होता है ऐसे अल्पज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, अपि तु बंध हि होता है ऐसा समझना; क्यों कि केवलज्ञान की दृष्टि से जो अल्प होता है ऐसे क्षायोपशमिक प्रकृष्ट श्रुतज्ञान से भी छद्मस्थवीतराग के अन्त्यक्षण में होनेवाले साक्षात् आर्हन्त्यरूप मोक्ष की सिद्धि हो जाती है । और उससे विपरीत जो मोहयुक्त अल्पज्ञान होता है उससे मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसांपरायसंज्ञक गुणस्थान के अंततक के जीवों के कर्मबन्ध हि होता है ।

इस उद्धरण में पायी जानेवाली कुछ ज्ञातव्य बातों के आधार से निमित्तकारणपर विचार–

(१) आचार्य विद्यानंदकृत अष्टसहस्री के इस उद्धरण में जीव के क्रोधादिरूप विभावपरिणाम अपने कर्मरूप निमित्तकारण के ज्ञापक हैं ऐसा कहा है । इन विभावभावों का ज्ञापकत्व तब सिद्ध हो सकता है जब कि निमित्तकारणभूत द्रव्यकर्म का अज्ञानी जीव की परिणतिक्रियापर असर होता हो । ऐसा होनेपर निमित्त का सर्वथा अकिञ्चित्करत्व अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है । यदि अज्ञानी जीव के विभावपरिणाम निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होनेपर भी उसका ज्ञापन करते हैं ऐसा माना तो वे अकिंचित्कर अन्य द्रव्यों का ज्ञापन अवश्य करेंगे; क्यों कि निमित्तभूत कर्म और अन्य द्रव्य इनकी अकिंचित्करत्व की दृष्टिसे समानता है । अतः निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर मानना युक्तिसंगत और आगमानुकूल नहीं कहा जा सकता । उपादान की परिणतिक्रियापर निमित्त का या उससे अनन्यभूत उसकी परिणतिक्रिया का असर पडता हि है इस बात को मानना हि पडेगा ।

(२) विभावपरिणामों का निमित्तभूत कर्म अपना फल देनेकी सामर्थ्य से सपन्न है ऐसा कथन इस उद्धरण में पाया जाता है । यदि निमित्तभूत कर्म को सर्वथा अकिंचित्कर माना तो अज्ञानी जीव के विभावपरिणामों के द्वारा उस फलदानसामर्थ्य का ज्ञापन कैसे होगा ? किसी भी पदार्थ की इंद्रियागोचर सामर्थ्य का ज्ञान उसके कार्यरूप हेतु के द्वारा होता है । निमित्तभूत कर्म अकिंचित्कर माननेसे उसके कार्य का भी अभाव मानना होगा । उसके कार्य का अभाव होनेपर उसकी सामर्थ्य का ज्ञान होना असंभव हो जायगा । ऐसी अवस्था में जब सामर्थ्य का ज्ञान हि नहीं होगा तब निमित्तभूत कर्म की फल देनेकी सामर्थ्य जो शास्त्रकारों ने विहित किया है वह मिथ्या बन जायगी और आगम की भी अप्रमाणता सिद्ध हो जायगी ।

(३) यदि निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर माना तो निमित्तभूत कर्म की विपच्यमानता कैसे सिद्ध होगी ? सुखदुःखादिरूप विभावपरिणाम शुभाशुभ कर्मों के उदयरूप परिणामोंपर अवलंबित है या नहीं ? यदि है तो निमित्त का अकिंचित्करत्व अविलंब से नष्ट हो जाता है । यदि नहीं है ऐसा माना तो विभावरूप परिणामों की तरतमता–तीव्रमंदता अविच्छिन्नरूप से बनी रहेगी–जो परिणाम मंद होंगे वे मंद हि बने रहेंगे और जो तीव्र होंगे वे तीव्र हि बने रहेंगे; क्यों कि उनके परिणमन के निमित्तकारण भी अकिंचित्कर होंगे । अतः उपादान की कार्यरूप से परिणत होनेकी क्रिया के समय निमित्त को अकिंचित्कर मानना ठीक नहीं है ।

(४) जीव के विभावपरिणाम निमित्त का सिर्फ ज्ञान कराते हैं यह कथन भी ठीक नहीं है। वे परिणाम निमित्त का जो ज्ञान कराते हैं वह प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा या अनुमानप्रमाण के द्वारा कराते हैं ? यदि प्रत्यक्ष प्रमाण

के द्वारा निमित्त का ज्ञान कराते हैं ऐसा कहा गया तो वह प्रत्यक्ष सकलप्रत्यक्षरूप है या विकलप्रत्यक्षरूप है या स्वसंवेदनप्रत्यक्षरूप है यह प्रश्न उपस्थित होता है। अज्ञानी जीव के विभाव परिणाम सकलप्रत्यक्ष के द्वारा निमित्त का ज्ञान कराते हैं ऐसा कहा गया तो वह कथन ठीक नहीं हैं; क्यों कि जो जीव विभावभावरूप से परिणत होता है उसके सकलप्रत्यक्षज्ञान का अभाव होनेसे सकलप्रत्यक्ष के द्वारा निमित्त का ज्ञान कराना सुतरां असंभव है। यदि विकलप्रत्यक्ष के द्वारा निमित्त का ज्ञान कराते हैं ऐसा कहा गया तो वह कथन भी ठीक नहीं है; क्यों कि विकलप्रत्यक्ष इन्द्रियाधीन होनेसे और विभावपरिणामों के निमित्तभूत कर्म अतीन्द्रिय होनेसे विकलप्रत्यक्ष के द्वारा निमित्तभूतकर्म का ज्ञान कराना असंभव है। स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से भी निमित्तभूत द्रव्यकर्म का ज्ञान कराना असंभव है; क्यों कि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष में ज्ञाता हि स्वयं ज्ञेय होता है–आत्मभिन्न पदार्थ ज्ञेय नहीं हो सकता। निमित्तभूत द्रव्यकर्म आत्मभिन्न पदार्थ होनेसे वह स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता। यदि अनुमान के द्वारा निमित्तभूत द्रव्यकर्म का ज्ञान कराते हैं ऐसा कहा गया तो वह कथन भी ठीक नहीं है; क्यों कि निमित्तभूत द्रव्यकर्म अकिंचित्कर होनेसे उसके कार्य का अभाव होनेके कारण कार्यरूप हेतु का अभाव होनेसे अनुमानप्रमाण निमित्तभूत द्रव्यकर्म का ज्ञापक नहीं बन सकता–वह स्वयं अस्तिरूप हि नहीं बन सकता। अतः जीव के विभावपरिणाम निमित्त का सिर्फ ज्ञान कराते हैं यह कथन युक्तिशून्य और आगमविरोधि है।

(५) कर्मप्रकृतियों में से कुछ कर्मप्रकृतियां जीवविपाकि बतायी गयी हैं। जिन कर्मप्रकृतियों के उदय के द्वारा अज्ञानी जीव में साक्षात् [परंपरा से नहीं] विकार उत्पन्न किया जाता है वे कर्मप्रकृतियां जीवविपाकी कही जाती हैं। निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर माननेसे उनके उदय से जब जीव में विकार हि उत्पन्न नहीं हो सकता तब उन कर्मप्रकृतियों का जीवविपाकित्व कैसे बनेगा? शास्त्रों में जीवविपाकिकर्मों को जीवगत विकार के उत्पादक कहा है। निमित्तभूत द्रव्यकर्म को अकिंचित्कर माननेसे शास्त्रों में बताये गये कर्मों के जीवविपाकित्व की अप्रमाणता सिद्ध हो जानेसे वे शास्त्र भी अप्रमाण सिद्ध होंगे। अतः निमित्तभूत कर्मप्रकृतियों को सर्वथा अकिंचित्कर मानना आगमविरुद्ध है और कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन विफल हो जाता है।

(६) निमित्तभूत कर्म को सर्वथा अकिंचित्कर माना तो उसके उदय से जीव की विभावरूप परिणति नहीं होगी। कर्मोदय के अभाव में भी जीव की विभावरूप से परिणति होना स्वीकार किया तो विभावरूप से परिणत होना जीव का स्वभाव हि बन जायगा। जीव की विभावरूप परिणत के अभाव में उसके प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध भी नहीं होंगे। मनोवर्गणाओं, वचनवर्गणाओं और कायवर्गणाओं के निमित्त से होनेवाला आत्मप्रदेशपरिस्पंदरूप योग का भी अभाव हो जायगा। योग का अभाव होनेपर मिथ्यादर्शनरूप, अविरतिरूप, प्रमादरूप और कषायरूप जीव परिणतियों का अभाव हो जायगा। ऐसी अवस्था में जीव के संसारी और मुक्त ये भेद हि मिट जायंगे

(७) कर्म अपने उदयरूप, उपशमरूप, क्षयोपशमरूप और क्षयरूप परिणामों से जीव की परिणतियों में निमित्तकारण पडता है। अपनी क्षयरूप परिणति से कर्म जीव की मोक्षवस्था का, उपशमरूप परिणति से औपशमिकभावों का, उदयरूप परिणति से औदयिकभावों का और क्षयोपशमरूप परिणति से क्षायोपशमिक भावों का निमित्तकारण पडता है। यदि कर्मरूप निमित्त को अकिंचित्कर माना तो गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थान की व्यवस्था टूट जायगी जिससे शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव समान बन जायंगे और बंधमोक्षव्यवस्था भी टूट जायगी। अतः निमित्त को अकिंचित्कर नहीं मान जा सकता।

(८) यदि कर्मरूप निमित्त सिर्फ अपना ज्ञान कराता है ऐसा माना तो 'वह अपना ज्ञान कैसे कराता है?' यह प्रश्न उपस्थित होता है। कर्मरूप निमित्त अदृश्य है। अतः ज्ञान करानेके लिए किसी साधन की आवश्यकता है। प्रत्यक्षप्रमाण तो किसी तरह से उसका ज्ञान नहीं करा सकता। अनुमान भी उसका ज्ञान

नहीं करा सकता; क्यों कि उसके ज्ञापक कार्यरूप हेतु का वह अकिंचित्कर होनेसे अभाव है । अतः निमित्त को अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता ।

कर्मरूप निमित्त के जीवगतविकारकारित्व के विषय में प्रमाण—

चेतनस्य सतः सम्बन्ध्यन्तरं मोहोदयकारणकं, मदिरादिवत् । तत् कुतः सिद्धम् ? ' विवाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः सम्बन्ध्यन्तरकारणकः, मोहोदयत्वात्, मदिरादिकारणकमोहोदयवत् इत्यनुमानात् । यत् तत् सम्बन्ध्यन्तरं तत् आत्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति । तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वमतीतानागतवर्तमानं पश्यति, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोः अकिंचित्करत्वात् । ' कथं पुनर्ज्ञानावरणादिसम्बन्ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतव्यामोहः स्यात् यतः सर्वमतीतानागतवर्तमानानन्तार्थव्यंजनपर्यायात्मकं जीवादितत्त्वं साक्षात्कुर्वीत ' चेत्, इमे ब्रूमहे—यत् यस्मिन् सत्येव भवति तत् तदभावे न भवत्येव, यथा अग्नेः अभावे धूमः । सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो व्यामोहः । ' तस्मात् तदभावे स न भवति ' इति निश्चीयते । ' देशकालतः प्रत्यासन्नमेव पश्येद्विरतव्यामोहोपि सर्वात्मना, न पुनर्विप्रकृष्टं ' इत्ययुक्तं, प्रत्यासत्तेः ज्ञानाकारणत्वात् विप्रकर्षस्य चाज्ञानानिबन्धनत्वात् तद्भावेपि ज्ञानाज्ञानयोरभावात्, नयनतारकाञ्जनवत् चन्द्रार्कादिवत् च । योग्यतासद्भावेतराभ्यां क्वचिद्भावे योग्यतैव ज्ञानकारणं, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोः अकिञ्चित्करत्वात् । सा पुनर्योग्यता देशतः कार्त्स्न्यतो वा व्यामोहविगमः तत्प्रतिबन्धिकर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणः । इति साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येव । तदुक्तं—

' ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने ।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ।। इति '

अत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषः, यथा आलोकानपेक्षा । अत एव कुत एव ? साकल्येन विरतव्यामोहत्वादेव सर्वदर्शनादेव वा । यो हि देशतो विरतव्यामोहः किञ्चिदेवास्फुटं पश्यति वा तस्यैवाक्षानपेक्षा लक्ष्यते, न पुनस्तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य सर्वदर्शिनः सर्वज्ञत्वविरोधात् । न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः सम्भवति साक्षात् परम्परया वा । ' ननु चावधिमनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा सलक्षणीया ? ' तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात् स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः । न चैवं साकल्येन विरतव्यामोहस्य सर्वदर्शनस्य वानैकान्तिकत्वं शङ्कनीयं, विपक्षेऽक्षापेक्षे मतिश्रुतज्ञाने तदसम्भवात् । ' अवधिमनःपर्ययज्ञाने तदसम्भवात् पक्षाव्यापकत्वादहेतुत्वं ' इति चेत्, न, सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्ववचनात्, तत्र चास्य हेतोः सद्भावात्, विकलप्रत्यक्षस्यावधिमनःपर्ययाख्यस्यापक्षीकरणात् । न चास्मदादिप्रत्यक्षेक्षापेक्षोपलक्षणात्सकलवित्प्रत्यक्षेपि सास्त्येवेति वक्तुं शक्यम्, अञ्जनादिभिस्संस्कृतचक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात् तत्संस्कृतचक्षुषोपि कस्यचिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात् । ' नक्तञ्चराणामालोकापायेपि स्पष्टरूपावलोकनप्रसिद्धेर्नालोको नियत कारणं प्रत्यक्षस्य ' इति चेत्, तर्हि सत्यस्वप्नज्ञानस्येक्षणिकादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुराद्यनपेक्षस्य प्रसिद्धेरक्षमपि नियतं प्रत्यक्षकारणं मा भूत् । ततो यथाञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामालोकानपेक्षा स्फुटं रूपेक्षणे तथा साकल्येन विरतव्यामोहस्य सर्वसाक्षात्करणेऽक्षानपेक्षा । (अ. स., पृ. ४९–५०)

मदिरा–मद्य के समान चेतन आत्मा की अज्ञानादिरूप परिणति का कारण दूसरा संबंधी है। उस दूसरे संबंधी की सिद्धि कौन से प्रमाण से होती है ? विवाद का विषय बनी हुओ जीव की अज्ञानादिरूप परिणति की उत्पत्ति का दूसरा संबंधी (द्रव्य) कारण है; क्यों कि वह अज्ञानादिरूप परिणामों की उत्पत्तिरूप है। जैसे मद्य जिसका (निमित्त) कारण है ऐसे भ्रान्त्यात्मक अज्ञान की उत्पत्ति । जो दूसरा संबंधी है वह आत्मा का (आत्मा के साथ संश्लिष्ट हुआ) ज्ञानावरणादि कर्म है । ज्ञानावरणादि कर्मरूप अन्य संबंधी का अभाव होनेपर पूर्णरूप से जिसका अज्ञान नष्ट हो गया है वह जीव संपूर्ण अतीत, अनागत, और वर्तमान को देखता है; क्यों कि जीव की संपूर्ण अज्ञानरहित अवस्था में ज्ञेयद्रव्य की आसन्नता–समीपता और दूरता अकिंचित्कर होती है। 'जिन अज्ञानादिभावों का नाश होनेपर जीव अतीत–भूतकालीन, अनागत–भविष्यकालीन और वर्तमान–वर्तमानकालीन अनन्त अर्थपर्यायों से युक्त जीवादि सभी पदार्थों को देखता है उन अज्ञानादिभावों का ज्ञानावरणादिकर्मरूप अन्य संबंधी का अभाव हो जानेपर पूर्णरूप से नाश कैसे होता है ?' ऐसा कहना हो तो हम कहते हैं कि जो जिसका सद्भाव होनेपर अस्तिरूप बनता है वह उसका अभाव होनेपर अस्तिरूप नहीं बनता, जैसे अग्निका अभाव होनेपर धूमका अस्तिरूप न बनना ज्ञानावरणादिकर्मरूप दूसरे संबंधी का सद्भाव होनेपर हि (संसारी) जीवका अज्ञानादिरूप विभावपरिणाम होता है उस कारण से ज्ञानावरणादिकर्मरूप अन्य संबंधी का अभाव होनेपर (संसारी) जीव का अज्ञानादिरूप विभावपरिणाम अस्तिरूप नहीं बनता ऐसा निश्चय किया जाता है। ' जिसका अज्ञानादिविभावपरिणाम पूर्णरूप से नष्ट हो गया है ऐसा जीव भी देश की अपेक्षा से और काल की अपेक्षा से सामीप्य जिनका है ऐसे हि ज्ञेय पदार्थों को देख सकेगा, देश और काल की अपेक्षा से दूरवर्ती ज्ञेयों को नहीं देख सकेगा' यह अभिप्राय ठीक नहीं है; क्यों कि देश–काल की अपेक्षा से होनेवाली समीपता ज्ञानोत्पत्ति का (निमित्त) कारण और दूरता अज्ञानोत्पत्ति का (निमित्त) कारण (ज्ञेयद्रव्य की समीपता होनेपर भी ज्ञान का सद्भाव और दूरता होनेपर भी अज्ञान का सद्भाव) न होनेसे ज्ञेय द्रव्य की समीपता होनेपर भी नयनतारका को लगाये गये अंजन के ज्ञान के अभाव के समान उसके ज्ञान का अभाव होता है और दूरता होनेपर भी सूर्य और चन्द्रमा के अज्ञान के अभाव के समान दूरवर्ती ज्ञेयों के अज्ञान का अभाव (अर्थात् उनका ज्ञान) होता है। योग्यता के होने न होनेसे ज्ञानावरणविशेष की अभावरूप योग्यता हि किसी पदार्थ का ज्ञान होनेमें कारण पडती है; क्यों कि ज्ञेय की समीपता का अभाव और दूरता का सद्भाव होनेपर भी ज्ञेय का ज्ञान हो जानेके कारण प्रत्यासत्ति (समीपता) और विप्रकर्ष (दूरता) अकिंचित्कर हैं। वह योग्यता एकदेश से या पूर्णरूप से व्यामोह का (प्रतिबंध करनेवाले कर्मों का क्षयोपशमरूप या क्षयरूप) अभाव होना है। वह अभाव व्यामोह का अर्थात् अज्ञानादिविभावपरिणामों का प्रतिबंध करनेवाला जो कर्मों का क्षयोपशम या क्षय है उसरूप है। इसप्रकार जिसके अज्ञानादिविभावपरिणाम संपूर्णतः नष्ट हो गये हैं ऐसा जीव कुछ देखता –जानता है। कहा (भी) है कि– ' ज्ञानोत्पत्ति के प्रतिबंधक कारणों का (ज्ञानावरणादि कर्मों का) अभाव होनेपर ज्ञाता ज्ञेय के ज्ञान से कैसे शून्य होगा ? दहनकार्य का प्रतिबन्ध करनेवाले कारणों का अभाव होनेपर दाह्य के विषय में अग्नि दाहक नहीं होगा क्या ? (अवश्य दाहक होगा)' इस कारण से हि (जिसके अज्ञानादिरूप समस्त विभावभावों का अभाव हो गया है ऐसे ज्ञाता को इंद्रियों की अपेक्षा नहीं होती ।) जिसकी आँखों में अंजन लगाया गया है ऐसे जीव के प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार पूर्णतः विरतव्यामोह जीव के इंद्रियों की अपेक्षा नहीं होती। जीव के इंन्द्रियों की अपेक्षा न होनेका कारण अज्ञानादिरूप संपूर्ण विभावभावों का अभाव होता हि है या सभी ज्ञेय पदार्थों को देखता–जानता हि है। जिसके अज्ञानादिरूप विभावपरिणाम अंशत–अपूर्णरूप से नष्ट हो गये हैं या जो कुछ हि ज्ञेय पदार्थों को अस्पष्टरूप से देखता–जानता है उसके हि इंद्रियों की अपेक्षा होती है। जिसके अज्ञानादिरूप संपूर्ण विभावभावों का अभाव हो गया है और अत एव अपूर्णरूप से जिसके अज्ञानादिरूप विभावभाव नष्ट हो गये हैं ऐसे जीव से जो विभिन्न होता है और जो सब कुछ देखता–जानता है उसे ज्ञेयार्थों को जानते समय इंद्रियों की अपेक्षा नहीं

होती; क्यों कि ऐसे जीव के भी यदि इंद्रियों की अपेक्षा रही तो उसकी सर्वज्ञता के विषय में विरोध खडा हो जाता है। साक्षात् या परंपरा से इंद्रियों का सभी ज्ञेयार्थों से युगपत् संबंध होनेकी संभावना नहीं है। 'जिनके अज्ञानादिरूप विभावपरिणाम अंशतः नष्ट हो गये हैं ऐसे अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी असर्वदर्शी जीवों के इंद्रियों की अपेक्षा का अभाव कैसे जानना ?' (समाधान) अवधिज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम के विशेष से अपने विषय के बारेमें सुतरां स्पष्टरूप होनेसे इन्द्रियों की अपेक्षा का अभाव जानना ऐसा हम कहते हैं। इस प्रकार से पूर्णतया विरतव्यामोहत्व हेतु के या सर्वदर्शनहेतु के विषय में अनैकान्तिकत्वदोष की शंका नहीं करनी चाहिये; क्यों कि विपक्षभूत मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में संपूर्णतया विरतव्यामोहत्वरूप या सर्वदर्शनरूप हेतु की वृत्ति होना असंभव है। 'अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में संपूर्णतः विरतव्यामोहत्वरूप या सर्वदर्शनरूप हेतु की वृत्ति न होनेसे संपूर्ण पक्ष को न व्यापना यह दोष उपस्थित होनेसे उक्त हेतु का हेतुत्व नहीं रहता' ऐसा कहना हो तो वह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि सकलप्रत्यक्ष को हि पक्ष कहा गया है और उस सकलप्रत्यक्ष में हि हेतु का वृत्तिमत्त्व है तथा अवधिज्ञानरूप और मनःपर्ययज्ञानरूप विकलप्रत्यक्ष को पक्ष में अन्तर्भूत नहीं किया है। अपने जैसे लोगों के प्रत्यक्षज्ञान के लिए इंद्रियों की अपेक्षा देखकर सर्वज्ञ के सकलप्रत्यक्षज्ञान के लिए भी इंद्रियों की अपेक्षा होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्यों कि जिनकी आंखों में अंजनादि नहीं लगाये गये हैं ऐसे अपने जैसे लोगो को प्रकाश की आवश्यकता देखकर जिनकी आंखों में अंजनादि लगाए गए हैं ऐसे व्यक्तियों को भी प्रकाश की आवश्यकता है ऐसा माननेका प्रसंग खडा हो जायगा। 'उल्लू जैसे निशाचर प्राणियों को प्रकाश का अभाव होनेपर भी पदार्थों का ज्ञान स्पष्टरूप से होता है यह बात प्रसिद्ध होनेसे प्रकाश प्रत्यक्षज्ञान का नियत कारण नहीं है' ऐसा कहना हो तो नेत्र आदि की अपेक्षा न रखनेवाले स्पष्टरूप सत्य स्वप्न ज्ञान की और ईक्षणिकादि (?) ज्ञान की प्रसिद्धि होनेसे इंद्रियों को भी प्रत्यक्षज्ञान का नियत कारण नही होना चाहिये। उस कारण से जिसप्रकार जिनकी आँखों में अंजनादिकों के द्वारा संस्कार किया गया है ऐसे लोगों को पदार्थ को स्पष्टरूप से देखते समय प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार जिसके अज्ञानादिरूप समस्त विभावभाव नष्ट हो गये हैं ऐसे जीव को सभी ज्ञेयार्थों को जानते समय इंद्रियों की अपेक्षा नहीं होती।

इस उद्धरण में मदिरा का दृष्टान्त दिया गया है। इस दृष्टान्तपर विचार व्यक्त करनेके बाद वह दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकपर घटित किया जायगा। मद्यपान करनेसे मद्यपायी जीव की उन्मत्ततारूप विभावपरिणति होती है। मद्यपायी जीव और मद्य ये दो संबंधी हैं। मद्यपायी यह एक संबंधी और मद्य दूसरा संबंधी। इन दोनों का संबंध हो जानेपर मद्यपान करनेवाले जीव की उन्मत्तावस्थारूप परिणति हो जाती है। मद्यपान करनेसे जीव की उन्मत्तावस्था व्यक्त हो जानेसे और न करनेसे मद्यपानजनित उन्मत्तावस्था न होनेसे जीव की इस विशिष्ट उन्मत्तावस्था का मद्य निमित्तकारण है ऐसा मानना हि होगा। यदि जीव की उन्मत्तावस्था प्रादुर्भूत होनेमें मद्य को निमित्तकारण न माना तो मद्यपान का अभाव होनेपर भी जीव मद्यपायी के समान अपनेआप उन्मत्त हो जायगा। ऐसी अवस्था में उन्मत्तावस्थारूप से परिणत होना जीव का स्वभाव बन जायगा जो कि असंभव और प्रतीति के विरुद्ध है; क्यो कि मद्यपान का अभाव होनेपर मद्यपान से होनेवाली जीव की उन्मत्तावस्थारूप परिणति कहींपर भी देखनेमें नहीं आती। जीव की उन्मत्तावस्थारूप परिणति में मद्य को निमित्तकारण मानकर उसे अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता; क्यों कि जो अकिंचित्कर होता है वह निमित्त हि नहीं बन सकता। क्या जलपान सुरापान करनेवाले जीव की उन्मत्तावस्था की समान उन्मत्तावस्था का निमित्तकारण है ऐसा कहा जा सकता है? उपादान की कार्यरूप परिणति के अनुकूल परिणतिवाले द्रव्य को हि निमित्त कहा गया है। उदरगत मद्य की परिणति हि जीव की उन्मत्तावस्थारूप परिणति के अनुकूल होती है; जल की नहीं। अतः जीव की उस विशिष्ट उन्मत्तावस्था का मद्य हि निमित्तकारण है ऐसा कहा जाता है–जल निमित्तकारण है ऐसा नहीं कहा जाता। यद्यपि द्रवता की अपेक्षा से मद्य और जल एक हैं तो भी मद्य उन्मत्तावस्था का जनक निमित्तकारण है तो जल उस उन्मत्तावस्था का

जनक निमित्तकारण नहीं है। यद्यपि क्रिया की अपेक्षा से कुम्हार की कलशसंभवानुकूल क्रिया और मुष्टिप्रहाररूप या मुद्गरप्रहाररूप क्रिया एक है तो भी पहली क्रिया से मृतिका की घटरूप परिणति होती है तो दूसरी क्रिया से घटका विनाश होता है। उसीप्रकार कर्म कर्मत्व की और निमित्तकारणत्व की अपेक्षा से एक है तो भी उन के भिन्नभिन्न कार्यों की अपेक्षा से वे भिन्न भिन्न हैं। एक हि कर्म की उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम इनरूप परिणतियां जीव की भिन्नभिन्न परिणतियों का निमित्तकारण होता है–उसके उदय से जीव औदयिकभावरूप से, क्षय से, क्षायिकभावरूप से और क्षयोपशम से क्षायोपशमिकभावरूप से परिणत होता है। जीव की इन परिणतियों में कर्म अपनी भिन्नभिन्न परिणतियों के द्वारा निमित्तकारण पडता है। अतः उपादान का परिणमन निमित्त के परिणमनानुसार होनेसे निमित्त को अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता। कुम्हार और चक्रदण्डादिरूप सामग्री यदि सर्वथा अकिंचित्कर माने गये तो मृत्तिकारूप उपादान की घटरूप से परिणति स्वाभाविक माननी पडेगी, जो कि असंभव और प्रतीतिविरुद्ध है। अतः मद्यरूप निमित्तकारण जिसप्रकार जीव की उन्मत्तावस्थारूप परिणति में किंचित्कर मानना होता है उसीप्रकार कर्मरूप निमित्त को किंचित्कर मानना हि होगा। भेदज्ञानशून्य अत एव अज्ञानी असमर्थ जीव की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के उदय से विभावरूप परिणतियां होती हैं। अज्ञानी जीव और ज्ञानावरणादि कर्म ये दो संबंधी हैं। अज्ञानी जीव यह एक संबंधी और ज्ञानावरणादि कर्म दूसरा संबंधी। इन दोनों का संबंध हो जानेपर पहले की परिणति में दूसरा संबंधी निमित्तकारण पडता है और अज्ञानी असमर्थ जीव का विभावरूप से परिणमन होता है। कर्म की परिणति के होनेपर जीव की विभावरूप परिणति होनेसे और न होनेपर न होनेसे कर्म को किंचित्कर निमित्तकारण मानना होगा। यदि जीव की विभावरूप परिणति प्रादुर्भूत होनेमें कर्म को निमित्तकारण न माना तो कर्म का सर्वथा अभाव होनेपर भी जीव स्वभाव से हि विभावरूप से परिणत होता है ऐसा मानना पडेगा और सिद्धों के भी विभावरूप परिणति का सद्भाव मानना होगा।

संपूर्ण कर्मों का क्षय होना हि जीव का मुक्तावस्थारूप से परिणत होना है ऐसा आगम में कहा हुआ पाया जाता है। जब कर्मरूप निमित्त अकिंचित्कर है तब जीव की बद्धावस्था का संभव हि न होनेसे मुक्तावस्था की प्रादुर्भूति किसके होगी? यदि बंध को वास्तवता संसारावस्था के कारण से माननी पडती है ऐसा कहना हो तो कर्मरूप निमित्त को किंचित्कर मानना हि पडेगा।

जब कर्म की परिणतियों के सद्रूप होनेपर संसारी जीव की परिणतियां होती हैं और न होनेपर नहीं होती तब निमित्त को किंचित्कर मानना हि होगा। जो अकिंचित्कर होता है वह निमित्त हि नहीं है। यदि कर्म अकिंचित्कर है तो वह निमित्त भी नहीं है। यदि कर्म की निमित्तता बन हि नहीं पाती है तो कर्म सिद्धान्त की आवश्यकता महसूस नहीं होनी चाहिये। ऐसी अवस्था में कर्मसिद्धान्त की विफलता सिद्ध हो जायगी।

जीव की योग्यता, योग्यता का प्रतिबन्ध करनेवाले कर्मों के क्षयोपशम से या क्षय से व्यक्त होती है ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है। कर्म को सर्वथा अकिंचित्कर मानने से उसका प्रतिबन्धकत्व हि नष्ट हो जाता है। जब कर्म योग्यता का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता तब योग्यता की प्राप्ति के लिए उसके क्षयोपशम की या क्षय की आवश्यकता क्यों बतायी जाती है? अतः कर्म के प्रतिबन्धकत्व से उसका अकिंचित्करत्व प्रतिहत हो जाता है-उसका किंचित्करत्व सिद्ध हो जाता है।

ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान ये भेद स्वाभाविक है या निमित्तजन्य है? स्वाभाविक हो तो इनका अभाव–केवलज्ञानरूप से सद्भाव नहीं होगा। निमित्त-जन्य हो तो निमित्त को किंचित्कर मानना हि होगा।

इसी विषय को सुतरां स्पष्ट करनेके लिए आचार्यप्रवर भगवान् अमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्यातिटीका से एक उद्धरण नीचे पेश किया जाता है। देखिए–

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादि-

निमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात् प्रच्यवमानः एव रागादिभिः परिणमते; तथा केवलः किल आत्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात् प्रच्यवमानः एव रागादिभिः परिणम्यते। इति तावद्वस्तुस्वभावः।

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्त परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥
इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १७६ ॥
[स. सा. गा.२७८-२७९ टीका]

जिसतरह शुद्ध स्फटिकपाषाण परिणमनस्वभाववाला होनेपर भी वह स्वयं शुद्ध स्वभाववाला होनेसे (अपने) रक्ततादिवर्णों का कारण होनेका उसका स्वभाव न होनेसे रक्तिमादिरूप से स्वयं परिणत नहीं होता; किंतु स्वयं रक्तिमादिधर्मों से युक्त होनेके कारण स्वयं अपनी रक्तिमादिवर्णों के निमित्तकारण पडनेवाले परद्रव्य के कारण से–निमित्त से हि अपने शुद्धस्वभाव से होनेवाला हि होनेके कारण से वह (स्फटिकपाषाण) रक्तिमादिवर्णरूप से उस परद्रव्यभूत निमित्त के द्वारा हि परिणत किया जाता है, उसीप्रकार परमार्थरूप से शुद्ध आत्मा परिणमन स्वभाववाली होनेपर भी वह स्वयं शुद्धस्वभाववाली होनेसे रागादिरूप विभावपरिणामों के रूप से होनेवाली अपनी परिणति में कारण बन जानेका उसका स्वभाव न होनेसे वह आत्मा रागादिरूपविभावपरिणामों के रूप से स्वयं परिणत नहीं होती; किंतु रंजित करनेके साधकतमकरणादिरूप शक्ति से युक्त होनेके कारण अपनी द्रव्यरागरूप-परिणति का कारण बने हुए (कर्मरूप) परद्रव्य के द्वारा हि रागादिरूप से परिणति की जाती है। इसप्रकार का वस्तुका स्वभाव है।

कलशार्थ—सूर्यकान्तमणि के समान आत्मा अपनी रागादिरूप परिणति का कारण कदापि नहीं होती। आत्मा की रागादिरूप परिणति में (द्रव्यकर्मरूप) परद्रव्य का संयोग हि निमित्त–कारण पडता है। इसप्रकार का वस्तु का यह स्वभाव पूर्णरूप से प्रकट होता है ॥ १७५ ॥

इसप्रकार ज्ञानी (जीव) अपनी आत्मरूप वस्तु का स्वभाव जानता है। उस वस्तुस्वभाव के ज्ञान से ज्ञानी जीव अपनी आत्मा के रागादिविभावपरिणाम नहीं करता। अतः वह रागादिविभावभावों का कारक अर्थात् कर्ता नहीं होता ॥ १७६ ॥

शुद्ध स्फटिकपाषाण परिणमनशील द्रव्य है; किंतु वह शुद्धस्वभाववाला होनेसे उसमें रक्तिमा आदि के कारणों का अभाव होनेके कारण वह रक्तिमादिवर्णों के रूप से स्वयं परिणत नहीं होता। रक्तिमादि धर्मों से स्वयं युक्त होनेसे अपने रक्तिमादिरूप परिणाम का कारणभूत होनेवाले परद्रव्य के द्वारा हि वह स्फटिकपाषाण रक्तिमादिरूप से परिणत किया जाता है। कहनेका भाव यह है कि स्फटिकपाषाण शुद्धस्वभाववाला होनेसे उसमें रागादि धर्मों का अभाव होनेसे वह अपनी रागादि–रक्तिमादिरूप परिणति का कारण नहीं बन पाता। जो जिस रक्तिमादिधर्म से युक्त हुआ होता है वह उस रक्तिमादिरूप से परिणत होता है। स्फटिकपाषाण रक्तिमा आदि धर्मों से युक्त न होनेसे वह स्वयं रक्तिमादियुक्तरूप से परिणत नहीं होता। जपाकुसुम रक्तिमाधर्म से युक्त होनेके कारण वह रक्तिमारूप से परिणत हो जाता है; क्यों कि अपनी रक्तिमा का वह स्वयं कारण होता है। यह जपाकुसुम जब स्फटिकपाषाण की उपाधि बन जाता है तब वह अपने परिणाम से उस शुद्धस्वभाववाले स्फटिकपाषाण को रक्तिमायुक्तरूप से परिणत करता है–स्फटिकपाषाण की रक्तिमायुक्त परिणति का निमित्तकारण बन जाता है।

यहांपर यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि "'परिणम्यते' यह रूप णिजन्त न होनेपर भी 'परिणत करता है' यह णिजन्त का अर्थ कहांसे आया ?" समाधान—'केवलः स्फटिकोपलः परद्रव्येण परिणम्यते' यह कर्मणि प्रयोगात्मक वाक्य मुख्य वाक्य है। इस वाक्य का 'परद्रव्यमेव स्फटिकोपलं परिणमयति' ऐसा कर्तरिप्रयोगात्मक प्रयोजक वाक्य बनता है। 'परद्रव्य हि स्फटिकपाषाण को परिणत करता है' ऐसा उस कर्तरि प्रयोगात्मक प्रयोजक वाक्य का अर्थ होता है। 'स्फटिकपाषाण की परिणति किया का प्रयोजक परद्रव्य हि है' यह भाव उस अर्थ से स्पष्ट हो जानेसे परद्रव्य का प्रयोजकत्व सिद्ध हो जाता है। अतः उक्त कर्मणिप्रयोगात्मक वाक्य में जो 'परिणम्यते' यह धातुरूप पाया जाता है वह परद्रव्य प्रयोजक होनेसे णिजन्तरूप है यह स्पष्ट हो जाता है। 'परिणम्यते' यह कर्मणि भी है और णिजन्त का कर्मणिरूप भी ऐसा हि होता है। उसका णिजन्तरूपत्व 'परद्रव्येण' इस तृतीयान्त रूप से सिद्ध हो जाता हं। अतः यह रूप णिजर्थ—प्रयोजकार्थ का प्रतिपादक हं इस बातको स्वीकार करना पडता हं। 'परिणम्यते' इस रूप को प्रयोजक का रूप न मानना हो तो न मानो; किंतु अर्थवशात् उस रूप को अन्तर्भावितण्यर्थ मानना होगा; क्यों कि उसके बिना वाक्यार्थ ठीक बैठता हि नहीं।

णिच् का अर्थ क्या है ? द्रव्य परिणत होता है और परद्रव्य उसका प्रयोजक होता है। आचार्यप्रवर श्रीपूज्यपादस्वामी ने भी अपने सर्वार्थसिद्धिग्रंथ में 'को णिजर्थ.? वर्तते द्रव्यपर्यायः। तस्य वर्तयिता कालः' इन वाक्यों के द्वारा वही भाव प्रकट किया है। कालद्रव्य के समान पुद्गलद्रव्य भी अचेतन हि होता है। कालद्रव्य अचेतन होनेपर भी जिसप्रकार द्रव्यपरिणति का प्रयोजक अर्थात् निमित्तकर्ता हो सकता है, उसीप्रकार पौद्गलिक द्रव्यकर्म भी अचेतन होने से चेतनद्रव्य के समान प्रेरक न होनेपर भी जीवद्रव्य की विभावरूप परिणति का प्रयोजक—निमित्तकर्ता हो सकता है। निमित्त होने के लिए द्रव्य का चेतनत्व आवश्यक है ऐसा नहीं—अचेतन द्रव्य भी निमित्तकर्ता हो सकता है; क्यों कि निमित्त का कार्य है परिणमनाभिमुख द्रव्य की शक्ति को प्रबोधित—उत्तेजित करना। निमित्त चाहे चेतन हो या अचेतन वह सिर्फ उपादानभूतद्रव्य की पारिणामिकी शक्ति को प्रबोधित करता है—अधिक कुछ नहीं कर सकता। इस बलाधायकत्व के कारण से अचेतन द्रव्य को भी जैनेन्द्रमहावृत्तिकार आचार्य अभयनन्दि ने उपचार से प्रेरक कहा है। 'प्रदीपः अध्यापयति' इस व्याकरणशास्त्र के उदाहरण में प्रदीप प्रेरक न होनेपर भी उसको अध्यापक कहा है। वस्तुतः प्रदीप अपने प्रकाश से अध्ययन करनेवाले की अध्ययनशक्ति को व्यक्त होने के लिए सिर्फ प्रबोधित करता है—अध्ययन करनेवाले को चेतन अध्यापक के समान प्रेरित नहीं करता है तो भी उसे प्रयोजककर्ता कहा है। अतः निमित्तभूत द्रव्य अचेतन होने से प्रेरक न होनेपर भी उसके बलाधायकत्व के कारण उसका निमित्तत्व किसी प्रकार से बाधित नहीं होता। शुद्ध स्फटिकपाषाण के समान शुद्धनय की दृष्टि से आत्मा स्वयं शुद्ध होनेसे और रागादिरूपविभावात्मक परिणति का कारणभूत अज्ञान का उसमें अभाव होने से वह रागादिविभावरूप से स्वयं परिणत नहीं होती, फिर भले हि वह परिणामस्वभाववाली हो। कर्मरूप से परिणत हुए पुद्गलद्रव्यरूप परद्रव्य में जीव को रागादिरूप से परिणत करनेकी सामर्थ्य है। उस सामर्थ्य से वह द्रव्यकर्म रागादिभाव से युक्त कहा गया है। आचार्य जयसेनजी ने अपनी समयसार की तात्पर्यवृत्तिनामक टीका में 'भावकर्म द्विधा भवति, जीवगतं पुद्गलकर्मगतं च। तथाहि—भावक्रोधादिव्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते, पुद्गलपिण्डशक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतम्।' [स. सा. ता. वृ., नि. सा स., पृ० २७१] इस प्रकार पुद्गलकर्म की जीव को विभावरूप से परिणत करने की शक्ति को भावकर्म कहा है। अतः वह कर्मपुद्गलरूप परद्रव्य जीव को रागादिरूप से परिणत करने की शक्ति से युक्त होने से वह स्वयं उस शक्ति का आश्रय होनेसे स्वयं आश्रयरूप से उस शक्ति का कारण होता है। ऐसे कर्मपुद्गलरूप परद्रव्य से आत्मा अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होनेवाली होनेपर हि उस परद्रव्य के द्वारा हि रागादिविभावरूप से परिणत की जाती है। इसप्रकार का वस्तु का स्वभाव है।

'यह आत्मा अनादिकाल से अज्ञानी बनी हुई है। अतः अज्ञानभाव भी परद्रव्यकृत कैसे हो सकता है ?' इस प्रकार की एक शंका उपस्थित हो जाती है। इस शंका का समाधान निम्नप्रकार है। जीव का अज्ञान नष्ट

होनेवाला होनेसे वह जीव का स्वाभाविकभाव नहीं कहा जा सकता। जो भाव स्वाभाविक होता है वह यावद्द्रव्य-भावी होता है। ज्ञान जीव का स्वाभाविकभाव है; फिर भले हि वह जीव की अशुद्ध अवस्था में विभावरूप से परिणत होता हो। अज्ञानभाव यावद्द्रव्यभावी न होनेसे और शुद्धज्ञान के विपरीत स्वरूपवाला होनेसे कादाचित्क और विभावरूप हि है और वह कादाचित्क और विभावभावरूप होनेसे परद्रव्यरूपनिमित्तजनित है। जीव और कर्म का संश्लेष–संयोगसंबंध अनादिकाल से चला आया है यह अभिप्राय सभी जिनानुयायिओं को अभिप्रेत है। अतः जीव का अज्ञानभाव अनादि होनेपर भी सान्त होनेसे विभावभावात्मक होनेके कारण निमित्तभूत द्रव्यकर्म-रूप परद्रव्यकृत हि है–वह स्वाभाविकभाव नहीं है।

दूसरा दृष्टान्त सूर्यकान्तमणि का दिया हुआ है। सूर्यकान्तमणि में अग्निरूप से परिणत होने की शक्ति है; किंतु वह शक्ति सूर्यकिरणरूप निमित्त से व्यक्त होती है। आत्मद्रव्य परिणमनशील होनेसे वह विभावरूप से भी परिणत हो सकता है; किंतु विभावरूप से परिणत होने में उसे कर्मपुद्गलरूप परद्रव्य की शक्ति की व्यक्ति की अर्थात् उदयरूप परिणति की अपेक्षा होती है–उसके अभाव में वह क्रोधाद्यात्मकविभावभावरूप से परिणत नहीं हो सकता।

अतः जीव की विभावभावात्मक परिणति का कर्मोदय प्रयोजक–निमित्तकारण होनेसे कर्मपुद्गलरूप निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता। उसको सर्वथा अकिंचित्कर माननेसे उसका प्रयोजकत्व–निमित्तकारणत्व हि नष्ट हो जाता है। अप्रयोजक होनेपर भी अर्थात् अकिंचित्कर होनेपर भी यदि उसको निमित्तकारण माना तो कर्मभाव को न प्राप्त हुए अत एव अकिंचित्कर पुद्गलों को जीव की विभावपरिणति का निमित्तकारण क्यों न माना जाय? अतः किसी हालत में भी कर्मपुद्गलरूप परद्रव्य को सर्वथा अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता। वह उपादान के समान अर्थात् उपादान जिसप्रकार अपने उपादेय को आदि, मध्य और अन्त में व्यापता है उसीप्रकार उपादेय का व्यापक न होनेसे कथंचित् अकिंचित्कर है–स्यात् अकिंचित्कर है और उपादान की विभावभावात्मक उपादेयरूप परिणति का प्रयोजक–निमित्तकारण होनेसे कथंचित् अकिंचित्कर नहीं है–स्यात् अकिंचित्कर नहीं है। आगे के भंग स्याद्वादविद्या के आधार से जान लेना।

यह विवेचन निमित्त को जो मानते नहीं उनके लिए तो है हि; किन्तु जो निमित्त को स्वीकार करके उसको सर्वथा अकिंचित्कर मानते हें उनके लिए भी है; क्यों कि निमित्त को स्वीकार कर के उसको अकिंचित्कर मानना निमित्त को न मानने के समान हि है। मान लीजिए कि न्यायशास्त्र का प्रतिपादन निमित्त को न माननेवालों के लिए हि हे–निमित्त को स्वीकार करनेवालों के लिए नहीं; किन्तु समयसार में भी जो निमित्त के स्वरूप का और उसके कार्य का विवेचन यत्रतत्र पाया जाता हे क्या वह भी निमित्त को न माननेवालों के लिए हि है? क्या इस ग्रंथ की निर्मिति निमित्त को न माननेवालों के लिए हि की गई है, अज्ञानी जीवों के लिए नहीं? इस ग्रंथ की भी निर्मिति न्यायशास्त्र के ढगपर हि की गयी है। निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर मानना वस्तुतः आगमवचनों का विरोध करना हे; क्यों कि ऐसा मानने से कर्मसिद्धान्त के ग्रंथों की व्यवस्था टूट जाती है–निमित्त को कथंचित् अकिंचित्कर और कथंचित् किंचित्कर मानने से नहीं। शास्त्रों में निमित्त को अकिंचित्कर इस लिए माना है कि वह उपादेय को–कार्य को उपादान जिसप्रकार आदि-मध्य-अन्त में व्यापता है उसप्रकार व्यापता नहीं। इस कारण से हि निमित्त का कर्तृत्व व्यवहारनयाश्रित है। निमित्त उपादान के समान उपादान की उपादेयरूप से परिणत होने की क्रिया का आश्रय न होनेसे उसका कर्तृत्व उपचरित है–मुख्य नहीं है। अस्तु।

प्रत्येक कार्य–परिणाम, वह चाहे स्वभावपरिणामस्वरूप क्यों न हो, उपादान और सहकारिसामग्री का सद्भाव होनेपर हि अस्तिरूप होता है– उनमें से एक का भी अभाव होनेपर परिणाम अस्तिरूप नहीं होता। परिणमनाभि-मुख मृत्तिका का अस्तित्व होनेपर भी यदि कुम्भकारादिरूप सहकारीसामग्री का अभाव हुआ या सहकारीसामग्री का सद्भाव होनेपर भी यदि उपादान का या उसकी परिणतियोग्यता का अभाव हुआ तो क्या मृत्तिका घटरूप से परिणत होती हुई कहीं देखी जाती हे? अष्टसहस्री में 'सर्वस्य कार्यस्य–उपादान–सहकारिसामग्रीजन्यतया

उपगमात् तथा प्रतीतेश्च' (पृ० ५१) [सभी कार्य उपादान और सहकारिसामग्री से उत्पन्न होते हैं ऐसा माना जानेसे और उसप्रकार की प्रतीति–अनुभव होनेसे] इस हेतु के द्वारा यही अभिप्राय व्यक्त किया है। उचित उपादान और उचित निमित्त की आवश्यकता होती है। कंकरीली मिट्टी से या लकडी से मृद्घटरूप परिणाम उत्पन्न नहीं हो पाता फिर भले हि सहकारिसामग्री उपस्थित हो। उसीप्रकार लोहकारादिसहकारिसामग्री से भी मृत्तिका का घटरूप परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकता। जीव का विभावपरिणाम अशुद्धात्मरूप या अज्ञानरूप उपादान और कर्मोदयादिरूप सहकारिसामग्री–निमित्तकारण से प्रादुर्भूत होता है। इस परिणमन की सहकारिसामग्री में कालद्रव्य भी अन्तर्भूत है; क्यों कि वर्तना, क्रिया आदि कालद्रव्य के अभाव में नहीं होते। द्रव्य का परिणमन चाहे स्वभावरूप या विभावरूप हो वह कालद्रव्य के विना होता हि नहीं। परिणतिमात्र का निमित्त कालद्रव्य होता है और उस परिणति की विभावरूपता का निमित्त कर्मोदय होता है। जीव का जो स्वभावपरिणमन होता है वह शुद्धात्मरूप उपादान और कालद्रव्यरूप सहकारिकारण से प्रादुर्भूत होता है। कर्मोदयादिरूपनिमित्तकारणजन्य जो आत्मा का परिणाम होता है वह विभावरूप होता है और कालद्रव्यरूपनिमित्तकारण से शुद्ध आत्मा का जो परिणाम होता है वह स्वभावरूप होता है।

प्रकृत विषय में 'विकारी–परिणामी निमित्तकारण से प्रादुर्भूत नहीं होता–वह निमित्त से उत्पन्न होता है ऐसा कहना सिर्फ व्यवहारकथन है। एक द्रव्य अपने गुण–पर्याय की सीमा में समाप्त हो जाता है–वह दूसरे से उत्पन्न होता है ऐसा कहना परमार्थ सत्य नहीं है' ऐसा कहा जाता है और अपने इस अभिप्राय के समर्थन के लिये समयसार की ३४९ से ३५५ तक की गाथाओं और २१० से २१४ तक के कलशों की ओर अंगुलिनिर्देश किया जाता है। विकारी अर्थात् परिणामी द्रव्य निमित्त से उत्पन्न होता है ऐसा कहना वस्तुतः पागलपन के सिवा और क्या हो सकता है; क्यों कि वह अनादिनिधन होनेसे दूसरे से कदापि उत्पन्न नहीं होता। हर एक द्रव्य परिणमनशील अर्थात् उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है–वह कूटस्थनित्य नहीं है। यदि उसको कूटस्थनित्य माना तो उसका परिणमन हि नहीं होगा; फिर स्वभाव और विभाव परिणामों की बात हि क्या! यद्यपि विकारी द्रव्य निमित्तकारण से उत्पन्न नहीं होते तो भी उनमें हि प्रादुर्भूत होनेवाले उसके विकार–परिणाम निमित्तकारणजन्य नहीं होते ऐसा कहना प्रतीति के और आगम के विरुद्ध है। द्रव्य के परिणामों का निमित्तकर्तृकत्व व्यवहारनयाश्रित है–निश्चयनयाश्रित नहीं यह अभिप्राय सर्वथा ग्राह्य है; क्यों कि निमित्त उपादान के परिणाम को उपादान के समान आदि–मध्य–अन्त में व्यापता नहीं और उसी कारण से उपादान का परिणाम और निमित्त इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता। अपने अभिप्राय के समर्थन के लिए आक्षेपक ने जिन गाथाओं और कलशों की ओर अंगुलिनिर्देश किया है उनको पेश करके उनपर विचार किया जाना आवश्यक है।

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमीक्ष्यते
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमीक्ष्यते ।। २१० ।।

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ।। ३४९ ।।
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ।। ३५० ।।
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिण्हइ ण सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणाणि उ गिण्हइ ण य तम्मओ होइ ।। ३५१ ।।

जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५२ ॥

एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होइ ॥ ३५३ ॥

जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥ ३५४ ॥

जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होइ ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥ ३५५ ॥

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुण्डलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, हस्तकुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुण्डलादिकर्मफलं भुङ्क्ते च, न तु अनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः; तथात्मापि पुण्यपापादि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, कायवाङ्मनोभिः पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, सुखदुःखादि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुङ्क्ते च, न तु अनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः । तथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुः चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुङ्क्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः; तथात्मापि चिकीर्षुः चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुङ्क्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः ।

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥ २११ ॥

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥ २१२

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ? ॥ २१३ ॥

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥ २१४॥

कलशार्थ– सिर्फ व्यवहारिकदृष्टि से हि अर्थात् सिर्फ व्यवहारनय की दृष्टि से हि कर्ता और कर्म विभिन्न देखे जाते हैं; निश्चय नय की दृष्टि से यदि वस्तु का विचार किया गया तो कर्ता और कर्म सदा एकवस्तुरूप देखे जाते हैं॥ २१०॥

खुलासा– दो भिन्न द्रव्यों में जो कर्तृकर्मभाव देखा जाता है वह व्यवहारनयाश्रित है; क्यों कि उनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता। अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का संभव तब होता है जब कि कर्ता कर्म को संपूर्णरूप से व्यापता है। जब कर्ता निमित्तमात्ररूप होता है और नैमत्तिकभूत कर्म अन्य द्रव्यरूप उपादान का परिणामरूप होता है तब उनमें होनेवाला कर्तृकर्मभाव उनमें बाह्यव्याप्यव्यापकभाव होनेपर भी अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव न होनेसे उनमें होनेवाला कर्तृकर्मभाव व्यवहारनयाश्रित होता है। एक वस्तु की दो पर्यायों में से पूर्वपर्याय की कर्तृसंज्ञा और उत्तरपर्याय की कर्मसंज्ञा व्यवहारनयाश्रित है; क्यों कि पूर्वपर्याय का असाधारणस्वरूप उत्तरपर्याय में नहीं पाया जाता। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान का निमित्तकारण इसलिए कहा गया है कि मतिज्ञान का असाधारणस्वरूप श्रुतज्ञान में नहीं पाया जाता। अतः मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव न होनेसे उनमें होनेवाला कर्तृकर्मभाव निमित्तनैमत्तिकभावमात्र से हि होता है। वस्तुतः वस्तुस्वरूप का विचार करनेपर मालुम होता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आत्मा से अभिन्न ऐसे ज्ञान सामान्य के परिणाम होनेसे आत्मद्रव्य से अभिन्न होते हैं। अतः ज्ञानसामान्य की अपेक्षा से और जीवरूपता के कारण उनका जीव से अभेद होनेकी दृष्टि से दोनों एकस्वरूप हैं। इस दृष्टि से पूर्वपर्यायसहित द्रव्य को उत्तरपर्याय का उपादानकारण कहा गया है। दूसरी बात यह है कि उपादान और उपादेय में से उपादान की कर्तृसंज्ञा और उपादेय की कर्मसंज्ञा उपादान और उपादेय वस्तुतः अभिन्न होनेपर भी उनको उपचार से भिन्न समझकर की जानेसे उनकी ये संज्ञाएं व्यवहारनयाश्रित हैं। अतः उपादानकर्ता और उपादेयरूप कर्म निश्चयनय की दृष्टि से एकवस्तुरूप हैं। सारांश, उपादानकर्ता और उपादेयरूप कर्म उनमें जो भेद बताया जाता है वह सिर्फ व्यवहारनय की दृष्टि से हि बताया जाता है। दो वस्तुओं में जो कर्तृकर्मभाव बताया जाता है वह भी व्यवहारनयाश्रित है; क्यों कि उनमें उपादान और उपादेय इनमें जिस प्रकार अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है उसप्रकार अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता, फिर भले हि उनमें बाह्यव्याप्यव्यापकभाव हो।

टीकार्थ– जिसप्रकार सुवर्णकारादि शिल्पकार परद्रव्य का परिणामरूप कुण्डलादि कर्म (कार्य) को करता है, परद्रव्य के परिणामस्वरूप हथौडा आदि उपकारणों से–साधनों से (कुण्डलादिपरिणामरूप कर्म को) करता है, परद्रव्य के परिणामस्वरूप हथौडा आदि उपकारणों को ग्रहण करता है, कुण्डलादि कार्य के फलभूत परद्रव्यपरिणामस्वरूप ग्राम आदि को भोगता है किंतु कुण्डल, हथौडा और ग्राम ये तीन द्रव्य और सुवर्णकारादि शिल्पकार एक अर्थात् अभिन्न द्रव्य न होनेसे उन तीनों से उसकी भिन्नता होने पर वह शिल्पकार कुण्डलादिकार्यरूप से परिणत नहीं होता–अपने स्वभाव को त्याग कर कुण्डलादि के स्वरूप को धारण नहीं करता। उस कारण से शिल्पकार और कुण्डलादि कार्य इन में सिर्फ निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टि से हि शिल्पकार कर्ता है और कुण्डलादि कर्म है ऐसा कर्तृकर्मव्यवहार होता है और शिल्पकार भोक्ता है और कुण्डलादिकर्म का फलरूप ग्रामादि भोग्य हैं ऐसा भोक्तृभोग्यव्यवहार होता है। उसप्रकार आत्मा भी पुद्‌गलद्रव्यपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्मरूप पुण्यपापादिरूप कर्म करती है, शरीर-द्रव्यवाक्-द्रव्यमनोरूप पुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मक उपकरणों से करता है, पुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मक शरीर-द्रव्यवाक्-द्रव्यमनोरूप करणों को–उपकरणों को स्वीकार करता है–उनके साथ संश्लिष्टावस्था को प्राप्त होता है, पुण्यपापादिकर्मों का पुद्‌गलद्रव्य के परिणामरूप सुखदुःखात्मक फल को भोगता है; किंतु पुण्यपापादिरूप द्रव्यकर्म, शरीर-द्रव्यवाक्-द्रव्यमन, पुद्‌गलपरिणामात्मक सुखदुःखादि

और आत्मा एक अभिन्न द्रव्य न होनेसे उनसे आत्मा की भिन्नता होनेपर वह आत्मा पुण्यपापादिमय नहीं बनती- अपने स्वभाव को त्याग कर पुद्गलपरिणामात्मक पुण्यपापादि के स्वरूप को धारण नहीं करती। उस कारण से आत्मा कर्ता और पुण्यपापादि कर्म हैं ऐसा कर्तृकर्मव्यवहार होता है और आत्मा भोक्ता है, पुण्यपापादिरूप द्रव्यकर्म का पुद्गलपरिणामरूप सुखदुःखादि भोग्य है ऐसा भोक्तृभोग्यव्यवहार होता है अर्थात् कर्तृकर्मत्व और भोक्तृभोग्यत्व व्यवहारनयाश्रित है–निश्चयनयाश्रित नहीं और जिसप्रकार वही शिल्पकार कार्य करनेकी इच्छा करता हुआ अपने परिणामस्वरूप हस्तसंचालनात्मक क्रियारूप कर्म–परिणाम करता है और स्वपरिणामात्मक क्रियारूप कर्म का सुखदुःखरूप फल भोगता है। क्रियारूप कर्म और दुःखरूप फल ये दोनों शिल्पकार के परिणाम होनेसे और परिणाम और परिणामी इनमें अभेद होनेसे कर्म, दुःखरूप फल और शिल्पी एक अभिन्न द्रव्य होनेसे- भिन्न न होनेके कारण वह क्रियादिपरिणाममय होता है–क्रियादिपरिणाम के रूप से परिणत होता है। उसकारण शिल्पकार और उसके क्रियादिरूप परिणाम इनमें परिणामपरिणामिभाव की दृष्टि से शिल्पकार कर्ता है और उसका शरीरसंचालनादिक्रियारूप परिणाम कर्म है ऐसा परिणाम और परिणामी इनके विषय में कर्तृकर्मव्यवहार होता है और शिल्पकार भोक्ता है और दुःख उसका भोग्य है ऐसा भोक्तृभोग्यव्यवहार होता है। उसीप्रकार कर्म करनेकी इच्छा करनेवाली आत्मा भी अपने परिणामस्वरूप क्रियात्मक कर्म करती है, आत्मपरिणामस्वरूप कर्म के दुःखरूप फल का अनुभव करती है और क्रियात्मक कर्म तथा आत्मद्रव्य एक अर्थात् अभिन्न द्रव्य होनेसे अर्थात् भिन्न न होनेसे उस क्रियात्मक कर्म से अभिन्न होनेके कारण क्रियात्मक परिणामरूप से परिणत हो जाती है। उसकारण परिणामपरिणामिभाव से आत्मा कर्ता है और क्रियात्मक परिणति उसका कर्म है ऐसा परिणाम और परिणामी के विषय में हि कर्तृकर्मव्यवहार होता है और आत्मा भोक्ता है और क्रियात्मक कर्म का फल भोग्य है ऐसा भोक्तृभोग्यव्यवहार होता है।

अब टीका का खुलासा किया जाता है। सुवर्णकार और सुवर्ण के कुण्डलादिरूप परिणाम विभिन्न द्रव्य होनेसे उनमें उपादानोपादेयभाव या परिणामपरिणामिभाव नहीं है। उन दोनो की विभिन्नता के कारण सुवर्णकार का अपने असाधारणस्वरूप से कुण्डलादि में अन्वय न होनेसे कुण्डलादि वस्तुतः सुवर्णकार का परिणाम नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में सुवर्णकार को कुण्डलादि का कर्ता कहा गया है। सुवर्णकार और कुण्डलादि में वास्तव परिणामपरिणामीभाव न होनेसे सुवर्णकार का कर्तृत्व वास्तव न होनेसे और कुण्डलादि सुवर्णकार का वास्तव परिणाम न होनेसे सुवर्णकार का कर्तृत्व और कुण्डलादि का कर्मत्व व्यवहारनयाश्रित है–निश्चयनयाश्रित नहीं है। अतः उनके कर्तृकर्मभाव का व्यवहार निमित्तनैमित्तिकभावमात्र से हि है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि उनका कर्तृकर्मत्व व्यवहारनयाश्रित है और यद्यपि उनमें वास्तव परिणामपरिणामिभाव नहीं है तो भी कुण्डलादिरूप सुवर्णादिपरिणति का विशिष्टाकारत्व सुवर्णकारादिकारणक है या नहीं? यदि सुवर्णकारादिनिमित्तक है ऐसा मान लिया तो उपादान के परिणामपर निमित्त का कुछ थोडासा असर जरूर होता है इस बात को स्वीकार करना होगा। यदि सुवर्णकारादिनिमित्तकारणक नहीं है ऐसा मान लिया तो सुवर्णादिरूप उपादान सुवर्णकार की हस्तसंचालनादिक्रियात्मक परिणति के अभाव में स्वयमेव कुण्डलादिरूप से परिणत होता है ऐसा मानना होगा जो कि प्रतीति के विरुद्ध अत एव असंभव है। सुवर्णकारादि का कर्तृत्व सुवर्णादिरूप उपादान के कर्तृत्व के समान वास्तव न होनेसे कुण्डलादिरूप सुवर्णपरिणति वास्तव है या नहीं? यदि वास्तव है तो निमित्त का उपादान की परिणतिपर होनेवाला असर भी एवंभूतनय की अपेक्षा से वास्तव है ऐसा मानना होगा। ऐसा मानने से निमित्त का अकिंचित्करत्व नष्ट हो जाता है; क्यों कि वह मान्यता निमित्त के अकिंचित्करत्व के विरुद्ध पडती है। यदि सुवर्णादि की कुण्डलादिरूप परिणति एवम्भूतनय की अपेक्षा से भी वास्तव नहीं है ऐसा माना तो व्यवहार का लोप हो जायगा और एवम्भूतनय का विषय भी नष्ट हो जायगा। कुण्डलादिगत सुवर्णादिद्रव्य अनादिनिधन होनेसे यद्यपि सुवर्णकारादि उसका जनक नही हो सकता तो भी उसकी कुण्डलादिरूप परिणति की विशिष्ट आकृति का जनकनिमित्त होनेसे आकृति की अपेक्षा से वह अवश्यमेव जनक है। हां, यह बात ठीक है कि

कुण्डलादि की वह विशिष्ट आकृति सुवर्णादि की है–सुवर्णकारादि की नहीं; किंतु सुवर्णकारादि की शरीर और मानस क्रियारूप परिणति के अभाव में वह अस्तिरूप नहीं बन सकती। इस विशिष्ट आकृति का अस्तिरूप बनना सुवर्णकारादि के ऊपर निर्भर होनेसे उसे निमित्तकर्ता या प्रयोजककर्ता कहा जाता है, फिर भले हि वह उपादान के समान वास्तव कर्ता न हो। निमित्त के इस वास्तव कर्तृत्व का अभाव होनेसे हि उसे उपचरित कर्ता या व्यवहारनय की दृष्टि से कर्ता कहते हे। इसप्रकार उपचार से निमित्त को कर्ता और उपादान के परिणाम को नैमित्तिक या उस निमित्त का कर्म कहनेमें किसी प्रकार से बाधा उपस्थित नहीं होती।

हथौडा आदि उपकरण लोहा आदि से बने हुए होनेसे लोह आदि आत्मभिन्न द्रव्य के परिणाम हे। यद्यपि सुवर्णकारादि इन हथौडा आदि उपकरणों को कुण्डलादिरूप कार्य की निर्मिति के लिए उपयोग में लेता है तो भी सुवर्णकारादि और हथौडा आदि उपकरण–साधन विभिन्न द्रव्य होनेसे सुवर्णकारादि हथौडादिरूप परद्रव्य के रूप से परिणत नहीं होता; क्यों कि परद्रव्य के स्वरूप से परिणत होनेके लिए अपने स्वभाव का त्याग और परद्रव्य के स्वरूप को स्वीकार करना पडेगा। कोनसा भी द्रव्य अपने स्वभाव का जब सर्वथा त्याग कर हि नहीं सकता तब वह परद्रव्य के स्वरूप को धारण हि कैसे कर सकता है? यदि द्रव्य अपने स्वभाव को छोडता भी नहीं और परद्रव्य के स्वभाव को स्वीकार भी कर सकता है ऐसा मान लिया गया तो अग्नि दाहस्वभाववाली भी हे और शीतस्वभाववाली भी है ऐसा क्यों न माना जाय? सुवर्णकारादि परद्रव्य के परिणामस्वरूप हथौडा आदि उपकरणों को ग्रहण करता है। जब वह हथौडा आदि भिन्नजातीय द्रव्य से बने हुए उपकरणों को–साधनों को ग्रहण करता है तब उन दोनों में संयोगमात्ररूप संबंध होनेसे सुवर्णकारादि हथौडा आदि परद्रव्य के स्वरूप से परिणत नहीं होता; क्यों कि वे दोनों अन्योन्यभिन्न होनेसे वह उन उपकरणो से भिन्न होता है। कुण्डलादिकार्य के करने से करनेवाले से प्राप्त हुए परद्रव्यपरिणामस्वरूप ग्राम आदि का वह सुवर्णकारादि भोग करता है अर्थात् ग्रामादि के आय से अशनपानादिसामग्री का संकलन करके उस अशनपानादि का अनुभव करता है। कुण्डलादिकार्य का फलरूप ग्रामादि सुवर्णकारादि से भिन्न होनेसे वह परद्रव्यपरिणामरूप ग्रामादि के स्वरूप से परिणत नहीं होता। अतः सुवर्णकारादि और कुण्डलादि कार्य इन मे कर्तृकर्मव्यवहार होता है वह सिर्फ निमित्तनैमित्तिकभाव से हि होता है अर्थात् सुवर्णकार, हथौडा आदि निमित्त अर्थात् सहकारी होनेसे और सौवर्णकुण्डलादि नैमित्तिक अर्थात् सुवर्ण का कार्य होनेसे हि होता है–परिणामपरिणामिभाव से नहीं होता। उसीप्रकार सुवर्णकारादि और ग्रामादिरूप फल इन मे जो भोक्तृभोग्यव्यवहार होता है अर्थात् सुवर्णकारादि को जो भोक्ता और ग्रामादिरूप फल को जो भोग्य कहा जाता हे वह सिर्फ निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टि से हि कहा जाता है; क्यों कि सुवर्णकारादि निमित्त होता है और ग्रामादिरूप फल नैमित्तिक होता है।

इस प्रकार से दृष्टान्त का खुलासा किया जानेपर दार्ष्टान्तिक का खुलासा किया जाता हे। सुवर्णकारादि के समान आत्मा भी द्रव्यपुण्य-द्रव्यपाप आदि कर्मरूप पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म करता है; किंतु चेतन आत्मा और पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप शरीर, द्रव्यवाक् और द्रव्यमन इन करणों के (इंद्रियों के) द्वारा पुण्यपापादिरूप कर्म करती है तो भी जिस प्रकार सुवर्णकारादि हथौडा आदि उपकरणो के–साधनो के द्वारा कुण्डलादिकार्य को करता हे उसीप्रकार आत्मा और शरीरादि अन्योन्यभिन्न होनेसे उन अचेतन शरीरादि से आत्मा भिन्न होनेसे वह उनके द्वारा कर्म करती हुई भी उनके स्वरूप से परिणत नहीं होती। जिसप्रकार सुवर्णकारादि हथौडा आदि साधनों को ग्रहण करता है उसीप्रकार आत्मा नामकर्म के उदय से बने हुए शरीर, द्रव्यवाक् और द्रव्यमन इनरूप पुद्गल के परिणामस्वरूप कारणों (साधनों) को ग्रहण करती है–उनके साथ संयोग संबंध को प्राप्त होती हे तो भी आत्मा और अचेतन शरीरादि परस्परभिन्न होनेसे उन शरीरादि से भिन्न होनेके कारण उनके स्वरूप से परिणत नहीं होती। जिसप्रकार सुवर्णकारादि कुण्डलादिकार्य के फलरूप ग्राम आदि को भोगता है–उसके आय से संकलित किये गये अशनपानादि के साथ संबंध को प्राप्त होकर सुखादिरूप से परिणत होता है उसीप्रकार आत्मा पुद्गल के परिणामस्वरूप कर्म के सुखदुःखादि देनेकी जो शक्ति उसरूप फल को भोगती है–

अनुभवती है; किंतु पुद्गलपरिणामस्वरूप सुखदुःखादि के रूप से परिणत नहीं होती; क्यों कि चेतन आत्मा और पौद्गलिककर्म से अभिन्न ऐसी सुखदुःख देनेवाली अर्थात् आत्मा को सुखदुःखरूप से परिणत होते हुए सहायक बननेवाली पुद्गलकर्म की अचेतन शक्ति अन्योन्यभिन्न होनेके कारण उस सुखदुःखादि से वह आत्मा भिन्न होती है। उसीकारण से अशुद्ध आत्मा को कर्ता और पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यकर्म को कर्म ऐसा जो कहा जाता है वह उन में होनेवाले सिर्फ निमित्तनैमित्तिकभाव से हि कहा जाता है; क्यों कि अशुद्ध आत्मा पुद्गलद्रव्य की कर्मरूप परिणति का अपनी विभावपरिणति के द्वारा सिर्फ निमित्त होती है और पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्मरूप परिणति आत्मा के निमित्त से होनेवाली होनेसे नैमित्तिक होती है। उसीप्रकार अशुद्ध आत्मा सुखदुःखादि देनेकी पुद्गल की शक्ति का अनुभव करनेवाली—उस शक्ति के कारण स्वयं सुखदुःखादिरूप विभावपरिणामों के रूप से परिणत होनेवाली होनेसे जो भोक्ता कही जाती है और कर्मपुद्गल की सुखदुःखादिजननशक्ति जो भोग्य कही जाती है वह आत्मा और सुखदुःखादिरूप परिणति इनमें सिर्फ निमित्तनैमित्तिकभाव होनेसे हि।

इस उद्धरण से निमित्त का सर्वथा अकिंचित्करत्व कैसे सिद्ध हो सकता है? सुवर्णकारादि अकिंचित्कर होनेपर सुवर्णादिरूप उपादान कुण्डलादिरूप से परिणत होता है या वह किंचित्कर होनेपर? यदि अकिंचित्कर होनेपर सुवर्णादि उपादान कुण्डलादि के रूप से परिणत होता है ऐसा माना तो सुवर्णकारादिरूप निमित्त का उल्लेख करने की आवश्यकता टीकाकार को क्यों जंची? सुवर्णकारादि निमित्त अकिंचित्कर होनेपर भी सुवर्णादि उपादान का परिणाम कुण्डलादिरूप विशिष्ट आकार को धारण करता है ऐसा माननेपर सुवर्णादि अपनेआप कुण्डलादि के विशिष्ट आकार से परिणत होता है ऐसा मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। ऐसा मानने से सुवर्णकारादि का व्यवसाय नष्ट हो जायगा और कुण्डलादि अलंकार बनवानेवाले को सुवर्णकारादि के पास पहुंचने की आवश्यकता महसूस नहीं होगी। यदि सुवर्णादि अपनेआप कुण्डलादिरूप से परिणत होने लगे तो कुण्डलादिरूप से हि परिणत होने का सुवर्णादि का स्वभाव हि बन जानेसे सुवर्णादि के परिणाम कुण्डलादिरूप हि बन जायंगे और सुवर्णादि कुण्डलादिरूप हि बना रहेगा। अतः दूसरा पक्ष हि मान्य करना पडेगा जिससे निमित्त की किंचित्करता सिद्ध हो जायगी। इसप्रकार द्रव्यकर्मरूप या भावकर्मरूप निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर माना तो अशुद्ध आत्मा की विभावपरिणति के अभाव में कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल द्रव्यकर्मरूप से स्वयमेव परिणत हो जायंगे और अल्पज्ञानी आत्मा पुद्गलद्रव्य की कर्मरूप परिणति के अभाव में क्रोधाद्यात्मकविभावरूप से परिणत हो जायगी। ऐसी अवस्था में अल्पज्ञानी आत्मा के संसारावस्था का बेडा कदापि पार नहीं होगा। अतः निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता। इस उद्धरण से निमित्त की अकिंचित्करता की सिद्धि न होकर उसकी किंचित्करता हि सिद्ध हो जाती है। अतः आक्षेपक के द्वारा पेश किया जानेवाला यह प्रमाण उसके पक्ष का हि व्याघात करता है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

वही शिल्पी सुवर्णकार (सुनार) कुण्डलादि के आकार के अलंकार बनाने की इच्छा से जब आत्म-परिणामरूप क्रिया करता है और उस क्रियात्मक कर्म का आत्मपरिणामरूप दुःखसंज्ञक फल जब भोगता है तब वह शिल्पकार सुनार और उसका क्रियारूप परिणाम इन दोनों में वास्तव भेद न होनेसे दोनों एकरूप होते हैं। कहने का भाव यह है कि सुवर्णकार से कुण्डलादिरूप अलंकार बनाने की क्रिया भिन्न न होनेसे सुनार और उसकी क्रिया कथंचित् एकद्रव्यरूप हैं—उनमें सर्वथा भेद नहीं है। उस कारण शिल्पकार सुवर्णकारादि परिणामी होनेसे और क्रियारूप कर्म उससे अभिन्न उसका परिणाम होनेसे उस शिल्पकार में हि कर्तृत्व का और कर्मत्व का तथा सुवर्णकार परिणामस्वरूप क्रियात्मक कर्म के दुःखरूप फल का भोग करनेवाला भोक्ता होने से और स्वपरिणाम-रूप क्रियात्मक कर्म का दुःखरूप फल भोग्य होनेसे उस शिल्पकार सुवर्णकार में भोक्तृत्व और भोग्यत्व का निश्चय हो जाता है; उसीप्रकार क्रिया करने की इच्छा करनेवाली आत्मा भी आत्मपरिणामात्मक क्रियारूप कर्म करती है और क्रियारूप कर्म का आत्मपरिणामात्मक दुःखरूप फल को भोगती है और आत्मरूप परिणामी और क्रियात्मक परिणाम इन में कथंचित् अभेद होनेसे वे दोनों एकद्रव्यरूप होनेके कारण और आत्मरूप भोक्ता और आत्मा की

दुःखरूप परिणति इन में कथंचित् अभेद होनेसे दोनों एक द्रव्यरूप होनेके कारण क्रियारूप कर्म से और आत्म-परिणामभूत दुःख से आत्मा की कथंचित् अभिन्नता होनेसे क्रियामय और दुःखमय बनती है। उस कारण से परिणामी आत्मा कर्ता होनेसे और उससे अभिन्न उसका क्रियारूप परिणाम कर्म होनेसे तथा परिणामी आत्मा भोक्ता होनेसे और उससे अभिन्न उसका दुःखरूप परिणाम भोग्य होनेसे उस आत्मा में हि परिणामपरिणामीभाव से कर्तृकर्मत्व का और भोक्तृभोग्यत्व का निश्चय हो जाता है अर्थात् वही आत्मा कर्ता भी होती है और कर्म भी होती है तथा भोक्ता भी होती है और भोग्य भी होती है ऐसा हो जाता है।

कलशार्थ– निश्चयनय की दृष्टि से (परिणामी कर्ता का) परिणाम हि वस्तुतः कर्म होता है। वह परिणाम परिणामी का हि होता है–परिणामी से भिन्न वस्तु का अर्थात् कूटस्थनित्य वस्तु का नहीं होता। इस संसार में कर्म कर्तृशून्य नहीं होता अर्थात् कर्ता का अभाव होनेपर कर्म का भी अभाव हो जाता है–वह अस्तिरूप नहीं बन पाता और वस्तु की एक रूप से अर्थात् कूटस्थनित्यरूप से स्थिति नहीं होती। उस कारण (परिणामी) वस्तु हि कर्ता बन जाओ ॥ २११ ॥

भावार्थ– निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाय तो विभिन्नस्वभाववाली दो वस्तुओं में कर्तृकर्मभाव होता हि नहीं–वह कर्तृकर्मभाव परिणामी द्रव्य और उसके परिणाम में हि होता है। मृत्तिकोपादानक घट में सुवर्णादिरूप अन्य द्रव्य का स्वरूप से अन्वय न पाया जानेसे सुवर्णादिरूप अन्य वस्तु मृत्तिका से बने हुए घट की कर्ता नहीं हो सकती और मृत्तिका का घटरूप कार्य सुवर्णादि अन्य वस्तु का परिणामरूप कर्म नहीं हो सकता। इस संसार में परिणामी द्रव्यरूप कर्ता का अभाव होनेपर परिणामरूप कर्म अस्तिरूप नही बन सकता। दूसरी बात यह है कि यदि वस्तु परिणमनशील न होकर कूटस्थनित्य हो तो भी उसका कार्यरूप परिणमन नहीं हो सकता। संसार में अपने ज्ञान का विषय बनी हुई सभी वस्तुओं के परिणाम देखे जाते हैं। अतः वे वस्तुएं परिणमनशील हैं–कूटस्थ-नित्य नहीं हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है। क्या वस्तु की एकाकाररूप स्थिति कहींपर किसी के द्वारा देखी गई है? अतः परिणामी वस्तु हि कर्ता बन सकती है–कूटस्थनित्य नहीं। सारांश, परिणामी वस्तु हो तो हि कर्ता (उपादानकर्ता) बनती है और उसका कार्यरूप परिणाम उसका कर्म होता है। वस्तु कूटस्थनित्य हो तो कर्तृकर्मव्यवस्था हि नहीं बन पाती। कूटस्थनित्य वस्तु जब परिणाम के रूप से परिणत हि नही होती अर्थात् परिणमनक्रिया का जब आश्रय हि नहीं बन पाती तब उसका कर्तृत्व हि चला जाता है और उसके कर्तृत्व के चले जानेपर उसके परिणाम का हि अभाव हो जानेसे कर्म का भी अभाव हो जाता है। कर्म का अभाव हो जानेपर वस्तु के कर्तृत्व का भी अभाव हो जाता है। उसीप्रकार परिणामी द्रव्य को परिणाम के रूप से परिणति होते समय सहायक होनेवाली निमित्तभूत वस्तु भी परिणमनशील हि होनी चाहिये–कूटस्थनित्य अर्थात् अपरिणामी नहीं; क्यों कि निमित्तभूत वस्तु भी अपने परिणाम के रूप से परिणत हुए बिना सहकारी नहीं बन सकती। सारांश, वस्तु चाहे उपादानरूप हो चाहे निमित्तभूत हो वह परिणमनशील होनेपर हि उपादान कर्ता या निमित्तकर्ता हो सकती है; क्यों कि परिणमनशीलता के अभाव में और कर्म के अभाव में उसका कर्तृत्व हि नहीं बन पाता। यहांपर ऐसा कहा जा सकता है कि परिणमनशील द्रव्य का कार्यरूप से परिणमन स्वयमेव हो जानेसे उसकी कार्यरूप से परिणति होते समय निमित्त की या तो आवश्यकता नहीं होनी चाहिये या निमित्त विद्यमान हो तो वह अकिंचित्कर होना चाहिये। यह मन्तव्य अविचारितरमणीय है; क्यों कि उपादानभूत द्रव्य स्वयं परिणमनशील होनेपर भी उसकी कार्यरूप से परिणत होनेकी शक्ति निमित्त के अभाव में कदापि व्यक्त नहीं होती। परिणमन शक्ति का आविर्भवन निमित्त का साहाय्य मिलनेपर हि होनेका वस्तु का स्वभाव हि है। स्वभाव तर्क का विषय नहीं बन सकता। 'स्वभावोऽतर्कगोचरः।' ऐसा कहा भी गया है।

कलशार्थ– जिसमें अनंत शक्तियां प्रकट हो रही हैं ऐसी वस्तु यद्यपि अन्य (उपादानभूत) वस्तु के बाहर (अर्थात् उस उपादानभूत वस्तु के स्वभाव को स्वीकार न करते हुए) क्रियारूप से परिणत होती है तो वह वस्तु अन्य वस्तु के विशेष को अर्थात् उसके असाधारणधर्मात्मक स्वरूप को स्वीकार नहीं करती; क्यों कि

सभी वस्तुएं अपने अपने स्वभाव में नियतरूप से स्थिर बनी रहती है ऐसा माना गया है। इस संसार में अपना स्वभाव अर्थात् शुद्धज्ञानघनैकरूप स्वभाव जिसका बाधित-विकृत हुआ है ऐसा होता हुआ यह संसारी जीव मोहाक्रान्त होकर क्यों क्लेश पाता है ? ॥ २१२ ॥

भावार्थ– यह कथन दो वस्तुओं में होनेवाले निमित्तनैमित्तिकभाव को ध्वनित करता है। जब परिणामी द्रव्य अपनी पर्यायरूप से परिणत होने लगता है तब परिणामी द्रव्य के समान जिसकी अनंत शक्तियां प्रकट होती रहती हैं ऐसा निमित्तभूत द्रव्य परिणामीद्रव्य की परिणतिक्रिया के अनुकूल ऐसी अपनी क्रियात्मक परिणती से युक्त होता है तो भी वह निमित्तभूत अन्य वस्तु अपने से भिन्न स्वभाववाले अन्य परिणामिद्रव्य के असाधारणस्वरूप को स्वीकार नहीं करती; क्यों कि निमित्तभूत अन्य वस्तु यदि अपने से भिन्न स्वभाववाली परिणामी वस्तु के स्वभाव को स्वीकार करनी लगेगी तो उसे या तो अपने स्वभाव का परित्याग करना होगा या सहानवस्थायी दो असाधारणधर्मरूप स्वभावों से युक्त होना पडेगा। जीवद्रव्य के विभावरूप से परिणत होनेके समय द्रव्यकर्म अपने उदयादिरूप से जब परिणत होता है तब वह अपने अचेतनत्वरूप असाधारणधर्मात्मक स्वभाव को नहीं छोडता और चेतनत्वरूप और अचेतनत्वरूप दो सहानवस्थायिधर्मों से युक्त भी नहीं होता। यदि द्रव्यकर्म ने अपना स्वभाव छोड दिया और जीवरूप चेतनद्रव्य के चेतनस्वभाव को स्वीकार किया तो द्रव्यकर्म जीव के ज्ञानात्मक धर्म का विरोधक या विकारक नहीं रहेगा। ऐसी अवस्था में जीव अपनी संसार अवस्था में भी सर्वथा अप्रतिहत-शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला हि बना रहेगा और 'न बध्यते न मुच्यते पुरुषः' इस सांख्यसिद्धान्त के समान जीव की बद्धावस्था और मुक्तावस्था नष्ट हो जायगी। अतः एक द्रव्य अपना स्वभाव छोडकर अन्य द्रव्य के स्वभाव को स्वीकार नहीं करता यह जैनाचार्यों का अभिप्राय निर्दोष है। चेतन कुम्हार मृत्तिका के स्वभाव को स्वीकार करता हुआ क्या कभी कहींपर किसी के देखने में आया है ? कभी नहीं; क्यों कि हर एक वस्तु अपने स्वभाव में अविचलितरूप से और नियतरूप से रहती है–उसको कभी नहीं छोडती। ऐसी अवस्था में अपना स्वभाव बाधित होनेसे आकुल बना हुआ जीव मोहयुक्त होकर क्यों क्लेश–दुःख पा रहा है ? कहने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार द्रव्यकर्म जीव की विभाव परिणति में कारण पडता है तो भी वह अपने स्वभाव को त्याग कर जीव-स्वभाव को स्वीकार नहीं करता उसीप्रकार जीव भी कर्मयोग्य पुद्गलवर्गणाओं की कर्मरूप परिणति में निमित्त-कारण पडता है तो भी वह अपने चैतन्यस्वभाव को त्याग कर पुद्गल के अचेतनस्वभाव को स्वीकार नहीं करता। यदि द्रव्यकर्म ने अपने अचेतनस्वभाव को छोड दिया और जीव के चेतनस्वभाव को स्वीकार कर लिया तो वह जीवस्वभाव का धारक बन जानेसे जीव के स्वभाव में विकार को कौन पैदा करेगा ? विकार के अभाव में जीव सर्वथा शुद्धावस्थ हि या अशुद्धावस्थ हि बना रहेगा। अतः जीव पुद्गलद्रव्य की कर्मरूप परिणति में अपने विभावभाव से निमित्त होनेपर भी जब अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता और निमित्तभूत द्रव्यकर्म के उदय से अपना स्वभाव दूषित होनेपर भी अपने उस स्वभाव का त्याग नहीं करता और पुद्गल के अचेतनस्वभाव को स्वीकार नहीं करता तब कर्मरूप निमित्त से अपना स्वभाव सिर्फ दूषित बना हुआ देखने से घबडाकर इस संसार में क्यों क्लेश–दुःख पा रहा है ? दोष तो जब निमित्त को हि हटाकर दूर किया जा सकता है तब घबडा जाने की आवश्यकता नहीं है। दोष उत्पन्न करनेवाले निमित्त के संयोग से यद्यपि जीवस्वभाव दूषित होता है तो भी वह जब नष्ट नहीं होता, और अपने विभावभाव के द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों की कर्मरूप से परिणत होनेमें निमित्तकारण पडता है तो भी वह अपने स्वभाव का जब त्याग नहीं करता तब अपने स्वभाव के नाश का भय आत्मा को नहीं होना चाहिये। इस कलश से भी निमित्त की अकिंचित्करता सिद्ध नहीं होती; प्रत्युत निमित्त उपादान के स्वभाव को बाधित करता है यह अभिप्राय हि स्पष्ट हो जाता है। हर एक द्रव्य के समान जीव की भी परिणमनशीलता को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। कहने का भाव यह है कि यद्यपि द्रव्य अपने स्वभाव के अनुसार स्वयं परिणत होता है तो भी निमित्त के बिना उसका परिणाम दूषित नहीं होता। इसीलिये तो शास्त्रकारों ने आत्म-परिणामों को दूषित करनेवाले द्रव्यकर्मरूप निमित्त को हटाने के लिये उपदेश दिया है। यदि निमित्त वस्तुतः

सर्वथा अकिंचित्कर होता तो उस को हटाने के लिए उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी ? ॥ २१२ ॥

कलशार्थ– जब एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं होती तब वह वस्तु वस्तु हि बनी रहती है । एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के बाहर रहकर क्रियारूप से परिणत होनेवाला होनेपर भी दूसरा कौनसा पदार्थ अपने से भिन्न दूसरे पदार्थ का क्या कर सकता है ? कुछ नहीं कर सकता यह निश्चित है ॥ २१३ ॥

भावार्थ– दो भिन्न स्वभाववाले परिणामिपदार्थों में स्वस्वामिभावरूप संबंध नहीं हो सकता । अतः एक वस्तु दूसरी वस्तु की न होनेसे प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में हि रहती है–अपने स्वभाव का एक वस्तु न त्याग करती है और न वह अन्य वस्तु के स्वभाव को स्वीकार करती है । यद्यपि निमित्तभूत अन्य वस्तु भी परिणति-क्रिया में अपनी परिणतिक्रिया के द्वारा सहायक होती है तो भी जिसप्रकार परिणामिवस्तु अपनी परिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे और अपने स्वरूप से अपने परिणाम में अन्वित होनेसे अपने परिणाम का वास्तव कर्ता होती है उसीप्रकार वह निमित्तभूत अन्य वस्तु परिणामी द्रव्य के परिणाम का कर्ता नहीं होती; क्यों कि निमित्तभूत वस्तु अपने स्वभाव को त्याग करके परिणामी द्रव्य के स्वभाव को स्वीकार न करनेवाली होनेसे परिणाम में अपने स्वभावसहित अन्वित न होनेके कारण वह अन्यवस्तुभूत परिणामी द्रव्य का कुछ भी नहीं करती ? कहा भी है कि एक विशिष्ट परिणाम के दो भिन्नजातीय द्रव्य उपादानकारण नहीं हो सकते । ['परिणामः नोभयोः प्रजायेत । '] ।

कलशार्थ– कार्य के रूप से स्वयं परिणत होनेवाली अन्य परिणामी वस्तु का दूसरी परिणामी वस्तु जो कुछ थोडासा विशेष पैदा करती है वह व्यवहारनय की दृष्टि से हि करती है ऐसा माना गया है; क्यों कि निश्चयनय की दृष्टि से (स्वयं) परिणत होनेवाली इस परिणामी वस्तु में दूसरी कौनसी भी वस्तु अस्तिरूप नहीं हुआ करती ॥ २१४ ॥

खुलासा– परिणामी वस्तु के विषय में दूसरी वस्तु जो कुछ छोडा करती है अर्थात् परिणामी वस्तु के परिणाम में जो कुछ थोडासा विशेष पैदा करती है वह व्यवहारनय की दृष्टि से हि करती है; क्यों कि थोडासा विशेष पैदा करनेवाली वस्तु का परिणत होनेवाली वस्तु के परिणाम में स्वस्वरूप से अस्तित्व नहीं पाया जाता । निश्चयनय की दृष्टि से परिणामी वस्तु में दूसरी कौनसी भी वस्तु अस्तिरूप नहीं हुआ करती । इससे ' उपादान की परिणति के समय निमित्त अपनी परिणति के द्वारा कुछ थोडासा सहायभूत कार्य करता है–वह सर्वथा अकिंचि-त्कर नहीं है ' यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है ।

इस उद्धरण में उपादान को स्वयं परिणामी बताया गया है तो भी निमित्त भी परिणामी वस्तु के परिणाम में कुछ थोडासा विशेष पैदा करता है यह भी बताया गया है । हां, यह ठीक है कि निमित्त के द्वारा परिणामी वस्तु के परिणाम में विशेष का निर्माण किया जाना व्यवहारनय की दृष्टि से है; क्यों कि उस विशेषांश में निमित्तभूत वस्तु के स्वभाव का या अपने स्वभावसहित निमित्तभूत वस्तु का अन्वय नहीं पाया जाता । आक्षेपक को अपने मन्तव्य का समर्थन करनेवाली कौनसी सामग्री इस उद्धरण में मिली यह समझ में नहीं आता । आक्षेपक के मन्तव्य का परिहार करनेवाला नीचे दिया हुआ प्रमाण देख लीजिए–

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥

सूर्यकान्तमणि के समान आत्मा अपने रागादिरूप विभावपरिणति के निमित्तत्व-कारणत्व-उपादानकारणत्व को कदापि प्राप्त नहीं होती । द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य का संबंध हि आत्मा को उस रागादिरूपविभावभाव से होनेवाली परिणति में निमित्तकारण पडता है । ऐसा यह वस्तुस्वभाव उससमय प्रकट होता है ।

अज्ञानी आत्मा की अशुद्धिशक्ति अवश्य मौजूद है । फिर भी वह आत्मा अपने रागादिरूप विभाव-परिणामों का उपादानकारण नहीं होती । संसारी आत्मा अज्ञानी अवश्य है; किन्तु वह अज्ञानात्मक रागादिरूप

विशेष परिणाम के रूप से द्रव्यकर्मरूप निमित्त के अभाव में स्वयं परिणत नहीं होती; क्यों कि रागादिरूप से परिणत होनेकी अशुद्धिशक्ति उसमें विद्यमान होती है और वह शक्ति कर्मरूप निमित्त के अभाव में कदापि व्यक्त नहीं होती। शुद्ध आत्मा की बात तो छोड दीजिये; क्यों कि वह द्रव्यकर्मरूप निमित्त के साथ कदापि संबंध को प्राप्त नहीं होती। सम्यक्त्वोत्पत्ति के या भेदज्ञान की उत्पत्ति के बाद जैसे जैसे उसके ज्ञान की विशुद्धि वृद्धिंगत होती रहनेसे आत्मा समयंतर बनतो जाती है वैसे वैसे निमित्तभूत द्रव्यकर्म उस आत्मा को विभावरूप से परिणत करने के विषय में अकिंचित्कर बनता जाता है। सूर्यकान्तमणि में अग्निरूप से परिणत होनेकी शक्ति अवश्य मौजूद होती है; किंतु वह सूर्यकिरणों का अभाव होनेपर कदापि व्यक्त नहीं होती। उसके साथ सूर्यकिरणों का संपर्क होते हि वह अग्निरूप परिणति को प्राप्त होता है। इस दृष्टान्त से द्रव्य की शक्ति निमित्त मिलनेपर हि व्यक्त होती है– जब तक निमित्त नहीं मिलता तब तक वह व्यक्त नही होती। उसीप्रकार अज्ञानी आत्मा में विभावात्मक-रागादिरूप से परिणत होनेकी शक्ति अवश्य मौजूद होती है। वह शक्ति रागादिरूप परिणति के निमित्तकारणभूत द्रव्यकर्म के उदय के विना कदापि व्यक्त नहीं होती। अतः आत्मा की इस रागादिरूप विभावपरिणति में द्रव्यकर्म-रूप परद्रव्य का संबध हि निमित्तकारण पडता है। वस्तु की जिस समय परिणति होने लगती है उस समय 'वस्तु का परिणमन निमित्त के अभाव में न होना' यह वस्तु का स्वभाव प्रकट-व्यक्त हो जाता है।

इस उद्धरण से 'वस्तु यद्यपि कार्यरूप से स्वयं परिणत होती है तो भी उसका परिणमन निमित्त अपने परिणाम से जब सहायभूत होता है तब हि होता है–उपादानपरिणति के सहायभूत ऐसी निमित्त की परिणति के विना नहीं होता' यह अभिप्राय सुतरां स्पष्ट हो जाता है। अतः निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर मानना भूल है।

जीव की रागादिरूपविभावपरिणति का सिर्फ जीव हि कारण होना है ऐसा कहना जिसप्रकार एकान्तरूप है उसीप्रकार उस परिणति का सिर्फ द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य हि कारण पडता है–उपादान अकिंचित्कर है ऐसा कहना भी एकान्तरूप हि है; क्यों कि रागादिरूपपरिणति का जीवद्रव्य और द्रव्यकर्मरूप पुद्गलद्रव्य कारण पडते हैं। देखिए–

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ।। २२१ ।।

जीव रागरूप परिणति में जो परद्रव्य को हि निमित्तता को प्राप्त कराते हैं अर्थात् जो सिर्फ परद्रव्य को रागादिरूप परिणति का कारण मानते हैं–अशुद्ध आत्मा को उस परिणति का कारणभूत नहीं मानते वे शुद्ध ज्ञान से वंचित होनेसे जिनका ज्ञान अंधा बना हुआ है ऐसे होनेसे वे मोहरूप नदी को पार नहीं कर पाते।

भावार्थ– कहने का भाव यह है कि रागादिरूप विभावपरिणामो का वास्तव कारण अशुद्ध जीव या उसका अज्ञान हि है। उस अशुद्ध जीवरूप या उसके अज्ञानरूप कारण का अभाव होनेपर निमित्तभूत द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य किसकी परिणति में सहायक होगा [अभावशब्द से विभावरूप से परिणत होने की जीव की योग्यता का अभाव यहा अभीष्ट है] और किसकी अशुद्धि करेगा? अतः रागोत्पत्ति में सिर्फ निमित्तभूत परद्रव्य को हि कारण नहीं माना जा सकता। परद्रव्य के साथ साथ अशुद्ध आत्मा को भी या उसके अज्ञान को भी रागादिरूप विभावभावों की उत्पत्ति में कारण मानना होगा। साराश, रागादिरूप विभावभावों की उत्पत्ति जिसप्रकार उपादानभूत अशुद्ध जीव के अभाव में नहीं हो सकती उसीप्रकार द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य की निमित्तता के अभाव में नहीं हो सकती। अतः निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता। उसे कथंचित् किंचित्कर मानना हि होगा। निमित्त जो कुछ थोडासा करता है वह जीव परिणाम की अशुद्धि है फिर भले हि वह परिणाम के समान अज्ञानी जीव की हो। जीव का अज्ञानरूप जो भाव है वह स्वाभाविक है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; क्यों कि उसे स्वाभाविकभाव मानने से स्वाभाविकभाव यावद्द्रव्यभावि होनेसे उसका कभी भी अभाव नहीं होगा। अज्ञान को विभावभाव माना तो उसे कर्मनिमित्तक मानना होगा; क्यों कि उसे कर्मनिमित्तक न मानने से वह

स्वाभाविकभाव बन जायगा और आत्मा उसका अभाव अथवा हि शुद्धभाव हो जानेका प्रसंग हो जाने से कभी नहीं कर सकेगी। अतः अज्ञान और उसके क्रोधादिरूप परिणाम ज्ञान की अशुद्ध व्यंजनपर्याय हैं और इसलिये वे कर्मनिमित्तक हैं। आचार्यप्रवर अमृतचंद्राचार्य ने हि कहा है कि—'स्वकस्याऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं। [॥ १९१ ॥]' 'द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य जीवपरिणाम में अशुद्धि उत्पन्न करनेवाला है।' अतः जीव-परिणाम को अशुद्ध बनाना यही द्रव्यकर्म का किंचित्करत्व है। इसलिए निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर है ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह कथंचित् किंचित्कर और कथंचित् अकिंचित्कर है ऐसा मानना हि होगा।

कालद्रव्य के भी शास्त्रकारों ने सभी द्रव्यों की परिणमनक्रिया के समय निमित्तत्व का स्वीकार किया है। कालद्रव्य अनादि अनंत है और सर्व लोकाकाशस्थित है। सर्व लोकाकाश परिणमनशीलद्रव्यों से भरा हुआ है। हरएक द्रव्य पारिणामिकी शक्ति से युक्त होनेसे निमित्त मिलते हि वह परिणत होता है। कालद्रव्यरूप निमित्त सर्व लोकस्थित होनेसे सभी द्रव्य परिणत होते हैं। जीव भी एक पारिणामिकी शक्ति से युक्त द्रव्य होनेसे काल-द्रव्यरूप निमित्त के सद्भाव से परिणत होता है। कालद्रव्य के निमित्त से जीवद्रव्य परिणत होता है इसका अर्थ यह विभावरूप से परिणत होता है ऐसा नहीं है। जीव की परिणति चाहे विभावरूप हो या चाहे स्वभावरूप हो कालद्रव्य सिर्फ उसकी परिणतिक्रिया में सहकारी होता है। द्रव्यकर्म कालद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होनेवाली जीव की परिणति में अशुद्धिमात्र उत्पन्न करता है। अतः काल द्रव्य के निमित्त से हि जीव विभावरूप से परिणत होता रहेगा और जीव विभावभावों से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकेगा ऐसा समझने की कोई आवश्य-कता नहीं है। कालद्रव्य के निमित्तत्व का शास्त्रकारों ने जो प्रतिपादन किया है वह सिर्फ कालद्रव्य को न माननेवाले परसमयी के लिए हि है ऐसा कहना असंगत है। जीव के परिणाम कैसे उत्पन्न होते हैं यह स्वसमयी को समझाने के लिए भी वह प्रतिपादन है। 'कालश्चेत्येके' ऐसा कहनेवाले कालद्रव्य को स्वीकार नहीं करनेवाले दार्शनिक भी हैं। उनका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जाता। क्या 'वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' यह तत्त्वार्थमहाशास्त्र का सूत्र परसमयी के लिए हि रचा गया है? वह स्वसमयी के लिए नहीं है क्या? वस्तुतः यह सूत्र कालकृत उपग्रह को व्यक्त करने के लिए हि रचा गया है। यदि यह सूत्र परसमयी के लिए हि रचा गया हो तो धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य इनके उपग्रहों का प्रतिपादन करने के लिए रचे गये सूत्र भी क्या परसमयी के लिए हि रचे गये हैं? क्या उनकी रचना स्वसमयी के लिए है हि नहीं? ग्रन्थराज समयसार की रचना किनके लिए है? क्या वह जिनानुयायिओं के लिए नहीं रचा गया? वस्तुतः जो वस्तुस्वरूप को ठीक समझते नहीं उन जिनानुयायिओं के लिए भी वे रचनाएं हैं। अस्तु।

जिसप्रकार उपादान और उपादेय—उपादान का कार्यरूप परिणाम इन में व्याप्यव्यापकभाव होता है उसीप्रकार निमित्त और नैमित्तिक अर्थात् उपादान का निमित्तजन्य परिणाम इन में भी व्याप्यव्यापकभाव होता है। ऐसी अवस्था में उपादानोपादेयभाव और निमित्तनैमित्तिकभाव इनमें क्या अन्तर है? उपादान और उपादेय कथंचित् एकद्रव्यस्वरूप होनेसे उपादान का उपादेय में स्वस्वभाव से अन्वय होनेसे उन दोनों में व्याप्यव्यापकभाव होता है यह ठीक है; किंतु निमित्त और नैमित्तिक एकद्रव्यस्वरूप न होनेसे उनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का होना कैसे संभवनीय है? निमित्त का स्वस्वरूप से अन्वय नैमित्तिक में यदि पाया जाता तो 'उनमें भी व्याप्यव्यापकभाव होता है' यह अभिप्राय जाना जा सकता है।

इस शंका का समाधान नीचे उद्धृत किये गये शास्त्रीय प्रमाण से हो सकता है। देखिए—

यथा अन्तर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकया एव अनुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेन अनुभवंश्च कुलालः कलशं करोति अनुभवति चेति लोकानां अनादिरूढोऽस्ति तावद्व्यवहारः; तथा अन्तर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन

पुद्गलद्रव्येण एव अनुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन अज्ञानात् पुद्गलकर्मसम्भवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसम्पादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेन अनुभवंश्च जीवः पुद्गलकर्म करोति अनुभवति च इति अज्ञानिनां आसंसारप्रसिद्धः अस्ति तावद्व्यवहारः; [स. सा. गा. ८४, आ. ख्या. टीका]

उपादानकारणभूत मृत्तिका अपने कार्यरूप कलश को आदि–मध्य–अन्त में अपने स्वरूप से व्यापनेवाली होनेसे मृत्तिका का सद्भाव होनेपर कलशरूप परिणाम का सद्भाव होनेसे और उस मृत्तिका का अभाव होनेपर उस कलशरूप परिणाम का अभाव होनेसे मृत्तिका और कलश में अन्वयव्यतिरेक होनेसे उन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है। उन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे मृत्तिका अपने कलशात्मककार्यरूप परिणाम का आश्रय होती है। उस परिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे मृत्तिका का कलशकर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। मृत्तिका अपने कलशरूप कार्य की भावक–निर्मापक और कलशरूप कार्य उसका भाव्य निर्मेय है। अतः मृत्तिका और उसका कलशरूप कार्य इनमें भाव्यभावकभाव होता है। उन दोनों में भाव्यभावकभाव का सद्भाव होनेसे मृत्तिका कलशरूपपरिणाम के स्वरूप से–आकार से परिणत होती है। कलशात्मक कार्य के रूप से परिणत होनेसे मृत्तिका का भावकत्व और कलशात्मक कार्य का भाव्यत्व सिद्ध हो जाता है। कुम्हार की मृत्तिका से बननेवाली कलश की उत्पत्ति के अनुकूल क्रिया और उस क्रिया का आश्रयभूत होनेवाला कुम्हार इनमें अन्वयव्यतिरेक का सद्भाव होनेसे और कुम्हार उस क्रिया का व्यापक होनेसे और वह क्रिया उसकी व्याप्य होनेसे कुम्हार और कलशोत्पत्ति के अनुकूल उसकी हस्तसंचालनादिरूप क्रिया इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है। इन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे कुम्हार कलशोत्पत्ति के अनुकूल होनेवाली अपनी हस्तसंचालनादिक्रियारूप परिणति का आश्रय होता है। उस क्रियारूप परिणति का आश्रय होनेसे कुम्हार का कलशोत्पत्ति के अनुकूल अपनी हस्तसंचालनादिरूप क्रिया का कर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। कुम्हार कलश में रखे हुए जल के उपयोग से अर्थात् उसके पान से उत्पन्न होनेवाले तृप्तिरूप परिणाम का भावक–निर्मापक है और तृप्तिरूप परिणाम उसका भाव्य–निर्मेय है। अतः कुम्हार और उसका तृप्तिरूप परिणाम इनमें भाव्यभावकभाव होता है। उन दोनों में भाव्यभावकभाव का सद्भाव होनेसे कुम्हार तृप्तिरूप अपने परिणाम के रूप से परिणत होता है। इससे कुम्हार का भावकत्व और उसके तृप्तिरूप परिणाम का भाव्यत्व सिद्ध हो जाता है। सारांश, मृत्तिका और कलश में होनेवाले अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव और भाव्यभावकभाव यथार्थ है–वास्तव है। उसीप्रकार कुम्हार और कलशोत्पत्ति के अनुकूल होनेवाली हस्तसंचालनादिरूप क्रिया इनमें होनेवाला अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव और कुम्हार और उसकी तृप्तिरूप परिणति इनमें होनेवाला भाव्यभावकभाव यथार्थ है–वास्तव है। कुम्हार मृत्तिका के कलशरूप कार्य को मृत्तिका जिसप्रकार आदि–मध्य–अन्त में व्यापती है उसीप्रकार उस कार्य को सर्वथा अपने स्वभाव से व्यापता नहीं। अतः कुम्हार और मृत्तिकोपादानककलशरूप परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता। यद्यपि इन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता है तो भी उनमें बाह्य व्याप्यव्यापकभाव अवश्य होता है। यद्यपि *परिणमनशील होनेसे मृत्तिका परिणतिक्रिया का आश्रय होती है तो भी वह कलशरूप से हि परिणत होगी ऐसा नियम नहीं है। कुम्हार की कलशसंभवानुकूल हस्तसंचालनादिरूप* विशिष्टक्रियात्मक परिणति हि मृत्तिका के परिणाम को कलशाकार बनाती है। अतः कुम्हार या उसकी वह विशिष्ट हस्तसंचालनादिरूप क्रिया और मृत्तिकोपादानक कलश इनमें व्याप्यव्यापकभाव अवश्य होता है; क्यों कि कुम्हार की उस क्रिया का सद्भाव होनेपर हि मृत्तिका की कलशाकाररूप परिणति होनेसे उन दोनों में अन्वय होता है और उसकी उस विशिष्ट क्रिया का अभाव होनेपर मृत्तिका के परिणाम में कलशरूप आकृति का अभाव होनेसे उनमें व्यतिरेक होता है। यद्यपि कुम्हार और मृत्तिका का कलशात्मक परिणाम इन में व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है तो भी वह अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप नहीं होता–बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप होता है; क्योंकि अचेतन कलशरूप परिणाम को चेतन कुम्हार अपने स्वरूप से आदि मध्य अन्त में अर्थात् सर्वथा व्यापता नहीं। कुम्हार और कलश में बहिर्व्याप्यव्यापक-

व्याप्य होनेसे और कुम्हार अचेतन कलशरूप से परिणत न होनेके कारण उन दोनों में वास्तव भाव्यभावकभाव न होनेसे कलश का कुलालकर्तृकत्व वास्तव नहीं है—निश्चयनय की दृष्टि से नहीं है। लोक में कुम्हार को जो कलश का कर्ता बताया जानेका व्यवहार चल रहा है वह व्यवहारनय की दृष्टि से है—निश्चयनय की दृष्टि से नहीं।

उसीप्रकार कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य अपने कार्यरूप द्रव्यकर्म को आदि मध्य और अन्त में अर्थात् संपूर्णरूप से अपने स्वभाव से व्यापता है। अतः कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल का सद्भाव होनेपर द्रव्यकर्मरूप परिणाम का सद्भाव होनेसे और उस विशिष्ट पुद्गल का अभाव होनेपर उस द्रव्यकर्मरूपपरिणाम का अभाव होनेसे कर्मवर्गणा-योग्य पुद्गलद्रव्य और उसका परिणामरूप द्रव्यकर्म इनमें अन्वयव्यतिरेक का सद्भाव होनेसे उनमें अन्तर्व्याप्यव्याप-कभाव होता है। उन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्मात्मक कार्यरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता है। उस परिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल का द्रव्यकर्मकर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। पुद्गलद्रव्य अपने द्रव्यकर्मरूपकार्य का भावक—निर्मापक है और उसका द्रव्यकर्म-रूप कार्य भाव्य—निर्मेय है। अतः कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य और उसका द्रव्यकर्मरूप परिणाम इनमें भाव्यभावक-भाव का सद्भाव होनेसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल जीव को सुखःदुःख देनेकी शक्ति से युक्त द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होता है। द्रव्यकर्मात्मक कार्य के रूप से परिणत होनेसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल के भावकत्व की और द्रव्यकर्मात्मक कार्य के भाव्यत्व की सिद्धि हो जाती है। अज्ञानी जीव की कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल से बननेवाले द्रव्यकर्म की उत्पत्तिक्रिया के अनुकूल होनेवाली विभावरूप से परिणत होनेकी अज्ञानी जीव की क्रिया और उस विभावरूप से परिणत होनेवाली क्रिया का आश्रय होनेवाला अज्ञानी जीव इनमें अन्वयव्यतिरेक का सद्भाव होनेसे और अज्ञानी जीव अपनी उस विभावरूप से परिणत होनेवाली क्रिया का अपने चेतनस्वभाव से व्यापक होनेसे और वह क्रिया उस अज्ञानी जीव की व्याप्य होनेसे अज्ञानी जीव और द्रव्य-कर्मरूप से परिणत होनेकी पुद्गल की क्रिया के अनुकूल ऐसी अज्ञानी जीव की विभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है। उन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे जीव अपनी द्रव्यकर्मरूप परिणति के अनुकूल होनेवाली विभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता है। उस विभा-वात्मक परिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे अज्ञानी जीव का अपनी द्रव्यकर्मोत्पत्ति के अनुकूल विभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया का कर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। अज्ञानी जीव पुद्गलकर्म के विपाक के द्वारा अर्थात् निमित्तभूत द्रव्य-कर्म के द्वारा संपादित अर्थात् इकट्ठे किये गये विषयों के द्वारा याने निमित्त के द्वारा अज्ञानी जीव में प्रादुर्भूत की गयी अर्थात् विषयों के निमित्त से अज्ञानी जीव में प्रादुर्भूत हुई उसकी आत्मपरिणति का भावक है-उपादानकर्तृभूत जनक है। अतः अज्ञानी जीव और उसका भाव्य—जन्य है। अतः अज्ञानी जीव और उनका सुखदुःखरूप परिणाम इनमें वास्तव भाव्यभावकभाव होता है। उन दोनों में भाव्यभावकभाव का सद्भाव होनेसे अज्ञानी जीव सुखदुःखादिरूप अपने परिणाम के रूप से परिणत होता है। इससे अज्ञानी जीव का भावकत्व और उसकी सुख-दुःखरूप परिणति का भाव्यत्व सिद्ध हो जाता है। सारांश, कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य और उसका द्रव्यकर्मरूप परिणाम इनमें होनेवाले अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव और भाव्यभावकभाव यथार्थ है—वास्तव है। उसप्रकार अज्ञानी जीव और उसकी सुखदुःखादिरूप से परिणत होनेकी क्रिया इनमें होनेवाला अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव और अज्ञानी जीव और उसका सुखदुःखादिरूप परिणाम इनमें होनेवाला भाव्यभावकभाव वास्तव—यथार्थ है। अज्ञानी जीव द्रव्यकर्मरूप पुद्गलकार्य के पुद्गलद्रव्य जिसप्रकार आदि-मध्य-अन्त में व्यापता है उसीप्रकार पुद्गल के परिणामरूप द्रव्यकर्म को आदि-मध्य-अन्त में अपने अचेतनत्वरूप असाधारण स्वरूप से व्यापता नहीं। अतः अज्ञानी जीव और द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता। यद्यपि इन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता तो भी उनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव अवश्य होता है। यद्यपि परिणमनशील होनेसे पुद्गल अपनी परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता है तो भी वह द्रव्यकर्मरूप से हि परिणत होगा ऐसा नियम नहीं है। अज्ञानी जीव की पुद्गल की द्रव्यकर्मरूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल अपनी विभावा-

त्मकपरिणतिक्रिया हि पुद्गल के परिणाम को द्रव्यकर्मस्वरूप बनाती है। अतः अज्ञानी जीव या उसकी विभावरूप परिणति और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल की द्रव्यकर्मरूप परिणति इनमें व्याप्यव्यापकभाव अवश्य होता है; क्यों कि अज्ञानी जीव की विभावभावात्मक क्रिया का सद्भाव होनेपर हि कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप परिणति होने से उन दोनों में अन्वय होता है और अज्ञानी जीव के या उसकी विभावरूप परिणति के अभावमें पुद्गल की द्रव्यकर्मरूप परिणति का अभाव होनेपर पुद्गल के द्रव्यकर्मरूप परिणति का अभाव होनेसे उनमें व्यतिरेक होता है। यद्यपि अज्ञानी जीव और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल का द्रव्यकर्मरूप परिणाम इनमें व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है तो भी वह अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप नहीं होता—बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप होता है; क्यों कि अचेतन द्रव्यकर्मरूप परिणाम को चेतन अज्ञानी आत्मा अपने चेतनस्वरूप से आदि-मध्य-अन्त में अर्थात् संपूर्णरूप से व्यापता नहीं। अज्ञानी आत्मा और द्रव्यकर्म इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव होनेसे और अज्ञानी आत्मा द्रव्यकर्मरूप से परिणत न होनेके कारण उन दोनों में वास्तव भाव्यभावकभाव न होनेसे द्रव्यकर्म का अज्ञानिजीवकर्तृकत्व वास्तव नहीं है—निश्चयनय की दृष्टिसे नहीं है। अज्ञानी आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता है यह अनादिकाल से अज्ञानी बने हुए जीव का कथन है—ज्ञानी जीव का नहीं। इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि परिणाम और परिणामी इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है और निमित्त और नैमित्तिक में बाह्य व्याप्यव्यापकभाव होता है। कुम्हार और कलश इनमें बाह्यव्याप्यव्यापकभाव, निमित्तनैमित्तिकभाव और व्यवहारनयाश्रित कर्तृकर्मभाव होता है तो भी उपादान के परिणाम को कुम्हाररूप निमित्त के वजह से जो विशिष्ट आकार प्राप्त होता है वह सर्वथा मिथ्या नहीं है—एवंभूतनय की अपेक्षा से वह सत्य-यथार्थ है। यदि उस कलशरूप परिणाम को मिथ्या माना तो उस की जलधारणादिरूप अर्थक्रिया भी वन्ध्यासुत की शूरता के समान मिथ्या हि होगी। इसी प्रकार कर्मोदयरूप निमित्त और अज्ञानी जीव के परिणाम इनमें अज्ञानी जीव का विभावपरिणामरूप निमित्त और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल का कर्मरूप परिणाम इनमें बाह्यव्याप्यव्यापकभाव, निमित्तनैमित्तिकभाव और व्यवहारनयाश्रित कर्तृकर्मभाव होता है तो भी जीव का विभावात्मक परिणाम और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल का द्रव्यकर्मरूप परिणाम सर्वथा मिथ्या नहीं हैं। यदि इनको सर्वथा मिथ्या माना गया तो जीव की संसारावस्था का विनायास अभाव हो जायगा, जिससे समयसारग्रंथराज में प्रतिपादित किये गये विषय का वैफल्य सिद्ध हो जायगा और आत्मा को सदाशिव माननेका प्रसग खडा हो जायगा। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा शुद्ध होनेसे यद्यपि उसको सदाशिव माना जा सकता है तो भी ससाररूप पर्याय की दृष्टि से वह सदाशिव नहीं है; क्यों कि संसार अवस्था में वह अशुद्ध होतो है। दूसरी बात यह है कि अज्ञानी जीव के विभाव परिणाम और अज्ञानी जीव इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव, भाव्यभावकभाव और कर्तृकर्मत्व यथार्थ होनेपर भी शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के विभावों का शुद्ध आत्मा के साथ किसी प्रकार का सबध नहीं होता; क्यों कि विभावभावों का उपादान कारणभूत अज्ञान का शुद्ध जीव में सद्भाव नहीं पाया जाता। शुद्ध जीव का परिणाम और कर्मोदय इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव भी नही होता; क्यों कि शुद्ध आत्मा के साथ पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के सबंध का विच्छेद हो गया होता है। अशुद्ध जीव और उसके विभावात्मक परिणाम इनमें जो अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव, निमित्तनैमित्तिकभाव और कर्तृकर्मभाव का प्रतिपादन पाया जाता है वह अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि से है—शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से नहीं। अशुद्ध आत्मा की आत्मा यह सज्ञा व्यवहार-नयकी—अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से की गयी है; क्योंकि अशुद्ध आत्मा में शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव का अभाव होनेसे वह यथार्थस्वरूप से आत्मसंज्ञा के योग्य न होनेपर भी उसको उपचार से आत्मा कहा जाता है। शास्त्रों में अशुद्ध आत्मा को अजीव भी कहा गया है। इस अजीव शब्द का अर्थ पर्युदास से जीवभिन्न जीवसदृश ऐसा है। अशुद्ध जीव की जीवभिन्नता उसके अशुद्धता के कारण से है अर्थात् शुद्ध जीवसे भिन्नता उसकी अशुद्धता के कारण से है और उसकी जीवसदृशता उसके चेतनसामान्यरूप होनेसे है। अशुद्ध जीव के विषय में प्रयुक्त किये गये अजीव शब्द का अर्थ अचेतन ऐसा नहीं है, अपि तु अप्रशस्त अर्थात् अशुद्ध जीव ऐसा है, क्यों कि नञ्‌का प्रयोग 'अप्रशास्त्य' इस अर्थ में भी किया जाता है। प्रमाण—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः

यद् प्रकीर्तिता; ॥' सारांश, यहांपर जो कर्तृकर्मभाव का, भोक्तृभोग्यभाव का और निमित्तनैमित्तिक भाव का विचार व्यक्त किया गया है वह अशुद्धजीवविषयक हि है–शुद्धजीवविषयक नहीं ।

इससे उपादान और उसके परिणाम जो उपादेय भी कहा जाता है इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है और निमित्त और नैमित्तिक इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव होता है यह स्पष्ट हो जाता है। उपादान और उसके परिणाम में होनेवाले अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध और भाव्यभावकभावरूप संबंध निश्चयाधीन हं और निमित्त और नैमित्तिक इनमें होनेवाले बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध और भाव्यभावकभावरूप संबंध व्यवहारनयाधीन हे; क्यों कि पहले दोनों संबंध स्वाश्रित हे और दूसरे दोनों संबंध पराश्रित हं । उपादेय अर्थात् परिणाम उपादान का कार्य होनेपर भी उसको निमित्त का कार्य मानना द्विक्रियावादित्वनामक दोष का प्रसंग खडा हो जाने से अज्ञान का फल हं । यहां भी निमित्त का पूर्वोक्त स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

यदि निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होनेसे द्रव्यकर्मरूप निमित्त जीव की विभावरूप परिणति की उत्पत्ति के विषय में सर्वथा अकिंचित्कर है तो कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल की द्रव्यकर्मरूप परिणति के विषय में अज्ञानी जीव के विभावरूप परिणाम निमित्तभूत होनेपर भी सर्वथा अकिंचित्कर हं ऐसा मानना होगा; क्यों कि विभावभाव भी पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप परिणति में निमित्तकारण पडते हं। ऐसी अवस्था में अज्ञानी जीव और द्रव्यकर्म इनके संश्लेषरूप संबंध का अभाव होनेपर भी दोनों अपने अपने विभावों के रूप से परिणत होंगे। ऐसा होनेपर अज्ञान या उसके क्रोधादिरूप विभावपरिणाम अज्ञानी जीव के स्वभावभूत भाव बन जानेसे उनका अभाव कभी नहीं होगा और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य के भी कर्मरूप परिणतियां पुद्गलद्रव्य के स्वभावभूतभाव बन जानेसे उन परिणतियों का भी अभाव कभी नहीं होगा; क्यों कि विभावरूप से हि परिणत होना उन दोनो द्रव्यों का स्वभाव हि बन जायगा ! यदि 'अज्ञानी जीव के विभावात्मक परिणाम चेतनान्वित होनेसे प्रेरक होनेके कारण वे अकिंचित्कर हं ऐसा नहीं कहा जा सकता' ऐसा अभिप्राय हो तो 'अज्ञानी जीव के चेतनात्मक विभावपरिणाम किंचित्कर हे इस कथन का वास्तव अभिप्राय क्या हे ? क्या वे उपादान जिसप्रकार अपने विभाव परिणामों मे अन्वित होते हे उसीप्रकार कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलो के परिणामो में अपने चेतनस्वरूप से अन्वित होते हं ? ' इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित हो जाते हं । यदि अज्ञानी जीव अपने स्वरूप से पुद्गल की कर्मरूप परिणति मे अन्वित होता है ऐसा माना तो द्विक्रियावादित्व नाम का दोष आता हे और यदि वह चेतनस्वरूप से अन्वित नहीं होता ऐसा माना तो फिर वह जो कुछ करता है वह क्या ह ? यदि वह परिणामी पुद्गल की कर्मरूप से परिणति के समय उसकी सामर्थ्य को सिर्फ प्रबोधित करना है ऐसा कहा गया तो निमित्त का अकिंचित्करत्व बाधित हो जाता हं । वस्तुतः परिणामी द्रव्य की परिणति के समय उसकी सामर्थ्य को प्रबोधित करनेके लिये निमित्त चेतन हि होना चाहिये ऐसा नियम नहीं हं; क्यों कि अचेतन निमित्त भी उपादान को परिणत होनेकी सामर्थ्य को अपने संबंध से प्रबोधित करता हे । अतः निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर नही माना जा सकता । यदि द्रव्यकर्मरूप निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होता तो समन्तभद्राचार्य जैसे समर्थ विद्वान् को द्रव्यकर्म का क्षय करनेके लिये उपदेश करनेकी आवश्यकता क्यों महसूस हुई ? संसार में भी इष्ट सिद्धि मे प्रतिबन्धक कारणों को हि हटाया जाता हं । जो प्रतिबन्धक नही होता उसको हटानेकी क्या आवश्यकता है? द्रव्यकर्म आत्मा की शुद्धरूप से परिणत होनेकी क्रिया में विघ्न डालता है । अतः उसको हटाना आवश्यक हं । द्रव्यकर्म की प्रतिबन्धकता हि उसका निमित्तत्व हे । इस विषय की स्पष्टता के लिये नीचे उद्धृत किया गया शास्त्रीय प्रमाण विचारार्ह हं । देखिए–

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषाऽस्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ ४ ॥

'कः पुनर्दोषो नाम आवरणाद्भिन्नस्वभावः ? ' इति चेत्, उच्यते । वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः । न हि 'दोष एव आवरणं' इति प्रतिपादने कारिकायां 'दोषावरणयोः' इति

द्विवचनं समर्थम् । ततः तत्सामर्थ्यात् आवरणात् पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणः भिन्नस्वभावः एव अज्ञानादिर्दोषः अभ्यूह्यते । तद्धेतुः पुनः आवरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च । 'स्वपरिणामहेतुकः एव अज्ञानादिः' इति अयुक्तं, तस्य कादाचित्कत्वविरोधात्, जीवत्वादिवत् । 'परपरिणामहेतुक एव' इत्यपि न व्यवतिष्ठते, मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गात्, सर्वस्य कार्यस्य उपादानसहकारिसामग्रीजन्यतया उपगमात् तथा प्रतीतेश्च । तथा च दोषः जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुकः, कार्यत्वात्, माषपाकवत् । 'ननु एवं निःशेषावरणहानौ दोषहानेः सामर्थ्यसिद्धत्वात् दोषहानौ वा आवरणहानेः अन्यतरहानिरेव निःशेषतः साध्या' इतिचेत्, न, दोषावरणयोः जीवपुद्गलपरिणामयोः अन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थत्वात् उभयहानेः निःशेषत्वसाधनस्य । दोषो हि तावत् अज्ञानं ज्ञानावरणस्य उदये जीवस्य स्यात्, अदर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य, विविधं अचारित्रं अनेकप्रकारचारित्रमोहस्य, अदानशीलत्वादिः दानाद्यन्तरायस्य इति । तथा 'ज्ञानदर्शनावरणे तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघातेभ्यः जीवं आस्रवतः, केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादात् दर्शनमोहः, कषायोदयात् तीव्रपरिणामात् चारित्रमोहः, विघ्नकरणात् अन्तरायः' इति तत्त्वार्थे प्ररूपणात् । [अ. स. पृ. ५०–५१]

कारिकार्थ– जिसप्रकार किसी कनकपाषाण का बाह्य और आन्तर मल का क्षय अपने कारणों से तरतमभाव से होता हुआ पूर्णरूप से होता है उसीप्रकार किसी आत्मा के दोष और आवरण इन का क्षय अपने कारणों से तरतमभाव से होता हुआ पूर्णरूप से होता है ।

'आवरण से भिन्नस्वभाववाला यह दोष क्या है ?' ऐसा कहना हो तो कहा जाता है– 'दोषावरणयोः' स द्विवचनांत पद की सामर्थ्य से अज्ञानादि दोषों का स्वपरिणाम और परद्रव्य का अर्थात् पुद्गलात्मक द्रव्यकर्मरूप परिणाम या द्रव्यकर्म का उदयरूप परिणाम कारण होता है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है । 'दोष हि आवरण है' इस अभिप्राय का प्रतिपादन करने की सामर्थ्य 'दोषावरणयोः' इस पद के द्विवचन में नहीं है । उस कारण से 'दोषावरणयोः' इस पद के द्विवचन की सामर्थ्य से आत्मा के स्वरूप को आवृत्त करनेवाले पुद्गलोपादानक ज्ञानावरणादि कर्म के स्वभाव से भिन्नस्वभाववाला अज्ञानादिरूप दोष होता है । उस अज्ञानादिरूप दोष का जीव के स्वभाव को आवृत करनेवाला द्रव्यकर्म और जीव का अपना पूर्ववर्ती परिणाम कारण पडते हैं । 'अज्ञानादिरूप दोष का कारण उसका स्वकीय अक्रमवर्ती परिणाम हि होता है' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि अक्रमवर्ती जीवत्वादिगुणरूप नित्य परिणाम का जिसप्रकार कादाचित्क (अनित्य) होनेमें विरोध उपस्थित होता है उसीप्रकार जीव का अक्रमवर्ती गुणरूप परिणाम कादाचित्क (अनित्य) होनेमें विरोध उपस्थित होता है । 'अज्ञानादिरूप दोष का कारण परद्रव्य का परिणाम हि होता है' यह कथन भी व्यवस्थित नहीं है; क्यों कि परद्रव्य की स्वाश्रित परिणति होनेसे हि यदि जीव की अज्ञानादि दोष के रूप से परिणति होने लगी तो उस परद्रव्य की परिणति से मुक्तात्मा की भी अज्ञानादि दोषरूप से परिणति हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । जीवरूप उपादानकारण के परिणति का अभाव होनेसे सिर्फ परद्रव्य की परिणति से 'प्रत्येक द्रव्य का कार्यरूप परिणाम उपादान और सहकारिसामग्री के होनेपर हि होता है' ऐसा माना गया होनेके कारण जीव की अज्ञानादिदोषरूप परिणति होना असभव है और उपादान और सहकारिसामग्री से हि परिणाम की उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है । और उसीप्रकार जीव की अज्ञानादिरूप दोष की उत्पत्ति में जीव का अपना परिणाम और परद्रव्यभूत पुद्गल का परिणाम ये दोनों कारण पडते हैं; क्यो कि जीव का अज्ञानादिदोषरूप परिणाम कार्यरूप है, जैसे उडद का पाकरूप परिणाम । माष का पाक माषरूप उपादान और जल–अग्नि आदि सहकारिसामग्री से हि होता है–न सिर्फ माषों का सद्भाव होनेपर और न सिर्फ अग्न्यादिरूप सहकारिसामग्री का सद्भाव होनेपर होता है । इस प्रकार आत्मस्वरूप को आवृत करनेवाले संपूर्ण द्रव्यकर्मों का क्षय हो जानेपर अज्ञानादिदोष का नाश सामर्थ्य से

सिद्ध हो जाता है अथवा दोनों का नाश होनेपर आवृत करनेवाले कर्मों का क्षय सामर्थ्य से सिद्ध हो जाता है। अतः दोनों में से किसी एक के नाश की सिद्धि करनी चाहिये—दोनों के नाश की सिद्धि की आवश्यकता नहीं है' ऐसा कहना हो तो वह कहना ठीक नहीं है; क्यों कि जीव का परिणामभूत दोष और पुद्गल का परिणामरूप आवृत करनेवाला कर्म इन में परस्पर कार्यकारणभाव होता है अर्थात् जीव का अज्ञानादि दोषरूप परिणाम पुद्गल के परिणामभूत द्रव्यकर्मरूप कार्य का निमित्तकारण होता है और द्रव्यकर्म उस का कार्य होता है और द्रव्यकर्म के अज्ञानादिरूप दोष का कारण होता है और जीव का अज्ञानादि दोष उस द्रव्यकर्म का कार्य होता है इस बात की सिद्धि के लिए दोष और आवृत करनेवाले द्रव्यकर्म इन दोनों के संपूर्ण नाश की सिद्धि की गयी है और "जीव के दोषरूप अज्ञान ज्ञानावरण कर्म का उदय होनेपर, अदर्शन दर्शनावरणकर्म का उदय होनेपर, मिथ्यात्व दर्शनमोह के उदय से, नानाप्रकार का मिथ्याचारित्र चारित्रमोह का उदय होनेपर, अदानशीलत्व आदि दानाद्यन्तरायकर्म का उदय होनेपर अस्तिरूप बनते हैं। (यहांपर जीव की अज्ञानादिदोषरूप से परिणति का कारण द्रव्यकर्म की उदयरूप परिणति है ऐसा बताया गया है।) प्रदोष से अर्थात् मोक्षमार्ग के प्ररूपण से उत्पन्न हुए मोक्षमार्ग के ज्ञान का दूसरे को प्रतिपादन न करने से, निह्नव से अर्थात् ज्ञान होनेपर भी 'मुझे इस विषय का ज्ञान नहीं है' ऐसा कहकर ज्ञान का अपलाप करने से, मात्सर्य से अर्थात् अपने पास ज्ञान होनेपर भी योग्य पुरुष को न देनेसे, अन्तराय से अर्थात् कलुषित भाव से ज्ञान का व्यवच्छेद करने से, आसादन से अर्थात् शरीर और वचन से दूसरे के लिए प्रकट करने के योग्य ज्ञान का परित्याग करनेसे, उपघात से अर्थात् अपनी बुद्धि की कलुषता के कारण दूसरे के यथार्थ ज्ञान में दोष प्रकट करने से जीव में ज्ञानावरणसंज्ञक और दर्शनावरणसंज्ञक द्रव्यकर्म के आस्रव होते हैं; केवली, श्रुत, रत्नत्रयोपेत श्रमण, अहिंसादिस्वरूप धर्म, और चातुर्णिकाय देव इन में न होनेवाले दोषों को प्रकट करने से जीव में दर्शनमोहसंज्ञक द्रव्यकर्म का आस्रव होता है, कषायों के उदय से होनेवाले जीव के परिणाम से जीव में चारित्रमोहसंज्ञक द्रव्यकर्म का आस्रव होता है, विघ्न करने से अन्तरायसंज्ञक द्रव्यकर्म का जीव में आस्रव होता है" इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्र में प्ररूपण किया गया है।

इस उद्धरण में जीव के विभावरूप परिणाम और कर्म के उदयरूप परिणाम इन में परस्पर कार्यकारण-भाव अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभाव बताया है इतना हि नहीं अपि तु निमित्त के अभाव में अर्थात् निमित्त के किंचित्करता का अभाव होनेपर उपादान कार्यरूप से परिणत होता हि नहीं यह स्पष्टरूप से बता दिया है। यदि सिर्फ जीव के अक्रमवर्ती परिणाम को अर्थात् यावद्द्रव्यभावी गुण को हि उसके विभावपरिणाम का कारण माना तो स्वपरिणामभूत गुण नित्य होनेसे उसका अज्ञानादिरूप अनित्य परिणाम के साथ विरोध होता है और सिर्फ परद्रव्य के परिणाम को जीव के अज्ञानादिरूप विभावपरिणति का कारण माना तो मुक्त जीव से भिन्न द्रव्य का परिणाम नियतरूप से उत्पन्न होनेसे मुक्त आत्मा की भी अज्ञानाद्यात्मक दोषरूप से परिणति होनेका प्रसंग खडा हो जायगा। अतः उपादान की परिणति अपने कार्यरूप से होनेवाली उपादानाश्रित होनेपर भी निमित्तभूत द्रव्य की परिणति के अभाव मे कदापि नहीं हो सकती इस अभिप्राय को वह युक्तिसंगत और आगमानुकूल होनेसे यथार्थ समझना हि होगा। 'दोषो जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुकः' इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित उपादान का परिणाम और निमित्तभूत परद्रव्य इनमें कार्यकारणभाव होता हि है इस मन्तव्य का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऊपर जो अज्ञानादि दोष बताया गया है वह अनन्तज्ञानादि के समान आत्मा का स्वाभाविक परिणाम नही है—वह आत्मा का आगन्तुक अर्थात् कर्मोदयनिमित्तक विभावभाव है। इसी अभिप्राय का अष्टसहस्री में स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया गया है। देखिए– 'द्विविधो हि आत्मपरिणामः स्वाभाविकः आगन्तुकश्च। तत्र स्वाभाविकः अनन्तज्ञानादिः, आत्मस्वरूप-त्वात्। मलः पुनः अज्ञानादिः आगन्तुकः, कर्मोदयनिमित्तकत्वात्।' [अ. स., नि. सा. सं., पृ० ५४]

अब आगे अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का स्वरूप बताने के बाद निमित्त और नैमित्तिक मे जिस व्याप्यव्यापक-भावरूप संबंध का आत्मख्याति में अभाव बताया है वह अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप है—बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप नहीं यह सप्रमाण बताया जाता है। देखिए—

यथा उत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थयोः समीरसञ्चरणासञ्चरणनिमित्तयोः अपि समीरपारावारयोः व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावारः एव स्वयं अन्तर्व्यापको भूत्वा आदिमध्यान्तेषु उत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे व्याप्य उत्तरङ्गं निस्तरङ्गं वा आत्मानं कुर्वन् आत्मानं एकं एव कुर्वन् प्रतिभाति, न पुनः अन्यत्; यथा सः एव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेण अनुभवितुं अशक्यत्वात् उत्तरङ्गं निस्तरङ्गं वा आत्मानं अनुभवन् आत्मानं एक एव अनुभवन् प्रतिभाति, न पुनः अन्यत्; तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसम्भवासम्भवनिमित्तयोः अपि पुद्गल-कर्मजीवयोः व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीवः एव स्वयं अन्तर्व्यापकः भूत्वा आदिमध्यान्तेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःससारं वा आत्मानं कुर्वन् आत्मानं एकं एव कुर्वन् प्रतिभातु, मा पुनः अन्यत्; तथा अयं एव च भाव्यभावकभावात् परभावस्य परेण अनुभवितुं अशक्यत्वात् ससंसारं निःसंसारं वा आत्मानं अनुभवन् आत्मानं एकं एव अनुभवन् प्रतिभातु, मा पुनः अन्यत् ।

समुद्र में पायी जानेवाली उत्तरंग और निस्तरंग अवस्थाए उपादानभूत समुद्र की परिणतियां है, क्यों कि दोनों अवस्थाओं को उनके आदि, मध्य और अन्त में उपादानभूत समुद्र व्यापता है । समुद्र का अस्तित्व होनेपर हि उसकी उत्तरग और निस्तरंग अवस्थाएं होती हं और उसका अस्तित्व न होनेपर उन दोनो अवस्थाओं का अभाव होता हं । इसप्रकार समुद्र और उसकी अवस्थाओं–परिणामों में अन्वयव्यतिरेक होनेसे उन में व्याप्य-व्यापकभावरूप सबंध होता है । यह संबंध अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप हि होता हं; क्यों कि समुद्र दोनो अवस्थाओं के आदि, मध्य और अन्त में व्यापकरूप से रहता है । समुद्र परिणमनशील होनेपर भी उसकी उत्तरग अवस्था समीरसंचरणरूप [हवा का चलना] निमित्त के होनेपर हि उत्पन्न होती है और उसकी निस्तरंग अवस्था समीरसंचरण का अभावरूप निमित्त से होती है । समीर की सचरणरूप और असंचरणरूप अवस्थाएं [परिणाम] और समुद्र की उत्तरंग और निस्तरग अवस्थाए इन में उक्त प्रकार से अन्वयव्यतिरेक होनेसे यद्यपि उनमें व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध हं तो भी वह सबध आन्तर–आभ्यन्तर नहीं है–बाह्य हि है; क्यों कि समीर समुद्र की उत्तरंग और निस्तरग उपादानभूत समुद्र के समान उनको आदि, मध्य और अन्त में व्यापता नहीं अर्थात् अपने असाधारणस्वरूप से उनमें विद्यमान रहता नहीं । अतः उनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध होनेपर भी अन्तर्व्या-प्यव्यापकभावरूप सबध नहीं होता । अतः समीर के सचरणरूप और असंचरणरूप परिणामो का या उनमे कथंचित् अभिन्न समीर का उन दोनो उत्तरग और निस्तरग अवस्थाओ के विषय मे उनके समुद्ररूप उपादान के समान यथार्थ–मुख्य कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता और जब उसका यथार्थ कर्तृत्व सिद्ध नही होता तब समुद्र की उन दोनों (उत्तरंग और निस्तरग) अवस्थाओं के विषय में समीर का उपादेयभूत कर्मत्व–कार्यत्व भी सिद्ध नही होता । इसप्रकार जब समीर और समुद्र की परिणामरूप उत्तरग और निस्तरग अवस्थाएं इनका यथाक्रम उपादानकर्तृत्व और कर्मत्व या समीरपरिणामत्व सिद्ध नहीं होते, तब समुद्र स्वय अन्तर्व्यापक बनकर अपनी उन दोनों अवस्थाओं को आदि, मध्य और अन्त मे व्यापकर अपने को परिणमाता हुआ एक (अगाधजलरूप) अपने को परिणत करता हुआ प्रतिभासित होता है, दूसरे को [सचरणासंचरणावस्थ समीर को] नहीं परिणमाता । समुद्र और समीर दो भिन्न पदार्थ होनेसे, परपदार्थ का परपदार्थ के द्वारा अनुभव किया जाना अर्थात एक द्रव्य का परद्रव्य के परिणाम के रूप से परिणत होना असभव होनेके कारण समुद्र और समीर इन दोनो मे भाव्यभावकरूप संबंध का अभाव होनेसे समुद्र उत्तरंग या निस्तरग ऐसी अपनी आत्मा का [अपना हि] अनुभव करता है अर्थात् दोनों अवस्थाओं के रूप से स्वयमेव परिणत होता है, दूसरे का [समीर का] नहीं अर्थात् समीर की सचरणासचरणरूप अवस्थाओं के रूप से परिणत नही होता । उसीप्रकार आत्मा में पायी जानेवाली ससंसार और निःसंसार अवस्थाएं सामान्यरूप से उपादानभूत जीव की परिणतिया हं । ससारावस्था [विशिष्ट अर्थात् अशुद्ध–अज्ञानी] जीव की

अशुद्धअवस्था है और निःसंसारावस्था शुद्ध जीव की शुद्धअवस्था है। ये दोनों परिणतियां जीव की इसलिए हैं कि जीव सामान्यरूप से ससंसार और निःसंसार इन दोनों भी अवस्थाओं के आदि, मध्य और अन्त में उनको व्यापकर रहता है। जीव का अस्तित्व होनेपर उसकी दोनों अवस्थाओं का अस्तित्व होना और न होनेपर न होना इस रूप से जीव और उसकी दोनों परिणामरूप अवस्थाएं इनमें अन्वयव्यतिरेक होनेसे उनमें व्याप्यव्यापक-भावरूप संबंध है। यह संबंध अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप हि है–बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप नहीं; क्यों कि जीव अपनी दोनों अवस्थाओं के आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् सर्वथा व्यापकरूप से विद्यमान रहता है। जीव परिणमन-शील होनेपर भी पुद्गलकर्मविपाकरूप निमित्त का साहाय्य मिलनेपर उसके अनादिकाल से चले आये अज्ञान से उसकी ससंसार अवस्था होती है और पुद्गलकर्मविपाक के अभावरूप निमित्त के होनेपर अपनी क्षायिक अवस्था का प्रादुर्भाव हो जानेसे उसकी निःससार अर्थात् शुद्ध अवस्था होती है। पुद्गलकर्मविपाकसभवासंभव और जीव की ससंसार और निःसंसार अवस्थाएं इनमें अन्वयव्यतिरेक का सद्भाव होनेसे यद्यपि इन मे व्याप्यव्यापक-भावरूप संबंध है तो भी वह संबंध आन्तर–आभ्यन्तर नहीं है; क्यों कि पुद्गलकर्म जीव की ससंसार और निःसंसार अवस्थाओं को जीवरूप उपादान के समान आदि, मध्य और अन्त को व्यापता नहीं अर्थात् अपने असाधारणस्वरूप से [अचेतनत्व धर्म से] जीव की उन दोनों अवस्थाओं में विद्यमान नहीं रहता। जीव और पुद्गलकर्मविपाक इनमें जो व्याप्यव्यापकभाव होता है वह जीव की अज्ञान अवस्था होनेपर हि होता है। जीव यदि भेदज्ञानी हुआ तो पुद्गलकर्मविपाक जीव की विभावरूप परिणति के विषय मे अकिंचित्कर बनता है अर्थात् कर्मोदय से जीव क्रोधादिविभावरूप से परिणत नही होता इस बात का स्मरण रखना चाहिये। अतः उन में बहिर्व्याप्यव्यापकभाव होनेपर भी अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप नहीं होता। अतः पुद्गलकर्म का या उसके परिणामो का जीव की उन दोनो अवस्थाओं के विषय मे जीवभूत उपादान का कर्तृत्व जिसप्रकार यथार्थ होता है उसीप्रकार यथार्थ कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। कर्मविपाक से अज्ञानी जीवभूत उपादान में कुछ भी विशेषता सिद्ध नहीं होती ऐसा जो कहा जाता है वह ठीक नहीं है; क्यों कि ऐसी अवस्था में कर्मविपाक का सद्भाव होनेपर भी अज्ञानी जीवरूप उपादान में विशेषता का होना न माना तो अज्ञानी जीव की क्रोधाद्यात्मकविशेष-परिणाम के रूप से परिणति होगी ही नहीं। इसप्रकार पुद्गलकर्म और जीव की ससंसार और निःससार ये दोनों अवस्थाए इनका यथाक्रम उपादान के समान कर्तृत्व और उपादेय के समान कर्मत्व जब सिद्ध हि नहीं हो सकता तब जीव स्वय अन्तर्व्यापक बनकर उसकी उन दोनों अवस्थाओं को आदि, मध्य और अन्त में व्यापकर अपने को परिणमाता हुआ शुद्धनिश्चय की दृष्टि से नित्य चैतन्योपयुक्त होनेसे एकरूप अपने को परिणत करता हुआ प्रतिभासित होता है। वह दूसरे को अर्थात् स्वयं परिणमनशील पुद्गल को कर्मरूप से नहीं परिणमाता अर्थात् पुद्गल की कर्मरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय नही होता। जीव और पुद्गलकर्म या कर्मरूप से परिणत होने की योग्यता रखनेवाला पुद्गल ये दोनो पदार्थ अपने अपने स्वभाव की दृष्टि से परस्पर भिन्न होनेसे, पर-पदार्थ के परिणाम का उससे भिन्न दूसरे पदार्थ के द्वारा अनुभव किया जाना अर्थात् परपदार्थ के परिणाम के रूप से स्वय परिणत होना असभव होनेसे–अशक्य होनेसे जीव और पुद्गल दो परस्पर भिन्न पदार्थ होनेसे इन दोनों में भाव्यभावकभावरूप संबंध का अभाव होनेसे ससारावस्थापन्न और निःससारावस्थापन्न ऐसे अपना हि अनुभव करता है–दूसरे का नहीं। [स. सा. गा. ८३, आ. टी.]

ऊपर उद्धृत किये गये प्रमाण से नीचे दी हुई बातों का परिज्ञान होता है–(१) जो द्रव्य अपने परिणाम को आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् सर्वतः व्यापता है उस द्रव्यको उपादान कहते हैं–वास्तव कर्ता कहते हैं। (२) जो द्रव्य अन्य उपादानभूत द्रव्य के परिणाम को आदि, मध्य और अन्त में व्यापता नहीं किंतु उपादानभूत द्रव्य की परिणति के अनुकूल ऐसी अपनी क्रियादिरूप परिणति से उस उपादान की परिणति मे सिर्फ सहायक होता उस द्रव्य को या उसकी उस विशिष्ट परिणति को निमित्त कहते हैं। ('उपादान की परिणति मे निमित्तभूत द्रव्य अपनी परिणति से सहायक होता है यह कथन असद्भूत व्यवहार का है। अतः परद्रव्य निमित्तरूप से उपस्थित रहता

है ऐसा कहना चाहिये' ऐसा जो कहा जाता है उसका भाव समझ मे नहीं आता। निमित्त का सहायक होने का अर्थ उपादानभूत परद्रव्य के परिणाम को अपने स्वरूप से निमित्तभूत द्रव्य व्यापता है ऐसा नहीं है। अतः 'निमित्तरूप से उपस्थित रहता है' और 'सहायक होता है' इन दोनों वाक्यो का भाव एकहि होनेसे 'सहायक होता है' इस वाक्य के प्रयोग से किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। जो उपादान की परिणति के अनुकूलरूप से परिणत होता है वह द्रव्य निमित्त कहा जाता है; दूसरा नही। निमित्तशब्द से हि उसकी सहायकता का बोध हो जानेसे दोनो वाक्यों का एक हि अर्थ होता है। यदि उपादानभूत द्रव्य की परिणति के विषय में अन्यद्रव्य की अकिंचित्करता अभीष्ट हो तो निमित्तशब्द का प्रयोग करना हि अनुचित है।) (३) उपादान और उसके परिणाम में अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध होता है। (४) निमित्त और नैमित्तिक मे बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध होता है–अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध नहीं। (५) निमित्त और नैमित्तिक के विषय में जिस व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध का प्रतिषेध किया गया है वह अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप हि है–बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप नहीं। (६) परभाव का उससे भिन्न पदार्थ के द्वारा अनुभव नही किया जा सकता–द्रव्य अपने परिणामों का हि अनुभव कर सकता है अर्थात् जिसमे द्रव्य का असाधारण धर्म आदि, मध्य और अन्त में व्यापकर रहता है ऐसे परिणाम के रूप से हि वह द्रव्य परिणत हो सकता है। (७) दो भिन्न पदार्थो मे निमित्तनैमित्तिकभावरूप संबंध होनेपर उनमें बहिर्व्याप्य-व्यापकभावरूप संबंध होनेपर भी भाव्यभावकभावरूप संबंध नहीं होता। (८) द्रव्य और उसके परिणाम में हि यथार्थ भाव्यभावकभावरूप संबंध होता है। (९) निमित्त और नैमित्तिक मे उपादानोपादेयभाव की तरह यथार्थरूप से कर्तृकर्मभाव नहीं होता।

यद्यपि जीवपरिणाम पुद्गलपरिणाम के और पुद्गलपरिणाम जीवपरिणाम के निमित्तमात्र होते हैं तो भी जीवपरिणाम पुद्गलपरिणाम का (उपादान) कर्ता नही हो सकता और पुद्गलपरिणाम उसका कर्म–उपादेय-परिणाम नही हो सकता और पुद्गलपरिणाम जीव परिणाम का (उपादान) कर्ता नहीं हो सकता और जीवपरिणाम उसका कर्म–उपादेय–परिणाम नहीं हो सकता इस अभिप्राय का समर्थन नीचे दिये हुए प्रमाण से होता है।

यतो जीवपरिणाम निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमंति पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोः इतरेतरहेतुत्वोपन्यासेपि जीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापक-भावाभावात् जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्त-नैमित्तिकभावमात्रस्य अप्रतिषिद्धत्वात् इतरेतरनिमित्तमात्रीभवनेन एव द्वयोरपि परिणामः। ततः कारणात् मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणात् जीवः स्वभावस्य कर्ता कदाचित् स्यात्, मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात् पुद्गलभावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः। [स. सा. गा. ८०–८१–८२. आ. टी.]

जीव के परिणाम को निमित्त बनाकर पुद्गल कर्मरूप से परिणत होते हैं और पुद्गलकर्म को या उसके उदयादिरूप परिणामों को निमित्त बनाकर जीव भी (विभावरूप से) परिणत होता है। इसप्रकार जीवपरिणाम पुद्गलपरिणाम का और पुद्गलपरिणाम जीव के (विभावरूप) परिणाम का हेतु (निमित्त) होनेसे जीव और पुद्गल इन दोनो मे परस्परनिमित्तत्व है। ऐसा होनेपर भी व्यापक जीव का पुद्गल व्याप्य नहीं होता और व्यापक पुद्गल का जीव व्याप्य नहीं होता। अतः जीव और पुद्गल मे परस्पर (आन्तर) व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है। अतः जीव पुद्गलपरिणामो का (उपादान) कर्ता सिद्ध नही होता और पुद्गलपरिणामो का कर्मत्व-उपादेयत्व सिद्ध नहीं होता, तथा पुद्गलकर्म भी जीवपरिणामो का (उपादान) कर्ता सिद्ध नहीं होता और जीव-परिणामों का पुद्गलकर्मत्व–उपादेयत्व सिद्ध नहीं होता। इसप्रकार जीव और पुद्गल के कर्तृत्व की और कर्मत्व की सिद्धि न होनेसे निमित्तनैमित्तिकभाव का प्रतिषेध न किया जानेके कारण दोनो के परिणाम एक दूसरे का निमित्तमात्र बन जानेसे हि निष्पन्न हो जाते हैं। उस कारण से मृत्तिका जैसे अपने असाधारणस्वरूप से युक्त

ऐसे अपने परिणामस्वरूप कलश को बनाती है उसीप्रकार अपने असाधारण स्वरूप से युक्त ऐसे अपने परिणाम को उत्पन्न करनेसे जीव अपने (विभावरूप) परिणाम का कदाचित् [सर्वथा और सर्वदा नहीं] कर्ता होता है; किंतु मृत्तिका जिसप्रकार अपने असाधारण स्वभाव से सहित ऐसे कार्पासतन्तूपादानक वस्त्ररूप परिणाम को उत्पन्न नहीं कर सकती उसीप्रकार अपने स्वभाव से युक्त ऐसे परद्रव्योपादानक परिणाम को उत्पन्न करना (सुतरां) अशक्य होनेसे जीव अपने स्वभाव से युक्त ऐसे पुद्‌गल के परिणामों का कभी भी (उपादान) कर्ता नहीं होता यह निश्चय है ।

इस प्रमाण से निम्नलिखित अभिप्रायों का पता चलता है- (१) अध्यात्मशास्त्र में निमित्तनैमित्तिकभाव प्रतिषिद्ध न होनेसे निमित्त ने भी एक विशिष्ट स्थान पाया है [यहां 'विशिष्ट स्थान' इन शब्दों के द्वारा आत्मा और द्रव्यकर्म इनमें सार्वकालिक संबंध है ऐसा कहने का भाव नहीं है और न उनसे सार्वकालिकसंबंध का होना ध्वनित भी होता है । जैसे जैसे आत्मा के ज्ञानगुण का अधिकतर प्रकटन होता है वैसे वैसे आत्मा के साथ होनेवाले निमित्त का संबंध छूटते जाता है । कर्मरूप निमित्त के संबंध का अभाव भेदज्ञान से होता हि है । निमित्तनैमित्तिकभाव-शब्द से हि उपादानभूत जीवद्रव्य से निमित्तभूतद्रव्य का उपादानभूत जीवद्रव्य से स्वभावभेद के कारण पार्थक्य सिद्ध हो जाता है । दो भिन्न द्रव्यों में वास्तव कर्तृकर्मभाव की बात रहने दीजीये । एकवस्तु में जो कर्तृकर्मभाव बताया जाता है वह भेदविवक्षा के आधारपर बताया जाता है । परिणाम और परिणामी इनमें तादात्म्य होनेसे उन दोनों में भेद समझकर व्यवहारनय से कर्तृकर्मभाव की व्यवस्था की गई है । वस्तुतः आत्मा का अपने परिणाम के साथ तादात्म्य होनेसे और परद्रव्य का परिणाम उसका व्याप्य न होनेसे आत्मा का कर्तृत्व हि घटित नहीं होता । यहि हालत निमित्त की भी है । प्रकृत विवेचन ग्रन्थगत विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिए है । ज्ञान का मोहाक्रान्त ज्ञानरूप से परिणमन करानेके लिए नहीं ।] (२) एक द्रव्य उपादानरूप से दूसरे द्रव्य के परिणाम का कर्ता नहीं बन सकता और दूसरे द्रव्य का परिणाम उससे भिन्न द्रव्य का उपादेय नहीं बन सकता ।(३) निमित्त उपादानभूत अन्य द्रव्यों के परिणाम का उपादानस्वरूप कर्ता कदापि नहीं बन सकता ।

यहांतक निमित्त और उपादान के विषय में यथाशक्ति विवेचन किया गया है । अब खास तौरपर कर्म-रूप निमित्त के विषय में जो विचार है वे विद्वान् पाठकों के सामने सप्रमाण रखे जाते हैं । जीव की विभावरूप परिणतियां कर्म के क्षयोपशमरूप और उदयरूप निमित्त से होती हैं और स्वभावरूप परिणतियां क्षयरूप और उप-शमरूप निमित्त से होती हैं । इन दोनों परिणतियों के विषय में कालद्रव्य भी निमित्तकारण पडता है । शुद्ध द्रव्य की शुद्धपरिणतियों का कालद्रव्य हि निमित्तकारण पडता है । प्रमाण देखिए--

न खलु कर्मणा विना जीवस्योदयोपशमौ क्षयक्षयोपशमावपि विद्येते । ततः क्षायिकक्षायोप-शमिकश्चौदयिकौपशमिकश्च भावः कर्मकृतोऽनुमन्तव्यः । पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरुपाधिः स्वाभा-विक एव । क्षायिकस्तु स्वभावव्यक्तिरूपत्वात् अनन्तोपि कर्मणः क्षयेणोत्पद्यमानत्वात् सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः । औपशमिकस्तु कर्मणामुपशमे समुत्पद्यमानत्वात् कर्मकृत एवेति । अथवा उदयो-पशमक्षयक्षयोपशमलक्षणाश्चतस्त्रो द्रव्यकर्मणामेवावस्थाः; न पुनः परिणामलक्षणैकावस्थस्य जीवस्य । तत उदयादिसञ्जातानामात्मनो भावानां निमित्तमात्रभूततथाविधावस्थत्वेन स्वयं परिणमनाद्‌द्रव्य-कर्मापि व्यवहारनयेनात्मनो भावानां कर्तृत्वमापद्यते । [पञ्चा. गाथा ५८ त. प्र. टी.]

जीव के उदय (औदयिकभाव), तथा क्षय (क्षयिकभाव) और क्षयोपशम (क्षायोपशमिकभाव) भी वस्तुतः कर्म के विना अर्थात् कर्म के अभाव में नहीं होते । जब ये चारों भाव कर्म के अभाव में नहीं होते तब क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और औपशमिक भाव कर्मकृत हैं-कर्म के निमित्त से जीव के परिणाम के रूप से उत्पन्न हुए होते हैं ऐसा जानना (व्यवहारनय की दृष्टि से इनका कर्ता कर्म है ऐसा जानना) । पारिणामिकभाव जो है वह

अनादि – अनिधन (अविनश्वर) उपाधिरहित (कर्मजनित न होनेवाला) ऐसा स्वाभाविकभाव है ऐसा जानना। क्षायिकभाव जो है वह स्वभावव्यक्तिरूप होनेसे अनन्त (अन्तरहित) होनेपर भी कर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाला होनेसे सादि होनेके कारण कर्मकृत हि है (अर्थात् निमित्तकर्ता पुद्गलकर्म है ऐसा जानना)। औपशमिकभाव कर्मों का उपशम होनेपर उत्पन्न होनेवाला होनेसे और कर्मों के उपशम का अभाव होनेपर विनष्ट होनेवाला होनेसे कर्मकृत हि है। अथवा उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये चारों अवस्थाएं द्रव्यकर्मों की है; परिणामरूप एक अवस्था- वाले जीव की नहीं। इसलिए कर्मों के उदयादि से उत्पन्न हुए आत्मा के जो परिणाम हैं वे निमित्तमात्रभूत उस प्रकार की अवस्थाओं के रूप से अपने आप परिणत हो जानेसे द्रव्यकर्म भी व्यवहारनय की अपेक्षासे आत्मा के भावों के कर्तापन को प्राप्त होता है।

निमित्त का कर्तृत्व व्यवहारनयाश्रित है यह अभिप्राय स्वयं टीकाकार ने व्यक्त किया है। जब निमित्त उपादान के परिणाम को अपने स्वरूप से सर्वतः हि नहीं अपि तु अंशतः भी व्यापता नहीं तब निमित्त को कर्ता कहना निश्चय की दृष्टिसे कैसे सभवनीय है? परिणमनशील द्रव्य यद्यपि स्वयं कार्य के रूप से परिणत होता है तो भी परिणाम में जो वैशिष्टय आविर्भूत होता है उसकी प्रादुर्भवनक्रिया में निमित्तभूत परद्रव्य अपने स्वरूप से परिणाम के बाहर रहकर सिर्फ सहायक होनेसे उसे उपचारसे–व्यवहारनय की दृष्टी से कर्ता कहा जाता है। उपादान के उपादेयभूत परिणाम में आविर्भूत होनेवाला वैशिष्टय निमित्त के या उसकी वैशिष्टयानुकूल क्रिया के अभाव में आविर्भूत न होनेसे निमित्त को कथंचित् कर्ता कहा गया है, फिर भले हि वह कथन उपचरित या व्यवहारनयाश्रित हो। अतः उसे सर्वथा अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता। अन्यद्रव्य के समान यदि निमित्तभूत द्रव्य भी सर्वथा अकिंचित्कर होता है तो जिसप्रकार उपादान के कार्यरूप से परिणत होने के समय अन्यद्रव्य का ज्ञान करानेकी आवश्यकता महसूस नहीं होती उसीप्रकार निमित्त का ज्ञान करानेकी आवश्यकता नहीं है। अतः औदयिकादिभाव कर्मकृत होने है ऐसा जो आचार्य अमृतचंद्रसूरी ने कहा है वह एक दृष्टि से यथार्थ होनेसे अस्वस्थ हो जानेकी आवश्यकता नहीं है। अज्ञानी जीव की विभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया और द्रव्यकर्मरूप निमित्त की जीव की विभावरूप से परिणत होने की क्रिया के अनुकूल क्रिया इनमें होनेवाला निमित्तनैमित्तिकभाव या व्यवहारनयाश्रित कर्तृकर्मभाव अनादिकाल से चला आया है तो भी भेदज्ञानोत्पत्ति के बाद वह क्रम से छूटता हुआ अन्त में पूर्णरूप से छूटता है इसलिये हि तो द्रव्यकर्म का जीवगतविभावभावों का कर्तृत्व उपचरित या व्यवहारनया- श्रित है ऐसा कहा गया है।

इस प्रमाण से '(१) उदयादि अर्थात् अज्ञानी जीव के औदयिकादिरूप चारों भावों का [निमित्तमात्ररूप] कर्ता पुद्गलपरिणामात्मक द्रव्यकर्म है, (२) अज्ञानी आत्मा औदयिकादि भावों के रूप से स्वयमेव परिणत होती है और (३) द्रव्यकर्म औदयिकादिभावों के कर्तापन को व्यवहारनय की अपेक्षा से प्राप्त होता है' इन तीन बातोंका परिज्ञान होता है।

'अज्ञानी जीव की क्षायिकभावरूप परिणति कर्म के अभावरूप निमित्त से होती है यह कैसे? कर्मों का अभाव क्षायिकभाव का कर्ता या निमित्त कैसे बन सकता है? अतः जीव के क्षायिकभाव को कर्मरूपनिमित्तकर्तृ- कता कैसे सभवनीय हो सकती है?' इसप्रकार की शंका उपस्थित की जा सकती है। समाधान–कर्म के क्षय का अर्थ उसका सर्वथा विनाश अर्थात् तुच्छाभाव नहीं है। उसका अर्थ है कर्म की फल देनेकी अर्थात् जीवपरिणाम को विशिष्ट विभावात्मक बनानेकी शक्ति का अभाव होना और कर्मनिषेकों का आत्मद्रव्य से पृथग्भाव होना है। कर्म की पृथग्भवनक्रियारूप परिणति और जीव की शुद्धावस्था की प्राप्तिरूप परिणति ये दोनो परिणतियां समकाल- भाविनी होती है। ऐसा होते हुए भी उन दोनो में बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध होनेसे निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव होनेसे कर्माभाव की निमित्तता बाधित नहीं होती। आम्रवृक्ष और आम्रफल में होनेवाले संयोग का अभाव आम्रफल की पतनक्रियारूप परिणति का निमित्त होता है, क्यों कि संयोग अपने स्वरूप से आम्रफल की पतनक्रिया- रूप परिणति में-परिणाम में अन्वित नहीं होता और संयोग के अभाव के बिना आम्रफल की पतनक्रियारूप परिणति

नहीं होती। अतः अभाव भी निमित्तकारण बन सकता है। आचार्यप्रवर भगवान् श्री अमृतचंद्रसूरीश्वरने ऊपर उद्धृत की हुई टीका में क्षायिकभाव को कर्मकृत बताकर इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है।

निमित्त कुछ करता नहीं अर्थात् निमित्त कथंचित् अकिंचित्कर है—

यहांतक उपादान और निमित्त के स्वरूपपर विचार किया गया। निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर नहीं है इस बात का प्रतिपादन करनेके बाद अब निमित्त की कथंचित् अकिंचित्करता के विषय में कुछ लिखा जाना आवश्यक है। उपादान के उपादेयभूत परिणाम को-कार्य को निमित्त अपने असाधारण स्वरूप से व्यापता नहीं इसलिए वह कथंचित् अकिंचित्कर है। उस की उस अकिंचित्करता के कारणों का निर्देश किया जाता है।

(१) उपादान का उपादेय–परिणाम–कार्य अन्यद्रव्यहेतुक होनेसे नैमित्तिक कहा जाता है। निमित्त का अभाव होनेपर उपादान की नैमित्तिकरूप–परिणामरूप परिणति नहीं होती। अतः निमित्त और नैमित्तिक में व्याप्य-व्यापकभाव जरूर होता है; किन्तु निमित्त अपने स्वरूप से नैमित्तिक में सद्भूत न होनेसे उन दोनों मे होनेवाला संबंध बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप हि होता है। उनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध होनेपर भी अन्तर्व्याप्यव्यापक-भावरूप संबंध न होनेसे जिसप्रकार का उपादान और उसका परिणाम इनमें कार्यकारणभाव होता है उसप्रकार का कार्यकारणभाव निमित्त और नैमित्तिक इनमें नहीं होता। जिसप्रकार निमित्त का कर्तृत्व उपचरित होता है उसी-प्रकार नैमित्तिक का कर्मत्व भी उपचरित होता है। जिसप्रकार उपादान अपने उपादेय नैमित्तिक को सभी अंशों को अपने स्वरूप से व्यापनेके कारण कर्ता कहा जाता है उसीप्रकार निमित्त उपादेय–नैमित्तिक की सभी अंशों को अपने स्वरूप से न व्यापने के कारण उसको उपादेय–नैमित्तिक का वास्तव कर्ता नहीं जा कहा सकता। अतः निमित्त कुछ नहीं करता।

(२) उपादेय के–कार्य के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे जिसप्रकार उपादानभूत द्रव्य अपने उपादेयभूत परिणाम का कर्ता कहा जाता है उसीप्रकार निमित्त उपादान की परिणतक्रिया के अनुकूल अपनी परिणतक्रिया का आश्रय होनेपर भी उपादान की तरह उपादान की परिणतिक्रिया का आश्रय न होनेसे उपा-दान के समान निमित्त कर्तृसंज्ञा को प्राप्त हि नहीं होता। अतः निमित्त कुछ करता नहीं।

(३) भाव्यशब्द का विभावरूप से परिणत होनेकी योग्यतायुक्त होनेवाला और भावकशब्द का विभा-वरूप से परिणत करनेवाला ऐसा अर्थ है। रागादिरूप से परिणत होनेकी योग्यता से युक्त अज्ञानी आत्मा भाव्य है और उदयागत मोहनीयसंज्ञक द्रव्यकर्म भावक है अथवा जीव की विभावरूप परिणति पुद्गल की कर्मरूप परिणति की भावक है और पुद्गल या उसकी कर्मरूप परिणति भाव्य है। यह भाव्यभावकभाव उपचरित है। भाव्यरूप आत्मा और भावकरूप मोहनीयसंज्ञकद्रव्यकर्म ये दोनों सर्वथा भिन्न पदार्थ होनेसे और द्रव्यमोहनीयकर्म अचेतन होनेसे, वैभाविकभावात्मक चैतन्यान्वित परिणामों का अचेतनद्रव्यकर्मरूप से व्याप्त होना असंभव होनेसे और आत्मरूप द्रव्यपर्याय का मोहनीयकर्मरूप अचेतन द्रव्य के द्वारा अनुभव किया जाना अर्थात् अन्यद्रव्य के स्वभाव-रूप से परिणत होना असंभव होनेसे दो भिन्नस्वभाववाले द्रव्यो में भाव्यभावकभावरूप संबंध का परमार्थतः होना असंभव है। निमित्तभूत द्रव्यकर्म और आत्मा ये दोनों पदार्थ परस्परभिन्न हैं। अतः परमार्थतः न निमित्त भावक है और न आत्मा भाव्य है। उसीप्रकार न अज्ञानी आत्मा भावक है और न निमित्तभूत द्रव्यकर्म भाव्य है। इसप्रकार इन दोनों द्रव्यों में वास्तव भाव्यभावकभाव न होनेसे निमित्त कुछ करता नहीं। यद्यपि अशुद्ध आत्मा और उसके वैभाविकभाव इनमें वास्तव भाव्यभावकभाव होनेसे अशुद्ध आत्मा को परमार्थतः भावक और उसके वैभाविकभावों को भाव्य कहा जा सकता है तो भी शुद्ध आत्मा से अशुद्ध आत्मा अपनी अशुद्धता के कारण भिन्नावस्थ होनेसे भिन्नद्रव्यरूप होनेके कारण अशुद्ध आत्मा के वैभाविकभाव और शुद्ध आत्मा इनमें भाव्यभावकभाव हो हि नहीं सकता। उक्तजातीय भाव्यभावकभाव का शुद्ध आत्मा के साथ किसी प्रकार का भी संबंध नहीं है।

(४) निश्चय की दृष्टि से वैभाविकभावों का अशुद्धोपादानभूत आत्मा हि कर्ता होनेसे और निमित्त सिर्फ

सहकारी होनेसे निमित्त का कर्तृत्व असंभव है। अतः निमित्त कुछ करता नहीं।

(५) द्रव्य विभावपरिणामाभिमुख न हो तो निमित्त कभी भी कुछ करता नहीं। इस का अभिप्राय यह है कि आत्मा समर्थ बन जानेपर अर्थात् भेदज्ञान से युक्त हो जानेपर-व्यज्यमान सामर्थ्य से युक्त हो जानेपर जितने प्रमाण में सामर्थ्य की वृद्धि होती जायगी उतने प्रमाण में कर्मोदयरूप निमित्त क्लीब-असमर्थ बनता जायगा और फलदानरूप अपनी अर्थक्रिया करने की सामर्थ्य से विकल बन जायगा। अतः निमित्त कुछ करता नहीं। श्रीसमय-सारग्रंथ की तात्पर्यवृत्ति इस विषय में प्रबोधक होनेसे देखनेके योग्य है। देखिए–

'उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वस्वभावं मुक्त्वा रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमति तदा बन्धो भवति, नैवोदयमात्रेण, घोरोपसर्गेऽपि पाण्डवादिवत्।' [स. सा. गा. १३३ से १३६, ता. वृ. टी. १९६–१९७, नि. सा. सं.]

द्रव्यकर्म उदयप्राप्त होनेपर जीव जब अपने स्वभाव को छोडकर रागादिविभावभावरूप से परिणत होता है तब जीव के कर्मबन्ध होता है, केवल कर्म के उदयमात्र से [नये कर्म का] बंध नहीं होता। पाण्डवों को जब घोर उपसर्ग सहन करना पडा तब उनके अशुभकर्म का और असातावेदनीय कर्म का उदय था; किन्तु अपने आत्मा के यथार्थ स्वभाव को छोडकर वे रागादिविभावभावरूप से परिणत नहीं हुए। परिणामतः उनको (तीन पाण्डवों को) मुक्ति की प्राप्ति हो गई। इसका मतलब यह है कि निमित्त का सद्भाव होनेपर भी जब आत्मा अपने स्वभाव से च्युत नहीं होती तब निमित्त का सद्भाव होनेपर भी वह कुछ नहीं कर सकती। जो आत्मा भेदज्ञान से वंचित होती है वही स्वयं असमर्थ होनेसे निमित्त के मिलते हि विभावरूप से परिणत होकर नये कर्म का बंध करती है। अतः निमित्त कुछ करता नहीं।

(६) जो अपने परिणाम–कार्य मे, घटरूप अपने कार्य में मृत्तिका के समान, अपने असाधारण स्वरूप से विद्यमान रहता है वही उन परिणामों का यथार्थ (उपादानभूत) कर्ता कहा जाता है। जो कार्य में अपने असाधारण स्वरूप को लिए हुआ कार्य में अन्वित नहीं होता वह परमार्थतः कर्ता नहीं कहा जा सकता। घटरूप कार्य में मृत्तिका अपने असाधारण स्वरूप मे अन्वित होनेसे वह उस घटरूप कार्य का कर्ता कही जाती है। कुम्हार अपने शरीर से और चैतन्यस्वरूप से घट में अन्वित हुआ नही पाया जाता। अतः उसकी पारमार्थिकी कर्तृसंज्ञा नहीं हो सकती। द्रव्यकर्म का रागादिभावरूप आत्मा के विभावपरिणामो मे अपने अचेतनस्वभाव से और आत्मा का पुद्गल के द्रव्यकर्मरूप परिणाम में अपने चेतनस्वभाव से अन्वय नहीं पाया जाता। अतः द्रव्यकर्म और भावकर्म इनमे निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर भी निमित्तभूत द्रव्यकर्म और निमित्तभूत भावकर्म उपादेय के–नैमित्तिक के विषय में कर्तृसंज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः निमित्त कुछ नहीं करता।

(७) द्विक्रियावादित्व का प्रसंग खडा हो जानेसे निमित्त कुछ करता नहीं। प्रमाण–

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोस्ति भिन्ना। परि-णामोपि परिणामपरिणामिनोः अभिन्नवस्तुत्वात् परिणामिनो न भिन्नः। ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतः न भिन्ना। इति क्रियाकर्त्रोः अव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति, भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवः, तथा व्याप्य-व्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि कुर्यात्, भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च। ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रिया-द्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजन्त्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मि-थ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात्। [स. सा. गा. ८५, आ. टी.]

"जितनी भी क्रियाएं है उनका स्वरूप परिणाम के स्वरूप से अभिन्न होनेसे वे परिणाम से भिन्न नहीं है।

परिणाम और परिणामी इनमें भिन्नत्व न होनेसे परिणाम भी परिणामी से भिन्न नहीं है। उसी कारण से जितनी भी क्रियाएं हैं वे सभी अपने अपने क्रियावान् से भिन्न भिन्न नहीं है। इसप्रकार क्रिया और क्रियाश्रयभूत उसका कर्ता इनकी अभिन्नता वस्तुस्वरूप की अपेक्षा से स्पष्टरूप से प्रकट होनेसे जिसप्रकार जीव अपनेमें और अपने परिणाम में होनेवाले अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव के कारण अपने परिणामों को करता है और अपनेमें और अपने विभावपरिणाम में भाव्यभावकभाव होनेसे अपने विभावपरिणाम का अनुभव करता है उसीप्रकार वह जीव यदि पुद्‌गलोपादानक कर्मरूप परिणाम में और अपनेमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव है इसप्रकार मानता हुआ पुद्‌गलोपादानक कर्म को करेगा और पुद्‌गलपरिणामरूप कर्म में और अपनेमें यथार्थ भाव्यभावकभाव का अस्तित्व स्वीकार कर पद्‌गलपरिणामभूत द्रव्यकर्म का अनुभव करेगा तो जिसका अपने साथ तादात्म्यसंबंध है ऐसी क्रिया और जिसका पुद्‌गलरूप अन्य द्रव्य के साथ तादात्म्यसंबध है ऐसी क्रिया इनकी अभिन्नता का [एकत्व का] प्रसंग उपस्थित हो जानेपर अपनेमें और पुद्‌गलरूप अन्यद्रव्य में जो परस्पर भिन्नता है उस का अभाव हो जानेसे जीव अनेकस्वरूप (चेतनाचेतनस्वरूप) से अपनी एक आत्मा का अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टि होने के कारण सर्वज्ञ श्रीजिनेन्द्र-भगवान् के द्वारा तिरस्कृत हो जायगा।"

परिणाम का जो स्वरूप है वही क्रिया का स्वरूप होनेसे क्रिया परिणाम से भिन्न नहीं है अर्थात् क्रिया और परिणाम दोनों एक हि हैं—उनमें भेद नहीं है अर्थात् परिणाम के स्वरूप की अपेक्षा से दोनों कथंचित् समान हैं। परिणाम और परिणामी में तादात्म्यसंबंध होनेसे—एक वस्तु होनेसे परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं है— दोनों का एकवस्तुत्व है। सभी क्रियाएं अपने क्रियावान् से भिन्न न होनेके कारण क्रियाओं और कर्तृरूप क्रियावानों की अभिन्नता परमार्थतः प्रकट होती है। जीव और जीव की विभावपरिणामरूप से परिणत होनेकी क्रिया इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप संबंध होनेसे जीव अपने विभावपरिणाम को करता है और विभावपरिणाम और अज्ञानी जीव इनमें अभेद होनेसे होनेवाले भाव्यभावकरूप संबंध से जीव अपने परिणामों का अनुभव करता है। यह ठीक है, किंतु जीव और पुद्‌गलोपादानक कर्म के विषय में कर्तृकर्मत्व और भोक्तृभोग्यत्व ये संबंध परमार्थतः घटित नहीं होते। जीव और पुद्‌गलोपादानक कर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं हो सकता; क्यों कि जीव चेतनस्वरूप होनेसे और पुद्‌गलकर्म अचेतनस्वरूप होनेसे दोनों पदार्थ परस्पर भिन्न हैं। हां! इनमें बहिर्व्याप्यव्यापक-भाव अवश्य होता है। इस बहिर्व्याप्यव्यापकभाव को अन्तर्व्याप्यव्यापकभावरूप समझकर जीव यदि पुद्‌गलोपादानक कर्म को भी जिसप्रकार अपने विभावपरिणाम को करता है उसीप्रकार यदि करने लग जाय तो और वे दोनों परस्परभिन्न पदार्थ होनेसे वास्तविक भाव्यभावकभाव न होनेपर भी जीव यदि अपने में और पुद्‌गलकर्म में वास्तविक भाव्यभावकभाव के अस्तित्व को स्वीकार कर पुद्‌गलोपादानक कर्मरूप परिणाम का अनुभव करने लग जाय तो अनिष्ट प्रसंग खड़ा हो जायगा। रागादिविभावरूप से परिणत होनेकी जीवाश्रित क्रिया का अपने आश्रय-भूत अशुद्ध जीव के साथ तादात्म्यसंबंध है और कर्मात्मकविभावरूप से परिणत होनेकी पुद्‌गलाश्रितक्रिया का पुद्‌गल के हि साथ तादात्म्यसंबंध है। जिसप्रकार जीव रागाद्यात्मकविभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया का अपनी क्रिया के साथ तादात्म्यसंबंध होनेसे आश्रय बनता है उसीप्रकार वह यदि पुद्‌गल की कर्मरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय बनेगा तो उस क्रिया का जीव के साथ तादात्म्यसंबंध सिद्ध हो जायगा। अशुद्ध जीव और चेतनान्वित रागादिविभावपरिणाम इनमें अभेद होनेसे इनमें भाव्यभावकभाव का होना असम्भव नहीं है; किंतु जीव और पुद्‌गल का विभावपरिणामात्मक कर्मरूप परिणाम इनमें स्वभावभेद होनेसे परस्परभिन्नत्व होनेके कारण वास्तविक भाव्यभावकभाव का होना असंभव है। पुद्‌गलकर्म और जीव दोनों परस्परभिन्न होनेपर भी यदि उनमें वास्तविक भाव्यभावकभाव का अस्तित्व स्वीकार किया गया तो जीव और पुद्‌गलकर्म या पुद्‌गल की कर्मरूप से परिणत होनेकी क्रिया इनमें अभेद की सिद्धि हो जाने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इसप्रकार रागादिभावात्मक-विभावपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी चेतनान्वित क्रिया का और पुद्‌गल की कर्मरूप से परिणत होनेकी चेतनशून्य क्रिया का जीव के साथ अभेद सिद्ध हो जायगा और उन दोनों विजातीय क्रियाओं का जीव के साथ

अभेद सिद्ध हो जानेपर उन दोनों क्रियाओं का अभिन्नत्व बिनायास सिद्ध हो जायगा। उन दोनों भिन्नस्वभाववाली क्रियाओं का जीव के साथ अभेद सिद्ध हो जानेपर और दोनों क्रियाओं की परस्परभिन्नता का अभाव अर्थात् उन दोनों का एकत्व सिद्ध हो जानेपर जीवद्रव्य अचेतनस्वभाववाला भी बन जायगा। ऐसा होनेपर जीव और पुद्गल इनका भिन्नद्रव्यत्व नष्ट हो जायगा। इससे जीव चेतनस्वभाव और अचेतनस्वभाव भी बन जायगा। ऐसे अनेकभावात्मक एक आत्मद्रव्य का होना असंभव है। इस चेतनाचेतनरूपविरोधिस्वभावात्मक एक आत्मा का अनुभव करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि हि है; क्यो कि एक द्रव्य का सहानवस्थायी अत एव विरोधी स्वभावों से युक्त होना मिथ्या है–भ्रांत है।

विभावरूप से परिणत हुआ जीव पुद्गल की कर्मरूप परिणति का निमित्तकारण है। निमित्तकारण उपादानकारणरूप बन गया तो द्विक्रियावादित्व या द्विक्रिया–अव्यतिरिक्तत्व नाम का दोष उत्पन्न होता है। निमित्तरूप पुद्गल जीव के विभावपरिणामों के विषय में उपादान बन गया तो यहि दोष खडा हो जाता है। इस दोष के परिहार के लिए यदि निमित्तभूत पुद्गल जीव के असाधारण स्वरूप को या निमित्तभूत जीव पुद्गल के असाधारण स्वरूप को ग्रहण करता है ऐसा माना तो भी द्विक्रियाऽव्यतिरिक्तत्वनाम का दोष तदवस्थ बना रहता है; क्यो कि कौनसा भी द्रव्य अपने स्वभाव का परित्याग नही करता और यदि द्रव्य अपने स्वभाव का त्याग करता है ऐसा माना तो चेतन की अचेतनरूप से और अचेतन की चेतनरूप मे परिणत होने की मुसीबत खडी हो जायगी। अतः निमित्त कुछ करता नही यह अभिप्राय निर्दोष है।

(८) उपादानभूत द्रव्य स्वस्वभावान्वित उपादेय का–परिणाम का अनुपचरित–वास्तव–यथार्थ कर्ता है। निमित्त उपादेय–परिणाम–नैमित्तिक का उपचरित कर्ता है; क्यो कि वह नैमित्तिक को अर्थात् उपादान के परिणाम को अपने स्वरूप से पूर्णतः व्यापता नहीं। अतः निमित्त का कर्तृत्व उपचरित होनेसे 'निमित्त कुछ करता नहीं' यह अभिप्राय अबाधित है।

(९) निमित्त में उपादान का स्वरूप घटित न होनेसे और निमित्त उपादेय से सर्वथा भिन्न होनेसे वह उपादान का बलाधायक होनेपर भी उपादेय के विषय मे निमित्त कुछ नही कर सकता। 'बलाधायक' इस शब्द का अर्थ 'बल देनेवाला' ऐसा करना अध्यात्मशास्त्र के विषय में अपनी अल्पज्ञता या अनभिज्ञता को प्रकट करना है। शक्ति और शक्तिमान् में तादात्म्य होनेसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को अपनी शक्ति का कदापि प्रदान नही कर सकता। अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से 'बलाधायक' इस शब्द का अर्थ '(दूसरे द्रव्य की) शक्ति को उत्तेजित-प्रबोधित करनेवाला' ऐसा है। ऐसा होते हुए भी एक द्रव्य का बलाधायक होना भी व्यवहारनयाश्रित हि है; क्यों कि बलाधायक द्रव्य का उपादानभूत द्रव्य के बल की व्यक्तीभवनात्मक परिणतिक्रिया में अपने स्वरूप से अन्वय नहीं पाया जाता। अतः उपादान की उपादेयरूप परिणति के विषय में निमित्त अकिंचित्कर है अर्थात् वह कुछ नहीं करता।

(१०) उपादान, उसका कार्यरूप परिणाम और उपादानाश्रित परिणतिक्रिया इनमें तादात्म्य होनेसे कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद होता है। निमित्त, उपादान का नैमित्तिकसंज्ञक परिणाम और उपादानाश्रित उपादेय के रूप से परिणत होनेकी क्रिया इनमें स्वरूपभेद, अर्थक्रियाभेद और उपादान की परिणतिक्रिया का आश्रय न होना इन कारणों से सर्वथा भेद होता है। अतः उपादेयभूत नैमित्तिक के विषय में निमित्त कुछ करता नहीं।

(११) उपादानजातीय परिणाम के रूप से दो विजातीय अत एव विभिन्न द्रव्यों का उपादानजातीय परिणमन असम्भव होनेसे निमित्त कुछ करता नहीं। सुवर्णजातीय गहने का सुवर्ण हि उपादानभूत द्रव्य होता है। सुवर्ण और सुवर्णकार दोनों मिलकर सुवर्ण के गहने के रूप से परिणत नहीं हो सकते; क्यों कि उपादानभूत सुवर्ण अचेतन होता है और निमित्तभूत सुवर्णकार चेतन होता है। सोना और चांदि मिलाकर गहना बनाया जा सकता है; किंतु उन दोनो में निमित्तनैमित्तिकभाव न होनेसे, दोनो अचेतनस्वभाव होनेके कारण विरोधिस्वभाववाले न

होनेसे और गहना सिर्फ सुवर्णजातीय या रजतजातीय न होनेसे अर्थात् अशुद्धद्रव्यजातीय होनेसे उन दोनों का गहना बन सकता है । चांदि सुवर्ण के रूप से परिणत होकर सौवर्णालंकार का उपादान नहीं बन सकती । निमित्त-भूत सुवर्णकार भी सोनारूप से परिणत होकर अलंकाररूप से परिणत नहीं होता । अतः निमित्त उपादान के रूप से परिणत होकर उपादेय का कर्ता न बनने से निमित्त कुछ नहीं करता । प्रमाण—

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यनेकमनेकमेव सदा ॥ ५३ ॥ [स. सा. क.]

अर्थ— दोनों कार्यरूप से परिणत नहीं होते । दोनों से परिणाम नहीं उत्पन्न होता । परिणति दोनों की नहीं होती । जो भिन्न होता है वह सदा हि भिन्न होता है ।

खुलासा— उपादान के परिणाम के रूप से उपादान और निमित्त दोनों मिलकर परिणत नहीं होते; क्यों कि उपादान का स्वरूप और निमित्त का स्वरूप ये दोनों परस्परभिन्न होते हैं और परिणाम सिर्फ उपादानजातीय ही होता है। उपादान के परिणाम की उत्पत्ति उपादान और निमित्त इन दो भिन्नजातीय द्रव्यों मे नहीं होती, क्यों कि परिणाम में उपादान और निमित्त इन दो भिन्नजातीय और भिन्नस्वभाववाले द्रव्यों का स्वरूप नहीं पाया जाता । उपादान की परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का उपादानभूत द्रव्य और निमित्तभूत द्रव्य आश्रय नहीं होते; क्यों कि परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का उपादानभूत द्रव्य के साथ हि तादात्म्यसंबंध होता है-भिन्नस्वभाव-वाले निमित्तभूत द्रव्य के साथ नहीं, फिर भले हि निमित्त उपादान की परिणमनक्रिया के अनुकूल ऐसी अपनी क्रिया का आश्रय हो । जो द्रव्य अर्थात् निमित्तभूत द्रव्य उपादानभूत द्रव्य से या उपादानभूत द्रव्य निमित्तभूत द्रव्य से भिन्न होता है-वह सदाके लिए भिन्न होता है—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप से परिणत होकर दूसरे द्रव्य के साथ कदापि एकता को—अभिन्नता को प्राप्त नही होता । [इस अभिप्राय के समर्थन के लिए देखो गा. ८६, आ. टी.]

(१२) उपादानजातीय परिणाम में उपादान का हि स्वभाव पाया जाता है; क्यों कि उपादान अपने परिणाम को अपने असाधारणस्वरूप से सर्वतः व्यापता है। अतः परिणाम में उपादान का स्वरूप पाया जा सकता है। उपादान की परिणामिकी शक्ति को निमित्त प्रबोधित करता है इसका अर्थ निमित्त उपादान के परिणाम को अपने असाधारणस्वरूप से सर्वतः व्यापता है ऐसा नहीं है । अतः परिणाम में सिर्फ उसके उपादान का हि स्वरूप पाया जाता है—निमित्त का असाधारणस्वरूप नहीं पाया जाता । परिणाम में द्विस्वभावत्व का अभाव होनेसे उस परिणाम के दो विभिन्न और विजातीय द्रव्य उपादान नहीं बन सकते । निमित्त और उपादान दो विभिन्न और विजातीय द्रव्य होनेसे निमित्तभूत परद्रव्य एक स्वभाववाले परिणाम का उपादान होना असंभव होनेसे निमित्त कुछ नहीं कर सकता यह अभिप्राय प्रकृत दृष्टि से अबाध्य है ।

(१३) उपादान की परिणामरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय उपादानभूत द्रव्य होना है और उपादान की परिणाम के स्वरूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल क्रिया का आश्रय निमित्तभूतद्रव्य होता है । दोनों क्रियाएं समानाधिकरण न होनेसे अर्थात् भिन्नाधिकरण होनेसे उपादानाश्रित परिणामरूप से परिणत होनेकी क्रिया का अभाव होनेपर सिर्फ निमित्ताश्रित क्रिया नैमित्तिक की—उपादेय की—परिणाम की निर्मिति नहीं कर सकती । अतः निमित्त कुछ नही करता ।

(१४) भिन्नस्वभाववाला एक द्रव्य का अन्यस्वभाववाले दूसरे द्रव्य के उपादानस्वरूपान्वित परिणाम का उपादानकर्ता बनना असंभव होनेसे और निमित्त भिन्नस्वभाववाला अन्य द्रव्य होनेसे अन्य द्रव्य के परिणाम का उपादानकर्ता बनना असंभव होनेसे वह कुछ नहीं करता ।

(१५) परिणतिक्रिया का आश्रयभूत उपादान परिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे जिसप्रकार स्वतंत्र होता है उसीप्रकार उपादेयरूप से परिणत होनेकी क्रिया का निमित्तभूतद्रव्य आश्रय न होनेसे उपादान की तरह स्वतंत्र

न होनेके कारण निश्चयनय की दृष्टि से कर्ता न होनेसे वह कुछ नहीं कर सकता। जिसप्रकार उपादान कार्यरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे स्वतंत्र होता है उसीप्रकार 'प्रधानीभूतधात्वर्थक्रियाश्रयत्वमित्यं स्वातन्त्र्यं' इस स्वातन्त्र्यलक्षण के अनुसार उपादान की कार्यरूप परिणति के अनुकूल ऐसी अपनी परिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे निमित्त भी जरूर स्वतंत्र है; किंतु उपादान जिस कार्यरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता है वह उसकी परिणतिक्रिया के साथ तादात्म्यसंबंध को जिसप्रकार प्राप्त हुआ होता है उसीप्रकार उपादान की उसी परिणतिक्रिया के साथ तादात्म्यसंबंध को प्राप्त हुआ न होनेसे निमित्त की स्वतंत्रता उपादान की कार्यरूप परिणति के विषय में सिद्ध नहीं हो पाती। अतः निमित्त कुछ करता नहीं।

(१६) निमित्तभूत और उपादानभूत द्रव्यों का विभावरूप परिणमन औदयिकभावों की अपेक्षा से दोनों द्रव्यों की संयुक्त अवस्था होनेपर होता है और स्वभावपरिणमन असंयुक्त अवस्था में होता है। अतः विभावपरिणतियों की उत्पत्ति निमित्त और उपादान की संयुक्तावस्था होनेपर होती है। अतः वैभाविकभावों का न सिर्फ उपादान हि कर्ता हो सकता है और न सिर्फ निमित्त भी। अतः अकेला निमित्त कुछ नहीं करता। 'अज्ञानी जीव की विभावरूप परिणति का कर्ता तो उपादान हि है। उपादानभूत द्रव्य की कार्यरूप परिणति के समय निमित्त और उपादान इनका अस्तित्व होता हि है; किंतु दोनों मिलकर—संयुक्त होकर परिणाम की निष्पत्ति नहीं करते या उन दोनों के होनेपर परिणाम निष्पन्न नहीं होता।' इस प्रकार की एक शंका उपस्थित की जा सकती है। शंका समाधान की दृष्टि से अच्छि है; क्यों कि इसका समाधान करते समय कुछ महत्त्व की बातें प्रकटरूप हो जानेकी संभावना है। मृत्तिका घटपरिणति के योग्य होनेपर भी उसका चक्र, दण्ड आदि उपकरणों के और निमित्तकर्तृभूत कुम्हार के साथ यदि संयोगसंबंध न हुआ तो मृत्तिका स्वयमेव घटरूप से परिणत होती हुई किसी के कभी देखने में आयी है? कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गल जीव के साथ संबंध को प्राप्त होते हैं इसका मतलब क्या है? क्या जीव के साथ संबंध होनेके पूर्वकाल में हि कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गल कर्मरूप से परिणत होते हैं? क्या इस अभिप्राय का समर्थक कोई शास्त्रीयप्रमाण पाया जाता है? क्या अज्ञानी जीव के साथ संबद्ध होनेके पूर्वकाल में हि कर्मयोग्य पुद्‌गलवर्गणाओं का विभिन्न कर्मप्रकृतियों के रूप में बटवारा हो जाता है? मुक्तजीव विभावरूप से परिणत न होनेसे उसकी विभावरूप परिणति के अभाव में भी निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होनेसे मुक्तजीव से असंयुक्त अर्थात् पृथक्‌रूप होनेपर भी कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गल कर्मरूप से परिणत होंगे क्या? क्या इस विषय का समर्थक कोई शास्त्रीय प्रमाण और युक्ति मौजूद है? ऐसा होनेपर बिना तमाचा लगाए रोना आ जायगा, बिना राज्यप्राप्ति के भी राजविलासों का भोग प्राप्त होगा, बिना पक्वान्न खाए सुग्रासभोजन का आनंद अनुभवने को मिलेगा। 'भावा संयोगजा अमी' इस शास्त्रीय प्रमाण का अर्थ शंकाकार की दृष्टि में क्या होगा?

(१७) निमित्त उपादान का सिर्फ बलाधायक होनेसे अर्थात् उपादान की परिणामिकी शक्ति को प्रबोधित करनेवाला होनेसे याने उपादानभूत द्रव्य के साथ एकरूप होनेवाला न होनेसे उसका कर्तृत्व उपादान के कर्तृत्व से भिन्न होनेसे वह कुछ नहीं करता।

(१८) द्रव्य की परिणतिक्रिया में निमित्त उपादान का सिर्फ बलाधायक—उपादान के बलको प्रबोधित करनेवाला होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से यद्यपि कर्तृसंज्ञा को प्राप्त कर सकता है, तो भी निश्चयनय की दृष्टि से द्रव्य का परिणाम वैस्रसिक स्वभाव होनेसे निमित्त कुछ करता नहीं। पूर्वोक्त वाक्य में 'बलाधायक' इस शब्द के स्थान में 'उपस्थित' इस शब्द का प्रयोग करने से निमित्त की सर्वथा अकिंचित्करता की सिद्धि हो जानेसे व्यवहारनय की दृष्टि से निमित्त की जो कर्तृसंज्ञा होती है वह भी नष्ट हो जायगी। अतः 'बलाधायक' शब्द के स्थानमें उपस्थित इस शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं। प्रमाण—

"स्वयं स्थास्नोः अन्येन स्थितिकरणं अनर्थकं, स्वयं अस्थास्नोः स्थितिकरणं असम्भाव्यं, शशविषाणवत्। 'शक्तिरूपेण स्वयं स्थानशीलस्य अन्येन व्यक्तिरूपतया स्थितिः क्रियते' इति चेत्, सा

अपि व्यक्तिरूपा स्थितिः तत्स्वभावस्य अतत्स्वभावस्य वा क्रियेत ? न तावत् तत्स्वभावस्य, वैयर्थ्यात् करणव्यापारस्य । नाऽपि अतत्स्वभावस्य, खपुष्पवत् करणानुपपत्तेः । 'कथं एवं उत्पत्तिविनाशयोः करणं कस्यचित् तत्स्वभावस्य अतत्स्वभावस्य वा, केनचित् तत्करणे स्थितिपक्षोक्तदोषानुषङ्गात् ?' इति चेत्, न कथमपि तत्, निश्चयनयात् सर्वस्य विस्रसा उत्पादव्ययध्रौव्यव्यवस्थितेः, व्यवहारनयादेव उत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः ।" [श्लो. वा. ५।१६, पृ. ४१०, नि. सा. सं.]

जिसका स्वयं स्थिति करना स्वभाव है ऐसे द्रव्य की अन्य द्रव्य के द्वारा स्थिति का किया जाना व्यर्थ है और स्वयं स्थिति करना जिसका स्वभाव नहीं है ऐसे द्रव्य की स्थिति का किया जाना असभव है । शशविषाण का अस्तित्व न होनेसे उसे अस्तिरूप बनाना असंभव है । 'जो जिसका शक्तिरूप से स्वय स्थिति करना स्वभाव है (स्वयं स्थित होनेका स्वभाव जिसका सिर्फ शक्तिरूप है–व्यक्त नहीं है) उसकी अन्यद्रव्य के द्वारा व्यक्तिरूप से स्थिति की जाती है' ऐसा कहना हो तो वह व्यक्त की जानेवाली स्थिति स्थितिस्वभाव से युक्त द्रव्यकी की जाती है या उस स्वभाव से शून्य द्रव्यकी को जाती है ? स्थिति व्यक्त करना जिसका स्वभाव है ऐसे द्रव्य की स्थिति को व्यक्त करनेकी क्रिया व्यर्थ है (क्यों कि जो स्वभाव व्यक्त हि होता है उसको व्यक्त करने की क्रिया विफल हो जाती है ।) व्यक्तरूप मे स्थिति न करनेका जिसका स्वभाव होना है उसकी अव्यक्त स्थिति को व्यक्त करना आकाशकुसुम के समान घटित नहीं होता । 'उत्पत्ति और विनाश जिसका स्वभाव है ऐसे या वह जिसका स्वभाव नहीं है ऐसे द्रव्य की उत्पत्ति और विनाश का करना कैसे सभव है, क्यों कि किसीके द्वारा उक्त स्वभाववाले द्रव्य के उत्पत्तिविनाश के किये जानेपर स्थिति के विषय मे जिन दोषों का आविष्कार किया गया वे यहा भी उपस्थित है ?' ऐसा किसी का कहना हो तो वह किसी भी प्रकार से ठीक नहीं है; क्यों कि उत्पादव्ययध्रौव्य की व्यवस्था निश्चयनय की दृष्टि मे स्वाभाविक है–अन्यकृत नहीं है और उत्पादादिकों का सहेतुकत्व–अन्य के द्वारा किया जाना जो प्रतीत होता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से ।

इससे 'द्रव्य का अपने कार्यरूप मे परिणमन निमित्त की अनुकूल क्रिया से हि होता है–उसका अभाव होनेपर नहीं होता यह शास्त्रीय कथन निमित्त का अपने असाधारणस्वरूप से उपादेय में अन्वय न होनेसे व्यवहारनयाश्रित है और द्रव्य का कार्यरूप परिणमन द्रव्य परिणमनशील होनेसे और अपने कार्य में उपादानभूत द्रव्य स्वरूप से अन्वित होनेसे स्वाभाविक होनेसे वह परिणमन स्वभाव से हि होता है यह कथन निश्चयनयाश्रित है' यह अभिप्राय सुतरा स्पष्ट हो जाता है । अतः निमित्त कथंचित् अकिंचित्कर है ।

(१९) जिसप्रकार स्वकार्यजननशक्तिरूप योग्यता निमित्त मे होती है उसीप्रकार नैमित्तिक–उपादेय को उत्पन्न करने की योग्यता निमित्त मे नहीं होती, फिर भले हि उपादान की कार्यरूपपरिणति मे वह अपनी अनुकूल परिणति के द्वारा सहायक होता हो । अत निमित्त कुछ करता नहीं–कथंचित् अकिंचित्कर है। प्रमाण–

'योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिः । तस्याः प्रतिनियमः 'शालिबीजाङ्कुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्यैव शाल्यङ्कुरजनने शक्तिः, न यवबीजस्य, तस्य यवाङ्कुरजनने, न शालिबीजस्य' इति कथ्यते ।" [श्लो. वा. अ. १, सू. १, वा. १२६. पृ. ७८]

कार्य को उत्पन्न करनेकी शक्ति कारण की योग्यता है और कारण से उत्पन्न होनेकी शक्ति कार्य की योग्यता है । शालि–धान के बीज और अङ्कुर इनके भिन्न–भिन्न कालों में होनेके विषय में विशेषता न होनेपर भी धान का अङ्कुर उत्पन्न करनेमें धान के बीज की शक्ति होती है । धान के अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति यवबीज की नहीं होती । यवांकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति यवबीज की होती है, धान के बीज की नहीं होती ऐसा उसका निर्धारित नियम कहा जाता है ।

इससे स्पष्ट हो आता है कि जिस द्रव्य का जो कार्य होता है उस कार्य को उत्पन्न करनेकी शक्ति उसी द्रव्यरूप उपादानकारण में होती है, अन्यद्रव्यरूप कारण में नहीं होती । परिणाम के रूप से या कार्य के रूप से परिणत होनेकी शक्ति उपादान की होती है, निमित्तकारण की नहीं; क्यों कि निमित्तभूत द्रव्य उपादानभूत द्रव्य से भिन्न होता है । अतः निमित्त कथंचित् अकिंचित्कर है ।

(२०) जिसप्रकार उपादेयरूप कार्य से उसके उपादान का ज्ञान होता है उसीप्रकार उपादेय में-कार्य में निमित्तभूत द्रव्य के स्वभाव का अभाव होनेसे उपादेय से निमित्त का ज्ञान नहीं होता । अतः निमित्त कुछ करता नहीं । यदि वह उपादान के समान कुछ करता तो अर्थात् जिसप्रकार उपादान स्वयमेव उपादेय के-परिणाम के रूप से परिणत होता है उसीप्रकार निमित्त भी उपादान के परिणाम के रूप से परिणत होता तो उपादेयरूप कार्यलिंग से उसका भी ज्ञान हो जाता । प्रमाण—

न हि तद्भावभावितायां दृष्टायां अपि कस्यचित् तदुपादेयता नास्ति इति युक्तं, कटादिकार्यस्य अपि वीरणाद्युपादेयत्वाभावानुषक्तेः । न चोपादेयसम्भूतिः उपादानास्तितां न गमयति, कटादिसम्भूतेः वीरणाद्यस्तित्वस्य अगतिप्रसङ्गात्, येन उत्तरस्य उपादेयस्य लाभे पूर्वलाभः नियतः न भवेत् । ततः एव उपादानस्य पूर्वस्य लाभे न उत्तरस्य नियतः लाभः, कारणानां अवश्यं कार्यवत्त्वाभावात् । [श्लो. वा. ह. लि. पृ. ८१, अ. १, सू. १, वा. ६९–७०; नि. सा. सं. पृ. ६८]

'उसका अर्थात् उपादान का अस्तित्व होनेपर उपादेय–के कार्य के अस्तित्व का ज्ञान होनेपर भी किसी का [किसी कार्य–उपादेय का] उस उपादान का उपादेयत्व नहीं है' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि चटाई आदि कार्य का भी तृणादिरूप उपादान के उपादेयत्व का–कार्यत्व का अभाव हो जानेका प्रसंग खडा हो जाता है । उपादेय की-कार्य की उत्पत्ति उपादान के अस्तित्व का ज्ञान नहीं कराती ऐसा नहीं है; क्यों कि चटाई आदि कार्य से वीरण आदि उपादान के अस्तित्व के ज्ञान का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है, जिसके उत्तरकालीन उपादेय का लाभ होनेपर पूर्वकालीन उपादान का लाभ (ज्ञान) निश्चितरूप से नहीं होगा । उसी-कारण पूर्वकालीन उपादान का लाभ होनेपर उत्तरकालीन उपादेय का लाभ निश्चितरूप से नहीं होता; क्यों कि कारणो का अवश्यमेव कार्यवान् होनेका अभाव है ।

इससे यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि–उपादेय के ज्ञान से उससे पूर्वकालीन उपादानकारण का ज्ञान हो जाना चाहिये । उपादेय के ज्ञान से जिसका ज्ञान नहीं होता वह उपादान नहीं होता और जो उपादान नहीं होता वह उपादेयभूत परिणाम का कर्ता नहीं हो सकता । उपादेय के ज्ञान से विशिष्ट निमित्त का ज्ञान नहीं होता । अतः निमित्त कुछ करता नहीं । [दूसरी बात यह है कि इस उद्धरण से निमित्त के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती यह अभिप्राय भी स्पष्ट हो जाता है । 'कारणानां अवश्यं कार्यवत्त्वाभावात्' यह हेतु है और हेतु सिद्ध होता है–साध्य के समान असिद्ध नहीं होता । प्रत्येक द्रव्य जब परिणमनशील है तब उसका कार्यवत्त्व भी अवश्य है, क्यों कि कार्यवत्त्व का अभाव होनेपर द्रव्य की परिणमनशीलता सिद्ध नहीं होती । इस हेतु के द्वारा ग्रंथकार ने कारणों का कार्यवत्त्व होता ही है ऐसा नियम नहीं है ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया है । इस अभिप्राय का द्रव्य की परिणमनशीलता के साथ विरोध व्यक्त हो जाता है । आचार्य विद्यानंद जैसे समर्थ विद्वान् के द्वारा वस्तुस्वभाव का और आगमवचनों का विरोध किया जाना असंभव है । इस वक्तव्य का अभिप्राय यह है कि यद्यपि द्रव्य परिणमनशील होता है तो भी उसका विशिष्टकार्यरूप मे परिणमन सहकारिसामग्री का अभाव होनेपर नहीं होता । काष्ठ (लकडी) यद्यपि परिणमनशील द्रव्य है तो भी उसका बढई-आदिरूप सहकारिसामग्री का अभाव होनेपर रथ-चक्रादिरूप विशिष्ट कार्य के रूप से परिणमन नहीं हो सकता । यद्यपि अज्ञानी जीव परिणमनशील द्रव्य है तो भी उसका क्रोधादिरूप विभावभावात्मक विशिष्ट कार्यरूप मे परिणमन द्रव्यकर्मरूप सहकारिसामग्री का अभाव होनेपर नहीं हो सकता । अतः निमित्त के अभाव में द्रव्य की विशिष्ट कार्यरूप से परिणति होनेका असंभव होनेसे निमित्त

की कथंचित् किंचित्करता भी सिद्ध हो जाती है ।]

(२१) जिसप्रकार निश्चयनय की दृष्टि से द्रव्य का अन्त्यक्षणवर्ती पूर्व परिणाम एक स्थूल परिणाम की क्षणवर्ती प्रथम पर्याय का उपादान होता है और व्यवहारनय की दृष्टि से एक स्थूल परिणाम की क्षणवर्ती सभी पर्यायों का उपादानकारण होता है उसप्रकार निमित्त उपादान के स्वरूप का धारक न होनेसे उपादान नहीं बनता । अतः निमित्त कुछ करता नहीं । प्रमाण--

"न द्रव्यादिक्षणैः सह अयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनः रत्नत्रयस्य कार्यकारणभावः विचारयितुं उपक्रान्तः, येन तत्र तस्य असामर्थ्यं प्रसज्येत । किं तर्हि? प्रथमसिद्धक्षणेन सह । तत्र च तत् समर्थं एव" इति असच्चोद्यं एतत्, कथं अन्यथा अग्निः प्रथमधूमक्षणं उपजनयन् अपि तत्र समर्थः स्यात्, धूमक्षण-जनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्य असमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादने अपि असामर्थ्यप्रसक्तेः ? तथा च न किञ्चित् कस्यचित् समर्थं कारणम् । न च असमर्थात् कारणात् उत्पत्तिः । इति क्व इयं वराकी तिष्ठेत् कार्यकारणता ? 'कालान्तरस्थायिनः अग्नेः स्वकारणात् उत्पन्नः धूमः कालान्तरस्थायी स्कन्धः एकः एव इति स तस्य कारणं प्रतीयते, तथा व्यवहारात्, अन्यथा तदभावात्' इति चेत्, तर्हि सयोगिकेवलिरत्नत्रयं अयोगिकेवलिचरणसमयपर्यन्तं एकं एव तदनन्तरभाविनः सिद्धत्वपर्यायस्य अनन्तस्य एकस्य कारणं इति आयातम् । तत् च न अनिष्टं व्यवहारनयानुरोधतः तथा इष्टत्वात् । निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादः तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणं अयोगिकेवलिचरमसमयवर्ति रत्नत्रयं इति निरवद्यं एतत् तत्त्वविदां आभासते । [त. श्लो. वा. अ. १, सू. १, वा. ९१-९२, हु. प्र. पृ. ८४, नि. सा. सं. पृ. ७१.]

"अयोगकेवली के अन्त्यसमयवर्ति रत्नत्रय के कार्यकारणभाव का विचार करनेके लिए जो उपक्रम किया गया है वह सिद्ध के क्षणवर्ती द्वितीयादि पर्यायों के साथ उस रत्नत्रय के कार्यकारणभाव का विचार करनेके लिए नहीं है, जिससे सिद्ध के क्षणवर्तिद्वितीयादिपर्यायों के विषय में उस रत्नत्रय के सामर्थ्य का अभाव हो जानेका प्रसंग आ जाय । 'तो फिर वह उपक्रम किसलिए किया गया है ?' वह उपक्रम सिद्ध के क्षणवर्ती प्रथम पर्याय के साथ उस रत्नत्रय के कार्यकारणभाव का विचार करनेके लिए किया गया है ।" यह जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह समीचीन नही है । उक्त अभिप्राय यदि ठीक हो तो उस रत्नत्रयरूप उपादानकारण का अन्त्यक्षण के सिद्ध के क्षणमात्रकालवर्ती प्रथमक्षण के साथ हि कार्यकारणभाव हो तो धूम की क्षणवर्ती प्रथम पर्याय का उत्पादन कर-नेवाला होनेपर भी अग्नि धूम की क्षणवर्ती प्रथम पर्याय का उत्पादन करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है; क्यों कि धूम की क्षणवर्ती प्रथम पर्याय के द्वारा पैदा की गयी धूम की क्षणवर्ती द्वितीयादि पर्यायों को उत्पन्न करनेमें उस अग्नि की समर्थता का अभाव होनेपर धूम की क्षणवर्ती प्रथम पर्याय का उत्पादन करनेमें भी सामर्थ्य का अभाव हो जानेका प्रसंग आ जाता है । ऐसा होनेपर कोई भी पदार्थ किसी (अपने) कार्य का समर्थ (उपादान) कारण नहीं होगा । सामर्थ्यविहीन कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । ऐसी हालत में बिचारी कार्यकारणता कहां रहेगी ? यदि "एक समय से अधिक कालतक विद्यमान रहनेवाले अपने उपादानकारणभूत अग्नि से उत्पन्न हुआ दीर्घकालतक रहनेवाला धूम एक हि स्कन्ध (पिण्ड) होनेसे वह अग्नि धूमस्कन्ध का अर्थात् धूम की क्षणवर्ती द्वितीयादिपर्यायों के समूह का उपादानकारण है ऐसा जाना जाता है; क्यों कि उसप्रकार का लोकव्यवहार है । यदि उक्त अभिप्राय को स्वीकार न किया तो लोकव्यवहार का लोप हो जायगा (अर्थात् अथवा धूमस्कन्ध का अभाव हो जायगा) ऐसा कहना हो तो अयोगिकेवली के अन्त्यसमयतक एक हि बने रहनेवाले सयोगकेवली से रत्नत्रय का उसके बाद उत्पन्न होनेवाले अन्तरहित ऐसे एक सिद्धत्वपर्याय का (उपादान) कारणत्व सिद्ध हो जाता है । अन्तरहित एक सिद्धत्वपर्याय का रत्नत्रय का कारण बन जाना अनिष्ट नहीं है; क्यों कि व्यवहारनय की दृष्टि

से अन्तरहित एक सिद्धत्वपर्याय के विषय में रत्नत्रय का कारणत्व इष्ट है। निश्चयनय का आश्रय करनेपर जिसके बाद (अव्यवहित उत्तर समय में) मोक्ष की उत्पत्ति होती है वही अयोगकेवली के अन्त्यसमयवर्ती रत्नत्रय मोक्ष का मुख्य कारण है। इसप्रकार तत्त्ववेत्ताओं को यह निर्दोषरूप से प्रतिभासित होता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि–निश्चयनय की दृष्टि से अन्त्यक्षणवर्ती पर्याय कार्य के क्षणवर्ती प्रथम पर्याय का उपादानकारण होती है और व्यवहारनय की दृष्टि से अन्तरहित एक स्थूल परिणाम की क्षणवर्ती सभी पर्यायों का उपादानकारण होती है। उपादान के समान उपादान के कार्य की निर्मिति में निमित्त की कौनसी भी पर्याय कार्यकारी न होनेसे निमित्त कथंचित् अकिंचित्कर है–निमित्त कुछ करता नहीं। अतः इस दृष्टि से निमित्त का अकिंचित्करत्व एक दृष्टि से स्पष्ट हो जाता है।

[अयोगिकेवली के अन्त्यसमयवर्ती हि रत्नत्रय निश्चयनय की दृष्टिसे मोक्ष का मुख्य कारण है यह जो अभिप्राय ऊपर उद्धृत किये गये उद्धरण में व्यक्त किया गया है उससे चतुर्थ गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली के उपान्त्यक्षणतक का रत्नत्रय व्यवहारनय की दृष्ट से मोक्षका कारण होनेसे वह उपचारसे या गौणता से हि मोक्ष का कारण है। यदि निमित्त का कर्तृत्व व्यवहारनयाश्रित होनेसे सर्वथा यथार्थ–सत्य नहीं है अपि तु मिथ्या है, तो चतुर्थ गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली के अन्त्यसमयतक का रत्नत्रय व्यवहार की दृष्टि से मोक्ष का कारण होनेसे वह रत्नत्रय का व्यवहारनयाश्रित मोक्षकारणत्व सर्वथा अयथार्थ अर्थात् मिथ्या क्यों नहीं ? यदि चतुर्थ-गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली के अन्त्यसमयतक के रत्नत्रय के मोक्षकारणत्व को वह व्यवहारनयाश्रित होनेमात्र से मिथ्या माना गया तो जीव की मोक्षरूप अवस्था की उत्पत्ति असभव हो जानेसे अयोगिकेवली के अन्त्यसमयतक के रत्नत्रय के मोक्षकारणत्व को व्यवहारनयाश्रितमात्र होनेसे सर्वथा मिथ्या नहीं माना जा सकता' ऐसा कहना हो तो जीव की सिद्धावस्थारूप परिणति के विषय मे द्रव्यकर्म की क्षयरूप परिणति का कर्तृत्व व्यवहारनयाश्रित होनेपर भी सर्वथा मिथ्या नहीं माना सकता और अज्ञानी जीव की क्रोधादिरूप विभावपरिणति के विषय में द्रव्य-कर्म को उदयरूप परिणति का कर्तृत्व व्यवहाराश्रित होनेपर भी मिथ्या नहीं माना जा सकता; क्यो कि ससारी जीव की सिद्धावस्थारूप परिणति कर्मक्षयरूप निमित्त के अभाव मे और विभावावस्थारूप परिणति कर्मोदयरूप निमित्त के अभाव मे नहीं हो सकती। यदि निमितो का अभाव होनेपर भी जीव की सिद्धावस्थारूप और विभावा-वस्थारूप परिणतिया हो सकती है ऐसा माना तो दुर्निवार अतिप्रसग उपस्थित हो जायगा। निमित्त का कर्तृत्व व्यवहारनयाश्रित होनेसे यदि मिथ्या और अग्राहय है ऐसा कहना हो तो रत्नत्रय का व्यवहाराश्रित मोक्षकारणत्व भी मिथ्या और अग्राहय होना चाहिये।] रत्नत्रय के निश्चयनयाश्रित मोक्षकारणत्व की अपेक्षा से उसका व्यवहारनयाश्रित मोक्षकारणत्व कथंचित् मिथ्या है ऐसा कहा गया तो अज्ञानी जीव के विभाव परिणामभूत कार्य के उपादानभूत अज्ञान की अपेक्षा से जीव के विभावभावात्मक परिणाम के विषय में द्रव्यकर्म का कर्तृत्व व्यवहार-नयाश्रित होनेसे कथंचित् मिथ्या है ऐसा मानना हो तो कोई विरोध की बात नहीं है; क्यों कि इस अभिप्राय से द्रव्यकर्म के निमित्तत्व का कथंचित् मिथ्यात्व सिद्ध होनेपर भी उसका सर्वथा मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता।

निमित्त के विना कुछ होता नही–

व्यवहारनय की दृष्टि से निमित्त के विना कुछ होता नहीं। परिणाम चाहे स्वभावरूप हो या विभावरूप, निमित्त के विना वह अस्तिरूप नहीं बन पाता। हा ! एक कालद्रव्य हि ऐसा है जो निमित्त का अभाव होनेपर भी स्वय अपने परिणामित्वस्वभाव से परिणत होते रहता है। कुछ निमित्त ऐसे होते है कि जब उपादानभूत द्रव्य परिणामरूप से परिणत होने लगता है तब वह स्वाश्रित और स्वाभिन्न ऐसी उपादान की परिणतिक्रिया की अनुकूल क्रिया के द्वारा उपादेयरूप परिणति को अशुद्ध बना देता है और कुछ निमित्त ऐसे होते है कि उपादान की परिणतिक्रिया के अनुकूल ऐसी स्वाश्रित और स्वाभिन्न क्रिया के द्वारा उपादेय में किसी भी तरह से अशुद्धि के निर्माण होनेमें कारण नहीं पडते। निमित्त चाहे प्रेरक हो या चाहे उदासीन हो वह उपादान की परिणतिक्रिया के

अनुकूल ऐसी हि क्रिया करता है—उससे अधिक कुछ नहीं करता । निमित्त के विशिष्टक्रियाकारित्व का नाम हि सहकारित्व है । निमित्त की परिणमनक्रिया निमित्ताश्रित और निमित्त से अभिन्न होती है और उपादान की परिणतिक्रिया उपादानाश्रित और उपादान से अभिन्न होती है । निमित्त की परिणतिक्रिया का आश्रय उपादानभूत द्रव्य नहीं होता और उपादान की परिणतिक्रिया का आश्रय निमित्तभूत द्रव्य नहीं होता । दोनों क्रियाएं अपने अपने आश्रय से अभिन्न होती हैं । सभी कार्य निमित्ताधीन होते हैं और कालद्रव्य का कार्य स्वाधीन होता है । सभी कार्य निमित्ताधीन होते हैं इस का अर्थ उपादान के अभाव में भी वे होते हैं ऐसा नहीं है । कालद्रव्य का परिणामरूप कार्य यदि निमित्ताधीन माना तो अनवस्थानामक दोष आ जाता है । प्रमाण—

तथैव स्वात्मसद्भावानुभूतौ सर्ववस्तुनः ।
प्रतिक्षणं बहिर्हेतुः साधारण इति ध्रुवम् ॥
प्रसिद्धद्रव्यपर्यायवृत्तौ बाह्यस्य दर्शनात् ।
निमित्तस्यान्यथा भावाभावान्निश्चीयते बुधैः ॥
....
न चैवमनवस्था स्यात्कालस्यान्यानपेक्षणात् ।
स्ववृत्तौ तत्स्वभावत्वात्स्वयं वृत्तेः प्रसिद्धितः ॥
[श्लो. वा. अ. ५, सू. २२, वा. ९-१०-१२, ह. प्र. पृ. ५१२]

प्रसिद्ध अर्थात् सर्वलोकविज्ञात द्रव्यों की पर्यायरूप परिणति के समय बाह्य निमित्त को देखकर और बाह्य निमित्त के अभाव में द्रव्य के परिणाम का अभाव देखकर सभी वस्तुओं की अपने स्वरूप की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत्ता की अनुभूति के लिए प्रतिक्षण सभी परिणमनों के समय साधारण ऐसा (कालद्रव्य जैसा) बाह्य हेतु होना हि चाहिये ऐसा विद्वानों के द्वारा निश्चय किया जाता है । (९–१०) । इसप्रकार द्रव्य के परिणमन के विषय में (कालद्रव्य को साधारण हेतु माननेपर भी) अनवस्थादोष नहीं आता; क्यों कि (साधारणहेतुभूत) कालद्रव्य को अपने परिणमन के लिए अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं होती क्यों कि वह परिणमनस्वभाववाला होनेसे उसका परिणमन अपनेआप हि सिद्ध हो जाता है ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालद्रव्य के परिणमन को छोडकर प्रत्येक परिणाम को अस्तिरूप होनेके लिए उपादान और निमित्त की अपेक्षा होती है । उपादान निमित्तरूप बाह्य कारण के विना अपने परिणाम के रूप से परिणत नहीं होता । सिर्फ कालद्रव्य हि ऐसा है कि जिसका परिणमन निमित्त के अभाव में होता है । कालद्रव्य साधारण हेतु इसलिए कहा जाता है कि प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में वह बाह्यहेतुरूप से विद्यमान रहता है ।

स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते ॥
[त. श्लो. वा. अ. १, सू. १, वा. ८८, नि. सा. सं. पृ० ७०]

इस प्रमाण से ऊपर के अभिप्राय का हि पोषण होता है ।

'व्यवहारनय का कथन सत्यार्थ नहीं है । अतः निमित्त का कर्तृत्व व्यवहारनयाश्रित होनेसे सत्यार्थ नहीं है—वह मात्र उपस्थिति और निमित्तपन बताने के लिए है' ऐसा कुछ जानकारों का कहना है । इस कथन के अभिप्राय का परिहार 'निमित्त के विना कुछ होता नहीं' इस प्रकरण के प्रारंभ के पूर्ववर्ती परिच्छेद में किया गया है । दूसरी बात यह है कि व्यवहारनय का कथन सत्यार्थ नहीं है यह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि उसको सर्वथा असत्यार्थ नहीं माना जा सकता । यह कथंचित् सत्यार्थ भी है और कथंचित् असत्यार्थ भी है । उपादान की परिणति में सहायक होनेसे निमित्त का कर्तृत्व कथंचित् सत्यार्थ है और सहायक होते समय वह उपादान के

असाधारणस्वरूप को स्वीकार नहीं करता इसलिए उसका कर्तृत्व कथंचित् सत्यार्थ नहीं है–कथंचित् मिथ्या है। निमित्त का कर्तृत्व उसकी मात्र उपस्थिति बताने के लिए है यह कहना भी ठीक नहीं है; क्यों कि उपादान की परिणतिक्रिया के समय जितने भी पदार्थ उपस्थित होंगे वे घरबार, वृक्ष, हल आदि सभी अकरणभूत पदार्थ भी निमित्त कहे जायंगे। निमित्त का कर्तृत्व उसका मात्र निमित्तपन बताने के लिए है यह कथन भी ठीक नहीं है; क्यों कि यह अपने मन्तव्य का सिर्फ अभिनिवेश है। सहकारित्व के बिना निमित्त का निमित्तपन और दूसरा क्या हो सकता है? यदि उपस्थितिमात्र को निमित्त का निमित्तपन माना तो धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ये दोनों उपस्थित होनेसे द्रव्य की गतिपरिणति और स्थितिपरिणति इनमें से कौनसी परिणति होगी? अतः ये तीनों अभिप्राय ठीक नहीं हैं। अस्तु।

जीव की परिणति में द्रव्यकर्म चार प्रकार से निमित्तकारण बनता है। जीव की औदयिकभावरूप परिणति में अपने उदय से, औपशमिकभावरूप परिणति में अपने उपशम से, क्षायिकभावरूप परिणति में अपने क्षय से और क्षायोपशमिकभावरूप परिणति में अपने क्षयोपशम से वह निमित्तकारण बन जाता है। प्रमाण–

'न खलु कर्मणा विना जीवस्योदयोपशमौ क्षयक्षयोपशमावपि विद्येते। ततः क्षायिकक्षायोपशमिकश्चौदयिकौपशमिकश्च भावः कर्मकृतोऽनुमन्तव्यः। पारिणामिकस्त्वनादिनिधनः निरुपाधिः स्वाभाविक एव। क्षायिकस्तु स्वभावव्यक्तिरूपत्वादनन्तोऽपि कर्मणः क्षयेणोत्पद्यमानत्वात् सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः। औपशमिकस्तु कर्मणामुपशमे समुत्पद्यमानत्वादनुपशमे समुच्छिद्यमानत्वात् कर्मकृत एवेति। अथवा उदयोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणाश्चतस्त्रो द्रव्यकर्मणामेवावस्थाः, न पुनः परिणामलक्षणैकावस्थस्य जीवस्य। तत उदयादिसञ्जातानामात्मनो भावानां निमित्तमात्रभूततथाविधावस्थत्वेन स्वयं परिणमनाद्द्रव्यकर्मापि व्यवहारनयेनात्मनो भावानां कर्तृत्वमापद्यत इति।'

[पञ्चा. गा. ५८, नि. सा. सं. पृ. ११०]

जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव [परिणाम] कर्म के बिना नहीं होते। उस कारण से क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और औपशमिक भाव कर्मकृत [कर्मनिमित्तक] है ऐसा समझना चाहिये। अनादिनिधन और उपाधिरहित ऐसा पारिणामिकभाव स्वाभाविकभाव हि है। क्षायिकभाव स्वभावव्यक्तिरूप होनेसे अनन्त [अविनश्वर] होनेपर भी कर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाला होनेसे सादि होनेके कारण कर्मकृत हि कहा गया है। औपशमिकभाव कर्मों का उपशम होनेपर उत्पन्न होनेवाला होनेसे और कर्मों के उपशम का अभाव होनेपर विनष्ट होनेवाला होनेसे कर्मकृत हि है। अथवा उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये चार द्रव्यकर्मों की हि अवस्थाए हैं, परिणमनस्वरूप एक अवस्थावाले जीव की अवस्थाएं नहीं हैं। उस कारण से कर्म के उदयादि से उत्पन्न हुए आत्मा के परिणामों की निमित्तमात्र बनी हुई उस प्रकार की [उदयादिरूप] अवस्थाओं के रूप से स्वयं परिणत होनेके कारण द्रव्यकर्म भी व्यवहारनय से आत्मा के परिणामों के कर्तृपन को प्राप्त है।

इससे नीचे दी हुई बातें स्पष्ट हो जाती हैं– (१) जीव के औदयिकादि परिणाम द्रव्यकर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम इन चार परिणामों का निमित्त मिल जानेपर उत्पन्न होते हैं। (२) जीव का औदयिकादिभावरूप परिणमन उसमें हि होता है और द्रव्यकर्म का उदयादि–अवस्थारूप से परिणमन द्रव्यकर्म में हि होता है। (३) द्रव्यकर्मावस्थारूप निमित्त के विना जीव औदयिकादिभावरूप से परिणत नहीं होता। (४) द्रव्यकर्म जीव के औदयिकादिभावों का व्यवहारनय से कर्ता बनता है-निश्चयनय से नहीं। (५) क्षायिकभाव भी कर्मकृत होता है।

उपादान की पूर्णता निमित्त का सहकार्य प्राप्त होनेपर हि होती है। पूर्णता होनेपर उपादान को सहकारिकारण की अपेक्षा नहीं होती। उपादान जब प्रतिबन्धरहित होता है तब कार्य की उत्पत्ति करने में समर्थ

होता है । प्रमाण–

"केवलात् तत् प्रागेव क्षायिकं यथाख्यातचारित्रं सम्पूर्णं भवत् 'ज्ञानकारणकं' इति कथं नः अशङ्कनीयम् ?" तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्तेः । विवक्षितस्वकार्यकरणे अन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णत्वम् । तच्च न केवलात् प्राक् अस्ति चारित्रस्य, ततः अपि ऊर्ध्वं अघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतया सम्पूर्णस्य तस्य उदयात् । न च 'यथाख्यातं पूर्णं चारित्रं' ( ) इति प्रवचनस्य बाधा अस्ति, तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात् । न हि सकलमोहक्षयात् उद्भूवत् चारित्रं अंशतः अपि मलवत् इति शश्वत् अमलवत् आत्यन्तिकं तत् अभिष्टूयते । 'कथं पुनः तत् असम्पूर्णात् एव ज्ञानात् क्षायोपशमिकात् उत्पद्यमानं तथापि सम्पूर्णं' इति चेत्, न, सकलश्रुताशेषतत्त्वार्थपरिच्छेदिनः तस्य उत्पत्तेः। 'पूर्णं तत एव तत् अस्तु' इति चेत् न, विशिष्टस्य स्वरूपस्य तदनन्तरं अभावात् । 'किं तत् विशिष्टं रूपं चारित्रस्य ?' इति चेत्, नामाद्यघातित्रयनिर्जरणसमर्थं समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यानं इति उक्तप्रायम् ।

[श्लो. वा. अ. १, सू. १, वा. ८५, ह. प्र. पृ० ८३, नि. सा. सं पृ. ७०]

चारित्रमोहनीय के क्षय से उत्पन्न हुआ वह यथाख्यातचारित्र केवलज्ञानोत्पत्ति के पूर्वकाल में संपूर्ण होता हुआ केवलज्ञानोपादानकारणक है ऐसा जो कहा जाता है उस विषय में हमें शंका क्यों नहीं होनी चाहिये ? [आक्षेपक का कहना है कि क्षायिक यथाख्यातचारित्र केवलोत्पत्ति के अन्तर्मुहूर्तकाल पहले संपूर्ण होता है तो भी केवलज्ञान को उसका जो उपादानकारण माना जाता है वह कैसे ? उपादान का उपादेय के पूर्वकाल में अस्तित्व होता है । केवलज्ञान क्षायिक यथाख्यातचारित्र के पूर्ववर्ती नहीं होता । यदि वह केवलज्ञानकारणक है तो उसे संपूर्ण नहीं कहना चाहिये और संपूर्ण कहना हो तो उसे केवलज्ञानकारणक नहीं कहना चाहिये] आचार्य कहते हैं कि–उस यथाख्यातचारित्र की परमार्थतः पूर्णता नहीं है; क्यों कि मोक्ष की उत्पत्ति करनेके विषय में उसे विशिष्ट सहकारिकारण की अपेक्षा होती है । अपना विशिष्ट कार्य करनेमें अन्त्यक्षण को प्राप्त होनेका नाम हि संपूर्णत्व है । वह यथाख्यातचारित्र का विशिष्ट संपूर्णत्व केवलोत्पत्ति के पूर्वकाल में नहीं होता; क्यों कि केवलज्ञान के बाद भी नामाद्यघातिकर्मों का प्रतिध्वंस–नाश करनेवाले साधकतम साधन (चतुर्थ शुक्लध्यान) से युक्त होनेके रूप से संपूर्ण ऐसा यथाख्यातचारित्र आविर्भूत होता है । 'यथाख्यातचारित्र पूर्ण चारित्र है' यह आगमवचन बाधित नहीं होता, क्यों कि केवलोत्पत्ति के पूर्वकाल में वह चारित्र क्षायिक होनेसे संपूर्ण है ऐसा कहा गया है। मोहनीय के संपूर्ण क्षय से प्रादुर्भूत होनेवाला चारित्र अंशतः भी मलयुक्त नहीं है । इसलिए सदा मलरहित आत्यन्तिक ऐसे उसकी प्रशंसा की जाती है । 'जो पूर्ण है हि नहीं ऐसे क्षायोपशमिकज्ञान से वह चारित्र उत्पन्न होता है तो भी वह संपूर्ण है यह कैसे ?' यह शंका ठीक नहीं है; क्यों कि संपूर्ण तत्त्वार्थों को जाननेवाले सकलश्रुत से वह यथाख्यातचारित्र उत्पन्न होता है । यदि ऐसा है तो 'उसी कारण से उस चारित्र को पूर्ण कह दिया जावे' ऐसा कहना हो तो वह भी ठीक नहीं है; क्यों कि सकलश्रुतज्ञान से उत्पन्न होनेके बाद उसके विशिष्ट स्वरूप का अभाव हो जाता है । 'चारित्र का जो विशिष्ट स्वरूप है वह कोनसा है?' यह शंका हो तो उसका समाधान 'नामकर्म, वेदनीयकर्म और गोत्रकर्म इन तीन अघातिकर्मों की निर्जरा करने में समर्थ ऐसा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति नाम का ध्यान उस चारित्र का विशिष्ट स्वरूप है' ऐसा है । यह प्रतिपादन इससे पहले किया गया है ।

जो सहकारिसापेक्ष होता है वह पूर्ण नहीं कहा जाता । विवक्षितकार्य की निर्मिति करने के विषय में जो अन्त्यक्षण को प्राप्त होता है वही कारण संपूर्ण कहा जाता है । जो सहकारिकारण की अपेक्षा नहीं रखता और जो प्रतिबन्धरहित होता है वही उपादानकारण संपूर्ण कहा जानेके योग्य है । क्षायिक यथाख्यातचारित्र चारित्रमोहनीय का क्षय हो जानेपर अपने उपादानभूत सकलश्रुतज्ञान से उत्पन्न होता हुआ अपनी उत्पत्ति की और निर्मलता

की अपेक्षा से संपूर्ण होनेपर भी, मोक्षोत्पत्ति के विषय में कालविशेषरूप और केवलज्ञानरूप सहकारिकारणों की अपेक्षा रखता है। अतः वह संपूर्ण नहीं कहा जाता। कालविशेष का और केवलज्ञान का अभाव हि उसके पूर्णत्व का अर्थात् नामाद्यघातिकर्मत्रय का नाश करके मुक्तिरूप से परिणत होनेकी योग्यता का प्रतिबंधक है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो सहकारिनिरपेक्ष और अप्रतिबध होता है वही अपना कार्य करनेमें अन्त्यक्षण को प्राप्त होकर संपूर्ण होता हुआ समर्थ बन जाता है। जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ होता है। 'सापेक्षं असमर्थं' ऐसा कहा भी है। क्षायिकचारित्र को संपूर्णत्वरूप अवस्था कालविशेष और केवलज्ञान की सहायता से प्राप्त होती है। अतः सहकारिसामग्री से हि (यथाख्यातचारित्र को पूर्णता प्राप्त होनेसे) उपादानकारण को पूर्णता अर्थात् अपने विवक्षितकार्यरूप से परिणत होनेमें अन्त्यक्षणप्राप्तता प्राप्त होती है। 'उपादान की जब पूर्णता की योग्यता होती है तब उसके लिए उचित निमित्त होता हि है' ऐसा जो कहा जाता है वह विचारणीय है। मृत्तिकारूप उपादान को पूर्णता की योग्यता होनेपर उस पूर्णता के लिए जो उचित निमित्त होता है वह कुछ करता है या उपस्थित होकर अकिंचित्कर हि बना रहता है? यदि वह उपादान की पूर्णता व्यक्त करता है ऐसा माना तो निमित्त की अकिंचित्करता चली जाती है और वह किंचित्कर बन जाता है। निमित्त की किंचित्करता सिद्ध होनेसे आक्षेपक का मन्तव्य हताहत हो जाता है। योग्यता का अभाव होनेपर निमित्त मिलनेपर भी वह व्यक्त नहीं होती। आमके बालफल में पक जानेकी अर्थात् पूर्णता को प्राप्त होनेकी योग्यता न होनेसे निमित्त के मिलनेपर भी वह पक्व नहीं होता–सड जाता है। पूर्णता की योग्यता के अभाव मे निमित्त उपादान की पूर्णता की व्यक्तीभवनक्रिया में सहायक नहीं हो सकता यह बात लोकविश्रुत है। उपादान में पूर्णता की योग्यता होनेपर उपस्थित होनेवाला अकिंचित्कर निमित्त यदि उपादान की पूर्णता की व्यक्तिभवनक्रिया मे कदापि सहायक नहीं होता ऐसा कहना हो तो निमित्त की उपस्थिति की आवश्यकता क्या है? ऐसी स्थिति मे उपादान की पूर्णता स्वयमेव व्यक्त हो जानेसे वह स्वयमेव कार्यरूप से प्रकट हो जायगा। इस मान्यता की प्रतीतिविरुद्धता स्पष्ट हो जाती है। भूमिगर्भस्थित मृत्तिका को स्वयं कीचड के रूप से परिणत होते और बादमें घटरूप से परिणत होते हुए इस संसार में किसीने देखा नहीं। जल के अभाव मे यदि मृत्तिका कीचड के रूप से परिणत होने लगी तो सारा संसार सदाकाल कीचड से भरा हुआ रहेगा, बिना बोए बीज स्वयमेव अंकुररूप से परिणत होंगे, सारे ससार मे सुभीता होगी और अपनी सरकार को अनाज के लिए दौडधूप भी नही करने लगेगी। यदि सारा धरामण्डल सुजल और सुफल होता तो भीषण युद्ध भी न खेलने पडते। यदि निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर माना तो विना तोफखाने के हि युद्ध मे उभय पक्ष की सेनाएं खत्म हो जायगी और इसतरह सारा संसार हि आफत मे फस जायगा। "' जो सहकारिसापेक्ष होता है वह पूर्ण नही कहा जाता' यह कथन जो निमित्त को मानते नहीं उनके लिए है" यह अभिप्राय आश्चर्यावह है। इस संसार मे निमित्त को न माननेवाला कौनसा भी दर्शन नहीं है। दूसरी बात ऊपर के उद्धरण में यथाख्यातचारित्र की पूर्णता सहकारिसामग्री के विना नही होती यह स्पष्टरूप से बता दिया है। क्या यथाख्यातचारित्र की पूर्णता के लिए सहकारिसामग्री की आवश्यकता नहीं है ऐसा माननेवाला कोई जैनी इस भूमण्डलपर विराजमान है? वस्तुत. पूर्वोक्त आगमप्रमाण का अभिप्राय न मानना आगम का विरोध करना है। अस्तु।

क्षायिकभाव भी सहकारिसामग्री के अभाव मे अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता। प्रमाण–

'कर्मनिर्जरणशक्तिर्जीवस्य सम्यग्दर्शने, सम्यग्ज्ञाने, सम्यक्चारित्रे च अन्तर्भवेत्, ततः अन्या वा स्यात्?' तत्र न तावत् सम्यग्दर्शने ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतिचतुर्दशकनिर्जरणशक्तिः अन्तर्भवति असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तपर्यन्तगुणस्थानेषु अन्यतमगुणस्थाने मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वभेदभिन्न-दर्शनमोहक्षयात् तदाविर्भावप्रसक्तेः। 'ज्ञाने सा अन्तर्भवति' इति चायुक्तं, क्षायिके तदन्तर्भावे सयोगिकेवलिनः केवलेन सह आविर्भावापत्तेः। क्षायोपशमिके तदन्तर्भावे, तेन सह उत्पादप्रसक्तेः। क्षायोपशमिके चारित्रे तदन्तर्भावे तेनैव सह प्रादुर्भावानुषङ्गात्। क्षायिके तदन्तर्भावे, क्षीणकषाय य

प्रथमे क्षणे तदुद्भूतेः निद्राप्रचलयोः ज्ञानावरणादिप्रकृतिचतुर्दशकस्य च निर्जरणप्रसक्तेः न उपान्त्यसमये अन्त्यक्षणे च तन्निर्जरा स्यात्। दर्शनादिषु तदन्तर्भावे, तदावारकं कर्मान्तरं प्रसज्येत, दर्शनमोहज्ञानावरणचारित्रमोहानां तदावारकत्वानुपपत्तेः। 'वीर्यान्तरायः तदावारकः' इति चेत्, न, तत्क्षयानन्तरं तदुद्भवप्रसङ्गात्। तथा च अन्योन्याश्रयणं–सति वीर्यान्तरायक्षये तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावः, तस्मिंश्च सति वीर्यान्तरायक्षयः इति। एतेन ज्ञानावरणादिप्रकृतिपञ्चक–दर्शनवरणादिप्रकृतिचतुष्टय–अन्तरायप्रकृतिपञ्चकानां तन्निर्जरणशक्तेः आवारकत्वे अन्योन्याश्रयणं व्याख्यातम्। नामादिचतुष्टयं नु न तस्याः प्रतिबन्धकं, तस्य आत्मस्वरूपाघातित्वेन कथनात्। न च सर्वथा अनावृतिः एव सा, सर्वदा तत्क्षयणीयकर्मप्रकृत्यभावानुषङ्गात्। स्यान्मनम्–'चारित्रमोहक्षये तदाविर्भावात् चारित्रे एव अन्तर्भावः विभाव्यते। न च क्षीणकषायस्य प्रथमसमये तदाविर्भावप्रसङ्गः, कालविशेषापेक्षत्वात् तदाविर्भावस्य। प्रधानं हि कारणं मोहक्षयः तदाविर्भावे सहकारिकारणं अन्त्यसमयमन्तरेण न तत्र समर्थं, तद्भावे एव तदाविर्भावात्' इति, तर्हि नामाद्यघातिकर्मनिर्जरणशक्तिः अपि चारित्रे अन्तर्भाव्यताम्। तत् न क्षायिके अपि, न क्षायोपशमिके, नापि औपशमिके दर्शने, नापि ज्ञाने क्षायोपशमिके क्षायिके वा, तेनैव सह तदाविर्भावप्रसङ्गात्। न चानावरणा सा, सर्वदा आविर्भावप्रसङ्गात् संसारानुपपत्तेः। न ज्ञानदर्शनावरणान्तरायैः सा प्रतिबद्धा, तेषां ज्ञानादिप्रतिबन्धकत्वेन तदप्रतिबन्धकत्वात्। नाऽपि नामाद्यघातिकर्मभिः, तत्क्षयानन्तरं तदुत्पादप्रसक्तेः। तथा च अन्योन्याश्रयणात्-'सिद्धे नामाद्यघातिक्षये तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावात्, तत्सिद्धौ च नामाद्यघातिक्षयात्।' इति चारित्रमोहः तस्याः प्रतिबन्धकः सिद्धः। क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिः अपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणः अपेक्षणीयस्य तदा विरहात्। प्रधान हि कारण मोहक्षयः नामादिनिर्जरणशक्तेः न अयोगकेवलिगुणस्थानोपान्त्यान्त्यसमयं सहकारिमन्तरेण तां उपजनयितुं अलं, सत्यपि केवले ततः प्राक् तदनुत्पत्तेः। इति न सा मोहक्षयनिमित्ता अपि क्षीणकषायप्रथमक्षणे प्रादुर्भवति, नापि तदावरणं कर्म नवमं प्रसज्यते। इति स्थितं कालादिसहकारिविशेषापेक्षं क्षायिकं चारित्रं क्षायिकत्वेन सम्पूर्णं अपि मुक्त्युत्पादने साक्षात् असमर्थं केवलात् प्राक्कालभावि तदकारणकम्। केवलोत्तरकालभावि तु समग्रसामग्रीकं साक्षात् मोक्षकारणं सम्पूर्णं केवलकारणकं, अन्यथा तदघटनात्।

[त. श्लो. वा. अ. १, सू. १, वा. ८९-९०, ह. लि. प्र. पृ. ८३-८४, नि. सा. सं. पृ. ७०-७१]

"कर्मों की निर्जरा करने की जीव की शक्ति जीव के सम्यग्दर्शन में या सम्यग्ज्ञान में या सम्यक्चारित्र में अन्तर्भूत है या उनसे भिन्न है ?" ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार और अन्तराय की पांच इसप्रकार चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करनेकी शक्ति सम्यग्दर्शन में अन्तर्भूत नही होती; क्यों कि असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान अप्रमत्तसंयतगुणस्थान के अन्ततक के गुणस्थानो मे से किसी एक गुणस्थान में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन भेदों से युक्त दर्शनमोहनीय का क्षय हो जानेसे उक्त चौदह कर्मप्रकृतियो की निर्जरा करनेकी शक्ति प्रकट हो जाने का प्रसग आ जाता है। उन चौदह कर्मप्रकृतियो की निर्जरा करनेकी शक्ति ज्ञान में अन्तर्भूत होती है यह कहना भी ठीक नहीं है; क्यों कि क्षायिकज्ञान में उस शक्ति का अन्तर्भाव करनेपर सयोगकेवली के केवलज्ञान के साथ उस शक्ति का प्रादुर्भाव होनेही आपत्ति खडी हो जाती है और क्षायोपशमिक ज्ञान में उस शक्ति का अन्तर्भाव करनेपर क्षायोपशमिकज्ञान की उत्पत्ति के साथ उस शक्ति की उत्पत्ति हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। क्षायोपशमिकचारित्र में उक्त कर्मनिर्जरणशक्ति का अन्तर्भाव करनेपर क्षायोपशमिकचारित्र के हि साथ उस शक्ति का प्रादुर्भाव होनेका प्रसंग खडा हो जाता है। क्षायिकचारित्र में उस शक्ति का अन्तर्भाव करनेपर

क्षीणकषाय गुणस्थान के प्रथम क्षण में उस शक्ति का प्रादुर्भाव हो जानेसे निद्रा, प्रचला और ज्ञानावरणादि की चौदह कर्मप्रकृतियों के प्रथम क्षण में हि निर्जरा हो जानेका प्रसंग आ जानेसे क्षीणकषायगुणस्थान के उपान्त्य और अन्त्य समय में उन कर्मप्रकृतियों की निर्जरा नहीं होगी। दर्शन–ज्ञान–चारित्र में उक्त कर्मनिर्जरणशक्ति का अन्तर्भाव न करनेपर उस शक्ति को आवृत करनेवाले अन्य कर्म का अस्तित्व माननेका प्रसंग आ जायगा; क्यों कि दर्शनमोह, ज्ञानावरण और चारित्रमोह इनका उस शक्ति का आवारकत्व घटित नहीं होता। उस शक्ति को वीर्यान्तरायकर्म आवृन करता हे यह कथन भी ठीक नहीं है; क्यों कि वीर्यान्तरायकर्म का क्षय होनेके बाद उस शक्ति के प्रादुर्भाव का प्रसंग आ जाता है। ऐसा होनेपर वीर्यान्तरायकर्म का क्षय होनेपर वीर्यान्तरायकर्म की शक्ति का आविर्भाव होना और वीर्यान्तरायकर्म की निर्जरा की शक्ति का आविर्भाव होनेपर वीर्यान्तरायकर्म का क्षय होना इसप्रकार अन्योन्याश्रयनाम का दोष आ जाता है। इससे ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार और अन्तराय की पांच ये चौदह कर्मप्रकृतियां उन चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करने की शक्ति को आवृत करती हैं ऐसा माननेपर जो अन्योन्याश्रयनाम का दोष आता है उसका खुलासा हो गया। नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय ये चारों कर्म उक्त कर्मनिर्जरणशक्ति के प्रतिबन्धक नहीं हैं; क्यों कि ये चारों कर्म आत्मस्वरूप का घात करनेवाले नहीं हैं ऐसा कहा गया है। यह कर्मनिर्जरणशक्ति सर्वथा आवरणरहित नहीं है; क्यों उस शक्ति को सर्वथा अनावृत माननेपर उस शक्ति के द्वारा क्षय करनेयोग्य कर्मप्रकृतियों का सर्वदा अभाव हो जानेका प्रसंग आ जाता है। चारित्रमोहनीय का क्षय होनेपर उस शक्ति की प्रकटता हो जानेसे उस शक्ति का चारित्र में हि अन्तर्भाव है ऐसा निश्चय किया जाता है। चारित्र में अन्तर्भाव किया जानेसे क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम समय में उस शक्ति का आविर्भाव होनेका प्रसंग नहीं आता; क्यों कि उस शक्ति के आविर्भाव को कालविशेष की अपेक्षा होती है। 'उस कर्मनिर्जरणशक्ति के आविर्भाव का मोहक्षयरूप जो प्रधान कारण है वह सहकारिकारणभूत अन्त्यसमय के विना उस शक्ति का आविर्भाव करनेमें समर्थ नहीं होता; क्यों कि सहकारिकारण का सद्भाव होनेपर हि उस शक्ति का आविर्भाव होता है' ऐसा यदि किसी का अभिप्राय हो तो नामादि अघातिकर्मों की निर्जरा करने की शक्ति का भी चारित्र में अन्तर्भाव करो। उसी कारण से क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक दर्शन में तथा क्षायोपशमिक और क्षायिक ज्ञान में भी उस शक्ति का अन्तर्भाव नहीं होता; क्यों कि उसीके साथ हि उस शक्ति का आविर्भाव होनेका प्रसंग आ जाता है। वह कर्मनिर्जरणशक्ति आवरणरहित नही है, क्यों कि उस शक्ति का सर्वदा आविर्भाव होनेका प्रसंग आ जानेसे संसार घटित नहीं होगा। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन कर्मों से वह शक्ति प्रतिबद्ध नहीं है, क्यों कि ये कर्म ज्ञानादि के प्रतिबंधक होनेसे उस शक्ति के प्रतिबधक नहीं हो सकते। नामादि अघातिकर्मों से भी वह शक्ति प्रतिबद्ध नहीं है; क्यों कि उनका क्षय होनेके बाद उस शक्ति का प्रादुर्भाव होनेका प्रसग आ जाता है और नामादि अघातिकर्मों के क्षय की सिद्धि होनेपर नामादि अघातिकर्मों का निर्जरण करनेकी शक्ति का प्रादुर्भाव होनेसे और उस शक्ति की सिद्धि होनेपर नामादि अघातिकर्मों का क्षय सिद्ध होनेसे अन्योन्याश्रयनाम का दोष आ जाता है। इसप्रकार उस कर्मनिर्जरणशक्ति का चारित्रमोह प्रतिबधक है यह सिद्ध हुआ। क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम समय में उस शक्ति का अविर्भाव हो जानेका प्रसंग आ जाता है ऐसा भी नहीं कहना चाहिये; क्यो कि क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम समय में अपेक्षा करनेयोग्य सहकारिकारणभूत कालविशेष का अभाव होता है। नामादि के निर्जरणशक्ति का मोहक्षयरूप प्रधान कारण अयोगिकेवलिगुणस्थान के अन्त्योपान्त्यसमयरूप सहकारिकारण के अभाव में उस शक्ति को उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है; क्यों कि केवलज्ञान के होनेपर भी उस उपान्त्य और अन्त्य समय के पूर्वकाल मे वह कर्मनिर्जरणशक्ति उत्पन्न नहीं होती। इसप्रकार मोहक्षयरूप निमित्त के कारण उत्पन्न होनेवाली होनेपर भी क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम क्षण में वह शक्ति प्रादुर्भूत नहीं होती। उस शक्ति को आवृत करनेवाला नववाँ कर्म माननेका प्रसग नहीं आता। इसप्रकार केवलज्ञान के पूर्वकाल में उत्पन्न होनेवाला होनेसे जिसका कारण केवलज्ञान नहीं है, जिसको कालादिसहकारिकारणों की अपेक्षा होती है ऐसा क्षायिकचारित्र चारित्रमोह के क्षय से उत्पन्न हुआ होनेसे सपूर्ण होनेपर भी साक्षात् मुक्ति का प्रादुर्भाव करनेमें असमर्थ है; किंतु जो

केवलज्ञानोत्पत्ति के बाद होनेसे जिसका केवलज्ञान कारण है और जिसको समग्र सामग्री (सहकारिकारण) प्राप्त हुई है ऐसा संपूर्णता को प्राप्त हुआ यथाख्यातचारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है यह सिद्ध हुआ; क्यों कि ऐसा न होनेपर मोक्षकारणत्व घटित नहीं होता।"

इस प्रमाण से नीचे दी हुई बातों का पता चलता है– (१) उपादान की संपूर्णता सहकारिसामग्री मिल जानेपरहि होती है-उसके अभाव में कदापि नहीं होती। (२) उपादान अपनी पूर्णता के विना उपादेय के रूप से परिणत नहीं हो सकता। (३) यथाख्यातचारित्र जैसा क्षायिकभाव भी सहकारिसामग्री का अभाव होनेपर अपनी अर्थक्रिया नहीं कर सकता अर्थात् मोक्षोत्पत्ति नहीं कर सकता; क्यों कि सहकारिसामग्री का अभाव होनेपर वह संपूर्णता को प्राप्त नहीं होता। (४) यदि निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होता तो चारित्रमोहसंज्ञक कर्म का उदय कर्मनिर्जरणशक्ति का प्रतिबंधक नहीं कहा जाता। जब वह उस शक्ति का प्रतिबंधक कहा गया है तब उसको सर्वथा अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता। उस की उपस्थिति होनेमात्रसे जीव की विभावरूप परिणति होनेके कारण उस कर्म को प्रतिबंधक कहा है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्यों कि जीव अपने आप विभावरूप से परिणत होता है ऐसा हि उस कथन का अर्थ हो जाता है। इससे कर्म का अभाव होनेपर भी जीव विभावरूप से परिणत होता है यह अशास्त्रीय मन्तव्य पुष्ट हो जाता है। अपने अनादिकालीन अज्ञान से जीव विभावरूप से परिणत हो जाता है यह कहना भी ठीक नहीं है; क्यों कि वह अज्ञान औदयिकभाव होनेसे विभावभावरूप होनेके कारण कर्मजन्य हि है। यदि अज्ञान को कर्मनिमित्तक न माना तो वह स्वाभाविकभाव बन जायगा। अतः निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता। साराश, निमित्त के विना कुछ होता नहीं यह अभिप्राय ठीक है।

निष्कर्ष– जिसका प्रतिबंधककारण नष्ट हो चुका है, जिसको सहकारिकारणरूप समग्र सामग्री प्राप्त हुई है और जो अन्त्यक्षण को प्राप्त होता हुआ संपूर्णता को प्राप्त हुआ होता है वही कारण अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है।

निमित्त के विना कुछ होता नहीं इस कथन से दृष्टि निमित्ताधीन हो जाती है ऐसा जो कहा जाता है वह ठीक नहीं है। विभावरूप परिणति के विषय में जो कुछ किया जाता है वह निमित्त के द्वारा हि किया जाता है–उस विषय में उपादान कुछ भी करता नहीं ऐसी जो दृष्टि है वही निमित्ताधीन है। यह दृष्टि उपादाननिरपेक्ष होनेसे मिथ्यैकान्तरूप है। निमित्त को विभावपरिणति के विषय में कथंचित् कर्ता मानने से मिथ्यैकान्त नहीं होता क्यों कि निमित्त की कर्तृता उपादाननिरपेक्ष होती है ऐसा नहीं माना गया है। निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर मानकर अथवा निमित्त का अभाव होनेपर उपादान स्वयमेव विभावरूप से परिणत होता है ऐसा कहना यह उपादानाधीन दृष्टि है। यह दृष्टि निमित्तनिरपेक्ष होनेसे मिथ्यैकान्तरूप है। उपादान और निमित्त इन दोनों में से किसी एक को सर्वथा अकिंचित्कर मानने से 'सेसा बहिब्भवा भावा सव्वे संजोगलक्खणा' इस या 'भावा सयोगजा अमी' इस आगमप्रमाण का विरोध हो जाता है। अतः जीव के विभावरूप परिणामों को कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल की कर्मरूप परिणति का और द्रव्यकर्म के उदयादिरूप परिणामों को जीव की विभावरूप परिणति का किंचित्कर निमित्त मानना आवश्यक है। प्रमाण–

यथा शुद्धनिश्चयेन रागाद्यकर्तृत्वमात्मनः तथा यदि अशुद्धनिश्चयेनापि अकर्तृत्वं भवति तदा द्रव्यकर्मबन्धाभावः, तदभावे संसाराभावः, संसाराभावे सर्वदैव मुक्त –(त्व)– प्रसङ्गः। स च प्रत्यक्षविरोधः।' [पंचा. गा. ५९, ता. वृ. पृ. १११, नि. सा. सं.]

जिसप्रकार शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से रागादिरूप वैभाविकभावों के विषय में आत्मा उपादानकर्ता नहीं होती उसीप्रकार यदि अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से भी उन रागादिरूप विभावभावों के विषय में अशुद्ध आत्मा उपादानकर्ता नहीं होती ऐसा माना तो आत्मा के विभावभावों के निमित्तकर्तृत्व का अभाव हो जानेसे नैमित्तिकरूप द्रव्यकर्म के बन्ध का अभाव हो जायगा, द्रव्यकर्मबंध के अभाव से जीव की संसारावस्था के निमित्त का अभाव हो

जानेसे अशुद्ध जीव की विभावपरिणतिरूप संसार का अभाव हो जायगा, और जीव की विभावपरिणतिरूप संसार का अभाव हो जानेसे जीव के द्रव्य–भावकर्म–नोकर्म का जो अभाव उसरूप मुक्तावस्था सदैव बनी रहनेका प्रसंग खडा हो जायगा। जीव का सर्वदैव मुक्तत्व प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

इस उद्धरण से जीव के विभावभाव और पुद्गलकर्म के उदयात्मक परिणाम इनमें निमित्तनैमित्तिक-भाव की सिद्धि हो जानेसे निमित्त के विना कुछ होता नहीं यह अभिप्राय सिद्ध हो जाता है।

निमित्त की अकिंचित्करता की सिद्धि करनेके लिए जो एक दृष्टान्त पेश किया जाता है उसपर विचार किया जाना अप्रस्तुत नहीं है। जो दृष्टान्त दिया जाता है वह मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन का है। मुक्त होनेपर लोकाकाश के अन्ततक अर्थात् अलोकाकाश के आरभतक हि जानेका जीव का स्वभाव हि है–उस स्थान से आगे जानेका उसका स्वभाव नहीं है। उस स्वभाव के कारण वह लोकाकाश के बाहर अर्थात् अलोकाकाश में नहीं जाता। 'धर्मास्तिकायाभावात्' इस सूत्र के द्वारा अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय का सिर्फ अभाव बताया है और इसीलिए यह हेतुसूत्र बनाया है। इससे धर्मास्तिकाय का निमित्तमात्रत्व सिद्ध हो जाता है–वह जीव की गतिपरिणति में सहायक होता है इस बात का प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है। अलोकाकाश में जो भी धर्मास्तिकाय का अभाव है उससे जीव अपनी शक्ति से लोकाग्रभागतक हि जाता है आगे बढनेकी उसकी शक्ति–स्वभाव नहीं है। अतः धर्मास्तिकाय निमित्त होनेपर भी जीव की गतिरूप परिणति के विषय में अकिंचित्करता है। इसीप्रकार हरएक निमित्त की अकिंचित्करता सिद्ध हो जाती है। ऊपर जो यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है वह आगम और युक्ति के विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं है। गति और स्थिति ये जीव और पुद्गल के परिणाम हैं–स्वभाव नहीं। उपादान की कार्यरूप परिणति निमित्त के सहकार्य के अभाव में नहीं होती। जीव जब मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है तब वह गतिक्रिया के रूप से परिणत होनेके लिए अभिमुख हुआ होता है और सनातन और लोकव्यापि धर्मद्रव्य का सहकारित्व प्राप्त होते हि गतिक्रिया के रूप से परिणत होता है। गति क्रिया के रूप से परिणत होने हि वह उर्ध्वदिशा में गमन करता है–तिर्यगादिदिशाओं में नहीं। ऊर्ध्वदिशाकी ओर हि गमन करना उसका स्वभाव है-उस दिशा मे गमन करना हि उसका स्वभाव नहीं है अर्थात् गतिपरिणत होना हि उसका स्वभाव नही है; किन्तु गतिरूप से परिणत होनेपर ऊर्ध्वदिशा की ओर हि जानेका उस परिणाम का स्वभाव है। गति उसका स्वभाव नहीं अपि तु परिणाम है; क्यो कि वह विनश्वर होनेसे और स्वभाव अविनश्वर होनेसे वह स्वभाव नहीं हो सकती। अलोकाकाश के प्रारभ में और लोकाकाश के अन्त मे जो प्रदेश है वहा प्राप्त होते हि उसके ऊपर अलोकाकाश का आरभ होनेसे धर्मद्रव्य का और अधर्मद्रव्य का वहां अभाव हो जाता है। अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अभाव होनेसे जीव की गतिक्रियारूप परिणति नहीं होती और अधर्मद्रव्य का सहकारित्व प्राप्त हो जानेसे लोकाकाश के अन्त में स्थितिरूप से परिणत हो जाता है। गतिरूप से और स्थितिरूप से जीवद्रव्य हि परिणत होता है और धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जीव की उन परिणतियों में सिर्फ सहकारी बन जाते हैं। यदि गति को स्वभाव माना तो गतिक्रिया में परिणत हुए जीव की गति को कौन रोकेगा? यदि अपने स्वभाव से हि रुक जाना है ऐसा कहा गया तो लोक के अंतभाग मे हि क्यों रुकता है? मुक्त होते हि जहां मुक्त होता है वहींपर क्यो नहीं रुकता? "लोक के अंतभाग में मुक्त जीव स्वभाव से हि रुक जाता है ऐसा भी नहीं है, किंतु सिद्धान्त यह है कि जीव लोक का द्रव्य है। अतः लोक में हि रहने की उसमें योग्यता हो सकती है। यदि ऐसा न हो तो लोकवर्ती द्रव्य का अभाव हो जायगा और अलोक का क्षेत्र संकुचित हो जायगा। अलोक सदाकाल अलोकरूप हि रहता है।" ऐसा जो कहा जाता है वह ठीक नहीं है। मुक्त जीव अपनी स्थितिरूप परिणति का और गतिरूप परिणति का स्वय आश्रय होनेसे उन दोनों परिणतियों का कर्ता नहीं होता है इसमे संदेह नहीं। 'गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी' इस आगम-वचन के अनुसार जीव की गतिरूप परिणति मे धर्मद्रव्य सहकारिकारण पडता है यह जो आगमवचन उसका विरोध नहीं किया जा सकता। इस वचन के अनुसार गतिरूप परिणति का कारण जीव होनेपर भी उसकी पूर्णता सहकारि-सामग्री के सद्भाव से होती है। धर्मद्रव्यरूप सहकारी लोकाकाश में सर्वत्र होनेसे जीव मुक्तावस्था को प्राप्त होते

हि उसकी कारणता की पूर्णता तत्काल हो जानेसे जीव गतिरूप से परिणत हो जाता है। जीव ऊर्ध्वगौरवपरिणाम-वाला होनेसे उस परिणाम के स्वभाव के कारण अपने परिणाम से कथंचित् अभिन्न होनेसे ऊर्ध्वदिशा में हि गमन करता है। लोकाकाश के अंतिम प्रदेश के अनन्तरवर्ती अलोकाकाश के प्रारंभिक प्रदेश में धर्मद्रव्य का अभाव होनेसे सहकारी का अभाव होनेसे अन्तिम प्रदेश में रुक जानेके अभिमुख होते हि मुक्त जीव की स्थितिपरिणति में सहकारी होनेवाला अधर्मद्रव्यरूप निमित्त मिल जाते हि उसकी स्थितिपरिणति की कारणता पूर्ण होकर जीव स्थितिपरिणाम के रूप से परिणत हो जाता है। धर्मद्रव्य का निमित्तकारणत्व 'धर्मास्तिकायाभावात्' इस हेतुसूत्र के द्वारा सिद्ध होता है; क्यों कि वह पञ्चम्यन्त है। लोकाकाश में हि रहने की जिसप्रकार सभी द्रव्यों की योग्यता होती है उसीप्रकार जीवद्रव्य की और पुद्गलद्रव्य की निमित्त मिलनेपर हि परिणत होनेकी, धर्मद्रव्य की जीव और पुद्गल की गतिरूप से परिणत होनेकी क्रिया में सहकारी बननेकी और अधर्मद्रव्य की उन दोनों द्रव्यों की स्थिति-रूप से परिणति में सहकारी होनेकी योग्यता है ऐसा शास्त्रानुकूल प्रतिपादन करने से किसी प्रकार का दोष उत्पन्न नहीं होता। इस प्रतिपादन के विपरीत प्रतिपादन करनेसे आगम का विरोध हो जाता है। निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होता है ऐसा अभिप्राय किसी शास्त्र में पाया गया है? शास्त्रों में निमित्तकारण के पोषक प्रमाण मिलते है। श्लोकवार्तिकालंकार में आचार्यप्रवर विद्यानंदमहाराज ने कहा है कि—

उक्तो धर्मास्तिकायोऽत्र गत्युपग्रहकारणं।
तस्याभावाच्च लोकाग्रात्परतो गतिरात्मनः॥

[श्लो. वा. अ. १०, सू. ८, वा. १, नि. सा. सं. पृ. ५११]

इस श्लोक में धर्मास्तिकाय के अभाव को मुक्तजीव की लोकाग्र के आगे अलोकाकाश में गतिरूप से परिणत न होनेका निमित्त बताया है। यहां और अन्यत्र कहींपर भी मुक्तजीव लोकाग्रभाग के अंतिमतम प्रदेश में जो रुकता है और जो स्थितिरूप से परिणत होता है उसका जीवगतस्वभाव का और निमित्त के अभाव का कारणत्व नहीं बताया गया है। प्रत्युत जीव की अलोकाकाश में होनेवाले गतिरूप परिणति के अभाव का कारण धर्मास्तिकाय का अभाव है और लोकाकाश के अंतिमप्रदेश में होनेवाली जीव की स्थितिरूपपरिणति का कारण अधर्मास्तिकाय है यह शास्त्रों में स्पष्टरूप से बताया गया है। इससे जीव और पुद्गल का परिणमन सहकारिसापेक्ष है यह स्पष्ट हो जाता है। मुक्तजीव के गतिरूप से परिणत होनेमें जिसप्रकार धर्मद्रव्य को निमित्तकारण कहा है उसीप्रकार बहुशः प्रणिधान, जीव के साथ के द्रव्यकर्म के संबंध का अभाव और जीव और कर्म के साथ हुए बंध का अभाव इनकी भी निमित्तकारणता बताई है? क्या तीनों भी निमित्त मुक्तजीव की ऊर्ध्वगतिरूप परिणति में सहकारिकारण नहीं है? यदि इनको सहकारिकारण न माना तो बहुशः प्रणिधान के, कर्म के संयोग के और बन्धाभाव के अभाव में अर्थात् जीव की बद्धावस्था होनेपर भी जीव की लोकाग्र के अंतिमतम प्रदेशतक गमन करनेके लिए ऊर्ध्वगतिरूप से परिणत हो जानेका अनिष्ट प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस आपत्ति के परिहार के लिए उक्त तीनों निमित्तों को यदि सहकारि माना तो धर्मद्रव्य को भो सहकारी मानना होगा। इन को सहकारी अर्थात् किंचित्कर माननेसे सभी निमित्तों को सहकारी मानना होगा। अस्तु। दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार मुक्तजीव जब अपने स्वभाव से हि ऊर्ध्वगतिरूप परिणाम के रूप से परिणत हो जाता है तब अपने स्वभाव से हि वह क्यों नहीं रुक जाता-अपने स्थितिरूप परिणाम के रूप से परिणत नहीं हो जाता? यदि मुक्तजीव की गतिरूप परिणति और स्थितिरूप परिणति निमित्त का अभाव या उसकी अकिंचित्करता होनेपर भी होती है ऐसा माना तो 'सहकारिसामग्री के अभाव में एक कालद्रव्य को छोडकर किसी भी द्रव्य का परिणमन नहीं होता' इस आगम के अभिप्राय का विरोध हो जाता है। यदि गति और स्थिति इन दोनों परिणतियों का सद्भाव और अभाव अनिमित्तक माना तो गतिरूप से परिणत होना और स्थितिरूप से परिणत होना स्वभाव हि बन जायगा। इन दोनों विरोधी धर्मों का एक जीव-द्रव्य में युगपत् अस्तित्व नहीं हो सकता। ऊर्ध्वदिशा की ओर बढना जीव के गतिरूप परिणाम का हि स्वभाव

है–जीव का नहीं । परिणाम के साथ उसके स्वभाव का भी नाश हो जाता है । यदि वह जीव का स्वभाव होता तो जीवद्रव्य अनादिनिधन होनेसे वह गमनस्वभाव भी अनादिनिधन हो जाता और जीव की स्थितिरूप परिणति कदापि नहीं हो पाती । दूसरी बात यह है कि लोकाकाश के अंततक गमन करने का जीव का स्वभाव माना गया तो जीव के ज्ञानस्वभाव के साथ उसके अन्य स्वभावों के समान इस स्वभाव का भी तादात्म्य हो जायगा और तादात्म्य के कारण गमनस्वभाव का अंत होते समय उसके ज्ञानस्वभाव का भी अंत हो जानेकी आपत्ति खडी हो जाती है । अतः लोकाकाश के अंततक ऊर्ध्वदिशा में हि जानेका स्वभाव जीव के परिणाम का है ऐसा मानना होगा। जीव की ऊर्ध्वगति उसके ऊर्ध्वगौरवपरिणाम के कारण से होती है । अतः जीव का और पुद्गल का विभावरूप परिणाम निमित्त के सहकारित्व के अभाव में न होनेसे निमित्त के विना कुछ होता नहीं यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है ।

अब यहा स्वयं परिणत होनेवाला होनेपर भी अपने स्वरूप से प्रच्युत न होनेसे नित्यरूप धर्मद्रव्य स्वयं गतिरूप से परिणत होनेवाले जीव और पुद्गलों की गतिरूप से परिणत होनेकी क्रिया में सहकारिकारण होता है इस अभिप्राय का समर्थन करनेवाला शास्त्रीय प्रमाण पेश किया जाता है । देखिए–

प्रतिसमयषट्स्थानपतितवृद्धिहानिभिः अनन्तैः अविभागप्रतिच्छेदैः परिणताः ये अगुरुलघुकगुणाः स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबन्धनभूताः तैः कृत्वा पर्यायार्थिकनयेन उत्पादव्ययपरिणतः अपि द्रव्यार्थिकनयेन नि-(त्यं ?) त्यः गतिक्रियायुक्तानां कारणभूतः, यथा सिद्धः भगवान् उदासीनः अपि सिद्धगुणानुराग-परिणतानां भव्यानां सिद्धगतेः सहकारिकारणं भवति, तथा धर्मः अपि स्वभावेन एव गतिपरिणतजीव-पुद्गलानां उदासीनः अपि गतिसहकारिकारणं भवति । स्वयं अकार्यः । यथा सिद्धः स्वकीयशुद्धास्ति-त्वेन निष्पन्नत्वात् केन अपि न कृतः इति अकार्यः तथा धर्मः अपि स्वकीयास्तित्वेन निष्पन्नत्वात् अकार्यः इति अभिप्रायः । अथ धर्मस्य गतिहेतुत्वे लोकप्रसिद्धदृष्टान्त आह-उदकं यथा मत्स्यानां गमनानुग्रहकरं भवति लोके तथैव जीवपुद्गलानां धर्मद्रव्यं विजानीहि हे शिष्य ! तथाहि–यथा हि जलं स्वयं अगच्छन्मत्स्यान् अप्रेरयत् तेषां स्वयं गच्छतां गतेः सहकारिकारणं भवति तथा धर्मः अपि स्वयं अगच्छत्परान् अप्रेरयन् च स्वयमेव गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं भवति । अथवा भव्यानां सिद्धगतेः पुण्यवत् । तद्यथा–यथा रागादिदोषरहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितः निश्चयधर्मः यद्यपि सिद्धगतेः उपादानकारणं भव्यानां भवति तथा (अपि) निदानरहितपरिणामोपार्जिततीर्थ-करप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूपधर्मः अपि सहकारिकारणं भवति, तथा यद्यपि जीवपुद्गलानां गतिपरिणतेः स्वकीयोपादानकारणं अस्ति तथापि धर्मास्तिकायः अपि सहकारिकारणं भवति । अथवा भव्यानां अभव्यानां वा यथा चतुर्गतिगमनकाले यद्यपि अभ्यन्तरशुभाशुभपरिणामः उपादानकारणं भवति तथा जीवपुद्गलानां यद्यपि स्वयमेव निश्चयेन अभ्यन्तरे अन्तरङ्गसामर्थ्यं अस्ति तथापि व्यवहारेण धर्मास्तिकायः अपि गतिकारणं भवति इति भावार्थः ।

[पञ्चा. गा. ८४–८५, ता. वृ. टी., नि. सा. सं. पृ. १४२–१४३]

षड्गुणहानिवृद्धि से युक्त अनंत अविभागप्रतिच्छेदों के रूपसे परिणत हुए, अपने स्वरूप में स्थित होनेके कारणभूत जो अगुरुलघुकगुण उनके कारण से पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उत्पादव्ययरूप से परिणत हुआ होनेपर भी द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से नित्य ऐसा, गतिक्रिया मे युक्त पदार्थों का कारणभूत उदासीन होनेपर भी सिद्धों के गुणों के अनुरागरूप से परिणत हुए भव्यों की सिद्धगति का सहकारिकारण होनेवाले सिद्धभगवान के समान धर्मद्रव्य की परिणति अपने स्वभाव से हि गतिरूप से परिणत होनेवाले जीवों का और पुद्गलों का वह उदासीन होनेपर

भी सहकारिकारण होती है। वह धर्मद्रव्य स्वयं कार्यरूप नहीं है। अपने शुद्ध अस्तित्व से निष्पन्न होनेसे सिद्ध भगवान् किसी के द्वारा बनाया गया नहीं होनेसे कार्यरूप नहीं होता उसीप्रकार धर्मद्रव्य भी अपने अस्तित्व से निष्पन्न होनेसे किसी के द्वारा किया गया नहीं होनेसे कार्यरूप नहीं है ऐसा अभिप्राय है। धर्म के गतिहेतुत्व के विषय में लोकप्रसिद्ध दृष्टांत बताते हैं–संसार में जल जिसप्रकार गमनक्रिया में अनुग्रह करनेवाला होता है उसीप्रकार हे शिष्य! धर्मद्रव्य जीवों और पुद्गलों की गतिक्रिया में अनुग्रह करनेवाला होता है। खुलासा–जिसप्रकार स्वयं गतिमान् न बने हुए मत्स्यों को (मछलियों को) प्रेरित न करता हुआ स्वयं गतिरूप से परिणत होनेकी उनकी क्रिया में जल सहकारिकारण होता है उसीप्रकार धर्म भी स्वयं न चलनेवाले पर पदार्थों को प्रेरित न करता हुआ स्वयमेव गतिरूप से परिणत हुए जीवों और पुद्गलों की गतिक्रियाओं का सहकारिकारण होता है। अथवा भव्यों की सिद्धावस्थारूपपरिणति का जिसप्रकार पुण्य सहकारिकारण होता है उसीप्रकार जीवों और पुद्गलों की परिणति का धर्मद्रव्य सहकारिकारण होता है। खुलासा– रागादिदोषरहित, शुद्धात्मानुभूतिसहित निश्चयधर्म यद्यपि जिसप्रकार भव्यों की सिद्धावस्थारूप परिणति का उपादानकारण होता है और निदानरहित परिणाम से उपार्जित तीर्थंकरप्रकृतिरूप और उत्तमसंहननादिरूप विशिष्ट पुण्यात्मकधर्म भी सहकारिकारण होता है उसीप्रकार यद्यपि जीवों और पुद्गलो की गतिरूप परिणतियों का स्वकीय उपादानकारण होता है तो भी धर्मास्तिकाय भी सहकारिकारण होता है। अथवा भव्यों के या अभव्यों के चतुर्गति में गमन करनेके काल में यद्यपि अभ्यंतर शुभपरिणाम और अशुभपरिणाम उपादानकारण होता है और जीवों और पुद्गलों का यद्यपि निश्चय से अभ्यन्तर में अंतरंग सामर्थ्य का सद्भाव होता है तो भी व्यवहारनय से धर्मास्तिकाय भी गतिपरिणति का (सहकारी) कारण होता है ऐसा भावार्थ है।

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि (१) समर्थ उपादानभूत मुक्तजीव स्वयं गतिपरिणत होनेवाला होनेपर भी उसे धर्मद्रव्यरूप निमित्तकारण की नितान्त आवश्यकता होती है; (२) धर्मद्रव्यरूप निमित्तकारण उदासीन होनेसे गतिरूप से परिणत होनेके सामर्थ्य से संपन्न जीव और पुद्गलद्रव्य को गतिरूप से परिणत होनेके लिए प्रेरित नहीं करता। (३) भव्यजीव की सिद्धावस्थारूप परिणति होते समय उसको सिद्धों के गुणों के अनुराग के रूप से परिणति सहकारिकारण बनती है। (४) रागादिदोषरहित शुद्धात्मानुभूतिसहित निश्चयधर्म भव्यों की सिद्धावस्थारूप परिणति का उपादानकारण होता है तो भी तीर्थंकरप्रकृतिरूप और उत्तमसंहननरूप पुण्यस्वरूप धर्म उस सिद्धावस्थारूप परिणति का सहकारिकारण होता है। (५) निमित्तों का सहकारिकारणत्व व्यवहारनयाश्रित होता है। (६) चतुर्गतिगमनकाल में भव्य और अभव्य जीवों के शुभ और अशुभ परिणाम यद्यपि उपादानकारण होते हैं तो भी उस चतुर्गतिगमनरूप परिणति में द्रव्यलिंग आदि और दानपूजादिरूप बहिरंग शुभक्रिया बहिरंग सहकारिकारण होते हैं। (७) उपादानभूत द्रव्य का कार्यरूप से परिणमन सहकारिकारण का अभाव होनेपर नहीं होता

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुक्त हो जाते हि सिद्धजीव की ऊर्ध्वगतिरूप परिणति का धर्मास्तिकाय सहकारिकारण होता है। अतः 'धर्मास्तिकायाभावात्' यह हेतुसूत्र धर्मास्तिकाय का अलोकाकाश में सिर्फ अभाव बताने के लिए नहीं है किंतु मुक्त जीव को ऊर्ध्वगतिरूपपरिणतिक्रिया का वह सहकारिकारण होता है यह बतानेके लिए है।

यहांतक निमित्त की कथंचित् किंचित्करता और कथंचित् अकिंचित्करतापर जो विचार व्यक्त किये गये हैं वे निमित्तसामान्य की तरह निमित्तविशेष की अपेक्षा से भी व्यक्त किये गये हैं। अशुद्ध आत्मा की विभावपरिणति और पुद्गलोपादानक द्रव्य का उदयादिरूप परिणति इनमें होनेवाले व्याप्यव्यापकभाव, भाव्यभावकभाव, कर्तृकर्मभाव, भोक्तृभोग्यभाव, निमित्तनैमित्तिकभाव, परिणामपरिणामिभाव और उपादानोपादेयभाव इन पर जो विचार व्यक्त किये गये हैं उनका शुद्ध आत्मा के साथ तनिक भी संबंध नहीं है। अशुद्ध किंतु मुमुक्षु भव्यजीव के विचार कैसे होने चाहिये इस विषयपर विचार किया जाना नितरां आवश्यक है। मुमुक्षु भव्यजीव का साध्य है

भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म इनरूप परभावों का जिस अवस्था में अभाव होता है ऐसी अपवर्गसंज्ञक—मोक्षसंज्ञक अवस्था। अतः मुमुक्षु भव्यजीव को 'व्याप्यव्यापकभाव, भाव्यभावकभाव, कर्तृकर्मभाव, भोक्तृभोग्यभाव, निमित्त-नैमित्तिकभाव, परिणामपरिणामिभाव और उपादानोपादेयभाव इनका मेरी शुद्ध आत्मा के साथ संबंध हि क्या है? अशुद्ध अवस्था के साथ जब मेरी शुद्ध आत्मा का वास्तव संबंध हि नहीं है तब उस अशुद्ध अवस्था के साथ संबंध को प्राप्त हुए उक्त भावों का मेरी शुद्ध आत्मा के साथ संबंध कैसे घटित हो सकता है? जब निमित्तभूत द्रव्य का स्वभाव मेरी शुद्ध आत्मा के स्वभाव से सर्वथा भिन्न होनेसे निमित्त का मेरी शुद्ध आत्मा के साथ संबंध हि नहीं है तब उक्त कर्तृकर्मादिरूप निमित्तकारणक भावों का मेरी शुद्ध आत्मा के साथ संबंध कैसे अस्तित्वरूप बन सकता है? द्रव्यकर्मरूप निमित्त का मेरी अशुद्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से संबंध होनेसे उक्त भावों का कथंचित् संबंध है तो भी उन भावों के कारण मैंने अनादिकाल से दुःखरूपपरिणतियों का—स्वस्वभावच्युतिरूप परिणतियों का अनुभव किया है। अतः वे भाव मेरे साथ अनादिकाल से संबद्ध हुए होनेपर भी इन भावों के संबंध को तोड़—मरोड़कर फेंक देना हि मेरा परम कर्तव्य है।' इसप्रकार के विचारों को अपने हृदय में स्थान देना चाहिये। वे निमित्तभूत कर्म यद्यपि वस्तुतः आत्मा के शत्रु हैं तो भी आत्मा के द्वारा पराजित किये जानेपर वे मित्रभाव को प्राप्त होकर अपनी अपसरणक्रिया से-पृथग्भवनक्रिया से अन्ततो गत्वा अनुगृहित करते हैं। इन शत्रुओं को पराजित करने का एक हि उपाय है और वह है उनकी उपेक्षा करना। ये कर्मशत्रु अचेतन हैं। आत्मा अपनी भेदज्ञानरूप-सामर्थ्य से जब संपन्न होती है तब वह कर्मकृत आक्रमणों को लीलया सहती है और उनकी उपेक्षा करती हुई क्रोधादिरूप अज्ञानात्मकभावों के रूप से परिणत नहीं होती। परिणामतः मानो अपनी उपेक्षा के डर से नयी कर्म-सेना उस विशिष्ट आत्मा के समीप आने हि नहीं पाती-उस से दूरदूर हि रहा करती है। अस्तु।

यहां और एक बातपर विचार करना आवश्यक है। कहा जाता है कि—व्यवहारनय मिथ्या है और निश्चयनय परमार्थ है। मुमुक्षु जीव को परमार्थभूत नय का हि अवलंब करना चाहिये; क्यों कि उसके विना शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होना असंभव है। उसको अपरमार्थभूत व्यवहारनय का आश्रय नहीं करना चाहिये। एक दृष्टि से यह अभिप्राय स्वीकारार्ह है हि; क्यों कि निश्चयनय के विना शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि असंभव है। शुद्धनिश्चय शुद्धात्मोपलब्धि का साधकतम साधन होनेसे शुद्धस्वरूप आत्मा की प्राप्ति उसमें हि होती है। व्यवहारनय की बात उससे जुदी है। व्यवहार शुद्धस्वरूप आत्मा की उपलब्धि का साधकतम साधन नहीं है। वह शुद्ध निश्चयनय के समान मोक्षोपलब्धि का साक्षात् अर्थात् साधकतम साधन नहीं है। व्यवहार परंपरा से मोक्ष का साधन है। व्यवहारनय शुद्ध निश्चयनय का साधक होनेसे और शुद्धनिश्चयनय साध्य होनेसे उन दोनो में जिसप्रकार मोक्ष और शुद्ध निश्चयनय इनमें साध्यसाधनभाव होता है उसीप्रकार साध्यसाधनभाव होता है। साध्य की सिद्धि होनेपर साधन अनुपयुक्त होनेसे स्वयमेव हेय बन जाता है-उसका त्याग प्रयत्नपूर्वक करनेकी आवश्यकता नहीं होती। व्यवहारनय शुद्धनिश्चयनय का साधक होनेसे शुद्धनिश्चय की सिद्धि हो जानेपर जिसप्रकार मोक्ष की प्राप्ति होनेपर शुद्धनिश्चय की साधकतमसाधनता अनुपयुक्त बन जानेसे हेय बनती है उसीप्रकार व्यवहारनय की निश्चयनयविषयक साधकतमसाधनता अनुपयुक्त होनेसे स्वयमेव हेय बन जाती है—उसका त्याग करने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। अतः मोक्ष के साधकतमसाधनभूत विशुद्ध निश्चय की प्राप्ति व्यवहारनयरूप साधकतमसाधन के विना होना असंभव होनेसे और अत एव वह परंपरा से मोक्ष का साधन होनेसे व्यवहारनय सर्वथा त्याज्य नहीं है। जिसप्रकार निश्चय के त्याग से तीर्थफल का अर्थात् मोक्ष का विच्छेद हो जानेकी आपत्ति खड़ी हो जाती है उसीप्रकार व्यवहार के त्याग से तीर्थ का विच्छेद हो जानेकी आपत्ति खड़ी हो जाती है ऐसा शास्त्रकारों ने स्पष्टरूप से कह दिया है। तीर्थ का उच्छेद होनेपर तीर्थफल की प्राप्ति कहां से होगी? साधन का अभाव होनेपर साध्य की सिद्धि कैसे होगी? व्यवहाररूप साधन का अभाव होनेपर निश्चयरूप साध्य की सिद्धि होना असंभव है और निश्चयरूप साधन का अभाव होनेपर मोक्षरूप साध्य की सिद्धि होना असंभव है। अतः व्यवहार का अभाव होनेपर वह निश्चय के समान कथंचित् त्याज्य होनेपर भी मोक्ष का अभाव हो जानेका प्रसंग

उपस्थित हो जानेसे व्यवहार सर्वथा त्याज्य नहीं माना जा सकता। जिसप्रकार वह कथंचित् हेय है उसीप्रकार वह कथंचित् आदेय भी है। व्यवहार की साधकता का और निश्चय की साध्यता का समर्थक प्रमाण–

णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धि कयावि णिद्दिट्ठा ।
साहणहेऊ जम्हा तस्स य सो भणिय ववहारो ॥

अर्थ– जब व्यवहारनय को निश्चयनय का साधनभूत हेतु बतलाया गया है तब व्यवहारनय के अभाव में निश्चयनय की सिद्धि किसी तरह से भी निर्विष्ट नहीं हो सकती।

इस प्रमाण से व्यवहारनय की साधनता और निश्चयनय की साध्यता सिद्ध हो जाती है। अतः निश्चयनय और व्यवहारनय इनमें साध्यसाधनभाव सिद्ध हो जाता है। इससे निश्चयनयरूप साध्य की सिद्धि के लिए व्यवहारनयरूप साधन को कथंचित् ग्राह्य मानना हि होगा यह बात स्पष्ट हो जाती है। व्यवहारनयरूप साधन का सर्वथा त्याग किया जानेपर निश्चय की प्राप्ति असंभव हो जानेसे मोक्ष की प्राप्ति भी असंभव हो जायगी। अतः मुमुक्षु भव्य जीव को जबतक निश्चय की प्राप्ति नहीं होती तबतक व्यवहारनय का आश्रय करना हि चाहिये। निश्चय की प्राप्ति होनेपर मोक्ष की प्राप्ति होते हि निश्चय का ग्रहण जिसप्रकार आवश्यक अत एव अग्राह्य हो जाता है उसीप्रकार निश्चयरूप साध्य की सिद्धि होनेपर व्यवहार स्वयमेव अनावश्यक अत एव अग्राह्य–अनादेय–हेय बन जाता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए जिसप्रकार निश्चय की ग्राह्यता का उपदेश विधेय बन जाता है उसीप्रकार निश्चयनय की प्राप्ति के लिए व्यवहार की ग्राह्यता का उपदेश विधेय है–उसकी सर्वथा हेयता का उपदेश विधेय नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरी ने जो एक गाथा समयसार की १२ वी गाथा की टीका में उद्धृत की है वह भी इसी आशय का समर्थन करती है। देखिए–

जइ जिणमयं पवट्टह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एगेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

आचार्य कहते हैं कि–'हे भव्य जीवो ! यदि तुम जिनमत को प्रवर्ताना चाहते हों तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयो का त्याग मत करो। एक के अर्थात् व्यवहारनय के विना तीर्थप्रवृत्ति का-संसारसागर को पार करने के साधनभूत व्यवहारमार्ग का विच्छेद हो जायगा और दूसरे के अर्थात् निश्चयनय के विना तत्त्व का अर्थात् वस्तु-स्वरूप का नाश याने आत्मा के शुद्धस्वरूप का विच्छेद हो जायगा।' अब बताइए कि व्यवहार की सर्वथा त्याज्यता कैसे स्वीकार की जाय ? एकान्त हि करना हो तो बात दूसरी है। वैसे तो व्यवहार का भी एकान्त किया जा सकता है, क्यों कि व्यवहार भी परंपरा से मोक्ष का साधन बताया गया है।

यहांपर आलापपद्धति का एक उद्धरण पेश किया जाना आवश्यक है, क्यों कि उससे व्यवहारनय की कथंचित् सत्यार्थता और कथंचित् असत्यार्थता स्पष्ट हो जाती है। देखिए–

पुनरप्यध्यात्मभाषया नयाः उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयः व्यवहारश्च। तत्र निश्चयनयः अभेदविषयः, व्यवहारः भेदविषयः। तत्र निश्चयो द्विविधः, शुद्धनिश्चयः अशुद्धनिश्चयश्च। तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयः, यथा केवलज्ञानादयो जीवः इति। सोपाधिकविषयः अशुद्धनिश्चयः, यथा मतिज्ञानादयः जीवः इति। व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारः असद्भूतव्यवहारश्च। तत्र एकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्नवस्तुविषयः असद्भूतव्यवहारः। तत्र सद्भूतव्यवहारः द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात्। तत्र सोपाधिगुणगुणिनोः भेदविषयः उपचरितसद्भूतव्यवहारः, यथा जीवस्य मतिज्ञानादयः गुणाः। निरुपाधिगुणगुणिनोः भेदविषयः अनुपचरितसद्भूतव्यवहारः, यथा जीवस्य

केवलज्ञानादयः गुणाः । असद्भूतव्यवहारः द्विविधः, उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्र संश्लेषरहित-वस्तुसंबंधविषयः उपचरितासद्भूतव्यवहारः, यथा देवदत्तस्य धनम् इति । संश्लेषसहितवस्तुसंबंधविषयः अनुपचरितासद्भूतव्यवहारः, यथा जीवस्य शरीरं इति । [आलापपद्धतिः, सनातनजैनग्रन्थमाला, प्रथमगुच्छ, पृ. १६७]

अध्यात्मभाषा की दृष्टि से नय कहे जाते हैं । निश्चयनय और व्यवहारनय इसप्रकार मूल नय दो हैं । जो अभेद को अपना विषय बनाता है अर्थात् अभेद को जानता है वह निश्चयनय है और जो भेद को विषय करता है वह व्यवहारनय है । इन दोनों में से जो निश्चयनय है उसके शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय ऐसे दो प्रकार-भेद हैं । जो निरुपाधि अर्थात् शुद्ध गुण और शुद्ध गुणी इनमें होनेवाले अभेद को अपना विषय करता है वह शुद्धनिश्चयनय है और जो उपाधिसहित अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणी इनमें होनेवाले अभेद को अपना विषय बनाता है वह अशुद्धनिश्चय है । 'केवलज्ञानादयो जीवः' यह शुद्धनिश्चय का उदाहरण है और 'मतिज्ञानादयः जीवः' यह अशुद्ध निश्चय का उदाहरण है । केवलज्ञानादि गुण शुद्ध हैं और उनका आश्रयभूत जीव भी शुद्ध है । इन दोनों में अभेद-एकत्व बताया है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो शुद्ध गुण और शुद्ध गुणी इनमें अभेद बताता है वह शुद्धनिश्चयनय है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान आदि क्षायोपशमिकभाव होनेसे अशुद्ध गुण हैं और उनका आश्रयभूत जीव अशुद्ध होनेसे इनमें अभेद बताया है । अतः जो अशुद्धगुण और अशुद्धगुणी इनमें अभेद बताता है है वह अशुद्धनिश्चयनय है । सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार इसप्रकार व्यवहारनय दो प्रकारका है । इन दोनों में से जो एक वस्तु को अपना विषय बनाता है वह सद्भूतव्यवहारनय है और जो परस्पर भिन्न दो वस्तुओं को अपना विषय बनाता है वह असद्भूतव्यवहारनय है । उन दोनों में जो सद्भूतव्यवहारनय है उसके उपचरितसद्भूतव्यवहारनय और अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय ये दो भेद हैं । अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणी उनके भेद को जो विषय करता है वह उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है, जैसे जीव के मतिज्ञानादि गुण क्षायोपशमिकभाव होनेसे अशुद्ध हैं और उनका आश्रयभूत जीव भी अशुद्ध है । अशुद्ध गुणों का आश्रय शुद्ध द्रव्य नहीं होता । वस्तुतः मतिज्ञानादि अशुद्ध गुण और अशुद्ध जीवद्रव्य इनमें अभेद होनेसे वे दोनों एकवस्तुभूत हैं । इसप्रकार अशुद्ध जीवरूप एकवस्तु को विषय करनेसे यह नय सद्भूत है । मतिज्ञानादि और जीव में जो स्वस्वामिभावसंबंध 'जीवस्य' इस षष्ठ्यन्तपद के द्वारा बताया गया है उससे उनमें बताये जानेवाले भेद को विषय करनेवाला होनेसे यह नय व्यवहारनय है । अशुद्ध जीव का वह शुद्ध न होनेसे जीवत्व वास्तव नहीं है-उपचरित है । मतिज्ञानादि शुद्ध न होनेसे उनका गुणत्व वास्तव न होकर उपचरित है । अतः जीव उपचार से गुणी होनेसे और मतिज्ञानादि उपचारसे गुण होनेसे इस उपचरित गुणगुणी में भेद बतानेवाला होनेसे इस नय को उपचरित कहा गया है । शुद्ध गुण और शुद्ध गुणी इनके भेद को विषय करने-वाला जो होता है वह अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है, जैसे जीव के केवलज्ञानादिक गुण । केवलज्ञानादि गुण स्वभाव-व्यक्तिरूप क्षायिकभाव होनेसे शुद्ध गुण हैं और उनका आश्रयभूत जीव भी शुद्ध है । अशुद्ध द्रव्य शुद्ध गुणों का आश्रय नहीं हो सकता । वस्तुतः केवलज्ञानादि शुद्ध गुण और शुद्ध द्रव्य इनमें अभेद होनेसे वे दोनों एकवस्तुभूत हैं । इस-प्रकार शुद्धजीवरूप एक वस्तु को विषय करनेसे यह नय सद्भूत है । केवलज्ञानादि और शुद्ध जीव में जो 'जीवस्य' इस षष्ठ्यन्तपद के द्वारा स्वस्वामिभावसंबंध बताया गया है उससे उनमें बताये जानेवाले भेद को विषय करनेवाला होनेसे यह नय व्यवहारनय है । शुद्ध जीव का जीवत्व वास्तव है-अनुपचरित है । केवलज्ञानादि गुण शुद्ध होनेसे उनका गुणत्व वास्तव है-अनुपचरित है-उपचरित नहीं है । अतः शुद्ध जीव परमार्थतः गुणी होनेसे और केवल-ज्ञानादि परमार्थतः गुण होनेसे इस अनुपचरित गुणगुणी में भेद बतानेवाला होनेसे इस नय को अनुपचरित कहा गया है । भिन्नभिन्न वस्तुओं को विषय करनेवाला असद्भूतव्यवहार उपचरितासद्भूतव्यवहार और अनुपचरितास-द्भूतव्यवहार इसप्रकार दो प्रकारका है । उन दोनों में से जो संश्लेषरहितवस्तुओं के संबंध को विषय बनाता है उसे उपचरितासद्भूतव्यवहारनय कहते हैं, जैसे देवदत्त का धन । देवदत्त और धन दो भिन्न वस्तुएं हैं । उन दोनों वस्तुओं में संश्लेष नहीं है । उन में संश्लेष न होनेसे किसी भी प्रकार से वास्तव स्वस्वामिभावसंबंध नहीं है । दो भिन्न

वस्तुओं के भेद की मुख्यता को विषय करनेवाला होनेसे यह नय व्यवहारनय है । दो भिन्न वस्तुओं को विषय करनेसे असद्भूत है और उन दोनों में संश्लेष न होनेसे और वास्तव स्वस्वामिभावसंबंध न होनेसे उनमें उपचार से स्वस्वामिभाव का सद्भाव बताया जानेसे यह नय उपचरित है । सारांश, दो भिन्न और संबंधरहित वस्तुओं में संबंध का सद्भाव बताया जानेसे यह नय उपचरितासद्भूतव्यवहारनय है । संश्लेषसहित भिन्न वस्तुओं के संबंध को जो विषय करता है वह अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय कहा जाता है, जैसे जीव का शरीर । जीव और शरीर दो भिन्न वस्तुएं हैं; क्यों कि जीव चेतनस्वभाववाला होनेसे और शरीर अचेतनस्वभाववाला होनेसे दोनों का एकवस्तुत्व सिद्ध नहीं होता । इन दोनों वस्तुओं में होनेवाला भेद प्रधान होनेसे उस भेद को विषय करनेवाला होनेसे यह नय व्यवहारनय है । उन दोनों वस्तुओं में वे भिन्न स्वभाववाली होनेसे उनमें वास्तव स्वस्वामिभावसंबंध न होनेपर भी संश्लेष वास्तव होनेसे यह नय अनुपचरित है और दो भिन्न वस्तुएं उसका विषय होनेसे वह असद्भूत है । अतः दो भिन्न और संश्लेषसहित वस्तुओं में संबंध का सद्भाव बतानेवाला होनेसे यह नय अनुपचरितासद्भूतव्यवहार नय है ।

व्यवहारनय की सद्भूतता और असद्भूतता अपने विषय के यथाक्रम एकवस्तुत्व और भिन्नवस्तुत्वपर अवलंबित है । इसके विषय असत्यार्थ न होनेसे उसको सर्वथा असत्य-मिथ्या नही कहा जा सकता । वस्तुरूप गुणी और उसके गुण में तादात्म्यसबंध होनेसे भेद का अभाव होनेपर भी उनमें भेद का सद्भाव बताना और दो भिन्न-स्वभाववाली वस्तुओं में वास्तव सबध का अभाव होनेपर भी उनमें संबंध का सद्भाव बताना मिथ्या है । अतः व्यवहारनय कथंचित् सत्यार्थ है और कथचित् असत्यार्थ है-सर्वथा असत्यार्थ नहीं है । मतिज्ञानादिरूप गुण अशुद्ध गुण अशुद्ध जीव के नहीं हैं क्या ? यदि अशुद्ध जीव के नही हैं तो क्या वे पुद्गल के गुण है ? हां ! अशुद्ध जीव और मतिज्ञानादिरूप अशुद्ध गुण इनमें तादात्म्यसंबंध होनेसे भेद का अभाव होनेपर भी भेद का सद्भाव बताना मिथ्या है । केवलज्ञानादिरूप शुद्ध गुण क्या शुद्ध जीव के नहीं हैं ? यदि वे शुद्ध गुण शुद्ध जीव के नहीं है तो वे किसके हैं ? हां ! शुद्ध जीव और केवलज्ञानादिरूप शुद्ध गुण इनमें वस्तुतः तादात्म्य होनेसे भेद का अभाव होनेपर भी भेद का सद्भाव बताना मिथ्या है । अतः व्यवहारनय जिसप्रकार कथंचित् असत्यार्थ है उसीप्रकार कथंचित् सत्यार्थ भी है । ग्रंथराज समयसार में 'ववहारोऽभूदत्थो' (गा. ११) इस गाथा की और आगेकी गाथा की तात्पर्यवृत्तिटीका में जो लिखा है वह उक्त अभिप्राय का समर्थक होनेसे वे टीकांश यहां उद्धृत किये जाते हैं । देखिए-

द्वितीयव्याख्यानेन पुनः 'ववहारो अभूदत्थो' व्यवहारोऽभूतार्थो 'भूदत्थो' भूतार्थश्च 'देसिदो' देशितः कथितः [नि. सा. स., पृ. २३-२४]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार अभूतार्थ-असत्यार्थ है और भूतार्थ-सत्यार्थ भी है । दूसरा प्रमाण-

अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति, किंतु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः षोडशवर्णिकासुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत् केषांचित् प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवति । (नि. सा. सं., पृ. २५-२६)

निर्विकल्पसमाधि में रत हुए जीवों के विषय में भूतार्थ निश्चयनय प्रयोजनवान् होता है इतनाहि सिर्फ नहीं है अपि तु शुद्ध सुवर्ण के लाभ के अभाव में उससे कम शुद्ध सुवर्ण का लाभ जिसप्रकार सप्रयोजन होता है उसीप्रकार निर्विकल्पसमाधिरहित किन्ही प्राथमिक जीवों के विषय में कदाचित् सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय और कषायों के कारण प्रादुर्भूत होनेवाले दुर्ध्यान का अभाव करनेके लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् होता है ।

अब विचारणीय बात यह है कि यदि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ होता तो उसका प्रयोजनत्व सिद्ध करनेकी आवश्यकता क्यों होती ? अतः व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है-वह कथंचित् सत्यार्थ भी है । आचार्य

समंतभद्रकृत बृहत्स्वयंभूस्तोत्र का भी एक उद्धरण यहां पेश किया जाता है। देखिए—

> बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
> ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥८३॥ [कुन्थुजिनस्तोत्रम्]

भगवन्! आध्यात्मिक तपश्चरण को वृद्धिगत करनेके लिए कठिनतम बाह्य तप करनेवाले आप आर्त-ध्यानसंज्ञक और रौद्रध्यानसंज्ञक दो अपध्यानों को दूर हटाकर सातिशय धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में स्थिर बने रहे थे।

बाह्यतप व्यवहारचारित्र और आध्यात्मिकतप निश्चयचारित्र है। व्यवहार चारित्र से निश्चयचारित्र का उपबृंहण होता है। अतः निश्चयचारित्र के उपबृंहण के लिए व्यवहारचारित्र की नितरां आवश्यकता है। बाह्य चारित्र की व्यवहारचारित्र यह संज्ञा होनेपर भी वह सर्वथा हेय नहीं है। यदि व्यवहारचारित्र सर्वथा हेय होता तो भगवान् कुंथुनाथ जिनेंद्र बाह्य तप क्यों करते ? वस्तुतः बाह्यतप अर्थात् व्यवहारचारित्र और आध्यात्मिक तप अर्थात् निश्चयचारित्र इनमें साध्यसाधनभाव होनेसे साध्य की सिद्धि के लिए व्यवहारचारित्र नितरां आवश्यक होनेसे व्यवहारचारित्र को हेय कहकर उसका जो त्याग करते हैं वे निश्चयचारित्र की प्राप्ति कदापि नहीं कर सकते। हां! निश्चयचारित्र की प्राप्ति होनेपर निर्विकल्पसमाधिरत जीव के व्यवहारचारित्र का अपने आप अभाव हो जाता है; क्यों कि ऐसे जीव की बाह्य दृष्टि वह अन्तर्मुख बन जानेसे अपने आप विलीन हो जाती है। दूसरी बात यह है कि शुक्लध्यान हि व्यवहारनय की दृष्टि से और निश्चयनय की दृष्टि से मोक्ष का साधन है। वस्तुतः शुक्लध्यान का भेदभूत व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान की पूर्णता की अन्त्यक्षणवर्तिनी पूर्णावस्था हि मोक्ष का साधकतम साधन होनेसे वही निश्चयनय की दृष्टि से मोक्ष का कारण है। इसी ध्यान की अन्त्य अवस्था के पूर्वकालवर्ती सभी अवस्थाओं का, शुक्लध्यान के पहिले तीन भेदों का और धर्म्यध्यान का मोक्षकारणत्व व्यवहारनय की दृष्टि से बताया गया है। ऐसा होते हुए भी धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान के तीन भेद और अन्तिम भेद के अन्त्यसमयतक की अवस्थाएं इनके बिना व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान की अन्त्यक्षणवर्तिनी अवस्था का प्रादुर्भाव होना असंभव होनेसे उन ध्यानों का मोक्षकारणत्व सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। अतः मुमुक्षु जीव को भगवान् समन्तभद्रस्वामी के उक्त वचनपर अपना चचल मन कीलित कर निश्चयचारित्र के साधकतमसाधनभूत व्यवहारचारित्र का त्याग नहीं करना चाहिये; क्यों कि व्यवहारचारित्र की मोक्षकारणता सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। साधन के बिना साध्य की सिद्धि कदापि नहीं होती। व्यवहार सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। निश्चय यदि निरपेक्ष हो तो वह भी असत्यार्थ होता है। अतः व्यवहार का जिसप्रकार एकान्त नहीं किया जा सकता उसीप्रकार निश्चय का भी एकान्त नहीं किया जा सकता, फिर भले हि वह मोक्ष का साधकतमसाधन बताया गया हो। व्यवहारचारित्र परंपरा से और निश्चयचारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है।

जइ जिणमयं पवट्टह ता मा ववहारणिच्छये मुयह।

व्यवहारचारित्र से हि मोक्ष की प्राप्ती होती है यह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए निश्चयचारित्र की अपेक्षा होती है। निश्चयचारित्र से हि मोक्ष की प्राप्ति होती है यह कथन एक दृष्टि से ठीक होनेपर भी वह सदोष है; क्यों कि व्यवहारचारित्र के बिना निश्चयचारित्र की प्राप्ति होना असंभव है। हां! व्यवहारचारित्र सम्यक्त्व का अभाव होनेपर परंपरा से भी मोक्ष की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है यह मन्तव्य ठीक है; क्यों कि सम्यक्त्व के अभाव में व्यवहारचारित्र बालतपसंज्ञा को प्राप्त होता है। किंतु बालतप भी देवगति का कारण होता है। इस अभिप्राय का समर्थन 'बालतपांसि दैवस्य' इस सूत्र के द्वारा हो जाता है। अव्रत अवस्था के कारण नरकगति को प्राप्त होनेसे व्रती बनकर देवगति को प्राप्त होना अच्छा है। इष्टोपदेश में आचार्य पूज्य-पादस्वामीने इसी आशय को स्पष्ट किया है। देखिए—

'वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकम्।'

आचार्य अमृतचन्द्रसूरी ने अपने तत्त्वार्थसारनामक ग्रंथ के उपसंहार में इस विषय में जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह विचारणीय है । देखिए–

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः । तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥

निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है । उन दोनों में से प्रथम अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग साध्यरूप है और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग उस निश्चयमोक्षमार्ग का साधन है ॥ २ ॥ इससे स्पष्ट हो जाता है कि निश्चय और व्यवहार में साध्यसाधनभाव है । साध्यरूप निश्चयमोक्षमार्ग की सिद्धि करनी हो तो व्यवहारमोक्षमार्गरूप साधन का अवलंब करना हि चाहिये । अतः व्यवहार साधनभूत होनेसे सर्वथा हेय नहीं कहा जा सकता । यहां अध्यात्मकप्रकरण में कुछ उपयुक्त श्लोक उद्धृत किये जाते है –

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः । सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥३॥

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मनां । सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

श्रद्धधानः परद्रव्यं बुद्ध्यमानस्तदेव हि । तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥५॥

स्वद्रव्यं श्रद्दधानस्तु बुद्ध्यमानस्तदेव हि । तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥ ६॥

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः । स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥७॥

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थदेशतो मुक्तिमार्गः ।

एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद्द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥२१॥ [तत्त्वार्थसार, उपसंहार]

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव जो है वह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग है ॥३॥ और परपदार्थों के स्वरूप का 'परपदार्थों का स्वरूप ऐसा हि है' ऐसा जो श्रद्धान, परपदार्थों के स्वरूप का ज्ञान और उनके स्वरूप के विषय में निरपेक्षता जो है वह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्ग है ॥४॥ जो परद्रव्य का श्रद्धान करता है अर्थात् आत्मभिन्न पदार्थों का 'ये परद्रव्य है–आत्मद्रव्य से भिन्न पदार्थ है' ऐसा श्रद्धान करता है, 'यह परद्रव्य है–आत्मद्रव्य नहीं है' इसतरह जानता है और आत्मभिन्न द्रव्यों को परद्रव्य समझकर उसकी अपेक्षा करता है वह मुनि व्यवहारी है अर्थात् उस मुनि का मुनित्व व्यवहारनयाश्रित है ॥५॥ आत्मद्रव्य का 'यह हि आत्मद्रव्य है' ऐसा समझकर जो श्रद्धान करता है, आत्मस्वरूप को जानता है और उसीका हि ध्यान–अनुभव करता है वह निश्चयनय की दृष्टि से मुनिश्रेष्ठ है ॥६॥ ज्ञातृत्व के कारण आत्मा ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है और चारित्रमोह से पीडित या आवृत न होनेसे अपने शुद्ध स्वरूप में स्थितिमान् अर्थात् अविचलरूप से स्थिर होती है–अपने स्वरूप से च्युत नहीं होती ॥७॥ पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से मुक्तिमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंरूप होता है–रत्नत्रयात्मक होता है । जो सर्वदैव द्वितीयरहित होती है अर्थात् जो अपने को सदाकाल निरुपाधि मानती है वह एक ज्ञाता आत्मा हि द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से मुक्तिमार्ग है अथवा एक ज्ञाता अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप का द्रष्टा और अनुभविता आत्मा हि सभी कालों में द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से मोक्षमार्ग है–मोक्षका अन्वेषक है–साधक है ॥२१॥

अब न सिर्फ व्यवहारनय के आलंबन से और न सिर्फ निश्चयनय के आलंबन से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अपि तु दोनों नयों का अवलंब करनेसे हि मोक्ष की प्राप्ति होती है यह बताने के लिए प्रमाण पेश किया जाता है । देखिए–

द्विविधं किल तात्पर्यं, सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यं चेति । तत्र सूत्रतात्पर्यं किल प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम् । शास्त्रतात्पर्यं त्विदं प्रतिपाद्यते । अस्य खलु पारमेश्वरस्य शास्त्रस्य सकलपुरुषार्थसारभूत-

मोक्षतत्त्वप्रतिपत्तिहेतोः, पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेन उपदर्शितसमस्तवस्तुस्वभावस्य, नवपदार्थप्रपञ्चसूचनाविष्कृतबन्धमोक्षायतनबन्धमोक्षविकल्पस्य, सम्यगावेदितनिश्चयव्यवहाररूपमोक्षमार्गस्य, साक्षान्मोक्षकारणभूतपरमवीतरागत्वविश्रान्तसमस्तहृदयस्य, परमार्थतो वीतरागत्वमेव तात्पर्यमिति। तदिदं वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैव अनुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये, न पुनरन्यथा। व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावं अवलम्ब्य अनादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैव अवतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः। तथाहि—' इदं श्रद्धेयं, इदं अश्रद्धेयं, अयं श्रद्धाता, इदं श्रद्धानं, इदं अश्रद्धानं; इदं ज्ञेयं, अयं ज्ञाता, इदं ज्ञानं, इदं अज्ञानं; इदं चरणीयं, इदं अचरणीयं, इदं अचरितं, इदं चरणं ' इति कर्तव्याकर्तव्यकर्तृकर्मविभागावलोकनोल्लसितपेशलोत्साहाः, शनैः शनैः मोहमल्लानुन्मूलयन्तः कदाचिदज्ञानान्मदप्रमादपरतन्त्रतया शिथिलितात्माधिकारस्यात्मनो न्याय्यपथप्रवर्तनाय प्रयुक्तप्रचण्डदण्डनीतयः, पुनः पुनः दोषानुसारेण (आ-) दत्तप्रायश्चित्ताः, सन्ततोद्युक्ताः सन्तः अथ तस्यैवात्मनः भिन्नविषयश्रद्धानज्ञानचारित्रैः अधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्यसाधनभावस्य रजकशिलातलस्फाल्यमान–विमलसलिलाप्लुत-विहिताध्वपरिष्वङ्ग–मलिनवाससः इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चयनयस्य भिन्नसाध्यसाधनभावा-(व?)-भावाद् दर्शनज्ञानचारित्रसमाहिततत्त्वरूपे विश्रान्तसकलक्रियाकाण्डाडम्बरनिस्तरङ्गपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूचयन्तः क्रमेण समुपजातसमरसीभावाः, परमवीतरागभावमधिगम्य साक्षान्मोक्षसुखमनुभवन्तीति। अथ ये तु केवलव्यवहारावलम्बिनः ते खलु भिन्न–[साध्य-]–साधनभावावलोकनेनानवरतं नितरां खिद्यमानाः, मुहुर्मुहुर्धर्मादिश्रद्धानरूपाध्यवसायानुस्यूतचेतसः, प्रभूतश्रुतसंस्काराधिरोपितविचित्रविकल्पजालकल्माषितचैतन्यवृत्तयः, समस्तयतिवृत्तसमुदायरूपतपःप्रवृत्तिरूपकर्मकाण्डोड्डमराचलिताः, कदाचित्किञ्चिद्रोचमानाः, कदाचित्किञ्चिद्विकल्पयन्तः, कदाचित्किञ्चिदाचरन्तः; दर्शनाचरणाय कदाचित्प्रशाम्यन्तः, कदाचित्संविजमानाः, कदाचिदनुकम्पमानाः, कदाचिदास्तिक्यमुद्वहन्तः शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सामूढदृष्टितानां व्युत्थापननिरोधाय नित्यबद्धपरिकराः, उपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनां भावयमानाः, वारंवारमभिवर्धितोत्साहाः; ज्ञानाचरणाय स्वाध्यायकालमवलोकयन्तः, बहुधा विनयं प्रपञ्चयन्तः, प्रविहितदुर्धरोपधानाः, सुष्ठु बहुमानमातन्वन्तः, निह्नवापत्ति नितरां निवारयन्तः, अर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धौ नितान्तं सावधानाः, चारित्राचरणाय हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहसमस्तविरतिरूपेषु पञ्चमहाव्रतेषु (तः ?) सन्निष्ठवृत्तयः, सम्यग्योगनिग्रहलक्षणासु गुप्तिषु नितान्त गृहीतोद्योगाः, ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गरूपासु समितिषु अत्यन्तनिवेशितप्रयत्नाः, तपआचरणायानशनावमौदर्यवृत्तिपरिसङ्ख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्या–(श ?)–सनकायक्लेशेष्वभीक्ष्णमुत्सहमानाः, प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यव्युत्सर्गस्वाध्यायध्यानपरिकराङ्कुशितस्वान्ताः; वीर्याचरणाय कर्मकाण्डे सर्वशक्त्या व्याप्रियमाणाः, कर्मचेतनाप्रधानत्वात् दूरनिवारिताशुभकर्मप्रवृत्तयः अपि समुपात्तशुभकर्मप्रवृत्तयः, सकलक्रियाकाण्डाडम्बरोत्तीर्णदर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपां ज्ञानचेतनां मनागपि असम्भावयन्तः, प्रभूतपुण्यभारमन्थरितचित्तवृत्तयः, सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिपरम्परया सुचिरं संसारसागरे भ्रमन्ति इति। उक्तञ्च–

' चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति ॥ '

येऽत्र केवलनिश्चयावलम्बिनः, सकलक्रियाकर्मकाण्डाडम्बरविरक्तबुद्धयः, अर्धमीलितविलोचनपुटाः किमपि स्वबुद्ध्यावलोक्य यथासुखमासते; ते खलु अवधीरितभिन्नसाध्यसाधनभावाः अभिन्नसाध्यसाधनभावमलभमानाः अन्तराले एव प्रमादकादम्बरीमदभरालसचेतसः मत्ताः इव, मूर्च्छिताः इव, सुषुप्ताः इव, प्रभूतघृतसितोपलपायसासावित-[सा. ?]-सौहित्याः इव, समुल्बणबलसञ्जनितजाड्याः इव, दारुणमनोभ्रंशविहितमोहाः इव, मुद्रितविशिष्टचैतन्याः वनस्पतयः इव, मौनीन्द्रीं कर्मचेतनां पुण्यबन्धभयेन अनवलम्बमानाः अनासादितपरमनैष्कर्म्यरूपज्ञानचेतनाविश्रान्तयः व्यक्ताव्यक्तप्रमादतन्त्राः अरमागतकर्मफलचेतनाप्रधानप्रवृत्तयः वनस्पतयः इव केवलं पापमेव बध्नन्ति । उक्तं च–

' णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता ।
णासंति चरणकरणं बाहिरचरणालसा केई ।। '

ये तु पुनः अपुनर्भवाय नित्यविहितोद्योगमहाभागाः भगवन्तः निश्चयव्यवहारयोः अन्यतरानवलम्बनेन अत्यन्तमध्यस्थीभूताः, शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविश्रान्तिविरचनोन्मुखाः, प्रमादोदयानुवृत्तिनिर्वर्तिकां क्रियाकाण्डपरिणतिमाहात्म्यात् निवारयन्तः अत्यन्तं उदासीना यथाशक्ति आत्मानं आत्मना आत्मनि सञ्चेतयमाना नित्योपयुक्ता निवसन्ति; ते खलु स्वतत्त्वविश्रान्त्यनुसारेण क्रमेण कर्माणि सन्यसन्तः, अत्यन्तनिष्प्रमादाः नितान्तनिष्कम्पमूर्तयः, वनस्पतिभिः उपमीयमाना अपि दूरनिरस्तकर्मफलानुभूतयः कर्मानुभूतिनिरुत्सुकाः, केवलज्ञानानुभूतिसमुपजाततात्त्विकानन्दनिर्भरतराः तरसा संसारसमुद्रं उत्तीर्य शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतस्य भोक्तारः भवन्ति इति ।

[पञ्चा. त. दी. टी. गाथा १७२, पृ. २४६–२५२, नि. सा. सं]

सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य इसप्रकार तात्पर्य दो प्रकार का है । प्रत्येकसूत्र के समय सूत्र के तात्पर्य का प्रतिपादन किया गया है । अब शास्त्रतात्पर्य का प्रतिपादन किया जाता है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में सारभूत जो मोक्षपुरुषार्थ उसके ज्ञान की उत्पत्ति का साधन और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन पाच अस्तिकायों के स्वरूप का और छह द्रव्यों के स्वरूप का प्रतिपादन करनेसे जिसने संपूर्ण वस्तुओं का स्वभाव प्रकट किया है, नव पदार्थों के विस्तार की सूचना से जिसके द्वारा बन्ध के और मोक्ष के संबंधि अर्थात् जीव और पुद्गल, बन्ध और मोक्ष के कारण तथा बंध और मोक्ष के विकल्प (भेद) प्रकट किये गये है, व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का और निश्चयरूप मोक्षमार्ग का जिसने अच्छीतरह से प्रतिपादन किया है, साक्षात् मोक्षका कारणभूत जो परमवीतरागत्व उसके विषय में हि जिसका सार पूर्णता को प्राप्त हुआ है ऐसे इस शास्त्र का परमार्थतः वीतरागत्व हि तात्पर्य है–इसका प्रतिपादन हि इस ग्रंथ का मुख्य प्रयोजन है । वह यह वीतरागत्व व्यवहार और निश्चय में दिखाई देनेवाले विरोध का परिहार करके प्राप्त किया जानेपर इष्टसिद्धि का साधकतम साधन बन जाता है, व्यवहार और निश्चय में भासमान होनेवाले विरोध का परिहार न किया जानेपर वह वीतरागत्व इष्टसिद्धि का साधकतम साधन नहीं बन पाता । व्यवहारनय से आत्मा से भिन्न साध्यसाधनभाव का अवलंबन कर जिनकी बुद्धि अनादिकाल से भेद में (साध्यसाधनभाव का आत्मा से जो भेद उसमें) निमग्न हुई है ऐसे प्राथमिक जीव तीर्थ में-व्यवहारचारित्र में सुख से अवतीर्ण होते हैं । खुलासा– ' यह श्रद्धा करनेके योग्य है, यह श्रद्धा करनेके योग्य नहीं है, यह श्रद्धा करनेवाला है, यह श्रद्धान है, यह अश्रद्धान–अप्रशस्त श्रद्धान है; यह जानने योग्य है, यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है, यह अज्ञान है–अप्रशस्त ज्ञान है; यह आचरनेके योग्य है, यह आचरनेके योग्य नहीं है, यह अप्रशस्त-मिथ्या चारित्र है, यह चारित्र है' इसप्रकार कर्तव्य (करनेयोग्य) और अकर्तव्य (करनेके अयोग्य), कर्ता और कर्म इसप्रकार के विभाग को देखनेसे जिनमे उत्तम उत्साह प्रादुर्भूत–प्रकट हो गया है, जो धीरे धीरे

मोह को उखाड़कर फेंक देते हैं, कभी अज्ञान के कारण मद और प्रमाद के अधीन हो जानेसे जिसके अपने मन के ऊपरका नियंत्रण ढीला हो गया होता है ऐसी अपनी आत्मा को न्यायोचित मार्गपर चलानेके लिए प्रचंड दंडनीति का जिन्होंने प्रयोग किया है अर्थात् जिन्होंने अपने को प्रायश्चित्तरूप बड़ा भारी शासन दिया है, दोषानुसार जिन्होंने बारबार प्रायश्चित्त ले लिया है, जो सतत उद्यमशील बने हुए होते हैं, और भिन्न भिन्न विषयवाले [आप्त–आगमादि श्रद्धान का विषय, ज्ञेयार्थ ज्ञान का विषय और व्रतादि चारित्र का विषय होनेसे भिन्न विषयवाले] श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र इनके द्वारा जिसके ऊपर संस्कार किये गये हैं ऐसी उसी अपनी आत्मा की, जिससे साध्यसाधनभाव भिन्न है ऐसे धोबी के द्वारा शिलातलपर पटके जानेवाला, निर्मल जल में डुबाया गया, मार्ग के साथ संपर्क हो जानेसे मलिन बना हुआ वस्त्र जिसप्रकार धीरे धीरे निर्मल बनाया जाता है ऐसे उस वस्त्र के समान धीरे धीरे शुद्धि प्राप्तकर निश्चयनय में आत्मभिन्न साध्यसाधनभाव का अभाव होनेसे दर्शनज्ञानचारित्र के एकत्वात्मक-स्वभाववाले, संपूर्ण क्रियाकाण्ड का विस्तार नष्ट हो जानेसे स्वस्वरूपस्थित परमचैतन्य से युक्त निरतिशय आनंद से युक्त ऐसी भगवान् आत्मा में विश्रान्ति को अर्थात् स्थिरत्व को सूचित करनेवाले, जिनमें समरसीभाव प्रादुर्भूत हुआ है ऐसे वे प्राथमिक जन परमवीतरागत्व को प्राप्तकर मोक्षसुख का साक्षात् अनुभव करते हैं।

अब जो सिर्फ व्यवहारनय का अवलंबन करनेवाले होनेसे नियतरूप से साध्यसाधनभाव को आत्मा से भिन्न देखनेसे अविच्छिन्नरूप से नितरां खिन्न होते हैं, बारबार धर्मादि के श्रद्धानरूप अभिप्रायों से जिनका मन व्याप्त होता है, श्रुत के विपुल संस्कारों के द्वारा उत्पन्न कराये गये अनेकविध विकल्पों के समूह से जिनके चैतन्य के व्यापार दूषित किये गये होते हैं; संपूर्ण यत्याचार के समुदायरूप तपश्चरण में जो प्रवृत्तिरूप कर्मकाण्ड होता है उसमें जो नितरां निश्चल बने हुए होते हैं, जिन्हें कभी किसी विषय में रुचि उत्पन्न होती है, कभी किसी विषयपर जो विचार करते रहते हैं, जो कभी कुछ करते रहते हैं; जो दर्शनाचार के लिए अनन्तानुबंधि रागादिकों का और मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतियों का कभी कभी उद्रेक नहीं होने देते अर्थात् प्रशान्त होते हैं, कभी कभी संसार से डरते हैं, कभी कभी त्रस और स्थावर प्राणियों को अपने दयाभाव का विषय बनाते हैं, कभी कभी जीवादिपदार्थों के याथात्म्य को जानते हैं, जो शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढदृष्टिता इन भावों के उद्दीपन का विरोध करनेके लिए नित्य बद्धपरिकर होते हैं अर्थात् जो सर्वदा तैयार रहते हैं; उपबृंहण (उपगूहन), स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इनका जो निविद्न्यास करते हैं, जिन्होंने अपना उत्साह बारबार बढ़ाया है, ज्ञानाचार के लिए स्वाध्याय के काल की जो प्रतीक्षा करते हैं, जो विनय को अनेक प्रकारों से प्रकट करते हैं, जो अनेक कठिन व्रत करते हैं, जो अच्छीतरह से बहुमान करते हैं, जो निह्नव अर्थात् ज्ञान का अपलाप करने की आपत्ति का नितरां निवारण करते हैं; अर्थपर्याय की, व्यंजनपर्याय की और उभयात्मक पर्याय की शुद्धि के बारेमें जो अत्यधिक सावधान रहते हैं, चारित्राचार के लिए हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इनसे संपूर्ण विरतिरूप महाव्रतों के विषय में जिनके भाव समीचीनतया एकाग्र बने हुए होते हैं; मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा इनके निमित्त से होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योगों का अच्छीतरह से निग्रह करना लक्षण है जिनका ऐसी गुप्तियों के विषय में जो अत्यंत उद्यमशील बने हुए होते हैं; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग इनस्वरूप समितियों के विषय में जिन्होने अपने प्रयत्न विस्तारित किये हैं–बढ़ाए हैं; तपआचार के लिए अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इनके विषय में जो सतत उत्साहयुक्त होते हैं; प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान इनरूप बंधनवस्त्र के द्वारा जिनका हृदय–मन निगृहित किया गया है, वीर्याचार के लिए कर्मकाण्ड में जो अपनी सर्व शक्ति से व्याप्त हुए होते हैं–लगे रहते हैं, कर्मचेतना का प्राधान्य होनेसे अशुभकर्मों में होनेवाली प्रवृत्तियां जिन के द्वारा दूर की गयी होनेपर भी जिन्होंने शुभकर्मों में होनेवाली प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है–उनको अपनाया है; संपूर्ण क्रियाकांड में होनेवाली आसक्ति से रहित ऐसी दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनकी एकत्वात्मक जो परिणति होती है उसरूप ज्ञानचेतना को किंचिन्मात्र भी जो अपनी विचारकोटि में नहीं लेते, जिनके मनोव्यापार विपुल पुण्य के भार से बाधित–व्याहत हो गये हैं वे देवलोका-

द्रिके क्लेशों की प्राप्ति की परंपरा से दीर्घकालतक संसारसागर में भ्रमण किया करते हे। कहा है कि–

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति ॥

चारित्राचरण जिनका प्रधान कार्य है, स्वसमयभूत परमार्थ के लिए उद्यम करना जिन्होंने छोड दिया है वे चारित्रचरण का सारभूत ऐसी निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा को जानते नहीं।

जो सिर्फ निश्चयनय का अवलंबन लेते हैं, क्रियारूप संपूर्ण क्रियाकाण्ड के विस्तार के विषय में जिनकी बुद्धि विद्वेष करनी लगी हुई है, विलोचन अर्धनिमीलित बने हुए होनेसे अपनी बुद्धि से कुछ देखकर–जानकर जो सुखसे कालयापन करते हैं–मजे में रहते हैं; वस्तुतः आत्मा से भिन्न साध्यसाधनभाव की जिन्होंने उपेक्षा की है, आत्मा से अभिन्न साध्यसाधनभाव की जिन्हें प्राप्ति नहीं हो रही है वे अंतराल में हि [व्यवहाराश्रित भिन्न साध्य-साधनभाव का त्याग करने से और निश्चयाश्रित अभिन्न साध्यसाधनभाव की उपलब्धि न होनेसे, त्याग कर देनेसे व्यवहार हाथ से निकल जानेसे और निश्चयनय की उपलब्धि न होनेसे उन दोनों के बीचमें हि खडी हुई आत्मा की आगे बताई हुई अवस्था होती है] प्रमादरूप मद्य से जनित उन्माद के उद्रेक से जिनका मन आलस्ययुक्त बना है ऐसे जो उन्मत्त के समान हैं, मूर्च्छित के समान हैं, गाढ निद्राके अधीन हुए पुरुष के समान हैं, प्रचुर प्रमाण में घी और मिश्रि की डलियां जिसमें डाले गये हैं ऐसे पायसान्न के समाधान से युक्त पुरुष के समान हैं; विपुल बल से (शारीरिक सामर्थ्य से) जड बने हुए पुरुष के समान हैं, भयंकर मनोभ्रंश के कारण जिसमें पागलपन व्यक्त हुआ है ऐसे पुरुष के समान हैं, जिनका विशिष्ट चैतन्य अर्थात् ज्ञान (संज्ञित्व) प्रच्छन्न–आवृत हो गया है ऐसी वनस्पति के समान हैं, जो मुनीन्द्रों की कर्मचेतना का पुण्यबंध के भय से अवलंबन नहीं करते, परमनैष्कर्म्यरूप ध्यानरूप ज्ञानचेतना में स्थिरता जिन्होने प्राप्त नहीं की है, जिनके प्रमाद और आलस्य किंचित् व्यक्त और किंचित् अव्यक्त होते हैं, अत्यधिकरूप से आगतकर्मफलचेतना जिनमें प्रधान होती है ऐसी प्रवृत्तियों से युक्त वनस्पतियों के समान वे सिर्फ पाप का बंध करते हैं। कहा है कि–

णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहिरचरणालसा केई ॥

जो निश्चय का अवलंबन करते हैं और निश्चयनय को जो स्पष्टरूप से जानते नहीं वे कोई बाह्य चारित्र के विषय में आलस्ययुक्त बने हुए होनेसे चारित्राचार का नाश करते हैं।

जो फिरसे पुनर्जन्म न हो इसलिए अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिए अविच्छिन्नरूप से उद्योग करनेवाले महाभाग भगवान् निश्चयनय और व्यवहारनय इनमें से किसी एक का अवलंब न करके अत्यंत मध्यस्थ बने हुए होते हैं, शुद्धचैतन्यात्मक आत्मस्वभाव में स्थिरता प्राप्त करने के लिए जो उन्मुख होते हैं, प्रमाद के उदय के-उत्पत्ति के अनुरूप परिणति की उत्पत्ति को क्रियासमूहरूपपरिणति के प्रभाव से जो नष्ट करते हैं; जो अत्यन्त उदासीन होते हैं; अपनी शक्ति के अनुसार अपनी आत्मा का अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा अनुभव करते हुए अपनी आत्मा में जो अपना उपयोग सतत प्रयुक्त करते हैं वे वस्तुतः अपनी आत्मा के स्वरूप में जो स्थिरता होती है उसके अनुसार क्रम से कर्मों का त्याग करनेवाले जो आत्यन्तिकरूप से प्रमादरहित होते हैं, जिन का स्वरूप अथवा शरीर अत्यंत स्थिर होता है, वनस्पतियों के साथ सादृश्य बताया जानेपर भी जिन्होंने कर्मफल का अनुभवन दूर किया है, कर्म की अनुभूति के बारे में जिन्हें उत्साह नहीं होता है, केवलज्ञान की अनुभूति से उत्पन्न हुए यथार्थ आनंद से जो परिपूर्ण होते हैं वे जलदी से संसारसागर को पारकर शब्दब्रह्म के शाश्वत फल को भोगनेवाले होते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो सिर्फ व्यवहारनय का अवलंबन करते हैं उन्हें आत्मा से अभिन्न साध्य-साधनभाव का अभाव होनेसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती; किंतु जो दोनों नयों का अवलंब करते हैं उनको धीरे धीरे

शुद्धता होकर निर्विकल्पसमाधि की योग्यता प्राप्त होनेसे वे मोक्षावस्था को प्राप्त कर सकते हैं। सिर्फ व्यवहारनय का जो अवलंबन करते हैं वे पुण्य का बंध करते हैं और देवगति को प्राप्त होते हैं। निश्चयनयावलंबी की बात तो जुदी है। जो सिर्फ निश्चय का अवलंबन करते हैं वे भिन्न साध्यसाधनभाव को तो छोड देते हैं और योग्य शुद्धि का अभाव होनेसे अभिन्न साध्यसाधनभाव की उन्हें प्राप्ति होना असंभव ही जाता है। इस अवस्था में अंतराल में लटके हुए सिर्फ निश्चयनय का अवलंब करनेवाले शुद्धिसाधक व्यवहारचारित्र का उनके अभाव होनेसे सिर्फ पाप का हि बंध करते हैं। अतः निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि व्यवहार के अवलंबन के बिना निश्चय की प्राप्ति असंभव होनेसे मुमुक्षु जीव को प्राथमिक अवस्था में व्यवहार का अवलंबन नितरां आवश्यक होनेसे व्यवहार सर्वथा मिथ्या नहीं है। पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में इसी अभिप्राय का समर्थन पाया जाता है। तात्पर्यवृत्ति के इसी प्रकरण में पाया जानेवाला एक प्रमाणवाक्य पेश करके प्रकृत प्रकरण को समाप्त किया जाता है। देखिए–

ततः स्थितमेतत्–निश्चयव्यवहारपरस्परसाध्यसाधनभावेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनैव मोक्षं लभन्ते। [पञ्चा. नि. सा. सं. गा. १७२, पृ. २५२]

उससे निश्चय और व्यवहार के परस्पर साध्यसाधनभाव से रागादिविकल्पों से रहित परमसमाधि के बलपर हि मोक्षावस्था को प्राप्त करते हैं।

इससे निश्चय की साध्यता और व्यवहार की साधनता स्पष्ट हो जाती है। अतः निमित्त की कर्तृता व्यवहाराश्रित होनेपर भी उसका कथंचित् किंचित्करत्व सिद्ध हो जानेसे ' निमित्त के बिना कुछ होता नहीं ' यह अभिप्राय सिद्ध हो जाता है।

परिणामविचार

परिणति, परिणाम, पर्याय, उपादेय, विवर्त, कार्य और निमित्तकारणक होनेसे नैमित्तिक ये शब्द एक अर्थ के वाचक हैं। बाह्य और अभ्यंतर कारणों से द्रव्य की जो विशिष्ट परिणति होती है वही परिणाम कही जाती है। जब द्रव्यरूप उपादानकारण कार्य के रूप से परिणत होनेके योग्य होता है तब अन्य योग्य पदार्थ की पर्याय निमित्त-कारण–सहकारिकारण बन जानेपर उपादानकारणभूत द्रव्य कार्यरूप से परिणत होता है। परिणाम अपने उपादान से कथंचित् भिन्न होता है और कथंचित् अभिन्न होता है। वह कथंचित् उपादान के सदृश होता है और कथंचित् विसदृश भी होता है। परिणाम में उपादान का स्वरूप से अन्वय होता है। यदि उसमें उपादान का स्वरूप से अन्वय न हुआ तो उपादान और उपादेय–परिणाम में उपादानोपादेयभाव, परिणामपरिणामिभाव, कर्तृकर्मभाव, अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव, और वास्तव भाव्यभावकभाव और कार्यकारणभाव घटित नहीं होंगे जिससे किसी भी परिणाम का कौनसा भी परद्रव्य उपादान बन जायगा और सर्वसंकर का प्रसंग खडा हो जायगा। असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति हि उपादान का उपादेय में स्वस्वरूप से होनेवाले अन्वय का ज्ञान करानेमें पर्याप्त हैं। यह विश्व अनन्त पदार्थों से परिपूर्ण है। पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से पदार्थों का अनन्तत्व होनेपर भी महासत्ता के संबध के योग्य द्रव्य, पर्याय और उनके भेदप्रभेदों का द्रव्यस्वरूप की दृष्टि से उनका एकत्वरूप से ग्रहण किया जा सकता है। सत्त्व की अपेक्षा से सभी द्रव्यों का एकत्व और उनके विशेषों की अपेक्षा से उनका अनेकत्व–नानात्व सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार विश्व के सभी पदार्थों में कथंचित् भेद की और कथंचित् अभेद की सिद्धि हो जाती है और उनमें योग्यता के अनुसार निमित्तनैमित्तिकभाव सिद्ध हो जाता है, इसप्रकार एक उपादानभूत द्रव्य की दो पर्यायों में भी निमित्तनैमित्तिकभाव सिद्ध हो जाता है; क्यों कि उत्तरपर्याय में पूर्व पर्याय का असाधारणस्वरूप निमित्त के असाधारणस्वरूप के समान नहीं पाया जाता और पूर्वपर्याय के बिना उत्तरपर्याय उत्पन्न भी नहीं होती। दो भिन्न द्रव्यों में निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर जिसप्रकार उनमें कथंचित् भेदाभेद होता है उसीप्रकार एक द्रव्य की दो पर्यायों में कथंचित् भेदाभेद होता है। अतः उनमें भी निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव निर्बाधरूप से माना जा सकता है।

परिणाम का स्वरूप पाठकों के सामने रखनेके लिए नीचे उद्धृत किया हुआ शास्त्रीय प्रमाण पठनीय है। देखिए–

'कः पुनः परिणामः ?' द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणः विकारः परिणामः। तत्र विस्रसापरिणामः अनादिः आदिमान् च। चेतनद्रव्यस्य तावत् स्वजातेः चेतनद्रव्यत्वाख्यायाः अपरित्यागेन जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वादिः अनादिः औपशमिकादिः पूर्वाकारपरित्यागात् जहद्वृत्तिः आदिमान्। स तु कर्मोपशमाद्यपेक्षत्वात् अपौरुषेयत्वात् वैस्रसिकः। अचेतनद्रव्यस्य तु लोकसंस्थानमन्दराकारादिः अनादिः, इन्द्रधनुरादिः आदिमान् पुरुषप्रयत्नानपेक्षत्वात् एव वैस्रसिकः। प्रयोगजः पुनः दानशीलभावनादिः चेतनस्य, आचार्योपदेशलक्षणपुरुषप्रयत्नापेक्षत्वात्; घटसंस्थानादिः अचेतनस्य, कुलालादिपुरुषप्रयोगापेक्षत्वात्। धर्मास्तिकायादिद्रव्यस्य तु वैस्रसिकः असङ्ख्येयप्रदेशत्वादिः अनादिः परिणामः, प्रतिनियतगत्युपग्रहहेतुत्वादिः आदिमान्; प्रयोगजः यन्त्रादिगत्युपग्रहहेतुत्वादिः, पुरुषप्रयोगापेक्षत्वात्। स सर्वः अपि बहिरङ्गकारणापेक्षः, अकालपरिणामत्वे सति कार्यत्वात्, व्रीह्यादिवत् इति। यत् तत् बाह्यं कारणं स कालः। [श्लो. वा. ५।२२, ह. लि. प्र. पृ. ५३४, नि. सा. सं. पृ. ४१४]

इस उद्धरण का अनुवाद करनेके पहले इसमें प्रयुक्त किये गये प्रयोग और विस्रसा इन दो शब्दों का खुलासा करना आवश्यक है। 'प्रयोगः पुद्गलविकारः। तदनपेक्षा विक्रिया विस्रसा' [रा. वा. ५।२२।१०] पुद्गल के अर्थात् पुरुषशरीर के विकार को अर्थात् परिणाम को प्रयोग कहते हैं और पुद्गलविकार के अर्थात् पुरुष के शरीर के परीणाम की अपेक्षा न रखनेवाले विकार–परिणाम को विस्रसा कहते हैं। इन शब्दों की स्पष्टता नीचे उद्धृत किये गये प्रमाण से होती है। प्रमाण–

'विस्रसा विधिविपर्यये निपातः' ॥१२॥ पौरुषेयपरिणामापेक्षः विधिः। तद्विपर्यये विस्रसाशब्दः निपातः द्रष्टव्यः। विस्रसाप्रयोजनः वैस्रसिकः बन्धः। 'प्रयोगः पुरुषकायवाङ्मनःसंयोगलक्षणः' ॥१३॥ पुरुषस्य कायवाङ्मनःसंयोगः प्रयोगः इत्युच्यते। प्रयोगप्रयोजनः बन्धः प्रायोगिकः। स द्वेधा अजीवविषयः जीवाजीवविषयश्चेति। तत्र अजीवविषयः जतुकाष्ठादिलक्षणः [जीवाजीवविषयः कर्मनोकर्मबन्धः। कर्मबन्धः ज्ञानावरणादिः अष्टधा वक्ष्यमाणः। नोकर्मबन्धः औदारिकादिविषयः।

[रा. वा. अ. ५, सू. २४, वा. १२–१३, पृ. २३२]

पुरुषकृत कायवाङ्मनःसंयोगरूप जो परिणाम उसको विधि कहते हैं। उसके विरोधी अर्थ में विस्रसा इस शब्द का निपात है ऐसा समझना चाहिये। विस्रसा जिसका प्रयोजन होता है ऐसे बन्ध को वैस्रसिकबन्ध कहते हैं। पुरुष के काय, वाचा और मन इनके संयोग को प्रयोग कहते हैं। प्रयोग जिसका प्रयोजन–कारण है ऐसे बन्ध को प्रायोगिकबन्ध कहते हैं। वह अजीव को विषय करनेवाला और जीव तथा अजीव को विषय करनेवाला इसप्रकार दो प्रकार का है। जतु और काष्ठ आदिस्वरूप जो बंध है वह अजीवविषयक प्रायोगिकबंध है। जीव और अजीव जिसके विषय हैं ऐसा जो कर्मनोकर्मबन्ध वह जीवाजीवविषयक ज्ञानावरणादिसंज्ञक कर्मबन्ध वह आठ प्रकारका है। उसके विषय में आगे प्रतिपादन किया जायगा। औदारिकादिशरीर जिसके विषय हैं ऐसा जो नोकर्मबंध वह जीवाजीवविषयक प्रायोगिकबन्ध है।

सारांश, विस्रसाशब्द पुरुषप्रयोग के अभाव का बोध कराता है और प्रयोगशब्द पुरुषप्रयत्न का बोध कराता है।

अब श्लोकवार्तिकग्रन्थ के उद्धरण का अनुवाद पेश किया जाता है–

परिणाम का क्या अर्थ है ? अपनी जाति का–प्रकृति का–उपादान का परित्याग न करते हुए पुरुषकृत

प्रयत्न का सद्भाव होनेपर और उसका अभाव होनेपर अस्तिरूप बननेवाले द्रव्य के विकार को परिणाम कहते हैं। [जो विकार पुरुषकृत प्रयत्न की अपेक्षा नहीं करता] वह विस्रसापरिणाम अनादि और आदिमान् इसप्रकार दो प्रकार का होता है। चेतनद्रव्यस्वरूप अपनी जातिका त्याग न करते हुए जो जीवत्वरूप, भव्यत्वरूप और अभव्यत्वादिरूप चेतनद्रव्य के परिणाम हैं वे अनादि हैं। पूर्व आकार का अर्थात् पूर्व पर्याय का त्याग करनेसे अहद्वृत्तिरूप जीव के औपशमिकादिरूप भाव हैं वे आदिमान्–सादि हैं। औपशमिकादिरूप भाव कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा जिनके होती है और जो पुरुषकृत नहीं होते वे वैस्रसिक हैं। लोकरचनारूप परिणाम, मेरु का विशिष्ट-आकाररूप परिणाम आदि अचेतन द्रव्य के अनादि परिणाम हैं और इन्द्रधनु आदि उसी अचेतन द्रव्य के आदिमान्-सादि परिणाम हैं। अचेतन द्रव्य के जो उक्त आदिमान् और अनादि परिणाम हैं वे वैस्रसिक हैं; क्यों कि उनके विषय में पुरुषप्रयत्न अपेक्षित नहीं होता। दानभावना, शीलभावना आदिरूप चेतनद्रव्य के परिणाम प्रयोगज हैं; क्यों कि उनके विषय में आचार्यकृतोपदेशरूप पुरुषप्रयत्न अपेक्षित होता है। घटाकाररचना आदिरूप अचेतन द्रव्य के परिणाम प्रयोगज हैं; क्यों कि उनके विषय में कुलालादिपुरुषों के प्रयत्न अपेक्षित होते हैं। धर्मास्तिकायादि का असंख्येयप्रदेशत्व आदिरूप अनादि परिणाम और प्रतिनियत गति में बलाधान करना–गतिपरिणामाभिमुख द्रव्य की गतिपरिणामरूप से परिणत होने की पारिणामिकी शक्ति को उत्तेजित करना आदिरूप आदिमान् परिणाम वैस्रसिक है। यन्त्रादि को गतिमान् करनेके विषय में उपकार करनेमें कारणभूत बनना आदिरूप परिणाम प्रयोगज है; क्यों कि उनके विषय में पुरुषप्रयोग अर्थात् पुरुषप्रयत्न अपेक्षित होता है। कालद्रव्य के परिणाम को छोडकर अन्य द्रव्यों के सभी परिणाम चावल आदि के समान बहिरंग कारण की अपेक्षा रखते हैं; क्यों कि वे कार्यरूप हैं। काल द्रव्य का परिणाम यद्यपि कार्यरूप है तो भी बहिरंग कारण की उसे अपेक्षा नहीं होती–उसका परिणमन सिर्फ स्वप्रत्यय है। बाकी के द्रव्यों के स्वपरप्रत्यय हैं। जो बहिरंग कारण है वह कालद्रव्य है।

इस उद्धरण में पायी जानेवाली कुछ ज्ञातव्य बातें–१) अपने उपादान के स्वरूप का त्याग किये बिना बननेवाला द्रव्य का विकार परिणाम कहा जाता है। २) द्रव्य का परिणमन पुरुष के प्रयत्न से और उसके अभाव में भी होता है। ३) वैस्रसिक परिणाम अनादि और आदिमान् इसप्रकार दो प्रकार का होता है और प्रायोगिक परिणाम आदिमान् हि होता है। ४) पुरुष के प्रयत्न से होनेवाला द्रव्य का परिणाम प्रायोगिक परिणाम कहा जाता है और पुरुषप्रयत्न के अभाव में होनेवाला परिणाम वैस्रसिक परिणाम या विस्रसा परिणाम कहा जाता है। ५) जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व आदि चेतनद्रव्य के परिणाम अनादि वैस्रसिक परिणाम हैं। ६) जीव के औपशमिकादिभावरूप परिणाम पुरुषप्रयत्नकृत न होनेसे आदिमान् वैस्रसिक परिणाम हैं। ७) औपशमिकादिभावरूप परिणाम–अशुद्ध आत्मा के पर्याय–निमित्तसापेक्ष हैं, सादि हैं और पुरुषप्रयत्ननिरपेक्ष हैं। ८) धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के असंख्येयप्रदेशत्व आदिरूप परिणाम अनादि हैं और द्रव्यांतरो की गति आदि के विषय में सहायक होना आदिमान् परिणाम है। दोनों प्रकार के परिणाम वैस्रसिक हैं। ९) कालद्रव्य का परिणमन निमित्तरूप अन्यद्रव्य की या उसके पर्याय की अपेक्षा नहीं रखता। अत उसका परिणमन स्वप्रत्यय होना है। १०) कालद्रव्य को छोडकर सभी द्रव्यो का परिणमन निमित्त के विना नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन, द्रव्यरूप उपादान के आश्रित होनेसे और द्रव्य परिणमनशील होनेसे वह स्वप्रत्यय है और द्रव्य परिणमनाभिमुख समर्थ उपादानकारण होनेपर भी वह निमित्त के विना परिणत नहीं होता इसलिए वह उसका परिणमन परप्रत्यय भी है। अतः कालद्रव्य को छोडकर अन्य सभी द्रव्यों का परिणमन स्वपरप्रत्यय है। बहिरंग कारण जो होता है वहि निमित्तकारण या सहकारिकारण है। ११) 'व्रीहयादिवत्' इस पदोक्त व्रीहि आदि के दृष्टान्तद्वारा अपने को कालद्रव्य के निमित्तत्व के समान अन्य द्रव्यों या उनकी पर्यायों के निमित्तत्व का बोध हो जाता है। चावल सिर्फ कालद्रव्यरूप निमित्त से पकते हो ऐसा नहीं है। उसका पचन जिसप्रकार कालनिमित्तक होता है उसीप्रकार जल, अग्नि आदि अन्यद्रव्यरूप भी उसके निमित्तकारण या सहकारिकारण होते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपादानभूत द्रव्य का परिणमन निमित्तरूप सहकारिकारण अपनी उपादान

की परिणति के अनुकूल ऐसी परिणति के विना कदापि नहीं होता ।

यहां कुछ विवेचनीय दलीलोंपर और आक्षेपोंपर विचार करना आवश्यक है । –

(१) 'अपेक्षा' इस शब्द का अर्थ दो प्रकार का है– (१) ऐसा है इसप्रकार का ज्ञान कराना और (२) आवश्यकता, गरज । जैसे गरीब को धनवान् के धन की अपेक्षा । प्रथम अर्थ प्रकृत विषय में कार्यकारी है; क्यों कि इससे 'जीव की विभावरूप परिणति में द्रव्यकर्म की अपेक्षा होती है' इस वाक्य के 'जीव का विभावरूप परिणाम द्रव्यकर्मरूप निमित्त का ज्ञान कराता है' इस अर्थ का बोध हो जाता है । यदि उक्त वाक्य के उक्त अर्थ का बोध न हुआ तो निमित्तवादी निमित्तदृष्टि को छोडकर अपनी दृष्टि आत्माभिमुख नहीं करेगा । पूज्य अमृतचंद्राचार्य ने स्वाश्रितो निश्चयः, पराश्रितो व्यवहारः' ऐसा कहा है । अतः 'अपेक्षा' शब्द का उक्त प्रथम अर्थ परपदार्थ का आलंबन छुडाने के लिए है–मात्र बोल जानेके लिए नहीं ।

इस उक्त अभिप्राय का विश्लेषण और समाधान निम्नप्रकार है । स्वाभीष्टसिद्धि के लिए किसी शब्द का मनमाना अर्थ करना ठीक नहीं है; क्यों कि ऐसा करनेसे सर्वमान्य सिद्धान्त का अपलाप हो जानेकी संभावना होती है । 'ऐसा है इसप्रकार का ज्ञान कराना' ऐसा 'अपेक्षा' इस शब्द का अर्थ साहित्य, कोश और सिद्धान्त-शास्त्र इन में कहींपर भी देखने में नहीं आया । जीव परिणमनशील होनेपर भी निमित्त के साह्य के अभाव में वह विभावरूप से स्वयमेव परिणत नहीं होता । विभावरूप और स्वभावरूप जीवपरिणामों कि व्यवस्थापना के लिए हि तो कर्मसिद्धान्तविषयक ग्रंथों की रचना की गयी है । 'अपेक्षा' शब्द के उक्त अर्थ का समर्थन करने से आगम गौण बन जाता है और अशास्त्रीय अभिप्राय का समर्थन हो जाता है । 'अपेक्षा' इस शब्द के उक्त अर्थ को स्वीकार न करनेसे निमित्तैकदृष्टिवादि जीव के अभिप्राय का समर्थन हो जानेसे वह अपनी निमित्ताधीनदृष्टि का परित्याग नहीं करेगा और उसीकारण से वह स्वात्माभिमुख भी नहीं होगा ऐसा जो अभिप्राय व्यक्त किया गया है वह कहातक ठीक हे इसकी जांच करना है । निमित्त का कर्तृत्व उपादान के कर्तृत्व के समान मुख्य न होकर गौण या उपचरित होनेपर भी दृष्टि निमित्ताधीन किस तरह हो सकती है यह समझ में नहीं आता । यदि उपादान को सर्वथा अकिंचित्कर माना गया होता और निमित्त को सर्वथा कार्यकारी माना गया होता तो दृष्टि निमित्ताधीन होनेकी संभावना होती । असल बात ऐसी नहीं है । उपादान हि वास्तव कर्ता माना गया है । अतः दृष्टि का निमित्ताधीन होना संभवता नहीं । निमित्त की सर्वथा अकिंचित्करता मान्य करनेसे कर्मोदयादिरूप निमित्त अकिंचित्कर बन जानेसे उपादान हि स्वयमेव विभावरूप से परिणत होता है इस मान्यता को स्वीकार करने की आपत्ति खडी हो जायगी और उस मान्यता से जीव का विभावरूप से परिणत होनेका स्वभाव हि बन जायगा । वास्तव बात यह है कि अज्ञानी अत एव असमर्थ आत्मा निमित्त मिलते हि जिसप्रकार विभावरूप से परिणत हो जाती है उसीप्रकार भेदज्ञानी समर्थ आत्मा हजारों की तादाद में निमित्त मिल जानेपर भी विभावरूप से परिणत नहीं होती यह बात विज्ञविदित होनेसे निमित्त को कथंचित् किंचित्कर मानने से दृष्टि निमित्ताधीन होनेकी संभावना नहीं । अज्ञानी जीव को उपदेश देते समय वास्तविक बात का अपलाप करना ठीक नहीं है । उसको यथार्थ बात प्रयत्नपूर्वक समझानी चाहिये । वह समझ न सका तो उसमें समझानेवाले की क्या कसूर है ? यदि कसूर है तो वह उसके अज्ञान की-मोहात्मक परिणति की । निमित्त अधिक से अधिक जो कुछ करता है वह विभावात्मक परिणति के अभिमुख बनी हुई अज्ञानी आत्मा को उस विशिष्ट परिणति में किया जानेवाला साहाय्य है । इसतरह बहुत कुछ समझानेपर भी यदि किसी अज्ञानी आत्मा की दृष्टि निमित्ताधीन हो गयी तो कौन क्या कर सकता है । यदि किसीने अपना सिर पत्थरपर पटका और उससे उसका सिर फटकर खून बहने लगा तो इसमें पत्थर का क्या दोष है ? उसके साथ जोरसे पटके हुए सिर का संबंध होते हि वह फटेगा हि । यदि किसी आत्मा ने अपनी विभावरूप से होनेवाली परिणति को न रोका तो नये कर्मों का बंध होगा हि और अनुभागकाल में वह समर्थ न हुई हो तो उसे फिर स्वभावच्युतिरूपविभावरूप से परिणत होना होगा हि । अतः रागोत्पत्तिरूप जीव की विभावपरिणति का न सिर्फ निमित्त हि किंचित्कर कारण बनता है और न सिर्फ अशुद्ध जीवरूप उपादान भी ।

(२) उपशम कर्म की पर्याय है। वह कर्म की पर्याय जीव की अर्थात् जीवस्वामिक नहीं हो सकती क्यों कि वह पर्याय वस्तुतः पुद्गल का परिणाम है। जीव का सम्यक् पुरुषार्थ उस काल में स्वसन्मुख न हो। वह (उपशम) बनता हि नहीं।

उपशम द्रव्यकर्म की पर्याय है और वह द्रव्यकर्म की पर्याय जीव की नहीं हो सकती ये दोनों अभिप्रा सर्वथा स्वीकार्य हे; क्यों कि एक द्रव्य की पर्याय का दूसरा विजातीय द्रव्य स्वामी अर्थात् उपादान नहीं ब सकता। किंतु इसका 'जीवोपादानक उपशमभाव होता हि नहीं' यह अर्थ कदापि नहीं है। जीव का उपशम उसक विशुद्धि है। क्या जीव का विशिष्ट विशुद्धपरिणमन होता हि नहीं? शास्त्रकारों की दृष्टि से औपशमिकभा जीवस्वामिक भी है। श्रीपञ्चास्तिकायग्रन्थ के पूर्वोद्धृत प्रमाण से इस बात का खुलासा किया गया है। और भी प्रमाण देखिए—

(१) आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशात् अनुद्भूतिः उपशमः; यथा कतकादिद्रव्यसम्ब न्धात् अम्भसि पङ्कस्य उपशमः। [स. सि., अ. २, सू. १]

(२) यथा सकलुषस्य अम्भसः कतकादिद्रव्यसम्पर्कात् अधःप्रापितमलद्रव्यस्य तत्कृतकालुष्या- भावात् प्रसादः उपलभ्यते, तथा कर्मणः कारणवशाद् अनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तिता आत्मनः विशुद्धिः उपशमः। [रा. वा., अ. २, सू. १, बनारस संस्करण]

(३) अनुद्भूतस्वसामर्थ्यवृत्तितोपशमो मतः। कर्मणां पुंसि तोयादावधःप्रापितपङ्कवत् ॥
[श्लो. वा. अ. २, सू. १, वा. २, नि. सा. सं.]

जिसप्रकार कतकादिद्रव्य के संबंध से जल में कीचड का उपशम हो जाता है, उसीप्रकार कारणवशात् कर्म की शक्ति का आत्मा में उद्भूत न होनेका नाम उपशम है। (२) जिसप्रकार कतकादिद्रव्य के संपर्क से जिसका मल नीचे तल को प्राप्त कराया गया है ऐसे गंदले जल की मल के द्वारा किये गये गंदलेपन का अभाव हो जानेसे निर्मलता प्राप्त हो जाती है उसीप्रकार कारणवशात्-जीव के पूर्वकालीन परिणामों की विशुद्धता से आत्मा में जिसकी फल देनेकी शक्ति उद्भूत-प्रकट-व्यक्त नहीं हुई है ऐसे कर्म का सद्भाव हि आत्मा की विशुद्धिरूप उपशम है। (३) जिनका सामर्थ्य उद्भूत नहीं हुआ है ऐसे कर्मों की जल आदि में (कतकादि से) नीचे दबाये गये कीचड के समान आत्मा में सत्ता का पाया जाना हि (जीव का) उपशम माना गया है।

इन तीनों प्रमाणों से आत्मा का भी विशुद्ध्यात्मक उपशमभाव होता है। कर्मों की फल देनेकी सामर्थ्य का आविर्भाव न होना हि उनका उपशम है और आत्मा के साथ बंधावस्था को प्राप्त होनेसे आत्माश्रित बने हुए कर्मों की फल देनेकी सामर्थ्य का प्रादुर्भाव न होनेसे आत्मा में प्रादुर्भूत होनेवाली विशुद्धि का नाम हि उसका उपशम या औपशमिकभाव है। अतः द्रव्यकर्म की पर्यायभूत उपशम का स्वामी या उपादानभूत आश्रय आत्मा न होनेपर भी आत्मा की विशुद्धिरूप उपशम का द्रव्यकर्म की प्रोक्त उपशमरूप परिणति अवश्यमेव निमित्तकारण है; क्यों कि द्रव्यकर्म के स्ववीर्यानुद्भूतिरूप उपशमात्मक परिणति के बिना जीव का औपशमिकभाव प्रादुर्भूत नहीं होता। जिसप्रकार मेघरूप आवारक-प्रतिबन्धक हट जाते हि सूर्यप्रकाश प्रकट हो जाता है उसीप्रकार कर्मों की आवारक— जीवस्वभावप्रतिबन्धक शक्ति जब अनुद्भूत होती है तब आत्मा का उपशमरूप विशुद्धि स्वयमेव आविर्भूत हो जाती है। अतः उक्त दलील आगमविरुद्ध होनेसे अनुचित है। इस स्पष्टीकरण से किसी भी प्रकार से अव्यवस्था का डर नहीं होना चाहिये। अव्यवस्था का डर तब हो सकता है जब कि निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर हो। अस्तु।

अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय इस प्रकार परिणाम के दो भेद हैं। एकसमयमात्रकालवर्ती सूक्ष्म पर्याय अर्थपर्याय कही जाती है और द्रव्य की स्थूलपर्याय व्यंजनपर्याय कही जाती है। अर्थपर्यायें व्यंजनपर्यायान्तर्गत होती हैं। व्यंजनपर्याय उत्पन्न होती है, अस्तिरूप बनती है, विपरिणत होती है, वृद्धिगत होने लगती है, क्षीण होने लगती

है और विनष्ट हो जाती है। अस्तिरूप बननेके काल से लेकर विनष्ट होनेके कालतक उस व्यंजनपर्याय में प्रतिसमय अर्थपर्यायें होती हैं। प्रमाण—

स [भावः] तु षोढा भिद्यते-जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति इति। तत्र उभयनिमित्तवशात् आत्मलाभमापद्यमानः भावः 'जायते' इत्यस्य विषयः, यथा मनुष्यगत्यादि-नामकर्मोदयापेक्षया आत्मा मनुष्यादित्वेन जायते इत्युच्यते। तस्य आयुरादिनिमित्तवशात् अवस्थान-मस्तित्वम्। ततः एव अवस्थान्तरावाप्तिः विपरिणामः। अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावान्तरेण आधिक्यं वृद्धिः। क्रमेण पूर्वभावैकदेशनिवृत्तिः अपक्षयः। तत्पर्यायसामान्यनिवृत्तिः विनाशः। एवं प्रतिक्षणं वृत्तिभेदात् अनन्तरूपाः जायन्ते इति नानात्मता भावस्य। [रा. वा., अ. ४, सू. ४२, वा. ४]

वह पर्यायात्मक पदार्थ छह प्रकारों से बदलता जाता है, जैसे उत्पन्न होता है, अस्तिरूप बनता है, परिणत होता है, वृद्धिगत होता है, क्षीण होने लगता है और विनष्ट होता है। दोनों निमित्तों से आत्मलाभ को प्राप्त होनेवाला अर्थात् उत्पन्न होनेवाला पर्यायात्मक भाव 'जायते' इस धातुरूप का विषय बनता है अर्थात् वह उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है। उदाहरण—मनुष्यगत्यादि नामकर्म के उदय की अपेक्षा से आत्मा [संसारी जीव] मनुष्य आदि के रूप से उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है। आयुकर्म आदि के निमित्त से जीव की जो अवस्थिति होती है वह उस जीव का अस्तित्व है। अस्तिरूप बने हुए उस जीव का हि भिन्न अवस्था को प्राप्त होना उसका विपरिणाम है। जिसका पूर्वस्वरूप निवृत्त अर्थात् नष्ट नहीं हुआ है ऐसे जीव के अन्य परिणाम के कारण जो अधिकता होती है उसीका नाम वृद्धि है। पूर्वस्वरूप के एकदेश अर्थात् आंशिक निवृत्ति को-क्षय को अपक्षय कहते हैं। उस पर्यायसामान्य की जो निवृत्ति अर्थात् क्षय उसका नाम विनाश है। इसप्रकार प्रत्येक समय में उत्पन्न होनेवाले परिणामों के भेद से पर्यायात्मक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक बन जाते हैं। इसप्रकार पर्यायात्मक पदार्थ की अनेक-धर्मात्मकता होती है।

इस उद्धरण से परिणाम के छह भेद कैसे होते हैं यह स्पष्ट हो जाता है। अब परिणाम की सदृशता, विसदृशता और सदृशासदृशता इन बातोंपर विचार किया जाना आवश्यक है। इस विषय को स्पष्ट करनेवाला प्रमाण देखिए—

स्याद्वादिनां पुनः परिणामप्रसिद्धेः युक्ता कस्यचिद्वृद्धिः, स्वकारणसन्निपातात्, अपक्षयादिवत्, तथाप्रतीतेः बाधकाभावात्। परिणामः हि कश्चित् पूर्वपरिणामेन सदृशः, यथा प्रदीपस्य ज्वालादिः; कश्चिद् विसदृशः, यथा तस्य एव कज्जलादिः; कश्चित् सदृशासदृशः, यथा सुवर्णस्य कटकादिः। तत्र पूर्वसंस्थानाद्यपरित्यागे सति परिणामाधिक्यं वृद्धिः। सदृशेतरपरिणामः, यथा बालकस्य कुमारा-दिभावः। 'सदृशः एव अयं' इति अयुक्तं, वैसदृश्यप्रत्ययोत्पत्तेः, सर्वथा सादृश्ये बालकुमाराद्यवस्थयोः कुमारावस्थायां अपि बालप्रत्ययोत्पत्तिप्रसङ्गात् बालकावस्थायां वा कुमारादिप्रत्ययोत्पत्तिप्रसक्तेः। 'सर्वथा विसदृशः एव बालकपरिणामात् कुमारादिपरिणामः' इत्यपि न प्रातीतिकं, 'स एव अयं' इति प्रत्ययस्य भावात्। 'भ्रान्तः असौ प्रत्ययः' इति चेत्, न, बाधकाभावात्, आत्मनि 'स एव अहं' इति प्रत्ययवत्। सर्वत्र तस्य भ्रान्तत्वोपगमे, नैरात्म्यवादावलम्बनप्रसङ्गः। न च असौ श्रेयान्, बहिः अन्तश्च सदृशेतरपरिणामात्मनः वस्तुनः साधनात्, प्रत्यभिज्ञानस्य भेदप्रत्ययस्य वा प्रामाण्यव्यवस्थाप-नात्। ततः युक्तः सदृशेतरपरिणामात्मकः वृद्धिपरिणामः। एतेन अपक्षयपरिणामः व्याख्यातः। यथा स्थूलस्य कायादेः स्पर्शादिः सदृशेतरप्रत्ययसद्भावात् 'सदृशेतरात्मकः' इति विसदृशपरिणामः जन्म, तस्य अपूर्वप्रादुर्भावलक्षणत्वात्; तथा विनाशः, पूर्वविनाशस्य अपूर्वप्रादुर्भावरूपत्वात् तद्व्यतिरिक्तस्य

विनाशस्य अप्रतीतेः । " न भावस्वभावः विनाशः, 'अस्ति' इतिप्रत्ययाविषयत्वात् " इति चेत्, न, तस्य भा[व?]वस्वभावत्वे नीरूपत्वप्रसङ्गात् । " 'नास्ति' इतिप्रत्ययविषयरूपसद्भावात् न नीरूपत्वं " इति चेत्, तर्हि भावस्वभावः विनाशः, स्वभाववत्त्वात्, उत्पादवत् । प्रागभावेतरेतराभावात्यन्ताभावानां अपि अनेन एव भावस्वभावता व्याख्याता । 'ननु च यथा स्वभाववत्त्वाविशेषे अपि घटपटयोः नानात्वं, विशिष्टप्रत्ययविषयत्वात्, तथा भावाभावयोः अपि स्यात्' इति चेत्, न, घटत्वेन वा स्वभाववत्त्वस्य अव्याप्तत्वात् घटस्य पटात्मकत्वासिद्धेः पटस्य वा घटात्मकत्वानुपपत्तेः कथञ्चित् नानात्मकत्वव्यवस्थितेः; भावात्मकत्वेन तु स्वभाववत्त्वस्य व्याप्तिसिद्धेः सर्वत्र भावात्मकतामन्तरेण स्वभाववत्त्वाप्रसिद्धेः, अभावस्य ततः भावात्मकत्वसिद्धेः अप्रतिबन्धत्वात् । तत्र विशिष्टप्रत्ययः तु पर्यायविशेषात् उपपद्यते एव, घटे नवपुराणादिप्रत्ययवत् । यथैव हि घटः 'नवः, पुराणः' इति विशिष्टप्रत्ययविषयतां आत्मसात् कुर्वन् अपि न घटात्मतां जहाति, तथा अभावः 'अस्ति, नास्ति' इति विशिष्टप्रत्ययविषयता स्वीकुर्वन् अपि न भावस्वभावत्वं, अविशेषात् । न च अभावः भावपर्यायः एव न भवति, सर्वदा भावपरतन्त्रत्वात्, अभावप्रसङ्गात् । न च सदृशपरिणामात्मकः एव कश्चित् सर्वथा भावपरतन्त्रः नीलत्वादिः भावधर्मः न प्रसिद्धः येन अभावः अपि तद्वत् भावधर्मः न स्यात् । न च सर्वदा भावपरतन्त्रत्वं अभावस्य असिद्धं, 'घटस्य अभावः, पटस्य वा' इत्येवं प्रतीतेः स्वतन्त्रस्य अभावस्य जातुचित् अप्रतीतेः । 'अतः एव भाववैलक्षण्यं अभावस्य' इति चेत्, न, नीलादिना व्यभिचारात् । " 'नीलं इदं' इति नीलादेः स्वतन्त्रस्य सम्प्रत्ययात् सर्वदा भावपरतन्त्रत्वासिद्धेः न तेन व्यभिचारः " इति चेत्, तर्हि तव अपि 'असत् इदं' इत्येवं अभावस्य स्वतन्त्रस्य निश्चयात् सर्वदा भावपारतन्त्र्य न सिध्येत् । 'इदं' इति प्रतीयमानभावविशेषणतया अत्र असतः प्रतीतेः अस्वतन्त्रत्वे, नीलादेः अपि स्वतन्त्रत्वं मा भूत्, ततः एव । व्यवस्थापितप्रायं च अभावस्य भावस्वभावत्वं इति न प्रपञ्च्यते । तत् पुनः अस्तित्वं विपरिणमनं च जातस्य सतः, तत् सदृशपरिणामात्मकं, तत्र वैसदृश्यप्रत्ययानुत्पत्तेः । 'ननु च सर्वस्य वस्तुनः सदृशेतरपरिणामात्मकत्वे स्याद्वादिना कथं कथञ्चित् क्वचित् कश्चित् सदृशपरिणामात्मक एव, कश्चित् तु विसदृशपरिणामात्मकः पर्यायः युज्यते ?' इति चेत्, तथा पर्यायार्थिकप्राधान्यात् सादृश्यार्थप्राधान्यात् वैसदृश्यस्य गुणभावात् 'सादृश्यात्मकः अयं परिणाम' इति मन्यामहे, न वैसदृश्यनिराकरणात्; तथा वसदृश्यार्थप्राधान्यात् सादृश्यस्य सतः अपि गुणभावात् 'वैसदृश्यात्मकः अय परिणाम' इति व्यवहरामहे; तदुभयार्थप्राधान्यात् तु 'सदृशेतरपरिणामात्मक.' इति सङ्गिरामहे, तथा प्रतीते । तत. अपि न कश्चित् उपालम्भ., सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण अविरुद्धस्वभावानां निःसंशयं तदतत्परिणामानां विनियतात्मनां जीवादिपदार्थेषु प्रसिद्धेः, सुखादिपर्यायेषु सत्त्वाद्यन्वयविवर्तसन्दर्भोपलक्षितजन्मादिविकारविशेषवत् । जीवादयः द्रव्यपदार्थाः, सुखादय पर्यायाः 'विनियततवतत्परिणामाः सत्त्वविवर्तयितृविकाराः' [ ] इति अकलङ्कदेवैः अभिधानात् । तत. न अवस्थितस्य एव द्रव्यस्य परिणाम', पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादानविरोधात् । नापि अनवस्थितस्य एव, सर्वथा अन्वयरहितस्य परिणमनाघटनात् । इति 'स्यात् अवस्थितस्य द्रव्यार्थादेशात्, स्यात् अनवस्थितस्य पर्यायार्थादेशात्' इत्यादिसप्तभङ्गीभाक् परिणामः वेदितव्यः । स. अयं परिणामः कालस्य उपकारः, सकृत् सर्वपदार्थस्य परिणामस्य बाह्यकारणमन्तरेण अनुपपत्तेः, वर्तनावत् । यत् तत् बाह्यं कारणं सः कालः । " ननु च कालस्य परिणामः यदि अस्ति, तदा असौ

बाह्यान्यनिमित्तापेक्षः । तत् निमित्तं अपि परिणामं आत्मसात्कुर्वत् अपरनिमित्तापेक्षं इति अनवस्था स्यात् कालपरिणामस्य बाह्यनिमित्तानपेक्षत्वे पुद्गलादिपरिणामस्य अपि बाह्यनिमित्तापेक्षा मा भूत् । 'अथ कालस्य परिणामः नास्ति, 'सर्वं परिणामि सत्त्वात्' इति साधनं अप्रयोजकं स्यात्, तेन व्यभिचारात् । ततः न कालस्य परिणामः अनुमापकः" इति कश्चित्, सः अपि न विपश्चित्, कालस्य सकलपरिणामनिमित्तत्वेन स्वपरिणामनिमित्तत्वस्य सिद्धेः, सकलावगाहहेतुत्वेत आकाशस्य स्वावगाह-हेतुत्ववत्, सर्वविदः सकलार्थसाक्षात्कारित्वेन स्वात्मसाक्षात्कारित्ववत्; अन्यथा तदनुपपत्तेः । न च एवं पुद्गलादयः सकलपरिणामहेतवः, स्वपरिणामहेतुत्वे अपि सकलपरिणामहेतुत्वाभावात् प्रतिनियत-स्वभावपरिणामहेतुत्वात् । ये तु आहुः –

नाऽन्योन्यं परिणमयति भावान्नासौ स्वयं च परिणमते ।
विविधपरिणामभाजां निमित्तमात्रं भवति कालः ॥ [ ]

इति; ते अपि न कालस्य अपरिणामित्वं प्रतिपन्नाः, सर्वस्य वस्तुनः परिणामित्वात्, 'न च स्वयं परिणमते' इत्यनेन पुद्गलादिवत् अणुमहत्त्वादिपरिणामप्रतिषेधात् । 'न च असौ भावान् अन्योन्यं परिणमयति' इत्यनेन अपि तेषां स्वयं परिणममानानां कालस्य प्रधानकर्तृत्वप्रतिषेधात् न तस्य अपि अपरिणामहेतुत्वं, 'निमित्तमात्रं भवति काल' इति वचनात् । ततः सर्वं. वस्तुपरिणाम. सकृत्सकलस्वपरपरिणामनिमित्तद्रव्यहेतुक एव, अन्यथा तदनुपपत्ते. इति प्रतिपत्तव्यम् ।

[श्लो. वा., अ. ५, सू. २२, ह. प्र. पृ. ५३७–५३८, नि. सा. सं. पृ. ४१७-४१८]

स्याद्वादियों के परिणाम की सिद्धि हो जानेसे अपने कारणों के मिल जानेपर परिणाम के अपक्षयादि की जिसप्रकार सिद्धि होती है उसीप्रकार अपने कारणों के मिल जानेपर किसी परिणाम की वृद्धि होना योग्य है; क्यों कि उसप्रकार की प्रतीति को बाधित करनेवाले प्रमाण का अभाव है । प्रदीप का ज्वालादिरूप परिणाम जिसप्रकार अपने पूर्व परिणाम के सदृश होता है उसीप्रकार कोई परिणाम अपने पूर्वपरिणाम के सदृश होता है । उसी प्रदीप का कज्जलादिरूप परिणाम जिसप्रकार अपने पूर्वपरिणाम के सदृश नहीं होता–उससे विसदृश होता है उसीप्रकार कोई परिणाम अपने पूर्वपरिणाम के सदृश नहीं होता–उससे विसदृश होता है । जिसप्रकार सुवर्ण का कटकादिरूप अलकार अपने पूर्वपरिणाम के सदृश भी होता है और असदृश भी होता है उसीप्रकार कोई परिणाम अपने पूर्व-परिणाम के सदृश भी होता है और असदृश भी होता है अर्थात् सदृशासदृश होता है । वहा पूर्व कटकाकारादि के त्याग का अभाव होनेपर परिणाम का जो आधिक्य होता है वः परिणामयुक्त द्रव्य की या द्रव्य के परिणाम की वृद्धि है । बालक का कुमारादिरूप परिणाम जिसप्रकार अपने बालकरूप पूर्वपरिणाम के सदृश भी होता है और असदृश भी होता है, उसीप्रकार परिणाम अपने पूर्वपरिणाम के सदृश भी होता है और असदृश भी । 'यह बालक का कुमारादिरूप परिणाम अपने बालकरूप पूर्वपरिणाम के सदृश हि होता है' यह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि 'बालक का कुमाररूप परिणाम बालकरूप अपने पूर्वपरिणाम के सदृश नहीं है । इसप्रकार कुमारादिरूप परिणाम के विषय में विसदृशता का ज्ञान उत्पन्न होता है और 'कुमारावस्था का अपनी पूर्ववर्ती बालकावस्था के साथ सर्वथा सादृश्य होता है' ऐसा माननेसे कुमारावस्था मे भी 'यह बालक है' इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति हो जानेका प्रसंग उप-स्थित हो जाता है अथवा बालकावस्था में 'यह कुमार है' इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है । 'कुमारादिरूप परिणाम की अपने पूर्ववर्ती बालकरूप परिणाम के साथ सदृशता का सर्वथा अभाव होता है' ऐसा कहना भी विश्वासार्ह नहीं है–अनुभवगोचर नहीं है; क्यों कि 'यह वह हि है' इसप्रकार के ज्ञान का सद्भाव है । " 'यह वह हि है' इसप्रकार का यह ज्ञान भ्रांत है" ऐसा कहना हो तो वह ठीक नहीं है; क्यों कि अपने विषय में 'मं वह हि हूं' यह ज्ञान जिसप्रकार बाधक प्रमाणों से बाधित नहीं होता उसीप्रकार 'यह वह हि है' इस ज्ञान को

बाधित करनेवाले बाधक प्रमाणों का अभाव है। 'यह वह हि है' इस ज्ञान के भ्रान्तत्व को सर्वत्र स्वीकार करनेसे नैरात्म्यवाद को स्वीकार करनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। नैरात्म्यवाद का (शून्यवाद का) स्वीकार करना अच्छा नहीं है; क्यों कि सदृशासदृशपरिणाम से युक्त वस्तु की सिद्धि की गयी है और प्रत्यभिज्ञान की या भेद ज्ञान की प्रमाणता का निर्णय किया गया है। उस कारण से सदृशासदृशपरिणामात्मक वृद्धिपरिणाम का होना योग्य है। इससे अपक्षयरूप परिणाम का स्पष्टीकरण हो गया। जिसप्रकार स्थूल शरीर आदि का स्पर्श आदिरूप परिणाम उसके सदृशासदृशता के ज्ञान का सद्भाव होनेके कारण सदृशासदृशस्वरूप होनेसे जन्म का पूर्वपरिणाम से भिन्न परिणाम के रूप से उत्पन्न होना लक्षण होनेसे जन्म विसदृशपरिणामरूप होता है उसीप्रकार विनाश विसदृशपरिणामरूप है; क्यों कि पूर्वपरिणाम का विनाश पूर्वपरिणाम से विभिन्न परिणाम के रूप से प्रादुर्भूतिरूप होनेसे अपूर्वपरिणाम से भिन्नस्वरूपवाले विनाश की प्रतीति नहीं होती। " विनाश भावस्वभाव अर्थात् अस्तित्वरूप स्वभाव का धारक नहीं है; क्यों कि वह 'विद्यमान है–अस्तिरूप है' इसप्रकार के ज्ञान का विषय नहीं बनता" ऐसा कहना हो तो वह ठीक नहीं है; क्यों कि विनाश को अस्तिरूपस्वभाववाला न माना तो उसको निःस्वभाव माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। " 'विद्यमान नहीं है' इसप्रकार के ज्ञान के विषयरूप से उसका सद्भाव होनेसे वह निःस्वभाव नहीं है" ऐसा कहना हो तो वह विनाश अस्तित्वरूपस्वभाव का धारक बन जाता है; क्यों कि उत्पाद के समान वह स्वभाववान् है। इससे हि प्रागभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन की भावस्वभावता का खुलासा हो गया। 'घट और पट विशिष्ट ज्ञान के अर्थात् घटज्ञान और पटज्ञान के विषय होनेसे दोनों का स्वभाववान् होना समान होनेपर भी जिसप्रकार घट से पट का और पट से घट का भिन्नत्व होता है उसीप्रकार भाव और अभाव विशिष्ट ज्ञान के अर्थात् भावज्ञान और अभावज्ञान के विषय होनेसे दोनों का स्वभाववान् होना समान होनेपर भी भाव से अभाव का और अभाव से भाव का भिन्नत्व सिद्ध होगा' ऐसा कहना हो तो वह ठीक नहीं है; क्यों कि घटस्वभाव से या पटस्वभाव से स्वभाववत्त्व व्याप्त न होनेसे घट का पटरूपत्व सिद्ध न होनेके कारण अथवा पट का घटरूपत्व सिद्ध न होनेके कारण भाव और अभाव इन में कथंचित् भिन्नत्व की सिद्धि हो जाती है और स्वभाववत्त्व को भावात्मकत्व के द्वारा व्याप्त होनेकी सिद्धि हो जानेसे सर्वत्र भावस्वरूपत्व का अभाव होनेपर स्वभाववत्त्व की सिद्धि नहीं होती अर्थात् परिणाम की अस्तिरूपता के अभाव में उसके स्वभाववत्त्व की सिद्धि नहीं होती और स्वभाववान् होनेसे अभाव के भावात्मकत्व की–अस्तिरूपत्व की सिद्धि प्रतिबन्धक कारण का अभाव होनेसे हो जाती है। जिसप्रकार घट के नवत्व, पुराणत्व आदिरूप विशिष्ट पर्यायों से 'यह घट नया है, पुराना है' इस प्रकार का विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है उसीप्रकार अभाव के विषय में वह द्रव्यपरिणाम का विशिष्ट पर्याय होनेसे उससे 'इस पर्याय का द्रव्य में अभाव है' इसप्रकार अभाव का विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है। जिसप्रकार 'यह घट नया है, पुराना है' इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान की विषयता को घट आत्मसात् करता है अर्थात् उन विशिष्ट ज्ञानों का विषय बनता है तो भी वह अपनी घटरूपता का त्याग नहीं करता, उसीप्रकार 'अभाव है, अभाव नहीं है' इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान की विषयता को अभाव आत्मसात् करता है अर्थात् उन विशिष्ट ज्ञानों का विषय बनता है तो भी वह अपने भावस्वरूपता का त्याग नहीं करता; क्यों कि अभाव और भाव में सर्वथा भेद नहीं है। अभाव द्रव्यपरिणाम की पर्याय हि नहीं होती ऐसा नहीं है; क्यों कि वह द्रव्यपरिणाम के अधीन होता है। यदि अभाव को द्रव्यपरिणाम के अधीन न माना तो उसका (अभाव का) भी अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। सदृशपरिणामस्वरूप द्रव्यपरिणाम के सर्वथा अधीन होनेवाला नीलत्वादिरूप द्रव्यपरिणाम का कोई धर्म प्रसिद्ध नहीं है ऐसा नहीं है जिससे नीलत्वादिरूप द्रव्यपरिणाम के समान अभाव द्रव्यपरिणाम का धर्म न होता हो। अभाव का सर्वदा द्रव्यपरिणाम के अधीन होना असिद्ध नहीं है; क्यों कि 'घट का अभाव या पटका अभाव' इस प्रकार से प्रतीति हो जानेका कारण स्वतन्त्र अभाव की प्रतीति नहीं होती। 'अभाव की स्वतंत्ररूप से प्रतीति न होनेसे और भाव की स्वतंत्ररूप से प्रतीति होनेसे अभाव का द्रव्यपरिणामरूप भाव से वैलक्षण्य सिद्ध हो जाता है' ऐसा यदि कहना हो तो वह ठीक नहीं है; क्यों कि नीलादिधर्म से व्यभिचार हो जाता है अर्थात् नीलादिधर्म द्रव्यपरि-

भावरूप भाव के अधीन होनेके कारण स्वतंत्र न होनेसे द्रव्यपरिणामरूप भाव से उसकी विलक्षणता–विसदृशता–विभिन्नता सिद्ध हो जाती है। " 'यह नीलवर्णवाला है' इसप्रकार स्वतंत्र नीलादि की प्रतीति हो जानेसे द्रव्यपरिणामरूप भाव के सर्वदा अधीन होनेकी सिद्धि होनेके कारण नीलादि के साथ व्यभिचार नहीं है" ऐसा कहना हो तो 'यह असत् है' इसप्रकार स्वतंत्र अभाव का निश्चय हो जानेसे तुम्हारे उस अभाव के द्रव्यपरिणामस्वरूप भाव के सर्वदा अधीनत्व की सिद्धि नहीं होगी। " 'यह' इसप्रकार यहां प्रतीति का विषय बननेवाले द्रव्यपरिणामरूप भाव के विशेषणरूप से असत् की प्रतीति हो जानेसे अभाव की स्वतंत्रता नहीं बनती" ऐसा कहना हो तो 'यह' इसप्रकार प्रतीति का विषय बननेवाले द्रव्यपरिणामरूप भाव के विशेषणरूप से नीलादि की प्रतीति हो जानेसे हि नीलादि की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिये। अभाव का भावस्वभावत्व निश्चित–निर्णीत किया जानेसे उसका विस्तार नहीं किया जाता। उत्पन्न हुए द्रव्यपरिणाम का जो अस्तित्व और विपरिणमन होता है वह सदृशपरिणामरूप होता है; क्यों कि वहां वैसदृश्य के ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। 'स्याद्वादियों के यहां सभी द्रव्य सदृशासदृशपरिणामों से युक्त होनेपर कहींपर कोई पर्याय कथंचित् सदृशपरिणामात्मक हि और कोई विसदृशपरिणामात्मक हि होती है यह कैसे संभवनीय है ?' ऐसी शंका हो तो पर्यायार्थिकनय की प्रधानता के कारण प्रयोजनभूत सादृश्य की प्रधानता होनेसे और और वैसदृश्य की गौणता होनेसे 'यह परिणाम सादृश्य से युक्त है अर्थात् अपने पूर्वपरिणाम के सदृश है' ऐसा हम (स्याद्वादी) मानते हैं–वैसदृश्य का निराकरण करके परिणाम की सदृशता को हम नहीं मानते और उसीप्रकार प्रयोजनभूत वैसदृश्य की–विसदृशता की प्रधानता से द्रव्यपरिणाम में सादृश्य का सद्भाव होनेपर भी उसकी गौणता होनेके कारण 'यह परिणाम वैसदृश्य से युक्त है' ऐसा व्यवहार हम करते हैं तथा उस प्रयोजनभूत सदृशता और विसदृशता इन दोनों का प्राधान्य होनेसे 'यह द्रव्यपरिणाम सदृशासदृशपरिणाम से युक्त है' ऐसा हम कहते हैं; क्यों कि उस प्रकार से प्रतीति होती है। ऐसा होनेपर भी कोई दोष नहीं है; क्यों कि सुखादि पर्यायों में सत्त्वादि के अन्वयसहित परिणाम के साथ होनेवाले तादात्म्य से अंकित जन्मादिरूप विशिष्ट परिणाम के समान संकर के और व्यतिरेक के बिना अविरुद्धस्वभाववाले निश्चित स्वभावों के धारक जीवादिपदार्थों के और उनसे भिन्न पदार्थों के परिणामों की जीवादिपदार्थों के विषय में प्रसिद्धि है। जीवादि द्रव्यरूप पदार्थ हैं और सुखादि पर्याय हैं; क्यों कि आचार्य अकलंकदेव ने 'द्रव्य के निश्चित स्वभाववाले परिणाम उस द्रव्य से भिन्न पदार्थ के परिणाम द्रव्य के और उपादान के परिणाम के निमित्तभूत द्रव्य के विकार हैं' ऐसा कहा है। उससे जो द्रव्य अवस्थित हि होता है अर्थात् कूटस्थनित्य हि होता है उसका परिणाम नहीं होता; क्यों कि कूटस्थनित्य द्रव्य के विषय में पूर्वस्वरूप का परित्याग और अपर स्वरूप का स्वीकार करनेमें विरोध उपस्थित हो जाता है। जो अनवस्थित हि होता है अर्थात् जो सर्वथा क्षणिक होता है–अनित्य हि होता है उसका भी परिणाम नहीं होता; क्यों कि जो सभी प्रकारों से अन्वय से रहित होता है उसका परिणाम घटित नहीं होता। इसप्रकार जो द्रव्य द्रव्यार्थिकनय की दृष्टी से कथंचित् नित्य होता है और पर्यायार्थिकनय की दृष्टी से कथंचित् अनित्य होता है इत्यादिरूप सप्तभंगी से परिणाम युक्त होता है ऐसा जानना। वह यह परिणाम काल का उपकार है अर्थात् द्रव्य की मुख्य शक्ति से भिन्न शक्ति के याने पारिणामिकी शक्ति के आविर्भवन में काल निमित्तकारण पड जानेसे द्रव्य का परिणाम काल का उपकार है; क्यों कि जिसप्रकार बाह्य कारण के अभाव में द्रव्य की वर्तना अर्थात् एकसमयमात्रकालवर्तिनी सूक्ष्म परिणति घटित नहीं होती उसीप्रकार सभी पदार्थों की युगपत् होनेवाली परिणति बाह्यकारण के अभाव में घटित नहीं होती। जो वह बाह्यकारण होता है वह काल है। " 'यदि कालद्रव्य का भी परिणाम होता है तो उसको अन्य बाह्यनिमित्त की अपेक्षा होगी (होनी चाहिये), वह निमित्त भी (अपने) परिणाम को आत्मसात् करता हुआ अन्यनिमित्त की अपेक्षा करेगा। इसप्रकार अनवस्थानामक दोष उपस्थित हो जायगा। 'कालद्रव्य के परिणाम को बाह्य अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं होती' ऐसा कहना हो तो 'सभी द्रव्य परिणमनशील होते हैं; क्यों कि वे सद्रूप होते हैं' इसप्रकार की सिद्धि करना अप्रयोजक हो जायगा, क्यों कि उसके साथ व्यभिचार हो जाता है। उस कारण से काल का परिणाम अनुमापक–अनुमितिरूप ज्ञान का जनन करनेवाला नहीं है" ऐसा जो कोई कहता है वह विपश्चित्–विद्वान्–बुद्धिमान्

नहीं है; क्यों कि जिसप्रकार संपूर्ण पदार्थों के अवगाह का–अनुप्रवेश का निमित्त हो जानेसे आकाश का अपने अवगाह का निमित्त बन जाना सिद्ध हो जाता है और जिसप्रकार संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से जाननेवाला होनेसे सर्वज्ञ का अपनी आत्मा का साक्षात्कारित्व सिद्ध हो जाता है उसीप्रकार सभी परिणामों का निमित्तकारण होनेसे काल का अपने परिणाम का निमित्तत्व–कारणत्व सिद्ध हो जाता है। यदि कालद्रव्य अपने परिणाम का निमित्त न हो तो सभी परिणामों के विषय में उसका निमित्तत्व उपपन्न–यथार्थ नहीं होगा। इसप्रकार पुद्गलादिद्रव्य सभी परिणामों के हेतु–निमित्त नहीं हैं; क्यों कि वे अपने परिणामों का कारण होनेपर भी संपूर्ण परिणामों के विषय में हेतुरूप न होनेसे निश्चित स्वभाववाले परिणामों का कारण होते हैं। जो 'काल पदार्थों को परस्पर परिणत नहीं कराता और वह स्वयं परिणत नहीं होता, नानाप्रकार के परिणामों से युक्त द्रव्यों की कार्यरूप से परिणत होनेकी क्रिया में कालद्रव्य निमित्तमात्र होता है, ऐसा कहते हैं वे भी काल के अपरिणामित्व को स्वीकार नहीं करते; क्यों कि कालसहित सभी द्रव्य परिणामी होते हैं और 'स्वयं परिणत नहीं होता' इस अभिप्राय से पुद्गलादि के समान अणुत्व–महत्त्व आदिरूप उसके (काल के) परिणामों का निषेध किया गया है (उसके परिणामत्व का निषेध नहीं किया गया है।) 'काल पदार्थों को परस्पर परिणत नहीं कराता' इससे भी स्वयं परिणत होनेवाले उन द्रव्यों के विषय में कालद्रव्य के प्रधानकर्तृत्व का प्रतिषेध किया जानेसे उसके अर्थात् काल के परिणामहेतुत्व का अभाव सिद्ध नहीं होता, क्यों कि काल निमित्तमात्र होता है ऐसा उन्होंने कहा है। उस कारण से वस्तुओं के सभी परिणामों के युगपत् होनेवाले संपूर्ण स्वपरिणामों का निमित्त होनेवाला द्रव्य (अर्थात् कालद्रव्य) निमित्त होता हि है। यदि कालद्रव्य द्रव्यपरिणामों का निमित्त न हुआ तो वस्तुओं के संपूर्ण परिणामों की सिद्धि नहीं होगी ऐसा जानना।

इस उद्धरण से नीचे दी हुई बातों का ज्ञान हो जाता है।–(१) जिस कार्य में उपादान का अन्वय होता है वह कार्य हि परिणाम या उपादेय कहा जाता है। (२) परिणाम कथंचित् अपने पूर्वपरिणाम के सदृश भी होता है और कथंचित् असदृश भी होता है। वह सर्वथा सदृश भी नहीं होता और सर्वथा विसदृश भी नहीं होता। अतः उसे सादृश्यासादृश्यात्मक कहते हैं। (३) जब सादृश्य की प्रधानता होती है और वैसदृश्य की गौणता होती है तब परिणाम सादृश्यात्मक कहा जाता है। जब सादृश्यकी मुख्यता होती है तब वैसदृश्य की सिर्फ गौणता होती है–उसका निराकण नहीं किया जाता। जब वैसदृश्य की मुख्यता होती है और सादृश्य की गौणता होती है तब परिणाम वैसदृश्यात्मक कहा जाता है। जब वैसदृश्य की मुख्यता होती है तब सादृश्य की सिर्फ गौणता होती है–उसका निराकरण नहीं किया जाता। (४) कूटस्थनित्य द्रव्य का परिणाम नहीं हो सकता; क्यों कि कूटस्थनित्यद्रव्य पूर्वपरिणाम का त्याग और उत्तरपरिणाम का ग्रहण नहीं कर सकता। (५) सर्वथा क्षणिक द्रव्य का भी परिणाम नहीं हो सकता; क्यों कि द्रव्य का निरन्वय विनाश होनेसे उसका परिणाम में अन्वय हि न हो सकनेसे उसका परिणाम नहीं हो सकता। (६) कालद्रव्यरूप निमित्त के बिना कौनसा भी द्रव्य किसी भी प्रकार के कार्यरूप से परिणत नहीं होता (७) कालद्रव्य स्वयं परिणत होनेवाला होनेसे उसको अपनी परिणति के विषय में निमित्त की अपेक्षा नहीं होती। (८) उत्पत्ति और विनाश द्रव्यपरिणाम के परिणाम हैं। (९) प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव भावस्वरूप और भावपरतन्त्र हैं। (१०) अभाव और भाव कथंचित् भिन्न होते हैं और कथंचित् अभिन्न होते हैं।

क्रिया का परिणामस्वरूपत्व–

दो निमित्तों से उत्पन्न होनेवाली द्रव्य की परिस्पन्दरूप अवस्था को क्रिया कहते हैं। उसके प्रायोगिकी क्रिया और वैस्रसिकी क्रिया इसप्रकार दो भेद हैं। शकट आदिकों की क्रिया प्रायोगिकी कही जाती है और मेघ आदि की वैस्रसिकी कही जाती है। प्रमाण–

परिस्पन्दात्मको द्रव्यपर्यायः सम्प्रतीयते। क्रिया देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गत्यादिभेदभृत् ॥३९॥
प्रयोगविस्रसोत्पादाद् द्वेधा सङ्क्षेपतस्तु सा। प्रयोगजा पुनर्नानोत्क्षेपणादिप्रभेदतः ॥४०॥

विस्रसोत्पत्तिका तेजोवाताम्भःप्रभृतिष्वियं । सर्वाप्यदृष्टवैचित्र्यात्प्राणिनां फलभोगिनाम् ॥४१॥
क्रिया क्षणक्षयैकान्ते पदार्थानां न युज्यते । भूतिरूपापि वस्तुत्वहानेरेकान्तनित्यवत् ॥४२॥
क्रमाक्रमप्रसिद्धेस्तु परिणामिनि वस्तुनि । प्रतीतिपथमापन्ना प्रमाणेन न बाध्यते ॥४३॥

'कथं पुनः एवंविधा क्रिया कालस्य उपकारः अस्तु, यतः तं गमयेत् ?' कालमन्तरेण अनुपपद्यमानत्वात्, परिणामवत् । तथा हि—'सकृत् सर्वद्रव्यक्रिया बहिरङ्गसाधारणकारणा, कारणापेक्षकार्यत्वात्, परिणामवत्, सकृत् सकलपदार्थगतिस्थित्यवगाहवत् वा । यत् तत् बहिरङ्गकारणं स कालः, अन्यस्य असम्भवात् । [श्लो. वा., ह. प्र., पृ. ५३८–५३९, नि. सा. सं., पृ. ४१८]

द्रव्य की परिस्पन्दस्वरूप परिणति हि क्रिया है ऐसी संप्रतीति होती है । वह क्रिया एक देश से दूसरे देश को प्राप्त होनेका—गमन करनेका हेतु होती है और उसके गति आदिरूप अनेक भेद हैं ॥३९॥ पुरुष के प्रयोग से—प्रयत्न से जो उत्पन्न होता है वह प्रायोगिकी क्रिया है और जो पुरुषप्रयत्न के अभाव में उत्पन्न होती है वह वैस्रसिकी क्रिया है । प्रायोगिकी और वैस्रसिकी के भेद से क्रिया संक्षेप से दो प्रकार की है । उत्क्षेपण आदि भेदों से प्रयोगजक्रिया अनेक प्रकार की है । ॥४०॥ पुरुषप्रयत्न के अभाव में जिसकी उत्पत्ति होती है वह वैस्रसिकी क्रिया तेज, वायु, जल आदि में हुआ करती है । (कर्म–) फल भोगनेवाले प्राणियों की जितनी भी क्रियाएं होती हैं वे सभी अदृष्ट के—कर्म के वैचित्र्य से होती हैं ॥४१॥ द्रव्य को एकान्तनित्य अर्थात् सर्वथा नित्य माननेवाले के यहां द्रव्य कूटस्थनित्य होनेसे उसकी उत्पत्तिरूप क्रिया नहीं हो सकती; क्यों कि द्रव्य को उत्पत्तिक्रिया का आश्रय माना तो द्रव्य की कूटस्थरूपता का अभाव हो जानेसे वस्तुत्व की हि हानि हो जाती है । उसीप्रकार क्षणक्षयैकान्तदर्शन में हरएक पदार्थ क्षणमात्रकालवर्ती होनेसे पदार्थों की उत्पत्तिरूप क्रिया भी घटित नहीं होती; क्यों कि क्षणमात्रकालवर्ती द्रव्य की स्थिति के काल मे उत्पत्तिकाल भिन्न होनेसे द्रव्य का क्षणिकत्व चला जानेसे उनके द्वारा माने गये वस्तुत्व की हानि हो जाती है । अतः दोनों दर्शनों ने मानें हुए वस्तुत्व की हानि हो जानेसे द्रव्य उत्पत्तिक्रिया का आश्रय नहीं हो सकता ॥४२॥ परिणमनशील वस्तु में क्रम और अक्रम की सिद्धि होनेसे अनुभवगोचर हुई क्रिया प्रमाण के द्वारा बाधित नहीं की जाती ॥४३॥

'इसप्रकार की क्रिया काल का उपकार कैसे होगी, जिससे वह काल का ज्ञान करायेगी ?' इस शंका का समाधान यह है—जिसप्रकार कालद्रव्यरूप निमित्त के बिना उपादानभूत द्रव्य का परिणाम सिद्ध नहीं होता उसीप्रकार क्रियारूप द्रव्यपरिणाम कालद्रव्य के अभाव में घटित नहीं होनेसे क्रिया काल का उपकार है । उसीका खुलासा—जिसप्रकार सभी द्रव्यों के युगपत् होनेवाले परिणाम होनेसे उन्हें साधारण बहिरंग कारण की अपेक्षा होती है और सभी द्रव्यों की युगपत् होनेवाली स्थितिरूप परिणतियां कार्यरूप होनेसे उन्हे अधर्मद्रव्यरूप साधारण बहिरंग कारण की अपेक्षा होती है और सभी द्रव्यों को युगपत् होनेवाली अवगाहन—अनुप्रवेशरूप परिणतियां कार्यरूप होनेसे उन्हें आकाशद्रव्यरूप साधारण बहिरंग कारण की अपेक्षा होती है उसीप्रकार सभी द्रव्यों को युगपत् होनेवाली परिणतियां क्रियारूप होनेसे उन्हें साधारण बहिरंग कारण की अपेक्षा होती है । जो बहिरंग कारण है वह कालद्रव्य है; क्यों कि अन्यद्रव्य का साधारण बहिरंग कारण होना असंभव है ।

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि १) क्रिया द्रव्य का परिस्पन्दात्मक परिणाम है । २) वह परिणामात्मक कार्यरूप होनेसे उसे बहिरंग कारण की अपेक्षा होती है । ३) वह बहिरंगकारण कालद्रव्य है । ४) फल (कर्मफल) भोगनेवाले प्राणियों की सभी क्रियाएं कर्मों के वैचित्र्यपर अवलंबित होती हैं । ५) कूटस्थनित्यवादियों के या क्षणक्षयैकान्तवादियों के दर्शन में क्रमाक्रम की सिद्धि न होनेसे पूर्वपरिणामस्वरूप का त्याग और उत्तरपरिणामस्वरूप का उपादान तथा उपादानभूत द्रव्य का परिणाम इनमें अन्वय घटित न होनेसे क्रियारूप परिणाम की सिद्धि नहीं हो सकती ।

जीव की शुद्धिपर और अशुद्धिपर विचार—

इस विषय के वैचारिक प्रवृत्ति के लिए नीचे शास्त्रीय प्रमाण पेश किया जाना आवश्यक है। प्रमाण—

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

शुद्धिस्तावज्जीवानां भव्यत्वं केषाञ्चित् सम्यग्दर्शनादियोगान्निश्चीयते, अशुद्धिरभव्यत्वं तद्विपरीत्यात् सर्वदा प्रवर्तनाद् अवगम्यते छद्मस्थैः प्रत्यक्षतश्चातीन्द्रियार्थदर्शिभिः। इति भव्येतरस्वभावौ शुद्ध्यशुद्धी जीवानां तेषां सामर्थ्यासामर्थ्ये शक्त्यशक्ती इति यावत्। ते माषादिपाक्यापाक्यशक्तिवत् सम्भाव्येते, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्। तत्र शुद्धेर्व्यक्तिः सादिः, तदभिव्यञ्जकसम्यग्दर्शनादीनां सादित्वात्। एतेन 'अनादिः सदाशिवस्य शुद्धिः' इति प्रत्युक्तं, प्रमाणाभावात् दृष्टातिक्रमात् दृष्टविरोधात् च। अशुद्धेः पुनः अभव्यत्वलक्षणायाः व्यक्तिः अनादिः, तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसन्ततेः अनादित्वात्। 'पर्यायापेक्षया अपि शक्तेः अनादित्वं' इति चेत्, न, द्रव्यापेक्षया एव अनादित्वसिद्धेः इति शक्तेः प्रादुर्भावापेक्षया सादित्वम्। ततः शक्तिः व्यक्तिश्च 'स्यात्सादिः, स्यादनादिः' इति अनेकान्तसिद्धिः।

यदि वा—जीवानां अभिसन्धिनानात्वं शुद्ध्यशुद्धी। स्वनिमित्तवशात् सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मकः अभिसन्धिः शुद्धिः, मिथ्यादर्शनादिपरिणामात्मकः अशुद्धिः। दोषावरणहानीतरलक्षणत्वात् तेषां शुद्ध्यशुद्धिशक्त्योः इति भेदमाचार्यः प्राह। ततः अन्यत्रापि भव्याभव्याभ्यां भव्येषु एव साद्यनादी प्रकृतशक्त्योः व्यक्ती, सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तेः पूर्वं अशुद्ध्यभिव्यक्तेः मिथ्यादर्शनादिसन्ततिरूपायाः कथञ्चित् अनादित्वात् सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तिरूपायाः पुनः शक्त्यभिव्यक्तेः सादित्वात्। 'कुतः शक्तिप्रतिनियमः ?' इति चेत्, तथास्वभावादिति ब्रूमः। न हि भावस्वभावाः पर्यनुयोक्तव्याः, तेषां अतर्कगोचरत्वात्। 'ननु प्रत्यक्षेण प्रतीते अर्थे स्वभावैः उत्तरं वाच्यं सति पर्यनुयोगे, न च पुनः अप्रत्यक्षे, अतिप्रसङ्गात्' इति चेत्, न, अनुमानादिभिः अपि प्रतीते वस्तुनि भावस्वभावैः उत्तरस्य अविरोधात् प्रत्यक्षवत् अनुमानादेः अपि प्रमाणत्वनिश्चयात्। ततः परमागमात् सिद्धप्रामाण्यात् प्रकृतजीवस्वभावाः प्रतीतिं अनुसरन्तः न तर्कगोचरा यतः पर्यनुयुज्यन्ते, तर्कगोचराणां अपि आगमगोचरत्वेन पर्यनुयोगप्रसङ्गात्। तद्वत् प्रत्यक्षविषयाणां अपि। इति न प्रत्यक्षागमयोः स्वातन्त्र्यं उपपद्येत तर्कवत्। तदनुपपत्तौ च न अनुमानस्य उदयः स्यात्, धर्मिप्रत्यक्षादेः प्रतिज्ञायमानागमार्थस्य च प्रमाणान्तरापेक्षत्वात् इति अनवस्थानात्। ततः सूक्तं, कर्मबन्धानुरूपत्वे अपि कामादिप्रभवस्य भावसंसारस्य द्रव्यादिसंसारहेतोः प्रतिमुक्तीतरसिद्धिः जीवानां शुद्ध्यशुद्धिवैचित्र्याद् इति। [अ. स., नि. सा. सं., पृ. २७४–२७५]

शुद्धि और अशुद्धि ये दोनो शक्तिया (मुद्गमाषादि की) पाक्यशक्ति (अग्निजलसंस्कार्यशक्ति) और अपाक्यशक्ति (अपचेलिमता) इन दो शक्तियो के समान है। इन दोनों शक्तियों की व्यक्ति अर्थात् आविर्भाव सादि और अनादि होती है। स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता। ॥१००॥

सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति की सभाव्यता–शक्यता होनेसे किन्ही जीवों का भव्यत्वभाव हि शुद्धि है और सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति की सभाव्यता न होनेसे अर्थात् मिथ्यादर्शनादि की संभाव्यता होनेसे सर्वदा मिथ्यादर्शनादिरूप से परिणत हुए होनेसे किन्ही जीवों का अभव्यत्वभाव हि अशुद्धि है ऐसा छद्मस्थों के द्वारा जाना जाता है और अतीन्द्रियार्थदर्शी जीवों के द्वारा प्रत्यक्षरूप से जाना जाता है। इसप्रकार भव्य का स्वभाव अर्थात् योग्यतारूप शुद्धि और अभव्य का स्वभाव अर्थात् (रत्नत्रय से परिणत होनेकी) योग्यता का अभावरूप अशुद्धि उन जीवों की यथाक्रम

शक्ति और अशक्ति है । (भव्यजीव की रत्नत्रयरूप से परिणत होनेकी योग्यता हि उसकी शक्ति है और अभव्यजीव की रत्नत्रयरूप से परिणत होनेकी योग्यता का अभाव हि उसकी अशक्ति–असामर्थ्य है अर्थात् रत्नत्रयरूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य का अभाव है । सारांश, किन्ही जीवों की शुद्धिशक्ति होती हं और किन्ही की अशुद्धिशक्ति होती है ।) उनको बाधित करनेवाले प्रमाणों का संभव न होना सुतरां निश्चित होनेसे माष–मुद्ग आदि की पाक्य-शक्ति और अपाक्यशक्ति के समान उन दोनों शक्तियों की शक्यता होती है । उनमें से शुद्धिशक्ति की व्यक्ति अर्थात् प्रकटीभवन सादि है; क्यों कि उस शक्ति को प्रकट करनेवाले सम्यग्दर्शनादि सादि होते हं । इससे 'सदाशिव की शुद्धि (अर्थात् उसकी व्यक्तता) अनादि है' इस अभिप्राय का प्रतिवाद हो गया; क्यों कि सदाशिव की शक्ति के अनादित्व को सिद्ध करनेवाले प्रमाणों का अभाव है, प्रत्यक्ष में देखनें में जो आता है उसका अतिलंघन हो जाता है और शुद्धि की व्यक्ति के सादित्वरूप इष्ट का विरोध हो जाता हं । अभव्यत्वरूप अशुद्धि की व्यक्ति अनादि है; क्यों कि अशुद्धि को प्रकट करनेवाले मिथ्यादर्शनादि की संतति–परंपरा अनादि होती हं । 'पर्याय की अपेक्षा से भी शुद्धिका अनादित्व है' ऐसा कहना हो तो वह ठीक नहीं है; क्यों कि द्रव्य की अपेक्षा से हि उनका अनादित्व सिद्ध हं । इसप्रकार शक्ति के प्रादुर्भाव की अर्थात् प्रकटीभवन की अपेक्षा से सादित्व हं । उस कारण से शक्ति और उसकी व्यक्ति–प्रकटीभवन कथंचित् सादि होती हं और कथंचित् अनादि होती हं । इसप्रकार अनेकान्त की सिद्ध हो जाती हे ।

अथवा जीवों के अभिप्रायों का अनेकत्व–भिन्नत्व–असदृशत्व शुद्धि और अशुद्धि है । अपने निमित्तकारण से अर्थात् दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धि की चार इसप्रकार इन सात प्रकृतियों के उपशम से, क्षयोप-शम से या क्षय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनादिपरिणामस्वरूप जो अभिप्राय–अभिसन्धि वह शुद्धि है और अपने निमित्तकारण से अर्थात् दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धि की चार इसप्रकार इन सात प्रकृतियों के उदय से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शनादिपरिणामस्वरूप जो अभिसन्धि-अभिप्राय वह अशुद्धि है । दोष अर्थात् रागादिरूप विभावपरिणाम और जीव के स्वभाव को आवृत करनेवाले द्रव्यकर्म इन की हानि से– अभाव से उन जीवों की शुद्धि जानी जानेसे और रागादिरूपपरिणाम और आवारक कर्म इनकी उत्पत्ति से और उदयरूप परिणाम से उन जीवों की अशुद्धिशक्ति जानी जानेसे इसप्रकार के शक्ति के भेद–अभिव्यक्तियां आचार्यश्री ने कहे हं । भव्य और अभव्यों में से भव्यो में हि प्रकृत शुद्धिशक्ति और अशुद्धिशक्ति इनकी अभिव्यक्ति-प्रकटीभवन यथाक्रम सादि और अनादि होती है; क्यों कि सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति के पूर्वकाल में मिथ्यादर्शनादि की परंपरारूप अशुद्धिशक्ति की अभिव्यक्ति कथंचित् अनादि होती है और सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्तिरूप शुद्धिशक्ति की अभिव्यक्ति कथंचित् सादि होती है । 'शक्ति के सादित्व का और अनादित्व का नियम होनेका कारण कौनसा है ?' ऐसा हम कहते हं । [टिप्पणक–अशुद्धत्व अनादिसे हि है ऐसा मानना हि चाहिये ; क्यों कि अशुद्धि को सादि माना तो अशुद्धि के पूर्वकाल से हि शुद्धिका सद्भाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है । पूर्वकाल से हि जीवों की शुद्धि नहीं होती; क्यों कि पूर्वकाल से हि शुद्धि का होना स्वीकार किया जानेपर पुनः बंध का असंभव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है । बन्ध नहीं होता ऐसा नहीं है अर्थात् बंध होता हि है; क्यों कि बंध को कृतिरूप पारतंत्र्य का प्रत्यक्ष से अनुभव हो जाता है । इसप्रकार जीव की अशुद्धावस्था में हि बंध का संभव होनेसे अशुद्धि अनादि है । पुरुषप्रयत्नजन्य होनेसे शुद्धि सादि है । कनकपाषाण में पाये जानेवाले सुवर्ण की शुद्धि अनादि होती है और उसकी शुद्धि सादि होती है । यह दृष्टांत यहां विचारणीय है । दोनों शक्तियों के सादित्व के और अनादित्व के विषय में यही स्वभाव तर्क का विषय नहीं बनता ऐसा समझना चाहिये । (यहां दोनों शक्तियो के विषय में जो विचार व्यक्त किये गये हं वे उनकी व्यक्ति की-अभिव्यक्तता की अपेक्षा से व्यक्त किये गये हे ।)] पदार्थों के स्वभावों के विषय में प्रश्न नहीं करने चाहिये; क्यो कि वस्तुस्वभाव तर्क के विषय नहीं बनते । 'प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा जाने गये पदार्थ के बारेमें प्रश्न किया गया हो तो उस अर्थ के स्वभाव को लेकर उत्तर देना चाहिये, किंतु जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाना गया नहीं होता उसके विषय में उसके स्वभाव को लेकर उत्तर नहीं

देना चाहिये; क्यों कि अतिप्रसंग खडा हो जाता है' यह मन्तव्य ठीक नहीं है; क्यों कि अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा जाने गये वस्तु के विषय में 'यह वस्तु का स्वभाव होनेसे उसके विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिये' इसप्रकार उत्तर दिया जानेपर प्रत्यक्ष के समान अनुमानादि का भी प्रमाणत्व निश्चित किया जानेसे विरोध उपस्थित नहीं होता। अनुमान और आगम के द्वारा पदार्थ के विषय में भी 'यह पदार्थ का स्वभाव होनेसे उसके विषय में प्रश्न नहीं करने चाहिये' इसप्रकार उत्तर दिया जानेपर विरोध न होनेसे जिसका प्रमाणत्व सिद्ध हुआ है ऐसे परमागम से प्रकृत भव्यत्वरूप और अभव्यत्वरूप जीवस्वभाव उनके ज्ञान के अनुरूप होनेवाले होनेसे तर्क के विषय नहीं है जिससे उनके विषय में प्रश्न किये जाते हैं; क्यों कि ऐसा न हो तो तर्क के विषय बने हुए होनेपर भी पदार्थ आगम का विषय बन जानेसे उनके विषय में प्रश्न किये जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है और उसीप्रकार अनुमान तथा आगम के विषय बने हुए पदार्थों के विषय में जिसप्रकार प्रश्न किये जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है उसीप्रकार प्रत्यक्ष के विषय बने हुए पदार्थों के विषय में भी उनके स्वभाव के विषय में प्रश्न किये जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसप्रकार तर्क के द्वारा जाने गये पदार्थ के विषय में जिसप्रकार उस पदार्थ के स्वभाव के विषय में प्रश्न किया जाना संभाव्य होनेसे तर्क का स्वातंत्र्य संभाव्य नहीं होता उसीप्रकार प्रत्यक्ष और आगम का स्वातंत्र्य संभाव्य नहीं होगा। (प्रत्यक्ष और आगम का स्वातंत्र्य होता है। 'किस कारण से?' इसप्रकार के प्रश्न का 'इसकारण से' इसप्रकार उत्तर दिया जानेसे वस्तु का अनुमान से निर्धारण किया जानेसे सिर्फ अनुमान के द्वारा जाना गया पदार्थ स्वविषयक प्रश्न किया जानेके योग्य होता है। प्रत्यक्ष और आगम अनुमान के समान नहीं है; क्यों कि उष्ण अग्नि को प्रत्यक्ष के द्वारा जान लेनेपर 'अग्नि की उष्णता किस कारण से है? जल के समान अग्नि भी पदार्थ होनेसे शैत्य हि अग्नि का क्यो नही?' इसप्रकार के प्रश्न की प्रत्यक्ष के द्वारा जाने गये पदार्थ के विषय मे योग्यता हि नहीं उसीप्रकार आगम के द्वारा निर्धारित किये गये सूक्ष्म, व्यवहित आदिरूप पदार्थ का निर्धारण किया जानेपर 'ऐसा कैसे?' इसप्रकार का प्रश्न किया जाना संभाव्य नहीं है।) स्वातंत्र्य की सम्भावना न होनेपर अनुमान की उत्पत्ति हि नहीं होगी; क्यों कि धर्मिप्रत्यक्षादि को और आगम के द्वारा प्रतिपादित किए जानेवाले पदार्थ को अन्य प्रमाणों की अपेक्षा होनेसे अनवस्थानामक दोष उपस्थित हो जाता है। उस कारण से रागादिभावों की उत्पत्तिरूप द्रव्यसंसार का कारणभूत भावसंसार कर्मबंधानुरूप होनेपर भी शुद्धि के और अशुद्धि के वैचित्र्य से जीवों के मुक्तत्व की और संसारित्व की अर्थात् बद्धत्व की सिद्धि हो जाती है।

इस उद्धरण से शुद्धिशक्ति और अशुद्धिशक्ति इनके स्वरूप का और उनके आविर्भाव और अनाविर्भाव का ज्ञान हो जाता है। इस उद्धरण में जो 'भव्यत्व' और 'अभव्यत्व' इन शब्दों के प्रयोग पाये जाते हैं उनके स्वरूप को जाननेसे उन दोनों शक्तियो का स्पष्टरूप से ज्ञान हो जाता है। प्रमाण–

एतेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन सिद्धभवनयोग्यत्वं, तद्विपरीतं अभव्यत्वं च पारिणामिकं उन्नेयं, तस्य अपि कर्मोदयाद्यनपेक्षत्वसिद्धेः सर्वदा भावात् अनादिपरिणामिनित्यत्वात्।

[श्लो. वा., नि. सा. सं., पृ. ३१६]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनरूप जीव की जो परिणति उस परिणति से सिद्धरूप से परिणत होनेकी जीव की जो शक्ति होती है वह जीव का भव्यत्वभाव है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनरूप जो जीव की परिणति उसका अभाव होनेसे सिद्धरूप से परिणत न होनेकी अर्थात् मिथ्यादर्शनादिरूप से परिणत होनेकी जीव की अनादि से अनन्तकालतक आविर्भूत होकर रहनेवाली अनादि से अनन्तकालतक अज्ञानी बने रहनेवाले संसारी जीव की जो शक्ति होती है वह जीव का अभव्यत्वभाव है। अभव्यत्वभाव की या अशुद्धिशक्ति की सत्ता उसकी अभिव्यक्ति कर्मोदयसापेक्ष होनेपर भी, कर्मोदयादि की अपेक्षा न करनेवाली होनेसे सर्वदा विद्यमान होनेसे अनादि से परिणामिनित्य होनेसे पारिणामिकभाव है। भव्यत्वभाव भी अर्थात् शुद्धिशक्ति भी अपनी अभिव्यक्ति के विषय में कर्मोपशमादिसापेक्ष होनेपर भी अपनी सत्ता के विषय में कर्मोपशमादिनिरपेक्ष

होनेसे और अनादि से परिणामिनित्य होनेसे पारिणामिकभाव है। (जो भाव कर्मनिमित्तक नहीं होता वह भाव हि पारिणामिकभाव कहा जाता है।)

भव्यजीव में सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणत होनेकी कर्मनिरपेक्ष शक्ति होनेसे, वह सर्वदा विद्यमान होनेसे और परिणामिनित्य होनेसे उसका उसरूप भव्यत्वभाव अनादिनिधन होता है। यह शक्ति परिणामिनित्य होनेसे उसका कर्मोदयादिरूप निमित्त से मिथ्यादर्शनादिरूप से अर्थात् अशुद्धिरूप से परिणमन होता है। भव्य जीव का अनादिकाल से कर्म के साथ संबंध होनेके कारण उसकी स्वाभाविकी शुद्धिशक्ति अनादि से अशुद्धरूप से परिणत हो गयी है। जब जीव के कर्मोपशमादि से रत्नत्रय आविर्भूत होता है तब उसकी अशुद्धि शुद्धिरूप से परिणत होती है। इसे हि ' उस शुद्धिशक्ति का आविर्भाव हुआ है ' ऐसा कहा जाता है। भव्य जीव की अशुद्धि कर्मोदयादिनिमित्तक होनेसे और सर्वदा विद्यमान न होनेसे वह पारिणामिकभाव नहीं हो सकती। वह जीव का कादाचित्क भाव है। अतः भव्यजीव की अशुद्धपरिणति को अशुद्धिशक्तिकारणक कहना हो तो उसे जीव के विभावपरिणाम की या अशुद्ध जीव की शक्ति कहना होगा; क्यों कि उसके विभावभावों का अभाव होते हि उसकी अशुद्धि का भी अभाव हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार शुद्धिशक्ति की अभिव्यक्ति हो जानेपर वह परिणामिनित्य होनेसे कालद्रव्य के निमित्त से उसका शुद्ध परिणमन होता रहता है उसीप्रकार अशुद्धि का अभाव होनेपर भी अशुद्धिशक्ति जीव के साथ तादात्म्यसंबध को प्राप्त हुई होनेसे जीव की शुद्ध अवस्था में भी जीवाश्रित रहती है ऐसा माना तो जीव की शुद्ध अवस्था में भी उस शक्ति का भी कालद्रव्य के निमित्त से अशुद्ध परिणमन होता हि रहेगा; किंतु शुद्ध जीव के अशुद्ध परिणमन का सद्भाव न शास्त्रसंमत है और न युक्तिसिद्ध भी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अशुद्ध बने हुए भव्यजीव की अशुद्धिशक्ति अनादिसांत है—वह अशुद्ध भव्यजीव के विभावपरिणाम की शक्ति है—शुद्ध जीव की नहीं है। यह भव्यत्वरूप शुद्धिशक्ति जीव की रत्नत्रयरूप से परिणति होनेके पूर्वकाल में कर्मोदयादि निमित्त होनेके कारण अशुद्धिरूप से परिणत हुई होती है और इसीकारण से वह अव्यक्त कही जाती है। वही रत्नत्रयरूप से जीव की परिणति आविर्भूत होनेपर व्यक्त हो जाती है। अशुद्धिशक्ति अभव्य जीव की हि होती है और वह अनादिनिधन होती हुई शुद्धिरूप से कदापि परिणत नहीं होती; क्यों कि उसका स्वामी अभव्य जीव अनादि से अनन्तकालतक कर्मावृत होनेसे रत्नत्रयरूप से कदापि परिणत नहीं होती। इस अशुद्धिशक्ति की अभिव्यक्ति अनादि से होती है; क्यों कि उसको व्यक्त करनेवाले मिथ्यादर्शनादिरूप विभावपरिणामों की परंपरा अनादि से चली आई है। इसीप्रकार वह अनन्त भी है; क्यों कि अभव्य जीव की मिथ्यादर्शनादिरूप विभावपरिणतियों की परंपरा अनन्तकालतक चलती रहती है। यद्यपि अभव्य की विभावपरिणतियां उत्पादव्ययात्मक हैं तो भी वे सजातीय हि होनेसे अभव्य जीव की अशुद्धिशक्ति की परंपरा भी अविच्छिन्न धारा के रूप से अनादिकालसे अनन्तकालतक चलती रहती है। अभव्यत्वरूप अशुद्धिशक्ति और भव्यत्वरूप शुद्धिशक्ति पारिणामिकभावरूप हैं, परिणामिनी हैं और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जीवद्रव्य अनादिनिधन होनेसे अनादिनिधन हैं। पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से उनका अनादित्व अभीष्ट नहीं है। इन शक्तियों को बाधित करनेवाले प्रमाणों का अभाव सुनिश्चित होनेसे वे किसी भी प्रकार से बाधित नहीं होती; क्यों कि उडद आदि की पाक्यशक्ति—जल और अग्नि का उनके साथ संबंध हो जानेपर उन की पक जानेकी शक्ति और उन्हीके अन्य बीजों की जल और अग्नि का संयोग हो जानेपर भी पक्व न होनेकी शक्ति प्रत्यक्षगम्य और अनुमानगम्य होनेपर भी क्या किसी प्रमाण के द्वारा बाधित की जा सकती है ? पकना और न पकना उन उडद आदि के बीजों की शक्ति है—स्वभाव है। भव्य अशुद्ध जीव की शुद्धिशक्ति की अभिव्यक्ति सप्तप्रकृतियों के उपशम से, क्षयोपशम से या क्षय से और रागादिरूप विभावभावों के अभाव से व्यक्त होनेवाले सम्यग्दर्शनादिरूपपरिणामात्मक होती है। सम्यग्दर्शनादि की उत्पत्ति के पूर्वकाल में मिथ्यादर्शनादि की संततिरूप अशुद्धि की अभिव्यक्ति कथंचित् अनादि होती है और सम्यग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति सादि होती है। यह शुद्धिशक्ति का कथंचित् सादित्व और अशुद्धिशक्ति का कथंचित् अनादित्व ' भव्येष्वेव ' इन शब्दों के अनुसार भव्यों के विषय में हि होते हैं। जीव की शुद्धिशक्ति भव्यत्वरूप जीव की है और

अशुद्धिशक्ति अशुद्ध पर्याय की है। जिसप्रकार शुद्धिशक्ति भव्यजीव की होती है उसीप्रकार अशुद्धिशक्ति भव्यजीव की नहीं हो सकती; क्यों कि अशुद्धिशक्ति अभव्यत्वभाव से भिन्न नहीं है। भव्यत्व का और अभव्यत्व का सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता; क्यों कि दोनों पारिणामिकभावों में सहानवस्थानरूप विरोध होता है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि भव्यजीव की अशुद्धिशक्ति पारिणामिकभाव होनेसे और निमित्तकारणक होनेसे वह भव्यजीव के अशुद्ध पर्याय की शक्ति है। यह शुद्धिशक्ति द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से भव्यजीव से कथंचित् अभिन्न होती है और अशुद्धि-शक्ति अभव्यजीव से कथंचित् अभिन्न होती है। शुद्धिशक्ति की अभिव्यक्ति औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावरूप होती है और अशुद्धिशक्ति की अभिव्यक्ति औदयिकभावरूप होती है। 'जीव की शुद्धावस्था में कर्म के अभाव के कारण कर्म की परिणतिरूप उदय का अभाव होनेसे भव्यजीव की अशुद्धिशक्ति उस अवस्था में अभिव्यक्त नहीं होती; किंतु उस अवस्था में वह अनभिव्यक्त रहती है' ऐसा कहना हो तो वह कहना ठीक नहीं है; क्यों कि एक हि जीव में और विशेषतः उसकी शुद्धावस्था मे भव्यत्वभावरूप शुद्धिशक्ति और अभव्यत्वभावरूप अशुद्धिशक्ति नहीं हो सकती और भव्यजीव की अशुद्ध अवस्था मे होनेवाली अशुद्धिशक्ति पर्याय की शक्ति होती है—वह पारि-णामिकभावरूप नहीं होती।

शक्ति चाहे शुद्धिशक्तिरूप हो चाहे अशुद्धिशक्तिरूप हो वह शक्तिमान् से कथंचित् भिन्न होती है और कथंचित् अभिन्न होती है—वह सर्वथा भिन्न भी नहीं होती और सर्वथा अभिन्न भी नहीं होती। देखिए प्रमाण—

'शक्तिमतो हि शक्तिर्भिन्ना, तत्प्रत्यक्षत्वे अपि अस्याः प्रत्यक्षत्वाभावात्। कार्यान्यथानुपपत्त्या तु प्रतीयमाना असौ। तद्वतः विवेकेन प्रत्येतुं अशक्यत्वात् अभिन्ना इति।'

[प्र. क. मा, नि. सा. सं., पृ. २०२

शक्तिमान्से शक्ति भिन्न होती है; क्यों कि शक्तिमान् का प्रत्यक्षत्व इन्द्रियज्ञानगोचरत्व होता है अर्थात् अपने जैसे लोगों के द्वारा प्रत्यक्षरूप से जाना जाता है तो भी शक्ति इन्द्रियज्ञानगोचर नहीं होती। कारण की शक्तिसंप-न्नता के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होना असभव होनेसे यह शक्ति प्रतीयमान है—अनुमेय है। शक्तिमान् से भिन्न-रूप से शक्ति का ज्ञान होना अशक्य होनेसे वह शक्तिमान् से अभिन्न है। सारांश, शक्तिमान् से शक्ति कथंचित् भिन्न होती है और कथंचित् अभिन्न होतीहै।

शक्ति उपादानभूत द्रव्य की होती है और उसके पर्याय की भी होती है; क्यों कि पदार्थ द्रव्यशक्ति से और पर्यायशक्ति से युक्त होते हैं। द्रव्यशक्ति नित्य होती है और पर्यायशक्ति अनित्य होती है। द्रव्यशक्ति की नित्यता का कारण है उसके आश्रयभूत द्रव्य की अनादिनिधनता और पर्यायशक्ति की अनित्यता का कारण है उसके आश्रयभूतपर्याय की सादिसान्तता। द्रव्यशक्ति नित्य होनेपर और पर्यायशक्ति अनित्य होनेपर भी उनकी परिणमन-शीलता बाधित नहीं होती। पर्यायशक्ति से युक्त होनेपर हि द्रव्यशक्ति सहकारिसामग्री मिल जानेपर कार्यकारिणी होती है; पर्यायशक्ति का और सहकारिसामग्री का अभाव होनेपर वह कार्यकारिणी नहीं होती। यदि द्रव्यशक्ति पर्यायशक्ति का और सहकारिसामग्री का अभाव होनेपर भी कार्यकारिणी होती है ऐसा माना तो सभी कार्यों की उत्पत्ति युगपत् हो जानेका प्रसंग खडा हो जायगा। प्रमाण—

यच्चोच्यते—शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि; तत्र किमयं द्रव्यशक्तौ पर्यायशक्तौ वा प्रश्नः स्यात्, भावानां द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात्? तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव, अनादिनिधनस्वभावत्वाद्द्रव्यस्य। पर्याय-शक्तिस्तु अनित्यैव, सादिपर्यवसानत्वात्पर्यायाणाम्। न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षया एव अर्थस्य कार्यकारित्वानुषङ्ग., द्रव्यशक्ते. केवलायाः कार्यकारित्वानभ्युपगमात्। पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः। तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया इति पर्यायशक्तेः तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः सहकारिकारणापेक्षा-

वैयर्थ्यं वा। [प्र. क. मा., लि. सा. सं., पृ. २००]

'शक्ति नित्य होती है या अनित्य होती है ? ' इत्यादि जो कहा जाता है उस विषय में ' यह प्रश्न द्रव्य-शक्ति के बारेमें उपस्थित हो जाता है या पर्यायशक्ति के बारेमें उपस्थित होता है ? ' इस प्रकार का प्रतिप्रश्न उपस्थित हो जाता है; क्यों कि पदार्थ द्रव्यशक्ति से और पर्यायशक्ति से युक्त होते हैं। इन दोनों शक्तियों में से द्रव्यशक्ति जो होती है वह नित्य हि हुआ करती है; क्यों कि द्रव्य स्वभावतः अनादिनिधन होता है। जो पर्यायशक्ति होती है वह अनित्य हि होती है; क्यों कि पर्यायें सादिपर्यवसान–सादिसान्त होती हैं। द्रव्य की शक्ति नित्य होनेसे सह-कारिकारण की अपेक्षा न रहते हुए हि द्रव्य के कार्यकारि बन जानेका प्रसंग उपस्थित नहीं होता; क्यों कि सिर्फ द्रव्यशक्ति के कार्यकारित्व तो हम जैनों ने स्वीकार नहीं किया है। पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी होती है; क्यों कि विशिष्टपर्यायरूप से परिणत हुए द्रव्य के कार्यकारित्व की प्रतीति होती है। इस द्रव्य की विशि-ष्टपर्यायरूप से जो परिणति होती है वह सहकारिकारण की अपेक्षा से अर्थात् उसका संबंध होनेसे होती है। इस-प्रकार सहकारिकारण का संबंध होनेपर हि पर्यायशक्ति का सद्भाव–आविर्भाव होता है और इसप्रकार सहकारि-सामग्री के संबंध के होनेपर हि पर्यायशक्ति का आविर्भाव होनेसे कार्य की सर्वदा उत्पत्ति होनेका प्रसंग उपस्थित नहीं होता और सहकारिकारण की अपेक्षा भी व्यर्थ नहीं होती।

इस उद्धरण से नीचे दी हुई बातों का ज्ञान हो जाता है–(१) द्रव्य की शक्ति नित्य होती है। अतः वह यावद्द्रव्यभाविनी होती है। (२) पर्यायशक्ति अनित्य होती है; क्यों कि उसका स्वामी पर्याय सादिसान्त होती है। (३) द्रव्यशक्ति पर्यायशक्ति के अभाव में कार्यकारिणी नहीं होती (४) द्रव्यशक्ति नित्य होनेपर भी सहकारि-कारण के संबंध के अभाव में वह कार्यकारिणी नहीं हो सकती। (५) पर्यायशक्ति से युक्त होनेपर हि द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी होती है इसका अर्थ यह है कि पर्यायरूप से परिणत हुए बिना द्रव्य सामर्थ्यसंपन्न होनेपर भी स्वपर-परिणामों का कारण (उपादान और निमित्त) नहीं बन सकता। (६) सहकारिकारण का संबंध हो जानेपर हि पर्यायशक्ति आविर्भूत होती है। इससे यह निष्कर्ष निकल आता है कि–उपादानभूत द्रव्य सामर्थ्यसंपन्न होनेपर भी सहकारिसामग्री के संबंध के बिना वह विशिष्ट परिणाम के रूप से कदापि परिणत नहीं हो सकता।

अब देखना यह है कि एक द्रव्य में एक हि शक्ति हुआ करती है या अनेक शक्तियां हुआ करती हैं। वस्तुतः एक द्रव्य में अनेक शक्तियां होती हैं; क्यों कि एक द्रव्य के द्वारा किये जानेवाले अनेक कार्य किये जाते हुए देखनेमें आता है। प्रमाण–

यत्पुनरुक्तमेकानेका वेत्यादि तत्र अर्थानां अनेकैव शक्तिः। तथाहि–अनेकशक्तियुक्तानि कार-णानि, विचित्रकार्यत्वात् (विभि-)-न्नार्थवत्; विचित्रकार्याणि वा कारणशक्तिभेदनिमित्तकानि, तत्त्वात् विभिन्नार्थकार्यवत्। न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं, रूपादिज्ञानवत्। यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि, तथा क्षणस्थितेः एकस्मादपि प्रदीपादेर्भा-वात् वर्तिकादाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि तच्छक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते, अन्यथा रूपादेः नानात्वं न स्यात्, चक्षुरादिसामग्रीभेदादेव हि तज्ज्ञानप्रतिभासभेदः स्यात्, कर्कटिकादिद्रव्यं तु रूपादि-स्वभावरहितं एकं अनंशमेव स्यात्। 'चक्षुरादिबुद्धौ प्रतिभासमानत्वात् रूपादेः कथं कर्कटिकादिद्रव्य-स्य तद्रहितत्वम् ?' इति चेत्, तर्हि तैलशोषादिविचित्रकार्यानुमानबुद्धौ शक्तिनानात्वस्य अपि अर्थानां प्रतीतेः कथं तद्रहितत्वं स्यात् ? 'प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना. रूपादयः एव परमार्थसन्तः, न तु अनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानाः शक्तयः' इत्यपि असुन्दरम्, अदृष्टेश्वरादेः अपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात्। 'प्रदीपादिद्रव्यस्य एकस्य वर्तिकादिसहकारिसामग्रीभेदात् तद्दाहादिकार्यनानात्वं, न पुनः तच्छक्ति-भेदात्' इत्यपि अविचारितरमणीयं, रूपादेः अपि अभावप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुं कर्कटिकादिद्रव्ये

चक्षुरादिसामग्रीभेदाद् रूपादिप्रत्ययप्रतिभासभेदः, न पुनः रूपाद्यनेकत्वभावभेदाद् इति । तत् न प्रमाणप्रतिपन्नत्वाद् रूपादिवत् शक्तीनां अपलापः युक्तः इति । [प्र. क. मा., नि. सा. सं., पृ २०१-२०२]

जो फिर 'शक्ति एक है या अनेक है ?' इत्यादि प्रतिपादन किया गया है उस विषय में 'पदार्थों की शक्ति अनेकरूप हि है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में अनेक शक्तियां होती हैं' ऐसा अभिप्राय है । खुलासा–जिसप्रकार अनेकविध भिन्नभिन्न पदार्थों के कार्य–परिणाम अनेकविध होनेसे उन अनेकविध भिन्नभिन्न पदार्थों की अनेकविध शक्तियां होती हे उसीप्रकार अनेकविध भिन्नभिन्न कारणभूत पदार्थों के कार्य–परिणाम अनेकविध होनेसे उन अनेकविध भिन्नभिन्न कारणभूत पदार्थों की शक्तियां अनेकविध होती हैं । [कहनेका भाव यह है कि कारणभूत प्रत्येक पदार्थ के कार्य–परिणाम अनेकविध होनेसे कारणभूत प्रत्येक पदार्थ में अनेक शक्तियां होती हैं ।] अथवा अनेकविध कार्यों के परिणामों के कारण कारणभूतपदार्थ में विद्यमान होनेवाली शक्तियां अनेक होती हैं; क्यों कि कारणभूत पदार्थ के कार्य अनेकविध होते हैं; जैसे भिन्नभिन्न पदार्थों के भिन्नभिन्न कार्य । भिन्नभिन्न पदार्थों के भिन्नभिन्न कार्यों के उन पदार्थों की भिन्नभिन्न शक्तियां जिसप्रकार कारण होती हैं उसीप्रकार एक पदार्थ के भिन्नभिन्न अनेकविध कार्यों के उस एक पदार्थ की अनेकविध भिन्नभिन्न शक्तिया कारण होती है । कारणगत भिन्नभिन्न अनेकविध शक्तियों के बिना कार्यों का अनेकविध होना युक्तिसगत नहीं है, जैसे रूप आदि का ज्ञान । स्पर्शज्ञान, रसज्ञान, गंधज्ञान और वर्णज्ञान ये जो ज्ञान के भेद पाये जाते हैं वे जिसप्रकार पुद्गलद्रव्यगत स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन गुणों के बिना नहीं पाये जा सकते उसीप्रकार एक पदार्थ के कार्यों का अनेकविधत्व उस एक कारणभूत पदार्थ में अनेकविध शक्तियों का अस्तित्व हुए बिना नहीं हो सकता । जिसप्रकार ककडी आदि के विषय में होनेवाले रूपज्ञान, रसज्ञान, गंधज्ञान और स्पर्शज्ञान ये ज्ञान के भेद ककडी आदि में होनेवाले रूप, रस, गध और स्पर्श इन गुणों के कारण से होते हैं, उसीप्रकार क्षणमात्रकालवर्ती प्रदीपादिरूप एक पदार्थ के वर्तिकादाह, तैलशोष आदि अनेकविध भिन्नभिन्न कार्यों के कारण प्रदीपगत अनेक शक्तियां हैं । यदि ऐसा न होता तो अर्थात् जिनकी भिन्नभिन्न शक्तियां कारणभूत होती हैं ऐसे तैलशोष आदि कार्य प्रदीपगत तैलशोष आदि की भिन्नभिन्न शक्तियों का अभाव होनेपर भी होते हैं ऐसा मान लिया तो रूप आदि गुणों का अनेकत्व नहीं होगा; किंतु चक्षु आदि सामग्री के अनेकविधत्व से रूपादि के (उनका अभाव होनेपर भी) ज्ञानरूप प्रतिभासों का अनेकविधत्व सिद्ध हो जायगा और ककडी आदि द्रव्य रूपादिगुणरूप स्वभाव से रहित–शून्य, एक और अंशरहित–निरंश सिद्ध हो जायगा । 'चाक्षुषादि ज्ञान में रूपादिकों का प्रतिभास होनेसे ककडी आदि द्रव्य का रूपादिगुणशून्यत्व कैसे होगा ?' ऐसा कहना हो तो तैलशोषादिरूप अनेकविध कार्यरूप लिंग से जनित ज्ञान में अर्थों की शक्तियों की अनेकविधता की प्रतीति हो जानेसे अर्थों का अनेकशक्तियों से रहितपना कैसे सिद्ध होगा ? 'प्रत्यक्षज्ञान में प्रतिभासित होनेवाले रूपादि हि परमार्थतः-वस्तुतः विद्यमान हैं; किंतु अनुमानज्ञान में प्रतिभासित होनेवाली शक्तियां परमार्थतः सद्रूप नहीं हो सकती' यह कहना भी समीचीन नहीं है; क्यों कि अदृष्ट, ईश्वर आदिकों का वे प्रत्यक्षगम्य न होनेसे परमार्थतः सद्रूप होनेका अभाव हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जायगा । 'प्रदीपादिरूप एक द्रव्य का वर्तिकादिरूप सामग्री के अनेकविधत्व के कारण उसके दाहादिकार्यों का अनेकविधत्व सिद्ध हो जाता है, उसके शक्तिरूप स्वभावों के भेद से उन दाहादिकार्यों का अनेकविधत्व सिद्ध नहीं होता' यह अभिप्राय भी अविचारितरमणीय है–जबतक उसका विचार नहीं किया तबतक ठीक जचता है; क्यों कि कर्कटिकादि पुद्गलद्रव्यों में रूप आदि गुणों का अभाव हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है । 'कर्कटिकादि-ककडी आदि द्रव्य में चक्षु आदि सामग्री की अनेकविधता से रूपादि के ज्ञान में प्रतिभासों की अनेकविधता होती है; ककडी आदिरूप पुद्गलद्रव्य के रूपादिगुणरूप अनेक स्वभावों के भेद से रूपादि के ज्ञान में प्रतिभासों की अनेकविधता नहीं होती' ऐसा कहा जा सकता है । इसलिए जिसप्रकार प्रमाणों के द्वारा जाने गए रूप आदि गुणों का अपलाप करना युक्तिसंगत नहीं है उसीप्रकार प्रमाणों के सहारेसे जानी गयी शक्तियों का अपलाप करना युक्तिसंगत नहीं है ।

इस प्रमाण से एक द्रव्य में उसके अनेक कार्यों के साधन से अनेकविध शक्तियों की निर्बाधरूप से सिद्धि

हो जाती है।

भेदाभेदसाधक साधनोंपर पर विचार–

अनेक धर्मों के अभेद की सिद्धि करनेवाले कुल आठ साधन शास्त्रकारों ने बताये हैं। इन साधनों से जब अभेद की सिद्धि नहीं होती, तब भेद की सिद्धि हो जाती है। अतः भेद और अभेद की सिद्धि करनेवाले साधन एक हि हे–भिन्नभिन्न नहीं हैं। नीचे पेश किये गये शास्त्रीय प्रमाण से उन साधनों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। देखिए–

'के पुनः कालादयः ?' कालः, आत्मरूपं, अर्थः, संबंधः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्दः इति। (१) तत्र 'स्यात् जीवादि वस्तु अस्ति एव ?,' इत्यत्र यत्कालं अस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्माः वस्तुनि एकत्र इति तेषां कालेन अभेदवृत्तिः; (२) यत् एव च अस्तित्वस्य तद्गुणत्वं आत्मरूपं, तदेव अन्यानन्तगुणानां अपि इति आत्मरूपेण अभेदवृत्तिः; (३) यः एव च आधारः अर्थः द्रव्याख्यः अस्तित्वस्य, स एव अन्यपर्यायाणां इति अर्थेन अभेदवृत्तिः; (४) यः एव च अविश्वग्भावः कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः अस्तित्वस्य, स एव अशेषविशेषाणां इति सम्बन्धेन अभेदवृत्तिः; (५) यः एव च उपकारः अस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं, स एव शेषैः अपि गुणैः इति उपकारेण अभेदवृत्तिः; (६) यः एव गुणिदेशः अस्तित्वस्य, स एव अन्यगुणानां इति गुणिदेशेन अभेदवृत्तिः; (७) यः एव च एकवस्त्वात्मना अस्तित्वस्य संसर्गः, स एव शेषधर्माणां इति संसर्गेण अभेदवृत्तिः; (८) यः एव वा 'अस्ति' –शब्दः अस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनः वाचकः, स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्य अपि इति शब्देन अभेदवृत्तिः; पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् उपपद्यते। द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानां कालादिभिः अभेदवृत्तिः अष्टविधा सम्भवति– (१) प्रतिक्षणं अन्यतोपपत्तेः भिन्नकालत्वात्, सकृत एकत्र नानागुणानां असम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रङ्गात्; (२) तेषां आत्मस्वरूपस्य च भिन्नत्वात् तदभेदे तद्भेदविरोधात्; (३) स्वाश्रयस्य अर्थस्य अपि नानात्वात् अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात्; (४) सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात् नानासम्बन्धिभिः एकसम्बन्धाघटनात्; (५) तैः क्रियमाणस्य उपकारस्य च प्रतिनियतरूपत्वस्य अनेकत्वात्; (६) गुणिदेशस्य प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानां अपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात्; (७) संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात्, तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात्; (८) शब्दस्य च प्रतिविषयं नानात्वात् सर्वगुणानां एकशब्दस्य वाच्यतायां सर्वार्थानां एकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैफल्यात्। तत्त्वतः अस्तित्वादीनां एकत्र वस्तुनि एवं अभेदवृत्तेः असम्भवे कालादिभिः भिन्नात्मनां अभेदोपचार क्रियते। तत् एताभ्यां अभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां एकेन शब्देन एकस्य जीवादिवस्तुनः अनन्तधर्मात्मकस्य उपात्तस्य स्यात्कारः द्योतकः समवतिष्ठते। [श्लो. वा., ह. लि. प्र., पृ. १९३, नि. सा. सं., पृ. १३६]

काल आदि कौन हे ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं– १) काल, २) आत्मस्वरूप, ३) अर्थ, ४) संबंध, ५) उपकार ६) गुणिदेश, ७) संसर्ग और ८) शब्द। १) उन में 'जीवादि पदार्थ कथंचित् है हि' इस उदाहरण में जीवादिरूप वस्तु में जितने कालतक अस्तित्व गुण विद्यमान रहता है उतने कालतक शेष अनन्तधर्म रहते हें। इस प्रकार से जीव आदि एक पदार्थ में अस्तित्व और अन्यधर्मों की वृत्ति–स्थिति काल की दृष्टि से अभेदरूप से है। दूसरा उदाहरण घट का लीजिये। जितने कालतक घट में अस्तित्वधर्म रहता है उतने कालतक घट के कहे जानेवाले शेष अन्य धर्म भी रहते हें। जिस काल में घट का अस्तित्व हि नष्ट हो जाता है उस काल में घट के कहे जानेवाले

शेष धर्मों का भी अभाव हो जाता है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ के अस्तित्व धर्म के साथ उसके अन्य धर्मों का अविनाभाव–तादात्म्य–अभेद सिद्ध हो जाता है। जीव द्रव्य में होनेवाला अस्तित्व गुण अनादिनिधन होता है इसलिए उसका ज्ञानसामान्यरूप धर्म भी अनादिनिधन होता है; क्यों कि जीव के अस्तित्व के साथ ज्ञान गुण का काल की दृष्टि से अभेद होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ के अस्तित्वधर्म का जितना काल होता है उतना हि काल उसके अन्य धर्मों का उस पदार्थ में अस्तिरूप होनेका होता है। अतः पदार्थ का अस्तित्वधर्म और उसके अन्य शेष धर्म इनमें काल की दृष्टि से अभेद सिद्ध हो जाता है। २) जो हि अस्तित्वगुण का पदार्थ का गुण होना आत्मरूप है–स्वरूप है–अस्तित्व गुण का स्वभाव है वहि पदार्थ का गुण होना अन्य अनंतगुणों का भी स्वरूप है–स्वभाव है। इसप्रकार एक पदार्थ में पदार्थ के गुण होनारूप स्वभाव से पदार्थ का अस्तित्व धर्म और शेष अनन्तधर्म भी रहते हैं। अतः एक पदार्थ मे अस्तित्वादि सभी धर्मों की स्वस्वरूप की आत्मस्वरूप की दृष्टि से अभेद से वृत्ति–स्थिति होती है। जिसप्रकार अस्तित्वगुण का जीवपदार्थ का गुण होना स्वस्वरूप है–आत्मरूप है उसीप्रकार अन्य ज्ञानादिरूप अनन्तगुणों का जीवपदार्थ का गुण होना भी स्वरूप है। अतः जीवरूप एक पदार्थ में अस्तित्व और अन्य शेष ज्ञानादिरूप अनन्तधर्म इन की आत्मस्वरूप की दृष्टि से अभेद से वृत्ति होती है। जिसप्रकार घट का गुण होना अस्तित्व का स्वरूप है उसीप्रकार उसके अन्य शेष अनन्तधर्मों का भी घट का गुण होना स्वस्वरूप है–आत्मरूप है। अतः घटरूप एक पदार्थ में अस्तित्व और अन्य शेष अनन्तधर्मों की आत्मस्वरूप की दृष्टि से अभेद से वृत्ति होती है। ३) जो हि पदार्थ अस्तित्वगुण का आधार होता है, वह हि अन्य अक्रमभावि पर्यायों का अर्थात् गुणों का आधार होता है। इसप्रकार एक द्रव्य का अस्तित्वधर्म और उसके अन्य अनन्तगुण इनका जब एक हि पदार्थ आधार होता है तब अर्थ की दृष्टि से उन गुणों में अभेद होता है। जिसप्रकार अस्तित्वगुण का जीवपदार्थ आश्रय होता है उसीप्रकार अन्य शेष अनन्तधर्मों का भी जीवद्रव्य आश्रय होता है। अतः अस्तित्वधर्म और अन्य शेष ज्ञानादिरूप अनन्तधर्म इन का एक जीवपदार्थ आश्रय होनेसे अर्थ की दृष्टि से उन धर्मों में अभेद होता है। ४) जो हि अस्तित्वधर्म का पदार्थ के साथ अविश्वग्भाव–अपृथग्भाव अर्थात् कथंचित् तादात्म्यरूप सबंध होता है वही अविश्वग्भाव अर्थात् कथंचित्तादात्म्यरूप संबंध अन्य अशेषधर्मों का उसी पदार्थ के साथ होता है। इसप्रकार पदार्थ के अस्तित्वधर्म का और उसके अन्य शेष धर्मों का उसी एक पदार्थ के साथ कथंचित् तादात्म्यसंबंध अर्थात् अभेद होनेसे उन सभी धर्मों मे सबंध की दृष्टि से अभेद होता है। जिसप्रकार अस्तित्वधर्म का जीवपदार्थ के साथ कथंचित् तादात्म्यसंबध होनेसे अस्तित्वधर्म और अन्य शेष ज्ञानादिरूप अनन्तधर्म इनमें सबध की दृष्टि से अभेद होता है। ५) पदार्थ का अस्तित्वगुण के द्वारा अपने स्वरूप से युक्त किया जानारूप जो पदार्थ का अस्तित्वगुणकृत उपकार होता है वही उस पदार्थ के शेष अन्य गुणों के द्वारा अपने स्वरूप से युक्त किया जानारूप उसी पदार्थ का शेषगुणकृत उपकार होता है। पदार्थ का अस्तित्वगुणकृत और उस पदार्थ मे आश्रित हुए जो उसके अन्य शेष गुण होते हैं उनके द्वारा किया जानेवाला उपकार एक होनेसे अस्तित्वगुण और उसके अन्य शेष गुण इनमें उपकार की दृष्टि से अभेद होता है। इस अभिप्राय का स्पष्टीकरण एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया जाना आवश्यक है। दृष्टान्त के पहले उपकारशब्द का खुलासा किया जाता है। आचार्यप्रवर श्रीविद्यानंद ने उपकार शब्द का अर्थ 'स्वानुरक्तत्वकरणं' ऐसा किया है। 'स्वानुरक्तत्वकरण' इस पदका अर्थ है 'अपनी विशेषता का पदार्थ में निर्माण करना' ऐसा है। नीलवर्ण पुद्गल का गुण है। वह गुण पुद्गल मे अपने वैशिष्ट्य का निर्माण करता है। पदार्थ में अस्तित्वगुण अपने वैशिष्ट्य को निर्माण करता है। यदि अस्तित्वगुण का वैशिष्ट्य पदार्थ मे न हो तो पदार्थका अभाव हो जायगा। इस वैशिष्ट्य का पदार्थ मे निर्माण करना हि पदार्थ का गुणकृत उपकार है। जिसप्रकार अस्तित्वगुण पुद्गलपदार्थ में अपने वैशिष्ट्य को निर्माण कर पदार्थ का उपकार करता है उसीप्रकार नीलत्वादिरूप अन्य गुण भी पुद्गलपदार्थ में अपने वैशिष्ट्य को निर्माण कर उसी पदार्थ का उपकार करता है। अतः अस्तित्वधर्म और अन्य शेष नीलत्वादिधर्म पुद्गलपदार्थ में अपने वैशिष्ट्य को निर्माण करनेवाले होनेसे उपकार की दृष्टि से उन धर्मों मे अभेद होता है। इस दृष्टान्त से पदार्थ के धर्मों में उपकार की दृष्टि से अभेद होना स्पष्ट हो जाता है।

६) जो हि अस्तित्वधर्म का गुणिदेश होता है वही अन्य धर्मों का गुणिदेश होता है । इसप्रकार गुणिदेश की दृष्टि से अस्तित्वधर्म और अन्य शेषधर्म इनमें अभेद होता है । गुणी के अर्थात् गुणवान् पदार्थ के जितने प्रदेशों में अस्तित्व होता है उतने हि प्रदेशों में अन्य शेष गुणों का होना हि अस्तित्वगुण और अन्य शेष गुण इनमें गुणिदेश की दृष्टि से अभेद होता है । पदार्थ के सभी प्रदेशों में अस्तित्वगुण होता है । इस अस्तित्वगुण के समान पदार्थ के सभी प्रदेशों में उसके अन्य शेष गुण भी होते हैं । अस्तित्वगुण जीव के कुछ प्रदेशों में होता है और कुछ प्रदेशों में नहीं होता ऐसा कभी नहीं होता । वह गुण जीव के सभी प्रदेशों में होता है । जिसप्रकार अस्तित्वगुण जीव के सभी प्रदेशों में होता है उसीप्रकार जीव के शेष अन्य ज्ञानादि अनन्त गुण भी होते हैं । अतः जीव का अस्तित्वगुण और उसके अन्य शेष ज्ञानादि गुण इनमें गुणिदेश की दृष्टि से अभेद होना स्पष्ट हो जाता है । ७) जो हि एक पदार्थ के रूप से अस्तित्वधर्म का पदार्थ के साथ संसर्ग होता है वही एकवस्तु के स्वभाव के रूप से उसी पदार्थ के अन्य शेष धर्मों का उसी पदार्थ के साथ संसर्ग होता है । इसप्रकार एक पदार्थ के साथ एक वस्तु के स्वभाव के रूप से अस्तित्वधर्म का संसर्ग होनेसे और उसी पदार्थ के अन्य शेष धर्मों का एक वस्तु के स्वभाव के रूप से उसी पदार्थ के साथ संसर्ग होनेसे उस पदार्थ का अस्तित्व धर्म और उसी पदार्थ के अन्य शेष धर्म इनमें संसर्ग की दृष्टि से अभेद होता है । संसर्ग दो भिन्न पदार्थों में होता है । लोकव्यवहार में पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से गुणगुणी में भेद समझकर व्यवहार किया जाता है । गुण और गुणी में द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से भेद का अभाव होता है—अभेद होता है तो भी ' यह अग्नि की उष्णता है ' इसप्रकार अग्नि और उष्णता इनमें वस्तुतः अभेद होनेपर भी उनमें भेद समझकर व्यवहार किया जाता है । इस व्यवहार से उनके भेद का संस्कार जो दृढ हो गया होता है उसका अभाव द्रव्यार्थिकनय की सहायता से किया जाता है । कथंचित् तादात्म्यरूप संबंध में अभेद मुख्य होता है और भेद गौण होता है और संसर्ग में भेद मुख्य होता है और अभेद गौण होता है । यह तादात्म्यसंबंध में और ससर्ग-संयोगसंबंध में फर्क होता है । कथंचित् तादात्म्य कथंचित् भेदाभेदरूप होता है । भेदविशिष्ट अभेद को संबंध कहते हैं और अभेद विशिष्ट भेद को ससर्ग कहते हैं । ८) जो हि ' अस्ति ' यह शब्द अस्तित्वधर्म से युक्त पदार्थ का वाचक होता है वही ' अस्ति ' यह शब्द शेष अनन्तधर्मों से युक्त पदार्थ का वाचक होता है । इसप्रकार अस्तित्वधर्मयुक्त पदार्थ और शेष अन्य अनन्तधर्मों से युक्त वही पदार्थ ' अस्ति ' इस शब्द का वाच्य होनेसे शब्द की दृष्टि से उन धर्मों में अभेद होता है । जिन गुणों में पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से भेद होता है उन गुणों में पर्यायार्थिकनय की गौणता होनेपर और द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता होनेपर अभेद घटित होता है ।

जब द्रव्यार्थिकनय की गौणता होती है और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होती है तब एक पदार्थ का अस्तित्व धर्म और उसी पदार्थ के अन्य शेष अनन्तधर्म इनमें कालादि की दृष्टि से आठ प्रकार के अभेद की सभाव्यता नहीं होती। (१) एक समय में पदार्थ की एक हि पर्याय होती है—अनेक पर्यायें नहीं होती । उत्तरपर्याय से युक्त उसी पदार्थ का पूर्वपर्याय से भेद होता है । पूर्वपर्याययुक्त पदार्थ और उत्तरपर्याययुक्त पदार्थ में भेद न माना तो, बालावस्था से कुमारावस्था का भेद नहीं होगा और उससे बालक कुमारावस्था के रूप से परिणत हुआ कभी भी पाया नहीं जायगा । पदार्थ में प्रतिसमय अर्थपर्यायें होती रहती हैं । अतः प्रतिक्षण पदार्थ की भिन्नता घटित हो जाती है । यह अर्थपर्याय भी प्रतिक्षण भिन्नरूप होनेसे अर्थपर्याययुक्त पदार्थ की प्रतिक्षण अन्यता-भिन्नता सिद्ध हो जाती है । एक समय में एक हि अर्थपर्याय होती है—अनेक अर्थपर्यायें नहीं होती । पदार्थ की अर्थपर्याय के कारण व्यक्त होनेवाली भिन्नता उन अर्थपर्यायों के काल भिन्नभिन्न होनेसे होती है । प्रत्येक समय में होनेवाली पदार्थ की भिन्नता का कारण अर्थपर्यायों के कालों की भिन्नता होनेसे एक पदार्थ में एक समय में अनेकविध गुणों के अस्तित्व का होना असंभव है । ऐसी अवस्था में भी एक पदार्थ में एक समय में अनेकविधगुणों का होना संभाव्य माना तो पदार्थ में एक समय में जितने गुण होंगे उतने प्रकार एक पदार्थ के एक समय मे होंगे । अतः पदार्थ की विविधता कालभेदनिमित्तक होनेसे काल की दृष्टि से द्रव्याश्रित अनेक गुणो में अभेद सिद्ध नहीं होता, अपि तु भेद हि सिद्ध हो जाता है । (२) एक पदार्थाश्रित अनेक गुणों का द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से एक हि पदार्थ का

आश्रय करने का स्वरूप एक होनेसे उन सभी गुणों में अभेद होता है तो भी द्रव्यार्थिकनय गौण होनेपर और पर्यायार्थिकनय मुख्य होनेपर एकपदार्थाश्रित अनेक गुणों में अभेद की सिद्धि नहीं होती; किंतु भेद की हि सिद्धि होती है; क्यों कि अनेक गुणों में से प्रत्येक गुण का स्वरूप स्वभिन्न अन्य गुण के स्वरूप से भिन्न होता है और उन गुणों के स्वरूप में भेद नहीं होता ऐसा माननेसे उनकी परस्पर भिन्नता का अभाव हो जाता है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चार गुण पुद्गलाश्रित हैं। ये सभी गुण द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से परस्परभिन्न नहीं होते, अपि तु अभिन्न होते हैं; क्यों कि पुद्गल का आश्रय करने का उनका स्वभाव एक हि होता है। द्रव्यार्थिकनय की गौणता होनेपर और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होनेपर उन गुणों में अभेद की सिद्धि नहीं होती; क्यों कि चारों गुणों का स्वभाव एक नहीं होता--भिन्न होता है। यदि इन चारों गुणों का स्वरूप एक होता तो उनमें होनेवाले भेद का अभाव हो जाता और उनकी चार यह संख्या नहीं बन पाती। अतः पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होनेपर एकद्रव्याश्रित अनेक गुणों में स्वरूप की दृष्टि से अभेद सिद्ध नहीं होता। (३) अक्रमभाविपर्यायरूप अनेक गुणों का आश्रयभूत एक पदार्थ की दृष्टि से भी उन अनेक गुणों में अभेद की सिद्धि नहीं होती; क्यों कि गुणों की अनेकता के कारण उनके आश्रयभूत पदार्थ का भी अनेकरूपत्व सिद्ध हो जाता है। गुणों में भेद होनेसे उनके आश्रयभूत गुणी का--पदार्थ का भी भेद हो जाता है। एक समय में एक हि गुणरूप अक्रमभाविपर्याय होती है। एक पदार्थ में अनेक गुण होनेसे अक्रमभाविपर्यायें भी अनेक होती हैं। अक्रमभाविपर्यायों की अनेकता के कारण गुणाश्रयभूत पदार्थ की भी अनेकता सिद्ध हो जाती है। जब गुणाश्रयभूत पदार्थ की अनेकता पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से सिद्ध होती है तब पदार्थ की दृष्टि से पदार्थ के गुणों मे अभेद की सिद्धि होना असंभव है। यदि गुणाश्रयभूत पदार्थ की अनेकता नहीं होती ऐसा माना तो पदार्थ का अनेक गुणो का आश्रय होनेमे विरोध उपस्थित होता है। यद्यपि आम्लरसगुणयुक्त कच्चे आम में और मधुररसगुणयुक्त पके हुए आम मे एकत्वप्रत्यभिज्ञान से एकत्व की सिद्धि हो जाती है अथवा द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से उभयावस्थापन्न आम का अभिन्नत्व--एकत्व सिद्ध हो जाता है तो भी आम्लरसगुणयुक्त आम्रफल से मधुररसगुणयुक्त पके हुए आम्रफल का पर्यायार्थिकनय की दृष्टि मे भिन्नत्व सिद्ध हो जाता है। यदि भिन्नभिन्न रसगुणों से युक्त आम्रफल में कथंचित् भी भेद नही होता अर्थात् सर्वथा अभेद हि होता है ऐसा माना तो कच्चे आम्रफल मे और पके हुए आम्रफल में सर्वथा अभेद की सिद्धि हो जानेसे आम्लरसगुण से मधुररसगुण के भेद का अभाव सिद्ध हो जायगा और आम्रफल का नानागुणाश्रयत्व भी चला जायगा, जिससे यह आम कच्चा है और यह पका हुआ है यह व्यवहार भी नहीं रहेगा। अतः रसगुण के भेद के कारण उन भिन्न रसों के आश्रय मे भी भिन्नता होती है इस अभिप्राय को स्वीकार करना होगा। अतः अर्थ की दृष्टि से भी नानागुणाश्रयभूत पदार्थ का द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से एकत्व सिद्ध हो जानेपर भी पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उस पदार्थ का जब अनेकत्व सिद्ध हो जाता है तब अनेक गुणो मे अर्थ की दृष्टि से अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती। (४) प्रत्येक पदार्थ अनेक या अनन्त गुणों का आश्रय होता है। द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से यद्यपि पदार्थ का एकत्व होता है तो भी पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से पदार्थाश्रित जितने गुण होते हैं उतने उसके भेद होते हैं। एक गुण के आश्रयभूत पदार्थ का भेद दूसरे गुण के आश्रयभूत पदार्थ के भेद से पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से भिन्न होता है। पदार्थ का भेद और तदाश्रित गुण इन में तादात्म्यसंबंध होता है। पदार्थ का भेद और तदाश्रित गुण ये दोनों संबंधी हैं। पदार्थ के जितने भेद होते हैं और तदाश्रित जितने गुण होते हैं उतने हि संबंधी होते हैं। पदार्थ के भेदों में परस्परभिन्नत्व होनेसे और तदाश्रित गुणो में व्यवहारनय की दृष्टि से भेद होनेसे एक संबंधियुगल से अन्य संबंधियुगल का भेद होता है। संबंधियुगलो में परस्पर भेद होनेसे उनमें होनेवाले संबंधो मे भी भेद होता है। संबंधियो में भेद होनेसे संबंधों में भेद होनेके कारण संबंधो अनेक होनेसे एक पदार्थ में एक हि संबंध का सद्भाव घटित न होनेसे अर्थात् अनेक संबंधो का सद्भाव घटित होनेके कारण एकपदार्थाश्रित अनेक गुणों में अभेद की सिद्धि घटित नहीं होती। आम्रफलरूप पदार्थ एक होनेपर भी जिसके साथ आम्लरसगुण का तादात्म्य होता है वह आम्रफल की अवस्था और आम्लरसगुण ये दो संबंधी और जिसके साथ मधुररसगुण का तादात्म्य होता

है वह आम्रफल की अवस्था और मधुररसगुण ये दो संबंधी इनमें परस्पर भिन्नता होती है। इन संबंधियुगलों में परस्पर भिन्नता होनेसे उन युगलों में होनेवाले तादात्म्यस्वरूप संबंधों में भिन्नता होती है। अतः अनेक संबंधियों के कारण एक आम्रफल में होनेवाले संबंधों का एकत्व सिद्ध न होनेसे आम्रफल के आम्लरसगुण और मधुररसगुण इनमें अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती। यहां संबंधों की विभिन्नता–अनेकता पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से सिद्ध की गयी है। (५) गुणों की अपनी विशेषता से–अपने विशेष स्वरूप से अपने आश्रयभूत पदार्थ को युक्त करनाहि पदार्थ का गुणकृत उपकार है। एक पदार्थ में अनेक–अनंत गुण होते हैं। प्रत्येक गुण अपने आश्रयभूत पदार्थ को अपने स्वरूप से युक्त बनाकर उस पदार्थ का उपकार करता है। प्रत्येक गुण का स्वरूप निश्चित होनेसे उस गुण के द्वारा किया जानेवाला उपकार भी निश्चितस्वरूपवाला होता है। भिन्न भिन्न गुणों के द्वारा किये जानेवाले उपकार निश्चितस्वरूपवाले होनेसे अन्योन्यव्यावर्तक होनेके कारण परस्पर भिन्न होनेसे अनेक होनेके कारण पदार्थ का उपकार करनेवाले गुणों में भेद की सिद्धि हो जाती है। जब कच्चे आम को आम्लरसगुण अपने स्वरूप से युक्त करता है और मधुररसगुण कालान्तर में उसी आम्रफल को अपने स्वरूप से युक्त करता है–व्याप्त करता है तब आम्रफल क्रमसे खट्टा और मीठा कहा जाता है। आम्लरसगुणकृत उपकार और मधुररसगुणकृत उपकार में परस्पर भेद होता है। यदि उपकारों में भेद न हुआ तो 'खट्टा आम' 'मीठा आम' ये आम की अवस्थाएं मिट जायगी। अतः विभिन्नगुणकृत उपकारों में भेद होनेसे एक पदार्थ के गुणों में भेद की सिद्धि हो जाती है। (६) गुणों के भेद से हि पदार्थों में भेद पाया जाता है; क्यों कि गुण हि पदार्थों की अन्योन्यविभिन्नता का कारण होते हैं। अतः गुणी-अनेकगुणाश्रितपदार्थ की द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से एकता होनेपर भी पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से पदार्थ जितने गुणों का आश्रय होता है उतने हि उसके भेद हो जाते हैं। आम्रफल के सभी प्रदेश आम्लरसगुण से युक्त होनेसे कच्चा आम पके हुए आम्रफल से भिन्न होता है; क्यों कि पके हुए आम्रफल के सभी प्रदेश मधुररसगुण से युक्त होते हैं। आम्लरसगुण और मधुररसगुण परस्पर भिन्न होनेसे उनके आश्रयभूत आम्रफल में वह द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से एक होनेपर भी विभिन्नता होती है। अतः गुणों के भेद के कारण द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से पदार्थ का एकत्व निर्बाध होनेपर भी पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उस पदार्थ मे भेदो की सिद्धि होती है। अतः पदार्थ के जितने गुण होते हैं उतने उसके भेद हो जानेसे उनके भेदो से गुणों मे भी भेद की सिद्धि हो जानेसे एकद्रव्याश्रित गुणों मे अभेद की सिद्धि नहीं होती। यदि गुणों के भेद होनेपर गुणिदेश मे अभेद हि माना तो ज्ञानगुण और स्पर्शादिगुण परस्परभिन्न होनेपर भी तदाश्रयभूत पदार्थो में अभेद की सिद्धि हो जायगी अर्थात् जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य इनमे अभेद की अर्थात् एकद्रव्यत्व की सिद्धि हो जायगी। किंतु जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य एकरूप नहीं हैं; क्यों कि उनके असाधारणधर्म–गुण परस्परव्यावर्तक हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवरूप गुणी और पुद्गलरूप गुणी परस्पर भिन्न होनेसे उनके गुणों की विभिन्नता सिद्ध हो जाती है। अतः प्रत्येक गुण के गुणिदेश भिन्न होनेसे एक पदार्थाश्रित अनंत गुणों मे गुणिदेश की दृष्टि से अभेद की सिद्धि नहीं होती। (७) दो विभिन्न पदार्थों मे संयोग होता है उसे संसर्ग कहते हैं। गुण और गुणी इन मे तथा परिणाम और परिणामी इन मे यद्यपि द्रव्यार्थिक या निश्चयनय की दृष्टि से अभेद होता है तो भी पर्यायार्थिक नय की या व्यवहारनय की दृष्टि से भेद होता है। व्यवहारनय की दृष्टि से उनमें भेद होनेसे उनका अर्थात् परिणाम और परिणामी का तथा गुण और गुणी का जो सबंध होता है वह संयोगरूप–संसर्गरूप होता है। परिणाम और परिणामी ये दोनों और गुण और गुणी ये दोनों संसर्गी हैं। गुणी के जितने भी गुण होते हैं वे संसर्गी हैं। गुणरूप संसर्गी के भेद से गुण और गुणी के सभी संसर्ग भिन्न होते हैं। यदि गुणों में भेद न होता तो संसर्गों मे भी भेद न होता। प्रतिसमय पदार्थ की पर्याय-प परिणति होती है। उस पर्याय के साथ गुण का संसर्ग होता है। अतः द्रव्य की प्रत्येक पर्यायरूप संसर्गी और गुणरूप संसर्गी स्वभिन्न संसर्गियुगल से भिन्न होता है। अतः संसर्गिभेद से संसर्ग भेद कि सिद्धि हो जाती है। संसर्गभेद के कारण गुणों में अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती। दण्डग्रहणकाल में होनेवाली देवदत्त की पर्याय और दण्ड इन में जो संसर्ग होता है वह छत्रग्रहणकाल में होनेवाली देवदत्त की पर्याय और छत्र इनमें होनेवाले संसर्ग

से भिन्न होनेसे दण्ड और छत्र इन में जिसप्रकार अभेद सिद्ध नहीं होता उसीप्रकार संसर्गभेद के कारण पदार्थ के अनेक गुणों में अभेद नहीं हो सकता। (८) वाच्यभूत अर्थ अनेक और भिन्न होनेसे उनके वाचक शब्द अनेक और भिन्न होते हैं। एक पदार्थगत अनेक वाच्यभूत धर्मों के वाचक शब्द अनेक और भिन्नभिन्न होते हैं। धर्मों के वाचक शब्द भिन्नभिन्न होनेसे अर्थात् एक शब्द के द्वारा वाच्य न होनेसे शब्द की दृष्टि से भी एकपदार्थाश्रित धर्मों में–गुणों मे अभेद कि सिद्धि नहीं होती। यदि एकपदार्थाश्रित अनन्तधर्मों का वाचक एक हि शब्द होता है ऐसा माना गया तो सभी पदार्थों का वाचक एक हि शब्द होनेकी आपत्ति उपस्थित हो जानेसे अन्य शब्दों की विफलता होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसप्रकार अर्थात् व्यवहारनय की या पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से अस्तित्वादिधर्मों का एक वस्तु में अभेदरूप से आश्रित होकर रहना असंभव होनेसे कालादि की दृष्टि से भिन्नस्वरूप होनेवाले धर्मों में अभेद का उपचार किया जाता है अर्थात् 'इनमें भेद नहीं होता है' ऐसा उपचार से कहा जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से या निश्चयनय की दृष्टि से पदार्थाश्रित अनन्त धर्मों में और पदार्थ और उसके अनन्त धर्मों में अभेद होता है और पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से या व्यवहारनय की दृष्टि से उनमें भेद होता है। जब पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से अनन्त गुणों में, और गुण और गुणी में भेद की प्रधानता होती है तब अभेद का उपचार किया जाता है।

अध्यात्मशास्त्र में काललब्धि का अर्थ–

'कोऽसौ भावः कश्च मोक्षः?' इति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह–भावः स तु अत्र विवक्षितः कर्मावृतसंसारिजीवस्य क्षायोपशमिकज्ञानविकल्परूपः। स चानादिमोहोदयवशेन रागद्वेषमोहरूपेण शुद्धो भवतीति। इदानीं तस्य भावस्य मोक्षः कथ्यते। यदायं जीवः आगमभाषया कालादिलब्धिरूपं अध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते तदा प्रथमतस्तावन्मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनामुपशमेन क्षयोपशमेन च सरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिरूपेण पराश्रितधर्म्यध्यानबहिरङ्गसहकारित्वेन 'अनन्तज्ञानादिस्वरूपोऽहम्' इत्यादिभावनास्वरूपमात्माश्रितं धर्म्यध्यानं प्राप्य आगमकथितक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टयमध्ये क्वापि गुणस्थाने दर्शनमोहक्षयेण क्षायिकसम्यक्त्वं कृत्वा तदनन्तरमपूर्वादिगुणस्थानेषु प्रकृतिपुरुषनिर्मलविवेकज्योतीरूपप्रथमशुक्लध्यानमनुभूय रागद्वेषरूपचारित्रमोहोदयाभावेन निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिरूपं चारित्रमोहविध्वंसनसमर्थं वीतरागचारित्रं प्राप्य मोहक्षपणं कृत्वा मोहक्षयानन्तरं क्षीणकषायगुणस्थानेऽन्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा द्वितीयशुक्लध्यानेन ज्ञानदर्शनावरणान्तरायकर्मत्रयं युगपदन्त्यसमये निर्मूल्य केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपं भावमोक्षं प्राप्नोति इति भावार्थः। [पञ्चा., गा. १५०–१५१, ता. वृ. टी., नि. सा. सं., पृ. २१७–२१८]

'यह भाव क्या है और मोक्ष क्या है?' ऐसा प्रश्न होनेपर प्रत्युत्तर देते हैं कि–यहांपर वह भाव विवक्षित है जो कि कर्मों से आवृत संसारिजीव के क्षायोपशमिकज्ञान का भेदरूप होता है। वह क्षायोपशमिकज्ञान का भेदरूप भाव अनादिकाल से जीवद्रव्य के साथ संश्लिष्ट–बद्ध हुए द्रव्यकर्मरूप मोह के उदय के कारण राग–द्वेष–मोहरूप विभावपरिणामो के रूप से अशुद्ध हो जाता है। अब उस भाव के अर्थात् विभावात्मक अशुद्धभाव के विनाश का स्वरूप कहते हं। जब यह जीव आगमभाषा में काललब्धिरूप और अध्यात्मशास्त्र की भाषा में शुद्ध आत्मा के अभिमुख बने हुए उस जीव के परिणामस्वरूप स्वसंवेदनज्ञान की प्राप्ति कर लेता है तब पहले मिथ्यात्वादिसप्तक अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम से और क्षयोपशम से सरागसम्यग्दृष्टि होकर पंचपरमेष्ठियों की भक्ति आदि के रूप से परविषयके धर्म्यध्यानरूप बहिरंग के सहकारित्व से–निमित्तता से 'मैं अनन्तज्ञानादिरूप हूं' इत्यादि प्रकार की भावना के स्वरूप आत्मसंबंधिधर्म्यज्ञान की प्राप्ति कर आगम में कहे गये क्रम से असंयतसम्यग्दृष्टि, एकदेशविरत, प्रमत्तसंयत और

अप्रमत्तसंयत इन चारों गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में दर्शनमोह के क्षय के कारण क्षायिक सम्यक्त्व के रूप से परिणत होकर बाद में अपूर्वकरणादिसंज्ञक गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियां और आत्मा इनमें होनेवाली भिन्नता का निर्मलज्ञानरूप प्रथम शुक्लध्यान का अनुभव कर रागद्वेषरूपचारित्रमोहसंज्ञक द्रव्यकर्म की उदयरूप परिणति का अभाव होनेसे विकारशून्य अत एव शुद्ध ऐसी आत्मा की अनुभूतिरूप, चारित्रमोहनीयसंज्ञक द्रव्यकर्म का नाश करनेमें समर्थ ऐसे वीतरागचारित्र को प्राप्त कर मोह का क्षय करनेके बाद क्षीणकषायसंज्ञक बारहवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्तकालतक स्थिरता को प्राप्त होकर द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का क्षीणकषायसंज्ञक गुणस्थान के अन्त्यसमय में युगपत् नाश करके केवलज्ञानादिरूप अनन्तचतुष्टयात्मक भावमोक्ष की प्राप्ति कर लेता है ऐसा भावार्थ है।

इस उद्धृत प्रमाण से काललब्धि के स्वरूप के साथ साथ अन्य ज्ञातव्य बातों का ज्ञान हो जाता है।-१) आगम की भाषा में जिसे काललब्धि कहते हैं उसे अध्यात्म की भाषामें शुद्ध आत्मा के अभिमुख होनेवाले जीवपरिणाम कहते है। वह काललब्धि स्वसंवेदनरूप है। अतः काललब्धि का अर्थ है जीव के शुद्धात्मस्वरूपाभिमुख परिणाम--स्वसंवेदन। इसलिए काललब्धि का किसी विशिष्ट काल से संबंध अभिप्रेत है ऐसा नहीं है। काललब्धिशब्द में पाया जाने-वाला लब्धिशब्द क्षायोपशमिकभाव का ज्ञापक नहीं है। यहां उसका 'प्राप्ति' ऐसा अर्थ है। लब्धिशब्द के इस अर्थ को देखकर कालशब्द का वर्तनालक्षण काल से कोई संबंध होगा ऐसा नहीं लगता। उस शब्द का ऊपर जो अर्थ दिया गया है उसमें भी वर्तनालक्षण काल का किंचिन्मात्र भी उल्लेख नहीं पाया जाता। कालशब्द 'कल्' धातु से बना हुआ है। इस धातु का अर्थ 'विचार करना' ऐसा भी पाया जाता है। अतः कालशब्द का अर्थ 'विचार, मानसपरि-णति' ऐसा होना चाहये। इससे काललब्धि का अर्थ 'मानसपरिणामों की प्राप्ति' ऐसा होता है। सम्यग्दर्शनादिरूप मानस परिणाम को शुद्धि कहा है यह इस से पहले हि बता दिया है। काललब्धि का अर्थ रत्नत्रय की--स्वसंवेदन की प्राप्ति ऐसा अर्थ निकल आता है और वह टीकाकार के अभिप्राय से मिलता भी है। जीव की विचारात्मक परि-णति अनादिकाल से होती आयी है। अतः यहां परिणाम विशिष्टपरिणाम के स्वरूप से अभिप्रेत है। और वह जीव की शुद्धात्माभिमुख परिणति है। इस शुद्धात्माभिमुख परिणति का हि नाम भेदज्ञान या सम्यक्त्व है। अतः काल-लब्धि का अर्थ स्वसंवेदन होनेसे उससे वर्तनालक्षण विशिष्ट काल का ग्रहण करना आवश्यक नहीं जचता। २) इस स्वसंवेदन से जीव औपशमिकभावरूप या क्षायोपशमिकभावरूप सरागसम्यक्त्व के रूप से परिणत होता है। ३) सरागसम्यक्त्वी की अवस्था में वह पंचपरमेष्ठियों को अपने धर्म्यध्यान का विषय बनाता है। पंचपरमेष्ठी ध्याता की आत्मा से भिन्न होनेसे परविषयरूप हैं। ४) इस परविषयकधर्म्यध्यान के निमित्त से--साधन से आत्मविषयक धर्म्यध्यान की प्राप्ति कर लेता है; क्यों कि प्रथम शुक्लध्यान के बाद उसके सहारेसे 'मैं अनंतज्ञानादिरूप हूं' इस प्रकार के विचार को अपना ध्येय बनाकर अपने स्वरूप का ध्यान कराता है। ५) इसप्रकार के ध्यान के द्वारा चौथे से सातवेंतक के किसी एक गुणस्थान में दर्शनमोहनीयकर्म का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व के रूप से परिणत होता है। ६) आठवां, नववा और दसवां इन गुणस्थानों में चौथे गुणस्थान की प्राप्ति के समय कर्मप्रकृतियां और आत्मा इनके भेद का ज्ञानरूप जो भेदज्ञान होता हैं उसको निर्मल करता है। प्रथम शुक्लध्यान भेदज्ञान की जो निर्मलता होती है उसरूप हि होता है। ७) प्रथम शुक्लध्यान से रागसंज्ञक और द्वेषसंज्ञक चारित्रमोहनीय के उदय का अभाव हो जाता है और चारित्रमोहनीय के उदय के अभाव से आत्मा विकारशून्य बन जाती है। उस विकारशून्यता से जीव शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करता है। यह शुद्ध आत्मा की अनुभूति हि वीतरागचारित्र है। यह वीतरागचारित्र चारित्रमोह का नाश करनेमें समर्थ होता है। ८) वीतरागचारित्र से मोह का क्षय करनेके बाद बारहवें गुणस्थान में जीव स्थिर रहता है और द्वितीय शुक्लध्यान में मग्न होता है। इस द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा वह जीव ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का क्षीणकषायनामक बारहवें गुणस्थान के अन्त्यसमय में युग-पत् नाश करता है। ९) इन घातिकर्मों का नाश होते हि केवलज्ञानादिरूप अनन्तचतुष्टयात्मक भावमोक्ष की उसे प्राप्ति हो जाती है।

अथ सूत्रावतारः– (अब गाथासूत्र का प्रारंभ–)

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

वन्दित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान् ।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदमो श्रुतकेवलिभणितम् ॥१॥

अन्वयार्थ– (ओ) हे भव्यजीवो ! (**ध्रुवां**) शुद्धस्वभावात्मकपरिणतिरूप होनेसे शुद्धद्रव्य कनय की दृष्टि से अविनश्वर, (**अचलां**) स्वस्वभावप्रच्यावक द्रव्य मोंदयात्मक निमित्त का अ होनेसे और परमोत्कृष्टसामर्थ्य से युक्त होनेसे अचल अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप में स्थिर (**अनौपम्यां**) परमोत्कृष्टज्ञान का अन्यत्र संसारी जीव में सादृश्य पाया न जानेसे उपमानर ऐसी (**गतिं**) अवस्थाविशेष को (**प्राप्तान्**) प्राप्त हुए अर्थात् उक्त विशेषों से युक्त अवस्था के से परिणत हुए (**सर्वसिद्धान्**) सभी सिद्धों को (**वंदित्वा**) वदन–नमस्कार करके (**श्रुतकेवलिभणित** द्रव्यश्रुतपारगत और भावश्रुतसपन्न होनेसे आत्मानुभव करनेवाले श्रुतकेवलियों के द्वारा अथवा ग धरदेवों के द्वारा प्रतिपादित (**इदं**) यह (**समयप्राभृतं**) आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए शुद्धा स्वरूप के ज्ञान से परिपूर्ण ऐसे समयप्राभृत को (**वक्ष्यामि**) कहूगा ।

आ. ख्या.– अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलम्बमानामनादिभावान्तरपरपरिवृत्तिविश्रान्तिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमानौपम्यामपवर्गसञ्ज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिच्छन्दस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ।

त. प्र.– अथेति माङ्गल्यार्थे प्रारम्भार्थे च । ध्रुवामचलामनौपम्यां चेति त्रीणि गतिविशेषणानि । तत्र यथाक्रमं विशेषणत्रयस्पष्टीकरणं यथा– स्वभावभावभूततया–स्वः स्वकीयः शुद्धात्मनः भावः स्वरूपमस्यास्मिन्निति वा स्वभावः । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयः । स्वभावश्चासौ भावः परिणामश्च स्वभावभावः । तेन स्वरूपेण भूता उत्पन्ना प्रादुर्भूता स्वभावभावभूता । तस्याः भावः स्वभावभावभूतता । तया । शुद्धात्मद्रव्यशुद्धस्वभावयुक्तत्वेन प्रादुर्भूतत्वादित्यर्थः । ' उत्पत्तेः स्थितिव्ययद्वयसद्भावमन्तरेण, ध्रुवत्वस्योत्पत्तिव्ययद्वयमन्तरेण, व्ययस्य चोत्पत्तिध्रुवत्वद्वयमन्तरेणासम्भवात्कथमस्याः अपवर्गसञ्ज्ञिकायाः अवस्थापरपर्यायायाः गतेर्ध्रुवत्वम् ? ' इति चेत्, तस्याः उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकतायामपि जीवद्रव्यस्यानादिनिधनत्वात्तस्यां चावस्थायां कर्मणां प्रक्षीणत्वाच्छुद्धात्मस्वभावप्रच्यावककर्मोदयादिरूपनिमित्तकारणस्यासम्भवात्तस्याः अविनश्वरत्वादिति ब्रूमः । द्रव्यार्थिकनयस्य प्राधान्ये पर्यायार्थिकनयस्य च गौणत्वेऽस्याः अपवर्गसञ्ज्ञिकायाः गतेर्ध्रुवत्वमिति भावः । अनादिभावान्तरपरपरि-

वृत्तिविश्रान्तिवशेन—अन्ये शुद्धात्मपरिणामाद्भिन्नाः भावाः विभावात्मकाः परिणामाः भावान्तराणि । यद्वा अन्ये स्वरूपमेवात्मद्रव्याद्भिन्नाः पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपाः भावाः भावान्तराणि । एतेषाम-भावैर्जीवेनाऽमा बद्धत्वाद्विरचितत्वाच्चानादित्वम् । अनादिबद्धभावान्तररूपविभावात्मकाः परिणामाः एव पराः विपर्यस्ताः परिणतयः । तासां विश्रान्तिवशेन । विरमणादित्यर्थः । यद्वाऽनादेः जीवबद्ध-भावान्तररूप—पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मस्वरूपैः भावैः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामैः कृताः पराः विपर्य-स्तत्वाद्विभावरूपाः याः परिणतयः तासां विश्रान्तिवशेन । विरमणेनेत्यर्थः । अचलत्वमुपगताम्—शुद्ध-ज्ञानात्मके स्वरूपेऽचलत्वं स्थिरत्वमुपगतां प्राप्ताम् । अखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्य-मानौपम्यामपवर्गसञ्ज्ञिकां गतिमापन्नान्—शुद्धात्मस्वरूपप्राप्तिप्रादुर्भूतत्वादस्यां गतावात्मनो यन्महत्त्वं तदद्भुतं अन्यत्रोपमानभूते द्रव्येऽप्राप्यत्वाद्विलक्षणमसमाधारणमदृष्टपूर्वं लोकोत्तरं वा । निखिलोप-मानभूतद्रव्येष्वद्भुतमाहात्म्यस्यादर्शनाच्छुद्धावस्थापन्नजीवद्रव्ये एव तस्य सद्भावाल्लोकोत्तरत्वम-विद्यमानौपम्यत्वं च । गतिचतुष्टयस्यापवर्गसञ्ज्ञिकायाः गतेश्च नैमित्तिकभावसामान्यत्वेऽपि गति-चतुष्टयस्यौदयिकभावत्वात्तद्गतिपरिणतात्मन्यस्य शुद्धात्मस्वरूपानापन्नत्वादात्मस्वभावभूतज्ञानस्य विभा-वभावात्मकत्वेन परिणतत्वात्पारमार्थिकसुखासद्भावाद्दुःखरूपत्वाच्च न तेनौपम्यमपवर्गसञ्ज्ञिकायाः गतेः, तस्याः क्षायिकभावरूपत्वात्तद्गतिपरिणतात्मद्रव्यस्य शुद्धज्ञानघनैकस्वरूपापन्नत्वादात्मस्वभावभूत-ज्ञानस्य विभावभावात्मकत्वेनापरिणतत्वात्पारमार्थिकसुखसम्पन्नत्वाद्दुःखात्मकपरिणत्यसम्भवाच्चाप-वर्गसञ्ज्ञकगतिनारकादिगतीनामुपमानोपमेयभावस्यासम्भवात् । तासामुपमानोपमेयभावासम्भवादप-वर्गसञ्ज्ञिकायाः गतेरविद्यमानौपम्यत्वम् । गतिशब्दोऽवस्थावचनः । 'शुद्धात्मस्वभावोपलब्धिस्वरूपान-वधिपारमार्थिकसुखसम्पन्ना विभावभावात्मकपरिणतिविकलेयं गतिः किमर्थमपवर्गसञ्ज्ञामावहति ?' इति चेत्, द्रव्यकर्मभावकर्मापवर्जनात् । कर्मनोकर्मरूपपुद्गलपरिणामात्मकभावेभ्यो विभावभावेभ्यश्चापवर्जनात् 'भावेभ्योपवर्जनमपवर्गः' इति निरुक्तेर्मोक्षावस्थायाः अपवर्गसञ्ज्ञा भवतीति भावः । नास्त्यस्यात्मनो विशुद्धतमावस्थायां विभावभावानां द्रव्यकर्मात्मकानां पुद्गलोपादानकभावानां शरीरादिरूपाणां च नामकर्मोद्भवानां भावानां कथमपि सद्भावः । सिद्धत्वेन साध्यस्यास्यात्मनः प्रतिच्छन्दस्थानीयान्-सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिबिम्बसदृशत्वात्सिद्धात्मनां नैष तेभ्यो भिन्नः, शुद्धनिश्चयनयापेक्षया तस्य तत्स्वभाव-सदृशस्वभावत्वात् । अतस्तेषां सिद्धानां सिद्धत्वेन साध्येन मुमुक्षोर्भव्यस्यात्मना सदृशत्वात्तेषां ततः कथञ्चिदभिन्नत्वमिति भावः । ततो भव्यात्मनोऽशुद्धावस्थापन्नत्वेपि शुद्धावस्थावाप्तिर्नाशक्यानुष्ठाना । भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधाय—भावद्रव्यस्तवाभ्यां भावस्तवं द्रव्यस्तव च कर्तुमित्यर्थः । 'ध्वर्थवाचोऽर्थात्कर्मणि' इत्यप् । स्वात्मनि परात्मनि च निधाय संस्थाप्य । अनादिनिधनश्रुतप्रकाशित-त्वेन— श्रुतस्यानादिनिधनत्वं न द्रव्यश्रुतापेक्षया, अपि त्वनादिनिधनज्ञेयार्थस्वरूपप्रतिपादकत्वापेक्षया । अनेनानादिनिधनश्रुतेन प्रकटीकृतत्वेन । निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन— सपर्यायाखिल-ज्ञेयार्थं सकलप्रत्यक्षेण केवलिभगवान्साक्षात्करोतीति [युक्त्यागमप्रसिद्धम् । तादृक्सर्वज्ञप्रोक्तत्वेना-स्यागमस्य प्रामाण्यं सिद्धम् । श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिः अभिहितत्वात्-द्रव्यश्रुतपारङ्गतैर्भाव-श्रुतवद्भिः केवलिभिः द्रव्यभावश्रुतवत्त्वादाहितकेवलिसञ्ज्ञैः शुद्धात्मस्वरूपमनुभवद्भिः प्रतिपादितत्वात् । निखिलश्रुतसागरपारङ्गतश्रुतकेवलिभिरनुभवगोचरीकृतत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपस्यैतच्छास्त्रप्ररूपितशुद्धात्म-स्वरूपस्य याथात्म्यत्वादस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यमिति भावः । निखिलश्रुतपारावारपारीणत्वादनुभूतशुद्धा-

त्मस्वरूपत्वाच्च मुमुक्षोः श्रुतकेवलित्वं निर्बाधमवसेयम् । परिभाषणं स्पष्टीकरणमुपक्रम्यते प्रारभ्यते ।

टीकार्थ— शुद्ध आत्मा के शुद्धस्वरूप से युक्त परिणामरूप से उत्पन्न हुई होनेसे ध्रुवत्व का अवलंबन करनेवाली, अनादिकाल से शुद्धात्मस्वरूप से युक्त परिणाम से विभिन्न विभावात्मक परिणाम के रूप से परिणत होना विच्छिन्न हो गया होनेसे अथवा अनादिकाल से द्रव्यकर्मरूप अन्यपदार्थ के निमित्त से विपर्यस्त अर्थात् विभावरूप परिणाम के रूप से परिणत होना विच्छिन्न हो गया होनेसे अचलत्व को प्राप्त हुई अर्थात् अपने शुद्धस्वभाव में अचल अर्थात् स्थिर हुई, अखिल उपमानभूत पदार्थों में पाया न जानेसे विलक्षण ऐसे आश्चर्यावह माहात्म्य के कारण जिसका सादृश्य—साधारण धर्म अन्यत्र कहींपर भी पाया नहीं जाता ऐसी जो अपवर्ग नाम की द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म इन तीनों से रहित अवस्था के रूप से परिणत हुए, सिद्धस्वरूप से साध्य बनी हुई आत्मा के प्रतिबिंब-सदृश भगवान् सभी सिद्धों को भावस्तुति और द्रव्यस्तुति करनेके लिए अपनी आत्मा में और परकी आत्मा में स्थापित कर, अनाद्यनन्त श्रुत के द्वारा प्रकाशित किया जानेसे, संपूर्ण पदार्थों को उनके सभी पर्यायों के साथ सकल-प्रत्यक्ष के द्वारा जाननेवाले केवलिभगवान् के द्वारा प्रतिपादित किया गया होनेसे, द्रव्यश्रुतज्ञान से युक्त भावश्रुत के धारक होनेवाले होनेसे श्रुतकेवलिसंज्ञा को धारण करनेवाले और स्वय अनुभव करनेवाले जीवों के द्वारा प्रतिपादित किया जानेसे प्रमाणभूत बने हुए शुद्धात्मस्वरूप के प्रकाशक, प्राभृतसज्ञक, अर्हत्प्रवचन के अवयवभूत इस समयसार-प्राभृतनामक ग्रंथ का अपने और दूसरों के अनादि मोह का नाश करनेके लिए भावात्मक और द्रव्यात्मक वाणी के द्वारा स्पष्टीकरण करने के लिए आरंभ किया जाता है ।

विवेचन— इस गाथा में अपवर्गसंज्ञक गति के जो १) ध्रुवाम्, २) अचलाम् और ३) अनौपम्याम् ये तीन विशेषण दिये हुए हं और जिनका टीकाकार भगवान् अमृतचन्द्रसूरीश्वर ने स्पष्टीकरण भी किया है उनका स्पष्टीकर्ण किया जाता है । सबसे पहले अपवर्ग शब्द का वाच्यार्थ इस सदर्भ मे क्या है यह देखना अनुचित नहीं है । जीव की मोक्ष अवस्था का दूसरा नाम अपवर्ग है; क्यों कि मोक्ष अवस्था में विभावभावात्मक भावकर्मों का, विभावभावस्वरूप अशुद्ध जीव के परिणति के निमित्तभूत द्रव्यकर्मो का और नामकर्मजन्य शरीररूप नोकर्म का अभाव होता है । यह मोक्षावस्था शुद्ध आत्मा के शुद्ध स्वभाव से युक्त होती है और शुद्धस्वरूप से युक्त अवस्था अवस्थावान् शुद्ध आत्मा से अभिन्न होनेसे शुद्ध जीवद्रव्य अविनश्वर होनेसे अविनश्वर होती है । 'भावेभ्योऽपवर्जनमपवर्गः' ऐसी अपवर्गशब्द की निरुक्ति पायी जाती है । इस शब्द के प्रयोग के द्वारा आचार्यश्री न उस मोक्ष अवस्था मे भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म इनका अभाव बताया हे । इस शब्द के प्रयोग से इस गति का—अवस्था का—परिणाम का नारकादिगतिरूप अवस्थाओं से भेद की सिद्धि की गयी है । १) इस अवस्था के रूप से परिणत हुई शुद्ध आत्मा द्रव्यरूप होनेसे अविनश्वर होती है और आत्मा और शुद्धावस्था इनमे अभेद होनेसे और स्वभाव के विनाश के अर्थात् विभावरूप परिणति के निमित्तकारणभूत द्रव्यकर्म का अभाव होनेसे और अनंत सामर्थ्य का आविर्भाव और उसकी पूर्णता हो जानेसे उस अवस्था का ध्रुवत्व सिद्ध हो जाता है; फिर भले हि वह जीव या उसकी वह पर्याय उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक या परिणमनशील हो । अतः शुद्ध आत्मा की मोक्षावस्था का 'ध्रुवाम्' यह विशेषण यथार्थ है । २) मोक्ष अवस्था मे अनादिकाल से प्रादुर्भूत होनवाले विभावपरिणामो का और उनके निमित्तभूत द्रव्यकर्मों का अभाव होता है; क्यो कि विभावरूपपरिणति के निमित्तकारणभूत द्रव्यकर्मों का अनादि से चला आया संश्लेषरूप संबध का नाश-अभाव हो गया होता है । इसप्रकार द्रव्यकर्मों और भावकर्मों का अभाव हो जानेसे आत्मा मोक्ष अवस्था मे अपने स्वरूप मे स्थिर रहती हैं—अपने स्वरूप से कदापि च्युत नहीं होती । अपने स्वरूप से च्युत न होनेसे वह विभावावस्थारूप से परिणत नहीं होती । अत उस अपवर्गसज्ञक गति का 'अचलाम्' यह विशेषण सार्थ है । ३) मोक्षावस्था में जीव का ज्ञानगुण पूर्णतया अनावृत हो जानेसे वह परमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ होता है । उसके ज्ञान की परमोत्कृष्ट अवस्था सचमुचमे आश्चर्यावह होती है । जीव की संसारी अवस्था में किसी भी काल में ज्ञानगुण का यह परम उत्कर्ष पाया नहीं जाता । अत वह विलक्षण कहा जाता है । इस परमोत्कृष्ट अवस्था का सिद्ध जीव हि स्वामी होते

हैं, संसारी जीव नहीं। जब दो पदार्थों में किसी न किसी प्रकार से साधारण धर्म–सादृश्य पाया जाता है तब उन दो पदार्थों में उपमानोपमेयभाव घटित होता है। 'मुखं चन्द्रः इव' इस उपमा में मुख उपमेय है और चन्द्र उपमान है; क्यों कि इन दोनों में आनंददायकत्व यह साधारण धर्म पाया जाता है। अपवर्ग गति और चारों गतियाँ इनमें एक भी धर्म साधारणरूप से नहीं पाया जाता। इन गतियों के जिन धर्मों में साधारणता–सदृशता पायी जानी चाहिये वे धर्म उन गतियों में पाये जानेवाले असाधारण धर्म होने चाहिये। अस्तित्वादि सर्वसाधारणधर्मों के होते हुए भी उनमें से दो पदार्थों में उपमानोपमेयभाव कभी भी घटित नहीं होता। अन्य गतियों में जो ज्ञान, सुख आदि धर्म हैं वे इन्द्रियजन्य होनेसे मोक्षावस्था में पाये जानेवाले ज्ञानसुखादिकों के सदृश नहीं होते। मोक्षावस्था में पाये जानेवाले ज्ञानसुखादि परमोत्कृष्ट होनेसे और अन्य गतियों में पाये जानेवाले ज्ञानसुखादि परमोत्कृष्ट न होनेसे उन दोनों प्रकार की अवस्थाओं में सादृश्य न होनेसे उनमें उपमानोपमेयभाव घटित नहीं होता। मोक्षावस्था में पाये जानेवाले ज्ञानसुखादि परमोत्कृष्ट होनेसे और अन्य गतियों में न पाये जानेसे वे विलक्षण और अद्भुत होते हैं। इसी कारण से मोक्षावस्था अनुपम होती है। अतः उसका 'अनौपम्यां' यह विशेषण सार्थ है। परमोत्कृष्ट अवस्थावाले ये सिद्ध जीव मुमुक्षु आत्मा के प्रतिबिंब हुआ करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुमुक्षु जीव की आत्मा शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से सिद्धात्मा के सदृश होती है। संसारावस्था में यह सिर्फ कर्मावृत होती है। कर्म का आवरण नष्ट होते हि वह परमोत्कृष्ट अवस्था व्यक्त हो जाती है। जिसप्रकार मेघपटल हट जानेपर सूर्य का स्वाभाविक तेज प्रकट हो जाता है उसीप्रकार कर्मपटल दूर हटते हि जीव का परमोत्कृष्ट ज्ञानस्वभाव प्रकट हो जाता है। ग्रंथकार और टीकाकार आचार्य ग्रंथारंभ करनेके पूर्व काल में भावस्तुति और द्रव्यस्तुति करनेके लिए सिद्धों को अपनी आत्मा में और दूसरे की आत्मा मे प्रस्थापित करते हैं। इस ग्रंथ का प्रामाण्य सिद्ध करनेके लिए कुल तीन हेतु दिये गये हैं। द्रव्यश्रुत अनादिनिधन न होनेपर भी उसमें प्रतिपादित विषय अनादिनिधन होनेसे द्रव्यश्रुत का भी अनादिनिधनत्व सिद्ध हो जाता है। इस समयसार ग्रंथ में जिस विषयका प्रतिपादन किया गया है वह अनादिनिधन श्रुत के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अतः इस कारण से प्रकृत ग्रंथ का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। अनादिनिधन श्रुत के द्वारा जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है वह इस ग्रंथ का विषय बना हुआ है। इस विषय का प्रणयन सकल पदार्थों को उनके सकल पर्यायों के साथ सकलप्रत्यक्ष के द्वारा जाननेवाले केवलिभगवान् के द्वारा किया गया है। अतः इस ग्रंथ की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। द्रव्यश्रुतसागरपारंगत और भावश्रुतरूप से परिणत हुए श्रुतकेवली के द्वारा अनुभव करनेके बाद प्रतिपादित किया जानेसे इस ग्रंथ का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। केवलिप्रणीत होनेसे इस ग्रंथ का जो प्रामाण्य बताया गया है उसका कारण यह है कि उसका प्रणेता केवलिभगवान् सर्वदोषरहित, सर्वज्ञ और आगमेशी होते हैं और उसीकारण से वे आप्त कहे जाते हैं। आचार्य स्वामिसमन्तभद्र ने आप्त का लक्षण नीचेमुजब दिया है–

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥

आप्त को सर्व दोषरहित, सर्वज्ञ और आगमेशी नियतरूप से होना चाहिये; क्यों कि सर्वदोषरहितत्व, सर्वज्ञत्व और आगमेशित्व के विना आप्तता हो ही नहीं सकती। केवलिभगवान् सर्वदोषरहित, सर्वज्ञ और आगमेशी होते हि हैं। अतः उनके द्वारा प्रणीत होनेसे आगम की प्रमाणता सिद्ध होती है। यदि प्रणेता सर्वदोषरहित न हो तो उसके द्वारा मोक्षमार्ग का प्रणयन होना असंभव है। आचार्य श्रीविद्यानन्द ने कहा है–

मोहाक्रान्तान्न भवति गुरोर्मोक्षमार्गप्रणीति–
र्नर्ते तस्याः सकलकलुषध्वंसजा स्वात्मलब्धिः।
तस्यै वन्द्यः परगुरुरिह क्षीणमोहस्त्वमर्हन्!
साक्षात्कुर्वन्नमलकमिवाशेषतत्त्वानि नाथ!॥ [आ. प., श्लो. सं. १२१]

मोक्षमार्ग का प्रणयन मोहाकान्त—मोही गुरु से नहीं होता। उस मोक्षमार्ग के प्रणयन के बिना सकल दोषों के नाश से प्रादुर्भूत होनेवाली अपनी आत्मा की अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। उस शुद्धस्वरूप आत्मा की प्राप्ति के लिए हे अर्हन्! इस संसार में आप वंदनीय परम गुरु हैं; क्यों कि आप के संपूर्ण मोह का नाश हो गया है और हे नाथ! संपूर्ण पदार्थों के यथार्थ स्वरूपों को आप हि हस्ततलामलकवत् साक्षात् जाननेवाले हो।

केवलिभगवान् के द्वारा प्रतिपादित आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले होनेसे गणधरादि श्रुतकेवलियों के द्वारा प्रतिपादित किया जानेसे इस आगमग्रंथ की प्रमाणता सिद्ध हो जाती है।

ऐसे इस प्रमाणभूत ग्रंथ का प्रतिपादन और स्पष्टीकरण अपने और अन्य जीवों के साथ संश्लिष्ट हुए द्रव्य मोह का और तज्जनित भावमोह का नाश-अभाव करनेके लिये किया जाता है। यह ग्रंथ शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रकाशक है और प्राभृत यह उसकी संज्ञा है। समयप्राभृतशब्द का स्पष्टीकरण निम्नप्रकार से भी किया जा सकता है। 'समयेन शुद्धेन आत्मस्वरूपभूतेन ज्ञानेन प्रकर्षेणाराधनार्थं शुद्धात्मस्वरूपप्राप्त्यर्थं प्रकर्षेणाभ्रियते आपूर्यते इमेति समयप्राभृतम्।' शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति करनेके लिये ज्ञानस्वभावभूत ज्ञान से जो पूर्ण भरा हुआ है वह समयप्राभृत है।

जिसप्रकार संसारी जीव की चारों गतिरूप अवस्थाएं नैमित्तिकभावरूप होती हैं उसीप्रकार मोक्षरूप अवस्था भी नैमित्तिकभावरूप हि होती है; क्यों कि वह कर्म के क्षयरूप निमित्त से प्रादुर्भूत होती है। नैमित्तिक-भावरूप होनेपर भी स्वाभाविकभावरूप होनेसे, सपूर्णसामर्थ्यसपन्नावस्थारूप होनेसे और विभावपरिणाम के कारण-भूत कर्मरूप निमित्तों का अभाव होनेसे वह अवस्था अविनश्वर होती है। चारों गतिया कर्मोदयनिमित्तक होनेसे, विकलसामर्थ्यसपन्न होनेसे या केवज्ञानरूप सामर्थ्य से विकल होनेसे और वैभाविकभावरूप होनेसे विनश्वर होती हैं। अतः जीव की अपवर्गावस्था निरुपम है।

'वंदित्तु सव्वसिद्धे' इन पदो का आचार्यप्रवर अमृतचन्द्रसूरीश्वर ने 'भगवत. सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मन. प्रतिच्छन्दस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्या स्वात्मनि परात्मनि च निधाय' ऐसा स्पष्टीकरण किया है। अनादिकाल से ससार मे परिभ्रमण करते हुए जो पापबंध होता है वह भगवान् की स्तुतिमात्र से क्षणमात्र काल में क्षीण हो जाता है, जिसमे आत्मा की विशुद्धि होती है—सम्यक्त्व विकसित होता है। शास्त्रकारों ने जिनबिंब का दर्शन भी सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण माना है। स्तव भी आचार्यों की दृष्टि मे पापविनाशक है और परपरा से मोक्ष का भी कारण है। भक्तामर में लिखा है—

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्ध
पाप क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्॥

पाप के नाश से आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्धि होनेपर सविकल्प और निर्विकल्प समाधियों में जीव की स्थिरता होती है। इसमे सिद्धात्मा ध्येय बनती है और आगे आगे स्वात्मा भी अपने स्वरूप के रूप से ध्यान का विषय बनकर ध्येयरूप सिद्धात्मा के सदृश सिद्धात्मा बन जाती है। अतः सिद्धात्मा को अपने में स्थापित करनेके लिए उसका स्तव कारण होनेसे तद्वाचक पद की तृतीया विभक्ति में योजना की है।

ग्रंथकार आचार्य भगवान् श्रीकुन्दकुन्ददेव ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता की सिद्धि करने की कोशिस करने का खास कारण है। केवली भगवान् सकलार्थसाक्षात्कारी अर्थात् सर्वज्ञ होनेसे, गणधर और श्रुतकेवली आत्मस्वरूप का साक्षात् अनुभव करनेवाले होनेसे उनके द्वारा प्रतिपादित विषय की प्रामाणिकता सिद्ध हो जानेपर मुमुक्षु भव्यजीव उस विषय का अनुसरण करने लग जाते हैं और मोक्षफल की प्राप्ति कर ले सकते हैं। यदि यह

ग्रंथ मोहाक्रान्त अज्ञानी जीव के द्वारा प्रतिपादित किया गया होता तो भव्यों की दृष्टि में वह प्रमाणभूत नहीं बन पाता और उनके द्वारा ग्रंथोक्त विषय का अनुसरण भी किया जाना असंभव बन जाता। इसकी प्रामाणिकता के बारेमें किंचिन्मात्र भी संदेह का संभव न होनेसे यह ग्रंथ संपूर्ण भव्य जीवों को कल्याणप्रद है–उनका हित करनेवाला है ॥ १ ॥

तत्र तावत् समय एव अभिधीयते–

अब समय का अर्थात् समयविषयक प्रतिपादन किया जाता है–

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चारित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि ।
पुद्‌गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयं ॥ २ ॥

अन्वयार्थ– (**जीवः**) जो जीव (**चारित्रदर्शनज्ञानस्थितः**) चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित–आसक्त होता है अर्थात् विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध दर्शन जिसका स्वभाव होता है ऐसी अपनी परमात्मा की या उसके स्वभाव की निश्चलता से अनुभूति करता है, उसी में अपनी रुचि रखता है और रागादिरूप विभावों से रहित होकर उसका अनुभव करता है अथवा उसके दर्शन–ज्ञानचारित्र के ऐक्यात्मक स्वरूप में आरक्त रहता है–उसका अनुभव करता है (**तं**) उस जीव को (**हि**) परमार्थतः (**स्वसमयं**) स्वसमय (**जानीहि**) जान। (**पुद्‌गलकर्मप्रदेशस्थितं च**) और जो जीव निश्चयरत्नत्रय का उसमें अभाव होनेसे पुद्‌गलकर्म के उदयरूप निमित्त के द्वारा नियंत्रित जो नारकादि अवस्थाएं होती हैं उन में आरक्त होता है अर्थात् अपने परमात्मस्वरूप की ओर दृष्टिक्षेप भी नहीं करता (**तं**) उसे (**परसमयं**) परसमय (**जानीहि**) जान।

टिप्पनी– यहांपर 'स्थित' इस शब्द का सामान्य अर्थ 'आरक्त हुआ' ऐसा है। इस सामान्य अर्थ की दृष्टि से उसके (१) रुचि, (२) संवेदन और (३) अनुभवन ये तीन विशेष अर्थ लिए गए हैं। 'प्रदेश' इस शब्द का 'पर के द्वारा प्रवर्तित–उत्तेजित–प्रयोजित ऐसी जीव की अवस्था अर्थात् जीव के नारकादिपर्याय ऐसा लिया गया है।

आ. ख्या.– योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयाऽनुस्यूतः, चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिः, अनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः, क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्सङ्गितगुणपर्यायः, स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः, प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावात् असाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावात् चाकाशधर्माधर्मकालपुद्‌गलेभ्यो भिन्नः, अत्यन्तमनन्तद्रव्यसङ्करेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावः, जीवो नाम पदार्थः स समयः, 'समयते एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति च' इति निरुक्तेः। अयं खलु यदा सकलभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेक-

ज्योतिरवगमनात् समस्तपरद्रव्यात् प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्व-गतत्वेन वर्तते, तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात् स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमयः इति । यदा तु अनाद्यविद्याकन्दलीमूलकन्दायमानमोहानुवृत्तितन्त्रतया दृशिज्ञप्ति-स्वभावनियतवृत्तिरूपात् आत्मतत्त्वात् प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैक-(त्व-) गतत्वेन वर्तते, तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात् परं एकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च पर-समयः इति प्रतीयते । एवं किल समयस्य द्वैविध्यमुद्धावति ।

त. प्र.– वक्ष्यमाणविशेषणविशिष्टो जीवः समयः इत्यन्वयः । उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयाऽनुस्यूतः–जीवस्य ध्रुवत्वं द्रव्यार्थिकनयप्राधान्ये पर्यायार्थिकनयगौणत्वे चोत्पादव्ययात्मकत्वं च पर्यायार्थिकनयप्राधान्ये द्रव्यार्थिकनयगौणत्वे च सिध्यतः । तस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं परिणामस्वरूप-निबन्धनं, कूटस्थनित्यस्योत्पादव्ययासम्भवात्, सर्वथा क्षणिकस्य चान्वयासम्भवात् क्रमाक्रमप्रवर्तमान-परिणामासम्भवाद्ध्रौव्यात्मकद्रव्याभावेऽनुपादानकत्वादेकत्वप्रत्यभिज्ञानासम्भवाच्च । प्रातीतिकं च जीवस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं, पूर्वोत्तरावस्थात्यागोपादानलक्षणबालकुमारयुववृद्धावस्थानामिन्द्रिय–गोचरत्वात् । अतस्तस्य परिणामस्वभावत्वं निरारेकं सिध्यति, तद्बाधकप्रमाणासम्भवात् । सह प्रवर्त-मानानां गुणाख्यपर्यायाणां यावद्द्रव्यभावित्वाद्ध्रुवत्वाज्जीवस्य ध्रुवत्वं, क्रमेण प्रवर्तमानानां पर्याया-णामुत्पादव्ययात्मकत्वात्तस्योत्पादव्ययात्मकत्वम् । तथापि तस्यापरिणामित्वे प्रतीत्यतिलङ्घनम् । अत-स्तस्य परिणमनस्वभावत्वं सिध्यत्येव, तस्य परिणामात्मकस्वभावेऽवतिष्ठमानत्वात् । तेन स्वभावेन तादात्म्यापन्नत्वादिति भावः । परिणामात्मकस्वभावादभिन्नत्वादुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यपरिणतिलक्षणया सत्तयाऽनुस्यूतस्तादात्म्यमापन्नः । द्रव्यसत्तयोरभिन्नत्वाद्द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात्सत्ताया अप्यु-त्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं सिध्यति । 'अस्तित्वमात्रलक्षणायाः सत्तायाः कथमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमेक-त्वम् ? ' इति चेत्, उच्यते सत्तायाः भावरूपत्वाद्भाववतो द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात्तयोः सञ्ज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयनयेन कथञ्चिदभिन्नत्वात्सत्तायाः उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वमिति । अत्र सत्तास्वरूपं विव्रियते । तदुक्तममृतचन्द्रदेवैः–

अस्तित्वं हि सत्ता नाम सतो भावः सत्त्वम् । न सर्वथा नित्यतया सर्वथा क्षणिकतया वा विद्यमानमात्रं वस्तु । सर्वथा नित्यस्य वस्तुनस्तत्त्वतः क्रमभुवां भावानामभावात्कुतो विकारवत्त्वम् ? सर्वथा क्षणिकस्य च तत्त्वतः प्रतिज्ञानाभावात् कुतः एकसन्तानत्वम् ? ततः प्रत्यभिज्ञानहेतुभूतेन केनचित्स्वरूपेण ध्रौव्यमाल– (म्ब्य ?) म्बमानं काभ्याञ्चित्क्रमप्रवृत्ताभ्यां स्वरूपाभ्यां प्रलीयमानमुपजायमानं चैककालमेव परमार्थतस्त्रितयीमवस्थां बिभ्राणं वस्तु 'सत्' अवबोध्यम् । अत एव सत्तापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मिकाऽवबोद्धव्या, भावभाववतोः कथञ्चिदेकस्वरूपत्वात् । सा च त्रिलक्षणस्य समस्तस्यापि वस्तुविस्तारस्य सादृश्यसूचकत्वादेका सर्वपदार्थस्थिता च । सा च त्रिलक्षणस्य 'सत्' इत्यभिधानस्य 'सत' इति प्रत्ययस्य च सर्वपदार्थेषु तन्मूलस्यैवोपलम्भात् । सविश्वरूपा च । विश्वस्य समस्तवस्तु-विस्तारस्यापि रूपैस्त्रिलक्षणैः स्वभावैः सह वर्तमानत्वात् । अनन्तपर्याया च, अनन्ताभिर्द्रव्यपर्यायव्यक्तिभिस्त्रिलक्षणाभिः परिगम्यमानत्वात् । एवम्भूतापि सा न खलु निरङ्कुशा, किन्तु सप्रतिपक्षा । प्रतिपक्षो ह्यसत्ता सत्तायाः, अत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणायाः, अनेकत्वमेकस्याः, एकपदार्थस्थितत्वं सर्वपदार्थस्थितायाः, एकरूपत्वं सविश्वरूपायाः, एकपर्यायत्वमनन्त-पर्यायायाः इति । द्विविधा हि सत्ता महासत्ताऽवान्तरसत्ता च । तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्वसूचिका महासत्ता प्रोक्तैव । अन्या तु प्रतिनिय–(त ?) तवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता । तत्र महासत्ताऽवा-

न्तरसत्तारूपेणाऽसत्ताऽवान्तरसत्ता च महासत्तारूपेणाऽसत्तेत्यसत्ता सत्तायाः । येन स्वरूपेणोत्पादस्तत्तथोत्पादैकलक्षणमेव; येन स्वरूपेणोच्छेदस्तत्तथोच्छेदैकलक्षणमेव; येन स्वरूपेण ध्रौव्यं तत्तथा ध्रौव्यैकलक्षणमेव । तत उत्पद्यमानोच्छिद्यमानाऽवतिष्ठमानानां वस्तुनः स्वरूपाणां प्रत्येकं त्रैलक्षण्याभावादत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणायाः । एकस्य वस्तुनः स्वरूपसत्ता नान्यस्य वस्तुनः स्वरूपसत्ता भवतीत्यनेकत्वमेकस्याः, प्रतिनियतपदार्थस्थिताभिरेव सत्ताभिः पदार्थानां प्रतिनियमो भवतीत्येकपदार्थस्थितत्वं सर्वपदार्थस्थितायाः; प्रतिनियतैकरूपाभिरेव सत्ताभिः प्रतिनियतैकरूपत्वं वस्तूनां भवतीत्येकरूपत्वं सविश्वरूपायाः, प्रतिपर्यायनियताभिरेव सत्ताभिः प्रतिनियतैकपर्यायाणामानन्त्यं भवतीत्येकपर्यायत्वमनन्तपर्यायायाः । इति सर्वमनवद्यं, सामान्यविशेषप्ररूपणप्रवणनयद्वयायत्तत्वात्तद्देशनायाः ।। [पञ्चा., नि. सा सं., त. दी. टी., पृ. १९–२३.]

अयं जीवस्त्रिलक्षणायाः सत्तायाः द्रव्यार्थिकनयेन कथञ्चिदभिन्नः इति भावः । चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिः–चैतन्यं ज्ञानं स्वरूपं यस्य स चैतन्यस्वरूपः । तस्य भावश्चैतन्यस्वरूपत्वम् । तस्मात् । तस्मात्कारणादित्यर्थः । हेतौ का । नित्यं उदिते नित्योदिते विशदे विशुद्धे दृशिज्ञप्ती एव ज्योतिषि यस्य स नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिः । अत्र दृशिज्ञप्तिविशेषणभूतेन विशदशब्देन दर्शनज्ञानोपयोगयोः शुद्धत्वं प्रकटीकृतम् । एतावुपयोगौ जीवशुद्धगुणभूतावत्र विवक्षितौ । जीवोऽयं शुद्धः शुद्धचैतन्यस्वभावः । चेतना शुद्धाशुद्धस्वरूपेण द्विविधा । तथैव दर्शनोपयोगः ज्ञानोपयोगश्च प्रत्येकं शुद्धाशुद्धस्वरूपेण द्विविधः । ज्ञानानुभूतिलक्षणायाः शुद्धचेतनायाः, कर्मानुभूतिलक्षणायाः कर्मफलानुभूतिलक्षणायाश्चाशुद्धचेतनायाः, शुद्धचैतन्यस्वरूपानुविधायित्वाच्छुद्धो निर्विकल्परूपः शुद्धत्वेन साकल्यमादधानः शुद्धदर्शनोपयोगो यस्तस्य, तत एव शुद्धः सविकल्परूपः शुद्धत्वेन साकल्यमादधानो यो ज्ञानोपयोगस्तस्य, अशुद्धचैतन्यानुविधायित्वादशुद्धोऽशुद्धत्वेन वैकल्यमादधानो योऽशुद्धदर्शनोपयोगस्तस्य, तत एव चाशुद्धोऽशुद्धत्वेन वैकल्यमादधानो योऽशुद्धज्ञानोपयोगस्तस्य च शुद्धाशुद्धजीवगुणत्वं यथाक्रममवसेयम् । वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमनिमित्त आत्मस्वभावभूतचैतन्यानुविधाय्यात्मनः परिणामः ज्ञानोपयोगः । वीर्यान्तरायदर्शनावरणक्षयक्षयोपशमनिमित्तः आत्मस्वभावभूतचैतन्यानुविधाय्यात्मनः परिणामो दर्शनोपयोगः । उक्तं च भगवद्भिरमृतचन्द्रदेवैः पञ्चास्तिकायटीकायाम्–

गुणा हि जीवस्य ज्ञानानुभूतिलक्षणा शुद्धचेतना, कार्यानुभूतिलक्षणा कर्मफलानुभूतिलक्षणा चाशुद्धचेतना, चैतन्यानुविधायिपरिणामलक्षणः सविकल्पनिर्विकल्परूपः शुद्धाशुद्धतया सकलविकलता दधानः द्वेधोपयोगश्च ।

(नि. सा. स , पृ ३४–३६, त दी. टी.)

जीवस्य चैतन्यस्वभावत्वान्नित्याविर्भूतशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगः इति भाव । अनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः– अनन्तैर्धर्मैर्गुणैरधिरूढः आश्रितोऽनन्तधर्माधिरूढः । स चासावेको धर्मी च । तस्य भावः । तस्मात् । तस्माद्धेतोरित्यर्थः । हेतौ का । उद्योतमानमाविर्भवद्द्रव्यत्वं द्रव्यस्वभावः यस्य यस्मिन् वा । वस्तुस्वाभाव्यादनन्तधर्माधिष्ठितत्वेऽपि वस्तुनः एकधर्मित्वमव्याबाधं, दाहकत्वप्रकाशकत्वपाचकत्वादिविविधधर्माधिष्ठितधनञ्जयैकधर्मित्ववत् । अनन्तधर्माधिष्ठितैकधर्मित्वाद्द्रव्यस्यात्मनोऽपि तथात्वात्स आत्मा प्रकटीभवद्द्रव्यस्वभावः इति भावः । 'कः द्रव्यस्य स्वभावः ?' इति चेत्, उच्यते सत्त्वमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं गुणपर्यायवत्त्वं वा द्रव्यलक्षणमिति । द्रवति गच्छति सामान्यरूपेण स्वस्वभावेन व्याप्नोति सर्वान्स्वीयान्सहक्रमभाविनो गुणपर्यायानिति द्रव्यम् । द्रव्यस्य गुणपर्यायव्यापनक्रियायाः द्रव्यात्सर्वथा गुणपर्याययोर्भेदे सत्यसम्भवाद्द्रव्यात्तयोरभिन्नत्वाद्द्रव्यस्य गुणपर्यायवत्त्वम् ।

तथा चोक्तं 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इति। अत्र नित्ययोगे मतुः। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्,' 'सद्द्रव्यलक्षणम्' इति सूत्रद्वयेन सत्त्वमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं चेति द्रव्यस्य स्वरूपद्वितयमुक्तम्। 'त्रिविधद्रव्यलक्षणप्रणयनं किम्प्रयोजनम्?' इति चेत्, द्रव्यकौटस्थ्यवादिक्षणिकत्ववाद्याद्यभिमतद्रव्यलक्षणनिराकरणार्थमिति विज्ञेयम्। उक्तं च श्रीमद्भिर्जयसेनाचार्यैः–

सत्तालक्षणमित्युक्ते सत्युत्पादव्ययध्रौव्य-(त्व) लक्षणं गुणपर्यायत्वलक्षणं च नियमेन लभ्यते उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमित्युक्ते सत्तालक्षणं गुणपर्यायत्वलक्षणं च नियमेन लभ्यते गुणपर्यायवदित्युक्ते सत्युत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणत्वं सत्तालक्षणं च नियमेन लभ्यते। 'एकस्मिल्लक्षणेऽभिहिते सत्यन्यलक्षणद्वयं कथं लभ्यते?' इति चेत्, त्रयाणां लक्षणानां परस्पराविनाभावित्वादिति। अथ मिथ्यात्वरागादिविरहितत्वेन शुद्धसत्तालक्षणमगुरुलघुत्वषड्ढानिवृद्धिरूपेण शुद्धोत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणकृतज्ञानाद्यनन्तगुणलक्षणं सहजशुद्धसिद्धपर्यायलक्षणं च शुद्धजीवास्तिकायसञ्ज्ञं शुद्धजीवद्रव्यमुपादेयमिति भावार्थः। क्षणिकैकान्तरूपं बौद्धमतं नित्यैकान्तरूप साङ्ख्यमतमुभयैकान्तरूपं नैयायिकमतं मीमांसकमतं च सर्वत्र मतान्तरव्याख्यानकाले ज्ञातव्यम्। 'क्षणिकैकान्ते किं दूषणम्?' येन घटादिक्रिया प्रारब्धा स तस्मिन्नेव क्षणे गतः, क्रियानिष्पत्तिर्नास्ति, इत्यादि, नित्यैकान्ते च योऽसौ तिष्ठति स तिष्ठत्येव, सुखी सुख्येव, दुःखी दुःख्येव इत्यादि टङ्कोत्कीर्णनित्यत्वेन पर्यायान्तरं न घटते, परस्परनिरपेक्षद्रव्यपर्यायोभयैकान्ते पूर्वोक्तदूषणद्वयमपि प्राप्नोति। जैनमते पुनः परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायत्वान्नास्ति दूषणम्। [पञ्चा., नि. सा. सं., गा. १०, पृ. २५–२६]

क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्सङ्गितगुणपर्यायः– क्रमेण प्रवृत्ताः अक्रमेण सह प्रवृत्ताश्च क्रमाक्रमप्रवृत्ताः। विचित्राः नानाप्रकाराश्च ते भावाः पर्यायाः गुणाश्च विचित्रभावाः। क्रमाक्रमप्रवृत्ताश्च ते विचित्रभावाश्च क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावाः। सहक्रमप्रवृत्तगुणपर्यायात्मकनानाविधपरिणामाः इत्यर्थः। ते एव स्वभावाः यस्य सः। तस्य भावस्तत्ता। तस्मात्। तत कारणादित्यर्थः। उत्सङ्गिताः उररीकृताः गुणाः पर्यायाश्च येन स.। गुणानां सहभावित्वेऽपि निश्चयनयेन च गुणिनोऽभिन्नत्वेऽपि व्यवहारनयार्पणायां कथञ्चिदभिन्नत्वात्पर्यायित्वात्सहभाविपर्यायत्वम्। द्रव्यस्य गुणानां चोत्पादव्ययात्मकत्वाच्च पर्यायत्वम्। तेषां सर्वेषां पर्यायाणां युगपदभिव्यक्तिसम्भवः एकद्रव्यस्यैकस्मिन्समये एकपर्यायात्मकत्वेनैव परिणतिसम्भवात्। जीवद्रव्यस्यापि तथास्वभावत्वात्स्वीकृतगुणपर्यायत्वम्। स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः– स्वस्यात्मनः परस्य च स्वभिन्नानन्तज्ञेयार्थानामाकाराणामसाधारणव्यावर्तकधर्माणावमभासने ज्ञप्तिक्रियाया समर्थः शक्तिसंपन्नः स्वपराकारावभासनसमर्थः। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्मात्। ततः कारणादित्यर्थं। निखिलज्ञेयाकारपरिणत्यात्मकज्ञानपर्यायैरात्तनानाविधत्वेऽपि पर्यायिणो ज्ञानस्य सामान्येनैकरूपत्वात्तदाश्रयभूतजीवद्रव्यस्यैकरूपत्वं तस्य नानाविधत्वेऽपीति भावः। उपात्तमुररीकृतं वैश्वरूप्यं नानाविधत्वं येन स उपात्तवैश्वरूप्यः। एकमनेकत्वविकलं रूपं स्वरूपं यस्य सः। उपात्तवैश्वरूप्यश्चासावेकरूपश्चोपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः। ज्ञानसामान्यस्यैकरूपत्वात्तदाधारभूतस्य ज्ञानिनो जीवस्यैकरूपत्वेऽप्यनन्तज्ञेयाकारपरिणतज्ञानरूपज्ञानसामान्यपरिणामानां नानाविधत्वादात्मनोपि पर्यायार्थिकनयार्पणायामनेकरूपत्वापत्तेर्वैश्वरूप्यं तस्यैव च द्रव्यार्थिकनयप्राधान्ये पर्यायार्थिकस्य च गौणत्वे एकविधत्वादेकरूपत्वमिति भावः। प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नः– यथा जीवपुद्गलयोः प्रतिविशिष्टावगाहे आधारत्वादाकाशं निमित्तं भवति, तयोरेव गतिपरिणामाभिमुखयोर्गतिपरिणतौ सहकारित्वेन धर्मद्रव्यं निमित्तं भवति, तयोरेव स्थितिपरिणामामुखयोः स्थितिपरिणतौ सहकारित्वेन धर्मद्रव्यं निमित्तकारणं भवति, तयोरेव परिणामाभिमुखयोर्वर्तनाक्रियायां कालद्रव्यं निमित्तकारणं भवति

तथा जीवद्रव्यं स्वयमाधारीभूय जीवपुद्गलयोरवगाहस्याकाशद्रव्यवन्निमित्तं न भवति, तयोरेव गतिपरिणतौ स्थितिपरिणतौ च धर्माधर्मद्रव्यवत्सहकारित्वं प्राप्य निमित्तं न भवति, तयोरेव वर्तनाक्रियायां कालद्रव्यवन्निमित्तं न भवतीत्याकाशधर्माधर्मकालद्रव्यस्वभावानाश्रयणात्पुद्गलवद्रूपित्वाभावादसाधारणचैतन्यस्वभावत्वाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलद्रव्येभ्यो भिन्नः। अत्यन्तमनन्तद्रव्यसङ्करेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनाट्टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावः— भिन्नस्वभावैरनन्तैर्द्रव्यैरत्यन्तं सङ्करे सत्यपि दधिमिश्रितसितोपलवत्स्वीयचैतन्यस्वभावापरित्यागाट्टङ्कोत्कीर्णप्रस्तरपरिणामवदविनश्वरचैतन्यस्वभावः। एतादृशविशेषणविशिष्टो यो जीवाभिधानः पदार्थः स समय इत्यभिधीयते, समयते एकीभावेन स्वगुणपर्यायाभ्यामभिन्नत्वे तान्युगपत्समकालं जानात्यनुभवति गच्छति व्याप्नोति चेति निरुक्तेर्निर्वचनात्। अयं समयभूतो जीव. खलु यदा यस्मिन्काले सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्—सकलभावानां निखिलज्ञेयानां ये स्वभावास्तेषां भासने प्रकटीकरणे समर्थायाः शक्तिसम्पन्नायाः विद्यायाः केवलज्ञानस्य समुत्पादको जनको विवेको भेदज्ञानमेव ज्योतिर्भास्करस्तेजो वा तस्योद्गमनादुदयात्प्रादुर्भावाद्धेतोः समस्तपरद्रव्यान्निखिलात्मभिन्नद्रव्येभ्यः प्रच्युत्य पृथग्भूय दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन- दृशिर्दर्शनं ज्ञप्तिर्ज्ञानं च दृशिज्ञप्ती। ते एव स्वभावो दृशिज्ञप्तिस्वभावः। तत्र नियता नित्या निश्चला वृत्तिः स्थितिर्दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिः। सैव रूपं स्वभावो यस्य। तादृशमात्मतत्त्वमात्मस्वभाव.। तेन सह यदेकत्वमभिन्नत्वं तद्गतत्वेन तत्प्राप्तत्वेन यदा वर्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वाद्दर्शनादित्रितये स्थिरीभवनान्निश्चलीभवनात्स्वमात्मानमेकत्वेन दर्शनादित्रितयादभिन्नत्वेन युगपत्समकालं जानन्नेकत्वेन परिणममानश्च यः स स्वसमयः इत्यभिधीयते। यदा तु यस्मिन्काले च अनाद्यविद्याकन्दलीमूलकन्दायमानमोहानुवृत्तितन्त्रतया—अनाद्यविद्याऽनादिमिथ्यादर्शनादिविभावपरिणामात्मकमज्ञानम्। सैव कन्दली तरुविशेषः। तस्य मूलकन्दः तदुत्पत्तिस्थानभूतः कन्द वृक्षमूलं मूलकन्दः। स इवाचरतीति मूलकन्दायमानः। 'कर्तुः क्विः' इति गौणादाचारेऽर्थे क्विः। स चासौ मोहश्च। तदनुरूपा वृत्तिर्वर्तनं परिणमनम्। तत्तन्त्रया तत्प्रधानतया तत्कारणतया वा। 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' इति विश्वलोचने। अनादिमिथ्यादर्शनादिरूपाज्ञानात्मकविभावपरिणामरूपजीवपरिणामोत्पत्तौ निमित्तकारणभूतद्रव्यमोहोदयानुकूल्येन परिणतत्वादिति भावः। दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्—दृशिज्ञप्तिस्वभावे या नियता नित्या वृत्तिः स्थितिस्तद्रूपादात्मतत्त्वादात्मस्वभावात्प्रच्युत्य। आत्मस्वभावं विभावात्मकत्वेन परिणम्येत्यर्थः। परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकत्वगतत्वेन—परद्रव्यं पुद्गलोपादानकं द्रव्यकर्म प्रत्ययो निमित्तकारणं येषां ते परद्रव्यप्रत्ययाः। ते च ते मोहरागद्वेषादिभावाः मोहरागद्वेषसञ्ज्ञकाः अज्ञानिनो जीवस्य विभावात्मकाः भावाः परिणामाः तैरेकत्वमभिन्नत्वं गतत्वेन प्राप्तत्वेन। पुद्गलोपादानकपरद्रव्यभूतद्रव्यकर्मनिमित्तकारणकभावमोहरागद्वेषादिरूपविभावपरिणामेभ्योऽभिन्नत्वं प्राप्तत्वादिति भावः। वर्तते परिणमति तदा तस्मिन्काले पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्—पुद्गलस्योपादानभूतस्य कर्म परिणामः पुद्गकर्म। तेन निमित्तभूतेन कर्त्रा कृता उत्पादिता स्वपरिणामस्वरूपोदयेन सहायीभूय कुम्भकारेण घटवत्परिणामिताः। परिवर्तिता इत्यर्थः। पुद्गलकर्मणा कृताः प्रदेशाः सर्वात्मप्रदेशाः पुद्गलकर्मप्रदेशाः। 'भा तत्कृतयार्थेनोनैः' इति भान्तपुद्गलकर्मरूपार्थकृतस्वाद्भाष: सः। निमित्तकर्तृभूतेन द्रव्यकर्मणा परिवर्तिताः विभावात्मकत्वं प्रापिताः ये सर्वात्मप्रदेशास्तत्र स्थितत्वात्स्थिरीभवनात्। पौद्गलिकद्रव्यकर्मरूपनिमित्तकर्त्रा स्वभावात्प्रच्याव्य विभावभावे स्थिरीकृतत्वादिति भावः। मोहाक्रान्तासमर्थात्मापेक्षयेदं स्पष्टीकरणं ज्ञात-

ध्यम् । परं शुद्धात्मनो भिन्नं विभावभावात्मकं मिथ्यादर्शनादिरूपं परिणाममेकत्वेन जानन् तद्रूपेण परिणममानश्च द्रव्यकर्मनोकर्मादिकं च तेषाममात्मीयत्वेप्येकत्वेनात्मीयत्वेन जानन्परिच्छिन्दन् गच्छन्नधिगच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते । एवमनेन प्रकारेण किल समयस्य द्वैविध्यं द्विप्रकारत्वमुद्धावति प्रकटतामटति ।

टीकार्थ– नित्य हि अपने परिणामस्वरूप में स्थिर होनेवाला होनेके कारण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनकी एकता यह है स्वरूप जिसका ऐसी सत्ता के साथ तादात्म्यसबंध को प्राप्त हुआ, चैतन्यस्वभाववाला होनेसे जिसका दर्शनोपयोगरूप और ज्ञानोपयोगरूप तेज नित्य व्यक्त रहता है, अनन्त धर्मों से युक्त एकधर्मिरूप होनेसे जिसका द्रव्यत्व प्रकट हो रहा है, क्रम से उत्पन्न होनेवाली पर्यायें और जिसके साथ अनादिकाल से अनन्तकालतक रहनेवाले जो गुण उनरूप पर्याय स्वभावरूप होनेसे जिसने गुणों को और पर्यायों को अपनाया है–उनको अपना अर्थात् अपनेसे अभिन्न माना है, अपने असाधारण धर्म को और पर पदार्थों के असाधारण धर्मों को प्रकट करनेकी सामर्थ्य से युक्त होनेके कारण अनेकविधता को स्वीकार करनेवाला होनेपर भी जो एकरूप होता है, जीव और पुद्गलद्रव्यों के अवगाह का आधार बनकर आकाश के समान निमित्त न होनेसे, उनके गतिरूप परिणति में और स्थितिरूप परिणति में धर्म और अधर्म द्रव्य के समान सहकारिकारण न होनेसे, उनकी वर्तना मे–क्षणमात्रकालवर्तिपरिणाम की उत्पत्ति में कालद्रव्य के समान सहकारि-निमित्त न होनेसे और रूपिद्रव्य न होनेसे तथा असाधारणचिद्रूपतास्वभाववाला होनेसे जो आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल इन द्रव्यों से भिन्न होता है, अनन्त द्रव्यों के साथ आत्यन्तिकरूप से संकीर्ण होनेपर भी अपने स्वभाव से प्रच्युत न होनेके कारण जिसका चैतन्यस्वभाव टंकोत्कीर्ण के समान नित्य–अविनश्वर होता है ऐसा जो जीवनामक पदार्थ वह 'समय' है; क्यो कि समयशब्द की निरुक्ति 'जो अपने गुणों को और पर्यायों को अपनेसे अभिन्न जानता है और जो गुणो से युक्त होता है और पर्यायो के रूप से परिणत होता है वह समय है' इसप्रकार की है । यह जीव जब संपूर्ण पदार्थों के स्वभावों को प्रकट करनेकी सामर्थ्य से युक्त ऐसे केवलज्ञान का जनक जो भेदज्ञानरूप सूर्य अथवा तेज उसका उदय–प्रादुर्भाव हो जानेसे संपूर्ण परद्रव्यों से अलग होकर (शुद्ध) दर्शनोपयोगरूप और ज्ञानोपयोगरूप अपने स्वभाव मे निश्चलरूप से स्थिर होनारूप आत्मस्वभाव के साथ एकरूप अभिन्न होकर रहता है तब दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें स्थिर रहनेके कारण अपनेको दर्शनादि के साथ अभिन्नरूप से जाननेवाला और उन दर्शनादि के साथ अभेद को प्राप्त होनेवाला या परभावविकल्परूप से जाननेवाला और एकत्वरूप अवस्था के रूप से परिणत होनेवाला वह जीव स्वसमय है । वही जीव जब अनादि आस्रवरूप कंदली के–केलके उत्पत्तिस्थानभूत मूलकन्द का आचरण करनेवाला अर्थात् मिथ्यात्वादिरूप विभावभावात्मक परिणामों की उत्पत्ति का निमित्तकारणभूत जो मोह–द्रव्यमोह उसके अनुकूल अपनी परिणति की–विभावपरिणाम की प्रधानता से या कारणता से दर्शनज्ञानात्मकस्वभाव मे निश्चलरूप से स्थिर होनारूप आत्मस्वभाव से च्युत होकर –विभावभावरूप से परिणत होकर परद्रव्य के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोहरूप, रागरूप और द्वेषादिरूप विभावपरिणामों के साथ अभेद को प्राप्त होकर रहता है, तब पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्मरूप निमित्तकर्ता के द्वारा परिवर्तित अर्थात् विभावरूप से परिणत किए गये आत्मा के सभी प्रदेशों में अर्थात् विभावपरिणामों मे स्थित –स्थिर होनेके कारण विभावरूप परभाव को जो आत्मा से अभिन्न जानता है और उस रूप से परिणत होता है और द्रव्यकर्मनोकर्मों को युगपत् आत्मा के साथ एकरूप–आत्मा से अभिन्न अर्थात् आत्मरूप जानता है और उनको आत्मीय समझकर प्राप्त कर लेता है वह परसमय है ऐसा समझा जाता है । इसप्रकार समय दो प्रकार का है यह स्पष्ट हो जाता है ।

विवेचन– द्रव्य गुणो और पर्यायों से युक्त होता है । 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इस द्रव्य का स्वरूप व्यक्त करनेवाले सूत्रमें जो 'गुणपर्यायवत्' यह पद पाया जाता है उसका 'गुणश्च पर्यायश्च गुणपर्यायौ । तौ सन्त्यस्यास्मिन्वेति गुणपर्यायवत्' ऐसा स्पष्टीकरण है । यहां जो मत्वर्थीय वत् प्रत्यय पायी जाती है वह नित्ययोगार्थ में

अर्थात् तादात्म्यार्थ में लगायी गयी है। अतः 'जिसका गुणपर्यायों के साथ तादात्म्य होता है–अभेद होता है वह द्रव्य होता है' ऐसा उसका अर्थ होता है। यह अर्थ निश्चयनय की दृष्टि से है। व्यवहारनय की दृष्टि से गुण और गुणी में और परिणाम और परिणामी में कथंचित् भेद की प्रधानता होनेसे उस पद का अर्थ 'जो गुणपर्यायों से युक्त होता है-संसृष्ट होता है वह द्रव्य होता है' ऐसा होता है। आत्मा भी द्रव्य है। अतः उसके साथ उसके गुणों का और पर्यायों का तादात्म्य है–कथंचित् अभेद है। द्रव्य सद्रूप होनेसे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होता है अर्थात् उत्पादव्ययरूप परिणामों का द्रव्य के साथ तादात्म्य होता है। जीवद्रव्य सद्रूप होनेसे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेके कारण उत्पादव्ययस्वरूप परिणामों का उसके साथ तादात्म्य होता है। जब द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता होती है और पर्यायार्थिकनय की गौणता होती है तब द्रव्य होनेसे जीवद्रव्य की ध्रुवता होती है–नित्यता होती है और जब पर्यायार्थिकनय की प्रधानता और द्रव्यार्थिकनय की गौणता होती है तब वह उत्पादव्ययात्मक कहा जाता है। इसप्रकार अन्य द्रव्यों के समान द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता होनेपर जीवद्रव्य का ध्रुवत्व और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होनेपर उसका उत्पादव्ययात्मकत्व सिद्ध हो जाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनका आत्मा से अभेद होनेसे और आत्मा एक अखंड द्रव्य होनेसे उत्पादादिकों का भी कथंचित् एकत्व सिद्ध हो जाता है। यह उनका एकत्वरूप परिणाम हि सत्ता है। यह जो आत्मा का उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्व है उसका कारण उसकी परिणमनशीलता है। यदि वह परिणमनशील न होता तो न उसका उत्तरपर्यायरूप से उत्पन्न होनारूप उत्पाद हो सकता और न पूर्वपर्याय का अभाव होनारूप व्यय भी हो सकता। द्रव्य का परिणमन द्रव्य का कथंचित् ध्रुवत्व होनेपर हि हो सकता है और परिणमन का सद्भाव होनेपर हि उसका कथंचित् ध्रुवत्व सिद्ध होता है। परिणाम का परिणामी से कथंचित् भेद–अपाय–पृथग्भाव सिद्ध होनेपर हि जिससे परिणामो का भेद होता है वही परिणामी ध्रुव कहा जा सकता है। यदि द्रव्य को ध्रुव न माना अर्थात् सर्वथा क्षणिक माना तो द्रव्य का निरन्वय विनाश होनेपर–तुच्छाभाव हो जानेपर उत्तरक्षण की उत्पत्ति किसकी और कहा होगी? अतः ध्रुवत्व का अभाव होनेसे क्रमप्रवृत्त पर्यायों का अभाव हो जायगा। जब उपादान का उत्तरोत्तर क्षणो मे सद्भाव होना असभव हो जाता है तव उसकी क्रमभावी पर्यायों का अभाव होना भी क्रमप्राप्त हो जाता है। दूसरी बात यह है कि ऐसी अवस्था में परिणाम का–कार्य का उपादान के साथ एकत्व का–अभेद का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। इसप्रकार उपादान के साथ कार्य के एकत्व का ज्ञान न होनेपर 'मिट्टि का घट, सुवर्ण का घट' इसप्रकार के लौकिकव्यवहार का अभाव हो जायगा। अतः द्रव्य को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक नहीं माना जा सकता। उसे परिणामिनित्य अर्थात् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक मानना हि युक्तिसगत है। द्रव्य को सर्वथा नित्य अर्थात् कूटस्थनित्य भी नहीं माना जा सकता; क्यों कि कूटस्थनित्य द्रव्य का परिणमन होना असभव है। जीव का उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व प्रतिदिन अनुभव में आता है। बालावस्था से कुमारावस्थारूप, कुमारावस्था से तरुणावस्थारूप और तरुणावस्था से वृद्धावस्थारूप ससारी जीव की परिणतियां देखने में आती हैं। वे परिणतियाँ होते समय पूर्वावस्था का त्याग रूप और उत्तरावस्थापरिणतिरूप उत्पाद देखने मे आते हैं। इन सभी अवस्थाओं में मनुष्यत्व का बोध अविचल होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवद्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। अतः उसका परिणमनशीलत्व अर्थात् परिणामिनित्यत्व निःसंदिग्धरूप से सिद्ध हो जाता है। जीव के इस परिणामिनित्यत्व को कौनसा भी प्रमाण बाधित नहीं कर सकता। सहप्रवृत्त अर्थात् सहभावी गुण यावद्द्रव्यभावी होनेसे अविनश्वर होनेके कारण उनके आश्रयभूत द्रव्य का ध्रुवत्व सिद्ध हो जाता है और क्रम से उत्पन्न होनेवाली पर्यायें उत्पादव्ययात्मक होनेसे तदाधारभूत द्रव्य का उत्पादव्ययात्मकत्व सिद्ध हो जाता है। अतः द्रव्य को परिणामिनित्य हि मानना चाहिये। यदि हठात् उसको अपरिणामी माना तो प्रत्यक्षविरोध हो जाता है। अतः जीव का परिणमनशीलत्व सिद्ध हो जाता है। द्रव्य का जो परिणामात्मक स्वभाव है वह उत्पादव्ययध्रौव्य से भिन्न नहीं है। परिणामात्मक स्वभाव एकरूप होनेसे उससे अभिन्न उत्पादव्ययध्रौव्य की भी एकरूपता हि है। व्यय के अभाव में उत्पाद और ध्रुवत्व इनका, उत्पाद के अभाव में व्यय और ध्रुवत्व इनका और ध्रुवत्व के अभाव में उत्पाद और व्यय इनका सद्भाव होना असंभव होनेसे इन तीनों का अविनाभाव सिद्ध हो जानेसे उनका एकत्व

सिद्ध हो जाता है; क्यों कि जिनमें अविनाभाव होता है वे सर्वथा परस्पर भिन्न नहीं होते और जो भिन्न नहीं होते उनका एकत्व स्पष्ट हो जाता है। सत्ता और उत्पादादित्रय इनमें अभेद होता है अर्थात् उत्पादादित्रय की एकता का नाम हि सत्ता है। इस सत्ता के साथ जीवद्रव्य का अभेद होता है; क्यों कि सत्ता अर्थात् अस्तित्व जीव का गुण है–भाव है। 'अस्तित्वमात्रस्वभाववाली सत्ता का उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्व कैसे हो सकता है?' इस आक्षेपात्मक प्रश्न का समाधान निम्नप्रकार से जानना। सत्ता भावरूप है और गुणरूप है और द्रव्य भाववान् है। वह भाववान् द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होता है। अतः भावरूप सत्ता और भाववान् द्रव्य इनमें संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की दृष्टि से भेद होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से उनमें अभेद होता है। इस अभेद के कारण द्रव्य के समान सत्ता भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होती है। अब सत्ता का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। आचार्यप्रवर भगवान् अमृतचन्द्रसूरी ने इसका स्वरूप पंचास्तिकाय की टीका में बताया है

"अस्तित्व जो है वह सत्तानामक सत् का स्वभावरूप सत्त्व है अर्थात् अस्तित्व सत्त्वरूप होनेसे सत्त्व के समान उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। वस्तु सर्वथा नित्यत्वरूप से अथवा सर्वथा क्षणिकत्वरूप से सिर्फ विद्यमान होती है ऐसा नहीं है। सर्वथा नित्य अर्थात् कूटस्थनित्य वस्तु का वस्तुतः क्रम से उत्पन्न होनेवाले परिणामों का अभाव होनेसे विकारवत्त्व (स्वभावपरिणामरूप या विभावपरिणामरूप विकारों से युक्तपना) कैसे सिद्ध हो सकेगा? सर्वथा क्षणिक अर्थात् सर्वथा अनित्य वस्तु का वस्तुतः (एकत्व) प्रत्यभिज्ञान का अभाव होनेसे एकसन्तानत्व (एक द्रव्य का सन्तानत्व) कैसे बन सकता है? (जब बौद्धों के यहां स्वलक्षण कहा जानेवाला पदार्थ समयमात्रकालवर्ती है और जब उसका निरन्वय विनाश–तुच्छाभाव होता है तब क्षण कहेजानेवाले पदार्थ की सन्तान का–परम्परा का एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। सर्वथा क्षणिक पदार्थ की एकसंतानत्व की सिद्धि न होनेसे अपने किसी प्रत्यभिज्ञानोत्पत्ति के कारणभूत बननेवाले स्वरूप से ध्रौव्य का आलंबन लेती हुई, क्रम से प्रवृत्त होनेवाले–उत्पन्न होनेवाले किसी स्वरूप से विलीन अर्थात् नष्ट होनेवाली और किसी स्वरूप से उत्पन्न होनेवाली एक काल में हि त्रितयात्मक अर्थात् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक अवस्था को धारण करनेवाली होती हुई वस्तु सद्रूप है ऐसा जानना। (कहनेका भाव यह है कि वस्तु अपने स्वभाव की दृष्टि से ध्रुव और अपनी पर्यायों के विनाश की और उत्पाद की दृष्टि से उत्पादव्ययात्मक होनेसे सद्रूप है।) वस्तु सद्रूप होनेसे अर्थात् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे उसकी सत्ता भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होती है ऐसा जानना; क्यों कि भाव और भाववान् कथंचित् एकस्वरूप होते हैं अर्थात् उनमें अभेद होता है। वह उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत्ता संसार में उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक जितने भी पदार्थ हैं उन सभी पदार्थों में सादृश्य के अस्तित्व को सूचित करनेवाली होनेसे एक है। सत्ता जिसका मूल है–कारण है ऐसे त्रिलक्षण का अर्थात् उत्पादव्ययध्रौव्य का, 'सत्' इस शब्द का और 'यह पदार्थ सत् है' इस प्रकार के ज्ञान का सभी पदार्थों के विषय में उपलम्भ अर्थात् प्राप्ति होनेसे वह सत्ता सभी पदार्थों में (तादात्म्यसंबंध से) रहती है। विश्व के अर्थात् विश्ववर्ती संपूर्ण पदार्थों के उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक स्वभावों के साथ उन पदार्थों में रहनेवाली होनसे वह सत्ता 'सविश्वरूपा है'। (संपूर्ण पदार्थों के उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक स्वभावों के साथ उन पदार्थों में स्थित होनेवाली होनेसे वह सत्ता 'सविश्वरूपा' है) द्रव्यों के उत्पादव्ययात्मक अनन्तपर्यायों के द्वारा व्याप्त की जानेवाली होनेसे उसके भी अनंत पर्याय होनेसे वह सत्ता 'अनन्तपर्याया' है। इसप्रकार की होनेपर भी वह सत्ता वस्तुतः निरंकुश–सर्व प्रकारों से स्वतंत्र–प्रतिपक्षरहित नहीं है, किंतु सप्रतिपक्ष है। सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता अर्थात् सत्ता से भिन्न दूसरी सत्ता है। (सत्ताभिन्ना सत्तासदृश्यन्या सत्ताऽसत्ता। पर्युदास की दृष्टि से यहां सत्ता का प्रतिषेध किया गया है) उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप होनेसे त्रिलक्षणात्मक इस सत्ता का प्रतिपक्ष अत्रिलक्षणत्व है अर्थात् परिणाम का उत्पाद व्ययध्रौव्यात्मक न होनेसे, व्यय उत्पादध्रौव्यरहित होनेसे और ध्रौव्य उत्पादव्ययरहित होनेसे वस्तु के उत्पादादिस्वरूपों का जो अत्रिलक्षणत्व होता है वह त्रिलक्षणात्मक सत्ता का प्रतिपक्ष होता है। सारांश, त्रिलक्षणा सत्ता का–महासत्ता का अत्रिलक्षणा सत्ता–अवान्तरसत्ता प्रतिपक्ष है अथवा त्रिलक्षणात्मक महासत्ता का अवान्तरसत्ता का अत्रिलक्षणत्व प्रतिपक्ष है। इस एकरूप महासत्ता का अवान्तरसत्ता का अनेकरूपत्व

प्रतिपक्ष है; क्यों कि प्रत्येक पदार्थ की अवान्तरसत्ता सभी भिन्न पदार्थों की अवान्तरसत्ताओं से भिन्न होनेसे अवान्तरसत्ता का महासत्ता के समान एकत्व न होकर अनेकत्व होता है। सभी पदार्थों में रहनेवाली महासत्ता का प्रत्येक पदार्थ में पृथक्‌रूप से रहनेका अवान्तरसत्ता का स्वभाव प्रतिपक्ष है अर्थात् सर्वपदार्थस्थित महासत्ता का अवान्तरसत्ता का एकपदार्थस्थितत्व प्रतिपक्ष है। संपूर्ण पदार्थों के स्वभावों के साथ उन संपूर्ण पदार्थों में एकरूप से रहनेवाली महासत्ता का प्रत्येक पदार्थ के पृथक् स्वभाव के साथ प्रत्येक पदार्थ में पृथक्‌रूप से रहने का अवान्तर-सत्ता का स्वभाव प्रतिपक्ष है अर्थात् सविश्वरूपमहासत्ता का अवान्तरसत्ता का एकरूपत्व प्रतिपक्ष है। द्रव्यों के अनन्तपर्यायों के द्वारा व्याप्त की जानेवाली होनेसे जिसके अनंतपर्याय हो गये होते हैं ऐसी अनंतपर्यायवाली महा-सत्ता का अवान्तरसत्ता का एकपर्यायित्व प्रतिपक्ष है। महासत्ता और अवान्तरसत्ता के भेद से सत्ता दो प्रकार की है। उन दोनों में से संपूर्णपदार्थों को (अपने त्रिलक्षणात्मक–उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक स्वरूप से) व्यापनेवाली और उन सभी पदार्थों के सादृश्य को (सभी पदार्थों की परस्परसदृशता को) सूचित करनेवाली महासत्ता का (महासत्ताविषयक) प्रतिपादन तो किया हि गया है। पृथग्‌रूप से निश्चित की गयी प्रत्येक वस्तु में रहनेवाली प्रत्येक वस्तु के स्वरूप का अस्तित्व सूचित करनेवाली जो होती है वह दूसरी अवान्तरसत्ता है। महासत्ता में अवान्तरसत्ता का 'एकपदार्थस्थितत्व, एकपर्यायित्व, अत्रिलक्षणत्व, अनेकत्व' यह जो स्वरूप है वह पाया न जानेसे महासत्ता अवान्तरसत्ता के स्वरूप की दृष्टि से असत्ता है अर्थात् अवान्तरसत्तास्वरूप नहीं है और अवान्तरसत्ता में महासत्ता का 'सर्वपदार्थस्थितत्व, अनेकरूपत्व–सविश्वरूपत्व, अनेकपर्यायित्व, त्रिलक्षणत्व और एकत्व' यह स्वरूप पाया न जानेसे अवान्तरसत्ता महासत्ता के स्वरूप की दृष्टि से असत्ता है अर्थात् महासत्तास्वरूप नहीं है। (जिस-प्रकार घट में पट का स्वरूप–आतानवितानतंतुसंयोगवत्स्वरूप स्वरूप पाया न जानेसे घट का पटस्वरूप से अस्तित्व नहीं होता अर्थात् घट का पटस्वरूप से नास्तित्व होता है अर्थात् 'घट कथंचित् नहीं हि है' यह द्वितीय भंग सिद्ध होता है उसीप्रकार महासत्ता में अवान्तरसत्ता का स्वरूप पाया न जानेसे महासत्ता का अवान्तरसत्ता के रूप से अस्तित्व नहीं होता अर्थात् महासत्ता का अवान्तरसत्ता के स्वरूप से नास्तित्व होता है अर्थात् 'महासत्ता कथं-चित् सत्ता नहीं हि है–महासत्ता सत्ता नहीं ही है' यह द्वितीय भंग सिद्ध होता है और अवान्तरसत्ता में महासत्ता का स्वरूप पाया न जानेसे अवान्तरसत्ता का महासत्ता के रूप से अस्तित्व नहीं होता अर्थात् अवान्तरसत्ता का महासत्ता के स्वरूप से नास्तित्व होता है अर्थात् 'अवान्तर सत्ता कथंचित् नहीं है–अवान्तरसत्ता नहीं हि है–अवान्तरसत्ता असत्ता हि है' यह द्वितीय भंग सिद्ध होता है।) महासत्ता का अवान्तरसत्तारूप न होना और अवान्तरसत्ता का महासत्तारूप न होना महासत्ता का और अवान्तरसत्ता का असत्तात्व है–सत्ता का नास्तित्व है अर्थात् 'महासत्ता अवान्तरसत्तास्वरूपेण स्यात् सत्ता नास्ति' यह द्वितीय भंग होता है। (सत्ता का 'स्यात् सत्ता अस्ति' यह प्रथम भंग है।) द्रव्य का जिस स्वरूप से उत्पाद–परिणमन होता है वह एक उत्पाद–परिणाम एकलक्षणवाला द्रव्य होता है। (जिसस्वरूप से द्रव्य परिणत हुआ होता है उस स्वरूप से हि द्रव्य युक्त होता है। जीवद्रव्य मनुष्य-पर्यायरूप से परिणत होनेपर उसका मनुष्यपर्यायात्मक परिणाम हि एकलक्षण होता है। जीवद्रव्य जिस पर्याय से जिस समय परिणत होने लगता है उसी समय उसीपर्याय का नाशरूप परिणमन होना असंभव होनेसे उत्पद्यमान पर्याय व्ययस्वरूप से युक्त नहीं होती और उत्पद्यमानपर्याय के रूप से ध्रुवत्व भी नहीं होता। मनुष्यपर्याय के रूप से जीवद्रव्य जब परिणत होने लगता है तब उसी पर्याय के नाश के रूप से होनेवाला व्ययात्मकपरिणाम–स्वरूप नहीं होता और उत्पद्यमान पर्याय के रूप से ध्रुवत्व भी नहीं होता। अतः वस्तु का उत्पद्यमानस्वरूप व्यय-स्वरूप से और ध्रुवत्वस्वरूप से युक्त नहीं होता।) जिस स्वरूप से द्रव्य का ध्रुवत्व होता है उसीप्रकार का ध्रौव्य उस द्रव्य का एकस्वरूप होता है। (जीवद्रव्य का जब तिर्यंचपर्याय का नाशरूप व्यय और उत्तरपर्यायरूप उत्पाद होता है तब जीवद्रव्य का जीवसामान्य ध्रुव होता है। जीवसामान्यत्वरूप ध्रुवस्वरूप जीवसामान्यस्वरूप के नाशरूप व्यय से और जीवसामान्य के स्वरूप से परिणत होनारूप उत्पाद से युक्त नहीं होता; क्यों कि जीवसामान्यत्व न उत्पाद्य होता है और न उच्छेद्य होता है।) उस कारण से उत्पत्तिक्रियारूप से, उच्छित्तिक्रियारूप से और स्थिति-

क्रियारूप से परिणत होनेवाली वस्तु के स्वरूपों में से प्रत्येक स्वरूप में उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक त्रैलक्षण्य का अभाव होनेसे अवान्तर सत्ता का अत्रिलक्षणत्व उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक त्रिलक्षणवाली महासत्ता में पाया न जानेसे महासत्ता का अत्रिलक्षणत्व है—महासत्ता के त्रिलक्षणत्व का नास्तित्व है अर्थात् ' महासत्ता अवान्तरसत्तास्वरूपेण स्यात् त्रिलक्षणा नास्ति ' यह द्वितीय भंग है। (' महासत्तायाः स्यात् त्रिलक्षणत्वं अस्ति ' यह महासत्ताविषयक प्रथम भंग है।) एक वस्तु की स्वरूपसत्ता अन्यवस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं होती। अतः अवान्तरसत्ता का अनेकत्व महासत्ता में पाया न जानेसे एक महासत्ता का अनेकत्व है—महासत्ता के एकत्व का नास्तित्व है अर्थात् ' महासत्ता स्यात् अवान्तर सत्तास्वरूपेण एका नास्ति ' यह द्वितीयभंग है। (' महासत्ता स्यादेका अस्ति ' यह महासत्ता के एकत्वविषयक प्रथम भंग है।) निश्चित विशिष्ट पदार्थों में स्थित हुई हि (स्वरूप) सत्ताओं के कारण पदार्थों का प्रतिनियम होता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का पृथक् व्यक्तिमत्त्व निश्चित होनेसे अवान्तरसत्ता का एक पदार्थ में स्थितिमत्त्व सर्वपदार्थ-स्थित एक महासत्ता में पाया न जानेसे उसका अवान्तरसत्तास्वरूप से सर्वपदार्थस्थितत्व नहीं है—' महासत्ता अवान्तरसत्तारूपेण नास्ति ' – ' महासत्ता अवान्तरसत्तास्वरूपेण स्यात् सर्वपदार्थस्थिता नास्ति ' यह द्वितीयभंग है। (' स्वस्वरूपेण महासत्ता स्यात् अस्ति ' यह महासत्ता के सर्वपदार्थस्थितत्वविषयक प्रथमभंग है।) प्रतिनियत एक एक पदार्थ में स्थित होनेसे एकरूप बनी हुई अवान्तरसत्ताओं के कारण पदार्थों का प्रतिनियत एकरूपत्व सिद्ध होनेसे अवांतरसत्ता का एकरूपत्व महासत्ता मे पाया न जानेसे उसका अवान्तरसत्ता के स्वरूप से सविश्वरूपमहासत्ता का एकरूपत्व नही है। – ' महासत्ता अवान्तरसत्तास्वरूपेण स्यात् सविश्वरूपा नास्ति ' यह महासत्ता के सविश्वरूपत्वविषयक द्वितीय भग है। ('स्वस्वरूपेण महासत्ता सविश्वरूपा स्यात् अस्ति ' यह महासत्ता का सविश्वरूपत्वविषयक प्रथम भंग है।) पदार्थों की जितनी पर्यायें होती हैं उनमेसे प्रत्येक पर्याय में नियतरूप से रहनेवाली अवान्तरसत्ता से प्रतिनियत बनी हुई सभी पर्यायों का अनन्तत्व सिद्ध हो जाता है। अनन्तपर्यायों में प्रत्येकशः रहनेवाली अवान्तरसत्ता का एकपर्यायित्व बन जाता है। यह अवान्तरसत्ता का एकपर्यायित्व अनन्तपर्यायात्मक महासत्ता में पाया न जानेसे उसका अवान्तरसत्ता के स्वरूप से अनन्तपर्यायात्मकत्व नहीं है—' महासत्ता अवान्तरसत्तास्वरूपेण स्यादनन्तपर्याया नास्ति ' यह महासत्ता के अनन्तपर्यायत्वविषयक द्वितीय भग है। ('स्वरूपेण महासत्ता स्यादनन्तपर्यायाऽस्ति' यह महासत्ता की अनन्तपर्यायत्वविषयक प्रथम भंग है।)

इसप्रकार महासत्ताविषयक छह द्वितीयभग होते हैं–१) स्वरूपेण महासत्ता स्यादस्ति। २) अवान्तरसत्तारूपेण महासत्ता सता स्यान्नास्ति। ३) स्वरूपेण महासत्ता स्यात् त्रिलक्षणाऽस्ति। ४) अवान्तरसत्तास्वरूपेण महासत्ता स्यात् त्रिलक्षणा नास्ति। (सा अत्रिलक्षणाऽस्ति।) ५) स्वरूपेण महासत्ता स्यादेका अस्ति। ६) अवान्तरसत्तास्वरूपेण महासत्ता स्यादेका नास्ति। ७) स्वरूपेण महासत्ता स्यात् सर्वपदार्थस्थिता अस्ति। ८) अवान्तरसत्तास्वरूपेण महासत्ता स्यात् सर्वपदार्थस्थिता नास्ति। ९) स्वरूपेण महासत्ता स्यात् सविश्वरूपाऽस्ति। १०) अवान्तरसत्तास्वरूपेण महासत्ता स्यात् सविश्वरूपा नास्ति। ११) स्वरूपेण महासत्ता स्यादनन्तपर्यायाऽस्ति। १२) अवान्तरसत्तारूपेण महासत्ता स्यादनन्तपर्याया नास्ति।

इसप्रकार अवान्तरसत्ता के भी प्रथम दो भंग होते हैं–१) स्वस्वरूपेणाऽवान्तरसत्ता स्यात् अस्ति २) महासत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यान्नास्ति। ३) अत्रिलक्षणसत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यादस्ति। ४) त्रिलक्षणमहासत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यान्नास्ति। ५) अनेकत्वोपलक्षितसत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यादस्ति। ६) एकत्वोपलक्षितमहासत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यान्नास्ति। ७) एकपदार्थस्थितसत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यादस्ति। ८) सर्वपदार्थस्थितमहासत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यान्नास्ति। ९) एकरूपत्वोपलक्षितसत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यादस्ति। १०) सविश्वरूपत्वोपलक्षितमहासत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यान्नास्ति। ११) एकपर्यायोपलक्षितसत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यादस्ति। १२) अनन्तपर्यायोपलक्षितमहासत्तास्वरूपेणावान्तरसत्ता स्यान्नास्ति।

जीव द्रव्यार्थिकनय की दृष्टी से त्रिलक्षणमहासत्ता से और एकलक्षणावान्तरसत्ता से कथंचित् अभिन्न होता है। जीव चैतन्यस्वरूपवाला होनेसे उसमें निर्मल दर्शनरूप और निर्मल ज्ञानरूप तेज नित्यव्यक्त रहता है। यहां शुद्धदर्श-

नोपयोग और शुद्धज्ञानोपयोग अभिप्रेत हैं; क्योंकि विशदशब्द के द्वारा दर्शन और ज्ञान की शुद्धि व्यक्त की गयी है। ये दोनों उपयोग शुद्धस्वरूप और अशुद्धस्वरूप होते हैं; क्योंकि जीव शुद्धचैतन्यस्वभाव होता है। ये दोनों उपयोग जीव के गुणस्वरूप होते हैं। ज्ञान की अनुभूतिरूप शुद्धचैतन्यस्वरूप का अनुसरण करनेवाला निर्विकल्परूप शुद्ध होनेके कारण पूर्णरूप शुद्धदर्शनोपयोग, शुद्धचैतन्यस्वरूप का अनुसरण करनेवाला सविकल्परूप शुद्ध होनेके कारण पूर्णरूप शुद्धज्ञानोपयोग, शुद्ध जीव के गुण हैं और कर्म की अनुभूतिरूप और कर्मफल की अनुभूतिरूप अशुद्ध चेतना, अशुद्धचैतन्यस्वरूप का अनुसरण करनेवाला निर्विकल्प अशुद्ध होनेके कारण विकल अपूर्णरूप अशुद्धदर्शनोपयोग, अशुद्धचैतन्यस्वरूप का अनुसरण करनेवाला सविकल्प अशुद्ध होनेके कारण अपूर्णरूप अशुद्धज्ञानोपयोग अशुद्ध जीव के गुण हैं। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षय से या क्षयोपशम से आत्मस्वभावभूत चैतन्य का अनुसरण करनेवाला आत्मा का जो परिणाम वह ज्ञानोपयोग है और वीर्यान्तराय और दर्शनावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से आत्मस्वभावभूत चैतन्य का अनुसरण करनेवाला आत्मा का जो परिणाम वह दर्शनोपयोग है। जीव चैतन्यस्वभाववाला होनेसे शुद्ध ज्ञानोपयोग और शुद्धदर्शनोपयोग नित्य प्रकट रहता है; फिर भले हि वह अशुद्ध बन जाता हो। जीव अनन्तधर्मों से युक्त होनेपर भी एक धर्मी होनेसे उसका द्रव्यस्वभाव व्यक्त हो जाता है। वस्तु का स्वभाव होनेके कारण जिसप्रकार वस्तु में अनन्तधर्म होते हैं उसीप्रकार जीव में अनन्तधर्म आश्रित होनेपर भी वस्तु के समान उसका एकधर्मित्व निर्बाधरूप से सिद्ध होता है। अग्नि में दाहकत्व, प्रकाशकत्व, पाचकत्व आदि अनेक धर्म आश्रित होनेपर भी उसका एकधर्मित्व बाधित नहीं होता। अतः अनन्तधर्मों से युक्त होनेपर भी जीव का एकधर्मित्व अव्याबाध है—बाधारहित है। द्रव्य के समान आत्मा अनन्तधर्मों से युक्त होनेके कारण उसका द्रव्यत्व प्रकट हो जाता है। सत्त्व या उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व या गुणपर्यायवत्त्व द्रव्य का स्वभाव है। जो सामान्यरूप से अपने स्वभाव के द्वारा सहभावी गुणों को और अपने क्रमभाविपर्यायों को व्यापता है वह द्रव्य है। गुणपर्यायों में और द्रव्य में सर्वथा भेद होनेपर द्रव्य की गुणपर्यायों को व्यापने की क्रिया का असम्भव होनेसे द्रव्य से उनका अभेद होना अनिवार्य होनेसे द्रव्य का गुणपर्यायवत्त्व सिद्ध हो जाता है। 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इस सूत्रमें स्थित गुणपर्याय इस शब्द को जो मत्वर्थीय वत्प्रत्यय लगायी गयी है वह नित्ययोगार्थ में लगायी गयी है। इससे द्रव्य और गुणपर्याय इनमें नित्ययोग अर्थात् नित्यसंबंध —तादात्म्य—कथंचित् अभेद सिद्ध हो जाता है। इस सूत्र के द्वारा कहा गया द्रव्यलक्षण और 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सूत्र के द्वारा कहा गया द्रव्यलक्षण इसप्रकार द्रव्य के दो लक्षण कहे गये हैं।—'सद्द्रव्यलक्षणम्.' 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इन तीन द्रव्यलक्षणों का प्रणयन निष्प्रयोजन नहीं है। उनके द्वारा कूटस्थनित्यत्वादि, क्षणिकैकान्तवादि आदिकों ने माने हुए द्रव्यलक्षणों का परिहार करना हि ग्रंथकार का प्रयोजन है। पंचास्तिकाय की गाथा १० की टीकामें जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह प्रकृतोपयोगी होनेसे यहां पाठकों के सामने व्यक्त किया जाता है।

'सद्द्रव्यलक्षणम्' इसप्रकार के द्रव्यलक्षण के कहे जानेपर 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' और 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इन दोनों द्रव्यलक्षणों का ज्ञान हो जाता है, 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' इस द्रव्यलक्षण के कहे जानेपर 'सद्द्रव्यलक्षण' और 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इन दोनो द्रव्यलक्षणों का नियम से ज्ञान हो जाता है और 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इस द्रव्यलक्षण के कहे जानेपर 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'सद्द्रव्यलक्षणम्' इन दोनो द्रव्यलक्षणों का नियम से बोध हो जाता है, क्यों कि तीनों द्रव्यलक्षणों में परस्पर अविनाभावसंबंध है। मिथ्यात्वरागादिकों से रहित होनेके कारण शुद्धसत्तालक्षण अर्थात् शुद्धसत्तावाला शुद्धजीवद्रव्य, अगुरुलघुत्वगुण की षड्गुणहानिवृद्धिरूप से शुद्धोत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण अर्थात् शुद्ध उत्पादव्ययध्रौव्य से युक्त शुद्धजीवद्रव्य और स्वभाविक ज्ञानाद्यनन्तगुणयुक्त सहज शुद्ध सिद्धपर्याययुक्त शुद्ध जीवास्तिकायसंज्ञक शुद्ध जीवद्रव्य उपादेय है। जिसने घटादिकार्यरूप द्रव्य की निर्मिति करने के लिए प्रारंभ किया है उसका उसी क्षण में अभाव हो जाता है और क्रियानिष्पत्ति नहीं होती इत्यादी दोष क्षणिकैकान्त में प्रादुर्भूत होता है। नित्यैकान्त में जो खडा होता है वह खडा हि रहेगा, जो सुखी होगा वह सुखी हि होगा, जो दुःखी होगा वह दुःखी हि बना रहेगा इत्यादि; क्यों कि कूटस्थनित्य होनेसे अन्यपर्यायरूप से

परिणत होना असंभव हो आनेका दोष प्रादुर्भूत होता है । द्रव्य और पर्याय परस्परनिरपेक्ष होनारूप उभयैकान्त में पूर्वोक्त दोनों दोष उपस्थित होते हैं । जैनमत में द्रव्य और पर्याय परस्परसापेक्ष होनेसे दोष उपस्थित नहीं होता ।
[पंचा., नि. सा. सं., गा. १०. पृ. २५–२६]

क्रमप्रवृत्त पर्यायरूप और सहप्रवृत्त गुणरूप नानाप्रकार के परिणाम से युक्त होनेके स्वभाव से युक्त होनेके कारण जीव न गुणों और पर्यायों को स्वीकार किया है । गुण सहभावी होनेपर भी और निश्चयनय की दृष्टि से कथंचित् अभिन्न होनेपर भी व्यवहारनय की प्रधानता होनेपर कथंचित् भिन्न होनेके कारण और पर्याय होनेके कारण उनका सहभाविपर्यायत्व स्पष्ट हो जाता है और द्रव्य के गुणो का उत्पादव्ययात्मकत्व होनेसे वे पर्यायरूप हैं । उन सभी पर्यायों की युगपत् उत्पत्ति होना असभव है; क्यों कि एकद्रव्य की एकसमय में एकपर्यायरूप से हि परिणमन होता है । जीवद्रव्य का भी स्वभाव उसीप्रकार का होनेसे वह गुणपर्यायों से युक्त होता है । अपने और परद्रव्यों के असाधारण धर्मों को जानने में समर्थ होनेसे ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान से उसके अखंड एक ज्ञान की अनेक पर्यायें होनेसे अनेकात्मक होनेपर भी उस का एकरूपत्व–एकस्वभावत्व बना रहता है । ज्ञानसामान्य एकरूप होनेसे उसका आश्रयभूत जीवद्रव्य का एकरूपत्व होता है–वह अनेकरूप नहीं होता । इस दृष्टि से एकरूप होनेपर भी अनन्त ज्ञेयों के असाधारण धर्मों के ज्ञान के रूप से परिणत होनेके कारण ज्ञानसामान्य अनेकखंडरूप–अनन्तखण्डात्मक होनेके कारण पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होनेपर आत्मा का भी अनन्तखण्डात्मकत्व सिद्ध हो जाता है । पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होनेपर और द्रव्यार्थिकनय की गौणता होनेपर आत्मा के अनेकखण्डात्मकत्व की सिद्धि हो जानेपर भी द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता होनेपर और पर्यायार्थिकनय की गौणता होनेपर आत्मा की एकविधता अर्थात् एकरूपत्व सिद्ध हो जाता है । जीव, पुद्‍गल आदि द्रव्यों के प्रतिविशिष्ट अवगाह को–प्रवेश को अवकाश देनेके जिसप्रकार आकाशद्रव्य अवगाह का निमित्तकारण होता है उसीप्रकार जीवद्रव्य अन्य द्रव्य के अवगाह के लिये अवकाश देनेवाला न होनेसे और असाधारण चैतन्य उसका स्वभाव होनेसे वह आकाशद्रव्य से भिन्न है । जीव और पुद्‍गलों की जो गतिरूप परिणति होती है उस परिणति में सहायक होनेसे जिसप्रकार धर्मद्रव्य उनकी गतिपरिणति में निमित्तकारण होता है उसीप्रकार जीवद्रव्य उनकी गतिपरिणति में सहायक बनकर निमित्तकारण न होनेसे और असाधारणचैतन्य उसका स्वभाव होनेसे वह धर्मद्रव्य से भिन्न है । जीव और पुद्‍गलों की जो स्थितिरूप परिणति होती है उस परिणति में सहायक होनेसे जिसप्रकार अधर्मद्रव्य उनकी स्थितिपरिणति में निमित्तकारण होता है उसीप्रकार जीवद्रव्य उनकी स्थितिपरिणति में सहायक बनकर निमित्तकारण न होनेसे और असाधारण चैतन्य उसका स्वभाव होनेसे वह अधर्मद्रव्य से भिन्न है । द्रव्यों की क्षणमात्रकालवर्तिनी जो परिणतियां होती हैं उनमें सहायक बनकर जिसप्रकार कालद्रव्य निमित्तकारण होता है उसीप्रकार उनकी उन परिणतियों में सहायक बनकर निमित्तकारण न होनेसे और असाधारणचैतन्य उसका स्वभाव होनेसे वह कालद्रव्य से भिन्न है । जिसप्रकार पुद्‍गलद्रव्य रूपी अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इनसे युक्त होता है उसीप्रकार वह जीवद्रव्य रूपी न होनेसे वह पुद्‍गलद्रव्य से भिन्न है । अनन्त द्रव्यों के साथ अत्यन्त सकीर्ण होनेपर भी अपने ज्ञानस्वभाव से च्युत न होनेवाला होनेसे टांकीसे उत्कीर्ण हुए के समान उसका स्वभाव अविनश्वर–शाश्वत होता है । दही में मिलायी गयी चीनी या शक्कर की डलियां अपने माधुर्यरूप स्वभाव को जिसप्रकार नहीं छोडती उसीप्रकार भिन्नभिन्न स्वभाववाले अनेक–अनन्त द्रव्यों के साथ संकर होनेपर भी अपने चैतन्यस्वभाव का परित्याग करनेवाला न होनेसे टांकी से उत्कीर्ण किये गये पत्थर के परिणाम के समान उसका चैतन्यस्वभाव अविनश्वर होता है । इसप्रकार का जीवनामक जो पदार्थ है वह समय कहा जाता है; क्यों कि अपने गुणपर्यायों को जो 'अपनेसे वे अभिन्न हैं' इसप्रकार जानता है और अनुभवता है और उनको व्यापता है वह समय है ऐसी उसकी निरुक्ति है । यह समयभूत जीव जब संपूर्ण पदार्थों के स्वभावों को प्रकट करने में–जानने में समर्थ ऐसी विद्या अर्थात् केवलज्ञान को उत्पन्न–व्यक्त करनेवाले भेदज्ञान का तेज या भेदज्ञानस्वरूप सूर्य प्रकट होनेसे संपूर्ण परद्रव्यों से अलग–अलिप्त होकर दर्शनज्ञानरूप स्वभाव में नित्य स्थित रहनारूप आत्मा के स्वभाव से अभिन्न होता हुआ रहता है तब दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित होनेके

कारण अपने को जो दर्शनादि से अभिन्नरूप युगपत् जानता है और दर्शनादिरूप से परिणत होता है वह जीव स्वसमय कहा जाता है। कहनेका भाव यह है कि जब जीव में भेदज्ञान व्यक्त होता है तब उसमें केवलज्ञान के स्वरूप से परिणत होनेकी शक्ति प्रादुर्भूत होती है। यह भेदज्ञान व्यक्त हो जानेपर जीव समस्त परद्रव्यों के साथ अनादिकाल से चले आये संबंध को नष्ट कर देता है और दर्शनज्ञानस्वभाव में नित्य स्थित होता है। स्वस्वभाव में स्थित होनेके कारण उस दर्शनज्ञानस्वभाव से अपनेको जिससमय अभिन्न—एकरूप समझता है—जानता है उसीसमय अपने उस दर्शनज्ञानस्वभावरूप से परिणत हो जाता है। ऐसा जो जीव होता है वह स्वसमय कहा जाता है। किंतु जिस समय जीव अनादि अविद्या अर्थात् अनादि मिथ्यादर्शनादिरूप विभावपरिणामात्मक जो अज्ञान उसका निमित्तकारणभूत जो मोहनीय कर्म उसके अनुरूप जो जीव का परिणमन उसका प्राधान्य होनेसे या उसके निमित्तकारणत्व से दर्शनज्ञानात्मकस्वस्वभाव में स्थित होनारूप अपने स्वभाव से च्युत होकर पुद्गलोपादानक परद्रव्यभूत द्रव्यकर्मरूप निमित्तकारण से उत्पन्न होनेवाले जो मोह, राग, द्वेष आदिरूप विभावपरिणाम उनके साथ एकरूप होता है उसीसमय पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के निमित्त से जीव में प्रादुर्भूत हुए विभावपरिणाम में स्थित होनेके कारण विभावभावात्मक मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम को अपनेसे अभिन्न अर्थात् अपनी आत्मा के साथ वे विभावभाव एकरूप हैं—वे आत्मा से भिन्न नहीं हैं इसप्रकार जिससमय जानता है उसीसमय उन मिथ्यात्वादिविभावभावों के रूप से परिणत हो जाता है। ऐसा जीव परसमय है ऐसा जाना जाता है। कहनेका भाव यह है कि शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जो शुद्धचेतनारूप या शुद्धज्ञानरूप भाव प्राण से, जो अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से क्षायोपशमिक अशुद्धज्ञानरूप या अशुद्ध चेतनारूप भावप्राण से और जो असद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से द्रव्यप्राणों से जीता था, जीता है और जीएगा ऐसा जीव जब दर्शनज्ञानचारित्र मे स्थित होता है तब वह स्वसमय कहा जाता है अर्थात् विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाववाले अपनी परमात्मा की रुचिरूप जो सम्यग्दर्शन होता है, उसी परमात्मा के विषय में रागादिरहितस्वसंवेदनरूप जो ज्ञान होता है और उसी परमात्मा के विषय में निश्चल अनुभूतिरूप जो वीतरागचारित्र होता है उनरूप जो निश्चयरत्नत्रय है उसरूप से परिणत हुआ जीव स्वसमय कहा जाता है। पुद्गलकर्म के उदय से प्रादुर्भूत हुए विभावपरिणाम में या नारकादिपरिणाम मे निश्चयरत्नत्रय का अभाव होनेसे जब जीव स्थित होता है अर्थात् विभावपरिणाम के रूप से परिणत होता है तब वह परसमय कहा जाता है। जो अपने गुणपर्यायों के रूप से परिणत होता है वह समय कहा जाता है। जीवद्रव्य परिणमनशील होनेके कारण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत्ता के साथ अभेद को प्राप्त होनेसे, चैतन्यस्वरूपवाला होनेके कारण उसका दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग नित्य व्यक्त होनेसे, अनंतधर्मों से युक्त होनेसे एकधर्मिरूप होनेके कारण उसका द्रव्यत्व प्रकट होनेवाला होनेसे, क्रमप्रवृत्त अनंत पर्यायें और सहप्रवृत्त अनंत गुण उसका स्वभाव होनेके कारण गुणपर्यायों के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ होनेसे, अपने आकार को अर्थात् ज्ञानात्मक असाधारण स्वभाव को और परद्रव्यों के असाधारणस्वरूप को प्रकट करनेकी सामर्थ्य से युक्त होनेके कारण अनेकरूप बना हुआ होनेपर भी एकरूप होनेसे, स्वभावभेद के कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल द्रव्यों से भिन्न होनेसे, अन्यद्रव्यों के साथ आत्यन्तिकतया मिला हुआ होनेपर भी अपने स्वरूप से च्युत होनेवाला न होनेके कारण अविनश्वरचैतन्यस्वभाववाला यह जीवनामक पदार्थ समय कहा जाता है। केवलज्ञान को आविर्भूत करनेवाला भेदज्ञान उत्पन्न हो जानेसे संपूर्ण परद्रव्यों से भिन्नता को प्राप्त होकर जब अपने दर्शनज्ञानात्मकस्वभाव में निश्चितरूप से स्थित होता है, दर्शनज्ञानचारित्र को और अपनेको एकहि काल में एकरूप समझता है और दर्शनज्ञानचारित्र के रूप से परिणत होता है तब जीव की स्वसमय यह संज्ञा होती है। अनादि अज्ञानरूप परिणति के निमित्तकारणभूत मोह के अर्थात् मोहोदय के निमित्त से अपने दर्शनज्ञानात्मक स्वभाव से च्युत होकर द्रव्यकर्म के उदयादिरूप निमित्त से उत्पन्न होनेवाले मोहरागद्वेषादिरूप विभावपरिणामों के साथ जब जीव अभेद अवस्था को प्राप्त होता है तब विभावभावों में स्थित होनेके कारण विभावभावात्मक और कर्मनोकर्मरूप परभावों के साथ अभेद अवस्था को अर्थात् मानो एकीभाव को प्राप्त होता है। ऐसा जीव परसमय कहा जाता है। जीव की स्वस्वरूप परिणति की अवस्था में और पररूपपरिणति की अवस्था में समय का स्वरूप पाया जानेसे दोनों अवस्थावाले जीव का समयत्व बना रहने से

इसकी समयसंज्ञा यथार्थ है; किंतु स्वस्वभावस्थित होनेवाले जीव की या निर्मलता को प्राप्त होनेवाले भेदज्ञान से युक्त होनेवाले जीव की स्वसमय यह संज्ञा होती है और अपने दर्शनज्ञानस्वभाव से च्युत होकर अर्थात् उसमें स्थित न होकर रागद्वेषादिरूप विभावभाव में स्थित होनेवाले और अनात्मीय परपदार्थों को आत्मीय समझनेवाले जीव की परसमय यह संज्ञा होती है।

अब उस विषय का अधिक सरलता से स्पष्टीकरण किया जाता है। १) दुनिया में हरएक पदार्थ परिणामिनित्य है। जो परिणामिनित्य होता है वह नियम से उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होता है। पूर्वावस्था का त्याग व्यय है और उत्तरावस्था का स्वीकार उत्पाद है और दोनों अवस्थाओं में 'यह वही है' इसप्रकार की एकत्वानुभूति अर्थात् प्रत्यभिज्ञान ध्रुवत्वद्योतक है। यहां यह स्पष्ट करना है कि ध्रौव्य एकत्वानुभूति का कारण है। द्रव्य परिणामिनित्य होनेसे वह जिसप्रकार उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होता है उसीप्रकार द्रव्य की सत्ता भी द्रव्याश्रित होनेसे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होती है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और वह परिणामात्मक है। जब ज्ञान में ज्ञेयाकार प्रतिबिंबित होता है तब ज्ञान ज्ञेयाकारज्ञानपरिणतिरूप अवस्था को धारण करता है। जब इसी ज्ञान में दूसरा ज्ञेयाकार प्रतिबिंबित होता है तब ज्ञान पूर्वज्ञेयाकारज्ञानपरिणतिरूप अवस्था को त्याग कर अपरज्ञेयाकारज्ञानपरिणतिरूप अवस्था को धारण करता है। पूर्वावस्था का त्याग व्यय है और उत्तरावस्था का स्वीकार उत्पाद है। दोनों अवस्थाओं में जाननेवाला ज्ञान एक हि होनेसे वह ध्रुव है। इसीतरह पूर्वावस्था के रूप से अस्तित्व का त्याग सत्ता का व्यय है और उत्तरावस्था के स्वरूप से अस्तित्व का स्वीकार सत्ता का उत्पाद है और पूर्वोत्तर अवस्थाओं में ज्ञप्तिक्रिया का कर्तृभूत ज्ञान का अस्तित्व एकरूप होनेसे एकत्वानुभावक सत्ता का ध्रुवत्व है। सारांश, यह आत्मा अपने परिणमनशीलस्वभाव में नित्यस्थित रहनेसे उत्पाद, व्यय ओर ध्रुवत्व के कारण सभी अवस्थाओं में जिससे एकत्व का अनुभव होता है ऐसे लक्षणवाली सत्ता से युक्त है। मतलब, यह आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसत्ता से युक्त है। २) 'चेतनालक्षणो जीवः' इस लक्षण के अनुसार चैतन्य जीव का स्वभाव है। यह जीव का स्वभाव होनेसे उसमें केवलदर्शन का और केवलज्ञान का तेज नित्य उदित–व्यक्त रहता है। यद्यपि दर्शन और ज्ञान जीव के स्वभावभूत भाव हैं, तो भी संसार–अवस्था में जब वह आत्मा परसमयरूप बन जाती है तब दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय और मोहनीय कर्म के उदय से दर्शन और ज्ञान विशद नहीं होते। इन कर्मों के अभाव से हि उनमें वैशद्य व्यक्त होता है और वह वैशद्य नित्य बनकर रहता है अर्थात् उन कर्मों का क्षय होनेपर वे फिर मलिन–अविशद नहीं होते। ३) जो अनन्त धर्मों का आश्रय होता है वह उसका द्रव्यत्व उद्योतित–प्रकट होता है। शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड में निम्नलिखित अनुमान दिया है। देखिए–' द्रव्यं शब्दः, स्पर्शाल्पमहत्त्वपरिमाणसङ्ख्यासंयोगगुणाश्रयत्वात्। यदेवंविधं तत्तद्द्रव्यं, यथा बदरामलकबिल्वादि। तथा चायं शब्द.। तस्माद्द्रव्यम्।' स्पर्श, अल्पमहत्त्व, सख्या और सयोग इन गुणो का आश्रय होनेसे शब्द द्रव्य है। जो जो इसप्रकार का होता है वह २ द्रव्य होता है। उदाहरण के लिए बेर, आवला, बिल्व आदि लीजिये। शब्द भी इसप्रकार का है। सारांश, गुणो का जो आश्रय होता है वह द्रव्य है। आत्मा अनत धर्मों के अर्थात् गुणो के द्वारा आश्रित होनेपर भी एक धर्मी–गुणी होनेसे उसमें द्रव्यत्व उद्योतित–व्यक्त हुआ होता है। अनंतधर्म आत्मा में आश्रित होनेसे और आत्मा उनका आश्रय होनेसे आत्मा द्रव्य है। चार्वाकों की तरह भूतसयोगोत्पन्न गुण नहीं है। ४) गुण नित्यानित्यात्मक अर्थात् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होते हैं। गुणों की अनित्यात्मकता से–उत्पादव्ययात्मकता से पर्याय होते हैं। ज्ञान आत्मा का गुण है। जब घटरूप ज्ञेय ज्ञान में प्रतिबिंबित होता है तब ज्ञान की अवस्था घटाकार के ज्ञानरूप होती है और जब उसमें पटरूप ज्ञेय प्रतिबिंबित होता है तब उसकी अवस्था पटाकार के ज्ञानरूप होती है। जब ज्ञान की पटाकारज्ञानरूप अवस्था व्यक्त होती है तब उसकी पूर्वसमयवर्तिनी घटाकारज्ञानरूप अवस्था नष्ट होती है। इससे ज्ञानगुण की अनित्यता अर्थात् उत्पादव्ययात्मकता स्पष्ट होती है। ज्ञान की पटाकारज्ञानरूप अवस्था में घटाकारज्ञानरूप अवस्था न होनेसे और घटाकारज्ञानरूप अवस्था में पटाकारज्ञानरूप अवस्था न होनेसे व्यतिरेक–भेद घटित हो जानेसे ज्ञान की अनित्यता के कारण इन दोनों अवस्थाओं को ज्ञान की पर्यायें कहते हैं। ज्ञान की ये दोनों पर्यायें युगपत् न होकर एकके बाद

दूसरी होती हैं इसलिए इनको क्रमवर्ती कहा है। इन दोनों पर्यायों में ज्ञान के ज्ञानत्व का अन्वय होनेसे ज्ञानगुण नित्य भी है। कितनी भी अवस्थाएं क्यों न हो किंतु उन सभी अवस्थाओं में ज्ञानगुण का अन्वय रहता है। अतः वह ज्ञानगुण अन्वयी है। ऐसे अनंत गुण एक जीवद्रव्य में युगपत् रह सकते हैं। अतः उनको अक्रमवर्ती कहा है। सारांश, जिनकी प्रवृत्ति क्रम से होती है ऐसी अवस्थाओं का धारक होनेसे और जिनकी प्रवृत्ति युगपत् होती है ऐसे विशेषों का धारक होनेसे आत्मा गुणपर्यायवान् है। ५) आत्मा अपने को और दूसरे अनंत पदार्थों को जानने की सामर्थ्य रखती है। जितने ज्ञेय पदार्थ हैं उतनी आकृतियां–विशेष परिणतियां ज्ञान धारण करता है तो भी क्षायिकस्वरूप एकरूपता को वह कभी भी नहीं छोडती। इसलिए उसको उपात्तवैश्वरूप्यैकरूप कहा है। 'उपात्तं वैश्वरूप्यं येन सः उपात्तवैश्वरूप्यश्चासावेकरूपश्च उपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः।' ६) आकाश का अवगाह, धर्म का सहकारित्व, काल का वर्तनानिमित्तत्व और पुद्गल का रूपादिमत्त्व ऐसे जो धर्मादि द्रव्यों के खास खास स्वभाव शास्त्रकारों ने बताये हैं उनका आत्मा में अभाव होनेसे और अन्य द्रव्यों में कभी भी पाया न जानेवाला जीव का चैतन्यरूप स्वभाव उसमें होनेसे आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल इनसे यह आत्मा भिन्न है। सारांश, आत्मा चैतन्यरूप असाधारण धर्म का आश्रय है और इसी कारण से अन्यद्रव्यों से भिन्न है। ७) अनंत अन्य द्रव्यों के साथ संकीर्ण होनेपर भी वह अपने चैतन्यस्वभाव से च्युत न होनेके कारण टंकोत्कीर्णचित्स्वभाव का धारक है। सारांश, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, सत्ता से युक्त, नित्योदितदृशिज्ञप्तिज्योति, उद्योतमानद्रव्यत्व, उत्संगितगुणपर्याय, उपात्तवैश्वरूप्यैकरूप, स्वभाव की अपेक्षा से अन्य सभी द्रव्यों से भिन्न और टंकोत्कीर्णचित्स्वभाव आत्मा वही समय है।

भेदज्ञान का अर्थात् परपदार्थ से भिन्न ऐसी आत्मा की अनुभूति का तेज ऐसा है कि सकलपदार्थों के स्वभावों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य जिसमें होती है ऐसे केवलज्ञान को वह उत्पन्न करता है। ऐसे तेज की जब उत्पत्ति होती है तब आत्मा समस्त पदार्थों से अपने को भिन्न समझती है। समस्त परद्रव्यों से भिन्न होनेपर आत्मा अपने ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव में नियम से स्थित होती है अर्थात् अपने ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव को कभी भी नहीं छोडती। अपने स्वभाव को न छोडना यह भी आत्मा का स्वरूप है। इस आत्मतत्त्व के–आत्मस्वरूप के साथ जब आत्मा एकीभाव को प्राप्त होकर रहती है तब दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित होनेके कारण अपने को एकरूप से–टंकोत्कीर्णचित्स्वभाव के रूप से युगपत् अनुभवती है और उसरूप से परिणत होती है। ऐसी आत्मा हि **स्वसमय** कही जाती है।

मूलकंद हो तो उससे कदली की उत्पत्ति होती है। अनादि मिथ्याज्ञानरूप कदली का मोहनीयकर्म मूलकंद के समान है। मोहनीय कर्म के उदय से हि जीव की मिथ्याज्ञानरूप परिणति होती है। ऐसा मोहनीयकर्म जब जीव के पीछे पडता है तब वह ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव में नियम से स्थितिरूप जो आत्मतत्त्व उससे च्युत होता है। पौद्गलिककर्मरूप परद्रव्य जिनका कारण पडता है ऐसे मोह-राग-द्वेषरूप भावों के साथ एकमेक–एकरूप हो जाता है। जब यह आत्मा इन मोहनीयोदयजन्य वैभाविकभावों के साथ एकरूप हो जाती है तब वह पुद्गलकर्मजनितविभावभावों के रूप से परिणत हुए आत्मप्रदेशों में स्थित होनेके कारण परभाव का आत्मा के साथ एकरूपत्व से जिस काल में अनुभव करती है उसी काल में पररूप से परिणत हो जाती है। ऐसी आत्मा हि **परसमय** कही जाती है।

अथैतद्बाध्यते– (अब समय का उक्त द्वैविध्य बाधित किया जाता है।)

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके
बन्धकथा एकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ– (**लोके**) धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन द्रव्यों से भरे हुए लोक में (**सर्वत्र**) कहींपर भी अथवा किसी भी काल मे अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों में (**एकत्वनिश्चयगतः**) अन्य पदार्थों के स्वभावों से भिन्नस्वभाववाला होनेसे और अपने विशिष्ट गुणपर्यायों के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ होनेसे 'प्रत्येक पदार्थ उससे भिन्न सभी पदार्थों से संज्ञालक्षणादिको के भेद के कारण भिन्न हि होता है–एक है' इस प्रकार के निश्चय के द्वारा जाना गया (**समयः**) समय (**सुन्दरः**) समीचीन–यथार्थ–शुद्ध–निर्दोष है–शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से उपादेय है। (**तेन**) पदार्थ के एकत्व का–स्वभिन्नद्रव्यों से भिन्नत्व का निर्णय किया जानेसे (**एकत्वे**) समय का एकत्व-स्वस्वरूपस्थिति होनेसे-अन्य पदार्थों से भिन्नत्व अर्थात् स्वस्वभाव का परित्याग किया जाना और परपदार्थों के स्वभावों को स्वीकार किया जाना असभव होनेसे स्वस्वभाव मे स्थित होना रूप और परपदार्थों से भिन्न होनारूप एकत्व की सिद्धि हो जानेपर (**बन्धकथा**) दो पदार्थों का बध होता है ऐसा कहना (**विसंवादिनी**) निर्णीत एकत्व के विरुद्ध (**भवति**) बन जाता है।

[विरुद्ध होनेका कारण यह है कि अन्य पदार्थ से बद्ध होनेवाला एक पदार्थ स्वस्वभावत्यागपूर्वक परस्वभाव को स्वीकार करनेवाला न होनेसे दो विजातीय पदार्थों का वस्तुतः एकीभाव–अभिन्नत्व होना असंभव होनेसे वास्तव बंध होता हि नहीं। बध का अर्थ एकीभवन है। पदार्थ और उसके गुणपर्याय इनमें जिसप्रकार एकीभवन-तादात्म्य होता है उसीप्रकार दो भिन्नस्वभाववाले अत एव विजातीय पदार्थों में एकीभवन-तादात्म्य नहीं होता। अशुद्ध अज्ञानी जीव और पुत्गल्कर्म इन मे जो बध होता है वह वास्तव बंध न होनेसे स्वस्वरूपस्थित वे दोनो पदार्थ किसी समय अलग हो जाते हे। यदि वह बन्ध वास्तव होता तो उनका मोक्ष-पृथग्भाव होना हि असभव हो जाता; क्यों कि बंध से उन दोनों में तादात्म्य हो जाता है। जिनमें वास्तव बन्ध-एकीभाव-तादात्म्य होता है उनमे से एक का अभाव हो जानेपर दूसरे का भी अभाव हो जाता है, जैसे गुणी का अभाव होनेपर गुणों का अभाव और गुणो का अभाव होनेपर गुणी का अभाव। एकीभावस्तोत्र के 'एकीभाव गत इव मया यः स्वय कर्मबन्ध' इस प्रथम चरण में आचार्य श्रीवादिराजसूरी ने 'एकीभाव गत इव' इन पदों के द्वारा इसी आशय को पुष्ट किया है; क्यों कि 'इव' इस शब्द के द्वारा जीव के साथ वास्तव कर्मबध के एकीभाव का–अभेद का–तादात्म्य का प्रतिषेध किया है।]

आ. ख्या.– समयशब्देन अत्र सामान्येन सर्वः एव अर्थः अभिधीयते, 'समयते एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छति' इति निरुक्तेः। ततः सर्वत्र अपि धर्माधर्माकाश-कालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः के अपि अर्थाः ते सर्वे एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नस्वधर्मचक्रचुम्बिनः अपि परस्परं अचुम्बन्तः अत्यन्तप्रत्यासत्तौ अपि नित्यं एव स्वरूपात् अपतन्तः, पररूपेण अपरिणमनात् अविनष्टानन्तव्यक्तित्वात् टङ्कोत्कीर्णाः इव तिष्ठन्तः, समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वत् एव विश्वं अनुगृह्णन्तः नियतं एकत्व-निश्चयगतत्वेन एव सौन्दर्यं आपद्यन्ते, प्रकारान्तरेण सर्वसङ्करादिदोषापत्तेः। एवं एकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बन्धकथायाः एव विसंवादित्वापत्तेः कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयोत्पादितं एतस्य द्वैविध्यम्? अतः समयस्य एकत्वं एव अवतिष्ठते।

त. प्र.– अत्र गाथायां समयशब्देन सामान्येन सामान्यतः सर्व एवार्थोऽभिधीयते सर्वेषामर्थानां स्वगुणपर्यायैस्तादात्म्यमापन्नत्वात्स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकस्वभिन्नान्यद्रव्यस्वभावास्वीकरणात्स्वसमयस्व–रूपत्वात् । स्वपरस्वभावत्यागोपादानाभ्यां द्रव्ययोर्द्रव्याणां वैकद्रव्यत्वापादानमेकीभावः । तादात्म्यमित्यर्थः । द्रव्यतद्गुणयोर्द्रव्यतत्पर्याययोश्चान्यतरस्य द्रव्यस्य स्वगुणपर्यायैस्तादात्म्याद्द्रव्यस्य गुणपर्यायाणां च निश्चयनयेन भेदाभावादेकीभावोऽस्त्येव । समयते एकीभावेन तादात्म्येन स्वगुणपर्यायान् गच्छति व्याप्नोतीति निरुक्तेर्निर्वचनात्सर्वेषामर्थानां तथात्वात्समयशब्दाभिधेयत्वम् । ततस्तस्मात्कारणात्सर्वत्राऽपि यत्रकुत्राऽपि सर्वकालेष्वपि चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मके लोके । षड्द्रव्यसद्भावात्मकत्वेनैव लोकस्य लोकत्वं, तदभावे तस्यालोकत्वप्रसङ्गात् । तस्मिल्लोके ये यावन्तः केऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि–स्वकीये द्रव्येऽन्तर्निमग्ना एकीभावं गतास्तादात्म्यमापन्ना अनन्ताश्च ते स्वधर्माश्चानन्तस्वधर्मास्तेषां चक्रं समूहं चुम्बन्ति तादात्म्येन व्याप्नुवन्तीति स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनः । तादृशोऽपि परस्परमन्योन्यमचुम्बन्तः स्वपरस्वभावत्यागोपादानाभ्यामन्योन्यमेकीभावमनापद्यमाना अनयन्तो वा अत्यन्तप्रत्यासत्तावपि दधिशर्करात्यन्तिकसंवलनवत्परस्परमत्यन्तसंयोगवन्तोऽपि नित्यमेव सर्वकालमेव स्वरूपात्स्वस्वभावादपतन्तोऽप्रच्यवमानाः स्वस्वभावं परित्यज्य परस्वभावं चोपादाय परद्रव्यस्वरूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वादविनष्टपृथग्भूतपदार्थत्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः स्वस्वभावे नित्यस्थितत्वादविनश्वरत्वेन नित्यं स्थितिमन्तः । समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया–समस्तसदृशासदृशपरिणामनिमित्तत्वेन शश्वदेव सततमेव विश्वं जगदनुगृह्णन्तो जगत उपकुर्वन्तः । तद्यथा–अज्ञानिनो जीवाः स्वविभावात्मकपरिणामेन कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य कर्मरूपपरिणतिनिमित्तकारणत्वमापन्नाः पुद्गलाः कर्मवर्गणायोग्याश्च स्वपरिणामात्मकद्रव्यकर्मोदयावस्थयाऽज्ञानिजीवविभावपरिणतिनिमित्तकारणत्वमापन्नाः विरुद्धकार्यहेतवः क्षयावस्थया भेदज्ञानात्मकक्षायिकभावावस्थया च स्वभावाविर्भावात्मकपरिणतिनिमित्तकारणत्वमापन्ना अविरुद्धकार्यहेतवो भवन्ति । धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि जीवपुद्गलपरिणतिनिमित्तकारणत्वमापन्नान्यपि तेषां विभावपरिणतिजननक्षमाण्येवेति न नियमः । अतस्तेषामविरुद्धकार्यहेतुत्वमपीत्यवसेयम् । एवं षट्पदार्थाः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुत्वमापद्य शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्ति । एतादृशाः पदार्थाः नियतं नियमेनैकत्वनिश्चयगतत्वेन–एकत्व विभावभावात्मकपरिणतिविकलत्वेन स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकस्वभिन्नद्रव्यस्वभावानुपादानेन स्वस्वभावस्थितत्वाद्यत्तेषामेकत्व तन्निश्चयेन निर्णयपूर्वक वा गत ज्ञात यस्य स एकत्वनिश्चयगतः । तस्य भावः । तेन । तस्मात्कारणादित्यर्थः । सौन्दर्यं समीचीनत्वं तत एव चोपादेयत्वमापद्यन्ते प्राप्नुवन्ति, प्रकारान्तरेणान्यप्रकारेण स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकस्वभिन्नद्रव्यस्वभावोपादानप्रकारेण सर्वेषामर्थानां स्वभिन्नद्रव्यस्वभावोपादाने कृते सति सर्वसङ्करादिदोषोत्पत्तिप्रसङ्गात् । एवमनेन प्रकारेणैकत्वे विभावभावेभ्योऽन्यद्रव्येभ्यश्च भिन्नत्वेनैकव्यक्तित्वे सर्वार्थानां सर्वेषां द्रव्याणा प्रतिष्ठिते युक्त्यागमाभ्यां सिद्धे सति जीवाह्वयस्य जीवाभिधानस्य समयस्य बन्धकथायाः बन्धस्य कथायाः एव 'पदार्थयोर्भिन्नस्वभावयोरपि बन्धः एकीभावो भवति' इति प्रतिपादनस्यैव विसंवादित्वापत्तिर्भिन्नस्वभावद्रव्यद्वयबन्धासम्पादकत्वापत्ति । जीवकर्मणोः संश्लेषात्मक सम्बन्धो बन्धः । न च स परमार्थिकः, वास्तवैकीभावाभावात् । स च वास्तवैकीभावाभावो जीवपुद्गलयोरन्यतरस्य स्वभावपरित्यागपूर्वकतदन्यतरद्रव्यस्वभावोपादानासम्भवादन्यतरद्रव्येणैकीभवनासम्भवात् तत्सम्भवे वानन्तेनापि कालेन

तयोः पृथग्भवनासम्भवात् । बन्धकथायाः विसंवादित्वापत्तेः कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयत्वोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यम् ?–तस्य बन्धस्य मूलं कारणं यत्पुद्गलकर्म तत्कृताः विभावभावत्वेन परिणामिताः प्रदेशाः सर्वात्मप्रदेशास्तत्रात्मनो यत् स्थितत्वं स्थितिमत्त्वं तन्मूलं कारणं यस्य स परसमयः तस्य भावः परसमयत्वम् । तेनोत्पादितमेतस्य समयस्य कुतो द्वैविध्यं द्विविधत्वम् ? न कुतोपीति भावः । अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते सिध्यति । समयाख्यस्य जीवस्य पुद्गलकर्मणा सह वास्तवबन्धासम्भवाद्वास्तवबन्धे चान्यस्यान्यस्वभावोपादानेनान्येन सहैकीभवनाज्जीवपुद्गलयोरन्यतरस्य विनष्टव्यक्तित्वाज्जीवस्य पुद्गलकर्मरूपनिमित्तकर्तृजनितविभावात्मकजीवपरिणामे स्थित्यसम्भवात्परसमयोत्पादस्याशक्यानुष्ठानत्वात्परसमयसद्भावासम्भवान्न समयस्य द्वैविध्यमुद्भावतीति भावः । आत्मख्यातावत्र प्रयुक्तश्चुम्बनशब्दो न स्पर्शनमात्रार्थवचनोऽपि तु तादात्म्यार्थवचनः, भिन्नस्वभावानां द्रव्याणां स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकपरद्रव्यस्वभावोपादानासम्भवाद् गुणगुणिनोः परिणामपरिणामिनोश्च तादात्म्यसम्बन्धसद्भावाद्धातूनामनेकार्थत्वाच्च । शुद्धनिश्चयनयेन परसमयस्य शुद्धजीवस्वरूपत्व न भवतीति स्वसमयत्वमेवात्मनः स्वरूपमिति भावः, स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतस्याभेदरत्नत्रयपरिणतस्य वा समयत्वात्स्वकीयशुद्धगुणपर्यायेणापरिणतस्याभेदरत्नत्रयस्वरूपेणापरिणतस्य वाऽसमयत्वाच्च ।

टीकार्थ– अपने गुणपर्यायों के साथ तादात्म्य होनेसे उनको जो अपने स्वरूप से व्यापता है वह समय है इसप्रकार की समयशब्द की निरुक्ति होनेसे यहां समयशब्द के द्वारा सामान्यरूप से सभी पदार्थों का प्रतिपादन हो जाता है । उस कारण से अर्थात् समयशब्द के द्वारा सभी पदार्थों का प्रतिपादन हो जानेसे सभी कालों में धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीवद्रव्य से परिपूर्ण ऐसे लोक में जो जितने पदार्थ होते हैं वे सभी पदार्थ अपने अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न होकर रहनेवाले अपने अनन्तधर्मों के समूह को व्याप्त करनेवाले होनेपर भी एक दूसरेको अपने स्वभाव से व्याप्त न करनेवाले होनेसे उनमें आत्यन्तिक प्रत्यासत्ति–सामीप्य–संसर्ग होनेपर भी नित्य हि अपने स्वरूप से च्युत होनेवाले न होनेसे अपने स्वभाव को त्याग कर और परद्रव्य के स्वभाव को स्वीकार कर परद्रव्य के रूप से परिणत न होनेके कारण उनका अनन्तव्यक्तित्व नष्ट हुआ न होनेसे टंकोत्कीर्ण के समान नित्य हि स्थितिमान् होनेवाले, समस्त विरुद्ध कार्यों का और अविरुद्ध कार्यों का हेतु बनकर सर्वदा हि विश्व का उपकार करनेवाले होनेसे–संपूर्ण पदार्थों की परिणतिक्रिया में सहकारी बनकर उनका उपकार करनेवाले होनेसे पदार्थ नियमितरूप से एकत्व के निर्णय के द्वारा ज्ञात किये जानेसे सुन्दरता को–समीचीनता को–उपादेयत्व को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उपादेय बन जाते हैं; क्यों कि अन्यप्रकार से उनके एकत्व के निश्चय का अभाव होनेपर सभी पदार्थों का संकर हो जाना आदिरूप दोष उत्पन्न हो जानेकी आपत्ति उपस्थित हो जाती है । (स्वरूपचतुष्टय से द्रव्य का एकत्व–अन्य सभी पदार्थों से भिन्नत्व सिद्ध हो जानेपर भी परचतुष्टय की अपेक्षा से परद्रव्यस्वरूप से भिन्नत्व सिद्ध न हुआ तो सर्व संकर हो जानेकी आपत्ति उपस्थित हो जाती है ।) इसप्रकार सभी पदार्थों का एकत्व सिद्ध हो जानेपर जीवसंज्ञक समय का जो ' बंध होता है ' ऐसा कहा जाता है वह कथन वास्तव बंध की सिद्धि न होनेसे मिथ्या हो जानेकी आपत्ति उपस्थित हो जानेसे बंध का मूलकारणभूत पुद्गलकर्म के द्वारा विनिर्मापित जीव के विभावात्मक प्रदेशों में जीव का स्थितिमत्त्व जिसका मूलकारण होता है ऐसे परसमयत्व के द्वारा आविर्भूत की गयी समय की द्विविधता कैसे बनेगी ? उस कारण से समय का एकत्व हि सिद्ध हो जाता है ।

विवेचन– ऐसा नहीं है कि संसार में एक जीवपदार्थ हि अपने गुणों के साथ और अपनी पर्यायों के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ होता है, अपि तु संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने अपने गुणों के साथ और अपनी अपनी पर्यायों के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होते हैं । अपने गुणों के साथ और अपनी पर्यायों के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ होनेसे जिसप्रकार जीव की समय यह संज्ञा होती है उसीप्रकार उसी कारण से सभी पदार्थों को

प्रत्येकशः 'समय' यह संज्ञा होना अनिवार्य है। अतः 'समय' इस शब्द के द्वारा सामान्यतः प्रत्येक पदार्थ कहा जानेके योग्य है। यह लोक धर्म, अधर्म, काल, आकाश, पुद्गल और जीव इन द्रव्यों से भरा हुआ होनेसे उसकी लोक यह संज्ञा यथार्थ है। यदि जिसको लोक कहते हैं वह आकाश छह द्रव्यों से रिक्त होता तो उसकी लोक यह संज्ञा हि न बन पाती—वह अलोक कहा जाता। अलोक आकाशद्रव्य को छोडकर अन्य द्रव्यों से रिक्त होता है। इस लोक में जितने भी पदार्थ हैं वे सभी पदार्थ अपने अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न हैं—द्रव्य के अंदर प्रविष्ट हुए हैं—अपने अनन्तधर्मों के समूह को व्याप्त करते हैं—उसके साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होते हैं तो भी वे परस्पर को व्याप्त नहीं करते—परस्परतादात्म्यसंबंध को प्राप्त नहीं होते। ऐसे इन पदार्थों में अत्यन्त प्रत्यासत्ति-सन्निकर्ष-संयोग-संश्लेष- होनेपर भी वे अपने स्वरूप को कदापि नहीं छोडते। दधि के साथ मिली हुई-संश्लेष को प्राप्त हुई चीनीने क्या कभी अपना विशिष्ट मधुरिमारूप स्वभाव छोड दिया हुआ पाया गया है? न दधि अपने स्वभाव को छोडता है और न चीनी भी अपने स्वभाव को छोडती है। पदार्थ जब अपने अपने स्वरूप को छोडते नहीं तब किसी पदार्थ के द्वारा अपना स्वभाव न छोडा गया तो दूसरा पदार्थ अन्य द्रव्य के स्वरूप को कैसे स्वीकार कर सकता है? दूसरे पदार्थ के स्वरूप को स्वीकार किये बिना अन्य द्रव्य की उस पदार्थ के स्वरूप से परिणति कैसे होगी? जब पदार्थ अपने स्वभाव को तीनों कालों में भी छोड नहीं सकते तब वे अन्यपदार्थ के स्वरूप से परिणत भी नहीं हो सकते। जब एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के स्वरूप से परिणत नहीं हो सकता तब वह अपना व्यक्तिमत्त्व भी खो नहीं बैठ सकता। जब प्रत्येक पदार्थ का व्यक्तिमत्त्व बना रहता है तब वह छीनी से उत्कीर्ण किये गये पत्थर के समान नित्य—अविनश्वर बनकर रहता है। वे पदार्थ अन्य उपादानभूत पदार्थ के—उपादान के विरुद्ध अर्थात् विसदृश और उसके अविरुद्ध अर्थात् सदृश परिणाम के रूप से उपादान की परिणतिक्रिया के अनुकूल अपनी परिणतिक्रिया के द्वारा निमित्त बननेवाले होनेसे सतत विश्वस्थित सभी पदार्थों का उपकार करते हैं। ऐसे ये पदार्थ निमित्तरूप से उनके एकत्व का निश्चय से ज्ञान हो जानेवाला होनेसे सौंदर्य को—समीचीनता को—उपादेयत्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् उपादेय बन जाते हैं। यदि विश्वगत सभी पदार्थों का अन्योन्यतादात्म्य हुआ, उनमें आत्यन्तिक प्रत्यासत्ति—सन्निकर्ष-संयोग संश्लेष होनेसे अपने स्वरूप से प्रच्युत होकर परद्रव्य के स्वरूप से परिणत होने लगे, परद्रव्य के स्वरूप से परिणत होनेसे उनका पृथक् व्यक्तिमत्त्व नष्ट हो गया और व्यक्तिमत्त्व नष्ट हो जानेसे उनमें होनेवाले निमित्तनैमित्तिकभाव का अभाव हो गया तो सभी पदार्थों का संकर-एकीभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा [और द्रव्यो की कार्यरूप परिणतियों का भी अभाव हो जायगा, क्यों कि परिणत होनेकी योग्यता पदार्थ में विद्यमान होनेपर भी निमित्त के अभाव में उसका परिणमन होना असंभव है।] इससे पदार्थविषयक नीचे दी हुई बातो का पता चलता है (१) प्रत्येक पदार्थ का अपने गुणपर्यायों के साथ तादात्म्य होता है। (२) पदार्थों का अन्योन्यतादात्म्य नहीं होता। (३) पदार्थों में आत्यन्तिकरूप से प्रत्यासत्ति होनेपर भी वे अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते और परपदार्थ के स्वरूप से परिणत नहीं होते। (४) उनका पृथग्व्यक्तिमत्त्व कदापि नष्ट नहीं होता। (५) वे कार्यरूप परिणाम के स्वरूप से परिणत होते समय अन्य पदार्थ उपादान की कार्यरूप परिणति के अनुकूल अपनी परिणति के द्वारा सहायक होते हैं अर्थात् उनमें निमित्तनैमित्तिकभाव होता है। (६) पदार्थ सदृश और विसदृश परिणामों के रूप से परिणत होते हैं। (७) उनका एकत्व अर्थात् अपने विभावभावो से और परपदार्थों से विभिन्नत्व होता है। (८) उनका परस्परसंकर नहीं होता। इसप्रकार अपने गुणों के साथ और अपनी पर्यायों के साथ तादात्म्य होनेसे, परद्रव्यों के साथ तादात्म्य न होनेसे, अन्य द्रव्यों के साथ आत्यन्तिकरूप से प्रत्यासत्ति होनेपर भी अपने स्वभाव से च्युत न होनेसे और परद्रव्य के स्वरूप से परिणत न होनेसे, उसका स्वतंत्र व्यक्तिमत्त्व होनेसे, परद्रव्यों के स्वभाव और विभाव परिणतियों में अपनी परिणति के द्वारा सहायक बन जानेसे और उसका एकत्व निश्चितरूप से जाना गया होनेसे अन्य पदार्थों के समान जीवद्रव्य का एकत्व-स्वकीय विभावपरिणामों से और स्वभिन्न पदार्थों से भिन्नत्व सिद्ध हो जाता है-उसका विभक्तत्व सिद्ध हो जाता है। जीवद्रव्य के उक्तप्रकार से एकत्व की सिद्धि हो जानेसे अन्य पदार्थ के साथ अर्थात् अचेतन पुद्गलकर्म के साथ वास्तव एकीभाव का कदापि

संभव न होनेसे जीव और पुद्गल कर्म का एकीभावरूप बंध का कथन वस्तुस्वभाव के विरुद्ध पड़ता है। जब जीव और पुद्गलकर्म का वास्तव बंध हि सिद्ध नहीं हो सकता तब बंध का मूलकारणभूत होनेवाले पुद्गलकर्म के द्वारा जीव की विभावात्मक परिणति की सिद्धि कभी नहीं हो सकती; क्यों कि बंध की वास्तविकता सिद्ध होनेपर पुद्गलकर्म का जीवरूप से परिणमन हो जानेके कारण पुद्गलकर्म का जीव की विभावपरिणतिविषयक निमित्तकारणत्व हि नष्ट हो जाता है। निमित्तनैमित्तिकभाव दो भिन्न स्वभाववाले पदार्थों में या पर्यायों में हुआ करता है। जीव की विभावपरिणति का अभाव हो जानेसे उसकी अशुद्ध अवस्था का अभाव हो जानेसे जीव का विभावभाव में स्थितिमत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता। वास्तव बंध में पुद्गलकर्म की जीवरूप से परिणति हो जानेपर पुद्गलकर्म का अभाव हो जानेसे अशुद्ध जीव का भी पुद्गलकर्मप्रदेशों में स्थितिमत्त्व नहीं बन सकता है। सारांश, वास्तव बंध की सिद्धि होना असंभव होनेसे और उसीकारण जीव और पुद्गलकर्म में निमित्तनैमित्तिकभाव का अभाव हो जानेके कारण जीव के विभावपरिणति का अभाव हो जानेसे विभावभावरूप से परिणत हुए जीव का सद्भाव होना असंभव होनेसे अशुद्धजीवरूप परसमय की सिद्धि कैसे हो सकती है? अतः वस्तुतः परसमय है हि नहीं; क्यों कि वह युक्ति से बाधित हो जाता है। अतः समय का द्वैविध्य निश्चय की दृष्टि से बन हि नहीं सकता। सारांश, स्वसमय यही एक समय है।

मतलब यह है कि जिस का अपने शुद्धगुणों के साथ और अपनी शुद्धपर्यायों के साथ एकत्वरूप से नितरां चयन-अनुवेधन-व्यापन (व्याप्ति) होता है वह शुद्ध आत्मा हि उपादेय होती है-भावकर्म और द्रव्यकर्म के साथ जिसका एकराशीभवन होता है वह अशुद्ध आत्मा हेय होती है। अतः परसमय हेय है-त्याज्य है।

अथ एतद् असुलभत्वेन विभाव्यते। (अब यह आत्मा का एकत्व असुलभरूप से प्रकट किया जाता है अर्थात् आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है—सुकरता से प्राप्त नहीं हो सकता यह प्रकट किया जाता है।)

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबन्धकथा।
एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ– (**कामभोगबन्धकथा**) आत्यन्तिकरूप मे वृद्धिगत हुई तृष्णा मे किये जानेवाले इंद्रियविषयो के भोग के सबधी कथा–कथन (**सर्वस्यापि**) सभी लोगो के द्वारा (**श्रुतपरिचितानुभूता**) सुनी गयी है, प्रियतम या हृदयगम बनायी गयी है और अनुभव मे भी लायी गयी है। (**विभक्तस्य**) आत्मा के निर्मल भदज्ञान के द्वारा अपने [तृष्णासदृश] विभावभावो से और [इंद्रियविषयसदृश] परपदार्थों से विभक्तत्वरूप–पृथक्त्वरूप (**केवलं एकत्वस्य**) सिर्फ एकत्व की नितरा शुद्ध अत एव अद्वितीय अवस्था की (**उपलंभः**) प्राप्ति (**न सुलभः**) सुलभ नही है–विनाप्रयास के साध्य होनेवाली नही है [**प्रयाससाध्य–प्रयत्नसाध्य है।**]

आ. ख्या.-इह किल सकलस्य अपि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्य, अश्रान्तं अनन्तद्रव्य–क्षेत्र–काल–भव–भावपरावर्तैः समुपक्रान्तभ्रान्तेः, एकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोः इव वाह्यमानस्य, प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातङ्कत्वेन व्यक्तान्तराधेः उत्तम्य

उत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्रामं उपरुन्धानस्य, परस्परं आचार्यत्वं आचरतः अनन्तशः श्रुतपूर्वा, अनन्तशः परिचितपूर्वा, अनन्तशः अनुभूतपूर्वा च एकत्वविरुद्धत्वेन अत्यन्तविसंवादिनी अपि कामभोगानुबद्धा कथा । इदं तु नित्यव्यक्ततया अन्तः प्रकाशमानं अपि कषायचक्रेण सह एकीक्रियमाणत्वात् अत्यन्ततिरोभूतं सत् स्वस्य अनात्मज्ञतया परेषां आत्मज्ञानां अनुपासनात् च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं, न कदाचिदपि परिचितपूर्वं, न कदाचिदपि अनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलं एकत्वम् । अतः एकत्वस्य न सुलभत्वम् ।

त. प्र.– इह संसारे । किलेति वाक्यालङ्कारे । सकलस्याऽपि निखिलस्याऽपि जीवलोकस्य प्राणिगणस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्य–संसार एव चक्रं संसारचक्रम् । संसरणक्रियायाः प्राणिगणस्य चतुर्षु गतिषु परिभ्रमणक्रियाया आधारभूतसाधनत्वात्संसारे चक्रत्वारोपः । संसारचक्रमध्यारोपितस्य स्थापितस्याश्रान्तमविरामेणानन्तद्रव्य–क्षेत्र–काल–भव-भावपरावर्तैरनन्तैर्द्रव्यपरावर्तैः क्षेत्रपरावर्तैः कालपरावर्तैर्भवपरावर्तैर्भावपरावर्तैश्च । पञ्चपरावर्तनैरित्यर्थः । पराणि महान्ति पक्षे विभावभावात्मकत्वात्पराच्छुद्धजीवद्रव्याद्भिन्ना आवर्ताः परिभ्रमणानि पक्षे परिणामाः । तैः । पञ्चपरावर्तात्मकविभावभावैरित्यर्थः । अत्र चक्रपक्षे परावर्तशब्दो वेगवत्परिमण्डलाकारपरिभ्रमणार्थवचनः संसारपक्षे च विभावात्मकाशुद्धजीवाशुद्धपरिणामवचनः । समुपक्रान्तभ्रान्तेः– समुपक्रान्ता सम्पन्ना । जातेत्यर्थः । भ्रान्तिः भ्रमः परिमण्डलाकारभ्रमणं भ्रमात्मको विकारः, पक्षे विभावभावात्मकः परिणामोऽशुद्धजीवस्य । समुपक्रान्ता सञ्जाता भ्रान्तिरज्ञानं यस्य सः । तस्य । यथा कञ्चन पुरुषं चक्रक्रोडमधिरोप्य चक्रे वेगेन परिवर्तिते सति तदधिरूढस्य भ्रान्तिः समुत्पद्यते समुत्पन्नभ्रान्तेश्च तस्य वस्तुयाथात्म्यस्य यथार्थबोधो न सम्भवति तथा मोहनीयकर्मणा संसारिजीवश्चतुर्षु गतिषु परिभ्राम्यते, तस्य चानुभूतचतुर्गतिपरिभ्रमणस्य विभावभावाक्रान्तत्वात् वस्तुयाथात्म्यावबोधो न सम्भवति, असञ्जातवस्तुयाथात्म्यावबोधस्य च स्वशुद्धात्मस्वरूपाववोधवैकल्यं भवति । एकच्छत्रीकृतविश्वतया स्वायत्तीकृतविश्वतया । नैकच्छत्रमेकच्छत्रं कृतमेकच्छत्रीकृतम् । एकच्छत्रीकृतं स्वायत्तीकृतं विश्वं जगत् येन स । तस्य भावः एकच्छत्रीकृतविश्वता । तया । महता बलवता मोहग्रहेण मोहाख्येन पिशाचेन गोग्रहेण वा । गोरिव पशोरिव वाह्यमानस्येतस्ततो विद्राव्यमाणस्य नीयमानस्य वा । यथा पिशाचो गोशरीरमाविश्य तं स्वायत्तीकृत्येतस्ततो यथेच्छं विद्रावयति यथा वा गोग्रहः पशुं रज्ज्वाऽऽबध्य यथेच्छं देशं प्रापयति तथाऽयं मोहः सकलविश्वमाविश्य बध्वा वा स्वायत्तीकृत्य सकलासु गतिषु विद्रावयति ताः गतीः प्रापयति वेति भावः । प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातङ्कत्वेन–प्रसभमत्यर्थमुज्जृम्भिता विवृद्धा चासौ तृष्णा पिपासा गृध्नुता वा च प्रसभोज्जृम्भिततृष्णा । तस्याः तत्कृतः आतङ्कः तापः । तत्कृतस्तापो दुःखं वेत्यर्थः । तेन । व्यक्तान्तराधेः– आन्तरोऽन्तर्भवश्चासावाधिश्च चित्तपीडा दुःखं वाऽऽन्तराधिः । व्यक्ता प्रकटतां प्राप्ता चासावान्तराधिश्च व्यक्तान्तराधिः । तस्मात् । तस्माद्धेतोरित्यर्थः । हेतौ का । उत्तम्योत्तम्यात्यर्थं दुःखेनाकुलीभूय मृगतृष्णायमानं मृगजलमिवाचरन्तम् । मृगतृष्णेव मृगजलमिवाचरतीति मृगतृष्णायते । 'क्यङ् च' इत्याचारेऽर्थे कर्तुः क्यङ् । मृगजलतुल्याचारमित्यर्थः । यथा मृगजलं जलस्वभावविकलत्वात्पिपासाकुलप्राणिगणतृष्णातङ्कशमनसामर्थ्यमप्युवन्योत्तान्तप्राणिगणसमाकर्षणसामर्थ्यसम्पन्नत्वात्तान्स्वमनु धावय-

सतृष्णातङ्कशमनमविधायाप्यधिकतरं व्याकुलीकरोति तथा विषयग्रामः इन्द्रियभोग्यविषयसमूहोऽनेकवारं भुक्तोज्झितोऽपि भोगाकाङ्क्षामधिकतरं प्रक्षोभ्याग्न्याहुघृतमग्निमिवातिशाययति प्राणिगणं च नितरां व्याकुलीकरोति । अत्र विषयग्रामस्य मृगजलतुल्यत्वं वास्तवानन्तसुखानुत्पादकत्वात्सुखाभासात्मकदुःखोत्पादकत्वात्। एतादृशं विषयग्राममिन्द्रियभोग्यशब्दादिबाह्यार्थसमूहं स्वायत्तीकुर्वतस्तमुपभुञ्जानस्य च जीवलोकस्य । परस्परमाचार्यत्वमाचरतः:– विषयभोगाकाङ्क्षावर्धिण्यूपदेशप्रदानेनाचार्यकर्मानुरूपकर्मकरणकौशल्यमभिव्यक्तं कुर्वतोऽनेकशोऽनेकवारं श्रुतपूर्वा जनमुखादनेकवारम्पूर्वमुपश्रुताऽनन्तशः परिचितपूर्वाऽनन्तवारं पूर्वकाले परिज्ञाताऽनन्तशोऽनन्तवारं पूर्वस्मिन्कालेऽनुभूताऽनुभवगोचरतां नीता एकत्वविरुद्धत्वेन–आत्मनो विभावभावशून्यत्वात् परद्रव्यविकलत्वाच्च यदेकत्वं तद्विरुद्धत्वं कामनिमित्तकभोगस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णाया मोहोदयनिमित्तकत्वादात्मनो विभावभावात्मकपरिणामवत्त्वात्पुद्गलकर्मात्मकत्वात्परद्रव्यविषयकममत्वबुद्धिसद्भावादात्मन एकत्वविरहात् । अत्यन्तविसंवादिनी–एकत्वस्वरूपादात्मनो भिन्नस्य विभावभावात्मकपरिणामवत आत्मनोऽशुद्धस्य प्रतिपादकत्वादत्यन्तं विसंवादनशीलाप्येषा कामनिमित्तकविषयभोगसम्बन्धिनी कथा । इयं कामभोगानुबद्धा कथा पूर्वं जनमुखेभ्योऽनन्तशः श्रुतत्वादनन्तशः परिचितत्वादनन्तशोऽनुभूतत्वात्सुलभेतिभावः । इदमेकत्वं तु नित्यव्यक्ततयाऽनादेरनन्तकालं यावद्व्यक्ततया प्रकटीभूततयाऽन्तःप्रकाशमानमपि जीवस्य कर्मणा संश्लिष्टत्वाद्बहिरनुपलभ्यमानत्वेऽपि वस्तुतो जीवपुद्गलकर्मणोः स्वभावाविभेदादन्योन्यभिन्नत्वाद्बन्धावस्थायामप्यन्तः प्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सह कषायसमूहेन सहैकीक्रियमाणत्वात्–नैकमेकं क्रियमाणमेकीक्रियमाणम् । तस्य भाव एकीक्रियमाणत्वम् । तस्मात् । जीवद्रव्यद्रव्यभावकषायसमूहयोः सञ्ज्ञालक्षणाविभेदाद्भिन्नत्वेनान्योन्यभिन्नत्वेऽप्यभिन्नत्वस्य क्रियमाणत्वमत्र च्व्यर्थो भवतीति विज्ञेयम् । जीवद्रव्यकषायचक्रयोरेकीभवनासम्भवात्तयोरेकीकरणं न वास्तवम् । तयोरेकीभवनासम्भवश्च स्वस्वभावपरित्यागपरस्वभावोपादानासम्भवात् । द्रव्यकर्मणोऽचेतनत्वाद्भावकर्मणश्चाशुद्धचेतनत्वाच्छुद्धजीवद्रव्याद्भिन्नत्वाज्जीवद्रव्यस्य कषायचक्रेण सहैकीभवनस्यासम्भवेऽप्यज्ञानादेकीकरणमिवैकराशीकरणं संश्लेषमात्रात्मकं सम्भवति । एवमेकत्वं तस्य कषायचक्रेण सहैकराशीक्रियमाणत्वात्कषायचक्रे तिरोभूतम् । तदेकत्वमुक्तप्रकारेण तिरोभूतं प्रच्छन्नं सत् स्वस्यात्मनोऽनात्मज्ञतया शुद्धात्मस्वरूपज्ञानविकलतया परेषामात्मज्ञानां शुद्धात्मस्वरूपज्ञानवतामनुपासनाच्च सेवनाच्च पूर्वं न कदाचिदपि श्रुतं, न कदाचिदपि परिचितं, न कदाचिदप्यनुभूतं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं निर्मलभेदज्ञानेन द्रव्यभावकर्मभ्योऽन्येभ्यश्चाचेतनद्रव्येभ्यः पृथक्कृतं केवलमन्यद्रव्याद्यसम्पृक्तमेकत्वम् । अतः एकत्वस्य परभावविभिन्नत्वस्य न सुलभत्वमनायासेन प्राप्यत्वम् ।

टीकार्थ– संसाररूप चक्र के मध्य में (मोह के द्वारा) बिठाये गये, द्रव्यरूप क्षेत्ररूप कालरूप भवरूप और भावरूप अनन्त परावर्तों से–भ्रमणों से जिसमें भ्रान्ति शुद्धात्मस्वरूप के विषय में अज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे, संपूर्ण विश्व को अर्थात् विश्वस्थ प्राणियों को अपने अधीन कर लेनेसे बलवान् बने हुए मोहरूप पिशाच के द्वारा पशु के समान चलाये जानेवाले या पशु को पकडनेवाले के द्वारा पशु के समान (यथेच्छ स्थान को) ले लिये जानेवाले, आत्यन्तिकरूप से बढी हुई तृष्णा के (आकांक्षा) के कारण उत्पन्न हुई मानसिकपीडा के कारण अत्यन्त असहिष्णु बनकर मृगजल के समान भुलानेवाले इंद्रियों के अनेक विषयों को प्राप्त कर लेनेवाले, इंद्रियविषयों को प्राप्त करनेके लिये परस्पर पाठ पढानेवाले, संसारी समस्त प्राणिगण की आकांक्षानुकूल भोग्य पदार्थों की कथा आत्मा के एकत्व के विरुद्ध होनेसे आत्मा की अशुद्धता को व्यक्त करनेवाली होनेसे मिथ्या होनेपर भी वह कथा प्राणियों ने

अनन्तबार पहले सुनी है, अनन्तबार पहले परिचय में आयी है और उसका पहले अनुभव किया है। (अतः वह सुलभ है।) किंतु आत्मा का जो एकत्व है वह नित्य व्यक्त होनेसे (बद्ध अवस्था में भी) अन्दर प्रकाशमान होनेपर भी कषायों के साथ एकरूप किया जानेसे अत्यंत प्रच्छन्न होता हुआ निर्मल भेदज्ञान से व्यक्त किया जानेवाला वह शुद्ध एकत्व आत्मा स्वस्वभाव को जाननेवाली न होनेसे और आत्मज्ञानी परपुरुषों की सेवा न की जानेसे पहले कभी भी सुननेमें आया हुआ नहीं है, पहले कभी भी परिचय में आया हुआ नहीं है, और पहले कभी भी अनुभव में आया हुआ नहीं है। अतः आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है।

विवेचन— यहां संसार के ऊपर चक्र का अध्यारोप किया गया है। जिसप्रकार चक्रपर बिठाया गया जीव चक्र के घुमाये जानेपर चारों दिशाओं में घूमता रहता है उसीप्रकार मोहनीयादि कर्मों के कारण संसारावस्था के रूप से परिणत हुआ जीव चारों गतियों में अनादिकाल से भ्रमण करता आया है। यहां 'अध्यारोपित' इस णिजन्तरूप के प्रयोग से मोहनीयादिकर्मरूप निमित्तकर्ता को ध्वनित करने का ग्रंथकार का प्रयोजन न होता तो णिजन्त धातुसाधितशब्द का प्रयोग विफल बन जाता है और उसके स्थान में 'अध्यारूढ' इस शब्द का प्रयोग किया जाता। सारांश, जितने भी संसारी जीव है उनके साथ अनादिकाल से कर्मों का संश्लेष बना हुआ है। यदि यह संश्लेष न होता तो जीव की संसारावस्था का अस्तित्व भी न होता। इस संसार में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावरूप अनंतपरावर्तनों के कारण अर्थात् पररूप परिणतियों के कारण संसारी जीवों में आत्मा के शुद्धत्व और एकत्व के विषय में भ्रान्त ज्ञान उत्पन्न हो गया होता है। इस मोहनीय कर्म ने संपूर्ण संसारी प्राणियों को घेर लिया है—अपने अधीन कर लिया है। इससे मोहनीय कर्म की बलवत्ता सिद्ध हो जाती है। क्षायोपशमिकभावरूप अल्पज्ञान मोक्षप्राप्ति में सहायक हो सकता है। किन्तु वह ज्ञान मोहाक्रान्त हो जानेपर मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मोह हि मोक्षमार्ग का विघातक है। संसारावस्थ जीव जब मोक्षमार्गपर आरूढ नहीं हुए हं तब वे सभी जीव मोहकर्म के अधीन हो गये है यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस मोह के अधीन हो जानेसे हि आत्मा के एकत्व का उनका ज्ञान भ्रान्त होता है। जिसप्रकार पिशाच पशु के शरीर में प्रविष्ट होकर—उसके ऊपर सवार होकर उसे इतस्ततः भगाता है—स्वेच्छा के अनुसार दौडाता है या जिसप्रकार पशु को बांधकर पकडनेवाला चाहे जिस ओर ले जाता है उसीप्रकार यह मोह ससारी जीव को सर्वत्र गतियों में भगाता है—ले जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चारों गतियों में जो भ्रमण होता आ रहा है उसका कारण है जीव की मोहाधीनता—मोहाक्रान्तता। मोहाधीन हुए विना जीव का चारों गतियों में भ्रमण होना असंभव है। जिसप्रकार ग्रीष्म ऋतु में जंगल में संचार करता हुआ तृषा से व्याकुल हुआ हिरन मृगजल को जल समझकर जल पीनेके लिए लगातार दौड लगाता है तो भी उसके हाथ जल नहीं लगता और वह व्याकुल हो जाता है उसीप्रकार लोभकषाय की आत्यन्तिक वृद्धि हो जानेसे अत्यंत दुःखी होता हुआ यह संसारी जीव मृगजलतुल्य इंद्रियविषयों को प्राप्त कर लेनेके लिए अत्यधिक परिश्रम करता है तो भी वे इंद्रियभोग्य विषय उसके हाथ नहीं लगते और वह दुःखी हो जाता है। ऐसा होते हुए भी उनकी प्राप्ति के लिये वह सतत प्रयत्नशील बना रहता है। इन संसारी जीवों की ऐसी आदत पडी हुई है कि वे एक दूसरे को इंद्रियविषयों की प्राप्ति कर लेनेके लिये उपदेश किया करते हैं। अतः यह लोभनिमित्तक भोग्यपदार्थों के भोगविषयक कथा आत्मा के एकत्व के अत्यंत विरुद्ध होनेसे आत्मा की अशुद्ध अवस्था को व्यक्त करनेवाली है। यह कथा ससारी जीवों ने दूसरों के मुखसे पहले अनन्तबार सुन ली है, अनन्तबार उसके साथ परिचय किया है और अनन्तबार उसका अनुभव किया है। अतः यह कामनिमित्तक भोगसंबंधिनी कथा सब संसारी जीवों के लिये सुलभ है। आत्मा का यह एकत्व —परद्रव्यासम्पृक्तत्व और परद्रव्यरूप से अपरिणतत्व नित्यव्यक्त होता है। यदि वह एकत्व नित्यव्यक्त न होता तो मोक्षावस्था में भी वह बन न पाता और परद्रव्यरूप से परिणत हो जाता। यह एकत्व जीव की कर्मसंश्लिष्ट अवस्था होनेपर भी बना रहता है; क्यों कि मोक्षावस्था में वह नितरां व्यक्त होता है और संसारावस्था में यह आत्मद्रव्य परद्रव्यस्वरूप से परिणत नहीं होता है। संसारावस्था में यह आत्मा द्रव्यकषायों के और भावकषायों के साथ एकरूपसरीखा किया जानेसे यह एकत्व अत्यन्त प्रच्छन्न हो गया है। यह एकत्व निर्मल भेद ज्ञान से संश्लिष्ट परद्रव्यों

से पृथक् किया जाता है और वह निर्दोष-शुद्ध होता है। संसार अवस्था में जिसका एकत्व प्रच्छन्न बना हुआ है ऐसी यह आत्मा अपने शुद्धस्वरूप के ज्ञान से वंचित होनेसे और उसके शुद्धस्वरूप को-एकत्व को जाननेवाले पुरुषों की उपासना-सेवा इस आत्मा के द्वारा न की जानेसे इस आत्मा ने अपने एकत्व को पहले कभी भी सुना नहीं है, उसके साथ कभी भी परिचय किया नहीं है और कभी भी उस एकत्व का अनुभव भी किया नहीं। अतः यह आत्मा का एकत्व उक्तप्रकार के जीव की दृष्टि से सुलभ नहीं है।

कहनेका भाव यह है कि स्वभाववान् आत्मा अपने शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव को अत एव एकत्व को कभी भी छोडती नहीं; क्यों कि स्वभाव स्वभाववान् को किसी भी हालतमें छोडता नहीं। ऐसा होते हुए भी आत्मा का स्वभाव दृग्गोचर नहीं होता; सिर्फ उसका वैभाविकभाव हि देखनेमें आता है। जीव का वैभाविकभाव जीव के स्वभाव की मोहनीयकर्मोदयजन्य विकृत अवस्था है। पदार्थ मे अन्य पदार्थ के निमित्त से जो विकार पैदा होते हैं वे विकार्य पदार्थ का अस्तित्व होनेपर हि होते हैं-उसके अभाव में विकारों का होना-अस्तिरूप बनना नितान्त असम्भव है। अतः विभावों से आत्मस्वभाव के निःसंदेहास्तित्व का पता चलता है। ऐसे वैभाविकभावों के द्वारा हि वस्तुतः आत्मा का स्वभाव आच्छादित हुआ है। जो वस्तु आच्छादित होती है उसका अनुभव में आना सभव नहीं है। हां! आत्मज्ञानियों की उपासना से यह आत्मा का प्रच्छन्न एकत्व सुननेमें, परिचय में और अनुभव में आ सकता है। अतः आत्मस्वभाव विभावभावों से यद्यपि प्रच्छन्न हो गया होता है तो भी उसकी प्राप्ति का आत्मज्ञ पुरुषों की सेवा भी एक उपाय है। यहां मोहनीयोदयजन्य जीव के विभावभावों का अज्ञानी अत एव असमर्थ जीवोंपर बडा भारी प्रभाव होता है और उनके इस प्रभाव के कारण से हि जीव अपने शुद्धस्वभाव को भूल जाता है और उसको प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः मुमुक्षु जीव को विभावभावरूप से परिणत नहीं होना चाहिये।

अत एव एत-(त्त)-स्योपदर्श्यते। (इसी कारण से आत्मा का यह एकत्व उसीको बताया जाता है।)

तं एयत्तविहत्तं दाए हं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥ ५ ॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेऽहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ- (तं) उस (एकत्वविभक्तं) स्वरूपस्थित, विभावभावों से और द्रव्यकर्मों से भिन्न होनेसे भिन्नस्वभाववाले पदार्थों से भिन्न आत्मा का (आत्मनः) अपनी आत्मा के (स्वविभवेन) स्वशक्तिरूप स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा (अहं) मैं (दर्शये) बताऊंगा (यदि) यदि (दर्शयेयं) स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा को बताऊं तो (प्रमाणं) स्वसंवेदनज्ञान से, तर्क से, परम गुरुओं के उपदेश से परीक्षा करके प्रमाणभूत बनाकर (गृहीतव्यं) ग्रहण करना, (यदि स्खलेयं) और यदि कहींपर चूक जाऊं-भूल जाऊं तो (छलं) भूल को (न गृहीतव्यम्) न पकडना अर्थात् छोड देना-स्वीकार न करना।

आ. ख्या.- इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा, समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलम्बनजन्मा, निर्मलविज्ञानघनान्तर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा, अनवरतस्यन्दिसुन्दरानन्दमुद्रितामन्दसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा

च यः कश्चन अपि मम आत्मनः स्वः विभवः तेन समस्तेन अपि (अयं ?) अमुं एकत्व-विभक्तं आत्मनं दर्शये अहं इति बद्धव्यवसायः अस्मि । किन्तु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम् । यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैः भवितव्यम् ।

त. प्र.— इह अस्मिन्संसारे । किल निश्चयेन । सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा-सकलं निखिलपदार्थजातमुद्भासि प्रकटीकरणस्वभावम् । 'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीलार्थे णिन् । उद्भासयितुं शीलमस्येत्युद्भासि । सकलपदार्थानुद्भासयितुं शीलमस्येति सकलोद्भासि । सकलोद्भासि च तत्स्यात्पदं च सकलोद्भासिस्यात्पदम् । "क्षिसञ्ज्ञकोऽयं स्याच्छब्दो युक्तोऽनेकान्तसाधकः । निपातनात्समुद्भूतो विरोधध्वंसको मतः ।। केवलज्ञानसम्मिश्रो दिव्यध्वनिसमुद्भवः । अत एव क्षिसञ्ज्ञोऽयं सर्वज्ञैः परिभाषितः ।। सिद्धमन्त्रो यथा लोके एकोऽनेकार्थदायकः । स्याच्छब्दोऽपि तथा ज्ञेयः एकोऽनेकार्थसाधकः ।।" इत्येवमुक्तलक्षणं यत्सकलोद्भासिस्यात्पदं तेन मुद्रितमङ्कितं च तच्छब्दब्रह्म च । शब्दात्मकं ब्रह्माध्यात्मशास्त्रं शब्दब्रह्म । 'ब्रह्म क्लीवं श्रुतिज्ञानेऽप्यध्यात्मतपसोरपि' इति विश्वलोचने । तस्य यदुपासनं तदध्ययनमग्नचित्तत्वम् । तस्माज्जन्मोद्भवो यस्य स. । स्याद्वादविद्यासाधितात्मस्वरूपद्रव्यश्रुतनिरन्तराध्ययनोद्भवो विभवः आत्मन इत्यर्थः । समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलम्बनजन्मा-समस्ताः सकलाः ये विपक्षाः विरोधिमतान्तराणि तेषां क्षोदे खण्डने क्षमा समर्था याऽतिनिस्तुषा निखिलदोषकुलविकला युक्तिर्न्याय । तस्या अवलम्बनादाश्रयणाज्जन्म प्रादुर्भावो यस्य सः । शुद्धात्मविपरीतस्वरूपप्रतिपादकदर्शनान्तराभिमतजीवस्वरूपपरिहरणसमर्थात्यन्तनिर्दोषन्यायाश्रयणप्रादुर्भावो विभव इत्यर्थः । निर्मलविज्ञानघनान्तर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा—निर्मलं निर्दोषं शुद्धं च तद्विज्ञानं च निर्मलविज्ञानम् । तस्य घनः पिण्डो निर्मलविज्ञानघन । तत्रान्तर्निमग्नं स्वशुद्धात्मस्वभावे स्थिरीभूतम् । पराः केवलिनश्चापराः गणधराचार्यादयश्च । तैः प्रसादीकृत निर्मलीकृतमुपायनीकृतं प्रदिष्टं वा परापरगुरुप्रसादीकृतम । यद्वा निर्मलविज्ञानघनान्तर्निमग्नैः परापरगुरुभि प्रसादीकृत निर्मलीकृत प्रदिष्टं वा । तच्च तद्‌आत्मतत्त्वमात्मन शुद्धमसाधारणं स्वरूपम् । तस्यानुशासनादुपदेशात्तत्प्राप्त्यनुकूलानुष्ठानाद्वा जन्म प्रादुर्भावो यस्य स । अनवरतस्यन्दिसुन्दरानन्दमुद्रितामन्दसंविदात्मकस्वसंवेदन—जन्मा—अनवरतमविच्छेदेन स्यन्दी प्रसृमरः सुन्दर. शुद्ध आनन्दोऽनिर्वाच्य सुखातिशयोऽनवरतस्यन्दिसुन्दरानन्द. । तेन तत्र वा मुद्रिता स्थिरीकृता याऽमन्दा निर्दोषाऽविकला या संविज्ज्ञानं तदात्मकं तद्रूपं यत् स्वसंवेदनं स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानं तस्माज्जन्माविर्भावो यस्य सः । यः कश्चनापि वाचामगोचर स्वः स्वकीयः । स्वस्यात्मनः इत्यर्थः । ममात्मनो विभव. सामर्थ्यं तेन समस्तेनाऽपि सम्पूर्णेनापि सामर्थ्येनामुमेकत्वविभक्त स्वस्वरूपस्थितत्वात्परद्रव्यस्वरूपेणापरिणमनाद् द्रव्यकर्मनिमित्तकविभावभावेभ्यो भिन्नत्वाद्विभक्तं निखिलपरद्रव्येभ्यो विभक्तं विभिन्नमात्मानं दर्शयेऽहं दिदृक्षून् ज्ञापयामि जिज्ञासूनिति बद्धव्यवसायोऽस्मि कृतनिश्चयोऽस्मि । किन्तु यदि दर्शयेयमात्मन एकत्वविभक्तत्वं प्रकटीकुर्वेऽहं तदा तत्स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण स्वसंवेदनप्रत्यक्षविषयीकृत्य परीक्ष्य पर्यालोच्य प्रमाणीकर्तव्यं निर्विशङ्कं श्रद्धेयम् । यदि तु स्खलेयं मुह्येयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैः दोषग्रहणे दत्तावधानैर्भवितव्यं भाव्यम् ।

टीकार्थ— इस संसार में निश्चितरूप से संपूर्णपदार्थों को प्रकट करनेवाले 'स्यात्' इस पद की जिसपर मुद्रा लगी हुई है अर्थात् स्याद्वादन्याय का आश्रय कर प्रतिपादित किये गये शब्दात्मक—द्रव्यश्रुतात्मक अध्यात्मशास्त्र की उपासना में-उसके अध्ययन में लगातार लगे रहनेसे प्रकट होनेवाला, संपूर्ण विरोधि अन्यमतों का खण्डन करने-में समर्थ और निर्दोष युक्तियों का-न्याय का अवलंबन करनेसे व्यक्त होनेवाला, निर्मल ज्ञान के पिण्ड में अन्तर्मग्न भगवान् तीर्थंकररूप परमगुरुओं ने और गणधरादिसदृश अपरगुरुओं ने जिसको निर्मल बनाया ऐसे या जिसके विषय में उपदेश दिया ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अनुकूल आचरण से प्राप्त होनेवाला, अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित होकर विकसित होनेवाले शुद्ध और अनिर्वाच्य आनन्द में स्थिर हुए निर्दोषज्ञानस्वरूप जो स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान उससे व्यक्त होनेवाला जो शब्दों के द्वारा न कही जाय ऐसी मेरी आत्मा की जो सामर्थ्य उस संपूर्ण सामर्थ्य से भी इस स्वरूपस्थित, परद्रव्य के स्वरूप से परिणत न होनेवाला, अपने विभावभावों से भिन्न होनेसे अन्यपदार्थों से भिन्न ऐसे एकत्वविभक्त आत्मद्रव्य को प्रकट करनेका मैंने निश्चय किया है। यदि मैं इस आत्मसामर्थ्य को बताऊं तो जिज्ञासुओं को स्वानुभवप्रत्यक्ष के—स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा परीक्षण करनेके बाद प्रमाणभूत बनाकर निःशंकरूप से उसका श्रद्धान करना चाहिये। यदि मैं भूल करूं तो उस भूल को जानने में दत्तावधान नहीं होना चाहिये।

विवेचन— ग्रंथकार भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य का और टीकाकार भगवान् अमृतचन्द्रसूरीश्वर का कहना यह है कि आत्मा का एकत्वविभक्तत्व विकलप्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जाना जा सकता; क्यों कि वह इंद्रियगोचर नहीं हो सकता। उसको जाननेके लिये विशिष्ट आत्मसामर्थ्य की आवश्यकता होती है। इस सामर्थ्य की प्राप्तिके लिये निरन्तर अध्ययनादि की आवश्यकता होती है। स्याद्वादविद्या सपूर्ण पदार्थों को जानने का एक अमोघ साधन है। वह पदार्थों के अनन्तधर्मात्मकत्व की सिद्धि कर सकती है। इस से द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से और पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से अथवा निश्चयनय की दृष्टि से और व्यवहारनय की दृष्टि से उत्पन्न होनेवाले विरोध का सुतरां परिहार हो जाता है। इस विद्या का केवलज्ञान के साथ संबंध है और दिव्यध्वनि से इसका प्रादुर्भाव हुआ है। अध्यात्मशास्त्र में आत्मा का स्वरूप स्याद्वादविद्यारूप अमोघ साधन से व्यक्त किया गया है। अतः आत्मविषयक ग्रंथों में प्रतिपादित आत्मस्वरूपात्मकविषय के लगातार किये जानेवाले अध्ययन और चिन्तन से उक्त विशिष्ट सामर्थ्य आत्मा में व्यक्त होती है। जैनदर्शन में आत्मा का जो स्वरूप व्यक्त किया गया है उसको स्वीकार न करनेवाले और अपनी अपनी दृष्टि से आत्मा का स्वरूप बताकर जैनदर्शनाभिमत आत्मस्वरूप का विरोध करनेवाले अनेक विपक्षभूत दर्शन हैं। ऐसे समस्त विरुद्ध पक्षों का खंडन करने में समर्थ ऐसी निर्दोष युक्तियों का अवलंब करनेसे जैनदर्शनाभि-मत आत्मस्वरूप की सिद्धि हो जाती है। उसकी सिद्धि हो जानेपर तद्विषयक श्रद्धान दृढ हो जानेसे तदनुकूल अनुष्ठान से आत्मा में भेदज्ञान जैसी विशिष्ट सामर्थ्य प्रादुर्भूत हो जाती है। निर्मल ज्ञानपुंज में अर्थात् आत्मस्वभावभूत ज्ञान में निमग्न हुए अर्थात् उसके साथ एकरूप बने हुए तीर्थंकर भगवान् जैसे परमगुरुओं के और गणधरादि जैसे अपर-गुरुओं के द्वारा उपदेश के रूप से प्रकट किये गये शुद्ध आत्मा के स्वरूप के अनुकूल चारित्र से आत्मा की वह विशिष्ट सामर्थ्य प्रादुर्भूत होती है। अविच्छिन्नरूप से प्रादुर्भूत होनेवाले शुद्ध आनंद से युक्त निर्मलज्ञानस्वरूप स्वसंवेदनज्ञान से वह विशिष्ट सामर्थ्य आत्मा में प्रादुर्भूत होती है। सारांश, आत्मस्वरूपप्रतिपादक अध्यात्मशास्त्र के निरन्तर अध्ययन से, चिन्तन से और निदिध्यासन से, विरोधियों के द्वारा प्रणीत विपरीत आत्मस्वरूप का खण्डन करनेवाली युक्तियों का अर्थात् न्यायसिद्धान्तों का अवलंबन करने से अर्थात् न्याय का अवलंबन करके परदार्शनिकों का खण्डन किया जानेपर स्वाभिमत आत्मस्वरूप की सिद्धि हो जानेसे तद्विषयक श्रद्धान दृढ हो जानेसे, आत्मानु-भूतिनिमग्न परापरगुरुओं के द्वारा शुद्धात्मस्वरूप के विषय में दिये जानेवाले उपदेश को सुननेसे और तदनुरूप आचरण करने से, और शुद्ध आनंदयुक्त शुद्धज्ञानस्वरूप स्वसंवेदन से आविर्भूत होनेसे आत्मा में विशिष्ट सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता है। इसप्रकार की सामर्थ्य ग्रंथकार में और टीकाकार में प्रादुर्भूत हुई होनेसे उस सामर्थ्य से वे आत्मा का एकत्वविभक्तत्व बता रहे हैं। उनका कहना यह है कि यद्यपि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से आत्मा का एकत्वविभक्तत्व प्रकट किया जा रहा है तो भी स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा उस एकत्वविभक्तत्व का परीक्षण करनेके बाद हि उसका

स्वीकार करना चाहिये। यदि उस एकत्वविभक्तत्व को यथार्थरूप से बताने में भूल हुई हो तो स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान-वालों को चाहिये कि वे उस भूल का स्वीकार न करें और दोषापादन में दत्तावधान न बने।

कहने का भाव यह है– आचार्य भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव के (और अमृतचंद्रसूरीश्वर के) ज्ञान में चार प्रकार से विशेषता उत्पन्न हो गयी थी। (१) आचार्यश्री के ज्ञान में विशेषता उत्पन्न करनेवाला परमागम था और वह भी एकान्तवादियों का आगम नहीं था। अन्य दर्शनिकों के आगम में एकान्ताश्रित युक्तियों से विषय का प्रतिपादन पाया जाता है। एकान्त करने से वस्तु का निर्णय कदापि नहीं हो सकता। जिनागम में एकान्त का आश्रय किया न जानेसे वह एकान्तवादियों के आगम से भिन्न है। जिनागम में स्याद्वाद का आश्रय किया गया होता है। यह स्याद्वाद संपूर्ण पदार्थों को संपूर्णतया जाननेमें सहायक होता है। स्याद्वाद स्वरूपादिचतुष्टय से पदार्थों का अस्तित्व और पररूपादिचतुष्टय से उसका पररूपेण नास्तित्व सिद्ध करता है। ऐसे स्याद्वादाश्रित जिनागम की उपासना करनेसे–उसका अनवरत स्वाध्याय, चिन्तन, मनन और निदिध्यास करनेसे उन्हें शुद्ध आत्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हुआ था। (२) उन्होंने जिन ग्रन्थों का स्वाध्याय-मनन-आदि किया था वे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के शुद्ध ज्ञानघनैकस्वभाव के प्रतिपादक थे। आत्मा का शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव साध्य होता है और आत्मा धर्मी या पक्ष होती है। अन्यदर्शनिकों के द्वारा स्वीकृत आत्मस्वभाव जिनागमोक्तस्वभाव से विपर्यस्त और युक्तिसिद्ध और अनुभवसिद्ध न होनेसे विपर्यस्त स्वभाव की धारक कही जानेवाली आत्मा विपक्ष है। ऐसे समस्त विपक्षों का क्षोद–चूर्ण–प्रतिवाद–निराकरण–खंडन करनेमें समर्थ, अत्यन्त निर्बाध युक्तियों का अवलंब करनेसे व्यक्त हुए विभव के-सामर्थ्य के वे धारक थे। (३) संपूर्ण घातिकर्मों का क्षय होनेपर व्यक्त होनेवाले निःशेषदोषरहित विशिष्ट अर्थात् असहाय संपूर्णविकसित ज्ञान के धारक पर और गणधरादि जैसे अपर गुरुओं ने दूसरे जीवों का उपकार करनेकी दृष्टि से दिया हुआ जो शुद्ध आत्मतत्त्व का उपदेश उसे सुनकर उससे व्यक्त होनेवाले स्वविभव के-आत्मसामर्थ्य के आचार्य भगवान् धारक थे। यहां साक्षात् उपदेश हि अभीष्ट है। (४) सतत झरनेवाला-व्यक्त होनेवाला आस्वाद्य सुंदर-वास्तव-स्वाभाविक-शुद्ध आनन्द से परिपूर्ण–आनन्द से युक्त ज्ञानरूप स्वसंवेदन से-आत्मानुभूति से व्यक्त होनेवाले विभव के-सामर्थ्य के आचार्यभगवान् धारक थे। आचार्यश्री ने अपने ज्ञान में विशेषता उत्पन्न करनेवाली कुल चार बातें बताई है। प्रथम बात यह है कि जिस आगम में आत्मतत्त्व का विवेचन सकल पदार्थों का स्वरूप जाननेमें सहायभूत स्याद्वाद से किया गया होता है ऐसे आगम की निरंतर उपासना-अध्ययन, वाचन, चिंतन आदि आचार्यश्री ने की थी और उस उपासना के द्वारा आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त किया था और उसी ज्ञान को उन्हों ने युक्ति के बलपर सिद्ध किया था। आत्मानुभविमुनियों का आत्मा के विषय में उन्हें उपदेश मिला था और उन्होंने शुद्ध आत्मा का अनुभव भी किया था। सारांश, आगम, युक्ति, उपदेश और स्वानुभव के बलपर आचार्यश्री ने आत्मविषयक इस ग्रंथ की रचना की थी। अतः इस ग्रथ में प्रतिपादित आत्मविद्या के विषय में शंका को कोई स्थान नहीं है। उक्त कथन से एक यह भी अभिप्राय व्यक्त होता है कि मुमुक्षु जीव को अध्यात्मशास्त्र का निरन्तर अध्ययनादि, अन्य दर्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित आत्मस्वरूप का प्रतिवाद करके जिनोक्त आत्मस्वरूप की सिद्धि करना, आत्मज्ञानी जीवों के द्वारा किये गये आत्मविषयक उपदेश को दत्तचित्त होकर सुनना और आत्मस्वरूप का अनुभव करना आवश्यक है; क्यों कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति में इन बातों की नितरां आवश्यकता होती है।

'कोऽसौ शुद्ध आत्मा?' इति चेत्–; ('यह एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा कौन है?' ऐसा प्रश्न हो तो–)

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

नैव भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणन्ति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ– (**यः**) जो (**भावः**) जीवरूप पदार्थ (**ज्ञायकः तु**) ज्ञायक हि होता है वह (**न प्रमत्तः**) प्रमत्त होता हि नही और (**अप्रमत्तः**) अप्रमत्त (**नैव भवति**) भी होता हि नहीं । (**एवं**) इस प्रकार जो ज्ञायकभाव प्रमत्त और अप्रमत्त होता हि नहीं उसे (**शुद्धं**) शुद्ध (**भणन्ति**) कहते हैं । (**तु**) और (**यः**) जो प्रमत्त और अप्रमत्त होता हि नहीं ऐसा ज्ञायकभाव (**ज्ञातः सः**) जो ज्ञायकभावरूप से जाना गया होता है वह (**स एव**) ज्ञेयनिष्ठ होनेंपर भी ज्ञायक हि होता है । [**उसका ज्ञायकत्व दूषित नहीं होता ।**]

[कहने का भाव यह है कि एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा शुद्धनिश्चय की दृष्टि से प्रमत्त होती हि नहीं और अप्रमत्त भी होती ही नहीं फिर भले हि वह कर्मों से संश्लिष्ट हुई हो । दूसरी बात यह है कि ज्ञेय का असाधारण स्वरूप ज्ञान में प्रतिबिंबित के समान स्थित होनेपर भी आत्मा का ज्ञायकत्व बना हि रहता है-दूषित नहीं होता; क्यों कि ज्ञेय के असाधारणस्वरूप के ज्ञान के रूप से परिणत होनेपर भी ज्ञायक का ज्ञान विभावरूप से कदापि परिणत नहीं होता-उसका वह परिणमन स्वभावपर्यायरूप हि होता है ।]

आ. ख्या.– यः हि नाम स्वतःसिद्धत्वेन अनादिः अनन्तः नित्योद्योतः विशदज्योतिः ज्ञायकः एकः भावः स संसारावस्थायां अनादिबन्धपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत् कर्मपुद्गलैः समं एकत्वे अपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरन्तकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्तकानां उपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेन अपरिणमनात् प्रमत्तः अप्रमत्तः च न भवति । एष एव अशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यः भिन्नत्वेन उपास्यमानः शुद्धः इति अभिलप्यते । न च अस्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्ठनिष्ठदहनस्य इव अशुद्धत्वं, यतः हि तस्यां अवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्य इव कर्तृकर्मणोः अनन्यत्वात् ज्ञायकः एव ।

त. प्र – यो हि नाम स्वतःसिद्धत्वेन–ज्ञायकभावस्य स्वतःसिद्धत्वं तस्य विभावभाववन्निमित्तकारणजन्यत्वादनागन्तुकत्वाच्च । ज्ञायकभावस्य नैमित्तिकत्वाभ्युपगमे तस्य कादाचित्कत्वापत्तेर्विभावभाववत्तद्विनाशेऽपि तदाश्रयभूतद्रव्यविनाशासम्भव । न च तथा सम्भवति, ज्ञायकभावस्वभावस्यात्मनो ज्ञायकभावस्य स्वभावभावभूतत्वात्स्वभावनाशे स्वभाववतोऽपि नाशस्यानिवार्यत्वात् । तथा च नापि तस्यागन्तुकत्वं, तदागन्तुकत्वे तस्य जीवद्रव्याश्रयणात्पूर्वं जीवद्रव्यस्य निःस्वभावत्वापत्तेरसद्भावप्रसङ्गादसत प्रादुर्भावप्रसङ्गाच्च । नास्त्यत्र संसारे किंचिदप्यसत् प्रादुर्भूतं, सतो विनाशस्यासतः प्रादुर्भावस्यासम्भवात् । यद्यपि व्यवहारनयार्पणायां निश्चयनयानर्पणायां च स्वभावस्वभाववतोरन्योन्य कथञ्चिद्भिन्नत्वमस्ति, तथापि निश्चयनयार्पणायां व्यवहारनयानर्पणायां च तयोर्भिन्नत्वं नास्ति । अतो जीवद्रव्यस्यानादिनिधनत्ववत्तदभिन्नस्य ज्ञायकभावस्यापि जीवद्रव्यस्वभावभूतत्वात्ततोऽनन्यत्वादनादिनिधनत्वं सिध्यति । नित्योद्योतः- नित्यं उद्योतः प्रकटीभावो यस्य सः । नित्यं प्रकटतां गत इत्यर्थः । स्वभावभावभूतज्ञायकभावस्योद्योतस्य प्रकटीभवनस्य कादाचित्कत्वे जीवस्य ज्ञायकत्वं क्वचित्कदाचिच्च

स्यादन्यथा कदाचिच्च न स्यादिति क्वचित्तस्य ज्ञानवत्त्वं क्वचिच्च ज्ञानाभाववत्त्वं स्यात्। न च तद्युक्तं, संसारिणां तारतम्येन ज्ञप्तिक्रियादर्शनाज्ज्ञप्तिक्रियाविकलस्य कस्यचिददर्शनात्। विशदज्योतिः-विशदं निर्मलं ज्योतिर्ज्ञानात्मकं तेजो यस्य सः। ज्ञायकज्ञानस्य निमित्तकारणाजन्यत्वादनागन्तुकत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च नैर्मल्यं स्वार्थक्रियाकरणसामर्थ्याविकलत्वमिति भावः। ज्ञायकः— स्वपरज्ञेयज्ञप्तिक्रियाश्रयत्वाज्ज्ञप्तिक्रियाकर्ता एकः— व्यवहारनयार्पणायामात्मनोऽनन्तधर्माश्रयत्वादनेकत्वेपि निश्चयनयार्पणायामनन्तधर्माणामसाधारणधर्मभूतैकज्ञानधर्मेणाविनाभावात्तत्र तेषामन्तर्भावाज्ज्ञानस्यैकमात्रत्वात्तदाधारभूतज्ञायकभावस्याप्येकत्वम्। भावः पदार्थः। यः एको भावः स ज्ञायकः संसारावस्थायां चतुर्गतिभ्रमणावस्थायामनादिबन्धपर्यायनिरूपणया—सुवर्णपाषाणगतकिट्टसुवर्णयोरनादिसंयोगवज्जीवपुद्गलकर्मणोरनाद्येकक्षेत्रावगाहात्मकपरस्परसंश्लेषरूपानादिबन्धप्रादुर्भावितजीवविभावपरिणामदृष्टया क्षीरोदकवत्—क्षीरनीरवत्। क्षीरनीरयोरेकराशीभवनेऽपि तयोर्यथा स्वस्वभावापरित्यागादन्यतरस्वभावानुपादानादन्योन्यभिन्नत्वं तथा ज्ञायकभावस्य कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽप्येकराशीभवनेऽपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया—द्रव्यस्वभावापेक्षयाऽन्योन्यभिन्नत्वाद्दुरन्तकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन—दुरन्तं दुर्जयं च तत् कषायाणां चक्रं समूहश्च दुरन्तकषायचक्रम्। तस्योदयः फलदानसामर्थ्यप्रादुर्भावः। तस्य वैचित्र्यवशेनानेकविधत्वेन प्रवर्तमानानामुत्पद्यमानानां पुण्यपापनिर्वर्तकानां पुण्यपापात्मकद्रव्यबन्धकारिणामुपात्तवैश्वरूप्याणामुररीकृतनानाविधत्वानां शुभाशुभभावानां वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरूपाशुभार्हदादिभवितत्पोर्चश्रुतविनयादिरूपशुभरूपपरिणामात्मकजीवपर्यायाणां स्वरूपेण स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवति। अयमत्राभिप्राय — यथा क्षीरनीरसंवलनात्मको भावो न क्षीरस्य संयोगजत्वात्क्षीरस्वभावभिन्नस्वभावभिन्नत्वात्, नापि नीरस्य, तत एव नीरस्वभावभिन्नस्वभावत्वात्, तथा दुरन्तकषायचक्रोदयवैचित्र्यजन्यानां शुभाशुभभावानां संयोगजत्वाच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयार्पणायां ज्ञायकस्य जीवस्य यतो न सन्ति ततः शुभाशुभभावाना ज्ञायकभावाद्भिन्नस्वभावत्वात् ज्ञायकभावस्य स्वभावपरित्यागपूर्वकसंयोगजशुभाशुभभावस्वभावेनापरिणमनात्तथा शुभाशुभभावस्वभावेन परिणमने वा शुभाशुभभावस्वभावापत्तेर्ज्ञायकभावस्य ज्ञानस्वभावपरित्यागादज्ञायकत्वापत्तेः सुखदुःखसंवेदनाभावप्रसङ्गात् ज्ञायकभावस्य शुभाशुभभावानां च स्वस्वामिभावसम्बन्धः सम्भवति। शुभाशुभभावानां चेतनान्वितविकारत्वाच्चेतनान्वितविनार्यमन्तरेण तेषां प्रादुर्भावासम्भवात्संसारावस्थायां दुर्जयकषायचक्रोदयाक्रान्तत्वेऽपि ज्ञायकभावस्याधिगमात्तत्रावस्थायामपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया ज्ञायकभावानपगमात्तत्मन्याऽनुभूतिगोचरतामवाप्नोति। अतः प्रमत्ताप्रमत्तावस्थयोर्मोहयोगोद्भवत्वात्संयोगजत्वाज्ज्ञायकभावस्य स्वभावपरित्यागपूर्वकप्रमत्ताप्रमत्तभावस्वभावानुपादानाद्वस्तुनः प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवतीति भावः। एष एव ज्ञायक एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यः— अन्यानि जीवद्रव्याद्भिन्नानि द्रव्याणि द्रव्यान्तराणि। अशेषाणि च तानि द्रव्यान्तराणि चाशेषद्रव्यान्तराणि। तेषां भावाः परिणामाः। तेभ्यः। का। भिन्नत्वेन पृथक्त्वेनोपास्यमानः प्रतिष्ठाप्यमानः शुद्धः इत्यभिधीयतेऽभिलप्यते। शुद्धज्ञायकजीवादशुद्धजीवस्य कर्मपुद्गलानां च स्वभावादिभेदाद्भिन्नत्वम्। अतोऽशुद्धजीवपुद्गलकर्मसंश्लेषात्मकबन्धाज्जायमानानां जीवविभावपरिणामानां शुद्धजीवस्य चान्योन्यभिन्नत्वाद्बन्धजनितविभावभावेभ्यो यदात्मा भिन्नत्वेनोपास्यते प्रतिष्ठाप्यते तदा स शुद्ध इत्यभिधीयते। न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेर्दाह्यनिष्कनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वम्—दाह्यं तपनीयं च तन्निष्कं सुवर्णं च दाह्यनिष्कम्। तत्र निष्ठा प्रवेशो यस्य स दाह्यनिष्कनिष्ठदहनः। तद्वत्। यथा दाह्यनिष्कनिष्ठत्वेऽप्यग्नेर्दाहकत्वस्वभावो

याथात्म्यं न विमुञ्चति तथा ज्ञेयनिष्ठो ज्ञेयाकारज्ञानपरिणतोऽप्यात्मा ज्ञायकभावस्वभावत्वं न विमुञ्चति ज्ञेयाकारज्ञानपरिणतेर्ज्ञानस्वभावपरित्यागपूर्वकज्ञेयस्वभावानुपादानाज्ज्ञेयनिष्ठावस्थायां ज्ञायकत्वेन ज्ञातस्यात्मनः स्वरूपप्रकाशनदशायां स्वस्वभावप्रकटीकरणावस्थायां स्वस्वभावभिन्नस्वभावार्थप्रकाशकदहनस्य स्वस्वरूपप्रकाशनावस्थायामिव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वादभिन्नत्वाज्ज्ञायकः एव । अयमत्र भावः- यथा परपदार्थप्रकाशकः प्रदीपः परपदार्थप्रकाशने स्वस्वभावमपरित्यजन्स्वस्वरूपप्रकाशनावस्थायां स्वरूपप्रकाशनक्रियाश्रयत्वात्कर्ता स्वतोऽभिन्नं स्वस्वरूपं च कर्म यतो भवति ततस्तस्य कर्तृत्वकर्मत्वयोरन्योन्याभिन्नत्वात्प्रकाशकत्वं निर्बाधं, तथा स्वस्वभावभिन्नस्वभावज्ञेयार्थज्ञाता स्वरूपप्रकाशनावस्थायां स्वरूपप्रकाशनक्रियाश्रयत्वात्कर्ता स्वस्वरूपं च कर्म यतः भवति ततस्तस्य कर्तृकर्मत्वयोरन्योन्याभिन्नत्वाज्ज्ञायकत्वमात्मनो ज्ञायकस्य निर्बाधं सिध्यतीति ।।

टीकार्थ– जो स्वतःसिद्ध होनेसे अर्थात् निमित्तभूत अन्य पदार्थ के द्वारा उत्पन्न किया हुआ न होनेसे और परद्रव्य से निकलकर जीवद्रव्य के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ न होनेसे अनादि अर्थात् प्रारंभरहित–उत्पत्तिरहित और अनन्त अर्थात् अन्तरहित–विनाशरहित होता है, जिसकी प्रकटता नित्य अर्थात् अनादि काल से अनन्त कालतक अविच्छिन्नरूप से बनी रहती है, जिसका ज्ञानरूपतेज अर्थात् स्वपरपदार्थों को जाननेकी शक्ति निर्मल हुआ करता है ऐसा जो ज्ञायकरूप भाव एक अर्थात् विभावात्मकपरिणतिशून्य और परद्रव्यस्वभाव से असम्पृक्त होता है वह ज्ञायकभाव अपनी संसार अवस्था में अनादिकाल से चली आयी बन्धपर्याय की दृष्टि से क्षीरोदक के अर्थात् क्षीर और नीर के मिश्रण के समान कर्मपुद्गलों के साथ उसका एकत्व होनेपर भी अर्थात् कर्मपुद्गलों के साथ संश्लिष्ट होनेपर भी द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से अर्थात् द्रव्य का जो अपने स्वभाव को त्यागकर परस्वभावरूप से परिणत न होनेका स्वभाव होता है उसकी दृष्टि से जिनको जीतना–पराभूत करना या जिनका नाश करना कठिन है–दुःसाध है ऐसे कषायों के समूह के उदय की अर्थात् फलदानसामर्थ्य की विचित्रता से–अनेकविधता से प्रवर्तमान अर्थात् उत्पन्न होनेवाले पुण्यबंध और पापबंध करनेवाले और अनेकविधता को धारण किये हुए शुभाशुभपरिणामों के स्वभावों के रूप से परिणत न होनेसे प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं होता । यही जीव का ज्ञायकभावरूप परिणाम जब अन्यपदार्थों के परिणामों से भिन्नरूप सिद्ध किया जाता है तब 'वह शुद्ध है' ऐसा कहा जाता है । तपाने योग्य सुवर्ण में प्रविष्ट हुई जो अग्नि होती है उसका दाहकभाव जिसप्रकार अशुद्ध नहीं बनता–उसकी दाहकता में न्यूनाधिकता नहीं होती–वह दूषित नहीं होती उसीप्रकार जीव की सिर्फ ज्ञेयनिष्ठता के कारण उसके ज्ञायकत्व की सिद्धि हो जानेसे उसकी अशुद्धता नहीं सिद्ध होती; क्यों कि उस ज्ञेयनिष्ठ अवस्था में जो ज्ञायकरूप से जाना जाता है वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करनेकी अवस्था में प्रदीप के समान कर्ता और कर्म में अभेद होनेसे ज्ञायक हि बना रहता है ।

विवेचन– संसार में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि जो असत् होनेपर भी उत्पन्न होता हो और जिसका निरन्वय विनाश होता हो । अतः संसार का हरएक पदार्थ अनादिनिधन है । पदार्थ का स्वभाव स्वतः सिद्ध होता है–वह पदार्थ का न निमित्तजन्य भाव होता है और न अन्यपदार्थ को छोडकर किसी पदार्थ के साथ अभेद अवस्था को प्राप्त हुआ होता है । वह पदार्थ के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ होता है । अतः जिसप्रकार द्रव्य अनादि होता है उसीप्रकार उसका स्वभाव भी अनादि होता है और जिसप्रकार द्रव्य अनंत–अविनश्वर होता है उसीप्रकार उसका स्वभाव भी अनन्त–अविनश्वर होता है । यदि पदार्थ के स्वभाव को नैमित्तिकभाव माना तो वह कादाचित्क–अनित्य बन बैठेगा और उसकारण उसका विनाश भी हो जायगा । उसके विनाश से द्रव्य का भी वह निःस्वभाव बन जानेसे विनाश हो जायगा । यदि वह अपने द्रव्य को छोडकर किसी अन्य द्रव्य के साथ एकरूप हो जाना है ऐसा माना तो जिसको छोडेगा वह निःस्वभाव बन जानेसे विनष्ट हो जायगा और जिसके साथ वह एकरूप होगा वह एकरूप होनेसे पहले निःस्वभाव होनेसे अस्तित्व नहीं रहेगा । अतः पदार्थ के स्वभाव को पदार्थ के समान अनादिनिधन मानना हि

होगा । यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि से स्वभाव और स्वभाववान् इनमें कथंचित् भेद होता है तो भी निश्चयनय की दृष्टि से उन दोनों में तादात्म्य होनेसे भेद नहीं होता है । अतः जिसतरह द्रव्य अनादिनिधन होता है उसीतरह द्रव्य के साथ तादात्म्य संबंध से युक्त स्वभाव भी अनादिनिधन होना हि चाहिये और है भी । द्रव्य का स्वभाव यदि सदाके लिए उद्योतमान न हो तो द्रव्य का अस्तित्व भी सदाके लिए नहीं रहेगा। द्रव्य कभी २ सद्भावयुक्त रहेगा और कभी २ उसका अभाव भी हो जायगा जो कि कदापि सम्भवनीय नहीं हो सकता । अतः स्वभाव सदाके लिए द्योतमान-प्रकट हि मानना चाहिये । स्वभाव का प्रकाश भी विशद निर्मल होना चाहिये; क्यों कि यदि स्वभाव में विशदता न हो तो स्वभाव और स्वभाववान् का असंदिग्ध ज्ञान नहीं होगा । अतः द्रव्य का स्वभाव विशद होना चाहिये । यहांपर और भी एक बात विचारणीय है और वह यह है कि अवस्थान्तर को प्राप्त हुए द्रव्य का स्वभाव भी जब अवस्थान्तर को प्राप्त होता है–परिणत हो जाता है तब उस स्वभाव की अनादिनिधनता कैसे मानी जाय ? इसका समाधान यह है कि भले हि उसके स्वभाव की कितनी भी परिणतियां हो जाय किन्तु उस द्रव्य का और उसके स्वभाव का अभाव कदापि नहीं हो सकता; क्यों कि परिणामी के अस्तित्व के विना उसके परिणाम्यन्वित परिणामोंका अस्तित्व हो हि नहीं सकता । अतः द्रव्य अनादिनिधन होनेसे उसका स्वभावभूत भाव भी अनादिनिधन होना हि चाहिये । पुद्गलद्रव्य की और उसके रूपित्वस्वभाव की अनन्त अवस्थाए-परिणतियां होनेपर भी पुद्गलद्रव्य और उसका रूपित्वस्वभाव बना हि रहता है–उनका तुच्छाभाव कदापि नहीं होता । अब आत्मद्रव्य और उसके ज्ञायकभावरूप स्वभावपर विचार किया जाता है । आत्मा भी द्रव्य है और ज्ञायकभाव उसका स्वभाव है । आत्मद्रव्य अनादिनिधन होनेसे उसका ज्ञायकभावरूप स्वभाव भी उसके साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ होनेसे अनादिनिधन है। आत्मा का यह स्वभाव आत्मद्रव्य अनादि होनेसे जिसप्रकार अनादि होता है उसीप्रकार आत्मद्रव्य अनिधन–अविनश्वर होनेसे यह स्वभाव भी अविनश्वर होता है । आत्मा का ज्ञायकभाव स्वतः सिद्ध होनेसे अर्थात् निमित्तजन्य और आगन्तुक न होनेसे अनादि और अनन्त होता है । यदि ज्ञायकभावरूप आत्मस्वभाव को नैमित्तिकभावरूप अर्थात् विभावभाव के समान निमित्तजन्य माना तो वह विभावभाव के समान कादाचित्क बन जायगा; क्यों कि निमित्त मिल जानेपर विभावभाव के समान वह उत्पन्न होगा और निमित्त के हट जानेपर उसका विभावभाव के समान नाश भी हो जायगा । ज्ञायकभावरूप यह आत्मस्वभाव कादाचित्क बन जानेपर उसका आश्रयभूत जीवद्रव्य भी कादाचित्क बन जायगा । अर्थात् जीवद्रव्य का कभी तुच्छाभावरूप विनाश हो जायगा और असत् बने हुए उसकी कभी उत्पत्ति हो जायगी । ऐसा होनेसे जीव बौद्धों की तरह सिर्फ उत्पादव्ययात्मक मानना होगा; क्यों कि उक्त प्रकार से असद्रूप उसकी उत्पत्ति और तुच्छाभावरूप उसका विनाश होनेसे प्रत्यभिज्ञान के निमित्तभूत द्रव्य का अभाव हो जाता है । किन्तु जीवद्रव्य का सिर्फ उत्पादव्ययात्मकत्व प्रतीति के विरुद्ध पड़ता है; क्यों कि संसारावस्थाम अनेकानेक परिणतियां होनेपर भी उसके विषय में एकत्व का प्रत्यभिज्ञान होता है । यदि जीव के ज्ञायकभावरूप स्वभाव को आगन्तुक माना तो अपने स्वभाववान् द्रव्य को छोडकर जीवके साथ मिल जानेके पहले जीवद्रव्य को निःस्वभाव मानना पडेगा, जो कि असम्भव है; क्यों कि जो निःस्वभाव होता है उसका अस्तित्व हि नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि जिस द्रव्य को वह स्वभाव छोड देगा वह द्रव्य भी निःस्वभाव बन जायगा और निःस्वभाव बन जानेसे उसका अभाव हो जायगा । इस संसार में एक भी द्रव्य निःस्वभाव नहीं पाया जाता । जब ज्ञायकभावरूप स्वभाव जीव द्रव्य के साथ मिल जानेके लिये आवेगा तब निःस्वभावत्व के कारण जीवद्रव्य का अभाव होनेसे वह किसके साथ मिल जायगा ? ऐसी अवस्था में भी जीवद्रव्य के साथ वह मिल जाता है ऐसा माना तो असत् जीवद्रव्य की उत्पत्ति होती है ऐसा मानना होगा जो कि असंभव है । अतः जीवद्रव्य के ज्ञायकभावात्मक स्वभाव को स्वतःसिद्ध मानना हि होगा । यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि से जीवद्रव्य और ज्ञायकभावरूप स्वभाव इनमें कथंचित् भेद होता है तो भी निश्चयनय की दृष्टि से उनमें अभेद होता है । अतः जीवद्रव्य जिसतरह अनादिनिधन होता है उसीतरह जीवद्रव्य के साथ तादात्म्यसंबंध से युक्त उसका ज्ञायकभावरूप स्वभाव भी अनादिनिधन होना हि चाहिये और है भी । यदि जीवद्रव्य का स्वभाव सदाके लिए उद्योतमान–प्रकट होकर रहनेवाला न हो तो जीवद्रव्य का

अस्तित्व भी सदाके लिए नहीं रहेगा। जीवद्रव्य का कभी २ सद्भाव भी रहेगा और कभी २ उसका अभाव भी होगा जो कदापि संभव नहीं हो सकता। यदि जीवद्रव्य में ज्ञायकभाव का कभी कभी सद्भाव और कभी कभी उसका अभाव होनेपर भी जीवद्रव्य बना रहता है ऐसा माना तो जीव कभी ज्ञानवान् और कभी अज्ञानी-ज्ञानशून्य मानना पडेगा जो कि असंभव है। इस दृष्टि से तो अग्नि का दाहकस्वभाव भी कादाचित्क बन जायगा—वह कदाचित् दाहकभाव से युक्त होगा और कदाचित् दाहकभाव से रिक्त होगा—शीतलस्वभाव होगा जो कि नितरां असंभव है और प्रतीति के विरुद्ध पडता है। क्या किसीने कभी अग्नि में शीतलता का अनुभव किया है? यदि ऐसा होता तो ग्रीष्मकाल में भी उष्णता की निवृत्ति के लिए अग्निका भी उपयोग किया जाता। सारांश, जीवद्रव्य का ज्ञायकभाव कादाचित्क न होकर सनातन है यह अभिप्राय सुतरां स्पष्ट हो जाता है। संसारावस्था में भी जीव की यथाशक्ति ज्ञप्ति-क्रिया—ज्ञेयार्थ जानने की क्रिया दिखाई देती है; उस क्रिया से शून्य जीव देखनेमें नहीं आता, फिर भले हि उसकी जानने की क्रिया में तारतम्य पाया जाता हो। अतः जीवद्रव्य का ज्ञायकभावरूपस्वभाव सदाके लिए द्योतमान—प्रकट होकर रहनेवाला हि मानना चाहिये। ज्ञानवान् इस आत्मा का ज्ञायकभाव निमित्तजन्य और आगन्तुक न होनेसे और स्वाभाविकभाव होनेसे उसमे निर्मलता होती है—अपनी अर्थक्रिया करनेकी सामर्थ्य से युक्त होता है-ज्ञेयार्थों को जानने की शक्ति से वह संपन्न रहता है। निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञायकभाव यह जीव का एक हि स्वभाव है। यही स्वसंवेद्यशुद्ध—आत्मा का स्वरूप है। व्यवहारनय भेदप्रधान होनेसे उसकी दृष्टि से आत्मा यद्यपि रत्नत्रयात्मक मानी जाती है तो भी निश्चयनय की दृष्टि से वह रत्नत्रयात्मक नहीं है—वह सिर्फ ज्ञायकभावरूप एक स्वभाववाली हि है। इसप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से यद्यपि आत्मा अनन्तधर्मात्मक है तो भी निश्चय की दृष्टि से वह ज्ञायकभावरूप एक धर्मवाली हि है। अनन्तधर्मों का ज्ञानमात्रस्वभाव के साथ अविनाभाव होनेसे वे अनन्त धर्म ज्ञायकभावात्मक स्वभाव मे अन्तर्भूत हो जाते है। ज्ञानमात्ररूप शक्ति से अनन्त शक्तियां प्रादुर्भूत होती है। अतः आत्मा ज्ञानमात्रस्वभाववाली है।

जब आत्मा निर्विकल्पसमाधिरत होती है—उसमे तन्मय हो जाती है तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो की एकतारूप से परिणति हो जाती है और वह एकत्वरूप परिणति ज्ञायकभाव कही जाती है। यह समाधि ससारी आत्मा की कादाचित्क अवस्था है; क्यों कि क्षपकश्रेणीवाले जीव में वह उत्पद्यमान होती है और उपशमश्रेणीवाले जीव में वह उत्पन्न होकर विनष्ट भी हो जाती है।

संसारावस्था मे जीव अनादिकाल से कर्मपरमाणुओं के साथ बध अवस्था को प्राप्त हुआ है और उस बंध के कारण ससारी जीव की अनन्त अशुद्ध पर्याये होती है। हरएक पर्याय में जीव का अर्थात् उससे अभिन्न ज्ञायकभावरूप स्वभाव का कर्मपुद्गलों के साथ सश्लेष मिश्रण-परस्परक्षेत्रावगाहन दूध और जल के मिश्रण के समान होता है। दूध में जल के मिलाये जानेपर दूध शुद्ध दूध की अपेक्षा दूध नहीं रहता और न वह जल भी बन जाता है-जलरूप से परिणत हो जाता है। यदि वह अपने स्वभाव को पूर्णरूप से छोडकर जलस्वभाव के रूप से परिणत होने लगा या जल अपने स्वभाव को पूर्णरूप से छोडकर दुग्धस्वभाव के रूप से परिणत होने लगा तो दूध और जल का मिश्रण या तो केवल जलरूप बन जायगा या केवल दुग्धरूप बन जायगा। यह मिश्रण वस्तुतः न सिर्फ दुग्धरूप होता है और न सिर्फ जलरूप भी होता है। वह दोनों की एक विभिन्न अवस्थारूप होता है। यदि जल दुग्धरूप से परिणत होने लग जाँय तब जल के मिलाये जानेपर दूध की हि वृद्धि होगी, दुग्धजल की विभिन्न अवस्था निर्माण नहीं होगी। किन्तु होती है तीसरी अवस्था जरूर। अतः यह स्पष्ट है कि दूध और जल मिश्रित होनेपर भी अपने अपने स्वभाव को कभी छोडते नहीं और इसी कारण से हंस दूध को जल से अलग कर सकता है। इसीतरह आत्मा और कर्मपरमाणु एकक्षेत्रावगाही बन जानेपर भी अपने अपने स्वभाव को छोडते नहीं। यदि कर्मपुद्गल अपने स्वभाव को छोडने लग जाँय और वे आत्मस्वभावरूप से परिणत होने लग जाँय, तो कर्म के साथ मिल जानेपर भी आत्मा की विकृत अवस्था कदापि नहीं होगी। आत्मा की विकृत अवस्थाएं तो देखनेमें आती है। इसीतरह आत्मा भी अपने स्वभाव को छोडकर पुद्गलकर्मस्वभावरूप से परिणत नहीं होती। यदि आत्मा ने

अपने स्वभाव को छोड दिया और पुद्गलकर्मस्वभावरूप से परिणत होने लगी तो आत्मा बिलकुल जडरूप बन जायगी। किंतु आत्मा की इस प्रकार की परिणति देखनेमें नहीं आती। अतः संश्लिष्ट–एकक्षेत्रावगाही बन जानेपर भी आत्मा और पुद्गल अपने अपने स्वभाव को नहीं छोडते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और पुद्गलों का मिलाप दूध और जल इनके मिश्रण के समान है। इस ससंसार अवस्था में जीव और कषायसंज्ञक द्रव्यकर्म इनका संश्लेष सुवर्णपाषाणगत सुवर्ण और किट्ट के संश्लेष के समान अनादिकाल से चला आया है। जब तक जीव मिथ्यादृष्टि होता है तब तक उसका दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्रमोह की अनन्तानुबन्धिसंज्ञक चार प्रकृतियों के साथ संश्लेष होता है। सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाद भी अप्रत्याख्यानसंज्ञक, प्रत्याख्यानसंज्ञक और संज्वलनसंज्ञक कर्मप्रकृतियों का यथासंभव जीव के साथ संश्लेष होता है। ये चारों प्रकार के कषाय अपने उदयगत वैचित्र्य से अर्थात् फल देने की सामर्थ्य के वैचित्र्य से नानाविध शुभ और अशुभ परिणामों की जीव में सृष्टि करते हैं। इन्हीं परिणामो के कारण जीव के यथासंभव पुण्यबंध या पापबंध होता है। शुभपरिणाम से पुण्यबंध होता है और अशुभ परिणामों से पापबंध होता है। मिथ्यादृष्टि जीव के सात प्रकृतियों का उदय होनेपर भी प्रशमरूप, संवेगरूप और अनुकम्पारूप परिणामो के रूप से परिणतियों का संभव होनेसे पुण्यबंध हो सकता है। इन परिणतियों का जब उसमें अभाव होता है तब पापबंध होता है। सम्यग्दृष्टि जीव भावकषायरूप से परिणत होनेपर भी उसकी परिणतियां प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पारूप हि होनेसे उसे नियम से पुण्यबंध हि होता है–सम्यग्दृष्टि जीव नारकी, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री नहीं होता। उसकी दुष्कुल में उत्पत्ति, विकृतजन्म, आयु की अल्पता और दरिद्रता नहीं होती। अप्रत्याख्यानावरण कषायों का अभाव होनेपर उसके देशसंयमरूप और प्रत्याख्यानावरणकषायों का अभाव होनेपर सकलसंयमरूप शुभपरिणामो की उत्पत्ति होती है। ये शुभ और अशुभ परिणाम संसारवर्धक होते हैं। मिथ्यादृष्टि के ये दोनो परिणाम संसारवर्धक हि हुआ करते है। सम्यग्दृष्टि के शुभपरिणाम संसारवर्धक होनेपर भी परपरा से मोक्ष के भी साधक होते है। इन शुभपरिणामों से परिणामों की शुद्धि होने लगती है और इस विशिष्ट शुद्धि के कारण हि जीव निर्विकल्पसमाधिपर आरूढ हो सकता है जिससे शुद्धि की मात्रा वृद्धिगत होती जाती है और इस वृद्धिगत विशुद्धि से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। किंतु इन कषायों को जीतना कठिन है। प्रमत्तता की उत्पत्ति और अप्रमत्तता की उत्पत्ति कषायों के सद्भाव और अभाव इनपर निर्भर है। चौथे गुणस्थानगत प्रमत्तता अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदयपर निर्भर है और पांचवें गुणस्थान में होनेवाली प्रमत्तता प्रत्याख्यानावरणादि कषायो के उदयपर अवलंबित है। छठे गुणस्थान में जो प्रमत्तता होती है वह संज्वलनोदयपर अवलम्बित होती है। संज्वलन का उदय मंद पड जानेपर जीव का जो विशिष्ट परिणमन होता है उससे वह जीव अप्रमत्त कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से छठे गुणस्थान के अंततक जीव की प्रमत्तावस्था होती है और सातवें से चौदहवें गुणस्थान के अंततक के आठ गुणस्थानो में जीव की अप्रमत्तावस्था होती है। पहले तीन गुणस्थानों में होनेवाली प्रमत्तावस्था में और चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थानों में होनेवाली प्रमत्तावस्था में बडाभारी फर्क होता है। चौथे गुणस्थानवाले जीव की प्रमत्ततासे पांचवें गुणस्थानवाले की प्रमत्तता में और पंचमगुणस्थानवर्ती जीव की प्रमत्ततामें षष्ठगुणस्थानवर्ती जीव की प्रमत्तता में विभिन्नता होती है। पहले तीन गुणस्थानवालो की प्रमत्तता यथाक्रम तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र होती है और चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थानवालों की प्रमत्तता यथाक्रम मंद, मंदतर और मंदतम हुआ करती है। प्रमत्तता का अर्थ है स्वभावच्युति। प्रमत्तता का और अप्रमत्तता का उपादानकारण जीवद्रव्य होता है और निमित्तकारण पौद्गलिक कर्म की उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम इनरूप परिणतियां होती है। इससे सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि जीव की प्रमत्तता और अप्रमत्तता नैमित्तिकभाव है–स्वाभाविकभाव नहीं है। ज्ञायकभाव स्वाभाविकभाव है। अतः यह स्वाभाविकभावरूप ज्ञायकभाव अपने स्वरूप को छोडकर शुभाशुभभावो के स्वरूप से परिणत होनेवाला न होनेसे द्रव्यस्वभाव की मुख्यता होनेपर प्रमत्त भी नहीं होता और अप्रमत्त भी नहीं होता, फिर भले हि वह अपनी ससारावस्था में विभावपरिणामों से युक्त होता हो; क्यों कि ज्ञायकभाव अप्रशस्तविकाररूप से परिणत होनेपर भी ज्ञायकभाव का ज्ञायकत्व नष्ट नहीं होता। शुद्ध अवस्था में

ज्ञायकभाव की विभावात्मकपरिणति की उत्पत्ति होनेके लिए जिसकी आवश्यकता होती है वह निमित्तकारण विद्यमान न होनेसे उसकी विभावात्मक परिणति नहीं होती-वह शुद्धज्ञायकभावरूप हि बना रहता है। चैतन्य-स्वभाववाली आत्मा अपने शुद्धज्ञायकभावरूप स्वभाव को छोडकर परभावजन्यशुभाशुभभावों के स्वभाव के रूप से परिणत नहीं होती। यदि आत्मा अपने स्वभाव को छोडकर निमित्तजन्य परभाव के स्वभाव के रूप से परिणत होने लगी तो उसको अपना शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव छोडना पडेगा; क्यों कि अपने स्वभाव का त्याग किये विना परभाव के स्वभाव के रूप से उसकी परिणति होना असंभव है। आत्मा किसी भी हालत में जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य अपने रूपित्व को छोडता नहीं उसप्रकार अपने ज्ञायकभावरूप स्वभाव को कदापि छोडती नहीं। अतः वह परभाव के स्वभाव के रूप से कभी भी परिणत नहीं होती। यह कथन द्रव्य के स्वभाव की मुख्यता को दृष्टि के सामने रखकर किया गया है अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से किया गया है। कौनसा भी द्रव्य किसी भी हालत में अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता। यदि द्रव्य अपने स्वभाव को त्याग कर अन्य द्रव्य के स्वभाव के रूप से परिणत होने लग जाँय तो घट पटरूप से और पट घटरूप से परिणत होगा, जो कि नितांत असंभव है। संसार मे ऐसा विचित्र परिणमन देखनेमें नहीं आता। अतः द्रव्य किसी भी हालत मे अपने स्वभाव को छोडता नही और परद्रव्य के स्वभाव के रूप से या परद्रव्यरूप निमित्तजन्य विभावपरिणाम के स्वभाव के रूप से परिणत भी नहीं होता यह निश्चित है। आत्मा भी एक द्रव्य है। अतः वह अपने स्वभाव को छोडती नहीं और परस्वभाव के रूप से परिणत भी होती नहीं। इसीलिए ज्ञायकभावस्वभाववाली आत्मा परमार्थतः प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है।

इस विवेचन का सार यह है कि यद्यपि दूध और जल की तरह आत्मा और कर्मपुद्गलो का संश्लेष एकत्व-एकराशीभवन हो जाता है तो भी आत्मा अपने शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव को छोडकर पुद्गल के रूप मे किसी भी हालत में और कभी भी परिणत नहीं होती।

यह आत्मा संपूर्ण अन्य द्रव्यो, उसके स्वभावों और परद्रव्यात्मकनिमित्तजन्य विभावभावात्मक अपनी अवस्थाओं मे भिन्नरूप से रहती है, तब वह शुद्ध कही जाती है।

ज्ञेय और ज्ञायक ये दोनों शब्द परस्परसापेक्ष है। प्रत्येक पदार्थ ज्ञान का विषय बनता है इसलिए उसे 'ज्ञेय' कहते है। ज्ञेय पदार्थों को जाननेकी जो क्रिया उस क्रिया का अधिष्ठान-आश्रय होनेसे उस क्रिया को करनेवाली जो आत्मा वह हि ज्ञायक कहलाती है। आत्मा ने यदि जाननेकी क्रिया करना छोड दिया तो वह ज्ञायक नही कहलायगी। जाननेकी क्रिया भी तब हो सकती है जब पदार्थ ज्ञान के विषय बनते है। आत्मा भी ज्ञेय है और वह अपनेको स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से जानती है। अतः निर्विकल्पसमाधि में भी आत्मा का ज्ञायकस्वभाव बना रहता है। ज्ञेयो का अभाव होनेपर ज्ञेयविषयक ज्ञप्तिक्रिया का होना यद्यपि असंभव है तो भी स्वविषयक ज्ञप्ति-क्रिया बनी रहती है। अतः ज्ञायकत्व ज्ञेयोपर निर्भर है। ऐसा होते हुए भी ज्ञान या ज्ञायक ज्ञेय के रूप से परिणत नहीं होता। अतः वह अशुद्ध नहीं होता। दर्पण प्रतिबिंबित पदार्थ की आकृति को ग्रहण करता है; किंतु वह पदार्थ उसमें या वह उस पदार्थ मे प्रवेश करता नहीं। इसलिए वह अन्यपदार्थ के स्वरूप से परिणत नहीं होता। इसीतरह ज्ञेयरूप बाह्यपदार्थ के ज्ञान के रूप से आत्मा का ज्ञानगुण परिणत होता है तो भी वह बाह्य ज्ञेय के रूप से-स्वभाव के रूप से परिणत नहीं होती। अतः आत्मा या उसका ज्ञायकत्व अशुद्ध नहीं है। जिसप्रकार तपानेके योग्य सुवर्ण को तपाकर लाल किया जानेपर अग्नि उस सुवर्ण में प्रवेश करती है तो भी वह अपने दाहक स्वभाव को छोडती नहीं और उसका वह दाहकस्वभाव अशुद्ध भी नहीं होता उसीप्रकार ज्ञायक का ज्ञान ज्ञेय को जानते समय उस ज्ञेय की ओर केंद्रित होता है और उस ज्ञेय के ज्ञान के रूप से परिणत भी होता है तो भी वह अपने स्वभाव को-ज्ञायकस्वभाव को छोडती नहीं और उसका वह ज्ञायकभावरूपस्वभाव अशुद्ध भी होता नहीं; क्यों कि जिसप्रकार सुवर्ण में प्रविष्ट हुई अग्नि अपने दाहकस्वभाव को छोडकर सुवर्ण के स्वभाव को ग्रहण नहीं करती अर्थात् सुवर्ण के रूप से परिणत नही होती उसीप्रकार आत्मा ज्ञेयनिष्ठ होनेपर भी अपने ज्ञायकभावरूप स्वभाव को छोडती नही और ज्ञेय के स्वभाव को ग्रहण नहीं करती। दीपक स्वप्रकाशक और परप्रकाशक होता है। जब वह अपने

स्वरूप को प्रकाशित-प्रकट करता है तब वह प्रकाशनक्रिया का आश्रय होनेसे उस क्रिया का कर्ता होता है और उसका अपना प्रकाश्यस्वरूप उसका कर्म होता है। अतः जो प्रदीप कर्ता होता है वहि कर्म होनेसे उसके कर्तृकर्मत्व में अभेद होता है। इसीप्रकार आत्मा स्वपरस्वरूपों का ज्ञाता होनेसे जब वह अपनेको जानता है तब जाननेकी क्रिया का वह स्वयं आश्रय होनेसे उस ज्ञप्तिक्रिया का वह आश्रय होनेसे कर्ता होती है और उसका अपना ज्ञेय-स्वरूप उसका कर्म होता है। अतः जो आत्मा कर्ता होती है वहि कर्म होनेसे उसके कर्तृकर्मत्व में अभेद होता है। अतः आत्मा जब बाह्य ज्ञेय को जानती है तब वह अपने स्वरूप को भी जाननेवाली होनेसे वह ज्ञायक हि बनी रहती है।

जिनशासन का यह एक सिद्धान्त है कि दीपक के समान आत्मा या उसका ज्ञान स्वपरप्रकाशक है। यदि ज्ञान को परप्रकाशक और ज्ञानान्तरवेद्य (अन्य ज्ञान के द्वारा जाननेयोग्य) हि माना तो अनवस्थानामक दोष उपस्थित हो जाता है; क्यों कि हरएक ज्ञेय के ज्ञान के रूप से परिणत हुए ज्ञान को जाननेवाला अन्य ज्ञान हि मानना पडेगा, जो कि असंभव और मूलविषय को हानि पहुंचानेवाला होता है। जिसप्रकार दीपक स्वप्रकाशक और परद्रव्यप्रकाशक होता है उसीतरह ज्ञायक आत्मा भी स्वप्रकाशक-अपने स्वरूप को जाननेवाली-और परप्रकाशक -स्वभिन्न परपदार्थों को जाननेवाली होती है। जब आत्मा ज्ञेयाकार को धारण करती है—ज्ञेय के असाधारणधर्म के-ज्ञान के रूप मे परिणत होती है तब वह यह भी जानती है कि उसे ज्ञेय का ज्ञान हुआ है। जब वह अपनेको जानती है, तब उसमें ज्ञानक्रिया का कर्तृत्व भी होता है और वही ज्ञेय होनेसे कर्मत्व भी होता है। जब आत्मा परपदार्थों को जानती है और जब वह स्वपदार्थ को जानती है तब उसका ज्ञायकत्व जैसा का तैसा बना रहता है—किसी भी हालत में उसमें फर्क नहीं होता ॥

'दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेन अशुद्धत्वम्' इति चेत्—["आत्मा ज्ञायकरूप एक स्वभाववाली हि होती है ऐसा सिद्ध हो जानेपर 'आत्मा दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन धर्मा से युक्त होती है' ऐसा कहना आत्मा को अशुद्ध बताना है; क्यों कि उसका ज्ञायकैकस्वभावत्व उक्त त्रिस्वभावत्व से बाधित हो जाता है" ऐसा कहना हो तो—(उसका समाधान नीचेमुजब है।)]

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं, जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चारित्रं दर्शनं ज्ञानम्।
नैव ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं, ज्ञायकः शुद्धः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानिनः**) शुद्धज्ञायकैकस्वभाव का अनुभव करनेवाले आत्मज्ञानी के (**चारित्र दर्शनं ज्ञान**) सामान्यस्वरूपावलोकरूप दर्शन, विशेषस्वरूप को जाननारूप ज्ञान और अपने स्वरूप में स्थितिरूप चारित्र यह तीन धर्म जो बताये जाते है वे (**व्यवहारेण**) व्यवहारनय की दृष्टि से अर्थात् उपचार से अप्रतिबुद्ध को प्रतिबुद्ध बनानेके लिए (**उपदिश्यते**) बताये जाते है। अन्यथा अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धज्ञायकैकस्वभाव का अनुभव करनेवाले ज्ञानी के [**नैव ज्ञानं, न (एव) चारित्रं, न (एव) दर्शनं**] परमार्थसे ज्ञान, चारित्र और दर्शन होते हि नहीं। शुद्धज्ञायकैकस्वभाव का अनुभव करनेवाले उस ज्ञानी आत्मा के एक (**शुद्धः**) शुद्ध [**ज्ञायकः (एव)**] ज्ञायकभाव हि होता है।

[कहने का भाव यह है कि अनादिकाल से कर्म के साथ बंधावस्था को प्राप्त हुई आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वह अग्नि के दाहकत्व, प्रकाशकत्व, उष्णस्पर्शत्व आदि अनेक धर्मों को या पुद्गल के रूप, स्पर्श, रस, गन्ध इन अनेक धर्मों को देखकर आत्मद्रव्य को भी अनेकधर्मात्मक मानता है। वह यह नहीं जानता कि पदार्थ के प्रधानभूत असाधारण धर्म के साथ अन्य धर्मों का अविनाभावसंबंध होनेसे उस एक धर्म में उनका अन्तर्भाव हो जानेसे द्रव्य का एक हि असाधारण धर्म होता है। उसको प्रथमावस्था में समझानेके लिए व्यवहार-नय का-उपचार का आश्रय करके दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन धर्मों का उसमें अस्तित्व बताया गया है। इससे ऐसा नहीं समझना कि आत्मद्रव्य परमार्थत.–निश्चयनय की दृष्टि से अनेकधर्मात्मक है। वस्तुतः वह एकधर्मात्मक हि है। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भेद उपचरित है। एकज्ञायकभाव हि उसका यथार्थ स्वरूप है।]

आ. ख्या.–आस्तां तावत् बन्धप्रत्ययात् ज्ञायकस्य अशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राणि एव न विद्यन्ते; यतः हि अनन्तधर्मणि एकस्मिन् धर्मिणि अनिष्णातस्य अन्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चित् धर्मैः तं अनुशासतां सूरीणां धर्मधर्मिणां स्वभावतः अभेदे अपि व्यपदेशतः भेदं उत्पाद्य व्यवहारमात्रेण एव 'ज्ञानिनः, दर्शनं, ज्ञानं, चारित्रं' इति उपदेशः। परमार्थतः तु एकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतया एकं, किञ्चिन्मिलितास्वादं, अभेदं एकस्वभावं अनुभवतः न दर्शनं, न ज्ञानं, न चारित्रं; ज्ञायकः एव एकः शुद्धः ॥ ७ ॥

त. प्र.– आस्तामनुजानीमस्तावद्बन्धप्रत्ययात्-बन्धस्य प्रत्ययः कारणं बन्धप्रत्ययः। तस्मात्। यद्वा यतोऽयं संसारपारावारे परिभ्रमति ततः बद्ध एव सः, बद्धत्वाच्चाशुद्धः, शुद्धस्य बन्धासम्भवादिति प्रत्या[illegible] निश्चयनयापेक्षयाऽऽत्मनो बन्धो नास्त्येव, कर्मपुद्गलस्य स्वस्वभा[illegible]-पूर्वं [illegible]स्वभावानुपादाज्जीवस्य [illegible]कर्मपुद्गलस्वभावानुपादानात्। [illegible]स्तु संसर्ग[illegible] बन्धो दृश्यते [illegible] कर्मपुद्गलयो[illegible]त्वादवास्तव एव। [illegible]बन्धा[illegible]ज्जीवस्य पारमार्थिकम[illegible] न सम्भवत्य[illegible]। [illegible] जीवस्याशुद्धत्वं दूरे आस्ताम्। [illegible]स्य कर्मव[illegible]व्यवहारनयापेक्षं भवत्यवसेयम्। ज्ञायकस्य [illegible]क्रियाश्रयत्वा[illegible]क्रियाकर्तृत्वं विभावभावस्वरूपेण परिणतत्वम्। प्रमत्ताप्रमत्तत्वादिपरिणामानां विभावभावात्मकानां जीवस्वामिकत्वं यद्यपि व्यवहारनयअपेक्षया प्रतिपन्नं तथापि निश्चयनयापेक्षया तेषां जीवस्वामिकत्वाभावः एव। परमार्थतः तेषां जीवस्वामिकत्वाभावेऽपि यथाकथञ्चिदशुद्धनि[श्च]यनयापेक्षयाऽशुद्धत्वमास्तां, न काऽपि क्षतिरिति भावः। [दर्श]नज्ञानचारित्राण्येव न विद्यन्ते–यद्यपि सद्भूतव्यवहारनयापेक्षया निरुपाधिकानि दर्शनज्ञान-चारित्राणि जीवस्वामिकानि भवन्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया न तानि जीवस्वामिकानि भवन्ति, शुद्धनिश्चयनयार्पणायां जीवस्य ज्ञायकभावमात्रस्वभावत्वात् ज्ञायकभावात्तेषां भिन्नत्वस्यासम्भवात्। यतः यस्मात्कारणादनन्तधर्मणि-अनन्ता धर्माः अस्यानन्तधर्मा तस्मिन्। 'धर्मात्केवलादन्' इति केवलधर्म-शब्दोत्तरपदाद्बहुव्रीहावन्। आत्मनश्शुद्धज्ञानघनैकस्वभावत्वेऽपि निश्चयनयापेक्षया तज्ज्ञानस्यार्थक्रियाभेदाद्-व्यवहारनयप्राधान्ये प्रादुर्भूतानेकभेदत्वादनेकधर्मत्वं सिध्यति, न वस्तुवृत्त्या परमार्थतस्तस्यैकधर्मत्वात्। एकस्मिन्धर्मिणि-एकानेकधर्माश्रयभूते एकस्मिञ्जीवपदार्थेऽनिष्णातस्य कौशलविकलस्य। अकुशलस्ये-त्यर्थः। अस्य स्थाने क्वचिन्निष्णातस्येति पाठो दृश्यते। स त्वशुद्ध इति प्रतिभाति, निष्णातानुशासनस्य वैयर्थ्यात्। अन्तेवासिजनस्य प्राथमकल्पिकस्य शैक्षस्य। अविज्ञातयथार्थात्मस्वरूपस्येत्यर्थः। तदवबोध-विधायिभिः-अनन्तधर्मात्मकैकधर्मिकस्वरूपात्मज्ञानं प्राथमकल्पिके प्रादुर्भावयद्भिः कैश्चिद्धर्मैः–कांश्चि–

दात्मधर्मानुपादाय तद्द्वारेण तम्–प्राथमिकशिष्यमनुशासतां–प्राथमिके शिष्ये शुद्धात्मविषयक बोधं जनयतां सूरीणां–अनुभूतशुद्धज्ञानघनैकस्वभावनैजात्मद्रव्याणामत एव विचक्षणानामाचार्याणां धर्मधर्मिणोः स्वभावतः अभेदे अपि–धर्मधर्मिणाविति भेदव्यवहारो व्यवहारनयदृष्ट्या विधीयते वस्तुस्वरूपप्रतिपादनार्थं, व्यवहारनयाश्रयणमन्तरेण तत्प्रतिपादनासम्भवात्। परमार्थतस्तु धर्मसमूहात्मकत्वाद्धर्मिणस्ततो धर्मसमूहापहरणं न सम्भवति। अतो 'धर्मधर्मिणोः स्वभावतः अभेदे अपि' इति वचनं वस्तुयाथार्थ्यप्रतिपादकमित्यवसेयम्। व्यपदेशतः–निमित्तविशेषादुपायतो युक्तितो वा। सञ्ज्ञालक्षणार्थक्रियादिकं निमित्तीकृत्येत्यर्थः। यद्वा केनाऽपि व्याजेनेत्यर्थः। भेदं उत्पाद्य–परस्परभिन्नत्वं प्रकटीकृत्य। नात्र धर्मधर्मिणोर्भेदोत्पादनं वास्तवमपि तु व्यवहारार्थं कल्पनाकल्पितमेव, धर्मधर्मिणोरन्योन्यभेदजनने द्वयोरपि प्रध्वंसप्रसङ्गात्। व्यवहारमात्रेणैव–संज्ञादिभेदाद्भेदकत्वात्सद्भूतव्यवहारनयमात्रेणैव न परमार्थतः ज्ञानिनः– शुद्धज्ञानघनैकस्वभावमात्मानमनुभवतः प्रशस्तात्मज्ञानवतः दर्शन–सामान्यस्वस्वरूपावलोकनलक्षणं दर्शनं, ज्ञानं–विशेषस्वस्वरूपाधिगमनस्वरूपं ज्ञानं चारित्रं–साधारणासाधारणस्वस्वरूपास्थितिलक्षणं चारित्रमित्येवम्प्रकार उपदेशो ज्ञानिभिः शास्त्रकारैः कृतः। परमार्थतः तु–निश्चयनयापेक्षया एकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतया–एकेन द्रव्येणात्मपदार्थेन धर्मिणा निष्पीता नितरां पीता आत्मना साकमभिन्नत्वं प्रापिताः अनन्ताः पर्यायाः क्रमाक्रमप्रवर्तमानाः पर्यायाः परिणामाः येन सः। तस्य भावः। तया। एकं–पुद्गलकर्मसंश्लेषविभावभावात्मकपरभावविकलत्वात्स्वभावभेदविकलत्वाद्वाद्वितीयमेकत्वविभक्तं वा। किञ्चिन्मिलितास्वादं–किञ्चिदीषन्मिलितो मिश्रः आस्वाद अनुभव यस्य सः। तम्। अर्थक्रियादिभेदाद्भिन्नस्वरूपाणामनन्तपर्यायाणां मेलनेन व्यवहारनयार्पणायामेकस्वभावास्वादस्याऽनुभवस्य मिलितत्वं मिश्रत्वम्। अत्र किञ्चिदितिपदेन परमार्थतोऽमिलितास्वादत्वं ध्वन्यते, पर्यायाणां पर्यायिभूतैकशुद्धज्ञानघनस्वभावात्कथञ्चिदभिन्नत्वात्ततः सर्वथाभेदाभावात्। अभेदम्–भेदविकलम्। शुद्धज्ञानघनस्वभावस्यैकत्वाद्भेदाभाववत्त्वम्। एकस्वभावम्–एकोऽनन्यसाधारणश्चासौ स्वभावश्चैकस्वभाव। तम्। अनुभवतः– ध्यानैकतानीभूय निर्विकल्पसमाधावनुभवगोचरीकुर्वतः आत्मनः दर्शनादित्रितयं नास्त्येव। ज्ञायकः– ज्ञप्तिमात्रक्रियाश्रयत्वाज्ज्ञप्तिमात्रक्रियाकर्ता। शुद्धचैतन्यमात्रस्वभावत्वाज्ज्ञप्तिमात्रक्रियाकर्तेत्यर्थः। एवेत्यवधारणार्थेन शब्देनान्यक्रियाकर्तृत्वं शुद्धनिश्चयेन न सम्भवतीति प्रतिपादितम्। एक – एकस्वभावत्वादमेचकत्वादेकः निश्चयापेक्षया। शुद्धः- रागादिविभावविकलः। अयमत्राभिप्रायः- शुद्धनिश्चयनयार्पणायां वह्नो यथैको भेदविकल एव सन्नप्यर्थक्रियाभेदाद्दाहकपाचकप्रकाशकत्वादुपात्तत्रैरूप्यस्तथात्मापि शुद्धनिश्चयनयार्पणायां शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूपत्वाच्छुद्धज्ञानघनैकस्वभावोऽप्यर्थक्रियाभेदाद्व्यवहारनयप्राधान्ये दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वादुपात्तत्रैरूप्यो भवति। सद्भूतव्यवहारनयप्राधान्ये मेचकः शुद्धनिश्चयनयप्राधान्ये चामेचक इति भावः।

टीकार्थ– बन्ध का ज्ञान होनेसे अर्थात् यह आत्मा कर्मबद्ध है इसप्रकार का ज्ञान होनेसे अथवा बंध के कारण से आत्मा का जो अशुद्धत्व सिद्ध होता है वह दूर हि रहो–आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र हि नहीं हैं (आत्मा शुद्धनिश्चय की दृष्टि से अशुद्ध नहीं है इतनाहि नहीं अपि तु दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन भेद भी नहीं हैं।); क्यों कि सद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से जिसके अनन्त धर्म होते हैं ऐसे निश्चयनय की दृष्टि से एक (अर्थात अनन्यसाधारण एक धर्मात्मक) धर्मी के विषय में जो निष्णात–कुशल–यथार्थज्ञान से युक्त नहीं होते ऐसे शिष्यों को उस व्यवहारनय की दृष्टि से अनन्तधर्मात्मक अर्थात् अनेकरूप और एकधर्मात्मक होनेसे एकरूप अर्थात्

एक धर्मी का ज्ञान करानेवाले कुछ धर्मों के द्वारा ज्ञान करानेवाले आचार्यों का धर्म और धर्मी इनमें स्वभाव की दृष्टि से-परमार्थतः भेद न होनेपर भी किसी निमित्त के आश्रय से-उपाय से-युक्ति से भेद प्रकट कर ' सिर्फ (सद्भूत-) व्यवहारनय की दृष्टि से हि ज्ञानी आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र होते हें ' ऐसा उपदेश है । परमार्थतः अनन्त पर्यायें अपने साथ एकरूप-अभिन्न बनायी जानेसे एक, जिसका अनुभव किंचित् मिश्र होता है ऐसे भेदरहित, और एक स्वभाव का अनुभव करनेवाली आत्मा के न दर्शन होता है, न ज्ञान होता है और न चारित्र भी । उसका ज्ञायकरूप हि एक और शुद्ध भाव होता है ।

विवेचन— संसार में जीव की जो कर्मबद्धावस्था दिखाई देती है वह वास्तव नहीं है-वह सिर्फ जीव और कर्म पुद्गलों की सश्लेषमात्ररूप अवस्था है; क्यों कि वास्तव बन्धावस्था का स्वरूप एकरूपत्व है । जैसे गुण और गुणी में अभेदरूप बध होता है उसीप्रकार जीव और कर्मपुद्गलों में तादात्म्य-अभेद नहीं होता; क्यों कि न जीव अपने स्वभाव को त्यागकर कर्मपुद्गल के स्वभाव को स्वीकार करता है और न कर्मपुद्गल भी अपने स्वभाव को त्यागकर जीव के स्वभाव को स्वीकार करता है । अतः संश्लेषमात्रात्मक बंध वास्तव न होनेसे तज्जन्य जीव की कही जानेवाली अशुद्ध अवस्था वस्तुतः जीव की नहीं है । जब अशुद्धावस्था जीव की नहीं है तब उसके विषय में कुछ प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता नहीं है । अशुद्धावस्था हि जीव की नहीं है इतना हि नहीं, अपि तु दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव के नही; क्यो कि शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वह ज्ञायकमात्रैकस्वभाववाला होता है फिर भले हि सद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से रत्नत्रयात्मक हो । आत्मा का सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपत्रैरूप्य जो शास्त्रों मे बताया गया हुआ है वह खास विवक्षा से बताया गया है । जिनको आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नही है उनको समझानेके लिए शुद्धनय की दृष्टि से अनन्यसाधारण ज्ञायकभावरूप एकस्वभाववाले अत एव एक धर्मी के उस एक धर्म के साथ अविनाभावसंबंध होनेसे उसमें अन्तर्भूत होनेवाले सद्भूतव्यवहारनयापेक्ष अनन्त धर्मों मे से उस आत्मा के ज्ञायकस्वभावमात्ररूप एकस्वभावत्व को सिद्ध करनेवाले कुछ दर्शन, ज्ञान और चारित्र जैसे धर्मों का आश्रय करना आवश्यक बन जाता है; क्यो कि व्यवहारनय का आश्रय किये विना वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन नही किया जा सकता । धर्म और धर्मी इनमे स्वभावतः-परमार्थतः भेद नही होता तो भी किसी निमित्त से-उपाय से-युक्ति से भेद बता कर आत्मा से अभिन्न ज्ञायकभाव के दर्शन-ज्ञान-चारित्र को उससे कथञ्चित् भिन्नरूप बताकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनरूप धर्म आत्मा के होते हें ऐसा शास्त्रकारोने कहा है । इन तीनो के द्वारा यथार्थ आत्मस्वरूप को समझाकर इनसे सदा आत्मा का ज्ञायकभावरूप एक हि अनन्यसाधारण स्वभाव होता है ऐसा उन अनभिज्ञ शिष्यों को शास्त्रकारो के द्वारा समझाया जाता है । वस्तुतः अनन्त क्रमाक्रमप्रवृत्त पर्यायों के साथ एकरूप बना हुआ होनेसे एक, जिसका मिश्र आस्वाद होता है ऐसा, भेदरहित ऐसे एक स्वभाव का जो जीव अनुभव करता है उसके न दर्शन होता है, न ज्ञान होता है और न चारित्र होता है-एक शुद्ध ज्ञायकभाव हि होता है । कहने का भाव यह है कि जिसमें अनन्त धर्म अन्तर्निमग्न होकर जिसके साथ तादात्म्य को प्राप्त हो जाते हैं ऐसे एक ज्ञायकभावरूप आत्मा के एक स्वभाव का ज्ञान करानेके लिए उन अनन्तधर्मों मे से ज्ञानदर्शनादिरूप कुछ धर्मों को व्यवहारनय से अलग-अलग बताकर आचार्य प्राथमिक शिष्यों को उनके विषय मे उपदेश देते है। फिर भी वे आचार्य ' धर्म और धर्मी इनमे शुद्धनिश्चय की दृष्टि से भेद नही होता ' इस बात को अच्छीतरहसे जानते हें । किसी विवक्षा को दृष्टि के सामने रखकर हि उनके द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रय और ज्ञायकभाव इनमें भेद बताया जाता है । यद्यपि सद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं तो भी अभेदनय की या निश्चयनय की दृष्टि से पर्याय और पर्यायवान् अभिन्न होनेसे पर्यायें पर्यायवान् में पूर्णरूप से अन्तर्निमग्न हो जाते हैं । अतः द्रव्य की पर्याये या गुण अनन्त होनेपर भी द्रव्य अपने एकत्वभाव को-ज्ञायकत्व को कदापि नहीं छोडता । इसप्रकार से एक, एकस्वभाववान्, भेदरहित और जिसका किंचित् मिश्ररूप से अनुभव होता है ऐसे जीवद्रव्य का अनुभव करनेवाले आत्मज्ञान के धारक जीव की दृष्टि में आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन गुण नहीं हें । दर्शन सामान्यानुभूतिरूप और यथाख्यातचारित्र विशेषानुभूतिरूप होनेसे और ' अनुभूतिः ज्ञानम् ' इस

उक्ति के अनुसार अनुभूति ज्ञानस्वरूप होनेसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र वस्तुतः एकरूप होनेसे आत्मस्वभाव एक-ज्ञानरूप है–भेदरूप नहीं है। वह ज्ञायकभावहि आत्मा का एक शुद्ध और यथार्थ स्वभाव है। सारांश यह है कि आत्मानुभव करनेवाले जीव के अनुभव में आत्मा रत्नत्रयात्मक नहीं पायी जाती किन्तु शुद्धज्ञायकैकस्वभावरूप हि पायी जाती है।

'तर्हि परमार्थ एव एकः वक्तव्यः' इति चेत्–, (यदि ऐसा है तो सिर्फ एक परमार्थ का हि प्रतिपादन करना चाहिये ऐसा कहना हो तो–)

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८॥

यथा नैव शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥ ८॥

अन्वयार्थ– (**यथा**) जिसप्रकार (**अनार्यभाषां विना तु**) अनार्यभाषा के विना हि अर्थात् प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन म्लेच्छ भाषा में न किया गया तो (**अनार्यः**) म्लेच्छ पुरुष को (**ग्राहयितुं**) प्रतिपाद्य विषय में प्रवेश कराना–उस विषय का ज्ञान कराना (**नैव शक्यः**) शक्य होता हि नहीं, (**तथा**) उसीतरह (**व्यवहारेण विना**) व्यवहारनय का आश्रय किये विना (**परमार्थोपदेशनं**) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का प्राथमिक शिष्य के लिए स्पष्टीकरण करना–परमार्थ का उपदेश करना (**अशक्यम्**) शक्य नही है।

[अनन्यसाधारण और एकरूप स्वभाव के तादात्म्य को प्राप्त होनेवाले अनेक धर्मों में से कुछ धर्मों के द्वारा पदार्थ को जानने का ससारी अल्पज्ञ जीव को अभ्यास हुआ है–भिन्न गुणो के विना वह एक पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकता। 'अग्नि दाहकस्वभाववाली होती है' इस प्रतिपादन को सुनते हि सामान्य जीव फौरन पूछेगा कि 'क्यो जी! क्या अग्नि पाचक और प्रकाशक नहीं होती?' अग्नि के पाचकत्वधर्म का और प्रकाशकत्वधर्म का स्वीकार करनेपर वह मान जायगा कि अग्नि दाहक, पाचक और प्रकाशक होती है। बाद में वह समझ जायगा कि अग्नि के दाहकत्व गुण में हि उसके पाचकत्व गुण का और प्रकाशकत्वगुण का अन्तर्भाव हो जाता है और उस कारण से अग्नि वस्तुतः एकस्वभाववाली है। दाहकत्वगुण के पाचकत्वगुणरूप और प्रकाशकत्वगुणरूप भेद व्यवहारनयाश्रित है–निश्चयनयाश्रित नहीं। व्यवहारनय का आश्रय करनेके बाद उस नय के द्वारा निश्चय-नयप्रतिपादित पदार्थ के एकस्वभावत्व को स्वीकार किया जाता है। अतः निश्चयनयाश्रित वस्तुस्वरूप का ज्ञान करानेके लिये व्यवहारनय का प्राथमिक अवस्था में आश्रय करना पडता है। इस कथन का अर्थ 'व्यवहारनय सर्वथा आदेय होता है' ऐसा नहीं समझना। वह कथंचित् आदेय भी है और कथंचित् अनादेय–हेय भी है। कहने का भाव यह है कि व्यवहारनय के विना पदार्थ के यथार्थस्वरूप का स्पष्टीकरण करना असभव होनेसे वह कथंचित् आश्रयणीय होनेपर सर्वथा आश्रयणीय नहीं है।]

आ. ख्या.– यथा खलु म्लेच्छः 'स्वस्ति' इति अभिहिते सति तथाविधवाच्य-वाचकसम्बन्धावबोधबहिष्कृतत्वात् न किञ्चिदपि प्रतिपद्यमानः मेषः इव अनिमेषो–(न्मे?) न्मिषितचक्षुः प्रेक्षते एव। यदा तु स एव तत् एतद्भाषासम्बन्धैकार्थज्ञेन अन्येन तेन एव वा म्लेच्छभाषां समुपादाय स्वस्तिपदस्य 'अविनाशः भवतः भवतु' इति

अभिधेयं प्रतिपाद्यते, तदा सद्यः एव उद्यदमन्दानन्दमयाश्रुजलझलज्झलल्लोचनपात्रः तत् प्रतिपद्यते एव । तथा किल लोकः अपि 'आत्मा' इति अभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वात् न किञ्चिदपि प्रतिपद्यमानः मेषः इव अनिमेषो-(न्मे ?) न्मिषितचक्षुः प्रेक्षते एव । यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोधमहारथरथिना अन्येन तेन एव वा व्यवहारपथं आस्थाय 'दर्शनज्ञानचारित्राणि अतति इति आत्मा' इति आत्मपदस्य अभिधेयं प्रतिपाद्यते, तदा सद्यः एव उद्यदमन्दानन्दान्तःसुन्दरबन्धुरबोधतरङ्गः तत् प्रतिपद्यते एव । एवं म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वात् उपन्यसनीयः 'अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य' इति वचनात् व्यवहारनयः न अनुसर्तव्यः ॥

त. प्र.– यथा येन प्रकारेण । खल्विति वाक्यालङ्कारे । म्लेच्छः सुसंस्कृतभाषानभिज्ञः कश्चिदारण्यक. पुरुषः 'स्वस्ति' इति अभिहिते सति स्वस्तीतिशब्दे उच्चरिते सति । स्वस्तीत्यविनाशनाम । तेन 'स्वस्त्यस्तु ते' इति 'अविनाशोऽस्तु भवतः' इत्यर्थके वाक्ये उच्चरिते सति तथाविधवाच्यवाचकसम्बन्धावबोधबहिष्कृतत्वात् तथाविधस्याविनाशप्रकारकस्य वाच्यस्याभिधेयस्य वाचकस्य स्वस्तीत्यभिधानस्य च य. सम्बधो वाच्यवाचकभावाख्यः तस्य योऽवबोधो ज्ञान तस्माद्बहिष्कृतत्वान्निष्कासितत्वात् । ततो दूरीकृतत्वादित्यर्थः । उच्चरितात्स्वस्तीतिशब्दान्न किञ्चिदप्यल्पमपि प्रतिपद्यमानो जानन् मेष. इवोर्णायुरिव अनिमेषोन्मिषितचक्षुर्निनिमेषोन्मीलितनेत्रयुगलः । अनिमेषं निमेषविकल यथा स्यात्तथोन्मिषिते उन्मीलिते चक्षुषी येन स । प्रेक्षते एवावलोकते एव । इष्टावधारकवाक्याभिधायिमुखावलोकनमात्र करोति, न किमपि जानातीत्यर्थ । यदा यस्मिन्काले तु स एव सुसंस्कृतभाषानभिज्ञः कश्चिदारण्यकः एव तत् प्रसिद्धं । अप्राकृतजनविदितमित्यर्थः । एतद्भाषासम्बन्धैकार्थज्ञेन-एतस्य सुसंस्कृतभाषानभिज्ञस्यारण्यकस्य भाषा । तया सम्बन्धेन एकः समानो योऽविनाशरूपोऽर्थोऽभिधेय न जानातीति । तेन । अन्येन स्वस्तिमुखाद्भिन्नेन केनचित्स्वस्तिशब्दार्थज्ञेन पुरुषेण तेनैव वाथवा स्वयं स्वस्तिमुखेनैव म्लेच्छभाषा स्वस्तिशब्दार्थानभिज्ञारण्यकभाषां समुपादायोरीकृत्य स्वस्तिपदस्य स्वस्तिशब्दस्याविनाशो भवतस्ते भवत्वित्यभिधेय स्वस्तिपदवाच्य प्रतिपाद्यते कथ्यते तदा तस्मिन्काले सद्य एव तत्क्षणे एवोद्यदमन्दानन्दमयाश्रुजलझलज्झलल्लोचनपात्रः उत्पद्यमानापरिमितानन्दजन्यास्रजलापूर्णनयनामत्रः । उद्यन्नुत्पद्यमानोऽमन्दोऽपरिमितो य आनन्दो मोदः तज्जन्यत्वात्तन्मय यदश्रुजलं तेन झलज्झलल्लोचन आपूर्णलोचन एव पात्रं यस्य सः । झलज्झलिति डाजन्तस्य रूपम् । तत् स्वस्तिशब्दाभिधेय प्रतिपद्यते एव जानात्येव । तथा तेन प्रकारेण किल खलु लोकोऽज्ञातात्मस्वरूपो जनोऽपि 'आत्मा' इत्यभिहिते सत्यात्मेतिशब्दे उच्चरिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वात्पारमार्थिकात्मस्वरूपाभिज्ञानविकलत्वात् । यथा येन प्रकारेणावस्थित तेन प्रकारेणेत्यर्थ । पारमार्थिकमिति भाव । यथावस्थितं पारमार्थिकं यदात्मस्वरूपं तस्य परिज्ञानाद्विज्ञानाद्बहिष्कृतत्वाद्दूरीत्सारितत्वात् । न किञ्चिदपि स्वल्पमपि प्रतिपद्यमानो जानन् मेष इवोर्णायुरिवानिमेषोन्मिषितचक्षुर्निनिमेषोन्मीलितलोचनः । प्रेक्षते एवावलोकते एव । आत्मपदार्थप्ररूपणपरपुरुषमुखमात्रावलोकन करोति, न किमपि पुरुषविषयक प्रतिपद्यते इत्यर्थः । यदा यस्मिन्काले तु स एवापरिज्ञातात्मतत्त्वः पुरुषः एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोधमहा-

रथरथिना व्यवहारनिश्चयमार्गप्रगमितसम्यग्ज्ञानमहारथरथयोजकेन । व्यवहारश्च परमार्थो निश्चयश्च व्यवहारपरमार्थौ । तावेव पन्थानौ व्यवहारपरमार्थपथौ । 'ऋक्पूरप्पथोऽत्' इति सान्तोऽकारः । तयोर्मार्गयोः प्रस्थापितः प्रगमितः सम्यग्बोधः सम्यग्ज्ञानमेव महारथो येन सः । तेन रथिना रथयोजकेनान्येनात्मतत्त्वप्ररूपणपरपुरुषाद्भिन्नेनात्मस्वरूपावबोधसम्पन्नेन पुरुषेण तेनैव वाऽथवा तेनैवात्मस्वरूपज्ञायकेनोच्चरितात्मशब्देन पुरुषेण व्यवहारपथं व्यवहारनयमार्गमास्थायाश्रित्य दर्शनज्ञानचारित्राण्यतति गच्छति व्याप्नोति वेत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयमर्थं प्रतिपाद्यते कथ्यते तदा तस्मिन्काले सद्यः एव तत्क्षणे एवोद्यदमन्दानन्दान्तःसुन्दरबन्धुरबोधतरङ्गः-उत्पद्यमानापरिमितप्रमोदान्तःशोभनोत्तमानुत्तमज्ञानकल्लोलः । उद्यनुत्पद्यमानोऽमन्दोऽपरिमितो यः आनन्दः प्रमोदस्तेनान्तःसुन्दराः अन्तःशोभना बन्धुराः उच्चावचत्वान्नानाविधाः बोधस्य ज्ञानस्य तरङ्गाः इव तरङ्गाः परिणामाः कल्लोलाः यस्य सः । तत् आत्मपदस्याभिधेयं प्रतिपद्यते एव जानात्येव । उपाधिभेदाज्ज्ञानभेदस्य समुत्पद्यमानत्वाज्ज्ञानस्य बन्धुरत्वमित्यवसेयम् । सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयस्य ज्ञानपर्यायत्वाज्ज्ञान एव तदन्तर्भावाज्ज्ञानस्य च ज्ञानिन आत्मनः परमार्थतो भेदाभावे आत्मरत्नत्रययोर्भेदाभावेऽप्युपचारेण कथञ्चिद्भेदमुत्पाद्य 'सम्यग्दर्शनचारित्राण्यततीत्यात्मा' इत्यात्मपदस्याभिधेयं व्यवहारनयाश्रयणेन । प्रतिपादितमित्यवसेयम् । एवममुना प्रकारेण म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन म्लेच्छभाषासदृशत्वेन । यथा म्लेच्छभाषा स्वस्तिपदार्थप्रतिपादनसमर्थत्वात्तदर्थप्रतिपादनार्थं कथंचित् समाश्रयणीयाऽपि न सर्वथा समाश्रयणीया भवति तथाऽऽत्मपदार्थप्रतिपादनसामर्थ्यसम्पन्नत्वाद्व्यवहारनयः उपन्यसनीय परमार्थप्रतिपादकत्वात्समाश्रयणीयो न सर्वथाऽनुसर्तव्य । अत्र प्रमाण 'अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्यः इति वचनात्' इति । ब्राह्मणः सुसंस्कृतभाषाभिज्ञो ब्राह्मणजातीयः पुरुषः न म्लेच्छितव्यो नापभाषितव्य. । अयं पाठोशुद्धः इति प्रतिभाति । म्लेच्छितव्य इति पदस्य व्यत्यान्तत्वात् 'व्यस्य वा कर्तरि' इति सूत्रानुरोधेन कर्त्रा भान्तेन तान्तेन वा भाव्यम् । सोऽन्येन केनचिन्न म्लेच्छितव्य इत्यर्थग्रहणे त्वन्यस्यैव म्लेच्छनयोग्यत्वाद्ब्राह्मणस्य तदयोग्यत्वमापतति । भाष्याब्धौ पस्पशाह्निके फणिना भाषितं 'तस्माद्ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै' इति । 'न म्लेच्छितवै' इत्यस्य 'न म्लेच्छितव्यं' इत्यर्थस्तत्त्वबोधिनीकारेण 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' इति सूत्रस्य व्याख्याने प्रतिपादित. । अतः मुद्रितपाठस्थाने 'अथ च ब्राह्मणेन न म्लेच्छितव्य' इति पाठेन भाव्यमिति प्रतिभाति । तस्यायमभिप्राय –म्लेच्छप्रबोधनार्थं समाश्रितम्लेच्छभाषेणापि सुसंस्कृतभाषाभिज्ञेन ब्राह्मणेन म्लेच्छभाषा यथा न सर्वथा समाश्रयणीया तथा निश्चनयविदाऽनात्मज्ञपुरुषप्रतिबोधनार्थं समाश्रयणीयोऽपि व्यवहारनयो न सर्वथा समाश्रयणीयः शुद्धात्मस्वरूपोपलब्ध्यनन्तरं व्यवहारस्य निष्प्रयोजनत्वात् । यद्वा ब्रह्मात्मस्वभावभूतं शुद्धज्ञानं वेत्ति जानात्यनुभवतीति ब्राह्मणः । 'तद्वेत्त्यधीते' इति यथाविहितं त्यः । अनुभूतात्मस्वरूपेण सरागसम्यग्दृष्टिना न म्लेच्छितव्यं नापभाषितव्यम् । आत्मरत्नत्रययोः परमार्थतोऽभेदे सत्यपि तयोर्भेदोऽस्तीति प्रतिपादनं म्लेच्छनमेव, भेदप्रतिपादनस्यापभाषणत्वात् । अतः सम्यग्दृष्टिना तथा न वक्तव्यमिति भावः । अथवा मुद्रितपाठानुरोधेन भावाविष्कारो यथा-अन्येन केनचित्सम्यग्दृष्टिना शुद्धस्वरूपानुभूतिनिमग्नशुद्धात्मविषये गुणगुणिनोर्ज्ञानज्ञानिनोर्व्यवहारनयदृष्ट्या भेदोऽस्तीति नापभाषितव्यमिति । विज्ञातात्मस्वरूपेण सम्यग्दृष्टिना व्यवहारनयो नानुसर्तव्य इति भावः, तदनुसरणस्य म्लेच्छनस्वरूपत्वात् ।

टीकार्थ—जिसप्रकार 'स्वस्ति' ऐसा कहनेपर उसप्रकार के वाच्यवाचकसंबंध के ज्ञान से शून्य होनेसे किंचिन्मात्र

भी न समझनेवाला (सुसंकृतभाषा को न समझनेवाला) मेंढेके समान अपनी आँखें न मूंदता हुआ टकटकी लगाकर (स्वस्तिशब्द का उच्चारण करनेवाले के मुख की ओर) देखता हि रह जाता है और जब उसकी भाषा के साथ होनेवाले संबंध से समान अर्थ को जाननेवाले किसी दूसरेके द्वारा अथवा उसी वक्ता के द्वारा म्लेच्छभाषा को स्वीकार कर 'स्वस्ति' इस शब्द का 'आपका विनाश न हो' यह अर्थ उसे बताया जाता है तब शीघ्रहि उत्पन्न होनेवाले आत्यन्तिक आनंद से उत्पन्न होनेवाली आसुओं से जिसकी आंखें भर जाती हैं ऐसा होता हुआ वह म्लेच्छ उस स्वस्ति शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को जानता हि है उसीप्रकार वस्तुतः जिसको यथार्थ आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता ऐसा पुरुष भी 'आत्मा' इस शब्द का उच्चारण करनेपर वह आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से वंचित होनेसे किंचिन्मात्र भी न समझनेवाला मेंढे की भांति बिना मूंदे जिसकी आंखें खुली हुई होती हैं ऐसा वह देखता हि रह जाता है; किंतु जब वही पुरुष जिसने सम्यग्ज्ञानरूप महारथ को व्यवहारमार्गपर और निश्चयमार्गपर चलाया है ऐसे किसी अन्य या उसी सारथि द्वारा व्यवहारमार्ग का आश्रय कर 'जो दर्शनरूप, ज्ञानरूप और चारित्ररूप अवस्थाओं को प्राप्त होती है वह आत्मा है' इसप्रकार से आत्मशब्द का अर्थ बताया जाता है तब शीघ्र हि आत्यंतिक आनंद के कारण अंतरंग में सुंदर ऐसे बोध (ज्ञान) की नानाविध तरंगें (परिणाम) जिसमें उत्पन्न होने लगती हैं ऐसा वह (आत्मस्वरूपानभिज्ञ पुरुष) आत्मस्वरूप के अर्थ को समझ जाता हि है । इसप्रकार यह संसार-संसारी जीव म्लेच्छ के समान होनेसे (आत्मस्वरूपानभिज्ञ होनेसे) व्यवहारनय भी म्लेच्छभाषा की समानता से परमार्थ का प्रतिपादक होनेसे आश्रयणीय है तो भी 'ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं बनाना चाहिये (या ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं बनना चाहिये)' इस वचन के अनुसार व्यवहारनय अनुसरण करनेयोग्य-आश्रयणीय नहीं है ।

विवेचन—म्लेच्छशब्द अपभाषणार्थक म्लेच्छ्धातु को घञ् प्रत्यय लगायी जानेपर बनता है । यहां अपभाषण का 'गालियां सुनाना' ऐसा अर्थ नहीं है । विकृत भाषा बोलना ऐसा उसका अर्थ यहां अभीष्ट है । विकृतभाषा से अपशब्दात्मक भाषा का ग्रहण करना चाहिये । संस्कृतभाषा से भिन्न प्राकृत-अपभ्रंश भाषा अपशब्दात्मकभाषा है। पतञ्जलि ने स्वविरचितभाष्य में इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया है । देखिये—'भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांस शब्दा इति । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः ।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि म्लेच्छशब्द का यहा 'संस्कृतभाषानभिज्ञ अन्य भाषा बोलनेवाला' यह अर्थ अभीष्ट है । संस्कृत भाषा में जो स्वस्तिशब्द पाया जाता है उसके स्थान में प्राकृत भाषा में सत्थिशब्द पाया जाता है । संस्कृतभाषानभिज्ञ पुरुष स्वस्तिशब्द को और उसके अर्थ को नहीं जानता, किंतु सत्थिशब्द को जानता है । अतः स्वस्तिशब्द का उच्चारण किया जानेपर संस्कृतभाषानभिज्ञ पुरुषको स्वस्तिशब्द और उसके वाच्यार्थ में होनेवाले वाच्यवाचकभावरूप संबंध को जाननेवाले न होनेसे स्वस्तिशब्द को सुननेपर वह कुछ भी नहीं जान सकता और इस अज्ञान के कारण मेंढे की भांति स्वस्तिशब्द का उच्चारण करनेवालेके मुख की ओर आंखें बिना मूंदे-बिना बंद किए टकटकी लगाकर देखते हि रह जाता है । किंतु जब उभयभाषाभिज्ञ पुरुष उसकी भाषा का स्वस्त्यर्थवाचक सत्थिशब्द का प्रयोग करता है और उसके द्वारा स्वस्तिशब्द के अर्थ का उसे बोध कराता है तब वह संस्कृतभाषानभिज्ञ पुरुष स्वस्तिशब्द का प्रयोग करनेवाले पुरुष के यथार्थ भाव को समझ जाता है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि स्वस्तिशब्द का प्रयोग करनेवाले पुरुष को संस्कृतेतर भाषा का ज्ञान होनेसे उसी अन्यभाषा को सदाके लिए उपयोग में लेना हि चाहिये । जब वह संस्कृत भाषा को जानता है और उसी भाषा के सहारेसे अपने दैनंदिन व्यवहार को चलाता है तब उसे अपना व्यवहार चलानेके लिए अन्यभाषा की आवश्यकता नहीं होती । इसीप्रकार जिसको आत्मशब्द का अर्थ समझ में नहीं आता ऐसा सामान्य पुरुष 'आत्मा' इस शब्द का उच्चारण करनेपर उसे यथार्थ आत्मस्वरूप का ज्ञान न होनेसे—आत्मा क्या चीज है इसका ज्ञान न होनेसे आत्मशब्द के सुननेपर कुछ भी नहीं समझता और इस आत्मविषयक अज्ञान के कारण मेंढे की भांति आत्मशब्द का उच्चारण करनेवालेके मुख की ओर टकटकी लगाकर देखता हुआ हि रह जाता है; किंतु जब व्यवहारनय और निश्चयनय को जाननेवाले पुरुष के द्वारा व्यवहारनय का आश्रय कर 'जो देखती है (नेत्रेंद्रिय के द्वारा देखती है) जानती है (इंद्रियों के द्वारा जानती है) और जो चलती, उठती, बैठती है (शास्त्रीय भाषा में जो दर्शन-ज्ञान-चारि-

स्वरूप से परिणत होती है) वह आत्मा कही जाती है' इसप्रकार आत्मशब्द का अर्थ बताया जाता है तब शीघ्र हि आत्मशब्द के अर्थ को जान लेता है। (शास्त्रकारों ने इन्द्रिय, बल, आयु और आनप्राण इन चार प्राणोंको धारण करनेवाले को व्यवहारनय की दृष्टी से जीव कहा है-आत्मा कहा है। अतः दर्शनादि का इंद्रियों के साथ का संबंध यहां अभीष्ट है। शास्त्रीय परिभाषा में कहे गये आत्मा की शुद्ध परिणतियों का ग्रहण यहां अभीष्ट नहीं है; क्यों कि उन परिणतियों का अनात्मज्ञ पुरुष को ज्ञान होना असंभव है।) संसारी जीव आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता। उसको आत्मद्रव्य का अन्य द्रव्य के समान स्वतंत्र अस्तित्व बतानेके लिए व्यवहारनय का आश्रय करना नितान्त आवश्यक है। इस व्यवहारनय के द्वारा हि आत्मद्रव्य अन्यद्रव्यों के समान स्वतंत्ररूप से परमार्थतः विद्यमान है यह बताया जा सकता है। आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की सिद्धि न की गयी तो उसके यथार्थस्वरूप को कैसे बताया जा सकता है? जब स्वभाववान् द्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती तब उसके असाधारण स्वभाव का प्रतिपादन करना असंभव हो जाता है। अतः व्यवहारनय की दृष्टी से देखना-जानना आदि क्रियाओं के द्वारा आत्मानभिज्ञ पुरुष को आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व बताया जाना आवश्यक है। आत्मज्ञ पुरुष को अनात्मज्ञ को सम-झानेके लिए यद्यपि कदाचित् व्यवहारनय का अवलंब लेना पडता है तो भी इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे सर्वदा व्यवहारनय का आश्रय करना हि चाहिये; क्यों कि उसे आत्मा के स्वतंत्र द्रव्यत्व का ज्ञान प्राप्त हुआ होता हि है। अनात्मज्ञ पुरुष को आत्मा के स्वतन्त्रद्रव्यत्व का ज्ञान नहीं होता। उसको समझाते समय इंद्रियानिन्द्रियनिमित्तक मतिज्ञान का और मतिज्ञाननिमित्तक श्रुतज्ञान का अवलंब लेना पडता है। उन ज्ञानों के द्वारा जब उसे समझाया जाता है तब उसे बताया जाता है कि शरीर आदि ज्ञान के धारक नहीं है। यदि शरीर ज्ञान का धारक होता तो वह मृत्यु हो जाने के बाद भी इंद्रिया मौजूद होनेसे कानों से सुनता, आंखों से देखता, नाक से सूंघता और मुह से रसास्वाद ले लेता। मृत शरीर में ये क्रियाए और जाननेकी तथा विचार करने की क्रियाए जब नही देखी जाती तब वे क्रियाए उसकी नहीं हैं। उन क्रियाओं का वास्तविक आश्रय दूसरा हि पदार्थ है। वह जो दूसरा पदार्थ है वही आत्मा है। अतः जो देखनेवाली आदिरूप होती है वह आत्मा है। ये क्रियाए ज्ञान की-चैतन्य की परिणतिया है। अतः जो द्रव्य ज्ञानगुणयुक्त होता है वह आत्मा है-अन्य द्रव्य नहीं। जिन मतिज्ञान के और श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है वे ज्ञान शुद्ध आत्मा के स्वभावरूपशुद्धज्ञानस्वरूप न होनेपर भी वे उपचार से आत्म-स्वामिक बताये जाते है। इन ज्ञानों का शुद्ध आत्मा के साथ जो स्वस्वामिभावसबंध बताया जाता है वह उपचरित होनेसे व्यवहारनयाश्रित है। ये दोनों ज्ञान निश्चयनय की दृष्टी से जो शुद्ध ज्ञान होता है उसके विभावात्मक परि-णाम होनेसे यथार्थ ज्ञान का और उसके आश्रयभूत शुद्ध आत्मा का ज्ञान कराते है। अतः व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब 'ब्राह्मणो न म्लेच्छितवै' इस वचनपर विचार किया जाना आवश्यक है ऐसा प्रतीत होता है। 'म्लेच्छित-व्य.' शब्द मेंर् म्लेच्छ् धातु से तव्यप्रत्यय (तव्यप्रत्यय) लगायी जानेसे बना हुआ कृदन्तरूप है। जब इस प्रकार के कृदन्तरूप का वाक्य में प्रयोग किया जाता है तब 'कृत्यस्य वा कर्तरि' इस नियम के अनुसार उस प्रकार के कृदन्तरूप का कर्ता तृतीयान्त या षष्ठ्यन्त होता है। यहा 'ब्राह्मण.' यह प्रथमान्त रूप है। अतः वह उस कृदन्त का कर्ता नही बन सकता। पातञ्जलभाष्य में इसी अभिप्राय का प्रतिपादन करनेवाला एक वाक्य पस्पशाह्निक में पाया जाता है। वह 'तस्माद्ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै' इस प्रकार है। उस वाक्य में पाये जानेवाले 'म्लेच्छितवै' इस शब्द का अर्थ 'म्लेच्छितव्यम्' ऐसा तत्त्वबोधिनीकार के द्वारा दिया गया है। 'म्लेच्छितव्यम्' इस कृदन्त का कर्ता भी तृतीयान्त है। इस वाक्य का 'ब्राह्मण को अपभाषण करना ठीक नहीं है' ऐसा अर्थ होता है। 'अपभाषण' इस शब्द का 'संस्कृत भाषा को छोडकर अन्य भाषा में भाषण करना' ऐसा अर्थ होता है। इस का प्रकरणसंगत अर्थ नीचेमुजब होता है–संस्कृतभाषानभिज्ञ पुरुष को समझानेके लिए यद्यपि संस्कृतभाषाभिज्ञ पुरुष को म्लेच्छभाषा का आश्रय करना पडनेपर भी जिसप्रकार उस भाषा का सर्वदा आश्रय करना उचित नहीं है उसी प्रकार आत्मानभिज्ञ पुरुष को समझानेके लिए आत्मज्ञानी पुरुष को व्यवहारनय का आश्रय करना पडनेपर भी व्यवहारनय का अपने लिए सर्वदा

आश्रय करना उचित नहीं है । आत्मा और उसका स्वभावभूत ज्ञान इनमें वस्तुतः तादात्म्य-अभेद होनेपर भी उनमें भेद होता है ऐसा कहना म्लेच्छन-अपभाषण है; क्यों कि इस कथन से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । अथवा जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है-उसका अनुभव करता है उसको आत्मा और ज्ञान में वस्तुतः होने वाले अभेद का ज्ञान हो जानेसे 'उन दोनों में भेद होता है' ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्यों कि यह कथन व्यवहार-नयाश्रित का-उपचरित होनेसे यथार्थ नहीं है । मुद्रितपाठ के अनुसार उसका अर्थ लेना हो तो अध्याहृत कर्ता को स्वीकार कर हि अर्थ करना चाहिये । उस पाठ का अर्थ–'किसी आत्मज्ञ पुरुष को शुद्ध आत्मा के विषय में अपभाषण नहीं करना चाहिये-आत्मा और उसके स्वभावभूत ज्ञान में भेद होता है ऐसा नहीं कहना चाहिये ।' ब्रह्म शब्द का अर्थ है ज्ञान । उस ज्ञान को जो जानता है-अनुभवता है वह ब्राह्मण है । अर्थात् जो शुद्ध ज्ञान की अनुभूति में मग्न रहता है वही ब्राह्मण है-शुद्धात्मा है । उस शुद्ध आत्मा के विषय में किसी भी आत्मज्ञ पुरुष को अपभाषण नहीं करना चाहिये-ज्ञान और ज्ञानी मे भेद होता है ऐसा नहीं कहना चाहिये अर्थात् व्यवहारनय का आश्रय नहीं करना चाहिये ।

'कथं व्यवहारस्य (परमार्थ-) प्रतिपादकत्वम् ? इति चेत्– ('व्यवहारनय का परमार्थ-प्रतिपादकत्व कैसे सिद्ध होता है ?' ऐसा प्रश्न हो तो उसका उत्तर नीचेमुजब है ।)

जो हि सुएणाहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥ ९ ॥

जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा ॥ १० ॥

यो हि श्रुतेनाधिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥ ९ ॥

यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ– (**यः**) जो जीव (**हि**) स्पष्टरूप मे–परमार्थत. (**श्रुतेन तु**) भावश्रुतात्मक स्वसंवेदनज्ञान से हि (**इमं**) इस (**केवलं शुद्धं**) कर्ममलरहित होनेसे शुद्ध अर्थात् रागादिरूप विभावभावरहित (**आत्मानं**) आत्मा को (**अधिगच्छति**) जानता है (**तं**) उसे (**लोकप्रदीपकराः**) लोक को प्रकाशित करनेवाले-ससारस्थ पदार्थों के स्वरूप को प्रकट करनेवाले (**ऋषयः**) ऋषीश्वर (**श्रुतकेवलिनं**) श्रुतकेवली (**भणंति**) कहते हैं; (**यः**) जो जीव (**सर्वं**) संपूर्ण (**श्रुतज्ञानं**) द्रव्यश्रुत को (**जानाति**) जानता है (**तं**) उसे (**जिनाः**) जिनेन्द्रभगवान् (**श्रुतकेवलिनं**) श्रुतकेवली (**आहुः**) कहते हैं । (**यस्मात्**) जिस कारण से (**सर्वं ज्ञानं**) जो जो ज्ञान होता है वह संपूर्ण ज्ञान अर्थात् भावश्रुतरूप और द्रव्यश्रुत के अध्ययन मे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान (**आत्मा**) आत्मा होता है (**तस्मात्**) उस कारण से-ज्ञान आत्मरूप होनेसे ज्ञाता आत्मा (**श्रुतकेवली**) श्रुतकेवली है ।

आ. ख्या.– यः श्रुतेन केवलं शुद्धं आत्मानं जानाति स श्रुतकेवली इति तावत् पर-

मार्थः, यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवली इति तु व्यवहारः । तद् अत्र सर्वं एव तावज् ज्ञानं निरूप्यमाणं किं आत्मा किं अनात्मा ? न तावद् अनात्मा, समस्तस्य अपि अनात्मनः चेतनेतरपदार्थपञ्चतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः । ततः गत्यन्तराभावात् 'ज्ञानं आत्मा' इति आयाति । अतः श्रुतज्ञानं अपि आत्मा एव स्यात् । एवं सति 'यः आत्मानं जानाति स श्रुतकेवली' इति आयाति । स तु परमार्थः एव । एवं ज्ञानज्ञानिनौ भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेण अपि परमार्थमात्रं एव प्रतिपाद्यते, न किञ्चिदपि अतिरिक्तम् । अथ च'यः श्रुतेन केवलं शुद्धं आत्मानं जानाति स श्रुतकेवली' इतिपरमार्थस्य प्रतिपादयितुं अशक्यत्वात् 'यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवली' इति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेन आत्मानं प्रतिष्ठापयति।

त. प्र.– यः– प्रतिबन्धककारणाभावात्समुपलब्धसम्यक्त्वरूपस्वसंवेदनसामर्थ्यः कश्चन भव्यजीवः श्रुतेन भावश्रुतस्वरूपस्वसंवेदनप्रत्यक्षसञ्ज्ञकज्ञानविशेषेण केवलं कर्मकलङ्कविकलत्वेनासहायं शुद्धं घातिकर्मोदयनिमित्तकरागाद्यात्मकविभावपरिणामवैकल्यान्निर्मलमात्मानं शुद्धज्ञानघनैकस्वभावं नैजमात्मानं जानाति परिच्छिनत्ति स्वानुभूतिगोचरतां च नयति स भव्यजीवो निश्चयनयापेक्षया श्रुतकेवलीति परमार्थः भूतार्थः । यः भव्यः श्रुतज्ञानं भावश्रुतज्ञानोत्पत्तिकरणभूतं द्रव्यश्रुतं सर्वं निखिलं जानात्यधिगच्छति स भव्यजीवो व्यवहारनयापेक्षया श्रुतकेवलीति तु व्यवहारोऽभूतार्थः । तदत्र सर्वमेव तावज्ज्ञानं भावश्रुतस्वरूप द्रव्यश्रुतपरिच्छित्तिजन्यं च भावश्रुतज्ञानं निरूप्यमाणं प्रतिपाद्यमानं किमात्मात्मस्वरूपं किमनात्मात्मभिन्नाचेतनधर्माधर्माकाशकालपुद्गलस्वरूपं वा ? न तावादनात्मात्मभिन्नाचेतनधर्मादिद्रव्यस्वरूपं समस्तस्यापि सकलस्याप्यनात्मन आत्मनो भिन्नस्य चेतनेतरपदार्थपञ्चतयस्याचेतनद्रव्यपञ्चकस्य । चेतनादितरे भिन्ने चेतनेतरे । अचेतना इत्यर्थः । ते च ते पदार्थाः द्रव्याणि । तेषां पञ्चतयं पञ्चकं । तस्य । पञ्चावयवा अस्य पञ्चतयम् । 'अवयवे तयट्' इति तयट् । ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेर्ज्ञानेन तादात्म्यस्याघटनात् । ततस्तस्मात्कारणाद्गत्यन्तराभावादुपायान्तराभावात् । ततो ज्ञानस्याचेतनपदार्थैस्तादात्म्याभावाज्जीवद्रव्येणैव च तादात्म्यदर्शनादिति भावः । ज्ञानमात्मेत्यायाति ज्ञानात्मनोरभिन्नव्यक्तित्वमापतति । सिध्यतीति भावः। अतोऽस्मात्कारणाच्छ्रुतज्ञानमपि भावश्रुतस्वरूपं द्रव्यश्रुताध्ययनजन्यं च ज्ञानमप्यात्मैव स्यात् । अत्रावधारणार्थकैवकारेण ज्ञानस्यात्मभिन्नद्रव्यत्वं व्यवच्छिन्नम् । एवं सति । ज्ञानस्यात्मत्वे इत्यर्थः । यः स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानेनात्मस्वरूपानुभवनसामर्थ्यसम्पन्नो भव्यजीव आत्मानं शुद्धज्ञानघनैकस्वभावं जानाति परिच्छिनत्त्यनुभवति च स श्रुतकेवलीत्यायाति सिध्यति । स तु परमार्थ एव भूतार्थ एव । एवं ज्ञानज्ञानिनौ भेदेन व्यपदिशता ज्ञानात्मानावन्योन्यभिन्नाविति व्यपदिशता प्रतिपादकेन व्यवहारेणाऽपि परमार्थमात्रमेव भूतार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते निगद्यते, न किञ्चिदव्यतिरिक्तमधिकं व्यर्थमन्यद्वा। अथ चातो यो भव्यः श्रुतेन भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानेन केवलं कर्ममलीमसविकलत्वादसहायं शुद्धं विभावपरिणतिवैकल्यात्स्वशुद्धज्ञानघनस्वभावनिष्ठमात्मानं स्वीयमात्मद्रव्यं जानाति परिच्छिनत्ति स जीवः श्रुतकेवलीति परमार्थस्य भूतार्थस्य प्रतिपादयितुं निरूपयितुमशक्यत्वात् यो जीवः श्रुतज्ञानं भावश्रुतज्ञानोत्पत्तिनिमित्तभूतद्रव्यश्रुताध्ययनोत्पन्नं ज्ञानं जानाति वेत्ति स श्रुतकेवलीति व्यवहारो व्यवहारनयः परमार्थप्रतिपादकत्वेन शुद्धद्रव्यप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति प्रतिष्ठां

प्रापयति । ननु भावश्रुतज्ञानोत्पत्तिनिमित्तभूतद्रव्यश्रुतज्ञानिनोऽपीदानीन्तनकालेऽपि स्वसंवेदनज्ञानवत्त्वाच्छ्रुतकेवलित्वमापद्यते इति चेत्, न, सम्प्रति काले शुक्लध्यानाभावात् । साम्प्रतिकपुरुषस्वसंवेदनज्ञानस्य पूर्वतनपुरुषशुक्लध्यानात्मकस्वसंवेदनज्ञानाद्भिन्नत्वात्साम्प्रतिकानां धर्म्यध्यानमात्रयोग्यतासद्भावादिदानींतनकाले भावश्रुतकेवलिनः सद्भावो न सम्भवतीति भावः । एवं व्यवहारस्य परमार्थत्वाभावेऽपि परमार्थप्रतिपादकत्वमात्मद्रव्यप्रतिष्ठापकमिति तात्पर्यम् ।

टीकार्थ—जो श्रुत के द्वारा अर्थात् शुक्लध्यानस्वरूप स्वसंवेदनात्मक भावश्रुत के द्वारा कर्ममलरहित और रागद्वेषादिरूपविभावपरिणामरहित आत्मा को जानता है-उसका अनुभव करता है वह श्रुतकेवली है यह परमार्थ है और जो भावश्रुतज्ञान की उत्पत्ति के साधनभूत संपूर्ण द्रव्यश्रुत को जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहार है। अब यहां बताया जानेवाला सर्व ज्ञान आत्मद्रव्यात्मक है या आत्मभिन्नधर्मादिद्रव्यात्मक है ? वह ज्ञान आत्मभिन्नद्रव्यात्मक तो नहीं है, क्यो कि सभी के सभी आत्मद्रव्य से भिन्न पाचप्रकार के अचेतन द्रव्यों का ज्ञान के साथ तादात्म्य-अभेद घटित नहीं होता । उस कारण से अन्य उपाय का सद्भाव न होनेसे ज्ञान आत्मा है यह पक्ष सिद्ध हो जाता है । उससे भावश्रुतज्ञान और द्रव्यश्रुतजन्यज्ञान भी आत्मरूप हि होगा । ऐसा होनेपर 'जो आत्मा को जानता है - उसका अनुभव करता है वह श्रुतकेवली है यह (अभिप्राय) सिद्ध हो जाता है । वह परमार्थ-भूतार्थ हि है । इसप्रकार ज्ञान और ज्ञानी इनका भेद से अर्थात् ज्ञान और ज्ञानी इनमें भेद होता है ऐसा प्रतिपादन करनेवाले व्यवहारनय के द्वारा भी सिर्फ परमार्थ का हि प्रतिपादन किया जाता है-किंचित् भी अधिक का या व्यर्थ का प्रतिपादन नहीं किया जाता । अब 'भावश्रुत के-स्वसंवेदन के द्वारा कर्ममलरहित और विभावभावरूप से परिणत न हुई आत्मा को जो जानता है-उसका अनुभव करता है वह श्रुतकेवली है' इस प्रकार के परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होनेसे 'जो संपूर्ण द्रव्यश्रुत को जानता है वह श्रुतकेवली है' इस प्रकार का व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होनेसे आत्मा की प्रतिष्ठापना-सिद्धि करता है ।

विवेचन—केवल इस शब्द का अर्थ 'कर्ममलरहित अत एव असहाय' ऐसा होता है और शुद्ध इस शब्द का 'विभावभावरहित' ऐसा बोध होता है। इन दोनों विशेषणों से शुद्ध आत्मा का बोध है। श्रुत दो प्रकार का है-एक भावश्रुत, और दूसरा द्रव्यश्रुत । भावश्रुत का अर्थ है आत्मानुभूति-स्वसंवेदन और द्रव्यश्रुत का अर्थ है द्वादशांग वाणी । अनुभूति-स्वसंवेदन ज्ञान है और द्रव्यश्रुत के अध्ययन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी ज्ञानरूप है । द्रव्यश्रुत के ज्ञान से जीवादि छहों द्रव्यों के स्वभावों का ज्ञान होता है और उसमें अनादिकाल से चेतन और चेतनेतर पदार्थों का पृथक्करण किया जा सकता है । पृथक्करण के बाद शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है । अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भावश्रुतरूप साध्य की प्राप्ति के लिए द्रव्यश्रुत साधकतम साधन है । भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इनमें साध्यसाधकभाव होता है यह मथितार्थ है । कहा भी है कि—

> दव्वसुयादो भावं तत्तो उहय हवेइ सवे-[दं ?] ज्जं ।
> तत्तो संवित्ती खलु केवलणाणं हवे तत्तो ।।

अर्थ— द्रव्यश्रुत से भावश्रुत होता है और उसमें द्रव्यश्रुत और भावश्रुत सवेद्य—अनुभवयोग्य बन जाते हैं—अनुभव का विषय बन जाते हैं। उससे संवित्ति—आत्मानुभव होता है और आत्मानुभव से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

जो द्रव्यश्रुत को जानता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से श्रुतकेवली है । जो वीतरागनिर्विकल्पसमाधि से आत्मानुभव करता है उस जीव को निश्चयनय की दृष्टि से श्रुतकेवली कहते हैं । यद्यपि व्यवहारश्रुतकेवली अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता और सिर्फ द्वादशांगवाणी को जानता है तो भी वह संपूर्ण द्रव्यश्रुत का ज्ञाता होनेसे परमार्थ का प्रतिपादक होनेसे आत्मा की निर्दोष नयप्रमाणों से सिद्धि करता है । इस आत्मसिद्धि से जो वीतरागनिर्विकल्पसमाधि के द्वारा शुद्ध आत्मा को जानता है—अनुभव करता है वह निश्चयनय की दृष्टि से श्रुतकेवली है।

इसप्रकार अप्रतिपाद्य–जिसका प्रतिपादन करना अशक्य होता है ऐसा परमार्थ प्रतिपाद्य बन जाता है।

ज्ञान चाहे द्रव्यश्रुतजन्य हो चाहे भावश्रुतात्मकस्वसंवेदनरूप हो या परपरिच्छित्त्यात्मक हो वह आत्मा है या आत्मभिन्नपदार्थ है ? वह आत्मभिन्नपदार्थात्मक नहीं है; क्यों कि जितने भी आत्मभिन्नपदार्थ हैं उन सभी पांच प्रकार के अचेतन पदार्थों का ज्ञान के साथ तादात्म्य घटित नहीं होता। कहनेका भाव यह है कि परसंग्रहनय की दृष्टि से पदार्थ एक हि होता है और पर्यायार्थिक या व्यवहारनय की दृष्टि से उसके अनंत भेद हैं। कहा भी है कि 'द्रव्यमेकमनन्तपर्यायम्।' जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये द्रव्य के छह भेद हैं। इनमेंसे जीवद्रव्य को छोडकर बाकी धर्मादि पांच द्रव्य अचेतन होनेसे उनके साथ चेतन धर्म का तादात्म्य घटित नहीं हो सकता; क्यों कि चेतनधर्म का उनके साथ तादात्म्य हो सकता है ऐसा माननेसे जिनमें सहानवस्थायिविरोध है ऐसे चेतनधर्म और अचेतनधर्म इनका धर्मादि पांच द्रव्यों में सह–एकसाथ अवस्थान होता है ऐसा माननेकी आपत्ति उपस्थित हो जायगी, जो कि असंभव है। जब इन पांच अचेतन पदार्थों का ज्ञान के साथ तादात्म्य घटित नहीं हो पाता तब अवशिष्ट आत्मद्रव्य के साथ उसका तादात्म्य घटित हो जानेसे ज्ञानमात्र को आत्मा मानना हि पडेगा। द्रव्यश्रुतजन्यज्ञान, भावश्रुतात्मक स्वसंवेदनज्ञान और परपरिच्छित्त्यात्मक ज्ञान ज्ञानजातीय होनेसे उनको आत्मा मानना हि होगा; क्यों कि ऐसा माननेके सिवा दूसरा मार्ग हि नहीं है। अतः जब सभी ज्ञानभेदों का गत्यन्तर न होनेसे आत्मत्व सिद्ध हो जाता है तब श्रुतज्ञान का भी आत्मत्व हि सिद्ध होना अनिवार्य बन जाता है; क्यों कि श्रुतज्ञान ज्ञानस्वरूप होनेसे उसके साथ भी धर्मादि पांच द्रव्यों का तादात्म्य घटित नहीं होता। इस तरह से जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है यह मन्तव्य पुनरपि स्पष्ट हो जाता है और यही परमार्थ है। इसतरह ज्ञान और जिसका इस ज्ञान के साथ तादात्म्य घटित होता है ऐसा ज्ञानयुक्त जीव इनमें निश्चयनय की दृष्टि से अर्थात् परमार्थतः भेद न होनेपर भी जो 'इनमें भेद होता है' ऐसा व्यवहारनय की दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है वह भी आत्मविषयक होनेसे परमार्थ का प्रतिपादन है–इनसे भिन्न का नहीं है अर्थात् अपरमार्थ का प्रतिपादन नहीं है। जो भावश्रुतरूप स्वसंवेदनज्ञान से कर्ममलविकल और रागादिविभावभावशून्य ऐसे शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है इसप्रकार का जो परमार्थ का प्रतिपादन है वह आत्मस्वरूपानभिज्ञ पुरुष को समझानेके विषय में अनुपयुक्त है; क्यो कि उससे उसको परमार्थ का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। उसको भावश्रुत का अर्थ क्या है और स्वसंवेदन क्या चीज है यह वह नहीं जानता–द्रव्यश्रुत को वह जानता है और उसको जानने की क्रिया को भी जानता है। जो ज्ञान के साधनभूत संपूर्ण द्रव्यश्रुत को जानता है वह श्रुतकेवली होता है इस प्रतिपादन को वह आत्मानभिज्ञ पुरुष समझ सकता है। किन्तु यह प्रतिपादन व्यवहारनय की दृष्टि को लिए हुए है। यह व्यवहार भी परमार्थ का प्रतिपादन करता है। वह परमार्थ का प्रतिपादक होनेसे व्यवहारनय भी आत्मद्रव्य की सिद्धि करता है।

यदि जिस जीव को स्वसंवेदनज्ञान होता है वह श्रुतकेवली होता है यह सिद्धान्त मान लिया, तो इस काल में भी जीवों को स्वसंवेदनज्ञान होनेसे इस काल में भी श्रुतकेवली के होनेमें कौनसी बाधा है ? इस प्रश्न का समाधान–इस काल में भी स्वसंवेदनज्ञान होता है इस विषय में किसी को भी आपत्ति नहीं है, किन्तु पूर्वपुरुषों को जिसतरह शुक्लध्यानस्वरूप स्वसंवेदनज्ञान था वह ज्ञान आजकलके पुरुषों को नहीं होता; क्यों कि उन्हे सिर्फ धर्म्यध्यान हि होता है। धर्म्यध्यानरूपस्वसंवेदनज्ञान और शुक्लध्यानरूपस्वसंवेदनज्ञान इनमें महदन्तर है; क्यो कि शुक्लध्यान पूर्वविद्–द्वादशांगवाणी के जानकार के हि होता है। धर्म्यध्यान तो द्वादशांगवाणी के जानकार के भी होता है और जो उसका जानकार नहीं होता उसके भी होता है। सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्म्यध्यान चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थानवाले जीवों के होता है और श्रेण्यारोहण करनेवाले जीवों के सिर्फ शुक्लध्यान हि होता है। इसकाल में द्वादशांगवाणी के पूर्णरूप से जानकार नहीं हैं। अतः शुक्लध्यान का अभाव होनेसे शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव के कारण इस काल में श्रुतकेवली का होना असंभव है।

'कुत. व्यवहारनयः न अनुसर्तव्यः ?' इति चेत्– ('व्यवहारनय का अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिये ?' ऐसा प्रश्न हो तो उसका समाधान निम्नप्रकार है।)

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः ।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ–(**व्यवहारः**) व्यवहारनय (**अभूतार्थः**) अभूतार्थ है-भूतार्थ नही है ; (**शुद्धनयः तु**) और शुद्धनय जो है वह (**भूतार्थः**) भूतार्थ है ऐसा (**दर्शितः**) दर्शाया-दिखलाया गया है । (**भूतार्थं आश्रितः**) भूतार्थनय का जिसने आश्रय किया है ऐसा अर्थात् भूतार्थनयावलंबी जीव (**खलु**) परमार्थत (**सम्यग्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि (**भवति**) होता है ।

आ. ख्या.– व्यवहारनयः हि सर्वः एव अभूतार्थत्वात् अभूतं अर्थं प्रद्योतयति । तथाहि-यथा प्रबलपङ्कसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसः अनुभवितारः पुरुषाः पङ्कपयसोः विवेकं अकुर्वन्तः बहवः अनच्छं एव तत् अनुभवन्ति; केचित् तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपङ्कपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वात् अच्छं एव तत् अनुभवन्ति, तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्य आत्मनः अनुभवितारः पुरुषाः आत्मकर्मणोः विवेकं अकुर्वन्तः व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तं अनुभवन्ति; भूतार्थदर्शिनः तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभाव त अनुभवन्ति । तत् अत्र ये भूतार्थं आश्रयन्ति ते एव सम्यक् पश्यन्तः सम्यग्दृष्टयः भवन्ति, न पुनः अन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य । अतः प्रत्यक् आत्मदर्शिभिः व्यवहारनयः न अनुसर्तव्य. ।।

त. प्र.–'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते' इत्युक्तप्रयोजनो व्यवहारनयो हि खलु सर्वः एव समस्तभेदः एव अभूतार्थत्वात्-अयथास्थितार्थविषयत्वात् । न भूतो यथास्थितोऽभूतः । अभूतोऽयथास्थितोऽर्थो विषयो यस्य सोऽभूतार्थः । तस्य भावोऽभूतार्थत्वम् । तस्मात् । गुणिनः स्वगुणेभ्यो भेदाभावे सत्यपि गुणगुणिनो परस्परभिन्नाविति, देहात्मनो स्वभावभेदाद्भिन्नत्वेप्यनादिबन्धपर्यायवशात्तयोर्भेदो नास्तीति च भेदे सत्यभेदस्याभेदे सति भेदस्य चोपचारेण विशिष्टप्रयोजनमपेक्ष्य व्यवस्थापनाद्व्यवहारस्य यथास्थितार्थाविषत्वादभूतार्थत्वमिति विज्ञेयम् । अभूतमयथास्थितमर्थं विषयं प्रद्योतयति प्रकटीकरोति । तथा हि–तदेवोपपादयति । यथा येन प्रकारेण प्रबलपङ्कसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य-प्रबलोऽत्यधिकश्चासौ पङ्कः कर्दमश्च प्रबलपङ्कः । तस्य संवलनं व्यतिकरः संयोगो वा प्रबलपङ्कसंवलनम् । तेन तिरोहितो निगूढः सहजः स्वाभाविक एकोऽनन्यसाधारणोऽच्छभावः स्वच्छत्वं यस्य तत् । तस्य पयसः सलिलस्यानुभवितारः उपभोक्तारः पुरुषाः मानवाः पङ्कपयसोः जम्बालसलिलयोर्विवेकं पृथक्करणमकुर्वन्तो बहवो जनाः अनच्छं मलीमसमेव तत्सलिलमनुभवन्त्यास्वदन्ते । केचित्त्वन्ये केचिज्जनाः स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपङ्कपयोविवेकतया–स्वहस्तप्रक्षिप्तनिर्मलीकरणबीजविशेषपत–

नमात्रप्रकल्पितजम्बालसलिलपार्थक्यत्वेन। स्वकरेण स्वहस्तेन विकीर्णं प्रक्षिप्तं च तत् कतकमम्बुप्रसा.-दनफलं च स्वकरविकीर्णकतकम्। तस्य निपातमात्रेण पतनमात्रेणोपजनितः प्रकल्पितः पङ्कपयसोर्जम्बालसलिलयोर्विवेकः पार्थक्यम्। तस्य भावः। तया। स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वात्-स्वप्रयत्नप्रादुर्भावितस्वाभाविकानन्यसाधारणनैर्मल्यत्वात्। स्वपुरुषकारेण कतकफलविकिरणात्मकप्रयत्नेनाविर्भावितः प्रकटीकृतः सहजः स्वाभाविकः एकोऽनन्यसाधारणोऽच्छभावोऽच्छत्वं प्रसादः यस्य तत्। तस्य भावः। तस्मात्। अच्छमेव प्रसन्नमेव तत् पयोऽनुभवन्त्युपभुञ्जन्ति। तथा तेन प्रकारेण प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्य—प्रकृष्टबलद्रव्यकर्मसंयोगनिगूढस्वाभाविकानन्यसाधारणज्ञायकत्वस्य। प्रकृष्टं बलं फलदानसामर्थ्यं यस्य तत्। प्रबलं च तत् कर्म च प्रबलकर्म। तस्य संवलनेन संयोगेन तिरोहितो निगूढः सहजः स्वाभाविकः एकोऽनन्यसाधारणो ज्ञायकभावो ज्ञातृत्वं यस्य सः। तस्य। आत्मनो जीवस्यानुभवितारो ज्ञातारः पुरुषाः नरः आत्मकर्मणोरात्मपौद्गलिककर्मणोर्विवेकं पृथग्भावमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदया व्यवहारनयमोहोपहतात्मानः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं-प्रकटीभवद्भावनानाविधत्वं। प्रद्योतमानं प्रकटीभवद्भावानां परिणामानां वैश्वरूप्यं नानाविधत्व यस्य स। तम्। तमात्मानमनुभवन्त्यनुभवगोचरतां नयन्ति। भूतार्थदर्शिनः तु-यथास्थितार्थदर्शिनस्तु। भूत यथास्थितमर्थं द्रव्यं पश्यन्तीत्येवंशीलाः भूतार्थदर्शिनः। स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया-स्वबुद्धिप्रस्थापितशुद्धनयानुबोधमात्रप्रादुर्भावितात्मकर्मपृथग्भावत्वेन। स्वमतौ स्वबुद्धौ निपातितः प्रस्थापितः। स चासौ शुद्धनयश्च स्वमतिनिपातितशुद्धनयः। तस्यानुबोधमात्रेण स्मरणमात्रेणोपजनितः प्रादुर्भावितः आत्मकर्मणोर्विवेकः पृथग्भावो येन स। तस्य भावः। तया। स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकभावत्वात्-स्वप्रयत्नप्रादुर्भावितस्वाभाविकानन्यसाधारणज्ञातृभावत्वात। स्वपुरुषकारेण शुद्धनयानुस्मरणात्मकप्रयत्नेन संवरणनिर्जरणविधायिभावजननात्मकप्रयत्नेन वाऽऽविर्भावितः प्रकटीकृतः सहजः स्वाभाविकः एकोऽनन्यसाधारणो ज्ञायकभावो ज्ञातृभावो येन स.। तस्य भावः। तस्मात्। हेतौ का। प्रद्योतमानकज्ञायकभाव प्रकटीभवदेकज्ञातृभावम्। प्रद्योतमानः प्रकटीभवन् एकोऽनन्यसाधारणो ज्ञायकभावो यस्य सः। तम्। तमात्मानमनुभवन्ति स्वसंवेदनज्ञानगोचरतां नयन्ति। तत् तस्मात्कारणादत्र ये जीवाः भूतार्थं यथास्थितार्थविषयं शुद्धनयमाश्रयन्ति त एव सम्यक् स्फुटं यथार्थतया वा पश्यन्तोऽवलोकयन्तः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति; न पुनरन्ये शुद्धनयमनाश्रयन्तो व्यवहारनयमात्रावलम्बिनो जीवविषयकयथार्थज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टयो न भवन्ति, कतकस्थानीयत्वादम्बुप्रसादनफलसदृशत्वाच्छुद्धनयस्य। यथा कतकफलं स्वशक्तिनिर्मलीकृतं सलिल कतकफलप्रक्षेपकाय प्रददाति तथा शुद्धनयोऽपि तद्योजकाय शुद्धमात्मद्रव्यं प्रयच्छतीति भावः। अतः एतस्मात्कारणात् प्रत्यगन्तः आत्मदर्शिभिरात्मस्वरूपसाक्षात्कारिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः, तस्य यथास्थितार्थविषयत्वाभावात्। व्यवहारनयो मुमुक्षुभिर्नानुसरणमर्हतीति भावः

टीकार्थ—अपने सभी भेद-प्रभेदों से युक्त व्यवहारनय यथास्थित पदार्थ को विषय करनेवाला न होनेसे अभूत-अयथास्थित (वास्तवस्वरूप से रहित) पदार्थ को प्रकट करता है। सिर्फ एक शुद्धनय हि यथास्थित पदार्थ उसका विषय होनेसे यथास्थित अर्थ को-भूतार्थ को प्रकट करता है। अब उसी विषय को सिद्ध करते हैं—जिस प्रकार अत्यधिककीचड़ के संयोग से—मिश्रण से जिसका स्वाभाविक-नैसर्गिक और अनन्यसाधारण अच्छभाव-निर्मलता प्रच्छादित होता है ऐसे जल का अनुभव करनेवाले बहुत से लोग कीचड़ और जल का पृथक्करण न करते हुए उस

पंकिल–कीचड़सहित जल का अनुभव करते हैं; किंतु कुछ लोग अपने हाथ से डाले गये कतकफल के (पंकिल जल में) पडनेमात्र से उत्पन्न किये गए जल और जंबाल के (जल और कीचड़ के) पृथग्भाव से (जल और कीचड़ पृथक्–अलगअलग हो जानेसे) अपने प्रयत्न से जल का स्वाभाविक-नैसर्गिक और अनन्यसाधारण निर्मलत्व प्रकट किया गया होनेसे उस निर्मल-प्रसन्न जल का हि अनुभव करते हैं। इसीप्रकार प्रबल कर्म के संयोग से जिसका स्वाभाविक और अनन्यसाधारण ज्ञायकभाव प्रच्छादित हो गया है ऐसी आत्मा का अनुभव करनेवाले, आत्मा और कर्म का भेद न करनेवाले, जिनका हृदय व्यवहारनय के द्वारा मोहित किया गया है अर्थात् जो व्यवहारमूढ बने हुए हैं ऐसे पुरुष धर्मों की नानाविधता जिस में प्रकट हो रही है ऐसी आत्मा का अनुभव करते हैं; किंतु पदार्थ निसर्गतः जैसा होता है वैसे हि उसको देखनेवाले जो होते हैं वे अपनी बुद्धि में प्रस्थापित की गयी शुद्धनय के स्मरणमात्र से आत्मा और कर्म इन का पृथग्भाव (भेद) किया जानेसे अपने प्रयत्न से स्वाभाविक और अनन्यसाधारण ज्ञायकभाव का आविर्भाव-प्रकटीकरण किया जानेसे जिसका अनन्यसाधारण ज्ञायकभाव प्रकट हो रहा है-प्रद्योतमान है ऐसी आत्मा का अनुभव करते हैं। उस कारण से इस विषय में जो पदार्थ निसर्गतः जैसा होता है उसी प्रकार से हि उसका प्रतिपादन करनेवाले नय का-शुद्धनय का आश्रय लेते हैं वे हि पदार्थ को स्पष्टरूप से और यथार्थरूप से देखनेवाले सम्यग्दृष्टि हुआ करते हैं-अन्यजन अर्थात् शुद्धनय का आश्रय न करनेवाले सम्यग्दृष्टि नहीं होते; क्यों कि शुद्धनय कतकफल-निर्मली के बीज के समान होता है। अतः अन्तरंग में अपनी आत्मा का दर्शन-साक्षात्कार करने वालों को व्यवहारनय का अनुसरण करना योग्य नहीं है।

विवेचन– निसर्गतः पदार्थ जैसा होता है उसीप्रकार से उसके विषय में प्रतिपादन किया जाना चाहिये। ऐसा कथन हि भूतार्थ कथन कहा जाता है। व्यवहारनय का कार्य वस्तुयाथात्म्य को प्रकट करनेका नहीं है। किसी ढंगसे पदार्थविषयक ज्ञान कराना उसका कार्य है। पदार्थ गुणों का आश्रय–अधिकरण होता है इस अभिप्राय को समझानेके लिए पदार्थ और उसके गुणो में भेद बताना आवश्यक होता है। गुणगुणी आदि में भेद का अस्तित्व बताना व्यवहारनय का कार्य है। यह भेद वास्तव न होकर उपचरित होता है। उसीप्रकार अनादिकाल से देह के साथ संश्लिष्ट हुई आत्मा का या कर्मों के साथ संश्लिष्ट हुई आत्मा का उनमें स्वभावभेद से भेद होनेपर अभेद बताना व्यवहारनय का कार्य है। यह अभेद वास्तव न होकर उपचरित होता है। इस से यथास्थित पदार्थ व्यवहारनय का विषय न होनेसे अर्थात् अयथास्थित अर्थ उसका विषय होनेसे व्यवहारनय अभूतार्थ है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतः अयथास्थित अर्थ उसका विषय होनेसे व्यवहारनय अयथास्थित अर्थ को अर्थात् अभूत अर्थ को प्रकट करता है। शुद्धनय एक हि होता है, व्यवहारनय के जिसप्रकार अनेक भेद होते हैं उसप्रकार शुद्धनय के भेद नहीं होते। शुद्धनय यथास्थित पदार्थ को विषय करता है–वह अयथास्थित पदार्थ को अपना विषय नहीं बनाता। अतः निसर्गतः पदार्थ जैसा होता है वैसा हि वह होता है इसप्रकार पदार्थ के विषय में शुद्धनय प्रतिपादन करता है–पदार्थ निसर्गतः जैसा होता है वैसा हि उसको बताता है। इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया जाता है–जल मे अधिकतर कीचड़ मिल जानेसे वह मैला बन जाता है और मैला बन जानेसे उसका स्वाभाविक स्वच्छत्व तिरोहित–प्रच्छन्न हो जाता है। ऐसे मैले जल को जो पीते हैं वे पुरुष कीचड और जल का पृथक्करण न करते हुए उस अस्वच्छ जल का हि अनुभव करते हैं। वे पुरुष कीचड का स्वभाव और जल का स्वभाव भिन्नभिन्न होनेपर भी दोनों को एक समझ बैठते हैं। दोनों का मिश्रण होनेपर भी वे अपने यथार्थ स्वभाव को छोडते नहीं। मिश्रण की अपेक्षा से दोनों का एकत्व होनेपर भी वह एकत्व वास्तविक नहीं है। इस मिश्रण में संयुक्त हुए कीचड और जल को व्यवहारनय की दृष्टि से अभिन्न समझकर व्यवहारी जन उसको पी जाता है। यह अवास्तव एकत्व व्यवहारनय का विषय बनता है। दूसरा कोई चतुर पुरुष जल और कीचड को स्वभावभेद के कारण भिन्नभिन्न समझता है और कतकफल से उनका पृथक्त्व हो सकता है यह जानता है। इस ज्ञान से युक्त होनेसे वह उस मैले जल में कतकफल को डालकर जल की स्वभावभूत स्वच्छता को प्राप्त कर लेता है और स्वच्छ जल को पी जाता है। जल और उसकी स्वच्छता में जो अभेद होता है उसको वह शुद्धनय के द्वारा जानता है। इस ज्ञान के कारण हि वह जल को स्वच्छ करने का

प्रयत्न करता है। उस नैसर्गिक स्वच्छता से युक्त जल हि शुद्धनय का विषय होता है।

अनादि काल से आत्मा के साथ कर्म का संश्लेषरूपसंयोगसंबंध बना हुआ है। इस प्रबल अर्थात् फल देनेकी विपुल सामर्थ्य से युक्त कर्म का आत्मा के साथ संयोग हो जानेसे आत्मा का स्वाभाविक और अनन्यसाधारण ऐसा जो ज्ञायकभावरूप स्वभाव वह आवृत बना हुआ है। ऐसा ज्ञायकभावरूप स्वभाव जिसका प्रच्छादित बना हुआ है ऐसी आत्मा का भेदज्ञानविकल पुरुष अनुभव करते हैं। ऐसे पुरुष आत्मा और कर्म इनमें भेद नहीं करते–उन दोनों में अभेद है ऐसा वे समझते हैं। आत्मा और कर्म इनमें भेद होनेपर इनमें अभेद बताना व्यवहारनय का कार्य है। उन दोनों में स्वभावभेद के कारण वस्तुतः भेद होनेपर भी उनमें भेद नहीं है यह कथन उपचरित है–वास्तविक नहीं है। इस अवास्तव अभेद को व्यवहारनय विषय करता है और ऐसे व्यवहारनय से जिसका मन मूढ बन गया है ऐसा मोहाक्रान्त जीव हि सिर्फ व्यवहारनय के अवलंबन से आत्मा और उसके साथ संयुक्तावस्था को प्राप्त हुए कर्म इनको अभिन्न समझता है। जीव और कर्म इनमें होनेवाला अवास्तव अभेद व्यवहारनय का विषय बना हुआ होनेसे व्यवहारनय की अभूतार्थता का और अभूतार्थप्रतिपादकत्व का स्पष्टीकरण हो जाता है। ऐसे अभूतार्थ का प्रतिपादन करनेवाली व्यवहारनय का जो अवलंब लेते हैं वे जिसमें नानाविध धर्म प्रकट हो रहे हैं ऐसी आत्मा का अनुभव करते हैं–शुद्धज्ञानघनरूप एकमात्र धर्मवाले आत्मा का वे अनुभव नहीं करते; क्यों कि ज्ञायकभावमात्ररूप एकधर्मवाली भूतार्थरूप–यथास्थितार्थरूप आत्मा व्यवहारनय का विषय नहीं बन सकती–उसका विषय अभूतार्थ अर्थात् अनेकधर्मात्मक आत्मा हि बन सकती है। वस्तुतः ज्ञायकभावमात्ररूप एकधर्मात्मक आत्मा हि भूतार्थ–यथास्थितार्थ है। अनेकधर्मात्मक आत्मा भूतार्थ नहीं है। आत्मा के अनन्तधर्म ज्ञानमात्ररूप एक धर्म के हि पर्याय हैं। पर्यायों की–भेदों की प्रधानता व्यवहारनय की दृष्टि से होती है। अतः अनेकधर्मात्मक आत्मा अभूतार्थ होनेसे व्यवहारनय का हि विषय बनती है–शुद्धनय का नहीं। भूतार्थ को–यथास्थित अर्थ को देखने का जिनका स्वभाव बना हुआ है वे अपनी बुद्धि में प्रस्थापित किये गये शुद्धनय के स्मृतिमात्र से आत्मा और कर्म में भेद है ऐसा जानते हैं। जीव चेतन होता है और कर्म अचेतन होता है। अतः इनमें भेद है–अभेद नहीं है इस प्रकार का संस्कार जिनके हृदय में दृढमूल बना हुआ है ऐसे पुरुषों के सामने दो द्रव्य जब संयुक्त अवस्था में आ जाते हैं तब उसका पूर्वतन संस्कार प्रबुद्ध–जागृत हो जाता है और उस प्रबुद्ध हुए संस्कार के द्वारा अर्थात् स्मृति के द्वारा संयुक्त हुए पदार्थों में भेद है ऐसा जाना जाता है। इस पद्धति से कर्मबद्ध आत्मा और कर्म इनमें भेद है ऐसा भूतार्थदर्शी पुरुष जानता है। अपने स्मरणादि प्रयत्न से इसप्रकार का ज्ञान हो जानेपर आत्मा के स्वाभाविक और अनन्यसाधारण ज्ञायकभाव को वह प्रकट करता है। इसप्रकार आत्मा के स्वभावभूत ज्ञायकभाव के प्रकट किये जानेपर जिसका एक ज्ञायकभाव (सदाके लिए) प्रद्योतमान होता है ऐसी आत्मा का वह अनुभव करता है। शुद्धनयावलम्बी पुरुष शुद्धनय की दृष्टि से आत्मा और कर्म संयुक्त होनेपर भी उनमें भेद बताता है। उन दोनों में से शुद्धज्ञायकभावात्मकस्वभाववाली आत्मा के अनुभव के लिए प्रयत्न किया करता है और प्रयत्नों की सफलता हो जानेपर जिसका ज्ञायकभावरूप एक हि स्वभाव या धर्म होता है ऐसी अपनी आत्मा का अनुभव करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एकमात्रस्वभाववाला द्रव्य हि शुद्धनय का विषय पडता है। स्वभावभेदों से युक्त द्रव्य उसका विषय नहीं बनता। वह सिर्फ व्यवहारनय का विषय बनता है। इस कारण से जो यथास्थितार्थ को विषय करनेवाले शुद्धनय का आश्रय लेते हैं वे हि अपनी एकस्वभाववाली आत्मा को स्पष्टरूप से अच्छीतरह से जाननेवाले होनेसे सम्यग्दृष्टि बनते हैं। जो भूतार्थनय का अवलंब नहीं लेते वे आत्मा के यथार्थस्वरूप के ज्ञान से वंचित होनेसे सम्यग्दृष्टि नहीं होते; क्यों कि शुद्धनय कतकफल के समान होती है। जिसप्रकार कतकफल जलगत कीचड को हटाकर निर्मलजल की प्राप्ति में सहायक होता है उसीप्रकार शुद्धनय कर्ममल को हटाकर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति में सहायक होती है। अतः जिन्हें अंतरंग में शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार हुआ होता है ऐसे पुरुषों को व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिये।

सभी व्यवहारनयों का या व्यवहारनय के सभी भेदों का विषय भूतार्थ–यथास्थित अर्थ नहीं होता। व्यवहारनय के सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार ऐसे दो भेद हैं। जो एक हि वस्तु को विषय करता है उसे सद्भू-

तव्यवहार कहते हैं और जो भिन्न वस्तुओं को विषय करता है उसे असद्भूतव्यवहार कहते हैं । उपचरितसद्भूतव्यवहार और अनुपचरितसद्भूतव्यवहार इसप्रकार सद्भूतव्यवहार के दो भेद हैं । उसीप्रकार असद्भूतव्यवहार के उपचरितासद्भूतव्यवहार और अनुपचरितासद्भूतव्यवहार ऐसे दो भेद हैं । व्यवहारनय के इन चार भेदों के विषय यथास्थित अर्थ न होनेसे ये चारों भेद अभूतार्थ हैं । 'सोपाधिकगुणगुणिनोर्भेदविषयः उपचरितसद्भूतव्यवहारः, यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः' इस वाक्य में दिये हुए उपचरितसद्भूतव्यवहार के लक्षण से ज्ञात होता है कि इस नय का विषय बना हुआ गुणगुणी में बताया जानेवाला भेद वास्तव नहीं हैं ; क्यों कि गुण और गुणी सोपाधिक-सकर्मक होनेपर भी उनमें बताया जानेवाला भेद वास्तव नहीं है--उपचरित है । गुणगुणी सोपाधिक होनेपर भी अशुद्धनिश्चय की दृष्टि से उनमें परमार्थतः अभेद हि होता है । इसप्रकार सोपाधिक गुणगुणी में परमार्थतः अभेद होनेपर भी जो भेद बताया जाता है वह वास्तव नहीं है--भूतार्थ नहीं है--उपचरित है । 'निरुपाधिकगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः ।' इस लक्षणवाक्य में दिये हुए अनुपचरितसद्भूतव्यवहार के लक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि इस नय का विषय बना हुआ गुणगुणी में बताया जानेवाला भेद वास्तव नहीं है-भूतार्थ नहीं है; क्यों कि केवलज्ञान और उसका स्वामी जीव ये दोनों उनके साथ कर्म का संबंध न होनेसे निरुपाधिक होनेपर भी उन दोनों में तादात्म्य अर्थात् अभेद होता है । इसप्रकार निरुपाधिक गुणगुणी में परमार्थतः अभेद होनेपर भी उनमें जो भेद यहां बताया गया है वह वास्तव नहीं है-भूतार्थ नहीं है । अतः इस भेद का भी विषय भूतार्थ नहीं है । 'संश्लेषरहितवस्तुसंबंधविषयः उपचरितासद्भूतव्यवहारः, यथा देवदत्तस्य धनम् ।' इस वाक्य में दिये हुए उपचरितासद्भूतव्यवहार के लक्षण से ज्ञात होता है कि इस नय का विषय भी भूतार्थ नहीं है । तादात्म्य हि वास्तव संबंध है । देवदत्त और धन दोनों संश्लेषरहित हैं । इनमें जो स्वस्वामिभावसंबंध बताया गया है वह वास्तव नहीं; क्यों कि परिणाम और परिणामी इनमें तादात्म्यसंबंध होनेसे जिसप्रकार का स्वस्वामिभावसंबंध होता है उसप्रकार का स्वस्वामिभावसंबंध नहीं है । अतः देवदत्त और धन इनमें जो स्वस्वामिभावसंबंध बताया गया है वह उपचरित होनेसे इस नय का विषय बना हुआ संबंध भूतार्थ नहीं है । 'संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहार, यथा जीवस्य शरीरम् ।' इस वाक्य में दिये हुए अनुपचरितासद्भूतव्यवहार के लक्षण से ज्ञात होता है कि इस नय का विषय भी भूतार्थ नहीं है । जीव और उसका शरीर इन दोनों में संश्लेष-संयोगसंबंध है । यह संयोग-संबंध वास्तव संबंध न होनेसे इनमें जो स्वस्वामिभावरूप संबंध बताया गया है वह वास्तव नहीं है; क्यों कि जीव और शरीर में तादात्म्यसंबंध नहीं होता ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय के सभी भेदों का विषय भूतार्थ नहीं होता और वह भूतार्थ न होनेसे उनके द्वारा भूतार्थ का प्रतिपादन नहीं हो सकता है ।

इस गाथा का दूसरा एक अर्थ बताते हुए आचार्य श्रीजयसेन ने व्यवहारनय को भूतार्थ भी कहा है । इस दृष्टि से व्यवहारनय कथंचित् भूतार्थ और कथंचित् अभूतार्थ होनेपर भी वह सर्वथा आदेय और सर्वथा अनादेय भी नहीं है । शुद्धनय भूतार्थ हि होनेसे सर्वथा ग्राह्य है । इन दोनों नयों के द्वारा वस्तुस्वरूप को जानकर ज्ञाता को मध्यस्थ बन जाना चाहिये-उसे किसी एक हि नय का पक्ष नहीं लेना चाहिये । दोनों नयों में से किसी एक हि नय का अवलंब करने से एकान्त हो जाता है । भगवान् अमृतचन्द्रसूरी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि–

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥ ४ ॥

अर्थ–मुख्य कथन और उपचरित कथन को बताकर जिन्हों ने शिष्यों का दुर्लंघ्य (बड़े कष्ट से दूर-नष्ट किया जानेवाला) अज्ञान नष्ट किया है ऐसे व्यवहार और निश्चय के जाननेवाले (आचार्य) संसार में तीर्थ की (धर्ममार्ग की) प्रवृत्ति कराते है ।

विवेचन–गुण और गुणी चाहे सोपाधिक (उपाधिसहित, कर्मसहित) हो या निरुपाधिक, उनमें होनेवाला

अभेद भूतार्थ है-वास्तविक है यह कथन मुख्य है और उनमें बताया जानेवाला भेद अभूतार्थ होनेसे-वास्तविक न होने-से 'उनमें भेद होता है' यह कथन उपचरित है ऐसा, और दो भिन्न पदार्थों में-वे चाहे संश्लिष्ट हो या चाहे असंश्लिष्ट हो-होनेवाला भेद भूतार्थ है-वास्तविक है यह कथन मुख्य है और उनमें बताया जानेवाला स्वस्वामिभावसंबंध अर्थात् अभेद अभूतार्थ-अवास्तविक-उपचरित होनेसे 'उनमें अभेद है' यह कथन उपचरित है ऐसा बताकर व्यवहार और निश्चय के जानकार पुरुष शिष्यों के कष्टसाध्य अज्ञान का नाश करते हैं और संसार में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति कराते हैं। यहांपर और एक दृष्टान्त को पेश करके खुलासा किया जाता है। जिसमें घी रक्खा जाता है ऐसे घट को 'घी का घडा' ऐसा कहा जाता है। इस कथन में घट की अर्थक्रिया को प्राधान्य प्रदानकर उसे 'घी का घडा' ऐसा कहा जाता है। उपादान की दृष्टि से यह कथन गौण है। विशिष्ट आधाराधेयभाव की मुख्यता को लेकर ऐसा कथन किया जाता है। इस प्रकार का आधाराधेयभाव वास्तव नहीं है; क्यों कि घट में जल भी रक्खा जाता है। घट और मृत्तिका में उपादानोपादेयभाव होनेसे 'मृत्तिका का घट' यह कथन मुख्य और यथार्थ है। उनमें होनेवाला स्वस्वामिभावसंबंध यथार्थ है। इसप्रकार जब इन दोनों दृष्टियों को समझाया जाता है तब शिष्य के घटादिविषयक अज्ञान का नाश होता है।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसका भूतार्थ-यथास्थित अर्थ विषय होता है उसे यहां आगमशास्त्र में निश्चयनय और जिसका अभूतार्थ-अयथास्थित अर्थ विषय होता है उसे व्यवहारनय कहा है। बहुत करके सारा का सारा संसार अर्थात् संसारी जीव यथास्थित पदार्थ के ज्ञान से वंचित हैं-वस्तु के यथार्थस्वरूप का उसे ज्ञान नहीं है।

विवेचन—'प्राय.' इस शब्द से 'वस्तु के याथात्म्य को जाननेवाले होते हि नहीं ऐसा नहीं है' यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। निश्चयशब्द से यहां शुद्धनिश्चय का ग्रहण करना अभीष्ट है; क्यों कि शुद्धनिश्चय हि पदार्थ के शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर सकता है। अशुद्धनिश्चय अशुद्ध पदार्थ को प्रकट करता है और अशुद्ध पदार्थ और उसके विभावभावों मे अभेद बताता है। उनमें भेद बतानेवाला न होनेसे उसे व्यवहारनय की श्रेणि में शामिल नहीं किया जा सकता।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

अर्थ— अज्ञानी जीवों को ज्ञान करानेके लिए जिसका विषय यथास्थित अर्थ नहीं है ऐसे व्यवहारनय का उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहारनय को हि जानता है—निश्चयनय को जानता नहीं उसके लिए उपदेश नहीं।

विवेचन— शुद्धनिश्चय परमार्थ होता है और व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक होता है। अज्ञानी जीव को परमार्थ का ज्ञान करानेके लिए अभूतार्थ व्यवहारनय का अवलंब लेना पडता है। जो सिर्फ व्यवहारनय को हि जानता है और शुद्ध निश्चयनय को जानता नहीं—मानता नहीं उसके लिए परमार्थ का उपदेश नहीं है और हो भी नहीं सकता। जो परमार्थ को हि नहीं मानता उसके लिए व्यवहार के उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७ ॥

अर्थ— जिसको सिंह का ज्ञान नहीं कराया गया होता है उसकी दृष्टि में बिल्ली हि जिसप्रकार सिंहरूप हो जाती है उसीप्रकार जिसको (शुद्ध) निश्चय का ज्ञान नहीं होता उसकी दृष्टि में व्यवहारनय हि निश्चयनयरूप बन जाती है अर्थात् व्यवहार को हि वह शुद्धनिश्चय—परमार्थ समझ बैठता है।

विवेचन— जो सिर्फ व्यवहारमार्गपर आरूढ होता है—निश्चयमार्ग को जानता हि नहीं वह अपनी शुद्ध आत्मा का श्रद्धान या अनुभवन नहीं करता, उसको विशेषरूप से नहीं जानता और अपने आत्मस्वरूप की अनुभूति में निरत नहीं होता । इसी कारण से उसके परिणाम शुद्ध नहीं होते । यद्यपि शुभपरिणामों से विशिष्ट शुद्धि होनेसे जीव में शुक्लध्यान की योग्यता व्यक्त हो सकती है तो भी सर्वथा ऐसा होता हि है ऐसा नहीं है । शुभपरिणामों से स्वर्ग की प्राप्ति भी होती है । शुद्धनिश्चयाभिज्ञ मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि जीव के शुभपरिणामों से निर्विकल्प समाधि की योग्यता व्यक्त होती है । किंतु जो शुद्ध निश्चय को जानता नहीं किंतु व्यवहारमार्ग में निमग्न बना हुआ होता है और अरिहंतदेव, निर्ग्रंथगुरु आदि की भक्ति में मग्न होकर अपनेको कृतकृत्य समझता है उसकी दृष्टि में व्यवहारनय हि निश्चयनय बन जाती है अर्थात् निर्विकल्पसमाधि की योग्यता उसमें व्यक्त नहीं होती । महाव्रतादि को वह अपना सर्वस्व मान बैठता है ।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।।

अर्थ— जो व्यवहार और निश्चय इन दो नयों को यथार्थरूप से जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् किसी भी सिर्फ एक नय को नही पकडता वह शिष्य देशना का—उपदेश का पूर्ण फल प्राप्त कर लेता है ।

विवेचन— केवल व्यवहारनय का आश्रय लेनेवाला परमार्थभूत शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता—सिर्फ अपने शुभ परिणामों के द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति कर लेकर संसार में हि परिभ्रमण करता रहता है और केवल निश्चयनय का आश्रय लेनेवाला व्यवहारमार्ग से च्युत होनेसे पापबंध कर लेता है और शुद्ध निश्चय की प्राप्ति भी नहीं कर सकता । अत. दोनो मे से किसी एक हि नय को पकडना ठीक नहीं है । प्रथम व्यवहारनय के द्वारा निश्चयनय की—शुक्लध्यान की योग्यता की प्राप्ति कर लेनी चाहिये और बादमें निश्चयनय के द्वारा मोक्षकी—शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करते रहना चाहिये । निश्चय की प्राप्ति हो जानेपर व्यवहारनय स्वयमेव छूट जाती है। निश्चय की प्राप्ति के बाद व्यवहारनय का परिहार करना शक्य हो जाता है ।

अथ च केषाञ्चित् कदाचित् सः अपि प्रयोजनवान्, यतः—(अब कभी किन्हीं को वह भी—-व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है; क्यों कि——

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वा परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥ १२॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशितः पुनः ये तु अपरमे स्थिता भावे ।। १२ ।।

अन्वयार्थ— (**परमभावदर्शिभिः**) जो परमभाव को-शुद्ध आत्मा को देखते है-जानते है-उसका निर्विकल्पसमाधिद्वारा या शुक्लध्यान की अवस्था मे अनभव करते है-उनको परमात्मस्वरूप की प्राप्ति कर लेनेके लिए उपयुक्त होनेसे (**शुद्धादेशः**) शुद्धवस्तु का या वस्तु के शुद्धस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला (**शुद्धः**) शुद्धनय (**ज्ञातव्यः**)अवश्य जानना चाहिये, (**पुनः**) और (**ये तु**) जो (**अपरमे भावे स्थिताः**) परम भाव मे-शुद्ध आत्मा की जिसमे अनुभूति होती है ऐसी शुक्लध्यान की अवस्था मे स्थित नही है-शुक्लध्यानावस्था के रूप से जो परिणत नही हुए है अर्थात् जो सरागसम्यग्दृष्टि की अवस्था मे आगे बढे हुए नही है-उसी अवस्था मे है उनको (**व्यवहारदेशितः**) व्यव-

हारसंज्ञक नय [(ज्ञातव्यः)] अवश्य जानना चाहिये अर्थात् उसका अनुसरण करना चाहिये ।

[कहने का भाव यह है कि जिन्हें शुक्लध्यान की प्राप्ति हुई होती है ऐसे भाग्यवान् जीवों को शुद्धनय का हि अवलंब लेना पडता है; क्यों कि अपनी विशिष्ट अवस्था के कारण व्यवहारनय का अवलंबन वे कर हि नहीं सकते । जिन्हें शुक्लध्यानावस्था की प्राप्ति नहीं हुई होती अर्थात् जिनकी अवस्था धर्म्यध्यान के हि योग्य होती है वे शुद्धनयालम्बी बन हि नहीं सकते; क्यों कि उनकी सरागसम्यग्दृष्टि की अवस्था हि शुद्धनय का अवलंबन करनेके विषय में प्रतिबन्धक बन जाती है । शुद्धनय का अवलंबन लेनेके लिए पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये; किंतु शुक्लध्यानावस्था की-शुद्धनय का अवलंबन करनेके योग्य अवस्था की (परिणति की) जबतक प्राप्ति नहीं होती तबतक व्यवहारनय का अवलंबन नहीं छोडना चाहिये; क्यों कि उसे छोडने से शुभपरिणतियों का भी अभाव हो जायगा । सरागसम्यग्दृष्टि के न अशुभ परिणमन होता है और न उस अवस्था में शुद्धपरिणमन भी हो सकता है । उसकी शुद्धपरिणति की प्रतिबन्धक होती है उसकी सराग अवस्था और अशुभपरिणति की प्रतिबन्धक होती है उसकी सम्यक्त्वयुक्तावस्था । कहनेमात्र से शुद्धनय का अवलंबन किया जाता है ऐसा कदापि नहीं होता । उस नय का अवलंबन करने की योग्यता-शक्ति जीव में हो तो हि वह शुद्धनयावलम्बी बन सकता है—अन्यथा नहीं । जबतक अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कर्मों का और संज्वलन की कुछ प्रकृतियों का अभाव नहीं होता तबतक शुद्धनयावलंबन की बात फिजूल है—व्यर्थ है । जिन्हें शुद्धनय की तो प्राप्ति नहीं हुई है और जिन्हों ने व्यवहार का भी त्याग कर दिया है उनके पापकर्म का बंध न होगा तो और क्या होगा ?]

आ. ख्या.— ये खलु पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परमं भावं अनुभवन्ति तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवन-शून्यत्वात् शुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनयः एव उपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात् परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्, ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्तस्वरस्थानीयं अपरमं भावं अनुभवन्ति तेषां पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वात् अशुद्धद्रव्यादेशितया उपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावः व्यवहारनयः विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात् परिज्ञायमानः तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थ—तीर्थफलयोः इत्थं एव व्यवस्थितत्वात् । उक्तं च—

" जइ जिणमयं पवट्टह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एगेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।। "

त. प्र.— यः कश्चन पुरुषः पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं—पर्यन्तोऽन्तिमः पाकः पचनं पर्यन्तपाकः । तत उत्तीर्णं पर्यन्तपाकान्निष्क्रान्तम् । तच्च तज्जात्यमुत्कृष्टगुणं कार्तस्वरं सुवर्णं । तस्य स्थाने भवं तत्स्थानीयम् । उत्कृष्टगुणसुवर्णसवर्णमित्यर्थः । परममुत्कृष्टतमं भावमात्मद्रव्यम् । शुद्धतमावस्थापन्नमात्मानमित्यर्थः । अनुभवन्ति स्वसंवेदनज्ञानगोचरीकुर्वन्ति तेषामनुभूतात्मस्वरूपाणां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वात्-प्रथमद्वितीयादयोऽनेके ये पाकाः पचनानि तेषां परम्परयाऽऽनुपूर्व्येण पच्यमानं सन्तप्यमानं यत्कार्तस्वरं सुवर्णं तस्य योऽनुभवस्तत्स्थानीयो योऽपरमभावस्यानुत्कृष्टावस्थस्यात्मनोऽनुभवोऽनुभवनं तस्य शून्यमभावः । तस्य भावस्तस्मात् । ये परमं भावमनुभवन्ति तेषामपरमभावानुभवनं न सम्भवतीति हेतोरित्यर्थः । शुद्धद्रव्यादेशितया शुद्धद्रव्यप्रतिपादनशीलत्वात् । शुद्धमेकस्वभावैकसङ्ख्याकं द्रव्यमादिशतीति शीलमस्य

शुद्धद्रव्यादेशी। तस्य भावस्तत्ता। तया। समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः-प्रकटीकृतनित्यैकस्वभावैक-रूपत्वः। समुद्योतितः प्रकटीकृतोऽस्खलितः स्खलनविकलत्वान्नित्यः एकस्वभावः एकधर्मात्मकः एकभावः ऐकध्यमेकरूपत्वं येन सः। द्रव्यस्यैकधर्मात्मकत्वात्प्रकटीकृततदेकरूपत्वः। शुद्धनय एवोपरितनैकवर्णि-कास्थानीयत्वात् पर्यन्तपाकोत्तीर्णोत्कृष्टप्रकारकसुवर्णसदृशत्वात्। वर्णः प्रकारो जातिर्वाऽस्त्यस्याः वर्णिका। उपरितनी पर्यन्तपाकोत्तीर्णत्वादुत्कृष्टतमैकाऽनुत्तमा या वर्णिका सुवर्णविशेषजातिस्तत्स्थानी-यस्तत्सदृशः। तस्य भावः। तस्मात्। परिज्ञायमानोऽभ्यस्यमानः प्रयोजनवानुपयुक्तो हितकरो वा। अनन्यसाधारणैकधर्मवत्त्वादनुपात्तवैश्वरूप्यस्य द्रव्यस्य शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मानमनुभवतामशुद्धात्मा-नुभूतिविकलानां शुक्लध्यानैकतानतामुपगतानामनन्यसाधारणशुद्धज्ञानघनैकस्वभावशुद्धात्मनः प्राप्यत्वा-त्तादृगात्मस्वरूपाविर्भावनसमर्थः शुद्धनयः एव परिज्ञायमानोऽभ्यस्यमानो हितकृत्, न व्यवहारनय इति। शुक्लध्याननिमग्नमनस्कानां शुद्धनय एवानुसर्त्तव्य इति भावः। ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परा-पच्यमानकार्तस्वरस्थानीयं-प्रथमद्वितीयादयोऽनेके ये पाकाः पचनानि तेषां परम्परयाऽऽनुपूर्व्येण पच्यमानं सन्तप्यमानं यत् कार्तस्वरं सुवर्णं तत्स्थानीयस्तत्सदृशः। तम्। न्यूनाधिककिट्टसहितसुवर्णतुल्यमित्यर्थः। अपरमं न्यूनाधिकाशुद्धिसमाक्रान्तं भावमात्मद्रव्यमनुभवन्त्यनुभवगोचरतां नयन्ति। सरागावस्थमात्मान-मनुभवन्तीत्यर्थः। तेषां सरागावस्थात्मानुभवितॄणां पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयपरमभावानु-भवनशून्यत्वादन्तिमपाकनिष्क्रान्तानुत्तमसुवर्णसवर्णैकशुद्धज्ञानघनस्वभावात्मकैकनैजात्मानुभवनविकल-त्वात्। पर्यन्तादन्तिमात्पाकात्सन्तपनादुत्तीर्णं निष्क्रान्तमत एव जात्यमनुत्तमं यत् कार्तस्वरं तत्स्थानीयस्त-त्तुल्यो यः परमः शुद्धज्ञानघनैकस्वभावो भावः शुद्धमात्मद्रव्यं तस्य यदनुभवनं तस्य शून्यमभावः। तस्य भावस्तस्मात्। अशुद्धद्रव्यादेशितया-अशुद्धं विभावभावात्मकमनेकान्तात्मकं च द्रव्यमादिशति प्रति-पादयतीति शीलं स्वरूपमस्याशुद्धद्रव्यादेशी। तस्य भावस्तत्ता। तया। उपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेक-भावः-उपदर्शितः प्रकटीकृतः प्रतिविशिष्टैकभावस्योत्कृष्टतमैकस्वभावस्य द्रव्यस्यानेकभावोऽनन्तधर्मा-त्मकरूपं वैश्वरूप्यं येन सः। आविष्कृतैकधर्मात्मकवस्त्वनेकान्तत्वः इत्यर्थः। व्यवहारनयोऽभूतार्थविषय-त्वादभूतार्थप्रतिपादको व्यवहारसञ्ज्ञो नयः प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही ज्ञप्तिसाधनभूतो ज्ञानविशेषः विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात् नानाविधमुक्तादिरत्नग्रथितशेखरतुल्यत्वात्। विचित्राः नानाविधा मनोहरा वा वर्णाः मौक्तिकादीनि रत्नानि तेषां तद्ग्रथिता मालिका शेखरः माल्यं वा। 'अथ पुंस्येव वर्णं स्यात्स्तुतौ रूपयशोगुणे। रागे द्विजादौ मुक्तादौ शोभायां चित्रकम्बले' इति विश्वलोचने। तत्स्थानीयत्वात् तत्सदृशत्वात्। परिज्ञायमानः परिच्छिद्यमानः। तदात्वेऽपरमभावानुभवनकाले। सरागावस्थायामित्यर्थः। तुरीयगुणस्थानादारभ्यासप्तमगुणस्थानान्तमिति विज्ञेयम्। प्रयोजनवान् हितकरः। न तदूर्ध्वं प्रयोजनवानिति भावः। अनन्यसाधारणैकधर्मत्वेऽपि तदन्तर्भाव्यनन्तधर्मप्राधान्या-दुपात्तवैश्वरूप्यस्याभूतार्थभूतस्य द्रव्यस्य व्यवहारनयविषयत्वात्सरागावस्थमात्मानमनुभवतां शुद्धात्मानु-भूतिविकलानां धर्म्यध्यानवतां शुभपरिणामाविर्भावकत्वाद्धितानुबन्धीति व्यवहारनयोऽनुसरणार्हः इति भावः। उक्तं चेत्यादि-यदि जिनमतं प्रवर्तयितुमिच्छत तर्हि व्यवहारनिश्चयनयद्वयं मा मुञ्चत। व्यवहारनयपरित्यागे व्यवहारमार्गप्रणाशात्तीर्थोच्छेदप्रसङ्गो निश्चयनयपरिहरणे च पदार्थनाशापत्तिः। ततो द्वयोरपि प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राहिणोर्नययोः कस्यापि परिहारो न हितानुबन्धीति मनसि विधेयं मुमुक्षुभिरित्यत्र चोद्यम्।

टीकार्थ— जो पुरुष अन्तिम पाक से निकले हुए उत्कृष्टतम सुवर्ण के समान जो भाव अर्थात् आत्मद्रव्य उत्कृष्ट होता है उसका अनुभव करते हैं उनके विषय में प्रथम, द्वितीय आदिरूप पाकों की–तपाने की जो परम्परा-क्रम होती है उस क्रम से पकाये जानेवाले (अनुत्कृष्ट) सुवर्ण के अनुभव के समान अनुत्कृष्ट भावरूप आत्मा के अनुभव से वे (शुद्धात्मा के अनुभव से) शून्य होनेसे (जो शुद्ध आत्मा के अनुभव में मग्न रहते हैं उन्हें अशुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता ।) शुद्धद्रव्य का प्रतिपादन करनेके स्वभाव से युक्त होनेके कारण जिसने जिसका एकमात्र स्वभाव अस्खलित–नित्य होता है ऐसे द्रव्य का एकस्वभाव प्रकट किया है ऐसा हि उपरितन अर्थात् अन्तिम पाक से उतरे हुए उत्कृष्ट सुवर्णजाति के समान होनेसे अनुभूयमान-जिसका अनुभव-अभ्यास किया जाता है ऐसा शुद्धनय प्रयोजनवान् है-उपयुक्त है-हितकर है । जो प्रथम, द्वितीय आदिरूप पाकों की परंपरा से-क्रम से पकाये जानेवाले सुवर्ण के अर्थात् अशुद्ध सुवर्ण के समान होनेवाले अपरम भाव का अर्थात् अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते है उनके विषय में अंतिम पाक से निकले हुए उत्कृष्टतम सुवर्ण के समान होनेवाले परमभाव का अर्थात् शुद्ध आत्मा का जो अनुभव उसका उनमें अभाव होनेसे अशुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाला होनेसे जिसने उत्कृष्टतम एकस्वभाववाले एक द्रव्य का अनेकत्व-अनेकधर्मात्मकत्व प्रकट किया है ऐसा व्यवहारनय नानाविध रत्नों की माला के समान होनेसे जाना जानेवाला वह अपरमभाव का-सराग अवस्था से युक्त अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते समय प्रयोजनवान्-उपयुक्त-हितकर होता है; क्यो कि इसप्रकार से हि तीर्थ की और तीर्थफल की निश्चिति होती है । कहा भी है कि-हे भव्य जीवो ! यदि जिनमत को चलाना चाहते हो-उसकी उन्नति करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को छोडना नहीं चाहिये, क्यों कि व्यवहारनय को छोडने से तीर्थ का और निश्चय को छोडनेसे तत्त्व का उच्छेद हो जाता है । [जिसप्रकार क्रम से पकाया जानेपर हि सुवर्ण शुद्ध होता है, उसीप्रकार अपने परिणामो की क्रम से शुद्धि की जानेपर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो सकती है । क्रम को छोडकर पहले पाक से उतरा हुआ सुवर्ण जिसप्रकार शुद्ध नहीं होता उसीप्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति होते हि उसे मोक्ष की प्राप्ति नही होती । उसे अप्रत्याख्यानावरणादि द्रव्यकर्म का और तज्जन्यविभावपरिणतियों का अभाव करना नितान्त आवश्यक होता है, क्यों कि पूर्वपूर्व शुद्धि उत्तरोत्तरशुद्धि की निमित्तकारण होती है और इस क्रम से हि अपवर्ग अवस्था की प्राप्ति हो सकती है । यदि ऐसा न होता तो चौथे गुणस्थान में हि जीव मुक्त हो जाता]

विवेचन— सुवर्ण सोलह पाकों के बाद शुद्ध हो जाता है । अंतिम पाक से निकला हुआ सुवर्ण उत्कृष्ट होता है । उस सुवर्ण को जब सुवर्णपरीक्षक देखता है तब उसको उसके उत्कृष्टत्व का हि अनुभव–ज्ञान होता है–अनुत्कृष्ट सुवर्ण का–अशुद्ध सुवर्ण का ज्ञान नहीं होता । अशुद्ध सुवर्ण को हि सोलहबार तपाकर उसे शुद्ध किया जाता है । जब शुद्ध करनेकी क्रिया की जाती है तब सुवर्ण अशुद्ध होता है । जो शुद्धात्मा का अनुभव करते है उन्हें अशुद्ध–सराग आत्मा का अनुभव नहीं होता । शुद्ध आत्मा का अनुभव करते समय शुद्धनय का हि अवलंब लेना हितकर होता है; क्यो कि वह शुद्ध स्वरूप का ज्ञान करानेवाला होनेसे शुद्ध आत्मा का ज्ञान–अनुभव कराता है । नित्य एकस्वभावरूप एकत्व हि शुद्धनय का विषय होनेसे उसीको हि वह प्रकट करता है । अतः आत्मा का शुद्ध एक ज्ञायकभाव को प्रकट करनेका उसका स्वभाव होनेसे उसी एक ज्ञायकभाव को हि वह प्रकट करता है–आत्मा के अनंतधर्मों को या उसके अशुद्ध भावो को वह प्रकट नहीं करता । मुमुक्षु आत्मा का एक ज्ञायकभावयुक्त शुद्ध आत्मा हि प्राप्य होनेसे उसकी प्राप्ति करनेके लिए शुद्धनय का अवलब लेना हि उपयुक्त है–हितकर है; क्यों कि शुद्धात्मा की प्राप्ति करनेके लिए शुद्धनय हि सहायक हो सकती है । जो पुरुष क्रम से तपाये जानेवाले अशुद्ध सुवर्ण के समान जो आत्मा अशुद्ध होती है उसका अर्थात् सराग अवस्था से युक्त आत्मा का अनुभव करते हैं उनमें शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेकी योग्यता न होनेसे वे शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते । उनके विषय में व्यवहारनय हि प्रयोजनवान्–उपयुक्त होता है । यह व्यवहारनय बंधक होनेसे सरागसम्यग्दृष्टि के शुभबन्ध का हि कारण होता है । इस व्यवहारनय का विषय अशुद्ध द्रव्य होनेसे उत्कृष्ट एकधर्मवाले द्रव्य का अनेकधर्मवत्त्व को वह व्यक्त करता है । उत्कृष्ट एकधर्मवाले पदार्थ का अनेकधर्मवत्त्व का नाम हि उसकी अशुद्धता है । जो एकधर्मात्मक–एकज्ञायकभावात्मक द्रव्य को अर्थात् आत्मा को

प्रकट करता है वह व्यवहारनय अमूतार्थ आत्मा को हि प्रकट करता है। इस अनेकधर्मात्मकत्व के प्रतिपादन के द्वारा वह भूतार्थ आत्मा का हि प्रतिपादन करता है, फिर भले हि वह शुद्धनिश्चय के समान भूतार्थ न होता हो। जिस-प्रकार एकत्र ग्रथित नानाविध रत्नों के विषय में प्रतिपादन किया जानेसे मालाविषयक प्रतिपादन हो जाता है उसीप्रकार आत्मद्रव्य के एकधर्म के पर्यायभूत अनेकधर्मों का प्रतिपादन किया जानेसे एकज्ञायकभावात्मक द्रव्य का प्रतिपादन हो जाता है। अतः व्यवहारनय वस्तु के अनेकधर्मात्मकत्व का प्रतिपादक होनेपर भी एक असाधारणधर्मात्मक द्रव्य का प्रतिपादक होता है यह स्पष्ट हो जाता है। इस नय का हि सरागसम्यक्त्वी अवलंब ले सकता है और उसे लेना भी चाहिये; क्यों कि शुद्धनय का अवलंब लेने की शक्ति वह सराग होनेसे उसमें नहीं होती। व्यवहारनय से तीर्थ की और निश्चयनय से तीर्थफल की व्यवस्था बन जानेसे अपनी परिणतियों के स्वरूप के अनुसार दोनों नयों का अवलंब करना चाहिये।

निश्चय और व्यवहार इन दोनों में से सिर्फ किसी एक का आश्रय करनेसे मिथ्यैकान्त हो जाता है। निश्चय साध्य है और व्यवहार उसका साधक है। यदि सिर्फ निश्चय का अवलंब किया गया तो व्यवहार विफल हो जायगा और साधक व्यवहार के अभाव में साध्यरूप निश्चय की प्राप्ति नहीं होगी। यदि सिर्फ निश्चय का अवलंब किया तो साध्य के अभाव मे साधन विफल हो जायगा। अतः दोनों का अवलंब लेना हि नितान्त आवश्यक है। कहा भी है कि–

णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धी कया वि णिद्दिट्ठा।
साहणहेऊ जम्हा तस्स य सो भणिय ववहारो॥

अर्थ– जब व्यवहारनय निश्चयनय की साधनभूत हेतु बतलाई है तब व्यवहारनय का अभाव होनेपर निश्चयनय की सिद्धि किसी तरहसे भी निर्दिष्ट नहीं हो सकती। भावार्थ– साधन का अभाव होनेपर साध्य की सिद्धि कभी नहीं हो सकती ऐसा न्यायशास्त्र का सिद्धान्त है। व्यवहारनय निश्चयनय की साधनभूत होनेसे उसके अभाव में निश्चयनय की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। अतः शुद्धनिश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहारनय का आश्रय करना नितांत आवश्यक है। व्यवहारनय के अभाव मे निश्चय की प्राप्ति होती है ऐसा मानना साधन के अभाव में साध्य-सिद्धि होती है ऐसा माननेके समान है। उपादानकारण के या निमित्तकारण के अभाव में कार्य की सिद्धि क्या किसीने कभी देखी है ?

और एक विचारणीय बात यह है कि यदि सिर्फ निश्चयनय को सर्वथा आदेय मानकर और व्यवहारनय को सर्वथा हेय समझकर उसका अभाव कर दिया तो सभी गतियो में जीव को सर्वथा शुद्ध हि मानना पडेगा; क्यों कि शुद्धनय की दृष्टि से जीव सर्वथा शुद्ध हि होता है। ऐसा माननेपर जीव की संसार अवस्था का भी सर्वथा अभाव मानना पडेगा। ससार का अभाव माननेसे बंध अवस्था का भी अभाव मानना होगा और बंध अवस्था का अभाव माननेसे मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा। सांख्य इससे अधिक और क्या कहते हैं ? 'न बध्यते न मुच्यते पुरुषः' इस वाक्य के द्वारा इसी अभिप्राय को ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में व्यक्त किया है। अतः किसी अवस्था में व्यवहारनय को गौण समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है तो भी किसी अवस्था में उसे भी मुख्यता देनी होगी ही।

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥ ४॥

अन्वय– ये वान्तमोहाः स्यात्पदाङ्के उभयनयविरोधध्वंसिनि जिनवचसि स्वयं रमन्ते ते अनवं अनयपक्षाक्षुण्णं समयसारं उच्चैः परं ज्योतिः सपदि ईक्षन्ते एव।

अर्थ– मोहनीय की सातप्रकृतियों को निकालकर मिथ्यात्वादि विभावभावरूप से परिणत न होनेसे स्यात्का-रमुद्रित शुद्धनय और व्यवहारनय में होनेवाले विरोध का विध्वंस करनेवाले जिनेंद्रभगवान् के वचन में स्वयं रत होते

हैं वे सनातन-अनादिनिधन, कुनय का पक्ष लेनेवालों के द्वारा अखंडित, ज्ञानस्वभाव आत्मा के सारभूत अत्यंत उत्कृष्ट तेज को (ज्ञानरूप तेज को) केवलज्ञान को अर्थात् आत्मा के ज्ञायकरूप एकमात्र स्वभाव को शीघ्र देखते हि हैं- उसके उस स्वभाव का अवश्यमेव अनुभव करते हैं।

त. प्र.—ये पुरुषाः वान्तमोहाः उद्गीर्णसप्तप्रकृतिकमोहाः बहिष्कृताप्रत्याख्यानावरणादिसञ्ज्ञकमोहनीयाः क्षीणमोहाश्च । निराकृतमोहोदयजनितविभावभावा इत्यर्थः ।सप्तप्रकृतिकमोहाभावे सम्यक्त्वोपलब्धिरप्रत्याख्यानादिसञ्ज्ञकमोहशून्यत्वे शुक्लध्यानयोग्यताप्रादुर्भावः सकलमोहक्षये चाविकलशुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिर्भवतीति त्रिवारं वान्तमोहशब्दग्रहणमावश्यकं प्रतिभाति। स्यादिति पदं स्यात्पदमङ्को लक्ष्म यस्य तत् । तस्मिन् । क्रियापदप्रतिरूपकाव्ययसञ्ज्ञकमनेकान्तसाधकं कथञ्चिदर्थद्योतकं केवलज्ञानसम्मिश्रमिदं स्यात्पदम् । उभयनयविरोधध्वंसिनि—उभयोर्नययोर्निश्चयव्यवहारनययोर्विरोधः उभयनयविरोधः । तं ध्वंसयतीत्युभयनयविरोधध्वंसि । तस्मिन् । एकद्रव्यानेकधर्मविषयैकद्रव्यैकधर्मविषयत्वाद्भेदाभेदप्रधानत्वाद्बन्धकमोक्षकत्वाच्चोभयोर्व्यवहारनिश्चययोर्विरोधोऽज्ञान्यपेक्षया, ज्ञान्यपेक्षया तु विरोधाभावस्तद्ध्वंसि तदपहर्तृ। तस्मिन् । जिनवचसि भगवज्जिनेंद्रमुखारविन्दस्यन्दिन्याप्ततमे हेतुकृतबाधनानर्हे निखिलजीवजातहिते वचसि रमन्ते रता भवन्ति व्यपगतसप्तप्रकृतिकमोहोदयप्रादुर्भावितमिथ्यात्वाद्यात्मकभावमोहान्धतमसत्वाद्गाढश्रद्धाना भवन्तीति भावः । ते पुरुषा अनवमनाद्यनन्तत्वादुत्पत्तिविकलत्वात्सनातनमनयपक्षाक्षुण्ण कुनयपक्षपातिभिरव्याहतम् । न नयः अनयः । कुनय इत्यर्थः, । नञाऽत्रऽप्राशस्त्यार्थवचनः । अनयः कुनय पक्षो येषां तेऽनयपक्षाः । अप्रशस्तनयपक्षपातिन इत्यर्थः । तैरक्षुण्णमव्याहतमप्रतिहतमनयपक्षाक्षुण्णम् । एकान्तपक्षपातिभिरजनितदोषमित्यभिप्राय. । समयसारं -समयः सम्यग्ज्ञानं सारो मूलतत्त्वं परमार्थो यस्य तत् । उच्चैरत्यर्थमतिशयेन परमुत्कृष्टं ज्योतिर्ज्ञानतेजः सपदि कषायक्षयसमकालं ईक्षन्ते एवावलोकयन्त्येव । एवकारोऽत्रावधारणार्थकः । तेन निश्चयेनावलोकयन्तीत्यर्थः । केवलज्ञानं प्राप्नुवन्तीति भावः ।

विवेचन—जिनके दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का और चारित्रमोहनीय की—अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियों का अभाव हो जाता है-उपशम या क्षय हो जाता है उनके मिथ्यात्वादिरूपविभावपरिणतियों का अभाव होकर सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव हो जाता है-उनके सामान्यतः आत्मोपलब्धि होती है और वे जिनेन्द्रभगवान् के वचन में रत हो जाते हैं-उसका गाढ श्रद्धान करते हैं। अप्रत्याख्यानावरणादिसंज्ञककर्मों का अभाव हो जानेपर उनमें शुक्लध्यान की योग्यता व्यक्त हो जाती है और उस योग्यता के कारण वे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करने लग जाते हैं। बाद में मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय हो जानेपर शुद्ध आत्मरूप में परिणत हो जाते हैं। जिस समय मोहनीयकर्म का पूर्णतः क्षय होता है उसी समय क्षीणमोह आत्मा के शुद्धस्वरूप की अर्थात् शुद्धज्ञायकभाव की उपलब्धि हो जाती है। ऐसी मोहरहित जो आत्माएं स्यात्कारमुद्राङ्कित और स्याद्वादविद्या से युक्त होनेसे शुद्धनिश्चयनय और व्यवहारनय इनमें होनेवाले विरोध का परिहार करनेवाले जिनेन्द्रभगवान के वचन में रत हो जाते हैं वे अनादिअनन्त-सनातन होनेसे अनुत्पन्न, नयाभासों का पक्ष पकडनेवालों के द्वारा बाधित न किये गये, सम्यग्ज्ञान जिस का मूलतत्त्व है ऐसे अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान के तेज को जिस समय मोहनीयकर्म का सम्पूर्णतः क्षय हो जाता है उसी समय प्रकट होते हि देखते हैं-उसका अनुभव करने लग जाते हैं-उस तेज के रूप से परिणत हो जाते हैं। शुद्धनिश्चयनय एक द्रव्य के एक धर्म का प्रतिपादक होनेसे और व्यवहारनय एक द्रव्य के अनेक धर्मों का या अनन्तधर्मत्व का प्रतिपादक होनेसे शुद्धनय अभेदप्रधान-अभेद का प्रतिपादक और व्यवहारनय तादात्म्यसंबंधवाले गुणगुणी आदि में भेद का और दो भिन्न पदार्थों के अभेद का उपचार से प्रतिपादक होनेसे और शुद्धनय मोक्षक और व्यवहारनय बंधक होनेसे उनमें विरोध होता है-दिखाई देता है। इस विरोध का परिहार स्याद्वादविद्या से युक्त जिनवचन हि

करता है; क्यों कि स्यात्पद कथंचित् इस अर्थ का द्योतक है। कलश में प्रयुक्त किया गया एवकार शुद्धात्मेक्षण क्रिया का सद्भाव नियम से होता है इस अभिप्राय को प्रकट करनेवाला होनेसे उस क्रिया के विषय में संदेह को अवकाश हि नहीं मिलता है।

जिनागम में पदार्थ का निर्णय स्याद्वादविद्या के द्वारा किया जानेसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। जिनागम में रत होनेवालों का मोहनीयोदयजन्य विभावभावरूप अज्ञान नष्ट हो जाता है और अज्ञान का अभाव हो जानेपर द्रव्यश्रुत से स्वसंवेदनात्मक भावश्रुत की प्राप्ति हो जाती है। भावश्रुत से केवलज्ञानस्वरूप आत्मा के शुद्ध ज्ञायकभाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस शुद्धज्ञायकभावरूपस्वभाव की प्राप्ति का नाम हि मोक्ष है-अपवर्ग है। इसतरह जो जिनागम में रत होते हैं और जिन में मोहनीय का अभाव होता है ऐसी भव्य आत्माओं को शुद्धज्ञायकभाव की प्राप्ति हो जाती है।

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥ ५ ॥

अन्वय— इह पदव्यां निहितपदानां व्यवहारनयः यद्यपि प्राक् हस्तावलम्बः स्यात् तदपि परविरहितं चिच्चमत्कारमात्रं परमं अर्थं अन्तः पश्यतां एष न किञ्चित्।

अर्थ— जिन्होंने इस मार्ग में पैर रखा है या जो निश्चयमोक्षमार्ग की-निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति के लिए व्यवहाररत्नत्रय के रूप से अर्थात् सरागरत्नत्रय के रूप से परिणत होते है उनके लिए यद्यपि प्रारंभिक अवस्था में व्यवहारनय निश्चितरूप से हस्तावलंबन है-निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति का निश्चितरूप से साधन है तो भी जो परविरहित अर्थात् कर्मपुद्गलों से और आत्मा के विभावभावों से रहित, चिच्चमत्कारमात्ररूप-शुद्धज्ञायकैकभावमात्ररूप परम अर्थ को-शुद्ध आत्मा को देखते है-जानते है-उसका अनुभव करते है उनके लिए वह व्यवहारनय कुछ भी नहीं है-निष्प्रयोजन है-हितकर नहीं है।

त. प्र.— इह पदव्यां मोक्षप्राप्तिसाधनभूते रत्नत्रयात्मके मार्गे निहितपदानां प्रस्थाप्यमानचरणानां। निधातुं स्थापयितुमारब्ध निहितम्। आद्यकर्मणि क्तः। पदं चरणमुद्यमो वा। पदव्यामिति विषयसप्तमीग्रहणे मोक्षमार्गप्राप्त्यर्थमारब्धोद्यमानाम्। निश्चयरत्नत्रयप्राप्त्यर्थमारब्धोद्यमानामित्यभिप्रायः। व्यवहाररत्नत्रयमुररीकृत्य तद्रूपेण परिणम्य वा निश्चयरत्नत्रयप्राप्त्यर्थमारब्धपुरुषकाराणामित्याशयः। तदारम्भण चाप्रत्याख्यानादिकषाये सत्यपि विभावभावात्मकत्वेन भेदज्ञानसामर्थ्याद्—परिणमनमेव। वीतरागरत्नत्रयप्राप्तये समारब्धोद्यमानां तेषां व्यवहरणनयोऽभूतार्थस्सन्नपि परमार्थप्रतिपादकत्वाद्धितकरत्वाद्यद्यपि प्राक् पूर्वतन्यां प्रारम्भावस्थायां हन्त निश्चयेन। 'दाने निश्चये च हन्तकारः' इति क्षीरस्वामी स्वोपज्ञामरटीकायाम्। हस्तावलम्बः करावलम्बनम्। वीतरागरत्नत्रयप्राप्त्यर्थमग्रतो मोक्षमार्गे प्रस्यातुमालम्बनभूतः। साधतभूतः इत्यर्थः। स्याद्भवति। तदपि तथापि परविरहितं–कर्मपुद्गलतज्जनितविभावाभ्यां रहित परित्यक्तम्। तद्‌द्वितयविकलमित्यर्थः। चिच्चमत्कारमात्रं तादात्म्यापन्नचैतन्यात्मकज्ञायकस्वभावमात्र परममर्थं शुद्धचैतन्यलक्षणमात्मानमन्तोऽभ्यन्तरे चेतसि पश्यतां शुद्धात्मानुभववतां एष व्यवहारनयो न किञ्चित् न प्रयोजनवान्। हितकरो नेति भावः।

विवेचन— मोक्षप्राप्ति के साधनभूत रत्नत्रयात्मक मार्गपर जिन्होंने पैर रखा है अर्थात् रत्नत्रयरूप से परिणत हुए हैं या सम्यक्त्व की जिन्हे प्राप्ति हो गयी है किंतु जिनकी रागरूप विभावभावात्मक परिणति होती रहती है ऐसे सरागसम्यक्त्वी के विषय में व्यवहारनय हितकर होती है और वह व्यवहारनय जब वे वीतरागरत्नत्रय की ओर बढने का प्रयत्न करते है तब निश्चितरूप से सहायक होता है; क्यों कि उस व्यवहार के आलम्बन से हि उनमें

विशिष्ट शुद्धि-शुक्लध्यान की योग्यता आविर्भूत होती है । अतः ऐसे सरागावस्थापन्न जीवों के विषय में मोक्षमार्ग के प्रारंभिक अवस्था में यद्यपि व्यवहारनय सप्रयोजन होती है तो भी जो द्रव्यकर्म और भावकर्मों से रहित होता है, ऐसे ज्ञायकभावमात्रस्वभाववाले परम अर्थ को-शुद्ध आत्मा को देखते हैं-उसका साक्षात्कार करते हैं-उसको जानते हैं-उसका अनुभव करते हैं उनकी दृष्टि में वह व्यवहारनय कुछ नहीं है-प्रयोजनवान् नहीं है-उपयुक्त नहीं है । साध्य की सिद्धि हो जानेपर साधन की आवश्यकता कदापि नहीं होती । व्यवहाररत्नत्रय साधक होता है और निश्चयरत्नत्रय या वीतरागरत्नत्रय साध्य होता है । वीतराग सम्यक्त्व की या वीतरागरत्नत्रय की प्राप्ति हो जानेपर सरागसम्यक्त्व को आवश्यक मानना वीतराग अवस्था में भी जीव की सराग अवस्था की अपेक्षा करना है । एक काल में जीव की सराग और वीतराग इन दोनों अवस्थाओं का होना असंभव है; क्यों कि जीव की एक काल में दो अवस्थाएं नहीं हो सकती । अतः सरागावस्था और वीतरागावस्था इनमें पौर्वापर्य होनेसे, वीतराग अवस्था में सरागता का अभाव होनेसे, दोनों अवस्थाएं एकहि आत्मा की होनेसे और वीतराग अवस्था की प्राप्ति हो जानेपर सरागावस्थारूप साधन का अभाव हो जानेसे शुद्धात्मा का अनुभव करनेवालों के विषय में व्यवहारनय कुछ भी नहीं होती, फिर उसका सप्रयोजनत्व तो दूर हि रह जाता है । जिसका अस्तित्व हि नहीं होता उसका प्रयोजनवत्त्व कैसे हो सकता है ? कहा भी है कि-

ववहारादो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो ।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले ।।

अर्थ- जब व्यवहार से बंध होता है और जब मुक्तावस्था में आत्मा स्वभावसंयुक्त होती है अर्थात् शुद्धस्वभाववाली होती है तब स्वभाव की पूर्णरूप से सिद्धि करने समय उस व्यवहारनय को गौण कर दो । और भी देखिए-

णिच्छयदो खलु मोक्खो बंधो ववहारचारिणो जम्हा ।
तम्हा णिव्वुदिकामो ववहारं चयदु तिविहेण ।।

अर्थ- जब (शुद्ध) निश्चय से मोक्ष होती है और व्यवहार का अवलंब करनेवाले के बंध होता है तब मोक्ष की इच्छा करनेवाले जीव को मन-वचन-काय से व्यवहार का त्याग करना चाहिये ।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ।। ६ ।।

अन्वय- यत् इह शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य, व्याप्तुः, पूर्णज्ञानघनस्य अस्य आत्मनः एतद् द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनं एव सम्यग्दर्शनं (यद्) अयं आत्मा च नियमात् तावान् तत् इमां नवतत्त्वसन्ततिं मुक्त्वा अयं नः आत्मा एकः अस्तु ।

अर्थ- जब इस संसारावस्था में या व्यवहारनय का अवलबन लेनेकी जिसमें आवश्यकता होती है ऐसी अवस्था में शुद्धनय की दृष्टि से शुद्धज्ञानघनमात्र स्वभाव से एकत्व में नियमितरूप से होती है और जो (अपने गुणों और पर्यायों को) नियम से व्यापती है ऐसी पूर्णज्ञानघनस्वरूप इस आत्मा का यह जो अन्य (अचेतन) द्रव्यों से पृथग्रूप से-भिन्नरूप से देखना-जानना है वहि सम्यग्दर्शन है और जब यह आत्मा नियम से उसी प्रमाणवाली है (सम्यग्दर्शनमात्रात्मक है) तब इस नवतत्त्वों की परम्परा को छोडकर यह हमारी आत्मा एक (शुद्ध) हो या यह एक (शुद्ध) हि आत्मा हमारी हो जाओ अर्थात् ऐसी नितरां शुद्ध आत्मा की हमें प्राप्ति हो ।

त. प्र.– यत् यस्मात्कारणात् इह संसारावस्थायां व्यवहारनयावलम्बनावस्थायां वा शुद्धनयतो भूतार्थविषयशुद्धनिश्चयनयार्पणायामेकत्वे शुद्धज्ञायकभावस्वभावत्वेन च नियतस्य नियमेन स्थितस्य । कर्मबद्धावस्थायां ज्ञायकभावात्मकस्वभावस्य कर्मपुद्गलावृतत्वेऽपि न तत्तुच्छाभावो यतः सम्भवति ततस्तस्य नियमेन ज्ञायकभावात्मकस्वस्वभावस्थितत्वेन नानेकत्वमेकव्यक्तिमत्त्वातिक्रमणं सम्भवति । घनाघनघनसङ्घातसमावृतत्वेऽपि सूर्याचन्द्रमसोरन्यतरः कोऽपि न स्वीयस्वभावभूतं प्रकाशकत्वं परित्यजति । ततश्च नैकत्वमपि । ततस्तयोर्यथा स्वस्वभावापरित्यागादेकत्वं तयोः कोऽप्यन्यतरो न विमुञ्चति तथा कर्मावृतत्वेऽप्यात्मा स्वस्वभावापरित्यागादेकत्वं न विमुञ्चतीति भावः । ततस्तस्य शुद्धनयापेक्षयैकत्वे नियता स्थितिरित्यवसेयम् । व्याप्तुः स्वगुणपर्यायव्यापनक्रियाकर्तुः यद्वा स्वगुणपर्यायान्स्वभावेन साधु व्याप्नोतीति व्याप्ता । तस्य । 'शीलधर्मसाधौ तृन्' इति शीलार्थे साध्वर्थे वा तृन् । पूर्णज्ञानघनस्य-निर्वृत्तविमलकेवलावबोधस्वभावस्य । अनेन संवृतविमलकेवलावबोधाद्वाव–स्थादात्मनोऽस्य व्यवच्छेदोऽस्तीति ध्वनितम् । अस्य शुद्धस्यात्मनो जीवस्य द्रव्यान्तरेभ्यः शुद्धज्ञानघनैकस्वभावविकलेभ्योऽचेतनस्वभावेभ्यो धर्माधर्मादिपञ्चतयाचेतनपदार्थेभ्यः पृथग्भिन्नत्वेन दर्शनमवलोकनं ज्ञानमनुभवनं चैव सम्यग्दर्शनम् । यदयं सम्यग्दर्शनपरिणत । सम्यग्दर्शनादित्रयस्य शुद्धनिश्चयापेक्षया ज्ञानमात्रस्वरूपत्वाज्ज्ञानादभिन्नत्वात्सम्यग्दर्शनपरिणतस्य ज्ञानमात्रात्मकत्वमायाति । आत्मा च नियमान्नियमेन । निश्चयेनेत्यर्थः । तावान्सम्यग्दर्शनप्रमाणः । प्रमाणनयप्रसिद्धशुद्धज्ञानघनस्वभावः इत्यर्थः । तत् तस्मात्कारणादिमामेनां नवतत्त्वसन्ततिं नवतत्त्वमालिकाम् । नवानां जीवाजीवास्रवादीनां पदार्थानां सन्ततिं मालिकां परम्परां मुक्त्वा विहायायमेष नोऽस्माकमात्मा एकः केवलः शुद्धज्ञानघनैकस्वभावोऽस्तु भवतु । कर्मपुद्गलतज्जनितविभावभावविकलो भवत्वित्यर्थः ।

विवेचन– यथास्थित अर्थ को जो अपना विषय बनाती है ऐसी शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा एक ज्ञायकभावरूपस्वभाववाली होनेसे उसका एकत्व–एकमात्रव्यक्तिमत्त्व होता है, अपने विशुद्ध गुणों को और पर्यायों को व्यापने का उसका स्वभाव होता है और पूर्णज्ञानघनरूप होती है। इस संसार अवस्था में कहो या जिसमें शुक्लध्यान की योग्यता की प्राप्ति के लिए व्यवहारनय का अवलंबन लेना आवश्यक होता है ऐसी अवस्था में कहो जब जीव उक्तप्रकार की आत्मा को धर्माधर्मादिप्रकारक अचेतन द्रव्यों से पृथग्रूप से देखता है तब उसके सम्यग्दर्शन व्यक्त होता है। भेदज्ञान से सम्यक्त्व का आविर्भवन होता है यह अभिप्राय उक्त कथन से व्यक्त हो जाता है। इसके पहले सरागसम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा की अनुभूति की योग्यता की प्राप्ति के लिए व्यवहारनय का अवलंबन लेना आवश्यक है यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है। साराश, शुद्ध आत्मा को भिन्नस्वभाववाले द्रव्यो से भिन्नरूप से देखने का नाम हि शुद्धनय की दृष्टि से सम्यग्दर्शन है। आत्मा सम्यग्दर्शनप्रमाणवाली होती है। कहने का भाव यह है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण होती है; क्यो कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में व्यवहारनय की दृष्टि से भेद होनेपर भी परमार्थतः अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से उनमें भेद नहीं है और उनमें भेद का अभाव होनेसे आत्मा के सम्यग्दर्शनप्रमाणत्व से उसके सम्यग्ज्ञानप्रमाणत्व का बोध हो जाता है। कहा भी है कि–

अप्पा णाणपमाणं णाणं खलु होइ जीवपरिमाणं ।
ण वि णूणं ण वि अहियं जह दीवो तेउपरिमाणो ॥

अर्थ– आत्मा ज्ञानप्रमाण होती है और ज्ञान जीवपरिमाण होता है। वह आत्मा और उसका ज्ञान न एक दूसरेसे कम होता है और न अधिक भी, जैसे तेजप्रमाण दीपक।

जैसे दीपक तेजपरिमाण होता है और तेज दीपकपरिमाण होता है–कम भी होता नहीं और अधिक भी

होता नहीं उसीप्रकार आत्मा ज्ञानपरिमाण होती है और ज्ञान आत्मपरिमाण होता है-न कम होता है और न अधिक भी । ऐसी शुद्ध आत्मा को परद्रव्यों से जो भिन्नरूप से देखना है-उसका अनुभव करना है वहि सम्यग्दर्शन है-सम्यज्ञान है । इसलिए नव पदार्थों की परंपरा से वस्तुतः भिन्न यह मेरी आत्मा एकत्व अर्थात् ज्ञायकभावस्वभावत्व मुझे प्राप्त हो । यहां आत्मा के एक शुद्ध ज्ञायकभावरूपस्वभाव की प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की गयी है ।

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् । नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ।।७।।

अन्वय– अतः नवतत्त्वगतत्वे अपि यत् एकत्वं न मुञ्चति तत् शुद्धनयायत्तं ज्योतिः प्रत्यक् चकास्ति ।

अर्थ– नव पदार्थों में शामिल हुई होनेपर भी जो एकत्व को-ज्ञायकभावरूपस्वभाव में नियतरूप से स्थित रहना-छोडती नहीं यह शुद्धनय के अधीन होनेवाली ज्योति-आत्मरूप तेज अंतरंग में प्रकाशमान होती है ।

त. प्र.– अतो भेदज्ञानात्मकसम्यग्दर्शनाद्यवतत्त्वगतत्वेऽपि नवतत्त्वमालिकायां रत्नावल्यां रत्नविशेषवद्ग्रथितत्वेऽपि । नवानि नवसङ्ख्याकानि च तानि तत्त्वानि पदार्थाश्च तवतत्त्वानि । तेषु गतं प्राप्तम् । तस्य भाव । तस्मिन् । यत् ज्योतिः ज्ञानतेजस्कमात्मद्रव्यम् । एकत्वं शुद्धज्ञायकभावरूपैकस्वभावत्वादेकव्यक्तिमत्त्व न मुञ्चति न परित्यजति तत् शुद्धनयायत्तं यथास्थितार्थविषयशुद्धनिश्चयनयाधीनम् । शुद्धः परमार्थविषयो नयः प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही ज्ञानविशेषो शुद्धनयः । तस्मिन्नायत्तमधीनं शुद्धनयायत्तम् । ज्योतिर्ज्ञानतेजस्कमात्मद्रव्यं शुद्धं प्रत्यगन्तः । स्वसंवेदनज्ञाने इत्यर्थः । चकास्ति प्रद्योतते । प्रकटीभवतीत्यर्थः ।

विवेचन– भेदज्ञानस्वरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जानेपर जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन तत्त्वों की मालिका में शामिल हुआ होनेपर भी ज्ञानतेजोरूप ज्ञायकभावरूप एकमात्रस्वभाववाला होनेसे जो एकत्व का-एकव्यक्तिमत्त्व का-असाधारणव्यक्तिमत्त्व का त्याग नहीं करता वह आत्मद्रव्य अंतरंग में अर्थात् स्वसंवेदनज्ञान में प्रकट होता है-स्वसंवेदनज्ञान से उसका अनुभव किया जाता है । कहनेका भाव यह है कि भेदविज्ञान के व्यक्त हो जानेपर शुद्ध आत्मा का अनुभव किया जाता है-अन्यथा नहीं ।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगताः जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्त्रवसंवरनिर्जराः बन्धो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ।। १३ ।।

अन्वयार्थ– (**जीवाजीवौ च**) जीव और अजीव, (**पुण्यपापं च**) पुण्य और पाप, (**आस्त्रवसंवरनिर्जराः**) आस्त्रव, सवर, निर्जरा (**बन्धः**) बन्ध (**मोक्षः च**) और मोक्ष ये नव तत्त्व (**भूतार्थेन**) जिसका विषय यथास्थित पदार्थ होता है ऐसे शुद्धनय के द्वारा (**अभिगताः**) जव जाने जाते है तब वे सम्यक्त्वोत्पत्ति का निमित्तकारण होनेसे कारणपर कार्य का उपचार किया जानेसे अर्थात् सम्यक्त्वोत्पत्ति के निमित्तकारणभूत नवतत्त्वोपर सम्यक्त्वरूपकार्य का उपचार करनेसे (**सम्यक्त्वं**) वे नवतत्त्व सम्यक्त्व हैं-वे सम्यक्त्व कहे जाते हैं ।

[जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन का जैसा स्वरूप है उस स्वरूप से हि जब वे जाने जाते हैं तब उनके यथार्थस्वरूप का ज्ञान सम्यक्त्वोत्पत्ति का निमित्तकारण पडता है; क्यों कि

उनके यथार्थस्वरूप के ज्ञान से जीव के यथार्थस्वरूप का ज्ञान हो जानेसे आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। इस ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला जो सम्यक्त्व होता है वह औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इनमें से कौनसा भी हो, किंतु वह सराग हि होता है; क्यों कि अप्रत्याख्यानादि कषायों का उदय होनेसे आत्मा की सराग अवस्था बनी रहती है। अतः नवतत्त्वों के यथार्थस्वरूप का ज्ञान सरागसम्यक्त्व का या व्यवहारसम्यक्त्व का हि निमित्त-कारण पडता है और इसकारण से उपचार से उनकी जो सम्यक्त्वसंज्ञा होती है वह व्यवहारसम्यक्त्वसूचक है।]

आ. ख्या.– अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेन अभिगतानि सम्यग्दर्शनं सम्पद्यन्ते एव, अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं अभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्य-पापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेषु एकत्वद्योतिना भूतार्थनयेन एकत्वं उपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्य आत्मनः अनुभूतेः आत्मख्यातिलक्षणायाः सम्पद्यमानत्वात्। तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापं, आस्राव्यास्रावकोभयं आस्रव, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बन्ध्यबन्धकोभयं बन्धः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः, स्वयं एकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्ते। तदुभयं च जीवाजीवौ इति। बहि-र्दृष्ट्या नवतत्त्वानि अमूनि जीवपुद्गलयोः अनादिबन्धपर्यायं उपेत्य अनुभूयमानतायां भूतार्थानि। अथ च एकजीवद्रव्यस्वभाव उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थानि, ततः अमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेन एकः जीव एव प्रद्योतते। तथा अन्तर्दृष्ट्या ज्ञायकः भावः जीवः, जीवस्य विकारहेतुः अजीवः, केवलजीवविकारा च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्ध-मोक्षलक्षणाः। केवलाजीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाः इति नवत-त्त्वानि अमूनि अपि जीवद्रव्यस्वभाव अपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेन अनुभूयमानतायां भूतार्थानि। अथ च सकलकाल एव अस्खलन्तं एक जीवद्रव्यस्वभावं उपेत्य अनुभूयमान-तायां अभूतार्थानि तत अमीषु अपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेन एकः जीवः एव प्रद्योतते। एवं असौ एकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेन अनुभूयते एव। या तु अनुभूतिः सा आत्मख्यातिः एव। आत्मख्यातिः तु सम्यग्दर्शनं। इति समस्त एव निरवद्यम्॥

त. प्र.– अमून्येतानि हि एव। अत्र हिशब्दोऽवधारणार्थद्योतक। 'हि विशेषेऽवधारणे। हि पादपूरणे हेतौ' इति विश्वलोचने। जीवादीनि जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्ष-लक्षणानि नवतत्त्वानि नवसङ्ख्याकानि तत्त्वानि पदार्थाः भूतार्थेन यथास्थितार्थविषयरूपेणाभिगतानि निर्णीतानि अत्र नवतत्त्वसन्ततेः भूतार्थत्व प्राथमिकशिष्यापेक्षया, न वास्तव, परमसमाधिकाले तेषाम-भूतार्थत्वात्। जीवश्चेतनालक्षणोऽजीवोऽचेतनत्वस्वरूपः पुण्यपापे जीवाजीवसंश्लेषात्मकबन्धस्वरूपे शुभाशुभात्मकजीवपरिणामनिष्पत्तिनिमित्तभूत इत्येवम्प्रकारेण भूतार्थस्वरूपेण भूतार्थनयेन ज्ञातानीति भावः। समञ्चति पूर्णत्वेन जानातीति सम्यक्। अञ्चतेः क्वौ रूपम्। अञ्चतेर्गत्यर्थत्वाज्ज्ञानार्थत्वं, सर्वेषां गत्यर्थाना ज्ञानार्थत्वात्। तेन सम्यागत्यस्य केवलज्ञानवानात्मेत्यर्थः। तस्य दर्शनं शुद्धात्मस्वरू-पावलोकनक्रियायाः साधकतमसाधनमित्यर्थः। अत्र दर्शनशब्दः करणसाधनः। 'करणाधारे चानट्' इति करणेऽनट्। श्रीमद्भिरकलङ्कदेवैरपि 'दृशेः करणादिसाधने युटि दर्शनशब्दो व्याख्यातः'

(रा. वा. १।२।२) 'ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः' (रा. वा. १।१।४) इत्युक्तम्। तेन ज्ञायकभावैकमात्रस्वभावस्यात्मनोऽवलोकनस्य ज्ञानस्य च साधकतमसाधनं भवन्तीत्यर्थः। सम्पद्यन्त एव भवन्त्येव। अत्रैवकारस्यावधारणार्थकत्वान्नियमेन भवन्तीति भावः। अमीष्वेतेषु नवतत्त्वेषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं व्यवहारधर्मप्रवृत्त्यर्थं शुद्धात्मोपलब्ध्युपायप्रवृत्त्यर्थं जैनदर्शनप्रवृत्त्यर्थं वा। 'कौटिल्ये बन्धभेदे च तीर्थं शास्त्रावतारयोः। पुण्यक्षेत्रमहापात्रोपायोपाध्यायदर्शने' इति विश्वलोचने। अभूतार्थनयेन। अभूतोऽयथास्थितार्थोऽर्थो विषयो यस्य सः। अभूतार्थश्चासौ नयश्चाभूतार्थनयः। तेन। अभिन्नयोर्भिन्नत्वस्य प्ररूपणाद्भिन्नयोश्चाभिन्नत्वस्योपचारेण निरूपणाद्व्यवहारनयस्यैवाभूतार्थनयपदेन ग्रहणम्। व्यपदिश्यमानेषु नवतत्त्वान्यमूनि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं सम्पद्यन्ते इति सम्यग्दर्शनत्वेन प्रतिपाद्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणेषु तत्सञ्ज्ञेषु नवतत्त्वेषु नवपदार्थेष्वेकत्वद्योतिना ज्ञायकभावैकस्वभावमात्रत्वादेकत्वमेकमात्रव्यक्तिमत्त्वं प्रकटीकुर्वता भूतार्थनयेन यथास्थितार्थविषयकत्वाद्यथास्थितार्थप्रतिपादकेन शुद्धनयेनैकत्वं ज्ञायकभावमात्रैकस्वभावत्वादनतिक्रान्तैकत्वाद्यदेकत्वं तदुपानीय सम्प्रापय्य प्रकटीकृत्य वा शुद्धनयत्वेन शुद्धनयस्वरूपेण व्यवस्थापितस्य प्रसाधितस्यात्मनोऽनुभूतेरनुभवस्यात्मख्यातिलक्षणायाः आत्मख्यातिसञ्ज्ञकस्य। आत्मनः ख्यातिरनुभूतिरात्मख्यातिः। ख्यातिशब्दोऽनुभूत्यर्थवचनः, दर्शनानुभवनावलोकनशब्दानां ख्यातिप्रतीतिसंवित्त्यनुभूत्युपलब्धिशब्दानां चैकार्थवचनत्वात्। सम्पद्यमानत्वादुपलभ्यमानत्वात्। तत्र नवतत्त्वेषु। विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्-विकारमर्हतीति विकार्यः स्वविकारजनने शक्तः परिणामिकशक्तियोगाद् विकार्यो वा। विकरोति विकारं जनयतीति विकारकम्। 'ण्वुतृच्' इति कर्तरि ण्वुः। नैमित्तिकशुभाशुभभावरूपपरिणत्यात्मकविकारमर्हतीति तत्र शक्तो वेति विकार्यो जीवः। तादृश जीवविकारजननक्रियाश्रयत्वात्पौद्गलिकं कर्म शुभाशुभजीवपरिणामात्मककार्योत्पादनाद्विकारकम्। शुभाशुभजीवपरिणामानां तादृग्जीवपरिणामनिमित्तकारणभूतानां च द्रव्यकर्मणां पुण्यसञ्ज्ञत्व पापसञ्ज्ञत्वं चेत्यवधेयम्। आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः-आस्रवणं द्रव्यास्रवनिमित्तभूतात्मपरिणमनमर्हतीति तादृक्परिणमने शक्तो वेत्यास्राव्यो जीवः। तादृग्जीवपरिणामजननक्रियाश्रयत्वात्तादृग्जीवपरिणामात्मककार्योत्पादनाच्च पौद्गलिकं कर्मास्रावकम्। तादृग्जीवपरिणामतदुत्पत्तिनिमित्तकारणभूतद्रव्यकर्मणोरुभयोरप्यास्रवसञ्ज्ञत्वमित्यवसेयम्। संवार्यसंवारकोभयं संवरः-मिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मागमननिरोधकगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रात्मकात्मपरिणामजननक्रियाश्रयत्वात्तादृग्द्रव्यकर्मनिरोधनकार्योत्पादनाच्च जीवः संवारकः। संवरणं गुप्त्यादिस्वरूपजीवपरिणामैर्निमित्तकर्तृभूतैरागमनक्रियानिरोधनमर्हतीति संवार्यं द्रव्यकर्म। निरोधकजीवनिरुध्यमानकर्मणोरुभयोरपि संवरसंज्ञा भवति। निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा-निर्जरणं स्वसंवेदनात्मकशुक्लध्यानेन निमित्तकर्तृभूतेनैकदेशक्षयमर्हतीति निर्जर्यं द्रव्यकर्म। द्रव्यकर्मैकदेशक्षयनिमित्तभूतस्वसंवेदनात्मकशुक्लध्यानक्रियाश्रयत्वात्कर्मैकदेशक्षयरूपकार्योत्पादनाच्च जीवो निर्जरकः। निर्जर्यनिर्जरकयोः कर्मात्मनोर्द्वयोरपि निर्जरासञ्ज्ञत्वम्। बन्ध्यबन्धकोभयं बन्धः-बन्धनं मिथ्यादर्शनादिरूपस्वीयविभावपरिणामनिमित्तकमिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मभिः संश्लेषमर्हतीति जीवो बन्ध्यः। आत्मबन्धकारित्वाद्बन्धनक्रियाश्रयत्वाद्बन्धनक्रियाकर्तृ द्रव्यकर्म बन्धकम्। मिथ्यादर्शनादिरूपविभावभावात्मकपरिणामापन्नस्य जीवस्य मिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञकपुद्गलपरिणामात्मकद्रव्यकर्मणश्च बन्धसञ्ज्ञोपहितत्वम्। मोच्यमोचकोभयं मोक्षः-चतुर्थशुक्लध्यान-

निमग्नश्चतुर्दशगुणस्थानान्त्यसमयवर्ती मोचनमर्हञ्जीवो मोच्यः। तेन तादृशेनात्मना संश्लेषं विमुच्य पृथग्भवद्द्रव्यकर्म मोचकम्। चतुर्थशुक्लध्यानपरिणामवतो जीवस्य तत्परिणामस्य वा द्रव्यकर्मणः पृथग्भवनक्रियात्मकपरिणामस्य च मोक्षसञ्ज्ञा भवति। यद्वा स्वविभावेतरपरिणामैर्निमित्तीभूय कर्मवर्गणायोग्यपुद्गले कर्मरूपविकारजनकत्वात्फलदानसामर्थ्यविकलपरिणामजनकत्वाच्च स्वोदया-दिना जीवे च विभावभावादिरूपविकारजनकत्वाज्जीवस्य द्रव्यकर्मणश्च विकारकत्वम्। पारिणामिक-शक्तिमत्त्वात्परिणतिक्रियाश्रयणयोग्यत्वाद्द्वयोरपि विकार्यत्वम्। आस्रवणं जीवं प्रति आगमनमर्हती-त्यास्राव्यं द्रव्यकर्म। तदास्रवणकारणभूताः मिथ्यादर्शनाद्यात्मकाः जीवस्य विभावपरिणामा आस्रा-वकाः। संवरणं गुप्तिसमित्यादिरूपैः स्वपरिणामैर्द्रव्यकर्मागमनस्य निरोधनं प्रतिबन्धनकर्माहतीति जीवः संवार्यः। गुप्त्यादिरूपजीवपरिणामैः निरुद्धस्वास्रवणक्रियत्वात्स्वयमेव प्रतिबद्धात्मानुगमन-कर्मत्वाद्द्रव्यकर्म संवारकम्। स्वसंवेदनरूपैः स्वपरिणामैः निमित्तभूतैर्द्रव्यकर्मणः एकदेशक्षयं कर्तुं शक्नोतीति निर्जर्यो जीवः। 'शकि लिङ् च' इति शक्यऽर्थे व्यः। स्वसंवेदनात्मकशुक्लध्यानेन स्वय-मेवैकदेशेन क्षीयमाणत्वादेकदेशक्षयणक्रियाश्रयत्वान्निर्जरकं द्रव्यकर्म। मिथ्यादर्शनादिरूपैर्जीवस्य विभा-वपरिणामैर्जीवेन सह सश्लेषमर्हतीति द्रव्यकर्म बन्ध्यम्। स्वीयैर्मिथ्यादर्शनादिरूपैर्विभावपरिणामैर्द्रव्य-कर्माऽऽत्मना साकं सश्लेषमापादयतीति जीवो बन्धकः। जीवस्य कर्ममोचनशक्तिमत्त्वान्मोचनक्रिया-श्रयत्वान्मोचकत्वम्। आत्मनः पृथग्भवनयोग्यत्वाद्द्रव्यकर्मणो मोच्यत्वम्। यद्वा—पर्यायार्थिकनयेनो-त्तरपरिणामाद्विभिन्नमनन्तरपूर्वपर्यायं निमित्तीकृत्योत्तरपर्यायरूपेण परिणमनार्हत्वाज्जीवस्य विकार्यत्वम्। द्रव्यार्थिकनयेन स्वस्मादभिन्नमनन्तरपूर्वपर्यायं निमित्तीकृतत्वान्निमित्तकर्ता भूत्वोत्तरपर्यायरूपेण परि-णमनादुत्तरपर्यायजननाद्वा जीवस्य विकारकत्वम्। अनन्तरपूर्वपर्यायं निमित्तीकृत्योत्तरपर्यायं प्रति यदास्रवणमागमनं प्रापणं तदर्हतीति जीवः आस्राव्यः। द्रव्यार्थिकनयेन स्वतोऽभिन्नं पर्यायार्थिकनयेन स्वस्माद्भिन्नमनन्तरपूर्वपर्यायं निमित्तीकृत्योत्तरपर्यायात्मकपरिणतिक्रियाश्रयत्वादास्रवणक्रियाकर्तृत्वा-दास्रावको जीवः। गुप्त्यादिरूपैः स्वीयैरनन्तरपूर्वपरिणामैर्विभावात्मकपरिणमनक्रियानिरोधनार्हत्वा-ज्जीव संवार्यो विभावात्मकपरिणमनक्रियाप्रतिबन्धकत्वाच्च संवारकः। स्वसंवेदनज्ञानात्मकस्वपरि-णामैर्निमित्तीकृतैर्विभावपरिणामानामेकदेशेन क्षयकरणसमर्थत्वाज्जीवो विभावपरिणामानामेकदेशक्षय-करणक्रियाश्रयत्वाच्च निर्जरकः। पर्यायार्थिकनयेनात्मनो भिन्नैर्मिथ्यादर्शनादिरूपैर्विभावपरिणामैरा-त्मनः सम्बन्धमर्हतीति जीवो बन्ध्यः, तैर्विभावपरिणामैरात्मानं सम्बध्नातीति च बन्धकः। नैमित्तिक-विभावभावेभ्य पृथक्करणार्हत्वाज्जीवस्य मोच्यत्व, ततः पृथक्करणक्रियाश्रयत्वान्मोचकत्वं च। अयमेव विकार्यविकारकभावादिसंबन्ध पारमार्थिकः, तयोः कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वान्निमित्तनैमित्तिकभावे सत्यपि परमार्थतः परिणामपरिणामिभावत्वात्। निमित्तनैमित्तिकभावस्य द्विनिष्ठत्वात्परिणामपरि-णामिनोर्द्वितयत्वान्नायं विकार्यविकारकादिभावः प्रतिषेधनमर्हति। अनन्तरपूर्वपर्यायस्य निमित्तत्वेऽपि जीवपुद्गलपरिणामानां निमित्तत्वस्यात्राभावो न सम्भवति, तेषामत्र गुणीभवनमात्रत्वात्, अधिगमज-सम्यक्त्वे दर्शनमोहोपशमादिरूपान्तरङ्गहेतोर्गुणीभाववत्। एवमत्र स्वयमेकस्याप्यात्मनः कथञ्चिदने-कत्वात्पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षोपपत्तिः। जीवकर्मणोर्विकार्यविकारकभावव्यवस्थापने तु तयोः कस्यचिदन्यतरस्याभावेऽवशिष्टस्यैकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षोपपत्तिर्नैव घटते। तदुभयं च जीवाजीवाविति—विकार्यविकारकाद्युभयं च जीवाजीवौ। युष्मत्प्रोक्ते पारमार्थिके विकार्यविकारक-

भावादिसंबंधे कथं विकार्यविकारकावुभयं जीवाजीवाविति चेत्, स्वपरिणामादभिन्नस्य परिणामिनो सामान्येन जीवत्वात्स्वविभावपरिणामादभिन्नस्य तस्याभूतस्वभावत्वावप्रशस्तजीवत्वाद्विकार्यविकारकाविसम्बन्धस्य जीवाजीवद्वितयनिष्ठत्वसिद्धे. । बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वानि जीवाजीवास्रवादिनवद्रव्याणि अमून्येतानि जीवपुद्गलयोरात्मकर्मणोरनादिबन्धपर्यायमुपेत्य स्वीकृत्यानुभूयमानतायामनुभवगोचरतां नीयमानतायां भूतार्थानि । अथ च तथैवैकजीवद्रव्यस्वभावं जीवद्रव्यस्य ज्ञायकभावैकस्वभावमुपेत्योररीकृत्यानुभूयमानतायां तान्यभूतार्थानि । ततस्तस्मात्कारणादमीषु नवतत्त्वेष्वेकः केवलो जीवः एव प्रद्योतते प्रकटीभवति । तथा तेन प्रकारेणान्तर्दृष्ट्या ज्ञायको भावः पदार्थो जीवः । जीवस्य विकारहेतुः परिणामनिमित्तमजीवः । शुभाशुभात्मकजीवपरिणामयोः पुण्यपापसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मणी हेतू, मिथ्यात्वादिरूपभावास्रवसञ्ज्ञकजीवविभावपरिणामे मिथ्यात्वादिसञ्ज्ञकं द्रव्यकर्म हेतुः, गुप्तिसमित्यादिरूपे भावसंवरसञ्ज्ञके जीवद्रव्यपरिणामे प्रतिबद्धात्मानुगमनक्रिय द्रव्यकर्म, स्वसंवेदनात्मकशुक्लध्यानपरिणामजनने एकदेशेन क्षीयमाणं द्रव्यकर्म, अभिनवकर्मबन्धनक्षममिथ्यादर्शनादिरूपजीवपरिणामे मिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञकं प्राग्बद्धं द्रव्यकर्म, मुच्यमानस्यात्मनः कर्मणः पृथग्भवनक्रियापरिणामे क्षयावस्थामापद्यमानमघातिसञ्ज्ञकं कर्मचतुष्टयमिति । केवलजीवविकाराश्चासहायजीवमात्रपरिणामाश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणाः शुभाशुभजीवपरिणामात्मकपुण्यपापभावास्रवभावसंवरभाव–निर्जराभावबन्धभावमोक्षस्वरूपाः । शुभाशुभपरिणामात्मकपुण्यपापभावास्रवादीनां चेतनान्वितत्वा–ज्जीवोपादानकत्वाज्जीवपरिणामत्वमिति भावः, यद्द्रव्यस्वभावान्विता य तेषां तद्द्रव्यपरिणामत्वादन्यद्रव्यस्वभावान्वयाभावादन्यद्रव्यपरिणामत्वासम्भवात् । केवलाजीवविकारहेतवोऽद्वितीयाजीवविकाराः हेतवो निमित्तानि येषां ते पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाः इति-शुभाशुभजीवपरिणामात्मकपुण्यपापभावास्रवभावसंवरभावनिर्जराभावबन्धभावमोक्षाः यतः कारणात्ततः नवतत्त्वान्यमूनि पुण्यपापादीन्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य जीवद्रव्यस्य ज्ञायकभावैकस्वभावं परित्यज्य छुडित्वा स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनोपादाननिमित्तकारणकैकजीवद्रव्यपरिणामस्वरूपेणानुभूयमानतायामनुभवगोचरतां नीयमानतायां भूतार्थानि यथार्थानि यथास्थितार्थोपादानकानि वा । अथ च यदि सकलकालं भूते भवति भविष्यति च काले एवास्खलन्तमप्रच्यवमानमेकमद्वितीयं जीवद्रव्यस्वभावं जीवद्रव्यस्य ज्ञायकभावस्वभावमुपेत्याभ्युपेत्यानुभूयमानतायामनुभवविषयतां नीयमानतायामभूतार्थानि । तत्र ज्ञायकभावभूतस्य जीवद्रव्यस्वभावस्याभावान्न तानि पुण्यपापास्रवादीनि भूतार्थानीति भावः । ततस्तस्मात्कारणादमीष्वपि नवतत्त्वेषु मध्ये भूतार्थनयेन यथास्थितार्थप्रतिपादकेन निश्चयनयेनैको ज्ञायकैकभावस्वभावो जीव एव प्रद्योतते प्रकर्षेणाविर्भवति । एवमित्थमसौ जीव एकत्वेन ज्ञायकैकभावस्वभावत्वेनैकव्यक्तिमत्त्वेन द्योतमानः प्रकटीभवञ्छुद्धनयत्वेन शुद्धनयस्वरूपेणानुभूयत एवानुभवगोचरतां नीयत एव । या त्वनुभूतिरनुभवः साऽऽत्मख्यातिरेव, ख्यातिशब्दस्यानुभवार्थवाचकत्वात् । आत्मख्यातिस्त्वात्मानुभूतिश्च सम्यग्दर्शनमेव । इतीत्थं यदुक्तं तत्समस्तमेव निरवद्यं निराबाधम् ।

टीकार्थ— व्यवहारधर्म की अविच्छिन्न उन्नति के या प्रचार के लिए अयथास्थित अर्थ को विषय करनेवाले व्यवहारनय की दृष्टि से जिनका प्रतिपादन किया जाता है ऐसे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये जो नवतत्त्व हैं उनमें एकत्व को–ज्ञायकभावरूपैकमात्रस्वभावत्व को प्रकट करनेवाले भूतार्थनय से-निश्चयनय से एकत्व को एकव्यक्तिमत्त्व को स्वीकार कर जिसका शुद्धनय के रूप से निर्णय किया गया है ऐसी

आत्मा की आत्मख्यातिसंज्ञक अनुभूति–अनुभव हो जानेसे (प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से) भूतार्थरूप से जाने गये ये जीवादिरूप नव तत्त्व (सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के निमित्तकारण बन जानेके कारण कारण में कार्य का उपचार करनेसे) सम्यग्दर्शन बन जाते हि हैं। उन नव तत्त्वों में विकार्य और विकारक ये दोनों मिलकर पुण्य और पाप होते हैं, आस्राव्य और आस्रावक ये दोनों मिलकर आस्रव होता है, संवार्य और संवारक ये दोनों मिलकर संवर होता है, निर्जर्य और निर्जरक ये दोनों मिलकर निर्जरा होती है, बन्ध्य और बन्धक के ये दोनों मिलकर बंध होता होता है और मोच्य और मोचक ये दोनों मिलकर मोक्ष होती है; क्यों कि स्वयं एक के (आस्राव्यादिक और आस्रावकादिक इनमेंसे किसी एक का अभाव हो जानेपर अवशिष्ट–बचे हुए किसी भी एक के) उभयात्मक पुण्यरूप, पापरूप, आस्रवरूप, संवररूप, निर्जरारूप, बंधरूप और मोक्षरूप परिणाम नहीं हो सकते। पुण्य, पाप, आस्रव आदि में जिन दोनों का सद्भाव होता है वे जीव और अजीव हैं। जीव और पुद्गल इनकी अनादि काल से चली आयी बन्धपर्याय को स्वीकार कर जब उनकी अनुभूयमानता होती है अर्थात् जब उन नव तत्त्वों का अनुभव किया जानेकी योग्यता होती है तब ये नवतत्त्व बाह्य दृष्टि से भूतार्थ हैं–यथार्थ हैं। जब जीवद्रव्य के ज्ञायकभावरूप एकमात्र स्वभाव को स्वीकार कर उनको अनुभव का विषय बनाया जानेपर वे भूतार्थ–यथास्थितार्थ अर्थात् ज्ञायकभावरूप स्वभाव से युक्त–नहीं होते तब इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय की–निश्चयनय की दृष्टि से एक जीव हि प्रकट होता है। उसीप्रकार अतरंगदृष्टि से जो ज्ञायक भाव है वह जीव है, जीव के विकार का–विभावपरिणति का हेतु अर्थात् निमित्तकारण अजीव होता है और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा बंध और मोक्ष ये सिर्फ जीव के विकार-परिणाम हैं। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये जो तत्त्व हैं उनकी उत्पत्ति में अजीव के परिणाम (कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये परिणाम) सिर्फ निमित्तकारण होनेसे ये नव तत्त्व जीवद्रव्य के ज्ञायकभावरूप एकमात्रस्वभाव को छोडकर जब उपादान और निमित्त (अजीवद्रव्यरूप द्रव्यकर्म) जिनके कारण होते हैं ऐसे एक (आत्म–) द्रव्य की पर्यायों के रूप से अनुभूति का विषय बनाये जाते हैं तब भूतार्थ होते है। जब भूत, भविष्य और वर्तमान इन कालों में हि स्खलित–च्युत न होनेवाले जीवद्रव्य के (ज्ञायकभावरूप) एकमात्र स्वभाव को लेकर उनको अनुभव का विषय बनाया जानेपर–उनका अनुभव किया जानेपर (उनमें ज्ञायकभावरूप स्वभाव यथार्थतया पाया न जानेसे) वे अभूतार्थ होते हैं–भूतार्थ नहीं होते तब इन नव तत्त्वों में भी यथास्थितार्थ को अपना विषय बनानेवाले निश्चयनय से एक जीव हि प्रकट हो जाता है। इसप्रकार एकरूपसे से–ज्ञायकभावरूप एकमात्र स्वभाव से प्रकट होनेवाले इसका शुद्धनय के रूप से अनुभव किया जाता है। जो अनुभूति है वह आत्मख्याति है और जो आत्मख्याति है वह सम्यग्दर्शन हि है। इसप्रकार जो कुछ कहा गया है वह समस्त–संपूर्ण कथन हि निर्बाध है–निर्दोष है।

विवेचन– जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इनको प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से यथार्थरूप से जाननेसे सम्यग्दर्शन होता है ऐसा जो कहा जाता है वह कथन व्यवहारनयाश्रित है। यह व्यवहारनयाश्रितकथन व्यवहारधर्म की अविच्छिन्न उन्नति के लिए या उसके प्रचार के लिए किया जाता है। इन तत्त्वों में एक जीवद्रव्य भी है। उन आस्रवादि तत्त्वों में वह एकरूप नहीं होता; क्यों कि उसके साथ आस्रावकादि भी होते हैं। इस भावास्रवादिरूप से परिणत हुई आत्मा का एक ज्ञायकभावरूप स्वभाव व्यक्त नहीं होता और इस स्वभाव के अभाव के कारण उसका स्वस्वभावमूलक एकत्व भी नहीं होता। आत्मा के इस एकत्व को प्रकट करनेके लिए एकत्व को प्रकट करनेवाले भूतार्थनय का–निश्चयनय का अवलंब लेना पडता है। इस नय के अवलंबन से अनेकरूप बनी हुई इस आत्मा का एकत्व–आस्रावकादिकों से भिन्नत्व प्रकट हो जाता है। उसके एकत्व के प्रकट हो जानेपर 'वह शुद्धनयरूप है' इसप्रकार उसका निश्चय किया जानेपर उसका अनुभव होता होता है। आत्मानुभव का नाम सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार नव तत्त्वों को यथार्थरूप से जाननेपर आत्मानुभव हो जानेसे यथार्थरूप से जाने गये ये नव तत्त्व ज्ञायकभावरूपैकमात्रस्वभाववाले आत्मा की अनुभूति के साधकतम साधन बन जाते हैं। कारणरूप इन नवतत्त्वों में कार्यरूप सम्यग्दर्शन का वा सम्यक्त्व का उपचार किया जानेपर वे भी

सम्यग्दर्शन कहे जा सकते हैं। वस्तुतः सम्यग्दर्शन आत्मपरिणामरूप है–वह चेतनाचेतनात्मकपदार्थद्वयरूप नहीं है। अतः नवतत्त्वों को सम्यग्दर्शन कहना उपचार है–वह कथन वास्तव नहीं है। उन नव तत्त्वों में जो पुण्यपापादि है वे जीव और अजीव के बिना अस्तिरूप बन हि नहीं सकते। नैमित्तिकभावभूत शुभपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी योग्यता से या शक्ति से युक्त होनेसे जीव विकार्य है और शुभपरिणामात्मक विकार उत्पन्न करनेके योग्य परिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे द्रव्यकर्म विकारक है। जीव के शुभ परिणामों की और उनके निमित्तभूत द्रव्यकर्म की पुण्यसञ्ज्ञा होती है। जीव और निमित्तभूत द्रव्यकर्म इन दोनों में से किसी भी एक का अभाव होनेपर अवशिष्ट एक का सहारा लेकर पुण्यतत्त्व अस्तिरूप नहीं बन सकता। नैमित्तिकभावभूत अशुभपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी योग्यता से युक्त होनेके कारण जीव विकार्य है और अशुभपरिणामात्मक विकार उत्पन्न करनेके योग्य परिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे द्रव्यकर्म विकारक है। अशुभ परिणाम और द्रव्यकर्म इन दोनों की पापसंज्ञा होती है। इन दोनों में से किसी एक का अभाव होनेपर अवशिष्ट एक के सहारेसे पापतत्त्व अस्तिरूप नहीं बन पाता। द्रव्यकर्म के आस्रव के निमित्त पडनेवाले मिथ्यादर्शनादिरूप से परिणत होनेकी योग्यता से युक्त जीव आस्राव्य होता है और मिथ्यादर्शनादिरूप जीवपरिणति में निमित्त बननेवाला द्रव्यकर्म आस्रावक होता है। इन दोनों की आस्रवसञ्ज्ञा है। इन दोनों में से किसी एक का अभाव होनेपर अवशिष्ट एक के सहारेसे आस्रवतत्त्व अस्तिरूप–सद्रूप नहीं बन सकता। मिथ्यादर्शनादिसंज्ञक द्रव्यकर्मों के आगमन का निरोध करनेमें समर्थ ऐसे गुप्तिसमित्यादिरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे, निरोधनक्रिया का आश्रय होनेसे और द्रव्यकर्मागमन का निरोधनरूप कार्यका उत्पादक होनेसे जीव संवारक होता है और गुप्त्यादिरूप जीवपरिणाम निमित्त पडनेपर जीव के प्रति होनेवाली उसकी आगमनक्रिया के निरोधन की योग्यता रखनेवाला द्रव्यकर्म संवार्य होता है। उन दोनों की संवरसंज्ञा होती है। इनमें से सिर्फ एकका संवरपरिणाम नहीं होता। स्वसंवेदनात्मक शुक्लध्यान से एकदेश से क्षीण होनेकी योग्यता से युक्त होनेके कारण द्रव्यकर्म निर्जर्य होता है। द्रव्यकर्म का एकदेश क्षय का निमित्तकारण बननेवाला स्वसंवेदनात्मक शुक्लध्यानस्वरूप क्रिया का आश्रय होनेसे और द्रव्यकर्मों का एकदेश क्षयरूप कार्य का उत्पादक होनेसे जीव निर्जरक होता है। निर्जर्य कर्म और निर्जरा करनेवाले परिणामों से युक्त निर्जरक जीव इन दोनों की निर्जरासंज्ञा होती है। इन दोनों के सद्भाव में हि जीव के निर्जरक परिणाम होते हैं। इन दोनों में से एक का अभाव होनेपर अवशिष्ट एक का निर्जरा परिणाम नहीं हो सकता। मिथ्यादर्शनादिरूप जीव के विभावपरिणाम जिनके निमित्तकारण पडते है ऐसे मिथ्यादर्शनादिसंज्ञक द्रव्यकर्मों के साथ संश्लिष्ट–बद्ध होनेकी योग्यता से युक्त होनेसे जीव बन्ध्य होता है और आत्मा को बद्ध करनेवाले होनेसे और आत्मा को बद्ध करनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे बन्धनक्रिया का कर्ता बना हुआ द्रव्यकर्म बन्धक होता है। बंध्य और बंधक कर्म इन दोनों की बन्धसंज्ञा है। इन दोनों में से किसी एक का अभाव होनेपर अवशिष्ट एक का बन्धतत्त्व (कार्य) नहीं हो सकता। चतुर्थ शुक्लध्यान मे निमग्न, चौदहवें गुणस्थान के अन्त्यसमयवर्ती मुक्त होनेकी योग्यतावाला जीव मोच्य होता है और उसप्रकार के उस जीव के साथ बने हुए संश्लेष को छोडकर स्वयं अलग होनेवाला अर्थात् जीव को अलग होने देनेवाला द्रव्यकर्म मोचक होता है। ऐसे जीव और द्रव्यकर्म की परिणति उभयाश्रित होनेसे दोनो की मोक्ष यह संज्ञा होती है। मोक्षतत्त्व न केवल जीव का होता है और न केवल द्रव्यकर्म का भी; क्यों की जब बन्ध उभयाश्रित होता है तब मोक्ष भी अर्थात् मोचनक्रिया भी उभयाश्रित होना हि चाहिये।

अथवा अपने विभावादिपरिणामों के द्वारा निमित्त बन कर कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल मे कर्मरूप परिणति का या जनक–उत्पादक होनेसे जीव विकारक होता है। और अपने उदयादि परिणामों से जीव में विभावभावादिरूप परिणतियों का जनक–उत्पादक होनेसे द्रव्यकर्म विकारक होता है। पारिणामिकशक्ति से युक्त होनेसे परिणतिक्रिया का आश्रय होनेकी योग्यता से युक्त होनेके कारण जीव और द्रव्यकर्म इन ये दोनों विकार्य होते हैं। जीव के प्रति आनेकी योग्यता से युक्त होनेसे द्रव्यकर्म आस्राव्य होता है और मिथ्यादर्शनादिरूप जीव के विभावपरिणाम जीव के प्रति द्रव्यकर्म के आगमन का निमित्तकारण होनेसे जीव आस्रावक होता है।

गुप्तिसमित्यादिरूप अपने परिणामों से द्रव्यकर्मों की अपने प्रति होनेवाली आगमन क्रिया का प्रतिबंध करनेकी योग्यता से युक्त होनेके कारण जीव संवार्य होता है और जीव के गुप्त्यादिरूप परिणामों के द्वारा जीव के प्रति गमन करने की अपनी क्रिया रोकी जानेसे अपनी आत्मा के प्रति गमन करने की क्रिया को स्वयमेव रोकनेवाला होनेसे द्रव्यकर्म संवारक होता है। स्वसंवेदनरूप अपने परिणामों के साधन से–निमित्त से द्रव्यकर्मों का एकदेश क्षय करने की सामर्थ्य से युक्त होनेसे जीव निर्जर्य होता है और जीव के स्वसंवेदनरूप शुक्लध्यानात्मकपरिणाम के कारण स्वयमेव एकदेश से क्षीण होनेवाला होनेसे एकदेश से क्षीण करनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे अर्थात् एकदेशक्षयक्रिया का आश्रय होनेसे द्रव्यकर्म निर्जरक होता है। जीव के मिथ्यादर्शनादिरूप विभावपरिणाम निमित्तकारण बन जानेपर जीव के साथ संश्लिष्ट होनेकी योग्यता से युक्त होनेसे द्रव्यकर्म बन्ध्य होता है और अपने मिथ्यादर्शनादिरूप विभाव परिणामों के निमित्त से अर्थात् अपने विभाव परिणामों से स्वयमेव निमित्तकर्ता बनकर द्रव्यकर्मों का अपने साथ संश्लेष कराता है इसलिए जीव बन्धक होता है। कर्मों को अपनेसे अलग–पृथक् करनेकी शक्ति से युक्त होनेके कारण कर्मों को अपनेसे अलग करानेकी क्रिया का–शुक्लध्यानरूपपरिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे जीव मोचक होता है और आत्मा से पृथक् होनेकी योग्यता से युक्त होनेसे द्रव्यकर्म मोच्य होता है। इसप्रकार पुण्यपापादितत्त्व दोनों में से किसी एक के ही नहीं होते।

अथवा– एक पदार्थ की दो अनन्तर पर्यायों में उनके असाधारणस्वभाव की दृष्टि से भेद होता है। दो पर्यायों में से अनन्तरपूर्वपर्याय उत्तरपर्याय की निमित्तकारण होती है; क्यों कि उत्तरपर्याय के अनुकूल उसके विनाश के विना उत्तरपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती। अनन्तरपूर्वपर्याय का विनाश और उत्तरपर्याय की उत्पत्ति ये दोनों समकालभावि होते है। अतः एक पदार्थ की दो अनन्तर पर्यायों में निमित्तनैमित्तिकभाव होनेमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उत्तरपरिणाम से अपने असाधारण स्वभाव के कारण विभिन्न ऐसी अनन्तरपूर्व-पर्याय को निमित्त बनाकर उत्तरपर्याय के रूप से परिणत होनेकी योग्यता से युक्त होनेके कारण जीवद्रव्य विकार्य होता है। द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से अपनेसे अभिन्न ऐसी अनन्तरपूर्वपर्याय को निमित्त बनाया जानेसे स्वयं निमित्त-कर्ता होकर उत्तरपर्यायरूप से परिणत होनेके कारण या उत्तरपर्याय की उत्पत्ति करने से जीव विकारक होता है। जीव जब निमित्तकर्ता होता है तब उपादानकर्तृत्व गौण होता है और जब वह उपादानकर्ता होता है तब उसका निमित्तकर्तृत्व गौण होता है। अनन्तरपूर्वपर्याय को निमित्त बनाकर अपनी उत्तरपर्याय के प्रति गमन कराने की अर्थात् उत्तरपर्याय के रूप से परिणत होनेकी योग्यता से युक्त होनेके कारण जीव आस्राव्य होता है। द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से अपनेसे अभिन्न और पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से अपनेसे भिन्न ऐसी अनन्तरपूर्वपर्याय को निमित्त बनाकर अर्थात् स्वयं निमित्तकर्ता बनकर उपादानस्वरूप से उत्तरपर्यायरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे आस्रवणक्रिया का कर्ता होनेके कारण जीव आस्रावक होता है। गुप्त्यादिरूप अपने अनन्तरपूर्वपरिणामों से विभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया का विरोध–प्रतिबन्ध करने की योग्यता से युक्त होनेके कारण जीव संवार्य होता है और विभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया का प्रतिबंध करनेवाली गुप्त्यादिक्रियाओं का आश्रय होनेसे जीव संवारक होता है। निमित्त बनाये हुए स्वसंवेदनज्ञानात्मक परिणामों से विभावपरिणामों का एकदेश से क्षय–विनाश–अभाव करने की सामर्थ्य से युक्त होनेसे जीव निर्जर्य होता है और विभावपरिणामों का एकदेश से क्षय करने की क्रिया का आश्रय होनेसे जीव निर्जरक होता है। पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से अपने से भिन्न ऐसे मिथ्यादर्शनादिरूप विभावपरिणामों के साथ अपना संबंध स्थापित करनेकी योग्यता से युक्त होनेके कारण जीव बन्ध्य होता है और उन विभावपरिणामों के साथ अपना संबंध घटित करता है इसलिए वह बन्धक होता है। निमित्तजन्य विभावभावों से अपना पृथक्करण-भेद करने की योग्यता से युक्त होनेके कारण जीव मोच्य होता है और पृथक् करने की क्रिया का आश्रय होनेसे जीव मोचक होता है। यहि विकार्यविकारकभावादिरूप संबंध पारमार्थिक संबंध है; क्यों कि उनमें कथञ्चित् भेदाभेद होनेसे निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर भी परमार्थतः परिणामपरिणामिभाव होता है। निमित्तनैमित्तिकभाव द्विनिष्ठ

होनेसे परिणाम और परिणामी दो होनेके कारण विकार्यविकारकादिभावों का प्रतिबंध करना ठीक नहीं है। अनन्तरपूर्वपर्याय निमित्त होनेपर भी जीवपरिणामों का और पुद्गलपरिणामों का अन्योन्यनिमित्तत्व का अभाव यहां नहीं संभवता; क्यों कि उनके निमित्तत्व का यहां सिर्फ गौणत्व है। उनके निमित्तत्वके विना उक्त भाव घटित नहीं हो सकते। अधिगमज सम्यक्त्व में जिसप्रकार दर्शनमोहोपशमादिरूप निमित्त का सिर्फ गौणत्व होता है उसीप्रकार जीव के विभावादिपरिणामों के और कर्मों के उदयादिपरिणामों के निमित्तत्व का यहां गौणत्व होता है। इसप्रकार निश्चय की दृष्टि से आत्मा का एकत्व होनेपर भी व्यवहारनय की दृष्टि से उसका अनेकत्व होनेसे पुण्यपापादि तत्त्वों की सिद्धि हो सकती है। जीव और कर्म इनका विकार्यविकारकभाव निर्णीत किया जानेपर उन दोनों में से किसी एक का अभाव हो जानेपर अवशिष्ट एक के पुण्यपापादितत्त्व घटित होते हि नहीं। जिन दोनों के आधार से पुण्यपापादितत्त्व घटित होते है वे जीव और अजीव होते हं। ऊपर बताये गये पारमार्थिक विकार्यविकारकभावादिरूप संबंधों में जो विकार्य और विकारक आदि हैं वे जीव और अजीव कैसे हो सकते हं इस प्रश्न का समाधान किया जाता है। अपने परिणाम से अभिन्न परिणामी सामान्यतः जीव होता है। अपने विभावपरिणामों से अभिन्न ऐसे जीव का ज्ञायकभावरूपस्वभाव आवृत हुआ होनेसे वह अप्रशस्त बन जानेके कारण वह विशेषतः कथंचित् अजीव कहा जाता है। इसप्रकार विकार्यविकारकादि संबंधों का जीवाजीवनिष्ठत्व सिद्ध हो जाता है। जीव और कर्मों की अनादिकाल से चली आयी बंधपर्याय का अनुभव किया जानेपर ये जीवाजीवास्रवादिरूप नवतत्त्व बाह्य दृष्टि से भूतार्थ हैं। जब उसीप्रकार से जीवद्रव्य के ज्ञायकभावरूप एकमात्र स्वभाव को स्वीकार कर अर्थात् उसको मुख्य समझकर उन नव तत्त्वोंका अनुभव किया जाता है तब उनमें शुद्धज्ञायकभावरूप स्वभाव का अभाव पाया जानेसे वे नवतत्त्व भूतार्थ नहीं हैं–अभूतार्थ हं। उस कारण से इन नवतत्त्वों में एक जीव हि प्रकट होता है; क्यों कि वे सब जीव की हि पर्यायें हैं। उसीप्रकार अन्तर्दृष्टि से देखनेपर ज्ञायकभाव जो है वह जीव है यह स्पष्ट हो जाता है। जीव के जो विभावभावादिरूप परिणाम होते हं उनका निमित्तकारण अजीव होता है। शुभपरिणाम का निमित्तकारण पुण्यकर्म और अशुभपरिणाम का पापकर्म होता है। जीव की मिथ्यात्वादिसंज्ञक विभावभावरूप से जब परिणति होती है तब मिथ्यात्वादिसंज्ञक द्रव्यकर्म निमित्तकारण होता है। जीव की गुप्तिसमित्यादिरूप से जब परिणति होती है तब जिसने अपनी आत्मा के प्रति गमनक्रिया रोक ली है ऐसा द्रव्यकर्म निमित्तकारण होता है। स्वसंवेदनात्मकशुक्लध्यानरूपपरिणाम की उत्पत्ति में एकदेश से क्षीण होनेवाला द्रव्यकर्म निमित्तकारण होता है। अभिनव कर्म का बन्ध करनेमें समर्थ ऐसे मिथ्यादर्शनादिरूप जीव की विभावभावरूप परिणति में प्राग्बद्ध मिथ्यादर्शनादिसंज्ञक द्रव्यकर्म निमित्तकारण पडता है। मुक्त होनेके अभिमुख बने हुए जीव की कर्मों से मुक्त होनेकी क्रियारूप परिणति में क्षयावस्था को प्राप्त हुए अघातिसंज्ञक चार कर्म निमित्तकारण होते हं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यकर्म उदयरूप और क्षयरूप अपनी परिणतियों से जीव की परिणतियों में निमित्तकारण पडता है। इसीप्रकार वे अपनी उपशमरूप और क्षयोपशमरूप परिणतियों से भी जीव की परिणतियों में निमित्तकारण पडता है। यदि निमित्तकारणरूप द्रव्यकर्म का अभाव माना तो सिर्फ एक जीव के पुण्यपापादिरूप परिणामों का अर्थात् तत्त्वों का अभाव हो जायगा। इनका अभाव होनेपर इनके निमित्त से होनेवाले सम्यग्दर्शन का अभाव हो जायगा। ऐसी अवस्था में नवतत्त्वों का शास्त्रकारकृत उपदेश भी विफल हो जायगा। इसी कारण से निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर भी नहीं माना जा सकता। शुभपरिणामरूप पुण्य, अशुभपरिणामरूप पाप, भावास्रव, भावसंवर, भावनिर्जरा, भावबंध और भावमोक्ष ये सिर्फ जीव के विकार हं; क्यों कि इनमें निमित्तकारणभूत द्रव्यकर्म अपने स्वरूप से अन्वित हुआ नहीं पाया जाता। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इनका सिर्फ अजीवरूप द्रव्यकर्मों के उदयरूप और क्षयरूप परिणाम निमित्तकारण होनेसे जब ज्ञायकभावरूप आत्मस्वभाव को छोडकर उपादान और निमित्त जिसकी उत्पत्ति में कारण पडते हं ऐसे एक जीवद्रव्य के परिणामों के रूप से इनका अनुभव किया जाता है तब वे भूतार्थ हैं। जब तीनों कालों में प्रच्युत न होनेवाले अद्वितीय-असाधारण ऐसे जीवद्रव्य के स्वभाव को स्वीकार कर उन नवतत्त्वों का अनुभव किया जाता है तब उनमें ज्ञायकभावरूप

स्वभाव यथार्थरूप से पाया न जानेसे चेतनान्वित होनेपर भी वे भूतार्थ–यथार्थ नहीं होते । उस कारण से इन तत्त्वों में यथास्थितार्थप्रतिपादक निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञायकभावरूप एकस्वभाव को धारण करनेवाला जीव हि प्रकृष्ट-रूपसे प्रकट होता है । इसप्रकार ज्ञायकभावरूप एकस्वभाववाले नवतत्त्वों में प्रकट होनेवाले जीव का शुद्धनय के-श्रुतज्ञान के रूप से अनुभव किया जाता है । जो आत्मा की अनुभूति होती है वहि आत्मख्याति है; क्यों कि ख्याति शब्द का अर्थ अनुभव है । आत्मख्याति जो है वहि सम्यग्दर्शन हि है । इसप्रकार से जो कथन किया गया है वह पूर्णरूप से निर्बाध है ।

इसी विषय का अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए तात्पर्यवृत्ति का सानुवाद उद्धरण नीचे पेश किया जाता है । देखिए–

तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्तरौद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ख्यातिरनुभूतिः तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते । तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं भवति इत्येका पातनिका । अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तः त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद् व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्तं भवन्ति, निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया च । इति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति–भूतार्थेन निश्चयनयेन अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः सन्तः जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षस्वरूपा नवपदार्थाः एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात् कारणत्वात् सम्यक्त्वं भवन्ति । निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति । नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तः सम्यक्त्वं भवन्तीत्युक्तं भवद्भिः, तत् कीदृशं भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह–यद्यपि नवपदार्थाः तीर्थवर्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था भण्यन्ते तथापि अभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्थाः शुद्धात्मस्वरूपं न भवन्ति । तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन एक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति । या च अनुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति सा चैवानुभूतिर्गुणगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षाया शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यम् ।

– तात्पर्यवृत्तौ जयसेनाचार्याः ।

आर्तरौद्रपरिणामो का अर्थात् मोहनीयोदयजन्य विभावभावो का–विभावरूप परिणामों का जिसमें अभाव होता है ऐसे निर्विकल्पसामायिक में शुक्लध्यान में स्थिर बने हुए–एकतान बने हुए जीवो को जो आत्मा के शुद्धस्वरूप का अनुभव होता है वह अनुभव हि निश्चयनय की दृष्टि से निश्चयचारित्र के साथ जिसका अविनाभावरूप संबंध होता है ऐसा निश्चयसम्यक्त्व–वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है । वह सम्यक्त्व हि गुण और गुणी इनमें अभेद की प्रस्थापना करनेवाली निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का स्वरूप है या आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। निश्चयनय से जाने गये नव पदार्थ सम्यक्त्व के विषय होनेसे अभेदोपचार से–उपचरित अभेद से व्यवहारसम्यक्त्व का निमित्तकारण बनते है (जो सम्यक्त्व सराग होता है उसे व्यवहारसम्यक्त्व कहते हैं ।) निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का अपना शुद्धपरिणाम हि सम्यक्त्व है । शुद्धनिश्चयनय से जाने गये नवतत्त्व आत्मा के साथ उनका उपचार से अभेद होनेसे सम्यक्त्व का विषय अर्थात कारण (निमित्तकारण) होनेके कारण सम्यक्त्व होते हैं । निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का परिणाम हि सम्यक्त्व होता है । 'भूतार्थ से–यथास्थितार्थरूप से जाने गये नवतत्त्व सम्यक्त्व होते हैं ऐसा जब कहा है तब भूतार्थ का ज्ञान किसप्रकार का है ?' ऐसा प्रश्न पूछा जानेपर उसका उत्तर देते है–यद्यपि व्यवहारधर्म की अविच्छिन्न उन्नति के लिए या प्रचार के लिए प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से नवतत्त्व भूतार्थ कहे गये है तो भी अभेदरत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्पसमाधि के काल में भूतार्थ न होनेसे वे

शुद्धात्मस्वरूप नहीं होते । उस परमसमाधि के काल में नवपदार्थों में शुद्धनिश्चय की दृष्टि से एक हि शुद्धात्मा प्रकट होती है–उसका अनुभव किया जाता है । जो (परमसमाधिकाल में) अनुभूति होती है वहि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि है और वहि निश्चयसम्यक्त्व है । वह अनुभूति हि निश्चयनय की दृष्टि से गुण और गुणी इनमें अभेद की विवक्षा (अर्थात् प्राधान्य) होनेपर शुद्धात्मस्वरूप है इसप्रकार का तात्पर्य है ।

नवतत्त्वों को भूतार्थरूप से जानने का जो कथन आत्मख्याति में पाया जाता है वह प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से है–वास्तविक नहीं ऐसा समझना, क्यों कि निर्विकल्पसमाधि में उनका अनुभव न होनेसे वे भूतार्थ नहीं है–अभूतार्थ हैं । वे नवतत्त्व सम्यग्दर्शन होते हैं ऐसा जो कहा है उसका कारण यह है कि वे सम्यक्त्व की–भेदज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तकारण पडते हैं । वस्तुतः वे सम्यग्दर्शन नहीं हैं । सम्यग्दर्शन आत्मा का परिणामस्वरूप होता है । यह दो अभिप्राय इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाते हैं ।

निश्चयनय की दृष्टि से परीक्षण किया जानेपर शुद्धज्ञायकभावमात्रैकस्वभाववाला जीव हि नवतत्त्वों में प्रकट होता है; क्यों कि शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जो आत्मा शुद्धस्वरूप होती है ऐसी संसारावस्थ आत्मा के हि वे परिणाम है । व्यवहारसम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व अवश्य होता है किंतु वह सराग होता है–वीतराग नहीं । वीतरागसम्यक्त्व हि शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वास्तव सम्यक्त्व होता है । इन नवतत्त्वों में शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से एक शुद्ध जीव का ज्ञान होनेसे नवतत्त्व व्यवहारसम्यक्त्व का निमित्तकारण पडते है–वे स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं होते । जो सिर्फ नवतत्त्वों को जानते है किंतु उनमें अंतर्निमग्न आत्मा को जानते नहीं वे व्यवहार की दृष्टि से भी सम्यक्त्वी नहीं हैं; क्यों कि भेदज्ञान हि सम्यक्त्व होता है । अनादिबन्धपर्याय की दृष्टि से व्यवहारनय से जीव और कर्मों के अभेद का ज्ञान होता है–भेद का नहीं । उनमें होनेवाले भेद का ज्ञान तो शुद्धनिश्चयनय से जब दोनों के भिन्न स्वभावों का ज्ञान होता है तब हि होता है । इनमें होनेवाले भेद का ज्ञान होनेपर भी जबतक जीव की अप्रत्याख्यानावरणादि कर्मों का उदय होनेसे सराग अवस्था होती है तबतक भेदज्ञानात्मक वह सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व कहा जाता है । जीव की निर्विकल्प अवस्था में जो शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है वही निश्चय-सम्यक्त्व कही जाती है । अनुभूयमान शुद्ध आत्मा के साथ कर्मों के संश्लेष का अभाव होनेसे और उस संश्लेष के अभाव के कारण आत्मा की विभावपरिणतियों का अभाव होनेसे उसके पुण्यपापादिपरिणामों का भी अभाव होता है, क्यों कि कर्मों के संश्लेष का अभाव होनेसे जीव और कर्मों के निमित्तनैमित्तिकभाव का अभाव होता है । अतः शुद्धनिश्चयनय से जीव को जाननेसे और उसका अनुभव करनेसे जीव को व्यवहारसम्यक्त्व और निश्चय-सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । आचार्य अमृतचंद्रसूरि का 'जीवादयो नवपदार्थाः दर्शनस्याश्रयत्वाद् दर्शनम्' यह वाक्य पूर्वोक्त अभिप्राय का समर्थक है ।

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

अन्वय– इति वर्णमालाकलापे निमग्नं कनकं इव चिरं नवतत्त्वच्छन्नं उन्नीयमानं अथ सतत-विविक्तं प्रतिपदं उद्योतमानं इदं एकरूपं आत्मज्योतिः (भवता) दृश्यताम् ।

अर्थ– तेहरवी गाथा की आत्मख्यातिटीका में जिसप्रकार से प्रतिपादन किया गया है उसप्रकार से मोति, माणिक, वैडूर्य, गोमेद, हीरा, प्रवाल, गरुड और नील इन रत्नों की पंक्ति जिसमें होती है ऐसे रत्नहार के रत्नों में अनुस्यूत (रत्नों के छेदों में प्रविष्ट करायी गयी) तार के आकार के सुवर्ण के समान अनादिकाल से पुण्य, पाप आदि नवतत्त्वों में प्रच्छन्न हुई–छिपी हुई और बाहर निकाली गयी अर्थात् प्रकट की गयी, सदा-सर्वकाल द्रव्यकर्म और भावकर्म इनसे (अपने यथार्थस्वभाव की च्युति न होनेके कारण) भिन्न, प्रतिक्षण प्रकट होनेवाली, ज्ञायकभावरूप एकमात्रस्वभाववाली यह आत्मज्योति या एकरूप-एकव्यक्तिरूप आत्मा का ज्ञायकभावरूप तेज

(ज्ञानरूप तेज) आपके द्वारा अपने अनुभव का विषय बनायी जानी चाहिये ।

चिरमित्यादि— इति त्रयोदशगाथाटीकोक्तप्रकारेण वर्णमालाकलापे मौक्तिकादिनवरत्नपंक्तिरूपहारे । वर्णानां मौक्तिकादिनवरत्नानां माला पङ्क्तिरेव कलापो हारः । तस्मिन् । 'अथ पुंस्येव वर्णः स्यात्स्तुतौ रूपयशोगुणे । रागे द्विजादौ मुक्तादौ शोभायां चित्रकम्बले ॥' इति विश्वलोचने । नवरत्नानि यथा—मुक्तामाणिक्यवैडूर्यगोमेदा वज्रविद्रुमौ । पद्मरागो मरकतं नीलं चेति यथाक्रमम् ॥' इति । मुक्तादिनवरत्नपङ्क्तिविरचितहारे इत्यर्थः । निमग्नं मौक्तिकादिनवरत्नवेधानुविद्धशलाकाकारेणान्तःप्रविष्टत्वान्निमग्नमन्तर्निलीनं कनकमिव सुवर्णमिव चिरमनादेरद्यतनकालं यावन्नवतत्त्वच्छन्नं पुण्यपापादिसञ्ज्ञकनवतत्त्वे प्रच्छन्नस्वरूपम् । नवानि नवसङ्ख्याकानि जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणानि तत्त्वानि पदार्थाः । तेषु च्छन्नमन्तर्निलीनस्वस्वरूपम् । उन्नीयमानं मालाया बहिर्निष्कास्यमानं, पक्षे शुद्धनिश्चयनयेन तेभ्यः पृथक्त्वेन ज्ञायमानमनुभूयमानं च । अथ साकल्येन । 'अथाऽथो च शुभे प्रश्ने साकल्यारम्भसंशये । अनन्तरेऽपि' इति विश्वलोचने । सततविविक्तं निरन्तरसर्वकालं स्वभावभेदान्निखिलपदार्थेभ्यस्तन्निमित्तकविभावभावेभ्यो विविक्तं भिन्नं प्रतिपदं प्रतिक्षणमुद्योतमानं प्रकाशमानमिदमेतदेकरूपं ज्ञायकभावमात्रासाधारणस्वभावत्वादेकस्वभावमात्मज्योतिरात्मनो ज्ञानात्मकं तेजस्तेजस्व्यात्मद्रव्यं वा भवता दृश्यतामवलोक्यतामनुभवगोचरतां नीयताम् । यथा ताराकारं शुद्धसुवर्णं हारग्रथितनवरत्नरन्ध्रप्रोतत्वात्प्रच्छन्नमपि तेभ्यो हाराकारविरचितनवरत्नरन्ध्रेभ्यो बहिर्निष्कासितं भवति तदा रत्नरन्ध्रप्रोतत्वावस्थायामस्खलितस्वभावत्वात्प्रकटीभूतसनातनैकमात्रस्वस्वभावं भवति तथा पुण्यपापादितत्त्वेष्वनुस्यूतत्वात्प्रच्छन्नमात्रशुद्धज्ञायकैकमात्रस्वभावमपि ततो बहिर्निष्क्रामितं प्रकटीभवदात्मस्वभावभूतज्ञानतेजो भवत्यात्मद्रव्यम् । नवतत्त्वेभ्य उन्नयनानन्तरं प्रकटीभवन्स आत्मद्रव्यस्वभावो विभावभावविकलो भवति । एतादृशमात्मतेजो मुमुक्षुभिः स्वानुभवगोचरतां नेयमिति भावः ।

विवेचन— मौक्तिकादिनवरत्नों के हार में पोती हुई शुद्ध सुवर्ण की तार का सोना प्रच्छन्न होता है; किंतु उसका शुद्ध सोना जैसा का तैसा बना रहता है-उसका जो स्वभाव उससे च्युत नहीं होता-अस्खलित होता है । उस तार को रत्नरध्रों से बाहर निकालनेपर उसका पूर्वकाल में आवृत हुआ स्वरूप अनावृत होता है । सुवर्ण दूषित हो या चाहे अदूषित हो वह अपने शुद्धस्वभाव को कदापि छोडता नहीं-अर्थात् वह जैसा का तैसा बना रहता है। यदि अशुद्ध अवस्था में अपने शुद्ध स्वरूप को वह छोड देता तो वह फिर अपने शुद्ध स्वरूप को कदापि पा नहीं सकता । आत्मा की भी यही स्थिति होती है । अनादिसंसार से कर्मबद्ध होनेपर भी आत्मा अपने स्वभाव से कदापि च्युत नहीं होती-उसका स्वभाव अविच्छिन्नरूप से जैसा का तैसा हि बना रहता है । अशुद्ध अवस्था से बाहर निकाली जानेपर अशुद्ध अवस्था में आवृत बना हुआ उसका ज्ञायकभावरूप स्वभाव अनावृत-विवृत हो जाता है । यदि आवृत अवस्था में आत्मा अपने ज्ञानमात्ररूप स्वभाव को छोड देती तो वह फिर अपने शुद्ध स्वरूप को कदापि पा नहीं सकती । ऐसी सर्वकाल संपूर्णरूप से परभावों से विभिन्न, ज्ञायकभावरूप एकमात्र स्वभाववाले, प्रतिक्षण प्रकट रहनेवाले आत्मा के ज्ञानरूप तेज का मुमुक्षु जीव को अनुभव करना हि चाहिये; क्यों कि उसके बिना अपवर्ग अवस्था की प्राप्ति होना असंभव है ।

अथ एवं एकत्वेन द्योतमानस्य आत्मनः अधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये, ते खलु अभूतार्थाः । तेषु अपि अयं एकः एव भूतार्थः । प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च । तत्र

उपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्तमानं परोक्षं केवलात्मप्रतिनियतत्वेन वर्तमानं प्रत्यक्षं च। तद् उभयं अपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्य अनुभूयमानतायां भूतार्थम्। अथ च व्युदस्त-समस्तभेदैकजीवस्वभावस्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम्। नयः तु द्रव्यार्थिकः च पर्यायार्थिकः च। तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतया अनुभावयति इति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतया अनुभावयति इति पर्यायार्थिकः। तद् उभयं अपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेण अनुभूयमानतायां भूतार्थम्। अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम्। निक्षेपः तु नाम स्थापना द्रव्यं भावः च। तत्र अतद्गुणे वस्तुनि सञ्ज्ञाकरणं नाम। 'सः अयं' इति अन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्तमानतत्पर्यायाद् अन्यद् द्रव्यम्। वर्तमानतत्पर्यायः भावः। तत् चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येन अनुभूयमानतायां भूतार्थम्। अथ च निर्विलक्षणैकजीवस्वभावस्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम्। अथ एवं अमीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेन एकः जीवः एव प्रद्योतते।

त. प्र.– अथेतिशब्दो गाथोक्तविषयाधिकप्रतिपाद्यसमुच्चयार्थः। एवं नवतत्त्वगतो गुणीकृतपर्यायश्च जीवो यथैकत्वेन निष्पर्यायज्ञायकभावैकमात्रस्वभावत्वेन प्रद्योतते तथा गुणीभूतद्रव्यपर्यायत्वेनैकज्ञानमात्रस्वभावत्वेनैकवस्तुत्वेन द्योतमानस्य शुद्धात्मानुभवावस्थायामनुभवगोचरतां प्राप्नुवत आत्मनो जीवस्याधिगमोपाया उपलब्धिसाधनभूताः। साधनान्यधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः—अविनाभूतानन्तगुणैकगुणमुखेनाशेषवस्तुप्रतिपादकं प्रमाणं, प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही नयः, नामस्थापनाद्रव्यभावप्रकारा निक्षेपाश्च प्रमाणनयनिक्षेपाः। प्रमाणनयनिक्षेपा ज्ञानपर्यायविशेषस्वरूपाः ये ते खलु वस्तुतोऽभूतार्था अपरमार्थाः, तेषां ज्ञानपर्यायस्वरूपत्वादुत्पाद्यविनाशित्वादयावद्द्रव्यभावित्वात्। तेष्वपि प्रमाणनयनिक्षेपेष्वपि। यथा नवतत्त्वेषु तथाऽत्र प्रमाणनयनिक्षेपेष्वपीति भावः। अयं निष्पर्यायत्वादेकत्वेन द्योतमान एकः शुद्धज्ञायकभावैकमात्रस्वभावः एवात्मा भूतार्थो यथास्थितोऽर्थः गुणीभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयविषयभूतद्रव्यपर्यायस्य स्वशुद्धैकमात्रस्वभावस्य वस्तुनो भूतार्थत्वमित्यवसेयम्। प्रमाणनयनिक्षेपाणां द्रव्यप्रमितिकरणभूतज्ञानपर्यायलक्षणं प्रमाणं परोक्षप्रत्यक्षभेदाद्द्विविधम्। उपात्तानुपात्तपर्यायद्वारेण—उपात्तं संसारिणाऽऽत्मना नामकर्मोदयवशेन स्वेन सम्बन्धमापादितं भावेन्द्रियसहकारिद्रव्येन्द्रियमुपात्तं, अर्थालोकादि जीवेन सह सम्बन्धमापन्नत्वादनुपात्तं च। ते परे आत्मनो भिन्ने। ते च ते द्वारमुपायस्तेन। 'द्वारं द्वाराभ्युपाययोः' इति विश्वलोचने। प्रवर्तमानं प्रवृत्तिमत्। स्वार्थक्रियाकारीत्यर्थः। परोक्षं परोक्षप्रमाणम्। केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं च—केवले उपात्तानुपात्तसहकारिसामग्रीविकले आत्मनि प्रतिनियतं नित्यसम्बन्धं केवलात्मप्रतिनियतं। तस्य भावः। तेन तद्रूपेणेत्यर्थः। प्रवर्तमानं प्रवृत्तिमत्। स्वार्थक्रियाकारीत्यर्थः। प्रत्यक्षं प्रत्यक्षप्रमाणम्। तदुभयमपि परोक्षप्रत्यक्षप्रमाणद्वयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायामनुभवगोचरीक्रियमाणतायां भूतार्थं यथार्थम्। अथ च पुनश्च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्य प्रत्याविष्टसकलपर्यायैकजीवस्वभावस्य। व्युदस्ताः प्रत्यादिष्टाः निराकृताः गुणीकृताः समस्ताः सकलाः स्वभावविभावात्मकाः भेदा पर्यायाः येन स व्युदस्तसमस्तभेदः।

स चासावेको ज्ञायकभावैकमात्रस्वभावो जीवश्च । तस्य यः स्वभावस्तस्यानुभूयमानतायामनुभवगोचरीक्रियमाणतायां प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणद्वयमभूतार्थं पर्यायरूपप्रमाणद्वयस्य क्षायिकक्षायोपशमिकज्ञानरूपत्वाच्छुद्धजीवस्वभावेऽनुपलभ्यमानत्वात् । नयः प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र द्वयोर्यो द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि पर्यायान्गुणीकृत्य द्रव्यं ध्रौव्यात्मकं मुख्यतया प्रधानत्वेनानुभावयति जीवस्यानुभवगोचरतां नयति स द्रव्यार्थिकः, द्रव्यं गुणीकृत्य पर्यायं मुख्यतयाऽनुभावयति ज्ञातुर्जीवस्यानुभवगोचरतां नयति स पर्यायार्थिकः । तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेण क्रमेणानुभूयमानतायां भूतार्थं यथार्थम् । अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्य–द्रव्यपर्यायाभ्यामनालीढमनुत्सङ्गितमननुषक्तम् । अननुषक्तद्रव्यपर्यायमित्यर्थः । द्रव्यपर्यायभेदविकलमेकं ज्ञायकभावैकमात्रस्वभावमित्यभिप्रायः । तच्च तच्छुद्धवस्तु च । तन्मात्रो यो जीवस्तस्य स्वभावस्य ज्ञानमात्रैकस्वभावस्यानुभूयमानतायामनुभवगोचरीक्रियमाणतायामभूतार्थमयथार्थं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयं, ज्ञानपर्यायत्वात्तयोः । निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च । प्रमाणनयाधिगतानां द्रव्यपर्यायात्मकानां जीवाजीवादीनामसाधारणस्वरूपत्वाद्वाच्यतामापन्नानां जीवादिशब्देषु सङ्करव्यतिकरव्यतिरेकेण प्ररूपणं निक्षेपः । तत्र तेषु चतुर्षु निक्षेपेषु अतद्गुणे शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतजात्यादिविकले तत्प्रवृत्तिनिमित्तभूतजात्यादिमति तदन्यजात्यादिसहिते च वस्तुनि सञ्ज्ञाकरणं नाम । निमित्तान्तरानपेक्षं सञ्ज्ञाकर्म नामेत्यकलङ्कदेवैर्विद्यानन्दैश्च नामनिक्षेपलक्षणस्य व्याख्यातत्वाद् ‘ अतद्गुणे वस्तुनि सञ्ज्ञाकरणं नाम ’ इत्यमृतचन्द्रसूरिभिः ‘ अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियुज्य सञ्ज्ञाकर्म नाम ’ इति च भगवत्पूज्यपादैस्तल्लक्षणस्य व्याख्यातत्वात्कथमत्र सामञ्जस्यं व्यवस्थापनीयमिति चेत्, उच्यते–तस्य सङ्केतितशब्दस्य गुणाः जातिगुणक्रियाद्रव्याख्याः तत्प्रवृत्तिनिमित्तभूतास्तद्गुणाः । तत्सदृशास्तद्भिन्नाश्च गुणा यत्र वस्तुनि विद्यन्ते तादात्म्येन वस्तुना सम्बद्धाः सन्ति तदतद्गुणं वस्तु । तस्मिन् तत्सदृशतदन्यजातिगुणक्रियाद्रव्यवति तज्जात्याद्यभाववति च वस्तुनि जातिगुणक्रियाद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तकः शब्दो यदा प्रयुज्यते तदा नाम्नो निक्षेपो न्यासो भवति । निमित्तान्तरानपेक्षमितिसामासिकपदे प्रयुक्तेन निमित्तशब्देन यदा जात्यादीनां ग्रहणं क्रियते तदा वस्तुसम्बद्धतदन्यजात्यादेर्निमित्तान्तरत्वं, यदा तु वक्तृविवक्षाया ग्रहणं क्रियते तदा वस्तुसम्बद्धान्यजात्यादेरेव निमित्तान्तरत्वम् । ततः शब्दप्रवृत्तौ जात्यादेर्निमित्तत्वेपि सङ्केतकाले वस्तुसम्बद्धान्यजात्यादेर्निमित्तान्तरभूतस्यानपेक्षत्वात्तदभावे क्रियमाणं संज्ञाकर्म नामेति नामनिक्षेपलक्षणविषये सर्वेषामाचार्याणां तुल्याभिप्रायत्वान्न तत्रासामञ्जस्यं किमपीति । स आहितनामकः पदार्थोऽयमित्यन्यत्र स्थाप्यमानादन्यत्र चित्रकर्मादिषु प्रतिनिधिव्यवस्थापनं प्रतिकृतिप्रतिष्ठापनं स्थापना। प्रतिनिधेः स्थाप्यमानप्रतिकृतेः व्यवस्थापनं प्रतिष्ठापनं प्रतिनिधिव्यवस्थापनम् । वर्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यम्–सिद्धभावापेक्षया स्थापनायाः, वर्तमानपर्यायापेक्षया भावस्य च प्रवृत्तत्वादन्यदित्यनेन भविष्यत्पर्यायाभिमुखस्य ग्रहणम्। तेन यद्भविष्यत्पर्यायाभिमुखं तद्द्रव्यमिति द्रव्यनिक्षेपलक्षणम् । वर्तमानतत्पर्यायो भावः । तस्य निक्षिप्यमाणस्य वस्तुनः पर्यायः परिणामस्तत्पर्यायः । वर्तमानः साम्प्रतिकस्तत्पर्यायो वर्तमानतत्पर्यायः । स भावनिक्षेपः । तदुक्तं–णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा ये जिणिंदपडिमाओ । दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥ तच्चतुष्टयं तन्नामनिक्षेपादिचतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येन नैजनैजस्वरूपभिन्नत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थं यथार्थम् । निर्विलक्षणैकजीवस्वभावस्य–निष्पर्यायैकज्ञायकभावात्मकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थमयथार्थम् । एवममुना प्रकारेणामीषु प्रमाणनयनिक्षे-

येषु भूतार्थत्वेन यथार्थत्वेनैकः पर्यायविकलो जीव एव प्रद्योतते प्रकटीभवतीति प्रतिज्ञायते। प्रमाण-नयनिक्षेपविषयकोक्तार्थसमर्थनपरोऽधस्तनः श्लोकश्चिन्तनार्हः।

प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीनपदे स्थिताः। केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासताम्॥

टीकार्थ— अब गाथोक्त विषय से कुछ अधिक प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन किया जाता है। इसप्रकार एकरूप से प्रकट होनेवाली या रहनेवाली आत्मा की उपलब्धि के जो प्रमाण, नय और निक्षेप ये साधन हैं, वे वस्तुतः अभूतार्थ हैं–भूतार्थ अर्थात् यथार्थ नहीं है। उन प्रमाण, नय और निक्षेपों में एक हि भूतार्थ–सत्यार्थ है। उन तीनों मे प्रमाण परोक्ष और प्रत्यक्ष इस प्रकार दो भेदवाला है। उन दोनों में जो उपात्त-स्वीकृत और अनुपात्त-अस्वीकृत पर पदार्थों के द्वारा प्रवृत्त होता है वह परोक्षप्रमाण है और जो सिर्फ आत्मा के साथ नित्य सबंध रखता हुआ प्रवृत्त होता है वह प्रत्यक्षप्रमाण है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इन भेदों की-ज्ञान की पर्यायों की अनुभूयमानता होनेपर अर्थात् भेदरूप से उनका अनुभव किया जानेपर वे दोनों भी (परोक्ष और प्रत्यक्ष प्रमाण) भूतार्थ-सत्यार्थ हैं; किंतु जिसके समस्त भेदों का-पर्यायों का परित्याग अर्थात् अभाव किया गया है ऐसे एकमात्र जीवस्वभाव की अनुभूयमानता होनेपर अर्थात् उसका अनुभव किया जानेपर वे दोनों भी अभूतार्थ है-असत्यार्थ हैं। नय जो है वह द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय इसप्रकार दो भेदवाला है। उन दोनों में जो द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु के विषय में मुख्यतया द्रव्य का अनुभव कराता है-ज्ञान कराता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो मुख्यरूप से पर्याय का अनुभव-ज्ञान कराता है वह पर्यायार्थिकनय है। द्रव्य और पर्याय इनकी क्रम से अनुभूयमानता होनेपर अर्थात् क्रम से अनुभव किया जानेपर वे दोनों भी भूतार्थ है, किंतु द्रव्य और पर्यायों से रहित शुद्धवस्तुमात्ररूप जीव के स्वभाव की अनुभूयमानता होनेपर अर्थात् शुद्धवस्तुमात्ररूप जीव के स्वभाव का अनुभव किया जानेपर वे दोनों भी अभूतार्थ है। निक्षेप जो है वह नाम, स्थापना द्रव्य और भाव इसप्रकार चार भेदवाला है। उनमें शब्द की प्रवृत्ति के निमित्तभूत जात्यादि जिसमें होता है, नहीं होना और अन्य जात्यादि जिसमें होते है ऐसी वस्तु के विषय में जो संज्ञा की जाती है उस संज्ञाकरण को नामनिक्षेप कहते हैं। जिसमें स्थापना की जाती है उसमें 'वह यह है' इसप्रकार अन्य वस्तु की प्रतिकृति की जो प्रतिष्ठापना की जाती है उस प्रतिनिधिव्यवस्थापन को स्थापनानिक्षेप कहते है। द्रव्य का वर्तमानपर्याय से जो (पर्याय) भिन्न होती है उसे द्रव्यनिक्षेप कहते है। द्रव्य की वर्तमानपर्याय को भावनिक्षेप कहते है। अपने अपने लक्षणों की विभिन्नता से उन चारों की जब अनुभूयमानता होती है तब वे चारो निक्षेप भूतार्थ-सत्यार्थ है; किंतु भेदरहित अपना जो स्वरूप उसरूप एकमात्र जीवस्वभाव की अनुभूयमानता होनेपर वे चारो निक्षेप अभूतार्थ है। इसप्रकार प्रमाण, नय और निक्षेप इनमें भूतार्थ-सत्यार्थ रूप से एक जीव हि प्रकट होता है।

विवेचन— टीका के इस भाग में गाथा में जो विषय प्रतिपादित किया गया है उसके सदृश अन्य विषय का प्रतिपादन किया गया है। जिसप्रकार नवतत्त्वों में अनुस्यूत हुआ जीव शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से पर्यायरहित होनेसे पर्यायरहित ज्ञायकभावरूप एकमात्र स्वभाव के रूप से प्रकट होता रहता है उसीप्रकार जिसके द्रव्य और पर्याय गौण बन गये है अर्थात् अन्योन्यभिन्नरूप से नहीं पाये जाते है; ज्ञानमात्ररूप एकस्वभाववाली होनेसे जो एकवस्तु के स्वरूप से प्रकट होती रहती है ऐसी शुद्ध आत्मा की अनुभव किया जानेकी अवस्थामें अनुभव का विषय बननेवाली आत्मा की उपलब्धि के–प्राप्ति के प्रमाण, नय और निक्षेप साधन होते है। द्रव्य के असाधारण धर्म के साथ अविनाभावसंबंध होनेसे जिनका उस असाधारण धर्म में अन्तर्भाव हो जाता है ऐसे अनन्तधर्मों में से किसी एक विशिष्ट धर्म के द्वारा जो संपूर्ण ग्रहण करता है ऐसा पर्यायरूपज्ञानात्मक जो होता है उसे प्रमाण कहते है। प्रमाण के द्वारा जाने गये द्रव्य के–वस्तु के एकदेश को–एक अंश को जाननेवाली ज्ञानपर्याय को नय कहते हैं। निक्षेप का स्वरूप आगे इसी विवेचन में यथाप्रसंग बताया जायगा। इस निक्षेप के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद हैं। यह निक्षेप भी ज्ञानपर्यायरूप होता है। ये तीनों ज्ञान की पर्यायें होनेसे यद्यपि ज्ञानरूप है, तो भी ये तीनों क्षायोपशमिक

ज्ञानरूप हे। सिर्फ केवलज्ञानरूप सकलप्रत्यक्ष क्षायिकज्ञानरूप होता है। क्षायिकज्ञानरूप होनेपर भी वह पर्यायरूप हि है, फिर भले हि वह साद्यनन्त हो; क्यों कि वह उत्पत्तियुक्त होता है। ये ज्ञानपर्यायरूप प्रमाण, नय और निक्षेप वस्तुतः भूतार्थ नही हैं; क्यों कि पर्यायरूप होनेसे उत्पत्तिव्ययात्मक होनेके कारण वस्तु के समान अनाद्यनन्त नहीं होते। जो द्रव्यपर्यायसहित होती है वहि वस्तु होती है और वहि भूतार्थ होती है। ये तीनों स्वयं पर्यायरूप हे। अतः इन्हें भूतार्थ कैसे कहा जा सकता है? जिसप्रकार नवतत्त्वों में निष्पर्याय, एकरूप से प्रकट रहनेवाली, और शुद्धज्ञायकभावरूप एकमात्रस्वभाववाली आत्मा भूतार्थ होती है उसीप्रकार प्रमाण, नय और निक्षेपों में उक्तप्रकार की वस्तुरूप आत्मा हि भूतार्थ होती है। उन प्रमाण, नय और निक्षेपों में पहला द्रव्य को–वस्तु को जाननेकी क्रिया का साधकतमसाधनभूत और ज्ञानपर्यायस्वरूप जो प्रमाण है उसके परोक्ष और प्रत्यक्ष ये दो भेद हैं। नामकर्म के उदय से संसारी आत्मा के साथ सबद्ध हुई भावेंद्रिय की सहायक द्रव्येंद्रिय उपात्त सहकारिकारण है और वह आत्मा से भिन्न होनेसे पररूप है। जिनका आत्मा के साथ सबध नहीं है ऐसी अर्थ, आलोक आदि अर्थग्रहणकाल में सहायक होनेवाली सामग्री अनुपात्त सहकारिकारण है और आत्मा से भिन्न होनेसे पररूप है। ऐसी उपात्त और अनुपात्त सहकारिसामग्री के द्वारा जो अपनी अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त होता है अर्थात् ज्ञेयार्थ को जानता है वह परोक्षप्रमाण कहा जाता है। इस परोक्षप्रमाण को सांव्यावहारिकप्रत्यक्ष या विकलप्रत्यक्ष भी कहते हे। जिसका उपात्तानुपात्तसामग्री से रहित अत एव केवल आत्मा के साथ नित्य सबंध होता है ऐसा ज्ञेयार्थ को जाननेवाला जो होता हे वह प्रत्यक्षप्रमाण हे। इस प्रत्यक्षप्रमाण को सकलप्रत्यक्ष या विशदप्रत्यक्ष भी कहते हे। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इनमें होनेवाले भेद की या इनरूप पर्याय की अनुभूयमानता होनेपर अर्थात् इनका भिन्नरूप से अनुभव किया जानेपर वे परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों प्रमाण भूतार्थ–यथार्थ हे; किंतु जिसके समस्त भेदों का–पर्यायों का अभाव होता है ऐसे जीव के एकमात्र स्वभाव की अनुभूयमानता होनेपर वे दोनों प्रमाण भूतार्थ नहीं हे; क्यों कि क्षायिक और क्षायोपशमिकज्ञानरूप पर्याय होनेसे शुद्धज्ञायकभावरूप स्वभाव का अनुभव करते समय उनका अनुभव नहीं होता।

प्रमाण के द्वारा जाने गये ज्ञेयार्थ के एकदेश को जो जानता है उसे नय कहते हे। इस नय के द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय ऐसे दो भेद हे। इन दोनों में से जो द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में पर्यायों को गौण बनाकर ध्रौव्यात्मक द्रव्य का मुख्यतया ज्ञाता को अनुभव कराता है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते है और जो द्रव्य को गौण बनाकर ज्ञाता को मुख्यतया पर्याय का अनुभव कराता है उसे पर्यायार्थिकनय कहते हे। द्रव्य और पर्याय का क्रम से अनुभव किया जानेपर वे दोनो भी नय भूतार्थ हे; किंतु द्रव्य और पर्याय इनका जिसे स्पर्श नहीं हे ऐसी शुद्धवस्तुमात्र आत्मा के स्वभाव का अनुभव किया जानेपर वे दोनों नय अभूतार्थ हे; क्यों कि ज्ञानपर्यायों का शुद्ध आत्मा के अनुभूति के समय अनुभव प्राप्त नहीं होता। सारांश यह है कि शुद्धवस्तुमात्र आत्मा पर्यायरूप दोनों नयों की अनुभूति के समय सद्भाव न पाया जानेसे वे भूतार्थ नहीं है, फिर भले हि द्रव्य और पर्याय की क्रमिक अनुभूति होनेसे वे दोनों नय कथंचित् भूतार्थ हो। कहनेका भाव यह हे कि उक्त दोनों नय कथंचित् भूतार्थ हे। इसीप्रकार निश्चय और व्यवहार ये नय भी पर्यायरूप होनेसे कथंचित् भूतार्थ हे और कथंचित् अभूतार्थ हे।

प्रमाण और नयों के द्वारा जाने गये द्रव्यपर्यायात्मक जीव–अजीव आदिकोंका वे असाधारण स्वरूपवाले होनेसे वाच्य बने हुए होनेसे जीवादिशब्दों का प्रयोग किया जानेपर संकर और व्यतिकर इनका अभाव कर जो प्ररूपण किया जाता है उसे निक्षेप कहते हे। चारों निक्षेपों में से प्रथम नामनिक्षेप का स्वरूप नीचे बताया जाता है। जाति, या गुण, या क्रिया या द्रव्य इनमें से जो कोई गुण शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त होता है उसका जिसमें अभाव होता है, उसके सदृश गुण का जिसमें सद्भाव होता है और उससे भिन्न गुणों का जिसमें सद्भाव होता है ऐसी वस्तु का जो संज्ञाकरण उसे नामनिक्षेप कहते हे। जिसकी संज्ञा की गयी होती है ऐसे पदार्थ के प्रतिकृति की अन्य वस्तु में 'वह यह है' इसप्रकार प्रतिष्ठापना करना हि स्थापना निक्षेप है। जो भाविपर्याय के अभिमुख होता है उस पदार्थ को द्रव्यनिक्षेप और पदार्थ की वर्तमानपर्याय को भावनिक्षेप कहते हे। वे चारों निक्षेप अपने अपने लक्षण के भेद से अनुभवगोचर होते हे तब भूतार्थ होते हे; किंतु निष्पर्याय, ज्ञायकभावरूप जो जीव का स्वभाव उसकी अनु-

भूयमानता होनेपर वे अभूतार्थ होते है; क्यों कि ज्ञानपर्यायरूप होनेसे शुद्धात्मानुभूति के समय वे अनुभवगोचर नहीं होते। इसप्रकार प्रमाण, नय और निक्षेपों में एक निष्पर्याय जीव हि प्रकट होता है यह अभिप्राय निर्णीत हो जाता है। कहा भी है कि–

प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीनपदे स्थिताः। केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासताम् ॥

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्कषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

अन्वय– अस्मिन् सर्वङ्कषे धाम्नि अनुभवं उपयाते नयश्रीः न उदयति, प्रमाणं अस्तं एति, अपि च निक्षेपचक्रं क्व याति (इति) न विद्मः, किं अपरं अभिदध्मः द्वैतं एव न भाति।

अर्थ– यह तेजरूप सर्व विभावभावों का नाश करनेवाली आत्मा या आत्मा का ज्ञानरूप तेज अथवा पर्यायों का आश्रयभूत आत्मद्रव्य या उसका एकमात्र ज्ञानस्वभाव जब स्वसंवेदनप्रत्यक्षरूप ज्ञान के द्वारा अनुभूयमान होती है–उसका अनुभव किया जाता है अर्थात् जब निर्विकल्पसमाधि में ज्ञायकस्वभाववाली पर्यायरहित शुद्ध आत्मा का अनुभव प्राप्त होता है तब ज्ञान की नयस्वरूप पर्याय उत्पन्न नहीं होती, ज्ञान की प्रमाणरूप पर्याय आत्मा में या ज्ञान में विलीन हुई होती है अर्थात् उत्पन्न हि नहीं होती। अधिक क्या कहे आत्मा के द्रव्यपर्यायात्मक द्वैत का हि अनुभव नहीं होता।

कहनेका भाव यह है कि निर्विकल्पसमाधि में ज्ञान की नयरूप, प्रमाणरूप और निक्षेपरूप पर्यायें उत्पन्न नहीं होती। उस समाधि में सिर्फ ज्ञायकभाव का हि या शुद्ध आत्मा का हि अनुभव होता है। ऐसी यह आत्मा सभी विभावभावों का नाश कर देती है जिससे संसार-अवस्था का भी नाश हो जाता है।

त. प्र– अस्मिन् सर्वपर्यायविकले एकस्वरूपे ज्ञायकभावैकमात्रस्वभावे वस्तुरूपे सर्वङ्कषे स्वभावविभावात्मकसर्वपर्यायविलयने। सर्वं स्वभावविभावपर्यायं कषति विलाययतीति सर्वङ्कषम्। तस्मिन्। 'सर्वे' इति सर्वशब्दे पूर्वपदे कषेः खश्। धाम्नि तेजसि ज्ञानपर्यायाश्रयभूते शुद्धज्ञानैकमात्रस्वभावे वा अनुभवमुपयाते निर्विकल्पसमाधौ स्वसंवेदनज्ञानविषयतां प्राप्ते सति नयश्रीः नयज्ञानात्मको ज्ञानपर्यायः। प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राहिनयस्वरूपो ज्ञानपर्यायो नोदयति नोत्पद्यते। वस्त्वेकगुणमुखेनाशेषवस्तुज्ञानजनकः प्रमाणरूपो ज्ञानपर्यायोऽस्तमेति सामुद्रतरङ्गवत्समुद्रे शुद्धात्मन्येव विलीयते। नयप्रमाणात्मकौ पर्यायौ पर्यायिणि ज्ञाने एव विलयमृच्छत इति भावः। 'अस्तमेति प्रमाणं' इति यदुक्तं तेन निर्विकल्पसमाध्यारम्भकालं यावत्प्रमाणात्मको ज्ञानपर्याय प्रादुर्भूतः सन्नपि निर्विकल्पसमाधावात्मनि विलीनः भवति तत्र नोत्पद्यते चेति भावः। अपि चान्यच्च निक्षेपचक्रं प्रोक्तलक्षणनामादिनिक्षेपसमूहो ज्ञानपर्यायात्मकः आत्मनि क्व याति विलीयते इति न विद्मः। निक्षेपचतुष्टयस्यापि ज्ञानपर्यायत्वान्निर्विकल्पसमाधौ पर्यायाणां स्वसंवेदनज्ञानागोचरत्वात्पर्यायिणो ज्ञानादुत्पत्त्यसम्भवात्त निक्षेपाः ज्ञानगोचरतां न यान्तीति स्वाश्रयभूते आत्मनि क्व यान्तीति न विद्मः। प्रमाणनयनिर्ज्ञातवस्तुनः एव नामकरणसम्भवात्प्रमाणनयात्मकपर्याययोरुत्पत्त्यभावाज्ज्ञानपर्यायात्मकनामादिनिक्षेपाणामुत्पाद एव न सम्भवति। अतस्तत्र समाधौ ज्ञानपर्यायात्मकनिक्षेपस्योत्पत्त्यसम्भवः एव तस्यापगमनमिति भावः। किमपरमधिकमभिदध्मो ब्रूमः? तत्र समाधौ द्वैतमेव न भात्यनुभवगोचरतां याति। निष्पर्यायस्यैव ज्ञानस्य ज्ञानवतो आत्मनः स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वात्तत्र तत्पर्यायाविर्भावासम्भवात्प्रमाणनयनिक्षेपात्मकज्ञानपर्यायाप्रादुर्भूतेः प्रमाणनयनिक्षेपाणामात्मानुभवनकालेऽसम्भवः इति भावः।

विवेचन– प्रमाण, नय और निक्षेप ये ज्ञेय पदार्थों को जाननेके ज्ञानरूप साधन हैं। यद्यपि ये ज्ञानरूप हैं तो भी ज्ञानपर्यायरूप हैं। द्रव्यपर्यायात्मक आत्मवस्तु का जब निर्विकल्पसमाधि में–शुक्लध्यानैकतान अवस्था में अनुभव होता है तब सिर्फ शुद्ध आत्मा का हि अनुभव होता है–उसकी पर्यायों का अनुभव नहीं होता; क्यों कि अनुभूयमान आत्मा का उस समय पर्यायरूप परिणमन हि नहीं होता। जब आत्मा का ज्ञानपर्यायरूप से परिणमन हि नहीं होता तब उसकी पर्यायों का अनुभव कैसे हो सकता है? जब ध्याता को ध्यानैकतान अवस्था में शुद्ध आत्मा का अनुभव प्राप्त होने लगता है तब कर्मों की अनंतगुण निर्जरा होने लगती है और विभावभाव भी उत्पन्न नहीं होते। इसी अभिप्राय से शुद्ध आत्मानुभूति को सर्वंकष कहा है। कर्मों की निर्जरा होते होते जीव को मोक्ष की–अपवर्ग अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। अतः संसारी आत्मा को शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करते रहना चाहिये।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।। १० ।।

अन्वय– परभावभिन्नं आपूर्णं आद्यन्तविमुक्तं एकं विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं आत्मस्वभावं प्रकाशयन् शुद्धनयः अभ्युदेति।

अर्थ– पररूप द्रव्यकर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए क्रोधादिरूप विभावभाव जिसके नष्ट हो गये हैं या पररूप द्रव्यकर्म जिससे अलग हो गये हैं या उत्कृष्ट परिणाम जिसके प्रादुर्भूत हुआ है, अत्यधिक (ज्ञान–) सामर्थ्य से युक्त, आश्रयभूत आत्मद्रव्य आदि–अन्तरहित होनेसे उसमें अभिन्न होनेके कारण आदि–अन्तरहित, अर्थात् अद्वितीय अर्थात् अनन्तधर्म अन्तर्भूत हो जानेसे एकरूप और असाधारण अथवा द्रव्यपर्यायभेद से रहित, जालके समान आवृत करनेवाले संकल्प–विकल्प जिसके विलीन–नष्ट हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभाव को प्रकट करनेवाली शुद्धनय प्रकट होती है।

त. प्र.– परभावभिन्नम्–परकृताः द्रव्यकर्मोदयनिमित्तेनात्मनि प्रादुर्भूताः भावाः विभावपरिणामाः भिन्नाः विनष्टाः यस्य सः। यद्वा पराणि जीवद्रव्याद्भिन्नानि द्रव्यकर्माणि भिन्नानि पृथग्भूतानि यस्मात् सः। यद्वा परः उत्कृष्टो भावः परिणामो भिन्नः प्रादुर्भूतो यस्मिन् सः। तम्। आ समन्तात्साकल्येन पूर्णः सामर्थ्यसम्पन्न। तम्। आद्यन्तविमुक्तमनादिनिधनम्। उत्पत्तिविनाशरहितमित्यर्थः। आश्रयभूतात्मद्रव्यस्यानाद्यनन्तत्वात्तदभिन्नस्वभावस्याप्याद्यन्तविमुक्तत्वम्। आद्यशब्देनोत्पत्तिर्लक्ष्यतेऽन्तशब्देन च विनाशः। तेनाविनश्वरमित्यर्थः। एकमद्वितीयम्। अन्तर्भूतानन्तधर्मत्वादसाधारणत्वात्पर्यायभेदविकलत्वाच्चैकत्वम्। विलीनसङ्कल्पविकल्पजालम्–विलीन विनष्ट सङ्कल्पविकल्पयोर्जालं समूहः तावेव आनायो वा यस्य। यथानायो मत्स्यान्बध्नाति तथा सङ्कल्पविकल्पौ जीवं बध्नतः। अतो सङ्कल्पविकल्पावात्मानं मत्स्यबन्धं बध्नत इति तयोर्जालत्वम्। सङ्कल्पविकल्पहेतुको बन्ध इति विदितमेव। आत्मस्वभावं ज्ञायकभावमात्रैकस्वभावमात्मन प्रकाशयन् प्रकटीकुर्वन् शुद्धनयोऽभ्युदेति शुद्धपरमार्थरूपपरमात्मग्राही नयः उदयं गच्छति। प्रादुर्भवतीत्यर्थः।

विवेचन– आत्मा का शुद्धस्वभाव कर्मोदयरूप निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले विभावभावों से रहित होता है। यदि वह विभावभावशून्य न हुआ तो अशुद्धस्वभाव और शुद्धस्वभाव इनमें अन्तर–फर्क नहीं रहेगा और उससे जीव के संसारी और मुक्त ये भेद नहीं होंगे। उसीप्रकार वह उसके प्रतिबन्धक कर्मों के सपर्क से रहित होना चाहिये। वह आत्मस्वभाव परमोत्कृष्टावस्थापन्न होना चाहिये; क्यों कि उसकी उक्त अवस्था न हो तो न्यून और सदोष मानना पडेगा। परमोत्कृष्टावस्था के अभाव में उसमें कुछ विभावात्मक अंशो का सद्भाव माननेका प्रसंग

उपस्थित हो जायगा। वह आपूर्ण अर्थात् संपूर्ण सामर्थ्य से युक्त होना चाहिये; क्यों कि उसके बिना आत्मा निखिल ज्ञेय पदार्थों को नहीं जान सकेगी। जब क्षायोपशमिकज्ञान को भी वीर्यान्तिरायक्षयोपशमजन्य सामर्थ्य की आवश्यकता होती है तब क्षायिकज्ञान को उसकी आवश्यकता होनी हि चाहिये। इसप्रकार सामर्थ्य के अभाव से उसके सर्वज्ञत्व का अभाव हो जायगा इतनाहि नहीं, अपि तु शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति भी सदोष और न्यून बन जायगी। आत्मा के स्वभाव का आत्मा हि आश्रय होती है। आश्रय के बिना स्वभाव का अस्तित्व रहना असंभव है। उसीप्रकार स्वभाव के बिना स्वभाववान् का भी अस्तित्व नहीं बन सकता। इससे स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि स्वभाव और स्वभाववान् में तादात्म्यसंबंध है। ऐसी हालत में जब तदात्मभूत द्रव्यरूप आत्मा अनादिनिधन होती है तब उसका स्वभाव भी अनादिनिधन होना चाहिये। यदि आत्मा के स्वभाव को सादिसान्त माना तो आत्मा को भी सादिसान्त मानना होगी, जोकि वस्तुत्व के विरुद्ध पडता है। यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा में अनन्तधर्म होते हैं तो भी उनका ज्ञायकभावरूप के साथ अविनाभाव होनेसे उसी एकमात्र स्वभाव में अन्तर्भूत हो जानेसे, असाधारण होनेसे और पर्यायविकल होनेसे उस आत्मस्वभाव का एकत्व बनता है। इस आत्मस्वभाव की संकल्पविकल्परूप परिणति वह शुद्ध होनेसे नहीं होती। जिसप्रकार जाल--मछलियों को पकडनेका साधन बिछाया जानेपर मछलिया पकडी जाती है उसीप्रकार संकल्पविकल्पों के जाल मे फसा हुआ जीव पकडा जाता है--कर्मबन्धनबद्ध होता है और इसीकारण उसे अनंतससार में परिभ्रमण करना पडता है ऐसे आत्मस्वभाव को प्रकट करनेवाली शुद्धनय प्रकट हो जाती है अर्थात् ऐसे आत्मा के शुद्धस्वभाव को जब प्रकट करती है तब हि वह प्रकट हो जाती है।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

यः पश्यत्यात्मानमबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ-- (**यः**) जो जीव (**अबद्धस्पृष्टं**) कर्मबन्धरहित होनेसे कर्मो के द्वारा अस्पृष्ट, (**अनन्यकं**) सभी पर्यायों मे कभी भी च्युत न होनेवाले एक ज्ञायकभावरूप स्वभाव से युक्त होनेके कारण अन्यरूप न बनी हुई, (**नियतं**) कर्मोदयरूपनिमित्तकारण के तारतम्य के कारण ज्ञानस्वभाव म हीनाधिकता होनेपर भी नित्यव्यवस्थितज्ञानस्वभाववाली, (**अविशेषं**) निष्पर्याय और (**असंयुक्तं**) ज्ञानरूपपरमार्थस्वभाववाली-कर्मजनित भावमोहरूप पर्याय के संयोग से रहित ऐसी (**आत्मानं**) आत्मा को (**पश्यति**) अनुभव करता है (**तं**) उस जीव को (**शुद्धनयं**) शुद्धनय (**विजानीहि**) जान।

आ. ख्या.-- या खलु अबद्धस्पृष्टस्य अनन्यस्य नियतस्य अविशेषस्य असंयुक्तस्य आत्मनः अनुभूतिः स शुद्धनय। सा तु अनुभूतिः आत्मा एव। इति आत्मा एकः एव प्रद्योतते। 'कथं यथोदितस्य आत्मनः अनुभूतिः?' इति चेत्, बद्धस्पृष्टत्वादीनां अभूतार्थत्वात्। तथा हि--यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेण अनुभूयमानतायां सलीलस्पृष्टत्वं भूतार्थं अपि एकान्ततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम्, तथा आत्मनः अनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेण अनुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थं अपि एकान्ततः पुद्गलास्पृश्यं आत्मस्वभावं उपेत्य अनु-

भूयमानतायां अभूतार्थम् । यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेण अनुभूयमानतायां अन्यत्वं भूतार्थं अपि सर्वतः अपि अस्खलन्तं एकं मृत्तिकास्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम्, तथा हि आत्मनः नारकादिपर्यायेण अनुभूयमानतायां अन्यत्वं भूतार्थं अपि सर्वतः अपि अस्खलन्तं एकं आत्मस्वभावं उपेत्य अनुभूयमाननायां अभूतार्थम् । यथा च वारिधेः वृद्धिहानिपर्यायेण अनुभूयमानतायां अनियलत्व भूतार्थं अपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थं, तथा आत्मनः वृद्धिहानिपर्यायेण अनुभूयमानतायां अनियत्वं भूतार्थं अपि नित्यव्यवस्थितं आत्मस्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम् । यथा च काञ्चनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेण अनुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थं अपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषकाञ्चनस्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थं, तथा आत्मनः ज्ञानदर्शनादिपर्यायेण अनूभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थ अपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं आत्मस्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम् । यथा वा अपां सप्तार्चिःप्रत्ययोष्णसमाहितत्वपर्यायेण अनुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थं अपि एकान्ततः शीतं अप्स्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थं, तथा आत्मन कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेण अनुभूयमानतायां संयुक्ततत्वं भूतार्थं अपि एकान्ततः स्वयं बोधबीजस्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम् ।

त. प्र.– याऽनुभूतिः खलु परमार्थतोऽबद्धस्पृष्टस्य कर्मबन्धविकलत्वात्कर्मपुद्गलस्पर्शशून्यस्यानन्यस्यानन्तपर्यायैः परिणतस्याप्यपरित्यक्तस्वीयज्ञायकभावैकमात्रस्वभावत्वादन्यत्वमनापन्नस्य नियतस्य नरनारकादिपर्यायभेदादावारककर्मोदयादितारतम्याज्ज्ञानगुणसंवृतिविवृतितारतम्यात्तद्गुणहानिवृद्ध्योस्सम्भवेऽप्यपरित्यक्तस्वभावत्वात्स्वस्वभावे नियतस्थितिमत्त्वान्नियतस्याविशेषस्य निष्पर्यायस्यासंयुक्तस्य मोहोदयजनितभावमोहात्मकपर्यायैरसञ्जातसंयोगस्यात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः । सात्वनुभूतिरात्मैव । अनुभूतेरात्मपरिणामत्वादात्मनोऽभिन्नत्वादात्मैव । इत्यमुना प्रकारेणात्मैक एव व्यावृत्तपरभावत्वात्स्वस्वभावान्तर्भूतानन्तस्वधर्मत्वादभिन्नपर्यायत्वादसाधारणस्वभावत्वादेकत्वस्यानतिक्रमाच्च । प्रद्योतते प्रकटतामटति । कथं कस्मात्कारणाद्यथोदितस्याबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिरनुभवः ? इति चेत्, बद्धस्पृष्टत्वादीनामशुद्धावस्थजीवपरिणामानां शुद्धात्मस्वरूपानुभवनकालेऽननुभूयमानत्वादयावद्द्रव्यभावित्वाच्चाभूतार्थत्वात् । तथा हि तदेवोपपादयति । यथा खलु बिसिनीपत्रस्य कमलिनीदलस्य सलिलनिमग्नस्य जलान्तःप्रविष्टस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेण जलपरामृष्टत्वपर्यायस्वरूपेणानुभूयमानतायामनुभवनकर्मणि सति भूतार्थं यथार्थमप्येकान्ततः सर्वथा एकसलिलास्पृश्यस्वभावमात्रत्वेन । सकलपर्यायविकलत्वेनेत्यर्थः । सलिलास्पृश्य जलस्पर्शानर्हं बिसिनीपत्रस्वभावं कमलिनीदलस्वभावमुपेत्योररीकृत्यानुभूयमानतायामनुभवनकर्मण्यभूतार्थमयथार्थम् । तथा तेन प्रकारेणात्मनोऽनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानादिबद्धकर्मस्पृष्टत्वस्वरूपेणानुभूयमानतायामनुभवनकर्मणि सति बद्धकर्मणात्मनः स्पृष्टत्व भूतार्थं यथार्थमप्येकान्ततो ज्ञायकभावैकमात्रस्वभावत्वेनानुभूयमानतायामनुभवनकर्मणि तदनुभवाभावाद्बद्धस्पृष्टत्वमात्मनोऽभूतार्थमयथार्थम् । यथा येन प्रकारेण च मृत्तिकायाः करक-

करीरकर्करीकपालादिपर्यायेण करकादिकार्यद्रव्यपर्यायस्वरूपेण। करकः कमण्डलुश्च करीरो जलपात्रविशेषश्च करककरीरौ। कर्करी सरन्ध्रतलः पात्रविशेषश्च कपालो घटश्च कर्करीकपलौ। करककरीरौ च कर्करीकपालौ च करककरीरकर्करीकपालाः। ते एव पर्याया मृण्मयपरिणामास्तत्स्वरूपेणेत्यर्थः। अनुभूयमानतायामनुभवनक्रियाकाले करकादिमृत्पर्यायाणामेवानुभूयमानत्वादन्यत्वं मृत्तिकास्वरूपान्मृत्तिकायाः कार्यगतायाः कथञ्चिद्भिन्नत्वं भूतार्थं यथार्थमपि सर्वतः साकल्येनाप्यस्खलन्तमप्रच्यवमानमेकमन्तर्भूतानेकधर्मं मृत्तिकास्वभावमुपेत्योरीकृत्यानुभूयमानतायामनुभवनक्रियायां मृत्तिकास्वभावमात्रस्यानुभवात् करकादिमृत्तिकापर्यायानुभवाभावादभूतार्थमयथार्थम्। तथैव तेनैव प्रकारेणात्मनो नारकादिपर्यायेण तत्पर्यायस्वरूपेणानुभूयमानतायामनुभवनक्रियाकाले नारकादिपर्यायस्वरूपेणात्मनोऽनुभूयमानत्वात् स्वतोऽन्यत्वं कथञ्चिद् भिन्नत्वं भूतार्थं यथार्थमपि सर्वतः साकल्येनाप्यस्खलन्तमप्रच्यवमानमेकं ज्ञायकभावमात्ररूपमात्मस्वभावमुपेत्योरीकृत्यानुभूयमानतायामनुभवनक्रियाकाले ज्ञायकभावमात्रैकात्मस्वभावमात्रस्यानुभवान्नारकादिपर्यायस्वरूपेणात्मनोऽनुभवाभावात्स्वतोऽन्यत्वं कथञ्चिद्भिन्नत्वमभूतार्थम्। यथा येन प्रकारेण च वारिधेः पारावारस्य वृद्धिहानिपर्यायेणोपचयापचयपर्यायस्वरूपेणानुभूयमानतायामनुभवनक्रियासमये वारिधेः प्रशान्तिस्वरूपस्यानुभवाभावाद्वृद्धिहानिरूपवारिधिपर्यायमात्रस्यानुभवाच्चानियतत्वं चलितप्रशान्तिस्वरूपत्वम्। चलत्वमित्यर्थः। भूतार्थं यथार्थमपि नित्यव्यवस्थितं नित्यप्रशमात्मकम्। नित्यं व्यवस्थितं व्यवस्थानं प्रशमः यस्य सः। तम्। यद्वा नित्यं व्यवस्थितः स्थिरो नित्यव्यवस्थितः। तम्। वारिधिस्वभावं पारावारस्वरूपमुपेत्योररीकृत्यानुभूयमानतायामनुभवनक्रियाकाले वृद्धिहानिपर्यायस्याननुभूयमानत्वात्प्रशमात्मकवारिधेरनुभवाच्च तदनियतत्वमभूतार्थमयथार्थम्। तथा तेन प्रकारेणात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेण यथागत्युपचितापचितज्ञानपर्यायस्वरूपेणानुभूयमानतायामनुभवनक्रियाकाले शुद्धात्मस्वरूपमात्रस्यानुभूतेस्तत्पर्यायानुभूतिसद्भावाच्चानियतत्वं ज्ञानवृद्धिहानिमत्त्वं भूतार्थं यथार्थमपि नित्यव्यवस्थितं नित्यस्थितिमन्तं नित्यसम्बन्धमात्मस्वभावं ज्ञायकभावमात्रैकस्वभावमात्मन उपेत्यादाय। तत्प्राधान्येनेत्यर्थः। अनुभूयमानतायामनुभवनक्रियाकरणकाले यथागत्युपचितापचितज्ञानपर्यायस्याननुभूयमानत्वाच्छुद्धात्मस्वभावमात्रस्यानुभवाद्धानिवृद्धिस्वरूपमनियतत्वमभूतार्थमयथार्थम्। यथा येन प्रकारेण च काञ्चनस्य सुवर्णस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेण-स्निग्धत्वादिरूपाः पर्याया भेदा भवन्ति तत्स्वरूपेणानुभूयमानतायामनुभवनक्रियाकाले स्निग्धत्वादेरनुभूयमानत्वात्काञ्चनस्य विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषकाञ्चनस्वभावं विनष्टसमस्तस्निग्धत्वादिविशेषसुवर्णस्वरूपमुपेत्यादायानुभूयमानतायामनुभवनक्रियाकाले स्निग्धत्वादिसुवर्णपर्यायाणामननुभूयमानत्वात्सौवर्णशुद्धस्वभावमात्रस्य चानुभूयमानत्वादभूतार्थमयथार्थं विशेषत्वं। तथा तेन प्रकारेणात्मनो ज्ञायकभावमात्रस्वभावस्य ज्ञानदर्शनादिपर्यायेण ज्ञानदर्शनादिपर्यायस्वस्वरूपेणानुभूयमानतायामनुभवनक्रियावसरे ज्ञानदर्शनादिपर्यायाणामेवानुभूयमानत्वात्तज्ज्ञानदर्शनादिपर्यायात्मकं विशेषत्वं भूतार्थं यथार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं विनष्टसकलज्ञानदर्शनादिविशेषमात्मस्वभावमुपेत्योपादायानुभूयमानतायामनुभवनक्रियावसरे ज्ञानदर्शनादिपर्यायाणामननुभूयमानत्वादात्मनो ज्ञानपर्यायादिरूपविशेषत्वमभूतार्थमयथार्थम्। यथा येन प्रकारेण वाऽपां जलस्य सप्तार्चिःप्रत्ययोष्णसमाहितत्वपर्यायेणाग्निनिमित्तकौष्ण्ययुक्तत्वपर्यायस्वरूपेण। सप्तार्चिरेवाग्निरेव प्रत्ययो निमित्तकारणं यस्य तत्। तदुष्णमौष्ण्यं समाहितमुपनिहितं यत्र। तस्य। भावस्तत्त्वम्। तदेव पर्यायस्तेन तत्स्वरूपेण अनुभूयमानतायामनुभवनकर्म-

ण्यौष्ण्यपर्यायस्यैवानुभूयमानत्वादपां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः शीतं एकशीतस्वभावमात्रमप्स्वभावं जलस्वभावमुपेत्योपादायानुभूयमानतायामनुभवनक्रियासमये एकशीतमात्रस्वभावस्यानुभूयमानत्वादग्नि-निमित्तकौष्ण्ययुक्तजलपर्यायस्य चाननुभूयमानत्वादभूतार्थं संयुक्तत्वम् । तथा तेन प्रकारेणात्मनः कर्म-प्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेण द्रव्यमोहकर्मोदयात्मकनिमित्तप्रादुर्भूतभावमोहयुक्तत्वपर्यायस्वरूपेणानुभूय-मानतायामनुभवनक्रियाकाले शुद्धात्मस्वभावस्यानुभूयमानत्वान्मिथ्यादर्शनादिरूपविभावभावानुभवाभा-वाच्च संयुक्तत्वमात्मनो द्रव्यभावकर्मसंयुक्तत्वं भूतार्थं यथार्थमप्येकान्ततो ज्ञायकभावैकमात्रं स्वयं बोधबीजस्वभावं बोधात्मकपरमार्थभूतस्वभावं ज्ञेयार्थज्ञानप्रभवस्वभावं वोपेत्यादायानुभूयमानतायामनु-भवनकर्मकाले शुद्धात्मस्वभावस्यानुभूयमानत्वाद्द्रव्यभावकर्मसंयुक्तस्वस्याननुभूयमानत्वाच्चात्मनः संयुक्त-त्वमभूतार्थम् ।।

टीकार्थ– (शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से) जो आत्मा बद्धकर्म के द्वारा स्पृष्ट, अनन्तपर्यायों के स्वरूप की प्रधानता की दृष्टि से अन्य, ज्ञानगुण की तरतमता से अनियत (परिणममानस्वभाववाली), सविशेष–सपर्याय और द्रव्यभावकर्मसंयुक्त नहीं होती ऐसी आत्मा की जो अनुभूति होती है वह शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा हि है (क्यों कि अनुभवनक्रियारूप आत्मपरिणाम और आत्मा इनमें परिणामपरिणामिभाव अर्थात् तादात्म्य होनेसे अभेद होता है) इसप्रकार एक आत्मा हि प्रकट होती है । 'अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा की अनुभूति किस कारण से होती है ?' ऐसा प्रश्न हो तो उसका समाधान यह है कि आत्मा के बद्धस्पृष्टत्वादि-भाव (परनिमित्तजन्य होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से भूतार्थ न होनेसे) अभूतार्थ होनेसे अर्थात् वास्तव न होनेसे अबद्धस्पृष्टत्वादिविशेषणविशिष्ट आत्मा की अनुभूति होती है । अब पूर्वोक्त पांच विशेषणों का खुलासा किया जाता है–जिसप्रकार जल में डूबे हुए कमलिनी के पत्र की–पत्ते की जल का स्पर्श हुआ होनेसे जो पर्याय होती है उस पर्याय के रूप से उसका अनुभव करते समय पत्तेकी उस अवस्था का अनुभव हो जानेसे उसकी जलस्पृष्ट अवस्था भूतार्थ–यथार्थ होनेपर भी जल के द्वारा अत्यन्त अस्पृश्य ऐसे कमलिनीपत्र के स्वभाव को स्वीकार कर जब उसका अनुभव किया जाता है तब उस काल में सलिलस्पृष्टत्वपर्याय का अनुभव न होनेसे उस पत्ते का जलस्पृष्टत्व अभूतार्थ होता है–भूतार्थ नहीं होता उसीप्रकार अनादिकाल से कर्मबद्ध आत्मा की बद्धकर्म के स्पर्श से युक्त जो अवस्था होती है–पर्याय होती है उस पर्याय के रूप से जब अनुभव किया जाता है तब उस काल में उक्त आत्मपर्याय का अनुभव हो जानेसे आत्मा का बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ–यथार्थ होनेपर भी पुद्गल के द्वारा अत्यन्त अस्पृश्य ऐसा जो आत्मस्वभाव उसको स्वीकारकर जब उस विशिष्ट आत्मस्वभाव का अनुभव किया जाता है तब उस काल में आत्मा की बद्धस्पृष्टत्वरूप–बद्धकर्म के स्पर्श से युक्त पर्याय का अनुभव न होनेसे आत्मा का वह बद्धस्पृष्टत्व अभूतार्थ है–भूतार्थ-यथार्थ नहीं है । जिसप्रकार मृत्तिका से–मिट्टी से बनाये गये कमण्डलु, जलपात्रविशेष, जिसके तलमें चालनी जैसे छिद्र होते हैं ऐसा विशिष्ट प्रकार का मृत्पात्र, घट आदिरूप से मृत्तिका के पर्यायों की अनुभवनक्रिया के काल में उनका अनुभव हो जानेसे पर्यायगत मृत्तिका का उपादानभूत मृत्तिका से जो भिन्नत्व होता है वह कथंचित् भूतार्थ-यथार्थ होनेपर भी सभी प्रकारों से–एकान्तरूप से अर्थात् सभी अवस्थाओं में और सभी कालों में जिसका स्खलन होता नहीं ऐसे एकमात्र मृत्तिकास्वभाव को लेकर अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में करकादिपर्यायरूप से परिणत होनेपर भी मृत्तिका का अपने स्वरूप से अन्यत्व–भिन्नत्व अभूतार्थ–अयथार्थ होता है–भूतार्थ नहीं होता उसी-प्रकार हि नारकादिपर्यायरूप से परिणत हुई आत्मा का उस पर्यायरूप से अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में नारकादिपर्यायरूप से अनुभव हो जानेसे आत्मा का उसके स्वरूप से अन्यत्व–भिन्नत्व भूतार्थ होनेपर भी सभी अवस्थाओं में और सभी कालों में जिसका स्खलन–प्रच्यवन नहीं होता ऐसे एकमात्र आत्मा के ज्ञायकभावरूप स्वभाव को लेकर अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में नारकादि पर्यायरूप से आत्मा का अनुभव हो जानेसे उसका अपने स्वभाव से नारकादिपर्यायरूप से अनुभव दिखाई देनेवाला अन्यत्व–भिन्नत्व अभूतार्थ–अयथार्थ है–भूतार्थ नहीं

है। जिसप्रकार सागर की वृद्धिहानिपर्यायरूप से अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में वृद्धिहानिपर्याय का अनुभव हो जानेसे वृद्धिहानिपर्यायों के कारण दिखाई देनेवाला अनियतत्व भूतार्थ–यथार्थ होनेपर भी नित्यप्रशान्तिरूप सागर के स्वभाव के अनुभवनकाल में वृद्धिहानि का अनुभव न होनेसे उसका अनियतत्व–अपने स्वभाव का अस्थिरत्व भूतार्थ-यथार्थ नहीं होता उसीप्रकार आत्मा के ज्ञानगुण की वृद्धिपर्यायरूप से और हानिपर्यायरूप से अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में आत्मा की उन पर्यायों का अनुभव हो जानेसे आत्माका अनियतत्व–अपने स्वभाव में एकरूप से स्थितिमत्त्व का अभाव भूतार्थ होनेपर भी आत्मा के साथ नित्यसम्बद्ध जो आत्मा का ज्ञायकभावरूप स्वभाव उसको लेकर उसका अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में ज्ञानगुण की वृद्धिहानिरूपपर्याय का अनुभव न होनेसे आत्मा का वृद्धिहानिपर्यायनिमित्तक अनियतत्व भूतार्थ–यथार्थ नहीं है। जिसप्रकार सुवर्ण के स्निग्धत्व, पीतत्व, गुरुत्व आदि-रूप पर्याय के रूप से सुवर्ण का अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में सुवर्ण का उस पर्यायरूप से अनुभव हो जानेसे उसका विशेषत्व भूतार्थ होनेपर भी जिसके समस्त विशेष विलीन हो गये होते हैं ऐसे सुवर्णस्वभाव को लेकर जब सुवर्ण का अनुभव किया जानेकी क्रिया की जाती है उस काल में स्निग्धत्वादिरूप पर्यायों का अनुभव न होनेसे सुवर्ण का स्निग्धत्वादिरूपपर्यायरूपविशेषत्व भूतार्थ–यथार्थ नहीं होता उसीप्रकार आत्मा का ज्ञानगुण की ज्ञानदर्शनादि-रूपपर्यायरूप से अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में आत्मा का ज्ञानदर्शनादिपर्यायरूप से अनुभव हो जानेसे उसका विशेषत्व भूतार्थ होनेपर भी जिसके ज्ञानदर्शनादिरूप समस्त पर्याय विलीन हो गयी होती हैं ऐसे आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में ज्ञानदर्शनादिरूप पर्यायों का अनुभव न होनेसे आत्मा का ज्ञान-दर्शनादिपर्यायरूप विशेषत्व भूतार्थ–यथार्थ नहीं है। अथवा जिसप्रकार अग्नि के निमित्त से उत्पन्न होनेवाली उष्णता से जो युक्त होती है ऐसी पर्याय के रूप से जल की अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में जल का उष्णपर्यायरूप से अनुभव हो जानेसे उसका संयुक्तत्व भूतार्थ–यथार्थ होनेपर भी जल के एकान्तरूप से शीतस्वभाव को लेकर अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में जल का उष्णपर्यायरूप से अनुभव न होनेसे जल का संयुक्तत्व भूतार्थ–यथार्थ नहीं होता उसीप्रकार आत्मा का कर्मनिमित्तक मिथ्यादर्शनादिरूप अज्ञान से युक्त होनारूप पर्याय के स्वरूप से अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में मिथ्यादर्शनादिरूप पर्याय का अनुभव प्राप्त हो जानेसे आत्मा का संयुक्तत्व भूतार्थ-यथार्थ होनेपर भी एकान्तरूप से स्वयं तेयार्थज्ञानरूप पर्याय का उपादानकारणभूत या बोधरूप परमार्थस्वभाव को लेकर अनुभव किया जानेकी क्रिया के काल में मिथ्यादर्शनादिपर्यायरूप संयुक्तत्व भूतार्थ–यथार्थ नहीं है।

विवेचन— संसार अवस्था में युक्त यह आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेसे बद्ध कर्मपुद्गलों से स्पृष्ट होती है, नरनारकादिपर्यायरूप से परिणत होनेसे विभावपर्यायात्मक होनेसे अपनी शुद्धावस्था से भिन्न होनेके कारण अन्य होती है, संसार अवस्था में नारकादिरूप भिन्न भिन्न पर्यायों में क्षायोपशमिक ज्ञान की वृद्धि और हानि होनेसे ज्ञान-गुण की अनियतता होनेके कारण अनियत होती है, उसके ज्ञानगुण की दर्शनादिरूप विशिष्ट परिणतियां होनेके कारण वह सविशेष होती है और मोहोदयजनित मिथ्यादर्शनादिरूप विभावपरिणामों के रूप से परिणत होनेसे और वे विभावपरिणाम शुद्ध आत्मा से भिन्न होनेके कारण–तादात्म्यसंबंध न होनेके कारण शुद्धनय की दृष्टि से जो शुद्ध आत्मा होती है उसके साथ इन विभावभावों का संयोगमात्र होनेसे संयुक्त–ससंयोग होती है। ज्ञानदर्शनादि की स्वाभाविकता को और वैभाविकता को गौण बनाकर और उनके ज्ञानपर्यायत्व को प्रधान बनाकर उन्हें विशेष कहा है अर्थात् उनका ज्ञानगुण के साथ कथंचित् अभेद बताया है। मिथ्यादर्शनादिरूप विभावपरिणाम ज्ञान के या आत्मा के पर्याय होनेपर भी उनके ज्ञानपर्यायत्व को गौण बनाकर और विभावभावत्व को प्रधान बनाकर उनका आत्मा से या ज्ञानगुण से भेद बताकर उनका आत्मा के साथ संयोग होता है यह स्पष्टरूप से ध्वनित किया गया है। जिनमें तादात्म्य होता है उनका हि वास्तव बंध होता है। दो भिन्नस्वभाववाले पदार्थों का वास्तव बन्ध नहीं होता। कर्मपुद्गल और आत्मा ये दोनों पदार्थ भिन्नस्वभाववाले हैं। अतः उनका वास्तव बन्ध होता हि नहीं। शास्त्रकारों ने उनका जो बंध बताया है वह उपचरित है–व्यवहारनयाश्रित है। अतः इन दोनों पदार्थों के वास्तव बंध का अभाव होनेसे स्पर्श का, आत्मा के अन्यत्व का, अनियतत्व का, सविशेषत्व का और संयुक्तत्व का शुद्धनय की दृष्टि से

अभाव हि होता है । जब आत्मा के वास्तव बंध का अभाव है तब उनके नरनारकादिपर्यायों का भी अभाव है और नरनारकादि पर्यायों के अभाव से ज्ञानगुण की नरनारकादिपर्यायनिमित्तक वृद्धिहानि का भी अभाव सिद्ध हो जाता है । उसी वास्तव बंध के कारण क्षायोपशमिक ज्ञानदर्शनादिरूप स्वाभाविक और मोह के निमित्त से होनेवाली विभाव-रूप परिणतियों का अभाव होता है और मिथ्यादर्शनादिरूप अज्ञानात्मक परिणतियों का भी अभाव होता है । इससे शुद्ध आत्मा का बद्धस्पृष्टत्व, अन्यत्व, अनियतत्व, सविशेषत्व, और संयुक्तत्व इनसे कोई संबंध नहीं है; शुद्ध आत्मा की इसप्रकार की पर्यायें हो हि नहीं सकती । ये सब अशुद्ध आत्मा के निमित्तजन्य भाव हैं । इन भावों का भी अशुद्ध आत्मा को अनुभव होनेसे वे कथंचित् भूतार्थ होनेसे इनका नाश कर उक्तप्रकार की शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कर लेना मुमुक्षु जीव का कर्तव्य है ।

कर्मपुद्गलों के स्पर्श से युक्त होनेका यदि आत्मा का स्वभाव हि होता, तो किसी भी हालत में परद्रव्य के स्पर्श से युक्त होनेका आत्मा का स्वभाव कभी भी छूट नहीं पाता । अग्नि की स्वभावभूत उष्णता अपने आश्रयभूत स्वभाववान् अग्नि को क्या कभी छोड देती है ? यदि परद्रव्य से स्पृष्ट होना आत्मा का स्वभाव होता, तो आत्मा का परद्रव्यों से पृथक्त्व कभी भी नहीं हो सकता । परद्रव्यों से आत्मा का पृथग्भाव तो होता हि है । यदि यह पृथग्भाव न होता तो बन्धमोक्षव्यवस्था टूट जाती । तीर्थंकरों जैसे अनेक जीवों ने बन्ध से मुक्ति–स्वतंत्रता पायी है । अतः परद्रव्यस्पृष्टत्व कभी भी आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता । यदि परद्रव्यस्पृष्टत्व आत्मा का स्वभाव होता तो सिद्धावस्था में भी आत्मा का कर्मपुद्गलरूप परद्रव्यों से पृथग्भाव न होता । यहां परद्रव्य से कर्मपुद्गलों का ग्रहण हि अभीष्ट है, कर्मवर्गणायोग्य अबद्ध पुद्गलों का नहीं ।

जिस अवस्था में आत्मा बद्धस्पृष्ट होती है उस अवस्था का-पर्याय का सर्वथा अभाव भी नहीं माना जा सकता । यदि इस अवस्था का सर्वथा अभाव मान लिया तो हरएक आत्मा सदाशिव और सर्वज्ञ माननी होगी । यदि हरएक आत्मा सर्वज्ञ मानी गयी तो उसे आत्मज्ञानप्राप्ति का उपदेश सर्वज्ञादि कों के द्वारा क्यों दिया जाता ? यदि आत्मा सर्वज्ञ होते हुए भी अपनी आपको नहीं जानती–अपने स्वरूप का अनुभव नहीं करती ऐसा माना तो आत्मा सर्वज्ञ भी नहीं मानी जा सकती । अतः अशुद्ध आत्मा की बद्धस्पृष्टत्व अवस्था अवश्य स्वीकार करनी होगी ।

अबद्धस्पृष्टत्व— इस विशेषण का अभिप्राय नीचे दिये हुए दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया जाता है–कम-लिनी का पत्र जब जल में डूबा हुआ होता है तब जलनिचित होनेसे जल से स्पृष्ट हुआ होता है और उस पत्र की वह जलस्पृष्ट अवस्था अनुभवगोचर होनेसे कथंचित् यथार्थ भी है । जल के बाहर निकालनेके बाद अनन्तर-क्षण में देखा जानेपर उसके साथ जल के बूंद का भी स्पर्श न होनेसे ऐसा दिखाई देता है कि मानो जल का स्पर्श कभी भी न हुआ हो । इससे कमलिनीपत्र का जलास्पृश्यत्वरूप स्वभाव स्पष्ट हो जाता है । यह स्वभाव भी अनुभवगोचर होनेसे भूतार्थ–यथार्थ है । जिस समय उस पत्र के जलास्पृश्यत्वस्वभाव का अनुभव-ज्ञान होता है उस समय पत्र की जलार्द्र अवस्था का अनुभव-ज्ञान नहीं होता । अतः जल से आर्द्र होनेका उसका स्वभाव नही है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है । जो जिसका स्वभाव होता है वह उसको कभी भी नहीं छोडता, फिर उसकी अनेक अवस्थाओ के रूप से परिणतियां भले हि होती रहे । अत पत्र का जलास्पृश्यत्वस्वभाव जलस्पृष्ट अवस्था में भी जैसा का तैसा बना रहता है । यदि ऐसा न होता तो जल के बाहर निकालते हि जो जलास्पृष्ट अवस्था होती है वह न बन पाती- उसके साथ जल का स्पर्श भी बना रहता । अत उस पत्र का जलास्पृश्यत्वस्वभाव जल-निमग्न और जलानिमग्न अवस्थाओ में यथार्थरूप से रहता है, क्यों कि पत्र के जलास्पृश्यत्व स्वभाव का उस पत्र के साथ तादात्म्यसबध होता है । यह दोनों अवस्थाएं स्वभाव और विभाव की मुख्यता से यथार्थ हैं । स्वभाव-की मुख्यता होनेपर जलस्पृष्टत्व यथार्थ नहीं है और विभाव की मुख्यता होनेपर वह यथार्थ है । स्वभावात्मक अवस्था और विभावात्मक अवस्था एक हि द्रव्य की दो पर्यायें है और एक हि द्रव्य की दोनों पर्यायों में द्रव्य अपने स्वरूप से विद्यमान रहता है । विभावावस्था मे द्रव्य अपने स्वरूप से विद्यमान नहीं रहता ऐसा माना तो विभाव-परिणति नहीं हो सकेगी; क्यों कि परिणामी द्रव्य के अभाव में परिणाम का होना असंभव है । यह संसारी

आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध है। यदि यह आत्मा कर्मबद्ध न होती तो वह सदाशिव बन जाती और उसकी संसारावस्था कदापि अस्तिरूप न बन पाती। जीव की संसारावस्था अनुभवगोचर है। अतः उसका कर्मबद्धत्व सिद्ध हो जाता है। कर्मबद्ध होनेसे उसका बद्धकर्मस्पृष्टत्व निर्बाधरूप से स्पष्ट हो जाता है। यह उसका बद्धकर्मस्पृष्टत्व अनुभवगोचर होनेसे जलनिमग्न कमलिनीदल के जलस्पृष्टत्व के समान भूतार्थ-यथार्थ है; किंतु संपूर्ण बद्धकर्मों का आत्मा से पृथग्भाव होनेपर आत्मा का बद्धकर्मस्पृष्टत्व का अभाव होता है। यह शुद्ध बनी हुई आत्मा अपने स्वरूप का अनुभव करती रहती है। उस अनुभवनक्रिया के काल में आत्मा को अपनी बद्धस्पृष्ट अवस्था का अनुभव प्राप्त नहीं होता। अतः बद्धकर्मस्पृष्टत्व आत्मा का स्वभावभूत भाव नहीं है। यदि वह आत्मा का स्वभावभूतभाव होता तो वह बद्धकर्मों से कदापि मुक्त न होती। इससे यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि यह बद्धस्पृष्टत्व शुद्ध अवस्था में अनुभवगोचर न होनेसे, आत्मा का स्वभावभूत भाव न होनेसे और कादाचित्क होनेसे जल से बाहर निकले हुए जलस्पर्शरहित कमलिनीदल के जलस्पृष्टत्व के समान भूतार्थ नहीं है–अभूतार्थ है। यद्यपि यह बद्धस्पृष्टत्व अभूतार्थ है तो भी वह सर्वथा अभूतार्थ नहीं है-कथंचित् अभूतार्थ है; क्यों कि अनुभूयमान संसार–अवस्था में वह कथंचित् भूतार्थ भी है। यदि उसे सर्वथा अभूतार्थ माना तो वेदान्तियों के समान जीव की संसार अवस्था को सर्वथा मिथ्या मानने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में आत्मा की बंधमोक्षव्यवस्था टूट जायेगी। आत्मा का बंध और मोक्ष व्यवहारनयाश्रित है इसमें सन्देह नहीं; क्यों कि आत्मा के साथ कर्म का बन्ध शास्त्रों में बताया गया है वह वास्तव बन्ध न होकर उपचरित बंध है। कर्मों के साथ आत्मा का बंध एकीभावरूप न होनेसे यथार्थ न होनेपर भी और वह संयोगमात्ररूप होनेपर भी आत्मा की शुद्धस्वरूप की प्राप्ति में प्रतिबन्धक होता है। यदि उसका प्रतिबन्धकत्व भी सर्वथा अभूतार्थ है ऐसा माना तो आत्मा की संसारावस्था का दूसरा कोई कारण अवश्य मौजूद होना हि चाहिये। यदि आत्मा के अज्ञान को हि ससारावस्था का कारण माना और मुक्ति के होनेमें भी प्रतिबन्धक कारण माना तो यह अज्ञान आत्मा का स्वाभाविकभाव है या वैभाविकभाव है ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। यदि अज्ञान को स्वाभाविकभाव माना तो जबतक आत्मद्रव्य का अस्तित्व रहेगा तबतक अज्ञान उसकी साथ नही छोडेगा। वह आत्मा के साथ सर्वथा अभिन्नता को प्राप्त होनेसे वह आत्मा की मुक्ति का सदा और सर्वथा प्रतिबन्ध करता रहेगा जिससे आत्मा की सर्वदा संसारावस्था हि बनी रहेगी। आत्मद्रव्य अनादिनिधन होनेसे उसका स्वाभाविकभावरूप अज्ञान भी अनादिनिधन बन जायगा; क्यों कि स्वभाव और स्वभाववान् में तादात्म्य होता है। यह आत्मा जब शुद्धज्ञानात्मक परिणति के रूप से परिणत होती है तब अज्ञान के नाश की अर्थात् अभाव की सिद्धि हो जाती है और जब उसके अभाव की सिद्धि हो जाती है तब वह आत्मा का स्वाभाविकभाव नहीं हो सकता। उसको वैभाविकभावरूप माना जाय तो उसे नैमित्तिकभाव मानना होगा, फिर भले हि वह आत्मा का परिणाम हो। उसे नैमित्तिकभाव माननेपर मोहनीयकर्म की उदयरूप परिणति को उसका निमित्तकारण मानना होगा। ऐसा मानने से अन्धसर्पबिलप्रवेशन्याय से आत्मा के बद्धस्पृष्टत्व को कथंचित् भूतार्थ मानना हि होगा। मुक्ति के प्रतिबन्ध का साधकतम साधन अज्ञान हि है इसमें सन्देह नहीं; किंतु अज्ञान वैभाविकभाव होनेसे और बद्धकर्म उसका निमित्तकारण होनेसे बद्धकर्म को भी परपरा से मुक्ति का प्रतिबन्धक कारण मानना होगा; क्यों कि उसके विना आत्मा की अज्ञानरूप परिणति हो हि नहीं सकती। अज्ञान को नैमित्तिकभाव न माना तो उसे स्वाभाविक भाव मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। अतः बद्धस्पृष्टत्व को कथंचित् भूतार्थ मानना हि होगा और आचार्यप्रवर भगवान् अमृतचंद्रसूरी ने उसे वैसा माना भी है। इससे शुद्ध आत्मा का अबद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ है यह निरारेक सिद्ध हो जाता है। उसीतरह बद्धस्पृष्टत्व आत्मा की विभावावस्था मे भूतार्थ है और शुद्धावस्था में या निश्चय से अभूतार्थ है।

अनन्यत्व– मिट्टी से करक (कमण्डलु), करीर (जलपात्रविशेष), कर्करी (सच्छिद्रतल मृत्तिकापात्र), (घट) आदि कार्य बनते हैं। इन सभी कार्यों में उपादानकारणभूत मृत्तिका अपने स्वरूप से अन्वित होती है। मृत्तिका से मृत्तिका की पर्यायें कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न, कथंचित् सदृश और कथंचित् विसदृश, कथंचित्

मृत्तिकास्वभावयुक्त और कथंचित् मृत्तिकास्वरूपरहित होती है। मृत्तिका अपने कार्य में मृत्तिका जाति से युक्त होनेसे कार्यरूप से परिणत होनेपर भी अपनी जाति को छोडने से कार्यगत मृत्तिका से उपादानकारणभूत मृत्तिका अन्य नहीं होती। अपने कार्य में अपनी जाति को लेकर अन्वित होनेपर भी चूर्णरूप से अन्वित नहीं होती। अतः कार्यगत स्कन्धरूप से परिणत हुई मृत्तिका से उपादानकारणभूत मृत्तिका कथंचित् भिन्न-अन्य होती है। जाति की दृष्टि से उपादानभूत मृत्तिका और कार्यगत मृत्तिका इनमें सादृश्य होता है और चूर्ण की दृष्टि से वैसदृश्य होता है। अनन्यत्व सादृश्यनिबन्धन और अन्यत्व वैसदृश्यनिमित्तक होता है। जब मृत्तिका के परिणामभूत कमण्डलु आदि का ज्ञान होता है उससमय कार्यगत मृत्तिका का भी ज्ञान होता है। जिस कार्यगत मृत्तिका का ज्ञान होता है वह मृत्तिका उपादानभूत मृत्तिका से भिन्न होती है। अतः कार्यगत मृत्तिका का उपादानभूत मृत्तिका से जो अन्यत्व-भिन्नत्व है वह यथार्थ है। किंतु कभी भी और किसी भी प्रकार से च्युत न होनेवाले एकमात्र स्वभाव से कार्यगत मृत्तिका का उपादानभूत मृत्तिका से अन्यत्व अभूतार्थ है-यथार्थ नहीं है। यह संसारावस्थ आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध है। इस कर्मबद्धता से आत्मा नरनारकादिरूप विभावपरिणामों के रूप से परिणत होती आयी है। जितने भी जीव के विभावपरिणाम होते है वे सब कर्मोदयादिरूप निमित्तकारण से होते हे। परिणामी के विना परिणामों का होना असंभव होनेसे सभी विभावपरिणामों का अशुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्य होता है। आत्मा के यथार्थ मौलिक शुद्धस्वरूप के विना अशुद्ध अवस्था का होना असंभव है। सुवर्ण की शुद्धावस्था के विना अशुद्धावस्था नहीं बन सकती। हां, अशुद्धावस्था का तरतमभाव अवश्य होता है और उस भाव की अनन्तरपूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय इनमें उपादानोपादेयभाव भी हो सकता है। अशुद्धावस्था शुद्धावस्थासापेक्ष होती है, क्यों कि शुद्धता के विना अशुद्धता बन हि नही सकती। आत्मा की नरनारकादिपर्यायें अशुद्धावस्थारूप होती है। अतः आत्मा की इस अवस्था का शुद्धावस्थासापेक्षत्व सिद्ध होता है और इस शुद्धावस्थासापेक्षत्व से शुद्ध आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है। शुद्ध सुवर्ण के अभाव में अशुद्धसुवर्णावस्था किसकी होगी ? शुद्ध आत्मा का सद्भाव हि न हो तो नरनारकादिपर्यायरूप अशुद्ध पर्यायें किसकी होंगी ? अतः नरनारकादिपर्यायें जब अशुद्धात्मस्वरूप हैं तब उन पर्यायों में अन्तर्निहितरूप से शुद्धात्मस्वरूप परिणामी का भी सद्भाव होना हि चाहिये। जब इन अशुद्धपर्यायों के रूप से आत्मा का अनुभव किया जाता है तब इस आत्मा का शुद्ध आत्मा से अन्यत्व-भिन्नत्व भूतार्थ है-यथार्थ है। किंतु तपस्समाधि से या आत्मा की सर्वोत्कृष्ट अवस्था से अर्थात् सिद्ध अवस्था से जब आत्मा के नायकभावमयरूप शुद्धस्वरूप का अनुभव किया जाता है तब नरनारकादिपर्यायरूप आत्मावस्था का अनुभव प्राप्त न होनेसे तत्पर्यायगत आत्मा का शुद्ध आत्मा से अन्यत्व-भिन्नत्व यथार्थ-भूतार्थ नहीं है; क्यों कि अन्यद्रव्य के समान अपनी सभी पर्यायों में आत्मा अपने स्वरूप से अन्वित होती है-वह अपने स्वरूप को कदापि छोडती नहीं, फिर भले हि उसका यथार्थस्वरूप कर्मों के द्वारा या तज्जनित विभावपर्यायों के द्वारा प्रच्छन्न किया गया हो। अतः शुद्धावस्था में और अशुद्ध अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप को छोडनेवाली न होनेसे नरनारकादिपर्यायगत आत्मा का शुद्धस्वरूप आत्मा से अन्यत्व-भिन्नत्व भूतार्थ-यथार्थ नहीं माना जा सकता। शुद्धावस्था में जिसप्रकार आत्मा स्वस्वरूपान्वित होती है-अपने यथार्थस्वभाव को नहीं छोडती उसीप्रकार अशुद्ध अवस्था में भी स्वस्वरूपान्वित होती है। यदि आत्मा अपनी विभावपरिणति में अपने स्वभाव को छोड देती है ऐसा माना तो उन अवस्थाओं में आत्मा का अभाव हि मानना पडेगा, जो कि असंभव है; क्यो कि परिणामी आत्मा के अभाव में उसके परिणामों का होना असंभव है। परिणामी के अभाव में भी परिणाम होते हैं ऐसा माना तो मृत्तिका के अभाव में घट बनता है ऐसा मानना होगा जो कि प्रतीति के विरुद्ध पडता है। दूसरी एक बात यहां उल्लेखनीय है और वह है अशुद्ध अवस्था में भी जीव में केवलज्ञान का अस्तिरूप होना। वह केवलज्ञान अशुद्ध अवस्था में सिर्फ आवृत होता है-उसका अभाव नहीं होता। यदि अशुद्ध अवस्था में केवलज्ञान का सर्वथा अभाव होता तो केवलज्ञानावरण कर्म किसको आवृत करता और मतिज्ञानादिरूप पर्यायें किसकी होती ? यदि अशुद्धावस्था में उसका सर्वथा अभाव होता है तो शुद्ध अवस्था में वह कहां से बाहरसे आता है ? वह बाहरसे आता है ऐसा माना तो ज्ञान और ज्ञानी इनमें-स्वभाव और स्वभाववान् इनमें तादात्म्यसंबंध का अभाव मानना होगा। क्या अग्नि और उष्णता इनमें

तादात्म्यसंबंध नहीं है ? सारांश, शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनन्यत्व हि यथार्थ है । यह अभिप्राय मृत्तिकाघटदृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है ।

यहि वक्तव्य अन्य शब्दों में दिया जाता है । मिट्टी के जो कमण्डलु घट आदि अनेक पर्यायें हैं वह पर्यायें जलधारणादिरूप अर्थक्रिया की दृष्टि से और वर्णादि की दृष्टि से अपना जो उपादानकारण मिट्टि उससे भिन्न हं और भिन्नत्व कार्यरूपपर्याय की मुख्यता की दृष्टि से यथार्थ है । कार्य में उपादानकारण अन्वितरूप से पाया जाता है । इस उपादानकारण के स्वभाव को मुख्यता से देखा जानेपर कार्यकारण में अन्योन्यभेद नहीं है । इस दृष्टि से कार्यकारण का अनन्यत्व भूतार्थ–यथार्थ है । नरनारकादि जो कर्मोदयजन्य पर्यायें है उनमें सभी कर्मों की उदितावस्था होनेसे आत्मा का शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव प्रच्छन्न हो जाता है । उसका तुच्छाभाव कभी नहीं होता । पर्याय और पर्यायवान् में कर्मोदयकृत भेद होनेसे शुद्ध आत्मा से नरनारकादिपर्यायापन्न अशुद्ध आत्मा का भिन्नत्व यथार्थ है । पर्यायों में पर्यायवान् जो शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववान् आत्मा होती है उसका शुद्धस्वभाव यद्यपि पूर्णरूप से शुद्ध नहीं पाया जाता तो भी उसके ज्ञानस्वभाव का सर्वथा अभाव–तुच्छाभाव भी नहीं होता । पर्याय और पर्यायवान् इनमें ज्ञानस्वभाव का स्खलन न होनेसे स्वभाव की मुख्यता से पर्याय पर्यायवान् से भिन्न नहीं है यह कथन यथार्थ है । यदि पर्याय और पर्यायवान् में सर्वथा भेद माना तो कुम्हार मिट्टि से यदि गागर–घट बनाने लगा तो घट में मृत्तिकाकार्यत्व न रहकर सुवर्णकार्यत्व क्यों नहीं बन सकेगा ? वास्तविक स्थिति यह है कि पर्याय और पर्यायवान् इनमें कथंचित् भेद भी होता है और कथंचित् अभेद–अनन्यत्व भी होता है । पर्याय की मुख्यता से पर्यायी भिन्न होता है और पर्यायी के अस्खलित स्वभाव की मुख्यता की अपेक्षासे अभिन्न भी होता है । स्वभावप्राप्ति यह प्रत्येक आत्मा का ध्येय है और होना भी चाहिये । अतः अशुद्ध आत्मा और शुद्ध आत्मा इनमें शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से स्वभावकृत भेद नहीं है । इसका आशय यह नहीं है कि आत्मा सर्वथा शुद्ध हि होती है । यदि ऐसा होता तो तीर्थकरों ने तपश्चरण के द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध अवस्था को पहुंचानेका पुरुषार्थ क्यों किया ? जिसके पास आवश्यक चीज विद्यमान होती है वह उसी चीज को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता हुआ क्या कभी देखा गया है ? कदापि नहीं । वस्तुतः आत्मा कर्मोदय से विभावपर्यायाक्रान्त होनेसे शुद्ध आत्मा से अवश्य विभिन्न बन जाती है, किंतु वह विभावपर्यायावस्था परद्रव्योत्पादित होनेसे अवश्य नश्वर होती है । अतः उस नश्वर अवस्था का नाश करके अपने शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति कर लेना प्रत्येक जीव का आद्य कर्तव्य है इसमें संदेह नहीं ।

नियतत्व– निमित्त का अभाव होनेपर पदार्थ की जो अवस्था होती है वह पदार्थ की स्वभावभूत अवस्था होती है । सागर की वृद्धि और हानि निमित्त का सद्भाव होनेपर होती है । निमित्त का अभाव होनेपर वह शांत हो जाता है । यह शान्त अवस्था उसका स्वभावभूत भाव होती है । जब वृद्धिहानिरूपपर्यायों का अनुभव होता है तब वे दोनों पर्यायें भूतार्थ–यथार्थ हैं । जिसका प्रत्यक्षरूप से अनुभव होता है उसको सर्वथा अभूतार्थ नहीं माना जा सकता । जिसकी हानिवृद्धिरूप पर्याय होता है उस सागर का उक्त पर्यायों का सद्भाव होनेपर अभाव होता हो ऐसा नहीं है । उसका उक्त अनुभव के समय सद्भाव होनेपर भी वह उससमय गौण होता है–पर्यायों की हि प्रधानता होती है, फिर भले हि वे पर्यायें निमित्तजन्य हो । जिस समय शान्तसागर का अनुभव किया जाता है उस समय उसकी उन हानिवृद्धिरूप पर्यायों का अभाव होनेसे उन पर्यायों का अनुभव प्राप्त नहीं होता; क्यों कि निमित्त का अभाव होनेसे नैमित्तिक पर्यायों का अभाव होनेसे उन पर्यायों का अभाव हि होता है । यह पर्यायें कादाचित्क होनेसे वे सागर की स्वभावभूत भावरूप हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्यों कि स्वभावभूतभाव नैमित्तिकभाव न होनेसे स्वभाववान् को किसी भी हालत में छोडते नहीं । स्वभावभूत भाव का विभावरूप परिणमन होता है अवश्य, किंतु उसका अभाव नहीं होता-निमित्त का अभाव होते हि वह फिर यथास्थित होता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि नैमित्तिकभाव कथंचित् भूतार्थ होनेपर भी सर्वथा भूतार्थ नहीं होता । स्वाभाविकभाव सर्वथा होता है; क्यों कि वह स्वभाववान् की साथ कदापि छोडता नहीं । आत्मा की हानिवृद्धि ज्ञानावरणीयकर्म की और मोहनीयकर्म की उदयादिपर अवलंबित है । जिसप्रकार ज्ञानावरणीयकर्म के उदयादि से ज्ञानगुण की व्यक्तता और अव्यक्तता होती है उसीप्रकार मोहनीय कर्म के उदयादि

से उत्पन्न होनेवाले विभावाविभावोंपर ज्ञान गुण की शुद्धाशुद्धता की व्यक्तता और अव्यक्तता अवलंबित होती हैं। लब्ध्यक्षरात्मकज्ञानवाले जीव के ज्ञान की हीनतम अवस्था होती है। यहि ज्ञानगुण की हानि है। ज्ञानगुण का पूर्णरूप से व्यक्तीभवन केवली में होता है। यहि ज्ञानगुण की उत्कृष्टतम वृद्धावस्था है। संसारी पंचेंद्रिय जीव मरकर असंज्ञी तिर्यंचादिरूप हीन गतियों में पैदा होनेपर उसका ज्ञानगुण उदित ज्ञानावरणकर्म से और मोहनीयकर्म से आवृत होनेसे उस गुण की व्यक्तता की दृष्टि से हानि होती है। तिर्यंचादि असंज्ञी जीव मरकर मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुआ तो उसके ज्ञानगुण की वृद्धि होती है। इसप्रकार जीव की भिन्नभिन्न अवस्थाओं की अपेक्षा से उसके ज्ञानगुण की हानि और वृद्धि होती रहती है। ये सब हानिवृद्ध्यात्मक अवस्थाएं जीव के द्वारा अनुभूयमान होनेसे कथंचित् भूतार्थ हैं–यथार्थ हे। जब शुद्ध आत्मा का अनुभव शुद्ध आत्मा के द्वारा किया जाता है तब ज्ञानगुण की हानिवृद्धि के निमित्तकारणभूत कर्मों का अभाव हो जानेसे ज्ञानगुण की हानिवृद्धिरूप पर्यायों का अभाव हो जानेसे वे पर्यायें शुद्ध आत्मा के अनुभव में नहीं आती। अतः शुद्ध आत्मा की स्वानुभूति की दृष्टि से वे पर्यायें अभूतार्थ हैं–भूतार्थ या यथार्थ नहीं हे; क्यों कि आत्मा के साथ का उनका संबंध तब छूटा हुआ होता है। जो भाव पदार्थ से छूट जाते हैं–कादाचित्क होते हैं वे स्वभावभूत नहीं होते। आत्मा के प्रदेशो के जो संसार अवस्था में संहार और विसर्प होते हे उनकी अपेक्षा से भी आत्मा की हानिवृद्धिरूप पर्यायें हो सकती है। इन पर्यायों में भी ज्ञानगुण की हानि और वृद्धि इनरूप अवस्थाएं होती हे। केवली समुद्घात में हि सिर्फ ज्ञानगुण की हानि या वृद्धि नहीं होती। आत्मा स्वभावतः अमूर्त होती है तो भी अनादिकाल से उसका कर्मों के साथ संश्लेष होनेसे वह कथंचित् मूर्तिमान् भी है। ऐसी आत्मा लोकाकाश जितने प्रदेशोंवाली होनेपर भी अगुल के असख्येयप्रमाण शरीराकार को भी धारण करती है और स्थूल शरीराकार को भी धारण करती है। इसका कारण हे कार्मणशरीर। निर्माणनामकर्म का उदय होनेपर स्थूल या सूक्ष्म शरीराकार को आत्मा धारण करती है। जब संसारी आत्मा छोटामोटा शरीराकार धारण करती है तब उसमें प्रदेशों की हानि (संकोच) और वृद्धि (विसर्पण) होती हे। पर्यायार्थिकनय की मख्यता की अपेक्षा से हानिवृद्धि से होनेवाला अनियतत्व यद्यपि भूतार्थ–यथार्थ–सत्यार्थ है, तो भी नित्यध्यवस्थित आत्मस्वभाव का अनियतत्व यथार्थ नहीं है; क्यों कि उसका अंतिम शरीर से किंचित् ऊन आकार का हि वहां अनुभव होता है–वृद्धिहानिरूप संहारविसर्प का अनुभव नहीं होता। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से आत्मा शुद्धपारिणामिक चैतन्यस्वभाववाली होनेसे प्रदेशसंहारविसर्परूप अवस्थावाली नही है। यदि संहार और विसर्प इनको आत्मस्वभावभूत माना तो मुक्तावस्था और अमुक्तावस्था एकसी हो जायगी। दूसरी बात यह है कि हानि और वृद्धि इनमें विरोध होनेसे आत्मा या तो सकोच स्वभाववान् माननी पडेगी या विकासस्वभाववान् माननी पडेगी। वह दोनों स्वभावो को युगपत् नही धारण कर सकेगी, क्यों कि दोनों में सहानवस्थान विरोध होता है। इसका मतलब यह नहीं है कि आत्मा की आकारविषयक विषमता सर्वथा अयथार्थ होती है, क्यो कि ऐसा माननेसे नरनारकादिपर्यायों का अभाव माननेका प्रसग उपस्थित हो जायगा। अत. आत्मा द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से संहारविसर्पवान् नही है। उसमें संहारविसर्पण की शक्ति अवश्य होती है, क्यों कि वह परिणमनशक्ति से या पारिणामिकी शक्ति से युक्त होती है।

अविशेषत्व– सुवर्ण द्रव्य होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से उसके अनेक धर्म होते है और निश्चयनय की दृष्टि से उसका एक हि व्यावर्तक असाधारण धर्म होता है। इस व्यावर्तक असाधारण एक धर्म के साथ उसके अनेक धर्मो का अविनाभावसबध होनेसे उस एक धर्म में अवशिष्ट अनेक धर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। अन्योन्याविनाभावी अनेक धर्मों में से किसी भी एक धर्म का अभाव हो जानेपर अवशिष्ट सभी धर्मों का इतना हि नहीं अपि तु द्रव्य का भी अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सुवर्ण का एक हि असाधारण धर्म होता है और स्निग्धत्व, पीतत्व, गुरुत्व आदि उसकी पर्यायें है। इनका जब अनुभव किया जाता है तब यह पर्यायें अनुभवगोचर होनेसे कथंचित् यथार्थ हे। जिसका अनुभव किया जाता है उसको सर्वथा अभूतार्थ या सर्वथा भूतार्थ नही कहा जा सकता। जब जिसमें समस्त विशेषों का अभाव होता है ऐसे सुवर्ण के शुद्ध स्वभाव का अनुभव किया जाता है तब सुवर्णस्वभाव के अन्य विशेषों का अनुभव न होनेसे सुवर्ण के शुद्धस्वभा-

र्थों की सभी पर्यायें अभूतार्थ हैं; फिर भले हि वे पर्यायें स्वभावपर्यायरूप हो। जब पदार्थ शुद्धनिश्चयनय का विषय पडता है तब पदार्थ की स्वभावपर्यायों में से और विभावपर्यायों में कोनसी भी पर्याय उस नय का विषय नहीं बनती– उसका एकमात्र शुद्धस्वभाव हि विषय पडता है, क्यों कि पर्यायें व्यवहारनय का या पर्यायार्थिकनय का विषय पडती हैं। शुद्धनिश्चयनय का विषय न सिर्फ द्रव्य और न सिर्फ पर्याय हि पडती है। उसका द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु हि विषय पडती है। अतः शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से सुवर्ण के स्वभावपर्याय भी उसके विषय नहीं पडते यह स्पष्ट हो जाता है। सुवर्ण के स्निग्धत्वपीतत्वादिरूप स्वभावपर्यायों के समान आत्मा के भी क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्ज्ञान और क्षायिकचारित्र आदिरूप स्वभावपर्यायें होती हैं। जिसप्रकार सुवर्ण के स्निग्धत्वादि पर्यायों की अनुभवगोचरता होती है उसीप्रकार आत्मा के भी क्षायिक सम्यग्दर्शनादिरूप पर्यायों की अनुभवगोचरता होनेसे अर्थात् उनका अनुभव किया जानेसे सुवर्ण के उक्त पर्यायों की भूतार्थता के समान भूतार्थता होती है; किंतु सुवर्ण के शुद्धस्वभावानुभवनकाल में उसकी उक्तपर्यायों की अनुभवगोचरता न होनेसे जिसप्रकार वे पर्यायें भूतार्थ नहीं होती उसीप्रकार आत्मा की क्षायिक सम्यग्दर्शनादिपर्यायों की शुद्ध ज्ञायकभावमात्ररूप एक स्वभाव के अनुभवनकाल में अनुभवगोचरता न होनेसे वे क्षायिकदर्शनादिरूप आत्मपर्यायें (ज्ञानपर्यायें) भूतार्थ नहीं है। सम्यग्दर्शनादिरूप शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से भूतार्थ नहीं है अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से भूतार्थ है इसका मतलब यह नहीं है कि वह आत्मा की नहीं है। वह पर्यायें निर्विवादरूप से आत्मा की हैं-शुद्ध आत्मा की शुद्ध पर्यायें है। इनकी अभूतार्थता का कारण है उन्हें शुद्धात्मस्वरूपभूत ज्ञायकभाव से-ज्ञान से विभिन्न देखना। इन तीनों का आत्मा के स्वभावभूत ज्ञानगुण में हि अंतर्भाव है। जिसप्रकार सिर्फ पर्यायनिष्ठदृष्टि या पर्यायैकदृष्टि होना ठीक नहीं है उसीप्रकार सिर्फ द्रव्यनिष्ठदृष्टि या द्रव्यैकदृष्टि होना भी ठीक नहीं है; क्यों कि सिर्फ पर्यायनिष्ठदृष्टि से अनित्यैकान्तनामक दोष आता है। द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय वस्तु के अंशमात्र का प्रतिपादन करती है– संपूर्ण वस्तु का अर्थात् वस्तु के संपूर्ण अंशों का प्रतिपादन नहीं करती। यदि एक हि नय संपूर्ण वस्तु का प्रतिपादक होती तो दूसरे नय की और प्रमाण की आवश्यकता न होती। उसीप्रकार वस्तु के अशो का प्रतिपादन भी अशक्यप्राय हो जाता। जैनदर्शनानुसार वस्तु नित्यानित्यात्मक है। वह न सिर्फ नित्य होती है और न सिर्फ अनित्य भी। शास्त्रकारो ने उसे परिणामिनित्य सिद्ध किया है। अतः वस्तुनिष्ठदृष्टि होना हि श्रेयस्कर है। साराश, आत्मा के सभी विशेषों का वस्तुतः आत्मा के ज्ञानस्वभाव में अन्तर्भाव होनेसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा सविशेष नही है अपि तु अविशेष है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र व्यवहारनय की दृष्टि से भूतार्थ होनेपर भी आत्मा की शुद्धावस्था में उनका पर्यायरूप से सद्भाव न पाया जानेसे वे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से भूतार्थ नही है।

असंयुक्तत्व– शैत्य और औष्ण्य भिन्नभिन्न जड पदार्थों के विरोधी धर्म है। शैत्य जल का स्वभावधर्म है और औष्ण्य अग्नि का स्वभावधर्म है। दोनों मे महानवस्थान विरोध है। अग्नि से तपाया गया धातुपात्र जल मे डाल देनेसे ठंडा हो जाता है, स्वय अग्नि जल के सपर्क मे आनेपर बुझ जाती है। ठडा पानी चूल्हेपर रखकर तपाया जानेपर जल का शैत्यधर्म विघटित हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहां शैत्य होता है वहा औष्ण्य का सद्भाव नहीं पाया जाता और जहां औष्ण्य होता है वहां शैत्य का सद्भाव नही होता। औष्ण्य का जब अभाव होता है तब औष्ण्यरूप विभावपरिणति से पूर्वकाल की स्वाभाविक स्थिति फिर से इंद्रियग्राह्य होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि औष्ण्यरूप विभावपरिणति की अवस्था में शैत्यधर्म का सद्भाव यद्यपि इंद्रियगोचर नहीं होता तो भी उसका तुच्छाभाव नहीं होता। तुच्छाभाव के होनेपर स्वाभाविक शैत्यधर्म का फिरसे आविर्भाव होना असंभव हो जाता। उष्णावस्था में स्वाभाविक शैत्यधर्म की सिर्फ अव्यक्तता होती है। शैत्य जल का स्वभावधर्म है और औष्ण्य अग्नि का स्वभावधर्म। औष्ण्य जल का स्वभाव नहीं है। अग्नि से जल जब तपाया जाता है, तब अग्नि के संसर्ग से जलगत शीतलस्वभाव में विपरीतता पैदा होती है अर्थात् जल का स्वभाव विकृत हो जाता है। जल के या जल के स्वभाव के साथ अग्नि का या अग्नि के स्वभाव का संयोग

होनेसे जल में जो उष्णतारूप सांयोगिक अवस्था व्यक्त होती है वह अनुभूयमान होनेसे यथार्थ है। जल की उष्णरूप अवस्था संयोगजन्य होनेसे अर्थात् जल और औष्ण्य में तादात्म्यसंबंध न होनेसे संयुक्तता यथार्थ है–सर्वथा अभूतार्थ है नहीं। जल का शैत्यस्वभाव जब अनुभवगोचर होता है तब शैत्य के विरोधि जो औष्ण्य उससे युक्त जल की जो विभावपर्याय उसका अनुभव न होनेसे जल की उष्णत्वयुक्तपर्याय भूतार्थ नहीं है। यदि उसे भी सर्वथा भूतार्थ माना तो जल के अन्योन्यविरोधी दो धर्मों को उसके स्वभावभूतभाव मानना होगा। अतः जल की औष्ण्ययुक्त पर्याय कथंचित् भूतार्थ है और कथंचित् अभूतार्थ है। इससे जल का अग्निनिमित्तक उष्णतायुक्त पर्याय के रूप से अनुभव हो जानेसे संयुक्तत्व भूतार्थ है और उसके शीतस्वभाव के अनुभवनकाल में औष्ण्ययुक्त पर्याय का अनुभव न होनेसे उसका संयुक्तत्व अभूतार्थ है। अतः जल की असंयुक्तता यथार्थ है यह स्पष्ट हो जाता है। द्रव्यकर्मनिमित्तक मोहयुक्त पर्याय के स्वरूप से अर्थात् मिथ्यादर्शनादिरूप भावमोहात्मक पर्याय के स्वरूप से जब आत्मा का अनुभव किया जाता है अर्थात् आत्मा के द्वारा अपनी मिथ्यादर्शनादिरूप परिणति का अनुभव किया जाता है तब ऐसी अनुभूति का सद्भाव होनेसे उष्णपर्यायात्मक जल की संयुक्तता जिसप्रकार यथार्थ होती है उसीप्रकार आत्मा की संयुक्तता यथार्थ होती है; किंतु एकान्तरूप से ज्ञान के उपादानकारणभूत आत्मा के स्वभाव के अनुभूतिके समय उक्त विभावपर्यायों का अनुभव न होनेसे जल की संयुक्तता जिसप्रकार भूतार्थ नहीं होती उसीप्रकार आत्मा की संयुक्तता भूतार्थ नहीं होती। अतः शुद्ध आत्मा की वस्तुतः असंयुक्तता होती है। सारांश, आत्मा की भावमोहसंयुक्तता कथंचित् भूतार्थ और कथंचित् अभूतार्थ होती है। विभावभावों का अशुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध होनेपर भी शुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध नही होता; क्यों कि जिनमें तादात्म्यसंबंध होता है उनमें से किसी एक का अभाव नहीं हो सकता। विभावभावों का नाश होनेसे उनका शुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्य घटित नही होता, क्यों कि विभावों का नाश होनेपर भी आत्मा का नाश नही होता।

इसप्रकार यहांपर शुद्ध आत्मा के पांच विशेषण दिये हुए हैं। पहले तीन विशेषण आत्मा और कर्मपुद्गलों के संबंध को दृष्टि के सामने रखते हुए दिये गये हैं। चौथा विशेषण स्याद्वाद की दृष्टि से आत्मा के अनेकधर्मात्मकत्व को सामने रखकर दिया गया है। पांचवा विशेषण स्वभाव की विकृति को सामने रखकर दिया गया है। कर्मपुद्गलों से स्पृष्ट या संश्लिष्ट होनेका आत्मा का स्वभाव नहीं है। कर्मबंध से आत्मा के होनेवाले पर्याय भी आत्मा के स्वाभाविकभाव नही हैं। अतः वे पर्यायें यथार्थ नहीं हैं। कर्मोदय से होनेवाला आत्मप्रदेशों का संहार–विसर्प भी परनिमित्तजन्य होनेसे और आत्मा का स्वभाव न होनेसे यथार्थ नहीं है। स्वभाव और शक्ति में फर्क यह होता है कि स्वभाव (सर्वथा) अव्यक्त कभी नहीं होता–अपने आश्रय में व्यक्त हि रहता है, फिर भले हि वह अन्यद्रव्य से प्रच्छन्न होता हो। शक्ति अपने अपने आश्रयभूत पदार्थ में कभी व्यक्त होती है तो कभी अव्यक्त होती है। शुद्ध शक्ति की व्यक्तता में प्रतिबंधक कारणों का अभाव कारण होता है। शुद्धशक्ति के व्यक्तीभवन में कर्म प्रतिबंधक होते हैं। अशुद्धिशक्ति पर्यायशक्ति है और जिन पर्यायों की वह शक्ति होती है वे मिथ्यादर्शनादिरूप विभावपर्यायें होती हैं। मुक्त अवस्था में विभावरूप परिणति का अभाव होनेसे अशुद्धि शक्ति का हि अभाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में अशुद्धिशक्ति के व्यक्तीभवन का प्रश्न हि उपस्थित नहीं होता। अशुद्धिशक्ति पारिणामिकी शक्ति में हि अन्तर्भूत होती है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। संसारावस्था में यद्यपि वह विभावरूप से परिणत होता है तो भी वह अपने आश्रय में अव्यक्त नही रहता–व्यक्त हि बना रहता है। अशुद्ध आत्मा में विभावरूप से परिणत होनेकी शक्ति यद्यपि विद्यमान रहती है तो भी वह विभावपरिणति के कारण के अभाव में व्यक्त नही होती। आत्मा शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली है। व्यवहारनय से उसके ज्ञानदर्शनादि भेद किये गये हैं। यद्यपि ज्ञानदर्शनादि व्यवहारनय की दृष्टि से भिन्नभिन्न दिखाई देते हैं तो भी वह शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मस्वभाव से-आत्मा के स्वभाव से भिन्न न होनेसे ज्ञायकभावरूप हि है। ज्ञायकभावरूप एक स्वभाव की दृष्टि से ज्ञानदर्शनादि अनेकरूप होनेसे यथार्थ नहीं हैं। रागद्वेषादिरूप औदयिकभाव यद्यपि जीव के स्वतत्त्व बताये गये हैं तो भी वह अचेतन द्रव्यकर्म के समान जीवस्वभाव के संवारक होनेसे यथार्थ नहीं हैं, फिर भले हि वे चेतनान्वित होनेसे स्वतत्त्व कहे गये हों।

बद्धस्पृष्टत्व, अन्यत्व, अनियतत्व, सविशेषत्व और संयुक्तत्व यह भाव सर्वथा अयथार्थ नहीं है। जीव को कर्मबद्ध अवस्था की अपेक्षा से यह भाव कथंचित् यथार्थ भी है। यदि यह भाव सर्वथा अयथार्थ होते या अविद्यमान होते तो यथार्थ आत्मा की प्राप्ति का उपाय शास्त्रकार क्यों बताते ? सांख्य पुरुष (आत्मा) को सर्वथा अबद्ध हि मानते आये हैं। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में 'बध्यते न मुच्यते पुरुषः' इन शब्दों में उक्त अभिप्राय व्यक्त किया है। जैन यद्यपि आत्मा को शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से अबद्धस्पृष्ट मानते हैं तो भी व्यवहारनय की दृष्टि से उसे बद्धस्पृष्ट भी मानते हैं। सांख्य और जैनों में यह भी एक फर्क है।

'तं शुद्धनय विजानीहि' इस वाक्यांश का स्पष्टीकरण तात्पर्यवृत्ति मे 'तं पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनिश्चयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजानीहीति भावार्थः' इसप्रकार किया गया है। अर्थ–यह आत्मा शुद्धनय का विषय होनेसे शुद्ध आत्मा का साधक होनेसे और शुद्धभावरूप से परिणत होनेसे उसे अभेदनय से शुद्ध जान।

बद्धस्पृष्टादिभावों का शुद्ध आत्मा के साथ किसी भी प्रकार का संबंध न होनेसे उसका स्वभाव आराध्य है यह बताते हैं–

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरी तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ॥
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज्जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥ ११ ॥

अन्वय– अमी बद्धस्पृष्टभावादयः यत्र एत्य स्फुटं उपरि तरन्तः अपि प्रतिष्ठां न हि विदधनि तं समन्तात् द्योतमानं सम्यक्स्वभाव एव अपगतमोहीभूय जगत् अनुभवतु।

अर्थ– जहां पहुचकर अर्थात् द्रव्यकर्म के उदयादिरूप निमित्त से प्रादुर्भूत होकर जो यह बद्धस्पृष्टत्वादिरूप भाव अर्थात् बद्धस्पृष्टत्व, अन्यत्व, अनियतत्व, सविशेषत्व, और संयुक्तत्व इनरूप जो यह विभावात्मक और उपचरित भाव स्पष्टरूप से ऊपर हि तरते रहते हैं–नित्यस्थितिरूप नहीं होते अर्थात् तादात्म्य को प्राप्त नहीं होते–नित्यसंबंध से युक्त नहीं होते, उस सभी अवस्थाओं में प्रकट होनेवाले आत्मा के समीचीन–निर्बाध और निष्कलंक स्वभाव का भावमोहरहित होकर–रागद्वेषादिरूप विभावभावों के रूप से परिणत न होकर जगत्–संसारी जीव अनुभव करे।

त. प्र.– यत्र शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धात्मनि तच्छुद्धस्वभावे वैत्यागत्यामी बद्धस्पृष्टभावादयः स्फुटं व्यक्तमुपरि तरन्तोऽप्यात्मस्वभावरूपेणापरिणमनात्ततो भिन्नतया तत्र विद्यमाना अपि प्रतिष्ठां नियतस्थितिं न हि नैव विधदति कुर्वन्ति, तमेव समन्तात्सर्वास्ववस्थासु द्योतमानं प्रकाशमानं। प्रकटीभवन्तमित्यर्थः। सम्यक्स्वभावं शुद्धज्ञानघनैकस्वभावं जगज्जगन्निवासिजनः। जगतश्चेतनाचेतनात्मकत्वात्सर्वप्राणिनां शुद्धात्मस्वभावगोचरीकरणानर्हत्वात्केषाञ्चिदेव तदर्हत्वाज्जगच्छब्दार्थं बाधित्वा तत्स्वभावस्तत्सम्बद्धभव्यमनुजजीवग्रहणं कृतं जगच्छब्देन। अपगतमोहीभूयानपगतमोहः सन्नपगतमोहो भूत्वाऽनुभवत्वनुभवगोचरीकरोतु। अत्रत्यैत्येतिपदेन बद्धस्पृष्टभावादीनामन्यतः कुतश्चिदागमनं संसूच्यते, अन्यत्र स्थितानां भावानां स्थानान्तरागमनदर्शनात्। आद्यो बद्धस्पृष्टभावः कर्मपुद्गलैः साकमात्मन्यागतः। संसारिण आत्मनः शुद्धात्मनो भिन्नत्वमपि तस्य कर्मकर्तृकत्वात्कर्मपुद्गलैः सार्धमात्मन्यागतम्। आत्मनोऽनियतत्वमप्युच्चावचगत्यपेक्षया ज्ञानगुणवृद्धिहान्योर्जीवप्रदेशसंहारविसर्पयोर्वा कर्मकृतत्वात्कर्मपुद्गलैः समं समागतम्। रागद्वेषरूपभावकर्मात्मकसंयुक्तत्वमपि कर्मकार्यत्वादचेतनकर्मभिः सहात्मन्यागतम्। रागद्वेषात्मकभावकर्मणामशुद्धादात्मनोऽभेदेपि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धात्मना सम्बन्धाभावाच्छुद्धावस्थायां तेषां सर्वथाऽभावात्तेषां रागद्वेषादीनामात्मना संयुक्तत्वमेवेति भावः। शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धात्मनः शुद्धज्ञानघनैकस्वभावत्वाज्ज्ञानदर्शनादिविशेषाणां व्यवहारनयाविर्भावितत्वाच्छुद्धनयेन

न तेषां विशेषाणामात्मीयत्वं सिद्ध्यति । परमार्थत एते विशेषा एकेन शुद्धज्ञानघनैकस्वभावेनात्मना निष्पीताः । अतः केवलज्ञानिना वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतेन वैकस्यैव शुद्धज्ञानघनस्वभावस्यैवानुभूयमानत्वान्नैते ज्ञानदर्शनादिविशेषाः परमार्थत आत्मीया भवितुमर्हन्ति । उक्तं चास्मिन्नेव ग्रन्थेऽन्यत्र– " ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं । ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ " अत्रत्यापगतमोहीभूयेत्यनेनापगतमोहेनात्मना शुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्यात्मनोऽनुभवनमशक्यानुष्ठानमिति ज्ञापितं भवति, मोहस्य संशयविपर्ययाद्यज्ञानोत्पत्तिनिमित्तभूतत्वात् । संसारिणां जीवानामनादितो मोहमहामयग्रस्तस्वभावभूतशुद्धबोधत्वाच्छुद्धज्ञानघनैकस्वभावात्मानुभूतिर्दुर्लभा जाता । अतो निर्बाधबोधाधिगमार्थैर्मोहो जय्यो जेयश्च विजेतव्यः, तद्विजयमन्तरेणात्मदर्शनासम्भवात् । भो भव्याः ! अमी बद्धस्पृष्टभावादयो यद्यप्यस्यां संसारावस्थायामात्मनि लब्धप्रतिष्ठा इव दृश्यन्ते, तथापि तेषामन्यकर्तृकत्वादनात्मीयत्वाद्विधूननं नाऽविधेयं, मोहप्रहाणेनैव तस्य सुविधेयत्वात् । मोहनीये कर्मणि समूलकाषं कषिते सति समारोपसम्भवाभावाद्बद्धस्पृष्टभावादिशून्यशुद्धज्ञानघनैकस्वभावशुद्धात्मानुभूतिर्जायते । अतः प्रथमतस्तावन्मोहनीयं कर्म समूलकाषं कषितव्यं, अकषितमोहनीयानामात्मदर्शनासम्भवात् ।

विवेचन– बद्धकर्मों के स्पर्श से युक्तत्व, द्रव्य की गौणता से और पर्यायों की मुख्यता से विभावपर्यायरूप से परिणत हुई आत्मा का शुद्ध आत्मा से भिन्नत्व, गत्यनुसार ज्ञानगुण के आवृतत्व के विषय में तरतमता–वृद्धिहानि होनेसे या संहार–विसर्प से युक्त होनेसे अनियतत्व, शुद्धनिश्चयनय की गौणता से और व्यवहारनय की मुख्यता से सम्यग्दर्शनादिरूप भेदों की कथंचित् यथार्थता होनेसे सविशेषतत्व, और मोहनीयोदयजन्य भावमोहात्मक विभावभाव अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अशुद्ध आत्मा से अभिन्न होनेपर भी विनष्ट होनेवाले होनेके कारण उनके साथ शुद्धनिश्चय की दृष्टि से अभेद न होनेसे अर्थात् संयोगमात्र होनेसे असंयुक्तत्व इन भावों का अशुद्ध आत्मा के साथ अभेद होनेपर भी शुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्य न होनेसे वह ऊपर हि तरते है अर्थात् आत्मा के स्वभावभूत शुद्ध ज्ञायकभाव के समान अनादिनिधन नहीं है । इन भावों का शुद्ध आत्मा के साथ या उसके ज्ञायकभावरूप स्वभाव के साथ तादात्म्यसंबंध न होनेसे आत्मा की अशुद्ध अवस्था में उन भावो का सद्भाव होनेपर भी आत्मा की या उसके स्वभाव की समीचीनता बनी रहती है । अत सभी अवस्थाओं मे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से समीचीन–अदूषित आत्मा का या उसके शुद्धस्वभाव का ससारावस्थ भव्य जीवों को अनुभव करना चाहिये । इस शुद्ध आत्मा की अनुभूति के लिए भावमोहात्मक विभावभावों का अभाव करना आवश्यक है; क्यों कि जबतक मोहात्मक विभावभावरूप जीवपरिणति का सद्भाव होता है तबतक वह परिणति शुद्धस्वभावविरोधिनी होनेसे शुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति होना असंभव होता है । यह शुद्ध आत्मा का केवलज्ञानात्मक शुद्ध स्वभाव ससारी जीव की सभी अवस्थाओं में सूर्यप्रकाश के समान प्रकट–अभिव्यक्त रहता है; फिर भले हिं वह कर्मावृत हो । कर्मावृत होनेमात्र से उस स्वभाव की प्रकटता में तरतमता या उसका अभाव होना असंभव है । मेघपटलरूप आवरण की तरतमता से सूर्यप्रकाश की प्रकटता में तरतमता यद्यपि अज्ञानी जीव के दिखाई देती है तो भी मेघपटल के ऊपर सूर्यप्रकाश जैसा का तैसा बना रहता है–उसमें तरतमता नहीं होती । अतः अज्ञानी जीव जिसप्रकार मेघपटलरूप आवरण की तरतमता को सूर्यप्रकाश की तरतमता समझ बैठता है उसीप्रकार कर्मावरण की तरतमता को जीवस्वभाव की प्रकटता की तरतमता समझ बैठता है । वस्तुतः जिसप्रकार सूर्यप्रकाश की प्रकटता मे तरतमता नहीं होती–वह पूर्णरूप से प्रकट रहता है उसीप्रकार आत्मा के शुद्धस्वभाव की प्रकटता में तरतमता नही होती, फिर भले हि वह उस आत्मस्वरूप को आवृत करनेवाले कर्मों की आवरकता में तरतमता हो । अतः संसारी आत्मा को सभी अवस्थाओं में आत्मा का स्वभाव अविच्छिन्नरूप से जैसा का तैसा बना रहनेसे–उसमें तरतमता न होनेसे सिर्फ कर्मनिमित्तकविभावभावात्मक पटलों को हटानेका काम उसे करना है । पटल के हटते हि उसका शुद्धस्वरूप प्रकट हो जाता है । अतः अपनी भेदज्ञानात्मक सामर्थ्य भावमोहा-

त्मकविभावभावों का अभाव करना हि भव्य जीवों का फर्ज है। उक्त विभावभावों का अभाव करके भव्य जीवों को शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करना चाहिये। मोहात्मक विभावभाव हि आत्मदर्शन नहीं होने देते। भावमोहरहित आत्मज्ञान आत्मदर्शन का प्रतिबंधक नहीं है। यदि मोहरहित अल्पज्ञान आत्मदर्शन का प्रतिबंधक होता तो चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानतक की जीव की अवस्थाओं में ज्ञान की मेघपटलाच्छन्न सूर्य के समान पूर्ण व्यक्तता न होनेके कारण अल्पता होनेसे उक्तगुणस्थानवर्ती जीवों को आत्मस्वरूप का दर्शन कदापि नहीं हो पाता। साराश, बद्धस्पृष्टत्व, अन्यत्व, अनियतत्व, संयुक्तत्व और क्षायोपशमिक दर्शनज्ञानादिरूप विशेष कर्मनिमित्तक होनेसे और क्षायिक दर्शनज्ञानादिरूप विशेष कर्मनिमित्तक और उपचरित होनेसे वह भाव आत्मा के–आत्मस्वामिक नही है; क्यों कि आत्मा का स्वभावभूत ज्ञान नैमित्तिक और उपचरित नहीं होता–नैसर्गिक होता है। परकर्तृक भाव आत्मा के स्वभावभूत भाव कैसे हो सकते है? ऐसे आत्मस्वभाव की प्राप्ति का भेदज्ञान हि अमोघ साधन है।

भेदज्ञान की सामर्थ्य से संपूर्ण बंधों का अभाव करके अंतरंग में आत्मस्वभाव का ज्ञान-चिन्तन करनेसे ध्याता को शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है इस अभिप्राय को व्यक्त करनेवाला कलश कहते हैं–

भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी–
र्यद्यन्तः किल कोप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

अन्वय– अहो! यदि किल कः अपि सुधीः भूतं भान्तं अभूतं बन्धं रभसात् निर्भिद्य एव मोहं हठात् व्याहत्य अन्तः कलयति आत्मानुभवैकगम्यमहिमा नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलः शाश्वतः देवः अयं आत्मा स्वयं ध्रुवं व्यक्तः आस्ते।

अर्थ– हे भव्य जीवो! यदि कोई भी सम्यग्ज्ञानी–सम्यग्दृष्टि जीव भूतकाल में हुए, वर्तमानकाल में होने-होनेवाले और भविष्यकाल में होनेवाले बंधो को अपनी (भेदज्ञानात्मक) सामर्थ्य से तोड़कर हि उनका नाश कर डालनेपर हि मोह का (भावमोह का) शीघ्र नाश कर अंतरंग में अनुभव करने लगा तो जिसका माहात्म्य एकमात्र स्वानुभव से जाना सकता है, जो आत्माको कलंकित करनेवाले कर्मरूप कीचड से रहित होती है, जो आत्मस्वरूप में रममाण होती है–स्वानुभवनिमग्न होती है ऐसी यह शुद्ध आत्मा स्वयमेव व्यक्त हो जाती है यह निश्चित है।

त. प्र.– अहो भव्याः! यदि किल कोऽपि कश्चनाऽपि सुधीः शोभनबुद्धिः सम्यग्ज्ञानी सम्यग्दृष्टिर्वा भव्यः भूतमतीतकाले संसारावस्थायां कृतं सकषायत्वादात्मतदात्तकर्मपुद्गलानां संश्लेषं, भान्तं वर्तमानकाले सकषायत्वात्क्रियमाणमात्मप्रदेशात्मादत्तकर्मपरमाणूनां संश्लेषं, अभूतमग्रे भविष्यति काले सकषायत्वात्करिष्यमाणमात्मप्रदेशात्मोपात्तकर्मपरमाणूनां संश्लेषं रभसात्सामर्थ्येन। भेदज्ञानबलेनेत्यर्थः। निर्भिद्य निःशेषं भित्त्वोद्ग्रथ्य सश्लिष्टकर्मपुद्गलानात्मप्रदेशेभ्यः पृथक् कृत्वैव मोहं मोहनीयं भावात्मकं कर्म हठाद्बलात्कारेण शीघ्रं वा व्याहत्य तपोध्यानादिभिः क्षपयित्वाऽन्तः अन्तरात्मनि कलयति स्वानुभवगोचरतां नयति तर्हि तस्य तथाऽन्तरात्मन्यात्मानमनुभवतः शुद्धनिश्चयनयापेक्षया नित्यं सततं कर्मकलङ्कपङ्कविकलः कर्मकलङ्करहितोऽविनश्वरत्वाच्छाश्वतो नित्यो देवः स्वशुद्धस्वरूप एव रममाणोऽयमात्मानुभवैकगम्यमहिमाऽऽत्मानुभवरूपैकसाधनगम्यमहिमात्मा। आत्मानुभवेनैवैकेन गम्योऽधिगम्यो महिमा विभवोऽविकलं सामर्थ्यं निखिलज्ञेयज्ञप्तिवीर्यं यस्य सः। आत्मा ध्रुवं निश्चितं यथा स्यात्तथा स्वयमेव व्यक्तोऽनुभवगोचर आस्ते भवति। तपोध्यानादिभिर्मोहनीयाख्यं द्रव्यभावकर्म क्षपयितव्यमिति

भावः । तस्मिन्क्षपिते सति लब्धमोहनीयाख्यकर्मपुद्गलानामात्मनो विगलितत्वात्तदुदयजन्यमिथ्यादर्शनादिरूपवैभाविकभावानुपपत्तेर्नूतनमोहनीयकर्मबन्धासम्भवाद्भविष्यत्यपि कालेऽनन्तसंसारकारणभूतमिथ्यादर्शनादिरूपवैभाविकभावोत्पत्त्यसम्भवाद्बन्धाभावो भवति । अतस्तपोध्यानादिभिर्मोहनीये कर्मणि क्षपिते सति भूतभाविभवत्कालभाविबन्धाभावो भवति । तदभावे च विगलितकर्ममलकलङ्कस्य नित्यस्यात्मानुभूतिरूपैकसाधनगम्यज्ञेयज्ञानसाधनानन्तवीर्यस्यात्मनो निश्चयेन साक्षात्कारो भवति । अतोऽपवर्गावस्थाप्राप्त्यभिलाषवता प्रथमतस्तावत्तपोध्यानादिभिर्मोहनीयं कर्मैव क्षपयितव्यमिति भावः, तत्क्षपणमन्तरेण शुद्धात्मस्वरूपप्राप्तिसाधनभूतस्वसंवेदनज्ञानप्रादुर्भूत्यसम्भवात् ॥

विवेचन– इस कलश के द्वारा शुद्ध आत्मा के साक्षात्कार का उपाय बताया गया है । मोहनीय कर्म एक ऐसा प्रबल कर्म है कि उसके उदय से जो मिथ्यादर्शनादिरूप वैभाविकभाव आत्मा में व्यक्त होते हैं उनसे आत्मा को अनंत संसार में परिभ्रमण करानेवाला कर्मबन्ध होता है । इसी कारण से आत्मा की प्राप्ति के लिए मोहनीय कर्म का क्षय करना आवश्यक है । इस कर्म का नाश होनेपर वर्तमानकाल में मिथ्यादर्शनादिरूप वैभाविकभाव उत्पन्न नही होते । उनके अभाव से वर्तमानकाल में अनंत संसार के कारणभूत और आत्मसाक्षात्कार में बाधाएं उपस्थित करनेवाला कर्मों का बंध नही होता । इस बंध के अभाव से भविष्यकाल में भी ऐसे कर्मों का बंध नहीं होता । इसतरह मोहनीयकर्म के क्षय से किसी भी तरह का बंध न होनेसे आत्मानुभव में आनेवाली बाधाएं स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं । इनके नष्ट होनेपर नित्य, कर्ममलरहित और आत्मानुभूतिमात्र से जिसके निखिल ज्ञेय पदार्थों को उनके के सभी पर्यायोंसहित जाननेकी अनन्त वीर्य–सामर्थ्य का ज्ञान होता है ऐसी आत्मा का साक्षात्कार स्वयमेव हो जाता है । अतः मुमुक्षु भव्य आत्मा को सबसे पहले मोहनीयकर्म का क्षय करना चाहिये; क्यों कि इसका क्षय करनेपर हि भेदज्ञान के द्वारा शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली आत्मा का अनुभव प्राप्त होता है ।

अपनी आत्मा में शुद्ध आत्मा की स्थापना कर उस आत्मा की अनुभूति में स्थिर होना हि शुद्धात्मप्राप्ति का उपाय है यह बताते है–

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्पमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥

अन्वय– इति या ज्ञानानुभूतिः (सा) किल इयं शुद्धनयात्मिका आत्मानुभूतिः एव इति बुद्ध्वा आत्मनि सुनिष्प्रकम्पं समन्तात् निवेश्य एकः (समन्तात्) अवबोधघनः अस्ति ।

अर्थ– इसप्रकार मोहनीयकर्म के क्षपण से (उसका क्षय किया जानेसे) भूतकालीन, वर्तमानकालीन और भविष्यकालीन बंधो का नाश हो जानेसे जो शुद्ध ज्ञान का अनुभव प्राप्त होता है वह शुद्धनयरूप आत्मानुभूतिरूप हि है ऐसा जानकर जो शुद्ध आत्मा को अपनी आत्मा में पूर्णतया और निश्चलरूप से स्थापित करता है वह कर्ममलरहित और भावकर्मरहित होकर एकरूप होता हुआ (केवलज्ञानप्राप्ति के अनन्तर) नित्य अर्थात् अनन्तकालतक ज्ञानपिण्डरूप बना रहता है।

त. प्र.–इतीत्थममुना प्रकारेण । मोहनीयकर्मक्षपणाद्भूतभाविभवद्बन्धविनाशनेनेत्यर्थः । या ज्ञानाभूतिः शुद्धज्ञानानुभवः सा किल परमार्थतः शुद्धनयात्मिका शुद्धनयस्वरूपा आत्मानुभूतिश्शुद्धस्वरूपकेवलज्ञानानुभवनमेव, नान्यत्किञ्चन । शुद्धनयापेक्षया ज्ञानात्मनोरभिन्नत्वादात्मा ज्ञानमेव । इति बुद्ध्वा ज्ञात्वा यः शुद्धमात्मानमात्मनि स्वात्मनि सुनिष्प्रकम्पं सुतरां स्थिरो यथा भवति तथा समन्तात्सामस्त्येन निवेश्य संस्थाप्य तत्र स्थिरीभूयैको विगलितद्रव्यभावकर्ममलकलङ्को नित्यमनन्तकालं

यावदवबोधघनः केवलज्ञानपिण्डरूपोऽस्ति भवति । मोहनीयकर्मक्षपणेन समुपजायमाना ज्ञानानुभूतिश्शुद्धनिश्चयनयापेक्षया ज्ञानात्मनोरन्योन्यभिन्नत्वादात्मानुभूतिरेवेति विनिश्चित्य यः कश्चित्स्वात्मनि शुद्धात्मानं सामस्त्येन सुस्थिरं स्थापयित्वा तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपानुभवनकर्मणि स्थिरीभूय यदा विगलितसकलकर्ममलकलङ्को भवति तदा स नित्यमनन्तकालं यावत्केवलज्ञानमयो भवति । केवलज्ञानं नित्यं तदावारकद्रव्यभावात्मककर्मणः क्षीणत्वात्तत्र तारतम्यासम्भवात् ।

विवेचन-- मोहनीयकर्म के उदय से कर्मबद्ध असमर्थ आत्मा भावमोहात्मक विभावरूप से परिणत होती है । यह परिणति अशुद्ध होती है । जिससमय जीव इस विभावरूप से परिणत होता है उससमय उसकी भेदज्ञानरूप से परिणति नहीं हो सकती; क्यो कि एक हि समय में एक हि द्रव्य की दो विभिन्नजातीय परिणतियां नहीं हो सकती। मोहात्मक विभावपरिणाम और भेदज्ञानात्मक परिणाम इनमें विरोध है । मोहात्मकविभावपरिणाम भेदज्ञान का और आत्मानुभूति का प्रतिबन्धक होता है । अतः भावमोहात्मक जीवपरिणति का अभाव होनेपर हि शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है यह अभिप्राय सुतरां स्पष्ट हो जाता है। भावमोहात्मक परिणति के अभाव में होनेवाली ज्ञानानुभूति आत्मानुभूतिरूप हि होती है । आत्मा का स्वभावभूत शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आत्मा इनमें शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अभेद होता है । अतः आत्मानुभूति और ज्ञानानुभूति इनमें अभेद होनेसे दोनों एकरूप है । ज्ञानानुभूति और आत्मानुभूति अभिन्न है । ऐसा निश्चय कर शुद्ध आत्मा को अपनी आत्मा में स्थापित कर शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिये । आत्मानुभूति में निश्चल होनेसे आत्मा से कर्मपुद्गल फलदानसामर्थ्यविकल होकर छूट जाते है । घातिकर्मों के छूट जानेपर स्वभावभूत अविनश्वर केवलज्ञान आत्मा में निरावरण हो जानेसे व्यक्त हो जाता है--उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के बाद नित्य अर्थात् अविनश्वर और तारतम्यरहित हो जाता है; क्यो कि उस अवस्था में केवलज्ञानावरणकर्म का अभाव हुआ होता है ।

जो सपूर्णरूप से शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है वह सपूर्ण जिनशासन का अनुभव करता है इस अभिप्राय को अब व्यक्त किया जाता है--

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥ १५ ॥

यः पश्यत्यात्मानमबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।
अपदेशसूत्रमध्यं[1] पश्यति जिनशासनं[2] सर्वम् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ-- (**यः**) जो (**आत्मानं**) आत्मा का (**अबद्धपुट्ठं**) अबद्धस्पृष्टरूप से (**अनन्यं**) अनन्यरूप से (**अविशेषं**) अविशेषरूप से, नियतरूप से और असयुक्तरूप से (**पश्यति**) अनुभव करता है वह (**अपदेशसूत्रमध्यं**) जिस मे द्रव्यश्रुत का याथार्थ्य अन्तर्भूत है ऐसे (**सर्वं**) सपूर्ण (**जिनशासनं**) जिनोपदेश का या शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले या अनुभवकरनेवाले ज्ञान का वह (**पश्यति**) अनुभव करता है ।

१-- अपदिश्यतेऽर्थोऽनेनेत्यपदेशः । शब्दः इत्यर्थः । सूच्यते प्रकटीक्रियते, सूत्र्यते उद्ग्रथ्यते वा आत्मस्वरूपं येन तत् सूत्रम् । यद्वा सूत्र्यते बध्यते आत्मना तादात्म्येन सम्बध्यते येनेति सूत्रम् । तेन सूत्रमित्यस्य ज्ञानमित्यर्थः । अपदेशः शब्दः तस्य सूत्रं ज्ञानम् । द्रव्यश्रुतज्ञानमित्यर्थः । तस्य मध्यं याथार्थ्यं यस्मिस्तत् । २-- जिनः शुद्धात्मा शास्यते स्वायत्तीक्रियते येन तत् । शुद्धात्मज्ञानमित्यर्थः ।

आ. ख्या.– या इयं अबद्धस्पृष्टस्य अनन्यस्य नियतस्य अविशेषस्य असंयुक्तस्य च आत्मनः अनुभूतिः सा खलु अखिलस्य जिनशासनस्य अनुभूतिः, श्रुतज्ञानस्य स्वयं आत्मत्वात्। ततः ज्ञानानुभूतिः एव आत्मानुभूतिः। किंतु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां अनुभूयमानं अपि ज्ञानं अबुद्धलुब्धानां न स्वदते। तथा हि– यथा विचित्रव्यञ्जनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यां अनुभूयमानं लवणं लोकानां अबुद्धानां व्यञ्जनलुब्धानां स्वदते, न पुनः अन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्। अथ च यदेव विशेषाविर्भावेन अनुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेन अपि। तथा विचित्रज्ञेयाकारकरम्बितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यां अनुभूयमानं ज्ञानं अबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनः अन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्। अथ च यदेव विशेषाविर्भावेन अनुभूयमानं ज्ञान तदेव सामान्याविर्भावेनाऽपि। अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैन्धवखिल्यः अन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवलः एव अनुभूयमानः सर्वतः अपि एकलवणरसत्वात् लवणत्वेन स्वदते, तथा आत्मा अपि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवलः एव अनुभूयमानः सर्वतः अपि एकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते।

त. प्र.– अबद्धस्पृष्टस्य शुद्धनिश्चनयापेक्षया बन्धाभावाद्बद्धकर्मणाऽस्पृष्टस्यानन्यस्यावस्थान्तरगतत्वेऽपि स्वीयज्ञानमात्रस्वभावस्याप्रच्युतेर्भिन्नत्वमप्राप्तस्य, अवस्थाभेदेन व्यवहारनयेन ज्ञानस्य तारतम्यदर्शनेऽपि परमार्थतो ज्ञानवृद्धिहान्यसम्भवान्नियतस्य, व्यवहारनयेन दर्शनज्ञानादिपर्यायवत्त्वेपि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया पर्यायविकलत्वादविशेषस्य, स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकमिथ्यादर्शनादिभावमोहादिरूपेणापरिणमनाच्छुद्धनिश्चयनयापेक्षया मोहात्मकविभावभावसंयोगविकलत्वादसंयुक्तस्य चात्मनो ज्ञायक–भावमात्रैकस्वभावस्यानुभूतिरनुभवः। साऽनुभूतिः खलु परमार्थतोऽखिलस्य जिनशासनस्य भावश्रुतरूपस्य शुद्धात्मप्राप्तिक्रियापरिणत्याश्रयत्वात्तत्प्राप्तिक्रियाकर्तुर्वा ज्ञानस्याऽनुभूतिः श्रुतज्ञानस्य भावश्रुतात्मकज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्। जिनं समाविर्भूतकेवलज्ञानस्वरूपानन्तपर्यायं शुद्धमात्मानं शास्ति स्वायत्तीकरोतीति जिनशासनम्। 'व्यानड्बहुलम्' इति कर्तर्यनट्। श्रुतज्ञानविशेषः इत्यर्थः। ततस्तस्मात्कारणाज्ज्ञानानुभूतिरेव ज्ञानस्याऽनुभवनमेवात्मानुभूतिरात्मानुभवनम्। किन्तु तदानी ज्ञानानुभूतिकाले आत्मानुभूतिकाले वा सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां सामान्याविर्भावविशेषतिरोभावप्रकारेण भूतं ताभ्यां लक्षितं वा। 'येनाङ्गविकारेत्थम्भावौ' इतीत्थम्भावे भा। यत्र सामान्यस्याविर्भावो विशेषस्य च तिरोभावो जातस्तज्ज्ञानम्। आविर्भूतसामान्यं तिरोभूतविशेषं च ज्ञानमनुभूयमानमप्यबुद्धलुब्धानामविज्ञातज्ञानसामान्याना ज्ञानविशेषात्मकपर्यायैराकृष्टानां चाऽज्ञानिनाम्। एकान्तेन पर्यायमात्रदृष्टीनामित्यर्थः। न स्वदते तेभ्यो न रोचते नानुभवगोचरतां याति। तथा तदेवोपपादयति--यथा येन प्रकारेण विचित्रव्यञ्जनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यां नानाविधलबङ्गादिगन्धद्रव्यसम्मेलनप्रादुर्भूतसामान्यतिरोभावविशेषाविर्भावाभ्याम्। विचित्राणि नानाप्रकाराणि च तानि व्यञ्जनानि लवङ्गादिगन्धद्रव्याणि च विचित्रव्यञ्जनानि। तेषां तैर्वा संयोगेन सम्मेलनेनोप-

जातौ प्रादुर्भूतौ सामान्यतिरोभावविशेषाविर्भावौ यौ ताभ्यामुपलक्षितम्। पूर्ववदित्थम्भावलक्षणा भा। अनुभूयमानमनुभवगोचरीक्रियमाणं लवणं सैन्धवमबुद्धानामविज्ञातलवणसामान्यस्वरूपाणां व्यञ्जनलुब्धानां लवङ्गमरीचादिगन्धद्रव्यसंयोगजन्यविशिष्टस्वादलुब्धानामुपदंशलुब्धानां वा स्वदते तेभ्यो रोचते तेषां सन्तोषं वा जनयति, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामन्यलवङ्गादिगन्धद्रव्यसंयोगवैकल्योत्पन्नसामान्याविर्भावविशेषतिरोभावाभ्यामुपलक्षितं लवणं न रोचते। अन्येषां लवङ्गादिगन्धद्रव्याणां यः संयोगस्तैर्वा लवणस्य यः संयोगस्तस्य शून्यमभावो यत्र लवणे तदन्यद्रव्यसंयोगशून्यम्। तस्य भावः। तयोपजातौ समुद्गतौ यौ सामान्याविर्भावविशेषतिरोभावौ ताभ्याम्। इत्थम्भावलक्षणे भा। ये लवणलवङ्गमरीचादिगन्धद्रव्यसंयोगावस्थाविशेषलब्धास्तेभ्यो लवङ्गादिनानाप्रकारकगन्धद्रव्यसंयोगोपजातविशिष्टावस्थमेव लवणं तेभ्यो रोचते, न केवलं; नापि लवणविकलमन्यद्रव्यसंयोगमात्रस्वरूपं चूर्णं वा, तेषां परद्रव्यसंयोगनिमित्तकपर्यायमात्राकृष्टचित्तत्वाद् गुणीकृतलवणद्रव्यसामान्यस्वरूपज्ञानत्वाच्च। अथ च किन्तु यदेव विशेषाविर्भावनेनोपलक्षितमनुभूयमानं लवणं तदेव लवणं सामान्याविर्भावेनाप्युपलक्षितमनुभूयमानम्। उभयोरपि सामान्यविशेषाविर्भावावस्थयोरनुभूयमानस्य लवणस्याविशेषत्वमित्यर्थः। तथा लवणस्य यः प्रकारः उक्तस्तेन प्रकारेण विचित्रज्ञेयाकारकरम्बितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यां नानाविधज्ञेयसामान्यविशेषस्वरूपज्ञानाकारस्वज्ञानपरिणामसंवलितत्वसम्भूतसामान्यतिरोभावविशेषाविर्भावाभ्यां संलक्षितम्। विचित्राणि नानाप्रकाराणि ज्ञेयानि ज्ञानविषयभूतानि द्रव्याणि। तान्याक्रियन्ते प्रकटीक्रियन्ते यैर्ज्ञानपरिणामविशेषैस्तैः करम्बितं प्रतिबद्धम्। तस्य भावः। तेनोपजाताभ्यां ज्ञानगोचरीभूताभ्यां सामान्यतिरोभावविशेषाविर्भावाभ्यामुपलक्षितमनुभूयमानमनुभवगोचरीक्रियमाण ज्ञानमबुद्धानामज्ञातयथार्थज्ञानस्वरूपाणा ज्ञेयाकृष्टबुद्धिनां ज्ञेयज्ञानभेदलुब्धानां स्वदतेऽबुद्धलुब्धेभ्यः प्राधान्येन रोचते तै. प्राधान्येनानुभूयते वा। न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां ज्ञेयाकाररूपपर्यायसंयोगाभावप्रादुर्भूतसामान्यविर्भावविशेषतिरोभावाभ्याम्। ज्ञेयाकारज्ञानरूपपर्यायाणां संयोगस्य शून्यताऽभावस्तेन कारणेनोपजाताभ्यां प्रादुर्भूताभ्यां सामान्याविर्भावविशेषतिरोभावाभ्यामुपलक्षितं ज्ञानं ज्ञेयलुब्धानां ज्ञेयज्ञानाकारज्ञानसामान्यपर्यायमात्रलुब्धानामज्ञानिनां स्वदते तेभ्यो रोचते तैरनुभूयते वा। अत्र ज्ञेयाकारज्ञानपर्यायाणां स्वभावपर्यायत्वेऽपि विनश्वरत्वात्संयोगित्वं, न समवायित्वं, यावद्द्रव्यास्तित्वकालं सहभाविनः एव समवायित्वसम्भवात्। अत्र टीकायां प्रयुक्तो विशेषशब्दः पर्यायवचनः। अथ च किन्तु यदेव विशेषाविर्भावेन प्रादुर्भूतविशिष्टपर्यायत्वेनोपलक्षितं सदनुभूयमानमनुभवगोचरीक्रियमाणं तदेव सामान्याविर्भावेनाप्याविर्भूतसामान्यमात्ररूपेणाप्यनुभूयमानम्। विशेषस्य पर्यायस्याविर्भावः प्रादुर्भावो यस्मिन्। तेन। इत्थम्भवलक्षणे भा। सामान्याविर्भावेनापि– सामान्यस्य निष्पर्यायज्ञानमात्रस्याविर्भावेनोपलक्षितमप्यनुभूयमानमित्यर्थः। यदेव सपर्यायावस्थायां ज्ञानं तदेव निःपर्यायावस्थायामपि। अवस्थाद्वैविध्येपि न तयोरवस्थावतो भेदः इति भावः। अलुब्धबुद्धानामनुपस्करलुब्धानां सैन्धवयथार्थस्वरूपज्ञानवतां तु यथा येन प्रकारेण सैन्धवखिल्यः सिन्धुदेशोद्भवखनिजलवणशकलोऽन्येषां लवणव्यतिरिक्तानां द्रव्याणां लवङ्गमरीचतमालपत्रादिगन्धद्रव्याणां यः सयोगः सम्मेलनं तस्य व्यवच्छेदः परिहारस्तेन केवलः एवान्यद्रव्यसम्पर्कविकलः एवानुभूयमानोऽनुभूवविषयीक्रियमाणः सर्वतोऽपि प्रत्यवयवमप्येकलवणरसत्वाददूषितैकक्षाररसवत्त्वाल्लवणत्वेन यथार्थलवणस्वभावेनोपलक्षितं स्वदते स्वादगोचरतां

याति । अनुभवविषयतां प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा तेन प्रकारेणात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन द्रव्यभाव-कर्मात्मकपरद्रव्यसम्पर्कपरिहारेण । स्वभावविभावपर्यायाणामन्यकार्यद्रव्यवन्नश्वरत्वाद्यावद्द्रव्यभावित्वा-भावात्परद्रव्यत्वं विज्ञेयं, परद्रव्यत्वाच्च संयोगित्वम् केवलोऽसहायः एवानुभूयमानोनुभवगोचरीक्रियमा-णः सर्वतोऽपि प्रत्यात्मप्रदेशमप्येकविज्ञानघनत्वाद्विज्ञानमात्रपिण्डत्वात् । एकशब्देनात्र व्यवहारापेक्षया धर्मानन्त्येऽपि तस्यानन्तधर्मवत्त्वस्य परिहारः कृतः । ज्ञानत्वेन ज्ञानस्वरूपेण स्वदते स्वादगोचरीभवति । अनुभवगोचरीभवतीत्यर्थः । ज्ञानपर्यायिनाकृष्टचेतसां विज्ञातयथार्थज्ञानस्वरूपाणां सर्वास्वप्यवस्थास्वा-त्मा स्वरूपेणानुभवगोचरतां यातीत्यभिप्रायः ।

टीकार्थ— यह जो अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसी (शुद्ध) आत्मा की अनुभूति है वह वस्तुत. सपूर्ण जिनशासन की या शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के साधनभूत भावश्रुतात्मक स्वसंवेदनज्ञान की अनुभूति है; क्यों कि स्वय (भाव–) श्रुतज्ञान आत्मा (आत्मरूप) होता है। उस कारण से ज्ञान की अनूभूति हि आत्मा की अनुभूति है । किंतु उस ज्ञानानुभूति के या आत्मानुभूति के समय जिसमें (ज्ञान-) सामान्य का आविर्भाव और विशेषों का (पर्यायों का) तिरोभाव (प्रच्छन्नता) हुए होने हैं ऐसे ज्ञान का अनुभव किया जानेपर भी वह विशेष-रहित–पर्यायरहित सामान्यमात्ररूप ज्ञान अज्ञानी और पर्यायों की ओर आकृष्ट हुए जीवों को ठीक नहीं जचता–अनुभव मे नहीं आता । उसीका खुलासा करते हैं–जिसप्रकार नानाप्रकार के लवंग, मिर्च आदि गधद्रव्यों के सयोग से उत्पन्न हुए लवणत्वसामान्य का तिरोभाव (प्रच्छन्नता) और विशेषों का (पर्यायों का) आविर्भाव हुआ होता है ऐसे लवण का अनुभव किया जानेसे गन्ध द्रव्यों के निमित्त मे पर्यायरूप से परिणत हुआ लवण (नमक) जिन्हें लवण के यथार्थस्वरूप का ज्ञान नहीं होता और जो गन्धद्रव्यों की ओर आकृष्ट हुए होते है ऐसे जीवों का विशिष्टपर्याय-रूप मे लवण अच्छा–ठीक लगता है–लवण की विशिष्ट पर्यायें अच्छी लगती है, अन्य लवग, मिर्च आदि गधद्रव्यों के सयोग से रहित होनेका कारण जिसमे लवणत्वसामान्यमात्र का आविर्भाव हुआ होता है ऐसे लवणस्वरूप सामान्य-मात्र का अनुभव किया जानेपर भी सामान्यमात्ररूप अर्थात् अन्यरूप से परिणत न हुआ लवण अच्छा नही जचता; किंतु विशेषों का जिसमें आविर्भाव हुआ होता है अर्थात् अन्यद्रव्यनिमित्तक विशिष्ट पर्यायों के रूप से जो परिणत हुआ होता है ऐसा लवण जब अनुभूति का विषय बनाया जाता है तब जो लवण होता है वहि लवण जब उसका लवणत्वसामान्य से युक्तरूप से अनुभव किया जाता है तब (भी) होता है । (सविशेष अवस्था मे और निर्विशेष अवस्था मे लवण एकरूप हि होता है–सविशेष अवस्था में जो लवण होता है वह निर्विशेष अवस्था मे होनेवाले लवण से भिन्न नहीं होता ।) उसीप्रकार नानाविध ज्ञेयों के ज्ञानरूप परिणामों से अनेकविधता उत्पन्न हो जानेसे जिसमें (ज्ञान के) सामान्य का तिरोभाव (प्रच्छन्नता) और विशेषों का (पर्यायों का) आविर्भाव हुए होते हैं ऐसे ज्ञान का जब अनुभव किया जाता है तब उन्हें ज्ञान के सामान्यस्वरूप का ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञेयों की ओर आकृष्ट हुए होते हैं ऐसे जीवों को ज्ञान की पर्यायें हि ठीक जंचती हैं अर्थात् ज्ञान की अनेकविधता हि ठीक जंचती है । (जो यथार्थ ज्ञानस्वरूप के ज्ञान से वंचित होते है उन्हें ज्ञान की सम्यग्दर्शनादिरूप और विभावभावरूप पर्यायें हि ठीक जचती है । यहि पर्यायदृष्टि है–द्रव्यदृष्टि नहीं । इस पर्यायदृष्टि से ज्ञान खण्डखण्डरूप दिखाई देता है । वस्तुतः वह खण्डरूप नहीं है--अखंडरूप है ।) उन्हें (पर्यायदृष्टिवाले जीवों को) इसप्रकार के ज्ञानरूप ऐसे आत्मा से कथचित् भिन्न स्वभावपर्यायों के और कर्मनिमित्तजन्य अन्य विभावपर्यायों के संयोग का अभाव हो जानेसे जिसका (ज्ञानत्व) सामान्य आविर्भूत हुआ होता है और जिसके स्वभावविभावादिपर्यायों का अभाव होता है ऐसा ज्ञान अनुभव में न आनेसे ठीक नहीं जंचता; (फिर भले हि उसकी उक्तप्रकार से अनुभूति होती हो ।) किंतु जिसमें विशेषों का आविर्भाव हुआ होता है अर्थात् जो पर्यायों के रूप से परिणत हुआ होता है उसका अनुभव करते समय जो ज्ञान (विद्यमान) होता है वहि जिसके सिर्फ सामान्य का आविर्भाव हुआ होता है ऐसा ज्ञान होता है । कहनेका भाव यह है कि सपर्याय और निष्पर्याय अवस्थाओं में ज्ञान एक हि होता है । दोनों अवस्थाओं

में ज्ञान की विभिन्नता-अनेकता नहीं होती।) जो गन्धद्रव्यनिमित्तक लवण की पर्यायों के प्रति आकृष्ट हुए नहीं होते और जो लवणसामान्य के ज्ञान से युक्त होते हैं उन्हें जिसप्रकार अन्य गन्धद्रव्य के संयोग को अलग कर-छोडकर जिसका अनुभव किया जा रहा है ऐसी सिर्फ नमक की डली सभी प्रदेशों में एकलवणरसरूप होनेसे ठीक जंचती है उसीप्रकार आत्मा भी द्रव्यकर्मरूप और विभावभावरूप परद्रव्यों के संयोग का व्यवच्छेद-अभाव कर अन्यद्रव्यसंपर्करहितत्वरूप से-शुद्धरूप से अनुभवगोचर किया जानेपर सभी के सभी प्रदेशों में भी एकविज्ञानघनरूप होनेसे ज्ञान के रूप से अनुभव में आता है।

विवेचन– चार घातिकर्मों का क्षय हो जानेपर आत्मा की जो अवस्था व्यक्त होती है वह शुद्धावस्था होती है। घातिकर्मों के अभाव में या सभी कर्मों के अभाव में घातिकर्मों के या सभी कर्मों के निमित्तकर्तृत्व का भी अभाव हो जाता है। इसप्रकार कर्मों का अभाव होनेसे शुद्ध आत्मा के विषय में बद्धस्पृष्टत्व, अन्यत्व, अनियतत्व, सविशेषत्व और संयुक्तत्व इनका अभाव हो जाता है। निर्विकल्पसमाधि में स्वसंवेदन के द्वारा जिस शुद्ध आत्मा का अनुभव किया जाता है वह आत्मा भी शुद्ध होनेसे उसके विषय में भी बद्धस्पृष्टत्वादिविभावभावों का अभाव होता है। ऐसा विभावभावविकल जो अनुभव होता है वह अनुभव परमार्थतः संपूर्ण जिनशासन की या आत्मा की साध्यभूत जो शुद्ध अवस्था उसकी प्राप्ति का साधक-साधन जो स्वसंवेदनज्ञान की शुद्ध-शुद्धतर-शुद्धतम आदि सभी परिणतियां उन सभी परिणतियों के रूप से परिणत होनेवाला जो वह ज्ञानविशेष उसकी अनुभूति या उसरूप से ज्ञानसामान्य की अनुभूति है। यह स्वसंवेदनज्ञान श्रुतज्ञानात्मक होता है और यह भावश्रुतज्ञान स्वयं आत्मस्वरूप होनेसे जो आत्मानुभूति होती वहि अखिल जिनशासन की अनुभूति है। उस कारण से आत्मानुभूति और ज्ञानानुभूति में किसी प्रकार से भेद नहीं है। आत्मा और ज्ञान इनमें तादात्म्यसम्बन्ध होनेसे आत्मानुभूति और ज्ञानानुभूति इनमें विभिन्नता किस प्रकार हो सकती है ? नामभेद से वस्तुभेद होता हि है ऐसा नियम नहीं है। किन्तु जब शुद्ध आत्मा का अनुभव किया जाता है तब अनुभूति का विषय बननेवाली शुद्ध आत्मा के बद्धस्पृष्टत्व, अन्यत्व, अनियतत्व, सविशेषत्व और संयुक्तत्व इन विभावभावों का अर्थात् विशेषों का तिरोभाव अर्थात् अभाव हो जानेसे सिर्फ सामान्य का आविर्भाव हो जाता है- 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः' इस नियमसूत्र के अनुसार विशेषों का तिरोभाव-अभाव-गुणीभाव होनेपर शेष सामान्यमात्र हि बचता है। आत्मा के पूर्वोक्त विशेष-पर्याय कर्मोदयनिमित्तक होनेसे उनका अभाव होनेपर हि शुद्ध आत्मा का स्वरूप व्यक्त होता है। शुद्धज्ञान हि शुद्ध आत्मा का स्वरूप है। अतः ज्ञान का अस्तित्व आत्मा की सभी अवस्थाओं में और सभी जीवों में पाया जानेसे वह सामान्य कहा जाता है। आत्मा का शुद्ध ज्ञान से युक्त होना हि उसके सामान्य का आविर्भाव होना है। ऐसी निर्विशेष शुद्ध आत्मा का जब अनुभव किया जाता है तब वस्तुतः उसके निर्विशेष शुद्ध ऐसे सामान्य ज्ञान का अनुभव हो जाता है। यहि सामान्यानुभूति है और यह सामान्यमात्रानुभूति हि दर्शन है। निर्विकल्पसमाधि में जो शुद्धात्मानुभूति होती है वह सामान्यानुभूति होती है; क्यों कि समाधिनिमग्न जीव के ध्यान का जो शुद्ध आत्मा विषय पडती है वह बद्धस्पृष्टत्वादिविशेषों से रहित होती है। यदि उन उक्त विशेषों से वह सहित होती तो उसका शुद्धस्वरूप मलिनित हो जानेसे शुद्धस्वरूप की अनुभूति असंभव हो जाती; किंतु ऐसा होना हि नहीं। इससे और एक बात स्पष्ट हो जाती है। जब आत्मा अनुभूति का विषय बनती है तब वह अपने सहभावी साधारण और असाधारण धर्मों के साथ हि उसका विषय बनती है। यहां विशेषरहित यह जो आत्मा का विशेषण दिया हुआ है उससे अनुभूति का विषय बनी हुई आत्मा की या उसके स्वभावभूत ज्ञान की निष्पर्याय अवस्था का ग्रहण अभीष्ट है। इसप्रकार विशेषों का तिरोभाव अर्थात् अभाव हो जानेसे जिसमें सामान्यमात्र का आविर्भाव हुआ होता है ऐसी आत्मा या ज्ञान का अनुभव हो जानेपर भी उन्हें आत्मस्वरूप का या उसके स्वभावभूत ज्ञान के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञेयों में लुब्ध हुए होते है अर्थात् जो सिर्फ बाह्यार्थाभिमुख होनेसे बहिरात्मा बने हुए होते हैं उन्हें निर्विशेष-निष्पर्याय सामान्यज्ञान जिसका शुद्ध आत्मा के द्वारा अनुभव किया जा सकता है-अच्छा नहीं लगता-वह उनके अनुभव में नहीं आ सकता। उक्त विषय का दृष्टान्त के द्वारा आचार्यप्रवर भगवदमृतचन्द्रसूरी ने खुलासा किया है। वह खुलासा इसप्रकार किया गया है--

नमक की डली का प्रत्येक अवयव—अंश अपने असाधारणस्वरूप से-क्षाररस से भरा हुआ होता है। कुछ अंशों में क्षाररस का सद्भाव और कुछ में अभाव होता हो ऐसा नहीं है। जबतक नानाप्रकार के गन्धद्रव्यों के साथ या उनका नमक के साथ संयोग नहीं होता तबतक सामान्यरूप क्षाररस की निष्पर्याय शुद्ध अवस्था बनी रहती है। जब नानाप्रकार के गन्धद्रव्य और लवण इन का संयोग होता है तब संयोग के निमित्त से क्षाररस विभावरूप से परिणत हो जाता है। विभावरूप से परिणत होनेपर भी लवण अपने रसगुण को छोड देता है ऐसा नहीं है; अपि तु अन्यद्रव्यसंयोग से किंचिद्विभिन्न रुचिका-स्वाद का निमित्त बन जाता है—उसका स्वरूप छूटता नहीं। नानाप्रकार के गंधद्रव्यों के संयोग से लवण का सामान्य अर्थात् निष्पर्यायलवणत्व सिर्फ तिरोहित—प्रच्छन्न हो जाता है और लवण की गन्धद्रव्यों के संबंध से विभावरूप से परिणति हो जाती है। लवण के इस अन्यद्रव्यनिमित्तक परिणाम में उसके असाधारणभूत क्षाररस का अन्वय होता है; किन्तु अन्वित क्षाररस की अनुभूति यथार्थ नहीं होती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त अवस्था में लवण का यथार्थस्वरूप तिरोहित—प्रच्छादित हो जाता है और उसके यथार्थस्वरूप को प्रच्छादित करनेवाली उस लवण की संयोगजन्य विशिष्ट अवस्था प्रादुर्भूत हो जाती है। प्रच्छन्न-यथार्थस्वरूपावस्था और आविर्भूतस्वरूपविभावावस्था इन दोनोंसे युक्त लवण का जब अनभव होता है तब जिन्हें लवण के यथार्थस्वरूप का ज्ञान नहीं होता और जो लवण की संयुक्तावस्थारूप संधानक, मसाला आदि के विषय में लुब्ध—लोलुप बने हुए होते है उन्हे संयुक्तावस्थ लवण हि ठीक जंचता है; क्यों कि उनकी दृष्टि संधानकादिरूप लवणपर्याय की ओर आकृष्ट हुई होनेसे लवण के यथार्थस्वरूप की ओर नहीं जाती। अतः उन्हे अन्य जो लवंग आदि गन्धद्रव्य उनके सयोग से शून्य होनेसे लवण की विभावपरिणति का अभाव और स्वभावपरिणति का सद्भाव होता है। विभावपरिणति का अभाव होना हि स्वभावपरिणति का प्रादुर्भाव होना है। अतः विभावपरिणति के अभाव से प्रादुर्भूत होनेवाली लवण की जो स्वभावरूपपरिणति होती है उसका अनुभव होनेपर भी वह स्वस्वरूपस्थित लवण जो संधानकादिलुब्ध—लवणपर्यायलुब्ध होते है उन्हें ठीक नहीं जंचता—रुचिकर नही मालुम होता। अतः वे लवण के यथार्थस्वरूप से आकृष्ट नहीं होते। संधानक, मसाला आदि में डालनेके पहले जो नमक होता है वही नमक उनमें डालनेके बाद भी होता है। सामान्यावस्था मे और विशेषावस्था में लवण में विभिन्नता नहीं होती है—दोनों अवस्थाओं में लवण एक हि होता हे। इसप्रकार दृष्टान्त का खुलासा किया गया है। अब दार्ष्टान्तिक का खुलासा किया जाता है। इस संसार में-जगत् में नानाप्रकार के अनन्त पदार्थ है और ज्ञान का विषय होनेसे ज्ञेयस्वरूप हे। जब ज्ञाता ज्ञेयों को जानता है तब वह ज्ञेयों के ज्ञानरूप से परिणत होता है। ज्ञाता का सामान्यरूप ज्ञान ज्ञेयाकारज्ञानरूपपरिणामो से सबद्ध हो जाता है। ज्ञेयाकारज्ञानरूप परिणामों के साथ सबद्ध हो जानेसे ज्ञान का सामान्यस्वरूप तिरोहित हो जाता है और ज्ञेयज्ञानस्वरूप से परिणत हो जानेके कारण उसमे विशेषों का—पर्यायों का आविर्भाव हो जाता है। इसप्रकार जिसमें ज्ञान के सामान्यस्वरूप का तिरोभाव और विशेषों का—पर्यायों का आविर्भाव हुआ होता है ऐसा अनुभव का विषय बना हुआ ज्ञान अर्थात् पर्यायरूप से परिणत हुआ ज्ञान जिन्हें निष्पर्याय शुद्ध ज्ञान का स्वरूप ज्ञात नहीं है—उस विशिष्ट ज्ञान का अनुभव नहीं है अर्थात् जिन्हे शुद्ध आत्मा की अनुभूति की प्राप्ति नहीं हुई है अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि है और उमीकारण से जो ज्ञेयलुब्ध है—बहिर्मुख बने हुए हं उन्हें ठीक—यथार्थ मालुम होता है। यदि उन्हें ज्ञान का यथार्थस्वरूप अर्थात् ज्ञान का निष्पर्याय परिणाम ज्ञात होता तो वे ज्ञेयलुब्ध—पर्यायदृष्टि नहीं बन पाते। अतः जीव जबतक शुद्धज्ञानस्वरूप के अनुभव से वंचित रहता है तबतक वह बहिर्मुख हि बना रहता है। ऐसी बहिर्मुख आत्मा को ज्ञेयाकारज्ञानपरिणाम के सयोग से शून्य अर्थात् ज्ञेय के ज्ञान के रूप से अपरिणत होनेसे प्रादुर्भूत होनेवाले सामान्य के आविर्भाव से और विशेषों के—पर्यायों के तिरोभाव से युक्त अर्थात् निष्पर्याय अवस्था से युक्त ज्ञान ठीक—यथार्थ मालुम नहीं होता; क्यों कि ऐसे ज्ञान के अनुभव से वह वंचित रहते आया है। जिसमें विशेषों का—पर्यायों का आविर्भाव हुआ है अर्थात् जो पर्यायों के रूप से परिणत हुआ होता है वह अनुभवगोचर होनेवाला ज्ञान और जिसमें सामान्यमात्र का आविर्भाव हुआ होता है वह अनुभवगोचर होनेवाला ज्ञान ये दोनों भी ज्ञान एकरूप होते हें—उनमें अभेद होता

है–एकत्व होता है । परिणामिज्ञान के अभाव में जब परिणाम अस्तिरूप नहीं बन पाते तब अपरिणत अवस्था में और परिणत अवस्था में अस्तिरूप होनेवाला ज्ञान एकरूप हि होता है–अपरिणत ज्ञान से परिणत ज्ञान का भिन्नव्यक्तित्व नहीं हो सकता ।

यहांतक जो प्रतिपादन किया गया है वह अज्ञानी अत एव पर्यायनिष्ठदृष्टि बहिर्मुख आत्मा की दृष्टि से किया गया है । ज्ञानी आत्मा की दृष्टि वस्तुनिष्ठ होती है । ज्ञानी जीव अपनी स्वभावविभावपर्यायों को वे विनश्वर होनेसे आत्मा के यथार्थभावरूप नहीं समझता–उन्हें नैमित्तिकभावरूप मानता है । ज्ञानी ज्ञेयलुब्ध अर्थात् बहिर्मुख नहीं होता-वह अन्तर्मुख हि होता है । ज्ञेयलुब्ध न होनेसे ज्ञानी जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञेयज्ञानरूप परिणतियां होती हैं अर्थात् जो उन परिणतियों का उपादानकारण होता है ऐसे निष्पर्याय ज्ञान का अनुभव करता है । जो लवण और गन्ध द्रव्यादि के संयोगरूप संधानक या मसाला की ओर आकृष्ट हुए नहीं होते और जो लवण के यथार्थस्वरूप को जानते हैं ऐसे जो पुरुष होते हैं वे अलुब्धबुद्ध हैं । जिसप्रकार अन्य द्रव्यों के संयोग को दूर हटाकर जब केवल--असयुक्त लवण की डली का अनुभव किया जाता है तब उस डली के प्रत्येक अवयव में एकमात्र लवणरस–क्षाररस भरा हुआ होनेसे वह नमक की डली लवण के रूप से अलुब्धबुद्धों के अनुभव में आती है, उसीप्रकार द्रव्यकर्मरूप और भावकर्मरूप परद्रव्यों के संयोग को दूर हटाकर जब केवलज्ञान का हि अनुभव किया जाता है तब आत्मा का प्रत्येक प्रदेश एकविज्ञानघनरूप स्वभाव से युक्त होनेसे ज्ञानियों को आत्मा का ज्ञानरूप से अनुभव होता है--वहि आत्मा की ज्ञानरूपता ज्ञानियों को यथार्थ मालुम होती है । साराश, आत्मा और ज्ञान इनमें भेद न होनेसे दोनों की एकरूपता यथार्थ है ।

यह बात प्रमाणसिद्ध है कि ज्ञान आत्मा का गुण है और आत्मा गुणी है । गुण और गुणी इनमें अभेदतादात्म्य होनेसे ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं । आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, किंतु उसमें तादात्म्यसबंध से रहनेवाला स्वभावभूत ज्ञानगुण सर्वथा अखण्ड नहीं है; क्यों कि वह अनंत ज्ञेयाकारों को धारण करता है–ज्ञेयाकारों के ज्ञान के रूप से परिणत होता है । ज्ञान में जितने ज्ञेयाकार होते हैं उतने उसके खड–विभाग होते हैं । संसार में भी यह घटज्ञान है, यह पटज्ञान है ऐसा कहा जाता है जिससे ज्ञान की खंडरूपता सिद्ध हो जाती है । जिनागम भी अनेक–अनन्त पदार्थों के स्वरूप का प्रतिपादक होनेसे ज्ञान का सखंडत्व सिद्ध हो जाता है । ऐसी दशा में अखड आत्मा और खंडात्मक ज्ञानगुण इनमें तादात्म्यसंबंध कैसे माना जा सकता है ? यदि आत्मरूप गुणी और ज्ञानरूप गुण इनमें तादात्म्यसबंध घटित न हुआ तो आत्मानुभूतिरूप या ज्ञानानुभूतिरूप भावश्रुत को आत्मा नहीं माना जा सकता । ऐसी दशा में शास्त्रकारों ने आत्मानुभूति को जिनशासन की अनुभूतिरूप जो बतलाया है वह किसतरह प्रामाणिक माना जाय ?

इस शंका का समाधान टीकाकार आचार्य ने बडे अच्छे ढंगसे किया है । दृष्टान्त के लिए लवण लीजिये । क्षाररस लवण का गुण है; क्यों कि वह लवण की हरएक डली में और डली के प्रत्येक अवयव में समानरूप से तादात्म्यसबंध से पाया जाता है । अब यह लवण किसी एक परद्रव्य में डाल दीजिये । परद्रव्य का लवण के साथ संयोग हो जानेपर उसका क्षाररस परिवर्तित हो जायगा अर्थात् परद्रव्य के संयोग से रहित सामान्य लवण के स्वाद से परद्रव्य के संयोग से युक्त लवण के स्वाद में विशेष पाया जायगा । कहनेका भाव यह है कि जब लवण का परद्रव्य के साथ संयोग होता है तब उसका क्षाररसरूप सामान्यधर्म अप्रकट–प्रच्छन्न रहता है और क्षाररस की विशिष्ट पर्याय प्रकट हो जाती है । जितने भी भिन्न परद्रव्यों के साथ लवण का संयोग हो जाता है उतने विशेष क्षाररस में पाये जाते हैं–उतनी उसकी परद्रव्यसंयोगनिमित्तक पर्यायें होती हैं । जो व्यंजनों के लोभी होते हैं अज्ञानतावश उन्हें विशेषता से युक्त लवण हि प्रिय लगता है । उन्हें लवण का सामान्य क्षाररस प्रिय नहीं लगता । अज्ञान से उनका लवण के स्वाभाविक क्षाररसरूप गुण की ओर ध्यान नहीं जाता । परमार्थतः देखा जाय तो यह निश्चितरूप से ज्ञात होता है कि विशेषतायुक्त लवण के रस में वहि क्षाररस है जो कि सभी लवण की डलियों में और उनके सभी अवयवों में सामान्यरूप से पाया जाता है । मतलब यह है कि भिन्नभिन्न परद्रव्यों के संयोग से लवण के क्षाररस में

नानाविध विशेषताएं पायी जाती है तो भी उन भिन्नावस्थ क्षाररसों में लवण का वहि सामान्यरूप क्षाररस होता है। अब आत्मा का ज्ञानगुण लीजिए। ज्ञानगुण सभी आत्माओं में और उनकी सभी अवस्थाओं में पाया जाता है इसलिए यह आत्मा का सामान्य गुण है। एक जीव की अपेक्षा से ज्ञानानुभूतिकाल में ज्ञान की जो निष्पर्याय अवस्था होती है वहि एक जीव के ज्ञान की सामान्य अवस्था है और प्रकृत प्रकरण में अभिमत है। ज्ञान ज्ञेयों के आकारों को ग्रहण करता है–जानता है। ज्ञेय अनंत हैं और इसलिए ज्ञेयाकार भी अनन्त होनेसे उनको जाननेवाले ज्ञान की भी अनंत पर्यायें होती हे। ज्ञान की ये अनन्त पर्यायें ज्ञान के अनेक खंडरूप हैं। अज्ञानी जीव ज्ञान के ज्ञेयाकारनिमित्तक भिन्नभिन्न खंडो को हि देखता है। ज्ञान के हर एक खंड में अस्तिरूप होनेवाले सामान्यज्ञान की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती। वस्तुतः वह उसका अज्ञान है। सामान्य ज्ञान के इन भिन्नभिन्न खंडों में सामान्यज्ञान अप्रकटरूप से रहता है और परद्रव्य के निमित्त से विशिष्ट पर्यायों के रूप से प्रकट होता है। यह विशिष्ट पर्यायरूप परिणति नैमित्तिक भाव होनेसे स्वाभाविकभावरूप नहीं होती। अतः निष्पर्यायज्ञान हि सामान्यज्ञान है और वहि ज्ञानी के अनुभव का विषय पडता है। सपर्याय अवस्था में जो ज्ञान अस्तिरूप होता है वहि निष्पर्याय अवस्था में भी होता है। अतः दोनों अवस्थाओं में जो ज्ञान पाया जाता है वह एकरूप हि होता है। ज्ञानत्व की या ज्ञानसामान्य की दृष्टि से उभयावस्थापन्न ज्ञान एक हि होता है। अतः व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान की सखंडता यथार्थ होनेपर भी शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से यथार्थ नहीं है। उसीकारण से ज्ञान की व्यवहारनयाश्रित सखंडता से उसकी शुद्धनयाश्रित अखंडता बाधित नहीं होती। अतः उक्त शंका निर्मूल है। जिसतरह व्यंजनों में जिनकी आसक्ति नहीं होती और जो लवण के क्षाररसरूप स्वाभाविक गुण के जानकार होते हें ऐसे पुरुषों को लवण की डली का अन्य द्रव्यों को छोडकर अनुभव किया जाता हे तब सामान्य लवण का हि स्वाद मिलता है, उसीतरह जो ज्ञेयों में लुब्ध नहीं होते हे और जिन्हें ज्ञानानुभूति की प्राप्ति हुई होती है ऐसे पुरुषों को आत्मा का ज्ञेयरूप अन्य द्रव्यों के आकारों को छोडकर जब उनके द्वारा अनुभव किया जाता है तब आत्मा सभी प्रकारों से एकविज्ञानघनरूप होनेसे सामान्य ज्ञान के रूप से अनुभव होता है। सारांश यह है कि ज्ञेयाकारो के सपर्क से ज्ञान भले हि खंडरूप जंचता हो किंतु जब वह ज्ञानी के अनुभूति का विषय बनता है तब वह निर्विशेष हि होनेसे अखडरूप हि होता है। अतः अखंडज्ञान का अखंड आत्मा के साथ तादात्म्य होनेमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। जिनशासन या शुद्धात्मस्वरूपोपलंभक भावश्रुतरूप स्वसंवेदन ज्ञान कथंचित् खंडरूप होनेपर भी वस्तुतः खंडरूप नहीं है। अतः सामान्य ज्ञान से उसका सर्वथा भेद न होनेसे वह भी आत्मा से भिन्न नहीं है। अतः ज्ञान और ज्ञानी इनमें होनेवाला तादात्म्यसंबंध निर्बाध है। अतः भावश्रुतज्ञान स्वयं आत्मरूप होनेसे आत्मानुभूति का अर्थ ज्ञानानुभूति और ज्ञानानुभूति का अर्थ आत्मानुभूति है। जिनशासन श्रुतज्ञानरूप होनेसे आत्मा की अनुभूति जिनशासन की हि अनुभूति है।

यहांपर जिनशासन से अर्थात् श्रुतज्ञानसे भावश्रुत हि अभीष्ट है; क्यों कि गाथा सूत्र में जिनशासन का 'अपदेशसूत्रमध्यं' ऐसा विशेषण दिया हुआ है। जिसके द्वारा अर्थ का प्रतिपादन होता है उसे अपदेश कहते हैं। अपदेश का अर्थ होता हे शब्द और शब्द से द्रव्यश्रुत का भान होता है। तात्पर्यवृत्ति में भी लिखा है–" अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दः। द्रव्यश्रुतमिति यावत्।" सूत्र का अर्थ है अनुभूतिरूप भावश्रुत। " सूत्र परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति।" ऐसा भाव तात्पर्यवृत्ति में प्रकट किया गया है। जो शब्दों के द्वारा कहा जाता है और ज्ञान से जिसकी अनुभूति होती है उसे 'अदेशसूत्रमध्य' कहते है। " तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यं अपदेशसूत्रमध्य भण्यते इति" ऐसा स्पष्टीकरण तात्पर्यवृत्ति में किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि यहांपर 'जिनशासन' इस शब्द से भावश्रुत का ग्रहण अभीष्ट है।

स्वभावभूत ज्ञानतेज का यथार्थ स्वरूप बताकर आचार्य उसकी प्राप्ति की इच्छा व्यक्त करते हैं–

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि–
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।

चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ।। १४ ।।

अन्वय— यत् अखण्डितं अनाकुलं अनन्तं अन्तर्बहिर्ज्वलत् चिदुच्छलननिर्भरं (यत्) सकलकालं एकरसं उल्लसत् लवणखिल्यलीलायितं आलम्बते (तत्) सहजं उद्विलासं परमं महः नः सदा अस्तु ।

अर्थ— जो अनन्तज्ञेयाकार ज्ञानों के रूप से परिणत होनेसे व्यवहारनय की (पर्यायों की) वृष्टि से खंडित होनेपर भी शुद्धनिश्चयनय (निर्विशेष सामान्य) की दृष्टि से अखंडित–खडरहित होता है, जो आकुलतारहित होता है–परम अनन्त सुख का निधानभूत होता है या जो अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त होनेसे आकुलतारहित होता है, जो अनादिनिधन आत्मद्रव्य के आश्रित सहभावि स्वभावभूतभाव होनेसे अनादिनिधन–अनन्त होता है, जो अंतरंग में आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में और बाहर मनवचनकाय की क्रियाओं के द्वारा प्रकाशमान होता है, जो ज्ञानदर्शनस्वरूप चैतन्य के प्रकाश से परिपूर्ण होता है, जो सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से एकप्रकारक अनुभव से प्रकट होता हुआ लवण की डली के क्रीडा का–सादृश्य का अवलंब–आश्रय लेता है ऐसा वह आत्मद्रव्य का सहभावि अत एव स्वाभाविक या स्वाभाविक अनन्तसुख के विलासों से युक्त परमज्ञानरूप तेज सदा–सर्वकाल–अनन्तकालतक हमारा होवे ।

त. प्र.— यत् परमं तेजोऽखण्डितं खण्डरहितम् । निर्विभागमित्यर्थः । खण्डो विभागः सञ्जातोऽस्य खण्डितम् । 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः' इतीतः । यद्वा खण्डितं खण्डः । 'नभावे क्तोऽभ्यादिभ्यः' इति क्तो नपि भावे । खण्डितं नास्त्यस्याखण्डितम् । न खण्डितमखण्डितम् । ज्ञेयाकारज्ञानपर्यायरूपेण परिणतत्वेऽप्यपरित्यक्तस्वावान्तरसत्ताकत्वादखण्डितत्वमेव ज्ञानस्य, पर्यायात्मकखण्डसद्भावेऽपि वास्तवखण्डाभावात् । यद्वा खण्डितभिन्नं खण्डितसदृशमखण्डितम् । पर्युदासोऽयम् । तेन व्यवहारनयापेक्षया खण्डितत्वेन दृश्यमानमपि परमार्थतः खण्डिताद्भिन्नं खण्डविकलत्वादखण्डम् । विचित्रज्ञेयरूपपरद्रव्याकारज्ञानसम्पर्कोपजातविशेषाविर्भावेनाज्ञानिनां खण्डरूपं प्रतिभासमानमपि सविशेषाविशेषासु सर्वास्वप्यवस्थासु ज्ञानसामान्यरूपत्वेन विद्यमानत्वादखण्डितम् । अनाकुलमाकुलताविकलम् । अनाकुलत्वैकलक्षणपरमानन्तसुखामृतनिधानकुम्भभूतमबद्धस्पृष्टत्वादनन्यत्वान्नियतत्वादविशेषत्वादसंयुक्तत्वाच्च व्याकुलताविकलं वेति यावत् । अनन्तमविनश्वरं, तस्य ससंसारमुक्तावस्थयोस्तद्विनाशक्त्कारणाभावात्तत्तुच्छाभावादर्शनात् । संसार्यवस्थायामात्मस्वभावावारककर्मसद्भावाभावात्सापवारकत्वेऽपि तस्मिन्न तस्य कदापि तुच्छाभावो भवति, तदभावे आत्माभावापत्तेः । अन्तोऽभ्यन्तरे बहिश्च बाह्ये ज्वलदतिशयेन प्रकाशमानम् । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानामभ्यन्तरे ततो भ्रष्टानां च बहिर्मनोवाक्कायक्रियादिभिरतिशयेन प्रकाशमानमिति भावः । चिदुच्छलननिर्भरं–चितो ज्ञानदर्शनरूपाया उच्छलनं प्रकाशस्तेन निर्भरं परिपूर्णम् । उच्छलनमुच्छ्वलनमित्यनर्थान्तरम् । ज्ञानदर्शनपरिपूर्णमित्यर्थः । यत् परमं महः सकलकालं सर्वस्मिन्कालेऽविच्छेदेन । 'कालाध्वन्यभेदे' इत्यत्यन्तसंयोगे इप् । एकरसं सर्वास्ववस्थासु समानानुभवम् । एकः समानो रस आस्वादोऽनुभवो यस्य तत् । यद्वैकः समानो रसः आस्वादोऽनुभवो यथा स्यात्तथा । उल्लसत्प्रकटीभवत् । यद्वा उल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं–लवणखिल्यस्य सैन्धवशकलस्य लीलायितं । लीलां क्रीडां करोति सादृश्यं वाऽऽचष्टे लीलायते । ततश्च क्तः । 'मृदो ध्वर्थे णिज्बहुलम्' इति 'तत्करोति तदाचष्टे' इति वा णिचि क्तः । लीलायितं लीला क्रीडा सादृश्यं वा लवणखिल्यलीलायितम् । उल्लसत्प्रकटतां गच्छच्च तल्लवणखिल्यलीलायितं चोल्लसल्लव-

लवणखिल्यलीलायितम् । आलम्बते आश्रयति । तत् सहजं द्रव्येण सहभावित्वात्स्वाभाविकमुद्विलासमुद्गत-प्रकाशं प्रकटीभूतस्वप्रकाशम् । यद्वा सहजमुद्विलासं स्वाभाविकानन्तसुखात्मकम् । सहजा स्वाभाविकी मुत्सुखं सहजमुद् । तस्याः विलासो गतिः प्रसरो वा यत्र तत् । परममुत्कृष्टं महः प्रकाशस्तेजो वा ज्ञानरूपं नोऽस्माकं सदाऽनन्तं कालं यावदस्तु भवतु । आस्माकीन आत्मन्यनन्तं कालं यावन्निरावरणमस्त्विति भावः । ज्ञेयाकाररूपपरद्रव्याकारज्ञानपरिणामसंयोगोपजातविशेषावस्थायामनुपजातविशेषायां च सामान्यावस्थायां समानरूपत्वात्तदनुभवभेदाभावादेकरसम् । अत्र दृष्टान्तः– यथा लवणखिल्यः लवङ्गमरीचादिपरद्रव्यसंयोगसमुपजातविशेषावस्थायामनुपजातविशेषावस्थायां च सामान्यावस्थायां क्षाररसरूपस्वभावस्य तुल्यत्वादेकरसस्तथा परममहोरूपं शुद्धज्ञानमप्येकरसम् । सर्वास्वप्यवस्थासु लवणस्वभावभूतस्य क्षाररसस्य तदवस्थत्वादखण्डितत्वं तथाऽऽत्मनो ज्ञानस्वभावस्य सर्वास्वप्यवस्थासु तदवस्थत्वादखण्डितत्वम् । लवणखिल्यक्षाररसरूपस्वभावं प्रत्यदत्तावधानानामज्ञानिनामन्यद्रव्यसंयोगोपजातविशेषलुब्धानां यद्यपि लवणखिल्यो भिन्नास्ववस्थासु भिन्नरसरूपः प्रतिभाति तथापि तदलुब्धानां लवणखिल्यक्षाररसरूपस्वभावं प्रति दत्तावधानानां ज्ञानिनां समुपजातविशेषासु सर्वास्वप्यवस्थासु क्षाररसरूप एव प्रतिभाति । आत्मनः शुद्धज्ञानघनैकस्वभावोऽज्ञानिनां ज्ञेयरूपपरद्रव्याकारज्ञानपरिणामसंयोगसमुपजातविशेषलुब्धानां यद्यपि भिन्नास्ववस्थासु भिन्नज्ञानत्वेन प्रतिभाति तथापि तदलुब्धानां ज्ञानिनां शुद्धज्ञानघनैकस्वभावं प्रति दत्तावधानानां समुपजातविशेषासु सर्वास्वप्यवस्थासु शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव एव प्रतिभाति । अतो लवणखिल्यवज्ज्ञानमुपजातविशेषावस्थायामनुपजातविशेषायां च सामान्यावस्थायां ज्ञानस्य तुल्यरूपत्वादेकरसत्वम् । उपर्युक्तविशेषणविशिष्टं परमं तेजोऽनन्तं कालं यावदस्माकं भवतु, न किञ्चित्कालमिति भावः ।

विवेचन– यह ज्ञानरूप परमतेज अखंडित है । ज्ञेयाकाररूप परद्रव्यों का सयोग होनेसे यद्यपि ज्ञेयासक्त अज्ञानियों को खंडखंडरूप दिखाई देता है तो भी निर्विकल्पसमाधिरत जीवों को अखंडकज्ञानस्वरूप हि अनुभव में आता है । ज्ञानी जीवों को वस्तु के यथार्थस्वरूप का हि अनुभव होता है । अतः ज्ञानी जीवो के अनुभव के अनुसार यह परमतेज अखंडित हि है । यह परमतेज अनाकुल–आकुलतारहित है । अनाकुलता का अर्थ है सच्चा अविनश्वर सुख । अतः अनाकुल का अर्थ अनन्तसुखपूर्ण ऐसा होता है । आकुल का दूसरा अर्थ है स्वरूप से परिच्यावित । स्वभावपरिच्युति में कर्मपुद्गल और सामर्थ्य का अभाव ये दोनों कारण पडते हैं । शुद्धावस्था में कर्मपुद्गलों का अभाव और सामर्थ्य का सद्भाव होनेसे परमतेज में आकुलता पैदा नहीं हो सकती । अतः यह अनाकुल है । यह परमतेज अंतरग में और बाहर भी देदीप्यमान रहता है । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरत जीवों को इसकी अंतरंग में अनुभूति होती है और यह आत्मा के प्रत्येक प्रदेश को व्यापकर रहता है । समाधिरहित जीवों को मन, वचन और काय इनकी क्रियाओं से इसका प्रकाश मिलता है। इस परमतेज का संसारी अवस्था में अभाव -नाश नहीं होता और मुक्तावस्था में यह तेज अनावृत होनेसे संपूर्णरूप से प्रकाशित रहता है । आत्मा अनंत होनेसे उसका परम तेज भी अनन्त होता है । यह परम तेज सहज–स्वाभाविक है । बाहर से आया हुआ नहीं है । यदि यह बाहर से आया हुआ होता तो उसका अवश्य नाश हो जाता; किंतु उसका कदापि नाश नहीं होता । अतः वह स्वाभाविक है । यह परम तेज दर्शनचेतना से और ज्ञानचेतना से परिपूर्ण है । यह परम तेज लवण की डली के समान सभी अवस्थाओं में सदा एकरूप रहता है । ऐसा यह तेज अपने लिए सदा अत्यंत प्रकाशमान होवे ऐसी इच्छा आचार्यश्री ने इस कलश के द्वारा प्रकट की है ।

शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिए शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वह एक होनेपर भी व्यवहारनय की दृष्टि

से उसको हि साध्य और साधक बनाकर उसकी प्राप्ति करनी चाहिये यह बताते हैं—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥ १५ ॥

अन्वय– सिद्धि अभीप्सुभिः एष ज्ञानघनः एकः आत्मा साध्यसाधकभावेन द्विधा नित्यं समुपास्यताम् ।

अर्थ– शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति की इच्छा करनेवालों को इस ज्ञानपुञ्जरूप एकरूप शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करनेके लिए उसीके साध्य और साधक इसप्रकार दो विभाग करके उसको अविच्छिन्नरूप से उपासना–सेवा करनी चाहिये–उस एकरूप आत्मा का ध्यान करना चाहिये या उसकी प्राप्ति कर लेनी चाहिये।

त. प्र.– सिद्धिमभीप्सुभिर्ज्ञानघनैकस्वभावरूपशुद्धात्मप्राप्त्यर्थं साभिलाषैर्मुमुक्षुभिर्ध्यातृभिरेष पूर्वोक्तस्वरूपो ज्ञानघनो ज्ञानपुञ्जः एको द्रव्यभावकर्मविकलो निष्पर्यायश्चात्मा साध्यसाधकभावेन साध्यभावेन साधकभावेन च । साध्यत्वेन साधकत्वेन च द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां नित्यमविच्छेदेन समुपास्यतां संसेव्यतां समाश्रियताम्। प्राप्यतामित्यर्थः। ध्यानविषयतां नीयतां वेति। द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा । 'स्यॆविधार्थे धा' इति विधार्थे धा । शुद्धनिश्चयनयापेक्षयैकमखण्डमप्यात्मानं व्यवहारनयेन साध्यत्वेन साधनत्वेन च द्विधा विभज्य शुद्धात्मानं साध्यं विधाय श्रुतज्ञानिनं तमेव भेदज्ञानापेक्षया स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया वा साधकं विधाय मुमुक्षुभिश्शुद्धात्मस्वरूपं प्रापणीयमिति भावः । एकस्यैव साध्यसाधकभावेन द्वैविध्यासम्भवात्तददर्शनाच्च कथमेकस्यात्मनो द्वैविध्यं सम्भवतीति चेद्ब्रूम.—साध्यसाधकभावेन द्वैविध्यं मुमुक्षोरेवात्मनः सम्भवति, न मुक्तात्मनः; तस्य परमप्रकर्षप्राप्तरत्नत्रयातिशयकृतनिखिलकर्मक्षयाविर्भूतशुद्धज्ञानघनैकस्वभावभावतया सिद्धत्वात्साध्यसिद्धिचिकीर्षासम्भवात् । मुमुक्षोरकृतकर्मक्षयस्याप्राप्तशुद्धज्ञानघनैकस्वभावत्वाच्छुद्धज्ञानघनैकस्वभावात्मस्वरूपसाध्यसिद्धिचिकीर्षासम्भवात्तस्यात्मनः साध्यसाधकभावेन द्वैविध्यं सम्भवति । मुमुक्षोरात्मनः शुद्धनिश्चयनयापेक्षया ज्ञानघनैकस्वभावत्वादेकत्वेप्यप्राप्तशुद्धज्ञानघनैकस्वभावः साध्यः । स च स्वात्मोपलब्धिसाधकतमनिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामात्मनोऽभिन्नत्वादात्मैव साधकः । शुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्यात्मनोऽभिन्नत्वादात्मैव साध्यः । एष आत्माऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः शुद्धज्ञानघनैकस्वरूपात्प्रच्यावितः । स्वरूपप्रच्युतेः संसारे परिभ्रमन्नयमात्मा यदा व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सुतरां निश्चलतया परिगृह्य तानि परं प्रकर्षं प्रापयति, तदा स स्वरूपमारोहति । स्वरूपारोहणे निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयप्राप्तिस्तस्य भवति । निश्चयरत्नत्रयं शुद्धात्मप्राप्तिसाधनम् । तस्यात्मनोऽभिन्नत्वादात्मैव साध्यसाधकभावमास्कन्दति । एषोर्थः सिद्धिमभीप्सुरिति पदाभ्यां संसूचितः । अयमत्र भावः–एष ज्ञानपुञ्ज आत्मा मुमुक्षुजीवापेक्षया साध्यसाधकभावेन द्वैविध्यं नीत्वा शुद्धज्ञानघनैकस्वभावप्राप्त्यर्थिभिर्नित्यं टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेको ध्यानविषयतां नीयतां प्राप्यतां च ।

विवेचन– यद्यपि शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा एक अखड द्रव्य है तो भी शुद्ध आत्मा की प्राप्ति की इच्छा करनेवाले जीवों को व्यवहारनय की दृष्टि से साध्य और साधक इसप्रकार दो विभाग कर के उसका शुद्धज्ञानघनैकस्वभावरूप से ध्यान कर उसकी प्राप्ति करनी चाहिये; क्यों कि भेदज्ञानरूप या स्वसंवेदनज्ञानरूप साधन के बिना अर्थात् उसके साधकभाव के बिना उसकी प्राप्ति करना असंभव है । यह साधकभाव साध्यभाव के समान आत्मा से अभिन्न है । इस संसार में साध्य और साधन भिन्नभिन्न दिखाई देते है । जो साध्य होता है

वह साधन नहीं होता और जो साधन होता है वह साध्य नहीं होता। साध्य असिद्ध होता है और साधन सिद्ध होता है। एक हि पदार्थ की सिद्ध और असिद्ध ये दो अवस्थाएं नहीं हो सकती; क्यों कि इन दोनों में विरोध होता है। आत्मा एक हि पदार्थ होने से उसकी दो अवस्थाएं होना असंभव होनेसे वहि साधक और वहि साध्य नहीं बन सकता। ऐसी अवस्था में उसी को हि साधक बनाकर साध्यरूप से कैसे सिद्ध की जा सकती है ? एक दृष्टि से यह शंका ठीक है। इसका समाधान-- भेदज्ञान की या स्वसंवेदनज्ञान की अवस्था-- जो कि आत्मा से अभिन्न होती है-- जबतक सिद्ध नहीं होती तब तक आत्मा का साधकभाव सिद्ध नहीं होता और साधकभाव के बिना शुद्धावस्थारूप साध्य की सिद्धि होना असंभव होता है। साधकभाव क्षायोपशमिकज्ञानरूप होनेसे और साध्य अवस्था क्षायिकज्ञानरूप होनेसे दोनों में भेद अवश्य होता है; क्यों कि एक पदार्थ की दो पर्यायों में स्वरूपादि की दृष्टि से कथंचित् भेद अवश्य होता है। अतः आत्मा की इन दोनों अवस्थाओं में साध्यसाधकभाव होनेमें किसी भी प्रकार से बाधा उपस्थित नहीं होती। जो आत्मा मुक्त नहीं है, किंतु मुक्त होनेकी जिसे इच्छा है ऐसी आत्मा में साध्यसाधकभावरूप द्वैविध्य का संभव हो सकता है; क्यों कि ससारी अवस्था में या केवलज्ञान की पूर्वावस्था में उसका ज्ञान क्षायोपशमिक होता है और वहि ज्ञान शुद्ध अवस्था में क्षायिक बन जाता है। साधकभाव क्षायोपशमिकज्ञान के अभाव मे नहीं बन सकता। यह द्वंधीभाव शुद्ध आत्मा में नहीं बन सकता; क्यों कि इस में क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव होता है और शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव की प्राप्ति हो जानेसे उसकी शुद्ध अवस्था सिद्ध हो गई होती है। सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थानवर्ती जीव की जो साधक अवस्था होती है उसका साध्य शुद्धज्ञान की प्राप्ति न होकर अघातिकर्मों का नाश होना है। ससारी आत्मा में द्वंधीभाव होनेका कारण यह है कि वह सिद्धावस्थापन्न न होनेसे उसको स्वात्मोपलब्धिरूप साध्य की सिद्धि करनेका काम करना बाकी होता है। शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव की प्राप्ति मुमुक्षु आत्मा का साध्य होनेसे और आत्मा और उसके स्वभाव में अभेद होनेसे आत्मा हि साध्य होती है। स्वभाव की प्राप्ति करनेमें साधकतम जो वीतरागरत्नत्रय वह आत्मा से अभिन्न होनेसे आत्मा हि शुद्धात्मस्वरूपसाध्य की सिद्धि का साधक है। अतः एक मुमुक्षु आत्मा में साध्यसाधकभावरूप द्वैविध्य का होना असभव नहीं कहा जा सकता। अनादिकाल से आत्मा का पीछा न छोडने-वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से इस आत्मा का स्वभावभूतभाव विभावरूप से परिणत हो गया है। संसार में परिभ्रमण करती हुई यह आत्मा जब व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अत्यंत निश्चलरूप से ग्रहण करके उस व्यवहाररत्नत्रय को परमप्रकर्ष को पहुचाती है और निश्चयरत्नत्रय के रूप से परिणत होती है तब वह अपने स्वभाव मे प्रतिष्ठित होती है। स्वस्वरूप मे प्रतिष्ठित आत्मा को हि निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होती है। यहि शुद्धात्मप्राप्ति का साधक निश्चयरत्नत्रय आत्मा से अभिन्न होनेसे आत्मा हि स्वात्मोप-लब्धिरूप साध्य की साधक है।

यहांपर यह बात सरमरणीय है कि व्यवहाररत्नत्रय की प्राप्ति होना असंभव है और निश्चयरत्नत्रय के बिना शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव की प्राप्ति असभव है।

रत्नत्रयात्मक साधकभाव आत्मा से अभिन्न है यह बताते हैं--

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि आत्मानमेव निश्चयतः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ-- (दर्शनज्ञानचारित्राणि) व्यवहारनय की दृष्टि से दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनरूप

जो भेद हैं उनको **(साधुना)** **(निश्चय के)** साधक व्यवहारनय से अथवा समीचीन व्यवहारनय से अर्थात् सद्भूतव्यवहारनय से **(नित्यं)** सर्वकाल **(सेवितव्यानि)** अपने अनुभव के विषय बनाना चाहिये--उनका अनुभव करना चाहिये। **(पुनः)** यद्यपि वे सेव्य तीन हैं तो भी **(निश्चयतः)** निश्चयनय की दृष्टि से **(तानि त्रीणि अपि)** उन तीनों को भी **(आत्मानं एव)** आत्मा हि **(जानीहि)** समझ ले। [कहनेका भाव यह है कि रत्नत्रय और आत्मा एक पदार्थरूप हि हे। रत्नत्रय के रूप से परिणत होनेका नाम हि शुद्ध आत्मा के रूप से परिणत होना है।]

आ. ख्या.-- येन एव हि भावेन आत्मा साध्यः[1] साधनं च स्यात् तेन एव अयं नित्यं उपास्यः इति स्वयं आकूय परेषां व्यवहारेण साधुना 'दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यं उपास्यानि' इति प्रतिपाद्यते। तानि पुनः त्रीणि अपि परमार्थेन आत्मा एक एव, वस्त्वंतराभावात्। यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानं अनुचरणं च देवदत्तस्वभावानतिक्रमात् देवदत्तः एव, न वस्त्वन्तरं, तथा आत्मनि अपि आत्मनः ज्ञानं श्रद्धानं अनुचरणं च आत्मस्वभावानतिक्रमात् आत्मा एव, न वस्त्वन्तरम्। ततः आत्मा एकः एव उपास्यः इति स्वयं एव प्रद्योतते।

त. प्र.-- येनैव हि परमार्थतः भावेन शुद्धज्ञानैकरूपस्वभावात्मकपरिणामेनात्मा साध्यः साधयितव्यो येनैव च भावेन भेदज्ञानात्मकेन स्वसंवेदनज्ञानात्मकेन परिणामेनात्मा साधनं साधकः स्याद्भवेद्भवति वा। 'व्यानड्बहुलम्' इति कर्तर्यनट्। तेनैव भावेन ज्ञायकभावेन भेदज्ञानात्मकेन स्वसंवेदनज्ञानात्मकेन वा परिणामेनायमात्मा नित्यं निरन्तरमुपास्यः सेवनीयः। अनुभवगोचरीकर्तव्य इत्यर्थः। ज्ञायकभावरूपेणोपलक्षितोऽयमात्मा भेदज्ञानस्वरूपेण स्वसंवेदनज्ञानस्वरूपेण वा स्वीयमात्मानं परिणमय्य साधनभूतेन तत्परिणामेन साधयितव्य इत्याकूय विचार्य परेषां विनेयानां प्राथमकल्पिकानां व्यवहारेण व्यवहारनयेन साधुना समीचीनेन। सद्भूतव्यवहारनयेनेर्थः। यद्वा साधुना साधकभूतेन। निश्चयं साधयतीति साधुः। तेन व्यवहारनयेन। दर्शनज्ञानचारित्राणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यं निरन्तरमुपास्यानि सेवितव्यानि। मुमुक्षुणा भव्येन रत्नत्रयरूपेण परिणतेन भाव्यमिति भावः। इत्येवं प्रतिपाद्यते कथ्यते। तानि पुनस्त्रीण्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि परमार्थेन निश्चयनयेनात्मैक एव ज्ञायकभावमात्रैकस्वभावेनैक एव। नानेकान्तात्मक इति भावः। तेषां त्रयाणामात्मस्वभावभूतज्ञानपर्यायत्वादात्मनोऽभिन्नत्वादात्मत्वमेव, न वस्त्वन्तरत्वं, तत्र वस्त्वन्तरस्वरूपस्यान्वयादर्शनात्। यथा देवदत्तस्य देवदत्तसञ्ज्ञकस्य कस्यचित्पुरुषविशेषस्य विशिष्टं ज्ञानं विशिष्टं श्रद्धानं विशिष्टमनुचरणं च देवदत्तस्वभावस्य तत्रानुस्यूतत्वाद्देवदत्तस्वभावानतिक्रमात् देवदत्त एव, तेषां देवदत्तादभिन्नत्वात्, न वस्त्वन्तरं, वस्त्वन्तरस्वभावस्य तत्रानन्वयात्। तथा तेन प्रकारेणात्मन्यप्यात्मविषयेऽप्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानविशेषात्मकः परिणामः श्रद्धानं श्रद्धानात्मकः परिणामोऽनुचरणमनुचरणात्मकः परिणामश्चात्मस्वभावभूतचैतन्यान्वयादात्मस्वभावानतिक्रमादात्मस्वभावस्यानुल्लङ्घनादात्मैवात्मनोऽभिन्नत्वात्तेषां, न वस्त्वन्तरं वस्त्वन्तरस्वभावस्य तत्रानन्वयात्। ततो व्यवहारेण रत्नत्रयोपासनात् आत्मैक एवोपास्य इति

१-- 'साध्य' इत्यपि पाठान्तरम्।

स्वयमेव प्रद्योतते प्रकटीभवति । शुद्धस्वरूप आत्मैव प्राप्य इति भावः ।

टीकार्थ– परमार्थत जिस हि परिणाम से (ज्ञानघनैकस्वभावरूप परिणति से) आत्मा साध्य बन सकती है और जिस हि परिणाम से (भेदज्ञानरूप या स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणति से) वह साधन (शुद्धात्मपरिणति की साधक) बन सकती है उसी परिणाम के रूप से (शुद्धज्ञानघनैकस्वभावरूप परिणति के रूप से और भेदज्ञानरूप या स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणति के रूप से) हि यह आत्मा निरतर सेव्य (उस रूप से परिणमनीय) है इसप्रकार स्वयं विचार कर दूसरों को समीचीन अर्थात् सद्भूत या साधक (निश्चयनयसाधक) व्यवहारनय की दृष्टि से ' दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनकी निरंतर उपासना–सेवा–उन रूप से आत्मा की परिणति करनी चाहिये ' ऐसा प्रतिपादन किया जाता है । यद्यपि सेव्य दर्शनादि तीन है तो भी वे तीनों भी परमार्थतः (शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से) आत्मस्वरूप हैं और आत्मस्वरूप होनेसे आत्मा एक होनेके कारण एकरूप हि हे; क्यों कि अन्य वस्तु में उनका सद्भाव नहीं पाया जाता अर्थात् अन्यवस्तु में उनका अभाव होता है । अथवा उनमें अन्य वस्तु का अर्थात् अन्य वस्तु के स्वरूप का अन्वय नहीं पाया जाता । जिसप्रकार देवदत्तसंज्ञक किसी पुरुषविशेष का विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट श्रद्धान और विशिष्ट अनुचरण (चारित्र) उनमें देवदत्त के स्वभाव का अतिक्रमण–उल्लंघन न पाया जानेसे अर्थात् उनमें अन्वय पाया जानेसे वे देवदत्त हि है–देवदत्त से अभिन्न हैं, वे अन्यवस्तु नहीं हैं (क्यों कि उनमें अन्य अर्थात् देवदत्त से भिन्न वस्तु का स्वभाव अन्वित हुआ नहीं पाया जाता ।) उसीप्रकार आत्मा के विषय में अर्थात् आत्मविषयक आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण (चारित्र) उनमें आत्मा के स्वभाव का अतिक्रमण–उल्लंघन न पाया जानेसे अर्थात् उनमें आत्मस्वरूप का अन्वय पाया जानेसे वे आत्मा हि हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं (क्यों कि उनमें आत्मा से भिन्न वस्तु का स्वभाव अन्वित हुआ नहीं पाया जाता) । उस कारण से अर्थात् [illegible] की [illegible]नय से उपासना की जानेपर शुद्धज्ञानघनरूप एकमात्र स्वभाव के कारण एकरूप [illegible]) आत्मा हि उपास्य बन जाती है अर्थात् एकरूप आत्मा की हि उपासना [illegible] है यह अभिप्राय [illegible]–विलास [illegible] हो जाता है ।

विवेचन– [illegible] शुद्धात्म परिणति परमार्थतः मुमुक्षु जीव का साध्य है और उसकी भेदज्ञानरूप या स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणति शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति का साधन है । अतः शुद्ध आत्मा [illegible] प्राप्ति के लिए भेदज्ञानरूप से या स्वसंवेदनज्ञानरूप से परिणत होना नितान्त आवश्यक है । [illegible] आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपासना की जो आवश्यकता बतायी जा रही है उसमें [illegible] की आशंका नहीं करनी चाहिये, क्यों कि वह अन्य पुरुषों को उपदेश देनेके लिए है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये आत्मा की या उसके स्वभावभूत ज्ञान की हि पर्याय हैं । ये आत्मा की पर्यायें एकविषयक होनेसे सद्भूत हैं और आत्मा में और उनमें परमार्थतः भेद न होनेपर भी जो भेद बताया जाता है वह उपचरित होनेसे व्यवहाराश्रित है । वह सद्भूतव्यवहारनय निश्चयनय का साधक है । यद्यपि [illegible] जीवों को समझानेके लिए आत्मा और रत्नत्रय में भेद बताया गया है तो भी परमार्थतः उनमें भेद नहीं है । अतः रत्नत्रय की आराधना करना आत्मा की हि आराधना करना है । [illegible] का यह एक तरीका है । इसप्रकार के उपदेश के द्वारा यथार्थ ज्ञानरूप से हि परिणत होनेका कथन किया जाता है । यद्यपि सम्यग्दर्शनादि भेदरूप हैं तो भी वे आत्मा से अभिन्न होनेसे आत्मरूप होनेसे तीनभेदरूप होनेपर भी एकरूप हि हे । वे आत्मभिन्नवस्तुरूप नहीं हैं; क्यों कि वे आत्मभिन्नवस्तु की पर्यायें न होनेसे उनमें उस भिन्नवस्तु के स्वरूप का अन्वय नहीं पाया जाता । जो जिसकी पर्याय होती है उसमें उसके स्वरूप का अन्वय पाया जाता है । मृत्तिका की घटरूप पर्याय में मृत्तिका के स्वरूप का अन्वय पाया जाता है, सुवर्ण के स्वरूप का नहीं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में आत्मस्वरूपभूत ज्ञान का अन्वय पाया जाता है । अतः ये तीनो ज्ञान की अर्थात् आत्मा की पर्यायें होनेसे इनमें और आत्मा में परमार्थतः भेद न होनेसे आत्मा हि हे ।

आत्मा अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त है ऐसा जो भाव उससे शुद्ध आत्मा का भान

होता है । इस मान से स्वस्वरूपारूढ हुई आत्मा की निश्चयरत्नत्रयरूप अवस्था हि साधक है; क्यों कि आत्मतत्त्व का समीचीन श्रद्धान और अनुभूति इनरूप जो अभेदरत्नत्रय की भावना उससे हि शुद्धज्ञानघनैकरूप साध्यभूत आत्मा की सिद्धि होती है । आत्मा को अबद्धस्पृष्टादिरूप जानना हि उसको शुद्धरूप जानना है । ऐसी शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान और अनुभूति इनरूप अभेदरत्नत्रय की भावना का जब परम प्रकर्ष होता है तब उसके अतिशय से संपूर्ण कर्मों का क्षय होकर साध्यरूप शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववान् आत्मा की सिद्धि होती है । साधक निश्चयरत्नत्रय और आत्मा अभिन्न होनेसे निश्चयरत्नत्रयभावापन्न आत्मा हि साधक है । और आत्मा की जिस शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव की प्राप्ति साध्य है वह आत्मा से अभिन्न होनेसे आत्मा साध्य भी है । सारांश, अभेदरत्नत्रय की भावना या शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना हि आत्मा को साध्यरूप और साधकरूप बना देती है । इसलिए उसी भावना से शुद्ध आत्मा की नित्य आराधना करनी चाहिये । भगवान् कुंदकुंदाचार्य ने जब रत्नत्रयावस्थापन्न आत्मा को हि साधक बताया है, तब उन्होंने व्यवहाररत्नत्रय की आवश्यकता क्यों बतायी ? इस शंका का समाधान आत्मख्याति के अनुसार नीचेमुजब है । टीका में 'परेषां' यह जो पद रक्खा है उससे इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि व्यवहाररत्नत्रय की आराधना उन जीवों के लिए आवश्यक है कि जिनमें अपनी आत्मा को साध्यरूप और साधकरूप बनानेवाला भाव हि व्यक्त नहीं हुआ । टीका में 'साधुना' ऐसा भी एक पद पाया जाता है । इस शब्द की निरुक्ति 'साध्नोतीति साधुः' ऐसी है । अतः 'व्यवहारेण साधुना' इस पदसमूह का अर्थ 'साधक व्यवहार से' ऐसा होता है । व्यवहाररत्नत्रय का परमप्रकर्ष निश्चयरत्नत्रय का साधक होनेसे और निश्चयरत्नत्रय संपूर्ण शुद्ध आत्मा का साधक होनेसे व्यवहाररत्नत्रय भी परम्परा से शुद्ध आत्मा का साधक है । अतः जिनमें निश्चयरत्नत्रय व्यक्त नहीं हुआ होता ऐसे जीवों के लिए व्यवहाररत्नत्रय की आराधना की नितान्त आवश्यकता है । दूसरी बात यह है कि व्यवहाररत्नत्रय आत्मा से अभिन्न होनेसे उसकी आराधना शुद्ध आत्मा की हि आराधना है ।

पारमार्थिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों भी एक आत्मा हि हैं; क्यो कि वे आत्मा से भिन्न वस्तु के स्वरूप से व्यक्त नहीं है । आत्मख्याति मे यहापर जो एक दृष्टान्त दिया है उसका खुलासा करते हुए वह दार्ष्टान्तिक जो आत्मा उसमें घटित किया जाता है । स्वभाव और स्वभाववान अभिन्न होनेसे स्वभाव से स्वभाववान् का स्वयमेव ग्रहण हो जाता है । देवदत्त और उसका स्वभाव अभिन्न होनेसे देवदत्त के स्वभाव से देवदत्त का ग्रहण हो जाता है । देवदत्त का विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट श्रद्धान और विशिष्ट आचरण देवदत्त के अभाव में अस्तिरूप बन हि नहीं सकते । यदि वे देवदत्त के या उसके स्वभाव के अभाव में भी हो सकते हैं ऐसा माना तो वे खासकर देवदत्त के हि हैं ऐसा नहीं कहा जा सकेगा । अतः देवदत्त के अभाव में देवदत्तकर्तृकरूप से ज्ञानादिकों का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। देवदत्त का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण देवदत्त की हि पर्यायें होनेसे वे देवदत्त से अभिन्न हैं । वे देवदत्त से भिन्न वस्तु के साथ अभेद को प्राप्त हुए नहीं होते हैं । आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण उसके या उसके ज्ञानरूप स्वभाव के अभाव में अस्तिरूप नहीं हो सकते । वे आत्मस्वभाव के पर्याय हैं । पर्याय और पर्यायवान् अभिन्न होनेसे ज्ञानादिकपर्याय पर्यायवान् जो आत्मस्वभाव उससे अभिन्न हैं । स्वभाव और स्वभाववान् अभिन्न होनेसे ज्ञानादिक आत्मा हि हैं । वे आत्मभिन्नवस्तुरूप नहीं है । इससे एक आत्मा हि आराध्य है ऐसा स्वयमेव प्रकट हो जाता है । कहनेका मतलब यह है कि रत्नत्रय आत्मा से अभिन्न होनेसे रत्नत्रय की आराधना आत्मा की हि आराधना है ।

व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा मेचक (अनेकधर्मात्मक) है और निश्चय की दृष्टि से वह अमेचक (एकमात्रधर्मात्मक) है और यह मेचकामेचकत्व आत्मा मे युगपत् होता है यह बताते हैं–

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ।। १६ ।।

अन्वय– आत्मा दर्शनज्ञानचारित्रैः त्रित्वात् मेचकः अपि प्रमाणतः स्वयं एकत्वतः समं अमेचकः च ।

अर्थ– दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन (व्यवहारनयाश्रित) भेदों से त्रिरूप होनेके कारण मयूरपिच्छ के समान मेचक है तो भी उसीसमय स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से स्वय ज्ञायकभावमात्रस्वभाववाली होनेसे अमेचक भी है ।

त. प्र.– आत्मा शुद्धज्ञानघनैकस्वभावः शुद्धात्मा दर्शनज्ञानचारित्रैरात्मस्वभावभूतज्ञानपर्यायात्मकैस्त्रित्वात्त्रिधर्मत्वान्मेचको बर्हिचन्द्रतुल्यः सद्‌भूतव्यवहारनयापेक्षया । 'मेचको श्यामले बर्हिचन्द्रे ध्वान्तेऽथ मेचकम्' इति विश्वलोचने। मेचकः इव मेचकः। 'देवपथादिभ्यः' इवार्थे विहितस्य कस्योस्। यथाऽनेकविधवर्णसंयोगरूपो बर्हिचन्द्रस्तत्रत्यप्रत्येकवर्णप्राधान्यापेक्षयाऽनेकविधस्तथाऽऽत्मापि ज्ञानदर्शनादिप्रत्येकधर्मप्राधान्यापेक्षयाऽनेकान्तात्मकत्वादनेकविधः । विविधस्वभावः इत्यर्थः । आत्मा तथा मेचकः सन्नपि प्रमाणतः स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाणेनैकज्ञायकभावस्वरूपत्वेनानुभूयमानत्वात्स्वयमेकत्वतः एकरूपत्वात्समं यदा मेचकस्तदैवामेचकश्च । स्वभाववैविध्यविकल इत्यर्थः । स्वयमित्यस्य स्वभावत इत्यर्थः । यथाऽनेकविधवर्णादीनां सहितत्वेनैकरूपत्वाद्बर्हिचन्द्रस्यैकत्वं तथाऽऽत्मनो ज्ञानादेः संहितत्वेनैकज्ञानस्वभावेऽन्तर्भूतत्वादेकत्वम् । आत्मनो युगपन्मेचकामेचकत्वे व्यवहारनिश्चयदृष्टिभेदेन नयप्रमाणदृष्टिभेदेन वा सिध्यतः । अन्तर्भूतदर्शनादिज्ञानमात्रस्वभावापेक्षयाऽऽत्मनोऽमेचकत्वं दर्शनादिप्रत्येकज्ञानपर्यायप्राधान्यापेक्षया मेचकत्वं चेति भाव.

विवेचन– दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो आत्मा के स्वभावभूतज्ञान की पर्यायें है; क्यों कि वे ज्ञानसे हि प्रादुर्भूत होती है । दर्शनादि और स्वभावभूत ज्ञान इनमें अविनाभावसंबंध होनेसे दर्शनादि कों का स्वभावभूत ज्ञान में हि अन्तर्भाव होता है । जब आत्मा का या उसके ज्ञानरूप स्वभाव का स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा अनुभव किया जाता है तब निष्पर्याय अर्थात् दर्शनादिपर्यायरहित आत्मा का या ज्ञानस्वभाव का हि अनुभव प्राप्त होता है । अतः स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाण से आत्मा के अमेचकत्व की सिद्धि होती है। पर्यायार्थिकनय की या सद्‌भूतव्यवहारनय की दृष्टि से दर्शनादिपर्यायों की प्रधानता से अनेक पर्यायो से या गुणो से युक्त होनेसे आत्मा के मेचकत्व की सिद्धि हो जाती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा कथंचित् अमेचक होती है । निर्विकल्पसमाधि में स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा निष्पर्याय आत्मा का या उसके स्वरूप का अर्थात् आत्मा के सामान्य स्वरूप का हि अनुभव होता है और उस अनुभूति से शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है । अतः ममक्षु जीवो का अमेचक आत्मा हि ध्येय होती है यह बात भी स्पष्ट हो जाती है ।

यहा मेचकशब्द विचारणीय है । उसका अर्थ है मोरका चादा । जिसप्रकार मोर का चांदा अनेकवर्णों से युक्त होता है उसीप्रकार आत्मा दर्शनादि तीन स्वभावो मे युक्त है । अत. मोर के चादे के समान आत्मा भी मेचक कही जाती है । जिसतरह मोर का चादा वर्णादि के समूह की प्रधानता की अपेक्षा से एक हि है उसीतरह दर्शनादि भिन्नभिन्न स्वभाव शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव मे अन्तर्भूत होनेसे आत्मा एकरूप–अमेचक भी है ।

दर्शनादिपर्यायो के कारण आत्मा का जो मेचकत्व बताया गया है वह सद्‌भूतव्यवहारनय की दृष्टि से बताया गया है यह स्पष्ट करते हैं–

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद्‌व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥

अन्वय– दर्शनज्ञानचारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वत व्यवहारेण त्रिस्वभावत्वात् एकः अपि मेचकः।

अर्थ– दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनो के रूप से परिणत होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से तीन स्वभाववाला होनेसे (निश्चयनय की दृष्टि से) एक (अमेचक) होनेपर भी आत्मा (कथंचित्) मेचक है ।

त. प्र.– दर्शनज्ञानचारित्रैर्दर्शनज्ञानचारित्ररूपैः त्रिभिस्त्रिप्रकारैः परिणतत्वतः कृतपरिणतित्वाद् व्यवहारेण सद्भूतव्यवहारनयेन त्रिस्वभावत्वाद्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपस्वभावत्रितयात्मकत्वादेकोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धज्ञानघनैकस्वभावत्वादेकोऽमेचकोऽपि मेचकोऽनेकस्वभावः । अयमात्मेति शेषः । शुद्धनिश्चयनयापेक्षयाऽऽत्मा शुद्धज्ञानघनैकस्वभावत्वाद्यद्यप्येकस्तथापि भेदप्रधानसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्य त्रैविध्यं प्राप्तत्वादात्मनो मेचकत्वं नानास्वभावत्वं न विरुद्धं सर्वथेति भावः ।

विवेचन– शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव की अपेक्षा से शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा एक है–एकमात्रस्वभाववाली है–अमेचक है तो भी व्यवहारनय से ज्ञानघनैस्वभाव के दर्शनादि भेद–पर्याय–परिणाम होनेसे और वे विभावात्मक न होनेके कारण स्वभावभूत होनेसे आत्मा मेचक–नानास्वभावयुक्त–अनेकरूप भी हैं । सारांश, आत्मा की नानारूपता का कारण व्यवहारनय है। वस्तुत आत्मा एकस्वभाववाली होनेसे एकरूप हि हैं। यह व्यवहारनय कथंचित् अभूतार्थ होनेसे दर्शनादि भी कथंचित् असत्यार्थ बन जाते हैं । इस कथन का अभिप्राय यह है कि स्वभावभूत शुद्ध ज्ञान की वह वस्तुतः एकरूप होनेसे दर्शनादिरूप से अनेकरूपता कथंचित् अभूतार्थ है; क्यों कि शुद्धनय पदार्थ के स्वभाव की एकरूपता का प्रतिपादन करती है–अभेदरूपता का हि प्रतिपादन करती है, अनेकरूपता का नहीं । वस्तुस्वभाव की अनेकरूपता का प्रतिपादन करना व्यवहारनय का कार्य हैं ।

अब परमार्थतः अर्थात् शुद्धनिश्चय की दृष्टि से आत्मा एक ज्ञातृस्वभाव हि व्यक्त होनेसे वह अमेचक हैं यह बताया जाता है–

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ।। १८ ।।

अन्वय– परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषा एककः सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वात् अमेचकः ।

अर्थ– किंतु शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा का (एकमात्र) ज्ञातृत्वतेज–ज्ञायकत्व–ज्ञानमात्रयुक्तत्व व्यक्त (सभी अवस्थाओ में अभिव्यक्त) होनेसे वह सिर्फ एक होनेसे और उसमें व्यक्त होनेवाली सभी स्वभावरूप और विभावरूप पर्याय स्वभावतः विनश्वर होनेसे आत्मा अमेचक है ।

त. प्र.– शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव आत्मा परमार्थेन शुद्धनिश्चयनयापेक्षया तु पुनर्व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषा प्रकटीभूतज्ञायकत्वतेजसा । ज्ञातृत्वमेव ज्ञायकत्वमेव ज्योतिस्तेजो ज्ञातृत्वज्योतिः । व्यक्तं च ज्ञातृत्वज्योतिश्च व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिः । तेन । आविर्भूतेन ज्ञातृत्वरूपेण तेजसेति भावः । एककः एकः एव सन् । ‘ एकादाकिंश्चासहाये ’ इत्यसहायार्थे कः । एकस्वभावत्वादेक एव सन्निति भावः । अस्यैककत्वस्य मेचकत्वनिमित्तत्वाद्धान्तत्वेऽपि हेतुगर्भविशेषणत्वम् । तेनैकत्वेनामेचक इति भावः । ‘ हेतौ सर्वाः प्राय ’ इति हेतौ वा । सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वाज्ज्ञायकैकस्वभावभिन्नस्वभावविभावभावानां परिणामत्वाद्ध्वंसिस्वभावत्वाद्विनश्वरस्वभावत्वात् । अन्ये ज्ञायकभावात्सहभाविपर्यायरूपाद्भिन्नाः क्रमभाविपर्यायात्मका स्वभावविभावभावाः भावान्तराणि । ज्ञायकभावस्य सकलव्यक्त्यपेक्षया सादित्वेऽपि सहभावित्वापेक्षयाऽनादिनिधनत्वं यथा तथा स्वभावविभावपरिणामानामुत्पद्यविनाशित्वाद्नानादिनिधनत्वमपि तु विनश्वरत्वमेव स्वभावतः । तेषां विनश्वरत्वादात्मद्रव्यस्यानादिनिधनत्वात्तेषां तत्स्वभावत्वासम्भवाच्छुद्धनिश्चयापेक्षया नात्मनो मेचकत्वं सम्भवति । आत्मपरिणामभूतानामप्यात्मवदविनश्वरस्वाभावान्न तेषामात्मस्वभावत्वम् । ततश्च नात्मनो मेचकत्वमिति भावः । सर्वाणि च तानि भावान्तराणि च सर्वभावान्तराणि । तेषां ध्वंसी विनश्वरश्चासौ स्वभावश्च सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावः।

तस्य भावः। तस्मात् । अमेचकश्शुद्धज्ञानघनैकस्वभावः । अयमात्मा सर्वपरभावविध्वंसनशीलो यतो यतश्चाविर्भूतज्ञायकैकस्वभावत्वात्परिहृतव्यवहारनयकृतदर्शनादिभेदस्तत एवामेचक इति भाव इति केचन । अन्ये ज्ञायकभावं विहायापरे भावाः ज्ञानदर्शनादयः । सर्वेषां भावान्तराणां ध्वंसिस्वभावत्वाद्वि-नश्वरस्वभावत्वादयमात्माऽमेचक इत्यस्मन्मतम् । सर्वभावान्तरविनाशनस्वभावत्वेऽस्यात्मनः स्वभावपरि-णामविनाशकत्वापत्तेः स दर्शनादिस्वभावपरिणामविनाशकः स्यात्ततश्च तस्यापरिणामित्वमापतेदित्यभि-प्रायं मनसि विधाय प्रोक्तसामासिकपदस्य विनश्वरस्वभावत्वरूपोऽर्थोऽभिव्यञ्जितः । ध्वावेध्वंसुधातोरकर्म-कत्वात् 'शीलेऽजातौ णिन्' इतिसूत्रविहितणिन्प्रत्ययस्थणानुबन्धस्य वृद्ध्यर्थत्वादन्तर्भावितण्यर्थधातुरूपा-ण्णिन्प्रत्ययविधानमन्तरेण भावान्तरध्वंसकस्वभावत्वादित्यर्थासम्भवात्स्वभावपर्यायध्वंसनशीलत्वापत्तेः पर्यायोत्पत्तिकारणभूतपरिणामित्वस्वरूपाभावप्रसङ्गाच्च ध्वंसिस्वभावत्वादित्यस्य विनशनशीलत्वादि-त्येषोऽर्थो ग्राह्यः । ध्वंसोऽस्यास्तीति ध्वंसी । 'अतोऽनेकाचः' इतीन्मत्वर्थे । ज्ञायकभावं विमुच्यान्येषां भावानामात्ममेचकत्वकारणभूतानां विनशनशीलत्वात्पारमार्थिकदृष्ट्या प्रकटज्ञातृत्वतेजसैकरूप एवाय-मात्माऽमेचकः । आत्मनोऽमेचकत्वमेकरूपत्वनिबन्धनम् ।

विवेचन– शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से एक शुद्धज्ञान हि आत्मा का स्वभाव है । जो भाव स्वभावभूत होता है वह सहभावी होनेसे यावद्द्रव्यभावी होता है । जिसप्रकार द्रव्य का अभाव होनेपर स्वभावभूतभाव का अभाव होता है उसीप्रकार स्वभावभूत भाव का अभाव होनेपर स्वभाववान् द्रव्य का भी अभाव हो जाता है; क्यों कि द्रव्य और उसका स्वभावभूतभाव इनमें तादात्म्यसंबंध होता है । इस ज्ञानरूप स्वभाव की परिणतियां अवश्य होती हैं । ये परिणतियां उत्पादव्ययुक्त होनेसे इनका अभाव भी हो जाता है । इन परिणतियों का अभाव होनेपर भी परिणामी ज्ञान का या आत्मा का अभाव न होनेसे ये परिणतियां आत्मा का स्वभावरूप नहीं हो सकती । अतः ये परिणतियां स्वभावरूप न होनेसे इनके निमित्त से होनेवाला अनेकधर्मयुक्तत्व–मेचकत्व आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है । दर्शन ज्ञान और चारित्र ये आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान की पर्यायें जरूर है; किंतु आत्मा की या ज्ञान की शुद्ध अवस्था में ये ज्ञान के साथ एकरूप बन जाती है अर्थात् इनका ज्ञान से भिन्नरूप से स्वतंत्र अस्तित्व नही रहता अर्थात् इनका ज्ञानरूप से अस्तित्व होनेपर भी पर्यायरूप से अस्तित्व बना न रहनेसे एक तरह अभाव हि हो जाता है । इनका इसप्रकार अभाव होनेपर भी ज्ञान का या आत्मा का अभाव नहीं होता । अतः शुद्धनिश्चय की दृष्टि से दर्शनादिपर्यायें आत्मा का यथार्थरूप से स्वभावभूतभाव नहीं हो सकती । जब ये परमार्थतः आत्मा के स्वभावभूत भाव नही हे तब आत्मा का मेचकत्व भी यथार्थ नहीं है, फिर भले हि सद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा के मेचकत्व की सिद्धि होती हो । ये दर्शनादि पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से आत्मा से कथंचित् भिन्न होनेपर भी द्रव्या-र्थिकनय की या शुद्धनिश्चय की दृष्टि से आत्मा से कथंचित् अभिन्न होनेसे उनरूप से परिणत होनेका नाम हि आत्मानुभूति है । जब ये दर्शनादि सम्यक् होते हें अर्थात् विभावभावरूप नहीं होते तब हि आत्मा की उनरूप परिणति आत्मानुभूतिरूप होती है । जब ये मोहाक्रान्त होती हे तब उनका अशुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्य होनेसे उनरूप परिणतियां शुद्धात्मानुभूतिरूप नहीं होती ।

जो स्वभावतः अपने हि परिणामों का ध्वंसक होता है वह अपने उन विशिष्ट परिणामों के रूप से कैसे परिणत हो सकता है ? जो स्वभावतः जिसका ध्वंसक होता है वह स्वभावतः उसका जनक नहीं हो सकता; क्यों कि इन दोनों स्वभावो में सहानवस्थानरूप विरोध होता है । यदि आत्मा स्वभावतः स्वपर्यायो की ध्वंसक होती तो वह अपनी पर्यायों की उत्पादक अर्थात् उपादानकारण नहीं हो सकती । आत्मा दर्शनादिपर्यायों के रूप से परिणत होती है; क्यों कि वह स्वभावतः परिणामी है । यदि उसे परिणामी नहीं माना तो उसको कूटस्थनित्य मानना होगा । यदि अपनी पर्यायों का ध्वंस करना उसका स्वभाव है ऐसा माना तो वह अपनी पर्यायरूप से परिणति हि

नहीं होने देगी जिससे आत्मा कूटस्थनित्य बन जायगी । अतः 'सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वात्' इस सामासिक-पद का 'ज्ञानरूप भाव को छोडकर सभी परिणतियां विनशनशील–विनश्वर होनेसे' ऐसा अर्थ करना हि उचित जंचता है ।

शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति का अमोघ साधन रत्नत्रय हि होनेसे आत्मा के मेचकामेचकत्वपर विचार करने की आवश्यकता नहीं है यह बताते है–

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

अन्वय– आत्मनः मेचकामेचकत्वयोः चिन्तया एव अलम् । साध्यसिद्धिः दर्शनज्ञानचारित्रैः भवति, न च अन्यथा भवति ।

अर्थ– आत्मा के मेचकत्व के अर्थात् अनेकधर्मवत्त्व के और अमेचकत्व के अर्थात् एकधर्मवत्त्व के विषय में विचार नहीं करना चाहिये । शुद्ध आत्मा की प्राप्तिरूप साध्य की सिद्धि दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंरूप एक उपाय से होती है; अन्यथा अर्थात् इससे व्यतिरिक्त–भिन्न उपाय से नहीं होती--उसके मेचकत्वामेचकत्व के विषय में किये जानेवाले विचार से नहीं होती ।

न प्र.– आत्मनश्चैतन्यस्वभावस्य जीवपदार्थस्य मेचकामेचकत्वयोरेकरूपत्वानेकरूपत्वयोरेक-मात्रधर्मवत्त्वानेकधर्मवत्त्वयोर्वा चिन्तयैव चिन्तनेनैव समीक्षयैव वाऽलं पर्याप्तम् । अत्र निषेधेऽलम् । 'प्रकृत्यादिभ्यः' इति भा । साध्यसिद्धिः शुद्धज्ञानघनैकस्वभावशुद्धात्मभूतस्य शुद्धात्मस्वरूपप्राप्तिस्व-रूपस्य साध्यस्य सिद्धिर्दर्शनज्ञानचारित्रैस्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकोपायेन भवति न च नैवान्यथाऽन्येन केनाप्युपायेन । दर्शनादित्रयव्यतिरिक्तेनात्ममेचकामेचकत्वसमीक्षणादिरूपेणान्येन केनाप्युपायेन शुद्धा-त्मस्वरूपप्राप्तिरूपस्य साध्यस्य सिद्धिर्न भवतीति हेतोरन्योपायसमीक्षणवैयर्थ्यात्तच्चिन्तनमविधेयमिति भाव. । आत्मनो द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्त्वेनावलोकनं शुद्धात्मस्वरूपावलोकनं वा दर्शनं, इदमीदृशमेवात्म-द्रव्यं तत्स्वरूपं वेत्यवधारणं ज्ञानं, शुद्धात्मस्वरूपानुभवनं च चारित्रम् । अस्य त्रविध्यात्मकोपायस्य पर-मार्थेन आत्मनोऽभिन्नत्वादात्मा एव शुद्धात्मस्वरूपप्राप्तिरूपसाध्यस्य सिद्धौ कारणत्वादात्मन एव कर्तृ-त्वात्स्वशुद्धस्वरूपस्य प्राप्यत्वात्तस्यैव कर्मत्वात्साध्यसिद्ध्युपायस्य व्यवहारनयेन त्रैविध्येऽपि परमार्थत ऐकध्यमेवेति भाव । अयमेवाभिप्राय उत्तरगाथासूत्रद्वयेन प्रकटीकृतः ।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र से हि मोक्ष की– शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है– अन्य उपाय से मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती यह बताते है–––

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि
ता तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥ १८ ॥

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥ १७ ॥

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेण[1] ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ– (**यथा नाम**) जिसप्रकार (**अर्थार्थिकः**) धन प्राप्ति की इच्छाकरनेवाला (**कः अपि पुरुषः**) कोई भी पुरुष (**राजानं**) राजा को (**ज्ञात्वा**) जानकर (**श्रद्दधाति**) 'यह राजा हि है' ऐसा श्रद्धान करता है, (**ततः पुनः**) और फिर (**तं**) उसका (**प्रयत्नेन**) प्रयत्नपूर्वक (**अनुचरति**) अनुचरण करता है अर्थात् उसकी आज्ञा का पालन करता है, (**एवं हि**) इसीप्रकार हि (**मोक्षकामेण**) मोक्ष की कामना करनेवाले पुरुष को (**जीवराजः**) शुद्धजीवरूप राजा का (**ज्ञातव्यः**) निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा ज्ञान कर लेना चाहिये, (**पुनः च**) और फिर (**तथा एव**) उसीप्रकार हि (**श्रद्धातव्यः**) यह शुद्ध आत्मा शुद्धज्ञानरूप एकमात्रस्वभाववाली और रागादिरूप विभावपरिणाम-रहित हि होती है' इसप्रकार निश्चय कर उसका श्रद्धान करना चाहिये (**तु च**) और फिर (**स एव**) उसी शुद्ध आत्मा का हि (**अनुचरितव्यः**) अनुचरण–सेवन करना चाहिये अर्थात् शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा–निर्विकल्पसमाधि के द्वारा उसका अनुभव करना चाहिये ।

आ. ख्या.– यथा हि कश्चित् पुरुषः अर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथमं एव राजानं जानीते, ततः तं एव श्रद्धत्ते, ततः तं एव अनुचरति, तथा आत्मना मोक्षार्थिना प्रथमं एव आत्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, ततः स एव अनुचरितव्यः च, साध्यसिद्धेः तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम् । तत्र यदा आत्मनः अनुभूयमानानेकभावसङ्करे अपि परमविवेककौशलेन 'अयं अहं अनुभूतिः' इत्यात्मज्ञानेन सङ्गच्छमानं एव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानं उत्प्लवते, तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशङ्कं एवा–(अव–) स्थातुं शक्यत्वात् आत्मानुचरणं उत्प्लवमानं आत्मानं साधयति इति साध्यसिद्धेः तथोपपत्तिः; यदा तु आबालगोपालं एव सकलकालं एव स्वयं अनुभूयमाने अपि भगवति अनुभूत्यात्मनि अनादिबन्धवशात् परैः समं एकत्वाध्यवसायेन विमूढस्य 'अयं अहं अनुभूतिः' इति आत्मज्ञानं न उत्प्लवते, तदभावात् अज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वात् श्रद्धानं अपि न उत्प्लवते, तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशङ्कं[2] एव आस्थातुं अशक्यत्वात् आत्मानुचरणं अनुत्प्लवमानं न आत्मानं साधयति इति साध्यसिद्धेः अन्यथानुपपत्तिः ।

त॰ प्र.– यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी धनोपलब्धिप्रयोजनः प्रयत्नेन प्रयासेन प्रथममेवादावेव राजानं जानीते संलक्षयति, ततस्तदनन्तरं तमेव राजानमेवायं राजेवेति श्रद्धतेऽवधारयति, ततस्तदनन्तरं तमेवानुचरति तमनुकूलाचरणेन सेवते तथाऽऽत्मना मोक्षार्थिना पररूपविभावभावाभावात्मकशुद्धात्मस्वरूपाधिजिगमिषुणा प्रथममेवादावेवात्मा ज्ञातव्योऽनुभूयमानभावान्तरेभ्यः पृथक्कृत्य यो ज्ञानस्वरूपः स आत्मेति परिच्छेद्यः ततस्तदनन्तरमयं ज्ञानस्वरूप आत्मैवेति श्रद्धातव्योवधारणीयः, ततस्तद-

१– उत्तरपदभूतकामशब्दस्य सकुत्वात् 'मको' इति सूत्रेण नस्य णत्वम् । २– 'निःशङ्कमवस्थातुं' इति पाठान्तरम् ।

नन्तरं स एवोपयोगलक्षण आत्मेवेति श्रद्धातव्यः, ततस्तवनन्तरं स एवानुचरितव्यस्तत्प्राप्त्यनुकूलाचरणेन सेव्यः साध्यसिद्धेः शुद्धात्मस्वरूपप्राप्तिस्वरूपसाध्यस्य ज्ञानश्रद्धानानुचरणैः सिद्धेरुपपत्तेरन्यथा ज्ञानश्रद्धानानुचरणमन्तरेण प्रोक्तसाध्यस्य सिद्धेरनुपपत्तेश्च । तत्र तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्त्योः यदाऽऽत्मन आत्मविषयेऽनुभूयमानानेकभावसङ्करेऽप्यनुभवगोचरीक्रियमाणानेकजीवाजीवादिपदार्थज्ञानरूपपरिणामसंयुक्ततायामपि । अनुभूयमाना अनुभवगोचरीक्रियमाणा येऽनेके भावाः ज्ञेयार्थज्ञानपरिणामास्तैः सङ्करः संकीर्णता संयुक्तता । तस्मिन्सत्यपि । परमविवेककौशलेन पृथक्करणक्रियायां परमकौशलेन । विवेकः विभेदनं पृथक्करणम् । तत्र कौशलं नैपुण्यम् । परमं च तद्विवेककौशलं च तेन । अयमहमनुभूतिरहमनुभूतेरभिन्न इत्येवम्प्रकारेणात्मज्ञानेन एव सङ्गच्छमानं संयुज्यमानम् । संयुक्तमित्यर्थः । तथेतिप्रत्ययलक्षणमात्मानुभूत्योरभेद एवेतिज्ञानस्वरूपं श्रद्धानमुत्प्लवते प्रादुर्भवति तदा समस्तभावान्तरविवेकेन सकलान्यभावेभ्यो निःशङ्कं भेदेनावस्थातुं स्वस्वरूपे स्थिरीभवितुं शक्यत्वादात्मानुचरणमात्मप्राप्त्यनुकूलं चारित्रं । स्वरूपाचरणचारित्रमित्यर्थः । उत्प्लवमानं प्रादुर्भवत्सदात्मानं साधयत्युपपादयति। इत्येवं साध्यसिद्धेः शुद्धात्मस्वरूपप्राप्तिरूपसाध्यस्य सिद्धेस्तथा ज्ञानश्रद्धानानुचरणैरुपपत्तिर्याथार्थ्यम् । यदा त्वाबालगोपालं बालान् गोपालांश्चाभिव्याप्यैव । सकलजनैरेव सकलकालमेव सर्वदैव स्वयमेवानुभूयमानेऽप्यनुभवगोचरीक्रियमाणेऽपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यनुभूतिस्वरूपे आत्मन्यनादिबन्धवशादनादिबन्धप्रभावात्परैः परभावैः । विभावभावैः शरीरादिभिश्चात्मनो भिन्नैर्भावैरित्यर्थः । समं सहैकत्वाध्यवसायेनाभिन्नत्वनिश्चायकेन मिथ्याज्ञानेन विमूढस्य मोहाक्रान्तत्वाद्विभावभावत्वापन्नज्ञानस्य 'अयमहमनुभूतिः' इत्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते, न प्रादुर्भवति । तदभावादात्मानुभूत्यभेदज्ञानाभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वात् । खरशृङ्गसद्भावाभावात्तत्स्वरूपज्ञानाभावाद्यथा 'इदं खरशृङ्गमेव' इति श्रद्धानं यथा नोत्प्लवते तथेत्यर्थः । आत्मानुभूत्योरभिन्नत्वादात्मायमनुभूतिरेवेति श्रद्धानमपि नोत्प्लवते न प्रादुर्भवति तदा समस्तभावान्तरविवेकेन सकलभावान्तरेभ्यो भेदेन । तेभ्यः पृथग् भूत्वेत्यर्थः । समस्तभावान्तराविवेकेन इति पाठान्तरे समस्तभावान्तरेभ्योऽविवेकेन भेदाभावेन इत्यर्थः । निःशङ्कमेव निरारेकमेवावस्थातुं स्वस्वरूपे स्थिरीभवितुमशक्यत्वादात्मानुचरणं स्वरूपाचरणचारित्रमनुत्प्लवमानम् प्रादुर्भवन्नात्मानं साधयत्युपपादयति । इत्येवं शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिरूपसाध्यस्य सिद्धेरन्यथा ज्ञानश्रद्धानानुचरणैर्विनाऽनुपपत्तिरयाथार्थ्यम् ।

टीकार्थ— जिसप्रकार हि धन की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला कोई पुरुष सबसे पहले हि राजा को जान लेता है, बाद में 'वह राजा हि है' ऐसा उसके हि विषय में अवधारण—निर्णय कर लेता है और बाद में उसकी हि सेवा करता है—उसीके आदेशपर चलता है उसीप्रकार मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करनेवाले पुरुष को सबसे पहले आत्मा को अर्थात् आत्मा के स्वरूप को जानना चाहिये, बाद में 'यह आत्मा हि है' ऐसा उसके हि विषय में अवधारण—निर्णय कर लेना चाहिये और बाद में उसकी जिसतरह प्राप्ति हो सके उसी तरह अपना आचरण रखना चाहिये—उसकी हि आराधना करनी चाहिये; क्यों कि शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्तिरूप साध्य की सिद्धि उसके ज्ञान से, श्रद्धान से और उसकी प्राप्ति के अनुकूल आचरण से घटित होती है, अन्यप्रकार से घटित नहीं होती। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति इनमें से जब अनुभव किये जानेवाले अनेक भावों (परिणामों) के साथ सकर—संयोग हुआ होनेपर भी स्वपरपदार्थों में भेद व्यक्त करने के महान् कौशल से (निपुणता से) 'यह मैं अनुभूति हूं' (मैं अनुभूति से भिन्न नहीं हूं) ऐसे आत्मज्ञान से युक्त हि 'आत्मा अनुभूति हि है' इसप्रकार का ज्ञान जिसका स्वरूप है ऐसा श्रद्धान उत्पन्न होता है तब आत्मा की अनुभूतिरूपता से अर्थात् ज्ञानरूपता से ('अनुभूतिः ज्ञानम्।')

जो भिन्न भाव होते हैं उनको आत्मा से अलग कर निःशंकरूप से आत्मस्वरूप में स्थिर होना शक्य होनेसे उत्पन्न होनेवाला शुद्धात्मप्राप्ति के लिए जो आचरण–चारित्र (स्वरूपाचरणचारित्र) वह प्रादुर्भूत होता है वह आत्मा की –शुद्ध आत्मा की सिद्धि (प्राप्ति) करता है । इसप्रकार शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्तिरूप साध्य की सिद्धि उसके ज्ञान, श्रद्धान और तत्प्राप्त्यनुकूल आचरण से घटित होती है और जब बालगोपालों से लेकर सभी लोगों के द्वारा सदा --सर्वकाल हि स्वयमेव अनुभव किया जानेवाला होनेपर भी भगवान् अनुभूत्यात्मक–ज्ञानात्मक आत्मा के बारे में अनादिकाल से चले आये बंध के प्रभाव से परभावों के साथ (आत्मा की) एकरूपता का निश्चय करनेवाले मिथ्याज्ञान के कारण विमूढ–मोहाक्रान्त बनी हुई आत्मा के ' यह मैं अनुभूति हूं ' (मैं ज्ञानस्वरूप हूं) इसप्रकार का आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्रादुर्भूत नहीं होता, उसप्रकार के ज्ञान का अभाव होनेसे जिसको कभी जाना नहीं ऐसे गधे के सींग का श्रद्धान जिसप्रकार नहीं किया जा सकता उसीप्रकार ' आत्मा ज्ञान हि है ' इसप्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान भी (श्रद्धान भी) उत्पन्न नही होता तब सभी अन्य भावों को पृथक् कर निःशंकरूप से आत्मस्वरूप में स्थिर होना अशक्य होनेसे प्रादुर्भूत न होनेवाला आत्मानुकूल अर्थात् आत्मप्राप्त्यनुकूल आचरण (स्वरूपाचरणचारित्र) आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकता । इसप्रकार शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्तिरूप साध्य की सिद्धि ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र को छोडकर अन्य प्रकार से घटित नहीं होती ।

विवेचन– धन की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला पुरुष सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक राजा को जानता है, फिर ' यह राजा हि है ' ऐसा अवधारण–निश्चय करता है और उसके बाद अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए राजा की सेवा करता है–उसकी आज्ञा के अनुकूल चलता है । राजा का यथार्थ ज्ञान और उसका ' यह राजा हि है ' ऐसा निर्णय हि धन की प्राप्ति की इच्छा करनेवाले पुरुष की राजसेवा के विषय में प्रवृत्ति कराते है । ठीक इसी धनार्थी पुरुष के समान मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा करनेवाले पुरुष को भी पहले प्रयत्न से आत्मा को यथार्थरूप से जानना चाहिये, जाननेके बाद ' यह आत्मा अनुभूतिरूप हि है ' ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये और उसके ज्ञानश्रद्धान के बाद उसकी सेवा-आराधना-अनुभूति करनी चाहिये; क्यों कि शुद्ध आत्मा की या उसके शुद्धज्ञानघनैकस्वभावरूप साध्य की सिद्धि उसीप्रकार अर्थात् ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण-सेवन-अनुभव से हि घटित होती है । ज्ञान, श्रद्धान और अनुभव के अभाव में शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्तिरूप साध्य की सिद्धि घटित नहीं हो सकती । दृष्टान्त के लिए ऊपर का धनार्थी पुरुष हि लिजिए । उसका साध्य है धन की प्राप्ति । यदि इस पुरुष को राजा का ज्ञान हि न हुआ तो वह ' यह राजा हि है ' ऐसा निश्चय भी नहीं कर सकता । राजविषयक ज्ञान और श्रद्धान के अभाव में वह सेवन-आराधन भी किसका और कैसे कर सकता है ? आत्मार्थी पुरुष को भी अपनी आत्मा का या उसके शुद्ध स्वरूप का ज्ञान न हुआ और ' यह आत्मा अनुभूतिरूप-ज्ञानस्वरूप हि है ' ऐसा श्रद्धान-निश्चय भी न हुआ तो आराध्य के ज्ञान और निर्णय के अभाव में उसकी सेवा-आराधना-अनुभूति कैसे की जा सकती है ? आत्मानुभूति हि तो शुद्धज्ञानघनैकस्वभावरूप साध्य की सिद्धि की साधक है--उसके अभाव में साध्य की सिद्धि होना असंभव है ।

भगवान् अमृतचंद्रसूरीश्वर ने तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति का स्पष्टीकरण नीचे मुजब किया है । अनेक भावों का संकर-मिश्रण हि संसारी जीवों के अनुभव में आता है । उन संकीर्ण भावों में आत्मानुभूतिरूप भाव का भी अंतर्भाव होता है । जिस जीव को भेदज्ञान की प्राप्ति हुई होती है ऐसा जीव अपने भेदज्ञान के परम कौशल्य से-नैपुण्य से ' यह मैं अनुभूति हूं ' ऐसा जानता है और अनेकभावों के संकर में से आत्माभाव को अलग कर अपनी आत्मा को जानता है । ऐसे आत्मज्ञान से मिला हुआ ' आत्मा अनुभूतिस्वरूप हि है ' ऐसा निश्चय लक्षण है जिसका ऐसा श्रद्धान अनुभूतिरूप चारित्र की ओर उछलनेवाले--उन्मुख होनेवाले आत्मा की सिद्धि-प्राप्ति करता है । आत्मा आत्मा का ज्ञान और निश्चय होते हि चारित्र की ओर उन्मुख होती है; क्यों कि उसको शुद्धज्ञानघनैकस्वभावरूप साध्य की सिद्धि करना होता है । ' साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तेः ' का ' अर्थ ' ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र से शुद्धज्ञानघनैकस्वभावरूप साध्य की सिद्धि घटित होती है ' ऐसा है ।

सदाकाल आबालगोपालों के भगवान् अनुभूतिरूप-ज्ञानरूप आत्मा हि अनुभव में आती है तो भी अनादि काल से चले आये बंध से परपदार्थों के साथ एकपने का आभास उत्पन्न हो जानेसे मूढ-मोहाक्रान्त ज्ञान से युक्त आत्मा में ' यह मैं अनुभूतिरूप-ज्ञानरूप हूं ' इसप्रकार का आत्मज्ञान प्रकट नहीं होता। आत्मज्ञान के अभाव में श्रद्धान भी प्रकट नहीं होता; क्यों कि वह श्रद्धान जिसका ज्ञान नहीं है ऐसे गधेके सींग के श्रद्धान के समान है। कहनेका भाव यह है कि जैसे गधे के सींग का अस्तित्व हि न होनेसे उसका ज्ञान नहीं होता और उस ज्ञान के अभाव में ' यह गधे का सींग हि है ' ऐसा आत्मा का श्रद्धान-निश्चय-अवधारण भी नहीं होता। जब आत्मा का यथार्थ ज्ञान और उसके यथार्थ स्वरूप का निश्चय हि होता नहीं तब अनुभूतिरूप आत्मभाव को छोडकर अन्यभावों को अलग नहीं किया जा सकता। जब अनेक संकीर्ण भावो में से प्रत्येक भाव के स्वभाव का ज्ञान और निश्चय होता है तब हि संकीर्ण भावों से प्रत्येक भाव अलग किया जा सकता है। आत्मभाव और परभाव इनमें से आत्मभाव का जब यथार्थज्ञान और निश्चय नहीं होता तब आत्मभाव को परभावों से कैसे अलग किया जा सकता है? जब आत्मा से परभाव या परभावों से आत्मा पृथक् नहीं की जाती तब ' यह आत्मा हि है ' ऐसा आत्म-विषयक निःशंकरूप से निश्चय नही हो सकता। इस निश्चय के अभाव में आत्मा चारित्र की ओर उन्मुख नहीं हो सकती। अतः आत्मा चारित्र की ओर उन्मुख न होनेसे स्वरूपाचरणचारित्ररूप परिणति के अभाव में वह आत्मा को नहीं साध सकती-शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं कर सकती; क्यों कि आत्मानुभूति के विना शुद्धज्ञान-घनैकरूप आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ' साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः ' का अर्थ ' आत्मा का यथार्थ ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र के विना शुद्धज्ञानघनैकरूप साध्य की सिद्धि घटित नहीं होती ' ऐसा है।

अब इसी भाव का कलश के द्वारा प्रतिपादन करते है—

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ॥
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

अन्वय— यस्मात् अन्यथा साध्यसिद्धिः न खलु न खलु (तस्मात्) समुपात्तत्रित्वं अपि एकतायाः कथमपि अपतितं उद्गच्छत् अच्छं अनन्तचैतन्यचिह्नं इदं आत्मज्योतिः सततं अनुभवामः।

अर्थ— जब अविनश्वर चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी आत्मा के तेज के (ज्ञानस्वभाव के) अनुभव के विना शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्तिरूप साध्य की सिद्धि अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती तब ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण इनरूप त्रिगुणत्व का स्वीकार करनेपर भी शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव के कारण जो एकत्व से किसी भी प्रकारसे च्युत नही होता— नही हुआ, जो (मेघपटल के दूर होनेपर जिसप्रकार सूर्य का तेज प्रकट होता है उसीप्रकार कर्मपटल के दूर होते हि या जो स्वभावत.) प्रकट होता है, जो निर्मल होता है और जो अविनश्वर चैतन्य से अंकित अर्थात् युक्त होता है ऐसे इस आत्मतेज का हम सतत अनुभव करते हैं। अथवा हे भव्य आत्मन्! तू शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के लिए शुद्ध आत्मा का अनुभव कर।

त प्र.— यस्माद्यत. कारणादन्यथाऽनन्तचैतन्यलक्षणस्याऽऽत्मज्योतिषोऽनुभवं विहायान्येन प्रकारेण शुद्धज्ञानघनैकस्वभावरूपसाध्यस्य सिद्धिः प्राप्तिर्न खलु न खलु नैव भवति। न खलु न खल्वित्यवधारणे। तस्मात्कारणात् समुपात्तत्रित्वमपि स्वीकृतत्रैगुण्यमपि। समुपात्तं स्वीकृतं त्रित्वं त्रैधीभावो ज्ञानश्रद्धानानुचरणात्मकं त्रैगुण्यं येन तत्। भेदप्रधानसद्भूतव्यवहारनयापेक्षया स्वीकृतत्रैगुण्यमपीत्यर्थः। मेचकत्वं प्राप्तमिति भावः। एकतायाश्शुद्धज्ञानघनैकस्वभावात्मकत्वादेकत्वात्। कथमपि केनचिदपि प्रकारेण।

'कथमित्थम्' इति प्रकारेऽर्थे थं निपातितः। अपतितमच्युतम्। शुद्धनिश्चयनयापेक्षयाऽव्यक्तशुद्धज्ञान-घनस्वभावमिति भावः। उद्गच्छन्मेघपटलापगमे सूर्यातप इव कर्मपटलापगमे प्रकटीभवत्। अत एवाच्छं निर्मलमनन्तचैतन्यचिह्नमविनश्वरचैतन्यलक्षणम्। न विद्यतेऽन्तो विनाशो यस्य तदनन्तम्। अनन्तं च तच्चैतन्यं चानन्तचैतन्यम्। तदेव चिह्नं लक्षणं यस्य तदनन्तचैतन्यचिह्नम्। सर्वास्वप्यवस्थासु चेतनस्वभावस्य विनाशरहितत्वादनन्तत्वमात्मज्योतिषः। इदमेतदात्मज्योतिरात्मतेजः सततं निरन्तरमनुभवामोऽनुभवगोचरीकुर्मः। यद्यप्ययमात्मा सद्भूतव्यवहारनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं त्रैगुण्यमास्कन्दति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धज्ञानघनैकस्वभावत्वादेकभाव्यमापन्न एवात्मा ध्यातव्यः, ध्यानविषयतां नीतस्यानेकान्तात्मकध्येयस्यैकरूपत्वसाध्यसिद्धेस्साधकतमत्वाभावादिति भावः। एषोऽर्थः 'एकताया अपतित-' मित्यमुना पदद्वयेन संसूचितः। यथानेकरूपत्वमात्मनो विमुच्यास्माभिरेकरूप एवात्माऽनुभूयते तथा चिकिताना भव्या एकरूपमेवात्मानमनुभवविषयीकुर्वन्त्विति टीकाकर्त्रभिप्राय.। अत्र कलशे तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्ती साध्यसिद्धेः प्रदर्शिते। यद्वा उ हे अमाप्राप्तमोक्षलक्ष्मीक भव्य। न विद्यते मा लक्ष्मीर्मोक्षस्वरूपा यस्य सोऽमः। सम्बुद्धिः। अप्राप्तमोक्षलक्ष्मीकेति भावः। त्वं सततं शुद्धमात्मस्वभावमनुभवविषयीकुरु। अप्राप्तमोक्षलक्ष्मीकान्भव्यानुद्दिश्य मोक्षलक्ष्मीप्राप्त्युपायभूतं शुद्धज्ञानघनैकस्वभावात्मानुचिन्तनमुपदिष्टं भगवताऽमृतचन्द्रसूरिणाऽत्र कलशे॥

विवेचन– शुद्ध आत्मा के स्वभावभूत शुद्धज्ञान की प्राप्ति उसकी अनुभूति के बिना कदापि नहीं होती यह बात निर्णीत है। यह ज्ञानतेज ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण के रूप से परिणत होनेसे पर्यायार्थिकनय की या सद्भूत-व्यवहारनय की दृष्टि से यद्यपि त्रैगुण्य को धारण करता है–अनेकान्तरूप बनता है–मेचक होता है तो भी शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्धज्ञानघनैकस्वभावरूप होनेसे अपने एकत्व को–एकधर्मत्व को–अमेचकत्व को किसी भी प्रकार से छोडता नहीं। यह तेज मेघपटल के हट जानेसे जिसप्रकार प्रकट हो जाता है उसीप्रकार कर्मपटल के हट जाते हि प्रकट हो जाता है अथवा वह आत्मा की सभी अवस्थाओं में सूर्यतेज के समान प्रकट हि रहता है। यह सदा प्रकट होनेवाला या कर्मपटल के हट जानेपर प्रकट होनेवाला होनेसे सदा निर्मल–निर्दोष हि बना रहता है। यह तेज अविनश्वर ज्ञान से युक्त होता है अर्थात् ज्ञानरूप होता है। इस ज्ञानतेज का अनुभव हम सदाकाल करते हैं, क्यों कि हमें उसकी प्राप्ति कर लेनेकी है। आचार्य भगवान् उपदेश देते हैं कि हे भव्य आत्मा! जिससे शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव की प्राप्ति होती है ऐसे मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति अभीतक तुम्हे नहीं हुई है? वह अभी तुम्हें प्राप्त करनेकी है। इसलिए जो अविनाशी चेतनस्वभाव से युक्त है ऐसे और जिसका वर्णन ऊपर किया गया है ऐसे आत्मतेज का अनुभव कर; क्यों कि उसके अनुभव के बिना शुद्धज्ञानघनैकस्वभावरूप साध्य की सिद्धि नहीं होती। कहनेका भाव यह है कि आत्मानुभव के बिना शुद्धज्ञानघनैकस्वभावकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये हरएक भव्य जीव को एकरूप आत्मा का हि सदा ध्यान–अनुभव करना चाहिये।

'ननु ज्ञानतादात्म्यात् आत्मा ज्ञानं नित्यं उपास्ते एव। कुतः तत् उपास्यत्वेन अनुशास्यते?' इति चेत् न, यतः न खलु आत्मा ज्ञानतादात्म्ये अपि क्षणं अपि ज्ञानं उपास्ते, स्वयम्बुद्ध–बोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्य उत्पत्तेः। 'तर्हि तत्कारणात् पूर्वं अज्ञानः एव आत्मा, नित्यं एव अप्रतिबुद्धत्वात्,' एवं एतत्।

त. प्र.– ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मनो ज्ञानेन तादात्म्यादभेदादात्मा ज्ञानं नित्यं सततमुपास्ते सेवते एव। तद्रूपेण परिणमत्येवेत्यर्थः। कुतः कस्मात्कारणात् तज्ज्ञानमुपास्यत्वेन सेव्यत्वेनानुशास्यते प्रति-

पाद्यते ? इत्यधिक्षेपोऽस्तीति चेत्, न, न सोधिक्षेपः समीचीन इत्यर्थः । यतो यस्मात्कारणान्न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येऽपि स्वस्य ज्ञानादभेदेऽपि क्षणमपि समयमात्रकालमपि ज्ञानमुपास्ते सेवते । सम्यग्ज्ञानरूपेण न परिणमति तस्य मोहाक्रान्तत्वादित्यभिप्रायः । आत्मनो मोहाक्रान्तत्वान्न तस्य सम्यग्ज्ञानात्मकत्वेन परिणतिः सम्भवति, स्वयम्बुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन बोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन वा ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानस्योत्पत्तेः । यस्य देशनालब्धिकाल एव सम्यक्त्वरूपेण परिणमनान्मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वेन परिणमति स बोधितबुद्धः; यस्य तु देशनालब्धिकाले एव सम्यक्त्वानुत्पत्तेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वेन न परिणमतेऽपि तु कालान्तरेण योग्यताप्रादुर्भावे सति पूर्वलब्धदेशनासंस्कारोद्बोधेन सम्यक्त्वोत्पत्तेर्ज्ञानं मोहाक्रान्तं सदपि सम्यग्ज्ञानत्वेन परिणमते स स्वयम्बुद्धः । यदैव जीवः स्वयम्बुद्धोः बोधितबुद्धो वा भवति तदैव तस्य मोहाक्रान्तत्वादज्ञानतामापन्नं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वेन परिणमति । तत्परिणमनात्पूर्वं मोहाक्रान्तत्वादज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वेन परिणतेरसम्भवादात्मनो वस्तुतो ज्ञानतादात्म्येपि मिथ्याज्ञानत्वेन परिणतत्वात्समयमात्रकालमपि जीवस्य शुद्धज्ञानत्वेन सम्यग्ज्ञानत्वेन वा परिणतिर्न सम्भवति । तर्हि तत्कारणात्पूर्वं स्वयम्बुद्धबोधितबुद्धत्वपरिणतेः पूर्वमज्ञान एवात्मेत्यायातं पूर्वं नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वादिति निगमनं शङ्काकारकृतं यथार्थमेव, सम्यग्ज्ञानत्वेन परिणतेः पूर्वमात्मनोऽप्रतिबुद्धत्वात् ।

टीकार्थ— 'आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य न होनेसे आत्मा सदा ज्ञाननिरत है—ज्ञानरूप से परिणत होती है—आत्मा की ज्ञान के साथ जब प्रत्यासत्ति विद्यमान है हि तब ज्ञान की प्राप्ति के लिए उसकी आराधना करनी चाहिये ऐसा उपदेश किस कारण से दिया गया है ? ' ऐसा कहना हो तो यह कथन ठीक नहीं है, क्यों कि ज्ञान की अर्थात् सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा का स्वयंबुद्धत्व या बोधितबुद्धत्व होनेपर हि होनेसे आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य होनेपर भी वस्तुतः सम्यग्ज्ञानरूप से क्षणमात्र भी उसकी परिणति नहीं होती । ' यदि ऐसा है तो स्वयबुद्ध या बोधितबुद्ध रूप से परिणत होनेके पहले आत्मा अज्ञानी होगी; क्यों कि पहले वह नित्य हि अप्रतिबुद्ध होती है ' यह शकाकार का अभिप्राय जैसा है वैसा हि यह है ।

विवेचन— " 'मैं' यह शब्द मनुष्यमात्र के मुख से सुना जाता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि उच्चारण करनेवाले ने अपनी आत्मा को जाना है । यह जो जाननेकी क्रिया है उसका कारण है ज्ञान । आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य होनेसे हि आत्मा जब चाहे जानने की क्रिया कर सकती है । यदि आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य न होता तो ज्ञान को परभाव का स्वभाव मानना पड़ता; क्यों कि जो भाव जिस पदार्थ का स्वभाव नहीं होता उस पदार्थ का उस भाव के साथ तादात्म्य हो हि नहीं सकता । उष्णता अग्नि का स्वभाव होनेसे अग्नि का उसके साथ तादात्म्य पाया जाता है । जल का उष्णता के साथ तादात्म्य नहीं पाया जाता; क्यों कि उष्णता जल का स्वभाव नहीं है । जिसतरह जल से दाहक्रिया नहीं हो सकती, उसीतरह ज्ञानशून्य आत्मभिन्न पदार्थ से जाननेकी क्रिया नहीं हो सकती । आत्मा जाननेकी क्रिया कर सकती है । अतः आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य है यह निश्चित है । आत्मा ज्ञानरूप होनेसे आत्मा को जानना हि आत्मस्वभावभूत ज्ञान को जानना है । संसारी जीव भी अपनी आत्मा का जानकार होनेसे ज्ञान का भी जानकार है यह बात स्पष्ट हो जाती है । ऐसा होते हुए भी ज्ञान आराध्य—अनुभव के योग्य है ऐसा उपदेश क्यों दिया जाता है ? " ऐसी शंका करना ठीक नहीं है । आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य अभेद—ऐक्य जरूर है; क्यों कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है । ऐसा होते हुए भी आत्मा ज्ञान की उपासना—आराधना अनुभव क्षणमात्र भी नहीं कर सकती । यदि आत्मा का ज्ञान के साथ जो तादात्म्य है वही सिर्फ ज्ञानाराधन का हेतु बनता तो एकेन्द्रिय जीवों से पंचेंद्रियतक के जीवों का ज्ञान के साथ तादात्म्य होनेसे उनके द्वारा ज्ञानाराधन का होना असंभव नहीं है । ऐसी दशा में संसार के सभी प्राणियों को बिना प्रयत्न के मोक्षप्राप्ति हो जायगी । इतनाहि नहीं, अपि तु संसारी और मुक्त ये आत्मा के भेद नष्ट हो जायंगे । यदि सिर्फ ज्ञानतादात्म्य से आत्मा ज्ञान की

उपासना करती तो आत्मा में जो ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) की उत्पत्ति कारणद्वयपूर्वक बतलायी है वह व्यर्थ बन जायगी। जो भाव सदा के लिए उत्पन्न हि है उसकी उत्पत्ति का साधन बताने का प्रयोजन हि क्या रहता है? किंतु वस्तुस्थिति कुछ भिन्न हि है। यद्यपि आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य है तो भी पुद्गलोपादानक कर्मों ने आत्मा के आत्माभिन्न प्रकटरूप ज्ञानस्वभाव को प्रच्छादित कर दिया है। प्रच्छादित किया जाने मात्र से उसका अभाव नहीं हो सकता और न वह ज्ञान अपने आश्रय में बलहीन बनता है। मेघपटल के द्वारा प्रच्छादित किया जानेवाला–प्रतिबद्ध किया जानेवाला सूर्य का प्रकाश–आतप अभावात्मक अवस्था को प्राप्त हुआ और अपने आश्रयभूत सूर्य में विकलतेज बना हुआ कभी किसी के देखनेमें नहीं आया और न आ सकता है। ऐसा होते हुए भी मेघपटल के दूरीभवन के बिना भूमण्डल को सूर्यप्रकाश की प्राप्ति नहीं होती। यद्यपि ज्ञान आत्मा में प्रकटरूप और अविकल होता है तो भी पौद्गलिक कर्मों के द्वारा आच्छादित होनेसे उसका विशद प्रकाश नहीं मिलता, फिर भले हि उसका आत्मा के साथ तादात्म्य हो। आत्मा का स्वभावभूत यह ज्ञान कर्मावृत होनेसे यद्यपि हतबल सा दिखाई देता है तो भी वस्तुतः वह हतबल नहीं होता। सिर्फ आवरण के हटते हि वह अविकल बल के साथ प्रकट होता है। अतः जबतक वह कर्मावृत होता है तबतक अविकल और विशद रूप से अनुभव में नहीं आता। हर एक आत्मा ज्ञानी होती हि है, फिर भले हि उसका वह ज्ञान अविशद बना हुआ हो। शास्त्रकारों ने जो ज्ञान की प्राप्ति के लिए उपदेश दिया है वह विशद ज्ञान की प्राप्ति के लिए दिया है। आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य होनेपर भी जबतक वह अशुद्धावस्थ होता है तबतक क्षणमात्रकाल भी आत्मा सम्यग्ज्ञानरूप से परिणत नहीं होती। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यग्ज्ञानावस्था को प्राप्त नहीं होता। सम्यक्त्व की प्राप्ति देशनालब्धि से होती है। जब देशना मिलते हि सम्यग्दर्शनरूप से आत्मा परिणत होती है तब उस सम्यग्दर्शन को अधिगमज कहते हैं। इसतरह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद ज्ञान सम्यक् बन जाता है। जिसका ज्ञान इसप्रकार सम्यक् बनता है उसको बोधितबुद्ध कहते हैं। जब देशनालब्धि के बाद कुछ काल बीतनेपर उस देशना का संस्कार उद्बुद्ध होकर आत्मा सम्यग्दर्शन के रूप से परिणत होती है तब उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप से परिणत होता है। जिसका ज्ञान इसप्रकार सम्यग्ज्ञान के रूप से परिणत होता है उसको स्वयंबुद्ध कहते हैं। आत्मा स्वयंबुद्ध की या बोधितबुद्ध की अवस्था को प्राप्त होनेके पूर्वकाल में अप्रतिबुद्ध होनेसे उसे सम्यग्ज्ञान की उपासना का उपदेश देना आवश्यक है। यह उपदेश हि देशनारूप हि है। जब तक आत्मा में भेदज्ञान व्यक्त नहीं होता तबतक आत्मानात्मविवेक की शक्ति व्यक्त हुई न होनेसे आत्मा और पुद्गल को नित्य एकरूप समझनेवाली आत्मा अप्रतिबुद्ध होनेसे अज्ञानी हि है। यद्यपि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा से अज्ञानी का और ज्ञानी का ज्ञान समान–एकरूप है, तो भी ज्ञानी का ज्ञान अनंतसंसार का विनाशक है तो अज्ञानी का ज्ञान जीव को अनंतसंसार में परिभ्रमण कराता है–उसके संसार का वर्धक है; क्यों कि पहले का ज्ञान जीव को विषयों से पराङ्मुख कराता है तो दूसरे का ज्ञान जीव को इंद्रियविषयों में आसक्त बना देता है। ज्ञानी के विषय में लिखा भी है कि–

"ज्ञानी विषयसङ्गेऽपि विषयैर्नैव लिप्यते। कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते ॥"

तर्हि कियन्तं कालं अयं अप्रतिबुद्धो भवति इति अभिधीयताम्–
ऐसा है तो कितने कालतक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध होती है यह बताइये–

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥ १९ ॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्मनोकर्म ।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ– (कर्मणि नोकर्मणि च) कर्म और नोकर्म इनमें (अहं) मैं हू (अहकं च) और मैं

(कर्मनोकर्म) कर्मरूप और नोकर्मरूप हु इसप्रकार दो वस्तुओं में अभिन्नता है **(एषा बुद्धिः)** ऐसी यह बुद्धि–ज्ञान–अनुभूति **(यावत्)** जिस कालतक **(खलु)** निश्चितरूप से होती है–बनी रहती है **(तावत्)** उस कालतक आत्मा **(अप्रतिबुद्धः)** अप्रतिबुद्ध–अज्ञानी–मिथ्यादृष्टि–आत्मस्वरूपज्ञानशून्य होती है–बहिर्मुख बनी रहती है ।

आ. ख्या.– यथा स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धेषु 'घटः अयं' इति, घटे च 'स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धाः च अमी' इति वस्त्वभेदेन अनुभूतिः; तथा कर्मणि मोहादिषु अन्तरङ्गेषु नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरङ्गेषु च आत्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेषु 'अहं' इति आत्मनि च 'कर्म मोहादयः अन्तरङ्गाः, नोकर्म शरीरादयः बहिरङ्गाः च आत्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामाः अमी' इति वस्त्वभेदेन यावन्तं कालं अनुभूतिः तावन्तं कालं आत्मा भवति अप्रतिबुद्धः । यदा कदाचित् यथा रूपिणः दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छता एव, वह्नेः औष्ण्यं ज्वाला च; तथा नीरूपस्य आत्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृता एव, पुद्गलानां कर्म नोकर्म च इति स्वतः परतः वा भेदविज्ञानमूला अनुभूतिः उत्पत्स्यते तदा एव प्रतिबुद्धो भविष्यति ।

त. प्र.– यथा स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावेषु स्पर्शरसगन्धवर्णादिसहभाविगुणवत्सु । स्पर्शरसगन्धवर्णा आदयः प्रमुखा येषु ते स्पर्शरसगन्धवर्णादयः । ते भावाः सहभाविनो गुणा येषु ते । तेषु । बसः । पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धेषु घटावयवभूतबृहत्तलतुन्दरूपपरिवृत्तपुद्गलस्कन्धेषु । पृथु बुध्नस्तलमुदरं तुन्दं च । तदादिस्तत्प्रमुख आकारो रूपम् । तेन तैर्वा परिणताः परिवृत्ताः पुद्गलस्कन्धाः पुद्गलाणुसमूहाः । तेषु । 'घटोऽय'–मिति घटे च स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावाः स्पर्शरसगन्धवर्णादिसहभाविगुणसहिताः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धाः घटावयवभूतबृहत्तलतुन्दरूपपरिवृत्तपुद्गलस्कन्धाश्चामी इत्येव वस्त्वभेदेन वस्तुनोरभिन्नत्वेनानुभूतिरनुभवस्तथा तेन प्रकारेण कर्मणि द्रव्यकर्मणि मोहादिषु द्रव्यमोहादिकर्मस्वन्तरङ्गेष्विन्द्रियागोचरेषु नोकर्मणि शरीरनामकर्मोदयोत्पन्नशरीरादिषु बहिरङ्गेष्विन्द्रियगोचरेष्वात्मतिरस्कारिष्वात्मद्रव्यावरणीयेषु पुद्गलपरिणामेषु कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलविकारेषु 'अहं' इति, आत्मनि च कर्म द्रव्यकर्म मोहादयः मोहनीयादयोऽन्तरङ्गा इन्द्रियागोचराः नोकर्म शरीरादयो नामकर्मोदयजनिताः बहिरङ्गा इन्द्रियगोचराश्चात्मतिरस्कारिण. आत्मद्रव्यावारकाः पुद्गलपरिणामाः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलविकारा अमीत्येवं वस्त्वभेदेन वस्तुनोरात्मपुद्गलद्रव्ययोश्चिदचितोरभेदेनाभिन्नत्वेन यावन्त काल यावत्कालपर्यन्तमनुभूतिरनुभवस्तावन्तं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धोऽज्ञानी । मिथ्यादृष्टिरिति भावः । अयमत्राभिप्रायः– यथा स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावेभ्यः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धेभ्यो घटपरिणामस्य घटपरिणामाद्वा स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावानां पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धानां सञ्ज्ञालक्षणादिभेदाद्भिन्नवस्तुत्वेऽपि तेषां परस्पराभिन्नत्वेनानुभूतिर्यद्वा स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावेभ्यः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धेभ्यो घटपरिणामस्य घटपरिणामाद्वा स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावानां पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धाना तत्रोपादानोपादेयभावस-

न्द्भावाद्भेदाभावात्तेषां परस्परमभिन्नत्वेनानुभूतिस्तथा पुद्गलपरिणामभूतात्कर्मणो नोकर्मणश्चात्मन आत्मनो वा पुद्गलपरिणामात्मककर्मनोकर्मणश्च चेतनत्वाचेतनत्वधर्मभेदाद्भिन्नवस्तुत्वेऽपि तेषां परस्पराभिन्नत्वेनानुभूतिर्यावत्कालपर्यन्तं भवति तावत्कालपर्यन्तमात्माऽप्रतिबुद्धो भवति । यदा त्वात्मकर्मणोरन्योन्यभिन्नत्वस्य ज्ञानं जायते तदात्मनोऽप्रतिबुद्धत्वं प्रतिहन्यते । एष एवाभिप्रायष्टीकाकर्त्रोत्तरत्र प्रकटीक्रियते । तद्यथा--यदा यस्मिन्काले कदाचित्कस्मिंश्चित्काले यस्मिन्कस्मिंश्चित्काले इत्यर्थः । रूपिणः पुद्गलस्वरूपस्य दर्पणस्य मुकुरस्य स्वपराकारावभासिनी स्वपररूपप्रकाशिनी स्वच्छतैव निर्मलतैव वह्नेरग्नेरौष्ण्यं तिग्मता ज्वाला च तथा तेन प्रकारेण नीरूपस्य स्पर्शरसगन्धवर्णात्मकपुद्गलगुणविकलस्य । अमूर्तस्येत्यर्थः । आत्मनः स्वपराकारावभासिनी स्वपरासाधारणधर्मात्मकस्वरूपप्रकाशिनी ज्ञातृतैव ज्ञायकभाव एव पुद्गलानां कर्म द्रव्यकर्म नोकर्म शरीरनामकर्मोदयजनितशरीरं चेति स्वतः साक्षात्परोपदेशमन्तरेण परतो वाऽऽचार्याद्युपदेशककृतप्रत्यक्षोपदेशेन वा भेदविज्ञानमूला चेतनाचेतनपदार्थभेदज्ञानकारणकाऽनुभूतिरनुभव उत्पत्स्यते प्रादुर्भविष्यति तदा तस्मिन् काले प्रतिबुद्धः सम्यग्ज्ञानवान्भविष्यति । सम्यग्ज्ञानपर्यायत्वेन परिणतो भविष्यतीत्यर्थः । अयमत्र भावः--प्रतिफलितपरद्रव्यभूताग्नेरपि मुकुरस्याग्निना तादात्म्यमनापन्नेन वास्तविकस्वस्वामिभावसम्बन्धाभावात्स्वच्छतया स्वभावभावभूततयैव वास्तवः स्वस्वामिभावात्मकः सम्बन्धः सम्भवति, न परद्रव्यभूतेनाऽग्निना तदीयेनौष्ण्येन ज्वालया वा । औष्ण्येन ज्वालया चाग्नेः स्वस्वामिभावः सम्बन्धस्तेषामन्योन्यतादात्म्यात् । एवमेवामूर्तस्यात्मनो गृहीतस्वपरासाधारणस्वरूपस्यापि ज्ञातृतयैव वास्तवः स्वस्वामिभावसम्बन्धो, न कर्मादिपरद्रव्यैस्तत्र चैतन्यधर्मान्वयादर्शनात् । पुद्गलानां तद्विकारभूतकर्मनोकर्मणां च तत्रोपादानोपादेयभावसद्भावात्कथञ्चिदभेदाद्वास्तवः स्वस्वामिभावसम्बन्धः । अतः आत्मकर्मणोः स्वरूपभेदाद्भिन्नत्वस्य ज्ञाने प्रादुर्भूते सति जीवः प्रतिबुद्धः सम्यग्ज्ञानवान्भवति ।

टीकार्थ– जिसप्रकार जिन में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि (पुद्गल के) स्वभावभूतगुण तादात्म्यसंबंध से रहते हैं ऐसे बडा नल भाग और उदरतुल्य बडा मध्यभाग आदि के आकार के रूप में परिणत हुए पुद्गलस्कंधो में ' यह घट है ' इसप्रकार और घट में ' स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि स्वभावभूत गुणो से युक्त बडा नलभाग और उदरतुल्य बडा मध्यभाग आदि के आकार के रूप से परिणत हुए यह पुद्गलस्कंध है ' इसप्रकार उक्ताकार को धारण करनेवाले पुद्गलस्कंध और घट इन (पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से भिन्नरूप) वस्तुओ की अभिन्नरूप से अनुभूति होती है उसीप्रकार आत्मप्रच्छादक पुद्गलपरिणामरूप मोहादिसंज्ञक (इन्द्रियागोचर होनेसे) अंतरंग कर्मों में और नोकर्मसंज्ञक बहिरंग शरीरादि में ' मैं हूं ' इसप्रकार और आत्मा में ' यह आत्मसंज्ञक पुद्गलपरिणामरूप मोहादिसंज्ञक अंतरंग कर्म और नोकर्मसंज्ञक बहिरंग शरीरादि है ' इसप्रकार कर्मनोकर्मरूप पुद्गलपरिणाम और आत्मा इनमे वस्तुत. भेद होनेपर भी उनकी अभिन्नरूप से जितने कालतक अनुभूति होती है -ज्ञान होता है उतने कालतक आत्मा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि होती है । जिसप्रकार अपने स्वरूप को और (प्रतिबिंबित होनेवाले) पर पदार्थों के स्वरूप को प्रकट करनेवाली स्वच्छता रूपी अर्थात् पुद्गलस्वरूप पदार्थ की होती है अर्थात् दर्पण और उसकी स्वच्छता में वास्तव स्वस्वामिभावसंबंध होता है और उष्णता और ज्वाला अग्नि की होती है अर्थात् अग्नि और उसकी उष्णता और ज्वाला इनमें परमार्थतः स्वस्वामिभावसंबंध होता है उसीप्रकार अपने और अपने ज्ञान के विषय बननेवाले परपदार्थों के स्वरूप को प्रकट करनेवाली ज्ञातृता-ज्ञायकभाव हि नीरूप अर्थात् अमूर्त आत्मा की होती है अर्थात् आत्मा और ज्ञायकभाव इनमें हि वास्तविक स्वस्वामिभावसंबंध होता है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गलों के होते है अर्थात् पुद्गल और कर्मनोकर्मों में परिणामपरिणामिभाव या उपादानोपादेयभाव होनेसे उनमें हि परमार्थ भूत स्वस्वामिभावरूप संबंध होता है इसप्रकार की साक्षात् देशनालब्धि का अभाव होनेसे (किंतु पहले कभी देशनालब्धि का सद्भाव होनेसे) स्वतः अर्थात् निसर्गतः अथवा देशना की

साक्षात् उपलब्धि होनेसे परतः अर्थात् अधिगमतः जिसका मूलकारण भेदज्ञान होता है ऐसी अनुभूति जिस किसी काल में होगी अर्थात् अनुभवक्रियारूप से आत्मा परिणत होगी उसी काल में हि आत्मा प्रतिबुद्ध-भेदज्ञानी--सम्यग्दृष्टि होगी ।

विवेचन-- यहां पहले दृष्टान्त का खुलासा किया जाना आवश्यक है; क्यों कि दृष्टान्त का ज्ञान होनेपर हि दार्ष्टान्तिक का यथार्थ ज्ञान होता है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि स्वाभाविक गुणों से घट के तल, उदर आदि के रूप से परिणत हुए पुद्गलस्कंध और घट अर्थात् घट के सिर्फ तल, उदर आदि और घट इनमें पर्यायार्थिक या व्यवहारनय की दृष्टि से भेद होता है; क्यों कि तल, उदर आदि पर्यायें अपने असाधारण आकार से घटरूप पर्याय में नहीं पायी जाती और घटरूप पर्याय इनमें नहीं पायी जाती । यदि तल, उदर आदि पर्यायों में घट अपने असाधारण आकृति से पाया जाता तो तल, उदर आदि पर्यायें घटरूप दिखाई देती और तल, उदर आदि पर्यायों का अभाव हो जाता और यदि घटरूप पर्याय में तल, उदर आदि पर्यायें अपने असाधारण आकार से पायी जाती तो घट तल, उदर आदि पर्यायों के रूप से दिखाई देता और घटरूप पर्याय का अभाव हो जाता । अतः तल, उदर आदि पर्यायें और घट पर्याय इनमें अभेद--एकरूपता नहीं माना जा सकता । इन पर्यायों को अभिन्न रूप से जानने से जाननेवाले की अप्रतिबुद्धता--अज्ञानिता व्यक्त हो जाती है । यहां दृष्टान्त का अभिप्रेत भाव यह है--मोहादिक अंतरंग द्रव्यकर्म और बहिरंग शरीरादि नोकर्म यह कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल के परिणाम--कार्य हैं और वह आत्मस्वरूप को या आत्मद्रव्य को प्रच्छादित करते हैं । इसप्रकार के कर्म और नोकर्म इनमें 'मैं हूं' इसप्रकार और आत्मा में 'आत्मा को या आत्मस्वरूप को प्रच्छादित करनेवाले और पुद्गलपरिणामस्वरूप यह मोहादिक अंतरंग कर्म और बहिरंग शरीरादिरूप नोकर्म हैं' इसप्रकार पुद्गलद्रव्यरूप वस्तु और आत्मरूप वस्तु इनकी जितने कालतक अनुभूति--ज्ञान होती है उतने कालतक आत्मा अप्रतिबुद्ध बनी रहती है । यद्यपि अनादि काल से आत्मा कर्मबद्ध होनेसे आत्मा और पौद्गलिक कर्म इनमें उपचार से--व्यवहारनय की दृष्टि से अभेद है तो भी उनकी संज्ञा, स्वरूप आदि भिन्न होनेसे अर्थात् आत्मा चेतन होनेसे और पौद्गलिक कर्म अचेतन होनेसे आत्मा और द्रव्यकर्म इनमें वस्तुतः भेद है । ऐसी दो वस्तुएं वस्तुतः भिन्न होनेपर भी उनको आत्मा जबतक अभिन्न समझती है तबतक वह अप्रतिबुद्ध--अज्ञानी--मिथ्यादृष्टि--भेदज्ञानविकल बनी रहती है । अथवा बडा तल, उदर आदिरूप से परिणत हुए पुद्गलस्कन्ध अर्थात् पुद्गल की तल, उदर आदि पर्याय और घटरूप पर्याय इनमें उनके उपादानभूत द्रव्य का अपने विशिष्ट स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदिरूप सहभाविगुणों के साथ अन्वय पाया जानेसे इन पर्यायों में पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से भेद होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से कथंचित् अभेद होनेसे उनकी अभिन्नता का ज्ञान होता है यह ठीक है किंतु पुद्गलपरिणामात्मक द्रव्यकर्म और नोकर्म अचेतन होनेसे और आत्मा चेतन होनेसे उक्त पुद्गलपरिणामों में आत्मा का अपने चेतनस्वरूप के साथ और आत्मा में पुद्गलपरि-का अपने अचेतन स्वरूप के साथ अन्वय पाया न जानेसे द्रव्यकर्मादिरूप पुद्गलपरिणाम और आत्मा में कदापि अभेद नहीं हो सकता--उनमें भेद हि होता है । इन दो भिन्न वस्तुओं को तलोदरादि और घट के समान वस्तुतः अभिन्न मानना अनभिज्ञता का--अप्रतिबुद्धत्व का--अज्ञानित्व का--मिथ्यादृष्टित्व का द्योतक है--साधक है । एक पदार्थ की पर्यायों की कथंचित् अभिन्नता को देखकर दो भिन्न पदार्थों को अभिन्न मानना भ्रांतिमूलक हि है । अथवा --स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदिरूप सहभावि गुणों से युक्त घटरूप कार्य के नीचे का और बीच का जो बडा आकार उस रूप से परिणत हुए पुद्गलस्कंध में 'यह घट है' और घट में 'स्पर्शादिरूप सहभाविगुणों से युक्त पृथुबुध्नोदराद्याकाररूप से परिणत हुए यह पुद्गलस्कंध हैं' इसप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से भिन्नरूप से जानी गयी एक द्रव्य की अनेक पर्यायरूप वस्तुओं में अभिन्नत्व की अनुभूति होती है । उपादान की दृष्टि से घट पृथुबुध्नोदराद्याकार के रूप से परिणत हुए जो पुद्गलस्कन्ध उनरूप होता है और वह पुद्गलस्कन्ध घटरूप है ऐसी जो अनुभूति-प्रतीति होती है वह एकोपादानक एक घट को लेकर हि होती है । पुद्गलस्कन्ध अवयव हैं और घट अवयवी है । अवयवी अवयवों के समूहरूप होता है । अतः घट और उसके अवयवभूत पुद्गलस्कन्ध सर्वथा दो भिन्न वस्तुएं नहीं है ।

अतः इनमें भेद का अभाव है। घट और उक्त पुद्गलस्कंधों की अभेदप्रतीति को सामने रखकर अज्ञानी संसारी जीव चेतनस्वरूप आत्मा और अचेतनस्वरूप पुद्गलकर्म इनकी बंधयुक्त अवस्था में जो उन दोनों की अभिन्नता का अनुभव करता है वह उसका अज्ञान है; क्यों कि आत्मा का पुद्गलस्कंधों में और पुद्गलस्कंधों का आत्मा में अपने अपने स्वरूप से अन्वय नहीं पाया जाता और जडस्वरूप पुद्गलस्कंध और चेतनस्वभाव आत्मा इनमें अवयवावयविभावरूप और उपादानोपादेयभावरूप संबंधों का संबंध नहीं होता। इन पौद्गलिक कर्मों में और शरीरादिरूप नोकर्मों में अज्ञानी जीव 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव करता है-आत्मा को प्रच्छादित करनेवाले पुद्गलपरिणामरूप अंतरंग मोहनीयादि कर्म और बहिरंग शरीरादि नोकर्म इनका आत्मरूप से अनुभव करता है। इसप्रकार की अनुभूति अज्ञान का फल है। जबतक संसारी जीव दो भिन्नभिन्न स्वभाववाली वस्तुओं की संयुक्त अवस्था को आत्मरूप एक वस्तु समझता है तबतक वह अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी होती है।

[अशुद्ध आत्मा के वैभाविकभाव कर्मों के समान आत्मस्वभावप्रच्छादक होनेसे शुद्ध आत्मा से भिन्न और शुद्ध चेतनान्वित न होनेसे अचेतन हैं। शुद्ध आत्मा और विभावभावों को अभिन्न समझना अप्रतिबुद्धत्व का लक्षण है; क्यों कि उनमें अभेद मानने से विभावभाव स्वभावभावरूप बन जानेसे आत्मा की शुद्ध अवस्था में भी उनका अभाव नहीं होगा और उनका उस अवस्था में अभाव न होनेसे संसारी या बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा इनमें भेद नहीं पाया जायगा। द्रव्यकर्म और भावकर्म आत्मस्वरूपप्रच्छादकत्व की दृष्टि से समान हैं, फिर भले हि वह भिन्नभिन्नस्वरूपवाले पदार्थों के परिणामरूप हो।]

अब 'आत्मा प्रतिबुद्ध कब होती है?' इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है। कर्मफल की अनुभूति कर्म की फल देने की सामर्थ्य की अनुभूति है। कर्म की फल देने की सामर्थ्य पुद्गलपर्यायापन्न कर्म का स्वरूप है। 'अनुभूतिः ज्ञानं' इस उक्ति के अनुसार कर्मफलानुभूति ज्ञानस्वरूप है और कर्म की फल देने की सामर्थ्य ज्ञेय है। ज्ञेय के ज्ञान से ज्ञानी आत्मा अन्य ज्ञेय के ज्ञान से जिसप्रकार विभावरूप से परिणत नहीं होती उसीप्रकार विभावरूप से परिणत नहीं होती। इसी अभिप्राय को दर्पण के दृष्टान्त के द्वारा आचार्य समझाते हैं। यदि दर्पण के सामने अग्नि जलायी गयी तो उसमें अग्नि की ज्वाला प्रतिबिंबित हुई दिखाई देती है और उसमें उष्णता भी पायी जाती है; किंतु दर्पण अपने स्वभाव का परित्याग कर अग्निरूप नहीं बनता। यह ज्वाला और उष्णता अग्नि की हैं-दर्पण की नहीं हैं। यदि ज्वाला और उष्णता दर्पण की होती तो अग्नि बुझा देनेपर भी दर्पण में ज्वाला दिखाई देती और उष्णता भी सर्वकाल पायी जाती; किंतु ऐसा कभी देखने में नहीं आता है। [illegible] ज्वाला और उष्णता दर्पणस्वामिक नहीं मानी जा सकती। अपने और परपदार्थ के आकार को प्र[illegible]रूप) वस्तुओं [illegible]च्छता हि दर्पण की है-दर्पणस्वामिक है। आत्मा की भी ऐसी स्थिति है। अपने और परपदार्थ के (इंद्रियागोचर होनेवाल[illegible] स्वरूपों को यथार्थरूप से जाननेवाली ज्ञातृता हि अरूपी आत्मा की है-आत्मस्वामिक[illegible] में, कर्म[illegible] आत्म[illegible] नोकर्म कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल के परिणाम होनेसे पुद्गलों के हैं-पुद्गलस्वामिक हैं। कर्म और नोकर्म आत्मस्वामिक नहीं हैं; क्यों कि उनमें चैतन्य का अन्वय नहीं पाया जाता। अतः कर्मनोकर्म और आत्मा भिन्न पदार्थ होनेसे उनमें वास्तविक स्वस्वामिभावसंबंध नहीं हो सकता। इसप्रकार आत्मा और पुद्गल की भिन्नता का ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब उस ज्ञान को भेदज्ञान कहते हैं। यह भेदविज्ञान आत्मानुभूति का मूलकारण है। जब आत्मा में भेदविज्ञानमूलक अनुभूति उत्पन्न होती है तब आत्मा प्रतिबुद्ध-सम्यग्दृष्टि होती है।

अब इसी अभिप्राय को कलश में भर देते हैं-

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वाऽन्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः सन्ततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

अन्वय— ये स्वतः वा अन्यतः वा भेदविज्ञानमूलां अनुभूतिं कथमपि हि अचलितं लभन्ते ते एव प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैः मुकुरवत् सन्ततं अविकाराः स्युः।

अर्थ— जो साक्षात् देशनालब्धि का अभाव होनेपर भी अभ्यन्तर कर्मों का अभाव होनेसे अथवा देशनालब्धि की साक्षात् प्राप्ति होनेसे अनुभूतिप्रतिबंधक अभ्यंतर कर्मों का अभाव होनेपर जिसका भेदज्ञान मूलकारण होता है ऐसी अनुभूति को किसी भी प्रकार से अचलितरूप से परमार्थतः प्राप्त कर लेते है वे दर्पण में प्रतिबिंबित हुए अनन्त पदार्थों के समान आत्मा में निमग्न अर्थात् प्रतिबिंबित हुए अनन्तपदार्थों के निमित्त से अपने ज्ञान की परिणतियां होनेपर भी दर्पण के समान सर्वकाल निर्विकार–स्वस्वरूपस्थित या विभावभावात्मकपरिणतियों से रहित होते हैं।

त. प्र.— ये रत्नत्रयरूपेण परिणमनमर्हन्ति ते भव्याः स्वतो वाऽभ्यन्तरकर्ममलप्रक्षालनाच्छरीरविशरणदर्शनाद्वाऽनित्याद्यनुप्रेक्षाचिन्तनाद्वात्मस्वरूपोपलब्धेरन्यतो वा गुरूपदेशाद्भेदविज्ञानमूलामात्मकर्मपृथग्भावनिमित्ताम्। भेद आत्मनः कर्मनोकर्मणां पृथग्भावः। तस्य विज्ञानं विशिष्टं पर्यायात्मकं ज्ञानं मूलं प्रभव उत्पत्तिस्थानं कारणं वा यस्याः सा। ताम्। आत्मनः कर्मनोकर्मादिपरभावानां विवेकमन्तरेणात्मनश्चेतनस्वभावस्यानुभूतेरसम्भवाद्भेदविज्ञानमूलामित्युक्तम्। अनुभूतिमात्मानुभवं कथमपि केनापि प्रकारेणाचलितं निश्चलं यथा स्यात्तथा लभन्ते प्राप्नुवन्ति। हि स्फुटम्। ते भव्या एव प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैरादर्शे प्रतिफलितबिम्बवन्निमग्नैरात्मज्ञाने प्रतिबिम्बितैरनन्तभावानामनन्तज्ञेयानां स्वभावैरनन्तज्ञेयहेतुकर्तृकृतैः स्वस्यात्मनो ज्ञानस्य भावैः स्वभावपरिणामैर्वा। प्रतिफलनमादर्शे बिम्बस्य प्रतिबिम्बनम्। तदिव निमग्ना आत्मज्ञाने प्रतिबिम्बिता अनन्ता ये भावानां ज्ञेयार्थानां स्वभावास्तैः। यद्वाऽनन्तैर्भावैर्हेतुकर्तृभिः कृतैः स्वस्यात्मस्वभावभूतस्य ज्ञानस्य भावाः स्वभावपरिणामाः। तैः। यद्वा प्रतिफलने ज्ञानभित्तिकप्रतिफलनक्रियायाम्। 'करणाधारे चाऽनट्' इति भावेऽनट्। निमग्ना अनन्तानां भावानां पदार्थानां ये स्वभावास्तैः। करणभूतैरित्यर्थः। 'कर्तृकरणे भा' इति करणे भा। मुकुरुन्दे प्रतिफलनवद्भावस्वभावानामात्मनि निमग्नत्वादात्मनः स्वभावात्मकपरिणामेन परिणतेः सम्भवेऽपि तस्य विभावात्मको विकारो न सम्भवति, आत्मासंश्लिष्टज्ञेयेषु तादृक्सामर्थ्यासम्भवादात्मसंश्लिष्टकर्मनोकर्मात्मकज्ञेयेषु तादृक्सामर्थ्यसद्भावेऽपि स्वसंवेदनज्ञानत्वेन परिणतस्यात्मनो विभावात्मकविकारजनने तेषां सामर्थ्याभावात्। भावस्वभावानामात्मनि मुकुरुन्दे बिम्बप्रतिफलनवन्निमग्नत्वान्मुकुरवदात्मनो विभावात्मकविकारविकलत्वं सम्भवतीति ज्ञापनार्थमत्र करणे भा विभावात्मकविकारस्य तज्जननसमर्थकर्मात्मकपरद्रव्यनिमित्तकत्वात्। मुकुरवद्दर्पणवदविकारा विभावात्मकविकारविकला स्युर्भवेयुः। यथा मुकुरे ज्वालायां प्रतिफलितायां सत्यामपि न ज्वाला मुकुरुन्दस्य भवति, तस्या अग्निरूपत्वात् तथाऽनन्तभावस्वभावानां मुकुरप्रतिबिम्बितपदार्थवदात्मान्तर्गतत्वेऽपि न त आत्मनो भवन्ति, तेषां परभावैस्तादात्म्याख्यस्य सम्बन्धस्यादर्शनात्। यथा गृहीतज्वालाप्रतिबिम्बस्य मुकुरुन्दस्य स्वच्छतैव, न ज्वालादि, तथोररीकृतपरभावस्वभावस्यात्मनो ज्ञातृतैव, न कर्मनोकर्मादिपरभावाः। किंनिबन्धनो विकार इति चेद्ब्रूमः, विकार्यविकारकोभयसश्लेषसम्बन्धनिबन्धनो विकार इति। विकारकाभावे विकार्यस्य विकार्यत्वाभावः। आत्मकर्मणोरत्रात्मा विकार्यं कर्म च विकारकम्। विकारककर्माभावे तत्सद्भावेऽप्यात्मनि स्वसंवेदनज्ञानसम्पन्ने सति वा निर्विकारो भवत्यात्मा। दर्पणायमानात्मगृहीतप्रतिबिम्बस्य ज्ञेयस्यात्मना सश्लेषाभावात्तस्माद्भिन्नतरां पृथग्भूतत्वात्संश्लेषे सत्यपि वा स्वसंवेदनसामर्थ्यप्रतिहतकर्मादिपरद्रव्यशक्तित्वाद्भवत्यात्मा निर्विकारः। आत्मपुद्गलसंश्लेषाभाववत्यामवस्थायामात्मनो निर्विकारत्वं सिध्यति

किन्तु छद्मस्थावस्थायामात्मपुद्गलकर्मसंश्लेषसद्भावेऽपि कथमात्मनो निर्विकारत्वं सिध्येदिति चेद्ब्रूमः, आत्मानुभूतिर्भेदज्ञानमूला । समुत्पन्नभेदविज्ञान आत्मा परभावान्परिहरति । परभावे परिहृते शुद्धात्मोपलम्भादात्मनो निर्विकारत्वमात्मपुद्गलयोः संश्लेषे विद्यमानेऽपि सम्भवति । इति ।

विवेचन– यह संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेके कारण परपदार्थ में अपना उपयोग लगानेवाली होनेसे अर्थात् परपदार्थ को आत्मस्वरूप समझनेके कारण उसे आत्मानुभव बडे कष्ट से होता है । आत्मानुभव का मूलकारण है भेदविज्ञान–स्वपरविवेक । बिना भेदविज्ञान के स्वपरविवेक का अभाव होनेसे शुद्ध आत्मा की उपलब्धि कैसी हो सकती है ? यह आत्मानुभव या तो स्वयं होता है या गुरुओंके उपदेश आदि से होता है । जिससे परभाव अलग किये गये होते हैं ऐसी आत्मा की जब अनुभूति होती है तब आत्मा में अनन्त पदार्थों के स्वभाव प्रतिबिंबित होनेपर भी आत्मा सतत निर्विकार बनी रहती है । आत्मा के साथ संश्लेष को प्राप्त हुआ द्रव्यकर्म अचेतन होनेसे परभावस्वरूप है । कर्मदत्तफल का अनुभव करनेसे कर्म की फलदेनेकी सामर्थ्य को जानना है । कर्म की सामर्थ्य को जानना कर्म के स्वरूप को जानना है । यद्यपि कर्म के स्वरूप का–फलदानसामर्थ्य का अनुभव करनेवाली आत्मा स्वच्छ न होनेसे विभावरूप से परिणत होती है तो भी भेदज्ञानरूप से या स्वसंवेदनज्ञानरूप से परिणत हुई अत एव सामर्थ्यसंपन्न आत्मा विभावरूप से परिणत नहीं होती । उदाहरण के लिए दर्पण लीजिये । यद्यपि दर्पण में परपदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं तो भी दर्पण के स्वच्छतारूप स्वभाव में कोई विभावात्मक विकार–पररूप परिणति–नहीं होता, फिर भले हि दर्पण के साथ परपदार्थ का सश्लेष हुआ हो या न हुआ हो । छद्मस्थ अवस्था में जीव और परद्रव्यस्वरूप पौद्गलिक द्रव्यकर्म इनका संश्लेष होते हुए भी उसकी भेदज्ञानरूप या स्वसंवेदनज्ञानरूप पर्याय व्यक्त होनेपर आत्मा परपदार्थों को स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा से भिन्नरूप हि जानती है । आत्मा और परपदार्थों को भिन्नरूप समझनेपर स्वसंवेदनज्ञानरूप ज्ञान की पर्याय अभिव्यक्त होती है और स्वसंवेदनज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है । स्वसवेदन और आत्मानुभूति एक हि है । शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होनेपर आत्मा में प्रतिबिंबित होनेवाले अनंत पदार्थ आत्मा का कुछ बिगाड नहीं कर सकते । इसतरह आत्मा सदाके लिए निर्विकार बनी रहती है । कर्मोदयजनित आत्मा के विभावभाव भी परभाव हैं, क्यों कि वे यद्यपि चेतनसामान्य से अन्वित है तो भी वे शुद्धात्मस्वरूप से अन्वित न होनेसे, कर्मोदयजन्य होनेसे, शुद्ध आत्मा में पाये जानेवाले न होनेसे और शुद्ध आत्मा के शुद्धपरिणामरूप न होनेसे उनमें और शुद्ध आत्मा में उपादानोपादेयभाव, स्वस्वामिभाव या परिणामपरिणामिभाव नहीं होता । आत्मा इन भावों को जरूर जानती है; किंतु अपनी शुद्धता को कदापि नहीं छोडती ।

इस कलश में निम्नलिखित बातें पायी जाती है– १) अनादिकाल से अज्ञानी–अप्रतिबुद्ध आत्मा के लिए आत्मानुभूति कष्टसाध्य है । २) आत्मानुभूति का मूलकारण है भेदविज्ञान । ३) आत्मानुभूति की प्राप्ति स्वतः –निसर्गतः होती है या परके उपदेश से अर्थात् अधिगमतः होती है । आत्मानुभूति की प्राप्ति में कर्मों का क्षय या उपशम हि मुख्य कारण है–साक्षात् या असाक्षात देशनालब्धि सहकारिकारण है । ४) जिस जीव को आत्मानुभूति हुई होती है उसकी आत्मा में अनन्तभावों का प्रतिबिंब पडनेपर भी उसकी आत्मा में कोई विकार पैदा नहीं होता । ५) जिस जीव को अचलित अनुभूति प्राप्त होती है उसकी आत्मा हि सदाके लिए निर्विकार रह सकती है ।

ननु कथं अयं अप्रतिबुद्धः लक्ष्येत ?

यह अतिबुद्ध आत्मा कैसे पहचानी जा सकती है ?

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥

आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि।
होहिदि पुणो वि मज्झं अहमेदं चावि होस्सामि॥२१॥
एदं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो॥२२॥

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यैवास्मि ममैतत्।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा॥२०॥
आसीन्मम पूर्वमेतत् अहमिदं चापि पूर्वकाले।
भविष्यति पुनरपि मम अहमिदं चैव पुनर्भविष्यामि॥२१॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति सम्मूढः।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसम्मूढः॥२२॥

अन्वयार्थ–जो पुरुष (**अन्यत्**) अपनी आत्मा से भिन्न (**सचित्ताचित्तमिश्रं**) सचित्तरूप, अचित्त-रूप और मिश्ररूप–गृहस्थ की अपेक्षा से सचित्त स्त्री आदिरूप, अचित्त सुवर्ण आदिरूप और मिश्र आभरणसहित स्त्री आदिरूप और तपोधन की अपेक्षा से सचित्त छात्र आदिरूप, अचित्त पिच्छ–कमंडलु–पुस्तक आदिरूप और मिश्र उपकरणसहित छात्र आदिरूप अथवा सचित्त रागादिरूप, अचित्त द्रव्यकर्म आदिरूप और मिश्र द्रव्यभावकर्मद्वयरूप (**यत्**) जो (**परद्रव्यं वा**) परद्रव्य हि होता है उसके विषय मे (**अहं एतत् एव**) 'मै यह हि हूं' (**एतत् अहं**) 'यह परद्रव्य मत्स्वरूप हि है' (**अहं एतस्य अस्मि**) 'मै इसका हि हूं' (**मम एतत्**) 'यह मेरा हि है', (**पूर्वं**) पूर्वकाल में (**एतत् मम आसीत्**) 'यह मेरा था' (**पूर्वकाले च**) और पूर्वकाल में (**अहं अपि इद**) 'मै भी यह था–इसरूप था', भविष्यकाल मे (**पुनरपि**) फिर से (**मम भविष्यति**) 'यह मेरा होगा' (**च**) और (**पुनः**) फिरसे (**अह इदं एव भविष्यामि**) 'मै यह हि होऊगा–मै इसरूप हि होऊगा' (**एतत् तु**) यह हि अर्थात् इसप्रकार का हि (**असद्भूतं**) भ्रात-मिथ्या (**आत्मविकल्पं**) आत्मा के विषय मे विचार करता है–अशुद्धनिश्चय की दृष्टी से अपने मानस परिणामो को उत्पन्न करता है वह (**सम्मूढः**) अप्रतिबुद्ध–अज्ञानी–मिथ्यादृष्टि होता है, क्यों कि (**भूतार्थं जानन्**) वस्तुके याथार्थ्य को जाननेवाला (**असम्मूढः**) प्रतिबुद्ध–ज्ञानी–सम्यग्दृष्टि (**तं**) उस प्रकार का मिथ्यारूप आत्मविषयक विचार (**न तु करोति**) करता हि नही–मिथ्यारूप मानस परिणाम को उत्पन्न करता हि नही।

आ. ख्या.– यथा 'अग्निः इन्धनं अस्ति', 'इन्धनं अग्निः अस्ति', 'अग्नेः इन्धनं अस्ति', 'इन्धनस्य अग्निः अस्ति'; 'अग्नेः इन्धनं पूर्वं आसीत्', 'इन्धनस्य अग्निः पूर्वं आसीत्'; 'अग्नेः इन्धनं पुनः भविष्यति', 'इन्धनस्य अग्निः पुनः भविष्यति' इति इन्धने एव असद्भूताग्निविकल्पत्वेन अप्रतिबुद्धः कश्चित् लक्ष्येत, तथा 'अहं एतत् अस्मि', 'एतत् अहं अस्ति'; 'मम एतत् अस्ति', 'एतस्य अहं अस्मि'; 'मम एतत् पूर्वं आसीत्', 'एतस्य अहं

पूर्वं आसम् '; 'मम एतत् पुनः भविष्यति', 'एतस्य अहं पुनः भविष्यामि ' इति परद्रव्ये एव असद्भूतात्मविकल्पत्वेन अप्रतिबुद्धः लक्ष्येत आत्मा। 'न अग्निः इन्धनं अस्ति', 'न इन्धनं अग्निः अस्ति', 'अग्निः अग्निः अस्ति', 'इन्धनं इन्धनं अस्ति'; 'न अग्नेः इन्धनं अस्ति', 'न इन्धनस्य अग्निः अस्ति'; 'अग्नेः अग्निः अस्ति', 'इन्धनस्य इन्धनं अस्ति'; 'न अग्नेः इन्धनं पूर्वं आसीत्', 'न इन्धनस्य अग्निः पूर्वं आसीत्'; 'अग्नेः अग्निः पूर्वं आसीत्', 'इन्धनस्य इन्धनं पूर्वं आसीत्'; 'न अग्नेः इन्धनं पुनः भविष्यति', 'न इन्धनस्य अग्निः पुनः भविष्यति'; 'अग्नेः अग्निः पुनः भविष्यति', 'इन्धनस्य इन्धनं पुनः भविष्यति' इति कस्यचित् अग्नौ एव सद्भूताग्निविकल्पवत् 'न अहं एतत् अस्मि', 'न एतत् अहं अस्ति'; 'अहं अहं अस्मि', 'एतत् एतत् अस्ति'; 'न मम एतत् अस्ति', 'न एतस्य अहं अस्मि'; 'मम अहं अस्मि', 'एतस्य एतत् अस्ति'; 'न मम एतत् पूर्वं आसीत्', 'न एतस्य अहं पूर्वं आसम्'; 'मम अहं पूर्वं आसम्', 'एतस्य एतत् पूर्वं आसीत्'; 'न मम एतत् पुनः भविष्यति', 'न एतस्य अहं पुनः भविष्यामि'; 'मम अहं पुनः भविष्यामि', 'एतस्य एतत् पुनः भविष्यति' इति स्वद्रव्ये एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात्।

त. प्र.– यथा सहकारिकारणभूतेन्धनेऽग्न्युत्पत्तिं दृष्ट्वा 'अग्निरिन्धनमस्ति' 'इन्धनमग्निरस्ति' इति वाक्यद्वयेन भ्रान्तः कश्चिदज्ञान्यग्नीन्धनयोः संज्ञालक्षणादिभिर्भेदे सत्यपि भेदाभावं व्यवस्थाप्य 'अग्नेरिन्धनमस्ति' 'इन्धनस्याग्निरस्ति', 'अग्नेरिन्धनं पूर्वमासीत्', 'इन्धनस्याग्निः पूर्वमासीत्'; 'अग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यति', 'इन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यति' इति वाक्ययुगलत्रयेण चाग्नीन्धनयोरुपादानोपादेयभावाभावे स्वस्वामिभावाभावेऽवयवावयविभावाभावे वाऽपि स्वस्वामिभावसम्बन्धं व्यवस्थाप्येन्धन एवायमग्निरित्यादिप्रकारकविकल्पवत्त्वेन सविकल्पकोऽप्रतिबुद्धोऽज्ञानी लक्ष्येत ज्ञायेत। असद्भूताग्निविकल्पत्वेनासद्भूताः इन्धनेऽग्निरित्यादयो विकल्पाः मानसपरिणामा यस्य सः। तस्य भावः। तेन। तथा 'अहं परद्रव्यमस्मि' 'परद्रव्यमहमस्ति' इति वाक्यद्वयेन यो भ्रान्तोऽज्ञान्यात्मपरद्रव्ययोः संज्ञालक्षणादिभिर्भेदे सत्यपि भेदाभाव व्यवस्थाप्य 'मम परद्रव्यमस्ति' 'परद्रव्यस्याहमस्मि', 'मम परद्रव्यं पूर्वमासीत्' 'परद्रव्यस्य पूर्वमहमासम्', 'मम परद्रव्यं पुनर्भविष्यति', 'परद्रव्यस्याहं पुनर्भविष्यामि' इति वाक्ययुग्मत्रितयेन चात्मपरद्रव्ययोरुपादानोपादेयभावाभावे स्वस्वामिभावाभावेऽवयवावयविभावाभावे वाऽपि स्वस्वामिभावसम्बधं व्यवस्थाप्य परद्रव्ये एवात्मायमित्यादिप्रकारकविकल्पवत्त्वेन सविकल्पकोऽप्रतिबुद्धोऽज्ञानी लक्ष्येत ज्ञायेत। असद्भूतात्मविकल्पत्वेन–असद्भूताः परद्रव्यमात्मेत्यादयो विकल्पाः विचाराः मानसपरिणामाः यस्य सः। तस्य भावः। तेन। 'नाग्निरिन्धनमस्ति' 'नेन्धनमग्निरस्ति' इति वाक्यद्वयेनाग्नीन्धनयोः सञ्ज्ञालक्षणादिभिरन्योन्यभिन्नत्वाद्भेदं व्यवस्थापयतः, 'अग्निरग्निरस्ति' 'इन्धनमिन्धनमस्ति' इत्यग्नेरेवाग्नित्वमिन्धनस्यैव चेन्धनत्वं व्यवस्थापयतः, 'नाग्नेरिन्धनमस्ति' 'नेन्धनस्याग्निरस्ति' इत्यग्नीन्धनयोः स्वस्वामिभावसम्बन्धं परिहर्तुः, 'अग्नेरग्निरस्ति' 'इन्धनस्येन्धनमस्ति' इति वाक्यद्वयेनाग्नितत्परिणामयोरिन्धनतत्परिणामयोश्चोपादानोपादेयभावेन वर्तमानकाले तादात्म्यं व्यव-

स्थापयतः, 'नाग्नेरिन्धनं पूर्वमासीत्' 'नेन्धनस्याग्निः पूर्वमासीत्' इत्यग्नीन्धनयोर्भूतकाले स्वस्वामिभावसम्बन्धं परिहर्तुः, 'अग्नेरग्निः पूर्वमासीत्' 'इन्धनस्येन्धनं पूर्वमासीत्' इति वाक्यद्वयेनाग्नितत्परिणामयोरिन्धनतत्परिणामयोश्चोपादानोपादेयभावेन भूतकाले तादात्म्यं व्यवस्थापयतः, 'नाग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यति' 'नेन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यति' इत्यग्नीन्धनयोः स्वस्वामिभावसम्बन्धं भविष्यति परिहर्तुः, 'अग्नेरग्निः पुनर्भविष्यति' 'इन्धनस्येन्धनं पुनर्भविष्यति' इति वाक्यद्वितयेनाग्नितत्परिणामयोरिन्धनतत्परिणामयोश्चोपादानोपादेयभावेन भविष्यत्काले तादात्म्यं व्यवस्थापयतः कस्यचिज्ज्ञानिनः पुरुषस्याग्नावेवाग्निरिति सद्भूतविकल्पवद्यथार्थविकल्पवत् 'नाहं परद्रव्यमस्मि' 'न परद्रव्यमहमस्ति' इति वाक्ययुग्मेनात्मपरद्रव्ययोः सञ्ज्ञालक्षणादिभिरन्योन्यभिन्नत्वाद्भेदं व्यवस्थापयतः 'अहमहमस्मि', 'परद्रव्यं परद्रव्यमस्ति' इत्यात्मन एवात्मत्वं परद्रव्यस्यैव परद्रव्यत्वं व्यवस्थापयतः, 'न मम परद्रव्यमस्ति' 'न परद्रव्यस्याहमस्मि' इत्यात्मपरद्रव्ययोः स्वस्वामिभावसम्बन्धं परिहर्तुः, 'ममाहमस्मि' 'एतस्यैतदस्ति' इति वाक्यद्वयेनात्मतत्परिणामयोः परद्रव्यतत्परिणामयोश्चोपादानोपादेयभावेन वर्तमानकाले तादात्म्यं व्यवस्थापयतः, 'न मम परद्रव्यं पूर्वमासीत्' 'न परद्रव्यस्याहं पूर्वमासम्' इत्यात्मपरद्रव्ययोर्भूतकाले स्वस्वामिभावसम्बन्धं परिहर्तुः, 'ममाहं पूर्वमासम्' 'परद्रव्यस्य परद्रव्यं पूर्वमासीत्' इति वाक्यद्वयेनात्मतत्परिणामयोः परद्रव्यतत्परिणामयोश्चोपादानोपादेयभावेन भूतकाले तादात्म्यं व्यवस्थापयतः, 'न मम परद्रव्यं पुनर्भविष्यति' 'न परद्रव्यस्याहं पुनर्भविष्यामि' इत्यात्मपरद्रव्ययोः स्वस्वामिभावसम्बन्धं भविष्यत्काले परिहर्तुः, 'ममाहं पुनर्भविष्यामि' 'परद्रव्यस्य परद्रव्यं पुनर्भविष्यति' इति वाक्यद्वयेनात्मतत्परिणामयोः परद्रव्यतत्परिणामयोश्चोपादानोपादेयभावेन भविष्यति काले तादात्म्यं व्यवस्थापयतः स्वद्रव्य एवात्मेतियथार्थस्य विकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य प्रतिबुद्धमात्मानं लक्षयतः। 'व्यानड्बहुलम्' इति कर्तर्यनट्। भावात्। हेतावत्र का।

टीकार्थ– 'अग्नि ईंधन है' 'ईंधन अग्नि है;' 'अग्नि का ईंधन है,' 'ईंधन की अग्नि है;' 'अग्नि का ईंधन पूर्वकाल में था,' 'ईंधन की अग्नि पूर्वकालमें थी;' 'अग्नि का ईंधन भविष्य में फिर होगा,' 'ईंधन की अग्नि फिर भविष्य में होगी' इसप्रकार ईंधन में हि अग्नि का मिथ्या विकल्प करनेवाला होनेसे जिसप्रकार कोई पुरुष अप्रतिबुद्ध–अज्ञानी जाना जा सकता है–कहा जा सकता है, उसीप्रकार 'मैं यह अर्थात् परद्रव्य हूं' 'यह अर्थात् परद्रव्य मैं हूं' 'यह अर्थात् परद्रव्य मैं अर्थात् मत्स्वरूप–मुझस्वरूप है' 'मेरा यह अर्थात् परद्रव्य है' 'इसका अर्थात् परद्रव्य का मैं हूं' 'पूर्वकाल में यह अर्थात् परद्रव्य मेरा था,' 'पूर्वकाल में मैं इसका अर्थात् परद्रव्य का था,' 'यह अर्थात् परद्रव्य भविष्यकाल में फिर मेरा होगा' 'मैं भविष्यकाल में फिर इसका अर्थात् परद्रव्य का होऊँगा' इसप्रकार परद्रव्य में हि आत्मा का मिथ्या विकल्प करनेवाली होनेसे आत्मा अप्रतिबुद्ध–अज्ञानी जानी जा सकती है–पहिचानी जा सकती है; क्यों कि 'अग्नि का ईंधन नहीं है' 'ईंधन की अग्नि नहीं है,' 'अग्नि अग्नि है' 'ईंधन ईंधन है' 'अग्नि अग्नि है' 'ईंधन ईंधन है' 'अग्नि का ईंधन नहीं है' 'ईंधन की अग्नि नहीं है' 'अग्नि अग्नि की है' ईंधन ईंधनका है' 'पूर्वकाल में ईंधन अग्नि का नहीं था' 'पूर्वकाल में अग्नि ईंधन की नहीं थी,' भविष्यकाल में फिर अग्नि ईंधन की नहीं होगी,' 'भविष्यकाल में फिर अग्नि की अग्नि होगी' 'भविष्यकाल में फिर ईंधन का ईंधन होगा' इसप्रकार किसी एक पुरुष का अग्नि मे हि अग्नि के विद्यमान होनेका जिसप्रकार यथार्थ विकल्प होता है उसीप्रकार 'मैं यह अर्थात् परद्रव्य नहीं हूं' 'यह अर्थात् परद्रव्य मैं नहीं है–मुझस्वरूप नहीं है' 'मैं मैं हूं' 'यह अर्थात् परद्रव्य यह अर्थात् परद्रव्य है' 'यह अर्थात् परद्रव्य मेरा नहीं है' 'इसका अर्थात् परद्रव्य का मैं नहीं हू,' 'मैं मेरा हूं' 'परद्रव्य परद्रव्य का है,' 'पूर्वकाल में यह अर्थात् परद्रव्य मेरा नहीं था' 'पूर्वकाल में मैं इसका अर्थात् परद्रव्य का नहीं था' 'पूर्वकाल मे मेरा था' 'पूर्वकाल में यह अर्थात् परद्रव्य इसका अर्थात् परद्रव्य का था'

'भविष्यकाल में फिर यह अर्थात् परद्रव्य मेरा नहीं होगा' 'पूर्वकाल में मैं मेरा था' 'भविष्यकाल में फिर मैं इसका अर्थात् परद्रव्य का नहीं होऊँगा,' 'भविष्यकाल में फिर मैं मेरा होऊँगा' 'भविष्यकाल में फिर यह अर्थात् परपदार्थ इसका अर्थात् परपदार्थ का होगा' इसप्रकार स्वद्रव्य में हि आत्मा का विद्यमान होनेका यथार्थ विकल्प होता है जो कि प्रतिबुद्ध का लक्षण है–प्रतिबुद्ध को पहिचानता है।

विवेचन– ईंधन के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव और अग्नि के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये दोनों चतुष्टय अन्योन्य भिन्न होनेसे ईंधन और अग्नि परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। इसप्रकार ईंधन और अग्नि में अन्योन्यभिन्नता होनेपर भी कोई पुरुष अग्नि को ईंधन और ईंधन को अग्नि मानता हुआ दोनों वस्तुओं को अभिन्न एकवस्तुरूप मानता है। वस्तुतः अग्नि और ईंधन दो भिन्न पदार्थ होनेसे उन दोनों में वास्तविक स्वस्वामिभाव संबंध नहीं है। मृत्तिका और घट इनमें स्वस्वामिभावसंबंध होता है; क्यों कि मृत्तिका और घट में परिणामपरिणामिभाव होनेसे मृत्तिका का घट में स्वस्वरूप से अन्वय पाया जाता है। अग्नि और ईंधन में परिणामपरिणामिभाव न होनेसे एक का दूसरेमें अन्वय नहीं पाया जाता। अतः उन दोनों में वास्तविक स्वस्वामिभावसंबंध नहीं हो सकता। लौकिक व्यवहार में दो भिन्न वस्तुओं में जो स्वस्वामिभावसंबंध बताया जाता है वह उपचारमात्र है–वास्तविक नहीं है। अग्नि और ईंधन इनमें तीनों कालों में भेद होनेसे–भिन्नपदार्थत्व होनेसे उनमें तीनों कालों में स्वस्वामिभावसंबंध का अभाव होता है। इसप्रकार अग्नि और ईंधन इनमें तीनों कालों में वास्तविक स्वस्वामिभावसंबंध का अभाव होनेपर भी कोई पुरुष उक्त संबंध का दोनों को एक वस्तु समझकर सद्भाव मानता है। दोनों वस्तुएं भिन्न भिन्न होनेपर भी उन दोनों को एकवस्तुरूप समझना और उन दोनों में न होनेवाले स्वस्वामिभावसंबंध का सद्भाव मानना अप्रतिबुद्धत्व का लक्षण है; क्यों कि जो उसरूप नहीं होता उसे उसरूप माननेवाला और जिसमें जो संबंध नही नहीं होता उसका उनमें सद्भाव माननेवाला अप्रतिबुद्ध–अज्ञानी–मूर्ख कहा जाता है। आम को ईख और ईख को आम समझनेवाला और आमके रस को ईख का रस और ईख के रस को आम का रस समझनेवाला क्या प्रतिबुद्ध ज्ञानी–सयाना कहा जा सकता है? कदापि नहीं। इसीप्रकार आत्मा और परपदार्थ अपने अपने स्वरूपचतुष्टय की दृष्टि से तीनों कालों में अन्योन्यभिन्न होनेपर भी जो उनको अभिन्न–एकरूप समझता है और परपदार्थ अन्योन्यभिन्न होनेसे उनमें परिणामपरिणामिभाव न होनेके कारण एक का दूसरे में अपने स्वरूप से अन्वय न पाया जानेसे उनमें वास्तविक स्वस्वामिभावरूप संबंध तीनों कालों में न होनेपर भी जो उन दोनों में तीनों कालों में स्वस्वामिभावरूप संबंध का सद्भाव मानता है वह अप्रतिबुद्ध–अज्ञानी हि है। ऐसी अज्ञानी आत्मा स्वभिन्न परपदार्थ को आत्मा और आत्मीय समझती है। जो पुरुष प्रतिबुद्ध होता है वह दो भिन्नस्वरूप पदार्थों को एकरूप नहीं समझता और उनमें न होनेवाले स्वस्वामिभावसंबंध का सद्भाव नहीं मानता। व्यवहारचतुर पुरुष अग्नि और ईंधन की तीनों कालों में एकरूपता को स्वीकार नही करता और वे दोनों पदार्थ तीनों कालों में सर्वथा परस्परभिन्न होनेसे उनमें परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेके कारण एक का दूसरेमें अन्वय का होना असंभव होनेसे उन दोनों में तीनों कालों में वस्तुतः न होनेवाले स्वस्वामिभावरूप संबंध का अभाव मानता है। वह अग्नि में अग्नि का विकल्प करता है। इसी कारण से वह प्रतिबुद्ध कहा जाता है। इसीप्रकार जो पुरुष आत्मद्रव्य और परद्रव्य की तीनों कालों में एकरूपता को–अभिन्नता को स्वीकार नहीं करता और आत्मा और आत्मभिन्न परपदार्थ तीनों कालों में सर्वथा परस्पर भिन्न होनेसे उनमें परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेके कारण एक का दूसरे में अन्वय का होना असंभव होनेसे उन भिन्नभिन्न पदार्थोंमें तीनों कालों में वस्तुतः न होनेवाले स्वस्वामिभावरूपसंबंध का अभाव मानता है और जो आत्मा में हि 'यह हि आत्मा है' ऐसा निश्चय करता है वह प्रतिबुद्ध कहा जाता है। दो भिन्न पदार्थों को अर्थात् आत्मा और आत्मभिन्न पदार्थ को एकरूप समझनेवाले और उनमें स्वस्वामिभावसंबंध के सद्भाव को स्वीकार करनेवाले पुरुष का स्वरूप और दो भिन्नरूप पदार्थों को अर्थात् आत्मा और आत्मभिन्न पदार्थ को तीनों कालों में भिन्न समझनेवाले और उनमें स्वस्वामिभावसंबंध के सद्भाव को स्वीकार न करनेवाले पुरुष का स्वरूप इनमें भेद होता है। इन दोनों में से पहला अप्रतिबुद्ध–अज्ञानी कहा जाता है और दूसरा प्रतिबुद्ध–ज्ञानी कहा जाता है। अप्रतिबुद्ध

आत्मज्ञानवंचित होता है और प्रतिबुद्ध आत्मा के यथार्थस्वरूप को जाननेवाला होनेसे आत्मज्ञानवंचित नहीं होता—वह ज्ञानी होता है। अतः परद्रव्य को आत्मरूप और आत्मीय समझनेवाला पुरुष अप्रतिबुद्ध होता है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

जिसतरह मृत्तिका और मृत्तिका का घट इनमें उपादानोपादेयभाव या परिणामपरिणामिभाव वा कार्य-कारणभाव होनेसे घट मृत्तिका का कहा जाता है—मृत्तिका और मृत्तिका के घट में वास्तविक स्वस्वामिभावसंबंध का सद्भाव बताया जाता है और मृत्तिका घट की कही जाती है किंतु इंधन और अग्नि में उपादानोपादेयादिभाव न होनेसे अग्नि इंधनरूप नहीं होती और इंधन अग्निरूप नहीं होता और इंधन की अग्नि और अग्नि का इंधन नहीं कहे जा सकते। परमार्थ से देखा जाय तो न इंधन अग्नि का—अग्निस्वामिक है और न अग्नि इंधन की—इंधनस्वामिक है; क्यों कि इंधन अग्नि की अभिव्यक्ति में सिर्फ निमित्तकारण होता है। यदि अग्नि इंधन की—इंधनस्वामिक होती और इंधन अग्नि का होता—अग्निस्वामिक होता तो अग्नि में इंधन का और इंधन में अग्नि का सद्भाव—सर्वथा सद्भाव पाया जाता और इंधन और अग्नि में होनेवाला निमित्तनैमित्तिकभाव अभावरूप बन जाता। किंतु अग्नि इंधन में और इंधन अग्नि में कदापि नियमितरूप से नहीं पाया जाता। अतः न इंधन अग्नि का है और न अग्नि इंधन की है अर्थात् इन दोनों में स्वस्वामिभावसंबंध नहीं है। आत्मद्रव्य चेतनस्वभाववाला होनेसे और द्रव्यकर्म पुद्गलोपादानक होनेके कारण अचेतन होनेसे दोनों एकवस्तुरूप नहीं हो सकते। दोनों भिन्नस्वभाववाले होनेके कारण उनमें उपादानोपादेयभाव या परिणामपरिणामिभाव अथवा कार्यकारणभाव का सद्भाव होना असंभव होनेसे एक का दूसरेमें अर्थात् आत्मा का अपने चेतनस्वरूप से द्रव्यकर्म में अन्वय पाया न जानेसे द्रव्यकर्म आत्मा का नहीं कहा जा सकता अर्थात् आत्मा द्रव्यकर्म का स्वामी नहीं हो सकती। वह द्रव्यकर्म आत्मस्वामिक कैसे हो सकता है? अपने शुद्धस्वभाव की दृष्टि से आत्मा चेतनस्वभाववाली, अमूर्त और अत एव स्पर्शादिरहित होती है और पुद्गलो-पादानक कर्म अचेतनस्वभाववाला, मूर्त और स्पर्शादिसहित होता है। यदि द्रव्यकर्म आत्मा का होता अर्थात् आत्मस्वामिक होता तो उसके जडत्व-अचेतनत्व का और मूर्तत्व का अभाव होकर उसमें आत्मा के अमूर्तत्व के साथ-साथ आत्मा का चेतनस्वभाव भी पाया जाता और यदि आत्मा द्रव्यकर्म की होती तो आत्मा का चेतनत्व और अमूर्तत्व नष्ट होकर उसमें द्रव्यकर्म की मूर्तता के साथ साथ अचेतनता भी पायी जाती। परमार्थ से देखा जाय तो न आत्मा में द्रव्यकर्म के अचेतनत्व, मूर्तत्व आदि धर्म पाये जाते है और न द्रव्यकर्म में आत्मा के चेतनत्व, अमूर्तत्व आदि धर्म पाये जाते है। अतः न द्रव्यकर्म आत्मा का है और न आत्मा द्रव्यकर्म की है अर्थात् आत्मा और द्रव्यकर्म इनमें स्वस्वामिभावरूप संबंध नहीं है। ऐसी अवस्था में द्रव्यकर्म और आत्मा इनको एकवस्तुरूप माननेवाला और द्रव्यकर्म को आत्मा का अर्थात् आत्मस्वामिक और आत्मा को द्रव्यकर्म का अर्थात् द्रव्यकर्मस्वामिक माननेवाला पुरुष—जीव अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी हि है। अप्रतिबुद्ध से प्रतिबुद्ध जीव भिन्न प्रकारका होता है। वह पदार्थों को उनके असाधारण-भावरूप स्वभाव की दृष्टि से यथार्थरूप से जानता है। उसकी दृष्टि में पदार्थ अपने स्वभाव को छोडकर और अन्य पदार्थ के स्वभाव को ग्रहण कर अन्य पदार्थ के साथ तादात्म्य अवस्था को प्राप्त नहीं होता। ज्ञानी होनेसे वह समझता है कि अग्नि अग्नि हि होती है—वह इंधनरूप नहीं है और इंधन इंधन हि है—वह अग्निस्वरूप नहीं है। अग्नि इंधन की नहीं थी, नहीं है और नहीं होगी और इंधन अग्नि का नहीं था, नहीं है और नहीं होगा। वे अपने अपने स्वभाव की अपेक्षा से स्वस्वरूप में हि स्थित रहते है, अपने स्वभाव को तिलांजलि देकर और अन्यद्रव्य के स्वभाव को स्वीकार कर अन्य पदार्थरूप नहीं बनते। इसीतरह उसकी दृष्टि में उपयोगलक्षण आत्मा आत्मा हि होती है। वह द्रव्यकर्मरूप कभी भी न थी, नहीं है और न होगी; क्यों कि एक पदार्थ अपने स्वभाव को छोडकर अन्य पदार्थरूप से तीनों कालों में परिणत हुआ नहीं हो सकता। उपयोगरहित अर्थात् अचेतन और मूर्त द्रव्यकर्म द्रव्यकर्म हि होता है। वह आत्मरूप न था, न है और नही होगा। वह समझता है कि आत्मा उपयोगलक्षणवाली थी, है और आगे भविष्य में रहेगी भी। उसकी पररूपपरिणति कदापि नहीं हो सकती। सारांश यह है कि प्रतिबुद्ध जीव का आत्मविषयक ज्ञान यथार्थ होता है। अप्रतिबुद्ध जीव के आत्मविषयक ज्ञान में यथार्थता नहीं पायी जाती—उसके

उस ज्ञान में विपरीतता हि पायी जाती है। पर पदार्थों को अपनाना हि मूढता का लक्षण है।

आत्मा और नोकर्म—

इस संसार में अज्ञानी जीव शरीर अचेतन और मूर्त होनेपर भी उसको हि आत्मा हि समझता चला आया है। इंद्रियों के विषयों को उनके साथ सन्निकर्ष होनेपर इंद्रियां हि जान सकती हैं। कर्णेंद्रिय के अभाव में शब्दग्रहण नहीं होता और न नेत्रेन्द्रिय के अभाव में वर्ण का ग्रहण-ज्ञान होता है। इसतरह अज्ञानी जीव यह समझता है कि जब इंद्रियों के अभाव में पदार्थों का ग्रहण होता हि नहीं तब इंद्रियां हि पदार्थ को जानती हैं—वेहि पदार्थ का ज्ञान होनेमें साधकतम साधन हैं—करण हैं। इंद्रियां और शरीर भिन्नभिन्न पदार्थ नहीं हैं। अतः शरीर हि पदार्थग्राहक होनेसे और पदार्थग्राहकत्व आत्मा का धर्म होनेसे शरीर हि आत्मा है। शरीर से भिन्न आत्मा दूसरी कोई चीज हि नहीं है। यह जो अभिप्राय है वह अज्ञान का फल है। संसारी जीव का ज्ञान मोहनीयकर्मावृत्त होनेसे वह ज्ञेयपदार्थों को यथार्थरूप से जानने में असमर्थ होता है और इसलिए उस ज्ञान को पदार्थों का ग्रहण करते समय इंद्रियादि पर पदार्थों की अपेक्षा रहती है। यदि पदार्थग्राहकत्व सर्वथा शरीर का हि धर्म-स्वभाव माना गया तो किसी भी अवस्था में शरीर को पदार्थ का ग्रहण होना चाहिये। प्रकाशादि के अभाव में, सुप्तावस्था में, मरण के बाद और शरीर में विकलता उत्पन्न हो जानेपर भी शरीर को पदार्थों का ग्रहण हो जाना चाहिये; क्यों कि पदार्थ का स्वभाव पदार्थ को किसी भी हालत में छोडता नहीं। उष्णता अग्नि का स्वभाव है और वह अग्नि को कभी भी छोडती नहीं। पदार्थग्राहकत्वरूप धर्म और शरीर इनमें तादात्म्यसंबंध नहीं है। यदि यह संबंध होता तो मृत्यु के बाद भी शरीर का अस्तित्व बना रहता है, किंतु उसमें पदार्थग्राहकत्वधर्म नहीं पाया जाता। अग्नि की स्वभावभूत उष्णता नष्ट होनेपर जिसप्रकार अग्नि का अस्तित्व हि नहीं रहता—वह नष्ट हो जाता है उसीप्रकार पदार्थग्राहकत्वरूप शरीरस्वभाव के अभाव में शरीर का भी अस्तित्व नहीं रहना चाहिये। असल बात तो इससे विपरीतरूप से हि पायी जाती है। मृत्यु हो जानेपर भी शरीर का अस्तित्व तो पाया जाता है, किंतु पदार्थग्राहकत्वरूप धर्म उसमें नहीं पाया जाता। अतः शरीर और पदार्थग्राहकत्वधर्म में तादात्म्यसंबंध न होनेसे पदार्थ-ग्राहकत्व शरीर का स्वभाव नहीं माना जा सकता। इस स्वभाव का और किसी पदार्थ के साथ तादात्म्यसंबंध होना चाहिये। वह पदार्थ है आत्मा। यह आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न पदार्थ है। शरीर स्पर्शादिमान्, सर्वथा मूर्त और अचेतन पदार्थ है और आत्मा ज्ञानवान्, अमूर्त और चेतन पदार्थ है। स्वभावभेद के कारण आत्मा और शरीर भिन्नभिन्न पदार्थ हैं—आत्मा शरीर नहीं है और शरीर आत्मा नहीं है। घट और मृत्तिका के समान आत्मा और शरीर अभिन्नपदार्थरूप नहीं हे। घट मृत्तिकास्वरूप होनेसे या घट में मृत्तिका का स्वस्वरूप से अन्वय होनेसे मृत्तिका का अभाव होनेपर घट का अस्तित्व जिसप्रकार नहीं रह सकता—वह मिट जाता है, उसीतरह शरीर को आत्मस्वरूप मान लिया तो आत्मस्वभावरूप चैतन्य के अभाव में मरण होनेपर शरीर का भी अस्तित्व नहीं रहना चाहिये; किंतु मरण के बाद अर्थात् शरीर में आत्मा का अभाव होनेके बाद शरीर का अस्तित्व पाया जाता है। अतः शरीर को आत्मस्वरूप या आत्मा को शरीरस्वरूप अर्थात् दोनों को एकस्वरूप नहीं माना जा सकता। ईंधन और अग्नि की तरह शरीर और आत्मा भिन्नभिन्न पदार्थ हे, क्यों कि उनके स्वभाव भिन्नभिन्न हे। यद्यपि ईंधन अग्नि के प्रकटीभवन में सहायक है—सहकारिकारण है तो भी अपने असाधारणधर्म की अपेक्षा से वह अग्नि से भिन्न पदार्थ है। ईंधन अग्नि-स्वरूप नहीं है और अग्नि ईंधनस्वरूप नहीं है। यदि ईंधन अग्निस्वरूप होता तो अग्नि के अभाव में ईंधन का अभाव हो जाता जैसे कि मृत्तिका के अभाव में घट का अभाव हो जाता है। यदि अग्नि ईंधनरूप होती तो ईंधन के अभाव में अग्निका सर्वथा अभाव हो जाता। किंतु बात ऐसी नहीं है; क्यों कि अग्नि के अभाव में ईंधन का अस्तित्व पाया जाता है और ईंधन के अभाव में लोहगोलक में अग्नि का अस्तित्व पाया जाता है। अतः अग्नि और ईंधन दो भिन्न भिन्न पदार्थ है। ये दोनों किसी भी काल में एकरूप नहीं हो सकते। यदि किसी काल में ये दोनों एकरूप हो जाय तो ईंधन और अग्नि सदाके लिए एकरूप क्यों न होंगे? किंतु ऐसा कभी भी होता नहीं। यदि कोई सदाके लिए भिन्नरूप से रहनेवाले अग्नि और ईंधन को एकरूप समझने लग जाय तो जिसतरह वह

अप्रतिबुद्ध समझा जायगा उसीतरह आत्मा और अचेतन शरीर-नोकर्म को एकवस्तुरूप समझनेवाला भी अप्रतिबुद्ध समझा जायगा। संसार का मोहकर्मावृत जीव आत्मा और शरीर अर्थात् नोकर्म को एकरूप हि समझता है इसलिए वह अप्रतिबुद्ध है। इस अप्रतिबुद्धत्व का कारण है मोहनीयकर्म; क्यों कि उससे आत्मा के स्वभावभूतज्ञान मे भ्रान्ति पैदा हो जाती है जिससे आत्मा आत्मभिन्न पदार्थ जो शरीर उसको भी आत्मा समझने लग जाती है।

जिसप्रकार ईंधन और अग्नि ये दोनों भिन्नस्वभाववाले होनेसे भिन्नभिन्न पदार्थ होनेके कारण उनमें उपादानोपादेयभाव का या परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेसे एक का दूसरेमें अन्वय न पाया जानेसे स्वस्वामिभावरूप संबंध का अभाव होनेके कारण ईंधन की अग्नि और अग्नि का ईंधन तीनों कालों मे नहीं हो सकता उसीप्रकार आत्मा और शरीर ये दोनों भिन्न स्वभाववाले होनेसे भिन्नभिन्न पदार्थ होनेके कारण उनमें उपादानोपादेयभाव का या परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेसे एक का दूसरेमें अन्वय न पाया जानेसे स्वस्वामिभावसंबंध का अभाव होनेके कारण शरीर आत्मा का और आत्मा शरीर की तीनों कालो में नहीं हो सकती। इससे शरीर आत्मा का नहीं है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। जो जीव शरीर आत्मा का न होनेपर भी उसको आत्मा का समझता है वह अप्रतिबुद्ध है।

आत्मा और विभावभाव-

अनादि से कर्मबद्ध हुई होनेसे इस संसारी आत्मा का ज्ञान मोहनीय कर्म के उदयरूप निमित्त से अज्ञानरूप से परिणत हो गया है। यह संसारी आत्मा अज्ञानी होनेसे और मुक्त आत्मा शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली होनेसे वे दोनों आत्माएं परस्परभिन्न पदार्थ हैं। परस्परभिन्न पदार्थ होनेसे वे दोनों एकपदार्थरूप नहीं है। यदि दोनों में अभेद होता तो आत्मा का ज्ञान या तो शुद्धज्ञान होता या अशुद्ध ज्ञानरूप होता। ज्ञान का कुछ अंश शुद्ध और कुछ अंश अशुद्ध होहि नहीं सकता। अतः शुद्ध आत्मा अपने शुद्धस्वरूप का त्याग कर अशुद्ध आत्मस्वरूप से परिणत नहीं होती और अशुद्ध आत्मा बिना तपश्चरण के अपने अशुद्ध स्वरूप का त्याग कर शुद्धात्मस्वरूप के रूप से परिणत नहीं होती। अतः शुद्ध आत्मा अशुद्ध आत्मा के रूप से उक्तप्रकार से परिणत न होनेसे दोनों की एकपदार्थरूपता सिद्ध नहीं होती। कर्म के उदय के और क्षयोपशय के निमित्त से अशुद्ध आत्मा की जितनी भी विभावपर्यायें होती है उन सभी का स्वामी अशुद्ध आत्मा होती है; क्यों कि अशुद्ध आत्मा और विभावपर्यायें इनमें उपादानोपादेयभावरूप या परिणामपरिणामिभावरूप संबंध होनेसे उनमें अशुद्ध आत्मा का या उसके मोहनीयोदयनिमित्तक या ज्ञानावरणीयोदयनिमित्तक अज्ञान का अथवा क्षयोशमनिमित्तक ज्ञान का अन्वय पाया जाता है। शुद्धस्वरूप की दृष्टि से शुद्ध आत्मा से अशुद्ध आत्मा भिन्न है-परपदार्थ है। अतः जो विभावभाव अशुद्ध आत्मा के हैं वे शुद्ध आत्मा के नहीं हो सकते; क्यों कि शुद्ध आत्मा का शुद्धज्ञानस्वरूप से या शुद्धज्ञान का अपने शुद्धस्वरूप से उनमें अन्वय नहीं पाया जाता। यदि शुद्ध आत्मा या उसका शुद्धज्ञानरूप स्वभाव और विभावभाव इनमें उपादानोपादेयभावरूप या परिणामपरिणामिभावरूप संबंध होता तो शुद्ध आत्मा का या उसके शुद्ध ज्ञान का उनमें अन्वय पाया जाता और वे विभावभाव शुद्ध आत्मा के अर्थात् शुद्धात्मस्वामिक कहे जाते। 'कारणसदृशं हि कार्यम्' इस उक्ति के अनुसार शुद्ध आत्मा के परिणाम शुद्धपर्यायरूप या स्वभावभावरूप हि होते हैं। विभावभाव स्वभावभावरूप नहीं होते; क्यों कि विभावभाव जिसप्रकार नैमित्तिकभावरूप होते हैं उसीप्रकार आत्मा की शुद्ध अवस्था में कर्मरूप निमित्त का हि अभाव होनेसे स्वभावभाव नैमित्तिकभावरूप नहीं होते। यद्यपि निश्चयकाल आत्मद्रव्य की परिणति में निमित्तकारण पडता है तो भी शुद्ध आत्मा की विभावरूप परिणति नहीं हो सकती; क्यों कि जिसका विभावरूप अशुद्ध परिणमन होता है वह द्रव्य अशुद्ध हि होना चाहिये। कालरूप निमित्त के मिलनेपर भी शुद्धद्रव्य अशुद्धपरिणामरूप से-विभावभावरूप से परिणत नहीं हो सकता; क्यों कि कालद्रव्यरूप निमित्त में कर्मरूपनिमित्त में जिसप्रकार की अशुद्ध आत्मा के परिणामों में विशेषता का प्रादुर्भाव कराने की शक्ति होती है उसप्रकार की शक्ति नहीं होती। सारांश, विभावभाव अशुद्धात्मोपादानक होनेसे शुद्ध

आत्मा के नहीं है । शुद्ध आत्मा की दृष्टि से वे विभावभाव परभावरूप हैं । अतः उनका अभाव करना मुमुक्षु जीवों का परम कर्तव्य है ।

' अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ' इस गाथांश का जो खुलासा आचार्य जयसेनजी ने किया है वह प्रकृतोपयोगी होनेसे यहां उद्धृत किया जाता है—

सचित्ताचित्तमिश्रं वा । तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्तं स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि । अथवा तपोधनापेक्षया सचित्तं छात्रादि, अचित्तं पिच्छकमण्डलुपुस्तकादि, मिश्रमुपकरणसहितच्छात्रादि । अथवा सचित्तं रागादि, अचित्तं द्रव्यकर्मादि, मिश्रं द्रव्यभावकर्मद्वयम् । अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सचित्तं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपम् । अचित्तं पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपं मिश्रं गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादिपरिणतसंसारिजीवस्वरूपमिति ।

गृहस्थ की अपेक्षा से सचित्त पुत्रकलत्र आदि, अचित्त सुवर्ण आदि, मिश्र आभरणसहित स्त्री आदि परद्रव्य हैं । तपोधन की अपेक्षा से सचित्त छात्र आदि, अचित्त पिच्छ कमंडलु पुस्तक आदि, मिश्र उपकरणसहित छात्र आदि परद्रव्य हैं । अथवा सचित्त रागादि रूप विभावभाव, अचित्त द्रव्यकर्म आदि, मिश्र द्रव्यकर्म और भावकर्म परद्रव्य हैं । अथवा जिसमें विषयकषायों का अभाव होता है ऐसी निर्विकल्पसमाधि में स्थित हुए पुरुष की अपेक्षा से सचित्त सिद्धपरमेष्ठि का स्वरूप परद्रव्य है । अचित्त पुद्गलादि पांचो द्रव्य, मिश्र गुणस्थानरूप से, जीवस्थानरूप से और मार्गणादिरूप से परिणत हुए संसारिजीव का स्वरूप परद्रव्य हैं ।

गृहस्थ की दृष्टि से पुत्र, कलत्र, सुवर्ण आदि और साभरण स्त्री आदि परद्रव्य होनेसे उनका त्याग उसको विहित है । मुनि की अपेक्षा से छात्र आदि; पुस्तक, पिच्छ और कमण्डलु आदि; उपकरणसहित छात्र आदि रागादिरूप विभावभाव, द्रव्यकर्म, भावकर्म, परद्रव्य होनेसे त्याज्य हैं । विषयकषायशून्य निर्विकल्पसमाधि में स्थिर हुई आत्मा की सिद्धपरमेष्ठि का स्वरूप परद्रव्यरूप होनेसे त्याज्य है । इसीप्रकार पुद्गलादि पांचों द्रव्य गुणस्थानरूप से जीवस्थानरूप से मार्गणादिरूप से परिणत हुए ससारी जीव का स्वरूप मुनि की दृष्टि से परद्रव्य होनेसे त्याज्य है ।

इसी टीका के अंत में व्यक्त किया गया अभिप्राय उपयुक्त होनेसे उसको उद्धृत किया जाता है—

यथा कोऽपि राजसेवकः पुरुषः राजशत्रुभिः यह ससर्गं कुर्वाणः सन् राजाराधको न भवति तथा परमात्माराधकपुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिभिः परिणममान परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः ।

जिसप्रकार कोई राजसेवक पुरुष राजा के शत्रुओ के साथ सपर्क रखकर राजा का आराधक नहीं हो सकता उसीप्रकार परमात्म का आराधक—परमात्मस्वरूप की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला पुरुष परमात्मपद की प्राप्ति का विरोध करनेवाले मिथ्यात्व—रागादिरूप से परिणत होता हुआ परमात्मा का आराधक नही होता ऐसा उक्त गाथाओ का अभिप्राय है—

मोह को त्याग कर आत्मानुभव करनेवाले परम आनद देनेवाले उदीयमान ज्ञान का अनुभव करनेके लिए आचार्य भव्य जीवो को उपदेश देते हैं—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ।२२

अन्वयः— जगत् आजन्मलीनं मोहं त्यजतु । रसिकानां रोचनं उद्यत् ज्ञानं रसयतु । इह किल एकः आत्मा क्व अपि काले अनात्मना साकं तादात्म्यवृत्तिं न कलयति ।

अर्थ— अनादिकाल से आजतक संसारी जीवों के साथ संश्लेष को प्राप्त हुए मोह को संसारी जीव अब छोडे । शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले जीवों को (अपार) आनंद देनेवाला जो उदित होनेवाला-उत्पन्न--व्यक्त होनेवाला (सम्यक्) ज्ञान (ज्ञानरूप स्वभाव) उसका अनुभव करे । इस संसार में शुद्धज्ञानरूप एक-स्वभाववाली और अन्य द्रव्यों से असंपृक्त होनेसे एकरूप यह आत्मा किसी भी काल में अर्थात् तीनों कालों में अपनी आत्मा से भिन्न स्वभाववाले होनेसे भिन्न होनेवाले पदार्थ के साथ तादात्म्यसंबंध को--अपने स्वभाव को त्याग कर अन्य पदार्थ के स्वभाव को स्वीकार कर उसके साथ एकरूपता को प्राप्त नहीं होती ।

त. प्र·— जगत्तात्स्थ्याज्जगन्निवासी संसारी जन आत्माऽऽजन्मलीनमासंसारमात्मनि लीनमात्मना साकं सम्पृक्तम् । संश्लेषं प्राप्तमित्यर्थः । संसारस्यानादित्वादनादेः कालादात्मना साकं संश्लिष्टमित्य-भिप्रायः । मोहं मोहनीयाख्यं क्रोधादिरूपविभावभावात्मकज्ञानवैपरीत्योत्पादकं द्रव्यकर्म तदुदयजनिता-ज्ञानपरिणामस्वरूपविभावभावात्मकं भावकर्म च । त्यजतु परिहरतु । द्रव्यकर्मण आत्मना साकं भूतं संश्लेषं विनाशयतु विभावभावात्मकभावकर्मरूपामात्मपरिणतिं परित्यज्य स्वस्वभावे स्थिरीभवत्विति ध्वनिः । दुर्बलस्यात्मनः स्वभावभूते ज्ञानेऽज्ञानात्मकविभावभावात्मकपरिणतेरुत्पत्तौ निमित्तकारणभूत-त्वान्मोहनीयाख्यस्य द्रव्यकर्मणः परिहर्तव्यत्वम् । यदनिष्टत्वात्परिहर्तव्यं तस्यावश्यमेव परिहारो विधेयः । शुद्धज्ञानस्वभावात्मदर्शनविरोधित्वान्मोहनीयाख्यं द्रव्यभावात्मकं कर्मानिष्टम् । अतस्तस्य परिहारोऽवश्यं विधेय । परिहृतमोहनीयाख्यद्रव्यभावकर्मणः प्रादुर्भूतभेदज्ञानस्यात्मनस्स्वशुद्धात्मदर्शनमवश्यमेव भवति । समुपजातात्मदर्शनस्यात्मनोऽवश्यं निष्यन्दत आत्मानन्दोऽमन्दः । अतो जगन्निवासिना संसारिणा शुद्धा-त्मस्वरूपदिदृक्षुणा भव्यजीवेनावश्यमेव प्रथममुन्मादजननसमर्थमदिरेव मोहः परिहर्तव्यः । रसिकाना-मात्मानुभवोच्छलदमन्दानन्दनिष्यन्दमहोदधौ निमग्नानाम् । रस आत्मानुभवोऽस्यास्तीति रसिकः । 'अतोऽनेकाचः' इति तदस्यास्तीत्यर्थे ठन् । आत्मानुभवनिमग्न इत्यर्थः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति ता । रोचनममन्दानन्दजनम् । रोचयतीति रोचनम् । 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' इत्यस्माद्धातोर्णौ 'व्यानड्बहु-लम्' इति कर्तर्यनट् । उद्यन्मोहानीयाख्यस्य द्रव्यभावात्मककर्मणः परिहारे कृते सति प्रकटतामटज्ज्ञान-मात्मस्वभावभूतं शुद्धमनन्तं ज्ञानम् । रसयत्वनुभवविषयतां नयतु । आत्मस्वभावभूतशुद्धज्ञानगुणतिरस्का-रिमोहानीयाख्यद्रव्यभावकर्मक्षयेणात्मनः स्वभावभूतं शुद्धमनन्तं ज्ञानमुदयमयते । तच्च ज्ञानं परिहृत-परद्रव्यभूतसिद्धात्मचिन्तनात्मकविकल्पवीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिनिमग्नानामात्मनाममन्दमानन्द ज-नयति । निर्विकल्पसमाधौ तादृशममन्दानन्दनिष्यन्दि शुद्धं ज्ञानं शुद्धमात्मानं वात्मानुभवत्वित्याचार्याणा-मभिप्रायः । इहास्मिञ्जगति । किलेति निश्चये । आत्मा जीवः एकः शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धज्ञानघनै-कस्वभावत्वाद्द्रव्यभावकर्मनोकर्मपरद्रव्यसम्पर्कवैकल्याच्चैकोऽद्वितीयः । क्वापि काले कस्मिंश्चिदपि काले । कालत्रयेऽपीत्यर्थः । अनात्मनाऽऽत्मभिन्नेन मूर्ताचेतनकर्मनोकर्मपरिणामात्मकद्रव्येणामूर्तचेतनाचे-तनस्वभावपरद्रव्येण च साकं सह कथमपि केनापि प्रकारेण तादात्म्यवृत्तिं शुद्धज्ञानघनैकरूपं स्वस्व-भावं परित्यज्याचेतनकर्मनोकर्मपरिणामात्मकपुद्गलद्रव्यस्वभावममूर्तचेतनाचेतनात्मकपरद्रव्यस्वभावं स्वीकृत्य तन्मयत्वं न कलयति प्राप्नोति । जगत्यस्मिन्कोऽपि पदार्थः स्वस्वभावं परित्यज्य परद्रव्यस्वभावं च स्वीकृत्य परद्रव्यस्वरूपो न भवति । यदि स्वस्वभावं परित्यज्य परद्रव्यस्वभावं चोररीकृत्य परद्रव्य-स्वरूपो भवेद् घटः पटरूपः पटश्च घटरूपः स्यात् । तथा च सर्वसङ्करप्रसङ्गः स्यात् । अत उपयोगलक्ष-णस्यात्मनः स्वस्वभावं परित्यज्य परद्रव्यस्वभावं चोरीकृत्य परद्रव्यस्वरूपेण परिणमनं कदापि न सम्भ-

वति । अनादित आत्मनः कर्मनोकर्मरूपपुद्गलद्रव्येण साकं संश्लिष्टत्वेऽपि स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमनं यतो नाभूत्ततस्तयोरात्मपुद्गलद्रव्ययोर्भिन्नद्रव्यत्वसिद्धेर्मोहनीयाख्यमन्यच्च पौद्गलिकं कर्म तस्य परद्रव्यत्वात्परिहरणीयमात्मना । तत्तादृशं कर्म परिहृत्य च जगन्निवासी भव्यः संसारावस्थो जनोऽमन्दानन्दनिष्यन्दिनमात्मस्वभावभूतं शुद्धं ज्ञानमनुभवगोचरीकरोत्वित्याचार्याणामत्राभिसन्धिः ।

विवेचन– संसार में जितने भी भिन्नभिन्न स्वभाववाले पदार्थ है उनमें से कोई भी पदार्थ अपने स्वभाव का परित्याग कर और अपने से भिन्न स्वभाववाले परपदार्थ के स्वभाव को अपना कर परद्रव्यरूप से कदापि परिणत नहीं होता । घट अपने स्वभाव का त्याग कर और पट के स्वभाव को स्वीकार कर क्या कभी पटरूप से परिणत होता हुआ और उसीतरह पट घटरूप से परिणत होता हुआ देखा गया है ? यदि ऐसा होता तो अर्थात् घट पटरूप से और पट घटरूप से परिणत होता तो सभी पदार्थ अन्यपदार्थ के रूप से परिणत हो जाते । इतनाहि नहीं अपि तु सभी सब पदार्थरूप बन जाते या सर्व पदार्थों का सकर हो जाता। आत्मा और कर्मपुद्गल भिन्नभिन्न पदार्थ है; क्यों कि उनके स्वभाव भिन्नभिन्न हं । आत्मा उपयोग लक्षणवाली होनेसे चेतनद्रव्य है और पुद्गल अचेतन द्रव्य है । पुद्गल में उपयोगरूप लक्षण नहीं पाया जाता । वह मूर्त और अचेतनद्रव्य है–जडद्रव्य है । अतः आत्मा अपने ज्ञानरूप–उपयोगरूप स्वभाव को त्याग कर पुद्गल के स्वभाव को स्वीकार कर पुद्गलद्रव्य के रूप से परिणत नहीं होती और पुद्गल भी अपने स्वभाव को त्याग कर और आत्मा के स्वभाव को स्वीकार कर आत्मद्रव्य के रूप से परिणत नहीं होता; क्यों कि इसप्रकार की सामर्थ्य उनमें नहीं है । जब आत्मा तीनों कालों में भी पुद्गलरूप से परिणत नहीं होती तब वह अपने स्वभाव से च्युत नहीं होती यह निश्चित है । कर्मपुद्गल भी आत्मरूप से परिणत हुआ न होनेसे अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता है । अतः आत्मा और कर्मपुद्गल परस्पर भिन्न पदार्थ होनेसे आत्मा का उसके साथ अनादिकाल से संश्लेष हुआ होनेपर भी पुद्गलद्रव्य परद्रव्य हि बना हुआ है । अतः कर्मपुद्गल परद्रव्य होनेसे मोहनीय कर्म को आत्मा से पृथक् करना चाहिये; क्यों उसको आत्मा से पृथक् किये बिना आत्मा का ज्ञानरूप शुद्ध स्वभाव व्यक्त नहीं हो सकता । वह असमर्थ आत्मा की विभावरूप परिणति का निमित्तकारण पडता है और विभावपरिणति ज्ञान का विकाररूप होनेसे उसे आवृत करती है–विकृत करती है । मोहनीयकर्म को आत्मा से पृथक् कर देनेसे आत्मा का स्वभावभूत ज्ञान निर्विकाररूप से–स्वभावरूप से प्रकट हो जाता है । आत्मानुभव करनेवाले जीव को इस ज्ञान के आविर्भवन से अपार आनंद की प्राप्ति होती है । अतः मुमुक्षु जीव को अपने साथ हुए मोहनीय कर्म के संश्लेष का अभाव-नाश करना चाहिये और आत्मस्वरूप को प्राप्त कर ले कर आत्मानद का अनभव करना चाहिये । यह आचार्यश्री का अभिप्राय है ।

अथ अप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते–

अब जिस को शुद्ध आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है ऐसे अज्ञानी जीव को आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करानेके लिए युक्तिपूर्वक प्रयत्न किया जाता है–

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥

जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
सो सत्तो वत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥२५॥

**अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम् ।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥२३॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम् ।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम् ॥२४॥
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम् ॥२५॥**

अन्वयार्थ– (**अज्ञानमोहितमतिः**) अज्ञान से जिसकी बुद्धि मूढ हो गई है अर्थात् जिसके अज्ञान के–मिथ्याज्ञान के कारण बुद्धिभ्रंश हो गया है–जिसका यथार्थ ज्ञान तिरोहित हो गया है (**तथा**) और (**बहुभावसंयुक्तः**) जो रागद्वेषमोहादिरूप अनेक विभावभावो से युक्त हुआ होता है अर्थात् जो रागद्वेषमोहादिरूप विभावभावो के रूप से परिणत हो गया होता है ऐसा (**जीवः**) जीव (**इदं**) यह (**बद्धं अबद्धं च**) आत्मा के साथ संश्लिष्ट हुआ कर्मनोकर्मरूप पुद्गलद्रव्य, और आत्मा के साथ बध को प्राप्त न हुए, पुस्तक–कमण्डलु आदि, स्त्रीपुत्रकलत्र आदि (**पुद्गलं द्रव्यं**) पुद्गलद्रव्य (**मम**) मेरा है इसतरह (**भणति**) कहता है, किन्तु हे आत्मन् ! (**सर्वज्ञज्ञानदृष्टः**) सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञान के द्वारा देखा–जाना गया, (**नित्यं**) सदा–तीनो कालो मे (**उपयोगलक्षणः**) उपयोग अर्थात् ज्ञान जिसका लक्षण होता है ऐसा (**सः जीवः**) वह जीव (**कथं**) किस प्रकार से (**पुद्गलद्रव्यीभूतः**) वस्तुतः पुद्गलद्रव्यरूप न होनेपर भी पुद्गलद्रव्य के रूप से परिणत हुआ है (**यत्**) जिससे तू (**इदं मम**) यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ऐसा (**भणसि**) कहता है ? (**यदि**) यदि (**स**) वह आत्मा (**पुद्गलद्रव्यीभूतः**) पुद्गलद्रव्यरूप से परिणत हो जाय और (**इतरत्**) दूसरा अर्थात् पुद्गलद्रव्य (**जीवत्वम्**) जीवपने को (**आगतम्**) प्राप्त हो जाय अर्थात् जीवरूप से परिणत हो जाय (**तत्**) तो (**यद् इदं पुद्गलं द्रव्यं**) यह जो पुद्गलद्रव्य है वह (**मम**) मेरा है ऐसा (**वक्तुं शक्तः**) तू कह सकता है । (**किंतु एक द्रव्य परद्रव्यरूप से परिणत होना असंभव होनेसे 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा तू नहीं कह सकता ।**)

आ. ख्या.– युगपत् अनेकविधस्य बन्धनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानां अस्वभावभावानां संयोगवशात् विचित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इव अत्यन्ततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिः महता स्वयं अज्ञानेन विमोहितहृदयः भेदं अकृत्वा तान् एव अस्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ' मम इदं ' इति अनुभवति किल अप्रतिबुद्धः जीवः । अथ अयं एव प्रतिबोध्यते–रे दुरात्मन् ! आत्मपंसन् ! जहीहि जहीहि परमविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वम् । दूरनिरस्तसमस्तसन्देहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यम् । तत् कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं, येन 'मम इदं' इति अनुभवसि, यतः यदि कथञ्चन अपि जीवद्रव्यं

पुद्‌गलद्रव्यीभूतं स्यात्, पुद्‌गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदा एव लवणस्य उदकं इव 'मम इदं पुद्‌गलद्रव्यम्' इति अनुभूतिः घटेत ? तत् तु न कथञ्चन अपि स्यात् । तथा हि—यथा क्षारत्वलक्षणं लवणं उदकीभवत् द्रवत्वलक्षणं उदकं च लवणीभवत् क्षारत्व-द्रवत्वसहवृत्त्यविरोधात् अनुभूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्‌गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्‌गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवत् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोः इव सहवृत्तिविरोधात् अनुभूयते । तत् सर्वथा प्रसीद, विबुध्यस्व, स्वद्रव्यं 'मम इदं' इति अनुभव ।

त. प्र.– युगपत्समकालमनेकविधस्य नानाप्रकारस्य बन्धनोपाधेर्बन्धनकारणस्य मिथ्यात्वाविरत्यादेः । बध्नाति जीवद्रव्यं पौद्‌गलिककर्मभिः साकं संश्लेषं प्रापयतीति बन्धनः । भावमिथ्यात्वादिरूपो विभावभाव इत्यर्थः । 'ब्यानड्बहुलम्' इति कर्तर्यनट् । बन्धन एवोपाधिर्जीवकर्मणोः संश्लेषस्य कारणम् । तस्य । यद्वा बध्नाति स्वोदयेनात्मनि विभावभावमारचयतीति बन्धनम् । द्रव्यकर्मेत्यर्थः । तदेवोपाधिर्मिथ्यात्वादिविभावभावोत्पत्तिनिमित्तकारणम् । तस्य । सन्निधानेनात्मना संश्लिष्टत्वाद्विशिष्टप्रत्यासत्त्या । प्रत्युत्पन्नविभावभावप्रत्यासत्त्योदयावस्थापन्नसंश्लिष्टद्रव्यकर्मप्रत्यासत्त्या वेत्यर्थः । प्रधावितानां रभसात्मनि प्रत्यासन्नावितानां, कर्मोदयेन रभसात्मनि प्रत्युत्पादितानां विभावभावानां वा । अस्वभावभावानामात्मस्वभावविकलद्रव्यकर्मणां शुद्धात्मस्वभावभूतज्ञानविकलमिथ्यात्वादिविभावभावानां वा । स्वस्यात्मनो भावः स्वभावो येषां ते स्वभावाः । न स्वभावा अस्वभावाः । स्वभावभिन्ना इत्यर्थः । अस्वभावाश्च ते भावाश्च द्रव्यकर्माणि विभावभावात्मकभावकर्माणि वा । तेषाम् । सयोगवशादात्मपौद्‌गलिककर्मणोः परस्परावगाहलक्षणसंश्लेषहेतोरशुद्धात्मविभावभावयोस्तादात्म्येऽपि शुद्धात्मविभावभावयोरसम्बन्धासम्भवात्संसारावस्थत्वादशुद्धस्यापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धस्यात्मनो विभावभावैर्यथाकथञ्चिद्यः संयोगस्तस्माद्धेतोर्वा । विचित्रोपाश्रयोपरक्तोऽनेकविधवर्णोपाध्युपरक्तः । विचित्रोऽनेकविधवर्णश्चासावुपाश्रय उपाधिश्च विचित्रोपाश्रयः । तेनोपरक्तः स्वशुद्धस्वभावभूतनैर्मल्यतिरोधानपूर्वकमुपाधिगतनानाविधवर्णजनितवैवर्ण्यात्मकविभावभावरूपेण परिणतः । स्फटिकोपल इव स्फटिकपाषाण इवात्यन्ततिरोहितस्वभावभावतया । यथानेकविधवर्णोपाध्युपरक्तः स्फटिकोपलः स्वस्वभावतिरोधानपूर्वकमुपाधिगतनानाविधवर्णोपजनितवैवर्ण्यात्मकविभावभावेन परिणतो भवति यदा तदा तस्य स्वस्वभावो नैर्मल्यात्मकस्तिरोभवति तथाऽनेकविधपौद्‌गलिककर्मप्रत्यासत्तिजनितनानाविधविभावभावैर्जीवो यदा परिणतो भवति तदात्यन्ततिरोहितस्वभावभावतया नानाविधविभावभावप्रत्यासत्तिसंवृतशुद्धज्ञानघनैकस्वभावतया । अत्यन्तमतिशयेन तिरोहितस्तिरोभूतः स्वभाव शुद्धज्ञानघनैकस्वभावः एव भावः परिणामो यस्य सोत्यन्ततिरोहितस्वभावभावः । तस्य भावोऽत्यन्ततिरोहितस्वभावभावता । तया । अत्र स्वभावस्यात्मना तादात्म्येऽपि व्यवहारनयेन पृथक्त्वेन कथनात्तस्य नैमित्तिकभावत्वाभावाद्वा परिणामत्वमत्रावसेयम् । अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिस्तिरोहितात्मनिबद्धभेदज्ञानतेजाः । अस्तमितं तिरोभूतं समस्तमात्मना तादात्म्यं प्राप्तं विवेकज्योतिर्भेदज्ञानतेजो यस्य सः । विवेको भेदज्ञानमेव ज्योतिस्तेजो विवेकज्योतिः । महता विपुलेन स्वयमज्ञानेन मिथ्याज्ञानेन विमोहितहृदयः समुत्पादितभ्रममनाः । विमोहितं समुत्पादितभ्रमं सञ्जातमोहं वा हृदयं

यस्य सः। भेदमकृत्वाऽऽत्मपरद्रव्ययोर्भेदमविभाव्य तानेव द्रव्यकर्मरूपान्विभावभावात्मकभावकर्मरूपान्वाऽस्वभावभावानस्वात्मस्वभावविकलान्परपदार्थान्। स्वस्यात्मनो भावः स्वभावो येषु ते स्वभावाः। न स्वभावा अस्वभावाः। अस्वभावाश्च ते भावाः परपदार्थाश्चास्वभावभावाः। तान्। यद्वा स्वस्यात्मनः भावाः परिणामाः स्वभावाः। स्वपरिणामा इत्यर्थः। अस्वभावाः स्वपरिणामभिन्नाः। ये आत्मनः परिणामभूता न भवन्ति ते इत्यर्थः। ते च ते भावाः परपदार्थाश्च। तान्। ये आत्मस्वभावविकला जीवद्रव्यान्वयविकलास्ते जीवस्वामिका न भवन्ति। स्वीकुर्वाणोऽस्वानपि तान्स्वीयत्वेन स्वभावत्वेन (स्वपरिणामत्वेन) अभ्युपगच्छन्। अस्वानस्वकीयान्स्वान्स्वकीयान्कुर्वाणः स्वीकुर्वाणः। पुद्गलद्रव्यमचेतनत्वात्परद्रव्यभूतमपि 'ममेदम्' इतीदं पुद्गलद्रव्यमात्मस्वभावावारकत्वात्पुद्गलद्रव्यसदृशं विभावभावं मत्स्वामिकमित्यनुभवत्यात्मीयत्वेन जानात्यनुभवति च। अथेदानीमयमेवाप्रशस्तज्ञानात्मकविभावभावरूपेण परिणत आत्मा। अप्रतिबुद्ध इत्यर्थः। प्रतिबोध्यते यथार्थात्मस्वरूपज्ञानं तस्मै प्रतिपाद्यते। रे दुरात्मन् रे दुष्ट! आत्मज्ञानस्य मिथ्याज्ञानरूपेण परिणतत्वादप्रतिबुद्धस्य दुरात्मत्वमवसेयम्। आत्मपंसन! आत्मघातक! य आत्मस्वभावभूतं शुद्धं ज्ञानं मोहाक्रान्तत्वात्स्वयं विभावभावैः परिणमय्यात्मानं पसति नाशयति स आत्मपंसनमित्यभिधीयते। 'पसि नाशने' इत्यस्मात्पसिधोश्शत्रन्तं रूपम्। जहीहि जहीहीति वीप्सायां द्वित्वम्। इत ऊर्ध्वमविच्छेदेन परित्यजेत्यर्थः। परमविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वं स्वपरपदार्थभेदग्राहकपरमभेदज्ञाननिह्नवनमज्ञानम्। परमश्चासौ विवेकः स्वपरपदार्थभेदग्राहक ज्ञानं च परमविवेकः। तस्य घस्मरं विनाशकं च तत्सतृणाभ्यवहारित्वं पशुत्वं च परमविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वम्। घस्मरं विनाशकृत्। 'घस्यत्सुः क्मरः' इति शीलार्थे क्मरो घसेः। अदेर्घस्भावः। सतृणाभ्यवहारित्वम्—समानमभ्यवहारेण गोधूमपिष्टकेन समानं तृणमस्त्यस्य स सतृणः। 'समानस्य धर्मादिषु' इति समानस्य सः। 'समानस्येति योगविभागादन्येष्वपि सादेशः' इति जैनेन्द्रमहावृत्तिकाराः। सतृणोऽभ्यवहारोऽस्त्यस्य सतृणाभ्यवहारी। 'अतोनेकाचः' इतीन्। तृणतुल्यमभ्यवहार गोधूमपिष्टकं मन्यमान इत्यर्थः। यत्स्तम्बेरनिचयभक्षणरुचिस्तम्बेरमस्तृणावगुण्ठितगोधूमपिष्टकं तृणं मत्वा भक्षयंस्तृणगोधूमपिष्टकयोरन्योन्यभिन्नत्वेऽपि तयोरेकत्वं व्यवस्थाप्य भक्षयति तदेव तस्य पशुत्वमज्ञानित्वम्। सतृणाभ्यवहारित्वमिव सतृणाभ्यवहारित्वम्। 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योस्। स्तम्बेरमाज्ञानित्वसदृशं परमविवेकविनाशकमज्ञानित्वं जहीहि परित्यजेत्यर्थः। समयसारप्रतिषु परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वमिति पाठस्योपलभ्यमानत्वेऽपि परमविवेकघस्मरेत्यादि पाठमुररीकृत्य व्याख्यानं कृतमज्ञानस्य विवेकघस्मरत्वात्स्वयमविवेकरूपत्वाच्च। प्रत्यन्तरपाठोऽपि परमोऽविवेक एव घस्मरं ज्ञाननाशकृत्सतृणाभ्यवहारीति विगृह्य व्याख्यातव्यः। सोऽपि समीचीनः। तेनाविवेकस्यात्मस्वरूपविघातित्वमुपदर्शितम्। रे आत्मघातिन्नशुद्धात्मन्! सर्वथा परित्यजेदानीमिदमात्मस्वरूपविघातकृत्परममज्ञानमित्यभिप्रायः। दूरनिरस्तसमस्तसन्देहविपर्यासानध्यवसायेनात्यन्तनिराकृतसकलसन्देहविपर्ययानध्यवसायेन। दूरमत्यन्तं निरस्ता निराकृताः समस्ताः सकला सन्देहविपर्यासानध्यवसाया यस्मात्तेन वा। विश्वैकज्योतिषा निखिलज्ञेयाकारप्रकटनपटुद्वितीयभास्वता। विश्वस्य निखिलज्ञेयापूर्णजगत एकोऽद्वितीयो ज्योतिर्विवस्वान्। तेन। सर्वज्ञज्ञानेन भगवतः केवलिनः शुद्धतमेन ज्ञानेन स्फुटीकृतं विशदीकृतम्। किलेति निश्चये। नित्योपयोगलक्षणं नित्यमुपयोगस्वभावं जीवद्रव्यम्। तत्तादृश जीवद्रव्यं कथं केन प्रकारेण पुद्गलद्रव्यीभूतं स्वस्य शुद्धज्ञानघनैकस्वभावत्वात्पुद्गलद्रव्यमसदपि

पुद्गलद्रव्यत्वरूपेण परिणतम् । येन जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतमिति यतो मनुते ततः पुद्गलद्रव्यं 'ममेदं' इत्यनुभवति । आत्मपुद्गलद्रव्ययोः सर्वथाऽन्योन्यमिश्रत्वेऽपि कथं तयोर्वास्तवं स्वस्वामिभावसम्बन्धमभ्युपगच्छसीति प्रश्नः । यतो यस्मात्कारणाद्यदि चेत् कथञ्चनापि केनाप्युपायेन जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं पुद्गलद्रव्यरूपेण परिणतं स्याद्भवेत् पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं जीवद्रव्यरूपेण परिणतं स्यात्तदैव लवणस्योदकमिव ग्रीष्मर्तौ खिल्यावस्थात्मकस्य प्रावृट्काले द्रवीभूतस्य लवणस्योदकमिव । लवणतदुदकयोर्यथा स्वस्वामिभावसम्बन्धानुभूतिर्घटते ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूतिरित्यात्मपुद्गलयोः स्वस्वामिभावसम्बन्धानुभूतिर्घटेत सम्भवेत् । तत्तु जीवपुद्गलयोरन्योन्यस्वरूपेण परिणमनं न कथञ्चनापि केनापि प्रकारेण स्याद्भवति । तथा हि तदेवोपपादयति । यथा क्षारत्वलक्षणं क्षारगुणयुक्तत्वस्वरूपम् । क्षारत्व लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् । लवणमुदकीभवदुदकरूपेण परिणममानं द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवल्लवणखिल्यरूपेण परिणममान क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधात्क्षारत्वद्रवत्वधर्मयोः सहवृत्तौ विरोधाभावादनुभूयतेऽनुभवगोचरीक्रियते, न तथा तेन प्रकारेण नित्योपयोगलक्षण नित्यमुपयोगस्वरूप जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत्पुद्गलद्रव्यरूपेण परिणममानं नित्यानुपयोगलक्षणं नित्यमनुपयोगस्वभाव पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवज्जीवद्रव्यस्वरूपेण परिणममानमुपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव प्रकाशान्धतमसयोरिव सहवृत्तिविरोधाद्युगपद्वृत्तौ विरोधसद्भावादनुभूयतेऽनुभवविषयतां नीयते । तत् तस्मात्कारणात्सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रसीद प्रसन्नो भव । विभावविकलीभूय निर्[illegible]ना भव । विबुध्यस्व विशेषेण जागृतो भव । भेदज्ञानी भूत्वा स्वशुद्धात्मस्वरूपं जानीहि । स्वद्रव्यं स्वीयमात्मद्रव्यं ममेदमित्यनुभव । स्वशुद्धात्मद्रव्यमेव मम, नान्यत्किञ्चन परद्रव्यमिति ज्ञात्वाऽऽत्मारामो भूत्वाऽऽत्मानमेवानुभवेति भावः ।

टीकार्थ—आत्मा के साथ (अभिन्नत्व) द्रव्यकर्मों का बंध करानेवाले मिथ्यात्वादिरूप विभावभावों के अथवा मिथ्यात्वादिरूप विभावभावों की उत्पत्ति में निमित्त पड़नेवाले अनेकविध कारण के अर्थात् द्रव्यकर्मरूप निमित्तकारण के सन्निधान से अर्थात् आत्मा के साथ संश्लिष्ट हुए होनेसे होनेवाली अत्यासक्ति के द्वारा [illegible] अनुभूत किये गये जिनमें आत्मा के स्वभावभूत शुद्ध ज्ञान का अभाव होता है ऐसे (विभावात्मक परिणामों का निश्चयनय की दृष्टि से जो शुद्ध होती है ऐसी आत्मा के साथ संयोग होनेसे अथवा आत्मा के [illegible] कर्मों का संश्लेषरूप [illegible] के निमित्तकारणभूत अशुद्ध आत्मा के विभावभावरूपकारण के असन्निधान से अर्थात् [illegible] प्रत्यासत्ति के द्वारा आत्मा के प्रति आस्रावित किये गये आत्मस्वभावशून्य कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों का आत्मा के साथ संयोग होनेसे अनेकवर्णवाली उपाधि से (मयूरपिच्छसदृश अनेकवर्णवाली उपाधि से) उपरक्त—उपरागयुक्त—अनेक वर्णयुक्त हुए स्फटिकपाषाण के समान आत्मा के शुद्धज्ञानरूप स्वभावात्मक पारिणामिकभाव आत्यंतिकरूप से तिरोहित—आच्छन्न हो जानेसे जिसकी संपूर्ण पदार्थों को भिन्नभिन्नरूप से जाननेवाली ज्ञानरूप ज्योति—तेज अस्तंगत—लुप्त—तिरोहित हो गयी है, महान् अज्ञान के कारण स्वयं जिसका हृदय (मोहनीयकर्म के उदय के द्वारा) मूढ—मोहयुक्त बनाया गया है—भावमोहरूप से परिणत किया गया है ऐसी अज्ञानी आत्मा आत्मस्वभावशून्य विभावभावों का या कर्मरूप से परिणत हुए पुद्गलों का आत्मा से भेद न कर अर्थात् आत्मा से भिन्नरूप से न समझकर—आत्मा के हि समझकर उनका स्वीकार करनेवाली अर्थात् उनको आत्मस्वामिक समझनेवाली पुद्गलद्रव्य को अथवा आत्मस्वभावावारक होनेसे पुद्गलसदृश विभावभाव को 'यह मेरा है—इसका स्वामी मैं हूं' ऐसा समझकर उसका अनुभव करती है । ऐसी अज्ञानी आत्मा को (आत्मा के यथार्थस्वरूप का) ज्ञान कराया जाता है—जिसका ज्ञान अज्ञानरूप से परिणत हो गया है ऐसी आत्मा को 'दुरात्मन्!' इस शब्द के द्वारा संबोधित कर और विभावभावों के रूप से परिणत होकर जो आत्मगुण का घात करती है ऐसी उस आत्मा को 'आत्मपंसन!' इस शब्द के द्वारा संबोधित कर आचार्य कहते

हैं–रे दुरात्मन् आत्मघातक ! सुघास अन्न को तृण समझकर खानेवाले पशु के (गजराज) के सदृश भाव को–जो कि प्रत्येक पदार्थ को मिश्ररूप से जानता है ऐसे यथार्थ ज्ञान का नाश करता है–विकृत बना देता है–तू छोड छोड अर्थात् मोहाक्रान्त वैभाविकभावों का सर्वथा त्याग कर दे। जिससे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय सदृश सभी विभावभाव आत्यन्तिकरूप से नष्ट हो गये हैं अथवा जो संशयादिरूप सभी विभावभावों को संपूर्णरूप से नष्ट करता है, जिसप्रकार सूर्य संसार के अंधकार का (अंधेरे का) नाश करनेवाला होता है उसीप्रकार अज्ञान का (अज्ञानतिमिर का) नाश करनेवाला जो एक अर्थात् अद्वितीय–अनुपम सूर्य है ऐसे सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा स्पष्टरूप से बताया गया जो जीवद्रव्य है उसका नित्य अर्थात् अविनश्वरस्वरूप उपयोग अर्थात् ज्ञान है वह अविनश्वरोपयोगस्वभाववाला–अविनश्वरज्ञानस्वरूप जीवद्रव्य पुद्‌गलद्रव्यरूप न होनेपर भी पुद्‌गलद्रव्य के रूप से–चैतन्यविकलपुद्‌गलद्रव्य के रूप से कैसे परिणत हो गया जिससे तू 'यह पुद्‌गल मेरा है' इसप्रकार अनुभव करता है-अचेतनस्वभाववाले पुद्‌गलद्रव्य का अपनेको स्वामी समझ रहा है, जिससे कि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्‌गलद्रव्यरूप से परिणत हो जाय और पुद्‌गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप से परिणत हो जाय तो हि द्रवरूप से परिणत हुए नमक का पानी जिसप्रकार नमक का–लवणस्वामिक होता है उसीप्रकार 'यह पुद्‌गलद्रव्य मेरा है' इसप्रकार का अनुभव यथार्थ सिद्ध होगा ? जीवद्रव्य का पुद्‌गलद्रव्य के रूप से और पुद्‌गलद्रव्य का जीवद्रव्य के रूप से परिणमन किसी भी प्रकार से घटित–सिद्ध नहीं होता। उसीका खुलासा-जिसप्रकार क्षारत्व (खारापन) और द्रवत्व इनका सहवृत्ति के–एकसाथ रहनेके विषय में विरोध न होनेसे क्षारत्व (खारापन) जिसका लक्षण है–स्वरूप है ऐसा जलरूप से परिणत होता हुआ नमक और द्रवत्व जिसका लक्षण है ऐसा लवणरूप से परिणत हुआ जल इनका अनुभव किया जाता है। उसीप्रकार प्रकाश और अंधकार के समान उपयोग (ज्ञान) और अनुपयोग (ज्ञानाभावरूप अज्ञान) इनका (एकद्रव्य में) एकसाथ रहनेके विषय में विरोध होनेसे नित्योपयोग जिसका लक्षण–स्वरूप है ऐसा जीवद्रव्य पुद्‌गलद्रव्य के रूपसे परिणत होता हुआ और नित्य अनुपयोग (ज्ञानाभाव) यह है लक्षण–स्वरूप जिसका ऐसा पुद्‌गलद्रव्य जीवद्रव्य के रूप से परिणत होता हुआ अनुभव का विषय नहीं किया जाता। इसलिये हे आत्मन् ! तू सभी प्रकारों से प्रसन्न हो जा (विभावभावरूप परिणति को छोड दे), जागृत हो जा (अपने यथार्थ स्वरूप को जान ले) और अपने द्रव्य को–अपनी आत्मा को हि 'यह मेरा है' इसप्रकार समझकर उसका अनुभव कर (अर्थात् अनुपयोगस्वरूप पुद्‌गलद्रव्य को 'यह मेरा है' ऐसा समझना छोड दे।)

विवेचन– जो बंध को करता है अर्थात् आत्मप्रदेश और कर्मपुद्‌गलस्कन्ध इनका एकक्षेत्रावगाहात्मक संश्लेष का साक्षात् और परंपरा से निमित्तकारण होता है उसे बंधन कहते हे। 'बन्ध्' इस धातु से कर्त्रर्थ में अनट् प्रत्यय होकर बंधन यह शब्द बना हुआ है और उसका अर्थ होता है बंध करनेवाला। द्रव्यकर्म अपने उदयरूप परिणाम से निमित्तकर्ता होकर अज्ञानी जीव की विभावरूप से होनेवाली परिणति में साक्षात् सहायक होता है और जीव के विभावभावरूप परिणाम द्रव्यकर्मों के आस्रव का निमित्तकर्ता होकर अज्ञानी आत्मा के साथ द्रव्यकर्मों के होनेवाले संश्लेषरूप बंध का परंपरा से सहायक होता है। जिसप्रकार द्रव्यकर्म के बंध के अनेक विभावभाव या अनेकविध द्रव्यकर्म कारण पडते हैं उसीप्रकार भावबंध के भी अनेकविध द्रव्यकर्म कारण पडते हैं। ये कारणभूत भाव युगपत् कारणत्व अवस्था को प्राप्त होते हैं। भावकर्म जब कारण पडते हैं तब जिनमें आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अभाव होता है ऐसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गलों का आत्मा के साथ संश्लेष होता है और जब द्रव्यकर्म अपने उदयादिरूप परिणामों से कारण पडते हैं तब चैतन्यसामान्य का सद्भाव होनेपर भी जिनमें शुद्धचैतन्य का अभाव होता है ऐसे विभावभाव शीघ्र हि उत्पन्न हो जाते हैं। ये विभावरूप से परिणत हुई अशुद्ध आत्मा के परिणाम शुद्ध आत्मस्वभाव से भिन्न होनेसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से रहित होनेसे शुद्धात्मस्वामिक न होनेसे शुद्ध आत्मा के साथ उनका संयोगसंबंध हि मानना होगा-तादात्म्यसंबंध नहीं। यदि उनमें तादात्म्यसंबंध माना गया तो या तो आत्मा को निश्चयनय की दृष्टि से भी अशुद्ध मानना होगा या विभावभावों को शुद्धभाव अर्थात् स्वभावरूप भाव मानना होगा। इस द्रव्यकर्म के या विभावभावात्मक भावकर्म के संयोग से अनेकवर्णवाली उपाधि से–निमित्तकारणभूत मोर के जैसे

जैसी उपाधि से जिसप्रकार स्फटिकपाषाण का शुद्धस्वभाव तिरोहित–प्रच्छन्न–आवृत होकर वह अनेकरंगवाला बन जाता है उसीप्रकार आत्मा का शुद्धस्वभाव तिरोहित–आवृत होकर उसकी विभावभावरूप से अनेक परिणतियां हो जाती हे । विभावरूप परिणतियों के कारण आत्मा का स्वभावभूत ज्ञानरूप पारिणामिकभाव प्रच्छादित हो जानेसे उसकी संपूर्ण पदार्थों को अन्योन्यरूप से जाननेवाली यथार्थज्ञानरूप ज्योति का अस्त हो जाता है–उसका अभाव हो जाता है–वह तिरोहित हो जाती है । इसप्रकार जिसकी भेदज्ञानरूप ज्योति (या सूर्य) तिरोहित हो गयी है और उस ज्योति के तिरोहित हो जानेके कारण आविर्भूत होनेवाले आत्मा के अज्ञानरूप परिणाम से जिसका हृदय–मन –क्षायोपशमिकज्ञान मोहयुक्त हो जाता है–मिथ्याज्ञानरूप से परिणत हो जाता है वह शुद्धात्मस्वभावशून्य या आत्म-स्वभावशून्य आत्मभिन्न परद्रव्यों का पौद्गलिक या पुद्गलोपादानक कर्मों को और विभावभावों को वे आत्मा से या शुद्ध आत्मस्वरूप से भिन्न होनेपर भी उन्हें आत्मा से अभिन्न अर्थात् आत्मरूप समझकर उन्हीं आत्मस्वभावशून्य भावों को स्वीकार करता है । इसप्रकार स्वस्वभावशून्य परभावों को स्वीकार करनेवाला पुरुष कर्मरूप से और नोकर्मरूप से परिणत हुए पुद्गलद्रव्य को, आत्मभिन्न सभी संयुक्तासंयुक्त पदार्थों को और पुद्गलद्रव्य के समान आत्मस्वभावतिरोधायक विभावभावों को ' यह मेरा है अर्थात् इनका स्वामी मैं हूं ' इसप्रकार अपने अनुभव का विषय बनाता है वह निश्चितरूप से अप्रतिबुद्ध होता है । पदार्थ के यथार्थस्वरूप को न जानकर उसे अन्यपदार्थ-स्वरूप जानता है वह इस संसार में सामान्य जनोंके द्वारा अप्रतिबुद्ध–अज्ञानी–मूर्ख कहा जाता है ।

ऐसी आत्मा के यथार्थस्वरूप को न जाननेवाली अज्ञानी आत्मा को आत्मा के शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराते समय आचार्य ' दुरात्मन् ' और ' आत्मपंसन् ' इन दो शब्दों के द्वारा संबोधित करते हैं । उनका कहनेका भाव यह है कि अप्रतिबुद्ध आत्मा अपने अज्ञान के कारण अपने शुद्ध स्वभाव को भूलकर विभावभावरूप से परिणत होती है । यहि उसकी दुष्टता–सदोषता है । इस विभावभावरूप परिणति से वह अपने स्वभावभूत ज्ञान को प्रच्छादित–आवृत करता हुआ आत्मघात कर लेता है । अतः मिथ्याज्ञानरूप से जिसका ज्ञान परिणत हुआ होता है ऐसी आत्मा दुष्ट भी है और आत्मघातक भी हे । इससे दोनों संबोधनों की यथार्थता सिद्ध हो जाती है । इस अज्ञानी आत्मा का अज्ञान और पशु का अज्ञान इनमे फर्क नहीं है; क्यो कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ढककर ये दोनो अज्ञान उसे अन्यपदार्थ-स्वरूप समझते है । हाथी को जब घास में लपेटकर गेहू की रोटी उसके मुह मे दी जाती है और जब उस कवल को वह चबाने लग जाता है तब उस कवल का जो आस्वाद उसे प्राप्त होता है–मिलता है उस आस्वाद को वह रोटी का आस्वाद न समझकर घास का हि आस्वाद समझता है । रोटी के आस्वाद को घास का आस्वाद समझना हि उसके अज्ञानभाव का द्योतक है । इस अज्ञान से घास को और रोटी को भिन्नरूप से जाननेवाले ज्ञान का सावरणत्व–अज्ञानरूपपरिणामत्व–विभावभावत्व सिद्ध हो जाता है । उसके भेदज्ञापक ज्ञान को उसके अज्ञान ने अपने उदर में सम्मिलित कर लिया होता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो अज्ञान होता है वह ज्ञान को खा जाता है–अपनेमें सम्मिलित कर लेता है–क्षायोपशमिक ज्ञान को कर्मोदय के सहारेसे अपने रूप से परिणत कर देता है। यहि अज्ञान का भेदज्ञापक ज्ञान को खा जानेका--उसका नाश अर्थात् तिरोभाव करनेका तरीका है । अतः इस अज्ञानित्व-रूप पशुत्व का त्याग भव्य जीवों को अवश्य करना चाहिये । नित्यकाल उपयोग से युक्त होना जीवद्रव्य का लक्षण--स्वरूप है । यह जीवद्रव्य का स्वरूप भगवान् सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा स्पष्टरूप से बताया गया है । भगवान् सर्वज्ञ का ज्ञान स्वयं संशय, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित अर्थात् निर्दोष होता है और जीवों के ज्ञेयविषयक ज्ञान से संशय, विपर्याय और अनध्यवसाय को दूर हटाता है । विश्वगत संपूर्ण पदार्थों के स्वरूपों को प्रकट करनेवाला होनेसे वह अद्वितीय--अनुपम सूर्य हि है । सूर्य अपने प्रकाश के द्वारा सूक्ष्म और अन्तरित पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता । सर्वज्ञ का ज्ञानसूर्य सूक्ष्म अन्तरित और दूरस्थित पदार्थों को प्रकट करता है । अतः सर्वज्ञ के ज्ञानरूप सूर्य का उपमान नहीं हो सकता और वह उपमानभूत न होनेसे ज्ञानसूर्य अद्वितीय--अनुपमेय है । यह जीवद्रव्य नित्यो-पयोगस्वभाववाला होनेसे अर्थात् अपने स्वभाव को कदापि छोडनेवाला न होनेसे वह पुद्गलद्रव्य के रूप से परिणत नहीं हो सकता । जब वह पुद्गलद्रव्य के रूप से परिणत नहीं हो सकता तब पुद्गलद्रव्य उसका नहीं हो सकता;

क्यों कि उसमें जीवद्रव्य के स्वरूप का अन्वय नहीं पाया जाता। ऐसी अवस्था में जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य में अवयवावयविभाव और स्वस्वामिभाव नहीं हो सकते। अतः उसको आत्मा का अर्थात् आत्मस्वामिक नहीं माना जा सकता। यदि किसी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य के रूप से परिणत हो जाय और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य के रूप से परिणत हो जाय तो जिसप्रकार खारा पानी नमक का अर्थात् लवणस्वामिक कहा जाता है उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य का अर्थात् जीवद्रव्यस्वामिक है इसप्रकार का अनुभव-ज्ञान घटित हो सकेगा। सारांश, खारे पानी में नमक का स्वरूप से अन्वय पाया जानेसे जिसप्रकार खारा पानी नमक का कहा जा सकता है अर्थात् नमक और खारापानी इनमें परिणामपरिणामिभाव होनेसे स्वस्वामिभावसंबंध घटित होता है उसीप्रकार यदि पुद्गलद्रव्य में जीवद्रव्य का स्वरूप से अन्वय पाया जाय तो पुद्गलद्रव्य जीव का कहा जा सकेगा अर्थात् जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य इनमें परिणामपरिणामिभाव हो तो उनमें स्वस्वामिभावसंबंध घटित हो सकेगा; अन्यथा नहीं। ऐसा किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता; क्यों कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य भिन्नस्वभाववाले होनेसे जीवद्रव्य का पुद्गलद्रव्य में स्वस्वभाव से अन्वित होना असंभव होनेसे परिणामपरिणामिभाव का उनमें सद्भाव न होनेके कारण स्वस्वामिभावसंबंध नहीं होता। ऐसी अवस्था में पुद्गलद्रव्य या पुद्गलद्रव्यसदृश विभावभाव जीव का नहीं हो सकता। वास्तविक स्थिति ऐसी होनेसे पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यस्वामिक नहीं हो सकता। खारापन और द्रवत्व इन दो धर्मों का एकद्रव्य में एकसाथ रहनेके विषय में विरोध न होनेसे खारापन जिसका स्वभाव है ऐसा नमक जलरूप से परिणत होता हुआ और द्रवत्व जिसका लक्षण है ऐसा जल लवणरूप से परिणत होता हुआ अनुभव में आ सकता है किंतु जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य की बात अलग है। जिसप्रकार प्रकाश और अंधेरा ये दोनों एक साथ एकस्थान में नहीं रहते उसीप्रकार उपयोग (ज्ञान) और अनुपयोग (अज्ञान अर्थात् ज्ञान का अभाव और वैपरीत्य) एकसाथ एक द्रव्य में नहीं रह सकते। ये दोनों न जीवद्रव्य में रह सकते है और न पुद्गलद्रव्य में भी। ऐसी अवस्था में नित्य अर्थात् अविच्छिन्नरूप से अनुपयोग (ज्ञानभाव-अज्ञान और वैपरीत्य) जिसका लक्षण है ऐसा पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य के रूप से परिणत होता हुआ अनुभवगोचर नहीं होता। इससे जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य इनमें किसी भी प्रकार से अनुपचरित स्वस्वामिभावसंबंध घटित नहीं होता। इसलिए सभी प्रकारों से विभावभावों का त्याग कर भेदज्ञान से युक्त होकर आत्मा और परद्रव्य इनमें होनेवाली विभिन्नता को स्वीकार कर 'सिर्फ आत्मा हि अपना द्रव्य है' ऐसा जानकर उसका अनुभव करना चाहिये।

सरलता से भावप्रबोधन हो इस भाव से इसी विषय को दुहराया जाता है। अत्यंत निर्मलता स्फटिक का स्वभाव है; किंतु विभिन्नवर्णवाला मोर के चांदे जैसा पदार्थ उस स्फटिकपाषाण के पीछे रख देनेसे उसका स्वच्छतारूप स्वभावभूतभाव अत्यंत तिरोहित-प्रच्छन्न हो जाता है; किंतु उसका नाश-तुच्छाभाव नहीं होता। उस उपाधि से स्फटिक में अपने स्वभाव से विपरीत भाव व्यक्त होता है। आत्मा की भी यहि अवस्था होती है। अनादिकाल से अनेकविध कर्मबंधरूप उपाधि आत्मा के पीछे लगी हुई है। इस बंधरूप उपाधि से आत्मा के शुद्ध स्वभाव के विपरीतस्वभाववाले वैभाविकभाव आत्मा में व्यक्त होते हैं। ये वैभाविकभाव इतने भयंकर है कि उनके प्रभाव से आत्मा और कर्मनोकर्मरूप आत्मभिन्न पुद्गलपदार्थ इनकी परस्परभिन्नता को जाननेवाले सम्यग्ज्ञान का अस्त-तिरोभाव हो जाता है। अपने अपने स्वभाव को न छोडनेवाले आत्मा और कर्मनोकर्मरूप जड पदार्थ इनकी विभिन्नता को जाननेवाला ज्ञान जिसका तिरोहित हो गया होता है अर्थात् जिसके ज्ञान की अज्ञानरूप से परिणति हो गयी होती है उसका हृदय-मन-क्षायोपमिक ज्ञान महान् अज्ञान से-मोहनीयोदयजनित विभावभाव से मूढ हो जाता है। इस मूढता से वह आत्मा और कर्मनोकर्मरूप पुद्गलद्रव्य की विभिन्नता को न जानकर वैभाविकभावों को स्वीकार करता हुआ पुद्गलद्रव्य का 'यह मेरा है' ऐसा अनुभव करता है-उसे ऐसा समझता है। ऐसी विपरीतता ज्ञान में उत्पन्न हो जानेसे जीव अप्रतिबुद्ध हो जाता है। ऐसे अप्रतिबुद्ध जीव को आचार्यश्री समझाते है-रे संसारी आत्मा! तू दुष्ट है; क्यों कि विभावभावरूप से परिणत होकर आत्मघात करती है। तू पशु है; क्यों कि तू परमविवेक का-भेदज्ञान का विनाश करनेवाले अज्ञान को अपनाती है-अज्ञानरूप से परिणत होती है। पशु भी सुंदर आहार को तृण समझता

है। जब उसे सुंदर आहारसहित तृण खानेके लिए दिया जाता है तब आहार के स्वाद को तृण का हि स्वाद समझता है। उसे तृण और आहार के स्वाद की भिन्नता का ज्ञान नहीं होता। यह अज्ञान उसकी पशुता का लक्षण है। तेरा यही हाल है। तू जडरूप कर्मनोकर्म को हि चेतन आत्मा और चेतन आत्मा को जडरूप परपदार्थ समझ रहा है। इस अज्ञान ने हि तुझे पशुतुल्य बना दिया है; क्यों कि इस अज्ञान ने तेरे परमविवेकज्ञान को–भेदज्ञान को कुचल दिया है–दूर भगा दिया है। अतः परमविवेक का नाश करनेवाले अज्ञान को छोड दे ऐसा उपदेश आचार्यश्री अज्ञानी जीव को बारबार देते हैं। आचार्यश्री कहते हैं कि–हे अज्ञानी आत्मन्! शरीरादि जड पदार्थ के स्वरूप से आत्मपदार्थ का स्वरूप भिन्न है। आत्मपदार्थ का स्वरूप है नित्य उपयोग। यह आत्मद्रव्य किसी अल्पज्ञानी और सदोष ज्ञानवाले जीव ने प्रकट नहीं किया। यदि ऐसा होता तो आत्मद्रव्य के विषय में संशय करना योग्य होता। यह आत्मपदार्थ का स्वरूप सर्वज्ञ भगवान् ने प्रकट किया है। भगवान् सर्वज्ञ का ज्ञान द्रव्येंद्रियों के, बाह्यपदार्थ के और प्रकाश के साहाय्य के बिना संसार के सभी पदार्थों को उनके अनंत पर्यायों के साथ यथार्थरूप से जानता है और भगवान् के उस ज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये दोष नहीं पाये जाते। वह भगवान् का ज्ञान अल्पज्ञ जीवों के ज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को नहीं रहने देता। यदि ये दोष सर्वज्ञ के ज्ञान में भी पाये जाते हैं ऐसा मान लिया तो सर्वज्ञ और अल्पज्ञ इनके ज्ञानों में हि अंतर रहेगा हि नहीं। सर्वज्ञ और अल्पज्ञ समान हो जायेंगे। किंतु सर्वज्ञ और अल्पज्ञ इनके ज्ञानों में बडा भारी अन्तर है। सर्वज्ञ अपने ज्ञान के द्वारा सूक्ष्म, अंतरित और दूरस्थित पदार्थों को उनके अनंत पर्यायों के साथ साथ युगपत् जान सकते हैं। अल्पज्ञ जीव के ज्ञान में ऐसी महान् शक्ति नहीं पायी जाती। अतः सर्वज्ञप्रतिपादित पदार्थ की और उसके स्वरूप की यथार्थता माननी हि होगी। जब सर्वज्ञ भगवान् ने नित्योपयोग यह जीव का लक्षण बताया है तब जीवद्रव्य उपयोगस्वरूप से रहित जो पुद्गलद्रव्य उसरूप परिणत नहीं होगा; क्यों कि अन्यद्रव्य के रूप से परिणत होनेवाले द्रव्य को पहले अपने स्वभाव को छोड देना पडता है जो कि असंभव है। यदि द्रव्य ने अपने स्वभाव को छोड दिया तो उसका अभाव हि हो जायगा और अभाव हो जानेपर उसका अन्यद्रव्य के रूप से परिणमन असंभव हो जायगा। जब जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप से परिणत नहीं हो सकता तब 'यह पुद्गल –परद्रव्य मेरा है' इस प्रकार संसारी जीव जो अनुभव करता है उसका वह अनुभव मिथ्या है। यदि किसी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य के रूप से और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य के रूप से परिणत हो जाये तब जल के समान यह 'पुद्गलद्रव्य या परभाव मेरा है' इसप्रकार की अनुभूति घटित हो सकती है। किंतु जीवद्रव्य पुद्गलरूप से और पुद्गलद्रव्य जीवरूप से किसी भी प्रकार से परिणत नहीं हो सकता। स्पष्टीकरण–क्षारत्व लोन का स्वरूप है और द्रवत्व जल का स्वरूप है। इनके एक काल में एकत्र रहनेमें कोई विरोध नहीं है। अतः लवण का क्षारजलरूप से और क्षारजल का लवण के रूप से परिणत होना अनुभव में आता है। इसतरह उपयोगात्मक जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य के रूप से और उपयोगरूप लक्षण से रहित पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य के रूप से परिणत होते हुए अनुभव में नहीं आते, क्यों कि अंधकार और प्रकाश के समान उपयोग और अनुपयोग एक हि समय में एक हि द्रव्य में नहीं रह सकते। इसलिए हे आत्मन्! तू अपना चित्त शुद्ध कर और सावधान होकर अपनी आत्मा को हि 'यह मेरी है' ऐसा अनुभव कर।

आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छा करनेवाली आत्मा को मिथ्यात्व त्यागपूर्वक सम्यक्त्वरूप से परिणत होकर शुद्धात्मस्वरूप के समीप आ जानेसे आत्मा का अन्य पदार्थों से भिन्नत्व व्यक्त हो जाता है यह बताते हैं––

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

अन्वयः– अयि ! कथमपि मृत्वा भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती तत्त्वकौतूहली सन् स्वं मुहूर्तं अनुभव । अथ येन पृथक् विलसन्तं (स्वं) समालोक्य मूर्त्या साकं एकत्वमोहं त्यजसि ।

अर्थः– हे आत्मा ! किसी भी प्रकार से (अर्थात्) महान् कष्ट से मरकर (अर्थात् मिथ्यात्वरूप पूर्व अवस्था का त्याग कर और सम्यक्त्वरूप उत्तर अवस्था को धारण कर) अनन्तसुख के निधानभूत शुद्ध आत्मा के समीप पहुंचा हुआ उसके यथार्थ स्वरूप को जाननेकी इच्छा करता हुआ अपनी शुद्ध आत्मा का क्षणमात्र कालतक अनुभव कर। इस अनुभव से परद्रव्यों से पूर्णतया भिन्नरूप से विद्यमान (अपनी आत्मा को) समीचीनरूप से जानकर–अनुभव कर शरीर के साथ और द्रव्यकर्मों के साथ एकत्व को–अभिन्नता के मोह को तू शीघ्र हि छोड देगा।

त. प्र.– अयीति कोमलालापे । प्रेमभाषिते इत्यर्थः । 'अयि काकुकुलालापसम्बोधप्रेमभाषिते । अयि प्रश्नानुनययोः' इति विश्वलोचने । कथमपि येन केनापि प्रकारेण । तपश्चरणतत्त्वानुचिन्तनाद्यात्मकेन महता कष्टेनेति यावत् । मृत्वा मरण प्राप्य । पौर्वीमज्ञानावस्थां परित्यज्य विनाश्य चौत्तरीं नव्यामवस्थां सम्यक्त्वरूपां प्राप्येत्यर्थः, मरणस्य पौर्वावस्थापरित्यागपूर्वकौत्तरावस्थाविष्काररूपत्वात् । चाञ्चल्यं परिहृत्य मनः स्थिरीकृत्येति वाऽर्थः । भवमूर्तेरनन्तसुखात्मककल्याणनिष्ठस्य शुद्धात्मनः । भवस्य कल्याणस्यानन्तसुखात्मकस्य मूर्तिर्वृद्धिपरम्परया जाता पूर्णता यस्मिंस्तस्य । अनन्तज्ञानसुखभाजनस्येति भावः । 'भवः श्रीकण्ठसंसारश्रेयःसत्ताप्तिजन्मसु' इति विश्वलोचने । मूर्च्छति विवर्धते इति मूर्तिः । वृद्धिरित्यर्थ । पार्श्ववर्ती समीपवर्ती । सम्यक्त्वावस्थाप्रादुर्भूतौ पूर्णशुद्धावस्थाविर्भावाभावेऽप्यांशिकशुद्ध्यपेक्षया सम्यक्त्वसम्पन्नस्यात्मनश्शुद्धतमात्मनस्सामीप्यप्रादुर्भावाच्छुद्धात्मपार्श्ववर्तित्वमिति प्रादुर्भूतसम्यक्त्वस्यात्मनः आंशिकशुद्धिप्रादुर्भावाद्भाविनैगमापेक्षया द्रव्यनिक्षेपापेक्षया वा शुद्धात्मसमीपवर्तित्वमिति वा भावः । तत्त्वकौतूहली शुद्धात्मस्वरूपबुभुत्सुः । तस्य प्रमाणनयप्रसिद्धस्यात्मनो भावः शुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्तस्य कौतूहलं बुभुत्सा तत्त्वकौतूहलम् । तदस्यास्तीति तत्त्वकौतूहली । 'अतोऽनेकाचः' इतीन् । शुद्धज्ञानघनैकरूपस्वभावबुभुत्सुस्सन्भवन स्व शुद्धज्ञानघनैकस्वभावं स्वपरमात्मानमनुभवानुभवगोचरीकुरु । मुहूर्तं मुहूर्तप्रमाणकाल यावत् । अथ कात्स्न्र्येन येन सम्यक्त्वरूपेण परिणतो भूत्वा मुहूर्तप्रमाणकालं यावदनुभवनेन पृथक्कर्मनोकर्मरूपपुद्गलद्रव्येभ्यः पुद्गलद्रव्यसदृशविभावभावेभ्यश्च भिन्नत्वेन विलसन्त शुद्धज्ञानघनैकस्वभावनिष्ठत्वेन शोभमानं विद्यमानं वा समालोक्य सम्यग्यथा तथाऽऽलोक्य विभाव्य ज्ञात्वा वा त्वं मूर्त्या कर्मनोकर्मरूपपुद्गलद्रव्येण पुद्गलद्रव्यसदृशजीवस्वभावतिरोभावकविभावभावेन च साकं सहैकत्वमोहमेकत्वमात्मशरीरयोरभिन्नत्वमेव भ्रान्तिस्त झगिति शीघ्रं त्यजसि परित्यागं करिष्यसि । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति वर्तमानसमीपभाविष्यत्यर्थे वर्तमानवत्प्रयोगः । अनादिससाराविश्रान्तभ्रान्तिश्रान्तिसमुत्पन्नानन्तदुःखदावदग्धहृदय हे जीव ! मोहमहाग्रहग्रस्तशुद्धज्ञानघनैकस्वभावात्सर्वकल्याणभाजनादात्मनः कथञ्चिद्भिन्नोऽपि त्वं सर्वथा ज्ञानस्वभावस्यापरित्यागात्स्वशुद्धात्मनस्समीपवर्त्यस्येव । विमलकेवलावबोधसुधासिन्धुनिमग्न आत्मा संसारिणस्ते आत्मनो न सर्वथा भिन्नः पदार्थः । अनन्तानन्दनिमग्नस्य स्वात्मनो दर्शनार्थं नाऽन्यत्र कुत्रापि त्वया गन्तव्यम् । यदि ते स्वशुद्धात्मदिदृक्षाऽस्ति तर्हि त्वं चञ्चलतया परिभ्रमन्मनः महता कष्टेन स्थिर कृत्वा स्वकीय शुद्धात्मानं कर्मनोकर्मरूपपुद्गलद्रव्येभ्यो विभावभावेभ्यश्च स्वस्वभावापेक्षया भिन्नत्वेन विद्यमानमनुभव । अनेनात्मानुभवेन विज्ञातशुद्धजीवपुद्गलद्रव्यविवेकस्त्वं शरीरादिपरपदार्थेषु मोहनीयेन कर्मणा समुपजायमानामात्मबुद्धिं शीघ्र परिहरिष्यसि ।

यद्वाऽयि जीव! स्वशुद्धात्मदिदृक्षुर्भवंस्त्वं मूर्तेः शरीरस्य पार्श्ववर्ती समीपवर्ती भव। रे जीव ! त्वमनादितः कर्मनोकर्मरूपपुद्गलद्रव्येण साकं संश्लेषमापन्नत्वाच्छरीरेण साकमेकीभावमिव गतोऽसि। तमेकीभावं विमुच्य पृथग्भूत्वा समीपवर्ती भव। अथानन्तरं स्वशरीरं विमुच्य त्वं तत्समीपवर्ती भूतः सन् शरीराद्भिन्नत्वेन विलसन्तं स्वमात्मानमवलोक्यानुभवानुभवगोचरीकुरु। येनानुभवेन त्वं शरीरेणामैकत्वमोहं शीघ्रं त्यजसि परिहरिष्यसि ॥

विवेचन :— कलशगत कुछ शब्दों का खुलासा करनेके बाद कलश का भाव विशद किया जायगा। कलश में जो 'मृत्वा' यह शब्द प्रयुक्त किया गया है उसका अर्थ है 'मरकर'। मरण का अर्थ है जीव की विद्यमान अवस्था का अभाव होकर उत्तर अवस्था की उत्पत्ति। जीव की मरण के बाद उत्पन्न होनेवाली उत्तर अवस्था में पूर्व अवस्था का पूर्णतया अभाव होता है। ऐसा होनेपर भी दोनों अवस्थाओं मे उपादानभूत जीव का अन्वय होता है। कहने का भाव यह है कि अनादिकाल से मोहनीयकर्म का सश्लेष हुआ होनेसे जीव का स्वभावभूत ज्ञान अज्ञान के अर्थात् मिथ्याज्ञान के रूप से परिणत हो गया है। जीव को ज्ञान की इस अज्ञानरूप परिणति का अभाव करके सम्यक्त्व के–सम्यग्ज्ञान के रूप से परिणत होना चाहिये; क्यों कि उस ज्ञानरूप परिणति के बिना उसे शुद्ध आत्मा की उपलब्धि–प्राप्ति होना असभव है। इस ज्ञानरूप परिणति में अज्ञान का अशमात्ररूप से भी सद्भाव नहीं होना चाहिये। यहि भाव 'मृत्वा' इस शब्द से व्यक्त होता है। अब 'भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती' इन शब्दों का भाव व्यक्त किया जाता है। 'भव' इस शब्द का अर्थ है 'कल्याण, सुख' और 'मूर्ति' इस शब्द का अर्थ है 'वृद्धि'; क्यों कि वह वृद्ध्यर्थवाचक 'मूर्च्छ्' इस धातु से क्तिप्रत्यय होकर बना है। 'भवमूर्ते' इस सामासिक पद का 'भवस्य स्वाभाविकस्यात्मसुखस्य मूर्तिः वृद्धि' यत्र सः। तस्य' ऐसा विग्रह है और उसका अर्थ 'जिस में अर्थात् जिस आत्मा मे स्वाभाविक अर्थात् अविनश्वर और अविकल सुख की अभिवृद्धि हो गयी होती है ऐसी अर्थात् शुद्धतम आत्मा के' ऐसा है। जिस आत्मा मे अज्ञानरूप–मिथ्याज्ञानरूप परिणति का अभाव होकर अविकल सम्यक्त्वरूप परिणति हो गयी होती है वह आत्मा शुद्धतम आत्मा के समीपवर्ती होती है और जैसे जैसे उसके ज्ञानगुण की विशुद्धि विकसित होती जाती है वैसे वैसे वह आत्मा शुद्ध आत्मा के अधिकाधिक समीपवर्ती होती जाती है। जब यह विशुद्धि पूर्णरूप अवस्था को प्राप्त करती है तब वह आत्मा स्वयं शुद्धतम बन जाती है–सर्वज्ञ बन जाती है। कहनेका भाव यह है कि जब भव्य आत्मा अज्ञानभाव की मिथ्यात्वरूप परिणति का पूर्णरूप से अभाव करती है और क्षायिकसम्यक्त्व के रूपमे परिणत होकर अपने ज्ञानगुण की विशुद्धि को वृद्धिगत करती हुई शुक्लध्यान की योग्यता की प्राप्तिकर लेती है तब अपने कर्मों की सवरपूर्वक अनंतगुणी निर्जरा करती हुई वह केवलज्ञान को प्राप्त कर लेती है। केवलज्ञान की अवस्था मे मोहनीयकर्म का हि अभाव होनेसे कर्म, नोकर्म अर्थात् शरीर, अन्य मूर्तिमान् पदार्थ और मूर्तिमान् पुद्गलकर्म के समान आत्मा के स्वभावभाव को प्रच्छादित करनेवाले विभावभाव इनके साथ एकत्व का–अभिन्नता का–यथार्थ एकीभाव का–मोह का अर्थात् तद्विषक अज्ञान का अभाव होना न्यायप्राप्त है। अज्ञान का–मोह का अभाव न्यायप्राप्त होनेसे 'त्यजसि' अर्थात् 'तू छोड देगा' यह कथन व्यवहाराश्रित है। यह एक दृष्टि है। दूसरी दृष्टि निम्नप्रकार है। जब जीव मिथ्यात्वरूप पूर्वावस्था का अभाव कर सम्यक्त्वरूप उत्तर अवस्था के रूपसे परिणत होता है तब उसमें भेदज्ञानरूप ज्ञान की परिणति आविर्भूत होती है। भेदज्ञान के आविर्भूत होते हि शरीरादि परपदार्थों की आत्मा के साथ जो अभिन्नता का भाव होता है उसका उस जीव में अभाव हो जाता है। इस प्रकार मोह का आंशिक अभाव हो जाना हि व्युच्छिन्नमोह शुद्ध आत्मा के समीप आ जाना है। इसप्रकार मोह का अभाव हो जानेपर अपनी आत्मा में शुद्ध आत्मा की स्थापना कर वह शुद्ध आत्मा का अनुभव करने का पुरुषार्थ कर सकता है।

अथ आह अप्रतिबुद्धः—

अप्रतिबुद्ध अपना पक्ष सामने रखता है अर्थात् अपना मन्तव्य अभिव्यक्त करता है—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥ २६ ॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ– **(यदि)** यदि **(जीवः)** जीव **(शरीरं न)** शरीर नही है अर्थात् जीव और शरीर भिन्न भिन्न स्वतत्र द्रव्य हे–दोनों **(अभिन्न)** एकरूप नहीं हे तो **(तीर्थकराचार्यसंस्तुतिः)** तीर्थकर भगवान् की और आचार्यों की जो स्तुति की जाती है वह **(सर्वा अपि)** सब हि **(मिथ्या)** मिथ्या-झूठी **(भवति)** हो जाती है अर्थात् मिथ्या हो जानेका दुर्निवार प्रसग उपस्थित हो जाता है । **(तेन तु)** वह स्तुति मिथ्या न हो जाय इसलिए अर्थात् स्तुति मिथ्या न होनेसे **(आत्मा)** आत्मा **(देहः)** शरीर **(भवति)** होता है अर्थात् शरीर और आत्मा मे भेद की सिद्धि नही हो सकती ।

आ. ख्या.– यदि यः एव आत्मा तद् एव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्, तदा–

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४ ॥

इत्यादिका तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्ता अपि मिथ्या स्यात् । ततः 'य एव आत्मा तद् एव शरीरं पुद्गलद्रव्यम्' इति मम ऐकान्तिकी प्रतिपत्तिः ।

त. प्र.– यदि अथ य एवात्मा जीवस्तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं न भवेन्न स्यात्तदा । यदि जीवपुद्गलोपादानकशरीरयोस्तादात्म्यमभिन्नत्वमेकद्रव्यत्वं वा न भवेत्तदा तर्हि–

अन्वयः– ये कान्त्या एव दशदिशः स्नपयन्ति, ये धाम्ना उद्दाममहस्विनां धाम निरुन्धन्ति, ये रूपेण जनमनो मुष्णन्ति ते दिव्येन ध्वनिना श्रवणयोः सुखं साक्षात् अमृतं क्षरन्तः अष्टसहस्रलक्षणधराः सूरयः तीर्थेश्वराः वन्द्याः ॥ ये कान्त्यैव केवलं परमौदारिकस्वशरीरसौन्दर्येण दश दिशः पूर्वादयो दशाशाः स्नपयन्त्यभिषिञ्चति । व्याप्नुवन्तीत्यर्थः । ये धाम्ना स्वशरीरत्विषा । उद्दाममहस्विनाम्–उद्दामं निरर्गलं च तन्महस्तेजश्चोद्दाममहः । तदस्त्येषामित्युद्दाममहस्विनः । तेषामुद्दाममहस्विनाम् । 'मायामयामेधास्रक्तपोऽसो विन्' इत्यसन्तत्वान्महसो मत्वर्थे विन् । धाम तेजो निरुन्धन्ति सङ्क्षिपन्ति । भगवान्सूर्यकोटिसमप्रभ इत्युक्तमार्षग्रन्थेषु । सहस्रकराक्रान्तदशदिक्चक्रवालत्वादुद्दामतेजसोऽपि द्युमणेस्तेजसस्सूर्यकोटिसमप्रभाक्रान्तत्वात्तत्सङ्क्षेपमियर्तीति भावः । रूपेण सुरुचिरया शरीराकृत्या ये जनमनस्त्रैलोक्योदरवर्तिप्राणिगणमनो मुष्णन्ति हरन्ति । आकर्षन्तीत्यर्थः । ते दिव्येन त्रैलोक्यनिवासिजनासाधारणेन ध्वनिना श्रवणयोः कर्णयोः सुखं सुखकरं साक्षादमृतं सुधां

क्षरन्तः स्रवन्तोऽष्टसहस्रलक्षणधरा अष्टोत्तरसहस्रशारीरिकलाञ्छनधारिणस्सूरयस्समुत्पन्नकेवलावबोधास्तीर्थेश्वरा अनवद्यविद्याधरा आचार्याश्च । तीर्थस्य धर्मस्य प्रवर्तकत्वादीश्वराः नायकास्तीर्थेश्वरा वन्द्या वन्दनार्हाः । नन्वत्र श्लोके स्तुतिकारेण कान्तिधामरूपादिशब्दप्रयोगेण भगवतश्शरीरस्यैव स्तुतिः कृता, न भगवतश्शुद्धात्मनः, कान्त्यादीनां पुद्‌गलगुणपर्यायत्वात् । भगवच्छरीरगुणपर्यायवर्णनेन भगवत आत्मन एव स्तुतिः कृतेति चेत्, शरीरस्तुत्या तदात्मस्तुतावात्मशरीरयोस्तादात्म्यमायातम् । कुत आत्मशरीरयोर्लक्षणभेदेन प्रतिपादितं भिन्नत्वं सम्भवति, आत्मशरीरभेदाभावमन्तरेण शरीरस्तुत्याऽऽत्मस्तुतेरसम्भवात् । अतो नात्मशरीरयोर्भिन्नत्वं सम्भवतीत्यप्रतिबुद्धस्याभिप्रायः ।

इत्यादिका तीर्थकराचार्यस्तुतिस्तीर्थकराचार्यस्य तीर्थकराचार्ययोर्वा स्तुतिस्समस्तापि समग्राऽपि मिथ्या विफला स्याद्भवेत् । ततस्तस्मात्कारणाद्य एवात्मोपयोगलक्षणो जीवस्तदेव शरीरं पुद्‌गलद्रव्यमिति जीवशरीरयोस्तादात्म्यमिति ममाप्रतिबुद्धस्यैकान्तिक्यसन्दिग्धा प्रतिपत्तिरुपन्यासः ।

टीकार्थ– यदि जो आत्मा है वहि शरीर–पुद्‌गलद्रव्य अर्थात् पुद्‌गलोपादानक शरीर न हो तो अर्थात् आत्मा और पुद्‌गलोपादानक शरीर इनका तादात्म्य-अभेद-एकवस्तुत्व न हो तो–

कलशार्थ– जो अपनी शरीरकान्ति से दशों दिशाओं को स्नान कराते हैं–उनको अपने शरीर की कान्ति से अभिव्याप्त करते है, जो अपने प्रकाश से अमर्याद तेज को धारण करनेवालो के प्रकाश को सकुचित कर देते है– ढक देते है, जो अपने रूप से लोगों के मन को आकृष्ट करते है वे अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा सुख देनेवाले अमृत को (भव्य जीवों के) कानों में भर देनेवाले–उसका सिंचन करनेवाले, एक हजार आठ लक्षणों को धारण करनेवाले तीर्थंकर भगवान् और आचार्य वन्दनीय है ।

इसप्रकार की तीर्थंकरो की और आचार्यों की जो स्तुति है वह सब हि मिथ्या–विफल सिद्ध हो जायगी । उस कारण से ' जो हि आत्मा है वहि शरीर है–पुद्‌गलद्रव्य है ' इसप्रकार मेरा असन्दिग्ध अभिप्राय है ।

विवेचन– यहांपर तीर्थंकर भगवान् की जो स्तुति की गयी है वह भगवान् के परमौदारिक शरीर की स्तुति है; क्यों कि कान्ति, तेज, रूप आदि पौद्‌गलिक शरीर के विशेष धर्म–गुण हं, आत्मा के नहीं । यदि यह स्तुति शरीर की हि है तो इससे भगवान् की आत्मा की स्तुति कैसे हो सकती है ? यदि यह भगवान् की शुद्ध आत्मा की स्तुति हो तो शरीर और आत्मा लक्षणभेद से भिन्नभिन्न पदार्थ होनेसे शरीर स्तुति से आत्मा की स्तुति किस प्रकार हो सकती है ? शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति तब हो सकती है जब की शरीर और आत्मा में अभेद हो–तादात्म्य हो । शरीर और आत्मा के तादात्म्य के अभाव में शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं हो सकती । अतः उक्त स्तुति से आत्मा की स्तुति होती है यह अभिप्राय ठीक हो तो शरीर और आत्मा को एक पदार्थ मानना हि युक्तिसंगत मालुम होता है । ऐसा यह मन्तव्य अप्रतिबुद्ध आत्मा ने प्रकट किया है ।

नैवं, नयविभागानभिज्ञः असि ।

शरीरस्तुति से आत्मा की स्तुति होनेपर आत्मा और शरीर इनका एकवस्तुत्व सिद्ध होता है वह मन्तव्य ठीक नहीं हैं; क्यो कि हे अप्रतिबुद्ध आत्मन्! तू नय विभाग का जानकार नहीं है । इस नयविभागरूप व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा और शरीर का कथंचित् एकत्व और निश्चयनय की दृष्टि से भिन्नभिन्न वस्तुत्व होता हैं यह बताया जाता है–

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एकट्ठो ॥ २७ ॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ।। २७ ।।

अन्वयार्थ— (**जीवः देहः च**) जीव और शरीर (**एकः**) एक वस्तुरूप (**भवति**) हैं-भिन्न-भिन्न वस्तुरूप नहीं है ऐसा (**व्यवहारनयः**) व्यवहारनय (**खलु**) निश्चितरूप से (**भाषते**) कहती है । (**निश्चयस्य तु**) निश्चयनय की दृष्टि से तो (**जीवः देहः च**) जीव और देह (**कदा अपि**) किसी भी काल में—किसी भी समय (**एकार्थः**) एक पदार्थ—अभिन्न पदार्थ (**न**) नही (**भवतः**) हो सकते ।

[एकपदार्थ अपने स्वभाव का त्याग कर अन्यपदार्थ के स्वरूप से जब परिणत हि नहीं हो सकता तब दो भिन्न पदार्थों का एकपदार्थत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? जीव और शरीर अनादिबधपर्याय की दृष्टि से यद्यपि एकवस्तुरूप दिखाई देते हैं और व्यवहारनय की दृष्टि से अर्थात् उपचार से यद्यपि उन दोनों का कथंचित् एकवस्तुत्व बन सकता है तो भी निश्चयनय की दृष्टि से अर्थात् परमार्थतः उन दोनों का एकवस्तुत्व सिद्ध नहीं हो सकता । अतः शरीरकी स्तुति से आत्मा की स्तुति यद्यपि कथंचित् हो सकती है तो भी निश्चयनय की दृष्टि से शरीरस्तुति से आत्मा की स्तुति कदापि नहीं हो सकती ।]

आ. ख्या.— इह खलु परस्परावगाढावस्थायां आत्मशरीरयो समावर्तितावस्थायां कनककलधौतयोः एकस्कन्धव्यवहारवत् व्यवहारमात्रेण एव एकत्वं, न पुनः निश्चयतः । निश्चयतः हि आत्मशरीरयोः उपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपाण्डुरत्वादिस्वभावयोः इव अत्यन्तव्यतिरिक्तत्वेन एकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेव । एव हि किल नयविभागः । ततः व्यवहारनयेन एव शरीरस्तवनेन आत्मस्तवनं उपपन्नम् ।

त. प्र.— इह खलु परस्परावगाढावस्थायां संश्लिष्टान्योन्यप्रदेशावस्थायामात्मशरीरयोर्जीवदेहयोः समावर्तितावस्थायामेकत्रीकृतावस्थायां कनककलधौतयोस्सुवर्णरजतयोरेकस्कन्धव्यवहारवदेकपिण्डव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेण व्यवहारनयमात्रेणासद्भूतव्यवहारनयमात्रेणैवैकत्व, न पुनर्निश्चयतो निश्चयनयापेक्षया । यथा सुवर्णदुर्वर्णयोरेकत्रीकृतावस्थायां तयोरेकपिण्डत्वेऽन्योन्यावयवसंयोगसद्भावेऽपि सुवर्णावयवाना दुर्वर्णावयवानां वा स्वस्वरूपपरित्यागपूर्वकपरस्वरूपानङ्गीकारान्न नयोर्निश्चयनयापेक्षयैकवस्तुत्वं तथा जीवदेहयोरनादिबधवत्त्वाद्व्यवहारनयेनोपचारमात्रेणैवैकवस्तुत्वेऽपि तयोरन्यतरस्य स्वस्वरूपपरित्यागपूर्वकपरद्रव्यस्वरूपाङ्गीकारेण परद्रव्यरूपेणापरिणमनान्निश्चयनयापेक्षयैकवस्तुत्वासम्भवादेकवस्तुत्वं न सम्भवतीनि भावः । निश्चयतो निश्चयनयापेक्षया हि खल्वात्मशरीरयोर्देहदेहिनोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोश्चेतनाचेतनस्वभावयोः कनककलधौतयोस्सुवर्णदुर्वर्णयोः पीतपाण्डुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यन्तव्यतिरिक्तत्वेनात्यन्तभिन्नत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेरेकपदार्थत्वाघटनान्नानात्वमेवान्योन्यभिन्नवस्तुत्वमेव । यथा सुवर्णस्य पीतत्वादिस्वभावाद्दुर्वर्णस्य पाण्डुरत्वादिस्वभावस्य दुर्वर्णस्य पाण्डुरत्वादिस्वभावाच्च सुवर्णस्य पीतत्वादिस्वभावस्यात्यन्तभिन्नत्वात्तयोरेकवस्तुत्वाघटनाद्भिन्नवस्तुत्वमेव निश्चयनयापेक्षया तथा जीवस्योपयोगस्वभावाद्देहस्यानुपयोगस्वभावस्य देहस्य चानुपयोगस्वभावाज्जीवस्योपयोगस्वभावस्यात्यन्तभिन्नत्वात्तयोरेकवस्तुत्वाघटनान्निश्चयनयापेक्षया भिन्नवस्तुत्वमेवेति भावः । एवं एवंविधो हि खलु नयविभागो नयभेदः । नययोर्विभागो भेदो नयविभागः । नयभेद इत्यर्थः । ततस्त-

स्मात्कारणाद्व्यवहारनयेनैवासद्भूतव्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेन देहस्तुत्यात्मस्तवनं भगवतस्तीर्थंकरस्य शुद्धस्यात्मनः स्तवनमुपपन्नं सिद्धम् ।

टीकार्थ– इस संसार में अर्थात् जीव की इस संसारावस्था में जिस प्रकार सोना और चांदी इनके मिश्रण की अवस्था में सोना और चांदि का पिण्ड एक है ऐसा केवल व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है; किंतु निश्चयनय की दृष्टि से उस पिण्ड को एकवस्तुरूप नहीं माना जाता, उसीप्रकार आत्मा और शरीर इन की परस्पर एक क्षेत्र में रहने की अवस्था होनेपर उन दोनों का एकत्व–एकवस्तुत्व–अभिन्नवस्तुत्व केवल व्यवहारनय की दृष्टि से हि कहा जाता है (कहा जा सकता है); किंतु निश्चयनय की दृष्टि से जीव और शरीर की उस संयुक्त अवस्था को एकवस्तुरूप नहीं माना जा सकता । निश्चयनय की दृष्टि से तो वस्तुतः जिसप्रकार सुवर्ण का पीतत्वादिस्वभाव और चांदी का पाण्डुरत्वादिस्वभाव इनमें आत्यंतिक भेद होनेसे उनका या उनके मिश्रण से बने हुए पिण्ड का एकवस्तुत्व घटित नहीं होता, अपि तु अन्योन्यभिन्नवस्तुत्व हि घटित होता है उसीप्रकार निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का उपयोगस्वभाव और शरीर का अनुपयोगस्वभाव अर्थात् अचेतनत्वस्वभाव इनमें आत्यंतिक भिन्नत्व होनेसे उनका या उनकी संयुक्त अवस्था का एकवस्तुत्व घटित नहीं होता, अपि तु अन्योन्यभिन्नवस्तुत्व हि घटित होता है । वस्तुतः इसप्रकार हि नयभेद है । उस कारण से व्यवहारनय की दृष्टि से हि शरीर की स्तुति की जानेपर आत्मा की स्तुति घटित होती है ।

विवेचन– सोना और चांदी इन दो धातुओं का मिलान कर देनेसे उन दोनों की जो एक पिण्डरूप अवस्था होती है उस अवस्था मे पिण्ड की दृष्टि से उन दोनो के मिलान को व्यवहारनय की दृष्टि से एकवस्तु कहा जाता है, किंतु निश्चयनय की दृष्टि से उस पिण्ड को सर्वथा एकवस्तुरूप नहीं माना जा सकता–उन दोनों के मिश्रणरूप पिण्ड को सर्वथा एकवस्तुरूप नहीं माना जा सकता । उन दोनों के मिश्रणरूप पिण्ड को सर्वथा एकवस्तुरूप कैसे माना जाय; क्यो कि उसको एकवस्तुरूप मानने से सोनेसे चांदि कभी भी अलग नही की जा सकेगी ? संसार मे सुवर्ण से चांदि को विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा अलग किया जाना देखनेमें आता है । अतः उन दोनो की पिण्डरूप अवस्था की दृष्टि से यद्यपि उनको कथंचित् एकवस्तुरूप माना जा सकता है तो भी सर्वथा एकवस्तुरूप नही माना जा सकता । निश्चयनय की दृष्टि से उन दोनो को परस्परभिन्न दो वस्तुए हि मानना होगा । अनादि बंधपर्याय की दृष्टि से आत्मा और शरीर इनको एकक्षेत्रावगाहित्व के कारण संयुक्तावस्था बनी हुई है । उस संयुक्त अवस्था की दृष्टि से उन दोनो की संयुक्तता को व्यवहारनय की दृष्टि से कथंचित् एकवस्तु कहा जा सकता है, किंतु निश्चयनय की दृष्टि से उस संयुक्तता को सर्वथा एकवस्तुरूप नही माना जा सकता । संयुक्तावस्थापन्न उन दोनों को एकवस्तुरूप कैसे माना जाय; क्यों कि उन दोनो को एकवस्तुरूप माननेमे आत्मा से शरीर का पृथग्भाव कभी भी नही हो सकेगा ? संसारी जीव का जब मरण होता है या संसारी जीव जब मुक्त होता है तब उससे शरीर अलग हो जाता है । अतः उन दोनो की संयुक्त अवस्था की दृष्टि से यद्यपि उनको व्यवहारनय की दृष्टि से कथंचित् एकवस्तुरूप माना जा सकता है तो भी सर्वथा एकवस्तुरूप नही माना जा सकता । निश्चयनय की दृष्टि से उन दोनों को परस्परभिन्न दो वस्तुए हि मानना होगा । जिसप्रकार सुवर्ण का पीतत्वादिस्वभाव से चांदी के पांडुरत्वादिस्वभाव का और चांदी के पाण्डुरत्वादिस्वभाव से सुवर्ण के पीतत्वादिस्वभाव का आत्यंतिक भेद होनेसे सुवर्ण का और चांदी का एकवस्तुत्व सिद्ध नहीं होता, अपि तु उनका भिन्नवस्तुत्व हि सिद्ध होता है उसीप्रकार आत्मा के उपयोगस्वभाव से–ज्ञानरूप या चेतनत्वरूप स्वभाव से शरीर के अनुपयोगरूप स्वभाव का–अचेतनत्वरूप स्वभाव का और शरीर के अचेतनत्वरूप स्वभाव से आत्मा के चेतनत्वरूप स्वभाव का आत्यंतिक भेद होनेसे आत्मा का और शरीर का एकवस्तुत्व सिद्ध नहीं होता, अपि तु उनका भिन्नवस्तुत्व हि सिद्ध होता है । इसप्रकार का हि वस्तुतः नयविभाग है । इस नयविभाग से हि व्यवहारनय की दृष्टि से हि शरीर की स्तुति की जानेसे आत्मा की स्तुति कथंचित् घटित हो जाती है ।

तथा हि–

अब उसी अभिप्राय का खुलासा करते हैं–

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणि ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥ २८ ॥

इममन्यं जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः ।
मन्यते खलु संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवान् ॥२८॥

अन्वयार्थ–(**जीवात् अन्यं**) आत्मद्रव्य से भिन्न (**इमम्**) इस (**पुद्गलमयं देहं**) पुद्गलपरिणामस्वरूप देह की (**स्तुत्वा**) स्तुति करके (**मुनिः**) साधु पुरुष (**मया**) मैंने (**केवली भगवान्**) केवल ज्ञान के रूप से जिनका ज्ञान परिणत हो गया है ऐसे केवली भगवान् की (**स्तुतः**) स्तुति की है (**वन्दितः**) वन्दना की है ऐसा (**मन्यते खलु**) मानते हैं ।

[अत्र देहशब्दस्य नित्यपुल्लिङ्गत्वात् 'इयमन्यत्' इत्यत्र 'इममन्यं' इति पाठान्तरं कृतम् ।]

आ. ख्या.– यथा कलधौतगुणस्य पाण्डुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतः अतत्स्वभावस्य अपि कार्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेण एव 'पाण्डुरं कार्तस्वरं' इति अस्ति व्यपदेशः, तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतः अतत्स्वभावस्य अपि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेण एव 'शुक्ललोहितः तीर्थंकरकेवलिपुरुषः' इति अस्ति स्तवनम् । निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेन आत्मस्तवनं अनुपपन्नं एव ।

त प्र.– यथा येन प्रकारेण कालधौतगुणस्य रजतधर्मस्य पाण्डुरत्वस्य धवलिम्नः । धावल्यस्येत्यर्थः । व्यपदेशेन निमित्तेन परमार्थतो वस्तुतः । निश्चयनयापेक्षयेत्यर्थः । अतत्स्वभावस्य पाण्डुरत्वस्वभावविकलस्य । तत्पाण्डुरत्वं स्वभावो यस्य तत् तत्स्वभावम् । न तत्स्वभावमतत्स्वभावम् । तस्य । अपि कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य व्यवहारमात्रेणैव व्यवहारनयदृष्ट्यैव । उपचारमात्रेणैवेत्यर्थः । पाण्डुरं शुभ्रवर्णं । 'नगपांसुपाण्डुभ्यश्च' (पा. वा.) इति रः 'पाण्डुरशब्दस्तु अव्युत्पन्न एव' इति भट्टोजिदीक्षितः । कार्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशो वचनम् । कलधौतकार्तस्वरसङ्कुलीकरणे कलधौताश्रितपाण्डुरत्वयोगात्कार्तस्वरस्य पीतत्वधर्माश्रितस्यापि व्यवहारमात्रेणैव 'पाण्डुर कार्तस्वरम्' इत्यस्ति वचनमिति भावः । तथा तेन प्रकारेण शरीरगुणस्य शरीराश्रितगुणस्य शुक्ललोहितत्वादे. पाण्डुरत्वलोहितत्वादेः स्तवनेन स्तुत्वा परमार्थतो वस्तुतः । निश्चयनयेनेत्यर्थः । अतत्स्वभावस्य शुक्ललोहितत्वादिशरीरगुणविकलस्य । यच्छुक्ललोहितत्वादि स्वभावो यस्य स । न तत्स्वभावोऽतत्स्वभावः । तस्य । अतत्स्वभावस्याऽपि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य भगवत्तीर्थकरकेवलिनः परमात्मनो व्यवहारमात्रेणैव व्यवहारनयदृष्ट्यैव । उपचारमात्रेणैवेत्यर्थः । शुक्ललोहितः–शुक्लश्चासौ लोहितश्च शुक्ललोहितः । 'वर्णो वर्णैः' इति षसः । तीर्थकरकेवलिपुरुषो–भगवत्तीर्थकरकेवलिनः पुरुषः परमात्मा । 'पुरुषः पुन्नागमातङ्गे माधवे परमात्मनि' इति विश्वलोचने । 'पुरुषावात्ममानवौ' इत्यमरः । इत्येवंप्रकारेणास्ति स्तवन स्तुतिः । निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमयुक्तमेव । यथा सुवर्णदुर्वर्णसंकुलीकरणे रजतगतपाण्डुरत्वगुणयोगा-

स्सुवर्णस्य तादात्म्यापन्नपीतगुणस्यापि व्यवहारमात्रेणैव 'पाण्डुरं सुवर्णम्' इत्यस्ति वचनं, तथा परमौदारिकशरीरस्तीर्थंकरकेवलिपरमात्मनोः कथञ्चिदेकीभावात्तादात्म्यापन्नशुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्यापि तच्छरीरस्तवनेन तदात्मस्तवनं कथञ्चित्सम्भवतीति भावः। निश्चयनयापेक्षया शरीरगुणस्तवनेनात्मगुणस्तवनं न कथमपि सम्भवतीति भावः।

टीकार्थ– जिसप्रकार चाँदी का जो सफेदपना गुण होता है, उस सफेदपना के निमित्त से वस्तुतः सफेदपना जिस का स्वभाव नहीं है ऐसा होनेपर भी सुवर्ण के विषय में 'सुवर्ण सफेद है' ऐसा केवल व्यवहारनय से कथन किया जाता है, उसीप्रकार शुक्ललोहितत्वादिरूप (तीर्थंकर भगवान् के) शरीर के गुण का स्तवन करनेसे वस्तुतः शुक्ललोहितत्वादिगुणरूप स्वभाववाली न होनेपर भी भगवान् तीर्थंकरकेवली की परमात्मा का केवल व्यवहारनय से 'तीर्थंकरकेवली की आत्मा शुक्ललोहित है' इसप्रकार स्तवन होता है। निश्चयनय की दृष्टि से तो शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होना युक्त नहीं है–घटित नहीं होता।

विवेचन– सुवर्ण में चाँदी का सफेदपना वस्तुत. नहीं होता; किंतु सोना और चाँदी का एक पिंड तैयार किया जानेपर उस पिंड में सफेदपन दिखाई देता है। वह सफेदपन वस्तुतः सुवर्ण का नहीं होता तो भी चाँदी के संयोग से पिंड में दिखाई देनेवाले सफेदपन को सुवर्णद्रव्य में आरोपित कर 'सोना सफेदसा है' ऐसा कहा जाता है। सोने में जो सफेदपने का आरोप किया जाता है उसका कारण है रजतगत पांडुरत्व। यदि सोना और चाँदी का संयोग न होता तो सोना सफेद नहीं कहा जाता। सयोग के कारण हि व्यवहारनय की दृष्टि से हि श्वेतत्व रजत का गुण होनेपर भी सोनेका कहा जाता है और यह कथन कथंचित् ठीक भी है। यदि यह कथन किसी भी अपेक्षा से ठीक न होता तो सोनेका मूल्य कदापि कम न होता। इसीप्रकार शुक्लत्व–लोहितत्व आदि धर्म भगवान् तीर्थकेवली की परमात्मा के नहीं है; क्यो कि निश्चयनय की दृष्टि से वह अमूर्त होती है और शुक्लत्वादि मूर्तिमान् पदार्थ के धर्म होते है। ऐसा होते हुए भी भगवान् तीर्थंकर केवली की आत्मा का परमौदारिकशरीर के साथ सयोग विद्यमान होनेसे शरीर के गुणों का परमात्मस्वामिकत्व सिर्फ व्यवहारनय की दृष्टि से हि क्यो न हो कथंचित् बनता है। अतः शरीरस्तवन से कथंचित् आत्मा का स्तवन भी हो सकता है। निश्चयनय की दृष्टि से शरीरस्तवन से आत्मस्तवन कदापि नही हो सकता; क्यो कि उस नय की दृष्टि से शरीर और आत्मा दो भिन्नभिन्न पदार्थ है।

तथा हि–

निश्चयनय की दृष्टि से भगवान् तीर्थंकरकेवली के परमोदारिक शरीर के स्तवन से उनकी परम शुद्ध आत्मा का स्तवन नहीं हो सकता इस अभिप्राय का आचार्य भगवान् स्पष्टीकरण करते है–

तं णिच्छयेण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे (णो ?) थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥ २९ ॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवन्ति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ– (**शरीरगुणाः**) केवलिभगवान् के परमोदारिक शरीर के शुक्लत्व आदि गुण (**केवलिनः हि**) केवलिभगवान् की आत्मा के हि (**भवन्ति**) होते है (**तत्**) यह जो कथन किया जाता है वह (**निश्चयेन**) निश्चयनय की दृष्टि से (**न युज्यते**) ठीक नही है–युक्तिसगत नही है–यथार्थ नही है। (**यः**) जो पुरुष–जो जीव (**केवलिगुणान्**) केवलिभगवान् के अनत ज्ञान, अनत सुख, अनत वीर्य

आदि अव्याबाध गुणो का (**स्तौति**) स्तवन करता है (**सः**) वह (**तत्त्वं**) परमार्थतः (**केवलिनं**) केवलिभगवान् का अर्थात् उनकी परम आत्मा का (**स्तौति**) स्तवन करता है।

आ. ख्या.— यथा कार्तस्वरस्य कलधौतस्य पाण्डुरत्वस्य अभावात् न निश्चयतः तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः, कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेन एव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्; तथा तीर्थकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः अभावात् न निश्चयतः तत्स्तवनेन स्तवनं, तीर्थंकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेन एव तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात्।

त. प्र.— यथा येन प्रकारेण कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य कलधौतगुणस्य रजतगुणस्य पाण्डुरत्वस्य धवलिम्नोऽभावान्न निश्चयतो निश्चयनयेन तद्व्यपदेशेन पाण्डुरत्वगुणनिर्देशेन व्यपदेशः कार्तस्वरस्य निर्देशः, कार्तस्वरगुणस्य कार्तस्वरेण तादात्म्यमापन्नस्य पीतत्वादितद्गुणस्य व्यपदेशेनैव निर्देशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशान्निर्देशात्, तथा तेन प्रकारेण तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य भगवत्तीर्थंकरकेवलिन आत्मनः शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेश्शौक्ल्यलौहित्यादेरभावान्न निश्चयतो निश्चयनयापेक्षया तत्स्तवनेन भगवत्तीर्थंकरकेवलिपरमौदारिकशरीरगुणरूपशौक्ल्यलौहित्यादिस्तवनेन स्तवनं स्तुतिः, तीर्थंकरकेवलिपुरुषगुणस्य भगवत्तीर्थंकरकेवल्यनन्तज्ञानादिशुद्धात्मगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य भगवत्तीर्थंकरकेवलिशुद्धात्मनः स्तवनात्। मूषिकायां कलधौतेन साकं निधाय द्रवीभावं गमयित्वा घनीकृतस्य कार्तस्वरस्य पाण्डुरत्वस्य प्रादुर्भावेऽपि तेन पाण्डुरत्वस्य तादात्म्याभावात्पाण्डुरत्वगुणस्य व्यपदेशेन यथा कार्तस्वरस्य व्यपदेशो निर्देशो न भवति, अपि तु कलधौतस्यैव, तेन पाण्डुरत्वस्य तादात्म्यमापन्नत्वात्, तथा भगवत्तीर्थंकरकेवलिन आत्मनश्शौक्ल्यलौहित्यादेस्तेनात्मना तादात्म्यमनापन्नत्वाच्छौक्ल्यलौहित्यादेः स्तवनेन निश्चयनयेन भगवत्तीर्थंकरकेवलिनश्शुद्धात्मनः स्तवनं न सम्भवति, अपि तु भगवत्तीर्थंकरकेवलिनः परमौदारिकशरीरस्यैव, तेन शौक्ल्यलौहित्यादेस्तादात्म्यमापन्नत्वात्। येन द्रव्येण यस्य गुणस्य तादात्म्यं भवति तस्य गुणस्य व्यपदेशेन तद्गुणाश्रयभूतस्य द्रव्यस्य व्यपदेशो भवति, नान्यस्य, तेनान्येन तद्भिन्नद्रव्यगुणस्य तादात्म्याभावात्। अन्यद्रव्यगुणव्यपदेशेन तद्भिन्नद्रव्यस्य व्यपदेशो न सम्भवति, तत्सम्भवे ज्ञानगुणव्यपदेशेन पुद्गलद्रव्यस्य व्यपदेशप्रसङ्गात्।

टीकार्थ— जिसप्रकार चाँदी के शुभ्रत्वगण का सुवर्ण में अभाव होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से शुक्लत्वगुण का निर्देश करनेसे सुवर्ण का निर्देश नही होता; क्यो कि सुवर्णगुण के निर्देश से हि सुवर्ण का निर्देश हो जाता है; उसीप्रकार शरीर के शुक्लत्व-लोहितत्वादि गुण का तीर्थंकर केवली की आत्मा मे अभाव होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से शरीरगुण के स्तवन से तीर्थंकरकेवली की आत्मा का स्तवन होता; क्यो कि तीर्थंकरकेवली की आत्मा के गुण के स्तवन से हि तीर्थंकर केवली की आत्मा का स्तवन होता है।

विवेचन— सोनेमें चाँदी डाली जानेपर सुवर्ण का पीलापना कम हो जाता है और वह सफेदसा दिखाई देता है। यह सफेदपना वस्तुतः सोने का नहीं होता अपि तु चांदी का होता है। ऐसा होते हुए भी संसार में सोना सफेद बताया जाता है। लोकव्यवहार में यद्यपि ऐसा कहा जाता है तो भी सफेदपना चाँदी का हि धर्म है। सोने का नहीं; क्यो कि पाण्डुरत्वधर्म का चांदी के साथ हि तादात्म्य है, सोने के साथ नहीं। सोने के साथ उसके पीतत्वधर्म का तादात्म्यसबंध होता है। अतः चाँदी के पांडुरत्वधर्म का सोने में अभाव होने से उस पांडुरत्व धर्म के व्यपदेश से जिसके साथ उस धर्म का तादात्म्यसंबंध है उस चाँदी का हि व्यपदेश-निर्देश होता है और निश्चयनय की दृष्टि से पांडुरत्वगुण के निर्देश से होनेवाला निर्देश यथार्थ भी है-सोने का व्यपदेश नहीं होता; क्यों कि पाडुरत्व के साथ

तादात्म्यसंबंध नहीं होता । सोने के साथ जिस पीतत्वादिधर्म का तादात्म्य होता है उस सोनेके गुण का निर्देश किया जानेसे सोनेका हि निर्देश होता है—चांदी का नहीं; क्यों कि पीतत्वादि धर्म का चांदी के साथ तादात्म्यसंबंध नहीं होता । सोने-चांदी का व्यापार करनेवाला तज्ञ पुरुष यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि से 'सोना सफेद है' ऐसा कहता है तो भी निश्चयनय की दृष्टि से पांडुरत्वधर्म को देखकर वह सोनेमें चांदी मिलायी गयी है यह स्पष्ट रूप से जानता है; क्यों कि वह पांडुरत्व का चांदी के साथ होनेवाले तादात्म्य को जानता है । अतः जिस गुण का जिस द्रव्य के साथ तादात्म्यसंबंध होता है उस गुण के निर्देश से उसी द्रव्य का हि निर्देश होना निश्चयनय की दृष्टि से यथार्थ है । शुक्लत्वलोहितत्वादि जो धर्म है उसका तीर्थंकर केवली भगवान् के परमौदारिक शरीर के साथ हि तादात्म्यसंबंध होता है, उनकी परमशुद्ध आत्मा के साथ नहीं होता; क्यों कि वर्ण पुद्‌गल का धर्म होता है, पुद्‌गलभिन्न अमूर्त आत्मा का नहीं । अत परमौदारिकशरीर और तीर्थंकरकेवलिभगवान् की आत्मा इनका संयोग बना रहनेसे शुक्ल-लोहितत्वादि शरीरगुण के स्तवन से निश्चयनय की दृष्टि से परमौदारिक शरीर का हि स्तवन होगा, तीर्थंकरकेवलि-भगवान् की शुद्ध आत्मा का स्तवन कदापि नहीं हो सकेगा, क्यों कि शुक्ललोहितत्वादिधर्म का शरीर के साथ हि तादात्म्यसंबंध होता है, आत्मा के साथ नहीं । भगवान् तीर्थंकर केवलि की आत्मा के अनन्तज्ञानसुखादिधर्म का भगवान् की शुद्ध आत्मा के साथ हि तादात्म्य संबंध होता है, उनके परमौदारिकशरीर के साथ नहीं । जिस द्रव्य के साथ जिस गुण का तादात्म्य संबंध होता है उस गुण के निर्देश से जिस द्रव्य के साथ उसका तादात्म्य संबंध होता है उसका हि निर्देश होता है, अन्य द्रव्य का निर्देश नहीं होता; क्यों कि उस अन्य द्रव्य के साथ उस अन्य द्रव्य से भिन्न द्रव्य के गुण का तादात्म्य संबंध नहीं होता । अन्य द्रव्य के गुण के व्यपदेश से अन्यद्रव्य से भिन्न द्रव्य का निर्देश होना असंभव है । अन्य द्रव्य के गुण के व्यपदेश से अन्य द्रव्य से भिन्न द्रव्य का व्यपदेश हो सकता है ऐसा माना तो, आत्मा के ज्ञानगुण के व्यपदेश से पुद्‌गलद्रव्य के व्यपदेश का प्रसंग उपस्थित हो जायगा ।

'कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वात् आत्मनः निश्चयेन स्तवनं न युज्यते ?' इति चेत्—

'आत्मा शरीर में रहनेवाली होनेसे अर्थात् आत्मा का शरीर के साथ संबंध होनेसे—शरीर और आत्मा मे आश्रयाश्रयिभाव होनेसे शरीर के स्तवन से शरीर का स्तवन होना निश्चयनय की दृष्टिसे क्यों युक्त नहीं ?' ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जानेपर आचार्यभगवान् कहते है—उस प्रश्न का उत्तर देकर समाधान करते है:—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुवंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ— (**यथा**) जिसप्रकार (**नगरे**) नगर का (**वर्णिते सति**) वर्णन किया जानेपर (**राज्ञः वर्णना**) उस नगर के अधिष्ठाता—अधिपति राजा का वर्णन (**नापि कृता भवति**) कदापि किया नहीं जाता, इसीप्रकार (**देहगुणे स्तूयमाने**) भगवान् तीर्थंकरकेवली के शरीर के गुण का स्तवन किया जानेपर (**केवलिगुणा.**) भगवान् केवली की आत्मा के गुणों का (**स्तुताः न भवन्ति**) स्तवन नहीं होता ।

तथा हि—

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥ २५॥

इति नगरे वर्णिते अपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वे अपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात् ।

त. प्र.– तथा हि–नगरवर्णने कृते सत्यपि तदधिष्ठातृराजवर्णनं न भवतीत्येदेवोपपादयति–प्राकारकवलिताम्बरमुदग्रसालग्रासीकृताकाशम् । प्रासादेनोदग्रसालेन कवलितं ग्रासीकृतमम्बरमाकाशं येन तत् । कवलयति स्म कवलितम् । कवलीकृतमित्यर्थः । 'मृदो ध्वर्थे णिज्बहुलम्' इति तत्करोतीत्यर्थे णिच् । उपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्–उपवनपरम्पराकवलीकृतपृथ्वीपृष्ठम् । उपवनानां राज्य परम्परा उपवनराज्यः । ताभिर्निगीर्णं कवलीकृतं भूमितलं पृथ्वीपृष्ठं येन तत् । इदं नगरं परिखावलयेन खातकावलयेन हि खलु पातालं पिबतीव निगिरतीव ॥२५॥ इत्येवं नगरे वर्णिते सत्यपि राज्ञस्तदधिष्ठातृत्वेऽपि शासकत्वात्तत्र स्थितिमत्त्वेऽपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावात्प्राकारादिभिस्तादात्म्यसम्बन्धाभावाद्राज्ञो वर्णनं न स्याद्भवेत् ।

टीकार्थ– उसी का स्पष्टीकरण करते हैं–

कलशार्थ– जिसने आकाश को अपने कोट के द्वारा ग्रसित कर दिया है–व्याप्त कर दिया है, अपने उपवनों की–बगीचों की पंक्तियों से भूमितल को जिसने निगीर्ण करलिया है–उदरस्थ कर लिया है–व्याप्त कर दिया है ऐसा यह नगर चारों ओर की खातिका के द्वारा मानो पाताल को पी रहा है–व्याप्त कर रहा है ॥ २५॥

इसप्रकार नगर का वर्णन किया जानेपर भी राजा उस नगरी का शासक होनेपर भी वह राजा कोट, उपवन, खातिका आदि से युक्त न होनेसे अर्थात् इन के साथ राजा का तादात्म्यसंबंध न होने से उस नगर के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता ।

आ. ख्या.– तथैव–

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥ २६॥

इति शरीरे स्तूयमानेऽपि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थितसर्वाङ्गत्वलावण्यादिगुणाभावात् स्तवनं न स्यात् ।

त. प्र – तथैवोक्तप्रकारेणैव–नित्यं हानिवृद्ध्योरदर्शनात् । अविकारसुस्थितसर्वाङ्गं निर्विकारसुस्थितनिखिलावयवम् । अविकाराणि विकारविकलानि । निर्विकाराणीत्यर्थः । अत एव सुस्थितानि सुष्ठु शोभनानि यथा स्युस्तथा स्थितानि । अविकाराणि च तानि सुस्थितानि चाविकारसुस्थितानि । सर्वाणि च तान्यङ्गान्यवयवाश्च सर्वाङ्गाणि । अविकारसुस्थितानि सर्वाङ्गाणि यस्य तदविकारसुस्थितसर्वाङ्गम् । अपूर्वसहजलावण्यं निरतिशयस्वाभाविकसौन्दर्यम् । अपूर्वमदृष्टपूर्वमत एव निरतिशयम् । सहज सहजातम् । अकृत्रिमत्वात्स्वाभाविकमित्यर्थः । लावण्यं सौन्दर्यम् । अपूर्वं सहजं लावण्यं यस्य तदपूर्वसहजलावण्यम् । अक्षोभं क्षोभरहितं समुद्रं सागरमिवाक्षोभमनाकुलं निर्बाधं निर्विकारं वा परमुत्कृष्टं जिनेन्द्ररूपं जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । अत्र जयतिना नमस्कार आक्षिप्यते । हानिवृद्धियुक्तत्वात्स-

मुद्रोऽनित्यस्तदभावाच्च जिनेन्द्ररूपं नित्यम् । अविकारत्वात्समुद्रो न सुस्थितसर्वाङ्गो, जिनेन्द्ररूपं तु निर्विकारत्वात्सुस्थितसर्वाङ्गम् । समुद्रस्य स्वाभाविकलावण्यस्यान्योदधिसाधारणत्वान्नापूर्वत्वं, जिनेन्द्ररूपस्य त्वन्यजीवासाधारणत्वादपूर्वत्वम् । समुद्रस्य समीरणेरितस्य क्षोभयुक्तत्वान्न क्षोभविकलः सः, जिनेन्द्ररूपं त्वनाकुलत्वादक्षोभम् । अनेन प्रकारेण जिनेन्द्ररूपं सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥२६॥ इत्यमुना प्रकारेण शरीरे भगवच्छरीरे स्तूयमानेऽपि स्तुतिविषयतां नीयमानेऽपि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य भगवत्तीर्थंकरकेवलिनः पुरुषस्यात्मनस्तदधिष्ठातृत्वेऽपि तस्मिन् शरीरे स्थितिमत्त्वेपि सुस्थितसर्वाङ्गलावण्यादिगुणाभावात्सुस्थितसर्वाङ्गलावण्यादिगुणानां भगवदात्मना तादात्म्याभावात्तदात्मन्यसद्भावात्तत्स्तवनं भगवदात्मस्तवनं न स्यान्न भवेत् ।

टीकार्थ– उस प्रकार हि–

कलशार्थ– जो हानिवृद्धिरहित होता है, जिसके सभी अवयव विकाररहित और सुडौल होते हैं, जिस में सातिशय और स्वाभाविक लावण्य होता है और क्षोभरहित सागर के समान अनाकुल होता है ऐसा भगवान् जिनेन्द्र का उत्कृष्ट रूप सर्वोत्कृष्ट है । (ऐसे इस जिनेन्द्ररूप को नमस्कार हो ।) अथवा ऐसा परम उत्कृष्ट जिनेन्द्र का रूप क्षोभरहित महासागर को मानो जीत रहा है–उसको पराभूत कर रहा है । (ऐसे इस जिनेन्द्ररूप को नमस्कार हो ।)

इसप्रकार जब शरीर की स्तुति की जाती है तब तीर्थंकरकेवलिभगवान् की आत्मा उस शरीर मे स्थित होनेपर भी उस शरीर के साथ संयोगसबध को प्राप्त हुई होनेपर भी उस परम आत्मा में सुस्थितसर्वांगत्व, लावण्य आदि गुणोका (उन गुणो का आत्मा के साथ तादात्म्यसबंध न होनेसे) उस आत्मा में अभाव होने से उसकी स्तुति नहीं हो सकती ।

विवेचन– कोट, उपवनराजी और खातक (खाई) आदि के वर्णन के द्वारा किये गय वर्णन से नगर का हि, वर्णन होता है; क्यों कि उनका नगर के साथ घनिष्ठ सबध होता है। उनके वर्णन से राजा का वर्णन हो हि नही सकता फिर भले हि वह उस नगर का शासक क्यो न हो । कोट आदिके वर्णन से शासक राजा का वर्णन न होने का कारण उनका राजा के साथ घनिष्ट अर्थात् तादात्म्यरूप सबध न होना । जिसप्रकार नगरी के वर्णन से राजा का वर्णन नही हो सकता उसीप्रकार शरीर के स्तवन से शरीर के साथ सयोगसबध को प्राप्त हुई आत्मा का स्तवन नहीं हो सकता । सुस्थितसर्वांगत्व, लावण्य आदि गुणो का सबध शरीर के साथ अभेद्य होनेसे उन गुणों की स्तुति होती है, उनकी आत्मा की स्तुति नही होती; क्यो कि लावण्यादिगुणो का भगवान् के शरीर के साथ अभेद्य सबध होना है–उनकी आत्मा के साथ नही । इससे स्पष्ट हो जाता है कि आक्षेपक के द्वारा आत्मा और शरीर की एकता की–एकद्रव्यत्व की सिद्धि करनेके लिए दी गयी युक्ति का परिहार हो गया है । कहनेका भाव यह है कि एकत्व की सिद्धि तादात्म्य से होती है–संयोग या संश्लेष से नहीं होती । दो भिन्न द्रव्यो की संश्लिष्टावस्था होनेपर भी दोनों का एकवस्तुत्व सिद्ध नही होता, क्यो कि दो द्रव्यो के स्वभाव भिन्नभिन्न होते है और एक द्रव्य अपने स्वभाव को छोडकर–उसका परित्याग कर अन्य द्रव्य के स्वभाव को स्वीकार नही करता । आत्मा का जो ज्ञानरूप स्वभाव है उसे छोडकर वह अन्यद्रव्य के स्वभाव को स्वीकार नही करता । अतः आत्मा अपने ज्ञानरूप स्वभाव को तिलाजलि देकर अन्यद्रव्य के स्वभाव को कदापि स्वीकार नही करती । जब कौनसा भी द्रव्य अपने स्वभाव का त्याग हि नही करता और अन्यद्रव्य के स्वभाव को स्वीकार नही करता तब दो द्रव्यो का एकवस्तुत्व कैसे हो सकता है ? दो या अनेक द्रव्यो की मिश्र अवस्था मे भी कौनसा भी द्रव्य जब अपने स्वभाव को छोडता नही तब हि उनके मीलन मे तीसरी अवस्था हो सकती है । आत्मा और शरीर के संयोग से जो अवस्था उत्पन्न होती है वह न केवल जीवस्वरूप हि होती है और न केवल पुद्गलस्वरूप हि होती है । वह तो उन दोनों की सयुक्तावस्था है । इस सयुक्त अवस्था मे न जीवने अपने चेतनस्वभाव का त्याग किया हुआ पाया जाता है और न पुद्गल ने भी अपने अचेतन स्वभाव का त्याग किया हुआ

पाया जाता है। इससे स्पष्टरूप से प्रतीत होता है कि जीवगुण से जीव का हि और पुद्गलगुण का पुद्गल से हि तादात्म्य होनेसे ज्ञानगुण से पुद्गल का बोध और अचेतनत्व से जीव का बोध जब होता हि नहीं तब शरीरगुण की स्तुति से आत्मा की स्तुति कैसे हो सकती है ? जब दोनों के स्वभाव में भेद है तो दोनों का सर्वथा एकवस्तुत्व सिद्ध करना अग्नि और जल का एकवस्तुत्व सिद्ध करनेके समान है।

अथ निश्चयस्तुतिमाह । तत्र ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषपरिहारेण तावत्–

अब निश्चयनय की दृष्टि से तीर्थंकरकेवलिभगवान् की आत्मा की स्तुति किसतरह हो सकती है यह बताते हैं। वहां ज्ञेयों का अर्थात् संपूर्ण इंद्रियों के विषयों का और ज्ञायक का अर्थात् द्रव्येंद्रियों और भावेंद्रियों का आत्मा के साथ होनेवाले संयोगरूप दोष का परिहार करके भगवान् की आत्मा की स्तुति किसप्रकार होती है यह बताते हैं–

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥ ३१ ॥

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः ॥३१॥

अन्वयार्थ– (**यः**) जो (**इन्द्रियाणि**) द्रव्येंद्रियो को, भावेंद्रियो को और उनके विषयो को (**जित्वा**) जीतकर (**ज्ञानस्वभावाधिकं**) शुद्ध ज्ञानचेतनागुण से परिपूर्ण (**आत्मानं**) शुद्ध आत्मा को (**जानाति**) जानना है–उसका अनुभव करता है (**तं**) उसको (**ये निश्चिताः साधवः**) जो साधु निश्चयनयालंबी होते हैं (**ते**) वे (**खलु**) स्पष्टरूप से (**जितेन्द्रियं**) जितेन्द्रिय (**भणन्ति**) कहते हैं।

आ. ख्या– यः खलु निरवधिबन्धपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धान्तःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टम्भबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि, प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खण्डशः आकर्षन्ति प्रतीयमानाखण्डैकचिच्छक्तितया भावेन्द्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानि च, चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासङ्गतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीन् इन्द्रियार्थान् च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्य उपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषत्वेन एकत्वे टङ्कोत्कीर्णं, विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यं एव अन्तः प्रकाशमानेन अनपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यः द्रव्यान्तरेभ्यः परमार्थतः अतिरिक्तं आत्मानं सञ्चेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिनः इति एका निश्चयस्तुतिः ॥

त. प्र– यः जीवः खलु निश्चयतो निरवधिबन्धपर्यायवशेनानादिबन्धपर्यायसामर्थ्येन । अवधेः कालस्य पूर्वमर्यादाया निष्क्रान्तो निरवधिः । अनादिरित्यर्थः । निरवधिश्चासौ बन्धपर्यायश्च निरवधिबन्धपर्यायः । तस्य वशेन सामर्थ्येन। प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि विनष्टनिखिलेन्द्रियस्वपरभेदानि

विनष्टसंयुक्तेन्द्रियस्वपरपृथग्भावानि वा । प्रत्यस्तमितो विनष्टः समस्तानां निखिलानां द्रव्येन्द्रिया
कर्मोदयवशात्समस्तानामात्मना संयोगमापन्नानां वा द्रव्येन्द्रियाणां स्वतो जीवात्परमिति विभागो भे
येषां तानि प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि । यद्वा समस्तयोः कर्मोदयवशात्संयुक्तयोः स्वपरयोरात
द्रव्येन्द्रिययोर्विभागो भेदः समस्तस्वपरविभागः । प्रत्यस्तमितोऽभावमापन्नः समस्तस्वपरविभागो ये
तानि । निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धान्तःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टम्भबलेन निर्दोषस्वपरविभा
चिन्तननैपुण्यप्राप्तान्तर्विशदेन्द्रियागोचरचैतन्यस्वभावावलम्बनोपजातसामर्थ्येन । निर्मलो निर्दोषो भेद
भ्यासः स्वपरभेदस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चिन्तनं निर्मलभेदाभ्यासः । तत्र कौशलं नैपुण्यम् । तेनोपलब्
प्राप्तोऽन्तःस्फुटाया अन्तर्विशदीभूताया अतिसूक्ष्माया इन्द्रियाग्राह्यायाश्चितश्चेतनस्यात्मनो यः स्वभ
वस्तस्यावष्टम्भेनालम्बनेनोपजातेन बलेन सामर्थ्येन । शरीरपरिणामापन्नानि शरीरात्मकपर्यायं प्राप्त
नि द्रव्येन्द्रियाणि । प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया विभिन्नस्वस्वज्ञेयविषयनिश्चायकत्वे
प्रतिविशिष्टा अन्योन्यभिन्ना स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दा स्वे स्वे स्वकीया स्वकीया विषय
ज्ञेयानि । तेषां व्यवसायितया निश्चायकत्वेन ज्ञायकत्वेन खण्डशो विभागेनाकर्षन्ति
गृह्णन्ति जानन्ति । निश्चयनयेन ज्ञानस्याखण्डत्वेऽपि विषयभेदाज्ज्ञानभेदाज्ज्ञा
खण्डितमिव भवति, परमार्थतस्तत्खण्डितत्वस्यासम्भवात् । प्रतीयमानाखण्डैकचिच्छक्तितय
ज्ञानस्यानुभवगोचरीभवदखण्डैकचैतन्यशक्तित्वेन । प्रतीयमानानुभवगोचरीभवन्त्यखण्डैकाऽसम्पृक्त
परभावत्वान्निर्मला चिच्छक्तिर्यस्य तत् प्रतीयमानाखण्डैकशक्ति ज्ञानम् । तस्य भावः प्रतीयमानाखण्डै
कचिच्छक्तिता । तया । भावेन्द्रियाणि क्षायोपशमिकज्ञानरूपाणि । ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्ति
वशेन ज्ञेयज्ञायकरूपसम्बन्धात्मकसन्निकर्षबलेन । ग्राह्यं ज्ञेयं ग्राहकं ज्ञायकं च ग्राह्यग्राहके । ते एव
लक्षणं रूपं यस्य सः । स चासौ सम्बन्धश्च । स एव प्रत्यासत्तिः सन्निकर्ष. । तस्य वशेन बलेन । सह
संविदा ज्ञानेन साकं परस्परमन्योन्यमेकीभूतान्यभेदत्वं प्राप्तानि । ज्ञानेन सहैकीभूय परस्परभेदं परि-
हृत्यैकीभावं गतानीत्यर्थ । चिच्छक्तेश्चैतन्यस्वभावस्य स्वयमेवानुभूयमानासङ्गतयानुभवगोचरी-
क्रियमाणपरद्रव्यसम्पर्कविकलतया । अनुभूयमानोऽनुभवगोचरीक्रियमाणोऽसङ्गः परद्रव्यसम्पर्कवैकल्यं
यस्याः साऽनुभूयमानासङ्गा । तस्या भावस्तया । भावेन्द्रियावगृह्यमाणान्भावेन्द्रियैरवगम्यमानान्स्पर्शा-
दीनिन्द्रियार्थानिन्द्रियविषयाश्च सर्वथा सर्वप्रकारेण स्वतः स्वात्मनः स्वचिच्छक्तेर्वा पृथक्करणेन
विभंजनेन विजित्याभिभूयोपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषत्वेन—उपरतो विरतः समस्तानां ज्ञेयानां
स्पर्शादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां ज्ञायकानां च स्पर्शनादिद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाणां सङ्करो जीवेन सह सम्बन्धः
एव दोषो यस्मात् । तस्य भावः । तेन । एकत्वे परद्रव्यसम्पर्कविकलत्वे टङ्कोत्कीर्णं निश्चलम् ।
टङ्केन व्रश्चनेनोत्कीर्णं वृक्णं टङ्कोत्कीर्णमिव टङ्कोत्कीर्णम् । यथा टङ्कोत्कीर्णं किमपि वस्तु निश्चलं
तिष्ठति तथा स्वस्वरूपे निश्चल स्थितमिति भावः । विश्वस्याप्यस्योपरि तरता स्वस्वभाव परित्यज्य
विश्वस्थनिखिलवस्तुस्वरूपैरपरिणममानेन प्रत्यक्षोद्योततया साक्षाज्ज्ञानप्रकाशात्मकत्वेन नित्यमेवावि-
च्छिन्नमेवान्तःप्रकाशमानेनान्तःप्रकटीभवतानपायिनापायविकलेन । अविनश्वरेणेत्यर्थः । स्वतःसिद्धेन
केनापि निमित्तेनानुत्पादितत्वादुत्पादविकलेन परमार्थसता परमार्थतः शुद्धनिश्चयनयेन सता सद्रूपेण
भगवता कल्याणिना ज्ञानस्वभावेन हेतुभूतेन सर्वेभ्यो द्रव्यान्तरेभ्यः सर्वेभ्यश्चेतनाचेतनान्यद्रव्येभ्यः
परमार्थतः वस्तुतः । शुद्धनिश्चयनयेनेत्यर्थः । अतिरिक्तं विभिन्नमात्मानं संचेतयतेऽनुभवति स खलु

जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः । अयमत्र भावार्थः–निर्दोषे स्वपरभेदस्य पौनःपुन्येन चिन्तने यत्कौशलं तेनोपलब्धस्यान्तर्विशदस्यातिसूक्ष्मचित्स्वभावस्यावलम्बनेन द्रव्येन्द्रियाण्यात्मनः पृथक्करणेनाभिभूय,ज्ञेयार्थगतान्योन्यभिन्नान्स्वीयस्वीयविषयान्खण्डशो विज्ञाय ज्ञानखण्डत्वमितान्यपि क्षायोपशमिकाखण्डज्ञानेन तादात्म्यमापद्यान्योन्यमेकीभूतानि क्षायोपशमिकज्ञानस्वरूपाणि भावेन्द्रियाणि पारिणामिकभावात्मकशुद्धात्मस्वभावभूतावखण्डैकक्षायिकज्ञानाद्भेदज्ञानबलेन क्षायिकज्ञानस्याखण्डैकचिच्छक्तिरूपत्वाद् विश्लिष्य, भावेन्द्रियाणि गम्यमानान्स्पर्शादीनिन्द्रियविषयभूतानर्थांश्च चिच्छक्तेरनुभूयमानया निःसङ्गतया विभिद्य विजयनादात्मानं यः सञ्चेतयते स एव परमार्थतो जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिरिति ।

टीकार्थ– जो अनादिबन्धपर्याय की सामर्थ्य से जिन आत्मा के साथ संयुक्त हुई इंद्रियों की अपनी अपने से भिन्नरूप आत्मा से जो विभिन्नता होती है वह जिनकी नष्ट होगयी होती है शरीरपरिणामरूप द्रव्येन्द्रियो को स्वपरभेद के निर्दोष अभ्यास से–बार बार चिंतन करनेसे प्राप्त हुए नैपुण्य से प्राप्त हुए अंतरंग में स्पष्ट बने हुए अतिसूक्ष्म ऐसे चैतन्यस्वभाव का अवलंब करनेसे प्राप्त हुई सामर्थ्य के द्वारा, परस्परभिन्न अपने अपने विषयों की (ज्ञेयार्थों की) निश्चायक होनेसे अपने अपने विषयों को भिन्नभिन्नरूप से खंडशः जाननेवाली, ग्राह्यग्राहकस्वरूप संबंधरूप सांनिध्य के कारण ज्ञान के (क्षायोपशमिकज्ञान के) साथ परस्पर एकरूप बनी हुई भावेन्द्रियों को जिसका अनुभव किया जाता है ऐसी अखंड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा और भावेन्द्रियों के द्वारा जाने जानेवाले स्पर्शादिरूप इन्द्रियों के विषयों को चिच्छक्ति की–ज्ञानशक्ति की स्वयं आत्मा के द्वारा अपने अनुभव का विषय बनायी जानेवाली असंगता से–परद्रव्यसंपर्करहित होनारूप स्वभाव के द्वारा सर्व प्रकारों से अपने से पृथक्–भिन्न कर के जीत कर समस्त ज्ञेय का अर्थात् पचेंद्रियो के विषयो का और ज्ञायक का अर्थात् द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियों का आत्मा के साथ के सबधरूप दोष का अभाव हो जानेसे अपने एकत्व में–परद्रव्यसपर्करहित होनेके कारण व्यक्त हुई एकता में टाकी से उत्कीर्ण किये गये पदार्थ के समान नित्य स्थिर रहनेवाले, इस ससार के सभी पदार्थों के स्वरूप से परिणत न होनेवाले–उनके बाहर रहनेवाले, साक्षात् प्रकाशरूप, अविच्छिन्नरूप से अंदर प्रकाशमान होनेवाले, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध, वस्तुतः सद्रूप, अनन्तसुखरूप या अत्यंत उत्कृष्ट ऐसे ज्ञानात्मक स्वभाव के द्वारा सभी अन्यद्रव्यों से परमार्थतः–वस्तुतः भिन्न आत्मा का अनुभव करता है वह परमार्थतः जितेन्द्रिय है–जिन है । यह एक निश्चयनय की दृष्टि से (भगवत्तीर्थंकरकेवली की) स्तुति है ।

विवेचन– इस गाथा की टीका का अभिप्राय व्यक्त करनेके लिए द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय का स्पष्टीकरण किया जाता है । महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में 'निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्' इस प्रकार द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप बताया है । निर्वृत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप है । कर्म के द्वारा जो निष्पादित की जाती है उसे निर्वृत्ति कहते है । यह बाह्य और अभ्यतर भेद से दो प्रकार की है । उत्सेधांगुल के असख्येय भागप्रमाण आत्मा के प्रदेशों का विशिष्ट चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार और प्रमाण के रूप बन जाना हि आभ्यन्तर निर्वृत्ति है । नामकर्म के उदय से विशिष्टरचनारूप विशिष्ट अवस्था को प्राप्त हुआ इन्द्रियसज्ञा को धारण करनेवाला जो पुद्गलो का प्रचय होता है उसे बाह्यनिर्वृत्ति कहते है । जो निर्वृत्ति में सहायक होता है उसे उपकरण कहते है । यह उपकरण भी बाह्य और आभ्यतर भेद से दो प्रकार का है । पक्षपुट आदि बाह्य उपकरण है और आख के कृष्णमडल आदि आभ्यतर उपकरण हैं । आत्मप्रदेशों की विशिष्ट अवस्था और पुद्गलप्रचय की विशिष्ट अवस्था मिलकर द्रव्येन्द्रिय बनती है । यद्यपि द्रव्येन्द्रियरचना के साथ आत्मप्रदेशों का सबंध है तो भी यहांपर पुद्गलप्रचयों की हि प्रधानता है; क्यो कि यहांपर आत्मप्रदेशो का सबंध द्रव्येन्द्रियों की निर्मिति के अवसरपर हि पाया जाता है । मृत्युके बाद आत्मा का शरीर से वियोजन होनेपर भी जब द्रव्येंद्रियों का अभाव नहीं होता तब आत्मा का द्रव्येन्द्रियों के साथ सर्वथा सबध मानना

ठीक नहीं। कहनेका भाव यह है कि प्रधानता से द्रव्येन्द्रियां पौद्गलिक हैं, फिर भले हि उनकी उत्पत्ति में जीव के विभावभाव निमित्तकारण पडते हो और उनके साथ आत्मा का संयोगसंबंध हो। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये पुद्गल के धर्म हैं और इनका अस्तित्व द्रव्येन्द्रियों में भी पाया जाता है। अतः द्रव्येन्द्रियां पुद्गलरूप मानना हि उचित है।

'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्' यह भावेन्द्रिय का स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र में पाया जाता है। भावेन्द्रिय लब्धिरूप और उपयोगरूप हैं। इन्द्रियनिर्वृत्ति के कारणभूत ज्ञानावरणकर्म के विशिष्ट क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं। ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के बिना द्रव्येन्द्रिय की निर्वृत्ति कदापि नहीं होती। ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाला आत्मा का जो विशिष्ट परिणाम उसे उपयोग कहते हैं। ज्ञानावरणकर्म के विशिष्ट क्षयोपशम की प्राप्तिरूप लब्धि अर्थग्रहण की शक्ति हि है। अर्थग्रहण के व्यापार-क्रिया को उपयोग कहते हैं। कहने का भाव यह है कि अर्थग्रहणशक्ति को लब्धिस्वरूप भावेन्द्रिय कहते है और क्षायोपशमिक ज्ञान के अर्थग्रहणक्रिया को उपयोग-स्वभाव भावेन्द्रिय कहते हैं। 'यदि अपने विषय का ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुए क्षायोपशमिक ज्ञान को हि उपयोग कहा गया तो वह ग्रहणक्रिया में व्यापृत ज्ञान इंद्रिय का फलरूप होनेसे इंद्रिय नहीं कहा जा सकता' ऐसी शंका उपस्थित की जा सकती है। इसका समाधान निम्नप्रकार है। कारण का धर्म कार्य में भी पाया जाता है। अग्नि का प्रकाश-कत्व-धर्म अग्नि के कार्यरूप-परिणामरूप प्रदीप में भी पाया जाता है। इंद्रियों का अर्थप्रकाशकत्वरूप धर्म उसका कार्य जो क्रियारूप उपयोग उसमें भी यदि पाया गया तो किसी प्रकार से हानि नहीं है। दूसरी बात यह है कि क्षायोपशमिकज्ञानरूप उपयोग जब अर्थक्रिया में साधकतम साधन पडता है तब हि उसे करण-इन्द्रिय कहते है-अन्य प्रकार से नहीं।

यह इन्द्रियां इन्द्रियवान् आत्मा से कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी हं। यद्यपि शुद्धद्रव्या-र्थिकनय की दृष्टि से आत्मा इन्द्रियरहित है तो भी बन्धपर्याय की अपेक्षा से वह इन्द्रियसहित भी है। बन्धपर्याय में आत्मा का स्वभाव अविकल नहीं होता; क्यों कि उस अवस्था मे अविकलता का विरोधी कर्म विद्यमान रहता है। बन्धपर्याय में आत्मस्वरूप में विकलता होनेपर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं होता। वह किसी न किसी अवस्था में विकलता होनेपर भी जरूर विद्यमान होता है। सेन्द्रिय अवस्था मे भावेन्द्रिय की अपेक्षा से आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था होती है। बन्धपर्याय मे भावेन्द्रिया उपयोग को कदापि छोडती नही। इसलिये जीव के लक्षण की अपेक्षा से इंद्रियां इंद्रियवान् आत्मा से कथंचित् अभिन्न हं। इंद्रिया इन्द्रियवान् आत्मा से सर्वथा भिन्न मानी गयी तो घट और इन्द्रियां सर्वथा भिन्न होने से जिसतरह घट सर्वथा इन्द्रियों से रहित होता है उसीतरह आत्मा भी सर्वथा इंद्रियो से रहित माननी पडेगी जो की ठीक नही है; बधपर्याय में आत्मा सेंद्रिय होती है फिर भले हि शुद्धपर्याय मे वह निरिन्द्रिय हो। हा, इंद्रिया आत्मा से कथचित् भिन्न भी है, क्यो कि पांचो इन्द्रियों में से किसी एक इंद्रिय की निवृत्ति होनेपर भी, आत्मा का अस्तित्व पाया जाता है और आत्मा का शरीर से वियोग होनेपर भी इंद्रिया बनी रहती हे-उनका अभाव नहीं होता। जीव की एकेंद्रिय पर्याय मे रसनेन्द्रियादि चारों इंद्रियों का अभाव होनेपर भी उस पर्याय में आत्मा का अस्तित्व पाया जाता है। दूसरी बात यह भी है कि पर्याय और पर्यायी में जब भेद की विवक्षा होती है तब इंद्रियां और इंद्रियवान् आत्मा मे भेद होता है।

यह संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध है। जब उस आत्मा का नामकर्म उदय मे आता हे और ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम होता है तब द्रव्यरूप इंद्रियो की रचना होती है और आत्मा के प्रदेश ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से इंद्रियरूप से परिणत होते हे अर्थात् बाह्याभ्यंतरनिर्वृत्तिरूप और बाह्याभ्यतर उपकरणरूप इंद्रिया बन जाती हे। द्रव्येंद्रियां पुद्गलप्रचयरूप होती है। अनादिकाल से आत्मा के पीछे पडे हुए मोहकर्म के उदय से द्रव्येंद्रियो के विषय मे स्व और पर का विभाग अर्थात् आत्मा और पुद्गल की-द्रव्येंद्रियों की विभिन्नता बिलकुल नष्ट हो गयी है। इन द्रव्येंद्रियों को आत्मा से अलग करनेका एक साधन है और वह है आत्मा का भिन्नस्वभाव। आत्मा चैतन्यस्वभा-ववाली है और पुद्गलप्रचयरूप द्रव्येंद्रियां अचेतन हे-जडस्वभाववाली हे-यह चैतन्यस्वभाव अत्यंत सूक्ष्म है; क्यों कि वह जिस जीव को भेदज्ञान प्राप्त नहीं हुआ होता उस जीव के द्वारा जाना नहीं जा सकता। आत्मा और पुद्गलप्रचयरूप इंद्रियां लक्षणभेद से भिन्नभिन्न हं ऐसा बारबार किया जानेवाला जो चिंतन उससे प्राप्त होनेवाली निपुणता से अत्यंत

सूक्ष्म चित्स्वभाव अंतरंग में प्रकट हो जाता है। अंतरंग में प्रकट होनेवाले इस अत्यंत सूक्ष्म चित्स्वभाव के बल से हि द्रव्येन्द्रियां आत्मा से पृथक् करके जीती जा सकती है; अन्यथा जीती नही जा सकती।

भावेंद्रियां उपयोगस्वभाव और लब्धिस्वभाव होती है। शास्त्रकारों ने उपयोग का लक्षण 'अर्थग्रहणव्यापार उपयोग' ऐसा किया है। ज्ञेयपदार्थों को जानने की जो क्रिया होती है उसे उपयोग कहते है। भावेन्द्रिया उपयोग-स्वभाव तब कही जाती है जब कि वे पदार्थों को जानने की क्रिया करती है। ज्ञायकरूप भावेन्द्रियां क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होनेसे वे केवलज्ञान की तरह सभी पदार्थों को उनकी अनंत पर्यायो के साथ युगपत् नहीं जान सकती। पांचों इंद्रियों में से किसी भी एक इंद्रिय में ऐसी शक्ति नहीं है कि जो अवशिष्ट चारों इंद्रियों के विषयो को ग्रहण कर सके। यदि उसमें ऐसी शक्ति होती तो अवशिष्ट चारों इंद्रियां विफल बन जाती। ज्ञेयरूप पुद्गल पदार्थ जो है वह स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन धर्मों से युक्त होता है। इनमें से स्पर्श को ग्रहण स्पर्शनेन्द्रिय करती है, रस को रसनें-द्रिय ग्रहण करती है, गंध को घ्राणेंद्रिय ग्रहण करती है और वर्ण को नेत्रेंद्रिय ग्रहण करती है। इसतरह ज्ञेयरूप पुद्गल को ग्रहण करते समय चारो इंद्रियों को उपयोगयुक्त होना पडता है और प्रत्येक इंद्रिय पुद्गलद्रव्य को अंशरूप से ग्रहण करती है। दूसरी बात यह है कि इंद्रियां ज्ञेय पदार्थ के वर्तमान पर्याय को ग्रहण करती है। उसके भूत और भावी पर्यायो को जानने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। अतः भावेन्द्रिया ज्ञेय पदार्थों को खडशः जानती है जिससे ज्ञान भी व्यवहारनय की दृष्टि से खंडरूप बन जाता है। ऐसी खडज्ञानरूप भावेन्द्रियों को जीतनेका एक हि साधन है और वह है अखंड एक चैतन्यशक्ति। चैतन्यशक्ति अखंड और एकरूप होनेसे और भावेंद्रिया खडरूप और अनेकरूप होनेसे भावेंद्रिया शुद्धचैतन्यशक्ति से भिन्न है। अतः उनको चैतन्यशक्ति से अलग करना हि उनको जीतना है। ये भावेन्द्रियां ग्राह्यग्राहकरूप संबंध के ज्ञान से ज्ञान के साथ मिलकर आपस में मिलकर एकरूप बन जाती है और खडरूप होनेपर भी वस्तुतः एकरूप है। यद्यपि खंडज्ञानरूप वे इंद्रिया क्षायोपशमिकज्ञानसामान्य के साथ मिल जाती है तो भी वे अखंड और एकरूप शुद्धज्ञान से परमार्थतः भिन्न हि है; क्यो कि शुद्धज्ञान क्षायिक ज्ञान है। कहनेका भाव यह है कि यद्यपि भावेंद्रिया क्षायोपशमिक ज्ञानरूप है तो भी और ज्ञानसामान्य की दृष्टि से शुद्धज्ञान-जातीय है तो भी वे क्षायोपशमिक होनेके कारण समल होनेसे निर्मल शुद्धज्ञान से भिन्न है। अतः उनको शुद्धचैतन्य-शक्ति से अर्थात् शुद्ध आत्मा से अलग करना हि उनको जीतना है। दूसरे शब्दो मे ऐसा कहा जा सकता है कि अर्थग्रहणशक्ति की अपेक्षा से भावेंद्रियां और शुद्धज्ञान कथंचित् एक है, क्यो कि शुद्धज्ञान मे भी अर्थग्रहणशक्ति मौजूद है। क्षायोपशमिक ज्ञानरूप भावेंद्रियां और शुद्धज्ञान इनकी अर्थग्रहणशक्तिया परस्परभिन्न है; क्यो कि भावेंद्रियों की अर्थग्रहणशक्ति विकल होती है और शुद्धचैतन्य की अर्थग्रहणशक्ति अविकल होती है। सारांश ज्ञान-रूप भावेंद्रिया और शुद्धचैतन्य इनकी अर्थग्रहणशक्तियो में विभिन्नता होनेसे भावेंद्रियां शुद्धचैतन्य से अवश्यमेव भिन्न माननी पडती है। अतः भावेंद्रियों को शुद्धचैतन्य से पृथक् करना हि उनको जीतना है।

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये पुद्गल के धर्म है और शब्द पुद्गल की पर्याय है। स्पर्शनेंद्रिय का विषय स्पर्श है, रसनेंद्रिय का विषय है रस, घ्राणेंद्रिय का विषय है गंध, नेत्रेन्द्रिय का विषय है रूप और श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है शब्द। यद्यपि भावेंद्रियां इन अपने अपने विषयो को ग्रहण करती है तो भी उनका ज्ञेयपदार्थ के स्वभाव की अपेक्षा से और व्यक्तिमत्व की अपेक्षा से जिनका असगपन–परद्रव्य के और पररूप पर्याय के संबंध से रहितपन–स्वयमेव अनुभव में आता है इसलिये चैतन्यशक्ति से वे अवश्य भिन्न है। इंद्रियग्राह्य ज्ञेयपदार्थ जड–अचेतन होनेसे उपयोगस्वरूप चैतन्यशक्ति के साथ वे एकरूप नही हो सकते। चैतन्यशक्ति शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से एकमात्र होनेसे वह भिन्न-स्वभाववाले ज्ञेयपदार्थों को अपनेमें मिलने हि नहीं देती। अतः भावेंद्रियो के विषयभूत स्पर्शादिको को ज्ञानस्वभाव आत्मा से सर्वथा जुदा कर देना उनको जीतना है।

इसतरह भिन्नस्वभाववाली द्रव्येंद्रियो, भावेन्द्रियों और उनके विषयो को चैतन्यस्वरूप आत्मा से सर्वथा अलग कर जीत लेनेपर समस्त ज्ञेयरूप पदार्थ और ज्ञायकरूप द्रव्येंद्रिया और भावेन्द्रिया इनका आत्मा के साथ संकर–संयोग–संबंध छूट जाता है और आत्मा शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव के कारण एकरूप बन जाती है। इनको जीतने-पर यह आत्मा टांकी से पत्थर में उत्कीर्ण की गई मूर्ति जिसतरह एकाकार हि रहती है–उसमे फर्क नहीं होता

उसीतरह एकाकार–शुद्ध–एकमात्रस्वभाववाली होकर रहती है। विश्व के भी उपर तरनेवाले अर्थात् ज्ञेयों के साथ एकरूप न होनेवाले, प्रत्यक्ष उद्योतरूप–प्रकाशस्वभाववाला होनेसे अंतरंग में नित्य प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप ऐसे भगवान् ज्ञानस्वभाव से एकत्व के विषय में टंकोत्कीर्ण अपनी आत्मा को जो सभी भिन्न पदार्थों से यथार्थरूप से अलग समझता है वहि निश्चय से जितेंद्रिय–जिन है। यह एक निश्चयस्तुति हुई।

ज्ञानस्वभाव यद्यपि विश्व के संपूर्ण पदार्थों को जानता है तो भी वह ज्ञेयरूप कदापि नहीं बनता। वह प्रत्यक्षप्रकाशरूप है। प्रकाशरूप होनेसे अंतरंग में वह प्रकाशमान होता है। जीव की किसी भी अवस्था में उसका नाश नहीं होता। यह किसीके द्वारा निर्मित नहीं है। अतः वह स्वतःसिद्ध है। उसका अस्तित्व परमार्थ से है अर्थात् वह मात्र आभासात्मक नहीं है और न पर्याय के समान विनश्वर है। ऐसा ज्ञान हि आत्मा का स्वभाव होनेसे आत्मा अन्य पदार्थों से जुदी है। क्षायोपशमिक ज्ञान क्षायिकज्ञान से भिन्न होता है। अतः वह क्षायिकज्ञान के साथ क्षायोपशमिकरूप से एकरूप नहीं हो सकता

अथ भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण–

अब विभावरूप से परिणत आत्मा का और आत्मा की विभावपरिणति में निमित्तकारण पडनेवाले मोहनीयसंज्ञक द्रव्यकर्म का शुद्ध आत्मा के साथ जो संबंध होता है उसका परिहार करके निश्चयस्तुति कहते हैं--

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बिंति ॥ ३२ ॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थः– (**यः**) जो (**मोहं तु**) मोह को हि (**जित्वा**) जीतकर (**ज्ञानस्वभावाधिकं**) ज्ञानरूप स्वभाव के द्वारा पूर्णरूप से व्याप्त हुई (**आत्मानं**) आत्मा को (**जानाति**) जानता है–उक्तस्वरूप आत्मा का अनुभव करता है (**तं साधुं**) उस साधु को–आत्मस्वरूप के साधक मुनीश्वर को (**परमार्थविज्ञायकाः**) परमार्थ को जाननेवाले–शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले आत्मज्ञानी महात्मा (**जितमोहं**) जितमोह (**ब्रुवन्ति**) कहते हैं।

आ. ख्या.– यः हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवन्तं अपि दूरतः एव तदनुवृत्तेः आत्मनः भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठात् मोहं न्यक्कृत्य उपरतसमस्तभाव्यभावकसङ्करदोषत्वेन एकत्वे टङ्कोत्कीर्णं विश्वस्य अपि अस्य उपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यं एव अन्तः प्रकाशमानेन अनपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यान्तरस्वभावभाविभ्यः सर्वेभ्यः भावान्तरेभ्यः परमार्थतः अतिरिक्तं आत्मानं सञ्चेतयते सः खलु जितमोहः जिनः इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राणि एकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणां इन्द्रियसूत्रेण पृथक् व्याख्यातत्वात् व्याख्येयानि। अनया दिशा अन्यानि अपि ऊह्यानि।

त. प्र.– यः शुद्धात्मसाधको ह्येव नाम फलदानसमर्थतया शुभाशुभफलदानसमर्थत्वेन प्रादुर्भूयाविर्भूय। उदयावस्थां प्राप्येत्यर्थः। फलदाने समर्थः फलदानसमर्थः। तस्य भावः फलदानसमर्थता। तया। भावकत्वेनाज्ञानिनो विभावभावात्मकत्वेन परिणमनक्रियायां निमित्तभूतत्वेन भवन्तपि दूरत एवात्यन्तिकत्वेनैव तदनुवृत्तेर्मोहनीयोदयानुरूपविभावभावात्मकपरिणमनादात्मनो भावस्य कर्मोदयात्मकनिमित्तानुकूलविभावभावात्मकपरिणमनार्हस्य व्यावर्तनेन पराङ्मुखीकरणेन प्रतिषेधनेन हठात् स्वसामर्थ्येन बलात्कारेण वा मोहं मोहनीयाख्यं कर्म न्यक्कृत्य विजित्यापकृष्य वा। अनाद्यज्ञानवशेन विभावभावात्मकपरिणमनाभिमुखस्यात्मनः ज्ञानसामर्थ्येन विभावभावात्मकपरिणमनाद्व्यावर्तनमेवोदयावस्थापन्नस्य मोहनीयस्य कर्मणः पराभवनमित्यभिप्रायः। उपरतसमस्तभाव्यभावकसङ्करदोषत्वेन विनष्टसमस्तभाव्यभावकसंयोगसंबंधदोषत्वेन। उपरतः समस्तस्याज्ञानिनात्मना साकं संयोगमापन्नस्य सकलस्य वा भावस्य कर्मोदयनिमित्तेन विभावभावात्मकपरिणमनार्हाशुद्धिशक्तेर्भावकस्य च तच्छक्तिपरिणमनसामर्थ्यसम्पन्नमोहनीयकर्मणोऽशुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धेनात्मना साकं सङ्करः सयोग एव दोषो यस्य स आत्मा। तस्य भावस्तत्त्वम्। तेन। तेन कारणेनेत्यर्थः। एकत्वे भाव्यभावकभावविकलत्वे टङ्कोत्कीर्णं नित्यस्थितिमन्तम्। एकत्वात्सर्वदा सर्वथा चाप्रच्युतेरेकत्वे नियतमित्यर्थः। विश्वस्याप्यस्योपरि तरता विश्ववस्तुस्वरूपज्ञायकेनापि विश्ववस्तुजातस्वरूपेणापरिणममानेन प्रत्यक्षोद्योततया साक्षात्प्रकाशात्मकत्वेन नित्यमेवाविच्छिन्नमेवान्तरन्तरङ्गे प्रकाशमानेन प्रकटीभवताऽनपायिनापायविकलेन। अविनश्वरेणेत्यर्थः। स्वतःसिद्धेन केनापि निमित्तेनानुत्पादित्वादुत्पादविकलेन। अनपायिना स्वतःसिद्धेन चेति विशेषणद्वयेन ज्ञानस्य सार्थपर्यायत्वेऽपि स्वोत्पत्तिविनाशविकलेन व्ययोत्पादविकलेन वेत्यर्थः। परमार्थसता शुद्धनिश्चयेन सता सद्रूपेण। भगवताऽनन्तसुखस्वरूपेण ज्ञानस्वभावेन कारणभूतेन द्रव्यान्तरस्वभावभाविभ्यः पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपद्रव्यान्तरोदयादिरूपपरिणामात्मकनिमित्तकारणसद्भावे सत्यशुद्धात्मनि, यमानेभ्यः। आत्मद्रव्याद्भिन्न पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म द्रव्यान्तरम्। तस्य स्वः स्वकीयो भाव उदयादिरूपः परिणामो द्रव्यान्तरस्वभाव.। तेन निमित्तेन ततो निमित्ताद्वाऽऽत्मनि भवंत्युत्पद्यंते इत्येवंशीला द्रव्यान्तरस्वभावभाविनः। तेभ्यः। 'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीले णिन्। आत्मनो विभावभावानां कर्मोदयाद्यात्मके निमित्ते सत्येव प्रादुर्भावो भवति, न तदभावे, तेषां तथास्वरूपत्वादित्यभिप्रायोऽत्र प्रकटीभवति। सर्वेभ्यो भावान्तरेभ्यो विभावभावेभ्यः। अन्ये स्वभावभावाद्भिन्ना भावाः भावान्तराणि। तेभ्यः। परमार्थतो निश्चयनयापेक्षयातिरिक्तं विभिन्नमात्मान सञ्चेतयतेऽनुभवति स खलु स एव साधुः जितमोहो जिनः इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः। शेषं सुगमम्।

टीकार्थ– जो साधु अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करनेवाला जीव, फल देनेके विषय में समर्थ होता हुआ उदय मे आकर भावकरूप से परिणत हुआ होनेपर भी अर्थात् आत्मा की विभावरूप परिणति के निमित्तकर्तृरूप से परिणत हुआ होनेपर भी मोह को मोहनीयकर्मानुकूल परिणति से अर्थात् विभावभावरूप परिणति से विभावभावरूप से परिणत होनेकी जिसमे योग्यता अर्थात् अज्ञान भाव होती है ऐसी अपनी अशुद्ध किंतु भेदज्ञानसपन्न आत्मा को भेदज्ञान के सामर्थ्य से अत्यंत दूर हटाकर जीतकर (उस मोह को जीत लेनेसे) निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से संयुक्तावस्था को प्राप्त हुए भाव्य क्रोधादिरूप विभावभावों के रूप से परिणत होनेकी योग्यता रखनेवाला अज्ञान) और भावक (मोहनीयकर्म) इन का आत्मा के साथ हुए संयोगरूप दोष का विनाश किया जानेसे अपने एकत्व में–भाव्यभावकभावविकल–अज्ञान और मोहनीय कर्म के संपर्क से रहित ऐसी शुद्ध अवस्था मे टंकोत्कीर्ण के समान नित्यकाल स्थित रहनेवाली, विश्वस्थ पदार्थों के ऊपर तिरते हुए, साक्षा-

स्वप्रकाशरूप (स्वपर को प्रकाशित करनेवाले), अंतरंग में नित्य प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध (निमित्त के सहारेसे किसी उपादान से उत्पन्न न हुए), निश्चयनय की दृष्टि से सद्रूप अर्थात् समीचीन, अनंतसुखस्वरूप ज्ञानरूप स्वभाव के द्वारा कर्म के अपने उदयादिरूप परिणामों के निमित्त से प्रादुर्भूत होना जिनका स्वभाव होता है ऐसे स्वभावपरिणामों से भिन्न ऐसे विभावभावों से (क्रोधादिरूप विभावात्मक परिणामों से) वस्तुत. – शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से भिन्न ऐसी (अपनी) आत्मा का अनुभव करता है वह (साधु–साधक आत्मा) परमार्थरूप से जितमोह जिन है। इसप्रकार यह द्वितीय निश्चयस्तुति है।

इन सूत्रों के समान हि प्रकृतगाथासूत्रस्थित 'मोह' इस पद को बदलकर उसके स्थानपर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन और काय इन पदों को प्रयुक्त करनेसे तैयार होनेवाले ग्यारह सूत्रों का (हि) व्याख्यान (स्पष्टीकरण) करना चाहिये; क्यों कि श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन इन पदों को प्रयुक्त करनेसे तैयार होनेवाले पांच सूत्रों का इंद्रियसूत्र के द्वारा पृथग्रूप से व्याख्यान किया गया है। इसप्रकार अन्यपदों का विचार करना चाहिये।

विवेचन— पूर्व काल में अज्ञानी आत्मा के अपराध से मोहनीय कर्म आत्मा के साथ बंध अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यह कर्म अज्ञानी आत्मा को फल देने की सामर्थ्य से युक्त होकर जब उदय में आता है तब उसकी सामर्थ्य अज्ञानी आत्मा की विभावरूप परिणति में निमित्तकारण पडनेसे सामर्थ्यसंपन्न मोहनीय कर्म भावक कहा जाता है। इस सामर्थ्यसंपन्न मोह के उदय से जिस आत्मा का अज्ञान विभावरूप से परिणत होता है या विभावरूप से परिणत होनेकी योग्यता रखता है वह अज्ञानी आत्मा, या उसका अज्ञान और विभावभाव भाव्य कहे जाते है। जब यह फलदानसमर्थ मोहनीय कर्म उदित होता है अर्थात् उसमें अज्ञानी आत्मा को विभावरूप से परिणत करने की शक्ति प्रादुर्भूत होती है याने जब वह भावक बनती है तब भेदज्ञानी स्वसंवेदनज्ञानी साधकपुरुष मोहनीय कर्म के उदयानुकूल विभावभावरूपपरिणति से विभावपरिणति के योग्य अपनी आत्मा को (भाव्य आत्मा को) अपनी भेदज्ञानरूप सामर्थ्य से या स्वसंवेदन से आत्यंतिकरूप से दूर हटाता है अर्थात् भेदज्ञानरूप या स्वसंवेदनरूप सामर्थ्य से अपने अज्ञान के कारण दुर्बल बनी हुई होनेपर भी अपनी आत्मा को विभावरूप से परिणत नहीं होने देता। मोहनीयकर्म के उदयरूप निमित्त के मिलनेपर भी अपनी आत्मा को विभावरूप से परिणत न होने देना हि मोह को जीतना है। मोह को जीतनेपर आत्मा के साथ संबद्ध हुए विभावभावरूप भाव्यभाव का और मोहरूप भावकभाव का निश्चयनय की दृष्टि से जो आत्मा शुद्ध होती है उसके साथ होनेवाला संयोगसबंध नष्ट हो जाता है। इस संबंध के नष्ट होनेपर आत्मा एकत्व में–भाव्यभावकभावविकल अवस्था में नित्यकाल स्थित रहती है। शुद्ध आत्मा का शुद्ध ज्ञान विश्वस्थ सभी पदार्थों के रूपसे परिणत नहीं होता। वह साक्षात् प्रकाशरूप, अतरंग में नित्यकाल प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध अर्थात् सहकारी कारण मिलनेपर किसी अन्यपदार्थरूप उपादान से उत्पन्न न हुआ, परमार्थतः समीचीन और अनतसुखरूप होता है। ऐसे इन ज्ञानरूप स्वभाव से अन्यद्रव्यरूप मोहनीय कर्म के उदयादिरूपपरिणाम के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले सभी स्वभावभावभिन्न विभावभावों से निश्चय की दृष्टि से भिन्न आत्मा का भेदज्ञानी साधकपुरुष अनुभव करता है। वह आत्मस्वरूप साधक मुनि जितमोह–जिन है। वह द्वितीय निश्चयस्तुति है।

गाथा ३३ में मोहकर्म के क्षय का उल्लेख है। दूसरी बात यह है कि गाथा ३३ टीका में 'टङ्कोत्कीर्णं परमात्मानं' ये पद पाये जाते हैं। गाथा ३३ की टीका में जिसतरह 'परमात्मानं' यह पद पाया जाता है उसीतरह यह पद इस गाथा की टीका में नहीं पाया जाता। इस गाथा की टीका में सिर्फ 'आत्मानं' यह पद हि पाया जाता है। जिसतरह क्षपकश्रेणि चढनेवाला जीव परमात्मपद को प्राप्त होता है, उसीतरह उपशमश्रेणि चढनेवाला जीव परमात्मपद को प्राप्त नहीं हो सकता; क्यों कि उपशमश्रेणि चढनेवाले जीव का कर्म सत्ता में रहता है। बिना कर्मनाश के परमात्मपद की प्राप्ति होना असंभव है। इस गाथा की टीका में 'पुनरप्रादुर्भावाय' इन शब्दों के अभाव

से ऊपरके भाव का समर्थन होता है। अतः यह गाथा उपशमश्रेणि चढ़नेवाले जीव की अपेक्षा से लिखी गयी है ऐसा समझना।

अथ भाव्यभावकभावाभावेन–

जिसमें भाव्य का स्वरूप और भावक का स्वरूप नहीं है ऐसी निश्चयस्तुति बतलाते हैं–

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं॥ ३३॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत् साधोः।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्‌भिः॥ ३३॥

अन्वयार्थ– **(यदा तु)** जब हि **(जितमोहस्य साधोः)** जिन्हो ने मोह जीत लिया है अर्थात् मोहनीय कर्म का उदय होनेपर भी अपनी आत्मा को विभावभाव से अत्यत दूर हटाया है–विभावभावरूप से परिणत नहीं होने दिया ऐसे मुनीश्वर का **(मोहः)** मोह **(क्षीणः भवेत्)** क्षीण हो जाता है–उसका क्षय हो जाता है **(तदा)** तब **(निश्चयविद्भिः)** निश्चयनय को जाननेवालो अर्थात् शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेवालों के द्वारा **(सः)** वे मुनीश्वर **(खलु)** निश्चय से **(क्षीणमोहः)** क्षीणमोह **(भण्यते)** कहे जाते है।

आ. ख्या.– इह खलु पूर्वप्रक्रान्तेन विधानेन आत्मनः मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसञ्चेतनेन जितमोहस्य सतः यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टम्भात् तत्सन्तानात्यन्तविनाशेन पुनः अप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणः मोहः स्यात् तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेन एकत्वे टङ्कोत्कीर्णं परमात्मानं अवाप्तः क्षीणमोहो जिनः इति तृतीया निश्चयस्तुतिः।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशा अन्यानि अपि ऊह्यानि।

त. प्र.– इह निश्चयस्तुतिप्रकरणे खलु परमार्थतः पूर्वप्रक्रान्तेन पूर्वोक्तेन विधानेन प्रक्रियया। फलदानसमर्थमोहनीयोदये सत्यपि मोहनीयोदयानुकूलविभावभावात्मकपरिणतेरात्मानं पराङ्मुखीकृत्येत्यर्थः। आत्मनो मोहं न्यक्कृत्यात्मद्रव्याद्द्रव्यमोहकर्मापकृष्य। च्यावयित्वेत्यर्थः। यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसञ्चेतनेन यथोक्तस्वतःसिद्धादिविशेषणविशिष्टज्ञानस्वभावेन। परद्रव्येभ्यो भिन्नस्यात्मन सञ्चेतनेनानुभवनेन यथोदितो यथा पूर्वगाथाटीकायां वर्णितश्चासौ ज्ञानस्वभावश्च यथोदितज्ञानस्वभावः। तेनातिरिक्तः परपदार्थेभ्यो भिन्नः। यद्वा तेनाधिकः परद्रव्येभ्य उत्कृष्ट। स चासावात्मा च। तस्य सञ्चेतनेनानुभवनेन। जितमोहस्य प्रच्यावितमोहनीयकर्मणः सतः यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टम्भात् शुद्धज्ञानस्वभावानुचिन्तनौत्कर्ष्यावलम्बनेन। स्वभावभावः शुद्धज्ञानस्वभाव। तस्य भाव-

नानुचिन्तनम् । तस्य सौष्ठवमौत्कर्ष्यम् । तस्यावष्टम्भोवलम्बनम् । तस्मात् । तत्सन्तानात्यन्तविनाशेन मोहप्रवाहात्यन्तविनाशेन मोहकुटुम्बात्यन्तविनाशेन वा । तस्य मोहस्य सन्तानः प्रवाहः कुटुम्बं वा । तस्यात्यन्तविनाश आत्यन्तिकः प्रध्वंस. । तेन । पुनरप्रादुर्भावायापुनरुत्पत्तये भावकोऽज्ञान्यात्मनो विभावपरिणतौ निमित्तकर्ता क्षीणः क्षयं प्राप्तो मोहः मोहनीयाख्य द्रव्यकर्म स्याद्भवेत्तदा मोहे क्षीणे सति स एव जितमोहः साधुरेव भाव्यभावकभावाभावेन विभावभावात्मकभाव्यभावस्य द्रव्यमोहात्मकात्मविभावभावकारणभूतभावकभावस्य चाभावेनैकत्वे भाव्यभावकभावविकलशुद्धात्मस्वरूपे टङ्कोत्कीर्णमिव नित्यं स्थितिमन्तं परमात्मानमवाप्तः प्राप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया तार्तीयिकी निश्चयस्तुतिः निश्चयनयदृष्टया स्तुतिः । शेषं सुगमम् ।

टीकार्थ– इस निश्चयनयस्तुतिप्रकरण में पूर्वगाथा की टीका में बतायी गयी पद्धति से आत्मा से द्रव्यमोह को हटाकर पूर्वोक्त गाथा की टीका में जिसका वर्णन किया गया है ऐसे ज्ञानरूपस्वभाव के कारण सभी आत्मभिन्न पदार्थों से भिन्न या उत्कृष्ट ऐसी आत्मा के अनुभव के द्वारा जिसने मोह को जीत लिया है ऐसी साधक आत्मा का–साधुका–मुनीश्वर का जिससमय आत्मा के शुद्धज्ञानरूप स्वभाव के अनुचिंतन से प्राप्त हुई उत्कृष्टता के अवलंबन से–उत्कृष्टता के आधार से मोहनीयकर्म के प्रवाह का या उसकी सन्तानों का अर्थात् प्रकृतियों का आत्यन्तिकरूप से विनाश कर देनेसे भावक अर्थात् अज्ञानी जीव की विभावपरिणति का निमित्तकारण बननेवाला मोह पुनः प्रादुर्भूत न होनेके लिये क्षीण–विनष्ट हो जाता है उससमय वहि साधक जीव–साधु–मुनीश्वर भावमोहात्मक विभावभाव का उसमें अभाव हो जानेसे एकत्व में अर्थात् भाव्यभावकभावविकल अवस्था में टंकोत्कीर्ण पदार्थ के समान नित्य स्थित रहनेवाले परमात्मपद को प्राप्त होता हुआ क्षीणमोह जिन है । इसप्रकार यह तृतीय निश्चयस्तुति है ।

इसप्रकार हि मोह पद को परिवर्तित कर उसके स्थानपर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन इन पदों को प्रयुक्त करनेसे तैयार होनेवाले सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये । इसप्रकार अन्य पदों का या सूत्रों का विचार करना चाहिये ।

विवेचन– फलदानसामर्थ्य के साथ उदय में आकर जीव की विभावात्मक परिणति में जो निमित्तकारण अर्थात् निमित्तकर्ता होता है ऐसे मोह को उसके उदयानुकूल विभावभावात्मक परिणति के रूप से विभावपरिणति की योग्यता को रखनेवाली आत्मा को अपनी ज्ञानसामर्थ्य से जो परिणति नहीं होने देता और उस परिणति के रूप से परिणत न होने देनेसे आत्मा से मोह को अलग कर स्वतःसिद्ध आदि विशेषणों से विशिष्ट ज्ञानस्वभाव के कारण जो अन्यपदार्थों से भिन्न अथवा उत्कृष्ट आत्मा की अनुभूति से जितमोह बन जाता है ऐसे साधु का भावकमोह जब स्वभावभावभूत शुद्धज्ञान के अनुचिंतन से उत्पन्न होनेवाली उत्कृष्टता के कारण मोहनीय के प्रवाह का या उसकी सतानों का अर्थात् उसकी उत्तर प्रकृतियों का नाश होकर क्षीण हो जाता है तब वहि साधु उसमें भाव्यभाव का अर्थात् मोहनीयकर्मानुरूप विभावभावों का और जीव की विभावपरिणति में निमित्तकारण पड़नेवाले द्रव्यमोहरूप-भावकभाव का अभाव होनेसे शुद्धज्ञानस्वभावरूप एकत्व में टंकोत्कीर्ण पदार्थ के समान नित्य हि स्थिर रहता है । ऐसे अपने स्वभाव में स्थिर रहनेवाले परमात्मपद को प्राप्त होनेवाले साधु–मुनीश्वर क्षीणमोह जिन है । कहनेका तात्पर्य यह है कि–फल देनेकी सामर्थ्य से युक्त मोहनीयकर्म जब उदय में आता है तब अज्ञानी आत्मा मोहानुरूप विभाव के रूप से परिणत हो जाता है । मोहनीयकर्म का उदय होनेपर भी अज्ञानी आत्मा जब भेदज्ञानसपन्न या स्वसंवेदनक्षम ज्ञान से युक्त होती है तब उस ज्ञान के सामर्थ्य से अपने को मोहनीयोदयानुरूप विभावभाव के रूप से परिणत नहीं होने देती । अपनी आत्मा को विभावभावरूप से परिणत न होने देनेसे मोहनीयकर्म का उदय निष्फल हो जाता है और वह निर्जीर्ण हो जाता है । यहि मोह को आत्मा से अलग करने की प्रक्रिया है । अपने स्वतःसिद्धादिविशेषण-विशिष्ट ज्ञानस्वभाव से आत्मा की आत्मभिन्न अचेतन पदार्थों से विभिन्नता या उत्कृष्टता सिद्ध हो जाती है । ऐसी परपदार्थों से भिन्न या उत्कृष्ट आत्मा का जब अनुभव किया जाता है तब मोहनीय का उदय विफल हो जाता है ।

जो साधु मोहनीय का उदय होनेपर भी विभावरूप से परिणत नहीं होते वे मोह को जीत लेते हं–पराभूत करते हैं। शुद्ध आत्मस्वभावभूत ज्ञान के अनचिंतन से साधु में जो उत्कृष्टता व्यक्त होती है उसका अवलंबन करनेसे मोहनीय-कर्म के प्रवाह का या उसकी उत्तरप्रकृतियों का आत्यंतिकरूप से विनाश हो जाता है। उसका ऐसा विनाश होता है कि जिससे फिर उसकी उत्पत्ति न हो। इसप्रकार साधु का मोह जब क्षीण हो जाता है तब वेहि साधु उनकी आत्मा में भाव्यभाव का और भावकभाव का अभाव हो जानेसे टंकोत्कीर्ण मूर्ति आदि के समान अपने एकत्वस्वरूप में नित्यकाल स्थिर रहते हैं। यहि उनकी परमात्म अवस्था है। जब वे इस परमात्म अवस्था को प्राप्त होते हैं तब वे क्षीणमोह जिन कहे जाते हैं। यह तीसरी निश्चयस्तुति है। इस स्तुति में स्तूयमान आत्मा में भाव्यभावों का अर्थात् विभावभावों का और विभावभावों के निमित्तभूत मोहरूप भावकभाव का अभाव बताया गया है।

व्यवहारनय की दृष्टि से यद्यपि शरीरस्तुति से आत्मस्तुति होती है, तो भी निश्चयनय की दृष्टि से शरीरस्तुति से आत्मस्तुति नहीं होती, आत्मा की स्तुति से हि वस्तुत: उसकी स्तुति होती है यह बतलाते हैं–

एकत्वं व्यवहारतोऽस्ति न पुनः कायात्मनोर्निश्चयात्
नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या, न तत्तत्त्वतः ॥
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे–
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥ २७ ॥

अन्वय – कायात्मनोः एकत्वं व्यवहारतः अस्ति; न पुनः निश्चयात्। वपुषः स्तुत्या नुः स्तोत्रं व्यवहारतः अस्ति, तत् तत्त्वतः न। निश्चयतः चित्स्तुत्या एव चितः स्तोत्रं भवति, एवं (कथंचित् चित्स्तुत्या एव) सा भवेत्। अतः तीर्थंकरस्तवोत्तरबलात् आत्माङ्गयोः एकत्वं न।

अर्थ– व्यवहारनय की दृष्टि से शरीर और आत्मा इनका (कथंचित्) एकत्व (एक राशीभवन) है; किंतु निश्चयनय की दृष्टि से उन दोनों का एकत्व (एकराशीभवन) नहीं है। शरीर की स्तुति करनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा की स्तुति होती है–हो सकती है; किंतु निश्चयनय की दृष्टि से शरीर की स्तुति करनेसे आत्मा की स्तुति नहीं होती–नहीं हो सकती। निश्चयनय की दृष्टि से चैतन्य की स्तुति से हि चेतन आत्मा की स्तुति होती है। चैतन्य की स्तुति से निश्चयस्तुति होती है। इसलिए तीर्थंकर भगवान् की स्तुतिविषयक प्रश्न के उत्तर की सामर्थ्य से आत्मा और शरीर इनका निश्चयनय की दृष्टि से एकपना नही है–उन दोनों में अभेद सिद्ध नहीं होता, भेद हि सिद्ध होता है।

त. प्र – कायात्मनोर्जीवशरीरयोः। कायः शरीरं चात्मा जीवश्च कायात्मानौ। तयोः कायात्मनोः। स्पर्शरसगन्धवर्णवत्पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकशरीरेण शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववदात्मद्रव्यस्यानादितः संश्लिष्टत्वात्तदधिष्ठातृत्वेनैकत्व कथञ्चिदेकराशित्व व्यवहारतोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया सम्भवति, न तु पुनर्निश्चयनयापेक्षया, तदपेक्षया सुवर्णरजतयोः पीतश्वेतस्वभावयोर्लोके समावर्तने कृते सत्येकस्कन्धव्यवहारप्रसिद्धावपि तयोः स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकमपरद्रव्यस्वभावमुररीकृत्य तद्रूपेणापरिणमनादेकत्वासम्भववदात्मनश्शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववत्त्वाच्छरीरस्य च स्पर्शरसगन्धवर्णवत्पुद्गलद्रव्यस्वभावमूरीकृत्य तद्रूपेणापरिणमनात्तयोरात्मशरीरयोरेकराशीभवनासम्भवादेकीभावाभावात्। वपुषो भगवतः परमौदारिकशरीरस्य स्तुत्या स्तवनेन नुस्तीर्थंकरस्य भगवतश्शुद्धज्ञानघनैकस्वभावापन्नस्य स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्त्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया भवति, देहिनोऽनादेः कर्मणा संश्लेषमापन्नत्वाद्देहाधिष्ठातृत्वाद्देहेनानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया कथञ्चिदेकीभवनात्। तत्स्तोत्रं स्तवनं

तत्त्वतश्शुद्धनिश्चयनयापेक्षया नास्ति न भवति । तस्य शुद्धात्मनो भावस्तत्त्वम् । तस्मात् । तसेस्सार्व-विभक्तिकत्वादत्र तसिः पञ्चम्यर्थे । पञ्चम्यर्थश्चात्र हेतुः । शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववदात्मद्रव्यापेक्षयेत्यर्थः । परमौदारिकशरीरस्वभावभूतगुणानां भगवत्तीर्थंकरशुद्धज्ञानघनैकस्वभावशुद्धात्मन्यभावात्परमौदारिक-शरीरगुणस्तवनेन भगवतश्शुद्धात्मनो निश्चयनयापेक्षया स्तुतिर्न भवति । निश्चयतश्शुद्धनिश्चयनयापेक्षया चित्स्तुत्यैव चितश्शुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्य भाव्यभावकभावसंबन्धाभावादेकत्वे स्थिरीभूतस्यात्मनः स्तुत्यैव स्तोत्रेणैव चितश्शुद्धात्मनः स्तोत्रं स्तुतिर्भवति । एवं भगवतश्शुद्धात्मनः स्तवनेन सा भगवदात्म-स्तुतिर्भवेत्स्यात् । अत आत्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोर्लक्षणभेदावष्टाम्भेनान्योन्यभिन्नत्वसम-र्थनात्तीर्थंकरस्तवोत्तरबलात्तीर्थंकरपरमौदारिकशरीरस्य स्तवः स्तवनमेवोत्तरं तस्य बलात्सामर्थ्याद्वा-त्माङ्गयोरात्मशरीरयोरेकत्वमभिन्नवस्तुत्वं न भवति । तीर्थंकरत्वस्य तीर्थंकरशुभनामकर्मोदयनिबन्ध-नत्वात्तीर्थंकरशब्देन भगवतस्तीर्थंकरपरमदेवस्याच्छाच्छपरमौदारिकं शरीरमत्र ग्राह्यम् । भगवत्तीर्थंक-रपरमौदारिकशरीरकान्त्याद्युत्कृष्टगुणगणस्तवनात्तदधिष्ठातृपरमशुद्धतापन्नपरमात्मस्तुतेस्सम्भवाद्देहदे-हिनोरेकत्वमेकराशीभवनं सम्भवतीति यश्शङ्काकृदभिप्रायो न स समीचीन इत्यवसेयम् ।

विवेचन-- सोना और चाँदी को गलाकर जो एक पिण्ड तैयार किया जाता है उसे लौकिक व्यवहार में एक पिण्ड कहा जाता है; किंतु एकराशीभूत उन दोनों की स्कंध-अवस्था में भी सोना अपने पीतत्वस्वभाव को और चाँदी अपने पाण्डुरत्वस्वभाव को कदापि छोडते नहीं । अतः सोना और चाँदी इनके सम्मिलितावस्थारूप पिंड के विषय में किया जानेवाला एकत्व का व्यवहार यथार्थ नहीं है । वे दोनों अपने अपने स्वभाव की अपेक्षा से परस्पर भिन्न हैं--एकरूप नहीं हैं । उनके पिंड के विषय में किया जानेवाला एकत्व का व्यवहार तब यथार्थ हो सकता है जब दोनों में से एक अपने यथार्थ स्वभाव को छोडकर अपनेसे भिन्न पिण्डगत पदार्थ के स्वभाव के रूप से परिणत हो जाए । किन्तु इस संपूर्ण विश्व में इसप्रकार का एक भी पदार्थ विद्यमान नहीं है जो कि अपने विशिष्ट यथार्थ स्वभाव को त्याग कर स्वभिन्न अन्यपदार्थ के स्वभाव को स्वीकार कर उस पदार्थ के रूप से परिणत हो जाता हो । आत्मा और शरीर की भी यहि हालत है । शुद्ध ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और स्पर्शादि शरीर का स्वभाव है । पारमार्थिक दृष्टि से यद्यपि आत्मा और शरीर अपने अपने यथार्थ स्वभाव को छोडते नहीं, तथापि अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई इस आत्मा का शरीर में अधिष्ठान होनेसे--उसका शरीर के साथ संयोगसबंध होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा और शरीर की संयुक्त अवस्था को कथंचित् एक कहा जा सकता है--सर्वथा नहीं; क्यों कि आत्मा और शरीर का सर्वथा एकत्व तब बन सकता है जब कि उन दोनो मे से एक अपने यथार्थ स्वभाव को त्याग कर और अन्यद्रव्य के स्वभाव को स्वीकार कर अन्यद्रव्य के रूप से परिणत हो जाए । किंतु स्वस्वभाव का परित्याग करके अन्यद्रव्य के स्वभाव को द्रव्य कदापि स्वीकार नहीं कर सकता, क्यों कि अपने स्वभाव में स्थिररूप से स्थित रहना वस्तु का स्वभाव है । वस्तु के इस स्वभाव का अभाव होनेपर सर्वसंकर की और सभी वस्तुओं के एकरूपत्व की आपत्ति खडी हो जायगी । अपने अपने स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा और शरीर भिन्नभिन्न पदार्थ है, फिर भले हि वे परस्परसंयोगावस्था को प्राप्त हुए हो । आत्मा और शरीर की इस परस्परभिन्नता को मनश्चक्षु के सामने रखकर यदि विचारा जाए तो निश्चयनय की दृष्टि से शरीर की स्तुति करनेसे आत्मा की स्तुति नहीं हो सकती । शरीर की स्तुति करनेसे आत्मा की स्तुति तब हो सकती है जब शरीर आत्मरूप से या आत्मा शरीररूप से परिणत हो जाए । किंतु इसतरह का परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता । हा, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से शरीर की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति कथंचित् हो सकती है; क्यों कि आत्मा शरीर की अधिष्ठाता होनेसे और उन दोनों में अनादिकाल से संयोगसंबंध होनेसे आत्मा और शरीर का कथंचित् एकत्व--एकीभाव भी माना जा सकता है । अतः अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से शरीर की स्तुति करनेसे आत्मा की भी स्तुति कथंचित् हो

सकती है। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा की हि स्तुति करनेसे आत्मा की स्तुति होती है। शरीर की स्तुति करनेसे आत्मा की स्तुति नहीं हो सकती। कहने का भाव यह है कि तीर्थंकर भगवान् के शरीर की स्तुति करनेसे यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि से भगवान् के आत्मा की स्तुति हो सकती है तथापि निश्चयनय की दृष्टि से वह असंभव होनेसे आत्मा और शरीर का एकत्व भी निश्चयनय की दृष्टि से असंभव है।

निश्चयनय की दृष्टि से अनादिकाल से संयोगसंबंध के कारण एकीभाव को प्राप्त हुए आत्मा और शरीर में भेद की सिद्धि की जानेपर भेदज्ञान अवश्यमेव प्रादुर्भूत होता है यह बतलाते हैं–

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

इति अप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः।

अन्वय– परिचिततत्त्वैः आत्मकायैकतायां इति नयविभजनयुक्त्या अत्यन्तं उच्छादितायां स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन् एकः एव बोधः कस्य बोधं अद्य न अवतरति?

अर्थ– जिन्होंने आत्मा के शुद्धज्ञानरूप स्वभाव का अनुभव किया है या जिन्होंने सातों तत्त्वों को यथार्थरूप से जान लिया है ऐसे महापुरुषों के–महामुनियों के द्वारा आत्मा और शरीर की एकता का इस प्रकार अर्थात् स्वभावभेद बताकर शुद्धनिश्चयरूप दो या अनेक पदार्थों में भेद व्यक्त करनेवाली युक्ति से आत्यन्तिकरूप से व्युच्छेद–विनाश–अभाव किया जानेपर आत्मा और आत्मसम्बद्ध शरीर इनमें भेद बताया जानेपर अपनी आत्मा के अनुभव की सामर्थ्य से–आत्मानुभव के कारण उत्पन्न होनेवाली भेदज्ञानरूप सामर्थ्य से अथवा आत्मानुभव के कारण वेगसे अपनी ओर खींचा गया या प्राप्त किया गया अत एव प्रकृष्टरूप से प्रकट होनेवाला एक हि अर्थात् विभावभावविकल और द्रव्यमोहकर्मविकल हि शुद्धज्ञान किस भेदज्ञानी आत्मा को प्राप्त नहीं होता अर्थात् किस ज्ञानी अर्थात् भेदज्ञानी आत्मा में शीघ्र आविर्भूत नहीं होता? अर्थात् सभी भेद ज्ञानवाली आत्माओं में शीघ्र हि केवलज्ञान आविर्भूत होता है।

इसप्रकार अप्रतिबुद्ध के कथन का परिहार हो जाता है।

त प्र.– परिचिततत्त्वैरनुभूतशुद्धात्मस्वरूपैर्विज्ञातजीवाजीवादिसप्तपदार्थस्वरूपैर्वा। परिचितं ज्ञानविषयतामनुभूतिविषयतां च नीतं तत्त्वं शुद्धात्मस्वरूपं यैस्ते। तैः। यद्वा परिचितानि ज्ञानविषयतां नीतानि तत्त्वानि सप्तसङ्ख्याकानि यैस्ते। तैः। तस्य शुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्यात्मनः भावश्शुद्धज्ञानस्वरूपं तत्त्वम्। अनुभवविषयीकृतशुद्धज्ञानघनैकासाधारणस्वभावात्मभिरित्यर्थः। स्वात्मानुभवसमुपजातात्मस्वभावज्ञानानामेव महात्मनामात्मस्वभावविकलपरपदार्थमात्मनः पृथक्कर्तुमात्मानं च परभावेभ्यः पृथक्तया समीचीनतया प्रकटीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति, नान्येषामननुभूतात्मस्वरूपाणामिति भावं मनसि कृत्वा कलशकारैः 'परिचिततत्त्वैः' इत्युक्तम्। यद्वा परिचितानि ज्ञानगोचरतां नीतानि तत्त्वानि जीवाजीवादिसप्ततत्त्वानि यैस्ते। तैः। परिज्ञातसप्ततत्त्वस्वभावानां महात्मनां जीवाजीवस्वभावविशेषपरिज्ञानानामात्मानात्मविवेचनसामर्थ्यमस्तीतिभावं मनसि विधाय 'परिचिततत्त्वैः' इत्युक्तम्। आत्मकायैकतायां शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धज्ञानघनैकासाधारणस्वभावस्यात्मनोऽशुद्धनिश्चयापेक्षया चाशुद्धज्ञानात्मकासाधारणस्वभावस्याशुद्धस्यात्मनः स्पर्शरसगन्धवर्णवत्पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामात्मककायस्य च पर-

स्परसंश्लेषरूपायां निरवधावेकतायामेकत्व इतीत्थममुना प्रकारेण समावर्तितपीतश्वेतस्वभावसुवर्णसुवर्णैकस्कन्धैकतायास्तत्सवसाधारणपीतश्वेतस्वरूपासाधारणस्वभावापेक्षया परिहारो यथा कृतस्तथा । नयविभजनयुक्त्या शुद्धनयस्वरूपया स्वपरभेदज्ञानजननसमर्थया युक्त्योपायेन। विभजनस्य पृथक्करणस्य युक्तिरुपायो विभजनयुक्तिः । नयः शुद्धनय एव विभजनयुक्तिर्नयविभजनयुक्तिः । यद्वा नयः एव विभजनस्य स्वपरयोरुपयोगानुपयोगलक्षणात्मशरीरयोर्विभजनस्यान्योन्यपृथक्करणस्य युक्तिरुपायः । तयात्यन्तमतिशयेनोच्छादितायां निःशेषतया विनाशितायां परिहृतायां वा सत्यां स्वरसरभसकृष्टः स्वात्मानुभूतिसामर्थ्याकृष्टः स्वात्मानुभूत्या वेगेनाकृष्टो वा । स्वस्य शुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्यात्मनो रसोऽनुभवः स्वरसः । स एव रभसः सामर्थ्यं स्वरसरभसः । यद्वा स्वरसस्य रभसो वेगः । तेन कृष्ट आकृष्टः स्वरसरभसकृष्टः । अत एव प्रस्फुटन् प्रकर्षेण प्रकटीभवन्नेकोऽद्वितीयो भाव्यभावकभावविकलत्वाच्छुद्धो बोधो केवलज्ञानं कस्य श्रोतुर्बोधं भेदज्ञानवन्तमात्मानम् । बोधो भेदज्ञानस्वरूपं ज्ञानमस्यास्तीति बोधः । भेदज्ञानसम्पन्न आत्मेत्यर्थः । भेदज्ञानस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्वरूपत्वेऽपि मोक्षसाधकत्वं 'ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्याद्' इति वचनात । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इति मत्वर्थेऽत्यः । अद्येदानीम् । शीघ्रमित्यर्थः । नावतरति न प्रादुर्भवति न प्रकटीभवति । प्रकटीभवत्येवेत्यर्थः । परिचिततत्त्वमहामुनिकृतात्मानात्मविवेकोपदेशश्रवणानन्तरं प्रादुर्भूतभेदविज्ञानस्य कस्य श्रोतुरात्मनि केवलज्ञानं न प्रकटीभवति ? आविर्भूतभेदज्ञानेषु सर्वेष्वप्यात्मसु केवलज्ञानं नियमेन प्रादुर्भवतीति भाव । अत्र भेदज्ञाननिबन्धनाविर्भावस्य केवलज्ञानस्य भाव्यभावकभावविकलत्वादद्वितीयत्वमित्यवसेय सुधीभि । यद्वात्मकायैकतायामत्यन्तमुच्छादितायां स्वरसरभसकृष्टः स्वरसस्य स्वानुभवस्यात्मानुभवस्यात्यनुरागोऽत्युत्कण्ठा वा तेन कृष्टः आकृष्टः स्वरसरभसकृष्टः । प्रस्फुटन् प्रादुर्भवन् । यद्वाऽन्तर्भावितण्यर्थाच्छतरि स्वपरावात्मकायौ पृथक्कुर्वन् एक एवासहाय एव । सप्तप्रकृत्युदयप्रादुर्भूतविभावभावविकल एव वेत्यर्थः । बोधो भेदज्ञान कस्य श्रोतुर्बोधं क्षायोपशमिकं ज्ञानमद्यात्मशरीरैक्योच्छादनकाले एव नावतरति न प्राप्नोति । शुद्धनयप्रयोजनेनात्मकाययोरेकत्वोच्छादनकाले कस्य भव्यस्य क्षायोपशमिक ज्ञानं पौर्वी मिथ्याज्ञानस्वरूपा परिणति प्रोज्झ्य स्वपरविवेचकशुद्धात्मस्वरूपसिद्धिनिबन्धनभेदज्ञानस्वरूपेण न परिणमति ? अपि तु परिणमत्येवेत्यर्थः । आत्मकाययोर्लक्षणभेदाद्वस्तुतो भिन्नत्वेऽप्यनादिबन्धपर्यायवशेन तयोरेकीभावमिव गतत्वादज्ञानिभिस्तयोरेकवस्तुत्वेन कृतं ग्रहणमनर्थाय स्यादिति स्वपरविवेचनलक्षणनिश्चयनयप्रयोजनेनानुभूतशुद्धात्मस्वरूपमहात्मभिस्तयोः परमार्थतो भेदोऽस्तीति प्रतिपादने कृते सति लब्धदेशनस्यात्मनोऽज्ञानत्वेन परिणतं क्षायोपशमिकं ज्ञानं स्वाज्ञानपरिणतिं परित्यज्य शुद्धतमावस्थासाधकभेदज्ञानस्वरूपेण परिणमति । तथापरिणतज्ञानश्चात्मासशयं केवलज्ञानभाग्भवतीति भावः ।

विवेचन— आत्मा और कर्मपुद्गलों का अनादिकाल से संयोगसंबंध बना हुआ है। आत्मप्रदेशों के साथ कर्मपुद्गलों का संश्लेष बना हुआ होनेके कारण अज्ञानी जीवों को उनके एकत्व का आभास हो गया है, किंतु यह आभास यथार्थ नहीं है। वस्तुतः देखा जाय तो उपयोगस्वरूप आत्मा और अनुपयोगस्वरूप पुद्गलपर्यायरूप शरीर भिन्नभिन्न पदार्थ हैं। सोना और चांदी एकत्र गलानेपर एक पिंड तैयार होनेपर भी अपने अपने स्वभाव की अपेक्षा से दोनों पदार्थ जिसतरह भिन्नभिन्न हैं उसीतरह आत्मपदार्थ और पुद्गलप्रचयात्मक शरीर भिन्नभिन्न स्वभाववाले होनेसे भिन्नभिन्न पदार्थ हैं। अज्ञानी जीवों को आत्मस्वभाव का यथार्थ ज्ञान होनेसे वे आत्मा और शरीर इनको एकवस्तुभूत मानते हैं; किंतु वह उनकी वस्तुतः भूल है। इस अज्ञान का परिहार आत्मा और शरीर को भिन्नभिन्न

बतानेवाली शुद्धनिश्चयनय की युक्ति से वे हि कर सकते हैं कि जिन्होंने शुद्ध आत्मा का अनुभव किया हुआ होता है । जब शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेवाले महान् आत्मा के द्वारा आत्मा और शरीर इनके एकवस्तुरूपत्व का परिहार करके दोनों की भिन्नता उपदेश के द्वारा बताई जाती है तब उस देशना से उन दोनों की एकता को ग्रहण करनेवाली अज्ञानरूपपरिणति का अभाव होकर भव्य जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान भेद-ज्ञान के रूप से परिणत हो जाता है । भव्य आत्मा की भेदज्ञानरूप परिणति होनेका कारण है आत्मा का अनुभव करने की उसकी प्रबल उत्कण्ठा । 'प्रस्फुटन्' इसशतृप्रत्ययान्त पद को अन्तर्भावितण्यर्थरूप से भी लिया जा सकता है । इस प्रकार के इस पद का 'स्वपरभावों में भेद बतानेवाला' ऐसा अर्थ होता है ।

'भाव्यभाव का और भावकभाव का अभाव किया जानेपर आत्मा की स्तुति कैसे हो सकती है ?' इस शंका का समाधान निम्नप्रकार है । रागादिरूप विभावभाव या रागादिरूप वैभाविकभाव के रूप से परिणत हुई आत्मा भाव्यभाव कहलाती है और अज्ञानी आत्मा की रागाद्यात्मकविभावभावरूप परिणति में निमित्तकारण पडनेवाला उदयागत मोहनीयकर्म भावक कहलाता है । इस भाव्यभाव का और भावकभाव का नाश होनेपर जो क्षीणमोह परमात्मावस्था के रूप से परिणत होती है ऐसी आत्मा की या उसके गुणों की स्तुति करनेसे निश्चयस्तुति होती है ।

एवं अयं अनादिमोहसन्ताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतया अत्यन्तं अप्रतिबुद्धः अपि प्रसभोज्जृम्भिततत्त्वज्ञानज्योतिः नेत्रविकारी इव प्रकटोद्घाटिपटलः टसिति प्रतिबुद्धः साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयं एव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं च एव अनुचरितुकामः 'स्वात्मा-रामस्य अस्य अन्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यात् ?' इति पृच्छन् इत्थं वाच्यः—

त. प्र.— एवममुना प्रकारेण । निश्चयनयापेक्षयाऽऽत्मदेहौ परस्परभिन्नाविति महात्मभिः कृतायां देशनायामुपलब्धायां सत्यामित्यर्थः । अनादिमोहसन्ताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतया निरवधिमोह-प्रवाहविहिताङ्गाङ्ग्यभिन्नत्वसंस्कारत्वेन । अनादिः प्रारम्भविकलश्चासौ मोहसन्तानो मोहप्रवाहश्चाना-दिमोहसन्तानः । यद्वानादि प्रारम्भविकलं च तन्मोहसन्तानं मोहस्योत्तरप्रकृतिसमूहात्मकं सन्तान कुटुम्बकं चानादिमोहसन्तानम् । तेन निरूपितः कृत आत्मशरीरयोरेकत्वस्याभिन्नत्वस्य संस्कारो मुद्रा यस्मिन्सोऽनादिमोहनिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारः । तस्य भावः । तया । अत्यन्तमत्यर्थम् । अप्रतिबुद्धोऽप्यज्ञातयथार्थात्मस्वभावोऽपि । प्रसभोज्जृम्भिततत्त्वज्ञानज्योतिर्भेदज्ञानप्रकटीकृतयथार्थात्मस्वभावज्ञान-तेजाः । प्रसभो वीर्यम् । भेदज्ञानात्मकं सामर्थ्यमित्यर्थः । प्रसभेन कर्तृभूतेन भेदज्ञानात्मकसामर्थ्येनोज्जृ-म्भितमाविष्कृतं प्रकटीकृतं तत्त्वज्ञानं शुद्धात्मस्वभावज्ञानमेव ज्योतिस्तेजो यस्मिन्सः । नेत्रविकारीव सूक्ष्मत्वगावृतकनीनिक इव प्रकटोद्घाटितपटलः सामस्त्येन निर्दोषतया वोद्घाटितं पटलं नेत्रपटलं पक्षे कर्मपटलं यस्य सः । टसिति पटलापसारणकाल एव प्रतिबुद्धो विज्ञातयथार्थात्मस्वरूपः पक्षे सम्प्राप्त-निर्मलदृशिशक्तिः साक्षात्प्रत्यक्षं द्रष्टारं विश्वदृश्वानं स्वं स्वीयमात्मानं स्वयमेव हि परमार्थतो विज्ञाय ज्ञात्वा श्रद्धायायमेवेदृश एव नान्यो नान्यथेति निर्णीय तं चैव तं तादृशं स्वीयमात्मानमनुचरितुकाम-स्तदानुकूल्येन तस्मिन्नितरां रतो भवितुकामः । 'सम्तुमोर्मनःकामे' इति तुमो मकारस्य खम् । स्वात्मा-रामस्य स्वशुद्धात्मस्वरूपे रममाणस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं प्रत्याख्यातृ परित्यागं कुर्वत् किं स्यात् ? इति पृच्छन्नित्थमधस्तनप्रकारेण वाच्यः प्रतिपादनीयः । प्रत्याख्यातीति प्रत्याख्यानम् । 'ल्युट् बहुलम्' इति कर्तर्यनट् ।

टीकार्थ– इसप्रकार यह अनादिकाल से चले आये मोह के प्रवाह के द्वारा आत्मा और शरीर का एकत्व है इसप्रकार का संस्कार किया जानेसे अत्यंत अप्रतिबुद्ध होनेपर भी जिसमें भेदज्ञानरूप सामर्थ्य के द्वारा तत्त्वज्ञान-रूप-शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञानरूप तेज प्रकट किया गया है ऐसा, जिसके नेत्रविकार उत्पन्न हो गया है ऐसे पुरुष के नेत्र में आविर्भूत हुए पर्दे को पूर्णरूप से निकाल देनेपर उसके नेत्र की अवलोकनशक्ति जिसप्रकार शीघ्र हि प्रकट हो जाती है उसीप्रकार जिसके कर्मरूप पटल को–सप्तप्रकृतिक कर्मों के पटल को पूर्णरूपसे हटा देनेपर–नष्ट कर देनेपर जो शीघ्र हि प्रतिबुद्ध–आत्मस्वरूप का ज्ञाता बना हुआ, प्रत्यक्षरूपसे विश्ववर्ती पदार्थों को (शुद्ध अवस्था में) देखनेवाली अपनी आत्मा को वस्तुतः जानकर, 'यह आत्मा इस प्रकार की हि है–अन्यप्रकार की नहीं है' इस प्रकार श्रद्धान कर आत्मा की अनुकूलता से उसके स्वरूप में रत होनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष–जीव 'जब यह आत्मा अपने स्वरूप में रममाण बनी हुई होती है तब अन्यद्रव्यों का परित्याग कौन करता है ?' इसप्रकार पूछनेवाले पुरुष को निम्नप्रकार से प्रतिपादन करना चाहिये–

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥ ३४ ॥

सर्वान्भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परा इति ज्ञात्वा ।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमाज्ज्ञातव्यम् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ– **(यस्मात्)** जब ज्ञान **(सर्वान् भावान्)** सभी विभावभावों को और सभी आत्म-भिन्न पदार्थों को **(पराः इति ज्ञात्वा)** सभी विभावभाव और अन्य पदार्थ पररूप हैं–आत्मपदार्थ से भिन्न हैं ऐसा जानकर **(प्रत्याख्याति)** प्रत्याख्यान करता है–उनका त्याग कर देता है **(तस्मात्)** तब **(ज्ञानं)** अपने स्वरूप के संवेदन की क्रिया के रूप से परिणत होना हि **(नियमात्)** निश्चितरूप से **(प्रत्याख्यानं)** विभावभावादिरूप परभावों का प्रत्याख्यान–त्याग है ऐसा **(ज्ञातव्यम्)** जानना ।

आ. ख्या.– यतः हि द्रव्यान्तरस्वभावभाविनः अन्यान् अखिलान् अपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभावभावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे, ततः 'य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात् प्रत्याचष्टे, न पुनः अन्यः' इति आत्मनि निश्चित्य 'प्रत्याख्यान-समये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वे अपि परमार्थेन अव्यपदेश्यज्ञानस्वभा-वात् अप्रच्यवनात् प्रत्याख्यानं ज्ञानं एव' इति अनुभवनीयम् ।

त. प्र.– यतो हि यस्मात्कारणादेव द्रव्यान्तरस्वभावभाविनो द्रव्यान्तरस्वभावसदृशस्वभावेन परिणामिनः । अन्यानि शुद्धजीवद्रव्याद्भिन्नानि द्रव्याणि द्रव्यान्तराणि । पुद्गलोपादानकानि द्रव्यकर्मा-णीत्यर्थः । तेषां स्वभाव इव स्वभावः । द्रव्यान्तरभूतद्रव्यकर्मस्वभावेन सदृशः स्वभावः । यथा शुद्धात्म-स्वभावप्रच्छादकानि द्रव्यकर्माण्यचेतनत्वात्तथा शुद्धात्मस्वभावभिन्नस्वभाववत्त्वाद्विभावभावा अपि शुद्धा-त्मस्वभावप्रच्छदका इति विभावभावानां द्रव्यान्तरस्वभावसदृशस्वभावत्वमित्यवसेयम् । द्रव्यान्तरस्व-भावसदृशस्वभावेन तत्स्वभावात्मकत्वेन भवन्ति परिणमन्तीत्येव शीलं येषां ते द्रव्यान्तरस्वभावभाविनः । तान् । अन्यान् शुद्धात्मद्रव्याद्भिन्नानखिलान्निखिलानपि भावान्विभावभावानचेतनपदार्थांश्च । चैतन्य-सामान्यान्वितविभावभावपरित्यागेनाचेतनद्रव्यान्तराणां परित्याग उपलक्ष्यते । भगवज्ज्ञातृद्रव्यं वीत-रागो ज्ञायक आत्मा । भगोऽनन्तसुखं वीतरागता निःसङ्गता वाऽस्त्यस्य भगवान् । 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति

मतुः' इति मतुः । तच्च तज्ज्ञातृद्रव्यं ज्ञाताऽऽत्मा । स्वस्वभावभावाव्याप्यतया स्वस्वभावात्मकपारिणामिकभावेनाव्याप्यत्वात् । स्वः स्वकीयः स्वभावः शुद्धज्ञानात्मकं स्वरूपमेव भावः पारिणामिको भावस्तेनाव्याप्यतया तस्याव्याप्यत्वेन वा । शुद्धात्मस्वभावान्वयविकलतयेत्यर्थः । परत्वेनात्मनो भिन्नत्वेन ज्ञात्वा परिज्ञाय प्रत्याचष्टे परित्यजति । ततस्तस्मात्कारणाद्य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चादनन्तरं प्रत्याचष्टे परित्यजति, न पुनरन्यः यः पूर्वं न जानाति सः । इत्येवंविधं वाक्यार्थमात्मनि मनसि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये विभावभावादिरूपपरभावपरित्यागावसरे प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेऽपि परित्यागार्हविभावभावादिरूपनिमित्तमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वसञ्ज्ञत्वेपि । प्रत्याख्येया विभावभावादिरूपाः परभावाः । ते एवोपाधिमात्रं निमित्तमात्रम् । तेन प्रवर्तितः कर्तृत्वव्यपदेशो यस्य तत् । तस्य भावः । तस्मिन् सत्यपि । प्रत्याख्येयपरभावात्मकनिमित्तमात्रेण निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानस्य कर्तृत्वं व्यपदिश्यते निर्दिश्यते, न परमार्थतः, स्वस्वरूपसंवेदनक्रियाश्रयणकाले विभावभावादिरूपपरभावपरित्यागक्रियानाश्रयत्वात्परित्यागक्रियाकर्तृत्वासम्भवात्परित्यागक्रियाश्रयकर्तृसञ्ज्ञाकरणस्य सुतरामशक्यत्वात् । परमार्थेन वस्तुतोऽव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादनिर्वचनीयस्वसंवेदनक्रियारूपात् स्वपरिणामादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं विभावभावादिरूपपरभावपरित्यजनं ज्ञानमेव स्वस्वरूपसंवेदनक्रियारूपेण परिणमनमेवेत्यनुभवनीयमनुभवगोचरीकर्तव्यम् । स्वसंवेदनक्रियाविभावभावादिपरभावत्यागक्रिययोर्विभिन्नपर्यायद्वयत्वाज्ज्ञानस्य स्वसंवेदनक्रियापरिणमनकाले विभावभावपरित्यजनक्रियारूपपरिणत्यसम्भवाद्विभावभावपरित्यजनक्रियाकर्तृत्वव्यपदेशस्योपचरितत्वात्स्वरूपसवेदनक्रियारूपेण परिणमनमेव विभावभावादिरूपपरभावपरित्यजनमित्यवधारणीयम् ।

टीकार्थ—जब हि अन्य अचेतन पुद्गलद्रव्य के स्वभाव के सदृश स्वभाव है जिनका ऐसे परिणामरूप आत्मा से भिन्न जितने भी परिणाम अर्थात् विभावभाव होते हैं उन सभी विभावभावो को भगवान् अर्थात् वीतराग और निःसग ज्ञातृद्रव्य अर्थात् शुद्धज्ञानस्वभाववाली आत्मा अपने स्वभावभूत ज्ञानात्मक पारिणामिकभाव के व्याप्य न होनेके कारण अर्थात् विभावभावों में अपने शुद्धज्ञानरूप स्वभाव का अन्वयरूप से सद्भाव पाया न जानेसे 'वे पररूप है' ऐसा जानकर त्याग कर देता है, तब 'जो हि प्रथम जानता है वह हि बाद मे त्याग करता है—दूसरा कोई त्याग नहीं करता' ऐसा अपने मन में निश्चय करके 'विभावभावों का त्याग करते समय प्रत्याख्येय जो विभावभाव वे निमित्तमात्र होनेसे आत्मा की कर्तृत्वसज्ञा की गयी होनेपर भी वस्तुत अनिर्वचनीय स्वसंवेदनक्रियारूप से परिणत हुए ज्ञान की आत्मस्वरूप का अनुभव करने की क्रियारूप परिणति से च्युत न होनेके कारण (विभावभावो की त्याग की क्रिया के रूप से परिणत न होनेके कारण) विभावभावो का त्याग करना स्वसंवेदनक्रियारूप से ज्ञान का परिणत होना हि है ऐसा अनुभव करना-जानना ।

विवेचन— यहांपर प्रथम उत्थानिका का खुलासा किया जाता है । यह आत्मा अनादिकाल से मोहाक्रान्त है । इस मोहनीयकर्म का प्रवाह जो अनादिकाल से चला आया है उससे आत्मा और शरीर इन दोनो के एकत्व की भ्राति का प्रवाह भी अनादिकाल से चला आया है । परिणामतः अनादिकाल से यह आत्मा अप्रतिबुद्ध बनी हुई है । फिर भी तत्त्वज्ञान की ज्योति जब भेदज्ञानरूप सामर्थ्य से प्रकट हो जाती है तब भ्राति का पटल शीघ्र हि हट जाता है और यह अनादिकाल से अप्रतिबुद्ध बनी हुई आत्मा प्रतिबुद्ध हो जाती है—उसे अपनी आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझमे आ जाता है । उदाहरण के लिये नेत्रविकारी लीजिए । नेत्रविकारी के नेत्र मे आया हुआ पटल-पर्दा जब निकाल दिया जाता है तब पर्दा हट जाते हि वह बाहर के पदार्थों को देखने और जानने लग जाता है और बाह्यार्थ के विषय में ज्ञानवान् बन जाता है । यहि हालत आत्मा की भी है । इसतरह सप्तप्रकृतिकमोहनीयकर्म का पटल हट जाते हि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने की सामर्थ्य आविर्भूत होनेसे भेदज्ञानी जीव अपने साथ संश्लिष्ट हुए

कर्मों का स्वरूप और अपनी आत्मा का यथार्थ स्वरूप को जानकर अपनी आत्मा को द्रष्टा–ज्ञाता समझता है, उसका श्रद्धान करता है और उसीके अनुकूल होकर उसके यथार्थ स्वरूप में रत होनेकी इच्छा करता हुआ 'जब आत्मा अपने आपमें–अपने स्वरूप में आराम करती है–अपने शुद्धस्वरूप की अनुभूति करनेमें मग्न होती है तब विभावभावादिरूप परभावों का त्याग कौन करता है ?' इसतरह का प्रश्न जब वह प्रतिबुद्ध जीव करता है तब उसे निम्न-प्रकार से उत्तर देना चाहिये ।

मति-श्रुतज्ञानवाले संज्ञी जीव के ज्ञान की सामर्थ्यविकल अवस्था होनेसे पुद्‌गलद्रव्य अंतरितपदार्थ को जानते समय उस जीव के क्षायोपशमिक अत एव असमर्थ ज्ञान का प्रतिबंधक होता है यह बात सभी को ज्ञात है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुद्‌गलद्रव्य ज्ञाता के ज्ञान की ज्ञेय के दर्शन से ज्ञेयाकार के ज्ञान के रूप से होनेवाली परिणति का कथंचित् प्रतिबंधक होता है । द्रव्यकर्म पुद्‌गलपरिणामस्वरूप होनेके कारण पुद्‌गल होनेसे संज्ञिजीव की बाह्याभ्यंतर ज्ञेयों के ज्ञानरूप से होनेवाली ज्ञान की परिणति का प्रतिबंधक होता है यह बात भी स्पष्ट हो जाती है । द्रव्यकर्म यह आत्मभिन्न द्रव्य है । जिसप्रकार द्रव्यकर्म का स्वभाव आत्मा के शुद्धज्ञान को प्रच्छादित करनेका होता है उसीप्रकार उसके निमित्त से व्यक्त–प्रादुर्भूत होनेवाले विभावभावों का भी स्वभाव आत्मा के शुद्धज्ञान को विकृत करके उसको प्रच्छादित करनेका होता है । अतः विभावभावों का स्वरूप पुद्‌गलद्रव्य के स्वभाव जैसा होता है यह भाव स्पष्ट हो जाता है । इसका मथितार्थ यह निकलता है कि यद्यपि विभावभाव विकृतचैतन्य से–अशुद्ध चैतन्य से अन्वित होता है तो भी उसमें शुद्धज्ञान का अपने शुद्धस्वरूप से अन्वय नहीं पाया जाता । अतः शुद्ध आत्मा की या उसके शुद्धज्ञान की अपेक्षा से विभावभाव परभाव है–अज्ञानरूप परभाव के परिणाम है–शुद्धज्ञान के परिणाम नहीं है । इसप्रकारके सभी भावों को भगवान् ज्ञातृरूप द्रव्य अर्थात् शुद्ध आत्मा ['भगवत्' इस शब्द से शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का हि ग्रहण होता है; क्यों कि वह अनंतज्ञानसुखादिरूप होती है ।] अपने स्वभावभूत शुद्ध-ज्ञानरूपपारिणामिकभाव का उन्हे व्याप्यरूप नहीं समझता । वह विभावभावों को उनमें अपने शुद्धस्वभाव का अन्वय न होनेपर अर्थात् शुद्ध आत्मा से पदार्थ के अर्थात् उनको अशुद्ध आत्मा के भाव–परिणाम समझकर उनका त्याग करता है । इस कारण जो हि प्रथम जानता है–अनुभव करता है–अनुभव के द्वारा जानता है वहि बाद में त्याग करता है–दूसरा कोई त्याग नहीं करता ऐसा अपने मन में निश्चय करके 'परभावरूप विभावभावों का जब त्याग किया जाता है तब त्यागनेयोग्य जो विभावभाव वे सिर्फ निमित्त होने से आत्मा को कर्ता कहा जाता है किंतु वह वस्तुतः कर्ता नहीं होती; क्यों कि जिससमय आत्मा आत्मानुभव में मग्न होती है उससमय वह अनुभवक्रिया का हि आश्रय होनेसे और विभावभाव की परित्यजनक्रिया का आश्रय न होनेसे एकसाथ दो क्रियाओं का कर्ता नहीं हो सकती अर्थात् दो क्रियापरिणामों से युक्त न होनेसे वह दो क्रियाओं का कर्ता नहीं हो सकती । इसका अभिप्राय यह है कि जब विभावभावरूप परभावों का त्याग होता है तब वह परित्यागरूप क्रिया का आश्रय न होनेसे वह वस्तुतः परित्यजनक्रिया का कर्ता न होनेसे उसकी जो कर्तृसंज्ञा होती है वह उपचरित होती है । यह कर्तृसंज्ञा विभावभाव निमित्तमात्र होनेसे होती है । अर्थात् आत्मा जब अपने स्वरूप की अनुभूति में निमग्न होती है तब विभावभावों के रूप में आत्मा का परिणमन न होनेसे विनायास वे नष्ट हो जाते है । उन का विनायास विनाश–अभाव हो जानेसे उसके अनुभवनक्रिया का कर्तृत्व उपचार से विभावभावपरित्यजनक्रिया का कर्तृत्व कहा जाता है । एक समय में परिणामिद्रव्य एक हि क्रिया का आश्रय होता है–दो क्रियाओं का नहीं । जब द्रव्य के एक क्रियारूप परिणति का त्याग हो जाता है–अभाव हो जाता है तब हि द्रव्य की अन्यक्रियारूप से परिणति हो सकती है; क्यों कि द्रव्य की युगपत् दो परिणामों के रूप से परिणमन नहीं होता । जिससमय आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव की अनिर्वाच्य अनुभूतिरूप क्रियारूप से परिणत होती है उसीसमय वह विभावभावपरित्यजनक्रिया के रूप से परिणत नहीं होती । आत्मा की स्वरूपानुभूति के काल में विभावभावरूप से परिणति नहीं होती; क्यों कि स्वभाव और विभाव में अनिवार्य विरोध होता है । अतः स्वभावरूप परिणति के समय विभावभावरूप परिणति का स्वयमेव अभाव हो जाता है । स्वभावरूप परिणति का त्याग किये विना विभावभावरूप से परिणमन नहीं होता । सारांश, स्वरूपानु-

भूति के समय स्वभावभावरूप से परिणत होनेवाले ज्ञान से आत्मा का प्रच्यवन न होते हुए भी जब विभावभावों का स्वयमेव अभाव हो जाता है तब प्रत्याख्यान ज्ञान हि ऐसा अनुभव के द्वारा जान लेना।

कहनेका भाव यह है कि, ज्ञानपूर्वक हि त्यागक्रिया होती है। ज्ञानक्रिया का–जाननेकी क्रिया का कर्ता ज्ञानवान् आत्मा हि है। अतः ज्ञानक्रिया के बाद होनेवाली त्यागक्रिया का कर्ता भी आत्मा हि है। जिसमें ज्ञान-शक्ति नहीं है उसमें त्यागशक्ति भी नहीं हो सकती। आत्मा परभावों का अर्थात् विभावभावो का जब त्याग करती है तब वह प्रथम यह जानती है कि इन भावो का अस्तित्व अपनेसे जुदा जो पदार्थ है अर्थात् जो अशुद्ध आत्मा है उसके स्वभाव का अस्तित्व इन विभावभावों में पाया जाता है और अपना स्वभावभूत जो ज्ञान वह इन विभावरूप परभावो में मिलता नहीं। इसप्रकार आत्मा पहले परभावों के स्वभावों को जानकर उनको आत्मा से भिन्न समझती है और फिर उनका परित्याग करती है। इसतरह आत्मा में त्यागक्रिया का कर्तापन होता है। फिर भी विचारणीय बात यह है कि क्या सचमुच ज्ञाता या ज्ञान आत्मा को अनुभवक्रिया का आश्रय होनेसे स्वतत्र कर्ता होनेपर भी उसीसमय प्रत्याख्यान का–त्यागक्रिया का आश्रय होकर स्वतंत्र कर्ता हो सकता है? जब परभावों का त्याग होता है तब जीव निर्विकल्पसमाधि में रत रहता है–परभावत्यजनक्रियारूप से परिणत नही होता। उससमय आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव मे लीन रहती है जिस से परभाव स्वयमेव आत्मा से अलग हो जाते है। उससमय आत्मा को परभावों को अपने से अलग करने के लिए सिवा अपने स्वभाव में लीन होनेके अन्य क्रिया का आश्रय नही होना पडता। अतः निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान हि प्रत्याख्यान है–त्यागक्रिया है। हां, एक बात यह है कि त्यागक्रिया के कर्तापन की जो सज्ञा आत्मा या ज्ञान को परभावो के अलग होनेके समय प्राप्त होती है उसका कारण है सिर्फ त्यागनेयोग्य परभावों का सांनिध्य। परमार्थ से देखा जाय तो निर्विकल्पसमाधि के समय परभाव स्वयमेव अलग हो जाते है जिससे प्रत्याख्यानक्रिया का ज्ञान स्वतत्र कर्ता नहीं कहा जा सकता। अतः स्वसंवेदनज्ञान से च्युत न होनेसे हि जब परभावों का प्रत्याख्यान होता है तब ज्ञान को हि आत्मानुभवनक्रिया के रूप से परिणत हुए ज्ञान का हि प्रत्याख्यान समझना चाहिये। आचार्य श्रीजयसेनजी ने कहा है कि–

तज्ज्ञानं कर्तृ मिथ्यात्वरागादिभावं पररूपं इति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति त्यजति निराकरोति। तस्मात्कारणान्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयान्मन्तव्यं ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति। इदमत्र तात्पर्यं–परमसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मानमनुभवति तदेवानुभवनं निश्चय-प्रत्याख्यानमिति। (ता. वृ., गाथा ३४, समयसार।)

अर्थ– वह कर्तृभूत ज्ञान मिथ्यात्वरागादिरूप भाव को परभावरूप अर्थात् शुद्धात्मा से भिन्न अशुद्ध आत्मा के भावरूप जानकर उसका त्याग करता है अर्थात् मिथ्यात्वरागादिभाव के रूप से परिणत नही होता। उस कारण से निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान को हि निश्चितरूप से प्रत्याख्यान मानना चाहिये। यहाँ तात्पर्य यह है-परमसमाधिकाल में स्वसंवेदनज्ञान के बल से जो शुद्ध आत्मा का अनुभव करता हे वहि अनुभवन निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्याख्यान है।

अथ 'ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्तः?' इति अतः आह–

अब 'जिसके बल से शुद्ध आत्मा का अनुभव किया जाता है वह स्वसंवेदज्ञान हि अर्थात् स्वसंवेदरूप क्रिया के रूप से जो परिणत होता है वह ज्ञान हि प्रत्याख्यान है–विभावभावरूपक्रिया के रूप से परिणत न होना है इस विषय मे दृष्टान्त क्या है?' ऐसा पूछा जानेपर कहते हैं–

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥ ३५॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति ।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुञ्चति ज्ञानी ।।३५।।

अन्वयार्थ– (**यथा नाम**) जिस प्रकार (**क. अपि पुरुषः**) कोई विशिष्ट पुरुष (**इदं**) यह मेरे पास जो वस्तु है वह (**परद्रव्यं**) वस्तु दूसरे किसी की है–परस्वामिक है (**इति ज्ञात्वा**) ऐसा जानकर उस वस्तु का (**त्यजति**) त्याग करता है (**तथा**) उसीप्रकार (**सर्वान्**) सभी (**परभावान् ज्ञात्वा**) विभावपरिणामात्मक भावो को पर अर्थात् अपनेसे भिन्न अशुद्ध आत्मा के जानकर (**ज्ञानी**) स्वसंवेदनज्ञानरूप निर्विकल्पसमाधि मे अर्थात् शुद्ध आत्मा की अनुभूति मे जब निमग्न होता है तब ज्ञानवान् बना हुआ पुरुष उन विभावभावात्मक परभावो का (**विमुञ्चति**) त्याग कर देता है अर्थात् वे आत्मा से अलग हो जाते है–वह ज्ञानी आत्मा विभावभावों के रूप से परिणत नही होती ।

आ. ख्या.– यथा हि कश्चित् पुरुषः सम्भ्रान्त्या रजकात् परकीयं चीवरं आदाय आत्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयं अज्ञानी सन् अन्येन तदञ्चलं आलम्ब्य बलात् नग्नीक्रियमाणः ' मङक्षु प्रतिबुध्यस्व, अर्पय, परिवर्तितं एतद् वस्त्रं मामकं ' इति असकृत् वाक्यं शृण्वन् अखिलैः चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य 'निश्चितं एतत् परकीयं' इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुञ्चति तत् चीवरं अचिरात्, तथा ज्ञाता अपि सम्भ्रान्त्या परकीयान् भावान् आदाय आत्मीयप्रतिपत्त्या आत्मनि अध्यास्य शयानः स्वयं अज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वा एकीक्रियमाणः ' मङक्षु प्रतिबुध्यस्व, एकः खलु अयं आत्मा ' इति असकृत् श्रौतं वाक्यं शृण्वन् अखिलैः चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य ' निश्चितं एते परभावाः ' इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुञ्चति सर्वान् परभावान् अचिरात् ।

त. प्र.– यथा हि येन प्रकारेण **कश्चित्पुरुषः** कश्चिज्जनः **सम्भ्रान्त्या** स्वस्वामित्वप्रज्ञापकाभिज्ञानावलोकनविस्मरणेन जनितेन भ्रमेण **रजका**न्निर्णेजकात्**परकीयं** परस्वामिक **चीवरं** वस्त्रमादाय**मा-त्मीयप्रतिपत्त्या** मामकीनमिदमिति ज्ञानेन **परिधाय** धारयित्वा । स्वशरीरमवगुण्ठ्य **शयानः** निद्राणः **स्वयमज्ञानी स**न्नज्ञातपरस्वामिकचीवरस्सन्**नन्येन** तच्चीवरस्वामिना **तदञ्चलं** तद्वस्त्रान्तमा**लम्ब्य** धृत्वा **बलाद्**धठान्**नग्नीक्रियमाणो**पहृतचीवरीक्रियमाणः **मङ्क्षु** शीघ्रं **प्रतिबुध्यस्व** विनिद्रो भव**ार्पय** देहि **परिवर्तितं** व्यतिहृत**मेतद्**वस्त्रं **मामकं** मामकीनं मत्स्वामिकम**ित्यसकृद्**भूयो भूयो **वाक्य** वस्त्रस्वामिवाक्य **शृण्व**न्नाकर्णयन्**नखिलै**र्निखिलै**श्चिह्नै**रङ्कैर्वस्त्राभिज्ञानलक्षणं **सुष्ठु** **परिक्ष्य** **निश्चितं** निश्चयेनैतन्मया परिहितं वसनं **परकीय** परस्वामिकम**िति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्** नेतन्मत्स्वामिकमितिज्ञानसम्पन्नो भूतस्सन्**मुञ्चति** परित्यजति **तच्चीवरं** परिहितं वसनम**चिरा**च्छीघ्रं, **तथा** तेन प्रकारेण **ज्ञाताऽपि** शुद्धनिश्चयापेक्षया मोहनीयाद्यनाक्रान्तज्ञानोऽपि **सम्भ्रान्त्या** मोहनीयोदयनिमित्तजातमिथ्यात्वपरिणामेन हेतुभूतेन **परकीया**नशुद्धात्मस्वामिकान्पुद्गलद्रव्यस्वामिकान्द्रव्यकर्मस्वरूपान्**भावा**नस्वभावान्विभावभावान**ादाय**ोररीकृत्या**-त्मीयप्रतिपत्त्या**त्मस्वामिका इति ज्ञानेना**त्मन्यध्या**रोप्य **शयानो** निद्राणः । आत्मस्वरूपमुपेक्षमाणः शुद्धात्मस्वरूप प्रति गजनिमीलनं कुर्वाण इत्यर्थः । **स्वयमज्ञानी** मिथ्यादृष्टिस्स**न्** **गुरुणा**ऽज्ञानतमसपरिहर्त्राऽऽचार्येण **परभावविवेक कृत्वा** विभावभावेभ्य आत्मनो भेदं कृत्वा । **परस्य** शुद्धात्मनो भिन्नस्या-

शुद्धस्यात्मनो भावाः परिणामा विभावभावास्तेभ्यो विवेको भेदः परभावविवेकः । तम् । कृत्वा विधाय । एकीक्रियमाणः परभावसम्पर्कविकलीक्रियमाणः । अनेकः स्वभावभावेभ्यो भिन्न एकः स्वभावभावाभिन्नः क्रियमाणो विधीयमानः । मङ्क्षु झटिति प्रतिबुध्यस्व विनिद्रो भव । स्वस्वरूपं विजानीहि । एको विभावविकलः खलु परमार्थतोऽयमात्मा शुद्धजीवः । इत्येवंविधमसकृद्बहुवारं श्रौतं शास्त्रप्रोक्तं वाक्यं शृण्वन्निशामयन्नखिलैर्निखिलैश्चिह्नैर्लक्षणैः परीक्ष्य समीक्ष्य निश्चितं निश्चयेनैते विभावभावाः परभावा अशुद्धात्मस्वामिकाः परिणामा इत्येवं ज्ञात्वा विज्ञाय ज्ञानी यथार्थज्ञानवान्सन्भवन्मुञ्चति परित्यजति सर्वान्निखिलान्परभावानशुद्धात्मोपादानकान्विभावभावानचिराच्छीघ्रम् ।

टीकार्थ– जैसे कोई पुरुष भ्रांतिवश धोबी से किसी दूसरे आदमी का वस्त्र लेकर और उस वस्त्र को अज्ञान के कारण अपना समझकर उसको ओढता हुआ अन्य पुरुष जो उस वस्त्र का स्वामी उसके द्वारा उस वस्त्र का आंचल–पल्ला पकडकर जबरन नंगा किया जानेवाला 'जलदी जाग, दे दे, बदला हुआ यह वस्त्र मेरा है' इस प्रकार का वाक्य बारबार सुनता हुआ सर्व चिह्नों के द्वारा अच्छीतरह से परीक्षा–निरीक्षण करके 'यह वस्त्र दूसरे का है यह निश्चित है' ऐसा जानकर ज्ञानी (यह वस्त्र अपना नहीं है, दूसरेका है इसप्रकार के ज्ञानसे युक्त) होता हुआ उस वस्त्र का शीघ्र हि त्याग कर देता है, उसीप्रकार ज्ञाता आत्मा भी भ्रान्तिवश (मिथ्यात्व के कारण) परद्रव्य के (अशुद्ध आत्मा के) भावो को–परिणामों को (विभावभावों को) स्वीकार करके ये विभावभाव अपनी आत्मा के है ऐसा समझकर अपनी आत्मा के ऊपर अध्यारोपित करके सोया हुआ–मोहनिद्रा के अधीन होकर स्वय अज्ञानी बना हुआ, गुरु के द्वारा (आत्मानुभवी महात्मा के द्वारा) परभावो से (विभावभावो से) भेद करके एक अर्थात् परभावों से भिन्न किया जानेवाला 'शुद्ध आत्मा का यथार्थ स्वरूप जान ले, यह आत्मा वस्तुतः एक अर्थात् विभावभावशून्य और द्रव्यकर्मसम्पर्कशून्य है' इसप्रकार का शास्त्रोक्त–आगमोक्त वाक्य बारबार सुनता हुआ सभी चिह्नों के–लक्षणो के–शुद्ध गुणो के द्वारा अच्छीतरह से परीक्षण करके 'निश्चितरूप से ये विभावभाव और द्रव्यकर्म परभाव हि है' इसप्रकार जानकर ज्ञानी (आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला) होता हुआ सभी परभावों को–अशुद्ध आत्मा के विभावपरिणामों को और द्रव्यकर्मो को शीघ्र हि अर्थात् शुद्ध आत्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जानते हि त्याग करने लग जाता है ।

विवेचन– अज्ञान यह सब मे बडा भारी दोष है । उस अज्ञान के कारण बडे बडे अनर्थ किये जाते हैं । अज्ञान से आत्मा ने एक बडा भारी अनर्थ किया है और वह है परभावो को–अशुद्ध आत्मा के अशुद्ध परिणामो को अपना समझना । परभावों के त्याग की क्रिया का कर्ता कौन है इस बात को पिछली गाथा की टीका मे खुलासा करनेके बाद उस गाथा के अनुसार यहांपर अच्छा दृष्टान्त पेश कर पिछली गाथा में प्रकट किये गये अभिप्राय का समर्थन किया गया है ।

कोई पुरुष भ्रम से धोबी के घर से दूसरे का वस्त्र लाकर अज्ञान से अपना समझ ओढकर सो जाता है । जब उस वस्त्र का स्वामी दूसरा पुरुष आकर उसे जगाता है और उस वस्त्र को अपना समझने लग जाता है तब धोबी के घर से वस्त्र लानेवाले पुरुष को अपने वस्त्र के चिह्नों की याद आती है और उन चिह्नों को उस दूसरेके वस्त्रपर टटोलने लग जाता है । जब वह धोबी के घर से लाये हुए वस्त्रपर अपने चिह्न नहीं देखता तब वह उस दूसरे के वस्त्रपर से अपना स्वामित्व हटा लेता है । जब उसका अपने चिह्नो की ओर ध्यान जाता है उसीसमय दूसरे के वस्त्र के स्वामिपने का भाव हट जाता है । कहनेका भाव यह है कि अपने चिह्नों की जानकारी का समय और दूसरे के वस्त्रपर से स्वामिपना हट जानेका समय एक होनेसे अपने वस्त्र के चिह्नों की जानकारी हि परवस्त्र का प्रत्याख्यान–त्याग है । ज्ञानस्वभाववाली आत्मा मोह के उदय से अशुद्ध आत्मा के विभावभावरूप परिणामों को और द्रव्यकर्मों को आत्मा के समझकर अपनेपर आरोपित करती है, किंतु गुरु के द्वारा अर्थात् आत्मविषयक अज्ञान का नाश करनेवाले आत्मानुभव करनेवाले महात्मा के द्वारा जब समझायी जाती है और परभावों का आत्मा के साथ

होनेवाले संबंध को हटाकर जब आत्मा एकरूप–शुद्ध–विभावभावरहित और द्रव्यकर्मरहित बतलायी जाती है तब वह संपूर्ण चिह्नों के–लक्षणों के–शुद्ध गुणों के द्वारा अच्छीतरह से परीक्षा करके सभी परभावों को अतिशीघ्रता से छोड देती है। परभावों को जाननेके बाद परभावों को छोडनेका समय और आत्मानुभूतिरूप स्वसंवेदनज्ञान का समय एक पडता है अर्थात् आत्मानुभूतिरूप से परिणत होना हि परभावों का प्रत्याख्यान–त्याग करना है। अतः इस दृष्टान्त के अनुसार आत्मानुभूतिरूप स्वसंवेदनज्ञान हि प्रत्याख्यान है। ज्ञान और ज्ञानवान् आत्मा इनमें से कोई भी स्वानुभूतिरूपक्रियारूप परिणति के समय विभावभावपरित्यजनक्रियारूप से परिणत न होनेसे त्यागक्रिया का कर्ता नहीं है। ऐसा होते हुए भी परभावों का स्वयमेव त्याग हो जानेसे व्यवहारनय से आत्मा को या उसके ज्ञान को कर्ता कहा जाता है–निश्चयनय की दृष्टि से कर्ता नहीं कहा जाता।

अब परभावों का त्याग होते हि आत्मा का उत्कृष्ट शुद्धस्वरूप प्रकट होता है इसप्रकार का ज्ञान होते हि अशुद्ध आत्मा के परिणामभूत विभावभावों का अभाव हो जानेसे उनसे रहित आत्मानुभूति प्रकट होती है अर्थात् आत्मानुभूति का प्रादुर्भाव होते हि परभावों का अभाव हो जाता है यह अभिप्राय प्रकट करते हैं–

अवतरति न यावद्वृत्तिमत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

अन्वय– अनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः अत्यन्तवेगात् यावत् वृत्तिं न अवतरति तावत् अन्यदीयैः सकलभावैः विमुक्ता इयं अनुभूतिः स्वयं झटिति आविर्बभूव ॥

अर्थ– परभावों के त्याग के कारण शुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन होता है ऐसा ज्ञान अत्यन्त वेग से प्रादुर्भूत होते हि अन्य पदार्थ के अर्थात् अशुद्ध आत्मा के परिणामभूत संपूर्ण विभावभावों से रहित यह अनुभूति स्वयमेव शीघ्र हि प्रादुर्भूत होती है।

त. प्र.– अनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिर्विभावभावात्मकाशुद्धात्मपरिणामत्यागावलोकितशुद्धात्मस्वभावज्ञानम्। परे शुद्धात्मस्वभावभिन्नाश्च ते भावाः विभावात्मकाः परिणामाश्च परभावाः। यद्वा परस्य शुद्धात्मनो भिन्नस्यात्मनोऽशुद्धस्य भावाः विभावभावाः परभावाः। यद्वा परेण पुद्गलपरिणामात्मकद्रव्यकर्मणा हेतुकर्त्रा कृताः भावा विभावभावाः परभावाः। तेषां त्यागस्तद्रूपेणात्मनोऽपरिणमनं परभावत्यागः। तेन दृष्टोऽवलोकितः परभावत्यागदृष्टः। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति तृतीयातत्पुरुषसमासः। परभावत्यागदृष्टश्चासावन्तश्च परभावत्यागदृष्टान्तः। अत्राऽन्तशब्देन शुद्धज्ञानात्मक आत्मस्वभावो ग्राह्यः शुद्धज्ञानस्वरूपात्मस्वभावदर्शनस्य परभावत्यागः साधकतमत्वात्करणं, विभावभावात्मकपरभावत्यागमन्तरेणात्मस्वभावदर्शनस्यासम्भवात्। नावमो हीनोऽनवमः। अनवम उत्कृष्टश्चासौ परभावत्यागदृष्टान्तश्चानवमपरभावत्यागदृष्टान्तः। तस्य दृष्टिर्ज्ञानम्। परभावत्यागेनैव शुद्धज्ञानस्वरूपात्मस्वभावदर्शनं जायते, नान्यथा, परभावत्यागाभावे शुद्धात्मस्वरूपदर्शनाभावात्तत्यागे च तत्सम्भवादित्यभिप्रायोऽत्र प्रदर्शितः। यद्वा परभावानां त्यागोस्त्येषां ते परभावत्यागाः। परित्यक्तपरभावा इत्यर्थः। 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थे। तैर्दृष्टो ज्ञातः परभावत्यागदृष्टः। स चासावन्तश्च शुद्धात्मस्वभावभूतो ज्ञानात्मको धर्मः परभावत्यागदृष्टान्तः। अनवमः परमोत्कृष्टश्चासौ परभावत्यागदृष्टान्तश्चानवमपरभावत्यागदृष्टान्तः। तस्य दृष्टिर्ज्ञानम्। परभावत्यागदृष्टात्मस्वभावज्ञानं यावद्यथैव वृत्तिमस्तित्वमत्यन्तवेगादत्यन्तरभसेन आत्मनो भेदज्ञानसामर्थ्येन नावतरति न प्राप्नोति। न प्रकटीभवतीत्यर्थः। तावत्तदैवान्यदीयैः परकीयैरशुद्धात्मरूपपरभावस्वामिकैः पुद्गलस्वामिकैर्द्रव्यकर्मभिश्च

सकलभावैस्सकलैर्विभावभावैः । कर्तरीयं भा । झटिति शीघ्रं विमुक्ता स्वयमेव विलयं गत्वा परित्यक्ता । आत्मस्वभावदर्शनकाले एव तदनुभवनकाले एव परभावा आत्मानं स्वयमेव मुञ्चन्तीति भावः । परभावत्यागो नात्मकर्तृक इत्यर्थः । इयमनुभूतिरात्मानुभूतिराविर्बभूव प्रकटीबभूव । 'परोक्षे लिट्' इति परोक्षार्थे लिट् । यदिन्द्रियाणां विषयतां न प्राप्नोति तत्परोक्षम् । अवतरतीति वर्तमानकालप्रसाधकः प्रयोगः । प्रारब्धस्यासमाप्तिर्वर्तमानत्वम् । परभावस्वभावज्ञानानन्तरमात्मस्वभावप्रकटीभवनक्रियाकालस्यैव विभावभावात्मकपरभावध्वंसनक्रियाकालस्वात्परभावानामात्मपुरुषकारमन्तरेणैव ध्वस्तत्वाद्ध्वंसनप्रादुर्भवनक्रिययोस्समकालभावित्वात्तयोः कालभेदज्ञानमन्तरेणैवात्मानुभूतिः प्रकटतामटति । विभावभावात्मकपरभावापगमनशुद्धात्मानुभवनक्रिययोस्समकालभावित्वात्स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति ध्वनिः । यद्वाऽनवमः परभावत्यागस्य दृष्टान्तोनवमपरभावत्यागदृष्टान्तः । तस्य दृष्टिर्ज्ञानम् । गृहीतपरकीयवस्त्रः परकृतलाञ्छनावलोकनसमुपजातपरस्वामिकत्वज्ञानो जीवो यथैतद्वस्त्रं न मामकीनमिति ज्ञात्वा त्यजति तथैव रागद्वेषादयो द्रव्यकर्मात्मकाश्च भावा अशुद्धात्मरूपपरद्रव्योपादानकत्वात्पुद्गलद्रव्योपादानकत्वाच्च परकीया इति ज्ञात्वा ज्ञानी शुद्धात्मस्वरूपयथार्थज्ञानसम्पन्नस्सन्भव्यात्मा परकीयान्भावान्विमुञ्चति । इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकव्यवस्था । परसत्कवस्त्रत्यागदृष्टान्तज्ञाने जायमाने परभावैः स्वयं त्यक्ताऽनुभूतिः शीघ्रं प्रकटीभवतीति भावः ।

विवेचन— भेदज्ञान का भिन्नस्वभाववाले पदार्थों को या पर्यायों को एक को दूसरेसे भिन्न करनेकी जो सामर्थ्य होती है वह अन्तरहित–नाशरहित होती है । इस भेदज्ञान की सामर्थ्य से पर जो अशुद्ध आत्मा और पुद्गलद्रव्य उनके परिणामों का–विभावभावों का त्याग हो जाता है और उनके त्याग से आत्मा के शुद्धज्ञानस्वरूप धर्म का दर्शन–ज्ञान हो जाता है । इसप्रकारसे ज्ञात होनेवाले आत्मा के स्वरूप का ज्ञान जिससमय होता है उसीसमय अशुद्धात्मस्वरूपपरभाव से पुद्गलद्रव्यस्वरूप परभाव से उत्पन्न होनेवाले सभी विभावभावों का शीघ्र हि नाश हो जाता है । इन परभावों का नाश–ध्वंस–अभाव होते हि विभावभावरहित अत एव निर्मल अनुभूति स्वयमेव प्रकट हो जाती है । यहां जो 'आविर्बभूव' इस धातु के लिट्प्रत्ययान्तरूप का प्रयोग किया गया है उससे 'विभावभावों का नाश और आत्मानुभूति का प्रादुर्भाव कब होता है इस बात का पता भी नहीं चलता' यह भाव व्यक्त हो जाता है । कहनेका भाव यह है कि–परभावों के त्याग से दिखाई देनेवाला अत्यंत उत्कृष्ट जो आत्मस्वभाव का ज्ञान अविनश्वर भेदज्ञान की सामर्थ्य से अस्तिरूप बनते हि संपूर्ण परभावों के द्वारा शीघ्र छोडी गयी आत्मानुभूति प्रकट हो जाती है । जब परभावों का त्याग होता है तब आत्मस्वभाव का दर्शन होने लग जाता है । दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन, दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय और अन्तराय इन कर्मों का पूर्णरूप से क्षय हो जानेसे आत्मा का संपूर्णशुद्धत्व आविर्भूत होता है । यह आत्मस्वभाव का ज्ञान जब अत्यंत शीघ्रतापूर्वक आत्मा में व्यक्त होता है तब संपूर्ण परभाव स्वयमेव आत्मा से अलग हो जाते हैं और यह आत्मानुभूति इतनी शीघ्रता से होती हैं कि आत्मानुभूति करनेवाली छद्मस्थ आत्मा को उस अनुभूति की प्रादुर्भूति के काल का और विभावभावों के नाश के काल का ज्ञान भी नहीं होता ।

इसी कलश का नीचे दिया हुआ भी अर्थ होता है । कोई पुरुष धोबी के यहां से भ्रम के कारण दूसरे के वस्त्र को अपना समझकर लाता है और उसे ओढकर सो जाता है; किंतु उस वस्त्र का सच्चा मालिक जब उस वस्त्र को देखकर उसे ओढनेवाले पुरुष से लेनेकी दृष्टि से उसी वस्त्र का पल्ला–छोर पकडकर 'तू शीघ्र जाग; बदला हुआ यह वस्त्र मेरा है, अतः मुझे दे दे' ऐसा बारबार जब कहता है तब वह सोनेवाला पुरुष उस वस्त्रपर अपने चिह्नों को देखने लग जाता है । उस वस्त्रपर दूसरे पुरुष के द्वारा अंकित किये गये दूसरे चिह्नों को देखकर वह वस्त्र से अपना स्वामित्व हटाकर उसे फौरन उसके मालिक को दे देता है । यह हुआ दृष्टान्त । आत्मा और पर-

पदार्थ को एकरूप समझनेवाले पुरुष को जब शुद्ध आत्मा और विभावभावों का भिन्नपना बताया जाता है तब वह पौ परभावों का त्याग कर देता है और प्रतिबुद्ध हो जाता है—सम्यग्ज्ञानी हो जाता है। जब वह परभावों के त्याग दृष्टान्त का ज्ञान आत्मामें व्यक्त होता है और उस ज्ञान से जब जीव आत्मानुभूति के रूप से परिणत होता है तब। आत्मा से परभाव स्वयमेव अलग हो जाते है। उन्हें हटानेके लिए आत्मा के कर्तृत्व की स्वतंत्ररूप से आवश्यकता नहीं होती। इन परभावों के छूट जानेपर अत्यंत शीघ्रता से आत्मानुभूति प्रकट होती है। कहनेका भाव यह कि परभावों का आत्मा से अलग होनेका समय और आत्मानुभवनक्रियारूप परिणति का समय एक होनेसे आत्मानुभूति हि प्रत्याख्यान है—विभावभावों का प्रत्याख्यान (त्याग) करनेवाली है।

अथ 'कथं अनुभूतेः परभावविवेकः भूतः ?' इति आशङ्क्य भावकभावविवेकप्रकारं आह—

अब 'परिणामिकभावभूत स्वभावस्वरूप ज्ञान से भिन्न और अशुद्ध आत्मा के परिणामभूत ऐसे विभावभावों का अनुभूति से—शुद्धात्मानुभूति से पृथग्भाव कैसे हुआ अर्थात् उसकी प्रक्रिया (पृथक् करने की क्रिया) कैसी है ?' ऐसी आशंका करके द्रव्यभावरूप मोहस्वरूप भावकभाव को अर्थात् पुद्गल की कर्मरूपपरिणति का निमित्तकारणभूत भावमोहरूप विभावभाव को और अशुद्ध आत्मा की विभावरूप परिणति का निमित्तकारणभूत द्रव्यमोह को निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा से पृथक् करने की प्रक्रिया बताते हैं—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३६ ॥

नास्ति मम कोऽपि मोहो बुध्यते उपयोग एव अहमेकः।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विदन्ति ॥३६॥

अन्वयार्थ— (**उपयोग**) उपयोगस्वभाववाली अर्थात् दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग जिसका स्वभाव है ऐसी (**शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध**) आत्मा (**कः अपि मोहः**) द्रव्यमोह की प्रकृतियों मे से और तदुदयरूपनिमित्त से अशुद्ध आत्मा की परिणति के रूप मे उत्पन्न होनेवाले विभावभावात्मक भावमोह के भेदो मे से कोनसा भी मोह (**मम नास्ति**) मेरा नही है—मेरा उपादेय अर्थात् कार्य नही है और मै उनका स्वामी अर्थात् उपादानकारण नहीं हूं—द्रव्यभावात्मक मोह में और मुझमें वास्तविक स्वस्वामिभावरूप या उपादानोपादेयरूप या परिणामपरिणामिभावरूप अथवा अवयवावयविभावरूप संबध नही है ऐसा और (**अहं**) मै (**एकः**) द्रव्यात्मक और भावात्मक परभावों के सम्पर्क से—संयोग से रहित होनेसे शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली एक ही हूं ऐसा जो (**बुध्यते**) जानती है (**तं**) उस आत्मा को (**समयस्य विज्ञायकाः**) द्रव्यभावकर्मविकल शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेवाले महात्मा पुरुष (**मोहनिर्ममत्वं**) द्रव्यभावात्मक मोह के विषय मे वह ममत्वरहित है अर्थात् सभीप्रकार के मोह के प्रति ममत्व—ममकाररहित है ऐसा कहते हैं—जानते हैं।

आ. ख्या.— इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येण अभिनिर्वर्त्यमानः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुं अशक्य-

त्वात् कतमः अपि न नाम मम मोहः अस्ति । किं च–एतत् स्वयं एव च विश्वप्रकाशचञ्चुरविकस्वरानवरतप्रतापसम्पदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवान् आत्मा एव अवबुध्यते–'यत् किल अहं खलु एकः ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुं अशक्यत्वात् मज्जितावस्थायां अपि दधिखण्डावस्थायां इव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वः अस्मि, सर्वदा एव आत्मैकत्वगतत्वेन समयस्य एवं एव स्थितत्वात् इति । इत्थं भावकभावविवेकः भूतः ।

त. प्र.– इह विभावभावादिरूपपरभावत्यागप्रकरणे खलु परमार्थतः फलदानसमर्थतयाऽऽत्मनि विभावभावात्मकपरिणतिजननसमर्थतया पुद्गलद्रव्ये च द्रव्यकर्मात्मकविभावपरिणतिजननसमर्थतया च प्रादुर्भूयोदयमागत्य जीवे चोत्पद्य भावकेन सताऽऽत्मनो विभावपरिणतौ पुद्गलस्य च कर्मात्मकविभावभावपरिणतौ हेतुकर्त्रा सता पुद्गलद्रव्येण कर्मवर्गणास्वरूपेण पुद्गलद्रव्येण शुद्धात्मस्वरूपावारकत्वात्पुद्गलतुल्येन विभावभावेनाभिनिर्वर्त्यमान उत्पाद्यमानष्टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेन टङ्कोत्कीर्णसदृशनित्यैकज्ञायकभावरूपपारिणामिकभावेन । टङ्कोत्कीर्णष्टङ्कोत्कीर्णसदृशो नित्यष्टङ्कोत्कीर्णः । 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योस् । एको द्रव्यभावकर्मविकलत्वाच्छुद्धश्चासौ ज्ञायकस्वभावश्चैकस्वभावः । टङ्कोत्कीर्णश्चासावेकज्ञायकस्वभावश्च टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावः । स एव भावः पारिणामिकभावः । तस्य । परमार्थतो वस्तुतः परभावेन क्रोधादिरूपविभावभावस्वरूपेण पुद्गलोपादानककर्मरूपपरद्रव्यस्वरूपेण च भावयितुं परिवर्तयितुमेकीभावं नेतुं वाऽशक्यत्वात्कतमोऽपि द्रव्यमोहप्रकृतीनां भावमोहाना कश्चनापि न नाम नैव मम मामकीनो मत्स्वामिको मोहोस्ति । तत्रोभयात्मके मोहे मच्छुद्धस्वरूपज्ञानस्वभावस्याभावात्तादात्म्यसम्बन्धाभावान्न ते मत्स्वामिका इति भावः। किंचापरञ्च–एतदुत्तरत्र वक्ष्यमाणं स्वयमेव च विश्वप्रकाशचञ्चुरविकस्वरानवरतप्रतापसम्पदा विश्वस्थनिखिलार्थमार्थप्रकटनपटुविकसनशीलाविच्छिन्नप्रतापसम्पत्तिना। विश्वस्य विश्वस्थवस्तुजातस्य प्रकाशः प्रकाशनम्। तत्र चञ्चुरा निपुणा । विकस्वरा विकसनशीला । 'स्थेशभास्पिस्कसो वरः' इति वरः । अनवरतोऽविच्छेदः । प्रताप सामर्थ्यम् । प्रताप एव सम्पत्प्रतापसम्पत् । विश्वप्रकाशचञ्चुरा चासौ विकस्वरा च विश्वप्रकाशचञ्चुरविकस्वरा । सा चासानवरता च । विश्वप्रकाशचञ्चुरविकस्वरानवरता प्रतापसम्पद्यस्य सः । तेन । चिच्छक्तिमात्रेण केवलचिच्छक्तिरूपेण स्वभावभावेनात्मस्वभावभूतज्ञानस्वरूपपारिणामिकभावेन । स्वस्यात्मनो भावः स्वभावः स्वभावः । स एव भावः पारिणामिको भावः । तेन साधनभूतेन । भगवान्निश्चयनयदृष्ट्याऽनन्तसुखवीर्यादिमानात्मैवावबुध्यते जानाति–यद्यस्मात्कारणात् । किलेति वाक्यालङ्कारे । अहं खलु परमार्थत एको द्रव्यभावप्रकारककर्मसम्पर्कविकलत्वाच्छुद्धज्ञानघनैकस्वभावमात्रस्ततस्तस्मात्कारणात्समस्तद्रव्याणां षण्णां द्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्यान्योन्यसाधारणाधिष्ठानस्य निवारयितुं परिहर्तुमशक्यत्वान्मज्जितावस्थायामपि परस्परमिलनावस्थायामपि दधिखण्डावस्थायामिव शिखरिण्यवस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया सुस्पष्टानुभूयमानानुभवभेदतया । परिस्फुटः सुतरां स्पष्टः । स्वदमानयोरनुभूयमानयोर्मोहात्मनोः स्वादयोरनुभवयोर्भेदो विभिन्नता । तस्य भावस्तत्ता । तया । परिस्फुटः स्वदमानस्वादयोर्भेदः परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदः । तस्य भावस्तत्ता । तया । यथा दधिसितयोश्शिखरिण्यवस्थायामपि स्वदमानयोस्स्वादभेदाद्भेदस्तथात्ममोह-

योस्संयुक्तावस्थायामप्यनुभूयमानयोरनुभवभेदास्तयोरन्योन्यभिन्नत्वमस्त्येव । तस्मात्कारणान्मोहं प्रति निर्ममत्वो निर्ममकारोऽस्मि । ममत्वान्ममकाराभिष्क्रान्तो निर्ममत्वः । मोहाद्विभिन्नत्वान्मोहेन सह तादात्म्यसम्बन्धाभावान्न कोऽपि मोहो मामकीनोऽस्ति । सर्वदानादेरनन्तकालं यावदेवात्मना स्वशुद्धस्वभावेन साकं यदेकत्वमभिन्नत्वम्। तादात्म्यमित्यर्थः। तद्गतत्वेन प्राप्तत्वेन। स्वशुद्धस्वभावेन तादात्म्यमापन्नत्वेनेत्यर्थः । समयस्य पदार्थस्यात्मनो वैवमेव भिन्नत्वेनैव स्थितत्वादिति । इत्थ भिन्नस्वप्रकारेण भावकस्य द्रव्यभावमोहात्मकहेतुकर्तृपरिणामभूतस्य विवेक आत्मनः पृथक्करणं भूतं सञ्जातम्।

टीकार्थ—इस विभावभावत्याग के प्रकरण में फलदेनेमें समर्थ होकर अर्थात् अशुद्ध आत्मा की विभावरूप परिणति के सामर्थ्य से युक्त ऐसा निमित्तकारण होता हुआ उदय में आकर भावक अर्थात् आत्मविषयक विभावभावजनक होते हुए पुद्गलद्रव्य के द्वारा आत्मा में आविर्भावित किया गया भावमोह और फल देनेमें समर्थ होकर अर्थात् कर्मरूप से परिणत होनेके योग्य पुद्गलों की कर्मरूपविभावभावात्मक परिणति की सामर्थ्य से युक्त निमित्तकारण होता हुआ अशुद्ध आत्मा में प्रादुर्भूत होकर भावक अर्थात् कर्मयोग्यपुद्गल में कर्मरूप विभावभावजनक होते हुए पुद्गलद्रव्यसदृश आत्मा के विभावभाव के द्वारा कर्मयोग्यपुद्गलों में आविर्भावित किया गया द्रव्यमोह इनके अनेक भेदों में से कोई भी एकभेदरूप मोह परमार्थतः मेरा नहीं है; क्यों कि टंकोत्कीर्ण के समान नित्य अर्थात अविनश्वर और शुद्ध ज्ञायकस्वभावरूप परिणामिकभाव को परभावरूप से अर्थात् क्रोधादिरूप विभावभाव के रूप से और कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य को पुद्गलद्रव्योपादानक कर्मरूप से परिणत कराना अशक्य होता है—शक्य नहीं होता । दूसरी बात यह है कि स्वयमेव विश्वस्थित संपूर्ण ज्ञेय पदार्थों को प्रकाशित करने में निपुण, सर्वकाल प्रकट—आविर्भूत होनेवाले और विच्छेदरहित सामर्थ्यरूप संपत्ति से युक्त चैतन्यशक्तिमात्ररूप आत्मा के स्वभावभूत पारिणामिकभाव के द्वारा अर्थात् शुद्ध ज्ञान के द्वारा निश्चयनय की दृष्टि से अनंतसुखादिमान् आत्मा यह जानती है—जब मैं परमार्थतः एक अर्थात् शुद्धज्ञानमात्रस्वभावशाली हूं तब संपूर्ण द्रव्यों का अन्योन्यसाधारण क्षेत्र में होनेवाले अवगाह का निवारण करना अशक्य होनेसे उनकी मिलितावस्था होनेपर भी दही और शक्कर की मिश्र अवस्था में जिसप्रकार उनकी रुचि में होनेवाले भेद से उनमें अन्योन्यभिन्नता होती है उसीप्रकार उन सभी पदार्थों का अनुभव—ज्ञान किया जानेपर अनुभव में स्पष्टरूप से भेद पाया जानेसे वे परस्परभिन्न होनेसे मोह के विषय में मैं ममत्वरहित हूं अर्थात् न मोह मेरा है और न मैं मोह का स्वामि हूं; क्यों कि पदार्थ अपने अपने स्वरूप के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होनेसे इसीप्रकार परस्परसंभिन्नरूप से स्थिर होते हैं । इस प्रक्रिया के अनुसार भिन्नस्वरूप से द्रव्यभावमोहात्मक हेतुकर्तृरूप भावकभाव का आत्मा से भेद हुआ ।

विवेचन— जब मोहनीयकर्म की विपक्व अवस्था होती है तब अज्ञानी जीव की विभावरूप परिणति में सहायक होने की उसकी सामर्थ्य व्यक्त होती है । अज्ञानी जीव की विभावरूप परिणति में अशुद्ध आत्मा के साथ संयुक्त होनेसे द्रव्यमोहनीयकर्म का सहायक होना हि उसकी फलदानसामर्थ्य है । यह उसकी सामर्थ्य तब कार्यकारी होती है जब कि मोहनीयकर्म उदयावस्थारूप से परिणत होता है । संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेसे मिथ्यात्वरूप से परिणत हुई होनेसे सदाकाल विभावरूप क्रोधादिभावात्मकरूप से परिणत होनेके अभिमुख हि होती है । मोहनीयोदयरूप समर्थ निमित्तकारण मिलते हि विभावरूप से अर्थात् क्रोधादिरूप विभावभावों के रूप से परिणत हो जाती है । अज्ञानी आत्मा की विभावरूपपरिणति में सहायक होनेसे द्रव्यरूप मोहनीय कर्म भावक कहा जाता है । जिसप्रकार द्रव्यमोहनीयकर्म अशुद्ध आत्मा की विभावरूपपरिणति में सहायक—सहकारि होनेसे भावक कहा जाता है उसीप्रकार भावमोह भी भावक कहा जाता है । भावमोह भी फलदानसामर्थ्य से संपन्न होता है। शुद्ध आत्मा के शुद्ध ज्ञानस्वभाव को ढकना और कर्मरूप से परिणत होने की योग्यता रखनेवाले पुद्गल को कर्मरूप से परिणत होनेमें सहायक होना यह भावकर्म का—प्रकृत प्रकरणानुसार भावमोह का फलदानसामर्थ्य है। जब उक्त सामर्थ्य से युक्त विभावभाव अस्तिरूप बनता है तब वह पुद्गल की कर्मरूपपरिणति में सहायक होनेसे भावकभाव

बन जाता है। इसप्रकार द्रव्यकर्मात्मक पुद्गलद्रव्यरूप निमित्त के अर्थात् भावकभाव के द्वारा आत्मा में उत्पन्न होनेवाला कौनसा भी भावमोह और पुद्गलद्रव्य की कर्मरूपपरिणति में सहायक होनेवाला भावमोहात्मक भावकभावरूप निमित्त से कर्मयोग्य पुद्गल में व्यक्त होनेवाला पर्यायरूप कौनसा भी द्रव्यमोह शुद्ध आत्मा का कदापि नहीं हो सकता; क्यों कि नित्य-अविनश्वर ज्ञायकस्वभावरूप पारिणामिकभाव का पुद्गल के स्वभावरूप से और आत्मस्वभावसदृश जो पुद्गल का पारिणामिकभावरूप नित्य-अविनश्वर स्वभाव होता है उस आत्मा के स्वभावरूप से परिणमन किया जाना शक्य नहीं होता। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का जो स्वभावभूत पारिणामिकभाव होता है वह चैतन्यगुणमात्ररूप होता है और वह संसार के सभी पदार्थों को प्रकाशित करनेमें कुशल, आत्मा में सदा प्रकटरूप से रहनेवाली और विच्छेदरहित अर्थात् अखंड सामर्थ्य से युक्त होता है। इसप्रकार के स्वभाव के द्वारा अनन्तवीर्यादिसंपन्न आत्मा हि ऐसा जानती है कि सभी परभावों से रहित होनेसे मैं जब एक अर्थात् शुद्धज्ञानरूप एकस्वभाववाली हूं तब सभी पदार्थों के अवगाहन के क्षेत्र के एकत्व का निवारण करना अशक्य होनेसे दहि और चीनी की मिश्र अवस्था होनेपर भी उनके स्वाद में भिन्नता होनेसे जिसप्रकार उनमें भेद होता है उसीप्रकार परस्पर-संश्लिष्टावस्था में भी उनके स्वभावों का अनुभव-ज्ञान भिन्नभिन्न होनेसे अर्थात् सभी पदार्थ अपने अपने स्वभाव को छोडकर अन्यपदार्थ के स्वभाव को स्वीकार करके उनके स्वरूप से परिणत हुए न होनेसे मोह का स्वभाव आत्मा के ज्ञानरूप स्वभाव से भिन्नरूप होनेसे मैं मोह को अपना नहीं समझता हूं; क्यों कि सभी पदार्थ अपने अपने असाधारण स्वभाव के साथ तादात्म्यावस्था को प्राप्त हुए होनेसे इसीप्रकार एक दूसरे से अलग अलग हि रहा करते हैं।

पूर्णतः ज्ञानरूप द्रव्यभावमोहरहित ऐसी आत्मा शुद्धचैतन्यमय है यह बताते हैं–

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशा अन्यानि अपि ऊह्यानि।

अन्वयः– सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं एकं स्वं इह स्वयं अहं चेतये। कश्चन मोहः मम नास्ति नास्ति। (अहं) चिद्घनमहोनिधिः अस्मि।

अर्थ– जिसके सभी असंख्येय प्रदेशोंमें अपना स्वभाव पूर्णरूप से भरा हुआ है, जो शुद्धज्ञायकरूप एकमात्र स्वभाववाली होनेसे और द्रव्यभावकर्मविकल होनेसे एकरूप होती है ऐसी अपनी आत्मा में स्वयं मैं अपनी आत्मा का अनुभव करता हूं। द्रव्यमोह और भावमोह इनमें से कौनसा भी मोह मेरा है हि नहीं (और मैं उसका स्वामी अर्थात् उपादानकारण नहीं हूं।) मैं तो शुद्धज्ञानघन के तेज की निधि हूं।

त. प्र.– सर्वतः 'असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' इति महाशास्त्रतत्त्वार्थसूत्रोक्तैकजीवासङ्ख्येयप्रदेशेषु। प्रतिजीवप्रदेशमित्यर्थः। अत्र सप्तम्यर्थे तसिस्तसेस्सार्वविभक्तिकत्वात्। स्वरसनिर्भरभावं स्वीयशुद्धज्ञानस्वरूपस्वभावापूर्णद्रव्यम्। स्वस्यात्मनो रसो ज्ञेयज्ञप्तिक्रियासाधनस्वरूपं ज्ञानम्। रस्यन्ते ज्ञायन्ते ज्ञेयार्था अनेनेति रसः। ज्ञानमित्यर्थः। तेन निर्भरः परिपूर्णः। 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढनिर्भरम्' इत्यमरः। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इत्यप्। भृ भरण इत्यतो भावेऽप्। स चासौ भावः पदार्थः। तम्। आत्मस्वभावभूतशुद्धज्ञानपरिपूर्णमिति भावः। स्वमात्मानमिहात्मन्यन्तर्मुखीभूयैकं टङ्कोत्कीर्णशुद्धज्ञायकैकस्वभावत्वादन्यभावस्वभावविकलत्वादेकरूपं चेतयेऽनुभवगोचरीक-

रोमि । स्वस्वावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमरूपलब्धिस्वरूपाण्यर्थग्रहणक्रियारूपोपयोगरूपाणि च भावेन्द्रियाणि द्रव्येन्द्रियसहायानि स्वस्वविषयानेव गृह्णन्ति, नान्येन्द्रियविषयान्, क्षायोपशमिकावस्थायां सकलज्ञेयपदार्थग्रहणसामर्थ्यविकलविकलज्ञानरूपत्वात्तेषाम् । शुद्धनिश्चयनयापेक्षया सर्वेषामसङ्ख्येयात्मप्रदेशानां निखिलज्ञेयपदार्थग्रहणसमर्थशुद्धज्ञानघनैकस्वभाववत्त्वात् 'सर्वतः स्वरसनिर्भरभावम्' इत्युक्तमाचार्यपादैः । एतादृशं शुद्धज्ञानघनैकस्वभावं स्वात्मना स्वात्मन्यनुभवामीत्यभिप्रायः । 'आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्पमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात्' इति स्वयमेवाचार्यैः पूर्वमुक्तम् । कश्चन द्रव्यभावमोहरूपयोर्मोहयोः कोऽपि मोहो मम मामकीनो नास्ति नास्ति । नास्त्येवेत्यर्थः । मोहस्य स्पर्शरसगन्धवर्णवत्पुद्गलद्रव्यजन्यत्वादात्मनश्च टङ्कोत्कीर्णशुद्धज्ञायकैकस्वभावत्वान्मोहात्मनोर्विजातीयद्रव्यत्वान्मोहो नास्त्यात्मन इति भावः । शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि । शुद्धा चासौ चिच्च शुद्धचित् । तस्याः घनः पुञ्जश्शुद्धचिद्घनः । तस्य महस्तेजस्तस्य निधिर्निधानं शुद्धचिद्घनमहोनिधिः । अस्मि भवामि । शुद्धनिश्चयनयापेक्षयाऽहमात्मा शुद्धज्ञानघनतेजोनिधानमस्मि, परभावस्वभावविकलत्वान्ममात्मन इति भावः । शेषं सुगमम् ।

विवेचन— वह आत्मद्रव्य असख्येयप्रदेशोंवाला है। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा एक अखंडद्रव्य है। उसका स्वभावभूत ज्ञान आत्मद्रव्य को पूर्णरूप से व्यापता है। कुछ अशों में ज्ञानस्वभाव का सद्भाव और अन्य अंशो में उसका अभाव होता है ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। यह शुद्धज्ञानपूर्ण शुद्धस्वभाववाली आत्मा वस्तुतः अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से द्रव्यभावरूप कर्मो के संपर्क से रहित है। ऐसी इस आत्मा का अनुभव कर्ता आत्मा अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के अर्थात् ज्ञान के द्वारा जानती है। यह आत्मा शुद्धचैतन्यस्वभाववाली होनेसे उसमें और अचेतन द्रव्यमोह तथा अशुद्धचेतनरूप भावमोह इनमें स्वस्वामिभावसबंध वस्तुतः नहीं है अर्थात् कौनसा भी मोह आत्मा का नहीं है; क्यों कि आत्मा और मोह अपने अपने स्वभाव को त्यागकर अन्य पदार्थ का स्वरूप स्वीकार कर अन्यपदार्थ के रूप से कदापि परिणत नहीं होता।

टीकार्थ— इसहि प्रकार से सूत्र में प्रयुक्त किये गये 'मोह' इस पद को परिवर्तित कर उसके स्थानपर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन इन पदो कोप्रयुक्त करनेसे जो सोलह सूत्र बनेंगे उनका व्याख्यान करना चाहिये। इसप्रकार से अन्य पदो का भी विचार करना चाहिये।

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारं आह—

अब ज्ञान का विषय बननेवाले पदार्थो को आत्मा से अलग करनेकी प्रक्रिया बताते हे।

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३७॥

न सन्ति मम धर्मादयो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति ॥ ३७॥

अन्वयार्थ— (**धर्मादयः**) धर्मास्तिकायादिरूप ज्ञेय पदार्थ दहि और चीनी के समान व्यवहारनय की दृष्टि से एकरूप होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से (**मम**) मेरे (**न सन्ति**) नहीं है अर्थात् मैं उनका उपादानकारण नही हू और वे मेरे उपादेय नही है या मैं उनका स्वामी नही हू और वे मेरे स्वजातीय नही हैं ऐसा और (**अहं**) मै (**एकः**) टङ्कोत्कीर्ण के समान नित्य–अविनश्वर ज्ञायकरूप

एकमात्र स्वभाववाला होनेसे एकरूप और (**उपयोगः एव**) विशुद्ध ज्ञानदर्शनरूप उपयोग हि हू ऐसा जो (**बुध्यते**) जानता है (**तं**) उसको (**समयस्य विज्ञायकाः**) समय को अर्थात् शुद्ध आत्मा को जानने-वाले महात्मा (**धर्मनिर्ममत्वं**) शुद्ध आत्मा के चिन्तन के रूप से परिणत हुआ होनेसे धर्म आदिरूप परद्रव्यों के विषय मे ममत्वरहित है ऐसा (**ब्रुवन्ति**) कहते है।

आ. ख्या.– अमूनि हि धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवान्तराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मरप्रचण्डचिन्मात्रशक्तिकवलिततया अत्यन्तं अन्तर्मग्नानि इव आत्मनि प्रकाशमानानि टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतः अन्तस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतः बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुं अशक्यत्वात् न नाम मम सन्ति । किं च–एतत् स्वयं एव च नित्यं एव उपयुक्तः तत्त्वतः एव एकं अनाकुलं आत्मानं कलयन् भगवान् आत्मा एव अवबुध्यते 'यत् किल अहं खलु एकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसवलने अपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तराणि प्रति निर्ममत्वः अस्मि, सर्वदा एव आत्मैकत्वगतत्वेन समयस्य एवं एव स्थितत्वात् इति । इत्थ ज्ञेयभावविवेकः भूत. ।

त. प्र.– अमून्येतानि हि गतिस्थित्यवगाहवर्तनापरिणामादिशरीरवाङ्मनःप्राणापानादिपरस्परोपकाराणि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तराणि । धर्मश्चाधर्मश्चाकाशश्च कालश्च पुद्गलश्च जीवान्तराणि च । स्वरसेन स्वशुद्धात्मानुभवेन जायमानेन कर्मनिर्जरणेन विजृम्भिता प्रकटीभूताऽत एव प्रतिबन्धककारणानां समूलकाषं कपितत्वादनिवारितप्रसरा निष्प्रतिबद्धप्रभावा निष्प्रतिबद्धप्रवाहा वा । अनिवारितोऽप्रतिहतः प्रसरः प्रभाव प्रवाहो वा यस्याः सा । तया । विश्वघस्मरा सपर्यायनिखिलज्ञेयज्ञायकत्वाद्विश्वं कवलयन्ती ग्रासीकुर्वाणा । निर्मलज्ञानगुणरूपत्वान्निखिलविश्वस्थज्ञेयानि जानातीत्यर्थः । प्रचण्डाऽनन्तवीर्यसनाथा चासौ चिन्मात्रशक्तिश्चैतन्यमात्रसामर्थ्य च । तया कवलितानि ग्रासीकृतानि । तेषां भावः । तया । अत्यन्तमत्यर्थमन्तर्निमग्नानीव ज्ञानशक्तावन्तरवसन्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि प्रकटीभवन्ति टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन टङ्कोत्कीर्णवदविनश्वरद्रव्यभावकर्मविकलशुद्धज्ञातृस्वभावत्वेन तत्त्वतः परमार्थतोऽन्तस्तत्त्वस्यान्तरङ्गपदार्थस्यात्मनस्तदतिरिक्तस्वभावतया जीवद्रव्यस्वभावभिन्नस्वभावत्वेन । ततो ज्ञायकस्वभावादतिरिक्ता भिन्नाः स्वभावा येषां तानि । तेषां भावः । तस्मात् । तत्त्वत परमार्थतो बहिस्तत्त्वरूपतां बाह्यार्थत्वं परित्यक्तुं परिहर्तुमशक्यत्वान्न नाम परमार्थतो मम सन्ति । किञ्चापि च–एतद्यत्किलेत्यादि स्वयमेव नित्यं नित्यकालमुपयुक्त उपयोगमयस्तत्त्वतः परमार्थतः एवैकं द्रव्यभावकर्मविकलं शुद्धज्ञानघनैकस्वभावमनाकुलं निष्प्रतिद्वन्द्वं सम्प्राप्तपरमनैर्मल्यं वाऽऽत्मानं कलयञ्जानन्ननुभवंश्च भगवाननन्तसुखादिमान्निश्चयनयापेक्षयात्मैवावबुध्यते जानाति। यद्यस्मात्कारणात्किल परमार्थतोहं खल्वेको द्रव्यभावकर्मविकलत्वाज्ज्ञानमात्रैकस्वभावत्वाच्चाद्वितीयस्ततस्तस्मात्कारणात्संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसवलनेऽपि ज्ञेयज्ञायकभावमात्रसञ्जातान्योन्यमिलनेऽपि । संवेद्यसंवेदकयोर्ज्ञेयज्ञायकयोर्भावः संवेद्यसंवेदकभावः। तेनोपजातमितरेतरसंवलनमन्योन्यमिलनमन्योन्यप्रत्यासत्तिर्वा। तस्मिन्सत्यपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया सुस्पष्टानुभूयमानज्ञेयज्ञायकस्वभावभिन्नत्वेन । परिस्फुटं

स्वदमानोऽनुभूयमानः स्वभावभेदो वेद्यवेदकयोः स्वभावयोर्भेदः । तस्य भावः । तया । धर्माधर्मा
कालपुद्गलजीवान्तराणि । धर्माधर्मौ च आकाशकालौ च धर्माधर्माकाशकालाः । पुद्गलश्च जीव
राणि च पुद्गलजीवान्तराणि । धर्माधर्माकाशकालाश्च पुद्गलजीवान्तराणि च धर्माधर्माकाशकाल
गलजीवान्तराणि । तानि प्रति निर्ममत्वो ममकाररहितोऽस्मि सर्वदैव त्रैकाल्येऽप्यात्मैकत्वगतत्वेन त
स्यमापन्नत्वेन समयस्यात्मनः पदार्थस्यैवमेवेत्थमेव स्वस्वभावापरित्यागेन स्थितत्वात्स्थितिमत्वावि
इतिशब्दस्यैतदितिपदेन सम्बन्धः । इत्थममुना प्रकारेण ज्ञेयभावविवेको ज्ञेयपदार्थस्यात्मनो विवेको
भूतो जातः ।

टीकार्थ— ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्यजीव, अपनी शुद्ध आत्मा के स्वरूप के अनुभ
प्रकट हुई होनेसे जिसका प्रभाव या प्रवाह प्रतिबंध से रहित होनेके कारण संसारस्थ सभी ज्ञेय पदार्थों को नि
जानेवाली अर्थात् व्याप्त करनेवाली ऐसी अनन्तवीर्ययुक्त चैतन्यमात्ररूप शक्ति के द्वारा निगल गये जानेसे आ
न्तिकरूप से उस चैतन्यशक्ति में डूबे हुए के समान ज्ञानस्वभाव में या आत्मा में प्रकट होनेवाले, अंतरंग
अर्थात् आत्मा परमार्थतः टंकोत्कीर्ण के समान नित्य अर्थात् अविनश्वर और द्रव्यभावमोहरहित होनेसे एक
ऐसे स्वभाववाला होनेसे, ज्ञायकरूपस्वभाव से भिन्नस्वभाववाले होनेसे परमार्थतः बाह्य पदार्थत्व का त्याग क
अशक्य होनेसे वस्तुतः मेरे नहीं हैं । दूसरी बात यह है कि स्वयमेव नित्य अर्थात् अविच्छिन्नरूप से हि ज्ञान
नोपयोगयुक्त, अपनी आत्मा का परमार्थतः द्रव्यभावमोहरहित और अत्यन्त निर्ममरूप से अनुभव करनेवाली भग
आत्मा हि ऐसा जानती है कि जब मैं परमार्थतः द्रव्यभावमोहविकल शुद्धज्ञानमात्ररूप एकस्वभाववाली हूं तब के
संवेद्यसंवेदकभाव के कारण परस्पर मिलन-मिश्रण हुआ होनेपर भी धर्मादि के स्वभावों का आत्मा के स्वभाव
भिन्नता अनुभवगोचर होनेसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अपनेसे भिन्न अन्य जीव इनके प्रति मैं म
त्वरहित हूं; क्यों कि आत्मा या प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभाव के साथ इसप्रकार हि एकरूप होकर अथ
तादात्म्य को प्राप्त होकर सदा काल बना रहता है । इसप्रकार धर्माधर्मादिज्ञेयपदार्थों का आत्मा से भेद (सिद
हुआ ।

विवेचन— अपने शुद्ध स्वभाव के अनुभव से आत्मा के शुद्ध चैतन्य की शक्ति आविर्भूत होती है । आत्म
नुभूति से कर्मों की निर्जरा होती है और कर्मों की निर्जरा से आत्मा की शुद्ध चैतन्यशक्ति आविर्भूत होने लगती है
इसप्रकार कर्मों की निर्जरा और क्षय से आविर्भूत होने लग जाने से इसकी सामर्थ्य व्यक्त होती है और उस
प्रवाह अविच्छिन्न बना रहता है । ऐसी यह चैतन्यशक्ति विश्वस्थ संपूर्ण पदार्थों को व्यापती है और उसकी सामर्थ
भी अनन्त-अविनश्वर होती है । ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव इन को चैतन्यशक्ति
व्याप्त कर दिया है अर्थात् इन्हें अपना ज्ञेयरूप कर्म बना दिया है याने चैतन्यशक्ति इन्हें पूर्णरूप से जानती है
चैतन्यशक्ति इन्हें इसतरह व्याप्त कर रही है कि जैसे ये धर्माधर्मादिद्रव्य मानो उस शक्ति में डूब गये हो । धम
धर्मादिरूप ज्ञेय पदार्थों की ऐसी अवस्था होनेसे वे आत्मा में या आत्मा के ज्ञान में प्रकट हो जाते है । आत्म
अविनश्वरज्ञानस्वभाववाली होने से और धर्मादिरूप ज्ञेय पदार्थों के स्वभावों को आत्मा के उस स्वभाव से भे
होनेसे वे आत्मा से भिन्न हैं । अपने इस स्वभाव को छोडकर उन्हें अपने बाह्य ज्ञेयरूपत्व का और अपनी अचेतनत्व
का त्याग करना अशक्य है । अतः धर्मादिरूप ज्ञेयार्थों की अचेतनतादि का और बाह्यार्थत्व का त्याग असंभव होने
और आत्मा अंतरंगद्रव्य होनेसे धर्मादिद्रव्यों के विषय में आत्मा का ममत्व नहीं होता—आत्मा उन द्रव्यों का उपा
दानकारण और वे द्रव्य उसका उपादेय नहीं हो सकते । यदि आत्मा अपने स्वभाव को छोडकर बाह्यार्थों के
स्वभावों को स्वीकार करती या बाह्यार्थ अपने अपने स्वभावों को छोडकर आत्मा के स्वभाव को—चेतनत्व को
स्वीकार करते तो आत्मा और ज्ञेय पदार्थों में स्वस्वामिभावसंबंध होता । संसार में भिन्नभिन्न पदार्थों में जो स्वस्वा-
मिभावसंबंध बताया जाता है वह उपचारमात्र से या अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से बताया जाता है । यदि

उक्तप्रकार से आत्मा और धर्मादिरूप बाह्य पदार्थ इन में स्वस्वामिभावरूपसंबंध होता तो आत्मा का बाह्य ज्ञेयों के विषय में ममत्व-ममकार भी होता । यह आत्मा अविच्छिन्नरूप से उपयोगमय हुआ करती है । ज्ञानदर्शनोपयोगमय यह आत्मा परमार्थतः-यथार्थरूप से हि द्रव्यभावकर्मविकल और शुद्धज्ञानस्वभाववाली निष्प्रतिद्वन्द्व या अत्यन्त निर्मल आत्मा का अनुभव करती है । ऐसी आत्मा का अनुभव करनेवाली निश्चयनय की दृष्टि से अनन्तवीर्यादि से युक्त, द्रव्यकर्म के, भावकर्म के और परद्रव्यों के संपर्क से रहित शुद्धज्ञानस्वभाववाली होती है । इसप्रकार परमार्थतः अन्यद्रव्य के संपर्क से रहित होनेसे आत्मा अपनेमें और अन्यपदार्थों में वेद्यवेदकभाव का-ज्ञेयज्ञायकभाव का सद्भाव होनेसे उनका अन्योन्यमिलन होनेपर भी आत्मा के और धर्मादिरूप परपदार्थों के स्वभावों में होनेवाली विभिन्नता अनुभवगोचर होनेसे उनमें भेद होनेसे धर्मादिरूप परपदार्थों के प्रति ममत्वरहित होती है अर्थात् परभावों को वह अपना नहीं समझती; क्यों कि पदार्थ अपने अपने स्वरूप के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होनेसे अपने अपने स्वरूप में स्थिर होकर परस्परभिन्नरूप से रहते हैं । ज्ञानी आत्मा उक्त प्रकार से परपदार्थों को अपने से भिन्न जानती है और इसीकारण उन्हे अपना नहीं समझती । इस प्रकार वेदक आत्मा और वेद्य अन्य पदार्थ इनमें अन्योन्यभिन्नता की सिद्धि हो जाती है, फिर भले हि किसी प्रकार से उनमें प्रत्यासत्ति हो ।

परभावों से पृथक् हुई यह आत्मा रत्नत्रय के रूप से परिणत होकर आत्मस्वरूप में रममाण होती है यह बताते हैं–

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ।।३१।।

अन्वय– इति सर्वैः अन्यभावैः सह विवेके सति एकं आत्मानं स्वयं बिभ्रत् उपयोगः प्रकटितपरमार्थैः दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः आत्मारामे एव प्रवृत्तः ।

अर्थ– इस प्रकार आत्मा से भिन्न सभी भावों से (द्रव्यभावकर्मों से और ज्ञेयरूप परपदार्थों से) भेद हो जानेपर शुद्धज्ञानस्वभाव को स्वयं धारण करनेवाली उपयोगात्मक यह आत्मा शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करनेवाले दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनके रूप से जिसने अपने को परिणत किया है ऐसी होती हुई आत्मा में–आत्मस्वरूप में आराम करने के लिये अर्थात् अपने स्वरूप में रत होनेके लिये प्रवृत्त होती है ।

त. प्र.– इति भाव्यभावभावकभावविवेकेन ज्ञेयभावविवेकेन ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषपरिहारेण भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण भाव्यभावकभावाभावेन चेति पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वैर्निखिलैरन्यभावैर्धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तरैस्सह समं विवेके पृथग्भावे जाते सत्येकं टङ्कोत्कीर्णशुद्धज्ञायकैकस्वभावमात्मानं स्वयमात्मना बिभ्रद्व्याप्नुवन्नयमुपयोग उपयोगवानात्मा वा प्रकटीकृतपरमार्थैः प्रकटीकृतशुद्धात्मस्वरूपैः । उपयोगोऽस्यास्तीत्युपयोग आत्मेत्यर्थः । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयः । प्रकटितः प्रकटीकृतः । 'मृदो ध्वर्थे णिज्बहुलम्' इति करोत्यर्थे णिचि क्तः । प्रकटितः परमार्थो यैस्तानि । प्रकटितपरमार्थानि । तैः । प्रकटितः परमष्टङ्कोत्कीर्णशुद्धज्ञायकस्वभावत्वादुत्कृष्टश्चासावर्थ आत्मरूपश्च यैस्तानि । तैः । दर्शनज्ञानवृत्तैः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः कर्तृभूतैः करणभूतैर्वा कृतपरिणतिर्विहितपरिणमनक्रियः । कृता विहिता परिणतिश्शुद्ध्यात्मकं परिणमनमुपयोगस्य येन सः । आत्माराम आत्मन्या सामस्त्येन रामो रतिर्लयो वा यस्य सः । आत्मनि लिनः सन्नेव प्रवृत्तः प्रवृत्तिं प्राप्तः । कृतप्रवृत्तिरित्यर्थः । यद्वाऽऽत्मैवारामो विश्रान्तिस्थानमात्मारामः । तस्मिन् प्रवृत्तः प्रवृत्तिमान् । तत्रैव विहितमानसप्रवृत्तिरित्यर्थः । शुद्धशुभाशुभभेदैरुपयोगस्त्रिविधः । आत्मनः परभावविवेकाभावे सति शुभाशुभरू-

पेणाशुभरूपेण वा परिणमत्युपयोगो, विभ्रमोत्पत्तिक्रियोत्पत्तिकृत्स्वतन्त्रकारकनिमित्तकर्तृभूतमोहोदयसम्पादितात्मानात्मविवेकवैकल्यसञ्जातस्वपरैकीभावावस्थायामुपयोगस्य शुद्धपरिणतेरसम्भवात् । आत्मानात्मविवेकपुष्कलदृगावारकमोहनीयकर्मक्षयोपशमाभ्यामनात्मविकलकेवलात्मपदार्थग्रहणक्रियारूपशुद्धोपयोगशुद्धज्ञानघनैकस्वभावत्वादेकरूपमात्मानं व्याप्नोति । 'विवेके सति' इतिसप्तम्यन्तपददर्शनाद् 'यद्भावाद्भावगतिः' इति सूत्रेणायं सतिसप्तमीप्रयोग इति स्पष्टम् । अस्मिन्प्रयोगे निर्ज्ञातकालया क्रिययाऽनिर्ज्ञातकालायाः क्रियायाः कालः परिच्छिद्यते । मोहनीयकर्मक्षयोपशमोत्पन्नात्मानात्मविवेकज्ञानोत्पत्तिसमुपजातानात्मभावपृथग्भावक्रियया निर्ज्ञातकालयाऽनिर्ज्ञातकालायाश्शुद्धोपयोगस्यात्मारामप्रवृत्तिक्रियायाः कालोऽत्र परिच्छिन्नः । आत्मनोऽनात्मभावस्य पृथग्भावक्रियायाश्शुद्धोपयोगस्यात्मारामप्रवृत्तिक्रियायाश्च समकालभावित्वमिति क्रियाद्वयस्य कालयोः परिच्छित्तिः । यस्मिन् काले परभावा आत्मनः पृथग्भवन्ति तस्मिन्नेव काल उपयोग आत्मनि लीनो भवतीति भावः । स एवोपयोगश्शुद्ध इति भण्यते । परभावविवेके जाते सति यमात्मानं स्वविषयीकरोति स आत्मा टङ्कोत्कीर्णशुद्धज्ञायकैकस्वभावत्वादेकरूप एव । परभावैस्सहैकीभावावस्थायामात्मनश्शुभाशुभरूप एव स भवति । यानि परमार्थभावरूपपरमात्मप्रकटीभवनक्रियायास्साधकतमत्वात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि करणभूतान्युपयोगस्य शुद्धावस्थाप्राप्तिविषये साधकतमत्वात्तान्येव करणभूतानि, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येव शुद्धावस्थाप्राप्त्यसम्भवादुपयोगस्य । यद्वा—इति पूर्वप्रकारेण सर्वैरन्यभावैस्सह विवेके पृथग्भावे जाते सति प्रकटितपरमार्थैः परमार्थरूपपरमात्मप्रकटीकरणक्रियायास्साधकतमैर्दर्शनज्ञानवृत्तैस्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः. कृतपरिणतिः — कृता परिणतिश्शुद्धावस्थाप्राप्तिरूपा यस्य सः । उपयोगोऽर्थग्रहणव्यापाररूप एकमद्वितीयमात्मानं स्वस्वरूपरूपां शुद्धामवस्थां बिभ्रद्दधदात्माराम एवात्मनिलीन एव प्रवृत्तो जातः । शुद्धात्मस्वरूपानुभवनक्रियापरिणतो भवतीति भावः ।

विवेचन— शुद्ध, शुभ और अशुभ ये तीन उपयोग के भेद है । जबतक भेदज्ञान का विरोध करनेवाला मोहनीयकर्म उदय में रहता है तबतक शुभाशुभरूप से हि परिणत होता है; किंतु भेदज्ञान का विरोध करनेवाले मोहनीयकर्म का अभाव होते हि उपयोग शुद्धरूप से परिणत होता है । परम अर्थरूप जो परमात्मा उसे प्रकट करनेका साधकतमसाधन है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र; क्यों कि उनके बिना परमात्मा प्रकट हो हि नहीं सकती । वे हि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अशुद्ध उपयोग का शुद्धरूप से परिणमन करते है । आत्मभिन्न सभी भावों के साथ आत्मा का पृथग्भाव होते हि आप हि अपनी एकरूप—टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावरूप आत्मा को पकडता है—उसे हि अपना विषय बनाता है अर्थात् आत्मभिन्न पदार्थों का ग्रहण करता हि नहीं—सिर्फ आत्मा का हि अनुभव करता है । परमार्थ को प्रकाशित करनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा शुद्धरूप से परिणमन होनेपर वह शुद्धोपयोग आत्मा में हि लीन हो जाता है । इस कलश में एक बात और ध्वनित की गयी है और वह यह है कि आत्मा का परभावों के साथ पृथक्करण होनेका समय और उपयोग का आत्मा में लीन होनेका समय एक है ।

अथ एवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्य आत्मनः कीदृक् स्वरूपसञ्चेतनं भवति इति आवेदयन् उपसंहरति—

अब इसप्रकार दर्शनज्ञानचारित्ररूप से परिणत हुई आत्मा का अपने स्वरूप का अनुभव किस प्रकार का होता है यह कहते हुए उपसंहार करते है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।
नाऽप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

अन्वयार्थ– (**अहं**) अनादिकाल से देह और आत्मा की एकता की भ्रांतिरूप अज्ञान से अप्रतिबुद्ध बना हुवा होनेपर भी परमगुरु के उपदेश से शुद्ध आत्मा हि उपादेय है इस प्रकार के श्रद्धानात्मक सम्यक्त्व के रूप से, शुद्ध आत्मा का अनुभवात्मकज्ञानरूप से, और शुद्ध आत्मा की रागादिरहित अनुभूति मे निश्चलतात्मक चारित्ररूप से परिणत हुआ वीतरागचैतन्यमात्ररूप मे (**खलु**) स्पष्टरूप से (**एकः**) व्यवहारनय की दृष्टि से नरनारकादिपर्यायो के रूप से अनेकविध होनेपर भी शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से नित्य ज्ञायकरूप एक स्वभाववाला होनेसे एक हू, (**शुद्धः**) व्यवहारनय की दृष्टि से भिन्नभिन्न बताये गये नवपदार्थो मे निश्चयनय की दृष्टि से भिन्न होनेसे अथवा रागादिरूप विभावभावों से भिन्न होनेसे शुद्ध हू, (**दर्शनज्ञानमयः**) केवलदर्शनमय और केवलज्ञानमय हू, (**सदा अरूपी**) व्यवहारनय की दृष्टि से कथचित् मूर्तिमान् होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इनका अभाव होनेसे अमूर्त हूं, (**किञ्चित् अपि अन्यत्**) जो मेरी आत्मा के साथ कथंचित् एकीभाव को प्राप्त होकर या भावकभाव बनकर मेरी आत्मा को विभावभावरूप से परिणत करता है ऐसा कौनसा भी आत्मभिन्न पदार्थ (**परमाणुमात्रं अपि**) परमाणु के प्रमाण से भी (**मम न अपि अस्ति**) मेरा है हि नही ।

आ. ख्या.– **यः हि नाम अनादिमोहोन्मत्ततया अत्यन्तं अप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणा अनवरतं प्रतिबोध्यमानः कथञ्चन अपि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरं आत्मानं ज्ञात्वा, श्रद्धाय अनुचर्य च सम्यक् एकात्मारामः भूतः स खलु अहं आत्मा आत्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः, समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावैः चिन्मात्राकारेण अभिद्यमानत्वात् एकः, नरनारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेन अत्यन्तविविक्तत्वात् शुद्धः, चिन्मात्रतया सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणात् दर्शनज्ञानमयः, स्पर्शरसगन्धवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वे अपि स्पर्शादिरूपेण स्वयं अपरिणमनात् परमार्थतः सदा एव अरूपी इति प्रत्यक् अयं स्वरूपं सञ्चेतयमानः प्रतपामि । एवं प्रतपतः च मम बहिः विचित्रस्वरूपसम्पदा विश्वे परिस्फुरति अपि न किञ्चन अपि अन्यत् परमाणुमात्रं अपि आत्मीयत्वेन प्रतिभाति यद् भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन च एकीभूय भूयः मोहं उद्भावयति, स्वरसतः एव अपुनःप्रादुर्भावाय समूलं मोहं उन्मूल्य महतः ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात् ।**

त. प्र.– यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततया मतिभ्रमजननसमर्थमोहनमन्त्रनिभानादिमोहाख्यकर्मजनितमतिभ्रमत्वेन । मोहो मोहनमन्त्र इव मोहो द्रव्यमोहो मोहः । ' देवपथादिभ्यः ' इतीवार्थस्य कस्योप् । प्रयुक्तमोहनमन्त्रस्य पुरुषस्य यथा मतिभ्रमो जायते तथा मोहोदयेनात्मनो मतिभ्रमसम्भवान्मोहनीयकर्मणो मोहनमन्त्रतुल्यत्वमिति भावः । अनादिबद्धमोहोदयजनितमतिभ्रमत्वेनेत्यर्थः । अत्यन्तमत्यर्थमप्रतिबुद्धोऽज्ञातदेहात्मभेदत्वादज्ञानी सन्निर्विण्णेन संसारशरीरभोगनिर्विण्णेन । संसारशरीरभोगादिभ्य उद्विग्नेनेत्यर्थः । अज्ञानान्धतमसपाटनपाटवेन गुरुणाऽनवरतं सततं प्रतिबोध्यमानः पाठ्यमानः । आत्मकायावन्योन्यभिन्नाविति पाठ्यमानः कथञ्चनापि महता कष्टेन प्रतिबुध्य विज्ञाय निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन स्वहस्ततलनिहितलुप्तस्मृतिकसुवर्णावलोकनप्रकारेण । निजकरतले स्वहस्ततले पूर्वं विन्यस्तं निहितं पश्चाद्विस्मृतं लुप्तस्मृतिकं च निजकरतलविन्यस्तविस्मृतम् । तच्च तच्चामीकरं सुवर्णं च । तस्यावलोकनम् । तस्य न्यायः प्रकारः । तेन । परमेश्वरोऽनन्तसुखाधिपतिः । परमुत्कृष्टं च तन्मं सुखं च परमम् । तस्येश्वरोऽधिपतिः परमेश्वरः । अत्र मशब्दः सुखाभिधेयोऽनन्तवीर्यादिरुपलक्षणार्थः । तेनानन्तचतुष्टयवानित्यर्थः । तम् । आत्मानं ज्ञात्वा विज्ञाय श्रद्धायेवृश एवायमिति निश्चित्यानुचर्यं च तत्प्राप्त्यनुकूलमनुष्ठान विधाय सम्यक्समीचीनतयैकात्मारामो भूत्वा । एको द्रव्यभावकर्मविकलश्शुद्धज्ञानघनैकस्वभावश्च । एकश्चासावात्मा चैकात्मा । स आरामो विश्रान्तिस्थान यस्य स एकात्मारामः । भूतो जातः । स खल्वहमात्माऽऽत्मप्रत्यक्ष स्वसंवेदनप्रत्यक्षं चिन्मात्रं चैतन्यमात्रं ज्योतिस्तेजः । समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावैः समस्ता निखिला आत्मना तादात्म्यमापन्ना वा समस्ताः । क्रमाक्रमप्रवर्तमाना सहभाविक्रमभाविनः । क्रमभाविपर्यायरूपास्सहभाविगुणरूपाश्चेत्यर्थः । व्यावहारिकभावाः गुणगुणिपर्यायपर्यायिरूपभेदप्रवर्तकव्यवहारनयनिबन्धनाः भावाः गुणाः पर्यायाश्च । क्रमप्रवर्तमानाः क्रमभाविन., क्रमेण परिणममानत्वात् । अक्रमप्रवर्तमानाः सहभाविनः, अक्रमेण युगपद्द्रव्येण सह प्रवर्तमानत्वात् । ते च गुणा एव, गुणानामेव सहभावित्वात् । गुणानां द्रव्याद्भेदेन प्रतिपादनात्तेषां द्रव्यांशत्वाच्च पर्यायत्वम् । समस्ताश्च ते क्रमाक्रमप्रवर्तमानाश्च समस्तक्रमाक्रमप्रवंमानाः । व्यावहारिकाश्च ते भावाश्च व्यावहारिकभावाः । समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानाश्च ते व्यावहारिकभावाश्च समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावाः । तैः । व्यवहरणं पृथक्करणं निमित्तं फलं वा यस्य स व्यावहारिकः । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोश्च परमार्थतोऽन्योन्यतादात्म्येऽपि तयोर्व्यवहारनयापेक्षया भेदं कृत्वा क्रमाक्रमप्रवर्तमानत्वं व्यवस्थाप्य पर्यायत्वं विधीयते । तैः पर्यायैर्गुणैश्चोपलक्षितोऽपि चिन्मात्राकारेण चैतन्यमात्ररूपासाधारणधर्मेणाभिद्यमानत्वाच्चैतन्यमात्ररूपासाधारणधर्मस्य शकलीकरणासम्भवान्ममात्मनोऽखण्डितत्वादेकोऽखण्डद्रव्यरूपः । नरनारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यः–नरश्च नारकश्च नरनारकौ । तावादी येषां ते नरनारकादयः । जीवविशेषाः–जीवानां विशेषाः भेदा जीवविशेषाः । यद्वा जीवस्य विशेषाः पर्याया जीवविशेषाः । ते च अजीवाश्च नरनारकादिजीवविशेषाजीवाः । ते सन्त्येषु ते पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाश्च । तल्लक्षणानि व्यावहारिकाणि व्यवहारनयनिबन्धनानि नवतत्त्वानि । तेभ्यः । संसारिण आत्मनो नरनारकादिरूपेषु जीवपर्यायेषु जीवस्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षया वस्तुत एकत्वेऽपि व्यवहारनयकृतभेदैरनेकत्वम् । तेभ्योऽजीवादिमोक्षान्तेभ्यश्च व्यवहारनयकृतभेदकल्पनवसङ्ख्याकतत्त्वेभ्यष्टङ्कोत्कीर्णैकमात्रज्ञायकस्वभावेन टङ्कोत्कीर्णवन्नित्यद्रव्यभावकर्मान्यद्रव्य-

विकलत्वादेकरूपेण ज्ञायकस्वभावेन हेतुभूतेनात्यन्तमत्यर्थं विविक्तत्वाद्भिन्नत्वाच्छुद्धः। चिन्मात्रतया चैतन्यमात्रत्वेन । चैतन्यमात्रस्वभावत्वेनेत्यर्थः। सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणात्सामान्योपयोगात्मकताया विशेषोपयोगात्मकतायाश्चानतिक्रमणादनतिलङ्घनाद्दर्शनज्ञानमयो दर्शनज्ञाननिर्भरः। सामान्योपयोगेन निष्पर्यायद्रव्यमात्रग्राहिदर्शनमयो विशेषोपयोगेन च द्रव्यविशेषधर्मग्राहिज्ञानमयश्चेत्यर्थः। अत्र दर्शनज्ञानशब्दाभ्यां स्वपरसामान्यविशेषग्राहित्वमात्मनो ग्राह्यम्। स्पर्शरसगन्धवर्णनिमित्तकसंवेदनपरिणतत्वेऽपि बाह्यपुद्गलद्रव्याश्रितस्पर्शरसगन्धवर्णात्मकगुणविशेषनिमित्तभूतैस्तत्तद्धर्मज्ञानविशेषात्मकत्वेन जीवज्ञानसामान्यस्य परिणतत्वेऽपि स्पर्शादिस्वरूपेण पुद्गलद्रव्यगतस्पर्शाद्यचेतनद्रव्यगुणरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतो निश्चयनयेन सदैव त्रैकाल्येप्यरूप्यमूर्तः। इत्येवम्प्रकारेण प्रत्यगन्तरात्मनि स्वरूपं स्वीयं शुद्धज्ञानस्वभावं सञ्चेतयमानोऽनुभवन्प्रतपामि प्रकाशतां प्राप्नोमि। प्रकटीभवामीत्यर्थः। एवममुना प्रकारेण प्रतपतश्च प्रकटीभवतश्च बहिरात्मद्रव्याद्भिन्नत्वेन विचित्रस्वरूपसम्पदा नानाविधस्वभावसम्पत्त्या विश्वे विश्वस्थवस्तुजाते परिस्फुरत्यपि प्रकटीभवत्यपि न विश्वस्थानात्मभिन्नवस्तूनां किञ्चनाप्यन्यद्भिन्नं वस्तु परमाणुमात्रमपि परमाणुपरिमाणमपि। स्वल्पमपीत्यर्थः। आत्मीयत्वेन स्वीयत्वेन प्रतिभात्यनुभवगोचरतां याति यद्बाह्यं वस्तु भावकत्वेनात्मविभावपरिणामोत्पत्तौ निमित्तकर्तृभूतत्वेन ज्ञेयत्वेन ज्ञानविषयभूतत्वेन चैकीभूयाभिन्नतां प्राप्य भूयः पुनर्मोहं मोहात्मकं विभावभावमुद्भावयत्यात्मनि प्रादुर्भावयति, स्वरसत एव स्वशुद्धानुभूत्यैवापुनःप्रादुर्भावाय पुनर्भविष्यद्भावमोहोत्पत्तिनिरासार्थं समूलं समूलकाषं मोहं मोहात्मकं विभावभावमुन्मूल्य कषित्वा महतो विपुलस्य ज्ञानोद्योतस्य ज्ञानतेजसः प्रस्फुरितत्वात्प्रकटीभूतत्वात्। स्वशुद्धात्मानुभूतिप्रादुर्भूतज्ञानसामर्थ्येन पुनरुत्पत्तिर्यथा न स्यात्तथा द्रव्यभावमोहनीयं कर्म समूलकाषं कषितत्वान्महतोऽनन्तस्य केवलज्ञानस्य प्रकटीभूतत्वादित्यर्थ.।

टीकार्थ— जिसप्रकार मोहनमंत्र का प्रयोग किया जानेपर मनुष्य को मतिभ्रम होता है उसीप्रकार मोहनीयकर्म अनादिकाल से आत्मा के पीछे पड़ा हुआ होनेसे संसारी जीव अनादिकाल से उन्मत्त–पागल हो जानेसे अज्ञानी अर्थात् आत्मा और कर्म इनकी विभिन्नता को न जाननेवाली होती हुई संसार–शरीर–भोग से विरक्त बने हुए गुरुदेव के द्वारा आत्मा और पुद्गलद्रव्य इनमें भेद है ऐसा निरन्तर समझाये जानेवाली महान् कष्ट से आत्मा और पुद्गल में भेद है ऐसा समझकर जिसप्रकार कोई पुरुष सोनेको अपने हाथ में रखकर उसके रखनेके स्थान को भूलकर बादमें उस सुवर्ण को अपने हाथ में देखता है उसीप्रकार (शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से) अनंतसुखवीर्यादि की अधिपति ऐसी आत्मा को (यथार्थरूप से) जानकर, वह आत्मा इसी प्रकार की (अनन्तज्ञानसुखवीर्यादिसंपन्न) है इस प्रकार श्रद्धानकर और उसकी प्राप्ति के अनुकूलरूप से चारित्र का पालन कर समीचीनरूप से निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली द्रव्यभावकर्मविकल अपनी आत्मा में रममाण हुई वह मैं स्वसंवेदनज्ञान का विषय बना हुआ चैतन्यमात्रस्वरूपवाला तेज हूं, (निश्चयनय की दृष्टि से) आत्मा के साथ (नित्य) तादात्म्य को प्राप्त हुए क्रम से परिणत होनेवाली पर्यायस्वरूप और आत्मा के साथ अनादि से अनन्त कालतक आत्मा को साथ न छोडनेवाले (कथंचित् आत्मा से भिन्न किये जानेवाले आत्मा के अंशरूप होनेसे पर्याय कहे जानेवाले) गुणात्मक धर्मरूप परिणामों के कारण भिन्नरूप दिखायी देनेवाली होनेपर भी चैतन्यमात्ररूप असाधारण (अखंड) स्वभाववाली होनेके कारण उसके खंड न होनेसे एकरूप (अखंडरूप) हूं, नरनारकादिरूप जीवों के विशेष (अथवा नरनारकादिरूप प्रत्येक जीव के विशेष) और अजीव जिनके होते हैं वे पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इनस्वरूप व्यवहारनयाश्रित नव तत्त्वों से टंकोत्कीर्ण के समान नित्य–अविनश्वर एक अर्थात् शुद्धज्ञायकस्वभावरूप

पारिणामिकभाव से (इस प्रकार के स्वभाव से युक्त होनेसे) अत्यंत भिन्न होनेसे शुद्ध हूं, चैतन्यमात्रस्वरूप होनेसे सामान्योपयोगात्मकत्व और विशेषोपयोगात्मकत्व का उल्लंघन न करनेसे दर्शनमय और ज्ञानमय हूं, स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से युक्त पुद्गलद्रव्य के निमित्त से ज्ञेयाकार के ज्ञान के रूपसे परिणत हुई होनेपर भी स्पर्शादिगुणयुक्त पुद्गलद्रव्य के रूप से स्वयं परिणत होनेके कारण परमार्थरूप से–निश्चयनय की दृष्टि से मे सदा अरूपी–अमूर्त हूं इसप्रकार यह अंतरंग में अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करनेवाली मे आत्मा प्रकट होती हूं। इसप्रकार प्रकट होनेवाले मुझे आत्मा से बाहर अनेकविध स्वभावों की संपत्ति से युक्त विश्वस्थ संपूर्ण पदार्थ प्रकट होनेवाले होनेपर भी कौनसी भी परमाणु के जितनी भी आत्मभिन्न वस्तु आत्मस्वामिकता के रूपसे अर्थात् आत्मस्वरूप से जंचती नहीं–अनुभव में आती नहीं कि जो आत्मा को विभावभावरूप से परिणत करनेवाले के रूप से अर्थात् भावकभाव के रूप से और ज्ञेय के रूप से आत्मा को उससे भिन्न होनेपर भी उसके साथ एकरूप होकर पुनः मोह उत्पन्न न करें; क्यों कि शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति से हि फिर उत्पन्न न हो इसप्रकार मोह को (द्रव्यमोह को और भावमोह को) जडमूल से उखाडकर अनंतज्ञानरूप तेज का प्रस्फुरण–प्रकटीभवन हुआ है।

विवेचन– किसी मांत्रिक के द्वारा मोहनमंत्र का प्रयोग किया जानेपर जिसपर मोहनमंत्र का प्रयोग किया जाता है उसके मतिभ्रम होता है–उसका ज्ञान विपरीतरूप से परिणत हो जाता है। अनादिकाल से आत्मा के पीछे पडे हुए मोहनीय कर्म के कारण उस मंत्रमुग्ध पुरुष के समान यह संसारी आत्मा उन्मत्त हो गयी है–अज्ञानरूप से परिणत हो गयी है। अर्थात् मिथ्यात्वी बन गयी है। इसी अज्ञान की क्रोधादिभावरूप विभावरूप परिणतियां होती हैं। जिसप्रकार मंत्रमुग्ध पुरुष को हेयोपादेय का ज्ञान नहीं रहता–हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझता है उसीप्रकार मोहनीयकर्म से ग्रस्त हुई आत्मा को हेयोपादेय का ज्ञान नहीं रहता–वह हेय परपदार्थों को और कर्मोदय-रूपनिमित्त से आत्मा में प्रादुर्भूत होनेवाले विभावभावों को उपादेय समझती है और उपादेयभूत शुद्ध आत्मा को जानती भी नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञानी आत्मा स्वपर के भेद को जानती नहीं और सन्मार्ग को छोडकर उन्मार्गपर आरूढ होती है। इसी कारण से हि उसे अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पडता है। आत्मा और परपदार्थ इनकी विभिन्नता का उस अज्ञानी आत्मा को ज्ञान न होनेसे वह उन्मत्त हि कही जाती है। यह उन्मत्तता हि उसकी अप्रतिबुद्धता का कारण है। जिसे स्वपरभेद का ज्ञान होता है वह आत्मा अप्रतिबुद्ध कही जाती है और जो स्वपरभेद के ज्ञान से वंचित होती है वह अप्रतिबुद्ध कही जाती है। ऐसी इस अप्रतिबुद्ध अत एव स्वपरभेद-ज्ञानविकल आत्मा को संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हुए अर्थात् स्वपर के भेदज्ञान के द्वारा शुद्धात्म के स्वरूप का अनुभव करनेवाले और अज्ञानांधकार का नाश करनेवाले गुरुदेव के द्वारा ('गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात्रुशब्दस्तन्निवारकः' यह गुरुशब्द की निरुक्ति है।) निरंतर उपदेश दिया जाता है तब बडी मुश्किलता से उसे आत्मा और परभावों में होनेवाली भिन्नता को स्वीकार कर प्रतिबुद्ध–सम्यक् ज्ञान से युक्त होती है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि सोना अपनी मुट्ठी में रक्खा हुआ होनेपर भी आदमी सोना अपनी मुट्ठी में रक्खा है इस बात को भूल जाता है और उसे कहीं अन्यत्र ढूढने लग जाता है। याद आनेपर कहता है कि–अरे! सोना तो मेरी मुट्ठी में हि है और पागल की तरह उसके लिए इधर–ऊधर ढूंढ रहा हूं। कैसी अजीब बात है? यहि हालत मोहाक्रान्त–मोहग्रस्त–मोही अत एव मिथ्याज्ञानवाली आत्मा की है। अज्ञानी यह नहीं जानता कि मे 'मे' इस शब्द के उच्चारण के द्वारा अपनी आत्मा का उल्लेख अनेकों बार करता हू; किंतु मे आत्मा को यथार्थरूप से नहीं जानता हूं-अपने शरीर को हि आत्मा समझ रहा हूं। श्रीगुरुदेव के द्वारा बारबार समजाया जानेपर मुझे विश्वास हो गया है कि न आत्मा शरीर है और न शरीर आत्मा है–आत्मा शरीर से भिन्न ज्ञानस्वभाववाला पदार्थ है और जब शरीर आत्मरूप और आत्मा का नहीं है तब आत्मभिन्न पदार्थ भी आत्मा के नहीं हैं। आत्मा तो शुद्धज्ञानस्वभाववाली है और अशुद्धात्मपर्यायभूत क्रोधादिरूप विभावभाव शुद्धचैतन्य से रहित होनेसे आत्मा के नहीं हैं। इसतरह परमसामर्थ्य को धारण करनेवाली अपनी आत्मा को जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसकी प्राप्ति के लिए उसीके अनुकूल आचारण कर अच्छीतरह से परभावविकल और टंकोत्कीर्णतुल्य नित्य एक ज्ञायकस्वभाव के कारण एकरूप आत्मा में आराम करने लग जाती

है—स्वसंवेदनज्ञान से उस शुद्ध आत्मा का अनुभव करने लग जाती है और मेरे अनुभव में आनेवाला आत्मा का स्वभाव सिर्फ शुद्ध चैतन्यरूप तेज है । आत्मा का अनुभव करते समय नीचे दी हुई बातों का ज्ञान हो जाता है—

१) प्रत्येक पदार्थ आदि–अन्त से रहित है; क्यों कि न वे किसी के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं और न उसका आत्यंतिकरूप से विनाश होता है—तुच्छाभाव होता है । यदि मूल पदार्थों को सादि माना–किसी के द्वारा उत्पादित किये गये हैं ऐसा माना तो उत्पादनपूर्वकाल में उसका तुच्छाभाव मानना पडेगा और उसीकारण उनकी असत् से उत्पत्ति माननी पडेगी, जो कि असंभव है । यदि उनके विध्वंस को तुच्छाभावरूप माना अर्थात् प्रध्वसाभाव को तुच्छाभावरूप माना तो सत् का विनाश मानना पडेगा, जो कि प्रत्यक्ष के विरुद्ध पडता है । अतः पदार्थ को अनादि-निधन मानना हि होगा । पदार्थों की अनादिनिधनता से उनके गुणों की अनादिनिधनता को स्वीकार करना होगा; क्यों कि द्रव्य गुणपुंजरूप होनेसे गुणों का द्रव्य के साथ तादात्म्यसंबंध होता है । गुण द्रव्य के सहभावि होते हैं; क्यों उनका द्रव्य में कभी आविर्भाव और अनाविर्भाव नहीं होता । दूसरीबात यह है कि पदार्थों के सभी गुणों से अविना-भाव होनेसे पदार्थ के अपने असाधारण गुण में उनका अन्तर्भाव हो जाता है । पदार्थ का असाधारणधर्म यावद्-द्रव्यभावी होनेसे शेषधर्मों का यावद्द्रव्यभावित्व सिद्ध हो जाता है। पदार्थों के साथसाथ रहनेवाले होनेसे उन्हें अक्रम-प्रवर्तमान या सहभावी कहते है । परमार्थतः गुणों का पदार्थ के साथ तादात्म्य होनेसे उनका सहभावित्व उपचरित है; क्यों कि व्यवहारनय की दृष्टि से गुणोंको भिन्न बताया जानेपर उन्हें सहभावि कहा जा सकता है । वस्तुतः गुणों के भेद से एक पदार्थ के वास्तव भेद नहीं होते । स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये पुद्गल के व्यवहारनय की दृष्टि से धर्म हैं । इन धर्मों की विभिन्नता से जिसपदार्थ के साथ उनका तादात्म्यसंबंध होता है उस पदार्थ के परमार्थतः चार भेद नहीं होते । अक्रमरूप में चारों धर्म होनेपर भी उसका अखंडद्रव्यत्व बना रहता है। ये चारों धर्म अक्रमरूप से और एक दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते । जहां एकधर्म होता है वहां अवशिष्ट धर्मोंका सद्भाव होता हि है; क्यों कि उनका जिसप्रकार द्रव्य के साथ तादात्म्य होता है उसीप्रकार परस्परतादात्म्य भी होता है । सारांश, पदार्थों का अनेकधर्मात्मकत्व व्यवहारनयाश्रित होता है । निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ एकमात्रधर्मात्मक होता है । अतः व्यवहारनय की दृष्टि से पदार्थ अनेकधर्मात्मक होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से वह अखंडैकधर्मात्मक होनेसे उसका अखण्डैकद्रव्यत्व बाधित नहीं होता । आत्मा भी एक द्रव्य है और वह व्यवहारनय की दृष्टि से अनंतधर्मात्मक है । इन अनंतधर्मों के कारण उसके अनंत खंड नहीं होते । निश्चयनय की दृष्टि से एक चैतन्यमात्र हि असाधारण धर्म है । उन अनन्तधर्मोंका इस असाधारण धर्म के साथ अविनाभाव होनेसे उस धर्म में उन अनन्तधर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है । उनका उस एक असाधारण धर्म में अन्तर्भाव हो जानेसे उस धर्म के साथ उनका तादात्म्य सिद्ध हो जाता है । यह आत्मा का असाधारण धर्म जिसप्रकार अखण्ड एक धर्म है उसीप्रकार आत्मा भी एक अखण्ड द्रव्य है । इससे आत्मा का एकत्व सिद्ध हो जाता है—

पर्याय और परिणाम एकार्थवाचक हैं । जब द्रव्य की परिणति होती है तब द्रव्य की पूर्वपर्याय का नाश और उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होती है । पूर्वपर्याय का नाश हि उत्तरपर्याय की उत्पत्ति है । पर्याय की उत्पत्ति और विनाश के काल में द्रव्य ध्रुवरूप से विद्यमान रहता हि है । यदि उत्पत्ति के समय और विनाश के समय द्रव्य का अभाव हो गया तो उत्पत्ति और विनाश किस आश्रय में होंगे ? अतः पर्यायनाशके और पर्यायोत्पत्ति के समय पर्यायी द्रव्य अवश्य हि विद्यमान रहता है । पर्यायें द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय के रूप से दो प्रकार की होती हैं । द्रव्य की अर्थपर्यायें और व्यंजनपर्यायें भी होती हैं । मिट्टी की घटरूप पर्याय द्रव्यपर्याय है और काली मिट्टी के कृष्णवर्ण की पोलि या लालपर्याय गुणपर्याय है । द्रव्य की प्रतिसमय होनेवाली कालमात्रनिमित्त की सहायता से होनेवाली सूक्ष्म पर्याय अर्थपर्याय कही जाती है और कालरूप निमित्त की और अन्यनिमित्त की सहायता से होनेवाली स्थूलपर्याय व्यंजनपर्याय कही जाती है । इन पर्यायों के कारण व्यवहारनय की दृष्टि से या पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से द्रव्य की अनेकविधता होनेपर भी द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से उपादानभूत द्रव्य या गुण अपने स्वभाव से पर्यायों में अन्वित हुआ होनेसे द्रव्य की या गुण की एकविधता–अखडत्व बनी रहने से उनकी एकता सिद्ध हो जाती है । पर्याय स्वभावपर्याय और

विभावपर्याय इस प्रकार से भी दो प्रकार की होती है। इन दोनों पर्यायों में द्रव्य की और गुण की जाति बनी रहती है। पर्याय की दृष्टि से यद्यपि द्रव्य की या गुणकी अनेकता व्यवहारनय की दृष्टि से सिद्ध होती है तो भी द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से एकता हि बनी रहती है; क्यों कि पर्यायरूप से परिणत होते समय द्रव्य या गुण अपनी जाति को छोडता नहीं। आत्मा भी द्रव्य है। आत्मद्रव्य और उसका गुण पर्याय का उपादान होता है। आत्मा की द्रव्यपर्याय होती है और उसके गुण की अर्थपर्यायें और व्यंजनपर्यायें तथा स्वभावपर्यायें और विभावपर्यायें होती हैं। आत्मा जब एक गति से दूसरी गति में जाती है तब उसको द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय होती है। ये पर्यायें व्यंजनपर्यायरूप और अर्थपर्यायरूप भी होती हैं। अर्थपर्याय व्यंजनपर्याय के अन्तर्गत होती है। पर्यायों की प्रधानता होनेपर व्यवहारनय की दृष्टि से यद्यपि आत्मा की या उसके ज्ञानगुण की अनेकता बनती है तो भी द्रव्यसामान्य की एकता-अखंडता बनी रहनेसे आत्मा का एकत्व सिद्ध हो जाता है।

(२) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नवतत्त्व हैं और ये व्यवहारनय की दृष्टि से नवसंख्याक हैं। परमार्थतः जीव और अजीव ये हि दो तत्त्व हैं। इन दोनों की सहकारिता से पुण्यपापादि अस्तिरूप बने हुए हैं। इनका द्रव्यार्थिकनय की और पर्यायार्थिकनय की गौणमुख्यता के अनुसार जीव में या अजीव में अंतर्भाव होता भी है और नहीं भी होता। पर्यायार्थिकनय की गौणता होनेपर और द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता होनेपर आस्रवादिरूप नियत पर्यायों की गौणता होनेसे और अनादि परिणामिकभावरूप जीव का चैतन्यभाव और अजीव का अचैतन्यभाव आदिरूप द्रव्य की प्रधानता होनेसे आस्रवादिकों का जीव में या अजीव में अंतर्भाव होता है। उसीप्रकार द्रव्यार्थिकनय की गौणता होनेपर और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होनेपर आस्रवादिरूप नियत पर्यायों की मुख्यता होनेसे और अनादिपारिणामिकभावरूप जीव का चैतन्यभाव और अजीव का अचैतन्यभाव आदिरूप द्रव्य की गौणता होनेसे आस्रवादिकों का जीव में या अजीव में अन्तर्भाव नहीं होता। जब उनमें होनेवाले चैतन्यभाव की प्रधानता होती है तब वे आस्रवादिभाव जीव में अन्तर्भूत होते है और जब अचैतन्यभाव की प्रधानता होती है तब वे अजीव में अन्तर्भूत होते हैं। जीव और अजीव का जब सश्लेष होता है तब आस्रवादिभाव अस्तिरूप बनते हैं और उनसे जीव की संसार में प्रवृत्ति होती है और संसारप्रवृत्ति का उपरम होता है। संसारावस्था मोक्ष की निमित्तकारण है और मोक्ष उसकी कार्य है; क्यों कि मोक्ष बंधपूर्वक होती है। ससार जीव के मोक्ष के पूर्वकाल की अवस्था होनेसे और उस अवस्था का मोक्ष-अवस्था में अभाव होनेसे संसारावस्था मोक्षावस्था की निमित्तकारण है–उपादानकारण नहीं। संसारावस्था का और मोक्षावस्था का उपादानकारण जीव है। अतः मोक्ष संसारपूर्वक होती है और ससार जीव और पुद्गल का परस्परसंश्लेषरूप होता है। आस्रव और बंध संसार के मुख्य कारण हैं। अर्थात् आस्रव और बंध से जीव संसारी अवस्था में बना रहता है–उसकी संसारावस्था नहीं छूटती, फिर भले हि उसकी अनेक संसारावस्थाएं होती हो। जिस में जीव के और अजीव के अर्थात् पुद्गल परस्परसंश्लेष का अभाव होता है ऐसी मोक्ष के संवर और निर्जरा मुख्य कारण हैं; क्यों कि संवर से नये आस्रवण रुक जाता है और निर्जरा से प्राग्बद्ध कर्मों का एकदेश क्षय होते जाता है। आस्रव और बंध म अजीव कर्मपुद्गलों का आस्रवण और उनका जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहित्वरूप संश्लेष होता है। अतः जीव और पुद्गल के सद्भाव में हि आस्रव और बध अस्तिरूप बनते हैं। संवर आस्रुत होनेवाले कर्मों को रोकता है। इसलिये संवरतत्त्व की सिद्धि जीव और अजीवपर अवलंबित है। निर्जरणक्रिया में जीव का और प्राग्बद्धकर्मों का सद्भाव होता है; क्यों कि अजीव को आत्मा के साथ बंध न होता तो निर्जरण किसका किया जाता ? अतः निर्जरा भी जीव और अजीवपर अवलंबित है। जब जीव की मोक्ष होती है तब भी मुच्यमान कर्मों का सद्भाव आवश्यक होनेसे मोक्ष जीव और अजीवपर अवलंबित है। इसप्रकार आस्रवादि जीव और अजीव के बिना अस्तिरूप नहीं होते। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से टंकोत्कीर्ण के समान नित्य-अविनश्वर शुद्ध ज्ञायकस्वभावरूप पारिणामिकभाववाली होनेसे अर्थात् द्रव्यभावकर्मों से रहित होनेसे और आस्रवादिभाव हेतुरूप होनेसे आस्रवादिभावों से अत्यंत भिन्न होनेके कारण आत्मा शुद्ध है।

(३) शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा एक चैतन्यमात्रस्वभाववाली है। यह चैतन्यमात्रस्वभाववाली होनेसे उसके उस स्वभाव के सामान्योपयोग और विशेषोपयोग ऐसे दो भेद होते हैं। सामान्योपयोग से ज्ञेयद्रव्य के निष्पर्याय द्रव्य का ग्रहण होता है और विशेषोपयोग से ज्ञेयद्रव्य के विशेषों का ग्रहण होता है। वस्तुतः उपयोग के द्वारा जब द्रव्य के सामान्यमात्र का ग्रहण होता है तब उस उपयोग को सामान्योपयोग या दर्शनोपयोग कहते हैं और जब उपयोग के द्वारा ज्ञेय के विशेषों का ग्रहण होता है तब उस उपयोग को विशेषोपयोग या ज्ञानोपयोग कहते हैं। चैतन्यशक्ति का कार्य है ज्ञेयद्रव्य को ग्रहण करना–उसको जानना। ज्ञेयद्रव्य सामान्यविशेषात्मक होनेसे उसको जाननेवाले ज्ञान के सामान्योपयोग और विशेषोपयोग या दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग ऐसे दो भेद होते हैं। केवलीभगवान् के ज्ञान के भेद नहीं होते; क्यों कि उनका ज्ञान क्षायिक होनेसे वस्तु के सामान्यविशेषों का ग्रहण उन्हें युगपत् होता है। अतः आत्मा ज्ञानस्वभाववाली होनेसे उसमें सामान्योपयोग का या दर्शनोपयोग का और विशेषोपयोग का या ज्ञानोपयोग का अभाव नहीं हो सकता। अतः आत्मा अवश्यमेव दर्शनमय और ज्ञानमय (विशेषग्राहि अवस्थामय) होती है।

(४) बाह्यार्थ स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन चार गुणों से युक्त होता है। उनके निमित्त से उन्हें जानने की क्रियारूप से परिणत होनेपर भी आत्मा स्पर्शादिरूप से कभी भी परिणत नहीं होती; क्यों कि स्पर्शादिरूप से परिणत होनेसे आत्मा के अचेतन बन जाने की आपत्ति उपस्थित हो जायगी। अत स्पर्शादिरूप से आत्मा का परिणमन होना असंभव होनेसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा सदैव अरूपी है। कहने का भाव यह है कि ज्ञेयरूप पुद्गलपदार्थ स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन धर्मों से युक्त होता है। [आत्मा में स्पर्श आदि का ज्ञान व्यक्त होता है। ऐसा ज्ञान उत्पन्न होनेमें स्पर्शादि निमित्तकारण पडते हैं। निमित्तकारण उपादान के कार्य में अपने स्वरूप से अन्वित हुआ नहीं पाया जाता। स्पर्शादिकों का जो ज्ञान होता है वह ज्ञान स्पर्शादिकों के रूप से परिणत नहीं होता। इसलिये पारमार्थिकदृष्टि से आत्मा हमेशा के लिये अरूपी ही है।]

साराश, आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धज्ञायकैकस्वभाववाली होनेसे एकरूप, नरनारकादिजीवपर्यायों से और आस्रवादिकों से भिन्न होनेसे शुद्ध, चैतन्यस्वभाववाली होनेसे दर्शनज्ञानोपयोगमय और पुद्गलद्रव्य के गुणरूप स्पर्शादिरूप से परिणत न होनेवाली होनेसे अरूपी है। इसप्रकार से पृथग्रूप से अपने उक्त स्वरूप का अतरग में अनुभव करते हुए आत्मा प्रकटरूप होती है।

इसप्रकार प्रकाशरूप बनी हुई आत्मा के साथ नानास्वभावों से युक्त बाह्यार्थ भावकरूप से और ज्ञेयरूप से संबद्ध होनेपर भी उनका परमाणुप्रमाण अंश भी अपने स्वभाव का परित्याग कर और आत्मा के स्वभाव को स्वीकार कर आत्मा का नहीं बनता और आत्मा भी अपने स्वभाव का त्याग कर के और उनके स्वभाव को स्वीकार कर उनकी स्वामी नहीं होती। इसप्रकार जानकर अपनी आत्मा के स्वरूप का संवेदनज्ञान के द्वारा-अनुभव के द्वारा इसप्रकार त्याग करती है कि जिससे बाह्यार्थ भावकरूप से और ज्ञेयरूप से आत्मा के साथ संबद्ध होकर उसको फिरसे मोहाक्रान्त न कर सके। इसप्रकार मोह को समूल उखाड देनेसे उसमें केवलज्ञानरूप प्रकाश प्रकट हो जाता है।

अब सभी ससारी आत्माओ को मोह के त्याग से केवलज्ञान की प्राप्ति हो और शान्तरस का अनुभव हो इसप्रकार की भावना आचार्य भाते हैं–

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छ्वलति[1] शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्यविभ्रमतिरस्करिणीभरेण[2]

१–'उच्छलति' इति पाठान्तरम्। २–'आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीभरेण' इति 'आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणी भरेण' इति च पाठान्तरे।

प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ।। ३२ ।।

इति समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरङ्गः समाप्तः

अन्वय– एष भगवान् अवबोधसिन्धुः आप्लाव्यविभ्रमतिरस्करिणीभरेण प्रोन्मग्नः । (अस्य) आलोकं उच्छ्वलति शान्तरसे समस्ता अमी लोकाः समं एव निर्भरं मज्जन्तु ।

अथवा

अन्वय– एष भगवान् अवबोधसिन्धुः विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण आप्लाव्य प्रोन्मग्नः । (अस्य) आलोकं उच्छ्वलति शान्तरसे समस्ता अमी लोकाः समं एव निर्भरं मज्जन्तु ।

अर्थ– जिसकी प्राप्ति हो जानेपर आत्मा में अनन्तसुखवीर्यादि की प्रादुर्भूति हो जाती है ऐसा भगवान् ज्ञानरूप महासागर विनाश करनेयोग्य विभावभावात्मक जो अज्ञान उसको ग्रसित करनेकी सामर्थ्य जिसमें होती है ऐसे प्रकृष्ट स्वसंवेदनज्ञान के कारण उछल रहा है । सभी ज्ञेयों को जाननेवाले केवलज्ञान को व्याप्त करनेतक उछलनेवाले उस ज्ञानसागर के शांतस्वरूप जल में संसार के सभी प्राणि एकसाथ हि आत्यंतिकरूप से मग्न हो जाओ ।

अथवा

यह भगवान् ज्ञानसागर उछल रहा है । शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रच्छादित करनेवाली मोहनीयोदयजन्य विभावभावरूप परिणति को आत्मस्वभावभूत ज्ञान के द्वारा या स्वसंवेदनरूप ज्ञान के द्वारा नाश करके सभी ज्ञेयों को जाननेवाले केवलज्ञान को व्याप्त करनेतक उछलनेवाले उस ज्ञानसागर के शांतरसरूप जल में संसार के सभी प्राणि एकसाथ हि आत्यन्तिकरूप से मग्न हो जाओ ।

अथवा

यह सभी कल्याणों का निधानभूत, शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मारूप नट ज्ञानरूप सिंधुराग में गा रहा है । शान्तरसप्रधान नाटक को खेलनेवाली आत्मा मोहरूप पर्दे को खूब दूर हटाकर (रंगभूमिपर) प्रकट हो रही है । (इसका शांतरस कृत्रिम न होकर स्वाभाविकभावरूप है और वह शान्तरस उसका स्वाभाविकभाव होनेसे उस रस को प्रकट करनेका चातुर्य प्रकट होनेवाला है ।) इस नट के द्वारा प्रकट किये जानेवाले और परमोत्कृष्टभाव को प्राप्त कराये जानेवाले शान्तरस में संसारस्थ समस्त प्राणिगणरूप प्रेक्षक केवलज्ञान की प्राप्ति होनेतक आत्यन्तिक-रूप से मग्न हो जाओ ।

त. प्र.– एष सर्वज्ञानिजनप्रसिद्धो भगवान् । भगः कल्याणं सुखं वाऽस्यास्तीति भगवान् । 'भगं तु ज्ञानयोनीच्छायशोमाहात्म्यमुक्तिषु । ऐश्वर्यवीर्यवैराग्यधर्मश्रीरत्नभानुषु' इति विश्वलोचने । यद्वा भगो रागद्वेषादिराहित्यरूपं वैराग्यं वीतरागत्वमस्यास्तीति भगवान् । सर्वकल्याणनिधानभूतोऽनन्तसुख-वीर्यादियुक्तो रागद्वेषादिविभावभावविमुक्तो वेत्यर्थः । अवबोधसिन्धुर्ज्ञानसागरः । अवबुध्यते ज्ञायतेऽ-नेनेत्यवबोधो ज्ञानम् । स एव सिन्धुस्सागरोऽवबोधसिन्धुः । ज्ञानरूपस्सागर इत्यर्थः । आप्लाव्यविभ्रमति-रस्करिणीभरेण विनाश्यमोहाक्रान्तविभावविदारणशीलस्वसंवेदनज्ञानेन । आप्लाव्यो विनाश्यश्चासौ विभ्रमो मोहश्चाप्लाव्यविभ्रमः । कृतमद्यपानपुरुषावस्थाजन्यज्ञानभ्रान्तिसमुत्पन्नसदसद्विवेचनज्ञानाभा-वान्मद्यं विभ्रमोत्पत्तिनिमित्तत्वाद्विभ्रमाभिधानार्हं यथा तथा मोहनीयं कर्मापि विभ्रमाभिधानार्हं, स्वप-रस्वभावविभिन्नतासञ्जायमानतदुभयभावभेदज्ञानभ्रान्त्युत्पादनेन तयोरेकीभावसम्पादकत्वात्तस्य । तस्य तिरस्करिणी महामोहप्रसनशीला या वीतरागानिर्विकल्पावस्था तस्या भरेण प्रकर्षेण प्रोन्मग्नः प्रकर्षेणो-च्छलितः । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतस्य जीवस्य शुद्धात्मभावनैव विभ्रमतिरस्करिणी, ममात्मनो

शुद्धज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वान्मोहस्य च तद्विकलत्वान्न नाम मम मोहोऽस्ति कथञ्चनापीतिविचारप्रवाहनिमग्नस्यैव शुद्धात्मभावनासम्भवात् । अयमत्र विशेषः—क्षीरोदादयस्सागराः प्रक्षिप्तासङ्ख्यवस्तुसम्भारा अप्युच्छलनविकलाः, अगाधजलाकुलत्वात्तेषाम् । एष भगवानवबोधसिन्धुस्त्वपारोऽपि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतजीवात्मलयसमुपजातप्रलयमोहाभावोत्पन्नात्मशुद्धिप्रकर्षमात्रेण नितरामुच्छलति । 'आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीभरेण' इति पाठो न समीचीनः, कर्मसापेक्षसोपसर्गप्लुधातुणिजन्तरूपस्य 'आप्लाव्य' इति पाठस्यापेक्षितकर्माभावात् । अयमवबोधसिन्धुरगाधशान्तरसजलः । अस्योच्छ्वलत्युन्मज्जति शान्तरसजले समस्ताः समग्रा अमी लोकाः ज्ञानिनो जनाः । लोको भेदज्ञानरूपः प्रकाशोऽस्यास्तीति लोकः । लोका इति बहुवचनम् । आविर्भूतसम्यक्त्वा भव्या इत्यर्थः । अभिविधावत्राङ् । आ केवलज्ञानप्राप्तिकालात् । केवलज्ञानप्राप्तिकालमभिव्याप्येति यावत् । 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावसमासः । निर्भरमतिशयेन सममेव युगपदेव मज्जन्तु मज्जनं कुर्वन्तु । विपुलसलिलाकुलत्वाद्यथा सलिलनिधेस्सागरत्वं, न तदभावे, तथाऽमर्यादशान्तरसजलाकुलत्वादवबोधसिन्धोरवबोधसिन्धुत्वं, तदभावे तदभावात् । महामोहमकरकृतप्रक्षोभजन्यस्वभावभूतशान्तरसजलविप्लवे शुद्धावबोधसिन्धोर्विकृतौ जातायां सत्यां न तस्य तत्त्वं, लवणीभूतसलिलस्य समुद्रमुद्राङ्कितस्य तत्त्वाभाववत् । 'समम्' इति शब्दप्रयोगेण श्रीमतो भगवतोऽमृतचन्द्राचार्यवर्यस्य भवगहनसमुत्पन्नजाज्वलद्दुःखदावचक्रचङ्क्रम्यमाणश्रेयोमार्गानभिज्ञदीनप्राणिगणोद्धरणभावना प्रकटतामटति । परभावाविकलीकृत आत्मस्वभावः शान्तरसः । जीवोऽपि शान्तरसरसायनेन महामोहामयविध्वंसनाय कल्पते । आत्मन्युच्छलिते सति शान्तरसे प्रहतप्रत्यस्तमहामोहमकरो भगवानवबोधसिन्धुः प्रोन्मज्जति । अतोऽवबोधसिन्ध्ववगाहनचिकीर्षावता शान्तरस एवावगाहनं कर्तव्यम् । यद्वा—एष भगवान्रागद्वेषविभावभावोन्मुक्तोऽवबोधसिन्धुर्ज्ञानसागरः प्रोन्मग्नः प्रकर्षेणोच्छलितः । विभ्रमतिरस्करिणीं मोहाक्रान्तज्ञानप्रच्छादनीं शुद्धात्मस्वरूपभावनाम् । विभ्रमो मोहाक्रान्तज्ञानमेव तिरस्करिणी शुद्धात्मस्वभावप्रच्छादनी विभ्रमतिरस्करिणी । ताम् । भरेण स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानेन । भ्रियते धार्यत आपरिपूर्यते वात्मानेनेति भरः । तेन । आत्मस्वभावभूतेन स्वशुद्धात्मसंवेदनज्ञानेनेत्यर्थः । आप्लाव्य विनाश्य शान्तरसे निर्भरमत्यर्थं मज्जन्तु । शेषं प्राग्वत् । अत्र विषयेऽलङ्कारचिन्तामणिग्रन्थस्थः श्लोकः स्मृतिपथमवतरति । स यथा—

त्वं शुद्धात्मा शरीरं सकलमलयुतं त्वं सदानन्दमूर्ति—
र्देहो दुःखैकगेहं त्वमसि सकलवित्कायमज्ञानपुञ्जम् ।
त्वं नित्यश्रीनिवासः क्षणरुचिसदृशाशाश्वतैकाङगमङगं
मा गा जीवात्र रागं वपुषि भज निजानन्दसौख्योदयं त्वम् ॥

—परि. ५।६७, पृ. १२२

यद्वा—एष भगवान्सर्वकल्याणनिधानभूतोऽनन्तसुखवीर्यादियुक्तो रागद्वेषादिरूपविभावभावविमुक्तो वाऽवबोधसिन्धुर्ज्ञानाख्यसिन्धुरागविशेषः । ज्ञानमेव सिन्धू रागविशेषो यस्य सः । ज्ञानं विषयीकृत्य सिन्धुरागेण गानं कुर्वन्नयं शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धात्मा शैलूषो वर्तते । स एव शान्तरसप्रधानं नाटकं नटन्नात्मा विभ्रमो मोहाक्रान्तं ज्ञानमेव तिरस्करिणी शुद्धात्मस्वभावावगुण्ठनी तां भरेण स्वसंवेदनज्ञानभारेणातिशयेन वाप्लाव्यात्मनो दूरतरमुत्सार्य प्रोन्मग्नः प्रकर्षेण प्रकटीभूतः । शान्तरसप्रधानं नाटकं

महता कौशलेन नटतोऽस्य नटस्य शान्तरसो न कृत्रिमोऽपि तु स्वाभाविक. । तस्य रसस्य स्वाभाविकत्वान्नाटयितव्ये नाटके शान्तरसाविर्भावनचातुरी शुद्धात्मशैलूषप्रवरस्य । आत्मानात्मविवेकवैकल्योत्पत्तिनिमित्तभूतमोहजवनिकापसारणमन्तरेण नटोयं प्रकटतामटितुं न समर्थः शान्तरसनटनपाटवप्रकटने । अतस्तां मोहजवनिकामतिशयेन स्वसंवेदनज्ञानेन दूरतरमपसार्य प्रकटीभूतोऽयं नटः । एतन्नटप्रकटीकृते प्रोच्छलिते शान्तरसेऽमी लोकाः भव्याः पार्षदाः निर्भरमतिशयेन सममेव युगपदेवालोकं केवलज्ञानप्राप्तिकालं यावन्मज्जन्त्वतिशयेन लीना भवन्तु । मोहनीयोदयजन्यशृङ्गाराद्यद्भुतान्तेषु रसेषु वैभाविकभावापन्नाः पार्षदा विनोपदेशं प्रलीना न भवन्ति, पारिषदेषु शान्तरसप्रत्यर्थिमोहोदयसद्भावात् । एतादृशां तेषां हठान्मोहं न्यक्कृत्य युष्माभिरवश्यं शाश्वतिके शान्तरसे निमग्नैर्भवितव्यमित्याचार्या उपविशन्ति । अत्र शुद्धात्मा नटः, शान्तरसो नाटयितव्यो रसः संसारिणो भव्यजीवाश्च पारिषदाः । उक्तं चालङ्कारचिन्तामणौ शान्तरसभिन्नानां शृङ्गारादिरसानां मोहनीयोदयसञ्जातात्मविभावभावत्वं, न शान्तरसस्य । तद्यथा–

क्षयोपशमे ज्ञानावृतिवीर्यान्तराययोः । इन्द्रियानिन्द्रियैर्जीवे त्विन्द्रियज्ञानमुद्भवेत् ॥
तेन संवेद्यमानो यो मोहनीयसमुद्भवः । रसाभिव्यञ्जकः स्थायिभावश्चिद्वृत्तिपर्ययः ॥

विवेचन– विभ्रमशब्द का अर्थ इसप्रकरण में मोहनीयकर्म है; क्यों कि वह हि आत्मा में विभ्रम–भ्रांति को पैदा करता है। जिसप्रकार मदिरापान करनेवाले पुरुष को हेयोपादेय (हेय–त्याज्य क्या है और उपादेय–ग्राह्य क्या है इसका) का विवेक नहीं रहता, उसीप्रकार जिस जीव के मोहनीयकर्म उदय में आया हुआ होता है उसको भी हेयोपादेय का और स्वपर का विवेक नहीं रहता–वह स्व और पर को एकरूप–अभिन्न समझता है । शराब के समान मोहनीयकर्म विभ्रम का कारण होनेसे और विभावभावरूप विभ्रम आत्मा के शुद्धज्ञानस्वरूप को प्रच्छादित करनेवाला होनेसे कार्य का कारणपर आरोप करके उसे भी विभ्रम कहा जाता है। यह विभ्रम आत्मस्वभाव में विपर्यस्त विकार को पैदा करता है इसलिए वह आत्मा का प्रबल शत्रु है । भय और दुःख का नाश करनेके लिए जिसप्रकार शत्रु का नाश करना आवश्यक और योग्य होता है उसीप्रकार विभावभावों का नाश करनेके लिए मोहनीयकर्म का नाश करना हरएक जीव का आवश्यक और योग्य कर्तव्य है । मोहनीयकर्म के नाश में वीतरागनिर्विकल्पसमाधि या स्वसंवेदनज्ञान साधकतम साधन पडता है । इस साधन का आश्रय लेते हि शुद्धज्ञानरूप ज्ञानसागर उछलता है । इस महासागर का जल है शांतरस । इस सागर में गोता लगानेवाली आत्मा को नितांत शांतता की प्राप्ति होती है। जिसका जल उछल रहा है ऐसे इस शुद्धज्ञानरूप महासागर में ससार के सभी जीवों को खूब गोता लगाना चाहिये; जिससे उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति होकर चिरशांति का लाभ हो जायगा । ससार के सभी प्राणियों के कल्याण की अन्तरंग की भावना आचार्यवर्य श्रीमान् अमृतचंद्रसूरीश्वर ने इस कलश में व्यक्त की है । इस समय अलंकारचिन्तामणि में पाये गये एक श्लोक की याद आती है जो कि ऊपर टीका में उद्धृत किया गया है । उसका अर्थ निम्नप्रकार है–

हे आत्मा ! तूं शुद्ध है, तो शरीर संपूर्ण मलों का पुंज है । तू सदा साक्षात् आनंदरूप है, तो शरीर दुःख का निधान है । तू संपूर्ण पदार्थों को जानती है, तो शरीर अज्ञान का पुंज हैं । तू नित्य–अविनश्वर लक्ष्मी का निवासस्थान है, तो शरीर बिजली के समान केवल अशाश्वत–विनश्वर गात्रों से बना हुआ है । इसलिए हे आत्मा ! तू शरीर का मोह मत कर । तू आनंद और सौख्य के उत्पत्ति का स्थान ऐसी अपनी आत्मा की आराधना कर ।

अथवा

शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा नट है। वह शुद्धज्ञान का गुणगान जिसमें किया गया है ऐसे सिंधु राग को आलापती है । मोहनीयकर्मरूप यवनिका (पर्दे) को अपने स्वभाव से दूर हटाकर इस आत्मनट ने पारिषदों

को-भव्य सम्यक्त्वी जीवों को दर्शन दिया है। यह आत्मनट अपने नटनकौशल्य से शांतरस का विकास कर रहा है। इस शान्तरस में संसार के सभी लोकों को गोता लगाना चाहिये जिससे उनका शुद्धस्वभाव प्रकट हो जायगा। शृंगारादि आठ रस ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से और मोहनीयकर्म के उदय से आत्मा में व्यक्त होते हैं; किंतु यथार्थ शांतरस मोहनीयादि के अभाव में हि व्यक्त होता है। यह शातरस हि आत्मा का स्वभावभूत भाव है। ऐसे स्वभावभूतभाव की प्राप्ति में हि आत्मा का कल्याण है। यह रस जिस आत्मा में व्यक्त हो जाता है वह आत्मा न किसी से मित्रत्व रखती है और न शत्रुत्व। यह रस आत्मा का पारिणामिक भाव है। अलङ्कार-चिन्तामणि में कहा है कि–

'शान्तः सर्वोत्कृष्टत्वात्केनचिन्मैत्रीं विरोधं च न लभते।'

'जीवस्य परिणामत्वान्न रसो रक्ततादिभाक्
तथापि काव्यमार्गेण कथ्यते तत्क्रमोऽधुना॥'

दोहा— नृत्यकुतूहलतत्त्व को मरियवि देखो धाय।
निजानंद रसको छको आन सबै छिटकाय॥ – पं. जयचंद्रजी

इसप्रकार जीवाजीवाधिकार में पूर्वरंग समाप्त हुआ।




जीव और अजीव के अनादिकाल से चले आये बंध को–एकीभाव को तोडनेवाला ज्ञान इस नाटक का धीरोदात्तनायक है यह बताकर उसका स्वरूप प्रकट करते हैं–

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्माराममनन्तधाम महसाऽध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ।। ३३ ।।

अन्वयः– जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा पार्षदान् प्रत्याययत्, आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसात् विशुद्धं स्फुटत्, आत्मारामं, अनन्तधाम, अध्यक्षेण महसा, नित्योदितं, अनाकुलं, मनो ह्लादयत्, धीरोदात्तं ज्ञानं विलसति ।

अर्थ– जीव और अजीव के भेद को–भेद के ज्ञान को पुष्ट करनेवाले ज्ञान के द्वारा अर्थात् ज्ञान को प्रदान करके–इसप्रकार का ज्ञान उनमें आविर्भावित कर आत्मतत्त्वजिज्ञासु भव्य प्रेक्षकों में विश्वास–श्रद्धान उत्पन्न करानेवाला, संसार के आरम्भकाल से अर्थात् अनादिकाल से आत्मा के साथ बद्ध हुए बन्ध करनेवाले कर्मों की क्रिया का अर्थात् आत्मा में विभावभावजनन की क्रिया का नाश करके अर्थात् अपने आपमें स्थिर रहनेसे विभावभावरूप से परिणत न होनेके कारण विशुद्ध होकर प्रकट होनेवाला, स्वस्वरूप में रममाण होनेवाला, अविनश्वर तेज से युक्त, साक्षात् सामर्थ्य से युक्त, (आत्मा में) नित्यकाल प्रकटरूप से रहनेवाला, अनाकुल (सभी ज्ञेयो को जाननेवाला होनेसे आकुलतारहित) और मन को आनंद देनेवाला धीरोदात्त ज्ञान सविकास होता हुआ प्रकट हो रहा है ।

त. प्र – जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा जीवाजीवभेदज्ञानपोषकज्ञानेन । जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवौ । जीवपुद्गलावित्यर्थः । अजीवशब्देनात्र पुद्गलो ग्राह्यः, धर्माधर्मकालाकाशानां जीवेन साकं बन्धासम्भवात् । उपयोगलक्षणो जीवोऽनुपयोगलक्षणोऽजीवश्च । तयोर्विवेको लक्षणभेदाद्भिन्नत्वम् । तेन पुष्कला परिपुष्टा जीवाजीवविवेकपुष्कला । यद्वा तस्य पुष्कला पुष्टिकरी पुष्टिदा । पुष्कं पुष्टि लात्यादवाति ददाति वा पुष्कला । परिपुष्टा पौष्टिकी वेत्यर्थः । सा चासौ दृक् च तया । जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा । यद्वा जीवाजीवयोर्विवेकः पुष्कलः समृद्धः परिपुष्टो वा यस्यां सा जीवजीवविवेकपुष्कला । सा चासौ दृक्सम्यग्दर्शनं च । तया । अत्र सामासिकपदस्थान्त्यपदेन सम्यग्दर्शनं ग्राह्यं, पूर्णज्ञानघनस्यात्मनो द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्त्वेन यद्दर्शनं तस्य सम्यग्दर्शनत्वात् । एतदेवोक्तममृतचन्द्राचार्यपादैरन्यत्र । तद्यथा 'आत्मनः पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् । सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमात् । ' लक्षणादिभेदेन भिन्नयोर्जीवाजीवयोर्विवेके कृते सति शुद्धात्मोपलब्धिर्जायते, नान्यथा। पार्षदान् पारिषद्यान्। पर्षद्धर्मसभा । तत्र भवाः पार्षदाः। तान्। आत्मतत्त्वजिज्ञासावतस्सभ्यानित्यर्थः । प्रत्याययद्विश्वासं श्रद्धानं प्रतीतिमनुभूतिं वा जनयत् । अनुभावयद्विश्वासयद्वेत्यर्थः । परिपुष्टजीवाजीवविवेकेन जीवाजीवविवेकपुष्टिदेन वा सम्यग्दर्शनेन ज्ञानमात्मनि शुद्धात्मानुभूतिं जनयतीति मनसि कृत्वा जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदानित्युक्तमाचार्यैः । अत्र पार्षदानितिपदेन रत्नत्रयधारणयोग्यतामादधानानां भव्यानां ग्रहणं कर्तव्यमभव्यानां रत्नत्रयधारणयोग्यताभावात्कर्ममलदलनोपजायमानशुद्धात्मोपलम्भासम्भवात् । नटनपाटवप्रकटीकृतकटाक्षेण नटनोद्भटो नटो यथा स्वाभिप्रायमाविर्भावयति, तथा शान्तरसनटनपाटवप्रकटीकृतपरिपुष्टोपयोगलक्षणजीवानुपयोगलक्षणाजीवविवेकज्ञानरूपसम्यग्दर्शनेन ज्ञानं शुद्धात्मानुभूतिं

जनयति भव्येषु । आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वसादनादिबद्धबन्धकृत्कर्मक्रियमाणात्मविभावपरिणतिक्रियाविध्वंसनात् । आसंसारं संसारमभिव्याप्य । संसारस्यानादित्वादनादेरित्यर्थः । संसारस्य सादित्वे सतो विनाशोऽसतश्च प्रादुर्भावः स्यात् । अतस्संसारस्यानादित्वमेव युक्तियुक्तम् । अस्य विस्तरोऽन्यत्र न्यायशास्त्रे द्रष्टव्यः । आसंसारमनादेर्निबद्धानि साकमशुद्धात्मना संश्लेषमापन्नानि कर्माण्यासंसारनिबद्धबन्धनानि । आत्मानं बन्धातीति बन्धनम् । 'युड्व्या बहुलम्' इति कर्तरि युट् । तेषां विधिरात्मनि विभावजननक्रिया । यद्वा-तेषां विधयो विधातारः । उत्पादका इत्यर्थः । तेषां कर्मणां विधातारो मिथ्यादर्शनादयो, 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इत्युक्तेः । तेषां कर्मबन्धहेतुभूतमिथ्यादर्शनादीनां ध्वंसाद्विनाशात्स्फुटत्प्रकटीभवत् । अत एव विशुद्धं विशेषेण शुद्धम् । आत्मनोऽनादेः कर्मणा बद्धत्वादात्मस्वभावभूतं ज्ञानमशुद्धामवस्थां प्राप्तम् । तच्च कर्ममलदलनविगलितविकलत्वात्प्रज्वलितनिखिलेलातलगतसकलज्ञेयपदार्थसार्थतद्भूतभाविभविष्यत्पर्यायाकलनसामर्थ्याकुलत्वात्साकल्य कलयज्ज्ञानं वैशद्यं प्राप्नोति । स्वभावतस्तु ज्ञान शुद्धमेव, किन्तु मद्यादिमादकपदार्थसेवनसमुपजातभ्रान्तिसंसारिजीवज्ञानं यथा गलितपदार्थाकलनसामर्थ्यत्वाद्विकलं भवति, तथाऽऽत्मस्वभावभूतं ज्ञानं मद्यादिमादकपदार्थस्थानीयभ्रान्त्युत्पादकमोहनीयादिकर्मसंश्लेषजनितविकलत्वादशुद्धतां प्राप्तम् । किञ्च, विगलितमद्यादिमादकपदार्थप्रभाव संसारिजीवज्ञान यथा स्वभावभाव प्रत्यावर्तते तथा कर्ममलदलनविगलितपरपदार्थरूपभावकभावसञ्जकद्रव्यकर्मप्रभाव शुद्धात्मज्ञानं स्वस्वभाव प्रत्यावर्तते । आत्मारामम्आत्मानुभूतिनिरतम् । आत्मैवारामः क्रीडास्थानं यस्य तत् । आत्माश्रयमात्मस्वरूपानुभवनक्रियानिरतं वेत्यर्थः । यद्वात्मन्यारमते इत्यात्मारामम् । यद्वाऽऽत्मन आरामोऽनादिसंसारचक्रोत्पादितभ्रान्तितो विश्रान्तिर्यस्मात्तत् । आत्मज्ञाने जाते सत्यनादिसंसारपरिभ्रमणपरिश्रान्तोऽयमात्मा स्वात्मनि विश्रान्ति लब्ध्वाऽनन्तसुखाकरो भवतीति भावः । आत्मस्वभावप्रकाशनेन ज्ञान मोहाक्रान्तमात्मानमात्मस्वरूपे स्थापयित्वा तं सुखिनं करोति । स्वस्वभावस्थितिरेव सुखम् । अनन्तधामान्तातीततेजः । अनन्तमन्तातीतं धाम तेजो यस्य तत् । यथा भास्करः स्वभासा पदार्थान्प्रकटीकरोति, तथाऽऽत्मस्वभावभूतं ज्ञानमनन्तद्रव्याणि भूतभाविभवदनन्तपर्यायसहितानि स्वविषयतां नयतीति तदनन्तधामेति विशेषणेन विशिष्टं कृतम् । यद्वाऽनन्तं धाम बलं यस्य तदनन्तधाम । यतो ज्ञानं ससर्वपर्यायानन्तद्रव्यप्रकटीकरणसामर्थ्यं बिभर्ति ततस्तदनन्तधामेति विशेषणेनालङ्कृतम् । अध्यक्षेण सर्वजनप्रत्यक्षेणात्मप्रत्यक्षेण वा महसा तेजसोपलक्षितम् । इत्थम्भतलक्षणे भा, शिखया बटुमद्राक्षीदित्यादिवत् । यद्वा तेन तेजसा नित्योदितं नित्योदयसहितम् । पदार्थाकलने शौण्डेन तेजसा कृत्वा नित्योदयसहितम् । ज्ञानं पदार्थाकलनस्वभावमिति सर्वजनप्रसिद्धम् । पदार्थाकलनस्वभाववैकल्ये ज्ञानमज्ञानतां भजेत् । जीवे ज्ञानावरणकर्मणा नितरामावृतेऽपि न तत्स्वभावभूतं ज्ञानं साकल्येनाव्रियतेऽल्पिष्ठज्ञानवत्यपि जीवे लब्ध्यक्षरात्मकं ज्ञान निरावरणं विद्यत इत्यभ्युपगमसद्भावात् । तज्ज्ञानमनाकुलं सुखस्वभावमनाकुलत्वैकलक्षणत्वात्सुखस्य । वस्तुतो ज्ञानं सुखमित्यनर्थान्तरम् । ज्ञेयज्ञानाभाव आकुलतोपजायते । ज्ञानं निखिलज्ञेयज्ञप्तिक्रियायां समर्थ यतस्तत एवानाकुलम् । मनो ह्लादयन्मनआनन्दजननम् । वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमजनितात्मनश्शुद्धिर्भावमनः । तत्प्रसन्नं कुर्वत् । मनस. प्रसन्नताया अभावे शुक्लध्यानासम्भवान्मोक्षाभावप्रसङ्गः । मनसः प्रसादो ध्यानावस्थायां प्रधानो यतस्ततो ज्ञानिना ध्यानिना सता प्रथमं तावन्मनः प्रसन्नं विधेयम् । मनसः प्रसादश्च सम्यग्ज्ञानाभावे न सम्भवति । धीरोदात्तम् । धीरोदात्तस्य लक्षणं यथा–' अविकत्थन. क्षमा-

वानतिगम्भीरो महासत्त्वः । स्थेयाभिगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः । ' इति । अत्र ज्ञानज्ञानिनोरभेदविवक्षया ज्ञानिनो ग्रहणं कृत्वा धीरोदात्तपदस्य स्पष्टीकरणं क्रियते । अविकत्थनोनतिरिक्तभाषणः । सम्यग्ज्ञानवतोऽतिरिक्तभाषणं न सम्भवति, तथाविधं भाषणं कुर्वाणस्य सम्यग्ज्ञानवत्त्वाभावप्रसङ्गात् । अत्र क्षमाशब्दो मार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणामुपलक्षणार्थः । उत्तमक्षमादिभिरात्माऽस्मबलविलयनकुशलक्रोधादीञ्जयति, जितक्रोधो विमलकेवलावलोकप्रतिपक्षीभूतघातिकर्मकदर्थनसमर्थशुक्लध्यानेन जीवन्मुक्ति लभते । अतो ज्ञानवतोत्तमक्षमादिदशधर्मयुक्तेनावश्यं भाव्यम् । अतिगम्भीरचित्तविपर्यस्तविकृत्युत्पत्तिनिमित्तसान्निध्येऽपि यो विपर्यस्तविकारं न प्राप्नोति सोऽतिगम्भीरो ज्ञानी । महासत्त्वोऽन्वयातगपदार्थसार्थाकलनविपुलसामर्थ्यविभूषितः । एतत्पदार्थसार्थाकलनसामर्थ्यं ज्ञानस्य स्वभावभूतमेव । तच्च महत्सकलपदार्थसार्थस्य सानन्तपर्यायस्य युगपद्ग्रहणात् । तज्ज्ञानं स्थेयोऽतिप्रबलं केनापि कर्मणा तस्य विनाशनासम्भवात् । सम्यग्ज्ञानवान्पुरुषः स्वव्रते दृढत्वेनैव वर्तते । तस्माज्ज्ञानमपि दृढव्रतं ज्ञानज्ञानिनोरभिन्नत्वात् । सम्यग्ज्ञानवानेव स्वव्रते दृढनिश्चयो भवति, अज्ञानी जीवः । एतादृशं ज्ञानं विलसति सविकासं भवति शोभते वा । यद्वा-यथा कश्चिन्नटो नवरसनटनपटुभटोपि समुपजातनेत्ररोगस्सन्कटाक्षविक्षेपादिभिस्स्वान्तरङ्गस्वभावैः प्रेक्षादक्षप्रेक्षकाणां हृदयान्याकृष्टुमक्षमो यदौषधिप्रयोगेण संहृतनेत्रविकारो भवति तदा नटनपाटवेन प्रेक्षावतो जनानानन्दकन्दलितस्वान्तान्विधाय तान्सुखिनः करोति, तदा दर्शनमोहनीयसप्तप्रकृतिजनितप्रभावोपहतसम्यग्दर्शनजीवाजीवपृथक्करणसामर्थ्यं ज्ञानमज्ञानाभिधां धारयद्यदा सप्तप्रकृतिक्षयेण सम्यग्दर्शनमापद्यते स्वस्वभावभावं तदा तत्साहाय्येनोपयोगानुपयोगलक्षणजीवाजीवौ पृथग्विधाय ज्ञात्वा ज्ञापयित्वा चात्मजिज्ञासावत्स्वात्मानुभूतिं जनयति । शेषं प्राग्वत् ।

विवेचन— ज्ञान हि इस नाटक का धीरोदात्त नायक है । यह अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेके कारण जीव और अजीव की संयुक्त अवस्था को जीव समझनेवाले जीव को अपने नटनकौशल्य से जीव और अजीव दो भिन्नभिन्न पदार्थ है ऐसा ज्ञान–अनुभूति उसमे उत्पन्न करके उसे आनंदित करता है ।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और वह किसी भी हालत में आत्मा से अलग नहीं होता । हां ! यह बात ठीक है कि यह आत्मा अनादिकाल से कर्मावृत होनेसे उसका स्वभावभूतज्ञान भी कर्मावृत हुआ है । यह आत्मा कितनी भी कर्मावृत क्यों न हो किंतु उसका स्वभाव संपूर्णरूप से कर्मावृत नहीं होता–कम से कम उसका लब्ध्यक्षरात्मक ज्ञान निरावरण हि रहता है, अन्यथा जीव अजीवरूप बन जायगा । आत्मा को बद्ध करनेवाले कर्मों का ज्यों ज्यों विनाश होता जाता है त्यों त्यों आत्मस्वभावभूत ज्ञान विशुद्ध होता हुआ प्रकट होता जाता है । यह ज्ञान अनादि से कर्मबद्ध हुई आत्माओ को इस बात का ज्ञान कराता है कि ज्ञानस्वभाव आत्मा और अज्ञानस्वरूप अजीव ये दो भिन्नभिन्न पदार्थ हैं–इनके स्वभाव भिन्नभिन्न होनेसे एक का दूसरे के साथ कोई संबंध नहीं है । यह ज्ञान आत्माराम है अर्थात् आत्माश्रित है अथवा इससे आत्मा को अपरिमित–अनंतसुख–आनंद की प्राप्ति होती है । जब आत्मा का स्वभावभूत ज्ञान कर्मावृत रहता है तब आत्मा को आनंद–सुख की प्राप्ति नहीं होती; क्यों कि संसार का बहुभाग पदार्थों के ज्ञान से वह वंचित रहता है । वस्तुतः ज्ञान और सुख भिन्न नहीं है-वे एक हि है । इस ज्ञान का तेज और सामर्थ्य अनंत है; क्यों कि वह संसार के अनंत द्रव्यों को उनके भूत, भावि और वर्तमान काल के अनंत पर्यायोंसहित जानता है । अगर उसमें अनंत सामर्थ्य न होती तो वह अनंत पदार्थों को किसतरह जान सकती ? इस ज्ञान की ज्ञेयों को जाननेकी सामर्थ्य प्रत्यक्षगोचर होनेसे वह आत्मा में नित्य उदित–प्रकट रहती है । यह ज्ञान धीरोदात्त है। ज्ञान का धीरोदात्त यह विशेषण बडा अर्थवाहक है । क्षमादि दशधर्मों का पालन विना ज्ञान के यथार्थता से कैसे हो

सकता है ? उदाहरण के लिए क्षमाधर्म हि लीजिये । क्षमा क्रोध का प्रतिपक्षभूत भाव है–यह क्रोध भी आत्मा का विघातक होनेसे उसका प्रतिपक्षभूत भाव है । आत्मस्वभाव के यथार्थज्ञान के अभाव में क्रोध यह मोहनीयोदयजन्य वैभाविकभाव होता है । उसका यथार्थरूप से शुद्ध आत्मा के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं है । ऐसा ज्ञान आत्मा को कैसे हो सकता है ? इसप्रकार के ज्ञान के बिना वैभाविकभावरूप क्रोधकषाय का त्याग करके जीव क्षमाधर्म को कैसे अभिव्यक्त कर सकता है ? अपने व्रत में आत्मा की दृढता भी विना ज्ञान के कैसे हो सकती है ? कहनेका भाव यह है कि विना ज्ञान के आत्मा अपनी उन्नति कदापि नहीं कर सकती । जिस संसारी आत्मा को इस ज्ञान के द्वारा अपने स्वभाव का परिचय प्राप्त हुआ है ऐसी आत्मा का मन आनंद से ओतप्रोत भर जाता है । सचमुचमें देखा जाय तो आत्मस्वभावभूत ज्ञान की प्राप्ति में हि आत्मा अनंत सुख का अनुभव करती है, अन्यथा नहीं ।

अन्य दार्शनिकों के द्वारा बताये जानेवाले आत्मा के भिन्नभिन्न स्वरूपों को सदोष बताया जाता है–

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥ ३९ ॥
अवरे अज्झवसाणे-सु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥ ४० ॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥ ४१ ॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥ ४२ ॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥ ४३ ॥

आत्मानमजानन्तो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ॥३९॥
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमन्दानुभागगं जीवम् ।
मन्यन्ते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ॥४०॥
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छन्ति ।
तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवो ॥४१॥
जीवः कर्मोभयं द्वेऽपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति ।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति ॥४२॥
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसः ।
ते न परमार्थवादिनो निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥४३॥

अन्वयार्थ– (**आत्मानं अजानन्तः**) आत्मा के यथार्थ स्वरूप को न जाननेवाले (**परात्मवादिनः**) आत्मा के साथ संबंध को प्राप्त हुआ परद्रव्य हि आत्मा है ऐसा प्रतिपादन करनेवाले (**केचित् मूढाः तु**) कोई मूढ–मोहाक्रान्त अर्थात् मिथ्याज्ञानी जीव हि (**अध्यवसानं**) रागादिरूप विभावभावों को (**जीवं प्ररूपयन्ति**) जीव कहते है अर्थात् जीव और रागादिरूप विभावभाव अन्योन्यभिन्न नही है, अपि तु रागादिरूप विभावभाव हि जीव है ऐसा कहते है, (**तथा**) उसी प्रकार (**कर्म च**) कर्म–द्रव्यकर्म भी जीव है ऐसा निवेदन करते है, (**अपरे**) दूसरे कोई एकांतवादी (**अध्यवसानेषु**) आत्मा को रागादिरूपविभावभावात्मक परिणतिया उत्पन्न हो जानेपर (**तीव्रमन्दानुभागगं**) कर्मपुद्गलों की अपनी आत्मा के साथ संबद्ध हुई तीव्र या मन्दस्वरूप सामर्थ्य के अनुभव को प्राप्त हुए अर्थात् कर्म की फल देने की सामर्थ्य से सामर्थ्यानुरूप तीव्रस्वरूप या मन्दस्वरूप अनुभूति से जो युक्त होना उसे (**जीवं मन्यन्ते**) जीव मानते है, (**तथा अपरे**) और दूसरे एकान्तवादी कर्मनोकर्म और आत्मा इनमें होनेवाली भिन्नता को न जाननेवाले चार्वाक आदि (**नोकर्म अपि च**) नोकर्म को भी (**जीव इति**) जीव मानते है, (**अपरे**) दूसरे कोई (**कर्मणः उदयं**) कर्म के उदय को–कर्म के विपाक को–कर्म की फल देनेकी सामर्थ्य के आविर्भवन को (**जीवं**) जीव समझते है, (**यः**) जो (**तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां**) तीव्रत्वगुण से और मन्दत्वगुण से उपलक्षित–अभिव्याप्त–युक्त होता है (**सः**) वह कर्म की फल देने की सामर्थ्य का अनुभव होता है। उस (**कर्मानुभागं**) कर्म के अनुभाग को–अनुभवन को (**जीवः**) वह जीव है (**इति**) ऐसी (**इच्छन्ति**) इच्छा करते है–अनुभव को हि जीव मानते है। (**के अपि**) और कोई (**जीवः कर्म द्वे अपि**) जीव और कर्म ये जो दोनो है वे (**उभयं**) दोनों मिलकर हि (**जीवं**) जीव है (**इच्छन्ति**) ऐसी इच्छा करते है–मानते है, (**अपरे तु**) और दूसरे कोई (**कर्मणां संयोगेन**) कर्मो के सयोग से उत्पन्न होनेवाली सयुक्त-अवस्था को (**जीवं इच्छन्ति**) जीवरूप मानते है अर्थात् जीव और कर्मो के संयोग को हि जीव मानते है–उन्हें आठो कर्मो के सयोग का हि जीव होना अभीष्ट है। (**एवंविधाः**) इस प्रकार के (**बहुविधाः**) नानाप्रकार के लोग (दार्शनिक) (**दुर्मेधसः**) जिनकी बुद्धि दूषित हो गई है ऐसे मिथ्यादृष्टि अत एव मिथ्याज्ञानी जीव–अज्ञानी जीव (**परं**) चेतनारहित होनेसे आत्मा से भिन्न होनेवाले कर्मनोकर्मरूप पुद्गलद्रव्य को और भावकर्मरूप विभावभाव को–परपदार्थ को (**आत्मान**) आत्मा (**वदन्ति**) कहते है। (**ते**) परपदार्थो को आत्मा कहनेवाले एकान्तवादी दार्शनिक (**निश्चयवादिभिः**) निश्चयनय की दृष्टि से वस्तुस्वरूप को बतलानेवालों के द्वारा–वस्तु के यथार्थस्वरूप का प्रतिपादन करनेवालो के द्वारा (**परमार्थवादिनः**) 'वस्तु के अर्थात् यहां आत्मा के यथार्थस्वरूप का प्रतिपादक है' ऐसा (**न निर्दिष्टाः**) नही कहे गये है अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलानेवाले नही है ऐसा कहा गया है।

आ. ख्या.– इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात् क्लीबत्वेन अत्यन्तविमूढाः सन्तः तात्त्विकं आत्मानं अजानन्तः बहवः बहुधा परं अपि आत्मानं (?आत्मा) इति प्रलपन्ति। 'नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितं अध्यवसानं एव जीवः, तथाविधाध्यवसानात् अङ्गारस्य इव कार्ष्ण्यात् अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य अनुपलभ्यमानत्वात्' इति केचित्। 'अनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत् कर्म एव जीवः, कर्मणः अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य अनुपलभ्य-

मानत्वात्' इति केचित्। 'तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसन्तानः एव जीवः, ततः अतिरिक्तस्य अन्यस्य अनुपलभ्यमानत्वात्' इति केचित्। 'नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्म एव जीवः, शरीरात् अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य अनुपलभ्यमानत्वात्' इति केचित्। 'विश्वं अपि पुण्यपापरूपेण आक्रामन् कर्मविपाकः एव जीवः, शुभाशुभभावात् अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य अनुपलभ्यमानत्वात्' इति केचित्। 'सातासातरूपेण अभिव्याप्तसमस्ततीव्रमन्दत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवः एव जीवः, सुखदुःखातिरिक्तत्वेन अन्यस्य अनुपलभ्यमानत्वात्' इति केचित्। 'मज्जितावत् उभयात्मकत्वात् आत्मकर्मोभयं एव जीवः, कार्त्स्न्यतः कर्मणः अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य अनुपलभ्यमानत्वात्' इति केचित्। 'अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगः एव जीवः, कर्मसंयोगात् खट्वाया इव अष्टकाष्ठसंयोगात् अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य अनुपलभ्यमानत्वात्' इति केचित्। एवं एवम्प्रकाराः इतरे अपि बहुप्रकाराः परं 'आत्मा' इति व्यपदिशन्ति दुर्मेधसः, किन्तु न ते परमार्थवादिभिः 'परमार्थवादिनः' इति निर्दिश्यन्ते।

त. प्र – इहात्मस्वरूपनिर्णयनप्रकरणे खलु निश्चयेन तदसाधारणलक्षणाकलनात्परद्रव्यव्यावर्तनसमर्थात्मद्रव्यासाधारणस्वरूपानिर्ज्ञानात्। तस्यात्मनोऽसाधारणमन्यद्रव्यानाश्रितत्वादन्यद्रव्यलक्षणस्यात्मद्रव्यलक्षणतो भिद्यमानत्वादन्यद्रव्यव्यावर्तकत्वादसाधारणं यल्लक्षणं स्वरूपं तस्याऽकलनादनिर्ज्ञानात्क्लीबत्वेनासमर्थत्वेनात्यन्तविमूढा निरतिशयमौढ्याढ्याः। सन्तो भवन्तस्तात्त्विकं परमार्थस्वरूपमात्मानं शुद्धात्मानमजानन्तोऽनाकलयन्तो बहवोऽनेके बहुधा बहुप्रकारैः परमप्यात्मस्वभावभिन्नस्वभावत्वादात्मभिन्नं परपदार्थं पुद्गलद्रव्यमप्यात्मेति वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रलपन्ति प्रब्रुवन्ति। अत्र परमप्यात्मेति प्रलपन्तीति पाठेन भाव्यम्। नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितं रागद्वेषाभ्यामनतिरिक्तत्वाज्जीवस्य तेभ्योऽन्यत्वेनानुपलभ्यमानत्वादनैमित्तिकत्वाच्च रागद्वेषयोर्नैसर्गिकत्वम्। रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ। नैसर्गिकौ स्वाभाविकौ च तौ रागद्वेषौ च नैसर्गिकरागद्वेषौ। ताभ्यां कल्माषितं सञ्जातकल्मषं नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितम्। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः' इतीतस्यः। तादृशमध्यवसानं मानसः परिणामः। रागद्वेषकल्माषितत्वान्मानसपरिणामात्मकाध्यवसानस्य विभावभावत्वम्। तदेव जीवः। तथाविधाध्यवसानान्नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितत्वाद्विभावभावरूपादध्यवसानात्। अङ्गारस्येव कार्ष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। यथा कार्ष्ण्यगुणादनतिरिक्तत्वात्ततोऽन्यत्वेनाऽनुपलभ्यमानत्वात्कार्ष्ण्यमेवाऽङ्गारस्तथा जीवस्वभावभूतरागद्वेषद्वयमलिनीकृतमानसपरिणामात्मकाध्यवसानादनतिरिक्तत्वात्ततोऽन्यत्वेनानुपलभ्यमानत्वाज्जीवस्य तादृगध्यवसानमेव जीव इति केचिदनधिगतयथार्थात्मस्वरूपत्वान्मिथ्यादृशो वदन्ति। अनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत् कर्मैव जीवः–अनाद्यनन्ताः पूर्वापरीभूता अवयवा यस्या साऽनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवा। सा चासावेकसंसरणक्रिया चानाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रिया। तस्या रूपं स्वरूपम्। तेन। अत्र संसरणक्रियाया एकेतिविशेषणेन तस्या अविच्छिन्नत्वं प्रकटीभवति। तस्याः पूर्वीभूतानामपरीभूतानां चावयवानां यथाक्रमम्नादित्वमनन्तत्वं च प्रकटीकृत्य तस्या अनाद्यनन्तत्वमेकेतिविशेषणेन चाविच्छिन्नत्वमाविर्भावितम्। तादृशक्रिया-

रूपेण क्रीडज्जीवं गर्हास्पदं कुर्वत् परिस्फुरद्वा कर्मैव जीवः, कर्मणोतिरिक्तत्वेन भिन्नत्वेनान्यस्यान्यपदार्थभूतस्य जीवस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचिन्मिथ्यादृशो ब्रुवन्ति । तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसन्तान एव जीवः – दुरन्तो दुःखपरिणामः । दुष्टो दुःखोत्पादकत्वादन्तः परिणामो यस्य सः । रागरसः रागानुभूतिः । रागस्य रसोऽनुभवो रागरसः । अत्र रागशब्दोऽन्येषां द्वेषक्रोधादिविभावभावानामुपलक्षणार्थः । तीव्रमन्दानुभवाभ्यां भिद्यमानो भेदं प्राप्नुवंस्तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानः । स चासौ दुरन्तो रागरसश्च तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसः । तेन निर्भर आपरिपूर्णोऽध्यवसानसन्तानो मानसपरिणामपरम्परा । स एव जीवः । ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वात् । ततस्तादृगध्यवसानसन्तानादतिरिक्तस्य भिन्नस्यान्यस्यान्यपदार्थभूतस्यात्मनोऽनुपलभ्यमानत्वादिति केचिन्मिथ्यादृशः प्रलपन्ति । नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः – नवा नूतना च पुराणी प्रत्ना च नवपुराणे । ते च तेऽवस्थे च नवपुराणावस्थे । ते आदौ यस्य । तेन भावेन तद्रूपपरिणामरूपेण प्रवर्तमानं परिणममानं नोकर्मैव शरीरमेव जीवः । शरीरादतिरिक्तत्वेन देहाद्भिन्नत्वेनान्यस्यान्यपदार्थभूतस्य जीवद्रव्यस्यानुपलभ्यमानत्वात् । विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन्कर्मविपाक एव जीवः – विश्वमपि विश्वस्थजन्तुजातमपि पुण्यपापरूपेण शुभाशुभपरिणामात्मकपुण्यपापसञ्ज्ञकपरिणामजननरूपेणाक्रामन्व्याप्नुवन्कर्मविपाक उदयावस्थापन्नकर्मणो जीवस्य शुभाशुभपरिणामरूपेण परिणमनमेवानुभवः । स एव जीवः । शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेन शुभाशुभपरिणामाद्भिन्नत्वेनान्यस्यान्यपदार्थभूतस्य जीवस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचिन्मिथ्यादृशो निगदन्ति । सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमन्दत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः – सातासातरूपेण सुखदुःखरूपेणाभिव्याप्ताभ्यां समस्ताभ्यां तीव्रमन्दत्वगुणाभ्यां भिद्यमानो भेदमापद्यमानः कर्मानुभवो निमित्तकर्तृभूतकर्मोदयजन्यात्मविभावभावानुभव एव जीवः, सुखदुःखातिरिक्तत्वेन सुखदुःखेभ्यो भिन्नत्वेनान्यस्यान्यपदार्थभूतस्य जीवपदार्थस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचिन्मिथ्यादृशः प्रतिपादयन्ति । मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः–मज्जितावद्दधिशर्करामिश्रणकृतशिखरिणीवत् । यथा दधिशर्करामिश्रणावस्थावत्त्वाद्दधिसितोभयमेव मज्जिता शिखरिणी तथाऽऽत्मकर्मोभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः, कात्स्न्र्यतः पूर्णत्वेन कर्मणोऽतिरिक्तत्वेन भिन्नत्वेनान्यस्यान्यद्रव्यभूतस्य जीवद्रव्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचिन्मिथ्यादृशो निरूपयन्ति । अर्थक्रियासमर्थः स्वाधिकारभूतप्रयोजननिष्पादनसामर्थ्यसम्पन्नः कर्मसंयोगोऽष्टविधकर्मान्योन्यसंयोगः एव जीवः, कर्मसंयोगादष्टकर्मणामन्योन्यसंयोगात् । खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगात् – यथाऽष्टकाष्ठसंयोगाद्भिन्नत्वेनान्यस्या अन्यपदार्थभूताया खट्वाया अनुपलभ्यमानत्वादष्टकाष्ठसंयोग एव खट्वा तथाऽष्टविधकर्मणामन्योन्यसंयोगादतिरिक्तत्वेन भिन्नत्वेनान्यस्यान्यार्थभूतस्य जीवार्थस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचिन्मिथ्यादृशो निवेदयन्ति । एवमनुना प्रकारेणैवम्प्रकारा एवंविधा इतरेप्यन्येपि बहुप्रकारा बहुविधाः परं यथार्थात्मद्रव्यभिन्नमात्मेति जीव इति व्यपदिशन्ति प्रतिपादयन्ति दुर्मेधसो दूषितज्ञानवत्त्वादज्ञानिनः; किन्तु न तेऽ परमार्थवादिभिर्यथार्थार्थप्रतिपादकैः परमार्थवादिनो यथार्थार्थप्रतिपादका इति निर्दिश्यन्ते व्यपदिश्यन्ते ॥

टीकार्थ– इस आत्मस्वरूपनिर्णय के प्रकरण में आत्मा के असाधारणस्वरूप का ज्ञान न होनेसे व्यक्त होनेवाली असमर्थता के कारण अत्यंत विमूढ बने हुए यथार्थस्वरूपवाली आत्मा को न जाननेवाले बहुत से लोग नानाप्रकारों से आत्मा से (स्वभावतः) भिन्न होनेवाले परपदार्थ को भी आत्मा बताते हैं – 'परपदार्थ हि आत्मा है' ऐसा

बकवाद करते हं। जिसप्रकार कृष्णवर्ण से भिन्नरूप से अन्यपदार्थभूत कोयला नहीं पाया जाता और अत एव कृष्णवर्ण हि कोयला होता है उसीप्रकार स्वाभाविक राग और द्वेष से कलंकित मानसपरिणाम से भिन्नरूप से अन्यपदार्थभूत जीव पाया न जानेसे स्वाभाविक राग और द्वेष से मलिन हुआ अध्यवसान हि जीव है ऐसा कोई कहते हैं। कर्म से भिन्नरूप होनेके कारण भिन्नपदार्थभूत जीव न पाया जानेसे अनादिकालीन जिस के पूर्व अवयव हैं और अनंत कालतक होनेवाले भविष्यकालीन अवयव जिसके होते हैं ऐसी जो (आत्मा की) संसरणक्रिया उस क्रिया के रूप से क्रीडा करनेवाला अर्थात् आत्मा को गर्हास्पद बनानेवाला या आत्मा का उपहास करनेवाला कर्म हि जीव है ऐसा कोई कहते है। तीव्र अनुभव और मंद अनुभव से जिसके भेद होते हं ऐसे दुःखरूप फल देनेवाले राग की अनुभूति से परिपूर्ण अध्यवसान की परंपरा हि जीव है; क्यों कि उसप्रकार के अध्यवसान की परंपरा से भिन्न और अत एव उससे भिन्न पदार्थभूत जीव की उपलब्धि नहीं होती – जीव नहीं पाया जाता ऐसा कोई कहते हं। नई अवस्था पुरानी अवस्था आदिरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेवाला नोकर्म अर्थात् शरीर हि जीव है; क्यों कि शरीर से भिन्नरूप पदार्थ के रूप से जीवद्रव्य नहीं पाया जाता ऐसा कोई कहते हं। विश्वस्थ सभी प्राणियों को अपनी उदयावस्थापन्न फल देनेकी सामर्थ्य के द्वारा पुण्यरूप से अर्थात् शुभ परिणामों के रूप से और पापरूप से अर्थात् अशुभपरिणामों के रूप से परिणमाकर आक्रान्त करनेवाला कर्मविपाक अपने निमित्त से जीव को विभाव-भावों का अनुभव करानेवाला कर्मोदय हि जीव है; क्यों कि शुभाशुभपरिणाम से भिन्न अन्यपदार्थरूप जीवद्रव्य नहीं पाया जाता ऐसा कोई कहते हं। सातरूप से अर्थात् सुखरूप से और असातरूप से युक्त होनेवाला कर्मानुभव (अर्थात् कर्मफलचेतना) हि जीव है; क्यों कि सुखदुःखों से भिन्नरूप अन्यपदार्थभूत जीवद्रव्य की उपलब्धि नहीं होती ऐसा कोई कहते हं। जिसप्रकार दही और शक्कर इन दोनों की समिश्र–संयुक्त अवस्थारूप श्रीखण्ड होता है–न सिर्फ दही श्रीखण्ड होता है और न सिर्फ शक्कर भी, उसीप्रकार आत्मा और कर्म दोनों मिलकर हि जीव होता है–न सिर्फ आत्मा जीव होता है और न सिर्फ कर्म भी; क्यों कि पूर्णरूप से कर्म से भिन्नरूप अन्यपदार्थभूत जीवपदार्थ की उपलब्धि नहीं होती ऐसा कोई कहते हं। प्रयोजन की निष्पत्ति करने में समर्थ ऐसा कर्मों का संयोग हि जीव है; क्यों कि जिसप्रकार आठ लकडियों के संयोग से भिन्नरूप अन्यपदार्थभूत पलंग नहीं पाया जाता उसीप्रकार आठ कर्मों के संयोग से भिन्नरूप से अन्यपदार्थभूत जीवद्रव्य उपलब्ध नहीं होता ऐसा कोई कहते हं। इसप्रकार इस-प्रकार के अन्य भी अनेक प्रकार के दूषित ज्ञानवाले अर्थात् अज्ञानी पर को अर्थात् आत्मस्वभावशून्य अत एव आत्म-भिन्नभाव को आत्मा बताते हैं किंतु यथार्थ आत्मपदार्थ को बतानेवालों के द्वारा वे यथार्थरूप से आत्मपदार्थ को बतानेवाले अर्थात् भूतार्थवादी नहीं कहे जाते।

विवेचन– जिन्हें आत्मा के असाधारण स्वरूप की अनुभूति नहीं होती अर्थात् आत्मस्वरूपानुभूतिजन्य आत्मस्वरूपविषयक यथार्थ ज्ञान नहीं होता वे आत्मा का स्वरूप यथार्थरूप से बतानेमें असमर्थ होते हं या उन के ज्ञान में आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानने की सामर्थ्य नहीं होती। इस सामर्थ्य के अभाव के कारण वे आत्यंतिक रूप से भ्रान्त ज्ञान से युक्त होते हं अर्थात् उनके दर्शनमोहनीयादि सप्तकर्मप्रकृतियों का उदय होनेसे वे मिथ्यादृष्टि होते हं। मिथ्यादृष्टि होनेसे वे आत्मा के यथार्थस्वरूप को नहीं जानते। वस्तुतः जो ज्ञान अनुभवजन्य होता है वहि ज्ञान ज्ञानसंज्ञा को प्राप्त होता है और वहि ज्ञान अनुभूत पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को व्यक्त कर सकता है। मिथ्यादृष्टियों को यथार्थ आत्मस्वरूप की अनुभूति न होनेसे वे यथार्थ आत्मस्वरूप को यथार्थरूप से नहीं जान सकते। आत्मस्वरूप को यथार्थ रूप से जाननेवाले न होनेसे अनेक मिथ्यादृष्टि जीव अनेक प्रकार से आत्मभिन्नभाव को हि आत्मा का स्वभाव बताते हं। (१) कोई मिथ्यादृष्टि रागद्वेषादिभावों को वे वैभाविक भाव होनेपर भी स्वाभाविकभाव मानते हं। इन रागद्वेषादिभावों को स्वाभाविकभाव समझकर भी उनसे मानसपरिणाम कलुषित हो जाता है ऐसा मानते हं। यदि रागादिभाव आत्मा के स्वाभाविकभाव हं तो आत्मा भी रागादिभावरूप है यह स्पष्ट हो जाता है। रागद्वेषरूप आत्मा का अध्यवसान परिणाम है। परिणाम में परिणामी का अपने स्वरूप के साथ अन्वय होता है। अतः अध्यवसान में रागादिभाव का अन्वय होना स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में रागादिभाव से अध्यवसान कलु-

षित होता है यह कथन कैसे युक्तिसंगत माना जा सकता है ? सुवर्णालंकार में सुवर्ण का अपने स्वरूप के साथ अन्वय होनेसे सुवर्णालंकार दूषित हो जाता है अर्थात् अलंकारगत सुवर्ण दूषित-अशुद्ध हो जाता है यह कथन जिस-प्रकार प्रतीति के विरुद्ध पडता है उसीप्रकार स्वभावभूतरागादि से आत्मपरिणामभूत अध्यवसान दूषित होता है यह कथन भी प्रतीति के विरुद्ध पडता है। ऐसा होते हुए भी स्वभावभूत रागादि से आत्मपरिणामभूत अध्यवसान दूषित होता है ऐसा जो कहता है वह उसकी मिथ्यात्वरूप परिणति का हि प्रभाव है । ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव उक्तप्रकार से दूषित अध्यवसान को हि जीव कहता है । इस विषय में उस की युक्ति यह है कि कालिमा से अंगार जुदा न होनेसे जिस प्रकार कालिमा हि अंगार होती है उसीप्रकार उक्त दूषित अध्यवसान से जीवद्रव्य जुदा पदार्थ न होनेसे वह अध्यवसान हि आत्मा है। टीकाकार की दृष्टि में मिथ्यादृष्टि जीव का यह एक प्रलापमात्र है और यह कथन निःसार भी है। (२) इस त्रैलोक्य में आत्मा की जो एक संसरण क्रिया होती है उसके पूर्वकालीन अवयवों को आरंभ नहीं होता अर्थात् वे अनादि होते हैं और भविष्य में होनेवाले अवयव अनंत- अंतरहित होते हैं। आत्मा की इस संसरणक्रिया में कर्म हि (निमित्त) कारण पडता है अर्थात् कर्म के निमित्त से हि आत्मा को अनादि से लेकर अनंत कालतक इस संसारावस्था में परिभ्रमण करना पडता है। आत्मा को इस अनादि- अनंत संसार में परिभ्रमण कराना कर्म की क्रीडा है- खेल है। इसप्रकार आत्मा को इस संसार में परिभ्रमण कराकर कर्म उसको गर्हास्पद बनाता है- उसका उपहास करता है। ऐसे कर्म से भिन्नरूप अन्यपदार्थरूप से आत्मद्रव्य नहीं पाया जाता। अतः कर्म हि जीव है ऐसा कोई मिथ्यादृष्टि बकता है। वह कर्म को जीव कहनेवाला जीव कर्म और जीव को स्वयं परस्पर भिन्नरूप द्रव्य भी मानता है और उनमें अभेद भी मानता है। इस मान्यता से हि उसका मिथ्यात्व व्यक्त हो जाता है; क्यों कि जिनमें वस्तुत भेद होता है वे कभी भी एकरूप नहीं होते। इन भिन्नभिन्न पदार्थों को अभिन्न बताना हि मिथ्यात्व है । कर्मोदय के निमित्त से जीव की विभावरूप परिणति होती है। अतः जीव के विभावभाव और कर्म इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव होता है। कारणभूत कर्म का जीव के विभावभावपर उपचार किया जानेसे जीव के विभावभाव की कर्म यह संज्ञा की गयी है और वह विभावभाव भावकर्म कहा गया है। इस भावकर्म के कारण भी अज्ञानी जीव को इस अनाद्यनंत संसार में परिभ्रमण करना पडता है और वह गहर्य-उपहास्य बन जाता है। यद्यपि यह विभावभाव अशुद्ध आत्मा से कथंचित् अभिन्न है तो भी शुद्ध आत्मा से वह भिन्न होता है। अशुद्ध आत्मा से ये विभावभाव उपादानोपादेयभाव के कारण अभिन्न होनेपर भी इन्हें शुद्ध आत्मा से अभिन्न बताना हि मिथ्यात्व है; क्यों कि जो पदार्थ जैसा होता है उसे वैसा न जानना - विपरीतरूप से जानना और दूसरों को बताना मिथ्यात्व है। आत्मा और द्रव्यभावकर्मों को अभिन्न बतानेवाले लोक है और इसीकारण मिथ्यादृष्टि हैं। (३) रागरूप विभावभाव का जो अनुभव उस रूप से अर्थात् संसारी आत्मा का रागरूप से परिणत होना ठीक नहीं है; क्योंकि उसका परिणाम अच्छा नहीं निकलता-जीव को सांसारिक दुःखों का अनुभव करना पडता है। तीव्रानुभव और मंदानुभव के रूप से रागानुभूति के भेद होते हैं। 'ऐसे इस रागादि की अनुभूति से परिपूर्ण मानसपरिणामों की परंपरा -मानसपरिणामों का प्रवाह हि जीव है; क्यों कि रागानुभूतिपरिपूर्ण मानसपरिणामो के प्रवाह से भिन्न अन्यपदार्थरूप जीवद्रव्य नहीं पाया जाता ' ऐसा भी कोई कहते हैं। रागानुभूतिपरिपूर्ण मानसपरिणामों का प्रवाह विभावभावरूप होनेसे वह यद्यपि अशुद्ध आत्मा से अभिन्न है तो भी वह शुद्ध आत्मा से अभिन्न नहीं है -उस से वह भिन्न है। वह शुद्ध आत्मा से परमार्थतः भिन्न होनेपर भी उसे शुद्ध आत्मा से अभिन्न मानना अर्थात् उसे शुद्ध आत्मरूप मानना मिथ्यात्व है; क्यों कि शुद्ध आत्मा एतत्स्वरूप न होनेपर भी उसको उक्त कथन से एतत्स्वरूप कहा जाता है। अतः यह कथन आत्मा के यथार्थस्वरूप का प्रतिपादक होनेसे मिथ्याकथनस्वरूप है और इसका कारण है मिथ्यात्वकर्म के उदय से वक्ता कि मिथ्याज्ञानरूप -अज्ञानरूप परिणति। (४) आत्मा और कर्म का अनादि काल से अन्योन्यैकक्षेत्रावगाहरूप बंध चला आनेसे देहात्मैक्य दिखाई देता है। वह देहात्मैक्य वास्तव नहीं है; क्यों कि देह और आत्मा भिन्नभिन्न स्वभाववाले- चेतनाचेतनस्वभाववाले दो भिन्नभिन्न पदार्थ हैं और उन दोनों में से कौनसा भी पदार्थ अपने स्वभाव का परित्याग कर और अन्यपदार्थ के स्वभाव को स्वीकार कर अन्यपदार्थ के रूप से

परिणत नहीं होता और अन्यपदार्थ के साथ एकीभाव को प्राप्त नहीं होता। अतः जीव शरीर से भिन्न है। इसप्रकार जीव और शरीर में स्वभावभेद के कारण वस्तुतः भेद होनेपर भी 'नई अवस्था, पुरानी अवस्था आदि के रूप से परिणत होनेवाला नोकर्म हि– शरीर हि जीव है; क्यों कि शरीर से भिन्नरूप अन्यपदार्थभूत जीवद्रव्य नहीं पाया जाता' ऐसा कोई कहते हैं। इस देहात्मैक्यवाद का कारण है अज्ञान और अनादि से चला आया देह और आत्मा का संयोगसंबंध। क्या अनादि काल से चले आये भिन्नस्वभाववाले दो द्रव्यों के संयोगमात्र से दो द्रव्यों का एकीभाव हो सकता है – एक द्रव्य अन्यद्रव्यरूप बन सकता है? सुवर्णपाषाण में सुवर्ण और पाषाण का अनादि काल से संयोगसंबंध पाया जाता है। क्या इस संयोगसंबंध से पाषाण सुवर्णरूप और सुवर्ण पाषाणरूप बन सकता है? यदि बन सकता तो पाषाणगत सुवर्ण पाषाणरूप बन जाता और सुवर्ण संसार से हि ऊठ जाता। सुवर्ण और पाषाण इनकी संयुक्त अवस्था आज भी पायी जाती है और पाषाण से सुवर्ण अलग किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और शरीर की अनादिकाल से संयुक्त अवस्था चली आयी होनेपर भी दोनों द्रव्यों की परस्परभिन्नता बनी रही है और सुवर्ण के समान आत्मा शरीर से सदा के लिए पृथक् की जा सकती है। अतः आत्मा और शरीर दो भिन्नभिन्न पदार्थ होनेपर भी शरीर को हि जीव कहना मिथ्या है। देहात्मैक्य का मिथ्यात्व स्पष्ट होनेपर भी उन दोनों की एकरूपता को स्वीकार करनेवाले लोक विद्यमान हैं। किन्तु दोनों को एकरूप बताने का कारण है उनकी मिथ्यात्वकर्म के उदय से होनेवाली अज्ञानरूप परिणति। (५) कर्म शुभकर्म और अशुभकर्म इसप्रकार दो प्रकार का होता हैं। जब जीव के साथ संश्लिष्ट हुए इन दोनों कर्मों का विपाक होता हैं तब उसमें जीव को फल देने की सामर्थ्य आविर्भूत होती हैं। इस सामर्थ्य के कारण अज्ञानी असमर्थ जीव यथाक्रम शुभपरिणाम के रूप से और अशुभपरिणाम के रूप से परिणत होता हैं। यहि कर्मविपाक के द्वारा ससारस्थ सभी प्राणियों को पुण्यपापरूप से आक्रान्त किया जाता है। 'इसप्रकार संसारस्थ सभी प्राणियों को पुण्यपापरूप से आक्रान्त करनेवाला कर्मविपाक हि जीव है; क्यों कि शुभाशुभपरिणामों से भिन्नरूप अन्यपदार्थभूत जीवद्रव्य नहीं पाया जाता' ऐसा कोई कहते हैं; किंतु यह उनका कथन मिथ्या है। कर्म का उदय और उदयावस्थापन्न कर्म की सामर्थ्य आत्मा से अभिन्न होते हैं। उस उदय का और कर्म की सामर्थ्य का आत्मा के साथ कोई संबंध नहीं है। हां उनके निमित्त से अज्ञानी आत्मा जरूर विभावरूप से परिणत होती हैं। फिर भी उनमें और आत्मा में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव न होनेसे उनका आत्मा के साथ किसी प्रकार का संबंध न होनेसे कर्मविपाक जीव नहीं हो सकता। ऐसा होते हुए भी कर्मविपाक को हि जीव मानना मिथ्या है और इस मिथ्यात्व का कारण सप्तप्रकृतियों का उदय है। (६) उदय होनेपर आविर्भूत हुई सामर्थ्य के निमित्त से अज्ञानी अत एव असमर्थ जीव सुखदुःखरूप से परिणत होता हैं और अपनी उस विभावपरिणति का अनुभव करता हैं। यदि शुभ कर्म का या अशुभ कर्म का उदय तीव्ररूप हो तो सुख का और दुःख का अनुभव भी तीव्र होता है और यदि वह उदय मन्दरूप हो तो सुख का और दुःख का अनुभव भी मन्द होता है। 'इसप्रकार सुखरूप से और दुःखरूप से अभिव्याप्त समस्त तीव्रत्वरूप और मन्दत्वरूप दो गुणों के रूप से जिसके भेद होते हैं ऐसा कर्म का अनुभव हि जीव हैं; क्यों कि सुख से और दुःख से भिन्नरूप अन्यपदार्थभूत जीवद्रव्य नहीं पाया जाता' ऐसा कोई कहते हैं; किंतु यह उनका कथन मिथ्या हैं। कर्म के उदय के निमित्त से अशुद्ध आत्मा में प्रादुर्भूत होनेवाले सुखदुःखादि परिणाम अशुद्ध आत्मा और सुखदुःखरूप परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होनेसे यद्यपि अशुद्ध आत्मा के हैं तो भी वे भाव कर्मोदयरूपनिमित्तजन्य होनेसे और शुद्ध आत्मा कर्मसंश्लेषरहित होनेसे शुद्ध आत्मा और उनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव न होनेसे शुद्ध आत्मा के नहीं हैं। ऐसा होते हुए भी तीव्रमन्दरूप सुखदुःखरूप अनुभूति को हि शुद्ध जीव कहना मिथ्या है। वे अशुद्धात्मस्वामिक होनेसे उन्हे अशुद्ध आत्मा कहना किसीतरह से बन सकता हैं; किंतु उन्हें शुद्ध जीव कहना यथार्थ नहीं कहा जा सकता। यदि ये भाव हि शुद्धजीवरूप होते तो शुद्ध जीव का वे स्वभावभूतभाव बन जाते और वे स्वभावभूत सिद्ध हो जानेसे उनसे जीव कभी छूट नहीं सकता। संसार में भी सुखदुःख की खण्डशः अनुभूति होती हैं। स्वभाव का सद्भाव अव्युच्छिन्न बना रहता हैं। अतः सुखदुःख की तीव्रमन्दानुभूति को आत्मा (शुद्ध जीव) कहना मिथ्या हैं। इस मिथ्या

कथन का कारण है अज्ञान – मोहाक्रान्त ज्ञान। इस अज्ञान के कारण हि सुखदुःखादिरूप विभावभावों का शुद्ध आत्मा के साथ किसी भी प्रकार से संबंध न होनेपर भी उन विभावभावों को शुद्ध आत्मा कहा जाता है। यह कथन आत्मस्वरूपानभिज्ञ जीव का प्रलापमात्र है– उसमें तथ्यांश नहीं है। (७) 'जिसप्रकार शिखरिणी– श्रीखंड दहि और शक्कर इन की मिश्रावस्थारूप होनेसे उभयरूप होती है– वह न सिर्फ दहिरूप होती है और न सिर्फ शक्कररूप भी, उसीप्रकार आत्मा और कर्म इन दोनों की संयोगात्मक उभयात्मक अवस्था हि जीव है; क्यों कि कर्म से संपूर्ण-रूप से भिन्नरूप अन्यपदार्थभूत जीव नहीं पाया जाता' ऐसा कोई कहते हैं; किंतु उनका यह कथन ठीक नहीं है। कर्म अचेतन होता है और जीव चेतन होता है। यदि दोनों की संयुक्तावस्था को जीव माना गया तो जीव को चेतनाचेतनस्वभाववाला मानना होगा जो कि असंभव है; क्यों कि चेतनधर्म और अचेतनधर्म इनमें सहानवस्थान-विरोध होनेसे वे जीवरूप एकद्रव्य के आश्रय से नहीं रह सकते। ऐसा होते हुए भी आत्मा और कर्म इनकी संयुक्तावस्था को जो जीव कहा जाता है वह मिथ्या है। सुवर्णपाषाणगत सुवर्ण और पाषाण की संयुक्त अवस्था होनेसे क्या उस संयुक्त अवस्था को सुवर्ण कहा जा सकता है? उन दोनों का स्वरूप भिन्न होनेपर भी उन दोनों की संयुक्त अवस्था को सुवर्ण कहा जाने से यदि सुवर्ण माना गया तो पाषाण को भी सुवर्ण माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। किंतु संसार में पाषाण को कोई भी सुवर्ण नहीं मानता। यदि पाषाण भी सुवर्ण होता तो सुवर्ण से पाषाण को या पाषाण से सुवर्ण को अलग करने की क्यों आवश्यकता होती? अतः आत्मा और कर्म इनकी संयुक्त अवस्था को जीव कहना मिथ्या है। इस मिथ्या प्रतिपादन का कारण है मिथ्यात्व। अतः आत्मकर्मोभय को जीव बताना मिथ्यादृष्टि का प्रलापमात्र है– उस कथन में तथ्यांश है हि नहीं। (८) सुखदुःखरूप से अज्ञानी जीव को परिणत करना अर्थात् जीव को फलप्रदान करना यह कर्मों का प्रयोजन है। 'इस प्रयोजन की निष्पत्ति में जो समर्थ होते हैं ऐसे आठ कर्मों का संयोग हि जीव है; क्यों कि जिसप्रकार आठ लकडियों के संयोग से भिन्नरूप अन्यपदार्थभूत पलंग नहीं पाया जाता उसीप्रकार आठ कर्मों के संयोग से भिन्नरूप अन्यपदार्थभूत जीवद्रव्य नहीं पाया जाता' ऐसा कोई कहते हैं; किंतु उनका यह कथन ठीक नहीं है– मिथ्या है। आठों कर्म पुद्गल के परिणाम –कार्य है। अचेतन पुद्गल के परिणाम होनेसे और परिणाम में उपादान का नियतरूप से अपने स्वरूप के साथ अन्वित होना अनिवार्य होनेसे पुद्गल के साथ अचेतनस्वरूप का अन्वय होनेके कारण आठों कर्मों की संयुक्तावस्था अचेतनस्वरूप हि होनी चाहिये। उसमें चेतनधर्म का सद्भाव पाया जाना असंभव है। चैतन्य जीव का स्वाभाविक धर्म हि है। ऐसी अवस्था में आठों कर्मों की संयुक्त अवस्था में चैतन्यस्वभाव का सद्भाव कैसे हो सकता है? यदि आठ अचेतन कर्मों की संयोग अवस्था होते हि उस अवस्था में चैतन्यधर्म का प्रादुर्भाव हो हि जाता है ऐसा कहना हो तो आठ विजातीय अचेतन पदार्थों की जब कभी संयुक्त अवस्था होगी तब उस संयुक्त अवस्था में चैतन्यधर्म की प्रादुर्भूति होनी हि चाहिये। जब आठ अचेतन पदार्थों में चेतनरूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य होगी तब हि उनकी संयुक्त अवस्था में चैतन्यधर्म की प्रादुर्भूति हो सकती है। संसार में एक भी ऐसा अचेतन पदार्थ नहीं है जो कि चेतनरूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य रखता हो। अतः आठ अचेतन कर्मों के संयोग को जीव समझना मिथ्या है। मिथ्यादृष्टि जीव हि ऐसी भ्रान्त कल्पना कर सकता है; क्यों कि मिथ्यात्व का वस्तु के स्वरूप को विपरित रूप से जानना हि स्वभाव है। यदि मिथ्यादृष्टि भी वस्तु के यथार्थस्वरूप को यथार्थरूप से हि जानेगा तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में भेद हि नही रहेगा और सम्यग्दृष्टि की तरह अभव्यजीव भी मुक्ति की साधना में सफल हो जायगा। किंतु यह बात असंभव है। इसप्रकार आत्मस्वरूप के विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्त कल्पनाओं का प्रसवन करनेवाले अनेक प्रकार के लोक हैं। वे सभी मिथ्यादृष्टि होनेसे किसी न किसी प्रकार से जो किसी भी हालत में जीव नहीं बन सकता ऐसे परपदार्थ को आत्म-स्वरूप बताने का प्रयास किया करते हैं। ऐसे जीवों को कोई भी सत्यार्थवादी भूतार्थवक्ता नहीं समझ सकता।

कुतः ? –

आत्मा के स्वरूप के विषय में जो उक्तप्रकार का अभिप्राय व्यक्त करते हैं वे भूतार्थवक्ता क्यों नहीं

यह बताते हैं–

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो ति वुच्चंति? ॥ ४४ ॥

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यन्ते ? ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ– (**एते सर्वे भावाः**) ये रागद्वेषदूषित अध्यवसान आदि भाव जिन्हे जीव बताया गया है वे सभी भाव (**पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः**) पुद्गलोपादानक कर्मरूप परिणामो से निष्पन्न हुए हैं और पुद्गलद्रव्यरूप कर्मात्मक परिणामों के निमित्त से अशुद्ध आत्मा मे उत्पन्न हुए हैं ऐसा (**केवलिजिनैः भणिता**) सभी पर्यायोंसहित अर्थात् भूत-भावी-वर्तमान पर्यायो के साथ सभी द्रव्यो को जानने की सामर्थ्य से युक्त शुद्ध और असहाय केवलज्ञान के धारक भगवान् जिनेंद्रो ने कहा है । अतः (**ते**) वे अध्यवसानादिरूप भाव हि (**जीवः इति**) जीव है ऐसा (**कथं उच्यन्ते**) कैसे कहा जा सकता है–वे भाव जीव कैसे कहे जा सकते है ?

आ. ख्या.– यतः एते अध्यवसानादयः समस्ताः एव भावाः भगवद्भिः विश्वसाक्षिभिः अर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः सन्तः चैतन्यशून्यात् पुद्गलद्रव्यात् अतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं न उत्सहन्ते, ततः न खलु आगमयुक्तिस्वानुभवैः बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः परमार्थवादिनः । एतत् एव सर्वज्ञवचनं तावत् आगमः । इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः–' न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितं अध्यवसानं जीवः, तथाविधाध्यवसानात् कार्तस्वरस्य इव श्यामिकायाः अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयं उपलभ्यमानत्वात् । न खलु अनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत् कर्म एव जीवः, कर्मणः अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयं उपलभ्यमानत्वात् । न खलु तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसन्तानः जीवः, ततः अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयं उपलभ्यमानत्वात् । न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः, शरीरात् अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयं उपलभ्यमानत्वात् । न खलु विश्वं अपि पुण्यपापरूपेण आक्रामन् कर्मविपाकः जीवः, शुभाशुभभावात् अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयं उपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातरूपेण अभिव्याप्तसमस्ततीव्रमन्दत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवः जीवः, सुखदुःखातिरिक्तत्वेन अन्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयं उपलभ्यमानत्वात् । न खलु मज्जितावस्थावत् उभयात्मकत्वात् आत्मकर्मोभयं जीवः, कार्त्स्न्यतः कर्मणः अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयं उपलभ्यमानत्वात् । न खलु अर्थक्रियासमर्थः कर्म–

संयोगः जीवः, कर्मसंयोगात् खट्वाशायिनः पुरुषस्य इव अष्टकाष्ठसंयोगात् अतिरिक्तत्वेन अन्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयं उपलभ्यमानत्वात् ' इति ।

त. प्र.– यतो यस्मात्कारणादेते पूर्वगाथापञ्चकोक्ता अध्यवसानादयो रागद्वेषकलुषिताध्यवसानप्रमुखाः समस्ता सकला भावा आत्मनो विभावपरिणामाः पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मान्योन्यसंयोगविशिष्टा अवस्थाश्च भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिर्विश्वस्थितसकलसपर्यायज्ञेयार्थप्रत्यक्षद्रष्टृभिरर्हद्भिर्विजिताष्टादशदोषनिकायैः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेनोपादानभूतपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकविकारत्वेन पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपनिमित्तकर्तृजनितात्मविभावात्मकपरिणामात्मकविकारत्वेन च प्रज्ञप्ताः प्रतिपादिताः सन्तश्चैतन्यशून्यादात्मस्वभावभूतचैतन्यविकलात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन विभिन्नत्वेन प्रज्ञाप्यमानं प्रतिपाद्यमानं चैतन्यस्वभावं शुद्धज्ञानघनैकस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकं जीवद्रव्यसमवेतचैतन्यस्वभावमुपादाय जीवस्वरूपेणात्मानं परिवर्तयितुं नोत्सहन्ते न समर्था भवन्ति । ततस्तस्मात्कारणान्न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैराप्तवाक्ययुक्तिस्वसंवेदनप्रत्यक्षैर्बाधितपक्षत्वाज्जनितबाधपक्षत्वात् । बाधितो जनितबाधः पक्षः पर आत्मेति पक्षो येषां ते बाधितपक्षाः । तेषां भावो बाधितपक्षत्वम् । तस्मात् । तदात्मवादिनः परात्मवादिनः परमार्थवादिनो भूतार्थप्रतिपादकाः । एतदेव ' न पर आत्मा, ततोतिरिक्तत्वेन शुद्धज्ञानघनैकस्वभावत्वेनात्मन उपलब्धेः ' इत्येतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः । इयं वक्ष्यमाणात्मानुभूतिसहिता युक्तिः–न खलु नैव नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितं स्वाभाविकरागद्वेषजनितकालुष्यमध्यवसानं परिणामो जीवस्तथाविधाध्यवसानात्स्वाभाविकरागद्वेषजनितकालुष्याध्यवसानाख्यात्परिणामात्कार्तस्वरस्येव सुवर्णस्येव श्यामिकायाः कालुष्यादतिरिक्तत्वेन भिन्नत्वेनान्यपदार्थभूतस्य चित्स्वभावस्य चैतन्यस्वभावयुक्तस्य । चिच्चेतना स्वभावो यस्य स चित्स्वभावः । तस्य । विवेचकैर्भेदज्ञानवद्भिः । परं पृथक्कृत्वा शुद्धात्मानमनुभवगोचरीकुर्वद्भिरित्यर्थः । स्वयमुपलभ्यमानत्वात्प्राप्यमाणत्वात् । अयमत्र भावः–यथा किट्टोट्टङ्कितमष्टापदं पाकादिना किट्टात्पृथक्कुर्वद्भिः शुद्धावस्थमुपलभ्यते तथा नैमित्तिकत्वादस्वाभाविकभावात्मकरागद्वेषस्वरूपकालुष्यादध्यवसानं ज्ञानं तत्परिणामं वा पृथक् कृत्वा शुद्धज्ञानस्वभाव आत्मा विकसितभेदज्ञानैः कालुष्याक्रान्ताध्यवसानाद्भिन्नत्वेनान्यपदार्थभूतत्वेनोपलभ्यते । यतः स चित्स्वभावो जीवो विकसितभेदज्ञानैर्नैमित्तिकरागद्वेषजनितकालुष्यादध्यवसानात्पृथक्त्वेनोपलभ्यते ततो न तथाविधाध्यवसानं जीवः । न रागद्वेषौ नैसर्गिकौ कर्मोदयात्मकनिमित्तेनासमर्थे जीवे तत्प्रादुर्भावात्तद्विकलात्मोपलब्धेश्च । न खलु नैवानाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः – अनाद्यनन्ताः पूर्वापरीभूता अवयवा यस्या साऽनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवा । सा चासावेकसंसरणक्रिया चाऽनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रिया । तस्या रूपं स्वरूपम् । तेन । अत्र संसरणशब्देन जीवेन सह कर्मणो भवाद्भवान्तरगमनमभिप्रेतम् । जीवस्य भवान्तरगमनकाले कर्मणस्तमनु धावनमेव संसरणक्रियारूपा क्रीडा । अत्र संसरणक्रियाया एकेतिविशेषणेन तस्या अविच्छिन्नत्वं प्रकटीभवति । तस्याः पूर्वीभूतानामपरीभूतानां चावयवानां यथाक्रममनादित्वमनन्तत्वं च प्रकटीकृत्य तस्या अनाद्यनन्तत्वमेकेतिविशेषणेन चाविच्छिन्नत्वमाविर्भावितम् । तादृशक्रियारूपेण क्रीडज्जीवं गर्हास्पदं कुर्वत्तं परिहसद्वा कर्मैव जीवः, तादृक्कर्मणोतिरिक्तत्वेन भिन्नत्वेनान्यस्यान्यपदार्थभूतस्यात्मद्रव्यस्य चित्स्वभावस्य चैतन्यरूपस्वरूपस्य विवेचकैर्भेदज्ञानवद्भिर्भेदज्ञानबलेन स्वयमात्मानमनुभवद्भिर्वा स्वयमुपलभ्यमानत्वात्स्वसंवेदनज्ञानगोचरीक्रियमाणत्वात् । न

खलु नैव तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसन्तानो जीवः—दुरन्तो दुःखपरिणामः। दुष्टो दुःखोत्पादकत्वादन्तः परिणामो यस्य सः । रागरसः रागात्मकभावानुभूतिः । रागस्य रागभावस्य रसोऽनुभूती रागरसः। अत्र रागशब्दोऽन्येषां द्वेषक्रोधादिविभावभावानामुपलक्षणार्थः । तीव्रमन्दानुभवाभ्यां भिद्यमानो भेदं प्राप्नुवंस्तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानः । स चासौ दुरन्तो रागरसश्च तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानरागरसः । तेन निर्भर आपरिपूर्णोऽध्यवसानसन्तानो मानसपरिणामपरम्परा । स एव जीवस्ततस्तादृगध्यवसानसन्तानादतिरिक्तत्वेन भिन्नत्वेनान्यस्य भिन्नपदार्थभूतस्य चित्स्वभावस्य चैतन्यात्मकस्वरूपस्य जीवद्रव्यस्य विवेचकैर्विकसितभेदज्ञानैर्भेदज्ञानात्मकसामर्थ्यविशेषेण स्वयमात्मानमनुभवद्भिर्वा स्वयमुपलभ्यमानत्वात्स्वसंवेदनज्ञानगोचरीक्रियमाणत्वात् । तादृगध्यवसानसन्तानस्य शुद्धात्मना तादात्म्याभावादात्मनो भिन्नत्वाद्भेदज्ञानिभिस्तादृगध्यवसानसन्तानविकलस्यात एव शुद्धस्यात्मनोऽनुभवगोचरीक्रियमाणत्वान्नैव तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसन्तानो जीव इति भाव. । न खलु नैव नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः—नवा नूतना च पुराणी च नवपुराण्यौ । ते च तेऽवस्थे च नवपुराणावस्थे । ते आदौ यस्य । तेन भेदेन प्रवर्तमानं परिणममानं नोकर्मैव शरीरमेव जीवः । नवपुराणादिनानाविधावस्थशरीरादात्मनो भेदेनानुपलभ्यमानत्वमात्रेण न शरीरस्य जीवत्वं कदाचिदपि कथमपि सम्भवतीति भावः । अत्र हेतुः—शरीरादचेतनविग्रहादतिरिक्तत्वेन भिन्नत्वेन चित्स्वभावस्य चेतनस्वरूपस्यात्मद्रव्यस्य विवेचकैर्विकसितभेदज्ञानैस्सम्यग्दृष्टिभिर्भेदज्ञानात्मकवीर्यविशेषेण स्वयमात्मानमनुभवद्भिर्वा स्वयमुपलभ्यमानत्वात्स्वसंवेदनज्ञानगोचरीक्रियमाणत्वादिति । न खलु नैव विश्वमपि विश्वस्थप्राणिजातमपि पुण्यपापरूपेण शुभाशुभजीवपरिणामात्मकपुण्यपापसञ्ज्ञकपरिणामजननरूपेणाक्रामन्व्याप्नुवन्कर्मविपाक उदयावस्थापन्नकर्मणो जीवस्य शुभाशुभपरिणामरूपेण परिणमनमेवानुभवो यः स जीवः । जीवस्य शुभाशुभपरिणामदर्शनाच्छुभाशुभकर्मविपाकसिद्धेस्तत्कृताशुद्धजीवाक्रमणोपपत्तेरप्याक्रामत्कर्मविकारो न जीव इति भावः । अत्र हेतुः—शुभाशुभभावाच्छुभाशुभस्वपरिणमादतिरिक्तत्वेन भिन्नत्वेनान्यस्य शुभाशुभपरिणामविकलशुद्धद्रव्यभूतजीवस्य चित्स्वभावस्य शुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्य विवेचकैर्विकसितभेदज्ञानैस्सम्यग्दृष्टिभिर्भेदज्ञानात्मकशक्तिविशेषेण स्वयमात्मनात्मानमनुभवद्भिर्वा स्वयमुपलभ्यमानत्वात्स्वसंवेदनज्ञानगोचरीक्रियमाणत्वादिति । न खलु नैव सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमन्दत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवो जीवः—सातासातरूपेण सुखदुःखात्मकपरिणामरूपेणाभिव्याप्ताभ्यामाक्रान्ताभ्यां समस्ताभ्यां सकलाभ्यां तीव्रमन्दत्वगुणाभ्यां तीव्रत्वमन्दत्वस्वरूपाभ्यां भिद्यमानो भेदमापद्यमानः कर्मानुभवो निमित्तकर्तृभूतकर्मोदयजन्यात्मविभावभावानुभव एव जीव । सातासातकर्मोदयजन्यतीव्रमन्दरसाक्रान्तसुखदुःखात्मकात्मपरिणामानुभवस्य कर्मोदयनिमित्तकत्वादस्वभावभावत्वान्न कर्मानुभवो जीव इत्यभिप्रायः । अत्र हेतुः—सुखदुःखातिरिक्तत्वेन सातासातद्रव्यकर्मोदय जन्यसुखदुःखात्मकविभावपरिणामभिन्नत्वेनान्यस्य सुखदुःखात्मकात्मविभावपरिणामविकलशुद्धद्रव्यभूतजीवस्य चित्स्वभावस्य शुद्धज्ञानघनैकस्वभावस्य विवेचकैर्विकसितभेदज्ञानैस्सम्यग्दृष्टिभिर्भेदज्ञानात्मकसामर्थ्यविशेषेण स्वयमात्मनात्मानमनुभवद्भिर्वा स्वयमुपलभ्यमानत्वात्स्वसंवेदनज्ञानगोचरीक्रियमाणत्वादिति । न खलु नैव मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभय जीवः—मज्जितावद्दधिशर्करासंयोजनजनितशिखरिणीवत् । यथा दधिशर्करासम्मिश्रणोत्थसंयुक्तावस्थावत्त्वाद्दधिसितोभयमेव मज्जिता शिखरिणी तथात्मकर्मोभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः, कार्त्स्न्यतः पूर्णत्वेन कर्मणोऽतिरिक्तत्वेन भिन्नत्वेनान्य-

स्यान्यद्रव्यभूतस्य चित्स्वभावस्य शुद्धचैतन्यरूपज्ञानघनैकस्वभावस्य विवेचकैर्विकसितभेदज्ञानैस्सम्यग्दृष्टिभिर्भेदज्ञानात्मकवीर्यविशेषेण स्वयमात्मनात्मानमनुभवद्भिर्वा स्वयमुपलभ्यमानत्वात्स्वसंवेदज्ञानगोचरीक्रियमाणत्वात् । न खलु नैवार्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः—अर्थक्रियासमर्थः स्वाधिकारभूतप्रयोजननिष्पादनसामर्थ्यसम्पन्नः कर्मसंयोगोऽष्टविधकर्मान्योन्यसंयोगो जीवः कर्मसंयोगादष्टकर्मणामन्योन्यसंयोगात् । स्वकार्यनिष्पादनक्षमाष्टविधकर्मान्योन्यसंयोगो नैव जीव इति भावः । अत्र हेतुः—कर्मसंयोगादष्टविधकर्मान्योन्यसंयोगात्खट्वाशायिनः खट्वामधिरुह्य तत्र शायिनश्शयानस्य पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादष्टकाष्ठसंयुक्तावस्थाया अतिरिक्तत्वे भिन्नत्वेनान्यस्याष्टकर्मसंयोगाद्भिन्नस्य पदार्थस्य जीवार्थस्य चित्स्वभावस्य शुद्धचैतन्यरूपज्ञानघनैकस्वभावस्य विवेचकैर्विकसितभेदज्ञानैस्सम्यग्दृष्टिभिर्भेदज्ञानात्मकसामर्थ्यविशेषेण स्वयमात्मनात्मानमनुभवद्भिर्वा स्वयमुपलभ्यमानत्वात्स्वसंवेदनज्ञानगोचरीक्रियमाणदिति । अयमत्राभिप्रायः—यथाऽष्टकाष्ठसंयोगात्खट्वाया अनतिरिक्तत्वाद्यद्यपि खट्वाऽष्टकाष्ठसंयोगरूपैव तथापि तत्संयोगात्मकखट्वायास्तदधिरूढस्यात्मनस्स्वभावभेदाद्भिन्नत्वमेव तथाऽष्टविधकर्मान्योन्यसंयोगात्स्वभावभेदाज्जीवस्यापि ततो भेदः, तत्संयोगाद्भिन्नत्वेनान्यपदार्थभूतत्वेन चित्स्वभावस्यात्मनस्स्वसंवेदनज्ञानिभिरनुभूयमानत्वादिति भावः ॥

टीकार्थ— यह अध्यवसान आदिरूप जितने भी जीव के और पुद्गल के भाव-परिणाम हैं वे सभीके सभी भाव विश्वस्थ संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से जाननेवाले भगवान् अर्हन्तों के द्वारा पुद्गलद्रव्यरूप निमित्त के द्वारा अशुद्ध आत्मा में प्रादुर्भावित किये गये परिणामों के रूप से और पुद्गलद्रव्य के परिणामों के रूप से बताये गये होनेसे चैतन्यस्वभावशून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्नरूप से बताये जानेवाले चैतन्यस्वभाव से युक्त जीवद्रव्य के रूप से परिणत होनेके लिये जब समर्थ नहीं होते तब आगम, युक्ति और स्वानुभव के द्वारा उनका 'अध्यवसानादिभाव हि जीव हैं' यह पक्ष बाधित हो जानेसे 'अध्यवसानादिभाव हि जीव है' ऐसा प्रतिपादन करनेवाले भूतार्थवक्ता—सत्यार्थवक्ता—यथार्थस्वरूपवक्ता नहीं है । यह हि सर्वज्ञ का वचन आगम है । स्वानुभव से युक्त युक्ति यह है—जिस प्रकार किट्ट से भिन्न अन्यपदार्थरूप से पाया जानेसे किट्ट सुवर्णरूप नहीं होता उसी प्रकार स्वाभाविक रागद्वेष से दूषित हुआ अध्यवसान जीव है हि नहीं; क्यों कि उसप्रकार के अर्थात् स्वाभाविक रागद्वेष से दूषित अध्यवसान से भिन्नरूप होनेसे अन्यपदार्थभूत शुद्धचैतन्यस्वभाववाला जीव भेदज्ञानियों को स्वयं उपलभ्यमान होता है अर्थात् भेदज्ञानियों को शुद्धचैतन्यस्वभाववाले जीव का अनुभव होता है -उनके अनुभव में आता है । जिसके पूर्व अवयव अनादि से चले आये हुए होते हैं और उत्तरकालीन अवयव अनन्त होते है ऐसी जो एक संसरणरूप क्रिया उसरूप से क्रीडा करनेवाला कर्म हि जीव है हि नहीं; क्यों कि कर्म से भिन्नरूप होने के कारण उससे भिन्न पदार्थभूत जीव भेदज्ञानियों को उपलभ्यमान होता है अर्थात् भेदज्ञानियों को शुद्धचैतन्यस्वभाववाले जीव का कर्म से भिन्नरूप से अनुभव होता है । तीव्र अनुभव के और मंद अनुभव के कारण भेद को प्राप्त होनेवाले या भेद को प्राप्त कराये जानेवाले और जिस का परिणाम (फल) दुःखोत्पादक होता है ऐसे राग के अनुभव से परिपूर्ण ऐसी अध्यवसान की परंपरा जीव है हि नहीं; क्यों कि उस अध्यवसान की परंपरा से भिन्नरूप होने के कारण अन्यपदार्थभूत शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव भेदज्ञानियों के द्वारा उपलभ्यमान होता है अर्थात् भेदज्ञानियों को शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाले जीव का उक्त अध्यवसान की परंपरा से भिन्नरूप से परमनिर्विकल्पसमाधिकाल में अनुभव होता है अर्थात् भेदज्ञानियों के द्वारा उक्त अध्यवसान की परंपरा से भिन्नरूप से (शुद्धज्ञानस्वभाववाला जीव) स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा जाना जाता है । नई अवस्था, पुरानी अवस्था आदिरूप अवस्थाओं के भेद से—परिणाम के रूप से परिणत होनेवाला नोकर्म अर्थात् शरीर जीव है हि नहीं; क्यों कि शरीर से भिन्नरूप होनेके कारण अन्यपदार्थभूत शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं शरीर से भिन्नरूप से उपलभ्यमान होता है अर्थात् भेदज्ञानियों को शुद्धज्ञानघनैक-

स्वभाववाले जीव का शरीर से भिन्नरूप से परमनिर्विकल्पसमाधिकाल में अनुभव होता है–भेदज्ञानियों के द्वारा 'शरीर से शुद्धज्ञानस्वभाववाला जीव भिन्न है' इसप्रकार स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान से जाना जाता है। संसार के सभी प्राणियों को अपने निमित्त से शुभाशुभपरिणामों के रूप से परिणमाकर पुण्यपाप के रूप से आक्रान्त करनेवाला कर्मों का विपाक जीव है हि नहीं; क्यों कि शुभाशुभपरिणामों से भिन्नरूप से वह उपलभ्यमान होता है अर्थात् भेदज्ञानियों को शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाले जीव का कर्मविपाक से भिन्नरूप से परमनिर्विकल्पसमाधिकाल में अनुभव होता है–भेदज्ञानियों के द्वारा 'कर्मविपाक से शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव भिन्न है' इसप्रकार स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान से जाना जाता है। सुखदुःखात्मक परिणामों के स्वरूप से अभिव्याप्त-युक्त सभी तीव्रत्व और मन्दत्व स्वरूपों से भेद को प्राप्त होनेवाला कर्मों का अनुभव अर्थात् कर्मों के उदय के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले कर्मफलरूप सुखदुःखरूप परिणामों का अनुभव जीव है हि नहीं; क्यो कि सुखदुःखरूप परिणामों से भिन्न होनेके कारण उस कर्मानुभव से अन्यपदार्थभूत शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं कर्मानुभव से भिन्नरूप से उपलभ्यमान होता है अर्थात् भेदज्ञानियों को शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाले जीव का कर्मानुभव से भिन्नरूप से परमनिर्विकल्पसमाधिकाल में अनुभव होता है–भेदज्ञानियों के द्वारा 'कर्मानुभव से शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव भिन्न है' इसप्रकार स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान से जाना जाता है। जिसप्रकार श्रीखंड दहि और शक्कर इनका मिश्रणरूप होनेसे दधिशर्करोभयरूप होता है उसीप्रकार आत्मा और कर्म की संयुक्तावस्थारूप होनेसे आत्मा और कर्म इनका संयोगरूप जीव है हि नहीं; क्यों कि कर्म से संपूर्णरूप से भिन्न होनेके कारण अन्यपदार्थरूप शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं कर्मों से भिन्नरूप से उपलभ्यमान होता है अर्थात् भेदज्ञानियों को शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाले जीव का कर्मों से भिन्नरूप से परमनिर्विकल्पसमाधिकाल में अनुभव होता है–भेदज्ञानियो के द्वारा 'कर्मों से शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव भिन्न है' इसप्रकार स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान से जाना जाता है। अपना कार्य करनेमें समर्थ-प्रयोजन की सिद्धि करनेमें समर्थ ऐसा कर्मों का संयोग जीव है हि नहीं; क्यो कि इसप्रकार आठ लकडियों के संयोगरूप पलंगपर सोनेवाला पुरुष आठ लकडियों के संयोग से भिन्न होता है उसीप्रकार कर्मसंयोग से भिन्नरूप होने से अन्यपदार्थभूत शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं कर्मसंयोग से भिन्नस्वरूप से उपलभ्यमान होता है अर्थात् भेदज्ञानियों को शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाले जीव का कर्मसंयोग से भिन्नरूप से परमनिर्विकल्पसमाधिकाल में अनुभव होता है–भेदज्ञानियों के द्वारा 'कर्मसंयोग से शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव भिन्न है' इसप्रकार स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से जाना जाता है।

विवेचन– आत्मा चैतन्यस्वभाववाली है इस अभिप्राय को जो समझते नहीं या समझकर भी उसको स्वीकार नहीं करते उन आठ लोकों के आत्मस्वरूपविषयक आठ अभिप्रायों को सकलित कर उनका आत्मख्याति में परिहार करके आत्मा का चैतन्यस्वभावत्व प्रस्थापित किया गया है। कोई रागद्वेषों से कलुषित हुए अध्यवसान को जीव कहते हे तो कोई कर्म को हि जीव समझ बैठे हुए है, कोई अध्यवसान के प्रवाह को जीव मानते हैं तो कोई नोकर्म को–शरीर को हि जीव समझे हुए है, कोई कर्मविपाक को जीव कहते हे तो कोई कर्मानुभव को जीव बताते हैं और कोई आत्मा और कर्म की युति को जीव समझे हुए हे तो कोई आठ कर्मों के संयोग को जीव मानते हे। इन आठों मन्तव्यों का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के आधार से परिहार किया गया है। अव्याप्त्यादिदोषों से रहित अन्य पदार्थों में न पाये जानेवाले असाधारण लक्षण का ज्ञान जबतक नहीं होता तबतक ज्ञाता ज्ञेयविषयक ज्ञान के बारेमें असमर्थ हि बना रहता है; क्यो कि ज्ञेयके अव्याप्तादिदोषों से रहित ऐसे असाधारणस्वरूप के ज्ञान के विना उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। ज्ञेय के यथार्थज्ञान के विना ज्ञेय की अन्य ज्ञेयपदार्थों से व्यावृत्ति नहीं की जा सकती और परस्पर व्यावृत्ति के अभाव में सर्वसंकर हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। असमर्थता के कारण होनेवाले ज्ञेय के असाधारणस्वरूप के ज्ञान के अभाव में ज्ञेयभिन्न पदार्थों को भी ज्ञेयपदार्थ हि समझता है। ज्ञेयरूप आत्मा के स्वरूप को जाननेके विषय में भी अन्यमतवादियों की ऐसी हि अवस्था है। आत्मा के यथार्थ असाधारणलक्षण का ज्ञान उन्हें न होनेसे आत्मा को जाननेके विषय में वे असमर्थ होते हे। असमर्थ होने से आत्मस्वरूप के विषय मे वे

अनेकविध कल्पनाएं करते हैं और परपदार्थ को हि आत्मा समझ बैठते हैं। आगम, युक्ति और स्वानुभव से जब आत्मा जानी जाती है तब परपदार्थ को आत्मा समझनेवाले भिन्नमतवादियों की आत्मविषयक जो कल्पनाएं होती हैं उनसे भिन्न ज्ञानस्वभाववाली आत्मा की सिद्धि हो जाती है। अब यहांपर आत्मा क्या चीज है यह देखना है— '<u>आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः</u>' इसप्रकार आप्त का स्वरूप बताया गया है। 'आप्त का वाक्य जिसमें कारण पडता है ऐसा अर्थज्ञान हि आगम है' ऐसा उक्त लक्षणवाक्य का अर्थ है। आप्त वहि है जो कि विश्व के सभी तत्त्वों को–ज्ञेयों को साक्षात् जानता है। ऐसा आप्त है अर्हद्भगवान्। इन्होंने जो कहा है वहि यथार्थ है। अर्हद्भगवान् ने कहा है कि आत्मा शुद्धज्ञानरूप एक स्वभाववाली है। ये रागद्वेष से कलुषित हुए सभी अध्यवसानरूप भाव और दूसरे भाव पुद्गलद्रव्य के परिणामभूतकर्म के निमित्त से अशुद्ध आत्मा में प्रादुर्भूत हुए होनेसे और उनमें से कुछ भाव उपादानभूत पुद्गलद्रव्य के परिणामभूत होनेसे यथाक्रम पुद्गलद्रव्यनिमित्तक परिणाम और पुद्गलद्रव्योपादानक परिणाम हैं ऐसा संसार के सभी पदार्थों को साक्षात् जाननेवाले भगवान् अर्हन्तों ने कहा है। वे भाव चैतन्यशून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्नरूप कहे गये शुद्ध ज्ञानस्वभाववाले जीवद्रव्य के रूप से अपने स्वभाव को त्यागकर और जीव के स्वभाव को स्वीकार कर परिणत होने के लिए समर्थ नहीं होते। जब वे स्वरूपत्यागपूर्वक जीव के शुद्धज्ञानस्वभाव को स्वीकार कर शुद्धजीवद्रव्य के रूपसे परिणत नहीं हो सकते तब 'अध्यवसानादिभाव हि जीव हैं' यह पक्ष (प्रतिज्ञा) आगम, युक्ति और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से बाधित हो जानेसे अध्यवसानादि को जीव बतानेवाले भूतार्थ का प्रतिपादन करनेवाले नहीं हैं। यहि सर्वज्ञवचन आगम है। कहनेका भाव यह है कि–जितने भी अध्यवसानादिक भाव बताये गये हैं वे सब पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्मरूप निमित्त के द्वारा आत्मा में उत्पादित विकार हैं अर्थात् विभावभाव हैं। अतः उनका शुद्ध आत्मा के साथ किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है। इन अध्यवसानादि भावों में यद्यपि चैतन्य का आभास पाया जाता है और वे यद्यपि कथंचित् आत्मा के या आत्मस्वाभिक कहे जा सकते हैं तो भी जिसका अध्यवसानादिभावों में अन्वय पाया जाता है वह चैतन्य शुद्ध चैतन्य न होनेसे वे अध्यवसानादिभाव परमार्थतः आत्मा के नहीं हैं और वे आत्मा भी नहीं हैं। उनके साथ पुद्गलद्रव्य का किसी न किसी प्रकार से संबंध है। इस संबंध के कारण वे आत्मा के स्वाभाविकभाव न होनेसे उनको जीवद्रव्य नहीं कहा जा सकता।

१) जिन रागद्वेषादिभावों को अन्यवादियों ने आत्मा के नैसर्गिकभाव समझलिया हैं वे भाव किसी भी हालत में आत्मा के नैसर्गिकभाव नहीं बन सकते; क्यों कि वे भाव कर्मोदयजन्य होनेसे नैमित्तिकभाव हैं। यदि इन भावों को शुद्ध आत्मा के नैसर्गिक भाव समझ लिया तो वे आत्मा से किसी भी हालत में अलग नहीं हो सकते और ऐसी हालत में अग्नि और उष्णता के समान रागद्वेषादिभावों का आत्मा के साथ सदाकाल साहचर्य बना रहेगा, किंतु अग्नि और उष्णता के समान उनका साहचर्य देखनेमें नहीं आता; क्यों कि निद्रा के समय और शांति के समय अर्थात् निर्विकल्पसमाधि के काल में रागद्वेष का सद्भाव नहीं पाया जाता अपि तु सिर्फ आत्मा का हि सद्भाव पाया जाता है। जिस प्रकार उष्णता के अभाव में अग्नि का अभाव हो जाता है उसीप्रकार नैसर्गिक कहे जानेवाले रागद्वेष के अभाव में आत्मा का भी अभाव हो जाना चाहिये; किंतु ऐसा देखनेमें नहीं आता। अतः रागद्वेष आत्मा के नैसर्गिकभाव नहीं हैं। इसतरह अन्यमतवादियोंने जो अध्यवसान का विशेषण दिया है वहि असिद्ध है। ऐसी हालत में उनका पक्ष कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत वह बाधित हो जाता है। आत्मा का अनुभव करनेवाले महापुरुषों का भी यहि अभिप्राय है। अत आगम, युक्ति और अनुभव से परात्मवादियों का नैसर्गिक रागद्वेषों से मलिन अध्यवसान हि जीव है यह पक्ष बाधित होनेसे उनकी आत्मा का लक्षण यथार्थ नहीं है। जिसप्रकार सुवर्ण कालिमा से जुदा पाया जाता है उसीप्रकार उक्त विशिष्ट अध्यवसान से जुदी चैतन्यस्वभाववाली आत्मा की परमसमाधि में स्थित पुरुषों को प्राप्ति होती है। अतः चैतन्यस्वभाववाली आत्मा अध्यवसानरूप नहीं है। एकांतवादी ने 'अङ्गारस्येव कार्ष्ण्यात्' यह जो दृष्टान्त दिया है वह यथार्थ नहीं है; क्यों कि कालिमा अंगार का स्वभावभूत भाव होनेसे वह अंगार से जुदी नहीं की जा सकती, किंतु सुवर्ण से जिसतरह कालिमा जुदी की जा सकती

है उसीप्रकार रागद्वेषादिभावों से युक्त मलिन अध्यवसान आत्मा से जुदा किया जा सकता है। कहनेका भाव यह है कि जिसप्रकार कालिमा से-पाषाण से सुवर्ण परमार्थतः भिन्न होता है उसीप्रकार अध्यवसान से आत्मा भिन्न है। ये रागद्वेष अशुद्ध जीव के पुद्गलात्मक द्रव्यकर्म के उदय से आत्मा में उत्पन्न हुए अशुद्ध परिणाम हैं। कर्मों के या कर्मों के उदय के अभाव में उनका भी अभाव हो जाता है; क्यों कि निमित्त का अभाव होनेपर नैमित्तिक का भी अभाव हि होता है। 'शुद्ध जीव रागद्वेष से भिन्न होता है, क्यों कि परमनिर्विकल्पसमाधि में निमग्न पुरुषों के द्वारा रागद्वेष से भिन्न शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली शुद्ध आत्मा का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान से अनुभव किया जाता है; जैसे किट्ट-कालिका से सुवर्ण की भिन्नता' इस अनुमान से 'जीव रागद्वेष से भिन्न नहीं है; क्यों कि वह सर्वदा राग-द्वेषात्मकभाव से युक्त पाया जाता है; जैसे कार्ष्ण्य से अंगार की अभिन्नता' यह अनुमान बाधित हो जाता है।

२) संसरणक्रिया के पूर्वावयव अनादि होते हैं; क्यों कि जीव की संसरणक्रिया अनादि से चली आ रही है। उसके वर्तमानकालोत्तरकालीन अवयव अनंत होते हैं; क्यों कि जीव का संसरण प्रतिसमय चल रहा है और जीव अभव्य हो तो वह अनंतकालतक चलनेवाला है। जीव का एक भव के बाद अन्य भव में जन्म होना हि उसका संसरण है। 'समं सरणं ससरणम्' सहगमन करने का नाम भी संसरण है। कर्म किसी भी भवमें जीव के साथ साथ बना रहता है और विग्रह गति में वह कर्म जीव के साथ बना रहता है। किसी भी हाल में जीव का साहचर्य न छोडना हि कर्म का संसरण है या उसकी संसरणक्रिया है। यह सहगमनक्रिया हि कर्म की क्रीडा है। इस सहगामिकर्म के द्वारा हि जीव दुरवस्थाओं में पटक दिया गया है। इसप्रकार की क्रीडा में निरत कर्म हि जीव है ऐसा कोई कहते हैं; किंतु उनका यह कथन किसी भी प्रकार से समीचीन हो हि नहीं सकता; क्यों कि वह युक्त्यागमादि के विरुद्ध पडता है। यह द्रव्यकर्म उपादानभूत पुद्गलद्रव्य का जीवविभावभावनिमित्तक परिणामविशेष होनेसे अपने उपादान की तरह अचेतन हि होता है और जीव तो शुद्धचेतनस्वभाववाला हि होता है। ऐसी अवस्था में पुद्गलोपादानक कर्म चैतन्य-स्वभाव के अभाव में कैसे जीव कहा जा सकता है? द्रव्यकर्म को जीव कहना उतना हि युक्तिसंगत है कि जितना जल को अग्नि या अग्नि को जल कहना। मनमानी कहनेसे सिद्धान्त की सिद्धी नहीं हो सकती। 'जब प्रत्यक्ष में जीव और कर्म का एकीभाव दिखाई दे रहा है तब कर्म को जीवरूप न मानकर उससे जीव को अलग मानना प्रतीत्यतिलंघन नहीं है क्या?' इसप्रकार का प्रश्नात्मक आक्षेप किया जा सकता है। यह आक्षेप सर्वथा ठीक नहीं है। यद्यपि संसार अवस्था में जीव और कर्म का कथंचित् एकीभाव दिखाई देता है तो भी मुक्तावस्था में उक्त एकीभाव नहीं पाया जाता और निर्विकल्पसमाधिरत पुरुष को कर्मरूप जीव की अनुभूति नहीं होती-समाधिमग्न पुरुष के स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान का जो जीव विषय पडता है वह अचेतन कर्म से भिन्नरूप शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला हि होता है। आगम भी शुद्ध जीव को शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला हि बताता है। 'कर्म जीव नहीं है; क्यों कि कर्म पुद्गलोपादानक होनेसे अचेतन होता है और जीव शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला होता है तथा निर्विकल्पसमाधि में कर्मविकल शुद्ध जीव का अनुभव होता है, जैसे स्वभावभेद के कारण जल अग्नि या अग्नि जल नहीं होता अथवा सुवर्ण और पाषाण की संयुक्त अवस्था होनेपर भी स्वभावभेद के कारण पाषाण सुवर्ण या सुवर्ण पाषाण नहीं होता' इस अनुमान से 'कर्म हि जीव है, क्यों कि कर्म से भिन्नरूप से जीव नहीं पाया जाता' यह अनुमान बाधित हो जाता है। अतः आगम और स्वानुभवगर्भ युक्ति से शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली आत्मा की सिद्धि हो जानेसे कर्म जीव हो हि नहीं सकता। कर्म को वही आत्मा जीव समझती है जो कि मिथ्यात्वरूप विभावभाव के रूप से परिणत हुई होनेसे शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली शुद्ध आत्मा की अनुभूति से शून्य होती है। अतः कर्म को शुद्ध जीवद्रव्य समझना नितरां मिथ्या है। दो भिन्नभिन्न स्वभाववाले पदार्थों को एकपदार्थरूप समझना मिथ्या नहीं तो और क्या हो सकता है? क्या पाषाण को सुवर्ण मानना अयथार्थ-मिथ्या नहीं है? कहनेका भाव यह है कि-वर्तमानकाल की अपेक्षा से संसरणक्रिया के पूर्वकालीन अवयव अनादि हैं और उत्तर कालीन अवयव अनंत हैं। यह जो संसरणक्रिया है इस क्रिया के रूप से कर्म क्रीडा करता है। यह कर्म हि जीव है ऐसा भी किसीका मत है; किंतु यह मत यथार्थ नहीं है। संसरणक्रिया का कर्ता सर्वथा कर्म हि है ऐसा जो पूर्वपक्षी का मत है वह ठीक नहीं है; क्यों कि संसरणक्रिया सिर्फ

अनेकविध कल्पनाएं करते हैं और परपदार्थ को हि आत्मा समझ बैठते हैं। आगम, युक्ति और स्वानुभव से जब आत्मा जानी जाती है तब परपदार्थ को आत्मा समझनेवाले भिन्नमतवादियों की आत्मविषयक जो कल्पनाएं होती हैं उनसे भिन्न ज्ञानस्वभाववाली आत्मा की सिद्धि हो जाती है। अब यहांपर आत्मा क्या चीज है यह देखना है— 'आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः' इसप्रकार आप्त का स्वरूप बताया गया है। 'आप्त का वाक्य जिसमें कारण पडता है ऐसा अर्थज्ञान हि आगम है' ऐसा उक्त लक्षणवाक्य का अर्थ है। आप्त वहि है जो कि विश्व के सभी तत्त्वों को-ज्ञेयों को साक्षात् जानता है। ऐसा आप्त है अर्हद्भगवान्। इन्होंने जो कहा है वहि यथार्थ है। अर्हद्भगवान् ने कहा है कि आत्मा शुद्धज्ञानरूप एक स्वभाववाली है। ये रागद्वेष से कलुषित हुए सभी अध्यवसानरूप भाव और दूसरे भाव पुद्गलद्रव्य के परिणामभूतकर्म के निमित्त से अशुद्ध आत्मा में प्रादुर्भूत हुए होनेसे और उनमें से कुछ भाव उपादानभूत पुद्गलद्रव्य के परिणामभूत होनेसे यथाक्रम पुद्गलद्रव्यनिमित्तक परिणाम और पुद्गलद्रव्योपादानक परिणाम हैं ऐसा संसार के सभी पदार्थों को साक्षात् जाननेवाले भगवान् अर्हन्तों ने कहा है। वे भाव चैतन्यशून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्नरूप कहे गये शुद्ध ज्ञानस्वभाववाले जीवद्रव्य के रूप से अपने स्वभाव को त्यागकर और जीव के स्वभाव को स्वीकार कर परिणत होने के लिए समर्थ नहीं होते। जब वे स्वरूपत्यागपूर्वक जीव के शुद्धज्ञानस्वभाव को स्वीकार कर शुद्धजीवद्रव्य के रूपसे परिणत नहीं हो सकते तब 'अध्यवसानादिभाव हि जीव हैं' यह पक्ष (प्रतिज्ञा) आगम, युक्ति और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से बाधित हो जानेसे अध्यवसानादि को जीव बतानेवाले भूतार्थ का प्रतिपादन करनेवाले नहीं हैं। वहि सर्वज्ञवचन आगम है। कहनेका भाव यह है कि-जितने भी अध्यवसानादिक भाव बताये गये हैं वे सब पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्मरूप निमित्त के द्वारा आत्मा में उत्पादित विकार हैं अर्थात् विभावभाव हैं। अतः उनका शुद्ध आत्मा के साथ किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है। इन अध्यवसानादि भावों में यद्यपि चैतन्य का आभास पाया जाता है और वे यद्यपि कथंचित् आत्मा के या आत्मस्वामिक कहे जा सकते हैं तो भी जिसका अध्यवसानादिभावों में अन्वय पाया जाता है वह चैतन्य शुद्ध चैतन्य न होनेसे वे अध्यवसानादिभाव परमार्थतः आत्मा के नहीं हैं और वे आत्मा भी नहीं हैं। उनके साथ पुद्गलद्रव्य का किसी न किसी प्रकार से संबंध है। इस संबंध के कारण वे आत्मा के स्वाभाविकभाव न होनेसे उनको जीवद्रव्य नहीं कहा जा सकता।

१) जिन रागद्वेषादिभावों को अन्यवादियों ने आत्मा के नैसर्गिकभाव समझलिया है वे भाव किसी भी हालत में आत्मा के नैसर्गिकभाव नहीं बन सकते; क्यों कि वे भाव कर्मोदयजन्य होनेसे नैमित्तिकभाव हैं। यदि इन भावों को शुद्ध आत्मा के नैसर्गिक भाव समझ लिया तो वे आत्मा से किसी भी हालत में अलग नहीं हो सकते और ऐसी हालत में अग्नि और उष्णता के समान रागद्वेषादिभावों का आत्मा के साथ सदाकाल साहचर्य बना रहेगा, किंतु अग्नि और उष्णता के समान उनका साहचर्य देखनेमें नहीं आता; क्यों कि निद्रा के समय और शांति के समय अर्थात् निर्विकल्पसमाधि के काल में रागद्वेष का सद्भाव नहीं पाया जाता अपि तु सिर्फ आत्मा का हि सद्भाव पाया जाता है। जिस प्रकार उष्णता के अभाव में अग्नि का अभाव हो जाता है उसीप्रकार नैसर्गिक कहे जानेवाले रागद्वेष के अभाव में आत्मा का भी अभाव हो जाना चाहिये; किंतु ऐसा देखनेमें नहीं आता। अतः रागद्वेष आत्मा के नैसर्गिकभाव नहीं हैं। इसतरह अन्यमतवादियोंने जो अध्यवसान का विशेषण दिया है वहि असिद्ध है। ऐसी हालत में उनका पक्ष कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत वह बाधित हो जाता है। आत्मा का अनुभव करनेवाले महापुरुषों का भी यहि अभिप्राय है। अत आगम, युक्ति और अनुभव से परात्मवादियों का नैसर्गिक रागद्वेषों से मलिन अध्यवसान हि जीव है यह पक्ष बाधित होनेसे उनकी आत्मा का लक्षण यथार्थ नहीं है। जिसप्रकार सुवर्ण कालिमा से जुदा पाया जाता है उसीप्रकार उक्त विशिष्ट अध्यवसान से जुदी चैतन्यस्वभाववाली आत्मा की परमसमाधि में स्थित पुरुषों को प्राप्ति होती है। अतः चैतन्यस्वभाववाली आत्मा अध्यवसानरूप नहीं है। एकांतवादी ने 'अङ्गारस्येव कार्ष्ण्यात्' यह जो दृष्टान्त दिया है वह यथार्थ नहीं है; क्यों कि कालिमा अंगार का स्वभावभूत भाव होनेसे वह अंगारसे जुदी नहीं की जा सकती, किंतु सुवर्ण से जिसतरह कालिमा जुदी की जा सकती

है उसीप्रकार रागद्वेषादिभावों से युक्त मलिन अध्यवसान आत्मा से जुदा किया जा सकता है। कहनेका भाव यह है कि जिसप्रकार कालिमा से–पाषाण से सुवर्ण परमार्थतः भिन्न होता है उसीप्रकार अध्यवसान से आत्मा भिन्न है। ये रागद्वेष अशुद्ध जीव के पुद्गलात्मक द्रव्यकर्म के उदय से आत्मा में उत्पन्न हुए अशुद्ध परिणाम हैं। कर्मों के या कर्मों के उदय के अभाव में उनका भी अभाव हो जाता है; क्यों कि निमित्त का अभाव होनेपर नैमित्तिक का भी अभाव हि होता है। 'शुद्ध जीव रागद्वेष से भिन्न होता है, क्यों कि परमनिर्विकल्पसमाधि में निमग्न पुरुषों के द्वारा रागद्वेष से भिन्न शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली शुद्ध आत्मा का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान से अनुभव किया जाता है; जैसे किट्ट–कालिका से सुवर्ण की भिन्नता' इस अनुमान से 'जीव रागद्वेष से भिन्न नहीं है; क्यों कि वह सर्वदा राग-द्वेषात्मकभाव से युक्त पाया जाता है; जैसे काष्ण्यं से अंगार की अभिन्नता' यह अनुमान बाधित हो जाता है।

२) संसरणक्रिया के पूर्वावयव अनादि होते हैं; क्यों कि जीव की संसरणक्रिया अनादि से चली आ रही है। उसके वर्तमानकालोत्तरकालीन अवयव अनंत होते हैं; क्यों कि जीव का संसरण प्रतिसमय चल रहा है और जीव अभव्य हो तो वह अनंतकालतक चलनेवाला है। जीव का एक भव के बाद अन्य भव में जन्म होना हि उसका ससरण है। 'समं सरणं संसरणम्' सहगमन करने का नाम भी संसरण है। कर्म किसी भी भवमें जीव के साथ साथ बना रहता है और विग्रह गति में वह कर्म जीव के साथ बना रहता है। किसी भी हाल में जीव का साहचर्य न छोडना हि कर्म का संसरण है या उसकी संसरणक्रिया है। यह सहगमनक्रिया हि कर्म की क्रीडा है। इस सहगामिकर्म के द्वारा हि जीव दुरवस्थाओं में पटक दिया गया है। इसप्रकार की क्रीडा में निरत कर्म हि जीव है ऐसा कोई कहते हैं; किंतु उनका यह कथन किसी भी प्रकार से समीचीन हो हि नहीं सकता; क्यों कि वह युक्त्यागमादि के विरुद्ध पडता है। यह द्रव्यकर्म उपादानभूत पुद्गलद्रव्य का जीवविभावभावनिमित्तक परिणामविशेष होनेसे अपने उपादान की तरह अचेतन हि होता है और जीव तो शुद्धचेतनस्वभाववाला हि होता है। ऐसी अवस्था में पुद्गलोपादानक कर्म चैतन्य-स्वभाव के अभाव में कैसे जीव कहा जा सकता है? द्रव्यकर्म को जीव कहना उतना हि युक्तिसगत है कि जितना जल को अग्नि या अग्नि को जल कहना। मनमानी कहनेसे सिद्धान्त की सिद्धी नहीं हो सकती। 'जब प्रत्यक्ष में जीव और कर्म का एकीभाव दिखाई दे रहा है तब कर्म को जीवरूप न मानकर उससे जीव को अलग मानना प्रतीत्यतिलघन नहीं है क्या?' इसप्रकार का प्रश्नात्मक आक्षेप किया जा सकता है। यह आक्षेप सर्वथा ठीक नहीं है। यद्यपि संसार अवस्था में जीव और कर्म का कथंचित् एकीभाव दिखाई देता है तो भी मुक्तावस्था में उक्त एकीभाव नहीं पाया जाता और निर्विकल्पसमाधिरत पुरुष को कर्मरूप जीव की अनुभूति नहीं होती–समाधिमग्न पुरुष के स्वसवेदनप्रत्यक्षज्ञान का जो जीव विषय पडता है वह अचेतन कर्म से भिन्नरूप शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला हि होता है। आगम भी शुद्ध जीव को शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला हि बताता है। 'कर्म जीव नहीं है; क्यों कि कर्म पुद्गलोपादानक होनेसे अचेतन होता है और जीव शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला होता है तथा निर्विकल्पसमाधि में कर्मविकल शुद्ध जीव का अनुभव होता है जैसे स्वभावभेद के कारण जल अग्नि या अग्नि जल नहीं होता अथवा सुवर्ण और पाषाण की सयुक्त अवस्था होनेपर भी स्वभावभेद के कारण पाषाण सुवर्ण या सुवर्ण पाषाण नहीं होता' इस अनुमान से 'कर्म हि जीव है, क्यों कि कर्म से भिन्नरूप से जीव नहीं पाया जाता' यह अनुमान बाधित हो जाता है। अतः आगम और स्वानुभवगर्भ युक्ति से शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली आत्मा की सिद्धि हो जानेसे कर्म जीव हो हि नहीं सकता। कर्म को वही आत्मा जीव समझती है जो कि मिथ्यात्वरूप विभावभाव के रूप से परिणत हुई होनेसे शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाली शुद्ध आत्मा की अनुभूति से शून्य होती है। अतः कर्म को शुद्ध जीवद्रव्य समझना नितरां मिथ्या है। दो भिन्नभिन्न स्वभाववाले पदार्थों को एकपदार्थरूप समझना मिथ्या नहीं तो और क्या हो सकता है? क्या पाषाण को सुवर्ण मानना अयथार्थ–मिथ्या नहीं है? कहनेका भाव यह है कि–वर्तमानकाल की अपेक्षा से संसरणक्रिया के पूर्वकालीन अवयव अनादि हैं और उत्तर कालीन अवयव अनंत हैं। यह जो संसरणक्रिया है इस क्रिया के रूप से कर्म क्रीडा करता है। यह कर्म हि जीव है ऐसा भी किसीका मत है; किंतु यह मत यथार्थ नहीं है। संसरणक्रिया का कर्ता सर्वथा कर्म हि है ऐसा जो पूर्वपक्षी का मत है वह ठीक नहीं है; क्यों कि संसरणक्रिया सिर्फ

कर्म की नहीं होती--वह जीव और कर्म इन दोनों की होती है। जीव के अभाव में जब कर्म कर्मरूप नहीं बनता--सिर्फ पुद्गलरूपहि होता है और जब पुद्गल का भवान्तर को गमन नहीं बन सकता तब कर्म का संसरण होता है यह कथन कैसे ठीक माना जाय? जब कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल का जीव के विभावभावरूपनिमित्त से आत्मा के साथ संबंध होता है तब पुद्गल कर्मसंज्ञा को प्राप्त होता है। इस कर्म के कारण से--उदयादिरूपनिमित्त से जो संसरण होता है वह आत्मा का है और आत्मा के साथ संश्लिष्ट होनेसे कथंचित् कर्म का भी संसरण होता है। दूसरी बात यह है कि संसरण सर्वथा अनंत नहीं है; क्यों कि अयोगकेवली की अवस्था में और सिद्धावस्था में जीव में इस संसरण-क्रिया का अभाव पाया जाता है। कर्म कदापि जीव नहीं हो सकता; क्यों कि वह अचेतन होता है और आस्रव और बंध की दृष्टि से जीव के विभावभावाधीन होता है।

३) राग को रस कहा जाता है; क्यों कि उसका अनुभव किया जाता है। तीव्र अनुभव, मंद अनुभव की दृष्टि से इस रसरूप राग के भेद हो जाते है। इस रागरस का परिणाम अच्छा नहीं है--बुरा है; क्यों कि उसके कारण अज्ञानी जीव की दुःखरूप परिणति हो जाती है। अथवा इस रागरस का अन्त कष्टसाध्य है। इस राग से भरे हुए--युक्त अध्यवसानों का प्रवाह जीवरूप है इस प्रकार का भी किसी अज्ञानी का अभिमत है, किंतु यह उसका अभिमत गलत है। राग यह अशुद्ध आत्मा का कर्मोदयजन्य वैभाविकभाव है और वह आत्मा का वैभाविकभाव होने से सांत है- विनश्वर है फिर तीव्र, मंद अनुभव की अपेक्षा से उसके भेद क्यों न होते हो। इसप्रकार के रागरस से भरा हुआ अध्यवसान भी आत्मा का वैभाविकभाव होनेसे विनश्वर है। अध्यवसानरूप भाव विनश्वर होनेसे और उसमें शुद्ध चैतन्य का अन्वय पाया न जानेसे और जीव अनादिनिधन और शुद्धचैतन्यस्वभावयुक्त होनेसे अध्यवसान का प्रवाह जीव नहीं है। यदि राग-भावयुक्त अध्यवसान शुद्ध जीव का होता तो अशुद्ध जीव से शुद्ध जीवकी भिन्नता की सिद्धि कदापि नहीं होती, क्यों कि अशुद्ध जीव के समान शुद्ध जीव भी रागरूप से परिणत हुआ पाया जायगा। शुद्ध जीव की वीतरागता निर्विकल्पपरमसमाधिमग्न जीव के द्वारा स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान से जानी जाती है। शुद्ध जीव रागभावशून्य होता है ऐसा आगम का वचन है। जपाकुसुमरूप उपाधि से जिसप्रकार स्फटिकमणि विभावभावरूप से परिणत होना है उसीप्रकार कर्मोदयजन्य रागादिभावरूप उपाधि से जीव भी विभावभावरूप से परिणत हो जाता है। जिसप्रकार जपाकुसुमरूप उपाधि के हट जानेपर स्फटिकमणि स्वस्वरूप में स्थितिमान् होता है--रंजितावस्थ नहीं होता उसी-प्रकार रागरूप औपाधिकभाव के हटते हि जीव स्वस्वरूप में स्थितिमान् हो जाता है-रागभावरंजितावस्थ नहीं होता। शुद्ध जीव रागरूप विभावभाव से युक्त नहीं होता, क्यों कि परमसमाधिमग्न महापुरुष के स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-ज्ञान का रागभावसहित जीव विषय नहीं होता, जैसे जपाकुसुमरूप उपाधिरहित स्फटिकमणि' इस अनुमान से 'जो रागभावरूप होता है वह जीव है, क्यों कि रागभावरहित जीव नहीं पाया जाता' यह अनुमान बाधित हो जाता है। अतः आगम, युक्ति और अनुभव से रागरहित शुद्ध जीव की सिद्धि हो जानेसे रागभावयुक्त अध्यवसान का प्रवाह जीव नहीं है।

४) नोकर्म नाम शरीरका है। शरीर की नया शरीर, पुराना शरीर ऐसी अवस्थाएँ होती हैं। 'इसप्रकार का शरीर हि जीव है, क्यों कि शरीर से भिन्न दूसरा कोई जीव नहीं पाया जाता' ऐसा भी किसी एक मिथ्यादृष्टि का अभिमत है। यह उसका अभिमत यथार्थ नहीं है। यद्यपि अनादिकाल से जीव का शरीर के साथ संबंध हो जानेसे-एकीभाव सा हो जानेसे जीव कथंचित् मूर्तिमान कहा गया है, तो भी वह सर्वथा मूर्तिमान् नहीं है--परमार्थतः वह अमूर्त हि है। दूसरी बात यह है कि यदि शरीर हि जीव होता तो मृत्यु के बाद जीव के अभाव के साथ शरीर का भी अभाव हो जाना चाहिये, किंतु मृत्यु के बाद अर्थात् जीव का अपगमन होनेसे अभाव होनेपर भी शरीर का अस्तित्व पाया जाता है। इससे शरीर और जीव का अन्योन्यभिन्नपदार्थत्व सिद्ध हो जाता है। शरीर पुद्गल का जीव-विभावभावनिमित्तक विकार--विभावपरिणाम होनेसे और पुद्गल चैतन्यस्वभाव से रहित होनेसे शरीर चैतन्यस्वभाव से रहित है। जीव और शरीर के स्वभाव अन्योन्यभिन्न होनेसे शरीर जीव नहीं है। जीव के प्राक्तन आयुकर्म का नाश होनेपर जब नया आयुकर्म उदय में आता है तब नामकर्म भी उदय में आता है और शरीर बनने लग जाता है

और पर्याप्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अतः शरीर भी एक औदयिकभाव है। औदयिकभाव होनेपर भी पुद्गल का आत्मा के साथ संबद्ध हुआ परिणाम है। आत्मा के साथ संबद्ध होनेपर भी पुद्गल का परिणाम होनेसे और आत्मा का परिणाम न होनेसे उसमें चैतन्य का अन्वय पाया न जानेसे वह आत्मरूप कदापि नहीं हो सकता। परमसमाधि में मग्न महापुरुष स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा जब शुद्ध जीव का अनुभव करता है तब उसे सशरीर जीव की अनुभूति नहीं होती। अतः आत्मा और शरीर एकरूप न होनेसे शरीर जीव नहीं है। 'शरीर जीव नहीं है; क्यों कि परमसमाधि में शरीररहित जीव की हि अनुभूति है, जैसे किट्टकालिमारहित शुद्ध सुवर्ण' इस अनुमान से 'शरीर जीव है; क्यों कि शरीर से भिन्न जीव नहीं पाया जाता' यह अनुमान बाधित हो जाता है। अतः आगम, युक्ति और अनुभव से शरीर जीव नहीं है यह अभिमत सिद्ध हो जाता है।

५) कर्म का विपाक कर्म की विपच्यमान अवस्था है-उदयावस्था है। अवस्था और अवस्थावान् में वस्तुतः भेद न होनेसे कर्म से कर्मविपाक का भेद न होनेके कारण कर्मविपाक परमार्थतः कर्म हि है। यह कर्म पुण्यकर्म और पापकर्मरूप से विभक्त होता हुआ जब उदय में आता है तब संसारी जीवमात्र के साथ सश्लिष्ट हुआ होनेसे संसारावस्थ सभी प्राणियों को पुण्यपापरूप से आक्रान्त करता है-व्यापता है अर्थात् उन प्राणियों को शुभाशुभपरिणामों के रूप से परिणमाता है। संसारावस्थ सभी प्राणियों को अपने उदय के द्वारा शुभाशुभपरिणामों के रूप से परिणमाना हि उनको व्यापना है। यह व्यापक कर्म यद्यपि जीव के विभावभावों के कारण संसारी जीव के साथ बद्ध हुआ होनेसे उसके साथ एकीभाव को प्राप्त हुआजैसा है तो भी वह पुद्गलोपादानक होनेसे आत्मस्वामिक न होनेसे जीव नहीं है, अपि तु पुद्गल हि है। मृद्घट मृत्तिकोपादानक होनेसे मृत्तिका का हि है अर्थात् मृत्तिकारूप हि है, कुम्भकाररूप नहीं है; क्यों कि उसमें चेतन कुम्भकार का अन्वय नहीं पाया जाता। कर्मों में भी वे पुद्गलोपादानक होनेसे जीव का अन्वय नहीं पाया जाता। अतः कर्मविपाक या कर्म जीव नहीं कहा जा सकता। अशुद्ध जीव का शुभरूप या अशुभरूप परिणमन अवश्य होता है और वे दोनों प्रकार के परिणाम अशुद्ध आत्मा से परमार्थतः भिन्न भी नहीं हैं; क्यों कि अशुद्ध आत्मा या उसका औदयिकभावरूप अज्ञान उनका उपादानकारण होता है। ये शुभाशुभ परिणाम यद्यपि आत्मस्वामिक है, तो भी वे शुद्धात्मस्वामिक नहीं हैं। यदि वे शुद्धात्मस्वामिक होते तो शुद्ध आत्मा शुभाशुभपरिणतियों से छुटकारा नहीं पा सकती, क्यों कि वे परिणाम जीव के स्वाभाविकभाव बन जाते। शुद्ध अवस्था में कर्मों का अभाव होता है और अभाव के कारण शुभाशुभपरिणामों का वे निमित्तकारण नहीं बन सकते। जो भाव नैमित्तिक नहीं होते वे स्वाभाविक होते है। शुभाशुभपरिणाम शुद्ध जीव में नहीं पाये जाते; क्यों कि वे स्वाभाविक भाव न होकर नैमित्तिक या वैभाविकभाव है। वे नैमित्तिक या वैभाविक भाव होनेसे उनका अशुद्ध आत्मा के साथ परिणामपरिणामिभावरूप संबंध होनेपर भी उनका शुद्ध आत्मा के साथ किसी भी प्रकार का संबंध नहीं हो सकता। अतः कर्मविपाक जीव नहीं है। यदि कर्मविपाक जीव होता तो परमसमाधिकाल में महापुरुषों के द्वारा जब आत्मा का अनुभव किया जाता है तब उन्हें शुभाशुभभावसहित आत्मा का अनुभव हो जाना चाहिये; किंतु उस काल में उक्तभावसहित आत्मा का अनुभव नहीं है। जब परमसमाधि में स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा शुभाशुभभावरहित आत्मा का ज्ञान होता है तब कर्मविपाक को जीव नहीं कहा जा सकता। 'कर्मविपाक जीव नहीं है; क्यों कि परमसमाधिकाल में शुभाशुभपरिणामविशिष्ट जीव का अनुभव नही होता' इस अनुमान से 'कर्मविपाक जीव है; क्यों कि शुभाशुभपरिणामों से आत्मा भिन्न नहीं पायी जाती' यह अनुमान बाधित हो जाता है। आगम भी इसी अभिप्राय का समर्थन करता है। अतः आगम, युक्ति और अनुभव से कर्मविपाक जीव नहीं है यह अभिप्राय सिद्ध हो जाता है।

६) फल के मधुर या कटु रस का रसनेंद्रिय के साथ संपर्क हो जानेपर जो परिणति होती है वह अशुद्ध आत्मा की हि होती है और उसीका नाम अनुभव है। यह जो फलरसनिमित्तक अनुभव होता है वह आत्मपरिणति का हि संवेदन है। ऐसा होते हुए भी उस अनुभूति को व्यवहार में फल की अनुभूति कहा जाता है। वस्तुतः अनुभव स्वयं परिणतिस्वरूप हि होता है और इसीका नाम संवेदन है। यहि पदार्थस्वरूप को एकप्रकार से जानना है। उदया-

वस्यापन्न कर्म के निमित्त से जीव की जो विभावरूपपरिणति होती है उसीका संवेदन हि कर्मानुभव है। कर्मानुभव का अर्थ है कर्म के उदित होनेपर कर्मजात्यनुकूल आत्मा का परिणमन। परिणति उपादानानुरूप और निमित्तानुकूल होती है और इसीलिए वह कथंचित् उपादान के सदृश और कथंचित् विसदृश होती है। वह उपादान के सदृश होनेका कारण है परिणति में होनेवाला उपादान का स्वस्वरूप के साथ अन्वय और उपादान से विसदृश होने का कारण है कर्मोदय के निमित्त से होनेवाला उपादान से उसका कथंचित् वैलक्षण्य। कटक सुवर्ण का परिणाम होनेसे कटक में होनेवाली सदृशता का कारण है उसमें होनेवाला सुवर्ण का अन्वय और विसदृशता का कारण है कटक का विशिष्ट आकार। यह कटक की उपादान से जो विसदृशता है वह सुवर्णकारनिमित्तक है। इस कर्मानुभव के तीव्रानुभव और मंदानुभव के रूप से भेद हो जाते हैं। यह अनुभव सुखदुःखरूप होता है। सातावेदनीय का उदय तीव्र हो तो सुखानुभवन में तीव्रता होती है और उसका उदय मंद हो तो सुखानुभव में मंदता होती है। इसीप्रकार असातावेदनीय का उदय तीव्र हो तो दुःखानुभवन में तीव्रता होती है और उसका उदय मंद हो तो दुःखानुभवन में मंदता होती है। अतः कर्मानुभव औदयिकभाव है यह अभिप्राय सिद्ध हो जाता है। कर्मानुभव नैमित्तिक होनेसे वह शुद्धजीवरूप है हि नहीं; क्यों कि सुखदुःखरूप विभावभावों से रहित अत एव कर्मानुभव से भिन्नपदार्थभूत शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव शुद्ध जीव भेदज्ञानियों के द्वारा परमसमाधिकाल में स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा जाना जाता है। आगम का यहि अभिप्राय है। 'कर्मानुभव शुद्ध जीव नहीं है; क्यों कि भेदज्ञानियों को परमसमाधि में सुखदुःखव्यतिरिक्त शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है' इस अनुमान से 'कर्मानुभव जीव है; क्यो कि सुखदुःखव्यतिरिक्त अन्यपदार्थभूत जीवद्रव्य पाया नहीं जाता' यह अनुमान बाधित हो जाता है। अतः आगम, युक्ति और अनुभव से कर्मानुभव जीव नहीं है यह अभिप्राय सिद्ध हो जाता है।

७) श्रीखण्ड दहि और शक्कर इन दोनोंरूप ह। न वह केवल दधिरूप है और न केवल शर्करारूप भी। दोनों पदार्थ अपने अपने स्वभाव को लिए हुए होते है। न दधि अपने स्वभाव को छोडता है और न शर्करा अपने स्वभाव को। यदि दोनों में से किसी एकने अपने स्वभाव को छोडकर अन्य पदार्थ के स्वभाव को स्वीकार किया तो श्रीखंड उभयात्मक नहीं रहेगा–वह या तो दधिस्वरूप होगा या शर्करास्वरूप होगा। ऐसी अवस्था में श्रीखंड श्रीखंडरूप नहीं रहेगा। जिसप्रकार दधि और शर्करा अपने अपने स्वभाव को छोडनेवाले न होनेसे श्रीखंड उभयात्मक-दधि-शर्करात्मक होता है उसीप्रकार जीव भी आत्मकर्मोभयरूप होता है। इस अवस्था में आत्मा और कर्म ये दोनों पदार्थ अपने अपने स्वभाव को लिए हुए होते है। न आत्मा अपने स्वभाव को छोडती है और न कर्म अपने स्वभाव को। यदि दोनों में से किसी एकने अपने स्वभाव को छोडकर अन्य पदार्थ के स्वभाव को स्वीकार किया तो जीव आत्मकर्मोभयात्मक नहीं रहेगा–वह या तो आत्मरूप होगा या कर्मरूप होगा। ऐसी अवस्था में जीव जीवरूप नहीं रहेगा–वह या तो केवल चेतनात्मरूप होगा या अचेतनकर्मरूप होगा। 'अपने अपने स्वभाव को न छोडनेवाले आत्मा और कर्म अनादिकाल से अन्योन्यबद्ध होनेसे आत्मकर्मोभयरूप जीव होता है; क्यों कि कर्म से पूर्णरूप से भिन्न अन्यपदार्थभूत जीव नहीं पाया जाता' ऐसा जो कोई कहते है वह ठीक नहीं है, क्यो कि जीव आत्मकर्मोभयरूप होता हि नहीं। जीव आत्मकर्मोभयरूप होता है ऐसा जीवस्वरूपविषयक अपना अभिप्राय व्यक्त करनेवालेने आत्मा को स्वतंत्र द्रव्यरूप से स्वीकार किया है। आत्मा जीवद्रव्य से भिन्न द्रव्य नहीं है। उभयात्मक अवस्था का अवयवभूत आत्मा भी आत्मकर्मोभयात्मक माना तो अनवस्थानामक दोष उपस्थित हो जाता है। अतः उसका जीवस्वरूपविषयक अभिमत हि दूषित है–निरवद्य नहीं है। अतः आत्मा का स्वरूप उक्त स्वरूप से भिन्न होना हि चाहिये और वह है शुद्ध चैतन्य। कर्मों से भिन्न अन्यपदार्थभूत शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला जीव परमसमाधिमग्न भेदज्ञानियों के द्वारा स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अनुभव कर जाना जाता है–अन्यस्वरूपवाला जीव उनकी अनुभूति का विषय नहीं बनता। आगम का भी यही अभिप्राय है। 'जीव आत्मकर्मोभयात्मक नहीं है; क्यों कि भेदज्ञानियों के द्वारा कर्मों से पूर्णरूप से भिन्न शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला होनेसे अन्यपदार्थभूत जीव स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्षज्ञान से जाना जाता है' इस अनुमान से 'जीव आत्मकर्मोभयात्मक होता है; क्यों कि कर्मों से पूर्णतः भिन्नरूप अन्यपदार्थरूप से

'पाया नहीं जाता' यह अनुमान बाधित हो जाता है। अतः आगम, युक्ति और अनुभव से आत्मकर्मोभयरूप जीव नहीं है यह अभिप्राय सिद्ध हो जाता है।

८) प्रत्येक संसारी आत्मा आठ कर्मों की संयुक्त अवस्था से संयुक्त है। आठ कर्मों की आत्माश्रित अन्योन्य-संयुक्त अवस्था कर्मोदय के निमित्त से होती है। आठों कर्म पुद्गलोपादानक होनेसे पुद्गलरूप हि है। पुद्गल अचेतन होता है और जीव चेतन होता है। आठ कर्मों की संयुक्त अवस्था होनेपर भी वह अवस्था पुद्गलकर्मों की होनेसे अचेतन हि होगी। यह कर्मसंयोग जीव की विभावपरिणतिरूप अर्थक्रिया करनेमें समर्थ होता है। यह आठ कर्मों का संयोग जीव है ऐसा कोई कहते है; किंतु यह उनका अभिमत ठीक नहीं है; क्यों कि आठ अचेतनकर्मों का संयोग जीव हो हि नहीं सकता। आठ लकडियों के संयोग से पलंग होता है और वह अचेतन होता है। किंतु उसपर सोनेवाला पुरुष पलंग से भिन्न चेतन जीव होता है। उसीप्रकार अचेतन आठ कर्मों का संयोग चेतनद्रव्य से भिन्न होता है अर्थात् चेतनद्रव्य आठ कर्मों के संयोग से भिन्न होता है। निर्विकल्पसमाधि में निमग्न भेदज्ञानी पुरुष के द्वारा जिस आत्मा का अनुभव-ज्ञान होता है वह आत्मा शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव और आठ कर्मों के संयोग के संपर्क से रहित होती है। अतः जीव आठ कर्मों के संयोगरूप नहीं होता। दूसरी बात यह है कि 'आठ कर्मों का संयोग जीव नहीं है; क्यों कि परमसमाधिरत पुरुषो के द्वारा स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान से जब जाना जाता है तब वह अष्टकर्मसंयोगरूप से नहीं जाना जाता, जैसे अष्टकाष्ठसंयोगरूप पलंग से भिन्न उसके ऊपर सोनेवाला पुरुष' इस अनुमान से अष्ट-कर्मसंयोग हि जीव है; क्यों कि उससे भिन्न अन्यपदार्थभूत जीव नहीं पाया जाता, जैसे अष्टकाष्ठसंयोगरूप पलंग' यह अनुमान बाधित हो जाता है। अतः आगम, युक्ति और अनुभव से अष्टकर्मसंयोगरूप जीव की सिद्धि नहीं होती।

इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्ना एव एवं अनुशास्यः—

त. प्र.— इहात्र खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति द्रव्यभावकर्मनोकर्मभिन्नात्मोपलब्धिविषये विपरीताभिप्रायवान्साम्ना मृदुनोपायेनैवैवमधस्तनप्रकारेणानुशास्यः संशयोच्छित्तिमभिनीय प्रबोधयितव्यः।

यहां द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म इनसे भिन्न आत्मा के स्वरूप के ज्ञान के विषय में विपरीत अभिप्राय रखनेवाले को कोमल शब्दों मे हि निम्नप्रकार समझाना चाहिये—

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः॥

अन्वय— विरम, अपरेण अकार्यकोलाहलेन किम्? स्वयं अपि निभृतः सन् एकं षण्मासं हृदय-सरसि पुद्गलात् भिन्नधाम्नः पुंसः ननु किं अनुपलब्धिः भाति किं च उपलब्धिः भाति पश्य।

अर्थ— हे भव्य आत्मा! सप्तप्रकृतिक मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा मे उत्पन्न होनेवाली मिथ्यात्वरूप—अज्ञानरूप परिणति से अभिव्यक्त होनेवाली आत्मस्वरूपविषयक मिथ्या कल्पनाओ का परित्याग कर यथार्थ आत्मस्वरूप में रत हो जा। जिससे यथार्थ आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता ऐसी निष्फल वाचालता से कौनसा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? जिसने बाह्याभ्यंतर परिग्रहों को त्यागकर मन, वचन और काय इनके द्वारा संसार के कारणों से अपनी आत्मा का गोपन (रक्षण) किया है ऐसा तू छह महिनों के एक कालखण्ड में अविच्छिन्नरूपसे हृदयरूप सरोवर में पुद्गल के स्वरूप से जिसका स्वरूप भिन्न है ऐसी आत्मा की क्या अनुपलब्धि होती है-उपलब्धि (प्राप्ति, अनुभूति) क्या निश्चितरूप से नहीं होती या होती है यह देख। [आत्मा की उपलब्धि अवश्य होती है।]

त. प्र.– हे भव्यात्मन् ! त्वं विरम कर्ममहावडवानलोद्वेल्लितसङ्कल्पविकल्पोल्लोलमालाकुल-स्वाभाविकशान्तरसजलप्रबलवेलालुलितमनःसलिलनिधिं प्रशाम्य शान्तरसपिपासुः स्वात्मनि रतो भव 'व्याङ्स्च रमः' इति मम् । अपरेणाऽन्येन परमात्मस्वरूपाख्यानविकलेन वा । न विद्यते परः परमात्मा कार्यरूपो यस्मिंस्तेन । कार्यपरमात्मप्रतिपादनविकलेनेत्यर्थः । अकार्यकोलाहलेन निष्फलवाचालत्वेन । कार्यं फलम् । न विद्यते कार्यं यस्य सः । अकार्यो निष्फल इत्यर्थः । अकार्यश्चासौ कोलाहलश्च अकार्यकोलाहलः । तेन । कोलाहलः कलकलः । वाचालतेत्यर्थः । यद्वा न विद्यते कः परमात्माऽर्यः प्रधानः यस्मिन्सोऽकार्यः । 'स्वामिवैश्येऽर्यः' इति स्वाम्यर्थेऽर्येयः । 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचने । यद्वा कुत्सितोऽप्रशस्तः कः आत्मा अकः । अकोऽर्यः प्रधानो यस्मिन्सोऽकार्यः । स चासौ कोलाहलश्च । अयथार्थात्मस्वरूपप्रतिपादनात्मकः कोलाहलः । यद्वा कार्यशब्देन कार्यपरमात्मनो ग्रहणम् । कार्यपरमात्मयथार्थस्वरूपप्रतिपादनवैकल्यादकार्योऽविधेयः । स चासौ कोलाहलश्चाकार्यकोलाहलस्तेन । तेन किम्? किंप्रयोजनोऽसौ कोलाहलः ? तादृशः कोलाहलो विफल इत्यर्थः । अनल्पपरदार्शनिकशिल्पि" कल्पितजीवलक्षणानां लक्षणाभासत्व, तेषां विश्वसाक्षित्वाभावात्तत्कल्पितानां 'नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवः' इत्यादिजीवलक्षणानां नानाविधदोषदुष्टत्वात् । अतस्तानि नादधेयानि मुमुक्षूणाम् । स्वयमपि स्वयमेव निभृतः सन्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहान्परित्यज्य कृतमनोवाक्कायगुप्तिर्भूत्वैकं षण्मासं षण्मासकालावध्यविच्छेदेन । 'कालाध्वनोरविच्छेदे' इति कालाविच्छेद इप् । हृदयसरसि हृदयसरोवरे यथा निर्मलसलिलाकुले समीरणासमीरितत्वात्कल्लोलमालाविकले सलिलोपरितनतलपृष्ठे द्रष्टा प्रतिबिम्बितं स्वमुखारविन्दं सुष्ठु पश्यति, तथाऽऽकुलताविकले विलीनसङ्कल्पविकल्पजाले हृदये स्वशुद्धात्मदिदृक्षुः पुरुषः सम्यग्ज्ञानालोकेन विलोकत आत्मानमिति भावो रूपकस्य । निर्दान्तदुर्दमेन्द्रियग्रामेण निर्मलीकृतस्वान्तेन भविष्णुना मुक्तिकमलां कामयमानेन विलीनसङ्कल्पविकल्पजाले हृदये स्वशुद्धात्मा द्रष्टव्यः । तादृशे तत्र शुद्धात्मानुभूतिर्भवति, नान्यत्रेति भावः । पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो द्रव्यकर्मरूपपुद्गलतन्निमित्तकविभावभावभिन्नस्वरूपस्य । पुद्गलाद्द्रव्यकर्मात्मकपुद्गलद्रव्यात्पुद्गलद्रव्यवदात्मस्वभावप्रच्छादकत्वात्पुद्गलकर्मतुल्यात्पुद्गलकर्मनिमित्तकाद्विभावभावाच्च भिन्न विलक्षणं धाम स्वभावस्तेजो वा यस्य सः । तस्य । पुंसः आत्मनः । पाति रक्षति परभावेभ्य आत्मानमिति पुमान् । आत्मेत्यर्थः । 'पातेर्डुम्सुन्' इत्युणादि । सूतेः सप्रत्यये पुमानिति भाष्यकारः । ननं निश्चयेन । किमनुपलब्धिरप्राप्तिर्भाति ज्ञानविषयतां प्राप्नोति किञ्चोपलब्धिः प्राप्तिर्भातीति पश्यावलोकय । हृदयसरसि स्वशुद्धात्मानं ज्ञानघनैकस्वभावं षण्मासकालं यावदेकाग्रेण मनसाऽवलोकयतो भव्यस्य पुरुषस्य स्वात्मोपलब्धिरवश्यं भवतीति भावः ॥

'कथं चिदन्वयप्रतिभासे अपि अध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावाः' इति चेत्,–

त. प्र.–रागद्वेषादिरूपेष्वशुद्धात्मपरिणामभूतेष्वध्यवसानादिषु चिदन्वयप्रतिभासेऽपि चैतन्यस्वभावान्वयपरिज्ञाने सत्यपि तेऽध्यवसानादयः कथं केन प्रकारेण पुद्गलस्वभावाः पुद्गलद्रव्यान्वयाभावेऽपि पुद्गलद्रव्याचेतनस्वभावान्विताः, अध्यवसानादीनां पुद्गलद्रव्योपादानकत्वाभावात्तेषु पुद्गलद्रव्यस्य स्वरूपेणान्वयासम्भवादात्मपुद्गलयोश्च युगपदुपादानकारणत्वासम्भवात् । 'पुद्गलस्वभावाः' इति सामासिकपदस्य किंप्रकारो विग्रहः इति चेत्, ब्रूमः 'पुद्गलस्य स्वे स्वजातीयाः भावाः परिणामाः' इत्येवंविध इति ।

'अशुद्ध आत्मा के परिणामभूत—उपादेयभूत रागद्वेषादिरूप अध्यवसान आदिकों में चैतन्य के अन्वय के सद्भाव का परिज्ञान होनेपर भी वे अध्यवसानादिक भाव पुद्गल के स्वजातीय परिणाम कैसे हो सकते हैं; क्योंकि उनमें पुद्गल के अचेतनस्वभाव का अन्वय नहीं पाया जाता और चेतन आत्मद्रव्य और अचेतनपुद्गलद्रव्य एकसाथ उन अध्यवसानादिभावों के उपादानकारण नहीं हो सकते? ' ऐसी शंका उपस्थित की जानेपर भगवान् कुंदकुंदस्वामी उसका समाधान करते हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा बिंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

अष्टविधमपि कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना ब्रुवन्ति ।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ— (विपच्यमानस्य यस्य) विशेषरूप से पक्व होनेवाले अर्थात् उदय मे आये हुए ऐसे जिस कर्म का (फलं) फल (तत्) वह अर्थात् लोकप्रसिद्ध (दुःख इति) दुःख है ऐसा (उच्यते) कहा जाता है ऐसा (अष्टविधं) आठो प्रकार का (सर्वं अपि कर्म) सारा का सारा कर्म (पुद्गलमयं) उपादानभूत पुद्गल का और आत्मा का पुद्गलनिमित्तक परिणाम है ऐसा (जिनाः) वीतरागसर्वज्ञ (ब्रुवन्ति) कहते हैं।

आ. ख्या—'अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकं अष्टविधं अपि च कर्म समस्तं एव पुद्गलमयं' इति किल सकलज्ञज्ञप्तिः। तस्य तु यत् विपाककाष्ठां अधिरूढस्य फलत्वेन अभिलप्यते तत् अनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात् किल दुःखं । तदन्तःपातिनः एव किल आकुलत्वलक्षणाः अध्यवसानादिभावाः । ततः न ते चिदन्वयविभ्रमे अपि आत्मस्वभावाः, किन्तु पुद्गलस्वभावाः ।

त. प्र.–अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकं रागद्वेषकल्माषिताध्यवसानादिरूपाशुद्धजीवोपादानकविभावभावोत्पत्तिनिमित्तकर्तृभूतमष्टविधमष्टप्रकारमपि च कर्म समस्तं सकलमेव द्रव्यभावात्मकं पुद्गलमयं पुद्गलनिमित्तकाशुद्धात्मविभावपरिणामरूपं पुद्गलोपादानकपरिणामरूपं चेति किल सकलज्ञज्ञप्तिर्निखिलदोषविकलभगवत्सर्वज्ञवचनम् । पुद्गलमयं पुद्गलोपादानकपरिणामरूपम् । 'मयड्वाऽभक्ष्याच्छादने' इति विकारे मयट् । पुद्गलमयमित्यस्य पुद्गलकर्मणो निमित्तभूतादात्मन्यागतमित्यर्थः । 'मयट्'(श. ३-३।६४) इत्यागतेऽर्थे हेतोः पुद्गलशब्दान्मयट् । कथं पुद्गलोपादानकस्याप्यष्टविधस्य कर्मणोऽध्यवसानाद्यशुद्धजीवभावनिर्वर्तकत्वमध्यवसानादिभावेषु चिदन्वयदर्शनात्पुद्गलपरिणामान्वयादर्शनाच्चेति नाशङ्कनीयं, तेषां कर्मणामध्यवसानादिरूपाशुद्धजीवोपादानकपरिणामनिष्पत्तौ निमित्तमात्रत्वादनुपादानत्वाच्च निमित्तमन्तरेण परिणामाभिमुखस्यापि परिणमनासम्भवात् । तस्याष्टप्रकारस्य कर्मणस्तु यत्किञ्चन विपाककाष्ठामधिरूढस्य प्रकर्षप्राप्तोदयावस्थस्य फलत्वेन परिणामत्वेनाभिलप्यते परिभाष्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वादाकुलतावैकल्यैकलक्षणसौख्यसञ्ज्ञकात्मस्वभावभिन्नत्वात्किल वस्तुतो दुःखं । तदन्तःपातिनस्तद्दुःखान्तर्भाविनः एव किल परमार्थत आकुलतास्वभावा अध्यवसानादिभावाः । ततस्तस्मात्कारणान्न तेऽध्यवसानादयो भावाश्चिदन्वयविभ्रमेऽपि तेषु भावेषु चितोऽन्वयोऽस्तीति भ्रान्ताव-

प्यात्मस्वभावाः, किन्तु पुद्गलस्वभावाः पुद्गलस्वभावतुल्यस्वभावाः। अध्यवसानादिषु चिदन्वयस्य दृश्यमानत्वेऽपि तेष्वध्यवसानादिभावेषु चिदन्वयोऽस्तीति प्रतिपादनस्य विभ्रमात्मकत्वं कथमिति चेत्, तेषु शुद्धस्य चितोऽन्वयाभावेऽपि तदन्वयोऽस्तीति सामान्यतः कथनादुक्ताभिप्रायप्रतिपादनस्य विभ्रमात्मकत्वमिति ब्रूमः। तेष्वध्यवसानादिभावेषु चिदन्वयप्रतिभासेऽपि न तेषामात्मस्वभावत्वं, तेषु चिदाभासान्वयात्तेषां चिदाभासस्वभावत्वस्य न्याय्यत्वेऽपि कथं पुद्गलस्वभावत्वमिति चेत्, शुद्धात्मस्वभावप्रच्छादकत्वेन पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मस्वभावत्वात्तेषाम्। पुद्गलस्य द्रव्यकर्मणः स्वभावश्चित्स्वभावप्रच्छादनात्मक इव स्वभावो येषां ते पुद्गलस्वभावाः। 'ईवुपमानपूर्वस्य लुक्तं गतार्थत्वात्' इति लुप्तस्वभावपदत्वम्। अध्यवसानादीनां पुद्गलकर्मवच्छुद्धात्मस्वभावावारकत्वात्पुद्गलस्वभावत्वं, न पुद्गलद्रव्योपादानकत्वादित्यवसेयम्

टीकार्थ—अध्यवसानादिरूप परिणामों की उत्पत्ति में निमित्तकारण पडनेवाला जो आठों प्रकार का ज्ञानावरणादिरूप भावद्रव्यरूप कर्म है वह सभी कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य का और पुद्गलकर्मनिमित्तक अशुद्ध आत्मा का परिणाम है–उपादेय है और आत्मा का नैमित्तिक परिणाम है ऐसा सर्वज्ञ भगवान् का उपदेश है। उदय की परम प्रकृष्टावस्था को प्राप्त हुए उस कर्म के फलरूप से जो बनाया जाता है वह अनाकुलत्व (स्वस्वभाव से च्युत न होना) लक्षण है जिसका ऐसे सुखसंज्ञक स्वभाव से भिन्नरूप या विपरीत होनेसे परमार्थतः दुःख है। आकुलतास्वरूप अध्यवसानादिभाव वस्तुतः उस दुःख में हि अन्तर्भूत होनेवाले हैं। वे अध्यवसानादि भाव दुःख में अन्तर्भूत होनेवाले होनेसे 'उनमें चैतन्य का अन्वय पाया जाता है' इसप्रकार का विभ्रम होनेपर भी वे आत्मा के स्वभावभूतभाव नहीं हैं; किंतु उनका स्वभाव पुद्गलकर्म के स्वभाव के सदृश है।

विवेचन— द्रव्यकर्म के विषय में 'पुद्गलमय' इस शब्द का अर्थ है पुद्गलोपादानक पुद्गल का परिणाम। 'मयड्वाऽभक्ष्याच्छादने' इस सूत्र के अनुसार यह मयट्प्रत्यय विकारार्थ में लगायी गयी है। भावकर्म के विषय में 'मयट्' (श. ३।३।६४) इस सूत्र के अनुसार आगतार्थ में मयट् प्रत्यय लगायी गयी है। इस प्रत्यय की दृष्टि से 'पुद्गलमय' इस शब्द का अर्थ है पुद्गलकर्मरूप निमित्त से आत्मा में आगत अर्थात् प्रादुर्भूत हुआ परिणाम। अध्यवसानादि भावों की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म और भावकर्म अपनी उदयरूपपरिणति के द्वारा निमित्तकारण पडते हैं। अध्यवसानादि भावों की पूर्ववर्ती पर्याय निमित्तकारण पडती है और अज्ञानी आत्मा या आत्मा का अज्ञान उपादानकारण पडता है। अतः आठों प्रकार का द्रव्यकर्म और भावकर्म अध्यवसानादिरूप विभावभावों की उत्पत्ति में निमित्तकारण पडते हैं। इन दोनों में से द्रव्यकर्म पुद्गल के परिणामरूप है और भावकर्म पौद्गलिकद्रव्यकर्मोदयरूप निमित्त से अशुद्ध आत्मा में उत्पन्न होनेवाले आत्मा के परिणामरूप है। कहने का भाव यह है कि आठ प्रकार का जो कर्म है वह चाहे द्रव्यकर्मरूप हो या भावकर्मरूप वह उपादानभूत और निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यकृत पुद्गलजातीय और अशुद्धात्मजातीय विकार है। द्रव्यकर्म पुद्गल का विकार होनेमें कोई विरोध नहीं आता; किंतु भावकर्म को पुद्गल का विकार क्यो कहा जाता है इसप्रकार की आशंका उपस्थित हो जाती है। कर्मयोग्य पुद्गलवर्गणाओ की जब वे आत्मा के साथ संश्लिष्ट होती है तब कर्मसंज्ञा होती है। आत्मा के साथ संश्लिष्ट होनेमात्र से उनका पुद्गलत्व नष्ट नही हो जाता। यह पौद्गलिककर्म रागादिरूप विभावभावों का निमित्तकारण पडता है और रागादिभाव उसके कार्य है – नैमित्तिक है। यद्यपि इन रागादि भावों में चैतन्य के अन्वय का आभास पाया जाता है तो भी रागादिभाव अशुद्ध आत्मा की या उसके अज्ञान की परनिमित्तजन्य विकृत अवस्था है। आत्मा में जो यह विकृति पायी जाती है उसीको रागादिभाव कहते हैं। विकृति कर्मोदयजन्य होनेसे वह पुद्गलकर्म का नैमित्तिक कार्य है और वह पौद्गलिककर्म का नैमित्तिक कार्य होनेंसे पुद्गलमय कही जाती है। अध्यवसान रागद्वेषभावों से युक्त होनेसे कल्माषित अर्थात् मलिन है–शुद्ध नहीं है। अन्यभाव भी इसप्रकार के हैं। इसप्रकार के इन अध्यवसाना-

विभावों की उत्पत्ति आठ प्रकार के कर्मरूप निमित्त से होती है। यह अष्टविध कर्म पुद्गलमय है अर्थात् पुद्गल का परिणामरूप और पुद्गलनिमित्तक अशुद्धात्मपरिणामरूप है। इसप्रकार का यह सर्वज्ञ का कथन है।

'अनाकुलत्वैकलक्षणं सुखम्' इस व्याख्या के अनुसार अनाकुलत्व-आकुलता का अभाव-स्वस्वभाव से च्युत न होना-सुख का एक-अद्वितीय लक्षण है। यह हि शुद्ध आत्मा का स्वभावभूत सुख है। जब कर्म उदय की प्रकृष्ट अवस्था को प्राप्त होता है तब उसके जिस फल का आत्मा को अनुभव करना पड़ता है वह दुःखरूप हि होता है, क्यों कि अनाकुलत्व जिसका लक्षण होता है ऐसे आत्मा के स्वभावभूत सुख से वह विलक्षण होता है। पुण्यकर्म का फलभूत सांसारिक सुख भी दुःखरूप हि होता है; क्यों कि उस सुख में तरतमता पायी जानेसे उसमें आकु-लता का सद्भाव अवश्य होता है। जिनका स्वरूप आकुलतामय होता है ऐसे अध्यवसानादिभावों का उस दुःख में हि अन्तर्भाव हो जाता है। कहने का भाव यह है कि- रागद्वेषादि से आकुलता उत्पन्न होती है यह बताने की आव-श्यकता नहीं है। अध्यवसान रागद्वेषादिभावों से कल्माषित होता है यह परवादि का अभिप्राय है। अध्यवसान राग-द्वेषकल्माषित होनेसे आकुलतामय है और आकुलतामय होनेसे वह दुःखरूप है। जो दुःखरूप होता है वह जीव का स्वभावभूतभाव कैसे हो सकता है? जीव का स्वभावभूतभाव न होनेसे अध्यवसान जीव नहीं हो सकता, क्यों कि अनाकुलत्वस्वरूपवाला सुख हि जीव का स्वभावभूतभाव है। अतः इन भावों में चैतन्य के अस्तित्व की भ्रांति होनेपर भी वे आत्मा के स्वभाव नहीं है। आत्मगुणप्रच्छादकत्व की दृष्टि से पुद्गल के स्वभाव में और विभावों में समानता है। पुद्गल का स्वभाव और अध्यवसानादिभावों का स्वरूप समानरूप से आत्मस्वभाव के प्रच्छादक होनेसे वे भाव पुद्गलमय कहे जाते है। साराश, ये अध्यवसानादिभाव दुःखरूप होनेसे आत्मा के स्वभावभूतभाव नहीं हैं।

'यदि अध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावाः, कथं जीवत्वेन सूचिताः' इति चेत्-

'पुद्गलद्रव्योपादानक कर्म अचेतन होनेसे जीव के स्वभाव का प्रच्छादक होनेके कारण जीव के प्रतिपक्षी होनेसे जिसप्रकार जीवद्रव्य नहीं कहा जाता उसीप्रकार कर्मोदयनिमित्तक अध्यवसानादि भाव जीव के स्वभाव के प्रच्छादक होनेके कारण जीव के प्रतिपक्षी होनेसे जीवद्रव्य नहीं कहे जा सकते। ऐसा होते हुए भी वे आगम में जीवरूप से बताये गये है यह कैसे?' इस आक्षेप का समाधान कर-नेके लिए अधस्तन गाथासूत्र कहते हैं--

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥ ४६ ॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ-(**एते सर्वे**) यह सब (**अध्यवसानादयः भावाः**) अध्यवसानादिरूप औदयिकभाव (**जीवः**) जीव है इसप्रकार (**जिनवरैः**) भगवान् जिनेन्द्रदेव ने (**उपदेशः वर्णितः**) जो उपदेश दिया है वह (**व्यवहारस्य दर्शनम्**) व्यवहारनय की दृष्टि से दिया है।

आ. ख्या.- 'सर्वे एव एते अध्यवसानादयः भावाः जीवाः' इति यत् भगवद्भिः **सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तत् अभूतार्थस्य अपि व्यवहारस्य अपि दर्शनम्। व्यवहारः हि व्यवहा-रिणां म्लेच्छभाषा इव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वात् अपरमार्थ अपि तीर्थप्रवृत्ति-निमित्तं दर्शयितुं न्याय्यः एव। तं अन्तरेण तु शरीरात् जीवस्य परमार्थतः भेददर्शनात्**

त्रसस्थावराणां भस्मनः इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाभावात् भवति एव बन्धस्य अभावः। तथा रक्तद्विष्टविमूढः जीवः बध्यमानः मोचनीयः इति रागद्वेषमोहेभ्यः जीवस्य परमार्थतः भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवति एव मोक्षस्य अभावः।

त. प्र.– 'सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवाः' इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैर्विश्वसाक्षिभिः प्रज्ञप्तं प्रतिपादितं तदभूतार्थस्याप्यसद्भूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि व्यवहारनयस्यैव दर्शनं प्रतिपादनम्। व्यवहारो हि व्यवहारनय एव व्यवहारिणां व्यवहारनयावलम्बिनां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां म्लेच्छभाषावलम्बिनां परमार्थप्रतिपादकत्वाद्यथार्थार्थावभासकत्वादपरमार्थोप्यसद्भूतार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं तीर्थप्रवर्तनार्थं दर्शयितुं न्याय्यो न्यायादनपेत एव। यथा म्लेच्छभाषावलम्बिनां प्रतिबोधनार्थं म्लेच्छभाषावलम्बनं न्याय्यं तथा व्यवहारनयावलम्बिनां परमार्थप्रतिबोधनार्थं तीर्थप्रवर्तनार्थं च परमार्थप्रतिबोधनसमर्थस्याभूतार्थस्यापि व्यवहारनयस्यावलम्बनं न्याय्यमिति भावः। तमन्तरेण तु व्यवहारनयमन्तरेण तु निश्चयनयमात्रावलम्बनाच्छरीराज्जीवस्य परमार्थतो वस्तुतो भेददर्शनात्पृथक्त्वेनोपलब्धेस्त्रसस्थावराणां भस्मन इव भसितस्येव निःशङ्कं निर्भयमुपमर्दनेन निष्पेषेणात्मनोऽविनश्वरत्वाद्धिंसाभावाद्भवत्येव बन्धाभावः। निश्चयनापेक्षया देहात्मनोरन्योन्यभिन्नत्वादात्मनश्चामरत्वाच्छरीरोपमर्दनेऽप्यात्मनो विनाशासम्भवाद्धिंसाभावाद्बन्धाभाव आपतेदिति भावः। तथा बन्धाभावेन रक्तद्विष्टविमूढो रागद्वेषविमूढताक्रान्तो जीवो बध्यमानः कर्मभिर्बन्धावस्थां प्राप्यमाणो मोचनीयो बद्धकर्मणो मोक्षयितव्य इति रागद्वेषमोहेभ्यः कर्मोदयजन्यात्मविभावपरिणामेभ्यो जीवस्य परमार्थतो निश्चयनयापेक्षया भेददर्शनेन पृथक्त्वेनोपलब्धेर्मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद्रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावलम्बनाभावाद्भवत्येव मोक्षाभावः। शुद्धनिश्चयनयदृष्ट्या कर्मोदयजन्यात्मविभावभावात्मकनैमित्तिकरागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य भिन्नत्वाद्बद्धत्वाभावात्तद्बन्धप्रध्वंसनार्थं तद्विध्वंसकरत्नत्रयात्मकोपायावलम्बनस्यानावश्यकत्वान्मोक्षाभावापत्तिः, बन्धाभावे मोक्षाभावादिति भावः।

टीकार्थ–ये सभी के सभी अध्यवसानादिरूप भाव जीव हैं ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेव ने प्रतिपादन किया है वह व्यवहारनय अभूतार्थ होनेपर भी व्यवहारनय का हि प्रतिपादन है। जिसप्रकार म्लेच्छों को यथार्थरूप से वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली होनेसे म्लेच्छभाषा का अवलंबन लिया जाता है उसीप्रकार व्यवहारनय परमार्थनय न होनेपर भी– अभूतार्थ होनेपर भी वह परमार्थ का प्रतिपादन करनेवाली होनेसे उसको बताना न्यायोचित है। उसके बिना शरीर से जीव का परमार्थतः भेद पाया जानेसे भस्म के समान निर्भय होकर त्रस और स्थावर जीवों को कुचल देनेपर हिंसा का अभाव हो जानेसे बंध का अभाव हो हि जाता है। ऐसा होनेपर 'रागरूप, द्वेषरूप और मोहरूप से परिणत हुआ (कर्मों के द्वारा) बद्ध किया जानेवाला जीव (बंध से) मुक्त करना चाहिये' इसप्रकार राग, द्वेष और मोह इनरूप (विभाव) भावों से जीव का परमार्थतः भेद पाया जानेसे मोक्ष की प्राप्ति के उपायों का – साधनों के (अर्थात् रत्नत्रात्मक उपाय के) ग्रहण का- अवलंब लेने की क्रिया का अभाव हो जानेसे मोक्ष का – मुक्त होनेकी क्रिया का अभाव होता हि है।

विवेचन–गाथा ४४ के द्वारा अध्यवसानादिभावों के जीवत्व का तो प्रतिषेध किया है और इस गाथा के द्वारा उन भावों के जीवरूपत्व का समर्थन किया गया है। ऐसी अवस्था में इन दोनों प्रतिपादनों में से कौनसा प्रतिपादन ठीक माना जाय ऐसी आशंका का उपस्थित हो जाना संभव है; किंतु यह शंका ठीक नहीं है; क्यों कि अध्यवसानादिभावों के जीवत्व का जो प्रतिषेध किया गया है वह निश्चयनय की प्रधानता की दृष्टि से किया गया है। उससमय व्यवहारनय की दृष्टि गौण बनायी गयी है। यहां उन भावों के जीवत्व का जो समर्थन किया गया है

यह व्यवहारनय की प्रधानता की दृष्टि से किया गया है। उनके भावों के जीवत्व का समर्थन करते समय निश्चयनय की दृष्टि गौण बनायी गयी है। अतः यह दोनों अभिप्राय कथंचित् यथार्थ हैं। निश्चयनय की दृष्टि से अध्यवसानादिभाव जीव के परिणाम होनेपर भी नैमित्तिक भाव होनेसे अर्थात् पारिणामिकभाव न होनेसे शुद्ध आत्मा के साथ उनका तादात्म्य न होनेसे वे जीवरूप नहीं हैं, फिर भले हि वे व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा के अर्थात् जीवरूप कहे गये हो। वैभाविकभाव नश्वर होते हैं और पारिणामिकभाव अनाद्यनंत अर्थात् अविनश्वर होते है। आत्मद्रव्य के समान पारिणामिकभाव अनाद्यनन्त अत एव सहभावी होनेसे पारिणामिकभाव हि जीवरूप हैं; वैभाविकभाव जीवरूप नहीं। यदि वैभाविकभाव जीवरूप होते हैं ऐसा माना तो वे भाव नश्वर होनेसे जीव को भी नश्वर मानने की आपत्ति उपस्थित हो जायगी। अतः निश्चयनय की दृष्टि से अध्यवसानादिभाव शुद्ध आत्मा के नहीं हो सकते और शुद्ध आत्मा के न होनेसे वे जीव भी नहीं है। निश्चयनय की दृष्टि से यह अभिप्राय यथार्थ होनेपर भी व्यवहारनय की प्रधानता से किया गया आत्मविषयक प्रतिपादन सर्वथा हेय नहीं है; क्यों कि मोक्ष संसार पूर्वक हि होती है। जीव की ससारावस्था सर्वथा मिथ्या नहीं है। अनादिकाल से जीव की कर्मबद्ध अवस्था सामान्यतः चली आयी है। सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति होनेतक ससारी जीव मिथ्यादृष्टि हि बना रहता है। जब सम्यक्त्वभाव अभिव्यक्त होता है तब उसके साथ बद्ध हुई मोहनीयकर्म की सात प्रकृतियों का अभाव हो जाता है। आत्मानुभूति के विकास मे प्रतिबंध करनेवाली चारित्रमोहनीय की शेष प्रकृतिया उदयमें आयी हुई होती है। उनका अभाव होनेतक व्यवहारनय का अर्थात् व्यवहारचारित्र का अवलंब होना आवश्यक बन जाता है; क्यों कि उसके आलंबन के विना शुद्धध्यान के योग्य शुद्धि जीव में अभिव्यक्त नही होती। व्यवहारनय तीर्थप्रवृत्ति का साधन है। यदि व्यवहारनय को उसको मिथ्या समझकर छोड दिया तो धर्मप्रवृत्ति ससार से ऊठ जायगी और ऊठ जानेसे धर्मफल का अभाव हो जायगा। यह व्यवहारनय स्वयं अभूतार्थ होनेपर भी परमार्थ का प्रतिपादक है। अज्ञानी जीव को परमार्थस्वरूप का प्रतिपादन करते समय व्यवहारनय का अवलंबन अनिवार्य हो जाता है; क्यों कि व्यवहारनयाश्रित भेद का अवलंबन लिए विना अखड एक द्रव्य के स्वरूप का प्रतिपादन अशक्य हो जाता है। अखड एक द्रव्य भेद के अभाव में अनिर्वाच्य होता है। दूसरी बात यह है कि यदि व्यवहारनय का–अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय का–दो पदार्थों का कथंचित् अभिन्नत्व प्रस्थापित करनेवाले व्यवहारनय का अवलंब लिया गया तो शरीर और आत्मा का निश्चय की दृष्टि से भेद सिद्ध हो जायगा। निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य अनिश्वर होनेसे शरीरगतपुद्गलद्रव्य का और आत्मद्रव्य का अविनश्वरत्व सिद्ध हो जायगा। यद्यपि पुद्गलद्रव्य द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से अविनश्वर है तो भी उसकी शरीररूप पर्याय विनश्वर है। इस शरीररूप पुद्गलपर्याय का विनाश किया जानेपर आत्मा का मरण होता है ऐसा व्यवहार है। यदि इस व्यवहार को स्वीकार न किया गया और सिर्फ निश्चयनय का हि अवलब लिया गया तो स्वभावभेद के कारण आत्मा और शरीर में परमार्थतः भेद की सिद्धि हो जायगी। उन दोनो मे पारमार्थिक भेद की सिद्धि हो जानेसे जीव के शरीर के विनाश से आत्मद्रव्य का नाश न होनेसे शरीर का नाश करनेसे जीवहिंसा होती है। इस आगम के अभिप्राय का विरोध हो जायगा और त्रसस्थावरजीवों की हिंसा निरर्गलरूप से की जायगी। दूसरी बात यह है कि शरीरनाश से जीवहिंसा न होनेसे शरीरनाश करनेवाले जीव में कषायभाव की तीव्रता का अभाव मानना होगा। कषायोदयजनित तीव्र परिणाम के अभाव में बंध का भी अभाव हो जायगा। जब जीव के बध का अभाव हि होगा तो मोक्ष का भी अभाव भी हो जायगा; क्यो कि जब जीव के बंध का हि अभाव होगा तब मोक्ष किसकी होगी? निश्चयनय की दृष्टि से राग, द्वेष और मोह और आत्मद्रव्य इन में परमार्थतः भेद हि होनेसे बंध का भी अभाव होनेके कारण मोक्षका अभाव हो जाना दुर्निवार हो जायगा। अतः व्यवहारनय अभूतार्थ होनेपर भी परमार्थप्रतिपादक होनेसे उसका सर्वथा त्याग किया जाना असंभव है।

एतद्विषयक तात्पर्यवृत्ति का प्रमाण—

यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थः तथापि रागादिबहिर्द्रव्यालम्बनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्यावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति। यदा

पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः । ततश्च पुण्यरूपधर्माभावः इत्येकं दूषणम् । तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति । ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम् । तस्माद्व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः ॥ ४६ ॥ [तात्पर्यवृत्तौ, गा. ४६]

बाह्य द्रव्य का अवलम्ब लेनेवाला होनेसे यह व्यवहारनय यद्यपि भूतार्थनय नहीं है तथापि रागादिरूप बाह्य द्रव्य के आलम्बन से रहित विशुद्ध ज्ञान और विशुद्ध दर्शन स्वभाव है जिसका ऐसे (रागादिरूप बहिर्द्रव्य के) आलम्बन से सहित परमार्थभूत जीवद्रव्य का प्रतिपादन करनेवाला होनेसे प्रदर्शित करनेके योग्य होता है । यदि व्यवहारनय का अभाव हुआ तो शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से 'त्रसजीव और स्थावर जीव नहीं होते' ऐसा समझकर लोक उन्हें निःसंकोच कुचल देंगे । ऐसा होनेपर पुण्यरूप और पापरूप धर्म का अभाव हो जायगा । यह एक दूषण होगा । उसीप्रकार हि शुद्धनिश्चय की दृष्टि से रागद्वेषरूपविभावभावरहित होनेसे जीव पूर्वकाल से हि मुक्त बना हुआ है ऐसा समझकर कोई भी मोक्षप्राप्ति के लिये चारित्रधर्म का पालन नहीं करेगा । ऐसा होनेपर मोक्ष का अभाव हो जायगा । यह दूसरा दूषण होगा । इसलिये व्यवहारनय की दृष्टि से प्रतिपादन करना योग्य है ऐसा अभिप्राय है ।

अतः व्यवहारनय की दृष्टि से प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन न करनेसे हिंसाप्रचाररूप और मोक्षाभावरूप दो दोष उपस्थित हो जानेसे व्यवहारनय का अभाव करना उचित नहीं है ।

अथ 'केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहारः ?' इति चेत्–

अब 'व्यवहारनय किस दृष्टांत से प्रवृत्त हुआ ?' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं–

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्य आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥ ४७ ॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥ ४८ ॥

राजा खलु निर्गत इति चैष बलसमुदयस्यादेशः ।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम् ।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

अन्वयार्थ– (**राजा निर्गतः**) राजा निकला (**इति च एव**) यह जो (**बलसमुदयस्य**) सेनासमूह की ओर अंगुलिनिर्देशकर बताया जाता है वह (**व्यवहारेण तु उच्यते**) व्यवहारनय की दृष्टि से हि बताया जाता है । (**तत्र**) उस सेना के समूहमें (**निर्गतः राजा**) निकला हुआ राजा तो (**निश्चय से**) एक हि होता है । (**एवं एव च**) इसीप्रकार (**अध्यवसानाद्यन्यभावानां**) इन अध्यवसानादिरूप आत्मा

से भिन्न विभावभावों का (**सूत्रे**) परमागम में (**जीवः इति**) ये भाव जीव है ऐसा जीवरूप से (**व्यवहारः कृतः**) व्यवहार किया है अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से कहा गया है। (**तत्र**) उन अध्यवसानादि-रूप आत्मा के विभावभावों में (**जीवः एकः निश्चितः**) निश्चितरूप से अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से जीव तो एक हि होता है अर्थात् कर्म, नोकर्म और भावकर्म इन से पृथग्भूत अत एव एक जीवद्रव्य हि होता है।

आ. ख्या.—यथा 'एष राजा पञ्च योजनानि अभिव्याप्य निष्क्रामति' इति एकस्य पञ्चयोजनानि अभिव्याप्तुं अशक्यत्वात् व्यवहारिणां बलसमुदाये 'राजा' इति व्यवहारः। परमार्थतः तु एकः एव राजा। तथा 'एष जीवः समग्रं रागग्रामं अभिव्याप्य प्रवर्तते' इति एकस्य समग्रं रागग्रामं अभिव्याप्तुं अशक्यत्वात् व्यवहारिणां अध्यवसानादिषु 'जीवः' इति व्यवहारः। परमार्थतः तु एकः एव जीवः।

त. प्र.— यथैषोऽयं राजा जनाधिपः पञ्च योजनानि पञ्चयोजनपरिमाणभूप्रदेशमभिव्याप्य निष्क्रामति निर्गच्छतीत्येकस्य बलसमुदायरहितस्य स्वदेहपरिमाणस्य पञ्चयोजनानि पञ्चयोजनप्रमाण-भूप्रदेशमभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां व्यवहारनयावलम्बिनां बलसमुदाये बलसमुदायमधिकृत्य राजेति व्यवहारः। व्यवहारनयापेक्षया बलसमुदाय एव राजेति प्रतिपादनमिति भावः। परमार्थतो वस्तुतः। निश्चयनयापेक्षयेत्यर्थः। एको बलसमुदायविकलः स्वदेहपरिमाण एव राजा। तथा तेन प्रकारेणैषोऽसौ जीवस्समग्रं रागग्रामं विभावभावात्मकाध्यवसानादिभावसमूहमभिव्याप्य प्रवर्तते प्रवृत्तिं करोतीत्येकस्यैकस्मिन्समये एकपर्यायमात्रत्वेन परिणममानस्य युगपत्समग्रं निखिलं रागग्रामं विभावप-रिणामसमूहमभिव्याप्तुमशक्यत्वात् व्यवहारिणां व्यवहारनयावलम्बिनामध्यवसानादिष्वध्यवसानादि-रूपविभावभावेषु जीव इति व्यवहारः। व्यवहारनयापेक्षयाऽध्यवसानादयो विभावभावा जीव इति निर्देशः। परमार्थतो निश्चयनयापेक्षया त्वेकः द्रव्यकर्मनोकर्मभावकर्मविकल एक जीवः॥

टीकार्थ— जिसप्रकार 'यह राजा पांच योजन अभिव्याप्त कर निकल रहा है' इसप्रकार एकव्यक्तिभूत राजा का पांच योजन भूप्रदेश व्यापना अशक्य होनेसे व्यवहारिजनों का सेनासमुदाय के विषय में 'यह राजा है' ऐसा कहना व्यवहार है अर्थात् व्यवहारनयाश्रित है। वस्तुतः राजा तो एकहि है। उसीप्रकार 'यह जीव संपूर्ण रागसमूह को अर्थात् विभावभावों के समूह को अभिव्याप्त कर अस्तित्वरूप बनता है अर्थात् उसका अस्तित्व समस्त रागादिरूप विभावभावों से युक्त होनेपर निर्भर है' ऐसा जो कहा गया है वह सम्पूर्ण रागसमूह को अभिव्याप्त करना—उनमें युगपत् अन्वित होना अशक्य होनेसे व्यवहारिजनों का अध्यवसानादिरूप विभावभावों के विषय में 'अध्यवसानादिभाव जीव है' ऐसा कहना व्यवहार है अर्थात् व्यवहारनयाश्रित है। निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाय तो जीव एक है अर्थात् द्रव्यकर्म-भावकर्मनोकर्मरहित शुद्धज्ञानघनैकस्वभाव से अभिन्न होनेसे एक है। (अथवा एक समय एक पर्यायवाला होनेसे एक है—युगपत् अध्यवसानादिरूप अनेक—अनन्त विभावभावों से अर्थात् तद्रूप पर्यायों से युक्त होना-परिणत होना अशक्य होनेसे जीव एक है।)

विवेचन— जब राजा अपनी सेना के साथ निकलता है तब उस सेनासमूह को देखकर 'राजा पांच योजनों को अभिव्याप्त कर चल रहा' है ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः राजा का परिमाण स्वदेहमात्र होनेसे वह पांच योजनों को अभिव्याप्त नहीं कर सकता, फिर भी पांच योजनों को अभिव्याप्त कर राजा चल रहा है ऐसा व्यवहार की दृष्टि से कहा जाता है। राजा और सेना इनमें स्वामिभृत्यभाव होनेपर भी राजा सेना न होनेसे और सेना राजा न

होनेसे अर्थात् राजा और सेना में विभिन्नता होनेसे अनन्यत्व अर्थात् अभिन्नत्व-एकत्व नहीं है। सेनारूप बाह्य द्रव्य के आलंबन से सेनासहित राजा को राजा कहा जाना व्यवहारनय की दृष्टि से ठीक है। यद्यपि यह कथन व्यवहारनय की दृष्टि से है फिर भी वह राजा का हि ज्ञान कराता है। अतः लोकव्यवहार की प्रवृत्ति की दृष्टि से यह कथन न्यायसंगत है। इसीतरह यह ससारी जीव अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेके कारण उसके साथ अध्यवसानादिरूप वैभाविकभावों का यथासंभव कथंचित् तादात्म्यसंबध और कथंचित् संयोगसंबंध बना हुआ होनेसे उन अध्यवसानाविभावों को यद्यपि जीव कहा जाता है तो भी वह कथन व्यवहारनयाश्रित है-वास्तव नही है और व्यवहारनय की दृष्टि से न्यायसंगत है। वस्तुत. अध्यवसानादिरूप विभावभाव कर्मोदयनिमित्तजन्य होनेसे नैमित्तिक अत एव औदयिकभाव है और वे आत्माश्रित भी हैं; क्यों कि उनमें अशुद्धचैतन्य का अन्वय पाया जाता है। ऐसा होते हुए भी ये भाव-परिणाम शुद्ध जीव के नहीं है, क्यों कि इनमे शुद्ध चैतन्य का अन्वय नहीं पाया जाता। दूसरी बात यह है कि ये भाव अशुद्ध आत्मा के परिणामरूप होनेसे अशुद्धात्मस्वामिक होनेपर भी जिसप्रकार शुद्ध आत्मा के अनत शुद्ध गुण युगपत् शुद्ध आत्माश्रित होते है उसीप्रकार ये अध्यवसानादि परिणाम युगपत् समूहरूप से एक अशुद्धजीवाश्रित नही हो सकते; क्यों कि द्रव्य का एक समय में एकपर्यायरूप से हि परिणमन होता है-अनेक पर्यायों के रूपसे परिणमन नहीं होता। अत अशुद्ध आत्मा भी एक समय में एक पर्यायरूप से परिणत होनेवाली होनेसे एकरूप हि होती है-अनेकरूप नहीं होती। वस्तुतः अध्यवसानादिरूप कर्मोदयनिमित्तकृत भाव और शुद्ध जीव इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव, परिणामपरिणामिभाव और उपादानोपादेयभाव न होनेसे इन भावों का शुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्यसंबध नहीं हो सकता। अतः शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध जीव से ये अध्यवसानादिरूप विभावभाव भिन्न हि होते है। शुद्ध अवस्था में आत्मा के साथ कर्मों का किसी भी प्रकार का संबंध न होनेके कारण कर्मोदयरूपनिमित्त से उत्पन्न होनेवाले अध्यवसानादिरूप विभावपरिणाम शुद्ध आत्मरूप आश्रय में प्रादुर्भूत नहीं हो सकते। जब वे शुद्ध आत्मा में प्रादुर्भूत हि नहीं हो सकते अर्थात् शुद्ध आत्मा जब विभावरूप से परिणत हि नहीं हो सकती तब उनका शुद्ध जीव के साथ तादात्म्यसबंध न होनेसे वे जीवरूप नहीं माने जा सकते। शुद्ध जीव शुद्धज्ञानघनैकस्वभाववाला होनेसे एकरूप तो है हि किंतु जिसप्रकार बलसमुदायान्तर्गत होनेपर भी व्यक्तिभेद की दृष्टि से राजा एक हि होता है उसीप्रकार अशुद्ध जीव भी अध्यवसानादिभावों से परमार्थतः भिन्न होने से और एकसमय में उसका एक हि परिणाम होनेसे एक हि होता है। यद्यपि इन भावों के रूप से परिणत होनेवाले जीव को व्यवहारनय की दृष्टि से इनभावरूप कहा जाता है तो भी इस व्यवहारनय के द्वारा एक जीव का हि कथन किया जानेसे वह कथंचित् न्यायसगत है।

यदि एवं तर्हि 'किलक्षणः असौ एकः टङ्कोत्कीर्णः परमार्थजीवः ?' इति पृष्टः प्राह–

'यदि ऐसा है तो इस एक टंकोत्कीर्ण परमार्थ जीव का स्वरूप क्या है ?' इसप्रकार पूछा जानेपर आचार्य कहते हैं–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ४९ ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥४९॥

अन्वयार्थ– हे भव्यात्मन् ! तू (**जीवम्**) यथार्थस्वरूप जीव को वह पुद्‌गलद्रव्य से परमार्थतः भिन्न होनेसे (**अरसम्**) रसरहित, (**अरूपम्**) रूपरहित, (**अगन्धम्**) गन्धरहित, उपलक्षण से स्पर्शरहित, (**अशब्दम्**) शरीररहित होनेसे कण्ठताल्वादिशून्य होनेके कारण शब्दरहित, (**अव्यक्तम्**) ससारी

जीव के कामक्रोधादिरूप विकल्पो का विषय न होनेसे अथवा इन्द्रियग्राह्य न होनेसे अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म, **(चेतनागुणम्)** शुद्ध चैतन्यरूपगुण से युक्त अर्थात् चैतन्यगुणात्मक या उस गुण के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ, **(अलिङ्गग्रहणम्)** इद्रियो के द्वारा ग्राह्य न होनेसे और सिर्फ स्वसंवेदन-ज्ञान के द्वारा जाना जानेवाला होनेसे किसी बाह्य हेतु मे न जाना जानेवाला और **(अनिर्दिष्ट-संस्थानम्)** समचतुरस्रादिरूप छह सस्थानो से रहित **(जानीहि)** समझ ले ।

आ. ख्या.– (१) य. खलु पुद्गलद्रव्यात् अन्यत्वेन अविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्-गलद्रव्यगुणेभ्य. भिन्नत्वेन स्वयं अरसगुणत्वात्, परमार्थत पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेन अरसनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात् भावेन्द्रियावलम्बेन अरसनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेन अरसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात् रसपरिच्छेदपरिणतत्वे अपि स्वयं रसरू-पेण अपरिणमनात् च अरसः ।

(२) तथा पुद्गलद्रव्यात् अन्यत्वेन अविद्यमानरूपगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यः भिन्नत्वेन स्वयं अरूपगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्ट-म्भेन अरूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात् भावेन्द्रियावलम्बेन अरूपणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेन अरूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात् रूपपरिच्छेदपरिणतत्वे अपि स्वयं रूपरूपेण अप-रिणमनात् च अरूपः ।

(३) तथा पुद्गलद्रव्यात् अन्यत्वेन अविद्यमानगन्धगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यः भिन्नत्वेन स्वयं अगन्धगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्ट-म्भेन अगन्धनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात् भावेन्द्रियावलम्बेन अगन्धनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलगन्धवेदनापरिणामापन्नत्वेन अगन्धनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात् गन्धपरिच्छेदपरिणतत्वे अपि स्वयं गन्धरूपेण अप-रिणमनात् च अगन्धः ।

(४) तथा पुद्गलद्रव्यात् अन्यत्वेन अविद्यमानस्पर्शगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यः भिन्नत्वेन स्वयं अस्पर्शगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्ट-म्भेन अस्पर्शनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात् भावेन्द्रियावलम्बेन अस्पर्शनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेन अस्पर्श-नात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात् स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वे अपि स्वयं स्पर्श-रूपेण अपरिणमनात च अस्पर्शः ।

(५) तथा पुद्गलद्रव्यात् अन्यत्वेन अविद्यमानशब्दपर्यायत्वात् पुद्गलद्रव्यपर्याये-

भ्यः भिन्नत्वेन स्वयं अशब्दपर्यायत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेन शब्दाश्रवणात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात् भावेन्द्रियावलम्बेन शब्दाश्रवणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात् शब्दपरिच्छेदपरिणतत्वे अपि स्वयं शब्दरूपेण अपरिणमनात् च अशब्दः ।

(६) द्रव्यान्तरारब्धशरीरसंस्थानेन[1] 'एवंसंस्थानः' इति निर्देष्टुं अशक्यत्वात्, नियतस्वभावेन अनियतसंस्थानानन्तशरीरवर्तित्वात्, संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वे अपि स्वयं अखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितया अत्यन्तं असंस्थानत्वात् च अनिर्दिष्टसंस्थानः ।

(७) षड्द्रव्यात्मकलोकात् ज्ञेयात् व्यक्तात् अन्यत्वात्, कषायचक्रात् भावकात् व्यक्तात् अन्यत्वात्, चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासे अपि व्यक्तास्पर्शत्वात्, स्वयं एव हि बहिः अन्तः स्फुटं अनुभूयमानत्वे अपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वात् च अव्यक्तः ।

(८) रसरूपगन्धस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावे अपि स्वसंवेदनबलेन नित्यं आत्मप्रत्यक्षत्वे सति अनुमेयमात्रत्वाभावात् अलिङ्गग्रहणः ।

(९) समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना, विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन, सकलं अपि लोकालोकं कवलीकृत्य अत्यन्तसौहित्यमन्थरेण इव, सकलकालं एव मनाक् अपि अविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयं अनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यं एव अन्तः प्रकाशमानत्वात् चेतनागुणः च । स खलु भगवान् अमलालोकः इह एकः टङ्कोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिः जीवः ॥

त. प्र.– (१) यः खलु परमार्थतः पुद्गलद्रव्याद्रूपादिगुणवतोऽचेतनद्रव्यादन्यत्वेन चेतनलक्षणत्वाद्भिन्नत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वादसद्रसधर्मत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन शरीरसंयुक्तासंयुक्तावस्थयोरपि चेतनस्वभावत्वेन भिन्नत्वात्तद्गुणेभ्योऽपि भिन्नत्वेन पुद्गलद्रव्यवत्स्वयमरसगुणत्वाद्रसगुणरूपत्वाभावात्, परमार्थतो निश्चयनयेन पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाच्छरीरसंयुक्तावस्थायामपि पौद्गलशरीरस्यानुपादानत्वात्तत्स्वामित्वाभावात्पौद्गलिकद्रव्येन्द्रियासद्भावात्तदवष्टम्भेन तत्सहाय्येनारसनादस्वदनात्, स्वभावतः पारिणामिकभावभूतचैतन्यधर्मापेक्षया क्षायोपशमिकभावाभावाच्चैतन्यस्वभावस्य क्षायोपशमिकभावत्वाभावाच्छुद्धनिश्चयनयापेक्षया भावेन्द्रियासम्भवात्तदवलम्बेनारसनादननुभवनात्, सकलसाधारणैकसवेदनपरिणामस्वभावत्वात्सकलज्ञेयसाधारणैकज्ञप्तिक्रियापरिणामस्वभावत्वात् । सक-

१–'सस्थानेनैव संस्थानः' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः ।

लेषु सर्वेषु ज्ञानविषयेषु ज्ञेयेषु साधारणः समान एकोऽद्वितीयस्संवेदनपरिणामो ज्ञप्तिक्रियात्मिका परिणतिः स्वभावो यस्य सः । तस्य भावः । तस्मात् । केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनैकमात्ररसज्ञानात्मकपरिणामप्राप्तत्वेनारसनाद्रसाननुभवनात् । केवलश्चासौ रसवेदनापरिणामो रसज्ञप्तिपरिणामश्च । तमापन्नत्वेन । रसस्य वेदना ज्ञप्तिक्रिया रसवेदना । सा एव परिणामः परिणती रसवेदनापरिणामः । सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निखिलज्ञानविषयज्ञायकाभिन्नत्वस्य निषेधात्प्रतिषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि रसज्ञप्तिक्रियारूपेण परिणतत्वेऽपि स्वयं रसरूपेण रसात्मकत्वेनापरिणमनात् । स्वस्वभावं परित्यज्य रसस्वभावमूरीकृत्य तद्रूपेणापरिणमनादिति भावः । अरसः पुद्गलाश्रितरसगुणाद्भिन्नः ।

(२) तथा तेन प्रकारेण पुद्गलद्रव्याद्रूपादिगुणचतुष्टयवतोऽचेतनपदार्थादन्यत्वेन चैतन्यलक्षणत्वाद्भिन्नत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वाद्रूपगुणवत्त्वाभावात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन शरीरसंयुक्तासंयुक्तावस्थयोरपि चैतन्यस्वभावापरिहाणेस्तत्स्वभावत्वेन भिन्नत्वात्पुद्गलगुणेभ्योपि भिन्नत्वात्पुद्गलद्रव्यवत्स्वयमरूपगुणत्वाद्रूपगुणरूपत्वाभावात्, परमार्थतश्शुद्धनिश्चयनयप्राधान्यापेक्षया पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाच्छरीरसंयुक्तावस्थायामपि पौद्गलिकशरीरस्यानुपादानभूतत्वात्तत्स्वामित्वाभावात् । व्यवहारनयप्राधान्यापेक्षयाऽनादेः कर्मबद्धत्वादात्मशरीरयोरन्योन्यभिन्नयोरप्येकीभावमिव गतत्वात्कथञ्चिच्छरीरस्वामित्वेऽपि न तत्सर्वथा सम्भवति । ततो वस्तुतः पुद्गलद्रव्यात्मकशरीरस्वामित्वाभावादर्हत्सिद्धयोरिव द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेन पुद्गलात्मकद्रव्यचक्षुरिन्द्रियालम्बनेनारूपणादनवलोकनात् । स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात्पारिणामिकभावभूतशुद्धज्ञानस्वरूपस्वभावस्य क्षायोपशमिकनैमित्तिकभावत्वाभावात्क्षायोपशमिकभावेन्द्रियसद्भावासम्भवाद्भावेन्द्रियावलम्बेन तत्सहाय्यमादायारूपणादनवलोकनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्सकलज्ञेयज्ञप्तिसमानसवित्तिक्रियापरिणमनस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनैकमात्ररूपज्ञप्तिक्रियारूपपरिणामप्राप्तत्वेनारूपणादनवलोकनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निखिलज्ञप्तिक्रियाविषयभूतज्ञेयानां ज्ञायकस्य चाभिन्नत्वस्य निषेधात्प्रतिषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि रूपपरिच्छित्तिक्रियापरिणामवत्त्वेऽपि स्वयं ज्ञात्रात्मना रूपरूपेणापरिणमनाद्रूपात्मकत्वेनापरिणमनात् । स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकं रूपस्वरूपमुररीकृत्य रूपस्वरूपेणापरिणमनादिति भावः । अरूपः पुद्गलाभिन्नरूपगुणाद्भिन्नः । तद्विकल इत्यर्थः ।

(३) तथा तेन प्रकारेण पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेन भिन्नत्वेन । पुद्गलद्रव्यस्य रूपित्वादचेतनत्वाच्च जीवद्रव्यस्य चारूपित्वाच्चेतनत्वाच्च तयोरन्योन्यभिन्नत्वम् । अविद्यमानगन्धगुणत्वाद्गन्धगुणवत्त्वाभावात् । गन्धगुणस्य पुद्गलद्रव्यस्वभावत्वात्तेनैव तादात्म्याज्जीवद्रव्यस्य च ततो भिन्नत्वाद्गन्धगुणवत्वाभावः । पुद्लद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वभावत्वात्पुद्गलद्रव्येण तादात्म्यापन्नेभ्यः पुद्गलद्रव्यं विमुच्यात्मद्रव्यमसङ्क्रममाणेभ्यः पुद्गलद्रव्यगुणेभ्योऽन्यत्वेन स्वयमगन्धगुणत्वात् गन्धगुणरूपत्वाभावात् । यद्गुणा येन तादात्म्यमापन्नास्तदेव तद्गुणरूपं भवति, नान्यत्किञ्चिदपि द्रव्यम् । गन्धगुणस्य जीवेन सह तादात्म्यादिसम्बन्धाभावान्न जीवो गन्धगुणरूपो भवति । परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावान्निश्चयनयेन जीवस्य पुद्गलस्वामित्वाभावात् । शरीरशरीरिणोरिव स्वभावादिभेदादन्योन्यभिन्नयोरपि द्रव्ययोर्व्यवहारनयापेक्षया स्वस्वामिभावसम्बधस्सम्भवति तथाप्युपादानोपादेयसम्बन्धवतोः परिणामपरिणामिभाववतोरेव च निश्चयनयापेक्षया स्वस्वामिभावसम्बन्धः परिणामिनश्च

स्वामित्वं सम्भवतः। अतो जीवपुद्गलयोरुपादेयोपादानपरिणामपरिणामिभावयोरभावाद्वास्तवस्वस्वामिभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलस्वामित्वं न सम्भवति। अतो जीवस्य पुद्गलस्वामित्वाभावः। ततो द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेन द्रव्येन्द्रियात्मकघ्राणेन्द्रियसहाय्येनागन्धनादघ्राणात्। शुद्धात्मनो द्रव्यभावेन्द्रियत्वाभावाद्गन्धनक्रिया न सम्भवति। स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात्पारिणामिभावभूतशुद्धज्ञानस्वरूपस्वभावस्य क्षायोपशमिकनैमित्तिकभावत्वाभावात्क्षायोपशमिकभावेन्द्रियसद्भावासम्भवाद्भावेन्द्रियावलम्बेन तत्साहाय्यमादाय गन्धनासम्भवादगन्धनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्सकलज्ञेयज्ञप्तिसमानसंवित्तिक्रियापरिणमनस्वभावत्वात्केवलगन्धवेदनापरिणामापन्नत्वेनैकमात्ररूपज्ञप्तिक्रियारूपपरिणाममात्रत्वेनागन्धनादघ्राणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निखिलज्ञप्तिक्रियाविषयभूतज्ञेयानां ज्ञायकस्य चाभिन्नत्वस्य निषेधात्प्रतिषेधाद्गन्धपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि गन्धपरिच्छित्तिक्रियापरिणामवत्त्वेऽपि स्वयं ज्ञायकेनात्मना गन्धरूपेणापरिणमनाद्गन्धात्मकत्वेनापरिणमनात्। स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकं गन्धस्वरूपं स्वीकृत्य गन्धस्वरूपेणापरिणमनादिति भावः। अगन्ध पुद्गलभिन्नगन्धगुणाद्भिन्न.। तद्विकल इत्यर्थः।

(४) तथा तेन प्रकारेण पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेन भिन्नत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात्स्पर्शगुणवत्त्वाभावात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन शरीरसंयुक्तासंयुक्तजीवावस्थयोरपि चैतन्यस्वभावाभावासम्भवात्तत्स्वभावत्वेन भिन्नत्वात्पुद्गलद्रव्यस्वभावभूतस्पर्शादिगुणेभ्योऽपि भिन्नत्वेन पृथग्भूतत्वेन पुद्गलद्रव्यवत्स्वयमात्मनास्पर्शगुणत्वात्स्पर्शगुणरूपत्वमनापत्तेः, परमार्थतश्शुद्धनिश्चयप्राधान्यापेक्षया पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाच्छरीरसंयुक्तस्वावस्थायामपि पौद्गलिकशरीरस्यात्मपुद्गलात्मकद्रव्यद्वितयस्योपादानत्वासम्भवादेकस्य कार्यस्य स्वजातीयैकमात्रद्रव्यस्वामिकत्वादात्मनः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात्। व्यवहारनयप्राधान्यापेक्षयाऽनादेः कर्मसंवलितत्वादात्मदेहयोरन्योन्यपृथग्भूतयोरप्येकीभावमिव गतत्वात्कथञ्चिच्छरीरस्वामित्वेपि न सर्वथा सम्भवति। तत परमार्थतः पुद्गलद्रव्यपरिणामस्वरूपशरीरस्वामित्वाभावादर्हत्सिद्धयोरिव द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेन पुद्गलात्मकद्रव्यस्पर्शनेन्द्रियसाहाय्येनास्पर्शनात्स्पर्शनक्रियारूपेणापरिणतत्वात्। स्वभावतो निसर्गतः क्षायोपशमिकभावाभावात्पारिणामिकभावस्वरूपशुद्धज्ञानात्मकस्वभावस्य क्षायोपशमिकनैमित्तिकभावत्वाभावात्क्षायोपशमिकभावात्मकभावेन्द्रियसद्भावासम्भवाद्भावेन्द्रियावलंबेन तत्साहाय्यमादायास्पर्शनात्स्पर्शनक्रियारूपेणापरिणमनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्सकलज्ञेयज्ञप्तिसमानसंवित्त्यात्मकक्रियापरिणमनस्वभावत्वात्केवलस्पर्शवेदनापरिणामप्राप्तत्वेनैकमात्रस्वरूपज्ञप्तिक्रियात्मकपरिणामप्राप्तत्वेनास्पर्शनात्स्पर्शनक्रियात्मकपरिणामत्वेनापरिणमनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधान्निखिलज्ञानविषयाणां ज्ञायकस्य चाभिन्नत्वस्य प्रतिषेधात् स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्पर्शज्ञप्तिक्रियारूपेण परिणतत्वेऽपि स्वयमात्मना स्पर्शरूपेण स्पर्शात्मकत्वेनापरिणमनात्। स्वस्वभाव परित्यज्य स्पर्शस्वभावमङ्गीकृत्य तद्रूपेणापरिणमनादिति भावः। अस्पर्शः पुद्गलाश्रितस्पर्शगुणाद्भिन्नः।

(५) तथा तेन प्रकारेण पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेन भिन्नत्वेन। पुद्गलद्रव्यस्य रूपादिमत्त्वादचेतनत्वाच्च जीवद्रव्यस्य च रूपादिमत्त्वाभावाच्चेतनत्वाच्च तयोः परस्परभिन्नत्वम्। अविद्यमानशब्दपर्यायत्वाच्छब्दात्मकपर्यायवत्त्वाभावात्। कण्ठोष्ठजिह्वादन्ततालुजन्यत्वात्पुद्गलपरिणामत्वाच्छब्दस्यामूर्तात्मपरिणामत्वाभावादात्मनोऽविद्यमानशब्दपर्यायत्वम्। पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेनात्मनः पुद्गल-

पर्यायोपादानत्वासम्भवाच्चेतनत्वाच्च पुद्गलद्रव्यपर्यायाणां चाचेतनत्वाद्भिन्नत्वेन पृथग्भूतत्वेन स्वयमात्मनाऽशब्दपर्यायत्वाच्छब्दपर्यायात्मकत्वाभावात्, परमार्थतो निश्चयनयप्राधान्येन पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात्पुद्गलद्रव्यस्य भिन्नस्वभावत्वाच्चेतनात्मनः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेन द्रव्येन्द्रियात्मकश्रोत्रेन्द्रियाभावाद्द्रव्यश्रोत्रेन्द्रियसाहाय्येन शब्दाश्रवणाच्छब्दानाकर्णनात्, स्वभावतो निसर्गतः पारिणामिकभावस्वभावत्वात्क्षायोपशमिकभावाभावात्पारिणामिकभावभूतशुद्धज्ञानस्वरूपस्वभावस्य क्षायोपशमिकनैमित्तिकभावत्वाभावात्क्षायोपशमिकभावेन्द्रियसद्भावासम्भवाद्भावेन्द्रियावलम्बेन तत्साहाय्यमादाय शब्दाश्रवणात्। सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्सकलज्ञेयज्ञप्तिसमानसंवित्तिक्रियापरिणमनस्वभावत्वात्केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेनैकमात्ररूपज्ञप्तिक्रियारूपपरिणाममात्रत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य सकलज्ञप्तिक्रियाविषयभूतज्ञेयानां ज्ञायकस्य चाभिन्नत्वस्य निषेधात्प्रतिषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि शब्दश्रुत्यात्मकपरिच्छित्तिक्रियापरिणामवत्वेऽपि स्वयं ज्ञायकेनात्मना शब्दरूपेणापरिणमनाच्छब्दात्मकत्वेनापरिणमनात् । स्वस्वभावं परित्यज्य शब्दस्वरूपमुपादाय शब्दस्वरूपेणापरिणमनादिति भावः । अशब्दः पुद्गलाभिन्नशब्दपर्यायाद्भिन्नः । शब्दपर्यायविकल इत्यर्थः ।

(६) द्रव्यान्तरारब्धशरीरसंस्थानेन संस्थाननामकर्मात्मकपुद्गलद्रव्यजनितशरीराकारेण । आत्मद्रव्यादन्यत्पुद्गलात्मक द्रव्यं द्रव्यान्तरम् । तेनारब्धं जनितं शरीरसंस्थानं शरीराकारो द्रव्यान्तरारब्धशरीरसंस्थानम् । तेन । एवंसंस्थानश्शरीराकारसदृशस्वाकार इति निर्देष्टुं प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् । नियतस्वभावेन प्रतिनियतनित्यस्वभावेन । स्वभावान्तरमप्राप्येत्यर्थ । अनियतसंस्थानानन्तशरीरवर्तित्वाद्विविधाकारानन्तशरीरस्थितिकत्वात् । अनियतान्यप्रतिनियतत्वाद्विविधानि संस्थानान्याकृतयो येषां तानि । अनन्तानि च तानि शरीराणि । अनियतसंस्थानानि च तान्यनन्तशरिराणि चानियतसस्थानानन्तशरीराणि । तेषु वर्तते इति । तस्य भावस्तस्मात् । संस्थाननामकर्मविपाकस्य शरीराकारनिर्वृत्तिकारणभूतसंस्थाननामकर्मोदयात्मकपरिणामस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्प्रतिपाद्यमानत्वात् । संस्थाननामकर्मणः पुद्गलविपाकित्वादित्यर्थः । प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेऽपि स्वीयस्वीयविशिष्टाकारपरिणतनिखिलवस्तुस्वभावसम्बद्धस्वाभाविकसवेदनसामर्थ्यत्वेऽपि । प्रतिविशिष्टं प्रत्यर्थप्रतिनियतं संस्थानमाकारः । तेन तद्रूपेण परिणतानि समस्तानि वस्तूनि प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तूनि । तेषां तत्त्वैरसाधारणस्वरूपैस्संवलिता सम्बन्धमापन्ना । तदाकारज्ञप्तिक्रियापरिणतज्ञानपर्यायत्वेन तत्संवलितमित्यर्थः । सहजमात्मस्वभावभूतं संवेदनं ज्ञानम् । तस्य शक्ति । प्रतिविशिष्टसस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलिता सहजसंवेदनशक्तिर्यस्य स । तस्य भावः । तस्मिन्सत्यपि । स्वयमात्मनाऽखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितयाऽखिलविश्वस्थवस्तुजातसम्बन्धविकलोत्पद्यमाननिर्मलानुभवत्वेन । अखिललोकोऽखिलविश्वस्थवस्तुजातम् । तेन संवलनं संबन्धः । तेन शून्याऽखिललोकसवलनशून्या । निर्मला चासावनुभूतिश्च निर्मलानुभूतिः । उपजायमानोत्पद्यमाना चासौ निर्मलानुभूतिश्चोपजायमाननिर्मलानुभूतिः । अखिललोकसंवलनशून्या चासावुपजायमाननिर्मलानुभूतिश्च । तस्याः भावस्तया । अत्यन्तमत्यर्थमसंस्थानं ज्ञेयाकारज्ञानपरिणमनाभावादनाकारत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानोऽनुक्तप्रतिनियताकारः ।

(७) षड्द्रव्यात्मकलोकाज्जीवधर्माधर्माकाशकालपुद्गलभेदात्मकलोकाज्ज्ञेयाज्ज्ञानविषयभूताद्-

व्यक्ताविन्द्रियग्राह्यादन्यत्वात्, चित्सामान्यनिमग्नव्यक्तित्वाच्चित्सामान्यान्तःपतितज्ञानपर्यायत्वात् । व्यक्तिर्विकारः कार्यं वा । क्षणिकव्यक्तिमात्राभावाद्विद्युद्वत्क्षणमात्रकालवर्तिद्रव्यभावेंद्रियग्राह्यत्वमात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेऽपि ग्राह्याग्राह्यत्वाभ्यां व्यक्ताव्यक्तसंकीर्णप्रतिभासेऽपि व्यक्तास्पर्शत्वाद्व्यक्तप्रतिभासानुपलब्धेः, स्वयमेवात्मनैव हि बहिरन्तः स्फुटं बहिरभ्यन्तरे च स्फुटं प्रस्पष्टतयानुभूयमानत्वेऽप्यमुभवगोचरतां नीयमानत्वेऽपि निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानव्यक्तात्मद्रव्योपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः ।

(८) रसरूपगन्धस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेऽपि रसरूपगन्धस्पर्शवत्स्वाभावे शब्दपर्यायपरिणतत्वाभावे विशिष्टाकारेण व्यक्तत्वाभावे चापि स्वसंवेदनबलेन स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानसामर्थ्येन नित्यं सततमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादनुमानविषयमात्रत्वाभावादलिङ्गग्रहणोऽनुमानप्रमाणेनाग्राह्यः ।

(९) समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना सकलविरोधनिषूदनेन । समस्ता सकला चासौ विप्रतिपत्तिर्यथार्थजीवरूपविषयको विरोधश्च समस्तविप्रतिपत्तिः । तां प्रमथ्नातीत्येवंशीलः । तेन । 'शीलेऽजातौ णिन्' इति णिन् । यद्वा समस्तविप्रतिपत्तिं साधु सुष्ठु प्रमथ्नातीति समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथी । तेन । 'साधौ' इति साध्वर्थे र्धोणिन् । विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन प्रादुर्भूतभेदज्ञानजनायत्तीकृतनिखिलशुद्धस्वभावसारेण । विवेचका आत्मानात्मभेदज्ञानपुरस्सरपरित्यक्तानात्मभावाः । विवेचकाश्च ते जनास्सम्यग्ज्ञानिनश्च विवेचकजनाः। तेषु समर्पितं तदायत्तीकृतं सर्वस्वं स्वशुद्धस्वभावभूतः सारो येन सः। तेन । यद्वा विवेचकजनैः । समर्पितं प्रयुक्तं सर्वं स्वं धनं यस्मिन् । तेन । धनं भेदज्ञानस्वरूपम् । सकलमपि लोकालोकं षड्द्रव्यसहितं लोकं तद्रहितमलोकं च कवलीकृत्य ग्रासीकृत्य । स्वसामर्थ्येन निःशेषतया विज्ञायेत्यर्थ । अत्यन्तसौहित्यमन्थरेणेवात्यन्तिकपरिपूर्णत्वसूचकेनेवात्यन्तिकशुद्धिनिधानभूतेनेवात्यन्तिकसन्देहादिदोषनिकरनिराकरणसमर्थशुद्धिशक्तिपिशुनेनेव वा सकलकालमेवानाद्यनन्तकालं यावदविच्छेदेन मनागपीषदप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वाश्रयभूतात्मद्रव्यादप्रच्युततयाऽनन्यसाधारणतयाऽन्यद्रव्येष्वनुपलभ्यमानत्वादसाधारणतया स्वभावभूतेनात्मस्वभावभूतेन स्वयमात्मानुभूयमानेनानुभवगोचरीक्रियमाणेन चेतनागुणेन नित्यमेवाखण्डितत्वेनेवान्तःप्रकाशमानत्वादन्तरात्मनि प्रद्योतमानत्वाच्चेतनागुणश्चैतन्यगुणाश्रयश्च । स खलु भगवानमलालोको निर्मलकेवलावबोधोद्योत इहैको द्रव्यभावकर्मविकलष्टङ्कोत्कीर्णवन्नित्यः प्रत्यग्ज्योतिरन्तस्तेजोभूतो जीवः ॥

टीकार्थ— (१) जो वस्तुतः पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न होनेसे (उसमें) रसगुण विद्यमान न होनेसे, पुद्‌गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होनेसे स्वयं रसगुणरूप न होनेसे, परमार्थतः (शरीररूप) पुद्‌गलद्रव्य के स्वामित्व का (उसमें) अभाव होनेसे अर्थात् शरीररूप पुद्‌गलद्रव्य का वह स्वामी न होनेसे द्रव्येंद्रिय के आधार से रस का अनुभव करनेवाला न होनेसे स्वभावतः क्षायोपशमिक परिणति का (उसमें) अभाव होनेसे, भावेंद्रिय के द्वारा रस का अनुभव करनेवाला न होनेसे, संपूर्ण ज्ञेयों के विषय में सामान्य रूप से पायी जानेवाली ज्ञप्तिक्रियारूप से परिणत होनेके स्वभाव को धारण करनेवाला होनेसे सिर्फ रस को जाननेवाली ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होकर रस का अनुभव करनेवाला—रस को जाननेवाला न होनेसे, संपूर्ण ज्ञेयों के साथ ज्ञाता के तादात्म्य का निषेध किया जानेसे रस को जानने की क्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी स्वयं रसरूप से परिणत न होनेसे जीव अरस है ।

[अर्थात् रसगुणरहित, स्वयं रसगुणरूप न होनेवाला, द्रव्येंद्रिय के और भावेंद्रिय के द्वारा रसगुण को न जानने-

वाला, सिर्फ रसगुण को जानने की क्रिया के रूप से परिणत न होनेवाला है और रस को जाननेकी क्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी रसरूप से परिणत न होनेवाला है।]

(२) उसीप्रकार जो पुद्गलद्रव्य से भिन्न होनेसे (उसमें) रूपगुण विद्यमान न होनेसे, पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होनेसे स्वयं रूपगुणरूप न होनेसे, परमार्थतः (शरीररूप) पुद्गलद्रव्य के स्वामित्व का (उसमें) अभाव होनेसे अर्थात् वह शरीररूप पुद्गलद्रव्य का स्वामी न होनेसे द्रव्येंद्रिय के आधार से रूप का अनुभव करनेवाला अर्थात् जाननेवाला न होनेसे, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावरूप परिणति का (उसमें) अभाव होनेसे, भावेंद्रिय के द्वारा रूप का अनुभव करनेवाला–जाननेवाला न होनेसे, संपूर्ण ज्ञेयों के विषय में सामान्यरूप से पायी जानेवाली ज्ञप्तिक्रिया-रूप से परिणत होनेके स्वभाव को धारण करनेवाला होनेसे, सिर्फ रूप को जाननेवाली ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होकर रूप का अनुभव करनेवाला–रूप को जाननेवाला न होनेसे, संपूर्ण ज्ञेयों के साथ ज्ञाता के तादात्म्य का निषेध किया जानेसे रूप को जानने की क्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी स्वयं रूपरूप से परिणत न होनेसे जीव अरूप है।

[अर्थात् रूपगुणरहित, स्वयं रूपगुणरूप न होनेवाला, द्रव्येंद्रिय के और भावेंद्रिय के द्वारा रूपगुण को न जाननेवाला, सिर्फ रूपगुण को जानने की क्रिया के रूप से परिणत न होनेवाला है और रूप को जानने की क्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी रूपरूप से परिणत होनेवाला नहीं है।]

(३) उसीप्रकार जो पुद्गलद्रव्य से भिन्नरूप होनेसे (उसमें) गंधगुण विद्यमान न होनेसे, पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्नरूप होनेसे स्वयं गन्धगुणरूप न होनेसे, परमार्थरूप से (शरीररूप) पुद्गलद्रव्य के स्वामित्व का (उसमें) अभाव होनेसे अर्थात् वह शरीररूप पुद्गलद्रव्य का स्वामी न होनेसे द्रव्येंद्रिय के आधार से गन्ध का अनुभव करनेवाला अर्थात् जाननेवाला न होनेसे, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावरूप परिणति का (उसमें) अभाव होनेसे भावेंद्रिय के द्वारा गन्ध का अनुभव करनेवाला–जाननेवाला न होनेसे, संपूर्णज्ञेयों के विषय में सामान्यरूप से पायी जानेवाली ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होनेके स्वभाव को धारण करनेवाला होनेसे, सिर्फ गन्ध को जाननेवाली ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होकर गन्ध का अनुभव करनेवाला–गन्ध को जाननेवाला न होनेसे, संपूर्ण ज्ञेयों के साथ ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध किया जानेसे गन्ध को जाननेकी क्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी स्वयं गंधरूप से परिणत न होनेसे जीव अगन्ध है।

[अर्थात् गंधगुणसहित, स्वयं गंधगुणरूप न होनेवाला, द्रव्येंद्रिय के और भावेंद्रिय के द्वारा गन्धगुण को न जाननेवाला, सिर्फ गंधगुण को जानने की क्रिया के रूप से परिणत न होनेवाला है और गन्ध को जानने की क्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी गन्धरूप से परिणत होनेवाला नहीं है।]

(४) उसीप्रकार जो पुद्गलद्रव्य से भिन्नरूप होनेके कारण (उसमें) स्पर्शगुण विद्यमान न होनेसे पुद्गलद्रव्य के गुणों से (जीवद्रव्य) भिन्न होनेके कारण स्पर्शगुणरूप न होनेसे, परमार्थरूप से (शरीररूप) पुद्गलद्रव्य के स्वामित्व का (उसमें) अभाव होनेके कारण अर्थात् शरीररूप पुद्गलद्रव्य का वह स्वामी न होनेके कारण द्रव्येंद्रिय के द्वारा स्पर्श का अनुभव करनेवाला अर्थात् जाननेवाला न होनेसे, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावरूप परिणति का (उसमें) अभाव होनेके कारण भावेंद्रिय के द्वारा स्पर्श का अनुभव करनेवाला – जाननेवाला न होनेसे, संपूर्ण ज्ञेयों के विषय में सामान्यरूप से पायी जानेवाली ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होनेके स्वभाव को धारण करनेवाला होनेसे, सिर्फ स्पर्श को जाननेवाली ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होकर गन्ध का अनुभव करनेवाला – जाननेवाला न होनेसे, संपूर्ण ज्ञेयों के साथ ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध किया जानेसे स्पर्श को जाननेकी क्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी स्वयं स्पर्शरूप से परिणत न होनेसे जीव अस्पर्श है।

[अर्थात् स्पर्शगुणरहित, स्वयं स्पर्शगुणरूप न होनेवाला, द्रव्येंद्रिय के और भावेंद्रिय के द्वारा स्पर्शगुण को न जाननेवाला, सिर्फ स्पर्शगुण को जानने की क्रिया के रूप से परिणत न होनेवाला है और स्पर्श को जाननेकी क्रिया

के रूप से परिणत होनेपर भी स्पर्शरूप से परिणत होनेवाला नहीं है ।]

(५) उसीप्रकार जो पुद्गलद्रव्य से भिन्नरूप होनेके कारण (जिसकी) शब्दरूप पर्याय विद्यमान न होनेसे, पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से (जीवद्रव्य) भिन्नरूप होनेके कारण स्वयं शब्दपर्यायरूप न होनेसे, पारमार्थिक दृष्टि से पुद्गलद्रव्य के स्वामित्व का (उसमें) अभाव होनेसे द्रव्येंद्रिय के द्वारा शब्दों को सुननेवाला न होनेसे, स्वभावतः (उसमें) क्षायोपशमिकपरिणति का अभाव होनेसे भावेंद्रिय के द्वारा शब्दों को सुननेवाला न होनेसे, संपूर्ण (शब्द-रूप) ज्ञेयों के विषय में सामान्यरूप से पायी जानेवाली शब्द की ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होनेके स्वभाव को धारण करनेवाला होनेके कारण सिर्फ शब्द को जाननेवाली ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होकर शब्द को सुननेवाला न होनेसे, संपूर्ण (शब्दरूप) ज्ञेयों के साथ ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध किया जानेसे शब्द को जाननेकी – सुन-नेकी क्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी स्वयं शब्दरूप से परिणत न होनेसे जीव अशब्द है ।

[अर्थात् शब्दरूप पर्याय से रहित, स्वयं शब्दपर्यायरूप न होनेवाला, द्रव्येंद्रिय के और भावेंद्रिय के शब्दरूप पर्याय को न जाननेवाला, सिर्फ शब्दरूप पर्याय को जाननेकी क्रिया के रूप से परिणत होनेवाला है और शब्द को जाननेकी क्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी शब्दरूप से परिणत होनेवाला नहीं है ।]

(६) आत्मद्रव्य से अन्यद्रव्यभूत पुद्गल से जनित शरीररूप आकार के कारण 'जीव इसप्रकार के आकार का धारक है' इसप्रकार से जीव के विषय में प्रतिपादन करना अशक्य होनेसे, अपने निश्चित (ज्ञानघनैकरूप) स्वभाव से जिनके आकार निश्चितरूप नहीं होते ऐसे अनंत शरीरों में (क्रम से) रहनेवाला होनेसे, संस्थाननामकर्म का विपाक पुद्गलों में होता है ऐसा कहा जानेसे, प्रतिनियत – भिन्नभिन्न विशिष्ट आकारों के रूप से परिणत हुई समस्त वस्तुओं के स्वभावों से उसकी जानने की शक्ति संबद्ध हुई होनेपर भी स्वयं संपूर्ण लोकस्थित वस्तुओं के संपर्क से रहित ऐसी (आत्मा की) निर्मल अनुभूति हो जानेसे अत्यंत निराकार होनेसे उसका आकार बताया हुआ नहीं है ।

[अर्थात् पुद्गलात्मक शरीर के आकार के अनुसार सर्वथा जिसका आकार नहीं होता, भिन्नभिन्न आकारवाले शरीरों में अपने प्रतिनियत शुद्धज्ञानस्वभावसहित रहनेवाला होनेसे, संस्थाननामकर्म पुद्गलविपाकी होनेसे, आत्मा की ज्ञेयों को जानने की शक्ति का भिन्नभिन्न आकारवाली ज्ञेय वस्तुओं के असाधारणस्वरूपों के साथ संबंध हो जानेपर भी स्वयं विश्वस्थ संपूर्ण वस्तुओं के संबंध से रहित आत्मा की निर्मल अनुभूति हो जानेसे आत्यन्तिकरूप से आका-ररहित होनेके कारण उसका प्रतिनियत आकार नहीं बताया गया है ।]

(७) ज्ञेयरूप व्यक्त अर्थात् इंद्रियग्राह्य षड्द्रव्यरूप लोक से भिन्न होनेसे आत्मा की विभावपरिणतिजनक इंद्रियग्राह्य निमित्तकर्तृभूत द्रव्यकषायसमूह से अथवा कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों के कर्मरूपपरिणति का जनक इंद्रियग्राह्य निमित्तकर्तृभूत भावरूप कषायों के समूह से भिन्नरूप होनेसे चैतन्यसामान्य में समस्त ज्ञानपर्यायें अंतर्भूत होनेसे, द्रव्येंद्रियों के और भावेंद्रियों के द्वारा क्षणमात्रकालतक भी ग्राह्य न होनेसे, उभयविध इंद्रियों के द्वारा ग्राह्य और अग्राह्य होनेसे व्यक्ताव्यक्तरूप संकीर्ण प्रतिभास होनेपर भी व्यक्त के साथ संपर्क न होनेसे – आत्मा में अभिव्यक्त-रूप से रहनेवाले आत्मस्वभाव के साथ किसी प्रकार का संपर्क न होनेसे, स्वयमेव बाहर में और अंतरंग में स्पष्टरूप से जाना जानेवाला होनेपर भी समाधिकाल में उसका अनुभव होनेपर भी उस अनुभव की उपेक्षा से प्रकट होने-वाला होनेसे जीव अव्यक्त होता है ।

[इंद्रियग्राह्य षड्द्रव्यात्मक लोक से भिन्नरूप होनेसे, विभावभावजनक इंद्रियग्राह्य कषायसमूह से भिन्नरूप होनेसे, ज्ञानात्मक समस्त पर्यायें चित्सामान्य में अंतर्भूत होनेसे, क्षणकालवर्ती इंद्रियग्राह्य पर्याय का अभाव होनेसे, इंद्रियों से ग्राह्य और अग्राह्य होनेसे मिश्र प्रतिभास होनेपर भी आत्मा में अभिव्यक्तरूप से रहनेवाले आत्मस्व-भाव के साथ किसी भी प्रकार का संपर्क न होनेसे, बाहर और अंतरंग में स्वयमेव स्पष्टरूप से अनुभव किया जानेवाला होनेपर भी परमसमाधिकाल में होनेवाले स्पष्ट ज्ञान की उपेक्षा से प्रकट होनेवाला होनेसे जीव अव्यक्त है ।]

(८) रस के, रूप के, गंध के, स्पर्श के और आकार के द्वारा इंद्रियग्राह्य न होनेपर भी परमसमाधिरूप स्वसंवेदनज्ञान की सामर्थ्य से नित्य आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होनेपर अनुमेयमात्ररूप न होनेसे जीव अनुमान के द्वारा ग्राह्य – ज्ञेय नहीं होता।

[रसादि के द्वारा ग्राह्य न होनेपर भी स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष ग्राह्य होनेसे सिर्फ अनुमानप्रमाण का विषय न होनेसे जीव का ज्ञान अनुमानप्रमाण से न होनेसे वह अलिंगग्रहण कहा गया है।]

(९) सभी विरोधों का परिहार करनेवाले, भेदज्ञानी जीवों को अपना शुद्धज्ञानस्वभावरूप सर्वस्व का समर्पण करनेवाले अथवा जिसकी प्राप्ति के लिए भेदज्ञानियों के द्वारा अपना भेदज्ञानरूपधन लगाया जाता है ऐसे, सभी के सभी हि लोक और अलोक को निगलकर अर्थात् अपना विषय बनाकर जो मानो अपनी आत्यन्तिक समाधान वृत्ति को सूचित करता है अथवा जो मानो अपनी आत्यन्तिक परिपूर्णता को सूचित करता है अथवा जो आत्यन्तिक शुद्धि का निधानभूत होता है अथवा संदेहादि दोषों के समूह का निराकरण करने में समर्थ ऐसी आत्यन्तिक शुद्धिशक्ति को जो सूचित करता है ऐसे सभी कालों में हि किंचिन्मात्र भी विचलित होनेवाला न होनेसे अन्यद्रव्यों में न पाया जानेसे असाधारणता के कारण आत्मस्वभावभूत होनेवाले, स्वयं आत्मा के द्वारा अपनी अनुभूति का विषय बनाये जानेवाले चेतनागुण से नित्यकाल हि अतरंग में प्रकाशमान होनेवाला होनेसे चेतनागुण से युक्त होता है। वह जीव परमार्थतः भगवान् निर्मल प्रकाश का धारक अर्थात् निर्मल केवलज्ञान का धारक इस लोक में टंकोत्कीर्ण के समान नित्यरूप (और) अतरग तेज से युक्त होता है।

विवेचन–१–(१) पारमार्थिक दृष्टि से जीव शुद्धचैतन्यस्वभाववाला होनेसे, अचेतन पुद्गलद्रव्य स्पर्शादिगुणों से युक्त होनेसे और एक द्रव्य के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ गुण अन्यद्रव्याश्रित होना असंभव होनेसे जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य से भिन्न है। इसीलिए पुद्गलद्रव्य के साथ जिसका तादात्म्यसबध है ऐसा रसगुण जीवद्रव्य में पाया न जानेसे जीवद्रव्य अरस है।

(२) रस पुद्गलद्रव्य के साथ जीवद्रव्य तादात्म्यसबध को प्राप्त हुआ होनेसे उसका गुण है। अतः पुद्गलद्रव्य का रसरूप होना स्वाभाविक है। स्वभाव की दृष्टि से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य से भिन्न होनेसे पुद्गलद्रव्य के गुण से भी भिन्न हि है। अतः पुद्गलगुणभूत रस के रूप से जीवद्रव्य का होना असंभव है। एक द्रव्य का अन्यद्रव्य के गुणरूप से परिणत होना अन्यद्रव्य के रूप से परिणत होना हि है। यदि जीवद्रव्य का रसगुणरूप होना स्वीकार किया गया तो जीवद्रव्य का पुद्गलस्वरूप से परिणत होना स्वीकार्य बन जायगा। अतः जीवद्रव्य रसरूप नहीं हो सकता और रसरूप न होनेसे जीवद्रव्य अरस है।

(३) जिनमें उपादानोपादेयभाव होता है उनमें वास्तव स्वस्वामिभावसबंध होता है। उपादान स्वामी होता है और परिणामभूत उपादेय स्व होता है। अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेसे यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि से जीव पौद्गलिक शरीर का स्वामी कहा गया है तो भी जीव शरीर का उपादान कारण न होनेसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव शरीर का स्वामी नहीं है और शरीर इसका स्व नहीं है। जीव जब शरीर का स्वामी नहीं है तब वह द्रव्येंद्रिय का स्वामी नहीं है। शुद्ध जीव शरीररहित होनेसे इंद्रियरहित होता है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से शरीररूप पुद्गलद्रव्य का स्वामी न होनेसे द्रव्येंद्रिय के द्वारा अर्थात् रसनेंद्रिय के द्वारा जीव रस का आस्वाद नहीं लेता। अत एव जीव अरसन – रस का आस्वाद लेनेवाला नहीं हो सकता। अथवा – नामकर्म के विपाक से द्रव्येंद्रियां बनती है। शुद्ध जीवों के साथ कर्मों का सबंध न होनेसे उसके साथ द्रव्येंद्रिय का भी किसी प्रकार से संबध नहीं है; जैसे सिद्धजीव का। अतः शुद्ध जीव उनका आधार नहीं लेता और इसी कारण से ससारी जीव के समान रस का भी आस्वाद नहीं लेता। यदि जीवद्रव्य और शरीर में परमार्थतः स्वस्वामिभावरूप सबंध होता तो जीवद्रव्य शरीर के समान अचेतन हि होता। जीव चेतनस्वभाव होनेसे किसी भी हालत में शरीर का स्वामी नहीं हो सकता अर्थात् शरीर जीव का नहीं हो सकता। जब शरीर हि जीव का नहीं हो सकता तब इंद्रिया उसकी कैसे हो सकती है ?

जब इंद्रियां उसकी नहीं हैं तब उनके द्वारा वह रस का आस्वाद भी नहीं ले सकता। इसलिए जीव अरसन है– रस का आस्वाद लेनेवाला नहीं है।

(४) इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान की भावेंद्रियरूप अवस्था होती है। यह अवस्था संसारी जीव के ज्ञान की होती है, न की शुद्ध जीव के ज्ञान की; क्यों कि कर्मस्पर्धकों के साथ जबतक जीव का संश्लेष बना रहता है तबतक जीव शुद्ध नहीं कहा जाता – छद्मस्थ कहा जाता है। शुद्ध जीव के जब कर्मों का हि अभाव होता है तब उनके क्षयोपशम से ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था कैसे हो सकती है? कर्मों का अभाव होनेपर भी ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था होती है ऐसा माना तो वह अवस्था नैमित्तिक न होनेसे स्वाभाविक माननी पडेगी। क्षायोपशमिक अवस्था को स्वाभाविकभाव मानने से क्षायिकभाव जीव का स्वाभाविक-भाव कदापि नहीं होगा; क्यों कि एक जीव की या उसके ज्ञान की एक साथ परस्परविरोधी दो भाव स्वाभाविक भाव नहीं हो सकते। ज्ञान का क्षायिकभाव हि पारिणामिक भाव होनेसे स्वभावतः ज्ञान की क्षायोपशमिकभावरूप अवस्था का अभाव होनेसे क्षायोपशमिकभावरूप भावेंद्रिय का भी अभाव होता है। जब शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव के भावेंद्रिय का अभाव है तब उसके द्वारा जीव रस का आस्वाद नहीं ले सकता। भावेंद्रिय के द्वारा भी रसा-स्वाद करनेवाला न होनेसे शुद्ध जीव अरसन है।

(५) जितने भी ज्ञेय हैं उन सभी को उसकी सभी पर्यायों के साथ ज्ञानी जीव जान सकता है। सभी ज्ञेय पदार्थों को जानते समय सामान्यरूप से जीव की ज्ञप्तिक्रियारूप परिणति होती है; क्यों कि ज्ञेय को जानते समय ज्ञप्तिक्रियारूप से परिणत होनेका उसका स्वभाव होता है। इस स्वभाव के कारण सिर्फ रस को जाननेवाली ज्ञप्ति-क्रियारूप परिणाम के रूप से परिणत होकर शुद्ध जीव रस का आस्वाद नहीं लेता – रस को नहीं जानता। कहनेका भाव यह है कि – यदि जीव अन्य ज्ञेयों की ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत न होकर सिर्फ रस को अनुभवनेकी – – जाननेकी क्रिया के रूप से परिणत होता तो उसे रस का ज्ञाता कहा जाता। वह तो सभी ज्ञेयों की ज्ञप्तिरूप क्रिया के रूप से परिणत होता है; क्यों कि शुद्ध ज्ञान का धारक होनेसे वह सभी ज्ञेयों को युगपत् जानता है। सभी ज्ञेयों को युगपत् जानने की सामर्थ्य उसमें होनेसे सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थों को शुद्ध जीव जान सकता है। पदार्थों का सूक्ष्मत्व, अंतरितत्व और दूरवर्तित्व शुद्ध ज्ञान की ज्ञप्तिक्रिया में बाधक नहीं होता। यदि वह रस को जानते समय सिर्फ रस की ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होता तो अन्य ज्ञेयों के ज्ञान से वह वंचित रह जाता और उसकी अज्ञानिता सिद्ध हो जाती। अतः सिर्फ रस का हि ज्ञाता न होनेसे उसे अरसन कहा गया है।

(६) सपूर्ण ज्ञेयों के साथ शुद्ध ज्ञायक आत्मा का तादात्म्य निषिद्ध होनेसे सामान्यज्ञप्तिक्रिया में अन्तर्भूत होनेवाली रस की ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी स्वय आत्मा रसरूप से परिणत होनेसे अरस है। सपूर्ण ज्ञेयों के साथ ज्ञायक शुद्ध जीव का तादात्म्य स्वीकार किया गया तो ज्ञायक जीव संपूर्ण ज्ञेयों को युगपत् जाननेवाला होनेसे युगपत् सपूर्ण ज्ञेयों के रूप से परिणत होनेकी आपत्ति उपस्थित हो जायगी, जो कि असंभव है। यदि शुद्ध जीव युगपत् सभी ज्ञेयों के रूप से परिणत हो सकता है ऐसा माना तो वह युगपत् अग्निरूप से और जलरूप से परिणत होता है ऐसा मानना होगा, जो कि नितरां असंभव है। ससार– अवस्था में भी ज्ञायक ज्ञेयरूप से परिणत होता हुआ देखने में नहीं आता। अतः रसरूप से परिणत होनेवाला न होनेसे जीव अरस है। सारांश, रसगुण से युक्त न होनेसे, रसगुणरूप न होनेसे, द्रव्येन्द्रि का स्वामी न होनेसे, उसके द्वारा रसगुण का ज्ञाता न होनेसे, क्षायो-पशमिकभाव शुद्ध जीव का स्वाभाविक भाव न होनेसे, क्षायोपशमिकभावरूप भावेंद्रिय के द्वारा रसगुण का ज्ञाता न होनेसे, अन्य ज्ञेयों को छोडकर सिर्फ रस का हि ज्ञाता न होनेसे और ज्ञेयभूत रस के रूप से परिणत न होनेसे जीव अरस होता है।

इसीप्रकार रसशब्द के स्थान में २ रूप, ३ गंध और ४ स्पर्श इन शब्दों को यथाक्रम परिवर्तित करके जीव के अरूपत्व का, अगंधत्व का और अस्पर्शत्व का खुलासा हो सकता है।

५- (१) कंठ, उरःस्थान, जिह्वामूल, तालु, ओष्ठ, दन्तोष्ठ, मूर्धस्थान, दंत इत्यादि स्थानों से अक्षरात्मक शब्दों की प्रादुर्भूति होनेसे और अनक्षरात्मक शब्दों की जड पदार्थों के अन्योन्य आघात से प्रादुर्भूति होनेसे शब्द पुद्गलपर्यायरूप हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है। आत्मा पुद्गलद्रव्य से भिन्न होती है। अतः पुद्गलद्रव्य को पर्यायभूत शब्द आत्मा में आत्मा की पर्यायरूप से पाया न जानेसे अशब्द है।

(२) स्वभावभेद के कारण जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य से भिन्न होनेसे पुद्गलस्वामिक पर्यायों से भिन्नरूप होनेके कारण स्वयं शब्दपर्यायरूप न होनेसे अशब्द है। कहने का भाव यह है कि--पुद्गल और पुद्गल की पर्यायें इनमें परिणामपरिणामिभाव होनेसे उनमें कथंचित् तादात्म्यसंबंध होता है – अभेद होता है। इस तादात्म्यसंबंध के कारण पुद्गलद्रव्य की पर्यायें पुद्गलद्रव्यस्वामिक होती हैं। जीवद्रव्य और पुद्गलपर्यायें इनमें किसी भी प्रकार से तादात्म्यसंबंध न होनेसे पुद्गलद्रव्य की पर्यायें और जीवद्रव्य इनमें परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेसे वे पर्यायें जीवस्वामिक नहीं हो सकती। शब्द पुद्गल की पर्याय होनेसे पुद्गलस्वामिक होता है; क्यों कि उसका पुद्गलद्रव्य के साथ कथंचित् तादात्म्यसंबंध होता। इस पर्याय का जीवद्रव्य के साथ तादात्म्यसंबंध नहीं होता। अतः शब्दरूप पुद्गलपर्याय और जीवद्रव्य इनमें परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेसे शब्दरूप पर्याय जीवस्वामिक नहीं हो सकता। जो परिणाम जिस द्रव्य का होता है वह परिणाम उस द्रव्य का कहा जाता है। मूर्त शब्दरूप पर्याय अमूर्त जीवद्रव्य का नहीं है। अतः जीवद्रव्य का नहीं हो सकता। जो पर्याय जिसकी होती है वह द्रव्य तत्पर्यायात्मक होता है। शब्दरूप पर्याय पुद्गलद्रव्य की होनेसे पुद्गलद्रव्य शब्दपर्यायात्मक होता है। वह शब्दरूप पर्याय जीवद्रव्य की न होनेसे जीवद्रव्य शब्दपर्यायात्मक नहीं हो सकता। अतः जीवद्रव्य शब्दपर्यायात्मक न होनेसे अशब्द है।

(३) जिनमें उपादानोपादेयभाव होता है उनमें हि वास्तव स्वस्वामिभावरूप संबंध होता है। उपादान स्वामी होता है और परिणामभूत उपादेय – कार्य – पर्याय उसका स्व होता है। अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेसे यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि से जीव पौद्गलिक शरीर का स्वामी कहा गया है तो भी जीव पौद्गलिक शरीर का उपादानकारण न होनेसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव शरीर का स्वामी नहीं है और शरीर उसका स्व नहीं है। जीव जब शरीर का स्वामी नहीं है तब द्रव्येंद्रिय का भी स्वामी नहीं है, क्यों कि द्रव्येंद्रिय भी पुद्गलोपादानक होती हैं। शुद्ध जीव कर्मनोकर्मविकल होनेके कारण शरीररहित होनेसे इंद्रियरहित होता है। अतः पारमार्थिकदृष्टि से शरीररूप पुद्गलद्रव्य का स्वामी न होनेसे द्रव्येंद्रिय के द्वारा अर्थात् श्रोत्रेंद्रिय के द्वारा जीव शब्द का श्रवण नहीं करता – शब्द को नहीं जानता। अतः जीव अशब्द है अथवा – नामकर्म के विपाक से – उदय से द्रव्येंद्रिय बनती है। शुद्ध जीव के साथ कर्मों का संबंध न होनेसे उसके साथ शरीरावयवभूत द्रव्येंद्रिय का भी किसी प्रकार से संबंध नहीं है। अतः शुद्ध जीव उनका आधार नहीं लेता है तो भी अपने ज्ञान की सामर्थ्य से ज्ञेयार्थों को अविकलरूप से जानता है। द्रव्येन्द्रिय का आधार न लेनेसे संसारी जीव के समान शब्द का श्रवण भी नहीं करता है। यदि जीवद्रव्य और शरीर में परमार्थतः स्वस्वामिभावरूप संबंध होता तो जीवद्रव्य शरीर के समान मूर्त और अचेतन होता। जीव चेतनस्वभाव होनेसे किसी भी हालत में शरीर का स्वामी नहीं हो सकता अर्थात् शरीर जीव का नहीं हो सकता। जब शरीर हि जीव का नहीं हो सकता तब इंद्रियां उसकी कैसे हो सकती हैं? जब इंद्रियां उसकी नहीं हैं तब उनके द्वारा अर्थात् यहां श्रोत्रेंद्रिय के द्वारा शब्द का श्रवण नहीं कर सकता – शब्द को सुन नहीं सकता। अतः जीव अशब्द है – श्रवणेंद्रिय के द्वारा शब्द को सुननेवाला नहीं है।

(४) इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान की भावेंद्रियरूप क्षायोपशमिक अवस्था होती है। यह अवस्था संसारी जीव के ज्ञान की होती है, न कि शुद्ध जीव के शुद्धज्ञान की, क्यों कि कर्मस्पर्धकों के साथ जबतक जीव का संश्लेष बना रहता है तबतक जीव शुद्ध नहीं कहा जाता – छद्मस्थ कहा जाता है। शुद्ध जीव के जब कर्मों का हि अभाव होता है तब उनके क्षयोपशम से शुद्धज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था कैसे हो सकती है? कर्मों का अभाव होनेपर भी ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था होती है ऐसा माना तो वह

अवस्था नैमित्तिक न होनेके कारण स्वाभाविक माननी पडेगी । क्षायोपशमिक अवस्था को स्वाभाविक भाव मानने से क्षायिकभाव शुद्धजीव का स्वाभाविकभाव कदापि नहीं होगा; क्यों कि एक जीव की या उस ज्ञान की एक साथ परस्परविरोधी दो भाव स्वाभाविकभाव नहीं हो सकते । ज्ञान का क्षायिकभाव हि परिणामिक भाव होनेसे स्वभावतः शुद्धज्ञान की क्षायोपशमिक भावरूप अवस्था का अभाव होनेसे क्षायोपशमिकभावरूप भावेंद्रिय का भी अभाव होता है । जब शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव के भावेंद्रिय का अभाव है तब उसके द्वारा जीव शब्द का श्रवण नहीं कर सकता । भावेंद्रिय के द्वारा भी शब्दश्रवण करनेवाला न होनेसे शुद्ध जीव अशब्द है – शब्दश्रुतिरहित है ।

(५) जितने भी ज्ञेय हैं उन सभी को उनकी सभी पर्यायों के साथ ज्ञानी जीव जान सकता है । अपनी आत्मा को और सभी ज्ञेय पदार्थों को युगपत् जानते समय सामान्यरूप से जीव की ज्ञप्तिक्रियारूप परिणति होती है; क्यों कि ज्ञेय को जानते समय ज्ञप्तिक्रियारूप से परिणत होने का उसका स्वभाव होता है । इस स्वभाव के कारण सिर्फ शब्द को जाननेवाली ज्ञप्तिक्रियारूप परिणाम के रूप से परिणत होकर शुद्धजीव शब्द का श्रवण नहीं करता - शब्द को नहीं जानता । कहने का भाव यह है कि -- यदि जीव अन्य ज्ञेयों की ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत न होकर सिर्फ शब्द को जानने की क्रिया के रूप से परिणत होता तो उसे शब्द का ज्ञाता कहा जाता । वह तो सभी ज्ञेयों की ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होता है, क्यों कि शुद्धज्ञान का धारक होनेसे वह ज्ञेयरूप अपने को और सभी ज्ञेयो को युगपत् जानता है । सभी ज्ञेयों को युगपत् जानने की सामर्थ्य उसमें होनेसे सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थों को शुद्ध जीव जान सकता है । पदार्थों का सूक्ष्मत्व, अंतरितत्व और दूरवर्तित्व शुद्धज्ञान की ज्ञप्तिक्रिया में बाधक नहीं होती । यदि शब्द को जानते समय वह सिर्फ शब्द की ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होता तो अन्य ज्ञेयों के ज्ञान से वंचित रह जाता और उसकी अज्ञानिता स्पष्ट हो जाती । अतः सिर्फ शब्द का हि ज्ञाता न होनेसे उसे अशब्द कहा गया है ।

(६) सकल ज्ञेयों के साथ शुद्ध ज्ञायक आत्मा का तादात्म्य निषिद्ध होनेसे सामान्य ज्ञप्तिक्रिया में अन्तर्भूत होनेवाली शब्द की ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होनेपर भी स्वयं आत्मा शब्दरूप से परिणत न होनेसे अशब्द है । संपूर्ण ज्ञेयों के साथ ज्ञायक शुद्ध जीव का तादात्म्य स्वीकार किया तो ज्ञायक जीव सपूर्ण ज्ञेयों को युगपत् जाननेवाला होनेसे युगपत् सपूर्ण ज्ञेयों के रूप से उसके परिणत होनेकी आपत्ति उपस्थित हो जायगी, जो कि असंभव है । यदि शुद्ध जीव युगपत् सभी ज्ञेयों के रूप से परिणत हो सकता है ऐसा माना तो वह युगपत् अग्निरूप से और जलरूप से परिणत होता है ऐसा मानना होगा जो कि नितरां असंभव है । संसार अवस्था में भी ज्ञायक ज्ञेयरूप से परिणत होता हुआ देखने में नहीं आता । अतः शब्दरूप से परिणत होनेवाला न होनेसे जीव अशब्द है । शब्दपर्याय से युक्त न होनेसे, शब्दपर्यायरूप न होनेसे, द्रव्येंद्रिय का स्वामी न होनेसे उसके द्वारा शब्दरूप पर्याय का ज्ञाता न होनेसे, क्षायोपशमिकभाव शुद्ध जीव का स्वाभाविकभाव न होनेसे क्षायोपशमिकभावरूप भावेंद्रिय के द्वारा शब्दरूप पुद्गलपर्याय का ज्ञाता न होनेसे, अन्य ज्ञेयों को छोडकर सिर्फ शब्दरूप पर्याय का हि ज्ञाता न होनेसे और ज्ञेयरूप शब्दपर्याय के रूप से परिणत न होनेसे जीव अशब्द होता है ।

६-(१) आत्मद्रव्य से भिन्न जो पुद्गलद्रव्य होता है उससे यह शरीर बना हुआ है । विशिष्ट शरीर के आकार के कारण आत्मा का भी आकार विशिष्ट होता है । यह आत्मा का शरीरानुकूल विशिष्ट आकार जीवद्रव्य की नैमित्तिक पर्याय है । पर्याय नैमित्तिक होनेसे वह आत्मा का स्वभावभूतभाव नहीं हो सकती । आत्मद्रव्य की विशिष्ट आकाररूप यह पर्याय विनश्वर होनेसे वह आकार उसका सनातन भाव नहीं हो सकता । अतः शरीराकारनिमित्तक जीव का आकार कादाचित्क होनेसे वह जीव का प्रतिनियत आकार नहीं हो सकता और इसीकारण 'जीव इसप्रकार के प्रतिनियत आकार से युक्त होता है ' ऐसा प्रतिपादन करना अशक्य है । इसकारण से जीव अनिर्दिष्टसंस्थान कहा गया है । [संस्थान इस शब्द का अर्थ है ' आकार ' । अनिर्दिष्टसंस्थान इस सामासिक पदका ' जिस का विशिष्ट आकार नहीं कहा जा सकता ' ऐसा अर्थ होता है । शुद्ध जीव का विशिष्ट आकार नहीं बताया जा सकता; क्यों कि उसका प्रतिनियत विशिष्ट आकार हि नहीं है ।] शुद्ध अवस्थावाले मुक्त जीव का मनुष्यशरीर

के आकार के सदृश आकार होनेपर भी वह प्रतिनियत नहीं है; क्यों कि प्रत्येक मुक्तजीव का आकार अपनी विशेषता को लिए हुए होता है – उनमें कथंचित् विषमता पायी जाती है । वह आकार भी नैमित्तिक भाव है; क्यों कि वह आकार मुक्ति के उपान्त्य समय के शरीर के आकार के सदृश होता है और नैमित्तिक होनेसे प्रतिनियत नहीं हो सकता । अन्य निमित्त का अभाव होनेसे उक्त आकार जैसा का तैसा बना रहता है । संसारी जीव के अन्यशरीररूप निमित्त मिल जानेपर पूर्व आकार का अभाव हो जाता है । यदि जीव का आकार प्रतिनियत होता तो वह पूर्वाकार को त्याग कर उत्तराकार के रूप से परिणत नहीं होने पाता । इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीव को अनिर्दिष्टसंस्थान कहा है वह यथार्थ है । मुक्तजीव की मनुष्यजीवाकाररूप परिणति साद्यनन्तपर्यायरूप होनेसे व्यवहारनयाश्रित है ।

(२) संसारी जीव गत्यतर को प्राप्त होनेवाला होनेसे अनन्त भवों को धारण करता है । अनन्त भवों में उसके अनंत प्रकार के शरीर होते हैं । अनन्त शरीरों के कारण उसके अनत आकार होते हैं । वे अनंत आकार अन्योन्यभिन्न होते हैं । उन अनंत शरीरों में वह अपने प्रतिनियत ज्ञानस्वभाव को लिए हुए रहता है । भिन्नभिन्न आकारों को धारण करनेवाले अनत शरीरों में रहनेवाला होनेके कारण अनन्त आकारों के रूप से परिणत होनेवाला होनेपर भी अपने प्रतिनियत ज्ञानस्वभाव के साथ उसमें रहता है । अतः अनन्त आकारों के रूप से परिणत होनेवाला होनेसे जीव अनिर्दिष्टसस्थान कहा गया है ।

(३) जिसके उदय से शरीर का विशिष्ट आकार बनता है ऐसा सस्थाननामकर्म पुद्गलविपाकी बताया गया है । वह पुद्गलविपाकी होनेसे उसका फल पुद्गल में अर्थात् शरीररूप पुद्गलपरिणाम में दिखाई देता है । जिस जीव की जो गति होती है उस गति के अनुसार संस्थाननामकर्म के उदय से शरीर का आकार बन जाता है । ससारी जीव के अनन्त भव होते है इसलिए उसके शरीरों के भी सस्थाननामकर्मोदयजन्य अनन्त आकार होते हैं । इन शरीरों के आकारो के अनुरूप जीव का आकार भी बदलते रहता है । अतः सस्थाननामकर्म के विपाकानुसार बने हुए शरीरों के अनुसार जीव के आकार की परिणति होनेसे अनियत आकारवाले जीव को अनिर्दिष्टसस्थान कहा है । दूसरी बात यह है कि सस्थाननामकर्म पुद्गलविपाकी होनेसे उसका उदय जीवाकारपरिणति में कारण नहीं होता । अत जीव का विशिष्ट आकार होता है ऐसा नहीं माना जा सकता ।

(४) जीव की ज्ञेयार्थों को जानने की शक्ति स्वाभाविकभावरूप है । भिन्नभिन्न आकारों के रूप से परिणत हुए सपूर्णज्ञेय पदार्थों के स्वरूपों से उनको जानते समय वह शक्ति सपृक्त हुई होनेपर भी निर्मल आत्मा की निर्मल अनुभूति के समय विश्वस्थ सपूर्ण पदार्थों के संपर्क का अभाव होता है; क्यों कि उससमय केवल शुद्ध आत्मा हि अनुभूति का विषय पडता हे । सिर्फ शुद्ध आत्मा हि अनुभूति का विषय पडने से उसमें अर्थातरसक्राति का अभाव होता है । अर्थातरसक्रांति का अनुभूति मे अभाव होनेसे अर्थाकार का भी अभाव होता है । अतः आत्यन्तिक रूप से आकार का आत्मा के साथ का सबंध छूट जानेसे आत्मा अनिर्दिष्टसस्थान है । अनिर्दिष्टसस्थान इस सामासिक पद का ' अनिर्दिष्ट सस्थान यस्य स. ' और ' अनिर्दिष्ट सस्थान येन स. ' इसप्रकार दो प्रकार से विग्रह होता हे ।

७-(१)–यह ससार जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन छह ज्ञेय द्रव्यो से भरा हुआ है । इनमें से अन्य जीवद्रव्य अनुमानप्रमाण के द्वारा ग्राह्य होनेसे व्यक्त होते है । धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य भी अनुमान प्रमाण द्वारा ग्राह्य होनेसे व्यक्त होते है । पुद्गलद्रव्य रूपादिगुणो से युक्त होनेके कारण इंद्रियग्राह्य होनेसे व्यक्त होता है । इन व्यक्त द्रव्यों से शुद्ध आत्मा भिन्न होती है; क्यों कि वह सिर्फ स्वसवेदनग्राह्य होती है । शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के कालतक वह अव्यक्त होती है । मिथ्यादृष्टि जीव की दृष्टि से वह अव्यक्त हि है । अभव्य जीव को तो उसका दर्शन किसी भी काल में नही होता । शुद्ध आत्मा षड्द्रव्यों से भिन्न होती है, क्यों कि अन्य शुद्ध जीव व्यक्तिभेद के कारण शुद्ध आत्मा से भिन्न होता है, अन्य अशुद्ध आत्मा अशुद्धि के कारण और व्यक्तिभेद के कारण भिन्न होती है, और अविशिष्ट चारों द्रव्य अचेतन होनेसे भिन्न होते है । यदि शुद्ध आत्मा इन द्रव्यो से भिन्न न होती तो उनके समान यह भी व्यक्त हो जाती । यह शुद्ध आत्मा उन द्रव्यों से भिन्न होनेसे अव्यक्त है ।

(२) व्यक्तरूप और आत्मा की विभावात्मकपरिणति का और पुद्गल की कर्मरूप परिणति का निमित्तकारण होनेवाले द्रव्यभावात्मक कषायों के समूह से शुद्ध आत्मा भिन्न होती है। यदि क्रोधादि कषायों के साथ वह सर्वथा एकरूप होती तो वह भी व्यक्त हो जाती। अतः शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से कषायों से भिन्न होनेसे और स्वसंवेदनज्ञानमात्र से ग्राहय होनेसे शुद्ध आत्मा अव्यक्त होती है– सूक्ष्म अर्थात् इंद्रियागोचर होती है।

(३) शुद्ध जीव का शुद्ध ज्ञान और अशुद्ध जीव का अशुद्ध ज्ञान ज्ञानसामान्य में अंतर्भूत होता है। अतः ज्ञान की शुद्ध और अशुद्ध पर्यायें ज्ञानसामान्य में अन्तर्भूत होती हैं। ज्ञान की शुद्ध पर्यायें ज्ञानसामान्य में अन्तर्भूत होनेवाली होनेसे उसके द्वारा ज्ञानसामान्य का हि बोध होता है – शुद्धज्ञानविशेष का बोध नहीं होता। आत्मा के स्वभावभूत शुद्ध ज्ञान का बोध न होनेसे शुद्ध आत्मा संसार अवस्था में अव्यक्त हि बनी रहती है। क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक ज्ञान और चारित्र ये व्यवहारनय की दृष्टि से अन्योन्यभिन्न होनेसे और ज्ञानगुण से भिन्न होनेसे आत्मा की या ज्ञानगुण की पर्यायें है। निश्चयनय की दृष्टि से ये आत्मा से या आत्मा के ज्ञानगुण से भिन्न नहीं हैं। उनका ज्ञान में हि अंतर्भाव हो जाता है। बारहवें गुणस्थानतक ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था हि होती है। इन तीनों पर्यायों के द्वारा जिस पर्यायी ज्ञान का बोध होता है वह ज्ञान क्षायोपशमिक होता है। अतः इन कार्यलिंगरूप पर्यायों के द्वारा भी शुद्धज्ञान का – केवलज्ञान का बोध नहीं होता। अतः शुद्ध ज्ञान का स्वामी शुद्धजीव अव्यक्त हि बना रहता है। हां, स्वसंवेदनज्ञानरूप पर्याय से शुद्ध आत्मा का बोध हो सकता है। लब्ध्यात्मक ज्ञान से उसका बोध नहीं हो सकता।

(४) ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था में क्षणमात्र कालतक केवलज्ञान का स्वरूप व्यक्त न होनेसे शुद्ध जीव, अव्यक्त होता है।

(५) सम्यक्त्व की आविर्भूति के काल में किंचित् व्यक्त और अन्य काल में अव्यक्त ऐसा मिश्र प्रतिभास होनेपर भी सुतरां व्यक्त हुई आत्मा का प्रतिभास न होनेसे शुद्ध जीव अव्यक्त हि होता है।

(६) बाहर हस्तसंचालनादिक्रियाओं से और बाहयार्थ को जाननेकी क्रियाओं से और अंतरंग में 'मैं हूं' इस अभिप्राय से आत्मा का स्पष्टरूप से प्रतिभास होनेपर भी अपने में अभिव्यक्त स्वरूपवाले शुद्ध आत्मा की उक्त प्रतिभास में उपेक्षाहि होती है; क्यों कि उक्त प्रतिभास में शुद्ध आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं होती। इसप्रकार बाह्यान्तर आत्मप्रतिभास में शुद्ध आत्मा की अभिव्यक्ति न होनेसे वह अव्यक्त हि बनी रहती है।

८– शुद्ध आत्मा अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श, अशब्द, अनिर्दिष्टसंस्थान और अव्यक्त होती है। रस, रूप गंध, स्पर्श और संस्थान ये पुद्गल के गुण और पर्याय है। इन का आत्मा के साथ किसी भी प्रकार से संबंध नहीं है। यदि इन का आत्मा के साथ किसीप्रकार संबंध होता तो शुद्ध आत्मा पुद्गल द्रव्य के समान व्यक्त हो जाती; किंतु आत्मा के साथ इनका किसी भी प्रकार से संबंध न होनेसे आत्मा अव्यक्त हि है। इसप्रकार आत्मा भले हि अव्यक्त हो; किंतु स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान की सामर्थ्य से आत्मा का प्रत्यक्षज्ञान नित्य हि होता है। ऐसी हालत में वह अनुमेय (अनुमान प्रमाण के द्वारा ज्ञेय) नहीं होता। इसलिए इसको अलिंगग्रहण कहा है।

९– यह आत्मा शुद्धनय की दृष्टि से चेतनागुणवाली है अर्थात् आत्मा का गुण चेतना है; क्यों कि इस चेतना गुण से यह अंदर नित्य प्रकाशमान होती है। इस जीव के स्वभाव के बारे में भिन्नभिन्न दार्शनिकों की भिन्नभिन्न कल्पनाएं हैं। इन्हीं भिन्नभिन्न कल्पनाओं के कारण जीवस्वरूप के विषय में विरोध खड़ा हुआ है। जीव का यह जो चेतनागुण है वह इस विप्रतिपत्ति का पूर्णरूप से परिहार करता है, क्यों कि अन्यदार्शनिकों ने जिन भावों को आत्मा के स्वभावरूप से बताया है वे भाव शुद्धचैतन्यस्वरूप न होकर अशुद्ध चैतन्य के अशुद्ध विकार हैं। ऐसे चेतना गुण से शुद्ध आत्मा युक्त होती है। विवेचकजन अर्थात् आत्मा और आत्मभिन्न पदार्थ इनमें होनेवाले भेद को स्वीकार करनेवाला जो जीव आत्मा और आत्मभिन्न भावों को निश्चयनय की दृष्टि से सर्वथा अन्योन्यभिन्न समझता है उसको चेतनागुण अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है अर्थात् शुद्ध चेतनागुण का पूर्ण अनुभव भेदज्ञानी जीव

को प्राप्त होता है । [अथवा – जिस शुद्धचेतनागुण की प्राप्ति के लिए भेदज्ञानी जीवों ने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है अर्थात् अपनी संपूर्ण सामर्थ्य को उपयोग में लिया है] ऐसे चेतनागुण से शुद्ध आत्मा युक्त होती है । संपूर्ण लोकस्थित ज्ञेय पदार्थों को और अलोक को निगल कर अर्थात् जानकर आत्यन्तिक समाधान का मानो निधानभूत अर्थात् आत्यन्तिक परिपूर्णता को मानो सूचित करनेवाले अथवा आत्यन्तिक शुद्धि का मानो निधानभूत अथवा संदेहादि दोषों के समूह का निराकरण करनेमें समर्थ ऐसी आत्यन्तिक शुद्धिशक्ति को मानो सूचित करनेवाले, सभी कालों में हि अविच्छिन्नरूप से किंचिन्मात्र भी विचलित न होनेवाले अर्थात् च्युत न होनेवाला और अन्यद्रव्यों में न पाया जानेवाला होनेसे स्वभावभूत ऐसे, आत्मा के द्वारा अपनी अनुभूति का विषय बनाये जानेवाले चेतनागुण से अंतरंग में प्रकाशमान होनेसे यह आत्मा चेतनागुणवाली है ।

इस चेतनागुण का स्वरूप निम्न प्रकार है– यह चेतनागुण समस्त विरोधों का परिहार करता है, भेदज्ञानवाले जीवों को आत्मसमर्पण करता है, समस्त ज्ञेय पदार्थों को पूर्णरूप से जानता है, अपने आश्रयभूत आत्मद्रव्य से किसी भी काल में प्रच्युत नहीं होता, आत्मभिन्नद्रव्यों में नहीं पाया जाता, आत्मा का स्वभावभूत भाव होता है और अपना अनुभव स्वयमेव करता है ।

अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुण, अशब्द, अलिंगग्रहण और अनिर्दिष्टसंस्थान ऐसा वह भगवान् जीव निर्मलज्ञान का धारक, टंकोत्कीर्ण के समान नित्य अर्थात् अविनश्वर और अन्तःप्रकाशमान होता है ।

इस गाथा का तात्पर्य तात्पर्यवृत्ति में नीचेमुजब पाया जाता है ——

' इदमत्र तात्पर्यम् – शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्यसम्बन्धिवर्णादिगुण– शब्दादिपर्यायरहितः सर्वद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेषजीवान्तरभिन्नोऽनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः, स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेशसर्वकालब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्णभेदभिन्नजनसमस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभः स एवापूर्वः स चैवोपादेयः इति मत्वा निर्विकल्पनिर्मोहनिरञ्जननिजशुद्धात्मसमाधिसञ्जातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्यः इति । ' [ता. वृ., गा. ४९]

अर्थः—शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से पुद्गलद्रव्यों के साथ तादात्म्यसंबंध को प्राप्त हुए वर्णादिगुणों से और शब्दादि पर्यायों से रहित, सर्व द्रव्येंद्रियों का, भावेंद्रियों का और मनोगत रागादिरूप विकल्पों का विषय न होनेवाला; धर्म, अधर्म, आकाश, काल और शेष अन्य जीव इनसे भिन्न; अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इनसे युक्त जो होता है वहि शुद्ध जीव संपूर्ण पदार्थों में, सर्व देशों में, सभी कालों में ब्राह्मणक्षत्रियादि अनेक वर्णोवाले जीवों के मनवचनकाय के संपूर्ण व्यापारों में दुर्लभ है, वहि अपूर्व है और वहि उपादेय है ऐसा समझकर निर्विकल्प, निरंजन और निर्मोह निज शुद्ध आत्मा के ध्यान से आविर्भूत हुए सुखरूप अमृतरस की अनुभूति स्वरूप है जिसका ऐसे गिरिगुहा के बिल में रहकर सर्वतः तत्पर होकर उस शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिये ।

अब उक्त अभिप्राय से युक्त कलशरूप काव्य के द्वारा शुद्धात्मा की अनुभूति करने के लिए जीवों को प्रेरित करते हैं—

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरिचरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ।। ३५ ।।

अन्वय– परमात्मा चिच्छक्तिरिक्तं सकलं अपि अह्नाय विहाय चिच्छक्तिमात्रं स्वं च स्फुटतरं अवगाह्य विश्वस्य उपरि चरन्तं [अथवा– विश्वस्य उपरिचरं तं] [परं] अनन्तं इमं आत्मानं [आत्मा] आत्मनि साक्षात् चारु कलयतु ।

अर्थ– भाविनैगमनय की या आगमद्रव्यनिक्षेप की दृष्टि से जो परमात्मा है [किंतु भावनिक्षेप की दृष्टि से परमात्मा नहीं है] ऐसे भव्य जीव को शुद्धचैतन्यगुण जिनमें नहीं पाया जाता ऐसे सभी के सभी परभावों का अर्थात् आत्मभिन्न परपदार्थों का और अपने विभावभावों का शीघ्रातिशीघ्र त्याग करके और जिसका (शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से) चैतन्यमात्र अर्थात् शुद्धज्ञानमात्र गुण है – स्वभाव है ऐसी अपनी आत्मा में स्पष्टरूप से अर्थात् सभी विकल्पों का त्याग करके अवगाहन कर – शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रविष्ट होकर विश्व के ऊपर तैरनेवाली अर्थात् षड्द्रव्यात्मक लोक के साथ कदापि एकीभाव को प्राप्त न हुई– एकरूप न बनी हुई अथवा मुक्तावस्था को प्राप्त होते हि विश्व के ऊपर अर्थात् सिद्धशिला की ओर चले जानेवाली अविनश्वर इस आत्मा का अच्छीतरह अर्थात अविकलरूप से अपनी आत्मा में स्वयं अनुभव करना चाहिये ।

त. प्र.– परमात्मा भव्यजीव. । परमात्मपदेन भावनिक्षेपापेक्षया न साक्षात्परमात्मनो ग्रहणं, भावपरमात्मनः प्राप्तपरमात्मस्वरूपत्वादुपदेशस्यानावश्यकत्वात् । परमात्मपदेनात्र नैगमनयापेक्षयाऽऽगमद्रव्यनिक्षेपापेक्षया वा परमात्मत्वं ग्राह्यं, रत्नत्रयात्मकपरिणमनार्हभव्यस्य परमात्मत्वेनावश्यम्भावित्वात् । चिच्छक्तिरिक्तं शुद्धज्ञानगुणविकलम् । आत्मनोऽसाधारणस्वभावरूपया चैतन्यशक्त्या चैतन्यगुणेन रिक्तं रहितम् । शक्तिशब्दो गुणवचनः । आत्मनो व्यतिरिक्ताः सर्व एव भावाश्चेतनागुणशून्याः । औदयिकादिवैभाविकभावानां यद्यपि शास्त्रान्तरे कथञ्चिदात्मतत्त्वत्व प्रसाधितं तथापि तेषां कर्मभावापन्ननिमित्तकारणभूतपुद्गलात्मकस्पर्धकशक्त्युदयजन्यत्वान्निश्चयनयापेक्षया न स्वतत्त्वत्वम् । स्वतत्त्वत्वाभावे च विकारभावानापन्नशुद्धचैतन्यशक्तिविकलास्त इत्यायातम् । अह्नाय झटिति । 'स्त्राग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय द्राङ्मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः । सकलमपि सर्वमपि पदार्थजातं विभावभावजात च विहाय परित्यज्य । यद्यच्छुद्धचितिशक्तिविकल तत्सर्वं पुद्गलविकारात्मकसहकारिकारणाशुद्धात्मरूपोपादानकारणजन्यम् । अध्यवसानादयो भावाश्शुद्धचिद्गुणविकलाः । अतस्ते पुद्गलविकारात्मकसहकारिकारणाशुद्धात्मरूपोपादानकारणद्वयजन्याः । तस्माच्च पुद्गलोपादानककर्मोदयनिमित्तकत्वात्पौद्गलिकास्ते त्याज्याः । स्वं चात्मनः स्वभावभूत च स्फुटतरं शुद्धचिच्छक्तिरिक्तपरभावेभ्योऽधिकतरं पृथक् कृत पृथक्कृत्वा वा । अनादेः कर्मतापन्नपुद्गलस्कन्धैर्बन्धमापन्नोऽप्ययमात्मा तेभ्य कर्मपुद्गलेभ्यः स्वभावभेदाद्भिन्नस्तथापि मोहमहेन्द्रजालिकेन्द्रजालसमुत्पादितमतिविभ्रमोऽयं ससारी परभावेऽप्यात्मबुद्धि करोति । मोहमहामायाविसमुत्पादितपरात्मबुद्धेरस्यात्मनस्संसारिणोऽस्मच्छब्दप्रयोगेण स्फुटत्वं प्रतिभाति । न चासौ स्वसंवेदनात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधिमन्तरेणानुभूयते । स्फुटतरात्मानुभूत्या निखिलकर्ममलदलनसम्भवस्फुटतमात्मोपलब्धिर्जायते । तादृगात्मोपलब्धये स्फुटतरात्मावगाहनमुपदिष्टं कलशकारैः । यद्ययमात्मा परभावेभ्यो भिन्न एव भवेत्तर्हि तदनुभूतये चिच्छक्तिमात्रावगाहनोपदेशो व्यर्थ स्यादिति मनसि विधाय स्फुटतममिति शब्दमप्रयुज्य स्फुटतरमितिशब्दः प्रयुक्त । स्फुटात्मना संसारिणा जीवेनानादेः कर्मबद्धेन स्फुटतरां केवलां चिच्छक्तिमवगाह्य स्फुटतमा परमात्मावस्था प्राप्यत इति भावः । अतस्तां परात्मबुद्धि संत्यज्य शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मान परद्रव्येभ्यः पृथक् कृत्वा चिच्छक्तिमात्रं केवलां चिच्छक्तिमवगाह्य तस्यां चिच्छक्तावन्तर्निमग्नो भूत्वा टङ्कोत्कीर्णवन्नित्यज्ञायकैकस्व-

भावः परमात्माऽऽपादनीयः । यथाऽमलसलिलजलालये निमग्नो सलिलव्याप्तसर्वाङ्गत्वात्सलिलभिन्नपदार्थस्पर्शाभावादन्यपदार्थविकलं सलिलालयं पश्यति, तथा स्फुटतरचिच्छक्तिमात्रेऽन्तर्निमग्नोऽयमात्मा तद्भिन्नपदार्थानुभवाभावात्केवलं चिच्छक्तिमन्तमेवात्मानमनुभवति । तादृगात्मानुभवेन च विमलकेवलावलोकां परमात्मावस्थां प्राप्नोति । इमं स्वशरीरस्थितं विश्वस्य षट्पदार्थमयस्य जगत उपरिचरं तेन षट्पदार्थमयेन जगतैकीभावमप्राप्तं तं शुद्धज्ञानैकासाधारणस्वभावेन प्रसिद्धि प्राप्तं परं बहिरात्मान्तरात्मभ्यां श्रेष्ठमात्मानमनन्तमन्तातीतमात्मनि साक्षात्प्रत्यक्षं चार्वविकलतया कलयतु पश्यत्वनुभवतु । यद्यप्ययमात्माऽनादेः परभावाभिभूतस्वस्वभावस्तथापि परपदार्थस्वभावरूपेण स्वस्वभावपरित्यागपुरस्सरमपरिणतत्वात्तस्यानुभूतिर्निर्मला शक्यानुष्ठाना । अतः शुद्धात्मस्वभावानुबुभूषुणा प्रथम तावच्छुद्धचैतन्यविकलः परभाव परनिमित्तजन्यत्वात्पररूपो विभावभावश्च त्याज्यः । परित्यक्तपरभाव-परनिमित्तजन्यविभावभावेन च सता स्वशुद्धात्मानुभूतिहेतुभूतवीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाव आत्माऽनुभूयते । स्वशुद्धात्मानुभवाभ्यासेन षट्पदार्थमयेन जगतैकीभावमप्राप्तं साध्यभूतं परमात्मानमनन्तमात्मन्यनुभवति । अतः परमात्मानुबुभूषुणा परभावत्यागपूर्वकं शुद्धचैतन्यस्वभाव आत्माऽनुभवनीय इति भावः ।

विवेचन—संसार में 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इस द्रव्यलक्षण के अनुसार द्रव्य परसंग्रहनय की अपेक्षा से या महासत्ता की दृष्टि से यद्यपि एक है, तो भी पर्यायनय की दृष्टि से उसकी अनंत पर्यायें है। शास्त्रकारोंने भी 'एक द्रव्यं अनंतपर्याय' ऐसा कहा है। ये जो पर्यायें है उनमें लक्षणभेद होनेसे हि वे भिन्नभिन्न कही जाती है। जीवद्रव्य का ज्ञान-चैतन्य असाधारण धर्म है और जीवभिन्न सभीपदार्थ अचेतन - जड है। कौनसा भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोडकर अन्य पदार्थ के स्वभाव को स्वीकार कर अन्यद्रव्यरूप से परिणत नहीं होता। जीव का अनादिकाल से कर्मरूप से परिणत हुए पुद्गलद्रव्य के साथ बंध - संश्लेष हुआ है। फिर भी जीव अपने स्वभाव को छोडकर न पुद्गलद्रव्य-स्वरूप बना है और न पुद्गलद्रव्य अपने स्वभाव को छोडकर जीवस्वरूप बना है। यह बात जरूर है कि पुद्गल के संबंध से जीव में अपूर्ण ज्ञानरूप और विकृतज्ञानरूप विकार उत्पन्न हुआ है और पुद्गल में भी स्पर्धक रूप सुखदुःखोत्पादनशक्तिरूप विकार पैदा हुआ है। ये विकार परनिमित्तजन्य होनेसे परनिमित्त का अभाव होते हि विकृति का अवश्य अभाव हो जाता है। रागादिभाव बंधरूप परनिमित्तजन्य जीव का विकार्य कर्मरूप पर्याय होनेपर भी उपादानकारण की अपेक्षा से जीव उन भावों का कर्ता होनेपर भी अचेतन पुद्गलात्मक कर्मरूप सहकारिकारणरूप कर्ता के हट जानेपर जीव के रागादिरूप विभावभाव स्वयमेव नष्ट हो जाते है। अतः जितने भी परभाव और परकृतभाव है उन सभी भावों का शीघ्र त्याग कर देनेपर शुद्ध चैतन्यशक्तिमात्र स्फुटतर आत्मा में अवगाहन करनेसे – आत्मस्वरूप में निमग्न होनेसे इस विश्व के संपूर्ण पदार्थों से अपने असाधारण ज्ञानस्वरूप स्वभाव से भिन्न ऐसे अपनी अनंत अविनश्वर परमात्मा का अविकल अनुभव अपनी आत्मा में होता है। ऐसी परमात्मा का अनुभव मुमुक्षु भव्य जीव को करना चाहिये। इस आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान स्फुट स्पष्ट है। किंतु इतनेमात्र से काम नहीं चलता। मुमुक्षुजीव को शुद्धचैतन्यस्वभाववाली अपनी स्फुटतर आत्मा में अवगाहन करना चाहिये; क्यों कि इसप्रकार के अनुभव के बिना अनंत परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। यह स्फुटतर आत्मा हि अन्तरात्मा है। इसके भी जघन्य उत्कृष्ट मध्यम ऐसे तीन भेद है। जघन्य अन्तरात्मा के द्वारा मध्यम अन्तरात्मा की और मध्यम अन्तरात्मा के द्वारा उत्कृष्ट अन्तरात्मा की प्राप्ति कर लेने के बाद उस उत्कृष्ट अन्तरात्मा के द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति कर लेनी पडती है। यह परमात्मा हि स्फुटतम आत्मा है। जिसप्रकार पानी में डूबनेवाले को सिवा पानी के अन्य पदार्थ का ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार आत्मा में या शुद्धात्मस्वरूप में निमग्न होनेवाले जीव को शुद्धचैतन्य का हि अनुभव होता है और होना भी चाहिये; क्यों कि निरागस शुद्धचैतन्य की अनुभूति हि

परमात्मस्वरूप की प्राप्ति का एकमेव साधकतम साधन है। आत्मानुभव के इच्छुक आत्मा को अपने पुरुषार्थ के द्वारा परपदार्थों का और विभावभावों का त्याग नितरां आवश्यक है; क्यों कि उन भावों के कारण अर्थसंक्रां त्यादिरूप विकल्प उठते है और उन विकल्पों के कारण आत्मस्वरूप में चिंता का निरोध नहीं हो सकता।

[भव्य जीव में रत्नत्रय धारण करने की योग्यता – शक्ति होती है। इस योग्यता से हि वह परमात्मपद को प्राप्त हो सकता है। इस योग्यता के कारण उसे नैगमनय की या आगमद्रव्यनिक्षेप की दृष्टि से परमात्मा भी कह सकते है। अभिप्राय यह है कि जिसमें परमात्मपद की प्राप्ति का साधनभूत रत्नत्रय धारण करने की योग्यता होती है उसे हि शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए दिया जानेवाला उपदेश सफल हो सकता है। जिसमें परमात्मपद की प्राप्ति कर लेनेकी योग्यता – शक्ति नहीं होती उसके विषय मे उक्तस्वरूप का उपदेश देना विफल है। ऊषर भूमि में बोये हुए बीजों से फलप्राप्ति नहीं होती। इस अभिप्राय की प्रधानता से भव्य जीव को ध्वनित करनेके लिए 'परमात्मा' इस पदका ग्रहण किया गया है। दूसरी बात यह है कि स्वसंवेदन के विना शुद्धात्मा की प्राप्ति असभव होने से और आत्मा के द्वारा आत्मा का आत्मा में हि अनुभव करनेका नाम स्वसंवेदन है। अतः परमात्मा इस पदका 'परं आत्मा' ऐसा पदच्छेद करके आत्माशब्द का कर्तृरूप से ग्रहण कर 'पर' पद को 'आत्मान' इस पद के विशेषणरूप से ग्रहण किया है।]

अभिव्यक्तशुद्धचैतन्य जीव से भिन्न अचेतनपदार्थ और अशुद्धचैतन्यान्वित विभावभाव यथाक्रम अचेतनद्रव्योपादानक और द्रव्यकर्मनिमित्तक है यह बताते है--

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

अन्वय– अयं चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारः जीव इयान्। अतः अतिरिक्ताः अमी सर्वे अपि भावाः पौद्गलिकाः ।

अर्थ– जिसका अपना सपूर्ण जीवत्वरूप भाव चैतन्यरूप गुणसे व्याप्त है अर्थात् जिसके जीवत्व के साथ ज्ञानगुण का तादात्म्यसंबंध है ऐसा यह जीव इतनामात्र है अर्थात् ज्ञानमात्ररूप है। इस जीव से भिन्न जो ये भाव है वे सभी के सभी भाव पौद्गलिक अर्थात् पुद्गलोपादानक और पुद्गलनिमित्तक है।

त. प्र.– अयं चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारः। चिच्छक्त्या चैतन्यगुणेन व्याप्त कवलीकृतः सर्वः सम्पूर्णः स्वस्यात्मनः सारोऽस्तित्वं यस्य सः। ज्ञानगुणाभिव्याप्तसम्पूर्णस्वसत्ताक इत्यर्थः। जीव आत्मयांश्चैतन्यमात्रपरिमाणः। अतोऽस्माज्जीवादतिरिक्ता भिन्नाश्चैतन्यविकला. शुद्धचैतन्याभाववन्तः सर्वेऽपि निखिला अप्यमी औदयिकादयो भावाः शरीरादयः पदार्थाः परिणामा वा पौद्गलिकाः पुद्गलपरिणामात्मकद्रव्यकर्मोदयात्मकपरिणामनिमित्तकाः। उपादानसहकारिरूपनिमित्तभेदात्कारणं द्विविधम्। शरीरस्य द्रव्यकर्मणश्चोपादानकारणं पुद्गलद्रव्यं निमित्तकारणं चात्मनश्शुद्धिविकला भावाः विभावभावाख्याः। तथा चाशुद्धानामात्मपरिणामानामुपादानकारणमज्ञानो जीवः सहकारिकारणं च द्रव्यकर्मपरिणामापन्नं विपाकि पुद्गलद्रव्यम्। शुद्धचैतन्यविकलाः सर्वेऽपि भावा यथासम्भव पुद्गलकर्मरूपसहकारिजीवरूपोपादानकारणद्वयजन्या जीवरूपसहकारिपुद्गलरूपोपादानकारणद्वयजन्याश्च 'एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा' इत्यागमवचनात्। पुद्गलः प्रयोजनमुत्पादकमुपादानकारणं चास्य पौद्गलिकः। 'प्रयोजनम्' (३।४।१२४ श., ४।१।१०पा.) इति ठञ्। 'प्रयोजनं फलं कारणं च' इति भट्टोजिदीक्षितः। प्रयोजनं प्रयोजकं प्रवर्तनं जनकमुत्पादकम्' इत्यन्यत्र। 'पुद्गले भवाः पौद्गलिकाः' इति निर्वचनं न समीचीनं, भवशब्दस्य सत्तार्थकत्वात् 'तत्र जातः' इति सूत्रान्तरदर्शनाच्च।

विवेचन– हरएक पदार्थ का स्वभाव विजातीय पदार्थों में नहीं पाया जाता । अतः उसको असाधारण स्वभाव कहते है । स्वभाव स्वभाववान् से न न्यून होता है और न अधिक । वह स्वभाववान् को पूर्णरूप से व्यापता है । यदि उसे स्वभाववान् से न्यून माना तो उर्वरित स्वभाववान् का अभाव हो जायेगा; क्यों कि बिना स्वभाव के कोई भी पदार्थ या उसका अंश अस्तिरूप नहीं हो सकता । यदि स्वभाववान् से स्वभाव का आधिक्य माना तो स्वभावगुण का अस्तित्व हि नहीं रहेगा क्यों कि अवशिष्ट गुण के आश्रय का अभाव होनेसे उसका अभाव होनेसे अखड एकरूप होनेसे संपूर्ण गुण का भी अभाव हो जायेगा । अतः स्वभाव अपने आश्रयभूत स्वभाववान् पदार्थ को पूर्णरूप से व्याप्त कर देता है । चेतना आत्मा का स्वभाव है और आत्मा अपने स्वभावभूत गुण का आश्रय है । अत: चेतनागुण अपने आश्रयभूत स्वभाववान् आत्मा को पूर्णरूप से व्यापता है । वह स्वभाववान् आत्मा से न्यूनाधिक नहीं हो सकता । वह आत्मा का असाधारण धर्म होनेसे आत्मभिन्न पदार्थों में उसका अस्तित्व नहीं पाया जा सकता । शुद्धचेतना शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का स्वभाव है । इस शुद्धचेतना को छोडकर जितने भी आत्मा के अशुद्ध भाव है और अपूर्णभाव दिखाई देते है वे सभी के सभी भाव आत्मा के नहीं कहे जा सकते क्यों कि उनका उपादानकारण शुद्धात्मा की स्वभावभूत चेतना न होनेसे उनमें शुद्धचेतना का अन्वय नहीं पाया जाता । कर्म और नोकर्म का अनादि काल से संबंध होनेसे वे आत्मा के है ऐसा मोहोदय के कारण भ्रम होता है । वस्तुत: वे आत्मस्वामिक अर्थात् आत्मा के नहीं हैं; क्यों कि वे उपादानकारणभूत पुद्गलद्रव्य की विभावभावात्मक सहकारिकारणजन्य पर्यायें हैं । चैतन्य की जो अशुद्ध और अपूर्ण अवस्थाएं दिखाई देती हैं वे भी आत्मा की इसलिए नहीं हैं कि वे सहकारिकारणजन्य हैं । वह सहकारिकारण है कर्मभावापन्न पुद्गलद्रव्य । इन कर्मों के उदय से हि अपूर्णतारूप और अशुद्धतारूप विकृति निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धचेतनासामान्य में उत्पन्न होती है । अतः वे सभी विकृतियां उपादानकारणभूत चेतनासामान्य की होनेपर भी कर्मोदयरूपनिमित्तकारणजन्य होनेसे शुद्ध आत्मा की नहीं हैं–कर्मोदयनिमित्तक होनेसे पौद्गलिक हैं । इस विषय का अधिक खुलासा आगे के अधिकार में किया जायगा ।

पुद्गल के धर्म, पुद्गल के कार्यरूप परिणाम और पौद्गलिककर्मोदयादिनिमित्तजन्य जीव के भाव शुद्धजीव के नहीं है यह बताते हैं ––––

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२ ॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५३ ॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गन्धो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थान न संहननम् ॥ ५० ॥
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥ ५१ ॥
जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥ ५२ ॥
जीवस्य न सन्ति कानिचिद्योगस्थानानि न बन्धस्थानानि वा ।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥ ५३ ॥
नो स्थितिबन्धस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥ ५४ ॥
नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा सन्ति जीवस्य ।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ– (**जीवस्य**) जीव के (**वर्णः**) वर्ण (**नास्ति**) नहीं है, (**गन्धः अपि न**) गंध भी नहीं है, (**रसः अपि न**) रस भी नहीं है, (**रूपं अपि न**) रूप भी नहीं है, (**शरीरं न**) शरीर नहीं है, (**संस्थानं अपि न**) संस्थान – आकारविशेष भी नहीं है, (**संहननं न**) संहनन – अस्थिबंधविशेष नहीं है। (**जीवस्य**) जीव के (**रागः नास्ति**) राग नहीं है, (**द्वेषः अपि न**) द्वेष भी नहीं है, (**मोहः नैव विद्यते**) मोह तो होता हि नहीं, (**प्रत्ययाः न**) बंध के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नहीं है, (**कर्म न**) कर्म नहीं है, (**अपि च तस्य नोकर्म नास्ति**) और उसके नोकर्म भी नहीं है। (**जीवस्य**) जीव के (**वर्गः नास्ति**) अणु की शक्तिसमूहरूप वर्ग नहीं है, (**वर्गणा न**) अनेक वर्गों की शक्तियों के समूहरूप वर्गणा नहीं है, (**कानिचित् स्पर्धकानि न एव**) वर्गणाओं की शक्तियों के समूहरूप स्पर्धक है हि नहीं, (**अध्यात्मस्थानानि नो**) विशुद्ध चेतनापरिणामों में भिन्नस्वरूप अध्यात्मस्थान नहीं है, (**अनुभागस्थानानि नैव च**) और विशिष्ट कर्मप्रकृतियों के फलों की अनुभूतिपरिणामरूप अनुभागस्थान है हि नहीं। (**जीवस्य**) जीव के (**कानिचित् योगस्थानानि**) कायवर्गणा, वाग्वर्गणा और वचनवर्गणाओं के निमित्त से होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पंदस्वरूप योगस्थान (**न सन्ति**) नहीं है, (**बन्धस्थानानि वा न**) अथवा विशिष्ट प्रकृतियों के परिणामस्वरूप बंधस्थान नहीं है, (**उदयस्थानानि न एव**) अपना फल देने की सामर्थ्य से युक्त कर्मों की अवस्थारूप उदयस्थान है हि नहीं, और (**कानिचित् मार्गणास्थानानि न**) गति, इंद्रिय काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहारस्वरूप मार्गणास्थान नहीं है। (**जीवस्य**) जीव के (**स्थितिबन्धस्थानानि नो**) विशिष्ट प्रकृतियों का विशिष्ट कालतक सत्ता रूप में रहना

स्वरूप है जिनका ऐसे स्थितिबंधस्थान नहीं हैं; **(संक्लेशस्थानानि वा न)** कषायों के विपाको की तीव्रता स्वरूप है जिनका ऐसे संक्लेशस्थान नहीं है, **(विशुद्धिस्थानानि न एव)** कषायों के विपाको की मंदता स्वरूप है जिनका ऐसे विशुद्धिस्थान है हि नहीं, **(संयमलब्धिस्थानानि नो वा)** अथवा चारित्रमोहनीयकर्मों के विपाको की क्रम से निवृत्ति – अभाव करना स्वरूप है जिनका ऐसे संयमलब्धिस्थान नहीं है। **(जीवस्य)** जीव के **(जीवस्थानानि न एव च)** और पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म, एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञिपंचेंद्रिय और असंज्ञिपंचेंद्रियस्वरूप जीवस्थान है हि नहीं, **(गुणस्थानानि वा न सन्ति)** अथवा मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण– उपशमक और क्षपक, अनिवृत्ति–बादरसांपराय – उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसांपराय – उपशमक और क्षपक, उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली इनरूप गुणस्थान नहीं होते हैं, **(येन तु)** इसका कारण यह है कि **(एते सर्वे)** ये सभी भाव **(पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः)** पुद्गलद्रव्य के अक्रमभाविपरिणाम अर्थात् सहभाविगुण, पुद्गलोपादानक परिणाम और पुद्गलनिमित्तक अशुद्धजीवपरिणाम है।

आ. ख्या.– यः कृष्णः पीतः रक्तः श्वेतः वा वर्णः सः सर्वः अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यः सुरभिः दुरभिः वा गन्धः स सर्वः अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यः कटुकः कषाय तिक्तः अम्लः मधुरः वा रसः सः सर्वः अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यः स्निग्धः रूक्षः शीतः उष्णः गुरुः लघुः मृदुः कठिनः वा स्पर्शः सः सर्वः अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यत् स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तत् नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यत् औदारिकं वैक्रियिकं आहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत् सर्वं अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यत् समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं स्वाति कुब्जं वामनं हुण्डं वा संस्थानं तत् सर्वं अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यत् वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचं अर्धनाराचं कीलिका असम्प्राप्तसृपाटिका वा संहननं तत् सर्वं अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यः प्रीतिरूपः रागः स सर्वः अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यः अप्रीतिरूपः द्वेषः सः सर्वः अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यः तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपः मोह सः सर्वः अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणा प्रत्ययाः ते सर्वे अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात्। यत् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायरूपं कर्म तत्

वितमद्रूपयोरभेदात्कर्मोदययोश्च परिणामपरिणामिनोरभेदात्पुद्‌लोपादानकद्रव्यकर्मोदयरूपपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । निर्विकल्पसमाधौ जीवव्यतिरिक्तपौद्‌गलिककर्मानुभवाभावात्तत्फलप्रदानसामर्थ्यसम्पन्नोदयात्मकपरिणामानुभवाभावान्नोदयस्थानानि जीवस्वामिकान्यपि तु पुद्‌गलस्वामिकान्येवेत्यभिसन्धिः । यानि मतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसञ्ज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलोपादानकद्रव्यकर्मपरिणामरूपत्वे पुद्‌गलोपादानकद्रव्यकर्मोदयादिरूपनिमित्तकारणजनितजीवोपादानकविभावात्मकपरिणामरूपत्वे च सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । निर्विकल्पसमाधिकाले जीवव्यतिरिक्तपौद्‌गलिकर्मनोकर्मजनिततत्परिणामानुभवाभावात्तद्व्यतिरिक्तपुद्‌लोपादानकद्रव्यकर्मोदयादिरूपनिमित्तकारणजनिताशुद्धजीवोपादानकविभावात्मकपरिणामानुभवाभावाच्च न मार्गणास्थानानि शुद्धजीवस्य, यथोपपत्ति तेषां पुद्‌गलस्वामिकत्वादिति भावः । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालान्तरसहत्वलक्षणानि प्रतिविशिष्टकर्मस्वभावकालान्तरानुवयात्मकप्रशान्तत्वस्वरूपाणि । बद्धकर्मणः स्वभावस्य बन्धकालादुदयकालं यावदाविर्भावात्मकेन प्रशान्तत्वेन लक्षितानीत्यर्थः । यानि स्थितिबन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलोपादानकद्रव्यकर्मस्वभावानाविर्भावावस्थारूपत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । पुद्‌गलोपादानकद्रव्यकर्मप्रतिविशिष्टस्वभावावस्थायाः पुद्‌गलकर्मणोऽभिन्नत्वात्पुद्‌गलकर्मणोऽनुभूतेर्भिन्नत्वात्तदवस्थाया अपि ततो भिन्नत्वात्स्थितिबन्धस्थानानि न सन्ति शुद्धात्मनस्तेषां पुद्‌गलस्वामिकत्वादित्यभिसन्धि । यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि विभावभावात्मकभावकषायतीव्रातीव्राद्यनुभवस्वरूपाणि सङ्‌क्लेशस्थानानि जीवशुद्धस्वभावबाधकाविशुद्धावस्थास्तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्याभिव्यक्तशुद्धस्वभावस्यात्मनः, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलद्रव्योपादानकचारित्रमोहनीयभेदात्मककषायसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मोदयनिमित्तकजीवविभावभावात्मकत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । परमनिर्विकल्पसमाधौ जीवविभावभावात्मकभावकषायाणामनुभवाभावात्तेषां च द्रव्यकषायोदयनिमित्तकत्वात्स्वभावभावाद्भिन्नत्वान्न सङ्‌क्लेशस्थानानि जीवस्वामिकान्यपि तु यथोपपत्ति पुद्‌गलस्वामिकान्येवेति भावः । यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि पुद्‌गलोपादानकद्रव्यकषायोदयनिमित्तकभावकषायतीव्रातीव्राद्यनुभवाभावरूपाणि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मोदयाभावनिमित्तकत्वात्तदनुदयावस्थायास्ततोऽभिन्नत्वात्पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । विशुद्धिस्थानानां द्रव्यकषायोदयाभावनिमित्तकत्वात्परमसमाधिकाले च तादृशां तेषामनुभवाभावान्न तानि सन्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यनिमित्तकत्वान्नैमित्तिकभावत्वात्तेषामिति तात्पर्यम् । यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि द्रव्यचारित्रमोहोदयजन्यचारित्रमोहसञ्ज्ञकविभावभावानुभूतिक्रमनिवृत्तिस्वरूपाणि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मफलदानसामर्थ्यानाविर्भावावस्थारूपत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । चारित्रमोहकर्मणः क्षयादुपशमात्क्षयोपशमाद्वा तत्फलदानसामर्थ्याविर्भावासम्भवावस्थायास्ततोऽभिन्नत्वात्परमसमाधौ शुद्धात्मस्वरूपमात्रस्यानुभवात्तदनुभवाभावाच्च संयमलब्धिस्थानानि नैमित्तिकभावरूपाणि न सन्ति जीवस्य शुद्धस्येति भावः । यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि जीवस्थानानि संसारिजीवावस्थास्तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलोपादानकनोकर्मसहकृतनामकर्मोदयजनितपुद्‌गलविकाररूपत्वे सत्यनुभूतेर्भि-

न्नत्वादन्यत्वात् । परमनिर्विकल्पसमाधिकाले शुद्धजीवस्वरूपव्यतिरिक्तभावानुभवाभावाज्जीवस्थानानुभवासम्भवान्न जीवस्वामिकान्यपि तु पुद्‌गलस्वामिकानीति भावः । यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्‌मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसाम्परायोपशमकक्षपकोपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानि गुणस्थानानि मोहयोगभवा अवस्थाविशेषास्तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलोपादानकद्रव्यकर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशमनिमित्तकजीवपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । मोहयोगभवजीवावस्थाविशेषाणां कर्मनिमित्तकनैमित्तिकभावानां परमनिर्विकल्पसमाधिकालेऽननुभूयमानत्वान्न शुद्धस्वामिकत्वमपि तु पौद्‌गलिकत्वमेवेति भावः ।

टीकार्थ—जो काला या हरा या पीला या लाल या सफेद वर्ण है वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि वे पुद्‌गलद्रव्य के (सहभावी या अक्रमभावी) परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

१) जो सुरभि या असुरभि गंध हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि वे पुद्‌गलद्रव्य के (सहभावी या अक्रमभावी) परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

२) जो कडुवा या कषैला या तिक्त (चरपरा) या खट्टा और मीठा रस हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं, क्यो कि वे पुद्‌गलद्रव्य के (सहभावी या अक्रमभावी) परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

३) जो चिकना या रूखा, ठंडा या गर्म, भारी या हलका और कोमल या कठोर स्पर्श हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि वे पुद्‌गलद्रव्य के (सहभावी या अक्रमभावी) परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

४) जो स्पर्शादिसामान्यात्मक परिणाममात्ररूप रूप है वह जीव का नहीं है; क्यों कि वह पुद्‌गलद्रव्य का (सहभावी अथवा अक्रमभावी) परिणाम होता हुआ आत्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न है।

५) जो औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस या कार्मण शरीर हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि पुद्‌गलोपादानक द्रव्यकर्म के निमित्त से नोकर्मवर्गणारूपपुद्‌गलद्रव्य के उपादेय – परिणाम – कार्यरूप होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

६) जो समचतुरस्र या न्यग्रोधपरिमण्डल या स्वाति या कुब्ज या वामन अथवा हुंडसंस्थान (शरीराकारविशेष) हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि पुद्‌गलोपादानकद्रव्यकर्म के निमित्त से बने हुए आकारविशेषरूप पुद्‌गलद्रव्य के उपादेय– परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

७) जो वज्रर्षभनाराच या वज्रनाराच या नाराच या अर्धनाराच या कीलिका अथवा असम्प्राप्तसृपाटिका संहनन हैं वे सभीके सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि पुद्‌गलोपादानक नामकर्मसंज्ञक द्रव्यकर्म के निमित्त से बने हुए अस्थिबंधविशेषरूप पुद्‌गलद्रव्य के उपादेय – परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

मपि तु पुद्गलस्वामिकत्वमेव । भावरागस्याशुद्धजीवस्वामिकत्वेपि वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधौ केवलज्ञानावस्थायां सिद्धावस्थायां चाननुभूयमानत्वान्नास्ति शुद्धजीवस्वामिकत्वम् । योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलद्रव्यात्मकद्रव्यमोहोदयनिमित्तकाशुद्धजीवपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेरनुभवाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । यद्वाऽशुद्धजीवविभावभावात्मकद्वेषरूपपरिणामोत्पत्तिनिमित्तकारणत्वात्कर्मपरिणामात्मकपुद्गलद्रव्यस्य कारणे कार्योपचाराद्द्वेषसञ्ज्ञकस्य पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वान्नास्ति जीवस्वामिकत्वमपि तु पुद्गलस्वामिकत्वमेव । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो वस्तुयाथात्म्याप्रतिपत्तिरूपो मोहो भावमोहः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलद्रव्यात्मकद्रव्यमोहोदयनिमित्तकाशुद्धजीवपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेरनुभवनाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । यद्वाऽशुद्धजीवविभावभावात्मकतत्त्वाप्रतिपत्त्यात्मकमोहरूपपरिणामोत्पत्तिनिमित्तकारणत्वात्कर्मपरिणामात्मकपुद्गलद्रव्यस्य कारणे कार्योपचारान्मोहसञ्ज्ञकस्य पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वान्नास्ति जीवस्वामिकत्वमपि तु पुद्गलस्वामिकत्वमेव । ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणा अशुद्धजीवविभावभावात्मकमिथ्यात्वाविरतिककषाययोगसञ्ज्ञका प्रत्ययाः कर्मरूपपुद्गलपरिणामोत्पत्तिनिमित्तकर्तृभूतास्ते सर्वेऽपि न सन्ति जीवस्य । जीवस्वामिका न भवन्तीति भावः । अत्र हेतुः– पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलद्रव्यात्मकद्रव्यमिथ्यात्वादिकर्मोदयनिमित्तकाशुद्धजीवपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेरनुभवाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । यद्वाऽशुद्धजीवविभावभावात्मकभावमिथ्यात्वादिरूपभावकर्मोत्पत्तिनिमित्तकारणत्वात्कर्मपरिणामात्मकपुद्गलद्रव्यस्य कारणे कार्योपचारान्मिथ्यात्वादिसञ्ज्ञकस्य पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वान्नास्ति जीवस्वामिकत्वमपि तु पुद्गलस्वामिकत्वमेव । यज्ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायरूपं कर्म ज्ञानप्रच्छादकदर्शनप्रच्छादकवेदनोत्पादकमोहजनकभवान्तरावाप्तिकारणनामगोत्रान्तरायरूपं द्रव्यकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेरनुभवाद्भिन्नत्वात् । भावकर्मणामपि पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मोदयनिमित्तकत्वात्स्वभावभावभिन्नत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभूतिकाले तेषामनुभूत्यगोचरत्वात्ततो भिन्नत्वान्न सम्भवति जीवस्वामिकत्वम् । यत् षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्माहारशरीरेन्द्रियश्वासोच्छ्वासभाषामनःपर्याप्तिसञ्ज्ञकषट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलोपादानकपरिणामागतरूपत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । 'मयट्' इति हेतोरागतेऽर्थे मयट् । यः शक्तिसमूहलक्षणोऽणुफलदानशक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलोपादानककर्मपरिणामविकारत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । कर्मभावापन्नपुद्गलाणुशक्तिसमूहस्य शुद्धे पुद्गलाणावभावात्कर्माणावेव सद्भावाद्विकारत्वम् । या वर्गसमूहलक्षणाऽनेककर्माणुफलदानशक्तिसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलोपादानककर्मपरिणामकार्यत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । फलदानशक्तिसमूहस्य पुद्गलोपादानककर्मणामा तादात्म्यात्ततोऽनतिरिक्तत्वाज्जीवेन सह तादात्म्याभावात्पुद्गलस्वामिकत्वमेव, न जीवस्वामिकत्वमिति भावः । यानि मन्दतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि मन्दतीव्रानुभवप्रदानसामर्थ्यसम्पन्नकर्माणुसमूहविशिष्टविरचनालक्षणानि वर्गणासमूहात्मकानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलोपादानककर्मात्मकपरिणामकार्यत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् । अनेकवर्गणात्मकस्पर्धकशक्तिसमूहस्य

पुद्गलोपादानकस्पर्धकसञ्ज्ञकविशिष्टविरचनात्मककर्मदलेन साकं तादात्म्यात्ततोऽनतिरिक्तत्वाज्जीवेन सार्धं तस्य तादात्म्यसम्बन्धस्यासम्भवात्पुद्गलस्वामिकत्वमेव, न जीवस्वामिकत्वमिति भावः। यानि स्वपरैकत्वाध्यासे स्वस्यात्मनः परेषां चेतनाचेतनात्मकानामशुद्धावस्थात्मविभावभावभूतानां चान्यार्थानामेकत्वस्यैकीभावस्याध्यासे मिथ्याज्ञाने सति। स्वपरयोरेकीभावोऽस्तीति ज्ञानं मिथ्याज्ञानरूपत्वादध्यासः। एतादृशि मिथ्याज्ञाने सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणानि विशुद्धचैतन्यस्वभावभावभूतपरिणामभिन्नत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मोदयरूपनिमित्तकर्तृकृताशुद्धजीवविभावपरिणामत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात् मिथ्याज्ञानरूपत्वाविशुद्धचैतन्यपरिणामव्यतिरिक्तत्वात्कर्मोदयनिमित्तकत्वान्नैमित्तिकाशुद्धात्मविभावभावात्मकपरिणामरूपत्वादध्यात्मस्थानानां घटस्य कुलालस्वामिकत्ववत्पुद्गलस्वामिकत्वं, न शुद्धात्मस्वामिकत्वमिति भाव.। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणानि प्रतिविशिष्टकर्मप्रकृतिफलदानसामर्थ्यात्मकपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्माभिन्नतत्सामर्थ्यरूपपरिणामात्मकत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्परमनिर्विकल्पवीतरागात्मानुभूत्यात्मकसमाधिकाले कर्मफलदानसामर्थ्यानुभवाभावात्। प्रतिविशिष्टकर्मप्रकृतिफलदानसामर्थ्यस्य कर्मप्रकृत्या साकं तादात्म्यात्तस्यात्मना सम्बन्धस्याभावादात्मानुभूतिकाले तदनुभवाभावान्नास्ति जीवस्वामिकत्वमपि तु पुद्गलस्वामिकत्वमेवेत्यभिप्रायः। यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पन्दलक्षणानि पुद्गलविपाकिशरीरनामकर्मोदयापादितकायवाङ्मनोवर्गणान्यतमालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमवत आत्मन आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपाणि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्गलद्रव्योपादानकवीर्यान्तरायमतिज्ञानादिसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मक्षयोपशमात्मकपरिणामनिमित्तकशरीरनामकर्मोदयापादितकायादिवर्गणालम्बनकात्मद्रव्यपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। कायवाङ्मनोयोगलक्षणभेदाद्योगस्त्रिविध.। पुद्गलविपाकिशरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योग। अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनउपलब्धिसन्निधाने पूर्वोक्तबाह्यनिमित्तालम्बने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मन. प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे चौदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्षात्मनः प्रदेशपरिस्पन्द. काययोगः। योगस्थानानां बाह्यनिमित्तालम्बनत्वाद्वीर्यान्तरायादिपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मक्षयोपशमनिमित्तकत्वादात्मानुभवनकाले तदनुभवाभावान्नास्ति जीवस्वामिकत्वमपि तु घटस्य कुलालस्वामिकत्ववत्पुद्गलस्वामिकत्वमेवेति भावः। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि प्रतिविशिष्टकर्मप्रकृतिपरिणामस्वरूपाणि बन्धस्थानानि तानि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलपरिणाममयत्वे पुद्गलद्रव्योपादानकप्रतिविशिष्टकर्मपरिणामभूतबन्धस्य पारिणामिककर्मणोऽभिन्नत्वात्पुद्गलपरिणामकार्यत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वादन्यत्वात्। निर्विकल्पसमाधौ जीवव्यतिरिक्तपौद्गलिककर्मानुभवाभावात्तत्परिणामभूतबन्धानुभूतेरप्यसम्भवात्पुद्गलोपादानकत्वाच्च न बन्धस्थानानां जीवस्वामिकत्वमपि तु पुद्गलस्वामिकत्वमेवेत्यभिप्रायः। यानि स्वफलसम्पादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणानि स्वफलभूतसुखदुःखाद्यात्मकजीवविभावपरिणामजननसामर्थ्यसम्पन्नकर्मपरिणामस्वरूपाण्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे कर्मावस्थाभूतोदयसुखदुःखाद्यात्मकतत्फलप्रदानसामर्थ्ययोऽश-

सर्वं अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यत् षट्पर्याप्तित्रिशरीरवस्तुरूपं नोकर्म तत् सर्वं अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यः शक्तिसमूहलक्षणः वर्गः स सर्वः अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वा अपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि मन्दतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणानि अध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणानि अनुभागस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पन्दलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि स्वफलसम्पादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणानि उदयस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसञ्ज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालान्तरसहत्वलक्षणानि स्थितिबन्धस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि सङ्क्लेशस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसञ्ज्ञयसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् । यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसाम्परायोपशमकक्षपकोपशान्तकषायक्षीणक—

षायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाणि अपि न सन्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूतेः भिन्नत्वात् ।

त. प्र.— कृष्णहरितपीतरक्तश्वेतविधाः पञ्च वर्णास्ते सर्वेऽपि जीवस्य न सन्ति पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति पुद्‌गलद्रव्याक्रमभाविपरिणाममयत्वे सति । पुद्‌गलद्रव्यसहभाविगुणत्वे सतीत्यर्थः । पुद्‌गलद्रव्यस्य गुणपुञ्जात्मकत्वात्कृष्णादिपञ्चवर्णानां पुद्‌गलांशत्वात्कथञ्चित्परिणामत्वमित्यवसेयम् । अनुभूतेर्भिन्नत्वादनुभवनादन्यत्वात् । यः सुरभिः सुष्ठु रमते सुरभिः शोभनः दुरभिर्दुष्ठु रमते दुरभिरशोभनो वा गन्धः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् पुद्‌गलद्रव्याक्रमभाविपरिणामत्वे सत्यनुभवनादन्यत्वात् । यः कटुक कषायस्तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति पुद्‌गलद्रव्याक्रमभाविपर्यायत्वे सत्यनुभूतेरनुभवनाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । यः स्निग्धो रूक्षः शीत उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति पुद्‌गलद्रव्याक्रमभाविपरिणामत्वे सत्यनुभूतेरनुभवनाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । यत् स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रमन्तर्भूतस्पर्शरसगन्धवर्णविशेषसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलद्रव्याक्रमभाविपर्यायत्वे सत्यनुभूतेरनुभवनाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । अत्र रूपगुणस्य सामान्यत्वं, रसादिगुणानां तेनाविनाभावात्तत्रान्तर्भावादित्यवसेयम् । यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत् सर्वमपि नास्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति पुद्‌गलद्रव्योपादानकपरिणामात्मककार्यत्वे सत्यनुभूतेरनुभवनाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । स्वयमेव निमित्तनिमित्तिभाववति मिथ्यादर्शनादिनिमित्तके कार्मणशरीरेऽप्यौदारिकादीनां वैस्रसिकोपचयेनावस्थानात्सर्वेषां शरीराणां पुद्‌गलद्रव्योपादानकत्वं निरारेकं सिध्यति । न च तान्यात्मानुभूत्यात्मकनिर्विकल्पकसमाधिकालेऽनुभवगोचरत्वं यान्ति । आत्मस्वामिकत्वे तेषामभ्युपगम्यमाने निर्विकल्पसमाधावपि तदनुभवस्यावश्यम्भावित्वापत्तेर्न तान्यात्मस्वामिकानि भवितुमर्हन्ति । न च तत्र तेषामनुभवः । अतस्तानि पुद्‌गलोपादानजन्यकार्यत्वात्पुद्‌गलस्वामिकान्येव, न जीवस्वामिकानि । यत् समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं स्वाति कुब्जं वामनं हुण्डं वा संस्थानं शरीरविशेषाकाररूपं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य न जीवस्वामिकं, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलद्रव्योपादानकपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेरनुभवनाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । आत्मानुभूतिकाले तदनुभवाभावात्संस्थाननामकर्मोदयनिमित्तकत्वात्पुद्‌गलद्रव्योपादानकपरिणामरूपत्वाच्च तत्पुद्‌गलस्वामिकमेव, न जीवस्वामिकमिति भावः । यत् वज्रर्षभनाराचं नाराचमर्धनाराचं कीलिकाऽसम्प्राप्तसृपाटिका वा संहननमस्थिबन्धनविशेषस्तत् सर्वमपि नास्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे संहनननामकर्मोदयजनितपुद्‌गलद्रव्योपादानकपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेरनुभवनाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । स्वसंवेदनजनकवीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिकाले तदनुभवाभावात्संहनननामकर्मोदयनिमित्तकत्वात्पुद्‌गलद्रव्योपादानकपरिणामरूपत्वाच्च तत्पुद्‌गलस्वामिकमेव, न जीवस्वामिकमिति भावः । यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे पुद्‌गलद्रव्यात्मकद्रव्यमोहोदयनिमित्तकाशुद्धजीवपरिणामरूपत्वे सत्यनुभूतेरनुभवाद्भिन्नत्वादन्यत्वात् । यद्वाऽशुद्धजीवविभावभावात्मकरागरूपपरिणामोत्पत्तिनिमित्तकारणत्वात्कर्मपरिणामात्मकपुद्‌गलद्रव्यस्य कारणे कार्योपचाराद्रागसञ्ज्ञकस्य पुद्‌गलद्रव्योपादानकपरिणामत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वान्नास्ति जीवस्वामिकत्व-

८) [एक से लेकर पांचतक जो भाव बतलाये हैं वे पुद्गल के गुण होनेसे पुद्गल से अभिन्न होनेसे जीवस्वामिक नहीं है और जीवस्वामिक न होनेसे आत्मानुभूति के समय अनुभवगोचर नहीं होते। छठेसे लेकर आठवेंतक के भाव पुद्गल के परिणाम होनेके कारण पुद्गल से अभिन्न होनेसे जीवोपादानक न होनेके कारण जीवस्वामिक नहीं हे और जीवस्वामिक न होनेसे आत्मानुभूति के समय अनुभवगोचर नहीं होते।] जो प्रीतिरूप रागभाव होते हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं है, क्यों कि पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले अशुद्ध जीव के विभावरूप परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप का अनुभव करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

९) जो प्रीति का विरोधी अप्रीतिरूप द्वेषभाव होते हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले अशुद्ध जीव के विभावरूप परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप का अनुभव करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न है।

१०) जो जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वों को न जाननारूप या विपरीतरूप से जाननारूप मोहरूप भाव हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं, क्यों कि पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले अशुद्ध जीव के विभावरूप परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप का अनुभव करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न है।

११) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये जो आस्रव और बन्ध इन के (निमित्त) कारण हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यो कि पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले अशुद्ध जीव के विभावरूप परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप का अनुभव करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

१२) [राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये भाव जीवोपादानक कर्मोदयनिमित्तक विभावभाव होनेसे शुद्धजीव के कदापि नहीं हैं। यदि ये शुद्ध जीव के भाव होते तो आत्मा के स्वभावभूत शुद्धज्ञान के समान आत्मा की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर बन जाते। आत्मानुभूति के समय इनका अनुभव नहीं होता। अतः अशुद्धात्मोपादानक होनेपर भी वे नैमित्तिक भाव शुद्धजीवस्वामिक नहीं हैं। यद्यपि ये भाव पुद्गलोपादानक नहीं है अपि तु पुद्गलनिमित्तक हैं तो भी जिसप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से घट मृत्तिकोपादानक होनेपर भी कुलालनिमित्तक होनेमात्र से कुलालस्वामिक कहा जाता है उसीप्रकार उक्त भाव अशुद्धजीवोपादानक होनेपर भी पुद्गलनिमित्तक होनेसे पुद्गल के परिणाम कहे गये हैं। वस्तुतः वे पुद्गल के परिणाम नहीं है अपि तु अशुद्ध जीव के पुद्गलकर्मनिमित्तक परिणाम हैं। अशुद्धजीव शुद्धजीव से कथंचित् भिन्न वस्तु है। अतः अशुद्धजीवस्वामिक परिणाम शुद्धजीवस्वामिक कैसे कहे जा सकते हैं ? वस्तुतः उपादान की प्रधानता की दृष्टि से उक्त भाव न शुद्ध जीव के हैं और न पुद्गल के हैं। जब वे किसी भी हालत में शुद्धजीव के नहीं हैं और अब अशुद्धजीवस्वामिक कहनेसे किसी न किसी प्रकार से उनके जीवस्वामिक होनेकी भ्रांति की संभाव्यता होनेसे पारिशेष्यन्याय से उन्हे पुद्गलपरिणाम यह संज्ञा दी गयी है। इस पद का अर्थ पुद्गलकृत जीव के विभाव परिणाम ऐसा अर्थ समझना। वस्तुतः ये भाव जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होनेवाले होनेसे संयोगजभाव कहे गये हैं। ये भाव चाहे अशुद्धजीवोपादानक होनेसे अशुद्धजीव के हो या पुद्गलनिमित्तक होनेसे चाहे पुद्गलद्रव्यपरिणाममय कहे गये हो वे किसी भी हालत में शुद्ध जीव के नहीं हैं। यही उक्त कथन का अभिप्राय है।] ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय यह जो (द्रव्य–) कर्म हैं उन सभी कर्मों का समूह या उनमें से एक भी कर्म जीव का नहीं हैं; क्यों कि वे जीवविभावभावनिमित्तक होनेपर भी पुद्गलोपादानक परिणाम होनेसे, कार्मणशरीररूप पुद्गलपिण्ड के साथ मिले हुए होनेसे पुद्गलद्रव्य के परिणामरूप होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

१३) जो छह पर्याप्तियां और औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ये तीन शरीर इनकी रचना के (निर्मिति के) योग्य पुद्गलवस्तुरूप नोकर्मवर्गणाएं हैं वे सभी की सभी जीव की नहीं हैं; क्यों कि पुद्गलद्रव्य के उपादेयरूप

परिणाम होते हुए आत्मा की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

१४) कर्माणु की शक्तियों के समूहरूप जो वर्ग हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि कर्म का अनु और उसकी शक्तियों का समूह इनमें अभेद होनेसे पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म पुद्गल का परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

१५) जो अनेक कर्माणुओं की शक्तियों के समूहरूप वर्गणाएं होती हैं वे सभी की सभी जीव की नहीं हैं; क्यों कि कर्माणुओं और उनकी शक्तिसमूहों में अभेद होनेसे पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म पुद्गल का परिणाम होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

१६) जिन के उदय से अर्थात् तीव्र या मन्द उदय से उत्पन्न परिणामों की अनुभूति तीव्र या मन्द होती है ऐसे कर्म के शक्तिसमूहों से युक्त अणुओं की जो विशिष्ट रचनाएं होती हैं उनरूप जितने भी स्पर्धक होते हैं वे सभी के सभी जीव के (शुद्ध जीव के या जीवसामान्य के) नहीं हैं; क्यो कि अवयवी से अवयव अभिन्न होनेसे अणुओं की या वर्गणाओं की विशिष्ट रचनारूप स्पर्धक पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म से अभिन्न होनेसे पुद्गलद्रव्य का परिणामरूप होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

१७) स्व अर्थात् शुद्ध आत्मपदार्थ और परपदार्थ अर्थात् अशुद्धजीवोपादानक विभावभाव, द्रव्यकर्म, नोकर्म और अन्यद्रव्य इनमें परमार्थतः भेद होनेसे वे भिन्नभिन्न पदार्थ एकरूप नहीं हैं। इसप्रकार दोनोंपर एकत्व के अध्यारोप के होते हुए विशुद्ध चैतन्यपरिणामों से भिन्न होना स्वरूप है जिनका ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि ये अध्यात्मस्थान पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के उदयरूप परिणाम के निमित्त से होनेवाले अशुद्धजीवोपादानक विभावभावरूप होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

१८) कर्मों के प्रतिविशिष्ट स्वभावों के कारण उत्पन्न हुए जीव के विभावपरिणामों की अनुभूतिरूप जो जीव के परिणाम उनरूप जो अनुभागस्थान अर्थात् कर्मफलानुभूतिरूप परिणाम वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से जीव में उत्पन्न होनेवाले पुद्गलनिमित्तक परिणामरूप होते हुए आत्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

१९) कायवर्गणा, वाग्वर्गणा और मनोवर्गणा इनके निमित्त से उत्पन्न होनेवाले आत्मा के प्रदेशों के परिस्पंद स्वरूप जो योगस्थान हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के उदयरूप निमित्त से अशुद्ध आत्मा में आविर्भूत होनेसे आत्मपरिणामरूप होते हुए शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

२०) भिन्न भिन्न स्वरूपवाले रागद्वेषात्मक जीवपरिणामरूप, कार्मणवर्गणाओं की आत्मा के साथ बद्ध होनेका जो शक्तिरूप परिणाम उसरूप और भिन्न भिन्न स्वभाववाले पुद्गलकर्म और आत्मप्रदेशों का अन्योन्यावगाहनात्मक परिणामरूप जो बन्धरूप परिणाम वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यो कि यथाक्रम पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्मोदयनिमित्तक होनेसे, द्रव्यकर्म की शक्तिरूप अक्रमभाविपरिणामरूप होनेसे तथा द्रव्यकर्मोदयनिमित्तक जीवपरिणामरूप और द्रव्यकर्मशक्त्यात्मकपरिणामरूप होनेसे पुद्गलद्रव्यकृत परिणामरूप होते हुए शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

२१) जीव की सुखदुःखावस्थारूप स्वफल का संपादन करने में समर्थ ऐसी कर्मों की जो उदयरूप अवस्थाएं हैं वे सभी की सभी जीव की नहीं हैं; क्यों कि वे द्रव्यकर्मरूप पुद्गल के परिणाम होते हुए शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

२२) गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार इन स्वरूप जो जीव की मार्गणासंज्ञक अवस्थाएं होती हैं वे सभी की सभी जीव की नहीं हैं क्यो कि वे पुद्गलद्रव्यकृत परिणामरूप होते हुए शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं। [यहांपर

'पुद्‌गलद्रव्यकृत' इस पद के यथासंभव पुद्‌गलद्रव्यरूप उपादानकर्तृकृत और निमित्तकर्तृकृत ऐसे दो अर्थ हैं।]

२३) कर्मों के भिन्न भिन्न स्वभावों का बंधकाल से उदयकालतक अनुदितरूप से कर्मरूप अपने आश्रयों में विद्यमान रहना लक्षण है जिनका ऐसी जो कर्मों की स्थितिबंधरूप अवस्थाएं होती हैं वे सभी की सभी जीव की नहीं हैं; क्यों कि वे अवस्थाएं द्रव्यकर्मरूप पुद्‌गल के परिणाम होते हुए शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

२४) द्रव्यकषायों के उदयों की जीवगत तीव्रमन्दतादिरूप विशेषताएं लक्षण हैं जिनका ऐसे जो संक्लेशस्थान--जीव की संक्लिष्ट अवस्थाएं होते हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि वे कर्मोदयजन्य होनेके कारण पुद्‌गलकर्मरूप निमित्तकर्तृकृतपरिणामरूप होते हुए शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव के समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

२५) द्रव्यकषायों की जीवगत तीव्रमंदतादिरूप विशेषताओं का जीव में अभाव होना लक्षण है जिनका ऐसे विशुद्धिस्थान अर्थात् जीव की जो विशुद्ध अवस्थाएं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि कर्मोदय का अभाव उनका कारण होनेसे पुद्‌गलकर्मानुदयरूपनिमित्तकर्तृकृतपरिणामरूप होते हुए शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

२६) चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबंधी के, पांचवें में अप्रत्याख्यानावरण के, छट्ठे में प्रत्याख्यानावरण के और आगेके गुणस्थानों में संज्वलन के विपाकों की इसप्रकार यथाक्रम होनेवाली निवृत्ति (कर्मों के अभाव के या उपशम के कारण उनकी उदयावस्था के अभाव के कारण उनके विपाकों की निवृत्ति उक्तक्रम से स्वयमेव हो जाती है।) जिनका लक्षण है ऐसे जो संयमलब्धिस्थान वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं, क्यों कि चारित्रमोहनीयरूप पुद्‌गलोपादानक द्रव्यकर्मों के विपाकों का अभावरूप निमित्तकर्तृकृतजीवपरिणामरूप होते हुए शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे वे अनुभूति से भिन्न हैं।

२७) पर्याप्तबादर पर्याप्तसूक्ष्म अपर्याप्तबादर अपर्याप्त सूक्ष्म एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, संज्ञी और असंज्ञी पचेंद्रिय जिनका लक्षण है ऐसे जो जीवस्थान--जीव की अवस्थाएं हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि पुद्‌गलोपादानक पुद्‌गलविपाकी नामकर्म के उदयरूपनिमित्त से उत्पन्न होनेवाले जीवसंबंधी नोकर्मोपादानकशरीरावस्थाविशेषरूप परिणाम होते हुए शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

२८) मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणोपशमक और अपूर्वकरणक्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमक और अनिवृत्तिबादरसांपरायक्षपक, सूक्ष्मसांपरायोपशमक और सूक्ष्मसांपरायक्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है ऐसे जो द्रव्यमोहोदयजनित भावमोह से और आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप योग से अभिव्यक्त होनेवाली गुण की विशेषतारूप जो जीव की अवस्थाएं होती हैं उनरूप जितने भी गुणस्थान होते हैं वे सभी के सभी जीव के नहीं हैं; क्यों कि पुद्‌गलोपादानक द्रव्यकर्म के उदयादिरूपनिमित्त से जीव में प्रादुर्भूत होनेवाले परिणामरूप होते हुए शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति करते समय वे अनुभवगोचर न होनेसे अनुभूति से भिन्न हैं।

[ये समस्त भाव यथासंभव पुद्‌गलद्रव्यरूपनिमित्तकर्तृक और पुद्‌गलद्रव्यरूपोपादानकर्तृक होनेसे और शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति करते समय अनुभवगोचर न होनेसे शुद्ध आत्मा के नहीं हैं। निश्चयनय की दृष्टि से जो भाव आत्मा के हैं वे आत्मानुभूति के समय अवश्यमेव अनुभवगोचर होते हैं। उक्त भाव परद्रव्यनिमित्तक और परद्रव्योपादानक होनेसे आत्मानुभूति के समय जब अनुभवगोचर नहीं होते तब वे आत्मस्वामिक नहीं हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है।]

विवेचन-- [आत्मख्याति टीका में 'पुद्‌गलद्रव्यपरिणाममयत्वे' ऐसा जो पाठ पाया जाता है उसका स्पष्टीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है और करना आवश्यक भी है; क्यों कि उसका संबंध जीवगत रागादिभावों के

साथ और शरीरादिरूप पुद्गलपरिणामों के साथ भी पाया जाता है । उक्त पाठ के दोनों प्रकार के स्पष्टीकरण निम्न-प्रकार हैं——

१) 'पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः पुद्गलद्रव्यपरिणामः ।' पुद्गलद्रव्य का परिणाम ऐसा उसका अर्थ है। पुद्गल-द्रव्य का कर्मरूप परिणाम या कर्मरूप पुद्गलद्रव्य का उदयादिरूप परिणाम ऐसा मथितार्थ है । यहां पुद्गलद्रव्य या कर्मरूप पुद्गलद्रव्य परिणतिक्रिया का आश्रय होनेसे उपादानकर्तृरूप से ग्रहण अभीष्ट है; क्यों कि कर्मरूप परिणति का आश्रय पुद्गलद्रव्य है और उदयादिरूप परिणतियों का आश्रय कर्मरूप से परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य है । कर्मरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय बनना हि उपादानकर्तृत्व है ।

२) 'पुद्गलद्रव्येण निमित्तभूतेन कृतोऽशुद्धजीवपरिणामः पुद्गलद्रव्यपरिणामः'। पुद्गलद्रव्यरूपनिमित्त के द्वारा अशुद्ध आत्मा में प्रादुर्भावित किया गया परिणाम पुद्गलद्रव्यपरिणाम है। यहांपर यद्यपि क्रोधादिरूप विभाव-परिणाम का उपादानकारण अशुद्ध जीव है तथापि द्रव्यकर्मों की निमित्तकर्तृभूत उदयरूप अवस्थाओं का प्राधान्य है । इन अवस्थाओं की प्रधानता का कारण यह है कि इनके निमित्त से अशुद्ध आत्मा में प्रादुर्भूत होनेवाले अशुद्धजीव के विभावभाव शुद्धजीवस्वामिक नहीं हैं यह अभिप्राय व्यक्त करना । वस्तुतः निमित्त का कर्तृत्व उपचरित है- व्यवहार-नयाश्रित है; क्यों कि पारमार्थिकदृष्टि से उपादान का हि कर्तृत्व बन सकता है । विभावभाव नैमित्तिकभाव होनेपर भी कथंचित् जीवस्वामिक हैं; क्यों कि उनके जीवस्वामिकत्व का सर्वथा प्रतिषेध किया जानेपर जीव की संसारा-वस्था का सर्वथा अभाव हो जायगा और संसारावस्था के अभाव में तीर्थप्रवृत्ति का भी अभाव हो जायगा । 'पुद्गल-द्रव्यपरिणाममयत्वे' इस पद का ऊपर जो स्पष्टीकरण किया गया है वह व्याकरणशास्त्रविहितनियम के विरुद्ध नहीं है । 'भा तत्कृतयार्थेनोनैः' (शब्दा १।३।२८) इस सूत्र के अनुसार उक्त स्पष्टीकरण किया गया है। जिसप्रकार 'शङ्कुलाखण्डः' इस सामासिक पद का शङ्कुला (कैंची) और वस्त्रखण्ड इनमें कार्यकारणभाव—साध्यसाधनभाव—निमित्तनैमित्तिकभाव होनेसे 'शङ्कुलया कृतः खण्डः' ऐसा विग्रह किया जाता है उसीप्रकार 'पुद्गलद्रव्येण कृतः परिणामः' ऐसा विग्रह उक्त सामासिक पद का किया जाता है; क्यों कि पुद्गलद्रव्य और अशुद्धजीव का विभाव-परिणाम इनमें कार्यकारणभाव- निमित्तनैमित्तिकभाव है । 'कार्यकारणभावलक्षणमत्र सामर्थ्यं, शङ्कुलादिकृतत्वात् खण्डत्वादीनाम्' यह जैनेन्द्रमहावृत्तिगत वाक्य उक्त अभिप्राय का पोषक है । उसी वृत्ति में 'शङ्कुलाखण्डः' इस सामा-सिक पद का 'शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्ड' ऐसा विग्रह किया गया है । इसी पद का विग्रह शब्दार्णवचन्द्रिका में 'शङ्कुलया कृतः खण्डः शङ्कुलाखण्डः' इसप्रकार किया गया है। दूसरी बात यह है कि खण्डशब्द क्रियारूपापन्न गुण का वाचक होता हुआ उससे किये जानेवाली मतुप्रत्यय का लोप हो जानेपर द्रव्यवाचक बना हुआ है । अतः उक्त सूत्र के अनुसार उसके साथ तृतीयान्त शङ्कुलाशब्द का समास बना हुआ है । काशिकाविवरणपञ्जिका में इसी अभिप्राय का पोषण पाया जाता है । देखिये– 'शङ्कुलाखण्डो गिरिकाण इति । खण्डकाणशब्दावत्र खण्डने निमीलने च क्रियारूपापन्ने गुणे वर्तित्वा पश्चान्मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा तद्वति द्रव्ये वर्तेते इति गुणवचनौ भवतः ।' यहां 'मतु-ब्लोपादभेदोपचाराद्वा तद्वति द्रव्ये वर्तेते' इस वाक्य के द्वारा खण्डशब्द और काणशब्द मतुप्रत्यय का लोप हो जानेसे या अभेदोपचार से द्रव्य के वाचक बताये गये हैं । प्रकृत प्रकरण में परिणाम और परिणामी में अभेदोपचार से नहीं अपि तु निश्चयनय की दृष्टि से अर्थात् परमार्थतः अभेद है । अतः परिणामशब्द परिणामिद्रव्य का वाचक होनेसे उक्त स्पष्टीकरण अनुचित नहीं है । परिणामशब्द गुणवृत्ति भी नहीं है । अब मयट् प्रत्यय का प्रयोजन बताया जाना आवश्यक है । जो 'पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः पुद्गलद्रव्यपरिणामः' इस षष्ठीतत्पुरुष समास से मयट् प्रत्यय लगायी गयी है वह 'मयड्वाऽभक्ष्याच्छादने' (श. ३।३।१३०) इस सूत्र के अनुसार लगायी गयी है। अतः इस पद का 'पुद्गलद्रव्य के परिणाम का विकार' ऐसा अर्थ होता है । द्रव्यकर्म पुद्गलद्रव्य का परिणाम है और उदयादि उसके विकार हैं – परिणाम के परिणाम हैं । नामकर्मपुद्गल का उदय उसका परिणाम है । नोकर्म भी पुद्गलद्रव्य का परिणाम है । पुद्गलविपाकिनामकर्म के उदय से नोकर्मवर्गणाओं से शरीर बनता है । अतः शरीर पुद्गलद्रव्य के परिणाम का विकार—परिणाम है । जो 'पुद्गलद्रव्येण कृतः परिणामः पुद्गलद्रव्यपरिणामः' इस तृतीयातत्पुरुषसमास

से मयट्प्रत्यय लगायी गयी है वह 'अस्मिन्' (श. ४।२।२६) इस सूत्र के अनुसार लगायी गयी है। अतः इस पद का 'पुद्गलद्रव्य के अर्थात् पुद्गलकर्मरूप निमित्तकर्ता के द्वारा किये गये अज्ञानरूप अशुद्धजीव के परिणाम का विकार–परिणाम' ऐसा अर्थ होता है। द्रव्यकर्म पुद्गल का परिणाम होनेसे और परिणाम और परिणामी में अभेद होनेसे वह वस्तुतः पुद्गलद्रव्य ही है। द्रव्यकर्म के उदयरूप निमित्तकर्ता के द्वारा किया जानेवाला अर्थात् उदयरूप निमित्त के कारण आत्मा में प्रादुर्भूत होनेवाला जो अज्ञानरूप सामान्य परिणाम उसका विशिष्ट कर्मप्रकृति के उदयरूप निमित्त से आत्मा में आविर्भूत होनेवाला विशिष्ट (क्रोधादिरूप) परिणाम है - अर्थात् परिणाम का परिणाम है। द्रव्यमोहकर्म पुद्गलद्रव्य का परिणाम होनेसे पुद्गलद्रव्य है। मोहकर्म भी सामान्यविशेषात्मक होनेसे उसके निमित्त से आत्मा में प्रादुर्भूत होनेवाले परिणाम भी सामान्यविशेषात्मक होते हैं। सामान्य परिणाम सामान्य अज्ञान है और विशेष परिणाम अज्ञान के परिणामभूत क्रोधादिभाव हैं। अतः क्रोधादिभाव अज्ञानरूप परिणाम के परिणाम हैं। ये अज्ञान और क्रोधादिभाव यद्यपि आत्मोपादानक हैं तो भी निमित्त की प्रधानता से व्यवहारनय की दृष्टि से पुद्गलद्रव्यकृत कहे जाते हैं। सारांश, 'पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे' इस पद के उक्त दोनों अर्थ यथाप्रकरण योग्य हैं।]

काला, हरा, पीला, लाल और सफेद ये वर्ण, सुरभि और दुरभि (दुर्गंध) ये गंध, कडुआ कषैला, तीखा, आम्ल और मधुर ये रस ; स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, गुरु, लघु, मृदु और कठिन ये स्पर्श और स्पर्शादिसामान्यरूप परिणाममात्रात्मकरूप ये सभी पुद्गल के अक्रमभाविपर्यायें हैं। जो अक्रमभाविपर्यायें कहे जाते हैं वे सहभाविगुण हि होते हैं। निश्चयनय की दृष्टि से यद्यपि गुण और गुणी में अभेद होता है तो भी व्यवहारनय उनमें कथंचित् भेद है ऐसा कहती है। द्रव्य गुणपुंजरूप होता है। गुणों को गुणी से भिन्न बताया जानेपर उनमें अंशांशिभाव भी व्यक्त होता है। पर्यायों के समान गुण भी द्रव्य का अंश होनेसे वे पर्याय भी कहे जाते हैं। उनमें फर्क सिर्फ इतना हि होता है कि पर्यायें क्रमभावि होती हैं और पर्यायसंज्ञक गुण अक्रमभावी होते हैं। उक्त वर्णादिरूप अक्रमभाविपर्यायें पुद्गलद्रव्यस्वामिक होनेसे पुद्गलद्रव्य के साथ उनका तादात्म्यसंबंध होनेसे अपने आश्रयभूत पुद्गलद्रव्य को छोडकर जीवद्रव्य के साथ तादात्म्यसंबंध को प्राप्त नहीं होते। इसी कारण से वे जीवस्वामिक नहीं हो सकते। यदि वे जीवस्वामिक हो जाते तो शुद्धआत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाली आत्मा को जिसप्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनुभव प्राप्त होता है उसीप्रकार वर्णादिकों का भी प्राप्त हो जाता है। परमनिर्विकल्पसमाधिकाल में ध्याता आत्मा को जब वर्णादिकों का अनुभव प्राप्त नहीं होता तब वर्णादि शुद्धजीवस्वामिक नहीं हो सकते यह बात सुतरा स्पष्ट हो जाती है। ये वर्णादिरूप अक्रमभाविपर्यायें शरीरस्वामिक अर्थात् पुद्गलस्वामिक अवश्य हैं, क्यों कि शरीर पुद्गल का हि परिणामरूप है और पुद्गलपरिणामस्वरूप होनेसे पुद्गलद्रव्यरूप है; क्यों कि परिणाम और परिणामी में भेद नहीं होता– अभेद हि होता है। यद्यपि घट मृत्तिका का परिणामरूप होता है तो भी वह अपनी उपादानभूत मृत्तिका से भिन्न नहीं होता; क्यों कि उपादानभूत मृत्तिका का अभाव होनेपर उसके घटरूप परिणाम का भी अभाव हो जाता है। संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेके कारण सशरीर होती है और सशरीर होनेसे वह कथंचित् मूर्तिमान् भी कही जा सकती है। वह कथंचित् मूर्तिमान् होनेसे कथंचित् वर्णादिमान् भी कही जाती है। ऐसा होते हुए भी निर्विकल्पसमाधिकाल में उसके मूर्तिमत्त्व का और वर्णादिमत्त्व का अनुभव प्राप्त न होनेसे और मुक्तावस्था में शरीर का अभाव होनेसे परमार्थतः न वह मूर्तिमान् है और न वर्णादिमान् भी है। हां, यदि वह सभी अवस्थाओं में सदाकाल और सर्वथा मूर्तिमान् होती तो वर्णादिरूप अक्रमभाविपर्यायें अवश्यमेव जीवस्वामिक मानी जाती। आत्मा सदाकाल और सर्वथा मूर्तिमान् न होनेसे वर्णादिमान नहीं हो सकती। कहनेका भाव यह है कि यदि जीव सभी अवस्थाओं में वर्णादि से युक्त होता–वर्णादिभावों से कदापि रिक्त न होता तो वर्णादि का आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध घटित हो जाता। मुक्तावस्था में और आत्मानुभूतिकाल में उसका वर्णादिमत्त्व नहीं पाया जाता। वह संसारावस्था में पाया जाता है। अतः आत्मा की भिन्नभिन्न अवस्थाओं में वर्णादिमत्त्व का सद्भाव और अभाव पाया जानेसे वर्णादिमत्त्व आत्मा का स्वाभाविक भाव है ऐसा नहीं कहा जा सकता। ये हि वर्णादिभाव पुद्गल की सभी अवस्थाओं में पाये जाते हैं। अतः उनका पुद्गल के साथ तादात्म्य सिद्ध होता है। तादात्म्य की

सिद्धि हो जानेसे उनका पुद्गलाश्रयित्व सिद्ध होता है । अतः उक्त भाव पुद्गल के स्वाभाविक भाव हे यह मान्यता निर्दोषरूप से सिद्ध हो जाती है । यदि वर्णादिभावों का जीव और पुद्गल इन दोनों के साथ तादात्म्य स्वीकार किया गया तो दोनों का एकद्रव्यत्व सिद्ध हो जायगा । दोनों का एकद्रव्यत्व सिद्ध हो जानेपर जीव की अचेतनता सिद्ध हो जायगी जो कि असंभव है ।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये शरीर; समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्ज, वामन और हुण्ड ये संस्थान और वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच अर्धनाराच, कीलिका और असम्प्राप्तसृपाटिका ये संहनन ये सब नामकर्म के उदयरूप निमित्त से नोकर्मवर्गणाओं से बनी हुयी पुद्गलपिण्डों की विशिष्ट रचनारूप कार्य हैं । इनमें वर्णादिरूप पुद्गलगुणों का अन्वयरूप से सद्भाव पाया जाता है । अतः ये सब पुद्गल के परिणाम हैं । आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेसे इनका जीव के साथ संश्लेष-संयोग बना हुआ होनेसे सशरीर आत्मा व्यवहारनय की दृष्टि से वर्णादिमान् कही गयी है और कही जाती है तो भी निश्चयनय की दृष्टि से वर्णादिमान् नहीं है । निर्विकल्पसमाधिकाल में की जानेवाली जो आत्मा की अनुभूति होती है उस अनुभूति में शरीर, संस्थान और संहनन अनुभवगोचर न होनेसे आत्मा की मुक्तावस्था में वे विद्यमान् न होनेसे वे शरीरादि आत्मा के नहीं हैं, फिर भले हि वे व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा के कहे जाते हों ।

प्रीतिरूप रागभाव, अप्रीतिरूप द्वेषभाव, तत्त्व को यथार्थरूपसे न जाननारूप मोह और मिथ्यात्व-अविरति-कषाय-योग ये आस्रव और बंध के कारण आत्मा के नहीं है । सुवर्ण का अलंकार जब सुवर्णकार बनाता है तब वह अलंकार में विशेष तेज-चाकचिक्य निर्माण करने के लिये सुवर्ण में तांबा मिलाता है । तांबे के मिलान से अलंकार में जो विशेष तेज पैदा होता है वह सुवर्ण का तेज कहा जाता है और यह कहना सर्वथा मिथ्या नहीं है । यथार्थरूप से देखा जाय तो वह तेज सहकारिकारणभूत तांबे का है; क्यों कि उसके अस्तित्व से हि अलंकार में वह तेज दिखाई देता है । यदि वह तेज तांबे का न होता तो सोने में तांबा मिलाने की कोई आवश्यकता न रहती । सोना और तांबा इनका मिलानरूप बंध हि उस तेज का निमित्तकारण होनेपर भी वास्तव में वह तेज सोने का न होकर तांबे का हि है । राग, द्वेष, मोह आदि भावों का यद्यपि जीव और पुद्गल की बंधरूप अवस्था निमित्त-कारण है तो भी कर्मभावापन्न पुद्गल के अभाव में सिर्फ जीव में ये रागद्वेषादिभाव पैदा नहीं होते । अतः ये भाव पुद्गल के हि मानने पडते हैं । इन भावों का जीव में पारिणामिक भावों के रूप से सद्भाव होता तो और जीवसामान्य के साथ तादात्म्यसंबंध होता तो ये भाव जीव की सभी अवस्थाओं में व्यापते और किसी भी अवस्था में जीव उन भावों से अव्याप्त नहीं रहता । इन भावों का अशुद्ध जीव के अज्ञानभाव के साथ तादात्म्यसंबंध जरूर होता है, क्यों कि अज्ञानभाव का प्रध्वंसाभाव होनेपर ये भाव शुद्ध जीव में कदापि प्रादुर्भूत नहीं होते । अतः इन भावों का जीव के अज्ञानरूपपर्यायसामान्य के साथ तादात्म्यसंबंध होता है, शुद्ध जीव के साथ नहीं यह बात स्पष्ट हो जाती है । वीतरागनिर्विकल्पसमाधि की अवस्था में और मुक्तावस्था में रागादिभाव जीव में नहीं पाये जाते । अतः इन भावों का जीव के साथ तादात्म्यसम्बन्ध न होनेसे ये भाव जीव के भी नहीं कहे जा सकते । यहांपर यह शंका होती है कि जिसप्रकार रागादिभावों का जीव के साथ तादात्म्यसंबंध न होनेसे वे जीव के नहीं माने जा सकते उसीप्रकार इन भावों का पुद्गल के साथ तादात्म्यसंबंध न होनेसे वे पुद्गल के भी नहीं माने जा सकते । ऐसी हालत में वे भाव पुद्गल के है ऐसा जो कहा जाता है वह भी सर्वथा यथार्थ नहीं है । यह शंका कुछ अंश में यथार्थ है; वर्णादि की तरह पुद्गल की परमाणुरूप शुद्ध अवस्था में और पुद्गल की अशुद्ध अवस्था में ये भाव पुद्गल में नहीं पाये जाते । ये भाव पुद्गल के है ऐसा कहने का दूसरा भी एक कारण है । वह कारण है पुद्गल का जीव के साथ बंध का होना । जिसतरह मद्य का जीव के साथ संबंध हो जानेके पहले भ्रम का तादात्म्यसंबंध न होनेसे वह यद्यपि जीव में नहीं पाया जाता तो भी मद्य का जीव के साथ संबंध हो जानेमात्र से जीव में दिखाई देनेवाला भ्रम मद्यनिमित्तक होनेसे मद्य का कहा जाता है, उसीतरह यद्यपि रागादिभाव पुद्गल की परमाणुरूप शुद्ध अवस्था में उन भावों का पुद्गल के साथ तादात्म्यसंबंध न होनेसे पुद्गल में नहीं पाये जाते तो भी कर्मभावापन्न

पुद्‌गल के सहकार के बिना जीव में दिखाई न देनेवाले रागादिभाव जीव में पुद्‌गल के सहकारमात्र से दिखाई देनेके कारण वे पुद्‌गल के कहे जाते हैं या पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम कहे जाते हैं। दूसरी बात यह है कि यदि इन भावों का आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध होता तो वीतरागनिर्विकल्पसमाधि में जब आत्मानुभूति होती है तब इस आत्मानुभूति में ये रागादिभाव भी अनुभव में आने चाहिये। जिसतरह समाधि में आत्मा के साथ जिसका तादात्म्यसबंध होता है ऐसे ज्ञान का अनुभव होता है उसीतरह रागादिभावों का भी अनुभव होना चाहिये; किंतु इन भावों का वीतरागनिर्विकल्पसमाधि में अनुभव नहीं होता। अत उनका आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध नहीं है और इसलिये वे आत्मा के नहीं है। मुक्तावस्था में भी ये रागादिभाव जीव में नही पाये जाते इसलिये भी इनका आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध न होनेसे ये जीव के नहीं है। सारांश, रागादिभाव न शुद्धजीव के हैं और न शुद्ध पुद्‌गल के। ये कर्म के निमित्त से अशुद्ध जीव में उत्पन्न होनेवाले अज्ञानोपादानक भाव है अर्थात् पुद्‌गलकर्म की पर्याय की निमित्त से आत्मा की अशुद्धपर्यायरूप अज्ञानपर्याय के है याने अज्ञानभावोपादानक है।

यहांपर और एक शका उपस्थित की जा सकती है और वह निम्नप्रकार है- महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र जी में 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' इस सूत्र के द्वारा ये पाचो भाव जीव के स्वतत्त्व है ऐसा बतलाया गया है। इस सूत्र के अनुसार रागादिरूप परिणाम औदयिकभाव होनेसे जीव के हि मानने पडेंगे। ऐसी हालत मे परस्परविरोध क्या दिखाई नहीं देता ? जीव की अनेक शक्तियों में एक पारिणामिकी शक्ति भी है। द्रव्यकर्म का उदयरूप निमित्त मिल जानेपर जीव का विभावरूप परिणाम- वैभाविकभाव होता है। रागादिरूप परिणाम जीव के वैभाविकभाव है, क्यों कि जीव की सभी अवस्थाओ में उनका जीव के साथ तादात्म्यसबध न होनेसे वे नही पाये जाते। वे जीव के ज्ञानस्वभाव का घात करते हैं अर्थात् ज्ञान के स्वरूप की विकृतिरूप होनेसे वे उसे स्वस्वभाव से च्युत करते हैं। अतः ज्ञान और रागादिभावों में वध्यघातकभाव होनेसे जिसतरह अग्नि में शैत्य और औष्ण्य परस्परविरोधी होनेसे नही रह सकते उसीतरह शुद्ध जीव में शुद्ध ज्ञान और रागादिभाव नहीं रह सकते। अतः जिसका जीव के साथ तादात्म्यसबध होता है ऐसा ज्ञान जब जीव के आश्रय से रहता है तब उसी के आश्रय से रागादिभावों का सर्वथा रहना असंभव है। इसीलिये रागादिभाव आत्मा के नहीं हैं ऐसा कहा गया है। अन्य दृष्टि से विचार करनेपर मानना होगा कि रागादिभाव किसी अपेक्षा से जीव के भी है। इसी को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त लीजिये। जगल में चलते हुए किसी के पैर में काटा चुभ गया। घर आनेपर सूई से कांटे को निकालनेकी कोशिश करनेपर भी काटा बाहर निकल न सका। बाद में उस काटे को निकालने की भावना से उस कांटे के स्थानपर भिलावे का तेल लगा दिया। दूसरे समय मालूम हुआ कि सूजन के मारे पैर फूल गया है। ऐसी हालत में पूछा जानेपर सूजन भिलावे की बताई जाती है और ऐसा बताया जाना है भी ठीक; क्यों कि सूजन का निमित्तकारण होता है भिलावे का तेल। सूजन का आश्रय भिलावा नही हो सकता। उसका आश्रय होता है पैर और लोक सूजन को पैर की बताते भी है। सूजनरूप विकृति का आश्रय पैर होनेसे सूजन पैर की बतलायी जाती है और वास्तव मे होती भी है। सूजनरूप विकृति पैर की है ऐसा माननेपर भी क्या लोक पुद्‌गल के स्वभाव की अपेक्षा से सूजन को पैर की मानेंगे ? कदापि नही। इसीतरह रागादिरूप विकृति का आश्रय जीव होनेसे 'यह विकृति जीव की है' ऐसा कहना सर्वथा बाधित नहीं हो सकता; किंतु शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से वह विकृति जीव की स्वाभाविकभावरूप नहीं है। जीव की वह कर्मोदयरूपनिमित्तजन्य एक अवस्थाविशेष है। इस अवस्था का स्वामी अशुद्ध जीव है। राजवार्तिकजी मे लिखा है कि--

आत्मा औपशमिकादिभावपरित्यागी वा स्यात्, अपरित्यागी वा ? किं चातः ? यदि तावत् परित्यजति शून्यता प्राप्नोत्यात्मनः, स्वभावाभावात्, अग्नेः औष्ण्यस्वभावपरित्यागे अभाववत्। अथ अपरित्यागी, क्रोधादिस्वभावापरित्यागात् आत्मनः अनिर्मोक्षः प्राप्नोति इति। तन्न। किं कारणम् ? आदेशवचनात्। अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् स्यात्स्वभावापरित्यागी, आदिमदौदयिकादिपर्यायार्थादेशात् स्यात्स्वभावपरित्यागी इत्यादि सप्तभङ्गी पूर्ववत्। [रा. वा. अ. २ सूत्र १]

'आत्मा औपशमिकादिभावो का परित्याग करनेवाली है या उनका परित्याग करनेवाली नहीं है? यदि वह औपशमिकादिभावों का परित्याग करनेवाली है ऐसा माना तो आत्मा शून्य बन जाने की अर्थात् आत्मा का तुच्छाभाव हो जाने की आपत्ति उपस्थित हो जायगी; क्यों कि उष्णतारूप स्वभाव का परित्याग कर देनेसे जिसप्रकार अग्नि का अभाव हो जाने का प्रसग अनिवार्यरूप से उपस्थित हो जाता है उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव का अभाव हो जानेसे उसका भी अभाव हो जाने का अनिवार्य प्रसंग खडा हो जाता है। यदि औपशमिकादिभावों का आत्मा परित्याग नहीं करती ऐसा मान लिया तो आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी; क्यों कि क्रोधादिस्वभावों का परित्याग नहीं होता।' यह कहना ठीक नहीं है। ठीक न होने का क्या कारण है? उक्त कथन ठीक न होने का कारण है आगम का वचन। वह आगम का वचन – अनादि से पारिणामिकभावरूप चैतन्य से युक्त आत्मरूप द्रव्य की प्रधानता की अपेक्षा से आत्मा कथंचित् अपने स्वभाव का परित्याग करनेवाली नही है अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से स्वभाव का परित्याग करनेवाली नहीं है और सादि औदयिकादिभावरूप पर्यायो की प्रधानता की अपेक्षा से आत्मा कथंचित् अपने स्वभाव का परित्याग करनेवाली है। [पारिणामिकभावरूप ज्ञान नैमित्तिकभाव न होनेसे अर्थात् स्वाभाविकभाव होनेसे आत्मा अपने स्वभाव का कदापि त्याग नही करती, क्यो कि ज्ञानस्वभाव के त्याग मे आत्मद्रव्य का अभाव हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। औदयिकादिरूप नैमित्तिक भावों का वह त्याग करती है; क्यो कि उनके त्याग के बिना आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती।]

यहापर यह शका की जा सकती है कि-पारिणामिक भाव जिसप्रकार जीव का स्वतत्त्व है उसीप्रकार औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चारों भाव भी जीव के स्वतत्त्व हैं। ऐसी हालत में पारिणामिकभाव का तो जीव त्याग नहीं करता और अवशिष्ट चारों भावो का वह त्याग कर देता है यह कैसे सभवनीय है; क्यों कि जीव का जो स्वतत्त्व होता है उसका जीव के साथ तादात्म्यसबध होता है और तादात्म्यसबध होनेके कारण वे जीव के द्वारा त्यागे नहीं जा सकते? क्या अग्नि की स्वभावभूत उष्णता अग्नि के द्वारा त्यागी जा सकती है? स्वभाव के अभाव मे स्वभाववान् का भी अभाव हो जाता है। इस शका का समाधान नीचे मुजब है––

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक इन भावो को स्वतत्त्व इसलिये कहा गया है कि उनका उपादान कारण अज्ञानरूपविभावभावापन्न आत्मा होती है और आत्मा के द्वारा उनका त्याग इसलिये बताया गया है कि वे कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय इनके निमित्त से अशुद्ध आत्मा मे प्रादुर्भूत होते है। ये भाव नैमित्तिक होनेसे और कर्मों का शुद्ध आत्मा के साथ सयोगरूप–सश्लेषरूप अवस्था का अभाव होनेसे उनके उदयादिरूप निमित्तों का अभाव होनेसे शुद्ध आत्मा मे उनकी प्रादुर्भूति न होनेके कारण वे शुद्धात्मस्वामिक नही है। साराश, ये भाव अशुद्धात्मस्वामिक होनेपर भी उनको शुद्ध आत्मा स्वीकार नहीं करती–उनका त्याग हि कर देती है। इन भावो के सर्वथा त्याग का नाम हि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि है। साराश, इन चारों भावो का स्वतत्त्वत्व वे नैमित्तिकभाव होनेसे व्यवहारनयाश्रित या अशुद्धनिश्चयनयाश्रित है– शुद्धनिश्चयनयाश्रित नहीं है– पारमार्थिक नही है। यदि इन भावों को शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मस्वामिक माना गया तो आत्मा की शुद्ध अवस्था मे भी स्वभावभावो के समान आत्मस्वामिक माननेका प्रसग उपस्थित हो जायगा, जिससे आत्मा की शुद्ध अवस्था और इनमे भेद नहीं रहेगा। जीवसामान्य की अपेक्षा से इन भावों को भी पारिणामिक भाव के समान स्वतत्त्व कहा गया है। पारिणामिक भाव जीव की सभी अवस्थाओं में उसकी साथ नहीं छोडता, फिर भले हि वह निमित्तवश विकृत–विपध्वस्त बनता हो। ज्ञान आत्मा का पारिणामिकभाव है, क्यो कि वह नैमित्तिक भाव नही है और न वह औदयिकादिभावों के समान नष्ट होता है। पारिणामिक भाव कदापि निमित्तजन्य नही होता; क्यों कि वह पदार्थ का स्वाभाविक भाव होता है। औदयिकादिभाव निमित्तजन्य होनेसे वैभाविकभाव या विभाव कहे जाते है। वे अनादिनिधन नहीं है–निमित्तजन्य होनेसे सादिसान्त होते है। क्षायिकभाव साद्यनन्त होता है। वह कर्मक्षयनिमित्तक होनेसे सादि कहा जाता है। ये चारों भाव ज्ञानरूप पारिणामिकभाव की कर्मनिमित्तजन्य अवस्थाविशेषरूप है। क्षायिकभावरूप ज्ञान कर्मक्षयरूपनिमित्त से आत्मा में आविर्भूत होनेवाला होनेसे यद्यपि सादि और क्षायिक कहा जाता है,

तो भी वह अनाद्यनन्त होनेसे पारिणामिकभावरूप भी है। यदि वह पारिणामिकभावरूप न होता तो जीव की संसारावस्था में उसका अभाव हो जाता; किंतु संसारावस्था और मुक्तावस्था इन दोनों अवस्थाओं मे उसका सद्भाव पाया जाता है।

शास्त्रान्तर में औदयिकादिभावों का जिस आत्मा से अभेद बतलाया गया है वह आत्मा अशुद्धावस्थ है। अशुद्ध आत्मा और औदयिकादिभाव इनमें उपादानोपादेयभावरूप संबध होनेसे उपादानरूप अशुद्ध आत्मा का औदयिकादिभावों में अन्वय पाया जानेके कारण औदयिकादिभाव आत्मस्वामिक बताये गये है। क्षायिकभाव मे शुद्ध बनी हुई आत्मा पायी जाती है तो भी उपादान अवस्था में वह अशुद्ध हि होती है। क्षायिकभावरूप से परिणत होते समय कर्मों का क्षय हो जानेसे वह शुद्ध बन जाती है। इन भावों का उपादानकारण शुद्ध आत्मा न होनेसे वे शुद्धात्मस्वामिक नहीं है। उपादान के अर्थात् परिणामी के उपादेय अर्थात् परिणाम-कार्य सदृश भी होता है और विसदृश भी होता है। क्षायिकभाव परिणामरूप होनेके कारण अपने उपादान के सदृश भी होता है और विसदृश भी होता है। वह चैतन्यान्वित होनेसे उपादान के सदृश होता है और अशुद्धिशून्य होनेसे विसदृश होता है। अवशिष्ट तीनो भाव भी अपने उपादान के सदृश भी होते हैं। अतः अशुद्ध आत्मा और औदयिकादिभाव इनमें हि उपादानोपादेयभाव होनेसे और शुद्ध आत्मा और इन भावों में उपादानोपादेयभाव न होनेसे ये भाव शुद्धात्मस्वामिक नहीं कहे जा सकते। ये भाव पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के उदयादिरूप निमित्त से आत्मा में अभिव्यक्त होनेवाले होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से पौद्गलिक या पुद्गलस्वामिक भी कहे जाते है। औदयिकादिभावों की संज्ञा और लक्षण पारिणामिकभाव की संज्ञा और लक्षण से भिन्न होनेसे और औदयिकादिभाव सप्रयोजन अर्थात् नैमित्तिक होनेसे और पारिणामिकभाव निष्प्रयोजन अर्थात् अनैमित्तिक-स्वाभाविकभाव होनेसे औदयिकादिभाव पारिणामिकभाव से भिन्न हैं। औदयिकादिभाव यावद्द्रव्यभावी न होनेसे और पारिणामिकभाव यावद्द्रव्यभावी होनेसे वे भाव पारिणामिकभाव से भिन्न हैं। पारिणामिकभाव यावद्द्रव्यभावी होनेसे जिसप्रकार आत्मस्वामिक होता है उसीप्रकार औदयिकादिभाव यावद्द्रव्यभावी न होनेसे शुद्धात्मस्वामिक नहीं हैं। अतः वे शुद्धात्मस्वामिक न होनेसे और नैमित्तिक होनेसे विनश्वर होनेके कारण आत्मा उन भावों का त्याग कर देती है।

पर्याय के द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय ऐसे दो भेद है। द्रव्यपर्याय के स्वभावद्रव्यपर्याय और विभावद्रव्यपर्याय ऐसे दो भेद है और विभावद्रव्यपर्याय के समानजातीयद्रव्यपर्याय और असमानजातीयद्रव्यपर्याय ऐसे दो भेद हैं। गुणपर्याय के स्वभावगुणपर्याय और विभावगुणपर्याय ऐसे दो भेद हैं। जीव की संसारावस्था असमानजातीयद्रव्यपर्याय है; क्यों कि वह जीव और पौद्गलिककर्म के संश्लेष से बनी हुई अवस्था है। जीव के औदयिकादिभाव विभावगुणपर्यायें है; क्यो कि जीवसामान्यरूप स्वप्रत्यय और कर्मरूप परप्रत्यय से उत्पन्न होनेवाली जीव की वैभाविक अवस्था और जीव की स्वाभाविक अवस्था इनमें जो तरतमता दिखाई देती है उससे दोनों अवस्थाओं मे भेद पाया जानेसे दोनों अर्थात् जीव और विभावगुणपर्याय एकरूप नहीं हैं। जीव में इस विभावगुणपर्याय की निष्पत्ति सहकारिकारणरूप कर्मों से होती है। जो जिसके सद्भाव में अपना अस्तित्व बनाये रखता है और जिसके अभाव में अपना अस्तित्व खो बैठता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से उसका हि कार्य समझा जाता है। उदयावस्थाप्राप्त कर्म का जबतक अस्तित्व होता है तबतक हि जीव में वैभाविकभावों का अस्तित्व पाया जाता है और जब उन सहकारिकारणरूप कर्मों का अभाव होता है तब वैभाविकभावों का भी अभाव हो जाता है। अतः औदयिकादिभावरूप वैभाविकभाव अशुद्ध आत्मा से अभिन्न होनेपर भी शुद्ध आत्मा के न होकर व्यवहारनय की दृष्टि से पौद्गलिककर्म के हि हैं। यह समस्या मद्यपी पुरुष के दृष्टान्त से अच्छीतरह से हल हो जाती है। मद्यपान करनेसे पुरुष उन्मत्त बन जाता है। यह उसकी उन्मत्तता-भ्रांति उसके स्वभाव में उत्पन्न होनेवाली विकृति है। वह उससे भिन्न होनेपर भी मद्यरूपनिमित्तजन्य होनेसे मद्य की हि कही जाती है; क्यों कि जबतक मद्य-शराब का उसपर असर रहता है तबतक हि उसमें वह उन्मत्तता-भ्रांति पायी जाती है। मद्य के असर का खात्मा होते हि उस भ्रांति का भी खात्मा हो जाता है। मद्य अचेतन जड पदार्थ है। अतः भ्रांति जिसतरह मद्यनिमित्तक होनेसे और मद्य में जीव को उन्मत्त बनानेकी

सामर्थ्य विद्यमान होनेसे मद्य की कही जाती है उसीतरह वैभाविकभाव भी पुद्गलकर्मनिमित्तक होनेसे कर्मतापन्न पुद्गल के कहे जाते हैं।

पर्याय और परिणाम एकार्थवाचक हैं। जिस द्रव्य का पर्यायरूप परिणमन होता है वह द्रव्य उपादानकारण कहा जाता है। द्रव्य परिणमनशील होनेपर भी निमित्त के बिना परिणत नहीं होता। द्रव्य की पर्याय स्वभावपर्याय और विभावपर्याय के भेद से दो प्रकार की होती है। आत्मद्रव्य भी परिणमनशीलद्रव्य है। उसकी भी स्वभावात्मक और विभावात्मक पर्यायें होती हैं। निमित्त भी उपरागजनक और अनुपरागजनक इसप्रकार दो प्रकार का होता है। कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य उपरागजनक और आत्मस्वभावप्रच्छादक निमित्त होता है और धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये अनुपरागजनक निमित्त–सहकारिकारण हैं। स्वभावपरिणति में ये चार द्रव्य निमित्तकारण होनेपर भी उपरागजनक न होनेसे द्रव्य की स्वप्रत्ययपरिणति में उनका उल्लेख नहीं किया गया। परिणति चाहे स्वभावरूप हो चाहे विभावरूप हो निमित्त के बिना वह हो हि नहीं सकती। विभावपरिणति में उपरागजननशक्तिसम्पन्न द्रव्यकर्मरूप से परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य निमित्तकारण पडता है और अवशिष्ट तीनों में से दो द्रव्य निमित्तकारण पडते हैं। इन दोनों में कालद्रव्य का अन्तर्भाव अवश्य होता है। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य इन दोनों में से किसी एकका उक्त दो निमित्तों में अन्तर्भाव होता है – दोनों का सद्भाव युगपत् नहीं होता। जो आत्मा का परिणाम स्वप्रत्यय कहा जाता है उसकी उत्पत्ति में कालद्रव्य, आकाशद्रव्य तथा धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य इन दोनों में से एक निमित्तकारण पडते हैं और जो आत्मा का परिणाम परप्रत्यय कहा जाता है उसमें आत्मद्रव्य उपादानकारण पडता है और पुद्गलद्रव्य, कालद्रव्य, आकाशद्रव्य और धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य इन दोनों में से एक द्रव्य निमित्तकारण पडते है। वस्तुतः दोनों प्रकार के परिणाम स्वपरनिमित्तक होते है। परप्रत्ययपरिणाम में उपादान का सद्भाव होनेपर भी वह गौण होता है–उसका अभाव नहीं होता। जो परिणाम स्वप्रत्यय होता है उसमे परद्रव्यनिमित्तक-पुद्गलद्रव्यनिमित्तक उपराग न होनेसे किसी प्रकार की विशेषता नहीं पायी जाती। परप्रत्ययपरिणाम में परद्रव्यनिमित्तक उपराग पाया जानेसे वह परिणाम सविशेष होता है। जिसमें विशेष पाया जाता है उसे विशिष्टपरिणाम कहते है और जिसमें विशेष नहीं पाया जाता उसे अविशिष्ट परिणाम कहते है। विशिष्ट परिणाम के शुभपरिणाम और अशुभपरिणाम ऐसे दो विशेष है। ये दोनों विशेष जीव में कैसे उत्पन्न होते है यह देखना है। जब उपयोग को द्रव्यकर्मभूत मोहनीयादि के उदय की अनुवृत्ति करनी पडती है तब वह उपयोग की उपरक्त अवस्था होती है और उपयोग को शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसी सज्ञाएं प्राप्त होती है। जब मोहनीय का विशिष्ट क्षय, क्षयोपशम या उपशम होता है तब जीव के परिणाम अप्रत्याख्यानावरणादिकषायों के उदय से उपरंजित होनेपर भी उन्हें शुभपरिणाम कहते हैं और दर्शमोहनीयादि सप्तप्रकृतिककर्मों के उदय से उपरंजित होनेवाले परिणामों को अशुभपरिणाम कहते हैं। कहनेका भाव यह है कि शुभाशुभपरिणामरूप क्षायोपशमिक और औदयिकभाव आत्मा के शुद्ध निजभाव नहीं हैं; किंतु कर्मपुद्गलोपरागजन्य भाव है। उपराग के निमित्त के हट जानेपर उपयोग की उपरक्तता भी हट जाती है। जैसे जपापुष्प के हट जानेपर स्फटिक की उपरक्तता नष्ट हो जाती है उसीप्रकार कर्मपुद्गलों के हट जानेपर उपयोग की उपरक्तता हट जाती है। अतः औदयिकादिभाव औपाधिक भाव होनेसे विनश्वर होनेके कारण शुद्ध आत्मा के न होकर द्रव्यकर्मनिमित्तक अशुद्धजीवोपादानक होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से पुद्गल के परिणाम है। शुद्ध परिणाम और शुद्धजीव इनमें अभेद होनेसे और वे परद्रव्योपरंजित न होनेसे वैशिष्टयरहित होनेपर भी शुभाशुभपरिणामों से विसदृश होनेसे कथंचित् सविशेष भी है। ये परिणाम अर्थात पारिणामिकभाव जीवस्वामिक है। वे पुद्गल के नहीं कहे जा सकते।

ये औदयिकादिभाव शुद्धात्मोपादानक न होनेसे यद्यपि शुद्ध आत्मा के नहीं है-शुद्धात्मस्वामिक नहीं है, तो भी वे किसी भी हालत में आत्मा के नहीं हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्यों कि उनमें आत्मा की चेतना का अन्वय पाया जाता है। हा, उनमें अन्वित होनेवाली चेतना अशुद्ध जरूर होती है। सारांश, ये औदयिकादिभाव कथंचित् आत्मस्वामिक भी हैं-सर्वथा आत्मस्वामिक नहीं। यद्यपि ये भाव कथंचित् आत्मस्वामिक हैं ऐसा कहा जा सकता है

तो भी वे अशुद्ध आत्मा के औपाधिकभाव होनेसे और आत्मा की शुद्धतम अवस्था में पाये जानेवाले न होनेसे (शुद्ध) आत्मा के या शुद्धात्मस्वामिक नहीं भी हैं–वे पुद्‌गलोपाधिजन्य होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से पुद्‌गल के भी कहे जानेके योग्य हैं। जब की ये औदयिकादिभाव औपाधिकभाव है, तब उपाधि के चले जानेपर इन औपाधिक भावों का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? जपाकुसुमरूप उपाधि के कारण स्फटिकमणि की रक्तिमारूप औपाधिक अवस्था का यद्यपि स्फटिक के साथ संबंध होनेसे वह स्फटिक की मानी जाती है तो भी यथार्थ में वह उपाधिरूपपरद्रव्यकृत होनेसे और उसीकारण विनश्वर होनेसे परद्रव्य की है। औदयिकादिभाव औपाधिकभाव हैं और उपाधि है कर्मतापन्न पुद्‌गलद्रव्य। कर्मरूप से परिणत हुए पुद्‌गलद्रव्यरूप उपाधि के हट जानेपर जीवस्वामिक कही जानेवाली पुद्‌गलद्रव्यनिमित्तक और अशुद्धजीवोपादानक औदयिकादिभावरूप विभावपरिणामसंज्ञक जीव की औपाधिक अवस्था भी हट जाती है–नष्ट हो जाती है। अतः औदयिकादिभाव पुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मकद्रव्यकर्मनिमित्तक अशुद्ध आत्मा के अशुद्ध विकार-परिणाम हैं। अगर ये भाव जीव के हि होते तो आत्मानुभूति के समय वे भी अनुभव में आ जाते; किन्तु शुद्धात्मानुभूति के समय उनका अनुभव नही होता। अतः रागद्वेषादिरूप औदयिकादिभावों को अनात्मीय मानना हि यथार्थ है।

यहांपर यह शंका की जा सकती है कि जिसतरह जिसके सद्भाव में जिसका अस्तित्व पाया जाता है और जिसके अभाव में जिसका सद्भाव नहीं पाया जाता वह उसका समझा जाता है इस अभिप्राय के अनुसार औदयिकादि वैभाविकभावों की सत्ता उदयप्राप्त कर्मपुद्‌गलों का अस्तित्व होनेपर पायी जानेसे और उनके अभाव में पायी न जानेसे वे भाव पुद्‌गलपरिणाम के विकार कहे जाते हैं। उसीतरह इन वैभाविकभावों का अस्तित्व जीव का अस्तित्व होनेपर हि पाया जानेसे और जीव के अभाव में उनका अस्तित्व पाया न जानेसे औदयिकादि वैभाविकभाव आत्मा के हि हैं ऐसा क्यों नहीं कहा जा सकता ? समाधान जिसतरह कर्मतापन्न पुद्‌गलों का अभाव हो जानेपर वैभाविकभावों का अस्तित्व न पाया जानेसे वैभाविकभाव आत्मा के नहीं कहे जाते–पुद्‌गल के कहे जाते हैं उसीतरह यद्यपि जीव के अभाव में वैभाविकभावों का अस्तित्व पाया न जानेसे वैभाविकभाव आत्मा के भी कहे जा सकते हैं तो भी वे वस्तुतः शुद्ध आत्मा के नहीं हैं। आत्मा का ज्ञानरूप स्वभाव उसकी सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। यहांपर गौणमुख्यता की अपेक्षा से विचार करना चाहिये। सुवर्ण का जब अलंकार बनाया जाता है तब उसमें विशिष्ट तेज की प्राप्ति के लिये सुवर्ण में तांबा मिलाया जाता है। तांबा मिलानेसे अलंकार में विशिष्ट तेजरूप जो परिणति होती है वह परिणति जिसतरह तांबे के अभाव में नहीं होती उसीतरह सुवर्ण के भी अभाव में जब नहीं होती तब क्या उस परिणति का कारण सुवर्ण हि माना जाता है ? कदापि नहीं। यदि उस परिणति का सुवर्ण हि सर्वथा कारण माना जाता तो सुवर्ण में तांबे का मिलान करनेकी क्या जरूरत होती ? किंतु वस्तुतः उस परिणति का कारण है तांबा और इसलिये यह परिणति व्यवहारनय की दृष्टि से कही जाती है। इस दृष्टांत में तांबा गौण है और सुवर्ण प्रधान है। यह दृष्टांत स्थूल है। प्रकृत विषय में आत्मा प्रधान है और पुद्‌गलकर्म गौण है। वैभाविकभावरूप जो परिणाम है वे अशुद्धजीवस्वामिक होनेसे अशुद्ध और जीव के हैं। वैभाविक परिणाम जीव के हैं इसमें कोई शंका नहीं, किंतु उनमें जो विकृति पायी जाती है वह कथंचित् कर्मभावापन्नपुद्‌गलरूप अन्य पदार्थ की भी है; फिर भले हि वैभाविकभावों का अस्तित्व आत्मा के अभाव में न पाया जाय। जिसतरह तांबे के मिलान से सुवर्ण में पैदा होनेवाली विशिष्ट परिणति सुवर्ण के अभाव में पैदा नहीं होती तो भी वह परिणति कथंचित् तांबे की कही जाती है और होती भी है तांबे की, उसीतरह वैभाविक भावों की वैभाविकतारूप परिणति यद्यपि आत्मा के अभाव में नहीं होती तो भी उस वैभाविकता का पुद्‌गल निमित्तकारण होनेसे वह कथंचित् पुद्‌गल की भी कही जायगी और व्यवहारनय की दृष्टि से पुद्‌गल की है भी। इससे समझ में आ जाता है कि वैभाविकभावों की वैभाविकता आत्मा की न होकर कर्मभावापन्न पुद्‌गल की क्यों है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग औदयिकभाव होनेसे रागद्वेषादिभावों के समान वे अशुद्ध आत्मा के पुद्‌गलपरिणामनिमित्तक विकार होनेसे और आत्मानुभूति के समय इनका आत्मा में अस्तित्व पाया न जानेसे ये

भाव भी सर्वथा आत्मा के नहीं है। अब रही बात योगों की। कायवाङ्मनोवर्गणालबन मे आत्मप्रदेशों का जो परिस्पदन होता है उसे योग कहा जाता है। कर्मभावापन्न अनेक पुदगलपरमाणुओं की शक्तियों का जो समूह उसे वर्गणा कहते हैं। इस शक्तिसमूह से प्रेरित हुए आत्मप्रदेशों के परिस्पदन का नाम हि योग है। इससे स्पष्ट होता है कि योग भी वैभाविकभाव है, क्यों कि उसका अस्तित्व कर्मभावापन्न पुद्गल परमाणुओं पर निर्भर है। जिस भाव को या जिस क्रिया की प्रवृत्ति पुद्गलरूप परभाव के निमित्त से होती है वह भाव या वह क्रिया वैभाविक है और इसीलिये वह भाव या क्रिया व्यवहारनय की दृष्टि से पुद्गल की कही जाती है – आत्मा की नहीं। इसी कारण से योग आत्मा के या आत्मस्वामिक नहीं हैं। वह अशुद्ध आत्मा का पुद्गलपरिणामनिमित्तक विकार होनेसे शुद्धात्मानुभूति के समय उसका अनुभव नहीं किया जाता। शुद्धात्मानुभूति के समय यदि वे भी अनुभवगोचर होते तो वे भी शुद्धात्मस्वामिक कहे जाते।

नोकर्म छह पर्याप्तियों और तीन शरीरों के योग्य जो वस्तु उसरूप होता है। यह नोकर्म जीव का नहीं है; क्यों कि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाम का विकार है और वीतरागनिर्विकल्पसमाधि मे जो आत्मानुभूति होती है उसमें इस नोकर्म का अनुभव न होनेसे वह अनुभूति से भिन्न होता है।

ज्ञानावरणादिकर्म पुद्गलोपादानक होनेसे आत्मस्वामिक अर्थात् आत्मा के नही है। द्रव्यकर्म पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं और भावकर्म पुद्गलद्रव्यात्मक द्रव्यकर्मपरिणामनिमित्तक अशुद्ध आत्मा के विकार हैं और कर्मोदयनिमित्तक होनेसे औदयिकभावरूप हैं। अत वे अशुद्ध आत्मा की परनिमित्तजन्य विकृति होनेसे आत्मा के नही हैं। परमनिर्विकल्पसमाधि मे ये भावकर्म अनुभव में नहीं आते। अत ये भावकर्म अशुद्ध आत्मा के परनिमित्तजन्य भाव होनेसे और शुद्धात्मा की अनुभूति के समय ये अनुभवगोचर न होनेसे ये शुद्ध आत्मा के नहीं हैं। सारांश, निश्चयनय की दृष्टि से ये भाव तीनों कालो में शुद्ध आत्मा के नहीं है, फिर भले हि ये भाव अशुद्धात्मस्वामिक हो।

कर्मभावापन्न पुद्गलपरमाणु की शक्तियो के समूह को वर्ग कहते हं और वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं। शक्ति और शक्तिमान् इनमे तादात्म्यसबध होनेसे उक्त शक्तिसमूह पुद्गलस्वामिक होता है। वह जीवस्वामिक कदापि नही हो सकता, क्यों कि वह कर्मभावापन्न पुद्गल के अणु के शक्तियों का समूहरूप होनेसे और शक्ति और शक्तिमान् मे अभेद – तादात्म्यसबध होनेसे वर्ग कदापि आत्मा का नही हो सकता। दूसरी बात यह है कि इस शक्तिसमूह का शुद्धात्मानुभूति के समय अनुभव भी नहीं होता। अतः वर्ग को आत्मस्वामिक न मानना हि यथार्थ है। इसीतरह वर्गणा भी आत्मस्वामिक नही है।

मदतीव्ररसरूप से कर्मदलों की जो विशिष्ट रचना उसे स्पर्धक कहते हं। यह स्पर्धक कर्मशक्तिविशेष होनेसे आत्मा का नही है, क्यो कि उसका कर्म के साथ तादात्म्यसबंध होनेसे वह भी पुद्गलपरिणाम का विशेष है। दूसरी बात यह है कि परमनिर्विकल्पसमाधिकाल मे जो शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है उस अनुभूति के समय उसका अनुभव नही होता। अत स्पर्धक भी आत्मस्वामिक नही हो सकता।

स्व अर्थात आत्मपदार्थ और परपदार्थ इनको परस्पर भिन्न न समझकर उनको एकरूप समझना अध्यास है। मिथ्यात्वकर्म के उदय से अशुद्ध आत्मा मे अभिव्यक्त होनवाले मिथ्यात्वरूप परिणाम के कारण जब स्व और पर एकरूप है इसप्रकार का अध्यासरूप मिथ्याज्ञान अभिव्यक्त होता है तब विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्न होता स्वरूप है जिनका ऐसे जितने भी अध्यात्मस्थान होते है वे सभी के सभी जीव के नही है। ये चैतन्यपरिणाम से भिन्न हैं। अध्यात्मस्थान शुद्धचैतन्यपरिणाम से भिन्न होनेसे जिसतरह शुद्ध चैतन्यपरिणाम शुद्ध आत्मा के हैं उसी तरह अध्यात्मस्थान शुद्ध आत्मा के नही है। स्व अर्थात् आत्मपदार्थ और परपदार्थ इनका स्वरूप अन्योन्यभिन्न होनेसे उन दोनों की एकरूपता कदापि सिद्ध नहीं हो सकती। इन स्वभाववाले दो पदार्थो को जो ज्ञान एकरूप जानता है वह ज्ञान अज्ञानरूप है और अज्ञान शुद्धचैतन्यपरिणाम से भिन्न अशुद्धात्मोपादानक जीवपरिणामभूत औदयिकभाव है। यह अज्ञान, वह चाहे अनादि हो या सादि हो, ज्ञान की मोहनीयोदयजन्य विकृत – विपरीत अवस्था है। इसीकारण ये औदयिकभावरूप अध्यात्मस्थान शुद्ध जीव के न होकर पुद्गलपरिणामनिमित्तक अशुद्धजीव के विकार – परिणाम

हैं। ये अध्यात्मस्थान पौद्‌गलिक द्रव्यकर्मोदयनिमित्तक अशुद्ध जीव के विकार – परिणाम होनेसे और शुद्धात्मा की अनुभूति के समय ये अनुभवगोचर न होनेसे जीव के नहीं हैं।

कर्मों की जो प्रकृतियां हैं वे पुद्‌गल की अशुद्धजीवविभावपरिणामनिमित्तक विभावरूप परिणतियां हैं। इन परिणतियों की आत्मा को सुखदुःखरूप रस देनेकी जो शक्तियां होती हैं वे जब व्यक्त होती हैं तब वे भी पुद्‌गल की हि परिणतियां हैं। इसप्रकार की पुद्‌गलपरिणतियों को अनुभागस्थान कहते हैं। इन अनुभागस्थानों का कर्मतापन्न पुद्‌गलपरिणामों से हि यथार्थरूप से तादात्म्यसंबंध होनेसे ये पुद्‌गलपरिणामस्वामिक हि हैं। दूसरी बात यह है कि इन अनुभागस्थानों का शुद्धात्मानुभूति के समय अनुभव नहीं होता। अतः ये अनुभागस्थान जीवस्वामिक – जीव के नहीं हैं।

कायवर्गणारूप, वाग्वर्गणारूप और मनोवर्गणारूप निमित्त से होनेवाले आत्मप्रदेशों के जो परिस्पंदन हैं वे हि योगस्थान हैं। ये आत्मप्रदेशों के परिस्पंदन परद्रव्यनिमित्तक होनेसे योगस्थान जीव के नहीं हैं। इन आत्मप्रदेशपरिस्पंदों का कारण पुद्‌गलद्रव्य का परिणाम होनेसे योगस्थान पुद्‌गलपरिणामनिमित्तक आत्मविकार हैं। दूसरी बात यह है कि शुद्धात्मानुभूति के समय ये योगस्थान अनुभवगोचर नहीं होते। अतः योगस्थान जीवस्वामिक अर्थात् जीव के नहीं हैं।

बंध पुद्‌गलबंध, जीवबंध और उभयबंध इसप्रकार तीन प्रकार का है। पूर्वार्जित द्रव्यकर्मपुद्‌गल अर्थात् कार्मणशरीर और नये पुद्‌गलकर्म इनको अशुद्ध जीव के रागादिरूप जो विभावभाव उनके निमित्त से और प्रागर्जित पुद्‌गलोपादानक कर्मों के और नूतन पुद्‌गलोपादानक कर्मों के स्निग्धत्वरूप धर्मों के कारण से जो स्कंधरूप अवस्था का निर्माण होना इसी का नाम पुद्‌गलबंध है। कर्मरूप उपाधि के कारण जीव के जो मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायें होती हैं उनके साथ जीव का जो एकत्व होता है उसे जीवबंध कहते हैं। जीव और कर्मपुद्‌गलों का जो परस्परैकक्षेत्रावगाह होना है उसे उभयबंध कहते हैं। जब जीव की ये रागद्वेषरूप परिणतियां होती हैं तब इन वैभाविकपरिणतियों का निमित्त पाकर कर्मपुद्‌गल जीवप्रदेशों में अवगाहन करते हैं और जीव उनमें अवगाहन करता है। जीव की वैभाविक परिणति का निमित्तकारण उदयागत द्रव्यकर्म होता है। इसतरह जीव के रागद्वेषादिरूप वैभाविकभाव और कर्मभावापन्न पुद्‌गल उभयबंध के कारण बन जाते हैं। जीव के जो रागद्वेषादिरूप वैभाविकभावस्वरूप जीवबंध हैं और जीव तथा कर्मपुद्‌गलों का जो परस्परावगाहरूप उभयबंध है वे दोनों शुद्ध जीव के नहीं हैं और पुद्‌गलबंध भी जीव का नहीं है; क्यों कि कर्मभावापन्न पुद्‌गलों के निमित्त से होनेवाले होनेके कारण पुद्‌गलपरिणाम के अर्थात् पुद्‌गल के विकार हैं और शुद्धात्मानुभूति के समय ये अनुभवगोचर भी नहीं होते।

सांख्य पुरुष को – जीव को सर्वथा अबद्ध मानते हैं तो जैन उसको संसारावस्था में बद्ध और मुक्तावस्था में अबद्ध मानते हैं अथवा व्यवहारनय की दृष्टि से बद्ध और निश्चयनय की दृष्टि से अबद्ध मानते हैं। बंध जीव का नहीं है इसका अर्थ सांख्यों की ' न बध्यते न मुच्यते पुरुषः ' इस उक्ति के अनुसार जीव सर्वथा बंधरहित होता है ऐसा नहीं है। जीव और कर्म के उभयबंध और केवल जीवबंध अवश्य होते हैं। ये जीव के नहीं हैं इस कथन का अभिप्राय यह है कि इसका निमित्तकारण या उपादानकारण शुद्धचैतन्यात्मक शुद्ध जीव न होनेसे इनका कर्ता शुद्ध जीव नहीं है। इनका निमित्तकारण परमार्थतः कर्मभावापन्न पुद्‌गल है। अतः यह बंध कथंचित् पुद्‌गल के अर्थात् कथंचित् निमित्तरूप से और कथंचित् उपादानरूप से इनका कर्ता यथासंभव पुद्‌गल है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि केवल जीवबंध, पुद्‌गलकर्मबंध और उभयबंध अवश्य होते हैं; किंतु वे सिर्फ संसारावस्था में होते हैं।

उदय यह अशुद्ध जीव को सुखदुःखादिरूप फल देनेकी सामर्थ्य से युक्त ऐसी कर्म की विशिष्ट अवस्था है। उदय कर्म की अवस्था होनेसे जिसका स्वरूप कर्म के स्वरूप से सर्वथा भिन्न होता है ऐसे जीव की विशिष्ट अवस्था-परिणति नहीं है। उदय कर्म की विशिष्ट परिणति होनेसे (कर्म पुद्‌गल का परिणाम होनेसे) उदय पुद्‌गल के परिणाम का विकार है और शुद्धात्मानुभूति के समय कर्मोदय अनुभवगोचर नहीं होता। अतः उदय जीवस्वामिक परिणाम नहीं है; किंतु पुद्‌गलस्वामिक परिणाम है।

चतुर्दश गुणस्थानों से विशिष्ट (युक्त) जीव का जब अन्वेषण किया जाता है तब उस जीव का आधार बननेवाले या अन्वेषण करनेवाले के लिये साधकतम साधन का कार्य करनेवाले जो गति आदिक हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं । ये मार्गणाएं—

गइ-इंदिये च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णि आहारे ॥

इसप्रकार चौदह हैं । एक भव से अन्य भव में जानेका नाम गति है । यह भवांतरगमन गतिनामकर्म के उदय से होता है । अत. गतिमार्गणा पुद्गल के परिणाम का विकार है और अनुभूति के समय उसका अनुभव प्राप्त नहीं होता । इस दृष्टि से गतिमार्गणा शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव की नहीं है । उसका संबंध पुद्गल के साथ हि मानना होगा । गति का लक्षण गोम्मटसार जीवकाण्ड में नीचेमुजब दिया है—

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई ।

गतिनामकर्म के उदय से जीव की जो पर्याय होती है उसे भी गति कहते हैं । यह पर्याय जीव का परनिमित्त-जन्यभाव होनेसे जीव का नहीं है । यह परनिमित्तजन्यभाव औदयिकभाव है । आत्मानुभूति के समय वह अनुभव-गोचर नहीं बनता । साराश, यह पुद्गलपरिणामनिमित्तक अशुद्धजीवविकार होनेसे वह शुद्ध जीव का नहीं है ।

दूसरी इंद्रियमार्गणा है । द्रव्येंद्रियों के कारणभूत शब्दज्ञानावरण, स्पर्शज्ञानावरण, रसज्ञानावरण, रूपज्ञानावरण और गंधज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और नामकर्म के उदय से इंद्रियां होती हैं । इससे पता चलता है कि इंद्रियां ज्ञान की क्षायोपशमिकावस्थासहकृतनामकर्म के उदय से अभिव्यक्त होनेवाली अवस्थाएं हैं । क्षायिकज्ञान सभी पदार्थों को उनके सभी पर्यायों के साथ युगपत् जानता है, किंतु क्षायोपशमिकज्ञान सभी पदार्थों को उनके सभी पर्यायों के साथ युगपत् नहीं जानता; क्यों कि वह क्रमवर्ती होता है और क्रम से पदार्थों को जानता है । हरेक इंद्रिय अपने प्रति-नियत विषय को हि जानती है-अन्य इंद्रियों के विषयों को नहीं जानती । अपने विषय के भूत और भावी पर्यायों को भी युगपत् नहीं जान सकती । भावेंद्रियां ज्ञानरूप होनेपर भी ज्ञेयपदार्थों को युगपत् नहीं जानती -क्रम से जानती है, क्यों कि वे क्षायोपशमिकज्ञानरूप होती हैं । जानने की शक्ति की अपेक्षा से क्षायिक ज्ञान और क्षायोपशमिक ज्ञान इनमें इतना अंतर क्यों पाया जाता है ? ज्ञान की जो क्षायोपशमिक अवस्था होती है उसमें सर्वघातिस्पर्धकों का यद्यपि क्षय और उपशम होता है तो भी उसमें देशघाति स्पर्धकों का उदय अवश्य रहता है । इन देशघातिस्पर्धकों के उदय के अनुकूल जानते समय आत्मा को अपनी प्रवृत्ति करनी पडती है । इसलिए क्षायोपशमिक ज्ञान भी अशुद्ध भाव है, फिर भले हि क्षायोपशमिकज्ञान ज्ञानसामान्य की अपेक्षा से आत्मा में अंतर्भूत होता हो । जो भाव जीव का वैभाविकभावरूप होता है वह परनिमित्तजन्य होनेसे शुद्धात्मस्वामिक नहीं हो सकता । उसको पुद्गलपरिणाम-निमित्तक अशुद्ध आत्मा का हि विकार मानना होगा । उसे शुद्ध आत्मा का शुद्ध परिणाम नही माना जा सकता । दूसरी बात यह है कि इन क्षायोपशमिक ज्ञानरूप भावेंद्रियों का आत्मानुभूति के समय अनुभव प्राप्त नहीं होता । अतः क्षायोपशमिकज्ञानरूप भावेंद्रियां आत्मस्वामिक नहीं हैं । द्रव्येंद्रिया तो पुद्गलोपादानक और भावकर्मनिमित्तक होनेसे आत्मस्वामिक हो नहीं सकती ।

आत्मा की विभावपरिणतिरूप प्रवृत्ति से संचित हुए नोकर्मरूप पुद्गलपिण्ड को काय कहते हैं । काय पुद्गल-रूप होनेसे उसके जीवस्वामिक न होनेके विषय में कुछ लिखना बेकार है । जिसके निमित्त से कर्मरूप पुद्गलपिण्ड का संचय होता है वह आत्मप्रवृत्ति भी आत्मा का वैभाविकभावरूप है । अतः वह भी आत्मा की नहीं है । संसारी जीव की योगरूप प्रवृत्ति से संचित हुए जिस पुद्गलपिण्ड को काय कहते हैं वह औदारिकादिशरीररूप होता है । त्रसनाम-कर्म के उदय से संसारी जीव का जो शरीर बनता है उस शरीर को त्रसकाय कहते हैं और स्थावरनामकर्म के उदय से जो शरीर बनता है उसे स्थावरकाय कहते हैं । एकेंद्रियजीवों का शरीर स्थावरकाय होता है और द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेंद्रियतक के जीवों का शरीर त्रसकाय होता है । मुक्त जीव सर्वकर्मविप्रमुक्त होनेसे अकाय होता है । वह अकाय होनेसे कायवत्त्व जीव का स्वाभाविक भाव नहीं है ।

कायवाङ्मनोवर्गणानिमित्तक आत्मा के प्रदेशों के होनेवाले परिस्पंद को योग कहते हैं। योगों के कारण कर्मग्रहण करनेकी अशुद्धिशक्ति अशुद्ध आत्मा में प्रकट हुई होती है। आत्मप्रदेशों का संकोच और विस्ताररूप क्रिया भी योग कही जाती है। आत्मप्रदेश चाहे संकुचित हो या विस्तृत हो आत्मप्रदेशों का परिस्पंद होता हि रहता है। कायवर्गणाओं के निमित्त से काययोग, वाग्वर्गणाओं के निमित्तसे वाग्योग और मनोवर्गणाओं के निमित्त से मनोयोग होता है। भाव-मन क्षायोपशमिक ज्ञान की अभिव्यक्त होनेवाली अवस्थाविशेष है। वह वस्तुविचार के समय मनोवर्गणाओं के निमित्त से आत्मप्रदेशपरिस्पंदरूप से अभिव्यक्त होती है। वाग्व्यापार के समय वाग्वर्गणाओं के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों का परिस्पंद होता है उसे वाग्योग कहते हैं। आत्मप्रदेशों के परिस्पंदकाल में कण्ठोष्ठादि के वचनव्यापार शुरु होता है। कायवर्गणाओं के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों का परिस्पंद होता है उसे काययोग कहते है। आत्मप्रदेशों के परिस्पंद काल में शारीरिक क्रिया अभिव्यक्त होती है। एकेंद्रिय जीवों के सिर्फ काययोग हि होता है और द्वींद्रिय से लेकर असंज्ञी पचेंद्रियतक के जीवों के काययोग और वचनयोग होते हैं। संज्ञिपचेंद्रिय जीवों के योग होते हैं। तेरहवें गुणस्थानतक के जीवों के योग का सद्भाव रहता है। चतुर्दशगुणस्थानवर्ती अयोगकेवलिजीव और सिद्धजीव योगरहित होते हैं। ये दोनों जीव या जीव की ये दोनों अवस्थाएं अयोग होनेसे और योग नैमित्तिकभाव होनेसे योग कथमपि जीवस्वामिक नहीं हो सकता।

परिणमनशील आत्मद्रव्य के परिणाम में मैथुन के लिये जो सम्मोह (विपर्यस्त परिणति) उत्पन्न होता है उसे वेद कहते है। वेद के स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद इसप्रकार तीन भेद होते हैं। जिस नोकषायसंज्ञक कर्म के उदय से जीव में जो स्त्रैणभाव प्रादुर्भूत होता है अर्थात् पुरुष के साथ रतिक्रीडा करनेकी इच्छारूप परिणति अभिव्यक्त होती है उसे स्त्रीवेद कहते हैं, जिस नोकषायसंज्ञक कर्म के उदय से संसारी जीव में पौंस्नभाव प्रादुर्भूत होता है अर्थात् स्त्री के साथ रतिक्रीडा करनेकी अभिलाषरूप परिणति अभिव्यक्त होती है उसे पुंवेद कहते हैं और नोकषायसंज्ञक कर्म के उदय से संसारी जीव में स्त्रैणभाव और पौंस्नभाव प्रादुर्भूत होते हैं अर्थात् स्त्री और पुरुष के साथ रति-क्रीडा करने की अभिलाषरूप परिणतिया अभिव्यक्त होती हैं उसे नपुंसकवेद कहते हैं। स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद ये संज्ञाएं कार्य का कारण में उपचार करके द्रव्यकर्म के विषय में की गयी है। कारण द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्म पुद्गलोपादानक होनेसे अचेतन होता है। योनिस्तनशिश्नादि नामकर्मोदयजनित पुद्गल के परिणाम हैं। अभिलाषरूप परिणति अशुद्ध आत्मा की कर्मोदयनिमित्तजन्य विभावपरिणति है। अत. इन तीनों अपेक्षाओं से वेद-सामान्य शुद्धजीवस्वामिक नहीं है। ये तीनो वेद शुद्ध आत्मा में पाये नहीं जाते और शुद्धात्मानुभूति के साथ अनु-भवगोचर भी नही बन सकते। अत वेदों को शुद्धात्मस्वामिक नही माना जा सकता। एकेंद्रिय से लेकर असंज्ञिपंचे-द्रियतक के सभी जीव और सभी नारकी जीव नपुंसकवेदवाले होते है। देवगतिवाले जीव स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी हि होते है वे नपुंसकवेदी नहीं होते। संज्ञिपचेंद्रिय मनुष्य और अन्य जीव तीनो वेदवाले होते है। [नपुंसकवेदवाले संज्ञिपंचेंद्रिय जीव में स्त्रीभोगाभिलाष और पुरुषभोगाभिलाष क्रम से भी अभिव्यक्त हो सकते है। इस अभिलाषरूप परिणाम के एक भव में होनेवाले परिवर्तन से भाववेद का हि परिवर्तन होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है। " ननु लोके प्रतीत योनिमृदुस्तनादि स्त्रीवेदलिङ्गम । ' न, तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात् । अत. पुंसोऽपि स्त्रीवेदोदय. " (रा वा ९।८।८) अर्थ-' योनी मृदुस्तन आदि स्त्रीवेद के लिंग है यह बात लोकप्रसिद्ध है।' यह कथन (सर्वथा) ठीक नहीं है, क्यो कि योन्यादिक की रचना नामकर्मोदय के निमित्त से होती है। अत पुरुष के भी स्त्रीवेद का उदय होता है। कहने का भाव यह है कि ' जिस के द्रव्यस्त्रीवेद होता है उसके भावस्त्रीवेद हि होता -है-भावपुरुषवेद होता हि नही और जिसके द्रव्यपुरुषवेद होता है उसके भावपुरुषवेद हि होता है-भावस्त्रीवेद होता हि नही , ऐसा नियम नही है। भाववेद परिवर्तित भी होता है। द्रव्यपुरुष या स्त्री के जिस समय भावपुरुषवेद का परिणाम उत्पन्न होता है उस समय भावस्त्रीवेद का परिणाम उत्पन्न नही हो सकता। पूर्वकालीन भाववेदपरिणाम के अभाव के विना उत्तरकालीन वेदरूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं होती। अतः 'अतः पुंसोऽपि स्त्रीवेदोदय· ' इस वाक्य का ' जिस के द्रव्य और भाव की दृष्टि से पुरुषवेद होता है ऐसे पुरुष के भावस्त्रीवेद भी होता है ' ऐसा अर्थ है।

उसका अर्थ द्रव्यपुरुष के द्रव्यस्त्रीवेद भी होता है ऐसा कदापि नहीं है। यदि ऐसा अर्थ होता तो पूर्वपक्ष का प्रतिवाद करते समय 'तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्' यह हेतु कदापि नही दिया जाता। पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है कि भावस्त्रीवेद का जिसे उदय होता है उसके योन्यादिरूप द्रव्यस्त्रीलिंग होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि योन्यादि की उत्पत्ति नामकर्मोदय के निमित्त से होती है। कहनेका भाव यह है कि यद्यपि शरीर-पर्याप्ति के समय जो भाववेद होता है उसके अनुरूप हि द्रव्यवेद की निष्पत्ति होती है तो भी द्रव्यवेद की उत्पत्ति के बाद भाववेद का परिवर्तन होता हि नहीं ऐसा नियम नहीं है। द्रव्यवेद से भाववेद अन्यकाल में जुदा भी हो सकता है। इसका मतलब यह है कि भाववेद हि परिवर्तित हो सकता है — द्रव्यवेद नहीं। द्रव्यवेद की पर्याप्ति शरीरपर्याप्ति के साथ हि होती है। जब पर्याप्तावस्था को प्राप्त हुआ शरीर अन्यशरीराकार के रूप से परिणत नही हो सकता तब पर्याप्तावस्था को प्राप्त हुआ द्रव्यलिंग अन्यद्रव्यलिंगाकार के रूप में कैसे परिणत हो सकता है? गोदावरी का गोविंद-राव के रूप से परिणत होनकी घटना के बलपर द्रव्यवेद परिवर्तित होता है ऐसा नही कहा जा सकता। गोविंद जब गोदावरी के नाम से पुकारा जाता था तब वह पुरुष की चेष्टाएं किया करता था — लडकों के साथ कुश्ती लडता था। उससमय उसका पुरुषलिंग सिर्फ चमडे के पर्दे से आवृत था और उस पर्दे में एक छोटासा छिद्रमात्र था - उस स्थानपर योनि की रचना नही थी। पर्दे को हटा देनेपर पुरुषलिंग दृग्गोचर हुआ। यह घटना अपनी आखो से देखी हुई है। आजकल पाश्चात्य देशों में पुरुष अपने लिंग को स्त्रीलिंग के रूप में जो परिवर्तित करना चाहते हैं उसका कारण भावस्त्रीवेद का तीव्र उदय। अतः द्रव्यवेद का परिवर्तन असाध्य है- भाववेद का हि परिवर्तन होता है यह कथन यथार्थ और शास्त्रसम्मत है।]

'कषति आत्मगुणान् हिनस्तीति कषायः' जो आत्मगुणों का घात करती है उसे कषाय कहते है। यह भाव-कषाय है। अशुद्ध जीव का जब कषायरूप परिणमन होता है तब कर्मवर्गणाएं जीव की ओर खींची जाती है आत्मा का सम्यग्दर्शन के रूप से परिणमन नहीं होता; संयमासयम, सकलसयम और यथाख्यातचारित्र इनके रूप से आत्मा का परिणमन नही होता। ससारी सभी जीवो का कषायरूप से परिणमन होता है। जो जीव श्रेण्यारोहण करते है उनकी पूर्वावस्था में चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानतक कषायों का अभाव होने लगता है। उपशान्त-कषाय गुणस्थान में कषायों का उपशम हो जाता है और क्षीणकषाय गुणस्थान में उनका अभाव हुआ होता है। यह कषाय क्रोध, मान, माया, और लोभ इसप्रकार चार भेदों में विभक्त होता है। अपना और पर का उपघात करनेवाला (आत्मस्वभावघातक) जो क्रोधरूप परिणाम उसे क्रोध कहते है। वह पर्वतराजितुल्य पृथ्वीराजितुल्य वालुकाराजितुल्य और उदकराजितुल्य होता है। जात्यादि के मद से दूसरेके सामने अपना मस्तक न झुकानेका जो परिणाम उसे मान कहते है। वह शैलस्तम्भ, अस्थि, दारु और लता के समान होता है। दूसरे की वंचना के लिये कौटिल्य से भरा हुआ जो आत्मपरिणाम उसे माया कहते है। वह छोटे छोटे पर्ववाले बांस के, वृक्षिगत मूलके, मेष-शृंग के, गोमूत्रिका के रेखा के समान होता है। अनुग्रह करनेवाले द्रव्यादि के अभिलाषरूप जो परिणाम उसे लोभ कहते है। वह कृमिराग के, कज्जल के, कर्दम के (कीचड के) और हरिद्राराग के सदृश होता है। इन क्रोध, मान, माया और लोभ इनमें से प्रत्येक कषाय की चार अवस्थाएं होती हैं। ये चार अवस्थाएं निम्नप्रकार है- अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। अनंत संसार का कारण होनेसे मिथ्याज्ञान अनंत कहा जाता है। जिन क्रोध, मान माया और लोभ इनमें मिथ्यात्व का बंध होकर जीव को अनंत संसार में परिभ्रमण करना पडता है उन्हें अनन्तानुबंधिकषाय कहते हैं। जिनके उदय में जीव संयमासंयमसंज्ञक देश-व्रत को अल्पप्रमाण में भी धारण नहीं कर सकता वे देशप्रत्याख्यान को ढकनेवाले क्रोध, मान माया और लोभ अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहे जाते हैं। जिनके उदय से सकलसंयमसंज्ञक महाव्रत को जीव धारण नहीं कर सकता वे सकलप्रत्याख्यान को ढकनेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ प्रत्याख्यानावरणकषाय कहे जाते है। जो संयम के साथ रहनेसे उसके साथ एक बने हुए प्रकट रहते हैं अथवा इनके रहते हुए भी संयम बना रहता है वे क्रोध, मान, माया और लोभ संज्वलनकषाय कहे जाते हे। ये कषाय चारों गतियों के सभी प्राणियों के पाये जाती है।

आत्मविकास करनेवाले जीवों के भी नवमें गुणस्थानतक चारों कषायें पायी जाती हैं। नवमें गुणस्थान में लोभकषाय को छोडकर अवशिष्ट तीन कषायों का क्षय हो जाता है। लोभकषाय दशवें गुणस्थानतक पायी जाती है। उसके अन्त में हि लोभकषाय का क्षय होता है। इसके अनंतर कषायों का भी अभाव होता है। ग्यारहवें, बारहवें आदि गुणस्थानवाले जीव के और सिद्ध जीव के कषायों का अभाव होता है। अत: वे जीव अकषाय–कषायरहित कहे जाते हैं। द्रव्यकषाय पुद्‌गलोपादानक होनेसे और भावकषाय अशुद्ध जीव के नैमित्तिक भाव होनेसे कषाय शुद्धजीवस्वामिक नहीं कहे जा सकते।

जिसके द्वारा जाना गया है, जाना जाता है और जाना जायगा उसे ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के एकदेश क्षय से या संपूर्ण क्षय से अभिव्यक्त होनेवाला आत्मा का परिणाम है। इस ज्ञान के सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ऐसे दो भेद हैं। सम्यग्ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे पांच भेद हैं। केवलज्ञान को छोडकर अवशिष्ट चारों ज्ञान क्षायोपशमिकभाव होनेसे केवलज्ञान की अपेक्षा से अज्ञान या स्तोकज्ञान भी कहे जाते हैं। ये भाव अज्ञानरूप होनेपर भी मिथ्याज्ञानरूप नहीं हैं। ज्ञान का मिथ्यात्व सप्त प्रकृतियों के उदयपर अवलंबित है। सप्त प्रकृतियों के उदय से मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान के रूप से परिणत होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव मनःपर्ययज्ञानरूप से जब परिणत हि नहीं हो सकता तब मनःपर्ययज्ञान की मिथ्याज्ञान के रूप से परिणति कैसे हो सकती है? मतिज्ञान मतिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से, श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से, अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से, मनःपर्ययज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से और केवलज्ञान ज्ञानावरणादिकर्मों के संपूर्ण क्षय से अभिव्यक्त होता है। सप्त तत्त्वों को यथार्थरूप से जानने को ज्ञान कहते हैं। ये पांचों ज्ञान निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धज्ञान के नैमित्तिकपरिणाम होनेसे कथंचित् जीवस्वामिक नहीं है। शुद्धज्ञान आत्मा का स्वभावभूत भाव होनेसे नैमित्तिकभाव न होनेके कारण पारिणामिकभाव है। इस मार्गणा में पारिणामिकभावरूप शुद्धज्ञान अभीष्ट नहीं है।

इस ज्ञानमार्गणा के विषय में थोडासा अधिक प्रतिपादन किया जाना आवश्यक है। कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि इन तीन ज्ञानों की अज्ञान यह संज्ञा होनेपर भी इनकी ज्ञानसंज्ञा नष्ट नहीं होती, क्यों कि यह अज्ञानसंज्ञा ज्ञानावरणीयकर्मोदयनिमित्तक न होकर मोहनीयकर्मोदयनिमित्तक है। मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानपरिणामों की आविर्भूति ज्ञानावरणकर्म के विशिष्ट क्षयोपशमपर अवलंबित होती है। मोहनीयकर्म के उदय से उक्त तीनों ज्ञान अज्ञान कहे जाते हैं। ज्ञान की विपर्यस्तता को हि अज्ञान कहा गया है, न कि उसके अभाव को। परिणामिक भाव का सद्भाव होनेपर हि विपर्यस्त परिणाम प्रादुर्भूत हो सकता है, उसका अभाव होनेपर नहीं। अत: अज्ञान-मिथ्याज्ञान क्षायोपशमिकज्ञान का हि परिणाम है। क्षायोपशमिकज्ञान सम्यग्दृष्टिजीवस्वामिक होनेपर भी अज्ञान कहा जाता है। उसकी यह अज्ञानसंज्ञा स्तोकज्ञानत्व की – अल्पज्ञानत्व की अपेक्षा से की गयी है – मोहनीयोदय के कारण नहीं। इस अज्ञान की सामर्थ्य से मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं की जा सकती। ज्ञान की ये तीनों अवस्थाएं – परिणाम ज्ञान की अपेक्षा से क्षायोपशमिकभाव हैं और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा से औदयिकभाव है। औदयिकभाव आत्मस्वामिक क्यों नहीं हो सकते इस विषय का विवेचन पहले किया गया है। क्षायोपशमिक ज्ञान भी शुद्धात्मस्वामिक नहीं हो सकता; क्यों कि ज्ञानावरणीयकर्म के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों का क्षय और कुछ स्पर्धकों का सदुपशम होनेपर भी देशघातिस्पर्धकों का उदय उसको विश्वसाक्षी नहीं बनने देता अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान देशघातिस्पर्धकों के उदय के द्वारा नियंत्रित किया जानेके कारण उसको उस उदय के अनुसार अपनी अर्थक्रिया करनी पडती है। क्षायोपशमिकभावरूपज्ञान में देशघातक स्पर्धकों की उदितावस्था होनेसे संपूर्ण ज्ञेयों के बारेमें उसकी युगपत् प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् संपूर्ण ज्ञेय पदार्थों को उनकी सभी पर्यायों के साथ नहीं जान सकता। आत्मा का शुद्धस्वभावभूत ज्ञान सभी ज्ञेयों को उनकी सभी पर्यायों के साथ जानता है; क्यों कि उसका स्वरूप अप्रतिबद्ध होता है। क्षायोपशमिक ज्ञान अशुद्ध कहो या अपूर्ण अवस्थारूप कहो शुद्धज्ञानस्वभाव से कथंचित् भिन्न होनेसे वह कथंचित् आत्मस्वामिक होनेपर भी शुद्धात्मस्वामिक नहीं है।

प्रवृत्ति क॥प निमित्तानुकूल होनेसे उसे कर्मरूपनिमित्तकर्तृक ज्ञानसामान्योपादानक अशुद्धजीवस्वामिक विभाव ही मानना होगा । केवलज्ञानरूप क्षायिकभाव की अभिव्यक्ति भी निमित्तकर्त्रधीन है; क्यों कि इसकी अभिव्यक्ति या अनभिव्यक्ति उदयावस्थापन्न देशघातिकस्पर्धकों के और सर्वघातिकस्पर्धकों के अभाव या सद्भाव पर निर्भर करती है । जबतक उदयावस्थापन्न देशघातिस्पर्धकों का और सदवस्थ सर्वघातिस्पर्धकों का सद्भाव रहता है तबतक केवलज्ञानरूप क्षायिकभाव अभिव्यक्त नहीं होता और जब उनका अभाव होता है तब वह अभिव्यक्त होता है ।

अतः नैमित्तिकभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो केवलज्ञानरूप क्षायिकभाव कथंचित् शुद्धात्मस्वामिक नहीं है । जब पारिणामिकभाव की अपेक्षा से– ज्ञेयों को उनकी सभी पर्यायों के साथ जानने की स्वाभाविकशक्ति की अपेक्षा से देखा जाता है तब वह भाव कथंचित् शुद्धात्मस्वामिक भी है । भावों की– परिणामों की ओर जब निगाह डाली जाती है तब उनकी उत्पत्ति के उपादान और निमित्त कारणों की यथासंभव प्रधानता रहती है–कभी उपादानकारण की प्रधानता की दृष्टि से विचार किया जाता है तो कभी निमित्तकारण की प्रधानता की दृष्टि से । निमित्तकारण की प्रधानता की अपेक्षा से जब विचार किया जाता है तब औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव आत्मस्वामिक कदापि नहीं हो सकते; क्यों कि उनकी उत्पत्ति में द्रव्यकर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय हि यथाक्रम मुख्यतया कारण पडते हैं । जब परभाव रूप निमित्तकारणों की उपेक्षा की जाती है और जब उपादानकारण का हि मुख्यतया विचार किया जाता है तब उपादानकारण की अपेक्षा से ये भाव कथंचित् आत्मस्वामिक भी कहे जाते हैं । सारांश, पारिणामिकभाव को छोडकर शेष क्षायिकादिभाव परभावनिमित्तक होनेसे कथंचित् आत्मस्वामिक नहीं कहे जा सकते । शुद्धज्ञानरूप पारिणामिकभाव अनिमित्तक होनेसे आत्मस्वामिक हि होता है । केवलज्ञान परमशुद्धचैतन्यरूप भाव होनेसे आत्मा का पारिणामिकभावरूप भी है । आत्मानुभूति के समय ये भाव अनुभवगोचर नहीं होते । अतः औपशमिकादिरूप ये भाव आत्मस्वामिक नहीं हैं ।

अब संयम मार्गणापर विचार किया जाता है । गोम्मटसार में संयम का लक्षण निम्नप्रकार दिया है—

वय-समिइ-कसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जया संजमो भणिओ ।। ४६५ ।।

व्रतधारण, समितिपालन, कषायनिग्रह, अनर्थदण्डत्याग और इंद्रियजय इनको संयम कहते है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनुसार बहिरंग और अतरंग आस्रवों से विरत होनेके लिये जो व्रतधारण आदि किया जाता है उसे संयम कहते हैं । यह संयम सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातचारित्र इसप्रकार पांच प्रकार का है । सभी जीवों के विषय में साम्यभाव रखने के मानसपरिणाम को सामायिक कहते है । इसमें संपूर्ण पापक्रियाओं का त्याग किया जाता है । सामायिक का गुप्ति मे अन्तर्भाव नहीं होता; क्यों कि सामायिक में मानस प्रवृत्ति का– मनोव्यापार का सद्भाव होता है और गुप्तियो में मानस प्रवृत्ति का अभाव होता है । सामायिक का समिति में भी अन्तर्भाव नहीं होता; क्यों कि सामायिक में प्रवृत्त हुए जीव की समिति में प्रवृत्ति होनेसे समिति और सामायिक इनमें कार्यकारणभाव होता है– सामायिक कारणरूप होता है और समिति कार्यरूप होती है । दशधर्मों में जो संयम बताया गया है उसमें इस सामायिक का अंतर्भाव होता है तो भी चारित्र में जो सामायिक का अंतर्भाव किया गया है वह सामायिक मोक्षप्राप्ति का साक्षात् कारण है यह बताने के लिये किया गया है । त्रस– स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागरूप निरवद्य आचरण स्वीकृत किया गया होनेपर भी प्रमाद से होनेवाली अनर्थपरंपरा का– हिंसा का सद्भाव होनेपर उससे होनेवाले कर्मास्रवों की जो प्रतिक्रिया की जाती है अर्थात् पुनः व्रतारोपण किया जाता है उसे छेदोपस्थापना कहते हैं । अथवा विकल्पों की निवृत्ति को भी छेदोपस्थापना कहते है । कहनेका भाव यह है कि आविर्भूत होनेवाले विकल्पों को हटाकर मन को शुद्धात्मरूप ध्येयपर आरोपित करने की क्रिया को भी छेदोपस्थापना कहते हैं । प्राणिवध से निवृत्त होनेसे जिस चारित्र में विशिष्ट

प्रकार की शुद्धि होती है अर्थात् कर्मों की निर्जरा होती है उसे परिहारविशुद्धिसंयम कहते हैं। जिस मुनि की आयु तीस या बत्तीस वर्षों की हो, जो तीन से लेकर नौ वर्षोंतक भगवान् तीर्थंकर के चरणों की सेवा कर चुका हो— —चरणों में रह चुका हो, जो प्रत्याख्यानसंज्ञक नववें पूर्व का पारगामी हो, जो जतुओं के नाश के और उत्पत्ति के काल के परिणाम को और उनके उत्पत्तिस्थानभूत द्रव्यों के स्वभावों के प्रतिपादन को जानता हो, जो प्रमादरहित हो, जिसकी सामर्थ्य महान् हो, जो कर्मों की परम निर्जरा करता हो, जो अत्यंत कठिन चारित्र का पालन करता हो और जो तीनों सध्याओं को छोडकर अन्यदा दो गव्यूति अर्थात् चार मील गमन करनेवाला हो उस मुनि के परिहार-विशुद्धिसंयम होता है। सूक्ष्म और स्थूल प्राणियों के वध का परिहार करनेके कारण अप्रमत्त बना हुआ होनेसे जिस मुनि का उत्साह भग्न नहीं होता, जिसकी विशिष्ट क्रिया मे खण्ड नहीं होता, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा उद्दीपित मानसप्रयत्न के द्वारा जिसने कर्मों का नाश करने को प्रारभ कर दिया होता है, ध्यान विशेष के द्वारा जिसने कषायो को निर्बल बना दिया होता है, सूक्ष्मलोभकषाय को जिसने विनाशाभिमुख बना दिया होता है ऐसे मुनि को हि सूक्ष्मसांपरायसज्ञक सयम की प्राप्ति होती है। इस चारित्र में सूक्ष्मसज्वलनलोभकषाय का सद्भाव होनेपर उस सयमवाले जीव की विशिष्ट प्रकार की शुद्धि होती है। प्रवृत्ति का अभाव और प्राणिपीडाविरति का अभाव सूक्ष्मसापरायचारित्र मे होनेमात्र से इस सयम का गुप्ति में या समिति में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता; क्यों कि इस सयम में सूक्ष्मलोभसंज्वलनकषाय का सद्भाव होता है।

आत्मा का स्वभाव यथार्थतः जैसा होता है वैसा हि जिसमें कहा जाता है – अनुभूति के द्वारा बताया जाता है उसे यथाख्यातसंयम कहते हैं। इस सयम का दूसरा नाम अथाख्यातचारित्र भी है। सामायिक, छेदोप-स्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय इन चारित्रो को धारण करनेवालों के द्वारा जो कहा गया होता है; किंतु मोहनीयकर्म के क्षय और उपशम के पहिले प्राप्त किया गया नहीं होता है उसे अथाख्यातचारित्र कहते हैं। जब चारित्रमोहनीय का सपूर्णरूप से उपशम होता है या क्षय होता है तब अभिव्यक्त होनेवाले आत्मस्वभाव की इस सयम में अपेक्षा होती है। इस यथाख्यातचारित्र से सपूर्ण कर्मों का क्षय होता है। इस विषय का अधिक खुलासा करने के लिए श्लोकवार्तिकालङ्कार का एक उद्धरण पेश किया जाता है। देखिए––

प्रागेव क्षायिकं पूर्णं क्षायिकत्वेन केवलात् ।
न त्वघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतः ॥ ८५ ॥

" केवलात् तत् प्रागेव क्षायिक यथाख्यातचारित्र सम्पूर्णं भवत् ज्ञानकारणकं इति कथ ? " [इति] नो शङ्कनीयम्, तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्तः। विवक्षित-स्वकार्यकरणे अन्त्यक्षणप्राप्तत्व हि सम्पूर्णत्वम्। तत् च न केवलात् प्राक् अस्ति चारित्रस्य, ततः अपि ऊर्ध्वं अघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतया सम्पूर्णस्य तस्य उदयात्। न च 'यथाख्यातं पूर्णं चारित्रं' [ ] इति प्रवचनस्य बाधा अस्ति, तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात्। न हि सकलमोहक्षयात् उद्भवत् चारित्रं अंशतः अपि मलवत् इति शश्वत् अमवलत् आत्यन्तिकं तत् अभि-ध्यते। ' कथं पुनः तत् असम्पूर्णात् एव ज्ञानात् क्षायोपशमिकात् उत्पद्यमानं तथापि सम्पूर्णं ' इति चेत्, न, सकलश्रुताशेषतत्त्वार्थपरिच्छेदिनः तस्य उत्पत्तेः। ' पूर्णं तत एव तत् अस्तु ' इति चेत्, न, विशिष्टस्य स्वरूपस्य तदनन्तर अभावात्। ' किं तत् विशिष्टं रूपं चारित्रस्य ' इति चेत्, नामाद्यघा-तिकर्मत्रयनिर्जरणसमर्थं समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यान इति उक्तप्रायम्।

तद्रूपावरणं कर्म नवमं न प्रसज्यते ।
चारित्रमोहनीयस्य क्षयादेव तदुद्भवात् ॥ ८६ ॥

यत् यदात्मकं तत् तदावारककर्मणः क्षयात् उद्भवति, यथा केवलज्ञानस्वरूपं तदावरणकर्मणः क्षयात् । चारित्रात्मकं प्रकृतं आत्मनः रूपमिति चारित्रमोहनीयकर्मणः एव क्षयात् उद्भवति । न च पुनः तदावरणं कर्म नवमं प्रसज्यते, अन्यथा अतिप्रसङ्गात् ।

क्षीणमोहस्य किं न स्यादेवं तदिति चेन्न वै ।
तदा कालविशेषस्य तादृशोऽसम्भवित्वतः ॥ ८७ ॥

तथा केवलबोधस्य सहायस्याप्यसम्भवात् ।
स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते ॥ ८८ ॥

कालादिसामग्रीकः हि मोहक्षयः तद्रूपाविर्भावहेतुः, न केवलः, तथाप्रतीतेः ।

क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे ।
यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरन्त्यक्षणे मता ॥ ८९ ॥

ज्ञानावृत्यादिकर्माणि हन्तुं, तद्वदयोगिनः ।
पर्यन्तक्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ ॥ ९० ॥

'कर्मनिर्जरणशक्तिः जीवस्य सम्यग्दर्शने, सम्यग्ज्ञाने, सम्यक्चारित्रे च अन्तर्भवेत्, ततः अन्या वा स्यात् ?' तत्र न तावत् सम्यग्दर्शने ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतिचतुर्दशकनिर्जरणशक्तिः अन्तर्भवति, असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तपर्यन्तगुणस्थानेषु अन्यतमगुणस्थाने मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वभेदभिन्नदर्शनमोहक्षयात् तदाविर्भावप्रसक्तेः । 'ज्ञाने सा अन्तर्भवति' इति च अयुक्त, क्षायिके तदन्तर्भावे सयोगकेवलिनः केवलेन सह आविर्भावापत्तेः । क्षायोपशमिके तदन्तर्भावे, तेन सह उत्पादप्रसक्तेः । क्षायोपशमिके चारित्रे तदन्तर्भावे तेनैव सह प्रादुर्भावानुषङ्गात् । क्षायिके तदन्तर्भावे क्षीणकषायस्य प्रथमे क्षणे तदुद्भूतेः निद्राप्रचलयोः ज्ञानावरणादिप्रकृतिचतुर्दशकस्य च निर्जरणप्रसक्तेः न उपान्त्यसमये अन्त्यक्षणे च तन्निर्जरा स्यात् । दर्शनादिषु तदनन्तर्भावे तदावारक कर्मान्तरं प्रसज्येत, दर्शनमोहज्ञानावरणचारित्रमोहानां तदावारकत्वानुपपत्ते. । 'वीर्यान्तरायः तदावारकः' इति चेत्, न, तत्क्षयानन्तरं तदुद्भवप्रसङ्गात् । तथा च अन्योन्याश्रयणं–सति वीर्यान्तरायक्षये तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावः, तस्मिंश्च सति वीर्यान्तरायक्षयः इति । एतेन ज्ञानावरणप्रकृतिपञ्चक–दर्शनावरणप्रकृतिचतुष्टय–अन्तरायप्रकृतिपञ्चकानां तन्निर्जरणशक्तेः आवारकत्वे अन्योन्याश्रयणं व्याख्यातम् । नामादिचतुष्टयं तु न तस्याः प्रतिबन्धकं, तस्य आत्मस्वरूपाघातित्वेन कथनात् । न च सर्वथा अनावृत्तिः एव सा, सर्वदा तत्क्षयणीयकर्मप्रवृत्त्यभावानुषङ्गात् । स्यान्मतम्–"चारित्रमोहक्षये तदाविर्भावात् चारित्रे एव अन्तर्भावः विभाव्यते । न च क्षीणकषायस्य प्रथमसमये तदाविर्भावप्रसङ्गः, कालविशेषापेक्षत्वात् तदाविर्भावस्य । प्रधानं हि कारणं मोहक्षयः तदाविर्भावे सहकारिकारण अन्त्यसमयमन्तरेण न तत्र समर्थं, तद्भावे एव तदाविर्भावात्" । इति, तर्हि नामाद्यघातिकर्मनिर्जरणशक्तिः अपि चारित्रे अन्तर्भाव्यताम् । तत् न अपि क्षायिके, न क्षायोपशमिके, न अपि औपशमिके, न अपि ज्ञाने क्षायोपशमिके क्षायिके वा, तेन एव सह तदाविर्भावप्रसङ्गात् । न च अनावरणा सा, सर्वदा आविर्भावप्रसङ्गात् संसारानुपपत्तेः । न ज्ञानदर्शनावरणान्तरायैः सा प्रतिबद्धा, तेषां ज्ञानादिप्रतिबन्धकत्वेन तदप्रतिबन्धकत्वात् । न अपि नामाद्य-

घातिकर्मभिः, तत्क्षयानन्तरं तदुत्पादप्रसक्तेः। तथा च अन्योन्याश्रयणात्–' सिद्धे नामाद्यघातिक तन्निर्जरणशक्त्याविर्भावात्, तत्सिद्धौ च नामाद्यघातिक्षयात् ' इति चारित्रमोहः तस्याः प्रतिबन्धा सिद्धः। क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिः अपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणः अपेक्षणं यस्य तदा विरहात्। प्रधानं हि कारणं मोहक्षयः नामादिनिर्जरणशक्तेः न अयोगकेवलिगुणस्थानं चान्त्यान्त्यसमयं सहकारिणमन्तरेण तां उपजनयितुं अलं, सत्यपि केवले ततः प्राक् तदनुत्पत्तेः। इति न स मोहक्षयनिमित्ता अपि क्षीणकषायप्रथमक्षणे प्रादुर्भवति; न अपि तदावरणं कर्म नवमं प्रसज्यते। इति स्थित कालादिसहकारिविशेषापेक्षं क्षायिक चारित्रं क्षायिकत्वेन सम्पूर्णं अपि मुक्त्युत्पादने साक्षात् असमर्थं केवलात् प्राक्कालभावि तदकारणकम्। केवलोत्तरकालभावि तु समग्रसामग्रीकं साक्षात् मोक्षकारणं सम्पूर्णं केवलकारणकं, अन्यथा तदघटनात् ।

क्षायिक यथाख्यातचारित्र केवलज्ञान के पूर्वकाल में हि क्षायिकत्वरूप से परिपूर्ण है, किंतु अघातिकर्मों का प्रतिध्वंस करनेवाले सहकारिकारणसहित होनेकी अवस्थावाला होनेसे सम्पूर्ण नहीं है ॥ ८५ ॥

' वह क्षायिक यथाख्यातचारित्र केवलज्ञान के पूर्वकाल में हि सपूर्णता को प्राप्त होता है। अतः केवलज्ञान को उसका सहकारिकारण कैसे मान जाय ? ' ऐसी शका नहीं करनी चाहिये; क्यों कि जो यथाख्यातचारित्र केवलज्ञान के पूर्वकाल में पूर्णता को प्राप्त होता है उसको जीव की मुक्तावस्था की उत्पत्ति करते समय विशिष्ट सहकारिकारण की अपेक्षा होनेसे उसका पूर्णत्व घटित नहीं होता–सिद्ध नहीं होता। अपना अभिप्रेत कार्य करतेसमय अन्त्यक्षण को प्राप्त होनेका नाम हि सपूर्णत्व है। केवलज्ञानोत्पत्ति के पहले वह अन्त्यक्षण को प्राप्त होनारूप सपूर्णत्व यथाख्यात-चारित्र में उत्पन्न नही हुआ है; क्यों कि बारहवे गुणस्थान में उत्पन्न होनेके समय के बाद भी अघातिकर्मों का प्रतिध्वस करनेवाला सहकारिसाधनसहित होनेकी अवस्थावाला होनेसे सपूर्णता को प्राप्त हुए उस यथाख्यातचारित्र की अभिव्यक्ति होती है। 'यथाख्यातचारित्र पूर्ण चारित्र होता है ' यह आगम का वाक्य बाधित नहीं होता; क्यों कि यह चारित्र बारहवें गुणस्थान में जब अभिव्यक्त होता है तब वह क्षायिकभावरूप होनेसे वह पूर्णरूप होता है ऐसा बताया गया है। सपूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय हो जानेसे उत्पन्न होनेवाला वह यथाख्यातचारित्र अल्पप्रमाण में भी मलयुक्त नहीं होता इसलिए सर्वदा आत्यन्तिकरूप से मलरहित होनेवाले उसकी प्रशसा की जाती है। 'क्षायोपशमिक असम्पूर्णज्ञान के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला होनेपर भी वह यथाख्यातचारित्र सपूर्ण कैसे हो सकता है ? ' ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्यो कि सम्पूर्ण पदार्थों को जाननेवाले सकलश्रुतज्ञानरूप सहकारिकारण से यथा-ख्यातचारित्र की उत्पत्ति होती है। 'जब वह सपूर्ण ज्ञेयो को जाननेवाले श्रुतज्ञान के निमित्त से उत्पन्न होता है तब वह यथाख्यातचारित्र पूर्णरूप होना चाहिये ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि सकलश्रुतज्ञानरूप सहकारिकारण की सहायता से उत्पन्न होनेके बाद बारहवें गुणस्थान में विशिष्ट स्वरूप का उसमे अभाव होता है। ' चारित्र का वह विशिष्ट रूप कौनसा होता है ? ' ऐसा पूछा जानेपर आचार्य उत्तर के रूप में कहते है कि नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघातिकर्मो की निर्जरा करनेमे समर्थ समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिनामक ध्यान है यह प्रायः पहले कहा गया है।

जो क्षायिकचारित्ररूप होता है ऐसे यथाख्यातचारित्र को प्रच्छादित करनेवाले नववें कर्म के (स्वतंत्र) अस्तित्व को स्वीकार करनेका प्रसग उपस्थित नहीं होता; क्यों कि उस यथाख्यातचारित्र की उत्पत्ति चारित्रमोह-नीय का क्षय होनेपर ही होती है ॥ ८६ ॥

जो जिस स्वरूपवाला होता है वह उस स्वरूप को आवृत करनेवाले कर्म का क्षय होनेपर आविर्भूत होता है जैसे केवलज्ञान के स्वरूप को आवृत करनेवाले (अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय होनेपर केवलज्ञान का स्वरूप प्रकट होता है। आत्मा का प्रकृतरूप चारित्रात्मक अर्थात् चारित्रस्वरूप होनेसे चारित्र-मोहनीयकर्म का हि क्षय होनेसे चारित्रात्मकरूप अर्थात् यथाख्यातचारित्र प्रकट होता है। उस यथाख्यातचारित्र को

आवृत करनेवाले नववें कर्म को स्वीकार करनेका प्रसंग उपस्थित नहीं होता। यदि नववें कर्म को स्वीकार किया तो अतिप्रसंग उपस्थित हो जायगा।

'जिसका मोहनीयकर्म सपूर्णरूप से क्षीण–नष्ट हो गया होता है ऐसे द्वादशगुणस्थानवर्ती जीव के वह यथाख्यातचारित्र सपूर्ण क्यो नहीं होता ?' ऐसा प्रश्न किया जाना ठीक नहीं है; क्यो कि बारहवे गुणस्थान में सहकारिकारणभूत अन्त्यक्षणरूप कालविशेष का और केवलज्ञान का अभाव होता है। सहकारिकारणरूप सामग्री के अभाव में (कार्य का उत्पाद) कदापि नहीं देखा जाता ॥ ८७–८८ ॥

कालादिसामग्रीसहित हि मोहक्षय (चारित्रमोह का क्षय) यथाख्यातचारित्र की पूर्ण अवस्था की उत्पत्ति का निमित्तकारण होता है–सहकारिसामग्रीरहित मोहक्षय उसकी पूर्ण अवस्था की उत्पत्ति का निमित्तकारण नहीं होता; क्यो कि उसीप्रकार की प्रतीति होती है।

बारहवें गुणस्थान के प्रथम क्षण में चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय हो जानेपर भी जिसप्रकार ज्ञानावरणादि-कर्मों का क्षय करनेकी शक्ति क्षीणकषायगुणस्थान के अन्त्यक्षण में अभिव्यक्त होती है ऐसा माना गया है उसीप्रकार शेष अघातिकर्मों का क्षय करनेके विषय में यह शक्ति अयोगकेवलिगुणस्थान के अन्त्यक्षण में हि अभिव्यक्त होती है ॥ ८९–९० ॥

कर्मो की निर्जरा करनेकी शक्ति जीव के सम्यग्दर्शन में या सम्यग्ज्ञान में अथवा सम्यक्चारित्र मे अन्तर्भूत होती है या उससे भिन्न होती है क्या ? ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार ओर अन्तराय कर्म की पाच इसप्रकार चौदहो कर्मप्रकृतियो की निर्जरा करनेकी शक्ति उनमेसे सम्यग्दर्शन मे अन्तर्भूत नहीं होती; क्यो कि असयतगुणस्थान से लेकर अप्रमत्तगुणस्थानपर्यंत के गुणस्थानो में से किसी एक गुणस्थान मे दर्शनमोहनीय का क्षय हो जानेसे उक्त चौदहों प्रकृतियो की निर्जरा करनेकी शक्ति का उस गुणस्थान मे प्रादुर्भाव होनेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। (कहनेका भाव यह है कि चौथे से सातवे तक के किसी एक गुणस्थान में दर्शनमोहनीयकर्म का क्षय होकर क्षायिक सम्यग्दर्शन अभिव्यक्त हो जानेसे उसमे चौदह कर्मप्रकृतियो की निर्जरा करनेकी शक्ति का अन्तर्भाव किया जानेसे उसी गुणस्थान मे उक्त चौदह कर्मप्रकृतियो का नाश हो जायगा, सातवे से बारहवें तक के गुणस्थान विफल अथवा अनावश्यक बन जायगे और उसी विशिष्ट गुणस्थान के अन्त्यसमय के बाद हि केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जायगी।) 'ज्ञानावरणादि चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करने की शक्ति ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) में अन्तर्भूत होती है' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्यों कि क्षायिकज्ञान में चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करनेकी शक्ति का अन्तर्भाव किया जानेपर सयोगकेवली का केवलज्ञान जब आविर्भूत होता है उसीसमय उस शक्ति का आविर्भाव होनेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। [उक्त चौदह प्रकृतियों की निर्जरा करनेकी शक्ति के प्रादुर्भाव के बिना केवलज्ञान की आविर्भूति होना असभव है। केवलज्ञान की आविर्भूति के बिना उक्त कर्मनिर्जरणशक्ति का आविर्भाव न होनेसे और उक्त शक्ति के आविर्भाव के बिना केवलज्ञान का आविर्भाव न होनेसे केवलज्ञान और उक्त निर्जरणशक्ति इनमें कार्यकारणभाव घटित नहीं होता। अत. उक्त कर्मनिर्जरणशक्ति का क्षायिकज्ञान में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।] उस कर्मनिर्जरणशक्ति का क्षायोपशमिक ज्ञान में अन्तर्भाव किया गया तो क्षायोपशमिकज्ञान के साथ उक्त चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करनेकी शक्ति का आविर्भाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। [मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान ये ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और सम्यग्ज्ञानरूप भी हैं। सम्यक्त्व की उत्पत्ति होते हि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप से परिणत हो जाते है। उक्त कर्मनिर्जरणशक्ति का इन ज्ञानों में अन्तर्भाव किया गया तो चौथे गुणस्थान के प्रथम समय में हि चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करनेकी शक्ति आविर्भूत हो जायगी और केवलज्ञान भी अभिव्यक्त हो जायगा। उसका यदि अवधिज्ञान में अन्तर्भाव किया गया तो अवधिज्ञान चौथे गुणस्थान में भी प्रादुर्भूत होता है। इस कारण उस शक्ति का और केवलज्ञान का आविर्भाव इसी चौथे गुणस्थान में होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। परमावधि और सर्वावधि छठवें गुणस्थान

में अभिव्यक्त होते हैं। अतः इसी गुणस्थान में उक्त कर्मनिर्जरणशक्ति का और केवलज्ञान का आविर्माव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। मनःपर्ययज्ञान भी छठे गुणस्थान में अभिव्यक्त होता है। अतः उसी गुणस्थान में उक्त कर्मनिर्जरणशक्ति का और केवलज्ञान का आविर्भाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। सारांश, सम्यग्ज्ञान में कर्मनिर्जरणशक्ति का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।] कर्मनिर्जरणशक्ति का क्षायोपशमिकचारित्र में अन्तर्भाव किया गया तो क्षायोपशमिकचारित्र जिससमय आविर्भूत होता है उसीसमय कर्मनिर्जरणशक्ति का प्रादुर्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। [क्षायोपशमिकचारित्र का आविर्भाव पांचवें, छठवें और सातवें गुणस्थान मे होता है। अतः उक्त तीन गुणस्थानों में उक्त चौदह प्रकृतियो की निर्जरा करनेकी शक्ति का और केवलज्ञान का प्रादुर्भाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है।] क्षायिकचारित्र मे उक्त चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करनेवाली शक्ति का अन्तर्भाव किया गया तो बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान में प्रथम क्षण में क्षायिक चारित्र (यथाख्यातचारित्र) आविर्भूत हो जानेसे उसी गुणस्थान के प्रथम क्षण में निद्रा और प्रचला तथा ज्ञानावरणादि चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे उस गुणस्थान के उपान्त्यक्षण में निद्रा और प्रचला इनकी और अन्त्यक्षण में ज्ञानावरणादि चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा नहीं होगी। [बारहवें क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम क्षण मे हि निद्रा, प्रचला और ज्ञानावरणादि चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है।] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करनेवाली शक्ति का अन्तर्भाव न किया गया तो उस शक्ति को आवृत करनेवाले अन्यकर्म का सद्भाव माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा; क्यों कि दर्शनमोह, ज्ञानावरण और चारित्रमोह इनकी उक्त कर्मनिर्जरणशक्ति को आवृत करनेकी शक्ति घटित-सिद्ध नहीं होती। वीर्यान्तराय कर्म उस शक्ति को आवृत करता है ऐसा कहना हो तो वह ठीक नहीं है; क्यो कि वीर्यान्तरायकर्म का क्षय होनेके बाद उक्त शक्ति का आविर्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। वीर्यान्तरायकर्म का क्षय होनेपर उस शक्ति का आविर्भाव होनमे 'वीर्यान्तरायकर्म का क्षय होनेपर उस निर्जरणशक्ति का आविर्भाव होना और उक्त निर्जरणशक्ति का आविर्भाव होनेपर वीर्यान्तरायकर्म का क्षय होना' इसप्रकार का अन्योन्याश्रयनामक दोष आकर उपस्थित हो जाता है। इससे ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार और अन्तराय की पांच प्रकृतियां उन चौदह कर्मों की निर्जरा करनेकी शक्ति को आवृत करती है ऐसा माननेमे आनेवाले अन्योन्याश्रयदोष का स्पष्टीकरण हो गया। नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु ये चार अघातिकर्म उक्त चौदह प्रकृतियों का क्षय करनेकी शक्ति के प्रतिबंधक नहीं है, क्यो कि चारों अघातिकर्म आत्मस्वरूप के घातक नहीं है ऐसा कहा गया है। वह चौदह कर्मप्रकृतियों की निर्जरा करनेकी शक्ति आवरणरहित हि है ऐसा नहीं है; क्यों कि उस शक्ति के द्वारा क्षय करनेयोग्य कर्मप्रकृतियों का सर्वथा अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। 'चारित्रमोहनीय का क्षय होनेपर ज्ञानावरणादिकर्मों की चौदह प्रकृतियों का क्षय करनेकी शक्ति का आविर्भाव–अभिव्यक्तता होनेसे उसका चारित्र में हि अन्तर्भाव निश्चित किया जाता है। क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम समय में उक्त चौदह कर्मप्रकृतियो का नाश करनेकी शक्ति का प्रादुर्भाव होनेका प्रसंग भी उपस्थित नहीं होता; क्यों कि उस चौदह कर्मप्रकृतियो का क्षय करनेकी शक्ति के आविर्भाव को कालविशेष की अपेक्षा होती है। प्रधानकारणभूत मोहक्षय उक्त चौदह प्रकृतियों का क्षय करनेकी शक्ति का आविर्भाव होनेपर भी सहकारिकारणभूत बारहवें गुणस्थान के अंत्यसमय के विना उन चौदह कर्मप्रकृतियों का क्षय करनेमे समर्थ नहीं होता; क्यो कि सहकारिकारणरूप अंत्यसमय का सद्भाव होनेपर हि उस उक्त चौदह कर्मप्रकृतियों का क्षय करनेकी शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।' ऐसा अभिप्राय हो तो नाम, गोत्र आदि अघातिकर्मों का क्षय करनेकी शक्ति का भी चारित्र में अन्तर्भाव करना चाहिये। नाम, गोत्र आदि अघातिकर्मों का क्षय करनेकी शक्ति का अन्तर्भाव न क्षायिक सम्यग्दर्शन में किया जा सकता है, न क्षायोपशमिकदर्शन में और न औपशमिकदर्शन में भी और न क्षायोपशमिक या क्षायिक ज्ञान में भी किया जा सकता है; क्यों कि उक्त दर्शन और ज्ञान के आविर्भाव के समय नामादि अघातिकर्मों का क्षय करनेकी शक्ति का आविर्भाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। नामादि अघातिकर्मों का क्षय करनेकी शक्ति आवरणरहित नहीं हो सकती; क्यों कि अनावरण होनेसे

सदाकाल उसका आविर्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित होनेसे जीव की संसारावस्था का सद्भाव घटित नहीं होता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन कर्मों के द्वारा वह शक्ति प्रतिबद्ध नहीं हुई है; क्यों कि वे कर्म ज्ञानादि का प्रतिबंध करनेवाले होनेसे उक्त शक्ति के प्रतिबंधक नहीं हो सकते। नाम, गोत्र आदि अघातिकर्मों के द्वारा भी वह शक्ति प्रतिबद्ध नहीं हुई है; क्यों कि उन अघातिकर्मों का क्षय होनेपर उस शक्ति की प्रादुर्भूति होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। अघातिकर्मों के नाश के बाद उन कर्मों का क्षय करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होनेपर नामादि अघातिकर्मों के क्षय की सिद्धि होनेपर उन अघातिकर्मों का क्षय करनेकी शक्ति का आविर्भाव होनेसे और अघातिकर्मों की निर्जरा करनेकी शक्ति की सिद्धि होनेपर नामादि अघातिकर्मों का सद्भाव होनेसे अन्योन्याश्रयनामक दोष उपस्थित हो जाता है। इसी कारण से नामादि अघातिकर्मों का क्षय करनेकी उस शक्ति का प्रतिबंधक चारित्रमोह है यह बात सिद्ध हो जाती है। क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम समय में उक्त शक्ति का आविर्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है ऐसा भी नहीं कहना चाहिये; क्यों कि अपेक्षणीय कालविशेषरूप सहकारिकारण का उस समय अभाव होता है। नाम, गोत्र आदि अघातिकर्मों की निर्जरा करनेवाली शक्ति का प्रधानकारणभूत मोहक्षय अयोगकेवलिगुणस्थान के उपान्त्य और अन्त्य समयरूप सहकारिकारण के विना उस शक्ति का उत्पादन करनेके लिए समर्थ नहीं है क्यों कि केवलज्ञान का सद्भाव होनेपर भी अयोगकेवलिगुणस्थान के उपान्त्य और अन्त्य समय के पूर्वकाल में अघातिकर्मों की निर्जरा करनेकी शक्ति का आविर्भाव नहीं होता। इसकारण मोहक्षयनिमित्तक होनेपर भी वह अघातिकर्मों का क्षय करनेवाली शक्ति का क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम क्षण मे प्रकट नहीं होता। उस शक्ति को आवृत करनेवाले नववें कर्म को स्वीकार करनेका प्रसंग भी उपस्थित नहीं होता। इसप्रकार कालादिरूप विशिष्ट सहकारिकारण की अपेक्षा करनेवाला क्षायिकचारित्र-यथाख्यातचारित्र क्षायिकरूपसे संपूर्ण होनेपर भी केवलज्ञानोत्पत्ति के पूर्वकाल में आविर्भूत होनेसे केवलज्ञान उसका सहकारिकारण न होनेके कारण साक्षात् मोक्ष का उत्पादन करनेमे समर्थ नहीं होता। केवलज्ञान की उत्पत्ति होनेके अनंतर जो क्षायिकचारित्र-यथाख्यातचारित्र होता है वह साक्षात् मोक्षोत्पत्ति की कारणभूत संपूर्णता को प्राप्त होनेवाला होता हुआ केवलज्ञाननिमित्तक होता है; क्यों कि केवलज्ञानरूप सहकारिकारण के अभाव मे उसकी पूर्णता घटित-सिद्ध नहीं होती। [श्लोकवार्तिकालंकार, अ १, सूत्र १]

आचार्य विद्यानन्द महाराज के उक्त कथन का अभिप्राय निम्नप्रकार है—यथाख्यातचारित्र क्षायिकचारित्र है और चारित्रमोहनीय का क्षय हो जानेपर क्षीणकषायगुणस्थान के आरंभकाल में उसकी अभिव्यक्ति पूर्णरूप से होनेसे वह अभिव्यक्ति की दृष्टि से पूर्ण कहा जाता है। यह चारित्र पूर्णरूप से अभिव्यक्त होनेपर भी क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन कर्मों का क्षय करनेकी सामर्थ्य उसमें नही होती। क्षीणकषायगुणस्थान के अन्त्यसमयरूप सहकारिकारण के मिल जानेपर हि उक्त ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का क्षय करनेकी उस यथाख्यातचारित्र की शक्ति अभिव्यक्त होती है। यद्यपि नामादि अघातिकर्मों का क्षय यथाख्यातचारित्र से हि होता है तो भी उक्त नामादिकर्मों का क्षय करनेकी वह शक्ति सहकारिसामग्री के विना अभिव्यक्त नहीं होती। अघातिकर्मों का क्षय करनेकी उस चारित्र की शक्ति केवलज्ञानरूप और अयोगकेवली के अन्त्यसमयरूप सामग्री मिल जानेपर जब उस चारित्र की समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानरूप अवस्था अभिव्यक्त होती है तब अभिव्यक्त होती है और तब नामादि अघातिकर्मों का क्षय हो जाता है। यथाख्यातचारित्र को आवृत करनेवाला कर्म चारित्रमोहनीय हि है—आठ कर्मों से व्यतिरिक्त नववां कर्म नहीं है। यहां संस्मरणीय बात यह है कि कर्मों की निर्जरा करनेकी शक्ति चारित्र में हि अन्तर्भूत होती है अर्थात् चारित्र की हि है—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की नहीं है। सारांश, यद्यपि अभिव्यक्ति की अपेक्षा से यथाख्यातचारित्र क्षीणकषायगुणस्थान के प्रथम समय में हि पूर्णरूप कहा गया है तो भी वह शक्ति की अपेक्षा से चौदहवें गुणस्थान के अन्त्यसमय में हि पूर्णरूप होता है।

इसी संयममार्गणा का अधिक खुलासा करने के लिए और एक प्रमाण पेश किया जाता है। देखिए—

अत्राप्यभेदापेक्षया पर्यायस्य पर्यायिव्यपदेशः । सम् सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानुसारेण यतः बहिरङ्गान्तरङ्गास्रवेभ्यो विरताः संयताः । 'सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मि' इति सकलसावद्ययोगवि-

रतिः सामायिकशुद्धिसंयमो द्रव्यार्थिकत्वात् । 'एवंविधैकव्रतो मिथ्यादृष्टिः किं न स्यात् ? ' इति चेत्, न, आक्षिप्ताशेषविशेषसामान्यार्थिनो नयस्य सम्यग्दृष्टित्वविरोधात् । "'आक्षिप्ताशेषरूपमिव सामान्यम्' इति कुतोऽवसीयते ? " इति चेत् , सर्वसावद्ययोगोपादानात् । न ह्येकस्मिन् सर्वशब्दः प्रवर्तते, विरोधात् । स्वान्तर्भाविताशेषसंयमविशेषैकयमः सामायिकशुद्धिसंयमः इति यावत् । तस्य एकस्य व्रतस्य छेदेन द्वित्र्यादिभेदेनोपस्थापनं व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः । सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानाद् द्रव्यार्थिकनयः सामायिकशुद्धिसंयमः । तदेवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा विपाट्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयमः । निशितबुद्धिजनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयादेशना, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयादेशना । ' ततो नानयोः संयमयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति द्वितयदेशेनानुगृहीत एक एव संयमः ' इति चेत् , न एष दोषः, इष्टत्वात् । अनेनैवाभिप्रायेण सूत्रे पृथक् न शुद्धिसंयतग्रहणं कृतम् । [धवला, सत्प्ररूपणा, सू. १२३]

यहांपर भी अभेद की अपेक्षा से पर्याय का पर्यायिरूप से निर्देश किया गया है । ' सम् ' इस उपसर्गात्मक शब्द का अर्थ ' सम्यक् ' ऐसा होता है । अतः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इनका अनुसरण करते हुए अर्थात् उल्लघन न करते हुए जो यत होते हैं – बहिरंग (द्रव्यकर्मरूप) और अंतरंग (भावकर्मरूप) आस्रवों से विरत होते हैं– दोनों प्रकार के आस्रव नहीं होने देते वे संयत कहे जाते हैं । ' सभी दोषों के सबध से' मे (अर्थात् मेरी आत्मा) पृथक् हूं ' इसप्रकार सभी दोषों के सबंध से जिसने छुटकारा पाया होता है उसके सामायिकशुद्धिनामक संयम होता है ; क्यों कि वह द्रव्यरूप अर्थ को (निर्दोष आत्मा के स्वरूप को) प्राप्त करने का अभिलाष करता है । ' इसप्रकार के एक व्रत को (सामायिकशुद्धिसंयममात्र को) धारण करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं होगा? ' इसप्रकार का आक्षेप किया जाता हो तो वह ठीक नहीं है; क्यों कि जिसमे सपूर्ण विशेषों का (पर्यायो का) अन्तर्भाव किया गया होता है ऐसे सामान्यमात्र को ग्रहण करनेवाले (द्रव्यार्थिक) नय के समीचीनदृष्टिरूप होनेमें किसी प्रकार का विरोध नहीं होता । " ' सभी दोषों से मे पृथक् हू अर्थात् सभी दोषों का मे स्वामी नहीं हूं ' इस वाक्योक्त सामान्य में सपूर्ण विशेषों का (पर्यायों का) अन्तर्भाव किया गया है यह कैसे जाना गया है ? " ऐसा प्रश्न हो तो इसका उत्तर " ' सर्वसावद्ययोग ' इस पद का उक्त वाक्य में ग्रहण किया जानेसे ' सामान्य में संपूर्ण विशेषों का अन्तर्भाव किया गया है ' यह बात जानी जाती है " ऐसा है । एक के विषय में ' सर्व ' इस दर्शकसर्वनाम की प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्यों कि ' एक ' और ' सर्व ' (बहु) इनमे विरोध होता है । [कहने का भाव यह है कि दोष एकमात्र होनेसे उससे विरतिरूप सयम यदि एकमात्र हि होता तो ' सर्व ' इस दर्शकसर्वनाम का प्रयोग नहीं किया जाता । इससे स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य सयम के विशेषरूप अनेक सयम होते है और उसका सामान्य संयम में अंतर्भाव होता है ।] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सामायिकशुद्धिसयम एकसंयमरूप होनेपर भी उसने अपने में संयम के सभी विशेषों को – भेदों को अतर्भूत कर लिया है । उस एक सयम को अर्थात् सामायिकसयम को छोडकर ग्रहण किये गये सावद्यव्यापाररूप पर्याय का प्रायश्चित्त के द्वारा नाश करके अपनी आत्मा को व्रतधारणादि पाचप्रकार के सयमरूप धर्म मे जो स्थापित करता है उसके छेदोपस्थापनशुद्धिसंयम होता है ।

सपूर्ण संयमों को एकरूप अवस्था को प्राप्त कराकर एकसंयम को धारण करनेसे द्रव्यार्थिकनय का आलम्बन करनेवाले के सामायिकशुद्धिसयम होता है । उसी एक संयम को पांच या अनेक प्रकार के भेद करके धारण करने से पर्यायार्थिकनय का आलबन करनेवाले के छेदोपस्थापनाशुद्धिसयम होता है । द्रव्यार्थिकनय का प्रतिपादन तीक्ष्णबुद्धिवाले मनुष्यों के अनुग्रह के लिये होता है और पर्यायार्थिकनय का प्रतिपादन मंदबुद्धिवाले मनुष्यों के अनुग्रह के लिये होता है । ' तब तो सामायिकशुद्धिसयम और छेदोपस्थापनशुद्धिसयम इनमें व्रताचरण की दृष्टि से भेद न होनेसे दो प्रकार के भेदों से स्वीकृत किया गया सयम एक हि है ' ऐसा कहना हो तो यह कोई दोष नहीं है;

क्यों कि यह कथन हमें इष्ट – अभिप्रेत हि है। इसी हि अभिप्राय को लेकर सूत्र में 'शुद्धिसयत' इस पद का पृथक्तया ग्रहण नहीं किया गया है।

विशेष– जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त होते हुए भावास्रवरूप से परिणत नहीं होते और भावास्रव के द्वारा होनेवाले द्रव्यकर्मों के आस्रव को रोकते है उन्हें संयत कहा जाता है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनरूप विभावपरिणामों से द्रव्यकर्मों का आस्रव होता है। यह विभावभावरूपपरिणतिया दोषरूप हैं। इन परिणतियों को जो उत्पन्न नहीं होने देते वे संयत कहे जाते हैं। सामान्यतः दोष एक हि होता है; किंतु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उसके अनेक भेद – पर्याय होते है। इन पर्यायो का एकदोषरूप सामान्य में अन्तर्भाव होना है। दोषो का यह एकत्व द्रव्यार्थिकनयावलंबन होता है। सभी दोषो से रहित होना द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से एक दोष से रहित होनेके समान है। एक दोष से रहित होना एकव्रतरूप होना है और अनेक दोषो से निवृत्त होना अनेकव्रतरूप होना है। व्रतों का एकत्व द्रव्यार्थिकनयाश्रित है और अनेकत्व पर्यायार्थिकनयाश्रित है। भेदरहित सकलदोषनिवृत्तिरूप एक संयम में पर्यायरूप संयमों का द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से अन्तर्भाव होता है। जिसमें सभी संयमों का अंतर्भाव होता है ऐसे एक संयम को जो धारण करता है उसे सामायिकशुद्धिसंयम से युक्त संयत कहते है। इस प्रकार के एकव्रत को धारण करनेवाला मिथ्यादृष्टि नही कहा जा सकता; क्यों कि द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से एक संयम में सभी संयमों का अन्तर्भाव होनेसे और एक संयम में अवशिष्ट संयमों के सर्वथा अभाव का ग्रहण न होनेसे सामायिकशुद्धिसंयम से युक्त जीव मिथ्यादृष्टि नही हो जाता। दूसरी बात यह है कि, पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से प्रत्येक संयम अपने स्वरूप की दृष्टि से भिन्न होनेसे पूर्वपूर्व के संयम में यद्यपि अन्तर्भूत नहीं होता तो भी पूर्वपूर्व संयम का उत्तरोत्तर संयम में अंतर्भाव होता हि नही ऐसा नियम नहीं हो सकता; क्यों कि अवयवी में अवयवों का अन्तर्भाव होना है। यथाख्यातचारित्र क्षायिकचारित्र होनेसे संपूर्ण चारित्र है। इस चारित्र में अवशिष्ट चारित्रों का अपने विशेष की अपेक्षा से यद्यपि अन्तर्भाव नहीं होता तो भी चारित्रसामान्य की अपेक्षा से कहो या अशांशिभाव की अपेक्षा से कहो उनका यथाख्यातचारित्र में अन्तर्भाव हो सकता है। अत सामायिकचारित्रादि से यथाख्यातचारित्र सर्वथा भिन्न न हो सकने के कारण उसमें भी एक अपेक्षा से यथाख्यातचारित्र का अभावः और सामान्य की अपेक्षा से सद्भाव मानना होगा। जीव की जब सम्यग्दर्शन के रूप में परिणति होने लगती है तब उस जीव के स्वरूपाचरणचारित्र होता है। उस समय दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतियों का उपशम या क्षय होनेसे मोहक्षोभविहीन होनेके कारण उसकी निर्विकार अवस्था होती है। उसकी इस निर्विकार स्वरूप के विना उसे आत्मा की अनुभूति नहीं हो सकती। इस आत्मानुभूति का नाम हि स्वरूपाचरणचारित्र है। चारित्र के विना कर्मों की अंशतः या पूर्णतः निर्जरा नहीं हो सकती। चतुर्थगुणस्थान की उस प्रमान अवस्था मे अभिव्यक्त होनेवाला स्वरूपाचरणचारित्र अनंतानुबंधी की चार प्रकृतियो के उपशम या क्षय के विना नहीं हो सकता। गाढसम्यग्दृष्टि जीव नारकी, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, दुष्कुलोत्पन्न, विकृत, अल्पायु और दरिद्र नहीं होता। इसका कारण अनन्तानुबंधिचतुष्टय का उपशम या क्षय होता है। नरकगति और नरकायु का बंध होनेके बाद सम्यक्त्वपर्याय की उत्पत्ति होनेपर स्थितिबंध में जो तरतमता होती है उसका कारण अनंतानुबंधी का क्षय होना है। महाराजा श्रेणिक को सातवें नरक का बंध होनेके बाद सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो जानेसे उसके स्थितिबंध में हीनता प्रादुर्भूत होनेपर उसे सिर्फ प्रथमनर्क को हि जाना पडा। सप्तम नरकभूमि को उत ले जानेवाले कर्मों का जो अभाव हुआ वह अनतानुबंधिचतुष्टय के अभाव से हि हुआ, क्यों कि चारित्र के विना कर्मों का अभाव होना असंभव है। यह अंतर अनतानुबंधी के अभाव के कारण से हि अभिव्यक्त हुआ; क्यों कि चारित्र के बिना कर्मनिर्जरा और कर्मनिर्जरा के विना स्थितिबंध में तरतमता नहीं हो सकती। सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भी उत्पत्ति होती है। इन तीनों की एकरूपता के विना सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होना असंभव है। इस समय जो सम्यक्चारित्र प्रादुर्भूत होता है उसीका हि नाम स्वरूपाचरणचारित्र है। इस चारित्र का स्वरूप आचार्य अमृतचंद्रसूरीश्वर ने 'स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः' [प्रव. सार, गाथा

७ की आ. ख्या. टी.] इन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया है । प्रवृत्ति का विषयभूत जो स्वसमय है वह अशुद्धावस्थ आत्मा नहीं हो सकता; क्यों कि वह अशुद्धावस्थ हुआ तो अशुद्धात्मस्वरूप का हि श्रद्धान – रुचि करने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है । अशुद्धात्मा की रुचि से आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होना असभव है; क्यों कि ऐसी आत्मा का प्राप्य अशुद्ध आत्मा हि हो सकती है । यथाख्यातचारित्र शुद्ध आत्मा की अनुभूतिरूप होता है । अतः स्वरूप की–समय की–स्वसमय की अपेक्षा से स्वरूपाचरणचारित्र और यथाख्यातचारित्र में भेद नहीं है । जो भेद है वह सिर्फ कालमर्यादा की अपेक्षा से । स्वरूपाचरणचारित्र के रूप से परिणत होनेवाले जीव की आत्मानुभूति का काल बिजली की तरह अत्यत स्वल्प होता है । चारित्रसामान्य की अपेक्षा से स्वरूपाचरणचारित्र का अंतर्भाव यथाख्यातचारित्र में होता है; क्यों कि यथाख्यातचारित्र अभिव्यक्ति की अपेक्षा से सपूर्ण चारित्र है । प्रारंभिक अवस्था का गर्भ और गर्भाशय से बाहर निकला हुआ बालक इनमें सर्वथा भेद नही होता । जो कथंचित् भेद होता है वह अवस्थाकृत हि होता है । इसीप्रकार प्रारंभिकचारित्र और पूर्णचारित्र इनमें सर्वथा भेद न होकर अवस्थाकृत हि भेद होता है । अतः प्रारंभिकचारित्र और सपूर्णचारित्र इनमें द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से भेद नहीं है, फिर भले हि पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से उनमे कथचित् भेद हो । साराश, अशकल्पना की दृष्टि से सम्यक्त्व की आविर्भूति के काल में यथाख्यातचारित्र का द्रव्यार्थिकनयानुसार सद्भाव मानने में किसी प्रकार का दोष नही है । सपूर्ण यथाख्यातचारित्र सम्यक्त्व की आविर्भूति के काल में पर्यायार्थिकनयानुसार सद्भूत नहीं होता यह कथन भी मिथ्या नही है ।

अब दर्शन मार्गणापर विचार किया जाता है । ससार मे जितने भी ज्ञेय पदार्थ है वे सभी के सभी स्वभावतः सामान्यविशेषात्मक होते है । आत्मा भी ज्ञेय पदार्थ है । अतः वह भी सामान्यविशेषात्मक होना चाहिये और होना भी है । सामान्य महासत्ता और अवातर सत्ता के रूप से दो प्रकार का होता है । अवान्तरसत्ता महासत्ता को छोडकर नहीं रहती । ज्ञेयार्थ के सामान्य अश के अर्थात् अवातर सत्ता के और महासत्ता के ग्रहण को दर्शन कहते हैं अर्थात् निष्पर्याय सामान्यमात्र के ग्रहण को दर्शन कहते हैं । सामान्य के अभाव में विशेष और विशेष के अभाव में सामान्य पदार्थ मे कभी नही पाया जाता । जब केवल सामान्य का या केवल विशेष का ग्रहण होता है तब उसका ग्रहण गौणमुख्यता की व्यवस्थापर अवलंबित होता है । जिस समय सामान्य का ग्रहण होता है उस समय ज्ञेयार्थ मे विशेष का अभाव नहीं होता; किंतु वह गौण बन जाता है । जब आत्मद्रव्य दर्शन का विषय बन जाता है तब आत्मा के निष्पर्याय सामान्यमात्र का हि ग्रहण होता है और उस समय उसके विशेष अर्थात् अक्रमभावि और क्रमभावि पर्याय गौण बन जाते है यान उससे अभिन्न सिर्फ चैतन्यमात्र का ग्रहण होता है – उसमें अन्तर्भूत होनेवाले अनंतधर्मों का और उसकी स्वभावपर्यायो और विभावपर्यायो का ग्रहण नहीं होता । आत्मा में अनंतधर्म उसके ज्ञानगुण से आविर्भूत होनेवाले उसके पर्यायरूप हि होते हैं । अत सामान्य के ग्रहण के समय उ के अनंतगुणो का और क्रमभावि और अक्रमभावि पर्यायों का ग्रहण नही होता । अनतधर्म ज्ञानगुण के पर्याय होनेपर भी अक्रमभावि इसलिय कहे जाते है कि वे चैतन्यसामान्य में अन्तर्भूत होते है और पारिणामिक भावरूप होते हैं । जब ज्ञेयार्थ को आत्मा जानता है तब उसे आत्मप्रतिभास भी होता है । इस आत्मप्रतिभास को भी दर्शन कहते हैं । इस दर्शन के चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ऐसे चार भेद हैं । चक्षुरिन्द्रिय और मन के द्वारा अर्थ के सामान्यप्रतिभासरूप ग्रहण को चक्षुदर्शन कहते हैं । चक्षुरिन्द्रिय को छोडकर अन्य शेष इंद्रिया और मन के द्वारा इनके अर्थ का जो सामान्यप्रतिभासात्मक ग्रहण होता है उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं । अवधिज्ञानोत्पत्ति के प्रथम समय में उसके विषयभूत पदार्थ के सामान्यप्रतिभासात्मक ग्रहण को अवधिदर्शन कहते हैं । केवलज्ञान की उत्पत्ति के साथ जो कालत्रयवर्ति और लोकत्रयवर्ति पदार्थ उस ज्ञान के विषय पडते हैं उन पदार्थों के सामान्यप्रतिभासात्मक ग्रहण को केवलदर्शन कहते हैं । केवलज्ञान का विषय पडनेवाले सभी पदार्थ और उनकी सभी पर्यायें इनमें से केवल द्रव्य हि केवलदर्शन के विषय पडते हैं । यह कथन व्यवहारनयाश्रित है; क्यों कि केवली भगवान् के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग युगपत् होते हैं; क्यों कि दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में कालभेद का अर्थात् पौर्वापर्य का कारण

वहांपर विद्यमान नहीं होता । अपूर्णज्ञान या स्तोकज्ञान हि क्रमवर्ती होता है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये ज्ञान के हि व्यवहारनयाश्रित भेद हैं । वस्तुतः निश्चयनय की दृष्टि से ये तीनों भेद ज्ञानसामान्य में हि अंतर्भूत होते हैं । यह ज्ञान हि परमार्थतः पदार्थों के सामान्य और विशेष अंशों को ग्रहण करता है । ज्ञेयार्थों के सामान्य और विशेष इनमें जो भेद बताया जाता है वह भी व्यवहारनय की प्रधानता की दृष्टि से हि बताया जाता है । वस्तुतः सामान्य और विशेष में सर्वथा भेद नहीं होता । ऐसी अवस्था में जब केवलज्ञान क्षायिक भाव होनेसे संपूर्ण और अविकल सामर्थ्यसंपन्न होता है और जब ज्ञेयार्थों के सामान्य और विशेष इनमें परमार्थतः भेद हि संभवनीय नहीं है तब केवली भगवान के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग इनमें परमार्थतः भेद नहीं हो सकता । दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में होनेवाले पौर्वापर्य का कारण ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था है; क्यों कि ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था में होनेवाले देशघातिस्पर्धकों का उदय और वीर्यांतरायनामक कर्म के देशघातिस्पर्धकों का उदय दोनों उपयोगों के यौगपद्य में बाधा उपस्थित करते हैं । केवलज्ञानी के मोहनीय, वीर्यांतराय, ज्ञानावरणीय, और दर्शनावरणीय कर्मों का क्षय हुआ होता है । इस क्षय से दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में बाधा उपस्थित करनेवाले कारणों का अभाव हो जानेसे उनकी अन्योन्यभिन्नता स्वयमेव नष्ट हो जाती है । अतः दर्शन का केवलदर्शन यह भेद व्यवहारनयाश्रित है – पारमार्थिक नहीं । अस्तु । अचक्षुर्दर्शन एकेंद्रियजीवों से बारहवें गुणस्थानतक के जीवों के होता है । चक्षुर्दर्शन चतुरिंद्रिय जीवों से लेकर बारहवें गुणस्थानतक के जीवों के होता है । अवधिदर्शन चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानतक के जीवों के होता है । केवलदर्शन तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवाले जीवों के और सिद्ध जीवों के होता है । संयममार्गणा और दर्शनमार्गणा नैमित्तिकभावरूप होनेसे और परमवीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाल में शुद्ध आत्मा के साथ अनुभवगोचर न होनेसे शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से इन का शुद्ध आत्मा के साथ किसीप्रकार से संबंध घटित नहीं होता ।

लेश्यामार्गणापर अब विचार किया जाता है । 'कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या' (रा. वा. २।६।८) इसप्रकार लेश्या का लक्षण पाया जाता है । कषाय के तीव्र या मंद उदय से रंजित योगप्रवृत्ति को–आत्मप्रदेशों के परिस्पंद को लेश्या कहते हैं । यह स्वरूप भावलेश्या का है । लेश्या द्रव्यलेश्या और भावलेश्या इसप्रकार दो प्रकार की होती है । द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकी कर्म के उदय से होती है । भावलेश्या कषाय के तीव्र या मंद उदय से रंजित योगप्रवृत्तिरूप होनेसे औदयिकभावरूप है । 'योगप्रवृत्ति आत्मप्रदेशपरिस्पंदक्रियारूप है और वह वीर्यलब्धिरूप होनेसे क्षायोपशमिकी कही गयी है और कषाय औदयिकभावरूप बतायी गयी है । अतः कषाय से लेश्या अर्थान्तरभूत नहीं हो सकती' यह दोष नहीं है; क्यों कि कषाय के उदय की तीव्र और मन्द अवस्था की अपेक्षा के कारण भेद होनेसे लेश्या कषायों से अर्थान्तरभूत है । [कहने का भाव यह है कि कषाय अपेक्ष्यमाण होनेसे और योगप्रवृत्ति अपेक्षा रखनेवाली होनेसे कषाय से लेश्या भिन्न है । शंकाकार का अभिप्राय यह है कि आत्मप्रदेशों के परिस्पंद के बिना भावकषाय अस्तित्व नहीं बन पाती । जब लेश्या और कषाये योगप्रवृत्ति के बिना अस्तिरूप नहीं बन पाती तब उन दोनों का एकत्व -अनर्थान्तरत्व सिद्ध हो जाता है । अतः कषाय से लेश्या भिन्न नहीं है । यह शंकाकार का कहना ठीक नहीं है, क्यों कि कषायों के उदय की तीव्र और मंद अवस्था अपेक्ष्यमाण होनेसे–कारणभूत होनेसे और योगप्रवृत्ति उनकी अपेक्षा रखनेवाली होनेसे कषायों से लेश्या का भिन्नत्व सिद्ध हो जाता है] कृष्णलेश्या, नीललेश्या कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या इसप्रकार लेश्या के कुल छह भेद हैं । आत्मपरिणामों की अशुद्धि के प्रकर्ष और अप्रकर्ष को [तीव्र–मंदता की] अपेक्षा से लेश्या के विषय में कृष्ण–आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है अर्थात् लेश्या के कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म और शुक्ल ये छह भेद होते हैं । 'उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली इन गुणस्थानों में शुक्ललेश्या होती है ऐसा आगम का वचन है । इन गुणस्थानों में कषायों का अभाव होनेसे उनके द्वारा योगप्रवृत्ति के अनुरंजित होनेका अभाव होनेके कारण लेश्या का औदयिकभावत्व घटित नहीं होता' यह कथन दोषास्पद नहीं है; क्यों कि पूर्वभावप्रज्ञापननय की अपेक्षा से जो योगप्रवृत्ति कषायों से अनुरंजित होती थी वही योगप्रवृत्ति उक्त तीन गुणस्थानों में होनेसे वहां लेश्या औदयिकी होती है ऐसा

उपचार से कहा जाता है। अयोगकेवलिगुणस्थान में उस योगप्रवृत्ति का अभाव होनेसे अयोगकेवली के लेश्या का अभाव है। तीव्र क्रोधरूप से परिणत होना, बदला लेनेके बाद हि वैरभाव का त्याग करना, स्वभाव झगडालू होना, निर्दय होकर दुष्ट प्रवृत्ति करते रहना और रौद्रध्यान के रूप से सदा के लिये परिणत होना ये कृष्णलेश्या के परिचायक चिह्न है। विषयों में लोलुपता, मानित्व, मायावित्व, आलसत्व और बुद्धिशून्यता, धन-धान्य-दासी-दासादि के विषय में तीव्र अभिलाष का होना और दूसरों को ठगानेमें-परप्रतारणा में दत्तचित्त रहना नीललेश्या के परिचायक चिह्न है। जराशी बात के लिये रोष करना, आत्मप्रशंसा और परनिंदा में मशगुल होना, विश्वासपात्र व्यक्ति का भी विश्वास न करना, अपनी प्रशंसा के पूल बाधनेवाले को धन आदि देना, अपनी हानि-वृद्धि, लाभालाभ और कार्याकार्य का विचार न करना ये कापोतलेश्या के परिचायक चिह्न है। ये तीनों लेश्याए अशुभ हैं। हानिलाभ और कार्याकार्य का विचार रखना, दयादान में तत्पर रहना, सभी जीवों के विषय मे साम्यभाव रखना और परिणाम कोमल रखना ये पीतलेश्या या तेजोलेश्या के परिचायक चिह्न है। भद्र परिणामों से युक्त होना, त्यागी होना, उपद्रव और उपसर्गादि के होनेपर भी क्षमाभाव धारण करना, गुरुजनो की सेवा-शुश्रूषा करना और व्रत-शील आदि का पालन करना ये पद्मलेश्या के परिचायक चिह्न है। पक्षपाती नहीं होना, रागद्वेषरूप से परिणत नहीं होना, शारीर, मानस और वाचनिक प्रवृत्तियों को शान्त रखना, प्रसन्नचित्त बने रहना, धर्मसेवन करना, फल की इच्छा से निदान न करना और सभी प्राणियों के विषय में समभाव रखना ये शुक्ललेश्या के परिचायक चिह्न हैं। प्रथम गुणस्थान से चौथे गुणस्थानतक के जीवों के यथासंभव छहों लेश्याए होती है। आगे सातवें गुणस्थानतक के जीवों के पीत आदि तीन शुभलेश्याए पायी जाती है और आठवें से लेकर तेरहवें गुणस्थानतक शुक्ललेश्या होती है। उपशांतकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली इन गुणस्थानो में शुक्ललेश्या का सद्भाव उपचरित है; क्यों कि वहां कषायों का अभाव होता है। चतुर्दशगुणस्थानवर्ती जीव के और सिद्ध जीव के लेश्या का अभाव है; क्यो कि वहा योगप्रवृत्ति का अभाव होता है। अतः ये अलेश्य कहे गये हैं। लेश्या नैमित्तिकभाव होनेसे और आत्मानुभूति के समय उनका अनुभव न होनेसे लेश्याए शुद्धजीवस्वाभिक नही है।

अब भव्यत्वमार्गणापर विचार किया जाता है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन पर्यायों के रूप से अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध ज्ञानरूप से भविष्य में परिणत होनेकी शक्ति-योग्यता रखता है याने ऐसे स्वभाववाला होता है उसे भव्य जीव कहते है। जो अनंतकाल व्यतीत हो जानेपर भी सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं होगा ऐसा भी जीव होता है। इस भव्य को अभव्यजीव नहीं कहा जाता। यदि सभी भव्य जीव सिद्ध बन गये तो उत्तरकाल में यह संसार भव्यशून्य हो जायगा ऐसा कहना ठीक नही है, क्यों कि दूरान्दूरभव्यों का भव्यराशि में हि अन्तर्भाव हो जाता है। जिसप्रकार अनंतकाल व्यतीत होनेपर भी कनकपाषाण कनकरूप से परिणत न होनेसे उसमें कनकपाषाण की शक्ति विद्यमान होनेसे अंधकपाषाण नही कहा जा सकता अथवा जो काल अनंतकाल व्यतीत होनेपर भी नहीं आयेगा, उसका आगामिकालत्व नष्ट नही होता उसीप्रकार दूरान्दूरभव्य के भव्यत्वशक्ति विद्यमान होनेसे उस शक्ति का आविर्भाव न होनेपर भी उसका भव्यत्व नष्ट नही होता। किन्ही जानकारों का कहना है कि भव्य के भव्यत्व के अनुसार रत्नत्रय धारण करनेके बाद अर्थात भव्यत्व आविर्भूत होनेपर भव्यत्वभाव नष्ट हो जाता है। सिद्धों के भव्यत्वभाव नहीं होता। यह कहना ठीक नहीं है, क्यो कि जीवत्व और अभव्यत्व के समान भव्यत्वभाव पारिणामिकभाव अर्थात कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षायोपशम से अभिव्यक्त होनेवाला नहीं है। आचार्य विद्यानंदजी ने पारिणामिकभावों को स्वाभाविकभाव कहा है। देखिये —

भव्याभव्यत्वयोर्जीवस्वभावत्व विभाव्यते।
पारिणामिकतायोगाच्चेतनत्वविवर्तवत् ॥ (श्लो. वा. २।७।११)

जिसप्रकार चेतनत्वपरिणाम अर्थात जीवत्वपरिणाम पारिणामिकभाव होनेसे जीव का स्वभावभूत भाव है उसीप्रकार भव्यत्व और अभव्यत्व भाव पारिणामिकभाव होनेसे जीव के स्वभावभूतभाव है।

आचार्य अकलंकदेव ने 'भव्यस्यापि स्वशक्तियोगादसत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानिः' इस वाक्य के द्वारा भव्यत्व भावको जीव की शक्तिरूप बताया है। भव्यत्वभाव पारिणामिकभाव, स्वभावभूतभाव और शक्तिरूप होनेसे वह चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त उसकी हानि-अभाव कभी नहीं होता। उपादान में शक्ति का अभाव हो गया तो उपादेय-कार्य का अस्तित्व नहीं बन पाता। ज्ञप्तिक्रियारूप परिणति मे जाननकी शक्ति का अभाव हुआ तो आत्माकी ज्ञप्तिक्रियारूप परिणति कैसे हो सकती है? प्रकाश देनेकी शक्ति का अभाव होनेपर दीपक स्वपरप्रकाशक कैसे हो सकता है? पदार्थ मे कार्यरूप से परिणत होनेकी शक्ति न हो तो वह कार्यरूप से परिणत नहीं हो सकता। स्वाभाविकी शक्ति और स्वभावभूतभाव इनका कभी भी अभाव नहीं होता; क्यों कि उनके अभाव मे शक्तिमान् का और स्वभाववान् का अभाव हो जाता है। रत्नत्रयरूप से परिणत होनेकी शक्ति को भव्यत्व कहते है। शक्ति चाहे आविर्भूत हो चाहे अनाविर्भूत हो उसका अभाव कभी नही होता। अभव्यजीव की अशुद्धिशक्ति का अभाव हुआ तो उसके अभव्यत्वभाव का अभाव हो जायगा। इस अभव्यत्वभाव की अभिव्यक्ति अनादि से अनन्तकालतक बनी रहती है। अभिव्यक्ति मात्र से भव्यत्व का अभव्यत्वभाव नहीं हो सकता। उसकी शक्ति दोनों अवस्थाओं में बनी रहती है। अब रही बात भविष्यत्काल की। इस भविष्यत्काल की दृष्टि से भी सिद्धों के भव्यत्वभाव बन सकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों परिणाम ज्ञानस्वामिक है। व्यवहारनय की दृष्टि से ये तीनों भेद ठीक नहीं है; किंतु निश्चयनय की दृष्टि से भेद नहीं हो सकते; क्यों कि निश्चयनय अभेद का व्यवस्थापक होता है। इस ज्ञान की प्रतिसमय अर्थपर्यायें होती हैं। उत्तर अर्थपर्याय का काल वर्तमानसमय की उपेक्षा से भविष्यत्काल है। उत्तर समय में होनेवाला स्वभावपरिणमन रत्नत्रयात्मक हि होता है। अतः इस दृष्टि से भी जीव की शुद्ध अवस्था में भव्यत्वभाव का अभाव नहीं होता। दूसरी बात यह है कि आगम के अनुसार भव्यों के सभी गुणस्थान होते है। सयोगकेवली और अयोगकेवली भगवान् के रत्नत्रय की अभिव्यक्ति पूर्णरूप से होती है। रत्नत्रय की अभिव्यक्ति पूर्णरूप से होनेपर भी तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवाले जीव के भव्यत्वभाव बना रहता है यह बात स्पष्ट हो जाती है। इन गुणस्थानवाले जीव के विषय में भव्यत्वभाव का सामान्यलक्षण घटित नहीं होता; क्यों कि इनके रत्नत्रय का अभाव नहीं होता और उसका अभाव न होनेसे भविष्यत्काल मे रत्नत्रय धारण करने की योग्यता की बात नहीं बनती। अतः सिद्धों के समान इन दो गुणस्थानों मे क्षणकालवर्ती पूर्वोत्तरपर्यायों की दृष्टि से यथाकथंचित् भव्यत्वभाव का लक्षण घटित किया जा सकता है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव के समान सिद्धावस्था को प्राप्त हुए जीव के भी भव्यत्वभाव का सद्भाव घटित किया जा सकता है। तेरहवे और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव के समान सिद्धावस्था को प्राप्त हुए जीव के भव्यत्वभाव का सद्भाव घटित किया जा सकता है। जिस जीव की रत्नत्रयरूप परिणति नहीं हुई किंतु उसरूप से परिणत होनेकी जिसमें योग्यता का सद्भाव है ऐसे जीव के जिसप्रकार से भव्यत्वभाव का सद्भाव माना जाता है उसीप्रकार से सिद्धजीव के भव्यत्वभाव का अभाव भी माना जा सकता है। अभव्य जीव के मिथ्यात्वसंज्ञक एकमात्र पहला हि गुणस्थान होता है दूसरा, तीसरा आदि गुणस्थान नहीं होते क्यों कि उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना दूसरा या तीसरा गुणस्थान नहीं होता और उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति से अभव्य जीव के पारिणामिकभावभूत अभव्यत्वभाव का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। भव्य जीव के सभी गुणस्थान होते है। सिद्धजीव के भव्यत्वभाव और अभव्यत्वभाव नहीं होता। इसप्रकार इस मार्गणा के द्वारा सभी जीवों का अन्वेषण किया जाता है।

अब सम्यक्त्वमार्गणापर विचार किया जाता है। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' (त. सू. १।२) ऐसी सम्यग्दर्शन की व्याख्या की गयी है। जो पदार्थ यथार्थरूप से जिस स्वभाव का धारक होता है उस स्वभाव से युक्त होना-उस स्वभाव के रूप से परिणत होना-विभावरूप से परिणत न होना इसी का नाम तत्त्व है और इस तत्त्व से अर्थात् स्वभाव से जो पदार्थ युक्त होता है उसे तत्त्वार्थ कहते है। अथवा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को भाव कहते है और भाव और भाववान् में अभेद होनेसे भावशब्द से भाववान् का अर्थात् पदार्थ का ग्रहण होता है। अतः तत्त्वार्थ का तत्स्वरूप अर्थ ऐसा अर्थ होता है। तत्त्वार्थ के श्रद्धान को अर्थात् पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के श्रद्धान को 'इस पदार्थ का स्वरूप ऐसा

हि है–अन्यप्रकार का नहीं है 'इस प्रकार के दृढ संकल्प को सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसा दृढ संकल्प आत्मा के यथार्थरूप की अनुभूति के विना नहीं हो सकता। आत्मा के यथार्थस्वरूप की अनुभूति दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्रमोहनीयसंज्ञक अनंतानुबंधि की चार प्रकृतियों के उपशम या क्षय के विना नहीं हो सकती। उपशमसम्यक्त्व होनेपर यदि सम्यक्त्वप्रकृति का उदय हुआ तो क्षायोपशमिकसम्यक्त्वरूप, मिथ्यात्व का उदय होनेपर मिथ्यात्वरूप, सम्यग्मिथ्यात्वका उदय होनेपर सम्यग्मिथ्यात्वरूप और अनंतानुबंधि की चार प्रकृतियों में से किसी एक प्रकृति का उदय होनेपर सासादनसम्यग्दृष्टिरूप परिणाम होते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टिरूप परिणाम होते हि मिथ्यात्वगुणस्थान का परिणाम नियम से होता है। इस सम्यक्त्व के व्यवहारसम्यक्त्व और निश्चयसम्यक्त्व ऐसे दो भेद होते हैं। सरागसम्यक्त्व को व्यवहारसम्यक्त्व और वीतरागसम्यक्त्व को निश्चयसम्यक्त्व कहते हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इनके द्वारा सरागसम्यक्त्व की अभिव्यक्ति जानी जाती है। यशस्तिलकचम्पू में कहा है कि–

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणं ।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥
शारीरमानसागान्तुवेदनाप्रभवाद्भवात् ।
स्वप्नेन्द्रजालसङ्कल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥
सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥
आप्ते व्रते श्रुते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतं ।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तमुक्तियुक्तिधरे नरे ॥

यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमतीन्द्रियाऽप्यङ्गनाजनाङ्गसम्भोगेनापत्योत्पादनेन च विपदि धैर्यावलम्बनेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निश्चेतुं शक्यते, तथाऽऽत्मस्वभावतयातिसूक्ष्मयत्नमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरेव वाक्यैराकलयितुं शक्यम् । — षष्ठ आश्वासः —

रागादि दोषों के विषय में जो मानसिक व्यापार का–क्रिया का नाश करना अर्थात् मन को रागादिस्वरूप विभावभावों के रूप से परिणत न होने देना उसे प्राज्ञ पुरुष सकल व्रतों का भूषणभूत प्रशम कहते हैं। [व्रतियों को अपने परिणामों को रागादिरूप विभावभावों के रूप से युक्त नहीं होने देना चाहिए।] शारीरिक और मानसिक प्रादुर्भूत होनेवाली वेदनाओं के कारण प्रादुर्भूत होनेवाले स्वप्नसदृश और इन्द्रजालसदृश संसार से भयभीत होनेको संवेग कहा जाता है। सर्वत्र प्राणिमात्र के विषय में चित्त की जो दयार्द्रता उसे दयालु पुरुष अनुकम्पा कहते हैं। यह अनुकम्पा धर्म का परम–उत्कृष्ट मूल है। [अनुकम्पा हि धर्म का महान् आधार है।] शक्ति को और युक्ति को धारण करनेवाले पुरुष के बारेमें जो उसके चित्त का आप्त, व्रत, श्रुत और तत्त्व इनको लेकर आस्तिक्ययुक्त होना उसे आस्तिकों ने आस्तिक्य कहा है। जैसे पुरुष की पुरुषशक्ति का–पौरुषभाव का वह इन्द्रियगोचर न होनेपर भी स्त्री संभोग के द्वारा और अपत्यजनन के द्वारा अथवा विपत्काल में धारण किये जानेवाले धैर्य के द्वारा या प्रारब्ध कार्य पूर्ण करनेकी क्रिया के द्वारा निश्चय किया जा सकता है उसीप्रकार आत्मस्वभावभूत होनेसे अनुभवन अतिसूक्ष्म होनेपर भी सम्यक्त्वरूप रत्न का निश्चय प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य इनसे युक्त वचनों के द्वारा किया जाना शक्य है।

व्यवहारसम्यक्त्व या सरागसम्यक्त्व रागभावसहित होता है और निश्चयसम्यक्त्व या वीतरागसम्यक्त्व रागभावरहित अर्थात् आत्मविशुद्धिमात्ररूप होता है। सम्यक्त्व के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ऐसे जो भेद हैं उनका स्वरूप अभिव्यक्त किया जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप नीचे दी हुई गाथाओं के द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

खीणे दंसणमोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई ।
तं खाइयसम्मत्तं णिच्चं कम्मक्खवणहेऊ ।। ६४६ ।।
वयणेहि वि हेऊहि वि इंदियभयआणएहि रूवेहि ।
बीहच्छदुगुंछाहि ण सो तेलोक्केण चालेज्ज ।। ६४७ ।।

दर्शनमोहनीयकर्म का क्षय हो जानेपर जो सुतरां निर्मल श्रद्धान होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व होता है। वह नित्य अर्थात् अविनश्वर होता है और वह कर्मों के क्षपण का कारण -- साधन होता है। वह क्षायिक सम्यग्दर्शन वचनों के, हेतुओं के, इंद्रियभयजनक आकृतियों के या दारुण दृश्य देखने से उत्पन्न हुई ग्लानि के द्वारा चलायमान नहीं किया जाता।

नीचे दी हुई गाथा के द्वारा वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

दंसमोहुदयादो उप्पज्जई ज पयत्थसद्दहणं ।
चलमलिणमगाढं तं वेदगसम्मत्तमिह मुणसु ।। ६४९ ।। [गो. जी.]

मोहनीय कर्म की सम्यक्त्वप्रकृति के उदय के निमित्त से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ श्रद्धानरूप परिणाम उत्पन्न होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते है ऐसा तू जान। इस गाथा में श्रद्धान के जो चल, मलिन और अगाढ ये तीन विशेषण दिये गये हैं उनका खुलासा नीचे दिये गये उद्धरणों के द्वारा किया जाता है।

नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतं ।
लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिव स्थितम् ।।
स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते ।
अन्यस्यायमिति भ्राम्यन्मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते ।।

जिसप्रकार एकरूप से अवस्थित जल उछलती हुई लहरों के रूप से परिणत होकर चल- चचल होता है उसीप्रकार आत्मा के अनेकविध विशेषों के रूप से परिणत होकर जो श्रद्धान चलित होता है उसे चल श्रद्धान कहते हैं -- चल सम्यक्त्व कहते हैं। अपने द्वारा बनवाये गये जिनबिंब के विषय में ' यह देव मेरा है ' और अन्य के द्वारा बनवाये गये जिनबिंब के विषय में ' यह देव दूसरे का है ' ऐसी चेष्टा स्वयं श्रद्धावान् होनेपर भी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से भ्रांत होकर करता है। [सामान्यतः श्रद्धा एकरूप होनेपर भी जीव के ऐसे परिणाम सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से होते हैं।]

तदप्यलब्धमाहात्म्यं यकात् सम्यक्त्वकर्मणः ।
मलिनं मलसङ्गेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ।।

जिसप्रकार शुद्ध सोना मल के संबंध से मलिन परिणाम के रूप से परिणत होता है उसीप्रकार जब की सम्यक्त्वप्रकृतिसंज्ञक कर्म के निमित्त से श्रद्धान उन्नत अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब उसके निमित्त से हि वह मलिन हो जाता है।

स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढमिति कीर्त्यते ।
वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ।।
सोऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयं ।
देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ।।

जिसप्रकार वृद्ध पुरुष के द्वारा पकडी हुई लकडी उसके स्थान को न छोडती हुई कंपनशील होती है उसीप्रकार अपने विषयभूत आत्मादि को न छोडते हुए जो श्रद्धान कंपनशील होता है वह श्रद्धान अगाढ कहा जाता है। सभी अर्हन्तों की शक्ति अनंतता की दृष्टि से समान होनेपर भी ' यह भगवान् इस कार्य के लिये समर्थ है '

और 'यह (दूसरे) अर्हन्त भगवान् इस कार्य के लिये समर्थ है' इसप्रकार के भाव सम्यग्दृष्टि जीवों के भी होते है।

अब औपशमिकसम्यक्त्व का स्वरूप बताया जाता है—

दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं ॥ ६५० ॥ [गो. जी.]

दर्शनमोहनीयकर्म की तीन और चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतियों के उपशमरूप निमित्त से पदार्थों का जो श्रद्धानरूप परिणाम उत्पन्न होता है वह उपशमसम्यक्त्व है। वह उपशमसम्यक्त्व कीचड के नीचे बैठ जानेसे निर्मल बने हुए जल के समान होता है।

क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन सम्यक्त्व के परस्परभिन्न भेदों में पदार्थों का यथार्थश्रद्धान समानरूप से होता है। यद्यपि सम्यक्त्व के प्रत्येक भेद के श्रद्धान में विशेषता-विभिन्नता पायी जाती है तो भी सामान्यरूप यथार्थश्रद्धान में भेद नहीं होता। आठवें से आगेके गुणस्थानों में वेदकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व नहीं पाया जाता; क्यों कि उन गुणस्थानों में अगाढ और मलिन श्रद्धान नहीं हो सकता अर्थात् श्रद्धान जबतक अगाढ और मलिन होता है तबतक जीव क्षपकश्रेणीपर और उपशमश्रेणीपर आरोहण नहीं कर सकता। देशघातिसम्यक्त्वप्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे जो श्रद्धान की मलिनता और अगाढता होती है वह औपशमिकसम्यक्त्व में नहीं होती; क्यों कि सम्यक्त्वप्रकृति के उदय का अभाव उपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति मे निमित्त-कारण पडता है। अत. औपशमिक सम्यक्त्व क्षायोपशमिकसम्यक्त्व से अधिक विशद-निर्मल होता है। क्षायोपशमिकसम्यक्त्व को वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। क्षायोपशमिकसम्यक्त्व को धारण करनेवाला जीव सम्यक्त्वप्रकृति का वेदक होता है। अतः उसके सम्यक्त्व को वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। सम्यग्दर्शन के साथ साहचर्य होनेसे दर्शनमोहनीय की देशघातिप्रकृति की सम्यक्त्वसंज्ञा होती है। उपशमसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें तक के गुणस्थानों में होता है। सासादनसम्यग्दर्शन दूसरे गुणस्थान मे होता है। सम्यग्मिथ्यात्व तीसरे गुणस्थान में होता है। मिथ्यादर्शन प्रथम गुणस्थान मे एकेंद्रिय से संज्ञिपंचेंद्रिय तक के जीवों के होता है। नारकियो के मिथ्यादर्शन, सासादनसम्यग्दर्शन, सम्यग्मिथ्यात्व और संयमरहित सम्यग्दर्शन होता है। ये चारो भाव सातो नरकों के जीवों के होते हैं। मनुष्यगतिसे आनेवाले नारकियो के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व होता है। प्रथमनरकभूमि के जीव के ये तीनों सम्यक्त्व होते हैं। दूसरी नरकभूमि से सातवीं नरकभूमितक के जीवों के क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकसम्यक्त्व ये दो हि भाव होते हैं। क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता। इन छह प्रकार के नारकियो के सात प्रकृतियों का क्षय करने की सामर्थ्य आविर्भूत नहीं होती, क्यों कि इन प्रकृतियो का क्षय करनेकी सामर्थ्य जिनेन्द्रभगवान् के पादमूल में हि आविर्भूत होती है और द्वितीयादि छहों नरकभूमियो मे जिनेंद्रभगवान का सद्भाव नही है। प्रथम नरकभूमि मे भी जिनेंद्रभगवान् का सद्भाव नहीं होता; फिर भी क्षायिकसम्यक्त्व का सद्भाव पाया जाता है। नरकायु का बंध होनेपर जिस जीव के जिनेंद्रपादमूल में क्षायिकसम्यक्त्व अभिव्यक्त हुआ होता है वह जीव क्षायिकसम्यक्त्व के साथ प्रथमनरकभूमि में उत्पन्न होता है। अतः प्रथम नरकभूमि में स्थित जीव के क्षायिकसम्यक्त्व का सद्भाव होनेमे किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नही होता। तिर्यंचों के मिथ्यादर्शन, सासादनसम्यग्दर्शन, सम्यग्मिथ्यादर्शन, संयमरहित सम्यग्दर्शन और देशसंयमरहित सम्यग्दर्शन ये भाव होते हैं। सकलसंयमरहित सम्यक्त्व तिर्यंचों के नहीं होता; क्यों कि तिर्यंच जाति के जीव के सकलसंयम धारण करनेके परिणाम अपनी जातिविशेष के कारण नहीं हो सकते, फिर भले हि वे अन्त्य-समय में आहार के त्यागी हो। सभी द्वीपों और समुद्रों के तिर्यंचों के उक्त पांच हि गुणस्थान होते हैं। स्वयंभूरमण द्वीपस्थ स्वयंप्रभपर्वत के इस ओर और मानुषोत्तर पर्वत के उस ओर देशव्रतितिर्यंचों का सद्भाव हो सकता है। वैरनिर्यातन के अभिप्राय से देवादिकों के द्वारा ऐसे देशव्रती तिर्यंच उक्त भूभाग में उठाकर छोड दिये जाते हैं। उक्त भूभाग भोगभूमि के समान होनेपर भी इसप्रकार देशव्रती तिर्यंचों का वहां सद्भाव होनेमें किसी प्रकार का

विरोध नहीं है । चतुर्थ गुणस्थानवर्ती तिर्यंचों के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन सम्यक्त्वों का सद्भाव पाया जाता है । बद्धतिर्यगायु क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सिर्फ भोगभूमिज तिर्यंचों में हि उत्पन्न होनेवाले होनेसे और वहां देशव्रत का ग्रहण असंभव होनेसे देशव्रती तिर्यंचों के क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता । पंचेंद्रिय तिर्यंच द्रव्यस्त्रियों के चौथे और पांचवें गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता; क्यों कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि पचेंद्रिय तिर्यंच द्रव्यस्त्रियों के रूप से उत्पन्न नहीं होते और वे स्त्रियां दर्शनमोहनीय का क्षय नहीं कर सकती । मनुष्य के मिथ्यादर्शन, सासादन-सम्यग्दर्शन, सम्यग्मिथ्यादर्शन, संयमरहित सम्यग्दर्शन, देशसंयमसहित सम्यग्दर्शन और संयमसहित सम्यग्दर्शन ये भाव होते हैं । ये भाव ढाई द्वीप और दो समुद्रों में स्थित मनुष्यों के होते हैं, क्यों कि मानुषोत्तरपर्वत के उस ओर देवकृत प्रेरणा से भी मनुष्यों का गमन नहीं हो सकता । असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में मनुष्य के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व का सद्भाव होता है । क्षायिकसम्यक्त्व चौथे से आगेके सभी गुणस्थानों में, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व चौथेसे सातवेंतक के गुणस्थानों में और औपशमिकसम्यक्त्व चौथेसे ग्यारहवें तक के गुणस्थानों में होता है । देवों में मिथ्यादर्शन, सासादनसम्यग्दर्शन, सम्यग्मिथ्यादर्शन और संयमरहित सम्यग्दर्शन पाये जाते हैं । असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में देवों के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व का सद्भाव पाया जाता है । भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों और देवीयों के और सौधर्म और ईशान स्वर्गवासी देवीयों के क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व का सद्भाव पाया जाता है–क्षायिक सम्यक्त्व का नहीं; क्यों कि देवगति में दर्शनमोहनीय का क्षय नहीं होता और जिन्होंने दर्शनमोहनीय का क्षय किया हुआ होता है ऐसे जीवों की अधम देवों के रूप से और देवियों के रूप से उत्पत्ति नहीं होती । क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व का उक्त देवदेवीयों में जो सद्भाव पाया जाता है वह उक्त देवदेवीयों की उत्पत्ति के बाद उसरूप परिणति होनेसे पाया है । सौधर्मस्वर्ग से लेकर ग्रैवेयक के उपरिमभागतक के देवों के तीनों सम्यक्त्व होते हैं; क्यों कि तीनों सम्यक्त्व के जीव उन स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं । उक्त स्वर्गों के देवों में वहांपर उत्पन्न होनेके बाद यदि सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव हुआ तो वह सम्यक्त्व क्षायोपशमिक या औपशमिक हि होता है–क्षायिक नहीं होता । नव अनुदिश और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि के देवों के तीनों सम्यक्त्व होते हैं । वहांपर जो उपशमसम्यक्त्व होता है वह उप- शमश्रेण्यारूढ और उपशमश्रेणी से उतरे हुए जीव उपशमसम्यक्त्व के साथ वहांपर उत्पन्न होनेवाले जीवों की अपेक्षा से होता है-प्रथमोपशमसम्यक्त्वधारी जीव का उपशमसम्यक्त्व के साथ मरण नहीं होता– सिर्फ उपशमश्रेण्यारोहण करनेवाले जीवों का उस सम्यक्त्व के साथ मरण होता है ।

यह सम्यक्त्व निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का बताया गया है । जो साक्षात् गुरूपदेश से अभिव्यक्त होता है उसे अधिगमज कहते हैं और जो साक्षात् गुरूपदेश के अभाव में होता हुआ भी देशनालब्धि के विना नहीं होता उसे निसर्गज कहते हैं । अथवा जो गुरूपदेश मिलते हि विना आयास के अभिव्यक्त होता है उसे निसर्गज कहते हैं और जो गुरूपदेश के मिलनेपर भी युक्ति और आगम के विना अर्थात् आयास के विना अभिव्यक्त नहीं होता उसे अधिगमज कहते हैं । देखिए–

'यत् सम्यग्दर्शनं बाह्योपदेशं विना उत्पद्यते तत् सम्यग्दर्शनं निसर्गजमुच्यते । यत् सम्यग्दर्शनं परोपदेशेन न उत्पद्यते तदधिगमजमुच्यते । नैसर्गिकमपि सम्यग्दर्शनं गुरोरक्लेशकारित्वात् स्वाभाविकमुच्यते । न तु गुरूपदेशं विना प्रायेण तदपि जायते ।' – श्रुतसागरविरचिततात्पर्यवृत्तौ

बाह्य उपदेश के विना जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं । जो सम्यग्दर्शन परोपदेश की प्राप्ति होनेपर उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं । नैसर्गिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए गुरूपदेश की आवश्यकता होती है; किंतु उपदेश देते हुए गुरु को क्लेश न होनेसे उस सम्यग्दर्शन को स्वाभा-विक–नैसर्गिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । नैसर्गिक सम्यग्दर्शन भी प्रायः गुरूपदेश के विना उत्पन्न नहीं होता । आचार्य सोमदेवसूरी ने कहा है कि–

लिये समर्थ ... प्तौ कारणद्वयम् ।

निसर्गोऽधिगमो वापि तव ... ादल्पानल्पप्रयासतः ॥ [यशस्तिलके षष्ठाश्वा

सम्यक्त्वभाक् पुमान् यस्म ... ाता है— ... रण होते है । जब की अल्प प्रयास से सम्यक्त्व उ

सम्यक्त्व की प्राप्ति के निसर्ग और अधिगम ये दो क ... ज्जइ जं प ... जब विपुल प्रमाण मे प्रयास करनेपर सम्यक्त्व उ होता है तब उस सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते है औ ... णमलपंकर | देशनालब्धि के विना सम्यक्त्व की उत्पत्ति होता है तब उस सम्यग्दर्शन को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते है । ... ी चार प्रकृ ... क्ति का प्रमाणनयनिक्षेपों का आश्रय करीब होती । उपदेशक को जब अल्पप्रमाण में कष्ट उठाने पडते हैं— ... ह उपशम ... रते है और जब वस्तुस्वरूप समझाने के लिए अ लेना पडता तब उत्पन्न होनेवाले सम्यक्त्व को निसर्गज सम्यग्दर्शन क ... न होनेवाले सम्यक्त्व को अधिगमज सम्य मात्रा में प्रमाण–नय–निक्षेपों का अवलंब लेना पडता है तब उत्प ... क्त्व के प ... कहते है ।]

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए दर्शनमोहनीयादि की सात प्रकृ ... तियों के क्षय को, क्षयोपशम की या उपशम ... न में विश ... ोनेपर भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति न आवश्यकता होती है । सात प्रकृतियों के क्षयादि के विना देशना की प्राप्ति ... ्थानों में वेदकस ... होती । सप्त प्रकृतियों के क्षयादिक को अंतरंगकारण कहते हैं । ... ों हो सकता अथात्

इस मार्गणा के द्वारा मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों का ... र सकता । ... भी अन्वेषण किय जाता है । यद्यपि इस मार्गणा का नाम सम्यक्त्वमार्गणा है तो भी उक्त प्रकार के जीवों का इसके द्वारा अ... ... न्वेषण ... औप- किया जानेमे किसी प्रकार का दोष उपस्थित नहीं होता । आम्रप्रधान वन में नीम के कुछ पेड होनेपर भी उस वन को आम्रवण कहनेकी पद्धति है–ऐसा कहनेमें दोष नहीं है ।

अब संज्ञिमार्गणापर विचार किया जाता है । संज्ञी और असंज्ञी इनका स्वरूप विशद करनेके लिए शास्त्रीय प्रमाण पेश किया जाता है । देखिए–

सञ्ज्ञिनः समनस्काः ॥ [त. सू., अ. २, सू. ३४]

सामर्थ्यात् ' असञ्ज्ञिनः अमनस्काः ' इति सूत्रितम् । तेन ' अमनस्का एव सर्वे संसारिण, सर्वे समनस्काः एव ' इति निरस्त भवति ।

' कुतः पुनः सञ्ज्ञिनां समनस्कत्व सिद्ध ' इति उपदर्शयति–

सञ्ज्ञिनां समनस्कत्व सञ्ज्ञायाः प्रतिपत्तितः ।
सा हि शिक्षाक्रियालापग्रहणं मुनिभिर्मता ॥ १ ॥
नाऽनादिभवसम्भूतविषयानुभवोद्भवा ।
सामान्यधारणाहारसञ्ज्ञादिर्नाम धीरपि ॥ २ ॥

न हि अमनस्कानां शिक्षाक्रियालापग्रहणलक्षणा सञ्ज्ञा सम्भवति, यतः तदुपलब्धेः केषाञ्चित् समनस्कत्वं सिध्येत् । न च अमनस्कानां स्मरणसामान्याभावः, अनादिभवसम्भूतविषयानुभवोद्भवायाः सामान्यधारणायाः तद्धेतोः सद्भावात् आहारसञ्ज्ञादिसिद्धेः प्रवृत्तिविशेषोपलब्धेः । न च सा एव सञ्ज्ञा मुनिभिः इष्टा, स्मृतिविशेषनिमित्तायाः तस्याः प्रकाशनात् । एतेन यत् उक्त कैश्चित् " ' अमनस्कानां स्मरणाभावे अपि अभिलाषसिद्धेः तदहर्जातदारकस्य स्तन्याभिमुखं मुखं अपर्यतः अभिलाषः स्मरणपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, अस्मदाद्यभिलाषवत् ' इत्यत्र हेतोः अनैकान्तिकत्वात परलोकासिद्धिः । तथा च–

' नाऽस्मृतेरभिलाषोऽस्ति विना साऽपि न दर्शनात् ।
तद्धि जन्मान्तराम्नाऽयं जातमात्रेऽपि लभ्यते ॥ ' [न्या. वि., अनु. प्रक., का. ८२]

इति अकलङ्कवचनं अविचारचतुर आयात " इति तदपि प्रत्याख्यातं, स्मरणसामान्यमन्तरेण

क्वचित् अपि अभिलाषासम्भवात् तद्धेतोः अनैकान्तिकत्वानुपपत्तेः । न च अमनस्केषु स्मरणसामान्यसद्भावात् स्मरणविशेषस्य सिद्धिः, तस्य तेन अविनाभावाभावात् । न हि यस्य अनुभूतस्मरणसामान्यं अस्ति तस्य स्मरणविशेषः नियमात् उपलभ्यते, विशेषसंशयाभावप्रसङ्गात् । विशेषमात्राविनाभावेऽपि वा न शिक्षाक्रियालापग्रहणनिमित्तस्मरणविशेषाविनाभावः सिध्येत्, प्राणिमात्रस्य तत्प्रसङ्गात् । ततः नाम मतिवत् आहारादिसञ्ज्ञा तद्धेतुश्च स्मृतिसामान्यं धारणासामान्यं च, तन्निमित्त अवायसामान्यं ईहासामान्य अवग्रहसामान्यं च सर्वप्राणिसाधारणं अनादिभवाभ्याससम्भूत अभ्युपगन्तव्य; न पुनः क्षयोपशमनिमित्तं भावमनः, तस्य प्रतिनियतप्राणिविषयतया अनुभूयमानत्वात्; अन्यथा सर्वत्र भावमनसः व्यवस्थापयितुं अशक्तेः ।

'भावमनोन्यथानुपपत्त्या द्रव्यमनः अपि सिध्यति' इति आह–

क्षयोपशमभेदेन युक्तो जीवोऽनुमन्यते ।
सद्भिर्भावमनस्तावत् कैश्चित्सञ्ज्ञाविशेषतः ॥ ३ ॥
तत्स्याद् द्रव्यमनोयुक्तमात्मनः करणत्वतः ।
स्वार्थोपलम्भने भावस्पर्शनादिवदत्र नः ॥ ४ ॥

न हि सञ्ज्ञाविशेषात् ऋते क्षयोपशमविशेषेण युक्तः जीवः एव भावमनः कैश्चित् अनुमातुं शक्यते । 'प्रज्ञामेधादेः कार्यविशेषानुमितात् शक्यत एव' इति चेत्, न, तस्य अपि सञ्ज्ञाविशेषरूपत्वात् । ऊहापोहात्मिका हि प्रज्ञा शिक्षाक्रियाविग्रहणलक्षणा एव, मेधा पुनः पाठग्रहणलक्षणालापग्रहणरूपा एव इति ततः भावमनः सिद्धं द्रव्यमनः अन्वाकर्षति । तथा हि–भावमनः स्वार्थोपलब्धौ द्रव्यकरणापेक्ष, भावकरणत्वात्, स्पर्शनादिभावकरणवत् । 'मनसः अनिन्द्रियत्वात् करणत्वं असिद्धं' इति चेत्, न अन्तःकरणत्वेन प्रसिद्धेः । अनिन्द्रियत्वं तु पुनः तस्य अनियतविषयत्वात् इन्द्रियवैधर्म्यात्, न अकरणत्वात्, स्वार्थोपलब्धौ साधकतमत्वेन करणत्वोपपत्ते । न च एव सूत्रविरोधः, 'पञ्चेन्द्रियाणि' [त. सू. २।२५], 'द्विविधानि' [त. सू. २।१६] द्रव्यभावविकल्पात्" इत्यत्र अनिन्द्रियस्य अपि द्विविधस्य सामर्थ्यसिद्धत्वात्, "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानां" [त. सू. ५।१९] इत्यत्र सूत्रे पौद्गलिकस्य द्रव्यमनसः सूत्रकारेण स्वयं अभिधानात्, तस्मात् 'इन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं, न अर्थः अपि' [लघी., पृ. ६६१] इति अकलङ्कैः अपि द्विविधेन्द्रियसमानकक्ष्यत्वेन द्विविधस्य मनसः अभीष्टत्वात्, द्रव्यमनःप्रतिषेधितद्वचनाभावात् च, तत्प्रतिषेधे प्रमाणाभावात् युक्त्यागमविरोधात् च । तत्र आहोपुरुषिकामात्रं केषाञ्चित् अविभावितसिद्धान्तत्व आविर्भावयति ॥

कश्चित् आह– 'द्रव्यमनः एव भावमानः अस्ति । तत् च आत्मपुद्गलव्यतिरिक्तं द्रव्यान्तरं इति । तत् अपि अपसारयति–

आत्मपुद्गलपर्यायव्यतिरिक्तं मनो न तु ।
द्रव्यमस्ति परैरुक्त प्रमाणाभावतस्तथा ॥ ५ ॥

भावमनः आत्मपर्यायः, तस्य लब्ध्युपयोगत्वात् सत्यपि द्रव्यमनसि तदभावे स्वार्थपरिच्छेदप्रादुर्भावायोगात् तत्प्रसिद्धेः । द्रव्यमनः तु पुद्गलपर्यायः, तदुपकरणात्, द्रव्येंद्रियवत् । तद्व्यतिरिक्तं तु द्रव्यान्तर मनः न शक्यं परैः साधयितुं, तथाप्रमाणाभावात् । 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'

[न्या. व. १।१।१६] इति चेत्, न, ततः मनोमात्रस्य प्रतिप-[त्तिः ?] तेः तद्‌द्रव्यान्तरत्वासिद्धेः। 'पृथिव्यादिद्रव्यनिषेधात् परिशेषात् तस्य द्रव्यान्तरत्वसिद्धिः' इति चेत्, नैव, तन्निषेधासिद्धेः। तथा हि- 'स्पर्शवद्‌द्रव्य मनः, असर्वगतद्रव्यत्वात्, पवनवत्' इति पुद्‌गलद्रव्यत्वसिद्धेः कुतः परिशेषात् तस्य द्रव्यान्तरत्वम्? समर्थयिष्यते च तस्य अग्रतः पौद्‌गलिकत्वम्। इत्यलं प्रसङ्गेन। अत्र अन्ये 'द्रव्य-मनः भावमनःसहितं, द्रव्यकरणत्वात्, स्पर्शनादिद्रव्यकरणवत्' इति आवेदयन्ति, तत् अयुक्तं, योगि-द्रव्यमनसा अनेकान्तात्। योगिनः हि द्रव्यमनः सदपि न भावमनःसहितं, द्रव्येन्द्रियं च न भावेन्द्रिय-युक्तं, क्षायिकज्ञानेन सह क्षायोपशमिकस्य भावमनोक्षस्य विरोधात्। न च केवलिनः द्रव्यमनोक्षाणि न सन्ति 'बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति' [स्वयम्भूस्तोत्रे नेमिजिनस्तवने] इति वचनात्। ततः विशेषात् एव भावमनः साधनीयम्। सिद्धात् च भावमनसः द्रव्यमनसः सिद्धिः इति अनवद्यम्। येषां तु प्राणिनां शिक्षाक्रियालापग्रहणलक्षणविज्ञानविशेषाभावः शश्वत् तद्भवे निश्चितः, तेषां सञ्ज्ञि-त्वाभावात् न भावमनः अस्ति। तदभावात् न द्रव्यमनः अनुमीयते। इति अमनस्काः ते। ततः युक्तं सञ्ज्ञित्वासञ्ज्ञित्वाभ्यां समनस्कत्वामनस्कत्व व्यवस्थापयितुम्॥ [-श्लोकवार्तिकालङ्कारे]

'संज्ञिजीव समनस्क होते है' इस अर्थ के प्रतिपादक 'संज्ञिनः समनस्काः' इस सूत्र की सामर्थ्य से 'असंज्ञिजीव अमनस्क होते हैं' इस अर्थ का प्रतिपादक 'असंज्ञिनः अमनस्काः' यह सूत्र बनाया गया है। उ- कारण 'सभी ससारी जीव अमनस्क हि होते है' या 'सभी ससारी जीव समनस्क हि होते हं' इस ऐकान्तिक म- का परिहार हो जाता है।

संज्ञिजीवो का समनस्कत्व कैसे सिद्ध होता है यह बताते हं--

संज्ञा का ज्ञान होनेसे संज्ञिजीवो का समनस्कत्व सिद्ध होता है। शिक्षा का ग्रहण, क्रिया का ग्रहण और पाठग्रहण को मुनियो ने संज्ञा कहा है। अनादि ससार मे प्राप्त हुए विषयों के अनुभव से उत्पन्न हुई सामान्यधारणा-पूर्वक होनेवाली आहारादिसंज्ञा को मुनियों ने संज्ञा नहीं माना है॥ १-२॥

अमनस्कों के शिक्षा, क्रिया और आलाप इनका ग्रहणरूप संज्ञा का होना सभावय नहीं है, जिससे उस संज्ञा की प्राप्ति से किन्ही अमनस्को का समनस्कत्व सिद्ध हो सके। अमनस्कों के स्मरणसामान्य का अभाव नहीं होता क्यों कि अनादि ससार मे प्राप्त हुए विषयों के अनुभव से उत्पन्न हुई, आहारादिसंज्ञाओं के हेतुभूत सामान्य-धारणा का सद्भाव होनेके कारण आहारादिसंज्ञाओं की सिद्धि होनेसे (स्तनाभिमुख मुख करना आदि) विशिष्ट प्रवृत्ति की उपलब्धि होती है। सामान्यधारणापूर्वक होनेवाली आहारादिसंज्ञा हि मुनियो को इष्ट नही है; क्यो कि जिसका स्मृतिविशेष निमित्तकारण पडता है ऐसी (शिक्षा-क्रिया-आलापग्रहणरूप) संज्ञा मुनियों के द्वारा प्रकट की गयी है। " 'हमारे जैसे लोगों की अभिलाषा जिसप्रकार स्मरणपूर्वक होती है उसीप्रकार उसी दिन पैदा हुए दूध से भरे हुए स्तनकी ओर अपना मुख ले जानेवाले बालक की अभिलाषा स्मरणपूर्वक होती है; क्यों कि उस बालक की अभिलाषा (हमारी अभिलाषा के सदृश) अभिलाषारूप होती है' इस अनुमानवाक्य में जो हेतु दिया है वह अनैकान्तिक- व्यभिचारी है; क्यों कि स्मरण का अभाव होनेपर भी अमनस्कों की अभिलाषा की सिद्धि होती है (अर्थात् उक्त हेतु विपक्षवृत्ति होनेसे अनैकान्तिक है।) [कहनेका भाव यह है कि संज्ञिजीव की अभिलाषा स्मरणपूर्वक होनेमात्र से अमनस्कों की अभिलाषा स्मरणपूर्वक होती है ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता; क्यों कि असंज्ञि-जीवों की अभिलाषा स्मरणपूर्वक नहीं होती।] इसप्रकार 'स्मरण के अभाव से अभिलाषा नहीं हो सकती; स्मृति अनुभवस्वरूप दर्शन के विना नहीं हो सकती और उसी दिन पैदा हुए बालक के वह दर्शन जन्मान्तर के विना नहीं होता; यह अभिलाषा उसी दिन पैदा हुए बालक के होती है' [न्यायवि; अनुमानप्र; का. ८२] यह अकलंक का वचन विचारपूर्ण न होनेसे सुंदर नही है यह सिद्ध हुआ।" ऐसा जो किन्हीं लोगों के द्वारा कहा गया है उसका भी उक्त

कथन से परिहार हो गया; क्यों कि स्मरणसामान्य के विना समनस्क और अमनस्क जीवों में से किसी भी जीव में अभिलाषा का होना असंभव होनेसे उक्त अनुमान में दिये गये अभिलाषारूप हेतु का अनैकान्तिकत्व – व्यभिचारित्व – विपक्षवृत्तित्व सिद्ध नहीं होता । अमनस्क जीवों में स्मरणसामान्य का सद्भाव होनेसे उनमें स्मरणविशेष की सिद्धि नहीं होती; क्यों कि स्मरणसामान्य का स्मरणविशेष के साथ अविनाभाव नहीं होता । जिसके अनुभूत विषय का स्मरणसामान्य होता है उसके स्मरणविशेष की प्राप्ति नियम से नहीं होती; क्यों कि जिसके अनुभूत विषय का स्मरणसामान्य होता है उसके यदि स्मरणविशेष की प्राप्ति नियम से होती तो अनुभूत विषय के विशेष के विषय में संशय का अभाव हो जाने का प्रसंग उपस्थित हो जाता । [अनुभूत विषय का सामान्यरूप स्मरण होनेपर भी अर्थात् उसके विशेष धर्मों का स्मरण न होनेपर भी यदि उसके विशेषों का ज्ञान होने लगा तो उसके विशेषों के बारेमें संशय कदापि उत्पन्न नहीं होगा ।] अथवा स्मरणसामान्य का केवल विशेषस्मरण के साथ अविनाभाव होनेपर भी स्मरणसामान्य का शिक्षाग्रहण, क्रियाग्रहण और पाठग्रहण जिसका निमित्तकारण होता है ऐसे स्मरणविशेष के साथ अविनाभाव सिद्ध नहीं होता; क्यों कि स्मरणसामान्य का शिक्षा – क्रियालापग्रहणनिमित्तक स्मरणविशेष के साथ अविनाभाव सिद्ध होनेसे कीटादि सभी प्राणियों के विषय में शिक्षाग्रहण, क्रियाग्रहण और पाठग्रहण का प्रसंग उपस्थित हो जाता है । उसकारण जिसप्रकार मतिज्ञान और उसका हेतु धारणासामान्य, धारणासामान्य का निमित्त अवायसामान्य, ईहासामान्य और अवग्रहसामान्य को सभी प्राणियों में समानरूप से पाया जानेवाला स्वीकार किया जाता है उसीप्रकार आहारादिसंज्ञा और उसका हेतु स्मृतिसामान्य और धारणासामान्य, धारणासामान्य का निमित्त अवायसामान्य, ईहासामान्य और अवग्रहसामान्य जो कि अनादि संसार में होनेवाले अभ्यास से उत्पन्न होता है उसको सभी प्राणियों में समानरूप से पाया जानेवाला स्वीकार करना चाहिये, क्षयोपशमनिमित्तक भावमन को सभी प्राणियों में समानरूप से पाये जानेवाले के रूप से स्वीकार नहीं करना चाहिये, क्यों कि उसका विशिष्ट अर्थात् संज्ञिपंचेन्द्रिय प्राणियों के विषयरूप से अनुभव किया जाता है । अर्थात् वह संज्ञिपंचेन्द्रिय प्राणियों में हि पाया जाता है। । यदि स्मृतिसामान्य, धारणासामान्य, धारणा का निमित्त अवायसामान्य, ईहासामान्य और अवग्रहसामान्य को आहारादिसंज्ञाओं का निमित्त न मानकर क्षयोपशमनिमित्तक भावमन को उनका निमित्त माना गया तो सभी अर्थात् संज्ञी और असंज्ञी प्राणियों में भावमन के अस्तित्व का निश्चय करना अशक्य है । अतः आहारादिसंज्ञाओं का हेतु भावमन नहीं है । [कहने का भाव यह है कि क्षायोपशमिकभावरूप भावमन शिक्षादि का ग्रहण करनेवाला होनेसे और शिक्षादि का ग्रहण स्मृतिविशेष धारणाविशेष, अवायविशेष, ईहाविशेष और अवग्रहविशेष के विना असंभव होनेसे भावमन को आहारादिसंज्ञाओं का हेतु नहीं माना जा सकता; क्यों कि वे स्मृतिविशेषादि के अभाव में हि होती है आहारादिसंज्ञाएं स्मृतिसामान्यादिक के अभाव में सद्रूप नहीं हो सकती । आहारादिसंज्ञाएं सभी जीवों के होती है किंतु शिक्षादि का ग्रहण सभी जीवों के नहीं होता । जिन जीवों के आहारादिसंज्ञाएं तो होती है, किंतु शिक्षादि का ग्रहण नहीं होता उन जीवों की आहारादिसंज्ञाओं के विषय में स्मृतिसामान्यादि हि हेतु पडते हैं– स्मृतिविशेषादि नहीं । अतः सभी अर्थात् संज्ञी और असंज्ञी जीवों में समानरूप से पायी जानेवाली आहारादिसंज्ञाओं का स्मृतिसामान्यादि हि हेतु होते है - भावमन हेतु नहीं होता । अतः आहारादिसंज्ञाओं के बलपर असंज्ञिजीवों का भावमनस्वामित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । हां, असंज्ञिजीवों के भी क्षायोपशमिक ज्ञान होता है; किंतु वह संज्ञिजीवों के भावमनरूप क्षायोपशमिक ज्ञान से भिन्न अवस्थारूप होता है । संज्ञिजीवों का क्षायोपशमिक ज्ञान असंज्ञिजीवों के ज्ञान से अधिक विशुद्ध होता है । असंज्ञिजीवों के ज्ञान में स्मरण, धारणा आदि की शक्ति अवश्य मौजूद होती है; किंतु वह स्मरणसामान्य, धारणासामान्य आदि की हि होती है –स्मरणविशेष, धारणाविशेष आदि की नहीं । जिस ज्ञान में स्मरणविशेष आदि की शक्ति होती है वहि क्षायोपशमिकज्ञान कहा जाता है । स्मरणसामान्य, धारणासामान्य आदि की शक्ति से संपन्न ज्ञान भावमन नहीं कहा जाता । असंज्ञिजीवों का ज्ञान इसप्रकार का होनेसे वे अमनस्क कहे जाते है ।]

द्रव्यमन के अभाव में भावमन का अस्तित्व न बननेसे भावमन की सिद्धि से द्रव्यमन की भी सिद्धि होती है ऐसा कहते हैं---

विशिष्ट प्रकार के क्षयोपशम से युक्त जीव शिक्षाक्रियालापग्रहणरूप विशिष्ट संज्ञा से युक्त होनेपर किन्हीं सज्जनों के द्वारा भावमनरूप माना जाता है। अपने विषय को जानतेसमय भावस्पर्शनेन्द्रिय जिसप्रकार द्रव्य-स्पर्शनेंद्रिय उसका करण अर्थात् सहकारिकारण होनेसे उससे युक्त होता है उसीप्रकार भावमन अपने ज्ञेय विषय को जानते समय द्रव्यमन उसका करण अर्थात् सहकारिकारण होनेसे उस द्रव्यमन से युक्त होता है ॥ ३-४ ॥

विशिष्ट क्षयोपशम से युक्त जीव हि शिक्षाक्रियालापग्रहणरूप विशिष्ट संज्ञा के विना अर्थात् उसका अभाव होनेपर भावमन है ऐसा किसी के द्वारा अनुमानप्रमाण से जाना नहीं जा सकता है। ' कार्यविशेषरूप हेतु के द्वारा जिनका अनुमान किया जाता है ऐसी प्रज्ञा, मेधा आदि हेतु के द्वारा ' विशिष्ट क्षयोपशमयुक्त जीव हि भावमन है ' ऐसा अनुमान किया जा सकता है " ऐसा कहना हो तो वह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रज्ञा, मेधा आदिक भी विशिष्टसंज्ञारूप है-अर्थात् शिक्षाक्रियालापग्रहणात्मक संज्ञारूप है। अनुकूल और प्रतिकूल कारणों का विचाररूप प्रज्ञा शिक्षाक्रियादिग्रहणरूप हि होती है और मेधा पाठग्रहण आलापग्रहणात्मक हि होती है। तिसकारण सिद्ध हुआ भावमन द्रव्यमन का आकर्षण कर लेता है। उसीका खुलासा-स्पर्शनादिभावकरण अर्थात् स्पर्शनाद्याख्य भावेंद्रियां जिसप्रकार अपने प्रतिनियत विषयों को ग्रहण करते समय द्रव्येंद्रियों को अपेक्षा रखते है उसीप्रकार अपने विषय को जानते समय भावमन द्रव्यकरण की अर्थात् द्रव्यमन की अपेक्षा रखती है; क्यों कि वह भावरूप करण है। मन अनिंद्रिय होनेसे उसका करणत्व सिद्ध नहीं होता ऐसा कहना हो तो वह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि भावमन अंतःकरणरूप से प्रसिद्ध है। मन का विषय नियत न होनेसे इंद्रियों के सदृश न होनेसे उसका अनिंद्रियपना है, करणपना न होनेसे उसका अनिंद्रियपना नहीं है; क्यों कि अपने विषय को जानने की क्रिया करते समय भावमन साधकतम होनेसे उसका करणपना सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार सूत्र से कोई विरोध नहीं आता है; द्रव्येंद्रियों और भावेंद्रियों के भेद से पांचों इंद्रिया दो प्रकारकी होती है ऐसा जो ' पञ्चेन्द्रियाणि ' और ' द्विविधानि ' इन दो सूत्रों के द्वारा कहा गया है उस कथन से द्रव्यमनरूप से और भावमनरूप से द्विविध मन की सामर्थ्य से सिद्धि होती है, ' शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ' इस सूत्र में पौद्गलिक अर्थात् पुद्गलोपादानक द्रव्यमन का स्वयं सूत्रकार ने कथन किया है, उसीकारण इंद्रिय और मन ये दोनों विज्ञान के कारण है, अर्थ भी (विज्ञान का) कारण नहीं है ' इस प्रकार आचार्य अकलंकदेव ने भी द्रव्येंद्रिय के और भावेंद्रिय के भेद से दो प्रकारवाली इंद्रियों के समान द्रव्यमन के और भावमन के भेद से दो प्रकार के मन का स्वीकार किया है और द्रव्यमन का प्रतिषेध करनेवाले अकलंकाचार्य के वचन का अभाव है और द्रव्यमन का प्रतिषेध करनेके लिये प्रतिषेधक प्रमाण का अभाव है और उसका प्रतिषेध करनेसे युक्ति और आगम से विरोध आता है। द्रव्यमन का निषेध करने के विषय को लेकर जो किन्ही के द्वारा गर्व किया जाता है वह उनकी सिद्धान्तविषयक विचाररहितता को प्रकट करता है।

कोई (वैशेषिक) कहता है कि द्रव्यमन हि भावमन है और वह आत्मद्रव्य और पुद्गलद्रव्य से भिन्न अन्य द्रव्य है। उसका भी परिहार करते है --

आत्मपर्यायभिन्न और पुद्गलपर्यायभिन्न अन्यद्रव्यरूप मन होता है ऐसा जो दूसरोंने अर्थात वैशेषिको ने कहा है उस कथनको सिद्ध करनेवाले उस प्रकार के प्रमाण का अभाव होनेसे मन आत्मपर्याय से और पुद्गलपर्याय से भिन्न अन्यद्रव्यरूप नहीं है ॥ ५ ॥

भावमन वस्तुतः आत्मा की पर्याय है; क्यो कि वह लब्धिरूप और उपयोगरूप होनेसे द्रव्यमन का सद्भाव होनेपर भी भावमन का अभाव होनेपर अपने ज्ञेयार्थ के ज्ञान का प्रादुर्भाव-उत्पत्ति घटित न होनेसे उसकी सिद्धि हो जाती है। भावेंद्रिय की उपकारक (सहकारिकारण) होनेसे द्रव्येंद्रिय जिसप्रकार पुद्गल की पर्याय होती है उसीप्रकार भावमन का उपकारक (सहकारिकारण) होनेसे द्रव्यमन पुद्गल की पर्याय है। आत्मपर्याय से और पुद्गलपर्याय से भिन्न अन्यद्रव्यरूप मन की सिद्धी दूसरों के (वैशेषिकों) के द्वारा की जाना अशक्य है; क्यों कि आत्मपर्याय और पुद्गलपर्याय से भिन्न अन्यद्रव्यरूप मन की सिद्धि करनेवाले प्रमाणों का अभाव है। ज्ञान

की युगपत् उत्पत्ति न होना यह मन का ज्ञान करनेवाला हेतु है ऐसा नैयायिकों का कहना हो तो वह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि ज्ञान की उत्पत्ति युगपत् न होनारूप मन के ज्ञापक हेतु से उसके अन्यद्रव्यरूप होनेकी सिद्धि नहीं होती । मन का पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा और आत्मा इनरूप द्रव्य होनेका निषेध किया जानेसे पारिशेष्यन्याय से उसका अन्यद्रव्यपना सिद्ध हो जाता है ऐसा कहना हो तो वह ठीक है हि नहीं; क्यों कि उससे पृथिवीद्रव्यपन की और आत्मद्रव्यपन की सिद्धि होनेसे उनके पृथिव्यादिद्रव्यपन के निषेध की सिद्धि नहीं होती । वायु सर्वगत –(व्यापक)– द्रव्यरूप न होनेसे जिसप्रकार स्पर्शगुणयुक्त द्रव्य होता है उसीप्रकार मन भी सर्वगत–सर्वव्यापि द्रव्यरूप न होनेसे स्पर्शगुणयुक्त द्रव्य है इस अनुमान से मन का पुद्गलद्रव्यपना सिद्ध हो जानेसे पारिशेष्यन्याय से उसका पृथिव्यादि से भिन्न अन्यद्रव्यत्व किस प्रमाण से सिद्ध हो सकता है ? मन के पुद्गलोपादानकत्व का आगे समर्थन किया जायेगा । अतः इस विषय के विषय में प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है । इस विषय मे दूसरे कोई कहते हैं कि जिसप्रकार स्पर्शन आदि द्रव्यकरण-द्रव्येंद्रिय होनेसे भावेंद्रियसहित होता है उसीप्रकार द्रव्यकरण होनेसे द्रव्यमन भावमनसहित होता है किंतु वह कथन युक्त नहीं है, क्यों कि योगी के अर्थात् केवलिभगवान् के द्रव्यमन के साथ व्यभिचारदोष आता है । केवलिभगवान् के द्रव्यमन सद्रूप होनेपर भी भावमनसहित नहीं होता और द्रव्येंद्रिय भावेंद्रियसहित नहीं होती; क्यो कि क्षायोपशमिकज्ञानरूप भाव– मन और भावेंद्रिय का क्षायिकज्ञान के साथ विरोध होता है । केवलिभगवान् के द्रव्यमन और द्रव्येंद्रिया नहीं होती ऐसा नहीं है; क्यों कि स्वयम्भूस्तोत्र मे भगवान् नेमिनाथ का स्तवन करते समय आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने कहा है कि ' हे नाथ ! बहिःकरण अर्थात् द्रव्येंद्रियां और अन्तःकरण अर्थात् द्रव्यमन इसप्रकार दो प्रकार का करण आपके आत्मस्वरूप का विघात करनेवाला नहीं है । ' उसकारण शिक्षाक्रियालापग्रहणरूप विशिष्ट प्रकार के (क्षायोपशमिक) ज्ञान से हि भावमन की सिद्धि करनी चाहिये और सिद्ध हुए भावमन से द्रव्यमन की सिद्धि होती है यह व्यवस्था निर्दोष है । जिन जीवों के शिक्षाक्रियालापग्रहणरूप विज्ञानविशेष का अभाव उसी भव में अविच्छिन्नरूप से निश्चित हुआ होता है उनके संज्ञित्व का अभाव होनेसे भावमन नहीं होता । उनके भावमन का अभाव होनेसे अनुमान के द्वारा द्रव्यमन का सद्भाव नहीं जाना जाता । इसप्रकार वे जीव अमनस्क है । उस– कारण जीवों के संज्ञित्व से उनके समनस्कत्व का और असंज्ञित्व से अमनस्कत्व का निश्चय करना योग्य है ।

ऊपर उद्धृत किये गये शास्त्रीय प्रमाण से नीचे दी हुई बातें प्रकट हो जाती है–– (१) शिक्षाक्रियालाप- ग्रहणरूप विशिष्ट क्षायोपशमिक ज्ञान को संज्ञा कहते हैं । हित की और अहित की प्राप्ति और परिहार के गुणदोषों का जो विचार उसरूप संज्ञा होती है ऐसा जो आचार्य अकलंकदेव ने संज्ञा का लक्षण किया है वह आचार्यविद्यानंद- कृत संज्ञा के लक्षण से भिन्न नहीं है । (२) यह संज्ञा आहारादिसंज्ञाओ से भिन्न है । आहारादिसंज्ञाएं सामान्यसंज्ञाए है और यह संज्ञा विशेषसंज्ञा है । आहारादिसंज्ञाएं अभिलाषापूर्वक होती है । अभिलाषा का हेतु पूर्वानुभूत विषय का स्मरणसामान्य, स्मरणसामान्य का हेतु धारणासामान्य, धारणासामान्य का हेतु अवायसामान्य, अवायसामान्य का हेतु ईहासामान्य और ईहासामान्य का हेतु अवग्रहसामान्य होता है । ये आहारादिसंज्ञाएं संज्ञी और असंज्ञी जीवों के समानरूप से होती है । शिक्षाक्रियादिग्रहणरूप क्षायोपशमिकज्ञानविशेषात्मक संज्ञा सिर्फ संज्ञिजीवों के होती है, असंज्ञिजीवों के नहीं होती । यह विशिष्ट संज्ञा स्मरणविशेषपूर्वक होती है । स्मरणविशेष का हेतु धारणा- विशेष, धारणाविशेष का हेतु अवायविशेष, अवायविशेष का हेतु ईहाविशेष और ईहाविशेष का हेतु अवग्रहविशेष होता है । आहारादिसंज्ञाए अभिलाषपूर्वक होती हैं । अभिलाषा स्मरणसामान्यपूर्वक होती है-स्मरणविशेषपूर्वक नहीं होती । स्मरणसामान्य का हेतु धारणाविशेषादि नहीं है । अतः संज्ञिजीव की संज्ञा और आहारादिसंज्ञा इन में भेद है । ये दोनों प्रकार की संज्ञाएं क्षायोपशमिकज्ञानसामान्यरूप जरूर है, किंतु संज्ञिजीवों का क्षायोपशमिकज्ञान असंज्ञिजीवों के क्षायोपशमिकज्ञान से अधिक विशद होता है । यदि दोनों क्षायोपशमिक ज्ञानों की समानता होती तो असंज्ञिजीव भी शिक्षाक्रियादि का ग्रहण करने लग जाते और संज्ञि-असंज्ञिरूप भेद स्वयमेव नष्ट हो जाता । (३) शिक्षाक्रियादिग्रहणरूप यह संज्ञा संज्ञिजीवों के होती है । असंज्ञिजीवों के आहारादिसंज्ञाओं का

सद्भाव होनेपर भी उनके यह विशिष्ट संज्ञा नहीं होती। (४) जिनके यह विशिष्ट संज्ञा होती है वे जीव समनस्क कहे जाते है और जिनके यह विशिष्ट संज्ञा नहीं होती वे अमनस्क कहे जाते हे। (५) जिनके क्षायोपशमिकज्ञानरूप भावमन होता है उनके द्रव्यमन का सद्भाव अवश्य होता है, किंतु जिनके द्रव्यमन होता है उनके भावमन होता भी है और नहीं भी होता; क्यों कि केवली के द्रव्यमन का सद्भाव होनेपर भी वे क्षायिकज्ञान के धारक होनेसे उनके क्षायोपशमिकज्ञानरूप भावमन का सद्भाव नहीं होता। क्षायिकज्ञान और क्षायोपशमिकज्ञान इन में वध्यघातकभावरूप विरोध होता है। (६) भावमन आत्मा की पर्याय होनेसे आत्मद्रव्यरूप है और द्रव्यमन पुद्गल की पर्याय होनेसे पुद्गलद्रव्यरूप है। मन आत्मद्रव्य से और पुद्गलद्रव्य से भिन्न अन्य स्वतंत्र द्रव्यरूप नहीं है। (७) उपकारक होनेसे द्रव्यमन भावमन का सहकारी साधन है; क्यों कि द्रव्यमन के बिना भावमन शिक्षा-क्रियादिका ग्रहण नहीं कर सकता। यह अभिप्राय संसारिजीवविषयक है।

एकेंद्रिय से लेकर चतुरिंद्रिय तक के जीव असंज्ञी होते हे और तिर्यंच पंचेंद्रियों में कुछ जलचर, स्थलचर और नभश्चर जीव भी असंज्ञी होते हें। सभी असंज्ञिजीवों का एक मिथ्यात्वगुणस्थान हि होता है। देवगति, मनुष्यगति, और नरकगति के सभी जीव संज्ञिपंचेंद्रिय होते हें। मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर क्षीणकषायगुणस्थान तक के जीव संज्ञी होते हें। सयोगकेवली, अयोगकेवली और सिद्धों के क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव होनेसे और संपूर्ण ज्ञेयों को उनकी सभी पर्यायों के साथ जाननेवाले होनेसे यद्यपि संज्ञी नहीं हे तो भी वे असंज्ञी भी नहीं हे। यदि उनको संज्ञी और असंज्ञी माना तो उनका सर्वज्ञत्व बाधित हो जायगा। अतः ये तीनों प्रकार की आत्माएं न संज्ञी हे और न असंज्ञी भी। एवं संज्ञा और असंज्ञा के द्वारा जीवों का अन्वेषण किया जानेसे इस मार्गणा को संज्ञिमार्गणा कहते हें।

अब आहारमार्गणापर विचार किया जाता है। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों में से प्रत्येक शरीर के योग्य पुद्गलपिण्ड के ग्रहण करने को आहार कहते हें। इसीप्रकार भाषा और मन के योग्य पुद्गलवर्गणाओं का ग्रहण करनेको भी आहार कहते हें। औदारिकशरीरनामकर्म के उदय से जो शरीर बनता है उसे औदारिकशरीर कहते हें। वैक्रियिकनामकर्म के उदय से जो शरीर बनता है उसे वैक्रियिकशरीर कहते हे। अणिमा आदि आठप्रकार की सामर्थ्य से शरीर के अनेक छोटेबडे आकार करनेको विक्रिया कहते हें। इस प्रकार की विक्रिया करना जिसका प्रयोजन होता है उस शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हे। प्रमत्तसंयत मुनीश्वर के द्वारा सूक्ष्म पदार्थों को जाननेके लिए और असंयमभाव का परिहार करनेकी इच्छा से जो शरीर बनाया जाता है उसे आहारकशरीर कहते हें। जो जीव इस प्रकार के आहार का ग्रहण करते हें उन जीवों को आहारक कहते हे और जो जीव इसप्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करते उनको अनाहारक कहते हें। विग्रहगति को प्राप्त हुए चारों गतियों के जीव, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात के रूप से परिणत हुए सयोगकेवली, अयोगकेवली और सिद्ध जीव अनाहारक होते हें। इन जीवों से भिन्न जीव आहारक होते हें। नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार लेपाहार, ओजआहार (ऊष्माहार) और मानसाहार इसप्रकार आहार छह प्रकार का है। इस प्रकरण में सिर्फ नोकर्माहार का ग्रहण किया गया है। विग्रहगति में भवान्तर को गमन करनेवाला जीव जब एक मोड लेता है तब एक समय, जब दो मोड लेता है तब दो समय और जब तीन मोड लेता है तब तीन समय अनाहारक होता है। यह बात 'एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः' इस सूत्र से स्पष्ट हो जाती है। केवली भगवान् जब समुद्घात करते हें तब चढते समय और उतरते समय प्रतर अवस्था में एक एक समय और लोकपूरण अवस्था में एक समय इसप्रकार तीन समय तक वे अनाहारक होते हैं। उक्त प्रकार के जीवों को छोडकर अवशिष्ट सभी संसारी जीव आहारक होते हें अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर सयोगकेवलिगुणस्थानतक के सभी जीव आहारक होते हें, किंतु मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टि इन गुणस्थानों में जीवों का मरण होनेसे विग्रह गतिमें वे अनाहारक होते हे और समुद्घातगत सयोगकेवली भगवान् भी अनाहारक होते हें। इसप्रकार आहारक अवस्था को और अनाहारक अवस्था को लेकर त्रिलोकोदरवर्ती सभी जीवों का अन्वेषण करनेको आहारमार्गणा कहते हें।

गुणस्थान—

१- मिथ्यादृष्टि, २- सासादनसम्यग्दृष्टि ३- सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४- असंयतसम्यग्दृष्टि, ५- संयतासंयत, ६- प्रमत्तसंयत, ७- अप्रमत्तसंयत, ८- अपूर्वकरण उपशमक और क्षपक, ९- अनिवृत्तिकरण उपशमक और क्षपक, १०–सूक्ष्मसांपराय उपशमक और क्षपक, ११–उपशांतकषाय वीतरागछद्मस्थ, १२–क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ, १३–सयोगकेवली और १४- अयोगकेवली इसप्रकार गुणस्थान चौदह हैं ।

मिथ्यादर्शनसंज्ञक कर्म के उदय के द्वारा जो जीव वश किया गया होता है वह मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवाला कहा जाता है अर्थात् मिथ्यात्वकर्म के उदय से जो जीव मिथ्यात्वरूप परिणाम के रूप से परिणत होता है वह मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवाला होता है । इस मिथ्यात्वरूप परिणाम के कारण जीव मिथ्यात्वकर्म का बंध करता है । यह जीव जीवादिक तत्त्वों का श्रद्धान नहीं करता-तत्त्वों के स्वरूप को विपरीत रूपसे जानता है और श्रद्धान करता है । उन सभी मिथ्यादृष्टि जीवों के संक्षेप से दो प्रकार है—एक हित और अहित की परीक्षा से रहित और दूसरे हित और अहित की परीक्षा से सहित । संज्ञिपचेंद्रियपर्याप्तक जीवों को छोडकर अवशिष्ट सभी एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और असंज्ञिपचेंद्रिय जीव हित और अहित की परीक्षा से रहित होते है अर्थात् क्षायो–पशमिक ज्ञान के धारक होनेपर भी उनके हिताहित की परीक्षा करनेकी सामर्थ्य नहीं होती । जो संज्ञिपचेंद्रियपर्याप्तक होते हैं वे हित और अहित की परीक्षा करनेकी सामर्थ्य से युक्त होते हैं । पर्याप्तक जीव हिताहितपरीक्षा की सामर्थ्य से रहित और उससे सहित होनेवाले होते हैं । इस गुणस्थान में मुख्यतः जीव मिथ्यात्वरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेसे उसके मिथ्यात्व नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेंद्रियजाति, द्वींद्रियजाति त्रींद्रियजाति, चतुरिंद्रियजाति, हुंडकसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारणशरीर इन सोलह प्रकृतियों का आस्रव और बंध होते हैं । इस गुणस्थान में अनंतानुबंधिचतुष्टय का उदय रहता है । असंयमभाव तीन प्रकार का होता है— एक अनंतानुबंधिकषाय के उदय से होनेवाला असंयमभाव, दूसरा अप्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से होनेवाला असंयमभाव और तीसरा प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से होनेवाला असंयमभाव । मिथ्यात्वगुणस्थान और सासादनगुणस्थान में अनंता–नुबंधिकषाय का उदय होनेसे जो असंयमभाव होता है उससे निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनंतानुबंधिक्रोध, अनंतानुबंधिमान, अनंतानुबंधिमाया, अनंतानुबंधिलोभ, स्त्रीवेद, तिर्यगायु, तिर्यग्गति, वामनसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, स्वातिसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, कीलकसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, और नीचगोत्र इन पचीस प्रकृतियों का आस्रव मिथ्यादृष्टि और सासादन इन दो गुणस्थानो में होता है । एकेंद्रियादिक मिथ्यादृष्टि और उपशम–सम्यक्त्व से गिरे हुए सासादनगुणस्थानवर्ती जीव हि इन पच्चीस प्रकृतियों का बंध करते हैं । अप्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय से होनेवाले असंयमभाव से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिकशरीर, औदारिकांगोपांग, वज्रवृषभनाराचसंहनन, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य इन दश प्रकृतियों का बंध होता है । इनका बंध एकेंद्रियादिक जीव पहले गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थानतक करते हैं । सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान में आयु का बंध नहीं होता । प्रत्याख्यानावरणकर्म के उदय से होनेवाले असंयमभाव से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण माया, और प्रत्याख्यानावरण लोभ इन चार प्रकृतियों का बंध एकेंद्रियादिक जीव पहले गुणस्थान से लेकर पांचवें संयतासंयत–गुणस्थानपर्यंत करते हैं । सारांश, मिथ्यात्व के उदय से सोलह, अनंतानुबंधि के उदय से पच्चीस, अप्रत्याख्याना–वरणकषाय के उदय से दस और प्रत्याख्यानावरण के उदय से चार इसप्रकार पचपन प्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व–गुणस्थान में होता है । द्वितीय गुणस्थान में उनचालीस प्रकृतियों का, तीसरे और चौथे गुणस्थान में चौदह प्रकृतियों का और पांचवे गुणस्थान में चार प्रकृतियों का बंध होता है, क्यों कि दूसरे गुणस्थान में सोलह प्रकृतियों का, तीसरे और चौथे गुणस्थानों में इकचालीस प्रकृतियोंका और पांचवें गुणस्थान में इक्यावन प्रकृतियों का संवर होता

है। छठे आदि गुणस्थानों में पचपन प्रकृतियों का संवर होता है। अन्य प्रकार से यों कहिये कि द्वितीय गुणस्थान में सोलह प्रकृतियों का, तीसरे और चौथे गुणस्थान में सासादन गुणस्थान में बंध को प्राप्त होनेवाली पच्चीस प्रकृतियों का और पांचवें गुणस्थान में तीसरे और चौथे गुणस्थानों में बंध को प्राप्त होनेवाली दस प्रकृतियों का संवर होता है और छठे गुणस्थान में पांचवें गुणस्थान में बंध को प्राप्त होनेवाली चार प्रकृतीयों का संवर होता है।

जीव का यद्यपि रत्नत्रय यथार्थस्वरूप है तो भी मोहनीयकर्म के उदय से यह जीव इस अपने स्वरूप को अनादिकाल से भूलकर इस संसार में परिभ्रमण करता आ रहा है। वह अपने यथार्थस्वरूप को भूला हुआ होनेके कारण उसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ नहीं करता। वह संसार के परपदार्थों को अपने समझकर उनकी प्राप्ति कर लेनेके लिये पुरुषार्थ की पराकाष्ठा करता रहता है। उसके स्वपर के भेद के ज्ञान का अभाव होनेसे परपदार्थों को जो स्वस्वामिक समझनारूप विपरीत मानसपरिणाम होता है उसीका नाम हि मिथ्यात्व है। विपरीतमानस-परिणाम के रूप से जो जीव परिणत होता है वह मिथ्यादृष्टि या मिथ्यात्वी कहा जाता है। मिथ्यात्वकर्म के उदय से परपदार्थों को स्वस्वामिक समझनेवाले जीव स्वशुद्धस्वरूप की अनुभूति से वंचित होनेसे परपदार्थों के संयोग-संबंध से सुखोत्पत्ति होती है ऐसा समझकर इंद्रियविषयों में रातदिन चुस्त रहते हैं और इसप्रकार इंद्रियों के विषयों में चुस्त रहनेसे स्वस्वरूपपराङ्मुख बन हुए वे कर्मबंधविषयक विचार को अपने हृदय में स्थान नहीं देते। संसार के अधिकतर जीव मिथ्यादृष्टि हि होते हैं। जो जीव अभव्य होते हैं वे अनादि से अनंतकालतक मिथ्या-दृष्टि हि बने रहते हैं; क्यों कि रत्नत्रयरूप से परिणत होनेकी उनमें शक्ति हि नहीं होती। जो जीव भव्य होते हैं उनका मिथ्यात्व अनादिसान्त और सादिसान्त भी होता है। अनादिमिथ्यादृष्टि भव्य जीव जब प्रथमोपशम-सम्यक्त्व के रूप से परिणत होता है तब उसके अनादिमिथ्यात्व का अन्त हो जाता है। अतः ऐसे जीव का मिथ्यात्व अनादिसान्त होता है। वही जीव जब अपने उपशमसम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्वगुणस्थान में आता है तब उसका मिथ्यात्व सादि होता है, किंतु इस मिथ्यात्व का नाश अवश्यभावी होनेसे यह मिथ्यात्व सादिसान्त होता है।

अनादिमिथ्यादृष्टि या सादिमिथ्यादृष्टि जीव सप्तकर्मप्रकृतियों का उपशम करके औपशमिकसम्यक्त्व को धारण कर जब नीचे गिरता है तब उसके मिथ्यादर्शन का तो अभाव होता है, किंतु अनंतानुबंधिकषाय का उदय होनेसे उस उदय के द्वारा उसकी आत्मा कलुषित की जाती है। ऐसी मिथ्यात्वोदयरहित और अनंतानुबंधि-कषायोदयसहित जीव सासादनसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। मिथ्यादर्शनकर्म के उदय का अभाव कैसे होता है यह बताया जाता है-- अनादिमिथ्यादृष्टि भव्य जीव की मोहनीयकर्म की छब्बीस प्रकृतियां जब सत्ता में रहती हैं अथवा सादिमिथ्यादृष्टि भव्य जीव की मोहनीयकर्म की छब्बीस, सत्ताईस या अट्ठाईस प्रकृतीयां जब सत्तामें रहती हैं और जब वह प्रथम सम्यक्त्व को धारण करनेके लिये आरंभ करता है अर्थात् प्रथमसम्यक्त्व के रूप से परिणत होने लगता है तब शुभ परिणामों के अभिमुख होता हुआ, अंतर्मुहूर्तकालतक अनंतगुणी वृद्धि के क्रम से जिसकी विशुद्धि वृद्धिगत हो रही है, चार प्रकार के मनोयोगों में से किसी एक मनोयोग से या चार प्रकार के वाग्योगों में से किसी एक वाग्योग से (वचनयोग से) या औदारिककाययोग और वैक्रियिककाययोग इनमें से किसी काययोग से जो युक्त होता है, जिसकी बंध करनेवाली नवीन कषायें कम होती जाती हैं, जो साकारोपयोग से सहित हो जाता है, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इनमें से किसी एक वेद से उपलक्षित अर्थात् युक्त होता है या वेदयुक्त होने से जिसके परिणाम संक्लिष्ट नहीं होते, वृद्धि को प्राप्त हो रहे शुभपरिणामों की सामर्थ्य से सभी कर्मप्रकृतियों की स्थिति को जो कम करते जाता है अर्थात् कर्मों के स्वभावों को कम करते जाता है, जो अशुभकर्म-प्रकृतियों के अनुभागबंध को अर्थात् कर्मों के स्वगतफलदानसामर्थ्य को क्षीण करते-हटाते जाता है और जो शुभ-प्रकृतियों के फलदानसामर्थ्य को बढाते जाता है ऐसा अनादिमिथ्यादृष्टि या सादिमिथ्यादृष्टि जीव करणत्रयरूप से परिणत होने लगता है। करण का अर्थ है परिणाम। ये करण अधःप्रवृत्तकरण या अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इस प्रकार तीन हैं। इनमेंसे प्रत्येक करण का काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण है और तीनों करणों का काल

भी अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। अंतर्मुहूर्त के अनेक भेद हैं। अपने परिणामों की विशिष्ट विशुद्धि के कारण मिथ्यादृष्टि जीव के पूर्वबद्ध सत्तामात्र में बैठे हुए अर्थात् अब अनुदित कर्म संख्यात हजार कम अन्तःकोटीकोटीसागरप्रमाण-स्थितिवाले रह जाते हैं और बंधावस्था को प्राप्त होनेवाले नवीन कर्म अन्तःकोटीकोटीसागरप्रमाणस्थितिवाले होते हैं तब हि उस जीव की प्रथम सम्यक्त्व के रूप से परिणत होनेकी योग्यता-शक्ति आविर्भूत होने लगती है; क्यों कि कर्मों की स्थिति का काल जब उत्कृष्ट होता है तब और जब जघन्य होता है तब मिथ्यादृष्टि जीव की प्रथमसम्यक्त्व के रूप से परिणत होनेकी योग्यता-शक्ति प्रगट नहीं हो सकती। परिणामविशुद्धिकरणरूप पुरुषार्थ से उक्त शक्ति का आविर्भाव होता है। इसी को काललब्धि कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव अपने परिणामविशुद्धिकरण-रूप पुरुषार्थ से जब अपने कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को घटाकर अन्तःकोटीकोटीसागरप्रमाणस्थिति करता है तब कालादिलब्धियों से युक्त होता हुआ अथाप्रवृत्तकरण के या अधःकरण के प्रथम समय में प्रवेश करता है। मिथ्यादृष्टि जीव का इस करण के रूप से परिणमन पूर्वकाल में कदापि हुआ न होनेसे इस करण की अथाप्रवृत्तकरण यह संज्ञा अन्वर्थ है। इस करण के रूप से परिणत होते समय प्रथम समय में जो जघन्य विशुद्धि होती है वह अल्प होती है। द्वितीय समय में वही जघन्यविशुद्धि अनंतगुणा होती है। तृतीय समय में वही जघन्यविशुद्धि अनंतानंत-गुणा होती है। इसप्रकार प्रथमसमय से लेकर अन्तर्मुहूर्तकाल की समाप्ति होनेतक यह प्रक्रिया चलती रहती है। उसके बाद प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणा होती है। द्वितीय समय में वही अनंतगुणा हि होती है। यह प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त के समाप्तिकालतक चलती रहती है। अथाप्रवृत्तकरण के चरमसमय में होनेवाले नाना जीवों के परिणामों के जो असंख्येय लोकप्रमाण भेद होते हैं वे सम (समान) और विषम (असमान-विसदृश) होते हैं। इसप्रकार असंख्यातलोकप्रमाण इन सदृशविसदृश परिणामों का जो समुदाय उसरूप अथाप्रवृत्तकरण होता है। अपूर्वकरणरूप परिणाम के रूप से परिणत होते समय प्रथम समय में होनेवाली जघन्य विशुद्धि अल्प होती है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में होनेवाली उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणा होती है। उसीके दूसरे समय में होनेवाली जघन्यविशुद्धि अनंतगुणा होती है। इसीप्रकार यह प्रक्रिया प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त के समाप्तिकालतक आगे आगे अनंतगुणा वृद्धिरूप से चलती रहती है। इसप्रकार अन्तर्मुहूर्त के समाप्तिकालपर्यंत उत्तरोत्तर परिणामों में विष-मता होती है। इसीप्रकार प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणा होती है और दूसरे समय में उससे अनंतगुणा होती है। उसके बाद आगे आगे के प्रत्येक समय में होनेवाली उत्कृष्ट विशुद्धि अन्तर्मुहूर्त के समाप्तिकालपर्यंत अनंत-गुणा होती है। अपूर्वकरण के ये सभी के सभी परिणाम नानाजीवों की अपेक्षा से असंख्येयलोकप्रमाण होते हैं। भिन्नसमयवर्ती सभी जीवों के वे परिणाम नियम से विषम होते हैं। किसी भी जीव के परिणाम भिन्नसमयवर्ती किसी भी जीव के परिणामों से मिलते नहीं। अपूर्वकरण उन परिणामों के समूहरूप होता है। भिन्न भिन्न समय के परिणामों में अपूर्वता होती है अर्थात् जो परिणाम पहले समय में प्रादुर्भूत हुए नहीं होते वे दूसरे समय में होते हैं। इसलिये नये नये परिणाम होनेके कारण इस करण को अपूर्वकरण यह संज्ञा यथार्थ है। अनिवृत्तिकरणरूप से परि-णत होते समय प्रथम समय में नानाजीवों के जो परिणाम होते हैं वे एकरूप हि अर्थात् सदृश हि होते हैं। द्वितीय समय में जो परिणाम होते हैं वे प्रथम समय में होनेवाले परिणामों से अनंतगुण और एकरूप होते हैं। इसप्रकार प्रथम समय से लेकर अतर्मुहूर्त के समाप्तिकालतक होनेवाले परिणामों का समुदायरूप अनिवृत्तिकरण होनेसे इस करण की अनिवृत्तिकरण यह संज्ञा अन्वर्थक है; क्यों कि इस करण में होनेवाले परिणाम अन्योन्यसदृश होनेसे परस्परव्यावर्तक नहीं होते। इनमें से अथाप्रवृत्तकरण में कर्मों की गुणश्रेणीक्रम से अर्थात् असंख्यातगुणितश्रेणी के क्रमसे कर्मों की निर्जरा, गुणसंक्रमण अर्थात् जिनका यहां बंध नहीं होता ऐसी अप्रशस्तकर्मप्रकृतियों की सद्रूप कर्म वर्गणाओं को उस समय बंधावस्था को प्राप्त होनेवाली अन्य प्रकृतियों के रूप में असंख्यातगुणितश्रेणी के रूप से संक्रमण करनारूप गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन अर्थात् कर्मों की स्थितियों का घात और अनुभागखंडन अर्थात् कर्मों की फलदानसामर्थ्य का घात ये चार बातें नहीं होती हैं। इस अथाप्रवृत्तकरण में जीव अनंतगुणवृद्धिपूर्वक विशुद्धि धारण करता हुआ अशुभ प्रकृतियों के अनंतगुणहीन अनुभाग का बंध करता है और अनंतगुणा रस की वृद्धिसहित शुभ

प्रकृतियों का अनुभागबंध करता है। पल्योपम के असंख्येयभागहीन स्थिति का बंध करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दोनों में स्थितिखंड, अनुभागखंड, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण ये चारों संभवते हैं और स्थिति-बंध भी क्रमशः कम कम होते जाता है। इन दो करणों में अशुभप्रकृतियों का जो अनुभागबंध होता है वह अनंत-गुणा हानीसे होता है और शुभप्रकृतियों का अनतगुणा वृद्धि को लिए हुए अनुभागबंध होता है। इसप्रकार प्रथमसम्यक्त्व की प्राप्ति के अभिमुख हुआ वह अनादि वा सादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव तीनों करणों के रूप से परिणत होता हुआ वह जब अनिवृत्तिकरणपरिणामों के संख्येय भाग बीत जाते हैं तब वह अंतरकरण का प्रारंभ करता है अर्थात् मोहनीय की प्रकृतियों की विशिष्ट स्थान से नीचे की और उपर की कितनी हि स्थितियों को छोडकर अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण मध्यवर्ती स्थितियों के निषेकों के द्रव्य को ऊपर की और नीचेकी स्थितियों के द्रव्य में निक्षिप्त करके वहां के निषेकों का अभाव करनेको प्रारंभ करता है। इस अंतरकरण से मिथ्यादर्शनसंज्ञक कर्म के उदय का घात-नाश-अभाव किया जाता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय में मिथ्यादर्शन के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इसप्रकार तीन विभाग कर देता है। इन तीन प्रकृतियो के और अनतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों के उदय का अभाव होनेपर अर्थात् इन सात प्रकृतियों का उपशम होनेपर अंतर्मुहूर्तकाल प्रथम सम्यक्त्व होता है। प्रथमसम्यक्त्व के अंत में जघन्यरीति से जब एक समय और उत्कृष्टरीति से छह आवलियों का काल अवशिष्ट रह जाता है तब अनतानुबंधिचतुष्टय में से किसी एक प्रकृति का उदय होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर सासादनसम्यग्दृष्टि हो जाता है अर्थात् चौथे गुणस्थान से गिरकर दूसरे गुणस्थान में आ पहुंचता है। इस कारण से हि इस गुणस्थान की सासादनगुणस्थान यह संज्ञा अन्वर्थक हो जाती है। आसादन का अर्थ है विराधन। जो आसादन से सहित होती है वह सासादना कहलाती है। जिसकी सम्यग्दृष्टि आसादन से सहित होती है वह जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। उस सासादनसम्यग्दृष्टिजीव के मिथ्यादर्शन के उदय का अभाव होनेपर भी अनतानुबंधी के उदय से मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान अज्ञानरूप हि बन जाते हैं। इसीलिये विराधनासहित होनेसे सासादनगुणस्थान की संज्ञा यथार्थ है। अनत का अर्थ है मिथ्यादर्शन। उसका जो बंध करता है वह अनंतानुबधी कहा जाता है। वह सासादनसम्यग्दृष्टि मिथ्यादर्शन के उदय के फल की प्राप्ति करनेवाला होनेसे आत्मा को मिथ्यादर्शन में प्रविष्ट कराता है।

इसप्रकार जो आसादन से युक्त होता है अर्थात् जिसको सम्यक्त्व की विराधना-विनाश हुई है और मिथ्यात्वकर्म के उदयरूप निमित्त के द्वारा उत्पन्न किया जानेवाला परिणाम अर्थात् मिथ्यात्वभाव जिसमें अभिव्यक्त नहीं हुआ है, किंतु जो मिथ्यात्व के अभिमुख होता है उसे सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं। यह सासादनसम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वकर्म के उदय का अभाव होनेसे न मिथ्यादृष्टि है, समीचीन श्रद्धान का अभाव होनेसे न सम्यग्दृष्टि है और मिथ्याश्रद्धान और सम्यक् श्रद्धान का अभाव होनेसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। इन तीनों दृष्टियों से अतिरिक्त चौथी दृष्टि भी नहीं है; क्यों कि समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टि के आलंबनभूत वस्तु से भिन्न दूसरी किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। इस कारण यह सासादनगुणस्थान अस्तित्वरूप नहीं है अर्थात् सासादन-नाम के गुणस्थान का अस्तित्व हि सिद्ध नहीं होता यह कहना ठीक नहीं है; क्यों कि वस्तु के विपरीत स्वरूपपर उसका श्रद्धान दृढ होनेसे वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता-मिथ्यादृष्टि होता है। 'यदि सासादनगुणस्थानवाले जीव की श्रद्धा समीचीन नहीं है-मिथ्या है तो वह मिथ्यादृष्टि हि होना चाहिये-इसको सासादनसम्यग्दृष्टि कहना ठीक नहीं है' ऐसा कहना हो तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्यों कि सासादनगुणस्थान में सम्यग्दर्शनरूप और सम्यक्चारित्र-रूप जीवपरिणामों का उत्पत्ति के विषय में प्रतिबन्ध-विरोध करनेवाले अनंतानुबंधिकषाय के उदय के द्वारा उत्पा-दित किये गये वस्तु के यथार्थ स्वरूप के विपरीत स्वरूप के दृढश्रद्धान का सद्भाव होनेसे वहां मिथ्यादर्शन का मिथ्या श्रद्धान का सद्भाव होता है; किंतु मिथ्यात्वकर्म के उदय के द्वारा (निमित्त) से उत्पादित किये विपरीत अभि-निवेश का वहां अभाव होनेसे अर्थात् सद्भाव न होनेसे उस गुणस्थान की मिथ्यादृष्टिगुणस्थान यह संज्ञा नहीं की गयी, अपि तु वह सासादनगुणस्थान के नाम से हि निर्दिष्ट किया गया है। सासादनगुणस्थान में मिथ्यात्वकर्मोदय-

जनित विपरीताभिनिवेश भले हि न पाया जाता हो, किंतु वहां अनंतानुबंध्युदयजनितविपरीताभिनिवेश मिथ्यादर्शन-रूप है और जब वह सासादनगुणस्थान अनन्तानुबन्धी के उदय के कारण पाया जाता है तब इस गुणस्थान की मिथ्यादृष्टि यह संज्ञा क्यों नहीं की गयी ?' यह शंका ठीक नहीं है; क्यों कि अनंतानुबंधिसंज्ञकचारित्रमोह का स्वभाव सम्यग्दर्शनघातकत्व और सम्यक्चारित्रघातकत्व इसप्रकार दो प्रकार का है ऐसा जो प्रतिपादन किया गया है उसका यह फल अर्थात् फलितार्थ है । [कहनेका भाव यह है कि अनन्तानुबंधी का उदय यद्यपि जैसे सम्यक्चारित्र का घातक है वैसे सम्यग्दर्शन का भी घातक है तो भी सासादन की मिथ्यादृष्टि यह संज्ञा नहीं की जा सकती; क्यों कि अनंतानुबंधिकषाय का तीव्रतम अनुभाग सम्यक्चारित्र का अर्थात् इसप्रकरण में स्वरूपाचरणचारित्र का प्रधानतया घात करता है । स्वरूपाचरणचारित्र के घातसे यथार्थ आत्मस्वरूप की अनुभूति नहीं होती । यथार्थ आत्मस्वरूप का अनुभव न होनेसे आत्मा का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता । यथार्थ श्रद्धान का अभाव होनेसे जीव को स्वपर के भेद का ज्ञान नहीं होता । भेदज्ञान का अभाव होनेसे वह परपदार्थों को जीवस्वामिक समझता है । स्वपरपदार्थों की भिन्नता को न जानना हि विपरीताभिनिवेश है । सारांश, अनंतानुबंध्युदयजनित विपरीताभिनिवेश पारम्परिक होनेसे और मिथ्यात्वोदयजनित विपरीताभिनिवेश पारम्परिक होनेसे और स्वरूपाचरणचारित्ररूप सम्यक्चारित्र का घात प्रधान होनेसे इस गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि यह संज्ञा नहीं की जा सकती ।] दर्शनमोहनीयकर्म के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम से प्राणियों के सासादनपरिणाम उत्पन्न नहीं होता जिससे कि सासादनगुणस्थान को मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जा सके । जिस अनन्तानुबन्धिकषाय के उदय से (दूसरे गुणस्थान में) पदार्थ के विपरीत स्वरूप का श्रद्धान होता है वह सम्यक्त्व को मोहयुक्त अर्थात् भ्रान्तियुक्त या विपरीतरूप से-मिथ्यात्वरूप से परिणत नहीं कर सकता, क्यों कि वह सम्यक्चारित्र का आवरण करनेवाला है । इसी कारण दूसरे गुणस्थान की मिथ्यादृष्टि यह संज्ञा न करके सासादनसम्यग्दृष्टि यह संज्ञा की गयी है । अनन्तानुबन्धिकषाय का उदय सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन दोनों का प्रतिबन्ध करनेवाला होनेसे अर्थात् इन दोनों परिणामों की उत्पत्ति होनेमें विरोध करनेवाला होनेसे उसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दोनों संज्ञाएं यद्यपि देना उचित है तथापि आगम में उसे ये दोनों संज्ञाएं नहीं दी गयी है; क्यों कि सम्यक्चारित्र का आवरण करना उसका प्रधान कार्य है । यह सासादनसम्यग्दृष्टिरूप परिणाम दर्शनमोहनीय कर्म के उदय, उपशम क्षय और क्षयोपशम के विना उत्पन्न होनेवाला होनेसे पारिणामिकभाव कहा गया है । वह विपरीतश्रद्धानरूप होनेपर भी उसे जो सम्यग्दृष्टि कहा गया है उसका कारण है सासादनसम्यग्दृष्टिरूप अवस्था के पूर्वकाल में सम्यग्दृष्टिरूप परिणाम का होना, क्यों कि सम्यग्दृष्टिरूपपरिणाम की उत्पत्ति के विना सासादनसम्यग्दृष्टिरूप परिणाम की उत्पत्ति हो हि नहीं सकती । कहनेका भाव यह है कि यद्यपि अनन्तानुबन्धिकषाय का उदय किसीतरह सम्यक्त्व का घातक है तो भी उसे दर्शनमोहनीय यह संज्ञा नहीं दी जा सकती; क्यों कि उसके तीव्रतम अनुभागबंध से सम्यक्चारित्ररूप परिणाम की उत्पत्ति का हि प्रतिबंध होनेसे उसे चारित्रमोहनीय यह संज्ञामात्र देना हि उचित है । अनंतानुबंधिकर्म के उदय से सम्यग्दर्शन का विनाश होता है ऐसा जो कहा गया है उसका अभिप्राय अनन्तानुबंधिकषाय का उदय होनेपर षडावलिप्रमाण अल्पकाल का व्यवधान होनेपर भी मिथ्यात्वसंज्ञक कर्म के उदय की ओर अभिमुखता होनेपर हि सम्यग्दर्शन का विनाश होता है' ऐसा है । इसीलिए द्वितीयगुणस्थान में जो सम्यग्दर्शन की विराधना होती है उसका कारण मिथ्यात्वकर्म का उदय न होनेसे वह गुणस्थान पारिणामिकभावरूप बताया गया है । सासादनगुणस्थानवर्तिजीव के सम्यक्त्व का नाश अनन्तानुबंधिकषाय के चारों प्रकृतियों में से किसी एक प्रकृति का उदय होनेपर होता है ऐसा जो कहा गया है वह उक्त कथन के विरुद्ध नहीं पड़ता; क्यों कि जिस जीव के अनंतानुबंधिकषाय का उदय होनेपर मिथ्यात्वकर्म के उदय की ओर अभिमुखता होती है ऐसे जीव के सम्यक्त्व का विनाश संभव होनेसे अनंतानुबंधिकषाय के उदय से सम्यक्त्व का विनाश होता है ऐसा कहा जाता है । सारांश, अनंतानुबंधिकषाय यद्यपि सम्यक्त्व का विनाश करने की सामर्थ्य रखती है तो भी उस सामर्थ्य की अभिव्यक्ति अनंतानुबंधिकषायवाले जीव के मिथ्यात्व के उदय की ओर अभिमुखता होनेपर हि होती है । अतः केवल अनंतानुबंधी का उदय सम्यक्चारित्र का घातक होनेसे और उसकी सम्यक्त्व का

नाश करने की शक्ति की अभिव्यक्ति मिथ्यात्वकर्म के उदय की अपेक्षा रखनेवाली होनेसे अनन्तानुबंधिकषाय की चारित्रमोह यही संज्ञा ठीक है–दर्शनमोहनीय नहीं।

अब तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का स्वरूप विशद किया जाता है। जिसकी मदजनन शक्ति अंशतः क्षीण और अंशतः अक्षीण हुई होती है ऐसे कोद्रव के उपयोग के द्वारा उत्पादित परिणाम जिसप्रकार किंचित् कलुषित होता है उसीप्रकार दर्शनमोहनीय की सम्यङ्मिथ्यात्वसंज्ञक प्रकृति के उदय से जो तत्त्वार्थ के श्रद्धानरूप और अश्रद्धानरूप मिश्र परिणाम के रूप से जिसकी परिणत हुई होती है वह आत्मा सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कही जाती है। इस तत्त्वार्थ के श्रद्धानरूप और अश्रद्धानरूप मिश्र परिणाम के रूप से परिणत होनेसे हि सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती आत्मा के मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान अज्ञानमिश्रित होते हैं ऐसा कहा जाता है। इस गुणस्थान की संज्ञा में जो ' दृष्टि ' यह शब्द पाया जाता है उसका अर्थ श्रद्धा– रुचि है। समीचीनरूप और मिथ्यारूप से मिश्र श्रद्धा जिसकी होती है वह आत्मा सम्यङ्मिथ्यादृष्टि होती है। ' समीचीन और मिथ्या इन दृष्टियों का एक आत्मा में युगपत् सद्भाव नहीं पाया जा सकता; क्यों कि उन दोनों दृष्टियों में वध्यघातकभावरूप विरोध होता है अर्थात् सर्प और नकुल के समान वे युगपत् एकत्र नहीं रह सकते। क्रम से भी अर्थात् भिन्न कालों में – एक के बाद दूसरा इसप्रकार भी एक आत्मा मे रहकर सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानरूप नहीं हो सकते; क्यों कि जब जीव सम्यग्दर्शन के रूप से परिणत होता है तब उसका सम्यग्दृष्टिगुणस्थान में अन्तर्भाव हो जाता है और जब मिथ्यादर्शन के रूप से परिणत होता है तब उसका मिथ्यात्वगुणस्थान में अन्तर्भाव हो जाता है – क्रम से या अक्रम से सम्यङ्मिथ्यादृष्टिसंज्ञक तीसरा गुणस्थान बनता हि नहीं' ऐसा कहना ठीक नहीं है। जो जीव युगपत् सम्यक् और मिथ्या श्रद्धान रूप मिश्र परिणाम के रूप मे परिणत हुआ होता है वह सम्यङ्मिथ्यादृष्टि होता है यह बात निर्णीतप्राय है। तत्त्वार्थ का सम्यक श्रद्धानरूप परिणाम और मिथ्याश्रद्धानरूप परिणाम इनमें जम्बूद्वीपस्थ चन्द्र और धातकीद्वीपस्थ सूर्य इनमें जिसप्रकार सहानवस्थानरूप विरोध होता है उसीप्रकार का विरोध भी नहीं होता, क्यों कि जिसमें अनेक धर्म होते हैं ऐसी आत्मा में अनेक धर्मों के सहानवस्थानरूपविरोध की सिद्धि नहीं होती। आत्मा अर्थक्रियाकारी होनेसे आत्मा का अनेकधर्मयुक्तत्व सिद्ध हो जाता है; क्यों कि अनेक धर्मों से युक्त हुए विना आत्मा अपनी अर्थक्रिया हि नहीं कर सकती। ' एक साथ एक पदार्थ में रहने के विषय मे जिनका विरोध नहीं होता ऐसे अनेकधर्मों का एक आत्म–पदार्थ में सद्भाव होनेमें विरोध न होता हो तो भले हि न हो, किंतु उसमें संपूर्ण धर्मों का सद्भाव होनेमें विरोध अवश्य होता है ' यह कहना किसीप्रकार उचित नहीं है, क्यों कि एक आत्मा में समस्त धर्मों का सद्भाव होता है ऐसा किसने माना है? यदि आत्मा में यच्चयावत् धर्मों का सद्भाव माना तो चेतनत्व और अचेतनत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व आदि सहानवस्थानविरोधवाले धर्मों का भी एक आत्मा में युगपत् अवस्थान होता है ऐसा मानने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। जिस आत्मा में जिन धर्मों का अत्यन्ताभाव नहीं होता है अर्थात् जो धर्म कभी भी पाये जाते हैं उस आत्मा में किसी काल में और किसी क्षेत्र में उन धर्मों का युगपत् अस्तित्व निश्चितरूप से पाया जाता है। इन तत्त्वार्थ के समीचीन और मिथ्या श्रद्धानों का क्रम से एक आत्मा में सद्भाव पाया जाता है। जब समीचीन और असमीचीन श्रद्धाओं का क्रम से एक आत्मा में सद्भाव पाया जाता है तब उन श्रद्धाओं का उस आत्मा मे युगपत् सद्भाव पाया जाना चाहिये। ' एक साथ सम्यक् और मिथ्या श्रद्धानरूप मिश्र परिणाम आत्मा में पाया जाता है ' यह कथन काल्पनिक नहीं है; क्यों कि मिथ्यात्व अवस्था में स्वीकार की गयी मिथ्या देवता का परित्याग न करके अर्थात् उसे भी देवतारूप से स्वीकार कर अरिहंत भगवान् भी देव हैं इसप्रकार के अभिप्रायवाला पुरुष पाया जाता है।

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पांच भावों में से यह सम्यङ्मिथ्यात्वगुणस्थान क्षायोपशमिकभावरूप है। जब संसारी आत्मा मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान को प्राप्त होता है तब भी उसका भाव क्षायोपशमिक होता है –मिश्रभाव होता है; क्यों कि उसके मिथ्यात्वकर्म के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, उसके अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों का अनुदयरूप उपशम और सम्यग्मि–

थ्यात्वकर्म के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय होता है। ऐसे जीव के सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय होनेपर भी उसके सम्यग्मिथ्यात्वपरिणाम को औदयिक भाव नहीं कहा जाता, क्यों कि जिसप्रकार मिथ्यात्वकर्म के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय -संपूर्ण विनाश हो जाता है उसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का संपूर्ण विनाश नहीं होता। यद्यपि सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञक कर्मप्रकृति के उदय से सम्यग्दर्शन का पूर्णरूप से विनाश नहीं होता तो भी उस प्रकृति को सर्वघातिप्रकृति कहा है; क्यों कि वह सम्यग्दर्शन की पूर्णरूप से आविर्भूति नहीं होने देती अर्थात् सम्यक्त्व की आविर्भूति की पूर्णता का वह प्रतिबंधक होती है। इसी दृष्टि की मुख्यता से सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति सम्यक्त्व का पूर्णरूप से विघात करनेवाली न होनेपर भी सर्वघातिनी प्रकृति कही गयी है। मिथ्यात्वप्रकृति के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से और उसके अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों के अनुदयरूप उपशम से जिसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणाम या गुणस्थान उत्पन्न होता है उसीप्रकार अनन्तानुबंधी के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से और उसके अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों के अनुदयरूप उपशम से सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणाम उत्पन्न होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्यों कि अनंतानुबंधिकषाय का उदय सम्यक्चारित्रगुण का प्रतिबंधक होता है। सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान की उत्पत्ति का कारण अनन्तानुबंधिकषाय का क्षयोपशम है ऐसा माना तो सासादनगुणस्थान की उत्पत्ति का कारण अनन्तानुबंधिकषाय का उदय होनेसे उसे औदयिकभाव मानना होगा; किंतु उस गुणस्थान को औदयिकभावरूप न मानकर पारिणामिकभावरूप माना है। सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान की उत्पत्ति में मिथ्यात्वकर्म के क्षयोपशम के समान अनंतानुबंधिकषाय का क्षयोपशम भी निमित्तकारण पडता है। अथवा- सम्यक्त्वकर्मप्रकृतिसंज्ञक दर्शनमोहनीय की प्रकृति के कुछ देशघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से और उसके अवशिष्ट देशघातिस्पर्धकों के अनुदयरूप उपशम से तथा सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के सर्वघातिस्पर्धकों के उदय से सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्र परिणाम की उत्पत्ति होनेसे यह तृतीय गुणस्थान क्षायोपशमिकभावरूप है। सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान को जो इसप्रकार क्षायोपशमिकभाव कहा जाता है वह अज्ञ जीवों को उस विषय का परिज्ञान करानेके लिए कहा जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो निरन्वयरूप से- पूर्णरूप से आप्त, आगम और पदार्थ इनकी श्रद्धा का नाश करने में असमर्थ ऐसे सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय से पदार्थों के समीचीन और असमीचीन स्वरूप जिसका विषय पडते हैं ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होनेसे सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान क्षायोपशमिकभावरूप होता है। इस गुणस्थान को इस दृष्टि से क्षायोपशमिकभावरूप न मानकर अन्य दृष्टि से क्षायोपशमिकभावरूप माना तो उपशमसम्यक्त्वी जीव के सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान को प्राप्त होनेपर सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान का क्षायोपशमिकभावरूप होना घटित- सिद्ध नहीं होता; क्यों कि उपशमसम्यक्त्वसंज्ञक चतुर्थ गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान में पतित हुए जीव के ऐसी अवस्था में सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति और अनन्तानुबंधी इन तीनों के उदयाभावी क्षय का अभाव होता है। [कहने का भाव यह है कि उपशमसम्यक्त्व से च्युत होकर जब जीव तृतीय गुणस्थान में आ जाता है तब उसे उस जीव के सम्यक्त्वप्रकृति के कुछ देशघातिस्पर्धकों का, मिथ्यात्वप्रकृति के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों का और अनन्तानुबंधिकषाय के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों का उपशम तो अवश्य होता है; किंतु सम्यक्त्वप्रकृति के अवशिष्ट देशघातिस्पर्धकों का, मिथ्यात्वप्रकृति के अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों का और अनंतानुबंधी के अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय नहीं होता। ऐसी अवस्था में सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान का क्षायोपशमिकभावरूप होना घटित नहीं होता; क्यों कि अनुदयरूप उपशम के बिना जिसप्रकार क्षायोपशमिकभाव घटित नहीं होता उसीप्रकार उदयाभावी क्षय के बिना भी वह घटित नहीं होता। यदि उपशमसम्यक्त्वी जीव के तृतीय गुणस्थान को प्राप्त होनेपर भी उक्त तीन प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय होता है ऐसा माना तो तीसरे गुणस्थान का अस्तित्व हि नहीं बनता; क्यों कि उक्त प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय से मिथ्याश्रद्धानरूप परिणाम का अभाव हो जाता है।] उपशमसम्यक्त्व से तीसरे सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान में पतित हुए जीव के सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति और अनन्तानुबंधी इन तीनों का उदयाभावरूप उपशम पाया जाता है तो भी उससे वह गुणस्थान क्षायोपशमिकभावरूप नहीं हो सकता; क्यों कि उन प्रकृतियों के उपशम से वह औपशमिकभावरूप हो जाता है। शास्त्रकारों ने इस गुणस्थान

को औपशमिकभावरूप नहीं माना, अपि तु मिश्रपरिणामरूप होनेके कारण उसे क्षायोपशमिकभावरूप माना है। दूसरे, यदि तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबंधी इनके क्षयोपशम का सद्भाव माना तो अर्थात् इन प्रकृतियों के क्षयोपशम से तीसरे गुणस्थान को क्षायोपशमिकभावरूप माना तो मिथ्यात्वगुण-स्थान को भी क्षायोपशमिकभावरूप मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा; क्यों कि उपशमसम्यक्त्व से मिथ्यात्व गुणस्थान में पतित हुए जीव के सम्यक्त्वप्रकृति के उदयप्राप्त देशघातिस्पर्धकों का और सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति के उदयप्राप्त सर्वघातिस्पर्धकों का क्षय हो जानेसे तथा उन दोनों प्रकृतियों के अवशिष्ट स्पर्धकों के अनुदयरूप उपशम से और मिथ्यात्वकर्म के सर्वघातिस्पर्धकों के उदय से मिथ्यात्वगुणस्थानरूपपरिणाम का प्रादुर्भाव होता है।

[क्षयोपशम का स्वरूप – (१) कुछ सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से, अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्ध-कों के अनुदयरूप उपशम से और देशघातिस्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक भाव की उत्पत्ति होती है। (२) कुछ सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से, अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों के अनुदयरूप उपशम से और किसी कर्म के सर्व-घातिस्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक भाव का प्रादुर्भाव होता है। (३) किसी कर्म के कुछ देशघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से, उसी के अवशिष्ट देशघातिस्पर्धकों के अनुदयरूप उपशम से और किसी कर्म के सर्वघातिस्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिकभाव का उत्पाद होता है। (४) किसी कर्म के उदयप्राप्त देशस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से तथा किसी कर्म के उदयप्राप्त सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से, उन्हीं कर्मों के यथाक्रम देशघातिस्पर्धकों और सर्वघातिस्पर्धकों के अनुदयरूप उपशम से और किसी कर्म के सर्वघातिस्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिकभाव की प्रादुर्भूत होती है।] [-धवला, सत्प्ररूपणा, १।१।११]

अब असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानपर विचार किया जाता है। जिसकी दृष्टि अर्थात श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जिसके संयमभाव नहीं होता ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को असंयतसम्यग्दृष्टि कहते है। वह असंयतसम्यग्दृष्टि क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिकसम्यग्दृष्टि इसप्रकार तीन प्रकार का होता है। दर्शनगुण और चारित्रगुण का घात करनेवाली अनन्तानुबंधी की जो चार प्रकृतियां और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां है इन सात प्रकृतियों के निरवशेष क्षय से क्षायिकसम्य-ग्दृष्टि कहा जाता है, इन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यग्दृष्टि होता है और दर्शनमोहनीय की भेदभूत सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से वेदकसम्यग्दृष्टि होता है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वरूप परिणाम के रूप से कभी भी परिणत नहीं होता, तत्त्वों के स्वरूप के विषय में संदेह नहीं करता और मिथ्यात्व के अतिशय को देखकर आश्चर्य को प्राप्त नहीं होता। उपशमसम्यग्दृष्टि ऐसा हि होता है, किंतु परिणमन के कारण मिथ्यात्व को प्राप्त होता है अर्थात् मिथ्यात्वपरिणाम के रूप से परिणत होता है सासादनगुणस्थान को भी प्राप्त होता है, सम्यग्मिथ्या-त्वगुणस्थान के रूप से भी परिणत होता है और वेदकसम्यक्त्व के रूप से भी परिणत होता। जो वेदकसम्यग्दृष्टि होता है उसका श्रद्धान शिथिल होता है दृढ नहीं होता और तत्त्वार्थ के यथार्थरूप को शिथिलरूप से ग्रहण करता है। कुहेतुओं से और कुदृष्टान्तों से फौरन सम्यक्त्व की विराधना करता है। दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्ता-नुबंधी की चार प्रकृतियों के निरवशेष क्षय से उत्पन्न होनेसे क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकभावरूप होता है, उन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से उत्पन्न होनेवाला सम्यक्त्व क्षायोपशमिकभावरूप होता है। असंयतसम्यग्दृष्टि इस सामासिक पद में प्रयुक्त किया गया 'असंयत' यह पूर्वपद अंतदीपकन्याय से अधस्तन तीन गुणस्थानों के असंयतपने का प्रति-पादन करता है। चौथे से आगे का पांचवा गुणस्थान संयतासंयत होता है और अवशिष्ट गुणस्थानों में संयमभाव होता है। चौथे से आगे के सभी गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन का सद्भाव होता है। असंयतसम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के विषयों से और त्रसस्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं होता; किंतु जिनेंद्रभगवान् के द्वारा प्रतिपादित प्रवचन का श्रद्धान करता है। यह अविरतसम्यग्दृष्टि प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा इन से युक्त होनेके कारण निरपराध प्राणियों की हिंसा कदापि नहीं करता।

इसके बाद देशविरत या संयतासंयत गुणस्थान का स्वरूप बताया जाता है। इस गुणस्थान की उत्पत्ति में विशिष्ट क्षयोपशम कारण पडता है। जब अनंतानुबंधी के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों का अनुदयरूप उपशम होता है, अप्रत्याख्यानावरण के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों का अनुदयरूप उपशम होता है, प्रत्याख्यानावरण के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय होता है और देशघाति सज्वलन का और नवनोकषायों का उदय होता है तब संयमासयमरूप परिणाम की प्राप्ति होती है।

[इस गुणस्थान के विषय में अधिक विचारों को अभिव्यक्त करने के पहले (१) गुण और (२) विरोध इन दोनों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

१– गुण और उनके परिणामों में तादात्म्यसंबंध होता है। चौदहों गुणस्थान मोहोद्भूव और योगोद्भूव है। प्रत्येक गुणस्थान औदयिकादि पाच भावों मे से किसी न किसी भावरूप होता है। ये भाव (पारिणामिकभाव को छोडकर) गुणपर्यायरूप है। वे भाव गुणपर्यायरूप होनेसे गुण भी कहे जा सकते है। इन गुणों से या गुणपर्यायों से आत्मवस्तु का अनेकान्तत्व सिद्ध हो जाता है। वस्तु के अनेकान्तत्व की सिद्धि हो जानेसे उसकी अर्थक्रियाकारिता की सिद्धि हो जाती है। देखिए–

' के गुणाः ? औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः। अस्य गमनिका –कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः, तेषामुपशमादौपशमिकः क्षयात् क्षायिकः, तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः। कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः। गुणसहचरितत्वादात्माऽपि गुणसञ्ज्ञां प्रतिलभते। उक्तं च– जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि। जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहि ॥'

वे गुण कौनसे है ? औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये गुण अर्थात् भाव है। इसकी उत्पत्ति– कर्मों के उदय से जो उत्पन्न होता है वह गुण– भाव औदयिक होता है, जो कर्मों के उपशम से उत्पन्न होता है वह औपशमिक होता है, जो कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है वह क्षायिक होता है, जो कर्मों के क्षय से और उपशम से उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक होता है। जो कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना उत्पन्न होता है वह पारिणामिक होता है। गुणों के साहचर्य से आत्मा भी गुणसंज्ञा को प्राप्त कर लेती है। कहा भी है– कर्मों के उदयादि होनेपर उत्पन्न होनेवाले जिन भावों से जीव उपलक्षित– युक्त होते है वे भाव सर्वज्ञदेव के द्वारा गुणसंज्ञा के धारक बताये गये है।

इससे प्रकृत प्रकरण में गुणशब्द का अर्थ औदयिकादिभाव है यह बात स्पष्ट होती है।

२– परस्परपरिहाररूप अर्थात् वध्यघातकभावरूप, सहानवस्थानरूप और प्रतिबंध्यप्रतिबंधकभावरूप से विरोध तीन प्रकार का होता है। १– एक काल में विद्यमान रहनेवाले दो भावों का संयोग होनेपर जब एकभाव का नाश होता है तब वध्यघातकभावरूप विरोध होता है। इसीका दूसरा नाम परस्परपरिहारविरोध है। अग्नि और उदक का संयोग होनेपर जो बलवान् होता है उसके द्वारा दूसरे का नाश– घात होता है। जिसके द्वारा दूसरेका नाश होता है उसे घातक कहते है और जिसका नाश होता है वह वध्य कहा जाता है। अग्नि बलवान् हो तो वह जल का नाश कर देती है और जल बलवत् हो तो वह अग्नि का नाश कर देता है। कभी अग्नि घातक बनती है तो कभी जल घातक बनता है। कभी अग्नि वध्य बनती है तो कभी जल वध्य बनता है। दोनों का संयोग होनेके बाद घात होता है। २– जिन धर्मों का– गुणों का या पदार्थों का एकत्र अत्यन्ताभाव होता है – क्रम से भी सद्भाव नहीं होता उनमें हि सहानवस्थानविरोध का सद्भाव होता है। जिन धर्मों का या पदार्थों का एकत्र क्रम से सद्भाव होता है उनका क्वचित् कदाचित् युगपत् सद्भाव होनेसे उनमें सहानवस्थानविरोध का सद्भाव नहीं होता। शैत्य धर्म का अग्नि में अत्यन्ताभाव होनेसे उसमें औष्ण्य और शैत्य इन धर्मों का सहानवस्थानविरोध का

सद्भाव होता है। जंबूद्वीपस्थ जो चंद्र और सूर्य जंबूद्वीप में क्रम से उदित होते हैं उनका अमावास्या के दिन सहावस्थान होता है। उनमें सहानवस्थानरूप विरोध का सद्भाव नहीं होता। ' अमा सह वसतः चन्द्रार्कौ अस्यां सा अमावास्या ' इसप्रकार अमावास्या शब्द की निरुक्ति व्याकरणशास्त्र में पायी जाती है। ' सूर्याचन्द्रमसो. यः परः सन्निकर्षः साऽमावास्या ' ऐसा ज्योतिर्विदों ने भी अमावास्या का स्पष्टिकरण किया है। अतः जम्बूद्वीपस्थ सूर्य और चद्रमा इनमें सहानवस्थानविरोध का सद्भाव नहीं होता। धातकी द्वीपस्थ सूर्य जम्बूद्वीप में कदापि उदित नहीं होता। अतः धातकीद्वीपस्थ सूर्य और जम्बूद्वीपस्थ चंद्रमा इनमें सहानवस्थानविरोध का अवश्यमेव सद्भाव होता है। सारांश, जो क्रम से एकत्र होते हैं उनकी युगपत्– अक्रम से एकत्र अवस्थिति न होनेसे विरोध का सद्भाव– न होनेसे उनमें सहानवस्थान का सद्भाव होनेके कारण सहानवस्थानविरोध नहीं होता। जिस धर्म का या पदार्थ का एकत्र (एक पदार्थ में या स्थान में) सर्वदा अत्यन्ताभाव होता है उस धर्म का पदार्थगत अन्य धर्मों के साथ और उस पदार्थ का एकस्थानगत अन्य पदार्थों के साथ सहानवस्थानरूप विरोध अवश्य होता है। देखिए- ' येषां धर्माणां नान्योन्याभावो यास्वप्यात्मनि तत्र कदाचित् क्वचित् अक्रमेण (युगपत्, सह) नैषामस्तित्वम्। ' (धवला, स प्र. १।१।११) ३- विरोध प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावरूप है। अग्नि में दाहक शक्ति होती है, किंतु चन्द्रकान्तमणि प्रतिबंधक होनेसे अग्नि दाहक्रिया नहीं कर सकती। चन्द्रकान्तमणि दाहक्रिया का प्रतिबंधक है और दाहक्रिया प्रतिबन्ध्य है। अतः दाहक्रिया और चन्द्रकान्तमणि इनमें प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावरूप विरोध का अवश्यमेव सद्भाव है। भव्य आत्मा में रत्नत्रयरूप से परिणत होनेकी योग्यता– शक्ति अवश्य मौजूद है, किंतु दर्शनमोहनी आदिकर्मों का उदय उसको रत्नत्रयरूप से परिणत नहीं होने देता। रत्नत्रयरूप से परिणत होनेकी क्रिया प्रतिबन्ध्य है और दर्शनमोहनीयादिकर्मों का उदय प्रतिबन्धक है। अतः रत्नत्रयरूप से परिणत होनेकी क्रिया और दर्शनमोहनीयादिकर्मों का उदय इनमें प्रतिबन्ध्यप्रतिबंधकभावरूप विरोध का अवश्यमेव सद्भाव होता है। इस तीसरे प्रकार के विरोध की भी प्रकृत प्रकरण में उपयुक्तता है।

संयत होते हुए भी जो असंयत होते हैं वे संयतासंयत होते हैं। ' जो जीव संयत होता है वह उसी समय असंयत नहीं हो सकता है और जो असंयत होता है वह उसीसमय संयत नहीं हो सकता है, क्यों कि संयमभाव और असंयमभाव इनमें विरोध होता है। इसप्रकार संयम और असंयमभाव इनमें विरोध [illegible] स्थान नहीं बनता है। ' इस आक्षेप का समाधान यह है कि संयमभाव और असंयमभाव इन दोनों भावों में विरोध जरूर है, किंतु वह विरोध परस्परपरिहारलक्षण [illegible] है और [illegible] एक सादि या अनादिमिथ्यादृष्टि भव्य जीव [illegible] होता है तब उसके मिथ्यात्वभाव का नाश होकर ही वह सम्यक्त्वरूप से परिणत होता है। अतः मिथ्यात्व [illegible] और [illegible] हारक है। इसप्रकार सभी गुणस्थानों में व्याघातकभावरूप या परस्परपरिहारलक्षण विरोध का सद्भाव [illegible] गुणस्थानों में [illegible] का अभाव होता [illegible] उपरि हैं तो आत्मा [illegible] होता [illegible] और [illegible] इसप्रकार [illegible] के स्वरूप [illegible] सभी [illegible] सद्भाव [illegible] में ये सभी गुणस्थान [illegible] भाव क्रम से अभिव्यक्त होते हैं और जब ये क्रम से अभिव्यक्त होते हैं तब उनकी युगपत् अभिव्यक्ति [illegible] उचित नहीं है। [illegible] अन्य सभी भावों का आत्मा में अत्यन्ताभाव होता– कदाचित् कथंचित अभिव्यक्त न होते तो उन भावों में–गुणों में–गुणस्थानों में सहानवस्थानरूप विरोध का सद्भाव अवश्य होता। आत्मा में सभी भाव–गुणस्थान क्रम से अभिव्यक्त होनेवाले होनेसे उनमें सहानवस्थानरूप-विरोध का सद्भाव नहीं है। यदि सभी गुणस्थानों में सहानवस्थानरूपविरोध का सद्भाव होता तो आत्मा में एक हि गुण का-भाव का सद्भाव रहता, क्यों कि अन्य अवशिष्ट गुणों के अत्यन्ताभाव के बिना सहानवस्थानरूप विरोध का

सद्भाव नहीं रह सकता । यदि आत्मा में एक हि गुण का—भाव का सद्भाव रहा तो आत्मा का वस्तुत्व हि नष्ट हो जायगा; क्यों कि अनेक गुणों का सद्भाव होते हि वस्तु का अस्तित्व बना रहता है । जो प्रयोजन की निष्पत्ति करती है वही वस्तु होती है । वस्तु एकधर्मात्मक हो तो उसमे प्रयोजन की निष्पत्ति नहीं हो सकती । यदि एकधर्मात्मक वस्तु का निष्पद्यमान प्रयोजन एकरूप होता है ऐसा माना तो पूर्वप्राप्त—पूर्वनिष्पन्न प्रयोजन का पुनः निष्पादन होनेका प्रसंग खडा हो जानेसे प्रयोजन के निष्पादन मे विरोध उपस्थित हो जाता है । यदि एकधर्मात्मक वस्तु का निष्पद्यमान प्रयोजन अनेकरूप होता है ऐसा माना तो यह प्रयोजन उस एकधर्मात्मक वस्तु से निष्पन्न हुआ है ऐसा निर्णीतरूप से नही कहा जा सकेगा और इसके कारण प्रयोजन के निष्पादन में विरोध खडा हो जायगा । अतः वस्तु को एकधर्मात्मक माना तो उसमे अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजननिष्पत्ति नहीं बनेगी । कहने का भाव यह है कि यदि आत्मा को एकधर्मात्मक हि माना तो बधमोक्षरूप प्रयोजन की निष्पत्ति होना असभव हो जायगा । 'गुणों मे या गुणस्थानों में सहानवस्थानरूप विरोध नहीं होता यह कथन ठीक नहीं है, क्यों कि चैतन्य और अचैतन्य गुणों मे सहानवस्थानरूप विरोध पाया जानेसे उक्त कथन अनेकान्तिक दोष से दूषित है ' यह आक्षेप ठीक नही है; क्यों कि चैतन्य और अचैतन्य एक आत्मद्रव्य के गुण न होनेसे उन दोनों में सहानवस्थानरूप विरोध पाया जाता है । जो द्रव्य के साथ साथ रहते हैं अर्थात् जो सहभावी होते है उन्हे गुण कहते है । जिसप्रकार आत्मा की ससारावस्था में और मुक्तावस्था में चैतन्य का सद्भाव पाया जाता है उसीप्रकार अचैतन्य का दोनों अवस्थाओं मे सद्भाव नहीं पाया जाता । संसार अवस्था में अर्थात् बधक कर्मों का जीव के साथ जबतक संबध विद्यमान रहता है तबतक हि अचैतन्य का आत्मा के साथ सहभाव पाया जाता है । बंधक कर्मों का आत्मा के साथ हुए संबध के छूट जानेसे अभिव्यक्त हुई मुक्तावस्था में अचैतन्य का आत्मा के साथ सहभाव नही पाया जाता । अतः जिसप्रकार चैतन्य आत्मा का गुण है उसीप्रकार अचैतन्य आत्मा का गुण नही है । चैतन्यमात्र आत्मा का गुण होनेसे और अचैतन्य आत्मा का गुण न होनेसे चेतन्य और अचैतन्य इनमे सहानवस्थानविरोध का सद्भाव होता है । अतः एकद्रव्य के गुणो मे सहानवस्थानरूप विरोध का सद्भाव नहीं होता यह कथन अनेकान्तदोष से दूषित नहीं है । दूसरे जिनका निमित्त सहकारिकारण समान होता है उनमे विरोध होता है । आत्मरूप एकद्रव्य मे अभिव्यक्त होनेवाले संयमभाव और असयमभाव इनमें विरोध का सद्भाव नहीं हो सकता, क्यो कि इनके निमित्त भिन्नभिन्न है । त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा से विरत होना—उनकी मन-वचन काय से और कृत कारित-अनुमोदना से हिंसा न करना यह सयमभाव का निमित्त है और उनकी हिंसा से विरत न होना अर्थात् इनकी हिंसा करना यह असयमभाव का निमित्त है । अतः निमित्तभेद के कारण उन दोनो भावो मे विरोध का सद्भाव नही हो सकता । उन सयमरूप और असयमरूप दोनों भावो मे सहानवस्थानरूप विरोध का सद्भाव न होनेसे उनका सहभाव होनेमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही होती । एक हि काल में मित्र और शत्रु के मिलनेपर व्यक्ति के हृदय में मित्रत्व का और शत्रुत्व का जिसप्रकार सहभाव पाया जाता है उसीप्रकार एक आत्मा मे सयमभाव का और असयमभाव का सहभाव पाया जा सकता है ।

संयमासयमभाव क्षायोपशमिकभाव है, क्यो कि उसकी उत्पत्ति अप्रत्याख्यानावरणीयकषाय के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से, उसी कषाय के अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों के उपशम से और प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से होती है । संयमासंयमगुणस्थानवाले जीव के क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन सम्यक्त्वों में कोनसा भी एक सम्यक्त्व होता है, क्यों कि किसी एक सम्यक्त्व के विना अप्रत्याख्यानचारित्र की अर्थात् देशचारित्र की उत्पत्ति होनेमें विरोध उपस्थित हो जाता है । सम्यक्त्व के विना जीव देशसयमी नही हो सकता; क्यों कि जिससे मोक्ष की प्राप्ति की आकांक्षा नष्ट हो गयी होती है और जिसके इंद्रियविषयों को भोगने की अभिलाषा का अभाव नहीं हुआ होता है उसके अप्रत्याख्यानसयम की अर्थात् देशसयम की उत्पत्ति घटित नहीं हो सकती । कहा भी है कि—

जो तसवहाउ विरओ अविरओ य तह य थावरवहाओ ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरआविरओ जिणेक्कमई ॥

जो जीव एक हि समय में त्रसजीवों की हिंसा से विरत और स्थावरजीवों की हिंसा से अविरत होता है–विरत नहीं होता ऐसे जिनेन्द्रदेव में अद्वितीय श्रद्धा को रखनेवाले जीव को विरताविरत कहते हैं। ऐसा जीव प्रयोजन के विना स्थावरजीवों की हिंसा भी नहीं करता।

अब क्रमप्राप्त प्रमत्तसंयतगुणस्थानपर विचार किया जाता है। इस गुणस्थान में पूर्वतन गुणस्थान से सम्यक्त्वपद की अनुवृत्ति होती है अर्थात् यह गुणस्थान सम्यक्त्वयुक्त जीव के होता है–मिथ्यात्वी जीव के नहीं होता। जो जीव प्रकर्ष से मत्त होते हैं अर्थात् जिनके संज्वलनकषाय का और नव नोकषायों का उदय होता है उन्हें प्रमत्त कहते हैं और जो समीचीनरूप से यत अर्थात् हिंसादि से विरत होकर संयमभाव को प्राप्त होते हैं वे संयत कहे जाते हैं। जो प्रमत्त होते हुए संयत होते हैं अर्थात् जिनमें प्रमाद और संयमभाव युगपत् होते हैं वे प्रमत्तसंयत कहे जाते हैं। 'यदि छठवें गुणस्थानवाले जीव प्रमत्त हैं तो वे संयत नहीं हो सकते हैं; क्यों कि प्रमादयुक्त जीवों को अपने स्वरूप का संवेदन नहीं हो सकता है। कहनेका भाव यह है कि स्वरूपसंवेदन के विना जब संयमभाव बन नहीं सकता और प्रमाद जब स्वरूपसंवेदन का घात करता है अर्थात् जब संयम और प्रमाद इनमें परस्परपरिहाररूप या वध्यघातकभावरूप विरोध होता है तब दोनों का जीवों में युगपत् सद्भाव नहीं हो सकता। यदि षष्ठगुणस्थानवर्ती जीव संयत हैं तो वे प्रमत्त नहीं हो सकते हैं–तो उनके प्रमाद नहीं हो सकता है, क्यों कि प्रमाद का परिहार–नाश करना संयम का स्वरूप है। अतः प्रमादी संयत नहीं हो सकता है और संयत प्रमादी नहीं हो सकता है इसलिये छठा प्रमत्तसंयतसंज्ञक गुणस्थान नहीं बन सकता है' इसप्रकार इस गुणस्थान के विषय में दोषापादन किया जाता है, किंतु जब यह दोष हि नहीं है तब दोषापादन कैसे किया जा सकता है? हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापों से विरत होनेका नाम संयम है और इस संयम का रक्षण तीन गुप्ति और पांच समितियों के द्वारा किया जाता है। इस प्रमाद के द्वारा संयम का नाश नहीं किया जा सकता है; क्यों कि प्रमाद से संयम में केवल मल की उत्पत्ति होती है। प्रमाद संयम में केवल मल की उत्पत्ति करनेवाला है ऐसा मानकर यदि उसको संयम का घात करनेवाला माना तो उक्त गुणस्थान में संयम का अविनाश अर्थात् सद्भाव घटित नहीं होता। इस गुणस्थान में प्रमाद का सद्भाव होनेपर भी संयम का सद्भाव पाया जानेसे प्रमाद संयमभाव का विनाशक न होकर उसमें केवल मल की उत्पत्ति करता है यह भाव स्पष्ट हो जाता है। सारांश, संयम और प्रमाद इनमें परस्परपरिहाररूप या वध्यघातकभावरूप विरोध न होनेसे उन दोनों का जीवों में युगपत् सद्भाव पाया जा सकता है। इस गुणस्थान में जो प्रमाद पाया जाता है वह मन्दतम और क्षणक्षयी अर्थात् अल्पकालवर्ती होता है। वह मन्दतम और क्षणक्षयी होनेसे वह संयम का विनाशक नहीं हो सकता, क्यों कि संयम के प्रतिबंधक का अभाव होनेपर संयम के विनाश की–अभाव की उपलब्धि नहीं होती। प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय होनेपर संयम का नाश या अभाव होता है; क्यों कि वह उदय हि संयमभावरूप परिणति का प्रतिबंधक होता है। सारांश, संयमभाव और प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय इनमें प्रतिबंध्य-प्रतिबंधकभावरूप विरोध होनेमें अर्थात् संयमभाव प्रतिबंध्य होनेसे और प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय प्रतिबंधक होनेसे उस कषाय के उदय से संयमभाव का विनाश होता है–मन्दतम और क्षणक्षयी प्रमाद से उसका विनाश नहीं होता। [संस्मरणीय बात यह है कि इस गुणस्थान में जो प्रमाद पाया जाता है वह मन्दतम-अत्यंत मन्द और क्षणक्षयी-स्वल्पकालवर्ती होता है।] इस गुणस्थान की संज्ञा में जो प्रमत्तशब्द पाया जाता है वह अन्तदीपकन्याय से पूर्व के मिथ्यात्वादि पांच गुणस्थानों में प्रमाद के अस्तित्व को सूचित करता है।

संयम की अपेक्षा से यह गुणस्थान क्षायोपशमिकभावरूप है; क्यों कि प्रत्याख्यान की–संयम की उत्पत्ति प्रत्याख्यानावरणकषाय के सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से, उसके अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों के अनुदयरूप उपशम से और संज्वलनकषाय के उदय से होती है। प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती जीव के अनंतानुबंधिकषायों का क्षय, उपशम या उदयाभावी क्षय होता है, अप्रत्याख्यानावरणकषाय के और प्रत्याख्यानावरणकषाय के सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और उन्हीं के अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धकों का अनुदयरूप उपशम होता है और संज्वलनकषाय का और नव नोकषायों का उदय होता है। पंद्रह प्रमादों से इस गुणस्थानवाले जीव का सकलसंयम अल्पप्रमाण में

प्रस्खलित होता है अर्थात् मलदूषित होता है–उसका विनाश नहीं होता। यद्यपि इस गुणस्थान में संज्वलनकषाय का उदय होता है तो भी यह गुणस्थान औदयिकभावरूप नहीं होता; क्यों कि संज्वलन के उदय से संयमरूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं होती। प्रत्याख्यानावरण कर्म के सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होनेसे उत्पन्न हुए संयमरूप परिणाम में मल की उत्पत्ति करना यह संज्वलनकषाय के उदय की अर्थक्रिया है। संयम के निमित्तभूत सम्यक्त्व की अपेक्षा से यह गुणस्थान क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावरूप है। सम्यक्त्व के अभाव में संयम की उपलब्धि नहीं हो सकती; क्यों कि आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में जिनमें श्रद्धान का अभाव होता है और देवमूढता, लोकमूढता और पाखडीमूढता इनसे जिनका भाव दूषित होता है उनके संयमरूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सयमपद से इस गुणस्थान में द्रव्यसंयम का ग्रहण अभीष्ट नहीं है–सिर्फ भावसयम का हि ग्रहण अभीष्ट है। कहा भी है कि–

वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसंजदो होइ।
सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥३३॥ [गो. जी.]

जो व्यक्त अर्थात् स्वसवेद्य और अव्यक्त अर्थात् केवलिभगवान् के विशद ज्ञान के द्वारा जाननेके योग्य प्रमाद में निवास करता है, जो सम्यक्त्व, ज्ञान आदि सपूर्ण गुणों से और व्रतरक्षणसमर्थ शीलों से युक्त होता है, जो महाव्रत को धारण करनेवाला होता है और जिसका आचरण चित्रल अर्थात् प्रमादमिश्रित होता है अथवा जिसका आचरण अर्थात् सयम प्रमाद से मिश्रित–किंचित् मलिन होता है वह प्रमत्तसयत कहा जाता है।

अब अप्रमत्तसंयतगुणस्थानपर विचार किया जाता है। यह गुणस्थान निष्प्रमाद अर्थात् प्रमादरहित होनेसे प्रमत्तसयतगुणस्थान की अपेक्षा से अधिक शुद्ध होता है–प्रमाद का अभाव होनेसे सयम मे मलिनता उत्पन्न नहीं होती। छठे गुणस्थान के समान जो सयमभावरूप से परिणत होता हुआ प्रमादरहित होता है और प्रमादरहित होनेसे जिसका संयम विचलित नही होता वह जीव अप्रमत्तसंयत कहा जाता है। प्रमत्तसयत का स्वरूप ऊपर बताया गया है। जो प्रमत्तसयत नही होते अर्थात् जिनका सयम प्रमाद से दूषित–मलिन हुआ नहीं होता वे अप्रमत्तसयत अर्थात् पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित सयत कहे जाते हैं। 'अवशिष्ट अष्टमादिगुणस्थानवर्ती सभी संयतों का इसी अप्रमत्तसयतगुणस्थान में अन्तर्भाव हो जानेसे अवशिष्ट अष्टमादि सयतगुणस्थानों का अभाव हो जाता है' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि इस गुणस्थान के आगेके गुणस्थानों को प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय क्षीणकषाय सयोगकेवली और अयोगकेवली इन विशेषणो से रहित और प्रमादो से रहित संयतों का इस गुणस्थान मे ग्रहण किया गया है। यदि उक्त विशेषणों से और प्रमादों से रहित सयतो का इस गुणस्थान में ग्रहण किया गया है ऐसा न माना गया तो अर्थात् प्रमादरहित और उक्तविशेषणों से सहित संयतो का भी ग्रहण किया गया है ऐसा माना गया तो आगेके सयतगुणस्थानों का निरूपण नहीं बन सकेगा।

यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिकभावरूप है; क्यों कि प्रत्याख्यानावरणकर्म के कुछ सर्वघातिस्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से और उसीके अवशिष्ट सर्वघातिस्पर्धको के अनुदयरूप उपशम से और संज्वलनकषाय के उदय से प्रत्याख्यान की–सयम की उत्पत्ति होती है। सयम के निमित्तभूत सम्यक्त्व की अपेक्षा से सम्यक्त्व का प्रतिबध करनेवाले कर्मों के क्षय से, क्षयोपशम से और उपशम से सम्यक्त्व उत्पन्न होनेवाला होनेसे सयम क्षायिकभावरूप, क्षायोपशमिकभावरूप और औपशमिकभावरूप भी होता है। कहा भी है–

णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अक्खवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥४६॥ [गो. जी.]

जिसके व्यक्त और अव्यक्त संपूर्ण प्रमादो का नाश हुआ है, व्रत, गुण और शीलो से जो भूषित होता है, जो आत्मा और शरीरादिरूप अनात्मीय पदार्थों में होनेवाले भेद को जानता है अर्थात् जिसके भेदज्ञान अभिव्यक्त

हुआ होता है, जो उपशमक और क्षपक नहीं बना हुआ है अर्थात् जो उपशमश्रेण्यारूढ और क्षपकश्रेण्यारूढ नहीं हुआ है, जो ध्यान में निमग्न है–ध्यानैकतान है वह अप्रमत्तसंयत कहा जाता है ।

अब अपूर्वकरण गुणस्थानपर विचार किया जाता है । करण का अर्थ है परिणाम । जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए होते है उन्हें अपूर्व अर्थात् असमान कहते है । नाना जीवों की अपेक्षा से जिसके आरंभ से प्रत्येक समय में क्रम से बढे हुए परिणाम असंख्येयलोकप्रमाण होते हैं ऐसे इस गुणस्थान के अन्तर्गत होनेवाले जो विवक्षित समय होते हैं उन समयों में विद्यमान जीवों को छोडकर अन्य समयों में अर्थात् इस गुणस्थान के समयों को छोडकर जो अन्य समय होते है उन समयों में विद्यमान होनेवाले जीवों के द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहे जाते है । अन्य समयवर्ती जीवों के परिणाम इस गुणस्थानवर्ती जीवों के परिणामों के समान न होनेसे इस गुणस्थानवाले जीवों के परिणाम अपूर्व कहे जाते है । [कहने का भाव यह है कि यद्यपि इस गुणस्थानवाले जीवों के परिणाम समान होते हैं तो भी जो जीव इस गुणस्थान के रूप से परिणत हुए नही होते उनके परिणाम इस गुणस्थासवाले जीवों के परिणामों के सदृश नहीं होते– विसदृश होते हे । अतः इस गुणस्थानवर्ती जीवों के परिणाम अपूर्व कहे जाते हैं ।] इस गुणस्थान का जो ' अपूर्व ' यह विशेषण है उससे अधःप्रवृत्तकरण के परिणामों का परिहार किया गया है ऐसा समझना; क्यों कि अधःप्रवृत्तकरण में प्रादुर्भूत होनेवाले परिणाम अपूर्व नहीं होते– उपरितन समयवर्ती जीवों के परिणाम अधस्तनसमयवर्ती जीवों के परिणामो के सदृश भी होते है और विसदृश भी होते हे जिससे अधःप्रवृत्तकरण में होनेवाले परिणामो की अपूर्वता नष्ट हो जाती है । पूर्व और समान ये दोनों शब्द एक अर्थ के वाचक होते हैं । जिनके अपूर्व परिणाम विशुद्ध बने हुए होते हैं ऐसे सभी क्षपकसंयत और उपशामकसंयत मिलकर एक अपूर्वकरण गुणस्थान बनता है । यहां क्षपकसंयतों का और उपशामकसंयतों का ग्रहण सामर्थ्य से हो जानेसे अर्थात् दोनों प्रकार के जीवों के परिणामो मे अपूर्वपना समानरूप से पाया जानेके कारण उनका ग्रहण हो जानेसे उनके नामों का यहा निर्देश करने की कोई आवश्यकता नही है । ' अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीव कर्मों का जब क्षय भी नहीं करते और उपशम भी नहीं करते तब उन्हें क्षपक या उपशामक कैसे कहा जाता है ? ' ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्यों कि वे दोनो संयत इस गुणस्थान के बाद चारित्रमोहनीय का क्षय या उपशम करनेवाले होनेसे वे दोनों इस गुणस्थानवाले होनेपर भी उपचार से क्षपक या उपशामक कहे जाते है । इस गुणस्थानवर्ती जीव कर्मों का क्षय या उपशम करनेवाले न होनेपर भी यदि उन्हे उपचार से क्षपक या उपशामक माना तो नववें आदि गुणस्थानों से भी कर्मों का क्षय या उपशम करनेवाले न होनेपर भी उन्हें क्षपक या उपशामक मानने का अतिप्रसंग प्राप्त नहीं होता; क्यों कि क्षपकश्रेणीपर चढनेवाले जीवों का आठवे गुणस्थान मे मरण न होनेसे और उपशमश्रेणीपर चढनेवाले जीवों का यद्यपि उस आठवें गुणस्थान के द्वितीयादिभागो में जो मरण होता है वह न हुआ तो चारित्रमोह का क्षपण और उपशमन इनमें प्रतिबन्ध करनेवाले मरण का अभाव होनेसे वे जीव आगेके नववें आदि गुणस्थानो में चारित्रमोहनीय का क्षय या उपशम करते हैं जिससे अष्टमगुणस्थानवर्ती जीव चारित्रमोहनीय के क्षपण या उपशमन के उन्मुख होनेसे उनको उपचार से क्षपक या उपशमक कहने में किसीप्रकार अतिप्रसंग प्राप्त नहीं होता । कर्मों का क्षय करने के जीवपरिणाम का कर्मों का क्षय निमित्तकारण होनेसे और उनका उपशमन करने के जीवपरिणाम का कर्मों का उपशमन निमित्तकारण होनेसे क्षपण के परिणाम और उपशमन के परिणाम परस्पर भिन्न होनेपर भी उनका एकत्व बन सकता है; क्यो कि क्षपकपरिणाम और उपशमकपरिणाम इनमें अपूर्वत्व की अपेक्षा समानता होती है ।

यह गुणस्थान क्षपकश्रेण्यारोहण करनेवाले जीव की अपेक्षा से क्षायिकभावरूप है और उपशमश्रेण्यारोहण करनेवाले जीव की अपेक्षा से औपशमिकभावरूप है । क्षायिकसम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणीपर आरोहण करनेवाला भी होनेसे उपशमश्रेण्यारोहण की दृष्टि से यह गुणस्थान औपशमिकभावरूप हि होता है । यद्यपि इस गुणस्थानवाला जीव कर्मों का क्षय और उपशम नहीं कर सकता तो भी इस गुणस्थान में क्षायिकभाव का और औपशमिकभाव का जो सद्भाव बताया जाता है उसका निमित्तकारण उपचार है; क्यों कि इस गुणस्थान में क्षपकश्रेणी चढनेवाले

जीव का मरण न होनेसे और उपशमश्रेणीवाले का इस गुणस्थान के द्वितीयादि समयों मे मरण न हुआ तो इस गुणस्थान के अनन्तर जो गुणस्थान होते है उन गुणस्थानों में वह कर्मो का क्षय या उपशम निश्चितरूप से करता है। जिस घट में वर्तमानकाल मे घी भरा हुआ नहीं होता; किंतु भूतकाल में जिसमे घी भरा हुआ था और भविष्य में भरा जानेवाला होता है उस घट को वर्तमानकाल मे जिसप्रकार घृतघट (घी का घडा) कहते है, उसीप्रकार आठवें गुणस्थानवाला जीव यद्यपि कर्मों का क्षय या उपशम नही करता है तो भी पूर्वगुणस्थान में और उत्तरकाल-वर्ती गुणस्थान मे वह कर्मो का क्षय या उपशम करनेवाला होनेसे उसे उपचार से क्षपक या उपशमक कहा जाता है। सम्यक्त्व की अपेक्षा से क्षपकश्रेणी चढनेवाले जीव के क्षायिकभाव होता है क्योंकि दर्शनमोहनीय का क्षय किये बिना जीव क्षपकश्रेणीपर कदापि चढ नही सकता है। जो जीव उपशमश्रेणी चढता है उसका सम्यक्त्व क्षायिक या औपशमिक होनेसे सम्यक्त्व की अपेक्षा से यह गुणस्थान औपशमिकभावरूप होता है तथा क्षायिकभावरूप भी होता है, क्यों कि दर्शनमोहनीय के क्षय के और उपशम के बिना उपशमश्रेणीपर आरोहण करता हुआ जीव नही पाया जाता। कहा भी है—

> भिण्णसमयट्ठिएहि दु जीवेहि ण होई सव्वदा सरिसो।
> करणेहि एक्कसमयट्ठिएहि सरिसो विसरिसो य ॥ ५२ ॥
>
> एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठिएहि जीवेहि।
> पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥ ५१ ॥
>
> तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहि गलियतिमिरेहि।
> मोहस्स पुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया ॥ ५४ [गो. जी.]

अपूर्वकरणसंज्ञक गुणस्थानवर्ती जीव परिणामों की दृष्टि से भिन्नसमयवर्ती जीवों से सदृश सर्वदा (कभी भी) नही होता अर्थात् इस गुणस्थानवर्ती जीव के और भिन्नसमयवर्ती जीवों के परिणामों मे सदृशता कदापि नहीं पाया जाता। परिणामों की दृष्टि से एकसमयवर्ती जीवों के साथ जीव सदृश भी होता है और विसदृश भी होता है अर्थात् इस जीव के और एकसमयवर्ती जीवों के परिणामों मे सदृशता भी होता है और विसदृशता- भिन्नता भी होती है।

विसदृश अर्थात् भिन्न भिन्न समयों मे इस गुणस्थान के रूप से [illegible] होनेवाले जीवो के द्वारा इस गुणस्थान के रूप मे परिणत होनेपर जो परिणाम होते है वे इस गुणस्थान की प्राप्ति के पूर्वकाल मे प्राप्त किये गये नहीं होते इस गुणस्थान मे प्राप्त होनेवाले परिणाम अपूर्व [illegible] [इसप्रकार ये परिणाम अपूर्व होनेसे यह गुणस्थान अपूर्वकरण [illegible]]

[illegible] अर्थात् उपशम [illegible] जीव मोहनीयकर्म का [illegible] अथवा उपशम करनेके [illegible] ऐसे जिनदेवों के द्वारा [illegible]

[illegible] अनिवृत्तिबादरसांपरायप्रविष्टशुद्धि [illegible] अनिवृत्तिबादर [illegible] गुण-स्थानपर विचार किया जाता है।

समानसमयवर्ती जीवों के परिणामों की भेद की- भिन्नता की अर्थात् विसदृशभाव के रूप से होनेवाली वृत्ति को-परिणति की निवृत्ति कहते है अथवा व्यावृत्ति को निवृत्ति कहते हैं। परिणामों मे विसदृशता होनेपर हि परिणामों की अन्योन्यव्यावृत्ति हो सकती है। अतः निवृत्ति का अर्थ व्यावृत्ति यह अर्थ लेनेपर भी परिणामो की विसदृशता ध्वनित होती है। अतः निवृत्तिशब्द का परिणामो की विसदृशभावरूप से परिणति ऐसा अर्थ होता है। जिन परि-णामों की निवृत्ति नहीं होती अर्थात् विसदृशभावरूप से परिणति नहीं होती वे निवृत्तिरहित होते है। साराश, इस

गुणस्थान में जो परिणाम होते हैं वे सभी के सभी अन्योन्यसदृश हि होते हैं, अपूर्वकरणगुणस्थान में जिसप्रकार सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं उसीप्रकार सदृश और विसदृश इन दोनों प्रकारवाले नहीं होते। अपूर्वकरणगुणस्थान में होनेवाले अपूर्व परिणामों में से कुछ परिणाम इस गुणस्थान में होनेवाले परिणामों के समान अन्योन्यसदृश होनेसे उन परिणामों को भी अनिवृत्ति यह संज्ञा प्राप्त होती है ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि अपूर्वकरणगुणस्थान में होनेवाले वे परिणाम सदृश हि होते है ऐसा नियम नहीं है। इस गुणस्थानवाले समानसमयवर्ती जीवों के परिणाम जिसप्रकार अन्योन्यसदृश होते हैं उसीप्रकार भिन्नसमयवर्ती जीवों के परिणाम और समानसमयवर्ती जीवों के परिणाम इनमें समानता नहीं होती। इस गुणस्थान में जो कषायें होती हैं वे बादर अर्थात् स्थूल होती हैं। अतः स्थूल कषायों को बादरसांपराय कहते हैं। अनिवृत्तिरूप अर्थात् समानपरिणामरूप होते हुए जो बादरसांपरायरूप भी होते हैं वे अनिवृत्तिबादरसांपराय कहे जाते हैं। उन परिणामों में जिन संयतों की शुद्धि प्रविष्ट हुई होती है वे अनिवृत्तिबादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहे जाते हैं। उन संयतों में उपशमक जीव भी होते हैं और क्षपकजीव भी होते हैं। वे सभी मिलकर अनिवृत्तिसंज्ञक यह एक गुणस्थान होता है। 'जितने परिणाम होते हैं उतने हि गुणस्थान होने चाहिए' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि जितने परिणाम होते हैं उतनेहि गुणस्थान माने जाय तो व्यवहार न चलनेके कारण द्रव्यार्थिकनय का अवलंब लेकर नियत संख्यावाले हि गुणस्थान कहे गये है। यह गुणस्थान और इस गुणस्थान के पूर्ववर्ती सभी गुणस्थान बादरकषाय हैं। इस गुणस्थान की संज्ञा में जो संयतशब्द प्रयुक्त किया गया है वह निष्प्रयोजन है–व्यर्थ है ऐसा नहीं है; क्यों कि छठे गुणस्थान से दसवें तक के पांच गुणस्थानों में संयम का सद्भाव अवश्य होता है–इन गुणस्थानों में संयम का सद्भाव व्यभिचरित नहीं होता इस अभिप्राय को जाननेका दूसरा कोई उपाय विद्यमान न होनेसे इस गुणस्थान में संयमशब्द प्रयुक्त किया गया है। 'प्रमत्तसंयत इस छठे गुणस्थान में प्रयुक्त किये गये संयतशब्द की इस गुणस्थान में अनुवृत्ति होनेसे इस गुणस्थान की संज्ञा में संयतशब्द को प्रयुक्त करने की आवश्यकता महसूस नहीं होती क्यों कि छठे गुणस्थान से अनुवृत्ति से आये हुए संयतशब्द से पांचों गुणस्थानों में संयम का सद्भाव होता है ऐसा इस अभिप्राय का ज्ञान होता हि है' यह कथन ठीक है, तो भी मन्दबुद्धिवाले जीवों के अनुग्रह के लिए इस गुणस्थान की संज्ञा में संयतशब्द प्रयुक्त किया है ऐसा समझना चाहिए। 'यदि मन्दबुद्धिवाले जीवों के अनुग्रह के लिये यहां संयतशब्द का ग्रहण आवश्यक है तो उपशान्तकषायादिक संज्ञाओं में भी उसी प्रयोजन से संयतशब्द का ग्रहण करना चाहिये' ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्यों कि उपशान्तकषायगुणस्थान के पूर्ववर्ती पांच गुणस्थानों में संयतों के जिसप्रकार असंयतों के कषायों का सद्भाव होता है उसीप्रकार कषायों का सद्भाव होनेसे संयत और असंयतों में साधर्म्य होता है इसप्रकार मन्दबुद्धिवाले जीवों को संशय उत्पन्न होनेकी संभावना होती है। इसप्रकार के संशय की व्युच्छित्ति के लिये संयतशब्द का ग्रहण आवश्यक प्रतीत होता है। उपशान्तकषायादिगुणस्थानों के विषय में मंदबुद्धिवाले जीवों को भी शंका उत्पन्न नहीं होती, क्यों कि इन गुणस्थानवाले जीवों के कषायों का उपशम या क्षय हुआ होता है। क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती संयतों के चारित्रमोहनीयकषाय का क्षय हुआ है, उपशांतकषायगुणस्थानवर्ती संयतों के उन कषायों का उपशम हुआ होता है और असंयतों के उन कषायों का उदय हुआ होता है। अतः भावों की अपेक्षा संयतों का असंयतों के साथ साधर्म्य का अभाव होनेसे उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानों के विषय में मन्दबुद्धिवाले जीवों को संशय उत्पन्न नहीं होता। इस गुणस्थानवाला जीव कुछ कर्मप्रकृतियों का उपशम करता है और कुछ कर्मप्रकृतियों का आगे उपशम करेगा इस अपेक्षा से यह गुणस्थान औपशमिक है और कुछ प्रकृतियों का क्षय करता है और कुछ प्रकृतियों का आगे क्षय करेगा इस अपेक्षा से यह गुणस्थान क्षायिक भी है। [क्षायिक सम्यक्त्वी जीव हि जब श्रेण्यारोहण करता है तब कर्मप्रकृतियों का क्षय करता है। जब उपशमश्रेण्यारोहण करता है तब कर्मप्रकृतियों का उपशम करता है। क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी श्रेण्यारोहण करता हि नहीं। उपशमसम्यक्त्वी उपशमश्रेणीपर हि चढता है–क्षपकश्रेणीपर नहीं। जब वह उपशमश्रेण्यारोहण करता है तब वह कर्मप्रकृतियों का उपशम हि करता है–क्षय नहीं करता।] सम्यक्त्व की अपेक्षा से जो संयत चारित्रमोह का क्षय करता है उसका सम्यक्त्व क्षायिक होनेसे यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप हि होता है; क्यों कि वहां अर्थात् क्षपकश्रेणी

औपशमिकभावरूपादि अन्यभावों का संभव नहीं है । सारांश, क्षपकश्रेणी चढनेवाले जीव का सम्यक्त्व क्षायिकभाव-रूपहि होनेसे सम्यक्त्व की अपेक्षा से यह गुणस्थान क्षायिकभावरूपहि है । जो सयत जीव चारित्रमोह का उपशम करता है उसका सम्यक्त्व क्षायिक या औपशमिक होनेसे यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप और औपशमिकभावरूप भी होता है; क्यों कि उपशमश्रेणी मे दोनों भी भावो का सद्भाव होनेमें विरोध उपस्थित नहीं होता । सम्यक्त्व की अपेक्षा से यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप और औपशमिकभावरूप होनेपर भी इस गुणस्थान का क्षायिकभावरूप और औपशमिकभावरूप दो गुणस्थानों के रूप से विभाजन करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्यों कि उन दोनों के परिणाम सदृशता की दृष्टि से समान होनेसे दोनों में एकता बन जाती है।

सारांश, अनिवृत्तिपरिणामों की शुद्धि से जब जीव कर्म की प्रकृतियों का स्थूलरूप से क्षय या उपशम करता है तब वह जीव क्षपकबादरसांपराय या उपशमकबादरसांपराय कहा जाता है । कहा भी है—

एक्कम्मि कालसमए संठाणादीहि जह णिवट्टंति ।
ण णिवट्टंति तह च्चिय परिणामेहिं मिहो जे हु ॥ ५६ ॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहि णिद्दड्ढकम्मवणा ॥ ५७ ॥ [गो. जी.]

अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्तप्रमाण काल में से किसी एक समय में रहनेवाले अनेक जीव जिसप्रकार शरीर के संस्थान, वर्ण, अवगाहन और लिंग आदि बाह्य और ज्ञान, दर्शन आदि अन्तरंग परिणामों को विसदृशभावरूप से उत्पन्न करते हैं अर्थात् उनके ये भाव भेद को प्राप्त हुए होते है उसीप्रकार जो समानसमयवर्ती जीव अंतरंग परिणामों को विसदृशभावरूप से उत्पन्न नहीं करते और जिनके प्रतिसमय अभिव्यक्त होनेवाले परिणाम एकरूप अर्थात सदृश होते हैं उनको अनिवृत्तिकरणपरिणामवाले कहते हैं । वे जीव अत्यन्त निर्मल शुक्लध्यानरूप अग्नि की ज्वालाओं से कर्मरूप बन को भस्मसात् कर देनेवाले होते है ।

अब जिसको सूक्ष्मसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयत भी कहते हैं ऐसे सूक्ष्मसांपरायसंज्ञक दसवें गुणस्थानपर विचार किया जाता है–

जिस कषाय की जीव को फलदेने की शक्ति अनंतभागप्रमाण से घट गयी होती है उस कषाय को सूक्ष्म कहते हैं । इस गुणस्थान में जिस कषाय का सद्भाव होता है वह कषाय संज्वलनसंज्ञक होती है । सांपराय यह कषाय का दूसरा नाम है । सूक्ष्म संज्वलनकषाय को सूक्ष्मसांपराय कहते हैं । जिन सयतो की शुद्धि ने उस सूक्ष्मसांपराय में प्रवेश किया हुआ होता है उनको सूक्ष्मसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं । उन संयतों में कुछ संयत उपशमक अर्थात् कर्मों का उपशम करनेवाले होते हैं और कुछ क्षपक अर्थात् कर्मों का क्षय करनेवाले होते हैं । कहनेका भाव यह है कि उपशमसम्यक्त्वी जब इस गुणस्थानपर आरूढ होता है तब वह कर्मों का उपशमहि करनेवाला होनेसे उपशमक हि होता है और क्षायिकसम्यक्त्वी इस गुणस्थानपर आरूढ होकर जब कर्मों का उपशम करनेवाला होता है तब वह उपशमक होता है और जब क्षय करनेवाला होता है तब क्षपक होता है । उपशमक का और क्षपक का संज्वलन कषाय समानरूप से सूक्ष्म होनेसे उपशमक और क्षपक मे भेद न होनेके कारण उन दोनों का एक हि गुणस्थान होता है–दो विभिन्न गुणस्थान नहीं होते । अपूर्वकरणगुणस्थान से ' अपूर्व ' इस पद को और अनिवृत्तिकरणगुणस्थान से ' अनिवृत्ति ' इस पद की अनुवृत्ति आती है । इन दोनो विशेषणो का इस गुणस्थान के साथ संबंध घटित करना चाहिये । यदि इस गुणस्थान को उक्त दो विशेषण नहीं दिये गये तो उक्त दोनों गुणस्थानों से इस गुणस्थान की अधिकता–विशेषता सिद्ध नहीं होगी । कहनेका भाव यह है कि अपूर्वकरणगुणस्थान में और अनिवृत्तिकरणगुणस्थान में जो परिणाम अपूर्व होते हैं उनसे भी इस गुणस्थान में होनेवाले परिणाम विशुद्धतर होनेसे अपूर्व होते हैं- अपूर्वकरणादि के परिणामों के सदृश नहीं होते । यदि इस गुणस्थान को ' अपूर्व ' यह विशेषण नहीं लगाया गया तो इस गुणस्थान में होनेवाले परिणाम पूर्वोक्त दो गुणस्थानों में होनेवाले परिणामो के सदृश हो जानेसे इनकी अपूर्वता नष्ट हो जायगी ।

इस गुणस्थानवाले एकसमयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम सदृश हि होते हैं। यदि इस गुणस्थान को 'अनिवृत्ति' यह विशेषण नहीं दिया गया तो एतद्गुणस्थानवर्ती अनेक जीवों के समानसमय में उत्पन्न होनेवाले परिणाम विसदृश नहीं होंगे। इसलिये इस गुणस्थान को 'अपूर्व' और 'अनिवृत्ति' ये दोनों विशेषण देना आवश्यक है। इस गुणस्थानवाला जीव कुछ प्रकृतियों का क्षय करता है, कुछ प्रकृतियों का आगे क्षय करेगा और कुछ प्रकृतियों का पूर्वकाल में क्षय कर चुका है इसलिये यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप होता है। इस गणस्थानवाला जीव अब कुछ प्रकृतियों का उपशम करता है, कुछ प्रकृतियों का आगे भविष्य में उपशम करनेवाला है और पहले कुछप्रकृतियो का क्षय या उपशम कर चुका है इसलिये यह गुणस्थान औपशमिकभावरूप होता है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से क्षपक अर्थात् क्षपकश्रेणीपर चढनेवाला जीव क्षायिकभावयुक्त होता है और उपशमक अर्थात् उपशमश्रेणीपर आरूढ होनेवाला जीव औपशमिकभावयुक्त या क्षायिकभावयुक्त होता है; क्यों कि औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व के साथ जीव उपशमश्रेण्यारोहण कर सकता है। कहा भी है—

पुव्वापुव्वयफद्दय-अणुभागादो अणंतगुणहीणे।
लोहाणुम्हि ट्ठियओ हंद सुहुम-सांपराओ सो॥

[पहले संसार-अवस्था में प्रत्येक कर्म के समय उत्पन्न होनेवाले नानागुणहानिसमूहरूप एकस्थानवर्ती सिद्धों के अनंत भागों में से एकभागप्रमाण वर्गणासमूहरूप जो स्पर्धक होता है उसे पूर्वस्पर्धक कहते हैं। अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान में उत्पन्न होनेवाले परिणामों की विशुद्धि के द्वारा जो किये जानेवाले होते हैं ऐसे और संज्वलनकषायों के नानापूर्वस्पर्धकों की जीव को फल देनेकी सर्वजघन्यशक्ति के अनन्तभागों में से एकभागप्रमाण जिनकी फलदानशक्ति होती है ऐसे स्पर्धक अपूर्वस्पर्धक कहे जाते हैं।]

पूर्वस्पर्धक के और अपूर्वस्पर्धक के फल देनेकी सामर्थ्य से जिनकी सामर्थ्य अनंतगुणे हीन होती है ऐसे संज्वलनकषाय की प्रकृतिरूप सूक्ष्मलोभ में जो जीव स्थित होता है वह जीव सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानवर्ती होता है।

अब उपशांतकषायसंज्ञक ग्यारहवें गुणस्थानपर विचार किया जाता है। इस गुणस्थान का दूसरा नाम उपशांतकषायवीतरागछद्मस्थ है। उपशमश्रेणीपर आरूढ होनेवाले जीव का यह अन्तिम गुणस्थान है। जिनके कषाय उपशान्त-उदय के अयोग्य बने हुए होते हैं वे जीव उपशान्तकषाय कहे जाते हैं। जिनका रागभाव विनष्ट हो गया होता है उन्हे वीतराग कहा गया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म छद्म-छादन-आवरणरूप होते हैं। उस छद्म-आवरण में जो रहते हैं वे छद्मस्थ कहे जाते हैं। जो वीतराग-नष्टराग होनेपर भी छद्मस्थ अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों से सहित होते हैं वे छद्मस्थवीतराग होते हैं। इस गुणस्थानवाले जीव छद्मस्थ होनेपर भी वीतराग होनेसे इस गुणस्थान में सरागछद्मस्थ का निराकरण किया गया है ऐसा समझना। जिनके कषाय उपशान्त हो गये हैं ऐसे वीतरागछद्मस्थ उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहे जाते हैं। इस उपशान्तकषाय विशेषण से आगेके गुणस्थानों का निराकरण किया गया है ऐसा समझना। इस गुणस्थान में सभी कषायों का उपशम किया जानेसे यह औपशमिकभावरूप होता है। सम्यक्त्व की अपेक्षा से यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप या औपशमिकभावरूप होता है। कहा भी है —

सकयाहल्लजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होई॥

जिसप्रकार एकदफे आलोडित किया गया-हिलाया जल भाव में कीचड नीचे बैठ जानेसे निर्मल-मलरहित होता है या शरद् ऋतुमें सरोवर का जल कीचड नीचे बैठ जानेसे निर्मल होता है उसीप्रकार जिसका मोहनीयकर्म पूर्ण-रूप से उपशांत-उदय के अयोग्य हो जानेसे निर्मल हो जाता है ऐसा जीव उपशांतकषाय होता है। [इस जीव के यथाख्यातचारित्र के परिणाम अभिव्यक्त होते हैं।]

अब क्षीणकषायगुणस्थानपर विचार किया जाता है । इस गुणस्थान का दूसरा नाम क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ है । जिनकी कषायों का क्षय हुआ होता है उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं । जो क्षीणकषाय होते हुए वीतराग होते हैं वे क्षीणकषायवीतराग कहे जाते हैं। जो छद्म के-आवरण के नीचे रहते हैं-जिनके ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों का सद्भाव रहता है वे छद्मस्थ कहे जाते हैं । जो क्षीणकषाय और वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते है वे क्षीण-कषायवीतरागछद्मस्थ कहे जाते है । इस गुणस्थान के पूर्ववर्ती सभी गुणस्थान साधारण होते है; क्यों कि इस गुणस्थान में छद्मस्थशब्द का ग्रहण अन्तदीपकन्याय से किया गया है । 'क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती जीव जब वीतराग हि होते हैं-उनमें वीतरागभाव का जब कभी भी अभाव नहीं होता तब इस गुणस्थान में वीतरागशब्द का ग्रहण करनेमें कोई प्रयोजन मालुम नही होता' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि नामक्षीणकषाय स्थापनाक्षीणकषाय और द्रव्यक्षीणकषाय इनकी निवृत्ति करना हि इस सूत्र में वीतरागशब्द के ग्रहण करनेका फल है । कहनेका भाव यह है कि नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेप जो वर्तमानकाल में वीतराग नहीं होते उनके भी किये जाते हैं । नामनिक्षेप करते समय वीतरागता की विवक्षा नहीं होती, स्थापनानिक्षेप करते समय भूतकालीन वीतरागता विवक्षित होती है-वर्तमानकालीन वीतरागता विवक्षित नही होती और द्रव्य निक्षेप करते समय भविष्यकाल में अभिव्यक्त होनेवाली वीतरागता विवक्षित होती है। वीतरागता वर्तमानकाल में अर्थात् क्षीणकषायगुणस्थानपर आरोहण करते समय अभिव्यक्त होती है उसका ग्रहण यहा अभीष्ट होनेसे और अविवक्षित, भूतकालीन और भविष्यकालीन अभीष्ट न होनेसे इस सूत्र में वीतरागशब्द का ग्रहण आवश्यक और सार्थ है । इस गुणस्थान मे भावनिक्षेप का विषय बनी हुई वीतरागता का हि ग्रहण अभीष्ट है। अतः यहा वीतरागशब्द के ग्रहण का अविवक्षित, भूतकालीन और भविष्यकालीन वीतरागता की निवृत्ति करना फल है । द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय का निरन्वयविनाश किया जानेपर इस गुणस्थान का प्रादुर्भाव होनेसे यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप है । कहा भी है-

णिस्सेसखीणमोहो फलियामलभायणुदयसमचित्तो ।
खीणकसायो भण्णइ णिग्गंथो वीयराएहिं ॥ ६२ ॥ [गो. जी.]

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धरूप द्रव्यमोहनीयकर्म और भावमोहनीयकर्म जिसके सपूर्णरूप से क्षय को प्राप्त हुए होते हैं और स्फटिक मणि के निर्मल पात्र में रक्खे हुए जल के समान जिसका चित्त होता है ऐसा निर्ग्रंथ वीतराग जिनेद्रदेवों के द्वारा क्षीणकषाय कहा जाता है ।

अब सयोगकेवलिगुणस्थानपर विचार किया जाता है । इस गुणस्थान की संज्ञा में प्रयुक्त केवलशब्द से केवलज्ञान का ग्रहण अभीष्ट है । जिसप्रकार बलदेवशब्द के एकदेशभूत देवशब्द से प्रतीयमान बलदेवशब्द को अभि-धेयभूत अर्थकी उपलब्धि होती है उसीप्रकार केवलज्ञान इस नाम के एकदेशभूत केवलशब्द से केवलज्ञान इस सपूर्ण नाम के द्वारा कहे जानेवाला अर्थ का बोध होता है । प्रत्यक्षप्रमाण से जाने गये अर्थ के विषय में 'यह नहीं हो सकता है' इसप्रकार की अनुपपत्ति नहीं हो सकती । प्रत्यक्षप्रमाण से ज्ञात विषय में भी उपपत्ति घटित नहीं होती ऐसा माना तो सभी विषयों में निर्णय न होनेकी आपत्ति उपस्थित हो जायगी । बलदेव शब्द के एकदेशभूत देवशब्द से बलदेवशब्द के अभिधेयभूत अर्थ का बोध होता है यह बात प्रत्यक्ष से ज्ञात होती है। अतः जिसप्रकार इस बात को अमान्य नहीं किया जा सकता उसीप्रकार केवलशब्द से केवलज्ञानशब्द के अभिधेय का बोध होता है इस बात को अमान्य नहीं किया जा सकता । केवलशब्द का अर्थ असहाय है और असहाय का अर्थ है इन्द्रिय, आलोक (प्रकाश) और मन की अपेक्षा न रखनेवाला । जो ज्ञान इंद्रिय, आलोक और मन की अपेक्षा नहीं रखता उस ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं । वह ज्ञान जिनके होता है वे केवली कहे जाते हैं । मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति को योग कहते हैं । मनोवर्गणाओं के निमित्त से आत्मप्रदेशस्पदरूप जो प्रवृत्ति व्यापार-क्रिया होती है उसे मनोयोग कहते हैं । इसप्रकार वचनयोग और काययोग को समझ लेना चाहिये। जो योग सहित होते हैं वे सयोग कहे जाते हैं । जो सयोग होते हुए केवली होते हैं वे सयोगकेवली कहे जाते हैं । सयोगकेवलिभगवान् के वचनयोग और

काययोग ये दो योग होते हैं। जबतक दिव्यध्वनि चलती है तबतक तो उनके वचनयोग होता है और जब योगनिरोध करते हैं तब सिर्फ एक काययोग हि रह जाता है। यहां सयोगशब्द का ग्रहण किया जानेसे नीचेके सभी गुणस्थान सयोग होते है इस बात का खुलासा हो जाता है। संपूर्ण घातिकर्मों का क्षय कर देनेसे, वेदनीयकर्म की फल देनेकी शक्ति का नाश कर देनेसे अथवा आठ कर्मों के अवयवभूत आयुकर्म की तीन प्रकृतियों को छोडकर अवशिष्ट रही साठ प्रकृतियों का नाश कर देनेसे यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप होता है। कहा भी है—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासिअण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववदेसो ॥ ६३ ॥
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोएण ।
जुत्तो त्ति सजोगो इदि अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ ६४॥ [गो. जी.]

'केवलज्ञानरूप सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञानरूप अंधकार का जिसने नाश किया हुआ होता है, नव केवललब्धियों के प्रादुर्भाव से जिसने 'परमात्मा' इस संज्ञा को प्राप्त कर लिया है और जो इंद्रिय, आलोक और मन की अपेक्षा न रखनेवाले अत एव असहाय ज्ञान और दर्शन से युक्त होता है वह केवलिभगवान् होता है। वचन-योग और काययोग से युक्त होनेसे सयोग होता है' ऐसा अनादिनिधन आर्ष में कहा है।

अब अयोगकेवलिगुणस्थानपर विचार किया जाता है। जिसके योग का सद्भाव नहीं पाया जाता वह अयोग होता है। जिस जीव के केवलज्ञान का सद्भाव पाया जाता है वह केवली होता है। जो योगरहित होते हुए केवली-केवलज्ञानसंपन्न होता है वह जीव अयोगकेवली कहा जाता है। सयोगकेवली से 'केवली' इस पद की अनुवृत्ति होनेसे इस गुणस्थान की संज्ञा में 'केवली' इस पद का फिरसे ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है ऐसा नहीं कहना; क्यों कि समनस्क अर्थात् संज्ञी जीवों के सभी देशों में और सभी कालों में अभिव्यक्त होनेवाला ज्ञान मन के निमित्त से अभि-व्यक्त होता है ऐसा माना गया होनेसे और इसप्रकार अनुभव होनेसे क्षायोपशमिकज्ञानरूप भावमन का अभाव होनेसे अयोगियों के केवलज्ञान नहीं हो सकता इसप्रकार मतभिप्राय को रखनेवाले शिष्य को 'जिनमें योगों का अभाव होता है ऐसे जीवों के केवलज्ञान होना है' इस अभिप्राय का प्रतिपादन करनेके लिये इस गुणस्थान की संज्ञा में 'केवली' इस पद का फिरसे ग्रहण कया गया है। 'समनस्कों के ज्ञान की उत्पत्ति मन के निमित्त से होती है यह अनुभव की बात है और आगम भी इस बातको स्वीकार करता है। अयोगियों के मन का अभाव होनेसे केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। अयोगियों के मन का अभाव होनेपर भी उनके केवलज्ञान होता है इस आगमवचन के सहारेसे मन का जिनके अभाव होता है ऐसे जीवों के केवलज्ञान का सद्भाव होता है इस अभिप्राय की सिद्धि के लिये जो प्रयत्न किया जा रहा है वह फिजूल है। आगम का वचन वचनरूप हि तो है। प्रत्येक वचन अविसंवादी अर्थात् सवादी याने वस्तुका यथार्थरूप हि प्रतिपादन करनेवाला होता है ऐसा कोई नियम नहीं। कुछ वचन विसंवादी-वस्तु के यथार्थ-स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले नहीं भी हो। उक्त आगमवचन वचनरूप होनेसे, मान्य की हुई बात का विपर्यास करनेवाला होनेसे और दैनंदिन अनुभव का विरोधक होनेसे अर्थात् विसंवादी होनेसे आगमवचन के बलपर अयोगियों के केवलज्ञान का सद्भाव होता है यह कैसे जाना जा सकता है ? ' ऐसा जो कोई कहते हैं उनके विरोध में उनको पूछा जाता है कि खंभा आदिकों का अस्तित्व चक्षुरिंद्रिय के द्वारा कैसे जाना सकता है? वृक्ष के ठूंठ-स्थाणु को आखों से देखनेपर 'यह स्थाणु है या यह पुरुष है?' इसप्रकार सदेह उत्पन्न होता है और यह पुरुष है इसप्रकार का विपरीत-विसंवादी ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसी हालत में स्तंभ आदि के अस्तित्व का ज्ञान चक्षु से होता है यह कैसे कहा जा सकता है ? स्तंभ आदि के अस्तित्व के ज्ञान का प्रमाणत्व- अविसंवादित्व चक्षु के बिना घटित न होनेसे स्तंभ आदि के अस्तित्व का ज्ञान चक्षु से होता है ऐसा कहना हो तो प्रतिपाद्यमान वस्तु के स्वरूप के ज्ञान का प्रमाणत्व- अविसंवादित्व वचन के बिना घटित न होनेसे 'वचन के विद्यमान रहनेपर उसका वाच्य भी विद्यमान होता है' इस उक्ति के अनुसार वस्तुस्वरूप का ज्ञान वचन से होता है ऐसा समानरूप से कहा जाता है। कहने का भाव यह है कि 'अयोगी के केवलज्ञान होता है' यह जब आगम का वचन है तब उसका वाच्यार्थ भी विद्यमान है। कहींपर वचन

के द्वारा कहा जानेवाला वस्तुस्वरूप यथार्थ न होनेके कारण विसंवाद दिखाई देनेसे वचन का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्यों कि चक्षु के द्वारा जाने जानेवाली वस्तु का स्वरूप यथार्थ न होने के कारण विसंवाद दिखाई देनेके बारेमें वचन के विसंवाद के साथ समानता होनेसे चक्षु का भी प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। जिस चक्षु के द्वारा जाने गये पदार्थ के स्वरूप के विषय में विसंवाद नहीं होता-यथार्थता होती है वही चक्षु प्रमाणभूत होती है ऐसा कहना हो तो यह कहना ठीक नहीं है; क्यों कि सभी के सभी चक्षुओं के विषय में सभी देशों और सभी कालों में अविसंवाद की – यथार्थता की उपलब्धि नहीं होती। [कहने का भाव यह है कि किसी भी चक्षु के द्वारा जाने गये पदार्थ के स्वरूप के ज्ञान के विषय में यथार्थता पायी नहीं जाती।] जिस देश में और जिस काल में जिस चक्षु के द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूप के ज्ञान के विषय में विसंवाद का अभाव अर्थात् यथार्थता का सद्भाव पाया जाता है उस चक्षु की उसी देश में और उसी काल में प्रमाणता होती है ऐसा कहना हो तो कहना होगा कि किसी देश में और किसी काल में अविसंवादी होनेसे जब चक्षु के भी प्रामाण्य को स्वीकार किया जाता है तब दृष्ट और अदृष्ट पदार्थों के स्वरूपों के ज्ञान के विषय में जो वचन सभी देशों में और सभी कालों में अविसंवादी पाया जाता है उस वचन के प्रामाण्य को क्यों नहीं स्वीकार किया जाता ? परोक्ष पदार्थ के ज्ञान के विषय में किसी काल में विसंवाद – अयथार्थता पाया जानेसे सभी देशों में और सभी कालों में वचन का प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता है ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि उस परोक्षपदार्थ के ज्ञान के विषय में जो विसंवाद पाया जाता है उसके विषय में वचन का दोष न होनेसे उस परोक्षपदार्थ को न जाननेवाले पुरुष का उस विषय में दोष पाया जाता है। किसी एक व्यक्ति के दोषों के कारण उसीसे भिन्न व्यक्ति को सजा नहीं दी जाती; क्यों कि ऐसा करने से उत्सूत्रता –अनाचार का प्रसंग उपस्थित हो जायगा-पिता के अपराध के लिये निरपराध पुत्र को फांसी की सजा दी जायगी। कहने का भाव यह है कि परोक्षपदार्थ को न जाननेवाले पुरुष का उक्त पदार्थ को जानने में दोष होता है, उसमें उसके वचन का कौनसा भी अपराध नहीं है– जिसप्रकार का वचन – वाक्य होता है उसीप्रकार का उसका वाच्यार्थ होता है। वचन एक प्रकार का और वाच्यार्थ दूसरे प्रकार का ऐसा कभी नहीं होता। परोक्षपदार्थ के ज्ञान के विषय में जो विसंवाद होता है उसके बारेमें वक्ता का हि अपराध होता है–वचन का नहीं; क्यों कि उसी वचन के अर्थ के निर्णय के लिये प्रयत्न करनेवाले वक्ता को या अन्य पुरुष को वचन के उच्चारण के बाद उस वचन का अर्थ मिल जाता है। यहां जब विसंवाद को वक्ता का दोष बताया गया है – वचन का नहीं तब अविसंवाद वक्ता का गुण सिद्ध हो जाता है – वचन का नहीं। ' इसप्रकार जिसके विसंवाद की और अविसंवाद की सिद्धि नहीं हो सकती ऐसे इस वचन की प्रमाणता कैसे जानी जाती है ? नहीं जानी जा सकती ' यह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि जिनके अविसंवादिता की सिद्धि प्रमाणों से सिद्ध हो गयी है ऐसे आर्षावयव के साथ आर्षावयव का अवयवी के द्वारा एकत्व सिद्ध हो जानेसे आर्षावयव की (आर्षावयव वचन की) सत्यता का ज्ञान हो जाता है। कहने का भाव यह है कि जो ऋषि अर्थात् केवलिभगवान् प्रवचन का वक्ता होता है उसका स्वपरज्ञेयविषयक ज्ञान अविसंवादी – यथार्थ होनेसे उसका प्रवचन भी अविसंवादी होता है; क्यों कि वह वक्ता अवयवी होनेसे और प्रवचन उसका अवयव होनेसे दोनों की कथंचित् एकरूपता होती है। यह आगम आर्षप्रवचन का अवयवभूत है और आगम की अविसंवादिता प्रमाणों से सिद्ध हो गयी है। ' अयोगी के केवलज्ञान होता है ' यह आर्षप्रवचन का अवयव है। अतः इस वचन की ऋषि के साथ कथंचित् एकरूपता सिद्ध हो जाती है। जिस आगम की अविसंवादिता प्रमाणों से सिद्ध हो गयी है ऐसे आगम की और ' अयोगी के केवलज्ञान होता है ' इस वचन की ऋषि के साथ कथंचित् एकरूपता होनेसे दोनों की कथंचित् एकरूपता सिद्ध हो जानेसे इस वचन का अविसंवादित्व सिद्ध हो जाता है। सारांश, वक्ता का ज्ञान अविसंवादी होनेसे उसके वचन की भी अविसंवादिता सिद्ध हो जानेसे अयोगी के मन का अभाव होनेपर भी उसके केवलज्ञान होता है इस उसके वचन की भी अविसंवादिता– यथार्थता सिद्ध हो जाती है। इस अभिप्राय के समर्थन में यहां एक प्रमाण पेश किया जाता है उसे देखिए——

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

दोषाः तावद् अज्ञानरागद्वेषादयः उक्ताः । निष्क्रान्तो दोषेभ्यो निर्दोषः । प्रमाणबलात् सिद्धः सर्वज्ञः वीतरागः च सामान्यतः यः स त्वमेव अर्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । यः यत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषः दृष्टः, यथा क्वचिद् व्याध्युपशमे भिषग्वरः । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिससारतत्कारणेषु । तस्मात् निर्दोषः इति निश्चयः । 'युक्तिशास्त्राभ्यां अविरोधः कुतः मद्वाचः सिद्धः अनवयवेन ?' इति चेत्, यस्माद् इष्ट मोक्षादिकं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते । तथाहि– 'यत्र यस्य अभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्, यथा रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे भिषग्वरः । न बाध्यते च प्रमाणेन भगवतः अभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम् । तस्मात् तत्र त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।' इति विषयस्य युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेः विषयिण्याः भगवद्वाचः युक्तिशास्त्राविरोधित्वसाधनम् । ––अष्टसहस्री, पृ. ६२, नि. सा. सं.

युक्ति और सर्वज्ञपरंपरागत आगम से विरोध करनेवाली जिनकी वाणी नहीं होती और अत एव जो निर्दोष होते हैं वह हे भगवन् ! आप हि हैं । जब आपका अभिमत तत्त्व प्रसिद्ध प्रमाण के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता तब आपके वचन का युक्ति और परंपरागत आगम के साथ विरोध नहीं होता ॥ ६ ॥

अज्ञान, राग, द्वेष आदि दोष कहे गये हैं । जो दोषों से दूर होता है अर्थात् दोषरहित होता है वह निर्दोष कहा जाता है । सामान्यतः प्रमाणो के बल से जो सर्वज्ञ और वीतराग सिद्ध हुआ है वह आपहि है, क्यों कि आपकी वाणी युक्ति और आगम के साथ विरोध करनेवाली नही होती । जिसकी वाणी जिस विषय मे युक्ति और आगम के साथ विरोध करनवाली नहीं होती वही उस विषय में निर्दोष– अज्ञानरूप और रागद्वेषादिरूप दोषों से रहित देखा गया है, जैसे किसी व्याधि के उपशम के – नाश के विषय मे वैद्यराज । कहने का भाव यह है कि जिसप्रकार किसी व्याधि का नाश करनेवाले वैद्यराज का व्याधिविषयक निदान युक्ति और आयुर्वेद शास्त्र के विरुद्ध न होनेसे वह निर्दोष कहा जाता है अर्थात् अज्ञान दोष से रहित कहा जाता है– ज्ञानी कहा जाता है उसीप्रकार जिसकी वाणी जिस विषय मे युक्ति और आगम के साथ विरोध करनेवाली नही होती वही उस विषय मे निर्दोष –अज्ञानरूप और रागद्वेषादिरूप दोषो से रहित देखा गया है अर्थात् वह ज्ञानी और वीतराग – निष्पक्ष माना गया है । मुक्ति, ससार, मुक्ति का कारण – साधन और ससार का कारण इन विषयो से भगवान् की वाणी युक्ति के और आगम के विरुद्ध नही होती । उसकारण भगवान् निर्दोष होते हैं अर्थात् अज्ञान, राग, द्वेष आदि दोषों से रहित होते है। 'मेरी वाणी का अर्थात भगवान् की वाणी का युक्ति और आगम के साथ पूर्णरूप से अविरोध कैसे सिद्ध होता है ?' ऐसा प्रश्न हो तो उसका उत्तर 'जब आपका अर्थात् भगवान् का अभिमत मोक्ष आदि तत्त्व प्रसिद्ध प्रमाण के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता तब आपकी अर्थात् भगवान् की वाणी का युक्ति और आगम के साथ पूर्णरूप से अविरोध सिद्ध हो जाता है' ऐसा है । खुलासा– "जिसप्रकार रोग, स्वास्थ्य, रोग का कारण और स्वास्थ्य का कारण इनके विषय में वैद्यराज का अभिमत तत्त्व प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित न होनेसे उसके कथन का युक्ति और आयुर्वेद शास्त्र के साथ अविरोध सिद्ध हो जाता है उसीप्रकार जिस विषय में जिसका अभिमत तत्त्व प्रमाण से बाधित नहीं होता उस विषय में उसकी वाणी का युक्ति और आगम के साथ अविरोध सिद्ध हो जाता है । भगवान् का अभिमत मोक्षतत्त्व, संसारतत्त्व, मोक्षकारणतत्त्व और संसारकारणतत्त्व प्रमाण से बाधित नहीं किया जा सकता । उसीकारण मोक्षादितत्त्व के विषय में हे भगवन्! आपकी वाणी का युक्ति और आगम के साथ अविरोध सिद्ध हो जाता है ।" इसप्रकार ज्ञेय विषय के ज्ञान के बारेमें युक्ति और आगम के साथ अविरोध की सिद्धि हो जानेसे ज्ञेयों को विषय बनानेवाली भगवान् की वाणी का युक्ति और आगम के साथ अविरोध सिद्ध हो जाता है ।

इससे प्रत्यक्षदर्शी भगवान् का ज्ञान अविसंवादि होनेसे उनके वचन की अविसंवादिता की सिद्धि हो जाती है यह बात स्पष्ट हो जाती है । ' जिसप्रकार इक्षुदण्ड – गन्ना एक होते हुए भी नीचेके और ऊपर के भागों में पाये जानेवाले रसों की रुची भिन्न भिन्न प्रकार की पायी जानेसे अनेक प्रकारवाला – नानारूप होता है उसीप्रकार वचनरूप आर्षावयव एकरूप होनेपर भी अनेकरूप क्यों नहीं हो सकता ? ' यह प्रश्न ठीक नहीं है; क्यों कि वचन एकरूप होनेपर भी वाच्य और वाचक के भेद की दृष्टि से उसका अनेकत्व मान लिया गया है । ' जिसप्रकार वाच्य और वाचक के भेद की दृष्टि से वचन का अनेकरूपत्व मान लिया गया गया है उसीप्रकार सत्यवचनकृत और असत्यवचनकृत भेद की दृष्टि से भी वचन का अनेकत्व मान लेना चाहिये ' यह कथन ठीक नहीं है, क्यों कि अव-यवीरूप से एकरूप से और प्रवाहरूप से – परंपरा से चला आया होनेसे अपौरुषेय ऐसे आगम का असत्यत्व के साथ-विरोध आता है । अथवा यह आगम अभिधेयभूत अपने अर्थ को स्वयं नहीं कहता । यदि वह अपने वाच्यार्थ को स्वयं कहता है ऐसा माना तो सभी जीवों को उसका ज्ञान हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । ' यदि सभी को आगम का ज्ञान स्वयं हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता हो तो भले हि हो जाय, इसमें क्या हानि है ? ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि सभी जीवों को आगम के ज्ञान की प्राप्ति हुई नहीं पायी जाती ।

इस विषय का अन्य आचार्य निम्नप्रकार से प्रतिपादन या खुलासा करते है कि—

वक्ताओं को आगम के अर्थसंबंधी परिज्ञान होता है या नहीं ? इसप्रकार दो विकल्प उठते है । दूसरा विकल्प तो बन हि नहीं सकता; क्यो कि जिसको आगम के अर्थ का ज्ञान नहीं होता उसका आगम का व्याख्याता होनेमें विरोध उपस्थित होता है । जिसको आगम के अर्थ का ज्ञान नहीं होता उसका व्याख्याता होनेमें किसीप्रकार विरोध उपस्थित नहीं होता ऐसा कहना हो तो सभी का अज्ञपना समान होनेसे सब को संपूर्ण शास्त्रों का व्याख्याता हो जाना चाहिये । यदि प्रथम विकल्प लिया गया तो आगम के अर्थ को जाननेवाला व्याख्याता सर्वज्ञ होता है या असर्वज्ञ ? ऐसे दो विकल्प उत्पन्न होते है । इनमें से दूसरा विकल्प ठीक नहीं है; क्यों कि ज्ञानविज्ञान से रहित होनेके कारण जिसको प्रमाणता की प्राप्ति नहीं हुई होती ऐसे व्याख्याता के वचन की प्रमाणता का अभाव होता है । ' असर्वज्ञ वक्ता की और उसके वचन की अप्रमाणता भले हि हो, किंतु आगम की अप्रमाणता नहीं हो सकती क्यों कि आगम अज्ञानी पुरुष का व्याख्यानरूप व्यापार की अपेक्षा से रहित होता है ' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्यों कि व्याख्याता के अभाव में अपने वाच्यार्थ का स्वयं प्रतिपादन न करनेवाले आगम का वाच्यवाचकभाव व्याख्याता के अधीन होनेसे उसकी जो पुरुष के व्यापार की निरपेक्षता बतायी जा रही है वह नहीं बनती । इस-लिये आगम पुरुष की इच्छा से अर्थ का प्रतिपादन करता है ऐसा समझना चाहिये । इसीप्रकार ' वक्ता की प्रमा-णता से उसके वचन की प्रमाणता सिद्ध होती है ' इस न्याय के अनुसार जिसकी प्रमाणता सिद्ध हुई नहीं होती ऐसे पुरुष के द्वारा जिसके अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया होता है ऐसा आगम अप्रमाणता को कैसे प्राप्त नहीं होगा अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा । इसकारण जिसके संपूर्ण अज्ञान, राग, द्वेष आदि दोषों का और आवरणों का अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण द्रव्यकर्मों का विनाश हो जानेसे जिसको संपूर्ण ज्ञेय पदार्थों को विषय करनेवाले अर्थात् जाननेवाले ज्ञान की प्राप्ति हो गयी होती है वही उस आगम का व्याख्याता हो सकता है ऐसा समझना चाहिये । यदि उक्त प्रकार से निर्दोष और केवलज्ञानी पुरुष को आगम का व्याख्याता न माना तो अपौरुषेय अर्थात् अनादि से चले आये आगम को भी पौरुषेय आगम के समान अप्रमाणता का प्रसंग उपस्थित हो जायगा । ' यदि असर्वज्ञों को आगम का व्याख्याता नहीं माना गया तो ऋषिप्रोक्त आगम की परंपरा का विच्छेद हो जायगा; क्यों कि अर्थशून्य वचनपरंपरा की ऋषिप्रोक्तपना का अभाव हो जाता है ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि अर्थशून्य वचनपरंपरा को हम भी ऋषिप्रोक्त आगम नहीं मानते । ऋषिप्रोक्त आगमपरंपरा का हमारे यहां विच्छेद भी नहीं है; क्यों कि जिसके अर्थ का अज्ञान, राग, द्वेष आदि दोष और कर्मरूप आवरण नष्ट हो गये हैं ऐसे अरिहंत पर-मेष्ठियों ने व्याख्यान किया है, चार निर्मल ज्ञानों के अतिशय से युक्त और अज्ञान, राग, द्वेष आदि दोषों से रहित गणधरदेवों ने जिसका धारणारूप से ग्रहण किया है, ज्ञान–विज्ञानसम्पन्न गुरुओं की परंपरा के क्रम से जो चला आ

रहा है, अनादि परंपरा से चला आया हुआ जिसका वाच्यवाचकभाव नष्ट हुआ नहीं है ऐसे आगम का व्याख्यान रागादिदोषरहित, ज्ञानावरणादिकर्मरहित और प्रतिपक्षरहित सत्यस्वभाववाले पुरुषों के द्वारा व्याख्यान किया गया होनेसे श्रद्धा का विषय बनाये जानेवाले उस आगम की उपलब्धि होती है। 'आजकल का आगम अप्रमाण है; क्यों कि इसके अर्थ का व्याख्यान भगवान् अर्हंतो से काल की दृष्टि से दूरवर्ती अर्वाचीन पुरुषों ने किया है ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि ऐदंयुगीन अर्थात् इस कालसंबंधी ज्ञानविज्ञान से युक्त होनेके कारण जिनको प्रमाणता की प्राप्ति हो गयी है ऐसे आचार्यों के द्वारा ऐदंयुगीन आगम का व्याख्यान किया गया है। 'इस कालसंबंधी व्याख्याता आचार्य छद्मस्थ होते हैं। ऐसे छद्मस्थ आचार्यों का सत्यवादित्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि आगम के अनुकूल व्याख्यान करनेवाले आचार्यों की सत्यवादिता के विषय में विरोध नहीं आता। ' यह अर्थ प्रमाणीभूत गुरुपरंपरा के क्रम से आया हुआ है यह कैसे जाना जाता है ? ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि प्रत्यक्षभूत सभी विषयों में विसंवाद का– अयथार्थता का अभाव होनेसे परोक्षविषय में भी अविसंवादी आगमरूप से एकत्व होनेपर यथार्थता के बाधक प्रमाणों में असंभव सुतरां निश्चित होता है अथवा इस कालसंबंधी ज्ञानविज्ञानसंपन्न अनेक आचार्यों के उपदेश से उसके अर्थ का ज्ञान होता है । बहुतसे साधु विसंवाद करते हि नहीं; क्यों कि उसप्रकार का विसंवाद कहीं पर भी पाया नहीं जाता है। जिसका प्रामाण्य सिद्ध हो गया है ऐसे पुरुषों के द्वारा आगम के अर्थ का व्याख्यान किया जानेसे ऋषिप्रोक्त वचन का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। उसी आर्षवचन का प्रामाण्य सिद्ध हो जानेसे अयोगी के मन का अभाव होनेपर भी उसके केवलज्ञान होता है यह बात सिद्ध हो जाती है।

अथवा, केवलज्ञान मन से उत्पन्न होता हुआ न किसी को उपलब्ध हुआ है और न किसीने सुना भी है, जिससे इसप्रकार की आशंका उत्पन्न हो सके। क्षायोपशमिक ज्ञान कहींपर अर्थात् संज्ञिपंचेंद्रियों में मन से उत्पन्न होता है। मन का अभाव होनेसे उस क्षायोपशमिक ज्ञान का हि अभाव हो जाना चाहिये, न कि केवलज्ञान का; क्यों कि केवलज्ञान की उत्पत्ति मन से नहीं होती। ' सयोगकेवली के केवलज्ञान मन से उत्पन्न होता हुआ पाया जाता है' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यो कि स्वावरणकर्म के अर्थात् केवलज्ञानावरणकर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाले अक्रमवर्ती केवलज्ञान की पुनः उत्पत्ति होनेमें विरोध उपस्थित हो जाता है। ' मत्यादिज्ञान जिसप्रकार कारक की अर्थात् उत्पादक कारण की अपेक्षा करते है उसीप्रकार ज्ञानरूप होनेसे केवलज्ञान को भी अपनी उत्पत्ति के लिये उत्पादक कारण की अपेक्षा करनी चाहिये ' ऐसा कहना ठीक नही है; क्यो कि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञानों में समानता नही होती। ' प्रतिसमय परिणत होनेवाले पदार्थों को अपरिणामी केवलज्ञान कैसे जान सकता है ? ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि ज्ञेयों के साथ साथ परिवर्तित होनेवाले केवलज्ञान के द्वारा प्रतिसमय परिवर्तित होनेवाले पदार्थों के जाने जानेमें विरोध उपस्थित नहीं होता। ' ज्ञेयों के अधीन होकर परिवर्तित होनेवाले केवलज्ञान की फिरसे उत्पत्ति होती हि नही यह कैसे ? ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यो कि केवलज्ञान के उपयोगसामान्य की अपेक्षा से उस केवलज्ञान की पुनः उत्पत्ति नहीं होती। केवलज्ञान के विशेष उपयोग की अपेक्षा से उसकी फिरसे उत्पत्ति होनेपर भी उसकी उत्पत्ति इंद्रिय, आलोक और मन से नहीं होती; क्यों कि जिसके आवरण नष्ट हो गये होते है ऐसे केवलज्ञान की उत्पत्ति इंद्रिय, मन और आलोक से होती है ऐसा माननेमें विरोध उत्पन्न होता है। केवलज्ञान असहाय होनेसे इन्द्रिय, आलोक और मन के साह्य की अपेक्षा नहीं करता है; क्यों कि यदि वह इंद्रियादि के साह्य की अपेक्षा करने लगा तो उसके असहायत्वरूप स्वरूप की हानी हो जानेका प्रसग आ जायगा। ' केवलज्ञान असहायत्वस्वरूपवाला होनेसे उसको प्रमेय की ज्ञान की उत्पत्ति के समय उसको प्रमेय पदार्थ की भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि प्रमेय को जानतेसमय प्रमेयपदार्थ की अपेक्षा करना केवलज्ञान का स्वभाव है। [कहने का भाव यह है कि यद्यपि केवलज्ञान की उत्पत्ति का इंद्रिय, मन और आलोक की तरह ज्ञेयार्थ भी उत्पादक कारण नहीं होता, तो भी प्रमेय पदार्थ की उस समय अपेक्षा करना केवलज्ञान का स्वभाव हि है। यदि केवलज्ञान का ऐसा स्वभाव न होता तो जीवद्रव्य के स्वरूप का कथन पुद्गलादिद्रव्यविषयक भी

हो जाता । किंतु ऐसा होता हि नहीं । अतः प्रमेय की अपेक्षा करना केवलज्ञान का स्वभाव है इस बात को स्वीकार करना चाहिये ।] पदार्थों के स्वभावों के विषय में प्रश्न करना ठीक नहीं है । यदि वस्तुस्वभावों के विषय में प्रश्न किये जाने लगे तो वस्तुओं की व्यवस्था हि नहीं बनेगी ।

यह गुणस्थान क्षायिकभावरूप है; क्यों कि इसकी उत्पत्ति संपूर्ण घातिकर्मों का क्षय होनेपर होती है और अघातिकर्मों का क्षय थोडे हि समय में होनेवाला होता है । कहा भी है---

सेलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस-आसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होई ॥ ६५ ॥ [गो. जी.]

अठारह हजार शीलों के जो स्वामी बने हुए होते है, जिनके संपूर्ण आस्रवों का निरोध हो गया होता है और जो कर्ममल से रहित होते है ऐसे अयोगकेवली भगवान् होते है ।

[संकेत– ऊपर की चर्चा राजवार्तिक और धवला के आधार से की गयी है ।]

' मोहजोगभवा ' इस शास्त्रोक्त वचन के अनुसार इन गुणस्थानों की उत्पत्ति मोह और योग इनसे होती है । पहले से बसर्वेतक के गुणस्थानो के होनेमें मोह और योग कारण पडते है और आगेके गुणस्थानों के होनेमें योग कारण पडते हैं । मोह अपने क्षय, क्षयोपशम, उदय और उपशम के द्वारा गुणस्थानों की उत्पत्ति मे निमित्त कारण पडता है और योग भी निमित्त कारण पडने है । आगेके गुणस्थानों में योग निमित्तकारण पडते हैं । यद्यपि ये भाव अशुद्धात्मस्वामिक है तो भी नैमित्तिक भाव है– औपशमिकभाव है – स्वाभाविकभाव नहीं है । निमित्त के मिल जानेपर हि आत्मा इन भावो के रूप से परिणत हो जाती है । शुद्ध आत्मा का उक्त निमित्तों के साथ किसी प्रकार से सबंध नहीं होता; क्यो कि उसके कर्मों के साथ होनेवाले संबंध का अभाव होता है । निमित्त इन भावों का कर्ता होता है यह कथन उपचरित है– व्यवहारनयाश्रित है; क्यों कि उपादान के समान निमित्त अपने स्वरूप से इन भावों में अन्वित नहीं होता । अतः शुद्ध आत्मा मे इन नैमित्तिक भावों का सर्वथा अभाव होनेसे शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति के समय ये भाव अनुभव में नहीं आते और अनुभव के विषय न बनने से ये भाव आत्मस्वामिक नहीं माने जा सकते ।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवाऽस्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युः दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

अन्वय– अस्य वर्णाद्याः वा रागमोहादयः वा । . एव भावाः पुंसः भिन्नाः । तेन एव अन्तः तत्त्वतः पश्यतः अमी नो दृष्टाः स्युः, एकं परं दृष्ट स्यात् ।

अर्थ– इस ससारी आत्मा के वर्णादिक और रागमोहादि भाव देखनेमें आते हैं । वे सभी के सभी भाव शुद्ध स्वभाववाले आत्मा से भिन्न होते हैं-उसके नहीं है । ये भाव आत्मा से भिन्न होनेसे हि परमनिर्विकल्पसमाधि में अपने चित्त में शुद्धद्रव्यार्थिकनय की या शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव जब आत्मा को-देखने-जानने-अनुभवने लग जाता है तब वे भाव उसके देखनेमें -अनुभवमें नहीं आते-एक अर्थात् अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसी पर ˙ ह उसके अनुभव में आती है ।

त. प्र.– अस्य संसारिणोऽनादेः कर्मबद्धस्यानाप्तशुद्धस्वरूपस्य व्यवहारनयेनानेकस्य मेचकस्य वर्णाद्या रूपादयः । वर्ण आद्यः प्रमुखो येषां ते वर्णाद्याः । आद्यशब्देन गन्धरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननादीनां ग्रहणं भवति । वा च । रागमोहादयो वा चारित्रमोहनीयदर्शनमोहादयो । वा च । आदिना द्वेषप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थान–स्थितिबन्धस्थानसङ्क्लेशस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानादीनां ग्रहणं भवति । तत्र ये वर्णादयोऽकम-

भाविपर्यायरूपाः क्रमभाविपर्यायरूपाः पुद्गलाश्रितत्वात्पुद्गलोपादानकत्वाच्च । रागमोहादयश्च पुद्गलनिमित्तकाः पुद्गलोपादानकाश्च, द्रव्यभावकर्मणां पुद्गलोपादानकत्वात्पुद्गलनिमित्तकत्वाच्च । अमी सर्व एव भावाः पुंसश्शुद्धात्मनो भिन्ना एव, तेषां केषाञ्चित् पुद्गलोपादानकत्वात्केषाञ्चिच्च पुद्गलनिमित्तकत्वात् । तेन उक्तभावानां शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षयाऽऽत्मनो भिन्नत्वेनैवान्तः परमनिर्विकल्पसमाधौ स्वान्तरङ्गे तत्त्वतः परमार्थतः । शुद्धनिश्चयेनेत्यर्थः । पश्यतोऽवलोकयतो जानतः । अनुभवत इत्यर्थः । अमी वर्णाद्या रागमोहादयश्च भावाः नो न दृष्टा अनुभूता भवन्ति । अनुभवगोचरतां न यान्तीति भावः । एकमबद्धास्पृष्टादिविशेषणविशिष्टमात्मवस्तु दृष्टमनुभूतं स्याद्भवति बहिर्भवानां वर्णादीनां नैमित्तिकानां च रागमोहादीनां भावानां परमनिर्विकल्पसमाधावनुभवाभावान्न त आत्मस्वामिका इति भावः ।

विवेचन— वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और रूप ये पुद्गल के सहभावी होनेसे पुद्गलगुणरूप है । गुण और गुणी में तादात्म्यसंबंध होनेसे उनमें भेद नहीं होता । उनमें अभेद होनेसे पुद्गल को छोडकर आत्मसदृश अन्यद्रव्याश्रित नहीं होते । अतः ये भाव आत्मा से भिन्न होते है और आत्मा से भिन्न होनेसे आत्मस्वामिक नहीं होते । शरीर संहनन और संस्थान आदि पुद्गल के परिणाम है । परिणाम और परिणामी में अभेद होनेसे शरीरादिपरिणाम पुद्गल को छोडकर आत्मद्रव्यस्वामिक नहीं हो सकते । वर्णादिक भाव पुद्गलस्वामिक होनेपर भी आत्मा अनादि से पुद्गलपरिणामरूप शरीर में रहते हुए आयी होनेसे वे वर्णादिकभाव अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय से कथंचित् आत्मस्वामिक भी हैं । वस्तुतः वे भाव आत्मा के नहीं है । रागमोहादिकभाव यद्यपि अशुद्धात्मस्वामिक दिखाई देते है तो भी वे नैमित्तिकभाव होनेसे परमार्थतः शुद्धात्मस्वामिक नहीं हो सकते; क्यों कि वे शुद्ध आत्मा में नहीं पाये जाते । घटरूप परिणाम मृत्तिकोपादानक होनेसे उनमें मृत्तिका का स्वस्वरूप से अन्वय पाया जानेके कारण यद्यपि मृत्तिका के है, तो भी घटका आकार नैमित्तकभावरूप होनेसे मृत्तिका का स्वाभाविकभाव नहीं हो सकता । यदि घट का आकार मृत्तिका का स्वाभाविक भाव होता तो मृत्तिका के सभी परिणाम घटाकाररूप हि होते । जिस मृत्तिका से घटाकाररूप परिणाम बनता है उसी मृत्तिका से अन्य मृद्भाजन के भी आकार बनते है । घटाकार नैमित्तिकभाव होनेसे वे जिसप्रकार मृत्तिका के स्वाभाविकभाव नही हो सकते उसीप्रकार आत्मा में पाये जानेवाले नैमित्तकभाव शुद्ध आत्मा के नहीं होते । यदि उक्त भाव आत्मा के स्वाभाविक भाव होते तो जब परनिर्विकल्पसमाधि में आत्म-स्वरूप के ज्ञान का अनुभव होता है तब उक्त भावो का अनुभव प्राप्त हो जाता; किंतु उस समय उनका अनुभव प्राप्त न होकर सिर्फ शुद्ध आत्मा का हि अनुभव प्राप्त होता है । अतः उक्त भावों की शुद्ध आत्मा से भिन्नता की सिद्धि हो जानेसे वे भाव आत्मा के भाव सिद्ध नही होते ।

'ननु वर्णादय यदि अमी न सन्ति जीवस्य तदा तन्त्रान्तरे कथं सन्ति इति प्रज्ञाप्यन्ते ?' इति चेत्—

"ये उक्त वर्णादिभाव यदि जीव के अर्थात जीवस्वामिक नही है तो अन्यशास्त्रों में-सिद्धान्त-ग्रंथों में 'वे भाव जीव के है' ऐसा कैसे कहा गया है ?" इस प्रश्न का उत्तर नीचे की गाथा के द्वारा दिया जाता है ।

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६ ॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्याः ।
गुणस्थानान्ता भावा न तु केऽपि निश्चयनयस्य ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ– (**एते**) यह (**वर्णाद्याः गुणस्थानान्ताः**) वर्ण मे लेकर गुणस्थानपर्यन्त होनेवाले (**भावाः**) परिणाम (**व्यवहारेण तु**) व्यवहारनय की दृष्टि मे हि (**जीवस्य भवन्ति**) जीव के अर्थात् जीवस्वामिक होते है, (**निश्चयनयस्य**) निश्चयनय की दृष्टि से (**के अपि**) उक्त परिणामो मे से कोई भी परिणाम (**न तु**) जीव के होते हि नही।

आ. ख्या.– इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात् जीवस्य पुद्गलसंयोगवशात् अनादिप्रसिद्धबन्धपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवाससः इव औपाधिकं भावं अवलम्ब्य उत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति। निश्चयनयः तु द्रव्याश्रितत्वात् केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावं अवलम्ब्य उत्प्लवमानः परभाव परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततः व्यवहारेण वर्णादयः गुणस्थानान्ताः भावाः जीवस्य सन्ति, निश्चयेन तु न सन्ति इति युक्ता प्रज्ञप्तिः।

त. प्र.– इह हि जीवस्य ससारावस्थायामेव व्यवहारनयः किल भेदप्रधानो व्यवहारनयोऽसशयं पर्यायाश्रितत्वात्पदार्थपरिणामावलम्बनत्वाज्जीवस्य संसारिणः पुद्गलसयोगवशात्पुद्गलोपादानकत्वात्कर्मणां कर्मसयोगवशात्पुद्गलसयोगाद्धेतोरनादिप्रसिद्धबन्धपर्यायस्यानादिकालप्रसिद्धकर्मजनितबन्धात्मकपर्यायस्य। अनादेरनादिकालात् प्रकर्षेण सिद्धः सिद्धावस्थां प्राप्तो बन्धपर्यायो यस्य सः। तस्य। कुसुम्भरक्तस्य महारजनकुसुमरागरससंयोगजनितरक्तवर्णस्य। कुसुम्भं महारजनम् 'करडई' इति महाराष्ट्राणाम्। कुसुम्भस्य कुसुमं कुसुम्भम्। 'पुष्पमूले बहुलम्' इति पुष्पत्वस्योम्। 'कुसुम्भं हेमनि महारजने ना कमण्डलौ' इति विश्वलोचने। कुसुम्भकुसुममर्दनसञ्जातरक्तवर्णरससंयोगवशाद्रक्तस्य रक्तवर्णता प्राप्तस्य कार्पासिकवाससः इव पिचुलतन्तुविनिर्मापितस्य वाससो वस्त्रस्येवौपाधिकं नैमित्तिकं भावं परिणाममवलम्ब्याश्रित्योत्प्लवमानः प्रादुर्भवन् प्रवर्तमानो वा परभावं परपदार्थाश्रित परद्रव्योपादानक परद्रव्यनिमित्तक च भाव परिणाम परस्य विदधाति परस्य भावस्तदन्यद्रव्यस्वामिकोऽप्यस्तीति प्रतिपादयति। अदभ्रशुभ्रकार्पासिकतन्तुविनिर्मापितं वसनं स्वभावतः शुभ्रमपि महारजनकुसुममर्दनजनितरसवर्णसंयोगाद्रक्तमभिधीयते, न तु तद्वस्तुतो रक्तवर्णम्। यथा कुसुम्भकुसुमरसरक्तवर्णसंयोगेन पिहितस्वस्वभावभूतवर्णत्वाद्रक्तवर्णमेतद्वस्त्रमिति नैमित्तिकपरिणाममवलम्ब्य व्यवहारनयेनाभिधीयते तथाऽनादिपुद्गलसयोगवशादनादिप्रसिद्धपर्यायस्य संसारिजीवस्य वर्णादिमत्स्वरूपं रागमोहादिमत्स्वरूप चौपाधिकं परिणाममवलम्ब्य शुद्धनिश्चयनयापेक्षयौपाधिकभावविकलस्याप्यात्मन औपाधिकभावस्वामित्वं व्यवहारनयेन विधीयते इति भावः। निश्चयनयस्तु शुद्धद्रव्यार्थिकनयस्तु द्रव्याश्रितत्वाच्छुद्धद्रव्याश्रितत्वात्केवलस्यासहायस्य बद्धस्पृष्टत्वादिविकलस्य जीवस्य स्वाभाविकभावमवलम्ब्याश्रित्योत्प्लवमान उत्पद्यमानः परभावं परद्रव्यभूतपुद्गलस्वामिकं पुद्गलद्रव्यनिमित्तकं परद्रव्याश्रितं च भावं परस्य तदन्यद्रव्यस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। यो यस्य द्रव्यस्य भावः स तस्यैव द्रव्यस्य, नान्यस्येति प्रतिपादयतीति भावः। ततस्तस्मात्कारणाद्व्यवहारेण व्यवहारनयाश्रयेण पूर्वोक्तक्रमेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावाः जीवस्य सन्ति, निश्चयनयेन निश्चयनयापेक्षया तु न सन्ति जीवस्वामिका न भवन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिर्भगवतामर्हतामुपदेशः।

टीकार्थ— जीव की इस संसार अवस्था में हि व्यवहारनय पर्याय का अवलंब करनेवाली होनेके कारण कुसुंभपुष्प के रस के संयोग से रंगे हुए वस्त्र के समान पुद्‌गल का संयोग हो जानेसे अनादिकाल से जिसकी बंधपर्याय प्रकटरूप से सिद्ध हो गयी है ऐसे जीव के औपाधिक–नैमित्तिकभाव का अवलंब लेकर प्रवृत्त हुई यह व्यवहारनय परपदार्थ के गुणरूप और पर्यायरूप भाव–परिणाम उक्त परपदार्थ से भिन्न अन्य द्रव्य के हैं–अन्यद्रव्यस्वामिक हैं ऐसा विधान करती है; किंतु निश्चयनय द्रव्य का अवलंब लेनेवाली होनेसे केवल अर्थात् बद्धस्पृष्टत्वादिभावों से रहित जीव के स्वाभाविकभाव का अवलंब लेकर प्रादुर्भूत या प्रवृत्त हुई वह निश्चयनय सभी के सभी परद्रव्योपादानक परद्रव्याश्रित और परद्रव्यनिमित्तक भावों का पूर्वोक्त द्रव्य से भिन्नद्रव्य के–भिन्नद्रव्यस्वामिक होनेका निषेध करती है अर्थात् एक विशिष्ट द्रव्य के गुण और पर्यायें उस विशिष्ट द्रव्य से भिन्न द्रव्य के हैं इस कथन का प्रतिषेध करती है। उस कारण से वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यंत के भाव व्यवहारनय की दृष्टि से जीव के हैं; किंतु निश्चयनय की दृष्टि से वे भाव जीव के नहीं है ऐसा शास्त्रीय उपदेश योग्य है।

विवेचन— जीव की इस संसार–अवस्था में होनेवाली व्यवहारनय द्रव्य की पर्यायों का आश्रय लेकर प्रवृत्त होती है। जिसप्रकार कुसुंभ के रस के वर्ण के संयोग से लाल बना हुआ रुई का वस्त्र वस्तुतः सफेद होनेपर भी लाल रंग के संयोग से उस रक्तवस्त्ररूप अवस्था की–पर्याय की प्रधानता से लालवर्ण व्यवहारनय की दृष्टि से वस्त्रस्वामिक कहा जाता है, किंतु वह वस्त्रस्वामिक नहीं होता उसीप्रकार वर्णादिरूप पुद्‌गलद्रव्याश्रितभाव, पुद्‌गलद्रव्योपादानक शरीरादिपर्यायें और पुद्‌गलकर्मोदयादिनिमित्तक अशुद्ध जीव के भाव यद्यपि पर्यायाश्रयी व्यवहारनय की दृष्टि से जीवस्वामिक–जीव के कहे जाते हैं तो भी परमनिर्विकल्पसमाधि में उनका अनुभव न होनेसे और परचोदविकल आत्मा का हि अनुभव होनेसे परभाव अनुभूयमान शुद्ध आत्मा से भिन्न होनेके कारण आत्मस्वामिक–आत्मा के नहीं हो सकते। निश्चयनय की प्रवृत्ति केवल द्रव्य के आश्रय से होती है। यद्यपि द्रव्य गुणपर्यायों से युक्त होता है तो भी वह जब निश्चयनय का विषय बनता है तब द्रव्य की पर्याय गौण होती है–उनका अभाव नहीं होता। वह नय द्रव्य का–सामान्य का आश्रय लेनेवाली होनेसे द्रव्य की विभावपर्यायों का, परद्रव्य के परिणामों के संबंध से होनेवाले परिणामों का और परद्रव्य के गुणों का उक्त परद्रव्य से भिन्न द्रव्य में अस्तित्व का निषेध करती है। जब आत्मा परमनिर्विकल्पसमाधि में आत्मद्रव्य का अनुभव करती है तब उक्त परभाव अनुभव में न आनेसे निश्चयनय की दृष्टि से आत्मस्वामिक नहीं हो सकते। अतः वे भाव यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मस्वामिक कहे जाते हैं तो भी निश्चयनय की दृष्टि से वे भाव आत्मस्वामिक नहीं हैं।

'कुतः जीवस्य वर्णादयः निश्चयेन न सन्ति?' इति—

निश्चयनय की दृष्टि से वर्णादि भाव जीव के क्यों नहीं होते? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः।
न च भवन्ति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥५७॥

अन्वयार्थ— (**एतैः च**) इन वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव कहे गये हैं उनके साथ (**सम्बन्धः**) आत्मा का जो संबंध होता है वह (**क्षीरोदकं यथा एव**) दूध और पानी इनका संबंध जिसप्रकार परस्परावगाहरूप–एकक्षेत्रावगाहरूप होता है उसीप्रकार एकक्षेत्रावगाहरूप होता है ऐसा

(**ज्ञातव्यः**) जानना चाहिये । (**तानि**[1] **च**) और वे भाव (**तस्य न तु भवन्ति**) उसके होते हि नही ; (**यस्मात्**) क्यों कि आत्मा (**उपयोगगुणाधिकः**) उपयोगगुणवाला होनेसे उन भावों से अधिक अत एव भिन्न होती है ।

आ. ख्या.– यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे सम्बन्धे सति अपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलात् अधिकत्वेन प्रतीयमानत्वात् अग्नेः उष्णगुणेन इव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् न निश्चयेन सलिलं अस्ति, तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्य आत्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे सम्बन्धे सति अपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्यः अधिकत्वेन प्रतीयमानत्वात् अग्नेः उष्णगुणेन इव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामा सन्ति ।

त. प्र.– यथा येन प्रकारेण खलु सलिलमिश्रितस्य जलसंवलितस्य क्षीरस्य दुग्धस्य सलिलेन जलेन सह साकं परस्परावगाहलक्षण एकक्षेत्रावगाहस्वरूपे सम्बन्धे संश्लेषसम्बन्धे सत्यपि विद्यमानेऽपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतयाऽन्यद्रव्यव्यावर्तकक्षीरत्वगुणस्य व्याप्यतया क्षीरत्वगुणकर्तृकव्यापनक्रियाश्रयतया । अनन्यसाधारणक्षीरत्वगुणस्य व्यापकत्वात्क्षीरस्य च व्याप्यतयेत्यर्थः । सलिलादधिकत्वेनाधिक्येन । सातिशयत्वेनेत्यर्थः । प्रतीयमानत्वाज्ज्ञायमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सहाऽग्नेर्यथोष्णगुणेन सह तादात्म्यलक्षणस्सम्बन्धो विद्यते तथा सलिलेन सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावान्न निश्चयेन निश्चयनयदृष्ट्या सलिलमस्ति । क्षीरनीरयोस्स्वस्वामिभावलक्षणस्सम्बन्धो नास्ति । सलिलं क्षीरस्वामिकं नास्तीति भावस्तयोरन्योन्यभिन्नस्वभाववस्तुरूपत्वात् । तथा तेन प्रकारेण वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्य वर्णादिरूपपुद्गलद्रव्यपरिणामसंवलितस्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षण एकक्षेत्रावगाहस्वरूपे सम्बन्धे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया स्वासाधारणधर्मभूतोपयोगगुणस्य व्याप्यतया व्याप्तिक्रियाविषयभूततया । उपयोगगुणस्य व्यापकतयाऽऽत्मनश्च व्याप्यतयेत्यर्थः । सर्वद्रव्येभ्यो जीवभिन्नान्यनिखिलद्रव्येभ्योऽधिकत्वेनाधिक्येन । सातिशयत्वेनेत्यर्थः । प्रतीयमानत्वादनुभूयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सहाग्नेर्यथोष्णगुणेन सह तादात्म्यलक्षणस्सम्बन्धोऽस्ति तथा वर्णादिना सहात्मनस्तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावान्न निश्चयेन निश्चयनयदृष्ट्या वर्णादिपुद्गलपरिणामाः सन्ति । वर्णादिपुद्गलपरिणामा आत्मनो न सन्ति तादात्म्यसम्बन्धाभाववतां परमार्थिकस्वस्वामिभावाभिधसम्बन्धासम्भवादिति भावः ।

टीकार्थ– जिसप्रकार जिसमें जल मिलाया हुआ होता है ऐसे दूध का जल के साथ परस्पर–अवगाहस्वरूप-एकक्षेत्रावगाहरूप संबंध होनेपर भी स्वलक्षणभूत क्षीरत्वगुण के द्वारा व्याप्य होनेसे जल से अधिकपनेसे जाना गया होनेसे, उष्णगुण के साथ अग्नि का जिसप्रकार तादात्म्यसंबंध होता है उसप्रकार के तादात्म्यसबंध का अभाव होनेसे, निश्चयनय की दृष्टि से जल दूध का–दुग्धस्वामिक नहीं होता है उसीप्रकार वर्णादिरूप पुद्गलद्रव्य के परिणाम के साथ मिली हुई सश्लेषसंबंध को प्राप्त हुई आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथ परस्परावगाहरूप अर्थात् एकक्षेत्रावगाहरूप

१–तानीति सामान्ये नपुंसकम् ।

संबंध होनेपर भी स्वलक्षणभूत उपयोगगुण के द्वारा व्याप्य--व्यापकनेयोग्य होनेसे अर्थात् उपयोगगुण व्यापक होनेसे और आत्मा व्याप्य होनेसे सभी अन्य पदार्थों से अधिकपने से जानी गयी होनेसे अग्नि का उष्णगुण के साथ जिसप्रकार तादात्म्यसबध होता है उसीप्रकार आत्मा का वर्णादि पुद्गलद्रव्यों के परिणाम के साथ तादात्म्यसंबंध न होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से वर्णादिपुद्गलपरिणाम आत्मा के–आत्मस्वामिक नहीं होते है।

विवेचन– दूध और जल का मिश्रण कर देनेपर दोनों का एकरूपत्व–अपृथक्त्व दिखाई देता है तो भी वे दोनों एकरूप-एकवस्तुरूप कदापि नही होते। एक का दूसरे में अवगाहन जरूर होता है; परंतु दूध अपने दुग्धत्व-स्वरूप को त्यागकर जलरूप से और जल अपने जलत्वस्वरूप को त्यागकर दुग्धरूप से परिणत नहीं होता–दूध दूध हि बना रहता है और जल जल हि बना रहता है, क्यो कि दूध का जल के साथ और जल का दूध के साथ तादात्म्य-सबंध नहीं होता। यदि उनमें तादात्म्यसंबध होता तो दूध में जल मिला देनेपर दूध पतला न होकर उसकी स्वाभाविक घनता बनी रहती और दूधके प्रमाण में वृद्धि हो जाती, किंतु स्वाभाविक घनता के रूप से दूध की वृद्धि होती हुई देखनेमे नहीं आती–दूध पतला हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रण की अवस्था में दोनों अपने स्वरूप को छोडनेवाले न होनेसे उनमें तादात्म्यसबध नही होता। अग्नि और उष्णगुण इनमें तादात्म्यसंबंध होनेसे अग्नि और उष्णगुण मे तरतमता नहीं पायी जाती है। यदि दूध और जल में वस्तुतः तादात्म्यसबंध होता तो दोनों की मिश्रण–अवस्था मे दूध के परिणाम में तरतमता नही पायी जाती। अतः दोनों की मिश्रण अवस्था में दूध के परिणाम में जब अधिकता पायी जाती है तब उन दोनों मे तादात्म्यसबंध का अभाव सिद्ध हो जाता है। उन दोनों में तादात्म्यसबध का अभाव होनेसे जल दूध का नहीं हो सकता अर्थात् जल के साथ दूध का स्वस्वामिभावरूप सबध सिद्ध नही हो सकता। दूध और जल इनके मिश्रण के समान आत्मा और वर्णादिरूप पुद्गलद्रव्य के परिणाम इनका मिश्रण विद्यमान होनेसे उनका एकरूपत्व अपृथक्त्व यद्यपि दिखाई देता है तो भी वे दोनों एकरूप कदापि नहीं हो सकते। आत्मा का और वर्णादिरूपपुद्गलपरिणामों का एक का दूसरेमे अवगाहन जरूर होता है, परंतु जीव अपने आत्मस्वरूप को त्यागकर पुद्गलपरिणामो के रूप मे और पुद्गलपरिणाम अपने पुद्गलस्वरूप को त्यागकर आत्मरूप से परिणत नहीं होता–आत्मा आत्मा हि बनी रहती है और पुद्गलपरिणाम पुद्गलपरिणामहि बने रहते है; क्यों कि आत्मा का पुद्गलपरिणामों के साथ तादात्म्यसबध नहीं होता। यदि उनमे तादात्म्यसबंध होता तो दोनोंमें से एक को अपने स्वरूप का अवश्य त्याग करना पडता जिससे या तो आत्मा पुद्गलपरिणामस्वरूप बन जाती या पुद्गलपरिणाम आत्मरूप बन जाते। यदि पुद्गलपरिणाम आत्मस्वरूप बन जाते तो आत्मा की बधपर्याय या मुक्त–पर्याय नहीं बन पाती। आत्मा की बधपर्याय तो प्रत्यक्षप्रमाणगम्य है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रण की अवस्था में दोनो अपने अपने स्वरूप को छोडनेवाले न होनेसे उनमें तादात्म्यसंबंध नहीं होता। उन दोनों मे तादा–त्म्यसंबंध न होनेसे वर्णादिरूप पुद्गलपरिणाम आत्मा के-आत्मस्वामिक कदापि नहीं हो सकते। अतः निश्चयनय की दृष्टि से वर्णादिरूप पुद्गलपरिणाम आत्मा के नहीं है।

'कथं तर्हि व्यवहारः अविरोधकः ?' इति चेत्—

'यदि ऐसा है तो व्यवहार विरोध करनेवाला नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है ?' इस प्रश्न का उत्तर कहते है—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥ ५८ ॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥ ५९ ॥

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥ ६० ॥
पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणन्ति व्यवहारिणः।
मुष्यते एष पन्थाः, न च पन्थाः मुष्यते कोऽपि ॥ ५८ ॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम्।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारत उक्तः ॥ ५९ ॥
गन्धरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयो ये च।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशन्ति ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ— जिसप्रकार (**पथि मुष्यमाणं**) मार्गपर चलनेवाले व्यक्ति को लुटेरो के द्वारा लुटा जाता हुआ (**दृष्ट्वा**) देखकर ' (**एष पन्थाः**) यह मार्ग (**मुष्यते**) लुटा जाता है ' ऐसा (**व्यवहारिणः लोकाः**) लौकिकव्यवहार का अवलब लेनेवाले लोक (**भणन्ति**) कहते हैं; परतु परमार्थत. देखा जाय तो (**क. अपि पन्थाः**) कोई भी मार्ग (**न च मुष्यते**) लुटा हि नहीं जाता, मार्गस्थ पुरुष हि लुटा जाता है, (**तथा**) उसीप्रकार (**कर्मणां नोकर्मणां च**) कर्मो के और नोकर्मो के (**वर्णं**) वर्ण को (**जीवे**) जीव मे (**दृष्ट्वा**) देखकर ' (**एष वर्ण**) यह वर्ण (**जीवस्य**) जीव का है – जीवस्वामिक है – इस वर्ण का जीव के साथ सबध है ' इस-प्रकार (**जिनैः**) भगवान् जिनेंद्रदेवो के द्वारा (**व्यवहारतः**) व्यवहारनय की दृष्टि से (**उक्तः**) कहा गया है। (**एवं**) इसीप्रकार (**गन्धरसस्पर्शरूपाणि**) गध, रस, स्पर्श, रूप, (**देहः**) देह और (**संस्थानादयः**) सस्थान आदि (**ये च सर्वे**) जो सब है, वे सभी (**व्यवहारस्य**) व्यव-हारनय की दृष्टि से जीव के है ऐसा (**निश्चयद्रष्टारः**) वस्तुस्वरूप को निश्चयनय की दृष्टि से देखनेवाले ज्ञानी पुरुष (**व्यपदिशन्ति**) कहते है।

आ. ख्या.— यथा पथि प्रस्थितं कञ्चित् सार्थं मुष्यमाणं अवलोक्य तात्स्थ्यात् तदुपचारेण ' मुष्यते एष पन्थाः ' इति व्यवहारिणां व्यपदेशे अपि न निश्चयतः विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चित् अपि पन्थाः मुष्येत, तथा जीवे बन्धपर्यायेण अवस्थितकर्मणः नोकर्मणः वा वर्णं उत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात् तदुपचारेण ' जीवस्य एष वर्णः ' इति व्यवहारतः अर्हद्देवानां प्रज्ञापने अपि न निश्चयतः नित्यं एव अमूर्तस्वभावस्य उपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चित् अपि वर्णः अस्ति। एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबन्धस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानानि अपि व्यवहारतः अर्हद्देवानां प्रज्ञापने अपि निश्चयतः नित्यं एव अमूर्तस्वभावस्य उपयोगगुणेन अधिकस्य जीवस्य सर्वाणि अपि न सन्ति, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात्।

त. प्र.– यथा येन प्रकारेण पथि मार्गे प्रस्थितं गच्छन्तं कञ्चित्सार्थं वणिक्समूहम् । 'सार्थः स्याद्वणिजां वृन्दे वृन्दमात्रेऽपि दृश्यते' इति विश्वलोचने । मुष्यमाणं चौरैर्विलुण्ट्यमानमवलोक्य दृष्ट्वा तात्स्थ्यात्तत्र स्थितिमत्त्वात् । सार्थलुण्टनक्रियायास्तत्राध्वनि स्थितेस्तदुपचारेण मार्गस्य विशिष्टाकाशदेशलक्षणस्य विलुण्ट्यमानत्वासम्भवात्सारोपं मुष्यते विलुण्ट्यते एष पन्था मार्ग इति व्यवहारिणां याथार्थ्यमनवलोकयतां लोकव्यवहारयात्रानुसारिणां लौकिकानां व्यपदेशे प्रतिपादनेऽपि न निश्चयतो निश्चयनयदृष्ट्या विशिष्टाकाशदेशलक्षणो विशिष्टाकाशप्रदेशस्वरूपोऽस्ति एवम्भूतः कोऽपि पन्था अध्वा मुष्येत लुण्ट्येत मूर्तस्यैव मुष्यमाणत्वसम्भवाद्विशिष्टाकाशप्रदेशस्वरूपस्य पथश्चामूर्तत्वान्मुष्यमाणत्वासम्भवात् । तथा तेन प्रकारेण जीवे बन्धपर्यायेण बन्धपर्यायस्वरूपेणाऽवस्थितकर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्यावलोक्य तात्स्थ्याज्जीवे स्थितत्वात्तदुपचारेण सारोपं जीवस्य जीवस्वामिक एष वर्ण इति व्यवहारतो व्यवहारनयदृष्ट्याऽर्हद्देवानां केवलिनां प्रज्ञापने प्रवचनेऽपि न निश्चयतो निश्चयनयदृष्ट्या नित्यमेव सर्वकालमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्योपयोगगुणेनाधिकस्य वरीयसो जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति । यथा गच्छन्तं वणिक्समूहं मार्गे चौरैर्विलुण्ट्यमानमवलोक्य वणिक्समूहलुण्टनक्रियायास्तत्र वर्त्मनि स्थितेस्तदुपचारेण मार्गलुण्टनोपचारेण मुष्यत एष मार्ग इति व्यवहारिभिर्यद्यपि व्यपदिश्यते तथापि न तत्कथनं यथार्थं विशिष्टाकाशप्रदेशस्वरूपस्य मार्गस्यामूर्तत्वाल्लुण्टनासम्भवात्, तथा बन्धपर्यायेण जीवेऽवस्थितस्य कर्मणो नोकर्मणो वा तत्र जीवे संश्लेषसम्बन्धेन स्थितत्वात् कर्मनोकर्मभिस्तादात्म्येनावस्थितस्य वर्णादे कर्मस्वामिकत्वेऽपि व्यवहारनयदृष्ट्या न तस्य वर्णादेर्जीवस्वामिकत्व सम्भवतीति भावः । एवं गन्धादिगुणस्थानान्ता भावा व्यवहारनयदृष्ट्या जीवस्वामिका इत्यर्हद्देवानां प्रज्ञापने प्रवचनेऽपि न ते निश्चयतो निश्चयनयापेक्षया जीवस्वामिका, निश्चयनो निश्चयनयदृष्ट्या नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य सातिशयस्य जीवस्य तैस्सह तादात्म्यस्वरूपसम्बन्धाभावात् ।

टीकार्थ– जिसप्रकार मार्गपर आक्रमण करनेवाले – चलनेवाले व्यापारियों के किसी समूह को डाकुओं के द्वारा लुटा जाता हुआ देखकर लुटे जानेकी क्रिया मार्गपर होनेवाली होनेसे 'यह मार्ग लुटा जाता है' इसप्रकार उपचार से व्यवहारी जनों के द्वारा कहा जानेपर भी विशिष्टाकाशप्रदेशरूप कोई भी मार्ग निश्चयनय की दृष्टि से लुटा नहीं जा सकता उसीप्रकार बन्धपर्याय के रूप से अवस्थित कर्म या नोकर्म का वर्ण देखकर वे कर्म या नोकर्म जीवस्थित होनेसे अर्थात् उनका जीव के साथ संश्लेष हुआ होनेसे उपचार से 'यह वर्ण जीव का है – जीवस्वामिक है' ऐसा अर्हन्तों का व्यवहारनयाश्रित उपदेश – प्रवचन होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से स्वभावतः नित्य हि जो अमूर्त हि होता है और जो उपयोगगुण से अधिक अर्थात् सातिशय होता है ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नहीं होता अर्थात् कोई भी वर्ण जीवस्वामिक नहीं होता । इस प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान भी होते हैं ऐसा व्यवहारनय की दृष्टि से अर्हन्तदेवों का उपदेश होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से नित्य हि स्वभावतः अमूर्त और उपयोगगुण से सातिशय जीव के वे सभी के सभी भाव नहीं होते; क्यों कि उनमें अर्थात् जीव और उन भावों में तादात्म्यरूप संबंध का अभाव होता है ।

विवेचन– मार्गपर चलनेवाले व्यापारियों के समूह को डाकुओं के द्वारा लुटा जाता हुआ देखकर लोक 'यह मार्ग लुटा जाता है' ऐसा लौकिक व्यवहार के अनुसार कह देते हैं । लुटने की क्रिया उस मार्गपर की जानेसे

'वह मार्ग लुटा जाता है ' ऐसा कहा जाता है । वस्तुतः उस रास्तेपर चलनेवाले लोक हि लुटे जाते हैं– रास्ता नहीं । मार्ग का लुटा जाना असंभव है; क्यों कि मार्ग विशिष्ट आकाशप्रदेशरूप होता है । आकाश अमूर्त होनेसे वह कैसे लुटा जा सकता है ? अतः उस मार्गपर चलनेवाले लोक लुटे जानेसे ' मार्ग लुटा जाता है ' ऐसा उपचार से कहा जाता है, वस्तुतः नहीं । लुटे जाते है लोक और कहा जाता है ' मार्ग लुटा जाता है ' ऐसा । एक द्रव्य के आश्रय से की जानेवाली लुटने की क्रिया को आकाशप्रदेशरूप अन्य द्रव्य के ऊपर आरोपित किया जाता है । इस आरोपणक्रिया का कारण है आकाशप्रदेशरूप मार्ग के साथ लुटे जानेवाले लोकों का संबंध । उसीप्रकार अनादि से चले आये बंध के कारण जीव में कर्म और नोकर्म की अवस्थिति पायी जाती है । ये कर्म और नोकर्म पुद्गल के परिणाम होनेसे वर्णादिमान् होते है – वर्णव्यक्त होते है । कर्म का और नोकर्म का आत्मा के साथ सश्लेषसबध– –संयोगसंबंध होनेसे वर्ण कर्मनोकर्माश्रित होनेपर भी अर्थात् उनके साथ – कर्मनोकर्मों के साथ वर्ण का तादात्म्य-संबंध होनेपर भी व्यवहारनय की दृष्टि से वह आत्मा का भी बताया गया है । निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा स्वभावतः अमूर्त होती है और अन्य द्रव्यों को आत्मा से पृथक् बतानेवाला उपयोगगुण आत्मा में होता है । वर्ण तो मूर्त और उपयोगरहित द्रव्य का गुण होता है । गुण और गुणी इनमें तादात्म्यसंबध होनेसे वर्ण अपने आश्रय-भूत पुद्गलद्रव्य को छोडकर आत्मा के साथ तादात्म्यसंबध को प्राप्त नही होता । अत वर्ण आदि में से कोई भी भाव आत्मस्वामिक नहीं हो सकता । व्यवहारनय की दृष्टि से वे सभी भाव यद्यपि आत्मा के बताये गये हैं तो भी निश्चयनय की दृष्टि से वे कदापि आत्मा के नहीं हो सकते ।

' कुतः जीवस्य वर्णादिभि सह तादात्म्यलक्षण: सम्बन्ध. नास्ति ? ' इति चेत्–

' वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्यसंबंध किस कारण से नहीं होता ? ' ऐसा प्रश्न हो तो–

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥ ६१ ॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवन्ति वर्णादय. ।
संसारप्रमुक्तानां न सन्ति खलु वर्णादयः केऽपि ।। ६१ ।।

अन्वयार्थ– (**संसारस्थानां जीवानां**) संसार मे स्थित जीवो के अर्थात् ससारी जीवों के व्यवहारनय की दृष्टि मे (**तत्र भवे**) विवक्षित और अविवक्षित भवो मे अर्थात् सभी भवो मे (**वर्णादयः**) वर्णादिरूप सभी भाव होते है । (**संसारप्रमुक्तानां**) ससार से छूटे हुए जीवो के (**वर्णादयः केऽपि**) वर्णादिरूप कोई भी भाव (**खलु**) निश्चितरूप से अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से (**न सन्ति**) नही होते । अथवा निश्चयनय की दृष्टि से (**तत्थ भवे**) सभी अवस्थाओ मे (**संसारस्थानां जीवानां**) ससारी जीवो के और (**संसारप्रमुक्तानां**) ससार से छूटे हुए जीवो के (**वर्णादयः केऽपि**) वर्णादिरूप कोई भी भाव (**न सन्ति**) नही होते ।

[कहने का भाव यह है कि – ससारी जीवों के साथ कर्मों का और नोकर्मों का संयोगसबंध विद्यमान होनेसे व्यवहार नय की दृष्टि से यद्यपि वे कथंचित् जीव के भी होते है तो भी उन वर्णादिभावों का संसारावस्थ जीव के साथ तादात्म्यसंबंध न होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से किसी अवस्था में जीव के नहीं होते । यदि उन भावों का जीव के साथ तादात्म्यसंबंध होता तो जिसप्रकार वे भाव संसारावस्थ जीव के होते हैं उसीप्रकार मुक्तावस्थ जीव के भी हो जाते, क्यों कि जिसके साथ जिसका तादात्म्यसंबंध होता है उसको वह किसी भी अवस्था में नहीं छोडता । आत्मा और ज्ञानगुण इनमें तादात्म्यसबंध होनेसे ज्ञानगुण आत्मा को किसी भी अवस्था में नही छोडता;

फिर भले हि वह अन्य निमित्त से विकृत होता हो । वर्णादिगुणों का जिसप्रकार पुद्गल के साथ तादात्म्यसंबंध होता है उसीप्रकार यदि आत्मा के साथ भी होता तो मुक्तावस्था में भी वे आत्मा को साथ नहीं छोडते । जब ये वर्णादिभाव जीव की मुक्तावस्था में नहीं पाये जाते तब उनका आत्मा के साथ तादात्म्यसबध नहीं है यह बात स्पष्ट हो जाती है । जीव के साथ उनका तादात्म्यसंबंध न होनेसे जीव की ससार–अवस्था में भी वे निश्चयनय की दृष्टि से जीव के नहीं हो सकते । इस दृष्टि को सामने रखते हुए दूसरे प्रकार का अन्वयार्थ दिया गया है ।]

आ. ख्या.– यत् किल सर्वासु अपि अवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्। ततः सर्वासु अपि अवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतः वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य अभवतः च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात् । संसारावस्थायां कथञ्चित् वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतः वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य अभवतः च अपि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतः वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य अभवतः च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः न कथञ्चन अपि स्यात् ।

त. प्र.– यद्यद्वस्तु किल सर्वास्वप्यवस्थासु सर्वेष्वपि पर्यायेषु परमार्थतो यदात्मकत्वेन यत्स्वरूपकत्वेन व्याप्तमविच्छेदेन युक्तम् । नित्य युक्तमित्यर्थः । भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं तत्स्वरूपात्मकत्वव्याप्तिविकलं न भवति तस्य व्याप्यमानस्य तैर्व्यापकैः स्वरूपैर्धर्मैस्सह साकं तादात्म्यलक्षणो भेदाभेदलक्षणतादात्म्यस्वरूपः सम्बन्धः स्याद्भवति । मृद्द्रव्यं स्वीयेषु सर्वपर्यायेषु पार्थिवत्वव्याप्तत्वाच्चेतनत्वमूर्तिमत्त्वादिभिर्धर्मैर्व्याप्तं भवति तत्पार्थिवत्वादिधर्मशून्यं न भवति । ततस्तस्य मृद्द्रव्यस्य तैः पार्थिवत्वादिधर्मैस्तादात्म्यलक्षणस्सम्बन्धो भवति । ततस्तस्मात्कारणात् सर्वास्वप्यवस्थासु सर्वेष्वपि पर्यायेषु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य वर्णादिधर्मत्वेन व्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य वर्णादिधर्मत्वव्याप्तिविकलस्याऽभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिस्सह तादात्म्यलक्षणो भेदाभेदात्मकतादात्म्यस्वरूपः सम्बन्धः स्याद्भवति । संसारावस्थायां कथञ्चिद्व्यवहारनयापेक्षया वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य वर्णादिधर्मत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य वर्णादिधर्मत्वव्याप्तिविकलस्याभवतश्च मोक्षावस्थायामपवर्गावस्थायां सर्वथा सर्वप्रकारेण वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य वर्णादिधर्मत्वव्याप्तिविकलस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य वर्णादिधर्मत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्यात्मनो वर्णादिभिर्वर्णादिधर्मैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथञ्चनापि व्यवहारनिश्चयनयद्वयापेक्षयाऽपि स्याद्भवति । यद्यद्वर्णाद्यात्मकं तत्तत्पुद्गलस्वरूपं, वर्णाद्यात्मकत्वाभावे पुद्गलत्वाभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिसिद्धिः ।

टीकार्थ– जो वस्तु परमार्थतः उसकी सभी अवस्थाओं में अर्थात् पर्यायों में जिस स्वरूप से युक्तपने से व्याप्त होती है अर्थात् जिन स्वरूपभूत धर्मों से अविच्छिन्नरूप से युक्त होती है और उस स्वरूप से अर्थात् उन धर्मों से युक्तपने की व्याप्ति से शून्य नहीं होती (अन्वयव्यतिरेक) अर्थात् किसी भी काल में और किसी भी अवस्था में–पर्याय में उन स्वरूपभूत धर्मों से रिक्त– रहित नहीं होती उस वस्तु का उन स्वभावभूतधर्मों के साथ तादात्म्यरूप संबंध होता है । उसीकारण सभी की सभी अवस्थाओं में वर्णादिरूप धर्मों से युक्तपने से व्याप्त अर्थात् अविच्छिन्नरूप से – अखंडितरूप से युक्त होनेवाले और वर्णादिरूप धर्मों की व्याप्ति से रिक्त अर्थात् इन धर्मों से अविच्छिन्नरूप से रिक्त न होनेवाले पुद्गल का वर्णादिकों के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध होता है । संसार की अवस्था

में कथंचित् अर्थात् अनादि से कर्मनोकर्मयुक्त होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से वर्णादिस्वरूप धर्मों से अविच्छिन्न-परंपरा से युक्त होनेवाले और वर्णादिरूप धर्मों की व्याप्ति से अर्थात् उन धर्मों से अविच्छिन्नरूप से युक्तपनेसे रहित होनेवाले और वर्णादिरूपधर्मों से अविच्छिन्नरूप से युक्त न होनेवाले जीव का वर्णादिकों के साथ किसी भी प्रकार से तादात्म्यस्वरूप संबंध नहीं होता ।

विवेचन– जो पदार्थ अपनी सभी की सभी अवस्थाओं में जिन धर्मों से अविच्छिन्नरूप से युक्त होता है और उन धर्मों से रहित कदापि नहीं होता उस पदार्थ का स्वधर्मों के साथ तादात्म्यसंबंध होता है । पुद्गलद्रव्य अपनी सभी की सभी अवस्थाओं में-पर्यायो में अविच्छिन्नरूप से वर्णादिधर्मों से युक्त होता है और उनसे रिक्त कदापि नहीं होता । अतः वर्णादिधर्मों के साथ पुद्गलद्रव्य का तादात्म्यसबंध होता है । ससारी जीव कर्मनोकर्मरूप पुद्गलों से अनादिकाल से बद्ध हुआ होनेसे ससाररूप नरनारकादिरूप सभी पर्यायों मे यद्यपि वर्णादिधर्मों से युक्त दिखाई देता है और उनसे रिक्त कदापि दिखाई नहीं देता है तो भी मोक्ष की अवस्था में या मुक्तपर्याय में जीव सभी प्रकारों से वर्णादिधर्मों से रहित होता है–उन धर्मों से युक्त कदापि नहीं होता । अतः किसी भी प्रकार से अर्थात् सद्भूतव्यवहारनय और निश्चयनय इन दोनो की दृष्टि से जीव का वर्णादिधर्मों के साथ तादात्म्यसंबंध नहीं होता । कहनेका भाव यह है कि जीव का वर्णादिधर्मों के साथ अन्वयव्यतिरेक न होनेसे उनके साथ तादात्म्यसबंध का अभाव होता है ।

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम्–

'जीव का वर्णादिधर्मों के साथ तादात्म्यसंबंध होता हि है' इसप्रकार कदाग्रह करनेपर यह दोष आता है–

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥ ६२ ॥

जीवश्चैव हि एते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।
जीवस्याऽजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कोऽपि ॥६२॥

अन्वयार्थ– **(यदि)** यदि **(एते सर्वे भावाः)** ये वर्णादिक सभी भाव **(जीवः एव हि)** परमार्थतः जीव हि है-जीवरूप हि है **(इति हि मन्यसे)** एसा तुम परमार्थतः मानते हो तो **(ते)** तुम्हारे मत मे **(जीवस्य अजीवस्य च)** जीव और अजीव में **(कः अपि)** कोई भी **(विशेषः)** भेद **(नास्ति हि)** रहता हि नही ।

[कहनेका भाव यह है कि– वर्णादिरूप सभी भावों का जीव के साथ तादात्म्य बताकर उनको जीवरूप माननेसे उन भावों का पुद्गल के साथ तादात्म्य होनेसे वे पुद्गलरूप होनेके कारण जीव और अजीव अर्थात् पुद्गल समान बन जाते हैं अर्थात् जीव भी पुद्गलरूप बन जाता है । जिन पदार्थों के असाधारण धर्म समान होते हैं वे पदार्थ एकजातीय हो जाते हैं–उनमें जाति की अपेक्षा से भेद नहीं रहता । यदि जीव और अजीव के धर्म वर्णादिरूप माने गये तो जीव और अजीव में होनेवाला भेद नष्ट हो जायगा और वे दोनों पदार्थ एकजातीय हो जायेंगे । अतः जीव का वर्णादिधर्मों के साथ तादात्म्यसंबंध होता हि है इसप्रकार नहीं कहना चाहिये ।]

आ. ख्या.:– 'यथा वर्णादयः भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिः ताभिः ताभिः व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यं अनुगच्छन्तः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्ति, तथा

वर्णादयः भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिः ताभिः ताभिः व्यक्तिभिः जीवं अनुगच्छन्तः जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्ति ' इति यस्य अभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्या-साधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणात् जीवपुद्गलयोः अवि-शेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यः भिन्नस्य जीवद्रव्यस्य अभावात् भवति एव जीवाभावः ।

त. प्र.– यथा येन प्रकारेण वर्णादयो भावाः क्रमाक्रमभाविनः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिः कृतोत्पत्तिविनाशाभि । भावितौ कृतावाविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिविनाशौ यासां ताः। ताभिः। व्यक्तिभिः पर्यायैः। परिणामैरित्यर्थः। सहार्थेऽत्र भा। परिणामैः सहेत्यर्थः। पुद्गलद्रव्यमनुगच्छन्तोऽन्वयिनः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं वर्णादिभावैर्भेदाभेदस्वरूप तादात्म्य प्रथयन्ति प्रकटीकुर्वन्ति । वर्णादयोऽक्रम-भाविनः परिणामाः क्रमभाविनो नैमित्तिकपरिणामाश्च पुद्गलद्रव्यमनुसरन्त इत्यर्थः । पुद्गलद्रव्यस्य वर्णादयो धर्माः तत्परिणामात्मकानि द्रव्यकर्माणि कर्मोदयादिजनितपरिणामाश्च जीवतादात्म्याभावापे-क्षया पुद्गलेन तुल्या इति भावः। एतदेव वर्णादीनां पुद्गलद्रव्यानुगमनमित्यवसेयम् । तथा तेन प्रकारेण वर्णादयो भावाः क्रमाक्रमवर्तिनः परिणामाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिः कृतोत्पत्तिविनाशा-भिस्ताभिस्ताभिः सर्वाभिर्व्यक्तिभिः परिणामैर्जीवमनुगच्छन्तोऽन्वयिनो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं वर्णादिभिः कथञ्चिदभेद प्रथयन्ति प्रकटीकुर्वन्तीत्येवंप्रकारो यस्याभिनिवेशः कदाग्रहस्तस्याशेषद्रव्या-साधारणस्य पुद्गलद्रव्यव्यतिरिक्तावशिष्टजीवाकाशादिद्रव्याश्रयत्वेनानुपलभ्यमानत्वादसाधारणस्य वर्णा-द्यात्मकत्वस्य वर्णादिधर्मस्वरूपवत्त्वस्य पुद्गललक्षणस्य पुद्गलस्वरूपस्य जीवेन स्वीकरणादस्वस्य स्वत्वेन करणात् । न स्वमस्वम् । अस्वं स्व सम्पद्यमानं करोतीति स्वीकरोति। स्वीकृतिः स्वीकरणम् । जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तावभेदे प्रसक्ते सति पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य स्वभावभेदेन पुद्गलद्रव्याद्भिन्नद्रव्य-रूपस्य जीवद्रव्यस्याभावापत्तेर्भवत्येव जीवाभावः ।

टीकार्थ– जिसप्रकार जिनकी उत्पत्ति और विनाश क्रम से किये जाते है ऐसी पर्यायो के साथ पुद्गलद्रव्य का अनुसरण करनेवाले (क्रमाक्रमभावि) वर्णादिरूप परिणाम पुद्गलद्रव्य का वर्णादिधर्मों के साथ होनेवाले तादात्म्य को प्रकट करते है उसीप्रकार जिनकी उत्पत्ति और विनाश क्रम से किये गये होते है ऐसी सभी (क्रमभावी) पर्यायों के साथ जीवद्रव्य का अनुसरण करनेवाले वर्णादिरूप परिणाम जीवद्रव्य का वर्णादिधर्मों के साथ होनेवाले तादात्म्य को प्रकट करते हैं ऐसा जिसका कदाग्रह होता है उसके कदाग्रह के अनुसार अवशिष्ट द्रव्यों मे पाये न जानेके कारण असाधारण बने हुए पुद्गल के स्वभावभूत वर्णाद्यात्मकत्व को जीव के द्वारा स्वीकार किया जानेसे जीव और पुद्गल का अभेद–एकरूपत्व–एकजातीयद्रव्यत्व सिद्ध हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेपर पुद्गलो से भिन्न जीवद्रव्य का अभाव हो जानेसे जीवद्रव्य का अभाव होता हि है ।

विवेचन– ' जिसप्रकार वर्णादिरूप अक्रमभाविपरिणाम और क्रम से उत्पन्न होकर विनष्ट होनेवाले क्रमभा-विपरिणाम यथाक्रम अपने आश्रयभूत और उपादानकारणभूत पुद्गलद्रव्य को कदापि छोडनेवाले न होनेसे अर्थात् अविच्छिन्नरूप से पुद्गलद्रव्य के साथ रहनेवाले होनेसे पुद्गल के वर्णादि के साथ तादात्म्य की सिद्धि करते है; उसीप्रकार वर्णादिरूप अक्रमभाविपरिणाम और जिनकी उत्पत्ति और विनाश क्रम से होते है ऐसे क्रमभाविपरिणाम अपने आश्रयभूत जीवद्रव्य को कदापि छोडनेवाले न होनेसे अर्थात अविच्छिन्नरूप से जीवद्रव्य के साथ रहनेवाले होनेसे जीवद्रव्य के साथ तादात्म्यसबंध की सिद्धि करते हैं ' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि शेष द्रव्यों में पाया न जानेसे असाधारण बना हुआ पुद्गलस्वरूपभूत वर्णादिधर्मात्मकत्व जिसप्रकार पुद्गल के उन धर्मों के साथ तादात्म्य की सिद्धि करता है उसीप्रकार जीव के उन धर्मों के साथ तादात्म्य की सिद्धि कर देगा। जीव के साथ वर्णादिधर्मों

के तादात्म्य की सिद्धि हो जानेसे जीव पुद्गलस्वरूप बन जायगा और उसकी पुद्गल के रूप से परिणति हो जानेपर जीवद्रव्य का अभाव हो जायगा। परमार्थतः वर्णादिपरिणामों का, रागद्वेषादिरूप विभावभावों का और द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणामों का जीव की मुक्तावस्था में सद्भाव पाया न जानेसे इनका जीवद्रव्य के साथ तादात्म्यसंबंध सिद्ध नहीं होता। इन परिणामों के साथ जीवद्रव्य के तादात्म्यसबध की सिद्धि न होनेके कारण और जीवद्रव्य का स्वभावभूत भाव इन भावो से भिन्न होनेके कारण जीव की स्वतन्त्रद्रव्यरूप से सिद्धि हो जाती है। अतः जीवद्रव्य का अभाव नहीं हो सकता। जीवद्रव्य की पुद्गलद्रव्य से भिन्नता की सिद्धि हो जानेसे वर्णादिधर्मों के साथ जीव के तादात्म्य की सिद्धि नहीं होती।

'संसारावस्थायां एव जीवस्य वर्णादितादात्म्यम्' इति अभिनिवेशे अपि अयमेव दोषः—

'संसार की अवस्था मे हि जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य होता है' ऐसा आग्रह होनेपर भी यही दोष आता है—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥ ६३ ॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तुह लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥ ६४ ॥

अथ संसारावस्थानां जीवानां तव भवन्ति वर्णादयः।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥ ६३ ॥
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तव लक्षणेन मूढमते।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ— (**अथ**) यदि (**तव**) तुम्हारे मत मे (**वर्णादयः**) वर्णादिरूप पूर्वोक्त भाव (**संसारास्थानां जीवानां**) ससार की अवस्थावाले जीवो के है अर्थात् यदि ससारी जीवो का वर्णादिरूप परिणामो के साथ तादात्म्यसबध है (**तस्मात्**) तो (**संसारावस्थाः**) संसारी अवस्था से युक्त (**जीवाः**) जीव (**रूपित्वं आपन्नाः**) रूपित्व को अर्थात् पुद्गलत्व को प्राप्त हो जावेग। (**एवं**) इसप्रकार (**मूढमते!**) अरे पागल! (**तव लक्षणेन**) तुम्हारे लक्षण से—लक्षण के अनुसार अर्थात् जो वर्णादिधर्मों से युक्त होते है वे ससारिजीवद्रव्यरूप होते है इस तुम्हारे द्वारा बताये गये ससारि-जीव के स्वरूप से (**पुद्गलद्रव्यं**) पुद्गलद्रव्य (**जीवः**) जीव हो जायगा। जीव की ससार—अवस्था मे पुद्गलद्रव्यस्वरूपता की सिद्धि हो जानेसे (**निर्वाणं उपगतः अपि च**) जीव के निर्वाण अवस्था की प्राप्ति होनपर भी (**पुद्गलः**) पुद्गल (**जीवत्वं**) जीवस्वरूपता को (**प्राप्तः**) प्राप्त होगा।

[कहनेका भाव यह है कि—वर्णादिभावो के साथ ससारी जीव का तादात्म्य हुआ तो जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य में भेद न रहनेसे जीव पुद्गलरूप बन जावेंगे और जीव की पुद्गलरूपता की सिद्धि हो जानेपर जीव की मुक्तावस्था की अभिव्यक्ति होनेपर भी जीव पुद्गलरूप हि बना रहेगा। अतः किसी भी अवस्था में जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्य को स्वीकार नही किया जा सकता।]

आ. ख्या.:– यस्य तु 'संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यं अस्ति ' इति अभिनिवेशः, तस्य तदानीं स जीवः रूपित्वं अवश्यं अवाप्नोति । रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद् द्रव्यस्य लक्षणं अस्ति । ततः रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत् किञ्चित् भवति स जीवः भवति । रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्‌गलद्रव्यं एव भवति । एवं पुद्‌गलद्रव्यं एव स्वयं जीवः भवति, न पुनः इतरः कतरः अपि । तथा च सति मोक्षावस्थायां अपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वासु अपि अवस्थासु अनपायित्वात् अनादिनिधनत्वेन पुद्‌गलद्रव्यं एव स्वयं जीवः भवति, न पुनः इतरः कतरः अपि । तथा च सति तस्य अपि पुद्‌गलेभ्यः भिन्नस्य जीवद्रव्यस्य अभावात् भवति एव जीवाभावः । एवं एतत् स्थितं यत् ' वर्णादयः भावाः न जीवः ' इति ।

त. प्र.– यस्य तु यस्यैव संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यं वर्णादिपरिणामैरभेदोऽस्ति तस्य तदानीं संसारावस्थायां स जीवो रूपित्वं पुद्‌गलत्वमवश्यमवाप्नोति । अत्र रूपित्वमितिपदेन पुद्‌गलत्वस्य ग्रहणं कर्तव्यं 'रूपिणः पुद्‌गलाः' इति महाशास्त्रतत्त्वार्थसूत्रकारवचनात् । रूपित्वं रूपवत्त्वम् । रूपं नित्यं तादात्म्यसम्बन्धवत्त्वादस्यास्तीति रूपी । अत्र नित्ययोगे मत्वर्थीय इनि. । रूपशब्देन स्पर्शरसगन्धवर्णानां ग्रहणं, तेषां रूपेणाविनाभावत्तदन्तःपातित्वात् । तेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्त्वमित्यर्थः । शेषद्रव्यासाधारणं रूपिद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यान्तराश्रयत्वेनानुपलभ्यमानत्वादसाधारण कस्यचिद्द्रव्यस्य द्रव्यविशेषस्य लक्षणं स्वरूपमस्ति । ततस्तस्मात्कारणाद्रूपित्वेन रूपवत्त्वेन लक्ष्यमाण विज्ञायमानं यत् किञ्चिद्द्रव्यं भवति स जीवो भवति । रूपित्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्त्वेन लक्ष्यमाणं विज्ञायमानं पुद्‌गलद्रव्यमेव भवति । एवममुना प्रकारेण पुद्‌गलद्रव्यमेव स्वयमात्मना जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि न पुनरितर पुद्‌गलद्रव्याद्भिन्नः कतरोऽपि कोऽपि पदार्थो जीवो भवति । तथा च सति पुद्‌गलद्रव्यस्यैव जीवत्वे सति मोक्षावस्थायामपि जीवस्य संसारावस्थाव्यतिरिक्तायामपवर्गावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्याविनश्वरस्वीयासाधारणस्वरूपेण लक्षितस्य विज्ञातस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थासु निखिलेषु स्वपरिणामेष्वनपायित्वादपायरहितत्वात् । अविनश्वरत्वाद्विनाशरहितत्वादित्यर्थः । अनादिनिधनत्वेनाद्यन्तरहितत्वेन पुद्‌गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि । तथा च सति मोक्षावस्थायामपि पुद्‌गलद्रव्यस्यैव स्वयं जीवत्वे सति तस्याऽपि तादृग्विधस्य मुक्तावस्थायामपि पुद्‌गलद्रव्येभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येवाभावः । सर्वास्वप्यवस्थासु पुद्‌गलद्रव्यस्यैव स्वयं जीवत्वाज्जीवस्य पुद्‌गलद्रव्यत्वापत्तेः पुद्‌गलद्रव्यात्स्वभावमेवाभावात्स्वतन्त्रजीवद्रव्यस्यानुपलब्धिप्रसङ्गाज्जीवद्रव्यस्याभावो भवत्येव । एवममुना प्रकारेण पुद्‌गलद्रव्यस्यैव स्वयं जीवत्वात्स्वतन्त्रजीवद्रव्याभावापत्तेरेतत्स्थितं सिद्धं यद्वर्णादयो भावा न जीवा इति । अयमत्र भावार्थः–संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादिभावैस्तादात्म्ये प्रसाधिते पुद्‌गलद्रव्यस्यैव स्वयं जीवत्वे सिद्धे मोक्षावस्थायामपि स्वयं पुद्‌गलद्रव्यस्यैव जीवत्वसिद्धिप्रसङ्गादुपयोगलक्षणस्वतन्त्रजीवद्रव्याभावापत्तेर्न संसारावस्थायामपि जीवस्य वर्णादिभावैस्तादात्म्यं सिध्यतीति ।

टीकार्थ– जिसका 'संसार–अवस्था में जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्य होता है ' ऐसा दुरभिनिवेश –कदाग्रह होता है उसीके अभिनिवेश के अनुसार संसार–अवस्था के समय में वह जीव रूपित्व को–पुद्‌गलत्व को

अवश्यमेव प्राप्त हो जाता है । स्वाश्रयभूत द्रव्य को छोडकर अन्यद्रव्यों में पाया न जानेसे असाधारण बना हुआ यह रूपित्वधर्म किसी न किसी द्रव्य का लक्षण–स्वरूप होता है । उसकारण रूपित्वधर्म के द्वारा जो कुछ जाना जानेवाला होता है वह पुद्‌गलद्रव्य हि होता है । इसप्रकार अर्थात् रूपित्वधर्म के द्वारा जाना जानेवाला पुद्‌गलद्रव्य हि होनेसे स्वयं पुद्‌गलद्रव्य हि जीव होता है, दूसरा कौनसा भी पदार्थ जीव नहीं होता । ऐसा होनेपर अर्थात् स्वयं पुद्‌गलद्रव्य हि जीव होनेपर (जीव की) मोक्षरूप अवस्था में भी अविनश्वर ऐसे अपने असाधारणस्वरूप से विशिष्ट-युक्त द्रव्य की सभी की सभी अवस्थाओं में नाशरहित होनेसे आदि–अन्तरहित होनेके कारण स्वयं पुद्‌गलद्रव्य हि जीव होता है; दूसरा कौनसा भी पदार्थ जीव नहीं होता । ऐसा होनेपर अर्थात् मोक्ष की अवस्था में भी स्वयं पुद्‌गलद्रव्य हि जीव होनेसे पुद्‌गलद्रव्यों से भिन्न उस मुक्तावस्थ जीवद्रव्य का अभाव होनेसे जीवद्रव्य का (सर्वथा) अभाव हि होता है । इसप्रकार वर्णादिकभाव जीव नहीं है यह सिद्ध हो जाता है ।

विवेचन– अनादिकाल से चली आयी बंधपर्यायों की अविच्छिन्न परंपरा से जीव का वर्णादिभावों के साथ परमार्थतः तादात्म्यसंबंध न होनेपर भी संश्लेषसंबंध तादात्म्यसंबंधसदृश दिखाई देता है । संसार–अवस्था में जीव के साथ होनेवाला संश्लेषसंबंध तादात्म्यसंबंधसदृश दिखाई देनेसे 'संसार अवस्था में जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यसंबंध होता है' इसप्रकार जिसका विश्वास दृढ बना हुआ होता है उसके विश्वास के अनुसार विचार किया जानेपर संसार–अवस्था में जीव अवश्यमेव रूपी अर्थात् पुद्‌गलद्रव्यरूप बन जाता है । रूपित्वधर्म जिस पदार्थ का आश्रय लेकर रहता है उस द्रव्य से भिन्न अन्य द्रव्यों में पाया नहीं जायगा और अन्यद्रव्यों में पाया न जानेसे वह असाधारण बन जायगा । ऐसा अन्यद्रव्यों में पाया न जानेसे असाधारण बना हुआ यह रूपित्वधर्म किसी विशिष्ट द्रव्य का लक्षण-स्वरूप है । वर्णादिभावों के साथ जीव का तादात्म्यसंबंध होता है ऐसा माननेसे रूपित्वधर्म के द्वारा जाना जानेवाला जो कुछ होता है वह जीव है यह बात स्पष्ट हो जाती है । जीव का और पुद्‌गल का असाधारण बना हुआ रूपित्वधर्म से भेद न होनेसे जीव और पुद्‌गल में होनेवाला भेद भी नष्ट हो जायगा । इस भेद के नष्ट हो जानेपर रूपित्वधर्म के द्वारा जाना जानेवाला पदार्थ पुद्‌गलद्रव्य हि होगा । जीवद्रव्य भी रूपित्वधर्म के द्वारा जाना जायगा जिससे स्वयं पुद्‌गलद्रव्य हि जीव, दूसरा पदार्थ जीव नहीं होगा क्योंकि उस दूसरे पदार्थ का रूपित्व असाधारणधर्म नहीं है । स्वयं पुद्‌गलद्रव्य हि जीव हो जानेसे जीव की मोक्षावस्था में भी अविनश्वर ऐसे रूपित्वरूप अपने असाधारणस्वरूप से युक्त अर्थात् जीव के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ द्रव्य की सभी अवस्थाओं में नाशरहित होनेसे अनाद्यनन्त होनेके कारण स्वयं पुद्‌गलद्रव्य हि जीवद्रव्य है–दूसरा कौनसा भी पदार्थ जीव नहीं होता; क्योंकि दूसरा कौनसा भी पदार्थ रूपित्वधर्म के साथ तादात्म्यसंबंध को प्राप्त हुआ नहीं होता । मुक्तावस्था में भी स्वयं पुद्‌गलद्रव्य हि जीव होनेसे पुद्‌गलद्रव्यों से भिन्न वसावाले मुक्तावस्थ जीवद्रव्य का अभाव होनेसे जीवद्रव्य का सर्वथा अभाव होता हि है । इसप्रकार वर्णादिभावों के साथ जीव का तादात्म्य न होनेसे वर्णादिकभाव जीव नहीं है यह मन्तव्य सिद्ध हो जाता है । सारांश, संसार–अवस्था में जीव की पुद्‌गलरूपता सिद्ध हो जानेसे मुक्तावस्था में भी उसकी पुद्‌गलरूपता की सिद्धि हो जायगी, स्वतन्त्र जीवद्रव्य का अभाव हो जायगा और संसार जीवद्रव्य से शून्य बन जायगा ।

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा ।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ६५ ॥
एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमयीहिं, ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥ ६६ ॥

एकं च द्वे त्रीणि च चत्वारि च पञ्चेन्द्रियाणि जीवाः ।

बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥ ६५ ॥

एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः ।

प्रकृतिभिः पुद्‌गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ— [**एकं द्वे च त्रीणि चत्वारि च पञ्च च इन्द्रियाणि (येषां ते)**] एक, दो, तीन, चार और पांच इंद्रियां जिनकी होती हैं ऐसे (**बादरपर्याप्तेतराः**) बादर, पर्याप्त, सूक्ष्म और अपर्याप्त (**जीवाः**) जीव अर्थात् बादर-एकेंद्रिय और सूक्ष्म एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, असंज्ञिपंचेंद्रिय और संज्ञिपंचेंद्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त ये सब (**नामकर्मणः**) नामकर्म की (**प्रकृतयः**) प्रकृतियां हैं। (**एताभिः च**) और इन (**पुद्‌गलमयीभिः**) पुद्‌गल की परिणामभूत अर्थात् पुद्‌गलोपादानक परिणामभूत (**करणभूताभिः**) जीवस्थानों की उपादानकारणभूत (**ताभिः**) उन (**प्रकृतिभिः**) नामकर्म की प्रकृतियों से (**निर्वृत्तानि**) उत्पन्न हुए (**जीवस्थानानि**) जीवस्थान (**जीवः**) जीवरूप हैं ऐसा (**कथं**) कैसे (**भण्यते**) कहा जाता है ?

[कहनेका भाव यह है कि— जब एकेंद्रियद्वींद्रियादिशरीरादिरूप जीवस्थानों की उत्पत्ति उपादानकारणभूत नामकर्म की प्रकृति से होती है और नामकर्म की प्रकृतियां जब पुद्‌गलोपादानक परिणामरूप हैं तब जीवस्थान भी पुद्‌गलरूप होनेसे जीवरूप नहीं हो सकते ।]

आ. ख्या.:— निश्चयतः कर्मकरणयोः अभिन्नत्वात् यत् तेन क्रियते तत् तदेव इति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव, न तु अन्यत्, तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्‌गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्‌गलः एव, न तु जीवः । नामकर्मप्रकृतीनां पुद्‌गलमयत्वं च आगमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्तकार्यानुमेयं च । एवं गन्धरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्‌गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकात् जीवस्थानैः एव उक्तानि । ततः 'न वर्णादयः जीवः' इति निश्चयसिद्धान्तः ।

त. प्र.— निश्चयतो निश्चयनयापेक्षया कर्मकरणयोरुपादानकारणतत्परिणामयोरभिन्नत्वादेकद्रव्यत्वाद्यत्कर्मभूतं परिणामरूपं कार्यं येनोपादानकारणेन करणभूतेन क्रियते उत्पाद्यते तत्कर्म तदेवोपादानकारणरूपमेवेति कृत्वा यथा येन प्रकारेण कनकपत्रं सुवर्णपत्रं कनकेनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणमुत्पाद्यमानं कनकमेव सुवर्णरूपमेव न त्वन्यदन्यद्रव्यरूपं तथा तेन प्रकारेण जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्‌गलमयीभिः पुद्‌गलोपादानकत्वात्पुद्‌गलपरिणामस्वरूपाभिर्नामकर्मप्रकृतिभि क्रियमाणान्युत्पाद्यमानानि पुद्‌गल एव, न तु जीवः । नामकर्मप्रकृतीनां पुद्‌गलमयत्वं पुद्‌गलोपादानकपरिणामत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिकार्यानुमेयं च 'कार्याल्लिङ्गात्स्वयमधिगतात्कारणस्यानुमानं' इत्युक्त्यनुसारेणेन्द्रियप्रत्यक्षगम्यशरीरादिमूर्तपरिणामलिङ्गानुमेयेन च । एवं गन्धरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्‌गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे पुद्‌गलोपादानकपरिणामस्वरूपनामकर्मप्रकृतेः निर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकात्पुद्‌गलपरिणामात्मकनामकर्मप्रकृत्यभेदाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि । ततस्तस्मात्कारणान्न वर्णादयो जीव इति निश्चयनयसिद्धः सिद्धान्तः ।

टीकार्थ— निश्चयनय की दृष्टि से (एक हि द्रव्य षट्कारकी के रूप से परिणत होनेवाला होनेसे) कर्म अर्थात् परिणाम–उपादेय और करण अर्थात् उपादानकारण इनमें भेद न होनेसे जो कर्म अर्थात् परिणाम जिस उपादानकारण के द्वारा किया जाता है वह कर्म-परिणाम उसरूप हि अर्थात् उपादानकारणरूप हि होता है। इस कारण जिसप्रकार करणभूत–उपादानकारणभूत कनक के द्वारा बनाया जानेवाला कर्मभूत–परिणामभूत–उपादेयभूत कनकपत्र–सुवर्णपत्र सुवर्णहि होता है–अन्यद्रव्यरूप–मृत्तिकादिरूप नहीं होता। उसीप्रकार बादर, सूक्ष्म, एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त इन संज्ञाओं को धारण करनेवाली पुद्गल के परिणामरूप करणभूत अर्थात् उपादानकारणभूत नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा किया जानेवाला अर्थात उत्पाद्यमान जीवस्थान पुद्गल हि हैं–जीव है हि नहीं। नामकर्म की प्रकृतियों का पुद्गल के परिणामरूप होना तो आगमप्रमाण से सिद्ध है और इंद्रियों को प्रत्यक्षतः दिखाई देनेवाले शरीरादिरूप मूर्त कार्यरूप हेतु के बलपर अनुमानप्रमाण के द्वारा जाना जा सकता है। उसप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलपरिणामभूत नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा उत्पादित किये गये होनेपर पुद्गल से अभिन्न होनेसे जीवस्थानों के कथन से इनका कथन हो गया है। उसकारण वर्णादिभाव जीव के नहीं हैं ऐसा निश्चयनय की दृष्टि से सिद्ध हुआ सिद्धान्त है।

विवेचन— निश्चयषट्कारकी और व्यवहारषट्कारकी के भेद से षट्कारकी के दो भेद है। निश्चयषट्कारकी एकद्रव्यविषयक और व्यवहारषट्कारकी अनेकद्रव्यविषयक होती है। निश्चयषट्कारकी की सिद्धि एकद्रव्यपर्यायाश्रित होनेसे सद्भूतव्यवहारनय का या पर्यायार्थिकनय का अवलंब लेकर की जाती है तो व्यवहारषट्कारकी अनेकद्रव्यों की पर्यायो के आश्रय से होनेवाली होनेसे असद्भूतव्यवहारनय का अवलंब लेकर की जाती है। निश्चयषट्कारकी एकद्रव्यपर्यायाश्रित होनेसे एक हि द्रव्य की कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण ये जो अवस्थाएं होती हैं वे सर्वथा अन्योन्यभिन्न नहीं होती अर्थात् इन सभी अवस्थाओं में द्रव्य निश्चयनय की दृष्टि से एकरूप–अखण्ड हि बना रहता है। व्यवहारषट्कारकी अनेक द्रव्यों की पर्यायो के आश्रय से होनेवाली होनेसे कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण ये अन्योन्यभिन्न होते है। घट का (निमित्त) कर्ता कुम्हार घट द्रव्य से और घट कुम्हार से भिन्न होता है; क्यों कि कुम्हार का घट में स्वस्वरूप से अन्वय नहीं होता। दण्डचक्रादि कुम्हार और घट से भिन्न होते है। घट जिसको दिया जाता है वह कर्ता, कर्म और करण इनसे भिन्न होता है। जिस व्यक्ति से लेकर घट दूसरे को दिया जाता है वह अपादानसंज्ञक व्यक्ति कर्ता, कर्म, करण और सम्प्रदान इनसे भिन्न होता है। जिस स्थानपर घट स्थापित किया जाता है वह आकाशप्रदेशात्मकस्थान अन्य पांच कारकों से भिन्न होता है। इसप्रकार कर्तृकर्मादि अन्योन्यभिन्न होनेपर भी उनकी कर्तृकर्मादिव्यवस्था उपचरित होती है, क्यों कि वास्तव षट्कारकी एकद्रव्याश्रित हि हुआ करती है। निश्चयषट्कारकी सद्भूतव्यवहारनयावलंबिनी होनेपर भी एकद्रव्याश्रित होनेसे उपचरित नहीं है–वास्तव है। निश्चयषट्कारकी एकद्रव्यपर्यायाश्रित होनेसे शुद्ध आत्मा निश्चयषट्कारव्यतीत होती है। जो सुवर्ण अलंकार के रूप से परिणत होनेकी किया का आश्रय होता है वह कर्ता–उपादानकर्ता होता है। सुवर्णालंकार सुवर्ण की पर्याय–परिणाम–कार्य–उपादेय होनेसे, सुवर्ण का उसमें स्वरूप से अन्वय होनेसे और उपादानभूत सुवर्ण का और उसके परिणामभूत अलंकार का परिमाण समान होनेसे अलंकार सुवर्ण का कर्म है। सुवर्ण और अलंकार में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद होता है। पर्याय अपनी उपादान की जाति को छोडती नहीं। इसलिये पर्याय और पर्यायी इनकी एकद्रव्यता बनी रहती है। अतः सुवर्णरूप कर्ता और अलंकाररूप कर्म इनमें अभेद होता है–सर्वथा भिन्नता नहीं होती। उपादानकारणभूत या उपादानकर्तृभूत सुवर्ण के तपाये जानेपर अलंकाररूप से परिणत होनेकी उसकी योग्यता–शक्ति आविर्भूत होती है। अभितप्तावस्थारूप सुवर्ण अलंकार का करण–साधन बनता है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ सुवर्ण उपादानकर्तृभूत सुवर्ण से सर्वथा भिन्न नहीं होता; क्यों कि वह अवस्था सुवर्ण की पर्यायरूप होनेसे और पर्याय पर्यायी से अभिन्न होनेसे, कर्ता और करण में सर्वथा भेद नहीं हो सकता। कर्ता और कर्म इनमें भेद न होनेसे और कर्ता और करण इनमें भी भेद न होनेसे अभितप्तसुवर्णरूप करण और अलंकाररूप कर्म इनमें भी भेद नहीं होता; क्यों कि कर्मावस्थारूप अलंकार में और करणरूप अभितप्तावस्थ

सुवर्ण में उपादानभूत सुवर्ण का स्वस्वरूप से अन्वय पाया जाता है । सारांश, निश्चयनय की दृष्टि से कर्म और करण में भेद न होनेसे जो कार्य–परिणाम जिन द्रव्यो से किया जाता है वह कार्य उस द्रव्यरूप हि होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है । जो कार्य जिस द्रव्य से किया जाता है वह कार्य उस द्रव्यरूप हि होनेसे कनकपत्ररूप कार्य–परिणाम–उपादेय–कर्म जिस सुवर्णरूप करण से किया जाता है वह कनकपत्ररूप कार्य कनकरूप हि होता है । यदि ऐसा न होता तो सुवर्ण से बनाया जानेवाला कनकपत्र कनकपत्र नहीं हो सकता–वह आयसपत्र भी होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता । अतः कनक से बनाया जानेवाला कनकपत्र जिसप्रकार कनक हि होता है अन्यरूप नहीं होता, उसीप्रकार एकेंद्रियबादरपर्याप्त एकेंद्रियबादर–अपर्याप्त, एकेंद्रियसूक्ष्मपर्याप्त, एकेंद्रियसूक्ष्म–अपर्याप्त, द्वींद्रियपर्याप्त, द्वींद्रिय–अपर्याप्त, त्रींद्रियपर्याप्त, त्रींद्रिय–अपर्याप्त, चतुरिंद्रियपर्याप्त, चतुरिंद्रिय–अपर्याप्त, असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्त, असंज्ञिपंचेन्द्रिय–अपर्याप्त, संज्ञिपचेंद्रियपर्याप्त और संज्ञिपचेंद्रिय–अपर्याप्त ये है सज्ञाए जिनकी ऐसी पुद्गलपरिणामभूत साधनरूप- करणरूप नामकर्म की प्रकृतियो से किये जानेवाले पुद्गलरूप हि है–जीवरूप नहीं, क्यों कि जीवस्थान पुद्गल के कर्मरूप होनेसे और नामकर्म की प्रकृतिया पुद्गल की करणावस्थारूप होनेसे जीवस्थान और नामकर्म की प्रकृतियों में भेद नहीं है । नामकर्म की प्रकृतियों का पुद्गलपरिणामत्व–पुद्गलोपादानककार्यत्व आगम में प्रसिद्ध है और वे दिखाई देनेवाले शरीरादि मूर्त कार्यरूप लिंग के मिल जानेमे अनुमानप्रमाण से भी जाना जा सकता है । इसप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन ये पुद्गलोपादानक नामकर्म की प्रकृतियों से बनाये जानेसे पुद्गलोपादानक नामकर्म की प्रकृतियों से अभिन्न होनेसे जीवस्थानो के कथन से उनका भी कथन हो जाता है । उसीकारण वर्णादिक जीव नहीं है यह निश्चयनय का सिद्धान्त है ।

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनाऽन्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथञ्चनासिम् ।। ३८ ।।

अन्वयः– अत्र येन यत् किञ्चित् निर्वर्त्यते तत् तत् एव स्यात्, अन्यत् कथञ्चन (तत्) न स्यात् । इह रुक्मेण निर्वृत्तं असिकोशं रुक्मं पश्यन्ति, असिं कथञ्चन (रुक्मं) न (पश्यन्ति) ।

अर्थ– इस ससार मे जिस करणावस्थाप्राप्त उपादानभूत द्रव्य से जो कोई भी कर्मरूप कार्य निष्पादित किया जाता है वह कर्मरूप कार्य करणभूत उपादानस्वरूप हि होता है; अन्यद्रव्य अर्थात् उपादानभूत द्रव्य से निष्पादित न किया गया कार्यद्रव्य उपादानभूत द्रव्य से निष्पादित किये गये द्रव्य के रूप से युक्त नहीं होता । इस ससार में करणभूत–उपादानकारणभूत सुवर्ण से बनाये गये असिकोश को–म्यान को सुवर्णरूप से (लोक) देखते हैं–पहिचानते है; कालायसोपादानक खड्ग को सुवर्णरूप से नहीं देखते–नही पहिचानते ।

[कहनेका भाव यह है कि सुवर्ण से हि बनाये गये म्यान को लोक सुवर्णरूप से पहिचानते है, लोह से बनाये गये खड्ग को सुवर्णरूप से नहीं पहिचानते, क्यों कि कर्मरूप म्यान का करणभूत उपादान और कर्मरूप खड्ग का करणभूत उपादान इनमें स्वजाति की अपेक्षा से भेद होता है । म्यान के उपादान की जाति सुवर्णरूप है तो खड्ग के उपादान की जाति लोहरूप है । साराश, करणभेद से कर्मभेद होनेके कारण एककार्य को जिसरूप जाना जाता है उसीरूप से अन्यद्रव्य के कार्य को नही जाता । जो जिसका कार्य होता है वह उसरूप हि जाना जाता है । वर्णादिक पुद्गल का कार्य–उपादेय होनेसे वे पुद्गलरूप से देखे जाने चाहिये–जीवरूप नही देखे जाने चाहिये; क्यों कि उनका उपादान जीवद्रव्य नहीं है ।]

त. प्र.– निर्वर्त्यत इत्यादि । अत्र इह ससारे येन करणावस्थां प्राप्तेनोपादानेन यत्किञ्चिदुपादेयभूतं कर्म निर्वर्त्यते निर्माप्यते तदुपादेयभूतं कर्म तदेव करणावस्थां प्राप्तमुपादानभूतद्रव्यस्वरूपमेव स्याद्भवति, अन्यदन्यद्रव्योपादानक कार्यभूतं द्रव्यं तत् करणावस्थाप्राप्तोपादानभूतद्रव्यस्वरूपं कथञ्चन कथमपि न स्यान्न भवति । इहास्मिञ्जगति रुक्मेण करणावस्थाप्राप्तोपादानभूतसुवर्णेन निर्वृत्तं निर्मापितम् । अन्त-

र्भावितण्यर्थत्वान्निर्वृत्तमित्यस्य निर्मापितमित्यर्थः । असिकोशमसिपिधानं जना रुक्मं सुवर्णं पश्यन्ति, तत्रासिकोशरूपोपादेये सुवर्णस्य तदुपादानभूतस्य स्वस्वरूपेणान्वयदर्शनात् । असिं कालायसोपादानक खड्गं कथञ्चन केनापि प्रकारेण सुवर्णरूपं न पश्यन्ति न जानन्ति । करणावस्थापन्नोपादानभूतसुवर्णात्कर्मरूपस्यासिकोशस्य निश्चयनयदृष्ट्याऽभेदादसिकोशं सुवर्णात्मकमभिपश्यन्ति, नाऽसिं सुवर्णात्मकं पश्यन्ति, तत्राऽसौ तस्य कालायसोपादानकत्वात्सुवर्णस्य स्वस्वरूपेणान्वयाभावात् । यद्द्रव्योपादानकं यदुपादेयभूतं कार्यं तदुपादानभूतद्रव्यस्वरूपमेव, नान्यद्रव्यस्वरूपमिति भावः । वर्णादिकं पुद्गलकार्यत्वात्पुद्गलत्वेनैवावलोकनीय, न जीवत्वेन, वर्णादौ जीवस्य स्वस्वरूपेणान्वयादर्शनात् ।

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नाऽऽत्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥६०॥

अन्वय– इदं वर्णादिसामग्र्य एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणं विदन्तु । ततः इद पुद्गल एव अस्तु, न आत्मा । यतः स विज्ञानघन ततः (सः) अन्यः ।

अर्थ– विज्ञ पुरुषों को जानना चाहिये कि ये समस्त वर्ण आदि अर्थात् जीवस्थान आदिभाव जीवादि पाच द्रव्यों से भिन्न एक पुद्गलद्रव्य के हि परिणाम हे--कार्य है--उपादेय है। उसीकारण ये समस्त वर्ण आदि पुद्गलरूप हि होने चाहिये, आत्मरूप नहीं । जब वह आत्मा विज्ञान से--शुद्धज्ञान से परिपूर्ण हे--व्याप्त है तब वह वर्णादिभावों से भिन्न है ।

त. प्र.– वर्णादीत्यादि । इदमिन्द्रियप्रत्यक्षविषयभूतं । वर्णादिसामग्र्य वर्णादिसमूहः । आदिपदेनात्मनोऽशुद्धस्य रागादिविभावभावानां ग्रहण कर्तव्यम् । वर्णादीनि वर्णगन्धरसस्पर्शशरीरसस्थानसहननादीनि । तेषा सामग्र्य सम्भारः । समूहः इत्यर्थः । एकस्य पञ्चपदार्थ्यो भिन्नस्य पञ्चपदार्थीनिरपेक्षस्योपादानभूतस्य च पुद्गलस्याचेतनस्य मूर्तद्रव्यस्य हि एव निर्माणमुत्पादन परिणामं वा विज्ञाः विदन्तु जानन्तु । यतः कारणादेते वर्णादयः पुद्गलपरिणामात्मकास्ततस्तस्मात्कारणादिदं वर्णादिसामग्र्यं पुद्गल एव पुद्गलपरिणामत्वात्परिणामपरिणामिनोश्च तादात्म्यात्पुद्गलद्रव्यादभिन्न एवास्तु भवतु, नाऽऽत्माऽस्तु, वर्णादिसामग्र्यस्याचेतनत्वादात्मनश्च चेतनत्वात् । यतो यस्मात्कारणात् स आत्मा विज्ञानघनो विज्ञानपरिपूर्णः । विज्ञानपुञ्ज इत्यर्थः । ततस्तस्मात्कारणात्सोऽन्यो वर्णादिसामग्र्यात्पुद्गलपरिणामभूताद्भिन्नः ।

शेषं अन्यद् व्यवहारमात्रम्–

'आत्मा के साथ जिसका तादात्म्यसंबंध होता है ऐसे विज्ञान को छोडकर जो अन्य पर्याप्तादिभावों को जीव बताया गया है वह सिर्फ व्यवहारनयाश्रित है--वास्तव नही है' इस बात को स्पष्टरूप से बताते है--

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्य जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ६७ ॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव ।
देहस्य जीवसञ्ज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥ ६७ ॥

आ. ख्याः– यत् किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य सञ्ज्ञाः सूत्रे जीवसञ्ज्ञात्वेन उक्ता अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः। **यथा हि कस्यचित् आजन्मप्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य तदितरकुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय 'यः अयं घृतकुम्भः स मृण्मयः, न घृतमयः' इति तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहारः तथा अस्य अज्ञानिनः लोकस्य आसंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय 'यः अयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयः, न वर्णादिमयः' इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः।**

अन्वयार्थ– **(देहस्य)** देह के अर्थात् देहस्वामिक **(ये)** जो **(पर्याप्तापर्याप्ताः)** पर्याप्त और अपर्याप्त **(ये च एव)** तथा जो हि **(सूक्ष्माः बादराः च)** सूक्ष्म और बादर ये परिणाम हैं वे **(सूत्रे)** परमागम में **(व्यवहारतः)** व्यवहारनय की दृष्टि से **(जीवसञ्ज्ञा. उक्ताः)** जीवसंज्ञक कहे गये हैं अर्थात् वे पुद्गल के परिणामरूप होनेपर भी जो परमागम में जीवसंज्ञा से कहे गये हैं यानि उन्हे जीव कहा गया है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा गया है।

त. प्र.– **यत् किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य सञ्ज्ञाः सूत्रे परमागमे जीवसञ्ज्ञात्वेनोक्ता एता बादरादय सञ्ज्ञा जीवस्य सन्तीत्युक्ता अप्रयोजनार्थश्शुद्धजीवस्वरूपप्रतिपादनात्मकप्रयोजनाकारणकोऽज्ञानिजीवप्रबोधनात्मकेषत्प्रयोजनहेतुको वा। ईषत्प्रयोजनमज्ञानिजीवप्रबोधनरूपमर्थो हेतुर्यस्य सः। यद्वा प्रयोजनं शुद्धजीवस्वरूपप्रतिपादनरूपमर्थ. कारणं यस्य स प्रयोजनार्थः। न प्रयोजनार्थोऽप्रयोजनार्थः। अत्रेषदर्थेऽभावार्थे वा नञ् 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिता.' इत्युक्तेः। एतत्पदं 'व्यवहारः' इति पदं विशिनष्टि। परप्रसिद्ध्या परेषां शुद्धजीवस्वरूपानभिज्ञानां या बादरादिशरीराणां जीवसञ्ज्ञा प्रसिद्धा परिचिता तया। यद्वा 'परा' इति प्रसिद्ध्याऽज्ञानिजीवपरिचयेन हेतुना। बादरादयश्शुद्धजीवस्वरूपाभावाच्छुद्धजीवाद्भिन्ना इत्यागमे प्रसिद्धाः। ततश्शुद्धजीवभिन्ना इत्यागमे यतः प्रसिद्धास्तत इति भावः। घृतघटवद्व्यवहारः- यथा घटस्य मृत्तिकोपादानकत्वेऽपि तस्य घृताधारत्वाद् 'घृतघट' इति सञ्ज्ञा लोकैर्लौकिकव्यवहारमनुसृत्य विधीयते तथा बादरादिशरीराणां पुद्गलोपादानकत्वेऽपि संसारिजीवाधिष्ठानभूतत्वात्तेषां तानि जीवसञ्ज्ञत्वेनोक्तानि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयदृष्ट्या, न निश्चयनदृष्ट्या। यथा कश्चिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य जन्मप्रभृतिपरिचितकेवलाज्यघटस्य। आजन्म जन्मनः प्रभृति प्रसिद्धः परिचित एकः केवलो घृतकुम्भो घृताधारभूतः कुम्भः, न मृदाद्युपादानको यस्य सः। तस्य। तदितरकुम्भानभिज्ञस्य घृताधिष्ठानभूतकुम्भभिन्नमृत्तिकाद्युपादानककुम्भज्ञानविकलस्य प्रबोधनाय प्रज्ञापनाय 'योऽयं घृतकुम्भो घृताधारभूतत्वाद् घृतकुम्भत्वेन प्रयोजनप्रधानदृष्टिभिर्गौणीकृतोपादानदृष्टिभिर्लोकैर्विज्ञायमानः कुम्भः स मृण्मयो मृत्तिकोपादानकपरिणामस्वरूपो, न घृतमयो घृतोपादानकपरिणाम इत्येवं तत्प्रसिद्ध्या घृताधारत्वात्कुम्भस्य घृतकुम्भत्वेन प्रसिद्ध्या प्रबोधकस्य कुम्भे कुम्भविषये घृतकुम्भव्यवहारो 'घृतकुम्भोयम्' इति व्यवहार उच्चारस्तथाऽस्याज्ञानिनो मोहाक्रान्तज्ञानस्य लोकस्य जनस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्यानादिपरिचितवर्णादिमदशुद्धजीवस्य। आसंसारमनादेः प्रसिद्धः परिचितोऽशुद्धो जीवो यस्य सः। तस्य। शुद्धजीवानभिज्ञस्य शुद्धजीवस्वरूपज्ञानविकलस्याननुभूतशुद्धजीव-**

स्वरूपस्य वा प्रबोधनाय प्रतिबोधनार्थं 'योऽयं वर्णादिमाञ्जीवो वर्णादिसंयोगयुक्तो जीवः स ज्ञानमयो ज्ञानधर्मप्रधानो न वर्णादिमयो न वर्णादिधर्मप्रधानो वर्णादिधर्मैस्तादात्म्याभावात्' इत्येव तत्प्रसिद्ध्या जीवे जीवविषये वर्णादिमद्व्यवहारो 'वर्णादिमानयं जीवः' इति व्यवहार उपचारोऽनुपचरितासद्भूत-व्यवहारनयनिबन्धनः ।

टीकार्थ– बादर, सूक्ष्म, एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त इसप्रकार जो शरीर की सज्ञाएं है वे परमागम में जो जीवसञ्ज्ञा के रूप से कही गयी हैं वे पर की होनेके कारण अर्थात् अज्ञानी जीवों के प्रसिद्ध–परिचित होनेके कारण घृतघट के समान व्यवहृत की गयी है–खास प्रयोजन के लिये नहीं है । जिसप्रकार जिसको जन्मकाल से हि कुम्भ का घृतकुम्भ के रूप से परिचय प्राप्त हुआ है और घृतकुम्भ से भिन्न अर्थात् भिन्नस्वरूप कुंभ को जाननेवाले किसी पुरुष को 'यह जो घृतकुंभ (घीका घडा) है वह मृत्तिका का विकार–परिणाम है–घृत का अर्थात् घृतरूप उपादान का विकार–परिणाम नहीं है' इसप्रकार समझानेके लिये कुंभ का उसको घृतकुंभ के रूप से परिचय प्राप्त हुआ होनेसे कुंभ के विषय में घृतकुंभ का व्यवहार किया जाता है उसीप्रकार जिनको अनादिकाल से अशुद्ध जीव का हि परिचय प्राप्त हुआ है–ज्ञान हुआ है और जिसको शुद्ध जीव का ज्ञान नहीं है ऐसे अज्ञानी जीव को 'जो यह वर्णादिमान् जीव है उसका ज्ञान हि प्रधान धर्म है–वर्णादिधर्म प्रधान नहीं है (वह संयोगजभाव है)' इसप्रकार समझानेके लिय उसे वर्णादिमान् (वर्णादिमत्स्वरूप अवस्था को प्राप्त हुए) जीव का परिचय प्राप्त हुआ होनेसे जीव के विषय में (परमागम में) वर्णादिमत्त्व के रूप से व्यवहार किया गया है अर्थात् उपचार से वर्णादिमान् कहे गये है ।

विवेचन– बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पचेंद्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त ये नामकर्मो-दयजनित पुद्गल के परिणाम हे । ये सब शरीर की अवस्थाए है और शरीर की अवस्थाएं होनेसे वे बादरादिसज्ञाएं वस्तुतः शरीर की सज्ञाए है । जीव के विभावभाव उनके निमित्तकारण पडनेसे अनादि से उनका जीव के साथ सयोगसबंध बना हुआ होनेसे ये जीव की सज्ञाए है ऐसा शास्त्र में कहा गया है । शरीर की संज्ञाओं को जीव की सज्ञारूप बताया गया है वह उपचार से–व्यवहारनय की दृष्टि से कहा गया है; क्यों कि शरीर और आत्मा में भेद होनेपर भी शरीरसंज्ञाओ का जीव के साथ सबध घटित किया गया है । इसका कारण है अप्रतिबुद्ध को शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान कराना हे । यह शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है । अज्ञानी आत्मा को सशरीर जीव का हि अनादि-काल से परिचय हुआ होता है । अतः उसको समझानेके लिये बादरादिशरीरसंज्ञाओं का जीवसंज्ञा के रूप से प्रयोग किया जाता है । कहनेका भाव यह है कि 'जिसकी पर्याप्तादि संज्ञाए की गयी है और जो वर्णादिमान् दिखायी देता है उस जीव का ज्ञान प्रधानधर्म है–वर्णादिधर्म प्रधान नही है' इसप्रकार समझाते समय 'जिसकी पर्याप्तादिसं-ज्ञाएं की गयी है और जो वर्णादिमान् दिखाई देता है' इस वाक्यांश का प्रयोग न किया गया तो अज्ञानी जीव को समझाना मुश्किल हो जाता है । वर्ण्यविषय के अभाव में वर्णन किसका किया जाय ? अतः अज्ञानी जीव को समझाने-के लिये अज्ञातस्वरूप विषय को जिस रूप से व्यवहारनय की दृष्टि से जाना जाता है उसरूप से प्रथम ग्रहण करके उसको यथार्थस्वरूप बताया जा सकता है । शास्त्रकारों ने व्यवहारनय की दृष्टि से अज्ञानी जीव के ज्ञान के विषय बने हुए जीव का उसके यथार्थस्वरूप को प्रकट करनेके लिये ग्रहण किया है । अतः वर्णादिमत्त्व और पर्याप्ता-त्वादि के द्वारा जीव का यथार्थस्वरूप प्रकट किया जानेसे वर्णादिमत्त्व और पर्याप्तत्वादि जीव का यथार्थस्वरूप नहीं है । आत्मख्याति मे दृष्टान्त के द्वारा ऊपर का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है । जिसको जन्मकाल से हि घट का घृतघट के रूप से हि ज्ञान होता है–घट के मृत्तिकोपादानकत्व का ज्ञान नहीं होता उसको समझानेके लिये घट के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाले पुरुष के द्वारा प्रथम 'घृतघट' इस शब्द का प्रयोग किया जाता है और बाद में 'घृतघट मृत्तिका का होता है' इसप्रकार घट के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है । समझाये जानेवाले पुरुष को समझाते समय यदि 'घृतघट' इस शब्द का उच्चारण न किया गया तो वह उस पुरुष को कैसे समझा सकता

आ. ख्याः– यत् है ' इस वाक्यांश से समझनेवाला क्या समझ सकता है ? ' घृतघट ' इस शब्द का
शरीरस्य सञ्ज्ञाः यक है । जिसप्रकार ' घृतघट ' इस शब्द का उच्चारण आवश्यक है उसीप्रकार ' वर्णादिमान् '
हारः । यथा ि रण आवश्यक है । यह अज्ञानी जीव सशरीर जीव को वर्णादिमत्त्व के रूप से जानता है, उसको
व का ज्ञान नहीं होता । उसको ' जीव ज्ञानस्वभाववाला होता है, वर्णादिधर्म उसके स्वभावभूतभाव
' यः अयं घ कार समझानेके लिये ' जो यह वर्णादिमान् जीव है ' इस वाक्यांश का उच्चारण किये बिना उसको
तथा अस्य के स्वरूप का ' शुद्ध आत्मा ज्ञानमय होती है ' इसप्रकार ज्ञान नहीं कराया जा सकता; क्यों कि
' यः अ य वर्णादिमान् जीव को हि वह जानता है । यदि ' वर्णादिमान् ' इस शब्द का उच्चारण न किया गया तो
वर्ण से समझाया जा सकता है और ' ज्ञानमय ' होता है इस वाक्यांश से समझनेवाला क्या समझ सकता है ? अतः
वर्णादिमान् ' इस शब्द का उच्चारण करना आवश्यक है । इसप्रकार अज्ञानी जीव को समझानेके लिए अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से वर्णादिमान् कहे गये जीव का ग्रहण किया गया है; क्यों कि उसप्रकार के हि जीव का अज्ञानी जीव को ज्ञान होता है । अतः वर्णादिमत्त्व जीव का यथार्थ स्वरूप नहीं है और न पर्याप्तत्वादि भी ।

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ४० ॥

अन्वयः– घृतकुम्भाभिधाने अपि कुम्भः घृतमयः न चेत्, वर्णादिमज्जीवजल्पने अपि जीवः न तन्मयः ।

अर्थ– ' यह घृतकुम्भ है ' ऐसा कहनेपर भी यदि कुम्भ–घडा घी का उपादेयभूत परिणाम नहीं होता है–घृतोपादानक परिणाम नहीं होता है (मृत्तिकारूप उपादान का हि परिणाम होता है) तो ' जीव वर्णादिमान् होता है ' ऐसा कह देनेसे वह वर्णादिधर्मप्रधान नही होता अर्थात् वर्णादिधर्मों के साथ जीव का–शुद्ध जीव का) तादात्म्य नहीं होता–रूपी पुद्गल का वह उपादेयभूत परिणाम नही हो सकता ।

त. प्र.– घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भस्य मृत्तिकोपादानकत्वेऽप्यय घृतकुम्भ इत्यभिधाने कथनेऽपि मृत्तिकोपादानको घटो घृतमयो घृतोपादानकः परिणामो न चेद्यदि न भवति तदा वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽप्यनादिपुद्गलसंयोगवशादयं जीवो वर्णादिमानिति जल्पने कथने कृते सत्यपि जीवो न तन्मयो वर्णादिधर्मप्रधानो वर्णादिधर्मैस्तादात्म्यमापन्नो वा भवति । वर्णादिधर्मैर्न तस्य तादात्म्य वर्णादिधर्माश्रयत्व वर्णादिमत्पुद्गलोपादानकपरिणामरूपत्वं वेति भावः । ' मयड्वाऽभक्ष्याच्छादने ' इति विकारेऽवयवे वा मयट् । आजन्मप्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य मृत्तिकापरिणामस्वरूपकुम्भानभिज्ञस्य यथार्थकुम्भस्वरूपप्रज्ञापनार्थं प्रबोधकेन घृतकुम्भशब्दप्रयोगे क्रियमाणेऽपि यथा मृत्तिकोपादानकः कुम्भः घृतोपादानकपरिणामस्वरूपो न भवति तथाऽज्ञातशुद्धजीवस्वरूपस्य ज्ञातवर्णादिमज्जीवस्याज्ञानिनो जीवस्य प्रबोधनार्थं वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि वर्णादिमज्जीवशब्दप्रयोगे क्रियमाणेऽपि शुद्धो जीवो निश्चयनयदृष्ट्या वर्णादिमान्न भवतीति भावः ।

एतदपि स्थितमेव यत् ' रागादयः भावाः न जीवाः ' इति–

एतदपि स्थितं सिद्धमेव यद् ' रागादयो भावा अशुद्धजीवपरिणामा न जीवाःशुद्धजीवस्वरूपाः, शुद्धजीवस्य तैस्तादात्म्याभावात् ' इति–

टीकार्थ– अशुद्ध जीव के परिणामभूत रागादिभाव जीवरूप नहीं है यह भी सिद्ध हो जाता है ।

विवेचन– रागादिभाव अशुद्धजीव के परिणाम होनेसे उनका अशुद्धजीव के साथ तादात्म्य होनेपर भी शुद्धजीव के साथ तादात्म्य न होनेसे वे रागादिभाव शुद्धजीवरूप नहीं हो सकते। यदि वे शुद्धजीव के होते तो वे जीव

की मुक्तावस्था में भी पाये जाते । जीव की शुद्ध अवस्था में–मुक्तावस्था में पाये न जानेसे वे रागादिभाव शुद्धजीव के या शुद्धजीवरूप नहीं हो सकते ।

['गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ' इस आगमोक्ति के अनुसार मोहोद्भव और योगोद्भव होनेसे गुणस्थान जीवरूप नहीं है अर्थात् रागादिभाव जीवरूप नहीं है यह बताते है ।]

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८ ॥

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।
तानि कथं भवन्ति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ– (**यानि इमानि**) जो ये (**मोहनकर्मणः उदयात् तु**) मोहनीय कर्म के उदयादि से हि उत्पन्न होते हैं इसप्रकार (**वर्णितानि**) वर्णित किये गये है (**यानि च नित्य अचेतनानि उक्तानि**) और जो नित्य अचेतन बताये गये है अर्थात् शुद्धचेतनविकल बताये गये हैं ऐसे (**तानि**) वे (**गुणस्थानानि**) गुणस्थान (**जीवः**) जीव (**कथम्**) कैसे (**भवन्ति**) हो सकते है ?

[खुलासा- 'गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ' इस आगमवचन के अनुसार गुणस्थानो की उत्पत्ति मोह और योग से होती है यह बात स्पष्ट हो जाती है । पहले के दस गुणस्थानो की उत्पत्ति मोहनीय का उदय और योग, ग्यारहवे मे उपशम और योग, बारहवे मे क्षय और योग, तेरहवे मे योग और चौदहवें में योगाभाव कारण पडते है । इनकी उत्पत्ति में मोहनीय का उदय हि कारण पडता है ऐसा नहीं कहा जा सकता यह बात स्पष्ट हो जाती है । अतः गाथागत उदयशब्द से उपशम, क्षय आदि उपलक्षित होते है ऐसा जानना। यहा अचेतनशब्द का चेतनभिन्न चेतनसदृश अर्थात् अशुद्धचेतन अर्थात् शुद्धचेतनविकल ऐसा अर्थ समझना चाहिये; क्यो कि रागादिभाव अशुद्धचेतनान्वित होते है-उनमें चेतन का अत्यताभाव नहीं होता ।]

आ. ख्या. – मिथ्यादृष्टयादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यं अचेतनत्वात् 'कारणानुविधायीनि कार्याणि ' इति कृत्वा 'यवपूर्वकाः यवाः यवाः एव ' इति न्यायेन पुद्गल एव, न तु जीवः । गुणस्थानानां नित्यं अचेतनत्वं च आगमात्, चैतन्यस्वभावव्याप्तस्य आत्मनः अतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयं उपलभ्यमानत्वात् च प्रसाध्यम् । एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबन्धस्थानसङ्क्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानानि अपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यं अचेतनत्वात् पुद्गल एव, न तु जीवः इति स्वयं आयातम् । ततः 'रागादयः भावाः न जीवः' इति सिद्धम् ।

त. प्र– मिथ्यादृष्टयादीनि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टयाद्ययोगकेवल्यन्तानि चतुर्दशगुणस्थानानि हि वस्तुतः । आदिपदेन शेषत्रयोदशगुणस्थानानां ग्रहणं कर्तव्यम् । पौद्गलिकमोहनीयकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति । 'यद्भावाद्भावगतिः ' इतीप् । पुद्गलोपादानकमोहनीयकर्मप्रकृत्युदयादिनिमित्तजनितजीवपरिणामविशेषपूर्वकत्वे सति । पौद्गलिकं पुद्गलोपादानकम् । कर्मत्वपरिणतियोग्यपुद्गलोपादानकमित्यर्थः । पौद्गलिकं च तन्मोहकर्म च पौद्गलिकमोहकर्म । 'प्रयोजनम् ' इति ठञ् । तस्य प्रकृतिः ।

तया कृतो जनितो विशिष्टः पाकोऽनुभवः । जीवस्य कर्मात्मकनिमित्तानुसारिणी परिणतिक्रियेत्यर्थः । 'भा तत्कृतप्रार्थनोर्नः' इति षसः । पचतेः 'भावे' इति घञ् । 'भाव इति क्रियासामान्यं ध्वर्थः । तद्यद्यपि पूर्वापरीभूतमपरिनिष्पन्नमलिङ्गसङ्ख्यं प्रकृत्यैवोच्यते तथापि यस्त्वसिद्धताधर्मः स लिङ्गसङ्ख्यावानिति तत्र घञादयः' इति जैनेन्द्रमहावृत्तावभयनन्दिनः । तथा च विपाकशब्दस्य संसारिजीवे प्रादुर्भवन्ती कर्मात्मकनिमित्तानुसारिणी परिणतिक्रियेत्यर्थः । न च गुणस्थानानि केवलमौदयिकभावरूपाणि, तेषामौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकौदयिकभावरूपत्वात् । नाऽतो विपाकशब्द उदयमात्रार्थवचनः । ततश्च तस्य कर्मोदयाद्यनुसारिणी संसारिजीवपरिणतिक्रियेत्यर्थो ग्राह्यः । अत्र प्रमाणम्– 'ज्ञानावरणादीनां कर्मप्रकृतीनामनुग्रहोपघातात्मिकानां पूर्वास्रवतीव्रमन्दभावनिमित्तो विशिष्टः पाको विपाकः । द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधो वा पाको विपाकः । असावनुभव इत्याख्यायते । शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः, अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः । अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः, शुभप्रकृतीनां निकृष्टः । स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च ।' [रा. वा. ८।२१।१] अनेन विपाकशब्दो नैमित्तिकजीवपरिणतिक्रियार्थवचन इत्यभिप्रायः स्पष्टतामाटीकते । स विपाकः पूर्वो यस्मात्तत् । तस्य भावः । तस्मिन् सति । नित्यमचेतनत्वाच्छुद्धचैतन्यविकलत्वादचेतनतुल्यत्वाद्वा । अचेतनमिवाचेतनम् । 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योप् । कारणानुविधायीनि कारणस्वरूपान्वयात्कारणसादृश्यमुद्वहन्ति कार्याणि परिणामा इति कृत्वा 'यवपूर्वका यवाः प्रवेटाः यवा एव' इति न्यायेन पुद्गल एव पुद्गलसदृश एव न तु नैव जीवः । मिथ्यादर्शनादिपरिणामानां शुद्धजीवचैतन्यसदृशचैतन्यविकलत्वात्परमनिर्विकल्पसमाधावननुभवनात्तेषामचेतनत्वात्पुद्गलत्वमेव पुद्गलसदृशत्वमेवेत्यभिप्रायः । पुद्गल इव पुद्गलः । 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योप् । कर्मभावापन्नः पुद्गलो विभावभावात्मकजीवपरिणतिद्वारेण शुद्धात्मस्वरूपं प्रच्छादयति । तत्प्रच्छादनक्रिया तु वस्तुतो जीवविभावकर्तृका, न पुद्गलकर्मकर्तृका, पुद्गलकर्मणो निमित्तमात्रत्वात् । निमित्तमन्तरेण विभावभावोत्पत्त्यसम्भवान्निमित्तभूतद्रव्यकर्मणोऽपि प्रच्छादनक्रियाकर्तृत्वम् । द्रव्यभावकर्मणोः प्रच्छादनक्रियाकर्तृत्वतुल्यत्वाद्रागादिभावानामपि पुद्गलत्वम् । गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं पुद्गलवच्छुद्धचेतनाभाववत्त्वं चागमात्परमार्हत्परमेश्वरप्रणीतादागमाच्चैतन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन गुणस्थानेभ्यो भिन्नत्वेन विवेचकैर्भेदज्ञानिभिः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्परमनिर्विकल्पसमाधावननुभूयमानत्वाच्च प्रसाध्यं साधनीयम् । एवममुना प्रकारेण रागादयः संयमलब्धिस्थानान्ता भावा अपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति पुद्गलनिमित्तकजीवाश्रितविभावपरिणामरूपत्वान्नित्यमचेतनत्वाच्छुद्धचेतनविकलत्वात्पुद्गल एव पुद्गलसदृश एव वा, न तु जीव इति स्वयमायातमनायासेन प्राप्तम् । ततस्तस्मात्कारणाद्रागादयो भावाः विभावपरिणामाः न जीव इति सिद्धम् ।

टीकार्थ– मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान वस्तुतः पुद्गलोपादानक मोहनीयकर्मप्रकृतिरूप निमित्त के कारण आविर्भूत किये गये नानाविध अनुभवपूर्वक–नानाविधजीवपरिणामपूर्वक होनेवाले होनेके कारण नित्य अचेतन अर्थात् शुद्धचैतन्यविकल होनेसे सभी कार्य कारण का अनुसरण करनेवाले होनेके कारण 'जो पूर्वक होनेवाले जो जो हि होते हैं' इस न्याय के अनुसार पुद्गल हि हैं–जीवरूप हैं हि नहीं । आगमप्रमाण से और शुद्धचैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा गुणस्थानों से भिन्नरूप से भेदज्ञानियों के–आत्मानुभव करनेवालों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान होनसे

गुणस्थानों के अचेतनत्व की–शुद्धचैतन्यविकलत्व की सिद्धि की जा सकती है। इसप्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलोपादानककर्मपूर्वक होनेवाले होनेसे नित्य अचेतन–शुद्धचैतन्यविकल होनेके कारण पुद्गल हि है- जीव हैं हि नही यह अनायास सिद्ध हो जाता है। उस-कारण रागादिभाव जीव नही है यह बात सिद्ध हो जाती है।

विवेचन– मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान द्रव्यमोहकर्म के और कायवाङ्मनोवर्गणाओं के निमित्त से आविर्भूत होते हैं। जहां मोहनीयकर्म का कार्य होता है वहा उक्त वर्गणाओं का भी कार्य होता है। मिथ्यात्वादिरूप भाव मोहनीयकर्मनिमित्तक जीवपरिणाम होनसे वे पुदगलोपादानक मोहनीयकर्मपूर्वक होते हैं; क्यों कि कारण चाहे उपादानरूप हो या निमित्तरूप हो वह कार्य के पूर्ववर्ती होता है। जब मिथ्यात्वादिभाव पुद्गलोपादानककर्मपूर्वक होते है और जब पुद्गल शुद्धाशुद्धचैतन्यविकल होता है तब वे मिथ्यात्वादि भाव शुद्धचैतन्यविकल होने हि चाहिये। घट यद्यपि मृत्तिका का परिणाम है तो भी उसका घटाकार कुम्हार के नैपुण्यपर अवलंबित होता है। मिथ्यात्वादि-परिणाम भले हि अशुद्धजीवोपादानक परिणाम हो, उनका स्वरूप पुद्गलोपादानक कर्म की जातिपर अवलंबित है। पौद्गलिक कर्म शुद्धचैतन्यविकल होनेसे तन्निमित्तक जीवपरिणाम भी शुद्धचैतन्यविकल होने हि चाहिये; क्यो कि सभी कार्य कारणसदृश होते है। 'जौपूर्वक जौ जो हि होते है' इस न्याय में भी 'सभी कार्य कारणसदृश होते है' यही अभिप्राय अभिव्यक्त होता है। पुद्गल जिसप्रकार शुद्धचैतन्यविकल होनेसे अचेतन कहा जाता है उसीप्रकार जीव के विभावभाव भी शुद्धचैतन्यविकल होनेसे अचेतन हि है। उन विभावभावों को पुद्गल कहा है। 'विभावभाव पुद्गल हि है' इस कथन का अर्थ 'वे पुद्गलसदृश हि है' ऐसा लेना चाहिये; क्यो कि उनमे अशुद्धचैतन्य का अन्वय पाया जाता है और पुद्गल में वह भी नहीं पाया जाता। यदि विभावभावों को सर्वथा पुद्गलरूप माना तो वे पुद्गल के समान सर्वथा अचेतन बन जायगे और भावकर्म भी द्रव्यकर्म से सर्वथा अभिन्न बन जायगा। 'मिथ्यात्वादि विभावभाव जीव नहीं है' इस कथन का अभिप्राय 'जीव जिसप्रकार निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धचैतन्यरूप होता है उसीप्रकार वे भाव शुद्धचैतन्यरूप नही है' ऐसा है। यहां जीवशब्द से शुद्धजीव का ग्रहण अभीष्ट है। शुद्धजीव और शुद्धचैतन्य इनमे जिसप्रकार तादात्म्य होता है उसीप्रकार शुद्ध जीव और अशुद्धचैतन्य इनमे तादात्म्य नहीं है; क्यों कि चैतन्य की अशुद्धता नैमित्तिकभावरूप है–शुद्धचैतन्य के समान पारिणामिकभावरूप नहीं है। अशुद्धता कादाचित्क भाव है तो शुद्धता नित्यभावरूप है। जब वैभाविकभाव शुद्धजीवस्वाभिक नहीं है तब वे पारि-शेष्यन्याय से कर्मरूपनिमित्त के होने हि चाहिये; क्यों कि वे निमित्त का सद्भाव होनेपर हि प्रादुर्भूत होते है-उसके अभाव में प्रादुर्भूत नही होते। विभावभावों का अचेतनत्व–शुद्धज्ञानविकलत्व आगमप्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है। उसीप्रकार उसकी सिद्धि स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाण से भी की जा सकती है। भेदज्ञानी जीव जब परमनिर्विकल्पसमाधि में मग्न होकर शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करता है तब वे विभावभाव उसके अनुभव में नहीं आते। यदि वे शुद्धचैतन्यान्वित या शुद्धचैतन्यस्वरूप होते तो उस भेदज्ञानी के अनुभव में वे अवश्य आ जाते। उसीप्रकार वे जीव की मुक्तावस्था में भी नहीं पाये जाते। अतः वे शुद्धचैतन्यविकल होनेसे उनका अचेतनत्व सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार आगमप्रमाण से और स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाण से उनका अचेतनत्व सिद्ध हो जानेसे पुद्गलसदृश होनेसे वे जीव के नहीं है–जीव नहीं है। इसप्रकार रागादिभाव भी कर्मनिमित्तक होनेसे अचेतन होनेके कारण जीव नहीं है यह बात सिद्ध हो जाती है।

'तर्हि कः जीवः ?' इति चेत्–

'यदि वर्णादिभाव और रागादिभाव जीव नहीं है तो जीव होता है कौन ?' ऐसा प्रश्न हो तो उसका उत्तर कहते हैं–

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥

अन्वयः— अनादि अनन्तं अचलं स्वसंवेद्यं स्फुटं स्वयं चैतन्यं जीवः उच्चैः चकचकायते ।

अर्थ— कार्यरूप न होनेसे अनादि, नष्ट होनेवाला न होनेसे अनन्त, जीवद्रव्य से च्युत होनेवाला न होनेसे अचल, आत्मानुभूति के द्वारा जाना जानेवाला, निरंजन होनेसे निर्मल (अथवा आत्मानुभूति के द्वारा स्पष्टरूप से जाना जानेवाला) ऐसा स्वयं चैतन्य हि जीव होता हुआ संसार-अवस्था में प्रकट होता हुआ भी शुद्ध अवस्था में आत्यन्तिकरूप से प्रकाशमान होता है ।

त. प्र.— अनादि कार्यरूपत्वाभावादादिमत्त्वरहितमनन्तमविनश्वरत्वादन्तरहितमचल स्वाश्रयभूतजीवद्रव्यादप्रच्यवनाच्चलताविकलं स्वसंवेद्यं परमनिर्विकल्पसमाधौ मग्नानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्य स्फुटं निरञ्जनत्वान्निर्मलम् । यद्वा परमनिर्विकल्पसमाधौ मग्नानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण स्फुटं स्पष्टतयाऽनुभवनीयम् । स्वयं चैतन्य तु चैतन्यमेव जीवः उच्चैरतिशयेन चकचकायते प्रकाशते । अचकच्चकं चकद्भवतीति चकचकायते । 'डाज्लोहितादिभ्यः क्यष्' इति च्व्यर्थे क्यष् । चेतयते जानातीति चेतनम् । चेतनस्य भावश्चैतन्यम् । ज्ञानमित्यर्थः । चैतन्यस्यात्माश्रयधर्मत्वात्तदाश्रयभूतजीवद्रव्यस्यानादिनिधनत्वादकार्यभूतत्वाच्चानादित्वं स्वाश्रयभूतजीवद्रव्यात्सर्वास्वप्यवस्थास्वप्रच्यवनादचलत्वं परमनिर्विकल्पसमाधौ स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यत्वात्स्वसंवेद्यत्वं कर्ममलविकलत्वात्स्फुटत्वं च चैतन्यस्य । तच्चैतन्यं ज्ञानमेव जीवो जीवस्य तेन तादात्म्यात् । अय चैतन्यात्मको जीवः संसारावस्थायां कर्ममलेन मलीमसत्वादनभिव्यक्तशुद्धस्वभावोऽपि मुक्तावस्थायां शुद्धचैतन्यस्वभावाभिव्यक्तश्चैतन्यस्वरूपो भवतीति स्पष्टं भवति ।

विवेचन— द्रव्य का स्वभावभूत भाव द्रव्य अनादिनिधन होनेसे और स्वभाव और स्वभाववान् इनमें तादात्म्य होनेसे अनादिनिधन होता है, वह द्रव्य से कदापि च्युत नहीं होता, प्रत्यक्षप्रमाण से जाना जाता है और निर्मल होता है। जीव द्रव्य होनेसे अनादिनिधन होता है और वह अनादिनिधन होनेके कारण उसका स्वभावभूतभाव अनादिनिधन, उससे कदापि च्युत न होनेवाला, प्रत्यक्षप्रमाणगम्य और निर्मल होना चाहिये । वर्णादिभाव और रागादिभाव नैमित्तिक होनेके कारण अनादिनिधन नहीं है—कादाचित्क हैं, वे आत्मा से अलग हो जाते हैं, परमनिर्विकल्पसमाधि में मग्न हुए जीव के द्वारा स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्य नहीं है और निर्मल भी नहीं है—मलरूप है । अतः उनका शुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध न होनेसे वे शुद्ध आत्मा के स्वभावभूत भाव न होनेके कारण आत्मरूप नहीं है । एक चैतन्यभाव हि ऐसा है कि जो जीव के समान अनादिनिधन है, जीव से च्युत होनेवाला न होनेसे कादाचित्क नहीं है, अचल है, परमनिर्विकल्पसमाधिमग्न जीव के स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाणगम्य है और नितरां निर्मल है । अतः उसका शुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध भी होनेसे वह आत्मा का स्वभावभूतभाव होनेके कारण आत्मरूप है । इससे शुद्ध चैतन्य हि शुद्ध आत्मा है यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

वर्णाद्यैस्सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो ।
नाऽमूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ॥
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाऽव्याप्यतिव्यापि वा ।
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥४२॥

अन्वयः— 'यतः अजीवः वर्णाद्यैः सहितः तथा विरहितः द्वेधा अस्ति ततः जगत् अमूर्तत्वं उपास्य

जीवस्य तत्त्वं न पश्यति ' इति आलोच्य विवेचकैः समुचितं न अव्यापि अतिव्यापि वा उक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वं अचलं चैतन्यं (मुमुक्षुभिः) आलम्ब्यताम्।

अर्थ— जब अजीव पदार्थ वर्णादि से सहित और वर्णादि से रहित इसप्रकार दो प्रकार का होता है तब ज्ञानवान् संसारी जीव मूर्तत्व का और अमूर्तत्व का आश्रय लेकर जीव के यथार्थ स्वरूप को नहीं देख सकता। इसप्रकार (न्यायशास्त्र की दृष्टि से) विचारकर भेदज्ञानियों के द्वारा परमनिर्विकल्पसमाधिकाल में स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा जो यथार्थरूप से जाना गया है, जो अव्यापि और अतिव्यापि नहीं है, जो स्फुट–स्पष्ट–निरञ्जन–निर्मल होता है, जिसने जीव के स्वरूप को प्रकट किया है और जो अचल होता है अर्थात् अपने आश्रयभूतजीव को कभी भी छोड़ता नहीं ऐसा चैतन्य मुमुक्षु ज्ञानी जीवों के द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिये।

त. प्र.— यतो यस्मात्कारणादजीवो जीवभिन्नो जीवसदृशः पदार्थः पुद्गलरूपः संसारिजीवरूपश्च वर्णाद्यैर्वर्णादिधर्मैस्सहितो युक्तस्तथा तेन प्रकारेण धर्माधर्माकाशकालरूपो वर्णाद्यैर्वर्णादिभावरूपैर्धर्मै रहित इति द्वेधा द्विप्रकारोऽस्ति शुद्धजीवभिन्नस्तत्सदृशश्चाजीवः पर्युदासापेक्षया। ततस्तस्मात्कारणाज्जगज्ज्ञानवाञ्जनः। गच्छति जानातीति जगत् ' ये ये गत्यर्थास्ते ते ज्ञानार्थाः ' इत्युक्ते.। मूर्तत्वमुपास्याश्रित्य जीवस्य तत्त्वं स्वरूप न पश्यति नावलोकयति। न जानातीत्यर्थः।' तत्त्वं स्वरूपे नृत्यस्य प्रभेदे परमात्मनि ' इति विश्वलोचनं। वर्णादिमत्त्वस्य जीवस्वरूपत्वेनाभ्युपगमे मुक्तजीवस्य वर्णादिमत्त्वाभावात्तदग्रहणप्रसङ्गादव्याप्तिदोषः पुद्गलस्य च वर्णादिमत्त्वात्तद्ग्रहणप्रसङ्गादतिव्याप्तिदोषश्च तथाऽमूर्तत्वस्य जीवस्वरूपत्वेनाभ्युपगमे संसारिणो जीवस्य कथञ्चिद्वर्णादिमत्त्वादूपित्वात्तद्ग्रहणासम्भवादव्याप्तिदोषो धर्माधर्माकाशकालानाममूर्तिमत्त्वात्तद्ग्रहणप्रसञ्जनादतिव्याप्तिदोषश्चेति ज्ञानिजनो मूर्तत्वधर्ममूर्तत्वधर्मं च जीवस्वरूपत्वेन न जानाति। इत्यमुना प्रकारेणालोच्य न्यायशास्त्रानुसारेण विचार्य विवेचकैः प्रामाणिकैः परमनिर्विकल्पसमाधिमग्नैर्भेदज्ञानिभिर्वा समुचितं यथार्थं परमनिर्विकल्पसमाधौ स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाणेन ज्ञातं नाव्याप्यव्याप्तिदोषदूषितमतिव्याप्यतिव्याप्तिदोषदूषितं वा व्यक्तं स्पष्ट निरावरणं वा व्यञ्जितजीवतत्त्व प्रकटीकृतजीवस्वरूपम्। व्यञ्जित प्रकटीकृत जीवस्य तत्त्व स्वरूप येन चैतन्यन तत्। अचल स्वाश्रयभूतजीवपदार्थादप्रच्यवमान चैतन्यमालम्ब्यतां मुमुक्षुजनैः स्वीक्रियताम्। ' चेतनस्य भावश्चेतनत्व चैतन्यमनुभवनम् ' इत्यालापपद्धतौ देवसेनाः। चैतन्यस्यानुभवनक्रियायाः जीवव्यतिरिक्तेषु धर्माधर्माकाशकालपुद्गलेष्वभावाच्चैतन्यात्मकजीवलक्षणस्य नातिव्याप्तिदोषदूषितत्वमनादिबन्धपर्यायपरिणतस्याशुद्धजीवस्य चानुभवनक्रियायास्सद्भावान्नातिव्याप्तिदोषदूषितत्वं सम्भवति। अतोऽव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषद्वयाभावात् ' चैतन्य पुरुषस्य लक्षण ' इत्येव जीवलक्षणं ग्राह्य, न मूर्तत्वं नाऽमूर्तत्वं वेति। यथा मूर्तत्वलक्षणोऽमूर्तत्वलक्षणो वा जीव इत्यभ्युपगमे सर्वत्र सर्वदा सर्वथा मूर्तत्वलक्षणस्यामूर्तत्वलक्षणस्य वा जीवेऽनुपलब्धेरसम्भवदोषोपनिपातो, न तथा ' चैतन्यलक्षणो जीव ' इत्यभ्युपगमे सर्वत्र सर्वदा सर्वथा चैतन्यलक्षणस्य जीवे उपलब्धेर्नासम्भवदोष उपनिपततीत्यप्यवसेयं सुधीभिः।

विवेचन— वर्णादिमत्त्व को अर्थात् मूर्तिमत्त्व को जीव का स्वरूप मान लिया तो मुक्तजीवों को वह व्याप्त करनेवाला न होनेसे यह जीवलक्षण अव्याप्तिदोष से दूषित हो जाता है और पुद्गलद्रव्य वर्णादिमान् होनेसे वर्णादिमत्त्व पुद्गलद्रव्य को व्याप्त करनेवाला होनेसे यह जीव का लक्षण अतिव्याप्तिदोष से दूषित हो जाता है। वर्णादिरहितत्व को अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का स्वरूप मान लिया तो अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेसे कथंचित् मूर्तावस्था को प्राप्त हुई आत्मा को यह लक्षण व्याप्त करनेवाला न होनेसे यह जीवलक्षण अव्याप्तिदोष से दूषित हो जाता है और धर्मादिद्रव्य वर्णादिरहित होनेसे अर्थात् अमूर्त होनेसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पदार्थों को व्याप्त

करनेवाला होनेसे यह लक्षण अतिव्याप्तिनामक दोष से दूषित हो जाता है। जीव का स्वरूपभूत माना गया मूर्तिमत्त्व जीव में सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा पाया न जानेसे अर्थात् जीव की मुक्तावस्था में पाया न जानेसे मूर्तिमत्त्व और जीव इनमें तादात्म्यसंबंध का अभाव होनेसे मूर्तिमत्त्व का जीवस्वरूपरूप होना असंभव है। जो भाव पदार्थ का स्वभावभूत होता है वह पदार्थ की सभी अवस्थाओं में पाया जाता है। जो भाव पदार्थ की सभी अवस्थाओं में नहीं पाया जाता वह पदार्थ का स्वभावभाव नहीं होता। अतः यह लक्षण असंभवदोष से भी दूषित है। उसीप्रकार जीव का स्वरूपभूत माना गया वर्णादिरहितत्व अर्थात् अमूर्तिमत्त्व या अमूर्तत्व जीव में सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा पाया न जानेसे अर्थात् जीव की कथंचिन्मूर्तिमती संसार-अवस्था में पाया न जानेसे अमूर्तिमत्त्व और जीव में तादात्म्य-संबंध का अभाव होनेसे अमूर्तत्व का जीवस्वरूपरूप होना असंभव है। जिसप्रकार कर्मावृत होनेपर भी चेतनत्व अपने सद्भाव का ज्ञान कराता है उसीप्रकार अमूर्तिमत्त्व अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं कराता। अतः यह जीवलक्षण भी असंभवदोष से दूषित है। पुद्गलद्रव्य किसी भी अवस्था में-पर्याय में अपने मूर्तिमत्त्वस्वरूप को छोडता नहीं। अतः मूर्तिमत्त्व उसका स्वरूप है। इसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पदार्थ किसी भी अवस्था में-पर्याय में अपने अपने अमूर्तिमत्त्वस्वरूप को छोडते नहीं। अतः अमूर्तिमत्त्व उनका स्वरूप है-प्रधान धर्म है। जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य के संश्लेष से और विश्लेष से कभी मूर्तिमान् और कभी अमूर्तिमान् हुआ पाया जाता है। निश्चयनय की दृष्टि से जीव अमूर्त होनेपर भी उसका अमूर्तत्व संसार-अवस्था में नहीं पाया जाता। अतः मूर्तिमत्त्व के समान अमूर्तिमत्त्व भी जीव का स्वभावभूतभाव नहीं हो सकता। चैतन्य का आत्मा के साथ तादात्म्य होनेके कारण जीव की सभी अवस्थाओं में पाया जानेके कारण, जीव की किसी भी पर्याय में उसका अभाव न होनेके और अन्यपदार्थों में पाया न जानेके कारण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन दोषों से रहित होनेसे चैतन्य हि जीव का असाधारण स्वरूप है। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन दोषों से दूषित होनेके कारण मूर्तिमत्त्व और अमूर्तिमत्त्व ये दोनों धर्म जीव के स्वभावभूत भाव नहीं हो सकते-केवल चैतन्य हि उसका स्वभावभूतभाव हो सकता है; क्यों कि वह उक्त दोषों से रहित होता है। अतः ज्ञानी जीवों को जीव के चैतन्यस्वरूप का हि अवलंब लेना चाहिये। अमूर्तिमत्त्व यद्यपि जीव का भी एक धर्म है तो भी वह अन्यद्रव्यसाधारण होनेसे अर्थात धर्माधर्मादिद्रव्यों में पाया जानेसे वह जीव का असाधारणधर्म या स्वरूप नहीं हो सकता। यह धर्म साधारण होनेसे हि अतिव्याप्तिदोष से दूषित हो जाता है और चैतन्य के समान जीव की सभी अवस्थाओं में अभिव्यक्त न रहनेसे अव्याप्तिदोष से दूषित हो जाता है। चैतन्य तो जीव की सभी अवस्थाओं में अभिव्यक्तरूप से पाया जाता है। अतः वह जीव का असाधारणधर्म होनेसे स्वभावभावरूप है।

वर्णादि जिसप्रकार कर्मबद्ध जीव के दिखाई देते हैं उसीप्रकार रागादिभाव भी कर्मबद्धजीव के दिखाई देते हैं। जिसप्रकार वर्णादि का कर्मबद्धजीवस्वाभिकत्व नैमित्तिकभावरूप होता है उसीप्रकार रागादिरूप विभावभावों का जीवस्वामिकत्व भी नैमित्तिकभावरूप हि होता है। नैमित्तिकभाव कादाचित्क होनेसे वे जीव के स्वभावभूतभाव नहीं हो सकते। यदि ये नैमित्तिकभाव जीव के परमार्थतः स्वभावभूतभाव होते तो रागादिभावों का शुद्ध जीव के साथ तादात्म्य सिद्ध हो जाता और तादात्म्य के कारण सिद्ध अवस्था में भी जीव की साथ छोड न पाते। सिद्ध-अवस्था में रागादिभावों का अभाव होनेसे वे जीव के स्वभावभूतभाव नहीं हो सकते। दूसरे प्रकार से यूं कहा जा सकता है कि जिसप्रकार जीव में कथंचित् दिखाई देनेवाले वर्णादि जीव और पुद्गल इनके संयोग के कारण से दिखाई देते हैं उसीप्रकार रागादिभाव भी जीव और पुद्गल इनके संयोग के कारण हि दिखाई देते हैं; क्यों कि जीव और पुद्गल इनके संयोग का अभाव होनेपर उनका भी अभाव हो जाता है। रागादिभाव और शुद्ध ज्ञान इनमें वध्यघातकभावरूप विरोध होनेसे रागादिभावों का सद्भाव होनेपर शुद्धज्ञानस्वभाव का आविर्भाव नहीं होता और शुद्धज्ञान का आविर्भाव होनेपर रागादिभावों का विनाश हो जाता है। यदि ज्ञान के समान रागादिभाव भी जीव के स्वभावभूत भाव होते तो ज्ञान के साथ साथ रागादिभावों का भी शुद्ध जीव में सद्भाव पाया जाता। ये रागादिभाव शुद्धज्ञानस्वरूप जीव में नहीं पाये जाते। अतः ये रागादिभाव जीव के स्वाभाविकभाव नहीं हो सकते।

जीवादजीवमितिलक्षणतो विभिन्नं ।
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम् ।।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं ।
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ? ।।४३।।

अन्वयः– इतिलक्षणतः जीवात् स्वयं उल्लसन्तं अजीवं ज्ञानी जनः विभिन्नं अनुभवति । तत् अहो बत ! अज्ञानिनः निरवधिप्रविजृम्भितः अयं मोहः कथं नानटीति ?

अर्थ– जिसका प्रोक्तप्रकार से लक्षण बताया गया है अर्थात् जिसका लक्षण चैतन्य बताया गया है ऐसे जीव से स्वयं प्रादुर्भूत होनेवाले अर्थात् कर्म को निमित्तरूप से पाकर अज्ञानी आत्मा में स्वयं विभावभावरूप से प्रादुर्भूत होनेवाले अथवा अज्ञानिजीव के विभावभाव को निमित्तरूप से पाकर स्वयं द्रव्यकर्म के रूप से प्रादुर्भूत होनेवाले-परिणत होनेवाले अजीव का ज्ञानी जन अर्थात् भेदज्ञानी जीव जब विभिन्नरूप से अनुभव करता है तब हे भव्यजीवो ! अनादिकाल से प्रादुर्भूत हुआ यह अज्ञानीजीव का मोह हि बारबार या आत्यन्तिकरूप से अभिनय करता है यह कैसे सम्भवनीय है ?

[कहनेका भाव यह है कि– द्रव्यमोह का और भावमोह का स्वरूप तथा जीव का स्वरूप इनमें जब आगमप्रमाण से और स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाण से भेद की सिद्धि हुई है तब अर्थात् मोह जब जीव से भिन्न है तब वह अज्ञानिजीव से भी भिन्न है; क्यों कि शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अज्ञानी जीव भी शुद्धजीव है । ऐसी अवस्था में मोह हि नरनारकादिपर्यायों के रूप से अभिनय कैसे करता है यह समझमें नहीं आता । यह अज्ञानी जीव शुद्धचैतन्य-शून्य होनेसे अजीव होनेके कारण पुद्गल के समान है तो भी वही उक्तरूप से अभिनय करता है–शुद्धचैतन्य का स्वामी शुद्ध जीव उक्तरूप से अभिनय नहीं करता । जब शुद्ध जीव उक्तप्रकार का अभिनय नहीं करता है, तब अकेला मोह अभिनय करता है यह आश्चर्य की बात है । मोह और अज्ञानी जीव इनमें कथंचित् अभेद होनेसे मोह–शब्द से अज्ञानी जीव का ग्रहण होता है । अज्ञानिजीव शुद्धनय की दृष्टि से ज्ञानी होनेपर भी वह उक्तप्रकार से अभिनय करता है यह बडे आश्चर्य की बात है । जब शुद्धजीव अभिनय नहीं करता तब पारिशेष्यन्याय से मोह हि अभिनय करता है ऐसा कहा गया है । अकेला मोह हि अभिनय करता है यह महान आश्चर्य की बात है]

त. प्र– इतिलक्षणतः प्रोक्तचैतन्यलक्षणात् । इति प्रोक्तप्रकारं चैतन्यं लक्षणं यस्य सः । तस्मात् । जीवाज्जीवद्रव्यात् । स्वयमुल्लसन्तं स्वयं प्रादुर्भवन्तं पुद्गलद्रव्यादुपादानभूतात्प्रादुर्भवन्तमजीवं द्रव्य-मोहाख्यमज्ञानिजीवाद्वा स्वयमुल्लसन्तं प्रादुर्भवन्तं वाऽजीवं भावमोहाख्यं ज्ञानी जनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्र-माणात्मकज्ञानवान्निर्विकल्पसमाधिरतो जनो जीवो विभिन्नं जीवद्रव्यात्पृथग्भूतमनुभवत्यनुभवगोचरीकृत्य विजानाति यतस्ततस्मात्कारणादहो बताहो महादाश्चर्यम् । अज्ञानिनो शुद्धज्ञानगुणविकलात्पुद्गलादशुद्ध-जीवाद्वा । निरवधिप्रविजृम्भितोऽनादेः प्रादुर्भूतः । अनादेः पुद्गलात्मकादशुद्धजीवात्मकाद्वोपादानादुत्पन्नः । अत्रावधिशब्दः पूर्वकालमर्यादार्थवचनोऽवसेयो, भविष्यति शुद्धपर्यायत्वेन प्रादुर्भावात्तद्विनाशसम्भवात् । निरवधि पूर्वावधिरहितं यथा स्यात्तथा । निरवधिप्रविजृम्भितोऽनादेः प्रादुर्भूतो निरवधिप्रविजृम्भितः । अनादेः प्रादुर्भूत इत्यर्थः । अयं मोहः द्रव्यमोहस्त्वेव भावमोहस्त्वेव वा कथं कथंकारं नानटीति पौनः-पुन्येनात्यर्थं नटत्यभिनयं करोति । शुद्धजीवस्य द्रव्यभावमोहयोश्चान्योन्यभिन्नत्वे स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाणेन परमार्थतः सिद्धे सत्यप्राप्तशुद्धजीवाकारेण द्रव्यमोहेन भावमोहेन वा नटनसामर्थ्यसम्पन्नेनाऽपि न नटनी-यम् । तथाऽप्ययं द्रव्यमोहो भावमोहात्मकत्वेन परिणतो जीवो वा नटति रागद्वेषादिरूपैः नरनारकादि-

रूपेश्च विभावभावैः परिणमतीत्यहो महदाश्चर्यम् । अज्ञानविजृम्भितविभावभावत्वेन परिणमनं जीवस्याज्ञानिनः इति भावः । नानटीतीति यङ्लुङन्तस्य रूपम् ।

विवेचन– अजीव का अर्थात् जीवभिन्न कर्मरूप पुद्गलादिपदार्थों का और शुद्धजीवभिन्न रागादिभावों का स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा शुद्धजीव से विभिन्नत्व सिद्ध हो जानेपर भी ये सभी भिन्न भाव स्वयं भिन्नभिन्न नानाविध पर्यायों का रूप धारण कर अभिनय करते हैं यह बडे आश्चर्य की बात है । जिसप्रकार पिशाच परकाय में प्रवेश कर असमर्थ जीव को स्वाधीन कर स्वयं नानाविध अभिनय करता है उसीप्रकार मोहनीयकर्म परमार्थतः जीव से भिन्न होनेपर भी असमर्थ जीव को स्वाधीन कर स्वयं नानाविध विभावपर्यायों के रूप से अभिनय करता है– एक पर्याय को छोडकर दूसरी पर्याय के रूप से परिणत होता है । जिसप्रकार मंत्रसामर्थ्य से संपन्न जीव के शरीर में पिशाच प्रवेश नहीं कर सकता उसीप्रकार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपसामर्थ्य से या भेदज्ञान की यथार्थ संपूर्ण सामर्थ्य से संपन्न जीव को मोह अपने अधीन नहीं कर सकता । जब समर्थ जीव को वह अपने अधीन नहीं कर सकता तब उसके द्वारा अभिनय भी नहीं कर सकता । अज्ञानी जीव से मोह परमार्थतः विभिन्न होनेपर भी उसको अपने अधीन करके जो अभिनय करता है उसका कारण है अज्ञानिजीव की असमर्थता–सम्यग्दर्शनादिरूपसामर्थ्य–विकलता । यद्यपि अज्ञानिजीव नानाविध विभावभावों के रूप से परिणत होता हुआ दिखाई देता है तो भी वे नानाविध विभावभाव मोहकृत होनेसे मोह के है; परमार्थतः वे जीव के नहीं हे । यदि वे परमार्थतः जीव के होते तो मुक्तावस्था में भी वे जीव में पाये जाते । अतः वस्तुतः मोह हि नानाविधविभावभावरूप स्वांग रचता है । वह वस्तुतः अचेतन होनेपर भी और शुद्ध जीव से विभिन्न होनेपर भी जीव के द्वारा स्वयं नानाविध अभिनय करता है यह बडे आश्चर्य की बात है । फिर भी वह मोह हि नानाविध अभिनयों का कारण है इस बात को स्वीकार करना होगा ।

नानाटयतां तथापि–

पौनःपुन्येनाऽत्यर्थं वाऽभिनयं करोतु, तथापि । यङन्तस्य लोटो रूपमिदम् ।

यदि मोह नानाविधविभावभावों के रूप से अभिनय करता हो तो भले हि करे; तथापि–

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाटचे
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नाऽन्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध–
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४ ॥

अन्वयः– अस्मिन् महति अनादिनि अविवेकनाटचे वर्णादिमान् पुद्गलः एव नटति, न च अन्यः रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिः अयं जीवः (नटति) !

अर्थ– इस अनादिकाल से चले आये भेदज्ञानशून्य महान् नाटच में–नाटक में शुद्धचैतन्यरहित होनेसे पुद्गल के या पुद्गलसदृश विभावभावों के अधीन बना हुआ अत एव वर्णादिमान् होनेसे पुद्गलसदृश अज्ञानिजीव अर्थात् पुद्गल (मोहकर्म) हि अभिनय करता है–उससे भिन्न रागादिसंज्ञक द्रव्यकर्मरूपपुद्गलकृत विकारों के अर्थात् विभावभावों के विरोधी शुद्धचैतन्यरूप–असाधारणधर्मप्रधान द्रव्यरूप यह जीव अभिनय नहीं करता ।

त. प्र.– अस्मिन् संसाररूपे महति सुतरां दीर्घकालवर्तिन्यनादिन्यादिमत्त्वेन विकलेऽविवेकनाटचे भेदज्ञानशून्ये नाटके वर्णादिमानज्ञानिजीवपक्षे शरीरसंयोगवशाद्वर्णादिधर्मसंसर्गयुक्तः पुद्गलद्रव्यात्मककर्मपक्षे वर्णादिधर्मैस्तादात्म्यमापन्नश्च ' भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां

भवन्ति मतुबादयः ' इति संसर्गनित्ययोगयोर्मतोर्विधानात् । पुद्गलः शुद्धचैतन्यविकलत्वादचेतनत्वात्कथञ्चिद्वर्णादिमत्त्वात्पुद्गलसदृशः संसारी जीवः । ' देवपथादिभ्यः ' इतीवार्थस्य कस्योस् । यद्वा पुद्गलः पुद्गलद्रव्यसंसर्गो द्रव्यकर्मसंयोगोऽस्त्यस्येति पुद्गलः । ' ओऽभ्रादिभ्यः ' इत्यो मत्वर्थीयः । संसारिजीवश्शुद्धचैतन्यविकलत्वाच्चासमर्थत्वात्पौद्गलिकमोहकर्माधीनत्वान्मोहोदयानुकूलप्रवृत्तिमत्त्वाच्च संसारिणो जीवस्य कथञ्चित्पुद्गलत्वं पुद्गलसदृशत्वं वा । यथा पिशाचप्रवेशप्रतिहतसदसद्बुद्धिर्जीवः पिशाचभावानुकूल्येन वर्तते तथा वर्तनाच्च तादृशजीवशरीरकृताः क्रियाः पिशाचकृता अभिधीयन्ते तथा मोहाविष्टस्यात्मनो मोहानुकूलवृत्तिमत्त्वात्तत्क्रियाः परिणतिरूपा मोहस्वरूपपरिणामापन्नपुद्गलकृता अभिधीयन्ते । ततः पुद्गल एव नटतीत्येव कलशकारेणुक्तम् । न च नैवाऽन्यः पुद्गलात्पुद्गलसदृशाच्छुद्धचैतन्यविकलादज्ञानिजीवाद्वा भिन्नो रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरुपचरितरागादिसञ्ज्ञाभूतकर्मपुद्गलनिमित्तकर्तृजनितविभावभावात्मकाशुद्धजीवपरिणामविरोधिशुद्धचैतन्यस्वभावप्रधानस्वरूपः । रागादिपुद्गलेन रागादिरूपाशुद्धजीवविभावपरिणामनिमित्तकर्त्रीभूतत्वात्कारणं कार्योपचारात्प्राप्तरागादिसञ्ज्ञकेन पुदगलेन कर्मावस्थापन्नेन कृता जनिता ये विकारा विभावपरिणामास्तेषां विरुद्धो यो शुद्धश्चैतन्यधातुश्चैतन्याख्यः स्वभावस्तत्प्रधाना मूर्तिः स्वरूपं यस्य सः । अथ शुद्धस्वरूपो जीवो नटति विभावभावात्मिका परिणतीर्जनयति । अशुद्धजीव एव विभावभावात्मकत्वेन परिणमति, न शुद्धजीवो विभावभावात्मकपरिणमननिमित्तभूतद्रव्यकर्माभावादिति भावार्थः ।

विवेचन– अनादिकाल से अज्ञान के अर्थात् मिथ्याज्ञान के कारण यह अज्ञानी जीव नरनारकादिपर्यायरूप और रागद्वेषादिविभावभावरूप स्वांगों को रचकर नाटक खेल रहा है और नानाविध दुःखों को भोग रहा है। इसका कारण है भेदज्ञान का अभाव। यदि भेदज्ञान होता तो इतने स्वांगों की रचना न करनी पड़ती। इसप्रकार अनादिकाल से इस संसार की रंगमंचपर नाटक खेलनेवाला जीव कर्मोदय के कारण शरीर के साथ संबंध को प्राप्त हुआ होनेके कारण कथंचित् वर्णादि से और रागादिभावों से युक्त दिखाई देता है। इस वर्णादिमत्त्व के और रागादिरूपविभावभावयुक्तत्व के कारण वह वर्णादिमान् पुद्गल के सदृश बना हुआ होनेसे पुद्गल कहा गया है। सचेतन होनेपर भी मूर्ख जिसप्रकार जड कहा जाता है उसीप्रकार वर्णादि से कथंचित् युक्त होनेसे अज्ञानी जीव भी पुद्गल कहा जाता है। इसप्रकार पुद्गलसंज्ञा को धारण करनेवाला अज्ञानी जीव ही नानाविध विभावभावों के रूप से परिणत होकर अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता आया है और भेदज्ञान की प्राप्ति के द्वारा मोक्षावस्था को प्राप्त होनेतक परिभ्रमण करता रहेगा। इससे भिन्न शुद्धचैतन्यवाला जीव संसार में परिभ्रमण नहीं करता; क्यो कि वह वैभाविकभावों के रूप से परिणत नहीं होता और अत एव वह शुद्धचैतन्य से युक्त होता है।

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत् प्रयातः ॥
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥ ४५ ॥

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रान्तौ ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ॥

अन्वयः– इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा जीवाजीवौ यावत् स्फुटविघटनं नैव प्रयातः तावत् व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या विश्वं व्याप्य प्रसभविकसत् ज्ञातृद्रव्यं अतिरसात् स्वयं उच्चैः चकाशे ।

अर्थ– इसप्रकार अर्थात् जीव और अजीव परस्पर अर्थात् एक दूसरेसे भिन्न है इसप्रकार भेदज्ञानरूप करवत के प्रयोग से अर्थात् करवत चलाकर विदारण करनेसे- एक को दूसरेसे भिन्न करनेसे जीव और जीवभिन्न रागादिभाव और पुद्गलादिरूप परद्रव्य स्पष्टरूप से अन्योन्यभिन्नरूपता को जिससमय प्राप्त होते हैं–एक दूसरेसे भिन्न हो जाते है उसीसमय व्यक्त हुई चैतन्यमात्ररूप शक्ति के द्वारा अर्थात् केवलज्ञान के द्वारा संपूर्ण विश्व को व्यापकर अर्थात् विश्वगत संपूर्ण पदार्थों को उनकी सभी पर्यायों के साथ जानकर आत्यन्तिकरूप से विकसित होनेवाला ज्ञातृद्रव्य अर्थात् ज्ञाता जीव आत्यन्तिक अनुभव से स्वशुद्धात्मस्वरूप के अनुभवन में मग्न होनेसे) स्वयं आत्यन्तिकरूप से प्रकट हो जाता है अर्थात् उसका निर्दोष शुद्धचैतन्य प्रकट हो जाता है । इसप्रकार जीव और अजीव अलग होकर चले गये –इसप्रकार जीव और अजीव अन्योन्यभिन्न होकर अपने शुद्धस्वरूप से परिणत हो गये ।

[इस कलश में किये गये 'चकाशे' इस परोक्षभूत (लिट्) के प्रयोग से 'आत्मा की स्वयं स्वरूप में प्रकट होनेकी क्रिया इतनी शीघ्रता से होती है कि अन्य पुरुष को उसका पता भी नहीं चलता ' यह भाव प्रकट होता है । देखिए ' परोक्षे लिट् ' यह सूत्र ।]

त. प्र.– इत्थममुना प्रकारेण । जीवाजीवयोः स्वभावभेदेन परस्परभिन्नत्वप्रकारेणेत्यर्थः । ज्ञान–क्रकचकलनापाटनं भेदज्ञानस्वरूपदारुदारणप्रयोगनिमित्तिकं साकल्येन जीवाजीवयोः पृथक्करणम् । ज्ञानं भेदज्ञानमेव क्रकचं दारुदारण साधनं तस्य कलनं प्रयोगः । तेन आ समन्तात्पूर्णत्वेन पाटन दारणम् । पृथक्करणमित्यर्थः । नाटयित्वाऽभिनीय । पाटनक्रियावत्पृथक्करणक्रियां विधायेत्यर्थः । जीवाजीवौ जीवश्चाजीवो जीवभिन्नविभावभावात्मकः पुद्गलादिपदार्थात्मकश्च जीवाजीवौ । स्फुटविघटनं प्रस्पष्टभेदं । स्फुटं प्रस्पष्टं च तद्विघटनं भेदश्च स्फुटविघटनम् । तत् । यावन्नैव प्रयातस्तावत् । यस्मिन्नेव क्षणे प्रयातो गच्छतस्तस्मिन्नेव क्षणे इत्यर्थः । व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या प्रादुर्भूतया चैतन्यमात्रशक्त्या । चिदेव चिन्मात्री । स्वार्थे मात्रट् । चिन्मात्री चासौ शक्तिश्च चिन्मात्रशक्तिः । तया । विश्वं विश्वस्थनिखिलज्ञेयजातं व्याप्य विगाह्य । ज्ञात्वेत्यर्थः । प्रसभविकसदत्यर्थविकासं प्राप्नुवज्ज्ञातृद्रव्यं ज्ञाताऽऽत्माऽतिरसात्स्वशुद्धस्वरूपानुभवातिशयादुच्चैरत्यर्थं चकाशे प्रकाशते स्म । अत्र परोक्षार्थकलिडन्तप्रयोगादुत्तमपुरुषः परमात्मस्वरूपत्वेन परिणममानस्यात्मनस्तादृक्परिणतिक्रियामवलोकयितुमसमर्थ इति ध्वनितम् । असावभिप्रायः ' परोक्षे लिट् ' इति सूत्रव्याख्यानानुसारेण प्रकटीकृतः ।

इत्यनेन प्रकारेण जीवाजीवौ जीवश्चाजीवो द्रव्यभावात्मकं कर्म च पृथगन्योन्यभिन्नौ भूत्वा निष्क्रान्तौ स्वीयशुद्धस्वरूपमापन्नौ ।

इति मुक्तेन्दुवर्मविरचितायां तत्त्वप्रबोधिन्याख्यायामात्मख्यातिव्याख्यायां जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ।।

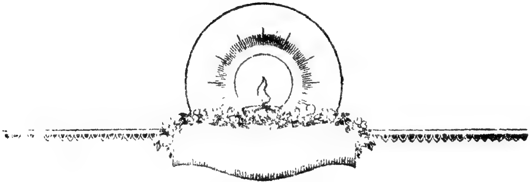
विवेचन– लकडीपर करवत चलानेसे लकडी के दो भाग अलग अलग हो जाते हैं । भेदज्ञान को अर्थात् जीव और जीवभिन्न पदार्थ इनमें परमार्थतः होनेवाले भेद के ज्ञान को करवत कहा है; क्यों कि इस भेदज्ञान की सामर्थ्य से जीव और अजीव इनमें स्पष्टरूप से भेद किया जाता है–वे दोनों अलग अलग किये जाते हैं । इस भेदज्ञान की सामर्थ्य से जिससमय जीव और शुद्धज्ञानप्रतिबन्धक अजीव अर्थात् पौद्गलिक कर्म और विभावभाव एक दूसरेसे अलग हो जाते हैं उसीसमय आत्मा का शुद्धचैतन्य प्रकट हो जाता है। यह शुद्धचैतन्य प्रकट हो जानेपर आत्मा

शुद्धात्मानुभूति में आत्यन्तिकरूप से मग्न हो जाती है और संसारस्थ सभी पदार्थों को जानती है। इस आत्मानुभूति में शुद्ध आत्मा सुतरां स्पष्टरूप से जानी जाती है। इसप्रकार भेदज्ञान की सामर्थ्य से यथाक्रम ज्ञाता आत्मा सुतरां स्पष्ट हो जाती है। भेदज्ञान के बिना शुद्धात्मरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती। कहा भी है कि–

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

जीव अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ न आतम पावै,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहै निजभाव सुदावै।
श्रीगुरुके उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावै,
तो जगमाँहि महन्त कहाय वसै शिव जाय सुखी नित थावै॥

– पं. जयचंद्रजी



२
कर्तृकर्माधिकारः

[कर्ता का स्वरूप पिछले जीवाजीवाधिकार में स्पष्ट किया गया है। इस अधिकार में कर्मकारक के स्वरूपके ज्ञान की आवश्यकता होनेसे और निश्चयषट्कारकों और व्यवहारषट्कारकों के स्वरूप को जाननेके लिये अवशिष्ट चार कारकों के स्वरूप के ज्ञान की आवश्यकता होनेसे कर्मादिकारकों के स्वरूपपर प्रकाश डाला जाता है। - सं.]

कर्मकारक–

आचार्य पूज्यपादकृत जैनेन्द्रव्याकरण में ' कर्त्राऽऽप्यं कर्म ' इसप्रकार से और पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में ' कर्तुरीप्सिततमं कर्म ' इसप्रकार से कर्म की व्याख्या की गयी पायी जाती है। प्रथम सूत्र का अर्थ–धातूपात्तक्रिया का आश्रयभूत कर्ता से अपनी क्रिया के द्वारा जो सुतरां प्रापणीय (आप्यतम) होता है उसे कर्म कहते हैं। दूसरे सूत्र का अर्थ–धातूपात्तव्यापाराश्रयभूत कर्ता के क्रिया के द्वारा प्राप्त करनेके लिये जो इष्टतम (अत्यंत इष्ट) होता है वह कर्मसंज्ञक कारक होता है।

धातूपात्तक्रिया का आश्रयभूत कर्ता की अपनी क्रिया के द्वारा जो फल प्राप्त किया जाता है उस फल का जो आश्रय होता है उसको कर्मकारक कहते हैं। 'कुम्भकारः घटं करोति' इस वाक्य के द्वारा प्रकृत कर्मसंज्ञक कारक का स्पष्टीकरण किया जाता है। कृधातूपात्त उत्पादनक्रिया का आश्रय कुम्भकार है; क्यों कि घटोत्पादन की क्रिया उसके द्वारा की जाती है। अतः वह ' करोति ' इस क्रिया का कर्ता है। उत्पादनक्रिया के द्वारा वह घट को प्राप्त कर लेता है। अतः घट को कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है। 'प्रकृतवाक्य में जिसकी कर्मसंज्ञा की गयी है वह उत्पद्यमान अर्थात् अनुत्पन्न–असिद्ध होनेसे उसे घट कहना उचित नहीं जचता ' इस आक्षेप का समाधान वैयाकरणों ने निम्न प्रकार से किया है —

" ' घटं करोति ' इत्यत्र च घटपदस्य कपाले निरूढलक्षणा। तस्य घटरूपफलशालित्वात्कर्मत्वं नानुपपन्नम्। कपालस्य सिद्धत्वेऽपि घटत्वेनाऽसिद्धत्वात्कृतिविषयत्वं नाऽनुपपन्नम्। " [– वैयाकरणभूषणटीकायाम्। पृ. १०१]

' घटं करोति ' इस वाक्य में घटपद की कपाल के विषय में निरूढलक्षणा है। उसके (कपाल के) घटरूप फल से युक्त होनेसे उसका कर्मत्व अनुपपन्न (अयुक्त) नहीं है। कपाल का सिद्धत्व होनेपर भी घटरूप से असिद्ध होनेके कारण उसका क्रिया का विषय होना अयुक्त नहीं है।'

यद्यपि 'करोति' इस क्रियाबोधक पद से घट की उत्पद्यमान अवस्था प्रतीत होती है–सिद्ध अवस्था प्रतीत नहीं होती, तो भी उत्पद्यमान अवस्थाए घटसिद्धि के अभिमुख होनेसे निरूढलक्षणा के अनुसार उत्पद्यमान अवस्था-रूप कपाल की घटसंज्ञा की जाती है। कपालरूप अवस्था अन्ततोगत्वा घटकार्यरूप बननेवाली होनेसे उसकी कर्मसंज्ञा अनुपपन्न नहीं है।

इस कर्म के वैयाकरणों ने ईप्सिततमत्व की अपेक्षा से तीन और आप्यत्व की या सामान्य की अपेक्षा से सात भेद किये हैं। अध्यात्मशास्त्र के विषय का विचार करते समय तीन भेदों की हि अपेक्षा होती है। ईप्सिततमत्व की अपेक्षा से कर्मकारक के (१) प्राप्य, (२) निर्वर्त्य और (३) विकार्य ये तीन भेद है। नीचे दिये हुए उद्धरण से इन तीन भेदों का खुलासा हो जाता है।

"तच्च कर्म त्रिविधं–निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्य च। तत्र निर्वर्त्यं यदसदेवोत्पाद्यते। यस्य जन्म क्रियते तन्निर्वर्त्यम्। यथा 'कटं करोति'। कटो ह्यसन्नेव क्रियते। विकार्यं यल्लब्धसत्ताकमवस्थान्त-रमापद्यते, यथा 'काष्ठानि भस्मीकरोति'। नाऽत्र काष्ठान्यसन्त्येव जन्यन्ते, कारणान्तरेभ्यः प्रागेवो-त्पन्नत्वात्। उत्पन्नानि तु केवल भस्माख्यामवस्थामापद्यन्ते। प्राप्य यत्र व्याप्तिव्यतिरेकेण क्रियाकृता विशेषा न विभाव्यन्ते, यथा 'आदित्य पश्यति' इति। न हि दृशिक्रियया व्याप्यमानस्य सवितुः प्राप्तेः अन्यः क्रियाकृतविशेषः उपलभ्यते इति प्राप्यमेतत्कर्म।" –काशिकाविवरणपञ्जिकायाम्, पृ. २९४

वह कर्म निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य इसप्रकार तीन प्रकार का है। उनमें निर्वर्त्यकर्म वह है जो अविद्यमान होनेसे हि उत्पन्न किया जाता है। जिसकी उत्पत्ति की जाती है–की जा रही है वह निर्वर्त्यकर्म है। जैसे 'चटाई करता है'। जो विद्यमान है हि नहीं ऐसी चटाई बनायी जाती है। जिसका (पहले से हि) अस्तित्व होनेपर जिसकी भिन्न अवस्था निर्माण की जाती है वह विकार्य कर्म है। जैसे 'लकडियों को भस्म करता है।' अलब्धसत्ताक हि लकडियां पैदा नहीं की जाती; क्यों कि अन्यकारणों से पूर्वकाल में हि वे उत्पन्न हुई होती हैं। उत्पन्न लकडियों की सिर्फ भस्मरूप अवस्था उत्पन्न की जाती है। व्याप्ति को छोडकर अन्य क्रियाकृत विशेष जिसमें प्रकट नहीं किये जाते वह प्राप्यकर्म है। जैसे 'सूर्य को देखता है'। दर्शनक्रिया से व्याप्त होनेवाले सूर्य में प्राप्ति से भिन्न ऐसे क्रियाकृतविशेष नहीं पाये जाते इसलिए यह (सूर्य) प्राप्यकर्म है।

जो कार्यावस्थारूप से कारण में विद्यमान नहीं होता और अत एव निर्माण किया जाता है वह निर्वर्त्यकर्म कहलाता है। घटरूप कार्य अपने पृथुबुध्नोदराद्याकार के रूप से मृत्तिकारूप अपने उपादानकारण में विद्यमान नहीं होता। वह कुम्हार के द्वारा अपने साधनों से मिट्टि से बनाया जाता है। अतः मृत्तिका और घट की बीच को जो मृत्तिका की अवस्थाएं होती है वह निर्वर्त्यकर्म कही जाती है। काठ किसी उपादान से प्रयोजक कर्ता के द्वारा बनाया नहीं जाता, क्यों कि अन्य कारणों से पूर्वकाल में हि वह उत्पन्न हुआ होता है। ऐसे लब्धसत्ताक काठ की भस्मरूप भिन्न अवस्था निर्माण की जाती है। अतः काठ को विकार्यकर्म कहा जाता है। 'सूर्य को देखता है' इस उदाहरण में देखनेवाले की दर्शनक्रिया से व्याप्त होनेवाले सूर्य मे प्राप्ति से भिन्न होनेवाली क्रिया के द्वारा किया गया विशेष नहीं दिखाई देता। अतः सूर्य प्राप्यकर्म इस संज्ञा को प्राप्त होता है। अधस्तन उद्धरण मे इसी विषय का अधिक खुलासा हो जाता है।

"तत्र निर्वर्त्यं 'घट करोति' इति। अत्र घटस्य प्रकृतिः सत्यपि न परिणामित्वेन विवक्षिता। 'भस्म करोति' इत्यत्रापि काष्ठादिप्रकृतेः अविद्यमानतायाः अविवक्षायां निर्वर्त्यता एव। एवं 'घटं करोति' इत्यत्रापि प्रकृतेः परिणामित्वेन विवक्षायां विकार्यता एव इति केचित्। अन्ये तु 'घटं करोति' इति निर्वर्त्यमेव। घटादि चाऽसदेव नैयायिकाभिमते, 'सत्' इति स्वरीत्या साङ्ख्यादिमते च। .... विकार्यं च द्विविधम्। प्रकृत्युच्छेदसम्भूतम्–प्रकृतिभूतस्यात्मनः उच्छेदसम्भूतं प्राप्तम्। 'काष्ठं भस्म

करोति । ' गुणान्तरोत्पत्त्या–' सुवर्णं कुण्डलं करोति ' अत्र काष्ठसुवर्णयोः परिणामित्वविवक्षाविवक्षयोरपि भस्मकुण्डलरूपकर्मणोः निर्वर्त्यता एव, काष्ठसुवर्णयोस्तु विकार्यत्वमित्यवधेयम् । प्राप्यम्–' रूपं पश्यति ' इति । अत्र क्रियाकृतः विशेषः आवरणभङ्गरूपः अस्त्येव, प्रतिपत्तृगम्यश्चेति यद्यपि तथापि प्रतिपत्तृव्यतिरिक्तपुरुषापेक्षया विशेषः न गम्यते इति क्रियाकृतेत्यस्यार्थो बोध्यः ! ……… " ननु ' काष्ठं विकार्यं कर्म ' इत्युक्तं अयुक्त, क्रियाजन्यफलाश्रयत्वाभावात् " इति चेत्, अत्राहुः–प्रकृतिविकृत्योः अभेदविवक्षायां निरूढया उत्पत्त्याश्रयता; यद्वा काष्ठानि विकुर्वन् भस्म करोतीत्यर्थः, तण्डुलान् विक्लेदयन् ओदनं निर्वर्तयतीतिवत् । "

उन कर्मों में जो निर्वर्त्यनामक कर्म है वह ' घटं करोति ' इस वाक्य में घट है । इस उदाहरण मे घट की प्रकृति (उपादानकारण) विद्यमान होनेपर भी परिणामिरूप मे विवक्षित नहीं है । ' भस्म करोति ' इस वाक्य में भी अविद्यमानकाष्ठादिप्रकृति की विवक्षा न होनेसे निर्वर्त्यरूप कर्मत्व हि है । इसीप्रकार ' घट करोति ' इस वाक्य में भी प्रकृति की , जिसका परिणमन होता है उसकी , परिणामिरूप से विवक्षा होनेपर विकार्यरूप कर्मता हि है ऐसा कोई कहता है । ' घट करोति ' इस वाक्य में जो कर्म है वह निर्वर्त्यरूप हि है ऐसा दूसरे कोई कहते हैं । नैयायिकादिको के दर्शन मे घटादिकार्य उत्पत्ति के पूर्वकाल मे असत् (अविद्यमान) हि होता है । मेरी दृष्टि में और सांख्यादिकों की दृष्टि में घटादिकार्य उत्पत्ति के पूर्वकाल म सत (विद्यमान) रहता है । · · विकार्यकर्म दो प्रकार का है । पहला प्रकृति के उच्छेद से (विनाश) से उत्पन्न होता है–प्रकृतिभूतपदार्थ के उच्छेद से उत्पन्न हुआ होता है । ' काष्ठं भस्म करोति ' ' लकडी को भस्म कर देता है ' । (लकडी प्रकृति है और उसके उच्छेद से भस्म तैयार होता है ।) दूसरा अन्यगुणों की उत्पत्ति से उत्पन्न होता है । ' सुवर्णं कुण्डलं करोति ' सुवर्ण का कुंडल बनाता है । ' इस उदाहरण में काष्ठ और सुवर्ण के परिणामित्व की विवक्षा होनेपर भी भस्म की और कुण्डल की निर्वर्त्यकर्मता हि है और काष्ठ की और सुवर्ण की विकार्यकर्मता हि है ऐसा जानना । प्राप्यकर्म–' रूप पश्यति ' इस उदाहरण में आवरणभंगरूपक्रियाकृतविशेष यद्यपि विद्यमान है और वह प्रतिपत्ता के द्वारा ज्ञेय भी है तो भी वह प्रतिपत्ता से भिन्न पुरुष के द्वारा नहीं जाना जाता । इसप्रकार ' क्रियाकृत–' इसका अर्थ समझना चाहिये । · यदि " ' काष्ठ विकार्य कर्म है ' ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं है; क्यों कि उसमें क्रिया से उत्पन्न होनेवाले फल के आश्रयपन का अभाव है " ऐसा कहना हो तो इस विषय मे कहते है कि ' प्रकृति और विकृति इनमें अभेद की विवक्षा होनेके कारण निरूढलक्षणा से काष्ठ में क्रियाजन्य उत्पत्तिरूप फल का आश्रयत्व है अथवा लकडियों को विकृत करनेवाला ' भस्म करता है ' ऐसा अर्थ है, जैसे चावलों को विक्लिन्न करनेवाला ओदन को बनाता है–पकाता है ।

ऊपरके उद्धरण में जो अभिप्राय व्यक्त किया गया है उसका मतलब निम्नप्रकार है । जहा कार्यरूप कर्म की प्रकृति परिणामिरूप से विवक्षित नहीं होती वहां वह कर्म निर्वर्त्यजाति का होता है । जिस वाक्य मे प्रकृति का उल्लेख पाया जाता है और प्रकृति परिणामिरूप से विवक्षित होती भी है और नहीं भी होती वहां कार्यरूप कर्म निर्वर्त्यजाति का होता है और प्रकृति विकार्यजाति का कर्म होती है । जो कर्म क्रियाकृतविशेष से युक्त होता है और प्रतिपत्ता के द्वारा वह विशेष जाना भी जाता है किंतु प्रतिपत्ता पुरुष से भिन्न पुरुष के द्वारा वह नहीं जाना जाता वह प्राप्यजाति का कर्म होता है । ये सभी जाति के कर्म कर्तृकृतक्रियाजन्यफल का अवश्यमेव आश्रयरूप होते है ।

जैनेतर वैयाकरणों के अभिप्रायों को व्यक्त करनेके बाद जैन वैयाकरण के अभिप्राय को व्यक्त करनेवाला प्रमाण पेश किया जाता है । इस प्रमाण को देखनेसे दोनों प्रकार के वैयाकरणों के अभिप्रायों में कितना साम्य और कितना वैषम्य है इसका पाठकों को पता चल जायगा ।

" तत्र कर्म–

प्राप्यं विषयभूतं च निर्वर्त्यं विक्रियात्मकं ।
कर्तुश्च क्रियया व्याप्यमीप्सितानीप्सितेतरत् ॥

आप्यत्वसामान्यं सर्वत्र विद्यते । प्राप्यम्–ग्रामं गच्छति, आदित्यं पश्यति । विषयभूतम्–जैनेन्द्रमधीते, हिमवन्तं शृणोति । निर्वर्त्यम्–घटं करोति, ओदनं पचति । विक्रियात्मकम्–काष्ठानि दहति, घटं भिनत्ति । ईप्सितम्–गुडं भक्षयति, ओदनं भुङ्क्ते । अनीप्सितम्–ग्रामं गच्छन् व्याघ्रं पश्यति, कण्टकान् मृद्नाति । अनुभयम्–ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति ।

–जैनेन्द्रमहावृत्तौ, बना. सं. पृ. ३९

कर्म प्राप्य, विषयभूत, निर्वर्त्य, विक्रियात्मक (विकार्य), ईप्सित, अनीप्सित और अनुभय इसप्रकार सात भेदवाला होता है । हरएक कर्म कर्ता की क्रिया से व्याप्य होता है । 'ग्रामं गच्छति' यह प्राप्यकर्म का उदाहरण है । कर्ता की गमनरूपक्रिया का ग्राम में सद्भाव न होनेपर भी गाव में पहुचनारूप जो विशेष उससे गाव व्यक्त है और उसका ज्ञान गमनक्रिया के कर्ता को होता है–दूसरे को नहीं । अतः 'ग्राम' प्राप्य कर्म है । दूसरा उदाहरण 'आदित्यं पश्यति' यह है । यहा दर्शनक्रियाकृत जो विशेष है उसका द्रष्टा को ज्ञान हो जाता है और द्रष्टा की [illegible] अवलोकन की क्रिया से आदित्य व्याप्यमान है । दर्शनक्रिया का विशेष आदित्य की प्राप्ति–मात्र ही है–दूसरा कोई विशेष नहीं है । अतः 'आदित्य' प्राप्यकर्म है । विषयभूतकर्म के दो उदाहरण दिये है । 'जैनेन्द्रमधीते' इस उदाहरण में अधीतिक्रिया का 'जैनेन्द्र' यह विषयभूत कर्म है । उसीप्रकार शृणोतिक्रिया का 'हिमवान्' यह विषयभूत कर्म है । निर्वर्त्यकर्म के भी दो उदाहरण सामने रखे गये है । 'घटं करोति' यह प्रथम उदाहरण है । यहां घट की प्रकृति की परिणतिविवक्षा से विवक्षा नहीं है । यह घट पृथुबुध्नोदराद्याकाररूप से उत्पत्ति के पूर्वकाल में विद्यमान न था । उत्पत्ति के बाद अपने विशिष्ट आकार से वह उत्पन्न हुआ है । अतः यह निर्वर्त्यकर्म है । इसीप्रकार ओदन अपनी प्रकृति में विक्लित्ति–अवस्थारूप से नहीं था । अग्नि और जल के संयोग से वह बन गया है । अतः ओदन भी निर्वर्त्यकर्म है–विकार्य नही । हां, चावल जरूर विकार्य संज्ञा के योग्य है, क्यों कि ओदनरूप विकार उसमें उत्पन्न होता है । विकार्यकर्म के भी दो उदाहरण दिये गये है । 'काष्ठानि दहति' इस उदाहरण में 'काष्ठानि' यह विकार्य कर्म है; क्यो कि दहनक्रियारूपपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी योग्यता शक्ति उसमें है । उसीप्रकार कपालादिरूप से परिणत होनेकी योग्यता घट में होनेसे 'घटं भिनत्ति' इस वाक्य में स्थित घटशब्द से ज्ञेय घट विकार्यकर्म है ।

संसारी आत्मा की षट्कारकी में संसारी आत्मा की मिथ्यादर्शनादिरूप से पूर्णता को प्राप्त हुई परिणति प्राप्यकर्म है, विभावरूप से परिणत होनेकी जो क्रिया जो अपनी उत्पत्ति के काल के पूर्वकाल में संसारी आत्मा में नहीं रहती वह जिसमें चल रही होती है ऐसे आत्मा की सक्रियावस्था निर्वर्त्यकर्म है और विभावरूप से परिणत होनेकी योग्यता से युक्त बद्ध आत्मा विकार्यकर्म है । शुद्ध आत्मा की षट्कारकी में शुद्धपर्यायापन्न आत्मा प्राप्यकर्म है; शुद्धपरिणमनक्रियायुक्तावस्थापन्न आत्मा निर्वर्त्यकर्म है और स्वभावपरिणमन की योग्यता को धारण करनेवाली आत्मा विकार्यकर्म है । यद्यपि परिणाम और परिणामी इनमें निश्चयनय की दृष्टि से भेद नहीं है तो भी निश्चयषट्कारकी की सिद्धि के लिये व्यवहारनय के आधार से परिणाम और परिणामी इनमें कथंचित् भिन्नता को स्वीकार करके उन दोनों में कर्तृकर्मत्वादिकारकों की व्यवस्था की जाती है। व्यवहारनय के आधार के बिना निश्चयनय की सिद्धि नहीं की जा सकती । निश्चय और व्यवहार में साध्यसाधकभावरूप संबंध होता है ।

निर्वर्त्यरूप और प्राप्यरूप कर्म का अपने स्वरूप से अपनी प्रकृति में उपादान में जो अभाव पाया जाता है वह प्रागभावरूप होता है । प्रागभाव भावरूप होता है–तुच्छाभावरूप नहीं । निर्वर्त्य और प्राप्य कर्म का जो

प्रागभाव होता है वह प्रकृति की–उपादान की परिणमनशक्ति रूप से भावरूप हि होता है। निर्वर्त्य और प्राप्यकर्मों की उत्पत्ति प्रकृति की–उपादान की प्रागवस्था के प्रध्वंसाभाव से होती है। यह प्रध्वंसाभाव भी भावरूप हि होता है। प्रकृति की पूर्वावस्था का प्रध्वंसाभाव निर्वर्त्य और प्राप्य इन कर्मरूप होता है। जैनेतर वैयाकरण, सांख्य, वेदान्ती आदि के समान जैन सर्वथा सद्वादी नहीं है और नैयायिकों के समान सर्वथा असद्वादी भी नहीं है। उसकी दृष्टि में कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्वकाल में अपनी प्रकृति में–उपादान में कथंचित् सत् भी है और कथंचित् असत् भी। यदि सर्वथा सत् हो तो उत्पत्ति किसकी और सर्वथा असत् हो तो भी उत्पत्ति किसकी?

जिसप्रकार निर्वर्त्य और प्राप्य कर्म उपादानकर्तृक कहे जाते हैं उसीप्रकार वे व्यवहारनय की दृष्टि से निमित्तकर्तृक भी कहे जाते है, फिर भले हि कर्तृभूत निमित्त उदासीन हो या अनुदासीन। हां, जिसप्रकार इन दोनों प्रकार के कर्मों का अपने उपादान के साथ अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है, उसीप्रकार उन दोनों का निमित्तकर्ता के साथ अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता–सिर्फ बाह्यव्याप्यव्यापकभाव होता है। उपादान परिणमनशक्ति से युक्त होनेपर भी उसकी विभावरूपपरिणति निमित्त के संयोगरूपसंबंध से हि होती है–उसके अभाव में नहीं होती। अतः उपादान के विभावभावरूप कार्य के साथ निमित्त का बहिर्व्याप्यव्यापकभावरूपसंबंध का होना आवश्यक प्रतीत होता है; क्यों कि उस संबंध के अभाव में उपादेय और निमित्त में निमित्तनैमित्तिकभाव का होना असंभव है। यदि उपादान को उपादेयरूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल होनेवाली निमित्त की क्रिया के अभाव में भी उपादान की विभावभाव के रूप से परिणति होती है ऐसा मान लिया तो विभावभावों को उपादान का सनातन स्वभाव मानना होगा, जिससे संसारी जीव के मुक्तावस्था प्राप्ति का नितरां असंभव हो जायगा। यह कहना ठीक है कि उपादान का परिणमन उपादान में हि होता है और निमित्त का क्रियारूप परिणमन निमित्त में हि होता है; किंतु परिणमनाभिमुख उपादानकारण कितना भी समर्थ क्यों न हो निमित्त के सहकार से उसका बल उत्तेजित न हुआ तो उपादान उपादेयरूप से परिणत नहीं हो सकता। परिणतिक्रिया के आरंभकाल में उपादान के बल को–सामर्थ्य को अपने सहकार से उत्तेजित करना निमित्त का आवश्यक कार्य है। इस आवश्यक कार्य के अभाव में निमित्त का निमित्तत्व नहीं बनता। निमित्त चाहे प्रेरक हो या उदासीन वह उपादान का बलाधायक होता हि है। कौनसी भी पर्याय या कौनसा भी परिणाम बाह्य और आभ्यंतर हेतुओं के बिना अस्तित्व नहीं बन सकता। ' बाह्याभ्यन्तर–हेतुविशेषापादिताः पर्यायाः। ' [रा. वा. ५।२९।२१, वा. टी.] इस वचन से भी उक्त अभिप्राय की पुष्टि हो जाती है।

वैयाकरणों ने जिसकर्म की व्यवस्था बतलायी है वह नैमित्तिकभावरूप है; क्यों कि कर्म और कर्ता दो भिन्न पदार्थ होनेसे यहां कर्तृपद से निमित्तकर्ता का ग्रहण हो जाता है। नैमित्तिकभावरूप कर्म परिणामी अर्थात् उपादान की प्रधानता होनेपर उपादेय कहा जाता है। व्यवहारनय की दृष्टि से उनके विशेषण भिन्न भिन्न होते है। ' यह घट मिट्टि का है ' इस वाक्य में उपादान की प्रधानता है। ' यह घट विशिष्ट कुम्हार का है; क्यों कि उसके बिना घट का यह विशिष्ट आकार बन हि नहीं सकता ' इस वाक्य में निमित्त की प्रधानता है। ' यह घी का घडा है ' इस वाक्य में प्रयोजन की प्रधानता है। ' यह घडा जिनदत्त का है ' इस वाक्य में स्वामी की प्रधानता है। इसप्रकार घट के विषय में अनेक प्रकार से कथन किया जाता है। उपादान की प्रधानता की अपेक्षा से जो कथन है उस कथन को छोडकर अवशिष्ट कथन उपचरित है।

एकद्रव्य के विषय में भी षट्कारकों की व्यवस्था बन सकती है। प्रमाण देखिए–

" स्यादेतत् ' आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ' इत्यादिप्रयोगाः कथं सङ्गच्छन्ते, एकस्यैव वस्तुनो युगपत् एकक्रियानिरूपितकर्तृत्वकर्मत्वादेरसम्भवात् परया कर्तृसंज्ञया कर्मकरणादि–संज्ञाया बाधात्? " नैष दोषः, अहङ्काराद्युपाधिभेदेनात्मनोऽपि भेदमाश्रित्य ' आत्मनमात्मना हन्ति ' इत्यादिप्रयोगस्याकरे समर्थितत्वात्। – तत्त्वबोधिन्याम्, नि. सा. सं., पृ. १४१

विशेषणभेद से विशेष्यभूत द्रव्य को भिन्न समझकर एकद्रव्य के विषय में भी षट्कारकी बन सकती है यह बात उक्त शास्त्रीय प्रमाण से स्पष्ट हो जाती है।

ऊपर के विवेचन के द्वारा नैमित्तिकभावरूप कर्म का स्वरूप बतलाया गया है। यह स्वरूप व्यवहारनय की दृष्टि से बताया गया है। व्यवहारनय का अवलंबन करके निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का यथार्थ स्वरूप विशद-रूप से बताना है। व्यवहारनय का आश्रय लिये बिना अज्ञानी जीव को आत्मा का यथार्थ स्वरूप बताया नहीं जा सकता। यहि अभिप्राय 'जह णवि सक्कमणज्जो' इस गाथा के द्वारा स्वयं भगवान् कुंदकुंदाचार्य ने स्पष्ट किया है।

प्राप्य, निर्वर्त्य और विकार्य इन कर्मों का उपादानकर्ता की और उपादेयभूतकर्म की अपेक्षा से विचार किया गया है। सम्यग्दृष्टि का प्राप्यकर्म जीव की शुद्ध अवस्था है। निर्जरा के कारण वर्धमान होनेवाली शुद्ध परिणति उसका निर्वर्त्यकर्म है और शुद्धावस्थारूप से परिणत होनेकी योग्यतावाला होनेसे वह विकार्य कर्म है। कोई कहते हैं कि प्राप्यकर्म कालसूचक है। किन्तु यह कथन समझमें आनेके योग्य नही है। किसी भी शास्त्र में इसप्रकार का अभिप्राय नहीं पाया जाता। विकार्य कर्म के विषय मे ऐसा कहा जाता है कि वह हि पर्याय अर्थात् प्राप्यकर्म पूर्व-पर्याय का व्ययरूप और उत्तरपर्याय की उत्पत्तिरूप होनेयोग्य है इसलिये उसको विकार्य कहते है। कर्म अर्थात् पर्याय चाहे प्राप्यरूप हो, चाहे विकार्यरूप हो अथवा चाहे निर्वर्त्यरूप हो वह उत्पादव्ययात्मक होता है। प्रत्येक पर्याय उत्तरकालीन अन्यपर्यायरूप से परिणत होनेकी योग्यता रखती हि है। यदि पर्याय उत्तरपर्याय के रूप में परिणत होनेकी योग्यतावाली न हो तो उसकी उत्पादव्ययात्मकता हि नष्ट हो जायगी अर्थात् वह कूटस्थनित्य बन जायगी। पर्याय विकार्य भी हो और उत्पादव्ययहीन भी हो यह नहीं बन सकता। मृत्तिका का पिण्ड विकार्य पर्याय है। उसकी वह पिण्डावस्था का व्यय होकर कपालादि अवस्थाएं उत्पन्न होती है। ये कपालादि अवस्थाएं निर्वर्त्यकर्मरूप है और घट पर्याय प्राप्यकर्मरूप है। यदि पर्याय उत्पादव्ययात्मक न होती तो मृत्तिका से घट की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। सम्यग्दृष्टि आत्मा शुद्धस्वरूपवाली नहीं होगी। अत विकार्य कर्म अर्थात् पर्याय पूर्वोत्तर पर्यायों की संधि बतानेवाला है यह भाव केवल कपोलकल्पित है–इसमे कुछ तथ्य नही है। 'वह पर्याय रचानेके योग्य है इसलिए वह निर्वर्त्य कहलाती है' यह कथन भी अशास्त्रीय है। क्या यह अभिप्राय किसी शास्त्र में पाया जाता है? शास्त्रीय वचनों का मनमाना अर्थ नहीं लगाया जा सकता। हरएक पर्याय रचाये जानेकी योग्यता रखती है। अतः कर्म की प्राप्यकर्म और विकार्यकर्म ये संज्ञाएं भी नष्ट हो जायगी। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उपादान की और निमित्त की अपेक्षा से तीनों कर्मरूप होती है। परिणाम और परिणामी इनमें व्यवहारनय की दृष्टि से कथंचित् भेद होनेपर भी निश्चय-नय की दृष्टि से उनमें भेद न होनेसे आत्मा एक अखंड द्रव्यरूप है इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

करणकारक–

जो क्रिया की सिद्धि में प्रकटरूप से उपकारक होता है वह करणकारक है। यह करण का स्वरूप वैयाकरणों ने 'साधकतम करणम्' (पा.) 'साधकतमम् करणः' (जै.) इसप्रकार करण का स्वरूप बताया है। 'दात्रेण लुनाति' इस उदाहरण मे 'लुनाति' इस क्रियापद से बतायी जानेवाली काटने की क्रिया का दात्र-छेदनशस्त्र अमोघ साधन होनेसे इस सूत्र के अनुसार उसकी करणसंज्ञा होती है। यह कथन निमित्तनैमित्तिकभाव की अपेक्षा से किया गया है। यह करण लुनाति' इस क्रिया के कर्ता से भिन्न है। जब षट्कारकी एकद्रव्यविषयक होती है, तब कर्ता की उपादान की शक्ति-कर्तृगतक्रिया की शक्ति करणरूप होती है। 'मृत्तिका घट बनती है–घटरूप मे परिणत होती है' इस उदाहरण में मृत्तिका कर्ता है। मृत्तिकाश्रित घटरूप से परिणत होनेकी क्रिया मृत्तिका की घटरूप से परिणत होनेकी शक्तिपर–योग्यतापर अवलंबित होनेसे वह शक्ति हि करणसंज्ञा को धारण करती है।

संप्रदानकारक–

जिसको दिया जाता है उसका जो प्राप्य कर्म होता है और जो ददातिक्रिया का कर्म होता है उस कर्म का जिसके साथ संबंध घटित किया जाता है उसकी संप्रदानसंज्ञा होती है। 'ब्राह्मणाय गां ददाति' इस वाक्य में

प्रयुक्त ' गो ' इस शब्द का वाच्यभूत गौ ब्राह्मण का और ददातिक्रिया का कर्म है । इस कर्म का ब्राह्मण के साथ संबध घटित किया जानेसे उसकी संप्रदानसंज्ञा की गयी है । ' गा ' इस कर्म के द्वारा ब्राह्मण आश्रियमाण होनेसे उसकी संप्रदानसंज्ञा की गयी है । जब षट्कारकी एक द्रव्यविषयक होती है तब वह द्रव्य हि कर्म के द्वारा आश्रियमाण होनेसे अर्थात् उस हि द्रव्य के साथ कर्म का संबंध घटित हो जानेसे उसी द्रव्य की संप्रदानसंज्ञा हो जाती है । मृत्तिका घटरूप परिणाम के द्वारा मृत्तिका आश्रियमाण होनेसे अर्थात् घट का मृत्तिका के साथ तादात्म्यसंबंध होनेसे मृत्तिका की हि कर्म संज्ञा होती है । ' कर्मणोपेयः सम्प्रदानम् ' (जै.) यह सम्प्रदान का लक्षणसूत्र उक्त अभिप्राय का समर्थन करता है ।

अपादानकारक—

' ध्रुवमपायेऽपादानम् ' इसप्रकार आचार्यपाणिनि ने और ' व्यपाये ध्रुवमपादानम् ' इसप्रकार आचार्य पूज्यपादस्वामी ने अपादान का लक्षण किया है । ' अपाय इस शब्द का अर्थ विश्लेष—विभाग ऐसा है । विश्लेष प्राप्तिपूर्वक होता है अर्थात पहले संश्लेष होनेपर हि विश्लेष हो सकता है । विश्लेष धीप्राप्तिपूर्वक होता है और कायप्राप्तिपूर्वक होता है । जो विश्लेष कायप्राप्तिपूर्वक होता है वह धीप्राप्तिपूर्वक भी होता है । अतः जैनेन्द्रसूत्र में धीकृतविश्लेष का ग्रहण किया है । अपाय—विश्लेष—विभाग दो पदार्थों के विना नहीं होता । ध्रुवशब्द का अर्थ अविचल या अवधिभूत ऐसा होता है । धीकृत विभाग होते समय जो अचल या अवधिभूत होता है वह अपादान कहा जाता है । ' ग्रामादागच्छति ' इस उदाहरण में ग्रामशब्द की अपादानसंज्ञा है; क्यों कि ग्राम से अलग होनेसे पूर्वकाल में और उससे अलग होनेके बाद ग्राम विद्यमान रहनेवाला होनेसे अर्थात अचल होनेसे वह ध्रुव होता है । ' धावतोऽश्वात्पतितः ' इस उदाहरण में अश्वशब्द की अपादानसंज्ञा है; क्यो कि सवार के गिरते समय वह अवधिभूत होनेसे ध्रुव होता है । जब सभी कारक एकद्रव्यरूप हि होते है तब द्रव्य की पूर्वपर्याय का अभाव होनेपर भी द्रव्य ज्यों का त्यों अर्थात् अचल रहनेसे वह ध्रुव होनेके कारण उसकी अपादान संज्ञा होती है ।

अधिकरणकारक—

आचार्य पूज्यपादस्वामी ने जैनेन्द्र में अधिकरण का लक्षण ' आधारोऽधिकरणम् ' इसप्रकार और आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में ' आधारोऽधिकरणम् ' इसप्रकार दिया है । ' आध्रियन्ते क्रियागुणा अस्मिन्नित्याधार इति ' (का. वि. प.) इसप्रकार आधारशब्द की निरुक्ति पायी जाती है । ' जिसमें क्रिया अर्थात् क्रियारूप पर्याय और गुण प्रस्थापित किये जाते है वह आधार है ' ऐसा उस निरुक्तवचन का अर्थ है । क्रिया और गुण का संबध आधार के साथ जो संबध होता है वह कर्ता और कर्म के द्वारा होता है और अविनाभाव से भी होता है । क्रिया और गुण का कर्ता और कर्म के साथ जो संबध होता है वह संयोगरूप अथवा समवायरूप अर्थात् तादात्म्यरूप होता है । इस संबध से युक्त कर्ता को और कर्म को जो धारण करता है उसे आधार कहते हैं । ' कटे आस्ते ' (चटाईपर बैठता है) इस उदाहरण में कट की आधारसंज्ञा है । यहा बैठनेकी क्रिया का आश्रय कर्ता है और कर्ता चटाईपर बैठता है । यहां बैठनेकी क्रिया का कट के साथ जो संबंध है वह कर्ता के द्वारा है । ' स्थाल्यां पचति ' (थाली में पकाता है) इस उदाहरण में पचनक्रिया का थाली के साथ जो संबंध है वह कर्म के द्वारा है; क्यों कि विक्लेदनक्रिया का आश्रय कर्मरूप चावल होते है और चावलों का आश्रय थाली होती है । यदि कर्ता और कर्म को क्रिया का आधार माना तो कर्ता की और कर्म की अधिकरणसंज्ञा हो जायगी और उनकी कर्तृसंज्ञा और करणसंज्ञा नष्ट हो जायगी । जब सभी कारक एकद्रव्यरूप हि होते हैं तब आधीयमान परिणाम का अर्थात् कर्म का आधार होनेसे उस द्रव्य की हि अधिकरणसंज्ञा होती है ।

इसप्रकार कारकों के स्वरूप का स्पष्टीकरण करनेके बाद अब षट्कारकीपर विचार किया जाता है । षट्कारकी दो प्रकार की होती है—अभिन्नषट्कारकी अर्थात् एकद्रव्यविषयक षट्कारकी और भिन्नषट्कारकी अर्थात् अनेकद्रव्यविषयक षट्कारकी । अभिन्नषट्कारकी में एक हि शुद्ध या अशुद्ध द्रव्य को उसकी पर्यायों के आश्रय से कर्तृ-

कर्मविसज्ञाएं होती हैं। भिन्नषट्कारकी में प्रत्येक कारक अर्थात् किया का निर्वर्तक या हेतु दूसरे कारकों से भिन्न होता है। 'कुम्हार घट करता है' इस उदाहरण में कुम्हार (निमित्त-) कर्ता है, घट कर्म है, चक्रदण्डादि करण हैं। वह जिसको दिया जाता है वह संप्रदान है, जिससे लिया जाता है वह अपादान है और वह जहां रक्खा जाता है वह अधिकरण है। इसप्रकार जिसमें सभी कारक अन्योन्यभिन्न होते हैं उसे भिन्नषट्कारकी कहते है और जिसमें सभी कारक एकद्रव्यरूप होते है उसे अभिन्नषट्कारकी कहते हे।

भगवत्कुन्दकुन्दस्वामिविरचित पचास्तिकाय में जो अभेदषट्कारकी का प्ररूपण किया हुआ पाया जाता है उसको यहां उद्धृत किया जाता है। देखिए-

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥ ६२ ॥

कर्माऽपि स्वकं करोति स्वेन स्वभावेन सम्यगात्मा।
जीवोऽपि च तादृशकः कर्मस्वभावेन भावेन ॥ ६२ ॥

अर्थ– कर्मयोग्य पुद्गल भी अपने को अपने (अचेतन) स्वरूप से युक्त ऐसे अपने स्वीय के रूप से अर्थात् (अपनेसे अभिन्न ऐसे) अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से अच्छीतरह से परिणत करता है। कर्म का स्वभाव जिसप्रकार का होता है उसप्रकार के (आत्मस्वरूपप्रच्छादक) स्वभाव से युक्त होनेवाले (अपनेसे अभिन्न ऐसे) अपने उपादेयभूत (विभावभावरूप) परिणाम के रूप से जीव भी अपनेको अच्छीतरह से परिणत करता है। अत जीव भी कर्मयोग्यपुद्गलसदृश (अर्थात् शुद्धचैतन्यविकल विभावभावों का एकमेव कर्ता) है।

समयव्याख्या– अत्र निश्चयनयेन अभिन्नकारकत्वात् कर्मणः जीवस्य च स्वयं स्वरूपकर्तृत्व उक्तम् ' कर्म खलु कर्मत्वप्रवर्तमानपुद्गलस्कन्धरूपेण कर्तृतां अनुबिभ्राण, कर्मत्वगमनशक्तिरूपेण करणतां आत्मसात् कुर्वत्, प्राप्यकर्मत्वपरिणामरूपेण कर्मतां कलयत्, पूर्वभावव्यपाये अपि ध्रुवत्वालम्बनात् उपात्तापादानत्वम्, उपजायमानपरिणामरूपकर्मणा आश्रियमाणत्वात् उपोढसम्प्रदानत्वम्, आधीयमानपरिणामाधारत्वात् गृहीताधिकरणत्वम्, स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानं न कारकान्तर अपेक्षते। एव जीवः अपि भावपर्यायेण प्रवर्तमानात्मद्रव्यरूपेण कर्तृतां अनुबिभ्राणः, भावपर्यायगमनशक्तिरूपेण करणता आत्मसात् कुर्वन्, प्राप्यभावपर्यायरूपेण कर्मतां कलयन्, पूर्वभावपर्यायव्यपाये अपि ध्रुवत्वालम्बनात् उपात्तापादान–(त्वम् ?) त्वः, उपजायमानभावपर्यायरूपकर्मणा आश्रियमाणत्वात् उपोढसम्प्रदानत्व., आधीयमानभावपर्यायाधारत्वात् गृहीताधिकरणत्वः स्वय एव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानः न कारकान्तरं अपेक्षते। अतः कर्मणः कर्तु. नास्ति जीवः कर्ता, जीवस्य कर्तुः नास्ति कर्म कर्तृ निश्चयेन ' इति।

यहा निश्चयनय की दृष्टि से अभिन्नकारकरूप होनेसे कर्म का और जीव का स्वय अपने भावो का–परिणामों का कर्तापन कहा गया है अर्थात् कर्म और जीव निश्चयनय की दृष्टि से स्वय कर्ता, कर्म, करण, अपादान और अधिकरण होनेसे कर्म और जीव अपने अपने परिणामों का उपादान कर्ता है–कर्म जीव का और जीव कर्म का–कर्ता नहीं है यह कहा है। कर्म के रूप से परिणत होनेवाले अर्थात् कर्म के रूप से परिणत होनेकी क्रिया से युक्त होनेवाले पुद्गलस्कन्ध के रूप से कर्तृत्व धारण करनेवाला, कर्मत्वरूप से परिणत होनेकी शक्ति के रूप से करणता को आत्मसात् करनेवाला, प्राप्यकर्मरूप परिणाम के रूप से कर्मत्व को धारण करनेवाला, पूर्वकालवर्ती विभावपर्याय का अभाव होनेपर भी उस पुद्गलकर्म का उत्पद्यमान उत्तरपर्याय में स्वरूप से अन्वय पाया जानेसे ध्रुवत्व का–स्थिरत्व का अवलब करनेवाला होनेसे अपादानत्व को स्वीकार करनेवाला, उत्पन्न होनेवाले परिणामरूप कर्म के

द्वारा आश्रित किया जानेवाला होनेसे सम्प्रदानत्व को धारण करनेवाला, आश्रित किये जानेवाले परिणतिक्रियायुक्त परिणाम का आधार होनेसे अधिकरणत्व को धारण करनेवाला कर्मयोग्यपुद्गल स्वयमेव षट्कारकीरूप से व्यवस्थित होनेसे अन्य कारक की अपेक्षा नहीं करता। [कहनेका भाव यह है कि-कर्मयोग्य पुद्गल उपादानकर्ता, कर्मरूप उसका परिणाम, करणरूप उसकी शक्ति इनमें अभेद होनेसे, पूर्वपर्याय का अभाव होनेपर उसका उत्तरपर्याय में अन्वय पाया जानेसे वही ध्रुव होनेसे, परिणामरूप कर्म का संबध उसके साथ हि होनेसे और परिणाम का अधिकरण वही होनेसे अन्य उपादानकर्ता की या निमित्तकर्ता की वह अपेक्षा नहीं रखता] इसप्रकार औदयिकादिभावरूप पर्याय के रूप से परिणत होनेवाले अर्थात् परिणत होनेकी क्रिया से युक्त होनेवाले आत्मद्रव्य के रूप से कर्तृत्व को-कर्तापन को धारण करनेवाला, औदयिकादिभावरूपता को प्राप्त होनेकी अर्थात् औदयिकादिभावरूप पर्याय के रूप से परिणत होनेकी शक्ति के रूप से करणता को आत्मसात करनेवाला, प्राप्यरूप औदयिकादिभावात्मक पर्याय के रूप से कर्मत्व को स्वीकार करनेवाला, पूर्वतन अर्थात् नयी उत्तरपर्याय उत्पन्न होनेके अनन्तरपूर्वकालवर्ती औदयिकादिभावात्मकपर्याय का नाश-अभाव-अपगमन होनेपर भी ध्रुवत्व का-स्थिरत्व का-नित्यत्व का अवलंब करनेसे अर्थात् पूर्वोत्तरकालवर्ती दोनों पर्यायों में अपने स्वरूप से अन्वित होनेसे अपादानत्व को ग्रहण करनेवाला, उत्पन्न होनेवाले अर्थात् उत्पत्तिक्रियात्मक औदयिकादिभावात्मक पर्यायरूप कर्म के द्वारा आश्रित किया जानेवाला होनेसे सप्रदानत्व को धारण करनेवाला, आश्रित किये जानेवाले औदयिकादिभावात्मकपरिणतिक्रियायुक्त परिणाम का आधार होनेसे अधिकरणत्व को ग्रहण करनेवाला जीव भी स्वयमेव षट्कारकीरूप से अवस्थित होनेवाला होनेसे अन्यकारक की अपेक्षा नहीं करता। [कहनेका भाव यह है कि-उपादानकर्ता, कर्मरूप उसका औदयिकादिभावरूप परिणाम, करणरूप उसकी पारिणामिकी शक्ति इनमें अभेद होनेसे, पूर्वपर्याय का अभाव और उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होतेसमय पूर्वपर्याय का अभाव होनेपर भी उत्तरपर्याय में उसका अन्वय पाया जानेसे वही जीव ध्रुव होनेसे, औदयिकादिभावात्मकपरिणामरूप कर्म का संबध उसके साथ हि होनेसे और उक्त परिणाम का आधार वही होनेसे अन्य उपादानकर्ता की या निमित्तकर्ता की जीव अपेक्षा नही करता; क्यों कि वह स्वयं षट्कारकीरूप होता है। कारक द्रव्यशक्तिरूप होता है यह भूलना नही।] अतः निश्चयनय की दृष्टि से कर्मरूप कर्ता का जीव कर्ता नहीं होता और जीवरूप कर्ता का कर्म कर्ता नहीं होता। [औदयिकादिभाव जीव के नैमित्तिक भाव होनेसे उन भावोंपर उपादान की प्रधानता से विचार किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस विषय में निमित्त का सर्वथा अभाव है। इस प्रकरण में निमित्त को सिर्फ गौण बताया गया है। यदि औदयिकादिभावरूप परिणति को सर्वथा निर्निमित्तक माना तो वे भाव स्वाभाविकभाव बन जायेंगे और जीव की मुक्तावस्था में भी उनका अभाव नहीं होगा। उक्त कथन निश्चयनयाश्रित होनेसे और निश्चयनय व्यवहारनयसापेक्ष होनेसे निमित्त का यहां सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता। यदि निश्चयनय को निरपेक्ष माना तो वह मिथ्यानय बन जायगा। 'निरपेक्षा नया मिथ्या' ऐसा शास्त्र-वचन भी है। हां सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि में व्यवहारनय और निमित्त गौण बन जाते हैं और इसलिए भिन्नकारक उसकी दृष्टि में ग्राह्य नहीं होता।]

उक्त अभिप्राय के समर्थनार्थ प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्वाधिकार की एक गाथा उसकी तत्त्वदीपिकानामक टीका के साथ उद्धृत की जाती है। देखिए-

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ३४। ।

कर्ता करण कर्म फलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ ३४ ॥

त. दी.- यः हि नाम एव कर्तारं करणं कर्मफलं च आत्मानं एव निश्चित्य न खलु परद्रव्यं परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसम्पर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्यायं च शुद्धं आत्मानं उपलभते, न पुनः

अन्यः। तथाहि–यदा नाम अनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसन्निधिप्रधावितोपरागरञ्जितात्मवृत्तिः जपापुष्पसन्निधिप्रधावितोपरागरञ्जितात्मवृत्तिः स्फटिकमणि इव परारोपितविकारः अहं आसं संसारी, तदापि न नाम मम कः अपि आसीत्, तदा अपि अहं एकः एव उपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्ता, सः अहं एकः एव उपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणं आसम्। अहं एकः एव उपरक्तचित्परिणमनस्वभावेन आत्मना प्राप्यः कर्म आसम्, अहं एकः एव च उपरक्तचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यं विपर्यस्तलक्षणं दुःखाख्यं कर्मफलं आसम्। इदानीं पुनः अनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसन्निधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिः इव विश्रान्तपरारोपितविकारः अहं एकान्तेन अस्मि मुमुक्षुः, इदानीं अपि न नाम मम कः अपि अस्ति, इदानीं अपि अहं एकः एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्ता अस्मि, अहं एकः एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणं अस्मि, अहं एकः एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेन आत्मना प्राप्यः कर्म अस्मि, अहं एकः एव सुविशुद्धचित्परिणामस्वभावस्य निष्पाद्यं अनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलं अस्मि। एवं अस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ च आत्मानं एकं एव भावयतः परमाणोः इव एकत्वप्रभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिः न जातु जायते। परमाणुः इव भावितैकत्वः परेण नो सम्पृच्यते। ततः परद्रव्यासम्पृक्तत्वात् सुविशुद्धो भवति। कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि च आत्मत्वेन भावयन् पर्यायैः न सङ्कीर्यते। ततः पर्यायासङ्कीर्णत्वात् च सुविशुद्धः भवति इति।

इसप्रकार जो कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल इनको परमार्थतः आत्मरूप हि निश्चितरूप से जानकर अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से इनमें और आत्मा मे तादात्म्य होनेसे परमार्थतः अभेद जानकर परमार्थतः परद्रव्य के रूप से अर्थात् द्रव्यकर्म के और भावकर्म के रूप से परिणत नहीं होता वह जीव हि जिसके साथ होनेवाले परद्रव्य के अर्थात् द्रव्यभावकर्मों के सपर्क का–सबध का नाश–अभाव हो गया हुआ होता है और जिसकी पर्याये (आत्मरूप) द्रव्य में अन्तर्लीन हो गयी होती है अर्थात् जो विभावपर्याय के रूप से परिणत नहीं होती ऐसी शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कर लेता है, दूसरा जीव अर्थात् जो कर्तृकरणादिभावों को आत्मरूप न समझकर परद्रव्य के–विभावभाव के रूप से परिणत होता है वह जीव शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं कर ले सकता। [सारांश, जिस जीव को कर्तृकर्मादिभावों में और आत्मा मे होनेवाले भेद का ज्ञान नहीं होता और भेदज्ञानविकल होनेसे परद्रव्य के विभावभाव के रूप से परिणत होता है उसे शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती।] खुलासा–जब अनादिकाल से प्रकृष्ट रूप से सिद्ध हुए पुद्गलोपादानक कर्मरूप ऐसे और आत्मा को बद्ध करनेवाले निमित्त के सान्निध्य से–संश्लेष के द्वारा आत्यन्तिकरूप से उत्पादित किये गये रागद्वेषमानमदश मल से रंजित अर्थात् मलिनित की गयी है आत्मवृत्ति–आत्मा का स्वाभाविकभाव–जिसकी, जपाकुसुम के सान्निध्य के द्वारा आत्यन्तिकरूप से उत्पादित किये अथवा उत्पन्न कराये गये वर्ण से जिसका स्वरूप रंजित अर्थात् रंगयुक्त बनाया गया हुआ है ऐसे स्फटिक के समान पर के द्वारा जिसमें विकार–विभावपरिणाम उत्पादित किये गये थे अर्थात् परके निमित्त से जो विभावरूप से परिणत होता था ऐसा मै संसारी था तब भी कोई भी मेरा नहीं था, उस समय भी उपरक्त–आच्छादित–विकलीकृत स्वभाव से स्वतंत्र बना हुआ मै अकेला हि कर्ता था, उपरक्त–रञ्जित–आच्छादित हुए स्वभाव से–शक्ति से साधकतम बना हुआ वह मै अकेला हि करण था, आत्मा के द्वारा उपरक्त हुए चैतन्यपरिणमन के रूप से प्राप्य होनेसे मै अकेला हि कर्म था और उपरक्त हुए चैतन्यपरिणमनस्वभाव के द्वारा उत्पादित किया जानेवाला सौख्यरूप–जो कि यथार्थसुख के स्वरूप से विपरीतस्वरूपवाला होनेसे दुःखरूप होता है–कर्मफल मै अकेला हि था। अब फिर अनादिकाल से प्रकृष्टरूप से सिद्ध हुए पुद्गलोपादानक कर्मरूप ऐसे आत्मा को बद्ध करनेवाले निमित्त के सांनिध्य के ध्वंस से–अभाव से जिसका सुतरां विशुद्ध ऐसा स्वाभाविक आत्मपरिणाम व्यक्त हुआ है, जपाकुसुम के सानिध्य के ध्वंस से जिसका विशुद्ध

स्वाभाविक स्वपरिणाम अभिव्यक्त हुआ है ऐसे स्फटिकमणि के समान जिसके पर के द्वारा उत्पादित किये गये विकार का अभाव हो गया है ऐसा मैं आत्यन्तिकरूप से मोक्षप्राप्ति की इच्छा करनेवाला हूं, इस समय भी कोई भी मेरा नहीं है, इससमय भी मैं अकेला हि सुतरां विशुद्ध ऐसे चित्स्वभाव के कारण स्वतंत्र बना हुआ कर्ता हूं और मैं अकेला हि सुतरां विशुद्ध ऐसे चित्स्वभाव से साधकतम बना हुआ करण हूं और मैं अकेला हि सुतरां विशुद्ध ऐसे चित्परिणमनस्वभाव से युक्त आत्मा के द्वारा प्राप्य होनेसे (अथवा आत्मा के द्वारा) सुतरां विशुद्ध ऐसे चित्परिणमनस्वभाव के रूप से प्राप्य होनेसे कर्म हू और मैं अकेला हि सुतरां विशुद्ध चित्परिणमनस्वभाव के द्वारा उत्पन्न करने योग्य आकुलतारहित होना जिसका स्वरूप होता है ऐसा सौख्यनामक कर्मफल हू। इसप्रकार बन्धमार्ग में अर्थात् संसारमार्ग में और मोक्षमार्ग मे 'आत्मा एक हि है-शुद्धचिन्मात्रस्वरूप हि है' इसप्रकार चिंतन करनेवाले जीव के परमाणु के समान एकत्व की प्रकटता करनेके लिये उद्युक्त हुई इस आत्मा की परद्रव्यरूप और परद्रव्यरूप-निमित्तकृत स्वविभावभावरूप परिणति कदापि नही होती। परमाणु के समान जिसने (आत्मा के) एकत्व को प्राप्त कर लिया है या जानलिया है वह जीव पर के द्वारा-द्रव्यकर्म के और भावकर्म के द्वारा संपृक्त-संस्पृष्ट नहीं होता। उसीकारण परद्रव्य के-द्रव्यभावकर्म के द्वारा संपृक्त न होनेसे वह जीव सुतरां विशुद्ध हो जाता है। कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल इनको आत्मरूप से जिसने जान लिया है-इनका आत्मरूप से अनुभव किया है वह (विभावात्मक) पर्यायों से युक्त नहीं होता अर्थात् विभावात्मकपर्यायों के रूप से परिणत नहीं होता। उसीकारण (विभावात्मक) पर्यायो से युक्त न होनेके कारण सुतरां विशुद्ध हो जाता है।

खुलासा- उपादान की उपादेयरूप से परिणति होतेसमय उस परिणति के अनुकूल निमित्त की उपस्थिति के विना उपादान उपादेय के रूप से परिणत नही हो सकता। 'अनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरञ्जितात्मवृत्तिः' इस सामासिक पद मे प्रयुक्त किये गये 'उपाधिसंनिधिप्रधावितोपराग' इस शब्दसमूह से और 'परारोपितविकारः' इस सामासिक पद मे प्रयुक्त किये आङ्उपसर्गपूर्वक 'रुह्' धातु के णिजन्त क्तान्त रूप से उक्त भाव अभिव्यक्त हो जाता है। दूसरी बात यह है कि उक्त टीका में कर्म और जीव की विभावभावरूप परिणति इनमें अन्वयव्यतिरेक बताया जानेसे उक्त अभिप्राय की पुष्टि हो जाती है। जब कर्मरूप उपाधि का सान्निध्य (संयोग) होता है तब असमर्थ जीव की विभावरूप परिणति होती है। यह अन्वय है। जब उक्त उपाधिका अभाव होता है तब समर्थ बने हुए जीव की विभावरूप परिणति नही होती। यह व्यतिरेक है। इस अन्वयव्यतिरेक से निमित्त का कथंचित् अर्थात् व्यवहारनय से किंचित्करत्व सिद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय का समर्थन समयसारकी ८०-८१-८२-१६१-१६२-१६३-१६४-१६५-२५१-२५२ इन गाथाओं से होता है। जीव की विभावपरिणति के समय निमित्त का सिर्फ सान्निध्य या अस्तित्व होता है इस मन्तव्य का उक्त प्रमाण से परिहार हो जाता है। हरएक मुमुक्षु जीव को आगमवचन को प्रमाणभूत मानना चाहिये-उसका अपलाप करना ठीक नहीं।

श्रीप्रवचनसार में शुद्धात्मोपलब्धि के समय शुद्धात्मरूप एकद्रव्याश्रितषट्कारकी प्रवृत्त होती है ऐसा बताया गया है। वह गाथा और उसकी तत्त्वप्रदीपिकानामक टीका पेश की जाती है। देखिए—

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षितयाऽत्यन्तमात्मायत्तत्वं द्योतयति—

अब अन्यकारक की अपेक्षा रखनेवाला न होनेसे शुद्धोपयोग से उत्पन्न होनेवाली शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति आत्यन्तिकरूप से आत्मा के अधीन होती है यह (स्पष्टरूप से) प्रकट करते है —

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६॥

तथा स लब्धस्वभावः सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितः।
भूत स्वयमेवाऽऽत्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्टः ॥ १६॥

अर्थ– उसीप्रकार ' जिसने अनतज्ञानादिशक्तिरूप स्वभाव स्वयमेव प्राप्त करलिया है, जो स्वयमेव सर्वज्ञ बना हुआ होता है अर्थात् स्वयमेव याने अथ और आलाक के बिना जो सभी पदार्थों का ज्ञाता बना हुआ होता है और जो सभी लोकपतियों के अर्थात् शत इंद्रों के द्वारा स्वयमेव पूजित हुआ होता है वह ' स्वयंभू ' होता है ऐसा है ' ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा गया है ।

तत्त्वप्रदीपिका– अथ खलु आत्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् गृहीतकर्तृत्वाधिकारः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्व कलयन्, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वं अनुबिभ्राणः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् सम्प्रदानत्वं दधानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमे अपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वावलम्बनात् अपादानत्व उपाददानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्य आधारभूतत्वात् अधिकरणत्व आत्मसात् कुर्वाणः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेण उपजायमानः, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माणि अपास्य स्वयमेव आविर्भूतत्वात् वा 'स्वयम्भूः ' इति निर्दिश्यते। अतः न निश्चयतः परेण सह आत्मनः कारकत्वसम्बन्धः अस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैः भूयते ।

परमार्थतः शुद्धोपयोगरूप परिणति के माहात्म्य के कारण सपूर्ण घातिकर्मों का अभाव हो जानेसे शुद्ध और अनन्त शक्तियों से युक्त चैतन्यस्वभाव की जिसको प्राप्ति हो गयी है, शुद्ध और अनत शक्तियों से युक्त ज्ञायकरूप परिणाम के कारण स्वतत्र बनी हुई होनेसे जिसने कर्तृत्वशक्ति को स्वीकार किया है, शुद्ध और अनत शक्तियों से युक्त ज्ञान के रूप से परिणत होनारूप अपने परिणाम के रूप से प्राप्य होनेसे कर्मत्व को धारण करनेवाली अर्थात् शुद्ध और अनतशक्तियों से युक्त ज्ञान के रूप से–स्वस्वभावानुभूति के रूप से परिणत होनेकी क्रियारूप स्वजातीय अर्थात् शुद्ध और अनतशक्तियो से युक्त ज्ञान के परिणाम के रूप से प्राप्य होनेसे जो कर्मत्व को धारण करनेवाली होती है शुद्ध और अनत शक्तियों से युक्त ज्ञान के रूप से परिणत होनेकी शक्ति के द्वारा (स्वभावानुभूति की) साधकतम होनेसे जो करणत्व को धारण करनेवाली होती है, शुद्ध और अनत शक्तियों से युक्त ज्ञान के परिणाम के रूप से प्राप्य बननेवाले कर्म के द्वारा आश्रित की जानेवाली होनेसे जो संप्रदानत्व को धारण करनेवाली है, शुद्ध और अनंतशक्तियों से ज्ञान के रूप से परिणत होते समय पूर्वकालवर्ति विकलज्ञानरूप अपने परिणाम का अभाव होनेपर भी स्वाभाविकज्ञानरूप अपने अक्रमभाविपरिणाम से ध्रुवत्व का–स्थिरत्व का अवलब करनेवाली होनेसे जो अपादानत्व को धारण करनेवाली होती है, शुद्ध और अनंतशक्तियों से युक्त ज्ञान के रूप से परिणत होनेकी क्रियारूप अपने परिणाम का आधार होनेसे जो अधिकरणत्व को आत्मसात् करनेवाली होती है ऐसी यह आत्मा षट्कारकों के रूप से स्वयमेव विद्यमान होनेसे अथवा उत्पत्ति की अपेक्षा से द्रव्यकर्म और भावकर्म के रूप से जिनके भेद होते हैं ऐसे घातिकर्मों का अभाव करके स्वयमेव प्रकट हुई होनेसे ' स्वयभू ' इस नाम से कही जाती है । अतः निश्चयनय की दृष्टि से परद्रव्य के साथ आत्मा के कारकत्व का संबंध नहीं है जिससे कि शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि के लिये सामग्री का अन्वेषण करनेके लिये आत्माओं को व्यग्र होनेसे परतत्र होना पडे ।

घट का उपादानकर्ता मृत्पिण्ड होनेसे, घटपरिणामरूप कर्म मृत्पिण्ड से अभिन्न होनेसे, घटरूप से परिणत होनेकी मृत्पिण्ड की शक्ति मृत्पिण्ड से अभिन्न होनेसे घटरूपपरिणामात्मक कर्म के द्वारा आश्रित किया जानेवाला अत एव सप्रदानसज्ञा को धारण करनेवाला मृत्पिण्ड होनेसे, कपालादिरूप पूर्व परिणामों में और घटरूप परिणाम में मृत्तिका का अन्वय पाया जानेसे ध्रुवत्व के कारण अपादानसज्ञा को धारण करनेवाला मृत्पिण्ड होनेसे और घट का या घटरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय मृत्पिण्ड हि होनेसे मृत्पिण्ड स्वयमेव अभिन्नकारक है । यहां भिन्नकारक

की विवक्षा नहीं है। यह कथन निश्चयनयाश्रित है और वह निश्चयनयाश्रित होनेसे सहकारिसामग्री की विवक्षा नहीं है। सहकारिसामग्री विवक्षित न होनेपर भी घटरूप से परिणत होनेकी मृत्पिण्ड की क्रिया में उस सामग्री का सर्वथा अभाव होता है ऐसा नहीं है। यदि सहकारिसामग्री के अभाव में भी मृत्तिका घटरूप से परिणत होती है ऐसा माना तो प्रतीति का अतिलंघन हो जायगा और घटरूप से परिणत होनेकी शक्ति से युक्त मृत्तिका सदा, सर्वथा और सर्वदा घटरूप से हि परिणत होगी। यदि मृत्तिका अन्यमृद्भाजनरूप से परिणत होनेकी शक्ति से भी सपन्न होती है ऐसा माना तो उसी मृत्तिका का एकसाथ सभी मृद्भाजनों के रूप से परिणत हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जायगा। भिन्न भिन्न मृत्पिण्ड भिन्नभिन्न मृद्भाजनों के रूप से परिणत होनेकी भिन्नभिन्न शक्तियों से युक्त होते है ऐसा माना तो भी प्रतीत्यतिलंघननामक दोष उपस्थित हो जायगा। जिस मृत्पिण्ड से घट बन सकता है उससे कुण्ड कदापि नहीं बनेगा। मृत्पिण्ड की भिन्नभिन्नभाजनरूप परिणति सहकारिसामग्रीपर अवलम्बित होती है यह बात सर्वलोकप्रसिद्ध है। अतः उपादान की उपादेयरूप परिणति में यद्यपि निमित्त का स्वस्वरूप से अन्वय नहीं हो सकता है तो भी उस परिणाम में अनुकूल पडनेवाली निमित्त की क्रिया का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता। देखा तो ऐसा जाता है कि मृत्पिण्ड की भिन्नभिन्न आकारवाली परिणतियां निमित्तकारणपर अवलंबित होती है। इसीप्रकार अशुद्धावस्थ जीव की विभावरूप परिणति के समय उपादान की प्रधानता की अपेक्षा से अशुद्ध जीव कर्ता, करण, कर्म, संप्रदान, अपादान, और अधिकरण इनसे अभिन्न होनेसे अभिन्नकारकरूप होनेके कारण यद्यपि निमित्त विवक्षित न होनेसे उसकी अपेक्षा नहीं होती तो भी निमित्त सर्वथा अपेक्षित नहीं होता ऐसा नहीं होता। यदि निमित्त का अभाव होनेपर भी जीव विभावभावरूप से परिणत होता है ऐसा माना तो जीव का औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन भावों के रूप से परिणत होना नहीं बनेगा; क्यों कि ये सब भाव नैमित्तिक है। निमित्त के अभाव में जीव किसी एक भाव के रूप से सर्वत्र, सर्वथा और सर्वदा परिणत होता रहेगा। यदि अशुद्ध जीव निमित्त के अभाव में भी भिन्नभिन्न विभावों के रूप से परिणत हो सकता है ऐसा माना तो उस जीव का एक साथ अनंत विभावभावों के रूप से परिणत हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जायगा और एक द्रव्य की एक काल मे एक हि पर्याय होती है यह सिद्धान्त बाधित हो जायगा। अतः अशुद्धजीव की विभावरूप परिणति मे यद्यपि निमित्त स्वस्वरूप से अन्वित नहीं होता तो भी उस परिणति में अनुकूल पडनेवाली निमित्त की क्रिया का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता। क्रोधादिरूप भिन्नभिन्न विभावपरिणतियों के निमित्तकारण भिन्नभिन्न होते हे ऐसा शास्त्रकारो ने स्पष्टरूप से कह दिया है।

ग्रन्थारंभ—

अथ जीवाजीवौ एव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशतः।

अब जीव और अजीव कर्ता का और कर्म का वेष धारण कर प्रवेश करते है।

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥४६॥

अन्वयः— अज्ञानां ' इह चित् अहं एकः कर्ता, अमी कोपादयः मे कर्म ' इति कर्तृकर्मप्रवृत्तिं शमयत् परमोदात्तं अत्यन्तधीरं निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि (यद्वा निरुपधि पृथक् द्रव्यनिर्भासि) विश्वं साक्षात्कुर्वत् ज्ञानज्योतिः स्फुरति।

अर्थ— अज्ञ अर्थात् मिथ्याज्ञानी जीवों की 'स्वपरपदार्थों का ज्ञाता चैतन्यस्वरूप मैं कोपादिरूप विभावभावों का और कोपादिसंज्ञक द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता हूं और कोपादिरूप विभावभाव और द्रव्यकर्म मेरे उपादेयरूप और नैमित्तिकभावरूप कर्म हैं' इसप्रकार की कर्तृकर्मविषयकबुद्धि का–कल्पना का पूर्णतया नाश करनेवाला, अनंतचतुष्टययुक्त होनेसे अत्यंत उत्कृष्ट, जिसके द्वारा निर्विकल्पसमाधिरूप ध्यान किया जाता है ऐसे सम्यग्दृष्टि के मन को ध्यान के लिये आत्यन्तिकरूप से प्रेरित करनेवाला, द्रव्यभावकर्मरूप उपाधि से रहित होनेसे सोपाधि अशुद्धजीवद्रव्य से भिन्न आत्मद्रव्य को प्रकाशित करनेवाला [अथवा द्रव्यभावकर्मरूप उपाधि से रहित, समस्त आत्मभिन्नद्रव्यों से भिन्न अर्थात् अचेतनद्रव्यों के स्वभाव के रूप से परिणत न होनेवाला, सभी द्रव्यों को प्रकट करनेवाला], संपूर्ण पदार्थों को विशदप्रत्यक्ष के द्वारा जाननेवाला ज्ञानरूप तेज प्रकट होता है ।

त. प्र.— अज्ञानामप्रशस्तज्ञानवताम् । मिथ्याज्ञानवतामित्यर्थः । अप्रशस्तो मिथ्याज्ञानवत्त्वाज्ज्ञो ज्ञाताऽज्ञः । 'ज्ञाकृगृप्रीगुडः कः' इति कः । जानातीति ज्ञः । 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः' इति नञोऽत्राप्राशस्त्यमित्यर्थः । इह कोपादिरूपद्रव्यभावकर्मविषये चिदात्मकस्वस्वरूपानुभवनक्रियाश्रयत्वात्परद्रव्यस्वरूपज्ञातृत्वाच्च चेतनः । चेतयते जानातीति चित् । 'सम्पदादिभ्यः क्विप् वितः' इति क्विप् । अहमात्मैकः केवलः । असहाय इत्यर्थः । 'एकस्तु स्यात् त्रिषु श्रेष्ठे केवलेतरयोरपि' इति विश्वलोचने । तेन निमित्तकारणभूतद्रव्यकर्मसहकारविकल इत्यर्थः । कर्ता कोपादिरूपविभावभावात्मकपरिणतिक्रियाश्रयभूतत्वात्स्वतन्त्रत्वादुपादानकर्ता, कोपादिसञ्ज्ञकक-र्मात्मकविभावभावरूपपुद्गलपरिणामानुकूलक्रियाश्रयत्वाच्च निमित्तकर्ताऽस्मि । अमी एते कोपादयो विभावभावात्मका जीवोपादानकास्तत्सञ्ज्ञकाः पुद्गलोपादानकाश्च परिणामा मे ममेति कर्तृकर्मप्रवृत्ति कर्तृकर्मविषयां कल्पनामभितः पूर्णतया शमयद्विनाशयत् । कोपादिरूपविभावभावात्मकक्रियानाश्रयत्वा-त्कोपादिभावविषयकोपादानकर्तृत्वाभावेऽपि द्रव्यकर्मात्मकविभावभावस्वरूपपरिणतिक्रियानाश्रयत्वाच्च कोपादिद्रव्यकर्मात्मकपरिणामविषयकनिमित्तकर्तृत्वाभावेऽपि परमार्थतः शुद्धजीवस्याह द्रव्यभावकर्मणां कर्ता द्रव्यभावकर्माणि च मे कर्मेत्येवंविधा कर्तृकर्मविषयाऽज्ञानिजीवकल्पना मिथ्याज्ञानमूलैव । तामज्ञानिनां मिथ्याकल्पनां सम्यग्ज्ञानमेव विनाशयतीति भावः । परमोदात्तमनन्तचतुष्टययुक्तत्वाद-त्यन्तमुत्कृष्टम् । परोत्कृष्टा माऽनन्तचतुष्टयस्वरूपा लक्ष्मीर्यस्य तत्परमम् । तच्च तदुदात्तमुत्कृष्टं परमोदात्तम् । अत्यन्तधीरमात्यन्तिकतया परमनिर्विकल्पकसमाध्याख्यध्यानाश्रयभूतं मनः स्वस्वरूपा-नुभूत्यर्थं प्रेरयत् । अत्यन्तमत्यर्थं धियं मन ईरयति प्रेरयतीत्यत्यन्तधीरम् । निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि द्रव्यभावकर्मरहिताशुद्धजीवद्रव्यभिन्नशुद्धजीवस्वरूपं प्रकटीकुर्वत् । निरुपधि द्रव्यभावकर्मात्मकादुपधे-र्निष्क्रान्तम् । 'प्रात्यवपरिनि.प्रत्यादयो गतक्रान्तकुष्टग्लानक्रान्तस्थितादिषु वेष्भाप्केभिः' इति काषस । निरुपधिपृथग्द्रव्यमशुद्धजीवद्रव्याद्भिन्नं शुद्धजीवद्रव्यम् । तस्य निर्भासः प्रकाशः प्रकटीभावो वाऽस्या-स्मिन्वा । 'अतोऽनेकाचः' इतीन्मत्वर्थीयः । यद्वा निरुपध्युपधेर्निष्क्रान्तम् । द्रव्यभावकर्मविकलमित्यर्थः । पृथगात्मेतरनिखिलपदार्थस्वभावरूपेणाऽपरिणमनात्तेभ्यो भिन्नम् । द्रव्यनिर्भासि निखिलद्रव्यस्वभाव-प्रकाशकं विश्वं विश्वस्थनिखिलवस्तुजातं साक्षात्कुर्वत् प्रत्यक्षं वैशद्येन जानत् । ज्ञानज्योतिर्ज्ञानाख्यं तेजः । ज्ञानमेव ज्योतिस्तेजः स्फुरति प्रकटतामटति ।

विवेचन— शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध जीव कर्मरूपनिमित्त का अभाव होनेसे क्रोधाद्यात्मकविभावभाव-रूपपरिणतिक्रिया का आश्रय न होनेसे स्वतन्त्र न होनेके कारण क्रोधादिरूपविभावभावों का अशुद्ध जीव जिसप्रकार उपादानकर्ता होता है उसीप्रकार उपादानकर्ता **नहीं** होता । द्रव्यकर्म का अभाव होनेसे विभावरूप से परिणत न

होनेके कारण पुद्गल की क्रोधादिसंज्ञक द्रव्यकर्मरूप विभावभावात्मक परिणति का निमित्तकर्ता भी नहीं होता। पुद्गल की द्रव्यकर्मरूप परिणति का आश्रय न होनेसे शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव भी उपादानकर्ता नहीं हैं। क्रोधादिरूप भावकर्म यद्यपि अशुद्ध जीव के प्राप्यकर्म हैं तो भी शुद्धजीवद्रव्य में और उन विभावभावों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव और उपादानोपादेयभाव न होनेसे वे शुद्धजीवद्रव्य के प्राप्यकर्म नहीं हैं। निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव अशुद्ध जीव और क्रोधादिरूप द्रव्यकर्म इनमें होनेसे यद्यपि क्रोधादिरूप द्रव्यकर्म अशुद्ध जीव के कहे जाते है तो भी शुद्धजीव में और उक्त द्रव्यकर्मों में निमित्तनैमित्तिकभाव भी न होनेसे वे द्रव्यकर्म किसी भी प्रकार शुद्ध जीव के नहीं है। ऐसा होते हुए भी मिथ्याज्ञानवाला जीव क्रोधादिसंज्ञक भावकर्मों का और द्रव्यकर्मों का स्वयं अपनेको कर्ता समझता है और क्रोधादिसंज्ञक भावकर्मों को और द्रव्यकर्मों को अपना प्राप्यकर्म समझता है। इस मिथ्याज्ञानी जीव की मिथ्याकल्पना का नाश सम्यग्ज्ञान हि करता है। यह सम्यग्ज्ञान अनंतचतुष्टय से युक्त होनेसे अत्यत उत्कृष्ट है। यह ज्ञान सम्यग्दृष्टि आत्मा को परमनिर्विकल्पसमाधि के द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेके लिये प्रेरित करता है। द्रव्यभावकर्मरूप उपाधि से रहित और अशुद्ध जीवद्रव्य से भिन्न शुद्ध आत्मा के स्वरूप को यह ज्ञान अभिव्यक्त करता है। अथवा यह ज्ञान विभावभावरूप से परिणत नहीं होता और द्रव्यकर्म के संपर्क से रहित होता है। यह अन्यद्रव्यों के स्वभावों के रूप से परिणत नहीं होता। यह सभी द्रव्यों को प्रकाशित करता है और सभी द्रव्यों को उनकी सभी पर्यायों के साथ जानता है। इस कलश के द्वारा भेदज्ञान की प्रारंभिक और उत्कृष्ट अवस्था का स्वरूप प्रकट किया गया है।

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि !
अण्णाणी ताव दु सो कोहाइसु वट्टदे जीवो ॥ ६९ ॥
कोहाइसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥ ७० ॥

यावन्न वेत्ति विशेषान्तरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि ।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥ ६९ ॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः सञ्चयो भवति ।
जीवस्यैवं बन्धो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥ ७० ॥

अन्वयार्थः– (**अज्ञानी जीवः**) भेदज्ञानरहित या मिथ्याज्ञानी जीव (**यावत्**) जबतक (**आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि**) आत्मा और द्रव्यभावात्मक आस्रव इन दोनों के भी (**विशेषान्तरं**) असाधारणधर्मोंका–स्वरूपों का भेद (**न वेत्ति तु**) जानता हि नही (**तावत्**) तबतक (**सः**) वह अज्ञानी जीव (**क्रोधादिषु तु**) क्रोधादि के विषय में हि (**वर्तते**) प्रवृत्ति करता है अर्थात् क्रोधादिरूपविभावभावो के रूप से परिणत होता है। (**क्रोधादिषु**) क्रोधादि के विषय में (**वर्तमानस्य तस्य**) प्रवृत्ति करनेवाले उसके अर्थात् क्रोधाद्यात्मकविभावभावो के रूप से परिणत होनेवाले उस अज्ञानी जीव के (**कर्मणः**) कर्म का (**सञ्चयः**) सचय–सग्रह (**भवति**) होता है। (**एवं**) इसप्रकार (**सर्वदर्शिभिः**) सर्वज्ञदेवो ने (**जीवस्य**) जीव के (**बन्धः**) कर्मो का बध (**खलु**) स्पष्टरूप से–निश्चितरूप से (**भणितः**) कहा है–बताया है।

[अभिप्राय यह है कि– यहां अशुद्ध जीव के विभावभाव और द्रव्यकर्मों का बंध इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव बताकर आत्मस्वरूप को जानने की प्रेरणा दी गयी है । यदि जीव ने इन दोनों का स्वरूप न जाना तो वह विभावरूप से परिणत होकर द्रव्यकर्मों का बंध करते हुए अनंत संसार में परिभ्रमण करता रहेगा यह अभिप्राय भी यहां स्पष्ट किया गया है ।]

आ. ख्या.– यथा अयं आत्मा तादात्म्यसिद्धसम्बन्धयो आत्मज्ञानयोः अविशेषात् भेदं अपश्यन् अविशङ्कं आत्मतया ज्ञाने वर्तते, तत्र वर्तमानः च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेन अप्रतिषिद्धत्वात् जानाति, तथा संयोगसिद्धसम्बन्धयोः अपि आत्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयं अज्ञानेन विशेषं अजानन् यावत् भेदं न पश्यति तावत् अशङ्कं आत्मतया क्रोधादौ वर्तते । तत्र वर्तमानः च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात् प्रतिषिद्धत्वे अपि स्वभावभूतत्वाध्यासात् क्रुध्यति रज्यते मुह्यति च इति । तत् अत्र यः अयं आत्मा स्वयं अज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता । यत् तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यः भिन्नः क्रियमाणत्वेन अन्तः उत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि, तत् कर्म । एवं इयं अनादिः अज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः । एवं अस्य आत्मनः स्वयं अज्ञानात् कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तं एव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयं एव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म सञ्चयं उपयाति । एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बन्धः सिध्येत् । स च अनेकात्मकैकसन्तानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्य अज्ञानस्य निमित्तम् ।

त. प्र.– यथा येन प्रकारेणायमात्मा तादात्म्यसिद्धसम्बन्धयोस्तादात्म्यप्रस्थितान्योन्यसम्बन्धयोः । तादात्म्येन सिद्ध. प्रस्थितः सम्बन्धो ययोस्तौ । तयोः । आत्मज्ञानयोरात्मतत्स्वभावभूतज्ञानयोः । आत्मा च ज्ञानं चात्मज्ञाने । तयोः । अविशेषादभेदात् । विशेषो भेदः । न विशेषोऽविशेषः । तस्मात् । ययोस्सम्बन्धस्तादात्म्येन सिद्धो न तयोर्भेदोऽस्ति । आत्मज्ञानयोस्सम्बन्धस्य तादात्म्येन सिद्धत्वान्न तयोर्भेदोऽस्ति । आत्मज्ञानयोर्वास्तवभेदाभावाद्भेदमपश्यन्नजानन्नविशङ्कं निःसंशयं निःसङ्कोचं वाऽऽत्मतयाऽऽत्मत्वेन ज्ञानमात्मवेति निश्चित्य ज्ञाने स्वभावभूते ज्ञाने वर्तते निश्चलत्वेन तिष्ठति । तत्र ज्ञाने वर्तमानो निश्चलत्वेन स्थितिमांश्च ज्ञानक्रियायाः ज्ञप्तिक्रियायाः । ज्ञायते इति ज्ञानम् । भावेऽनट् । स्वभावभूतत्वेनाऽऽत्मपरिणामभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वादपरिहृतत्वाज्जानाति स्वपरद्रव्यस्वरूपज्ञप्तिक्रियां करोति तथा तेन प्रकारेण संयोगसिद्धसम्बन्धयोरपि संयोगमात्रसम्बन्धमापन्नयोः । संयोगेन संश्लेषेण परस्परक्षेत्रावगाहेन वा सिद्धस्सम्बन्धो ययोस्तौ । तयोः । आत्मक्रोधाद्यास्रवयोरात्मक्रोधाद्यात्मकभावास्रवयोः स्वरूपभेदाद्भिन्नत्वे सत्यपि स्वयमज्ञानेन स्वयं मिथ्याज्ञानात्मकत्वेन परिणतत्वाद्विशेषं भेदमजानन्यावद्यावत्कालपर्यन्तं भेदं तयोरन्योन्यभिन्नत्वं न पश्यति नावलोकयति तावत्तावत्कालपर्यन्तमशङ्कमसंशयमात्मतयाऽऽत्मत्वेन क्रोधादौ वर्तते तिष्ठति । क्रोधादयो विभावभावा आत्मनोऽभिन्ना इति मत्वा क्रोधादिविषये प्रवृत्तिं करोति । तत्र क्रोधादौ वर्तमानो प्रवृत्तिं कुर्वाणश्च क्रोधादिक्रियाणां क्रोधाद्यात्मकपरिणतिक्रियाणां परभावभूतत्वात्पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपनिमित्तकर्तृकृताशुद्धजीवोपादानकविभाव-

परिणामरूपत्वाच्छुद्धात्मना तादात्म्यमनापन्नत्वान्निमित्ताभावे विनश्वरत्वादात्मभिन्नभावभूत्वात्तासां प्रतिषिद्धत्वेऽपि परिहृतत्वेऽपि स्वभावभूतत्वाध्यासाज्जीवस्य स्वभावभूतभावत्वाभावेऽपि जीवे तथाविधत्वेनाध्यारोपणात् । क्रोधादयोऽमी जीवस्वामिका इति कल्पनादित्यर्थः । एते क्रोधादयो भावा जीवस्य स्वभावभूता इत्येवं विचार्य स्वीकृतत्वात्क्रुध्यति क्रोधात्मकविभावरूपेण परिणमति रज्यते रागात्मकविभावरूपेण परिणमति मुह्यति मोहात्मकभावरूपेण परिणमति चेति । तत्तस्मात्कारणादत्र योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभवनेऽज्ञानात्मकपरिणतिक्रियायां ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन ज्ञानात्मकपरिणमनमात्रस्वाभाविकोदासीनावस्थापरित्यागेन व्याप्रियमाण उद्युञ्जानः प्रतिभाति स कर्ता । ज्ञानभवनमेव ज्ञानभवनमात्री । ज्ञानभवमात्री चासौ सहजा स्वाभाविकी च ज्ञानभवनमात्रसहजा । उदासीना चासाववस्था चोदासीनावस्था । ज्ञानभवनमात्रसहजा चासावुदासीनावस्था च ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्था । तस्यास्त्यागेन हेतुभूतेन । व्याप्रियमाण इत्यस्याज्ञानभवनक्रियाश्रयीभवन्नित्यर्थः । तेनाज्ञानात्मकपरिणतिक्रियाश्रयीभवनात्कर्तेति भावः । यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो ज्ञानात्मकपरिणतिक्रियाश्रयीभवनत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनात्मना क्रियमाणत्वेन निर्वर्त्यत्वेनान्तरात्मन्युत्प्लवमानमुत्पद्यमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म निर्वर्त्यं कर्म । अज्ञानरूपेण परिणतस्यात्मनस्तत्क्रोधादि निर्वर्त्यं प्राप्यं वा कर्म, क्रोधादिपरिणामेष्वशुद्धचैतन्यस्यान्वयदर्शनात् । एवमित्थमनादिरज्ञानजाऽज्ञानात्मकादुपादानाज्जायमाना कर्तृकर्मप्रवृत्तिरहं क्रोधादिभावानामुपादानकर्ता क्रोधाद्यात्मका विभावभावाश्च ममोपादेयत्वात्कर्मेतिप्रवृत्तिरज्ञानिनः कल्पना । एवममुना प्रकारेणाऽस्याऽऽत्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेनाहमेषां क्रोधादिभावानां कर्तेतिकल्पनया कर्तृभावेनैते क्रोधादयो ममोपादेयभूतत्वात्कर्मेतिकल्पनया कर्मभावेन च क्रोधादिषु क्रोधादिविषयेषु वर्तमानस्य तिष्ठतस्तमेव क्रोधादिनिर्वृत्तिरूपं क्रोधादिभावनिष्पत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य निमित्तमेव कृत्वा स्वयमेव परिणममानमुपादानत्वाद्विकार्यत्वाच्च स्वयमेव परिणतिं प्राप्नुवत्पौद्गलिकं पुद्गलोपादानकं कर्म द्रव्यकर्म सञ्चयमुपयाति प्राप्नोति । अत्र क्रोधाद्यात्मकविभावभावपौद्गलिककर्मणोर्निमित्तनैमित्तिकभावः प्रकटीकृतः । पुद्गलस्य स्वय परिणामित्वेऽपि जीवविभावभावात्मकनिमित्तमन्तरेण न स कर्मत्वेन परिणमतीति भाव. । एवममुनाप्रकारेण जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणात्माऽन्योन्यप्रदेशावगाहस्वरूपो बन्धः सिध्येत्सिध्यति । स च स बन्धश्चानेकात्मकैकसन्तानत्वेन भावबन्धाद्द्रव्यबन्धो द्रव्यबन्धाच्च भावबन्ध इत्यनेकात्मकस्यैकः सन्तानः परम्परा । तस्य भावः । तेन । बीजवृक्षन्यायेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तम् । यथा बीजाद्वृक्षो वृक्षाच्चान्यद्बीजमन्यस्माच्च बीजादन्यो वृक्षो यतः सम्भवति ततस्तत्रान्योन्याश्रयदोषो नावतरति तथा भावबन्धाद्द्रव्यबन्धो द्रव्यबन्धाच्चान्यो भावबन्धोऽन्यस्माच्च भावबन्धादन्यो द्रव्यबन्ध इत्यन्योन्याश्रयदोषानवतारः । एवमनेकात्मकैकसन्तानत्वेन परिहृतान्योन्याश्रयदोषः स बन्धः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तम् ।

टीकार्थ— जिसप्रकार जिनका सबंध तादात्म्य से सिद्ध हुआ है ऐसे आत्मा और ज्ञान में भेद न होनेसे उन दोनों के भेद को न देखनेवाली यह आत्मा निःशंकतया आत्मरूप मे अर्थात् ज्ञान आत्मा हि है ऐसा निश्चितरूप से समझकर ज्ञान में प्रवृत्त करती है और ज्ञान में प्रवृत्ति करती हुई यह आत्मा जाननेकी क्रियारूप परिणति आत्मा का स्वभाव होनेके कारण प्रतिषिद्ध न होनेसे जानती है–जाननेकी क्रिया करती है–ज्ञप्तिक्रिया का आश्रय होती है, उसीप्रकार आत्मा और क्रोधादिरूप आस्रव इनमें जो संबंध है वह सयोग से सिद्ध हुआ होनेपर भी आत्मा स्वयं

अज्ञान के कारण अर्थात् अज्ञानरूप से परिणत हुई होनेसे आत्मा और क्रोधादिरूप आस्रवों के असाधारण धर्मों को न जानती हुई होनेसे उनमें होनेवाले भेद को जबतक देखती नहीं तबतक क्रोधादिकों में निःशंकतया आत्मरूप से अर्थात् क्रोधादिभाव आत्मरूप हि हैं ऐसा निःशंकरूप से समझकर क्रोधादिभावों में प्रवृत्ति करती है और उन क्रोधादिभावों में प्रवृत्ति करती हुई आत्मा क्रोधादिरूप से परिणत होनेकी क्रियाएं परभावरूप होनेसे अर्थात् द्रव्यकर्मरूपनिमित्तकृत जीव के विभावभावरूप होनेसे प्रतिषिद्ध होनेपर भी क्रोधादिरूप क्रियाओंपर वे (आत्मा के) स्वभावभूत भाव है इसप्रकार आरोप करनेसे क्रोधरूप से, रागरूप से और मोहरूप से परिणत होती है। उस कारण से यहां यह सिर्फ ज्ञानरूप से परिणत होनेकी जो क्रिया उसरूप स्वाभाविक ऐसी उदासीन अवस्था का त्याग करके अज्ञानरूप परिणति में स्वयं मग्न होती हुई जो अभिव्यक्त होती है वह आत्मा कर्ता है। और जो क्रोधादि ज्ञानरूप परिणतियों में मग्न होनेकी अवस्थाओं से भिन्नरूप क्रियमाणत्व के रूप से अर्थात् पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपनिमित्त के द्वारा किया जानेवालेके रूप से अंतरंग में अर्थात् अशुद्ध आत्मा में उत्पन्न होता हुआ अभिव्यक्त होता है वह कर्म है। इसप्रकार यह अनादिकाल से चली आयी (आत्मविषयक) कर्तृकर्मकल्पना अज्ञानजन्य है। इसप्रकार स्वयं अज्ञानरूप से परिणत हुई होनेसे कर्तृस्वरूप से और क्रोधादिरूपभावों में स्थित अर्थात् उनके रूप से परिणत होनेवाली इस आत्मा के क्रोधाद्यात्मकपरिणतिरूप परिणाम को निमित्तमात्र बनाकर स्वयमेव परिणत होनेवाला पुद्गलोपादानक कर्म संचित होता है–समूहरूप बनता है। इसप्रकार जीव और पुद्गल का अन्योन्यावगाहरूप–एकक्षेत्रावगाहरूप संबंध है स्वरूप जिसका ऐसा बंध सिद्ध हो जाता है। अनेकात्मक एक सन्तान–एक परंपरा–एक प्रवाहरूप होनेके कारण जिसके विषय में समाध्य इतरेतराश्रयनामक दोष विध्वस्त–विनष्ट हो गया है वह बन्ध जो कर्तृकल्पना का और कर्मकल्पना का निमित्तकारण पडता है ऐसे अज्ञान का निमित्तकारण होता है।

विवेचन– जल और शैत्य इनमें तादात्म्यसंबंध होता है; क्यों कि शैत्यधर्म का अभाव होनेपर–विकृत होनेपर नहीं–जल का अभाव हो जाता है और जल का अभाव होनेपर शैत्यधर्म का अभाव हो जाता है। जल और शैत्यधर्म इनमें तादात्म्यसंबंध होनेसे वे अन्योन्यभिन्न नहीं होते। यदि वे अन्योन्यभिन्न होते तो उनमेंसे एक का अभाव होनेपर दूसरे का अभाव नहीं होने पाता। औष्ण्य का अभाव होनेपर जल का अभाव नहीं होता और जल का अभाव होनेपर औष्ण्य का अभाव नहीं होता; क्यों कि स्वाभाविकभाव से युक्त जल और औष्ण्य अन्योन्यभिन्न होनेसे उनमें तादात्म्यसंबंध नहीं होता। अतः जल और शैत्यधर्म इनमें तादात्म्य होनेसे इनमें कदापि भेद नहीं हो सकता और उनमें भेद न होनेसे वह दिखाई भी नहीं देता। अग्नि के साथ संपर्क होनेपर वह गर्म होता है जरूर किंतु गर्म होनेमात्र से उसके स्वाभाविकभावभूत शैत्यधर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है ऐसा नहीं है। जल की उष्णता शैत्य का अन्यनिमित्तकृत विकार है। अग्निसंपर्करूप निमित्त के हट जानेपरहि वह अपने शैत्यस्वरूप से परिणत होने लग जाता है। जल की इस स्वभावरूपपरिणति में किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं हो सकता। निमित्त का अभाव हो जानेसे वह निष्प्रतिबंधरूप से अपने स्वरूप के रूप से परिणत होते होते अपने स्वरूप में स्थिररूप से स्थित हो जाती है, क्यों कि उससमय प्रतिबंधक कारण का अभाव होता है।

आत्मा और ज्ञान इनमें तादात्म्यसंबंध होता है; क्यो कि आत्मा के ज्ञानरूप असाधारणधर्म का अभाव होनेपर आत्मा का और आत्मा का अभाव होनेपर ज्ञान का अभाव हो जाता है। आत्मा और ज्ञानधर्म इनमें तादात्म्य–संबंध होनेसे वे अन्योन्यभिन्न नही होते। यदि वे अन्योन्यभिन्न होते तो उनमें से एक का अभाव होनेपर दूसरे का अभाव कदापि नहीं होता। अचेतनत्व का या रूपित्व का अभाव होनेपर आत्मा का अभाव नहीं होता और आत्मा का अभाव होनेपर रूपित्व का अभाव नहीं होता। अतः आत्मा और ज्ञान इनमें तादात्म्यसंबंध होनेसे इनमें कदापि भेद नहीं हो सकता और भेद न होनेसे वह दिखाई नहीं देता। कर्म के साथ संश्लिष्ट होनेपर विभावभावरूप से परिणत होता है जरूर; किंतु विभावभावरूप से परिणत होनेमात्र से उसके स्वाभाविकभावभूत ज्ञानधर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है ऐसा नहीं है। आत्मा की विभावरूपपरिणति ज्ञान का कर्मरूपनिमित्तकृत विकार है। कर्मरूप

निमित्त के हट जाते हि वह अपने ज्ञानस्वरूप से परिणत होने लग जाती है। आत्मा की इस स्वस्वभावरूप परिणति में कर्म के हट जानेसे किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं हो सकता। कर्मरूप निमित्त का अभाव हो जानेपर वह निष्प्रतिबंधरूप से अपने स्वरूपभूत ज्ञान के रूप से परिणत होते होते अपने ज्ञानरूप स्वरूप में स्थिर हो जाती है। और अपने ज्ञानरूप स्वभाव में स्थिर होनेपर स्वपरपदार्थों को जाननेकी क्रिया स्वभावभूतभाव होनेसे निष्प्रतिबंध होनेके कारण आत्मा जाननेकी क्रिया करती है–जानने की क्रिया के रूप से परिणत होती है। क्रोधादिरूपभावात्मक कर्मरूप निमित्त के संयोग से उत्पन्न हुए अशुद्ध जीव के या ज्ञान के विभावपरिणाम है। यद्यपि ये भाव अशुद्धात्मो–पादानक होनेसे कथंचित् अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से अशुद्धात्मस्वामिक हैं तो भी वे कर्मसंयोगनिमित्तक हैं–कर्मनिमित्तक हैं। जब ये भाव कर्म के संयोग से उत्पन्न होते है तब आत्मा और क्रोधादिभाव इनमें जो संबंध पाया जाता है वह आत्मा और कर्म इनके संयोग से सिद्ध होता है। आत्मा और क्रोधादिभाव इनका संबंध संयोग से सिद्ध हुआ होनेसे इनमें तादात्म्यसंबंध का सद्भाव नहीं है। उनमें तादात्म्यसंबंध का अभाव होनेसे आत्मा का असाधारण धर्म और क्रोधादिभावों के असाधारणधर्म इनमें विभिन्नता होती है। इसप्रकार अपने अपने असाधारण धर्म की अपेक्षा से आत्मा और क्रोधादिभाव इनमें भेद होनेपर भी अज्ञानरूप से–मिथ्याज्ञानरूप से परिणत हुई मोहाक्रान्त आत्मा मिथ्याज्ञान के कारण उनमें होनेवाले भेद को नहीं जानती। जब अज्ञानी आत्मा को आत्मा और क्रोधादिभावों में होनेवाले भेद का ज्ञान हि नहीं होता तब उनमें होनेवाले भेद को वह देख नहीं सकती। जबतक आत्मा आत्मा और क्रोधादिभावों में होनेवाली विभिन्नता को देख नहीं सकती तबतक क्रोधादिभावों को सर्वथा आत्मरूप समझती है और क्रोधादिभावों में स्थिरपद हो जाती है। क्रोधादिभावों में स्थिर होती हुई क्रोधरूप से परिणत होनेकी क्रियाएं द्रव्यकर्मरूपनिमित्तजन्य होनेसे परभावभूत–आत्मद्रव्य से भिन्न–होनेके कारण स्वरूपोपलब्धि में प्रतिबंधक होनेपर भी अज्ञानी अर्थात् मोहाक्रान्त आत्मा क्रोधादिभावोंपर 'ये भाव आत्मा के स्वभावभूतभाव है' इसप्रकार आरोप करती है और क्रोधरूप से, रागरूप से और मोहरूप से परिणत होनेकी क्रिया करती है। क्रोधरूप से परिणत होनेवाली जो यह आत्मा ज्ञानरूप से परिणत होनेकी क्रियारूप स्वाभाविक ऐसी उदासीन अवस्था का त्याग कर देती है और अज्ञानरूप से परिणत होनेकी क्रिया में मग्न होती है वह कर्ता होती है- क्रोधादिरूपविभाव–भावों का उपादानकर्ता होती है। कहनेका भाव यह है कि जब यह आत्मा क्रोधादिभावरूप से परिणत होती है तब ज्ञानरूप से परिणत नहीं होती और ज्ञानरूप से जब परिणत होती है तब क्रोधादिभावरूप से परिणत नहीं होती। जब वह क्रोधादिभावरूप से परिणत होती है–क्रोधादिभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होती है तब वह क्रोधादिभावों का उपादानकर्ता होती है। ज्ञानरूप से परिणत होनेकी क्रियाओं में मग्न हो जानेकी अवस्थाए–परिणाम–होती है वे क्रोधादिरूप से परिणत होनेकी क्रियाओं में मग्न हो जानेकी अवस्थाए भिन्न होती है, क्यों कि क्रोधादिरूप से परिणत होनेकी क्रियाए कर्मनिमित्तक होती है और ज्ञानरूप से परिणत होनेकी क्रियाएं प्रतिबंधक कर्म के हट जानेसे कर्मनिमित्तक नहीं होती। क्रोधादिभावरूप से परिणत होनेकी क्रियाएं निमित्त–कर्तृभूत कर्म के द्वारा की जानेवाले के रूप से अशुद्ध आत्मा में उत्पन्न होती हुई अभिव्यक्त होती है। अतः क्रोधादि–भाव अज्ञानी आत्मा के कर्म है। इसप्रकार अनादिकाल से चली आयी 'यह आत्मा कर्ता है और क्रोधादिभाव उसके कर्म हैं' इसप्रकार की प्रवृत्ति या कल्पना अनादिकाल से चले आये अज्ञान से अभिव्यक्त होती है। इसप्रकार यह अज्ञानी आत्मा अपने अज्ञान से क्रोधादिभावों के रूप से परिणत होकर स्वयमेव कर्म होती है। क्रोधादिभावों में स्थित होनेवाली अर्थात् स्वाभाविकभावभूत ज्ञानरूप से परिणत होनेवाली न होनेसे क्रोधादिभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होकर क्रोधादिरूप परिणामों को उत्पन्न करती है। वे क्रोधादिरूप विभावपरिणाम जब निमित्त पडते है तब स्वयमेव परिणत होनेवाला पुद्गलोपादानक कर्म संचित होता है–बंधावस्था को प्राप्त होता है। इसप्रकार जीव और पुद्गलों का एकक्षेत्रावगाहात्मक संबंध स्वरूप है जिसका ऐसा बंध सिद्ध हो जाता है। यहांपर यह शंका उपस्थित हो जाती है–निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्येक द्रव्य स्वप्रतिष्ठ होता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र उसके अपने प्रदेश होते है–अन्य द्रव्य के प्रदेश नहीं होते। जीव और पुद्गल भिन्नभिन्न द्रव्य है। अतः उनके क्षेत्रभूत

प्रदेश भी भिन्नभिन्न हैं–एक नहीं है । यदि आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य के प्रदेशों में या पुद्गलद्रव्य आत्मद्रव्य के प्रदेशों में अवगाहन करने लगा तो या तो जीवपुद्गलद्रव्यरूप या पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप बन जायगा । ऐसी अवस्था में एकक्षेत्रावगाहरूप बंध कैसे सिद्ध होगा ? समाधान–यहां एकक्षेत्रावगाह का अर्थ स्वक्षेत्र को छोडकर अन्यक्षेत्ररूप से परिणत होना ऐसा नहीं है । दोनों द्रव्यों के प्रदेशों का संयोगरूपसंबंधमात्र अभीष्ट है । अतः बंध व्यवहारनयाश्रित है–निश्चयनयाश्रित न होनेमात्र से सर्वथा मिथ्या नहीं है । भावनिक्षेप की दृष्टि से बंध कथंचित् यथार्थ भी है । यदि सर्वथा मिथ्या माना गया तो 'बध्यते न मुच्यते पुरुषः' इस सांख्यसिद्धान्त को स्वीकार करनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । शुद्धनिश्चय की दृष्टि से आत्मा अबंध होनेपर भी व्यवहारनय की दृष्टि से स-बंध है । यह बंध कथंचित् यथार्थ होनेसे उससे मुक्त होनेके लिये पुरुषार्थ करना पडता है । भावबंध से द्रव्यबंध का होना और द्रव्यबंध से अन्य भावबंध का होना और उस अन्य भावबंध से अन्य द्रव्यबंध का होना अनादिकाल से वृक्षबीजन्याय से चला आया है । इसप्रकार से अनेकात्मक बंध की एक परंपरा अनादिकाल से चली आयी हुई होनेसे इतरेतराश्रयनामक दोष उत्पन्न नहीं होता । अनादिकाल से चला आया यह इतरेतराश्रयरहितबंध कर्तृकर्मप्रवृत्ति के निमित्तभूत अज्ञान का निमित्त है–इस बंध के कारण हि अज्ञानी जीव की अज्ञानरूप परिणति होती है । यह अज्ञान अनादि होनेपर भी स्वाभाविकभाव नहीं है–नैमित्तिकभाव हि है । कर्मों की उदयरूप और क्षयरूप अवस्थाओंपर अज्ञान की उत्पत्ति की और उसके विनाश की परंपरा अनादिकाल से चली आयी होनेसे अज्ञान अनादि कहा जाता है । अतः अज्ञान निर्निमित्तक भाव नहीं है ।

सारांश, आत्मा का विशेष अर्थात् व्यावर्तक धर्म शुद्ध ज्ञान है क्रोधादिरूप वैभाविकभावों का विशेष अर्थात् व्यावर्तकधर्म अशुद्धज्ञान अर्थात् अज्ञान है और पुद्गलोपादानक [illegible]ादिसंज्ञक द्रव्यकर्मों का व्यावर्तक धर्म अज्ञान अर्थात् ज्ञान का तुच्छाभाव है–जडत्व है । इन भिन्न भिन्न विशेषधर्मों के कारण जीव, क्रोधादिरूप भावास्रव और द्रव्यास्रव एक दूसरे से भिन्न हैं–एकस्वरूपात्मक नहीं है । यह अज्ञानी जीव इनके स्वभावभेद को न जाननेके कारण उनकी परस्परभिन्नता को नहीं जान सकता ।परमार्थतः आत्मा और आस्रव स्वभावभेद के कारण परस्परभिन्न हैं । इस अज्ञान के कारण आस्रवों को अपना हि समझकर क्रोधाद्यात्मक वैभाविकभावरूप से परिणत होते रहता है । यह आत्मा शुद्धनय की दृष्टि से क्रोधाद्यास्रवरहित निर्मल आत्मानुभूतिरूप शुद्धस्वभाववाली है और आस्रव अपने स्वभाव की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा से भिन्न है; फिर भी अपनी अज्ञानरूप विभावपरिणति के कारण अनात्मभूत विभावरूप से वह परिणत होती है । इसप्रकार की विभावरूप परिणति का कारण अनादि से चला आया उसका अज्ञान हि है । इस अज्ञान के कारण वह शुद्धनय की दृष्टि से शुद्धस्वभाववाली होनेपर भी अपनेको वैभाविकभावों का उपादानकर्ता समझती है और वैभाविकभावों को अपना उपादेयभूत कर्म समझती है । जबतक उसकी यह कर्तृकर्मप्रवृत्ति बनी रहती है तबतक वह अज्ञानी हि बनी रहती है और जबतक वह इस कर्तृकर्मप्रवृत्ति को नहीं छोडती है और क्रोधाद्यात्मक वैभाविकभावरूप से परिणत होते रहती है तबतक अपने परमात्मरूपशुद्धस्वरूप को ढकनेवाले कर्मों का आस्रव–आगमन होता रहता है और अपनी क्रोधादिरूप परिणति के कारण 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः' इस अर्हत्प्रवचन के सूत्र के अनुसार विभावपरिणति के अनुसार कर्म के योग्यपुद्गलों का आदान करता है–उनके साथ बंध करता है । इसीप्रकार से हि जीव का कर्मों के साथ बंध होता है ऐसा सर्वज्ञोंने कहा है । इसी बंध के कारण हि यह अज्ञानी आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञान बंध का निमित्त है और बंध अज्ञान का निमित्त है । यह निमित्तनैमित्तिकभाव बीजवृक्षन्याय से अनादिकाल से चला आया है । इस निमित्तनैमित्तिकभाव के अभाव के बिना स्वशुद्धात्मस्वरूप की प्राप्तिरूप मोक्ष का संभव नहीं है ।

'कदा अस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेः निवृत्तिः ?' इति चेत्–

इस (अनादिकाल से चली आयी) कर्तृकर्मप्रवृत्ति की निवृत्ति (अभाव) कब होती है ?' ऐसा प्रश्न हो तो–

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥ ७१ ॥

यदाऽनेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञातं भवति विशेषान्तरं तु तदा न बन्धस्तस्य ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ– (**यदा**) जिससमम (**अनेन जीवेन**) इस संसारी जीव के द्वारा (**आत्मनः**) अपनी शुद्ध आत्मा के (**तथैव च**) और उसीप्रकार (**आस्रवाणां**) आस्रवों के–वैभाविकभावों के (**विशेषान्तरं**) अन्योन्यव्यावर्तक धर्मों के ज्ञान के द्वारा उनका विभिन्नत्व (**ज्ञातं भवति**) जाना जाता है (**तदा तु**) उससमय हि (**तस्य**) उस ससारी जीव के (**बन्धः न**) बंध नहीं होता ।

[गाथासूत्र में पड़ा हुआ 'तु' यह अव्यय अवधारणार्थ में प्रयुक्त किया गया है । कोषों में 'तु' इस अव्यय का यह अर्थ पाया जाता है । 'तु पादपूरणे भेदावधारणसमुच्चये । पक्षान्तरे नियोगे च प्रशंसायां विनिग्रहे' इति विश्वलोचने । शुद्ध आत्मा का स्वरूप शुद्ध ज्ञान है और क्रोधादिरूप आस्रवों का अर्थात् वैभाविकभावों का स्वरूप अशुद्धज्ञानरूप है । अतः आत्मा और क्रोधादिरूप वैभाविकभावों के स्वरूपों में होनेवाले भेद को जानकर जब यह ससारी जीव दोनों की विभिन्नता को अर्थात् एकवस्तुत्वाभाव को जानता है तब वह उन वैभाविकभावों को परनिमित्तजन्य होनेसे पर या परकीय समझकर छोड देता है अर्थात् उन क्रोधादिभावों के रूप से परिणत नहीं होता । जब जीव क्रोधादिभावरूप वैभाविकभावों का परिहार करता है तब पुद्गलोपादानक कर्म के बंध के निमित्त का अभाव हो जानेसे पौद्गलिककर्म का बध–सश्लेष नहीं होता । साराश, यह है कि जिससमय आत्मा और आस्रवो के भिन्नत्व को यह आत्मा जानती है तब उसे भेदज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान होता है । सम्यग्ज्ञान के होनेपर 'मैं वैभाविकभावों का उपादानकर्ता हूं और वैभाविकभाव मेरे उपादेय–कर्म है' इसप्रकार की कर्तृकर्मप्रवृत्ति का त्याग कर देती है । कर्तृकर्मप्रवृत्ति का त्याग करदेनेसे उसके पुद्गलोपादानक कर्म का बध नही होता और बध के न होनेसे जीव की फिरसे अज्ञानरूप परिणति नहीं होती । जब उसकी कर्तृकर्मप्रवृत्ति की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् उसकी विभावरूप परिणति नही होती तब वह अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है । अपने स्वभाव मे स्थिर होनेका नाम हि निर्विकल्प–समाधि है । इस समाधिकाल में उसके पुद्गलोपादानक कर्म के बध का अभाव हो जाता है । इससे 'ज्ञानमात्र से बंध का अभाव हो जाता है' इस मन्तव्य की सिद्धि हो जाती है ।]

आ. ख्या.– इह किल स्वभावमात्रं वस्तु । स्वस्य भवनं तु स्वभावः । तेन ज्ञानस्य भवनं खलु आत्मा । क्रोधादेः भवनं क्रोधादि । अथ ज्ञानस्य यत् भवनं तत् न क्रोधादेः अपि भवनं, यतः यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवत् विभाव्यते न तथा क्रोधादिः अपि । यत् तु क्रोधादेः भवन तत् न ज्ञानस्य अपि भवनं, यतः यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयः भवन्तः विभाव्यन्ते न तथा ज्ञानं अपि । इति आत्मन क्रोधादीनां च न खलु एकवस्तुत्वम् । इति एवं आत्मा आत्मास्रवयोः विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदा अस्य अनादिः अपि अज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्ति निवर्तते । तन्निवृत्तौ अज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबन्धः अपि निवर्तते । तथा सति ज्ञानमात्रात् एव बन्धनिरोधः सिध्येत् ।

त. प्र.– इहाऽत्र संसारे किल परमार्थतः स्वभावमात्रमुपादानभूतद्रव्यगुणपरिणामपरिमाणं वस्तु कार्यवस्तु । अत्र वस्तुशब्देन कार्यद्रव्यस्य ग्रहणमिष्टमुत्तरत्र 'क्रोधादेर्भवनं क्रोधादि' इतिवाक्यदर्शनात् ।

स्वस्य द्रव्यगुणस्य द्रव्यपरिणामस्य च भावः परिणतिक्रियाश्रय स्वभावः । भावः परिणतिक्रियास्त्यस्य भावः । 'ओऽभ्राविभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयः । स परिमाणमस्य तत्स्वभावमात्रम् । 'प्रमाणे मात्रट्' इति परिमाणार्थे मात्रट् । वस्तु यस्य द्रव्यस्य गुणस्य वा परिणामभूतं तावद्द्रव्यप्रमाणं तावद्गुणप्रमाणं च भवतीत्यर्थः । सूत्रस्थः प्रमाणशब्दः परिच्छेदकार्यवचनः, 'प्रमाणमिह परिच्छेदकमात्रम्' इति तस्यबोधिनीकारवचनात् । स्वस्य द्रव्यगुणस्य द्रव्यपरिणामस्य च भवनं परिणतिक्रियाश्रयस्त्वेव स्वभावः । यद्वा स्वभावमात्रं स्वीयद्रव्यगुणपरिणाम एव वस्तुनः स्वाभाविको धर्मः । 'स्वार्थे द्वयसण्मात्रटौ बहुलं वक्तव्यम्' इति स्वार्थे मयट् । स्वस्य स्वीयस्य द्रव्यगुणपरिणामस्य भावः क्रिया स्वभावः । स एव स्वभावमात्रम् । 'भावः क्रियायां लीलायां पदार्थेऽभिनयान्तरे' इति विश्वलोचने । भूयते द्रव्यगुणपरिणामत्वाभ्यां परिणम्यतेऽत्रेति भवनम् । यद्वा भूतिक्रियामात्रं भवनम् । 'करणाधारे चानट्' इत्याधारे भावे चाऽनट् । स्वस्य भवनमेव स्वभावः द्रव्यपरिणामगुणपरिणामयोः परिणतिक्रिया यावन्मात्रे उपादानभूते द्रव्ये भवति तावन्मात्रमेव कार्यद्रव्य स्वभावः । अनेनोपादानोपादेययोस्समपरिमाणत्वं प्रकटीभवति, न न्यूनाधिकत्वम् । ततश्च यावन्मात्रः परिणामस्तावन्मात्रमेवोपादानमिति ध्वन्यते । यद्वा स्वस्य स्वीयस्य द्रव्यस्य गुणस्य च भवनं परिणतिक्रिया स्वभावः । तेन तस्मात्कारणाज्ज्ञानस्य ज्ञानगुणस्य भवन ज्ञप्तिक्रियात्मकपरिणतिक्रियाश्रयः खलु परमार्थतः । आत्मा शुद्धात्मद्रव्यम् । यद्वा ज्ञानस्य भवनं खलु परमार्थतः आत्मा ज्ञानं ज्ञानविकारवैकल्यं वा । अतति गच्छति जानातीत्यात्मा । ज्ञानात्मनोर्ज्ञप्तिक्रियाश्रयत्वादेकवस्तुत्वाज्ज्ञानस्य भवनमात्मेति प्रोक्तम् । 'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ' इति मनिण् । गत्यर्थकधातूनां ज्ञानार्थकत्वादततेर्गत्यर्थकत्वाच्च जानातीत्यर्थः । आत्मा धृतिः स्वस्वरूपस्थितिरित्यर्थः । 'आत्मा ब्रह्ममनोदेहस्वभावधृतिबुद्धिषु' इति विश्वलोचने । तेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं निर्विकारत्वं स्वस्वरूपस्थितिर्वेत्यर्थः । क्रोधादेरशुद्धजीवविभावात्मकपरिणामस्य भवनं क्रोधाद्यात्मकपरिणतिक्रियाश्रयः क्रोधादि क्रोधाद्यात्मकं वस्तु क्रोधाद्यात्मकत्वेन परिणतोऽशुद्ध आत्मा क्रोधादिविभावभावपरिमाणः । यद्वा क्रोधादि वस्त्वशुद्धात्मनो नैसर्गिको धर्मः । अयमत्र भावः—यथा ज्ञानस्वभावेन परिणत आत्मा साकल्येन ज्ञानात्मकस्तथा क्रोधाद्यात्मकत्वेन परिणतोऽशुद्ध आत्मा साकल्येन क्रोधाद्यात्मक इति । अथ साकल्येन । 'अथाऽथो च शुभे प्रश्ने साकल्यारम्भसंशये' इति विश्वलोचने । ज्ञानरूपं यद् भवनं ज्ञप्तिक्रियाश्रयभूतो जीवो न क्रोधादेरशुद्धजीवपरिणामभूतस्य क्रोधाद्यात्मकविभावभावस्याऽपि भवन परिणतिक्रियाश्रयः, यतो यस्मात्कारणाद्यथा येन प्रकारेण ज्ञानभवने ज्ञप्तिक्रियात्मकपरिणतिक्रियाश्रयभूते जीवे ज्ञानं भवज्ज्ञप्तिक्रियारूपेण परिणममान विभाव्यत उपलभ्यते न तथा तेन प्रकारेण क्रोधादिः क्रोधाद्यात्मको विभावभावोऽपि ज्ञप्तिक्रियाश्रयभूते जीवे क्रोधनक्रियात्मकत्वेन परिणममानस्सन्नुपलभ्यते । यद्वा अथ साकल्येन ज्ञानस्य यद्भवनं ज्ञप्तिक्रियात्मकत्वेन परिणमन तन्न क्रोधादेरपि भवन क्रोधादिरूपविभावभावात्मकत्वेन परिणमनं यतो यस्मात्कारणाद्यथा येन प्रकारेण ज्ञानभवने ज्ञानस्य ज्ञप्तिक्रियात्मकपरिणतिक्रियायां ज्ञान भवज्ज्ञप्तिक्रियात्मकत्वेन परिणममानं विभाव्यत उपलभ्यते न तथा तेन प्रकारेण ज्ञप्तिक्रियात्मकपरिणतिक्रियायां क्रोधादिरपि क्रोधाद्यात्मको विभावभावोऽपि क्रोधाद्यात्मकत्वेन परिणममानो विभाव्यते उपलभ्यते । यत्तु यदेव द्रव्यम् । अशुद्धो जीव इत्यर्थः । क्रोधादेः क्रोधाद्यात्मकविभावभावस्य भवनं क्रोधाद्यात्मकपरिणतिक्रियाश्रयभूतोऽशुद्धो जीव. । तत् द्रव्यं क्रोधाद्यात्मकपरिणतिक्रियाश्रयोऽशुद्धो जीवो न ज्ञानस्याऽपि भवन ज्ञप्तिक्रियाश्रयभूतः, यतो यस्मात्कारणाद्यथा येन

प्रकारेण क्रोधादिभवने क्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणतिक्रियाश्रयभूतेऽशुद्धजीवे क्रोधादयो भवन्तः परिणममानास्सन्तो विभाव्यन्ते उपलभ्यन्ते न तथा तेन प्रकारेण ज्ञानमपि क्रोधादिरूपक्रियाश्रयभूते जीवे परिणममान सदुपलभ्यते । यद्वा यस्तु यदेव क्रोधादेर्भवनं क्रोधाद्यात्मकविभावभावस्य भवनं क्रोधादिरूपक्रियात्मकत्वेन परिणमनं तत्क्रोधादिरूपक्रियात्मकत्वेन परिणमन न ज्ञानस्याऽपि भवनं ज्ञप्तिक्रियात्मकत्वेन परिणमनं यतो यस्मात्कारणाद्यथा येन प्रकारेण क्रोधादिभवने क्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणतिक्रियायां क्रोधादयो भवन्तः परिणममानास्सन्तो विभाव्यन्ते उपलभ्यन्ते न तथा तेन प्रकारेण ज्ञानमपि क्रोधाद्यात्मकपरिणतिक्रियायां ज्ञप्तिक्रियात्मकत्वेन परिणममानं सदुपलभ्यते । एकद्रव्यस्वभावपरिणतिक्रियायामन्यद्रव्यस्वभावपरिणतिक्रियाया द्विक्रियावादित्वप्रसङ्गादुपलम्भासम्भवाज्जीवद्रव्यशुद्धस्वभावभूतज्ञानस्वभावज्ञप्तिरूपपरिणतिक्रियायामन्यद्रव्यरूपशुद्धजीवद्रव्यस्वभावभूतक्रोधादिस्वभावक्रोधाद्यात्मकपरिणतिक्रियायास्तत एवोपलम्भासम्भव इति भावः । शुद्धाशुद्धजीवयोः पर्यायार्थिकनयापेक्षयाऽन्योन्यभिन्नद्रव्यत्वम् । इतीत्थमात्मनः क्रोधादेश्च न खलु परमार्थतो शुद्धनिश्चयनयापेक्षया एकवस्तुत्वम् । शुद्धाशुद्धजीवावस्थयोर्यथाक्रमं ज्ञानक्रोधादिक्रियाश्रययोः कथञ्चिद्भिन्नत्वात्तदाश्रितयोर्ज्ञप्तिरूपक्रोधादिरूपपरिणतिक्रिययोरन्योन्यभिन्नत्वान्नैकवस्तुत्वमिति भावः । यद्वा ज्ञानक्रोधादिक्रिययोरन्योन्यभिन्नस्वरूपत्वान्नैकवस्तुत्वमिति भावः । इत्यत एवमात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेनान्योन्यव्यावर्तकासाधारणधर्मनिमित्तकभेददर्शनेन यदा भेदमन्योन्यभिन्नत्व जानाति तदाऽस्यात्मनोऽनादिरप्यज्ञानसमुद्भवा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते विनश्यति । तन्निवृत्तौ कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिवृत्तावज्ञाननिमित्तमज्ञानात्मकपरिणामोत्पत्तिनिमित्तभूतः पुद्गलद्रव्यकर्मबन्धोऽपि पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मपुद्गलोपादानको बन्धोऽपि निवर्तते विनश्यति । तथा सति ज्ञानमात्रादेव बन्धविरोधो बन्धविनाशः सिध्येत् सिध्यति । चारित्रस्य ज्ञानपर्यायात्मकत्वात्पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिदभिन्नत्वाच्चारित्रान्मोक्ष इत्यागमवचनेनाऽस्य वचनस्य न विरोध इत्यवसेयम् ।

टिकार्थ– इस ससार मे परमार्थतः द्रव्यगुण की और द्रव्यपरिणाम की परिणतिक्रिया का जो जितना आश्रय होता है उतनीहि कार्यवस्तु होती है । द्रव्यगुण की और द्रव्यपरिणाम की परिणतिक्रिया का जो आश्रय होता है वह स्वभाव है। उस कारण से ज्ञान की परिणतिक्रिया का (ज्ञप्तिक्रियारूपपरिणतिक्रिया का) आश्रय परमार्थतः आत्मा होती है । क्रोधादि की परिणतिक्रिया का (क्रोधादिरूप से परिणत होनेकी क्रिया का) आश्रय क्रोधादि है–क्रोधादिरूप वस्तु है -क्रोधाद्यवस्थापन्न अशुद्ध आत्मा है । सपूर्णत ज्ञान के रूप मे परिणत होनेकी क्रिया का जो वस्तु (आत्मा आश्रय होती है वह (आत्मरूप वस्तु) क्रोधादि के भी परिणतिक्रिया का आश्रय नहीं होती , क्यो की जिसप्रकार ज्ञान की परिणतिक्रिया के आश्रयभूत वस्तु में ज्ञान (ज्ञप्तिक्रिया के रूपमे) परिणत होता हुआ उपलब्ध होता है उसी प्रकार क्रोधादि (क्रोधनक्रिया के रूप से) परिणत होता हुआ उपलब्ध नहीं होता । जो हि वस्तु अर्थात् मोहक्रान्त अशुद्ध आत्मा क्रोधादि की परिणतिक्रिया का आश्रय होती है वह वस्तु ज्ञान की (ज्ञप्तिरूप) परिणतिक्रिया का आश्रय नहीं होती; क्योकि जिस प्रकार क्रोधादिरूप से परिणत होनेकी क्रिया की आश्रयभूत वस्तु मे (दर्शनमोहाक्रान्त अशुद्ध आत्मा मे) क्रोधादिभावस्वरूप से परिणत होते हुए उपलब्ध होते है उसीप्रकार उस वस्तु में (अशुद्ध आत्मा मे) ज्ञान भी (शुद्ध ज्ञान भी) ज्ञप्तिक्रिया के रूप से परिणत होता हुआ उपलब्ध नही होता । इसप्रकार आत्मा और क्रोधादि इनका परमार्थतः एकवस्तुत्व नहीं है । अतः इसप्रकार आत्मा और आस्रवों के असाधारण स्वरूपो को देखनेसे उनमें होनेवाले भेद को जब आत्मा जानती है (अर्थात् आत्मा भेदज्ञानी होती है) तब इस आत्मा की अनादि से चली आयी होनेपर भी अज्ञान से उत्पन्न होनेवाली कर्तृकर्मप्रवृत्ति–निवृत्त–नष्ट हो

जाती है। उसकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानरूप परिणति का निमित्तकारणभूत पुद्गलरूप द्रव्यकर्मों का बंध भी निवृत्त हो जाता है। वैसा होनेपर सिर्फ ज्ञान से बंध के निरोध की–विनाश की सिद्धि हो जाती है।

अथवा

इस संसार में परमार्थतः वस्तु (कार्यद्रव्य) जो होती है वह द्रव्य के अक्रमभावी और क्रमभावी परिणामों की सिर्फ परिणतिरूप होती है। स्व की अर्थात् परिणामी की परिणति हि स्व-भाव है। उसकारण से ज्ञान का परिणमन परमार्थतः आत्मा है अर्थात् ज्ञानात्मक वस्तु है या स्वस्वरूपस्थिति है। क्रोधादि का परिणमन क्रोधादिरूप वस्तु है अर्थात् अज्ञानात्मक वस्तु है। ज्ञान का जो संपूर्णतः परिणमन है वह क्रोधादि का भी परिणमन नहीं है; क्यों कि जिसप्रकार ज्ञान की (ज्ञानरूप) परिणति में ज्ञान परिणत होता हुआ उपलब्ध होता है उसी प्रकार उस ज्ञानरूप परिणति में क्रोधादि भी परिणत होता हुआ उपलब्ध नहीं होता। जो हि क्रोधादि का संपूर्णतः परिणमन है वह ज्ञान का भी परिणमन नहीं है; क्यों कि जिस प्रकार क्रोधादि की (अर्थात् क्रोधादिरूप) परिणति में क्रोधादि परिणत होता हुआ उपलब्ध होता है उसीप्रकार उस क्रोधादिरूप परिणति में ज्ञान भी परिणत होता हुआ उपलब्ध नहीं होता। इसप्रकार आत्मा और क्रोधादि इनका परमार्थतः एकवस्तुत्व नहीं है। अतः इसप्रकार आत्मा और आस्रवों के असाधारण स्वरूपों को देखनेसे उनमें होनेवाले भेद को जब आत्मा जानती है (अर्थात् जब आत्मा भेदज्ञानी होती है) तब इस आत्मा की अनादि से चली आयी होनेपर भी अज्ञान से उत्पन्न होनेवाली कर्तृकर्मप्रवृत्ति निवृत्त –नष्ट हो जाती है। उसकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानरूप परिणति का निमित्तकारणभूत पुद्गलरूप द्रव्यकर्मों का बंध भी निवृत्त हो जाता है। वैसा होनेपर सिर्फ ज्ञान से बंध के निरोध की–विनाश की सिद्धि हो जाती है।

विवेचन– रसगुण आम का अक्रमभावी परिणाम है; क्यों कि वह आम के साथ सदा बना रहता है। जब यह रसगुण आम्ल रस के रूप से पूर्णरूप से परिणत होता है तब संपूर्ण आम खट्टा होता है और जब वह मधुररस के रूप से पूर्णरूप से परिणत होता है तब सपूर्ण आम मधुर होता है। अतः कार्यवस्तु जिस गुण के रूप से पूर्णरूप से परिणत होती है उस गुणात्मक होती है–उसमें वह गुण न्यूनाधिकरूप से नहीं होता। आम की कच्ची अवस्था और पक्व अवस्था एक आम्रफल की होनेपर भी कच्चे आम में और पके हुए आम में सर्वथा एकत्व नहीं होता–कच्चे आम और पके हुए आम भिन्न भिन्न माने जाते हैं और होते भी है। अत पदार्थ के गुण का जिसरूप परिणमन होता है उसरूप वह पदार्थ होता है। एक गुण के परिणमन भिन्नभिन्नप्रकारक होते हैं और भिन्नभिन्नप्रकारक परिणमन के कारण पदार्थ एक होनेपर भी गुणपरिणमननिमित्तक अवस्थाभेद से कच्चे और पके हुए आम के समान भिन्नभिन्न भी माना जाता है और पर्याय की प्रधानता की दृष्टि से होता भी है। अवस्थाभेद से कच्चे और पके हुए आम के समान एक पदार्थ यद्यपि भिन्नभिन्नरूप माना जाता है तो भी जिसप्रकार कच्चे आम से पका हुआ आम सर्वथा भिन्न नहीं होता उसीप्रकार एक अवस्थावाले पदार्थ से दूसरी अवस्थावाला वही पदार्थ सर्वथा भिन्न नहीं होता। उसीप्रकार पदार्थ की सभी अवस्थाओं में सर्वथा अभेद भी नहीं होता। यदि पका हुआ आम कच्चे आम से सर्वथा भिन्न होता तो आम्लरस की मधुररसरूप परिणति होना असंभव हो जाता; क्यो कि कच्चा आम और पका हुआ आम इनमें सर्वथा भेद होनेसे आम्लरस का आश्रय और मधुररस का आश्रय इनमें भेद हो जाता है और आश्रय के एकत्व के विना आम्लरस की मधुररसरूप परिणति नहीं हो सकती। जिससमय आम का रस आम्लरस के रूप से परिणत होता है उसीसमय मधुररस के रूप से परिणत होनेकी क्रिया उसमें नहीं होती और जब मधुररस के रूप से परिणत होने लगता है उससमय आम्लरस के रूप से परिणत होनेकी क्रिया उसमें नहीं होती है। यदि आम्लरसरूप और मधुररसरूप परिणति एक हि आम्रफल में एकसाथ होने लगी तो आम न खट्टा होगा और न मीठा भी होगा। खट्टा आम मीठा नहीं होता और मीठा आम खट्टा नहीं होता; क्यों कि आम के रस की जो परिणति होती है वह पूर्णरूप से होनेपर हि वह खट्टा या मीठा कहा जाता है। आम का खट्टापन या मीठापन सपूर्ण आम में पाया जाता है; क्यों कि आम का रसगुण आम्रफल में पूर्णरूप से व्यापकर रहनेवाला होनेसे और उस रसगुण का परिणमन सर्वांगीण होनेसे खट्टापन या मीठापन संपूर्ण आम्रफल में पाया जाता है। इससे 'स्वभावमात्र वस्तु' इस वाक्य का

'द्रव्यगुण की और द्रव्यपरिणाम की परिणतिक्रिया का जितना आश्रय होता है उतनी हि कार्यवस्तु होती है' यह अभिप्रेत अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

ज्ञान की परिणतिक्रिया का आश्रय संपूर्ण आत्मा होती है; क्यों कि ज्ञान संपूर्ण आत्मा को व्यापकर रहता है–आत्मा ज्ञानप्रमाण होती है । शुद्ध आत्मा कार्यपरमात्मा कही गयी है । अतः शुद्धज्ञानरूपपरिणति की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा कार्यरूप भी है । अशुद्ध आत्मा के अज्ञान की क्रोधादिरूप परिणति होनेसे और वह अज्ञान क्रोधादिकार्य के रूप से परिणत हो जानेसे अज्ञान की या अज्ञानी जीव की क्रोधादिसंज्ञा बनती है । अज्ञानी जीव का अज्ञान जब उसको संपूर्णतः व्यापता है तब अज्ञान का क्रोधरूप परिणाम भी अज्ञानी जीव को संपूर्णतः व्यापता है । अतः क्रोधादि का आश्रयभूत जीव क्रोधादिरूप संज्ञा को धारण करता है । यह आत्मा भी पर्यायार्थिकनय की प्रधानता की अपेक्षा कार्यवस्तु है; क्यों कि उत्पादव्ययात्मक क्रोधादिरूप परिणाम और परिणामी अज्ञानी आत्मा इनमें तादात्म्य होनेके कारण अज्ञानी आत्मा कथंचित् अनित्य होती है और अनित्य होनेसे उसकी कथंचित् कार्यरूपता की सिद्धि हो जाती है । जो उत्पादव्ययात्मक होता है वह कार्यरूप होता है, जैसे घट । परिणामभूत कार्यवस्तु जब उपादान के अभाव में अस्तिरूप नहीं रह सकती और जब ध्रुवत्व की अपेक्षा से उपादान नित्य होता है तब कार्यवस्तु नित्यानित्यात्मक होती है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है । प्रकृत प्रकरण पर्यायप्रधान होनेसे कार्यरूपवस्तु का ग्रहण यहां अभीष्ट है । जिसप्रकार घट मृत्तिका का उपादेयभूत कार्य होनेपर भी सिर्फ घटशब्द के द्वारा उसका उल्लेख किया जानेपर भी मृत्तिका और घट में तादात्म्यसंबंध होनेसे घटशब्द के उच्चारण से अनुल्लिखित मृत्तिका का ग्रहण ध्वनित हो जाता है उसीप्रकार क्रोधादि अशुद्ध अर्थात् अज्ञानी आत्मा का उपादेयभूत कार्य होनेपर भी क्रोधादिशब्द के द्वारा क्रोधादि का उल्लेख किया जानेपर भी अशुद्ध आत्मा और क्रोधादिपरिणामों में तादात्म्यसंबंध होनेसे क्रोधादिशब्द के उच्चा–रण से अनुल्लिखित अशुद्ध आत्मा का ग्रहण ध्वनित हो जाता है । अतः क्रोधादिरूप से परिणत हुई अज्ञानी आत्मा की क्रोधादि यह संज्ञा कथंचित् यथार्थ है ।

आम्रफल के रसगुण की जो संपूर्णतः मधुररस के रूप से परिणति है वह आम्लरस के रूप से होनेवाली परिणति नहीं होती; क्यों कि जिसप्रकार मधुररसरूप परिणति में मधुररस परिणत होता हुआ उपलब्ध होता है उसीप्रकार उस रस की मधुररसरूप परिणति में आम्लरस परिणत होता हुआ उपलब्ध नहीं होता । कहनेका भाव यह है कि आम्रफल के रसगुण की मधुररसरूप और आम्लरसरूप परिणतियां युगपत्–एकसाथ नहीं होती । यदि उक्त दोनोंप्रकार की परिणतियां एकसाथ होने लगी तो आम्रफल की संपूर्णतः आम्लरसयुक्त और मधुररसयुक्त अवस्थाएं नहीं बन सकेगी । उसीप्रकार आम्रफल के रसगुण की जो संपूर्णतः आम्लरस के रूप से परिणति है वह मधुररस के रूपसे होनेवाली परिणति नहीं होती, क्यों कि जिसप्रकार आम्लरसरूप परिणति में आम्लरस परिणत होता हुआ उपलब्ध होता है उसीप्रकार उस रस की आम्लरसरूप परिणति में मधुररस परिणत होता हुआ उपलब्ध नही होता । एक पदार्थ की एकसाथ–युगपत् दो पर्यायें–परिणाम–अवस्थाएं नहीं हो सकती; क्यों कि पदार्थस्वभाव ऐसा हि है । पूर्वपर्याय के नाश के बिना उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होना असमव है । आम्रफल के आम्ररसात्मकपर्याय के अभाव के बिना मधुर–रसात्मकपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती । अतः आम्लरसात्मक पर्याय और मधुररसात्मक पर्याय इनमें वध्यघातकभाव–रूपविरोध है यह बात स्पष्ट हो जाती है । जब आम्लरसरूप पर्याय उत्पन्न होती है तब मधुररसरूपपर्याय की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्यों कि आम्लरसरूप पर्याय का विनाश होना हि मधुररसरूपपर्याय की उत्पत्ति होना होनेसे वर्त–मानकालीन परिणति में भविष्यकाल में जायमान परिणति का होना असंभव है । बाल्यावस्थारूपपरिणतिक्रिया में उत्तरकालभाविनी वृद्धावस्था के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का सद्भाव कभी पाया जाता है ? जब आम्लरसरूपपरि–णतिक्रिया का नाश–अभाव होना हि मधुररसरूपपर्याय की उत्पत्ति होना है तब मधुररसरूपपर्याय की उत्पत्ति के समय विनष्ट होनेवाली आम्लरसरूपपर्याय की उत्पत्तिरूप परिणति नहीं हो सकती; क्यों कि पूर्वपर्याय का नाश उत्तरपर्याय की उत्पत्तिरूप होनेपर भी उत्पद्यमानपर्याय की उत्पत्ति का और विनाश का काल एक नहीं हो सकता । [घट की उत्पत्ति और विनाश युगपत् होने लगे तो घटरूपपर्याय की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?] सारांश, पूर्वो .र काल–

भाविपर्यायों के उत्पत्तिकाल में भेद होनेसे कौनसी भी पर्याय की उत्पत्तिरूपपरिणति के समय अन्यपर्याय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आत्मा का जो सपूर्णतः ज्ञानरूप-ज्ञप्तिक्रियारूप परिणमन होता है वह क्रोधादिरूप-क्रोधनक्रियारूप परिणमन नहीं है। ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति का काल और क्रोधादिपर्याय की उत्पत्ति का काल इनमें भेद होता है; क्यों कि क्रोधोत्पत्ति का काल क्रोध के विनाश के और ज्ञान की उत्पत्ति के काल के पूर्ववर्ती होता है। क्रोधादिपर्याय की उत्पत्ति का काल और ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति का काल इनमें पौर्वापर्य होनेसे पूर्वकाल में होनेवाली क्रोधोत्पत्तिरूप परिणतिक्रिया का और उत्तरकाल में होनेवाली ज्ञानपर्याय की उत्पत्तिक्रिया का एकत्व नहीं हो सकता। क्रोधादि-पर्याय की उत्पत्ति का काल और उसके विनाश का काल इनमें जब भेद होता है तब क्रोधादिपर्याय की उत्पत्ति का काल और ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति का काल इनमें भेद का होना अनिवार्य हो जाता है; क्यों कि क्रोधादिरूपपर्याय के विनाश का काल और ज्ञानरूपपर्याय की उत्पत्ति का काल एक-अभिन्न होता है। अतः ज्ञानरूप परिणति में क्रोधा-दिरूप से परिणमन पाया न जानेसे दोनों परिणतियों का एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। सारांश, क्रोधादिरूपपर्याय का नाश होनेपर हि ज्ञानरूपपर्याय की उत्पत्ति होनेसे ज्ञानरूप परिणमन का और क्रोधादिरूप परिणमन का एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मा का जो संपूर्णतः क्रोधादिरूप परिणमन होता है-आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों का क्रोधादि-रूप से परिणमन होता है वह ज्ञानरूप परिणमन नहीं है। क्रोधादिपर्याय की उत्पत्ति का काल और ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति का काल इनमें भेद होता है; क्यों कि ज्ञानोत्पत्ति का काल क्रोध की उत्पत्ति के काल के अनन्तरवर्ती होता है। क्रोधादिपर्याय की उत्पत्ति का काल और ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति का काल इनमें पौर्वापर्य होनेसे अनन्तर-काल में आविर्भूत होनेवाली ज्ञानोत्पत्तिरूप परिणतिक्रिया का और पूर्वकाल में होनेवाली क्रोधादिपर्याय की उत्पत्ति-क्रिया का एकत्व नहीं हो सकता। क्रोधादिपर्याय की उत्पत्ति का काल और उसके विनाश का काल इनमें जब भेद होता है तब क्रोधादिपर्याय की उत्पत्ति का काल और ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति का काल इनमें भेद का होना अनिवार्य हो जाता है; क्यों कि ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति का काल और क्रोधादिपर्याय के विनाश का काल एक-अभिन्न होता है। अतः क्रोधादिरूप परिणति में ज्ञानरूप से होनेवाला परिणमन पाया न जानेसे दोनों परिणतियों का एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। सारांश, क्रोधादिरूपपर्याय का नाश होनेपर हि ज्ञानरूप पर्याय की उत्पत्ति होनेसे क्रोधादिरूप परिणमन का और ज्ञानरूप परिणमन का एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। क्रोधादिरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय मोहाक्रान्त अज्ञानी जीव होता है और शुद्ध ज्ञान के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय निर्मोह शुद्ध जीव होता है। यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से क्रोधादिरूपपर्यायें और शुद्धज्ञानरूपपर्याय इनका आश्रय एक जीवद्रव्य हि होता है तो भी पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से क्रोधादिरूपपर्याय का आश्रय मोहाक्रान्त अज्ञानी जीव होनेसे और ज्ञानरूप पर्याय का आश्रय निर्मोह शुद्ध जीव होनेसे दोनों पर्यायों के आश्रयों में कथंचित् भेद होनेके कारण उनके उपादानकारण भिन्नभिन्न होनेसे ज्ञानपरिणति का और क्रोधादिरूप परिणति का परमार्थतः एकवस्तुत्व नहीं है। इसप्रकार आत्मा और क्रोधादिभावरूप आस्रव इनके असाधारण स्वरूपों को जानकर उनमें होनेवाले भेद को जब आत्मा यथार्थतः जानती है तब उसकी कर्तृकर्मप्रवृत्ति अनादिकाल से चली आयी हुई होनेपर भी अज्ञानजन्य होनेसे निवृत्त हो जाती है। इस कर्तृकर्मप्रवृत्ति का अनादित्व वृक्ष और बीज के समान परंपरामूलक होनेसे उस प्रवृत्ति का अभाव होना असंभव नहीं है। जब कर्तृकर्मप्रवृत्ति का अर्थात् विभावरूप परिणति का अभाव हो जाता है तब अशुद्ध जीव की अज्ञानरूप परिणति का निमित्तकारण पडनेवाले पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के बंध का अभाव भी हो जाता है। जब विभावभावात्मक कर्तृकर्मप्रवृत्ति का अभाव हो जाता है तब उभयबंध नहीं होता और जब उभयबंध का हि अभाव होता है तब जीव को अज्ञानरूप परिणति नहीं होती; क्यों कि अज्ञानरूपपरिणति नैमित्तिकभावरूप होनेसे निमित्त का अभाव होनेपर अज्ञानरूप परिणति का भी अभाव हो जाता है। यदि अज्ञानरूप भाव निर्निमित्तक होता तो वह भाव सनातन बन जानेसे वह जीव की मुक्तावस्था में भी पाया जाता। अज्ञानभाव मुक्तावस्था में जब नहीं पाया जाता और जब जीव की संसार-अवस्था में हि पाया जाता है तब वह अनादि होनेपर भी निर्निमित्तक नहीं है और निर्निमित्तक न होनेसे स्वाभाविकभावरूप भी नहीं है। क्रोधादिरूपविभावभाव जीव के अज्ञान के हि

उपादेय–परिणाम–पर्यायें हैं। ऐसी अवस्था में 'ज्ञानमात्र से हि बंध के अभाव की सिद्धि हो जाती है' यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। ज्ञान की–सम्यग्ज्ञान की–भेद ज्ञान की सामर्थ्य से पूर्वकालीन बंध का ध्वंस हो जाता है और नया कर्मबंध होता हि नहीं। इसप्रकार मोक्षावस्था की प्राप्ति भी सिर्फ ज्ञान से हि होती है।

" 'ज्ञान से हि बंध का अभाव और मोक्ष की प्राप्ति होती है' ऐसा जो यहां कहा गया है उसका 'मोक्ष की प्राप्ति चारित्र से होती है' इस शास्त्रीय अन्य वचन के साथ विरोध हो जाता है। ऐसी अवस्था में कौनसा कथन प्रमाणभूत माना जाय ?" इसप्रकार की शंका की जा सकती है; किंतु यह शंका ठीक नहीं है; क्यों कि 'ववहारेणु-वदिस्सइ–' (स. सा. गा. ७) इस गाथा के अनुसार निश्चयनय की दृष्टि से उनमें भेद न होनेसे 'ज्ञान से हि मोक्ष की प्राप्ति होती है' और 'चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है' इन वचनों में अन्योन्यविरोध नहीं है। अतः दोनों प्रकार के कथन यथार्थ हैं।

'कथं ज्ञानमात्रात् एव बन्धनिरोधः ?' इति चेत्–

'ज्ञानमात्र से हि बंध का निरोध होता है यह कैसे ?' ऐसी शंका हो तो–

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥ ७२ ॥

ज्ञात्वाऽऽस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।
दुःखस्य कारणमिति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ– **(आस्रवाणां)** क्रोधादिरूप भावास्रवों के अर्थात् विभावभावों के **(अशुचित्वं च)** अशुद्धत्व को–मलरूपत्व को, **(विपरीतभावं च)** वैपरीत्य को अर्थात् आत्मा के विज्ञानस्वभाव से विपरीतस्वभाव को–अज्ञानस्वभाव को–मिथ्याज्ञानस्वभाव को और **(दुःखस्य कारणं इति च)** वे दुःख का कारण हैं ऐसा अर्थात् दुःखकारणत्व को **(ज्ञात्वा)** जानकर **(जीवः)** जीव **(ततः)** उन विभा–वभावात्मक भावास्रवो से **(निवृत्तिं)** निवृत्ति **(करोति)** करता है।

[कहनेका भाव यह है कि– क्रोधादिरूप भावास्रव कर्मोदयरूप निमित्त से अज्ञानरूप उपादान से या अशुद्ध आत्मा से उत्पन्न होनेवाले अशुद्ध आत्मा के विभावभावरूप परिणाम होनेसे अशुद्ध है। वे शुद्धज्ञानस्वभाववाले न होनेसे, मिथ्याज्ञानस्वभाववाले होनेसे, ज्ञानी जीवों के अनुभव के विषय बननेवाले न होनेसे और मिथ्याज्ञानी जीवों के अनुभव के विषय बननेवाले होनेसे आत्मा के स्वभावभावरूप न होनेसे विभावभावरूप है। अज्ञानी आत्मा में आकुलता की उत्पत्ति करनेवाले होनेसे दुःख का कारण है–दुःखरूप परिणति का निमित्तकारण है। आत्मा अत्यंत निर्मल चैतन्यरूप होनेके कारण ज्ञायक होनेसे अत्यंत शुद्ध होती है, नित्य हि विज्ञानस्वभाववाली होनेके कारण ज्ञायक होनेसे विपरीतस्वभाववाली–मिथ्याज्ञानस्वभाववाली नहीं है और अनाकुलत्व उसका स्वभाव होनेसे दुःख का कारण नहीं होती। अतः आत्मा का स्वरूप और भावास्रवों का स्वरूप इनमें भेद होनेसे भावास्रव शुद्धात्मस्वामिक नहीं है ऐसा जानकर ज्ञानी आत्मा भावास्रवों से निवृत्त हो जाती है अर्थात् ज्ञानी आत्मा को आत्मा और आस्रव इनमें होनेवाले भेद का ज्ञान होनेसे वह भावास्रवो के रूप से परिणत नहीं होती और भावास्रवों के रूप से परिणत न होनेसे उस आत्मा के बंध का अभाव हो जाता है। अतः 'सिर्फ ज्ञान से हि बंध का निरोध हो जाता है' यह अभि-प्राय स्पष्ट हो जाता है।]

आ. ख्या.– जलेजम्बालवत् कलुषत्वेन उपलभ्यमानत्वात् अशुचयः खलु आस्रवाः, भगवान् आत्मा तु नित्यं एव अतिनिर्मलचिन्मात्रत्वेन उपलम्भकत्वात् अत्यन्तं शुचिः एव;

जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वात् अन्यस्वभावाः खलु आस्रवाः, भगवान् आत्मा तु नित्यं एव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वात् अनन्यस्वभावः एव; आकुलत्वोत्पादकत्वात् दुःखस्य कारणानि खलु आस्रवाः, भगवान् आत्मा तु नित्यं एव अनाकुलत्वस्वभावेन अकार्यकारणत्वात् दुःखस्य अकारणं एव इति । एवं विशेषदर्शनेन यदा एव अयं आत्मास्रवयोः भेदं जानाति तदा एव क्रोधादिभ्यः आस्रवेभ्यः निवर्तते, तेभ्यः अनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनः ज्ञानमात्रात् एव अज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः बन्धनिरोधः सिध्येत् । किं च यत् इदं आत्मास्रवयोः भेदज्ञानं तत् किं अज्ञानं किं वा ज्ञानम् ? यदि अज्ञानं, तदभेदज्ञानात् न तस्य विशेषः । ज्ञानं चेत्, किं आस्रवेषु प्रवृत्तं किं वा आस्रवेभ्यः निवृत्तम् ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्, तदा अपि तदभेदज्ञानात् न तस्य विशेषः । आस्रवेभ्यः निवृत्तं चेत्, तर्हि कथं न ज्ञानात् एव बन्धनिरोधः ? इति निरस्तः अज्ञानांशः क्रियानयः । यत् तु आत्मास्रवयोः भेदज्ञानं अपि न आस्रवेभ्यः निवृत्तं भवति तत् ज्ञानं एव न भवति । इति ज्ञानांशः ज्ञाननयः अपि निरस्तः ।

त. प्र.– जलेजम्बालवत् । जलेजम्बाल इत्यनुप्सः । तद्वत् । 'ईपोऽद्बलः' इत्यनुप्सः । जम्बालेन कर्दमेन सर्वतो व्याप्तो जलाशयो जलेजम्बालाख्यामुद्वहति । जमति ग्रसते जम्बालः । 'जम्बालः शैवले पङ्के' इति विश्वलोचने । सरोजलस्य सर्वतो व्यापकत्वात्कर्दमस्य जम्बाल इति नामान्तरम् । कर्दमेन व्याप्तं सरोजलं यथा कलुषत्वेन पङ्किलत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुद्धं पङ्किलत्वाच्चान्यार्थप्रतिबिम्बाग्राहि स्वशुद्धस्वरूपप्रकटीकरणसामर्थ्यविकलं च भवति, तथा कलुषत्वेन मोहोदयजनितकालुष्यत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुद्धेनात्मनाऽनुभूयमानत्वात्कर्मोदयात्मकनिमित्तकारणजनिताज्ञानभावात्मककालुष्यत्वेन स्वपरार्थस्वरूपाग्राहित्वाच्चाऽशुचयोऽशुद्धा मलीमसाः खलु परमार्थत आस्रवाः क्रोधादिरूपा भावास्रवाः । द्रव्यास्रवपक्षे–जले जम्बालवत् जम्बालो कलुषत्वेन मलत्वनोपलभ्यमानत्वाद्यथा मलरूपस्तथा कलुषत्वेन मलरूपत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयो मलरूपाः खलु परमार्थत आस्रवा द्रव्यास्रवाः । उपलभ्यमानास्सन्तो नोपलम्भकाः, अचेतनत्वात् । भगवान् विज्ञानघनस्वभावः । 'भगं तु ज्ञानयोनीच्छायशोमाहात्म्यमुक्तिषु । ऐश्वर्यवीर्यवैराग्यधर्मश्रीरत्नभानुषु' इति विश्वलोचने । आत्मा तु नित्यमेवाविच्छेदेन सर्वकालमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनातिनिर्मलचैतन्यप्रमाणत्वेनातिनिर्मलचैतन्यस्वरूपत्वेन वोपलक्षितत्वादुपलम्भकत्वाज्ज्ञायकत्वादत्यन्त शुचिरेव शुद्ध एव । जडस्वभावत्वे सति जडस्य शुद्धचैतन्यविकलस्यात एवाऽचेतनस्य पुद्गलादेः स्वभाव इव स्वभावो यस्य स जडस्वभावः । तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्मिन् । 'ईबपुमानपूर्वस्य सुखं वक्तव्यम्' इति सुखम् । आस्रवाणामशुद्धचैतन्यान्वयवत्त्वेऽपि शुद्धचैतन्यस्वभाववैकल्याज्जडस्वभावत्वम् । तस्मिन्सति परचेत्यत्वाच्छुद्धात्मभिन्नाशुद्धात्मना चेत्यत्वादनुभवगोचरीकर्तव्यत्वात् । परेण शुद्धनिश्चयनयापेक्षया स्वीयाच्छुद्धात्मनो भिन्नेनाशुद्धेनात्मना चेत्यत्वाज्ज्ञातुमनुभवितुं च शक्यत्वादन्यस्वभावाः शुद्धात्मस्वभावभिन्नस्वभावाः खलु परमार्थत आस्रवाः क्रोधाद्यात्मका भावास्रवाः । द्रव्यास्रवपक्षे–द्रव्यास्रवाणां पुद्गलोपादानकत्वात्पुद्गलस्वरूपत्वाज्जडस्वभावत्वेऽचेतनस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वात्स्वभिन्नात्मद्रव्यज्ञेयत्वात्स्वयं चाचेतकत्वादन्यस्वभावाः खलु परमार्थत

आस्रवा द्रव्यास्रवाः । भगवान् ज्ञानवानात्मा तु नित्यमेवाविच्छेदेन सर्वकालमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे
सति शुद्धज्ञानसान्द्रस्वभावत्वे सति । विज्ञानघनो विज्ञानसान्द्रः स्वभावो यस्य सः । तस्य भावः ।
तस्मिन् । स्वयमात्मना चेतकत्वाज्ज्ञायकत्वादनन्यस्वभावः स्वस्वभावभिन्नस्वभावाभाववानेव । आकु–
लत्वोत्पादकत्वाज्ज्ञानदौर्बल्यजनकत्वात्क्लेशजनकत्वाद्दुःखस्य कारणानि कारणभूतानि खलु परमार्थत
आस्रवा भावास्रवाः । मिथ्यादर्शनादिरूपविभावभावात्मकपरिणतौ जातायामात्मस्वभावस्य जायमाना
विपर्यासात्मिका परिणतिरेवाकुलत्वम् । अतो मिथ्यादर्शनादिरूपभावास्रवाणामाकुलतोत्पत्तौ निमित्त–
कारणत्वादाकुलतोत्पादकत्वम् । द्रव्यास्रवपक्षे–आकुलत्वोत्पादकत्वात्स्वोदयेन निमित्तीभूय मिथ्यादर्श–
नादिरूपाज्ञानात्मकत्वेन परिणामित आत्मन्याकुलत्वोत्पादकत्वादात्मानं स्वस्वभावाच्च्यावयित्वा तद्वि–
भावपरिणतिजनकत्वाद्दुःखस्य कारणानि खलु परमार्थत आस्रवा द्रव्यास्रवाः । भगवान् ज्ञानवानात्मा
तु नित्यमेवाविच्छेदेन सर्वकालमेवानाकुलत्वस्वभावेनानातुरत्वस्वभावेन । सुखस्वभावेनेत्यर्थः । अका–
र्यकारणत्वात्कार्यस्य कारणभूतत्वाभावात् । यः सुखस्वभावो न स कस्यचित्कार्यस्य विभावात्मकस्योपा-
दानकारणं निमित्तकारणं वा भवति, कारणीभवनस्य स्वस्वभावच्युतिमन्तरेणासम्भवात् । सुखस्वभा–
वोऽयं भगवानात्मा । अतो न स कस्यापि विभावात्मकस्य कार्यस्य कारणं भवितुमर्हति, कारणीभवने
क्लेशोत्पत्तिसम्भवात्सुखस्वभावविनाशापत्तेः । दुःखस्याऽकारणमनिमित्तमिति । एवममुना प्रकारेण
विशेषदर्शनेनात्मास्रवयोरसाधारणस्वरूपज्ञानेन यदैव यस्मिन्काल एवाऽयमात्माऽऽत्मास्रवयोर्भेदमन्योन्य–
न्यभिन्नत्वं जानाति तदैव तस्मिन्काल एव क्रोधादिभ्यः क्रोधादिसञ्ज्ञकेभ्य आस्रवेभ्यो भावद्रव्यास्रवेभ्यो
निवर्तते निवृत्तो भवति, तेभ्यो भावद्रव्यास्रवेभ्योऽनिवर्तमानस्याऽनपसरतः पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः
पारमार्थिकस्य तयोरात्मास्रवयोर्भेदज्ञानस्याऽसिद्धेः । पारमार्थिकं च तत्तयोरात्मास्रवयोर्भेदस्य ज्ञानं च
पारमार्थिकतद्भेदज्ञानम् । तस्याऽसिद्धिः । तस्याः । यदैवाऽऽत्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव भावक्रोधाद्या-
त्मिकां परिणतिं परित्यजति । क्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणत्यभावे च द्रव्यास्रवोऽपि न भवति ।
आत्मनो विभावपरिणत्यभावे द्रव्यकर्मास्रवो न भवति, विभावपरिणत्यभावश्चात्मास्रवयोर्भेदज्ञानेन
भवतीति भावः । ततः क्रोधाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तेः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनः क्रोधाद्यास्रवेभ्यो
निवृत्त्याऽविनाभाववतः । क्रोधाद्यात्मकभावद्रव्यास्रवनिवृत्तौ सत्यां ज्ञानाविर्भावस्तदभावे च ज्ञानाविर्भा–
वाभाव इत्यन्वयव्यतिरेकसद्भावात्क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्या ज्ञानस्याऽविनाभावः । ज्ञानमात्रादेव केवला–
ज्ज्ञानादेवाज्ञानात्मकादुपादानाज्जायमानस्य, पक्षेऽज्ञानात्मकान्निमित्ताद्धेतोः पुद्‌गलात्मकादुपादानाज्जा–
यमानस्य । पौद्‌गलिकस्य पुद्‌गलनिमित्तकस्य, पक्षे पुद्‌गलोपादानकस्य, कर्मणः भावकर्मणः, पक्षे द्रव्य–
कर्मणो बन्धनिरोधो भावबन्धनिमित्तभूतपुद्‌गलोपादानकमिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाप्रादुर्भूतिः,
पक्षे द्रव्यबन्धनिमित्तभूताज्ञानोपादानकमिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाप्रादुर्भूतिः सिध्येत्सिध्यति ।
आत्मनः क्रोधादिरूपविभावभावात्मकत्वेन परिणतेरभावे शुद्धं ज्ञानमाविर्भवति । शुद्धज्ञानस्य मिथ्या–
दर्शनादिरूपविभावपरिणामनिमित्तकस्य पुद्‌गलोपादानकद्रव्यकर्मणो निमित्तकारणत्वाभावादात्मनो
द्रव्यकर्मबन्धो न भवति, शुद्धज्ञानस्यात्मनो बन्धहेतुभूतमिथ्यादर्शनादिरूपविभावभावात्मकत्वेन परि–
णमनासम्भवात् । तथा शुद्धज्ञानादज्ञानोपादानकस्य पुद्‌गलनिमित्तकस्य भावकर्मणोऽपि बन्धो न भवति,
शुद्धज्ञानस्यात्मनोऽज्ञानरूपत्वेन परिणतेरसम्भवाद्भावकर्मात्मकपरिणतिनिमित्तभूतस्य द्रव्यकर्मणोऽसद्भा-
वात् । किञ्चाऽपि च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदस्य ज्ञानमन्योन्यभिन्नत्वस्य ज्ञानं तद् भेदज्ञानं किमज्ञान–

मज्ञानस्वरूपं किं वा ज्ञानं ज्ञानस्वरूपम् ? यद्यज्ञानमज्ञानस्वरूपं तदा तदभेदज्ञानात्तयोरात्मास्रवयोरज्ञानात्मकादभेदज्ञानात् । आत्मास्रवावन्योन्याभिन्नाविति ज्ञानादज्ञानस्वरूपान्न तस्याऽज्ञानात्मकत्वेनाभिमतस्यात्मास्रवयोर्भेदं विषयीकुर्वाणस्य ज्ञानस्य विशेषो भेदः, तस्याप्यज्ञानरूपत्वेन शङ्काकृताऽभ्युपगतत्वात् । ज्ञानं चेदात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं ज्ञानस्वरूपमस्ति चेत्, तद्भेदज्ञानं किमास्रवेषु प्रवृत्तं व्यापृतम् ? भावास्रवरूपेण परिणत किमित्यर्थः । किं वाऽऽस्रवेभ्यो भावास्रवेभ्यो निवृत्तं पृथग्भूतम् ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत् भावास्रवरूपेण परिणतं चेत्, तदाऽपि तदभेदज्ञानात्तयोरात्मास्रवयोरभेदज्ञानादज्ञानस्वरूपान्न तस्यात्मास्रवयोर्भेदज्ञानस्य विशेषो भेदः, तयोरात्मास्रवयोर्भेदज्ञानस्य क्रोधाद्यात्मकविभावभावरूपेण परिणतस्य सतोऽज्ञानरूपत्वापत्तेः । आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेद्भावास्रवरूपेणापरिणत चेत्तदात्मास्रवयोर्भेदस्य ज्ञानं र्हि तदा कथ न ज्ञानादेव बन्धनिरोधो बन्धनिमित्ताप्रादुर्भूतिः ? आत्मास्रवयोर्भेदस्य यज्ज्ञानं तस्य मिथ्यादर्शनादिरूपविभावभावात्मकत्वेन परिणतेरभावाद्बन्धनिमित्तभूतमिथ्यादर्शनादेरभावाद्द्रव्यभावबन्धाभावो भवत्येवेति भावः । इत्यमुनाप्रकारेण निरस्तः प्रतिकूलोऽज्ञानांशोऽज्ञानस्वरूपोऽज्ञानपरिणामस्वरूपो वा । अज्ञानमंशो गात्रं शरीरं यस्य सः । यद्वाऽज्ञानस्यांशः परिणामो यस्य सः । इत्यात्मास्रवयोर्भेदज्ञानस्यास्रवेषु प्रवृत्तावात्मास्रवयोरभेदज्ञानादज्ञानरूपादभिन्नत्वापत्तेरात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमास्रवत्वेन परिणतिक्रियां करोतीत्यज्ञानांशोऽचेतनपरिणत्यात्मकः क्रियानयो क्रियाविषयकस्सिद्धान्तो निरस्तः परिहृतः । यच्चात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमप्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न भवति तदास्रवेभ्योऽनिवर्तमानं ज्ञानं ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानपरिणामभूतो ज्ञाननयोऽपि ज्ञानविषयको नयः सिद्धान्तोऽपि निरस्तः । आत्मास्रवयोर्भेदज्ञानमास्रवेषु प्रवर्तते इत्यभिमानः क्रियानयः । तदेव ज्ञानमास्रवेभ्यो न निवर्तते इत्येवंविधोऽभिमानो ज्ञाननयः ।

टीकार्थ— गंदे जल से भरे हुए सरोवर में जिसप्रकार गंदा जल पाया जाता है उसीप्रकार अशुद्ध आत्मा में भावास्रव मलिनरूप से पाये जानेवाला होनेसे आस्रव परमार्थतः अशुद्ध हैं (जल में कीचड़ जिसप्रकार मलरूप से पाया जाता है उसीप्रकार मलरूप से पाये जानेसे द्रव्यास्रव वस्तुतः मलरूप हैं ।) और ज्ञानी आत्मा सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से अत्यंत निर्मल चैतन्यमात्ररूप होनेसे उपलक्षक–ज्ञायक होनेके कारण अत्यंत निर्मल हि होती है । अचेतन पुद्गल के समान शुद्ध आत्मस्वरूप के आवारक–प्रच्छादक होनेसे अचेतनस्वभावरूप होनेपर दूसरेके अर्थात् अज्ञानी अशुद्ध आत्मा के द्वारा अपने अनुभव के विषय बनाये जानेवाले होनेसे अर्थात् शुद्ध आत्मा के समान ज्ञायकभावरूप न होनेसे आस्रव (भावास्रव) परमार्थतः अन्यस्वभाववाले अर्थात् अचेतनस्वभाववाले या अज्ञानस्वभाववाले होते हैं (अचेतनस्वभाववाले होनेपर दूसरेके अर्थात् आत्मा के द्वारा जाने जानेवाला होनेके कारण द्रव्यास्रव आत्मा के स्वभाव से भिन्नस्वभाववाले होते हैं) और ज्ञानी आत्मा सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनस्वभाव से युक्त होनेपर स्वयं ज्ञायक होनेसे अन्यस्वभाववाली–अचेतनस्वभाववाली है हि नहीं अर्थात् सिर्फ चैतन्यस्वभाववाली हि है । आकुलता का–दुःखात्मकविभावपरिणामों का उत्पादन करनेवाला होनेसे आस्रव (भावास्रव) परमार्थतः दुःख के कारण होते हैं (अपनी उदयरूप अवस्था से निमित्तकारण होकर अशुद्ध आत्मा में आकुलता के–दुःखरूपविभावपरिणति के जनक होनेसे द्रव्यास्रव परमार्थतः दुःख के कारण होते हैं ।) और ज्ञानी आत्मा सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से आकुलतास्वभाववाली न होनेसे किसी भी कार्य का कारण न होनेके कारण वह दुःख का कारण है हि नहीं । इसप्रकार आत्मा के और आस्रवों के अन्योन्यव्यावर्तक असाधारणधर्मों को देखनेसे जिससमय हि यह आत्मा आत्मा और आस्रवों में होनेवाले भेद को–विभिन्नता को जानती है उसीसमय हि क्रोधादिरूपविभावभावात्मक भावास्रवों से (और क्रोधादिसञ्ज्ञक द्रव्यास्रवों से) निवृत–पृथक् हो जाती है (भावास्रवों के रूप से परिणत नहीं होती और प्राक्तन द्रव्यास्रवों की निर्जरा करती है और नये द्रव्यकर्मों का आस्रव होने नहीं देती ।); क्यों कि जो

आत्मा भावास्रवों से और द्रव्यास्रवों से निवृत्त नहीं होती अर्थात् भावास्रवों के रूप से परिणत होकर द्रव्यकर्मों का आस्रव करती है उसके क्रोधादिरूप भावास्रव और द्रव्यास्रव तथा आत्मा इनमें होनेवाली विभिन्नता के यथार्थज्ञान की सिद्धि नहीं होती। क्रोधादिरूप आस्रवों से निवृत्त होनेके कारण क्रोधादिरूप भावद्रव्यसंज्ञक आस्रवों से निवृत्ति होनेपर हि अभिव्यक्त होनेवाले ज्ञानमात्र से हि अज्ञानोपादानक और पुद्गलकर्मनिमित्तक भावकर्म के बंध की उत्पत्ति करनेवाले मिथ्यादर्शनादिरूपविभावभावात्मक कारणों का प्रादुर्भाव न होनेसे बंध का अभाव सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह है कि आत्मा और आस्रवों में होनेवाले भेद का यह जो ज्ञान है वह अज्ञानरूप है या ज्ञानरूप है? आत्मा और आस्रवों के भेद का ज्ञान यदि अज्ञानरूप हो तो आत्मा और आस्रव इनमें भेद नहीं है इसप्रकार के (अज्ञानरूप) अभेद ज्ञान से उस भेदज्ञान का भेद नहीं हो सकता। आत्मा और आस्रव इनमें होनेवाले भेद का ज्ञान यदि ज्ञानरूप हो तो वह भेदज्ञान आस्रवों में प्रवृत्ति करता है (आस्रवों के रूप से परिणत होता है) या आस्रवों से निवृत्त होता है (आस्रवों से पृथक् होता है या भावास्रवों के रूप से परिणत नहीं होता)? यदि आस्रवों में प्रवृत्त होता हो (भावास्रवों के रूप से परिणत होता हो) तो भी आत्मा और आस्रव इनके अभेदज्ञान से उक्त भेदज्ञान का भेद नहीं हो सकता। यदि वह भेदज्ञान आस्रवों से (भावास्रवों से) निवृत्त होता है अर्थात् भावास्रवों के रूप से परिणत नहीं होता और द्रव्यास्रवों से पृथक् होता है ऐसा कहना हो तो ज्ञान से हि बंध के कारणों का प्रादुर्भाव न होनेसे बंध का अभाव कैसे नहीं होगा? इसप्रकार आत्मा और आस्रवों का ज्ञानरूप भेदज्ञान आस्रवों के रूप से परिणत हो जानेपर अज्ञानरूप बन जानेसे अज्ञान का परिणामभूत क्रियानय का निरास हो जाता है। आत्मा और आस्रवों में होनेवाले भेद का ज्ञान भी जो आस्रवों से निवृत्त नहीं होता वह ज्ञान हि नहीं होता। इसप्रकार आस्रवों के रूप से परिणत होनेवाली आत्मा और आस्रवों में होनेवाले भेद का ज्ञान ज्ञानरूप न होनेसे ज्ञान का परिणामभूत ज्ञाननय का भी निरास हो जाता है।

विवेचन– जिसमें गंदा जल भरा हुआ होता है ऐसे सरोवर में पाया जानेवाला जल मलिनरूप से पाया जानेसे जिसप्रकार अशुद्ध होता है उसीप्रकार अशुद्ध आत्मा में पाये जानेवाले भावास्रव मलिनरूप से पाये जानेसे अशुद्ध होते हैं। जिसप्रकार गंदे जल से युक्त सरोवर में बाह्यार्थ का प्रतिबिंब दिखाई न देनेसे और उसका स्वरूप दूसरेके द्वारा ज्ञेय होनेसे वह जल उपलम्भक नहीं होता उसीप्रकार आस्रव अर्थात् आत्मा के विभावभाव स्वपर को यथार्थरूप से जाननेवाले न होनेसे और ज्ञानी आत्मा के द्वारा जाने जानेवाले होनेसे उपलंभक–ज्ञायक नहीं हैं। आस्रव उपलंभक न होनेका कारण मलिनत्व है। आस्रवों में शुद्धचैतन्य स्वरूप से अन्वित न होनेसे वे अचेतन होनेके कारण उपलंभक–ज्ञायक–वस्तु के यथार्थस्वरूप को यथार्थरूप से जाननेवाले नहीं हो सकते। जिसप्रकार जलगत कीचड मलरूप से पाया जानेसे स्वयं मलरूप होता है उसीप्रकार आत्मा के साथ संश्लिष्ट हुए बंधावस्था को प्राप्त हुए द्रव्यकर्म आत्मपरिणामों की मलिनता का कारण होनेसे मलरूप होनेके कारण स्वभावतः मलरूप हैं। ज्ञानी अर्थात् ज्ञानस्वभाववाली आत्मा सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से अत्यंत निर्मल चैतन्यमात्ररूप होनेसे उपलंभक–ज्ञायक–ज्ञेय पदार्थों के यथार्थ स्वरूपों को यथार्थरूप से जाननेवाली होनेके कारण अत्यंत शुद्ध हि होती है। कहनेका भाव यह है कि–आत्मा अत्यंत निर्मल चैतन्यमात्रस्वभाववाली–ज्ञानमात्रस्वभाववाली होती है। उसका जो अत्यंत निर्मल चैतन्यरूप स्वभाव होता है वह सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से बना रहता है–कभी उसका सद्भाव और कभी अभाव नहीं होता। अत्यंत निर्मल चैतन्यस्वभाववाली होनेसे वह उपलंभक–ज्ञायकभावरूप होती है अर्थात् स्वपर–पदार्थों को पूर्णतया और यथार्थरूप से जाननेवाली होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आस्रव अशुद्धभावरूप या मलरूप होते हैं तो आत्मा स्वभावतः अत्यंत निर्मल होती है।

भावास्रवों में यद्यपि अशुद्धचैतन्य का अन्वय पाया जाता है तो भी शुद्धचैतन्य का अन्वय नहीं पाया जाता। मृत्तिका से बनाये गये घट को देखकर उसका उपादान मृत्तिका है इसप्रकार जैसे उपादान के स्वरूप का ज्ञान होता है, उसीप्रकार अज्ञानान्वित भावास्रवों से इनका उपादान अज्ञान या अज्ञानी आत्मा है इसप्रकार उन आस्रवों के उपादानकारण के स्वरूप का ज्ञान होता है। आस्रवों से जब उनके उपादानभूत अज्ञानी आत्मा का हि ज्ञान

होता है-शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं होता तब आस्रव आत्मा के शुद्धस्वरूप को जाननेवाले न होनेसे वे जडस्वरूप हैं, अपने उपादान के यथार्थ शुद्ध स्वरूप के ज्ञापक नहीं है। अत जड पदार्थ का स्वभाव ज्ञायकभावरूप न होनेसे जडरूप-अचेतनरूप होता है उसीप्रकार भावास्रव अपने उपादानभूत आत्मा के शुद्धस्वरूप को जाननेवाले न होनेसे और ज्ञेयपदार्थों को पूर्णरूप से और यथार्थतः जाननेवाले न होनेसे जडस्वभाव-अचेतनस्वभाव हैं। आस्रवों में शुद्ध चैतन्य का अन्वय न होनेसे आस्रव जडस्वरूप-अचेतन है। ये भावास्रव स्वयं जडस्वरूप होनेसे-शुद्धचेतनान्वित न होनेसे शुद्धात्मस्वामिक नहीं हैं-शुद्ध आत्मा के नहीं हैं ऐसा ज्ञान ज्ञानी आत्मा को होता है-अज्ञानी या मिथ्याज्ञानी आत्मा को नहीं होता। अज्ञानी तो अपनी आत्मा को भावास्रवों से सर्वथा अभिन्न मानती है-भावास्रवरूप हि जानती है। अतः आस्रवों के यथार्थस्वरूप को अर्थात् उनका शुद्धात्मस्वामिक न होना इस बात को ज्ञानी आत्मा हि जाननेवाली होनेसे भावास्रव परचेत्य अर्थात् दूसरों के द्वारा जाने जानेवाले हैं। दूसरी बात यह है कि क्रोधादिरूप आस्रवों की अनुभूति ज्ञानी आत्मा से भिन्न अज्ञानी आत्मा को होती है-शुद्ध आत्मा को नहीं। इस दृष्टि से भी आस्रव परचेत्य हैं। भाव्यभावकभाव वस्तुतः परिणामपरिणामी में होनेसे आस्रवात्मक परिणति अज्ञानी आत्मरूप परिणामी के होनेसे उनका अनुभव अज्ञानी आत्मा को हि प्राप्त होता है-ज्ञानी आत्मा को नहीं; क्यों कि आस्रव और शुद्ध आत्मा में परिणामपरिणामिभाव न होनेसे उनमें भाव्यभावकभाव का अभाव होता है। सारांश, आस्रव या अज्ञानी आत्मा शुद्ध आत्मा के समान चेतक-ज्ञायक नहीं है। वे आस्रव स्वयं ज्ञायक न होनेसे उनका स्वभाव-स्वरूप शुद्धात्मद्रव्य के शुद्धज्ञानस्वभाव से भिन्न होता है और वे पुद्गल के स्वभाव के सदृश स्वभाव के धारक होते हैं। उनका स्वभाव शुद्धज्ञानरूप न होनेसे आत्मा के स्वभाव से भिन्न होता है और शुद्धात्मस्वरूप के प्रच्छादक होनेसे पुद्गल के स्वभाव के सदृश होता है। द्रव्यास्रव पुद्गलोपादानक होनेसे अर्थात् आस्रवरूप क्रिया द्रव्यकर्माश्रित होनेसे द्रव्यकर्मों से अभिन्न होनेसे ज्ञानक्रियात्मक न होनेसे जडस्वरूप है। वह आस्रवणक्रिया अचेतन होनेसे परचेत्य है-ज्ञानी आत्मा के द्वारा ज्ञेय है-जाननेयोग्य है। परचेत्य होनेसे द्रव्यास्रव आत्मभिन्न द्रव्य के अर्थात् पुद्गलद्रव्य के स्वभाव से युक्त होते है। ज्ञानी आत्मा सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनस्वभाववाली होती है। विज्ञानघनस्वभाववाली होनेसे ज्ञायक होती है और ज्ञायक होनेसे उसका स्वभाव अन्यद्रव्य के स्वभाव के समान अर्थात् अचेतनात्मक नहीं होता-अन्यद्रव्यों मे पाया जानेवाला न होनेसे असाधारण होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आस्रव अचेतनस्वभाववाले, परज्ञेय और आत्मस्वभावभिन्नस्वभाववाले होते है और आत्मा विज्ञानघनस्वभाव-वाली, ज्ञायक और अनन्यसाधारणस्वभाववाली होती है ।

आस्रव- क्रोधाद्यात्मक विभावभाव आत्मा में संभ्रम, व्यामोह या प्रक्षोभ उत्पन्न करते हैं-जाननेकी शक्ति को क्षीण करते है। संभ्रम के कारण अज्ञानी आत्मा को स्वपर के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यथार्थ ज्ञान के अभाव से आत्मा दुःखरूप से परिणत होती है। अतः आस्रव परमार्थतः दुःख के कारणभूत होते है। द्रव्यास्रव होनेपर द्रव्यकर्म उदयरूप से परिणत होकर निमित्तकारण बनकर आत्मा में सभ्रम-व्यामोह की उत्पत्ति करते है और उससे आत्मा दुःखरूप से परिणत होती है। अतः द्रव्यास्रव भी आकुलता की उत्पत्ति में निमित्तकारण होनेसे दुःख का कारण हैं। ज्ञानी आत्मा दुर्बलतारहित ज्ञानस्वभाव की धारक होती है। यदि वह किसी विभावा-त्मकपरिणतिरूप कार्य का कारण हुई तो उसके ज्ञानस्वभाव में दुर्बलता का सद्भाव होना हि चाहिये। उसका स्वभाव वस्तुतः दौर्बल्य से युक्त न होनेसे वह किसी भी विभावात्मक कार्य का उपादानकारण नहीं हो सकती और किसी भी विभावात्मककार्य का कारण न हो सकनेसे वह दुःखरूपपरिणति का कारण नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आस्रव दुःखोत्पत्ति के कारण होते है और शुद्ध आत्मा दुःखोत्पत्ति का कारण नहीं होती। इसप्रकार आस्रव और शुद्ध आत्मा इनके असाधारणस्वरूपों को जानकर उनमें होनेवाले भेद को जिससमय जानती है उसीसमय आत्मा क्रोधादिसंज्ञक भावद्रव्यास्रवों से निवृत्त हो जाती है-भावास्रवों के रूप से परिणत नहीं होती और उनरूप परिणत न होनेसे उसके द्रव्यकर्मों का आस्रव न होनेसे द्रव्यास्रवों से पृथक् हो जाती है। यदि वह आस्रवों से निवृत्त न हुई तो उसके आत्मास्रव के भेद के यथार्थज्ञान की सिद्धि नहीं होती। जो जिस पदार्थ को स्वकीय नहीं मानता

वह सच्चा पुरुष उस पदार्थ को स्वीकार नहीं करता। जब आत्मा क्रोधादिरूप आस्रवों से निवृत्त होती है तब हि उसका स्वभावभूतज्ञान अभिव्यक्त होता है; क्यों कि क्रोधाद्यास्रवरूप परिणति की निवृत्ति के बिना आत्मा का ज्ञान-स्वभाव अभिव्यक्त नहीं होता। आत्मा की स्वभावभूतज्ञान के रूप से परिणति होनेपर उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है। अज्ञान का नाश होनेपर क्रोधादिविभावरूप परिणतियों के अज्ञानरूप उपादान का अभाव हो जाता है। अज्ञानरूप उपादान का अभाव होनेपर अज्ञान के साथ जिनका तादात्म्यसंबंध होता है ऐसे अज्ञानोपादानक परिणामों की-विभावभावों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? जब उपादान का हि अभाव होता है तब पुद्गलोपादानककर्मरूपनिमित्त सद्भूत होनेपर भी अज्ञानोपादानक क्रोधादिरूपपरिणामों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मृत्पिण्डरूप उपादान का अभाव होनेपर कुम्हार, दण्ड, चक्र आदि सहकारिसामग्री क्या घट की उत्पत्ति कर सकती है? क्रोधादिरूप परिणति मिथ्यादर्शन, अज्ञान आदि बन्ध कारणों का सद्भाव होनेपर हि हो सकती है। अतः आत्मा स्वभावभूतज्ञान के रूप से परिणत होनेपर उसकी भावास्रवों के रूप से परिणति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि जब अज्ञान का हि अभाव होता है तब अज्ञानोपादानक विभावभावों का भी अभाव होता है। द्रव्यकर्मों का आस्रव विभावभाव निमित्त पडनेपर होता है। जब विभावभावात्मक निमित्त का हि अभाव होता है तब आस्रवणक्रिया की आश्रयभूत कर्मयोग्य पुद्गलवर्गणाएं विद्यमान होनेपर भी उनका आस्रव नहीं होता। मृत्तिकापिण्डरूप उपादान कुंभकारादिसहकारिसामग्री के अभाव में घटरूप से परिणत हो सकता है क्या? अतः आत्मा स्वभावभूतज्ञान के रूप से परिणत होनेपर उसकी अज्ञानावस्था का नाश हो जानेसे अज्ञानोपादानक विभावभावों का अभाव हो जानेके कारण उसके द्रव्यकर्मों का आस्रव भी नहीं हो सकता। जब आस्रव हि नहीं होता तब बंध भी कैसे हो सकता है? आत्मा और आस्रवों में होनेवाले भेद का ज्ञान यदि अज्ञानरूप होता है ऐसा माना तो 'आत्मा और आस्रवों में भेद नहीं होता' इस अभेद ज्ञान से उन भेदज्ञान का विभिन्नत्व नहीं हो सकता; क्यो कि आत्मा और आस्रव की अभिन्नता का-एकरूपता का ज्ञान भी भ्रान्तज्ञानात्मक होनेसे अज्ञानरूप होता है। आत्मा और आस्रवों में होनेवाले भेद का ज्ञान ज्ञानरूप हो तो वह भेदज्ञान आस्रवों में प्रवृत्त होता है (आस्रवों के रूप से परिणत होता है) या आस्रवों से निवृत्त होता है (आस्रवों के रूप से परिणत नहीं होता या आस्रवों से पृथक् हो जाता है)? यदि वह आस्रवों में प्रवृत्त होता है ऐसा माना तो भी आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उस भेदज्ञान का विभिन्नत्व नहीं होगा; क्यों कि आत्मा और आस्रवों के अभेद का ज्ञान भी अज्ञानरूप होनेसे आस्रवों के रूप से परिणत होता है। यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त होता है तो ज्ञान से हि बंध का निरोध-बंध के कारणों का प्रादुर्भाव न होना-सिद्ध हो जाता है; क्यों कि आस्रवों के रूप से जब आत्मा परिणत नहीं होती अर्थात् मिथ्यादर्शनादि के रूप से परिणत नहीं होती तब क्रोधादिरूप भावबंध का अभाव और भावबंध के अभाव में द्रव्यबंध का अभाव सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार अर्थात् आत्मा और आस्रवों के भेद के ज्ञान की आस्रवरूप परिणति होती है ऐसा माननेसे उस भेदज्ञान की अभेद-ज्ञान से अभिन्नता की सिद्धि हो जानेकी आपत्ति उपस्थित हो जानेसे 'उक्त भेदज्ञान आस्रवों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया करता है-क्रिया का आश्रय होता है' इसप्रकार के अज्ञान का परिणामस्वरूप क्रियानय का निरास हो जाता है। आत्मा और आस्रवों के भेद का जो ज्ञान है वह भी यदि आस्रवों से निवृत्त नहीं होता तो वह ज्ञान हि नहीं होता इसप्रकार ज्ञानपरिणामभूत ज्ञाननय का भी निरास हो जाता है।

परपरिणतिमुज्झत्खण्डयद्भेदवादानिदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥४७॥

अन्वय- ननु परपरिणतिं उच्चैः उज्झत् भेदवादान् खण्डयत् इद अखण्डं उच्चण्डं ज्ञानं उदितम्। इह कर्तृकर्मप्रवृत्तेः अवकाशः कथं (भवति)? वा पौद्गलः कर्मबन्धः कथं भवति?

अर्थ- अरे भाई! पररूप परिणति का-विभावभावात्मक परिणति का आत्यन्तिकरूप से त्याग करता हुआ (त्याग करते करते) और भेदविषयक कथनों को खंडित करता हुआ (खंडित करते करते) अखण्ड ऐसा

सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुआ यह ज्ञान प्रकट हुआ है। (जब पररूप से परिणत होना इसने छोड दिया है और उसकारण जब यह विभावभावात्मकपरिणतिक्रिया का आश्रय नहीं होता हुआ और क्रोधादिभावरूप से परिणत नहीं होता हुआ कर्तृकर्मभाव का भी त्याग करके उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुआ है तब) इस ज्ञान में कर्तृकर्मरूप से होनेवाली परिणति को अवकाश कैसे प्राप्त हो सकता है और कार्मणशरीर के साथ होनेवाला बंध भी कैसे हो सकता है ?

त. प्र.— ननु हे भव्याः ! नन्वित्यामन्त्रणे । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । परपरिणतिं विभावभावात्मिकामात्मनः परिणतिमुच्चैरतिशयेनोज्झत्परित्यजत् । पराऽज्ञानभावान्वितत्वादनात्मीया चासौ परिणतिश्च परपरिणतिः । 'पुंवद्यजातीयदेशीये' इति पुंवद्भावः । यद्वा परकृता स्वस्वरूपप्रतिबन्धककर्मोदयनिमित्तकृता परिणतिः । यद्वा परा शुद्धज्ञानस्वरूपत्वाभावादज्ञानस्वरूपत्वाच्छुद्धज्ञानाच्छुद्धात्मनो वा भिन्ना चासौ परिणतिश्च परपरिणतिः । तामुच्चैरत्यर्थमुज्झत्परित्यजत् । भेदवादान्—विभावभावात्मकाः कर्तृकर्मादयो भावाः परस्परभिन्नाः स्वोपादानाच्च सर्वथा भिन्नाश्चेति वादाः कल्पनाः भेदवादाः । तान् । यद्वा ज्ञानं सखण्डमस्तीति वादा नानाविधानि नानाविधदार्शनिकमतानि । तान् । एकद्रव्यविषयका अमी कर्तृकर्मभावाः परिणामिद्रव्यैकत्वेऽपि परस्परभिन्ना इति कल्पना युक्त्यागमानुभवैः खण्डयत्परिजहत् । जीवः कर्ता, क्रोधादयो विभावभावास्तस्य कर्मेति विभावभावात्मकत्वात्कर्तृकर्मत्वेन परिणतेस्तस्याः कर्तृकर्मत्वपरिणतेश्शुद्धात्मनोऽभावस्सम्भवति एव । विभावभावात्मकपरिणतेरभावेऽखण्डं खण्डविकलमविकलं सर्वोत्कृष्टामवस्थामापन्नं ज्ञानमाविर्भवति । इह तादृशि ज्ञाने कर्तृकर्मप्रवृत्तेः शुद्धज्ञानस्य कर्तृकर्मभावात्मकत्वेन परिणतेः कथ केन प्रकारेणावकाशः प्रादुर्भूतिर्भवति जायते ? कथं वाऽथवा केनप्रकारेण पौद्गलः पुद्गलात्मके कार्मणशरीरे भवन् । 'तत्र भवः' इत्यण् । कर्मबन्धो द्रव्यकर्मबन्धो भवति ? ज्ञानस्य विभावभावात्मकपरिणतेरभावान्निमित्ताभावापत्तेर्नैमित्तिको द्रव्यकर्मबन्धो न भवतीति भावः । अयमत्र भावः— द्रव्यकर्मबन्धनिमित्तस्य विभावभावात्मकपरिणामस्याभावे कृते सत्येव द्रव्यकर्मनिमित्तकविभावभावात्मकपरिणतेरभावे जाते सत्यखण्डमुत्कृष्टावस्थापन्नं ज्ञानमाविर्भवति । तदाविर्भावे जाते सति तद्विभावभावात्मकपरिणतिनिमित्तकारणभूतद्रव्यकर्मबन्धाभावाद्विभावभावात्मकपरिणामप्रादुर्भावासम्भवाद्विभावभावस्वरूपकर्तृकर्मपरिणतेरभावात्तन्निमित्तकस्य द्रव्यकर्मबन्धस्याभावो भवतीति । ततो भेदज्ञानिभिर्भेदज्ञानबलेन विभावभावात्मिका परिणतिरवश्यमेव परिहार्या, तत्परिहारेणैव विशुद्धतमज्ञानोत्पत्तिसम्भवात् ।

विवेचन— जब ज्ञान या भेदज्ञानी आत्मा क्रोधादिरूप विभावभावों के रूप से परिणत होना छोड देता है तब वह कर्तृकर्मप्रवृत्ति को—कर्तृकर्मरूप से परिणत होना छोड देता है । ज्ञान की या आत्मा की कर्तृकर्मरूपादिपरिणतियां विभावभावात्मक होनेसे उनका भी त्याग उसके द्वारा किया जाता है । विभावभावात्मक कर्तृकर्मादिरूपपरिणतियां अज्ञानात्मकविकाररूप से परिणत हुए ज्ञान की हि होती है और व्यवहारनय की दृष्टि से ये परिणतियां अन्योन्यभिन्न होनेसे इनसे ज्ञान भी खण्डरूप बन जाता है । विभावपरिणतियों के त्याग से विभावभावात्मककर्तृकर्मरूपपरिणतियों का त्याग हो जाता है । यह ज्ञान विभावपरिणतियों का त्याग किया जानेपर अखण्ड बनकर उत्कृष्ट-अवस्था के रूप से अभिव्यक्त हो जाता है । इसप्रकार विभावपरिणतियों का और विभावभावात्मक कर्तृकर्मरूप परिणतियों का अभाव कर देनेपर हि जब यह ज्ञान उत्कृष्ट-अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह उत्कृष्ट-अवस्था प्राप्त होनेके बाद विभावभावों के रूप से पुनः कैसे परिणत हो सकता है ? जब वह उत्कृष्ट-अवस्था की प्राप्ति के बाद विभावभावों के रूप से परिणत नहीं होता तब उसकी विभावभावात्मक कर्तृकर्मादिरूप परिणतियां भी कैसे हो

सकती हैं ? जब वह विभावात्मकपरिणतिक्रिया का आश्रय हि बनता नहीं और उक्त परिणतिक्रिया का आश्रय न बननेसे कर्मसंज्ञक क्रोधादि के रूप से परिणत हि नहीं हो सकता तब क्रोधादिरूप वैभाविकभावात्मक निमित्त से होनेवाला द्रव्यकर्म का बंध भी नहीं हो सकता। सारांश, वैभाविकभावों के रूप से जब ज्ञान परिणत होना छोड देता है तब हि ज्ञान अखण्डज्ञानरूप उत्कृष्ट–अवस्था को प्राप्त होनेपर विभावभावात्मकपरिणतियों का अभाव हो जानेसे ' निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽप्यभावः ' इस उक्ति के अनुसार द्रव्यकर्मों के बंध का भी अभाव हो जाता है

' केन विधिना अयं आस्रवेभ्यः निवर्तते ? ' इति चेत्–

यह आत्मा किस रीति से क्रोधादिरूप आस्रवों से निवृत्त होती है ? ऐसा प्रश्न हो तो–

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥ ७३ ॥

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान क्षयं नयामि ॥७३॥

अन्वयार्थ– **(अहं)** मैं **(खलु)** परमार्थतः निश्चयनय की दृष्टि से **(एकः)** अविनश्वर और अनादिकाल से अनंतकालतक प्रकटरूप से रहनेवाले विज्ञानघनस्वभाव से युक्त होनेसे एक (एकरूप), **(शुद्धः)** शुद्ध आत्मस्वरूप की निर्मल अनुभूतिमात्ररूप होनेसे शुद्ध, **(निर्ममतः)** पुद्गलकर्मनिमित्तजन्य होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से पुद्गलस्वामिक–पुद्गल के कहे जानेवाले क्रोधादिरूप नानाविध वैभाविकभावों के उपादानरूप से–अज्ञानभावरूप में नित्यकाल परिणत होनेवाला न होनेसे ' ये नानाविध क्रोधादिभाव मेरे परिणाम हैं और मैं उनका उपादानकारण हूं ' इसप्रकार की ममता से रहित **(दर्शनज्ञानसमग्रः)** सामान्यात्मक दर्शन से और विशेषात्मक ज्ञान से परिपूर्ण–अनून, **(तस्मिन् स्थित)** परद्रव्य के–द्रव्यकर्म के निमित्त से होनेवाली विभावपरिणतियों के रूप में परिणत न होता हुआ उक्त आत्मस्वरूप में निश्चलरूप से स्थित रहता हुआ और **(तच्चित्तः)** उक्त आत्म–स्वरूप का अनुभव करता हुआ ऐसा **(एतान् सर्वान्)** इन सभी क्रोधादिरूप विभावभावों को **(क्षयं नयामि)** शीघ्र हि क्षय को प्राप्त कर दूंगा अर्थात् इन सभी विभावभावों का शीघ्र हि क्षय कर दूंगा ।

[' स्थित ' यह ' स्था ' इस धातु का कर्मणि भूतकालवाचक क्तान्तरूप है । यह क्तप्रत्यय ' आद्यकर्मणि क्तः ' इस नियम के अनुसार आद्यकर्मार्थ में लगाई हुई है । अतः इस क्तान्तरूप का ' जिसने स्थित होना शुरु कर दिया है ' ऐसा अर्थ होता है । ' नयामि ' यह समीपभविष्यार्थ में ' वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ' इस नियम के अनु–सार प्रयुक्त किया गया वर्तमानकाल का रूप है । अतः ' जो अपने स्वरूप में स्थिर होता हुआ आत्मस्वरूप में अपना मन लगाने लगता है अर्थात् आत्मस्वरूप का अनुभव करने लगता है वह शीघ्र हि विभावभावों का नाश कर देता हैं ' ऐसा गाथा के उत्तरार्ध का अर्थ होता है ।]

" अहं अयं आत्मा प्रत्यक्षं, अक्षुण्णं, अनन्तं चिन्मात्रं ज्योतिः अनाद्यनन्तनित्योदित-विज्ञानघनस्वभावभावत्वात् एकः ; सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वात् शुद्धः; पुद्गलस्वामिकस्य क्रोधादिभाववैश्वरूप्यस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यं एव अपरि–

णमनात् निर्ममतः; चिन्मात्रस्य महसः वस्तुस्वभावतः एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वात् ज्ञानदर्शनसमग्रः; गगनादिवत् पारमार्थिकः वस्तुविशेषः अस्मि। तत् अहं अधुना अस्मिन् एव आत्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलं अवतिष्ठमानः, सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचञ्चलकल्लोलनिरोधेन इमं एव चेतयमानः स्वाज्ञानेन आत्मनि उत्प्लवमानान् एतान् भावान् अखिलान् एव क्षपयामि" इति आत्मनि निश्चित्य चिरसङ्गृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्तः इव झगिति एव उद्वान्तसमस्तविकल्पः अकल्पितं अचलितं अमलं आत्मानं आलम्बमानः विज्ञानघनभूतः खलु अयं आत्मा आस्रवेभ्यः निवर्तते।

त. प्र.– अहमयमात्मा प्रत्यक्षं स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्। स्वसंवेदनज्ञानेन साक्षादनुभवनीयम्। यद्वा साक्षात्। एतत्तेजः स्वसंवेदज्ञानेनैव साक्षादनुभवनीयं ज्ञेयं च, इन्द्रियप्रत्यक्षेण तदनुभवनाशक्यत्वात्। अक्षुण्णं द्रव्यकर्मोदयनिमित्ताजनितविकारम्। तत एवाऽखण्डम्। अनन्तमविनश्वरम्। न विद्यतेऽन्तो विनाशो यस्य तत्। चिन्मात्रं ज्योतिश्चैतन्यमात्रं तेजः। अनाद्यनन्तनित्योदितविज्ञानघनस्वभावभावत्वादाद्यन्तरहितानवरतप्रकटीभूतविज्ञानसान्द्रस्वभावत्वात्। अनादिश्चासावनन्तश्चानाद्यनन्तः। नित्योदितः सर्वकालेष्वनवरतं प्रकटस्वरूपः। नित्यं सर्वकालेष्वविच्छेदेनोदित उदितावस्थां प्राप्तः। अनाद्यनन्तश्चासौ नित्योदितश्चानाद्यनन्तनित्योदितः। विज्ञानघनो विज्ञानमयः। अनाद्यनन्तनित्योदितश्चासौ विज्ञानघनश्च। अनाद्यनन्तनित्योदितविज्ञानघनः स्वभावो यस्य सः। स चाऽसौ भावः पदार्थश्च। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्मात्। एको ज्ञायकैकस्वभावत्वादेक इत्यर्थः। सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वान्निश्चयव्यवहारात्मकसकलषट्कारकपर्यायनिर्वर्तनक्रियानिष्क्रान्तनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः। निश्चयव्यवहारात्मकानि च तानि सकलानि च कर्तृकर्मकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणसञ्ज्ञकानि कारकाणि सकलकारकाणि। तेषां चक्रं समूहः। तस्य प्रक्रिया निर्वर्तनम्। कर्तृकर्मादिभावोत्पादनम्। तां प्रक्रियामुत्तीर्णाऽतिक्रान्ता। सकलकारकात्मकविभावभावोत्पादनक्रियारहितेत्यर्थः। कर्तृकर्मादिकारकाणां विभावभावात्मकत्वात्तेषामेकद्रव्याश्रितत्वात्तस्मादेकस्माद्द्रव्यादभित्वेऽपि भिन्नत्वेन व्यपदेशान्निर्मलानुभूतेश्च विभावभाववैकल्यादात्मनोऽभिन्नत्वाद्ध्यातृध्यानध्येयरूपविकल्पाभावाच्च कारकप्रक्रियाया अतिक्रान्तत्वमवसेयं निर्मलानुभूतेः। तादृशी या निर्मला शुद्धात्मस्वरूपविषयत्वाद्विमलाऽनुभूतिरनुभवः। तादृगनुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः। पुद्गलः स्वामी निमित्तकर्तृत्वाद्यस्य तत्पुद्गलस्वामिकम्। तस्य। घटस्य कुम्भकारनिमित्तकर्तृकत्वाद्यथा कुम्भकारस्वामिकत्व व्यवह्रियते तथा क्रोधादिभावानां पुद्गलकर्मनिमित्तकर्तृकत्वात्पुद्गलस्वामिकत्व व्यवहारनयदृष्ट्या प्रयोगमर्हति। क्रोधादिविभाववैश्वरूप्यस्य क्रोधाद्यात्मकजीवविभावभावानां वैश्वरूप्य नानाविधत्वम्। तस्य। कर्मणि ता। स्वस्यात्मनः। कर्तरि ता। स्वामित्वेन स्वामिरूपेण। उपादानकारणरूपेण नित्यमेव सर्वकालमेव। सर्वकालेष्वविच्छेदेनेत्यर्थः। अपरिणमनान्निर्ममतो ममत्वरहितः। 'अमी क्रोधादिभावाः मम शुद्धस्वरूपस्याऽऽत्मनः सन्ति' इत्येवंविधममत्वरहित इत्यर्थः। ममता ममत्वं निष्क्रान्ताऽपगता यस्मात्स निर्ममतः। प्रादिबसः। मोहोदयोत्पादितजीवविभावभावात्मकक्रोधादिकषायचक्रोपादानकारणत्वाभावान्ममत्वरहित इत्यर्थः। चिन्मात्रस्य महसश्चैतन्यमात्ररूपस्वभावात्मकस्य तेजसो वस्तुस्वभावत एव वस्तुस्वाभाव्यादेव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वात्समग्रत्वाद्दर्शनज्ञानसमग्रो दर्शनज्ञानपरिपूर्णः। यतः सामान्यविशेषात्मकं वस्तु ततश्चैतन्यस्य

वस्तुस्वाभाव्याद्वस्तुनोऽभिन्नत्वात्तदपि सामान्यविशेषात्मक वस्तुत्वात् । तत्र सामान्यं दर्शनगुणः विशेषश्च ज्ञानगुणः । ताभ्यां ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां समग्रः परिपूर्णः । वस्तुनः सामान्यविशेषयोर्ग्राहित्वात्स्वयं द्रव्यरूपत्वात्सामान्यविशेषवत्त्वाच्च दर्शनज्ञानगुणात्मक इत्यर्थः । वस्तुसामान्यमात्रग्राही दर्शनगुणो वस्तुविशेषग्राही च ज्ञानगुणः । आत्मनः सामान्यविशेषग्राहित्वाद्दर्शनज्ञानगुणाभ्यां परिपूर्णत्वमित्यवेयम् । गगनादिवदाकाशद्रव्यादिवत् । यथा गगनादि विभावभाववैकल्यान्निर्मलत्वात्पारमार्थिकं वस्त्वस्ति तथाऽहमात्मा विभावभावविकलत्वाद्द्रव्यभावकर्मविकलत्वाद्वा पारमार्थिको वस्तुविशेषो विशिष्टं वस्त्वस्मि तत्तस्मात्कारणादहमधुनाऽस्मिन्कालेऽस्मिन्नेवात्मन्यस्मिन्नेव शुद्धज्ञानस्वभाववत्यात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निखिलद्रव्यकर्मात्मकपरद्रव्यरूपनिमित्तकर्तृकृतजीवविभावपरिणामात्मकपरिणतिपरिहारेण । निखिलानां द्रव्यकर्मरूपपरद्रव्यात्मकनिमित्तकर्तृकृतानां प्रवृत्तीनां परिणतीनां निवृत्त्या परिहारेण । निश्चलं नैश्चल्येन । विभावभावत्वेन परिणमनमेव चलत्वं, तादृक्परिणतेः स्वस्वभावप्रच्युतिरूपत्वात् । अवतिष्ठमानः स्थितिमान् । सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचञ्चलकल्लोलनिरोधेन द्रव्यकर्मात्मकपरद्रव्यनिमित्तकभूयिष्ठचेतनानित्यपरिपन्थिसकलविभावभावपरिहारेण । सकला निखिलाः । परद्रव्यनिमित्तकाः द्रव्यकर्मरूपपरद्रव्यनिमित्तकारणकाः । द्रव्यकर्मात्मकं परद्रव्यं निमित्त निमित्तकारणं येषां ते परद्रव्यनिमित्तकाः । विशेषा भूयिष्ठाः । चेतनचञ्चलकल्लोलाश्चेतनस्याशुद्धचैतन्यस्य चञ्चला अनित्याः । अस्थायिन इत्यर्थः । चञ्चलाश्च ते कल्लोलाः कल्लोलसदृशाः परिपन्थिनो वा शुद्धात्मस्वभावविरोधिनो विभावभावाः । निखिलाश्च ते परद्रव्यनिमित्तकाश्च निखिलपरद्रव्यनिमित्तकाः । विशेषाश्च ते चेतनचञ्चलकल्लोलाश्च विशेषचेतनचञ्चलकल्लोलाः । निखिलपरद्रव्यनिमित्तकाश्च ते विशेषचेतनचञ्चलकल्लोलाश्च । तेषां निरोधेन परिहारेण । यथा समीरणसमीरणप्रादुर्भूताः भूयिष्ठा कल्लोला निस्तरङ्गसागरप्रशान्तिस्वरूपविरोधिनस्तथा परद्रव्यनिमित्तोत्था विभावभावा भूयिष्ठास्सन्तः शुद्धात्मस्वरूपपरिपन्थिनः । ततः शुद्धात्मस्वरूपावाप्तये तेषां शुद्धात्मस्वरूपपरिपन्थिनां विभावभावाना परिहारोऽवश्यमेव विधेयः, तत्परिहारमन्तरेण शुद्धात्मस्वरूपोपलब्ध्यसम्भवात् । ततस्तेषां विभावभावानां निरोधेनेमं शुद्धात्मानमेव चेतयमानोऽनुभवगोचरीकुर्वन् । स्वाज्ञानेनानादिबन्धपर्यायवशादारोपितजीवकत्वेनाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानान्प्रादुर्भवत एतान्भावान्विभावपरिणामानखिलान्निखिलानेव क्षपयामि क्षयं नेष्यामीत्यात्मनि मनसि । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति समीपभविष्यर्थे वर्तमानवत्प्रयोगः । 'आत्मा ब्रह्ममनोदेहस्वभावधृतिबुद्धिषु' इति विश्वलोचने । निश्चित्य निर्धार्य चिरसङ्गृहीतमुक्तपोतपात्रः । चिरं चिरकालं सङ्गृहीतं बद्धं पश्चान्मुक्त पोतपात्रं वहित्रपात्रं येन सः । समुद्रावर्त इव सामुद्रस्रोतोगतजलावर्त इव झगित्येव झटित्येवोद्वान्तसमस्तविकल्प उद्गीर्णनिखिलविभावभावात्मकपरिणामः । उद्वान्ता उद्गीर्णाः परिहृताः समस्ताः सकला विकल्पा नानाविधा विभावभावात्मका. परिणामा येन सः । अकल्पितं निर्विकल्पमचलितं स्वस्वभावादच्युतममलं द्रव्यभावकर्ममलकलङ्कविकलत्वान्निर्मलमात्मानमालम्बमान आश्रयन्विज्ञानघनभूतो विज्ञानपुञ्जात्मकः खलु परमार्थतोऽयमात्माऽऽस्रवेभ्यः क्रोधादिरूपविभावभावेभ्यो निवर्तते । विभावभावात्मकत्वेन न परिणमतीत्यर्थः ।

टीकार्थ– " मैं जो यह स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा जाना जानेवाला या जाना जानेके योग्य, अखण्ड, अविनश्वर, चैतन्यमात्रतेजोरूप आत्मा वह अनाद्यनन्त और सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से प्रकट रहनेवाले विज्ञानमयस्वभाव से युक्त पदार्थरूप होनेसे एक, कर्तृकर्मादि सभी कारकों के समूह के रूप से परिणत होनेकी क्रिया से रहित ऐसी जो

निर्मल अनुभूति उस अनुभूतिमात्ररूप होनेसे शुद्ध, (द्रव्यकर्मरूप पुद्गल के निमित्त से अशुद्ध आत्मा में उत्पन्न होनेवाले होनेसे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से) पुद्गल के-पुद्गलस्वामिक होनेवाले सभी क्रोधादिभावों के स्वामी के-उपादान के रूप से स्वयं सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से परिणत न होनेसे ममत्वरहित, चैतन्यमात्र तेज वस्तुस्वभाव से हि सामान्य और विशेष से परिपूर्ण होनेसे दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण ऐसी, आकाश आदि के समान पारमार्थिक विशिष्ट वस्तु हूं । उसकारण से अब इसी आत्मा में (एकरूप, शुद्ध, ममतारहित और ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण आत्मा में) परद्रव्य अर्थात् द्रव्यकर्मरूपनिमित्तकृत-विभावभावात्मकपरिणतिक्रिया से निवृत्त होनेके कारण निश्चल होकर रहनेवाला, जिनके परद्रव्य निमित्तकारण पडते हैं ऐसे चेतन के जो अनित्य और (शुद्ध आत्मस्वरूप के) विरोधी सभी विपुल विभावभाव उनका त्याग करके इसीका (इसी शुद्ध आत्मा का) अनुभव करनेवाला मैं 'अपने अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले इन सभी (विभावात्मक) भावों का शीघ्र हि क्षय करूंगा' " इसप्रकार मन में निश्चय कर, जिसने दीर्घकाल से पकडे हुए यानपात्र को छोड दिया है ऐसे समुद्र के भंवर केसमान सभी विकल्पों को (विभावभावों को) शीघ्र हि वमन कर दिया है-उनका त्याग कर दिया है ऐसी, निर्विकल्प, अपने स्वभाव से च्युत न हुई, निर्मल आत्मा का अवलंब करनेवाली, विज्ञानपुञ्जरूप यह आत्मा परमार्थतः आस्रवों से निवृत्त हो जाती है-आस्रवों के रूप से परिणत नहीं होती ।

विवेचन- शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से यह आत्मा स्वसंवेदनज्ञानरूप प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात् जाना जाने-वाला, अखण्ड और अविनश्वर जो चैतन्यमात्रतेज उसरूप होती है। यह चैतन्यमात्ररूप तेज स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा हि जाना जा सकता है; क्यों कि वह मूर्त न होनेके कारण इंद्रियप्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जाना जा सकता । वह निमित्त के अभाव के कारण निर्विकार होनेसे अखण्ड-एकरूप होता है । उसका कदापि नाश न होनेसे वह अविनश्वर होता है । इसप्रकार चैतन्यमात्रतेजोरूप यह आत्मा अनंत और नित्यप्रकट विज्ञानमय स्वभाव से युक्त होनेसे एकरूप होती है । निश्चयषट्कारकी या अभिन्नषट्कारकी और व्यवहारषट्कारकी या भिन्नषट्कारकी में होनेवाले विभावात्मक कर्तृकर्मादिभावों के रूप से होनेवाली परिणतिक्रिया निर्मल आत्मानुभूति में नहीं होती; क्यों कि विभावभावात्मक परिणति और आत्मा की अनुभूति एकसाथ नहीं हो सकती । अतः जिसके निर्मल आत्मानुभूति होती है वह आत्मा शुद्ध होनी हि चाहिये; क्यों कि आत्मा अशुद्ध हो तो अनुभूति के समय उसके अंतःकरण में नानाविध विकल्प उठते रहते हैं । आत्मा की क्रोधादिरूप परिणति अशुद्धात्मोपादानक होनेपर भी कर्मपुद्गलरूप निमित्त के बिना न होनेसे वे क्रोधादिभाव व्यवहारनय की दृष्टि से पुद्गलस्वामिक अर्थात् पुद्गल के कहे जाते हैं । उन सभी पुद्गलनिमित्तक क्रोधादिविभावों के उपादानकारण के रूप से शुद्ध बनी हुई आत्मा कभी भी परिणत नहीं होती । अतः क्रोधादिभाव शुद्ध बनी हुई आत्मा के परिणाम-उपादेय न होनेसे और शुद्ध आत्मा उनकी स्वामी अर्थात् उपादान न होनेसे ' ये क्रोधादिभाव मेरे हैं ' इसप्रकार का ममता का भाव शुद्ध आत्मा में प्रादुर्भूत नहीं होता । अतः वह ममतारहित होती है । प्रत्येक पदार्थ ' सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ' इस वचन के अनुसार सामान्यविशेषात्मक होता है । पदार्थ की सामान्यविशेषात्मकता अनुभवगोचर भी होती है । चैतन्यमात्ररूप तेज पदार्थ का स्वरूप होनेसे सामान्यविशेषा-त्मक होता है । वह चैतन्यमात्ररूप तेज सामान्य और विशेषों से परिपूर्ण होनेसे उसकी आश्रयभूत आत्मा दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण होती है । सामान्यमात्रग्राहि दर्शन सामान्यरूप होता है और विशेषग्राहि ज्ञान विशेषरूप होता है । ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण होनेसे आत्मा उन गुणों से युक्त होती है; क्यों कि गुण और गुणी में तादात्म्यसंबंध होता है । निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा एक, शुद्ध निर्मम और दर्शनज्ञानपरिपूर्ण होती है । अतः इसप्रकारके स्वरूप से युक्त होनेके कारण गगन (आकाश) आदि जिसप्रकार पारमार्थिक विशिष्ट पदार्थ होते हैं उसीप्रकार यह आत्मा भी पारमार्थिक विशिष्ट पदार्थ है । आत्मा विशिष्ट पदार्थ होनेसे वह इसी एकरूप, शुद्ध, निर्मम और ज्ञानदर्श-नपरिपूर्ण आत्मा में परद्रव्यरूपनिमित्तकृत सभी विभावभावात्मक परिणतियों से निवृत्त होनेके कारण निश्चल होकर रहती है । विभावभावरूप परिणतियों से निवृत्त होनेपर हि आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में स्थिररूप से रहती है; क्यों कि विभावभाव हि आत्मा को अपने शुद्धस्वरूप में स्थिररूप से रहने नहीं देते । परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले

चेतन के अनित्य और शुद्धात्मस्वभावविरोधी जो नानाप्रकार के विभावभाव होते हैं उन सभी विभावभावों का निरोध करनेसे–उन भावों की उत्पत्ति होने न देनेसे आत्मा अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करती है। जब आत्मा अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करती है तब अनादिकाल से चले आये अपने अज्ञान के कारण उत्पन्न होनेवाले सभी विभावभावों का नाश–अभाव कर देती है–उन्हें उत्पन्न नहीं होने देती। जब आत्मा संपूर्ण विकल्पों का नाश करती है और निर्विकल्प, स्वस्वभाव से च्युत न हुई और निर्मल आत्मा में अर्थात् उसके स्वरूप में स्थिर होती है तब ज्ञानमय बनी हुई आत्मा संपूर्ण विभावभावों से निवृत्त हो जाती है। सारांश, जब आत्मा संपूर्ण विकल्पों को त्यागकर निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होकर स्वस्वरूप में स्थिर हो जाती है तब वह क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाती है; क्यों कि जीव की एक हि समय में शुद्धरूप और अशुद्धरूप परस्परविरोधिनी परिणतियां नहीं हो सकती।

'कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम् ?' इति चेत्–

'ज्ञानोत्पत्ति का और आस्रवों की निवृत्ति का काल एक कैसे होता है ?' ऐसा प्रश्न हो तो–

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥ ७४ ॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ– **(जीवनिबद्धाः)** जिन्होंने जीव को निगृहीत किया है–अपने वश में कर लिया है ऐसे और जीव ने जिनका निरोध किया है ऐसे **(एते)** ये भावास्रव **(अध्रुवा)** वृद्धियुक्त और हानियुक्त होनेसे अध्रुव–अस्थायी है, **(अनित्याः)** क्रम से उत्पन्न होनेवाले होनेसे अनित्य अर्थात् विनश्वर है, **(तथा च)** और उसीप्रकार **(अशरणाः)** जब अज्ञानभाव का नाश करके ज्ञानी-भेदज्ञानी बना हुआ जीव उनका नाश करनेके लिये उद्युक्त हो जाता है तब उनका रक्षण करना अशक्य होनेसे वे अशरण है, **(दुःखानि)** विकृतस्वभाववाले होनेसे दुःखरूप है **(दुःखफलाः च)** और दुःखफल है **(इति)** ऐसा **(ज्ञात्वा)** जानकर भेदज्ञानी बना हुआ जीव **(तेभ्यः)** उन आस्रवों से **(निवर्तते)** निवृत्त हो जाता है।

आ. ख्या.– 'जतुपादपवत् वध्यघातकस्वभावत्वात् जीवनिबद्धाः खलु आस्रवाः, न पुनः अविरुद्धस्वभावत्वाभावात् जीवः एव। अपस्माररयवत् वर्धमानहीयमानत्वात् अध्रुवाः खलु आस्रवाः, ध्रुवः चिन्मात्रः जीवः एव। शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेण उज्जृम्भमाणत्वात् अनित्याः खलु आस्रवाः, नित्यः विज्ञानघनस्वभावः जीवः एव। बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाण-दारुणस्मरसंस्कारवत् अशरणाः खलु आस्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिः जीवः एव। नित्यं एव आकुलस्वभावत्वात् दुःखानि खलु आस्रवाः, अदुःखं नित्यं एव अनाकुल-स्वभावः जीवः एव। आयत्यां आकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वात् दुःखफलाः खलु आस्रवाः, अदुःखफलः सकलस्य अपि पुद्गलपरिणामस्य अहेतुत्वात् जीवः एव।' इतिविकल्पानन्तरं एव शिथिलितकर्मविपाकः विघटितघनौघघटनः दिगाभोगः इव निर-

र्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावः भवति तथा आस्रवेभ्यः च निवर्तते, यथा यथा आस्रवेभ्यः च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावः भवति । इति तावत् विज्ञानघनस्वभावः भवति यावत् सम्यक् आस्रवेभ्यः निवर्तते, तावत् आस्रवेभ्यः च निवर्तते यावत् सम्यक् विज्ञानघनस्वभावः भवति । इति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम् ।

त. प्र.– जतुपादपवद्द्रुमामयद्रुमवत् । जतु द्रुमामय इत्यनर्थान्तरम् । द्रुमस्यामय इव निर्यासो जत्वित्यर्थः । 'लाक्षाराक्षा जतु क्लीबे यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः । जतु च पादपश्च जतुपादपौ । ताविव तद्वत् । वध्यघातकस्वभावत्वात्–यथा जतुनो द्रुमामयरूपत्वाद्घातकस्वभावत्वं पादपस्य च वध्यस्वभावत्वं तथाऽऽस्रवाणां शुद्धात्मस्वरूपविकारकत्वाद्घातकस्वभावत्व जीवस्य च विकार्यत्वाद्वध्य–स्वभावत्वम् । तस्मात् । वध्यश्च घातकश्च वध्यघातकौ । तौ यथाक्रमं स्वभावौ ययोस्तौ । तयोर्भावस्त-स्मात् । जीवनिबद्धा निगृहीतजीवाः वशीकृतजीवाः । निबद्धो निगृहीतो वशीकृतोऽज्ञानिजीवो यैस्ते जीवनिबद्धाः । 'आहिताग्न्यादिः' इति बसः । जीवस्य स्वशुद्धस्वरूपावाप्तिक्रियायां प्रतिबन्धजननमेव जीवस्य निग्रहणम् । यद्वा जीवेन निबद्धाः निरुद्धाः जीवनिबद्धाः । जीवस्य घातकस्वभावत्वादास्रवाणां च वध्यस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धा जीवनिरुद्धाः । आविर्भूतजीवास्रवभेदज्ञानेन स्वशुद्धात्मस्वरूपानुभूतिकाले प्राग्बद्धकर्मजालविलयनादात्मस्वरूपानुभूतिविरोधिविभावभावोत्पत्तिप्रतिबन्धान्नव्यद्रव्यकर्मास्रवनिरोधा-च्च जीवस्यास्रवनिरोधकत्वाद्घातकत्वमास्रवाणां च निगृह्यमाणत्वाद्वध्यत्वम् । खलु परमार्थत आस्रवाः क्रोधाद्यास्रवाः । न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाच्छुद्धजीवस्वभावविरुद्धस्वभावत्वाद्वध्यघातकस्वभावत्वेन विरुद्धस्वभावत्वाद्वा । अविरुद्धः शुद्धजीवस्वभावाविरुद्धश्चेतनस्वभावसदृशः स्वभावो येषां तेऽविरुद्धस्व–भावाः । तेषां भावोऽविरुद्धस्वभावत्वम् । तस्याभावः । तस्मात् । जीव एव । आस्रवाणां जीवस्वभाव-घातित्वाच्छुद्धजीवस्वभावविरुद्धस्वभावत्वाज्जीवस्य च वध्यस्वभावत्वाद् यद्वा जीवस्य स्वात्मानुभूतिनि-मग्नस्वान्तस्यास्रवघातकस्वभावत्वादास्रवाणां च वध्यस्वभावत्वाद्वा न जीवत्वं, स्वभावभेदाद्वस्तुभेदसिद्धेः । अपस्माररयवद् भ्रामरवेगवद्भ्रामरप्रभाववद्वा । अपस्मारो भ्रामरम् । 'स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपश्च परिवर्जनम् । अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽय व्याधिरन्तकृत् ।' इति सुश्रुतकारः । अपस्मारयति स्मरणं विलोपयतीत्यपस्मारः । स्मरतेर्णिचि कर्तर्यच् । यद्वाऽपगतः स्मारः स्मरण यतः सोऽपस्मारः । अपस्मा–रस्य रयो वेगः प्रभावो वाऽपस्माररयः । तद्वत् । वर्धमानहीयमानत्वात्–अपस्मारवेगस्य यथा वर्ध–मानत्व हीयमानत्व च तथा क्रोधाद्यास्रवाणां वर्धमानत्वाद्धीयमानत्वाच्चाध्रुवा अनवस्थायिनः खलु परमार्थत आस्रवाः । चिन्मात्रश्चैतन्यमात्रस्वरूपो जीव एव ध्रुवः स्थायी । चैतन्यमात्रस्य जीवस्वरूपस्य वर्धमानहीयमानत्वाभावादध्रुवत्वमिति भावः । शीतदाहज्वरावेशवच्छीतदाहज्वरोत्पत्तिवत् । शीतदाह-ज्वरयोरावेश उत्पत्तिः शीतदाहज्वरावेशः । तद्वत् । क्रमेणोज्जृम्भमाणत्वाद्दृश्यमानत्वात् । यथा शीतज्वरनाशानन्तरं दाहज्वर उत्पद्यते दाहज्वरनाशानन्तरं च शीतज्वर उत्पद्यते तथा क्रोधकषायना–शानन्तर मानादिकषायोत्पत्तेर्मानादिकषायनाशानन्तरं च क्रोधकषायोत्पत्तेरास्रवाणां क्रमेणोज्जृम्भमाण–त्वम् । क्रोधाद्यास्रवाणां क्रमेणोज्जृम्भमाणत्वात्तेऽनित्या विनश्वराः खलु आस्रवाः, नित्योऽविनश्वरो विज्ञानघनस्वभावो विज्ञानमयस्वभावो जीव एव । विज्ञानघनस्वभावस्यानैमित्तिकभावत्वाद्विनाशास–

सम्भवान्नित्यत्वमविनश्वरत्वं स्वभाववत्त्वाज्जीवस्य बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत्रातुमशक्यत्वादशरणाः। किमिव? बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवदत्रेतः-प्रस्रवणक्षणहीयमानचित्तप्रक्षोभककामसंस्कारवत्। बीजं रेतो निमित्तमुपादानं च। 'बीजं हेतावुपादानेऽप्यङ्कुरेऽपि च रेतसि। बीजमल्पेऽपि तत्त्वेऽपि' इति विश्वलोचने। निर्मोक्षः प्रस्रवणम्। बीजस्य रेतसो निर्मोक्षः प्रस्रवण बीजनिर्मोक्षः। तस्य क्षणः समयः। तस्मिन्क्षीयमाणो हीयमानः। क्षीणतां प्राप्नुवन्नित्यर्थः। दारुणश्चित्तप्रक्षोभजननः स्मरसंस्कारः कामसंस्कारः। तद्वत्। त्रातुं विनाशाद्रक्षितुमशक्यत्वात्। अशरणा अरक्षणाः। रक्षणरहिता इत्यर्थः। 'शरणं गृहरक्षित्रोः शरण रक्षणे वधे' इति विश्वलोचने। खलु परमार्थत आस्रवा भावास्रवाः। यथा रेतःप्रस्रवणक्षणे क्षीयमाणस्य चित्तप्रक्षोभजननस्य कामसंस्कारस्य रक्षणमशक्यानुष्ठानं तथा बीजस्य निमित्तस्योपादानस्य च निवृत्तिसमये विनश्यतामास्रवाणां रक्षणस्याशक्यानुष्ठानत्वादशरणाः खल्वास्रवाः। स्वयं गुप्तः सुरक्षितः सहजचिच्छक्तिः स्वाभाविकचैतन्यशक्तियुक्तो जीव एव सशरण रक्षणसहितः। सहजा स्वाभाविकी चिच्छक्तिर्यस्य सः। चिच्छक्तेः स्वभावभावत्वाद्विनाशासम्भवात्स्वयं सुरक्षितत्वात्सशरणत्वं जीवस्येति भावः। नित्यमेव सततमेवाकुलस्वभावत्वात्सोपप्लवस्वभावत्वाद्दुःखानि दुःखस्वरूपाः खलु वस्तुत आस्रवाः। अदुःखमदुःखस्वरूपो नित्यमेव सर्वकालेष्वविच्छेदेनैवानाकुलस्वभावोऽनुपप्लुतस्वभावो जीव एव। शुद्धनिश्चयनयापेक्षयाऽविच्छेदेन स्वस्वभावे स्थितिमत्त्वाद्दुःखात्मकपरिणत्यसम्भवाज्जीवोऽदुःखमेवेति भावः। स्वीयशुद्धस्वभावाच्च्युतिरेव दुःखम्। आयत्यामुत्तरकाले। 'आयतिस्तु यमे दैर्घ्ये प्रभावोत्तरकालयोः' इति विश्वलोचने। आकुलत्वोत्पादकस्य दुःखोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरिणामस्य हेतुत्वान्निमित्तकारणत्वाद्दुःखफलाः दुःखात्मकाज्ञानिजीवविभावपरिणामजनकाः खलु परमार्थत आस्रवाः। दुःखं फलं परिणामो येषां ते दुःखफलाः। भावास्रवेभ्यो द्रव्यकर्मबन्धो भवति, तदुदयाच्चाज्ञानिनो जीवस्य विभावपरिणतिः स्वभावच्युतिनिबन्धनोत्पद्यत इत्येवास्रवाणां दुःखफलत्वम्। अदुःखफलो दुःखात्मकपरिणतिक्रियानाश्रयत्वात्तदजनकत्वाज्जीवो दुःखफलो न भवति। सकलस्य निखिलस्यापि पुद्गलपरिणामस्य पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरिणामस्याऽहेतुत्वान्निमित्तकारणत्वाभावाज्जीव एव। शुद्धजीवस्य पुद्गलपरिणामाहेतुत्ववदशुद्धजीवस्यापि तदहेतुत्वं, तद्विभावपर्यायमात्रस्य तद्धेतुत्वात्। अतो न जीवः पुद्गलपरिणामहेतुः। ततश्च नैव दुःखफलो जीव इति भावः। इतिविकल्पानन्तरमेवैवंविधात्मास्रवभेदज्ञानानन्तरमेव शिथिलितकर्मविपाको मन्दीभूतकर्मोदयजनितानुभवात्मकपरिणाम शिथिलितः श्लथीभूतः। मन्दीभूतो व्युच्छिन्नो वेत्यर्थः। आद्यकर्मणि क्तः। शिथिलितः शिथिलः सञ्जातः। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतः' इतीतस्त्यः। कर्मविपाकः कर्मोदयजनितोऽनुभवः। शिथिलितः कर्मविपाको यस्य स शिथिलितकर्मविपाकः। विघटितघनौघघटनो विद्रुतवारिवाहसमूहसंहतिः विघटितो विद्रुतो व्युच्छिन्नो वा घनाना जलधराणामोघस्य समूहस्य घटना संहतिर्यस्य सः। 'ओघ. पाथःप्रवाहे च समूहे च पुमानयम्' इति विश्वलोचने। दिगाभोगो दिग्विस्तारः। स इव निरर्गलप्रसरोऽनन्तरायव्यायामः, विज्ञानघनस्वभावपक्षेऽनियन्त्रिताविर्भावः। निरर्गलोऽनियन्त्रितः प्रसरो व्यायामो विततिर्यस्य सः। पक्षे निरर्गलोऽनियन्त्रित प्रसर आविर्भावो यस्य सः। सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया नैसर्गिकाविर्भवच्चिच्छक्तित्वेन। सहजा सह साकं जीवे विद्यमाना चासौ विजृम्भमाणाऽऽविर्भवन्ती च सहजविजृम्भमाणा। सा चिच्छक्तिरस्त्यस्य सहजविजृम्भमाणचिच्छक्ति। सहजविजृम्भमाणचैतन्यशक्तियुक्त इत्यर्थः। तस्य भावः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तिता। तया। यथा यथाऽऽ-

धिक्येन विज्ञानघनस्वभावो भवति विज्ञानघनस्वभावमाविर्भावयत्याधिक्येन तथा तथाऽऽधिक्येनास्रवेभ्यः क्रोधाद्यात्मकजीवविभावभावेभ्यः क्रोधादिसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मात्मकपौद्गलिकविभावभावेभ्यश्च निवर्तते निवृत्तो भवति, यथा यथा चाधिक्येनास्रवेभ्यः क्रोधाद्यात्मकजीवविभावभावेभ्यः क्रोधादिसञ्ज्ञकद्रव्य-कर्मात्मकपुद्गलोपादानकविभावभावेभ्यो निवर्तते तथा तथाधिक्येन विज्ञानघनस्वभावो भवति। येनांशेन स्वीयं विज्ञानघनस्वभावमाविर्भावयति तेनांशेनास्रवेभ्यो निवर्तते, येनांशेनास्रवेभ्यो निवर्तते, तेनांशेन स्वीयं विज्ञानघनस्वभावमाविर्भावयतीति भावः । इत्यमुना प्रकारेण तावत्तस्मिन्काले पूर्णत्वेन विज्ञान-घनस्वभावो भवति यावद्यस्मिन्काले सम्यक्समीचीनतया पूर्णत्वेनास्रवेभ्यो निवर्तते, तावत्तस्मिन्काले आस्रवेभ्यश्च निवर्तते यावद्यस्मिन्काले सम्यक्पूर्णतया विज्ञानघनस्वभावो भवति। इत्यमुना प्रकारेण ज्ञानास्रवनिवृत्त्योर्ज्ञानाविर्भावास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वं समकालभावित्वम्। अत्र ज्ञानाविर्भावास्रव-निवृत्त्योरन्योन्यनिमित्तकारणत्वमवसेयं, तयोरन्योन्यविरुद्धस्वभावत्वादन्योन्योपादानकारणत्वासम्भवात्। 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' इति न्यायेन निमित्तभूतास्रवनिवृत्त्यभावे नैमित्तिकज्ञानाविर्भा-वाभावो निमित्तभूतज्ञानाविर्भावाभावे च नैमित्तिकास्रवनिवृत्त्यभावो भवतीति तथैव निमित्तभूतास्रवनि-वृत्तौ सत्यां नैमित्तिकज्ञानस्याविर्भावो निमित्तभूतज्ञानाविर्भावे च नैमित्तिकास्रवनिवृत्तिर्भवतीति चेति तयोर्निमित्तनैमित्तिकभावः सिध्यति ।

टीकार्थ– लाख और वृक्ष के समान वध्यघातक स्वभाववाले होनेसे वे आस्रव वस्तुतः जीवनिबद्ध हैं, जीव नहीं है; क्यों कि जीव के स्वभाव से उनका स्वभाव विरुद्ध होता है। मृगी के वेग के समान बढनेवाले और घटनेवाले होनेसे आस्रव परमार्थतः अध्रुव होते हैं; चैतन्यस्वरूप जीव हि ध्रुव होता है। शीतज्वर की और दाहज्वर की उत्पत्ति के समान क्रम से उत्पन्न होनेवाले होनेसे आस्रव वस्तुतः अनित्य–विनश्वर होते है; विज्ञानघनस्वभाव-वाला जीव नित्य–अविनश्वर होता है। वीर्यप्रस्रवण के समय से क्षय को प्राप्त होनेवाले काम के चित्तप्रक्षोभक संस्कार के समान रक्षण करना अशक्य होनेसे आस्रव वस्तुतः अशरण है–असुरक्षित हैं। स्वाभाविक चैतन्यशक्ति-युक्त जीव स्वयं सुरक्षित होनेसे संरक्षणसहित है। नित्य हि अपकृत–सदोष स्वभाव से युक्त होनेसे आस्रव वस्तुतः दुःखरूप है; नित्यकाल हि अपकाररहित–निर्दोषस्वभाववाला होनेसे जीव हि अदुःख है–दुःखरूप नहीं है। उत्तरकाल में अपकार-दोष उत्पन्न करनेवाले पुद्गल के कर्मरूप परिणाम के निमित्तकारणभूत होनेसे आस्रव वस्तुतः जीव के दुःखरूप परिणाम के जनक है; सभी के सभी पुद्गल के कर्मरूप परिणामों का निमित्तकारण न होनेसे जीव हि अदुःखफल है–जीव के अर्थात् अपने दुःखरूप परिणाम का जनक नहीं है। इसप्रकार आस्रव और जीव इनमें होनेवाले भेद का ज्ञान होते हि जिसके कर्मोदयजनित विभावपरिणाम नष्ट होते जाते है, जिससे मेघों के समूह का संयोग होने लगा है ऐसे दिशाओं के विस्तार के समान जिसका (जिसकी शुद्धस्वरूप आत्मा का) आविर्भाव–प्रकटता अनियन्त्रितरूप से होते जाता है ऐसा जीव जीव के साथ जीव में रहनेवाला और आविर्भूत बनी रहनेवाली चैतन्य-शक्ति से युक्त होनेसे ज्यों ज्यों अधिकरूप से विज्ञानघनस्वभाववाला होते जाता है अर्थात् ज्यों ज्यों उसका विज्ञान-घनस्वभाव अभिव्यक्त होते जाता है त्यों त्यों आस्रवों से अधिकरूप से निवृत्त होते जाता है और ज्यों ज्यों आस्रवों से अधिकरूप से निवृत्त होते जाता है त्यों त्यों अधिकरूप से विज्ञानघनस्वभाववाला होने जाता है। इसप्रकार जिस काल में समीचीनरूप से–पूर्णरूप से आस्रवों से निवृत्त हो जाता है उसी काल में विज्ञानघनस्वभाव से युक्त हो जाता है और जिसकाल में पूर्णरूप से विज्ञानघनस्वभाव से युक्त हो जाता है उसी काल में आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार ज्ञान का आविर्भाव और आस्रवों की निवृत्ति इनका काल समान-एक होता है।

विवेचन– जतु याने लाख यह वृक्ष का रोग होता है और वह निमित्त पाकर वृक्ष से हि उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होनेपर वृक्ष का नाश हो जाता है। लाख वृक्ष का नाश करनेवाली होनेसे वह घातक होती है और

उसके कारण विनाश को प्राप्त होनेवाला होनेसे वृक्ष बध्य होता है। इसप्रकार लाख घातकस्वभाववाली होती है और वृक्ष बध्यस्वरूप होता है। जिसप्रकार वृक्ष और लाख बध्यघातकस्वभाववाले होते हैं उसीप्रकार आस्रव जीव के विज्ञानघनस्वभाव का घात करनेवाले होनेसे घातकस्वरूप होते हैं और जीव या उसका विज्ञानघनस्वभाव आस्रवों के द्वारा विनष्ट होनेवाला होनेसे बध्य होता है और ज्ञानी जीव आस्रवों का–विभावभावों का और द्रव्यास्रवों का नाश करनेवाला होनेसे घातक होता है और आस्रव उसके द्वारा नष्ट किये जानेवाले होनेसे बध्य होते हैं। ये आस्रव कर्मोदयरूपनिमित्त से अज्ञानिजीव में हि उत्पन्न होते हैं और जीव के स्वभाव का घात करते है–यथार्थ स्वरूप को विकृत कर देते हैं। जीव के स्वरूप को विकृत करना हि उसका या उसके स्वरूप का घात करना है। ये आस्रव निमित्तमात्र बनकर जीव के या उसके स्वरूप के घातक होनेसे वे अज्ञानी जीव को निगृहीत करते हैं–उसको अपने वश में कर लेते हैं और ज्ञानी जीव उनका नाश करनेवाला होनेसे उनका घातक होनेके कारण वह उनका निरोध करता है। वे आस्रव जीवस्वरूप के–जीव के विज्ञानघनस्वभाव के विरुद्ध होनेवाले स्वभाव से युक्त होनेसे अर्थात् अशुद्धचैतन्य से युक्त होनेसे या जीव घातकस्वरूप होनेपर बध्यस्वरूप होनेसे वे आस्रव जीव हि नहीं हैं–जीव से भिन्न हैं। मृगी का वेग या प्रभाव जिसप्रकार कभी अधिक होता है और कभी कम होता है उसीप्रकार आस्रव कभी बढनेवाले होनेसे और कभी कम होनेवाले होनेसे अस्थायी–अस्थिर होते हैं–एकप्रकारक अर्थात् निर्विशेष नहीं होते–अध्रुव होते हैं। चैतन्यमात्र जीव हि ध्रुव होता है; क्यों कि उसका चैतन्य कभी बढता नहीं और कभी कम नहीं होता-एकप्रकारक होता है। शीतज्वर का नाश होनेपर जिसप्रकार दाहज्वर उत्पन्न होता है और दाहज्वर का नाश होनेपर शीतज्वर उत्पन्न होता है अर्थात् दोनों ज्वर युगपत् उत्पन्न न होकर क्रम से उत्पन्न होते है उसीप्रकार क्रोधादि–आस्रवरूप परिणाम क्रम से उत्पन्न होनेवाले होनेसे अर्थात् एक परिणाम के बाद दूसरा परिणाम उत्पन्न होनेवाला होनेसे आस्रव अनित्य अर्थात् विनश्वर होते हैं–नित्य नहीं होते। विज्ञानघनस्वभाववाला जीव हि नित्य होता है; क्यों कि वह जीव का सहभाविभाव होनेसे जीव की जिसप्रकार उत्पत्ति नहीं होती उसीप्रकार उसके स्वभाव की भी उत्पत्ति नहीं होती। जिसकी उत्पत्ति होती है उसका हि विनाश होता है और जिसकी उत्पत्ति नहीं होती उसका विनाश भी नहीं होता। जो उत्पत्तिविनाशरहित होता है वह क्रमवर्ती नहीं हो सकता। जिससमय वीर्यस्खलन होता है उसीसमय चित्त को प्रक्षुब्ध करनेवाले काम के संस्कार का क्षय होने लग जाता है। उस संस्कार को अपने होनेवाले क्षय से कोई बचा नहीं सकता–उसका क्षय हो हि जाता है। उस संस्कार को क्षय से बचानेवाला कोई न होनेसे वह जिसप्रकार अशरण होता है उसीप्रकार जीव की ज्ञानरूप परिणति होते समय विनाश को प्राप्त होनेवाले क्रोधादिरूप आस्रवों को विनाश से बचानेवाला कोई भी न होनेसे आस्रव अशरण होते है। जीव स्वाभाविक चैतन्यशक्ति से युक्त होता है। चैतन्यशक्ति जीव का स्वाभाविभाव होनेसे उसका नाश न होनेके कारण जीव का भी नाश नहीं होता। जीव का नाश न होनेसे वह स्वयं सुरक्षित होता है और स्वयं सुरक्षित होनेसे उसे रक्षण करनेवाले की अपेक्षा नहीं होती। अतः वह सशरण है। आत्मास्रवों में उपादानभूत अज्ञान का अन्वय होनेसे और अज्ञान ज्ञान का विकृत स्वरूप होनेसे आस्रव आकुलस्वभाववाले अर्थात् विकृतस्वभाववाले होते हैं। ज्ञान का विकृत होना हि आकुल होना है। आत्मा के ज्ञानरूपस्वभाव का विपर्यास होना हि दुःख है। आस्रव अविच्छिन्नरूप से विकृत स्वभाववाले होनेसे दुःखरूप हैं। शुद्ध आत्मा का शुद्धज्ञानरूप या चैतन्यरूप स्वभाव नित्य हि विकाररहित होनेसे जीव हि परमार्थतः दुःखरूप नहीं है। ये भावास्रव पुद्गल की कर्मरूप परिणति के निमित्तकारण है। आस्रवरूप निमित्तकारण से कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ संबंध हो जाता है। यह जीव के साथ बद्ध हुआ कर्म जब उदय को प्राप्त होता है तब आत्मा का सामान्य ज्ञान विशेषरूप से विकृत हो जाता है और ज्ञान का विकृतरूप से परिणत होना हि दुःख है। यह दुःख आस्रवों का फल–परिणाम होनेसे आस्रव दुःखफल होता है। शुद्ध जीव पुद्गल की सभी कर्मरूप परिणतियों का निमित्तकारण नहीं होता। निमित्तकारण के अभाव में पुद्गल की कर्मरूप परिणतियां नहीं होती। कर्मों का अभाव होनेसे उनका उदय नहीं होता। कर्मोदयरूप निमित्त का अभाव होनेसे जीव की दुःखरूप परिणति नहीं होती। जिसप्रकार शुद्ध जीव पुद्गल की कर्मरूप परिणति का निमित्तकारण नहीं

होता उसीप्रकार अशुद्ध जीव की विभावभावरूप परिणतियां पुद्गल की कर्मरूप परिणतियों का निमित्तकारण होती हैं तो भी अशुद्ध जीव उन परिणतियों का निमित्तकारण नहीं होता। निमित्तकारण का अभाव होनेसे पुद्गलकर्म का जीव के साथ बंध नहीं होता। बंध न होनेसे उनके उदय का भी अभाव होता है। और उदय का भी अभाव होनेपर जीव की दुःखरूप परिणति नहीं होती। अतः जीव हि दुःखफल नहीं होता।

इसप्रकार जीव और आस्रवों में होनेवाले भेद का ज्ञान होते हि कर्मोदय से होनेवाले शुभाशुभप्रकृतियों से प्रकृष्ट अनुभवों का व्युच्छेद होने लग जाता है। अनेक मेघों का संयोग जब नष्ट होने लगता है तब दिशाएं निष्प्रतिबंधरूप से निर्मल होने लग जाती है और जब सभी मेघ विलीन हो जाते हैं तब दिशाएं पूर्णरूप से निर्मल हो जाती हैं। मेघों का अंशतः और पूर्णतः अभाव होनेका का काल और दिशाओं का अंशतः और पूर्णतः निर्मल होनेका काल समान-एक होता है। इसप्रकार जिस आत्मा के उक्तप्रकार के अनुभवों का व्युच्छेद होने लग जाता है और व्युच्छित्तिक्रिया का आरंभ होनेपर आत्मा ज्यों ज्यों अधिकप्रमाण में विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत होने लग जाती है त्यों त्यों वह अधिक प्रमाण में आस्रवों से निवृत्त होने लग जाती है और ज्यों ज्यो आस्रवों से अधिक प्रमाण में निवृत्त होने लग जाती है त्यों त्यों वह अधिकप्रमाण में विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत होने लग जाती है। यह आत्मा जिसकाल में आस्रवों से पूर्णरूप से निवृत्त हो जाती है उसी काल में पूर्णरूप से विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत हो जाती है और जिस काल में पूर्णरूप से विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत हो जाती है उसी काल में आस्रवों से पूर्णरूप से निवृत्त हो जाती है। इसप्रकार आस्रवों से अंशतः निवृत्त होनेका काल और अंशतः विज्ञानस्वभाव के रूप से परिणत होनेका काल एक होनेसे और आस्रवों से पूर्णरूप से निवृत्त होनेका काल और विज्ञानघनस्वभाव के रूप से पूर्णरूप से परिणत होनेका काल एक होनेसे दोनों का समकालत्व सिद्ध हो जाता है। आस्रवनिवृत्ति और ज्ञानाविर्भाव इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव होता है यह अभिप्राय भी आत्मख्याति से स्पष्ट हो जाता है; क्यों कि अज्ञानरूप आस्रव और ज्ञान इनमें अन्योन्यविरोध होनेसे आस्रवों में शुद्धज्ञान का अभाव होनेसे और शुद्ध ज्ञान में आस्रवरूप अज्ञान का अभाव होनेसे इनमें उपादानोपादेयभाव का सद्भाव नहीं होता और आस्रवनिवृत्ति और ज्ञानाविर्भाव इनमें कार्यकारणभाव होता है। जब कार्यकारणभाव उपादानोपादेयभावरूप नहीं है तब वह पारिशेष्यन्याय से निमित्तनैमित्तिकभावरूप होना हि चाहिये। अतः आस्रवनिवृत्ति और ज्ञानाविर्भाव में निमित्तनैमित्तिकभाव होनेमें किसीप्रकार बाधा उपस्थित नहीं होती। ज्ञानाविर्भाव और आस्रव इनमें वध्यघातकभावरूपविरोध भी है; क्यों कि भावास्रवों के नाश के विना ज्ञान आविर्भूत नहीं होता और भेदज्ञान के विना भावास्रवों का नाश नहीं होता। अतः ज्ञान और आस्रवों में वध्यघातकभावरूप विरोध होनेसे उनमें उपादानोपादेयभाव का सद्भाव नहीं हो सकता।

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम् ।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात्क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥ ४८ ॥

अन्वय - इति एवं सम्प्रति परद्रव्यात् परां निवृत्तिं विरचय्य विज्ञानघनस्वभावं परं स्वं अभयात् आस्तिघ्नुवानः अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् इतः क्लेशात् निवृत्तः स्वयं ज्ञानीभूतः जगतः साक्षी पुराणः पुमान् चकास्ति।

अर्थ- जब आस्रवों की निवृत्ति-निरोध करने से आत्मा का विज्ञानघनस्वभाव प्रकट होता है तब उक्त प्रकार से उसीसमय द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य के समान आत्मा के विज्ञानघनस्वभाव को प्रच्छादित करनेवाले आस्रवो से अंतिम-अपरिवर्तनीय-पूर्णरूप से निवृत्ति करके विज्ञानघनस्वभाववाली परमात्मा में निर्भय होकर आरूढ होनेवाली (परमात्मस्वरूप की प्राप्ति कर लेनेवाली), अज्ञानरूप उपादान से उत्पन्न होनेवाले कर्तृभाव का और कर्म भाव

का परिहार–निवृत्ति करने से क्लेशों से–दुःखरूप आस्रवों से निवृत्त हुई, अज्ञान का नाश कर ज्ञानी बनी हुई, संसारस्थ सभी पदार्थों को उनकी सभी पर्यायों के साथ साक्षात् देखनेवाली–जाननेवाली सनातन आत्मा अनंतसुख–युक्त होती है।

त. प्र.– इति यस्मात्कारणादात्माऽऽस्रवनिवृत्तौ विज्ञानघनस्वभावः सन्नाविर्भवति तस्मात्कारणात्। 'इति हेतौ प्रकारे च' इति विश्वलोचने। एवं प्रोक्तप्रकारेण सम्प्रत्यचिरात्परद्रव्यात्परद्रव्यसदृशजीव–विभावभावात्मकास्रवेभ्यो निवृत्तिं निवर्तनं विरचय्य विधाय। शुद्धात्मस्वभावभूतज्ञानप्रच्छादकत्वात्परद्रव्यसदृशान्विभावभावस्वरूपानास्रवान्व्युच्छिद्येत्यर्थः। परद्रव्यमिव परद्रव्यम्। 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योसुसि च 'युक्तवदुसि लिङ्गसङ्ख्ये' इति परद्रव्यवल्लिङ्गसङ्ख्ये। विज्ञानघनस्वभाव विज्ञानमयस्वभावम्। विज्ञानघनो विज्ञानमयः स्वभावो यस्य सः। तम्। परमनुत्तमं प्राग्र्यं वा। समुपलब्धप्रकृष्टशुद्धस्वरूपमित्यर्थः। 'प्रामण्यग्रण्यग्रिमजात्याऽन्यानुत्तमान्यूनपरार्ध्यवरे' इति हेमचन्द्रः। स्वमात्मानम्। 'स्वो ज्ञातावात्मनि' इति विश्वलोचने। परमात्मानमित्यर्थः। अभयाद्भयं विद्राव्य। भावास्रवाणां निवृतौ पूर्णत्वेन कृतायां द्रव्यकर्मास्रवाभावात्तदुदयात्मकनिमित्तकारणाभाव–सम्पत्तेरात्मसामर्थ्याभावाच्च शुद्धात्मस्वभावभूतज्ञानस्य विभावात्मिकायाः परिणतेरसम्भवाद्भयं विमुच्येत्यर्थः। आस्तिघ्नुवान आरोहन्। विज्ञानघनस्वभावात्मकं परमात्मस्वरूपं प्राप्नुवन्नित्यर्थः। ष्टिघ् आस्कन्दने। आस्तिघ्नत इत्यास्तिघ्नुवानः। अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनादज्ञानोत्पन्नकर्तृकर्मपरिहरणात्। अज्ञानादुपादानभूतादुत्पन्ने कर्तृकर्मणी। तयोः कलनात् परिहरणात्। कलतेः कामधेनुत्वात्कलनादित्यस्य परिहरणादित्यर्थग्रहणम्। परिहरणादित्यस्य परिहरणं विधायेत्यर्थः। विधायेत्यस्य ल्यबन्तस्य खस्य विधानात् 'ल्यले कर्माधारे' इति ल्यखे का। क्लेशादात्मशुद्धस्वरूपविपर्यासात्मकविभावभावरूपात्क्लेशाद्दुःखरूपादास्रवान्निवृत्तो व्यावृत्तः स्वयं ज्ञानीभूतोऽज्ञानं प्राक्तनं परिहृत्य ज्ञानस्वरूपतां प्राप्तः। पूर्वमज्ञानमज्ञानस्वरूपो ज्ञानं ज्ञानस्वरूपो भवति स्म ज्ञानीभूतः। जगतो विश्वस्थसपर्यायनिखिलपदार्थसार्थस्य साक्षी साक्षात् द्रष्टा। 'साक्षाद्द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम्' इति द्रष्टर्यर्थे इनि.। (पा० सू०) पुराणः सनातनः पुमानात्मा चकास्त्यनन्तसुखभाग्भवति।

विवेचन– भावास्रवों की निवृत्ति करने से आत्मा का विज्ञानघनस्वभाव जब अभिव्यक्त होता है तब शीघ्र हि विभावभावात्मक आस्रवो की निवृत्ति करके निर्भय होकर विज्ञानघनस्वभाव परमात्मा में आरूढ होकर अपनी आत्मा को परमात्मस्वरूप जानना चाहिये–परमात्मरूप से उसका अनुभव करना चाहिये। इस प्रकार के अनुभव से अज्ञान का नाश होता है और अज्ञान का नाश होने से विभावात्मक कर्तृकर्मभावो का अभाव हो जाता है। कर्तृकर्मभाव के नाश से आकुलतास्वरूप दुःख का नाश हो जाता है। दुःख का नाश होनेसे अनाकुलता की प्राप्ति हो जाती है और अनाकुलता से आत्मा का विज्ञानघनस्वभाव प्रकट हो जाता है। इस स्वभाव के प्रकट हो जानेसे आत्मा सपूर्ण ज्ञेय पदार्थों को उनकी सभी पर्यायों के साथ जानती है। इसप्रकार यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति से यह सनातन आत्मा अनंतसुख से युक्त हो जाती है। इस कलश में जो 'अभयात्' यह पद प्रयुक्त किया गया है वह बडा महत्त्व रखता है। जिस जीव को भेदज्ञान की प्राप्ति हुई होती है और भेदज्ञान की प्राप्ति से जिसने आस्रवों को अनात्मनीन और अनात्मीय समझ लिया है उसे शरीरनाशादि का भय नहीं होता। ज्यों ज्यों उपसर्गों की मात्रा बढती जाती है त्यों त्यों उसकी स्वस्वरूपस्थिति बढती जाती है और अन्तमें उसमें केवलज्ञान आविर्भूत हो जाता है। अन्तःकृतकेवली का दृष्टान्त उक्त अभिप्राय का अच्छीतरह समर्थन करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भेद ज्ञानी जीव को किसी प्रकार का भय नहीं होता।

' कथं आत्मा ज्ञानीभूत. लक्ष्यते ? ' इति चेत्–

' अज्ञान का नाश करके ज्ञानरूप से परिणत हुई आत्मा कैसे पहिचानी जाती है ? ' ऐसा प्रश्न हो तो–

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ७५ ॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम् ।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ– (**यः**) जो (**आत्मा**) आत्मा (**कर्मणः**) उपादानभूत द्रव्यकर्म के (**एनम्**) इस मोहरागादिरूप (**परिणामं**) उपादेयभूत परिणाम को (**तथा एव च**) और उसीप्रकार हि (**नोकर्मणः**) उपादानभूत नोकर्म के उपादेयभूत इस स्पर्शसस्थानादिरूप (**परिणाम**) परिणाम को (**न करोति**) उपादानकर्ता होकर नहीं करती अर्थात् स्वय चेतन होनेसे अचेतन द्रव्यकर्मोपादानक रागादिसंज्ञक परिणामों के और नोकर्मोपादानक रूपसंस्थानादिरूप परिणामो के रूप से परिणत नही होती किंतु जो आत्मा इन परिणामो को (सिर्फ) (**जानाति**) जानती है (**सः**) वह आत्मा (**ज्ञानी**) ज्ञानी-सम्यग्ज्ञानसंपन्न (**भवति**) होती है ।

[कहनेका भाव यह है कि जिस जीव को आत्मा और आस्रवों में होनेवाले भेद का ज्ञान होता है वह ज्ञानी-प्रशस्तज्ञानयुक्त–सम्यग्ज्ञानी होती है । जो कर्म उदय में आकर अज्ञानी जीव की रागादिरूप परिणति में निमित्तकारण पडते हैं वे ' कारणे कार्योपचारः ' इस न्याय से रागादिसंज्ञाओं को धारण करते हैं या उनकी रागादिसज्ञाएं की जाती है । कर्मसामान्य के ये भिन्नभिन्न परिणाम हैं । यद्यपि इन परिणामों का अज्ञानी जीव अपने विभावपरिणामों के द्वारा निमित्तकारण पडता है तो भी वह अपने चैतन्यस्वभाव का त्याग करके अचेतन पुद्गल के रूप से परिणत न होनेसे उन द्रव्यकर्मोपादानक कर्मपरिणामों का उपादानकर्ता नहीं होता । एकजातीय परिणाम का दो विभिन्नस्वभाववाले भिन्नभिन्न पदार्थ उपादानकर्ता नहीं होते । शरीर–सस्थानादि के रूप से भी वह परिणत नहीं होता; क्यों कि ये भी पुद्गलोपादानक परिणाम हैं । जब जीव इन भावों के रूप से परिणत नहीं होता तब वह इन भावों को अपने उपादेयरूप से उत्पन्न भी नहीं कर सकता । अज्ञानी जीव यद्यपि इनभावों का उपादानकर्ता नहीं हो सकता तो भी उन परिणामों में और अपनेमें होनेवाले भेद को भी नहीं जानता और उनके निमित्त से विभावभावों के रूप से परिणत हो जाता है । ज्ञानी जीव तो इन परिणामों का उपादानकर्ता भी नहीं होता है और न उनके निमित्त से विभावभावों के रूप से परिणत भी होता है । वह इनको अपनेसे सर्वथा भिन्न समझता है । अतः जो इन भावों के रूप से परिणत न होकर इन भावों को परद्रव्य के रूप से जानता है वही जीव ज्ञानी होता है ।]

आ. ख्या.– यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेण अन्तः उत्प्लवमान कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दबन्धसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिः उत्प्लवमानं नोकर्मण परिणामं च समस्तं अपि परमार्थतः पुद्गलपरिणाम-पुद्गलयोः एव घटमृत्तिकयोः इव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात् पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतन्त्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमान-त्वात् कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोः घटकुम्भकारयोः इव व्याप्यव्यापकभावा-

भावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोति आत्मा, किन्तु परमार्थतः पुद्गलपरिणामज्ञान-पुद्गलयोः घटकुम्भकारवत् व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ आत्मपरिणामात्मनोः घटमृत्तिकयोः इव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात् आत्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतन्त्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात् पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तं आत्मानं जानाति सः अत्यन्त-विविक्तज्ञानीभूतः ज्ञानी स्यात् । न च एवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामः व्याप्यः, पुद्गलात्मनोः ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धव्यवहारमात्रे सति अपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्य एव ज्ञातुः व्याप्यत्वात् ।

त प्र.– य आत्मा । खल्विति वाक्यालङ्कारे । मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेण मोहरागादिप्रकारेण । मोहश्च रागश्च द्वेषश्च सुखं च दुःखं च मोहरागद्वेषसुखदुःखानि । तान्यादीनि प्रधानानि येषां परिणामानां ते मोहरागद्वेषसुखदुःखादयः परिणामाः । तेषां रूपेण प्रकारेण । निमित्तकर्त्रीभूय मोहरागादिरूपविभावभावजनकत्वात्कारणे कार्योपचारान्मोहादिसञ्ज्ञकत्वेनेत्यर्थः । अन्तोऽभ्यन्तरमिन्द्रियागोचरत्वात् । उत्प्लवमानमुत्पद्यमानं कर्मणो द्रव्यकर्मणः परिणाममुपादेयभूतम् । स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दबन्धसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण स्पर्शादिप्रकारेण । स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च शब्दश्च बन्धश्च सस्थानं च स्थौल्य च सौक्ष्म्यं च स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दबन्धसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्याणि । तान्यादीनि प्रधानानि येषां ते । तेषां रूपेण प्रकारेण । बहिर्बाह्यत उत्प्लवमानमुत्पद्यमानं नोकर्मणः पुद्गलोपादानकस्येषत्कर्मणः परिणाममुपादेयभूतं पर्यायं च समस्तमपि सकलमपि परमार्थतो वस्तुतः । निश्चयनयदृष्ट्येत्यर्थ । पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव पुद्गलोपादानकपरिणामोपादानकर्तृभूतपुद्गलयोरेव । घटमृत्तिकयोरिव कुम्भतदुपादानभूतमृत्तिकयोरिव । पुद्गलोपादानकोपादेयभूतपरिणामात्मकघटतदुपादानभूतमृत्तिकयोरिवेत्यर्थः । व्याप्यव्यापकभावसद्भावादन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावात् । यथा पुद्गलपरिणामात्मकघटे उपादानकर्तृभूतमृत्तिकायाः स्वस्वरूपेणान्वयस्य सद्भावात्तस्य घटस्य व्याप्यत्वाद्धटे स्वस्वरूपेणाऽन्वयिन्या उपादानकर्तृभूताया मृत्तिकाया व्यापकत्वात्तयोर्घटमृत्तिकयोर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावोऽस्ति तथा पुद्गलपरिणामात्मकद्रव्यकर्मरूपोपादानकर्तृकर्मनोकर्मात्मकपरिणामे उपादानकर्तृभूतपुद्गलस्य स्वस्वरूपेणान्वयस्य सद्भावात्तस्य कर्मनोकर्मपरिणामस्य व्याप्यत्वात्कर्मनोकर्मपरिणामे स्वस्वरूपेणान्वयिन उपादानकर्तृभूतस्य पुद्गलस्य व्यापकत्वात्तयोः कर्मनोकर्मपरिणामपुद्गलयोर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावोऽस्ति यतस्ततः पुद्गलद्रव्येण कर्मनोकर्मपरिणामेऽन्वयित्वात्कर्त्रोपादानकर्त्रा स्वतन्त्रव्यापकेन व्यापनक्रियाश्रयीभूतव्यापकेन । स्वतन्त्रो व्यापनक्रियोत्पत्त्याश्रयभूतश्चासौ व्यापकः स्वस्वभावेन स्वपरिणामं व्याप्नुवंश्च स्वतन्त्रव्यापकः । तेन । स्वयमात्मना व्याप्यमानत्वाद्व्याप्तिक्रियाविषयत्वात्कर्मत्वेन द्रव्यकर्मणः परिणामत्वेन क्रियमाणम् । पुद्गलपरिणामात्मनोर्द्रव्यकर्मात्मकपुद्गलपरिणामात्मनोः घटकुम्भकारयोरिव मृत्तिकोपादानकपरिणामभूतघटतन्निमित्तकर्तृभूतकुलालयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावद्बहिर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावेऽप्यन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावात् । यथा मृत्तिकोपादानकेऽत एव मृत्तिकापार्थिवत्वाचेतनत्वादिस्वभावान्विते पार्थिवेऽचेतने च घटे चेतनकुम्भकारस्वभावभूतचैतन्यान्वयासम्भवाद्घटस्य तद्व्याप्यत्वाभावात्कुम्भकारस्य च स्वचैतन्यस्वभावेन तद्व्यापनसामर्थ्यविकलत्वाद्व्यापकत्वाभावान्न तयो र्घटकुम्भकारयोर्बहिर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावेऽप्यन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावोऽस्ति तथा पुद्गलोपादानकेऽत

एव पुद्गलपार्थिवत्वाचेतनत्वस्वभावान्वितेऽचेतने पार्थिवे च द्रव्यकर्मपरिणामे आत्मस्वभावभूतचैतन्यान्वयासम्भवाद्द्रव्यकर्मपरिणामस्य तद्व्याप्यत्वाभावादात्मनश्च स्वीयेन विज्ञानघनस्वभावेन तद्व्यापनसामर्थ्यविकलत्वाद्व्यापकत्वाभावापत्तेर्द्रव्यकर्मपरिणामतन्निमित्तकर्तृभूतात्मनोर्बाह्यव्याप्यव्यापकभावसद्भावेऽप्यन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावोऽस्ति यतस्ततः कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मनो द्रव्यकर्मण उपादानकर्तृत्वस्य द्रव्यकर्मणश्चोपादेयभूतपरिणामात्मककर्मत्वस्यासिद्धौ न नाम नैव करोति द्रव्यकर्मपरिणामात्मकपरिणतिक्रियाश्रयीभवति । किन्तु परमार्थतो वस्तुतः । निश्चयनयेनेत्यर्थः । पुद्गलपरिणामज्ञान-पुद्गलयोः पुद्गलोपादानकोपादेयात्मकद्रव्यकर्मोपादानकपरिणामस्वरूपज्ञायकज्ञान-ज्ञेयरूपद्रव्यकर्मोत्पन्नपरिणामात्मकपुद्गलद्रव्यद्वये घटकुम्भकारवन्मृत्तिकोपादानककुलालनिमित्तकपरिणामात्मकघट—चैतन्यधर्मनिमित्तकर्तृभूतकुम्भकारद्वये इव व्याप्यव्यापकभावाभावाद्बहिर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावेऽप्यन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धावुपादानकर्तृत्वासिद्धावुपादेयभूतकर्मत्वासिद्धौ च यथा मृत्तिकोपादानकोपादेयभूतघटस्य कुम्भकारस्वामिकचैतन्यधर्मान्वयाभावाद्व्याप्यत्वाभावादुपादेयस्वरूपं कर्मत्वं न सिध्यति चैतन्यधर्मात्मककुम्भकारस्य घटे स्वीयचैतन्यधर्मात्मकत्वेनान्वयनसामर्थ्यवैकल्याद्व्यापकत्वाभावादुपादानस्वरूपं कर्तृत्वं न सिध्यति तथा पुद्गलोपादानकोपादेयात्मकद्रव्यकर्मोपादानकपरिणामस्वरूपज्ञापकज्ञानस्य ज्ञेयभूते द्रव्यकर्मनोकर्मपरिणामापन्ने पुद्गलेऽन्वयनसामर्थ्याभावादन्वयाभावाद्व्यापकत्वाभावादुपादानस्वरूपं कर्तृत्वं न सिध्यति द्रव्यकर्मनोकर्मपरिणामापन्नपुद्गलस्य चात्मस्वामिकचैतन्यस्वरूपान्वयाभावाद्व्याप्यत्वाभावादुपादेयस्वरूपं कर्मत्व न सिध्यति । यद्वा पुद्गलपरिणामज्ञानस्य ज्ञानपरिणामात्मकत्वात्तत्र ज्ञानस्यान्वयाद्व्याप्यत्वेऽपि तत्र पुद्गलपरिणामज्ञाने पार्थिवत्वाचेतनत्वादिस्वरूपपुद्गलधर्मस्यान्वयाभावादुपादेयस्वरूपं पुद्गलकर्मत्वं न सिध्यति पुद्गलस्य च स्वीयधर्मात्मकत्वेन पुद्गलपरिणामज्ञानेऽन्वयनसामर्थ्यवैकल्याद्व्यापकत्वाभावादुपादानस्वरूपं कर्तृत्वं न सिध्यति । एव पुद्गलपरिणामज्ञान-पुद्गलयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावादुपादानभूतकर्तृत्वोपादेयभूतकर्मत्वासिद्धौ जातायां सत्यामात्मपरिणामात्मनोरात्मपरिणामे आत्मनः स्वस्वभावेनान्वितत्वाद्व्याप्यत्वादात्मनश्च तत्रान्वयित्वाद्व्यापकत्वाद्घटमृत्तिकयोरिव यथा घटस्योपादेयभूतस्य मृत्तिकास्वभावेनान्वितत्वाद्व्याप्यत्वान्मृत्तिकायास्तत्र घटेऽन्वयित्वाद्व्यापकत्वात्तयोर्घटमृत्तिकयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावस्तथान्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रोपादानकर्त्रा स्वतन्त्रव्यापकेन व्यापनक्रियोत्पत्त्याश्रयभूतव्यापकेन । स्वतन्त्रो व्यापनक्रियोत्पत्त्याश्रयभूतश्चासौ व्यापकश्च स्वस्वभावेनात्मपरिणामं व्याप्नुवंश्च स्वतन्त्रव्यापकस्तेन । स्वयमात्मना व्याप्यमानत्वाद्व्याप्तिक्रियाविषयत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेनात्मनो ज्ञानस्य परिणामत्वेन क्रियमाणं जन्यमानं कुर्वन्तमात्मानं जानाति स आत्माऽत्यन्तविविक्तज्ञानीभूतः कर्मात्मानावत्यन्तविविक्तावत्यन्तमन्योन्यभिन्नाविति ज्ञानमत्यन्तविविक्तज्ञानम् । तदस्यास्तीत्यत्यन्तविविक्तज्ञानः । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यस्त्यो मत्वर्थीयः । अनत्यन्तविविक्तज्ञानोऽत्यन्तविविक्तज्ञानो भवति स्मात्यन्तविविक्तज्ञानीभूतः । 'कृभ्वस्तिङ्योगेऽतत्तत्वे सम्पत्तरि च्विः' इति च्विः । द्रव्यभावकर्मणो जीवद्रव्यादत्यन्तभिन्ने इति जानन्नित्यर्थः । ज्ञानी सम्यग्ज्ञानसम्पन्नो निर्मलविवेकज्ञानसम्पन्नो वा स्याद्भवति । न चैवमनेन प्रकारेण ज्ञातुर्ज्ञात्रा । 'व्यस्य वा कर्तरि' इति व्यसञ्ज्ञकस्य व्याप्यशब्दस्य प्रयोगात्कर्तरि ता । पुद्गल्परिणामः पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मात्मकपुद्गलस्य परिणामो व्याप्यो ज्ञातुर्ज्ञानस्वभावेन व्यापनक्रियाविषय. । पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलरूपज्ञानविषयत्वाज्ज्ञेयभावत्वादात्मनश्च

ज्ञापकत्वात्तयोर्ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धेन व्यवहारमात्रे लौकिकशास्त्रीयव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणाम-निमित्तकस्य निमित्तभूतपुद्गलपरिणामसम्बन्धाज्जायमानस्य ज्ञानस्यैव पुद्गलपरिणामज्ञानस्यैव ज्ञातुर्ज्ञात्रा व्याप्यत्वाज्ज्ञानस्वभावेनान्वीयमानत्वात् ।

टीकार्थ— पुद्गलपरिणामभूत घट और पुद्गलरूप मृत्तिका इनमें जिसप्रकार (आन्तर-) व्याप्यव्यापकभाव होता है उसीप्रकार कर्मपरिणामरूप और नोकर्मपरिणामरूप पुद्गलपरिणाम और पुद्गल इनमें (आन्तर-) व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे पुद्गलद्रव्यरूप अपने परिणामों को व्याप्त करनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होता हुआ अपने स्वरूप से परिणामों को व्याप्त करनेवाले (उपादान-) कर्ता के द्वारा स्वयं व्याप्त किये जानेवाले होनेसे कर्मरूप से उत्पन्न किये जानेवाले ऐसे, घट और कुम्भकार इनमें जिसप्रकार (आन्तर-) व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है उसीप्रकार पुद्गलपरिणाम और आत्मा इनमें (आन्तर-) व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे आत्मा के (उपादान-) कर्तृत्व की और पुद्गलपरिणामों के (उपादेयभूत-) कर्मत्व की सिद्धि न होनेसे मोहरूप से, रागरूप से, द्वेषरूप से, सुखरूप से और दुःख आदि के रूप से अतरंग में उत्पन्न होनेवाले कर्म के सभी के सभी परिणामों को और स्पर्शरूप से, रसरूप से, गंधरूप से, वर्णरूप से, शब्दरूप से, बंधरूप से, संस्थानरूप से, स्थौल्यरूप से और सौक्ष्म्य आदि के रूप से (आत्मा के) बाहर उत्पन्न होनेवाले नोकर्म के सभी के सभी परिणामों को करती हि नहीं, किंतु जिसप्रकार घट और कुम्भकार इनमें वस्तुत (आन्तर-) व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है उसीप्रकार पुद्गल के परिणामों का ज्ञान और पुद्गल इनमें वस्तुतः (आन्तर-) व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे पुद्गल के परिणामों के ज्ञान के कर्मत्व की (या कर्तृत्व की) और पुद्गल के कर्तृत्व की (या कर्मत्व की) सिद्धि न होनेपर घट और मृत्तिका इनमें जिसप्रकार (आन्तर-) व्याप्यव्यापकभाव होता है उसीप्रकार आत्मा के परिणाम और आत्मा इनमें (आन्तर-) व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे आत्मपरिणामों को व्याप्त करनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होनेवाले और आत्मपरिणामों को व्याप्त करनेवाले स्वय आत्मद्रव्यरूप (उपादान-) कर्ता के द्वारा व्याप्त किया जानेवाला होनेसे पुद्गल के परिणामों के ज्ञान को (उपादेयभूत) कर्म के रूप से करनेवाली (परिणाम के रूप से उत्पन्न होनेवाली अर्थात् स्वय पुद्गलपरिणाम के ज्ञान के रूप से परिणत होनेवाली) आत्मा को जानता है वह 'पुद्गल के परिणाम और आत्मा इनमे आत्यन्तिकरूप से भेद का सद्भाव है' इसप्रकार के ज्ञान से युक्त बना हुआ ज्ञानी होता है । इसप्रकार पुद्गल के परिणाम व्याप्य अर्थात् ज्ञाता के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किये जानेवाले नहीं हैं; क्यों कि पुद्गल और आत्मा इनमें ज्ञेयज्ञायकसंबंध होनेका व्यवहार विद्यमान होनेपर भी पुद्गल के परिणाम जिसकी उत्पत्ति में निमित्तकारण पडते है ऐसा ज्ञान हि ज्ञाता का व्याप्य होता है ।

विवेचन— मृत्तिका से मृत्पिण्डरूप परिणाम होता है और उस मृत्पिण्ड से घटरूप परिणाम उत्पन्न होता है । मृत्पिण्ड और घट मे उपादानभूत मृत्तिका अन्वित हुई पायी जाती है । अतः वे पुद्गल के परिणाम है । जीव के विभावभाव निमित्तकारण पडनेपर कर्मयोग्य पुद्गल कर्मरूप से परिणत होते हैं और कर्म से द्रव्यरूप रागादिभावों की निष्पत्ति होती है—कर्मों में और कर्मपरिणामभूत रागादिसंज्ञक परिणामो में पुद्गल अन्वित हुआ होता है । इसप्रकार नोकर्म के भी सभी के सभी परिणामों मे पुद्गल अन्वित हुआ होता है । अतः कर्म के और नोकर्म के परिणाम पुद्गल के हि परिणाम है उपादेय हैं । मोहरूप से, रसरूप से, द्वेषरूप से, सुखरूप से और दुःख आदि के रूप से अतरंग में उत्पन्न होनेवाले कर्म के सभी के सभी परिणाम और स्पर्शरूप से, रसरूप से, गन्धरूप से, वर्णरूप से, संस्थानरूप से, स्थौल्यरूप से, और सौक्ष्म्य आदि के रूप से, बाहर अर्थात् इंद्रियगोचरता के रूप से उत्पन्न होनेवाले नोकर्म के सभी के सभी परिणाम पुद्गल के परिणाम हैं । पुद्गलपरिणामभूत घट में मृत्तिकारूप उपादान का अन्वय होनेसे घट मृत्तिका का व्याप्य होनसे और मृत्तिका अपने स्वरूप से अपने घटरूप परिणाम को व्यापनेवाली होनेके कारण व्यापक होनेसे घट और मृत्तिका इनमें व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है । व्याप्त करनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होनेसे मृत्तिका स्वतन्त्र है और घट को व्याप्त करनेवाली होनेसे व्यापक भी है । स्वतंत्रव्यापक होनेसे

मृत्तिका घट का उपादानकर्ता है । उस व्यापक मृत्तिका के द्वारा स्वयं घट व्याप्त किया जानेवाला होनेसे घट मृत्तिका का उपादेयभूत कर्म है । अतः उपादेयभूत घट मृत्तिकारूप उपादानकर्ता के द्वारा किया जाता है । इसप्रकार पुद्गल-परिणामभूत कर्म के और नोकर्म के द्रव्यमोहादिरूप और स्पर्शादिरूप परिणामों में पुद्गलरूप उपादान का अन्वय होनेसे वे परिणाम पुद्गल के व्याप्य होनेसे और पुद्गल अपने स्वरूप से अपने द्रव्यमोहस्पर्शादिरूप परिणामों को व्यापनेवाला होनेके कारण व्यापक होनेसे द्रव्यमोहस्पर्शादिरूप परिणाम और पुद्गल इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है । व्याप्त करने की क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होनेसे पुद्गल स्वतंत्र होता है और उक्त परिणामों को व्याप्त करनेवाला होनेसे व्यापक भी होता है । स्वतंत्रव्यापक होनेसे पुद्गल द्रव्यमोहस्पर्शादिरूप परिणामों का उपादानकर्ता है । उस व्यापक पुद्गल के द्वारा स्वस्वरूप से द्रव्यमोहस्पर्शादिरूप परिणाम स्वयं व्याप्त किये जानेवाले होनेसे वे परिणाम पुद्गल के उपादेयभूत कर्म हैं । अतः उपादेयभूत द्रव्यमोहस्पर्शादिरूप परिणाम पुद्गरूप उपादान के द्वारा उत्पन्न किये जाते है । परिणमनशील मृत्तिका यद्यपि घटरूप से परिणत होनेकी योग्यता से युक्त होती है तो भी कुम्भकार की घटपरिणत्यनुकूल क्रिया के अभाव में घटरूप से परिणत होनेवाली न होनेसे घट और कुम्भकार इनमें यद्यपि बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है तो भी घट कुंभकार के द्वारा अपने चैतन्यस्वरूप के द्वारा व्याप्त किया जानेवाला न होनेके कारण कुंभकाररूप निमित्तकर्ता का व्याप्य न होनेसे और कुंभकार अपने चैतन्य-स्वरूप से व्याप्त करनेवाला न होनेके कारण व्यापक न होनेसे घट और कुंभकार इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है । घट और कुंभकार इनमें अंतर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे कुंभकार के उपादानकर्तृत्व की सिद्धि और घट के उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि न होनेपर निश्चयनय की दृष्टि से कुंभकार घटरूप परिणाम का उपादानकर्ता नहीं है । इसप्रकार परिणमनशील पुद्गल यद्यपि द्रव्यमोहस्पर्शादिरूप से परिणत होनेकी योग्यता से युक्त होता है तो भी आत्मा की द्रव्यमोहस्पर्शादिरूपपरिणत्यनुकूल ऐसी विभावभावात्मकपरिणतिक्रिया के अभाव में द्रव्यमोहस्पर्शादिरूपपरिणाम के रूप से परिणत होनेवाला न होनेसे पुद्गल के द्रव्यमोहस्पर्शादिरूप परिणाम और आत्मा इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेपर भी द्रव्यमोहस्पर्शादिरूपपुद्गलपरिणाम आत्मा के द्वारा स्वस्वरूप से व्याप्त किये जानेवाले न होनेके कारण आत्मरूप निमित्तकर्ता का व्याप्य न होनेसे और आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप से उनको व्याप्त करनेवाली न होनेके कारण व्यापक न होनेसे द्रव्यमोहस्पर्शादिरूपपुद्गलपरिणाम और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है । द्रव्यमोहस्पर्शादिरूपपुद्गलपरिणाम और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे आत्मा के उपादानकर्तृत्व की सिद्धि और द्रव्यमोहस्पर्शादिरूपपुद्गलपरिणामों के उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि न होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा द्रव्यमोहस्पर्शादिरूपपुद्गलपरिणामों का उपादानकर्ता नहीं है । मृत्तिकोपादानक अचेतन घट में कुंभकार के चैतन्यस्वरूप का अन्वय न होनेसे वह व्याप्य न होनेके कारण कुंभकार अपने चैतन्यस्वरूप से घट को व्याप्त करनेवाला न होनेसे व्यापक न होनेके कारण घट और कुंभकार में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे कुंभकार के कर्तृत्व की जिसप्रकार सिद्धि नहीं होती उसीप्रकार पुद्गलोपादानक उपादेयभूत-द्रव्यकर्मोपादानक परिणामों के स्वरूप को जाननेवाले ज्ञान का ज्ञेयभूत द्रव्यकर्म के और नोकर्म के परिणामों के रूप से परिणत हुए पुद्गल में अन्वित होनेकी सामर्थ्य का अभाव होनेसे उसमें उसका अन्वय न होनेसे वह व्यापक न होनेके कारण और द्रव्यकर्म के और नोकर्म के परिणामों के रूप से परिणत हुए पुद्गल का उसमें चैतन्यधर्म का अन्वय न होनेसे वह पुद्गल व्याप्य न होनेके कारण पुद्गलपरिणामों का ज्ञान और पुद्गल इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे पुद्गलपरिणामों के ज्ञान के उपादानकर्तृत्व की और पुद्गल के उपा-देयभूतकर्मत्व की सिद्धि नहीं होती । अथवा-पुद्गलपरिणामों का ज्ञान ज्ञानसामान्य का परिणाम होनेसे उसमें ज्ञानसामान्य का अन्वय होनेसे वह व्याप्य होनेपर भी उस पुद्गलपरिणामों के ज्ञान में पार्थिवत्वाचेतनत्वादिरूप पुद्गल के धर्मों का अन्वय न होनेसे वह ज्ञान पुद्गल का व्याप्य न होनेके कारण और पुद्गलपरिणामों के ज्ञान में अपने पार्थिवत्वादिधर्मों से अन्वित होनेकी सामर्थ्य का अभाव होनेसे अन्वित होनेवाला न होनेके कारण पुद्गलद्रव्य व्यापक न होनेसे पुद्गलपरिणामों का ज्ञान और पुद्गल इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव

होनेसे पुद्गल के उपादानकर्तृत्व की और पुद्गलपरिणामों के ज्ञान के उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि नहीं होती। इसप्रकार पुद्गलपरिणामों का ज्ञान और पुद्गल इनके उपादानकर्तृत्व की और उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि न होनेपर घट में मृत्तिका अपने स्वरूप से अन्वित हुई होनेसे और मृत्तिका घट में अन्वित होनेवाली होनेसे घट और मृत्तिका इनमें जिसप्रकार अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है उसीप्रकार आत्मा के परिणामों में आत्मा अपने चैतन्यस्व-रूप से अन्वित हुई होनेसे और आत्मा अपने परिणामों में अपने स्वरूप से अन्वित होनेवाली होनेसे आत्मा के अपने परिणाम और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे पुद्गल के परिणामों के ज्ञान को अपने स्वरूप से व्यापने की क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होनेसे स्वतंत्र बने हुए और पुद्गलपरिणामों के ज्ञान को अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाला होनेसे व्यापक बने हुए आत्मद्रव्यरूप उपादानकर्ता के द्वारा व्याप्त किये जानेवाले पुद्गलपरि-णामों के ज्ञान को उपादेयभूतकर्म के रूप से जो उत्पन्न करती है ऐसी उस आत्मा को जो जानता है-स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा उसका साक्षात् अनुभव करता है वह 'कर्मनोकर्म के मोहस्पर्शादिरूप पुद्गलात्मक परिणाम अर्थात् पुद्गल और ज्ञान या आत्मा इनमें आत्यंतिकरूप से भेद होता है' इसप्रकार के ज्ञान से युक्त बना हुआ जीव ज्ञानी-सम्य-ग्ज्ञानसंपन्न हो जाता है। इसप्रकार पुद्गल के परिणाम ज्ञाता के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किये जानेके योग्य न होनेसे ज्ञाता के व्याप्य नहीं हो सकते; क्यों कि यद्यपि 'पुद्गल और आत्मा इनमें ज्ञेयज्ञायकभावसंबंध होता है' इस प्रकार के लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार का सद्भाव है तो भी जिसकी आविर्भूति में द्रव्यकर्मों का क्षय या क्षयो-पशम निमित्तकारण पड़ता है ऐसा ज्ञान हि ज्ञाता का व्याप्य होता है-ज्ञाता के द्वारा स्वस्वरूप से व्यापनेके योग्य होता है।

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवाऽतदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ?।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिन्दंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

अन्वयः- व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेत्, अपि अतदात्मनि नैव (भवेत्)। व्याप्यव्यापकभा-वसम्भवं ऋते कर्तृकर्मस्थितिः का? इति उद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण तमः भिन्दन् कर्तृत्वशून्यः स एष पुमान् तदा ज्ञानीभूय लसितः।

अर्थ- जो परिणाम और परिणामी या उपादान और उपादेय होते हैं उनमें हि (आन्तर) व्याप्यव्यापकभाव होता है, किंतु जो परिणाम और परिणामी या उपादान और उपादेय नहीं होते उनमें (आन्तर) व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता। परिणाम और परिणामी इनमें (आन्तर) व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव न होनेपर परिणामी के उपा-दानकर्तृत्व की और परिणाम के उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि किसप्रकार हो सकती है? इसकारण अज्ञानरूप अन्धकार का नाश करनेवाले उत्कृष्टभेदज्ञानरूप तेज की विपुलता से या 'जिस कार्यद्रव्य में और कारणद्रव्य में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है ऐसे उन द्रव्यों में भेद का अभाव होनेपर भी उनमें आत्यन्तिकरूप से भेद होता है' इसप्रकार, जाननेवाले अज्ञान का नाश करनेवाले ज्ञानरूप तेज की विपुलता से अज्ञानरूप अंधकार का नाश करनेवाली अत एव कर्म और नोकर्म के परिणामों के उपादानकर्तृत्व से रहित ऐसी, जो अनादिकाल से अज्ञानरूप से परिणत हुई थी ऐसी वह यह आत्मा अज्ञानरूप अंधकार का जिससमय नाश करती है उसीसमय सम्यग्ज्ञानसंपन्न होकर वा केवलज्ञानसंपन्न होकर प्रकट होती है।

त. प्र.- व्याप्यव्यापकताऽन्तर्व्याप्यव्यापकभावस्तदात्मनि परिणामपरिणामिनोरुपादानोपादेययोर्वा भवेद्भवति। तच्च तदात्म च तदात्म। तस्मिन्। 'अप्राणिजातेः' इति द्वन्द्वस्यैकवद्भावः। तदि-त्यनेन परिणामेऽन्वितमुपादानभूतं द्रव्यं यतो प्रत्यभिज्ञायते ततस्तस्य तदिति पदेन व्यपदेशः। ततस्त-

दित्यस्य परणामीत्यर्थः । आत्मेति पदमात्मायत्तार्थवचनम् । 'आत्मा ब्रह्ममनोदेहस्वभावधृतिबुद्धिषु । आत्मायत्तेऽपि' इति विश्वलोचने । परिणामस्य परिणामिन्यायत्तत्वात्तस्यात्मपदेन ग्रहणं भवति । स परिणामी चात्मा परिणाम्यायत्तः परिणामश्च तदात्म । अत्र परिणामपरिणामिजात्योर्विवक्षितत्वाद्वि-शिष्टपरिणामपरिणामिनोरविवक्षितत्वाच्च द्वन्द्वस्यैकवद्भावः । एकवद्भावापन्नद्वन्द्वस्य 'स नप्' इति नपुंसकलिङ्गत्वम् । ततश्च तदात्मनोत्यस्य परिणामपरिणामिनोरित्यर्थः । यद्वा परिणामी परिणामेऽन्वितो भवति, परिणामश्च परिणामिना यदा स्वस्वरूपेणाऽन्वितो भवति तदैव तयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावस्य सद्भावो भवति । परिणामिनः सद्भावे एव परिणामस्य सद्भावात्परिणामस्य परिणाम्यायत्तत्वम् । अपि किंतु अतदात्मनि ययोः कार्यद्रव्यकारणद्रव्ययोः प्रोक्तप्रकारकः परिणामपरिणामिभावो न विद्यते तयो-रन्तर्व्याप्यव्यापकभावो नैव सम्भवति । व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते कार्यद्रव्यकारणद्रव्ययोरन्तर्व्याप्य-व्यापकभावसद्भावेन विना । व्याप्यव्यापकभावस्य सम्भवः सद्भावः । तमृते तेन विना । 'का चर्ते' इति ऋतेशब्देन योगादिप् । कर्तृकर्मस्थितिरुपादानकर्त्रुपादेयभूतकर्मणोः स्थितिः का किंस्वरूपा ? इति ययोः कार्यद्रव्यकारणद्रव्ययोः परिणामपरिणामिभावाभावादन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावस्तयोरात्यन्तिको भेदो यतस्ततः । यद्वा ययोः कार्यद्रव्यकारणद्रव्ययोः परिणामपरिणामिभावसद्भावादन्तर्व्याप्यव्यापकभा-वस्य सद्भावस्तयोरभेदो यतस्ततः । उद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण प्रबलभेदज्ञानरूपतमोनाशकतेजो-वैपुल्येनान्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भाववत्कार्यकारणद्रव्यात्यन्तिकभेदविनाशकज्ञानतेजोवैपुल्येन वा । उद्-दामः प्रकृष्टश्चासौ विवेको भेदज्ञानमेव घस्मरं विनाशकं महस्तेजः । तस्य भारो वैपुल्यम् । तेन । यद्वोद्दामः प्रकृष्टोऽन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भाववतोः कार्यकारणद्रव्ययोरात्यन्तिको यो भेदस्तस्य घस्मर विनाशकं महः सम्यग्ज्ञानरूपं तेजः । तस्य भारो वैपुल्यम् । 'घस्मरस्तु कमरः' इति कमरः । तमोऽज्ञानान्धतमसं भिन्दन्विनाशयन्कर्तृत्वशून्यः पुद्गलपरिणामोपादानकर्तृत्वविकलः । सोऽनादेरज्ञाना-त्मकत्वेन मिथ्याज्ञानरूपेण वा परिणत एव पुमानात्मा तदाऽज्ञानान्धतमसविनाशकाले ज्ञानीभूय सम्य-ग्ज्ञानसम्पन्नो भूत्वा । अज्ञानं ज्ञान भूत्वा ज्ञानीभूय । यद्वाऽज्ञानमस्त्यस्य ज्ञानः । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयः । अज्ञानो ज्ञानी भूत्वा ज्ञानीभूय । 'च्विडाजूर्याद्यनुकरणम्' इति तिसञ्ज्ञायां 'प्यस्तिवाक्से क्त्वः' इति क्त्वात्यस्य प्यः । लसितः प्रकटीभूतः । भवतीत्यध्याहारः ।

विवेचन— जो परिणाम परिणामी के स्वरूप से व्याप्त होता है वह व्याप्य होता है और जो परिणामी अपने स्वरूप से अपने परिणाम को व्याप्त करता है—अपने स्वरूप से अपने परिणाम में अन्वित होता है वह व्यापक होता है । अतः परिणामी या उपादानकारण व्यापक होता है और परिणाम या उपादेय व्याप्य होता है । निमित्त और नैमित्तिक इनमें जो व्याप्यव्यापकभाव होता है वह बहिर्व्याप्यव्यापकभाव कहा जाता है—अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव नहीं कहा जाता । निमित्त का अभाव होनेपर नैमित्तिक की उत्पत्ति नहीं होती और निमित्त का नैमित्तिक में स्वस्वरूप अन्वय न होनेसे उन दोनों में बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का हि सद्भाव होता है । यदि निमित्त स्वरूप से नैमित्तिकभाव में अन्वित होता तो उनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव अवश्य होता, किंतु उनमें होनेवाला संबंध निमित्तनै-मित्तिकभावरूप होकर उपादानोपादेयभावरूप हो जाता । यदि कार्यद्रव्य और कारणद्रव्य इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता तो कारणद्रव्य से कार्यद्रव्य की उत्पत्ति होना असभव होनेसे कार्यद्रव्य रूप परिणति क्रिया का अभाव होनेके कारण निमित्त होनेवाली द्रव्य की कर्मरूपपरिणमनक्रिया के अनुकूलक्रिया का अभाव हो जानेसे निमित्तनैमि-त्तकभाव का अभाव हो जाता है । जिन द्रव्यों में परिणामपरिणामिभाव या उपादानोपादेयभाव होता है उन द्रव्यों में हि अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है, किंतु जिनमें परिणामपरिणामिभाव का या उपादानोपादेयभाव का

अभाव होता है उनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव नहीं होता। संसार में कार्यद्रव्य और कारणद्रव्य अनेक हैं। द्रव्यकर्म और नोकर्म ये कार्यद्रव्य हैं और जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य आदि कारणद्रव्य हैं। कर्मनोकर्मरूप कार्यद्रव्य और पुद्गलरूप कारणद्रव्य इनमें परिणामपरिणामिभाव का या उपादानोपादेयभाव का सद्भाव होनेसे उनमें अन्तर्व्याप्य–व्यापकभाव का सद्भाव अवश्य है। कर्म और नोकर्म यद्यपि कार्यद्रव्यरूप है और जीवद्रव्य यद्यपि कारणद्रव्यरूप है तो भी कर्मनोकर्म और जीवद्रव्य इनमे परिणामपरिणामिभाव का या उपादानोपादेयभाव का सद्भाव न होनेसे अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव नहीं हो सकता। जिस कार्यद्रव्य में और कारणद्रव्य में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है उसके उपादानकर्तृत्व की और उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि नहीं होती। कर्मनोकर्म जीव का परिणाम या उपादेय न होनेसे व्याप्य न होनेके कारण उसके उपादेयरूपकर्मत्व की सिद्धि नहीं होती और जीव कर्मनोकर्मरूप परिणामों का उपादानकारण न होनेसे व्यापक न होनेके कारण उसके उपादानकर्तृत्व की सिद्धि नहीं होती। इसका–रण उपादान और उपादेय इनमें अभेद होनेपर भी उनमें भेद का सद्भाव बतानेवाले अज्ञान का और निमित्त और नैमित्तिक में भेद होनेपर भी उनमें अभेद का सद्भाव बतानेवाले अज्ञान का नाश जीव की सम्यग्ज्ञान के रूप से परिणति होते हि हो जाता है। अज्ञान का नाश और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति एक हि काल में होते हैं। अर्थात् जिससमय जीव के अज्ञानभाव का नाश होता है उसीसमय सम्यग्ज्ञान का या केवलज्ञान का आविर्भाव होता है। अतः जो जीव उपादान और उपादेय में निश्चयनय की दृष्टि से अभेद का सद्भाव और निमित्त और नैमित्तिक में भेद का सद्भाव मानता है वही जीव ज्ञानी होता है। जिसके भाव इन भावों से विपरीत होते है वह जीव अज्ञानी होता है।

'पुद्गलकर्म जानतः जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभाव. किं भवति किं न भवति ?' इति चेत्–

'पुद्कर्म को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव होता है या नहीं ?' ऐसा प्रश्न हो तो–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ७६ ॥

नैव परिणमति, न गृह्णाति उत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायान्।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्म अनेकविधम् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ– [**अनेकविधम्**] मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति के रूप से जिसके भेद या प्रकार अनेक है ऐसे [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म को–उपादानकारणभूत कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जानेवाले द्रव्यकर्म को [**जानन् अपि**] विशिष्ट भेदज्ञान से जाननेवाला होनेपर भी [**ज्ञानी**] विज्ञानघनस्वभाववाली अपनी आत्मा और रागादिरूप आस्रव इनमें होनेवाले भेद को जाननेवाला अत एव सम्यग्ज्ञानसंपन्न जीव [**खलु**] परमार्थतः– निश्चयनय की दृष्टि से [**परद्रव्य–पर्यायान्**] पुद्गल के परिणामभूत द्रव्यकर्म और नोकर्म के रूप से [**न एव परिणमति**] मृत्तिका जिसप्रकार कलशरूप से परिणत होती है उसीप्रकार परिणत होता हि नही [**न (एव) गृह्णाति**] उन कर्मों को चेतनरूप से परिणमाकर अपनेमें समाविष्ट करता हि नहीं–उनके साथ तादात्म्य को प्राप्त नही होता और [**(परद्रव्यपर्यायैः) न (एव) उत्पद्यते**] अपने चैतन्यस्वभाव को त्यागकर

और पुद्गल के स्वरूप के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर परद्रव्य के अर्थात् पुद्गलद्रव्य के कर्मनो–कर्मरूप पर्यायों के रूप से परिणत भी होता हि नही ।

[गाथा में जो ' ण वि ' ऐसा पाठ है वह छायामें ' नापि ' इसप्रकार रूपांतरित किया गया है । ' अपि ' इस शब्द का प्रयोग संस्कृतभाषा में अवधारणार्थ में नहीं किया जाता । प्राकृतभाषा में वह अवधारणार्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है और यहां गाथा में अवधारणार्थ की आवश्यकता महसूस होती है । अतः सस्कृत छाया में ' एव ' यह शब्द ' अपि ' इस शब्द के स्थान में प्रयुक्त किया गया है । ' परदव्वपज्जाए ' यह पद प्राकृत में द्वितीयाविभक्ति के बहुवचन का, तृतीया विभक्ति के एकवचन का और सप्तमी विभक्ति के एकवचन का रूप होता है । वह' परिणमवि ' और गिण्हदि ' इन क्रियापदों का कर्म होनेसे ' परदव्वपज्जाए ' इस पद को द्वितीयाबहुवचनान्तरूप से लेना चाहिये । ' अर्थवशाद्विभक्तिलिङ्गवचनव्यत्यासः ' इस नियम के अनुसार अर्थ के कारण से विभक्ति, लिंग और वचन इनका परिवर्तन हो जाता है । इस नियम के अनुसार जब ' परदव्वपज्जाए ' यह पद ' उप्पज्जदि ' इस क्रियापद के साथ अन्वित किया जाता है तब उसको तृतीयाबहुवचनान्तरूप से परिवर्तित कर उसका ग्रहण करना चाहिये । उक्त नियम संस्कृतभाषाविषयक होनेपर भी ' शेषं संस्कृतवत् ' इस नियम के अनुसार उसका यहां उपयोग किया गया है ।]

आ. ख्या.– यतः अयं ऽप्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयं अन्तर्व्यापकेन भूत्वा आदिमध्यान्तेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथा उत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन् अपि हि ज्ञानी स्वयं अन्तर्व्यापकः भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिका कलशं इव आदिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथा उत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पर–द्रव्यपरिणामं कर्म अकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतः अपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृक–र्मभावः ।

त. प्रः– यतो यस्मात्कारणादयमात्मा प्राप्य प्राप्यावस्थं घटवत्कर्त्राप्यं, विकार्यं विकार्यावस्थं मृत्पिण्डवद्विकारार्हं निर्वर्त्यं निर्वर्त्यावस्थं कपालादेर्घटवन्निर्माप्यं च व्याप्यलक्षणमुपादानेन स्वस्वरूपेण व्याप्यमानत्वाद्व्याप्यस्वरूप पुद्गलपरिणामं पुद्गलोपादानकपरिणामात्मकं कर्म पुद्गलद्रव्यात्मककर्त्रा-प्यलक्षणं द्रव्यकर्म पुद्गलद्रव्येण पुद्गलस्वरूपकारणद्रव्येण स्वयमात्मनाऽन्तर्व्यापकेन स्वपरिणामे स्वरू-पेणान्वयिना भूत्वाऽऽदिमध्यान्तेषु सर्वासु विकार्यनिर्वर्त्यप्राप्यावस्थासु व्याप्य स्वस्वभावेनानुगम्य । स्वस्वरूपेण सर्वा अवस्था विगाह्येत्यर्थः । त पुद्गलद्रव्यपरिणामं गृह्णता स्वस्मिन्समावेशयता प्राप्नु-वता वा । पुद्गलद्रव्यपरिणामेन तादात्म्यमापद्यमानेनेत्यर्थः । तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकद्रव्यकर्म-स्वरूपेण परिणमता परिणममानेन तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकद्रव्यकर्मस्वरूपेणोत्पद्यमानेन सम्भवता च क्रियमाणमुत्पाद्यमानं जानन्नप्युपलभमानोऽपि हि परमार्थतो ज्ञानी चैतन्यस्वभावो भेदज्ञानस्वरूप–सम्यग्ज्ञानसम्पन्नो वा । ज्ञान प्रशस्तमस्यास्तीति ज्ञानी । अत्र प्राशस्त्ये मत्वर्थीय इनिः । स्वयमात्मना-ऽन्तर्व्यापकः परद्रव्यपरिणामस्य स्वस्वरूपेण व्यापकः सर्वतो विगाहमानो भूत्वा बहिःस्थस्य स्वस्वभावा-न्वयाभावादात्मनो बहि: पृथक्त्वेन स्थितस्य । आत्मना संयोगमापन्नत्वेऽपि ततो भिन्नत्वेन स्थितस्येत्यर्थः । बहि तिष्ठतीति बहिःस्थः । ' नखमुचादयः ' इति को नखमुचादिगणे पठितत्वात् । आत्मस्वरूपविकल-त्वादचेतनत्वदात्मना तादात्म्यमनापन्नत्वात्परद्रव्यमात्मनो भिन्नत्वेनैव स्थितम् । तस्य बहिःस्थस्य पर-

द्रव्यस्य परिणामं मृत्तिका कलशमिव यथा मृत्तिका स्वपरिणामभूतं कलशमादौ विकार्यावस्थायां मध्ये निर्वर्त्यावस्थायामन्ते प्राप्यावस्थायां च स्वस्वरूपेण व्याप्नोति तथाऽऽदिमध्यान्तेषु विकार्योत्पद्यमानोत्परूपासु सर्वास्ववस्थासु व्याप्य स्वस्वरूपेण विगाहृय । ताभिरवस्थाभिस्तादात्म्यमापद्येत्यर्थः । न तं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामं गृह्णाति स्वस्मिन्समावेशयति, न तथा परद्रव्यपरिणामात्मकत्वेन परिणमति स्वस्वरूपं परित्यज्य परिणमनक्रियाश्रयो भवति, न तथा परद्रव्यपरिणामाकारेणोत्पद्यते सम्भवति च । ततस्तस्मात्कारणाद्घटवत्प्राप्यं मृत्पिण्डवद्विकार्यं घटाकारपरिणमनाभिमुखान्तरालवर्तिकपालादिवन्निर्वर्त्यं चोपादानेन स्वस्वरूपेणानुगम्यमानत्वाद्विगाहृयमानत्वाद् व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं परद्रव्योपादानकपरिणामस्वरूप कर्म द्रव्यकर्माकुर्वाणस्याकुर्वतः पुद्गलकर्म पुद्गलोपादानकं कर्म जानतोऽप्यधिगच्छतोऽपि ज्ञानिनो भेदज्ञानवतः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः परिणामपरिणामिभाव उपादानोपादेयभावो वा ।

टीकार्थ— पुद्गल के उपादेयभूत परिणाम को अपने स्वरूप से स्वयं व्यापनेवाली होकर उसको आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् उसकी विकार्य अवस्था में, निर्वर्त्य अवस्था में और प्राप्य अवस्था में अपने स्वरूप से व्याप्त करके पुद्गल के उपादेयभूत परिणाम को अपनेमें समाविष्ट करनेवाले अर्थात् अपने साथ उसका एकीभाव करनेवाले, उसके रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेवाले और उस परिणाम के रूप से उत्पन्न-परिणत होनेवाले पुद्गलद्रव्य के द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले, पुद्गल के द्वारा व्याप्त किया जाना जिसका स्वरूप होता है ऐसे पुद्गल के परिणामरूप प्राप्य अवस्थावाले, विकार्य अवस्थावाले और निर्वर्त्य अवस्थावाले कर्म को जाननेवाली होनेपर भी यह ज्ञानी अर्थात् ज्ञानस्वभाववाली सम्यग्ज्ञानसंपन्न आत्मा पुद्गल के परिणाम को अपने स्वरूप से स्वयं व्याप्त करनेवाली होकर आत्मा से बाहर रहनेवाले अर्थात् आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त न होनेवाले पुद्गलद्रव्य के परिणाम को जिसप्रकार मृत्तिका कलश को उसकी विकार्य अवस्था में, निर्वर्त्य अवस्था में और प्राप्य अवस्था में अपने स्वरूप से व्याप्त करके अपनेमें समाविष्ट कर लेती है अर्थात् अपने साथ एकीभाव को प्राप्त कर लेती है, कलशरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होती है और कलश के रूप से उत्पन्न-परिणत होती है उसीप्रकार आत्मा पुद्गलद्रव्य के परिणाम को आदि, मध्य और अंत में अर्थात् उसकी विकार्य अवस्था में, निर्वर्त्य अवस्था में और प्राप्य अवस्था में अपने स्वरूप से व्याप्त करके उस पुद्गलद्रव्य के परिणाम को जब अपने में समाविष्ट नहीं करती अर्थात् अपने साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं होने देती, उसके स्वरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय नहीं होती और उसके रूप से उत्पन्न-परिणत नहीं होती तब पुद्गल के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जाना स्वरूप है जिसका ऐसे पुद्गलद्रव्यपरिणामस्वरूप प्राप्य अवस्थावाले, विकार्य अवस्थावाले और निर्वर्त्य अवस्थावाले कर्म को-उपादेयभूत परिणाम को उसका उपादानकर्ता होकर उत्पन्न करनेवाली ज्ञानी आत्मा का वह पुद्गलोपादानक कर्म को जाननेवाली होनेपर भी पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव-परिणामपरिणामिभाव या उपादानोपादेयभाव नहीं होता ।

विवेचन— उपादान की विशिष्टपर्याय जो कि परिणाम के रूप से परिणत होनेकी शक्ति रखती है उसे विकार्य कर्म कहते हैं । मृत्तिका यद्यपि परिणमनशील है तो भी वह पिण्डरूप से परिणत हुए बिना घटरूप से परिणत नहीं हो सकती । यह मृत्तिका का पिंड स्वयं मृत्तिका का उपादेयभूत कर्म है और घटरूप से परिणत होनेकी योग्यता-शक्ति रखता है । अतः यह मृत्तिका का पिंड विकार्यकर्म है। मृत्तिका के पिंड का कपालरूप परिणाम घट की उत्पद्यमान अवस्थारूप है और वह भी घटरूप से परिणत होनेकी शक्ति रखता है; क्यों कि वह कपाल घटरूप से परिणत होनेवाला होता है। वह कपाल घटरूप से परिणत होनेवाला होनेसे उसमें घटरूप से परिणत होनेकी शक्ति का सद्भाव होनेके कारण वह निर्वर्त्यकर्म है । कपाल मृत्तिका के पिंड का परिणाम होनेसे वह मृत्तिका के पिंड का उपादेयभूतकर्म है । पूर्णरूप से बना हुआ घट मृत्तिका का प्राप्यकर्म है । द्रव्यकर्म का उपा-

ज्ञानकारण पुद्गल का पुद्गलस्वरूपान्वित परिणाम है। पुद्गलस्वरूपान्वित होनेसे वह पुद्गल का व्याप्य है। पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्म पुद्गल का प्राप्य, निर्वर्त्य और विकार्यकर्म है। द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम को उसकी विकार्यरूप आद्य अवस्था में, निर्वर्त्यरूप मध्य अवस्था में और प्राप्यरूप अत्य अवस्था में पुद्गलद्रव्य अपने स्वरूप से व्याप्त करता है और उस परिणाम को व्याप्त करके वह स्वजातीय होनेसे उसको अपनेमें समाविष्ट कर लेता है–अपने साथ तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है, उसरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता है और उसरूप से उत्पन्न होता है। इसप्रकार द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम का उपादानकर्ता पुद्गल हि है ऐसा सम्यग्ज्ञानी आत्मा जानती है। यद्यपि ज्ञानी आत्मा 'द्रव्यकर्म पुद्गलोपादानक है' इसप्रकार के ज्ञान से संपन्न होती है तो भी उस कर्मरूप पुद्गलपरिणाम में अपने चैतन्यस्वरूप से अन्वित नहीं होती। अपने स्वरूप से अन्वित न होनेसे वह उस पुद्गलपरिणाम को व्यापनेवाली नहीं होती। परद्रव्य का अर्थात् पुद्गलद्रव्य का द्रव्यकर्मरूप परिणाम चेतनान्वित न होनेसे और अचेतन होनेसे आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त न होनेके कारण आत्मा के साथ संयुक्त होनेपर भी आत्मा से भिन्न हि होता है–आत्मा के बाहर हि रहता है। जब वह आत्मा के साथ एकरूप न होकर उसके बाहर रहता है तब उसको आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकती। जब परिणाम और परिणामी इनकी जाति एक-अभिन्न होती है तब हि परिणामी अपने स्वरूप से परिणाम को व्याप्त करता है। परिणामी मृत्तिका और परिणामभूत घट इनकी मृत्तिकास्वरूप जाति एक–अभिन्न होनेसे अपने कलशरूप परिणाम को उसके आदि, मध्य और अंत में अर्थात् विकार्यरूप, निर्वर्त्यरूप और प्राप्यरूप अवस्थाओं में अपने स्वरूप से व्याप्त करती है और उसको अपनेमें समाविष्ट कर लेती है, उसके रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होती है और उस कलशरूपपरिणाम के रूप से उत्पन्न होती है। आत्मा की और द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम की जाति एक नही होती; क्यों कि आत्मा की जाति चैतन्यस्वरूप होती है और पुद्गलपरिणाम की जाति अचेतन–जडस्वरूप होती है। अतः आत्मा और द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम भिन्नजातीय होनेसे द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम को अपने चैतन्यरूप से व्याप्त नहीं कर सकती। द्रव्यकर्मात्मक पुद्गलपरिणाम को आत्मा जब अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकती तब वह द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम को अपनेमे समाविष्ट नहीं कर सकती, उसरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय नहीं हो सकती और पुद्गलपरिणाम के रूप से उत्पन्न भी नहीं हो सकती अर्थात् उसके रूप मे परिणत नहीं हो सकती। जब चैतन्यस्वभाववाली आत्मा द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम के रूप से परिणत होती हि नहीं तब पुद्गलद्रव्य के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त होनेका स्वभाव है जिसका ऐसे द्रव्यकर्मात्मक पुद्गलपरिणामरूप प्राप्यादि अवस्थावाले कर्म की उत्पत्ति न करनेवाली ज्ञानस्वभाववाली आत्मा, वह पुद्गल के परिणामभूत द्रव्यकर्म को जाननेवाली होनेपर भी, पुद्गल की अर्थात् पुद्गल के परिणाम की कर्ता नहीं हो सकती है और न पुद्गल के परिणाम उसके उपादेयभूत कर्म हो सकते है। सारांश, पुद्गलपरिणाम में आत्मा के चैतन्यात्मक स्वरूप से अन्वय का सद्भाव न होनेसे परिणाम आत्मा का विकार्यकर्म नहीं है, निर्वर्त्यकर्म नही है और प्राप्यकर्म भी नहीं है।

'स्वपरिणामं जानतः जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवति?' इति चेत्–

'अपने परिणाम को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव–उपादानोपादेयभाव होता है या नहीं?' ऐसा प्रश्न हो तो–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥ ७७ ॥

नैव परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायान्।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ– [**अनेकविध स्वकपरिणामं**] उपादानकारणभूत अपनी आत्मा के द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले संकल्पविकल्परूप ऐसे क्षायोपशमिकज्ञानात्मक अपने अनेकप्रकारक (जिसके प्रकार या भेद अनेक होते है ऐसे) परिणाम को [**जानन् अपि**] 'अपनी परमात्मा से वे परिणाम भिन्न है' इस–प्रकार विशिष्ट भेदज्ञान के द्वारा जाननेवाली होनेपर भी [**ज्ञानी**] ज्ञानस्वभाववाली स्वसंवेदनज्ञान-संपन्न आत्मा [**खलु**] परमार्थतः– निश्चयनय की दृष्टि से [**परद्रव्यपर्यायान्**] पुद्‌गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मरूप पर्यायो के रूप से [**न एव परिणमति**] परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होती हि नही, [**न (एव) गृह्णाति**] पुद्‌गलोपादानक द्रव्यकर्मरूप परिणामों को अपनेमे समाविष्ट करती हि नहीं और [**(परद्रव्यपर्यायैः) न (एव) उत्पद्यते**] पुद्‌गलोपादानक द्रव्यकर्मरूप परिणामों के रूप से उत्पन्न होती हि नही–उन परिणामो के रूप से परिणत होती हि नही ।

आ. ख्या.– यतः अयं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं आत्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयं अन्तर्व्यापकेन भूत्वा आदिमध्यान्तेषु व्याप्य तं गृह्णता परिणमता तथा उत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन् अपि हि ज्ञानी स्वयं अन्तर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिका कलशं इव आदिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथा उत्पद्यते च ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्म अकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतः अपि ज्ञानिनः पुद्‌गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

त. प्र.– यतो यस्मात्कारणादयमात्मा प्राप्यं मृत्तिकया घटवत्कर्त्राऽऽप्यं, विकार्यं मृत्पिण्डवत्का–र्यरूपविकारार्हं कपालादेर्घटवन्निर्माप्यं च व्याप्यलक्षणमुपादानभूतेनाज्ञानिजीवेन स्वस्वरूपेण व्याप्यमान-त्वाव्द्याप्यलक्षणं व्याप्यस्वरूपमात्मपरिणाममात्मोपादानकपरिणामात्मकं कर्मात्मद्रव्यात्मककर्त्राप्यलक्षणं कर्मात्मोपादानभूतकारणद्रव्येण स्वयमात्मनाऽन्तर्व्यापकेन स्वपरिणामे स्वस्वरूपेणान्वयिना भूत्वाऽऽदि–मध्यान्तेषु विकार्यनिर्वर्त्यप्राप्यावस्थासु व्याप्य स्वस्वभावेनानुगम्य । विगाह्येत्यर्थः । तमात्मपरिणाम गृह्णता स्वस्मिन्समावेशयता । तादात्म्यमापाद्यमानेनेत्यर्थः । तथाऽऽत्मद्रव्यपरिणामात्मकत्वेन परिणमता परिणममानेन । आत्मद्रव्यपरिणामोत्पत्त्यनुरूपपरिणतिक्रियोत्पत्त्याश्रयीभवतेत्यर्थः । तथाऽऽत्मद्रव्यपरि–णामस्वरूपेणोत्पद्यमानेन सम्भवता च क्रियमाणमुत्पाद्यमानं जानन्नप्युपलभमानोऽपि हि परमार्थतो ज्ञानी चैतन्यस्वभावो भेदज्ञानस्वरूपसम्यग्ज्ञानसम्पन्नो निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानसम्पन्नो वा । ज्ञानमस्या-स्तीति नित्ययोगे ज्ञान प्रशस्तमस्यास्तीति प्राशस्त्ये वा मत्वर्थीय इनिः । स्वयमात्मनाऽन्तर्व्यापकः पर–द्रव्यपरिणामस्य स्वस्वरूपेण व्यापको विगाहमानः । परद्रव्यपरिणामव्यापनक्रियोत्पत्त्याश्रयीभूय व्यापकः परद्रव्यपरिणाम सर्वतः स्वस्वरूपेण विगाहमान इत्यर्थः । भूत्वा बहिःस्थस्य स्वस्वभावान्वयाभावादा–त्मनो बहिः पृथक्त्वेन । आत्मनो भिन्नत्वेनेत्यर्थः । स्थितस्य । स्थायिन इत्यर्थः । आत्मस्वरूपविकल–त्वादचेतनत्वादात्मना तादात्म्यमनापन्नत्वात्परद्रव्यमात्मना संयोगमापन्नमप्यात्मनो भिन्नत्वेनैव स्थायिनः । तस्य बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिका कलशमिव यथा मृत्तिका कलशमादौ विकार्यावस्थायां मध्ये निर्वर्त्यावस्थायामन्ते प्राप्यावस्थायां च स्वस्वरूपेण व्याप्नोति तथाऽऽदिमध्यान्तेषु विकार्योत्पद्य–मानोत्पन्नरूपास्ववस्थासु व्याप्य विगाह्य न तं परद्रव्यस्य परिणामं गृह्णाति स्वेन तादात्म्यमापाद्य स्वस्मिन्समावेशयति, न तथा परद्रव्यपरिणामात्मकत्वेन परिणमति परद्रव्यात्मकपरिणामोत्पत्त्यनुरूप–

परिणतिक्रियोत्पत्त्याश्रयीभवति, न तथा परद्रव्यपरिणामाकारेणोत्पद्यते सम्भवति च । ततस्तस्मात्कारणान्मृत्तिकाया घटवत्प्राप्यं मृत्पिण्डवद्विकार्यं कपालादिवन्निर्वर्त्यं चोपादानेन स्वस्वरूपेणानुगम्यमानत्वाद्विगाह्यमानत्वाद्व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं परद्रव्योपादानकपरिणामस्वरूपं कर्म पुद्गलकर्माकुर्वाणस्याकुर्वतः स्वपरिणामं जानतोऽप्यधिगच्छतोऽपि ज्ञानिनो भेदज्ञानवतः पुद्गलेन सह कर्तृकर्मभावः परिणामपरिणामिभाव उपादानोपादेयभावो वा । आत्मा परद्रव्यपरिणामस्योपादानकर्ता न भवति परद्रव्यपरिणामश्चात्मन उपादेयभूतं कर्म भवतीति भावः ।

टीकार्थ— आत्मा के अर्थात् अपने उपादेयभूत कर्मसंज्ञक परिणाम को अपने स्वरूप से स्वयं व्याप्त करनेवाली होकर उसको आदि मध्य और अंत में अर्थात् उसकी विकार्य अवस्था में, निर्वर्त्य अवस्था में और प्राप्य अवस्था में अपने स्वरूप से व्याप्त करके अपने परिणाम को अपनेमें समाविष्ट करनेवाली, अपने परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेवाली और अपने परिणाम के रूप से उत्पन्न होनेवाली आत्मा के द्वारा किये जानेवाले, आत्मा के द्वारा व्याप्त किया जाना जिसका स्वरूप होता है ऐसे आत्मा के (अपने) परिणामस्वरूप प्राप्य अवस्थावाले विकार्य अवस्थावाले और निर्वर्त्य अवस्थावाले कर्म को जाननेवाली होनेपर भी यह ज्ञानी अर्थात् ज्ञानस्वभाववाली या सम्यग्ज्ञानसंपन्न आत्मा पुद्गल के परिणाम को अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाली होकर आत्मा से बाहर रहनेवाले अर्थात् आत्मा के साथ तादात्म्य को प्राप्त न होनेवाले पुद्गलद्रव्य के परिणाम को जिसप्रकार मृत्तिका अपने उपादेयभूतपरिणामस्वरूप कलश को उसकी विकार्य अवस्था में, निर्वर्त्य अवस्था में और प्राप्य अवस्था में व्याप्त करके अपनेमें समाविष्ट कर लेती है, कलश के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होती है और कलश के रूप से—आकार से उत्पन्न-परिणत होती है उसीप्रकार आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् उसकी विकार्य अवस्था में, निर्वर्त्य अवस्था में और प्राप्य अवस्था में अपने स्वरूप से व्याप्त करके उस परद्रव्य के परिणाम को जब अपनेमें समाविष्ट नहीं करती, उसके रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय नहीं होती और उसके रूप से उत्पन्न-परिणत नहीं होती तब परद्रव्य के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जाना स्वरूप है जिसका ऐसे परद्रव्यपरिणामस्वरूप प्राप्य अवस्थावाले, विकार्य अवस्थावाले और निर्वर्त्य अवस्थावाले कर्म को न करनेवाली ज्ञानी आत्मा का वह पुद्गलकर्म को जाननेवाली होनेपर भी पुद्गलद्रव्य के साथ कर्तृकर्मभाव (परिणामपरिणामिभाव या उपादानोपादेयभाव) नहीं है ।

विवेचन - जो कार्यद्रव्य अपने उपादानभूत कारणद्रव्य की जाति को—स्वरूप को छोडता नहीं वह उस कारणद्रव्य का उपादेयभूत परिणाम कहा जाता है । आत्मा का परिणाम आत्मा की जाति को—स्वरूप को छोडता नहीं । अतः उसमें आत्मा का स्वरूप से अन्वय पाया जानेसे वह परिणाम आत्मा का उपादेय होता है और इसलिये वह आत्मस्वामिक कहा जाता है । अपने परिणाम को उसकी विकार्यरूप आद्य अवस्था में, निर्वर्त्यरूप मध्य अवस्था में और प्राप्यरूप अंत्य अवस्था में आत्मद्रव्य अपने स्वरूप से व्याप्त करता है और उस परिणाम को व्याप्त करके वह स्वजातीय होनेसे अपनेमें समाविष्ट कर लेता है, उस परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का स्वयं आश्रय होता है और उसरूप से उत्पन्न-परिणत होता है । इसप्रकार अपने उपादेयभूत परिणाम का उपादानकर्ता स्वयं आत्मद्रव्य हि होता है ऐसा सम्यग्ज्ञानी-भेदज्ञानी-स्वसंवेदनज्ञानी आत्मा जानती है । यद्यपि ज्ञानी आत्मा 'आत्मपरिणाम आत्मोपादानक होता है' इसप्रकार के ज्ञान से संपन्न होती है तो भी वह पुद्गलद्रव्य के परिणाम में अपने चैतन्यस्वरूप से अन्वित नहीं होती । अपने स्वरूप से अन्वित न होनेसे वह उस परद्रव्य के परिणाम को व्याप्त करनेवाली नहीं होती । परद्रव्य का अर्थात् पुद्गलद्रव्य का परिणाम चेतनान्वित न होनेसे और अचेतन होनेसे आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त न होनेके कारण आत्मा के साथ संयुक्त होनेपर भी आत्मा से भिन्न हि होता है-आत्मा के बाहर हि रहता है । जब वह आत्मा के साथ एकरूप न होकर उसके बाहर रहता है तब उसको आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकती । जब परिणामी और परिणाम एकरूप-अभिन्न होते हैं तब हि

परिणामी अपने स्वरूप से परिणाम को व्याप्त करता है। परिणामी मृत्तिका और परिणामभूत घट इनकी जाति एक-अभिन्न होनेसे अपने कलशरूप परिणाम को उसके आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् उसको विकार्य, निर्वर्त्य और प्राप्य अवस्थाओं में अपने स्वरूप से व्याप्त करती है और उसको अपनेमें समाविष्ट कर लेती है, उसके रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होती है और उस घटरूप परिणाम के रूप से उत्पन्न अर्थात् परिणत होती है। आत्मा की और पुद्गलपरिणाम की जाति एक नहीं होती ; क्यों कि आत्मा की जाति चेतनरूप होती है और पुद्गलपरिणाम की जाति अचेतनरूप होती है। अतः आत्मा और पुद्गलपरिणाम भिन्नजातीय होनेसे आत्मा पुद्गलपरिणाम को अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकती। पुद्गलपरिणाम को आत्मा जब अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकती तब वह पुद्गलपरिणाम को अपनेमें समाविष्ट नहीं कर सकती, उसरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय नहीं हो सकती और पुद्गलपरिणाम के रूप से उत्पन्न अर्थात् परिणत भी नहीं हो सकती। जब चैतन्यस्वभाववाली आत्मा पुद्गल के परिणाम के रूप से परिणत होती हि नहीं तब पुद्गलद्रव्य के द्वारा उसके स्वरूप से व्याप्त होनेका स्वभाव है जिसका ऐसे प्राप्यादिलक्षण पुद्गलपरिणाम की उत्पत्ति न करनेवाली ज्ञानस्वभाववाली आत्मा पुद्गलद्रव्य के परिणाम को जाननेवाली होनेपर भी पुद्गल की या पुद्गलपरिणाम की उपादानकर्ता नहीं हो सकती है और पुद्गल के परिणाम उसके उपादेयभूत कर्म नहीं हो सकते हैं।

'पुद्गलकर्मफलं जानतः जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवति?' इति चेत्—

'पुद्गलकर्म के फल को अर्थात् पुद्गलकर्म की जीव की विभावपरिणतिजननसामर्थ्य को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव—उपादानोपादेयभाव होता है या नहीं?' ऐसा प्रश्न हो तो—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ७८ ॥

नैव परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायान्।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनन्तम् ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ— [**अनन्तं पुद्गलकर्मफलं**] उदय को प्राप्त हुए द्रव्यकर्म की अज्ञानी जीव का सुख-दुःख देनेकी अर्थात् उसको सुखदुःखरूप से परिणत करनेकी निमित्तकारणभूत जो शक्ति उस शक्तिरूप फल को—परिणाम को [**खलु**] परमार्थतः [**जानन् अपि**] निर्मलविवेकरूप भेदज्ञान के द्वारा जानने-वाली होनेपर भी शुद्धात्मस्वरूप को अनुभूति से उत्पन्न हुए सुख का अनुभव करनेवाली भेदज्ञानी आत्मा [**पुद्गलद्रव्यपर्यायान्**] सुखदुःखप्रदानादिविनियवत पुद्गलद्रव्य के परिणामरूप द्रव्यकर्म के रूप से [**नैव परिणमति**] परिणत होनेका क्रिया का आश्रय होती हि नहीं, [**न (एव) गृह्णाति**] द्रव्य-कर्म विजातोय होनेसे उसमें अपने स्वरूप के अन्वय का अभाव होनेके कारण उसको अपनेमें समाविष्ट करती हि नहीं—उसको अपने साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं होने देती—उसका स्वामी होती हि नहीं और [**न (एव पुद्गलद्रव्यपर्यायैः) उत्पद्यते**] पुद्गलद्रव्य की पर्यायों के रूप से—द्रव्यकर्म के रूप से उत्पन्न-परिणत होती हि नहीं।

आ. ख्या.— यतः अयं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्—

गलकर्मफलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयं अन्तर्व्यापकेन भूत्वा आदिमध्यान्तेषु व्याप्य तत् गृह्-णता तथा परिणमता तथा उत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन् अपि हि ज्ञानी स्वयं अन्त-र्व्यापकः भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणाम मृत्तिका कलशं इव आदिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति, न तथा परिणमति, न तथा उत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्म अकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतः अपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभाव. ।

त. प्र– यतो यस्मात्कारणादयमात्मा प्राप्यं प्राप्यावस्थं विकार्यं विकार्यावस्थं निर्वर्त्यं निर्वर्त्या-वस्थं च व्याप्यलक्षणमुपादानस्वरूपपुद्गलकर्मात्मककर्त्रा स्वस्वरूपेण व्याप्यमानत्वस्वरूप सुखदुःखादि-स्वरूपमज्ञानिजीवस्य सुखदुःखादिविभावभावात्मकपरिणामोत्पत्तेर्निमित्तकारणभूतत्वात्कारणे कार्योपचा-रात्सुखदुःखादिसञ्ज्ञकं पुद्गलपरिणामभूतशक्तिविशेषमुपादानस्वरूपद्रव्यकर्मकर्त्राप्यलक्षणं कर्म पुद्गल-द्रव्येणोपादानकर्त्रा स्वयमात्मनाऽन्तर्व्यापकेन स्वपरिणामभूतत्वात्स्वरूपेणान्वयिना भूत्वाऽऽदिमध्यान्ते-ष्वादौ विकार्यावस्थायां मध्ये निर्वर्त्यावस्थायामन्ते च प्राप्यावस्थायां व्याप्य स्वस्वरूपेण विगाह्य तत्पुद्गलकर्मफलं साजात्याद्गृह्णता स्वस्मिन्समावेशयता । आत्मना तादात्म्यमापादयतेत्यर्थः । तथा पुद्गलपरिणामफलत्वेन परिणमता पुद्गलपरिणामफलस्वरूपपरिणतिक्रियोत्पत्त्याश्रयीभवता तथा पुद्गलपरिणामफलस्वरूपेणोत्पद्यमानेन सम्भवता च क्रियमाणमुत्पाद्यमानं जानन्नपि विगलितमलामल-विज्ञानात्मकभेदज्ञानेनोपलभमानोऽपि हि परमार्थतो ज्ञानी ज्ञानस्वभावः स्वसंवेदनरूपसम्यग्ज्ञानसम्पन्नो व्यपगतरागादिदोषशुद्धात्मसंवेदनसमुपजातस्वाभाविकसुखसुधारसपीतिसमुत्पन्नपरितोषो व्युच्छिन्नसंशयो भेदज्ञानी स्वयमात्मना अन्तर्व्यापको भूत्वा पुद्गलकर्मफलात्मकपरिणामस्य स्वस्वरूपेण व्यापकः सर्वतो विगाहमानः । तादात्म्यमापाद्यमान इत्यर्थः । भूत्वा बहिःस्थस्य स्वस्वभावान्वयाभावादात्मनो बहिः पृथक्त्वेन । आत्मनो भिन्नत्वेनेत्यर्थः । तिष्ठतः । आत्मस्वरूपविकलत्वादचेतनत्वादात्मना तादात्म्यम-नापन्नत्वात्परद्रव्यमात्मना संयोगमापन्नमप्यात्मनो भिन्नत्वेनैव स्थितम् । तस्य बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य पुद्गलकर्मणः परिणामं मृत्तिका कलशमिव यथा मृत्तिका कलशमादौ विकार्यावस्थायां, मध्ये निर्वर्त्या-वस्थायामन्ते प्राप्यावस्थायां च स्वस्वरूपेण व्याप्नोति कलश च स्वजातीयत्वात्स्वस्मिन्समावेशयति कलशपरिणामात्मकपरिणतिक्रियोत्पत्त्याश्रयीभवति कलशात्मकपरिणामस्वरूपेण चोत्पद्यते परिणता भवति । तथाऽऽदिमध्यान्तेषु विकार्योत्पद्यमानोत्पन्नरूपासु सर्वास्वप्यवस्थासु व्याप्य स्वस्वरूपेणावगाह्य न त पुद्गलकर्मणः फलात्मक परिणाम गृह्णाति तस्य स्वजातीयत्वेन त स्वस्मिन्समावेशयति, न तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकफलत्वेन परिणमति स्वस्वरूपं परित्यज्य पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकफलस्वरूपपरि-णतिक्रियोत्पत्त्याश्रयीभवति, न तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकफलस्वरूपेणोत्पद्यते सम्भवति च । तद्रूपेण परिणमतीत्यर्थः । ततस्तस्मात्कारणात्प्राप्यं घटवन्मृत्तिकायाः पुद्गलकर्मणः प्राप्यं, विकार्यं मृत्पिण्डव-न्मृत्तिकाया पुद्गलकर्मणो विकार्यं, निर्वर्त्यं कपालादिवन्मृत्तिकायाः पुद्गलकर्मणो निर्वर्त्यं चोपादानभूत-द्रव्यकर्मणा स्वस्वरूपेणाऽनुगम्यमानत्वाद्विगाह्यमानत्वाद्व्याप्यलक्षण परद्रव्यपरिणाम परद्रव्योपादानक-परिणामस्वरूपं कर्माऽकुर्वाणस्याऽकुर्वतः सुखदुःखादिरूपाज्ञानिजीवविभावभावजननशक्तिरूपं पुद्गलकर्म-फल पुद्गलकर्मणः परिणामं जानतोऽप्यधिगच्छतोऽपि ज्ञानिन सम्यग्ज्ञानात्मकभेदज्ञानवतः पुद्गलेन सह

न कर्तृकर्मभावः परिणामपरिणामिभाव उपादानोपादेयभावो वा । आत्मा पुद्गलकर्मपरिणामस्य सुख-दुःखाद्यात्मकज्ञानिजीवविभावपरिणामजननपुद्गलकर्मशक्त्यात्मकफलस्योपादानकर्ता न भवति, पुद्गल-कर्मपरिणामस्वात्मन उपादेयभूतं कर्म न भवतीति भावः ।

टीकार्थ— पुद्गलकर्म के उपादेयभूत फलरूप परिणामभूत (आप्य) कर्म को अपने स्वरूप से स्वयं व्यापने-वाला होकर उसके आदि, मध्य और अंत में अर्थात् उसकी विकार्य अवस्था में, निर्वर्त्य अवस्था में और प्राप्य अवस्था में अपने स्वरूप से व्याप्त करके पुद्गलकर्म के उपादेयभूत फलरूप परिणाम को अपनेमें समाविष्ट करनेवाले, उस पुद्गलकर्म के उपादेयभूत फलरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होनेवाले और उस पुद्गल कर्म के उपादेयभूत फलरूप परिणाम के रूप से उत्पन्न-परिणत होनेवाले पुद्गल कर्म के द्वारा किये जानेवाले, पुद्गल कर्म के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जाना जिसका स्वरूप होता है ऐसे पुद्गलकर्म के फलात्मक परिणामरूप प्राप्य अवस्थावाले, निर्वर्त्य अवस्थावाले और विकार्य अवस्थावाले फलात्मक परिणामरूप कर्म को (आप्यकर्म को) जाननेवाली होनेपर भी यह ज्ञानी अर्थात् ज्ञानस्वभाववाली भेदज्ञानभूत सम्यग्ज्ञान से संपन्न आत्मा पुद्गल कर्म के परिणाम को अपने स्वरूप से स्वय व्याप्त करनेवाली होकर आत्मा के बाहर रहनेवाले पुद्गल कर्म के परिणाम को जिसप्रकार मृत्तिका अपने उपादेयभूत कर्मरूप कलश को उसकी विकार्य अवस्था में, निर्वर्त्य अवस्था मे और प्राप्य अवस्था में व्याप्त करके अपनेमें समाविष्ट कर लेती है अर्थात् अपने साथ तादात्म्य को प्राप्त कर लेती है, कलश रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होती है और कलश के रूप से उत्पन्न-परिणत होती है उसीप्रकार उसके आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् उसकी विकार्य अवस्था में, निर्वर्त्य अवस्था में और प्राप्य अवस्था में अपने स्वरूप से व्याप्त करके उस पुद्गल कर्म के परिणाम को जब अपने में समाविष्ट नही करती अर्थात् अपने साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं होने देती, उस पुद्गलकर्म के परिणाम के रूप मे परिणत होने की क्रियाकी उत्पत्ति का आश्रय नहीं होती और उस पुद्गल कर्म के परिणाम के रूप से उत्पन्न-परिणत नही होती तब पुद्गलके द्वारा व्याप्त किया जाना स्वरूप है जिसका ऐसे पुद्गल कर्म के फलस्वरूप की प्राप्य अवस्थावाले, विकार्य अवस्थावाले और निर्वर्त्य अवस्थावाले फलरूप-परिणामरूप कर्म की-उपादेयभूत परिणाम को उत्पन्न न करनेवाली भेद-ज्ञानरूपसम्यग्ज्ञानसंपन्न आत्मा का वह पुद्गलकर्म के परिणामभूत फल को जाननेवाली होनेपर भी पुद्गलकर्म के फलरूप परिणाम के साथ कर्तृकर्मभाव अर्थात् परिणामपरिणामिभाव या उपादानोपादेयभाव नहीं होता ।

विवेचन— यहां पुद्गलकर्म के परिणामों के रूप से सुखदुःखादिरूप परिणामों का जो उल्लेख पाया जाता है वे सुखदुःखादिरूप परिणाम आत्मा के उपादेयरूप परिणाम नहीं है; क्यों कि पुद्गलद्रव्य को अपने स्वरूप से उनको व्याप्त करनेवाला बताया है-आत्मा को नही बताया । अत सुखदुःखादिरूप परिणाम पुद्गलकर्म-स्वाभिक होनेसे अज्ञानी जीव की सुखदुःखादिरूप से होनेवाली परिणति में निमित्तकारण होनेवाली पुद्गलकर्म-की शक्तिरूप हैं। यदि वे अज्ञानी आत्मा के विभावभावात्मक परिणाम होते तो अज्ञानी आत्मा को हि उनके उपादानकारण के रूप से बताया जाता । अतः यहां निर्दिष्ट किये गये सुखदुःखादिरूप परिणाम पुद्गल की शक्तिरूप हैं । पुद्गल की इन शक्तिरूप परिणामो में और पुद्गल में या पुद्गलकर्म में शक्तिशक्तिमद्भाव होनेसे उनमें तादात्म्य है-भेद का अभाव है । पुद्गल कर्म के इस परिणाम को उसकी विकार्यरूप आद्य अवस्था में, निर्वर्त्यरूप मध्य अवस्था में और प्राप्यरूप अंत्य अवस्था में पुद्गलकर्म अपने स्वरूप से व्याप्त करता है और उस परिणाम को व्याप्त करके वह स्वजातीय होनेसे अपनेमें समाविष्ट कर लेता है-अपने साथ तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है, उन परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होता है और उन परिणामो के रूप से उत्पन्न-परिणत होता है । इसप्रकार अपने उपादेयभूत परिणामों का उपादानकर्ता स्वयं

पुद्गलकर्म हि है-आत्मा नहीं ऐसी भेदज्ञानात्मकसम्यग्ज्ञानसंपन्न आत्मा अपने भेदज्ञान के द्वारा जानती है। यद्यपि भेदज्ञानात्मकसम्यग्ज्ञानसंपन्न आत्मा 'पुद्गलकर्म के परिणाम पुद्गलकर्मोपादानक होते हैं-आत्मोपादानक नहीं होते' इसप्रकार के ज्ञान से संपन्न होती है तो भी वह पुद्गलकर्म के परिणामों में अपने चैतन्यस्वरूप से अन्वित नहीं होती। उन पुद्गलकर्म के परिणामों में अपने चैतन्यस्वरूप से अन्वित न होनेसे वह उन पुद्गलकर्म के परिणामों को व्यापनेवाली नहीं होती। जीव के सुखदुःखादिरूप परिणामों की उत्पत्ति होनेमें निमित्तकारण होनेवाले पुद्गलकर्म के सुखदुःखादिसंज्ञक शक्तिरूप परिणाम आत्मस्वभावभूतचेतनान्वित न होनेसे और अचेतन होनेसे आत्मा के साथ एकीभाव को-तादात्म्य को प्राप्त न होनेके कारण आत्मा के साथ पुद्गलकर्मों का सयोग होनेपर भी आत्मा से भिन्न हि होते हैं-आत्मा के बाहर हि रहते हैं। जब वे आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त न होनेसे उसके बाहर हि रहते हैं तब उनको आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकती। जब परिणाम और परणामी एकरूप-अभिन्न होते हैं तब परिणामी अपने परणामों को व्याप्त करता है। परिणामी मृत्तिका और उसका परिणामभूत कलश इनकी जाति एक-अभिन्न होनेसे मृत्तिका अपने कलशरूप परिणाम को उसके आदि, मध्य और अंत में अर्थात् उसकी विकार्य, निर्वर्त्य और प्राप्य अवस्थाओं में अपने स्वरूप से व्याप्त करती है और उसको अपनेमें समाविष्ट कर लेती है अर्थात् अपने साथ तादात्म्य को प्राप्त कर लेती है, उसके रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होती है और उस कलशरूप परिणाम के रूप से उत्पन्न अर्थात् परिणत होती है। आत्मा को और पुद्गलकर्म की जाति एक नहीं होती; क्यों कि आत्मा की जाति चेतनरूप होती है और पुद्गल की जाति अचेतनरूप होती है। अत आत्मा और पुद्गल भिन्नजातीय होनेसे आत्मा पुद्गलकर्म को अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकती। सुखदुःखादिरूप परिणाम पुद्गलकर्म की शक्तिरूप होनेसे उनका पुद्गलकर्म के साथ तादात्म्य होनेसे उन पुद्गलकर्म के परिणामों को भी आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकती। पुद्गलकर्म को आत्मा जब अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकती तब वह पुद्गलकर्म के परिणामों को अपनेमें समाविष्ट नहीं कर सकती, उन परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय नहीं हो सकती और पुद्गलकर्म की शक्तिरूप सुखदु खादिरूप परिणामों के रूप से उत्पन्न अर्थात् परिणत नहीं हो सकती। जिनमें सहानवस्थानरूप विरोध होता है ऐसे चेतनस्वभाव का और अचेतनस्वभाव का पुद्गलद्रव्य के साथ या आत्मद्रव्य के साथ तादात्म्य-अभेद नहीं हो सकता। उसीप्रकार एक द्रव्य का अपने स्वभाव का त्याग करके अन्य-विजातीय द्रव्य के स्वभाव के रूप से परिणत होना भी असंभव है। अग्नि में सहानवस्थायी औष्ण्यधर्म का और शैत्यधर्म का एकसाथ सद्भाव नहीं हो सकता और अग्नि अपने औष्ण्य-धर्म को त्यागकर शैत्यधर्म के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर जलरूप से परिणत नही होती। इसप्रकार चैतन्यात्मक-सुखदुःखादिरूपधर्म का और अचेतनात्मकसुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्म के धर्म का उनमें सहानवस्थानविरोध होनेसे आत्मा के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता और आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव को त्यागकर अचेतन-धर्म के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर पुद्गलकर्म के परिणाम के रूप से या पुद्गल के रूप से परिणत नहीं हो सकती। जब चैतन्यस्वभाववाली आत्मा पुद्गलकर्म के परिणाम के रूप से परिणत होती हि नहीं तब पुद्गलकर्म के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जानेका स्वभाव है जिसका ऐसे प्राप्यादिसंज्ञक अवस्थावाले पुद्गलकर्म के परिणामो की उत्पत्ति न करनेवाली ज्ञानस्वभाववाली आत्मा पुद्गलकर्म के परिणामों की उपादानकर्ता नहीं हो सकती है और पुद्गलकर्म के परिणाम उसके उपादेयभूत कर्म नहीं हो सकते।

'जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं च अजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवति?' इति चेत्—

'जीवपरिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जाननेवाले पुद्गल-द्रव्य का कर्म के साथ कर्तृकर्मभाव-उपादानोपादेयभाव होता है या नहीं?' ऐसा प्रश्न हो तो—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥ ७९ ॥

नैव परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायान् ।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैः भावैः ॥७९॥

अन्वयार्थ– [**तथा**] जिसप्रकार आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव को त्यागकर और पुद्गलद्रव्य के अचेतन स्वभाव के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर पुद्गलद्रव्य के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय नही होती, विजातीय द्रव्य होनेसे पुद्गल को अपनेमे समाविष्ट नही करती और पुद्गलद्रव्य के रूप से उत्पन्न-परिणत नही होती, उसीप्रकार अपने अचेतनस्वभाव को त्यागकर और आत्मद्रव्य के चेतनस्वभाव के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर [**पुद्गलद्रव्यं अपि**] पुद्गलद्रव्य भी [**परद्रव्यपर्यायान्**] परद्रव्य की अर्थात् आत्मद्रव्य की पर्यायों के रूप से [**नैव परिणमति**] परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय नहीं होता, वे पर्याये विजातीयद्रव्योपादानक होनेसे अर्थात् आत्मद्रव्योपादानक होनेसे उनमें अपने अचेतन स्वभाव का अन्वय न होनेके कारण उन परद्रव्य की अर्थात् आत्मद्रव्य की पर्यायों को [**न (एव) गृह्णाति**] अपनेमे समाविष्ट करता हि नही अर्थात् आत्मद्रव्य के पर्यायों के साथ एकीभाव को प्राप्त नही होता और (**परद्रव्यपर्यायैः**) परद्रव्य को–आत्मा की उन पर्यायो के रूप से [**न (एव) उत्पद्यते**] उत्पन्न–परिणत होता हि नही, किंतु [**स्वकैः भावैः**] अपने क्रमभावी द्रव्यकर्मादिपर्यायो के रूप मे [**परिणमति**] परिणत होता है ।

आ. ख्या.– यत जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं च अपि अजानत् पुद्गलद्रव्यं स्वयं अन्तर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिका कलशं इव आदिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथा उत्पद्यते च, किन्तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्व-भावं कर्म अन्तर्व्यापकं भूत्वा आदिमध्यान्तेषु व्याप्य तं एव गृह्णाति तथा एव परिणमति तथा एव उत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्म अकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं च अजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

त प्र.– यतो यस्मात्कारणाज्जीवपरिणामं जीवोपादानकं परिणामं स्वपरिणामं पुद्गलोपादानकं परिणामं स्वपरिणामफलं पुद्गलोपादानकं द्रव्यकर्मणः सुखदुःखादिरूपाज्ञानिजीवविभावपरिणतिजननशक्तिरूपं फलं चाप्यज्ञानादनुपलभमानं पुद्गलद्रव्यं स्वयमात्मना स्वरूपेणान्तर्व्यापकं स्वपरिणामभूतत्वादन्वयि विगाहमानं वा भूत्वा परद्रव्यस्य पुद्गलद्रव्यभिन्नात्मद्रव्यस्य । जीवपुद्गलयोरत्र प्रकृतत्वात्परशब्देनात्मद्रव्यस्य ग्रहणं कर्तव्यम् । परस्य पुद्गलद्रव्यादभिन्नस्य पारिशेष्यन्यायेनात्मद्रव्यस्य परिणाममुपादेयभूतं कार्यं मृत्तिका कलशमिव यथा मृत्तिका स्वोपादेयभूतं कलशमादिमध्यान्तेष्वादौ विकार्यावस्थायां मध्ये निर्वर्त्यावस्थायामन्ते प्राप्यावस्थायां च व्याप्य स्वस्वरूपेण विगाह्य कलशं स्वजातीयत्वाद्गृह्णाति स्वस्मिन्समावेशयति ।स्वेनात्मना तादात्म्यमापादयतीत्यर्थः । परिणमति कलशपरिणामात्मकत्वेन परिणतिक्रि-

योत्पत्तेराश्रयोभवति, कलशाकारत्वेनोत्पद्यते परिणता भवति च तथाऽऽदिमध्यान्तेष्वादौ विकार्यावस्थायां, मध्ये निर्वर्त्यावस्थायामन्ते प्राप्यावस्थायां च व्याप्य स्वीयेनाचेतनस्वरूपेण विगाह्य न तं पुद्गलद्रव्य-भिन्नात्मद्रव्यपरिणामं विजातीयत्वाद्गृह्णाति स्वस्मिन्समावेशयति न तथा परिणमति स्वीयमचेतन-स्वभावं परित्यज्य चेतनात्मस्वभावेन तादात्म्यमापद्यात्मपरिणामरूपेण परिणतिक्रियोत्पत्तेराश्रयीभवति न तथोत्पद्यते च चेतनात्मस्वरूपेणोत्पद्यते परिणतो भवति । किन्तु प्राप्यं प्राप्यावस्थं विकार्यं विकार्या-वस्थं निर्वर्त्यं निर्वर्त्यावस्थ च व्याप्यलक्षणं पुद्गलद्रव्येण स्वस्वरूपेण विगाह्यमानत्वाद्व्याप्य लक्षणं स्वरूप यस्य तत् । स्वभाव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामभूत कर्म पुद्गलस्वरूपोपादानकर्त्राप्यलक्षणं स्वयमात्मना स्वस्वभावेनान्तर्व्यापकं विगाहमानं भूत्वाऽऽदिमध्यान्तेषु व्याप्यादौ विकार्यावस्थायां मध्ये निर्वर्त्यावस्थायामन्ते प्राप्यावस्थायां च व्याप्य स्वस्वरूपेण विगाह्य तमेव पुद्गलात्मकोपादानकर्तुरुपा-देयभूतं परिणाममेव गृह्णाति स्वजातीयत्वात्स्वस्मिन्समावेशयति । आत्मना तादात्म्यमापादयतीत्यर्थः । तथैव परिणमति पुद्गलपरिणामस्वरूपेण परिणतिक्रियोत्पत्तेराश्रयीभवति तथैवोत्पद्यते च स्वजातीय–परिणामाकारेणोत्पद्यते परिणतं भवति । ततस्तस्मात्कारणात्प्राप्य प्राप्यावस्थं विकार्यं विकार्यावस्थं निर्वर्त्यं निर्वर्त्यावस्थं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यभूतेनात्मना स्वचैतन्यस्वरूपेण व्याप्यमवगाह्यं लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् । परद्रव्यपरिणाममात्मद्रव्यपरिणामं कर्म कर्त्राप्यलक्षणमकुर्वाणस्याकुर्वतो जीवपरिणामं जीवोपादानकं परिणामं स्वपरिणामं पुद्गलोपादानकं परिणामं स्वपरिणामफलं च पुद्गलोपादानक–परिणामाश्रयिशक्त्याख्यं फल चाऽजानतोऽनुपलभमानस्य पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः परिणामपरिणामिभाव उपादानोपादेयभावो वाऽस्ति ।

टीकार्थ– जब जीवोपादानक परिणाम को स्वोपादानक अर्थात् पुद्गलोपादानक परिणाम को और स्वोपादानक अर्थात् पुद्गलोपादानक परिणाम के फल को अर्थात् पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म की अज्ञानी जीव को सुखदुःखादिरूप परिणति में निमित्तकारण पडनेवाली अत एव सुखदुःखादिसंज्ञा को धारण करनेवाली शक्तिरूप परिणाम को न जाननेवाला पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक अर्थात् अपने अचेतनस्वरूप से व्याप्त करनेवाला होकर परद्रव्य के अर्थात् जीवद्रव्य के उपादेयभूत परिणाम को जिसप्रकार मृत्तिकोपादानक कलश को उपादानकारणभूत मृत्तिका उस कलश के आदि, मध्य और अन्त में अपने स्वरूप से व्याप्त करके उस कलश को वह स्वजातीय होनेसे अपनेमें समाविष्ट कर लेती है कलश के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होती है और उस कलश के आकार के रूप से उत्पन्न–परिणत होती है उसीप्रकार आदि, मध्य और अन्त में अपने चेतनस्वरूप से व्याप्त करके परद्रव्य के अर्थात् आत्मद्रव्य के उपादेयभूत परिणाम को वह विजातीय होनेसे अपने में समाविष्ट नहीं करता, अपने अचेतनस्वभाव को त्यागकर आत्मपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय नहीं होता और परद्रव्योपादानक अर्थात् आत्मद्रव्योपादानक परिणाम के रूप से उत्पन्न–परिणत नहीं होता; किंतु स्वरूप से अर्थात् पुद्गल के स्वरूप से व्याप्त हो जाना जिसका स्वरूप होता है ऐसे अपने अर्थात् पुद्गल के परिणामभूत प्राप्यावस्थ, विकार्यावस्थ और निर्वर्त्यावस्थ कर्म को पुद्गलद्रव्य स्वयं अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाला होकर आदि, मध्य और अन्त में अपने स्वरूप से व्याप्त करके उसी पुद्गल के परिणाम को वह स्वजातीय होनेसे अपने में समाविष्ट कर लेता है, पुद्गल के परिणाम के रूप से परिणत होने की क्रिया का आश्रय होता है और पुद्गल के परिणाम के रूप से उत्पन्न–परिणत होता है, तब आत्मा के द्वारा अपने चेतनस्वरूप से व्याप्त किया जाना स्वरूप है जिसका ऐसे प्राप्यरूप, विकार्यरूप और निर्वर्त्यरूप आत्मोपादानक परिणामात्मक कर्म को न करनेवाले, जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जाननेवाले पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं होता ।

विवेचन— प्रत्येक कारणद्रव्य के परिणाम की विकार्य, निर्वर्त्य और प्राप्य ऐसी तीन अवस्थाएं होती हैं। द्रव्य में परिणाम के रूप से परिणत होनेकी शक्ति होनेपर भी उसकी विशिष्टरूप से परिणति की उत्पत्ति के विना वह शक्ति आविर्भूत नहीं हो सकती। मृत्तिका में अपने परिणाम के रूप से परिणत होनेकी शक्ति विद्यमान होनेपर भी उसकी मृत्पिण्ड के रूप से परिणति होनेपर हि वह शक्ति आविर्भूत होने लगती है। यह मृत्पिण्ड घट की आंशिक परिणतिरूप होता है। अतः यह पिण्ड विकार्यकर्म कहा जाता है। चक्र के ऊपर रखकर चक्र को गतिमान् बना देनेपर घटाकार परिणाम की उत्पत्ति होनेतक प्रतिसमय होनेवाली सभी परिणतियां आंशिक होती है और वे सभी परिणतियां निर्वर्त्यकर्म कही जाती है। पूर्णघटाकार परिणति प्राप्य कर्म कही जाती है। यदि मृत्तिका की मृत्पिण्डरूप परिणति न हुई तो निर्वर्त्यकर्मरूप और प्राप्यकर्मरूप रिणतियों का सद्भाव होना असंभव है। अतः विशिष्ट परिणाम के रूप से परिणत हुआ उपादान निर्वर्त्यकर्म के रूप से और प्राप्यकर्म के रूप से परिणत हो सकता है। पर्याय की शक्ति के अभाव में द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी अर्थात् अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से परिणत नहीं हो सकती ऐसा आचार्य प्रभाचंद्रदेव ने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डनामक ग्रंथ में कहा है। आत्मा की अनादिकाल से अज्ञानरूप परिणति आविर्भूत हुई होनेसे उसकी कर्मरूप निमित्त के मिल जानेपर क्रोधादिरूप परिणतियां आविर्भूत होती हैं। आत्मा की संपूर्ण विशुद्धि की संपूर्णतया अभिव्यक्ति होनेपर वह परिणमनशील होनेपर भी उसकी पुनः अज्ञानरूप परिणति का आविर्भाव होना असंभव होनेसे और उसका निमित्त के साथ संसारी आत्मा के समान संयोग का अभाव होनेसे क्रोधादिरूप विभावभावों के रूप से उसकी परिणति होना असंभव है। यदि अज्ञानरूप परिणति के अभाव में भी आत्मा की विभावरूप परिणतिया होने लगी तो उसकी मुक्तावस्था में भी क्रोधादिरूप परिणतियों का आविर्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ की विशिष्ट परिणति के विना उसकी कार्यरूप से परिणति नहीं होती। दूसरी बात यह है कि परिणामी या उपादान अपने परिणाम को या अपने उपादेय को अपने स्वरूप से व्याप्त करता है। यदि परिणाम उपादानभूत परिणामी के स्वरूप से व्याप्त न हुआ तो परिणामपरिणामिभाव का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा।

पुद्‌गलद्रव्य अचेतन होनेसे वह अन्यद्रव्य के परिणाम को, अपने द्रव्य के परिणाम को और अपने द्रव्य के परिणाम की शक्तिरूप परिणाम को नहीं जान सकता। यद्यपि अचेतन होनेसे पुद्‌गलद्रव्य स्वपरद्रव्यों के परिणामों को नहीं जान सकता तो भी वह अपने परिणाम को और अपने परिणाम के शक्तिरूप परिणाम को अपने स्वरूप से उनकी सभी अवस्थाओं में अन्वित हुआ होता है। (पुद्‌गल के अभाव में उसके परिणाम का अभाव होनेसे उसके परिणामकी शक्ति का भी अभाव हो जानेसे पुद्‌गल अपने स्वरूप से अपने परिणाम की शक्ति को व्याप्त करता है यह बात स्पष्ट हो जाती है।) किंतु मृत्तिका जिसप्रकार अपने परिणामभूत कलश को उसकी विकार्यरूप आद्य अवस्था में, निर्वर्त्यरूप मध्य अवस्था में और प्राप्यरूप अंत्य अवस्था में अपने स्वरूप से व्याप्त करती है और उसी-कारण वह कलशरूप परिणाम स्वजातीय होनेसे उसको अपने में समाविष्ट कर लेती है उससे अभिन्न होती है, उस कलश के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होती है और कलश के रूप से परिणत होती है उसीप्रकार पुद्‌गलद्रव्य जीवोपादानकपरिणामरूप परद्रव्य के परिणाम को वह विजातीय होनेसे अपने अचेतनस्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकता; क्योंकि भिन्नभिन्न स्वभाववाले दो द्रव्यों में से एकद्रव्य में अपने स्वभाव से अन्यद्रव्य के परिणाम को व्याप्त करने की सामर्थ्य नहीं होती। यदि संसारिजीव के अज्ञानरूप अर्थात् अप्रशस्तज्ञानरूप परिणाम को पुद्‌गल अपने अचेतन स्वरूप से व्याप्त कर सकता है ऐसा माना तो अज्ञानरूप परिणति के दो विजातीय द्रव्य उपादानकारण होते है ऐसा मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा अर्थात् अशुद्ध आत्मा और पुद्‌गलद्रव्य ये दोनों भी उस अज्ञानात्मक परिणाम के उपादानकारण होंगे। एक परिणाम के दो द्रव्य उपादानकारण कदापि नहीं हो सकते। जब आत्मद्रव्य के परिणाम को पुद्‌गलद्रव्य अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाला नहीं हो सकता तब वह आत्म-परिणाम को उसकी आद्य, मध्य और अंत्य अवस्थाओं में व्याप्त नहीं कर सकता। जब आत्मपरिणाम की किसी भी अवस्था को वह व्याप्त नहीं कर सकता तब वह पुद्‌गलद्रव्य आत्मपरिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकता

और आत्मपरिणाम उसका उपादेयभूत कर्म नहीं हो सकता । इसप्रकार आत्मपरिणाम और पुद्गलद्रव्य इनकी अन्योन्यभिन्नजातीयता सिद्ध हो जाती है । आत्मपरिणाम विजातीय कार्यद्रव्य होनेसे पुद्गलद्रव्य उस परिणाम को अपने में समाविष्ट नहीं कर सकता, उस आत्मद्रव्य के रूप से परिणत होनेकी क्रिया से युक्त नहीं होता और आत्मपरिणाम के रूप से उत्पन्न–परिणत भी नहीं होता । वह अपने उपादेयभूत परिणाम का उपादान कर्ता जरूर होता है । पुद्गलद्रव्य का परिणाम उसके अचेतनस्वरूप से युक्त होनेसे स्वजातीय होनेके कारण पुद्गलद्रव्य उस पुद्गलपरिणाम का अवश्य उपादानकर्ता होता है । पुद्गल के अचेतनस्वरूप से व्याप्त होनेका जिसका स्वरूप होता है ऐसे प्राप्यावस्थ, विकार्यावस्थ और निर्वर्त्यावस्थ अपने परिणामरूप कर्म को स्वयं अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाला होकर उस परिणामरूप कर्म की विकार्य, निर्वर्त्य और प्राप्य अवस्थाओं में अपने अचेतनस्वरूप से व्याप्त करके उस पुद्गलपरिणाम को वह स्वजातीय होनेसे अपने में समाविष्ट कर लेता है, उसके रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होता है और अपने उस स्वजातीय परिणाम के रूप से उत्पन्न–परिणत होता है । इसप्रकार आत्मा के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जानेवाला आत्मद्रव्य का प्राप्यावस्थ, विकार्यावस्थ और निर्वर्त्यावस्थ जो कर्मसंज्ञक परिणाम उसको उत्पन्न करनेवाले और जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम की शक्तिरूपफलात्मक परिणाम को न जाननेवाले पुद्गल का जीव के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं होता अर्थात् आत्मपरिणाम (अर्थात् आत्मा) पुद्गलद्रव्य का उपादेयभूत कर्म नहीं होता और पुद्गलद्रव्य इसका उपादानकर्ता नहीं होता । एवं आत्मा पुद्गलपरिणाम की उपादानकर्ता नहीं हो सकती और पुद्गलपरिणाम उसका उपादेयभूत कर्म नहीं हो सकता ।

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ।। ५० ।।

अन्वय– इमां स्वपरपरिणतिं जानन् अपि ज्ञानी अजानन् अपि च पुद्गलः नित्यं अत्यन्तभेदात् अन्तः व्याप्तृव्याप्यत्वं कलयितुं असहौ । क्रकचवत् अदयं भेदं उत्पाद्य विज्ञानार्चिः यावत् सद्यः न चकास्ति तावत् अज्ञानात् अनयोः कर्तृकर्मभ्रममतिः भाति ।

अर्थ– स्वपरपरिणति को अर्थात् इस भावकर्मात्मक अपनी परिणति को और द्रव्यकर्मात्मक पर की अर्थात् पुद्गल की परिणति को अथवा परद्रव्यरूपनिमित्तकारणकृत अपनी अर्थात् आत्मा की भावकर्मरूप परिणति को और आत्मीयविभावभावनिमित्तक परद्रव्य की अर्थात् पुद्गलद्रव्य की परिणति को, उसीप्रकार जीवविभावभावनिमित्तक द्रव्यकर्मात्मक अपनी अर्थात् पुद्गलद्रव्य की परिणति को और द्रव्यकर्मनिमित्तक भावकर्मात्मक पर की अर्थात् आत्मद्रव्य की परिणति को, पुद्गल के अर्थात् पुद्गलोपादानक परिणाम को और पुद्गल के परिणाम के अर्थात् द्रव्यकर्म के जीवविभावभावजननशक्तिरूप परिणाम को जाननेवाली होनेपर भी आत्मा और न जाननेवाला होनेपर भी पुद्गल ये दोनो एक दूसरेसे अत्यंत भिन्न होनेसे उन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव को व्यवस्थापित करने के विषय में असमर्थ है–आत्मा का परिणाम अर्थात् क्रोधादिरूप विभावभाव अपने चैतन्यस्वरूप से पुद्गलपरिणाम को व्याप्त नहीं करता और पुद्गल का परिणाम अर्थात् द्रव्यकर्म अपने अचेतन स्वभाव से आत्मा के परिणाम को अर्थात् क्रोधादिरूप विभावभाव को व्याप्त नहीं करता तथा आत्मा का क्रोधादिरूप विभावभाव पुद्गल के परिणाम के द्वारा अर्थात् द्रव्यकर्म के द्वारा अपने अचेतनस्वरूप से व्याप्त नहीं किया जाता और पुद्गल का परिणाम अर्थात् द्रव्यकर्म आत्मा के परिणाम को अर्थात् भावक्रोधादिस्वरूपविभावभाव को अपने अचेतनस्वरूप से व्याप्त नहीं करता और आत्मा का भावक्रोधादिरूपविभावभाव पुद्गलद्रव्य के अचेतनस्वरूप से व्याप्त नहीं किया जाता; क्योंकि आत्मा और पुद्गल में विजातीयद्रव्य के परिणाम को अपने स्वरूप से व्याप्त करने की और विजातीयद्रव्य के द्वारा उसके अपने स्वरूप से

व्याप्त किये जाने की शक्ति का सद्भाव नहीं हो सकता। आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इनमें होनेवाले भेद को कठोरता से अभिव्यक्त करके अर्थात् पुद्गलपरिणामभूत द्रव्यकर्म और नोकर्म को अपने से पृथक् करके जबतक विज्ञानज्योति अर्थात् विज्ञानघनस्वभाववाली आत्मा शीघ्र प्रकट नहीं होती तबतक अज्ञान के कारण अर्थात् आत्मा की अज्ञानरूपपरिणति के कारण आत्मपरिणाम पुद्गल के परिणाम का और पुद्गलपरिणाम आत्मपरिणाम का उपादानकर्ता माना जाता है और आत्मपरिणाम पुद्गल के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जाता है और पुद्गल परिणाम आत्मा के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जाता है ऐसा माना जाता है। इसप्रकार की यह मान्यता भ्रान्त ज्ञानरूप—मिथ्याज्ञानरूप है।

त. प्र.— ज्ञानी चैतन्यस्वभावो भेदज्ञानस्वरूपसम्यग्ज्ञानसम्पन्नः सम्पादितस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानो वेमां प्रत्यक्षीभूतां स्वपरपरिणतिं स्वस्यात्मनः स्वस्वभावान्वितां स्वोपादेयभूतां पुद्गलोपादानकद्रव्य-कर्मनिमित्तकां स्वपरिणतिं परस्य च पुद्गलद्रव्यस्य तदचेतनस्वभावान्वितां तदुपादेयभूतामशुद्धात्मो-पादानकक्रोधादिविभावभावनिमित्तकां स्वपरिणतिं परस्य आत्मद्रव्यस्य स्वीयचेतनस्वभावान्वितां पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मनिमित्तकां परपरिणतिम्। स्वस्यात्मनः, पक्षे पुद्गलद्रव्यस्य च, यद्वा स्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य, पक्षे जीवस्य च परिणतिरुपादेयभूतः परिणामः स्वपरपरिणतिः। ताम्। यद्वा स्वस्यात्मनः परेण द्रव्यकर्मात्मकत्वेन परिणतेन निमित्तभूतेन पुद्गलेन कृता परिणतिः, पक्षे स्वस्य कर्मयोग्यवर्गणा-स्वरूपपुद्गलद्रव्यस्य परेण क्रोधादिरूपभावकर्मात्मकत्वेन परिणतेनाशुद्धेनात्मना निमित्तमात्रीभूय कृता परिणतिः स्वपरपरिणतिः। ताम्। यद्वा स्वपराभ्यामुपादाननिमित्तभावमापाद्यमानाभ्यां मिलित्वा कृता परिणतिः स्वपरपरिणतिः। ताम्। भावक्रोधादिरूपा विभावभावात्मिकाऽशुद्धात्मोपादानकेयं परिणति-र्जीवस्येयं च विभावभावात्मिका भावक्रोधादिरूपाशुद्धजीवविभावभावात्मकपरिणतिक्रियाकाले तत्परिण-त्यनुकूला द्रव्यकर्मरूपनिमित्ताश्रयिणी पुद्गलोपादानका परिणतिः पुद्गलद्रव्यस्येति जानन्नप्यधिगच्छन्नपि भेदज्ञानेन करणभूतेनोपलभमानोपीत्यर्थः। ज्ञानी विज्ञानघनस्वभावो विशिष्टज्ञानात्मकभेदज्ञानसम्पन्नः सम्पादितस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानो वा। तां स्वपरपरिणतिमजानन्ननुपलभमानोऽपि च पुद्गलः पुद्गलद्रव्यम्। नित्यं सर्वकालेष्वविच्छेदेनात्यन्तभेदादात्मपुद्गलयोर्यथाक्रमं चेतनत्वादचेतनत्वाच्चान्योन्यभेदसद्भावात्। आत्मोपादानकं परद्रव्यभूतपुद्गलकर्मनिमित्तकं परिणामं परद्रव्यभूतपुद्गलोपादानकमात्मद्रव्यनिमित्तकं परिणामं जानत आत्मनोऽजानतश्च पुद्गलस्य चान्योन्यमत्यन्तभिन्नत्वादित्यर्थः। तावात्मपुद्गलौ नित्य-मविच्छेदेन सर्वकालमन्तर्व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तर्व्याप्यव्यापकभावम्। स्वस्वरूपेणान्तर्व्याप्ये परिणामे पुद्गलद्रव्योपादानके, पक्ष आत्मद्रव्योपादानके परिणामे विगाहमानत्वमन्तर्व्यापकत्वं परिणामस्य चोपादेयभूतस्य पुद्गलद्रव्योपादानकस्य, पक्ष आत्मद्रव्योपादानकस्य यथाक्रममुपादानभूतेन पुद्गलद्रव्ये-णात्मद्रव्येण च विगाह्यमानत्वमन्तर्व्याप्यत्वम्। एवंविधमन्तर्व्याप्यव्यापकभावं कलयितुं व्यवस्थापयि-तुमसहावसमर्थौ। आत्मद्रव्यात्मकमुपादानं पुद्गलद्रव्योपादानकं परिणामं स्वस्वरूपेणानुगन्तुमसमर्थं पुद्गलद्रव्यात्मकमुपादानं चात्मद्रव्योपादानकं परिणामं चेतनान्वितं स्वीयेनाचेतनस्वरूपेणानुगन्तुमसमर्थ-मित्यर्थः। अज्ञानादनादेरज्ञानभावापन्नाज्जीवविभावपरिणामाद्धेतोरनयोरात्मपुद्गलयोः। आत्मपरिणा-मपुद्गलपरिणामयोरित्यर्थः, द्रव्यशक्तेः पर्यायशक्तिमन्तरेण कार्यकारित्वाभावात्। कर्तृकर्मभ्रममतिः कर्तृकर्मभ्रमोपलक्षिता बुद्धिः। पुद्गलोपादानकपुद्गलपरिणामस्योपादानकर्ताऽऽत्मपरिणाम आत्मोपादा-नकात्मपरिणामस्य पुद्गलपरिणामः कर्ता, तथा पुद्गलपरिणाम आत्मन उपादेयभूतं कर्माऽऽत्मपरिणा-मश्च पुद्गलपरिणामस्योपादेयभूतं कर्मेति ज्ञानं भ्रमात्मकं, द्रव्यस्य विजातीयद्रव्यपरिणामोपादानकर्तृत्वे

द्विक्रियानतिरिक्तत्वप्रसङ्गात्। तावत्तावत्कालपर्यन्तं भाति विद्यते यावद्यावत्कालपर्यन्तं क्रकचवत्करपत्रवददयं नैष्ठुर्येण। यथा दारुदारणक्रियायां करपत्रं दारुदारण युक्त न वेत्यविचार्य दारु दारयति तथाऽऽत्मपुद्गलयोर्भेदोत्पादनं कर्तुं युक्तं न वेत्यविचार्य तयोर्भेदं जनयतीत्यर्थः। भेदज्ञानेनात्मपुद्गलयोर्भेदमुत्पाद्य विभाव्य विज्ञानार्चिस्सम्यग्ज्ञानतेजः सद्यः शीघ्रतमं चकास्ति प्रकटीभवति।

विवेचन— यद्यपि आत्मा अपने परिणाम को, पुद्गल के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम की शक्तिरूप फल को जानती है और पुद्गल जानता नहीं तो भी आत्मा चेतनस्वभाववाली होनेसे और पुद्गल अचेतनस्वभाववाला होनेसे आत्मा और पुद्गल इनमें आत्यंतिक भेद होनेसे अर्थात् दोनों द्रव्य विजातीय होनेसे आत्मा पुद्गलद्रव्य के परिणाम को अपने चेतनस्वरूप से और पुद्गलद्रव्य आत्मा के परिणाम को अपने अचेतनस्वरूप से व्याप्त नहीं करता और पुद्गलपरिणाम आत्मा के चेतनस्वभाव के द्वारा और आत्मपरिणाम पुद्गल के अचेतनस्वभाव के द्वारा व्याप्त नहीं किया जा सकता। अतः आत्मा पुद्गलपरिणाम का और पुद्गल आत्मपरिणाम का अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाली न होनेसे व्यापक न होनेके कारण और पुद्गलपरिणाम आत्मा का और आत्मपरिणाम पुद्गल का व्याप्य न होनेसे आत्मा और पुद्गल इनके परिणामों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है और व्याप्यव्यापकभाव का आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इनमें अभाव होनसे आत्मा पुद्गलपरिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकती और पुद्गल आत्मपरिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकता और इसीप्रकार आत्मपरिणाम पुद्गल का उपादेयभूत कर्म नहीं हो सकता और पुद्गलपरिणाम आत्मा का उपादेयभूत कर्म नहीं हो सकता। साराश, आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इनमें कर्तृकर्मभाव का सद्भाव नहीं होता। ऐसी यह वास्तविक स्थिति है। इसप्रकार आत्मा और पुद्गल में परमार्थतः कर्तृकर्मभाव का अभाव होनेपर भी ससारी आत्मा अपने अनादिकाल से चले आये अज्ञान से आत्मा और पुद्गल इनमें कर्तृकर्मभाव के सद्भाव की भ्रांत कल्पना कर बैठती है। इस भ्रांत कल्पना का अभाव तब होता है जब उसके भेदज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। अज्ञान और ज्ञान इनमें वध्यघातकभावरूप विरोध होनेसे ज्ञानोत्पत्ति के समय अज्ञान का नाश–अभाव होकर जब भेदज्ञान प्रादुर्भूत होता है तब आत्मा और पुद्गल इनके विषय मे अज्ञान के कारण उत्पन्न होनेवाली भ्रांत कल्पना का स्वयमेव विलय-अभाव हो जाता है।

'जीवपुद्गलपरिणामयोः अन्योन्यनिमित्तमात्रत्वं अस्ति, तथापि न तयोः कर्तृकर्मभावः' इति आह–

'जीव के विभावभावात्मक परिणाम का निमित्तकारण पुद्गल का परिणाम होता है और पुद्गल की कर्मरूप परिणति का निमित्तकारण जीव का विभावभावात्मक परिणाम होता है तो भी जीवपरिणाम का पुद्गलपरिणाम उपादानकर्ता न होनेसे और पुद्गलपरिणाम का उपादानकर्ता जीवपरिणाम या जीव न होनेसे जीव और पुद्गल इनका उपादानकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता और आत्मा के स्वरूप से पुद्गल का परिणाम व्याप्त हुआ न होनेसे और पुद्गल के स्वरूप से आत्मा का परिणाम व्याप्त हुआ न होनेसे आत्मपरिणाम का पुद्गलकर्मत्व और पुद्गलपरिणाम का आत्मकर्मत्व सिद्ध नही होता। इसप्रकार आत्मा और पुद्गल इनमे निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव होनेपर भी कर्तृकर्मभाव नही होता' यह बताते है–

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ ८० ॥

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥ ८१ ॥

एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८२ ॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्व पुद्गलाः परिणमन्ति ।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥ ८० ॥

नैव करोति कर्मगुणान् जीव कर्म तथैव जीवगुणान् ।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥ ८१ ॥

एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थ– [**पुद्गलः**] कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल [**जीवपरिणामहेतुं**] अशुद्धोजीवोपादानक मिथ्यात्वरागादिरूप विभावभावों को निमित्तरूप से (**लब्ध्वा**) पाकर [**कर्मत्वं**] द्रव्यकर्मरूप से [**परिणमन्ति**] परिणत होते है, [**तथैव**] उसीप्रकार हि [**जीव. अपि**] जीव भी [**पुद्गलकर्मनिमित्तं**] पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्मको निमित्तरूप से (**लब्ध्वा**) पाकर [**कर्मत्वं**] भावकर्म के रूप से [**परिणमति**] परिणत होता है । यद्यपि जीव के विभावभावो के निमित्त से कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से अज्ञानी जीव भावकर्म के रूप मे परिणत होता है तो भी [**जीवः**] जीव [**कर्मगुणान्**] पुद्गलकर्म के गुणो की या जीव को मोहरागादि के रूप से परिणत करनेवाली पुद्गलकर्म की शक्तियो की [**नैव करोति**] उत्पत्ति करता हि नही और [**तथैव**] उसीप्रकार [**कर्म**] पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म [**जीवगुणान्**] अशुद्ध जीव के विभावभावो की [**नैव करोति**] उत्पत्ति करता हि नही अर्थात् जीव पुद्गलपर्यायरूप कर्म की शक्तियो का उपादानकर्ता और पुद्गल जीव के मोहरागादिरूप विभावभावो का उपादानकर्ता नही होता । पुद्गल अपनी शक्तियो का उपादानकर्ता होता है और जीव अपनी विभावपरिणतियो का उपादानकर्ता होता है-पुद्गल की शक्तियां पुद्गलकर्म मे हि अभिव्यक्त होती है और अशुद्धजीव की विभावपरिणतिया अशुद्धजीव मे हि अभिव्यक्त होती है। [**द्वयोः अपि परिणामं**] जीव और पुद्गल इन दोनो के परिणमनों को [**अन्योन्यनिमित्तेन तु**] वे एक दूसरे के निमित्त से हि होनेवाले है–पुद्गलकर्मरूप निमित्त के मिलनेपर हि जीव की विभावरूप परिणतिया अभिव्यक्त होती है और अशुद्ध जीव के विभावभावरूप निमित्त के मिलनेपर हि पुद्गल द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होनेसे कर्म की शक्तिया अभिव्यक्त होती है ऐसा हे आत्मन् ! तू [**जानीहि**] समझ ले । [**एतेन कारणेन तु**] इसकारण से हि अर्थात् जीव की विभावपरिणति मे जब पुद्गलकर्म सिर्फ निमित्तकारण पडता है–उन परिणतियों का उपादानकर्ता होता हि नही तब [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वरूप से युक्त–अपने स्वभाव से अन्वित हुए–तादात्म्य को प्राप्त हुए [**सर्वभावानां**] सभी परिणामो का–अपने विभावभावों का [**आत्मा**]

अज्ञानी आत्मा [**कर्ता**] उपादानकर्ता होती है; [**पुद्गलकर्मकृतानां**] पुद्गलकर्मसामान्य से उत्पन्न हुए होनेसे उसके द्वारा किये गये (**सर्वभावानां**) ज्ञानावरणादिरूप सभी द्रव्यकर्मों का (**आत्मा**) अज्ञानी आत्मा [**कर्ता**] उपादानकर्ता [**न तु**] होती हि नही ।

[गाथा ८० में 'जीवपरिणामहेदुं' और 'पुग्गलकम्मणिमित्त' इन पदों को 'कम्मत्तं' इस पद के विशेषणरूप माना तो संस्कृत छाया में पायेजानेवाले 'जीवपरिणामहेतु' इस पद को अशुद्ध मानना होगा; क्यों कि संस्कृतभाषा में उकारात नपुंसकलिंगवाले नाम का द्वितीयाविभक्ति का एकवचनात रूप 'जीवपरिणामहेतु' ऐसा होता है-उसको अम्प्रत्यय लगायी नहीं जाती । छाया में 'जीवपरिणामहेतुं' ऐसा जो रूप पाया जाता है वह अर्थज्ञान के लिये उपयुक्त होनेसे उसको स्वीकार करके 'लब्ध्वा' इस क्त्वान्त का अध्याहार करके अर्थ करना उचित है । इन दृष्टि से अन्वयार्थ में 'लब्ध्वा' इस रूप का अध्याहार किया गया है । गाथा ८१ में गुणशब्द का प्रयोग पाया जाता है । इस गुणशब्द से जीव के ज्ञानगुण का और पुद्गल के वर्णादिगुणों का ग्रहण यहा अभीष्ट नहीं है; क्यों कि वे नैमित्तिकभाव न होकर पारिणामिकभावरूप हैं । यहा तो गुणशब्द से नैमित्तिकभाव का ग्रहण अभिप्रेत दिखाई देता है । यह अभिप्राय उत्थानिका से, गाथा से और आत्मख्याति से स्पष्ट हो जाता है । अतः अन्वयार्थ में 'कर्मगुणान्' इस पद का अर्थ 'कर्म की शक्तियां' और 'जीवगुणान्' इस पद का अर्थ 'जीव के विभावभाव' इसप्रकार किया गया है-जीव के और पुद्गल के स्वाभाविकभाव या पारिणामिकभाव ऐसा नहीं किया गया ।]

आ. ख्या.– यतः जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति, पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवः अपि परिणमति इति जीवपुद्गलपरिणामयोः इतरेतरहेतुत्वोपन्यासे अपि जीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावात् जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मण अपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्य अप्रतिषिद्धत्वात् इतरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोः अपि परिणामः, ततः कारणात् मृत्तिकया कलशस्य इव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणात् जीवः स्वभावस्य कर्ता कदाचित् स्यात्, मृत्तिकया वसनस्य इव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुं अशक्यत्वात् पुद्गलभावानां तु कर्ता न कदाचित् अपि स्यात् इति निश्चयः ।

त. प्र.– यतो यस्मात्कारणाज्जीवपरिणाममज्ञानोपादानकं मोहरागादिरूपजीवविभावभावात्मकं परिणाम निमित्तीकृत्य निमित्त कृत्वा । पूर्वमनिमित्त पश्चान्निमित्त कृत्वा विधाय निमित्तीकृत्य । पुद्गलाः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलाः कर्मत्वेन द्रव्यकर्मरूपेण परिणमन्ति पुद्गलकर्म पुद्गलोपादानकं द्रव्यकर्म निमित्तीकृत्य निमित्ततां प्रापय्य जीवोऽपि परिणमति । इत्येवम्प्रकारेण जीवपुद्गलपरिणामयोर्जीवपरिणामपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेऽप्यन्योन्यनिमित्तकारणत्वेन प्रसाधने कृतेऽपि । जीवपरिणामस्य पुद्गलकर्मणो हेतुत्वेन निमित्तकारणत्वेन पुद्गलपरिणामस्य च जीवपरिणामस्य हेतुत्वेन निमित्तकारणत्वेनोपन्यासे प्रसाधने कृते सत्यपि जीवपुद्गलयोरज्ञानिजीवपुद्गलयोः परस्परमन्योन्य व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवपुद्गलयोर्विजातीयद्रव्यत्वाज्जीवस्य पुद्गलोपादानके परिणामे स्वचेतनस्वभावेनान्वयाभावात्पुद्गलस्य च जीवोपादानके परिणामे स्वीयाचेतनस्वभावेनानन्वितत्वाज्जीवपुद्गलयोर्द्वयोरपि व्याप्यत्वाभावाज्जीवस्य च पुद्गलोपादानक परिणाम स्वस्वभावेन व्याप्तुं सामर्थ्याभावाद्व्यापकत्वाभावात्पुद्गलस्य च जीवोपादानक परिणाम स्वीयेन चेतनस्वभावेन व्याप्तुं सामर्थ्याभावाद्व्यापकत्वाभा-

वाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोऽपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ । जीवस्य पुद्गलपरिणामानामुपादानकर्त्रीभवनासम्भवात्कर्तृत्वासिद्धौ पुद्गलपरिणामानां च जीवस्योपादेयभूतपरिणामीभवनासम्भवात्कर्मत्वासिद्धौ तथा पुद्गलकर्मणोऽपि जीवपरिणामानामुपादानकर्त्रीभवनासम्भवात्कर्तृत्वासिद्धौ जीवपरिणामानां च पुद्गलकर्मण उपादेयभूतपरिणामीभवनासम्भवात्कर्मत्वासिद्धौ जीवपरिणामपुद्गलपरिणामयोरुपादानोपादेयभावापेक्षया कर्तृकर्मत्वासिद्धिः। तस्यां सत्यां निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्य जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादप्रतिविहितत्वात् । अभ्युपगतत्वादित्यर्थः । अत्र स्वार्थे विहितस्य मात्रट्प्रत्ययस्य दर्शनाज्जीवपुद्गलयोरुपादानोपादेयभावस्य प्रतिषेधो ध्वनितः, तयोर्विजातीयद्रव्योपादानकत्वात् । इतरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव जीवपुद्गलपरिणामयोः परस्परनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि जीवपुद्गलयोरपि परिणामः । प्रादुर्भवतीत्यध्याहारः । निश्चयनयापेक्षयोपादानस्वामिको व्यवहारनयापेक्षया निमित्तस्वामिकश्च परिणामः, द्वयोरुपादाननिमित्तयोरन्यतराभावे परिणामोत्पत्त्यसम्भवात् । अतः परिणामस्योपादाननिमित्तसंयोगजत्वमध्यवसेयम् । तथा च शास्त्रकारैरपि 'भावा संयोगजा अमी' इत्युक्तम् । ततस्तस्मात्कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव । यथा मृत्तिकयोपादानकारणभूतया स्वकीयेन स्वभावेनान्वितः कलशः क्रियते तथा स्वेन स्वस्वामिकेन भावेन स्वभावेनान्वितस्य स्वस्य भावस्य परिणामस्य करणादुत्पादनाज्जीवोऽज्ञानिजीवः स्वभावस्य मोहरागादिरूपस्वपरिणामस्य कर्तोपादानकर्ता कदाचिदज्ञानावस्थायां स्याद्भवति । न सर्वास्ववस्थास्वित्यर्थः। मृत्तिकया वसनस्येव । यथा मृत्तिकया कार्पासोपादानकं वसनं स्वेन स्वीयेन भावेन स्वरूपेण मृत्तिकास्वभावेन व्याप्य नोत्पाद्यते तथा जीवेन स्वेन स्वकीयेन भावेन चैतन्यस्वभावेन व्याप्य परभावस्य पुद्गलपरिणामस्य कर्तुमुपादेयत्वेनोत्पादयितुमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां पुद्गलपरिणामानां कर्तोपादानकारणं न कदाचिदपि स्यादिति भवेदिति निश्चयः प्रमाणसिद्धो निर्णयः ।

टीकार्थ– जीवपरिणाम को अर्थात् जीव के क्रोधादिरूप विभावभाव को निमित्त बनाकर कर्मयोग्य पुद्गल द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होते हे और पुद्गलकर्म को निमित्त बनाकर जीव भी (क्रोधादिरूप भावकर्म के रूप से) परिणत होता है । इसप्रकार जीवपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इनके अन्योन्यहेतुत्व की सिद्धि की जानेपर भी जीव और पुद्गल इनमें (आन्तर) व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे जीव का कर्तृत्व और पुद्गलपरिणामो का कर्मत्व और पुद्गलकर्म का कर्तृत्व और जीवपरिणामों का कर्मत्व इनकी सिद्धि न होनेपर जीवपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इनमें होनेवाले सिर्फ निमित्तनैमित्तिकभाव का प्रतिषेध न किया जानेसे एक दूसरे का सिर्फ निमित्त होनेसे परिणाम जब दोनों का भी अर्थात् जीव का भी होता हे और पुद्गल का भी होता है (अथवा जब दोनों का भी परिणाम होता है) तब जिसप्रकार मृतिका के द्वारा अपने स्वभाव से अन्वित अपने कलशरूप परिणाम की उत्पत्ति की जाति है उसीप्रकार अपने चैतन्यस्वभाव से अन्वित अपने परिणाम की निष्पत्ति करनेसे जीव अपने परिणाम का कदाचित् उपादानकर्ता होता है; किंतु मृत्तिका के द्वारा जिसप्रकार अपने स्वभाव से अन्वित अन्यपदार्थोपादानक वस्त्र की निष्पत्ति नहीं की जा सकती उसीप्रकार अपने स्वभाव से अन्वित परद्रव्योपादानक परद्रव्य का किया जाना अशक्य होनेसे पुद्गलद्रव्योपादानक परिणामों का उपादानकर्ता कभी भी नहीं हो सकता ऐसा निश्चय है ।

विवेचन– अज्ञानी जीव के क्रोधादिरूप विभावभाव जब सिर्फ निमित्त होते हैं तब कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों की द्रव्यकर्म के रूप से परिणति होती है और पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म का उदय जब सिर्फ निमित्तकारण होता है तब जीव भी क्रोधादिरूप विभावभावों के रूप से परिणत होता है । इसप्रकार जीव की विभावरूप से

परिणति होनेमें पुद्गलोपादानक कर्म के उदय की निमित्तकारणता की और कर्मयोग्य पुद्गल की द्रव्यकर्मरूप से परिणति होनेमें अज्ञानिजीव के क्रोधादिरूप विभावभावों की निमित्तकारणता की सिद्धि हो जाती है तो भी पुद्गलोपादानक कर्मरूप परिणामों में जीव का अपने चैतन्यस्वरूप से अन्वय का अभाव होनेसे और अचेतनद्रव्यो-पादानक होनेसे स्वयं अचेतन होनेसे पुद्गल के परिणामों का जीव उपादानकर्ता है और पुद्गलपरिणाम उसके उपादेयभूत कर्म है इस बात की और जीवोपादानक विभावभावरूप परिणामों में पुद्गलकर्म के अपने अचेतनस्वरूप से अन्वय का अभाव होनेसे और वे परिणाम चेतनद्रव्योपादानक होनेसे स्वयं चेतन होनेसे जीव के विभाव-भावात्मक परिणामों का पुद्गलकर्म उपादानकर्ता है और जीवपरिणाम उसके उपादेयभूत कर्म है इस बात की सिद्धि नहीं होती ; क्योंकि जीव और पुद्गल में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है अर्थात् जीव पुद्गल को अपने स्वभाव से व्याप्त करनेवाला न होनेसे जीव व्यापक नहीं हो सकता और जीव के स्वभाव से व्याप्त न होनेके कारण पुद्गल व्याप्य नहीं हो सकता तथा पुद्गल अपने स्वभाव से जीव को व्याप्त करनेवाला न होनेसे पुद्गल व्यापक नहीं हो सकता और पुद्गल के स्वभाव से व्याप्त न होनेके कारण जीव व्याप्य नहीं हो सकता। जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम इनमें कर्तृकर्मभाव की अर्थात् उपादानोपादेयभाव की सिद्धि न होनेपर भी सिर्फ निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव उनमें नहीं है ऐसा नहीं है। जीवपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव होनेसे परिणाम चाहे जीवद्रव्योपादानक हो या चाहे पुद्गलोपादानक हो एक दूसरे का निमित्तमात्र होनेसे हि जीव और पुद्गल इन दोनों का भी परिणाम (उत्पन्न) होता है। अथवा एक दूसरे का निमित्तमात्र होनेसे हि वह परिणाम जीव का भी है और पुद्गल का भी है। भावक्रोधादिरूपविभाव-भाव जीवोपादानक होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से वह जीव का परिणाम जीव का है और पुद्गलकर्म उसका निमित्तकारण होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से वह परिणाम पुद्गल का भी है। पुद्गल का द्रव्यकर्मरूप परिणाम पुद्गलोपादानक होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से वह पुद्गल का परिणाम है और जीव का विभावपरिणाम उसका निमित्तकारण होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से वह परिणाम जीव का भी है। कहनेका भाव यह है की परिणाम चाहे भावक्रोधादिविभावरूप हो चाहे द्रव्यकर्मरूप हो वह परिणाम कथंचित् जीव का होता है और कथंचित् पुद्गल का भी होता है। जब किसी भी हालत में जीव और पुद्गल इनमें अंतर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव नहीं होता और उन दोनों में जब उपादानोपादेयभाव की सिद्धि नहीं होती तब जिसप्रकार मृत्तिका अपने स्वरूप से अन्वित होकर अपने परिणामभूत कलश को करती है उसीप्रकार अपने स्वरूप से अपने परिणाम में अन्वित होकर अपने उपादेयभूत परिणाम की उत्पत्ति करनेमें जीव अपने उपादेयभूत परिणाम का-क्रोधादिविभावरूप परिणाम का कदाचित् उपादानकर्ता होता है ; सर्वदा विभावभाव के रूप से परिणत होता है ऐसा नियम नहीं है। वीतराग-निर्विकल्पसमाधि में वह विभावभावरूप से-क्रोधादिविभाव के रूप से कदापि परिणत नहीं होता। मुक्त अवस्था में अज्ञानरूप उपादान का अभाव होनेसे या आत्मा की अशुद्ध पर्याय का अभाव होनेसे और पुद्गल-कर्मरूप निमित्त के संश्लेष का अभाव होनेसे विभावभावों के रूप से जीव परिणत होता हि नहीं। इस से स्पष्ट हो जाता है की जीव विभावभावरूप से कदाचित् परिणत होता है और कदाचित् परिणत नहीं भी होता। अपने मृत्तिकास्वरूप से वस्त्र में अन्वित होकर मृत्तिका उपादान होकर वस्त्ररूप कार्पासोपादानक परिणाम की उत्पत्ति नहीं कर सकती ; क्यों कि मृत्तिका में वस्त्र को अपने स्वरूप से व्याप्त करने की शक्ति का अभाव होता है। पुद्गलोपादानक परिणाम को अपने ज्ञानस्वभाव से व्याप्त करने की सामर्थ्य का जीव में अभाव होता है। उक्त प्रकार की सामर्थ्य का अभाव होनेसे पुद्गलोपादानक परिणाम को जीव अपने परिणाम के स्वरूप से उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः जीव पुद्गलोपादानक परिणामों का कभी भी उपादानकर्ता नहीं हो सकता है यह निश्चय है। यहां इसी गाथा की तात्पर्यवृत्ति के कुछ अंश को उद्धृत करना आवश्यक मालूम होता है। देखिए-

निर्मलात्मानुभूतिलक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेन अव्याबाधानन्तसुखादिशुद्धभावानां कर्ता, तद्विलक्षणेन अशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां कर्ता भवति आत्मा।

निर्मल आत्मा की अनुभूतिरूप शुद्ध–उपादानकारभूत परिणाम के रूप से परिणत हुई होनेसे आत्मा अव्याबाध और अनंत सुखादिरूप शुद्ध परिणामों का उपादानकर्ता होती है और अशुद्ध आत्मा की अनुभूतिरूप अशुद्ध–उपादानकारणभूत परिणाम के रूप से परिणत हुई होनेसे रागादिरूप अशुद्ध परिणामों का आत्मा उपादान–कर्ता होही है।

सारांश, शुद्ध आत्मा शुद्ध परिणामों का–स्वाभाविकभावों का और अशुद्ध आत्मा अशुद्ध परिणामों का–वैभाविकभावों का उपादानकर्ता होती है–पुद्‌गलकर्म के उपादेयभूत परिणामों का उपादानकर्ता कदापि नहीं होती।

ततः स्थितं एतत्–जीवस्य स्वपरिणामैः एव सह कर्तृकर्मभावः भोक्तृभोग्यभावः च-

जब शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध परिणामों का उपादानकर्ता होती है और अशुद्ध आत्मा अपने अशुद्ध परिणामों का हि उपादानकर्ता होती है–पुद्‌गलोपादानकपरिणामों का उपादानकर्ता कदापि नहीं होती तब 'जीव का अपने परिणामों के साथ कर्तृकर्मभाव और भाव्यभावकभाव होता है' यह अभिप्राय सिद्ध हुआ [ऐसा निम्न गाथा के द्वारा बताया जाता है–]

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति।
वेदयति पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा स्वात्मानम् ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ– **(आत्मा आत्मानं एव हि)** विकारशून्य और उत्कृष्ट स्वसंवेदनज्ञान के रूप से परिणत हुई शुद्ध आत्मा अपनेको हि और अशुद्धपरिणाम के रूप से परिणत हुई आत्मा अपनेको हि **(करोति)** करती है अर्थात् केवलज्ञानादिरूप परिणामों के रूप से शुद्ध आत्मस्वरूप का संवेदन–अनुभव करनेवाली आत्मा परिणत होती है और सुखदुःखादिरूप अशुद्धपरिणामों के रूप से अशुद्ध आत्मा परिणत होती है–उन विशिष्ट परिणामों का उपादानकर्ता होती है. **(पुनः तु)** और फिर **(आत्मा)** निर्विकल्प और उत्कृष्ट स्वसंवेदनज्ञान के रूप से परिणत हुई शुद्ध आत्मा और अशुद्धरूप से परिणत हुई अशुद्ध आत्मा **(तं च एव आत्मानं)** यथाक्रम उसी केवलज्ञानादिरूप शुद्ध परिणामों के रूप से परिणत हुई आत्मा का और सुखदुःखादिरूप अशुद्ध परिणामों के रूप से परिणत हुई अशुद्ध आत्मा का अर्थात् अपना हि **(वेदयति)** अनुभव करती है **(एवं)** इसप्रकार की **(निश्चयनयस्य)** निश्चयनय की दृष्टि है ऐसा **(जानीहि)** हे आत्मन् ! तू जान।

आ. ख्या.– यथा उत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थयोः समीरसञ्चरणासञ्चरणनिमित्तयोः अपि समीरपारावारयोः व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावारः एव स्वयं अन्तर्व्यापकः भूत्वा आदिमध्यान्तेषु उत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे व्याप्य उत्तरङ्गं निस्तरङ्गं वा आत्मानं कुर्वन् आत्मानं एकं एव कुर्वन् प्रतिभाति, न पुनः अन्यत्, यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेण अनुभवितुं अशक्यत्वात् उत्तरङ्गं निस्तरङ्गं वा आत्मानं अनुभवन् एकं एव अनुभवन् प्रतिभाति, न पुनः अन्यत्; तथा ससंसारनिः-

संसारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसम्भवासम्भवनिमित्तयोः अपि पुद्गलकर्मजीवयोः व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीवः एव स्वयं अन्तर्व्यापकः भूत्वा आदिमध्यान्तेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःसंसारं वा आत्मानं कुर्वन् आत्मानं एकं एव कुर्वन् प्रतिभातु, मा पुनः अन्यत्, तथा अयं एव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेण अनुभवितुं अशक्यत्वात् ससंसारं निःसंसारं वा आत्मानं अनुभवन् आत्मानं एकं एव अनुभवन् प्रतिभातु, मा पुनः अन्यत् ।

त. प्र– यथा येन प्रकारेणोत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थयोरुत्कल्लोलनिःकल्लोलावस्थयोः । उद्गतास्तरङ्गाः कल्लोला यस्यां सोत्तरङ्गा । निष्क्रान्ता व्यपगता नष्टास्तरङ्गा यस्याः सा निस्तरङ्गा । प्रादिबसः । उत्तरङ्गा निस्तरङ्गा चोत्तरङ्गनिस्तरङ्गे । ते च तेऽवस्थे चोत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे । तयोः । समीरसञ्चरणासञ्चरणनिमित्तयोर्वायुसञ्चलनासञ्चलनहेतुकयोः । समीरो वायुः । तस्य सञ्चरणासञ्चरणे सञ्चलनासञ्चलने निमित्ते सहकारिकारणे ययोस्ते । तयोरपि । समीरपारावरयोः पवनोदन्वतोर्व्याप्यव्यापकभावाभावादन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावात् । समीरस्वरूपस्य पारावारेऽन्वयाभावात्समीरस्य व्यापकत्वाभावात्पारावारस्य च व्याप्यत्वाभावाद्व्याप्यव्यापकभावाभावादित्यर्थः । ततश्च सागरस्योत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थयोरपि समीरस्वरूपस्यान्वयाभावः । यद्यपि समीरसागरावस्थयोर्निमित्तनैमित्तिकभावसद्भावाद्बहिर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावोऽस्ति तथापि पूर्वोक्तप्रकारेणान्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावः । ततश्च समीरपारावारयोः कर्तृकर्मत्वासिद्धावुपादानोपादेयत्वासिद्धौ । समीरस्योपादानकर्तृत्वासिद्धौ पारावारावस्थयो कर्मत्वासिद्धौ चेत्यर्थः । पारावारः सागर एव स्वयमात्मना व्यापकः स्वरूपेणोत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थयोरन्वयी भूत्वाऽऽदिमध्यान्तेषूत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे व्याप्य स्वरूपेण विगाह्योत्तरङ्गं कल्लोलमालाकुलं निस्तरङ्गं कल्लोलमालाविकलं वाऽऽत्मानं कुर्वन्कुर्वाण आत्मानमेकमेवोत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थाभ्यामेकीभूत ताभ्यामभिन्नं वा कुर्वन्नुत्तरङ्गत्वेन निस्तरङ्गत्वेन वा परिणामयन्प्रतिभाति न पुनरन्यत्किञ्चन समीरप्रस्तरादिकमुत्तरङ्गत्वेन निस्तरङ्गत्वेन वात्मानं परिणामयत्प्रतिभाति । यथा स एव पारावार एव च पारावारतद्भिन्नद्रव्यपरिणामयोर्भाव्यभावकभावाभावात्परिणम्यपरिणामकभावाभावात् । ययोरुपादानोपादेयभावस्तयोरेव भाव्यभावकभावो भवति । ययोर्व्याप्यव्यापकभाव उपादानोपादेयभावः परिणामपरिणामिभावो वा नास्ति तौ परस्परभिन्नौ पदार्थौ स्तः । परभावस्य तयोरेकस्य भावस्य परिणामस्य परेण ततो भिन्नेन परद्रव्येणानुभवितुमात्मभिन्नपदार्थपरिणामाकारेणात्मानं परिणामयितुमशक्यत्वादुत्तरङ्गं निस्तरङ्गं वाऽऽत्मानमनुभवन्नुत्तरङ्गावस्थया निस्तरङ्गावस्थया वाऽऽत्मानं परिणामयन् । अनुभवनं नामानुभाव्यस्वरूपेण परिणमनमेव, सुखदुःखाद्यनुभवनस्यात्मनः सुखदुःखादिपरिणामस्वरूपेण परिणमनवत् । आत्मानमेकमेवोत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थाभ्यामेकीभावं प्राप्तत्वात्ताभ्यामभिन्नत्वादेकमेवानुभवन्स्वस्वरूपात्मकत्वेन परिणामयन्प्रतिभाति, न पुनरन्यत्किञ्चन समीरादि ताभ्यामवस्थाभ्यामेकीभावं प्राप्यैकमेवात्मानमनुभवन्स्वरूपेण परिणामयन्प्रतिभाति पारावारः । तथा तेन प्रकारेण ससंसारनिःससारावस्थयोः ससंसारमुक्तावस्थयोः । शुद्धाशुद्धावस्थयोरित्यर्थः । पुद्गलकर्मविपाकसम्भवासम्भवनिमित्तयोर्विभावभावात्मकजीवपरिणामजननपुद्गलकर्मसामर्थ्यसद्भावासद्भावनिमित्तकारणकयोरपि । पुद्गलकर्मणो विपाको विभावभावात्मकजीवपरिणामजननसामर्थ्यम् । तस्य सम्भवासम्भवावा-

विर्भावतिरोभावौ निमित्ते निमित्तकारणे ययोस्ते पुद्गलकर्मविपाकसम्भवासम्भवनिमित्ते। तयोरपि। पुद्गलकर्मविपाकसम्भवे पुद्गलकर्मस्वामिकविभावभावात्मकजीवपरिणामजननसामर्थ्यस्याविर्भावे सति जीवस्य संसारावस्थाऽऽविर्भवति तदभावे ससारावस्थाविनाशे मुक्तावस्थाऽऽविर्भवतीति तयोरवस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसम्भवासम्भवनिमित्तकत्वम्। पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावादन्तर्व्याप्यव्यापकत्वाभावात्। पुद्गलकर्मणः स्वाचेतस्वरूपेण जीवे जीवपरिणामेऽन्वयाभावात्पुद्गलकर्मणो व्यापकत्वाभावो जीवस्य जीवपरिणामस्य च व्याप्यत्वाभावः। एवं पुद्गलकर्मजीवयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावः। पुद्गलकर्मणो यथा स्वस्वरूपेण जीवेऽन्वयाभावस्तथा जीवस्य ससंसारनिःसंसारावस्थयोरपि स्वस्वरूपेणान्वयाभावात्पुद्गलकर्मणो व्यापकत्वाभावो जीवावस्थयोश्च व्याप्यत्वाभावः। एवं पुद्गलकर्मजीवावस्थयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्पुद्गलकर्मण उपादानकर्तृत्वं जीवावस्थयोश्चोपादेयस्वरूपकर्मत्वं न सिध्यतः। एव पुद्गलकर्मविपाकजीवावस्थयोः कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः स्वस्वरूपेण विगाहिता भूत्वाऽऽदिमध्यान्तेषु साकल्येन ससंसारनिःसंसारावस्थे स्वस्वरूपेण व्याप्यावगाह्य ससंसारं संसारावस्थापन्नं निःससारावस्थं मुक्तावस्थापन्नं वाऽऽत्मानं कुर्वंस्तदवस्थत्वेनात्मानं परिणामयन्नात्मानमेकमेव कुर्वन्ससंसारावस्थत्वेन निःसंसारावस्थत्वेन वा परिणामयन्प्रतिभातु मा पुनरन्यत्किञ्चन पुद्गलकर्मादिकं ससंसारावस्थत्वेन निःसंसारावस्थत्वेन वा परिणामयन्प्रतिभातु। तथाऽयमेव च भाव्यभावकभावाभावात्पुद्गलकर्मविपाकसंसाराद्यवस्थयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्तयोः परस्परभिन्नत्वाद्भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य पुद्गलकर्मणो विपाकस्वरूपसामर्थ्यात्मकपरिणामस्य परेणाऽऽत्मनाऽनुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारं संसारावस्थापन्नं निःसंसारं मुक्तावस्थापन्नं वाऽऽत्मानमनुभवन्परिणामयन्नात्मानमेकमेव ससंसारनिःससारावस्थाभ्यामेकीभावमापन्नमनुभवन्नुपलभमानः प्रतिभातु मा पुनरन्यत्किञ्चन पुद्गलकर्मविपाकादिकं ससंसारं निःससारं वा ताभ्यामवस्थाभ्यामेकीभूतं वा स्वमनुभवन्प्रतिभातु।

टीकार्थ— जिसप्रकार वायु और सागर इनमें व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे तरगों के उठनेमें पवन का चलना निमित्तकारण पडता है और तरंगो के विलीन होनेमें पवन का न चलना अर्थात् पवन की चलनक्रिया का अभाव होना निमित्तकारण पडता है तो भी पवन और सागर में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे पवन के उपादान-कर्तृत्व की और सागर की उत्तरंग और निस्तरंग अवस्थाओं के उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि न होनेपर सागर हि स्वयं अपने स्वरूप से अपनी उत्तरंग और निस्तरंग अवस्थाओं को व्याप्त करनेवाला होकर आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् संपूर्णतया उत्तरंग और निस्तरंग अवस्थाओं को अपने स्वरूप से व्याप्त करके अपनेको उत्तरंग या निस्तरंग करनेवाला अर्थात् उत्तरंग या निस्तरंग अवस्थाओं के रूप से परिणत करनेवाले अपनेको उत्तरंग या निस्तरंग अवस्थाओं के साथ एकरूप करता हुआ दिखाई देता है, दूसरा कोई पवनादिपदार्थ अपनेको उपादानरूप से उत्तरंग या निस्तरंग अवस्थाओं के रूप से परिणत करता हुआ उन अवस्थाओ के साथ अपनेको एकरूप करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। और जिसप्रकार वही सागर दो भिन्न भावों में भाव्यभावकभाव का अभाव होनेसे एक पदार्थ के भाव को दूसरे पदार्थ के द्वारा अपने में अन्तर्भूत करना अशक्य होनेसे सागर उत्तरंग या निस्तरंग अवस्थाओं के रूप से परिणत हुई आत्मा को (अपनेको) अपनेमें समाविष्ट करता हुआ अपनेको उन उत्तरंग और निस्तरंग अवस्थाओं के साथ एकरूप हि बनाता हुआ दिखाई देता है, पवनादिरूप दूसरा कौनसा भी पदार्थ अपनेको सागर की दोनों अवस्थाओं के साथ एकरूप बनाता हुआ दिखाई नहीं देता। उसीप्रकार पुद्गलकर्मविपाक और जीव इनमें (आन्तर) व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे जीव की ससंसार और निःसंसार अवस्थाओं में और पुद्गलकर्मविपाक का सद्भाव और असद्भाव इनमें (आन्तर) व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे पुद्गलकर्मविपाक के सद्भाव का

उपादानकर्तृत्व और जीव की ससंसार-अवस्था का उपादेयभूतकर्मत्व इनकी तथा पुद्गलकर्मविपाक के अभाव का उपादानकर्तृत्व और जीव की निःसंसार अवस्था का उपादेयभूतकर्मत्व इनकी सिद्धि न होनेपर जीव हि स्वयं ससंसार और निःसंसार अवस्थाओं को अपने स्वरूप से व्याप्त करके अपने को ससंसार या निःसंसार करनेवाला अर्थात् ससंसार या निःसंसार अवस्थाओं के रूप से परिणत करनेवाला अपनेको ससंसार और निःसंसार अवस्थाओं के रूप से परिणत करता हुआ उन अवस्थाओं के साथ अपनेको एकरूप करता हुआ प्रतिभासित नहीं होनी चाहिये। उसीप्रकार वही जीव दो भिन्न भावों में भाव्यभावकभाव का अभाव होनेसे एक पदार्थ के भाव को दूसरे पदार्थ के द्वारा अपने में अन्तर्भूत करना अशक्य होनेसे जीव ससंसार या निःससार अवस्थाओं के रूप से परिणत हुई आत्मा को अपनेमें समाविष्ट करता हुआ अपनेको उन ससंसार और निःससार अवस्थाओं के साथ एकरूप बनाता हुआ प्रतिभासित होना चाहिये, अन्य कौनसा भी पदार्थ जीव की उक्त दोनों अवस्थाओं के साथ अपनेको एकरूप करता हुआ प्रतिभासित नहीं होना चाहिये।

विवेचन— जब पवन चलता है तब सागरपर तरंगें उठती हैं। अतः पवन का चलना सागर की उत्तरंग अवस्था का निमित्तकारण होता है और सागर की उत्तरग अवस्था नैमित्तिकभाव होती है। जब पवन चलती नहीं तब सागरपर तरंगें उठती नहीं। अतः पवन का न चलना अर्थात् उसकी चलनेकी क्रिया का अभाव सागर की निस्तरंग अवस्था का निमित्तकारण होता है और निःस्तरंग अवस्था नैमित्तिकभाव होती है (इससे अभाव भी निमित्तकारण होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है।) इसप्रकार पवन का चलना और सागर की उत्तरंग अवस्था और पवन का न चलना और सागर की निस्तरंग अवस्था इनमें निमित्तनैमित्तिभाव होता है। पवन का सागर में स्वस्वरूप से अन्वय न होनेके कारण पवन व्यापक न होनेसे और सागर उसका व्याप्य न होनेसे पवन और सागर में अन्तर्व्याप्य-व्यापकभाव नहीं होता। पवन और सागर में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे सागर के उत्तरंगरूप और निस्तरंगरूप परिणाम और पवन इनमें भी अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है। उनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे पवन के उपादानकर्तृत्व की और सागर के परिणामों के उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि नहीं होती। पवन के उपादानकर्तृत्व की और सागर के परिणामों के उपादेयभूत कर्मत्व की सिद्धि न होनेसे सागर के उत्तरगरूप और निस्तरंगरूप परिणामों में सागर का स्वस्वरूप से अन्वय होनेसे सागर और तरंगे इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है अर्थात् सागर व्यापक होता है और तरगें व्याप्य होती है। सागर तरंगो को अपने स्वरूप से व्यापनेवाला होकर आदि, मध्य और अन्त में अर्थात् पूर्णतया अपनी उत्तरग और निस्तरग अवस्थाओं को अपने स्वरूप से व्याप्त करके अपनेको उत्तरग या निस्तरग बनाता है अर्थात् उनके रूप से परिणत होता है। उन अवस्थाओं के रूप से परिणत होता हुआ सागर अपनेको उन अवस्थाओं के साथ एकरूप या उनसे अभिन्न करता हुआ दिखाई देता है। यद्यपि सागर की उत्तरग अवस्था और पवन का चलनात्मक परिणाम तथा सागर की निस्तरग अवस्था और पवन का अचलनात्मक परिणाम इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव पाया जाता है तो भी पवन सागर की उन दोनों अवस्थाओ को अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाला न होनेसे उन दोनों अवस्थाओं को अपने स्वरूप से संपूर्णरूप से व्याप्त नहीं करता। जब पवन सागर की उन दोनों अवस्थाओं को अपने स्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकता तब वह सागर की उन दोनो अवस्थाओं के रूप से स्वय परिणत नहीं हो सकता और उन अवस्थाओं के साथ एकरूप या उनसे अभिन्न भी नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि सागर और भिन्नस्वभाववाला होनेसे उससे भिन्नद्रव्यभूत पवन इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे भाव्यभावकभाव का अभाव होनेके कारण परद्रव्यभूत पवन के संचरणासंचरणात्मक परिणामों के रूप से सागर परिणत नहीं होता; क्यो कि वह स्वभावभेद के कारण परद्रव्य से भिन्नद्रव्य होता है। निसर्ग का ऐसा नियम है कि एकद्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणाम के रूप से परिणत नहीं होता। सुवर्ण मृत्तिका के परिणामभूत घट के रूप से परिणत नहीं होता। उसकी परिणति सुवर्णघट के रूप से हि होती है। सागर परिणमनशील होनेसे वह यद्यपि पवन के परिणाम के रूप से परिणत नहीं होता तो भी अपने परिणामों के रूप से अर्थात् उत्तरंगनिस्तरंग अवस्थाओं के रूप से अवश्यमेव परिणत होता है। जिसप्रकार वह अपनी अवस्थाओं

के रूप से परिणत होता है उसीप्रकार उनके साथ एकरूप भी होता है। उन अवस्थाओं के साथ एकरूप होनेपर वह स्वयं एक अर्थात् निस्तरंग होता हुआ अर्थात् स्वस्वरूपस्थित होता हुआ दिखाई देता है। पवनसदृश अन्यद्रव्यरूप निमित्त की संचलनक्रियारूप परिणाम का अभाव होते हि सागर स्वस्वरूपस्थित हो जाता है। अन्यद्रव्यभूत पवन और सागर इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेके कारण परद्रव्यभूत सागर की उत्तरंगनिस्तरंग अवस्थाओं के रूप से पवन परिणत नहीं होता। पवन सागर की अवस्थाओं के रूप से जब परिणत नहीं होता तब वह उनके साथ एकरूप भी नहीं हो सकता।

इसप्रकार दृष्टान्त का स्पष्टीकरण हो गया। अब दार्ष्टान्तिक का खुलासा किया जाता है। जब उदयाव-स्थापन्न पुद्‌गल कर्म की शक्ति आविर्भूत होती है तब जीव की ससंसार–अवस्था का प्रादुर्भाव होता है और जब वह शक्ति आविर्भूत नहीं होती तब जीव की ससंसार–अवस्था का अभाव होकर निःसंसार अवस्था आविर्भूत होती है। अतः पुद्‌गलकर्म की फल देनेकी शक्ति का आविर्भाव होना जीव की ससंसार–अवस्था का निमित्तकारण होता है और जीव की ससंसार अवस्था नैमित्तिकभावरूप होती है और पुद्‌गलकर्म की उस शक्ति का आविर्भाव न होना जीव की निःससार अवस्था का निमित्तकारण होता है और जीव की निःससार अवस्था नैमित्तिकभावरूप होती है। [पुद्‌गलकर्म की शक्ति का अनाविर्भाव द्रव्यकर्म के क्षय से होता है और उपशम से भी होता है।] इसप्रकार पुद्‌गलकर्म के विपाक का प्रादुर्भाव और जीव को ससंसार अवस्था तथा पुद्‌गलकर्म के विपाक का अनाविर्भाव और जीव की निःसंसार अवस्था इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव होता है। पुद्‌गलकर्म का जीव में स्वस्वरूप से-अचेतनस्वभाव से जीव में अन्वय न होनेसे पुद्‌गलकर्म व्यापक न होनेके कारण और जीव उसका व्याप्य न होनेसे पुद्‌गलकर्म और जीव इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है। पुद्‌गलकर्म और जीव इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे जीव के ससंसार अवस्थारूप और निःसंसारअवस्थारूप परिणाम और पुद्‌गलकर्मविपाक इनमें भी अन्तर्व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होता है। इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे पुद्‌गलकर्मविपाक के उपादानकर्तृत्व की और जीव के परिणामों के उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि नहीं होती। पुद्‌गलकर्मविपाक के उपादानकर्तृत्व की और जीव के ससंसार–निःसंसार अवस्थारूप परिणामों के उपादेयभूतकर्मत्व की सिद्धि न होनेसे जीव की ससंसार अव-स्थारूप और निःसंसार अवस्थारूप परिणामों में जीव का अपने चैतन्यस्वभाव से अन्वय होनेसे जीव और उसकी ससंसार अवस्थारूप और निःसंसार अवस्थारूप परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है अर्थात् जीव व्यापक होता है और उसकी ससंसारनिःसंसार अवस्थाएं व्याप्य होती है। जीव अपनी ससंसारनिःसंसार अवस्थाओं को अपने चैतन्यस्वरूप से व्यापनेवाला होकर उन अपनी अवस्थाओं को आदि मध्य और अन्त में अर्थात् पूर्णतया अपने चैतन्यरूप से व्याप्त करके अपनेको ससंसारावस्थापन्न या निःससारावस्थापन्न बनाता है अर्थात् उन अवस्थाओं के रूप से परिणत होता है। उन अवस्थाओं के रूप से परिणत होता हुआ जीव उन ससंसारनिःससार अवस्थाओं के साथ अपनेको एकरूप या उनसे अभिन्न करता है। यद्यपि जीव की ससंसार अवस्था और पुद्‌गल की फलदेने की शक्ति का आविर्भाव तथा जीव की निःसंसार अवस्था और पुद्‌गल की फल देनेकी शक्ति का अनाविर्भाव इनमें निमित्तनै-मित्तिकभाव का सद्भाव पाया जाता है तो भी पुद्‌गलकर्म जीव की ससंसार और निःसंसार अवस्थाओं को अपने अचेतनस्वरूप से व्याप्त करनेवाला न होनेसे उन दोनों अवस्थाओं को अपने स्वरूप से संपूर्णतया व्याप्त नहीं कर सकता। जब उन दोनों अवस्थाओं को पुद्‌गलकर्म अपने स्वरूप से व्याप्त नहीं कर सकता तब वह जीव की उन अवस्थाओं के रूप से स्वयं परिणत नहीं हो सकता और उन दोनों अवस्थाओं के साथ एकरूप या उनसे अभिन्न नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि जीव और पुद्‌गलकर्म भिन्नस्वभाववाले होनेसे जीव और जीव से भिन्नद्रव्यरूप पुद्‌गलकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे भाव्यभावकभाव का अभाव होनेके कारण परद्रव्यभूत पुद्‌गलकर्म के विपाक के संभवासंभवात्मक परिणामों के रूप से जीव परिणत नहीं होता; क्यों कि वह पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न होता है। जीव परिणमनशील होनेसे वह यद्यपि पुद्‌गलकर्म के परिणाम के रूप से परिणत नहीं होता तो भी अपने परिणामों के अर्थात् ससंसारनिःसंसार अवस्थाओं के रूप से अवश्यमेव परिणत होता है। जिसप्रकार वह अपनी

अवस्थाओं के रूप से परिणत होता है उसीप्रकार उनके साथ एकरूप भी होता है। उन अवस्थाओं के साथ एकरूप होनेपर वह यथासंभव संसारी या मुक्त होता है। जब वह अपने पुरुषार्थ से अपनी ससंसार अवस्था का नाश करता है तब निःसंसार अवस्था के रूप से परिणत हो जाता है। निःसंसार अवस्था के साथ एकरूप बना हुआ जीव भावकर्म का अभाव हो जानेके कारण अपने अखंड और निष्पर्याय स्वरूप में स्थिर हो जाता है। यही उसकी मुक्तावस्था है। पुद्गलकर्मसदृश अन्यद्रव्य और जीव इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे भाव्यभावकभाव का अर्थात् परिणम्यपरिणामकभाव का अभाव होनेके कारण परद्रव्यभूत जीव की ससंसारनिःसंसार अवस्थाओं के रूप से पुद्गलकर्म परिणत नहीं होता। परिणमनशील पुद्गलकर्म जीव की अवस्थाओं के रूप से जब परिणत नहीं होता तब वह उनके साथ एकरूप भी नहीं हो सकता है।

अथ व्यवहारं दर्शयति–

आत्मा पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म का उपादानकारण न होनेसे या आत्मा और पुद्गलकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का और भाव्यभावकभाव का अभाव होनेसे द्रव्यकर्म जीव का परमार्थतः कर्ता न होनेपर भी उसको जो कर्ता और भोक्ता कहा जाता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है यह बतलाते है।

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८४ ॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् ।
तच्चैव पुनर्वेदयति पुद्गलकर्माऽनेकविधम् ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ– (**अनेकविधम्**) मूलोत्तर प्रकृतियों के रूप से जिसके अनेक भेद हैं ऐसे (**पुद्गलकर्म**) पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म को (**आत्मा**) आत्मा (**करोति**) करती है अर्थात् उसका कर्ता होती है (**पुनः च**) और (**तत् एव**) उसी (**अनेकविधम्**) अनेकप्रकार के (**पुद्गलकर्म**) पुद्गलकर्म को (**वेदयति**) भोगती है–उसका अनुभव करती है अर्थात् उसका भोक्ता होती है ऐसा जो कथन है वह (**व्यवहारनयस्य तु**) कथन व्यवहारनय की दृष्टि से हि किया गया है।

[भावार्थ– पुद्गलकर्म का उपादानकारण पुद्गलद्रव्य होनेसे वही परमार्थतः उसका कर्ता है। आत्मा उसका कर्ता नहीं है क्योंकि वह पुद्गलकर्म का उपादानकर्ता नहीं है। पुद्गल की कर्मरूपपरिणति का आत्मा निमित्तकारणमात्र होनेसे उसे जो कर्ता कहा जाता है वह सिर्फ व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। उसीप्रकार आत्मा और पुद्गलकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का या उपादानोपादेयभाव का अभाव होनेके कारण भाव्यभावकभाव का अभाव होनेसे आत्मा परमार्थतः पुद्गलकर्म का भोक्ता न होनेपर भी उसे जो भोक्ता भी कहा जाता है वह भी व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। आत्मा पुद्गलकर्म की शक्तिरूप निमित्त के कारण उत्पन्न होनेवाली विभावपरिणतियों का हि कर्ता होती है–उनके रूप से परिणत होती है। वह पुद्गलकर्म की या उसकी शक्ति की भोक्ता नहीं होती; क्यों कि भोगने का अर्थ जिसको भोगा जाता है उसके रूप से परिणत होना होनेसे पुद्गलकर्म के रूप से या उससे अभिन्न उसकी शक्ति के रूप से आत्मा की परिणति होना असंभव है। सारांश, आत्मा का पुद्गलकर्मकर्तृत्व और पुद्गलकर्मभोक्तृत्व उपचरित है–वास्तव नहीं है।]

आ. ख्या.– यथा अन्तर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकया एव अनुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं

कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेन अनुभवन् च कुलालः कलशं करोति अनुभवति च इति लोकानां अनादिरूढः अस्ति तावत् व्यवहारः, तथा अन्तर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येण एव अनुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन अज्ञानात् पुद्गलकर्मसम्भवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसम्पादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेन अनुभवन् च जीवः पुद्गलकर्म करोति अनुभवति च इति अज्ञानिनां आसंसारप्रसिद्धः अस्ति तावत् व्यवहारः ।

त. प्र.– यथाऽन्तर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकातत्परिणामभूतकलशयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावेन । मृत्तिकायाः स्वपरिणामभूते कलशे स्वीयपार्थिवत्वादिस्वरूपेणान्वयाद्व्यापकत्वात्कलशस्य च तेनान्वितत्वाद्व्याप्यत्वान्मृत्तिकाकलशयोस्सद्भूतेनान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकयोरुपादानकारणभूतया स्वोपादेयात्मके कलशे घटे क्रियमाण उत्पाद्यमाने । मृत्तिकायामुपादानकारणभूतायां स्वोपादेयकलशरूपेण परिणममानायामित्यर्थः । भाव्यभावकभावेन परिणम्यपरिणामकभावेन । मृत्तिकाया उत्पद्यमानत्वात्कलशस्य भाव्यत्वं मृत्तिकायाश्च कलशोत्पत्त्युपादानकारणभूतत्वाद्भावकत्वम् । मृत्तिकया कलशस्यानुभवन नाम तस्याः कलशरूपेण परिणमनमेव, वेदयत्यनुभवति भुङ्क्ते परिणमतीति श्रीमज्जयसेनाचार्योक्तत्वात् । मृत्तिकयैवानुभूयमाने भुज्यमाने । मृत्तिकायां कलशाकारेण परिणममानायामित्यर्थः । 'यङ्गावाङ्गावगतिः' इतीप् । बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन निमित्तनैमित्तिकभावेन । कुलालस्य स्वस्वरूपेण कलशेऽन्वयाभावादुपादानकर्तृत्वाभावात्कलशस्य च कुलालस्वरूपेणान्वितत्वाभावादुपादेयभूतकर्मत्वाभावादन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि कलशोत्पत्त्यनुकूलकुलालहस्तसञ्चालनादिव्यापारमन्तरेण कलशोत्पत्तेरसम्भवाद्घटकुलालयोर्बहिर्व्याप्यव्यापकभावो निमित्तनैमित्तिकभावोऽस्ति । एवं कलशकुलालयोर्बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं कलशोत्पत्त्यनुरूपं व्यापारं हस्तसञ्चालनादिरूपां क्रियां कुर्वाणः कुर्वन्कलशकृततोयोपयोगजां कलशसम्भृतसलिलपानजाम् । कलशे कृतं सम्भृतं कलशकृतम् । कलशकृतं च तत्तोयं सलिलं च कलशकृततोयम् । तस्योपयोगः पानादिरूपः । तस्माज्जाता कलशकृततोयोपयोगजा । ताम् । 'कायामजातौ' इति जनेर्डः । पिपासाकुलितो मृद्घटसम्भृतं शीतलं सलिलं पिबस्तृप्तिरूपेण परिणम्य तं स्वपरिणाममनुभवति । अतस्तृप्तिरूपो जीवस्योपादेयभूतः परिणाम एव तृप्तिः । तां तृप्तिं तृप्तिरूपमात्मपरिणामं भाव्यभावकभावेन परिणम्यपरिणामकभावेनानुभवंश्च तृप्तिरूपपरिणामात्मकत्वेन परिणममानः कुलालः कुम्भकारः कलशं घटं करोत्युत्पादयत्यनुभवति घटाकारेण परिणमते च । कलशाकारेणापरिणममानत्वात्कलशस्योपादानकर्तृत्वाभावेऽपि कलशोत्पत्त्यनुकूलव्यापारवत्त्वान्निमित्तकारणमात्रभूतत्वात्कुलालः कलशकर्तेति कलशसम्भृतसलिलपानरूपनिमित्तकारणजनिततृप्तिरूपात्मपरिणामात्मकत्वेन परिणमनाद्धेतोस्तस्य स्वस्वभावत्यागपूर्वकं मृत्तिकास्वभावेन तादात्म्यमापद्य कलशरूपेणापरिणमनात्कुलालस्य व्यापकत्वाभावात्कलशस्य च कुलालस्वरूपेणानन्वितत्वाद्व्याप्यत्वाभावात्कुलालकलशयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावेन भाव्यभावकभावाभावात्कलशभोक्तृत्वाभावेऽपि कुलालः कलशभोक्तेति व्यवहारनयदृष्ट्या लोकानामनादिरूढोऽनादे रूढः पारम्पर्येण प्रसिद्धो व्यवहारो रूढिः । तथा तेन प्रकारेणान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण स्वस्वरूपेण पुद्गलकर्मणो व्यापकत्वात्पुद्गलकर्मणश्च पुद्गलद्रव्यस्वरूपेणान्वित–

स्वात्तद्व्याप्यत्वात्पुद्गलद्रव्यपुद्गलकर्मणोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावेन पुद्गलद्रव्येणोपादानकर्तृभूतेन कर्मणि पुद्गलकर्मणि स्वस्वरूपेण व्याप्य क्रियमाण उत्पाद्यमाने । पुद्गलद्रव्यस्य पुद्गलकर्मात्मकत्वेन परिणममानत्व इत्यर्थः । भाव्यभावकभावेन परिणम्यपरिणामकभावेन । पुद्गलकर्मणः परिणामस्वरूपत्वाद्भाव्यत्व पुद्गलद्रव्यस्य च पुद्गलकर्मण उपादानकर्तृत्वाद्भावकत्वम् । ततः परिणामपरिणामित्वात्पुद्गलकर्मपुद्गलद्रव्ययोर्भाव्यभावकभावसद्भावः । तेन । पुद्गलद्रव्येणैव भावकभावभूतेन पुद्गलकर्मण उपादानकर्त्रैवानुभूयमाने च पुद्गलद्रव्यस्योपादानकर्तुः पुद्गलकर्मरूपोपादेयभूतपरिणामत्वेन । परिणममानत्वे सतीत्यर्थः । बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन निमित्तनैमित्तिकभावेन । जीवस्य पुद्गलकर्मणि स्वीयचेतनस्वरूपेणान्वयाभावादुपादानकर्तृत्वाभावात्पुद्गलकर्मणश्च जीवस्वरूपेणान्वितत्वाभावादुपादेयभूतकर्मत्वाभावादन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि पुद्गलकर्मोत्पत्त्यनुकूलात्मविभावपरिणतिरूपव्यापारमन्तरेणोपादानभूतपुद्गलद्रव्यात्पुद्गलकर्मण उत्पत्तेरसम्भवाज्जीवपुद्गलकर्मणोर्बहिर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावोऽस्ति । एवं जीवपुद्गलकर्मणोर्बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन निमित्तनैमित्तिकभावेनाज्ञानान्मिथ्याज्ञानद्धेतोः पुद्गलकर्मसम्भवानुकूलं पुद्गलद्रव्योपादानकपुद्गलकर्मोत्पत्त्यनुकूलं परिणामं भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकमात्मपर्यायं कुर्वाणो जनयन्पुद्गलकर्मविपाकसम्पादितविषयसन्निधिप्रधावितां पुद्गलकर्मफलदानसामर्थ्यजनितेन्द्रियविषयसन्निकर्षोत्पन्नाम् । पुद्गलकर्मणो विपाकेन फलदानसामर्थ्यात्मकेनोदयेन हेतुभूतेन सम्पादितानां सङ्कलितानामर्जितानां विषयाणामिन्द्रियविषयाणां सन्निधिना सन्निकर्षेण प्रधावितां प्रादुर्भूतां सुखदुःखपरिणतिं सुखदुःखस्वरूपविभावभावात्मिकामात्मनः परिणतिं भाव्यभावकभावेन परिणम्यपरिणामकभावेनाऽनुभवन्परिणममानश्च जीवः पुद्गलकर्म पुद्गलोपादानकं द्रव्यकर्म करोति जनयत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोऽनादेः प्रसिद्धोऽस्ति तावद् व्यवहारो रूढिः । पुद्गलकर्मपरिणामस्वरूपेणापरिणममानत्वात्पुद्गलकर्मण उपादानकर्तृत्वाभावेऽपि पुद्गलपरिणामात्मकपुद्गलकर्मोत्पत्त्यनुकूलाज्ञानिजीवविभावभावात्मकपरिणतिक्रियावत्त्वान्निमित्तकारणमात्रत्वाज्जीवः पुद्गलकर्मकर्तेति पुद्गलकर्मफलदानसामर्थ्यात्मकोदयसङ्कलितेन्द्रियविषयसन्निकर्षरूपनिमित्तकारणजनिताज्ञानिजीवस्वाभिकसुखदुःखात्मकात्मपरिणामात्मकत्वेन परिणमनाद्धेतोस्तस्यात्मनः स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकं पुद्गलकर्मस्वभावेन तादात्म्यमापद्य पुद्गलकर्मस्वरूपेणापरिणमनादात्मनः पुद्गलकर्मव्यापकत्वाभावात्पुद्गलकर्मणश्च व्याप्यत्वाभावादात्मपुद्गलकर्मणोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावेन भाव्यभावकभावाभावात्पुद्गलकर्मभोक्तृत्वाभावेऽप्यज्ञानिनः पुद्गलकर्मभोक्तेति च व्यवहारनयापेक्षयाऽज्ञानिनामनादेः प्रसिद्धा रूढिः । पुद्गलकर्मोदयनिमित्तजन्यविभावपरिणामात्मकत्वेनाज्ञानिनः परिणमनमेव पुद्गलकर्मभोक्तृत्वं, पुद्गलकर्मोदयनिमित्तमन्तरेण जीवस्य तादृक्परिणतेरसम्भवादिति भावः ।

टीकार्थ— जिसप्रकार मृत्तिका और कलश इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे मृत्तिका के द्वारा जब कलश की उत्पत्ति की जाती है और उन दोनों मे भाव्यभावकभाव अर्थात् परिणम्यपरिणामकभाव होनेसे मृत्तिका के द्वारा हि जब उस कलश का अनुभव किया जाता है अर्थात् मृत्तिका हि जब कलश के रूप से परिणत होने लगती है तब मृत्तिका कलशरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी योग्यता रखनेवाली होनेपर भी कुम्हार के अभाव में उसका कलशरूप से परिणमन होना असंभव होनेके कारण कुम्हार और कलश में बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव होनेसे मृत्तिका से होनेवाली कलश की उत्पत्ति के अनुकूल हस्तसचालनादिक्रिया को करनेवाला और कलश में भरे हुए जल के उपयोग से अर्थात् जल पीनेसे उत्पन्न होनेवाली आत्मपरिणामभूत तृप्ति का तृप्ति और कुम्हार इनमें भाव्यभावकभाव का अर्थात् परिणम्यपरिणामकभाव का सद्भाव

होनेसे अनुभव करनेवाला अर्थात् तृप्तिरूपपरिणाम के रूप से परिणत होनेवाला कुम्हार कलश को उत्पन्न करता है और कलश को भोगता है इसप्रकार अनादिकाल से प्रसिद्धि को प्राप्त हुई लोकरूढी है उसीप्रकार पुद्‌गलद्रव्य और द्रव्यकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे पुद्‌गलद्रव्य के द्वारा जब द्रव्यकर्म की उत्पत्ति की जाती है और उन दोनों में भाव्यभावकभाव का अर्थात् परिणम्यपरिणामकभाव का सद्भाव होनेसे पुद्‌गलद्रव्य के द्वारा जब उस द्रव्यकर्म का अनुभव किया जाता है अर्थात् पुद्‌गलद्रव्य हि द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होने लगता है तब पुद्‌गलद्रव्य द्रव्यकर्मरूप से परिणत होनेकी योग्यता रखनेवाला होनेपर भी अज्ञानी जीव के विभावभावरूप परिणति के अभाव में उसका द्रव्यकर्म के रूप से परिणमन होना असंभव होनेके कारण अज्ञानी जीव और द्रव्यकर्म इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव होनेसे पुद्‌गलद्रव्य से होनेवाली द्रव्यकर्म की उत्पत्ति के अनुकूल क्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणति को करनेवाला और पुद्‌गलकर्म के फलदानसामर्थ्य से युक्त उदयरूप निमित्त से संकलित किये गये इंद्रियविषयों के सन्निकर्ष के कारण उत्पन्न हुए अपने सुखदुःखरूप परिणाम का सुखदुःखरूप से परिणाम और अज्ञानी जीव इनमें भाव्यभावकभाव का सद्भाव होनेसे अनुभव करनेवाला अर्थात् सुखदुःखादिरूप परिणामों के रूप से परिणत होनेवाला अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म को करता है और उसका अनुभव करता है इसप्रकार अज्ञानी अर्थात् मिथ्याज्ञान के रूप से परिणत हुए जीवों का अनादिकाल से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ व्यवहार होता आया है।

[आत्मख्याति टीका का अनुवाद जो ऊपर दिया गया है वह 'यद्भावाद्भावगतिः' इस सूत्र के अनुसार किया गया है। टीका में 'क्रियमाणे' और 'अनुभूयमाने' इन सप्तम्यन्त पदों का प्रयोग किया जानेसे उक्त सूत्र के अनुसार अर्थ करना पडा। इससे उपादान की परिणतिक्रिया का काल और उपादान की परिणतिक्रिया के अनुकूल निमित्त की परिणतिक्रिया का काल एक होता है यह अभिप्राय व्यक्त होता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त की परिणतिक्रिया के बिना उपादान उपादेय के रूप से परिणत नहीं हो सकता। 'महीं शासति दशरथे जनाः सुखभाजोऽभवन्'– महाराज दशरथ जब राज्य करते थे तब प्रजा सुखी थी। इस उदाहरण से उक्त अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। महाराज दशरथ के शासन का काल और जनता के सुखी होनेका काल इनकी एकता उक्त उदाहरण में बतायी गयी है। इसीप्रकार उपादान की परिणति के काल की और निमित्त की परिणति के काल की एकता होती है। यदि दोनों की परिणतियों का काल भिन्न हुआ तो उपादान की कार्यरूप से परिणति होना असंभव है।]

विवेचन– मृत्तिका अपने स्वरूप से कलश को व्याप्त करती है अर्थात् अपने स्वरूप से कलश में अन्वित होती है इसलिये मृत्तिका अन्तर्व्यापक है और कलश मृत्तिका के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जाता है अर्थात् मृत्तिका के स्वरूप से अन्वित होता है इसलिये अन्तर्व्याप्य है। इसप्रकार मृत्तिका और कलश इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है। मृत्तिका और कलश इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होनेसे मृत्तिका के द्वारा कलश किया जाता है अर्थात् कलश के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का मृत्तिका आश्रय होती है। उसीप्रकार कलश उत्पाद्य होनेसे भाव्य अर्थात् परिणम्य होता है और मृत्तिका उत्पादक होनेसे भावक अर्थात् परिणामक होती है। इसप्रकार कलश और मृत्तिका इनमें भाव्यभावकभाव होता है। कलश और मृत्तिका इनमें भाव्यभावकभाव होनेसे मृत्तिका के द्वारा कलश का अनुभव किया जाता है अर्थात् मृत्तिका कलश के आकार के रूप से परिणत हो जाती है। बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का अर्थ निमित्तनैमित्तिकभाव है। बहिर्व्याप्यव्यापकभाव से निमित्तनैमित्तिकभाव का ग्रहण अभीष्ट होनेसे भी यहां बहिर्व्याप्यव्यापकभाव इस सामासिक शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसका खास प्रयोजन है और वह है 'निमित्त के अभाव में उपादान से उपादेय की उत्पत्ति नहीं हो सकती' इस अभिप्राय को ध्वनित करना। पिंडाकार मृत्तिका कलश के आकार के रूप से परिणत होनेके अभिमुख होनेपर भी अर्थात् परिणत होनेके लिये तैयार होनेपर भी कुम्हार की हस्तसंचालनादिक्रिया के अभाव में वह कलश के आकार के रूप से परिणत नहीं होती। अतः कलश बहिर्व्याप्य और कुम्हार या कुम्हार की हस्तसंचालनादिक्रिया बहिर्व्यापक है। इसप्रकार कलश और कुम्हार इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव है। कलश और कुम्हार इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव होनेसे कुम्हार

के द्वारा कलश किया जाता है और उसका अनुभव किया जाता है ऐसा व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। कहनेका भाव यह है कि-मृत्तिका और कलश इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे पिण्डरूप से परिणत हुई मृत्तिका यद्यपि कलश के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के रूप से परिणत होनेके लिए अभिमुख अर्थात् तैयार होती है तो भी वह कुम्हार की हस्तसंचालनादिक्रिया के अभाव में कलश के रूप से परिणत होने नहीं लग सकती। यदि कुम्हार की हस्तसंचालनादिक्रिया का अभाव होनेपर भी मृत्तिका कलश के रूप से परिणत हो सकती है ऐसा माना तो कुम्हार का अभाव होनेपर भी मृत्तिका कलश के रूप से परिणत होने लगेगी और सर्वत्र कलश की हि उत्पत्ति युगपत् एक काल में हि हो जायगी, अन्य मृत्पात्रों की उत्पत्ति कदापि नही होगी; किंतु ऐसा नहीं होता। इससे 'कुम्हार की हस्तसंचालनादिक्रिया के बिना कलशोत्पत्ति नहीं हो सकती' यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतः जब मृत्तिका कुम्हार की हस्तसचालनादिक्रिया का सद्भाव होनेपर हि कलश के रूप से परिणत होती है तब लौकिक-व्यवहार के अनुसार अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से याने उपचार से कुम्हार कलश का कर्ता कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि कलश और कुम्हार इनमें भाव्यभावकभाव अर्थात् परिणम्यपरिणामकभाव नहीं हो सकता, क्यों कि वे दोनों विजातीय द्रव्य हैं। जिनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है उनमें हि भाव्यभावकभाव का सद्भाव होता है। कलश और कुम्हार इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभाव अवश्य होता है। जब उन दोनों में भाव्यभावकभाव का अभाव है तब कुम्हार कलश का भोक्ता-कलश के रूप से परिणत होनेवाला नहीं हो सकता। कलश में भरे हुए जल के पीनेसे पीनेवाले कुम्हार का तृप्तिरूप परिणाम प्रादुर्भूत होता है। उस तृप्तिरूप परिणाम में और जलपान करनेवाले कुम्हार में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे उनमें भाव्यभावकभाव का सद्भाव होता है और उन दोनों में भाव्यभावकभाव का सद्भाव होनेसे कुम्हार उस तृप्तिरूप परिणाम का भोक्ता होता है। यह तृप्तिरूप परिणाम जलपानरूप निमित्त से कुम्हार में प्रादुर्भूत होता है। यह जल कलश में भरा हुआ होनेसे और उसके पीनेसे तृप्तिरूप परिणाम की उत्पत्ति होनेसे कुम्हार उपचार से कलश का भोक्ता कहा जाता है। यह कथन उपचरित होनेसे व्यवहारनयाश्रित है। सारांश, कुम्हार निश्चयनय की दृष्टि से कलश का कर्ता और भोक्ता न होनेपर भी लोक उस कुम्हार को कलश का कर्ता और भोक्ता अनादिकाल से जो कहते आये हैं वह उनका कथन व्यवहारनयाश्रित है।

यहांतक दृष्टान्त का स्पष्टीकरण हुआ। अब दार्ष्टान्तिक का खुलासा किया जाता है। पुद्गलद्रव्य अपने स्वरूप से द्रव्यकर्मरूप अपने परिणाम को व्याप्त करती है इसलिये पुद्गलद्रव्य अन्तर्व्यापक है और पुद्गलकर्म पुद्गल-द्रव्य के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जाता है अर्थात् पुद्गलद्रव्य के स्वरूप से अन्वित होता है इसलिये द्रव्य-कर्म व्याप्य होता है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्य और पुद्गलकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है। पुद्गलद्रव्य और पुद्गलकर्म (द्रव्यकर्म) इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होनेसे पुद्गलद्रव्य के द्वारा पुद्गलकर्म किया जाता है अर्थात् पुद्गलकर्म के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का पुद्गलद्रव्य आश्रय होता है। उसीप्रकार पुद्गलकर्म उपादान होनेसे भाव्य अर्थात् परिणम्य होता है और पुद्गलद्रव्य उत्पादक होनेसे भावक अर्थात् परिणामक होता है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्य और पुद्गलकर्म इनमें भाव्यभावकभाव होता है। पुद्गलकर्म और पुद्गलद्रव्य इनमें भाव्यभावकभाव होनेसे पुद्गलद्रव्य के द्वारा पुद्गलकर्म का अनुभव किया जाता है अर्थात् पुद्गलद्रव्य पुद्गलकर्म के रूप से परिणत होता है। यहांपर भी बहिर्व्याप्यव्यापकभाव से निमित्तनैमित्तिकभाव का ग्रहण अभीष्ट है। द्रव्यकर्म के रूप से परि-णत होनेके लिये अभिमुख अर्थात् तैयार होनेपर भी अज्ञानी जीव की विभावभाव के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के अभाव में वह पुद्गलद्रव्यकर्मरूप से परिणत नहीं हो सकता। अतः द्रव्यकर्म बहिर्व्याप्य है और अज्ञानी जीव या उसकी विभावभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया बहिर्व्यापक है। इसप्रकार पुद्गलकर्म और अज्ञानी जीव इनमें बहि-र्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव है। पुद्गलकर्म और अज्ञानी जीव इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे अज्ञानी जीव के द्वारा पुद्गलकर्म किया जाता है और उसका अनुभव किया जाता है ऐसा व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। कहनेका भाव यह है कि-पुद्गलद्रव्य और पुद्गलकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे

द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के रूप से परिणत होनेके लिए पुद्गलद्रव्य अभिमुख अर्थात् तैयार होता है तो भी यह अज्ञानी जीव की विभावभाव के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के अभाव में द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होने नहीं लग सकता । अतः जब अज्ञानी जीव की विभावभाव के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का सद्भाव होनेपर हि पुद्गलद्रव्य पुद्गलकर्म के रूप से परिणत हो सकता है तब लौकिकव्यवहार के अनुसार अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से याने उपचार से अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म का कर्ता कहा जाता है । दूसरी बात यह है कि पुद्गलकर्म और अज्ञानी जीव इनमें भाव्यभावकभाव अर्थात् परिणम्यपरिणामकभाव नहीं हो सकता; क्यों कि वे दोनों विजातीय द्रव्य हैं । पुद्गलकर्म और अज्ञानी जीव इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभाव अवश्य होता है । जब उन दोनों में भाव्यभावकभाव का अभाव है तब अज्ञानी जीव पुद्गलकर्म का भोक्ता अर्थात् द्रव्यकर्मरूप से परिणत होनेवाला नहीं हो सकता । पुद्गलद्रव्य की पुद्गलकर्म के रूप से परिणति होते समय विभावभावरूप परिणाम के रूप से परिणत होकर निमित्तकारण पडनेवाले जीव के पुद्गलकर्म का उदय होनेसे इंद्रियों के विषयों कि प्राप्ति होती है । इंद्रियविषयों की प्राप्ति कर्मोदयनिमित्तक होनेसे वे कर्मोदय के द्वारा संपादित किये जाते है ऐसा कहा जाता है । कर्मोदय के अभाव में उनकी प्राप्ति नहीं होती । जब पुद्गलकर्म के उदय से इष्ट विषयों की प्राप्ति होती है तब जीव की सुखरूप से परिणति होती है और जब अनिष्ट विषयों की प्राप्ति होती है तब जीव की दुःखरूप से-आकुलता के रूप से परिणति होती है । यह सुखदुःखरूप परिणति जीव के विभावभावरूप होती है । इन दोनों परिणतियों में जीव का अशुद्ध चैतन्यरूप से अन्वय होनेसे ये दोनों परिणाम अज्ञानी जीव के अन्तर्व्याप्य है और जीव अन्तर्व्यापक है । इसप्रकार सुखदुःखादिपरिणाम और अज्ञानी जीव इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है । इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापक-भाव का सद्भाव होनेसे भाव्यभावकभाव का भी सद्भाव होता है । इनमें भाव्यभावकभाव का सद्भाव होनेसे अज्ञानी जीव अपनी उन सुखदुःखादिरूप परिणतियो का अनुभव करता है अर्थात् उन सुखदुःखादिरूप परिणामों के रूप से परिणत होता है । इसप्रकार पुद्गलकर्मोदयनिमित्तक अपने परिणामों का हि अज्ञानी जीव अनुभव करनेवाला होनेपर वे परिणतियां पुद्गलकर्मोदयनिमित्तक होनेसे कथंचित् पुद्गलकर्मस्वामिक होनेके कारण अज्ञानी जीव उपचार से पुद्गलकर्म का भोक्ता कहा जाता है । इसप्रकार अज्ञानी जीव हि जीव को पुद्गलकर्म का भोक्ता कहा करते है । अज्ञानी जीव अनादिकाल से मिथ्याज्ञानरूप से परिणत हुए होनेसे ऐसा हि कहते आये है । यह उनका कथन अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाश्रित है ।

अथ एनं दूषयति–

अब इस व्यवहार को अर्थात् अनुपचरितासद्भूतव्यवहार को दूषण देते हैं–

[पुद्गलद्रव्य से प्रादुर्भूत होनेवाले द्रव्यकर्म की उत्पत्ति में अपने विभावभावरूप परिणति के रूप से निमित्त होनेसे अज्ञानी जीव को जो पुद्गलकर्म का कर्ता कहा जाता है वह कथन पुद्गलद्रव्य की क्रिया का अज्ञानी जीव उपादानकर्ता हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे सदोष है यह बताते हैं–]

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियाविदिरित्तो पसजदि सो जिणावमदं ॥ ८५ ॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयति आत्मा ।
द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतम् ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ– [यदि] यदि [आत्मा] अज्ञानी जीव [इदं] पुद्गलद्रव्यरूप उपादान से प्रादुर्भूत हुए इस [पुद्गलकर्म] पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म को [करोति] करता है [तत् एव च] और उसी पुद्गलकर्म को [वेदयति] भोगता है ऐसा माना तो [सः] वह अज्ञानी जीव [द्विक्रिया-

व्यतिरिक्तः] दो द्रव्यों की उपादेयभूत अपने अपने उपादानभूत द्रव्य से अभिन्न अर्थात् अपने अपने उपादानभूत द्रव्य के साथ जिनका तादात्म्य होता है ऐसी क्रियाओ से अभिन्न अर्थात् एकरूप या तादात्म्य को प्राप्त हो जायगा । इसप्रकार [**जिनावमतं**] जिनेन्द्र भगवान् ने जिसका अनादर किया है ऐसा मत [**प्रसजति**] प्रसक्त होता है अर्थात् इस मत की सिद्धि हो जाती है ।

आ. ख्या.– इह खलु क्रिया हि तावत् अखिला अपि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतः अस्ति भिन्ना । परिणामः अपि परिणामपरिणामिनो. अभिन्नवस्तुत्वात् परिणामिनः न भिन्नः । ततः या काचन क्रिया किल सकला अपि सा क्रियावतः न भिन्ना । इति क्रियाकर्त्रोः अव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तं एव अनुभवति च जीवः तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्म अपि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तत् एव अनुभवेत् च ततः अयं स्वपर–समवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजन्त्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनात् अने–कात्मकं एकं आत्मानं अनुभवन् मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ।

त. प्र.– इहाऽत्र संसारे । खल्विति वाक्यालङ्कारे । क्रिया हि परमार्थतस्तावदखिला निखि–लाऽपि परिणामलक्षणतया परिणामस्वरूपसदृशस्वरूपतया । परिणामस्योत्पादव्ययात्मक लक्षणम् । तल्लक्षणमिव लक्षणं स्वरूप यस्या सा । तस्या भावः परिणामलक्षणता । तया । न नाम नैव परिणा-मतः पर्यायावस्ति भिन्ना पृथग्भूता। वियुक्तेत्यर्थः। परिणामोऽप्युपादानस्वरूपान्वितमुपादेयभूतं कार्यमपि परिणामपरिणामिनोः पर्यायपर्यायिणोरुपादानकारणोपादेयभूतकार्ययोरभिन्नवस्तुत्वादेकद्रव्यत्वात् । परि-णामपरिणामिनोस्तादात्म्याद्भेदाभावादित्यर्थः । परिणामिन उपादानकारणभूताद्द्रव्यान्न भिन्नो वियुक्तः। ततस्तस्मात्कारणाद्या काचन क्रिया किल सा सकलापि क्रियावतः क्रियोत्पत्त्याश्रयीभूतद्रव्यान्न भिन्ना पृथग्भूता वियुक्ता । इत्यमुना प्रकारेण क्रियाकर्त्रोः परिणत्यात्मकक्रियातदुत्पत्त्याश्रयभूतोपादानकारण–रूपकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायामन्योन्याभिन्नतायां वस्तुस्थित्या वस्तुस्वभावेन प्रतपत्यां प्रकटीभवन्त्यां यथा येन प्रकारेण व्याप्यव्यापकभावेन जीवतत्परिणामयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावेन । जीवस्य स्वरूपेण स्वोपादेय-भूते स्वपरिणामेऽन्वयस्य सद्भावाज्जीवस्यान्तर्व्यापकत्व तत्परिणामस्य च स्वोपादानभूतजीवस्वरूपेणा-न्वितत्वादन्तर्व्याप्यत्वम् । एवं जीवतदुपादेयभूतपरिणामयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भाव. । स्वपरिणामं स्वस्वरूपान्वित कार्यभूत स्वपर्याय करोत्युत्पादयति स्वपरिणामोत्पत्त्याकारपरिणतिक्रियोत्पत्त्याश्रयी–भवति । भाव्यभावकभावेन परिणम्यपरिणामकभावेन तमेव स्वपरिणाममेवानुभवति स्वपरिणामात्म-कत्वेन परिणमति च । तथा तेन प्रकारेण व्याप्यव्यापकभावेनान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन । पुद्गलकर्म पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म स्वचेतनस्वरूपेणावगाह्य व्यापको भूत्वा पुद्गलकर्म च व्याप्य कृत्वा पुद्गलकर्माऽपि पुद्गलोपादानकं द्रव्यकर्मापि स्वस्वरूपेणावगाह्य यदि कुर्यात्स्वोपादेयत्वेन यद्युत्पादये-द्भाव्यभावकभावेन परिणम्यपरिणामकभावेन पुद्गलकर्म परिणम्य कृत्वा स्वय च व्यापको भूत्वाऽनुभ-वेच्च पुद्गलकर्मस्वरूपेण यदि परिणमेच्च जीवस्ततोऽयं जीवः स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां स्वद्रव्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरद्रव्यमित्यवुक्तस्वपरस्वरूपान्वितपरिणामात्मकक्रियाद्वयाभिन्नता-

याम् । स्वो जीवः परं च पुद्गलकर्म स्वपरे । ताभ्यां समवेतं नित्ययुक्तम् । तादात्म्यमापन्नमित्यर्थः । क्रियाद्वयं चेतनाचेतनस्वरूपद्रव्यद्वयनित्ययुक्तक्रिययोर्द्वयम् । तस्मादव्यतिरिक्ततायामभिन्नतायां प्रसजन्त्याम् । चेतनद्रव्यस्य चेतनान्वितक्रियायाऽचेतनद्रव्येण तादात्म्यमचेतनद्रव्यस्य पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मणोऽचेतनस्वभावान्वितायाः क्रियायाश्चाचेतनेन पुद्गलकर्मणा तादात्म्यमस्ति । चेतनद्रव्यभूतेन जीवेन पुद्गलकर्मणि क्रियमाणे चेतनद्रव्यस्य चेतनाचेतनान्वितक्रियाद्वयेन तादात्म्यापत्तिः प्रसज्यते । तस्यां प्रसजन्त्यां स्वपरयोर्जीवपुद्गलकर्मणोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादन्योन्यभिन्नत्वतिरोधानात् । जीवपुद्गलकर्मणोः स्वभावभेदनिबन्धनान्योन्यभेदस्य प्रत्यस्तमनं तिरोधानं विलयनम् । तस्माद्धेतोः । अनेकात्मकं चेतनाचेतनात्मकानेकान्योन्यविरोधिधर्मात्मकमेकमेकज्ञानमात्रधर्मात्मकत्वादेकात्मकत्वादेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया मिथ्याज्ञानत्वात् । मिथ्या विसंवादिनी दृष्टिर्ज्ञानं यस्य स मिथ्यादृष्टिः । तस्य भावो मिथ्यादृष्टिता । तया । सर्वज्ञावमतः सर्वज्ञैरवमतोऽनादृतः स्याद्भवेत् ।

टीकार्थ– इस संसार में जितनी भी क्रियाएं हैं वे सभी की सभी क्रियाएं उनका स्वरूप परिणाम के स्वरूप के समान होनेसे परमार्थतः परिणाम से भिन्न नहीं हैं । परिणाम और परिणामी एकवस्तुरूप होनेसे अर्थात् अन्योन्य–भिन्न न होनेसे परिणाम भी परिणामी से भिन्न नहीं होता । उसकारण जो कुछ क्रियाएं होती है वे सभी की सभी क्रियावान् से अर्थात् क्रिया की उत्पत्ति के आश्रयभूत पदार्थ से भिन्न नहीं होती । इसप्रकार क्रिया और कर्ता अर्थात् क्रिया की उत्पत्ति का आश्रयभूत अत एव उपादानकारणभूत द्रव्य इनमें होनेवाला अभेद अर्थात् तादात्म्य वस्तुस्वभाव के कारण प्रकट होनेवाला होनेपर जिसप्रकार जीव स्वयं अपने उपादेयभूत परिणाम को अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाला होनेसे और उसका परिणाम उसके स्वरूप से व्याप्त होनेवाला होनेसे अपने परिणाम को करता है अर्थात् अपने परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होनेसे उपादानकर्ता होता है और उसका अपना परिणाम भाव्य–उपादेय–परिणम्य होनेसे और स्वयं जीव भावक-उत्पादक-परिणामक होनेसे उस अपने हि परिणाम के रूप से परिणत होता है उसीप्रकार पुद्गलोपादानक कर्म को भी व्याप्यव्यापकभाव से करने लगा अर्थात् पुद्गलोपादानक कर्मरूप परिणाम को अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त करता हुआ उस रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होकर उपादानकर्ता बनता हुआ पुद्गलकर्मरूप परिणाम को करने लगा और पुद्गल–कर्म को अपना भाव्य–उत्पाद्य–परिणम्य बनाकर और स्वयं भावक–उत्पादक–परिणामक होकर उस पुद्गलकर्म का अनुभव करने लगा अर्थात् पुद्गलकर्म के रूप से परिणत होने लगा तो जिसका अपने साथ तादात्म्य होता है ऐसे चैतन्यान्वित क्रिया के साथ और जिसका पुद्गलकर्म के साथ तादात्म्य होता है ऐसी चैतन्यशून्य क्रिया के साथ जीव का तादात्म्य होनेका प्रसंग उपस्थित हो जानेपर जीव और पुद्गलकर्म इनमें स्वरूपभेद से होनेवाली अन्योन्यभिन्नता का अभाव हो जानेसे जीव विज्ञानघनैकस्वभाववाला होनेसे एकरूप होनेपर भी चेतनत्व और अचेतनत्व इन विरोधी धर्मों से युक्त हो जानेसे अनेकात्मक–अनेकरूप बनी हुई आत्मा का अनुभव करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिथ्याज्ञानवाला–भ्रांतज्ञानवाला होनेसे सर्वज्ञ के द्वारा तिरस्कृत–अनादृत हो जायगा ।

विवेचन– जिसप्रकार द्रव्य का परिणाम उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त हो जाता है उसीप्रकार उसकी क्रिया भी उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त हो जाती है । अतः परिणाम का जो स्वरूप होता है वह स्वरूप क्रिया का भी है । अतः परिणाम और क्रिया इन दोनों का स्वरूप एक-अभिन्न होनेसे उन दोनों में भेद नहीं हो सकता । उसीप्रकार जिसप्रकार परिणाम का उपादानकारण द्रव्य होता है उसीप्रकार क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय अर्थात् उपादानकारण द्रव्य हि होता है । इसकारण भी परिणाम और क्रिया इनमें भेद नहीं होता । इसप्रकार परिणाम से क्रिया भिन्न नहीं होती । परिणाम में परिणामी अपने स्वरूप से अन्वित होनेसे परिणाम और परिणामी एकवस्तुरूप होते हैं । परिणाम और परिणामी एकवस्तुरूप होनेसे परिणाम भी परिणामी से अर्थात् अपने उपादानकारण से भिन्न नहीं

होता। क्रिया और परिणाम परस्परभिन्न न होनेसे और परिणाम अपने परिणामी से भिन्न न होनेसे जितने भी क्रियारूप परिणाम होते हैं वे सभी के सभी क्रियावान् से-परिणामीरूप अपने उपादानकारण से भिन्न नहीं होते। इसप्रकार वस्तुस्वभाव से क्रिया और उपादानकर्ता इनमें होनेवाली अभिन्नता प्रकट हो जानेपर जिसप्रकार जीव और उसका परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होनेसे अर्थात् जीव अपने चैतन्यस्वरूप से अपने परिणाम को व्याप्त करनेवाला होनेसे व्यापक होनेके कारण और जीव का परिणाम जीव के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किया जाने-वाला होनेसे व्याप्य होनेके कारण अपने परिणाम को करता है-अपने परिणाम का उपादानकर्ता होता है और जीव का परिणाम जीव का भाव्य अर्थात् जीव का परिणम्य होनेसे और स्वयं जीव उसका भावक अर्थात् परिणामक होनेसे जीव अपने परिणाम का अनुभव करता है अर्थात् उस अपने परिणाम के रूप से परिणत होता है उसीप्रकार जीव यदि व्याप्यव्यापकभाव से अर्थात् पुद्गलकर्म को अपने चैतन्यरूप से व्याप्त करनेवाला होकर और पुद्गलकर्म को स्वस्वरूप से अन्वित अपना व्याप्य बनाकर पुद्गलकर्म को भी करने लगा अर्थात् पुद्गलकर्म का भी उपादानकर्ता होने लगा और पुद्गलकर्म और जीव इनमें उपादानोपादेयभाव का अभाव होनेसे भाव्यभावकभाव का अर्थात् परि-णम्यपरिणामकभाव का अभाव होनेपर भी पुद्कलकर्म का अनुभव करने लगा अर्थात् पुद्गलकर्म के रूप से परिणत होने लगा तो एक बडा भारी दोष उत्पन्न होता है। जीव की परिणामात्मक क्रिया चेतनान्वित होनेसे उसका जीव के साथ हि तादात्म्य होनेपर भी और पुद्गलकर्म की उदयादिरूप से परिणत होनेकी परिणामात्मक क्रिया का पुद्गलकर्म के साथ हि तादात्म्य होनेपर भी जिसप्रकार जीव के साथ उसकी परिणतिक्रिया का तादात्म्य होता है उसीप्रकार जीव यदि पुद्गलकर्म के रूप से या उसके परिणाम के रूप से भी परिणत होने लगा तो पुद्गलकर्म के परिणाम के रूप से परिणत होनेकी चैतन्यशून्य क्रिया का जीव के साथ तादात्म्य होगा। इसप्रकार दोनों प्रकार की क्रियाओं का जीव के साथ तादात्म्य हो जानेसे जीव और पुद्गलकर्म इनमें स्वभावभेद के कारण होनेवाले भेद का अभाव हो जायगा। दोनों की परस्परभिन्नता का अभाव हो जानेपर जीवद्रव्य एक विज्ञानघनस्वभाववाला होनेसे वस्तुत एकरूप होनेपर भी चैतन्याचैतन्यरूप सहानवस्थायी धर्मों से युक्त हो जानेसे अनेकात्मक बन जायगा। इसप्रकार अनेकात्मक बनी हुई आत्मा का जो जीव अनुभव करता है अर्थात् आत्मा को उक्त प्रकार से अनेकात्मक जानता है उसका ज्ञान मिथ्या अर्थात् विसवादी होनेसे सर्वज्ञ के द्वारा उसका मूल्य न्यून (कम) किया जाता है।

'कुतः द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिः ?' इति चेत्-

'चैतन्यात्मक और अचैतन्यात्मक इन दोनों क्रियाओ का अनुभव करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकता है?' ऐसा प्रश्न हो तो--

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति॥ ८६॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वन्ति।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवन्ति॥ ८६॥

अन्वयार्थ- [**यस्मात् तु**] जिसकारण से हि [**द्विक्रियावादिनः**] जिनमे सहानवस्थानरूप विरोध होता है ऐसी दो भिन्नजातीय द्रव्यों की उपादेयभूत दो क्रियाओं का एक द्रव्य के साथ तादा-त्म्य होता है ऐसे मत का प्रतिपादन करनेवाले जो आत्मा और पुद्गल [**आत्मभावं**] आत्मोपादानक परिणाम [**पुद्गलभावं च**] और पुद्गलोपादानक परिणाम इन [**द्वौ अपि**] दोनो को भी स्वयं उपादानकर्ता होकर [**कुर्वन्ति**] करते है अर्थात् इन दोनों परिणामों के रूप से परिणत होते हैं

(**इति मन्यन्ते**) ऐसा मानते हैं वे [**मिथ्यादृष्टयः**] मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिथ्याज्ञानवाले [**भवन्ति**] होते हैं [जो एक हि पदार्थ को चेतनाचेतनस्वरूप मानते हैं उन को मिथ्यादृष्टि अर्थात् भ्रान्त ज्ञानवाले न कहा जाय तो क्या सम्यग्दृष्टि कहा जाय ? क्या अन्धा चक्षुष्मान् कहा जा सकता है या पागल बुद्धिमान् कहा जा सकता है ?]

आ. ख्या.– यतः किल आत्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वन्तं आत्मानं मन्यन्ते द्विक्रियावादिनः ततः ते मिथ्यादृष्टयः एव इति सिद्धान्तः । मा च एकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु । यथा किल कुलालः कलशसम्भवानुकूलं आत्मव्यापारपरिणामं आत्मनः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः कलशकरणाहङ्कारनिर्भरः अपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति; तथा आत्मा अपि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलं अज्ञानात् आत्मपरिणामं आत्मनः अव्यतिरिक्तं आत्मनः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु, मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहङ्कारनिर्भरः अपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलात् अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु ।

त. प्र.– यतो यस्मात्कारणात् । किलेति वाक्यालङ्कारे । आत्मपरिणाममात्मोपादानकं चैतन्यस्वरूपान्वितमात्मनः उपादेयभूतमात्मनोऽभिन्नं पुद्गलपरिणामं च पुद्गलोपादानकं चैतन्यस्वरूपानन्वितं पुद्गलस्योपादेयभूतं पुद्गलद्रव्याद्युपादानकारणभूतादभिन्नं कुर्वन्तमुपादानकर्त्रीभूयोत्पादयन्तमात्मानं जीवं मन्यन्तेऽवधारयन्ति द्विक्रियावादिनः उपादानभूतद्रव्यद्वयाभिन्नतत्परिणतिक्रियाद्वयमेकद्रव्योपादानकमपि भवतीति वदन्तस्ततस्तस्मात्कारणात्ते द्विक्रियावादिनो मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धान्तः प्रमाणसिद्धो निर्णयः । मा चैकद्रव्येणोपादानकर्त्रीभूयोपादानकर्त्रीभूतविजातीयद्रव्यद्वयस्वस्वरूपान्वितो द्रव्यद्वयेन स्वस्वरूपानुसारेण तादात्म्यमापन्नः परिणामः क्रियमाणः स्वस्वरूपेणावगाह्योत्पाद्यमानः प्रतिभातु प्रकटीभवतु । यथा येन प्रकारेण कुलालः कुम्भकारः कलशसम्भवानुकूलं मृत्तिकोपादानकपरिणामभूतकलशोत्पत्त्यनुकूलमात्मव्यापारपरिणामं स्वोपादानकघटोत्पत्त्यनुकूलहस्तसञ्चालनादिक्रियारूपं परिणाममात्मनः कुलालात्तेन तादात्म्यमापन्नत्वादव्यतिरिक्तमभिन्नमात्मनः कुलालात्तत्परिणामत्वात्तेन तादात्म्यमापन्नत्वादव्यतिरिक्तयाऽभिन्नया परिणतिमात्रया परिणतिमात्रस्वरूपया क्रियया क्रियमाणमुत्पाद्यमानं कुर्वाणो जनयन्प्रतिभाति प्रकटीभवति । न पुनः कलशकरणाहङ्कारनिर्भरोऽपि । कलशकरणे कलशकरणमाश्रित्य कलशमहं करोमीत्यहङ्कारेण युक्तोऽपि स्वव्यापारानुरूपं स्वहस्तसञ्चालनादिक्रियासदृशम् । कुलालः कलशपरिणामोत्पत्तिकाले स्वहस्तं येन प्रकारेण सञ्चालयति तेन प्रकारेण तद्धस्तसञ्चालनादिक्रियानुरूप्येण कलशाकारः प्रादुर्भवतीति स्वव्यापारानुरूपमित्युक्तम् । मृत्तिकाया उपादानकारणभूताया मृदो मृत्स्वरूपान्वितं कलशपरिणामं कलशाकारं परिणामं कलशस्याकाररूपं कलशादभिन्नं परिणामं वा मृत्तिकाया अव्यतिरिक्तमभिन्नं मृत्तिकाया उपादानकारणभूताया अव्यतिरिक्तयाऽभिन्नया परिणतिमात्रया परिणतिमात्रस्वरूपया क्रियया क्रियमाणमुत्पाद्यमानं कुर्वाण उपादानकर्त्रीभूय कलशपरिणामं स्वस्वरूपेण व्याप्य जनयन्प्रतिभाति । कलशाकारेण मृत्तिकोपादानकेन कुलालः स्वयं न परिणमतीति भावः । तथा

तेन प्रकारेणाऽऽत्माऽपि जीवोऽपि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलं पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरिणत्यनुकूलम्। कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मात्मकत्वेन परिणतिक्रियाया सहकारित्वात्तदनुकूलमित्यर्थः। अज्ञानादनादेरज्ञानात्कारणभूतादात्मपरिणाममात्मोपादानकक्रोधादिरूपविभावभावात्मकं परिणाममात्मन उपादानकारणभूतादात्मनोऽव्यतिरिक्तमभिन्नमात्मनस्स्वाश्रयीभूतादात्मनोऽव्यतिरिक्तयाऽभिन्नया परिणतिमात्रया क्रियया क्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणमुत्पाद्यमानं कुर्वाणः स्वस्वरूपेण व्याप्य जनयन्प्रतिभातु प्रकटीभूयात्। मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहङ्कारनिर्भरोऽपि पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मोत्पादनाहङ्कारयुक्तोऽपि। पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मात्मकं परिणाममहं करोमीत्यहङ्कारेण निर्भरो युक्तः। स्वपरिणामानुरूपं भावक्रोधादिरूपस्वीयविभावभावात्मकपरिणामसदृशम्। कर्मवर्गणायोग्ये पुद्गले द्रव्यकर्मात्मकपरिणत्यभिमुखे सति तीव्रतीव्रतरतीव्रतममन्दमन्दतरमन्दतमभावक्रोधादिरूपपरिणामानां येन परिणामप्रकारेण जीवः परिणमति तेन बध्यमानस्य कर्मणः स्थितिरनुभागश्च भवतः। अतस्तेन सदृशमित्युक्तम्। पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलोपादानकं द्रव्यकर्मात्मकं परिणामं पुद्गलादुपादानकारणभूतादव्यतिरिक्तमभिन्नं पुद्गलात्स्वोत्पत्तिक्रियाश्रयभूतादव्यतिरिक्तयाऽभिन्नया परिणतिमात्रया केवलया परिणत्यात्मिकया क्रियया क्रियमाणमुत्पाद्यमानं कुर्वाण उपादानकर्त्रीभूय पुद्गलपरिणामं स्वस्वरूपेणाभिव्याप्योत्पादयन्प्रतिभातु प्रकटीभवतु।

टीकार्थ— जब द्विक्रियावादी 'आत्मोपादानकपरिणाम और पुद्गलोपादानकपरिणाम को आत्मा उपादानकर्ता होकर उत्पन्न करती है' ऐसा मानते है तब वे मिथ्यादृष्टि हि होते है ऐसा प्रमाणों से सिद्ध हुआ है। भिन्नस्वभाववाले दो द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य के साथ उसके परिणाम का तादात्म्यसंबंध होनेसे वे दोनों परिणाम एक द्रव्य के द्वारा स्वयं उन दोनों परिणामों का उपादानकर्ता होकर किये जाते हुए प्रतिभासित नहीं होने चाहिये। जिसप्रकार कुम्हार मृत्तिकोपादानक कलश की उत्पत्ति के अनुकूल अपनेसे भिन्न न होनेवाली सिर्फ परिणतिरूप क्रिया के द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले, अपनेसे अभिन्न ऐसे अपने हस्तसंचालनादिक्रियारूप परिणाम का उपादानकर्ता होकर कलश को उत्पन्न करता हुआ प्रकट होता है–दिखाई देता है; किंतु 'मैं कलश की उत्पत्ति करनेवाला हूं' इसप्रकार के अहंकार से युक्त हुआ होनेपर भी मृत्तिका से अभिन्न ऐसी मृत्तिका की कलशाकार के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के द्वारा किये जानेवाले, कुम्हार की अपनी हस्तसंचालनादिरूप क्रिया जिसप्रकार की होती है उस क्रिया के प्रकार के अनुकूल आकार को धारण करनेवाले, उपादानभूत मृत्तिका से अभिन्न ऐसे उपादानभूत मृत्तिका के उपादेयभूत कलशरूप परिणाम को स्वयं उपादानकर्ता होकर अपने स्वरूप से व्याप्त करके उत्पन्न करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता, उसीप्रकार आत्मा भी पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म की उत्पत्ति के अनुकूल, अपनेसे भिन्न न होनेवाली सिर्फ क्रोधादिरूपविभावभाव के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले, अपनेसे अभिन्न ऐसे अपने क्रोधादिरूपविभावभावात्मक परिणाम को अज्ञान के कारण उपादानकर्ता होकर उत्पन्न करती हुई अर्थात् उसरूप से परिणत होती हुई प्रकट होती हो–दिखाई देती हो तो भले हि दिखाई दे (उसी में किसी बातका विरोध नहीं है।); किंतु मैं 'पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्मरूप परिणाम की उत्पत्ति करनेवाला हूं' इसप्रकार के अहंकार से युक्त हुई होनेपर भी पुद्गलद्रव्य से अभिन्न ऐसी पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के द्वारा किये जानेवाले, आत्मा की अपनी क्रोधादिरूपविभावभावात्मक परिणति जिसप्रकार की होती है उसप्रकार की परिणति के सदृश प्रकार को धारण करनेवाले, उपादानकर्तृभूत पुद्गलद्रव्य से अभिन्न ऐसे उपादानभूत पुद्गलद्रव्य के उपादेयभूत द्रव्यकर्मरूप परिणाम को स्वयं उपादानकर्ता होकर अपने स्वरूप से व्याप्त करके उत्पन्न करती हुई प्रतिभासित नहीं होनी चाहिये।

विवेचन— प्रत्येक द्रव्य की अपने परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का अपने द्रव्य के साथ तादात्म्य-

संबंध होता है- वह अपने उत्पत्ति के आश्रयभूत द्रव्य से अभिन्न होती है; क्यों कि वह क्रिया भी परिणामरूप हि होती है। एक द्रव्य की अपने परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का जिसप्रकार अपने उपादानभूत द्रव्य के साथ तादात्म्यसंबंध होता है उसीप्रकार उस क्रिया का उसका उपादान न होनेवाले द्रव्य के साथ तादात्म्यसंबंध नहीं होता; क्यों कि वह दूसरा द्रव्य उक्त परिणतिक्रिया की उत्पत्ति का आश्रय नहीं होता। आत्मोपादानकविभावभावात्मक परिणाम अशुद्ध आत्मा के स्वरूप से अन्वित होनेसे अशुद्ध आत्मा का उपादेय होनेके कारण अशुद्ध आत्मा अपने उस विभावभावात्मकपरिणाम का उपादानकर्ता होकर उस परिणाम को उत्पन्न करती है अर्थात् उस परिणाम के रूप से परिणत होती है। वह पुद्गलोपादानकपरिणाम को उसका उपादानकर्ता होकर और उसको अपने स्वरूप से व्याप्त कर नहीं कर सकती, क्यों कि अशुद्ध आत्मा की जाति और पुद्गलपरिणाम की जाति इनमें भेद होता है। इसप्रकार अपने परिणाम का उपादानकर्ता होनेपर भी आत्मा पुद्गलोपादानक परिणाम का उपादानकर्ता न होनेपर भी द्विक्रियावादी जब आत्मा को अपने परिणाम का और पुद्गलोपादानक परिणाम का उपादानकर्ता मानते हैं तब उनकी यह मान्यता मिथ्याज्ञानमूलक होनेसे-भ्रान्तज्ञानमूलक होनेसे वे मिथ्यादृष्टि हैं यह बात प्रमाण से सिद्ध हो जाती है। उपादानभूत एक द्रव्य अपने स्वरूप से अन्वित उपादानजातीय परिणाम को उसका उपादानकर्ता हुआ करता है-उत्पन्न करता है-उस परिणाम के स्वरूप से स्वय परिणत होता है। यह वस्तुस्वभाव है। वही एकद्रव्य अन्यद्रव्य के परिणाम को उसका उपादानकर्ता होकर उत्पन्न नहीं करता-उसके रूप से परिणत नहीं होता; क्यों कि अन्यद्रव्य के परिणाम के रूप से परिणत होते समय अपने स्वरूप का त्याग करके अन्यद्रव्य के स्वरूप के साथ तादात्म्य को प्राप्त होना पडता है। यदि उस द्रव्य ने अन्यद्रव्य के परिणाम के रूप से परिणत होते समय अपने स्वभाव का त्याग न करके अन्यद्रव्य के परिणाम के रूप से वह परिणत होने लगा तो अन्यद्रव्य के स्वभाव के साथ उस द्रव्य को एकीभाव को प्राप्त होना पडेगा जो कि असभव है। द्रव्य अपने स्वभाव का न त्याग करता है और न अन्यद्रव्य के स्वभाव के साथ तादात्म्य को प्राप्त होता है; क्यों कि ऐसा वस्तुस्वभाव है। अत. दो भिन्नजातीय द्रव्यो के उपादेयभूत परिणाम एकद्रव्य के द्वारा उपादानकर्ता होकर किये जाते है ऐसा प्रतिभास-ज्ञान नहीं होना चाहिये।

चक्र के ऊपर मृत्तिका का पिंड रखकर चक्र को घुमाता हुआ कुम्हार मृत्तिका के पिंड से जिस आकारवाले घट की उत्पत्ति करना चाहता है वह उस आकाररूपपरिणति जिससे हो सकेगी ऐसी क्रिया अपने हाथो से करता है। इस हस्तक्रिया से इच्छित आकारवाले घट की उत्पत्ति होती है। अतः कुम्हार की यह हस्तसंचालनादिक्रिया कलशोत्पत्ति के अनुकूल होती है। कुम्हार की इस क्रिया के अभाव में मृत्तिका का पिंड घटरूप से परिणत नही होता। यदि कुम्हार के तटस्थ रहनेपर भी मृत्तिका कलशरूप से परिणत होती है ऐसा माना तो वह घटरूप से परिणत होना मृत्तिका का स्वभाव बन जायगा और वह मृत्तिका का स्वभाव बन जानेपर संपूर्ण ससार घटमय बन जायगा और मृत्तिका की चूर्णरूप अवस्था का सर्वथा अभाव हो जायगा। कुम्हार को यह हस्तसंचालनादिरूपक्रिया कुम्हार से भिन्न नहीं होती; क्यों कि वह चेतनान्वित होनेसे कुम्हार का उपादेयात्मकपरिणामरूप होती है। कुम्हार का यह हस्तसचालनादिक्रियारूप परिणाम कुम्हार की परिणतिरूप क्रिया के द्वारा किया जाता है। कुम्हार का मानस परिणतिक्रियारूप परिणाम और हस्तसचलनादिक्रियारूप परिणाम कुम्हार से भिन्न नही है, क्यो कि उन दोनों परिणामों का आश्रय उपादानभूत कुम्हार हि होता है। इसप्रकार के परिणामों का उपादानकर्ता कुम्हार हि होता है यह स्पष्ट है। कुम्हार अपनी हस्तक्रिया के द्वारा कलश को जिस आकार के रूप से उत्पन्न-परिणत करना चाहता है उस आकार के रूप से कलश की उत्पत्ति उसकी हस्तक्रिया से होती है तो भी वह कलश का उपादानकर्ता नही हो सकता; क्यों कि यदि वह कलश का उपादानकारण होता तो उसका चैतन्यस्वरूप उस कलश मे भी पाया जाता। कलश तो अपनी उपादानकारणभूत मृत्तिका से उत्पन्न होता है। कुम्हार की हस्तसंचालनादिक्रिया उसकी उत्पत्ति में सिर्फ सहायक होती है। उसको जो मृत्तिका का परिणाम कहा जाता है उसका कारण है उस कलश में पाया जानेवाला मृत्तिका का स्वरूप। कलश मृत्तिका का उपादेयभूत परिणाम होनेसे मृत्तिका से भिन्न नहीं होता-वह मृत्तिका से अभिन्न हि होता है। उस कलश की उत्पत्ति मृत्तिका की परिणतिरूप क्रिया से होती है। मृत्तिका की यह परिणतिरूप क्रिया भी उसका परिणाम

होनेसे मृत्तिका से भिन्न नहीं होती। इस कलशरूप परिणाम का कुम्हार निमित्तकारण होता है, किंतु उपादानकारण नहीं होता है। कुम्हार की और परिणममान कलश की जब संयुक्त अवस्था होती है तब हि कुम्हार की निमित्तकारणता की सिद्धि होती है–अपने घर में बैठे हुए कुम्हार की नहीं। सारांश, कुम्हार और कलश इनमें सिर्फ निमित्तनैमित्तिकभाव होता है और मृत्तिका और कलश में उपादानोपादेयभाव होता है। कलशरूप परिणाम में कुम्हार के स्वरूप का अन्वय न होनेसे वह जरूर अकिंचित्कर है; किंतु कुम्हार की हस्तसंचालनादिक्रिया से कलश की उत्पत्ति होना असंभव होनेसे वह सर्वथा अकिंचित्कर नहीं है। अतः निमित्त कुछ करता नहीं और निमित्त के विना कुछ होता नहीं यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

दृष्टान्त का स्पष्टीकरण करनेके बाद अब दार्ष्टान्तिक का स्पष्टीकरण किया जाता है। अनादिकाल से आत्मा का पुद्गलकर्म के साथ संश्लेषसंबंध बना हुआ होनेसे आत्मा अज्ञानी बनी हुई है। जीव का अज्ञानभाव और क्रोधादिरूप विभावभाव इनमें जो उपादानोपादेयभाव है वह अनादिकाल से चला आया है। आत्मा के विभावभाव और कर्मोदय इनमें जो निमित्तनैमित्तिकभाव है वह भी अनादि से चला आया है। अज्ञानी आत्मा के साथ पुद्गलकर्म का अनादिकाल से संश्लेषसंबंध होनेसे उनमें होनेवाले निमित्तनैमित्तिकभाव से आत्मा की होनेवाली विभावपरिणतियां और पुद्गलद्रव्य की होनेवाली परिणतियां बीजवृक्षन्याय से अनादिकाल से होती आयी है। अज्ञान के कारण आत्मा से विभावभावात्मकपरिणतियां उत्पन्न होती हैं। अज्ञानी आत्मा इन परिणतियों का उपादानकारण होता है; क्यों कि इन विभावभावरूप परिणतियों में अशुद्ध चैतन्य का सद्भाव पाया जाता है। आत्मा के विभाव–भावात्मकपरिणाम की उत्पत्ति आत्मा की विभावभावरूप से परिणत होनेकी आत्माश्रित क्रिया से होती है। विभावभावरूप परिणाम और विभावभाव के रूप से आत्मा को परिणत करनेवाली परिणतिक्रिया (अर्थात् क्रियारूप–परिणाम) आत्मा से भिन्न नहीं होते। इसप्रकार आत्मा और विभावपरिणाम तथा आत्मा और उसकी परिणतिक्रिया इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है। इस अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेके कारण आत्मा और उक्त परि–णामों में कर्तृकर्मभाव के सद्भाव की सिद्धि होनेसे उन विभावभावों का अज्ञानी आत्मा उपादानक[illegible] होनेसे आत्मा उन परिणामों की उत्पत्ति करती है। यह विभावभावरूप परिणाम और उन के रूप से परिणत होनेकी क्रिया कर्मरूप से परिणत होनेके लिये अ[illegible] मुख होनेवाले पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल पडते है। यह उनका अनुकूल होना हि उनके निमित्तकारणत्व की सिद्धि करता है। अतः कर्मयोग्यपुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल होनेवाले, आत्मरूप उपादान से उत्पन्न होनेवाले और अज्ञानी आत्मा से अभिन्न होनेवाले अशुद्ध चैतन्यान्वित विभावभाव अज्ञानी आत्मा के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किये गये उस अज्ञानी आत्मा के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। अज्ञानी आत्मा के द्वारा उनकी उत्पत्ति की जानेमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। यद्यपि यह अज्ञानी आत्मा अपने विभावपरिणामों को अपनेसे उत्पन्न करती है और यद्यपि अपने विभाव-परिणामों के द्वारा पुद्गलद्रव्य की पुद्गलकर्म के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की सहकारिणी होकर उसका निमि–त्तकारण बन जाती है तो भी अज्ञानी आत्मा पुद्गलकर्म को अपने अशुद्धचैतन्यस्वरूप से व्याप्त करती हुई अपनेसे उत्पन्न नहीं कर सकती; क्यों कि वह अशुद्धचैतन्यस्वभाववाली होनेसे और पुद्गलकर्म अशुद्धचैतन्यस्वभाव से रहित होनेसे पुद्गलकर्म के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का वह आश्रय नहीं हो सकती। संसारी जीव अपने को द्रव्यकर्म का कर्ता मानता है, किंतु वह उसका अज्ञान है; क्यों कि वह अपने स्वरूप को और पुद्गलकर्म के स्वरूप को परमार्थतः जानता नहीं। जिसप्रकार कुम्हार की क्रिया के अनुकूल कलश का आकार होता है उसीप्रकार जीव के परिणाम के प्रकार के अनुकूल द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम का आकार (जाति, प्रकार) होता है। केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद मिथ्यात्वमूलक होनेसे जीव के दर्शनमोहनीय का बंध होता है। पुद्गलकर्मरूप परिणाम पुद्गलद्रव्य-रूप उपादान से उत्पन्न होता है और उसमें पुद्गलद्रव्य अपने स्वरूप से अन्वित हुआ होनेसे वह पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होता है। पुद्गलकर्म के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय पुद्गलद्रव्य होनेसे पुद्गलद्रव्य उसका उपादानकारण होनेके कारण वह क्रिया भी पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होती है। इस परिणतिक्रिया के द्वारा हि द्रव्यकर्म

की उत्पत्ति की जाती है। अतः पुद्गलकर्म को पुद्गलद्रव्य हि उत्पन्न करता है अर्थात् पुद्गलद्रव्य हि द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होता है, आत्मा नहीं।

य: परिणमति स कर्ता य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।। ५१ ।।

अन्वयः— यः परिणमति स कर्ता, यः तु परिणामः भवेत् तत् कर्म, या परिणतिः सा क्रिया वस्तुतया त्रयमपि न भिन्नम् ।

अर्थ— जो परिणत होता है अर्थात् परिणतिक्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होता है वह कर्ता अर्थात् उपादान-कर्ता होता है। जो पदार्थ में उत्पन्न होनेवाली परिणतिक्रिया से उत्पन्न हुआ होता है (और परिणामी के स्वरूप से अन्वित होता है) वह कर्म होता है—उपादेय होता है और जो कर्ता के परिणाम के रूप से परिणति है वह क्रिया होती है। वस्तुरूप होनेसे ये तीनों भी अर्थात् परिणामी कर्ता, परिणामरूप कर्म और परिणतिरूप क्रिया ये तीनों भी अन्योन्यभिन्न नहीं होते-अभिन्न अर्थात् एकरूप होते है।

त. प्र.— यो यः पदार्थः परिणमति परिणतिक्रियाया आश्रयो भवति स पदार्थः कर्तोपादानकर्ता भवति, यस्तु परिणामिकर्तृस्वरूपान्वितः परिणामिसमाश्रितया परिणतिक्रियया क्रियमाण उत्पाद्यमानः परिणाम उपादेयस्वरूपः भवेद्भवति तत् कर्म कर्त्राप्यलक्षणम् । भवतीत्यध्याहारः । या परिणतिः परिणामोत्पत्तिनिमित्तकारणाभूता परिणामिसमाश्रिता परिणतिः परिणतिक्रिया सा क्रिया। वस्तुतया वस्तु-स्वाभाव्येन त्रयमपि परिणामी परिणामः परिणतिक्रिया चेत्युपादानकर्तोपादेयभूत कर्मोपादानकर्त्राश्रिता क्रिया चेति त्रितयमपि न भिन्नं नान्योन्यभिन्नम् । एतत्त्रितयस्य वस्तुस्वरूपत्वात्तदन्यतमाभावे वस्त्व-भावप्रसङ्गात्तेषामन्योन्याभिन्नत्वम् । परिणामिनोऽभावे परिणामपरिणतिक्रिययोरभावप्रसङ्गात्परिणा-माभावे वस्तुनः कौटस्थप्रसङ्गात्परिणतिक्रियाभावे च परिणामोत्पत्त्यभावप्रङ्गाद्वस्तुस्वभावहानिप्रस-ङ्गात्तत्त्रितयस्य समुदितस्यैव वस्तुत्वान्न तेषामन्योन्यभिन्नत्व सम्भवतीति भावः । यथोपादानतदुपादेय-भूतपरिणामयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावादुपादेयभूतपरिणामस्योपादानस्वरूपेणान्वितत्वादभिन्नत्व तथा निमित्ततत्परिणामयोरप्युपादानोपादेयभावसद्भावादन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्तदुपादेयभूतप-परिणामस्य तत्स्वरूपेणान्वितत्वादभिन्नत्वम् । तद्भूतनिमित्तनैमित्तिकभावयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोर्जी-वस्य भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणामात्तत्परिणतिक्रियात्मकपरिणामाच्चाभेदस्तत्परिणामस्य च स्वोपादानभूताज्जीवादभेदः जीवपरिणामनिमित्तभूतपुद्गलकर्मात्मकपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यक्रोधादिरूपस्व-विभावभावात्मकपरिणामात्तत्परिणतिक्रियात्मकपरिणामाच्चाभेदस्तत्परिणामस्य च स्वोपादानभूतात्पुद्-गलद्रव्यादभेदोऽस्ति, सागरस्योत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थयोस्तयोश्च सागरात्समीरस्य च सञ्चरणासञ्च-रणावस्थयोस्तयोश्च समीरादभेदवत् ।

विवेचन— जिसने परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया होती है अर्थात् जो परिणतिक्रिया का आश्रय होता है वही पदार्थ कर्ता अर्थात् उपादानकर्ता होता है। यदि पदार्थ में परिणतिक्रिया का अभाव हुआ तो उससे परिणाम की उत्पत्ति नहीं होगी। पदार्थ की नवपुराणादिरूप अवस्थाए दिखाई देती है। वे अवस्थाए परिणतिक्रिया के अभाव में कदापि उत्पन्न नही हो सकती। अतः पदार्थ में परिणतिक्रिया के सद्भाव की सिद्धि हो जाती है। जब पदार्थ में परिणति-क्रिया के सद्भाव की सिद्धि हो जाती है तब परिणाम की उत्पत्ति हो जाना अनिवार्य हो जाता है। इस परिणतिक्रिया से उत्पन्न होनेवाला परिणाम परिणामी से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता। परिणामी से परिणाम कथंचित् भिन्न होनेसे

और कथंचित् अभिन्न होनेसे उसमें परिणामी का स्वस्वरूप से अन्वय का होना अनिवार्य हो जाता है। परिणाम में परिणामी का सर्वथा अभाव हुआ तो परिणाम का हि अभाव हो जायगा। मृत्तिका के परिणामभूत घट में मृत्तिका का सर्वथा अभाव हुआ तो घट का भी अभाव होना अनिवार्य हो जायगा। अतः जिसप्रकार घट में मृत्तिका का सद्भाव होनेसे घट मृत्तिका से अभिन्न होता है उसीप्रकार प्रत्येक परिणाम में परिणामी का सद्भाव होनेसे प्रत्येक परिणाम अपने परिणामी से अभिन्न होता है। परिणतिक्रिया का परिणामी में अभाव हुआ तो परिणामी कूटस्थनित्य बन जायगा। परिणामी कूटस्थनित्य नहीं हो सकता; क्यों कि पदार्थ की भिन्न भिन्न अवस्थाएं दृग्गोचर होती है। परिणामी में परिणतिक्रिया का अभाव हुआ तो परिणामी परिणामी हि नहीं रहेगा। परिणामी के सद्भाव में परिणतिक्रिया का सद्भाव होनेसे और परिणामी के अभाव में उसका अभाव होनेसे परिणामी से परिणतिक्रिया का अभेद सिद्ध हो जाता है। अतः परिणामी, परिणाम और परिणतिक्रिया इन तीनोंरूप वस्तु होनेसे इन तीनों मे परस्परभेद नहीं हो सकता। इसप्रकार उपादानकर्ता, उपादेयभूतकर्म और परिणतिरूप क्रिया इनका स्वरूप और इन तीनोंरूपवस्तु का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। परिणाम की उत्पत्ति उपादान का सद्भाव और निमित्त का या उसकी उपादान की परिणति-क्रिया के अनुकूल क्रिया का अभाव होनेपर जिसप्रकार नहीं हो सकती उसीप्रकार निमित्त का या उसकी क्रिया का सद्भाव होनेपर भी उपादान का अभाव होनेपर नहीं हो सकती। यद्यपि यह बात नित्य अनुभव की है तो भी उपा-दान निमित्त के परिणामों को अपने स्वरूप से व्याप्त करके उत्पन्न नहीं कर सकता और निमित्त उपादान के परिणामों को अपने स्वरूप से व्याप्त करके उत्पन्न नहीं कर सकता। उपादान अपने परिणाम को अपने स्वरूप से व्याप्त करके उत्पन्न करता है और निमित्त अपने परिणाम को अपने स्वरूप से व्याप्त करके उत्पन्न करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपादान अपने परिणामों को उत्पन्न करता है और निमित्त अपने परिणामों को उत्पन्न करता है। उपादान और निमित्त इनकी संयुक्त अवस्था में जब उपादान की परिणति होने लगती है तब उपादान से उपादेयभूत परिणाम की उत्पत्ति होती है। उपादान की परिणति में जिसप्रकार निमित्तकी परिणति सहायक होनेसे उपादान के परिणाम की उत्पत्ति होती है उसीप्रकार निमित्त के परिणाम की उत्पत्ति में भी सहकारी कारण होता है। सहकारि-कारण जब चेतन होता है तब उसका विभावभावरूप परिणाम उसकी परिणतिक्रिया का निमित्तकारण है, कभी उसका पूर्व परिणाम उसके उत्तरपरिणाम की उत्पत्ति का निमित्तकारण होता है और कभी अचेतनपदार्थ निमित्तकारण होता है। यदि निमित्त कारण अचेतन हो तो उसकी परिणति का निमित्तकारण कभी जीवद्रव्य होता है और कभी कालद्रव्य होता है। पुद्गलकर्म का उदयरूप परिणाम कालद्रव्य से होता है। बंधावस्था को प्राप्त हुए पुद्गलकर्म का उदयरूप परिणाम कालद्रव्यरूप निमित्त से होता है; क्यों कि विशिष्ट काल के बीत जानेपर हि वह उदयावस्था को प्राप्त होता है। कालद्रव्य का परिणमन निर्निमित्तक होता है ऐसा आचार्य विद्यानंद ने अपने श्लोकवार्तिका ग्रंथ में कहा है।

सागर की महान् तरंगें वायु का चलनारूप निमित्त से होती हैं और निस्तरंगावस्था वायु के चलनारूप के अभावरूप निमित्त से होती है। वायु का चलनरूप परिणाम कालनिमित्तक होता वह कभी प्रखर उष्णता के निमित्त से होता है तो कभी मानव की प्रेरणा से होता है। वायु के अचलनरूप परिणाम का भी कालद्रव्य निमित्त होता है। उसका कारण कभी प्रखर उष्णता का अभाव और कभी मानवकृत प्रेरणा का भी अभाव होता है। जिसप्रकार सागर की तरंग और निस्तरंग अवस्थाएं सागर से अभिन्न होती हैं उसीप्रकार पवन के सचलनात्मक और अचल-नात्मक परिणाम पवन से अभिन्न होते हैं। जीव की ससंसार अवस्था और निःसंसार अवस्था इनका निमित्तकारण पुद्गलकर्म होता है। उसकी ससंसार अवस्था का निमित्तकारण उसके साथ संयुक्तावस्था को प्राप्त हुआ उदयावस्थापन्न पुद्गलकर्म होता है और निःसंसार अवस्था का निमित्तकारण वियुक्तावस्था को प्राप्त हुआ और फलदानसामर्थ्यशून्य बना हुआ पुद्गलकर्म होता है अर्थात् पुद्गलकर्म का अभाव होता है। पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप परिणति का अज्ञानी जीव का विभावभाव निमित्तकारण होता है। अज्ञानी जीव और उसके विभावभाव और उसकी विभावभाव के रूप में परिणत होनेकी क्रिया इनमें अभेद होता है और पुद्गलकर्म, उसके उदयादिरूप परिणाम और उसकी उदयादिरूप से परिणत होनेकी क्रिया इनमें भी अभेद होता है-एकरूपता होती है। उपादान और निमित्त अपने अपने

स्वरूप से उपादान के परिणाम को व्याप्त नहीं कर सकते–अकेला उपादान हि अपने स्वरूप से व्याप्त करता है और उस अपने परिणाम को उत्पन्न करता है। वही परिणतिक्रिया का आश्रय होता है। अतः वही अकेला उपादानकर्ता होता है। उसका परिणाम हि उसका उपादेयभूत कर्म होता है। परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया भी उसकी हि होती है। अतः तीनों में अभेद होता है–तीनों एकवस्तुरूप होते हैं।

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ५२ ॥

अन्वयः-- यतः अनेकं अपि एकं एव (ततः) सदा एकः (एव) परिणमति, सदा एकस्य (एव) परिणामः जायते, (सदा) एकस्य (एव) परिणतिः स्यात्।

अर्थ-- परिणाम और परिणामी अथवा परिणामी और परिणत होनेकी उसकी शक्ति इनमें व्यवहारनय की दृष्टि से भेद होनेसे कथंचित् भिन्न होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से जब अभिन्न अर्थात् एक हि होते है तब एक पदार्थ हि सदा परिणत होता है अर्थात् अपने परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता है, सदा एक पदार्थ का हि परिणाम उत्पन्न होता है अथवा एकरूप पदार्थ का सर्वकाल परिणाम उत्पन्न होता है और सदा एक पदार्थ की हि परिणति होती है अथवा एकरूप पदार्थ की सर्वकाल परिणति होती रहती है (क्यों कि पदार्थ परिणमनशील होता है)।

त. प्र -- यतो यस्मात्कारणात्परिणामपरिणामिनोः परिणमनशक्तिमतोर्व्यवहारनयापेक्षया भेदसद्भावात्कथञ्चिद्भिन्नत्वेऽपि निश्चयनयापेक्षया भेदाभावात्तयोरन्योन्याभिन्नत्वात्कथञ्चिदनेकमप्येकमेव ततः सदा सर्वकालं एक एव पदार्थः परिणमति परिणामत्वेन परिणतिक्रियाया आश्रयो भवति। अत्र 'सामान्ये नपुंसकम्' इति सूत्रेण नप्रत्ययान्तस्य प्रयोगो द्रष्टव्यः। यथा मृत्तिकायाः परिणमनशीलायाः स्वस्वरूपान्वितघटपरिणामाद्घटाद्याकारेण परिणमनशक्तेर्वा व्यवहारनयापेक्षयाऽन्योन्यभेदसद्भावेऽपि निश्चयनयापेक्षया तयोर्भेदाभावाद्भेदविकलत्वादेकैव मृत्तिका सदा घटाद्याकारेण परिणमनस्य क्रियाया आश्रयभावं प्राप्नोति तथा परिणमनशीलस्य पदार्थस्य स्वस्वरूपान्वितात्परिणामात्स्वपरिणामाकारेण परिणतिक्रियाया आश्रयभावं प्राप्नोति स्वपरिणामस्योपादानकारणभूतः पदार्थः। परिणतिशीलत्वात्पदार्थः सदा परिणमतीत्यर्थोऽपि ग्राह्यः। अतो व्यवहारनयापेक्षया पदार्थस्यानेकात्मकत्वेऽपि निश्चयनयापेक्षया भेदाभावात्पदार्थस्यैकत्वमेव। सदा सर्वकालम्। पदार्थः कदाचिदेकः कदाचिच्चानेक इति नेत्यर्थः। एक एव। परिणामपरिणामिनोर्व्यवहारनयापेक्षयाऽन्योन्यभिन्नत्वेऽपि निश्चयनयापेक्षयाऽन्योन्याभिन्नत्वात्परिणामेन सह तादात्म्यमापन्नः परिणामी परिणामात्मकत्वेन परिणतो भवति। सदा सर्वकालमेकस्यैव व्यवहारनयापेक्षया परिणामात्कथञ्चिद्भिन्नस्यापि निश्चयनयापेक्षयाऽभिन्नस्यैव परिणामिनः परिणामो जायत उत्पद्यते। परिणामादभिन्न एव परिणामी परिणामत्वेन परिणते सति भवतीति भावः। सदा सर्वकालमेकस्यैव परिणतिक्रियात्मकपरिणामात्कथञ्चिद्भिन्नस्यापि निश्चयनयापेक्षयाऽभिन्नस्यैव परिणामिनः परिणतिः परिणामात्मकत्वेन परिणमनस्य क्रिया स्याद्भवति। परिणतिक्रियात्मकत्वेन परिणामी परिणतिक्रियाया भिन्नो न भवति, परिणतिक्रियोत्पत्तेः परिणाम्याश्रयत्वादिति भावः।

विवेचन-- परिणामी, परिणाम और परिणतिक्रिया इनमें व्यवहारनय की दृष्टि से अन्योन्यभेद होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से भेद नहीं होता। यदि परिणामी में परिणाम के रूप से परिणत होनेकी शक्ति के रूप से भी

परिणाम का अभाव होता तो परिणामी का परिणाम के रूप से परिणत होना असंभव हो जाता और यदि परिणाम और परिणामी इनमें सर्वथा भेद होता तो परिणाम में परिणामी का सर्वथा अभाव हो जानेसे परिणाम का भी अभाव हो जाता। मृत्तिका में घटरूप से परिणत होनेकी शक्ति का यदि अभाव हो जाता तो घटरूप परिणाम के रूप से मृत्तिका की परिणति कदापि नहीं होती। घट में यदि मृत्तिका का सर्वथा अभाव होता तो घट का भी अभाव हो जाता। जब घट में मृत्तिका का सद्भाव पाया जाता है तब मृत्तिका में घटरूप से परिणत होनेकी शक्ति के सद्भाव की सिद्धि हो जाती है और मृत्तिका और उसका परिणामभूत घट इनमें अभेद की अर्थात् उनके एकत्व की भी सिद्धि हो जाती है। इसीप्रकार परिणामी में परिणाम के रूप से परिणत होनेकी शक्ति का अभाव हो जाता है ऐसा माना तो उससे परिणाम की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी, जिस द्रव्य को परिणामी कहते है वह कूटस्थनित्य बन जायगा और द्रव्य परिणामी भी नहीं रहेगा। अतः परिणामी में परिणाम का और परिणाम में परिणामी का और परिणति–क्रिया का सद्भाव होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से परिणामी एकरूप हि होता है, फिर भले हि परिणामी और परिणाम व्यवहारनय की दृष्टि से अन्योन्यभिन्न हो और परिणामी अनेकात्मक हो।

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥ ५३ ॥

अन्वयः– उभौ न खलु परिणमतः, उभयोः परिणामः न (खलु) प्रजायते, उभयोः परिणतिः न (खलु) स्यात्, यत् अनेकं सदा अनेकं एव।

अर्थ– भिन्नभिन्न स्वभाववाले होनेसे अन्योन्यभिन्न दो भिन्न पदार्थ अर्थात् उपादानभूत पदार्थ और निमित्तभूत पदार्थ या कोनसे भी दो भिन्न पदार्थ उपादानस्वरूपान्वित अपने उपादानजातीय परिणाम के रूप से परिणत नहीं होते-उपादेयरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय नहीं होते; क्यों कि वे दोनों द्रव्य विजातीय होते हैं। उपादानभूत और निमित्तभूत दो विजातीय द्रव्यों से उपादानस्वरूपान्वित परिणाम की उत्पत्ति नहीं होती और उपादानस्वरूपान्वित परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया उपादान और निमित्त इन दो द्रव्यों की नहीं होती। इसका कारण यह है कि जो द्रव्य उपादानभूतद्रव्य से (स्वभावभेद और व्यक्तिभेद के कारण) भिन्न होता है वह सदा (सभी कालों में और उपादानभूतद्रव्य की सभी अवस्थाओं में उपादानभूतद्रव्य से) भिन्न हि होता है।

त. प्र.– उभौ द्वावनुपादाननिमित्तभूतावुपादाननिमित्तभूतौ वा विजातीयौ पदार्थौ चैतन्यस्वरूपान्वितौ तद्विकलौ वा चेतनाचेतनस्वभावौ वोपादाननिमित्तभूतौ न परिणमतो द्वयोरन्यतरस्योपादानभूतस्य पदार्थस्य स्वस्वरूपेणान्वितस्योपादेयभूतस्य परिणामस्य स्वरूपेण न खलु नैव परिणमतः। तयोरन्यतरोपादानभूतपदार्थस्वरूपान्वितपरिणामस्वरूपेण परिणमनात्मिका या क्रिया तस्या द्वावपि विजातीयौ पदार्थावाश्रयौ नैव भवतोऽन्यतरोपादानभूतद्रव्यस्वात्मकपरिणामे तदन्यनिमित्तभूतद्रव्यस्य स्वस्वरूपेणान्वयनप्रसङ्गात्। द्वयोश्चैतन्यस्वरूपयोश्चैतन्यसामान्यापेक्षया सजातीययोरपि परिणामविशेषापेक्षया तयोरन्योन्यभिन्नत्वाद्विजातीययोरन्योन्यपरिणामोत्पत्तौ निमित्तकारणत्वं तयोः प्रत्येकस्योपादेयभूतस्वस्वरूपान्वितस्वपरिणामस्योत्पत्तावुपादानकारणत्वं च सम्भवतः। द्वयोर्दाण्डिकयोर्दण्डादण्डि युद्धं यदा भवति तदा तयोः क्रोधात्मकविभावपरिणत्योर्जात्यपेक्षया समानत्वात्तयोर्मनुष्यजीवत्वाच्च सजातीयत्वेऽपि क्रोधात्मकतत्परिणमयोस्तीव्रतीव्रतरत्वाद्यपेक्षया व्यक्तिभेदाद्यपेक्षया च भेदात्क्रोधादिपरिणामोत्पत्त्याश्रयभेदाच्च विजातीयत्वम्। युद्धानन्तरं च तयोरन्यतरस्य विजितस्य दुःखात्मकपरिणतेस्तद्भिन्नस्य च विजयिनोऽहङ्कारात्मकपरिणतेश्चापि द्वयोर्विजातीयत्वम्। ततो विजातीयत्वाद्व्यक्ति-

भेदाच्च तयोर्द्वयोः परिणामयोः स्वीयस्वीयविभावभावात्मकपरिणामोत्पत्तौ निमित्तकारणत्वं स्वाज्ञान च स्वपरिणामोत्पत्तावुपादानकारणत्वम् । तयोर्निमित्तकारणत्व बहिरङ्गमुदयावस्थापन्नद्रव्यकर्मणो निमित्तकारणत्वमन्तरङ्गम् । एतौ द्वावपि चैतन्यसामान्यान्वितौ नैकतरस्य जीवस्योपादेयभूतविभा भावात्मकपरिणामस्योत्पत्तावुपादानकारणतां यातः । तथा द्वयोरचेतनद्रव्ययोरपि नव्यजीर्णाद्यवस्थोत्प पुद्गलकर्मणश्चोदयाद्यवस्थोत्पत्तौ कालद्रव्यस्य निमित्तकारणत्ववत्परस्परनिमित्तकारणत्वमेव सम्भवति नैकद्रव्योपादेयभूतपरिणामस्योत्पत्तावुपादानकारणत्वम् । चेतनाचेतनस्वभावयोर्द्रव्ययोः स्वस्वपरिणाम निमित्तकारणत्वे सम्भवत्यपि तयोर्द्वयोरन्योन्योपादानकारणत्वं नैव सम्भवति । द्वयोरनुपादाननिमित्त स्वरूपयोरपि द्रव्ययोर्मृत्तिकासुवर्णयोर्मृत्तिकोपादानकघटपरिणामस्योपादानकारणत्ववदन्योन्योपादेयभूत परिणामस्योपादानकारणत्वं नैव सम्भवति । अतो द्वौ विजातीयौ पदार्थावनुपादाननिमित्तभूतावुपादाननिमित्तभूतौ वाऽन्योन्यपरिणामात्मकपरिणतिनिमित्तीभवन्तावपि द्वयोरन्यतरस्योपादेयभूतस्वोपादानस्वरूपान्वितपरिणामस्य तं स्वेन स्वेन स्वरूपेणाभिव्याप्योपादानकर्त्रीभूय तत्परिणामस्वरूपेण नैव परिणमतः । उभयोर्द्वयोर्विजातीयद्रव्ययोः स्वभावसञ्ज्ञादिभेदादन्योन्यभिन्नयोर्द्रव्यद्वयस्वभावान्वितः परिणामो न खलु नैव प्रजायेतोत्पद्येत । उभयोर्विजातीययोः पदार्थयोरन्यतरपदार्थोपादानकपरिणामात्मकत्वेन परिणतिः परिणमन न खलु नैव स्याद्भवेत् । खलुरत्रावधारणार्थवचनः । यद्यस्मात्कारणादुपादेयभूतपरिणामोपादानकारणभूताद्द्रव्यात्तदन्यद्द्रव्यं स्वभावादिभेदादनेकं भिन्नं सत्सदोपादानभूतद्रव्यस्योपादानावस्थायां तदुपादेयभूतपरिणामावस्थायां तत्परिणतिक्रियापन्नावस्थायां च तत उपादानकारणभूताद्द्रव्यादनेकं भिन्नमेव । तदन्यद्द्रव्यमुपादानभूतद्रव्येणामा कदाप्येकीभावं न प्राप्नोतीति भावः । यथा जीवद्रव्यमशुद्धचैतन्यान्वितरागाद्यात्मकविभावभावानामुपादानकर्तृ भवति तथा पुद्गलद्रव्यमशुद्धचैतन्यान्वितजीवोपादानकरागादिरूपविभावभावाना तत्र पुद्गलद्रव्यस्य स्वरूपेणान्वयाभावादुपादानकर्तृ न भवति । यथा च पुद्गलद्रव्य पुद्गलस्वरूपान्वितानां विभावभावात्मकस्वोपादेयभूतपरिणामानामुपादानकर्तृ भवति तथा जीवद्रव्यमपि पुद्गलस्वरूपान्वितानां विभावभावात्मकानां पुद्गलद्रव्यस्य परिणामानामुपादानकर्तृ न भवति, तत्र जीवद्रव्यस्य स्वरूपेणान्वयाभावात् । यथा जीवस्वरूपोपादानाद्रागादिरूपतदीयोपादेयभूतपरिणानां प्रादुर्भाव [illegible]

परिणतिक्रियाया [illegible] प्राप्नोति स्वपरिणामस्वो[illegible] [illegible]त्मकत्वेऽपि [illegible]नात्मकजीवदार्थः सदा परिणमतीत्यर्थोऽपि ग्राह्यः । अतो व्यवहारनयापेक्षया पदार्थस्यानेकात्मकत्वेऽपि [illegible]न्वितरागादिरूप[illegible] यथा च पुद्गनयापेक्षया भेदाभावात्पदार्थस्यैकत्वमेव । [illegible] भवति तथा [illegible] [illegible]दनुपादानीभूतात्प्रादुर्भूतिर्न भवति । यथा च पुद्गलद्रव्यादुपादानभ-

परिणामानां पुद्गलस्वरूपेणानन्वितत्वात्पुद्गलद्रव्यादनुपादानीभूतात्प्रादुर्भूतिर्न भवति । पुद्गलद्रव्यपरिणामानां पुद्गलद्रव्यादुपादानभ-गलस्वरूपान्वितानां पुद्गलकर्मात्मकविभावभावरूपाणां पुद्गलद्रव्यपरिणामानां जीवस्वरूपेणानन्वितात्प्रादुर्भूतिर्भवति तथा पुद्गलद्रव्योपादानकपुद्गलकर्मात्मकोपादेयभूतपरिणामानां जीवस्वरूपेणानन्वितत्वाज्जीवद्रव्यादनुपादानकर्त्रीभूतादाविर्भावो न भवति । यथा रागादिभावरूपचेतनान्वितपरिणामात्मकत्वेन परिणमनस्य चेतनान्विता क्रिया जीवद्रव्याश्रयिणी जीवद्रव्यादव्यतिरिक्ता जीवद्रव्यात्प्रादुर्भवति तथा सा जीवद्रव्याश्रयिणी जीवद्रव्यादव्यतिरिक्ता चैतन्यान्विता पुद्गलस्वरूपानन्वितत्वात्पुद्गलद्रव्यानाश्रियिणी पुद्गलद्रव्याद्व्यतिरिक्ता पुद्गलद्रव्यान्न प्रादुर्भवति । यथा च पुद्गलद्रव्यस्य पुद्गलकर्मत्वेन परिणमनस्य पुद्गलस्वरूपान्विता पुद्गलद्रव्याश्रयिणी पुद्गलद्रव्यादव्यतिरिक्ता क्रिया पुद्गलद्रव्यादुपादानभूतादाविर्भवति तथा सा पुद्गलद्रव्याश्रयिणी पुद्गलद्रव्यादव्यतिरिक्ता पुद्गलस्वरूपान्विता चैतन्यस्वरूपानन्वितत्वाज्जीवद्रव्यानाश्रयिणी जीवद्रव्याद्व्यतिरिक्ता सती जीवद्रव्यात्तदनुपादानीभूतात्प्रा-विर्भवति । जीवपुद्गलावन्योन्यपणिामयोरुपादानकर्त्रीभवन्तीति न युक्तमिति भावः ।

विवेचन— मृत्तिका और सुवर्ण दो भिन्नजातीय पदार्थ है; क्यों कि वे दोनों पार्थिव या पुद्गलरूप होनेपर भी उन दोनों में से एक का स्वरूप दूसरेके स्वरूप से भिन्न होता है। वे दोनों पदार्थ भिन्नजातीय होनेसे मृत्तिका के स्वरूप से युक्त मृत्तिका के उपादेयभूतपरिणामात्मक घट में सुवर्ण का अपने स्वरूप से अन्वय नहीं पाया जाता। अतः मृत्तिका के समान सुवर्ण भी मृत्तिकोपादानक घट का उपादानकर्ता नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एकद्रव्य के उपादेयभूत परिणाम के दो विजातीयद्रव्य उपादानकर्ता नहीं हो सकते। जब द्रव्य अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता है तब वह द्रव्य उपादानकर्ता कहा जाता है। जिसप्रकार घट के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का मृत्तिकाद्रव्य आश्रय होता है उसीप्रकार उस परिणतिक्रिया का सुवर्णद्रव्य आश्रय नहीं होता। अतः घटरूप परिणाम का मृत्तिका जिसप्रकार उपादानकर्ता होती है उसप्रकार सुवर्ण उपादानकर्ता नहीं हो सकता। उपादानभूत द्रव्य और निमित्तभूत द्रव्य विजातीय-भिन्नजातीय होते है; क्यों कि स्वभावसंज्ञाविभेद से दोनों द्रव्य भिन्न होते हैं। दो चेतन पदार्थों में से एक, दो अचेतन पदार्थों में से एक और चेतन और अचेतन इन दो पदार्थों में से एक जब उपादान होता है तब दूसरा निमित्त होता है। निमित्त दो प्रकारका होता है। जीव के साथ बंध को प्राप्त हुआ पुद्गलकर्म अतरंग निमित्त होता है और जीव के साथ बध को प्राप्त न हुआ ज्ञेयपदार्थ, डडा पत्थर, अन्य जीव आदिरूप बहिरंग निमित्त होता है। जीव के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ न होनेसे पुद्गलकर्म बहिरंगनिमित्त भी कहा जाता है। जीव की पूर्वपर्याय उसकी उत्तरपर्याय का निमित्त होती है और अंतरंगनिमित्त कही जाती है। सातावेदनीय और असातावेदनीय द्रव्यकर्म अंतरंगनिमित्त होते हैं और इष्टविषय की प्राप्ति बहिरंगनिमित्त होती है। पदार्थ की पूर्वपर्याय उसकी उत्तरपर्याय की निमित्तकारण इसलिये कही जाती है कि पूर्वपर्याय की उत्पत्ति के और विनाश के विना उत्तरपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती और पूर्वपर्याय का अपने स्वरूप से उत्तरपर्याय में अन्वय नहीं होता। लाठियों से झगडा करनेवाले दो मनुष्य जब एक दूसरेकी खोपडी तोडकर खून बहाते है तब दोनो एक दूसरे की विभावपरिणतियों के बहिरगनिमित्त होते है और उन दोनों में से प्रत्येक का कर्मोदय अंतरगनिमित्त होता है। उन दोनों की विभावपरिणतियों का उपादानकारण उनका अज्ञानभाव होता है। क्रोधादिरूपपरिणामों की दृष्टि से दोनो मनुष्यजीव सदृश होते है। वह एकद्रव्यरूप नहीं होते; क्यो कि दोनो मनुष्य-जीव अन्योन्यभिन्न स्वतन्त्र द्रव्य हैं। झगडे के बाद पराभूत हुए जीव के परिणाम और विजयी जीव के परिणाम इनमें भेद होता है। यदि उन दोनो का एकद्रव्यत्व—अभिन्नद्रव्यत्व होता तो दोनो के परिणाम भी एकरूप होते। इस दृष्टि से भी दोनों जीव परस्परभिन्न है। उनके परिणामों में सदृशता हो सकती है, किंतु एकता-अभिन्नता नहीं हो सकती; क्यों कि दोनों परिणतियों के उपादानकारण में विभिन्नद्रव्यता होती है। मनुष्यत्वसामान्य की अपेक्षा से वे दोनों यद्यपि सजातीय है तो भी भिन्नभिन्न या अन्योन्यभिन्न परिणामों की अपेक्षा से विजातीय भी हैं। इसप्रकार दो जीव एक दूसरेके परिणाम की उत्पत्ति के निमित्त हो सकते है। पुद्गल की परिणति में कालद्रव्य भी निमित्तकारण पडता है। उसीप्रकार उसकी परिणति में चेतनद्रव्य भी निमित्तकारण पडता है। कालद्रव्य सभी द्रव्यों की परिणति में निमित्तकारण पडता है। पुद्गलकर्म की उदयादिरूप परिणतियों में कालद्रव्य हि निमित्तकारण पडता है। पुद्गलद्रव्य की कर्मरूप परिणतियों में जीव के विभावभाव निमित्तकारण होते है और जीव की विभावपरिणति में पुद्गलकर्म निमित्तकारण पडता है। उपादानभूतद्रव्य की उपादेयरूप परिणति का निमित्तकारणभूत द्रव्य उपादानकर्ता नहीं होता, क्यो कि परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का उपादान जिसप्रकार आश्रय होता है और वह परिणतिक्रिया परिणामी से-उपादान से भिन्न नहीं होती उसीप्रकार उक्त परिणतिक्रिया का आश्रय निमित्तभूतद्रव्य नहीं होता और परिणति क्रिया का निमित्तभूतद्रव्य से भेद होता है। अत. दो द्रव्य एकद्रव्य के उपादेयभूत परिणाम के रूप से परिणत नहीं हो सकते। जब एकद्रव्य के उपादेयभूत परिणाम के रूप से दो द्रव्य परिणत नहीं हो सकते तब एकद्रव्योपादानक परिणाम की उत्पत्ति दो द्रव्यों से नहीं हो सकती; क्यों कि एकद्रव्योपादानक परिणाम में दो द्रव्यों का अपने अपने स्वरूप से अन्वय नहीं पाया जाता। जिस द्रव्य से उपादेयभूतपरिणाम के रूप से परिणति अभिव्यक्त होती है उसी द्रव्य से हि परिणतिक्रिया की उत्पत्ति होती है—उससे भिन्न द्रव्य से उस परिणतिक्रिया की

उत्पत्ति नहीं होती। इसका कारण यह है कि जो द्रव्य उपादानभूत द्रव्य से स्वभावादिभेद के कारण भिन्न होता है वह द्रव्य उपादानभूतद्रव्य से सभी कालों में उत्पन्न होनेवाली सभी अवस्थाओं में अर्थात् उपादानभूत द्रव्य की परिणाम के रूप से परिणत होनेके लिये अभिमुख होनेकी अवस्था में, उसकी उपादेयभूत परिणाम की अवस्था में और परिणतिक्रियारूप अवस्था में भिन्न हि होता है–उस उपादानभूत द्रव्य की किसी भी अवस्था में उस द्रव्य के साथ एकीभाव को प्राप्त हुआ नहीं होता।

प्रकृत प्रकरण जीवद्रव्य के और पुद्‌गलद्रव्य के संबंधविशेषविषयक है। जिसप्रकार जीवद्रव्य अपने रागादिरूप विभावभावो का उपादानकारण होता है उसीप्रकार पुद्‌गलद्रव्य जीव के रागादिरूप विभावभावों का उपादानकर्ता नहीं होता और जिसप्रकार पुद्‌गलद्रव्य अपने विभावभावरूप परिणामों का उपादानकर्ता होता है उसीप्रकार जीवद्रव्य पुद्‌गलद्रव्य के अपने विभावभावरूप परिणामों का उपादानकर्ता नहीं होता। जिसप्रकार जीवरूप उपादान से अपने रागादिरूप उपादेयभूत परिणामों की उत्पत्ति होती है उसीप्रकार जीव के जीवस्वरूपान्वित रागादिरूपविभावभावात्मक परिणाम पुद्‌गलद्रव्य के अचेतनस्वरूप से अन्वित न होनेसे पुद्‌गलद्रव्य से उत्पन्न नहीं होते और जिसप्रकार पुद्‌गलद्रव्य के पुद्‌गलस्वरूपान्वित पुद्‌गलकर्मात्मक विभावभावरूप परिणाम पुद्‌गलद्रव्य से उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार पुद्‌गलद्रव्य के पुद्‌गलकर्मात्मकपरिणाम जीव के चैतन्यस्वरूप से अन्वित न होनेसे जीव से उत्पन्न नहीं होते। जिसप्रकार भावरागादिविभावरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी चेतनान्वित क्रिया जीव से या जीव में उत्पन्न होती है उसीप्रकार वह क्रिया अचेतनस्वरूप से अन्वित न होनेसे पुद्‌गल से या पुद्‌गल में उत्पन्न नहीं होती और जिसप्रकार द्रव्यकर्मरूप अचेतन परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया पुद्‌गल से या पुद्‌गल में उत्पन्न होती है उसीप्रकार पुद्‌गलद्रव्य के द्रव्यकर्मरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया जीव से या जीव में उत्पन्न नहीं होती।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो, द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ५४ ॥

अन्वयः– यतः एकं अनेकं न (हि) स्यात् (ततः) एकस्य द्वौ कर्तारौ न हि स्तः, एकस्य च द्वे कर्मणी न (हि स्तः), एकस्य च द्वे क्रिये न (हि स्तः)।

अर्थ– जब एक स्वभाववाला द्रव्य दो विभिन्न स्वभावों के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ नहीं होता तब एकद्रव्योपादानक एक उपादेयभूत परिणाम के दो भिन्न स्वभाववाले विजातीयद्रव्य उस परिणाम को अपने विभिन्न स्वरूपों से व्याप्त करके उपादानकर्ता नहीं होते, उपादानभूत एक द्रव्य के अपने स्वरूप से और अन्यद्रव्य के स्वरूप से व्याप्त किये गये दो विजातीय अर्थात् भिन्नस्वभाववाले कर्म अर्थात परिणाम नहीं होते और एक द्रव्य के परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया और अन्यद्रव्य के परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया एकद्रव्य की–एकद्रव्यस्वामिक–एकद्रव्य के साथ एकीभाव को–तादात्म्य को प्राप्त हुई नहीं होती और जब एक परिमाणवाला द्रव्य उसी परिमाणवाले अनेक सजातीय परिणामों के रूप से परिणत नहीं होता और समान परिमाणवाले अनेक सजातीय परिणामों का एक प्रत्येक परिणाम के परिमाण जितने परिमाणवाला सजातीयद्रव्य उपादानकारण नहीं हो सकता तब एक विशिष्ट परिमाणवाले परिणाम के दो सजातीय परिणाम के परिमाणजितने परिमाणवाले दो द्रव्य उस विशिष्ट परिणाम के उपादानकर्ता नहीं हो सकते, उपादानभूत विशिष्ट परिमाणवाले उपादानभूतद्रव्य के सजातीय और उपादान के परिमाणजितने परिमाणवाले दो परिणाम नहीं हो सकते और एक विशिष्ट परिमाणात्मक द्रव्य में उस द्रव्य के परिमाणजितने परिमाणवाले दो सजातीय परिणामो के रूप से परिणत होनेकी दो क्रियाएं उस विशिष्ट परिमाणात्मक द्रव्य में युगपत् उत्पन्न न होनेसे वे उसकी नहीं हो सकती।

त. प्र.– यतो यस्मात्कारणादेकमुपादानोपादेयपरिणतिक्रियात्मकावस्थासूपादानभूतमेकस्वभावसमवेतमेकपरिमाणोपेतं च भवति द्रव्यमनेकद्रव्यस्वरूपान्वितमनेकपरिमाणोपेतं च न भवति द्रव्यद्वयस्य

यौ विभिन्नौ स्वभावौ ताभ्यां यौ च विभिन्नौ परिमाणौ ताभ्यां समवेतं च न भवति तत एकस्य स्वोपा-
दानभूतद्रव्यस्य स्वभावमात्रेण परिमाणमात्रेण चान्वितत्वात्स्वोपादानादभिन्नस्य परिणामस्यैकस्य द्वौ
विभिन्नस्वभावौ विभिन्नपरिमाणौ च पदार्थावुपादानकर्तारौ न हि नैव स्तो नैव भवत, एकस्योपादा-
नोपादेयपरिणतिक्रियात्मकावस्थास्वेकमात्रस्वभावान्वितत्वादेकमात्रपरिमाणोपेतत्वाच्चैकस्योपादानभूत-
द्रव्यस्य द्वे विभिन्नस्वभावद्रव्यद्वयविभिन्नस्वभावान्विते विभिन्नपरिमाणद्रव्यद्वयविभिन्नपरिमाणान्विते च
कर्मणी परिणामौ न हि नैव स्तो भवतः। एकस्य चोपादानोपादेयपरिणतिक्रियात्मकावस्थास्वेकमात्र-
स्वभावान्वितत्वादेकमात्रपरिमाणोपेतत्वाच्चैकरूपत्वादेकस्य स्वपरिणामात्मकत्वेन परिणतिक्रियाया
स्वस्मादभिन्नाया उत्पत्तेराश्रयभूतस्योपादानभूतद्रव्यस्य विभिन्नस्वभावपरिमाणद्रव्यद्वयस्य स्वीयस्वीय-
परिणामात्मकत्वेन परिणत्योः क्रिये स्वीयावुत्पत्त्याश्रयभूताद्द्रव्यादभिन्ने द्वे क्रिये न हि नैव स्तो भवतः।
तादृक्क्रियाद्वयमुपादानभूतैकद्रव्यस्वामिकं न भवतीति भावः। एकस्योपादानभूतजीवद्रव्यासाधारणभा-
वभूतचेतनस्वभावमात्रेणान्वितत्वात्स्वोपादानभूताज्जीवद्रव्यादभिन्नस्य विभावभावात्मकपरिणामस्यैकस्य
द्वौ चैतन्याचैतन्यात्मकविभिन्नस्वभावौ जीवपुद्गलावुपादानकर्तारौ नैव भवतः। तथैवैकस्योपादानभूत-
पुद्गलद्रव्यासाधारणभावभूतरूपित्वरूपाचेतनस्वभावमात्रेणान्वितत्वात्स्वोपादानभूतात्पुद्गलद्रव्यादभिन्न-
स्य पुद्गलकर्मात्मकपरिणामस्यैकस्य द्वौ जीवपुद्गलौ चैतन्याचैतन्यात्मकविभिन्नस्वभावावुपादानकर्तारौ
नैव स्तो भवतः। एकस्यैकचैतन्यमात्रस्वरूपासाधारणस्वभावान्वितस्य जीवस्योपादानभूतस्योपादानो-
पादेयपरिणतिक्रियात्मकावस्थास्वेकचैतन्यमात्रासाधारणस्वभावान्वितत्वादेकरूपत्वादेकस्य द्वे चैतन्याचै-
तन्यात्मकस्वभावजीवपुद्गलात्मकद्रव्यद्वयस्वभावान्विते कर्मणी परिणामौ नैव स्तो भवतः। द्वौ विभि-
न्नस्वभावजीवपुद्गलद्रव्यद्वयपरिणामौ जीवस्य न भवत. इत्यर्थः। तथैवैकस्योपादाभूतपुद्गलद्रव्यासा-
धारणभावभूतरूपित्वरूपाचेतनस्वभावमात्रेणान्वितत्वादेकरूपत्वादेकस्य द्वे चैतन्याचैतन्यात्मकस्वभावजी-
वपुद्गलात्मकद्रव्यद्वयस्वभावान्वितेऽन्योन्यभिन्ने कर्मणी परिणामौ न स्तो भवतः। एकस्य चोपादानोपादे-
यपरिणतिक्रियात्मकावस्थास्वेकमात्रचैतन्यस्वभावान्वितत्वादेकरूपत्वादेकस्य स्वीयचैतन्यान्वितपरिणामा-
त्मकत्वेन परिणतिक्रियाया जीवद्रव्यादभिन्नाया उत्पत्तेराश्रयभूतस्य जीवस्योपादानभूतद्रव्यस्य विभिन्नस्व-
भावजीवपुद्गलद्रव्यद्वयस्य स्वीयपरिणामात्मकत्वेन द्वे क्रिये परिणतिक्रिये स्वकीययोरुत्पत्त्योराश्रयभूतयो-
र्जीवपुद्गलयोरभिन्ने न स्तः। तथैवैकस्योपादानोपादेयपरिणतिक्रियात्मिकास्ववस्थास्वैकमात्ररूपित्वस्वभा-
वान्वितत्वादेकरूपत्वादेकस्य स्वीयरूपित्वस्वभावान्वितपरिणामात्मकत्वेन परिणतिक्रियायाः पुद्गलद्रव्या-
दभिन्नाया उत्पत्तेराश्रयभूतस्य पुद्गलद्रव्यस्योपादानभूतस्य विभिन्नस्वभावजीवपुद्गलद्रव्यद्वयस्य स्वीय-
परिणामात्मकत्वेन द्वे क्रिये परिणतिक्रिये स्वकीययोरुत्पत्त्योराश्रयभूतयोर्जीवपुद्गलयोरभिन्ने न स्तः।
एकस्योपादानभूताशुद्धजीवद्रव्यासाधारणभावभूताशुद्धचैतन्यस्वभावमात्रेणान्वितत्वात्स्वोपादानभूतादशु-
द्धजीवद्रव्यादभिन्नस्य विभावभावात्मकपरिणामस्यैकस्य द्वौ शुद्धाशुद्धचैतन्यात्मकविभिन्नस्वभावौ शुद्धा-
शुद्धजीवावुपादानकर्तारौ नैव भवतः। तथैवैकस्योपादानभूतशुद्धजीवद्रव्यासाधारणभावभूतशुद्धचैतन्य-
स्वभावमात्रेणान्वितत्वात्स्वोपादानभूताच्छुद्धजीवद्रव्यादभिन्नस्य स्वभावभावात्मकशुद्धपरिणामस्य द्वौ
शुद्धाशुद्धजीवौ शुद्धाशुद्धचैतन्यात्मकविभिन्नस्वभावावुपादानकर्तारौ नैव भवतः। एकस्यैकाशुद्धचैतन्यमा-
त्रस्वरूपासाधारणस्वभावान्वितस्याशुद्धजीवस्योपादानभूतस्योपादानोपादेयपरिणतिक्रियात्मिकास्ववस्था-
स्वेकाशुद्धचैतन्यमात्रासाधारणस्वरूपान्वितत्वादेकरूपत्वादेकस्य द्वे शुद्धाशुद्धचैतन्यात्मकस्वभावशुद्धाशुद्ध-

जीवद्रव्यद्वयस्वभावान्विते द्वे कर्मणी शुद्धाशुद्धस्वभावान्वितस्वाभाविकवैभाविकपरिणामौ नैव भवतः। तथैवैकस्योपादानभूतशुद्धजीवद्रव्यासाधारणभावभूतशुद्धचैतन्यस्वभावमात्रेणान्वितत्वादेकरूपत्वादेकस्य शुद्धजीवस्य द्वे शुद्धाशुद्धचैतन्यात्मकशुद्धाशुद्धजीवद्रव्यद्वयस्वभावान्वितेऽन्योन्यभिन्ने परिणामौ न स्तः। एकस्य चोपादानोपादेयपरिणतिक्रियात्मिकास्ववस्थास्वेकमात्राशुद्धचैतन्यस्वभावान्वितत्वादेकरूपत्वादेकस्याशुद्धजीवस्य स्वीयाशुद्धचैतन्यान्वितपरिणामात्मकत्वेन परिणतिक्रियाया अशुद्धजीवद्रव्यादभिन्नाया उत्पत्तेराश्रयभूतस्याशुद्धजीवस्योपादानभूतद्रव्यस्य शुद्धाशुद्धचैतन्यान्वितशुद्धाशुद्धावस्थाद्वयसम्पादितद्वैतीभावत्वादेकस्याऽपि कथञ्चिद्द्रव्यद्वयत्वापत्तेश्शुद्धाशुद्धजीवद्रव्यद्वयस्य स्वीयपरिणामात्मकत्वेन द्वे क्रिये शुद्धाशुद्धस्वरूपान्विते परिणतिक्रिये स्वकीययोरुत्पत्त्योराश्रयभूतयोऽशुद्धाशुद्धजीवयोरभिन्ने न स्तः। तथैवैकस्य शुद्धजीवस्योपादानोपादेयपरिणतिक्रियात्मिकास्वेकमात्रशुद्धचैतन्यस्वभावान्वितत्वादेकरूपत्वादेकस्य स्वीयशुद्धचैतन्यस्वभावान्वितस्वाभाविकभावरूपपरिणामात्मकत्वेन परिणतिक्रियायाश्शुद्धजीवद्रव्यादभिन्नाया उत्पत्तेराश्रयभूतस्यशुद्ध जीवद्रव्यस्योपादानभूतस्य शुद्धाशुद्धचैतन्यान्वितशुद्धाशुद्धावस्थाद्वयसम्पादितद्वैतीभावत्वान्निश्चयनयापेक्षयैकस्यापि कथञ्चिद्द्रव्यद्वयत्वापत्तेश्शुद्धाशुद्धजीवद्रव्यद्वयस्य स्वीयपरिणामात्मकत्वेन द्वे क्रिये शुद्धाशुद्धस्वरूपान्वितपरिणतिक्रिये स्वकीययोरुत्पत्त्योराश्रयभूतयोश्शुद्धाशुद्धजीवयोरभिन्ने न स्तः। निश्चयनयापेक्षया सर्वास्वप्यवस्थास्वेकत्वेऽप्यवस्थाकृतभेदात्कथञ्चिद्भिन्नत्वाच्छुद्धाशुद्धावस्थाद्वयभेदादेकस्याऽपि कथञ्चिद्भिन्नद्रव्यद्वयत्वापत्तेरशुद्धावस्थोपादानभूतजीवद्रव्यस्योपादानोपादेयपरिणतिक्रियात्मिकास्ववस्थासु स्वीयाशुद्धस्वरूपेणान्वितत्वाद्यथाऽशुद्धो जीव उपादानकर्त्रीभवति, ततस्तदुपादेयभूतपरिणामोत्पत्तिर्जायते परिणतिक्रियाश्रयीभवति च, न तथा शुद्धो जीवोऽशुद्धजीवपरिणामानामुपादानकर्त्रीभवति, ततोऽशुद्धजीवोपादेयभूतपरिणामानामुत्पत्तिर्न जायतेऽशुद्धस्वरूपान्वितपरिणतिक्रियायाश्च स नैवाश्रयभावं प्राप्नोति, तथैवाविनष्टाशुद्धावस्थो जीवः शुद्धजीवस्य शुद्धस्वभावान्वितस्वाभाविकभावानां नोपादानकर्त्रीभवति, ततश्शुद्धजीवोपादेयभूतशुद्धस्वभावान्वितस्वाभाविकभावानामुत्पत्तिर्न जायते शुद्धस्वरूपान्वितपरिणतिक्रियायाश्च स नैवाश्रयभाव प्राप्नोतीति भावः। एवमन्योन्यभिन्नयोर्द्वयोरशुद्धजीवद्रव्ययोः शुद्धजीवद्रव्ययोः पुद्गलद्रव्ययोः पुद्गलतदितराचेतनद्रव्ययोश्चान्योन्योपादेयभूतपरिणामानामन्योन्योपादानकर्तृत्व विभिन्नद्रव्यद्वयोपादानकर्योर्विभिन्नपरिणामयोरन्यतरद्रव्यस्वामिकत्वं न सम्भवतीत्यवसेयम्।

विवेचन– उपादानभूत द्रव्य अपनी उपादान–अवस्था में, उपादेय–अवस्था में अर्थात् परिणाम की अवस्था में और अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया से युक्त होनेकी अवस्था में अपने स्वरूप से युक्त बना रहता है। प्रत्येक अवस्था म उसका स्वरूप बना रहनेसे वह स्वरूप किसी भी अवस्था में परिवर्तित नहीं होता– अन्यद्रव्य के रूप मे परिवर्तित नही होता। मृत्तिका का स्वरूप घट के उपादान की अवस्था में, घटरूप परिणाम की अवस्था में और घट के रूप से परिणत होनेकी क्रिया से युक्त होनेकी अवस्था मे जैसा का तैसा बना रहता है– कुम्हार के स्वरूप के रूप से परिवर्तित नहीं होता। कौनसा भी उपादानभूत द्रव्य अपनी सभी अवस्थाओं में जैसा का तैसा बना रहता है यह अभिप्राय इससे स्पष्ट हो जाता है। मृत्तिका अपनी किसी भी अवस्था में सुवर्ण के या कुम्हार के रूप से परिवर्तित नहीं होती। सारांश वस्तु का स्वभाव ऐसा हि होता है। परिणाम परिणामी के साथ एकरूप होनेमे परिणाम की जाति और परिणामी की जाति एक हि होती है। परिणाम अपने उपादान की जाति का होनेसे भिन्नस्वभाववाला अत एव अपने उपादान से भिन्नद्रव्य के परिणाम के उपादान के समान उसी परिणाम का दूसरा उपादानकर्ता नहीं होता। यदि एक कार्यद्रव्य के दो भिन्नजातीय द्रव्य उपादानकर्ता माने गये तो कार्यद्रव्य

दो विभिन्न स्वभावों से युक्त बन जायगा या दो भिन्नजातीय द्रव्यों का अभिन्नत्व सिद्ध हो जायगा, जो कि असंभव है। अतः कार्यद्रव्य के दो द्रव्य उपादानकर्ता नहीं हो सकते। अथवा परिणाम और परिणामी का परिमाण अवयवों की अपेक्षा से समान होनेसे परिणाम का सजातीय अर्थात् परिणामी का सजातीय अन्य द्रव्य भी एकद्रव्योपादानक परिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकता। घटरूप परिणाम का और मृत्तिकारूप परिणामी का परिमाण समान होता है अर्थात् घटरूप परिणाम का मृत्तिकारूप उपादान पूर्णतया घटरूप से परिणत होता है। इसीकारण परिणाम और परिणामी इनका परिमाण समान होता है। घटरूप परिणाम और मृत्तिकारूप परिणामी इनका परिमाण समान होनेसे अन्य सजातीय मृत्पिंड उस घटरूप परिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकता। अतः एक परिणाम का एक हि द्रव्य पूर्णतया उपादानकर्ता होता है। इससे 'उपादान अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से पूर्णतया परिणत होता है' यह अभिप्राय भी अभिव्यक्त हो जाता है। परिणाम और परिणामी इनके अवयवों का या प्रदेशों का परिमाण समान होता है। [एक तोला परिमाणवाले सुवर्ण से बनाये गये अलंकार का परिमाण एक तोला हि होता है। उसी अलंकार को गलाकर पिंडाकार बनाये गये सुवर्ण से दूसरा अलंकार भी बन सकता है।] परिणाम और परिणामी या उपादान और उपादेय इनकी जाति एक होनेसे एक परिणामीका या उपादान का एक सजातीय और दूसरा विजातीय ऐसे दो परिणाम नहीं हो सकते; क्यों कि विजातीय परिणाम का उपादान दूसरा हि विजातीय पदार्थ होता है। सुवर्णरूप उपादान से सजातीय अर्थात् सुवर्ण की जाति का हि अलंकाररूप एक परिणाम होता है, चांदी के स्वरूप से अन्वित-युक्त विजातीय परिणाम सुवर्ण का नहीं होता। अतः एक उपादान के दो विजातीय परिणाम नहीं हो सकते। अथवा-उपादान और उपादेय का परिमाण समान-एक होनेसे एक उपादान से एकसाथ उपादान के परिमाण के सदृश परि .णवाले दो सजातीय परिणाम नहीं हो सकते। एक तोला परिमाणवाले सुवर्णरूप उपादान के एक तोला परिमाणवाले अलंकाररूप दो परिणाम युगपत् नहीं हो सकते; क्यों कि एक तोला परिमाणवाले सुवर्ण का एकतोला परिमाणवाले अलकाररूप परिणाम के साथ तादात्म्य होनेसे उसीसमय दूसरे अलकार के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता। अतः एक उपादानभूत द्रव्य के युगपत् सजातीय या विजातीय दो परिणाम नहीं हो सकते। एक उपादानभूत द्रव्य में जब अपने सजातीय परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया उत्पन्न होती है तब सजातीय या विजातीय परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया उसी उपादानभूत द्रव्य मे उत्पन्न नही हो सकती; क्यों कि अन्य सजातीय परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय उपादानभूत अन्य सजातीय द्रव्य होता है और विजातीय परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय उपादानभूत अन्य विजातीय द्रव्य होता है। सुवर्णरूप उपादान में सुवर्णजातीय अलकाररूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की जब उत्पत्ति होती है तब चांदी के अलकाररूप विजातीय परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की उत्पत्ति सुवर्णरूप उपादानभूत द्रव्य में नहीं होती; क्यों कि उस परिणतिक्रिया की उत्पत्ति चांदीरूप अपने उपादानभूत द्रव्य में हि होती है। यदि ये दोनों क्रियाए सुवर्णरूप उपादानभूत द्रव्य में हि उत्पन्न होने लगी तो सुवर्ण से सुवर्णजातीय अलकाररूप परिणाम के समान रजतजातीय अलकाररूप परिणाम की भी उत्पत्ति हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जायगा। अतः एक उपादानभूत द्रव्य की दो अन्योन्यभिन्नजातीय परिणामो के रूप से परिणत होनेकी क्रियाए नहीं हो सकती। अथवा-एक उपादानभूत द्रव्य में एक सजातीय परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया जिससमय उत्पन्न होती है उसीसमय उसी उपादानभूत द्रव्य में दूसरे सजातीय परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया उत्पन्न नहीं होती; क्यो कि एक हि उपादानभूतद्रव्य में एक हि समय में दो सजातीय परिणामो के रूप से परिणत होनेकी दो क्रियाएं उत्पन्न होने लगी तो उस उपादान से दो विभिन्न परिणामों की उत्पत्ति होनेका प्रसग उपस्थित हो जायगा। यदि मृत्तिकारूप उपादानभूत द्रव्य में दो घटों के रूप से या घट के और कुड के रूप से परिणत होनेकी क्रियाए युगपत् उत्पन्न होने लगी तो मृत्तिका से दो घट या घट और कुड ये दो परिणाम युगपत् उत्पन्न हो जावेंगे, जो कि असभव है; क्यों कि एक उपादानभूत द्रव्य से एक हि समय में एक हि सजातीय परिणाम उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है- दो सजातीय या विजातीय परिणाम उत्पन्न होते हुए नहीं देखे जाते। अतः एक हि उपादान में दो सजातीय या

विजातीय परिणामों के रूप से परिणत होनेकी दो क्रियाएं युगपत् उत्पन्न नहीं हो सकती यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। इसप्रकार एक स्वभाववाले कार्यद्रव्य के दो विभिन्नद्रव्य उपादानकर्ता न होनेका, एकस्वभाववाले कारण-द्रव्य के दो विभिन्नजातीय परिणाम न होनेका और एकस्वभाववाले कारणद्रव्य के दो विजातीयक्रियाओं का आश्रय न होनेका कारण यह है कि कार्यद्रव्य और कारणद्रव्य एक स्वभाववाला होनेसे एकरूप होता है, अनेकस्वभाववाला न होनेसे अनेकरूप नहीं होता।

भावक्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणाम में सिर्फ अशुद्धचैतन्य का अन्वय पाया जानेसे और अशुद्ध जीवद्रव्य से वह अभिन्न होनेसे उसका उपादानकर्ता सिर्फ अशुद्धजीव हि होता है। चैतन्यशून्य पुद्गलद्रव्य या पुद्गल-कर्म उस भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकता; क्यों कि उस भावक्रोध में अचेतनपुद्गल का अन्वय नहीं पाया जाता और पुद्गलद्रव्य से वह अभिन्न नहीं होता। अतः भावक्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणाम के शुद्ध जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ये दोनों युगपत् उपादानकर्ता नहीं हो सकते। द्रव्यक्रोधादिरूप विभावभावात्मकपरिणाम में सिर्फ पुद्गलद्रव्य का अन्वय होनेसे और पुद्गलद्रव्य से वह अभिन्न होनेसे उसका उपादानकर्ता सिर्फ पुद्गलद्रव्य हि होता है। अशुद्धचैतन्यस्वरूपान्वित अशुद्धजीवद्रव्य उस द्रव्यक्रोधादिरूप विभावभावात्मकपरिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकता; क्यों कि उस द्रव्यक्रोध में अशुद्धचैतन्यान्वित अशुद्धजीवद्रव्य का अपने अशुद्धचैतन्यस्वरूप से अन्वय नहीं होता और अशुद्ध जीवद्रव्य से वह अभिन्न भी नहीं होता। सारांश, अशुद्ध जीव-द्रव्य के विभावभावात्मक परिणाम का और पुद्गलद्रव्य के विभावभावात्मक परिणाम का अशुद्ध जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ये दोनों मिलकर उपादानकर्ता नहीं हो सकते; क्यों कि उन दोनों प्रकार के विभावभावों में वे दोनो द्रव्य अपने अपने स्वरूप से युगपत् अन्वित नहीं होते। एक चैतन्यमात्ररूप असाधारणस्वरूप से युक्त, उपादानभूत और उपादानवस्था, उपादेयावस्था और परिणतिक्रियावस्था इनमें स्वस्वरूप से अन्वित होनेसे एकरूप होनेके कारण एक ऐसी आत्मा का स्वस्वरूपान्वित स्वजातीय ऐसा एक हि परिणाम होता है, दूसरा पुद्गलरूप परद्रव्य के रूपि-त्वस्वभाव से युक्त ऐसा परिणाम उसका नहीं हो सकता; क्यों कि उस दूसरे परिणाम में जीवद्रव्य अपने स्वरूप से अन्वित नहीं होता। एक रूपित्वरूप असाधारण स्वरूप से युक्त, उपादानभूत और उपादानावस्था, उपादेयावस्था और परिणतिक्रियावस्था इनमें रूपित्वरूप स्वरूप से अन्वित होनेसे एकरूप होनेके कारण एक ऐसे पुद्गलद्रव्य का स्वस्व-रूपान्वित और स्वजातीय ऐसा एक हि परिणाम होता है, दूसरा जीवद्रव्यरूप परद्रव्य के चैतन्यस्वभाव से युक्त ऐसा परिणाम उसका नहीं हो सकता, क्यों कि उस दूसरे परिणाम में पुद्गलद्रव्य अपने रूपित्वस्वरूप से अन्वित नहीं होता और वह परिणाम पुद्गलद्रव्य से भिन्न होता है। उपादान की अवस्था, उपादेय की अवस्था और परिणतिक्रिया की अवस्था इनमें चैतन्यमात्ररूप एक स्वभाव से अन्वित होनेके कारण एकरूप उपादानभूत जीवद्रव्य अपने चैतन्य-स्वरूप से युक्त परिणाम के रूप से परिणत होनेकी अपनेसे अभिन्न ऐसी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रय होनेसे वह परिणतिक्रिया जिसप्रकार जीव की होती है उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य की अपने स्वरूप से अन्वित परिणाम के रूप से परिणत होनेकी पुद्गलद्रव्य से भिन्न न होनेवाली क्रिया जीवद्रव्य के स्वरूप से अन्वित न होनेसे और उससे भिन्न होनेसे जीवद्रव्य की नहीं हो सकती। उपादान की अवस्था, उपादेय की अवस्था और परिणतिक्रिया की अवस्था इनमें अपने रूपित्वमात्ररूप एक स्वभाव से अन्वित होनेके कारण उपादानभूत पुद्गलद्रव्य अपने रूपित्वस्वरूप से युक्त परिणाम के रूप से परिणत होनेकी पुद्गलद्रव्य से अभिन्न ऐसी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रयभूत होनेसे वह परिण-तिक्रिया जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य की होती है उसीप्रकार जीवद्रव्य की अपने चैतन्यस्वरूप से अन्वित परिणाम के रूप से परिणत होनेकी जीवद्रव्य से भिन्न न होनेवाली क्रिया पुद्गलद्रव्य के रूपित्वरूप स्वरूपसे युक्त न होनेसे और उससे भिन्न होनेसे पुद्गलद्रव्य की नहीं हो सकती।

अशुद्ध जीवद्रव्य अपनी उपादान अवस्था को, अपने उपादेयभूत परिणाम को और अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की अवस्था को अपने अशुद्धचैतन्यस्वरूप से जब व्याप्त करता है तब उसकी अपनी सभी अवस्थाओं में एकरूपता बनी रहती है। ऐसी एकरूप अशुद्ध आत्मा

अपने विभावभावात्मक परिणाम को अपने अशुद्धचैतन्यरूप स्वभाव से व्याप्त करनेवाली होनेसे उस विभावभावात्मक परिणाम का उपादानकर्ता होती है। यह विभावभावात्मक परिणाम अशुद्धजीवद्रव्य के स्वरूप से व्याप्त हुआ होने से अशुद्धजीवद्रव्य से भिन्न नहीं होता और अशुद्धजीवद्रव्य का सजातीय होता है। इस विभावभावात्मक परिणाम का जिसप्रकार अशुद्धजीव उपादानकर्ता होता है उसीप्रकार शुद्ध जीव उस विभावभावात्मक परिणाम का उपादानकर्ता नहीं होता; क्यों कि वह अपने शुद्धचैतन्यरूप स्वरूप से विभावभावात्मक परिणाम को व्याप्त कर नहीं करता और विभावभावात्मक परिणाम शुद्धचैतन्य से अन्वित न होनेसे शुद्धजीवद्रव्य का सजातीय न होनेके कारण शुद्धजीवद्रव्य से भिन्न होता है। शुद्धजीवद्रव्य भी अपनी उपादान-अवस्था को, अपने उपादेयभूत स्वाभाविकभावरूप परिणाम को और अपने स्वाभाविकभावरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया को जब अपने शुद्धचैतन्यात्मकस्वरूप से व्याप्त करता है तब उसकी अपनी सभी अवस्थाओं में एकरूपता बनी रहती है। ऐसी एकरूप शुद्ध आत्मा अपने स्वभावभावात्मक परिणाम को अपने शुद्धचैतन्यरूप स्वभाव से व्याप्त करनेवाली होनेसे उस स्वभावभावात्मक परिणाम का उपादानकर्ता होती है। यह स्वभावभावात्मक परिणाम शुद्धजीवद्रव्य के स्वरूप से व्याप्त हुआ होनेसे शुद्धजीवद्रव्य से भिन्न नहीं होता और शुद्धजीवद्रव्य का सजातीय होता है। इस स्वभावभावात्मक परिणाम का जिसप्रकार शुद्ध जीव उपादानकर्ता होता है उसीप्रकार अशुद्ध जीव उस स्वभावभावात्मक परिणाम का उपादानकर्ता नहीं होता; क्यों कि वह अपने अशुद्धचैतन्यरूप स्वरूप से स्वभावभावात्मकपरि- को व्याप्त नहीं करता और स्वभावभावात्मक परिणाम अशुद्धचैतन्य से अन्वित न होनेसे अशुद्ध जीवद्रव्य का सजातीय न होनेके कारण अशुद्ध जीवद्रव्य से भिन्न होता है। अशुद्ध चैतन्यमात्ररूप अपने असाधारणस्वरूप से और उपादानभूत अशुद्ध जीवद्रव्य अपनी उपादान-अवस्था में, उपादेयभूत अपने परिणाम की अवस्था में और अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की अवस्था में अपने अशुद्धचैतन्यरूप से युक्त होनेसे और अपनी उन सभी अवस्थाओं को अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाला होनेसे वह एकरूप बना रहता है। ऐसी एकरूप अशुद्ध आत्मा का अशुद्धचैतन्यस्वरूप से अन्वित एक हि परिणाम होता है। शुद्ध आत्मा का शुद्धचैतन्यान्वित स्वभावभावरूप परिणाम अशुद्धात्मस्वामिक नहीं होता; क्यों कि शुद्ध आत्मा का शुद्धचैतन्यान्वित परिणाम अशुद्धचैतन्य से अन्वित न होनेसे अशुद्ध आत्मा से भिन्न अत एव विजातीय है। जो परिणाम उपादान की जाति का नहीं होता वह उस उपादान का नहीं होता। सुवर्ण का घट मृत्तिकाजातीय न होनेसे मृत्तिका का उपादेय नहीं होता। शुद्धचैतन्यमात्ररूप अपने असाधारणस्वभाव से युक्त और उपादानभूत शुद्ध जीवद्रव्य अपनी उपादान-अवस्था में, उपादेयभूत अपने परिणाम की अवस्था में और अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया की अवस्था में अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप से युक्त होनेसे और अपनी उन सभी अवस्थाओं को अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप से व्याप्त करनेवाला होनेसे वह एकरूप बना रहता है। ऐसी एकरूप शुद्ध आत्मा का शुद्धचैतन्यस्वरूप से अन्वित एक हि परिणाम होता है। अशुद्ध आत्मा का अशुद्धचैतन्यान्वित विभावभावरूप परिणाम शुद्धात्मस्वामिक नहीं होता; क्यों कि अशुद्ध आत्मा का अशुद्धचैतन्यान्वितपरिणाम शुद्धचैतन्य से अन्वित न होनेसे शुद्ध आत्मा से भिन्न अत एव विजातीय होता है। सारांश, शुद्ध आत्मा के और अशुद्ध आत्मा के दो विजातीय परिणाम नहीं हो सकते। अपनी सभी अवस्थाओं में अपने अशुद्धचैतन्यरूप स्वरूप से अन्वित हुआ होनेसे अशुद्ध जीवद्रव्य एकरूप होता है। वह एकरूप अशुद्ध जीवद्रव्य अपने विभावभावात्मक परिणाम के रूप से जब परिणत होने लगता है तब वह अपने अशुद्धचैतन्यरूपस्वरूप से युक्त होता है। वह विभावभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया अशुद्धचैतन्यान्वित होनेसे अपने आश्रयभूत अशुद्धजीवद्रव्य से भिन्न नहीं होती। वह परिणतिक्रिया अशुद्धजीवद्रव्य के स्वरूप से युक्त होनेसे और उस द्रव्य से भिन्न न होनेसे अशुद्धजीवद्रव्य की होती है। जिसप्रकार विभावभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया अशुद्धजीवद्रव्य की होती है उसीप्रकार स्वभावभावरूप से परिणत होनेकी शुद्धात्मद्रव्योपादानक क्रिया अशुद्धजीवद्रव्य की नहीं होती; क्यो कि वह अशुद्धजीवद्रव्य के स्वरूप से युक्त नहीं होती और अशुद्धजीवद्रव्य से भिन्न होती है। अपनी सभी अवस्थाओं में अपने शुद्धचैतन्यरूप स्वरूप से अन्वित हुआ होनेसे शुद्धजीवद्रव्य एकरूप होता है। वह एकरूप शुद्धजीवद्रव्य अपने स्वभावभावात्मक

परिणाम के रूप से जब परिणत होता है तब वह अपने शुद्धचैतन्यरूपस्वरूप से युक्त होता है। वह स्वभावभावरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया शुद्धचैतन्यान्वित होनेसे अपने आश्रयभूत शुद्धजीवद्रव्य से भिन्न नहीं होती। वह परिणतिक्रिया शुद्धजीवद्रव्य के स्वरूप से युक्त होनेसे और उस शुद्धजीवद्रव्य से भिन्न न होनेसे शुद्धजीवद्रव्य की होती है। जिसप्रकार स्वभावभावरूप से परिणत होनेकी क्रिया शुद्ध जीवद्रव्य की होती है उसीप्रकार विभावभावरूप से परिणत होनेकी अशुद्धजीवद्रव्योपादानक क्रिया शुद्धजीवद्रव्य की नहीं होती; क्यों कि वह शुद्ध जीवद्रव्य के स्वरूप से युक्त नहीं होती और शुद्धजीवद्रव्य से भिन्न होती है। विभावभावरूप परिणाम में और स्वभावभावरूप परिणाम में सामान्यतः एक जीवद्रव्य अपने सामान्य चैतन्यस्वरूप से अन्वित हुआ होनेसे द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से जीवद्रव्य की सामान्यतः एकरूपता होनेपर भी पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से अशुद्धावस्थापन्न और शुद्धावस्थापन्न जीव का अन्योन्यभिन्नत्व सिद्ध होनेसे कथंचित् द्वैतीभाव सिद्ध हो जाता है अर्थात् अशुद्धावस्थापन्न जीवद्रव्य और शुद्धावस्थापन्न जीवद्रव्य कथंचित् एक दूसरेसे भिन्न होता है-अशुद्ध जीव शुद्धजीवद्रव्यरूप नहीं होता और शुद्धजीव अशुद्धजीवरूप नहीं होता।

इसप्रकार परस्परभिन्न दो अशुद्धजीवों का, दो शुद्धजीवों का, दो पुद्गलद्रव्यों का और पुद्गल और पुद्गलभिन्न दो अचेतन द्रव्यों का एक उपादानजातीय एक परिणाम का उपादानकर्तृत्व, भिन्नोपादानक दो विजातीय परिणामों का उपादानभूतैकद्रव्यस्वामिकत्व और भिन्नद्रव्योपादानक विजातीय दो परिणामों के रूप से परिणत होनेकी दो विजातीय क्रियाओं का उपादानभूतैकद्रव्याश्रितत्व नहीं बन सकता।

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ? ॥ ५५ ॥

अन्वयः– ननु ! इह मोहिनां 'अहं परं कुर्वे' इति उच्चकैः दुर्वारं महाहङ्काररूपं तमः आसंसारत एव धावति। अहो ! भूतार्थपरिग्रहेण तत् यदि एकवारं विलयं व्रजेत् तत् ज्ञानघनस्य आत्मनः बन्धनं भूयः भवेत् किम् ?

अर्थ– हे भव्यजीवो ! अनादिकाल से मोही बने हुए-मोहाक्रान्त हुए जीवों का 'मैं परद्रव्य को करता हूं अर्थात् कार्यद्रव्यरूप परद्रव्य का मैं उपादानकर्ता हू और परद्रव्य मेरे उपादेयभूत परिणाम है' इसप्रकार का, जिसका नाश करना आत्यन्तिकरूप से कठिन है ऐसा, महान् अहंकाररूप अंधकार अनादिकाल से चला आया है। हे भव्यजीवो ! यथार्थ वस्तुस्वरूप का अर्थात् विज्ञानघनस्वरूप आत्मा का यथार्थरूप से ज्ञान-अनुभव हो जानेपर वह (अंधकार) यदि एकदफे विनाश को प्राप्त हुआ तो विज्ञानघनस्वरूप आत्मा के साथ पुद्गलकर्म का फिर से बंध हो सकेगा क्या? [कदापि नहीं।]

त. प्र.– नन्वित्यामन्त्रणे। भो भव्याः ! इहाऽस्मिन्संसारे मोहिनां मोहाक्रान्तस्वस्वभावभूतज्ञानवताम्। सप्तप्रकृत्युदयनिमित्तोत्पन्नज्ञानविकारभूतविभावभावानामित्यर्थः। अहं चैतन्यस्वरूपः परं चेतन्यविकलपरद्रव्योपादानककार्यद्रव्यरूपं परिणामं कुर्वं उपादानकर्त्रीभूय प्रादुर्भावयामीत्युच्चकैरत्यर्थं दुर्वारं महता कष्टेन वार्यम्। दुःखेन कृच्छ्रेण वार्यते परित्यज्यत इति दुर्वारम्। 'स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे खः' इति खः। महाहङ्काररूपं महांश्चासावहङ्कारश्च महाहङ्कारः। 'आङ्महतो जातीये च' इत्याङ्महतः। महाहङ्कारो रूपं स्वरूपं यस्य तत्। तमोऽज्ञानम्। यथा तमो वस्तुस्वरूपज्ञानं प्रतिबध्नाति तथाऽज्ञानमपीत्यज्ञानस्य तमस्त्वम्। आसंसारतोऽनादेः। 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' इत्यभिविधिमर्यादयोः

का। संसारस्यानादित्वादनादेरित्यर्थोऽत्र ग्राह्यः। अत्र कार्ये तसिः। धावति प्रसर्पति। शुद्धज्ञानविकलं संसारिणमात्मानं साकल्येन व्याप्नोतीति यावत्। शुद्धात्मद्रव्यभिन्नद्रव्योपादानककार्यद्रव्यस्यात्मन उपादानकर्तृत्वाभावेऽपि तदुपादानकर्तृत्वाभिमानोऽनादेर्मोहाक्रान्तज्ञानस्यात्मनः प्रकटीभूय प्रवर्तत इति भावः। अहो भव्याः! भूतार्थपरिग्रहेण पारमार्थिकार्थस्वरूपपरिज्ञानेन। शुद्धज्ञानस्वरूपोयमात्मा पुद्गलकर्मात्मकं पुद्गलद्रव्योपादानकं रद्रव्यात्मकपुद्गलकर्मोदयनिमित्तकर्तृजन्य विभावभावात्मकमशुद्धात्मोपादानकं च परिणामं नोपादानकर्त्रीभूय करोतीति भूतार्थः परमार्थः। तस्य परिग्रहो यथार्थज्ञानम्। तेन। तन्महाहङ्काररूप तमो यद्येकवारमेकदा विलयं विनाशं व्रजेत्प्राप्नुयात्तर्हि ज्ञानघनस्य शुद्धज्ञानव्याप्तसर्वप्रदेशस्य ज्ञानमयस्यात्मनो बन्धनं बन्धः कर्मवर्गणानां सर्वात्मप्रदेशैः संश्लेषात्मक एकक्षेत्रावगाहरूपो भूयः पुनरपि भवेत्स्यात्किम्? पुनरपि कदापि न भवेदित्यर्थः। भावमोहात्मकपरिणत्यभावे मिथ्यादर्शनादीनामास्रवबन्धहेतूनामभावापत्तेर्द्रव्यकर्मणामनास्रवणात्पुनरप्यात्मकर्मसंश्लेषात्मको बन्धो न सम्भवतीति भावः। मोहाभावेऽपि कर्मबन्धो भवतीति चेत्, न, मुक्तावस्थाभावापत्तेः।

विवेचन— जिसप्रकार सुवर्णपाषाण में सुवर्ण और पाषाण का संयोग अनादि से चला आया हुआ होता है उसीप्रकार अज्ञानी जीव और पुद्गलकर्म का भी संयोगसंबंध भी अनादि से चला आया हुआ है। आत्मा के शुद्धस्वरूप को मोहनीयोदय विकृत कर देता है; क्यों कि आत्मस्वरूप को विकृत करने की–मिथ्याज्ञानादिरूप से परिणत करनेकी सामर्थ्य से वह युक्त होता है। आत्मा का मोहनीयकर्म के साथ संश्लेष–संयोग अनादिकाल से बना हुआ है। अतः वह अनादिकाल से अज्ञान के–मिथ्याज्ञान के रूप से परिणत हुई है। उसकी इस मिथ्याज्ञानरूप परिणति के कारण उसे आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इस अज्ञान के कारण शुद्ध आत्मा पुद्गलद्रव्य के परिणाम का उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता और क्रोधादिरूप अशुद्धात्मोपादानक परिणाम का उपादानकर्ता न होनेपर भी अपनेको उन परिणामों का अनादिकाल से उपादानकर्ता समझ रही है। परभावों का स्वयं उपादानकर्ता होनेकी उसकी यह कल्पना निबिड अंधकार के समान है; क्यों कि जिसप्रकार निबिड अंधकार वस्तुस्वरूप के ज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध करता है उसीप्रकार मिथ्याज्ञान भी आत्मा के स्वरूप के यथार्थज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध करता है। इस मिथ्याज्ञानरूप अंधकार का नाश करना यद्यपि आत्मा की शक्ति के बाहर का काम नहीं है तो भी अत्यधिककष्टसाध्य है; क्यों कि वह अनादि से आत्मा के साथ चला आया होनेसे उसको हटाना कठिन हो जाता है। यदि आत्मा के शुद्धस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से उस अज्ञानांधकार का नाश हुआ तो–दर्शनमोह का अभाव हुआ तो सम्यक्त्व का आविर्भाव हो जानेसे और चारित्रगुण की वृद्धि हो जानेसे मिथ्यादर्शनादिरूप बन्ध के कारणों का अभाव हो जानेके कारण शुद्धज्ञानमय बनी हुई आत्मा के फिरसे कर्मबंध कदापि नहीं हो सकता। जब निमित्त का हि अभाव होता है तब नैमित्तिकभाव का नियम से अभाव हो जाता है ऐसा नियम है। निमित्त का अभाव होनेपर भी नैमित्तिकभाव कहे जानेवाले उपादेयभूत परिणाम की उत्पत्ति होने लगी तो जीव की मुक्तावस्थारूप परिणाम का अभाव हो जायगा; क्यों कि कर्मोदयरूप निमित्त का अभाव होनेपर भी जीव की विभावभावात्मक परिणाम के रूप से परिणति सदा होती रहेगी। कुम्हार के अभाव में मृत्तिका घटरूप से परिणत होती हुई कभी भी किसी के द्वारा देखी नहीं गयी। अतः मोहनीयकर्म का अभाव होनेपर आत्मा के मिथ्यादर्शनादिरूप विभावभावों का अभाव होनेसे शुद्धज्ञानरूप से परिणत हुई आत्मा के फिरसे कर्मबंध नहीं होता। निमित्त की परिणामोत्पत्ति के अनुकूल क्रिया का अभाव होनेपर उपादान अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से कदापि परिणत नहीं हो सकता यह अभिप्राय नितरां स्पष्ट हो जाता है। निमित्त का केवल सद्भाव होनेपर भी उपादान अपने परिणाम के रूप से परिणत नहीं हो सकता; क्यों कि उपादान की उपादेयरूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल निमित्त की क्रिया का सद्भाव होनेपर हि उपादान अपने परिणाम के रूप से परिणत हो सकता है। कुम्हार का सद्भाव होनेपर भी

उसकी घटोत्पत्त्यनुकूल क्रिया का अभाव होनेके कारण घट की उत्पत्ति न होनेसे क्रियाहीन कुम्हार का सद्भाव परिणामोत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो उसके अभाव के समान है। अत: निमित्त के बिना नैमित्तिक की उत्पत्ति नहीं हो सकती यह बात स्पष्ट हो जाती है :

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

अन्वयः– आत्मभावान् (सदा) आत्मा करोति, परभावान् सदा परः (करोति) । आत्मनः भावाः हि आत्मा एव, परस्य ते (भावाः) परः एव ।

अर्थ– शुद्ध आत्मा अपने स्वाभाविकभावभूत परिणामों का सदा उपादानकर्ता होती है, परपदार्थ अर्थात् पुद्गलद्रव्य और अशुद्ध आत्मा अपने अपने परिणामों के सदा उपादानकर्ता होते हैं। शुद्ध आत्मा के स्वाभाविक-भावभूत परिणाम परमार्थतः शुद्ध आत्मा हि होते हैं–आत्मव्यक्ति से भिन्नव्यक्तिरूप नहीं होते। परद्रव्यरूप पुद्गल के परिणाम परमार्थतः पुद्गलद्रव्य हि होते हैं–पुद्गल व्यक्ति से भिन्नव्यक्तिरूप नहीं होते और कथंचित् परद्रव्यरूप अशुद्ध आत्मा के क्रोधादिभावरूप परिणाम परमार्थतः अशुद्ध आत्मा हि होते हैं–अशुद्धात्मव्यक्ति से भिन्नव्यक्तिरूप नहीं होते।

त. प्र.– आत्मभावान् शुद्धात्मन स्वाभाविकभावभूतान्परिणामान् । आत्मनः शुद्धात्मनः भावाः शुद्धात्मस्वरूपान्विताः परिणामाः । तान् । सदा नित्यम् । आत्मा शुद्धात्मा । करोति जनयति । स्वाभाविकभावात्मकपरिणामस्वरूपेण परिणतिक्रियाया आश्रयीभूयोपादानकर्त्रीभूय स्वाभाविकभाव-रूपान्परिणामाञ्जनयति । स्वाभाविकभावात्मकपरिणामस्वरूपेण स्वयमेव परिणमतीत्यर्थः । परभावान् पुद्गलोपादानकान्परिणामान् । परस्य पुद्गलद्रव्यस्य भावाः पुद्गलस्वभावभूतरूपित्वस्वरूपान्विताः परिणामाः । तान् । परः पुद्गलद्रव्य सदा नित्यं करोति जनयति । पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामस्वरूपेण परिणतिक्रियाया आश्रयीभूयोपादानकर्त्रीभूय पुद्गलद्रव्योपादानकान्परिणामाञ्जनयति । पुद्गलस्वभाव-भूतरूपित्वस्वरूपान्वितपरिणामस्वरूपेण स्वयमेव परिणमतीत्यर्थः। परभावान्परस्याशुद्धात्मद्रव्यस्य भावा अशुद्धात्मस्वभावभूताशुद्धचैतन्यस्वरूपान्विता परिणामाः क्रोधादिरूपा विभावभावाः। तान्। परोऽशुद्धा-त्मद्रव्यं शुद्धात्मद्रव्यात्कथञ्चिद्भिन्नं सदा नित्यं करोति जनयति । अशुद्धात्मद्रव्योपादानकक्रोधादिवि-भावभावात्मकपरिणामस्वरूपेण परिणतिक्रियाया आश्रयीभूयोपादानकर्त्रीभूयाशुद्धात्मद्रव्योपादानका-न्क्रोधादिभावरूपविभावपरिणामाञ्जनयति । अशुद्धात्मस्वभावभूताशुद्धचैतन्यस्वरूपान्वितक्रोधादिभा-वरूपविभावभावात्मकपरिणामस्वरूपेण स्वयमेव परिणमतीत्यर्थः । आत्मनः शुद्धज्ञानस्वभावव्याप्तसर्वा-त्मप्रदेशस्यात्मनो भावाः शुद्धज्ञानस्वरूपान्विताः शुद्धपरिणामाः हि परमार्थत आत्मैवात्मनोऽभिन्नत्वा-त्तद्व्यक्त्यनतिरिक्तव्यक्तिरूपा एव, मृत्तिकानतिरिक्तस्वरूपघटव्यक्तिवत् । परस्य पुद्गलद्रव्यस्य ते पुद्गलकर्मात्मानः परिणामाः पर एव पुद्गलद्रव्यादभिन्नत्वात्पुद्गलरूपा एव, न पुनः पुद्गलभिन्न-स्वव्यक्तयः, पुद्गलकर्मात्मकत्वेन पुद्गलद्रव्येण स्वयमेव परिणतत्वात् । परस्य चाशुद्धचैतन्यस्वरूपव-त्त्वाच्छुद्धचैतन्यस्वभावशुद्धात्मनो भिन्नत्वात्परस्याशुद्धस्यात्मनो भावा क्रोधादिरूपा विभावभावात्मकाः परिणामाः परोऽशुद्धात्मैव, न पुनरशुद्धात्मद्रव्यभिन्नस्वव्यक्तयः, क्रोधादिरूपविभावभावात्मकत्वेनाशु-द्धात्मद्रव्येण स्वयमेव परिणतत्वात् । परिणामपरिणामिनोरन्योन्यभिन्नव्यक्तित्वं न सम्भवतीति भावः ।

विवेचन– शुद्ध आत्मा के स्वाभाविकभावरूप परिणाम उसके शुद्धचैतन्यरूप स्वरूप से युक्त होते है। उन स्वाभाविकभावरूप परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे वह क्रिया शुद्ध आत्मा से भिन्न नहीं

होती। परिणाम भी शुद्धचैतन्यस्वभाव से युक्त होनेसे शुद्ध आत्मा से भिन्न नहीं होते। ऐसे परिणाम के रूप से शुद्ध आत्मा का परिणत होना हि उन परिणामों का उपादानकर्ता होना है। अशुद्ध आत्मा उन परिणामों का उपादानकर्ता नहीं हो सकती; क्यों कि वे परिणाम अशुद्ध आत्मा के अशुद्धचैतन्य से युक्त नहीं होते और अशुद्धचैतन्य से युक्त न होनेसे अशुद्ध आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त हुए नहीं होते। पुद्गलद्रव्य भी उन परिणामों का उपादानकर्ता नहीं हो सकता; क्यों कि वे परिणाम पुद्गलद्रव्य के अचेतनरूपित्वस्वभाव से युक्त नहीं होते और अचेतनरूपित्व-स्वरूप से युक्त न होनेसे पुद्गलद्रव्य के साथ एकीभाव को प्राप्त हुए नहीं होते। अशुद्ध आत्मा के वैभाविकभावरूप परिणाम उसके अशुद्धचैतन्यरूप स्वरूप से युक्त होते हैं। उन वैभाविकभावरूप परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे वह परिणतिक्रिया अशुद्ध आत्मा से भिन्न नहीं होती। वैभाविकभावरूप परिणाम भी अशुद्ध-चैतन्यस्वभाव से युक्त होनेसे अशुद्ध आत्मा से भिन्न नहीं होते। ऐसे वैभाविकभावरूप परिणाम के रूप से अशुद्ध आत्मा का परिणत होना हि उन परिणामों का उपादानकर्ता होना है। शुद्ध आत्मा उन वैभाविकभावरूप परिणामों का उपादानकर्ता नहीं हो सकती; क्यों कि वे परिणाम शुद्ध आत्मा के शुद्ध चैतन्य से युक्त नहीं होते और शुद्धचैतन्य से युक्त न होनेसे शुद्ध आत्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त हुए नहीं होते। पुद्गलद्रव्य भी उन विभावभावात्मक परिणामों का उपादानकर्ता नहीं हो सकता; क्यों कि वे वैभाविकभावात्मक परिणाम अचेतनरूपित्वस्वभाव से युक्त नहीं होते और अचेतनरूपित्वरूप से युक्त न होनेसे पुद्गलद्रव्य के साथ एकीभाव को प्राप्त हुए नहीं होते। पुद्गल-द्रव्य के परिणाम पुद्गल के रूपित्वरूप स्वरूप से युक्त होते हैं। उन परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे वह क्रिया पुद्गलद्रव्य से भिन्न नहीं होती। पुद्गल का परिणाम भी रूपित्वस्वभाव से युक्त होनेसे पुद्गलद्रव्य से भिन्न नहीं होते। ऐसे परिणाम के रूप से पुद्गलद्रव्य का परिणत होना हि उसका उन परिणामों का उपादानकर्ता होना है। अशुद्ध आत्मा पुद्गलद्रव्य के उन परिणामों का उपादानकर्ता नहीं हो सकती; क्यों कि वे परिणाम अशुद्ध आत्मा के अशुद्ध चैतन्य से युक्त नहीं होते और अशुद्धचैतन्य से युक्त न होनेसे अशुद्ध आत्मा से साथ एकीभाव को प्राप्त हुए नहीं होते। शुद्ध आत्मा भी पुद्गल के परिणामों का उपादानकर्ता नहीं हो सकती; क्यो कि वे परिणाम शुद्ध आत्मा के शुद्ध चैतन्य से युक्त नहीं होते और शुद्धचैतन्य से युक्त न होनेसे शुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए नहीं होते। शुद्ध आत्मा के परिणाम शुद्ध आत्मरूप हि होते है। वे परिणाम शुद्ध आत्मा से कदापि भिन्न नहीं होते; क्यों कि वे शुद्ध आत्मा के शुद्धचैतन्यस्वरूप से युक्त होते हं और शुद्धचैतन्य का शुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्य होता है। यदि उन परिणामो को शुद्ध आत्मा से सर्वथा भिन्न माना गया तो परिणामों को परिणामी से या उपादान से सर्वथा भिन्न माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा और परिणामों को अपने परिणामी से सर्वथा भिन्नरूप स्वीकार करनेसे मृत्तिकोपादानक घटरूप परिणाम को सर्वथा अपने उपादानभूत मृत्तिका से भिन्नरूप मानना होगा, जो कि असंभव है; क्यो कि मृत्तिकोपादानक घट से मृत्तिका के सर्वथा अलग कर देनेसे घट का सद्भाव हि नहीं रह सकता। अतः परिणाम को परिणामी से सर्वथा भिन्न माननेसे परिणाम का अभाव हो जानेसे परिणाम को परिणामी के रूप से स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है और परिणामी के अभाव में भी परिणाम के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। परिणाम को परिणामी से व्यवहारनय की दृष्टि से यद्यपि कथंचित् भिन्न माना जा सकता है तो भी वह निश्चयनय की दृष्टि से परिणामी से भिन्न नहीं हो सकता–परमार्थतः भिन्न नहीं हो सकता। अतः उपादानभूत शुद्ध आत्मा के शुद्ध परिणाम शुद्धात्मरूप हि होते हैं–उनमें व्यक्तिभेद नहीं होता यह अभिप्राय सुतरां स्पष्ट हो जाता है। इसीप्रकार उपादानभूत अशुद्ध आत्मा के क्रोधादिरूपविभावभावात्मक परिणाम व्यवहारनय की दृष्टि से अशुद्ध आत्मा से कथंचित् भिन्न होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से अर्थात् परमार्थतः उससे भिन्न नहीं होते–वे अशुद्धात्मस्वरूप हि होते हं; क्यो कि वे परिणाम अशुद्ध आत्मा के अशुद्धचैतन्यरूप स्वरूप से युक्त होते हैं और उन परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय अशुद्ध आत्मा हि होती है। उपादानभूत पुद्गलद्रव्य के पुद्गलकर्मरूप परिणाम व्यवहारनय की या पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से पुद्गलद्रव्य से यद्यपि कथंचित् भिन्न होते हैं तो भी निश्चयनय की या द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से अर्थात् परमार्थतः उससे भिन्न नहीं

होते–पुद्गलद्रव्यरूप हि होते हैं; क्यों कि वे परिणाम पुद्गलद्रव्य के रूपित्वरूप स्वरूप से युक्त होते हैं और उन परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय पुद्गलद्रव्य हि होता है। अतः अशुद्ध आत्मा के विभावभावात्मक परिणाम अशुद्धात्मरूप हि होते हैं और पुद्गलद्रव्य के परिणाम पुद्गलद्रव्यरूप हि होते हैं। सारांश, परिणामी अपने परिणामों को और अपने परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रियाओं को अपने स्वरूप से व्यापनेवाला होनेसे उसके परिणाम उससे सर्वथा भिन्न नहीं हो सकते अर्थात् परिणामिरूप हि होते हैं।

[मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह, और क्रोध आदिरूप परिणाम जब द्रव्यकर्म के निमित्त से अशुद्ध जीव में प्रादुर्भूत होते है तब वे जीव अर्थात् जीवरूप होते है और जीव को मिथ्यात्वादिभावरूप से परिणत करनेकी सामर्थ्य से युक्त मिथ्यात्वादिसंज्ञक पुद्गलकर्मरूप पुद्गल के परिणाम पुद्गलद्रव्यस्वामिक होनेसे और पुद्गलद्रव्य अजीव होनेसे अजीव अर्थात् अजीवरूप होते हैं यह बतलाते है।]

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव आण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥ ८७ ॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाऽज्ञानम्।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥८७॥

अन्वयार्थः– सामान्यतः मिथ्यात्व [अज्ञान आदि] एकरूप बताया जाता है, (पुनः) फिर [भी] (**मिथ्यात्व**) मिथ्यात्व (**जीवः**) अर्थात् जीव से भिन्न न होनेसे जीवरूप और (**अजीवः**) अजीव अर्थात् अजीव से–पुद्गलकर्म से भिन्न न होनेसे अजीवरूप इसप्रकार (**द्विविध**) दो प्रकारका है। (**तथैव**) उसीप्रकार (**अज्ञानं**) अज्ञान, (**अविरतिः**) अविरति, (**योगः**) योग, (**मोहः**) मोह और (**क्रोधाद्याः**) क्रोधादि (**इमे भावाः**) ये भाव [द्विविधाः] अज्ञानी जीव के परिणाम होनेसे जीवरूप और द्रव्यकर्म के परिणाम होनेसे अजीवरूप होनेके कारण दो प्रकार के है।

[कहनेका भाव यह है कि मिथ्यात्वादिसंज्ञक द्रव्यकर्म के निमित्त से जीव में प्रादुर्भूत होनेवाले परिणाम अशुद्धजीव के अशुद्ध चैतन्यरूपस्वरूप से अन्वित होनेसे जीवद्रव्य के साथ उनका तादात्म्य होनेके कारण जीवरूप हि होते है–जीव हि होते है और जिन पुद्गलकर्मों के उदय से आत्मा में ये भाव प्रादुर्भूत होते है वे आत्मा को उन परिणामों के रूप से परिणत करनेकी सामर्थ्य से युक्त होनसे 'कारणे कार्योपचार' इस उक्ति के अनुसार मिथ्यात्वादि–संज्ञाओं को धारण करनेवाले वे परिणाम पुद्गलद्रव्य के स्वरूप से अन्वित होनेसे पुद्गलद्रव्य के साथ उनका तादात्म्य होनेके कारण और पुद्गलद्रव्य अजीव होनेके कारण अजीवरूप हि होते है–अजीव हि होते है। सारांश, जीवद्रव्य के परिणामभूत मिथ्यात्वादिभाव जीव से भिन्न न होनेसे जीव हि होते है और मिथ्यात्वादिसंज्ञक पुद्गलद्रव्यरूप अजीव के परिणाम अजीव के स्वरूप से अन्वित होनेसे अजीवद्रव्य के साथ उनका तादात्म्य होनेसे अजीव से भिन्न न होनेसे अजीव हि होते है।]

आ. ख्या.– मिथ्यादर्शनं, अज्ञान, अविरतिः इत्यादयः हि भावाः। ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरन्दवत् जीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वात् जीवाजीवौ। तथाहि–यथा नील–कृष्ण–हरित–पीतादयः भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूरः एव, यथा च नील-हरित–पीतादयः भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरन्देन भाव्यमानाः मुकुरन्दः एव; तथा मिथ्यादर्शनं, अज्ञानं, अविरतिः इत्यादयः भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन अजीवेन भाव्यमानाः

अजीवः एव; तथैव च मिथ्यादर्शनं, अज्ञानं, अविरतिः इत्यादयः भावाः चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमानाः जीवः एव ।

त. प्र.— मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरित्यादयो हि परमार्थतो भावा स्वकीयोपादानात्प्रादुर्भवन्त उपादेयभूताः परिणामाः । कर्मोदयनिमित्तका अशुद्धजीवद्रव्योपादानादुत्पद्यमानत्वादशुद्धजीवद्रव्योपादानकविभावभावनिमित्तकाश्च पुद्गलद्रव्यादुपादानभूतादुत्पद्यमानत्वान्मिथ्यादर्शनादयः परिणामा एव । ते तु मिथ्यादर्शनादयो भावाः प्रत्येकं मयूरमुकुरन्दवच्छिखावलमुकुरवज्जीवाजीवाभ्यां जीवेनाजीवेन च पृथक्त्वेन भाव्यमानत्वादुत्पाद्यमानत्वादनुभूयमानत्वाद्वा जीवाजीवौ । जीवेन स्वेन स्वरूपेणाजीवेन च स्वेन स्वरूपेण व्याप्य क्रियमाणत्वाद्यथाक्रमं जीवादजीवाच्चाभिन्नत्वान्मिथ्यादर्शनादयो भावा जीव एवाजीव एव चेति भावः । मयूरो नाम मयूरशरीरकारधारकस्तिर्यग्योनिजो जीवस्तिर्यग्जातिनामकर्मोदयसहकृतस्सन्बर्हमेचकान्नीलकृष्णहरितपीतादिवर्णाञ्जनयति । यथा ते तज्जनिता मेचकास्ततो मयूरजीवाविष्टशरीरादभिन्नत्वान्मयूर एव, तथा मिथ्यात्वादिसंज्ञकद्रव्यकर्मोदयनिमित्तकाश्चैतन्यान्विता जीवद्रव्योपादानका जीवस्य विभावभावात्मकान्मिथ्यादर्शनादिपरिणामाञ्जनयतो जीवद्रव्यादभिन्नत्वाज्जीव एव। स्वतलप्रतिफलितमयूरशरीराकारो मुकुरन्दो दर्पणो मयूरशरीराकारप्रतिफलनजनितस्वस्वच्छताविकारस्सन्विकारस्योपादानकर्तृभूतत्वाद्विकारं जनयति । यथा स तज्जनितो विकारो मुकुरन्दतलादभिन्नत्वान्मुकुरन्द एव, तथा भावमिथ्यात्वादिरूपजीवविभावभावनिमित्तका अचेतनपुद्द्रव्योपादानकमिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञकपुद्गलकर्मात्मकपरिणामाः पुद्गलद्रव्यादभिन्नत्वादजीव एव । एवं मिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञका जीवद्रव्योपादानकाः परिणामा जीवद्रव्यादभिन्नत्वाज्जीव एवाजीवपुद्गलद्रव्योपादानकाः परिणामा अजीवपुद्गलद्रव्यादभिन्नत्वादजीव एवेति भावः । तथा हि तदेवोपपादयति–यथा येन प्रकारेण नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः परिणामाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन स्वोपादानभूतशरीरसहजातस्वभावपरिणामत्वेन । स्वस्योपादेयभूतपरिणामस्य नीलादेराश्रयभूतस्य द्रव्यस्योपादानभूतस्य शरीरस्य स्वस्य स्वभावस्य भाव परिणामः स्वद्रव्यस्वभावः । उपादेयभूतपरिणामस्योपादानभूतस्य द्रव्यस्य स्वभावस्य परिणामो विकार इत्यर्थः। तस्य भावः स्वद्रव्यस्वभावत्वम्। तेन। मयूरेण शिखावलेन भाव्यमानाः क्रियमाणा उत्पाद्यमानाः मयूरजीवस्य तदाकारेण स्वयमेव परिणममानत्वादनुभूयमाना वा मयूर एव । मयूराख्यतिर्यग्योनिजजीवशरीरादभिन्नत्वेन मयूर एवेति भावः । यथा च नीलहरितपीतादयो भावा मुकुरतलस्वभावभूतस्वच्छताया विकारभूताः परिणामाः स्वच्छताविकारमात्रेण स्वच्छतारूपस्य मुकुरन्दस्वभावस्य केवलविकाररूपेण । विकार एव विकारमात्रम् । स्वच्छताया आदर्शतलनैर्मल्यस्वरूपस्य विकारमात्रं केवलो विकार । तेन । मुकुरन्देन मुकुरेण भाव्यमानाः क्रियमाणा उत्पाद्यमाना मुकुरन्दस्य नीलाद्याकारेण स्वयमेव परिणममानत्वादनुभूयमाना वा मुकुरन्द एव । मुकुरन्दतलादभिन्नत्वेन मुकुरन्द एवेति भाव । तथा तेन प्रकारेण मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः परिणामाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन स्वोपादानभूतपुद्गलद्रव्यरूपित्वस्वभावान्वितस्वीयपरिणामस्वरूपेण । स्वस्योपादेयभूतपरिणामस्य मिथ्यात्वादेरुत्पत्तेराश्रयभूतस्य द्रव्यस्योपादानभूतस्य पुद्गलस्य स्वस्य स्वकीयस्याक्रमभाविपरिणामाख्यस्य स्वभावस्य भावो विकारभूतः परिणामः स्वद्रव्यस्वभावः । उपादेयभूतमिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञकपरिणामस्योपादानभूतस्य द्रव्यस्य पुद्गलाख्यस्य यः स्वभावस्तस्य परिणामो विकार इत्यर्थः । तस्य भावः स्वद्रव्यस्वभावत्वम् । तेन । अजीवेन पुद्गलद्रव्येण भाव्यमानाः क्रियमाणा उत्पा-

द्यमानाः पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मस्वरूपेण स्वयमेव परिणममानत्वादनुभूयमाना वाऽजीवात्पुद्गलद्रव्यादभिन्नत्वादजीव एव । अजीवपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकपुद्गलकर्मणोऽभिन्नत्वेना- जीव एवेति भावः । तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावा अशुद्धजीवद्रव्योपादानकाः परिणामाश्चैतन्यविकारमात्रेण चैतन्यस्य केवलेन विकाररूपेणाशुद्धजीवेन भाव्यमानाः क्रियमाणा उत्पाद्यमाना अशुद्धजीवद्रव्यस्य मिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञकभावकर्मस्वरूपेण स्वयमेव परिणममानत्वादनुभूय- माना वाऽशुद्धजीवादभिन्नत्वाज्जीव एव ।

टीकार्थ– मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक जो हैं वे वस्तुतः (उपादेयभूत) परिणाम हैं और वे प्रत्येक मयूर के समान जीव के द्वारा (अपने स्वरूप से व्याप्त करके) उत्पन्न किये जानेवाले होनेसे अर्थात् अशुद्ध जीव उनके रूप से स्वयं परिणत होनेवाला होनेसे वे जीव हैं और दर्पण के समान अजीव के द्वारा (अपने रूपित्व- स्वरूप से व्याप्त करके) उत्पन्न किये जानेवाले होनेसे अर्थात् अजीव पुद्गलद्रव्य उनके रूप से स्वयं परिणत होनेवाला होनेसे अजीव हैं । उसका खुलासा-जिसप्रकार नीला, काला, हरा, पीला, आदि (वर्णरूप) परिणाम नीला, काला आदि परिणामों के उपादानभूत द्रव्य के स्वभाव के परिणाम के रूप से अथवा मयूर के अपने द्रव्य के स्वभाव से युक्त परिणाम के रूप से मयूर के द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले होनेसे मयूर-मयूररूप होते है अर्थात् मयूर के शरीर से अभिन्न होनेसे मयूर हि होते है और जिसप्रकार (नीला, हरा, पीला आदि दर्पण में प्रतिबिंबित हुए मयूर के वर्णों के निमित्त से होनेवाले दर्पण के) नीला, हरा, पीला आदि परिणाम दर्पण के अपने स्वच्छतारूप स्वभाव के विकारों के रूप से-परिणामों के रूप से दर्पण के द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले अर्थात् दर्पण के अपने स्वच्छतारूपस्वभाव के परिणाम के रूप से दर्पण के द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले (दर्पण से भिन्न न होनेसे) दर्पण हि होते है उसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि (पुद्गल के विभावभावात्मक द्रव्यकर्मरूप) परिणाम मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि परिणामों के उपादानभूतद्रव्य के रूपित्वस्वभाव के परिणामों के रूप से अथवा पुद्गलद्रव्य के अपने द्रव्य के रूपित्वस्वभाव के परिणामों के रूप से अथवा पुद्गलद्रव्य के अपने द्रव्य के रूपित्वस्वभाव से युक्त परिणाम के रूप से पुद्गलद्रव्य के द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले होनेसे पुद्गलद्रव्य अर्थात् अजीव होते है (क्यों कि वे पुद्गल- द्रव्यरूप अजीव से भिन्न नहीं होते ।) और उसीप्रकार (मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि अजीवपुद्गलद्रव्यरूप उपादान से उत्पन्न हुए पुद्गल के परिणामभूत पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से उपादानभूत अशुद्ध आत्मा मे उत्पन्न होनेवाले अशुद्ध जीव के विभावभावात्मक) मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि परिणाम अशुद्ध जीव के अपने चैतन्यमात्ररूप स्वभाव के विकाररूप से-परिणामों के रूप से अशुद्ध जीव के द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले होनेसे (अशुद्ध आत्मा से भिन्न न होनेसे अशुद्ध-) जीव होते है ।

विवेचन– मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि भाव उत्पन्न होकर विनष्ट होनेवाले होनेसे वैभाविकभावरूप परिणाम हैं-स्वाभाविकभावरूप अक्रमभाविपरिणाम नहीं हैं । वे जीव के विभावभावरूप निमित्त से पुद्गल से उत्पन्न होनेवाले होनेसे और पुद्गल के उदयरूप निमित्त से अशुद्धजीव से उत्पन्न होनेवाले होनेसे और विनष्ट होनेवाले होनेसे वैभाविकभाव कहे जाते हैं । निमित्त के मिल जानेपर भी वे उपादान का अभाव होनेपर उत्पन्न नहीं हो सकते और उपादान का सद्भाव होनेपर भी निमित्त का अभाव होनेपर उत्पन्न नहीं हो सकते । अतः इन भावों की उत्पत्ति के लिए जिसप्रकार उपादान की आवश्यकता होती है उसीप्रकार निमित्त की भी आवश्यकता होती है । अशुद्ध जीव को मिथ्यादर्शनादि के रूप से परिणत करनेकी सामर्थ्य से युक्त और 'करणे कार्योपचारः' इस उक्ति के अनुसार मिथ्यादर्शनादि या मिथ्यात्वादिसंज्ञाओं को धारण करनेवाले पुद्गलकर्मरूप परिणामों का उपादानकर्ता पुद्गलद्रव्य अर्थात् अजीव होता है । ये पुद्गलकर्मरूप परिणाम पुद्गलद्रव्य के रूपित्वरूप से अन्वित होनेसे और पुद्गलद्रव्य से भिन्न न होनेसे पुद्गलद्रव्य अर्थात् अजीव हि हैं । नीला, काला, हरा, पीला आदिरूप वर्णवाले पदार्थ के प्रतिबिंबरूप निमित्त से उन वर्णों के रूप से यद्यपि दर्पण परिणत होता हुआ देखा जाता है और यद्यपि वे परिणाम नैमित्तिकभाव-

रूप होते हैं, तो भी वे परिणाम दर्पण के स्वच्छतारूप स्वभाव के विकार होनेसे और दर्पण से भिन्न न होनेसे जिस-प्रकार दर्पण हि होते हैं–दर्पण से भिन्न नहीं होते उसीप्रकार जीव के वैभाविकभावरूप परिणामों के निमित्त से मिथ्यादर्शनादिसंज्ञाओं को धारण करनेवाले पुद्गलकर्म के रूप से यद्यपि कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल परिणत होते हैं और यद्यपि वे परिणाम नैमित्तिकभावरूप होते हैं तो भी वे परिणाम पुद्गलद्रव्य के रूपित्वरूप स्वभाव के विकार होनेसे और पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होनेसे पुद्गलद्रव्यरूप अजीव हि होते हैं–पुद्गलद्रव्य से भिन्न नहीं होते। कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य को मिथ्यादर्शनादिसंज्ञक पुद्गलकर्मरूप परिणाम के रूप से परिणत करनेकी जीव के अशुद्धपर्यायरूप वैभाविकभाव की अशुद्धिशक्ति से युक्त, मिथ्यादर्शनादिरूप संज्ञाओं को धारण करनेवाले वैभाविकभावरूप परिणामों का उपादानकर्ता अशुद्धजीवद्रव्य अर्थात् सामान्यतः जीव हि होता है। नीला, काला, हरा, पीला आदिरूप मयूर के वर्ण वर्णनामकर्म के उदय से मयूरजीव को प्राप्त होता है। वे वर्ण जिसप्रकार मयूरजीव के शरीर के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होनेसे और मयूर से अभिन्न होनेसे मयूर हि होते हैं–मयूर से भिन्न नहीं होते उसी-प्रकार पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से अशुद्ध जीव में उत्पन्न होनेके कारण जीव के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होनेसे और जीव से भिन्न न होनेसे जीव हि होते हैं। वे मिथ्यादर्शनादिरूप जीव के वैभाविकभाव जीव के चैतन्य के विकारमात्ररूप होते हैं।

'कौ इह जीवाजीवौ ?' इति चेत्–

'यहां कौन जीव है और कौन अजीव है ?' ऐसा प्रश्न हो तो–

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥८८॥

अन्वयार्थ– (मिच्छ) मिथ्यात्व इस संज्ञाको, (योगः) योग अर्थात् द्रव्ययोग इस संज्ञाको, (अविरतिः) अविरति इस संज्ञा को और (अज्ञानं) अज्ञान इस संज्ञा को धारण करनेवाला (पुद्गलकर्म) पुद्गलद्रव्योपादानक कर्म अर्थात् द्रव्यकर्म (अजीवः) अजीव है। [मिथ्यात्व, योग, अविरति और अविरति आदि संज्ञाओं को धारण करनेवाला द्रव्यकर्म पुद्गलद्रव्योपादानक परिणाम होनेसे पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होनेसे अजीव है अर्थात् द्रव्यमिथ्यात्वादिपरिणाम अजीव है; क्यो कि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाम है।] और (अज्ञानं) अज्ञानरूप, (अविरतिः) अविरतिरूप (मिथ्यात्वं च) और मिथ्यात्वरूप (उपयोगः) उपयोग अर्थात् चैतन्यरूप स्वभाव से युक्त परिणाम (जीवः तु) जीव हि है। [अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व ये तीनों आत्मा के चैतन्य के विभावभावात्मक परिणाम होनेसे और परिणाम परिणामी के स्वभाव से युक्त होनेसे और परिणामी से भिन्न न होनेसे वे चैतन्य के परिणामभूत अज्ञानादि जीव हैं-जीव से भिन्न नही है।]

आ. ख्या – यः खलु मिथ्यादर्शनं, अज्ञानं, अविरतिः इत्यादिः अजीवः, तत् अमूर्तात् चैतन्यपरिणामात् अन्यत् मूर्तं पुद्गलकर्म; य तु मिथ्यादर्शनं, अज्ञानं, अविरतिः इत्यादिः जीवः सः मूर्तात् पुद्गलकर्मणः अन्यः चैतन्यपरिणामस्य विकारः।

त. प्र.– य: खलु परमार्थतो मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि: परिणामोऽजीवो जीवभिन्न: पदार्थ: । तदिति सामान्ये नपुंसकम् । ते सर्वे जीवभिन्ना: परिणामा अमूर्तान्मूर्तिमत्त्वविकलाच्चैतन्यपरिणामाच्चैतन्योपादानकाच्चैतन्यस्वरूपान्वितात्परिणामादन्यद्भिन्नं मूर्तं रूपि पुद्गलकर्म पुद्गलोपादानकं द्रव्यकर्म, यस्तु यश्च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि: परिणामो जीवश्चैतन्यस्वभाव आत्मा स मूर्तान्मूर्तिमतो रूपिणो वा पुद्गलकर्मण: पुद्गलोपादानकाद्द्रव्यकर्मणोऽन्यो भिन्नश्चैतन्यपरिणामस्य चैतन्यात्मकाक्रमभाविपरिणामस्य विकार: क्रमभाविपर्याय: ।

टीकार्थ– जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति, आदिरूप परिणाम परमार्थत: अजीव हैं वे सभी परिणाम अमूर्त चैतन्यरूप अक्रमभाविपरिणाम से या चैतन्योपादानक परिणाम से भिन्न ऐसा मूर्त अर्थात् रूपि पुद्गलकर्म हैं; और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदिरूप परिणाम जीव हैं वे सभी परिणाम मूर्त अर्थात् रूपि पुद्गलकर्म से या पुद्गलोपादानक कर्मरूप परिणाम से भिन्न चैतन्य के (अज्ञानरूप) परिणाम का या चैतन्यरूप अक्रमभाविपरिणाम का विकार अर्थात् वैभाविकभावरूप परिणाम है ।

विवेचन– जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदिरूप परिणाम अजीवरूप अर्थात् अजीव के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होते हैं वे सभी परिणाम अजीवरूप होनेके कारण चैतन्यस्वरूपान्वित न होनेसे जीव के अमूर्त अक्रमभाविचैतन्य से भिन्न होनेसे रूपि पुद्गलकर्मरूप हैं । धर्म, अधर्म, आकाश और काल यद्यपि चैतन्यशून्य है तो भी मिथ्यादर्शनादिरूप अचेतन परिणाम धर्मादिद्रव्यरूप नहीं है; क्यों कि उक्त परिणाम मूर्त होते हैं और धर्मादिद्रव्य अमूर्त हैं । जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदिरूप परिणाम जीवरूप अर्थात् जीव के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होते हैं वे सभी परिणाम जीवरूप होनेके कारण रूपित्वस्वरूपान्वित न होनेसे पुद्गलद्रव्य के अक्रमभाविरूपित्वस्वरूप से भिन्न होनेके कारण चैतन्यरूप अक्रमभाविपरिणाम के या चैतन्य के विभावभावरूप अज्ञानात्मक परिणाम के विकार हैं । धर्म, अधर्म, आकाश और काल यद्यपि जीवद्रव्य के समान अमूर्त है तो भी मिथ्यादर्शनादिरूप अमूर्त परिणाम धर्मादिद्रव्यरूप नहीं है; क्यों कि उक्त परिणाम चैतन्यान्वित होते हैं और धर्मादिद्रव्य अचेतन होते हैं ।

'मिथ्यादर्शनादि चैतन्यपरिणामस्य विकार: कुत: ?' इति चेत्–

'मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम चैतन्यरूप अक्रमभाविपरिणाम के या चैतन्य के परिणाम के विकार कैसे हो सकते हैं ?' ऐसा प्रश्न हो तो–

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वा[१] ॥ ८९ ॥

उपयोगस्यानादय: परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्या:[१] ॥८९॥

अन्वयार्थ– (**मिथ्यात्वं**) मिथ्यात्व, (**अज्ञान**) अज्ञान (**अविरतिभाव: च**) और अविरतिभाव ये (**त्रय:**) तीन (**अनादय:**) अनादिकाल से सतानक्रम से चले आयें हुए (**परिणामा:**) विभावभावात्मक परिणाम (**मोहयुक्तस्य**) अनादिकाल से मोहयुक्त बनी हुई (**उपयोगस्य**) उपयोगलक्षण आत्मा के अर्थात् चैतन्ययुक्त उपयोगरूप परिणाम के विकाररूप (**ज्ञातव्या:**) जानना ।

१– 'णायव्वो' 'ज्ञातव्य:' चेति पाठौ मुद्रितपुस्तके ।

[उपयोगशब्द से आत्मा का भी ग्रहण होता है; क्यों कि उपयोग आत्मा का आत्मभूत लक्षण होनेसे आत्मा के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ होता है । उपयोग चैतन्यान्वित ऐसा चैतन्य का परिणाम है । मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव ये तीनों मोहयुक्त उपयोग के परिणाम हैं । यह आत्मा अनादिकाल से मोहाक्रान्त बनी हुई होनेसे उसका आत्मभूतलक्षणरूप उपयोग भी जो कि चैतन्य का परिणाम है अनादिकाल से मोहयुक्त बना हुआ है । अतः मोहयुक्त उपयोगरूपपरिणाम के विकारभूत–परिणामभूत मिथ्यात्वादि भाव भी अनादिकाल से संतानक्रम से चले आये हैं । इसप्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीनों वैभाविकभाव चैतन्य के परिणामभूत मोहयुक्त उपयोग के परिणाम हैं–विकार हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है ।]

आ. ख्या.– उपयोगस्य हि स्वरसतः एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति अनादिवस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वात् मिथ्यादर्शनं, अज्ञानं, अविरतिः इति त्रिविधः परिणामविकारः । स तु तस्य स्फटिकस्वच्छतायाः इव परतः अपि प्रभवन् दृष्टः । यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचित् नीलहरितपीत–तमालकदलीकाञ्चनपात्रोपाश्रययुक्तत्वात् नीलः, हरितः, पीतः इति त्रिविध परिणामविकारः दृष्टः तथा उपयोगस्य अनादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वात् मिथ्यादर्शनं, अज्ञानं, अविरतिः इति त्रिविधः परिणामविकारः द्रष्टव्यः ।

त. प्र.– उपयोगस्य चैतन्यानुविधायिनश्चैतन्यपरिणामस्य हि परमार्थतः स्वरसत एवोत्पादव्ययात्मकस्वभावादेव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वं आत्मवस्तुस्वभावाभिन्नसमस्तात्मस्वभावभूतचैतन्यान्वितपरिणामसमर्थत्व आत्मवस्तुस्वभावसम्भूतचैतन्यस्वभावान्वितसमस्तस्वभावपरिणामसमर्थत्वे वा सति । वस्तुन आत्मद्रव्यस्य स्वभावेन भूतास्तादात्म्येन सम्बद्धा वस्तुस्वभावभूताः । यद्वा वस्तुन आत्मद्रव्यस्य शुद्धात्स्वभावाच्चैतन्यात्मकात्स्वरूपात्सम्भूताः वस्तुस्वभावभूताः । स्वरूपपरिणामा आत्मवस्तुशुद्धस्वरूपान्विताः परिणामाः पर्यायाः स्वरूपपरिणामाः । स्वस्यात्मनो रूपेण शुद्धेन चैतन्यस्वभावेन कृता जनिताः परिणामाः स्वरूपपरिणामाः । यद्वा स्वस्यात्मनो रूपं स्वभावः स्वरूपम् । तदस्ति येषां येषु वा ते स्वरूपाः । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यः । स्वरूपाश्च ते परिणामाश्च स्वरूपपरिणामाः । वस्तुस्वभावभूताश्च ते स्वरूपपरिणामाश्च वस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामाः । समस्ताश्च ते वस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामाश्च समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामाः । तत्र समर्थं । तस्य भावस्तत्त्वम् । तत्र सति । 'यद्भावाद्भावगतिः' इतीप् । आत्मनो यावत्सङ्ख्याकाश्चैतन्यस्वभावान्विताः परिणामा भवन्ति तावत्सङ्ख्याकांश्चैतन्यस्वभावान्वितान्परिणामाञ्जनयितुं समर्थत्वे सतीत्यर्थः । अनादिवस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वादनाद्यन्यपदार्थभूतद्रव्यमोहेन संयोगमापन्नत्वात् । अन्यदुपयोगाद्भिन्नं वस्तु पुद्गलद्रव्योपादानकः पुद्गलकर्मरूपः पदार्थो वस्त्वन्तरम् । वस्त्वन्तरभूतोऽन्यपदार्थरूपः । वस्त्वन्तरभूतश्चासौ मोहो द्रव्यमोहश्च वस्त्वन्तरभूतमोहः । अनादिश्चासौ वस्त्वन्तरभूतमोहश्चानादिवस्त्वन्तरभूतमोहः । तेन युक्तः संश्लेषात्मकसंयोगसम्बन्धमापन्नोऽनादिवस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तः । तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्मात् । मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधस्त्रिप्रकारः परिणामविकारोऽज्ञानात्मकस्य चैतन्यपरिणामस्य विकारोऽक्रमभाविचैतन्यपरिणामस्य विकारो वा । स तु परिणामविकारस्तस्योपयोगस्य स्फटिकस्वच्छतायाः इव स्फटिकमणिस्वभावभूतस्वच्छतायाः इव परतोऽप्युपाधिभूतात्पुद्गलकर्मात्मकपरपदार्थादपि प्रभवन्नुत्पद्यमानो दृष्टः । यथोपाधिभूतनीलादिवर्णपरपदार्थसान्निध्येन स्फटिकमणिस्वभावभूता स्वच्छता

नीलादिवर्णात्मकविकारभावमापद्यते तथोपयोगस्य परिणामविकारो वस्त्वन्तरभूतद्रव्यमोहात्मकपरपदा- र्थान्निमित्तभूतादप्युपयोगरूपादुपादानादुत्पद्यते इति भावः । अनेनोपादानवन्निमित्तमपि परिणामोत्पत्तौ कारणभावमाप्नोतीति स्पष्टतामाटीकते । यथा येन प्रकारेण हि स्फटिकस्वच्छताया स्फटिकस्वभावभू- तायाः स्वच्छतायाः स्वरूपपरिणामसमर्थत्वे स्वस्वच्छतारूपस्वरूपान्वितपरिणामजननसामर्थ्यसम्पन्नत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकाञ्चनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलतमालहरितकदलीपीतकाञ्च- नपात्ररूपोपाधियुक्तत्वान्नीलो नीलवर्णो हरितो हरितवर्णः पीतः पीतवर्ण इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः परि- णामविकारोऽक्रमभाविनः स्फटिकस्वच्छतारूपस्य परिणामस्य विकारः परिणामो दृष्टस्तथा तेन प्रकारेणो- पयोगस्य जीवद्रव्यात्मभूतलक्षणरूपस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वा- दनादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मरूपवस्त्वन्तरभूतमोहाख्यद्रव्यकर्मणा संश्लेषात्मकसंयो- गसम्बन्धमापन्नत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधस्त्रिप्रकारो भावमोहात्मकः परिणामविकार- श्चैतन्याख्यस्याक्रमभाविनः परिणामस्य विकारो द्रष्टव्यो ज्ञातव्यः ।

टीकार्थ– उपयोग का परमार्थतः उत्पादव्ययात्मक स्वभाव होनेसे हि आत्मरूप वस्तु के अक्रमभाविचैतन्य- परिणाम स्वभाव से उत्पन्न हुए सभी चैतन्यस्वभावान्वित स्वभावपरिणाम के विषय में सामर्थ्यसंपन्न होनेपर आत्मद्रव्य से भिन्न कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गल से उत्पन्न हुए अनादिद्रव्यमोह के साथ संश्लेषरूप संयोगसंबंध को प्राप्त हुआ होनेसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इसप्रकार तीन प्रकार का चैतन्यरूप अक्रमभाविपरिणाम का विकार होता है । वह उपयोग का परिणामविकार स्फटिक की स्वच्छतारूप परिणाम का विकार जिसप्रकार परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है उसीप्रकार द्रव्यमोहकर्मरूप परद्रव्य के निमित्त से भी उत्पन्न होता हुआ देखा गया है । जिसप्रकार स्फटिक की स्वभावभूत स्वच्छता की स्वरूपपरिणाम के–स्वभावपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य होनेपर जब कभी नीले तमालरूप, हरी कदलीरूप और पीले सुवर्णपात्ररूप उपाधि का उसके साथ संबंध होता है तब उस स्फटिक की स्वच्छता का नीला, हरा, पीला इसप्रकार तीन प्रकार का विकार होता हुआ दिखाई देता है उसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इन संज्ञाओ को धारण करनेवाले जिसके अपने परिणाम होते है ऐसे अन्यपदार्थरूप अर्थात् पुद्‌गलकर्मरूप द्रव्यमोह का उपयोग के अर्थात् आत्मा के साथ संश्लेषरूप संयोगसंबंध होनेसे उपयोग के अर्थात् आत्मा के चैतन्यरूप अक्रमभाविपरिणाम के मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इसप्रकार तीनप्रकार का विकार–परिणाम होता है ऐसा समझना ।

विवेचन– आत्मा के चैतन्यानुविधायी अर्थात् चैतन्यान्वित परिणाम को उपयोग कहते है । इसप्रकार का उपयोगरूप परिणाम बाह्य और अभ्यंतर निमित्तकारणों से प्रादुर्भूत होता है । उपयोग परिणामरूप होनेसे उत्पाद- व्ययात्मकस्वभाववाला होता है । आत्मद्रव्य के परिणामभूत जितने भी आत्मस्वभावान्वित स्वरूपपरिणाम होते है उन सभी परिणामों के रूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य से उपयोग संपन्न होता है । आत्मद्रव्य से भिन्नपदार्थभूत पुद्‌गलद्रव्यरूप मोहनीयकर्म का आत्मा के साथ अनादिकाल से संश्लेषात्मक संयोगसंबंध बना हुआ है । उस द्रव्यमोह के संयोग के कारण उक्त सामर्थ्य से युक्त उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इसप्रकार तीन प्रकार का परिणामरूप विकार उत्पन्न होता है । जिसप्रकार स्फटिक की स्वभावभूत स्वच्छता निमित्तभूत परद्रव्य के सान्निध्य के कारण भिन्नभिन्न प्रकार से परिणत होती है उसीप्रकार उपयोग का वह मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इस- प्रकार तीन प्रकार का परिणाम मोहकर्मरूप से परिणत हुए पुद्‌गलकर्मरूप परद्रव्य के निमित्त से भी उत्पन्न होता हुआ महापुरुषों के द्वारा देखा गया है । स्फटिक की स्वभावभूत स्वच्छता में स्वरूपपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य है–वह उसका स्वभाव हि है । स्वरूपपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य से युक्त होनेसे नीलवर्ण तमालरूप, हरितवर्ण कदलीरूप और पीतवर्ण सुवर्णपात्ररूप उपाधि के साथ संबद्ध हो जानेपर स्फटिक की स्वभाव-

-भूत स्वच्छता का नीलवर्णात्मक, हरितवर्णात्मक और पीतवर्णात्मक तीन प्रकार का परिणामविकार उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। उपयोग की भी आत्मद्रव्य के चैतन्यरूप स्वभाव से अन्वित उसके परिणामभूत स्वरूपपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य है। उस सामर्थ्य से युक्त होनेसे उपयोग के मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इसप्रकार तीन प्रकारका परिणाम होता है; क्यों कि मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ये जिसके परिणाम होते हैं ऐसे आत्मद्रव्य से भिन्नपदार्थभूत पुद्‌गलद्रव्य के परिणामभूत पुद्‌गलकर्मरूप द्रव्यमोह के साथ उपयोग का या आत्मा का अनादिकाल से संश्लेषात्मक संयोगसंबंध चला आया है। सारांश, उपयोग या आत्मा में उत्पन्न होनेवाला मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इसप्रकार तीन प्रकार का परिणाम पुद्‌गलकर्मरूप मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होता है ऐसा समझना चाहिये।

अथ आत्मनः त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति–

मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इसप्रकार तीन प्रकार के परिणामविकार का (अशुद्ध) आत्मा कर्ता (उपादानभूत कर्ता) होती है यह बतलाते हैं–

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो [१]णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥ ९० ॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरञ्जनो भावः।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ– निश्चयनय की दृष्टि से (**शुद्धः**) रागादिरूप विभावभावरहित, (**निरञ्जनः**) ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मरहित और अनादिनिधन आत्मवस्तु का सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रस्वभाववाली होनेसे (**भावः**) पदार्थभूत आत्मा एकविध होनेपर भी (**एतेषु च**) आत्मा से भिन्न [पुद्‌गलद्रव्यरूप] पदार्थभूत द्रव्यमोह से अनादिकाल से युक्त होनेसे आत्मा में उत्पन्न होनेवाली मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इस प्रकार के चैतन्यसामान्य के ये तीन प्रकार के परिणाम निमित्त पडनेपर अशुद्धभाव को रागादिरूपभावकर्मसहित अवस्था को, सांजनभाव को अर्थात् ज्ञानावरणादिरूपद्रव्यकर्मसहित अवस्था को और अनेकत्वरूप अवस्था को प्राप्त होती हुई (**त्रिविधः**) तीन प्रकार की बनकर मिथ्याज्ञान-वाली होकर कर्तृत्वभाव को प्राप्त होती हुई (**सः**) वह (**उपयोगः**) ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणवाली आत्मा (**यं भावं**) आत्मा के उपादेयभूत जिस परिणाम को (**करोति**) उपादानकर्ता होकर करती है (**तस्य**) उसके उपादेयभूत उस परिणाम का (**सः**) वह (**उपयोगः**) ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणवाली आत्मा (**कर्ता**) उपादानकर्ता होती है।

आ. ख्या.– अथ एवं अयं अनादिवस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वात् आत्मनि उत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिषु एतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरञ्जनानादिनिधनवस्तुसर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेन एकविधः अपि अशुद्धसाञ्जनानेकभावत्वं आपद्यमानः त्रिविधः भूत्वा स्वयं अज्ञानीभूतः कर्तृत्वं उपढौकमानः विकारेण परिणम्य यं यं भावं आत्मनः करोति तस्य तस्य किल उपयोगः कर्ता स्यात्।

त. प्र.– अथेति वाक्यारम्भे। 'अथाऽथो च शुभे प्रश्ने साकल्यारम्भसंशये। अनन्तरे' इति विश्वलोचने। एवममुना प्रकारेणायमेषोऽनादिवस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वात्पूर्वकालावधिविकलात्मद्रव्य-

भिन्नाचेतनपुद्गलपदार्थोपादानकद्रव्यमोहनीयकर्मसंयोगवत्त्वात् । अन्यद्वस्तु वस्त्वन्तरम् । अनादि च तद्वस्त्वन्तरं चानादिवस्त्वन्तरम् । अनादिवस्त्वन्तरभूतश्चासौ मोहश्चानादिवस्त्वन्तरभूतमोहः । तेन युक्तः संयोगसम्बन्धमापन्नः । तस्य भावः । तस्मात् । आत्मन्यज्ञानात्मकत्वेन परिणत आत्मन्युत्प्लवमानेषूत्पद्यमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु मिथ्यादर्शनादिसञ्ज्ञकविभावभावभूतपरिणामेषु परिणामविकारेष्वक्रमभाविचैतन्यपरिणामविकृतिषु । परिणामस्याक्रमभाविनश्चैतन्याख्यस्य परिणामस्य विकारा विकृतयो विभावपरिणामाः । तेषु । 'विकारो विकृतौ रोगे' इति विश्वलोचने । त्रिषु त्रिसङ्ख्याकेष्वेतेषु निमित्तभूतेषु सहकारिकारणभूतेषु सत्सु परमार्थतो निश्चयनयदृष्ट्या शुद्धनिरञ्जनानादिनिधनवस्तुसर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेन भावद्रव्यकर्मविकलारम्भविनाशशून्यात्मद्रव्यसर्वस्वभूतचिन्मात्रद्रव्यत्वेन हेतुभूतेनैकविधोऽमेचकोप्येकाखण्डद्रव्यरूपोऽप्यशुद्धसाञ्जनानेकभावत्व भावद्रव्यकर्मसहितसखण्डावस्थावत्त्वमापद्यमानः प्राप्नुवंस्त्रिविधस्त्रिप्रकारो मिथ्यादर्शनादिभेदेन त्रैविध्यमापन्नो भूत्वा स्वयमात्मनाऽज्ञानीभूतो निश्चयनयापेक्षया ज्ञानी भवन्नप्यज्ञानीभूतो मोहाक्रान्तत्वादज्ञानभावमापन्नः । निश्चयनयापेक्षया विज्ञानघनैकस्वभावादभिन्नत्वात्स्वयं ज्ञान भवन्नप्यनादेर्मोहाक्रान्तत्वादज्ञानो भूतोऽज्ञानीभूतः । 'कृभ्वस्तियोगेऽतत्तत्वे सम्पत्तरि च्विः' इति च्विः । कर्तृत्वं विभावभावात्मकत्वेन परिणतिक्रियाया आश्रयीभूतत्वादुपादानकर्तृत्वमुपढौकमानः प्राप्नुवन्विकारेण स्वभावपरिणामस्वभावविपरीतस्वभावपरिणामस्वरूपेण परिणम्य परिणतो भूत्वा यं यं भाव विभावभावात्मकं परिणाममात्मनः स्वस्य करोति जनयति तस्य तस्य विभावभावात्मकपरिणामस्य किल परमार्थत उपयोगो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण आत्मा । उपयोगस्यात्मना तादात्म्यसम्बन्धमापन्नत्वात्ततोऽभिन्नत्वादुपयोगस्यात्रात्मत्वेन ग्रहणं कृतम् । कर्ता विभावभावात्मकत्वेन परिणतिक्रियाया आश्रयभूतत्वादुपादानकर्ता स्याद्भवति ।

टीकार्थ– इसप्रकार अनादि से आत्मद्रव्य से भिन्न द्रव्यभूत मोहनीयसञ्ज्ञक द्रव्यकर्म के साथ संयोगसंबंध से युक्त होनेसे अपनेमें उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इनरूप ये तीन चैतन्यपरिणाम के विकार (विपर्यस्त परिणाम) निमित्त पडनेपर निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध अर्थात् रागादिविकाररूप भावकर्मरहित, निरंजन अर्थात् ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मरहित और आरम्भरहित और विनाशरहित (आत्मरूप) वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रस्वभाववाली होनेके कारण एकविध अर्थात् अमेचक होनेपर भी अशुद्ध अर्थात् रागादिरूपविभावभावात्मक भावकर्मसहित, सांजन अर्थात् ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मसहित और अनेकरूप अवस्थाओं को प्राप्त होता हुआ तीनप्रकारवाला होकर आप हि अज्ञानभाव के रूप से परिणत हुआ कर्तृत्व को अर्थात् उपादानकर्तृत्व को प्राप्त होता हुआ (उपादानकर्ता होनेवाली विभावभावरूप से परिणत होकर अपने जिस जिस परिणाम की उत्पत्ति करता है) उस उस परिणाम का वह उपयोग अर्थात् आत्मा कर्ता अर्थात् उपादानकर्ता होता है ।

विवेचन– उपयोग आत्मा का आत्मभूतलक्षण है । उसका आत्मा के साथ तादात्म्य होनेसे उपयोगशब्द से आत्मा का भी ग्रहण होता है । पुद्गलोपादानक होनेसे द्रव्यकर्मरूप मोहनीयकर्म पुद्गलद्रव्यस्वरूप होता है । पुद्गलद्रव्य अचेतनरूपिद्रव्य होनेसे आत्मद्रव्य से भिन्न होता है, क्यो कि आत्मद्रव्य चेतन और अरूपि होता है । इस द्रव्यमोह का आत्मा के साथ अनादिकाल से संयोगसबंध बना हुआ है । यह आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से रागादिरूप विभावभावों से रहित होनेसे शुद्ध होनेके कारण, ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म से रहित होनेसे निरंजन होनेके कारण और आरम्भरहित अर्थात् उत्पत्तिरहित और उसीप्रकार विनाशरहित आत्मवस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रस्वभाववाली होनेके कारण एकविध अर्थात् अमेचक होती है । ऐसी यह आत्मा एकविध-अमेचक होनेपर भी द्रव्यमोह का आत्मा के साथ अनादिकाल से संयोगसंबंध बना हुआ होनेसे आत्मा में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ये तीन अक्रम–

भाविचैतन्यपरिणाम के क्रमभाविविभावभावात्मक परिणाम उत्पन्न हुए होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा एकविध अर्थात् अमेचक होनेपर भी त्रिविध अर्थात् मेचक हो जाती है–रागादिरूपविभावभावों के रूप से परिणत हो जानेसे अशुद्ध, ज्ञानावरणादिरूपद्रव्यकर्म के साथ संयुक्त होनेसे सांजन हो जानेके कारण अनेकभावरूपता को प्राप्त हो जानेसे मेचक बन जाती है। इसप्रकार त्रिविध होकर स्वयं अज्ञानभावरूप से परिणत हो जाती है। अज्ञानभावरूप से परिणत हो जानेसे विभावभावों के विषय में कर्तृभाव को अर्थात् उपादानकर्तृभाव को प्राप्त हो जाती है–अज्ञानरूप वैभाविकभावरूप से परिणत होकर अपने जिस जिस वैभाविकभावरूप परिणाम को उत्पन्न करती है अर्थात् जिस जिस वैभाविकभावरूप से परिणत होती है परमार्थतः उस उस भाव का वह आत्मा उपादानकर्ता होती है। साराश, अज्ञान भावरूप से परिणत हुई अशुद्ध आत्मा अपने विभावभावात्मक परिणामों का उपादानकर्ता होती है। शुद्ध आत्मा उन वैभाविकभावों का उपादानकर्ता नही होती; क्यो कि उन भावों मे शुद्ध आत्मा का अपने शुद्धस्वरूप मे अन्वय नहीं होता।

अथ 'आत्मनः त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमति' इति आह–

त. प्र.– अथेति वाक्यारम्भ आनन्तर्ये वा। आत्मनोऽज्ञानभावत्वेन परिणतस्यात एव स्वीय–शुद्धस्वभावाच्च्युतस्यात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति मिथ्यात्वादिरूपेण त्रिविधस्य त्रिप्रका–रस्य परिणामविकारस्याक्रमभाविचैतन्यपरिणामस्य विकारस्य विभावभावात्मकपरिणामस्य कर्तृत्व उपादानकर्तृत्वे सति। यदोपादानकर्त्रीभूय त्रिविधविकारत्वेनात्मा स्वयं परिणमति तदेत्यर्थः। 'यद्भावाद्भावगतिः' इतीप्। पुद्गलद्रव्यं स्वत एव स्वयमेव कर्मत्वेनोपादेयभूतद्रव्यकर्मत्वेन परिणमति। अशुद्धात्मस्वामिकविभावपरिणामोत्पत्तिकाल–पुद्गलद्रव्यस्वामिकपुद्गलकर्मात्मकविभावपरिणामोत्प–त्तिकालयोरभिन्नत्वमनेन प्रकटीभवति। जीवपुद्गलपरिणामयोरभिन्नकालभावित्वात्तयोरन्योन्यमिन्नत्वा-न्निमित्तनैमित्तिभावसद्भावादात्मनो विभावभावनिमित्तत्वे सति पुद्गलद्रव्यं द्रव्यकर्मत्वेन परिणमती-त्याह–

अब जिससमय आत्मा (मिथ्यात्वादिरूप) तीन प्रकार के चैतन्यपरिणाम के विकार की अर्थात् विभावभाव की उपादानकर्ता होती है–विभावभाव के रूप से स्वयं परिणत होती है उसीसमय पुद्गल-द्रव्य आप हि (अपने उपादेयभूत) कर्म के (द्रव्यकर्म के) रूप से परिणत होता है ऐसा कहते है–

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥ ९१ ॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन्स्वयं पुद्गलं द्रव्यम् ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ– (आत्मा) अपने शुद्धस्वभाव को छोडकर अर्थात् अपने स्वभाव की शुद्धता का त्यागकर अज्ञानरूप मे परिणत हुई अशुद्ध आत्मा (यं भाव) मिथ्यात्वादिरूप जिस विभावभावात्मक परिणाम को (करोति) अपने उपादेयरूप से उत्पन्न करती है अर्थात् जिस विभावभाव के रूप से स्वय परिणत होती है (तस्य भावस्य) उस विभावभावात्मक परिणाम का वह अशुद्ध आत्मा (कर्ता) उपादानकर्ता (भवति) होती है। (तस्मिन्) अशुद्ध आत्मा जिससमय मिथ्यात्वादिरूपविभावभाव का

होती है अर्थात् जिससमय वह मिथ्यात्वादिरूपविभावभाव के रूप से परिणत होती है उपादानकर्ता … ह अशुद्ध आत्मा का विभावभावरूप परिणाम निमित्तकारण हो जानेसे (पुद्गलं द्रव्यं) उसीसमय व… द्रव्य (स्वयं) आप हि (कर्मत्वं) द्रव्यकर्मरूप से (परिणमते) परिणत होता है। पुद्गलभूत

[कहनेका भाव यह है कि– जब अज्ञानरूप से परिणत हुई अशुद्ध आत्मा विभावभावरूप से परिणत होती है तब पुद्गलद्रव्य स्वयमेव द्रव्यकर्मरूप से परिणत होता है और जब शुद्ध आत्मा निरंजन होनेसे विभावभावरूप से नहीं होती तब पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होनेके योग्य होनेपर भी द्रव्यकर्मरूप से परिणत नहीं परिण… इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के विभावभावरूप निमित्त का सद्भाव होनेपर हि पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्म- होता… परिणत होता है, उसके अभाव में नहीं।]

आ. ख्या.– आत्मा हि आत्मना तथा परिणमनेन यं भावं किल करोति तस्य अयं कर्ता स्यात्, साधकवत्। तस्मिन् निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते। तथा हि-यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेन आत्मना परिणममानः ध्यानस्य कर्ता स्यात्, तस्मिन् तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारं अन्तरेण अपि स्वयं एव बाध्यन्ते विषव्याप्तयः, विडम्ब्यन्ते योषितः, ध्वंस्यन्ते बन्धाः; तथा अयं अज्ञानात् आत्मा मिथ्यादर्शनादिभावेन आत्मना परिणममानः मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्ता स्यात्, तस्मिन् तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति आत्मानं कर्तारं अन्तरेण अपि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयं एव परिणमते।

त. प्र.– आत्मा स्वीयशुद्धचैतन्यपरिणामस्याज्ञानात्मकत्वेन परिणतत्वात्स्वभावस्य शुद्धिवैकल्यादशुद्धत्वं प्राप्तो जीवो हि परमार्थत आत्मना स्वयं तथा मिथ्यादर्शनादिरूपत्रिविधविकारत्वेन परिणमनेन हेतुभूतेन यं भावं विभावपरिणामम्। किलेति वाक्यालङ्कारे। करोति जनयति। अशुद्ध आत्मा येन विभावभावात्मकपरिणामस्वरूपेण स्वयं परिणमति तस्य स्वाशुद्धस्वरूपेण व्याप्तस्य विभावभावात्मकपरिणामस्यायमशुद्ध आत्मा कर्तोपादानकर्ता स्याद्भवति। साधकवद्यथा साधको येन ध्यानात्मकपरिणामेन परिणमति तस्य ध्यानभावस्य स्वयमुपादानकर्ता भवति तथेति भावः। तस्मिन्मिथ्यादर्शनादिरूपवैभाविकभावे तदात्मकत्वेन परिणते उपादानकर्तृभूत आत्मनि वा निमित्ते सति। यदा निमित्तमात्रीभवति तदेत्यर्थः। यदा विभावभावः प्रादुर्भवति तदा स निमित्तमात्रीभवत्येवेति नियमः। 'यद्भावाद्भावगतिः' इतीप्। पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन द्रव्यकर्मत्वेन स्वयमेवात्मनैव परिणमते द्रव्यकर्मात्मकत्वेन या परिणतिक्रिया तस्या आश्रयो भवति। अत्रेपः प्रयोगेणात्मनो विभावभावात्मकत्वेन या परिणतिक्रिया तस्याः कालस्य पुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मात्मकत्वेन या परिणतिक्रिया तस्याः कालस्य चाऽभिन्नत्वं प्रकटीकृतम्। तथा हि तदेवोपपादयति। यथा येन प्रकारेण साधको ध्यानात्मकसाधनेन स्वाभिलषितविषापहारादिसाध्यसिद्धिं चिकीर्षुर्मान्त्रिकः किल परमार्थतस्तथाविधध्यानभावेन विषापहारादिरूपस्वसाध्यसाधकध्यानरूपपरिणामस्वरूपेण परिणममानः परिणतो भवन्ध्यानस्य ध्यानात्मकपरिणामस्य कर्तोपादानकर्ता स्याद्भवति। तस्मिंस्तु तस्मिंश्च ध्यानभावे ध्यानात्मकपरिणामे सकलसाध्यभावानुकूलतया साध्यभूतविषापहारादिसकलपरिणामानुकूलत्वेन निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारं

स्वयं निमित्तकर्तारमुपादानकर्तारं चान्तरेणापि स्वयमेवात्मनैव बाध्यन्तेऽपह्रियन्ते विषव्याप्तयः। विषव्याप्तशरीरः पुरुषो यत्र देशे तिष्ठति तत्र देशेऽन्यत्र देशे स्थितस्य साधकस्याभावे सत्यपि साधकध्यानेन निमित्तभूतेन तद्देशस्थपुरुषशरीरगतं विषमुपहतस्ववीर्यं स्वयमेव भवतीति भावः। विडम्ब्यन्त उपहास्पदीक्रियन्ते योषितः स्त्रियः। यद्देशस्था स्त्रियस्तत्र देशे साधकस्याभावे सत्यपि साधकध्याने निमित्तभूते सति स्वयमेव निर्भर्त्सनाविषयीभवन्तीति भावः। ध्वंस्यन्ते विनाशं प्राप्यन्ते बन्धा आयस–निगडसदृशानि बन्धनानि। यत्र देशे तिष्ठत्यायसनिगडसदृशबन्धनबद्धः पुरुषस्तत्र देशे साधकस्याभावे सत्यपि साधकध्याने निमित्तभूते सति बन्धनानि स्वयमेव विनाशं प्राप्यन्ते। तथा तेन प्रकारेणायमेषोऽज्ञानेनाज्ञानभावेन परिणतत्वादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेन मिथ्यादर्शनादिरूपविभावभावात्मकत्वेन परिणममानस्सन्नात्मनः परिणतिं कुर्वाणः स्वोपादेयभूतविभावभावात्मकस्य मिथ्यादर्शनादिभावस्य मिथ्यादर्शनादिपरिणामस्य कर्तोपादानकर्ता स्याद्भवति। तस्मिंस्तु तस्मिंश्च मिथ्यादर्शनादौ भावे विभावपरिणामे स्वानुकूलतया पुद्गलद्रव्यस्य पुद्गलकर्मात्मकत्वेन या परिणतिक्रिया तदनुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यामात्मानं कर्तारमन्तरेणात्मनः विभावपरिणामस्य निमित्तकर्तृत्वेऽप्यात्मनः स्वस्य निमित्तकर्तृत्वमन्तरेणापि पुद्गलद्रव्यमुपादानकर्त्रीभूय मोहनीयादिकर्मत्वेन मोहनीयादिसञ्ज्ञकद्रव्यकर्म–रूपेण स्वयमेवात्मनैव परिणमते परिणतं भवति। यथा साधकस्य ध्यानभावे निमित्तभूते सत्यन्यदेशे स्थितानां विषव्याप्तयः स्वयमेवापहृता भवन्ति, स्त्रीणां निर्भर्त्सना जायते, बन्धनबद्धानां बन्धनानि दूरीभवन्ति तथात्मनो मिथ्यात्वादिरूपविभावभावात्मकपरिणामे निमित्तभूते सत्यन्यदेशे स्थितं पुद्गलद्रव्यं स्वयमेवात्मना सम्बन्धमापद्य द्रव्यकर्मत्वेन परिणमत इति भावः।

टीकार्थ– आत्मा अर्थात् अज्ञानी जीव परमार्थतः स्वयं उसप्रकार से अर्थात् मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इन तीनों प्रकारों से परिणत होनेसे जिस भाव को–परिणाम को उत्पन्न करती है उस परिणाम का यह आत्मा साधक के–मांत्रिक के समान (उपादानभूत) कर्ता होती है। वह आत्मा का परिणाम जिससमय निमित्त बनता है उससमय पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से (द्रव्यकर्मरूप से) आप हि परिणत होता है। इसी अभिप्राय का खुलासा करते हैं– जिसप्रकार साधक अर्थात् मांत्रिक परमार्थतः उसप्रकार के (विषापहारादि की सिद्धि करनेवाले) ध्यानरूप परिणाम के रूप से आप हि परिणत होता हुआ (उस) ध्यान का कर्ता (उपादानकर्ता) होता है और जब सभी (विषापहारादि) साध्यरूप परिणामों के अनुकूल होनेसे वह ध्यानरूप परिणाम के अनुकूल होनेसे वह ध्यानरूप परिणाम निमित्तमात्र होता है तब साधक कर्ता के अभाव में भी (अर्थात् साधक की अन्य क्रिया के अभाव में भी) विष की व्याप्तियां (शरीर को व्यापनेकी क्रियाए) स्वयमेव–विष के द्वारा हि नष्ट की जाती है; स्त्रियां स्वयमेव–अपने द्वारा हि उपाहास्य बनायी जाती है और बंधन स्वयमेव अपने द्वारा हि विनाश को प्राप्त किये जाते हैं, उसीप्रकार यह (अशुद्ध) आत्मा अज्ञानभाव के कारण मिथ्यादर्शनादिरूप (विभावभावात्मक) परिणाम के रूप से स्वय–आप हि परिणत होती हुई मिथ्यादर्शनादिरूप (विभावभावात्मक) परिणाम का (उपादानभूत) कर्ता होती है और वह मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम अपने (पुद्गलद्रव्य के) अनुकूल होनेसे जब निमित्तमात्र होता है तब आत्मा कर्ता न होनेपर भी पुद्गलद्रव्य मोहनीयादिकर्मो के रूप से स्वयमेव–आप हि परिणत हो जाता है।

विवेचन– यह आत्मा अनादिकाल से मोहाक्रान्त है और मोहाक्रान्त होनेसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इनके रूप से परिणत होती है। मिथ्यादर्शनादिरूप से परिणत होनेसे जिस उपादेयभूत परिणाम को अपने अशुद्ध चैतन्य से व्याप्त करती हुई अपनेमें उत्पन्न करती है उस परिणाम का वह मांत्रिक जिसप्रकार अपने ध्यान भाव का उपादानकर्ता होता है उसीप्रकार उपादानकर्ता होती है। ध्यानभाव मांत्रिक का उपादेयभूत परिणाम होनेसे वह उस

ध्यानभावरूप उपादेयभूत परिणाम का उपादानकर्ता होता है । अशुद्ध आत्मा का वह विभावभावात्मक परिणाम जब निमित्तकारण होता है तब कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य आप हि द्रव्यकर्मरूप से परिणत होता है । विष का अपहार-नाश, स्त्रियों का विडंबन और बंधनों का नाश करनेके लिये विष का अपहार, स्त्रियों का विडंबन और बंधनों का नाश करनेकी सामर्थ्य जिसमें होती है ऐसे जिस ध्यानरूप अपने परिणाम के रूप से मांत्रिक परिणत होता है वह ध्यानभाव साध्यरूप परिणामों के अनुकूल होनेसे जब निमित्तमात्र होता है तब साधक ध्यानात्मक परिणतिक्रिया का उपादानकर्ता होनेपर भी, विषापहारादि का स्वयं निमित्तकर्ता और विषव्याप्तिबाधनक्रिया का विष, विडंबनक्रिया का स्त्रियां और बंधध्वंसनक्रिया का निगड आदि उत्पत्त्याश्रय होनेसे उपादानकर्ता भी न होनेपर भी विषव्याप्तियां विष के द्वारा हि बाधित की जाती हैं, स्त्रिया अपने द्वारा हि विडंबन का विषय बनायी जाती हैं और बंधन अपने द्वारा हि नष्ट किये जाते हैं अर्थात् विषव्याप्तियां स्वयमेव बाधित हो जाती है, स्त्रियां स्वयमेव विडंबन का विषय बन जाती हैं और बंधन स्वयमेव टूट जाते हैं । यह सब तब होता है जब कि निमित्त का असर विषादि की बाधनादिरूपक्रियाओं के उपादानपर होता है । इसप्रकार अज्ञान के-मिथ्याज्ञान के कारण यह अशुद्ध आत्मा मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामों के रूप से स्वयमेव परिणत हो जाती है । यहां अज्ञान से मिथ्याज्ञान का और अविरति से मिथ्याचारित्र का ग्रहण अभीष्ट है । वे मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम अशुद्ध आत्मा के सामान्य अज्ञानरूप-अशुद्धचैतन्यरूपस्वरूप से अन्वित होनेसे अशुद्ध आत्मा उन विभावभावात्मक परिणामों का उपादानकर्ता होती है । आत्मा के अज्ञानस्वरूप से-अशुद्ध-चैतन्यरूपस्वरूप से अन्वित मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम जब पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप परिणति के अनुकूल होनेसे निमित्तमात्र बनता है तब द्रव्यकर्मरूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय न होनेसे आत्मा द्रव्यकर्मरूपपरिणाम का उपादानकर्ता न होनेपर भी और आत्मा का विभावपरिणाम पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूपपरिणति का निमित्तकर्ता होनेपर भी स्वय अशुद्ध आत्मा उसका निमित्तकर्ता न होनेपर भी पुद्गलद्रव्य मोहनीयादिरूप द्रव्यकर्म के रूप से स्वयमेव परिणत हो जाता है । आचार्य श्रीजयसेनकृत तात्पर्यवृत्तिनामक टीका का कुछ अंश उपयुक्त होनेसे यहां उद्धृत किया जाता है-

'तस्मिन् एव त्रिविधविकारपरिणामकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वय एव उपादानरूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति । किंवत् ? गारुडादिमन्त्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशान्तरे स्वय एव तत्पुरुषव्यापारमन्तरेण अपि विषापहार बन्धविध्वस-स्त्रीविडम्बनादिपरिणामवत् तथैव च मिथ्यात्वरागादिविभावविनाशकाले निश्चयरत्नत्रयस्वरूपशुद्धोपयोगपरिणामे सति गारुडमन्त्रसामर्थ्येन निर्बीजविषवत् स्वयं एव नीरसीभूय पूर्वबद्धं द्रव्यकर्म जीवात् पृथक् भूत्वा निर्जरा गच्छति इति भावार्थः । ' [ता. वृ. गा. ९१, स. सा., नि. सा. सं., पृ. १५०]

जिसप्रकार गारुडादिमन्त्र के रूप से परिणत हुए पुरुष के परिणाम का सद्भाव होनेपर साधक पुरुष के व्यापार का-क्रिया का अभाव होनेपर भी देशान्तर में अन्यत्र विषापहार, बंधविध्वंस, स्त्रीविडबन आदि परिणाम अभिव्यक्त होते हैं उसीप्रकार अशुद्ध आत्मा का तीन प्रकार के विकाररूप-विभावरूप परिणाम का कर्तृत्व (उपादानकर्तृत्व) होनेपर हि कर्मवर्गणाओं के योग्य पुद्गलद्रव्य आप हि उपादानरूप से द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होता है । उसप्रकार हि मिथ्यात्व, राग आदिरूप विभावभावात्मक परिणाम के विनाशकाल में निश्चयरत्नत्रयस्वरूप शुद्धोपयोगरूप परिणाम का जब सद्भाव होता है तब गारुडमन्त्र की सामर्थ्य से जिसप्रकार विष सामर्थ्यविकल बन जाता है उसीप्रकार आप हि फलदान की सामर्थ्य से रहित होकर पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म जीव से पृथक् होकर निर्जरा को प्राप्त हो जाता है-निर्जीर्ण हो जाता है ।

इस उद्धरण से यह सिद्ध हो जाता है कि-पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्म का उपादान होनेसे द्रव्यकर्मरूप से आपहि परिणत हो जाता है, किंतु अशुद्धजीव के विभावभाव का कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्यपर असर होनेपर हि-अन्यथा नहीं । यदि निमित्तभूत विभावभाव का सिर्फ सद्भाव होनेपर हि अर्थात् विभावभाव का पुद्गलपर असर न होनेपर

भी पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्मरूप से परिणत होता है ऐसा माना तो निमित्त का सद्भाव और उसका अभाव इनमें अंतर नहीं रहेगा। यदि कुम्हार की हस्तसंचालनादिक्रिया का मृत्तिका के पिंडपर असर न हुआ तो वह पिंड पिंड हि बना रहेगा–घटरूप से परिणत नहीं होगा फिर भले हि कुम्हार का घट में स्वस्वरूप से अन्वय न पाया जाता हो। शास्त्रों में कहीं कहीं निश्चयनय की प्रधानता की दृष्टि से प्रतिपादन करते समय निमित्त का उल्लेख नहीं भी पाया जाता; किंतु उसका यह अर्थ नहीं है कि ग्रंथकार ने उसका सर्वथा अभाव कर दिया है। उस समय निमित्त को सिर्फ गौण बना दिया जाता है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयो की युगपत् प्रधानता नहीं हो सकती; क्योंकि दोनों की प्रधानता में विरोध उपस्थित हो जाता है। जब एक नय की प्रधानता होती है तब दूसरे की गौणता होती है। दोनों नयों में होनेवाले विरोध का परिहार करने के लिये स्याद्वादविद्या का आश्रय करना पडता है। निश्चय–नय एकद्रव्याश्रित होनेसे निमित्त को गौण बनाना अनिवार्य हो जाता है। इससे यह अर्थ निकालना की उपादान का परिणाम निमित्त के असर के अभाव में हो जाता है स्याद्वादविद्या के विरुद्ध पडता है। दूसरी बात यह है कि उपादेय में उपादान का जिसप्रकार अन्वय पाया जाता है उसीप्रकार निमित्त का अन्वय पाया न जानेसे ' उपादान आप हि उपादेय के रूपसे परिणत होता है ' ऐसा निश्चयनय की दृष्टि से कहा जाता है और इस दृष्टि से यह कथन है भी ठीक।

' अज्ञानात् एव कर्म प्रभवति ' इति तात्पर्यं आह–

अज्ञानाच्छुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपादज्ञानादुपादानभूताद्द्रव्यकर्मोदये सति कर्म भावकर्म प्रादुर्भवति। अशुद्ध आत्मा भावकर्मत्वेन स्वयं परिणमतीति भावः। पक्षेऽज्ञानाज्ज्ञानशून्यात्पुद्गलद्रव्यादुपादानभूताद–शुद्धस्यात्मनः क्रोधाद्यात्मकविभावभावरूपाया परिणतौ जातायां सत्यां कर्म द्रव्यकर्म प्रादुर्भवति। कर्मयोग्यवर्गणात्मकं पुद्गलद्रव्यं द्रव्यकर्मत्वेन परिणमतीति भावः। अत्राऽज्ञानादिति पदेन ज्ञानशून्यस्य पुद्गलद्रव्यस्य ग्रहणं सम्भवति, पुद्गलस्य ज्ञानशून्यत्वादज्ञानादिति पदस्य विशेषणत्वस्य सम्भवाद्विशे–षणग्रहणेन विशेष्यस्यापि ग्रहणं भवतीति न्यायेनाज्ञानादिति पदेन पुद्गलद्रव्यग्रहणस्य सम्भवात्। एतद्द्विविधकर्मप्रभवं आत्मनश्शुद्धात्मसंवित्तेरभावाद्भवति।

' (अशुद्ध आत्मा के) अज्ञानभावरूप उपादान से (द्रव्यकर्मोदयरूपनिमित्त से) भावकर्म की और ज्ञानशून्य पुद्गलद्रव्यरूप उपादान से (जीव के क्रोधादिपरिणामरूप निमित्त से) द्रव्यकर्म की उत्पत्ति शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान के कारण होती है ' इसप्रकार तात्पर्य कहते हैं–

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९२ ॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः ।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ– भावकर्मरूप और द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य और शुद्ध आत्मा इनमें लक्षणसंज्ञादिभेद के कारण होनेवाले भेद का ज्ञान न होनेसे भावकर्मरूप और द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य और शुद्ध आत्मा ये एकद्रव्यरूप हैं–परस्परभिन्न नहीं हैं इसप्रकार दोनों के एकरूप होनेका अध्यारोप करके (परं) भावकर्मरूप और द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य को अर्थात् कार्यरूप परद्रव्य को (आत्मानं कुर्वन्) आत्मरूप समझनेवाली और (आत्मानं अपि) शुद्ध आत्मा को भी (परं कुर्वन्) भावकर्मरूप

औ।र द्रव्यकर्मरूप
के रूप से परि[illegible] परद्रव्यरूप समझनेवाली (**अज्ञानमयः**) अज्ञानरूप विभावभावात्मक परिणाम रागादिरूप [illegible]त हुई (**सः**) वह (**जीवः**) अशुद्ध आत्मा (**कर्मणां कारकः**) भावकर्मों का अर्थात् द्रव्यकर्मो [illegible]पने चैतन्यान्वित विभावभावो का उपादानकर्ता और रागादिसंज्ञक पुद्‌गलोपादानक [illegible]ा निमित्तकर्ता (**भवति**) होती है ।

रूप ' [illegible] [आचार्य श्रीजयसेनने इस गाथासूत्र की टीका लिखते हुए 'परं' इस पद का 'परद्रव्यं भावकर्मद्रव्यकर्म-चैत[illegible]सा अर्थ किया है और इसप्रकार गाथासूत्र का और आत्मख्यातिटीका का भी अर्थ हो सकता है । द्रव्यकर्म [illegible]यशून्द और पुद्‌गलोपादानक होनेसे जीवद्रव्य से भिन्न परद्रव्यरूप तो है हि; किंतु भावकर्म भी अशुद्ध आत्मा [illegible] उपादेयभूत परिणाम होनेपर भी नैमित्तिकभाव होनेसे और शुद्ध आत्मा में उसका अभाव होनेके कारण शुद्धात्मस्वामिक न होनेसे परद्रव्य हि है । यद्यपि अशुद्ध आत्मा रागद्वेषादिरूपविभावभावों का उपादानकर्ता है तो भी वह द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता नहीं है; क्यों कि द्रव्यकर्म चैतन्यान्वित नहीं होता और पुद्‌गलोपादानक होता है । यद्यपि रागद्वेषादिरूपविभावभावों का अशुद्ध आत्मा उपादानकर्ता होती है तो भी शुद्ध आत्मा उनका उपादान-कर्ता नहीं हो सकती; क्यों कि उन विभावभावों में शुद्धचैतन्य का अन्वय नहीं पाया जाता और आत्मा की शुद्ध अवस्था में उनका सद्भाव नहीं पाया जाता । अतः शुद्ध आत्मा की दृष्टि से विभावभाव भी परद्रव्यरूप हि हैं । इस अभिप्राय को दृष्टि के सामने रख कर 'कारगो' इस पद का 'उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता' ऐसा अर्थ किया गया है । 'कारगो' यह पद यद्यपि प्राकृतभाषा का रूप है तो भी 'शेषं संस्कृतवत्' इस व्याकरणसूत्र के अनुसार संस्कृतभाषा के व्याकरण के नियम के अनुसार इसकी निरुक्ति की जा सकती है । संस्कृतभाषा के व्याकरण के अनुसार कर्ता अणिकर्ता (अप्रयोजककर्ता) और णिकर्ता (प्रयोजककर्ता) इसप्रकार दो प्रकार का होता है । निमित्तकर्ता प्रयोजककर्ता होता है और उपादानकर्ता अप्रयोजककर्ता है । कुम्हार घटाकार का प्रयोजककर्ता है; क्यों कि मृत्पिण्ड परिणति के अभिमुख होनेपर भी उसमें उत्पन्न होनेवाले परिणाम का घटरूप विशिष्ट आकार कुम्हार के हि अधीन होता है । मृत्पिण्डरूप उपादान अप्रयोजककर्ता होता है; क्यों कि वह घटरूप से स्वय परिणत होता है । 'कारगो' इस पद की व्युत्पत्ति कृधातु को 'ण्वुतृच्' इस सूत्र के अनुसार ण्वुप्रत्यय लगानेसे होती है । अतः 'करोति कारयतीति च कर्ता' ऐसी उसकी निरुक्ति है । 'कारगो' इस पद की निरुक्ति उक्तप्रकारक होनेसे 'कम्माण' इस पद का अर्थ 'द्रव्यकर्मों का और भावकर्मों का' ऐसा होता है । यहांपर 'कम्माण' इस पद के भावकर्म और द्रव्यकर्म इनमें से किसी एक कर्मरूप अर्थ का बोध करानेवाले विशेषण का गाथासूत्र में सद्भाव न होनेसे दोनो प्रकार के कर्मो का ग्रहण इस पद में किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि आचार्य श्रीजयसेनजी ने 'ततः स्थित शुद्धात्मसंवित्तेरभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारण भवति' (स. सा गा १७ इस वाक्य के द्वारा अज्ञान को शुद्धात्मसंवित्ति का अभावरूप बताया है । यह उनके द्वारा बताया गया अर्थ यथार्थ है, क्यो कि चौथेसे सातवेंतक के गुणस्थानवाले जीव के सरागसम्यक्त्व का सद्भाव होनेसे उसके मनुष्यगति का और देवगति का बध होता है । आठवां आदि गुणस्थान अबध न होनेपर भी वहां क्षपक श्रेणीवाले जीव के गतिबध नहीं होता । अतः गतिबध का अभाव होनेसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति जीव के कर्मकर्तृत्व का कारण नहीं है । अतः सातवें गुणस्थानतक अज्ञान का सद्भाव होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है । अथवा चौथेसे सातवें गुणस्थानतक जीव विभावभावरूप से परिणत होनेवाला होनेसे वह भावकर्मों का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता होता है और कर्ता होनेसे उसकी अवस्था एकप्रकार से अज्ञानमय हि है । अतः अज्ञानशब्द से शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान का ग्रहण हि अभीष्ट है । इन बातों को ध्यान में रखते हुए इस गाथा का अर्थ किया गया है ।]

आ. ख्या.– अयं किल अज्ञानेन आत्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परं आत्मानं कुर्वन् आत्मानं च परं कुर्वन् स्वयं अज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति । तथा हि–तथाविधानुभवसम्पादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्‌गलपरिणामाव-

स्थायाः, शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः इव, पुद्गलादभिन्नत्वेन आत्मनः नित्यं एव अत्यन्तभिन्नायाः तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य च आत्मनः अभिन्नत्वेन पुद्गलात् नित्यं एव अत्यन्तभिन्नस्य अज्ञानात् परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति एकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेण इव आत्मना परिणमितुं अशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेण अज्ञानात्मना परिणममानः ज्ञानस्य अज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं अज्ञानमयीभूतः 'एषः अहं रज्ये' इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणः कर्ता प्रतिभाति ।

त. प्र.– अयमेष आत्मा । किलेति वाक्यालङ्कारे । अज्ञानेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावरूपेण विभावभावात्मकपरिणामस्वरूपेण वाऽज्ञानेन परात्मनोः परद्रव्यशुद्धात्मनोः । परशब्देनाऽत्राशुद्धात्मपुद्द्रव्ययोरशुद्धात्मपरिणामपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मपरिणामयोर्वा ग्रहणं कर्तव्यम् । अशुद्धस्यात्मनश्शुद्धचैतन्यविकलत्वादशुद्धचैतन्यस्वभावत्वाच्च पुद्गलद्रव्यस्य च शुद्धाशुद्धचैतन्यविकलत्वात्परद्रव्यत्वमवसेयम् । तथैव विभावभावात्मकशुद्धात्मपरिणामस्याशुद्धात्मोपादानकत्वादशुद्धचैतन्यान्वितत्वाच्छुद्धचैतन्यान्वयाभावाच्च पुद्गलद्रव्योपादानकपुद्गलकर्मणश्च तत्परिणामस्य च शुद्धाशुद्धचैतन्यानन्वितत्वात्परद्रव्यत्वमवसेयम् । ततश्च परात्मनोरिति पदस्य शुद्धाशुद्धात्मनोः पुद्गलद्रव्यशुद्धात्मद्रव्ययोश्चेत्यर्थो ग्राह्यः । परस्परविशेषानिर्ज्ञाने शुद्धात्माशुद्धात्मनोरशुद्धात्माशुद्धात्मपरिणामयोर्वा शुद्धात्मपुद्गलयोश्च शुद्धात्मपुद्गलोपादानकपुद्गलकर्मपरिणामयोर्वा स्वभावसञ्ज्ञादिकृतभेदस्यानिर्ज्ञाने पूर्णज्ञानाभावे सति परमशुद्धमात्मानं च तथा पुद्गलद्रव्यं पुद्गलोपादानकपुद्गलकर्म तत्परिणामं चात्मानं शुद्धात्मानं कुर्वन्समीक्षमाणः । धातूनामनेकार्थत्वात्करोतेर्ज्ञानात्मकार्थवाचकत्वात्समीक्षमाण इत्यर्थः कुर्वन्निति पदस्योररीकृतः । आत्मानं च शुद्धचैतन्यस्वभावं शुद्धात्मानमशुद्धचैतन्यस्वभावविकलत्वेऽप्यशुद्धात्मस्वरूपं पुद्गलाश्रितरूपित्वस्वभावविकलत्वेऽपि पुद्गलद्रव्यस्वरूपं च कुर्वञ्जानन्स्वयमात्मनाऽज्ञानमयीभूतोऽज्ञानभावत्वेन परिणतः कर्मणां भावकर्मणां कर्तोपादानकर्ता द्रव्यकर्मणां च निमित्तकर्ता प्रतिभात्याभासते । कर्तैव कर्ता । तथा हि तदेवोपपादयति–तथाविधानुभवसम्पादनसमर्थाया अशुद्धचैतन्यानुस्यूतरागद्वेषसुखदुःखादिरूपविभावभावात्मकाशुद्धजीवपरिणामानुभवसम्पादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपाया रागद्वेषसुखदुःखादिलक्षणायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपपरिणामस्योदयावस्थायाः, पक्षे पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मोदयात्मकपरिणामजनितविभावभावात्मकाशुद्धात्मावस्थायाः । शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्थायाश्शीतोष्णयोरनुभवयोस्सम्पादने जनने समर्था शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्था । तस्याः । शीतोष्णानुभवौ जीवे जनयितुं समर्थाया इत्यर्थः । शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया पुद्गलस्वामिकक्रमभाविपरिणामावस्थायाः । पुद्गलस्य शीतोष्णरूपा क्रमभाविपरिणामात्मिका याऽवस्था पर्यायः परिणामः सा पुद्गलपरिणामावस्था । तस्याः । पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेन । यथाऽयसः प्रालेयसम्पातजनितशीतावस्थाऽग्निसंयोगजनितोष्णावस्था च सस्प्रष्टुश्शीतोष्णानुभवजननसमर्था सत्ययःपुद्गलशीतोष्णपरिणामान्नैमित्तिकभावभूतावभिन्नत्वात्पुद्गलादभिन्ना तथा पुद्गलादभिन्नत्वेनेत्यर्थः । पक्षे पुद्गलात्पुद्गलसदृशादशुद्धादात्मनः । पुद्गल इव पुद्गलः । अशुद्ध आत्मेत्यर्थः । 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योप् । पुद्गलकर्माशुद्धात्मनोश्शुद्धात्मस्वभावावारकत्वस्य शुद्धचेतनाविकलत्वस्य च समानत्वादशुद्धस्यात्मनः पुद्गलतुल्यत्वमवसेयम । पुद्गलाद्द्रव्यकर्मात्मकत्वेन

परिणतात्पुद्गलद्रव्यादभिन्नत्वेनात्मनश्शुद्धादशुद्धाच्च नित्यमेव सर्वकालमेवात्यन्तभिन्नायाः । पक्षे पुद्गलात्पुद्गलतुल्यादशुद्धादात्मनो भावकर्मत्वेन परिणतादभिन्नत्वेनात्मनश्शुद्धान्नित्यमेवात्यन्तभिन्नायाः । तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य च रागद्वेषसुखदुःखादिलक्षणद्रव्यकर्मोदयनिमित्तकभावकर्मभूतरागद्वेषसुखदुःखादिप्रकारकानुभवस्य । पक्षे शीतोष्णपर्यायापन्नायोनिमित्तकशीतोष्णप्रकारकानुभवस्यात्मनोऽशुद्धात्मद्रव्यादभिन्नत्वेन हेतुभूतेन । पक्षे आत्मनश्शुद्धात्मद्रव्याद्भिन्नत्वेन हेतुभूतेन । 'आत्मनोभिन्नत्वेन' इति पाठस्य सावग्रहचिह्नानवग्रहचिह्नयुक्तत्वेन ग्रहणसम्भवादत्रानवग्रहचिह्नयुक्तस्य भिन्नत्वेनेति पाठस्य ग्रहणेनाऽयमुक्तोऽर्थः सम्भवति । पुद्गलात्पुद्गलद्रव्यान्नित्यमेव सर्वकालमेवात्यन्तभिन्नस्यात्यन्तविविक्तस्याज्ञानाद्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावस्वरूपाद्विभावभावात्मकपरिणामस्वरूपाद्वा परस्परविशेषानिर्ज्ञानेऽन्योन्यभेदपूर्णज्ञानाभावे सति । रागद्वेषसुखदुःखादिरूपपुद्गलपरिणामावस्थाया रागद्वेषसुखदुःखादिलक्षणपुद्गलपरिणामभूतद्रव्यकर्मोदयनिमित्तकभावकर्मभूतरागद्वेषसुखदुःखादिप्रकारकानुभवस्य चान्योन्यभेदज्ञानाभावे सतीत्यर्थः ।यद्वा यदा पुद्गलात्मनोरन्योन्यभेदज्ञानाभावोऽन्योन्यभिन्नत्वस्य चानुभवाभावो भवति तदेत्यर्थः । यद्वा पक्षान्तरे शुद्धात्मनोऽज्ञानोपादानकरागद्वेषाद्यनुभवस्य चान्योन्यभेदस्य ज्ञानाभावे सतीत्यर्थः । एकत्वाध्यासादेकत्वाध्यारोपात् । द्वयोरेकत्वस्याध्यारोप विधायेत्यर्थः । शीतोष्णरूपेणेवात्मना शुद्धेन परिणमितुमशक्येन परिवर्तितुमसम्भाव्येन । यथा शुद्धस्याशरीरस्यात्मनश्शीतोष्णरूपेण परिणमनमशक्यं तथा रागद्वेषादिरूपेण परिणमनमप्यशक्यमिति भावः । तेन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मनाज्ञानस्वरूपेण परिणममानः परिणमन् । ज्ञानस्यात्मनश्शुद्धचैतन्यस्वभावरूपस्यात्मनोऽनादेः कर्मणा बद्धत्वादज्ञानत्व वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावरूपत्व प्रकटीकुर्वन्नाविर्भावयन्स्वयमात्मनाज्ञानमयीभूतश्शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धज्ञानमयोऽप्यनादिकर्मबन्धवशादज्ञानमयो भूतो जात एषोऽहं रज्ये रागं कुर्वे इत्यादिविधिनेत्यादिप्रकारेण रागादेः कर्मणो भावकर्मणः कर्तोपादानकर्ता द्रव्यकर्मणश्च निमित्तकर्ता प्रतिभात्याभासते । शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धचैतन्यमात्रस्वभावोऽमूर्त आत्मा शीतोष्णरूपेण परिणमितुमशक्नुवन्नप्यनादेर्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावरूपेणाज्ञानभावेन परिणमति । ततः सशरीरत्वमापन्नो यथा कश्चित्पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाश्चैतन्यान्वयविकलत्वात्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य च चैतन्यान्वितत्वाच्छीतोष्णरूपपुद्गलपरिणामतन्निमित्तकशीतोष्णानुभवयोरन्योन्यभिन्नत्वे सत्यपि तयोर्भेदमज्ञानादजानन् शीतोऽहमुष्णोऽहमिति प्रकारेण शीतोष्णपरिणत्योर्निश्चयनयापेक्षयाऽऽत्मनः कर्तृत्वाभावेऽपि कर्तोपादानकर्ता निमित्तकर्ता च प्रतिभात्याभासते तथा शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाव आत्माऽज्ञानभावात्मकपरिणतेरसम्भवाद्रागद्वेषसुखदुःखादिरूपाज्ञानान्वितविभावभावात्मकत्वेन परिणमितुमशक्नुवन्नप्यनादेर्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावरूपेणाज्ञानभावेन परिणतत्वादात्मनो नित्यमेव भिन्नाया पुद्गलोपादानकपरिणामभूतद्रव्यकर्मोदयावस्थायाश्चैतन्यान्वयविकलायास्तन्निमित्तकरागद्वेषसुखदुःखाद्यनुभवस्य च चैतन्यान्वितस्यान्योन्यभिन्नत्वे सत्यपि तयोर्भेदमज्ञानादजानन् रज्येऽहमित्यादिप्रकारेण रागद्वेषरूपायाः परिणतेश्शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धस्यात्मन उपादाननिमित्तकर्तृत्वाभावेऽप्युपादानकर्तेव निमित्तकर्तेव च प्रतिभाति । कर्तेव कर्ता । 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योप् । न चात्मा शुद्धः सन्परमार्थतो रागादिभावानामुपादानकर्ता रागादिसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मणां च निमित्तकर्ता भवतीति भावः ।

टीकार्थ— अज्ञान के कारण भावकर्मरूप और द्रव्यकर्मरूप अथवा अशुद्धात्मरूप और पुद्गलद्रव्यरूप परद्रव्य

और (शुद्ध) आत्मा इनमें से एक के दूसरेसे होनेवाले भेद का ज्ञान जब नहीं होता तब भावकर्मरूप और द्रव्यकर्म-रूप परद्रव्य को अथवा अशुद्धात्मरूप और पुद्गलद्रव्यरूप परद्रव्य को आत्मा (शुद्धात्मरूप) जानती हुई और आत्मा को (शुद्ध आत्मा को) परद्रव्य (अशुद्धात्मरूप और पुद्गलद्रव्यरूप) जानती हुई स्वयं अज्ञानभाव के रूप से परिणत हुई यह आत्मा भावकर्मों के उपादानकर्ता के और द्रव्यकर्मों के निमित्तकर्ता के समान दिखाई देती है। उसका खुलासा-(जीव के) शीतोष्ण के अनुभवरूप परिणाम को उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य से युक्त, शीतोष्णरूप पुद्गल-परिणाम की अवस्था के समान (अज्ञानी जीव के राग-द्वेष-सुख-दुःखादि के अनुभवरूप परिणाम को उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य से रागद्वेषसुखदुःखादिसंज्ञक द्रव्यकर्म की उपादेयभूत ऐसी पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होनेसे सर्वकालोंमें आत्मा से भिन्न होनेवाली उदयरूप अवस्था और रागद्वेषसुखदुःखादिसंज्ञकद्रव्यकर्मोदयनिमित्तक रागद्वेषसुखदुःखादि-प्रकारक भावकर्म का अनुभव आत्मा से अभिन्न होनेके कारण सभी कालों में पुद्गल से भिन्न होनेवाला वह अनुभव इनमें होनेवाले भेद का अज्ञान के कारण जब पूर्ण ज्ञान नहीं होता तब पुद्गल की उदयरूप अवस्था और रागद्वेष-सुखदुःखादिभाव का अनुभव इनके एकत्व का अध्यास करनेसे अर्थात् ये दोनों एकरूप है-अभिन्न है इसप्रकार की कल्पना करनेसे जिसप्रकार शीत का और उष्ण का अनुभव करनेवाली आत्मा का (अपने चैतन्यस्वभाव का त्याग कर के पुद्गल के शीतोष्णरूप परिणाम के रूप से परिणत होना अशक्य होता है उसीप्रकार जिसके रूप से (अशुद्ध आत्मा की भांति शुद्ध आत्मा का) परिणत होना अशक्य होता है उस अज्ञानस्वरूपराग-द्वेष-सुख-दुःख आदि के रूप से परिणत होती हुई (अपने शुद्धस्वभावभूत शुद्ध) ज्ञान को अज्ञानरूप से प्रकट करती हुई स्वयं अज्ञानमय बनी हुई 'यह मैं राग करता हूं-रागभाव के रूप से परिणत होता हूं' इत्यादि प्रकार से रागादिरूप कर्म का कर्ता होती हुई दिखाई देती है।

विवेचन— अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेसे यह आत्मा अज्ञानभावरूप से परिणत हुई है। अज्ञान से यहां वीतरागस्वसंवेदनज्ञान के या शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान का ग्रहण अभीष्ट है; क्यों कि जबतक वीतराग-स्वसंवेदनज्ञान का या शुद्धात्मसंवित्ति का अभाव होता है तबतक जीव रागद्वेषादिरूप विभावभाव के रूप से परिणत होता रहता है और विभावभाव के रूप से परिणत होनेवाला होनेसे जीव के शुभ परिणाम के कारण द्रव्यकर्म का अर्थात् मनुष्यगति का और देवगति का बंध होता है। इसप्रकार के अज्ञान के कारण अर्थात् आत्मा के यथार्थस्वरूप का और परद्रव्य के यथार्थस्वरूप का पूर्णज्ञान न होनेके कारण यह आत्मा भावकर्मरूप और द्रव्यकर्मरूप या अशुद्धा-त्मरूप और पुद्गलद्रव्यरूप परपदार्थ और शुद्ध आत्मा इनमें स्वरूपभेद के कारण होनेवाला अन्योन्यभिन्नत्व होनेपर भी उस भिन्नत्व को जब पूर्णरूप से जानती नहीं तब भावकर्म को और द्रव्यकर्म को या अशुद्ध आत्मा को और पुद्गलद्रव्य को एकरूप अर्थात् अभिन्न मानती है और इनको एकरूप माननेसे अज्ञानमय बनी हुई यह आत्मा शुद्ध-निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध होनेसे परमार्थतः भावकर्म का उपादानकर्ता और अत एव द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता और अत एव द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता न होनेपर भी भावकर्म का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता दिखाई देती है। वस्तुतः शुद्ध आत्मा निरंजन अर्थात् द्रव्यकर्मरहित होनसे और अनंत सामर्थ्य से युक्त होनेके कारण भावकर्मरूप से परिणत होनेवाली न होनेसे भावकर्म का उपादानकर्ता नहीं हो सकती और भावकर्म के रूप से परिणत होनेवाली न होनेसे द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं हो सकती। फिर भी अज्ञानी आत्मा अपनेको भावकर्म का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता समझती है-किसीप्रकार भी कर्ता न होनेपर भी अपने को उभयविध कर्मों का कर्ता मानती है। 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' इस सूत्र के अनुसार स्पर्शगुण पुद्गल का अक्रमभावी या सहभावी परिणाम है। शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श स्पर्शगुण के पर्याय-भेद है। ये दोनों प्रकार के स्पर्श पुद्गल के स्पर्शरूप अक्रमभाविपरिणाम के क्रमभाविपरिणाम है और जिसप्रकार स्पर्शगुण पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होतो है उसीप्रकार ये दोनों प्रकार के स्पर्श क्रमभाविपरिणाम होनेपर भी पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होते है। जब कोई पुरुष शीतगुणवाले पदार्थ को और उष्णगुणवाले पदार्थ को स्पर्श करता है तब उस पुरुष के शीत का और उष्ण का अनुभव करानेकी सामर्थ्य पुद्गल के शीतरूप और उष्णरूप गुणपर्याय में होती है। ये दोनों स्पर्श पुद्गलगुण के

क्रमभाविपर्याय होनेसे पुद्‌गलद्रव्य के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होनेसे पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न नहीं होते और पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न न होनेसे आत्मा से सभी कालों में भिन्न होते हैं; क्यों कि वे आत्मा के गुण न होनेसे उनका आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध नहीं होता। उस शीत और उष्णस्पर्श के निमित्त से शीत और उष्ण पदार्थ को स्पर्श करनेवाले पुरुष को शीत का और उष्ण का जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मा का परिणाम होनेसे आत्मा से भिन्न नहीं होता; क्यों कि उसका आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध होता है। वह अनुभव आत्मा से भिन्न न होनेसे और पुद्‌गल का उपादेयभूत परिणाम न होनेसे सभी कालों में पुद्‌गल से आत्यंतिकरूप से भिन्न होता है। शीतरूप अवस्था और उष्णरूप अवस्था पुद्‌गलद्रव्योपादानक होनेसे पुद्‌गल से भिन्न न होनेपर और आत्मा से आत्यंतिकरूप से भिन्नरूप होनेपर भी और शीतोष्णानुभव की अवस्था आत्मोपादानक होनेसे आत्मा से भिन्न न होनेपर और पुद्‌गलद्रव्य से आत्यंतिकरूप से भिन्न होनेपर भी शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान के कारण उन दोनों में होनेवाली भिन्नता का ज्ञान न होनेसे अज्ञानी पुरुष उन दोनों की एकरूपता की कल्पना करता है। उस एकरूपता की कल्पना के कारण 'मैं ठंडा हुआ हूं, मैं गर्म हूं' इसप्रकार अपनेको शीतरूप से और उष्णरूप से परिणत हुआ मानता हुआ अपनेको उन दोनों परिणामों का कर्ता समझता है। उसकी वह मान्यता मिथ्या है; क्यों कि शीतगुण और उष्णगुण पुद्‌गलस्वामिक होनेसे आत्मा अपने स्वभाव का त्याग करके उन अचेतन गुणों के साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा होते हुए भी परपदार्थ के परिणाम का अपनेको कर्ता बतानेवाले जीव देखे जाते है और इस कल्पना को यथार्थ माननेवाले जीव भी देखे जाते है। रागादिभावों के कर्तृत्व के विषय में भी अज्ञानी जीव की यही दुरवस्था होती है। पुद्‌गल के द्रव्यकर्मरूप परिणाम की उदयरूप अवस्था के अर्थात् जीव को फल देनेकी–जीव को विभावरूप से परिणत होते समय सहायभूत होनेकी अवस्था के कारण जीव की रागद्वेषसुखदुःखादिरूप से परिणति होनेसे उदयरूप से निमित्तकारण पडनेवाले द्रव्यकर्म की रागद्वेषादिसंज्ञाएं होती है। इसप्रकार रागद्वेषसुखदुःखादिरूप संज्ञाओं को धारण करनेवाले पुद्‌गलद्रव्योपादानक उदयरूप अवस्था को प्राप्त हुए द्रव्यकर्म की अशुद्ध आत्मा को रागद्वेषसुखदुःखादि का अनुभव कराने की अर्थात् रागद्वेषसुखदुःखादिरूप से परिणत कराने की सामर्थ्य होती है। [इसका यह अर्थ नहीं है कि अशुद्ध आत्मा रागद्वेषादिरूप से परिणत होनेवाली न होनेपर भी उदयावस्था को प्राप्त हुआ द्रव्यकर्म उसको परिणमाता है। जो पदार्थ स्वयं परिणमनशील नहीं होता वह दूसरेके द्वारा परिणत नहीं कराया जा सकता।] यह पुद्‌गल के द्रव्यकर्मरूप परिणाम की अवस्था पुद्‌गलद्रव्य का परिणाम होनेसे पुद्‌गलद्रव्य के स्वरूप से अन्वित होनेके कारण पुद्‌गलद्रव्य से अभिन्न होती है–उसके साथ एकरूप होती है। वह पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न न होनेसे और आत्मा का परिणाम न होनेसे आत्मा के चैतन्यस्वरूप से अन्वित न होनेसे आत्मा से सभी कालों में भिन्न होती है। उस पुद्‌गलकर्म की अवस्थारूप उदय के निमित्त से अशुद्ध आत्मा को जो रागद्वेषसुखदुःखादि का अनुभव करना पडता है वह अनुभव आत्मा का परिणाम होनेसे आत्मा से भिन्न नहीं होता; क्यों कि उसका आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध होता है। वह अनुभव आत्मा से भिन्न न होनेसे और पुद्‌गल का उपादेयभूत परिणाम न होनेसे सभी कालों में पुद्‌गल से आत्यंतिक रूप से भिन्न होता है। पुद्‌गलकर्म की उदयरूप अवस्था पुद्‌गलद्रव्योपादानक होनेसे पुद्‌गल से भिन्न न होनेपर और आत्मा से आत्यंतिकरूप से भिन्नरूप होनेपर भी और रागद्वेषसुखदुःखादि के अनुभव की अवस्था आत्मोपादानक होनेसे आत्मा से भिन्न न होनेपर और पुद्‌गलद्रव्य से आत्यंतिकरूप से भिन्न होनेपर भी शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान के कारण पुद्‌गलकर्म की उदयावस्था और रागद्वेषसुखदुःखादिरूप–विभावभावों का अनुभव इन दोनों में होनेवाली भिन्नता का पूर्ण ज्ञान न होनेसे अज्ञानी आत्मा उन दोनों की एकरूपता की मिथ्या कल्पना करती है। उस एकरूपता की कल्पना के कारण 'मैं रागभावरूप से परिणत होता हूं' इसप्रकार अपनेको रागभावरूप से परिणत करती हुई उन उदयरूप और अनुभवरूप दोनों परिणामों का कर्ता समझती है। उसकी वह मान्यता झूठी है; क्यों कि उदयावस्था पुद्‌गलस्वामिक होनेसे आत्मा अपने स्वभाव का त्याग करके उस उदयरूप अचेतन अवस्था के साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं हो सकती और शुद्ध आत्मा रागादिभावों के रूप से परिणत होनेवाली न होनेसे उसका पुद्‌गलकर्म की उदयावस्था के साथ किसी भी प्रकार का संबंध

घटित नहीं हो सकता । ऐसा होते हुए भी अज्ञानी जीव अपनेको कर्ता मानता है । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा रागादिरूपविभावभावों का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता नहीं होती । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा शुद्ध अर्थात् भावकर्मरहित और निरंजन अर्थात् द्रव्यकर्म के साथ सश्लेषसंबंध से रहित होती है और अज्ञानी आत्मा सांजन अर्थात् द्रव्यकर्मसहित और अशुद्ध अर्थात् भावकर्मसहित होती है–भावकर्म के रूप से परिणत होनेवाली होती है । अतः अशुद्ध आत्मा और उसके विभावरूप परिणाम शुद्ध आत्मा की दृष्टि से परद्रव्यरूप है । दोनों का स्वरूप अन्योन्यभिन्न होनेसे दोनों कथंचित् भिन्नद्रव्यरूप है । दोनों में भिन्नता होनेपर भी अज्ञानी आत्मा को शुद्ध आत्मा का पूर्णरूप से ज्ञान न होनेसे दोनों को सर्वथा एकरूप समझती है । दोनों की सर्वथा एकरूपता की कल्पना के कारण अज्ञानी आत्मा आत्मा को रागादिभावों से सर्वथा अभिन्न समझती है । वस्तुतः शुद्ध हुई आत्मा का निरंजन होनेसे रागादिभावों के रूप मे उसका परिणत होना अशक्य होनेसे वह उन रागादिभावों का उपादानकर्ता और पुद्गलद्रव्य की कर्मरूप परिणति का निमित्तकर्ता भी नहीं हो सकती । अतः रागादिभावों का और पुद्गल की द्रव्यकर्मरूप परिणति का शुद्ध आत्मा कदापि कर्ता नहीं हो सकती । जिस आत्मा का रागादिभावविषयक उपादान–कर्तृत्व और पुद्गलद्रव्य की कर्मरूपपरिणति के विषय में निमित्तकर्तृत्व दिखाई देता है वह आत्मा शुद्धात्मसंवित्ति–शून्य होनेसे अज्ञानी होती है । अतः अशुद्ध आत्मा से होनेवाली भावकर्म की उत्पत्ति और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य से होनेवाली द्रव्यकर्म की उत्पत्ति अशुद्ध आत्मा के शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान के कारण से होती है ।

' ज्ञानात् तु कर्म न प्रभवति ' इति आह–

' ज्ञानाद्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाद्धेतुभूतात्स्वेव कर्म भावकर्म न प्रभवति प्रादुर्भवति । वीतरागस्व–संवेदनज्ञानाविर्भावे सति भावकर्म नोत्पद्यते, भावकर्मण उपादानभूतस्याज्ञानस्याभावापत्तेरिति भावः । भावकर्मोत्पत्त्यभावे च कर्मयोग्यवर्गणात्मकपुद्गलादुपादानभूताद्द्रव्यकर्म च नोत्पद्यते । यद्वा ज्ञानाद्वी–तरागस्वसंवेदनरूपाद्भावकर्म नोत्पद्यते, तस्याज्ञानोपादानकत्वात् । भावकर्मोत्पत्त्यभावे च द्रव्यकर्म–णोऽपि पुद्गलात्प्रादुर्भावो न सम्भवति, चैतन्यानुस्यूतविभावभावात्मकनिमित्तस्य सहकारिणः सद्भावे एव तदुत्पत्तिसम्भवात् ।

वीतरागस्वसंवेदनज्ञान का या शुद्धात्मसंवित्तिरूप ज्ञान का प्रादुर्भाव होनेपर (भाव) कर्म की (और द्रव्य–कर्म की) उत्पत्ति नहीं होती । अथवा ज्ञानसे अर्थात् शुद्धात्मसंवित्तिरूप ज्ञान से कर्म की (अज्ञानोपादानक उपादेय–भूत भावकर्म की और पुद्गलद्रव्योपादानक नैमित्तिकभावभूत द्रव्यकर्म की) उत्पत्ति नहीं होती; (क्यों कि ज्ञान के प्रादुर्भाव से भावकर्म के उपादानभूत अज्ञान का अभाव हो जाता है और भावकर्मरूप निमित्त का अभाव हो जानेसे द्रव्यकर्मोत्पत्ति का अभाव हो जाता है ।)

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥ ९३॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ– **[यः]** जो **(परम्)** भावकर्मरूप, द्रव्यकर्मरूप और देहादिरूप परद्रव्य को भेदविज्ञान की सामर्थ्य से **(आत्मानं)** अपनेरूप अथवा आत्मरूप **(अकुर्वन्)** न जाननेवाला–न करनेवाला **(आत्मानं अपि च)** और आत्मा को भी–अपने को भी **(परम्)** भावकर्मरूप, द्रव्यकर्मरूप और देहादिरूप **(अकुर्वन्)** न जाननेवाला–न करनेवाला होता है **(सः)** वह **(ज्ञानमयः जीवः)** वीतराग-

स्वसंवेदनज्ञानावस्था को प्राप्त हुआ जीव ज्ञान की उस विशिष्ट अवस्था की प्राप्ति के कारण (**कर्मणां**) भावकर्मों का और द्रव्यकर्मों का (**अकारकः भवति**) कारक–कर्ता नही होता [अर्थात् भावकर्मों का उपादानकर्ता नही होता (भावकर्मों के रूप से परिणत नही होता) और भावकर्मो का उपादानकर्ता न होनेके कारण निमित्तभूत भावकर्मों का अभाव हो जानेसे नैमितिकभावभूत द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता भी नही होता ।]

आ. ख्या:– अयं किल ज्ञानात् आत्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परं आत्मानं अकुर्वन् आत्मानं च परं अकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणां अकर्ता प्रतिभाति । तथा हि–तथाविधानुभवनसम्पादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः, शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः इव, पुद्गलात् अभिन्नत्वेन आत्मनः नित्यं एव अत्यन्तभिन्नायाः तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य च आत्मनः अभिन्नत्वेन पुद्गलात् नित्यं एव अत्यन्तभिन्नस्य ज्ञानात् परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकात् शीतोष्णरूपेण इव आत्मना परिणमितुं अशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेण अज्ञानात्मना मनाक् अपि अपरिणममानः ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः ' एषः अहं जानामि एव, रज्यते तु पुद्गलः ' इत्यादिविधिना समग्रस्य अपि रागादेः कर्मण. ज्ञानविरुद्धस्य अकर्ता प्रतिभाति ।

त. प्र.– अयमेष आत्मा । किलेति वाक्यालङ्कारे । ज्ञानाद्वीतरागस्वसंवेदनरूपाच्छुद्धात्मसंवित्तिलक्षणाद्वा सम्यग्ज्ञानात्परात्मनोर्भावद्रव्यकर्मात्मकपरद्रव्यशुद्धात्मनोः, पक्षान्तरेऽशुद्धविशुद्धात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने शुद्धाशुद्धात्मनोरशुद्धात्माशुद्धात्मपरिणामयोर्वा शुद्धात्मपुद्गलयोश्च शुद्धात्मोपादानकविभावभावात्मकपरिणाम–पुद्गलोपादानकपुद्गलकर्मपरिणामयोर्वा स्वभावसञ्ज्ञादिकृतभेदस्य निर्ज्ञाने पूर्णज्ञाने सति । 'यद्भावाद्भावगतिः' इतीप् । परमशुद्धमात्मानं तत्परिणामं च तथा पुद्गलद्रव्यं पुद्गलोपादानकपुद्गलकर्म तत्परिणामं चात्मानं शुद्धात्मानमकुर्वन्नसमीक्षमाण आत्मानं च स्व शुद्धचैतन्यस्वभाव शुद्धात्मानमशुद्धचैतन्याविकलत्वेऽप्यशुद्धात्मस्वरूपं पुद्गलाश्रितरूपित्वस्वभावविकलत्वेऽपि पुद्गलद्रव्यस्वरूपं चाकुर्वन्नसमीक्षमाणः स्वयमात्मना ज्ञानमयीभूतो वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरूपत्वेन परिणतः कर्मणां भावकर्मणामकर्तानुपादानकर्ता द्रव्यकर्मणां चानिमित्तकर्ता प्रतिभाति प्रकटीभवति । भावकर्मणामुपादानकर्ता द्रव्यकर्मणां च निमित्तकर्ता न भवतीति प्रकटीभवतीति भाव । तथा हि तदेवोपपादयति–तथाविधानुभवसम्पादनसमर्थाया अशुद्धचैतन्यानुस्यूतरागद्वेषसुखदुःखादिरूपविभावभावात्मकाशुद्धजीवपरिणामानुभवजननसमर्थाया रागद्वेषसुखदुःखादिरूपाया रागद्वेषसुखदुःखादिलक्षणायाः पुद्गलपरिणामवस्थायाः पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपपरिणामस्योदयावस्थायाः, पक्षे पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मोदयात्मकफलदानसामर्थ्यजनितविभावभावात्मकाशुद्धात्मावस्थायाः, पुद्गलपरिणामेनोदयात्मकेन कृता जनिताऽवस्थेति विग्रहकरणात् । शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्थायाश्शीतोष्णयोरनुभवयोस्सम्पादने जनने समर्था शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्था । तस्याः । शीतोष्णानुभवो जीवे जनयितुं समर्थाया इत्यर्थः । शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः पुद्गलस्वामिककर्मभाविपरिणामावस्थायाः । पुद्गलस्य शीतो–

कणरूपा क्रमभाविपरिणामात्मिका याऽवस्था पर्यायः परिणामः सा पुद्गलपरिणामावस्था । तस्याः । पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेन । यथाऽयसः प्रालेयसम्पातजनिता शीतावस्थाऽग्निसंयोगजनितोष्णावस्था च संस्पृष्टस्य शीतोष्णानुभवजननसमर्था सत्ययःपुद्गलशीतोष्णपरिणामात्तन्निमित्तकभावभूतादभिन्नत्वात्पुद्गलादभिन्नः तथा पुद्गलादभिन्नत्वेनेत्यर्थः । पक्षे पुद्गलसदृशादशुद्धादात्मनः । पुद्गल इव पुद्गलः । अशुद्ध आत्मेत्यर्थः । 'देवपथादिवयः' इतीवार्थस्य कस्योग । पुद्गलकर्माशुद्धात्मनोऽशुद्धात्मस्वभावावारकत्वस्य शुद्धत्वेनाविकलत्वस्य च समानत्वादशुद्धस्यात्मनः पुद्गलतुल्यत्वमवसेयम् । पुद्गलाद्द्रव्यकर्मात्मकत्वेन परिणतात्पुद्गलद्रव्यादभिन्नत्वेनात्मनश्शुद्धादशुद्धाच्च नित्यमेव सर्वकालमेवात्यन्तभिन्नायाः । पक्षे पुद्गलात्पुद्गलतुल्यादशुद्धादात्मनो भावकर्मत्वेन परिणतादभिन्नत्वेनात्मनश्शुद्धान्नित्यमेवात्यन्तभिन्नायाः । तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य च रागद्वेषसुखदुःखादिलक्षणकर्मोदयनिमित्तकभावकर्मभूतरागद्वेषसुखदुःखादिप्रकारकानुभवस्य, पक्षे शीतोष्णपर्यायापन्नायोनिमित्तकशीतोष्णप्रकारकानुभवस्यात्मनोऽशुद्धात्मनश्चात्यन्तभिन्नत्वेन हेतुभूतेन । पक्षे, शुद्धात्मद्रव्याद्भिन्नत्वेन हेतुभूतेन । 'आत्मनो भिन्नत्वेन' इति पाठस्य मात्रप्रश्नचिह्नानवग्रहविह्न्यूनत्वेन ग्रहणसम्भवादत्रानवग्रहयुक्तस्य भिन्नत्वेनेति पाठस्य ग्रहणेनायमुक्तोऽर्थः सम्भवति । पुद्गलात्पुद्गलद्रव्यान्नित्यमेव सर्वकालमेवात्यन्तभिन्नस्यात्यन्तविविक्तस्य ज्ञानादीनगामस्पष्टेन तदुपात्तरूपात्तभसविल्लिरूपाता परस्परविशेषनिर्ज्ञानेऽन्योन्यभेदस्य सम्पूर्णज्ञानस्य सद्भावे सति । रागद्वेषसुखदुःखादिरूपपुद्गलपरिणामावस्थाया रागद्वेषसुखदुःखादिलक्षणपुद्गलपरिणामभूतद्रव्यकर्मोदयनिमित्तकभावकर्मभूतरागद्वेषसुखदुःखादिप्रकारकानुभवस्य चान्योन्यभिन्नत्वस्य परिज्ञाने सतीत्यर्थः । यदा यदा पुद्गलात्मनोरन्योन्यभिन्नत्वस्य परिज्ञानमन्योन्यभिन्नत्वस्य चानुभवो भवति तदेत्यर्थः । यदा पक्षान्तरे पुद्गलात्मनोरज्ञानोपादानकरागद्वेषादितदनुभवस्य चान्योन्यभेदस्य परिज्ञाने सतीत्यर्थः । नानात्वविवेकाद्रागद्वेषसुखदुःखादिरूपाया पुद्गलाभिन्नायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया रागद्वेषसुखदुःखाद्यनुभवस्य चात्मनोऽशुद्धात्मपरिणामरूपस्य च नानात्वस्यान्योन्यभिन्नत्वस्य विवेकादज्ञानात्मकरागद्वेषादिरूपेण आत्मना अशुद्धेन च परिणमितुमात्मनः परिवर्तितुमसम्भाव्येन । यथा शुद्धस्यात्मनः शीतोष्णरूपेण परिणमनमशक्यं तथा रागद्वेषादिरूपेण परिणमनमप्यशक्यमिति भावः । तत रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मनाज्ञानस्वरूपेण मनागपीषदप्यपरिणममानोऽपरिणमन् । ज्ञानस्य ज्ञानत्वं यथार्थस्वरूपं प्रकटीकुर्वन्नाविर्भावयन्स्वयमात्मना ज्ञानमयीभूतो यथार्थज्ञानोत्पत्तिकालात्पूर्वमज्ञानभावमापन्नोऽज्ञानं परित्यज्य ज्ञानमयतामापन्नः 'एषोऽहं जानामि, रज्यते तु पुद्गलः' इति मन्यते । आत्मने फलदानस्य सामर्थ्यस्य पुद्गले प्रादुर्भवमानत्वात् 'रज्यते तु पुद्गलः' इत्युक्तम । पक्षान्तरे, पुद्गलसदृशोऽज्ञान्यात्मा रागादिविभावभावात्मकत्वेन यतः परिणमति ततस्तथोक्तः । इत्यादिविधिनेत्यादिप्रकारेण समग्रस्यापि सकलस्यापि रागादेः कर्मणो भावद्रव्यरागादिकर्मणो ज्ञानविरुद्धस्योत्सारितशुद्धज्ञानस्य । ज्ञानविरुद्धमपसहृतं बहिष्कृतं वा यस्मात्तत् । तस्य । अकर्ताऽकारकः प्रतिभाति प्रकटीभवति । भावकर्मण उपादानकर्ता द्रव्यकर्मणश्च निमित्तकर्ता न भवतीति विशदीभवतीति भावः ।

टीकार्थ– वीतरागस्वसंवेदनज्ञान की या शुद्धात्मसंवित्तिरूपज्ञान की प्राप्ति होनेसे द्रव्यकर्मरूप और भावकर्मरूप परपदार्थ और शुद्ध आत्मा इनमें होनेवाले अन्योन्यभेद का परिज्ञान–पूर्णज्ञान होनेपर भावकर्मरूप और द्रव्यकर्मरूप परपदार्थ को आत्मरूप न जाननेवाली और शुद्ध आत्मा को द्रव्यकर्मात्मक और भावकर्मात्मक परपदार्थरूप न जाननेवाली (वीतरागस्वसंवेदनज्ञान की आविर्भूति होनेके पूर्वकाल में होनेवाले अज्ञान को त्यागकर) वीतराग–

स्वसंवेदनज्ञानसंपन्न बनी हुई यह आत्मा भावकर्मों का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता नहीं होती हुई प्रकट हो जाती है। उसका खुलासा- (जीव के) शीतोष्ण के अनुभवरूप परिणाम को उत्पन्न करने की सामर्थ्य से युक्त पुद्गलपरिणाम की शीतोष्णरूप अवस्था के समान (अज्ञानी जीव के रागद्वेषसुखदुःखादि के अनुभवरूप परिणाम को उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य से युक्त, रागद्वेषसुखदुःखादिसंज्ञक द्रव्यकर्म की उपादेयभूत ऐसी पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होनेसे सर्वकालों में आत्मा से भिन्न होनेवाली उदयरूप अवस्था और रागद्वेषसुखदुःखादिसंज्ञकद्रव्यकर्मोदय के निमित्त से प्राप्त होनेवाला रागद्वेषसुखदुःखादिप्रकारक भावकर्म का अनुभव आत्मा से अभिन्न होनेके कारण भिन्न न होनेके कारण सभी कालों में पुद्गल से भिन्न होनेवाला वह अनुभव इनमें होनेवाले भेद का वीतरागस्वसंवेदनज्ञान की प्राप्ति हो जानेके कारण जब परिज्ञान-पूर्ण ज्ञान होता है तब पुद्गल की उदयरूप अवस्था और रागद्वेषसुखदुःखादि का अनुभव इनकी भिन्नता का ज्ञान हो जानेसे अर्थात् ये दोनों परस्परभिन्न हैं-एकरूप नहीं हैं इसप्रकार का ज्ञान आविर्भूत हो जानेसे जिसप्रकार शीत का और उष्ण का अनुभव करनेवाली आत्मा का (अपने चैतन्यस्वभाव का त्याग करके पुद्गल के) शीतोष्णरूप परिणाम के रूप से परिणत होना अशक्य होता है उसीप्रकार जिसके रूप से (अशुद्ध आत्मा की भांति शुद्ध आत्मा का) परिणत होना अशक्य होता है उस अज्ञानरूप रागद्वेषसुखदुःख आदि के रूप से परिणत न होती हुई (अपने) ज्ञान को यथार्थज्ञान के रूप से प्रकट करती हुई स्वयं ज्ञानमय बनी हुई आत्मा 'यह मैं जानता हूं और पुद्गल रागरूप से परिणत होता है' इत्यादिप्रकार से जिसमें शुद्धचेतना का अभाव होता है ऐसे रागादिरूप कर्म का अकर्ता होती हुई प्रकट होती है अर्थात् कर्ता न होती हुई प्रकट होती है।

विवेचन— ज्ञान से यहां वीतरागस्वसंवेदनरूप या शुद्धात्मसंवित्तिरूप ज्ञान का ग्रहण अभीष्ट है; क्यों कि वीतरागस्वसंवेदनज्ञान की या शुद्धात्मसंवित्तिरूप ज्ञान की आविर्भूति होनेपर जीव रागद्वेषसुखदुःखादिरूप विभावभाव के रूप से परिणत नहीं होता और विभावभाव के रूप से परिणत होनेवाला न होनेसे विभावभावरूप परिणाम के अभाव के कारण जीव के द्रव्यकर्म का बंध नहीं होता। इसप्रकार के ज्ञान का आविर्भाव होनेके कारण आत्मा के यथार्थस्वरूप का और भावद्रव्यकर्मरूप परपदार्थ के यथार्थस्वरूप का पूर्णतया ज्ञान होनेके कारण यह आत्मा भावकर्मरूप और द्रव्यकर्मरूप या अशुद्धात्मरूप और पुद्गलद्रव्यरूप परपदार्थ और शुद्ध आत्मा इनमें स्वरूपभेद के कारण होनेवाले अन्योन्यभिन्नत्व को जब पूर्णरूप से जानती है तब भावकर्म का या द्रव्यकर्म को या अशुद्ध आत्मा को और पुद्गलद्रव्य को एकरूप अर्थात् अभिन्न नहीं मानती और उनको अन्योन्यभिन्नरूप माननेसे ज्ञानमय बनी हुई यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध होनेसे भावकर्म का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता कदापि नहीं होती। वस्तुतः शुद्ध आत्मा निरंजन अर्थात् द्रव्यकर्मरहित होनेसे और अनंत सामर्थ्ययुक्त होनेसे भावकर्मरूप से परिणत होनेवाली न होनेसे भावकर्म का उपादानकर्ता नहीं हो सकती और भावकर्म के रूप से परिणत होनेवाली न होनेसे द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं हो सकती। 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' इस सूत्र के अनुसार स्पर्शगुण पुद्गल का अक्रमभावी या सहभावी परिणाम है। शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श स्पर्शगुण के पर्याय-भेद हैं। ये दोनों प्रकार के स्पर्श पुद्गल के अक्रमभाविपरिणाम के क्रमभाविपरिणाम हैं और जिसप्रकार स्पर्शगुण पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होता है उसीप्रकार वे दोनों प्रकार के स्पर्श क्रमभाविपरिणाम होनेपर भी पुद्गलद्रव्य से अभिन्न होते हैं। जब कोई पुरुष शीतगुणवाले पदार्थ को और उष्णगुणवाले पदार्थ को स्पर्श करता है तब उस पुरुष के शीत का और उष्ण का अनुभव करानेकी सामर्थ्य पुद्गल के शीतरूप और उष्णरूप गुणपर्याय में होती है। ये दोनों स्पर्श पुद्गलगुण के क्रमभाविपर्याय होनेसे पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुए होनेसे पुद्गलद्रव्य से भिन्न नहीं होते और पुद्गलद्रव्य से भिन्न न होनेसे आत्मा से सभी कालों में भिन्न होते हैं; क्यों कि वे आत्मा के गुण न होनेसे उनका आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध नहीं होता। उस शीत और उष्ण स्पर्श के निमित्त से शीत और उष्ण पदार्थ को स्पर्श करनेवाले पुरुष को शीत का और उष्ण का जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मा का परिणाम होनेसे आत्मा से भिन्न नहीं होता; क्यों कि उसका आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध होता है। वह अनुभव आत्मा से भिन्न न होनेसे और पुद्गल का उपादेयभूत परिणाम न होनेसे सभी कालों में पुद्गल से आत्यंतिकरूप से भिन्न होता है। शीतरूप

अवस्था और उष्णरूप अवस्था पुद्‌गलद्रव्योपादानक होनेसे पुद्‌गल से भिन्न न होनेपर और आत्मा से आत्यंतिकरूप से भिन्न न होनेपर, और शीतोष्णानुभव की अवस्था आत्मोपादानक होनेसे आत्मा से भिन्न न होनेपर और पुद्‌गल-द्रव्य से आत्यंतिकरूप से भिन्न होनेपर पुद्‌गलपरिणामावस्था के और आत्मपरिणामावस्था के यथार्थस्वरूप का ज्ञान अभिव्यक्त होनेपर उन दोनों अवस्थाओं में होनेवाली भिन्नता का ज्ञान हो जानेसे उन दोनों अवस्थाओं को ज्ञानी आत्मा एकरूप-एकजातीय नहीं समझती। उन दोनों अवस्थाओं को एकरूप न समझनेके कारण 'मैं ठंडा हुआ हूं, मैं गर्म हुआ हूं' इसप्रकार अपनेको शीतरूप से और उष्णरूप से परिणत हुई नहीं मानती-पुद्‌गल को ही उसरूप से परिणत हुआ मानती है; क्यों कि शीतगुण और उष्णगुण पुद्‌गलस्वामिक होनेसे आत्मा अपने स्वभाव का त्याग करके उन अचेतनगुणों के साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं हो सकती। शीत और उष्ण गुण का अनुभव तो शरीररूप पुद्‌गल के द्वारा करती है। पुद्‌गल के द्रव्यकर्मरूप परिणाम की अवस्था जीव को फल देनेकी-जीव को विभावरूप से परिणत होने समय सहायभूत होनेकी उदयरूप अवस्था के कारण जीव की रागद्वेषसुखदुःखादिरूप से परिणति होनेसे उदयरूप से निमित्तकारण पडनेवाले द्रव्यकर्म की रागद्वेषादिसंज्ञाएं होती हैं। इसप्रकार रागद्वेषसुखदुःखादिरूप संज्ञाओं को धारण करनेवाले पुद्‌गलद्रव्योपादानक उदयरूप अवस्था को प्राप्त हुए द्रव्यकर्म की अशुद्ध आत्मा को रागद्वेषसुखदुःखादि का अनुभव कराने की अर्थात् रागद्वेषसुखदुःखादिरूप से परिणत कराने की सामर्थ्य होती है। पुद्‌गल के कर्मरूप परिणाम की यह अवस्था पुद्‌गलद्रव्य का परिणाम होनेसे पुद्‌गलद्रव्य के स्वरूप से अन्वित होनेके कारण पुद्‌गलद्रव्य से अभिन्न होती है-उसके साथ एकरूप होती है। वह पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न न होनेसे और आत्मा का परिणाम न होनेसे आत्मा के चैतन्यस्वरूप से अन्वित न होनेसे सभी कालों में आत्मा से भिन्न होती है। उस पुद्‌गलकर्म की अवस्थारूप उदय के निमित्त से अशुद्ध आत्मा के जो रागद्वेषसुखदुःखादि का अनुभव करना पडता है वह अनुभव आत्मा का परिणाम होनेसे आत्मा से भिन्न नहीं होता; क्यों कि उसका आत्मा के साथ तादात्म्यसबंध होता है। वह अनुभव आत्मा से भिन्न न होनेसे और पुद्‌गल का उपादेयभूत परिणाम न होनेसे सभी कालों में पुद्‌गल से आत्यंतिकरूप से भिन्न होता है। पुद्‌गल की उदयरूप अवस्था पुद्‌गलद्रव्योपादानक होनेसे पुद्‌गल से भिन्न न होनेपर और आत्मा से आत्यंतिकरूप से भिन्नरूप होनेपर भी और रागद्वेषसुखदुःखादि के अनुभव की अवस्था आत्मोपादानक होनेसे आत्मा से भिन्न न होनेपर और पुद्‌गलद्रव्य से आत्यंतिकरूप से भिन्न होनेपर शुद्धात्मसंवित्ति-रूप ज्ञान के कारण पुद्‌गलकर्म की उदयावस्था और रागद्वेषसुखदुःखादिरूपविभावभावों का अनुभव इन दोनों में होनेवाली भिन्नता का पूर्णतया ज्ञान होनेसे वीतरागस्वसंवेदनज्ञानवाली आत्मा उन दोनों की एकरूपता की कल्पना नहीं करती-उन दोनों को अन्योन्यभिन्न जानती है। उन दोनों की भिन्नरूपता के ज्ञान के कारण अपनेको रागभाव-रूप से परिणत न करती हुई उन उदयरूप और अनुभवरूप दोनों परिणामों का कर्ता नहीं समझती। दोनों परिणामों की भिन्नता का उसका यह ज्ञान यथार्थ है; क्यों कि उदयावस्था पुद्‌गलस्वामिक होनेसे आत्मा अपने स्वभाव का त्याग करके उस उदयरूप अचेतन अवस्था के साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं हो सकती और शुद्ध आत्मा निरंजन होनेसे रागादिभावों के रूप से परिणत होनेवाली न होनेसे उसका पुद्‌गलकर्म की उदयावस्था के साथ किसी भी प्रकार का संबंध घटित नहीं हो सकता। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा शुद्ध अर्थात् भावकर्मरहित और निरंजन अर्थात् द्रव्यकर्म के साथ संश्लेषसंबंध से रहित होती है और अज्ञानी आत्मा सांजन अर्थात् द्रव्यकर्मसहित और अशुद्ध अर्थात् भावकर्मसहित होती है-भावकर्म के रूप से परिणत होनेवाली होती है। अतः अशुद्ध आत्मा और उसके विभावरूप परिणाम शुद्ध आत्मा की दृष्टि से परद्रव्यरूप हैं। दोनों का स्वरूप अन्योन्यभिन्न होनेसे दोनों कथंचित् भिन्नद्रव्यरूप हैं। जिनमें यहां भेद बताया है वे एक आत्मा की दो अवस्थाएं हैं। दोनों में कथंचित् भिन्नता होनेसे ज्ञानी-स्वसंवेदनज्ञानवाली आत्मा को शुद्ध आत्मा का पूर्णरूप से ज्ञान होनेसे दोनों को भिन्नरूप समझती है। दोनों की भिन्नरूपता के ज्ञान के कारण वीतरागस्वसंवेदनज्ञानवाली आत्मा को रागादिभावों से भिन्न समझती है। वस्तुतः शुद्ध हुई आत्मा का वह निरंजन होनेसे रागादिभावों के रूप से परिणत होना अशक्य होनेसे वह रागादिभावों का उपादानकर्ता और पुद्‌गलद्रव्य की कर्मरूप परिणति का निमित्तकर्ता भी नहीं हो सकती। अतः रागादिभावों का

और पुद्गल की द्रव्यकर्मरूप परिणति का शुद्ध आत्मा कदापि कर्ता नहीं हो सकती। जिस आत्मा का रागादिभाव-विषयक उपादानकर्तृत्व और पुद्गलद्रव्य की कर्मरूपपरिणति के विषय में निमित्तकर्तृत्व दिखाई देता है वह आत्मा शुद्धात्मसंवित्तिशून्य होनेसे अज्ञानी होती है। अतः अशुद्ध आत्मा से होनेवाली भावकर्म की उत्पत्ति और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य से होनेवाली द्रव्यकर्म की उत्पत्ति अशुद्ध आत्मा के शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान के कारण से होती है।

'कथं अज्ञानात् कर्म प्रभवति ?' इति चेत्–

'कथं केन प्रकारेणाज्ञानाच्छुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपात्कर्म भावकर्म प्रभवत्युत्पद्यते ?' इत्येवंविधः प्रश्नश्चेदस्ति, तत्समाधानमाहुराचार्याः।

'शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान से भावकर्म की उत्पत्ति किसप्रकार होती है ?' इसप्रकार का प्रश्न हो तो आचार्य उसका समाधान करते हैं।

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं[1] करेइ कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ९४ ॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ– **[यः]** जो सामान्यतः अज्ञानरूप होनेसे एकप्रकारक होनेपर भी **(एषः)** यह **(त्रिविधः)** मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इन रूपों से तीन प्रकार का बना हुआ **(उपयोगः)** आत्मा का चैतन्यानुविधायिपरिणामरूप यह उपयोग या आत्मा **(अहं क्रोधः)** 'मैं क्रोध हूं–क्रोध से अभिन्न हूं' इसप्रकार का **(आत्मविकल्पं)** अपने या आत्मा के विषय में विपरीत निर्णय **(करोति)** कर लेता है, **(सः)** वह उपयोग या आत्मा **(तस्य)** उस **(आत्मभावस्य)** अपने अर्थात् उपयोग के अथवा अशुद्ध आत्मा के परिणामरूप **(उपयोगस्य)** क्रोधरूप से परिणत हुए सामान्यतः अज्ञानरूप और विशेषरूप से त्रिविध बने हुए उपयोग का **(कर्ता)** उपादानकर्ता **(भवति)** होता है।

[इस गाथासूत्र में [illegible] इस टीका के अनुसार उसका [illegible] जाता है।]

आ. ख्या.– एष खलु सामान्येन अज्ञानरूपः मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपः त्रिविधः सविकारः चैतन्यपरिणामः परात्मनो अविशेषदर्शनेन, अविशेषज्ञानेन अविशेषविरत्या[2] च समस्तं भेदं अपह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोः चेतनाचेतनयोः सामानाधिकरण्येन अनुभवनात् 'क्रोधः अहम्' इति आत्मनः विकल्पं उत्पादयति। ततः अयं आत्मा 'क्रोधः अहम्' इति भ्रान्त्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्य आत्मभावस्य कर्ता स्यात्। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोह-

१– 'अस्सवियप्पं' इति पाठान्तरम्। २– 'अविशेषरत्या' इति पाठान्तरम्।

रागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशा अन्यानि अपि ऊह्यानि ।

त. प्र.— एषोऽयं खलु परमार्थतः सामान्येन सामान्यतोऽज्ञानरूपो मोहाक्रान्तज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपो मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्ररूपस्त्रिविधस्त्रिप्रकारो विभावात्मकश्चैतन्यपरिणामश्चैतन्यानुविधाय्युपयोगात्मक आत्मनः परिणामस्ततोऽभिन्न आत्मा वा परात्मनोर्भावद्रव्यमोहात्मकपरपदार्थस्यात्मनश्चाविशेषदर्शनेनाभेदावलोकनात् । आत्मनोऽनादेः कर्मबद्धत्वादात्मभावद्रव्यकर्मणोरभेदस्य दर्शनादवलोकनादित्यर्थः । अविशेषज्ञानेनाभेदज्ञानेन । भावद्रव्यकर्मात्मकपरात्मनोरभिन्नत्वं ज्ञात्वेत्यर्थः । अविशेषविरत्या परात्मनोरभेदेऽत्यन्ताभिनिवेशेन । परात्मनोरभेदोऽस्त्येवेत्यात्यन्तिकेनाभिनिवेशेन दृढनिश्चयेनेत्यर्थः । परात्मनोर्विशेषऽभेदे विशिष्टाऽऽत्यन्तिकी रतिरभिनिवेशो दृढनिश्चयोऽविशेषविरतिः तथा । अविशेषरत्येति क्वचित्पाठान्तरम् । तस्याभेदेऽभिनिवेशेनेत्यर्थः । अस्मात्पाठादविशेषविरत्येति पाठः साधीयान्, अभिनिवेशस्यात्यन्तिकत्वख्यापनात् । समस्तं भेदं परात्मनोरन्योन्यभिन्नत्वमपह्नुत्य सर्वथा भाव्यभावकभावापन्नयोः परिणम्यपरिणामकभावापन्नयोरशुद्धात्मभावक्रोधाद्योश्चेतनाचेतनयोश्शुद्धचेतनाशुद्धचेतनयोः । शुद्धात्मनश्शुद्धचैतन्यसमन्वितत्वाच्चेतनत्वं भावक्रोधादेश्चाशुद्धचैतन्यान्वितत्वाच्छुद्धचैतन्यविकलत्वाच्चाचेतनत्वम् । अप्रशस्तोऽशुद्धश्चेतनोऽचेतनः । तयोश्चेतनाचेतनयोः । सामानाधिकरण्येनैकात्मद्रव्यरूपाभिव्यापकाधारत्वेन । समानमेकमभिव्यापकमधिकरणमाधारो । तयोर्भावः सामानाधिकरण्यम् । ' राजपत्यन्तगुणोक्तिराजादिभ्यः कृत्ये च ' इति ष्यण् । यत्रात्मनि चैतन्यसामान्यमनुभवगोचरीभवति तत्रैवात्मनि क्रोधाद्यात्मकं भावकर्माऽनुभवगोचरीभवतीति परात्मनोस्सामानाधिकरण्येनैकाधिकरण्येनानुभवनम् । तस्मात्तथाविधानुभवनात् ' क्रोधोऽहं-क्रोधादभिन्नोऽहम् ' इत्येवम्प्रकारमात्मन आत्मविषये विकल्पं विपरीतं निर्णयमुत्पादयन् जनयन् । विपरीतः कल्पो निर्णयो निश्चयो विकल्पः । तम् । शुद्धात्म-विभावभावात्मकक्रोधादिपरिणामयोः परात्मनोर[illegible]न्योन्यभिन्नत्वेऽपि नान्योन्यभिन्नत्वमिति निश्चयो विपरीतः । तं तादृशं विपरीतं निश्चयं जनयन् । ततः [illegible] निश्चयं जनयति तस्मात्कारणादयमज्ञ आत्मा क्रोधोऽहमस्मि [illegible]स्थात्[illegible] [illegible] सविकारेण विकारा[illegible]त चैतन्य[illegible] [illegible]धादि-रूपो भाव[illegible] [illegible] । तस्योपयोगात्मकस्य सविकारचैतन्यपरिणामस्य विभावभावात्मकस्य[illegible] कर्ता स्याद्भवति । एतेनामुना प्रकारेणैव स क्रोधपदप्रयोगेन क्रोधवत्[illegible] [illegible] [illegible] व्याख्येयानि । अनया दिशानेन प्रकारेणान्यान्यपि सूत्राण्यूह्यानि विचारणीयानि ।

टीकार्थ— परमार्थदृष्टि से [illegible] अज्ञानरूप होनेसे [illegible] होनेपर भी [illegible] मिथ्यादर्शन, अज्ञान [illegible] और अविरति-[illegible] इनरूप से त्रिविध (तीन प्रकारवाला) बना हुआ चैतन्य का विकाररूप (उपयोगरूप) परिणाम (भावकर्मरूप) परपदार्थ और आत्मा इनके (अनादिकाल से चले आये) अभेद को देखनेसे अभेद को जाननेसे और इनके अभेद में आत्यन्तिकरूप से अभिनिवेश-आसक्ति करनेसे इनमें होनेवाले भेद को पूर्णरूप से छिपाकर भाव्यभावकभाव को प्राप्त हुए चेतन और अचेतन अर्थात अप्रशस्तचेतन का (क्रोधादि परिभावभाव का) समानाधिकरणरूप से अर्थात एक हि आत्मा में अनुभव करनेसे ' मै क्रोध हू अर्थात्

क्रोधादिरूपविभावभावरूप परिणाम से मैं अभिन्न हूं ' इसप्रकार आत्मा के विपरीत निश्चय को–निश्चयरूप परिणाम को उत्पन्न करता है । उसकारण यह आत्मा ' मैं क्रोध हूं–क्रोध से अभिन्न हूं ' इसप्रकार भ्रांतिवश होकर चैतन्य के विकारसहित परिणाम के रूप से परिणत होती हुई उस चैतन्य के विकारसहित परिणामरूप (अशुद्ध) आत्मा के परिणाम का कर्ता–उपादानकर्ता होती है । इसीप्रकार अर्थात् जिसप्रकार क्रोध का व्याख्यान किया गया है उसी प्रकार क्रोधपद को बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय श्रोत्र, चक्षु घ्राण, रसन और स्पर्शन इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये । इसप्रकार अन्य सूत्रों का भी विचार कर लेना चाहिये ।

विवेचन– उपयोग चैतन्य का अनुसरण करनेवाला आत्मा का परिणाम है । यह संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेसे उपयोग सविकार बना हुआ है अर्थात् अज्ञानरूप से परिणत हुआ है । अज्ञानरूप से परिणत हुआ होनेसे वह उपयोगरूप चैतन्य का परिणाम सामान्यतः एकप्रकारक है और विशेषतः मिथ्यादर्शन, अज्ञान–मिथ्याज्ञान और अविरति–मिथ्याचारित्र इनरूप तीन प्रकार का है । यह उपयोगरूप विकारसहित चैतन्यपरिणाम अनादिकाल से चले आये कर्मबंध के कारण भावकर्मरूप और द्रव्यकर्मरूप परपदार्थ और आत्मा इनमे अनादिकाल से चले आये अभेद को देखनेसे, अभेद को जाननेसे और उनके अभेद के विषय मे आत्यन्तिकरूप से अभिनिवेश–अध्यवसाय–दृढनिश्चय कर लेनेसे क्रोधादिरूप परपदार्थ और आत्मा इनमें संपूर्णतया भेद होनेपर भी उस संपूर्ण भेद को छिपाता है । परपदार्थ और आत्मा इनमें होनेवाले भेद को छिपाकर भाव्य बना हुआ अचेतन–अशुद्ध–चैतन्यान्वित क्रोधादिरूप परभाव और भावक बनी हुई चेतन अशुद्ध आत्मा इन दोनों का अभिव्यापक अधिकरणरूप एक आत्मा में हि अनुभव हो जानेसे–प्रत्यक्षज्ञान हो जानेसे वह सविकार उपयोग या आत्मा ' मैं क्रोध हूं अर्थात् क्रोध से अभिन्न हूं ' इसप्रकार का विपरीत निर्णयरूप परिणाम आत्मा में उत्पन्न करता है । उस विपरीत निर्णय के कारण आत्मा ' मैं क्रोध हूं अर्थात् क्रोध से भिन्न नहीं हूं ' इसप्रकार की भ्रांति के–मिथ्याज्ञान के कारण विकारसहित अर्थात् अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम के रूप से परिणत हो जाती है और जिस अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम के रूप से परिणत हो जाती है उस आत्मपरिणामभूत परिणाम का अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से उपादानकर्ता होती है और द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता होती है । इसप्रकार मानमायादिसूत्रों का विचार कर लेना चाहिये ।

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ धम्माई ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ९५ ॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिः ।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ– (**यः**) जो सामान्यत अज्ञानरूप होनेसे एकरूप और विशेषतः [त्रिविधः] मिथ्यादर्शन, अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान और अविरति अर्थात् मिथ्याचारित्र इनके रूप से त्रिविध बना हुआ [एषः उपयोगः] चैतन्य का अनुसरण करनेवाला आत्मा का परिणामभूत यह उपयोग [धर्मादिः (अहं)] ' मैं धर्मादि हूं अर्थात् धर्मादिद्रव्यों से अभिन्न हूं ' इसप्रकार का [आत्मविकल्पं] अपनी आत्मा के विषय में विपरीत निर्णय [करोति] कर लेता है [सः] वह उपयोग या आत्मा [तस्य] उस [आत्मभावस्य] अशुद्ध आत्मा के परिणामभूत [उपयोगस्य] ' मैं धर्मादिरूप हूं ' अर्थात् ' मैं धर्मादिद्रव्यों से अभिन्न हूं ' इस विकल्प के रूप से परिणत हुए सामान्यत. अज्ञानरूप होनेसे एकरूप और विशेषत. मिथ्यादर्शन, अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान और अविरति अर्थात् मिथ्याचारित्र इनके रूप से परिणत हुआ होनेसे तीन प्रकारवाले बने हुए उपयोग का [कर्ता] उपादानकर्ता होता है ।

['सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम्' इस उक्ति के अनुसार सूत्र सोपस्कार होनेसे इस गाथासूत्र में 'अह' इस पद का और 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' इस वचन के अनुसार 'जो (यः)' इस पद का ग्रहण किया गया है। जीव को जबतक वीतरागस्वसंवेदनरूप या शुद्धात्मसंवित्तिरूप ज्ञान नहीं होता तबतक उसके दर्शन, ज्ञान और चारित्र एक-प्रकार से मिथ्या कहे जा सकते है। जीव के जिस काल में प्रथमोपशमसम्यक्त्व या उपशमसम्यक्त्व प्रादुर्भूत होता है उस काल से आगेके काल में और वीतरागस्वसंवेदन की प्रादुर्भूति के पूर्वकाल में जबतक सरागता होती है तबतक जीव को शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता; क्यों कि रागभाव शुद्धात्मसंवित्ति का प्रतिबंधक होता है। उपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति होतेसमय सिर्फ सात प्रकृतियों के उदयरूप निमित्त का अभाव अर्थात् अनुदय-रूप निमित्त का सद्भाव होता है। उसीप्रकार शुद्धात्मसंवित्ति के प्रतिबन्धक अप्रत्याख्यानावरण का, प्रत्याख्यानावरण का और सज्वलन का तीव्र उदय होता है। इनके उदय में शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य पूर्ण ज्ञान नहीं होता। उस समय आत्मा का जो कुछ ज्ञान होना है वह उसके सिर्फ सामान्यांश का हि होता है-विशेषांश का नहीं। वस्तु के सामान्य और विशेष इन दोनों अंशों का ज्ञान होनेपर ही वस्तु के स्वरूप का ज्ञान पूर्णरूप से होता है-अन्यथा नहीं। वस्तु के विशेषों का जबतक ज्ञान नहीं होता तबतक ज्ञान के अंशभूत दर्शन और चारित्र अर्थात् आत्मस्वरूपविषयक दृढनिश्चय न होनेसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र अंशतः सम्यक् और अंशतः मिथ्या होनेसे शुद्ध-निश्चयनय की दृष्टि से मिथ्या हि है यह स्पष्ट हो जाता है। अतः शुद्धात्मसंवित्ति के बाद हि रत्नत्रय की यथार्थता की सिद्धि होती है-उसके पहले नहीं। साराश, वीतरागरत्नत्रय हि यथार्थ रत्नत्रय है, सरागरत्नत्रय नहीं, फिर भले हि वह परंपरासे मोक्ष का कारण बन जाता हो। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये की सरागरत्नत्रय के सर्वथा अभाव में भी वीतरागरत्नत्रय की या अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति होती है।]

आ. ख्या.- एष खलु सामान्येन अज्ञानरूपः मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपः त्रिविधः सविकारः चैतन्यपरिणामः परस्परं अविशेषदर्शनेन, अविशेषज्ञानेन अविशेषविरत्या च समस्तं भेदं अपह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः सामानाधिकरण्येन अनुभवनात् 'धर्मः अहम्, अधर्मः अहम्, आकाशं अहम्, कालः अहम्, पुद्गलः अहम्, जीवान्तरं अहम्' इति आत्मनः विकल्पं उत्पादयति। ततः अयं आत्मा 'धर्मः अहम्, अधर्मः अहम्, आकाशं अहम्, कालः अहम्, पुद्गलः अहम्, जीवान्तरं अहम्' इति भ्रान्त्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामस्वरूपस्य आत्मभावस्य कर्ता स्यात्। ततः स्थितं कर्तृत्वमूलं अज्ञानम्।

त. प्र.- एषोऽयं खलु परमार्थतः सामान्येन सामान्यतोऽज्ञानरूपो मोहाक्रान्तत्वाच्छुद्धात्मस्वरूप-निर्ज्ञानाभावरूपाज्ञानात्मक एकरूपोऽपि विशेषतो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपो मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्ररूपस्त्रिविधस्त्रिप्रकारस्त्रिभेदत्वमापन्नस्सविकारो विभावात्मकश्चैतन्यपरिणामश्चैतन्यानु-विधाय्युपयोगात्मक आत्मनः परिणामस्ततोऽभिन्नो वाऽऽत्मा परात्मनोर्धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवा-न्तरात्मकपरपदार्थस्यात्मद्रव्यस्य चाविशेषदर्शनेनानादेर्मोहाक्रान्तत्वादनादेरभ्यासादभेदावलोकनेन। आत्मनोऽनादेर्मोहनीयाख्यभ्रान्तिजननसमर्थकर्मणा बद्धत्वादात्मनो धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तरा-ख्यद्रव्यान्तराणां चाभेदस्य दर्शनादवलोकनादित्यर्थः। अविशेषज्ञानेनात्मनो धर्माणां चान्योन्यभेदो नास्तीति ज्ञानेन। परात्मनोरन्योन्याभिन्नत्वमस्तीति ज्ञात्वेत्यर्थः। अविशेषविरत्या चाभेदेऽत्यन्ताभि-निवेशेन। परात्मनोरभेदोऽस्त्येवेत्यात्यन्तिकेनाभिनिवेशेन दृढनिश्चयेनेत्यर्थः। परात्मनोरविशेषेऽभेदे

विशिष्टाऽऽत्यन्तिकी रतिरभिनिवेशो दृढनिश्चयोऽविशेषविरतिः । तया । अविशेषरत्येति कश्चित्पाठान्तरम् । तस्याविशेषेऽभेदेऽभिनिवेशेनेत्यर्थः । अस्मात्पाठादविशेषविरत्येति पाठस्साधीयान्, अभिनिवेशस्यात्यन्तिकत्वख्यापनार्थत्वात्तस्य । समस्त सम्पूर्णम् । अनेन परात्मनोस्साकल्येन भेदोऽस्तीति प्रतिपादितमवसेयम् । भेदमन्योन्यभिन्नत्वमपह्नुत्य सवार्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोर्धर्मादिद्रव्यात्मद्रव्ययोः । ज्ञेयभावमापन्नस्य धर्मादिद्रव्यस्य ज्ञायकभावभूतस्यात्मनश्चेत्यर्थः । सामानाधिकरण्येनैकाधिकरणत्वेन । आत्मद्रव्यात्मकाभिव्यापकरूपैकाधारत्वेनेत्यर्थं । समानमेकमधिकरणमभिव्यापक आधारो ययोस्तौ समानाधिकरणौ । तयोर्भावस्सामानाधिकरण्यम् । 'राजपत्यन्तगुणोक्ति–' इति ट्यण् । यत्रात्मनि चैतन्यसामान्यमनुभवगोचरीभवति तत्रैवात्मनि धर्मादिद्रव्य ज्ञानगोचरीभवतीति परात्मनोस्सामानाधिकरण्येनानुभवनम् । तस्मात्तथाविधानुभवनाद्धेतोः 'धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं पुद्गलोऽहं कालोऽहं जीवान्तरमहम्' इति धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तरेभ्यः पृथग्भूतो नास्मीत्येवप्रकारमात्मन आत्मनो विषये विकल्प विपरीत निर्णयमुत्पादयति जनयति । विपरीतः कल्पो निर्णयो विकल्पः । तम् । धर्मादिद्रव्याणामात्मनश्चान्योन्याभिन्नत्वेऽपि तेषामन्योन्याभिन्नत्वेन निश्चयो विपरीतः । त तादृश विपरीतं निश्चय जनयति । ततो यस्मात्कारणाद्विपरीत निश्चय जनयति तस्मात्कारणादयमात्माऽशुद्ध आत्मा 'धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवान्तरमहम्' इति 'धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तरेभ्यो भिन्नो नास्मि' इति भ्रान्त्या मोहाक्रमणजनितमिथ्यात्वेनात्मपरिणामेन [illegible] सोपाधिना कालमर्यादावच्छिन्नेन । अनित्यनेत्यर्थ । चैतन्यपरिणामेनानित्याशुद्धोपयोगात्मकचैतन्यपरिणामात्मकत्वेन परिणमन्परिणममानः । परात्मनोरेकत्वाध्यवसायरूपविभावभावात्मकत्वेन परिणममानस्तस्याशुद्धोपयोगाख्यस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामस्य कालमर्यादावच्छिन्नानित्याशुद्धचैतन्यपरिणामस्य विभावभावात्मकस्याशुद्धात्मपरिणामस्य कर्तोपादानकर्ता स्यात् [illegible] प्रतिभाति । ततस्तस्मादेवात्मनोऽज्ञानात्मकत्वादेव [illegible] सिद्ध कर्तृत्वमूल कर्तृत्वस्य कारणमज्ञानम् ।

टीकार्थ [illegible] ओर [illegible] मिथ्यादर्शन [illegible] ज्ञानरूप से त्रिविध अर्थात् तीन प्रकारवाला–तीन [illegible] सामान्य का विकारमय [illegible] उपयोग [illegible] धर्मादिस्वरूप ज्ञेयरूप परपदार्थ और आत्मा [illegible] से [illegible] अभेद [illegible] भेद को जाननेसे और अभेद के विषय में आत्यन्तिकरूप से [illegible] आसक्ति दृढनिश्चय [illegible] द्वारा [illegible] सम्पूर्ण भेद को [illegible] भेद को सम्पूर्णतया छिपाकर ज्ञेयज्ञायकभाव को प्राप्त हुए (धर्मादिद्रव्य) परपदार्थ और आत्मा इनका समानाधिकरणरूप से–एकाधिकरणरूप से अर्थात् एक हि अभिव्यापकरूप आधारभूत आत्मा में उनका अनुभव करनेसे मैं धर्म हूं अर्थात् धर्मद्रव्य से अभिन्न हूं, मैं अधर्म हूं अर्थात् अधर्मद्रव्य से अभिन्न हूं, मैं आकाश हूं अर्थात् आकाशद्रव्य से अभिन्न हूं मैं काल हूं अर्थात् कालद्रव्य से अभिन्न हूं, मैं पुद्गल हूं अर्थात् पुद्गलद्रव्य से अभिन्न हूं और मैं अन्यजीव हूं अर्थात् अन्य जीवद्रव्य से अभिन्न हूं ' इसप्रकार आत्मा के विषय में विपरीत कल्पना को–निश्चय को–निश्चयरूप परिणाम को उत्पन्न करता है इसकारण यह मैं धर्म हूं मैं अधर्म हूं, मैं आकाश हूं, मैं काल हूं, मैं पुद्गल हूं और मैं अन्य जीव हूं ' इसप्रकार भ्रान्तिवश होकर आत्मा चैतन्य के उपाधिसहितकाल–मर्यादावच्छिन्न–अनित्य या अशुद्ध परिणाम के रूप से परिणत होती हुई उस चैतन्य के उपाधिसहित–अनित्य परिणामरूप (अशुद्ध) आत्मा के परिणाम का कर्ता–उपादानकर्ता होती है । [सप्त प्रकृति के उदय की दृष्टि से ' मिथ्या इस शब्द के रूढ अर्थ का ग्रहण और शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान की दृष्टि से ' असम्यक् ' इस अर्थ का ग्रहण अभीष्ट है] इससे आत्मा के कर्तृत्व का कारण उसका अज्ञानभाव है यह युक्ति से सिद्ध हुआ ।

विवेचन- उपयोग चैतन्य का अनुसरण करनेवाला आत्मा का परिणाम है। यह संसारी आत्मा का अनादि-काल से कर्मबद्ध हुई होनेसे उपयोग सविकार-विकारसहित-अशुद्ध बना हुआ है अर्थात् अज्ञानरूप से परिणत हुआ है। अज्ञानरूप से परिणत हुआ होनेसे चैतन्य का वह उपयोगरूप परिणाम सामान्यतः एकरूप है और विशेषतः मिथ्यादर्शन अज्ञान-मिथ्याज्ञान और अविरति-मिथ्याचारित्र इनके रूप से तीन प्रकार का बना हुआ है। यह चैतन्य का उपयोग रूप विकारसहित परिणाम अनादिकाल से चले आये कर्मबंध के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्यजीव ये परपदार्थ और आत्मा इनमें अनादिकाल से चले आये मोहनीयोदयनिमित्तक अज्ञान के कारण अभेद को देखनेसे, अभेद को जाननेसे और इनके अभेद के विषय में आत्यंतिकरूप से अभिनिवेश-अध्यवसाय-दृढनिश्चय कर लेनेसे परपदार्थ और आत्मा इनमें पूर्णतया भेद होनेपर भी उस संपूर्ण भेद को छिपाता है। [यह आत्मा अना-दिकाल से मोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से अज्ञानी बनी हुई है। इस अज्ञान के कारण आत्मस्वरूप का उसे संपूर्ण ज्ञान न होनेसे आत्मा के परपदार्थव्यावर्तक असाधारणधर्म के ज्ञान के अभाव के कारण परपदार्थ और आत्मा इनमें वस्तुतः भेद होनेपर भी उस भेद को यह आत्मा देखती और जानती नहीं और उनके भेद के विषय में दृढनिश्चय भी नहीं करती; प्रत्युत अनादिकाल से चले आये अभ्यास के कारण स्वपरपदार्थों को अभिन्न देखती है और जानती है इतना हि नहीं अपि तु उनको अभिन्नता के विषय में दृढनिश्चय भी कर लेती है। इससे उनमें होनेवाला वास्तव भेद उसकी दृष्टि में प्रच्छादित हो जाता है।] परपदार्थ और आत्मा इनमें होनेवाले संपूर्ण भेद को पूर्णतया छिपा-कर ज्ञेय बने हुए धर्मादिद्रव्यरूप परभाव का ज्ञान और ज्ञायक आत्मा इनका अभिव्यापक एक अधिकरणरूप एक आत्मा में हि अनुभव हो जानेसे-प्रत्यक्षज्ञान हो जानेसे वह सविकार उपयोग या अशुद्ध आत्मा 'मैं धर्मादिद्रव्यरूप हूं अर्थात् धर्मादिद्रव्यों से अभिन्न हूं' इसप्रकार के विपरीतनिर्णयरूप परिणाम के रूप से अपनेको परिणत करती है। उस विपरीत निर्णय के कारण आत्मा 'मैं धर्मादिद्रव्यरूप हूं अर्थात् धर्मादिरूप द्रव्यों से भिन्न नहीं हूं' इसप्रकार की भ्रांति के-मिथ्याज्ञान के कारण अनित्य और अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम के रूप से परिणत हो जाती है और जिस अज्ञानरूप और अनित्य चैतन्यपरिणाम के रूप में परिणत हो जाती है उस आत्मस्वात्मक परिणाम का अशुद्धनिश्चय-नय की दृष्टि में उपादानकर्ता होती है। इसमें आत्मा का परभावों के विषय में जो कर्तृत्व दिखाई देता है उसका कारण है आत्मा का अज्ञानभाव यह युक्ति से सिद्ध हो गया।

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धी उ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥ ९६ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मन्दबुद्धिस्तु।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ- (**एव**) इसप्रकार अर्थात् पूर्वगाथाद्वयोक्तप्रकार मे (**मन्दबुद्धिः तु**) जिसको निर्विकल्पसमाधिरूप भेदज्ञान नही हुआ अर्थात् जिसको स्वपरपदार्थों मे होनेवाले भेद का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ ऐसा जीव ही (**अज्ञानभावेन**) शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञानरूप से परिणत हो जानके कारण (**पराणि द्रव्याणि**) भावकर्मरूप, द्रव्यकर्मरूप और धर्मादिद्रव्यरूप परद्रव्यो को (**आत्मानं**) शुद्ध आत्मरूप अर्थात् शुद्ध आत्मा से अभिन्नरूप-शुद्ध आत्मा के साथ एकरूप (**करोति**) जानती है-अनु-भव करती है-उनके एकरूपता के विषय में दृढ निश्चय करती है (**अपि च**) और (**आत्मानं**) शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा को (**परं**) भावद्रव्यकर्मरूप और धर्मादिद्रव्यरूप (**करोति**) जानती है-अनुभव करती है-परद्रव्यों के साथ एकरूपता के विषय मे दृढनिश्चय करती है।

आ. ख्या.– यत् किल 'क्रोधः अहम्' इत्यादिवत् 'धर्मः अहम्' इत्यादिवत् च परद्रव्याणि आत्मीकरोति आत्मानं अपि परद्रव्यीकरोति एवं आत्मा, तत् अयं अशेषवस्तुसम्बन्धविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयः अपि अज्ञानात् एव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्य आत्मभावस्य कर्ता प्रतिभाति । इति आत्मनः भूताविष्टध्यानाविष्टस्य इव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलं अज्ञानम् । तथाहि–यथा खलु भूताविष्ट अज्ञानात् भूतात्मानौ एकीकुर्वन् अमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टम्भनिर्भरभयङ्कारारम्भगम्भीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथा अयं आत्मा अपि अज्ञानात् एव भाव्यभावकौ परात्मानौ एकीकुर्वन् अविकारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरम्बितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । यथा च अपरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चित् महिषध्यानाविष्टः अज्ञानात् महिषात्मानौ एकीकुर्वन् आत्मनि अभ्रंकषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात् प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथा अयं आत्मा अपि अज्ञानात् ज्ञेयज्ञायकौ परात्मनौ एकीकुर्वन् आत्मनि परद्रव्याध्यासात् नोइन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथा इन्द्रियविषयीकृतरूपिपदार्थांतरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्च्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ।

त. प्र.– यद्यस्मात्कारणात्किल परमार्थत. 'क्रोधोऽहम्–क्रोधादभिन्नोऽहम्' इत्यादिवत् 'धर्मोऽहम्–धर्मादभिन्नोऽहम्' इत्यादिवच्च परद्रव्याणि भावकर्मद्रव्यकर्मरूपाणि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तररूपाणि चात्मनो भिन्नानि सर्वथा द्रव्याण्यात्मीकरोत्यत्यन्तमनात्मीयान्यप्यात्मीयानि करोति जानात्यनुभवति तयोरेकत्वमधिकृत्य दृढ निश्चयं करोति चात्मानमपि परद्रव्यीकरोत्यात्मनः परद्रव्यत्वाभावेऽपि तं परद्रव्यत्वेन जानात्यनुभवति तत्परद्रव्यत्वमधिकृत्य दृढं निश्चय करोति च । एव पूर्वगाथाद्वयोक्तप्रकारेणात्मा, तत्तस्मात्कारणादयमात्माऽशेषवस्तुसम्बन्धविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोऽपि निखिलवस्तुजातसम्बन्धविकलनित्यात्यन्तशुद्धचैतन्यसारमयोऽपि । अशेषाणां वस्तूनां सम्बन्धेन संयोगादिसम्बन्धेन विधुर विकलमशेषवस्तुसम्बन्धविधुरम । निरवधि पूर्वोत्तरकालमर्यादयोर्निष्क्रान्तम् । नित्यमनादिनिधनमित्यर्थः । अशेषवस्तुसम्बन्धविधुरं च तन्निरवधि च । विशुद्ध विशेषेण नितरां शुद्धम् । तच्च तद्विशुद्ध च । तच्च तच्चैतन्य च । तदेव धातुस्सारः । तन्मयः । अज्ञानादेव वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावरूपाच्छुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपान्निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानभावरूपाद्वात्मनो विभावपरिणामादेव । सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया विकारसहितपूर्वोत्तरकालमर्यादावच्छिन्नाशुद्धोपयोगात्मकचैतन्यपरिणामत्वेन । सविकारः कर्मोदयनिमित्तजनितविकारसहितश्चासौ सोपाधीकृतश्च पूर्वोत्तरकालमर्यादावच्छिन्नः सविकारसोपाधीकृतः । पूर्वोत्तरकालमर्यादावच्छिन्नः परिणामो विनश्वरो भवति । सविकारसोपाधीकृतश्चैतन्यपरिणामो यस्य स सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामः । तस्य भावः सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामता । तया । तथाविधस्य सविकारसोपाधीकृतस्यात्मभावस्यात्मप–

रिणामस्य कर्तोपादानकर्ता प्रतिभात्याभासते। इत्यमुना प्रकारेणात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव व्यन्तरविशेषाक्रान्तध्यानैकतानस्येव। भूतो व्यन्तरविशेषः। तेनाक्रान्तो भूताविष्टः। ध्यानेन महिष-रूपैकाग्रचिन्तानिरोधस्वरूपध्यानेनाविष्ट आक्रान्तमनस्कारः। 'महिषोऽहम्' इति ध्यानैकतान इत्यर्थः। भूताविष्टध्यानाविष्टपुरुषस्येवेति भावः। प्रतिष्ठितं प्रमाणनयनिक्षेपैः प्रतिष्ठां सिद्धिमितं प्रतिष्ठितम्। प्रतिष्ठा सिद्धिः सञ्जाताऽस्य प्रतिष्ठितम्। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतः' इतीतः। प्रमाणादि-सिद्धमित्यर्थः। कर्तृत्वमूलं कर्तृत्वकारणम्। कर्तृत्वस्य मूलमुपादानकारणमज्ञानं वीतरागस्वसंवेदनज्ञाना-भावरूपं शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानाभावरूपं वाऽज्ञानम्। तथाहि तदेवोपपादयति-यथा येन प्रकारेण भूताविष्टो व्यन्तरविशेषाक्रान्तोऽज्ञानाच्छुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपादज्ञाना-द्भूतात्मानौ व्यन्तरविज्ञानघनस्वभावशुद्धात्मानावेकीकुर्वन्स्वभावभेदादन्योन्यभिन्नावप्यभिन्नौ कुर्वञ्जा-नन्ननुभवंश्चामानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टम्भनिर्भरभयङ्करारम्भगम्भीरामानुषव्यवहारतया मनुष्यानु-चितासाधारणचेष्टापरिष्वङ्गात्यन्तभयङ्करकृत्यानाकलनीयामानुषकर्मत्वेन। मानुषाद्भिन्नोऽमानुषः। तस्योचिता योग्याः। मानुषानुचिता इत्यर्थः। ताश्च ता विशिष्टा असाधारणाश्चेष्टाः क्रियाः। तासा-मवष्टम्भोऽवगुण्ठनं परिष्वङ्गः तेन निर्भरमत्यर्थं भयङ्करो भयजनको य आरम्भः कृत्य तेन गम्भीरो-ऽनाकलनीयोऽमानुषोऽतिमानुषो व्यवहारः कर्म यस्य सः। तस्य भावः। तया। तथाविधस्य भूतात्म-द्वयैकीकरणरूपस्यात्मपरिणामस्य कर्तोपादानकर्ता प्रतिभात्याभासते तथा तेन प्रकारेणायमात्माप्यज्ञाना-देव शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपादज्ञानादेव भाव्यभावकौ क्रोधाद्यशुद्धात्मानौ। भाव्यः क्रोधादिपरिणामो भावकश्च शुद्धात्मानुभूतिमात्ररूपपरिणामजनकश्च भाव्यभावकौ। परात्मानौ भावक्रोधादिशुद्धात्मानौ। परश्च भावक्रोधादिरात्मा च शुद्ध आत्मा परात्मानौ। एकीकुर्वन्ननेकौ भिन्नावप्येकावभिन्नौ कुर्वन्नवि-कारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरम्बितचैतन्यपरिणामविकारतया निर्विका-रानुभवमात्रजनकानुचितनानाविधाशुद्धात्मजन्यक्रोधादिविकारसङ्कुलीकृतचैतन्यपरिणामविकारत्वेन। अविकारा निर्विकारा विभावभावशून्या चासावनुभूतिश्चाविकारानुभूतिः। अविकारानुभूतिरेवाविका-रानुभूतिमात्रम्। तस्य भावको जनकः। वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसम्पन्न आत्मेत्यर्थः। तस्यानुचिता अयोग्याः। विचित्रा नानाविधाः। ते च ते भाव्या अशुद्धात्मजन्याश्च। द्रव्यकर्मोदयात्मकनिमित्तेनात्मनो भाव्या जन्या इत्यर्थः। अनुचिताश्च ते विचित्राश्च। ते च ते भाव्याश्चानुचितविचित्रभाव्याः। ते च ते क्रोधादिविकाराश्च। तैः करम्बितास्सङ्कुलीकृता मिश्रिताश्चैतन्यपरिणामस्योपयोगस्य विकारा यस्य भावस्य सः। तस्य भावः। तया। तथाविधस्य परात्मैकीकरणस्य भावस्यात्मपरिणामस्य कर्तोपादान-कर्ता प्रतिभात्याभासते। यथा येन प्रकारेण वाऽथवाऽपरीक्षकाचार्यादेशेनानालोच्याभिधायिन आचा-र्यस्यादेशेनाध्यापनेन बोधनेन मुग्धो मोहाक्रान्तोऽज्ञातशुद्धात्मस्वरूपः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टो महिषो-ऽहमिति ध्यान एकतानोऽज्ञानाच्छुद्धात्मस्वरूपज्ञानाभावान्महिषात्मानौ महिषस्वशुद्धात्मानावेकीकुर्वन्भि-न्नावपि तावभिन्नौ जानन्ननुभवंश्चात्मनि शुद्धात्मन्यभ्रङ्कषविषाणमहामहिषत्वाध्यासाद्गगनचुम्बिशृङ्-गमहामहिषाध्यारोपात्। अभ्रङ्कषौ गगनचुम्बिनौ मेघसङ्घर्षिणौ वा विषाणौ शृङ्गे यस्य सोऽभ्रङ्कषविषाणः। 'कूलाभ्रकरीषे कषः' इत्यभ्रे वाचि कषेः खश्। महांश्चासौ महिषश्च महामहिषः। 'आङ्महतो जातीये च' इत्याङ्महतः। अभ्रङ्कषविषाणश्चासौ महामहिषश्चाभ्रङ्कष-विषाणमहामहिषः। तस्याध्यासोऽध्यारोपः। तस्माद्धेतोः। प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणतया

विनष्टमानवोचितगृहद्वारविनिस्सरणयोग्यत्वेन । मानुषोचितं मनुष्यार्हमपवरकद्वारं गृहद्वारम् । ततो विनिस्सरणं बहिर्निर्गमनम् । प्रच्युतं मानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणं यस्मात्सः । तस्य भावः । तया । तथाविधस्य 'महिषोऽहम्' इत्येवम्प्रकारेण महिषात्मैकीकरणप्रकारकस्य भावस्यात्मपरिणामस्य कर्तो–पादानकर्ता प्रतिभात्याभासते । तथा तेन प्रकारेणायमात्माप्यज्ञानाच्छुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपादज्ञानाज्ज्ञे–यज्ञायकभावापन्नौ परात्मानौ धर्मादिद्रव्यात्मानावेकीकुर्वन्ननेकावपि भिन्नावप्येकावभिन्नौ कुर्वञ्जानन्ननु-भवंश्चात्मनि परद्रव्याध्यासाद्धर्मादिद्रव्याध्यारोपान्नोइन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्त–रविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया महिषध्याननिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुवन्मनोविषयीकृतधर्मादिद्रव्यान्तरनिरुद्धशु–द्धचैतन्यसारत्वेन। नोइन्द्रियेण मनसा विषयीकृतानि च तानि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तराणि च। तैर्निरुद्धः प्रतिबद्धः शुद्धचैतन्यधातुर्यस्य सः । तस्य भावः । तया। तथा तेन प्रकारेणेन्द्रियविषयीकृतरूपि–पदार्थतिरोहितकेवलबोधतयेन्द्रियविषयीकृतरूपरूपासाधारणधर्मावच्छिन्नपदार्थतिरोभूतशुद्धबोधत्वेन । इन्द्रियैर्विषयीकृता इन्द्रियविषयीकृताः । ते च ते रूपिणो रूपासाधारणधर्मावच्छिन्नाः पदार्था मूर्तिमन्तः पुद्गलाश्च । तैर्हेतुभूतैस्तिरोहितस्तिरोभूत. केवलबोधश्शुद्धज्ञानं यस्य सः । तस्य भावः । तया । मृतक-कलेवरमूर्च्छितपरमामृतविज्ञानघनतयाऽचेतनशरीरसंवृतपरमामृतविज्ञानघनत्वेन । मृतमिव मृतकम् । 'इवे लुप्रतिकृत्योः कः' इतीवार्थे कः । यथा मृतपुरुषकलेवर चैतन्यविकलं तथा जीवत्पुरुषशरीरमपि, शरीरस्याचेतनपुद्गलोपादानकत्वात् । ततो जीवन्मृतपुरुषकलेवरयोरचेतनत्वात्तुल्यत्वम् । तेन मृतकक-लेवरमित्यस्याचेतनकलेवरमित्यर्थः । मृतकलेवरेणाचेतनशरीरेण मूर्च्छित सवृतं च तत्परममृतममृतसदृ-शमनन्तसुखोत्पादकत्वादमृतमविनश्वरं वा विज्ञान च । मृतककलेवरमूर्च्छितः परमामृतविज्ञानस्य घनो राशिः पुञ्जो यस्य सः । तस्य भावः । तया । तथाविधस्य ज्ञेयज्ञायकरूपपरात्मैकीभावभावकस्य भावस्यात्मपरिणामस्य कर्तोपादानकर्ता प्रतिभात्याभासते ।

टीकार्थ– जब अशुद्ध आत्मा 'मैं परमार्थत. क्रोध हूं अर्थात् क्रोध मैं–क्रोधरूप विभावभावरूप परिणाम से अभिन्न हूं' इत्यादि के समान और 'मैं परमार्थत धर्म (धर्मद्रव्य) हूं अर्थात धर्मद्रव्य से अभिन्न हूं' इत्यादि के समान (अशुद्ध) आत्मा (क्रोधादिरूप और धर्मादिरूप) परद्रव्यों को वे (परमार्थत) शुद्धात्मरूप न होनेपर भी शुद्धात्मरूप समझती है–अनुभव करता है और (शुद्ध) आत्मा को वह (परमार्थतः क्रोधरूप और धर्मादिरूप) परद्रव्यरूप न होनेपर भी परद्रव्यरूप समझती है–अनुभव करती है, तब यह (अशुद्ध अज्ञानी) आत्मा समस्त पदार्थों के संबंध से रहित, अनाद्यनन्त और विशुद्ध ऐसे चैतन्यरूप सार से युक्त होते हुए भी शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान से ही विकारसहित और सोपाधिक किये गये अर्थात् अनित्य ऐसे चैतन्य के उपयोगात्मकपरिणामरूप होनेसे उसप्रकार के अर्थात् सविकार और अनित्य ऐसे परपदार्थ और आत्मा इनको एकरूप–अभिन्न समझनारूप परिणाम का कर्ता–उपादानकर्ता दिखाई देती है । इसप्रकार भूतबाधा से युक्त और ध्यानमग्न पुरुष के समान आत्मा के कर्तृत्व का मूलकारण–उपादानकारण अज्ञान है यह सिद्ध हुआ । उसीका खुलासा–जिसप्रकार भूताविष्ट पुरुष अपनी आत्मा और व्यंतरविशेषरूप भूत इनमें परस्पर भेद होनेपर भी अपनेको और भूत को अज्ञान के कारण एकरूप-अभिन्नरूप जानता हुआ–अनुभव करता हुआ मनुष्यजीव के अनुचित–अयोग्य–असभाव्य विशेषप्रकार की चेष्टाओं का–क्रिया–ओं का अवलंब करनेसे अत्यंत भयंकर कृत्यों के कारण अनाकलनीय अमानुष (मनुष्य के अनुचित) व्यवहारवाला होनेसे उसप्रकार के अर्थात् भूत और अपनी आत्मा इन दोनों की अभिन्नता के बोधक और अमानुषोचित क्रियारूप परिणाम का कर्ता दिखाई देता है, उसीप्रकार यह (अशुद्ध) आत्मा भी शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान से ही भाव्यरूप परपदार्थ और भावकरूप (शुद्ध) आत्मा इन दोनों को एकरूप बनानेवाली, निर्विकार अर्थात् शुद्ध अनु–भूतिमात्ररूप परिणाम को उत्पन्न करनेवाली (शुद्ध) आत्मा के अनुचित–अयोग्य नाना प्रकार के अशुद्ध आत्मा के

द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले और अनुभव करनेके योग्य ऐसे क्रोधादिरूप विकारों से मिश्रित-संयुक्त चैतन्य के उपयोगरूपपरिणाम की विकाररूप बनी हुई होनेसे चैतन्य के क्रोधादियुक्त परिणाम का कर्ता–उपादानकर्ता प्रतिभासित होती है–दिखाई देती है । अथवा–जिसप्रकार वस्तुस्वरूप का परीक्षण न करनेवाले आचार्य के–गुरु के उपदेश से कोई मूढ पुरुष ' मै भैंसा हूं ' इसप्रकार के ध्यान में मग्न होता हुआ अज्ञान के कारण भैंसे को और अपनेको एक करता हुआ–जानता हुआ–अनुभव करता हुआ अपनी आत्मा के ऊपर बादलों को स्पर्श करनेवाले सींग है जिसके ऐसे बडे भारी भैंसे के स्वरूप का अध्यारोप करनेसे मनुष्य के योग्य मकान के द्वार में से बाहर निकल जानेकी योग्यता नष्ट हो जानेसे भैंसा और आत्मा ये दोनों अभिन्न–एकरूप हैं इसप्रकार के (मानस) परिणाम का कर्ता–उपादानकर्ता दिखाई देता है, उसीप्रकार यह (अज्ञानी) आत्मा भी शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान से ज्ञेयरूप धर्मद्रव्यादि–परपदार्थ और ज्ञायकरूप आत्मपदार्थ परमार्थतः परस्परभिन्न होनेपर भी उनको एकरूप–अभिन्न समझनेवाली–अनुभव करनेवाली, अपनी आत्मा के ऊपर परद्रव्य के स्वरूप का अध्यारोप करनेसे नो-इंद्रिय अर्थात् मन के द्वारा अपने विषय बनाये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्यजीव इनके द्वारा आत्मा के सार–सर्वस्वभूत शुद्ध चैतन्य का निरोध–तिरोभाव–प्रच्छादितपना हो जानेसे और इंद्रियों के द्वारा अपने विषय बनाये गये रूपी अर्थात् पुद्गलरूप पदार्थों के द्वारा केवल अर्थात् शुद्ध ज्ञान प्रच्छादित किया गया होनेसे और अचेतन शरीर के कारण परम अमृतरूप या अविनश्वर विज्ञान का पुंज प्रच्छादित हुआ होनेसे ' उसप्रकार के धर्मादिद्रव्यरूप परपदार्थ और (शुद्ध और अशुद्ध) आत्मा इनमें भेद नहीं है ' इसप्रकार के परिणाम का कर्ता–उपादानकर्ता दिखाई देती है ।

विवेचन– ' मै क्रोध हूं–क्रोधरूप विभावपरिणाम से अभिन्न हू और क्रोधरूप परिणाम मेरी आत्मा से भिन्न नहीं है-एकरूप है ' इसप्रकार ससारी आत्मा मानती है । इसीप्रकार ' मै धर्मद्रव्य हू-धर्मद्रव्य से मै अभिन्न हूं और धर्मद्रव्य मेरी आत्मा से भिन्न नहीं है-एकरूप है ' इसप्रकार भी आत्मा मानती है । दोनों प्रकार की यह मान्यता आत्मा के विभावपरिणामरूप है । इन विभावपरिणामों का आत्मा उपादानकर्ता है। इन विभावपरिणामों का आत्मा जो उपादानकर्ता होती है उसका कारण है आत्मा की अज्ञानरूप परिणति । यह परिणति संपूर्ण वस्तुओं के संबध से रहित, अनन्त और विशुद्ध चैतन्य के उपयोगरूप परिणाम के विकारसहित और सान्त परिणामरूप है । आत्मा को शुद्ध आत्मा के स्वरूप का पूर्णरूप से ज्ञान न होनेसे आत्मा विभावभावरूप मे परिणत होती है । वस्तुतः संपूर्ण वस्तुओं के संबध से रहित, अनन्त और विशुद्ध चैतन्य शुद्ध आत्मा का सार-सर्वस्व है । ऐसा होते हुए भी अनादि–काल से यह आत्मा कर्मबद्ध हुई होनेसे अज्ञानरूप मे परिणत हुई होनेके कारण उसे शुद्ध आत्मा के शुद्धस्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं होता और पूर्ण ज्ञान न होनेसे वह विभावरूप मे परिणत होता है । जिस आत्मा को शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति हो जानेसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का पूर्णरूप से ज्ञान होता है वह आत्मा विभावरूप से परिणत नहीं होती और परभावों को आत्मरूप और शुद्ध आत्मा को पररूप नहीं समझती अर्थात् आत्मा और परभावों को एकरूप नहीं समझती । जिसको भूतबाधा हुई है और जो ' मै भैंसा हू ' इसप्रकार के ध्यान मे निमग्न होता है ऐसा पुरुष जिसप्रकार भूत और अपनी आत्मा को और महिष और अपनी आत्मा को अज्ञान के कारण एकरूप समझता है उसीप्रकार आत्मा भावक्रोधादिरूप और धर्मद्रव्यादिरूप परपदार्थ और आत्मा इनमें परमार्थतः भेद होनेपर भी इनको अभिन्न समझता है; क्या कि ऐसी आत्मा को शुद्ध आत्मा के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नही होता । इसप्रकार ' क्रोधादिरूप विभावभाव और धर्मादिद्रव्य आत्मरूप है-आत्मा से भिन्न नहीं है ' इसप्रकार के विचाररूप परिणामों का उपादानकर्ता होनेका कारण आत्मा का अज्ञानभाव है–आत्मा को शुद्ध आत्मस्वरूप का पूर्ण ज्ञान न होना है यह युक्ति से सिद्ध हो गया है ।

खुलासा– जिसको भूतबाधा हुई होती है ऐसा पुरुष भूतरूप परद्रव्य और आत्मा इनको एकरूप समझता है । वह भूताविष्ट पुरुष ऐसी भयकर चेष्टाए करता है कि जो मनुष्य कर ही नहीं सकता । फिर भी ऐसी अना–कलनीय चेष्टाएं भूत के द्वारा की जानेवाली होनेपर भी वे चेष्टाएँ पुरुष द्वारा ही की जाती है ऐसा देखनेवाले को भी जंचता है । इसका अर्थ यह है कि देखनेवाले भी अज्ञानी होनेसे भूत को आत्मा समझकर भूतकृत चेष्टाओं

को पृथक्कृत समझ बैठते हैं। यह उनके अज्ञानभाव का ही परिणाम है। जिस आत्मा को शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य पूर्ण ज्ञान नहीं होता अर्थात् उसके साधारण और असाधारण धर्मों का ज्ञान नहीं होता ऐसी यह आत्मा शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान से ही भाव्यरूप क्रोधादिविभावात्मक परद्रव्य और कर्मबंध के कारण अज्ञानी बनी हुई (निश्चयनय की दृष्टि से) शुद्ध आत्मा जो शुद्धात्मस्वरूप की अनुभवनक्रियारूप परिणाम को उत्पन्न करनेवाली होनेसे भावक बनी हुई है–इनमें परमार्थतः भेद होनेपर भी इन दोनों को एकरूप–अभिन्न समझती है–उनकी अभिन्नता का अनुभव करती है। क्रोधादिरूप परभाव और शुद्ध आत्मा इनको एकरूप समझनेका जो भाव–मानस परिणाम होता है वह भाव विकाररहित अर्थात् शुद्ध अनुभूतिमात्ररूप परिणाम को उत्पन्न करनेवाली शुद्ध आत्मा के अयोग्य ऐसे नानाविध अशुद्धात्मजन्य क्रोधादिरूप विकारों से मिश्रित चैतन्यरूप परिणाम का विकाररूप होता है। [यहां भाव्यशब्द से अशुद्ध आत्मा के द्वारा अपने उदयरूप से उत्पन्न किये जानेवाले भावक्रोधादि का ग्रहण अभीष्ट है और भावकशब्द से शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूतिमात्ररूप परिणाम को उत्पन्न करनेवाली शुद्ध आत्मा का ग्रहण अभीष्ट है। यदि भाव्यशब्द से उनके द्वारा ग्राह्य भावक्रोधादिरूप विभावपरिणामों के उपादानकारणभूत अशुद्ध आत्मा का ग्रहण किया तो भाव्यरूप क्रोधादिभावों का अशुद्ध आत्मद्रव्य से भिन्नत्व सिद्ध नहीं होगा और उनका अशुद्ध आत्मद्रव्य से भिन्नत्व सिद्ध न होनेसे परत्व भी सिद्ध नहीं होगा; क्यों कि क्रोधादिरूप विभावभावों में अशुद्ध आत्मा के अशुद्ध चैतन्य का अन्वय पाया जानेसे दोनो एकजातीय होनेसे और परिणाम–परिणामी में तादात्म्य होनेसे क्रोधादिभाव और अशुद्ध आत्मा इनमें भेद नहीं होता। क्रोधादिभावों में शुद्धचैतन्य का अन्वय न होनेसे दोनों विजातीय होनेसे और क्रोधादिभाव और शुद्ध आत्मा इनमें परिणामपरिणामिभाव न होनेसे शुद्ध आत्मा की दृष्टि से क्रोधादिभाव पररूप है। 'अविकारानुभूतिमात्र–' इस सामासिकपद में भी आत्मानुभूतिमात्ररूप परिणाम को उत्पन्न करनेवाली आत्मा को भावक और क्रोधादिविकारों को भाव्य कहा है। क्रोधादि परिणाम अशुद्धात्मोपादानक होते हे और शुद्धात्मानुभवनक्रियारूप परिणाम शुद्धात्मोपादानक होते हे। अतः भावकशब्द से शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना युक्तिसंगत सिद्ध होता है।] वह क्रोधादिरूप परिणाम और शुद्ध आत्मा इनमें भेद होनेसे शुद्ध आत्मा की दृष्टि से क्रोधादिभाव पर है। जब यह अशुद्ध आत्मा क्रोधादिरूप विभावभाव के रूप से परिणत होती है तब उस विभावभाव का उपादानकर्ता शुद्ध आत्मा ही है ऐसा अज्ञानी जीव को जचता है और उन दोनों की एकरूपता के विषय में अज्ञानी जीव दृढनिश्चय करता है। यह उनका प्रतिभास और दृढनिश्चय मिथ्या है, क्यों कि अन्योन्यभिन्न दो पदार्थ एकरूप–अभिन्न कदापि हो नहीं सकते। प्रमाणनयनिक्षेपों के द्वारा वस्तुस्वरूप का निर्णय न करनेवाले किसी आचार्य का उपदेश मिलनेपर मूढ–मोही जीव 'मैं भैंसा हूं' इसप्रकार का ध्यान करने लग जाता है। और उस महिषध्यान में इतना तन्मय हो जाता है कि वह अपने मनुष्यत्व को भूलकर अपनेको भैंसा समझने लग जाता है–भैंसे को और अपनेको एकरूप–अभिन्न समझ बैठता है। वह अपनेको मेघमाला को स्पर्श करनेवाले सींगोंसहित बडा भारी भैंसा समझ लेता है। वह ऐसा समझने लगता है–मेरे सींग और कलेवर इतने बडे हैं कि मैं इस मकान के द्वार के बाहर नहीं निकल सकता हूं। ऐसे महिषध्यान में मग्न होनेपर भी उसका मनुष्याकार महिषाकार के रूप से परिणत हुआ नहीं होता। ऐसा होते हुए भी वह अपनेको महामहिष के आकारवाला समझते हि रहता है। उस पुरुष के महिषध्यानरूप परिणाम का आविर्भाव अज्ञान से ही होता है। इस प्रकार के उसके अज्ञानोपादानक परिणाम का वह उपादानकर्ता दिखाई देता है। वस्तुतः उसका यह कर्तृत्व अज्ञानरूपपरिणामकारणक है–शुद्धात्मकारणक नहीं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्यजीव ज्ञेय है और शुद्ध आत्मा ज्ञायक है। ज्ञायक आत्मा चेतन होनेसे और धर्मादिद्रव्य अचेतन होनेसे वे चेतन आत्मा से भिन्न है। ऐसा होनेपर भी आत्मा शुद्ध आत्मा के स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के अभावरूप अज्ञान से धर्मादिरूप अचेतन परद्रव्य और शुद्ध आत्मा इनको एकरूप–अन्योन्याभिन्न समझती है और उसप्रकार का दृढनिश्चय भी करती है। शुद्ध आत्मा के ऊपर परद्रव्य का अध्यारोप करनेसे आत्मा परद्रव्य और आत्मा इनको एकरूप समझने का जो मानसपरिणाम उसका उपादानकर्ता दिखाई देती है। अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव इनको मन का विषय बनाने से आत्मा का शुद्धचैतन्य तिरोहित–

प्रच्छादित हो जानेसे रूपिपदार्थोंको इंद्रियों के विषय बनाने से उसका शुद्ध ज्ञान तिरोहित हो जानेसे और अचेतन शरीर के द्वारा परम अमृतरूप या अविनश्वर विज्ञानघन संवृत हो जानेसे अज्ञानी बनी हुई आत्मा परपदार्थ और आत्मा इनको एकरूप बनानेवाले आत्मपरिणाम का उपादानकर्ता दिखाई देती है।

अधिक स्पष्टता के लिये नीचे तात्पर्यवृत्तिका कुछ अश उद्धृत किया जाता है–

'हे भगवन्! 'धर्मास्तिकायोऽयं, जीवोऽयम्' इत्यादिज्ञेयतत्त्वविचारविकल्पे क्रियमाणे यदि कर्मबन्धो भवतीति, तर्हि ज्ञेयतत्त्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः। नैवं वक्तव्यम्। त्रिगुप्तिपरिणतनिर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया तु मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवञ्चनार्थं कर्तव्यः। तेन तत्त्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाण च भवतीति नास्ति दोषः। किन्तु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मा साक्षादुपादेयः कर्तव्यः इति ज्ञातव्यम्। ननु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानविचारकाले वीतरागविशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः? किं सरागमपि स्वसंवेदनज्ञानमस्तीति? अत्रोत्तर–विषयसुखानुभवानन्दरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखानुभूतिरूप स्वसंवेदनज्ञान वीतरागमिति।

[स. सा. गा. ९६, तात्पर्यवृत्तिः]

हे भगवन्! 'यह धर्मास्तिकाय है' 'यह जीव है' इत्यादि ज्ञेयतत्त्व का विचाररूप विकल्प जब किया जाता है तब यदि कर्मबंध होता है तो ज्ञेयतत्त्वों का विचार करना व्यर्थ होनेसे ज्ञेयतत्त्वों का विचार नहीं करना चाहिये। ऐसा नहीं कहना। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इनके कारण परिणत हुई निर्विकल्पसमाधि के काल में यद्यपि ज्ञेयतत्त्वों का विचार करना ठीक नहीं है तो भी उस त्रिगुप्तिरूप ध्यान के अभाव में शुद्ध आत्मा को उपादेय बनाकर और आगमभाषा से मोक्ष को उपादेय–ग्राह्य बनाकर सरागसम्यक्त्व के काल मे विषयो का और कषायों का परिहार करनेके लिये ज्ञेयतत्त्वो का विचार करना चाहिये। उन तत्त्वो के विचार से प्रधानतया पुण्यकर्म का बंध होता है और परम्परा से निर्वाण भी होता है इसलिये तत्त्वविचार करनेमें दोष नही है। किन्तु उस तत्त्वविचार के काल मे वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरूप से परिणत हुई शुद्ध आत्मा साक्षात उपादेय की जानी चाहिये ऐसा समझना। वीतरागस्वसंवेदन ज्ञान के विचार के काल में आपके द्वारा वीतराग यह विशेषण बहुलता से क्यों किया जाता है? क्या स्वसंवेदनज्ञान सराग भी होता है? उत्तर– विषयसुखानुभवात्मक आनन्दरूप सर्वजनप्रसिद्ध स्वसंवेदनज्ञान सराग भी होता है। जो स्वसंवेदनज्ञान शुद्धात्मसुख की अनुभूतिरूप होता है वह ज्ञान वीतराग होता है।

इस उद्धरण मे नीचे दी हुई बातें प्रकट होती है– १) मनोवचनकायगुप्ति की प्राप्ति होनेपर जीव की जो निर्विकल्पसमाधिरूप परिणति होती है उस परिणति के काल में तत्त्वविचार नही किया जा सकता। २) त्रिगुप्तिसमाधिकाल से भिन्न काल में तत्त्वविचार किया जा सकता है। ३) तत्त्वविचार मे मुख्यतया पुण्यबंध होता है और परंपरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ४) तत्त्वविचार मे पुण्यबंध होता है जरूर, किन्तु तब ही पुण्यबंध होता है जब कि उस काल में शुद्ध आत्मा उपादेय की जाती है। ५) विषयसुखानुभवरूप स्वसंवेदनज्ञान सराग होता है। ६) शुद्धात्मासुखानुभूतिरूप स्वसंवेदनज्ञान वीतराग होता है। ७) एक या दो गुप्तियो के धारक मुनियों के समाधिरूप परिणति मे तत्त्वविचार होता है। ८) वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाल में शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है।

[यहा एक विशेष बातपर प्रकाश डालना आवश्यक है। आचार्य अमृतचन्द्रकृत गाथा ९२ और ९३ की आत्मख्याति में 'निर्ज्ञान' इस शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका 'पूर्ण ज्ञान' यह अर्थ अभिप्रेत है। शुद्ध आत्मा की अनुभूति से आत्मा के साधारण और असाधारण धर्मों का ज्ञान हो जाता है। आत्मा के साधारण और असाधा-

रण धर्मों का ज्ञान होना हि उसके स्वरूप का पूर्णज्ञान होना है । जब सम्यग्दृष्टि की सराग अवस्था में शुभकर्मों का बंध होता है तब उसे शुद्ध आत्मा के साधारण और असाधारण धर्मों का ज्ञान हुआ है ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्यों कि आत्मा के साधारण और असाधारण धर्मों का ज्ञान होनेपर जीव शुभाशुभपरिणामों के रूप से परिणत नहीं हो सकता । इससे सरागसम्यग्दृष्टि को आत्मा के असाधारणधर्मों का ज्ञान नहीं होता यह भाव स्पष्ट हो जाता है । धवला, श्लोकवार्तिक, बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका आदि ग्रन्थों में सरागसम्यग्दृष्टि को आत्मा के सामान्यांशमात्र का ग्रहण होता है ऐसा स्पष्टरूप से कहा है । अतः 'निर्ज्ञान' इस शब्द का आत्मा के साधारण और असाधारण धर्मों का ज्ञान-अर्थात पूर्णज्ञान यह अर्थ अभिप्रेत है यह स्पष्ट हो जाता है ।]

ततः स्थितं एतत् ज्ञानात् नश्यति कर्तृत्वम्-

उसकारण शुद्धात्मसंवित्तिरूप ज्ञान से आत्मा का कर्तृत्व नष्ट हो जाता है यह सिद्ध हो जाता है-

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥९७॥

एतेन तु स कर्ताऽऽत्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः ।
एवं खलु यो जानाति स मुञ्चति सर्वकर्तृत्वम् ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ- (**एतेन तु**) इस शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान के कारण से ही (**सः आत्मा**) वह शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा (**निश्चयविद्भिः**) निश्चयनय को जाननेवाले सर्वज्ञदेवों के द्वारा (**कर्ता**) विभावभावों का उपादानकर्ता (**परिकथितः**) कहा गया है (**एवं खलु**) इसप्रकार परमार्थत (**यः**) जो (**जानाति**) जानता है-अनुभव करता है (**सः**) वह (**सर्वकर्तृत्वं**) जितने भी शुभपरिणामरूप और अशुभपरिणामरूप विभावपरिणाम होते है उन सभी विभावपरिणामों के विषय में अपने उपादानकर्तृत्व को (**मुञ्चति**) छोड देता है ।

[सम्यग्दृष्टि जीव जबतक सराग होता है तबतक वह सिर्फ अशुभपरिणामरूप विभावभावों का उपादान-कर्ता नहीं होता-अशुभपरिणामरूप विभावभावों के रूप से परिणत नहीं होता; क्यो कि सराग होनेसे वह शुभ-परिणामों के रूप से परिणत होता ही रहता है और शुभपरिणामों के रूप से परिणत होनेवाला होनेसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकती । जब आत्मा की सरागता नष्ट होती है तब वह वीतरागसम्यग्दृष्टि होता है । वीतरागसम्यग्दर्शन का निश्चयचारित्र के साथ अविनाभावसंबंध होता है । सम्यग्दृष्टि जब वीतराग होता है तब उसकी विभावरूपपरिणति होना असंभव होनेसे वह शुभपरिणामों का भी उपादानकर्ता नहीं होता । साराश, शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति मे जीव को जब आत्मस्वरूप का पूर्ण ज्ञान होता है तब वह शुभ और अशुभपरिणामों के रूप से परिणत होनेवाला न होनेसे उन परिणामो का उपादानकर्ता नहीं होता । सरागसम्यग्दृष्टि शुभपरिणामों का उपादानकर्ता होता है तो भी वह अशुभपरिणामों के रूप से परिणत होनेवाला न होनेसे अशुभपरिणामों का उपादानकर्ता नहीं होता ।]

आ. ख्या.- येन अयं अज्ञानात् परात्मनोः एकत्वविकल्पं आत्मनः करोति तेन आत्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति । यः तु एवं जानाति सः समस्तं कर्तृत्वं उत्सृजति । ततः सः खलु अकर्ता प्रतिभाति । तथाहि- "इह अयं आत्मा किल अज्ञानी सन् अज्ञानात्

आसंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः अनादितः एव स्यात् । ततः परात्मानौ एकत्वेन जानाति । ततः 'क्रोधः अहम्' इत्यादिविकल्पं आत्मनः करोति । ततः निर्विकल्पात् अकृतकात् एकस्मात् विज्ञानघनात् प्रभ्रष्टः वारंवारं अनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति । ज्ञानी तु सन् ज्ञानात् तदादि प्रसिद्ध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेन उन्मुद्रितभेदस्वसंवेदनशक्तिः स्यात् । ततः अनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसान्तरविविक्तात्यन्तमधुरचैतन्यैकरसः अयं आत्मा । भिन्नरसाः कषायाः । तैः सह यत् एकत्वविकल्पकरणं तत् अज्ञानात् इति" । एवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति । ततः अकृतकं एकं ज्ञानं एव अहं, न पुनः कृतकः अनेकः क्रोधादिः अपि । इति 'क्रोधः अहम्' इत्यादिविकल्पं आत्मनः मनाक् अपि न करोति । ततः समस्तं अपि कर्तृत्वं अपास्यति । ततः नित्यं एव उदासीनावस्थः जानन् एव आस्ते । ततः निर्विकल्पः अकृतकः एकः विज्ञानघनीभूतः अत्यन्तं अकर्ता प्रतिभाति ।

त. प्र.– येन यस्मात्कारणादयमात्माऽज्ञानाच्छुद्धात्मसंवित्स्वभावरूपादज्ञानात्परात्मनोः क्रोधादिविभावभावधर्माधर्मादिपरद्रव्यात्मद्रव्ययोरेकत्वविकल्पं परद्रव्यात्मानावन्योन्याभिन्नाविति विकल्पं मानसपरिणाममात्मनः करोति जनयति तेन तस्मात्कारणादात्मा निश्चयतोऽसन्दिग्धं सुनिश्चितं कर्ता विभावभावानामुपादानकर्ता भवतीति जानाति स आत्मा समस्तं कर्तृत्वं निमित्तोपादानकर्तृत्वमुत्सृजति परित्यजति ततो यतः कारणात्समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति तस्मात्कारणात्स कर्तृत्वमुज्झन्नात्मा खलु परमार्थतोऽकर्ताऽनुपादाननिमित्तकर्ता प्रतिभाति प्रकटीभवति । तथाहि तदेवोपपादयति–इहास्मिन्संसारेऽयं संसार्यात्मा किल वस्तुतोऽज्ञानी शुद्धात्मसंवित्स्वभावरूपाज्ञानभावमापन्नस्सन्नज्ञानाच्छुद्धात्मसंवित्स्वभावरूपादज्ञानादासंसारप्रसिद्धेनानादेः प्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेनान्योन्यसंश्लिष्टजीवपुद्गलसंश्लिष्टस्वभावजनितमिश्ररसानुभवनेन । मिलितोऽनादिसंश्लिष्टजीवपुद्गलसंश्लिष्टस्वभावजनितत्वान्मिश्रितः स्वादो रसो मिलितस्वादः । तस्य स्वादनेनानुभवनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः प्रच्छादितभेदावगमनसामर्थ्यः । भेदस्य संवेदनमवगमनं भेदसंवेदनम् । तस्य शक्तिर्भेदसंवेदनशक्तिः । मुद्रिता प्रच्छादिता भेदसंवेदनशक्तिर्यस्य स मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः अनादित एवानादेरेव स्याद्भवति । ततो मुद्रितभेदसंवेदनशक्तित्वात्परात्मानौ क्रोधादिभावधर्मादिद्रव्यरूपः परश्चात्मा शुद्धात्मा च परात्मानौ । एकत्वेनाभिन्नत्वेन जानात्यवगच्छत्यनुभवति च । ततः परात्मनोरभिन्नत्वेनावगमनात्क्रोधोऽहं क्रोधादभिन्नोऽहमित्यादिविपरीतनिश्चयरूपं परिणाममात्मन आत्मनो विषये करोति जनयति । ततो विपरीतनिश्चयात्मकमानसपरिणामजननाद्धेतोर्निर्विकल्पाद्विकल्पशून्यादकृतकादकृत्रिमत्वात्स्वाभाविकादेकस्मादमेचकाद्विज्ञानघनाद्विज्ञानपुञ्जात्प्रभ्रष्टः प्रच्युतः वारंवारमभीक्ष्णमनेकविकल्पैरनेकैर्विपरीतनिश्चयात्मकपरिणामैः परिणमन्परिणममानः परिवर्तमानः कर्तोपादानकर्ता प्रतिभात्याभासते । ज्ञानी तु सन्नज्ञानभावं परित्यज्य शुद्धात्मसंवित्तिरूपज्ञानसम्पन्नस्सन्भवञ्ज्ञानाच्छुद्धात्मसंवित्तिरूपाज्ज्ञानात्तदादि तदाप्रभृति शुद्धात्मसंवित्तिरूपज्ञानात्मकपरिणामोत्पत्तिकालमारभ्येत्यर्थः । प्रसिद्ध्यता प्रकर्षेण सिद्धिं गच्छता प्रसिद्धिं प्राप्नुवता वा प्रत्येकस्वादस्वादनेन परात्मनोः प्रत्येकस्य य स्वादो रसोऽनुभवविषयीभवन्स्वभावस्तस्य स्वादनेनानुभवनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः प्रकटीभूतान्योन्यभेदावगमनसामर्थ्यः ।

भेदस्य स्वपरपदार्थयोरन्योन्यभिन्नत्वस्य संवेदनमवगमन भेदसंवेदनम् । तस्य शक्तिस्सामर्थ्यं भेदसंवेदन-शक्तिः । उन्मुद्रिता प्रकटीभूता भेदसंवेदनशक्तिर्यस्य स उन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः । स्याद्भवति । तत उन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तित्वाद्धेतोरनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसान्तरविविक्तात्यन्तमधुरचैतन्यै-करसोऽनाद्यनन्तसततानुभूयमानसकलान्यविभावभावानुभवशून्याविनश्वरानन्तसुखोत्पादकशुद्धात्मस्वरू-पानुभवनमात्रैकस्वभाव. । अनादिनिधनमनाद्यनन्तमनवरतस्वदमानं कालाविच्छेदेन स्वदमानमनुभवगोच-रीभवन्निखिलरसान्तरविविक्तं सकलशुद्धात्मानुभवव्यतिरिक्तविभावभावानुभवव्यतिरिक्तमत्यन्तमधुर-मनन्तसुखोत्पादकं चैतन्यं शुद्धात्मस्वरूपानुभवनमेवैकोऽद्वितीयो रसः स्वभावो यस्य सः । अयमेष आत्मा । भेदसवेदनशक्तावुन्मुद्रितायामयमात्मा शुद्धात्मानुभवनक्रियानिमग्नोऽविरतं भवतीति भाव । भिन्नरसा भिन्नस्वभावाः कषायाः । तैर्भिन्नस्वभावैः कषायैः सह यदेकत्वविकल्पकरणमात्मकषायावन्योन्याभिन्ना-विति विपरीतनिश्चयजननं तदज्ञानाच्छुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपादज्ञानादिति । एवममुना प्रकारेण नानात्वे-नान्योन्यभिन्नत्वेन परात्मानौ जानात्यवगच्छत्यनुभवति च । ततोऽकृतकं नैसर्गिकम् । पारिणामिकमित्यर्थः । एकममेचकम् । केवल शुद्ध वेत्यर्थः । 'एकस्तु स्यात् त्रिषु श्रेष्ठे केवलेतरयोरपि' इति विश्वलोचने । ज्ञानमेवाऽहं ज्ञानादभिन्नोऽहम् न पुनः कृतकः कर्मोदयनिमित्तजनितत्वादस्वाभाविकोऽनेको मेचकोऽनेक-विधः क्रोधादिरप्यहम् । नैमित्तिकभावरूपात्क्रोधादेरभिन्नो नास्मीति भावः । नैमित्तिकभावरूपादशुद्धा-त्मोपादानकाच्च क्रोधादेश्शुद्धात्मनो भिन्नत्वात् । इत्येवम्प्रकारेण क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमित्यादिरूपं विपरीतनिश्चयात्मकपरिणाममात्मन आत्मनो विषये मनागपि स्वल्पमपि किञ्चिन्मात्रमपि न करोति न जनयति । तत आत्मनो विषये विपरीतनिश्चयाकरणात्समस्तमपि कर्तृत्वमुपादाननिमित्तकर्तृत्वमपा-स्यति दूरीकरोति परित्यजति । ततः समस्तकर्तृत्वस्यापाकरणान्नित्यमेवोदासीनावस्थ उपेक्षमाणः । शमभावमापन्न इत्यर्थः । जानन्नेव ज्ञायकस्वरूप एवाऽऽस्ते तिष्ठति । ततो ज्ञायकभावमात्ररूपत्वान्निर्वि-कल्पो विकल्पशून्योऽकृतक उत्पत्तिरहितः । अनादिरित्यर्थः । एकः केवल. शुद्धो विज्ञानघनीभूतो विज्ञा-नघनावस्था प्राप्तः । पूर्वमविज्ञानघनोऽज्ञानत्वेन परिणत इदानीं विज्ञानघनस्सम्पन्नो जातो विज्ञानघनी-भूत. । अत्यन्तमकर्तानुपादानकर्ता प्रतिभाति वीतरागस्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षीभवति ।

टीकार्थ— जिस कारण से यह आत्मा आत्मा के [illegible] का ज्ञान न होनेसे आत्मा के [illegible] पर के और आत्मा के एकत्व का—[illegible] का (आत्मा [illegible] होने का) [illegible] निश्चय करता है उस कारण से आत्मा (परभावो का [illegible] [illegible]) कर्ता ([illegible]) [illegible] है। [illegible] अर्थात् आत्मा वस्तुतः परभावो का उपादानकर्ता नही होता इसप्रकार [illegible] जानता है वह [illegible] कर्तृत्व को अर्थात् उपादानकर्तृत्व को और [illegible] को छोड देनेसे [illegible] परमार्थतः अकर्ता मालुम होता है अर्थात् वह कर्ता नही होता यह स्पष्ट हो जाता है । [illegible] कहते है—इस ससार मे शुद्ध आत्मस्वरूप का [illegible] न होनेसे [illegible] अज्ञानी [illegible] ([illegible]) आत्मा को [illegible] शुद्धात्मस्व-रूप का ज्ञान होनेके कारण अनादिकाल से [illegible] प्राप्त हुए मिथ्या अर्थात अशुद्धज्ञानरूप परिणाम का अनुभव करनेसे स्वपरभेद को जाननेकी शक्ति अनादिकाल से प्रच्छादित—आवृत हो गयी है । उसकी पर मे और आत्मा में हानेवाले भेद को जाननेकी शक्ति प्रच्छादित हुई होनेसे वह परपदार्थ और आत्मा इनको एकरूप से—अभिन्नरूप से जानती है । परपदार्थ और आत्मा ये परस्पर भिन्न नहीं है इसप्रकार दोनो को अभिन्नरूप जाननेसे आत्मा के विषय म 'मै क्रोध हू अर्थात् क्रोध से अभिन्न हूं' इत्यादिरूप विपरीत निश्चय करती है । इसप्रकार विपरीत निश्चय करनेसे विकल्पशून्य [illegible] और अत्यंत शुद्ध विज्ञानपुंज से आत्यंतिकरूप से प्रच्युत हुई आत्मा बारबार अनेक

प्रकार के विपरीत निश्चयरूपपरिणामों के रूप से परिणत होती हुई कर्ता अर्थात् उपादानकर्ता दिखाई देती है। शुद्धात्मस्वरूप के अनुभवजन्यज्ञान से सपन्न हुई आत्मा की शुद्धात्मस्वरूप के अनुभवजन्यज्ञान के कारण प्रकृष्टरूप से सिद्ध होनेवाले परपदार्थ और आत्मा इनमें से प्रत्येक के स्वरूप के अनुभव में स्वपरभेद को जाननेकी शक्ति आविर्भूत-प्रकट होती है। स्वपरभेद को जाननेकी शक्ति आविर्भूत होनेसे यह आत्मा अनाद्यनन्त, सतत अनुभव में आनेवाले, सभी प्रकार के अन्य अनुभवों से रहित, और अनंतसुखोत्पादक चैतन्य का अनुभव करनेके स्वभाववाली होती है। कषाय भिन्नस्वभाववाले होते हैं। उन कषायों के साथ आत्मा की अभिन्नता का जो विपरीतनिश्चय किया जाता है वह अज्ञान से-मिथ्याज्ञान से किया जाता है। इसप्रकार आत्मा परपदार्थ और (शुद्ध) आत्मा ये दोनों परस्परभिन्न हैं ऐसा जानती है। 'परपदार्थ और शुद्ध आत्मा परस्पर भिन्न है' ऐसा जाननेमें 'मैं अकृतक-नैसर्गिक अर्थात् पारिणामिकस्वभावरूप और शुद्ध ज्ञान हूं और शुद्ध ज्ञान से अभिन्न हूं, कृतक अर्थात् नैमित्तिक भावरूप, अज्ञानरूपात्मक क्रोधादिरूप भी नहीं हूं-क्रोधादि से अभिन्न नहीं हूं' इसप्रकार जाननेसे आत्मा के विषय में 'मैं क्रोध हूं-क्रोध से भिन्न नहीं हूं' इत्यादिरूप विपरीतनिश्चय किंचिन्मात्र भी नहीं करती। इसप्रकार विपरीतनिश्चय न करनेसे सम्पूर्ण कर्तृत्व को-उपादानकर्तृत्व को और निमित्तकर्तृत्व को छोड देती है। सपूर्ण कर्तृत्व को छोड देनेसे ज्ञानावस्था को प्राप्त हुई आत्मा ज्ञायक होकर ही रहती है। ज्ञायक हो जानेमें विकल्परहित, स्वाभाविक, शुद्ध और विज्ञानघनरूप से परिणत हुई आत्मा आत्यंतिकरूप से अकर्ता है-उपादानकर्ता नहीं है यह प्रकट हो जाता है।

विवेचन– शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न होनेवाले शुद्धात्मस्वरूप के ज्ञान का अभाव होनेके कारण अनादिकाल से अज्ञानी बना हुई यह ससारी आत्मा परपदार्थ भिन्न अर्थात् अचेतन होनेपर भी आत्मा को परद्रव्यरूप और परद्रव्य को आत्मरूप अर्थात् अन्योन्यभिन्न समझती है। अज्ञानी आत्मा की दृष्टि में परद्रव्य और आत्मा सजातीय होनेसे परद्रव्य में आत्मा के स्वरूप का सद्भाव मानती है और परद्रव्य से आत्मा के स्वरूप का स्वीकार करनेसे परद्रव्य को अपना उपादेय परिणाम मानती है। उसकी इस मान्यता के कारण वह परद्रव्य का निमित्तरूप से उपादानकर्ता दिखाई देती है। वस्तुतः परद्रव्य का स्वरूप आत्मद्रव्य के स्वरूप से सर्वथा भिन्न होनेके कारण आत्मा और परपदार्थ इनमें सजातीयपनका का अभाव होनेसे उपादानोपादेयभाव का अभाव होनेके कारण शुद्ध आत्मा परभावों का उपादानकर्ता कदापि नहीं हो सकती। ऐसा होते हुए भी आत्मा को परभावों का उपादान होनेका कारण उसका अज्ञान है और जिसको आत्मा परभावों का उपादानकर्ता दिखाई देती है उसकी इस कल्पना का कारण भी अज्ञान ही है। जो जीव आत्मा को परभावों का वस्तुतः कर्ता नहीं मानता वह परभावों का न उपादानकर्ता होता है और न निमित्तकर्ता भी; क्यों कि वह परभावों के रूप से परिणत नहीं होता। इसप्रकार जो जीव परभावों का उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता नहीं होता वह अकर्ता होता है। जिस जीव को शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करनेसे उत्पन्न होनेवाले शुद्ध आत्मा के स्वरूप के सम्यग्ज्ञान का अभाव होता है वह आत्मा अज्ञानी ही होती है। क्रोधादिरूप विभावभावात्मक परभाव संयोगज भाव होनेसे न शुद्ध चेतनस्वरूप है और न शुद्ध अचेतनस्वरूप भी है। ऐसे भावों की उत्पत्ति अशुद्ध आत्मा के अज्ञानभाव से होती है। यह अज्ञानी जीव अनादिकाल से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए संयोगज क्रोधादिविभावों का अनुभव करता आया है। इन संयोगजक्रोधादिविभावों के अनादिकाल से चले आये अनुभव के कारण अज्ञानी जीव की स्वपरभेद को जानने की शक्ति प्रच्छादित हो गयी है। स्वपरपदार्थों के भेद को जाननेकी जीव की शक्ति प्रच्छादित हो जानेसे अज्ञानी जीव परपदार्थों को और आत्मा को एकरूप अर्थात् अन्योन्याभिन्न जानता है। भिन्नस्वभाववाले स्वपरपदार्थ परस्परभिन्न नहीं है इसप्रकार की उसकी धारणा हो जानेसे यह क्रोधादिरूप परभावों को शुद्ध आत्मद्रव्य से अभिन्न मानता है। उसकी यह मान्यता विपरीत है-मिथ्या है। इस मिथ्या मान्यता के कारण विकल्पशून्य स्वाभाविकभावरूप और शुद्ध ऐसे ज्ञानरूप स्वभाव से अज्ञानी आत्मा च्युत हो जाती है और आत्मस्वरूप से च्युत हो जानेसे बारबार अनेक विपरीत निर्णयरूप परिणामों के रूप से परिणत हो जानेसे उन स्वोपादानक परिणामों का उपादानकर्ता होनेका आभास निर्माण करती है। जब आत्मा के शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान अभिव्यक्त होता है तब उस ज्ञान से परपदार्थ के स्वरूप का और

आत्मा के स्वरूप का अनुभव करनेसे उसकी स्वपरपदार्थों में होनेवाले भेद को जाननेकी शक्ति आविर्भूत-अभिव्यक्त हो जाती है। स्वपरभेद को जाननेकी उसकी शक्ति जब प्रकट होती है तब यह आत्मा अनाद्यनन्त, अविच्छिन्नरूप से अनुभव में आनेवाले, स्वानुभूति से भिन्न विभावभावों की अनुभूतियों से रहित, अनंत सुख के उत्पादक चैतन्य का अनुभव करनेके स्वभाववाली होती है। कषाय भिन्नस्वभाववाले होते है, क्यों कि उनके कारण शुद्धचैतन्य का अनुभव प्राप्त नहीं होता। इन कषायों के साथ एकत्व का जो विपरीत निर्णय किया जाता है अर्थात् कषाय और शुद्ध आत्मा इनमें भेद नहीं है इस प्रकार जो विपरीत निर्णय किया जाता है उसका कारण है शुद्ध आत्मा के स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का अभाव। इसप्रकार परपदार्थ और आत्मा एक दूसरे से भिन्न है इसप्रकार ज्ञानी आत्मा जानती है। जब वह स्वपरपदार्थों की भिन्नता को जानती है तब वह 'मै पारिणामिकभावरूप और शुद्ध ज्ञान हू-शुद्ध ज्ञान से अभिन्न हू, मै नैमित्तिकभावरूप अनेकस्वरूप क्रोधादि नहीं हू-उन भावों से भिन्न हू' ऐसा जानती है। इसप्रकार शुद्ध आत्मा के स्वरूप के पूर्ण ज्ञान को धारण करनेवाली आत्मा अपनेको क्रोधादिरूप नहीं मानती और अपनेको क्रोधादिरूप न माननेसे विपरीतनिर्णयरूप परिणाम के रूप से किंचिन्मात्र भी परिणत नहीं होती। विपरीत निर्णय न करने से सभी प्रकार के कर्तृत्व का त्याग कर देती है। संपूर्ण कर्तृत्व का त्याग कर देनेसे ज्ञाताबस्था को प्राप्त हो जाती है और सिर्फ ज्ञायकभावरूप से परिणत हुई बनी रहती है। ज्ञायकभावमात्ररूप होनेसे विकल्पशून्य, स्वाभाविक और शुद्ध ज्ञान के रूप से परिणत हुई आत्मा अकर्तृरूप से प्रकट होती है अर्थात् कदापि कर्ता नहीं होती।

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वय किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ॥५७॥

अन्वयः- स्वयं किल ज्ञान भवन् अपि यः अज्ञानतः रज्यते (सः) सतृणाभ्यवहारकारी तु (सः) असौ (रसालां) पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या गां दुग्धं इव नूनं रसालां दोग्धि।

अर्थ- स्वयं परमार्थतः अर्थात शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से स्वय ज्ञानरूप होनेपर भी (अनादिकाल से) अज्ञानरूप से परिणत हुआ होनेसे जो करता है अर्थात् रागादिरूपविभावभावों के रूप से परिणत होकर अपनेको रागादिभावरूप समझता है वह (गेहू जैसे) अनाज के सुदर आहार को तृणसमान अर्थात् तृण समझनेवाले हाथी के समान पशु ही है और वह शिखरिणी को (श्रीखड को) पीकर दही के खट्टे और ईख के मीठे रस की आत्यतिक अभिलाषा से निश्चितरूप से जिसप्रकार दूध के लिये गाय को दोहा जाता है उसीप्रकार गाय के आचलो से शिखरिणी को ही पीनेके लिये गाय को दोहता है।

त. प्र - स्वयमात्मना किल परमार्थतो ज्ञान विज्ञानघनश्शुद्धज्ञानस्वरूपो भवन्नप्यज्ञानतोऽनादेरशुद्धात्मसंवित्यभावात्मकाज्ञानभावत्वेन परिणतत्वाद्यो रज्यते रागत्वेन परिणतो भूत्वाऽऽत्मान रागरूपं विजानाति। अत्र रागशब्दः सर्वेषां विभावभावानामुपलक्षणार्थो वेदितव्यः। तेन च सर्वेषा विभावभावानां ग्रहणं कर्तव्यम्। स सतृणाभ्यवहारकारी गोधूमाद्यन्न तृणसमानम्। तृणरूपमित्यर्थः। जानन्। सतृण तृणसमानमभ्यवहारं गोधूमाद्यन्न करोति जानातीति सतृणाभ्यवहारकारी। सतृण तृणेन समानम्। 'समानस्य धर्मादिषु' इति समानस्य सः। 'अथवा सहशब्दः सदृशवचनोऽप्यस्ति, सदृशः सख्या ससखीति' (सि. कौ. सू. १०१२) इति भट्टोजिदीक्षितोऽप्याह। 'शीलेऽजातौ णिन्' इति शीलार्थे स्वभावार्थे णिन्। गोधूमाद्यन्नं तृणत्वेन ज्ञातुं स्तम्बेरमस्याज्ञानात्मकः स्वभावः। सतृणाभ्यवहारकारीव सतृणाभ्यवहारकारी। 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योप्। गज इव पशुरित्यर्थः। तुशब्दोऽत्रैवकारार्थवचनः। सोऽसौ रागादिरूपविभावभावत्वेन परिणम्यात्मानं रागादिभावरूपं विजानन्ननुभवंश्च

रसालां दधिशर्करासंयोगरूपां शिखरिणीं पीत्वाऽऽपीय । निगीर्येत्यर्थः । दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या दध्याम्लरसरसालमधुररसयोरतिगृद्ध्यातिकाम्यया गां दुग्धमिव क्षीरमिव नूनं निश्चयेन रसालां शिखरिणीं दोग्धि । यथा गोधूमान्नस्वादजन्यज्ञानाभावाद्गजोऽन्नस्वादं तृणस्वादत्वेन जानाति तथा यः शुद्धनिश्चयनयापेक्षया विज्ञानघनस्वरूपमप्यात्मानं रागादिस्वरूपं जानाति स गज इव पशुरेव । स दधिशर्करामिश्रणात्मिकां शिखरिणीं भक्षयित्वा दधिशर्करामधुराम्लरसातिकाम्यया शिखरिणीं दुग्धं मत्वा गां शिखरिणीमेव दोग्धि । यथा दुग्धस्य शिखरिण्या भिन्नत्वेऽपि दुग्धमज्ञानात्कश्चिन्मूढः शिखरिणीं मन्यते तथा कश्चिदज्ञानी जीव आत्मनो विज्ञानघनस्वभावत्वेऽपि शिखरिणीवत्संयोगजभावरूपविभावभावस्वरूपमात्मानं शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपादज्ञानान्मन्यत इति भावः ।

विवेचन– हाथी तृण के साथ गेहू की रोटी खाता है और उसे जो गेहू का रोटी का स्वाद मिलता है उसे वह तृण का स्वाद न होनेपर भी उस स्वाद को तृण का स्वाद समझता है । इसका कारण यह है कि उसे गेहू की रोटी के स्वाद का ज्ञान नहीं होता । वह जो एक वस्तु को अन्यवस्तुरूप समझता है वह उसके अज्ञान का माहात्म्य है । अनादिकाल से शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान न होनेसे आत्मा अज्ञानी बनी हुई है । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप है तो भी जीव को शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तबतक उस अज्ञान के कारण वह रागादिरूप से परिणत होते रहता है और शुद्ध आत्मा को उन परिणामों से अभिन्न मानता है–अपनेको विभावभावात्मकपरिणामस्वरूप हि मानता है । निश्चयनय की दृष्टि ने अपनी शुद्ध आत्मा को अन्यपदार्थरूप माननेवाला जीव पशुतुल्य ही है । जिसप्रकार शिखरिणी को खानेसे दहि और चीनी के खट्टे और मीठे रस के समिश्ररुचि का अनुभव करनेपर उस मिश्रितावस्थ रस के लिये शिखरिणी को खानेवाला आत्यंतिकरूप से लोलुप होता हुआ गाय के आंचल से शिखरिणी की प्राप्ति के लिये दूध के समान शिखरिणी को दोहना चाहता है और जिसप्रकार वह दोहन उसके अज्ञान का फल है उसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा की विभावभावरूप से परिणति होना असभव होनेपर भी ' शुद्ध आत्मा विभावभावो के रूप से परिणत होती है और वह परिणति शुद्ध आत्मा से भिन्न नही होती–शुद्धात्मरूप ही होती है ' ऐसा जो जीव मानता है वह अज्ञानी है–मूर्ख है–पशु है । जब जीव के विभावभावों में शुद्धचैतन्य का अन्वय नहीं पाया जाता तब वे विभावभाव शुद्धात्मस्वात्मक और शुद्ध आत्मा से अभिन्न कैसे माने जा सकते है ? वस्तुत ससारी आत्मा का अज्ञानभाव और अज्ञानभावोपादानक विभावभाव शुद्ध आत्मा के नहीं है–वे तो अशुद्ध आत्मा के नैमित्तिकभाव है । रागादिरूप विभावभाव शिखरिणी के समान सयोगजभाव है–न तो वे शुद्ध आत्मा के है और न पुद्गल के भी हैं । वे भाव सयोगज होनेके कारण शुद्ध आत्मा से भिन्न होनेसे पररूप है । इन परभावों को शुद्धात्मद्रव्यरूप कैसे माना जा सकता है? इसप्रकार के परभावों को शुद्धात्मरूप मानना अपने अज्ञानभाव को प्रकट करना है ।

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगाः
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥ ५८ ॥

अन्वयः– अज्ञानात् जलधिया मृगतृष्णिकां पातुं मृगाः धावन्ति, अज्ञानात् तमसि रज्जौ भुजगाध्यासेन जनाः द्रवन्ति, अज्ञानात् च वातोत्तरङ्गाब्धिवत् विकल्पचक्रकरणात् स्वयं शुद्धज्ञानमया अपि अमी आकुलाः कर्त्रीभवन्ति ।

अर्थ– अज्ञान से अर्थात् मृगजल के यथार्थस्वरूप का ज्ञान न होनेसे मृगजल को जल समझकर हिरण मृगजल पीनेको दौडते हैं, अज्ञान से अर्थात् अंधकार में सर्पाकार से पडी हुई रस्सी के यथार्थस्वरूप का ज्ञान न होनेसे अंधकार में रस्सी के ऊपर सर्प का अध्यारोप करके रस्सी को सर्प जानकर लोक भागते हैं और अज्ञान से अर्थात् शुद्ध आत्मा के स्वरूप का संपूर्ण ज्ञान न होनेसे पवन के चलने से जिसमें लहरें उठती है अर्थात् जो नानाविध लहरों के रूप से परिणत होता है ऐसे सागर के समान (मोहनीयकर्म के उदयरूप निमित्त से) विकल्पों के समूह को करनेसे अर्थात् नानाविध विपरीत परिणामों के रूप से परिणत होनेके कारण स्वयं शुद्धज्ञानरूप होनेपर भी ये आकुल–मोहित–मोहाक्रान्त–अज्ञानरूप से परिणत हुए जीव उन विकल्पों का [परमार्थतः कर्ता (उपादानकर्ता) न होनेपर भी] कर्ता (उपादानकर्ता) होते है ।

त. प्र.– अज्ञानान्मृगतृष्णिकायथार्थस्वरूपज्ञानाभावाज्जलधिया मृगतृष्णिकां जलं मत्वा मृगतृष्णिकां मृगजलं पातुं सेवितुं मृगाः कुरङ्गमाः धावन्ति पलायन्ते । अज्ञानात्तिमिरावगुण्ठितप्रदेशस्थितसर्पाकाररज्जुस्वरूपयथार्थज्ञानाभावात्तमसि तिमिरे रज्जौ भुजगाध्यासेन भुजङ्गमाध्यारोपेण । रज्जुं भुजङ्गं मत्वेत्यर्थः । जना लोकाः द्रवन्ति भयाकुलीभूय पलायन्ते । अज्ञानाच्च शुद्धात्मसंवित्यभावरूपान्मोहोदयजनितभ्रान्तिमज्ज्ञानरूपादज्ञानाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्पवनवहनात्मकपरिणामे निमित्तभूते सति स्वभावतो निस्तरङ्गोऽपि सागरो यथोत्तरङ्ग उत्कल्लोलो भवति सतरङ्गावस्थत्वेन परिणमति तथा । वातोत्तरङ्गाब्धेरिव वातोत्तरङ्गाब्धिवत् । 'तस्य' तस्येति तामसर्थादिवार्थे वत् । विकल्पचक्रकरणाद्विपरीतपरिणामसमूहजननात् । विपरीताः कल्पाः परिणामाः विकल्पाः । तेषां चक्रं समूहः । तस्य करणमुपादानकारणीभूयोत्पादनं विकल्पचक्रकरणम् । विभावभावात्मकत्वेन परिणमनमित्यर्थः । तस्माद्विकल्पचक्रकरणाद्धेतोः स्वयमात्मना शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धज्ञानमया अपि शुद्ध[illegible]वि–परिणामस्वरूपत्वात्तत्ताऽभिन्ना अप्यमी लोकाः आकुलाः मोहिताः मोहोदयात्मकाः [illegible] भाव–भावात्मकाज्ञानान्वितपरिणामास्सन्तः कर्त्रीभवन्ति शुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धचि[illegible]विभाव–भावानामनुपादानकर्तारोऽप्यशुद्धनिश्चयनयापेक्षया[illegible]ज्ञानात्मकत्वेन परिणमन्त[illegible]उपादान–कर्तारो भवन्ति । विभावभावात्मकत्वेन परिणमन्तीत्यर्थः । यथा जलधिया मृग[illegible] मृगाणां धावनं यथा च तमसि सर्पाकारेण स्थितां रज्जुं सर्पं मत्वा जनानां पलायनमज्ञान[illegible] तथा शुद्ध–निश्चयनयापेक्षया शुद्धज्ञानमयानामप्यात्मनामशुद्धनिश्चयनयापेक्षया शुद्धचिदन्वयवि[illegible]नामुपादानकर्तृत्वमप्यज्ञाननिबन्धनमेव, शुद्धचिदन्वयविकलविभावभावात्मकपरिणतिक्रियाया द्रव्यमोहोदयनिमित्तकत्वात् ।

विवेचन– गरमी के दिनो में जब वायु गर्म होता है तब उसमें जल के प्रवाह के समान क्रिया दिखाई देती है । उस क्रिया के कारण तृषार्त हिरण उसे जल समझकर उसको पीकर अपनी तृषा को शांत करनेकी अभिलाषा से दौड लगाए रहता है; किंतु उसे जल की प्राप्ति नहीं होती । उसे जल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? यदि वह यथार्थ में जल होता तो उसे जल की प्राप्ति अवश्य हो जाती । उसे मृगजल के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होता तो वह मृगजल को देखकर जलपान की अभिलाषा से कदापि दौड न लगाता। उसके दौड का कारण है मृगजल के स्वरूप के विषय में उसका अज्ञान । संसारी जीव निर्विकल्प शुद्ध आत्मा के स्वरूप को पूर्णरूप से नहीं जानता । वह जिस आत्मा का सरागस्वसंवेदन के द्वारा जानता है वह आत्मा परमार्थतः आत्मा ही नहीं है–अनात्मा है–अप्रशस्त आत्मा है । उस संसारी जीव की ज्ञेय बनी हुई आत्मा विभावभावों के रूप से परिणत होनेवाली होती है । ऐसी अशुद्ध आत्मा की उन्नत अवस्था की प्राप्ति कर लेनेके लिये वह प्रयत्नशील बना रहता है । चारों गतियों में से

संसारी आत्मा की उन्नत अवस्था स्वर्गस्थ जीवों की है। स्वर्गस्थ जीव मिथ्यादृष्टि हो तो शुभाशुभभावों के रूप से और सम्यग्दृष्टि हो तो शुभभावों के रूप से परिणत होती रहती है। इसप्रकार शुभाशुभभावों के या शुभभावों के रूप से परिणत होनेवाली आत्मा परमोत्कृष्ट अवस्थावाली नहीं है। ऐसी आत्मा की प्राप्ति के लिय जिन्हें शुद्ध आत्मा के स्वरूप का वीतरागस्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा पूर्ण ज्ञान नहीं होता ऐसे जीव ही प्रयत्नशील रहते है। जिन्हें शुद्ध आत्मा के स्वरूप का वीतरागस्वसंवेदनप्रत्यक्षजन्य पूर्ण ज्ञान होता है वे निर्विकल्प शुद्ध विज्ञानघनस्वभाववाली शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कर ले सकते है। जबतक जीव की सराग अवस्था होती है तबतक उसे शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता और जबतक उसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का स्वसंवेदनप्रत्यक्षजन्य ज्ञान नहीं होता तबतक उसकी विज्ञानघनस्वभावरूप से परिणति नहीं हो सकती। सारांश, शुद्धात्मस्वरूप के सपूर्ण ज्ञान का अभाव ही विज्ञानघनस्वभाववाली आत्मा की प्राप्ति में प्रतिबंधक कारण होता है। अब दूसरे दृष्टान्त का खुलासा किया जाता है। अंधकार में सर्प के आकार से पडी हुई रस्सी के यथार्थस्वरूप का ज्ञान न होनेसे उसको सर्प समझकर लोक डर के मारे दूर भाग जाते है। यदि उन्हें रस्सी के यथार्थस्वरूप का ज्ञान हुआ होता तो वे न तो उसके ऊपर सर्प का अध्यारोप कर पाते और न उसे सर्प समझकर डर के मारे उस रस्सी के स्थान से भाग निकलते। उनके वहांसे भाग निकलनेका कारण है अज्ञान के कारण रस्सी के ऊपर किया जानेवाला सर्प का अध्यारोप। ससारी जीव शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप का पूर्णज्ञान होनेसे शुद्ध आत्मा के ऊपर विभावभाव के रूप से परिणत होनेवाली अशुद्ध आत्मा का अध्यारोप करते है अर्थात् अशुद्ध आत्मा को ही शुद्धात्मस्वरूप मानते है। इस विपरीत मान्यता के कारण वे शुद्धात्मस्वरूप की ओर अग्रसर नहीं होते, अपि तु उससे कोसों दूर भाग जाते है। साराश, ऐसे जीवों को शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति होना असभव है; क्यों कि वे सीधा रास्ता न पकडकर उल्टा रास्ता ही पकडते है। सागर की निस्तरंग-शांत अवस्था उसका स्वभावभूत भाव है। जब पवन का चलनारूप निमित्त मिल जाता है तब वह उत्तरंग अवस्था के रूप से परिणत हो जाता है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से विभावभावों के रूप से परिणत न होना शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेके कारण अज्ञानरूप से परिणत हुई आत्मा ही कर्मोदयरूप निमित्त मिलनेपर विभावभावों के रूप से परिणत हो जाती है। परमार्थतः अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा शुद्धज्ञानमय-केवलज्ञानमय होनेपर भी आकुल अर्थात् मोहनीयकर्माक्रान्त होनेसे अज्ञानी बन जानेके कारण निश्चय-नय की दृष्टि से विभावभावों का उपादानकर्ता न होनेपर भी उन भावों का [illegible] होती है।

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥५९॥

अन्वयः— चैतन्यधातु अचल [illegible] हंसः ज्ञानात् विवेचकतया वाःपयसोः विशेष एव अचलं चैतन्यधातु अधिरूढ य ज्ञानात् विवेचकतया परात्मनोः विशेष जानाति सः हि सदा जानीते एव, किञ्चन अपि न करोति।

अर्थ— [illegible] पर [illegible] बैठा हुआ (रहनेवाला) हंस उसे नीर के और क्षीर के स्वरूप का पूर्णरूप से ज्ञान होनेके कारण उन दोनो को पृथक् करनेकी सामर्थ्य से युक्त होनेसे जिसप्रकार नीर और क्षीर में होनेवाले भेद को जानता है उसीप्रकार आत्मा से कदापि च्युत न होनेवाले चैतन्यात्मक सारभूत आत्मा के [illegible] अश को अर्थात् [illegible]स्वरूप अवस्था को प्राप्त हुआ जो जीव शुद्ध आत्मस्वरूप के पूर्णरूप ज्ञान की प्राप्ति हो जानेसे स्वपरस्वरूपों के भेद का निश्चय करने की सामर्थ्य से युक्त होनेसे परपदार्थ और आत्मा इनमें होनेवाले भेद को जानता है वह परमार्थतः सदा-अनन्तकालतक जानता ही है-ज्ञायक ही बना रहता है, कुछ भी नहीं करता अर्थात् कर्ता नहीं होता।

अथवा

शुद्धात्मप्राप्तिजन्य शुद्धात्मस्वरूप के सपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के कारण विवेचकता अर्थात् भेद को जाननेकी

शक्ति अभिव्यक्त हो जानेसे हंस जिसप्रकार अपनी विवेचकशक्ति से नीर और क्षीर के भेद को जानता है उसी–प्रकार द्रव्यनिक्षेप की या नैगमनय की अपेक्षा से परमात्मा कहा जानेवाला क्षपकश्रेण्यारूढ जीव शुद्धात्मस्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति हो जानेसे शुद्धात्मस्वरूप के ध्यान में निश्चलरूप से लगा हुआ होनेसे सदा–अखण्डरूप से शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव ही करते रहता है–अन्य कुछ भी नहीं करता–उपादानकर्ता नहीं होता।

त. प्र.– चैतन्यधातुं प्रकटीभवत्सारभूतगैरिकादिधातुम् । चेतति प्रकटीभवतीति चेतनः । प्रकटीभवन्नित्यर्थः । 'ल्युनड्बहुलम्' इति कर्तर्यनट् । चेतनस्य प्रकटीभवतः कर्म चैतन्यम् । प्रकटी–भवतः प्रकटीभवनक्रियेत्यर्थः । 'राजपत्यन्तगुणोक्तिराजादिभ्यः कृत्ये च' इति कृत्यार्थे ट्यण् राजादेराकृतिगणत्वात् । चैतन्यं प्रकटीभवनात्मकं कर्मास्त्यस्येति चैतन्यः । 'ओऽभ्रादिभ्य.' इत्यो मत्वर्थीयः । चैतन्यः प्रकटीभवनक्रियायुक्तो धातुर्गैरिकादिर्यस्य सः । तम् । अचलं गिरिमधिरूढ आरूढो हंसो मरालः, पक्षे द्रव्यनिक्षेपापेक्षया नैगमनयापेक्षया वा परमात्मा । 'हसः सूर्यमरालयोः । कृष्णेऽङ्ग–वाते निर्लोभनृपतौ परमात्मनि' इति विश्वलोचने । ज्ञानान्नीरक्षीरस्वरूपज्ञानाद्विवेचकतया भेदजननज्ञा–नशक्तिमत्त्वात् । वेवेक्ति पृथक्करोति भेदं जनयतीति विवेचकः । 'ण्वुतृच्' इति कर्तरि ण्वुः । विवे–चकस्य भावः कर्म वा विवेचकता । तया । वाःपयसोर्नीरक्षीरयोः । 'वार्वारि कं पयोऽम्भोम्बु' इति धनञ्जयः । विशेषं भेदमन्योन्यव्यावर्तकमसाधारणधर्ममिव । यथा नीरक्षीरयोर्विशेषं जानाति तथेत्यर्थः । अचलमात्मनोऽप्रच्यवमानम् । न चलति प्रच्यवत इत्यचलः । अप्रच्यवमान इत्यर्थः । तम् । अचल इवाचलः । 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योप् । यथा स्वस्थानादप्रच्यवमानत्वात्पर्वतस्याचलत्वं तथा स्वाश्रयस्थानभूतादात्मनोऽप्रच्यवमानत्वाच्चैतन्यधातोरप्यचलत्वम् । चैतन्यधातुं चैतन्यस्वरूपं सारम् । चेतति जानात्यनुभवतीति चेतनः । कर्तर्यनट् । चेतनस्य भावः कर्मानुभवात्मकं वा चैतन्यम् । चैतन्यं शुद्धात्मस्वरूपानुभवनं धातुः सारश्चैतन्यधातुः । तम् । आत्मनः स्थितेर्निबन्धनत्वाच्चैतन्यस्य धातुत्वम् । अधिरूढश्शुद्धात्मस्वरूपावस्थामापन्नो यो जीवो ज्ञानाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभवजनितशुद्धात्मस्वरूपज्ञानाद्वि–वेचकतया परात्मनोर्भेदस्य जनने यत्सामर्थ्यं तेन युक्तत्वात्परात्मनोर्विभावभावात्मकक्रोधादिरूप–धर्मद्रव्यादिरूपपरपदार्थानां शुद्धात्मनश्च विशेषं भेदमन्योन्यव्यावर्तकमसाधारणधर्मं वा जानात्यवगच्छ–त्यनुभवति च स जीवो हि परमार्थतः सदा कालाविच्छेदेन जानीत एवान्यत्किञ्चनापि न करोति । केवलं ज्ञायकभावमापद्यते कस्यापि विभावभावस्योपादानकर्ता न भवति चेति भाव. । यद्वा ज्ञानाद्विवे–चकतया हसो नीरक्षीरयोर्विशेषमिव । परात्मनोर्विशेषं भेदं जानाति स परमार्थतः श्चैतन्यधातुमचलं निश्चलत्वेनाधिरूढः सन् । शुद्धात्मस्वरूपचिन्तने निश्चलत्वेन निमग्नः सन्नित्यर्थः । सदा कालाविच्छेदेन जानात्येव शुद्धात्मस्वरूपमनुभवत्येवान्यत्किञ्चनापि न करोति । अत्राचलमित्यव्ययेन क्षपकश्रेण्यारोहणं संसूच्यते, उपशमश्रेण्यारूढस्यात्मनस्ततः प्रच्यवनात् ।

विवेचन– पहाड की चोटीपर रहनेवाले हंस के क्षयोपशमविशेष से नीर और क्षीर में होनेवाले भेद को जाननेकी शक्ति आविर्भूत हुई होती है । उस शक्ति के द्वारा नीर और क्षीर इनमें होनेवाले भेद का वह जानता है। जिस जीव को वीतरागस्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप के पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई होती है उसके स्वपरपदार्थों में होनेवाले स्वाभाविक भेद को जाननेकी शक्ति आविर्भूत हो जाती है और उस शक्ति के द्वारा वह स्वपरभेद को जान सकता है । स्व और पर इनमें होनेवाले भेद को जाननेसे वह पर पदार्थ को हेय और शुद्ध आत्मा को उपादेय समझता है। अपने आश्रयभूत स्थान को न छोडनेसे पहाड जिसप्रकार अचल कहा जाता है उसी–प्रकार शुद्धचैतन्य अपने आश्रयभूत आत्मा से कदापि प्रच्युत होनेवाली न होनेसे पहाड के समान अचल है । जब जीव

शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ध्यान अखण्डरूप से करता है तब वह अनन्तकालतक शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति ही करते रहता है। शुद्ध आत्मा की अनुभूतिरूप क्रिया से जब वह च्युत होता ही नहीं तब उसे विभावभावों के रूप से परिणत होनेके लिये अवसर न मिलनेके कारण वह विभावभावों का उपादानकर्ता कदापि नहीं हो सकता–उसका इसप्रकार का कर्तृभाव सदा के लिये चला जाता है। 'सदा' इस कालवाचक अव्यय से क्षपकश्रेणी चढनेवाला जीव संसूचित हो जाता है। 'अचल' इस शब्द का ग्रहण अव्ययरूप से किया गया तो उससे भी क्षपकश्रेणी चढनेवाला जीव संसूचित हो जाता है। यह जीव जब शुद्ध आत्मा का अनुभव करने लग जाता है तब उसके अन्यपदार्थविषयक सभी विकल्प नष्ट हो जाते हैं; क्यों कि उससमय वह तत्त्वविचार के अधीन नहीं हो सकता। जब उसके अन्यपदार्थविषयक विकल्पों का अभाव हो जाता है तब वह अशुद्धात्मस्वरूप परपदार्थ के परिणाम के रूप से कैसे परिणत हो सकता है ? जब वह विभावभावों के रूप से परिणत नहीं हो सकता तब वह उन भावों का उपादानकर्ता भी नहीं हो सकता। उपशमश्रेणी चढनेवाले जीव को अनन्तकालतक आत्मानुभव नहीं हो सकता–कुछ कालतक ही होता है; क्यों कि वह उपशमश्रेणी से गिरकर सराग अवस्था को प्राप्त हो जाता है। सराग अवस्था को प्राप्त हो जानेसे वह विभावभावों के रूप से परिणत भी होने लगता है और विभावभावों के रूप से परिणत होनेसे उनका उपादानकर्ता भी होता है। बादमें जब वह यथाकाल क्षपकश्रेणीपर आरूढ होता है तब उसका उक्तप्रकार का कर्तृत्वभाव नष्ट हो जाता है।

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥६०॥

अन्वयः– ज्वलनपयसोः औष्ण्यशैत्यव्यवस्था ज्ञानात् एव (उल्लसति)। लवणस्वादभेदव्युदासः ज्ञानात् एव उल्लसति। (आत्मनः) कर्तृभाव भिन्दती स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः च क्रोधादेः भिदा ज्ञानात् एव प्रभवति।

अर्थ– अग्नि के और जल के स्वरूप का ज्ञान होनेपर हि अग्नि की उष्णता का और जल की शीतता का निर्णय किया जाता है; लवण और व्यञ्जन (सधानक) इनके स्वरूप का ज्ञान होनेपर ही लवण और व्यञ्जन इनके स्वाद के–स्वरूप के भेद से ही उन दोनों का भेद किया जाता है और शुद्ध आत्मा के स्वरूप के अनुभव से विकसित–प्रकट होनेवाला और नित्य ऐसा चैतन्य सार है जिसका ऐसी आत्मा का या उसके शुद्धचैतन्य का क्रोधादिरूप (अशुद्धचैतन्योपादानक) विभावभावो से भेद जो कि आत्मा के कर्तृभाव का विनाश करनेवाला होता है, शुद्धात्मानुभवजन्य शुद्धात्मस्वरूप के ज्ञान से ही आविर्भूत होता है–उत्पन्न होता है–प्रकट होता है।

त. प्र.– ज्वलनपयसोरग्निसलिलयोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्थौष्ण्यशैत्ययोर्निर्णयो ज्ञानादेव भवति किमिदमौष्ण्यमग्निस्वामिकमुत जलस्वामिक वेति किमिदं शैत्यं सलिलस्वामिकमग्निस्वामिकि वेति सन्देहे सत्यौष्ण्यमग्निस्वामिकमेव शैत्य च सलिलस्वामिकमेवेति निश्चयो ज्ञानादेवाग्निसलिलस्वरूपज्ञानादेव भवति, तत्स्वरूपज्ञानाभावे प्रोक्तनिश्चयासम्भवात् लवणस्वादभेदव्युदासो लवणसन्धानकस्वादभेदकृतपृथक्करणम्। लवणं सैन्धव सन्धानकं च। लवणं च लवणं च लवणे। लवणशब्दयोस्सैन्धवसन्धानकरूपभिन्नार्थाभिधायित्वेऽपि तयोस्सारूप्यादेकशेषः। लवणमस्त्यस्मिन्निति लवण सन्धानकम्। 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयः। लवणयोस्सैन्धवसन्धानकयोस्स्वादयोर्भेदेन भिन्नत्वेन तयोर्व्युदासोऽन्यस्यान्यस्मात्पृथक्करणम्। अत्र लवणशब्द आमाम्रफललवङ्गमरीचादीनामुपलक्षणार्थः। ततो लवणशब्दस्सन्धान

कार्यवचनोऽपि। ज्ञानादेव सैन्धवसन्धानकरसास्वादनजनिताज्ज्ञानादेवोल्लसति प्रकटतामटति। शुद्धात्मनः कर्तृभावं विपर्यस्तनिर्णयात्मकानां क्रोधादिविभावरूपाणां च परभावात्मकविभावभावानामुपादानकर्तृत्वं पारम्परिकं निमित्तकर्तृत्वं च भिन्दती कर्तृत्वस्य विनाशं कुर्वाणा। स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोश्शुद्धात्मस्वरूपानुभूतिप्रकटीभवदविनश्वरचैतन्यसारस्य। स्वस्य शुद्धात्मनो रसेनानुभवनेन विकसन्प्रकटीभवं-श्चैतन्यमेव धातुस्सारो यस्य स। तस्यात्मनः। यद्वा स्वस्य शुद्धात्मनो रसेनानुभवनेन विकसन्प्रकटी-भवश्चासौ चैतन्यधातुश्च चेतन्यात्मकसारः। तस्य च क्रोधादेः क्रोधादिरूपाद्विभावभावाद्भिदा भेदो ज्ञानाच्छुद्धात्मानुभवनजन्यशुद्धात्मस्वरूपज्ञानाद्धेतुभूतादेव प्रभवति प्रकटीभवति।

विवेचन– अग्नि और जल ये दोनों पदार्थ अलग अलग है। अग्नि के स्वरूप का ज्ञान होनेपर उष्णता अग्नि की होती है और जल के स्वरूप का ज्ञान होनेपर शीतता जल की होती है इसप्रकार औष्ण्य और शैत्य के विषय में अग्नि के और जल के स्वरूप का ज्ञान होनेपर ही निर्णय किया जाता है। लवण के और व्यंजन के स्वाद से उनके स्वरूप का ज्ञान होनेपर ही उनका मिश्रण हुआ होनेपर भी उनमें होनेवाला भेद प्रकट किया जाता है। क्रोधादिरूप विभावभावावस्था और शुद्धावस्था ये दोनों अवस्थाएं द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से एकद्रव्य की ही है। अनादिकाल से आत्मा विभावभावों का अनुभव करती चली आयी है। अतः उसको विभावभावों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हुआ ही है। इस आत्मा को जब शुद्ध आत्मा का अनुभव प्राप्त होता है तब उसको शुद्ध आत्मा के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान होता है। इसप्रकार शुद्ध आत्मा के स्वरूप का और क्रोधादिरूप विभावभावों के स्वरूप का ज्ञान होनेपर उस ज्ञान के द्वारा ही उन दोनों में होनेवाले भेद का ज्ञान प्रकट हो जाता है। इस ज्ञान के प्रकट हो जानेपर आत्मा क्रोधादिरूप परभावों का त्याग करके शुद्धात्मा की अनुभूति में निमग्न हो जाती है। इस अनुभूति से शुद्ध आत्मा का अविनश्वर चैतन्य क्रम से प्रकट होता हुआ पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। जब आत्मा शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति में निमग्न होती है तब उसका विभावभावों के रूप से परिणमन नहीं होता और इसतरह विभावभावात्मक परिणामों का अभाव हो जानेसे उसके उपादानकर्तृत्व का भी अभाव हो जाता है।

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा।
स्यात्कर्ताऽऽत्माऽऽत्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्॥ ६१॥

अन्वयः– एवं अज्ञानं अपि आत्मानं अञ्जसा ज्ञानं कुर्वन् आत्मा आत्मभावस्य कर्ता स्यात् परभावस्य क्वचित् न।

अर्थ– इसप्रकार अर्थात् क्रोधादिभाव और शुद्ध आत्मा इनमें होनेवाले भेद के ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान के रूप से परिणत हुई आत्मा को भी परमार्थतः शुद्ध ज्ञानरूप से परिणत करनेवाली-शुद्धात्मा-नुभूति के द्वारा विभावभावों का अभाव करके शुद्धज्ञानमय बनानेवाली आत्मा (अन्तरात्मा) शुद्धचैतन्यान्वित अपने स्वभावपरिणाम का उपादानकर्ता होती है, भावद्रव्यकर्मरूप और नोकर्मरूप पररूप परिणामों का किसी भी काल में कर्ता-उपादानकर्ता नहीं होती।

त. प्र.– एवं क्रोधाद्यात्मनोरन्योन्यभिन्नत्वस्य ज्ञानस्य स्वरूपेण ज्ञानेन। भेदज्ञानेनेत्यर्थः। अज्ञानमपि शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपाज्ञानत्वेन परिणतमपि। यद्वा शुद्धात्मसंवित्तिविकलमपि। न विद्यते ज्ञानं शुद्धात्मसंवित्तिरूपं भेदज्ञानरूपं वा यस्य सोऽज्ञानः। तम्। एतादृगज्ञानभावेनानादेः परिणतमपी-त्यर्थः। आत्मानमशुद्धमात्मानमञ्जसा परमार्थतः ज्ञानं कुर्वञ्छुद्धात्मसंवित्तिबलेन प्रतिसमयं कर्मणां निर्जरां कृत्वा विज्ञानघनस्वरूपत्वेन परिणामयन्नात्मा वीतरागस्वसंवेदनवानात्माऽऽत्मभावस्यात्मनः शुद्धा-त्मत्वेन परिणतिक्रियायाः परिणामात्मिकायाः शुद्धात्मस्वरूपान्वितप्रतिसमयोत्पद्यमानशुद्धपरिणामस्य,

विज्ञानघनस्वभावात्मकपरिणामस्य वा कर्तोपादानकर्ता स्यान्नुभवति । परभावस्य भावद्रव्यात्मककर्मद्व-यस्य नोकर्मणश्च परद्रव्योपादानकस्य परिणामस्य कर्तोपादानकर्ता परम्परया निमित्तकर्ता च क्वचि-त्कस्मिंश्चिदपि काले न स्यान्न भवति ।

विवेचन– शुद्ध आत्मा की अनुभूति के विषय में प्रतिबन्ध करनेवाले मोहनीयकर्म के उदय से संसारी आत्मा अनादिकाल से आत्मानुभूति से वंचित रहनेसे अज्ञानी बनी हुई है । जब इसको शुद्ध आत्मा की अनुभूति की प्राप्ति होती है तब उसे विभावभावों के स्वरूप का अच्छा ज्ञान होनेसे और शुद्ध आत्मा के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हुआ होनेसे क्रोधादिभावों के स्वरूप में और शुद्ध आत्मा के स्वरूप में होनेवाले भेद का ज्ञान होता है । भेद के उस ज्ञान के कारण विभावभावों को त्याग कर वह शुद्ध आत्मा की अनुभूति के काल में तन्मय हो जाती है । इस तन्मयता के कारण वह प्रतिसमय कर्मों की अनंतगुणी निर्जरा करके विज्ञानघनरूप अवस्था को प्राप्त हो जाती है । जब वह शुद्ध आत्मा की अनुभूति करनेमें मग्न हो जाती है तब वह विभावभावों के रूप से परिणत न होनेसे विभावभावों का अभाव हो जानेके कारण उन विभावभावों का उपादानकर्ता नहीं होती । वह यदि उपादानकर्ता होती हो तो अपने शुद्धचैतन्यान्वित स्वभावभावों का हि उपादानकर्ता होती है–परभावों का उपादानकर्ता कदापि नहीं होती ।

आत्माऽज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ?
परभावस्य कर्ताऽऽत्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः– स्वयं ज्ञानं आत्मा ज्ञानात् अन्यत् अज्ञानं करोति किम् ? आत्मा परभावस्य कर्ता (इति) अयं व्यवहारिणां मोहः ।

अर्थ– स्वयं विज्ञानघनस्वरूप बनी हुई शुद्ध आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप ज्ञान से शुद्धात्मानुभूतिरूप या ज्ञप्ति-क्रियात्मक ज्ञान के परिणाम से भिन्न मिथ्याज्ञानान्वित विभावभावात्मक और ज्ञानशून्य पुद्गलोपादानक परिणाम को उपादानकर्ता के स्वरूप से परिणत होकर उत्पन्न कर सकती है क्या ? विभावभावात्मक अज्ञानोपादानक परिणाम का और ज्ञानशून्य पुद्गलोपादानक परिणाम का आत्मा कर्ता होती है ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का मोह है–अज्ञान है ।

अथवा

स्वयं विज्ञानघनस्वरूप ज्ञायक आत्मा आत्मस्वरूपानुभवनात्मक ज्ञप्तिक्रियारूप परिणाम को छोडकर अन्य अर्थात् जिसमें शुद्ध चैतन्य का अन्वय नहीं होता ऐसे मिथ्याज्ञानान्वित अज्ञानोपादानक विभावभावरूप और ज्ञानशून्य पुद्गलोपादानक परिणाम को उपादानकर्ता होकर उत्पन्न कर सकती है क्या ? विभावभावरूप अज्ञानोपादानक मिथ्याज्ञानान्वित भावकर्मरूप परिणाम का और ज्ञानशून्य पुद्गलस्वरूपान्वित पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्मरूप और नोकर्मरूप परिणाम का विज्ञानघन अवस्था को प्राप्त हुई आत्मा उपादानकर्ता होती है ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का मोह है–अज्ञान है ।

त. प्र.– स्वयमात्मना ज्ञानं निश्चयनयापेक्षया ज्ञानज्ञानिनोस्तादात्म्यसम्बन्धसद्भावाद्विज्ञानघ-नैकस्वभावादात्मनोऽभिन्नत्वाज्ज्ञानस्वरूप आत्मा शुद्ध आत्मा ज्ञानाद्विज्ञानघनैकस्वरूपान्वितात्स्वभाव-परिणामात् । ज्ञानं विज्ञानघनैकस्वभावरूपमस्त्यस्मिन्निति ज्ञानम् । विज्ञानघनस्वभावान्वयसमवेतं स्वभावपरिणाममित्यर्थः । तस्मात् । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयः । विज्ञानघनैकस्वभावरूपस्य ज्ञानस्य स्वभावपरिणामे यतः स्वरूपेणाऽन्वयोऽस्ति ततोऽत्र स्वभावपरिणामस्य ग्रहणम् । 'ल्यबे कर्मा-धारे' इति ल्यबे का । ततो ज्ञानादित्यस्य विज्ञानघनस्वभावान्वितस्वभावपरिणामं विमुच्येत्यर्थः । अन्यत्स्वरूपभेदादुपादानभेदाच्च स्वभावपरिणामाद्भिन्नमज्ञानं शुद्धज्ञानविकलं विभावभावात्मकं भाव-

क्रोधादिरूपं परिणामं शुद्धाशुद्धात्मज्ञानविकलं पुद्‍गलोपादानकं द्रव्यकर्मनोकर्मरूपं परिणामं च करोति जनयति किम्? भावद्रव्यकर्मनोकर्मात्मकत्वेन परिणमति किमिति प्रश्नार्थः। नैव परिणमतीति भावार्थः। शुद्धात्मसंवेदनरूपं ज्ञानं न विद्यतेऽस्मिन्नन्वितमित्यज्ञानम् । विभावभावात्मकं शुद्धज्ञानान्वयविकलं कार्यमित्यर्थः । आत्मा विज्ञानघनैकस्वभावश्शुद्ध आत्मा परभावस्य परद्रव्यभूताशुद्धात्मोपादानकविभावभावात्मकपरिणामस्य ज्ञानशून्यपुद्‍गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मनोकर्मरूपविभावभावात्मकपरिणामस्य च । परस्य शुद्धात्मनो भिन्नस्याशुद्धस्यात्मनो ज्ञानान्वयविकलस्पर्शादिगुणान्वितपुद्‍गलद्रव्यस्य च भावः परिणामः परभावः । तस्य । कर्तोपादानकर्ता भवतीति येऽभिमन्यते तेषां व्यवहारिणां शुद्धात्मस्वरूपसंवेदनजन्यपूर्णज्ञानविकलानां लौकिकव्यवहारमात्रावलम्बिनामज्ञानिनामयमेष मोहो मोहोदयाक्रमणजनिता भ्रान्तिः । यद्वा स्वयमात्मना ज्ञानं ज्ञायकः । द्रव्यभावकर्मवैकल्यप्रादुर्भूतविज्ञानघनैकस्वभावावस्थत्वाज्ज्ञायकभावमापन्नः । जानातीति ज्ञानम् । कर्तृसाधनोऽयं ज्ञानशब्दः । 'व्यानड्बहुलम्' इति कर्तर्यनट् । शुद्धस्यात्मनो ज्ञायकभावमात्ररूपत्वाद्द्रव्यभावकर्मनोकर्मात्मकपरिणामानामुपादानकर्तृत्वं तस्य तत्र स्वशुद्धस्वरूपेणान्वयाभावान्न सम्भवतीति भावः ।

विवेचन– शुद्ध आत्मा का स्वभाव शुद्धविज्ञानरूप होता है । स्वभावपरिणामों में वह अपने शुद्धस्वरूप से अन्वित होनेसे वह अपने स्वभावपरिणामों का उपादानकर्ता होती है । भावकर्म अशुद्धात्मोपादानक होनेसे और शुद्धात्मोपादानक न होनेसे उसमें शुद्धात्मस्वरूप का अन्वय पाया न जानेसे शुद्ध आत्मा भावकर्मरूप विभावभावात्मक परिणाम का और द्रव्यकर्म और नोकर्म पुद्‍गलद्रव्योपादानक होनेसे, शुद्धात्मोपादानक न होनेसे, अचेतन होनेसे और उनमें शुद्धचैतन्य का अन्वय पाया न जानेसे उन विभावभावात्मक परिणामों का उपादानकर्ता नहीं हो सकती । इन विभावभावों का उपादानकर्ता न होनेपर भी शुद्ध आत्मा को जो लोग उनका उपादानकर्ता मानते है वह उनका अज्ञान है–भ्रांति है–मूढता है।

तथा हि–

आत्मा परद्रव्योपादानक परिणामों का निमित्तमात्र होनेसे उसे जो कर्ता कहा जाता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है ऐसा कहते है–

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥ ९८ ॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थ– (**इह**) इस संसार–अवस्था में (**आत्मा**) (**शुद्ध**) आत्मा (**घटपटरथान्**) घट, पट, रथ, (**करणानि च**) इंद्रिया, (**कर्माणि च**) भावकर्म और द्रव्यकर्म, (**नोकर्माणि च**) और शरीरादिरूप नोकर्म इत्यादि (**विविधानि**) नानाप्रकार के जो परद्रव्योपादानक परिणाम होते हे उनको जो (**करोति**) करती है वह (**व्यवहारेण तु**) व्यवहारनय की दृष्टि से ही करती है अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से ही उन परिणामों का कर्ता कही जाती है; क्यों कि परद्रव्योपादानक परिणामों का उनमें स्वरूप से अन्वित न होनेके कारण उपादानकर्ता न होनेसे परमार्थतः कर्ता नहीं होती ।

[प्राकृतभाषा में रथशब्द नपुंसकलिंग भी होनेसे 'घडपडरथाणि' यह द्वन्द्वसमास नपुंसकलिंगप्रत्ययान्त है।]

आ. ख्या.– व्यवहारिणां हि यतः यथा अयं आत्मा आत्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादि परद्रव्यात्मकं बहिःकर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततः तथा क्रोधादि परद्रव्यात्मकं च समस्तं अन्तःकर्म अपि करोति, अविशेषात् इति अस्ति व्यामोहः।

त. प्र.– व्यवहारिणां शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपाज्ञानवतां व्यवहारनयावलम्बिनां हि परमार्थतो यतो यस्मात्कारणाद्यथा येन प्रकारेणायमेष आत्माऽनादेस्सादेर्वा कालादज्ञानभावेन परिणतो जीव आत्मविकल्पव्यापाराभ्यां स्वीयविचारात्मकमानसपरिणामहस्तसञ्चलनादिस्वीयशारीरक्रियात्मकपरिणामाभ्यां घटादि परद्रव्यात्मक परद्रव्योपादानकम्। पर शुद्धात्मनो भिन्नमचेतनस्वभावं च तद्द्रव्यं च परद्रव्यम्। तदेवात्मा शरीरं ध्रुवांशो वा यस्य तत्परद्रव्यात्मकम्। परद्रव्योपादानकमित्यर्थः। आत्मविकल्पव्यापाराभ्यामितिपदेन ससारिण आत्मनो ग्रहणं भवति, ससारिणोऽज्ञानिन आत्मन एव परद्रव्यविषयकविकल्पोत्पत्तिसम्भवाच्छरीरवत्त्वाद्धस्तसञ्चलनादिव्यापारसम्भवाच्छुद्धात्मनश्च तदसम्भवात्। बहिःकर्म घटपटरथादिकमात्मनाऽसम्बद्ध कर्म कार्यद्रव्यम्। घटादेरात्मनाऽऽत्मव्याप्तशरीरेण वाऽसम्बद्धत्वाद्बहिर्भावित्वमवसेयम्। कुर्वन्निमित्तकर्तृभूयोत्पादयन्प्रतिभाति प्रकटीभवति। वस्तुतः आत्मनो घटपटरथादिषु परद्रव्योपादानकेषु बाह्यपरिणामेषु स्वस्वरूपेणान्वयाभावादुपादानकर्तृत्वासम्भवेऽपि तस्य निमित्तमात्रत्वदर्शनात्कर्तृत्वमवभासते। यदत्र कर्तृत्वमात्मनोऽवभासते तन्निमित्तकर्तृत्वमेव। ततस्तस्मात्कारणात्। यतो घटपटरथादीनामात्मोपादानकर्तृकत्वाभावेऽपि तन्निमित्तकर्तृकत्वमवभासते ततस्तथा तेन प्रकारेण क्रोधादि भावद्रव्यक्रोधादि। परद्रव्यात्मकमशुद्धात्मरूपपरद्रव्योपादानक कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यरूपपरद्रव्योपादानक च समस्त सकलमन्तःकर्माऽपि भावद्रव्यक्रोधादिरूपमात्मनाऽशुद्धेन सम्बन्धमापन्न कर्म कार्यद्रव्यम्। क्रोधादेरात्मना साकमशुद्धात्मस्वामिकाज्ञानभावेन सम्बन्धविशेषद्वयमापन्नत्वादन्तःकर्मत्वमवसेयम्। करोत्युत्पादयति। जनयतीति भावः। अविशेषात्परद्रव्योपादानकत्वस्य समानत्वात्तेषां परिणामानां समानत्वात्। इत्येवमस्ति व्यामोहो भ्रान्तिः, मृत्तिकारूपपरद्रव्योपादानकघटोत्पत्तौ कुम्भकारस्य घटाकारविषयकविचारात्मकमानसक्रियापूर्विकां हस्तसञ्चालनादिरूपां शारीरीं क्रियां दृष्ट्वा तद्द्वारेण तस्य निमित्तकर्तृत्वमवलोक्य शुद्धात्मनो निर्विकल्पज्ञानरूपत्वादशरीरत्वाच्च मानसशारीरक्रियाभावे क्रोधादिपरिणामेषु स्वस्वरूपान्वयाभावे सत्यपि शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपादज्ञानात्तस्योपादानकर्तृत्वासम्भवेऽप्युपादानकर्तृत्वेन ग्रहणात्।

टीकार्थ– "जिसप्रकार यह (ससारी) आत्मा अपने विचाररूप मानस परिणाम और हस्तसचलनादिक्रियारूप शारीर व्यापार इनके द्वारा जिनके मृत्तिकादिरूप आत्मभिन्नद्रव्य उपादानकारण होते है ऐसे घटादिरूप बाह्य परिणामों को (निमित्तकर्तृरूप से उत्पन्न) करता हुई जब दिखाई देती है तब उसीप्रकार परद्रव्योपादानक भावकर्मरूप और द्रव्यकर्मरूप समस्त अन्तरग कर्म को भी–परिणाम को भी (कर्ता होकर उत्पन्न) करती है; क्योंकि घटादिरूप और क्रोधादिरूप परिणाम परद्रव्योपादानक होनेसे समान होते है" इसप्रकार शुद्धात्मस्वरूप के संपूर्ण ज्ञान का अभावरूप अज्ञान से व्यवहारनय का अवलंब लेनेवाले जीवों का यह वस्तुतः व्यामोह है–अज्ञान है–भ्रम है।

विवेचन– घटादिरूप कार्यद्रव्यों का उपादानकर्ता मृत्तिकासदृश आत्मभिन्न द्रव्य होता है। कुम्हार आदि घटादिरूप कार्यद्रव्य के स्वाभीष्ट विशिष्ट आकृति के बारेमें विचार करता हुआ हस्तसचलनादिरूप क्रियाओं के द्वारा घटादिरूप कार्यद्रव्यों की निष्पत्ति करता है। घटादिरूप कार्यद्रव्यों का आत्मद्रव्य के साथ तादात्म्यसंबंध और संश्लेषसंबंध इनमेंसे कौनसा भी संबंध न होनेसे घटादिरूप परिणामों को बहिःकर्म कहा है। घटादिरूप बहिरंग कार्यों

की उत्पत्ति इच्छापूर्वक की जाती है। इसप्रकार घटादिरूप बहिरंग परिणामों की–कार्यों की उत्पत्ति मानस और शारीर व्यापारों के द्वारा इच्छापूर्वक की जाती हुई देखकर भावक्रोधादिरूप, द्रव्यक्रोधादिरूप और नोकर्मादिरूप परिणामों की उत्पत्ति आत्मा के द्वारा उपादानकर्ता होकर की जाती है ऐसा जो व्यवहारी पुरुषों के द्वारा माना जाता है वह माननेवालों का भ्रम है; क्यों कि उन परिणामों की उत्पत्ति में विशिष्ट मानस परिणाम और शारीरक्रियारूप परिणाम कारणभूत नहीं होते। उनकी उत्पत्ति कर्मोदयरूप निमित्त से होती है। कर्मोदय से भावकर्मों की उत्पत्ति स्वयमेव होती है और भावकर्मों के निमित्त से द्रव्यकर्मरूप परिणामों की उत्पत्ति स्वयमेव हो जाती है। क्रोधादिपरिणामों का अशुद्ध आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध और संश्लेषसंबंध होनेसे इन्हें अंतरंगपरिणामरूप माना गया है। इन परिणामों का शुद्ध आत्मा के साथ किसी भी प्रकार का संबंध नहीं होता। बहिःकर्म और अन्तःकर्म परद्रव्योपादानक होनेपर भी बहिःकर्म जिसप्रकार आत्मविकल्प और शारीर व्यापारों की अपेक्षा रखते हैं उसीप्रकार अन्तःकर्म अपनी उत्पत्ति के समय आत्मविकल्प और शारीर व्यापारों की अपेक्षा नहीं रखते दूसरी बात यह है कि शुद्ध आत्मा परभावों के रूप से कदापि परिणत नहीं होती और परभावों के रूप से परिणत न होनेसे परभावों में अपने स्वरूप से अभिन्न भी नहीं होती। अतः वह परभावों की उपादानकर्ता नहीं हो सकती। वह कुम्हार जिसप्रकार घटादिरूप परद्रव्योपादानक परिणामों को अपने मानसपरिणामरूप और शारीरव्यापाररूप परिणामों के द्वारा उत्पन्न करता है उसीप्रकार भावकर्मादिरूप परभावों को शुद्ध आत्मा उत्पन्न नहीं करती; क्यों कि उसका ज्ञान क्षायिकभावरूप होनेसे परपदार्थविषयक विकल्पात्मक परिणामों के रूप से वह परिणत नहीं होता और अशरीर होनेसे उसके शारीरक्रिया का भी अभाव होता है। मानसक्रिया के और शारीरक्रिया के अभाव में शुद्ध जीव परद्रव्योपादानक कार्य की उत्पत्ति का कुम्हार के समान निमित्तकारण भी नहीं हो सकता। अत. जीव को परद्रव्योपादानकपरिणाम का निमित्तकर्ता मानना भ्रममूलक है। कुम्हार का दृष्टान्त इस प्रकरण में अकिंचित्कर है–कार्यकारी नहीं है; क्यों कि कुम्हार का ज्ञान क्षायोपशमिकभावरूप होनेसे वह परपदार्थविषयक विकल्पों के रूप से परिणत हो सकता है और वह सशरीर होनेसे उसकी शारीरक्रिया का सद्भाव भी हो सकता है। अतः प्रकृत प्रकरण में कुम्हार का दृष्टान्त दृष्टान्ताभासरूप होनेसे कार्यकारी नहीं है और उसके बलपर परद्रव्योपादानककार्य के विषय में शुद्ध आत्मा को निमित्तकर्तृता की सिद्धि भी नहीं हो सकती। संसारी आत्मा के परिणाम के निमित्तकर्तृत्व को देखकर उसको और शुद्ध आत्मा को परद्रव्योपादानकपरिणामों का उपादानकर्ता मानना भ्रममूलक है।

स न सन्–

पूर्वगाथा के द्वारा बताया गया व्यवहारी जनों का या व्यवहारनय का अवलंबन लेनेवाले जनों का व्यामोह समीचीन नहीं है यह बताते हैं–

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत्।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ– [यदि च] और यदि [सः] शुद्ध अवस्थावाली और अशुद्ध अवस्थावाली आत्मा [परद्रव्याणि] परद्रव्योपादानक कार्यद्रव्यों को [कुर्यात्] उपादानकर्ता होकर करे (तदा) तो वह [नियमेन] निश्चितरूप से [तन्मयः] परद्रव्यरूप [भवेत्] हो जाय। [यस्मात्] जिसकारण वह [तन्मयः] परद्रव्यरूप [न] नहीं होती [तेन] उसीकारण [सः] वह [तेषां] उन परद्रव्योपादानक कार्यद्रव्यों का [कर्ता] उपादानकर्ता [न भवति] नहीं होती।

आ. ख्या.– यदि खलु अयं आत्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्तेः नियमेन तन्मयः स्यात् । न च द्रव्यान्तरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेः तन्मयः अस्ति । ततः व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्ता अस्ति ।

त. प्र. यदि खलु परमार्थतोऽयमात्मा शुद्धोऽशुद्धो वा परद्रव्यात्मकं शुद्धात्मभिन्नाशुद्धात्मोपादानकमात्मभिन्नपुद्गलद्रव्योपादानकं वा कर्म भावद्रव्यकर्मात्मकं परिणामं कुर्यादुपादानकर्त्रीभूयोत्पादयेत्तदा तर्हि परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्तेः परिणामपरिणामिभावस्य परिणामिमयत्वाभावेऽघटनात् । परिणामिनः परिणामे स्वस्वरूपेणाऽन्वये सत्येव परिणामस्य परिणामिकार्यत्वसम्भवात्परिणामस्य परिणामिमयत्वमस्त्येव । परिणामस्य परिणामिमयत्वाभावे परिणामपरिणामिभावो न घटामटति यतस्ततः परिणामपरिणामिनोरन्योन्यानन्यत्वात्परिणामिन आत्मनः परद्रव्योपादानककर्मत्वापत्तेर्नियमेनैकान्ततस्तन्मयः परद्रव्यस्वरूपः स्याद्भवेत् । न च नैव द्रव्यान्तरमयत्वे शुद्धात्मद्रव्यभिन्नाशुद्धात्मद्रव्यमयत्वेऽशुद्धात्मद्रव्यभिन्नपुद्गलद्रव्यमयत्वे च द्रव्योच्छेदापत्तेश्शुद्धात्मद्रव्योच्छेदापत्तेरशुद्धात्मद्रव्योच्छेदापत्तेश्च तन्मयोऽशुद्धात्मादिद्रव्यमयः पुद्गलद्रव्यात्मकपरद्रव्यमयश्चास्ति । ततस्तस्मात्कारणाद्व्याप्यव्यापकभावेनान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन । अत्र परिणामपरिणामिभावस्य सद्भावादन्तर्व्याप्यव्यापकभावस्य ग्रहणं, निमित्तनैमित्तिकभावप्रकरण एव बाह्यव्याप्यव्यापकभावस्य गृह्यमाणत्वात् । न तस्य परद्रव्योपादानकस्य कर्मणोऽशुद्धात्मद्रव्योपादानकस्य भावकर्मात्मकस्य परिणामस्य पुद्गलद्रव्यपरिणामभूतस्य द्रव्यकर्मात्मकस्य कार्यस्य च शुद्ध आत्मा पुद्गलद्रव्योपादानकस्य द्रव्यकर्मात्मकस्य परिणामस्याशुद्ध आत्मा च कर्तोपादानकर्ताऽस्ति भवति । परद्रव्योपादानकं कर्माऽऽत्मा शुद्धश्चाशुद्धश्च स्वरूपेणादौ मध्येऽन्ते चाभिव्याप्योपादानकर्त्रीभूय न जनयतीति भावः । स्वस्वरूपपरित्यागमन्तरेण परद्रव्यात्मकत्वेन परिणतेरसम्भवाद्वस्तुमर्यादया च स्वस्वरूपपरित्यागासम्भवात्परद्रव्यत्वेन परिणमितुमशक्यत्वाच्चात्मनः परद्रव्यात्मकत्वेन परिणतेरभावादात्मा परद्रव्योपादानकस्य कर्मणः उपादानकर्ता भवतीति भावः ।

टीकार्थ– यदि परमार्थतः यह (शुद्ध और अशुद्ध) आत्मा परद्रव्य जिसका उपादानकारण होता है ऐसे परद्रव्यस्वरूपान्वित परिणाम का कर्ता अर्थात् उपादानकर्ता होकर उसको करे–उस परिणाम को उत्पन्न करे–उस परिणाम के रूप से परिणत हो जाय तो परिणामपरिणामिभाव की परिणाम और परिणामी इनमें तन्मयता–एकरूपता–अभिन्नता न हो तो सिद्धि न होनेसे पुद्गलोपादानकपरिणाममय अर्थात् परद्रव्यरूप बन जाय। अन्यद्रव्यरूप से परिणत होनेपर परद्रव्यरूप से परिणत होनेवाले द्रव्य का विनाश हो जानेकी आपत्ति उपस्थित हो जानेके कारण आत्मा तन्मय अर्थात् परद्रव्य के रूप से परिणत नहीं होती । उसकारण व्याप्यव्यापकभाव से आत्मा परद्रव्योपादानक परिणाम का कर्ता अर्थात् उपादानकर्ता नहीं होती ।

विवेचन– मृत्तिकारूप उपादान का जो घटरूप परिणाम होता है वह मृत्तिकारूप उपादान से भिन्न नहीं होता–वह मृत्तिकामय ही होता है । यदि मृत्तिका से घट अलग किया गया तो घट का भी अभाव हो जायगा । इससे उपादान अपने उपादेय को अपने स्वरूप से आदि, मध्य और अन्त में पूर्णरूप से व्याप्त करता है यह बात स्पष्ट हो जाती है । उपादेय के प्रत्येक अंश में–अवयव में उपादान का अस्तित्व अवश्यमेव रहता है । यदि अशुद्ध आत्मा परद्रव्योपादानक–पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मरूप परिणाम को उपादानकर्ता होकर उत्पन्न करने लगी तो वह निश्चितरूप से तन्मय अर्थात् पुद्गलद्रव्यमय बन जायगी; क्यों कि उपादेयभूत पुद्गलकर्म अचेतन होनेसे और उपादानभूत आत्मा उसमें स्वस्वरूप से पूर्णतया अन्वित होनेसे उपादानभूत आत्मा को अपने स्वरूप को त्यागकर परद्रव्यरूप से परिणत होना पड़ता है । ऐसा नियम है कि जिनमें परिणामपरिणामिभाव होता है उनमें से जो

परिणाम होता है वह परिणामिमय होता है । यदि परिणाम परिणामिमय न हो तो उन दोनों में होनेवाले परिणामपरिणामिभाव का सद्भाव नहीं रह सकता । सारांश, परिणाम और परिणामी इनमें स्वभाव की अपेक्षा से भेद नहीं हो सकता फिर भले ही पर्याय की प्रधानता की दृष्टि से परिणाम परिणामी से कथंचित् भिन्न हो । परद्रव्योपादानकपरिणाम का आत्मा यदि उपादानकर्ता हो गई तो आत्मा और परद्रव्योपादानकपरिणाम इनमें अभेद की सिद्धि हो जायगी और अभेद की सिद्धि हो जानेके कारण परद्रव्योपादानक परिणाम जिसप्रकार अचेतन होता है उसीप्रकार अपने चेतनस्वभाव को त्यागकर आत्मा को भी अचेतन बनना होगा और अचेतन बननेसे चेतन आत्मा भी अचेतन-परद्रव्यरूप बन जायगी । वस्तुव्यवस्था के अनुसार एकद्रव्य अपने स्वभाव को त्यागकर अन्यद्रव्य के रूप से कदापि परिणत नहीं हो सकता । यदि एकद्रव्य अन्यद्रव्य के रूप से परिणत होते समय अपने स्वरूप का त्याग करने लगा तो स्वभावपरित्यागिद्रव्य का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । इस वस्तुव्यवस्था के अनुसार जब आत्मा अपने स्वरूप का त्याग नहीं कर सकती और अत एव परद्रव्यात्मक परिणाम के रूप से परिणत नहीं हो सकती तब परद्रव्योपादानक परिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकती; क्यों कि बहिर्व्याप्यव्यापकभाव से परद्रव्यात्मक परिणाम का यद्यपि वह विभावभावरूप से परिणत होकर निमित्तकर्ता हो सकती है तो भी परद्रव्यात्मक परिणाम और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव न होनेसे वह परद्रव्यात्मक परिणाम का उपादानकर्ता कदापि नहीं हो सकती। शुद्ध आत्मा की दृष्टि से विशुद्ध आत्मा परद्रव्यरूप होनेसे उस आत्मा के परिणामभूत विभावभावों में शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से अन्वित न होनेसे और उसीप्रकार पुद्गलादिरूप भिन्न द्रव्यों के परिणामों में भी अपने स्वरूप से पूर्णरूप से अन्वित न होनेसे उन परिणामों का वह उपादानकर्ता नहीं सकती । यदि अशुद्ध आत्मा के विभावभावात्मक परिणामों का शुद्ध आत्मा को उपादानकर्ता माना तो उक्तप्रकार से शुद्ध आत्मा को भी अशुद्धात्मस्वरूप मानना होगा । ऐसा माननेसे आत्मा की एक संसारावस्था हो बनी रहेगी-उसकी मुक्तावस्था का सर्वथा अभाव हो जायगा । आत्मा की दोनों अवस्थाओं का सद्भाव पाया जानेसे उसकी मुक्तावस्था का अभाव किसीप्रकार भी नहीं माना जा सकता । अतः शुद्ध आत्मा भी भावक्रोधादिरूप विभावभावों का और परद्रव्यात्मकपरिणामों का उपादान कर्ता नहीं हो सकती । यदि आत्मा को एकान्तरूप से अर्थात् निमित्तरूप से और उपादानरूप से भी परद्रव्यात्मक परिणामों का कर्ता मान लिया तो आत्मा की परद्रव्य के रूप से परिणति हो सकती है ऐसा माननेका प्रसग उपस्थित हो जायगा जो कि वस्तुव्यवस्था के विरुद्ध पडता है । अतः आत्मा को परद्रव्योपादानक परिणामो का उपादानकर्ता नही माना जा सकता ।

निमित्तनैमित्तिकभावेन अपि न कर्ता अस्ति–

यद्यपि आत्मा उपादानोपादेयभाव से परद्रव्योपादानक परिणाम का उपादानकर्ता नहीं होती तो भी कुम्हार और घट में निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव होनेसे कुम्हार जिसप्रकार घट का निमित्तकर्ता होता है उसीप्रकार आत्मा और परद्रव्योपादानक परिणाम इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव का सद्भाव होनेसे आत्मा परद्रव्योपादानक परिणाम का निमित्तकर्ता होती है ऐसा कहना हो तो ' आत्मा और परद्रव्योपादानक परिणाम इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव का वस्तुतः सद्भाव न होनेसे निमित्तनैमित्तिकभाव से आत्मा परद्रव्योपादानक परिणाम का निमित्तकर्ता नहीं होती । निमित्तनैमित्तिकभाव तो आत्मपरिणाम और परद्रव्यात्मकपरिणाम इनमें होता है ' इसी अभिप्राय को निम्न गाथा के द्वारा आचार्य स्पष्ट करते है ।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०० ॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकाणि द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ-- यह संसारी (जीवः) जीव स्वयं निमित्तकर्ता होकर (घटं) मृत्तिकोपादानक घट को (न करोति) मृत्तिकारूप उपादान से उत्पन्न नही करता, अपने तंतुरूप उपादान से (पटं) पट को--वस्त्र को (न एव) उत्पन्न करता ही नही और (शेषकाणि) घटपट से भिन्न परद्रव्योपादानक अवशिष्ट (द्रव्याणि) कार्यरूप द्रव्यों को-- परिणामो को (न एव) अपने अपने उपादान से उत्पन्न करता ही नही। (योगोपयोगौ च) आत्मा का बहिरंग हस्तसंचालनादिक्रियारूप परिणामरूप और विचाररूप अंतरंग मानस परिणाम ये दो हि (उत्पादकौ) उन परद्रव्योपादानक घटपटादिपरिणामों को उत्पन्न करनेवाले निमित्तकर्ता होते हैं। (तयो) उस हस्तसंचालनादिक्रियारूप परिणाम का और विचाररूप मानसपरिणाम का जीव (कर्ता) उपादानकर्ता (भवति) होता है।

आ. ख्या.-- यत् किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तत् अयं आत्मा तन्मयत्वानुषङ्गात् व्याप्यव्यापकभावेन तावत् न करोति। नित्यकर्तृत्वानुषङ्गात् निमित्तनैमित्तिकभावेन अपि न तत् कुर्यात्। अनित्यौ योगोपयोगौ एव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ। योगोपयोगयोः तु आत्मविकल्पव्यापारयोः कदाचित् अज्ञानेन करणात् आत्मा अपि कर्ता अस्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात्।

त. प्र.-यद्विशिष्टम। किलेति वाक्यालङ्कारे। घटादि मृत्तिकोपादानकमुपादेयभूतं कुटशरावादि क्रोधादि पुद्गलद्रव्योपादानकमुपादेयभूत पुद्गलकर्मरूपमशुद्धस्यात्मनः क्रोधादिरूपविभावभावजननसामर्थ्यसम्पन्नत्वात्तदुत्पत्तौ निमित्तमात्रीभवनात्क्रोधादिसञ्ज्ञामावहदशुद्धात्मद्रव्योपादानकं च तदुपादेयभूतं क्रोधादिसञ्ज्ञामावहद्वा परद्रव्यात्मकं शुद्धात्मभिन्नद्रव्योपादानकं कर्मोपादेयभूतः परिणामः। परद्रव्येणाऽत्र शुद्धात्मनो भिन्नस्य पुद्गलद्रव्यस्याशुद्धस्य चात्मनो ग्रहणम्। तत्कर्माऽयमात्मा शुद्धावस्थोऽशुद्धावस्थश्चात्मा तन्मयत्वानुषङ्गात्परिणामोपादानकारणभूतपरद्रव्यत्वेनाऽऽत्मनः परिणमनप्रसङ्गाद्व्याप्यव्यापकभावेनान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन तावत्परमार्थतो न करोत्युपादाकर्त्रीभूय नोत्पादयति। परद्रव्योपादानकं परिणाममादौ मध्येऽन्ते च स्वस्वरूपेणाभिव्याप्य नोत्पादयति परद्रव्यात्मकपरिणामस्यात्मव्याप्यत्वाभावादात्मनश्च स्वस्वरूपेण तद्व्यापकत्वाभावादित्यर्थः। नित्यकर्तृत्वानुषङ्गादात्मन उत्पादव्ययविकलस्य नित्यत्वात्परद्रव्यस्य च परिणमनशीलत्वान्नित्यमेव परिणमनाभिमुखत्वात्परद्रव्यात्मकपरिणामस्यात्मनो नित्यमेव निमित्तकर्तृत्वापत्तेर्निमित्तनैमित्तिक भावेनाऽपि न तत्परद्रव्यात्मकं घटादि क्रोधादि वा कर्म कुर्यान्निमित्तकर्त्रीभूय जनयेत्। जनयितुं न शक्त इत्यर्थः। 'शकि लिङ् च' इति शक्तार्थे लिङ्। आत्मन उत्तरपर्याये पूर्वपर्यायस्य स्वस्वरूपेणान्वयाभावात्पूर्वपर्यायविनाशमन्तरेणोत्तरपर्यायस्योत्पत्त्यसम्भवात्पूर्वपर्यायस्योत्तरपर्यायस्य निमित्तमात्रत्वम्। अशुद्धात्मपर्यायस्यात्मनश्शुद्धपर्याये स्वस्वरूपेणान्वयस्याभ्युपगमे केवलज्ञानात्मकशुद्धपर्यायस्याप्यशुद्धत्वापत्तेरात्मनश्शुद्धाशुद्धावस्थयोरभेद आपद्येत। अतोऽशुद्धात्मपर्यायशुद्धात्मपर्याययोर्निमित्तनैमित्तिकभाव एव, नोपादानोपादेयभावः। घटादीनां क्रोधादीनां च परद्रव्यात्मकानां परिणामानामुत्पत्तौ शुद्धात्मनो निमित्तकर्तृत्वस्याभ्युपगमे तस्य पर्यायविकलद्रव्यापेक्षया नित्यत्वात्परद्रव्यस्य परिणमशीलत्वात्परिणमनाभिमुखत्वाच्छुद्धात्मनो घटादेः क्रोधादेश्च

नित्यं निमित्तकर्तृत्वमापद्यते । ततश्च क्रोधादिपरभावानां शुद्ध आत्मा निमित्तकर्ताऽपि न भवति। उत्पादव्ययविकलध्रौव्यात्मकात्मद्रव्यस्य निमित्तकर्तृत्वस्याभ्युपगमे तद्विभावपरिणामानां निमित्तकर्तृत्वानभ्युपगमे च घटादिक्रोधादिरूपाणा परद्रव्योपादानकानां परिणामानामनवरतमुत्पत्ति प्रसङ्गात्तोत्पादव्ययात्मकपरिणामविकलध्रौव्यमात्रात्मकस्यात्मनस्तन्निमित्तकर्तृत्वं कदापि सम्भवति । अतस्तादृशस्यात्मनो निमित्तकर्तृत्व परिहृत्य तद्विभावपरिणानामेव तदुत्तरमर्यायाणां तथा घटादीनां द्रव्यक्रोधादीनां च परद्रव्योपादानकानां निमित्तकर्तृत्वमभ्युपेय, नात्मनः । अनित्यावुत्पद्यविनाशिनौ योगोपयोगावेव शारीरमानसक्रिय एव तत्र परद्रव्योपादानकस्य घटादेः क्रोधादेश्च परिणामस्योत्पत्तौ निमित्तत्वेन निमित्तीभूय कर्तारौ जनकौ । योगोपयोगयोश्शारीरमानसव्यापारात्मकपरिणामयोः । उपयोगस्य चैतन्यानुविधायात्मपरिणामत्वात्क्षायोपशमिकज्ञानपरिणामत्वाच्च योगशब्देन हस्तसञ्चालनादिरूपशारिरपरिणामस्य ग्रहण भवति । आत्मविकल्पव्यापारयोर्विपरीतमानसपरिणामशारीरक्रियात्मकपरिणामयोः । आत्मनो मनसो विकल्पो विपरितः परिणाम आत्मविकल्पः । मानस परिणामस्य शुद्धात्मभिन्नपदार्थविषयत्वाद्विपरीतत्वम् । पक्षे, आत्मनश्शरीरस्य व्यापारो हस्तसञ्चालनाद्यात्मकः क्रियारूपः परिणामः । तयोरात्मविकल्पव्यापारयोः । आत्मशब्दो मनःशरीरात्मकार्थद्वयवचनः । 'आत्मा ब्रह्ममनोदेहस्वभावधृतिबुद्धिषु । आत्मायत्तपि ' इति विश्वलोचने । तेन शारीरक्रियात्मकयोगमानस व्यापारात्मकोपयोगयोरित्यर्थः । कदाचित्कस्मिंश्चित्तत्काले । न सर्वस्मिन्कालेऽविच्छेदेनेत्यर्थः । अज्ञानेन शुद्धात्मसवित्यभावात्मकेनाज्ञानेन करणाज्जननादात्माप्यशुद्ध आत्माऽपि कर्तोपादानकर्ताऽस्तु भवतु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता परद्रव्योपादानकपरिणामानां कर्ता निमित्तकर्तोपादानकर्ता च स्याद्भवेद्भवितुमर्हति । 'तृज्व्याश्चार्हे ' इत्यर्हार्थे लिङ् ।

टीकार्थ-- आत्मद्रव्य से भिन्न अचेतनद्रव्य जिसका उपादानकारण है ऐसा जो घटादिरूप और क्रोधादिरूप परिणाम है उस परिणाम को यह आत्मा परद्रव्यरूप से परिणत हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे व्याप्यव्यापक भाव से अर्थात् उपादानोपादेयभाव से परमार्थतः उत्पन्न नहीं करती । नित्यकाल कर्ता (निमित्तकर्ता) बन जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे निमित्तनैमित्तिकभाव से भी उस घटादिरूप और क्रोधादिरूप परद्रव्योपादानक परिणाम को उत्पन्न नहीं कर सकती । अनित्य अर्थात् उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होनेवाले शारीरक्रियारूप योग और मानसक्रियारूप उपयोग ही घटादिरूप और क्रोधादिरूप परिणामो की उत्पत्ति में निमित्तरूप से कर्ता होते हैं । योगरूप शारीरक्रिया और उपयोगरूप मानसक्रिया इन दोनों को कदाचित् (अपने) अज्ञानभाव के कारण उत्पन्न करने से उन दोनों (प्रकार के) परिणामो का आत्मा भी (कदाचित्) कर्ता (उपादानकर्ता) भले ही हो तथापि परद्रव्योपादानक परिणामो का (निमित्तरूप से कदापि) कर्ता होनेके योग्य नहीं है ।

विवेचन-- घटादिरूप और द्रव्यक्रोधादिरूप कार्यद्रव्यो का उपादानकारण पुद्गलद्रव्य होता है । वह पुद्गल द्रव्य अचेतन होनेसे चेतन आत्मद्रव्य से भिन्न होनेसे परद्रव्य है । यह पुद्गलद्रव्य घटादिरूप और क्रोधादिरूप कार्यद्रव्यों को अपने स्वरूप से आदि, मध्य और अंत मे व्याप्त करता है और व्याप्त करनेवाला होनेसे वह व्यापक कहा जाता है । घटादिरूप और क्रोधादिरूप पुदगलद्रव्य के परिणाम पुद्गलद्रव्य के द्वारा व्याप्त किये जानेवाले होनेसे व्याप्य कहे जाते है । उपादान उपादेय को अपने स्वरूप मे व्याप्त करनेवाला होनेसे और उपादेय व्याप्त किया जानेवाला होनेसे उपादान और उपादेय इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है । इसप्रकार घटादिरूप और क्रोधादिरूप उपादेयभूत परिणामों को पुद्गलद्रव्य अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव से उत्पन्न करता है यह बात स्पष्ट हो जाती है । यद्यपि घटादिरूप और क्रोधादिरूप पुद्गलद्रव्योपादानक परिणामों की उत्पत्ति कुम्हार आदि के शारीर

और मानस क्रियाओं के अभाव में उत्पन्न नहीं होते इसलिये उन परिणामों में और सव्यापार आत्मा में बाह्यव्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होता है तो भी घटादिरूप और क्रोधादिरूप पुद्गलोपादानक परिणाम और आत्मा इनमें अन्त-र्व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता; क्यों कि आत्मा अपने स्वरूप से उन घटादिरूप और द्रव्यक्रोधादिरूप परिणामों को आदि मध्य और अन्त में व्याप्त नही करती। घटादिरूप और द्रव्यक्रोधादिरूप परिणाम तो अचेतन होते हैं; क्यों कि उनमें अचेतन पुद्गलद्रव्य का स्वस्वरूप से अन्वय होता है । यदि उन परिणामों में आत्मा का स्वस्वरूप से अन्वय होता तो वे परिणाम सचेतन पाये जाते, किंतु ये परिणाम सचेतन नहीं पाये जाते । अतः ये परिणाम आत्मस्वरूपान्वित नहीं हैं–अचेतन पुद्गलद्रव्यस्वरूपान्वित हैं । ऐसा होते हुए भी इन परिणामों में आत्मा का स्वस्वरूप से अन्वय होता ही है ऐसा माना गया तो ' कार्याल्लिङ्गास्स्वयमधिगतात्कारणस्यानुमानम् ' इस वचन के अनुसार वे कार्यरूप परिणाम अचेतन होनेसे उसका उपादानकारणरूप मानी जानेवाली आत्मा को भी अचेतन मानना होगा, जो कि असंभव है । वस्तुव्यवस्था के अनुसार एक वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग कदापि नहीं कर सकती और परद्रव्य के रूप से कदापि परिणत नहीं हो सकती । अतः घटादिरूप और क्रोधादिरूप परिणामों में आत्मा का स्वस्वरूप से अन्वय पाया न जानेसे वे परिणाम आत्मा के व्याप्य नहीं है और आत्मा उन परिणामों को अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवली न होनेसे वह व्यापक नहीं है। इसप्रकार वे परिणाम और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव नहीं है। यदि उन परिणामों में और आत्मा में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है ऐसा मान लिया तो आत्मा परद्रव्य के रूप से परिणत होती है इस बात को स्वीकार करनेका प्रसग उपस्थित हो जायगा । अत वे परिणाम और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे आत्मा उन परिणामों का उपादानकर्ता नहीं हो सकती और उपादानकर्ता न होनेसे उनको अपनेसे उत्पन्न नहीं कर सकती । सारांश, परद्रव्य के रूप से परिणत हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे घटादिरूप और द्रव्यक्रोधादिरूप परिणामों को आत्मा अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव से उत्पन्न नहीं कर सकती । घटादिरूप और द्रव्यक्रोधादिरूप परिणाम और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे जिसप्रकार आत्मा उन परिणामों का उपादानकर्ता नहीं होती उसीप्रकार वे परिणाम और आत्मा इनमें निमित्तनै-मित्तिक भाव का अभाव होनेसे आत्मा उन परिणामों का निमित्तकर्ता भी नहीं हो सकती । कुम्हार की शारीरक्रिया और मानसक्रिया तथा घटादिरूप मृत्तिकोपादानक परिणाम इनमें ही निमित्तनैमित्तिकभाव होता है। कुम्हार की शारीरक्रिया और मानसक्रिया ही उन परिणामों का निमित्तकर्ता होती है । उन दोनो क्रियाओ के अभाव में कुम्हार उस पुद्गलद्रव्योपादानक घटादिरूप परिणाम का निमित्तकर्ता नहीं हो सकता । आत्मा के विभावभाव और पुद्गल-कर्म इनमें ही निमित्तनैमित्तिकभाव होता है; क्यों कि आत्मा की विभावरूप परिणति के अभाव में कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल द्रव्यक्रोधादिरूप से परिणत नहीं होते । अतः द्रव्यक्रोधादिरूप परिणति का निमित्तकर्ता आत्मा के विभावप-रिणाम ही होते है–विभावभावात्मक परिणति के अभाव में आत्मा द्रव्यक्रोधादिरूप परिणाम का निमित्तकर्ता नहीं होती । यदि शारीर और मानस क्रियाओ के अभाव में भी सिर्फ आत्मा को ही उन परिणामों का निमित्तकर्ता माना तो निष्पर्याय आत्मा ध्रुव–नित्य होनेसे और परद्रव्य परिणमनशील होनेके कारण नित्यकाल परिणमनाभिमुख होनेसे उक्त परिणामों की उत्पत्ति नित्यकाल होने लग जानेसे आत्मा को नित्यकाल निमित्तकर्ता माननेका प्रसग उपस्थित हो जायगा । घटादिरूप परिणामों की उत्पत्ति नित्यकाल होती हुई नहीं देखी जाती । अतः निष्पर्याय आत्मा पर-द्रव्योपादानक घटादिरूप और द्रव्यक्रोधादिरूप परिणामो का निमित्तकर्ता नही हो सकती । जब घटादिरूप परद्रव्यो-पादानक परिणामों की उत्पत्ति नित्यकाल नहीं होती तब उन परिणामों का निमित्त भी नित्य नहीं होना चाहिये; क्यों कि निमित्त का सद्भाव नित्यकाल रहा तो परिणमनशील परद्रव्यों के परिणामों की उत्पत्ति भी नित्य होती रहेगी । अतः आत्मा नित्य होनेसे उसके नित्यकाल निमित्तकर्ता बन जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे निष्पर्याय आत्मा निमित्तनैमित्तिकभाव से भी परद्रव्योपादानक परिणाम की उत्पत्ति नहीं कर सकती । द्रव्यदृष्टि से केवल द्रव्य नित्य होता है और उसकी पर्यायें उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होनेवाली होनेसे अनित्य होती है । शरीर की हस्तसंचालनादिरूप किया आत्मप्रदेशों के परिस्पंद से अभिव्यक्त होनेवाली होनेसे और परिस्पंद आत्मोपादानक

होनेसे वह क्रिया आत्मपर्यायरूप ही है । मानसक्रिया भी आत्मपर्यायरूप है । ये दोनों क्रियाएं आत्मपर्यायरूप होनेसे उत्पत्तिविनाशयुक्त होनेसे अनित्य है । ये दोनों क्रियाये ही घटादिरूप और द्रव्यक्रोधादिरूप परद्रव्योपादानक परिणामों की उत्पत्ति के विषय में निमित्तरूप कर्ता होती है । शारीरक्रिया को योग कहते है और मानसक्रिया को उपयोग कहते है । कुम्हार का उपयोग बहिर्मुख होनेसे और भावक्रोधादिरूप उपयोग विभावरूप होनेसे अशुद्ध ही होते है । उपयोग आत्मा का चैतन्यानुविधायी परिणाम होनेसे उसका मानसक्रियारूप से ग्रहण होता है । इसप्रकार योग और उपयोग आत्मा के ही परिणाम है और वे ही परद्रव्योपादानक परिणामों का निमित्तकर्ता होते हैं । वे योगोपयोगरूप परिणाम आत्मोपादानक होनेसे आत्मा अज्ञान के कारण उन परिणामों का उपादानकर्ता होती है । यद्यपि आत्मा उन परिणामों का उपादानकर्ता होती है तो भी वह परद्रव्योपादानक परिणामों का निमित्तकर्ता नहीं हो सकती; क्यो कि परद्रव्योपादानकपरिणामों का नित्यकाल निमित्तकर्ता हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है सारांश, परद्रव्योपादानक परिणामों का उपादानकर्ता हो जानेके कारण परद्रव्यरूप से परिणत हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे आत्मा परद्रव्योपादानक परिणामों का उपादानकर्ता नहीं होती और नित्यकाल निमित्तकर्ता हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे वह उन परद्रव्योपादानकपरिणामो का निमित्तकर्ता भी नहीं होती ।

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्–

त. प्र.– ज्ञानी वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी ज्ञानस्वभावो वा जीवो ज्ञानस्यैव शुद्धज्ञानपरिणामस्य चैतन्यान्वितविभावपरिणामस्य चैव कर्तोपादानकर्ता स्याद्भवति । विधावत्र लिङ् । अत्रैवकारेण ज्ञानविकलस्य पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामस्य योगो व्यवच्छिन्नः । तेनात्मभिन्नद्रव्योपादानकपरिणामानामात्मोपादानकर्ता न भवतीति प्रतिपादितम् ।

वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी शुद्धज्ञान के शुद्धज्ञानान्वित परिणाम का ही और सरागसवेदनज्ञानी चैतन्यान्वित विभावपरिणामों का ही उपादानकर्ता होता है–अन्यद्रव्योपादानक अचेतन परिणामो का उपादानकर्ता नहीं होता यह बताते है–

जे पुग्गलव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणि ॥१०१॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणा. ।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ-- (**पुद्गलद्रव्याणा**) कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलरूप उपादान के (**ये**) जो (**ज्ञानावरणाः**) आत्मस्वभावभूत ज्ञान को आवृत्त करनवाले उपादेयभूत (**परिणामाः**) परिणाम (**भवन्ति**) होते है (**तानि**) उन परिणामो को और उनके सदृश अन्य द्रव्यकर्मरूप सभी परिणामो को (**आत्मा**) ज्ञानी और अज्ञानी आत्मा (**न करोति**) अपने चैतन्यरूप से व्याप्त करके उत्पन्न नही करती अर्थात् उन परद्रव्योपादानक परिणामों के रूप मे परिणत नही होती । इसप्रकार (**यः**) जो आत्मा (**जानाति**) जानती है अर्थात् निर्विकल्पसमाधि मे मग्न होकर अनुभव करती है (**सः**) वह उक्तप्रकार से अनुभव करनेवाला आत्मा (**ज्ञानी**) ज्ञानी (**भवति**) होता है ।

'ज्ञानावरणाः' यह 'परिणामाः' इस पद का विशेषण होनेसे 'परिणामा' इस पद के जो लिग, वचन और विभक्ति है वे ही लिंग वचन और विभक्ति 'ज्ञानावरणाः' इस पद की है । अत. णाणआवरणः' इस प्राकृत

पद की संस्कृतच्छाया 'ज्ञानावरणाः' ऐसी ही होनी चाहिये । इस पद का स्पष्टीकरण 'व्यानड्बहुलम्' इस सूत्र के अनुसार 'ज्ञानमावृण्वन्त्यावारयन्तीति वा ज्ञानावरणा.' या 'करणाधारे चानट्' इस सूत्र के अनुसार 'ज्ञानमाव्रियत एभिरिति ज्ञानावरणाः' ऐसा है गाथा के उत्तरार्ध में 'तानि' यह नपुंसकलिंगप्रत्ययान्त प्रयोग 'सामान्ये नपुंसकम्' इस वचन के अनुसार किया गया है । उससे पुद्गलद्रव्य के उक्त परिणामों से पुद्गलकर्मों का ग्रहण होता है । 'ज्ञानावरणाः' पद उपलक्षणार्थक है । अत उससे अवशिष्ट सात द्रव्यकर्मों का और तत्सदृश अन्यपरिणामों का भी ग्रहण हो जाता है ।

आ. ख्या.– ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामाः गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत् पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवन्तः ज्ञानावरणानि भवन्ति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी; किंतु यथा स गोरसाध्यक्ष. तद्दर्शनं आत्मव्याप्तत्वेन प्रभवत् व्याप्य पश्यति एव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तं ज्ञानं आत्मव्याप्य-(प्त)-त्वेन प्रभवत् व्याप्य जानाति । (एव) ज्ञानी ज्ञानस्य एव कर्ता स्यात् । एवं एव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेन उपन्यासात् दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसूत्रैः सप्तभी. सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशा अन्यानि अपि ऊह्यानि ।

त. प्र.– ये खलु परमार्थतः पुद्गलद्रव्याणामुपादानभूतानां पुद्गलद्रव्यस्वरूपान्विताः परिणामा उपादेयभूतानि कार्यद्रव्याणि गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत् । यथा दधिरूप आम्लपरिणामो दुग्धरूपश्च मधुरपरिणामो गोरसेन व्याप्तो भवति तथा । गोरसव्याप्तौ च तौ दधिदुग्धमधुराम्लपरिणामौ च गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामौ । तयोरिव । 'तस्य' इति तासमर्थादिवार्थे वत् । पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेनोपादानभूतपुद्गलद्रव्येण स्वस्वरूपेणादौ मध्येऽन्ते च व्याप्ताः पुद्गलद्रव्यव्याप्ताः । तेषां भावः पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वम् । तेन तद्रूपेण । भवन्त उत्पद्यमाना ज्ञानावरणानि ज्ञानस्यावरणानि प्रच्छादकानि । ज्ञानमावृण्वन्तीति ज्ञानावरणानि । 'व्यानड्बहुलम्' इति कर्तर्यनट् । यद्वा ज्ञानमाव्रियत एभिरिति ज्ञानावरणानि । 'करणाधारे चानट्' इति करणेऽनट् । अनेन ज्ञानावरणानीति विशेषणेन 'विशेषणग्रहणेन विशेष्यस्यापि ग्रहणं भवति' इति न्यायेन विशेष्यभूतानां कर्मणां ग्रहणं भवति । कर्मशब्दस्य नित्यनपुंसकलिङ्गत्वात्तद्विशेषणस्य । ज्ञानावरणानीति पदस्य नपुंसकलिङ्गप्रत्ययान्तत्वम् । भवन्ति जायन्ते । स्वोदयेन ज्ञानावरणशक्तिमाविर्भावयन्तीत्यर्थः । तानि ज्ञानावरणानि कर्माणि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव मुक्तगोरससम्पर्कगोरसस्वामीव । तटस्थो मुक्तगोरससम्पर्कश्चासौ गोरसाध्यक्षो गोरसस्वामी च तटस्थगोरसाध्यक्षः । यथा तटस्थो गोरसाध्यक्ष उपादानकर्त्रीभूय गोरस नोत्पादयति तथा न नाम करोत्युपादानकर्त्रीभूय न जनयति ज्ञानी वीतरागस्वसंवेदज्ञानी सामान्येन ज्ञानस्वभाव आत्मा वा । किन्तु यथा येन प्रकारेण स गोरसाध्यक्षो गोरसस्वामी तद्दर्शनं गोरसावलोकनरूपमात्मपरिणाममात्मव्याप्तत्वेनात्मचैतन्यस्वरूपव्याप्तत्वेन । आत्मना स्वस्वरूपभूतचैतन्येन व्याप्तमात्मव्याप्तम् । तस्य भाव आत्मव्याप्तत्वम् । तेन । आत्मव्याप्तत्वरूपेणेत्यर्थः । प्रभवदात्मन उपादानभूतादुत्पद्यमानं व्याप्य स्वीयचैतन्यस्वरूपेणाभिव्याप्य पश्यत्यवलोकयत्येव तथा तेन प्रकारेण पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तं पुद्गलद्रव्यस्य पुद्गलद्रव्योपादानकतत्स्वरूपव्याप्तघटादिद्रव्यक्रोधादिरूपः पुद्गलद्रव्यपरिणामः । स

निमित्तं परिणामविषयकज्ञानोत्पत्तौ सहकारिकारणं यस्य तत्पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तम् । ज्ञानं पुद्गलद्रव्यपरिणामज्ञानमात्मव्याप्तत्वेनात्मना स्वस्वरूपेण या व्यापनक्रिया तस्या विषयीभूतत्वेन प्रभवत्प्रादुर्भवद्व्याप्य स्वस्वरूपेणाभिव्याप्य जानात्येव । एवममुना प्रकारेण ज्ञानी वीतराग-स्वसंवेदनज्ञानी सामान्यतो ज्ञानस्वभाव आत्मा वा ज्ञानस्य ज्ञेयभूतात्मभिन्नकार्यद्रव्यज्ञानस्यैव कर्तोपादानकर्ता स्याद्भवति । विधावत्र लिङ् । एवमेव चामुना प्रकारेणैव च ज्ञानावरणपद परिवर्तनेन ज्ञानावरणपदं परिवर्त्य तत्स्थाने कर्मसूत्रस्य कर्मव्यवस्थायाः । 'सूत्रं तु सूचनाग्रन्थे सूत्रं तन्तुव्यवस्थयोः' इति विश्वलोचने । विभागेन विभागं कृत्वोपन्यासादुपस्थापनाद्दर्शनावरणादिसूत्रै-स्सप्तभिस्सह मोहरागादिषोडशसूत्राणि व्याख्येयानि । अनया दिशाऽनेन प्रकारेणान्यानि सूत्राण्यप्यूह्यानि विचारविषयं नेतव्यानि ।

टीकार्थ--जिसप्रकार गोरस के दधिरूप आम्लपरिणाम और दुग्धरूप मधुरपरिणाम गोरस के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किये गये होते हैं उसीप्रकार (उपादानभूत) पुद्गलद्रव्य के द्वारा व्याप्त किये गये रूप से उत्पन्न होनेवाले (उपादानभूत) पुद्गलद्रव्य के (उपादेयभूत) जो परिणाम (आत्मा के) ज्ञानगुण को आवृत्त करनेवाले होते हैं उन ज्ञानगुण को आवृत्त करनेवाले पुद्गलद्रव्य के (उपादेयभूत) परिणामों को वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी आत्मा या सामा-न्यतः ज्ञानस्वभाववाली आत्मा जिसप्रकार गोरस के सपर्क से रहित अर्थात् गोरस से भिन्न गोरस का स्वामी (स्वयं) उपादानकर्ता होकर गोरस को अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से उत्पन्न नहीं करता उसीप्रकार उपादानकर्ता होकर अपने उपादेयरूप से उत्पन्न नहीं करती; किंतु जिसप्रकार वह गोरस का स्वामी अपनी आत्मा के चैतन्यरूप से व्याप्त किये गये रूप से उत्पन्न होते हुए उस गोरस के दर्शन को अपनी आत्मा के चैतन्यस्वरूप से व्याप्त करके उस गोरस को सिर्फ देखता है--जानता है उसीप्रकार (ज्ञेयरूप) पुद्गलद्रव्य जिस ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तकारण-सहकारिकारण होता है और जो अपनी आत्मा के चैतन्यस्वरूप से व्याप्त हुए रूप से उत्पन्न होता है ऐसे ज्ञान को (अर्थात् विशिष्ट ज्ञानरूप अपनी) पर्याय को सिर्फ जानती है । इसप्रकार वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी या सामान्यतः ज्ञानस्वभाववाली आत्मा सिर्फ (विशिष्ट-) ज्ञानरूप परिणाम का कर्ता (उपादानकर्ता) होती है । इसप्रकार 'ज्ञानावरण' इस पद को परिवर्तित कर कर्मव्यवस्था का विभाग करके उपन्यास कर दर्शनावरण वेदनीय, मोहनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन सात सूत्रों के मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान-उक्तरीति से स्पष्टकरण करना इसीप्रकार अन्य सूत्रों का भी विचार कर लेना ।

विवेचन- गोरसरूप उपादान के दुग्धरूप मधुरपरिणाम और दधिरूप आम्लपरिणाम गोरस के स्वरूप से व्याप्त होते है । गोरस के स्वामी का स्वरूप गोरस के स्वरूप से भिन्न होता है । अतः गोरस के स्वरूप से व्याप्त उन दधिदुग्धरूप गोरस के परिणामों को गोरस का स्वामी अपने स्वरूप से व्याप्त करके अपने उपादेय के स्वरूप से उत्पन्न नहीं कर सकता । यदि उसको दधिदुग्धरूप परिणामों का उपादानकर्ता मान लिया तो उसको गोरस के स्वरूप से परिणत होनेवाला मानना पड़ेगा, जो कि असंभव है । गोरस का स्वामी गोरस को देखता है । उसे उन दधिदुग्धपरिणामों का जो दर्शन होता है वह दर्शन गोरस के स्वामी की आत्मा के स्वरूप से व्याप्त होकर आविर्भूत होनेवाला होनेसे उस दर्शन को वह उपादानकर्ता होनेसे अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से उत्पन्न करता है और उस दर्शनरूप अपने परिणाम के द्वारा दधिदुग्धरूप गोरस के परिणामों को सिर्फ देखता है । जिसप्रकार गोरस के दधिरूप आम्लपरिणाम और दुग्धरूप मधुरपरिणाम गोरसरूप उपादान के स्वरूप से व्याप्त होते है उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म उपादानभूत पुद्गलद्रव्य के परिणाम होनेसे पुद्गलद्रव्य के स्वरूप से व्याप्त होते हुए उत्पन्न होते हैं । इन ज्ञानावरणसंज्ञक द्रव्यकर्मरूप परिणामों में आत्मा के ज्ञानरूप स्वरूप को आवृत्त करनेकी वैभाविकी

शक्ति–अशुद्धिशक्ति आविर्भूत हो जानेसे वे परिणाम आत्मा के स्वभावभूत ज्ञानगुण को आवृत्त कर देते है । पुद्गल–द्रव्य का और उसके परिणामों का स्वरूप आत्मा के ज्ञानरूप स्वरूप से भिन्न होता है; क्यों कि पुद्गलद्रव्य और उसके परिणाम अचेतन होते हैं–चैतन्यशून्य होते हैं । अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा पुद्गलद्रव्योपादानक ज्ञानावरणसंज्ञक द्रव्यकर्मरूप परिणाम का उपादानकर्ता होकर उसको अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त करके अपने उपादेय के रूप से उत्पन्न नहीं करती । यदि आत्मा को उस पुद्गलद्रव्य के परिणाम का उपादानकर्ता माना तो वह परिणाम जिसप्रकार अचेतन होता है उसीप्रकार आत्मा को भी अचेतन मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा । अतः जिसप्रकार गोरस का स्वामी गोरस कें दधिरूप आम्लपरिणाम को और दुग्धरूप मधुरपरिणाम को अपनी आत्मा के चैतन्यस्वरूप से व्याप्त करके अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से उत्पन्न नहीं करता अर्थात् उन परिणामों के रूप से स्वयं परिणत नहीं होता उसीप्रकार वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी आत्मा या सामान्यतः ज्ञानस्वभाववाली आत्मा पुद्गलद्रव्योपादानक पुद्गलस्वरूपान्वित परिणामरूप ज्ञानावरणसंज्ञक द्रव्यकर्म को अपने चैतन्यस्वरूप से व्याप्त करके अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से उत्पन्न नहीं करती अर्थात् उस परिणाम के रूप से स्वयं परिणत नहीं होती, किंतु जिसप्रकार गोरस का स्वामी गोरसदर्शनरूप स्वचैतन्यस्वरूपान्वित होकर उत्पन्न होनेवाले अपने उपादेयभूत परिणाम को उत्पन्न करके अर्थात् दर्शनरूप से स्वयं परिणत होकर गोरस के परिणामों को सिर्फ देखता है उसीप्रकार स्वसंवेदनज्ञानी या सामान्यतः ज्ञानस्वभाववाली आत्मा पुद्गलद्रव्य के ज्ञेयरूप परिणाम के निमित्त से ज्ञेयज्ञानरूप चैतन्यस्वरूप से व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले स्वपरिणाम को अपने स्वरूप से व्याप्त करके उस पुद्गलपरिणाम को सिर्फ जानती है । इसप्रकार वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी आत्मा या सामान्यतः ज्ञानस्वभाववाली आत्मा ज्ञान की विशिष्ट पर्याय का उपादानकर्ता होती है । इसप्रकार दर्शनावरण आदि पुद्गलद्रव्यों के परिणामों का व्याख्यान करना ।

अधिक स्पष्टता के लिये नीचे उद्धृत किये हुए तात्पर्यवृत्ति अंश को देखिए–

इदमत्र तात्पर्यम् - वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीवः शुद्धनयेन शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्ता । ' किंवत् ? ' इति चेत्, पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत्, उष्णत्वादिगुणानामग्निवत्, अनन्तज्ञानादिगुणानां सिद्धपरमेष्ठिवदिति । न च मिथ्यात्वरागादिरूपस्याऽज्ञानभावस्य कर्ता । इति शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावानामशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानां च तद्रूपेण परिणमनमेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च । [ता. वृ. टी., स. सा. गाथा १०१]

यहा यह तात्पर्य है- वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीव शुद्धनय की दृष्टि से शुद्धज्ञान का ही– शुद्धज्ञानरूपपरिणाम का ही शुद्ध उपादान के रूप से कर्ता होता है । ' किस के समान ? ऐसा प्रश्न हो तो इसका उत्तर इसप्रकार है– पीतत्वादि गुणों का जिसप्रकार सुवर्ण, उष्णत्व आदि गुणों का जिसप्रकार अग्नि और अनंतज्ञानादिगुणों का जिसप्रकार सिद्धपरमेष्ठि उपादानकर्ता होता है [उसीप्रकार शुद्ध आत्मा शुद्धज्ञानरूपपरिणाम का शुद्ध उपादान के रूप से कर्ता होती है ।] वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीव मिथ्यात्वरागादिरूप अज्ञानोपादानक परिणाम का उपादानकर्ता नहीं होता । अतः शुद्धउपादान के रूप से शुद्धज्ञानादिपरिणामों के और अशुद्धोपादान के रूप से मिथ्यात्वरागादिपरिणामों के विषय में जीव का उन परिणामों के रूप से परिणत होना ही उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व समझना ।

अज्ञानी च अपि परभावस्य न कर्ता स्यात्–

परद्रव्योपादानक अर्थात् पुद्गलद्रव्योपादानक परिणाम का अज्ञानी आत्मा भी उपादानकर्ता नहीं होती यह बताते हैं–

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ।। १०२ ।।

अन्वयार्थ- (**यं**) जिस (**शुभं अशुभं**) अज्ञानरूप शुभ और अशुभ (**भावं**) भावकर्मरूप परिणाम को (**आत्मा**) अज्ञानी आत्मा (**करोति**) उपादानकर्ता होकर अपने उपादेय के रूप से उत्पन्न करती है-उन परिणामो के रूप स्वयं परिणत होती है (**तस्य**) उस शुभात्मक और अशु-भात्मक भावकर्मरूपपरिणाम का (**सः**) वह अज्ञानी आत्मा (**खलु**) परमार्थतः-निश्चयनय की दृष्टि से (**कर्ता**) उपादानकर्ता होती है । (**तत्**) वह शुभस्वरूप और अशुभस्वरूप भावकर्मात्मक परिणाम (**तस्य**) उस अज्ञानी आत्मा का (**कर्म**) उपादेयभूत व्याप्य कर्म--परिणाम होता है । (**सः आत्मा तु**) वह अज्ञानी आत्मा ही (**तस्य**) उस शुभरूप और अशुभरूप विभावभावात्मक व्याप्यरूप कर्म का-परिणाम का (**वेदकः**) भोक्ता होती है ।

आ. ख्या.–इह खलु अनादेः अज्ञानात् परमात्मनोः एकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मन्दतीव्रस्वादाभ्यां अचलितविज्ञानघनैकस्वादस्य अपि आत्मनः स्वादं भिन्दानः शुभं अशुभं वा यः य भावं अज्ञानरूपं आत्मा करोति सः आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वात् भवति कर्ता । सः भावः अपि च तदा तन्मयत्वेन तस्य आत्मनः व्याप्यत्वात् भवति कर्म । सः एव च आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वात् भवति अनुभविता । सः भावः अपि च तदा तन्मयत्वेन तस्य आत्मनः भाव्यत्वात् भवति अनुभाव्यः । एवं अज्ञानी च अपि परभावस्य न कर्ता स्यात् ।

त. प्र.– इहास्यां ससारावस्थाया खलु परमार्थतो वस्तुतः । निश्चयनयापेक्षयेत्यर्थः । अनादेर-ज्ञानाच्छुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपादज्ञानात्परात्मनोः पुद्गलद्रव्यात्मद्रव्ययोः । पुद्गलद्रव्यस्याऽचेतनस्वभाव-त्वादात्मद्रव्यस्य च चेतनस्वभावत्वादात्मद्रव्यापेक्षया पुद्गलद्रव्यस्य परद्रव्यत्वम् । एकत्वाध्यासेनैकत्व-स्यान्योन्याभिन्नत्वस्याध्यारोपेण निमित्तभूतेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां पुद्गलकर्मोदयनिमित्तकानुभ-वावस्थाभ्यां मन्दतीव्रस्वादाभ्यां हेतुभूताभ्यामचलितविज्ञानघनस्वादस्याप्यनपास्तविज्ञानघनैकानुभवस्या-ऽपि । अचलितोऽनपास्तोऽनुल्लङ्घितो वा विज्ञानघनस्यैकः स्वादोऽनुभवो यस्य सः । तस्यः । आत्मनः स्वादं विज्ञानघनस्वभावस्यैकं केवल शुद्धं स्वादमनुभवं भिन्दानः परिवर्तयन्नन्यथा कुर्वाणश्शुभमशुभं वा यो यं भाव परिणामज्ञानरूपं शुद्धात्मसंवित्त्यभावात्मकाज्ञानरूपमात्मा करोत्युपादानकर्त्रीभूय स्वस्वरूपेण व्याप्ताऽऽत्मनो जनयति । येन परिणामस्वरूपेण स्वयं परिणमति स आत्माऽशुद्ध आत्मा तदा परिणमनकाले तन्मयत्वेनात्मविकारत्वेन हेतुभूतेन तस्य शुभस्याऽशुभस्य वा भावस्य परिणामस्य व्यापकत्वात्स्वरूपेण विहागमात्वाद्भवति कर्तोपादानकर्ता, भावोऽपि शुभोऽशुभश्च परिणामोऽपि च तदा परिणमनकाले तन्मयत्वेनाऽऽत्मपरिणामत्वेन हेतुभूतेन तस्य परिणममानस्याऽशुद्धस्याऽऽत्मनो व्याप्यत्वात्स्वरूपेण व्यापनक्रियाश्रयीभवनार्हत्वाद्विगाहनक्रियाश्रयीभवनार्हत्वाद्भवति कर्म परिणाम उपादेयभूतः एवोपादानभूतोऽशुद्ध आत्मा तदा शुभपरिणामत्वेनाऽशुभपरिणामत्वेन वा परिणमनस्य काले तन्मयत्वेनाऽशुद्धात्मविकारत्वेन हेतुभूतेन तस्य शुभस्याशुभस्य वा भावस्य परिणामस्य भावकत्वादुपा-

दानकर्त्रीभूयोत्पादकत्वाद्भवत्यनुभवितानुभवनक्रियात्मकपरिणामस्योपादानकर्ता । स शुभोऽशुभो वा भावोऽप्यशुद्धात्मपरिणामोऽपि च तदा शुभभावत्वेनाऽशुभभावत्वेन वा परिणमनस्य काले तन्मयत्वेनाऽशुद्धात्मविकारत्वेन तस्याऽशुद्धस्य तद्विकारत्वेन परिणममानस्याऽऽत्मनो भाव्यत्वात्क्रियमाणत्वादुत्पाद्यमानत्वाज्जन्यत्वाद्भवत्यनुभाव्योऽनुभवनक्रियार्हः । एवममुना प्रकारेणाऽज्ञानी चापि शुद्धात्मसंवित्त्यभावात्मकाज्ञानभावत्वेन परिणतश्चाऽपि जीवः परभावस्य परद्रव्योपादानकस्योपादेयभूतस्य परिणामस्य न कर्तोपादानकर्ता स्याद्भवेत् । उपादानकर्तृभावं गन्तुं न शक्त इत्यर्थः ।

टीकार्थ– इस संसार–अवस्था में अनादिकाल से चले आये अज्ञान के कारण परपदार्थ और आत्मपदार्थ इन दोनों की एकता का–अभिन्नता का अध्यारोप करनेके कारण बंध को प्राप्त हुए पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले मन्दानुभवरूप और तीव्रानुभवरूप अनुभव की दो दशाओं से–अवस्थाओं से विज्ञानघनस्वभाव का एकमात्र अनुभव चलित–अपास्त–अभावरूप न होनेपर भी आत्मा के इस एकमात्र अनुभव का उल्लंघन करनेवाली या उसके अनुभव में विभिन्नता को निर्माण करनेवाली जो आत्मा अज्ञानरूप जिस शुभ या अशुभ परिणाम को जब उत्पन्न करती है तब वह आत्मा वह शुभ या अशुभ भाव आत्मा का परिणामरूप होनेसे या उस भाव का आत्मा के साथ तादात्म्य होनेसे उस भाव का व्यापक होनेके कारण उस भाव का कर्ता (उपादानकर्ता होती है और वह भाव भी उससमय आत्मा का परिणामरूप या उसका आत्मा के साथ तादात्म्य होनेसे उस आत्मा के द्वारा व्याप्त किया जानेवाला–व्याप्य होनेसे आत्मा का कर्म (व्याप्यकर्म) होता है और वही आत्मा उस समय आत्मा का परिणामरूप होनेसे या आत्मा के साथ उसका तादात्म्य होनेसे उस परिणाम का उत्पादक होनेके कारण उस भाव का अनुभव करनेवाली अर्थात भोक्ता होती है और भाव-परिणाम भी उससमय उसका आत्मा के साथ तादात्म्य होनेसे उस आत्मा का भाव्य होनेके कारण अनुभाव्य होता है । इसप्रकार अज्ञानी जीव भी परपदार्थ के परिणाम का कर्ता (उपादानकर्ता नहीं होता ।

विवेचन इस संसार की अवस्था में आत्मा अनादिकाल से शुद्ध आत्मा की संवित्ति का–अनुभूति का अभाव होनेसे अज्ञानरूप से परिणत हुई है । इस अनादिकाल से चले आये अज्ञान के कारण वह अज्ञानी आत्मा परपदार्थ अर्थात् पुद्गलद्रव्य और आत्मा इनको एकरूप–अभिन्न समझती है । परद्रव्य और आत्मा इनमें भेद नहीं है–दोनों एकरूप-अभिन्न है इसप्रकार के मिथ्याज्ञान के कारण उसके कर्म का बंध होते आया है । यह पुद्गलकर्म जब उदय में आता है तब वह अपनी फल देनेकी शक्ति से आत्मा की अनुभवनरूप अवस्था के रूप से परिणत होनेमें निमित्तकारण बनता है । जब पुद्गल की फल देनेकी शक्ति प्रकृष्ट होती है तब आत्मा का अनुभव तीव्र-प्रकृष्ट होता है और जब अप्रकृष्ट होता है तब आत्मा का अनुभव मंद–अप्रकृष्ट होता है । शुभकर्म के उदय से आत्मा के शुभपरिणामों की उत्पत्ति होती है और अशुभकर्म के उदय से अशुभपरिणामों की उत्पत्ति होती है । शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा शुद्धविज्ञानघनस्वभाव का ही अनुभव करता है । विज्ञानघनस्वभाव का यह अनुभव कदापि चलित नहीं होता-छूट नहीं जाता । संसारावस्थ आत्मा अज्ञानरूप से परिणत हुई होनेसे इस विज्ञानघनस्वभाव के एकरूप अनुभव का कर्मोदय के कारण परिवर्तित कर देती है–उसके शुद्धस्वरूप को अशुद्ध बनाकर शुभाशुभ परिणामों के रूप से परिवर्तित कर देती है । यह अज्ञानी आत्मा शुभ और अशुभ अज्ञानात्मक परिणामों में से जिस किसी परिणाम के रूप से जब स्वयं परिणत होती है तब वह परिणाम आत्मोपादानक विकार होनेसे उस भाव को-परिणाम को अपने स्वरूप से व्याप्त करनेवाली होनेसे उस परिणाम का उपादानकर्ता होती है और वह परिणाम भी उस आत्मा का विकाररूप उपादेयभूत परिणाम होनेसे वह परिणाम अपनी उत्पत्ति के काल से आत्मा के स्वरूप के द्वारा व्याप्य होनेसे आत्मा का कर्म होता है-उपादेयभूत परिणाम होता है । जिनमें भाव्यभावकभाव अर्थात् परिणामपरिणामिभाव होता है उनमें ही भोक्तृभोग्यभाव होता है । तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि-

शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावानां, अशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानां च तद्रूपेण

परिणमनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यं भोक्तृत्वं च ।' [ता. वृ. टी., स. सा. गा. १०१]

शुद्ध ज्ञानादिभावों के रूप से परिणत होना ही शुद्धज्ञानादिरूपपरिणामों का शुद्ध-उपादानरूप से कर्तृत्व और भोक्तृत्व होता है और मिथ्यात्वरागादिपरिणामों के रूप से परिणत होना ही मिथ्यात्वरूप और रागादिरूप परिणामों का अशुद्धोपादानरूप से कर्तृत्व और भोक्तृत्व होता है।

वही आत्मा शुभभाव के या अशुभभाव के रूप से परिणत होते समय वह अशुद्ध आत्मा परिणामरूप होनेके कारण उस परिणाम का भावक अर्थात् उपादानकर्ता के रूप से उसको उत्पन्न करनेवाली होनेसे उस शुभ या अशुभ परिणाम का अनुभव करनेवाली होती है और वह शुभ या अशुभ परिणाम भी अपनी उत्पत्ति के समय अशुद्ध आत्मा का परिणामरूप होनेके कारण उस अशुद्ध आत्मा का भाव्य होनेसे अर्थात् अशुद्ध आत्मा के द्वारा उपादानकर्ता होकर उत्पाद्य होनेके कारण अनुभाव्य-अनुभव करनेके योग्य होता है। इसप्रकार जिसको शुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति प्राप्त नहीं हुई और जो अज्ञानी है ऐसी आत्मा भी परद्रव्योपादानक परिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकती।

न च परभावः केन अपि कर्तुं पार्येत—

न च नैव परभावः परस्यात्मभिन्नस्य पुद्गलद्रव्यस्य भावो व्यावर्तकः स्वभावः पारिणामिकभावरूपः केनाप्यन्यद्रव्येण कर्तुं स्वपरिणामत्वेनोत्पादयितुं परिवर्तयितुं वा पार्येत शक्यो भवेदिति—

परवस्तु का पारिणामिकभावरूप व्यावर्तकधर्मभूत स्वभावरूप परिणाम किसी के भी द्वारा अपने परिणाम के रूप से उत्पादित किया जाना या परिवर्तित किया जाना अशक्य है यह बताते हैं—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३॥

यो यस्मिन्गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न सङ्क्रामति द्रव्ये ।
सोऽन्यदसङ्क्रामन्कथं तत्परिणामयेद्द्रव्यम् ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थ— (**यः**) जो वस्तु का विशेष-असाधारण ऐसा व्यावर्तक धर्म (**यस्मिन्**) जिस (**द्रव्ये**) द्रव्य मे और (**गुणे**) गुण में होता है-तादात्म्यसंबध से रहता है (**सः**) वह वस्तु का विशेष-व्यावर्तकधर्म (**अन्यस्मिन्**) उक्त द्रव्य से भिन्न (**द्रव्ये**) द्रव्य मे और भिन्नद्रव्य के गुण में (**न तु सङ्क्रामति**) प्रवेश करता हि नही-अपने द्रव्य को और गुण को छोडकर अन्य द्रव्य में और गुण में प्रविष्ट नही होता-उस द्रव्यांतर और गुणातर के साथ तादात्म्य को प्राप्त नही होता। (**अन्यत् असङ्क्रामन्**) अन्यद्रव्य मे और अन्यगुण मे प्रविष्ट होकर तादात्म्य को प्राप्त न होनेवाला (**सः**) वह वस्तु का विशेष (**तत् द्रव्यम्**) उस अन्य द्रव्य को और अन्य गुण को (**कथं**) कैसे (**परिणामयेत्**) परिणमा सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार से परिणमा नही सकता।

['असंकंतो' इस की छाया 'असंक्रामन्' ऐसी भी है और आत्मख्याति में ऐसा पाठ मिलता भी है। 'परिणामए' यह लिङन्त पाठ है। 'परिणम्' इस धातु के प्रयोजक का व. काल का रूप 'परिणामेइ' इसप्रकार होता है। इसका संस्कृत रूपान्तर 'परिणामयति' ऐसा होता है।

आ. ख्या.— इह किल यः यावान् कश्चित् वस्तुविशेषः यस्मिन्यावति कस्मिंश्चित् चिदात्मनि अचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसतः एव अनादितः एव वृत्तः, सः खलु

अचलितस्ववस्तुस्थितिसीम्नः[1] भेत्तुं अशक्यत्वात् तस्मिन् एव वर्तेत; न पुनः द्रव्यान्तरं गुणान्तरं वा सङ्क्रामेत। द्रव्यान्तरं गुणान्तरं वा असङ्क्रामन् च कथं तु अन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत्? अतः परभावः केन अपि न कर्तुं पार्येत।

त. प्र.— इहाऽस्मिन्संसारे किल परमार्थतो यावान्यत्प्रमाणः। 'यत्तदः' इति मानेऽर्थे वतोर्वः। यत्सङ्ख्याक इत्यर्थः। कश्चिद्वस्तुविशेषो वस्तुनो व्यावर्तकं स्वरूपं यस्मिन्यावति यत्प्रमाणे चिदात्मनि चित्स्वरूपेऽचिदात्मन्यचित्स्वरूपे वा द्रव्ये गुणे च स्वरसतः स्वभावत एवानादितोऽनादेः कालादेव वृत्तस्तावात्म्येन स्थितः स वस्तुनो व्यावर्तकत्वस्वरूपो विशेषोऽचलितस्ववस्तुस्थितिसीम्नोऽविनश्वरसहजातवस्तुस्वभावतादात्म्यसम्बन्धस्य। अचलिताऽविनश्वरा। न विद्यते चलितं चलनं यस्याः साऽचलिता। चलितं चलनम्। 'नब्भावे क्तोऽभ्यादिभ्यः' इति भावे क्तः। अचलिताऽविनश्वरा स्वा सहजाता वस्तुनः स्थितिः स्वभावस्तस्य सीमा तादात्म्यसम्बन्धः। सीयते बध्यते सीमा। तादात्म्यसम्बन्ध इत्यर्थः। केषाञ्चिन्मतेन व्युत्पन्नस्य केषाञ्चिन्मतेन चाव्युत्पन्नस्यास्य सीमन्निति शब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वादचलितस्येति पाठस्य विभिन्नलिङ्गत्वादसमीचीनत्वात्पाठपरिवर्तनं कृतम्। अथ पाठः प्रतिलेखकानवधाननिबन्धनः स्यात्। भेत्तुं विनाशयितुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव द्रव्ये गुणे वा वर्तेत स्थितिमान्स्यान्न पुनर्द्रव्यान्तर गुणान्तर वा सङ्क्रामेत प्रविशेत्। प्रवेष्टुं शक्नुयादित्यर्थः। द्रव्यान्तरमन्यद्रव्यं गुणान्तरमन्यगुणं वाऽसङ्क्रामन्नप्रविशंश्च। स्वस्वरूपेणाव्याप्नुवन्नित्यर्थः। कथ तु केन प्रकारेण चान्यं वस्तुविशेषं वस्तुनो व्यावर्तकं स्वरूपं परिणामयेत्परिवर्तयेत्। अत एतस्मात्कारणात्परभावः परवस्तुनो व्यावर्तकं स्वरूपं केनाप्यन्येन द्रव्येण न कर्तुं परिवर्तयितुं पार्येत शक्यो भवेत्।

टीकार्थ— इस संसार में जो जितना कोई वस्तु का विशेष-असाधारणधर्म-व्यावर्तकस्वरूप जिस किसी जितने चित्स्वरूप या अचित्स्वरूप द्रव्य में और (उसके) गुण में स्वभाव से ही अनादिकाल से ही (तादात्म्यसंबंधसे) रहता आया है वह वस्तु का विशेष-असाधारण व्यावर्तक स्वरूप परमार्थतः वस्तु के अविनश्वर स्वरूप के (वस्तु के साथ होनेवाले तादात्म्यसंबंध का विनाश करना अशक्य होनेसे उसी द्रव्य में या (उसी द्रव्य के) उसी गुण में रहता है; अन्यद्रव्य में या (अन्यद्रव्य के) गुण में प्रवेश नहीं कर सकता और जब वह वस्तु का विशेष-असाधारण व्यावर्तकस्वरूप अन्यद्रव्य में या अन्य गुण में प्रविष्ट होता ही नहीं-तादात्म्यसंबंध को प्राप्त होता ही नहीं तब वह अन्य वस्तु के स्वरूप को-विशेष को-असाधारण व्यावर्तकधर्म को किसप्रकार प्रवर्तित कर सकता है? (किसी भी प्रकार और कभी भी परिवर्तित नहीं कर सकता।) इसकारण परद्रव्य का स्वरूप-असाधारण व्यावर्तकधर्म किसी भी अन्यद्रव्य के द्वारा परिवर्तित किया जाना शक्य नहीं है।

विवेचन— वस्तु का जो विशेष अपनी वस्तु को विजातीय वस्तु से व्यावृत्त करता है वही विशेष अपनी आश्रयभूतवस्तु को सजातीय वस्तु से व्यावृत्त नहीं कर सकता। सजातीय वस्तु से अपनी आश्रयभूत वस्तु को व्यावृत्त करनेवाला विशेष दूसरा ही होता है। ये सभी विशेष अपने अपने द्रव्य में या गुण में ही तादात्म्यसंबंध से रहते हैं। पत्थररूप पुद्गल का अचेतनत्व पुद्गलद्रव्य को चेतन आत्मा से व्यावृत्त करता है-अलग बताता है; किंतु यह अचेतनत्व पुद्गल को धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पदार्थों से व्यावृत्त नहीं करता-अलग नहीं बताता, क्यों कि पुद्गलद्रव्य के समान धर्मादिद्रव्य भी अचेतन होते हैं। पुद्गल का रूपित्व या मूर्तिमत्त्व धर्म ही पुद्गलद्रव्य को धर्मादिद्रव्यों से व्यावृत्त करता है। सभी पाषाणों का व्यावर्तकधर्म रूपित्वरूप होनेसे वह एक विशिष्टजातीय पाषाण

१- अचलितस्य' इति पाठाऽन्यत्र लभ्यते।

को व्यावृत्त नहीं कर सकता। कृष्णपाषाण का कृष्णस्वरूप विशेष कृष्णपाषाण को सफेद, हरे या पीले पाषाण से अलग करता है। इसीप्रकार चेतनत्वधर्म आत्मा को अन्य अचेतन धर्म-पुद्गलादि से व्यावृत्त करता है; किंतु एकेन्द्रियादि से लेकर मुक्त जीवोंतक के सभी जीवों को व्यावृत्त नहीं करता। अशुद्धचेतनत्व संसारी जीवों को मुक्त जीवों से व्यावृत्त करता है और शुद्धचेतनत्व मुक्त जीवों को ससारिजीवों से व्यावृत्त करता है। जीवों के ज्ञानरूप-स्वरूप की तरतमता ही जीवों की अन्योन्यभिन्नता का ज्ञापक होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य का व्यावर्तक विशेष भिन्नभिन्न प्रकरणों में भिन्नभिन्न होता है। और वह विशेष जिसप्रकार द्रव्यगत होता है उसीप्रकार गुणगत भी होता है। इसप्रकार प्रत्येक प्रकार के द्रव्य के व्यावर्तक विशेष अनेक होते हैं और वे अपने आश्रयभूत-द्रव्य में या गुण में रहते हैं। सभी पाषाणों का रूपित्व समान होनेपर प्रत्येक पाषाण में पाया जानेवाला रूपित्व भिन्नभिन्न प्रकार का होता है। यह विशिष्टता पुद्गल के रूपगुण में ही होती है। प्रत्येक पाषाण के रूपित्व का विशेष रूपगुण में ही रहता है। रूपित्वगुण अपने आश्रयभूत पुद्गलद्रव्य में रहता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वस्तु का व्यावर्तक विशेष स्वाश्रयभूत द्रव्य में या उसके विशिष्टगुण में रहता है-अन्य द्रव्य में नहीं। यह वस्तु का विशेष स्वभावतः-निसर्गतः ही द्रव्य में या गुण में अनादिकाल से तादात्म्यसंबंध से रहता आया है। वस्तु के अविनश्वर स्वभाव का द्रव्य के साथ या उसके गुण के साथ जो तादात्म्यसंबंध होता है उस तादात्म्यसंबंध का नाश करना अशक्य है और उसका नाश करना अशक्य होनेसे वह अपने आश्रयभूत द्रव्य में या उस द्रव्य के गुण में ही तादात्म्यसंबंध से रहता है। वह अन्यद्रव्य में या अन्यद्रव्य के गुण में प्रविष्ट नहीं होता-उसके साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं होता। जब वह अन्य द्रव्य में या उसके गुण में प्रवेश करता नहीं तब वह अन्य वस्तु अन्य विशेषको-असाधारण व्यावर्तक स्वरूप को किसी भी प्रकार से परिवर्तित नहीं कर सकता। इसकारण अन्य वस्तु का विशेष किसी के भी द्वारा परिवर्तित किया नहीं जा सकता।

अतः स्थितः खलु आत्मा पुद्गलकर्मणां अकर्ता—

इसकारण अर्थात् अधस्तनगाथोक्त कारण से आत्मा परमार्थतः पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता सिद्ध नहीं हुई यह कहते हैं—

दव्वगुणस्य य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि ।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥ १०४ ॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थ— [पुद्गलमये] पुद्गल के अर्थात् पुद्गलोपादानक पुद्गलस्वरूपान्वित परिणामभूत [कर्मणि] द्रव्यकर्म में [आत्मा] चैतन्यस्वभाववाली आत्मा [द्रव्यगुणस्य च] अपने आत्मरूप द्रव्य का और अपनी आत्मा के ज्ञानरूप गुण का (आधानं) निवेश-प्रवेश [न करोति] नहीं करती अर्थात् अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा के ज्ञानगुण को पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म में प्रविष्ट नहीं कराती-पुद्गलद्रव्य के साथ या द्रव्यकर्म के साथ अपने आत्मद्रव्य का और आत्मगुण का तादात्म्य-संबंध प्रस्थापित नहीं करती। [तत् उभयं] उन दोनो का अपनी आत्मा का और उसके ज्ञानगुण का [तस्मिन्] पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म में [अकुर्वन्] निवेश न करनेवाली अर्थात् द्रव्यकर्म में प्रविष्ट न करानेवाली [सः] वह आत्मा [तस्य] उस द्रव्यकर्म का [कर्ता] उपादानकर्ता [कथम्] कैसे हो सकती है? आत्मा द्रव्यकर्म का उपादानकर्ता किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती।

आ. ख्या.– यथा खलु मृण्मये कलशे कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसतः एव वर्तमाने द्रव्यगुणान्तरसङ्क्रमस्य वस्तुस्थित्या एव निषिद्धत्वात् आत्मानं आत्मगुणं वा न आधत्ते सः कलशकारः, द्रव्यान्तरसङ्क्रमं अन्तरेण अन्यस्य वस्तुनः परिणामयितुं अशक्यत्वात् तत् उभयं तु तस्मिन् अनादधानः न तत्त्वतः तस्य कर्ता प्रतिभाति; तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसतः एव वर्तमाने द्रव्यगुणान्तरसङ्क्रमस्य विधातुं अशक्यत्वात् आत्मद्रव्यं आत्मगुणं वा आत्मा न खलु आधत्ते, द्रव्यान्तरसङ्क्रमं अन्तरेण अन्यस्य वस्तुनः परिणामयितुं अशक्यत्वात् तत् उभयं तु तस्मिन् अनादधानः कथं नु तत्त्वतः तस्य कर्ता प्रतिभायात् ? ततः स्थितः खलु आत्मा पुद्गलकर्मणां अकर्ता ।

['सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम्' इस वचन के अनुसार इस गाथासूत्र में 'आधानं' इस पद का अध्याहार किया है ।]

त. प्र.– यथा येन प्रकारेण खलु परमार्थतो मृण्मये मृत्तिकोपादानकपरिणामभूते कलशकर्मणि घटात्मके व्याप्ये कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वोपादानकारणभूते मृत्तिकाद्रव्ये मृत्तिकायाः स्वरूपभूते गुणे च तयोः स्वाश्रयभूतत्वात्स्वरसतः स्वभावत एव वर्तमाने तादात्म्यसम्बन्धेन विद्यमाने द्रव्यगुणान्तरसङ्क्रमस्य द्रव्यान्तरस्य मृदो भिन्नस्यान्यस्य द्रव्यस्य गुणान्तरस्य तदन्यद्रव्यगुणस्य चान्तःप्रवेशस्य वस्तुस्थित्यैव वस्तुस्वाभाव्येनैव निषिद्धत्वात्प्रतिषिद्धत्वादात्मानमात्मद्रव्यमात्मगुणं ज्ञानाख्यमात्मस्वभावभूतं गुणं वा नाधत्ते न प्रवेशयति । स्वयं व्यापकीभूय कलशकर्मणा तादात्म्यं नापादयतीत्यर्थः । स कलशकारः कुम्भकारः । द्रव्यान्तरसङ्क्रमणमन्तरेण द्रव्यान्तरस्य परिणतिक्रियाविषयीक्रियमाणाद्वस्तुनो भिन्नस्य द्रव्यस्य परिणतिक्रियाविषयीक्रियमाणे वस्तुनि स्वरूपेण प्रवेशं विनान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुं परिवर्तयितुमशक्यत्वात् । तदुभयं त्वात्मानमात्मगुणं च तस्मिन्मृण्मये कलशकर्मण्यनादधानोऽप्रवेशयंस्तादात्म्यसम्बन्धमनापादयन्न तत्त्वतः परमार्थतस्तस्य मृत्तिकोपादानकविकाररूपस्य कलशात्मकपरिणामस्य कर्तोपादानकर्ता प्रतिभाति प्रकटीभवति । तथा तेन प्रकारेण पुद्गलमयज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलोपादानकपरिणामभूतज्ञानावरणादौ द्रव्यकर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः पुद्गलद्रव्ये पुद्गलगुणे च स्वरसतः स्वभावत एव वर्तमाने तादात्म्यसम्बन्धेन विद्यमाने द्रव्यगुणान्तरसङ्क्रमस्य द्रव्यान्तरस्य पुद्गलाद्भिन्नस्यान्यस्य द्रव्यस्य गुणान्तरस्य पुद्गलद्रव्यभिन्नद्रव्यगुणस्य च सङ्क्रमस्यान्तःप्रवेशस्य विधातुं कर्तुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वा स्वीयं चैतन्यस्वरूपमात्मद्रव्यं स्वीयज्ञानगुणं वाऽऽत्मा न खलु परमार्थत आधत्ते द्रव्यकर्मणि प्रवेश्य तादात्म्यमापादयति । द्रव्यान्तरसङ्क्रममन्तरेण द्रव्यान्तरस्य परिणतिक्रियाविषयीक्रियमाणाद्वस्तुनो भिन्नस्य द्रव्यस्य परिणतिक्रियाविषयीक्रियमाणे वस्तुनि स्वरूपेणान्तःप्रवेशं विनाऽन्यस्य वस्तुनः परिणामयितुं परिवर्तयितुमशक्यत्वात् । तदुभयं त्वात्मानमात्मगुणं च तस्मिन्पुद्गलद्रव्योपादानके द्रव्यकर्मण्यनादधानोऽन्तरप्रवेशयंस्तादात्म्यसम्बन्धमनापादयन्कथं तु केन प्रकारेण तत्त्वतः परमार्थतः । निश्चयनयापेक्षयेत्यर्थः । तस्य पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणः कर्तोपादानकर्ता प्रतिभायात्प्रकटीभूयात् ? केनाऽपि प्रकारेण नेत्यर्थः । ततस्तस्मात्कारणात्स्थितो युक्त्या सिद्धः खलु परमार्थतः आत्मा पुद्गलकर्मणां पुद्गलद्रव्योपादानकानां द्रव्यकर्मणामकर्ताऽनुपादानकर्ता ।

टीकार्थ— जिसप्रकार मृत्तिकारूप जाति को और उसके गुण को न छोडनेवाले मृत्तिकारूप द्रव्य में और मृत्तिका के गुण में स्वभावतः रहनेवाले अर्थात् तादात्म्यसंबंध से विद्यमान होनेवाले मृत्तिका के उपादेयभूत कलशरूप परिणाम में अन्यद्रव्य के और अन्यद्रव्य के गुण के अन्तःप्रवेश का–तादात्म्यसंबंध का वस्तुस्वरूप के कारण ही निषेध हो जानेसे वह कुम्हार अपनी आत्मा का या अपनी आत्मा के ज्ञानगुण का निक्षेप नहीं करता–अन्तःप्रवेश–निवेश नहीं करता; अन्यद्रव्य के अन्तःप्रवेश के विना अन्यवस्तु को अन्तःप्रवेश करनेवाली वस्तु के रूप से परिणत–परि–वर्तित करना अशक्य होनेसे उन दोनों को अर्थात् आत्मद्रव्य को और आत्मगुण को उस कलशरूप परिणाम में प्रविष्ठ न करानेवाला वह कुम्हार उस कलशरूप परिणाम का परमार्थतः कर्ता होता हुआ अर्थात् उपादानकर्ता होता हुआ देखनेमें नहीं आता; उसीप्रकार पुद्‌गलरूप द्रव्य में और पुद्‌गल के गुण में स्वभावतः रहनेवाले अर्थात् तादात्म्यसंबंध से रहनेवाले–पुद्‌गलद्रव्य की जाति को और उसके गुण को न छोडनेवाले पुद्‌गल के उपादेयभूत ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मात्मक परिणाम में अन्यद्रव्य का और उसके गुण का प्रवेश करना अशक्य होनेसे आत्मा वस्तुतः अपने द्रव्य को और अपने ज्ञानगुण को द्रव्यकर्म के अंतरंग में प्रविष्ट नहीं कराती–स्वस्वरूप से उसको व्याप्त नहीं करती; अन्यद्रव्य के अन्तःप्रवेश के विना अन्य वस्तु को अन्तःप्रवेश करनेवाली वस्तु के रूप से परिणत–परिवर्तित करना अशक्य होनेसे उन दोनों को अर्थात् आत्मद्रव्य को और आत्मगुण को उस ज्ञानावरणादिरूपद्रव्यकर्म में प्रविष्ट न करानेवाली आत्मा उस द्रव्यकर्मरूप परिणाम का परमार्थतः कर्ता होती हुई अर्थात् उपादानकर्ता होती हुई-अनुभव–गोचर कैसे हो सकती है ? इसकारण आत्मा परमार्थतः पुद्‌गलकर्म का कर्ता–उपादानकर्ता नहीं होती यह सिद्ध हुआ।

विवेचन— मृत्तिका का उपादेयस्वरूपपरिणामभूत कलशरूप कर्म स्वभावतः मृत्तिकारूप अपने उपादानभूत द्रव्य में और उसके गुण में ही रहता है–अपने उपादानभूत द्रव्य की जाति का और उसके गुण का परित्याग नहीं करता; क्यों कि उपादानभूत मृत्तिका अपने स्वरूप से अपने कलशरूप परिणाम में अन्वित होती है। यदि उपादेयभूत परिणाम अपने उपादान का और उसके गुण का परित्याग करने लगा तो उस उपादेयभूत परिणाम का ही अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । इस कलशरूप परिणाम में अन्यद्रव्य का और उसके गुण का संक्रमण होना-प्रवेश होना वस्तुस्वभाव से ही निषिद्ध है अर्थात् एकद्रव्य का अपने स्वरूप से अन्यद्रव्य में प्रविष्ट होना वस्तुस्वभाव के विरुद्ध होनेसे निषिद्ध है । जब एकद्रव्य अपने स्वरूप से अन्यद्रव्य में प्रविष्ट नहीं होता तब कुम्हार अपनी आत्मा को और उसके ज्ञानरूप गुण को मृत्तिकोपादानक कलशरूप परिणाम में अन्तःप्रविष्ट नही कर सकता । अन्य–द्रव्य के अपने स्वरूप से अन्य वस्तु में अन्तःप्रविष्ट हुए विना एक द्रव्य अन्यद्रव्य को अपने स्वरूप के रूप से परिव–र्तित नहीं कर सकता । कुम्हार अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा के ज्ञानगुण को कलश में अन्तःप्रविष्ट नहीं करा सकता । जब कलश कुम्हार की आत्मा के स्वरूप से अन्वित न होनेसे कुम्हार का उपादेयभूत परिणाम नहीं हो सकता तब कुम्हार भी उस कलश का उपादानकर्ता नहीं हो सकता। आत्मा का पुद्‌गलकर्म के साथ उपादानोपादेयभाव या परिणामपरिणामिभाव इसीप्रकार सिद्ध नहीं हो सकता । द्रव्यकर्म का उपादानकारण कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गलद्रव्य होता है । द्रव्यकर्म पुद्‌गलद्रव्य का उपादेयभूत परिणाम होनेसे उसमें पुद्‌गलद्रव्य का स्वस्वरूप से अन्वय होनेसे द्रव्यकर्म अपने उपादान की जाति का और उपादान के गुण का परित्याग नहीं करता । इसीकारण द्रव्यकर्म अपने उपादानभूत पुद्‌गलद्रव्य में और उसके गुण में तादात्म्यसंबंध से रहता है । यदि द्रव्यकर्म अपने उपादानभूत पुद्‌गल का और उसके गुण का परित्याग करनेवाला होता तो द्रव्यकर्म का अभाव हो जाता; क्यों कि उपादान का अभाव होनेपर उपादेय का अभाव हो जाता है । इस पुद्‌गलद्रव्य में और उसके गुण में स्वभावतः तादात्म्यसंबंध से रहनेवाले द्रव्यकर्म में अन्यद्रव्य को और उसके गुण को संक्रमण अर्थात् अन्तःप्रवेश करना अशक्य होता है । अतः आत्मा अपने आत्मद्रव्य को और अपनी आत्मा के ज्ञानगुण को द्रव्यकर्म में अन्तःप्रविष्ट नहीं कराता । अन्यद्रव्य के अन्तःप्रवेश के विना अन्तःप्रवेश करनेवाले द्रव्यकर्म के रूप से अन्यवस्तु को परिणत करना अशक्य होनेसे आत्मद्रव्य और आत्मद्रव्य का ज्ञानगुण इनको द्रव्यकर्म में प्रविष्ट न करानेवाली आत्मा पुद्‌गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म का परमार्थतः कर्ता नहीं हो सकती अर्थात् उपादानकर्ता नहीं हो सकती । इसकारण पुद्‌गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म का आत्मा उपा–

ज्ञानकर्ता नहीं होती यह सिद्ध हुआ ।

इसी विषय को स्पष्ट करनेवाली तात्पर्यवृत्ति को देख लीजिये–

यथा कुम्भकारः कर्ता मृण्मयकलशकर्मविषये मृत्तिकाद्रव्यस्य सम्बन्धि जडस्वरूपं वर्णादि मृत्तिकागुणस्य वा सम्बन्धि स्वरूपं मृत्तिका कलशमिव तन्मयत्वेन न करोति, तथाऽऽत्माऽपि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविषये पुद्गलद्रव्यकर्मसम्बन्धि जडस्वरूपं वर्णादि पुद्गलद्रव्यगुणसम्बन्धि स्वरूपं वा तन्मयत्वेन न करोति ।···· तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादि तद्गुणं वा तन्मयत्वेनाऽकुर्वाणः सन् तत्र पुद्गलकर्मविषये स जीवः कथं कर्ता भवति ? न कथमपि । चेतनाचेतनेन परस्वरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । अनेन किमुक्तं भवति ? यथा स्फटिको निर्मलोऽपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कोऽपि सदाशिवनामा सदा मुक्तोऽप्यमूर्तोपि परोपाधिना परिणम्य जगत् करोति । तन्निरस्तम् । 'कस्मात् ?' इति चेत्, मूर्तस्फटिकस्य मूर्तेन सहोपाधिसम्बन्धो घटते । तस्य पुनः सदा मुक्तस्यामूर्तस्य कथं मूर्तोपाधिः ? न कथमपि, सिद्धजीववत् । अनादिबद्धजीवस्य पुनः शक्तिरूपेण शुद्धनिश्चयनयेनाऽमूर्तस्याऽपि व्यक्तिरूपेण व्यवहारेण मूर्तस्य मूर्तोपाधिदृष्टान्तो घटत इति भावार्थः ।

[स. सा. गा. १०४, ता. वृ.]

जिसप्रकार कुम्हाररूप कर्ता (निमित्तकर्ता) मृत्तिकोपादानक विकारभूत कलशरूप परिणाम के विषय में मृत्तिका के या मृत्तिका के गुण के साथ जिसका (तादात्म्यसंबंध) होता है ऐसे जडस्वरूप को और वर्णादिस्वरूप को मृत्तिका कलश को (स्वयं) कलशरूप से परिणत होकर उत्पन्न करती है उसीप्रकार कलशरूप से परिणत होकर कलश को (अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से) उत्पन्न नहीं करता, उसीप्रकार आत्मा भी पुद्गल के विकारभूत द्रव्यकर्म के विषय में पुद्गल के अर्थात् पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म के साथ या पुद्गलद्रव्य के गुण के साथ जिसका संबंध (तादात्म्यसंबंध) होता है ऐसे जडात्मक स्वरूप को और वर्णादिरूप स्वरूप को द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होकर उत्पन्न नहीं करती । पुद्गलात्मक द्रव्यकर्म का स्वरूप और उसका वर्णादिरूप गुण इन दोनों को उसके रूप से (स्वयं) परिणत होकर उत्पन्न न करनेवाली आत्मा उस पुद्गलकर्म के विषय में किसप्रकार कर्ता (उपादानकर्ता) हो सकती है ? किसी भी प्रकार से कर्ता (उपादानकर्ता) नहीं हो सकती । चेतनाचेतनरूप पर के स्वरूप से परिणत नहीं होती ऐसा अर्थ है । इस कथन के द्वारा क्या कहा गया है ? 'जिसप्रकार स्फटिक निर्मल होनेपर भी जपापुष्पादिरूप परद्रव्य के निमित्त से परिणत होता है उसीप्रकार कोई सदाशिवनामक जीव सदा मुक्त और सदा अमूर्त होनेपर भी परद्रव्यरूप निमित्त के कारण परिणत होकर संसार की उत्पत्ति करता है' ऐसा जो कहा जाता है उसका निरसन हो जाता है । 'किस कारण ?' ऐसी शंका हो तो इसका समाधान–मूर्त स्फटिक का मूर्त द्रव्य के साथ उपाधि का–निमित्त का संबंध घटित होता है–अमूर्त के साथ मूर्त का नहीं । उस सदा मुक्त और सदा अमूर्त जीव का मूर्तद्रव्य कैसे उपाधि बन सकता है ? अमूर्त सिद्ध जीव का जिसप्रकार मूर्त द्रव्य उपाधि नहीं बन सकता उसीप्रकार सदा मुक्त और सदा अमूर्त जीव का मूर्त पदार्थ किसी भी प्रकार से उपाधि नहीं बन सकता । अनादिकाल से कर्म के द्वारा बंधावस्था को प्राप्त हुए जीव का अपने स्वभाव के रूप से शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वह अमूर्त होनेपर भी पर्याय के रूप से व्यवहारनय की दृष्टि से मूर्त उपाधिका दृष्टान्त घटित होता है इसप्रकार भावार्थ है ।

अतः अन्यः तु उपचारः–

" विभावभाव से परिणत हुई आत्मा वस्तुतः पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता न होनेपर भी कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप परिणति होते समय विभावभावरूप से परिणत हुई निमित्त होती है ऐसा जानकर 'आत्मा पुद्गल के द्रव्यकर्मरूप परिणति का कर्ता होती

है ' ऐसा जो कहा जाता है वह उपचार से कहा जाता है; परमार्थतः नहीं " इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं–

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण ॥ १०५ ॥

जीवे हेतुभूते बन्धस्य तु दृष्ट्वा परिणामम् ।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ– (**जीवे**) मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन विभावभावों के रूप से परिणत हुआ जीव (**हेतुभूते तु**) कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल की कर्मरूप में परिणति होनेमें निमित्तभूत होनेपर ही (**बन्धस्य**) जिसके द्वारा बन्ध किया जाता है ऐसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल के (**परिणामं**) द्रव्यकर्मरूप परिणाम को (**दृष्ट्वा**) देखकर–जानकर ' (**जीवेन**) जीव ने (**कर्म कृतं**) द्रव्यकर्म उत्पन्न किया ' ऐसा (**उपचारमात्रेण**) सिर्फ उपचार से (**भण्यते**) कहा जाता है, (क्यों कि जीव पुद्गलोपादानक परिणाम का उपादानकर्ता नही होता ।)

[' हलः ' इस सूत्र के अनुसार ' बध्यतेऽनेन बन्धः ' ऐसी बधशब्द की निरुक्ति होनेमे बन्धशब्द के ' जिसके द्वारा बन्ध किया जाता है ऐसा कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल ' इस अर्थ का ग्रहण होता है ।]

आ. ख्या.– इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावात् अनिमित्तभूते अपि आत्मनि अनादे अज्ञानात् तन्निमित्तभूतेन अज्ञानभावेन परिणमनात् निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात् 'पौद्गलिकं कर्म आत्मना कृतं' इति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषां अस्ति विकल्पः । सः तु उपचारः एव; न तु परमार्थः ।

त. प्र.– इहाऽत्र संसारे खलु परमार्थतः पौद्गलिककर्मण. कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकस्य द्रव्यकर्मणः । पुद्गल. प्रयोजनमुपादानकारणमस्य पौद्गलिकम् । पौद्गलिकं च तत् कर्म च पौद्गलिककर्म । तस्य । स्वभावाद्विज्ञानघनस्वभावाद्धेतोरनिमित्तभूतेऽप्याविर्भूतविज्ञानघनस्वभावत्वान्निरञ्जनत्वाच्छुद्धत्वाच्च मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपविभावभावत्वेन परिणमनासम्भवात्पुद्गलस्य द्रव्यकर्मत्वेन परिणतौ निमित्तीभवनासम्भवादनिमित्तभूतेऽपि निमित्तभूतेऽस्मिन्नात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेन द्रव्यकर्मोत्पत्तौ सहकारित्वेन निमित्तभूतेनाज्ञानभावेनाज्ञानोपादानकमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपविभावभावात्मकपरिणामरूपेण परिणमनान्निमित्तभूते सति । शुद्धज्ञानस्वभावत्वात्पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मोत्पत्तावनिमित्तमज्ञानात्मकपरिणामस्वरूपेण परिणमनात्तस्य निमित्तं सम्पद्यमानो भूतो निमित्तीभूतः । तस्मिन्सति । सम्पद्यमानत्वादुत्पद्यमानत्पौद्गलिक पुद्गलोपादानकं कर्म द्रव्यकर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां वीतरागस्वसंवेदनज्ञानच्युताना विकल्पपरायणाना परपदार्थविषयकविकल्पनिमग्नानां परेषां शुद्धात्मभिन्नाना बहिर्मुखतां प्राप्ताना जीवानामस्ति विकल्पो मानसः परिणामः । अभिप्राय इत्यर्थ. । स आत्मा परद्रव्यपरिणाम परद्रव्योपादानकं परिणाम करोति कर्त्रीभूय जनयतीत्यभिप्रायस्तूपचारो व्यवहार एव, न तु नैव परमार्थः सत्यार्थः । अशुद्धजीवोपादानकमिथ्यात्वादिविभावभावात्मकपरिणामपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपविभावभावात्मकपरिणामयोर्निमित्तनैमित्तिकभा-

यसद्भावादात्मनो निमित्तकर्तृत्वेऽपि तयोरुपादानोपादेयभावाभावात्पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरि-णामस्योपादानकर्तृत्वं न सम्भवतीति भावः ।

टीकार्थ– इस संसार में वस्तुतः स्वभाव से पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म का निमित्तभूत न होनेपर भी अनादिकाल से चले आये अज्ञान के कारण पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म का निमित्तकारण होनेवाले अज्ञान के परिणाम के रूप से परिणत होनेसे निमित्तभूत होनेपर पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म उत्पन्न होनेवाला होनेसे 'पुद्गलोपादानक द्रव्य-कर्म को आत्मा ने उत्पन्न किया' इसप्रकार निर्विकल्पविज्ञानघनस्वभाव से प्रच्युत हुए, परपदार्थविषयक विकल्पों की–मानस परिणामों की उत्पत्ति करनेमें निमग्न हुए शुद्धात्मभिन्न ऐसे बहिर्मुख हुए जीवों का मानसपरिणाम अभिव्यक्त हुआ होता है । वह अभिप्राय उपचरित ही है, सत्यार्थ–वस्तुस्थितिरूप नहीं ।

विवेचन– शुद्ध और निरंजन आत्मा विज्ञानघनस्वभाववाली होती है । निमित्त का अभाव होनेसे शुद्ध आत्मा का शुद्धज्ञान विभावभाव के रूप से परिणत होनेवाला न होनेसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप परिणति में सहकारि न होनेके कारण शुद्ध आत्मा पुद्गलद्रव्यरूप उपादान से उत्पन्न होनेवाली द्रव्यकर्मरूप परिणति का निमित्तकारण नहीं होती । शुद्ध आत्मा द्रव्यकर्मरूप से होनेवाली पुद्गलपरिणति का निमित्तकारण न होनेपर भी अनादिकाल से अज्ञानरूप से परिणत हुई होनेसे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इनरूप विभावभावों के रूप से परिणत होनेकी उपादानभूत पुद्गलद्रव्य की क्रिया में निमित्तभूत होनेपर ही कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य से द्रव्य-कर्मरूप परिणाम की उत्पत्ति होती है । आत्मा के विभावभाव के या अशुद्ध आत्मा के निमित्तरूप होनेपर ही पुद्गल-द्रव्य से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होनेसे 'पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्म की उत्पत्ति आत्मा ने की' ऐसा जो कहते है वे अपने निर्विकल्पविज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट हुए और द्रव्यविषयक विकल्पों की उत्पत्ति करने में निमग्न हुए होते है । ऐसे जीवों का 'आत्मा द्रव्यकर्मों की उत्पत्ति करती है' यह कथन उपचरित होता है–वास्तविक नहीं; क्यों कि आत्मा कथंचित् निमित्तकर्ता होनेपर भी द्रव्यकर्मरूप परिणति का उपादानकर्ता नही होती ।

'कथम् ?' इति चेत्–

"शरीर और मानस व्यापार के द्वारा मृत्तिकोपादानक घट की उत्पत्ति की जानेसे जिसप्रकार 'घट कुम्हार ने किया' ऐसा कहा जाता है और यह कथन ठीक भी है; क्यों कि कुम्हार के व्यापार के अभाव मे घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसीप्रकार जीव के विभावभावात्मक परिणामों के सद्भाव मे ही ज्ञानावरणादिकर्मों की उत्पत्ति होनेसे 'पुद्गलद्रव्योपादानक ज्ञानावरणादिकर्मों को आत्मा ही करती है' ऐसा जो कहा जाता है और वह कथन है भी ठीक । ऐसा होते हुए भी 'जीव ज्ञानावर-णादिकर्मों को उत्पन्न करता है' इस कथन को पारमार्थिक न मानकर जो उपचरित माना जा रहा है वह कैसे ?" ऐसी शंका हो तो आचार्य उसका समाधान करते है–

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो ।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥ १०६ ॥

यौधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः ।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थ– (**योधैः**) युद्ध करनेके तीव्र परिणाम के रूप से परिणत हुए योद्धाओं के द्वारा (**युद्धे कृते**) युद्ध किया जानेपर (**राज्ञा कृत इति**) 'राजा ने युद्ध किया' इसप्रकार (**लोकः जल्पते**)

लोक कहा करते हैं । लोकों का यह कथन वास्तविक नही है—उपचरित है; क्यों कि युद्ध करनेके तीव्र परिणाम के रूप से परिणत होकर राजा स्वयं युद्धक्रियात्मकपरिणाम के रूप से परिणत नहीं होता । **(तथा)** उसीप्रकार **(ज्ञानावरणादि)** पुद्गलद्रव्योपादानक ज्ञानावरणादि कर्म **(जीवेन कृतं)** जीव के द्वारा उत्पन्न किया गया ऐसा जो लोकों के द्वारा कहा जाता है वह **(व्यवहारेण)** व्यवहारनय की दृष्टि से—उपचार से कहा जाता है, क्यों कि आत्मा चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध हो वह पुद्गलोपादानक ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म के रूप से कदापि परिणत नही होती ।

आ. ख्या.— यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयं अपरिणममानस्य राज्ञः 'राज्ञा किल कृतं युद्धम्' इति उपचारः, न परमार्थः; तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं अपरिणममानस्य आत्मनः 'किल आत्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्म' इति उपचारः, न परमार्थः ।

त. प्र.— यथा येन प्रकारेण युद्धपरिणामेन युद्धक्रियात्मकपरिणामेन स्वयमात्मना परिणममानैर्योधैर्योद्धृभिः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन युद्धक्रियात्मकपरिणामेन स्वयमात्मनाऽपरिणममानस्य राज्ञो नृपस्य राज्ञा नृपेण । किलेति वाक्यालङ्कारे । कृतं युद्धमित्युपचारो व्यवहारः, न तु नैव परमार्थः सत्यार्थः। युद्धक्रियात्मकपरिणत्यभावेऽपि राज्ञो नृपस्य राज्ञा कृतं युद्धमित्युपचार एव, न सत्यार्थः, योधानामेव युद्धक्रियात्मकपरिणामस्वरूपेण परिणतत्वाद्राज्ञश्च तथाऽपरिणतत्वात् । तथा तेन प्रकारेण ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन पुद्गलद्रव्योपादानकज्ञानावरणाभिधानद्रव्यकर्मात्मकपरिणामस्वरूपेण स्वयमात्मना परिणममानेनोत्पद्यमानेन पुद्गलद्रव्येणोपादानकर्त्रीभूय कृते स्वस्वरूपेणादौ मध्येऽवसाने च साकल्येन व्याप्योपादेयात्मकपरिणामस्वरूपेणोत्पादिते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन पुद्गलद्रव्योपादानकपुद्गलस्वरूपान्वितज्ञानावरणाद्यभिधानद्रव्यकर्मात्मक—परिणामस्वरूपेण स्वयमात्मनाऽपरिणममानस्य परिणामत्वमनापद्यमानस्यात्मनः किल परमार्थत आत्मना कृतमुत्पादितं ज्ञानावरणादिकर्म ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञकपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मेत्युपचारो व्यवहारो न परमार्थः सत्यार्थः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्यैव स्वस्वरूपेणादौ मध्येऽवसाने च साकल्येन व्याप्यावगाह्य व्यापकीभूय द्रव्यकर्मोपादानकर्तृत्वसम्भवादात्मनश्च स्वस्वरूपेण व्याप्य व्यापकीभवनासम्भवादात्मना ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञकं पुद्गलद्रव्योपादानकं द्रव्यकर्म कृतमित्युपचार एव, न परमार्थः, द्रव्यकर्मण आत्मोपादानकर्तृकत्वासम्भवात् ।

टीकार्थ— जिसप्रकार यदि क्रियारूप परिणाम के रूप से स्वयं परिणत होनेवाले योद्धाओं के द्वारा युद्ध किया जानेपर युद्धक्रियारूप परिणाम के रूप से स्वयं परिणत न होनेवाले राजा के विषय में 'युद्ध राजाने किया' इसप्रकार उपचार होता है, सत्यार्थ नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञक द्रव्यकर्मरूप परिणामके रूप से स्वयं परिणत होनेवाले पुद्गलद्रव्य के द्वारा (उपादानकर्ता होकर उपादेयभूत परिणाम के रूप से) ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञक द्रव्यकर्म की उत्पत्ति की जानेपर ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञक द्रव्यकर्मात्मक परिणाम के रूप से स्वयं परिणत न होनेवाली आत्मा के विषय में 'ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञक द्रव्यकर्म आत्मा ने उत्पन्न किया' ऐसा जो कहा जाता है, वह उपचरित है, सत्यार्थ नहीं है ।

विवेचन– युद्ध तो युद्ध करनेके क्रियारूप परिणाम के रूप से परिणत हुए योद्धाओं के द्वारा किया जाता है । ऐसा होनेपर भी 'राजा ने युद्ध किया' ऐसा जो कहा जाता है वह उपचार से ही कहा जाता है । यह कथन सत्य–वास्तविक नहीं है; क्योंकि युद्ध करनेकी क्रिया के रूप से परिणत होकर राजा स्वयं युद्ध नहीं करता । इसीप्रकार ज्ञानावरणादिसंज्ञक द्रव्यकर्म की उत्पत्ति द्रव्यकर्म के रूप से स्वयं परिणत होनेवाले कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य के द्वारा की जाती है अर्थात् द्रव्यकर्म का उपादानकर्ता पुद्गलद्रव्य ही होता है तो भी 'आत्मा ने ज्ञानावरणादिसंज्ञक द्रव्यकर्म किया' ऐसा जो कहा जाता है वह कथन उपचरित है–मिथ्या है–यथार्थ नहीं है; क्योंकि आत्मा ज्ञानावरणादिसंज्ञक द्रव्यकर्म के रूप से स्वयं परिणत नहीं होती । जो द्रव्य विशिष्ट परिणाम के रूप से स्वयं परिणत नहीं होता उस द्रव्य का उस विशिष्ट परिणाम में अपने स्वरूप से अन्वय न होनेसे वह द्रव्य उस विशिष्ट परिणाम का वस्तुतः उपादानकर्ता नहीं होता । ऐसा होनेपर भी उस द्रव्य को उस विशिष्ट परिणाम का जो कर्ता कहा जाता है वह मात्र उपचार से कहा जाता है । यदि विशिष्ट परिणाम के रूप से परिणत न होनेवाले द्रव्य को उस विशिष्ट परिणाम का उपादान कर्ता माना तो कोनसे भी परिणाम का कोनसा भी विजातीय द्रव्य उपादानकर्ता हो जायगा, जो कि असंभव है । मृत्तिकोपादानक घट का सुवर्णद्रव्य उपादानकर्ता बन जायगा । अतः जो द्रव्य जिस परिणाम के रूप से स्वयं परिणत होता है वही द्रव्य वस्तुतः उस परिणाम का उपादानकर्ता होता है; उस परिणाम के रूप से स्वयं परिणत न होनेवाला अन्य द्रव्य उस परिणाम का उपादानकर्ता नहीं हो सकता । पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होनेवाला होनेसे पुद्गलद्रव्य ही द्रव्यकर्म का उपादानकर्ता होता है । आत्मा द्रव्यकर्म का उपादानकर्ता नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा द्रव्यकर्म के रूप से स्वयं परिणत नहीं होती ।

अतः एतत् स्थितम्–

जब आत्मा पुद्गलद्रव्य के परिणामभूत द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता नहीं होती तब निम्न अभिप्राय सिद्ध हुआ–

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ १०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थ– (**आत्मा**) आत्मा (**पुद्गलद्रव्य**) जिसमें पुद्गलद्रव्य का स्वस्वरूप से अस्तित्व–अन्वय पाया जाता है ऐसे पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म के परिणाम को (**उत्पादयति**) उत्पन्न करती है अर्थात् ज्ञान आदि को आवृत आदि करनेके स्वभाव को अभिव्यक्त करती है, (**करोति च**) और करती है अर्थात् एक समय से अधिक कालतक उसके उस स्वभाव को स्थिर करती है, (**बध्नाति**) बन्ध करती है, अर्थात् फलदानसामर्थ्य को अभिव्यक्त करती है (**परिणामयति**) परिणमाती है अर्थात् आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ संश्लेषसंबंध को प्राप्त करती है (**गृह्णाति च**) और ग्रहण करती है अर्थात् अपनेमें समाविष्ट करती है ऐसा जो कहा जाता है वह (**व्यवहारनयस्य**) व्यवहारनय का (**वक्तव्यम्**) कथन है ।

['पुद्गलद्रव्यम्' इस पद का अर्थ है 'पुद्गलद्रव्य का पुद्गलस्वरूपान्वित परिणाम' । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इस सूत्र के अनुसार मत्वर्थीय अप्रत्यय लगानेसे यह रूप बना हुआ है । 'पुद्गलद्रव्यमस्त्यस्मिन्निति पुद्गलद्रव्यम्' ऐसी उस पद की निरुक्ति सुसंगत है । यह पद विशेषणभूत होनेसे इससे विशेष्यभूत द्रव्यकर्मरूप परिणाम का ग्रहण

होता है। दूसरी बात यह है कि पुद्गलद्रव्य की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; क्यों कि वह अनाद्यनन्त नैसर्गिक द्रव्य है। उत्पत्ति पुद्गलद्रव्य की नहीं की जा सकती; उसके परिणामोंकी की जा सकती है। आत्मख्याति में 'पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म' इन पदों को देखनेसे उक्त अभिप्राय की पुष्टि होती है। अतः गाथा में प्रयुक्त किये गये 'पुग्गलदव्वं' इस पद का निर्वचन अयुक्त नहीं जंचता। 'धातूनामनेकार्थत्वात्' इस वचन के अनुसार गाथागत क्रियापदों का 'परिणत होना' ऐसा अर्थ होता है।]

आ ख्या.– अयं खलु आत्मा न गृह्णाति, न परिणामयति, न उत्पादयति न करोति, न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत् तु व्याप्यव्यापकभावाभावे अपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति, परिणामयति, उत्पादयति, करोति, बध्नाति च आत्मा इति विकल्पः स किल उपचारः।

त. प्र.– अयमेष खलु परमार्थत आत्मा जीवो न गृह्णाति स्वात्मना सहैकीभावमापादयति, न परिणामयत्यात्मनः पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म प्रतिप्रदेशं संश्लेषसम्बन्धमापादयति, नोत्पादयति ज्ञानावरणादिस्वभावं पुद्गलद्रव्योपादानके द्रव्यकर्मणि जनयति, न करोति स्वभावाप्रच्युतिं समयादूर्ध्व-स्थितिकां करोति, न बध्नाति द्रव्यकर्मणि फलदानसामर्थ्यमाविर्भावयति व्याप्यव्यापकभावाभावादन्त-र्व्याप्यव्यापकभावाभावात्प्राप्यं, विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं पुदगलस्वरूपान्वित कर्म द्रव्यकर्म। द्रव्यकर्मकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्ययोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावाद्यथा कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यस्वरूपान्वित द्रव्यकर्मात्मना तादात्म्यमापादयत्यात्मद्रव्यस्य प्रतिप्रदेशं बन्धमापादयति द्रव्यकर्मणि ज्ञानावरणादिस्वभावं जनयति, स्वभावाप्रच्युतिं समयादूर्ध्वस्थितिकां करोति तस्मिन्फलदानसामर्थ्यमाविर्भावयति, स्वेन तादात्म्यमापादयति च तथाऽऽत्माऽऽत्मद्रव्यकर्मणोरन्तर्व्याप्य-व्यापकभावाभावाद्द्रव्यकर्मात्मना तादात्म्यं नापादयति, जीवस्य प्रतिप्रदेशं सश्लेषात्मक सम्बन्ध तन्ना-पादयति, ज्ञानावरणादिस्वभावं न जनयति तस्मिन्, समयादूर्ध्वस्थितिकां स्वभावाप्रच्युतिं ततो न करोति, फलदानसामर्थ्यं च तस्मिन्नाविर्भावयति, ग्रहणपरिणमनोत्पादनकरणबन्धनक्रियात्मकपरिणामानां पुद्गलद्रव्योपादानकत्वादात्मद्रव्योपादानकत्वाभावाच्चेति भावः। यस्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽप्यात्म-द्रव्यद्रव्यकर्मणोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं पुद्गलद्रव्य-स्वरूपान्वित कर्म द्रव्यकर्म गृह्णाति परिणामयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पोऽभिप्राय स किल परमार्थत उपचार एवात्मनस्तत्कर्तृत्वासम्भवात्।

टीकार्थ– पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म में आत्मा का स्वरूप से अन्वय न होनेसे पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्य-कर्म और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेके कारण यह आत्मा पुद्गलद्रव्योपादानक प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य कर्मरूप द्रव्यकर्म को परमार्थतः ग्रहण नहीं करती, उसको परिणत नहीं करती, उसको उत्पन्न नहीं करती और न उसे करती है न बंधावस्था को प्राप्त कराती है। पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेपर भी पुद्गलद्रव्योपादानक प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य द्रव्यकर्म को आत्मा ग्रहण करती है, उसको परिणत करती है, उसको उत्पन्न करती है, और उसे बांधती है–बन्धावस्था को प्राप्त कराती है इसप्रकार का जो विकल्प अभिप्राय होता है वह परमार्थतः उपचार है।

विवेचन– पुद्गलद्रव्य का पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म में स्वस्वरूप से अन्वय विद्यमान होनेसे पुद्गलद्रव्य और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है। उन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेके कारण पुद्गलद्रव्योपादानक प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य कर्मभूत द्रव्यकर्म को स्वीकार करता है अर्थात् पुद्गलद्रव्य और द्रव्यकर्म इनमें तादात्म्य होनेसे पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्म को अपनेसे भिन्न नहीं होने देता; क्यों कि वह स्वयं द्रव्यकर्म के रूप से परिणत हुआ होता है। यह कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य आत्मा के विभावभावरूप निमित्त के मिल जानेपर स्वयं आत्मा के प्रदेशों के साथ संश्लेषसबंध को प्राप्त होता है; आत्मप्रदेशों के साथ संश्लेषसंबंध को प्राप्त हुए स्वोपादानभूत द्रव्यकर्मरूप अपनी पर्याय में आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान आदि को आवृत करनेकी अशुद्धिशक्ति को उत्पन्न करता है, अपने उपादेयभूत द्रव्यकर्मरूप परिणाम में उस अशुद्ध स्वभाव को समय से अधिक कालतक स्थितिमान् बनाता है और द्रव्यकर्म में होनेवाले ज्ञानावरणादिस्वभाव से आत्मा को फल देनेकी अर्थात् आत्मा के ज्ञान आदिरूप स्वभावभूत भावों को आवृत करनेकी शक्ति को प्रकट करता है। आत्मा का पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म में स्वस्वरूप से अन्वय न होनेसे आत्मा और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है। इन दोनों में अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेके कारण पुद्गलद्रव्योपादानक प्राप्यरूप, विकार्यरूप, और निर्वर्त्यरूप कर्मभूत द्रव्यकर्म का स्वीकार नहीं करती अर्थात् आत्मा और द्रव्यकर्म इनमें तादात्म्य न होनेसे आत्मा द्रव्यकर्म को अपने साथ एकरूप नहीं होने देती; क्योंकि आत्मा स्वयं द्रव्यकर्म के रूप से परिणत हुई नहीं होती। यह आत्मा अपने प्रदेशों के साथ कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य को संश्लेषसंबंध को प्राप्त नहीं कराती; क्यों कि वह पुद्गलद्रव्य आत्मप्रदेशों के साथ संश्लेषसबंध को स्वयं प्राप्त होता है, आत्मप्रदेशों के साथ संश्लेषसंबंध को स्वयं प्राप्त हुए पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्म में अपने स्वभावभूत ज्ञान आदि को आवृत करनेकी अशुद्धिशक्ति को उत्पन्न नही करती, पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म में उस अशुद्धस्वभाव को एक समय से अधिक कालतक स्थितिमान् नहीं बनाती और द्रव्यकर्म में होनेवाले ज्ञानावरणादिस्वभाव के द्वारा आत्मा को फल देनेकी अर्थात् आत्मा के ज्ञान-आदिरूप स्वभावभूत भावों को आवृत करनेकी या आत्मा की विभावभावात्मक परिणति में सहकारिकारण होनेकी पुद्गलकर्म की शक्ति को प्रकट नहीं करती। सारांश, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्य आत्मा के विभावभावात्मकपरिणामरूप निमित्त के मिल जानेपर स्वयमेव प्रकृतिबंधरूप, प्रदेशबंधरूप, स्थितिबंधरूप और अनुभागबंधरूप परिणामों का कर्ता-उपादानकर्ता होता है, आत्मा नहीं। ऐसा होनेपर भी आत्मा और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेपर भी पुद्गलद्रव्योपादानक प्राप्यरूप, विकार्यरूप, और निर्वर्त्यरूप द्रव्यकर्मात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करती है, उत्पन्न करती है, करती है और बांधती है ऐसा जो अज्ञानी जीव का अभिप्राय होता है वह निश्चयनय की दृष्टि से उपचरित है-यथार्थ नहीं है-मिथ्या है।

'कथम् ?' इति चेत्–

"आत्मा द्रव्यकर्म को ग्रहण करती है, परिणत करती है, उत्पन्न करती है, करती है और बांधती है इसप्रकार का यह अभिप्राय उपचरित है-यथार्थ नहीं है ऐसा जो कहा वह कैसे ?" इस शंका का दृष्टान्त के द्वारा समाधान करते है–

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दोसगुणुप्पादगो भणिदो ॥ १०८॥

यथा राजा व्यवहाराद् दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।
तथा जीवो व्यवहाराद् दोषगुणोत्पादको भणितः ॥ १०८॥

अन्वयार्थ– [यथा] जिसप्रकार [राजा] राजा [दोषगुणोत्पादकः] प्रजा के दोषों को और गुणों को उत्पन्न करता है [इति] ऐसा [व्यवहारात्] व्यवहारनय के कारण अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से या उपचार से [आलपितः] लोकोंके द्वारा कहा जाता है [तथा] उसीप्रकार [जीवः] जीव [दोष–गुणोत्पादकः] द्रव्यकर्मगत दोषों को और गुणों को उत्पन्न करता है (इति) ऐसा [व्यवहारात्] व्यवहारनय की दृष्टि से अर्थात् उपचार से [भणितः] कहा जाता है ।

आ. ख्या.– यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावतः एव उत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावे अपि 'तदुत्पादकः राजा' इति उपचारः, तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावतः एव उत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावे अपि 'तदुत्पादकः जीवः' इति उपचारः ।

त. प्र.– यथा येन प्रकारेण लोकस्य व्यवहारिजनस्य व्याप्यव्यापकभावेन लोके तद्गुणदोषयो–श्चान्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावेन स्वभावत एव निसर्गत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु शुभाशुभभावात्मकेषु लोकस्वामिकपरिणामेषु सत्सु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि राज्ञि लोकस्वामिकगुणदोषयोश्चाऽन्तर्व्याप्य–व्यापकभावस्याऽभावेऽपि 'तदुत्पादको लोकस्वामिकगुणदोषोत्पादको राजा' इत्युपचारः, न भूतार्थः । लोकस्य स्वगुणदोषेषु विभावभावात्मकस्वीयाज्ञानस्वरूपेणाऽन्वितत्वादन्तर्व्यापकत्वाद्गुणदोषाणां च तद्व्याप्यत्वादन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावाद्गुणदोषाणां स्वभावत एव निसर्गत एव स्वोपादानभूताल्लो-कानामज्ञानभावात्मकात्परिणामादेवोत्पत्तिः, न राज्ञः, लोकस्वामिकगुणदोषेषु राज्ञः स्वस्वरूपेणाऽनन्वि-तत्वाद्राज्ञि लोकस्वामिकगुणदोषेषु चान्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावाल्लोकस्वामिकगुणदोषाणामनुत्पादकत्वा-द्राज्ञः । लोकस्वामिकगुणदोषाणां लोकमात्रोपादानकर्तृकत्वादेकस्य परिणामस्य द्रव्यद्वयोपादानकर्तृक–त्वासम्भवाद्राज्ञो लोकस्वामिकगुणदोषाणामुपादानकर्तृत्वासम्भवेऽपि तेषां लोकस्वामिकगुणदोषाणां राजा कर्ता भवतीति यल्लोकैः 'यथा राजा तथा प्रजा, राजा कालस्य कारणम्' इत्येवं यद्भण्यते स उपचार एव, न परमार्थ इति भावः । तथा तेन प्रकारेण पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्ये तद्गुणदोषेषु चान्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावेन हेतुना स्वभावत एव निसर्गत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेष्व–शुद्धात्मशुभाशुभपरिणामोत्पत्तिनिमित्तमात्रीभवदशुद्धिशक्तिसद्भावाद्गुणदोषसञ्ज्ञामावहत्सु पुद्गलद्रव्य-परिणामेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि जीवे पुद्गलद्रव्यपरिणामभूतगुणदोषेषु चान्तर्व्याप्यव्यापकभावा–भावेऽपि तदुत्पादकः पुद्गलद्रव्यस्वामिकगुणदोषोत्पादको जीव इत्युपचारः, न भूतार्थः । कर्मवर्गणायोग्य–पुद्गलद्रव्यस्य तद्गुणदोषेषु स्वीयाचेतनस्वरूपेणाऽन्वितत्वाद्व्यापकत्वाद्गुणदोषाणां च तद्व्याप्य–त्वादन्तर्व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्तद्गुणदोषाणां स्वभावत एवोत्पत्तिर्जीवविभावभावात्मकपरिणाम–निमित्तनिबन्धना । जीवस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्वामिकगुणदोषेषु स्वस्वरूपेणाऽनन्वितत्वाद न्त–र्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्वामिकगुणदोषात्मकपरिणामानां जीवो नोत्पादकः । पुद्गलद्रव्यस्वामिकगुणदोषाणां पुद्गलद्रव्यमात्रोपादानकत्वादेकस्य परिणामस्य द्रव्यद्वयोपादानकत्वा–सम्भवाज्जीवस्य द्रव्यकर्मात्मकपुद्गलपरिणामगुणदोषात्मकपरिणामानामुपादानकर्तृत्वासम्भवेऽपि तेषां पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामानां जीव उपादानकर्ता भवतीति यद्भण्यते स उपचार एव, न परमार्थ इति भावः ।

टीकार्थ– जिसप्रकार लोकों के अपने गुणदोष और लोकों की अपनी आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे लोकों के गुणदोष (लोकों की उपादानभूत आत्माओं से) स्वभावतः उत्पन्न होनेवाले होनेपर राजा और लोकों के गुणदोष इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेपर भी लोकों के गुणदोषों का राजा उत्पादक होता है ऐसा जो कहा जाता है वह उपचार है, उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के अपने गुणदोष और पुद्गलद्रव्य इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे पुद्गलद्रव्य के गुण दोष (उपादानभूत पुद्गलद्रव्य से) स्वभावतः उत्पन्न होनेवाले होनेपर पुद्गल के गुणदोष और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेपर भी पुद्गल के गुणदोषों की आत्मा उत्पादक होती है ऐसा जो कहा जाता है वह उपचार है ।

विवेचन– लोकों के गुणदोषों में लोकों की आत्माओं का स्वस्वरूप से अन्वय विद्यमान होनेसे लोकों के गुणदोष और उनकी आत्माएं इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है । इस अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव के सद्भाव के कारण लोकों के उन गुणदोषरूप परिणामों की उनकी आत्माएं ही उपादानकर्ता होती हैं। लोकों के गुणदोषों में राजा की आत्मा का स्वस्वरूप से अन्वय विद्यमान न होनेसे लोकों के गुणदोष और राजा की आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव नहीं होता । लोकों के गुणदोष और राजा की आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे राजा अर्थात् राजा की आत्मा लोकों के गुणदोषों की उपादानकर्ता नहीं होती । ऐसा होते हुए भी लोक '*यथा राजा तथा प्रजा*' और '*राजा कलस्य कारणम्*' इसप्रकार कहा करते हैं अर्थात् लोकों के गुणदोषों को राजा करता है ऐसा समझते हैं । यह उनका कहना यथार्थ नहीं है–उपचरित है; क्यों कि जो गुणदोष जिसके होते हैं वही उन गुणदोषों का उपादानकर्ता होता है । पुद्गलद्रव्य के गुणदोषों में पुद्गलद्रव्य का स्वस्वरूप से अन्वय होनेसे अर्थात् पुद्गलद्रव्य का सद्भाव होनेपर ही उसके गुणदोषों का सद्भाव होनेसे पुद्गलद्रव्य के गुणदोष और पुद्गलद्रव्य इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है । इस अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव के सद्भाव के कारण पुद्गलद्रव्य के उन गुणदोषरूप परिणामों का पुद्गलद्रव्य ही उपादानकर्ता होता है । कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य के गुणदोषों में आत्मा का स्वस्वरूप से अन्वय न होनेसे पुद्गलद्रव्य के गुणदोष और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव नहीं होता । पुद्गलद्रव्य के गुणदोष और आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे आत्मा पुद्गलद्रव्य के गुणदोषों की उपादानकर्ता नहीं होती । ऐसा होते हुए भी 'आत्मा पुद्गलद्रव्य के गुणदोषों की उत्पत्ति करती है अर्थात् उनका उपादानकर्ता होती है' ऐसा जो कहा जाता है वह कहना यथार्थ नहीं है–उपचरित है–मिथ्या है; पुद्गलद्रव्य के गुणदोष पुद्गलद्रव्यस्वामिक होते हैं, आत्मद्रव्यस्वामिक नहीं होते ।

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिबर्हणाय सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ।। ६३ ।।

अन्वयः– 'यदि जीवः पुद्गकर्म न एव करोति, तर्हि तत् कः कुरुते ?' इति अभिशङ्कया एव एतर्हि तीव्ररयमोहनिबर्हणाय पुद्गलकर्म कर्तृ सङ्कीर्त्यते, शृणुत ।

अर्थ– 'यदि अज्ञानरूप विभावभावात्मकपरिणाम के रूप से परिणत न हुआ (शुद्ध) जीव पुद्गल के परिणाम को अर्थात् द्रव्यकर्म को और पुद्गलसदृश अशुद्ध जीव के परिणाम को अर्थात् भावकर्म को (स्वय उपादानकर्ता होकर) उत्पन्न करती ही नहीं तब उस पुद्गल के–कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल के परिणाम को अर्थात् द्रव्यकर्म को और पुद्गलसदृश अशुद्ध जीव के परिणाम को अर्थात् भावकर्म को (स्वयं उपादानकर्ता होकर) कौन उत्पन्न करता है ?' इसप्रकार की शंका उत्पन्न होनेके कारण से ही अब जिसकी सामर्थ्य भयंकर होती है ऐसे मोह का अर्थात् पुद्गलकर्मकर्तृत्वविषयक अज्ञान का नाश करनेके लिये '*पुद्गल के परिणाम का अर्थात् द्रव्यकर्म का कर्ता* पुद्गल का कर्मवर्गणायोग्य परिणाम होता है और पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मा के मिथ्यात्वादिसंज्ञक भावकर्मरूप परिणाम का कर्ता पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मा का अज्ञानरूप परिणाम होता है' ऐसा प्रतिपादन किया जाता है, सुनिए । अथवा–द्रव्यकर्म के और भावकर्म के कर्ता बताये जाते हैं, सुनिए ।

त. प्र.– यदि जीवोऽज्ञानात्मकविभावभावरूपत्वेनाऽपरिणतश्शुद्धचैतन्यस्वभाव आत्मा पुद्गलकर्म कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकं द्रव्यकर्मात्मकं परिणाममशुद्धजीवद्रव्यस्वामिकाज्ञानभावोपादानकं भावकर्मात्मकं च परिणामं करोत्युपादानकर्त्रीभूय स्वीयशुद्धचैतन्यस्वरूपेणाभिव्याप्य न जनयति स्वीयोपादेयभूतपरिणामत्वेन तर्हि तदा तत्पुद्गलद्रव्योपादानकं द्रव्यकर्माज्ञानस्वरूपविभावभावात्मकप-रिणामभूतं शुद्धचैतन्यवैकल्यनिबन्धनपुद्गलसादृश्याशुद्धजीवोपादानकं भावकर्म च कः करोत्युपादानक-र्त्रीभूय स्वस्वरूपेणाभिव्याप्य जनयतीत्यभिशङ्क्यैवेतर्हीदानीम् । अस्मिन्काल एतर्हि । 'इदमः' इति र्हिः । 'एतेतौ र्थोः' इतीदम एत इत्यादेशो रेफादेः परत्वात् । तीव्ररयमोहनिबर्हणाय जीवस्वभावभूत-गुणघातनभयङ्करसामर्थ्यसम्पन्नमोहकर्म विनाशयितुम् । 'छ्वर्थवाचोऽर्थात्कर्मणि' इति कर्मण्यप् । तीव्रो भयङ्करो रयो जीवस्वभावभूतगुणघातनसामर्थ्यं यस्य यस्मिन्वा स तीव्ररयः । तस्य तीव्ररयस्य मोहस्य पुद्कर्मकर्तृविषयकाज्ञानभावस्य निबर्हणं विनाशनम् । तस्मै । तन्निर्बर्हितुं विनाशयितुमित्यर्थः । ज्ञेयार्थज्ञानात्मकपरिणामजननशक्तिघातनभयङ्करसामर्थ्यसम्पन्नत्वात्तस्याज्ञानभावस्य विनाशार्थमि-त्यर्थः । पुद्गलकर्म विशिष्टपरिणामावस्थामापन्नः पुद्गलोऽज्ञानभावत्वेन परिणतो जीवश्च । पुद्गलस्य कर्म कर्मवर्गणायोग्यत्वरूपः परिणामः, पक्षे पुद्गलसदृशाज्ञजीवपरिणामः । अज्ञानभावत्वेन परिणतत्वा-च्छुद्धचैतन्यविकलत्वाच्छुद्धजीवापेक्षयाऽचेतनत्वात्पुद्गलसदृशत्वाज्जीवस्य कथञ्चित्पुद्गलत्वम् । तस्य पुद्गलसदृग्जीवस्य कर्माज्ञानभावात्मकः परिणामः । कर्तृ यथाक्रमं द्रव्यकर्मणो भावकर्मणश्चोपादानकर्ता भवतीति सङ्कीर्त्यते प्रतिपाद्यते । यद्वा पुद्गलकर्मकर्तृ पुद्गलकर्मणः कर्तृ प्रतिपाद्यते । अत्र 'सामान्ये नपुंसकम्' इति वचनमनुरुध्य नपुंसकलिङ्गप्रत्ययान्तस्य प्रयोगः । श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यवर्यैरधस्त-नगाथाचतुष्कद्वारेण प्रतिपाद्यत इति भावः । तच्छृणुताकर्णयत । पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणः पुद्ग-लद्रव्योपादानकत्वेऽप्यज्ञानिजीवोपादानकभावकर्मणश्चाऽज्ञानिजीवोपादानकत्वेऽपि द्रव्यभावकर्मकर्तृत्ववि-षयिण्याश्शङ्काया अज्ञानमूलकत्वात्तदज्ञानापहृतये द्रव्यकर्मणः पुद्गलकर्म भावकर्मणश्चाज्ञानिजीवस्वा-मिकमज्ञानमुपादानकर्त्रेत्यभिधीयत इति भावः ।

विवेचन– "द्रव्यकर्म का उपादानकर्ता होनेसे कर्मवर्गणायोग्य पुदगलद्रव्य के रूप से परिणत हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे और निमित्तकर्ता होनेसे आत्मा की अपनी नित्यता के कारण नित्य–सभी कालो में द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे जब शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे शुद्ध आत्मा द्रव्य-कर्मरूप परिणाम की उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता नहीं होती, भावकर्म का उपादानकर्ता होनेसे अज्ञानस्वभाववाली अशुद्ध आत्मा के रूप को सदा धारण करनेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे और निमित्तकर्ता होनेपर अपनी नित्यता के कारण भावकर्मों की सभी कालों में निमित्तकर्ता हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे शुद्ध आत्मा जब भावकर्मों का उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता नहीं होती, भावकर्म का उपादानकर्ता होनेसे अज्ञानस्वभाववाली अशुद्ध आत्मा के रूप से परिणत हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे और निमित्तकर्ता होनेपर अपनी नित्यता के कारण सभी कालों में भावकर्मों की निमित्तकर्ता हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे शुद्ध पुद्गल जब भावकर्मों का उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता नहीं होता, द्रव्यकर्म का उपादानकर्ता होनेसे अशुद्ध अर्थात् कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य के रूप से सर्वकाल परिणत हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे और निमित्तकर्ता होनेसे शुद्ध पुद्गल की अपनी नित्यता के कारण सभी कालों में द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे जब शुद्ध पुदगलद्रव्य द्रव्य-कर्मरूप परिणाम का उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता नहीं होता, और धर्मादिरूप अमूर्तद्रव्य मूर्तद्रव्य के रूप से परिणत हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे जब द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता नहीं होते और द्रव्यकर्मरूप विभाव-

भावात्मकपरिणति का निमित्तकर्ता होनेपर जीव के विभावभावात्मक परिणामरूप निमित्त का अभाव होनेपर भी अपनी नित्यता के कारण द्रव्यकर्मरूप परिणामों की उत्पत्ति सर्वकाल होनेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे और वह परिणति सर्वकालों में होनेसे जब द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता नहीं होते और उसीप्रकार भावकर्मों के भी उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता नहीं होते, तब उन द्रव्यभावकर्मों का उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता कौन होता है ?" ऐसी शका होनेपर उसका " द्रव्यकर्म का उपादानकर्ता पुद्गलद्रव्य का विशिष्ट परिणाम होता है और द्रव्यकर्मरूप परिणाम का अनन्तरपूर्वपरिणाम और जीव के विभावभावात्मक योगरूप और उपयोगरूप परिणाम निमित्तकर्ता होते हैं और भावकर्म का उपादानकर्ता अनादिकाल से अशुद्ध अवस्था को प्राप्त हुए जीव का अज्ञानभावरूप परिणाम या उसके योगरूप और उपयोगरूप परिणाम उपादानकर्ता होता है और भावकर्म का अनन्तरपूर्वपरिणाम और द्रव्यकर्म का उदयरूप परिणाम निमित्तकर्ता होते हैं " इसप्रकार का समाधान अज्ञानरूप मोह का नाश करनेके लिये आगे दी हुई गाथाओं के द्वारा आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी करते है अथवा द्रव्यकर्म का कर्ता कौन होता है यह बताते-कहते है-

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥ १०९ ॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥ ११० ॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा ।
ते जदि करंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ॥ १११ ॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११२ ॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यन्ते बन्धकर्तारः ।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥ १०९ ॥
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।
मिथ्यादृष्टयादि यावत्सयोगिनश्चरमान्तम् ॥ ११० ॥
एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मात् ।
ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥ १११ ॥
गुणसञ्ज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात् ।
तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ- (खलु) परमार्थतः (बन्धकर्तारः) कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल का आत्मा के प्रदेशो के साथ सश्लेषसंबधरूप बध करनेवाले और भावबंध करनेवाले अर्थात् जीव के विभावभावात्मक

परिणामों की उत्पत्ति करनेवाले (**चत्वारः**) चार (**सामान्यप्रत्ययाः**) द्रव्यरूप और भावरूप सामान्य-कारण अर्थात् उपादानकारण और निमित्तकारण (**भण्यन्ते**) कहे जाते हैं। वे चार उपादानकारणरूप और निमित्तकारणरूप सामान्यकारण (**मिथ्यात्वम्**) द्रव्यरूप और भावरूप मिथ्यात्व, (**अविरमणं**) अविरति (**कषाययोगौ च**) तथा द्रव्यभावरूप कषाय और द्रव्यभावरूप योग इनरूप हैं ऐसा (**बोद्धव्याः**) जानना। (**पुनः अपि च**) और फिर (**तेषां**) उन चार सामान्य कारणों का (**अथ**) यह (**मिथ्यादृष्टयादि**) मिथ्यादृष्टिनामक प्रथम गुणस्थान से लेकर (**सयोगिनः चरमान्तं यावत्**) सयो-गकेवलिनामक गुणस्थान के अंततक अर्थात् तेरहवे गुणस्थान के अततक (**त्रयोदशविकल्पाः**) तेरह प्रकारोंवाला (**भेदः तु**) भेद (**भणितः**) कहा गया है। (**एते**) ये चार सामान्यकारण अथवा तेरह कारण (**खलु**) परमार्थतः (**अचेतनाः**) यथाक्रम पुद्गलद्रव्य के उपादेयभूत परिणाम होनेसे और अशुद्ध जीव के परिणाम होनेसे अशुद्धचैतन्यान्वित होनेपर भी शुद्धचैतन्यविकल होनेसे अचेतन है, (**यस्मात्**) क्यों कि (**पुद्गलकर्मोदयसम्भवाः**) ये चारों द्रव्यप्रत्यय पुद्गलस्वरूपान्वित होनेसे पुद्गलकर्मरूप परि-णाम से उत्पन्न हुए होते हैं और पुद्गलद्रव्यसदृश अशुद्ध आत्मा के कर्मरूप अज्ञानभावरूपविभावपरि-णाम के निमित्त से कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल से उत्पन्न होते हैं, ये चारो भावप्रत्यय पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मा के विभावभावात्मक अज्ञानरूप परिणाम से उत्पन्न होते हैं और पुद्गलद्रव्य के परिणा-मभूत द्रव्यकर्म के उदयरूप निमित्त से अज्ञानभावरूप उपादान से उत्पन्न होते हैं। (**ते**) वे चार सामान्यप्रत्यय–द्रव्यरूप और भावरूप चार सामान्यकारण उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होकर (**यदि**) जब (**कर्म**) द्रव्यकर्म को और भावकर्म को (**कुर्वन्ति**) उत्पन्न करते हैं तब (**आत्मा**) विभावभाव के रूप से परिणत न हुई आत्मा अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा (**तेषां**) द्रव्यकर्मरूप और भावकर्मरूप परिणामों का (**वेदकः**) भोक्ता (**न अपि**) होती ही नही। (**यस्मात्**) जब (**गुणसञ्ज्ञिताः**) जिनकी गुण यह संज्ञा की गयी है ऐसे (**एते**) ये (**प्रत्ययाः**) द्रव्यप्रत्ययरूप और भावप्रत्ययरूप कारण यथासंभव उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होकर (**कर्म**) द्रव्यकर्मरूप और भावकर्मरूप परिणाम को (**कुर्वन्ति**) उत्पन्न करते हैं (**तस्मात्**) तब (**जीवः**) जीव (**अकर्ता**) द्रव्य-कर्मों का और भावकर्मों का उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता नहीं है; (**गुणाः च**) गुणसंज्ञा को धारण करनेवाले कारण उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होकर (**कर्माणि**) द्रव्यकर्म को और भावकर्म को (**कुर्वन्ति**) उत्पन्न करते हैं।

[जो द्रव्य अपने उपादेयभूत परिणाम का उपादानकर्ता–उपादानकारण होता है और अन्यद्रव्य की अपने उपादेयभूत परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया में निमित्तकारण होता है उस द्रव्य को सामान्यप्रत्यय साधा-रण कारण कहते हैं। शुद्धद्रव्य विभावभावात्मक परिणाम का उपादानकर्ता नहीं होता। अतः सामान्यतः द्रव्य को विभावभावात्मक परिणाम का कर्ता कहा जाता है वह अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से कहा जाता है। एकद्रव्य को दूसरे द्रव्य के परिणाम का जो कर्ता कहा जाता है वह अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। द्रव्य का अपने विभावभावात्मक परिणाम का अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जो कर्तृत्व होता है वह उपादानकर्तृत्व होता है और एकद्रव्य के विभावभावात्मक परिणाम का दूसरे द्रव्य के परिणाम का अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय से जो कर्तृत्व होता है वह निमित्तकर्तृत्व होता है। अतः एकद्रव्य का अपने उपादेयभूत विभावभावात्मकपरिणाम का कर्ता होना और उसीद्रव्य का अन्यद्रव्य के अपने उपादेयभूत विभावभावात्मकपरिणाम का कर्ता होना ही सामान्यप्रत्यय–असा-रणकारण होना है। स्कंध पुद्गलद्रव्यभूत परमाणुओं का विभावभावात्मकपरिणाम है। अतः स्कंध अशुद्धपुद्गलद्रव्य

है। इस स्कंध का परिणाम भी उसका विभावभावात्मक परिणाम होता है। कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य अपने विभावभावात्मक द्रव्यकर्मरूप परिणाम का उपादानकर्ता होता है और द्रव्यकर्म के उदयादिपरिणाम के द्वारा अशुद्ध आत्मा की विभावभावात्मकपरिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का निमित्तकारण–सहकारिकारण होता है। अतः पुद्गलद्रव्य सामान्यप्रत्यय–साधारणकारण है। अशुद्ध आत्मा–अनादि से अज्ञानभाव के रूप से परिणत हुई आत्मा अपने विभावभावात्मक भावकर्मरूप परिणाम का उपादानकर्ता होती है और पुद्गलद्रव्य की अपनी विभावभावात्मक द्रव्यकर्मरूप परिणति का अपने क्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणाम के द्वारा निमित्तकर्ता होती है। अतः अशुद्ध आत्मद्रव्य सामान्यप्रत्यय–साधारण कारण है। सारांश, जो द्रव्य उपादानकारण और निमित्तकारण होता है वह सामान्यप्रत्यय कहा जाता है। ये द्रव्यकर्मरूप और भावकर्मरूप मिथ्यात्वादिरूप विभावभावात्मक परिणाम उपादानकर्ता के रूप से और निमित्तकर्ता के रूप से अयोगकेवलिगुणस्थान को छोडकर अवशिष्ट तेरह गुणस्थानों का आधार होनेसे भी सामान्यप्रत्यय कहे जा सकते हैं। द्रव्यकर्म अपने उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से और भावकर्म अपनी उत्पत्ति और अपने विनाश से उन तेरह गुणस्थानों के आधार बनते हैं। अतः सामान्यप्रत्ययशब्द से उपादानकारण और निमित्तकारण इन दोनों का ग्रहण होता है। जब गाथा १०९ से पूर्व की कई गाथाओं के द्वारा पुद्गलकर्म के कर्तृत्व का प्रकरण चलाया गया है, कलश ६३ में इसी प्रकरण का उल्लेख किया गया है, गाथा १११ में भावकर्मबोधक 'पुग्गलकम्मुदयसंभवा' यह सामासिकपद प्रयुक्त किया गया है, आत्मख्याति में भावकर्मबोधक 'पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वात्' यह सामासिकपद और 'पुद्गलकर्मणः' यह पद प्रयुक्त किये गये है और तात्पर्यवृत्ति में 'मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः' यह सामासिकपद प्रयुक्त किया गया है तब इन चारों गाथाओं का अर्थ द्रव्यकर्म को और भावकर्म को दृष्टि के सामने रखकर करना आवश्यक जंचता है। ऐसी अवस्था में कर्तृशब्द से उपादानकर्ता का और निमित्तकर्ता का ग्रहण आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि को सामने रखकर उदयशब्द के दो अर्थ लिये गये हैं–एक पारिभाषिक अर्थ और दूसरा 'परिणाम' यह अर्थ।]

आ. ख्या.– पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यं एव एकं कर्तृ। तद्विशेषाः मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः बन्धस्य सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्तारः। ते एव विकल्प्यमानाः मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्ताः त्रयोदश कर्तारः। अथ एते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वात् अत्यन्तं अचेतनाः सन्तः त्रयोदशकर्तारः एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किञ्चन अपि पुद्गलकर्म कुर्युः तदा कुर्युः एव। किं जीवस्य अत्र आपतितम्? अथ अयं तर्कः–'पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानः जीवः स्वयं एव मिथ्यादृष्टिः भूत्वा पुद्गलकर्म करोति। स किल अविवेकः। यतः न खलु आत्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकः अपि, कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम? अथ एतत् आयातम्–यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पाः त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवलाः एव कुर्वन्ति कर्माणि ततः पुद्गलकर्मणां अकर्ता जीवः; गुणा एव तत्कर्तारः। ते तु पुद्गलद्रव्यं एव। ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यं एव एकं कर्तृ।

त. प्र.– पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरिणामस्य पक्षे शुद्धचैतन्यवैकल्यकारणकाचेतनत्वनिबन्धनपुद्गलसादृश्याज्ञानिजीवोपादानकक्रोधादिरूपभावकर्मात्मकपरिणामस्य किल परमार्थतः। पुद्गलद्रव्यमेव रूपिपुद्गलद्रव्यमेव यथाक्रममुपादानकर्तृ निमित्तकर्तृ च, पक्षे शुद्धचैतन्यविकलत्वादशुद्धचैतन्यस्वभावत्वादचेतनत्वात्पुद्गलसदृशमशुद्धजीवद्रव्यमेवैकमद्वितीयमन्यद्रव्यसाहित्यविकलं कर्तृ यथाक्रममशुद्धात्मोपादानकक्रोधादिरूपभावकर्मात्मकपरिणामस्योपादानकर्तृ पुद्गलद्रव्योपादानक–

द्रव्यकर्मणश्च निमित्तकर्तृ । तद्विशेषाः पुद्गलकर्मभेदाः, पक्षे पुद्गलसदृशाशुद्धजीवद्रव्योपादानकविभावभावरूपा भेदा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यमिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा भावमिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाश्च बन्धस्य द्रव्यबन्धस्य भावबन्धस्य च सामान्यहेतुतयोपादानकारणत्वनिमित्तकारणत्वयोरविवक्षितान्यतरकारणतया चत्वारः कर्तारः स्वीयोपादेयभूतपरिणामस्योपादानकर्तारः स्वभिन्नद्रव्योपादानकपरिणामस्य च निमित्तकर्तारः । ते द्रव्यभावात्मकाश्चत्वारः प्रत्यया एव विकल्प्यमाना भिद्यमाना मिथ्यादृष्टयादिसयोगकेवल्यन्ता मिथ्यादृष्टिसञ्ज्ञकप्रथमगुणस्थानात्प्रभृति सयोगकेवलिसञ्ज्ञकगुणस्थानान्तं यावत्त्रयोदश कर्तार उपादानकर्तारो निमित्तकर्तारश्च । अथेति वाक्यारम्भे । एते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वात्पुद्द्रव्योपादानकद्रव्यकर्मफलदानसामर्थ्यकृतभेदत्वात्, पक्षे शुद्धचैतन्यवैकल्यनिबन्धनपुद्गलसादृश्याशुद्धात्मोपादानकविभावभावानुभवकृतभेदत्वात् । अत्यन्तमचेतनाऽचैतन्यान्वयवैकल्यादत्यर्थमचेतनाः सन्तः मिथ्यात्वादिसञ्ज्ञका द्रव्यकर्मपरिणामाः, पक्षे शुद्धचैतन्यविकलत्वादत्यन्तमचेतना सन्तः मिथ्यात्वादिसञ्ज्ञका भावकर्मपरिणामास्त्रयोदश कर्तारः उपादानकर्तारो निमित्तकर्तारश्च केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेनान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन चोपादानकर्त्रीभूय निमित्तकर्त्रीभूय च किञ्चनाऽपि पुद्गलकर्मोपादेयभूतमचेतन पुद्गलद्रव्योपादानक परिणाममुपादेयभूतं शुद्धचैतन्यविकलमज्ञानभावोपादानकं च परिणामं कुर्युर्जनयेयुस्तदा कुर्युरेव, किं जीवस्य शुद्धात्मनोऽत्र पुद्गलद्रव्यस्याशुद्धात्मनश्चोपादानकर्तृत्वे निमित्तकर्तृत्वे च सत्यापतितं प्रतिहतम् ? न किमपीत्यर्थः । अथाय तर्कः– पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन्कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यविकारात्मकद्रव्यमिथ्यात्वादीनज्ञानिजीवविकारात्मकभावमिथ्यात्वादीन्वेदयमानोऽनुभवञ्जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकं द्रव्यकर्म शुद्धचैतन्यवैकल्यनिबन्धनपुद्गलसादृश्याशुद्धजीवोपादानक च भावकर्म करोति जनयति । स तर्कः किल वस्तुनोऽविवेको मिथ्याज्ञानम् । यतो यस्मात्कारणान्न खलु परमार्थत आत्मा विभावभावात्मकपर्यायविकलश्शुद्धो निरञ्जनश्च जीवो द्रव्यकर्मविभावभावात्मकपर्यायविकलात्मनोर्भावकर्मविभावभावात्मकपर्यायविकलात्मनोश्च भाव्यभावकभावाभावात्परिणम्यपरिणामकभावाभावात्पुद्गलद्रव्यमिथ्यात्वादिवेदकोऽपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामभूतद्रव्यमिथ्यात्वाद्यनुभविता शुद्धचैतन्यवैकल्यनिबन्धनपुद्गलद्रव्यसादृश्याशुद्धजीवद्रव्योपादानकपरिणामभूतभावमिथ्यात्वाद्यनुभविता चापि, कथं केन प्रकारेण पुनः पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणऽशुद्धचैतन्यवैकल्यनिबन्धनपुद्गलसादृश्याशुद्धजीवद्रव्योपादानकभावकर्मणश्च कर्तोपादानकर्ता निमित्तकर्ता च नाम । न कथमपीत्यर्थः । अथैतदायातं फलितम्–यतो यस्मात्कारणात्पुद्गलद्रव्यमयाना कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामानां, पक्षे शुद्धचैतन्यवैकल्यनिबन्धनपुद्गलसादृश्याशुद्धात्मोपादानकविभावभावात्मकपरिणामानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानामुपादानकर्तृनिमित्तकर्तृभावमुपगच्छतां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानां विकल्पा भेदास्त्रयोदशविशेषप्रत्यया विभावभावात्मका द्रव्यप्रत्यया भावप्रत्ययाश्च गुणशब्दवाच्या गुणस्थानशब्दाभिधेयाः पुद्गलोपादानकाः पक्षे पुद्गलसदृशाशुद्धात्मोपादानकाः परिणामास्त्रयोदशसङ्ख्याका केवला एव गुणीकृतस्वोत्पत्त्याश्रयभूतपुद्गला एव, पक्षे गुणीकृतस्वोत्पत्त्याश्रयभूतात्मान एव कुर्वन्त्युपादानकर्त्रीभूय निमित्तकर्त्रीभूय च जनयन्ति कर्माणि द्रव्यकर्मात्मकान्परिणामान्, पक्षे भावकर्मात्मकान्परिणामान् । ततस्तस्मात्कारणात्पुद्गलकर्मणां पुद्गलद्रव्योपादानकानां द्रव्यकर्मणां, पक्षे शुद्धचैतन्यवैकल्यनिबन्धनाचेतनत्वकारणकाचेतनपुद्गलसादृश्याशुद्धजीवोपादानकविभावभावात्मक–

परिणामानामकर्ताऽनुपादानकर्ताऽनिमित्तकर्ता च जीवः केवल आत्मा । गुणा एवौदयिकादिभावरूपगुणोत्पत्तिनिमित्तकारणत्वात्कारणे कार्योपचाराद्गुणसञ्ज्ञामावहन्तः पुद्गलपरिणामा एव, पक्षे औदयिकादिभावरूपाशुद्धजीवपरिणामा गुणशब्दवाच्यास्त्रयोदशविशेषप्रत्यया एव तत्कर्तारो द्रव्यकर्मसञ्ज्ञकपुद्गलपरिणामानां पक्षे भावकर्मसञ्ज्ञकविभावभावात्मकानां परिणामानां कर्तार उपादानकर्त्रीभूय निमित्तकर्त्रीभूय च जनयितारः । ते पुद्गलपरिणामात्मकाः पक्षेऽशुद्धात्मपरिणामात्मका गुणास्तु पुद्गलद्रव्यमेव स्वोपादानभूतात्पुद्गलद्रव्यादभिन्नत्वात्पुद्गलद्रव्यमेव, पक्षे शुद्धचैतन्यवैकल्यनिबन्धनाचेतनत्वकारणकाचेतनपुद्गलद्रव्यसादृश्याशुद्धजीवद्रव्यादभिन्नत्वादशुद्धजीवद्रव्यमेव । पुद्गलद्रव्यवच्छुद्धचैतन्यविकलत्वादशुद्धस्यात्मनः पुद्गलद्रव्यसदृशत्वात्पुद्गलद्रव्यत्वम् । अशुद्धात्मोपादानकविभावभावात्मकत्रयोदशविकल्पात्मकपरिणामानामुत्पत्तौ निमित्तकारणभूतत्वात्पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामानां कारणे कार्योपचाराद्गुणसञ्ज्ञाया विहितत्वात्पुद्गलपरिणामा अपि गुणसञ्ज्ञामावहन्ति । तेषां गुणशब्दवाच्यानां पुद्गलपरिणामाना स्वोपादानभूतात्पुद्गलद्रव्यादभिन्नत्वात्पुद्गलद्रव्यत्वमेव । पक्षे, औदयिकादिभावरूपाणां गुणशब्दवाच्यानां त्रयोदशविकल्पविशेषप्रत्ययानां पुद्गलसदृशादशुद्धादात्मनोऽभिन्नत्वात्पुद्गलद्रव्यत्वम् । ततस्तस्मात्कारणात्स्थित युक्त्या सिद्धं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणः उपादानकर्तृ पुद्गलसदृशाशुद्धात्मोपादानकभावकर्मणश्च निमित्तकर्तृ पुद्गलद्रव्यमेवैकं केवल, पक्षे पुद्गलकर्मणः पुद्गलसदृशाशुद्धात्मोपादानकभावकर्मणः उपादानकर्तृ पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणश्च निमित्तकर्त्रेकं केवल पुद्गलद्रव्यसदृशाशुद्धात्मद्रव्यम् । उत्तरप्रकृत्यपेक्षयापि प्रत्ययानां सामान्यत्वमूह्याम् ।

द्रव्यकर्म की दृष्टि से टीकार्थ–

पुद्गलद्रव्य के उपादेयभूत द्रव्यकर्मरूप परिणाम का कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य ही कर्ता–उपादानकर्ता होता है और अशुद्धात्मद्रव्योपादानक भावकर्म का निमित्तकर्ता होता है । (पुद्गलद्रव्यभिन्न कौनसा भी द्रव्य द्रव्यकर्म का उपादानकर्ता और भावकर्म का निमित्तकर्ता नहीं हो सकता ।) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्म के चार भेद (तेरह गुणस्थानों की अपेक्षा से) सामान्य हेतु होनेके कारण द्रव्यबंध के चार उपादानकर्ता और भावबंध के निमित्तकर्ता होते है । उन चारों के ही भेद करनेपर मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगकेवलिगुणस्थान के अंततक तेरह कर्ता–उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होते हैं । पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म की फल देनेकी सामर्थ्य के भद के कारण होनेवाले भेदरूप होनेसे आत्यंतिकरूप से अचेतन होनेवाले ये तेरह कर्ता–उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता केवल ही यदि व्याप्यव्यापकभाव के (अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव के और बहिर्व्याप्यव्यापकभाव के) सद्भाव के कारण कुछ भी पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म को और अशुद्धात्मद्रव्योपादानक भावकर्म को क्रम से उपादानकर्ता होकर अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से और निमित्तकर्ता होकर अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से करें तो भले ही करे, पुद्गलद्रव्योपादानक तेरह कारणो का द्रव्यकर्मो का उपादानकर्ता होनेमें और भावकर्मो का निमित्तकर्ता होनेमें (शुद्ध) जीव की कौनसी हानि है ? अब यहा तर्क है कि 'कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलों के विकारभूत और पुद्गलसदृशाशुद्धात्मोपादानकपरिणामभूत मिथ्यात्वादि का अनुभव करनेवाला जीव स्वयमेव मिथ्यादृष्टि होकर अशुद्धात्मद्रव्योपादानक भावकर्म को उपादानकर्ता होकर और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म को निमित्तकर्ता होकर उत्पन्न करता है ।' वह तर्क वस्तुत मिथ्याज्ञानस्वरूप है, क्यों कि पुद्गलद्रव्योपादानक मिथ्यात्वादिपरिणाम तथा अशुद्धात्मोपादानक विभावभावात्मक मिथ्यात्वादिपरिणाम और (विभावभावविकल शुद्ध और निरजन) आत्मा इनमें भाव्यभावकभाव का अर्थात् परिणम्यपरिणामकभाव का या परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेसे वह (विभावभावविकल) आत्मा परमार्थतः पुद्गलद्रव्योपादानक और अशुद्धात्मोपादानक द्रव्यमिथ्यात्वादिरूप और भावमिथ्यात्वादिरूप परिणामो का अनुभव करनेवाला भी नहीं है । ऐसी अवस्था में वह पुद्गलद्रव्योपादानक

द्रव्यकर्म का कर्ता–निमित्तकर्ता और अशुद्धात्मोपादानक भावकर्म का कर्ता–उपादानकर्ता कैसे हो सकती है ? अब फलितार्थ यह हुआ–जब द्रव्यकर्म के परिणामभूत चार सामान्य कारणों के भेदरूप सिर्फ तेरह विशेषकारण ही जो कि गुणशब्द के द्वारा कहे जाते है, क्रम से उपादानकर्ता होकर द्रव्यकर्मों को और निमित्तकर्ता होकर भावकर्मों को उत्पन्न करते हैं, तब विभावभावविकल शुद्ध और निरंजन जीव पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मों का और पुद्गलसदृशाशुद्धात्मद्रव्योपादानक भावकर्मों का क्रम से निमित्तकर्ता और उपादानकर्ता नहीं होता; उन पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मों के भेदरूप, गुणसंज्ञा को धारण करनेवाले तेरह विशेषकारण ही कर्ता–उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होते हैं। वे पुद्गलपरिणामात्मक तेरह गुण–गुणस्थान पुद्गलद्रव्य ही हैं। उसकारण यह सिद्ध हुआ कि–पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म का और पुद्गलसदृशाशुद्धात्मोपादानक भावकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक–केवल कर्ता–उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता है।

भावकर्म की दृष्टि से टीकार्थ–

पुद्गलद्रव्यसदृश अशुद्ध आत्मद्रव्य के उपादेयभूत विभावभावात्मक परिणाम का पुद्गलद्रव्यसदृश अशुद्ध आत्मा ही एक–केवल कर्ता–उपादानकर्ता और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता है। (अशुद्धात्मद्रव्यभिन्न कौनसा भी द्रव्य क्रोधादिरूप अशुद्धचैतन्यान्वितविभावभावात्मक परिणाम का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता नहीं हो सकता।) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, और योग पुद्गलद्रव्यसदृश अशुद्ध आत्मा जिनकी उपादानकर्ता होती है ऐसे भावकर्म के चार भेद (तेरह गुणस्थानों की अपेक्षा से) सामान्यहेतु होनेके कारण भावबन्ध के चार कर्ता–उपादानकर्ता और द्रव्यबंध के निमित्तकर्ता होते हैं। उन चारों के ही भेद करनेपर मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर सयोगकेवलिगुणस्थान के अंततक तेरह कर्ता–उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होते है। शुद्धचैतन्यरहित होनेसे पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मा जिसकी उपादानकर्ता होती है ऐसे अनुभव के भेद होनेके कारण आत्यंतिकरूप से अचेतन होनेवाले तेरह कर्ता–उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता केवल ही यदि व्याप्यव्यापकभाव के (अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव के और बहिर्व्याप्यव्यापकभाव के) सद्भाव के कारण कुछ भी अशुद्ध आत्मा के परिणाम को–भावकर्म को और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म को (यथाक्रम अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से और अनुपचरितासद्भूतनय की दृष्टि से) करें तो भले ही करें; अशुद्धात्मोपादानक तेरह कारणों का भावकर्मों का उपादानकर्ता होनेमें और द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता होनेमें जीव की (शुद्ध जीव की) कौनसी हानि है ? अब यहां यह तर्क है कि–'पुद्गलद्रव्यसदृश अशुद्ध आत्मा के विकारभूत और पुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामभूत मिथ्यात्वादि का अनुभव करनेवाला जीव स्वयमेव मिथ्यादृष्टि होकर अशुद्धात्मद्रव्योपादानक भावकर्म को उपादानकर्ता होकर और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म को निमित्तकर्ता होकर उत्पन्न करता है।' वह तर्क वस्तुतः मिथ्याज्ञानरूप है; क्यों कि पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मा जिनका उपादानकर्ता है ऐसे मिथ्यात्वादिपरिणाम तथा पुद्गलद्रव्योपादानक मिथ्यात्वादिपरिणाम और विभावभावविकल शुद्ध और निरंजन आत्मा इनमें भाव्यभावकभाव का अर्थात् परिणम्यपरिणामकभाव का या परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेसे वह विभावभावविकल आत्मा परमार्थतः पुद्गलद्रव्यसदृशाशुद्धात्मोपादानक भावरूप मिथ्यात्वादिपरिणामों का और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यरूप परिणामों का अनुभव करनेवाली भी नहीं है। ऐसी अवस्था में पुद्गलद्रव्यसदृशाशुद्धात्मोपादानक भावकर्म का कर्ता–उपादानकर्ता और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म का कर्ता–निमित्तकर्ता कैसे हो सकती है ? अब फलितार्थ यह हुआ–जब पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मद्रव्य के परिणामभूत चार सामान्य कारणों के भेदरूप सिर्फ तेरह विशेषकारण ही जो कि गुणशब्द के द्वारा कहे जाते हैं यथाक्रम उपादानकर्ता होकर भावकर्मों को और निमित्तकर्ता होकर द्रव्यकर्मों को उत्पन्न करते हैं, तब विभावभावविकल शुद्ध और निरंजन जीव पुद्गलद्रव्यसदृशाशुद्धात्मोपादानकभावकर्मों का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता नहीं होता; उन पुद्गलकर्मसदृशाशुद्धात्मद्रव्यपरिणामात्मक भावकर्मों के भेदरूप, गुणसंज्ञा को धारण करनेवाले तेरह विशेषकारण ही कर्ता-उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होते हैं। वे पुद्गलसदृशाशुद्धात्मद्रव्योपादानक परिणामभूत तेरह गुण–गुणस्थान पुद्गलसदृ–

शाशुद्धात्मद्रव्य ही है। उसकारण यह सिद्ध हुआ कि–पुद्गलसदृशाशुद्धात्मद्रव्योपादानक भावकर्म का पुद्गलसदृशा–शुद्धात्मद्रव्य ही एक–केवल कर्ता–उपादानकर्ता है और पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म का निमित्तकर्ता है।

द्रव्यकर्म की दृष्टि से विवेचन–

पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म का परमार्थतः एकमात्र पुद्गलद्रव्य ही उपादानकर्ता होता है; क्यों कि द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणाम में एकमात्र पुद्गलद्रव्य का ही स्वस्वरूप से अन्वय होता है, दूसरे आत्मद्रव्य आदि का उसमें स्वस्वरूप से अन्वय नहीं होता। कर्मरूप से परिणत हुआ वही पुद्गलद्रव्य अशुद्ध आत्मा की विभावरूप परिणति का निमित्तकर्ता होता है; क्यों कि उसके अभाव में अशुद्ध आत्मा का विभावभावरूप परिणमन नहीं होता। जिस कार्यद्रव्य में जिस द्रव्य का स्वस्वरूप से अन्वय पाया जाता है वही द्रव्य उस कार्यद्रव्य का उपादानकर्ता होता है। दूसरा द्रव्य उसका उपादानकर्ता नहीं होता; क्यों कि उस विशिष्ट कार्यद्रव्य में अन्यद्रव्य का स्वस्वरूप से अन्वय नहीं होता। मृत्तिकोपादानक घट के मृत्तिका और सुवर्ण ये दोनों द्रव्य उपादानकर्ता नहीं होते; क्यों कि मृत्तिकोपादानक घट में मृत्तिका के समान सुवर्णद्रव्य का स्वस्वरूप से अन्वय नहीं पाया जाता। द्रव्यकर्मरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चारों परिणाम पुद्गलद्रव्य के भेद हैं और बंध के सामान्यकारण होनेसे अर्थात् द्रव्यबंध के उपादानकारण और भावबंध के निमित्तकारण होनेसे वे चारों बंध के कर्ता हैं–उपादानकारण और निमित्तकारण हैं। उन चारों के भेद करनेपर प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान के अंततक उनके तेरह भेद होते हैं और वे तेरह भेद भी उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होते हैं। जिन कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलों में द्रव्ययोग के रूप से परिणत होनेकी योग्यता होती है वे ही उपादानकर्ता होते हैं और भावयोगरूप परिणाम की उत्पत्ति द्रव्ययोगनिमित्तक होनेसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल भावयोगरूप परिणाम की उत्पत्ति के निमित्तकर्ता होते हैं। जो वर्गणाएं आत्मप्रदेशों के परिस्पंद की उत्पत्ति में निमित्तकारण होते हैं वे शारीरवर्गणाएं होती हैं और शरीर की उत्पत्ति शरीरनामकर्म के उदय से होती है। अतः शरीरवर्गणाओं के उदय के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पंद होनेवाला होनेसे शरीरवर्गणाएं और आत्मप्रदेशपरिस्पंद इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव होनेसे भावयोगरूप परिणाम की उत्पत्ति में भी द्रव्यकर्म ही निमित्त–कारण पडता है। प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान के अंततक के तेरह गुणस्थानों में योग का सद्भाव होनेसे उसके निमित्तभूत द्रव्यकर्म का भी सद्भाव होता है। इसप्रकार तेरह गुणस्थानों की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म निमित्तकारण होता है यह स्पष्ट हो जाता है। यह द्रव्यकर्म पुद्गल का उपादेयभूत परिणाम होनेसे पुद्गलद्रव्य उसका उपादानकर्ता होता है और द्रव्यकर्म के उदय से अशुद्ध आत्मा की भावकर्मरूप से परिणति होनेसे उस परिणति का द्रव्यकर्म निमित्तकर्ता होता है और अशुद्ध आत्मा उपादानकर्ता होती है। द्रव्यकर्म के सभी भेदों का पुद्गलद्रव्य उपादानकर्ता होता है। अतः पुद्गलद्रव्य अपने परिणामों का उपादानकर्ता और अशुद्ध आत्मद्रव्य के परिणामों का निमित्तकर्ता होता है यह स्पष्ट हो जाता है। प्रथम तीन गुणस्थानों में मोहनीय की सभी प्रकृतियां यथासंभव निमित्तकारण पडती हैं और द्रव्ययोग भी निमित्तकारण पडता है। चौथे गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की तीन और अनंतानुबंधी की चार प्रकृतियां अपने क्षय के या उपशम के द्वारा और अप्रत्याख्यानावरणसंज्ञक, प्रत्याख्यानावरणसंज्ञक और संज्वलनसंज्ञक सभी प्रकृतियां अपने उदय के द्वारा निमित्तकारण पडती हैं। पांचवें में दर्शनमोहनीय की तीन, अन–न्तानुबंधी की चार और अप्रत्याख्यानावरण की चार प्रकृतियां यथासंभव अपने क्षय के, उपशम के या क्षयोपशम के द्वारा और प्रत्याख्यानावरण की तथा संज्वलन की प्रकृतियां अपने उदय के द्वारा निमित्तकारण पडती हैं। इसप्रकार आगे के गुणस्थानों के विषय में भी समझ लेना। अतः स्पष्ट हो जाता है कि सभी गुणस्थानों में मोहनीयकर्म निमित्तकारण होनेसे और अपने सभी परिणामों का उपादानकारण होनेसे उसकी प्रकृतियों को जो सामान्यप्रत्यय कहा गया है वह यथार्थ है। इसीप्रकार योगसंज्ञक शरीरवर्गणाएं भी उक्त सभी गुणस्थानों में आत्मप्रदेशों के परिस्पंद के निमित्तकारण पडती हैं। अतः योग भी सामान्यप्रत्यय हैं। ये तेरह प्रकार उन चारों द्रव्यकर्मों के भेद है। ये भेद पुद्गलकर्म की आत्मा को फल देनेकी सामर्थ्य में भेद होनेसे किये गये हैं। अनंतानुबंधिप्रकृति सम्यक्त्व का और चारित्र का घात करती है, अप्रत्याख्यानावरण देशसंयम का, प्रत्याख्यानावरण सकलसंयम का और दर्शनमोहनीय

सम्यक्त्व का घातक है। मोहनीयकर्म सामान्यतः एकरूप होनेपर भी अशुद्ध आत्मा को भिन्न भिन्न फलों को देता है। फलदानसामर्थ्य के भेद से उसके उत्तरभेद अट्ठाईस हुए। गुणस्थान की अपेक्षा से उसके और योग के मिलकर तेरह भेद हो जाते हैं। इन तेरह भेदों के उपादानकारण द्रव्यमोह और द्रव्ययोग होनेसे जिसप्रकार द्रव्यमोह और द्रव्ययोग अत्यत अचेतन होते हैं उसीप्रकार उनके उपादेयभूत परिणाम भी अत्यंत अचेतन ही होते हैं। ये तेरह भेद भी अपने क्रोधादिरूपपरिणामों को उपादानकर्ता होकर करें और भावक्रोधादिरूप परिणामों को निमित्तकर्ता होकर करें तो भले ही करें। पुद्गलद्रव्य के इसप्रकार के कर्तृत्व से शुद्ध आत्मा को किसी भी प्रकार से नुकसान नहीं पहुंचता। अनतानुबंध्यादिमोहकर्म और उनके क्रोधादिरूप चार भेद इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे अनतानुबंध्यादिमोहकर्म अपने अपने क्रोधादिपरिणामों को उपादानकर्ता होकर उत्पन्न करते हैं और अनंतानु-बंध्यादिद्रव्यमोह या उनके भेद और अशुद्ध आत्मा के क्रोधादिरूप विभावपरिणाम इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे वे अनन्तानुबंध्यादिद्रव्यमोहकर्म निमित्तकर्ता होकर अशुद्ध आत्मा के भावक्रोधादिरूप परिणामों को उत्पन्न करता है। इसप्रकार उपादानकर्ता होकर अपने परिणामों को और निमित्तकर्ता होकर अशुद्ध आत्मा के भावक्रोधादिरूप परिणामों की उत्पत्ति पुद्गलद्रव्य के द्वारा की जानेमें शुद्ध आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती। 'कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल के परिणामभूत द्रव्यमिथ्यात्वादि का और पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मा के परिणामभूत भाव-मिथ्यात्वादि का अनुभव करनेवाला जीव स्वयं मिथ्यादृष्टि होकर भावकर्म को उपादानकर्ता होकर और द्रव्यकर्म को निमित्तकर्ता होकर उत्पन्न करता है' ऐसा जो तर्क किया जाता है वह मिथ्याज्ञानरूप है; क्यों कि इसप्रकार का तर्क करनेवाले को आत्मा के यथार्थरूप का ज्ञान नहीं होता। वह अज्ञानी आत्मा की उस क्रिया को शुद्ध आत्मा की क्रिया समझता है। शुद्ध आत्मा और अशुद्ध आत्मा के क्रोधादिरूप परिणाम इनमें तथा शुद्ध आत्मा और पुद्गलद्रव्य के क्रोधादिसंज्ञक द्रव्यकर्मरूप परिणाम इनमें भाव्यभावकभाव का अर्थात् परिणम्यपरिणामकभाव का या उपादानो-पादेयभाव का अभाव होनेसे शुद्ध आत्मा जब भावकर्मों का और द्रव्यकर्मों का अनुभव कर ही नहीं सकती तब वह मिथ्यादृष्टि भी नहीं हो सकती और मिथ्यादृष्टि न होनेसे भावकर्मों का उपादानकर्ता होकर उनका और द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता होकर उनको उत्पन्न कर ही नहीं सकती। ऐसी अवस्था में 'शुद्ध आत्मा भावकर्मों का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता होती है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है? इस विवेचन का फलितार्थ यह है कि-द्रव्यमिथ्यात्वादिरूप जो चार सामान्यकारण है वे पुद्गल के उपादेयभूत परिणाम हैं। गुणशब्द के द्वारा कहे जानेवाले तेरह कारण इन चारों के भेद हैं-परिणाम हैं। अतः ये भी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं। ये तेरह परिणाम यथासंभव द्रव्यक्रोधादिरूप परिणामों को और द्रव्ययोग को उपादानकर्ता होकर तथा अशुद्धात्मोपादानक भावक्रोधादिरूप परिणामों को और भावयोग को निमित्तकर्ता होकर उत्पन्न करते हैं। अतः गुणस्थानसंज्ञा को धारण करनेवाले द्रव्यप्रत्यय ही जब द्रव्यकर्मात्मक परिणामों का उपादानकर्ता होकर और अशुद्ध आत्मा के भावकर्मात्मक परिणामो को निमित्तकर्ता होकर उत्पन्न करते हैं तब शुद्ध आत्मा पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता या निमित्तकर्ता और भावकर्मों का भी उपादानकर्ता या निमित्तकर्ता नहीं होती। वे चार सामान्यप्रत्यय या तेरह विशेषप्रत्यय पुद्गलद्रव्य के स्वस्वरूपान्वित उपादेयभूत परिणाम होनेसे और परिणाम और परिणामी में तादात्म्य होनेसे-भेद न होनेसे पुद्गलद्रव्य ही हैं। इससे 'पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मरूप परिणाम का उपादानकर्ता और अशुद्ध आत्मा के भावकर्मरूप परिणाम का निमित्तकर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही होता है' यह सिद्ध हुआ।

भावकर्म की दृष्टि से विवेचन—

पुद्गलद्रव्यसदृशाशुद्धात्मोपादानक भावकर्म का पुद्गलद्रव्यसदृश अशुद्ध आत्मा ही उपादानकर्ता होती है; क्यों कि भावकर्मरूप अशुद्धात्मपरिणाम में एकमात्र अशुद्ध आत्मद्रव्य का ही अन्वय होता है, अन्य पुद्गलादिद्रव्यों का उसमें स्वस्वरूप से अन्वय नहीं होता। भावकर्मरूप से परिणत हुआ वही अशुद्ध आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य की कर्मरूप परिणति का निमित्तकर्ता होता है; क्यो कि उसके अभाव में पुद्गलद्रव्य का द्रव्यकर्मरूप से परिणमन नहीं होता। भावकर्मरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चारो अशुद्ध आत्मा के या उसके अज्ञानभाव के भेद हैं—

परिणाम हैं और वे बंध के सामान्यकारण होनेसे अर्थात् भावबंध के उपादानकारण और द्रव्यबंध के निमित्तकारण होनेसे वे चारों बंध के कर्ता हैं–उपादानकारण और निमित्तकारण हैं। उन चारों के भेद करनेपर प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान के अंततक उन चारों के तेरह भेद होते हैं और वे तेरह भी उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होते हैं। जिस अशुद्ध आत्मद्रव्य में या उसके अज्ञानभाव में भावयोग के रूप से परिणत होनेकी योग्यता होती है वही भावकर्म का उपादानकर्ता होता है और जिन शरीरवर्गणाओं के निमित्त से भावयोग की उत्पत्ति होती है उस शरीर की उत्पत्ति भावयोगनिमित्तक होनेसे भावयोग द्रव्ययोग की उत्पत्ति का निमित्तकर्ता होता है। अतः आत्म-प्रदेशपरिस्पंदरूप भावयोग और शरीरवर्गणाए इनमें निमित्तनैमित्तिकभाव होनेसे द्रव्ययोगवर्गणाओं का भावयोग ही निमित्तकारण होता है। प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान के अंततक के तेरह गुणस्थानों में भावयोग का सद्भाव होता है। इसप्रकार तेरह गुणस्थानों की उत्पत्ति में अज्ञानरूप या भावमिथ्यात्वादिरूप भावकर्म उपादानकारण होते हैं यह स्पष्ट हो जाता है। यह भावकर्म अशुद्ध आत्मा का परिणाम होनेसे अशुद्ध आत्मा उपादानकर्ता होती है और भावकर्म के निमित्त से कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप परिणति होनेसे भावकर्म उस परिणति का निमित्तकर्ता होता है और पुद्गलद्रव्य उपादानकर्ता होता है। अतः अशुद्ध आत्मद्रव्य अपने परिणाम का उपादानकर्ता और पुद्गलद्रव्य के परिणाम का निमित्तकर्ता होता है यह स्पष्ट हो जाता है। अज्ञानभाव से उत्पन्न हुए भावमोहरूप परिणामों के कारण तेरह गुणस्थान बने हुए हैं। भावमोह के विशिष्ट परिणामों की उत्पत्ति में द्रव्यमोह के विशिष्ट परिणाम निमित्तकारण पडते हैं और भावमोह के ये विशिष्ट परिणाम द्रव्यबंध के निमित्तकारण पडते है। इसीप्रकार भावयोग भी गुणस्थानों की रचना में कारण होता है। अतः ये भावमिथ्यात्वादि भी उपादान-कारण और निमित्तकारण होनेसे सामान्यप्रत्यय हैं। इसीप्रकार भावयोग भी उपादानकारण और निमित्तकारण होनेसे सामान्यप्रत्यय हैं। इन भावमिथ्यात्वादि में और भावयोग में शुद्धचैतन्य का अभाव होनेसे शुद्धनिश्चय की दृष्टि से ये भावयोग पुद्गलद्रव्योपादानक परिणामों के समान जिसप्रकार अत्यंत अचेतन होते हैं उसीप्रकार उनके परिणाम भी अत्यंत अचेतन होते हैं। ये तेरह भेद भी अपने भावक्रोधादिरूप परिणामों को उपादानकर्ता होकर यदि उत्पन्न करे तो भले ही करे और द्रव्यक्रोधादिरूप परिणामों को निमित्तकर्ता होकर करें तो भले ही करें। ऐसा करनेमें शुद्ध आत्मा को किसी भी प्रकार से नुकसान नहीं पहुचता। अनंतानुबंध्यादिरूप मोहकर्म और उनके भाव-क्रोधादिरूप परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे अनंतानुबंध्यादिरूप भावमोह और उसके परिणाम अपने अपने भावक्रोधादिरूप परिणामों को उपादानकर्ता होकर उत्पन्न करते हैं और अनंतानुबंध्यादिरूप भावमोह या उनके भावक्रोधादिरूप परिणाम और पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप परिणाम इनमें बहिर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे निमित्तकर्ता होकर पुद्गलद्रव्य के द्रव्यकर्मरूप परिणामों को उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार उपादानकर्ता होकर अपने परिणामों की और निमित्तकर्ता होकर पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप परिणामों की उत्पत्ति अशुद्ध आत्मा के द्वारा की जानेसे शुद्ध आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती। 'कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य के परिणामभूत द्रव्यमिथ्यात्वादि का और पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मा के परिणामभूत भावमिथ्यात्वादि का अनुभव करनेवाला जीव स्वयं मिथ्यादृष्टि होकर भावकर्म को उपादानकर्ता होकर और द्रव्यकर्म को निमित्तकर्ता होकर उत्पन्न करता है' ऐसा जो कहा जाता है वह ठीक नहीं है, क्यों कि ऐसा कहनेवाले को आत्मा के यथार्थस्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वह अज्ञानी आत्मा की उस क्रिया को शुद्ध आत्मा की क्रिया समझता है। शुद्ध आत्मा और अशुद्ध आत्मा के क्रोधादिरूप परिणाम इनमें तथा शुद्ध आत्मा और पुद्गलद्रव्य के द्रव्यकर्मरूप परिणाम इनमें भाव्यभावकभाव का–परिणम्यपरिणामकभाव का या उपादानोपादेयभाव का अभाव होनेसे शुद्ध आत्मा जब भावकर्मों का और द्रव्यकर्मों का अनुभव कर ही नहीं सकती तब वह मिथ्यादृष्टि भी नहीं हो सकती और मिथ्यादृष्टि न होनेसे भावकर्मों का उपादानकर्ता होकर उनको और द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता होकर उनको उत्पन्न कर ही नहीं सकती। ऐसी अवस्था में 'शुद्ध आत्मा भाव-कर्मों का और द्रव्यकर्मों का कर्ता होती है' ऐसा किसप्रकार कहा जा सकता है? इस विवेचन का फलितार्थ यह है कि–मिथ्यात्वादिरूप जो चार सामान्यकारण हैं वे अशुद्ध आत्मा के उपादेयभूत परिणाम हैं। गुणशब्द के द्वारा

कहे जानेवाले तेरह कारण इन चारों के भेद हैं-परिणाम हैं। अतः वे भी अशुद्ध आत्मा के परिणाम हैं। ये तेरह परिणाम भावक्रोधादिरूप परिणामों को उपादानकर्ता होकर और पुद्‌गलद्रव्योपादानक द्रव्यक्रोधादिरूप परिणामों को और द्रव्ययोग को निमित्तकर्ता होकर उत्पन्न करते हैं। अतः गुणस्थानसंज्ञा को धारण करनेवाले भावप्रत्यय ही जब भावकर्मात्मक परिणामों को उपादानकर्ता होकर और पुद्‌गलद्रव्य के द्रव्यकर्मात्मक परिणामों को निमित्तकर्ता होकर उत्पन्न करते हैं तब शुद्ध आत्मा अशुद्धात्मद्रव्योपादानक भावकर्मों का और पुद्‌गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता नहीं होता। वे चार सामान्यप्रत्यय या तेरह विशेषप्रत्यय पुद्‌गलसदृश अशुद्ध आत्मद्रव्य के स्वस्वरूप से अन्वित उपादेयभूत परिणाम होनेसे और परिणाम और परिणामी में तादात्म्यसंबंध होनेसे-भेद न होनेसे पुद्‌गलसदृश अशुद्ध आत्मद्रव्य ही हैं। इससे पुद्‌गलसदृशाशुद्धात्मद्रव्योपादानक भावकर्मरूप परिणाम का उपादानकर्ता और कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गलद्रव्य के द्रव्यकर्मरूप परिणाम का निमित्तकर्ता एक पुद्‌गलद्रव्यसदृश अशुद्ध आत्मद्रव्य ही होता है यह सिद्ध हुआ।

[टीकार्थ और विवेचन करते हुए आत्मा से शुद्ध आत्मा का ग्रहण किया गया है। यदि आत्मा से आत्मसामान्य का ग्रहण किया तो अशुद्ध आत्मा का भी 'सामान्यं विशेषान्तर्भावः' इस वचन के अनुसार ग्रहण हो जाता है। ऐसी अवस्था में आत्मा के कर्तृत्व का सर्वथा निषेध हो जाता है और उसके कर्तृत्व के सर्वथा निषेध का प्रसंग उपस्थित हो जानेसे जैनसिद्धान्त का विरोध और सांख्यसिद्धान्त का समर्थन हो जानेकी आपत्ति उपस्थित हो जाती है। अतः आत्मसामान्य का ग्रहण करनेपर द्रव्यार्थिकनय से आत्मा के कर्तृत्व के निषेध का और पर्यायार्थिकनय से उसके कर्तृत्व का समर्थन किया गया है ऐसा समझना। आत्मा कथंचित् कर्ता होती है और कथंचित् नहीं भी होती। आत्मा के नित्यकर्तृत्वदोष के परिहार के लिये आत्मा के कर्तृत्व का निषेध किया गया है और कथंचित् कर्तृत्व के लिए उसके उपयोग को कर्ता बताया गया है। आत्मा का उपयोग व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा से भिन्न होता है और निश्चयनय की दृष्टि से अभिन्न होता है। जब आत्मा के कर्तृत्व का निषेध किया जाता है तब व्यवहारनय की दृष्टि से उपयोग की आत्मा से भिन्नता की प्रधानता है और जब उसके कर्तृत्व का समर्थन किया जाता है तब निश्चयनय की दृष्टि से उपयोग की आत्मा से अभिन्नता की प्रधानता है। जिससमय व्यवहारनय की प्रधानता होती है उससमय निश्चयनय की गौणता होती है और जिससमय निश्चयनय की प्रधानता होती है उससमय व्यवहारनय की गौणता है। प्रकृत प्रकरण में आत्मा से आत्मसामान्य का ग्रहण करके आत्मा के कर्तृत्व का निषेध उसकी नित्यकर्तृता के निषेध के लिये किया गया है, कथंचित्कर्तृता के निषेध के लिये नहीं ऐसा समझना।]

अधिक स्पष्टता के लिये तात्पर्यवृत्ति को देखिये-

ननु निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोत्यात्मा (इति) बहुधा व्याख्यातम्। तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्धम्। पुनरपि किमर्थं पिष्टपेषणम्? इति, नैव, हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानज्ञापनार्थमिति नास्ति दोषः। तथाहि-यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति तत एव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्ध्यतीति (हेतु-) हेतुमद्भावव्याख्यानं ज्ञातव्यम्।...... तत्र सप्तकमध्ये 'जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवः कर्म न करोति, प्रत्यया एव कुर्वन्ति' इति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयम्। अथवा शुद्धनिश्चयविवक्षां ये नेच्छन्ति, 'एकान्तेन जीवो न करोति' इति वदन्ति साङ्ख्यमतानुसारिणस्तान्प्रति दूषणं ददाति। 'कथम्?' इति चेत्, यदि ते प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्ति, तर्हि जीवो न हि वेदकस्तेषां कर्मणामित्येकं दूषणम्। अथवा तेषां मते 'जीव एकान्तेन कर्म न करोति' इति द्वितीय दूषणम्। तदनन्तरं शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं जैनमताभिप्रायेणेति गाथात्रयम्। अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभागं नेच्छन्ति तान्प्रति पुनरपि दूषणम्। 'कथम्?' इति चेत्, जीवप्रत्यययोरेकान्तेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येकं दूषणम्। एकान्तेन भिन्नत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीयं

दूषणम् ।…… । तद्यथा मिथ्यात्वादिपौद्गलिकप्रत्यया एव कुर्वन्तीति प्रतिपादयति-…· निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां पुद्गल एक एव कर्ता, भेदविवक्षायां तु सामान्यप्रत्यया मूलप्रत्ययाः खलु स्फुटं चत्वारो बन्धस्य कर्तारो भण्यन्ते सर्वज्ञैः । उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहवो भवन्ति । 'सामान्यं कोऽर्थः ?' 'विवक्षाया अभावः सामान्यम्' इति सामान्यशब्दस्यार्थः सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्य इति । …· । एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयनयेनाचेतनाः खलु स्फुटम् । कस्मात् ? पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मादिति । यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन 'देवदत्तायाः पुत्रोऽयं' (इति) केचन वदन्ति, 'देवदत्तस्य पुत्रोऽयम्' इति केचन वदन्ति, दोषो नास्ति; तथा जीवपुद्गलसंयोगोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धाः, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धोपादानरूपेणाऽचेतनाः पौद्गलिकाः । परमार्थतः पुनरेकान्तेन न जीवरूपाः, न च पुद्गलरूपाः, सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत् । वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न सन्त्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति । 'एतावता किमुक्त भवति ?' ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनो वा, तदुभयमपि वचनं मिथ्या । 'कस्मात् ?' इति चेत्, पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात् । अथ मतं-'सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्य ?' इति पृच्छामो वयम् । सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति, (इति) पूर्वमेव भणितं तिष्ठति । कथमुत्तरं प्रयच्छामः ? इति । ते प्रत्यया यदि…·· कुर्वन्ति कर्म, तदा कुर्युरेव, जीवस्य किमायात, शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव, 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति वचनात् । अथ मतं-'जीवो मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्म भुङ्क्ते यतस्ततः कर्ताऽपि भवति' इति, नैव, ·· यतः शुद्धनिश्चयेन वेदकोऽपि न हि तेषां कर्मणाम् । यदा वेदको न भवति, तदा कर्ताऽपि कथं भविष्यति ? न कथमपि इति शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव । अथवा ये पुनरेकान्तेनाकर्तेति वदन्ति तान्प्रति दूषणम् । 'कथम् ?' इति चेत्, यद्येकान्तेनाकर्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्ता प्राप्नोति । ततश्च सर्वथैवाकर्तृत्वे सति समाराभाव इत्येकं दूषणम् । तेषां मते वेदकोऽपि न भवतीति द्वितीयं च दूषणम् । अथ च वेदकमात्मानं मन्यन्ते साङ्ख्यास्तेषां स्वमतव्याघातदूषणं प्राप्नोतीति । अथ'… ततः स्थितं-गुणस्थानसञ्ज्ञिताः प्रत्यया एते कुर्वन्तीति यस्मादेवं पूर्वसूत्रेण भणित…· तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषां कर्मणां जीव कर्ता न भवति; गुणस्थानसञ्ज्ञिताः प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति सम्मतमेव । एवं शुद्धनिश्चयेन प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति व्याख्यानरूपेण गाथाचतुष्टयं गतम् ।

अर्थ- 'निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा द्रव्यकर्म को उत्पन्न नहीं करता ऐसा अनेक प्रकारों से कहा गया है। इस कथन से ही द्विक्रियावादित्व का निराकरण हो गया । फिर 'यह पिष्टपेषण-दुबारा कथन किस लिये किया जाता है ?' यह प्रश्न ठीक नहीं है; क्यों कि यह कथन हेतुहेतुमद्भाव के कथन का ज्ञान करानेके लिये होनेसे कोई दोष नहीं है । खुलासा-जिसकारण से ही निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा द्रव्यकर्म को नहीं करता उस कारण से ही द्विक्रियावादित्व के निराकरण की सिद्धि हो जानेसे हेतुहेतुमद्भाव का कथन हो जाता है ऐसा जानना । जैनमत में शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध उपादानकारण के रूप से जीव कर्म नहीं करता, (मिथ्यात्वादि चार या तेरह प्रत्यय ही) करते हैं । अथवा जो सांख्यमत को माननेवाले शुद्धनय की विवक्षा नहीं करते अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वस्तु का कथन करना नहीं चाहते और 'एकांतरूप से अर्थात् सर्वथा जीव (द्रव्यकर्म को) नहीं करता' ऐसा कहते हैं उनको दूषण देते हैं । 'किसप्रकार दूषण देते हैं ?' ऐसी शंका हो तो उसका समाधान करते हैं-यदि मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही द्रव्यकर्म को करते हो तो जीव उन कर्मों का वेदक-भोक्ता होता ही नहीं' यह एक दूषण

हुआ। अथवा उनके अर्थात् सांख्यों के मत में 'जीव सर्वथा कर्म नहीं करता' यह दूसरा दूषण हुआ। जैनमत के अभिप्राय से शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध उपादान के रूप से (शुद्ध) जीव और मिथ्यात्वादिप्रत्यय इनमें भेद का अभाव-एकत्व नहीं होता। अथवा पूर्वकथित प्रकार से जो नयविभाग को इष्ट नहीं समझते उन्हें पुनरपि दूषण देते हैं। 'किसप्रकार ?' ऐसी शंका हो तो उसका समाधान 'जीव और मिथ्यात्वादि प्रत्यय इनमें सर्वथा एकत्व-अभेद होनेपर जीव का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। यह एक दूषण हुआ। उन दोनों में सर्वथा भेद होनेपर संसार का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। यह दूसरा दूषण हुआ। ...। निश्चयनय की दृष्टि से मिथ्यात्वादिसंज्ञक पुद्गलोपादानक प्रत्यय उपादानकर्ता होकर द्रव्यकर्म को और निमित्तकर्ता होकर भावकर्म को तथा पुद्गलनिमित्तक प्रत्यय उपादानकर्ता होकर भावकर्म को और निमित्तकर्ता होकर द्रव्यकर्म को उत्पन्न करते हैं। (पौद्गलिकशब्द के पुद्गलोपादानक और पुद्गलनिमित्तक ऐसे दो अर्थ होते हैं।) निश्चयनय की दृष्टि से अभेद की विवक्षा होनेपर एक पुद्गल (और पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मा) ही कर्ता (उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता) होता है। और भेद की विवक्षा होनेपर (द्रव्यभावात्मक) मूलप्रत्ययभूत चार सामान्यप्रत्यय बंध के (द्रव्यभावबंध के) कर्ता (उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता) होते हैं ऐसा सर्वज्ञदेवों ने कहा है। उत्तरप्रत्यय तो अनेक होते हैं। सामान्य इस पद का क्या अर्थ है ? **विवक्षा का अभाव होना ही सामान्य है इसप्रकार से सामान्यशब्द का अर्थ करते समय सर्वत्र जानना।** वे सामान्यप्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं ऐसा जानना ।...। **वे मिथ्यात्वादिरूप भावप्रत्यय** शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से (शुद्धचैतन्यस्वरूपान्वित न होनेसे) अचेतन हैं। इसका क्या कारण है ? इसका कारण है पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होना। (दूसरा अर्थ है पुद्गलसदृश अशुद्ध आत्मा के कर्मरूप परिणाम से उत्पन्न होना है।) जिसप्रकार स्त्री और पुरुष इन दोनों से उत्पन्न हुआ पुत्र कहनेकी इच्छा के अनुसार 'यह देवदत्ता का पुत्र है' ऐसा कोई कहते हैं तो कोई 'यह देवदत्त का पुत्र है' ऐसा कहते है। ऐसा कहने में किसीप्रकार का दोष नहीं है। उसीप्रकार (अशुद्ध) जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व-रागादिरूप भावप्रत्यय अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से अशुद्ध उपादान के रूप से (अशुद्धचेतनान्वित होनेसे) जीव के साथ संबद्ध होनेसे चेतन है और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से देखा जाय तो (शुद्धचैतन्यान्वित न होनेसे) शुद्ध उपादान के रूप से पुद्गलनिमित्तक होनेसे अचेतन हैं। वे भावप्रत्यय परमार्थतः देखा जाय तो सुधा (चुना) और हरिद्रा (हलदी) इनके संयोग से उत्पन्न हुआ परिणाम जिसप्रकार न सिर्फ सुधा का होता है और न सिर्फ हरिद्रा का भी होता है उसीप्रकार न सर्वथा जीवरूप होते हैं और न सिर्फ पुद्गलरूप भी। वस्तुतः सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले होनेसे कल्पित होनेके कारण वे प्रत्यय हैं ही नहीं। इससे क्या कहा गया है ? जो रागादिभाव सर्वथा जीव के हैं ऐसा या सर्वथा पुद्गल के है ऐसा कहते हैं उनका वह कथन भी मिथ्या है। उनका वह कथन मिथ्या है ऐसा कहने का क्या कारण है ?' ऐसा प्रश्न हो तो, उसका 'पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्त से वे भावप्रत्यय संयोगज होनेसे उनका वह कथन मिथ्या है' इसप्रकार का उत्तर है। सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वे भावप्रत्यय किसके है ?-जीव के हैं या पुद्गल के ?' ऐसा हम पूछते हैं। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सूक्ष्मशुद्ध-निश्चयनय की दृष्टि से उन भावप्रत्ययों का अस्तित्व ही नहीं है ऐसा जब इससे पहले ही कहा गया है तब हम उत्तर किसप्रकार दे सकते हैं ?..... वे भावप्रत्यय यदि कर्म करते हों तो भले ही करें, उसमें जीव की कौनसी हानि है ? 'शुद्धनिश्चय की दृष्टि से सभी आत्माए परमार्थतः शुद्ध ही है' इस वचन के अनुसार 'शुद्धनिश्चय की दृष्टि से उक्तप्रकार के कर्तृत्व से शुद्ध आत्मा की हानि नहीं है' यह सम्मत ही है। 'जीव मिथ्यात्वकर्म के उदय से मिथ्या-दृष्टि होकर जब मिथ्यात्वरागादिरूप भावकर्म को भोगता है तब वह कर्ता भी होता है' ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्यों कि शुद्धनिश्चय की दृष्टि से (जीव) उन भावकर्मों का भोक्ता भी नहीं है। जब वह भोक्ता नहीं होता तब वह कर्ता भी कैसे हो सकता है ? वह किसी भी प्रकार से कर्ता नहीं हो सकता यह शुद्धनिश्चयनय से सम्मत ही है। अथवा-'जीव सर्वथा अकर्ता है' ऐसा जो कहते है उनको दूषण देते है। 'किसप्रकार दूषण देते है ?' ऐसा प्रश्न हो तो इसका उत्तर-जब सर्वथा अकर्ता होता है तब जिसप्रकार शुद्धनिश्चय से अकर्ता होता है उसीप्रकार व्यवहार से भी

अकर्ता होनेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। व्यवहार से भी अकर्ता हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे सर्वथैव अकर्तृत्व का प्रसंग उपस्थित हो जानेसे (जीव के) संसार का अभाव हो जाता है। यह एक दूषण हुआ। उनके मत से जीव भोक्ता भी नहीं होता। यह दूसरा दूषण हुआ। सांख्य आत्मा को भोक्ता मानते हैं। उनका यह मत व्याहत हो जाता है। यह भी एक दूषण है। उसकारण यह सिद्ध हुआ कि–गुणस्थानसंज्ञक ये प्रत्यय कर्म करते हैं इसप्रकार जब पूर्वसूत्र के द्वारा कहा गया है तब शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से उन कर्मों का जीव कर्ता नहीं होता; गुणस्थान-संज्ञक प्रत्यय ही कर्म करते है यह सम्मत ही है। इसप्रकार शुद्धनिश्चय की दृष्टि से प्रत्यय ही कर्म करते हैं इसप्रकार के व्याख्यान के रूप से चार गाथाएं व्यतीत हुई।

न च जीवप्रत्यययोः एकत्वम्–

'जीव और मिथ्यात्वादिप्रत्यय इनमें सर्वथा एकत्व नहीं है' यह बताते है–

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥ ११३ ॥

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥ ११४ ॥

अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥ ११५ ॥

यथा जीवस्याऽनन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः ।
जीवस्याऽजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ॥ ११३ ॥
एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाऽजीवः ।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम् ॥ ११४ ॥
अथ तेऽन्यः क्रोधोऽन्य उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माऽप्यन्यत् ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थ– (यथा) जिसप्रकार (जीवस्य) शुद्ध जीव का स्वभावभूत (उपयोगः) ज्ञानदर्शनरूप उपयोग (अनन्यः) शुद्ध जीव से भिन्न नही होता–जीवमय होता है अर्थात् जीव का सहभाविपरिणाम होता है (तथा) उसीप्रकार (यदि) यदि (क्रोधः अपि) क्रोध भी (अनन्यः) भिन्न न हो तो–अभिन्न हो तो–जीवमय हो तो (एव) इसप्रकार (जीवस्य अजीवस्य च) जीव और अजीव इनमे (अनन्यत्वं) अभिन्नत्व–दोनो का एकरूपत्व (आपन्नं) सिद्ध होनेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। (एव) इसप्रकार जीव और अजीव इनके एकत्व की–अभिन्नत्व की सिद्धि हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेमे (इह) इस प्रकरण मे (यः तु) जो ही (जीवः) शुद्ध जीव होता है (स च एव तु) वही (नियमतः) नियम से–निश्चितरूप मे (अजीवः) अजीव हो जाता है। (तथा) उसीप्रकार अर्थात् जिसप्रकार जीव और अजीव इनका एकत्व होनेपर जीव का अजीवरूप बन जानेका दोष उपस्थित

हो जाता है उसीप्रकार (**प्रत्ययनोकर्मकर्मणां**) मिथ्यात्वादिरूप भावप्रत्यय, नोकर्म और कर्म इनका (**एकत्वे**) जीव के साथ एकत्व–एकीभाव–अभिन्नत्व होनेपर (**अयं दोषः**) यही दोष उपस्थित हो जाता है अर्थात् शुद्ध जीव का अजीवरूप बन जानेका या शुद्ध जीव का अभाव हो जानेका दोष उपस्थित हो जाता है । (**अथ**) शुद्ध जीव का अजीवरूप बन जानेका दोष उपस्थित हो जानेके भय से यदि (**ते**) तेरे मत मे (**क्रोधः**) क्रोध (**अन्यः**) शुद्धजीवद्रव्य से भिन्न है और क्रोध से (**उपयोगात्मकः**) ज्ञान–दर्शनोपयोगरूप (**चेतयिता**) ज्ञाता आत्मा (**अन्यः**) भिन्न है तो (**क्रोधः**) क्रोध (**यथा**) जिसप्रकार शुद्धजीवद्रव्य से भिन्न है (**तथा**) उसीप्रकार (**प्रत्ययाः**) मिथ्यात्वादिरूप भावप्रत्यय, (**कर्म**) द्रव्यकर्म और (**नोकर्म**) नोकर्म भी (**अन्यत्**) शुद्ध आत्मा से भिन्न है ।

आ. ख्या.– यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वात् जीवात् अनन्यः उपयोगः तथा जडः क्रोधः अपि अनन्य एव इति प्रतिपत्तिः तदा चिद्रूपजडयोः अनन्यत्वात् जीवस्य उपयोगमयत्ववत् जडक्रोधमयत्वापत्तिः । तथा सति तु यः एव जीवः सः एव अजीवः इति द्रव्यान्तरलुप्तिः । एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणां अपि जीवात् अनन्यत्वप्रतिपत्तौ अयं एव दोषः । अथ एतद्दोषभयात् ' अन्यः एव उपयोगात्मा जीवः; अन्य एव जडस्वभावः क्रोधः ' इति अभ्युपगमः तर्हि यथा उपयोगात्मनः जीवात् अन्यः जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माणि अपि अन्यानि एव, जडस्वभावत्वाविशेषात् । (इति) नास्ति जीवप्रत्यययोः एकत्वम् ।

त. प्र.– यद्यथ यथा येन प्रकारेण जीवस्य स्वाभाविकशुद्धाखण्डैकज्ञानदर्शनोपयोगपरिपूर्णस्याऽऽत्मनस्तन्मयत्वाज्ज्ञानदर्शनोपयोगपरिपूर्णत्वाज्जीवाच्छुद्धनिरञ्जनात्मनोऽनन्योऽभिन्न उपयोगश्शुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्तथा तेन प्रकारेण जडश्शुद्धचैतन्यविकलः पक्षे चैतन्यसामान्यविकलः क्रोधोऽपि भावक्रोधोऽपि द्रव्यक्रोधोऽपि चाऽनन्योऽभिन्न एवेति प्रतिपत्तिरभ्युपगमस्तदा तर्हि चिद्रूपजडयोश्चिद्रूपस्याऽऽत्मनश्शुद्धचैतन्यविकलस्याऽशुद्धचैतन्यविकलस्य च पदार्थस्याऽनन्यत्वादभिन्नत्वाज्जीवस्य शुद्धात्मन उपयोगमयत्ववज्ज्ञानदर्शनोपयोगपरिपूर्णत्वं यथा तथा जडक्रोधमयत्वापत्तिश्शुद्धाशुद्धचैतन्यविकलभावद्रव्यक्रोधात्मकत्वप्रसङ्गः । तथा सति तु शुद्धजीवस्याचेतनक्रोधमयत्वापत्तौ तु य एव जीवश्शुद्धज्ञानदर्शनोपयोगात्माऽऽत्मा स एवाऽजीव इति हेतोर्द्रव्यान्तरलुप्तिर्जीवाजीवद्रव्ययोरन्यतरस्य जीवस्याभावः । द्रव्यादजीवद्रव्यादन्यद्भिन्नं द्रव्यं द्रव्यान्तरम् । तस्य लुप्तिर्लोपः । अभाव इत्यर्थः । जीवस्याजीवमयत्वापत्तौ जीवाभावप्रसङ्गो जीवस्याशुद्धजीवमयत्वापत्तौ शुद्धजीवाभावप्रसङ्गश्चेति शुद्धजीवाभावाज्जीवद्रव्याभाव इति भावः । एवममुना प्रकारेण प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि मिथ्यात्वाद्यात्मकभावप्रत्ययनोकर्मद्रव्यकर्मणामपि जीवाच्छुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमयादात्मनोऽनन्यत्वप्रतिपत्तावभिन्नत्वाभ्युपगमेऽयमेव द्रव्यान्तरलुप्तिरूप एव दोषः । अथ यद्येतद्दोषभयाद्द्रव्यान्तरलुप्तिदोषभयादन्य एव भिन्न एवोपयोगात्मा ज्ञानदर्शनोपयोगस्वरूपो जीवो विज्ञानघनस्वभावश्शुद्ध आत्माऽन्यो भिन्न एव जडस्वभावोऽचेतनस्वभावोऽशुद्धचैतन्यात्मा च क्रोधो द्रव्यक्रोधो भावक्रोधश्चेत्यभ्युपगमः प्रतिपत्तिस्तर्हि तदा यथा येन प्रकारेणोपयोगात्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावाज्जीवादन्यो भिन्नः क्रोधो द्रव्यक्रोधो भावक्रोधश्च तथा तेन प्रकारेण प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यपि मिथ्यात्वादिभावकर्मनोकर्मद्रव्यकर्माण्यप्यन्यान्येव भिन्नान्येव जडस्वभा–

स्याविशेषादचेतनस्वभावत्वस्य समानत्वात् । यथा क्रोधोऽचेतनस्वभावस्तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्य-चेतनस्वभावानि यतस्तत इत्यर्थः । इति नास्ति जीवप्रत्यययोर्जीवस्य मिथ्यात्वादिप्रत्ययानां चैकत्वम-भिन्नत्वम् ।

टीकार्थ— यदि ' जिसप्रकार (शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से विज्ञानघनैकस्वभाववाला) जीव ज्ञानदर्शनोपयो-गमय होनेसे उस शुद्धजीव से (ज्ञानदर्शनरूप) उपयोग अभिन्न होता है–भिन्न नहीं होता उसीप्रकार (अशुद्धचैतन्ययुक्त होनेपर भी शुद्धचैतन्यविकल होनेसे) अचेतभावक्रोध भी और चैतन्यसामन्यविकल द्रव्यक्रोध भी (शुद्धज्ञानघनैक-स्वभाववाले) जीव से अभिन्न ही हैं–भिन्न हं ही नहीं ' इसप्रकार का अभिमत हो तो चैतन्यस्वभाववाली आत्मा और जड अर्थात् चैतन्यस्वभावविकल पदार्थ इनमें अभिन्नत्व होनेसे–अन्योन्यभिन्नत्व का अभाव होनेसे, जिसप्रकार विज्ञा-नघनैकस्वभाववाला शुद्ध जीव ज्ञानदर्शनोपयोगमय होता है अर्थात् शुद्ध जीव और शुद्धज्ञानदर्शनोपयोग इनमें तादात्म्य होनेसे भेद नहीं होता है उसीप्रकार शुद्ध जीव अचेतन भावक्रोधमय और द्रव्यक्रोधमय हो जानेका अर्थात् शुद्धजीव और द्रव्यभावरूप क्रोध इनके अन्योन्यभिन्नत्व का अभाव हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है। शुद्ध जीव और क्रोध इनके अभिन्नत्व के कारण शुद्धजीव अचेतनक्रोधमय बन जानेपर जो ही शुद्ध जीव है वही अजीव हो जानेसे दो द्रव्यों में से एक द्रव्य का लोप हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है अर्थात् जीव और जड पदार्थ की एकता की सिद्धि हो जानेपर जीवद्रव्य का अभाव हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है । (शुद्ध जीव और भावक्रोध इनके अभिन्नत्व के कारण शुद्ध जीव अशुद्धचेतनान्वितभावक्रोधमय बन जानेपर जो हि शुद्ध जीव है वही अजीव--अप्रशस्त जीव-अशुद्ध जीव हो जानेसे शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव इन दोनों में से एकद्रव्य का अर्थात् शुद्ध जीवद्रव्य का लोप हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है अर्थात् शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव के एकत्व की सिद्धि हो जानेपर शुद्ध जीव का अभाव हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है ।) यदि द्रव्यान्तर का लोप होनारूप दोष के भय से उपयोगस्वरूप जीव भिन्न ही है और जडस्वभाव-अचेतनस्वभाव और अशुद्धचैतन्यस्वभाव क्रोध भिन्न ही है ऐसा माना तो जिसप्रकार उपयोग-स्वरूप जीव से जडस्वभाव क्रोध भिन्न है उसीप्रकार उपयोगस्वभाव जीव से मिथ्यात्वादिरूप भावप्रत्यय, नोकर्म और (द्रव्य) कर्म भिन्न ही है; क्यों कि जिसप्रकार क्रोध का स्वभाव जड–अचेतन है उसीप्रकार मिथ्यात्वादिरूप भाव-प्रत्यय, नोकर्म और (द्रव्य-) कर्म इनका स्वभाव भी जड-अचेतन है । इसप्रकार शुद्धजीव और मिथ्यात्वादिप्रत्यय इनका एकत्व-अभिन्नत्व नहीं है--ये परस्परभिन्न है ।

विवेचन– शुद्ध जीव विज्ञानघनैकस्वभाववाला है । विज्ञानघनस्वभाववाला होनेसे उपयोगस्वभाववाला भी है; क्यों कि ज्ञान और उपयोग इनमें भेद नहीं है । सामान्यग्रहण की और विशेषग्रहण की अपेक्षा से उपयोग के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग ये दो भेद है । भेद पर्यायरूप होनेसे और पर्याय और पर्यायी इनमें होनेवाले तादात्म्य-संबध के कारण उनमें भेद नहीं है । उपयोग अर्थग्रहणव्यापाररूप ज्ञानोपादानक परिणाम होनेसे ज्ञान से भिन्न न होनेके कारण दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग विज्ञानरूपस्वभाव से भिन्न नहीं हैं । ज्ञान और शुद्ध जीव इनमें भेद न होनेसे दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग ये दोनों और शुद्धजीव इनमें भी भेद नहीं है । अतः शुद्ध जीव शुद्धोपयोगमय है । जीव उपयोगमय होनेसे उपयोग जिसप्रकार शुद्ध जीव से भिन्न नहीं होता उसीप्रकार चेतनासामान्यरहित द्रव्य-क्रोध और शुद्धचैतन्यरहित भावक्रोध शुद्ध जीव से भिन्न नहीं हैं ऐसा माना गया तो चिद्रूप आत्मा और चैतन्यसामा-न्यरहित होनेसे और शुद्धचैतन्यरहित होनेसे जडरूप पदार्थ इनमें भेद नहीं रहेगा । शुद्ध चिद्रूप आत्मा और जड पदार्थ इनमें भेद न होनेसे जिसप्रकार जीव और शुद्धोपयोग इनमें भेद न होनेसे शुद्ध जीव शुद्धोपयोगमय होता है उसीप्रकार शुद्ध जीव तथा चैतन्यसामान्यरहित होनेसे जडरूप द्रव्यक्रोध और शुद्धचैतन्यरहित होनेसे जडरूप भाव-क्रोध इनमें भेद का अभाव हो जानेसे शुद्ध जीव जडरूप द्रव्यभावक्रोधमय बन जानेका प्रसग उपस्थित हो जाता है । जीव जडक्रोधरूप बन जानेसे जो ही जीव होता है वह अचेतन द्रव्यमय हो जानेसे जीव और अजीव इन दोनों में से एक जीवद्रव्य का लोप–अभाव हो जायगा और संसार पचद्रव्यात्मक बनेगा और जीव अशुद्धचेतन्यान्वितभावक्रोधमय

बन जानेसे जो हि शुद्ध जीव होता है वही अशुद्धजीवद्रव्यमय बन जानेसे शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव इन दोनों में से एक शुद्ध जीवद्रव्य का अभाव ही जायगा। सारांश, शुद्ध जीवद्रव्य का अभाव हो जानेसे संसार जीवशून्य बन जायगा। जिसप्रकार शुद्ध जीव और द्रव्यभावरूप क्रोध इनमें अभेद माननेसे शुद्ध जीवद्रव्य का और जीवसामान्य का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है उसीप्रकार शुद्ध जीवद्रव्य और मिथ्यात्वादिरूप भावप्रत्यय, नोकर्म और द्रव्यकर्म इनमें अभेद माना तो शुद्ध जीवद्रव्य का और जीवसामान्य का अभाव हो जानेका वही द्रव्यांतरलुप्ति-नामक दोष उपस्थित हो जाता है। यदि शुद्ध जीवद्रव्य का और जीवसामान्य का अभाव हो जानारूप द्रव्यांतरलुप्ति-नामक दोष के भय से उपयोगस्वरूप जीव द्रव्यभावात्मक अचेतन क्रोध से भिन्न ही है और अचेतनक्रोध उपयोगात्मक शुद्ध जीव से भिन्न ही है ऐसा माना गया तो जिसप्रकार ज्ञानदर्शनोपयोगमय शुद्ध जीव से शुद्धचैतन्यरहित भावक्रोध और अचेतनद्रव्यक्रोध भिन्न होता है उसीप्रकार मिथ्यात्वादिरूप भावप्रत्यय, नोकर्म और द्रव्यकर्म शुद्धजीव से भिन्नरूप सिद्ध हो जाते हैं; क्यों कि जिसप्रकार शुद्धचैतन्य का अन्वय न होनेसे भावक्रोध और चैतन्यसामान्य का अन्वय न होनेसे द्रव्यक्रोध जडस्वभाववाले होते हैं उसीप्रकार शुद्धचैतन्य से अन्वित न होनेसे मिथ्यात्वादिरूप भाव-प्रत्यय और चैतन्यसामान्य से अन्वित न होनेसे नोकर्म और द्रव्यकर्म जडस्वभाववाले होते हैं।

[आत्मख्याति में 'प्रत्ययनोकर्मकर्म' इस सामासिक पद का प्रयोग किया गया है। इस समास के अंतर्गत जो प्रत्ययशब्द पाया जाता है उसका अर्थ यदि द्रव्यकर्म किया तो कर्मशब्द व्यर्थ हो जाता है; क्यों कि कर्मशब्द का अर्थ द्रव्यकर्म भी होता है। यदि कर्मशब्द का अर्थ भावकर्म किया तो प्रत्ययशब्द व्यर्थ हो जाता है। अतः प्रत्यय और कर्म इन शब्दों के भिन्नभिन्न अर्थ करने चाहिये। प्रत्ययशब्द का अर्थ भावकर्म लिया तो कर्मशब्द का अर्थ द्रव्यकर्म करना चाहिये। इस सामासिकपद का इसप्रकार अर्थ करनेपर आत्मख्याति का ऊपर जो अर्थ किया गया है वह ठीक है। अतः आत्मख्यातिगत क्रोधशब्द का भावक्रोध और द्रव्यक्रोध ये दो अर्थ समझकर आत्मख्याति का अर्थ और विवेचन किया गया है।]

तात्पर्यवृत्ति देखिये-

यथा जीवस्यानन्यस्तन्मयो ज्ञानदर्शनोपयोगः। कस्मात्? अनन्यवेद्यत्वादशक्यविवेचनत्वाच्च, अग्नेरुष्णत्ववत्। ···· तथा क्रोधोऽपि यद्यनन्यो भवत्येकान्तेन तदा किं दूषणम्? ···· एवमभेदे सति सहजशुद्धाखण्डैकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवस्याजीवस्य चैकत्वमापन्नमिति। अथ ·· एवं पूर्वोक्तसूत्रव्याख्यानक्रमेण य एव जीवः स एव तथैवाजीवो भवति नियमान्निश्चयात्। तथा सति जीवाभावाद्दूषणं प्राप्नोति। ··· अयमेव दोषो जीवाभावरूपः। कस्मिन् सति? एकान्तेन निरञ्जनानिजानन्दैकलक्षणजीवेन सहैकत्वे सति। केषाम्? मिथ्यात्वादिप्रत्ययनोकर्मकर्मणामिति। ··· ।··· अथ पुनरभिप्रायो भवतां पूर्वोक्तजीवाभावदूषणभयादन्यो भिन्नः क्रोधो जीवादन्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा क्रोधात्सकाशात्।··· यथा जडः क्रोधो निर्मलचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नस्तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यपि भिन्नानि [इति] शुद्धनिश्चयेन सम्मत- [तः?] मेव। किञ्च, शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाऽभिन्नत्वं च लभ्यत एव। कस्मात्? निश्चयव्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात्। 'कथम्?' इति चेत्, यथा 'दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः' इत्युक्ते 'वामेन न पश्यति' इत्यनुक्तसिद्धमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते साङ्ख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणामाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभावः, कर्मबन्धाभावे संसाराभावः, संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति। स च प्रत्यक्षविरोधः, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति। एवं प्रत्ययजीवयोरेकान्तेनैकत्वनिराकरणरूपेण

गाथात्रयं गतम् । अत्राह शिष्यः–'शुद्धनिश्चयनयेनाकर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यातम् । तत्रैवं सति यथा द्रव्यकर्मणां व्यवहारेण कर्तृत्वं तथा रागादिभावकर्मणां च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्वं प्राप्नोति इति । नैवम् । रागादिभावकर्मणां योऽसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयनयसञ्ज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्यज्ञापनार्थम् । 'कथं तारतम्यम् ?' इति चेत्, द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षयाऽचेतनान्येव । अतः कारणादशुद्धनिश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । अयमत्र भावार्थः– द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चाऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाऽशुद्धनिश्चयेन । स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एवेति ।

अग्नि की उष्णता अग्नि का सहभाविपरिणाम होनेसे और उससे अलग करना अशक्य होनेसे जिसप्रकार अग्नि से भिन्न नहीं होती उसीप्रकार शुद्ध आत्मा का ज्ञानदर्शनोपयोग आत्मा का सहभाविपरिणाम होनेसे, आत्मा के द्वारा ही ज्ञेय होनेसे आत्मा से अलग करना अशक्य होनेसे आत्मा से भिन्न नहीं होता । जिसप्रकार ज्ञानदर्शनोपयोग शुद्ध आत्मा से भिन्न नहीं होता उसीप्रकार क्रोध भी आत्मा से सर्वथा अभिन्न हो तो सहज शुद्ध, अखंड और एकरूप ज्ञानदर्शनोपयोगरूपसहभाविपरिणामवाला जीव और अजीव (अचेतनपदार्थ और अशुद्ध जीव) ये दोनों एकरूप हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है । ऐसा होनेपर जो ही जीव होता है वही निश्चितरूप से अजीव हो जाता है । ऐसा होनेसे जीव का अभाव होनारूप दोष उपस्थित हो जाता है । मिथ्यात्वादिभावप्रत्यय, नोकर्म और (द्रव्य–) कर्म इनकी निरंजन और आत्मानंदरूप एक लक्षणवाले जीव के साथ सर्वथा एकरूपता–अभिन्नत्व होनेपर यह जीव का अभाव होनारूप दोष उपस्थित हो जाता है । जीव का अभाव होनारूप दोष के भय से क्रोध जीव से भिन्न है और जीव क्रोध से भिन्न है ऐसा अभिप्राय हो तो जिसप्रकार जड–अचेतन क्रोध निर्मलचैतन्यस्वभाववाले जीव से भिन्न है उसीप्रकार मिथ्यात्वादिरूप भावप्रत्यय, नोकर्म और (द्रव्य–) कर्म ये भी उक्तस्वभाववाले जीव से भिन्नरूप सिद्ध होते है यह शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से सम्मत ही है । दूसरी बात यह है कि शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध जीव का अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व और क्रोधादि से भिन्नत्व सिद्ध हो जाता है इसप्रकार व्याख्यान किया जानेपर द्वितीयपक्ष में व्यवहारनय की दृष्टि से जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व और क्रोधादि से अभिन्नत्व इनका ज्ञान हो ही जाता है, क्यों कि निश्चयनय और व्यवहारनय परस्परसापेक्ष होती हैं । 'यह दोनों नयों की परस्परसापेक्षता कैसे हो सकती है ?' इस प्रश्न का उत्तर निम्नप्रकार है–जिसप्रकार 'यह देवदत्त दाहीनें आंख से देखता है' ऐसा कहनेपर 'बाये आंख से नहीं देखता' यह बिना कहे सिद्ध हो जाता है उसीप्रकार निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा कर्ता नहीं होती ऐसा कहनेपर व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा कर्ता होती है यह बिना कहे सिद्ध हो जाता है । जो सांख्यमत को और सदाशिव मत को माननेवाले- अपनानेवाले इसप्रकार से परस्परसापेक्ष होनेवाले नयविभाग को नहीं मानते उनके मत में जीव जिसप्रकार शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से कर्ता नहीं होता और क्रोधादि से भिन्न होता है उसीप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से भी जीव कर्ता नहीं होता और क्रोधादि से भिन्न होता है । ऐसा होनेपर क्रोधादिरूप से परिणमन का अभाव होनेपर जिसप्रकार सिद्धों के बंध का अभाव होता है उसीप्रकार संसारिजीव के भी कर्मबंध का अभाव हो जायगा, कर्मबंध के अभाव में संसार का अभाव हो जायगा और संसार के अभाव में सर्वदा मुक्त होनेकी आपत्ति खडी हो जायगी । वह संसार का अभाव प्रत्यक्ष के विरुद्ध पडता है; क्यों कि संसार प्रत्यक्षरूप से देखा जा रहा है । इसप्रकार इन तीन गाथाओं के द्वारा प्रत्यय और जीव इनके सर्वथा एकत्व का निराकरण किया गया है । इस विषय को लेकर शिष्य कहता है कि-शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव अकर्ता होता है और व्यवहारनय की दृष्टि से जीव कर्ता होता है ऐसा अनेक प्रकारों से कहा गया है । ऐसा होनेपर जिसप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से द्रव्यकर्मों का कर्तृत्व होता है उसीप्रकार रागादिरूप भावकर्मों का कर्तृत्व व्यवहारनय की दृष्टि से होनेसे द्रव्यकर्म और भावकर्म इन दोनों का एकत्व–अभिन्नत्व सिद्ध हो जाता है । शिष्य जैसा कहता है वैसा नहीं है । रागादिभावकर्मों के कर्तृत्व के विषय में जो व्यवहारनय आलंबनभूत होती है उसकी अशुद्धनिश्चयनय यह जो संज्ञा होती है वह द्रव्यकर्मों के साथ

होनेवाले तारतम्य का ज्ञान करानेके लिये है अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्म परस्परभिन्न हैं इस बात का ज्ञान करानेके लिये है। 'उन दोनों प्रकार के कर्मों में भेद कैसे होता है ?' ऐसा प्रश्न हो तो उसका समाधान–' द्रव्यकर्म अचेतन होते हैं और भावकर्म चेतन होते हैं। भावकर्म चेतन होनेपर भी शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से अचेतन ही हैं ' ऐसा है। इसकारण से अशुद्धनिश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय ही है। यहां यह भावार्थ है–द्रव्यकर्मों का कर्तृत्व और भोक्तृत्व अनुपचरितासद्‌भूतव्यवहारनय की दृष्टि से हैं और रागादिभावकर्मों का कर्तृत्व और भोक्तृत्व अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से हैं। वह अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनय की अपेक्षा से व्यवहारनय ही है।

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति साङ्ख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति–

अब साङ्ख्यमत को माननेवाले शिष्य को समझानेके लिये पुद्गलद्रव्य के परिणत होनेके स्वभाव की सिद्धि करते हैं–

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥ ११६ ॥

कम्मइयवग्गणासु[1] य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ ११७ ॥

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा[2] ॥ ११८ ॥

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९ ॥

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥ १२० ॥

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥ ११६ ॥
कार्मणवर्गणासु चाऽपरिणममानासु कर्मभावेन।
संसारस्याऽभावः प्रसज्यते साङ्ख्यसमयो वा ॥ ११७ ॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन।

१– 'कम्मइयवग्गणासु य' इति गाथायाः स्थाने 'जीवो परिणामयदे' इत्येषा गाथा 'जीवो परिणामयदे' इत्यस्याः स्थाने च 'कम्मइयवग्गणासु ··' इति गाथा लिखितास्तात्पर्यवृत्तौ क्रमव्यत्यासस्तात्पर्यवृत्तौ।

२– 'णाणा' इति पाठस्तात्पर्यवृत्तौ।

तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता ॥ ११८ ॥
अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलो द्रव्यम्।
जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥ ११९ ॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलो द्रव्यम्।
तथा तज्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥ १२० ॥

अन्वयार्थ— **(यदि)** यदि **(जीवे)** जीवरूप अधिकरण मे **(स्वयं)** स्वभावतः **(न बद्धं)** बन्धावस्था को प्राप्त न हुआ **(इदं पुद्गलद्रव्यं)** यह कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य **(स्वयं)** स्वभावतः अपने आप—अपने स्वभाव से **(कर्मभावेन)** कर्मरूप परिणाम के रूप से **(न परिणमते)** परिणत न होता हो **(तदा)** तो वह **(अपरिणामि)** अपरिणामी—परिणत होनेके स्वभाव से रहित **(भवति)** सिद्ध हो जाता है। **(कर्मवर्गणासु च)** और पुद्गलद्रव्यरूप कर्मयोग्य वर्गणाएं **(कर्मभावेन)** द्रव्यकर्मरूप परिणाम के रूप से स्वभावतः **(अपरिणममानासु)** परिणत होनेवाली न होनेपर **(संसारस्य)** संसार का **(अभावः)** अभाव हो जानेका **(साङ्ख्यसमयः वा)** अथवा सांख्यसिद्धांत को स्वीकार करनेका **(प्रसज्यते)** प्रसंग उपस्थित हो जाता है। संसार का अभाव हो जानेके या सांख्यसिद्धांत को स्वीकार करनेके प्रसग के भय से यदि '**(जीवः)** जीव **(पुद्गलद्रव्याणि)** कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्यों को **(कर्मभावेन)** द्रव्यकर्मरूप परिणाम के रूप से **(परिणामयति)** परिणत कराता है' ऐसा कहा गया तो **(स्वयं)** स्वभावतः **(अपरिणममानानि)** परिणत न होनेवाले **(तानि)** उन पुद्गलद्रव्यों को **(चेतयिता)** ज्ञानस्वभाववाला जीव **(कथं नु)** किसप्रकार **(परिणामयति)** परिणत करा सकता है? (कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल स्वभावतः कर्मरूप से परिणत होनेवाला न होनेसे जीव उनको कर्मरूप से परिणत करनेवाला न होनेसे द्रव्यकर्मो का अभाव हो जानेका जो प्रसंग उपस्थित हो जाता है उसका परिहार करनेके लिये) **(अथ)** यदि **(पुद्गलः द्रव्यं)** कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलरूप द्रव्य **(कर्मभावेन)** द्रव्यकर्मरूप परिणाम के रूप से **(स्वयमेव हि)** स्वभाव से ही **(परिणमते)** परिणत होता हो तो **(जीवः)** जीव **(कर्म)** कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल को **(कर्मत्वं)** द्रव्यकर्मरूप से **(परिणामयति)** परिणत कराता है **(इति)** यह कथन **(मिथ्या)** मिथ्या हो जाता है। ऐसा होनेपर **(कर्मपरिणतं)** कर्मरूप से परिणत हुआ **(पुद्गलः द्रव्यं)** पुद्गलरूप द्रव्य **(नियमात्)** निश्चितरूप से **(कर्म चैव)** कर्म ही **(भवति)** होता है। उसीप्रकार **(ज्ञानावरणादिपरिणत)** ज्ञानावरणादिकर्मों के रूप से परिणत हुआ **(तत्)** वह पुद्गलरूप द्रव्य **(तच्चैव)** ज्ञानावरणादिरूप ही **(जानीत)** जानो।

[यद्यपि प्राकृतभाषा के अनुसार 'पुग्गल' यह शब्द पुंल्लिग और नपुंसकलिंग भी है तो भी संस्कृतभाषा के अनुसार 'पुद्गल' यह शब्द नित्यपुंल्लिग है। अतः संस्कृत छाया में 'पुद्गल' ऐसा पद रक्खा गया है।]

आ. ख्या.— यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयं अबद्धं सत् कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तत् अपरिणामि एव स्यात्। तथा सति ससाराभावः। अथ 'जीव. पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति। ततः न संसाराभावः' इति तर्क, किं स्वयं अपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत्? न तावत् तत् स्वयं अपरिणम—

मानं परेण परिणामयितुं पार्येत । न हि स्वतः असती शक्तिः कर्तुं अन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानं तु न परं परिणामयितारं अपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परं अपेक्षन्ते । ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेव अस्तु । तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तत एव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात् । इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम् ।

त. प्र.– यद्यथ पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं जीवेऽधिकरणभूते स्वयं स्वभावतः । निमित्तकारणभूतान्यद्रव्यसहकारमन्तरेणेत्यर्थः । अबद्धं सज्जीवप्रदेशैस्सह संश्लेषसम्बन्धरूपां बन्धावस्थामनापन्नं सत्कर्मभावेन द्रव्यकर्मात्मकपरिणामरूपेण स्वयमेव निमित्तकारणभूतान्यद्रव्यकृतप्रयोजनमन्तरेणैव न परिणमेत विकृतं न भवेत्तदा तत्कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव परिणमनशक्तिविकलमेव स्याद्भवेत् । तथा सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य परिणमनशक्तिवैकल्ये सति द्रव्यकर्मत्वेन परिणतेरभावात्तदुदयासम्भवाज्जीवस्य मिथ्यात्वादिरूपविभावभावात्मकपरिणत्यभावान्नव्यकर्मबन्धासम्भवात्ससाराभावः संसारावस्थाभावो जीवस्यापतितः । संसाराभावप्रसङ्गविनिवृत्त्यर्थमथ यदि जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं तस्य स्वयमपरिणामित्वे सत्यपि कर्मभावेन द्रव्यकर्मात्मकपरिणामस्वरूपेण परिणामयति विवर्तयति । ततो जीवरूपप्रयोजकनिमित्तकर्तृजनितकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरिणामत्वाज्जीवस्य विभावभावात्मकपरिणामोत्पत्तिसम्भवान्नव्यद्रव्यकर्मबन्धप्रादुर्भावाद्गत्यन्तरसंसरणसम्भवान्न ससाराभाव इति तर्कोऽभ्यूहः परिकल्पनं चेत्समुद्युज्यते तत्राऽयं प्रश्नः– किं स्वय निमित्तभूतान्यद्रव्यकृतप्रयोजनमन्तरेणापरिणममानमविवर्तमानं परिणममानं विवर्तमानं वा जीवो निमितकर्ता पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्य कर्मभावेन द्रव्यकर्मात्मकपरिणामरूपत्वेन परिणामयेद्विवर्तयेत् ? न तावत्तत्कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं स्वय स्वभावतोऽपरिणममानमपरिवर्तमानं परेण निमित्तकर्त्रा परिणामयितुं विवर्तयितुं पार्येत प्रचोद्यं भवेत् । न हि नैव स्वतः स्वभावतः । वस्तुस्वाभाव्यादित्यर्थः । असती द्रव्येऽविद्यमाना शक्तिः कर्तुं जनयितुमन्येन निमित्तकर्त्रीभवता केनचिद्द्रव्येण पार्यते सम्भाव्यते । शक्या भवतीत्यर्थः । स्वयं स्वभावतः । प्रयोजकमन्तरेणेत्यर्थः । परिणममानं तु विवर्तमानमेव कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य न परमन्यं स्वसमाद्भिन्नं निमित्तकर्तृभूत जीव परिणमयितारं विवर्तयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः स्वकार्योत्पत्तौ पर सहकारिणमपेक्षन्ते प्रतीक्षन्ते । ततः पुद्गलद्रव्यस्य स्वयमपरिणामित्वे सति ससाराभावप्रसङ्गात्संसारावस्थायाश्च जीवस्य प्रत्यक्षगम्यत्वात्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभावं परिणमनशील स्वयमेवाऽस्तु प्रयोजकमन्तरेण भवतु । तथा सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य स्वयमेव परिणामस्वभावत्वे सति कलशपरिणता स्वोपादेयभूतस्वस्वरूपान्वितकलशात्मकपरिणामत्वेन परिणता मृत्तिका स्वयमात्मना कलश इव । स्वोपादेयभूतस्वस्वरूपान्वितकलशरूपपरिणामात्मकत्वेन परिणता मृत्तिका यथा कलशरूपा भवति तथेत्यर्थः । जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणत चैतन्यसामान्यवैकल्यस्वभावज्ञानावरणादिरूपद्रव्यकर्मात्मकपरिणामस्वरूपेण परिणतं तदेव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यमेव स्वयमात्मना ज्ञानावरणादिकर्म ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञक द्रव्यकर्मैव स्याद्भवेत् । इत्यमुना प्रकारेण सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य कर्मवर्गणायोग्यस्यान्यस्य च पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं परिणामशक्तिमत्त्वम् ।

टीकार्थ– जीवरूप अधिकरण में स्वभावतः– आप ही बंधावस्था को प्राप्त न होनेवाला पुद्गलद्रव्य द्रव्य–कर्मरूप परिणाम के रूप से यदि परिणत न होता हो तो वह अपरिणामी ही–कूटस्थनित्य ही हो जायगा । पुद्गल–द्रव्य के अपरिणामित्व की–कूटस्थनित्यत्व की सिद्धि हो जानेपर (जीव की) संसाररूप अवस्था का अभाव सिद्ध हो जायगा । 'जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप से परिणमाता है; उसकारण संसार का अभाव नहीं होता' ऐसा यदि तर्क हो तो 'जीव स्वयं परिणत न होनेवाले पुद्गलद्रव्य को द्रव्यकर्मरूप से परिणमा सकता है या स्वयं परिणत होनेवाले पुद्गलद्रव्य को परिणमा सकता है ?' ऐसा प्रश्न खड़ा हो जाता है । अपने स्वभाव से परिणत न होनेवाला वह पुद्गलद्रव्य दूसरे द्रव्य के (जीवद्रव्य के) द्वारा परिणमाया नहीं जा सकता । (पदार्थ में) जिस शक्ति का स्वभावतः अभाव होता है वह शक्ति अन्यपदार्थ के द्वारा उत्पादित नहीं की जा सकती । आप ही–स्वभाव से ही परिणत होनेवाला पुद्गलद्रव्य परिणमन करानेवाले अन्यद्रव्य की अपेक्षा नहीं रख सकता । वस्तु की शक्तियां पर–पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखती । उसकारण पुद्गलद्रव्य स्वयमेव परिणमनस्वभाववाला होना चाहिये । पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणमनस्वभाववाला होनेपर कलशरूप परिणाम के रूप से परिणत हुई मृत्तिका जिसप्रकार स्वयं कलशरूप होती है उसीप्रकार जडस्वभाववाले अर्थात् स्वभावतः चैतन्यशून्य होनेवाले ज्ञानावरणादिकर्म के रूप से परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादिकर्मरूप होता है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणमनस्वभावत्व सिद्ध हुआ ।

विवेचन– कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य जीवरूप अधिकरण में स्वभावतः बंधावस्था को प्राप्त हुआ नहीं होता । वह जीवद्रव्य से भिन्न ही होता है । जीव जब विभावरूप से परिणत होता है तब उसका पुद्गल के साथ बंध होता है । यद्यपि जीव के विभावभावरूप निमित्त के मिल जानेपर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से परिणत होता है तो भी वह स्वयं परिणमनशील होनेसे ही कर्मरूप से परिणत होता है । यदि वह स्वयं परिणत होनेवाला न होता तो निमित्त के मिल जानेपर भी वह कर्मरूप से परिणत न होता और अपरिणामी–कूटस्थनित्य सिद्ध हो जाता । यदि कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य के अपरिणामित्व की सिद्धि हो गयी तो उस पुद्गलद्रव्य की निमित्त के मिल जानेपर भी द्रव्यकर्मरूप से परिणति नहीं होगी और उस परिणति के अभाव में द्रव्यकर्म का अभाव हो जानेसे उसके उदयरूप परिणाम का भी अभाव हो जायगा । उदयरूपपरिणाम के अभाव में जीव की विभावभावरूप परिणति का भी अभाव हो जायगा और उसका अभाव हो जानेसे नये कर्मबंध का अभाव हो जायगा । इसप्रकार द्रव्यकर्मरूप परिणाम और जीव के विभावभावरूप परिणाम इनमें होनेवाले कार्यकारणभाव का–निमित्तनैमित्तिकभाव का अभाव हो जानेसे जीव की संसाररूप अवस्था का भी अभाव हो जायगा । 'कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य को द्रव्यकर्मात्मक परिणाम के रूप से जीव ही परिणमाता है, फिर भले ही वह पुद्गलद्रव्य परिणमनशील न हो । पुद्गलद्रव्य की कर्मरूप परिणति को करानेवाला जीव है ऐसा माननेसे संसार का अभाव नहीं हो सकता' इसप्रकार का युक्तिवाद किया जाता हो तो वह युक्तिवाद ठीक नहीं है । 'जीव के द्वारा द्रव्यकर्म के रूप से परिणमाया जानेवाला कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य स्वभावतः हि परिणत होनेवाला होता है या परिणत होनेवाला नहीं होता ?' ऐसा प्रश्न उपस्थित हो जाता है । यदि वह स्वभावतः परिणत होनेवाला न हो तो वह दूसरेके द्वारा (जीव के द्वारा) परिणत नहीं किया जा सकता; क्यों कि स्वभावतः परिणाम के रूप से परिणत होनेकी शक्ति के विना कोनसा भी पदार्थ दूसरे निमित्तभूत द्रव्य के द्वारा परिणत नहीं किया जा सकता और पदार्थ में स्वभावतः विद्यमान न होनेवाली शक्ति किसी दूसरे के द्वारा उत्पादित नहीं की जा सकती । यदि मृत्तिका में स्वभावतः परिणत होनेकी शक्ति न होती तो उसकी घटरूप परिणति कदापि न होती । कुम्हार भी घटादिरूप से परिणत होनेकी शक्ति को मृत्तिका में उत्पादित नहीं कर सकता । अतः कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल में पारिणामिकी शक्ति के अभाव में जीव या जीव के शारीरिक या मानसिक परिणाम पुद्गल को द्रव्यकर्मरूप परिणाम के रूप से परिणमा नहीं सकता । जो द्रव्य स्वभावतः परिणत होनेवाला होता है वह परिणत करानेवाले दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता । वस्तु की शक्तियां पर की अपेक्षा नहीं रखती । जिस पुरुष में विशिष्ट कार्य करनेकी शक्ति होती है वह उस कार्य को करते समय अन्य पुरुष की अपेक्षा नहीं रखता । द्रव्य अपने कार्यरूप से परिणत होनेकी क्रिया के रूप से जब अपनी पारिणामिकी शक्ति के कारण स्वयमेव परिणत होता है तब

उस परिणतिक्रिया की उत्पत्ति करनेवाले के रूप से अन्यद्रव्य की किसप्रकार अपेक्षा रख सकता है ? निमित्तभूत परद्रव्य अपनी क्रिया के द्वारा स्वयमेव परिणत होनेवाले द्रव्य की परिणतिक्रिया का प्रेरक नहीं होता । परद्रव्य की क्रिया का साहाय्य मिलनेपर द्रव्य की विशिष्टरूप से परिणत होनेकी शक्ति उत्तेजित हो जाती है-उसको बल मिलता है तो भी वह परद्रव्य विशिष्टद्रव्य की परिणतिक्रिया का स्वयं आश्रय न होनेसे परिणत होनेवाले द्रव्य को अपनी परिणतिक्रिया में परद्रव्य अपेक्षित नहीं होता। ऐसा होते हुए भी द्रव्य परद्रव्य से प्राप्य उत्तेजना के अभाव में विशिष्ट परिणाम के रूप से परिणत नहीं होता । इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गलद्रव्य स्वयं आप ही परिणत होनेके स्वभाव से युक्त होना चाहिये-पारिणामिकी शक्ति से युक्त होना चाहिये । पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभाववाला होनेपर ही मृत्तिकारूप पुद्गलद्रव्य कलशरूप परिणाम के रूप से परिणत होता है और मृत्तिका स्वयं कलशरूप होती है । यदि मृत्तिका परिणामस्वभाववाली न होती तो वह कलशरूप से न परिणत होती और न स्वयं कलशरूप भी होती । परिणामस्वभाववाली होनेसे जिसप्रकार कलशरूप से परिणत होती हुई मृत्तिका स्वयं कलशरूप होती है उसीप्रकार जडस्वभाववाले अर्थात् स्वभावतः चैतन्यशून्य ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म के रूप से परिणत हुआ कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य स्वयमेव ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म होता है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभाव से अर्थात् पारिणामिकी शक्ति से युक्त होना सिद्ध हो जाता है ।

अब तात्पर्यवृत्ति देखिये-

जीवेऽधिकरणभूते स्वयं स्वभावेन पुद्गलद्रव्यकर्म बद्धं नास्ति । कस्मात् ? सर्व-(दा ?) -था जीवस्य नित्यवात् । ···· न च स्वयं स्वयमेव कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण परिणमति । कस्मात् ? सर्वथा नित्यत्वात् ।··· एवमित्थम्भूतमिदं पुद्गलद्रव्यं यदि चेद्ब्रूवतां साङ्ख्यमतानुसारिणां ··· ततः कारणात्पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव भवति । ततश्चापरिणामित्वे सति किं दूषणं भवति ? अथ कार्मणवर्गणाभिरपरिणमन्तीभिः कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा संसारस्याऽभावः प्रसजति हे शिष्य ! साङ्ख्यसमयवदिति । अथ मतं ··· जीवः कर्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिकर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति ततः कारणात्संसाराभावदूषणं भवतीति चेत् ··· ज्ञानी जीवः स्वयमपरिणममानः सन् तत्पुद्गलद्रव्यं किं स्वयमपरिणममानं परिणममान वा परिणामयेत् ? न तावदपरिणममान परिणामयति । न च स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । यथा जपापुष्पादिकं कर्तृ स्फटिके जनयत्युपाधिं तथा काष्ठस्तम्भादौ किं न जनयतीति ? अथैकान्तेन परिणममानं परिणामयति, तदपि न घटते । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । तर्हि जो-(वः ?)-वं निमित्तकर्तारमन्तरेणाऽपि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमतु । तथा च सति किं दूषणम् ? घटपटस्तम्भादिपुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात् । स च प्रत्यक्षविरोध. । ततः स्थिता पुद्गलानां स्वभावभूता कथञ्चित्परिणामित्वशक्तिः । तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स पुद्गलः कर्ता य स्वस्य सम्बन्धिन ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपरिणामं पर्यायं करोति तस्य स एवोपादानकारण, कलशस्य मृत्पिण्डमिव; न च जीवः; स तु निमित्तकारणमेव । हेयतत्त्वमिदम् । तस्मात्पुद्गलाद्व्यतिरिक्तशुद्धपरमात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन गम्यश्चिदानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयनयेनोपादेयम्: भेदरत्नत्रयस्वरूप तूपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति ।

जीव सर्वथा शुद्ध होनेसे अधिकरणभूत जीव मे पुद्गलद्रव्यकर्म स्वभावतः बद्ध हुआ नहीं है और सर्वथा नित्य होनेसे स्वभावतः द्रव्यकर्मात्मक परिणाम के रूप से परिणत नहीं होता । सांख्यमत का अनुसरण करनेवाले आपके मत में द्रव्य स्वभावतः बंध को प्राप्त न होता हो और स्वभावतः कर्मरूप से परिणत न होता हो तो पुद्गलद्रव्य सर्वथा अपरिणामी-कूटस्थनित्य हो जायगा । पुद्गलद्रव्य का अपरिणामित्व सिद्ध हो जानेपर द्रव्यकर्मरूप

परिणाम के रूप से कार्मणवर्गणाएं परिणत न होनेसे सांख्यसिद्धान्त के समान (जीव को) संसार-अवस्था का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। यदि जीव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्य को ज्ञानावरणादिकर्मरूप द्रव्यकर्मात्मक परिणाम के रूप से जबरन परिणमाता है और उसकारण संसार का अभाव हो जानेका दोष उपस्थित नहीं होता ऐसा अभिमत हो तो 'ज्ञानी जीव स्वभाव से परिणत न होनेवाला होता हुआ क्या स्वभावतः परिणत न होनेवाले पुद्गलद्रव्य को परिणमाता है या परिणत होनेवाले पुद्गलद्रव्य को परिणमाता है ?' ऐसा प्रश्न उपस्थित हो जाता है। स्वभावतः परिणत न होनेवाले पुद्गलद्रव्य को जीव परिणमा नहीं सकता। स्वभावतः (पदार्थ में) विद्यमान न होनेवाली शक्ति दूसरे (पदार्थ) के द्वारा उत्पादित नहीं की जा सकती। जिसप्रकार जपापुष्पादिक स्फटिक में उपाधि को उत्पादित करता है उसीप्रकार लकडी के खंभा आदि में क्यों नहीं उत्पादित कर सकता? सर्वथा परिणत होनेवाले पुद्गलद्रव्य को जीव परिणमाता है ऐसा कहना हो तो वह भी घटित नहीं होता। वस्तु की शक्तियां पर की अपेक्षा नहीं रखती। यदि ऐसा है तो जीवरूप निमित्तकर्ता का अभाव होनेपर भी पुद्गलद्रव्य स्वभावतः ही कर्मरूप से परिणत हो जावो। जीवरूप निमित्तकर्ता के अभाव में भी यदि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से परिणत होने लगा तो घट, पट, खंभा आदिकों की ज्ञानावरणादिकर्मों के रूप से परिणति हो जायगी। घटपटादि का ज्ञानावरणादिरूप से परिणत होना प्रत्यक्ष के विरुद्ध पडता है। उसकारण पुद्गलों की स्वभावभूत कथंचित्परिणामित्वशक्ति की सिद्धि हो जाती है। पुद्गलद्रव्य को परिणत होनेकी शक्ति की सिद्धि हो जानेपर वह पुद्गलद्रव्यरूप कर्ता ज्ञानावरणादिरूपद्रव्यकर्मात्मक अपने जिस परिणाम को उत्पन्न करता है उस परिणाम का जिसप्रकार मृत्पिंड अपने कलशरूप परिणाम का उपादानकारण होता है उसीप्रकार उपादानकारण होता है; जीव उपादानकारण नहीं होता; वह तो निमित्तकारण ही होता है। निमित्तकारण होना यह जीव का हेयस्वरूप है; (क्यों कि शुद्ध जीव निमित्तकारण कदापि नहीं होता।) उसकारण पुद्गलद्रव्य से भिन्न शुद्ध परमात्मा के चिंतनरूप से परिणत हुए अभेदरत्नत्रयरूपभेदज्ञान से जानी जानेवाली चिदानंदरूप एकस्वभाववाली अपनी शुद्ध आत्मा ही शुद्धनिश्चय की दृष्टि से उपादेय है; भेदरत्नत्रय का स्वरूप तो अभेदरत्नत्रय का साधक होनेसे व्यवहार से उपादेय है।

['निमित्त का अभाव होनेपर भी यदि पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्मरूप से परिणत होता है ऐसा माना तो घट-पटादिरूप पुद्गलद्रव्य भी द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होने लग जायगे' इसप्रकार दोषाविष्कार करके टीकाकार आचार्यमहाराज के द्वारा 'द्रव्य परिणमनशील होनेपर भी निमित्त के अभाव में विशिष्ट परिणाम के रूप से परिणत नहीं हो सकता' यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है। यदि निमित्त उपादान की परिणतिक्रिया के अनुकूल क्रियारूप परिणाम के रूप से परिणत न हुआ तो उपादान स्वजातीय परिणाम के रूप से परिणत नहीं हो सकता। अतः निमित्त बननेवाले द्रव्य का सिर्फ सद्भाव होनेसे उपादान अपने परिणाम के रूप से परिणत नहीं हो सकता।]

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ।।६४।।

अन्वयः- इति पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः खलु अविघ्ना स्थिता। तस्यां स्थितायां स आत्मनः यं भावं करोति तस्य स एव कर्ता (भवति)।

अर्थ- (कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य को स्वाभाविक पारिणामिकशक्ति के अभाव में संसार का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे और सर्वथा परिणामी माननेपर घटपटादि का कर्मरूप से परिणत हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे पुद्गल को सर्वथा अपरिणामी या सर्वथा परिणामी नहीं माना जा सकता। जीव को संसार-अवस्था प्रत्यक्षग्राह्य होनेसे और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल को जीव के विभावपरिणामात्मक निमित्त के अभाव में द्रव्यकर्मरूप परिणति और उसका जीव के साथ बंध होना अशक्य होनेसे पुद्गल के कथंचित्परिणामित्व को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।) इसप्रकार पुद्गल की स्वभावभूत पारिणामिकी शक्ति परमार्थतः

निर्बाधरूप से सिद्ध हो गयी । उसकी सिद्धि हो जानेपर पुद्गलद्रव्य अपन जिस परिणाम को उत्पन्न करता है उस अपने परिणाम का वही कर्ता–उपादानकर्ता होता है ।

त. प्र.– इत्यमुना प्रकारेण । कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्वामिकस्वाभाविकपारिणामिकशक्त्यभावे जीवस्य संसारावस्थाभावप्रसङ्गात्सर्वथा परिणामित्वे घटपटादीनामपि द्रव्यकर्मत्वेन परिणतेः प्रसङ्गाच्च तथा द्रव्यस्य सर्वथाऽपरिणामित्वस्य सर्वथा परिणामित्वस्य चासिद्धेर्जीवस्य संसारावस्थायाः प्रत्यक्ष–दर्शनादशुद्धजीवोपादानकविभावभावात्मकपरिणामभूतनिमित्तमन्तरेण कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्य-कर्मत्वेन बद्धावस्थत्वेन च परिणमनासम्भवाच्च पुद्गलद्रव्यस्य सर्वथाऽपरिणामित्वं सर्वथा परिणामित्वं च यतो न सिध्यति ततस्तस्य कथञ्चित्परिणामित्व सिध्यतीति । अमुना प्रकारेण पुद्गलस्य कर्मवर्ग–णायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य स्वभावभूता स्वाभाविकी परिणामशक्तिः पारिणामिकी शक्तिः खलु परमार्थतो–ऽविघ्ना निर्बाधा स्थिता सिद्धा । तस्यां पारिणामिक्यां शक्तौ स्थितायां सिद्धायां स पुद्गल आत्मनः स्वस्य यं परिणामं स्वस्वरूपान्वित पर्यायं करोति जनयति तस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादेयभूत–परिणामस्य स एव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल एव कर्तोपादानकर्ता । भवतीत्यध्याहारः । कर्मवर्गणायोग्य–पुद्गलद्रव्यस्य स्वभावभूतायाः पारिणामिक्याश्शक्तेः सिद्धौ पुद्गलः कर्मवर्गणायोग्यः स्वभावभावात्म–कस्य विभावभावात्मकस्य च परिणामस्य निमित्तीभवद्द्रव्यसहकृतः कर्ता भवति । विभावभावात्मक–परिणतिकारणभूता नास्त्यन्या काचिद्वैभाविकी शक्तिः । पुद्गलद्रव्यस्य स्वभावपरिणामोत्पत्तौ कालद्रव्यं निमित्तीभवति द्रव्यकर्मात्मकपरिणामोत्पत्तौ चाशुद्धजीवद्रव्योपादानको विभावभावो निमित्तीभवतीत्यव-सेयम् । यद्वा, कर्मवर्गणायोग्यस्य पुद्गलद्रव्यस्य स्वभावतो जीवेऽधिकरणभूतेऽबद्धस्य सतो नित्यानित्या-त्मकत्वेऽपि सर्वथाऽपरिणामित्वेऽभ्युपगम्यमाने कूटस्थनित्यत्वापत्तेर्द्रव्यकर्मत्वेन परिणतेरसम्भवात्तदुदया-त्मकपरिणामोत्पत्त्यभावात्तन्निमित्तकजीवस्वामिकविभावात्मकपरिणामोत्पत्त्यभावाद्द्रव्यकर्मबन्धासम्भ –वान्नित्यमुक्तत्वप्रसङ्गाज्जीवस्य संसारावस्थाभावप्रसङ्गात्तत्प्रसङ्गपरिजिहीर्षया जीवस्य कर्मवर्गणायो-ग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मात्मकपरिणामत्वेन परिणामयितृत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽपि स्वभावतोऽपरिणमानस्यम पुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मात्मकपरिणामजननशक्त्ययोगाज्जीवस्य च तत्र तच्छक्तिजननसामर्थ्याभावाच्च जीवस्य परिणामयितृत्वासम्भवात्स्वभावतो द्रव्यकर्मत्वेन परिणममानस्य परिणामयित्रन्तरापेक्षायोगा–द्घटपटादिपुद्गलानामपि द्रव्यकर्मात्मकपरिणामत्वेन परिणमनप्रसङ्गाच्च पुद्गलद्रव्यस्य सर्वथाऽपरि-णामित्वस्य सर्वथा परिणामित्वस्य चासिद्धेः कथञ्चित्परिणामित्वं सिध्यति । एव पुद्गलद्रव्यस्य स्वभा-वभूता परिणामशक्तिरित्यादि । शेषं प्राग्वत् ।

विवेचन– सांख्यो के समान पुद्गलद्रव्य सर्वथा अपरिणामी नहीं माना जा सकता; क्यों कि ऐसा माननेसे कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूपपरिणति का अभाव हो जानेसे जीव की ससाररूप अवस्था का अभाव हो जायगा । उसको द्रव्यकर्मरूप मे सर्वथा परिणत होनेवाला भी नहीं माना जा सकता; क्यो कि सर्वथा द्रव्यकर्मरूप से परिणत होनेवाला होनेपर सभी पुद्गल निमित्त का अभाव होनेपर भी द्रव्यकर्मरूप से परिणत होते रहेंगे–घटपट आदि भी द्रव्यकर्मरूप से परिणत हो जावेंगे । जीव की संसार–अवस्था प्रत्यक्षगोचर होनेसे पुद्गलद्रव्य के कथंचित् परि–णामित्व की सिद्धि हो जाती है । उसीप्रकार कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल को द्रव्यकर्म के रूप से अपरिणत अवस्था भी विद्यमान होती है और घटपटादि द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होते हुए नहीं देखे जाते । अतः उसको सर्वथा द्रव्य–कर्मरूप से परिणत होनेवाला नहीं माना जा सकता । पुद्गलद्रव्य की विभावरूप परिणति निमित्त का अभाव होनेपर नहीं हो सकती । पुद्गल का स्कन्धरूप परिणाम पुद्गल की अशुद्ध अवस्था है । उस स्कंध का विशिष्ट परिणाम

निमित्त के अभाव में नहीं हो सकता । मृत्पिंड की घटाकारपरिणति कुम्हार के अभाव में या कुम्हार की घटाकार-परिणतिक्रिया के अनुकूल क्रिया के अभाव में नहीं होती । पूरणगलनक्रिया पुद्गल का स्वाभाविक परिणाम है और उसका निमित्तकारण कालद्रव्य होता है और घटादिरूप परिणाम की उत्पत्ति का निमित्तकारण कुम्हार होता है- कुम्हार का घटोत्पत्त्यनुकूल हस्तसंचालनादिरूप परिणाम निमित्तकारण होता है । कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप परिणति का निमित्तकारण जीव या जीव का विभावभाव होता है । अतः पुद्गलद्रव्य के परिणामित्व के बिना उसकी स्वभावपर्यायरूप या विभावपर्यायरूप परिणति निमित्त के मिल जानेपर भी नहीं होती । इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभाववाला है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्य के परिणामित्व की निर्बाधरूप से सिद्धि हो जाती है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत पारिणामिकी शक्ति की सिद्धि हो जानेपर वह जिस स्वस्वरूपान्वित परिणाम के रूप से परिणत होता है उस परिणाम का वह उपादानकर्ता होता है, फिर भले ही उसका वह परिणाम कथंचित् विसदृश हो ।

जीवस्य परिणामित्वं साधयति–

अब जीव के (कथंचित्–) परिणामित्व की सिद्धि करते हैं–

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥ १२१ ॥

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२२ ॥

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामयदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥ १२३ ॥

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥ १२४ ॥

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो य हवदि लोहो ॥ १२५ ॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमति क्रोधादिभिः ।
यद्येष तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥ १२१ ॥
अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिकैः भावैः ।
संसारस्याऽभावः प्रसज्यते साङ्ख्यसमयो वा ॥ १२२ ॥
पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वं ।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ? ॥ १२३ ॥
अथ स्वयमात्मा परिणमति क्रोधभावेनैषा ते बुद्धिः ।

क्रोध: परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥ १२४ ॥

क्रोधोपयुक्त: क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभ: ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थ– (**तव**) तेरे मत मे सदा मुक्त होनेसे (**एष जीव:**) यह जीव (**कर्मणि**) अधिकरण-भूत द्रव्यकर्म मे (**स्वयं**) स्वभावत: (**यदि**) यदि (**न बद्ध:**) एकान्तरूप से बंध को प्राप्त हुआ नही होता हो और यदि (**क्रोधादिभि:**) भावक्रोधादिरूप से (**स्वयं**) स्वभावत एकान्तरूप से (**न परिणमति**) परिणत नही होता हो (**तदा**) तो (**अपरिणामी**) अपरिणामी–कूटस्थनित्य (**भवति**) सिद्ध हो जाता है । (**जीवे**) जीव (**क्रोधादिकै: भावै:**) भावक्रोधादिरूप परिणामों के रूप से (**स्वयं**) स्वभावत (**अपरिणममाने**) परिणत होनेवाला न होनेपर (**संसारस्य अभाव:**) जीव की संसार–अवस्था के अभाव का (**साङ्ख्यसमय: वा**) अथवा सांख्यसिद्धात का (**प्रसजयते**) प्रसंग उपस्थित हो जाता है । जीव की ससार–अवस्था का अभाव हो जानेके प्रसग का अथवा साख्यसिद्धांत के प्रसंग का परिहार करनेके लिये यदि ' (**पुद्गलकर्म**) पुद्गलोपादानकपरिणामभूत (**क्रोध:**) द्रव्यक्रोध (**जीवं**) जीव को (**क्रोधत्वं**) भावक्रोध के रूप से (**परिणामयति**) परिणमाता है ' ऐसा कहना हो तो (**स्वयं**) अपने स्वभाव से (**अपरिणममानं**) परिणत न होनेवाले (**त**) जीव को (**क्रोध:**) द्रव्य–क्रोध (**कथं नु**) कैसे (**परिणामयति**) परिणमा सकता है ? किसीप्रकार भी परिणमा नही सकता । स्वभावत: परिणत न होनेवाले जीव को भावक्रोध के रूप मे परिणमानेकी शक्ति द्रव्यक्रोध मे न होनेसे उपस्थित होनेवाले जीव के भावक्रोधरूप परिणाम का अभाव हो जानेके प्रसग का परिहार करनेके लिये (**अथ**) यदि (**आत्मा**) जीव (**स्वयं**) अपने स्वभाव से (**क्रोधभावेन**) भावक्रोधरूप परिणाम के रूप मे (**परिणमति**) परिणत होता है ऐसा (**ते**) तेरा (**एषा**) यह (**बुद्धि:**) अभिमत हो तो ' (**क्रोध:**) द्रव्यक्रोध निमित्तकर्ता होकर (**जीवं**) जीव को (**क्रोधत्वं**) भावक्रोधरूप से (**परिणामयति**) परिणमाता है ' यह आगमवचन (**मिथ्या**) मिथ्या हो जायगा । जीव को सर्वथा अपरिणामी माननेसे जीव की ससार–अवस्था का अभाव हो जानेका और साख्यसिद्धान्त को स्वीकार करनेका प्रसग उप–स्थित हो जानेसे द्रव्यक्रोध मे स्वभावत अपरिणामी जीव को भावकर्म के रूप मे परिणमानेकी शक्ति का अभाव होनेसे और जीव को सर्वथा परिणत होनेवाला माननेसे निमित्त की आवश्यकता न रहनेसे द्रव्यक्रोध जीव को भावक्रोध के रूप मे परिणमाता है यह आगमवचन मिथ्या हो जानेका प्रसग उपस्थित हो जानेसे जीव को किसीप्रकार कथंचित्परिणामी मानना आवश्यक हो जाता है इसीप्रकार जब (**क्रोधोपयुक्त:**) भावक्रोध के द्वारा आत्मसात् किया गया होता है अर्थात जिसका उपयोग भावक्रोधरूप से परिणत हुआ होता है ऐसा (**आत्मा**) जीव (**क्रोध:**) भावक्रोधरूप होता है (**मानोपयुक्त:**) जिसका उपयोग भावमानरूप से परिणत हुआ होता है ऐसा जीव (**मान**) भावमानरूप होता है, (**मायोपयुक्त**) जिसका उपयोग भावमाया के रूप से परिणत हुआ होता है ऐसा जीव (**माया**) भावमायारूप होता है और (**लोभोपयुक्त:**) जिसका उपयोग भावलोभ के रूप मे परिणत हुआ होता है ऐसा जीव (**लोभ**) भावलोभरूप होता है तब भी जीव को कथंचित् परिणामी मानना आवश्यक हो जाता है ।

[यद्यपि जीव परिणामस्वभाववाला है तो भी वह भावक्रोधरूप से निमित्त के अभाव में परिणत नहीं होता । यदि निमित्त के अभाव में ही जीव भावक्रोधरूप से स्वभावतः परिणत होता है ऐसा माना गया तो भाव-क्रोधादिरूप से ही परिणत हो जाना उसका स्वभाव बन जायगा और इस स्वभाव के कारण वह सर्वदा भावक्रोधरूप से ही परिणत होता रहेगा--अन्यकषायों के या विभावभावों के रूप से कदापि परिणत नहीं होगा । जीव की अन्य-कषायों के रूप से होनेवाली परिणति भी देखी जाती है । जीव की विभावभावरूप भिन्नभिन्न परिणतियां जब देखने में आती है तब परिणाममेव निर्निमित्तक नहीं हो सकता । अतः भिन्नभिन्न द्रव्यक्रोधादिकषायों के उदय से ही जीव की भिन्नभिन्न भावकषायादिरूपविभावभावों के रूप से परिणतियां होती हैं यह स्पष्ट हो जाता है । यदि द्रव्यकर्म के उदय का असर जीव की परिणतियोंपर न होता तो जीव के परिणामों के भी क्रोध, मान, माया और लोभ इनरूप भेद कदापि नहीं हो सकेंगे इतना हि नहीं, अपि तु जीव की अज्ञानरूप परिणति भी नहीं हो सकेगी और जीव सदाशिव बन जायगा, फिर भले ही जीव और पुद्गल का संबंध अनादिकालीन हो । जब कषायादिरूप विभावभावों के भिन्नभिन्न प्रकार दिखाई देते हैं तब उदयावस्थापन्न द्रव्यकर्म की भिन्नभिन्न पर्यायज वैभाविकशक्तियों का अशुद्ध जीव की परिणतियोंपर अवश्यमेव असर होना भी चाहिये यह स्पष्ट हो जाता है । जिस अनादिकाल से चले आये अज्ञानभाव से कषायादिरूप विभावभावपरिणामों की उत्पत्ति होती है वह अज्ञानभाव भी औदयिक अर्थात् निमित्त-जन्य ही होना चाहिये । यदि उसको निर्निमित्तक माना तो उस को स्वाभाविक भाव माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा और स्वाभाविकभाव होनेपर उसका कदापि अभाव नहीं होगा, जीव की संसारावस्था सनातन बन जायगी और उसकी मुक्तावस्था का--विज्ञानघनस्वभावरूप अवस्था का अभाव हो जायगा, अज्ञानभाव ही उसका स्वभाव हो जायगा, उसके विज्ञानघनस्वभाव का अभाव हो जायगा और सर्वज्ञवचन बाधित--कलंकित और अत एव अश्रद्धेय बन जायगा और अश्रद्धेय बन जानेसे अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति का सर्वज्ञकृत उपदेश कपोलकल्पित मानना पडेगा । अस्तु । इस अभिप्राय का समर्थन 'कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा' (गा. १२४, उत्तरार्ध) और 'तर्हि द्रव्यक्रोधः कर्ता जीवस्य भावक्रोधत्वं परिणामयति करोति (इति) यदुक्तं पूर्वगाथायां तद्वचन मिथ्या प्राप्नोति' (ता. वृ.) इन वचनों से हो जाता है ।]

आ. ख्या.-- यदि कर्मणि स्वयं अबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परि-णमेत तदा स किल अपरिणामी एव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ 'पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणमयति । ततः न संसाराभावः' इति तर्कः, किं स्वयं अपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत् ? न तावत् स्वयं अपरिणममानः परेण परिणामयितुं पार्येत । न हि स्वतः असती शक्तिः कर्तुं अन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानः तु न परं परिणामयितारं अपेक्षेत । न हि वस्तु-शक्तयः परं अपेक्षन्ते । ततः जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेव अस्तु । तथा सति गरुड-ध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इव अज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः सः एव स्वयं क्रोधादिः स्यात् । इति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वम् ।

त. प्र.-- यद्यय कर्मण्यधिकरणभूते स्वयं स्वभावतः । निमित्तनिरपेक्षतयेत्यर्थः । अबद्धो बन्धा-वस्थामनापन्नस्सञ्जीव आत्मा क्रोधादिभावेनाज्ञानोपादानकभावक्रोधादिरूपपरिणामेन स्वयमेव स्वभावत एव । उपादानकर्तृभूतजीवरूपपरिणामयित्रन्तरनिमित्तनिरपेक्षतयेत्यर्थः । न परिणमेत न विवर्तेत तदा स जीवः किल परमार्थतोऽपरिणाम्येव कूटस्थनित्य एव स्याद्भवेत् । तथा सति कर्मणि स्वभावतोऽबद्धत्वे स्वयं क्रोधादिभावेनापरिणतत्वे सति कूटस्थनित्यत्वापत्तेर्भावक्रोधत्वेन परिणमनासम्भवाद्द्रव्यकर्मबन्धा-

भावात्सवामुक्तत्वप्रसङ्गात्संसाराभावो जीवस्य संसारावस्थाया अभावः । अथ यदि पुद्गलकर्म कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकं द्रव्यकर्म क्रोधादि जीवमज्ञानभावापन्नमात्मानं क्रोधादिभावेन भावक्रोधादिरूपपरिणामात्मकत्वेन परिणमयति विवर्तयति । परिवर्तयतीत्यर्थः । ततः पुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मभूतक्रोधादिनिमित्तकर्तृकभावक्रोधाद्यात्मकत्वेन जीवस्य परिणतेस्सम्भवान्न संसाराभावो जीवस्वामिकसंसारावस्थाभावः । इत्येवंविधस्तर्कोऽभ्यूहः परिकल्पनं वेति चेत्, किं स्वयं स्वभावेन । परिणामयितन्तरद्रव्यक्रोधाद्युदयभूतनिमित्तनिरपेक्षतयेत्यर्थः । अपरिणममानमपरिवर्तमानम् । कूटस्थनित्यमित्यर्थः । परिणममानं परिवर्तमानं वा पुद्गलकर्म कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकं द्रव्यकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन भावक्रोधादिरूपपरिणामात्मकत्वेन परिणामयेत्परिवर्तयेत् ? न तावत्स्वयं स्वभावेन । द्रव्यक्रोधाद्युदयभूतनिमित्तनिरपेक्षतयेत्यर्थः । अपरिणममानोऽपरिवर्तमानो भावक्रोधादिरूपपरिणामरूपेण जीवः परेण द्रव्यक्रोधाद्युदयरूपनिमित्तेन भावक्रोधादिरूपेण परिणामयितुं परिवर्तयितुं पार्येत शक्यो भवेत्, कूटस्थनित्ये जीवे परिणामशक्तेरभावात् । न हि नैव स्वतः स्वभावतो द्रव्येऽविद्यमाना शक्तिः कर्तुं द्रव्ये जनयितुमन्येनान्यद्रव्येण पार्यते शक्या भवति । जीवस्य कूटस्थनित्यत्वाभ्युपगमे परिणामशक्त्यभावप्रसक्तौ न सा पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यक्रोधादिरूपनिमित्तकर्त्रा जनयितुं शक्येति भावः । तदभावे च न द्रव्यक्रोधादि निमित्तभूतं सज्जीवं परिणामशक्तिविकलं परिणामयितुं समर्थम् । स्वयं स्वभावेन । पुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यक्रोधाद्युदयभूतनिमित्तकर्तृभूतपरिणामयितारमन्तरेणेत्यर्थः । परिणममानस्तु भावक्रोधादिरूपेण परिवर्तमानस्तु न परं निमित्तकर्तृभूतं द्रव्यक्रोधाद्यात्मकत्वेन परिणतं कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलं परिणामयितारं परिवर्तयितारमपेक्षेतोदीक्षेत । न हि नैव वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्त उदीक्षन्ते । स्वशक्त्या पारिणामिक्याख्यया भावक्रोधादिरूपपरिणामत्वेन द्रव्यक्रोधादिरूपनिमित्ताभावे सत्यपि स्वयं परिणममानो जीवो भावक्रोधाद्यात्मकपरिणामोत्पत्तिक्रियायां निमित्तभूतं द्रव्यक्रोधादि परिणामयित्रन्तरत्वेन किमर्थमपेक्षेत प्रयोजनाभावात् ? न हि समर्थो भारिको भारोद्वहनक्रियायां परं भारिकमपेक्षेत, तदपेक्षायां तत्सामर्थ्याभावसिद्धेः । द्रव्यक्रोधाद्युदयरूपनिमित्ताभावेऽपि जीवस्य भावक्रोधाद्यात्मकत्वेन परिणतौ 'कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तं' इत्यागमवचनस्य विरोधान्नैतत्परिकल्पनं युक्तम् । ततो द्रव्यक्रोधादिसद्भाव उत्तेजितस्वबलोऽपि यतो भावक्रोधाद्यात्मकत्वेन स्वयमेव परिणमति ततो जीवः परिणामस्वभावः परिणमनशीलः स्वयमेव स्वभावत एवास्तु भवतु । तथा सति स्वयमेव परिणामित्वे सति गरुडध्यानपरिणतो गरुडस्तार्क्ष्योऽहमिति ध्यानस्वरूपेण परिणतस्साधको मान्त्रिक इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोग उपादानभूताज्ञानभावव्याप्यभावक्रोधादिपरिणतोपयोगस्वभावः स एव जीव एव स्वयं क्रोधादिः स्याद्भवति । यथा गरुडध्यानाविष्टो मान्त्रिकः स्वयं गरुडो भवति गरुडत्वेन परिणतो भवति तथा यत्स्वभावभूत उपयोगोऽज्ञानस्वभावभावक्रोधादिरूपेण परिणतः स जीव एव स्वयमात्मना क्रोधादिरेव भवतीति भावः । इत्यमुना प्रकारेण सिद्धं प्रतिष्ठितं परिणामस्वभावत्वं परिणमनशीलत्वम् । 'कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तं' इति वचनस्य व्यवहारनयाश्रितत्वान्निश्चयनयापेक्षया कथञ्चिन्मिथ्यात्वस्य सम्भवाज्जीवस्य स्वयमेव परिणामित्वं दोषावहमित्यवसेयं सुधीभिः ।

टीकार्थ– अधिकरणभूत द्रव्यकर्म में अपने स्वभाव से–स्वयमेव बद्ध न होनेवाला जीव भावक्रोधादिरूप परिणाम के रूप में यदि अपने स्वभाव से ही परिणत न होता हो तो वह परमार्थतः अपरिणामी अर्थात् कूटस्थनित्य ही सिद्ध हो जायगा । उसके अपरिणामित्व की अर्थात् कूटस्थनित्यत्व की सिद्धि हो जानेपर उसकी संसार–अवस्था

का अभाव हो जायगा । यदि ' कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामभूत द्रव्यक्रोधादि जीव को भावक्रोधादिरूप परिणाम के रूप से परिणमाता है; उसकारण जीव की संसार-अवस्था का अभाव नहीं हो सकता ' ऐसा तर्क-कल्पना हो तो ' क्या अपने स्वभाव से परिणत न होनेवाले जीव को कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकपरिणामभूत द्रव्यकर्म भावक्रोधादिरूप परिणाम के रूप से परिणमा सकता है या अपने स्वभाव से परिणत होनेवाले जीव को परिणमा सकता है ?' इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित हो जाता है । अपने स्वभाव से परिणत न होनेवाला जीव पर द्रव्यभूत पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म के द्वारा भावक्रोधादिरूप परिणाम के रूप से परिणमाया नहीं जा सकता; (क्यों कि अपने स्वभाव से परिणत न होनेवाले जीव में परिणामशक्ति का अभाव होता है ।) पदार्थ में अपने स्वभाव से-निसर्गतः विद्यमान न होनेवाली शक्ति दूसरे पदार्थ के द्वारा उत्पादित नहीं की जा सकती । (अपने स्वभाव से परिणत न होनेवाले जीव में निसर्गतः विद्यमान न होनेवाली भावक्रोधादि के रूप से परिणत होनेकी शक्ति द्रव्यकर्म के द्वारा उत्पादित नहीं की जा सकती ।) अपने स्वभाव से-निसर्गतः भावक्रोधरूप से परिणत होनेवाला जीव (अपनेको) परिणमानेवाले दूसरे द्रव्य की अर्थात द्रव्यकर्म की अपेक्षा नहीं रख सकता । कार्योत्पत्ति के समय अर्थात् कार्यरूप से परिणत होते समय पदार्थों की शक्तियां परपदार्थ की अपेक्षा नहीं रखती । स्वभावतः-निसर्गतः अपरिणामी होनेपर (जीव की) संसार-अवस्था का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे और परिणतिक्रिया के समय परिणमानेवाले अन्यद्रव्य की अपेक्षा रखनेवाला न होनेसे जीव निसर्गतः ही परिणामस्वभाववाला होना चाहिये । जीव परिणामस्वभाववाला होनेवाला होनेपर जिसप्रकार ' मैं गरुड हूं ' इसप्रकार ध्यान के रूप से परिणत हुआ मांत्रिक स्वयं गरुड होता है उसीप्रकार जिसका उपयोग अज्ञानस्वभाववाले भावक्रोधादिरूप से परिणत हुआ होता है ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादिरूप है । इसप्रकार जीव का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ ।

विवेचन– ' जीव अपने स्वभाव से अर्थात् निसर्गतः द्रव्यकर्म के साथ बंधरूप अवस्था को प्राप्त होता ही नहीं और भावक्रोधादिरूप से अपने स्वभाव से अर्थात् निसर्गतः परिणत होता ही नहीं; क्यों कि द्रव्यकर्म के साथ बंधावस्था को प्राप्त होना और भावक्रोधादिरूप से परिणत होना जीव की अनित्यता की-परिणामित्व की सिद्धि करते है । जीव की अनित्यता की सिद्धि हो जानेपर जीव का स्वभावतः पुद्गलकर्म के साथ बंधावस्था को प्राप्त होनेको और भावक्रोधादिरूप से परिणत होनेको स्वीकार किया गया तो वह सदा और सर्वथा द्रव्यकर्मों के साथ बद्ध होता रहेगा और भावक्रोधादिरूप से सदा परिणत होता रहेगा । अतः जीव को द्रव्यकर्म के साथ निसर्गतः बंधावस्था को प्राप्त हो जानेवाला और भावक्रोधादिरूप से निसर्गतः परिणत हो जानेवाला नहीं माना जा सकता ' ऐसा जो कहते हैं उनकी दृष्टि से जीव का अपरिणामित्व-कूटस्थनित्यत्व सिद्ध हो जाता है । उसके कूटस्थनित्यत्व की सिद्धि हो जानेपर जीव भावक्रोधादिरूप से परिणत होना असंभव हो जायगा और उसकी भावक्रोधादिरूप से परिणति न होनेसे द्रव्यकर्म के साथ उसके बंध का अभाव हो जायगा, द्रव्यकर्म के साथ होनेवाले बंध का अभाव हो जानेसे द्रव्यकर्म के उदयरूप परिणाम का अभाव हो जायगा और उदय का अभाव होनेपर जीव की भावक्रोधादिरूप परिणति का अभाव हो जायगा । जीव की संसारावस्था अशुद्धचैतन्यान्वित विभावभावात्मकपरिणामरूप होनेसे विभावभावात्मक परिणामों का अभाव होना ही जीव की संसारावस्था का अभाव होना है । अतः जीव को सर्वथा अपरिणामी नहीं माना जा सकता । जीव की यह संसारावस्था प्रत्यक्षगम्य है । अतः उसकी संसारावस्था का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता । जीव के अपरिणामित्व की दोषरहितता की सिद्धि करनेके लिये संसाराभावनामक दूषण के परिहार के लिए यदि कोई ' द्रव्यक्रोधादिरूप से परिणत हुआ कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य जीव को भाव-क्रोधादिरूप से परिणमाता है । उसको भावक्रोधादिरूप से परिणमानेवाला द्रव्यकर्मरूप से परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य होनेसे जीव की संसारावस्था का अभाव नहीं होगा ' ऐसी कल्पना करने लगा तो उसकी वह कल्पना युक्ति से निर्दोषरूप सिद्ध नहीं की जा सकती । इस कल्पना का प्रतिवाद निम्नप्रकार किया जा सकता है । इस कल्पना के विषय में प्रश्न पूछा जा सकता है-द्रव्यकर्म के रूप से परिणत हुए पुद्गलद्रव्य के द्वारा परिणमाया जानेवाला जीव स्वयं अपरिणामी होता है या परिणामी होता है ? यदि स्वयं परिणमनशील न हो तो उसको परद्रव्य अर्थात् द्रव्य-

कर्मरूप से परिणत हुआ कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गलद्रव्य कदापि नहीं परिणमा सकता; क्यों कि उसमें परिणत होनेकी शक्ति का अभाव होता है। जिस पदार्थ में जिस शक्ति का अभाव होता है वह शक्ति उसमें किसी भी अन्यद्रव्य के द्वारा उत्पादित नहीं की सकती। जीव में परिणामशक्ति का अभाव हो तो उस शक्ति को उसमें द्रव्यकर्मरूप से परिणत हुआ कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गलद्रव्य उत्पादित नहीं कर सकता। आकाशद्रव्य में या कालद्रव्य में घटरूप से परिणत होनेकी विद्यमान न होनेवाली शक्ति को संसारस्थ कोनसा भी द्रव्य उत्पादित नहीं कर सकता। यदि भावक्रोधादिरूप से स्वयं परिणत होनेवाले जीव को द्रव्यकर्मरूप से परिणत हुआ कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गलद्रव्य परिण-माता हो तो भावक्रोधादिरूप से स्वयं परिणत होनेवाले जीव को परिणमानेवाला द्रव्यक्रोधरूप अन्यद्रव्य अपेक्षित होना असंभव है; क्यों कि जो पदार्थ स्वयं परिणत होता है उसी द्रव्य को परिणमानेके लिये परिणमानेवाले अन्य-द्रव्य की अपेक्षा नहीं हो सकती। यदि मृत्पिंड स्वयमेव घटरूप से परिणत होनेवाला होता तो घटरूप से परिणत होनेकी क्रियारूप से परिणत होते समय मृत्पिंड को कुम्हार की अपेक्षा क्यों होनी चाहिये? जीव यदि स्वयमेव-स्वभावतः-निसर्गतः-प्रयोजक का अभाव होनेपर भावकर्म के रूप से परिणत होता हो तो उसे भावक्रोध के रूप से परिणत होते समय द्रव्यकर्म की अपेक्षा नहीं हो सकती। द्रव्यकर्म के सहकारित्व के अभाव में जीव भावक्रोधादिरूप से स्वयं परिणत होने लगा तो 'द्रव्यक्रोधादि जीव को भावक्रोधादिरूप से परिणमाता है' यह आगमवचन मिथ्या हो जायगा। निश्चयनय की दृष्टि से द्रव्यक्रोध सहकारिकारण होनेपर भी जीव ही भावक्रोधादिरूप से परिणत होता है। द्रव्यक्रोध जीव को भावक्रोधादिरूप से परिणमाता है ऐसा जो कहा गया है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा गया होनेसे कथंचित् सत्य है और निश्चयनय की दृष्टि से विचारा जाय तो कथंचित् मिथ्या है। द्रव्यकर्म का सहकारित्व सत्य है और परिणामकत्व मिथ्या है। द्रव्यकर्म का परिणामकत्व मिथ्या इसलिये है कि जीव परिणामशक्तिसंपन्न होनेसे स्वयमेव परिणत होनेवाला होनेके कारण द्रव्यकर्म का परिणामकत्व निश्चयनय की दृष्टि से नहीं बन सकता और सत्य इसलिये है कि उसके उदयरूप परिणाम के सहकारित्व का अभाव होनेपर जीव विभावभावात्मक भाव-क्रोधादिरूप से परिणत नहीं हो सकता। अतः द्रव्यकर्म का परिणामकत्व कथंचित् सत्य है और कथंचित् मिथ्या है। निश्चयनय की दृष्टि से गाथाकार ने द्रव्यकर्म के परिणामकत्व को मिथ्या कहा है ऐसा भी गाथासूत्र का अर्थ किया जा सकता है। व्यवहारनय की दृष्टि की प्रधानता से आगमवचन का विरोध हो जानेकी आपत्ति बतायी गयी है ऐसा भी गाथासूत्र का अर्थ किया जा सकता है। उक्त विवेचन से जीव स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है इस निश्चयनयाश्रित अभिप्राय की सिद्धि हो जाती है। 'मैं गरुड हूं' इसप्रकार के ध्यान के रूप से परिणत हुआ मांत्रिक जिसप्रकार स्वयं गरुड बन जाता है उसीप्रकार जीव के परिणामित्व की सिद्धि हो जानेसे अज्ञानस्वरूपवाले भावक्रोधादिरूप से जिसका उपयोग परिणत हुआ होता है वह जीव स्वयं भावक्रोधादिरूप होता है। इसप्रकार जीव के परिणामस्वभावत्वकी सिद्धि हो गयी।

अब तात्पर्यवृत्ति देखिए-

स्वयं स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकान्तेन बद्धो नास्ति, सदा मुक्तत्वात्। ... न च स्वयं स्वयमेव, द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधादिभिः परिणमति। कस्मात्? एकान्तेनाऽपरिणममानत्वात्। ... यदि चेदेष जीवः प्रत्यक्षीभूतस्तव मताभिप्रायेणेत्थम्भूतः स्यात् ततः कारणादपरिणाम्येव भवति। अपरिणामित्वे सति किं दूषणम्? अथ अपरिणममाने सति तस्मिञ्जीवे स्वयं स्वयमेव भावक्रोधादि-परिणामैस्तदा संसारस्याऽभावः प्राप्नोति हे शिष्य! साङ्ख्यमतवत्। अथ मतं ... 'पुद्‌गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोध उदयागतः कर्ता जीवं कर्मतापन्न हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेन' इति चेत्, त ... अथ किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत्? न तावत्स्वयमपरिणममानं परिणामयेत्। कस्मात्? न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। न हि जपापुष्पादयः कर्तारो यथा स्फटिकादिषु जनयन्त्यु-

-र्याद्य तथा काष्ठस्तम्भादिष्वपि । अथैकान्तेन परिणममानं वा, तर्ह्युदयागतद्रव्यक्रोधादिनिमित्तमन्तरे-णाऽपि भावक्रोधादिभिः परणमतु । कस्मादिति चेत्, न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यक्रोधादिकर्मोदयनिमित्ताभावेऽपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवन्ति । न च तदिष्टं, आगमविरोधात् ··· । ··· । अथ पूर्वदूषणभयात् 'स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणमति' इत्येषा तव बुद्धिः हे शिष्य ! ··· तर्हि द्रव्यक्रोधः कर्ता जीवस्य भावक्रोधत्वं परिणामयति करोति' [इति] यदुक्तं पूर्वगाथायां तद्वचनं मिथ्या प्राप्नोति । ततः स्थितं–घटाकारपरिणता मृत्पिण्ड-पुद्गला घट इवाग्निपरिणतोऽयःपिण्डोऽग्निवत् तथाऽऽत्माऽपि क्रोधोपयोगपरिणतः क्रोधो भवति, मानोपयोगपरिणतो मानो भवति, मायोपयोगपरिणतो माया भवति, लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवति । इति सिद्धा जीवस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः । तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्ता यं परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादानकर्ता, द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव । तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिच्चमत्कारशुद्धभावेन परिणतः सन् सिद्धात्माऽपि भवति ।

[ता. वृ., गा. १२१–१२५]

जीव सदा मुक्त होनेसे अधिकरणभूत (द्रव्य–) कर्म में अपने स्वभाव से एकांतरूप से बद्ध नहीं होता और द्रव्यकर्म के उदय की अपेक्षा न रखता हुआ स्वयं अर्थात् स्वभाव से भावक्रोधादिरूप से परिणत भी नहीं होता; क्यों कि वह एकांतरूप से अपरिणामी अर्थात् कूटस्थनित्य होता है । यदि यह प्रत्यक्षीभूत जीव तेरे मत के अभिप्रायानुसार इसप्रकार का अर्थात् द्रव्यकर्म के साथ स्वयं बद्ध न होनेवाला और भावक्रोधादिरूप से अपने स्वभाव से परिणत न होनेवाला हो तो वह अपरिणामी–कूटस्थनित्य ही होगा । जीव के अपरिणामित्व की सिद्धि होनेमे कौनसा दोष उपस्थित होता है ? जीव अपने स्वभाव से भावक्रोधादिरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेवाला न हो तो जीव की संसार-अवस्था का अभाव हो जानेका प्रसंग सांख्यसिद्धांत के समान उपस्थित हो जाता है । यदि 'उदय में आया हुआ पुद्गलकर्मरूप द्रव्यक्रोध कर्म बने हुए (विकार्यकर्म बने हुए) जीव को भावक्रोध के रूप से जबरन परिणमाता है' ऐसा कहना हो तो 'क्या स्वय–स्वभाव से परिणत न होनेवाले जीव को भावक्रोधादिरूप से परिणमाता है या स्वभाव से परिणत होनेवाले जीव को परिणमाता है ?' ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है । भावक्रोध के रूप से अपने स्वभाव से परिणत न होनेवाले जीव को (उदयागत द्रव्यक्रोध) परिणमाते नहीं रह सकता, क्यों कि जीव में अपने स्वभावरूप से विद्यमान न होनेवाली परिणामशक्ति उदयागत द्रव्यकर्मरूप अन्यकर्म के द्वारा उत्पादित नहीं की जा सकती । (निमित्त–) कर्तृभूत जपापुष्पादि जिसप्रकार स्फटिक–आदिकों में परिणामविशेष को उत्पादित करते हैं उसीप्रकार काठ के खंभ आदि में भी उत्पादित नहीं करते । यदि एकांतरूप से परिणत होनेवाले जीव को भावक्रोध के रूप से द्रव्यकर्म परिणमा सकता हो तो उदय को प्राप्त हुए द्रव्यकर्मरूप निमित्त का अभाव होनेपर भी जीव का भावक्रोधादि के रूप से परिणति हो जानी चाहिये; क्यों कि पदार्थों की शक्तियां परपदार्थ की अपेक्षा नहीं रखतीं । ऐसा होनेपर अर्थात् द्रव्यक्रोधरूप निमित्त का अभाव होनेपर भी जीव की भावक्रोध के रूप से परिणति होने लगनेपर द्रव्यरूप क्रोधादिकर्मों के उदयरूप निमित्त का अभाव होनेपर भी मुक्त आत्माओं की भी भावक्रोधादि-रूप से परिणति हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है । मुक्त आत्माओं का भावक्रोधादिरूप से परिणत होना इष्ट नहीं है, क्यों कि ऐसा होनेसे आगम का विरोध हो जाता है । पूर्वोक्त दोष के भय से [illegible] जीव स्वभाव से ही द्रव्यकर्म के उदय की अपेक्षा न रखता हुआ भावक्रोध के रूप से परिणत होता है ऐसा हे शिष्य ! [illegible] तो द्रव्यक्रोध जीव को भावक्रोध के रूप से परिणमाता है ऐसा जो पूर्वगाथा के द्वारा कहा गया है वह वचन मिथ्या हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है । इसकारण सिद्ध हुआ कि– जिसप्रकार घट के आकार के रूप से परिणत हुए मृत्तिका के पिंड घट होते है और अग्नि के रूप से परिणत हुआ लोहेका पिंड अग्नि होता है उसीप्रकार क्रोधयुक्त उपयोग के रूप से परिणत हुआ जीव क्रोध होता है, मानयुक्त उपयोग के रूप से परिणत हुआ जीव मान

होता है, मायायुक्त उपयोग के रूप से परिणत हुआ जीव माया होता है और लोभयुक्त उपयोग के रूप से परिणत हुआ जीव लोभ होता है। इसप्रकार जीव को स्वभावभूत परिणामशक्ति की सिद्धि हो गयी। जीव की उस परि-णामिकी शक्ति की सिद्धि हो जानेपर वह कर्तृभूत (उपादानकर्तृभूत) जीव अपने जिस परिणाम को उत्पन्न करता है अर्थात् अपने उपादेयभूत जिस परिणाम के रूप से परिणत होता है उस परिणाम का वही उपादानकर्ता होता है; द्रव्यकर्म का उदय तो सिर्फ निमित्त ही होता है। उसीप्रकार ही वही जीव निर्विकार चिच्चमत्काररूप शुद्ध परिणाम के रूप से परिणत होता हुआ सिद्ध-आत्मा भी बन जाता है।

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥ ६५ ॥

अन्वयः– इति जीवस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः निरन्तराया स्थिता। तस्यां स्थितायां स स्वस्य यं भावं करोति तस्य एव स कर्ता भवेत्।

अर्थ– इसप्रकार अर्थात् जीव अपने स्वभाव से पारिणामिकशक्तिविकल होनेपर भावक्रोधादिरूप विभावभाव के रूप से परिणत होनेवाला न होनेपर द्रव्यकर्म के साथ बंध का अभाव होनेसे जीव की संसाररूप अवस्था का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे और स्वयमेव सर्वथा भावक्रोधरूप से परिणत होनेवाला होनेपर मुक्तों के भी भावक्रोधादिरूप से परिणत हो जानेकी आपत्ति उपस्थित हो जानेसे मुक्तावस्था का अभाव हो जानेका प्रसंग उप-स्थित हो जानेसे जीव की भावक्रोधादिरूप से कथंचित् परिणत होनेकी स्वभावभूत परिणामशक्ति की निर्बाधरूप से सिद्धि हो जाती है। उस भावक्रोधादिरूप से कथंचित् परिणत होनेकी स्वभावभूत पारिणामिकशक्ति की सिद्धि हो जानेपर वह जीव अपने स्वरूप से अन्वित अपने उपादेयभूत जिस परिणाम को उत्पन्न करता है अर्थात् अपने उपा-देयभूत जिस परिणाम के रूप से परिणत हो जाता है उस परिणाम का ही वह कर्ता-उपादानकर्ता होता है।

त. प्र.– इत्यमुना प्रकारेण। जीवस्यामिकस्वाभाविकपरिणामशक्त्यभावे भावक्रोधाद्यात्मक-विभावभावरूपपरिणामत्वेन परिणत्यसम्भवान्नव्यद्रव्यकर्मबन्धासम्भवाज्जीवस्य द्रव्यभावकर्मनोकर्मा-भावापत्तेर्द्रव्यभावकर्मनोकर्मसम्बन्धात्मकसंसाराभावप्रसङ्गात्सर्वथा भावक्रोधादिना परिणामित्वे द्रव्यक्रोधादिकर्मोदयरूपनिमित्ताभावे सत्यपि मुक्तात्मनामपि भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकत्वेन परि-णते प्रसङ्गाच्च जीवस्य सर्वथाऽपरिणामित्वस्य सर्वथा परिणामित्वस्य चाऽसिद्धेर्जीवस्य संसारावस्थायाः प्रत्यक्षदर्शनात्कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकविभावभावात्मकपरिणामरूपनिमित्तमन्तरेणाशुद्धजीव-द्रव्यस्य भावकर्मत्वेन बद्धावस्थत्वेन च परिणमनासम्भवाच्च जीवद्रव्यस्य सर्वथाऽपरिणामित्वं परिणा-मित्वं वा यतो न सिध्यति ततस्तस्य कथञ्चित्परिणामित्वं सिध्यतीति। अमुना प्रकारेण जीवस्य संसारावस्थस्य स्वभावभूता स्वाभाविकी परिणामशक्तिः पारिणामिकी शक्तिर्निरन्तराया निर्बाधा। प्रमाणादिभिरनाविर्भावितदोषेत्यर्थः। स्थिता सिद्धा। तस्यां पारिणामिक्यां शक्तौ स्थितायां सिद्धायां स जीवः स्वस्यात्मनो यं स्वाभाविकं वैभाविकं वा भावं परिणामं करोति जनयति तस्यैव स्वाभाविक-स्यैव वैभाविकस्यैव वा परिणामस्य स जीवः कर्तोपादानकर्ता भवेद्भवति। शुद्धनिश्चयापेक्षया स्वाभाविकस्य व्यवहारनयसजातीयाशुद्धनिश्चयापेक्षया च वैभाविकस्य भावस्य कर्ता भवतीति भावः। जीवस्य स्वभावभूतायाः पारिणामिक्याश्शक्तेः सिद्धौ जीवो यथासम्भवं स्वभावभावात्मकस्य विभाव-भावात्मकस्य च परिणामस्य निमित्तभूतद्रव्यसहकार्यसम्पन्न उत्तेजितस्वीयपरिणमनसामर्थ्य उपादानकर्ता भवति। विभावभावात्मकपरिणामोत्पत्तिकारणभूता पारिणामिकशक्तेर्भिन्ना काचिद्वैभाविकी शक्ति-र्जीवस्य, निमित्तजातिभेदात्परिणामजातेर्भेदात्। जीवद्रव्यस्य स्वभावपरिणामोत्पत्तौ कालद्रव्यस्य

निमित्तीभवनाद्भावकर्मात्मकपरिणामोत्पत्तौ च कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मोदयस्य निमित्तीभवनाच्च निमित्तजातिभेदात्परिणामजातिभेदः सिध्यति ।

विवेचन– सांख्यों के समान जीवद्रव्य अपरिणामी नहीं माना जा सकता; क्यों कि ऐसा माननेसे जीवद्रव्य की भावकर्मरूप परिणति का अभाव हो जानेसे जीव की संसार–अवस्था का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । उसको भावकर्म के रूप से सर्वथा परिणत होनेवाला भी नहीं माना जा सकता; क्यों ऐसी अवस्था में सभी जीव (संसारी और मुक्त) निमित्त के अभाव में भी भावकर्मरूप से परिणत होते रहेंगे । जीव की संसार–अवस्था प्रत्यक्षगोचर होनेसे जीवद्रव्य के परिणामित्व की सिद्धि हो जाती है । उसीप्रकार जीव की भावक्रोधादिरूप–विभावविकल अवस्था भी विद्यमान होनेसे उसकी संसार–अवस्था का अभाव भी हो सकता है । इससे भी जीव के परिणामित्व की सिद्धि हो जाती है । अतः उसको सर्वथा भावकर्मरूप से परिणत होनेवाला और उसरूप से सर्वथा परिणत न होनेवाला भी नहीं माना जा सकता । मृत्पिड सर्वथा अपरिणामी हो तो कुम्हार की हस्तसंचालनादि–क्रियारूप निमित्त का सद्भाव होनेपर भी उसकी घटाकारपरिणति नहीं होगी और घटरूप से परिणत होनेवाला हो तो घटरूप से परिणत होते समय कुम्हार की आवश्यकता नहीं रहेगी और सदा घट ही बनते रहेंगे जो कि असंभव है; क्यों कि वह अन्यप्रकार के मृद्भाजन के रूप से परिणत होता हुआ देखा जाता है । अतः मृत्पिड को कथंचित्प–रिणामी ही मानना युक्तिसंगत है । मृत्पिड के समान जीव को भी कथंचित्परिणामी अर्थात् परिणामिनित्य मानना ही युक्तिसंगत है ।

तथा हि–

उसीका खुलासा करते हैं अर्थात् ज्ञानी शुद्धज्ञानान्वितपरिणाम का उपादानकर्ता होता है और अज्ञानी अशुद्धज्ञानान्वितपरिणाम का उपादानकर्ता होता है यह बताते हैं–

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स[1] ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥ १२६ ॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः[2] ।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थ– (**आत्मा**) जो आत्मा (**यं भावं**) जिस परिणाम को अर्थात् स्वभावपरिणाम को या विभावपरिणाम को (**करोति**) उत्पन्न करती है अर्थात् जिस स्वभावभाव के या विभावभाव के रूप से स्वयं परिणत होती है (**तस्य कर्मणः**) उस परिणामरूप आप्य कर्म का (**सः**) वह (**कर्ता**) उपादान-कर्ता होती है । (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी आत्मा का (**सः**) वह भाव अर्थात् परिणाम (**ज्ञानमयः**) ज्ञानमय-ज्ञानस्वरूपान्वित अर्थात् ज्ञानसे अभिन्न होता है और (**अज्ञानिनः**) अज्ञानी आत्मा का वह भाव अर्थात् परिणाम (**अज्ञानमयः**) अज्ञानमय–अज्ञानस्वरूपान्वित–अज्ञान से अभिन्न होता है ।

[मृत्तिका घटरूप परिणाम का उपादानकर्ता होती है और उपादानकर्ता होनेसे घट को अपने स्वरूप से व्याप्त करती है । मृत्तिका व्यापकद्रव्य होनेसे घट मृत्तिकामय होता है–मृत्तिका से भिन्न नहीं होता । ज्ञानी आत्मा अपने स्वभावपरिणाम का और अज्ञानी आत्मा अपने क्रोधादिरूप विभावपरिणाम का उपादानकर्ता होती है और उपादानकर्ता होनेसे ज्ञानी आत्मा अपने स्वभावपरिणाम को अपने शुद्धस्वरूप से और अज्ञानी आत्मा अपने उपादेय-

१– ' भावस्स ' इति तात्पर्यवृत्तौ पाठः । २– ' भावस्य ' इति तात्पर्यवृत्तौ पाठः ।

भूत विभावपरिणाम को अपने अशुद्धस्वरूप से-अज्ञानस्वरूप से व्याप्त करती है। अतः शुद्ध आत्मा अपने उपादेयभूत परिणाम का व्यापक होनेसे स्वभावपरिणाम शुद्ध आत्मा से या शुद्धज्ञान से भिन्न नहीं होता और अशुद्ध आत्मा अपने उपादेयभूत विभावपरिणाम का व्यापक होनेसे विभावपरिणाम अशुद्ध आत्मा से या अज्ञान से भिन्न नहीं होती-अज्ञानमय होती है। जिनमें उपादानोपादेयभाव या परिणामपरिणामिभाव होता है उनमें-अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होता है। इस अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव के सद्भाव के कारण परिणाम परिणामी से कथंचित् भिन्न होनेपर भी अपनी उपादान की जाति का त्याग नहीं करता, क्यों कि वह उपादान के स्वरूप से व्याप्त हुआ होता है।]

आ. ख्या.- एवं अयं आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभावः अपि यं एव भावं आत्मनः करोति तस्य एव कर्मतां आपद्यमानस्य कर्तृत्वं आपद्येत। स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेन अत्यन्तोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमयः एव स्यात्, अज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेन अत्यन्तप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वात् अज्ञानमयः एव स्यात्।

त. प्र.- एवं पूर्वगाथोक्तप्रकारेणायमेष आत्मा क्रमभाविशुद्धाशुद्धपरिणामो जीवः स्वयमात्मनैव परिणामस्वभावोऽपि परिणमनशीलस्सन्नपि यमेव भावं स्वभावात्मकविभावात्मकपरिणामयोरन्यतरं यमेव परिणाममात्मनः करोति जनयति। स्वभावात्मकविभावात्मकपरिणामयोरन्यतरेण येन परिणामेन स्वयं परिणमतीत्यर्थः। तस्यैव स्वभावात्मकस्यैव विभावात्मकस्यैव वा परिणामस्य कर्मतां कर्त्राप्यकर्मतामापद्यमानस्य प्राप्नुवतः कर्तृत्वमुपादानकर्तृभावमापद्येत प्राप्नुयात्। स तु स परिणामस्तु ज्ञानिनो निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारस्य कार्यसमयसारोत्पादकस्य सम्यक्स्वपरविवेकेन समीचीनस्वपरभेदज्ञानेन स्वपरयोश्शुद्धात्मनो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मात्मकपरद्रव्यस्य च विवेकोऽन्योन्यभेदस्य ज्ञानम्। सम्यक् समीचीनश्चासौ स्वपररूपविवेकश्च सम्यक्स्वपरविवेकः। तेन। अत्यन्तोदितविविक्तात्मख्यातित्वादत्यर्थप्रकटीभूतपरद्रव्यभिन्नात्मज्ञानत्वात्। अत्यन्तमत्यर्थमुदिता प्रकटीभूता विविक्तस्य परद्रव्याद्भिन्नस्यात्मनः ख्यातिर्ज्ञानमनुभूतिर्वा यस्य सः। तस्य भावः। तस्मात्। ज्ञानमयो ज्ञानादभिन्न एव स्याद्भवति। निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसाराख्यज्ञानिनो ज्ञानात्मके परिणामे परद्रव्यभिन्नशुद्धनिरञ्जनकार्यसमयसारभूतात्मस्वरूपस्य प्रकटीभवनाज्ज्ञानमयत्वं ज्ञानादभिन्नत्वमेव भवतीति भावः। अज्ञानिनस्तु शुद्धात्मस्वरूपज्ञानाभाववत आत्मनः सम्यक्स्वपरविवेकाभावेन समीचीनस्वपरभेदज्ञानात्यन्तप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादत्यन्ततिरोभूतपरद्रव्यभिन्नात्मस्वरूपज्ञानत्वात्। अत्यन्तमत्यर्थं प्रत्यस्तमिता तिरोभूता विविक्तस्य परद्रव्याद्भिन्नस्यात्मनः ख्यातिर्ज्ञानं यस्य सः। तस्य भावः। तस्मात्। अज्ञानमयोऽज्ञानादभिन्न एव स्याद्भवति। निर्विकल्पसमाधिपरिणामापरिणतत्वादज्ञानिनोऽज्ञानात्मके परिणामे परद्रव्यभिन्नशुद्धनिरञ्जनात्मस्वरूपस्याप्रकटीभवनादज्ञानमयत्वमेवाज्ञानिपरिणामस्य भवतीति भावः।

टीकार्थ- इसप्रकार यह आत्मा आप ही परिणामस्वभाववाली होनेपर भी अपने जिस ही परिणाम को उत्पन्न करती है अर्थात् जिस ही परिणाम के रूप से परिणत होती है आप्यकर्मभाव को प्राप्त होनेवाले उसी परिणाम के कर्तृभाव को-उपादानकर्तृभाव को प्राप्त होती है। वह परिणाम ज्ञानी का होनेपर ज्ञानमय-ज्ञान से अभिन्न ही होता है; क्यों कि स्व अर्थात् आत्मा और परद्रव्य इनमें समीचीनतया भेद करनेके कारण उस ज्ञानरूप परिणाम में परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का स्वरूप आत्यंतिकरूप से प्रकट हुआ होता है। वह परिणाम अज्ञानी का होनेपर अज्ञानमय-अज्ञान से अभिन्न ही होता है; क्यों कि स्व अर्थात् आत्मा और परद्रव्य इनमें समीचीनतया भेद न किया जानेसे

इस अज्ञानरूप परिणाम में परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का स्वरूप आत्यंतिकरूप से तिरोहित (प्रच्छन्न) हुआ होता है।

विवेचन– पूर्वोक्त गाथाओं के द्वारा आत्मा की पारिणामिकी शक्ति की सिद्धि की गयी है : अतः आत्मा आप ही परिणामस्वभाववाली होनेसे वह अपने उपादेयभूत परिणामों को उत्पन्न करती है। जिसप्रकार अपने स्वभावरूप परिणामों को आत्मा उत्पन्न करती है उसीप्रकार विभावरूप परिणामों को भी उत्पन्न करती है। ज्ञानी बनी हुई आत्मा स्वभावपरिणामों की उत्पत्ति करती है और अज्ञानी आत्मा विभावपरिणामों की उत्पत्ति करती है। ज्ञानी आत्मा स्वभावपरिणामों का और अज्ञानी आत्मा विभावपरिणामों का उपादानकर्ता होती है। स्वभावपरिणाम ज्ञान से अन्वित होते हैं और विभावपरिणाम अज्ञान से अन्वित होते हैं। ज्ञानी का परिणाम ज्ञानमय होता है; क्यों कि उस परिणाम में स्व और पर का भेद समीचीनतया किया जानेसे परद्रव्य से भिन्न आत्मा का स्वरूप आत्यंतिक रूप से प्रकट हुआ होता है। अज्ञानी आत्मा का परिणाम अज्ञानमय होता है–अज्ञान से अभिन्न होता है; क्यों कि आत्मा और परद्रव्य इनमें समीचीनतया भेद न किया जानेसे उस अज्ञानरूप परिणाम में परद्रव्यों से भिन्न आत्मा का स्वरूप आत्यंतिकरूप से तिरोहित होता है। जिसको आत्मस्वरूप का यथार्थज्ञान और अनुभव होता है वह आत्मा ज्ञानी होती है और जिसको परद्रव्यभिन्न शुद्ध आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान और अनुभव नहीं होता वह आत्मा अज्ञानी होती है। ज्ञानी आत्मा का ज्ञान और उसका उपादेयभूत परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे और ज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप से ज्ञान का परिणाम व्याप्त हुआ होनेसे ज्ञानी का उपादेयभूत परिणाम ज्ञानमय होता है–ज्ञान से भिन्न नहीं होता। उसीप्रकार अज्ञानी आत्मा का अज्ञान और उसका उपादेयभूत परिणाम इनमें भी अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे और अज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप से अज्ञान का परिणाम व्याप्त हुआ होनेसे अज्ञानी आत्मा का उपादेयभूत परिणाम अज्ञानमय होता है–अज्ञान से भिन्न नहीं होता।

'किं ज्ञानमयभावात्, किं अज्ञानमयात् भवति ?' इति आह–

'ज्ञान से अभिन्न परिणाम से कौनसा फल होता है और अज्ञान से अभिन्न परिणाम से कौनसा फल होता है ?' ऐसा प्रश्न किया जानेपर कहते हैं– [निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान का परिणाम अपने उपादानभूत ज्ञान से कथंचित् अभिन्न होता है और अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अज्ञान का परिणाम अपने उपादानभूत अज्ञान से कथंचित् अभिन्न होता है यह ठीक है; किंतु उन दोनों का फल क्या होता है ? ऐसा प्रश्न किया जानेपर कहते हैं–]

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ॥ १२७ ॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थ– **(अज्ञानिनः)** अज्ञानी आत्मा का अर्थात् स्वपर के भेद को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से–निर्विकल्प समाधि में रत होकर जो शुद्धात्मानुभूति प्राप्त होती है उस अनुभूतिजन्य भेदज्ञान से न जाननेवाली आत्मा का **(भावः)** परिणाम **(अज्ञानमयः)** अज्ञानमय होता है (क्यों कि उस परिणाम में परद्रव्यभिन्न शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रकट हुआ नहीं होता।) **(तेन)** वह परिणाम अज्ञानमय–शुद्धात्मस्वरूपज्ञानविकल होनेके कारण अज्ञानी आत्मा **(कर्माणि)** कर्मों को अर्थात् रागद्वेषादिरूप–परभावात्मक परिणामों को स्वयं उपादानकर्ता होकर **(करोति)** उत्पन्न करती है अर्थात् रागद्वेषादि-

रूप से स्वयं परिणत होती है। (ज्ञानिनः तु) ज्ञानी आत्मा का अर्थात् स्वपरभेद को अनुभूतिजन्य भेदज्ञान से जाननेवाली अर्थात् शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जाननेवाली आत्मा का परिणाम (ज्ञानमयः) ज्ञानमय अर्थात् ज्ञान से अभिन्न होता है (क्यों कि उस परिणाम में परद्रव्यभिन्न शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रकट हुआ होता है।) (तस्मात् तु) ज्ञानी के परिणाम ज्ञानमय-ज्ञान से अभिन्न होनेके कारण ही ज्ञानी आत्मा (कर्माणि) कर्मों को अर्थात् रागद्वेषादिरूपपरिणामों को उपादानकर्ता होकर (न करोति) उत्पन्न नहीं करती अर्थात् रागद्वेषादिरूपपरिणामों के रूप से स्वयं परिणत नहीं होती।

[अज्ञानरूप अशुद्धपर्याय के रूप से परिणत हुई आत्मा या उसकी अशुद्ध पर्याय अशुद्धिशक्तिसंपन्न होती है। अशुद्धिशक्ति के कारण अज्ञानी आत्मा रागद्वेषादिरूप भावकर्मों के रूप से परिणत होती है। अतः अशुद्धिशक्ति-सम्पन्न अज्ञानभाव रागद्वेषादिरूप अज्ञानमय परिणामों का उपादानकर्ता होकर अपने उपादेयभूत अज्ञानमय परिणामों को उत्पन्न करती है अर्थात् अज्ञानमय रागद्वेषादिरूप परिणामों के रूप से परिणत होती है। अज्ञानी आत्मा से अज्ञानभाव भिन्न न होनेसे अज्ञानी आत्मा भी अज्ञानमय रागद्वेषादिरूप विभावभावात्मक परिणामों का उपादानकर्ता अर्थात् उन परिणामों को उत्पन्न करनेवाली कही जाती है। ज्ञानी आत्मा की अज्ञानरूप परिणति का अभाव होनेसे उसकी अशुद्धिशक्ति का अभाव होता है। अज्ञानभाव का और अशुद्धिशक्ति का अभाव होनेसे ज्ञानी आत्मा राग-द्वेषादिरूप अज्ञानात्मक परिणाम के रूप से परिणत नहीं होती। रागद्वेषादिरूप से परिणत न होनेसे अज्ञानात्मक उन परिणामों का उपादानकर्ता नहीं होती और उपादानकर्ता न होनेसे वह भावकर्मों को उत्पन्न नहीं कर सकती। उसका परिणाम ज्ञानमय होता है और उसका परिणाम ज्ञानमय होनेसे वह रागद्वेषादिरूप अज्ञानमय भावों को उत्पन्न नहीं करती।]

आ. ख्या.– अज्ञानिनः हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेन अत्यन्तप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वात् यस्मात् अज्ञानमयः एव भावः स्यात् तस्मिन् तु सति स्वपरयोः एकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात् स्वस्मात् प्रभ्रष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां समं एकीभूय प्रवर्तिताहङ्कारः स्वयं किल 'एषः अहं रज्ये रुष्यामि' इति रज्यते रुष्यति च तस्मात् अज्ञानमयभावात् अज्ञानी परौ रागद्वेषौ आत्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि। ज्ञानिनः तु सम्यक्स्वपरविवेकेन अत्यन्तोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् यस्मात् ज्ञानमयः एव भावः स्यात् तस्मिन् तु सति स्वपरयोः नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन् सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसतः एव निवृत्ताहङ्कारः स्वयं किल केवलं जानाति एव न रज्यते न च रुष्यति, तस्मात् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी परौ रागद्वेषौ आत्मानं अकुर्वन् न करोति कर्माणि।

त. प्र.– अज्ञानिनोऽसञ्जातनिर्विकल्पसमाधिजन्यशुद्धात्मस्वरूपयथार्थज्ञानस्यात्मनो हि परमार्थतः सम्यक्स्वपरविवेकाभावेन समीचीनस्वपरभेदज्ञानाभावेनाऽत्यन्तप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादत्य-न्ततिरोहितपरद्रव्यभिन्नात्मस्वरूपज्ञानत्वात्। अत्यन्तमत्यर्थं प्रत्यस्तमितस्तिरोभूतो विविक्तस्य परद्रव्या-द्भिन्नस्यात्मनः ख्यातिर्ज्ञानं यस्य सः। तस्य भावः। तस्मात्। यस्माद्यतः कारणादज्ञानमयोऽज्ञानभावा-दभिन्न एव स्याद्भवेत्, तस्मिन्नज्ञानमयभावे तु सति स्वपरयोरशुद्धात्मपरद्रव्ययोरेकत्वाध्यासेनाऽन्योन्या-भिन्नत्वस्य मिथ्याकल्पनया ज्ञानमात्राज्ज्ञानमात्रस्वरूपात्स्वस्मात्स्वात्मनः प्रभ्रष्टः प्रच्युतः पराभ्यां शुद्धात्मनो भिन्नाभ्यां रागद्वेषाभ्यां समं सहैकीभूयैकीभावमापद्य प्रवर्तिताहङ्कारो जनितविभावभावक-

तृत्वः। प्रवर्तितो जनितोऽहं करोमीति भावो येन सः। स्वयमात्मना किल परमार्थत एषोऽहं रज्ये रागभावेन परिणमामि रुष्यामि रोषभावेन परिणमामीत्यमुना प्रकारेण रज्यते रागभावरूपेण परिणमति रुष्यति रोषभावेन च परिणमति तस्मात्ततः कारणादज्ञानमयभावादज्ञानोपादानकादज्ञानादभिन्नाद्वा परिणामादुपादानभूतादज्ञानी शुद्धनिरञ्जनात्मस्वरूपज्ञानविकलः परो शुद्धनिरञ्जनात्मनो भिन्नौ राग-द्वेषौ रागद्वेषात्मकविभावभावादात्मानं कुर्वन्परिणामयन्। शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया शुद्धं निरञ्जनं चात्मानं ततो भिन्नाभ्यां रागद्वेषाभ्यां परिणामयन्नित्यर्थः। करोत्युत्पादयति कर्माणि भावकर्मात्मकपरि-णामान्। ज्ञानिनो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मविविक्तशुद्धात्मस्वरूपानुभूतिजन्यज्ञानवतो निर्विकल्पसमाधि-रतस्य चात्मनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेन समीचीनस्वपरभेदज्ञानेन। स्वपरयोःशुद्धात्मनो भावकर्मद्रव्यकर्म-नोकर्मात्मकपरद्रव्यस्य च विवेकोऽन्योन्यभिन्नत्वस्य ज्ञानम्। सम्यक्समीचीनश्चासौ स्वपरविवेकश्च सम्यक्स्वपरविवेकः। तेन। अत्र सम्यक्पदेन निर्विकल्पसमाधिरतपुरुषशुद्धात्मानुभूतिजन्यस्वपरभेद-ज्ञानस्य ग्रहणं भवति। अत्यन्तोदितविविक्तात्मख्यातित्वादत्यर्थप्रकटीभूतपरद्रव्यभिन्नात्मज्ञानत्वात्। अत्यन्तमत्यर्थमुदिता प्रकटीभूता विविक्तस्य भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मात्मकपरद्रव्यादभिन्नस्यात्मनः ख्याति र्ज्ञानं यस्य सः। तस्य भावः। तस्मात्। यस्मात्ततः कारणाज्ज्ञानमयो ज्ञानादभिन्न एव भावः परिणा-मस्स्याद्भवति। निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसाराख्यस्य ज्ञानिनो ज्ञानात्मकपरिणामे परद्रव्यभिन्नश्शुद्धनिरञ्जनकार्यसमयसारभूतात्मस्वरूपस्य प्रकटीभवनाज्ज्ञानमयत्वं ज्ञानादभिन्नत्वमेव यतो भवतीत्यर्थः। तस्मिंस्तु सति ज्ञानिनो भावे ज्ञानमये सति स्वपरयोः शुद्धात्मभावकर्माद्यात्मकपर-द्रव्ययोर्नानात्वविज्ञानेन भिन्नत्वस्य विशिष्टज्ञानेन ज्ञानमात्रे ज्ञानमात्रैकस्वभावे स्वस्मिन्नात्मनि सुनि-विष्टः सुतरां निरुद्धचित्तः पराभ्यां नैमित्तिकभावभूतत्वाच्छुद्धात्मनो भिन्नाभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया व्यतिरिक्ततया स्वरसत एवानुभवत एव निवृत्ताहङ्कारस्तिरोभूतविभावभावोपादानकर्तृत्वाभिमानः। निवृत्तस्तिरोभूतोऽहङ्कार उपादानकर्त्रीभूय विभावभावान्करोमीत्यभिप्रायो यस्य सः। स्वयमात्मना किल परमार्थतः केवलमेकान्ततो जानात्येव। न रज्यते रागरूपविभावभावात्मकत्वेन न परिणमति। न च रुष्यति रोषरूपविभावभावात्मकत्वेन न परिणमति। तस्मात्ततः कारणाज्ज्ञानमयभावाज्ज्ञानात्म-कपरिणामात्। ज्ञानात्मकसहभाविपरिणामादुपादानकर्त्रीभूताज्ज्ञानी स्वसंवेदनज्ञानात्मकत्वेन परिणतो निर्विकल्पसमाधिनिमग्नो जीवः परो शुद्धात्मनो भिन्नौ रागद्वेषौ रागद्वेषात्मकविभावभावादात्मानमकु-र्वन्नपरिणामयन्। शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया शुद्धं निरञ्जनं चात्मानं ततो भिन्नाभ्यां रागद्वेषाभ्यामपरि-णामयन्नित्यर्थः। न करोति नोत्पादयति कर्माणि भावकर्मात्मकपरिणामान्।

टीकार्थ— अज्ञानी जीव के स्व अर्थात् आत्मा और परद्रव्य इनमें होनेवाले भेद के समीचीन ज्ञान का अभाव होनेके कारण परद्रव्यों से भिन्न आत्मा के स्वरूप का ज्ञान आत्यंतिकरूप से जब अप्रकट होता है तब उसका परिणाम अज्ञानमय अर्थात् अज्ञान से अभिन्न ही होता है और उसका परिणाम अज्ञानमय–अज्ञान से अभिन्न होनेपर शुद्ध आत्मा और परद्रव्य इनके एकत्व की मिथ्याकल्पना के कारण विज्ञानघनमात्रस्वभाववाली अपनी आत्मा से प्रच्युत हुआ अपनी आत्मा से भिन्न रागद्वेषों के साथ एकरूप होकर 'मैं कर्ता हूं' इसप्रकार के भाव को जिसने उत्पन्न किया है ऐसा वह जीव स्वयं परमार्थतः 'यह मैं रागरूप से परिणत होता हूं, रोषरूप से परिणत होता हूं' इसप्रकार रागरूप से और रोष-रूप से परिणत होता है तब अज्ञानमय परिणाम से अज्ञानी जीव अपनी आत्मा को अपनी आत्मा से भिन्न रागद्वेषरूप से परिणमाता हुआ कर्मों को–भावकर्मों को (उपादानकर्ता होकर) करता है। ज्ञानी जीव के अर्थात् निर्विकल्पसमा-धिमग्न स्वसंवेदनज्ञानी जीव के स्व अर्थात् शुद्ध आत्मा और परपदार्थ इनमें होनेवाले भेद का समीचीन ज्ञान होनेके

कारण परद्रव्यों से भिन्न आत्मा के स्वरूप का ज्ञान आत्यंतिकरूप से प्रकट हुआ होनेसे जब उसका परिणाम ज्ञानमय अर्थात् ज्ञान से अभिन्न ही होता है और उसका परिणाम ज्ञानमय होनेपर शुद्ध आत्मा और परद्रव्य इनके परस्पर-भिन्नत्व का ज्ञान होनेके कारण विज्ञानघनमात्रस्वभाववाली अपनी आत्मा में अपने अंतःकरण की क्रिया जिसने लगायी है अर्थात् अपनी आत्मा की अनुभूति में जो मग्न हुआ होता है वह अपनी शुद्ध आत्मा से भिन्न होनेवाले रागद्वेषों से भिन्न होनेके कारण आत्मानुभूति के कारण ही ' मैं कर्ता हूं ' इसप्रकार के भाव से जो परावृत्त हुआ है अर्थात् इस परिणाम के रूप से जो परिणत नहीं हुआ है ऐसा वह जीव स्वयं परमार्थतः एकान्तरूप से जानता ही है—रागरूप से परिणत नहीं होता और रोषरूप से भी परिणत नहीं होता तब ज्ञानपरिणाम से ज्ञानी जीव अपनी आत्मा को अपनी आत्मा से भिन्न रागद्वेषरूप से परिणमानेवाला नहीं होता हुआ कर्मों को—भावकर्मों को (उपादान-कर्ता होकर) नहीं उत्पन्न करता ।

विवेचन— जिसके निर्विकल्पसमाधि के कारण आत्मानुभूतिजन्य स्वसंवेदनज्ञान का अभाव होता है वह जीव अज्ञानी होता है । जिसके इसप्रकार के स्वसंवेदनज्ञान का अभाव होता है उसको आत्मा के यथार्थस्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं होता । आत्मा के यथार्थस्वरूप का ज्ञान न होनेसे उस अज्ञानी जीव को शुद्ध आत्मा और भावकर्मादिरूप पर-द्रव्य इनमें होनेवाले भेद का समीचीन ज्ञान नहीं होता । पदार्थ के व्यावर्तकधर्म के ज्ञान के अभाव में एक पदार्थ के अन्यद्रव्य से होनेवाले भेद को कैसे माना जा सकता है ? स्वपरपदार्थों की परस्परभिन्नता का ज्ञान न होनेपर परद्रव्य से भिन्न आत्मा के स्वरूप के ज्ञान का आत्यंतिकरूप से तिरोभाव—अभाव हो जाता है अर्थात् जीव के परिणाम में आत्मा का स्वरूप प्रकट हुआ नहीं होता । अज्ञानी जीव के परिणाम में जब आत्मा का यथार्थस्वरूप प्रकट हुआ नहीं होता तब उसका वह परिणाम अज्ञानरूप ही होता है । अज्ञानी जीव का परिणाम अज्ञानरूप होनेपर अज्ञानी जीव ' शुद्ध आत्मा और परद्रव्य परस्पर भिन्न नहीं हैं ' इसप्रकार की कल्पना करता है । इस मिथ्या कल्पना के कारण अज्ञानी जीव विज्ञानघनमात्र एक स्वभाववाली अपनी शुद्ध आत्मा से च्युत हो जाता है । शुद्ध आत्मस्वरूप से च्युत हुआ अज्ञानी जीव शुद्ध आत्मा से भिन्न रागद्वेषरूपभावों के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है । रागद्वेषरूप भावों के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जानेसे ' मैं परभावों का कर्ता हूं ' इसप्रकार अपनेको परभावों का कर्ता समझता है । इसप्रकार जिसके कर्तृत्वभाव उत्पन्न हुआ होता है ऐसा अज्ञानी जीव ' मैं स्वयं परमार्थतः रागभावरूप से परिणत होता हूं, रोषभावरूप से परिणत होता हूं ' इसप्रकार की कल्पना से रागभावरूप से और रोषभावरूप से परिणत हो जाता है । जब वह रागी और द्वेषी होता है तब वह अज्ञानी जीव अज्ञानमय परिणाम के कारण अपनी आत्मा को शुद्ध आत्मा से भिन्न होनेवाले रागद्वेषों के रूप से परिणमानेवाले होनेसे वह भावकर्मों को करता है—भावकर्मों का उपा-दानकर्ता होता है । जिसके स्वसंवेदनज्ञान होता है उसको आत्मा के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होता है । आत्मा के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होनेसे उस ज्ञानी जीव को शुद्ध आत्मा और भावकर्मादिरूप परद्रव्य इनमें होनेवाले परस्पर-भिन्नता का समीचीनज्ञान होता है । पदार्थ के व्यावर्तकधर्म का ज्ञान होनेपर एकद्रव्य को दूसरे द्रव्य से भिन्नरूप जाना जा सकता है । स्वपरपदार्थों की परस्परभिन्नता का ज्ञान होनेपर परद्रव्य से भिन्न आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्रकट हो जाता है अर्थात् ज्ञानी के परिणाम में आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाता है । ज्ञानी जीव के परिणाम में जब आत्मा का यथार्थस्वरूप प्रकट हुआ होता है तब उसका वह परिणाम ज्ञानरूप ही होता है । ज्ञानी जीव का परिणाम ज्ञानरूप होनेपर ज्ञानी जीव ' शुद्ध आत्मा और परद्रव्य परस्परभिन्न हैं ' इसप्रकार जानता है । इसप्रकार स्वपरपदार्थों को भिन्नरूप जाननेसे ज्ञानी जीव विज्ञानघनमात्ररूप एकस्वभाववाली अपनी शुद्ध आत्मा का निरंतर अनुभव करनेमें निमग्न हो जाता है । शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेमें निमग्न होता हुआ ज्ञानी जीव शुद्ध आत्मा से भिन्न होनेवाले रागद्वेष-रूपभावों के साथ एकीभाव को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उन भावों से भिन्न बना रहता है । उन रागद्वेषरूपभावों से भिन्न बना रहनेसे प्राप्त होनेवाले शुद्धात्मा के अनुभव के कारण जिसके कर्तृत्वभाव का अभाव हो गया होता है ऐसा ज्ञानी जीव जब परमार्थतः स्वयं सिर्फ जानता है—रागरूप से और रोषरूप से परिणत नहीं होता तब वह जीव ज्ञानमय—ज्ञान से अभिन्न परिणाम के कारण ज्ञानी होता हुआ निश्चयनय की दृष्टि से अपनी शुद्ध आत्मा को अपनी

शुद्ध आत्मा से भिन्न होनेवाले रागद्वेषरूप भावों के रूप से नहीं परिणमाता। वह अपनी शुद्ध आत्मा को रागद्वेषरूप परिणामों के रूप से परिणमानेवाला न होनेसे कर्मों को उत्पन्न नहीं करता अर्थात् रागद्वेषादिरूप अज्ञानमय विभाव-भावों का उपादानकर्ता नहीं होता।

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेज्ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नाऽन्यः ॥ ६६ ॥

अन्वयः— ज्ञानिनो भावः ज्ञानमयः एव कुतः भवेत्, अन्यः पुनः (कुतः) न (भवेत्)? अज्ञानिनः सर्वः अयं (भावः) अज्ञानमयः कुतः (भवेत्)? अन्यः पुनः (कुतः) न भवेत् ?

अर्थ— स्वसंवेदनज्ञानवाले ज्ञानी जीव का परिणाम ज्ञानमय ही अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपज्ञानमय ही—उस ज्ञानसे अभिन्न ही क्यों होता है ? अन्य अर्थात् विभावभावरूप क्यों नहीं होता ? स्वसंवेदनज्ञानशून्य अज्ञानी जीव के सभी परिणाम अज्ञानमय ही—शुद्धात्मस्वरूपज्ञानशून्य--विभावभावरूप क्यों होते हैं ? शुद्धात्मस्वरूपज्ञानमय उस ज्ञान से अभिन्न क्यों नहीं होते ?

त. प्र.— ज्ञानिनोऽनुभूत्यात्मकस्वसंवेदनज्ञानवतो जीवस्य भावः परिणामो ज्ञानमयश्शुद्धात्मस्वरूपज्ञानयुक्तस्तज्ज्ञानादभिन्नो नैव कुतः कस्मात्कारणाद्भवेद्भवति। अन्यश्शुद्धात्मस्वरूपज्ञानविकलस्तज्ज्ञानादभिन्नो वा विभावभावात्मको वा कुतो न भवति ? अज्ञानमयो किं न भवतीति प्रश्नार्थः। ज्ञानमयभावस्य चेतनात्मकत्वाद्यथा ज्ञानोपादानकत्वं तथाऽज्ञानमयभावस्यापि चेतनात्मकत्वात्सोऽज्ञानमयो भावो ज्ञानोपादानको किं न भवतीति प्राश्निकस्याभिप्रायः। अज्ञानिनः स्वशुद्धात्मस्वरूपसंवेदनात्मकज्ञानशून्यस्य जीवस्य सर्व. सकलोऽयं भाव· परिणामः। जातावेकवचनत्वात्सर्वे परिणामा इत्यर्थः। अज्ञानमय एव कुतः कस्मात्कारणाद्भवति, अज्ञानिवत्तत्परिणामस्यापि चेतनत्वात् ? अन्यो ज्ञानमयः कुतो न भवति ? अज्ञानिनश्चेतनत्वात्तत्परिणामस्य ज्ञानमयत्वं किं न भवति ? ज्ञानमयाज्ञानमयपरिणामयोश्चेतनात्मकत्वेन तुल्यत्वादज्ञानमयभावादस्याज्ञानमयत्वमेव, न पुनर्ज्ञानमयत्वं, ज्ञानमयभावस्य च ज्ञानमयत्वमेव, न पुनरज्ञानमयत्वमिति यदुक्तं तत्कथमिति प्रश्नार्थः। अत्र समाधानाम्—अत्र ज्ञानशब्देन शुद्धात्मसंवित्त्यात्मकज्ञानस्य ग्रहणाच्चैतन्यमात्रस्य चाग्रहणाज्ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावो भवति, न पुनरज्ञानमयः, तस्य शुद्धज्ञानस्वरूपेणान्वितत्वादज्ञानस्वरूपेणानन्वितत्वाच्च; अज्ञानिनश्चाज्ञानमय एव भावः तस्याज्ञानस्वरूपेणान्वितत्वाच्छुद्धज्ञानस्वरूपेणानन्वितत्वाच्च। अग्रेतन गाथाद्वयस्य प्रास्ताविकोऽयं कलशः।

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥ १२८ ॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।
तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥ १२९ ॥

ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानामयश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥ १२८ ॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः ।
तस्मात्सर्वे भावा अज्ञानमया अज्ञानिनः ॥ १२९ ॥

अन्वयार्थ– (यस्मात्) जब (ज्ञानमयात् भावात्) निश्चयरत्नत्रयरूप से परिणत हुए जीव–पदार्थभूत उपादान से (ज्ञानमयः एव) ज्ञानमय ही अर्थात् ज्ञान से अभिन्न ही [अथवा स्वशुद्धात्म–प्राप्तिरूप मोक्षपर्याय ही] (भावः) उपादेयभूत परिणाम (जायते) उत्पन्न होता है (तस्मात्) तब (ज्ञानिनः) स्वसंवेदनज्ञानरूप भेदज्ञान से युक्त जीव के (सर्वे भावाः) सभी परिणाम (खलु) परमार्थतः (ज्ञानमयाः) उपादानकर्तृभूतज्ञान के द्वारा अपनेसे उत्पन्न किये गये होते हैं–ज्ञान से अभिन्न होते है; क्यों कि कार्य उपादानकारण के सदृश होता है । जब (अज्ञानमयात् भावात्) अज्ञानमय जीव पदार्थ से (अज्ञानः एव) ज्ञानशून्य अर्थात् अज्ञानमय भाव ही–परिणाम ही (जायते) उत्पन्न होता है (तस्मात्) तब (अज्ञानिनः) शुद्धात्मोपलब्धिरहित अज्ञानी जीव के (सर्वे भावाः) सभी परिणाम (अज्ञानमयाः) रागादिरूप अज्ञानमय होते हैं ।

[उपादान जिसप्रकार का होता है उसीप्रकार का उसका उपादेयभूत परिणाम होता है; क्यों कि उपा–देयभूत परिणाम अपने उपादान की जाति का त्याग नहीं करता । मृत्तिका का परिणामभूत घट मृत्तिकामय होता है, सुवर्णमय नहीं होता । स्वसंवेदनज्ञानवाला जीव ज्ञानी होता है । अतः उसका परिणाम अवश्यमेव ज्ञानमय होना चाहिये, अज्ञानमय नहीं । अज्ञानी जीव का परिणाम अज्ञानमय ही होना चाहिये, ज्ञानमय नहीं । अतः वस्तुस्वभाव के अनुसार ज्ञानी का परिणाम ज्ञानमय ही और अज्ञानी का परिणाम अज्ञानमय ही होता है यह अभिप्राय युक्ति–होता संगत है ।]

शुद्ध आत्मा आ. ख्या.– यतः हि अज्ञानमयात् भावात् यः कश्चन अपि भावः भवति सः सर्वः
जीव विज्ञान...त्वं अनतिवर्तमानः अज्ञानमयः एव स्यात्, ततः सर्वे एव अज्ञानमयाः अज्ञा-
...शुद्ध आत्मा क...
अपि अज्ञानमय...को जानने...मयात् भावात् यः कश्चन अपि भावः भवति सः सर्वः अपि
निनः भावाः । यतः च ज्ञा...है ऐसा अज्ञा...यात्, ततः सर्वे एव ज्ञानमयाः ज्ञानिनः भावः ।
ज्ञानमयत्वं अनतिवर्तमानः ज्ञानमयः एव ...ज्ञानविकारभूताद्धा भावाज्जीव-

त. प्र.– यतो यस्मात्कारणाद्धि परमार्थतोऽज्ञानमयादज्ञानप्रधान... सर्वोऽपि निखिलोऽप्यज्ञानमयत्वमज्ञा...
पदार्थाद्यः कश्चनापि भावः परिणामो भवति जायत उत्पद्यते स सर्वोऽपि निखिलोऽप्यज्ञानमयत्वमज्ञा...
विकारत्वादज्ञानादभिन्नत्वमनतिवर्तमानोऽनतिक्रामन्नज्ञानमय एवाज्ञानान्वितत्वादज्ञानादभिन्न एव स्याद्भ-
वति ततस्तस्मात्कारणात्सर्व एव निखिला एवाज्ञानमया अज्ञानान्वितत्वादज्ञानादभिन्ना अज्ञानिनश्शुद्धा-
त्मोपलब्धिरहितस्य जीवस्य भावाः परिणामा भवेयुरुपादानकारणसदृशत्वादुपादेयभूतस्य कार्यस्य ।
यतश्च यस्मात्कारणाज्ज्ञानमयादक्रमभाविपरिणामवतो भावाज्जीवद्रव्याद्यः कश्चनाऽपि भावः परिणामो
भवति जायते स सर्वोऽपि निखिलोऽपि ज्ञानमयत्वं ज्ञानविकारत्वं ज्ञानविकारत्वाज्ज्ञानादभिन्नत्वमनति–
तिवर्तमानोऽनतिलङ्घयञ्ज्ञानमय एव ज्ञानान्वितत्वाज्ज्ञानादभिन्न एव स्याद्भवति ततस्तस्मात्कारणात्सर्व
एव निखिला एव ज्ञानमया ज्ञानान्वितत्वाज्ज्ञानादभिन्नास्सन्तो ज्ञानेन निर्मापिता वा ज्ञानिनः स्वसंवे–
दनलक्षणभेदज्ञानिनो भावाः परिणामा भवन्ति ।

टीकार्थ– जब परमार्थतः अज्ञानरूप से परिणत हुए (उपादानभूत) जीवद्रव्य से जो कोई परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सभी के सभी अज्ञान के विकाररूपता का उल्लंघन करनेवाले न होनेसे अज्ञानमय–अज्ञान से अभिन्न ही

होते हैं तब जितने भी अज्ञानमयभाव होते हैं वे सभी अज्ञानी के होते हैं और जब स्वसंवेदनज्ञान के रूप से परिणत हुए या सहभाविज्ञानगुणवाले जीवद्रव्य से जो कोई परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सभी के सभी ज्ञान की विकार-रूपता का उल्लंघन करनेवाले न होनेसे ज्ञानमय-ज्ञान से अभिन्न ही होते हैं तब जितने भी ज्ञानविकारभूत परिणाम होते हैं वे सभी के सभी ज्ञानी जीव के होते हैं ।

विवेचन– सभी कार्यरूप परिणाम निश्चयनय की दृष्टि से अपने अपने उपादानकारण के सदृश होते हैं–उपादान से अभिन्न होते हैं; क्यों कि उन परिणामों में उपादान अपने स्वरूप से अन्वित होता है और अत एव उपादान के अभाव में उपादेय का अभाव हो जाता है । अज्ञानभावरूप से अनादि से परिणत हुए जीवद्रव्य से जो कोई उपादेयभूत परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सभी के सभी विभावभावरूप परिणाम अज्ञानभावरूप उपादान के स्वरूप से अन्वित होनेसे अज्ञान के विकाररूपता को नहीं छोडते–अपने उपादान की जाति को नहीं छोडते । वे अपनी उपादान की जाति को छोडनेवाले न होनेसे उपादान जिसप्रकार अज्ञानमय होता है उसीप्रकार वे विभावभावात्मक परिणाम भी अज्ञानमय होते हैं । उसकारण सभी के सभी अज्ञानमय भाव–अज्ञान के विकारभूत परिणाम शुद्धात्मो-पलब्धिरहित अज्ञानी के होते हैं । सहभाविज्ञानपरिणामवाले या स्वसंवेदनज्ञानवाले जीवद्रव्य से जो कोई उपादेयभूत परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सभी के सभी स्वभावभावभूत परिणाम ज्ञानान्वित होनेसे ज्ञान की विकाररूपता को नही छोडते–अपने ज्ञानरूप उपादान की जाति को नहीं छोडते । वे अपनी उपादान की जाति को छोडनेवाले न होनेसे उपादान जिसप्रकार ज्ञानमय होता है उसीप्रकार वे स्वभावभावात्मक परिणाम भी ज्ञानमय ही होते हैं । उसकारण सभी के सभी ज्ञानमयभाव–ज्ञान के विकारभूत परिणाम शुद्धात्मोपलब्धिसहित ज्ञानी जीव के ही होते हैं । सारांश, जिस जाति का उपादान होता है उसी जाति के उसके उपादेयभूत परिणाम होनेसे अज्ञानमय परिणाम अज्ञानी जीव के होते हैं, स्वसंवेदनरूपभेदज्ञानी जीव के नहीं होते और ज्ञानमय परिणाम ज्ञानी जीव के होते हैं, आत्मोपलब्धिशून्य अज्ञानी जीव के नहीं होते ।

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ ३७ ॥

अन्वयः– ज्ञानिनः सर्वे भावाः हि ज्ञाननिर्वृत्ता भवन्ति, अज्ञानिनः तु सर्वे अपि (भावाः) अज्ञाननिर्वृत्ताः भवन्ति ।

अर्थ– ज्ञानी जीव के–स्वसंवेदनात्मकभेदज्ञानी जीव के सभी परिणाम (उपादानभूत) ज्ञान के द्वारा निर्मा-पित–उत्पन्न किये गये होते हैं और शुद्धात्मोपलब्धिविकल अज्ञानी जीव के जो भाव–परिणाम होते हैं वे सभी के सभी परिणाम (उपादानभूत) अज्ञान के द्वारा अपनेसे निर्मापित किये गये होते हैं ।

त. प्र.– ज्ञानिनः स्वसंवेदनज्ञानलक्षणभेदज्ञानवतो ये केचन भावाः परिणामास्ते सर्वेऽपि परि-णामा ज्ञाननिर्वृत्ता ज्ञाननिर्मापिता भवन्ति सन्ति । ज्ञानेन निर्वृत्ता निर्मापिता ज्ञाननिर्वृत्ताः । अन्तर्भावित-ण्यर्थवृत्तेः कर्मणि क्तः । अज्ञानिनः स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानाभाववतश्शुद्धात्मोपलब्धिविकलस्यानादेरज्ञा-नभावेन परिणतस्य जीवस्य तु ये केचन भावास्ते सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता अज्ञाननिर्मापिता भवन्ति सन्ति । अज्ञानेनोपादानकर्त्रीभूतेन निर्वृत्ताः निर्मापिता अज्ञाननिर्वृत्ता । अत्राप्यन्तर्भावितण्यर्थवृत्तेः कर्मणि क्तः ।

विवेचन– वही आत्मा ज्ञानी होती है जो कि स्वसंवेदनज्ञानात्मकभेदज्ञानवाली या विज्ञानघनभावरूप एक-स्वभाववाली होती है या जिसको शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि हुई होती है । ऐसी इस आत्मा के जितने भी उपादेय-भूत परिणाम होते हैं वे सभी परिणाम ज्ञानरूप उपादान के द्वारा अपनेसे उत्पादित किये गये होते हैं । जितने भी स्वभावभूत परिणाम होते हैं उनका उपादानकारण ज्ञान होता है; क्यों कि उनमें उपादानकारण बना हुआ ज्ञान

अपने स्वरूप से अन्वित होता है अर्थात् ज्ञान और उसके स्वभावभूत परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है। जो आत्मा स्वसंवेदनज्ञानात्मकभेदज्ञानवाली या शुद्धात्मस्वभाववाली नहीं होती या जिसे शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि हुई नहीं होती ऐसी आत्मा अज्ञानी होती है। ऐसी इस आत्मा के जितने भी उपादेयभूत परिणाम होते हैं वे सभी के सभी परिणाम अज्ञानरूप उपादान के द्वारा अपनेसे उत्पादित किये गये होते हैं। जीव के जितने भी विभावभावरूप परिणाम होते है उनका उपादानकारण अज्ञान होता है; क्यों कि उनमें अज्ञान अपने स्वरूप से अन्वित हुआ होता है अर्थात् अज्ञान और विभावभावात्मक परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होता है ।

अथ एतत् एव दृष्टान्तेन समर्थयते–

अब इसी अभिप्राय का अर्थात् ज्ञानी के सभी परिणाम ज्ञानमय होते हं और अज्ञानी के सभी परीणाम अज्ञानमय होते हे इस अभिप्राय का दृष्टान्त के द्वारा समर्थन करते हें–

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥ १३० ॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥ १३१ ॥

कनकमयाद्भावाज्जायन्ते कुण्डलादयो भावाः।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायन्ते तु कटकादयः ॥ १३० ॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायन्ते।
ज्ञानिनः तु ज्ञानमया सर्वे भावास्तथा भवन्ति ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थ– **(यथा)** जसप्रकार **(कनकमयात् भावात्)** उपादानभूत सुवर्णमय द्रव्य से **(कुण्डलादयः)** कुंडलादिरूप **(भावाः)** परिणाम **(जायन्ते)** उत्पन्न होते हैं **(अयोमयकात् भावात् तु)** और उपादानभूत लोहमय द्रव्य से **(कटकादयः)** लोहमय कडा आदि परिणाम **(जायन्ते)** उत्पन्न होते हैं **(तथा)** उसीप्रकार **(अज्ञानमयात् भावात्)** अज्ञानमय जीव पदार्थ से–अनादि से अज्ञान–रूप से परिणत हुए जीव से **(बहुविधाः अपि)** अनकप्रकार के परिणाम भी **(अज्ञानिनः)** अज्ञानयुक्त शुद्धात्मोपलब्धिशून्य ही **(जायन्ते)** उत्पन्न होते हे, **(ज्ञानिनः तु)** और ज्ञानी के स्वसंवेदनात्मकभेद–ज्ञानवाले जीव के **(सर्वे भावाः)** सभी परिणाम **(ज्ञानमयाः)** ज्ञानमय अर्थात् शुद्धात्मोपलब्धिसहित होते हे–ज्ञानी के ज्ञान से अभिन्न होते हे ।

[इस गाथा में पाये जानेवाले ज्ञानिशब्द से चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम गुणस्थानवाले जीव का ग्रहण करना अभीष्ट नहीं है; क्यों ज्ञानी के सभी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हं, अज्ञानमय नहीं होते। इन चार गुणस्थानों में जीव को शुद्ध आत्मा की उपलब्धि–अनुभूति नहीं होती। आत्मानुभूति शुक्लध्यान के बिना नहीं होती। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों का, पंचमगुणस्थानवर्ती जीव के प्रत्याख्यानावरणादि कषायों का, षष्ठगुणस्थानवर्ती जीव के सज्वलनकषायों का तीव्र उदय होनेसे अपनी असमर्थता के कारण वे जीव विभाव–रूप परिणाम के रूप से परिणत होते है, फिर भले ही वे परिणाम शुभरूप हो। सातवें गुणस्थानवाले जीव के भी

परिणाम शुभरूप ही होते हं । इन गुणस्थानवाले जीवों के परिणाम शुभरूप होनेसे अज्ञानमय ही होते हे । भगवान् कुंदकुंदस्वामी ने ज्ञानी जीव के सभी के सभी परिणाम ज्ञानमय होते हैं ऐसा स्पष्टरूप से कथन किया है । अतः यहां ज्ञानिशब्द से निर्विकल्पसमाधिजन्यस्वसंवेदनज्ञानरूपभेदज्ञानवाले जीव का ग्रहण अनिवार्य हो जाता है– अविरत, विरत, प्रमत्त और अप्रमत्त इन गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि जीव का ग्रहण अभीष्ट नहीं है ।]

आ. ख्या.– यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सति अपि कारणानुविधायित्वात् कार्याणां जाम्बूनदमयात् भावात् जाम्बूनदजातिं अनतिवर्तमाना जाम्बूनद–कुण्डलादयः एव भावाः भवेयुः, न पुनः कालायसवलयादयः, कालायसमयात् भावात् च कालायसजातिं अनतिवर्तमानाः कालायसवलयादयः एव भवेयुः, न पुनः जाम्बूनदकुण्डलादयः; तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सति अपि कारणानुविधायित्वात् एव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयं अज्ञानमयात् भावात् अज्ञानजातिं अनतिवर्तमाना विविधाः अपि अज्ञानमयाः एव भावाः भवेयुः, न पुनः ज्ञानमयाः, ज्ञानिनः च स्वयं ज्ञानमयात् भावात् ज्ञानजातिं अनतिवर्तमानाः सर्वे ज्ञानमयाः एव भावाः भवेयुः, न पुनः अज्ञानमयाः ।

त. प्र.– यथा येन प्रकारेण खलु परमार्थतः पुद्गलस्य मूर्तिमतो द्रव्यस्य स्वयमात्मना परिणामस्वभावत्वे सति परिणमनशीलत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कारणस्वरूपान्वितत्वात्तत्सदृशत्वात्कार्याणामुपादेयभूतपरिणामानां जाम्बूनदमयात्सुवर्णरूपाद्भावात्पदार्थाज्जाम्बूनदजातिं सुवर्णजात्यन्वितत्वात्तज्जातिमनतिवर्तमाना अनतिक्रामन्तो जाम्बूनदकुण्डलादयस्सुवर्णकुण्डलादय एव भावाः परिणामा भवेयुरुत्पन्ना भवेयुर्न पुनः कालायसवलयादयो लोहकटकादयः । कालायसमयाल्लोहविकारभूताद्भावात्परिणामाच्च कालायसजातिं लोहजात्यन्वितत्वाल्लोहजातिमनतिवर्तमाना अनतिक्रामन्तः कालायसवलयादयो लोहकटकादय एव भवेयुरुत्पद्येरन्न पुनर्जाम्बूनदकुण्डलादयस्सौवर्णकुण्डलादयः । तथा तेन प्रकारेण जीवस्य स्वयमात्मना परिणामस्वभावत्वे परिणमनशीलत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कारणस्वरूपान्वितत्वात्तत्सदृशत्वात्कार्याणां परिणामानामुपादेयभूतानामज्ञानिनश्शुद्धात्मोपलब्धिविकलस्य स्वसंवेदनज्ञानलक्षणभेदज्ञानविकलस्य वा जीवस्य स्वयमात्मनाऽज्ञानमयादज्ञानविकारभूताद्भावात्परिणामादज्ञानजातिमज्ञानजात्यन्वितत्वात्तज्जातिमनतिवर्तमाना अनतिक्रामन्तो विविधा नानाप्रकारा अप्यज्ञानमया एवाज्ञानरूपत्वादज्ञानादभिन्ना एव भावाः परिणामा भवेयुरुत्पद्येरन्न पुनर्ज्ञानमया ज्ञानान्विता ज्ञानपरिणामा, एकस्योपादेयस्योपादानभूतद्रव्यद्वयादुत्पत्त्यसम्भवात् ज्ञानिनश्च शुद्धात्मोपलब्धिमतस्स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानिनो वा स्वयमात्मना ज्ञानमयाज्ज्ञानविकारभूताज्ज्ञानस्वरूपान्विताद्भावात्पदार्थाज्ज्ञानजातिं स्वोपादानभूतज्ञानजातिं तदन्वितत्वादनतिवर्तमाना अनतिक्रामन्तः सर्वे निखिला ज्ञानमया ज्ञानादनतिरिक्ता एव भावाः परिणामा भवेयुरुत्पद्येरन्न पुनरज्ञानमया अज्ञानोपादानकारणत्वादज्ञानस्वरूपान्वितत्वादज्ञानादभिन्नाः परिणामा उत्पद्येरन् ।

टीकार्थ– जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य परमार्थतः स्वयं परिणामस्वभाववाला होनेपर भी उपादेयभूत कार्य उपादानकारणसदृश होनेसे सुवर्णधातुरूप (उपादानकारणभूत) पदार्थ से सुवर्णजाति का अतिक्रमण न करनेवाले अर्थात् अपने उपादान की जाति का त्याग न करनेवाले सुवर्ण के कुण्डल आदिरूप ही (अलंकाररूप) परिणाम उत्पन्न होते हैं; उससे (सुवर्ण से) लोहोपादानक कडा आदिरूप परिणाम उत्पन्न नहीं होते और लोहधातुरूप (उपादानकारणभूत) पदार्थ से (धातु से) लोहजाति का अतिक्रमण न करनेवाले अर्थात् अपने उपादानभूत लोह की जाति का त्याग

न करनेवाले लोहेके कड़ा आदिरूप ही परिणाम उत्पन्न होते हैं; उससे (लोह से) सुवर्णोपादानक कुण्डल आदिरूप परिणाम उत्पन्न नहीं होते, उसीप्रकार जीव स्वयं परिणामस्वभाववाला होनेपर भी उपादेयभूत कार्य उपादानकारण-सदृश होनेसे ही शुद्धात्मोपलब्धिरहित स्वयं अज्ञानरूप (अपने उपादानभूत) अज्ञान की जाति का अतिक्रमण न करनेवाले अर्थात् अपने उपादानभूत अज्ञान की जाति का त्याग न करनेवाले जो अनेकविध परिणाम उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी जीव से उत्पन्न होनेवाले (अपने उपादानभूत) ज्ञान की जाति का अतिक्रमण न करनेवाले अर्थात् अपने उपादानभूत ज्ञानरूप जाति का त्याग न करनेवाले जो स्वयं ज्ञानरूप परिणाम होते हैं वे सभी ज्ञानमय होते हैं; अज्ञानमय नहीं होते।

विवेचन– पुद्‌गलद्रव्य स्वभावतः परिणमनशील होता है। सुवर्ण पुद्‌गलद्रव्यरूप पदार्थ होनेसे स्वभावतः परिणमनस्वभावाला है। वह परिणामस्वभाववाला होनेसे उससे कुण्डलादिरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं। वे कुण्डलादिरूप परिणाम अपने उपादानकारणभूत सुवर्ण की जाति का त्याग नहीं करते; क्यों कि जो परिणाम उपादेयभूत होते हैं वे अपने उपादान के स्वरूप से अन्वित होनेसे उपादानकारण के सदृश होते हैं। कुंडलादिरूप वे परिणाम अपने उपादानभूत सुवर्ण की जाति का त्याग करनेवाले न होनेसे सुवर्णमय ही होते हैं–सुवर्ण से अभिन्न ही होते है। सुवर्ण परिणामस्वभाववाला होनेपर भी वह लोहधातु के रूप से परिणत नहीं होता। अतः सुवर्णधातु से लोहेका कड़ा आदि परिणाम उत्पन्न नहीं होते। लोहधातु भी पुद्‌गलद्रव्यरूप होनेसे परिणामस्वभाववाला होता है। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होता है। वह लोहधातु परिणामस्वभाववाला होनेसे उससे कटकादिरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं। वे कटकादिरूप परिणाम अपने उपादानकारणभूत लोहे की जाति का त्याग नहीं करते; क्यों कि जो परिणाम उपादेयभूत होते हैं वे अपने उपादान के स्वरूप से अन्वित होनेसे अपने उपादानकारण के सदृश होते हं। वे कटकादिरूप परिणाम अपने उपादानकारणभूत लोहेकी जाति का त्याग करनेवाले न होनेसे लोहमय ही होते हैं–लोह से अभिन्न ही होते हैं। लोहधातु पुद्‌गलद्रव्य होनेसे परिणामस्वभाववाला होनेपर भी वह सुवर्णधातु के रूप से परिणत नहीं होता। अतः लोहधातु से सोने के कुण्डल आदि परिणाम उत्पन्न नहीं होते। जो जो द्रव्य होता है वह परिणामस्वभाववाला होता है। पुद्‌गल के समान जीव भी द्रव्य होनेसे परिणामस्वभाववाला होता है। सुवर्ण और लोहा दोनों पुद्‌गलद्रव्यजातीय होनेपर भी स्वरूपभेद से जिसप्रकार अन्योन्यभिन्न होते हैं उसीप्रकार ज्ञानी जीव और अज्ञानी जीव जीवद्रव्य होनेपर भी अवस्थाकृतस्वरूपभेद के कारण अन्योन्यभिन्न होते हैं, फिर भले हि ज्ञानित्व और अज्ञानित्व एक ही जीवद्रव्य की अन्योन्यभिन्न अवस्थाएं हो। अज्ञानी जीव द्रव्यरूप होनेसे परिणामस्वभावाला है। वह स्वभावतः परिणामस्वभाववाला होनेसे उससे अनेकविध परिणाम उत्पन्न होते हं। वे परिणाम अपने उपादानकारणभूत अज्ञानी जीव की या अज्ञान की जाति का त्याग नहीं करते; क्यों कि जो परिणाम जिसके उपादेयभूत होते हं वे अपने उपादान के स्वरूप से अन्वित होनेसे अपने उपादान के सदृश होते है। अज्ञानी जीव से उत्पन्न होनेवाले या अज्ञानरूप उपादान से उत्पन्न होनेवाले अनेकविध परिणाम अपने उपादेयभूत अज्ञानी जीव की या अज्ञान की जाति का त्याग करनेवाले न होनेसे अज्ञानमय ही होते हं–अज्ञान से अभिन्न ही होते हैं। अज्ञानी जीव या अज्ञानरूप परिणाम परिणामस्वभाववाला होनेपर भी जबतक जीव के विज्ञानघनस्वभाव का घात करनेवाले कर्मों का अभाव नहीं होता तबतक ज्ञानिजीव के रूप से परिणत नहीं होता। अतः उपादानभूत अज्ञानिजीव से ज्ञानमय परिणामों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तरपूर्वकाल की अज्ञानमय अवस्था ज्ञानोत्पत्ति का उपादानकारण नहीं होती–निमित्तकारण होती है। उस अवस्था का अभाव होनेपर ही अनंतर उत्तरकाल में ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अज्ञानावस्था का नाश और ज्ञानावस्था की उत्पत्ति इनका काल एक होता है। ज्ञानिजीव भी द्रव्य होनेसे परिणामस्वभाववाला होता है। वह परिणामस्वभाववाला होनेसे उससे भी परिणामों की उत्पत्ति होती है। वे परिणाम अपने उपादानकारणभूत ज्ञानिजीव की जाति का या ज्ञान की जाति का त्याग नहीं करते; क्यों कि जो परिणाम उपादेयभूत होते हैं वे अपने उपादान के स्वरूप से अन्वित होनेसे अर्थात् अभिन्न होनेसे अपने उपादान के सदृश होते हैं। वे परिणाम अपने उपादानकारणभूत ज्ञानिजीव की जाति का त्याग करनेवाले

न होनेसे ज्ञानमय होते हैं–ज्ञान से अभिन्न ही होते हैं । ज्ञानी जीव द्रव्य होनेसे परिणामस्वभाववाला होनेपर भी वह अज्ञानिजीव के रूप से परिणत नहीं होता । अतः ज्ञानी जीव से अज्ञानमय परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते । अब तात्पर्यवृत्ति देखिये–

वीतरागस्वसंवेदनभेदज्ञानी जीवः यं शुद्धात्मभावनारूपं परिणामं करोति स परिणामः सर्वोऽपि ज्ञानमयो भवति । ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन संसारस्थितिं हित्वा देवेन्द्रलोकान्तिकादिमहर्द्धिकदेवो भूत्वा घटिकाद्वयेन मतिश्रुतावधिरूपं ज्ञानमयं[1] भावं पर्यायं लभते । ततश्च विमानपरिवारादिविभूतिं जीर्णतृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहे गत्वा पश्यति । 'किं पश्यति ?' इति चेत्, तदिदं समवसरणं, त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधनापरिणता गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते (स्म) परमागमे ते दृष्टाः प्रत्यक्षेणेति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा तु चतुर्थगुणस्थानयोग्यां शुद्धात्मभावनामपरित्यजन्निरन्तरं ध–(र्म ?) र्म्यध्यानेन देवलोके कालं गमयित्वा पश्चान्मनुष्यभवे राजाधिराज–महाराजार्धमण्डलीकमहामण्डलीकबलदेवकामदेवचक्रवर्तितीर्थंकरपरमदेवाधिदेवपदे लब्धेऽपि पूर्वभवभावनावासितशुद्धात्मरूपभेदभावनाबलेन मोहं न गच्छति रामपाण्डवादिवत् । ततश्च जिनदीक्षां गृहीत्वा सप्तर्द्धिचतुर्ज्ञानमयं[2] भावं पर्यायं लभते । तदनन्तरं समस्तपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रय–लक्षणेन द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थसुखामृतरसेन तृप्तो भूत्वा सर्वातिशयपरिपूर्णलोकत्रयाधिपाराध्यं परमाचिन्त्यविभूतिविशेषं केवलज्ञानरूपं भावं पर्यायं लभते इत्यभिप्रायः । अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरागादिमयमज्ञानभावं कृत्वा नरनारकादिरूपं भावं पर्यायं लभत इति भावार्थः ।

वीतरागस्वसंवेदनरूपभेदज्ञानवाला जीव जिस शुद्धात्मचिंतनरूप परिणामों को उत्पन्न करता है–उन परिणामों के रूप से परिणत होता है वे सभी परिणाम ज्ञानमय होते हैं । अनंतर जिस ज्ञानमय परिणाम के द्वारा संसारस्थिति को घटाकर देवेंद्रलोकांतिकादिरूप महर्द्धिक देव होकर दो घटिकाएं बीत जानेपर ज्ञान के विकारभूत मतिश्रुतावधिरूप पर्याय को प्राप्त हो जाता है । बादमें विमान–परिवारादिरूप विभूति को जीर्ण तृण के समान समझता हुआ पांच महाविदेहों में (से किसी एक विदेह में) जाकर 'यह समसवरण यह है, वे वीतरागसर्वज्ञ ये हैं, भेदाभेदरत्नत्रय की आराधना के रूप से परिणत हुए गणधरदेवादि यह हैं कि जिनके विषय में पहले परमागम में सुना गया है वे प्रत्यक्षरूप से देखे गये ऐसा समझकर विशेषरूप से धर्म में दृढबुद्धिवाला होकर चतुर्थगुणस्थान के योग्य शुद्धात्मभावना का त्याग न करता हुआ देवलोक में निरंतर धर्म्यध्यान से समय बिताकर, अनंतर मनुष्यभव में राजाधिराज, महाराज, अर्धमंडलीक, महामंडलीक, बलदेव, कामदेव, चक्रवर्ती, तीर्थंकर परमदेवाधिदेव इनके पद की प्राप्ति होनेपर भी पूर्वभव में प्राप्त किये गये ज्ञान के संस्कार से युक्त शुद्धात्मरूप के (परद्रव्य से) भेद की भावना के बल से रामपांडवों की भांति मोह को प्राप्त नहीं होता–भावमोहरूप से परिणत नहीं होता । (जिसप्रकार राम, पांडव मोह के रूप से परिणत नहीं हुए उसीप्रकार भावमोह के रूप से परिणत नहीं होता ।) बादमें जिनदीक्षा को धारण करके सात ऋद्धियों से और चार ज्ञानों से युक्त पर्याय को पाता है । उसके बाद समस्त पुण्य और पाप के परिणामों का परिहार करनेके कारण परिणत हुए–उत्पन्न हुए अभेदरत्नत्रयरूप द्वितीयशुक्लध्यानात्मक विशिष्टप्रकार की भेदभावना के (आत्मा परपदार्थ से भिन्न होती है इसप्रकार के चिंतन के) बल से अपनी आत्मा के चिंतन से उत्पन्न हुए सुखरूप अमृत के अनुभव से तृप्त होकर सभी अतिशयों से युक्त लोकत्रय के स्वामी के द्वारा आराधन करनेके योग्य परम अचिंत्य विभूतिविशेषरूप केवलज्ञानात्मक पर्याय को प्राप्त हो जाता है–केवलज्ञानात्मक पर्याय के

१– 'ज्ञानमयभावं' इति मुद्रितः पाठः । २– 'चतुर्ज्ञानमयंभाव' इति मुद्रित पाठः ।

रूप से परिणत हो जाता है ऐसा अभिप्राय है। अज्ञानी जीव मिथ्यात्वरागादिरूप अज्ञान के परिणाम को उत्पन्न करके अर्थात् उनके रूप से स्वयं परिणत होकर नरनारकादिरूप पर्याय को पाता है–उन पर्यायों के रूप से परिणत हो जाता है।

इस उद्धरण से नीचे बतायी हुई बातें स्पष्ट हो जाती हैं–(१) वीतरागस्वसंवेदनज्ञानवाले जीव के सभी परिणाम ज्ञानमय होते हैं। (२) ज्ञानमय परिणामों के द्वारा वह जीव संसारस्थिति को घटाता है। स्वसंवेदनज्ञानी संसारस्थिति को घटाता है इस कथन से अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल को घटाता है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। (३) वह महर्द्धिकदेव होता है, मति-श्रुत-अवधिरूप पर्याय को प्राप्त होता है और शुद्धात्मभावना का त्याग न करता हुआ निरंतर धर्मध्यान से समय बिताता है। (४) अनंतर मनुष्यभव को प्राप्त होकर शुद्धात्मा का चिंतन करता हुआ भावमोह के रूप से परिणत नहीं होता। यहां मोहशब्द से दर्शनमोहरूप और अनंतानुबन्धिरूप भावमोह का ग्रहण अभीष्ट है; क्यों कि यहां उस जीव की गृहस्थावस्था का उल्लेख किया है और दृष्टान्तरूप से रामचंद्र का उल्लेख किया गया है। लक्ष्मण की मृत्यु के बाद रामचंद्र के मोहभाव की उत्पत्ति हो गयी थी, किंतु वह मोहभाव अनन्तानुबंधिरूप नहीं था। (५) जिनदीक्षा ग्रहण करनेके बाद उस जीव के सात ऋद्धियों का और चार ज्ञानों का आविर्भाव होता है और इनके आविर्भाव के बाद पुण्यपापात्मक परिणामों का अभाव हो जानेसे अभेदरत्नत्रयरूप द्वितीयशुक्लध्यान से केवलज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है।

[सम्यग्दृष्टि जीव की रुचि सर्वदा शुद्ध आत्मद्रव्य के प्रति होती है; क्यों कि शुद्ध आत्मा के प्रति रुचि होनेका नाम ही सम्यग्दर्शन है। 'उसके जो रागद्वेषादिरूप भाव-परिणाम होते हैं वे उसकी स्वयं की निर्बलता से ही एवं उसके स्वयं के अपराध से ही होते हैं; फिर भी वे रुचिपूर्वक नहीं होते' इस विधानपर विचार किया जानेकी आवश्यकता है। सम्यग्दृष्टि जीव के रागद्वेषादिरूपभावों की उत्पत्ति जिस निर्बलता से होती है वह जीवकी निर्बलता कहां से आयी? यदि जीव के अज्ञानभाव से आयी ऐसा कहा गया तो फिर अज्ञानभाव कहां से आया ऐसा प्रश्न उपस्थित हो जाता है। जीव का अज्ञानभाव अनादि काल से चला आया है ऐसा कहना हो तो वह अज्ञानभाव जीव का स्वाभाविकभाव है या वैभाविकभाव है ऐसा प्रश्न उपस्थित हो जाता है। यदि स्वाभाविकभाव हो तो उसका अभाव होनेपर जीवद्रव्य का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा; क्यों कि स्वभाव का अभाव होनेपर स्वभाववान् द्रव्य का अभाव हो जाता है। शास्त्रकारों ने तो उस अज्ञानभाव का नाश करनेके लिये उपदेश दिया है। यह अज्ञानभाव वैभाविकभाव हो तो वह नैमित्तिकभाव है या नहीं? यदि नैमित्तिकभाव हो तो वह कर्मोदयरूप निमित्त से उत्पन्न होता है ऐसा मानना होगा। यदि वह नैमित्तिकभाव न हो तो उसको पारिणामिक या स्वाभाविकभाव मानना होगा, क्यों कि जो भाव बिना निमित्त के सद्भूत होता है वह स्वाभाविकभाव ही होता है। स्वाभाविकभाव होनेपर उसके नाश से जीव का भी नाश हो जायगा। सम्यक्त्व का आविर्भाव होनेसे जीव की सामर्थ्य का आविर्भाव होता है या नहीं? यदि सम्यक्त्व का आविर्भाव होनेपर भी सामर्थ्य का आविर्भाव न होता हो तो सम्यक्त्व का आविर्भाव होनेपर भी जीव निर्बल बना रहेगा और मिथ्यात्वादिरूप विभावभाव के रूप से भी परिणत होता रहनेसे मोक्ष की ओर अग्रेसर नहीं होगा; क्यों कि मिथ्यात्वादिरूप से परिणत होनेपर उसकी शुद्ध आत्मा के प्रति रुचि नहीं होगी। अप्रत्याख्यानादिकषायों के रूप से परिणत होनेपर भी जब उसकी शुद्ध आत्मा के प्रति रुचि बनी रहती है तब उसकी सामर्थ्य का भी आविर्भाव होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है। यदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति होनेपर सामर्थ्य की अंशतः अभिव्यक्ति होती है ऐसा कहना हो तो सामर्थ्य की पूर्णरूप से अभिव्यक्ति होनेमें कौन प्रतिबंध करता है? प्रतिबंध के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति रुकी नहीं जा सकती। यदि सामर्थ्य की पूर्णरूप से अभिव्यक्ति न होनेमें अप्रत्याख्यानावरणादि कर्मों का उदय कारण पडता है ऐसा कहना हो तो निमित्तभूत कर्मों के उदय की ईषत्समर्थ आत्माओंपर भी असर होता है ऐसा मानना होगा। अब रहा प्रश्न अपराध का। सम्यक्त्व की प्राप्ति होनेपर जीव की अपराधिता कैसे बन सकती है? सम्यक्त्व की उत्पत्ति होनपर जब उसकी रुचि शुद्धात्मद्रव्य के प्रति ही होती है तब उसे अपराधी कैसे कहा जाय? सम्यक्त्व की उत्पत्ति होनेपर यद्यपि

उसकी रुचि शुद्ध आत्मा के प्रति होती है तो भी उसको शुद्ध आत्मा की उपलब्धि अर्थात् निर्विकल्पसमाधि के काल में प्राप्त होनेवाली अनुभूति न होनेसे वह अपराधी है ऐसा कहना हो तो शुद्ध आत्मा की अनुभूति से जीव को कौन रोकता है इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। यदि कर्मोदय रोकता है ऐसा कहना हो तो कर्म का ईषत्समर्थ जीवपर भी असर होता है इस मन्तव्य को स्वीकार करना होगा। यदि उसकी दुर्बलता रोकती है ऐसा कहना हो तो भी ईषत्समर्थ आत्मापर कर्म का असर होता है इस मन्तव्य को स्वीकार करना होगा। समयसार की गाथा ३०४-३०५ की आत्मख्याति टीका में अपराधशब्द की निरुक्ति दी हुई है। देखिये-

'परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः यस्य चेतयितुः सोऽपराधः। अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधः। तेन सह यश्चेतयिता वर्तते स सापराधः।'

'परद्रव्य का परिहार हो जानेके कारण जो शुद्ध आत्मा की सिद्धि (स्वात्मोपलब्धि) अथवा साधना होती है वह राध है। जिस आत्मा के राध का (स्वात्मोपलब्धि का) अभाव होता है अर्थात् शुद्ध आत्मा की सिद्धि का अथवा साधना का अभाव हो गया होता है वह अपराध होता है। अथवा जिस भाव में (पदार्थ में या परिणाम में) राध का (स्वात्मोपलब्धि) का अभाव होता है उस भाव को अपराध कहते हैं। जो जीव इस अपराधभाव से युक्त होता है वह जीव सापराध होता है।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिस जीव को शुद्ध आत्मा की उपलब्धि-प्राप्ति-अनुभूति नहीं वह जीव सापराध अर्थात् अपराधी होता है और शुद्ध आत्मा की उपलब्धि न होना अपराध है। अतः शुद्ध आत्मा की उपलब्धि न होना ही जीव का अपराध है। टीकाकार की दृष्टि से यही अपराध का स्वरूप है। इस अपराध का कारण कर्मोदय है। अतः कर्मोदयरूप निमित्त का ईषत्समर्थ जीवपर भी असर होता है इस अभिप्राय को स्वीकार करना ही पड़ता है। यद्यपि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव के सम्यक्त्व की प्राप्ति होनेसे शुद्ध आत्मा के प्रति रुचि होती है तो भी निर्विकल्पसमाधिमग्न जीव को जिसप्रकार शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है उसीप्रकार उसको उसकी उपलब्धि नहीं होती; क्यों कि उसके अप्रत्याख्यानावरण का उदय, प्रत्याख्यानावरण का उदय और संज्वलन का तीव्र उदय होनेसे उसकी कषायरूप से परिणति होती है और परिणति के कारण उसके सभी परिणाम ज्ञानमय नहीं होते। सम्यग्दृष्टि जीव जिन रागद्वेषादिरूप विभावभावों के रूप से परिणत होता है वे विभावभावात्मक परिणाम अज्ञानमय होनेसे वह अज्ञानी भी होता है। इस अवस्था में भी यदि वह ज्ञानी ही बना रहता हो तो ज्ञान और अज्ञान में होनेवाले भेद का अभाव हो जायगा। ग्रंथकार ने ज्ञानी जीव के सभी परिणाम ज्ञानमय ही होते हैं ऐसा कहा है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव के विकारी भावों के होनेपर भी उसकी शुद्धात्मद्रव्यरुचि में किंचित् भी कमी नहीं है ऐसा जो कहा जाता है वह कथन विचारणीय है। जिस समय जीव रागद्वेषादिरूप से परिणत होता है उस समय अर्थात् रागद्वेषादिपरिणामरूप अवस्था में उसकी शुद्धात्मद्रव्य में रुचि नहीं बन सकती; क्यों कि रागद्वेषरूपपरिणति और शुद्धात्मद्रव्य में रुचि उनमें विरोध होनेसे युगपत् नहीं हो सकती। रागद्वेषरूप परिणति का अभाव हो जानेपर शुद्धात्मद्रव्यरुचि का सद्भाव होनेमें किसीप्रकार भी विरोध नहीं है। 'मात्र चारित्रादिसंबंधी निर्बलता है' ऐसा जो कहा जाता है वह सर्वथा ठीक नहीं है। व्यवहारनय की दृष्टि से यह कथन ठीक है; किंतु निश्चयनयकी दृष्टि से वह कथन ठीक नहीं है; क्यों कि निश्चयनय की दृष्टि से चारित्र का भेद नहीं बनता। (देखिये स. सा. गाथा ७) अतः चारित्रसंबंधी निर्बलता ही ज्ञानसंबंधी निर्बलता है।]

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥ ६८ ॥

अन्वयः- अज्ञानमयभावानां भूमिकां व्याप्य अज्ञानी द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानां हेतुतां एति।

अर्थ– अज्ञानोपादानक अत एव अज्ञान से अभिन्न परिणामों का रूप धारण कर अर्थात् उन परिणामों के रूप से परिणत होकर अज्ञानी जीव द्रव्यकर्मों के निमित्तभूत क्रोधादिवैभाविकभावरूप परिणामों का उपादानकर्ता होता है अर्थात् अज्ञानी जीव अज्ञान से अभिन्न परिणाम के रूप से परिणत होकर द्रव्यकर्मों के निमित्तभूत परिणामों का उपादानकर्ता होता है ।

त. प्र.– अज्ञानमयभावानामज्ञानोपादानकानामज्ञानेन व्याप्यत्वादपरित्यक्ताज्ञानजातीनां परिणामानां भूमिकां रूपं व्याप्य स्वस्वरूपेणान्वीयाज्ञानी शुद्धात्मोपलब्धिविकलो जीवो द्रव्यकर्मनिमित्तानां कर्मवर्गणायोग्यपुद्‌गलद्रव्यस्य कर्मत्वेन परिणतेर्निमित्तानां सहकारिकारणभूतानां भावानां परिणामानां हेतुतामुपादानकर्तृभावमेति प्राप्नोति ।

विवेचन– अज्ञानी आत्मा अज्ञानान्वित परिणामों के रूप से स्वयं परिणत हुए उन भावों का उपादानकर्ता हो ही नहीं सकती । जब परिणाम अपने उपादान की जातिवाला ही होता है तब ही परिणाम और परिणामी इनमें उपादानोपादेयभाव होता है । यहां हेतु शब्द का अर्थ उपादानकारण ही लेना उचित है; क्यों कि द्रव्यकर्मरूप परिणति के निमित्तकारण अज्ञानी जीव के विभावपरिणाम ही होनेके कारण भावशब्द का अर्थ विभावभाव लेना पडनेसे उक्त अर्थ को ग्रहण करना आवश्यक प्रतीत होता है । यदि पुद्‌गलद्रव्य परिणामस्वभाववाला होनेपर भी निमित्त के अभाव में भी द्रव्यकर्मरूप से परिणत होने लगा तो वह उसका स्वभाव बना हुआ होनेसे उसकी नित्य–काल अविच्छिन्नरूप से द्रव्यकर्मरूप परिणत होती रहेगी; किंतु ऐसा नहीं होता । अतः क्रोधादिरूप परिणाम के निमित्तत्व के बिना द्रव्यकर्मरूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं होती यह स्पष्ट हो जाता है । यदि भावकर्मरूप निमित्त का पुद्‌गल के ऊपर असर न होता तो द्रव्यकर्मरूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं[1] ॥ १३२ ॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥ १३३ ॥
तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥ १३४ ॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १३५ ॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥ १३६ ॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।
मिथ्यात्वस्य तूदयो यज्जीवानामतत्त्वश्रद्धानम् ॥ १३२ ॥

१– अस्य पाठस्य तात्पर्यवृत्तो वर्णनाभावात्सत्याती च 'तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानः मिथ्यात्वोदयः' इति पाठस्य दर्शनात् 'जीवस्स असद्दहाणसं' इति पाठो नोरीकृतः । २–भवेदिति मुद्रितः पाठः ।

उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवत्यविरमणम्[1] ।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः ॥ १३३ ॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यः विरतिभावो वा ॥ १३४ ॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १३५ ॥
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीव परिणामभावानाम् ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थ-- (**जीवानां**) जीवो के (**या**) जो (**अतत्त्वोपलब्धिः**) वस्तुस्वरूप का विपर्यस्तरूप से ज्ञान होता है अर्थात् आत्मा के परद्रव्य के साथ एकीभाव का ज्ञान होता है (**सः**) वह जीव के (**अज्ञानस्य**) अज्ञानभाव का (**उदयः**) उदय अर्थात प्रादुर्भाव है, (**जीवानां**) जीवो के ((**यत्**) जो (**अतत्त्वश्रद्धानं**) वस्तुस्वरूप का विपर्यस्तरूप मे श्रद्धान करना अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप को छोड-कर अन्यत्र श्रद्धान करना--आत्मा और परद्रव्य इनके एकीभाव का श्रद्धान करना (**तु**) ही (**मिथ्यात्वस्य**) मिथ्यात्व का--मिथ्यात्वरूपपरिणाम का (**उदयः**) प्रादुर्भाव है, (**यत्तु**) और जो (**जीवानां**) जीवों का (**अविरमणं**) इंद्रियो के विषयो से और कषायो से निवृत्त न होना वह (**असयमस्य**) असंयमरूप परिणाम का (**उदयः**) प्रादुर्भाव है, (**यः तु**) जो हि (**कलुषोपयोगः**) शुद्धात्मस्वरूपानुभवनरूप शुद्धोपयोग को छोडकर मलिन--अशुद्ध शुभाशुभरूप उपयोग होता है वह (**कषायोदयः**) कषायरूप विभावभावात्मक परिणामो का प्रादुर्भाव है; (**यः तु**) और जो (**जीवानां**) जीवों का (**शोभनः अशोभनः वा**) आत्मप्रदेशपरिस्पंदात्मक शुभप्रवृत्तिरूप और अशुभप्रवृत्तिरूप (**विरतिभावः वा**) और शुभाशुभपरिणामनिवृत्तिरूप (**कर्तव्यः चेष्टोत्साहः**) करनेयोग्य क्रिया करनेकी शक्ति होती है उसका जो व्यक्तीभवन (**तं**) उसको (**योगोदयं**) योगरूप परिणाम का प्रादुर्भाव (**जानीहि**) जानो । (**एतेषु**) ये पुद्गलनिमित्तक अज्ञानरूप, मिथ्यात्वरूप, असंयमरूप, कषायरूप और योगरूप जीवपरिणाम (**हेतुभूतेषु**) निमित्तकारणभूत होनेपर (**कर्मवर्गणागतं**) कर्मवर्गणागत (**यत् तु**) जो पुद्गलद्रव्य (**ज्ञानावरणादिभावैः**) ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणामो के रूप से (**अष्टविधं**) आठ प्रकारो मे (**परिणमते**) परिणत होता है (**तत्**) वह (**कर्मवर्गणागत**) कर्मवर्गणा-गत पुद्गलद्रव्य (**खलु**) वस्तुत. (**यदा**) जब (**जीवनिबद्ध**) जीव के साथ बधरूप अवस्था को प्राप्त होता है (**तदा तु**) तब ही (**जीवः**) अज्ञानी जीव (**परिणामभावानां**) अपने उपादेयपरिणामभूत अज्ञान, मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन वैभाविकभावो का (**हेतुः**) उपादानकारण (**भवति**) होता है अर्थात् द्रव्यकर्म का बध होनेपर ही जीव अज्ञानादिरूप विभावभावों के रूप से परिणत होता है, कर्मबध का अभाव होनेपर उन विभावभावों के रूप से वह परिणत नही होता ।

१-- 'भवेत्' इति मुद्रितः पाठः ।

आ. ख्या.– अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानः अज्ञानोदयः । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेतवः तन्मयाः चत्वारः भावाः । तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानः मिथ्यात्वोदयः । अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वदमानः असंयमोदयः । कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः । शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानः योगोदयः । अथ एतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत् पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैः अष्टधा स्वयमेव परिणमते तत् खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यत् तदा जीवः स्वयमेव अज्ञानात् परात्मनोः एकत्वाध्यासेन अज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुः भवति ।

त. प्र.– अतत्त्वोपलब्धिरूपेण स्वभावभेदनिबन्धनान्योन्यभेदोपलक्षितात्मपरद्रव्यद्वयैकीभावात्मकविपरीतस्वरूपोपलब्धिरूपेण । परद्रव्येणैकीभावाभाव आत्मनस्तत्त्वं यथार्थं स्वरूपम् । तस्यात्मनो भावः स्वभावस्तत्त्वम् । तद्वैपरीत्येनात्मनः परद्रव्येणैकीभाव आत्मनोऽतत्त्व विपरीतं स्वरूपम् । आत्मनो विपरीतस्वरूपेणोपलब्धिः प्रतीतिरतत्त्वोपलब्धिः । तद्रूपेण ज्ञाने क्षायोपशमिकभावरूपे ज्ञाने स्वदमानोऽनुभवगोचरीभवन्नज्ञानोदयोऽज्ञानात्मकपरिणामोत्पत्तिः । अज्ञानमस्यास्मिन्वान्वयरूपेणास्तीत्यज्ञानः । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयः । अज्ञानान्वितः परिणाम इत्यर्थः । तस्योदय उत्पत्तिरित्यर्थः । आत्मनः परद्रव्येणैकीभावत्वेनानुभवगोचरीभवनमेवाज्ञानस्योदयोऽज्ञानपरिणामस्योत्पत्तिर्भवति । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदया मिथ्यात्वासंयमकषाययोगरूपा आत्मनो विभावात्मकाः परिणामाः कर्महेतवः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरिणामोत्पत्तिनिर्मित्तभूतास्तन्मया अज्ञानेन व्याप्तत्वादज्ञानविकारभूतत्वादज्ञानान्वितत्वादज्ञादभिन्नाश्चत्वारो भावा अज्ञानिजीवपरिणामाः । मिथ्यात्वादयोऽज्ञानिजीवस्योपादेयभूताश्चत्वारः परिणामा अज्ञानरूपा एवेति भावः । तत्त्वाश्रद्धानरूपेणानन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपशुद्धात्मस्वरूपेऽनुपादेयत्वबुद्धिरूपेण ज्ञाने क्षायोपशमिके ज्ञाने स्वदमानोऽनुभवगोचरीभवन्मिथ्यात्वोदयः । यद्वा परद्रव्येणैकीभावाभाव आत्मनस्तत्त्वं यथार्थं स्वरूपम् । तस्याश्रद्धानं तत्रानुपादेयत्वबुद्धिः । तद्रूपेणेत्यर्थः । जीवस्यातत्त्वश्रद्धानरूपेण तत्त्वश्रद्धानाभावरूपेण यत्परिणमनं तन्मिथ्यात्वस्वरूपपरिणामस्योत्पत्तिरिति भावः । अविरमणरूपेण विषयकषायेभ्योऽविरतिरूपेण । इन्द्रियविषयेभ्यः कषायेभ्यश्च यदविरमणमविरतिस्तद्रूपेण ज्ञाने क्षायोपशमिकभावात्मके ज्ञाने स्वदमानोऽनुभवगोचरीभवन्नसंयमोदयः । जीवानां विषयकषायेभ्योऽविरतिरूपः परिणामो यो जायते सोऽसंयमपरिणामस्योत्पाद इति भावः । कलुषोपयोगरूपेणाशुद्धोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽनुभवगोचरीभवन् कषायोदयो भावकषायात्मकः परिणामः । अशुद्धोपयोगस्वरूपेणात्मनो यो गोचरीभवति स कषायपरिणाम इति भावः । शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण शुभप्रवृत्तिनिवृत्त्यशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियारूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽनुभवगोचरीभवन्योगोदय आत्मप्रदेशपरिस्पन्दात्मकः परिणामः । शुभप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपेणाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियारूपेण च क्षायोपशमिके ज्ञानेऽनुभवगोचरीभवन्यो मनोवचनकायवर्गणालम्बन आत्मप्रदेशपरिस्पन्दात्मकः परिणामो योगः । अथ वाक्यारम्भे । एतेषु पौद्गलिकेषु पुद्गलनिमित्तकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु मिथ्यात्वादिपरिणामेषु हेतुभूतेष्वागामिनव्यकर्मबन्धनिमित्तभूतेषु सत्सु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं कर्मवर्गणायोग्यं ज्ञानावरणादिभावैर्ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञकपरिणामैरष्टधाष्टप्रकारेण स्वयमेवा–

रमनैव परिणमते परिवर्तते। परिणतं भवतीत्यर्थः। तत्खलु परमार्थतः कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं जीवेऽधिकरणभूते बन्धावस्थां प्राप्तं यदा यस्मिन्काले स्यात्भवति तदा तस्मिन्काले जीवोऽज्ञानी जीवः स्वयमेवात्मनैवाज्ञानाद्धेतोः परात्मनोरात्मपुद्गलद्रव्ययोः परमार्थतोऽन्योन्यभिन्नयोरपि परद्रव्यात्म-द्रव्ययोरेकत्वाध्यासेनैकीभावस्य मिथ्याकल्पनयाज्ञानमयानामज्ञानोपादानकाज्ञानव्याप्तपरिणामत्वाद-ज्ञानादभिन्नानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां शुद्धात्मस्वरूपाश्रद्धानादीनां स्वस्यात्मनः परिणामभावानां परिणा-मात्मकविभावभावानां हेतुरुपादानकारणं भवति। भावमिथ्यात्वादीनां पुद्गलनिमित्तकत्वादशुद्धजीवो-पादानकत्वेऽपि पौद्गलिकत्ववचनत्वमपि युक्तमात्मपरद्रव्योभयजन्यत्वाद्देवदत्तदेवदत्तायुगलजन्यपुत्रवत्। यथा स तद्युगलजन्यः पुत्रो देवदत्तस्य देवदत्ताया वा पुत्रो भण्यते तथा मिथ्यात्वादिरूपं भावकर्म जीव-पुद्गलयुगलजन्यत्वाज्जीवस्य पुद्गलस्य वा भण्यते। अतो भावमिथ्यात्वादीनां पौद्गलिकत्वमप्यनेन प्रकारेणापि जाघटीति।

टीकार्थ– संसारी जीव अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेसे अपने अज्ञान के कारण अपने को परद्रव्य से जो अभिन्न जानता है अर्थात् परद्रव्य के साथ एकरूप जानता है वही उसकी अतत्त्वोपलब्धि है। जो परिणाम स्वपर-द्रव्यों के एकीभाव के रूप से ज्ञान में अनुभवगोचर होता है अर्थात् ज्ञान में अनुभव में आता है वह अज्ञानान्वित परिणामरूप होता है। आगामी द्रव्यकर्म के (बंध के) कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इनरूप विभा-वभावात्मक चार परिणाम अज्ञानमय अर्थात् अज्ञान से अभिन्न होते हैं। परद्रव्य से भिन्न निरंजन और शुद्ध आत्मा के स्वरूप के श्रद्धान के अभाव के रूप से जो परिणाम ज्ञान में अनुभवगोचर होता है अर्थात् ज्ञान में अनुभव में आता है वह मिथ्यात्वपरिणाम होता है। इंद्रियों के विषयों से और कषायों से निवृत्त न होनारूप जो अविरमणरूप परिणाम होता है–उसरूप से जो परिणाम ज्ञान में अनुभव में आता है वह असंयमपरिणाम होता है। अशुद्ध अर्थात् शुभाशुभ उपयोगरूप परिणाम के रूप से जो परिणाम ज्ञान में अनुभव में आता है वह कषायपरिणाम होता है। शुभ में प्रवृत्तिरूप, शुभ से निवृत्तिरूप, अशुभ में प्रवृत्तिरूप और अशुभ से निवृत्तिरूप क्रियात्मक परिणाम के रूप से जो परिणाम ज्ञान में अनुभव में आता है वह योगपरिणाम होता है। ये पुद्गलनिमित्तक अर्थात् द्रव्यकर्मोदयनिमित्तक (भाव) मिथ्यात्वादिरूप परिणाम निमित्तकारण होनेपर जो कर्मवर्गणागत अर्थात् कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य ज्ञाना-वरणादिसंज्ञक द्रव्यकर्मरूपपरिणामों के रूप से आठ प्रकारों से स्वयमेव परिणत होता है वह कर्मवर्गणागत अर्थात् कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य जब जीवरूप अधिकरण में बंधावस्था को प्राप्त होता है तब जीव स्वयमेव अपने अज्ञान के कारण (स्वभावतः परस्परभिन्न होनेवाले) परद्रव्य और आत्मा के एकत्व की–अभिन्नत्व की मिथ्या कल्पना करनेके कारण अज्ञान के परिणामभूत–अज्ञान से अभिन्न, शुद्धात्मस्वरूप के अश्रद्धानादिरूप अपने परिणामरूप भावात्मक प्रत्ययों का (बंध के कारणों का) हेतु अर्थात् उपादानकर्ता होता है।

विवेचन– स्व अर्थात् आत्मा और पुद्गलरूपपरद्रव्य इनमें होनेवाले भेद के ज्ञान का अभाव होनेसे जीव की जो विपरीतरूप से अर्थात् आत्मा और परद्रव्य इनकी अभिन्नता के रूप से जो प्रतीति होती है वह अतत्त्वोपल-ब्धिरूप है। यह आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेसे उसे आत्मा और परद्रव्य इनमें होनेवाले भेद का ज्ञान नहीं होता और उनमें होनेवाले भेद के ज्ञान के अभाव में वह आत्मा और परद्रव्य इन दोनों को एकरूप जानती है। यही अतत्त्व की अर्थात् आत्मा के विपरीतस्वरूप की उपलब्धि है। यह अतत्त्व की उपलब्धि आत्मा का परिणामरूप है। इस परिणाम का ज्ञान में अनुभव होना ही अज्ञानरूप परिणाम की उत्पत्ति होना है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चार कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल की द्रव्यकर्मरूपपरिणति के निमित्तकारण होनेवाले अज्ञानी जीव के परिणाम अज्ञानमय अर्थात् अज्ञान से अभिन्न होते है; क्योंकि उनका उपादानकर्ता अज्ञानी जीव या उसका अज्ञानरूप परिणाम होता है। यहां तत्त्वशब्द से परभाव से भिन्न आत्मा के विज्ञानघनरूप स्वभाव का ग्रहण अभीष्ट है। जो इससे विपरीतस्वरूपवाली होती है अर्थात् परद्रव्य के साथ बंधावस्था को प्राप्त हुई होती है और उसके कारण अज्ञानभाव-

रूप से परिणत हुई होती है वह अतत्त्वरूप है। शुद्ध आत्मा के स्वरूप के प्रति जो श्रद्धा अर्थात् उपादेयबुद्धि होती है उसीका नाम तत्त्वश्रद्धान है और इस शुद्ध आत्मा के प्रति जो उपादेयबुद्धि होती है उसका त्याग करके परद्रव्य और आत्मा इनकी अभिन्नता के प्रति जो उपादेयबुद्धि होती है वह अतत्त्वश्रद्धानरूप विभावभावात्मक परिणाम है। इस परिणाम का जब ज्ञान में अनुभव होता है अर्थात् ज्ञान जब इस परिणाम के रूप से परिणत होता है तब उस ज्ञानपरिणाम को अर्थात् अज्ञानरूप से परिणत हुए ज्ञान के परिणाम को मिथ्यात्वरूप परिणाम कहते हैं। आत्मसुख के अनुभव का अभाव होनेपर इंद्रियों के विषयों से निवृत्त न होनारूप अर्थात् इनके प्रति रुचि-आसक्ति होनारूप परिणाम के रूप से अज्ञानात्मकपर्याय को प्राप्त हुए ज्ञान का जो परिणमन होता है उसे असंयमभाव कहते हैं। अज्ञानात्मक पर्याय को प्राप्त हुए ज्ञान का शुभाशुभरूप अशुद्ध परिणाम के रूप से परिणत होना कषायरूप परिणाम कहा जाता है। शुभ की प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप तथा अशुभ की प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप क्रिया के रूप से मन, वचन और काय इनकी वर्गणाओं के निमित्त से आत्मप्रदेशपरिस्पंदरूपपरिणाम के रूप से परिणत होना योगरूप परिणाम कहा जाता है। इन मिथ्यात्वादिरूप जीव के विभावभावरूप परिणामों का पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म का उदय निमित्तकारण होता है और इन परिणामों के रूप से अज्ञानी जीव परिणत होता है। अज्ञानी जीव के ये विभाव-परिणाम जब प्रादुर्भूत होते हैं तब इनके निमित्त से कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिरूप परिणामों के रूप से आठ प्रकारों से स्वयमेव परिणत होता है। वह कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य जब जीव के साथ बंधावस्था को प्राप्त होता है तब जीव अपने अज्ञान के कारण परद्रव्य और आत्मद्रव्य इनमें वस्तुतः भेद होनेपर भी ये दोनों एकरूप हैं-अभिन्न हैं-एक दूसरेसे भिन्न नहीं है ऐसी मिथ्या कल्पना कर बैठता है। इस मिथ्या कल्पना के कारण अज्ञान के परिणामभूत तत्त्व के अश्रद्धानरूप आदि अपने उपादेयभूत विभावभावों का वह स्वयमेव उपादानकर्ता होता है। सारांश, द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से अज्ञानी जीव आत्मज्ञानरूप सामर्थ्य के अभाव के कारण मिथ्यात्वरागादिरूप विभाव-भावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होकर नये कर्म के बंध का निमित्तकारण होता है। अब तात्पर्यवृत्ति देखिये-

अयमत्र भावार्थः— उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वं स्वभाव मुक्त्वा रागादिरूपेण भाव-प्रत्ययेन परिणमति तदा बन्धो भवति इति, नैवोदयमात्रेण, घोरोपसर्गेऽपि पाण्डवादिवत्। यदि पुन-रुदयमात्रेण बन्धो भवति तदा सर्वदेव संसार एव। 'कस्मात्?' इति चेत्, संसारिणां सर्वदेव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्।

यहांपर भावार्थ यह है- द्रव्यकर्म उदय को प्राप्त होनेपर जीव अपने स्वभाव का परित्याग करके जब भावकर्मरूप रागादिरूप से परिणत होता है तब जैसे कर्मोदय से घोर उपसर्ग होनेपर भी पांडवों के कर्मबंध नहीं हुआ वैसे केवल उदय से बंध नहीं होता। यदि द्रव्यकर्म के उदयमात्र से बंध होता तो जीव की संसारावस्था सदैव बनी रहती; क्यों कि संसारि जीवों के सर्वदेव कर्मोदय होता है।

जब पांडव शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करनेमें मग्न थे तब अशुभकर्म के उदय के कारण घोर उपसर्ग से पीडित हो गये थे। घोर उपसर्ग से पीडित होनेपर भी आत्मस्वरूप की अनुभूति में निमग्न-एकतान होनेसे वे विभा-वरूप से परिणत नहीं हुए थे, अपि तु आत्मानुभव में नितरां मग्न होकर केवलज्ञान के स्वामी बन गये थे। इससे आत्मानुभूति में निमग्न हुई आत्मा बलवत्तर होनेसे कर्म का उदय होनेपर भी विभावरूप से परिणत नहीं होती यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। मिथ्यादृष्टि होनेसे असमर्थ बनी हुई आत्मा और जिसके शुद्धात्मस्वरूप की अनु-भूतिरूप से परिणत होनेकी सामर्थ्य व्यक्तिरूप अवस्था को प्राप्त हुई नहीं होती ऐसी सम्यग्दृष्टि आत्मा ईष-त्समर्थ होनेपर भी शुद्धात्मानुभूति से और वीर्यान्तरायकर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से अभिव्यक्त होनेवाली विशिष्ट सामर्थ्य का अभाव होनेसे एक प्रकार से जो असमर्थ होती है ऐसी मिथ्यादृष्टि और चतुर्थगुणस्थानवाली आत्माएं विभावभाव के रूप से परिणत होती है; किंतु आत्मानुभव करनेमें निमग्न हुई समर्थ आत्मा भावकर्म के रूप से परिणत नहीं होती। अतः कर्म का उदय होते ही आत्मा विभावभाव के रूप से परिणत होती ही है ऐसा नहीं कहा

जा सकता । जीव के अज्ञानभाव को कर्मोदयरूप निमित्त के मिल जानेपर असमर्थ अज्ञानी जीव क्रोधादिरूप विभावभावों के रूप से अवश्यमेव परिणत हो जाता है; निमित्त के न मिलनेपर विभावरूप विशिष्ट परिणाम के रूप से परिणत नहीं होता—उसके अज्ञानरूप परिणाम की अर्थपर्यायरूप परिणतियां होती रहती हैं ।

पुद्गलद्रव्यात् पृथग्भूतः एव जीवस्य परिणामः—

(निश्चयनय की दृष्टि से) जीव का परिणाम कर्मरूप पुद्गलद्रव्य से भिन्न ही होता है—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥ १३७ ॥

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥ १३८ ॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवन्ति रागादयः ।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादिमापन्ने ॥ १३७ ॥

एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।
तत् कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थ— (**जीवस्य तु**) अज्ञानी जीव के जो (**रागादयः परिणामाः**) रागादिरूप परिणाम होते हैं वे (**खलु**) परमार्थतः (**कर्मणा सह च**) कर्म के साथ ही (**भवन्ति**) उत्पन्न होते हैं अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल ये दोनों मिलकर रागादिरूप परिणामों के रूप से परिणत होते हैं ऐसा तर्क हो तो (**एवं**) इसप्रकार [अर्थात् जीव और पुद्गल ये दोनों मिलकर रागादि परिणामों के रूप से परिणत होते हो तो] (**जीवः कर्म च**) जीव और कर्म (**द्वे अपि**) दोनों भी (**रागादि आपन्ने**) भावरागादिभाव को प्राप्त हुए अर्थात् दोनों की उपादानकर्ता होकर उपादेयभूत रागादिरूप विभावभाव के रूप से परिणत हो जानेकी आपत्ति उपस्थित हो जाती है । (**रागादिभिः**) रागादिरूप विभावभावो के रूप (**परिणामः**) परिणाम (**एकस्य जीवस्य तु**) एक जीवमात्र का ही (**जायते**) उत्पन्न होता है अर्थात् भावरागादिरूप परिणाम जीवमात्ररूप एक उपादान से ही उत्पन्न होता है (**तत्**) उसकारण (**जीवस्य परिणामः**) जीव का रागभावादिरूप परिणाम (**कर्मोदयहेतुभिः विना**) कर्मोदयरूप हेतु से अर्थात् कर्मपुद्गल से भिन्न होता है ।

आ. ख्या.— यदि ' जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामः भवति ' इति वितर्कः, तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोः इव द्वयोः अपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः । अथ च एकस्य एव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः, ततः पुद्गलकर्मविपाकात् हेतोः पृथग्भूतः जीवस्य परिणामः ।

त. प्र.— यदि जीवस्याज्ञानिन आत्मनस्तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा रागाद्यज्ञानपरिणामनिमित्तकारणभूतोदयिपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मणा । तस्य रागाद्यज्ञानपरिणामस्य निमित्तभूतेन

निमित्तकारणभूतेन विपच्यमानेनोदयिनाऽऽविर्भवत्फलदानसामर्थ्येन पुद्गलकर्मणा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकेन द्रव्यकर्मणा । सहैव साकमेव रागाद्यज्ञानपरिणामो भावरागाद्यात्मकोऽज्ञानोपादानकोऽज्ञानादभिन्नः परिणामो भवत्युत्पद्यत इति वितर्कः कल्पना तदा तर्हि जीवपुद्गलकर्मणोरज्ञानिजीव-कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरन्योन्यमिलितसुधावदर्वान्योरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिर्भावरागादिरूपाज्ञानान्वितपरिणामोत्पत्तिप्रसङ्गः । अथ च यदि चैकस्यैवैकाकिन एव जीवस्याज्ञानिजीवस्य भवति प्रादुर्भवति रागाद्यज्ञानपरिणामो भावरागाद्यात्मकोऽज्ञानान्वितः परिणामः । ततस्तस्मात्कारणात्पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्माविर्भूतफलदानसामर्थ्यान्निमित्तभूतात्पृथग्भूतो भिन्नो जीवस्याज्ञानिजीवस्य परिणामः ।

टीकार्थ– यदि अज्ञानिजीव का रागादिरूप अज्ञानात्मक परिणाम रागादिरूप अज्ञानात्मक परिणाम के निमित्तभूत उदित होनेवाले द्रव्यकर्म के साथ ही उत्पन्न होता है ऐसी कल्पना या तर्क हो तो जीव और पुद्गलकर्म इन दोनों से भी एकत्र मिश्रित चूना और हल्दी के समान रागादिरूप अज्ञानान्वित परिणाम की उत्पत्ति होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । रागादिरूप अज्ञानात्मक परिणाम केवल एक जीव का ही होता हो अर्थात् उपादानभूत केवल एक अज्ञानी जीव से या उसके अज्ञानभाव से उत्पन्न होता हो तो जीव का परिणाम पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म के उदयरूप निमित्त से अर्थात् द्रव्यकर्म से भिन्न है ।

विवेचन– यदि उपादानभूत अज्ञानी जीव का रागादिरूप अज्ञानात्मक परिणाम रागादिरूप अज्ञानात्मक परिणाम का निमित्तभूत उदय में आनेवाले द्रव्यकर्म के साथ उत्पन्न होता हो तो अर्थात् अज्ञानिजीव और उदयावस्थापन्न द्रव्यकर्म दोनों उपादानकारण बनकर एकसाथ भावरागादिरूप अज्ञानात्मक परिणाम को उत्पन्न करते हों तो जिसप्रकार चूना और हल्दी इन दोनों का मिलान करनेसे विशिष्ट रंगरूप एक परिणाम उत्पन्न होता है उसीप्रकार चेतन अज्ञानी जीव और अचेतन पुद्गलकर्म इन दोनों से भी चेतनाचेतनात्मक भावरागादिरूप परिणामों की उत्पत्ति हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । इसका अभिप्राय यह है कि चेतन अज्ञानिजीव और अचेतन पुद्गलद्रव्य ये दोनों यदि भावरागादिरूप परिणामों के उपादानकर्ता हों तो जिसप्रकार चूना और हल्दी इनके मिश्रण से उत्पन्न होनेवाले रंग में चूना और हल्दी इन दोनों का सद्भाव होता है उसीप्रकार भावरागादिरूप परिणाम में भी चेतन अज्ञानिजीव और अचेतन पुद्गलद्रव्यरूप द्रव्यकर्म इन दोनों का सद्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । भावरागादिरूप अज्ञानान्वित परिणामों में सिर्फ अज्ञानिजीव का या उसके अज्ञानभाव का अन्वय पाया जाता है–पुद्गलद्रव्य का अन्वय नहीं पाया जाता । अतः भावरागादिरूप अज्ञानान्वित परिणाम एक अज्ञानिजीव का ही परिणाम है यह स्पष्ट हो जाता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपादानभूत अज्ञानिजीव का परिणाम पुद्गलोपादानक उदयावस्थापन्न द्रव्यकर्म से भिन्न है–उसमें द्रव्यकर्म का सद्भाव नहीं है । यदि भावरागादिरूप परिणामों में द्रव्यकर्म का सद्भाव माना तो वे परिणाम चेतन होनेसे द्रव्यकर्म को भी चेतन मानना होगा । तात्पर्यवृत्ति देखिये–

अथवा द्वितीयव्याख्यानं– एकस्य जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयोपादानहेतुर्भिर्विना रागादिपरिणामो यदि भवति तदा सम्मतमेव । किं च द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्ता जीवः रागादिविभावकर्मणामशुद्धनिश्चयेन । स चाशुद्धनिश्चयः यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वविषयभूतस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारस्यापेक्षया निश्चयसञ्ज्ञां लभते, तथापि शुद्धात्मद्रव्यविषयभूतस्य शुद्धनिश्चयस्यापेक्षया वस्तुवृत्त्या व्यवहार एवेति भावार्थः ।

अथवा उक्त गाथाओं का दूसरे प्रकार से व्याख्यान निम्नप्रकार है–उपादानकारणभूत एक जीव का व्यकर्म के उपादानीभूत उदय के अभाव में भावरागादिरूप परिणाम होता हो तो इष्ट ही है । अज्ञानी जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की दृष्टि से द्रव्यकर्मों का कर्ता होता है और रागादिरूपभावकर्मों का अशुद्धनिश्चयनय

की दृष्टि से कर्ता होता है। द्रव्यकर्म का कर्तृत्व जिसका विषय होता है ऐसे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय निश्चयसंज्ञा को पाता है तो भी शुद्ध आत्मद्रव्य जिसका विषय पडता है ऐसी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से वस्तुतः व्यवहारनय ही है।

जीवात् पृथग्भूतः एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः–

'पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मरूप परिणाम जीव से भिन्न ही होता है' यह बताते हैं–

जइ जीवेण सह च्चिअ[1] पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥ १३९ ॥

एक्कस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४० ॥

यदि जीवेन सहैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥ १३९ ॥
एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥ १४० ॥

अन्वयार्थ– (**यदि**) यदि (**पुद्गलद्रव्यस्य**) कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य का (**कर्मपरिणामः**) द्रव्यकर्मरूप परिणाम (**जीवेन सह एव**) जीव के साथ ही उत्पन्न हुआ होता हो तो अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों उपादानकर्ता होकर द्रव्यकर्मरूप से परिणत होते हो तो (**एव**) इसप्रकार अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों उपादानकर्ता होकर द्रव्यकर्मरूप परिणाम को उत्पन्न करनेवाले होनेसे (**पुद्गलजीवौ**) पुद्गल और जीव ये (**द्वौ अपि**) दोनों भी (**खलु**) परमार्थतः (**कर्मत्वं**) द्रव्यकर्मरूपता को (**आपन्नौ**) प्राप्त हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जाता है। यदि (**कर्मभावेन परिणामः**) द्रव्यकर्म के रूप से उत्पन्न होनवाला परिणाम (**एकस्य**) अकेले (**पुद्गलद्रव्यस्य तु**) पुद्गलद्रव्य का ही होता है ऐसा कहना हो (**तत्**) तो (**कर्मणः परिणामः**) द्रव्यकर्म का उदयरूप परिणाम या कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल का परिणाम (**जीवभावहेतुभिः विना**) द्रव्यकर्मरूप परिणति के निमित्तकारणभूत अज्ञानिजीव के विभावभावरूप परिणामो से भिन्नरूप सिद्ध हो जाता है।

आ. ख्या.– यदि 'पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सह एव कर्मपरिणाम भवति' इति वितर्कः तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोः इव द्वयोः अपि कर्मपरिणामापत्तिः। अथ च एकस्य एव पुद्गलद्रव्यस्य भवति, ततः रागादिजीवाज्ञानपरिणामात् हेतोः पृथग्भूतः एव पुद्गलकर्मणः परिणामः।

त. प्र.– यदि पुद्गलद्रव्यस्य कर्मवर्गणायोग्याचेतनपुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यद्रव्यकर्मात्मकपरिणामपरिणतिक्रियोत्पत्तिनिमित्तभूताज्ञाना–

१– 'च्चिय' इति मुद्रितः पाठः। च्चिअ–एव।

त्मकजीवविभावभावात्मकरागादिरूपपरिणामपरिणतजीवेन । तस्य द्रव्यकर्मपरिणामस्य निमित्तभूतस्त-दुत्पत्तिक्रियायास्सहकारिकारणभूतो यो रागादिरज्ञानपरिणामोऽज्ञानोपादानकोऽज्ञानस्वरूपान्वितः परिणामस्तेन तद्रूपेण परिणतो यो जीवस्तेन सहैव साकमेव । कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मपरिणामपरिणतिक्रियाया अनाश्रयीभूतत्वाज्जीवस्य तद्विभावभावस्य वोपादानकर्त्रीभवनासम्भवेऽपि तमुपादानकर्त्रीकृत्येत्यर्थः । कर्मपरिणामो द्रव्यकर्मपरिणामो भवत्युत्पद्यत इति वितर्कः कल्पनमनुमानं वाऽस्ति तदा तर्हि पुद्गलद्रव्यजीवयोर्द्रव्यकर्माज्ञानिजीवयोस्सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्रव्यकर्मोपादानकारणीभवत्कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्याज्ञानिजीवस्य चेति सहभूतहरिद्रासुधयोरिवान्योन्यमिलितहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिर्द्रव्यकर्मात्मकपरिणामोत्पत्तिप्रसङ्गः । यथा हरिद्रासुधासंयोगजरक्तवर्णात्मकपरिणामे तद्द्वयसद्भावोऽस्ति तथोपादानकारणीभूतजीवद्रव्योपादानकारणभूतद्रव्यकर्मसंश्लेषात्मकसंयोगजन्ये सति द्रव्यकर्मपरिणामे तत्र जीवपुद्गलद्रव्यद्वयस्य सद्भावः प्रसज्येतेति भावः । एतत्प्रसङ्गपरिजिहीर्षयाऽऽह–अथ च यदि चैकस्यैकाकिन एव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्वामिको भवति स्याद्द्रव्यकर्मात्मक परिणाम इत्युच्यते ततस्तर्हि रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतो रागादिरूपाज्जीवस्याज्ञानात्मकात्परिणामाद्धेतोर्निमित्तभूतात्पृथग्भूतो भिन्न एव पुद्गलकर्मणः परिणामः । परिणामपरिणामिनोः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नत्वात्कर्मणो जीवपरिणामाद्भिन्नत्वे कर्मपरिणामस्यापि ततो जीवपरिणामाद्भिन्नत्वं सम्भवति ।

टीकार्थ– यदि 'पुद्गलद्रव्य का कर्मरूप अर्थात् द्रव्यकर्मरूप परिणाम द्रव्यकर्मरूपपरिणाम के निमित्तभूत रागादिरूप अज्ञानात्मक परिणाम के रूप से परिणत हुए जीव के साथ ही उत्पन्न होता है ऐसी कल्पना हो तो पुद्गलद्रव्य और जीव इन दोनों से भी एकत्र मिश्रित हल्दी और चूना के भांति द्रव्यकर्मरूप परिणाम की उत्पत्ति हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । यदि कर्मरूप परिणाम एक पुद्गलद्रव्य का ही होता हो अर्थात् उपादानभूत केवल एक पुद्गलद्रव्य से ही उत्पन्न होता हो तो पुद्गलकर्म का परिणाम अज्ञानी जीव के अज्ञानमय (द्रव्यकर्म के) निमित्तभूत रागादिरूप परिणाम से भिन्नरूप ही सिद्ध हो जाता है ।

विवेचन– यदि उपादानभूत पुद्गलद्रव्य का द्रव्यकर्मरूप परिणाम द्रव्यकर्मरूप परिणाम के निमित्तभूत रागादिरूप अज्ञानात्मक परिणाम के रूप मे परिणत हुए जीव के साथ ही उत्पन्न होता हो अर्थात् पुद्गल और जीव दोनों उपादानकर्ता होकर एकसाथ द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होते हो तो जिसप्रकार हल्दी और चूना इन दोनों का मिलान करनेसे विशिष्ट रंगरूप एक विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होता है उसीप्रकार उपादानकारण बने हुए पुद्गलद्रव्य और अज्ञानी जीव इन दोनों से भी द्रव्यकर्मरूप परिणाम की उत्पत्ति हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । कहनेका भाव यह है कि पुद्गलद्रव्य और अज्ञानी जीव ये दोनों मिलकर यदि द्रव्यकर्मरूप परिणाम का उपादानकर्ता हो तो जिसप्रकार हल्दी और चूना के मिश्रण से उत्पन्न होनेवाले रंग में हल्दी और चूने का सद्भाव होता है उसीप्रकार द्रव्यकर्मरूप परिणाम में भी पुद्गलद्रव्य ओर अज्ञानिजीव इन दोनों का सद्भाव होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । द्रव्यकर्मरूप पुद्गलान्वित परिणाम मे सिर्फ पुद्गलद्रव्य का स्वस्वरूप से अन्वय पाया जाता है । अज्ञानि जीव का चेतनरूप स्वरूप से अन्वय नहीं पाया जाता । अत द्रव्यकर्मरूप पुद्गलद्रव्यान्वित परिणाम एक पुद्गलद्रव्य का ही है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपादानभूत पुद्गलद्रव्य का परिणाम द्रव्यकर्मरूप परिणति का निमित्तभूत अज्ञानिजीव के अज्ञानात्मक परिणाम से भिन्न है–उसमें भावकर्म का सद्भाव नहीं है । यदि द्रव्यकर्मरूप परिणाम में भावकर्म का सद्भाव माना गया तो वह परिणाम अचेतन होनेसे भावकर्म को भी सर्वथा अचेतन मानना होगा ।

ततः 'किं आत्मनि बद्धस्पृष्टं, किं अबद्धस्पृष्टं कर्म ?' इति नयविभागेन आह–

'जब आत्मपरिणाम से पुद्गलपरिणाम और पुद्गलपरिणाम से आत्मपरिणाम भिन्न हैं तब द्रव्यकर्म आत्मरूप अधिकरण में बद्ध और स्पृष्ट है या बद्ध और स्पृष्ट नहीं है?' इस प्रश्न का समाधान नयविभाग से कहते हैं–

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥ १४१ ॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम् ।
शुद्धनयस्य तु जीवेऽबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थ– (**कर्म**) द्रव्यकर्म (**जीवे**) अधिकरणभूत जीवद्रव्य मे (**बद्धं**) बद्धावस्था को प्राप्त हुआ है अर्थात् क्षीर और नीर जिसप्रकार संश्लेषरूप से संयोगसबंध को प्राप्त होते हैं उसीप्रकार जीव और द्रव्यकर्म संश्लेषरूप से संयोगसबंध को प्राप्त होते हैं (**स्पृष्टं च**) और स्पृष्टावस्था को प्राप्त होता है अर्थात् योगमात्र से जीव के साथ स्पर्शरूप संयोगसबंध को प्राप्त होता है (**इति**) ऐसा जो कहा जाता है वह (**व्यवहारनयभणितं**) वह कथन व्यवहारनय की दृष्टि से किया गया है। (**कर्म**) द्रव्यकर्म (**जीवे**) अधिकरणभूत जीवद्रव्य मे (**अबद्धस्पृष्टं भवति**) संश्लेषरूप बंध की अवस्था को और जीव के साथ स्पर्शरूप संयोगसंबंध को प्राप्त हुआ नही होता है ऐसा जो कहा जाता है वह कथन (**शुद्धनयस्य तु**) शुद्धनय की दृष्टि से ही किया गया है।

आ. ख्या.– 'जीवपुद्गलकर्मणोः एकबन्धपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावात् जीवे बद्धस्पृष्टं कर्म' इति व्यवहारनयपक्षः, 'जीवपुद्गलकर्मणोः अनेकद्रव्यत्वेन अत्यन्तव्यतिरेकात् जीवे अबद्धस्पृष्टं कर्म' इति निश्चयनयपक्षः ।

त. प्र.– जीवपुद्गलकर्मणोर्जीवद्रव्यकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणोरेकबन्धपर्यायत्वेनान्योन्याभिन्नस्वरूपबन्धपर्यायत्वेन तदात्वे बन्धपर्यायकाले व्यतिरेकाभावाद्व्यवधानाभावनिबन्धनभेदाभावाज्जीवेऽधिकरणभूते बद्धस्पृष्टं संश्लेषावस्थां स्पर्शमात्ररूपसंयोगावस्थां च प्राप्तं कर्मेति व्यवहारनयपक्षोऽभिनिवेशात्मिका व्यवहारनयदृष्टिः । जीवपुद्गलकर्मणोरशुद्धजीवद्रव्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेन स्वभावभेदाद्भिन्नद्रव्यत्वेनात्यन्तव्यतिरेकादेकान्ततो भेदाज्जीवेऽधिकरणभूतेऽबद्धस्पृष्टमसंश्लिष्टासंयुक्तं कर्म द्रव्यकर्मेति निश्चयनयपक्षोऽभिनिवेशात्मिका निश्चयनयदृष्टिः ।

टीकार्थ– 'जीव और पुद्गलकर्म इनके (परस्पर संश्लेषरूप एकक्षेत्रावगाहनात्मक अत एव कथंचित् अन्योन्याभिन्न) एकरूप बंधपर्याय के कारण जीव और पुद्गलकर्म इनमें उनकी बंधपर्यायरूप अवस्था के समय व्यवधान का अभाव होनेसे भेद का (कथंचित्) अभाव होनेके कारण जीवरूप अधिकरण में कर्म का बंध और स्पर्श होता है' ऐसा जो कहा जाता है वह व्यवहारनय का पक्ष–अभिनिवेश है; जीव और पुद्गलकर्म स्वभावभेद के कारण अन्योन्यभिन्न द्रव्य होनेसे उनमें आत्यंतिकरूप से भेद होनेके कारण जीवरूप अधिकरण में कर्म का बंध और स्पर्श नहीं होता ऐसा जो कहा जाता है वह निश्चयनय का पक्ष–अभिनिवेश है।

विवेचन– जीव और पुद्‌गलद्रव्य इनकी जब परस्परसंश्लेषात्मक एकक्षेत्रावगाहनरूप बंधपर्याय होती है तब जीव और पुद्‌गलकर्म स्वभावभेद के कारण वस्तुतः अन्योन्यभिन्न होनेपर भी उनमें भेद दिखाई नहीं देता । अतः बंधपर्याय की अवस्था के काल में उक्तप्रकार से भेद का अभाव होनेसे जीवरूप अधिकरण में कर्म का बंध और स्पर्श ये दोनों होते हैं ऐसा जो कहा जाता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है–निश्चयनय की दृष्टि से नहीं । जीव और पुद्‌गलद्रव्य इनके स्वभाव परस्परभिन्न होते हैं । अतः स्वभावभेद के कारण ये दोनों वस्तुतः परस्परभिन्न हैं । इन दोनों में होनेवाले आत्यंतिक भेद के कारण जीवरूप अधिकरण में कर्म बद्ध और स्पृष्ट नहीं होता ऐसा जो कहा जाता है वह निश्चयनय की दृष्टि से कहा जाता है–व्यवहारनय की दृष्टि से नहीं । सारांश, शुद्ध आत्मा का स्वरूप निश्चयनय और व्यवहारनय इनके विकल्परूप नहीं होता ।

तथा हि–

'शुद्ध पारिणामिकभाव को ग्रहण करनेवाली शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से जीव बद्धाबद्धादि-नयविकल्परूप नहीं होता' इसप्रकार आचार्य खुलासा करते हैं–

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिकंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम् ।
पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थ– **(जीवे)** जीवरूप अधिकरण में **(कर्म)** द्रव्यकर्म **(बद्धं)** बद्ध होता है अर्थात् जीव के साथ संश्लिष्टावस्था को अथवा एकक्षेत्रावगाहनरूप अवस्था को प्राप्त होता है और **(अबद्धं)** बंधावस्था को प्राप्त हुआ नही होता **(एव तु)** इसप्रकार **(नयपक्षं)** नयो की दृष्टि को **(जानीहि)** जानो । **(यः पुनः)** जो जीव **(पक्षातिक्रान्तः)** नयदृष्टिओ को लाघता है–उनसे दूरवर्ती होता है **(सः)** वह **(समयसारः भण्यते)** समयसार कहा जाता है ।

[जीव के साथ कर्म का बंध होता है ऐसा व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है और जीव के साथ कर्म का बंध नहीं होता ऐसा निश्चयनय की दृष्टि से कहा जाता है। ये दोनों नय आत्मा के एकदेश को जाननेवाली होनेसे शुद्धजीव के स्वरूप को जाननेवाली नहीं होती। ये दोनों नय विकल्परूप होनेसे विकल्परहित शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिय इन विकल्पों का त्याग करना आवश्यक हो जाता है । जो विकल्पों का त्याग करके आत्मस्वरूप के ध्यान में मग्न होते हैं वे ही समयसार के रूप से–शुद्ध आत्मा के रूप से परिणत होते हैं । व्यवहारनय की दृष्टि को, निश्चयनय की दृष्टि को और दोनों नयों की दृष्टिओं को पकडनेवाला समयसार के रूप से–शुद्ध आत्मा के रूप से कदापि परिणत नहीं होता; क्यों कि उनको पकडनेसे विकल्पों का त्याग नहीं किया जा सकता और विकल्पों का त्याग न करनेसे समयसार की प्राप्ति नहीं होती ।]

आ. ख्या.– यः किल 'जीवे बद्धं कर्म' इति यः च 'जीवे अबद्धं कर्म' इति विकल्पः, स द्वितयः अपि हि नयपक्षः । यः एव एनं अतिक्रामति सः एव सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावः भूत्वा साक्षात् समयसारः सम्भवति । तत्र यः तावत् 'जीवे बद्धं कर्म' इति विकल्पयति स 'जीवे अबद्धं कर्म' इति एकं पक्षं अतिक्रा-

मन् अपि न विकल्पं अतिक्रामति । यः तु ‘ जीवे अबद्धं कर्म ’ इति विकल्पयति सः अपि ‘ जीवे बद्धं कर्म ’ इति एकं पक्षं अतिक्रामन् अपि न विकल्पं अतिक्रामति । यः पुनः ‘ जीवे बद्धं अबद्धं च कर्म ’ इति विकल्पयति स तु तं द्वितयं अपि पक्षं अनतिक्रामन् न विकल्पं अतिक्रामति । ततः यः एव समस्तनयपक्षं अतिक्रामति सः एव समस्तं विकल्पं अतिक्रामति । यः एव समस्तं विकल्पं अतिक्रामति सः एव समयसारं विन्दति यदि एवं तर्हि क हि नाम नयपक्षसंन्यासभावनां न नाटयति ?

त. प्र.– यः किल वस्तुतो जीवेऽधिकरणभूते बद्धं स्वभावभेदावात्मनो वस्तुतो भिन्नमपि संश्लेष–मेकक्षेत्रावगाहनरूपमापन्नं कर्म द्रव्यकर्मेति यश्च जीवेऽबद्धं जीवकर्मणोर्बन्धपर्याये संश्लेषमेकक्षेत्रावगाह-नरूपमापन्नमपि स्वभावभेदादपरित्यक्तस्वस्वभावत्वाच्चाबद्धं कर्म द्रव्यकर्मेति विकल्पः स द्वितीयोऽपि द्विप्रकारोऽपि नयपक्षो नयदृष्टिरूपस्तयोर्वस्त्वेकदेशमात्रग्राहित्वात्प्रमाणवच्च स्वविषयीभूतवस्तुनः सर्वदे-शग्राहित्वात् । जीवेऽधिकरणभूते द्रव्यकर्म बद्धमिति विकल्पो व्यवहारनयदृष्टिनिबन्धनस्तच्च जीवेऽब-द्धमिति विकल्पश्च निश्चयनयदृष्टिनिबन्धनः । नयस्य वस्त्वेकदेशमात्रग्राहिज्ञानविकल्पस्य पक्षो दृष्टिः। अभिनिवेश इत्यर्थः । यो जीव एवंनं नयपक्षं नयदृष्टिमतिक्रामति लुम्पति तिरोभावयति स एव सकलविकल्पातिक्रान्तस्तिरोभावितसकलविकल्पः । सकलविकल्पानतिक्रान्तस्सकलविकल्पातिक्रान्तः । स्वयमात्मना निर्विकल्पैकविज्ञानस्वभावो निखिलनयकल्पितविकल्पविकलैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः प्रत्यक्षसमयसारः सम्भवति कारणसमयसारीभूय कार्यसमयसारत्वेन परिणतो भवति। तत्र यस्तावज्जीवेऽधिकरणभूते बद्धमेकक्षेत्रावगाहनस्वरूपं संश्लेषमापन्नं कर्मेति विकल्पयति विकल्पं करोति । विचारयतीत्यर्थः । ‘ मृदो ध्वर्थे णिज्बहुलम् ’ इति णिच् । स जीवेऽबद्धं कर्मेत्येकं पक्षं दृष्टिमतिक्रामन्नपि विलुम्पंस्तिरोभावयन्नपि जीवे बद्धं कर्मेति पक्षस्यातिरोभवनान्न विकल्पमतिक्रामति। यस्तु जीवेऽधिकरणभूतेऽबद्धमसंश्लिष्टं कर्मेति विकल्पयति विकल्पं करोति सोपि जीवेऽधिकरणभूते बद्धं कर्मेत्येकं विकल्पं पक्षमतिक्रामन्नपि जीवेऽबद्धं कर्मेति पक्षस्य विद्यमानत्वान्न विकल्पमतिक्रामति । यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति विकल्प जनयति स तु तं द्वितयमपि द्विप्रकारमपि पक्षमन–तिक्रामन्ननतिलङ्घयन्न विकल्पमतिक्रामति, द्विप्रकारकपक्षस्य विद्यमानत्वात् । ततस्तस्मात्कारणाद्य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति निखिलनयदृष्टिमतिक्रामत्यतिलङ्घयति । निखिलनयपक्षेभ्यो दूरीभवतीत्यर्थः । स एव समस्तं सकलं विकल्पमतिक्रामत्यतिलङ्घयति । य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विन्दति लभते । यद्येवं यदि समस्तं विकल्पमतिक्रामन्नेव समयसार विन्दति तदा तर्हि को हि नाम पुरुषो नयपक्षसंन्यासभावनां नयपक्षपरित्यागभावनां न नाटयति प्रकटीकरोति। सर्वोऽपि प्रकटीकरोतीति भावः ।

टीकार्थ– जो वस्तुतः ‘ जीव में कर्म बद्ध हुआ है ’ और जो जीव में कर्म बद्ध हुआ नहीं है ’ यह विकल्प है वह दोनों प्रकार का भी विकल्प परमार्थतः देखा जाय तो नयपक्ष अर्थात् नयदृष्टि या हैं । जो इस नयपक्ष का तिरोभाव-अभाव करता है वही सकल विकल्पों का परित्याग करनेवाला होता हुआ स्वय विकल्पशून्यविज्ञानघन-मात्ररूप एकस्वभाववाला होकर साक्षात् समयसार बन जाता है-स्वयं समयसार के रूप मे परिणत हो जाता है । जो ‘अधिकरणभूत जीव में कर्म बद्ध हुआ होता है ’ इसप्रकार का विकल्प करता है वह अधिकरणभूत जीव में

कर्म बद्ध नहीं होता ' इसप्रकार के एक विकल्प का परित्याग करनेवाला होनेपर भी विकल्प का परित्याग नहीं करता । जो ' अधिकरणभूत जीव में कर्म बद्ध नहीं होता ' इसप्रकार का विकल्प करता है वह भी ' अधिकरणभूत जीव में कर्म बद्ध होता है ' इसप्रकार के एक विकल्प का परित्याग करनेवाला होनेपर भी विकल्प का परित्याग नहीं करता और जो ' अधिकरणभूत जीव में कर्म बद्ध भी होता है और बद्ध नहीं भी होता ' इसप्रकार का विकल्प करता है वह भी दो प्रकारवाले उस पक्ष का परित्याग न करता हुआ विकल्प का परित्याग नहीं करता । उसकारण जो हि सकल नयपक्षों का–नयदृष्टियों का परित्याग करता है वही सकल विकल्पों का परित्याग करता है । जो ही सकल–विकल्पों का परित्याग करता है वही समयसार को–शुद्ध आत्मस्वरूप को पाता है । यदि ऐसा है तो कौनसा पुरुष नयपक्ष के त्याग की भावना को प्रकट नहीं करेगा ? [नयपक्ष के परित्याग से जब समयसार की प्राप्ति होती है तब ऐसा कौनसा पुरुष हो सकता है जो नयपक्ष का परित्याग करनेकी भावना को -विचार को प्रकट न करता हो ?]

विवेचन– ' अधिकरणभूत जीवद्रव्य में द्रव्यकर्म बद्ध होता है ' ऐसा व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है और ' अधिकरणभूत जीवद्रव्य में द्रव्यकर्म बद्ध नहीं होता ' ऐसा निश्चयनय की दृष्टि से कहा जाता है । ये दोनों कथन विकल्परूप हैं। प्रत्येक कथन नयपक्षरूप--नयदृष्टिरूप है । जो वस्तु के एकदेशमात्र को ग्रहण करता है वह नय कहा जाता है । वस्तु का एकदेश न वस्तु है और न अवस्तु है; किंतु वह वस्तु का एकदेशमात्र है । अतः न व्यवहारनय संपूर्ण वस्तु को ग्रहण करनेवाली है और न निश्चयनय भी । वस्तु को बद्धरूप से जानना उसकी एक अवस्था को–एकदेश को जानना है और अबद्धरूप से जानना भी उसकी दूसरी अवस्था को–एकदेश को जानना है । अवस्था वस्त्वंशभूत होती है–वस्तुरूप नहीं होती । विकल्प का अर्थ भेद है । जीव को बद्ध कहना जीव को अबद्धादि अवस्थाओं से भिन्न बताना है और अबद्ध कहना उसको बद्धादिरूप अवस्थाओं से भिन्न बताना है । उसीप्रकार उसे अमूढ कहना उसको उसकी मूढादिरूप अवस्थाओं से भिन्न बताना है और मूढ कहना उसको उसकी अन्य अवस्थाओं से भिन्न बताना है । इसप्रकार दोनों नयों में से प्रत्येक नय वस्तु के अंश को ग्रहण करनेवाली होनेसे वस्तु के शुद्ध–स्वरूप को पूर्णरूप से ग्रहण करनेवाली नहीं है । जो जीव जीव के एक अंश को जाननेवाले नयपक्षों का त्याग करता है वह संपूर्ण विकल्पों का त्याग करता है–जीव के सकल भेदों का त्याग करता है–जीव के अंशरूप सकल धर्मों को ग्रहण नहीं करता । अंशभूत सकल धर्मों को ग्रहण करनेवाला नहीं होता इसका अर्थ वह ग्रहण ही नहीं करता ऐसा नहीं है । वह अंशों का ग्रहण करनेवाला न होनेपर भी एक अर्थात् निरंश संपूर्ण–अखंड जीव का -विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाले अंशिरूप संपूर्ण आत्मा को ग्रहण करता है । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमग्न जीव ही अखंड शुद्ध आत्मा को ग्रहण करता है–उसका अनुभव करता है । निश्चयनय की दृष्टि से ' अधिकरणभूत जीव में कर्म बद्ध नहीं होता ' ऐसा जो कहता है वह यद्यपि ' जीव में कर्म बंध होता है ' इस व्यवहारनय की दृष्टि से किये जानेवाले कथन का परित्याग करता है तो भी वह विकल्प का त्याग नहीं कर सकता; क्यों कि उसका निश्चयनयविषयक ' जीव में कर्म बद्ध नहीं होता ' यह विकल्प–पक्ष जैसा का तैसा विद्यमान होता है । जो ' जीव में कर्म बद्ध होता है' ऐसा कहता है वह यद्यपि ' जीव में कर्म बद्ध नहीं होता ' इस निश्चयनय की दृष्टि से किये जानेवाले कथन का परित्याग करता है तो भी वह विकल्प का त्याग नहीं कर सकता; क्यों कि उसका व्यवहारनयविषयक ' जीव में कर्म बद्ध होता है ' यह विकल्प जैसा का तैसा विद्यमान होता है । जो ' जीव में कर्म बद्ध होता है और नहीं भी होता ' ऐसा कहता है उसके दोनों नयों के पक्ष बने हुए रहनेसे वह भी विकल्प का त्याग नहीं कर सकता । संसारी जीव के व्यवहारनय की दृष्टि से अनेक विकल्प होते हैं । जब निश्चयनयैकदृष्टि पुरुष जीव में कर्मबंध होनेका निषेध करता है तब वह संसारी जीव के रागद्वेष आदि भावों का साक्षात् निषेध और शुद्ध आत्मा के अन्य गुणों का विधान करता है ऐसा नहीं । व्यवहारनय की दृष्टि से किसी एक विकल्प का विधान करनेवाला पुरुष अशुद्ध जीव के अवशिष्ट विकल्पों का विधान और शुद्ध जीव के सभी गुणों का साक्षात् प्रतिषेध करता है ऐसा भी नहीं । प्रत्येक विकल्प स्वस्वरूपादि की दृष्टि से अस्तिरूप और परस्वरूपादिकी दृष्टि से नास्तिरूप होनेसे विधिप्रतिषेधात्मक होता है । नय के द्वारा जब जिस विकल्प का विधान किया जाता है तब वह विकल्प अन्य विकल्परूप न होनेसे अन्यविकल्प को

दृष्टि से उसका प्रतिषेध भी किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक नय एक विकल्प का ही विधान करनेवाली होनेसे वह संपूर्ण शुद्ध वस्तु को ग्रहण करनेवाली नहीं है। अतः सभी विकल्पों का परित्याग किये बिना विकल्पशून्य विज्ञानघनरूप एकस्वभाववाली आत्मा के रूप से सभी विकल्पों का त्याग न करनेवाली आत्मा परिणत नहीं हो सकती और उसीकारण समयसार भी नहीं बन सकती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समस्त नयपक्षों के त्याग के बिना समस्त विकल्पों का त्याग नहीं किया जा सकता और समस्त विकल्पों का त्याग करनेवाली आत्मा ही समयसार को प्राप्त सकती है। अब तात्पर्यवृत्ति देखिये-

व्यवहारेण बद्धो जीव इति नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति, निश्चयेनाबद्धो जीव इति च नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति, निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्धजीव इति वचनविकल्पः शुद्ध-जीवस्वरूपं न भवति। 'कस्मात्?' इति चेत्, 'श्रुतविकल्पा नयाः' इति वचनात्। श्रुतज्ञानं च क्षायोपशमिकम्। (क्षायोपशमस्तु?) क्षायोपशमिकं तु ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितत्वात्। यद्यपि व्यवहारनयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूपं भण्यते तथापि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धजीवस्वरूपं न भवति। 'तर्हि कथम्भूतं जीवस्वरूपम्?' इति चेत्, योऽसौ नयपक्षपातरहितः स्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धादिमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानन्दैकस्वभावं जीवस्वरूपं भवतीति।

'व्यवहारनय की दृष्टि से जीव कर्मबद्ध है यह नय का विकल्प शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हो सकता, और 'निश्चयनय की दृष्टि से जीवकर्मबद्ध नहीं है' यह नय का विकल्प भी शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हो सकता तथा 'व्यवहारनय की दृष्टि से जीव कर्मबद्ध है और निश्चयनय की दृष्टि से कर्मबद्ध नहीं है' यह वचनरूप विकल्प भी शुद्धजीव का स्वरूप नहीं हो सकता; क्यों कि 'नय श्रुतज्ञान का भेद है' ऐसा आगमवचन है। श्रुतज्ञान क्षायोपश-मिकभावरूप है। ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम के द्वारा उत्पन्न किया गया होनेसे वह क्षायोपशमिकभावरूप है। यद्यपि छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से व्यवहारनय की दृष्टि से श्रुतज्ञान को जीव का स्वरूप बताया जाता है तो भी केवलज्ञान की अपेक्षा से श्रुतज्ञान शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है। जो नयदृष्टि की आसक्ति से रहित होता है ऐसे स्वसंवेदनज्ञानी जीव की दृष्टि से बद्धाबद्धादि-मूढामूढादिरूप नयविकल्पों से रहित चिदानंदरूप एकस्वभाववाला जीव का स्वरूप होता है।

इस का अभिप्राय यह है-नयविकल्प क्षायोपशमिकज्ञानरूप होनेसे और शुद्ध जीव क्षायिकज्ञानवाला होनेसे नयविकल्प शुद्ध जीव के नहीं हो सकते। ज्ञान की क्षायोपशमिकपर्याय का अभाव होनेपर ही जब ज्ञान की क्षायिक-ज्ञानरूप से अभिव्यक्ति होती है तब नयविकल्प क्षायिकज्ञानरूप केवलज्ञान को धारण करनेवाले जीव के नहीं हो सकते। अत शुद्धात्मा की अनुभूति के समय नयविकल्पों का सद्भाव होना असंभव है।

इसी तात्पर्यवृत्ति में पायी जानेवाली दो कारिकाएं निम्नप्रकार हैं-

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका।
वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते॥

हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात्।
त्यक्त्वा हेयमुपादेयेऽवस्थानं साधुसम्मतम्॥

आत्मविषयक प्रतिपादन करते समय जो नयद्वयात्मक बुद्धि होती है अर्थात् व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के ज्ञानात्मक विकल्प होते हैं वह बुद्धि जिसने आत्मा का शुद्धस्वरूप जाना है और उसका अनुभव किया है उससे निवृत्त हो जाती है अर्थात् उसके दोनों नयो के विकल्पों का अभाव हो जाता है। दोनों नयों के द्वारा हेय और उपादेय स्वरूपों का निश्चय करके हेय का परित्याग करके उपादेय में जो स्थित होना होता है वह साधु पुरुषो के सम्मत होता है-उनके द्वारा स्वीकृत किया गया होता है।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥ ६९ ॥

अन्वयः– ये एव नयपक्षपातं मुक्त्वा विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः स्वस्वरूपगुप्ता नित्यं निवसन्ति ते एव साक्षात् अमृतं पिबन्ति ।

अर्थ– जो हि नयदृष्टि में आसक्ति का–अभिनिवेश का परित्याग करके सभी विकल्पों के समूह से च्युत होनेसे शान्तचित्त बने हुए आत्मा के विकल्पशून्य विज्ञानघनरूप एकमात्र स्वभाव की अनुभूति करनेमें निमग्न होकर रहते हैं वे साक्षात् अमृत का पान करते हैं अर्थात् निर्विकार, शुद्ध और अनंत सुख का अनुभव करते हैं–मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं ।

त. प्र·– ये एव नयपक्षपातं नयदृष्टावासक्तिविशेषम् । नये पक्षपात आसक्तिविशेषो नयपक्षपातः । 'पक्षे पात आसक्तिविशेषः' (१–११) इति किरातार्जुनीयटीकायां मल्लिनाथः । तम् । मुक्त्वा परित्यज्य । विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता सकलविकल्पसमूहातिक्रान्तशान्तमनसः । विकल्पानां क्षायोपशमिकज्ञानभेदानां जालं समूहः । ततश्च्युतं च्युतिरतिक्रमणम् । 'नब्भावे क्तोऽभ्यादिभ्य' इति नब्भावे क्तः । तेन शान्तं निर्विकल्पामवस्थां प्राप्त चित्तं मनो येषां ते विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः । यद्वा पूर्वं विकल्पजालच्युतं पश्चाच्छान्त विकल्पजालच्युतशान्तम् । 'पूर्वकालैकजरत्पुराणनवकेवलं यश्चैकाश्रये' इति यसः । विकल्पजालच्युतशान्त चित्तं येषा ते विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः । स्वरूपगुप्ता विकल्पशून्यैकविज्ञानघनस्वरूपात्मस्वभावानुभवनक्रियानिलीनाः । स्वशुद्धात्मस्वरूपानुभूत्यैकताना इत्यर्थः । स्वस्यात्मनश्शुद्धस्य रूपे निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावे गुप्ता निलीनाः । नित्यमविच्छिन्नकालं निवसन्ति विद्यन्ते त एव साक्षादमृत पिबन्ति सेवन्ते । मुक्तपर्यायेण साकमेकीभावमापद्यानन्तं सविज्ञानन्दमनुभवन्ति ।

विवेचन– जो नयपक्ष का त्याग करते हैं वे ही आत्मविषयक सभी विकल्पों का परित्याग कर सकते हैं और जो आत्मविषयक सभी विकल्पों का त्याग करते हैं उनका चित्त शांत अर्थात निर्विकार होता है । जिनका चित्त निर्विकार होता है वे ही शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करनेमें एकतान या निमग्न होते हैं और जो शुद्ध आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अनुभूति में निमग्न होते है वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं अर्थात् समयसार के रूप से परिणत होते हैं ।

एकस्य बद्धो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७० ॥

अन्वयः– एकस्य बद्धः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ । यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्य खलु चित् एव अस्ति ।

अर्थ– 'जीव कर्मबद्ध है' ऐसी एक नय की अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि है और 'जीव कर्मबद्ध नहीं हैं' ऐसी दूसरी नय की दृष्टि है अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि है । इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्परभिन्न पक्षों में–दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं । जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में होनेवाली आसक्तियां–अभिनिवेश नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल विज्ञानघनरूप ही होती है अर्थात् उसकी दृष्टि में आत्मा विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाली होती है ।

त प्र.– एकस्य व्यवहारनयस्योपचारप्रधानस्य बद्धो जीवकर्मणोस्स्वभावयोरन्योन्यभिन्नत्वेनान्योन्यभिन्नत्वे परस्परैकक्षेत्रावगाहनात्मकसंश्लेषसम्बन्धस्य स्वस्वभावपरित्यागपूर्वकपरस्वभावीकरणासम्भवादभावेऽप्युपचारेण जीवः कर्मबद्ध इति पक्षो दृष्टिः, परस्य निश्चयनयनयस्य जीवकर्मणोस्स्वभावयोरन्योन्यभेदादन्योन्यभिन्नत्वात्तयोरेकीभावासम्भवाज्जीवो न तथा कर्मबद्ध इति पक्षो दृष्टिः । इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्निश्चयव्यवहारनययोर्द्वौ पक्षपातौ दृष्ट्यासक्ती स्तः । यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपस्य वेत्ताऽनुभविता च । विज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वाच्छुद्धात्मनो नययोः श्रुतज्ञानावयवभूतत्वाद्विज्ञानान्वयविकलत्वाद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्मस्वभावानुभूतेर्विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयबद्धाबद्धदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनश्चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन चिदेव विज्ञानघनस्वभावमात्र एवास्ति ।

विवेचन– बंध का अर्थ एकीभाव को प्राप्त होना है । भिन्न स्वभाववाले अन्योन्यभिन्न पदार्थों का एकीभाव कदापि नहीं हो सकता । आत्मा और कर्मपुद्गल दोनों भिन्नभिन्न स्वभाववाले अन्योन्यभिन्न पदार्थ हैं । उन दोनों में से कौनसा भी पदार्थ अपने स्वभाव का त्याग कर स्वभिन्न पदार्थ के स्वभाव को ग्रहण नहीं कर सकता; क्यों कि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है । ऐसी अवस्था में आत्मा और कर्मपुद्गल का एकीभाव होना नितरां असंभव है । यह आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेसे-संश्लिष्टावस्था को प्राप्त हुई होनेसे वस्तुत. एकीभाव को प्राप्त हुई न होनेपर भी एकीभाव को प्राप्त हुई जैसी दिखाई देनेसे उपचार से अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से एकीभाव को-बंधावस्था को प्राप्त हुई है ऐसा कहा जाता है । स्वभावभेद के कारण अन्योन्यभिन्न होनेवाले आत्मा और कर्मपुद्गल इनका एकीभाव न होनेसे एकक्षेत्र में अवगाहन होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा कर्मबद्ध नहीं होती ऐसा कहा जाता है । आत्मा को बद्ध मानना, अबद्ध मानना और बद्ध तथा अबद्ध मानना वस्तु के एकदेश को ग्रहण करना है । शुद्ध आत्मा का एकदेश उसका स्वरूप नहीं हो सकता । एकदेश को ग्रहण करना ही विकल्प करना है । ऐसे विकल्पों का त्याग करनेसे ही आत्मा के विकल्पशून्य विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाव की अनुभूति प्राप्त है और इस विशिष्ट अनुभूति से ही समयसार की प्राप्ति होती है । शुद्धनिश्चयनय उपादेय है; क्यों कि उसके द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है । ऐसा होनेपर भी आत्मानुभूति के समय उसका भी त्याग करना आवश्यक है; क्यों कि उससे भी आत्मविषयक विकल्प उठता है । जबतक विकल्प उठते रहते हैं तबतक शुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति प्राप्त होना असंभव है ।

एकस्य मूढो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७१ ।।

अन्वयः– एकस्य मूढ, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ । यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्य खलु चित् एव अस्ति ।

अर्थ– 'जीव मूढ है' ऐसी एक नय की अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि है और 'जीव मूढ नहीं है-मोही नहीं है' ऐसी दूसरी नय की अर्थात् शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि है । इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्परभिन्न पक्षों में-दृष्टियों में आसक्तियां होती है । जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है-उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में होनेवाली आसक्तियां नष्ट हो गयी होती है उसकी (दृष्टि में) आत्मा नित्यकाल विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभावाली होती है ।

त. प्र.– एकस्य व्यवहारनयस्य जीवो मूढोऽनादे. कर्मबद्धत्वान्मोहनीयोदयरूपनिमित्तकारणजन्याज्ञानिजीवविभावभावात्मकभावमोहपरिणामपरिणत इति पक्षः । शुद्धात्मनो निरञ्जनत्वान्मोहनीय–

कर्मबन्धासम्भवान्निमित्तभूतमोहनीयोदयाभावाद्भावमोहात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भाव्यत्वाज्जीवस्य परमार्थतो मोहाक्रान्तत्वासम्भवेऽपि 'जीवो मूढ' इत्युपचारप्रधानव्यवहारनयमात्रेणैव व्यपदेश इति भावः । शुद्धात्मनो निरञ्जनत्वान्मोहनीयकर्मबन्धाभावान्निमित्तभूतमोहनीयोदयाभावाद्भावमोहात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भाव्यत्वाज्जीवस्य परमार्थतो मोहाक्रान्तत्वासम्भवाज्जीवो न तथा न मूढ इति निश्चयनयस्य पक्षः । इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारनिश्चयनययोर्द्वौ पक्षपातौ दृष्टयासक्ती स्तः । यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपस्य वेत्ताऽनुभविता च । विज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वाच्छुद्धात्मनो नययोः श्रुतज्ञानावयवभूतत्वाद्विज्ञानान्वयविकलत्वाद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभूतिकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयमूढामूढदृष्टयासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनश्चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रैकस्वभाव एवास्ति ।

विवेचन– यह अज्ञानी आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई है । कर्मबद्ध होनेसे उसके मोहनीयकर्म के बंध का भी सद्भाव है । इस मोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से मोहबद्ध हुई अज्ञानी आत्मा को शुद्ध आत्मा के स्वरूप का निर्विकल्पसमाधिरूप स्वसंवेदनजन्य ज्ञान नहीं होता अर्थात् उसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती । शुद्ध आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि–अनुभवजन्य ज्ञान न होना ही अज्ञानी आत्मा का मूढत्व है । यह मूढत्व भावमोहरूप होता है । इस भावमोहरूप परिणाम का उपादानकारण अज्ञानी जीव या उसका अज्ञानभाव होता है । अज्ञानी जीव और भावमोहात्मक परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे परिणामपरिणामिभाव का या उपादानोपादेयभाव का सद्भाव होनेके कारण भावमोह अज्ञानिजीव का उपादेयभूत परिणाम है । अज्ञानिजीव और भावमोह इनमें होनेवाला परिणामपरिणामिभाव अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से होता है–शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से नहीं; क्यों कि ज्ञानि जीव और भावमोह इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है । यह अशुद्धनिश्चयनय यद्यपि उपचारप्रधान व्यवहारनय की अपेक्षा से निश्चयनय कही जा सकती है तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा स व्यवहारनयरूप ही है । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से भावमोह और ज्ञानी आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेपर भी जीव को भावमोहात्मकपरिणाम के रूप से परिणत होनेवाला कहना उपचारमात्र है–वास्तविक नहीं; क्यो कि जीवशब्द से विज्ञानघनमात्र एकस्वभाववाले जीव का ग्रहण ही अभीष्ट होनेसे उसका ग्रहण होता है और विज्ञानघनमात्ररूप एकस्वभाववाला जीव कर्मोदयरूप निमित्त का अभाव होनेसे भावमोह के रूप से परिणत नहीं होता । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से निरंजन होनेके कारण कर्मोदय का अभाव होनेसे शुद्ध जीव भावमोह के रूप से परिणत होनेवाला न होनेसे मूढ–मोहाक्रांत नहीं होता । जीव सर्वथा मूढ भी नहीं होता और सर्वथा अमूढ भी नहीं होता । मूढत्व और अमूढत्व ये दोनों उसकी अवस्थाए हैं-परिणाम हैं । मूढत्वपर्याय अनादिसान्त और सादिसान्त होती है और अमूढत्वपर्याय साद्यनन्त होती है । जीव को मूढ कहना, अमूढ कहना तथा मूढ और अमूढ कहना विकल्परूप है । ऐसे विकल्पों का त्याग कर देनेसे ही आत्मा के विकल्पशून्य विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाव की अनुभूति प्राप्त होती है । शुद्धनिश्चयनय उपादेय (ग्राह्य) है; क्यों कि उसके द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है । ऐसा होनेपर भी आत्मानुभूति के समय उसका भी त्याग करना आवश्यक है; क्यों कि उससे भी आत्मविषयक विकल्प प्रादुर्भूत होता है । जबतक विकल्प प्रादुर्भूत होते रहते हैं तबतक शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति की प्राप्ति होना असंभव है।अत. जो शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है उसके आत्मानुभूतिकाल में विकल्पों का अभाव होनेसे उसकी दृष्टि में आत्मा परमार्थत. नित्यकाल विज्ञानघनमात्ररूप ही होती है ।

एकस्य रक्तो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७२ ॥

अन्वयः– एकस्य रक्तः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ । यः तत्त्ववेदी च्युत–पक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति ।

अर्थ– 'जीव रागी है अर्थात् रागभावरूप विभावभाव के रूप से परिणत हुआ होता है' ऐसी एक नय की अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि है और 'जीव रागी नहीं है अर्थात् रागभावरूप से परिणत हुआ नहीं होता है' ऐसी दूसरी नय की अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि है। इसप्रकार आत्मा के विषय में दोनों नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में-दृष्टियों में आसक्तियां होती है। जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता हुँ–उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में होनेवाली आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी आत्मा परमार्थतः नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाली होती है।

त. प्र.– एकस्याशुद्धनिश्चयनयस्य शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपस्य जीवो रक्तोऽनादेः कर्मबद्धत्वान्मोहोदयरूपनिमित्तकारणजन्याज्ञानिजीवरागरूपविभावभावात्मकभावमोहपरिणामपरिणत इति पक्षः। शुद्धात्मनो निरञ्जनत्वान्मोहनीयकर्मबन्धाभावान्निमित्तभूतद्रव्यमोहनीयकर्मोदयसद्भावा–सम्भवाद्भावमोहात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भवाज्जीवस्य परमार्थतो मोहाक्रान्तत्वासम्भवेऽपि 'जीवो रक्त' इत्यशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपेणैव व्यपदेश इति भावः। शुद्धात्मनो निरञ्जनत्वान्मोहनीयकर्मबन्धाभावाद्द्रव्यमोहनीयोदयरूपनिमित्तकारणाभावाद्भावमोहात्मकपरिणाम–परिणतेरसम्भवाज्जीवस्य परमार्थतो मोहाक्रान्तत्वासम्भवात् 'जीवो न तथा न रक्तः' इति शुद्धनि–श्चयनयस्य पक्षः। इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारनिश्चययोर्द्वौ पक्षपातौ दृष्ट्या–सक्ती स्तः। यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपस्य ज्ञाताऽनुभविता च विज्ञानघनमात्रै–कस्वभावत्वाच्छुद्धात्मनो नययोः श्रुतज्ञानावयवभूतत्वाद्विज्ञानान्वयविकलत्वाद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्म–स्वरूपानुभूतिकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयरक्तारक्तदृष्ट्यासक्ति-रूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनश्चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञान-घनमात्रैकस्वभाव एवास्ति।

विवेचन– राग अज्ञानिजीव का मोहनीयकर्मोदयरूपनिमित्तजन्य अज्ञानोपादानक परिणाम है। राग और अज्ञानिजीव या उसका अज्ञानभाव इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे और राग अज्ञानमय परिणाम होनेसे उन दोनों में परिणामपरिणामिभाव का सद्भाव होनेके कारण राग अज्ञानिजीव का विभावभावात्मक परिणाम है। वह ज्ञानी जीव का परिणाम नहीं है; क्यों कि उसमें शुद्ध आत्मा का–उसके ज्ञानरूप स्वभाव का अन्वय नहीं पाया जाता। उसमें शुद्धज्ञानरूप स्वभाव का अन्वय पाया न जानेसे राग और शुद्धज्ञान या शुद्ध आत्मा इनमें अन्त–र्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे परिणामपरिणामिभाव का अभाव होता है। उनमें परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेसे राग को शुद्ध जीव का परिणाम नहीं कहा जा सकता। ऐसा होनेपर भी राग को जो जीव का परि–णाम बताया जाता है वह उपचारप्रधान व्यवहारनय की दृष्टि से बताया जाता है–शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से नहीं। अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से रागभाव यद्यपि जीव का है तो भी शुद्ध जीव का नहीं। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से अशुद्धनिश्चयनय व्यवहारनयरूप है। अतः रागभाव जीव का परिणाम है या जीव रागरूप से परिणत होता है ऐसा जो सामान्यतः कहा जाता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। जीवसामान्य की दृष्टि से अज्ञानिजीव और ज्ञानिजीव जीवरूप हैं; किंतु उनके स्वरूपों की दृष्टि से उनमें परस्परभिन्नता होनेसे वे दोनों जीवरूप नहीं हैं–शुद्ध जीव ही जीवरूप है और अज्ञानिजीव ज्ञानिजीव की अपेक्षा से अजीव होता है अर्थात् ज्ञानिजीव से भिन्न होता है। कहनेका भाव यह है कि जीव रागी है–रागभावरूप से परिणत होता है ऐसा उपचार से या व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है–परमार्थतः या शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से नहीं। शुद्ध जीव के कर्मों के बंध का अभाव

होनेसे कर्मोदयरूप निमित्तकारण का अभाव होनेके कारण और उपादानभूत अज्ञान का अभाव होनेके कारण वह रागभावरूप से परिणत होनेवाला न होनेसे वह शुद्ध जीव रागी नहीं होता-रागभाव के रूप से परिणत नहीं होता। जीव रागभावरूप से परिणत होता है यह व्यवहारनय का पक्ष है और वह रागभावरूप से परिणत नहीं होता यह शुद्धनिश्चयनय का पक्ष है। ये दोनों पक्ष विकल्परूप हैं तथा जीव रागी होता है और नहीं भी होता यह कथन भी विकल्परूप है। स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला-उसका अनुभव करनेवाला जीव इन विकल्पों का त्याग कर देता है; क्यों कि विकल्पों का त्याग किये विना शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान-अनुभव नहीं होता। शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करनेवाली आत्मा की दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनमात्रैकस्वभाववाली होती है-अन्यरूप नहीं होती।

एकस्य द्विष्टो[1], न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ७३ ।।

अन्वयः- एकस्य द्विष्टः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ- 'जीव द्वेषी है-द्वेषभावरूप से परिणत हुआ होता है' ऐसी एक नय की अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि है और 'जीव द्वेषी नहीं है-द्वेषभावरूप से परिणत हुआ नहीं होता है' ऐसी दूसरी नय की अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि है। इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के परस्परविरुद्ध पक्षों में --दृष्टियों में आसक्तियां- अभिनिवेश-आग्रह होती हैं। जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध जीव के स्वरूप को जानता है-उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में होनेवाली आसक्तियां नष्ट हो गयी होती है उसकी आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाली होती है।

त. प्र.- एकस्याशुद्धनिश्चयनयस्य शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपस्य जीवो द्विष्टोऽनादेः कर्मबद्धत्वान्मोहोदयरूपनिमित्तकारणजन्याज्ञानिजीवद्वेषरूपविभावभावात्मकभावमोहपरिणामपरिणत इति पक्षः। शुद्धात्मनो निरञ्जनत्वान्मोहनीयकर्मबन्धासम्भवान्निमित्तभूतद्रव्यमोहनीयकर्मोदयाभावाद्भावमोहात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भवाज्जीवस्य परमार्थतो मोहाक्रान्तत्वासम्भवेऽपि 'जीवो द्विष्टः' इत्यशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपेणैव व्यपदेश इति भावः। शुद्धात्मनो निरञ्जनत्वान्मोहनीयकर्मबन्धाभावाद्द्रव्यमोहनीयकर्मोदयरूपनिमित्तकारणाभावाद्भावमोहात्मकपरिणाम-परिणतेरसम्भवाज्जीवस्य परमार्थतो मोहाक्रान्तत्वासम्भवात् 'जीवो न तथा न द्विष्टः' इति निश्चय-नयस्य पक्षः। इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारनिश्चयनययोर्द्वौ पक्षपातौ दृष्ट्यासक्ती स्तः। यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपस्य वेत्ताऽनुभविता च। विज्ञानघनमात्रैक-स्वभावत्वाच्छुद्धात्मनो नययोः श्रुतज्ञानावयवभूतत्वाद्विज्ञानान्वयविकलत्वाद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्म-स्वरूपानुभूतिकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयद्विष्टाद्विष्टदृष्ट्यासक्ति-रूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनश्चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघन-मात्रैकस्वभाव एवास्ति।

विवेचन- द्वेष अज्ञानिजीव का मोहनीयकर्मोदयरूपनिमित्तकारणजन्य अज्ञानोपादानक परिणाम है। द्वेष और अज्ञानिजीव या उसका अज्ञान इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे और द्वेष अज्ञानमय-अज्ञान से अभिन्न

१- 'दुष्टः' इति मुद्रितः पाठः।

परिणाम होनेसे उन दोनों में परिणामपरिणामिभाव का सद्भाव होनेके कारण द्वेष अज्ञानिजीव का या उसके अज्ञानभाव का परिणाम है। वह ज्ञानिजीव का परिणाम नहीं है, क्यों कि उसमें शुद्ध आत्मा का या उसके विज्ञानरूप स्वभाव का अन्वय नहीं पाया जाता। उसमें शुद्ध ज्ञान का अन्वय पाया न जानेसे द्वेष और शुद्ध ज्ञान या शुद्ध आत्मा इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे परिणामपरिणामिभाव का अभाव होता है। उनमें परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेसे द्वेष को शुद्धजीव का परिणाम नहीं माना जा सकता। ऐसा होनेपर भी द्वेष को जो जीव का परिणाम बताया जाता है वह उपचारप्रधान व्यवहारनय की दृष्टि से बताया जाता है-शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से नहीं। अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से द्वेषभाव यद्यपि जीव का है तो भी वह अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध जीव का नहीं है। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से अशुद्धनिश्चयनय व्यवहारनयरूप है। अतः द्वेषभाव जीव का परिणाम है या जीव द्वेषरूप से परिणत होता है ऐसा जो सामान्यतः कहा जाता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। जीवत्वसामान्य की दृष्टि से अज्ञानिजीव और ज्ञानिजीव जीवरूप हैं-अज्ञानित्व और ज्ञानित्व एक ही जीव की अवस्थाए होनेसे अवस्थावान् एकजीवरूप हैं; किंतु उनके स्वरूपों की दृष्टि से उनमें परस्परभिन्नता होनेसे वे दोनों शुद्धजीवरूप नहीं हैं और अज्ञानिजीव ज्ञानिजीव की अपेक्षा से कथंचित् अजीव है या ज्ञानिजीव से कथंचित् भिन्न है। कहनेका [illegible]व यह है कि जीव द्वेषी है ऐसा उपचार से या व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है, परमार्थतः नहीं। शुद्ध जीव के बद्ध कर्मों का अभाव होनेसे कर्मोदयरूपनिमित्तकारण का अभाव होनेके कारण और उपादानभूत अज्ञान का अभाव होनेसे वह द्वेषरूप से परिणत होनेवाला न होनेसे वह शुद्ध जीव परमार्थतः द्वेषी नहीं होता। अतः जीव द्वेषरूप से परिणत होता है यह कथन व्यवहारनय का पक्ष है और वह द्वेषरूप से परिणत हुआ नहीं होता यह कथन निश्चयनय का पक्ष-दृष्टि है। ये दोनों पक्ष विकल्परूप हैं तथा जीव द्वेषी होता है और द्वेषी नहीं भी होता यह कथन भी विकल्परूप है। स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला-उसका अनुभव करनेवाला जीव इन विकल्पों का त्याग कर देता है; क्यों कि उनका त्याग किये बिना शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता। ऐसी शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करनेवाली आत्मा की दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनमात्रैकस्वभाववाली होती है--अन्यस्वरूप नहीं।

एकस्य कर्ता, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७४ ॥

अन्वयः- [illegible]य कर्ता, तथा परस्य न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ- 'जीव कर्ता होता है अर्थात् विभावभावात्मक भावक्रोधादिरूप परिणामों का उपादानकर्ता और नये द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता होता है' ऐसी एक नय की अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि है और 'जीव उक्तप्रकारक कर्ता नहीं होता' ऐसी दूसरी नय की अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि है। इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्परविरुद्धपक्षों में-दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं। जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है-उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में होनेवाली आसक्तियां (ऐकान्तिकदृष्टियां) नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टी में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाली होती है।

त. प्र.- एकस्याशुद्धनिश्चयनयस्य शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपस्य जीवः कर्ताऽनादेः कर्मबद्धत्वान्मोहोदयरूपनिमित्तकारणअन्याज्ञानिजीवविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयीभूतत्वात्स्वोपादेयभूतभावमोहात्मकविभावभावानामुपादानकर्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मपरिणामपरिणत्यनुकूलविभावभावात्मकजीवपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयीभूतत्वात्कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां द्रव्य-

कर्मपरिणामपरिणतेर्निमित्तकर्ता चेति पक्षः। शुद्धात्मनो निरञ्जनत्वान्मोहनीयाख्यद्रव्यकर्मबन्धाभावान्निमित्तभूतमोहनीयाख्यद्रव्यकर्मोदयाभावाद्भावमोहात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भवाज्जीवस्य परमार्थतो मोहाक्रान्तत्वासम्भवेऽपि विभावभावात्मकभावपरिणामानामुपादानकर्ता जीव इति, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यद्रव्यकर्मात्मकपरिणामपरिणतिक्रियानुकूलविभावभावात्मकजीवपरिणामपरिणतिक्रियानाश्रयत्वेऽपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां द्रव्यकर्मात्मकपरिणामपरिणतेर्निमित्तकर्ता जीव इति चाशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपेण व्यपदेश इति भावः। शुद्धात्मनो निरञ्जनत्वान्मोहनीय-कर्मसम्बन्धाभावाद्द्रव्यमोहनीयकर्मोदयरूपनिमित्तकारणाभावाद्भावमोहात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भवाज्जीवस्य परमार्थतो मोहाक्रान्तत्वासम्भवाज्जीवो न तथा विभावभावात्मकस्वीयपरिणामानामुपादान-कर्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां द्रव्यकर्मात्मकपरिणामपरिणतेर्निमित्तकर्ता चेति निश्चयनयस्य पक्षः। इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारनिश्चयनययोर्द्वौ पक्षपातौ दृष्टयासक्तौ स्तः। यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मविज्ञानघनमात्रैकस्वरूपस्य ज्ञाताऽनुभविता च। विज्ञानघन-मात्रैकस्वभावत्वाच्छुद्धात्मनो नययोः श्रुतज्ञानावयवभूतत्वाद्विज्ञानान्वयविकलत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभूतिकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयकर्त्रकर्तृदृष्टयासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनश्चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रैकस्वभाव एवास्ति।

विवेचन— अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेसे यह आत्मा मोहनीयकर्म के उदय के कारण अज्ञानी बनी हुई है। अज्ञानी होनेके कारण कर्मोदयरूप निमित्त के मिल जानेपर क्रोधादिरूप विभावभावों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे वह विभावभावात्मक परिणामों का उपादानकर्ता होती है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से शुद्धचैतन्यस्वभाववाली आत्मा निरञ्जन होनेसे विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत नहीं होती। विभावभावात्मकपरिणामों के रूप से परिणत न होनेसे उन भावों का वह उपादानकर्ता नहीं होती। आत्मा का यथार्थ स्वरूप ज्ञानरूप है; अज्ञानरूप नहीं। आत्मा का अज्ञानभाव कादाचित्क—विनश्वर होनेसे वह आत्मा का स्वभावभूत भाव नहीं है। आत्मरूप अनादिनिधन पदार्थ का स्वरूप भी अनादिनिधन होना चाहिये और होता भी है; क्यों कि वह अनादिनिधन न हो तो जिससमय उसका अभाव हो जायगा उसीसमय आत्मपदार्थ का भी अभाव हो जायगा। पदार्थ परिणमनशील होनेपर भी अविनश्वर होनेसे आत्मा भी पदार्थ होनेसे परिणमनशील होनेपर भी अविनश्वर होनी चाहिये और अविनश्वर आत्मा का स्वरूप भी अविनश्वर होना चाहिये। ज्ञान आत्मा का अविनश्वर स्वरूप है। इस अविनश्वर स्वरूप की अभिव्यक्ति होनेपर आत्मा निमित्ताभाव के कारण विभावभावात्मकपरिणाम के रूप से परिणत नहीं होती और इसलिये वह विभावभावों के रूप से परिणत होनेवाली न होनेसे उन भावों का उपादानकर्ता नहीं हो सकती। अज्ञानी आत्मा और भावक्रोधादिरूप परिणाम इनमें अन्त-र्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे जिसप्रकार परिणामपरिणामिभाव का सद्भाव होता है उसीप्रकार ज्ञानी या शुद्ध आत्मा और भावक्रोधादिरूप परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव न होनेसे परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेके कारण विभावभावात्मकपरिणामों के रूप से परिणत होनेवाली न होनेसे उन भावों का वह उपादानकर्ता नहीं हो सकती। अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अशुद्ध आत्मा विभावभावों का उपादानकर्ता कही जाती है अर्थात् विशिष्टावस्थापन्न आत्मा ही उपादानकर्ता कही जाती है—शुद्ध आत्मा नहीं। आत्मा सर्वथा उपादानकर्ता नहीं हो सकती; क्यों कि शुद्धावस्थापन्न आत्मा विभावभावों के रूप से कदापि परिणत नहीं होती। अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से व्यवहारनयरूप ही होती है। अतः जीव को विभावभावात्मकपरिणामों का जो कर्ता कहा जाता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से ही कहा जाता है। अज्ञानिजीव जब विभावभावों के रूप से परिणत

होने लग जाता है तब उसकी विभावभावों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल की द्रव्यकर्मरूप-परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल होनेपर उक्तजातीय पुद्गल द्रव्यकर्मरूप से परिणत हो जानेके कारण अज्ञानिजीव निमित्तकर्ता भी कहा जाता है। [तात्पर्यवृत्तिकार ने निमित्तकारण को निमित्तकर्ता भी कहा है।] निरञ्जन शुद्ध आत्मा जब विभावभावों के रूप से परिणत नहीं होती तब कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल की द्रव्यकर्मरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया के अनुकूल ज्ञानिजीवाश्रित क्रिया का अभाव होनेसे ज्ञानिजीव पुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूप परिणति का निमित्तकर्ता भी नहीं होता। ज्ञानिजीव विभावभावों का उपादानकर्ता न होनेसे निमित्तकर्ता न होनेपर भी जीव को जो सामान्यत निमित्तकर्ता भी कहा जाता है वह उपचारप्रधान व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव विभावभावों का उपादानकर्ता, अपनी विभावभावात्मकपूर्वपर्याय के नाशरूप से विभावभावात्मक उत्तरपर्याय का निमित्तकर्ता और द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता नहीं होता; क्यों कि वह विभावभावों के रूप से कदापि परिणत नहीं होता। व्यवहारनय की दृष्टि से जीव उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता होता है और निश्चयनय की दृष्टि से वह उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता नहीं होता। इसप्रकार जीव के विषय में दो नयों की दो दृष्टियों में अज्ञानिजीव की आसक्तियां होती हैं। ये दोनों दृष्टियां विकल्परूप हैं और जीव कर्ता होता है और नहीं भी होता यह कथन भी विकल्परूप है। निर्विकल्पसमाधिकाल में स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करके उसको जाननेवाला जीव इन विकल्पों का त्याग कर देता है; क्यों कि उनका त्याग किये बिना अर्थात् उन विकल्पों के रूप से परिणत होनेपर शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान नहीं होता। ऐसी शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करनेवाली आत्मा की दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनमात्ररूप एकस्वभाववाली ही होती है—अन्यस्वरूप नहीं होती—विकल्पातीत होती है।

एकस्य भोक्ता, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७५ ॥

अन्वयः— एकस्य भोक्ता, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ— 'जीव भोक्ता है—विभावभावों का और द्रव्यकर्मों का अनुभव करनेवाला होता है' ऐसी एक नय की अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि है और 'जीव भोक्ता नहीं होता' ऐसी दूसरी नय की अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि है। इसप्रकार आत्मा के विषयमें दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में—दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं। जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है—उसका अनुभव करके जानता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में होनेवाली आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनमात्र एकस्वभाववाली होती है।

त. प्र.— ययोरेवोपादानोपादेयभावः परिणामपरिणामिभावो वा तयोरेव भाव्यभावकभावो भोक्तृभोग्यभावो वा भवति। अज्ञानिजीवभावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणामयोरुपादानोपादेयभावस्य परिणामपरिणामिभावस्य वा सद्भावाद्भाव्यभावकभावस्य भोक्तृभोग्यभावस्य वा सद्भावादज्ञानिजीवो भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकानामज्ञानभावान्वितत्वादज्ञानादभिन्नानां परिणामानामशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपेण भोक्ता भवतीत्येकस्य व्यवहारनयस्य पक्षः। यद्वाऽज्ञानिजीवद्रव्यक्रोधादिरूपविभावभावात्मककर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यपरिणामयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावादुपादानोपादेयभावस्य परिणामपरिणामिभावस्य वाऽभावाद्भाव्यभावकभावस्य भोक्तृभोग्यभावस्य वाऽसम्भवादज्ञान्यपि जीवो द्रव्यक्रोधादिरूपकर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्यस्वरूपमूर्तरूपित्वान्वितविभावभावात्मकानां चैतन्यानन्वितत्वाज्ज्ञानविकलात्कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यादभिन्नानां द्रव्यकर्मा-

त्मकपरिणामानामज्ञानिजीवस्य स्वविभावभावात्मकत्वेन निमित्तमात्रत्वादुपादानकर्तृत्वाभावेऽपि स जीवस्तेषां द्रव्यकर्मणां भोक्ताऽनुभविता भवतीत्येकस्य व्यवहारनयस्य पक्षः । भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणामोपादानकर्तृत्वे द्रव्यक्रोधादिरूपविभावभावात्मककर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामनिमित्तकर्तृत्वे चाप्यज्ञानिजीवस्य ज्ञानिजीवभावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणामयोस्तादृग्जीवद्रव्यक्रोधादिरूपपुद्गलद्रव्यपरिणामयोश्चान्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावादुपादानोपादेयभावाभावात्परिणामपरिणामिभावाभावाद्वा भाव्यभावकभावस्य भोक्तृभोग्यभावस्य वाऽभावाद्भावद्रव्यात्मकविजातीयपरिणामद्वयस्य ज्ञानिजीवस्य परमार्थतो निमित्तोपादानकर्तृत्वाभावेन तत्तादृक्परिणामद्वयस्य भोक्तृत्वाभावेऽपि जीवो भोक्तेति सामान्यतो वचनं व्यवहारनयनिबन्धनमिति भावः । एवं जीवो भोक्तेति व्यवहारनयस्य पक्षः । ज्ञानिजीवद्विप्रकारकविभावभावात्मकपरिणामयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावेनोपादानोपादेयभावाभावाद्धेतोर्भाव्यभावकभावाभावाद्भोक्तृभोग्यभावाभावाद्वा ज्ञानिजीवश्शुद्धनिश्चयनयदृष्ट्या द्विप्रकारकविभावभावात्मकपरिणामस्य नास्ति भोक्तेति परस्य शुद्धनिश्चयनयस्य पक्षः । इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारनिश्चयनययोर्द्वौ पक्षपातौ दृष्ट्यासक्तौ स्तः । यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपस्य ज्ञाताऽनुभविता च । विज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वाच्छुद्धात्मनो नययोः श्रुतज्ञानावयवभूतत्वाद्विज्ञानान्वयविकलत्वाद्विज्ञानाद्भिन्नत्वान्निर्विकल्पसमाधावात्मस्वरूपानुभूतिकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयभोक्त्रभोक्तृदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनश्चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रैकस्वभाव एवास्ति भवति ।

विवेचन– जिनमें उपादानोपादेयभाव या परिणामपरिणामिभाव होता है उनमें ही भाव्यभावकभाव या भोक्तृभोग्यभाव होता है । अज्ञानिजीव और भावक्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणाम इनमें उपादानोपादेयभाव का या परिणामपरिणामिभाव का सद्भाव होनेके कारण भाव्यभावकभाव का या भोक्तृभोग्यभाव का सद्भाव होनेसे अज्ञानिजीव भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मक और अज्ञानभाव से अन्वित होनेके कारण अज्ञानभाव से भिन्न न होनेवाले परिणामों का अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय की दृष्टि से भोक्ता होता है । इसप्रकार यह व्यवहारनय का पक्ष है । अज्ञानिजीव और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल के विभावभावात्मक द्रव्यक्रोधादिरूप परिणाम इनमें उपादानोपादेयभाव का या परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेके कारण भाव्य–भावकभाव का या भोक्तृभोग्यभाव का अभाव होनेसे अज्ञानिजीव भी चैतन्य से युक्त न होनेवाले और रूपी होनेसे ज्ञानशून्य होनेवाले कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्य से अभिन्न, विभावभावात्मक द्रव्यक्रोधादिरूप द्रव्यकर्मात्मक परिणामों का अज्ञानिजीव निमित्तमात्र होनेसे भावकर्मों का उपादानकर्ता होनेपर भी द्रव्यकर्मों का भोक्ता होता है ऐसा जो कहा जाता है वह कथन भी व्यवहारनय का पक्ष है । अज्ञानिजीव भावक्रोधादिरूप अज्ञानव्याप्त विभावभावात्मक परिणामों का उपादानकर्ता और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल के विभावभावात्मक द्रव्यक्रोधादिरूप परिणामों का अपने विभावभावों के द्वारा निमित्तकर्ता होनेपर भी ज्ञानिजीव और विभावभावात्मक भावक्रोधादिरूप परिणाम तथा ज्ञानिजीव और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल के द्रव्यक्रोधादिरूप विभावभावात्मकपरिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे उपादानोपादेयभाव का या परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेके कारण भाव्यभावकभाव का या भोक्तृभोग्यभाव का अभाव होनेसे भावात्मक और द्रव्यात्मक विजातीय परिणामों का ज्ञानिजीव परमार्थतः उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता न होनेके कारण उक्तप्रकार के दोनों विजातीय परिणामों का भोक्ता–अनुभव करनेवाला न होनेपर भी 'जीव भोक्ता है' इसप्रकार जो सामान्यतः कहा जाता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है–शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से नहीं । ज्ञानिजीव और भावक्रोधादिरूप विभावभावात्मकपरिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होता है; क्यों कि भावक्रोधादिरूप और द्रव्यक्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणाम शुद्धचैतन्य

से व्याप्त नहीं होते । ज्ञानिजीव और उक्त दोनों प्रकार के परिणाम इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेसे उपादानोपादेयभाव का या परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेके कारण भाव्यभावकभाव का या भोक्तृभोग्यभाव का अभाव होनेके कारण ज्ञानिजीव भावक्रोधादिरूप और द्रव्यक्रोधादिरूप परिणामों का शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से भोक्ता नहीं है । यह शुद्धनिश्चयनय का पक्ष है–अभिनिवेश है । इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो अभिनिवेश हैं । 'जीव भोक्ता होता है,' 'जीव भोक्ता नहीं होता' और 'जीव भोक्ता होता है और नहीं भी होता' ये तीनों अभिप्राय विकल्परूप है । जो आत्मानुभूति के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है वह तीनों विकल्पों का त्याग करता है । शुद्ध आत्मा का अनुभव करने की योग्यता जिसकी अभिव्यक्त हुई होती है उसके इन विकल्पों का अभाव हो जाता है । इन विकल्पों के अभाव के विना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति की प्राप्ति होना असं–भव है । निर्विकल्पसमाधि के द्वारा ही शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति प्राप्त होती है । जिसमें विकल्पों का अभाव होता है उस समाधि को निर्विकल्पसमाधि कहते हैं । जीव की विकल्परूप परिणति और आत्मानुभवनरूप परिणति इनमें सहानवस्थानरूप या वध्यघातकभावरूप विरोध होता है । अत. विकल्पों का अभाव होनेपर ही शुद्ध आत्मा की अनुभूति की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है । जिसको शुद्ध आत्मा की अनुभूति की प्राप्ति हुई होती है उसकी दृष्टि में आत्मा विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाली होती है । आत्मा का अनुभव करने–वाले जीव को आत्मा आत्मानुभूतिकाल में और उसके बाद भी अनंतकालतक अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनमात्ररूप एकस्वभाववाली ही बनी रहती है ।

एकस्य जीवः, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्याऽस्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७६ ॥

अन्वयः– एकस्य जीवः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ । यः तत्त्ववेदी च्युतपक्ष–पातः तस्य चित् नित्य खलु चित् एव अस्ति ।

अर्थ– मोहाक्रान्त जीव शुद्धचैतन्यविकल होनेसे जीव न होनेपर भी मोहाक्रान्त ज्ञान से युक्त होनेके कारण व्यवहारनय की दृष्टि से जीव है और शुद्धचैतन्यविकल होनेसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वह जीव नहीं है । इस–प्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में–दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं । (दो नयों के दो परस्परविरुद्ध अभिप्राय होते हैं ।) जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है–उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में होनेवाली आसक्तियां-अभिनिवेश नष्ठ हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थत. विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाली होती है ।

त. प्र.– एकस्याशुद्धनिश्चयनयस्य शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपस्याऽज्ञानिजीवो मोहा–क्रान्तत्वाच्छुद्धचैतन्यविकलत्वाज्जीवोऽसन्नपि मोहाक्रान्तावस्थापन्नचैतन्यवत्त्वाज्जीव इति पक्षः । अज्ञानिजीवस्य मोहाक्रान्तचैतन्यस्वभावत्वात्प्रच्छन्नविज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वान्नाज्ञानिजीवो जीव इति परस्य शुद्धनिश्चयनयस्य पक्षः । इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारशुद्धनिश्चयनययोर्द्वौ 'अज्ञानिजीवो जीवो भवति' इति 'अज्ञानिजीवो जीवो न भवति' इति च द्वौ पक्षपातौ दृष्ट्या-सक्ती स्तः । यस्तत्त्ववेदी निर्विकल्पसमाधिद्वारेण शुद्धात्मस्वरूपस्यानुभविता वेत्ता च भवति स च्युत-पक्षपातो विनष्टनयद्वयजीवाजीवदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पस्तस्य क्षपकश्रेण्यारूढस्य शुद्धात्मस्वरूपस्यानुभ–वितुश्चिदात्मा नित्यं शुद्धात्मस्वरूपानुभूत्यनन्तरं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव शुद्धचैतन्य–स्वरूप एव समयसार एव वास्ति भवति ।

विवेचन— अज्ञानिजीव का स्वरूप अज्ञानमय-मोहाक्रान्तज्ञानमय होता है। अज्ञान ज्ञान की मोहाक्रान्तपर्याय है। पर्यायिज्ञान का तुच्छाभाव होनेपर उसकी अज्ञानरूप पर्याय का अभाव होता है; 'कारणाभावे कार्याभावः' इस वचन के अनुसार पर्यायी के अभाव में पर्याय का अभाव होता है। पर्याय में पर्यायी का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। अज्ञान ज्ञान का विभावभावात्मक परिणाम होनेसे अज्ञान ज्ञान से सर्वथा भिन्न न होनेके कारण तथा परिणाम और परिणामी में तादात्म्य का सद्भाव होनेके कारण जीव की अज्ञानात्मक अवस्था में चैतन्य का-ज्ञान का सद्भाव मानना ही पडता है। जिसप्रकार ज्ञान जानता है उसीप्रकार अज्ञान भी जानता है, फिर भले ही वह आत्मस्वरूप को विपर्यस्तरूप से जानता हो। अज्ञानावस्थापन्न चैतन्य-ज्ञान जीव का स्वाभाविकभाव नहीं हो सकता। मोहाक्रान्त चैतन्य या ज्ञान शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से स्वाभाविकभावरूप या परिणामिकभावरूप नहीं है; क्यों कि वह नैमित्तिक भाव है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वह मोहाक्रान्त ज्ञान जीव का स्वाभाविकभाव न होनेसे अज्ञानिजीव परमार्थतः जीव नहीं है। ऐसा होनेपर भी अज्ञानिजीव को जो जीव कहा जाता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। अतः अज्ञानिजीव को जीव कहना व्यवहारनय का पक्ष है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अज्ञानिजीव जीव नहीं है-कथंचित् जीवभिन्न पदार्थ है। अज्ञानिजीव को जीव नहीं कहना शुद्धनिश्चयनय का पक्ष है। इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियां होती हैं। जो निर्विकल्पसमाधि के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करके शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है उसके विकल्पात्मक नयदृष्टियों का अभाव होता है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के बिना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है ऐसे क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की आत्मा अनुभूतिकाल में और उसके अनंतर अनंतकालतक सर्वकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली या समयसाररूप होती है।

एकस्य सूक्ष्मो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्याऽस्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७७ ॥

अन्वयः— एकस्य सूक्ष्मः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ— स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा ग्राह्य होनेपर भी इंद्रियप्रत्यक्ष से ग्राह्य न होनेसे आत्मा जो सूक्ष्म कही जाती है वह व्यवहारनय का पक्ष है। स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा या अनुभवजन्यज्ञान के द्वारा ग्राह्य होनेसे 'आत्मा सूक्ष्म नहीं है' ऐसा जो कहा जाता है वह शुद्धनिश्चयनय का पक्ष है। इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्ष-आसक्तियां-अभिनिवेश होते हैं। जो स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है-उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में होनेवाली आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उस (क्षपकश्रेण्यारूढ) जीव की आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

त. प्र.— एकस्य व्यवहारनयस्येन्द्रियप्रत्यक्षाग्राह्यत्वादात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानग्राह्यत्वेऽपि जीवः सूक्ष्म इति पक्षः। परस्य शुद्धनिश्चयनयस्य तथा न सूक्ष्मोऽग्राह्यो नेति पक्षः, जीवस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानग्राह्यत्वात्। इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारनिश्चयनययोर्द्वौ 'जीवः सूक्ष्मो भवति' इति 'जीवः सूक्ष्मो न भवति' इति च द्वौ पक्षपातौ दृष्टयासक्ती स्तः। यस्तत्त्ववेदी निर्विकल्पसमाधिमग्नो भूत्वा शुद्धात्मस्वरूपानुभवद्वारेण शुद्धात्मस्वरूपस्य वेत्ता भवति स च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयसूक्ष्मासूक्ष्मदृष्टयभिनिवेशरूपविकल्पो भवति। तस्य च्युतपक्षपातस्य शुद्धात्मस्वरूपस्यानुभवितुरनुभूतिकाले तदनन्तरमनन्तकाले च नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन चिदात्मा खलु परमार्थतश्चिदेव शुद्धचैतन्यस्वरूप एव समयसाररूप एव वास्ति भवति।

विवेचन– अनादिकाल से आत्मा कर्मबद्ध हुई होनेसे यद्यपि कथंचित् मूर्तस्वरूप होती है तो भी शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अमूर्त ही होती है । इंद्रियां मूर्तिमान् द्रव्य को जानती हैं–अमूर्तद्रव्य को नहीं । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अमूर्त होनेसे उसको इंद्रियां नहीं जान सकती । आत्मा स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानगम्य होनेपर भी इंद्रियग्राहय न होनेसे सूक्ष्म कही जाती है । अतः स्वसंवेदनगम्य आत्मा को सूक्ष्म अर्थात् इंद्रियाग्राहय माना जाता है । यह कथन व्यवहारनय का पक्षरूप है । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानगम्य होनेसे सूक्ष्म अर्थात् अग्राहय नहीं है । आत्मा सूक्ष्म अर्थात् अग्राहय नहीं होती ऐसा जो कहा जाता है वह शुद्धनिश्चयनय का पक्ष है । इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियां होती हैं । जो निर्विकल्पसमाधि में मग्न होकर शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव करके शुद्ध आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानती है उस आत्मा के विकल्पात्मक नयदृष्टियों का अभाव हो जाता है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के बिना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति की प्राप्ति नहीं हो सकती । जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उस क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की आत्मा अनुभूतिकाल में और उसके अनंतर अनन्तकालतक नित्य अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली या समयसाररूप होती है ।

एकस्य हेतुः, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७८ ॥

अन्वयः– एकस्य हेतुः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ । यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति ।

अर्थ– आत्मा अपने विभावभावात्मक पूर्वपर्याय के व्ययरूप से विभावभावात्मक उत्तरपर्याय का और कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य के द्रव्यकर्मात्मकपर्याय का कारण–निमित्त होती है ऐसा जो कहा जाता है वह व्यवहारनय का पक्ष है । उक्त दोनों प्रकार की पर्यायों का आत्मा कारण–निमित्त नहीं होती ऐसा जो कहा जाता है वह शुद्धनिश्चयनय का पक्ष है । इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में-दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं । जो स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव कर उसको जानता है और जिसके व्यवहारनय की दृष्टि में और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में होनेवाले अभिनिवेश नष्ट हो गये होते हैं उस (क्षपकश्रेण्यारूढ) जीव की आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यस्वभाववाली अर्थात् समयसाररूप होती है ।

त. प्र – एकस्याशुद्धनिश्चयनयस्य शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपस्यात्मा हेतुर्विभावभावात्मकपूर्वपर्यायव्ययरूपेण विभावभावात्मकोत्तरपर्यायस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मपरिणामपरिणतेश्च निमित्तकारणमज्ञानान्वितविभावभावात्मकभावक्रोधादिरूपपरिणामस्य चोपादानकारण भवतीति पक्षः । शुद्धनिश्चयनयदृष्टया शुद्धस्यात्मनो विभावभावात्मकपरिणामपरिणतेरभावान्निमित्तोपादानकारणत्वासम्भवेऽपि जीवस्य निमित्तोपादानकारणत्वं व्यवहारनयदृष्टया सम्भवतीति भावः । अतः ‘आत्मा हेतुः’ इति व्यवहारनयस्य पक्षः । शुद्धस्यात्मनो निरञ्जनत्वान्निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽप्यभावाद्विभावभावात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भवाच्छुद्धनिश्चयनयदृष्टया शुद्ध आत्मा स्वविभावभावात्मकपरिणामानां निमित्तकारणमुपादानकारणं च कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरिणामपरिणतेस्सहकारित्वाभावाद्द्रव्यकर्मात्मकपरिणामानां निमित्तकारणं च न भवति । अत आत्मा हेतुर्न भवतीति शुद्धनिश्चयनयस्य पक्षः । इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारशुद्धनिश्चयनययोर्द्वौ ‘जीवो हेतुर्भवति’ इति ‘जीवो हेतुर्न भवति’ इति च द्वौ पक्षपातौ दृष्टया–

भवती स्तः। यस्तत्त्ववेदी शुद्धात्मस्वरूपानुभवजन्यज्ञानेन शुद्धात्मस्वरूपवेत्ता भवति स च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयहेत्वहेतुदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पो भवति। तस्य च्युतपक्षपातस्य शुद्धात्मस्वरूपस्यानुभवितुस्तत्स्वरूपानुभवजन्यज्ञानस्य क्षपकश्रेण्यारूढस्यात्मानुभूतिकाले तदनन्तरं चानन्तं कालं यावन्नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन चिदात्मा खलु परमार्थतश्चिदेव शुद्धज्ञानघनैकमात्रस्वभाव एवास्ति भवति।

विवेचन-- अनादिकाल से कर्मबद्ध हुआ होनेसे कर्म के निमित्त से जीव अज्ञानभावरूप से परिणत हुआ है। द्रव्यकर्म और भावकर्म इनमें होनेवाला निमित्तनैमित्तिकभाव बीजवृक्षन्याय से अनादिकाल से चला आया है। अज्ञानिजीव या उसका अज्ञानभाव कर्मोदयरूप निमित्त के मिल जानेपर भावक्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणाम के रूप से परिणत होनेवाला होनेसे भावक्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणाम जीवस्वामिक होते हैं। परिणाम और परिणामी इनमें तादात्म्य होनेसे--कथंचित् अभेद होनेसे अज्ञानिजीव का अज्ञानान्वित विभावभावात्मक परिणाम अपने व्ययरूप निमित्त से विभावभावात्मक अपने उत्तरपरिणाम का निमित्तकारण, अपने अज्ञानभाव के रूप से अपने भावक्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणाम का अज्ञानिजीव उपादानकारण और अपने भावक्रोधादिकषायरूप विभावभावात्मक परिणाम के रूप से अज्ञानिजीव कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल की द्रव्यकर्मरूपपरिणति में सहकारी होनेसे द्रव्यकर्मरूपपरिणति का निमित्तकारण होता है। इसप्रकार जीव का उपादानकारण और निमित्तकारण होना अशुद्धनिश्चय का अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय का पक्ष है; क्यों कि शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव उपादानकारण और निमित्तकारण नहीं होता। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव उपादानकारण और निमित्तकारण न होनेपर भी उसको जो उपादानकारणरूप और निमित्तकारणरूप माना जाता है वह उपचारप्रधान व्यवहारनय की दृष्टि से माना जाता है, फिर भले ही अज्ञानिजीव उपादानकारण और निमित्तकारण हो। शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करनेवाला ज्ञानिजीव कर्मोदयरूप निमित्त के मिल जानेपर भी विभावभावों के रूप से परिणत नहीं होता। विभावभावों के रूप से परिणत न होनेसे वह ज्ञानिजीव भावक्रोधादिरूप विभावभावों का उपादानकारण, पूर्वकालवर्तिविभावभावात्मकपरिणाम के व्यय के रूप से विभावभावात्मक उत्तरकालीन परिणाम की उत्पत्ति का निमित्तकारण और भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणाम के रूप से कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्य की द्रव्यकर्मरूपपरिणति का सहकारी होनेसे निमित्तकारण नहीं होता। शुद्ध जीव निरंजन होनेके कारण उसके कर्मबंध का अभाव होनेसे और वह अज्ञानभावशून्य होनेसे भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणाम के रूप से परिणत नहीं होता। विभावभावात्मकपरिणाम के रूप से परिणत न होनेसे वह उपादानकारण और निमित्तकारण नहीं हो सकता। शुद्ध जीव का और ज्ञानिजीव का उपादानकारण और निमित्तकारण न होना शुद्धनिश्चयनय का पक्ष है। इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहाररूप और शुद्धनिश्चयरूप दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियां होती हैं। जो निर्विकल्पसमाधि के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करके शुद्ध आत्मा के स्वरूप को पर्यायरूप से जानता है उस जीव के विकल्पात्मक नयदृष्टियों का अभाव होता है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के बिना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति की जीव को प्राप्ति होना असंभव है। जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उस क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की आत्मा अनुभूतिकाल में और उसके बाद अनन्तकालतक सर्वदा अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है; क्यों कि वह अविच्छिन्नरूप से शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करते रहता है।

> एकस्य कार्यं, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
> य तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७९ ॥

अन्वयः- एकस्य कार्यं, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ– अज्ञानिजीव के अज्ञानान्वित विभावभावात्मकपरिणाम कार्यरूप होते हैं और अज्ञानान्वित विभावभावात्मक परिणाम और अज्ञानी जीव इनमें तादात्म्य होनेसे अज्ञानिजीव भी कार्यरूप होता है। अज्ञानिजीव की विभावभावात्मकपरिणति का नाश होनेपर ही उसकी शुद्धावस्था अभिव्यक्त होनेवाली होनेसे शुद्धावस्था को प्राप्त हुई आत्मा भी कार्यरूप होती है। यह कथन अशुद्धनिश्चयनय का अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय का पक्षरूप है। शुद्ध आत्मा अज्ञानभावशून्य होनेसे अज्ञानान्वित विभावभावात्मक परिणाम के रूप से परिणत होनेवाली न होनेसे और अज्ञानभावशून्य होनेसे जब विभावरूप से परिणत नहीं होती तब उक्तप्रकार से वह कार्यरूप भी नहीं हो सकती। शुद्ध आत्मा की कार्यपरमात्मरूप से परिणति स्वयं शुद्ध होनेके कारण असंभव होनेसे भी वह कार्यरूप नहीं हो सकती। यह कथन शुद्धनिश्चयनय का पक्षरूप है। इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में–दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं। जो निर्विकल्पसमाधि में मग्न होकर स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव कर उसके स्वरूप को जानता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां–अभिनिवेश नष्ट हो गयी होती हैं ऐसे क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की आत्मा नित्य–काल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली या समयसाररूप होती है।

त. प्र.– अज्ञानिजीवस्याज्ञानभावात्मकपरिणामवत्त्वाद्भावक्रोधादिरूपाज्ञानोपादानकपरिणामव–त्त्वाच्च परिणामपरिणामिनोस्तादात्म्यात्कार्यात्मकविभावभावरूपपरिणामस्य परिणामिनो जीवात्कथ–ञ्चिद्भेदाभावाज्जीवस्याऽपि कथञ्चित्कार्यत्वम्। अज्ञानिजीवोपादानकविभावभावात्मकपरिणामव्यये समुपजायमानविज्ञानमात्रैकस्वभावजीवपरिणामोत्पत्तेस्तत्तादृक्परिणामस्य कार्यरूपत्वात्तस्य च परिणा–मिनो जीवात्कथञ्चिदभिन्नत्वादपि जीवस्य कार्यत्वम्। शुद्धावस्थापन्नजीवस्य कार्यपरमात्मरूपत्वात्क–थञ्चित्कार्यत्वमिति भावः। एतज्जीवस्य कार्यत्वमशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनय-रूपेण सम्भवति, न शुद्धनिश्चयनयदृष्ट्या, शुद्धजीवस्यैतादृक्कार्यात्मकपरिणतेरसम्भवात्। शुद्धजीवस्य विभावभावात्मकपरिणतेः, स्वयं परमात्मस्वरूपत्वात्पुनरपि कार्यपरमात्मरूपेण परिणतेश्चासम्भवान्न कथमपि कार्यत्वम्। एष जीवस्य कार्यत्वाभावश्शुद्धनिश्चयनयेन। इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारशुद्धनिश्चयनययोर्द्वौ 'जीवः कार्यं' इति 'जीवो न कार्यं' इति च द्वौ पक्षपातौ दृष्ट्यासक्ती स्तः। यस्तत्त्ववेदी निर्विकल्पसमाधौ निमग्नो भूत्वा वीतरागस्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपानु–भवरूपेण शुद्धात्मस्वरूपं विजानंश्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयकार्याकार्यदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पो भवति। तस्य क्षपकश्रेण्यारूढस्य च्युतपक्षपातस्य शुद्धात्मस्वरूपस्यानुभवद्वारेण वेत्तुश्शुद्धात्मस्वरूपानुभवकाले तदनन्तरमनन्तकाले च नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन चिदात्मा खलु परमार्थतश्चिदेव शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप एवास्ति भवति।

विवेचन– अज्ञानिजीव अनादिकाल से अज्ञानभावरूप से परिणत हुआ होनेसे भावक्रोधादिरूप अज्ञानोपादानक परिणाम के रूप से स्वयं परिणत होता है। परिणाम और परिणामी इनमें तादात्म्य होनेसे परिणाम परिणामी से अभिन्न होता है। अज्ञानभावरूप परिणाम और अज्ञानोपादानक अत एव अज्ञानात्मक भावक्रोधादिरूप परिणाम कार्यरूप होनेसे अज्ञानिजीव भी कथंचित् कार्यरूप होता है; क्यों कि वह अज्ञानभावरूप परिणाम से और अज्ञानो–पादानक अत एव अज्ञानात्मक भावक्रोधादिरूपपरिणाम से अभिन्न होता है। अज्ञानिजीवोपादानक विभावभावात्मक परिणाम का नाश होनेपर उत्पन्न–अभिव्यक्त होनेवाले विज्ञानघनमात्ररूप–एकमात्रस्वभाववाले जीव के शुद्धपरिणाम की उत्पत्ति होनेसे जीव का शुद्ध परिणाम कार्यरूप होनेसे और शुद्ध परिणाम परिणामी शुद्धजीव से कथंचित् अभिन्न होनेसे भी जीव कथंचित् कार्यरूप होता है। शास्त्रकारों ने केवलज्ञानिजीव को कार्यपरमात्मा कहा है। यह कथन व्यवहारनय की दृष्टि से किया गया है। जीव द्रव्यरूप होनेसे और द्रव्य अनादिनिधन होनेके कारण जीवद्रव्य वस्तुतः

कार्यरूप नहीं है । ऐसा होते हुए भी जीव को कार्यरूप कहा जाता है वह उसके परिणाम की दृष्टि की मुख्यता से कहा जाता है । इसलिये यह कथन व्यवहारनयाश्रित या अशुद्धनिश्चयनयाश्रित है यह स्पष्ट हो जाता है । शुद्धजीव का इसप्रकार के कार्यरूप से परिणत होना असंभव होनेसे, जीवद्रव्य द्रव्य होनेके कारण अनादिनिधन होनेसे और स्वयं शुद्ध होनेके कारण कार्यपरमात्मरूप से परिणत होना असंभव होनेसे वह कार्यरूप नहीं हो सकता । यह जीव की कार्यरूपता का अभाव शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से है । इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहाररूप और शुद्धनिश्चयरूप दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियां होती हैं । जो निर्विकल्पसमाधि के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करके शुद्ध आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानता है उसके विकल्पात्मक नयदृष्टियों का अभाव होता है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के बिना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति की प्राप्ति होना असंभव है । जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उसकी आत्मा अनुभूतिकाल में और उसके अनन्तर अनंतकालतक सर्वदा अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है ।

एकस्य भावो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥

अन्वयः– एकस्य भावः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ । यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति ।

अर्थ– औदयिकादिभावरूप परिणाम और अज्ञानिजीव इनमें तादात्म्य होनेसे जीव भावरूप है ऐसा अशुद्धनिश्चयनय का अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय का पक्ष है–दृष्टि है । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से औदयिकादिभाव परभाव होनेसे ज्ञानिजीव का उन भावों के रूप से परिणत होना असंभव होनेसे उनमें परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेके कारण जीव भावरूप नहीं है । यह शुद्धनिश्चयनय का पक्ष-दृष्टि है । इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में–दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं । जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है–उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है ।

त. प्र.– कर्मबन्धनबद्धत्वादज्ञानभावमापन्नस्याज्ञानिजीवस्य विशिष्टकर्मोदयादिरूपसहकारिकारणस्य विभावभावात्मकजीवपरिणामपरिणत्यनुकूलव्यापारकत्वे सति विभावभावात्मकपरिणामपरिणतस्य स्वोपादेयभूतविभावभावात्मकपरिणामानां स्वस्मात्कथञ्चिदभेदात्पर्यायार्थिकनयप्राधान्यापेक्षया भावरूपत्वाज्जीवो भाव इत्यशुद्धनिश्चयस्य शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपस्य पक्षः । शुद्धनिश्चयनयापेक्षया निरञ्जनत्वात्कर्मबन्धविकलत्वादज्ञानभावमनापद्यमानस्य ज्ञानिजीवस्य विशिष्टकर्मोदयादिसहकारिकारणस्य विभावभावात्मकजीवपरिणामपरिणत्यनुकूलव्यापाराभावे सति विभावभावात्मकपरिणामैरपरिणतस्योपादेयभूतविभावभावात्मकपरिणामानां स्वस्मात्सर्वथा भिन्नत्वाच्छुद्धनिश्चयनयप्राधान्यापेक्षया भावरूपत्वासम्भवाज्जीवो न तथा न भावरूप इति शुद्धनिश्चयनयस्य पक्षः। शुद्धनिश्चयनयापेक्षया परमात्मरूपत्वान्निरञ्जनत्वात्सहकारिकारणभूतकर्मोदयादेरभावान्न जीवस्य भावरूपत्वं कथञ्चनाऽपि सम्भवतीति भावः । एतज्जीवस्य भावरूपत्वमशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयरूपेण सम्भवति, न शुद्धनिश्चयनयदृष्ट्या, शुद्धजीवस्यैतादृग्भावात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भवात् । शुद्धजीवस्याज्ञानभावात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भवान्न भावरूपत्वम् । एवं जीवस्य भावरूपत्वाभावश्शुद्धनिश्चयनयापेक्षया । इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारशुद्धनिश्चयनय-

योर्द्वौ 'जीवो भावः' इति 'जीवो न भावः' इति च द्वौ पक्षपातौ दृष्ट्यासक्तौ न स्तः । यस्तत्त्ववेदी विकल्पविकलनिर्विकल्पसमाधौ निमग्नो भूत्वा शुद्धात्मस्वरूपचिन्तनात्मकध्यानैकतानस्सन् वीतरागस्व-संवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपानुभवद्वारेण शुद्धात्मस्वरूपं विजानंश्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयभावा-भावदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पो भवति, तस्य क्षपकश्रेण्यारूढस्य च्युतपक्षपातस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य तदनु-भवद्वारेण वेत्तुश्शुद्धात्मस्वरूपानुभवनकाले तदनन्तरमनन्तकाले च नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन चिदात्मा खलु परमार्थतश्चिदेव शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप एवास्ति भवति ।

विवेचन– अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेसे यह आत्मा अनादिकाल से अज्ञानभाव के रूप से परिणत हुई है । यह अज्ञानिजीव द्रव्यरूप होनेसे परिणमनशील होनेके कारण परिणमनाभिमुख होती है । इसके परिणमनाभिमुख होनेसे विशिष्ट कार्यरूप सहकारिकारण का अज्ञानिजीव के विभावभावात्मकपरिणाम के रूप से होनेवाली परिणति-क्रिया के अनुकूल उदयादिक्रियारूप व्यापार जब अभिव्यक्त होता है तब वह उपादानकर्ता होकर क्रोधादिरूप विभावभावों के रूप से परिणत होता है । अज्ञानिजीव उन विभावभावों का उपादानकर्ता होनेसे उन विभावभावों में उसके अज्ञानभाव का अन्वयरूप से सद्भाव होनेसे अज्ञानिजीव और उपादेयभूत अज्ञानान्वित परिणाम इनमें तादात्म्य -कथंचित् अभेद होनेसे यह अज्ञानिजीव भावरूप होता है–औदयिकादिविभावरूप होता है। अग्नि के द्वारा आत्यंतिकरूप से तपाया गया लोहपिंड दाहक बन जानेसे गर्म कहा जाता है । उसकी यह गर्मी नैमित्तिकभाव होनेपर भी उस लोहे का ही परिणाम होता है और उससे अभिन्न होता है । अज्ञानिजीव का क्रोधादिरूप विभावभावात्मक परिणाम कर्मोदयादिरूप निमित्त के कारण उत्पन्न होते हैं । इसलिये वे नैमित्तिकभावरूप हैं । वे नैमित्तिकभावरूप होनेपर भी अज्ञानिजीव के या उसके अज्ञानभाव के उपादेय होनेसे वे अज्ञानिजीवस्वामिक ही होते हैं । वे अज्ञानिजीवोपादानक या अज्ञानभावोपादानक होनेसे अज्ञानिजीव से या उसके अज्ञानभाव से अभिन्न होते हैं और उससे अभिन्न होनेसे अज्ञानिजीव क्रोधादिभावरूप हो जाता है । क्रोधादिभावरूप से परिणत हो जानेसे वह भाव कहा जाता है । अतः जीव भावरूप होता है ऐसा जो कहा जाता है वह अशुद्धनिश्चयनयरूप व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव के कर्मबंध का अभाव होता है और कर्मबंध के अभाव के कारण उसके अज्ञानभाव का भी अभाव होता है । अज्ञानभाव का अभाव और कर्मबंध का अभाव होनेसे उपादान का और निमित्त का अभाव हो जानेसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से विभावभावात्मकपरिणाम के रूप से जीव परिणत नहीं होता । विभावभावा-त्मकपरिणाम अज्ञानिजीवस्वामिक होनेसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वे जीव के भाव नहीं हैं–वे परभाव हैं । वे परभाव अर्थात् पररूप अज्ञानिजीव के भाव होनेसे उनका शुद्ध जीव के साथ तादात्म्य–कथंचित् अभेद नहीं हो सकता । उनका शुद्धजीव के साथ तादात्म्य न होनेसे शुद्धजीव भावरूप नहीं हो सकता । अतः शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव भावरूप नहीं है । सारांश, व्यवहारनय की दृष्टि से जीव भावरूप होता है और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वह भावरूप नहीं भी होता । इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहाररूप और शुद्धनिश्चयरूप दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियां होती हैं । जो निर्विकल्पसमाधि के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करके शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति की प्राप्ति होना असंभव है । जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उस क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की दृष्टि में अनुभूतिकाल में और उसके अनंतर अनंतकालतक सर्वदा अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है ।

एकस्य चैको, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८१ ।।

अन्वयः– एकस्य एकः च, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ । यः तत्त्ववेदी च्युत-पक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति ।

अर्थ– जीव की चाहे द्रव्यपर्यायें उत्पन्न हुई हों या चाहे गुणपर्यायें उत्पन्न हुई हों उत्पादरूप, व्ययरूप और स्थितिरूप पर्यायों में क्षणभेद न होनेसे अर्थात् तीनों पर्यायें एकक्षणवर्ती होनेसे और वे पर्यायें जीवद्रव्य से अभिन्न होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से जीव एक ही होता है और पर्यायों की दृष्टि से प्रतिपर्याय भिन्नावस्था होनेसे व्यवहारनय की दृष्टि से जीव एक–एकरूप नहीं होता । अथवा विज्ञानघनमात्ररूप एकस्वभाववाला अर्थात् अमेचक होनेसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव एकरूप होता है और व्यवहारनय की दृष्टि से अनेकधर्मात्मक होनेसे अर्थात् मेचक होनेसे वह व्यवहारनय की दृष्टि से एकरूप नहीं है । इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्पर–विरुद्ध पक्षों में–दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं । जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है–उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है ।

त. प्र.– जीवद्रव्यस्योत्पादव्ययस्थित्यात्मकपर्यायत्रितयस्य क्षणभेदाभावात्तद्द्रव्यगुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वाच्चैकत्वं निश्चयनयापेक्षयाऽवगन्तव्यम् । तथाहि–य एव जीवस्योत्तरपर्यायोत्पत्तिक्षण स एव तत्पूर्वपर्यायविनाशक्षणः स एव च पूर्वोत्तरपर्यायाधिरूढस्य जीवत्वस्य स्थितिक्षणः । उत्तरानन्तरपूर्वपर्यायजीवत्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि जीव एव, न द्रव्यान्तरं, उत्पादव्ययध्रौव्याणामात्मनोऽभिन्नत्वात् सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकनिश्चलनयविकल्पविकलस्वशुद्धात्मानुभूतिरूपवीतरागचारित्रपर्यायेणोत्पादस्य य एव क्षणस्स एव भावक्रोधादिरूपपरद्रव्यैकीभावत्वपरिणामपरिणत्यात्मकचारित्रपर्यायेण विनाशस्य काल. । स एव च पूर्वोत्तरपर्यायाश्रयात्मद्रव्यत्वावस्थात्मकपर्यायेण स्थितेः क्षणः । जीव एकसमये भङ्गत्रयेण परिणमतीति सञ्ज्ञालक्षणप्रयोजनादिना भेदे सत्यपि जीवप्रदेशभेदाभावात्त्रयमप्येकमेव द्रव्यं भवतीति जीवस्यैकत्वमवसेयम् । एवमुत्पादव्ययध्रौव्याणां क्षणभेदाभावात्परिणमनस्वभावस्यात्मनो निश्चयनयदृष्ट्यैकत्वमेव । द्रव्यगुणपर्यायाणां सञ्ज्ञालक्षणप्रयोजनादिना भेदे सत्यपि प्रदेशभेदाभावादेकत्वमेव जीवद्रव्यस्य । तथाहि–निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपापूर्वानन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदस्वभावद्रव्यपर्यायात्मकमोक्षपर्यायस्योत्पादे मोक्षपर्यायोपादानकारणभूततदन्तरपूर्वविभावद्रव्यपर्यायस्य च विनाशे सत्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनोत्पादविनाशवैकल्यात्परमात्मद्रव्यस्यैकत्वम् । देवादिरूपविभावद्रव्यपर्यायस्योत्पादे मनुष्यादिरूपविभावद्रव्यपर्यायस्य च विनाशे सत्यपि निश्चयनयेनोत्पादविनाशविकलत्वाज्जीवद्रव्यस्यैकत्वम् । उत्तरावस्थास्थितजीवस्वामिकज्ञानगुणेनोत्पादे पूर्वावस्थास्थितजीवस्वामिकज्ञानगुणेन विनाशे च सत्यपि द्रव्यत्वगुणेनावतिष्ठमानं जीवद्रव्यमेकमेव भवति । श्रुतज्ञानादिविभावगुणेनोत्पादे मतिस्मृत्यादिगुणेन विनाशे च सत्यपि जीवद्रव्यत्वगुणेनावतिष्ठमानं जीवद्रव्यमेकमेव भवति । एवं निश्चयनयेन जीवस्यैकत्वम् । पर्यायार्थिकनयापराभिधानव्यवहारनयप्राधान्येन पूर्वोत्तरपर्यायाणां जीवस्वामिकानां सञ्ज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेनानेकत्वाज्जीवद्रव्यस्य स्वाभिन्नपर्यायस्यानेकत्वम् । एवं शुद्धनिश्चयनयविवक्षया निश्चयनयविवक्षया वा जीवस्यैकत्वं व्यवहारनयविवक्षया चानेकत्वमिति भावः । इत्येको जीव इति निश्चयनयस्य पक्षो नैको जीव इति च व्यवहारनयस्य पक्षः । इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारनिश्चयनययोर्द्वौ 'जीव एकः' इति 'जीवो नैकः' इति च द्वौ पक्षपातौ दृष्ट्या–सक्तौ स्त । यस्तत्त्ववेदी विकल्पविकलनिर्विकल्पसमाधौ निमग्नो भूत्वा शुद्धात्मस्वरूपचिन्तनात्मकध्यानैकतानस्सन्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपानुभवद्वारेण शुद्धात्मस्वरूपं विजानंश्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयजीवैकत्वानेकत्वदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पो भवति । तस्य क्षपकश्रेण्यारूढस्य च्युत-

पक्षपातस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य तदनुभवद्वारेण वेत्तुश्शुद्धात्मस्वरूपानुभवकाले तदनन्तरमनन्तकाले च नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन चिदात्मा खलु परमार्थतश्चिदेव शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप एवास्ति भवति ।

विवेचन— पदार्थ की द्रव्यपर्यायरूप और गुणपर्यायरूप परिणतियां होती हैं । जीव पदार्थ है । अतः उसकी भी द्रव्यपर्यायरूप और गुणपर्यायरूप परिणतियां होती हैं । पदार्थ की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक जो पर्यायें होती हैं उनमें कालभेद न होनेसे और उसकी द्रव्यगुणपर्यायें एकरूप होनेसे निश्चयनय की दृष्टि से पदार्थ एकरूप होता है । इसीप्रकार जीवपदार्थ भी एकरूप होता है । जीव की उत्तरपर्याय की उत्पत्ति का जो क्षण होता है वही क्षण उसकी पूर्वपर्याय के नाश का होता है और वही क्षण पूर्वोत्तरपर्यायों में अन्वित होकर रहनेवाले जीव की स्थिति का होता है । उत्पादरूप उत्तरपर्याय में और व्ययरूप अनंतरपूर्वपर्याय में जीव का सद्भाव होनेसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य जीव ही होते हैं, अन्यद्रव्य नहीं होते; क्यों कि उत्पादव्ययध्रौव्य का आत्मा से भेद नहीं होता । सम्यग्दर्शनज्ञान-पूर्वक निश्चल नयविकल्परहित शुद्ध आत्मा की जो अनुभूति होती है उसरूप वीतरागचारित्रपर्याय की उत्पत्ति का जो क्षण होता है वही भावक्रोधादिरूपपरद्रव्य के साथ एकीभावस्वरूप परिणाम के रूप से परिणत होनारूप चारित्रपर्याय के रूप से विनाश होनेका काल होता है और वही पूर्वोत्तरपर्यायाश्रयभूत आत्मद्रव्य-स्वावस्थात्मकपर्याय के रूप से स्थिति का काल होता है । जीव एक समय में उत्पादव्ययध्रौव्यरूप से परिणत होनेवाला होनेसे संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि के कारण उनका आत्मा से भेद होनेपर भी प्रदेशभेद न होनेसे उन सभी का एकजीवद्रव्यत्व ही है । इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपपर्यायों में क्षणभेद न होनेसे और प्रदेशभेद न होनेसे परिणामी आत्मा का निश्चयनय की दृष्टि से एकत्व ही सिद्ध हो जाता है । निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूप अनंतज्ञानसुखादि अपूर्व गुणों का स्थान, स्वभावद्रव्यपर्यायात्मक मोक्षपर्याय का उत्पाद और मोक्षपर्याय की उपादान-कारणभूत अनंतरपूर्वपर्याय का विनाश होनेपर भी शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से उत्पादविनाशरहित होनेसे परमा-त्मद्रव्य एकरूप ही होता है । देवादिरूपविभावद्रव्यपर्याय का उत्पाद और मनुष्यादिरूपविभावद्रव्यपर्याय का विनाश होनेपर भी निश्चयनय की दृष्टि से उत्पादरहित और विनाशरहित होनेसे जीवद्रव्य का एकत्व सिद्ध हो जाता है । उत्तरावस्थापन्न जीव के ज्ञानगुण का उत्पाद और पूर्वावस्थापन्न जीव के ज्ञानगुण का विनाश होनेपर भी जीवद्रव्यत्व-गुण के रूप से विद्यमान होनेवाला जीवद्रव्य एक ही होता है । श्रुतज्ञानादिरूप विभावगुण का उत्पाद और मति-स्मृत्यादिरूप विभावगुण का नाश होनेपर भी जीवद्रव्यत्वगुण के रूप से विद्यमान होनेवाला जीवद्रव्य एक ही होता है । इसप्रकार निश्चयनय की दृष्टि से जीव का एकत्व सिद्ध हो जाता है । पर्यायार्थिकनयज्ञापक व्यवहारनय की विवक्षा से जीव की पूर्वोत्तरपर्यायों में संज्ञालक्षणप्रयोजनादि के भेद के कारण भेद होनेसे जिससे पर्याय भिन्न नहीं होती ऐसे जीवद्रव्य का अनेकत्व सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार शुद्धनिश्चयनय की या निश्चयनय की विवक्षा से जीव का एकत्व सिद्ध हो जाता है और व्यवहारनय की विवक्षा से उसका अनेकत्व सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार 'जीव एक होता है' यह निश्चयनय का पक्ष है और 'जीव एक नहीं होता' यह व्यवहारनय का पक्ष है । इस-प्रकार आत्मा के विषय में दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्ष होते हैं । जो विकल्पशून्य निर्विकल्पसमाधि में निमग्न-होकर शुद्धात्मस्वरूप का चिंतनरूप और अनुभवनरूप आत्मध्यान में एकतान होकर वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरूपप्रत्यक्ष से शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है उसके दोनों नयों के पक्षों का अभाव हो जाता है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के बिना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति की प्राप्ति होना असंभव है । जिस शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उस क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की दृष्टि में निर्विकल्पसमाधि में और उसके अनंतर अनंतकालतक सर्वदा अविच्छिन्नरूप से आत्मा परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है ।

एकस्य सान्तो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
तस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८२ ॥

अन्वयः– एकस्य सान्तः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ । यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति ।

अर्थ– पर्यायें उत्पादव्ययात्मक होनेसे और पर्यायी से अभिन्न होनेसे पर्यायी जीवद्रव्य पर्यायार्थिकनय की अर्थात् व्यवहारनय की विवक्षा से सान्त होता है । पर्यायें सान्त होनेपर भी पर्यायों में अन्वित होनेवाला जीव द्रव्यरूप होनेसे और द्रव्य अविनश्वर होनेसे द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से जीव सान्त नहीं होता । इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहार और निश्चय इन दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में–दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं । जो स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है–उसका अनुभव करता है और जिसकी व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है ।

त. प्र.– अर्थव्यञ्जनपर्यायाणामुत्पादव्ययात्मकत्वात्पर्यायपर्यायिणोस्तादात्म्यात्कथञ्चिदभेदात्पर्यायिणः पदार्था अग्निसन्तापितलोहपिण्डवत्पर्यायभावमापद्यन्त इति लोकप्रतीतम् । पर्यायभावमापन्नत्वात्पर्यायाणां सान्तत्वात्पर्यायपर्यायिणोरभेदात्पर्यायिणः पदार्थस्य कथञ्चित्सान्तत्वं सिध्यति । जीवस्य पर्यायिपदार्थत्वात्क्रोधादिमनुष्यादिरूपगुणद्रव्यपर्यायाणामर्थपर्यायाणां चोत्पादव्ययात्मकत्वात्सान्तत्वात्क्रोधादिमनुष्यादिगुणद्रव्यपर्यायाणामर्थपर्यायाणां च पर्यायिणो जीवद्रव्यात्कथञ्चिदभेदाज्जीवस्य पर्यायार्थिकनयापराभिधानव्यवहारनयविवक्षया सान्तत्वाज्जीवः सान्तः । जीवद्रव्यस्य परिणामित्वाद्द्रव्यगुणपर्यायवत्वेऽर्थपर्यायवत्वे चापि पर्यायेषु तस्यान्वयित्वात्पर्यायव्यये सत्यपि जीवस्य द्रव्यत्वाद्विनाशासम्भवाद्द्रव्यार्थिकनयापराभिधाननिश्चयनयापेक्षया सान्तत्वाभावान्न जीवः सान्तः । अतो व्यवहारनयापेक्षया जीवः सान्तो निश्चयनयापेक्षया च न तथा न सान्त इति भावः । 'शान्तः' इति पाठान्तरे व्याख्यानं यथा–शुद्धजीवस्य निरञ्जनत्वाच्छुद्धत्वात्क्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भवात्तादृग्विकाराभावाच्छुद्धनिश्चयनयापेक्षया जीवः कथञ्चिच्छान्तः । संसारिणो जीवस्य साञ्जनत्वादशुद्धत्वादज्ञानभावात्मकपरिणामपरिणतेस्सम्भवात्क्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणामपरिणतेस्सम्भवात्तादृग्विकारसम्भवादशुद्धनिश्चयनयापराभिधानव्यवहारनयापेक्षया न जीवः कथञ्चिच्छान्तः । अतो निश्चयनयापेक्षया जीवः शान्तोऽशुद्धनिश्चयनयापराभिधानव्यवहारनयापेक्षया तु न जीवः शान्त इति भावः । इत्यमुना प्रकारेण चिदात्मनो विषये द्वयोर्व्यवहारनिश्चयनययोर्द्वौ 'जीवः सान्तः शान्तो वा' इति 'जीवो न सान्तः शान्तो वा' इति च द्वौ पक्षपातौ दृष्टयासक्ती स्तः । यस्तत्त्ववेदी नयादिविकल्पविकलनिर्विकल्पसमाधौ निमग्नीभूय शुद्धात्मस्वरूपचिन्तनात्मकध्यानैकतानस्सन्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपानुभवद्वारेण शुद्धात्मस्वरूपं विजानंश्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयसान्तत्वासान्तत्वदृष्टयासक्तिरूपविकल्पो भवति । तस्य क्षपकश्रेण्यारूढस्य च्युतपक्षपातस्य शुद्धात्मरूपस्य तदनुभवद्वारेण वेत्तुर्निर्विकल्पसमाधौ शुद्धात्मस्वरूपानुभवकाले तदनन्तरमनन्तकाले च नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन च चिदात्मा खलु परमार्थतश्चिदेव शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप एवास्ति भवति ।

विवेचन– संसार का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होता है । परिणमशील होनेसे पदार्थ के सूक्ष्म अर्थात् प्रतिसमय होनेवाली इंद्रियागोचर और स्थूल अर्थात् दीर्घकालवर्ती इंद्रियगोचर पर्यायें होती हैं । ये पर्यायें द्रव्यपर्यायरूप और गुणपर्यायरूप होती हैं । पर्यायें उत्पादव्ययात्मक होनेसे विनश्वर अर्थात् सान्त होती हैं । पर्याय और पर्यायी इनमें तादात्म्य होनेसे कथंचित् अभेद होता है । पर्यायार्थिकनय की अर्थात् व्यवहारनय की विवक्षा से पदार्थ सान्त

कहा जाता है; क्यों कि उसकी पर्यायें सान्त होती हैं और पर्याय और पर्यायी इनमें कथञ्चित् अभेद होता है। जीव पदार्थ होनेसे परिणमनशील होता है और परिणमनशील होनेसे वह द्रव्यगुणपर्यायों के रूप से परिणत होता है। जीव और उसकी पर्यायें इनमें तादात्म्य होनेसे कथंचित् अभेद होता है। पर्यायार्थिकनय की अर्थात् व्यवहारनय की विवक्षा से जीव सान्त कहा जाता है; क्यों कि उन दोनों में कथंचित् अभेद होता है और उसकी पर्यायें सान्त होती हैं। संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादि के भेद से पर्याय और पर्यायी इनमें कथंचित् भेद होता है। पर्यायें विनश्वर होनेपर भी उनमें अन्वित हुआ उपादानभूत पदार्थ अविनश्वर होनेसे द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से पदार्थ सान्त नहीं होता। संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादि के भेद से जीव की द्रव्यगुणपर्याय और अर्थपर्याय तथा जीव इनमें कथंचित् भेद होता है। पर्यायें विनश्वर होनेपर भी उनमें अन्वित हुआ जीव पदार्थ अविनश्वर होने से द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से पदार्थ सान्त नहीं होता। इसप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से जीव सान्त होता है और निश्चयनय की दृष्टि से जीव सान्त नहीं भी होता। 'सान्त' इस शब्द के स्थानपर 'शान्तः' ऐसा जो दूसरा पाठ मिलता है उसको दृष्टि के सामने रखकर खुलासा करना आवश्यक है। खुलासा - शुद्धजीव द्रव्यकर्म से और नोकर्म से रहित होनेसे शुद्ध होता है। शुद्ध होनेसे अज्ञानभावात्मकपरिणाम का उसके अभाव होता है। उसके अज्ञानभावरूप परिणाम का अभाव होनेसे उनकी क्रोधादिरूपविभावात्मकपरिणाम के रूप से होनेवाली परिणति का अभाव होता है। ये क्रोधादिभाव विकाररूप होते हैं। इसप्रकार के विकारों का अभाव होनेसे जीव निश्चयनय की दृष्टि से शान्त कहा जाता है। संसारी जीव द्रव्यकर्म से युक्त होने से, नोकर्म से और भावकर्म से युक्त होता है। कर्मबद्ध हुआ होनेसे वह अज्ञानभावरूप से परिणत हुआ होता है। इस अज्ञानभावरूप उपादान से या अज्ञानिजीवरूप उपादान से विशिष्टकर्म का उदयादिरूप निमित्त मिल जानेपर परिणमनाभिमुख संसारी जीव भावक्रोधादिरूपविभावभावात्मकपरिणाम के रूप से परिणत हो जाता है। ये विभावभावात्मकपरिणाम और संसारी जीव इनमें अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अभेद होनेसे जीव विकारसहित होनेके कारण शांत नहीं कहा जा सकता। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से जीव अशांत न होनेपर भी अर्थात् शान्त होनेपर भी उसको जो अशांत कहा जाता है वह उपचार से अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है। इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहाररूप और निश्चयरूप दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियां होती हैं। जो निर्विकल्पसमाधि के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करके शुद्ध आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानता है उसके विकल्पात्मकनयदृष्टियों का अभाव होता है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के बिना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति को प्राप्ति होना असंभव है। जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उसकी दृष्टि में उसकी आत्मा निर्विकल्पसमाधिकाल में और उसके अनंतर अनंतकालतक सर्वदा अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

एकस्य नित्यो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८३ ।।

अन्वय :- एकस्य नित्यः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ - एक नय की अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से या निश्चयनय की दृष्टि से जीव नित्य है। दूसरे अर्थात् पर्यायार्थिकनय की या व्यवहारनय की दृष्टि से जीव नित्य नहीं है। (परिणामी होनेसे पर्यायवान् होनेके कारण पर्यायों के नाश से-व्यय से उसका भी एक प्रकार से नाश होनेसे वह नित्य नहीं है अर्थात् विनश्वर है।) इसप्रकार आत्मा के विषय में निश्चय और व्यवहार इन दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं। स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जो जानता है-उसका अनुभव करता है और जिसकी निश्चयनय की दृष्टि में और व्यवहारनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती है उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

त. प्र. — परिणामस्वभावत्वात्क्रमभाविपर्यायपरम्परायां स्वस्वरूपेणान्वितत्वात्कदाचनाऽपि विनाशासम्भवात्स जीवो नित्य इत्येकस्य द्रव्यार्थिकनयापराभिधाननिश्चयनयस्य पक्ष ऐकान्तिकी दृष्टिः। जैनदृष्टया तस्य नित्यत्वेऽपि साङ्ख्यादिमतवन्न तस्य कौटस्थ्यमिति मनसि विधेयं सुधीभिः। स्वरूपेण सदा स्वीयसर्वपर्यायेषु विद्यमानत्वात्तत्पर्यायरूपेण स्वयं पर्यायात्मकत्वात्पर्यायस्य विनश्वरत्वात्तस्यापि विनश्वरत्वात्स न नित्य इति परस्य पर्यायार्थिकनयापराभिधानव्यवहारनयस्य पक्ष ऐकान्तिकी दृष्टिः। जैनदृष्टया तस्य कथञ्चिदनित्यत्वेऽपि ताथागताभिमतवन्न तस्य सर्वथा क्षणिकत्वमित्यवसेयम्। आत्मनो द्रव्यत्वात्स नित्यानित्यस्वरूपः, न केवलं नित्यो न चानित्यः। स परिणामिनित्य इत्यर्थः। इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्निश्चयव्यवहारनययोर्द्वौ पक्षपातौ दृष्टयासक्ती स्तः। यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण शुद्धात्मस्वरूपस्य वेत्ता स विज्ञानघनमेकस्वरूपत्वाच्छुद्धात्मनो नयद्वयस्य श्रुतज्ञानावयवभूतत्वाद्विज्ञानान्वयविकलत्वाद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभूतौ विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयनित्यानित्यत्वदृष्टयासक्तिरूपविकल्पस्तत्स्यात्मनस्तत्त्ववेदिनश्चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रस्वभाव एवास्ति भवति।

विवेचन :— जीव परिणामस्वभाववाला अर्थात् पर्यायरूप से परिणत होनेके स्वभाव से युक्त द्रव्य है। जो जो द्रव्य होता है वह परिणामी है। इस स्वभाव के कारण क्रम से जितनी भी पर्यायें उत्पन्न होती हैं। उन सभी अपनी पर्यायों में जीव स्वस्वरूप से अन्वित होनेवाला होनेसे उसका तुच्छाभावरूप या अत्यंताभावरूप विनाश होना असंभव होनेसे वह नित्य है। इस प्रकार यह द्रव्यार्थिकनय का अर्थात् निश्चयनय का पक्ष—अभिनिवेश है। सांख्य और वेदान्ती आत्मा को परिणामिनित्य न मानकर कूटस्थनित्य मानते हैं। जैनों को आत्मा का कथंचित् नित्यत्व ग्राह्य होनेपर भी उसका कूटस्थनित्यत्व जैनों की दृष्टि में ग्राह्य नहीं है; क्यों कि यदि आत्मा को कूटस्थनित्य माना तो उसमें दिखाई देनेवाले अवस्थाकृत भेदों का अभाव हो जायगा और उसके बंधावस्था का और मुक्तावस्था का अभाव हो जायगा। सांख्यों ने भी पुरुष के बंध का और मोक्ष का अभाव माना है। अपनी सभी पर्यायों में स्वरूप से सदा अन्वित होनेसे पर्यायरूप से जीव परिणत हो जाता है। पर्यायरूप से परिणत होनेपर वह स्वयं पर्यायरूप होता है। क्रोधरूप से परिणत हुआ जीव क्रोधरूप होता है और क्रोधरूप पर्याय विनश्वर होनेसे जीव भी कथंचित् विनश्वर होता है। कथंचित् विनश्वर होनेसे वह कथंचित् अनित्य होता है—सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं होता। जीव का कथंचित् अनित्य होना पर्यायार्थिकनय का अर्थात् व्यवहारनय का पक्ष है। व्यवहारनय की दृष्टि से यद्यपि जैन जीव को कथंचित् अनित्य मानते हैं तो भी बौद्धों के समान सर्वथा अनित्य—क्षणिक नहीं मानते; क्यों कि यदि जीव को सर्वथा अनित्य—क्षणिक माना तो उसको सर्वथा विनश्वर मानना पडेगा। जीव द्रव्य होनेसे उसका तुच्छाभावरूप विनाश नहीं होता। सत् का तुच्छाभावरूप विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। यदि जीव का सर्वथा विनाश माना तो 'यह वही है' इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का अभाव हो जायगा। 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति लोक में प्रसिद्ध है। अतः आत्मा को सर्वथा विनश्वर नहीं माना जा सकता। सारांश जीव कथंचित् नित्य भी और कथंचित् अनित्य भी है — द्रव्यार्थिक या निश्चयनय की दृष्टि से नित्य है और व्यवहारनय की दृष्टि से अनित्य है। इसप्रकार जीवद्रव्य नित्यानित्यात्मक है। इसप्रकार जीव के विषय में व्यवहाररूप या निश्चयरूप दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियां होती हैं। जो निर्विकल्पसमाधि के या स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव करके शुद्ध आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानता है उसके विकल्पात्मक नयवृत्तियों का अभाव होता है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के विना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति की प्राप्ति होना असंभव। दूसरी बात यह है कि जिससमय जीव आत्मानुभूति में निमग्न होता है उससमय वह विज्ञानघनस्वरूप बन जाता है। विज्ञानघनरूप परिणति में श्रुतज्ञानांशभूत नयविकल्पों का अंतर्भाव

होना असंभव है; क्यों कि श्रुतज्ञान क्षायोपशमिकभावरूप होता है और विज्ञान क्षायिकभावरूप होता है। जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उस क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की दृष्टि में उसकी आत्मा निर्विकल्पसमाधिकाल में और उसके अनंतर अनंतकालतक सर्वथा अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

एकस्य वाच्यो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ८४॥

अन्वय :— एकस्य वाच्यः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ :— अनंतधर्मों का जिस के साथ अविनाभाव होता है और जिसका जीव के साथ तादात्म्य-अभेद होता है ऐसा जीव का असाधारणधर्मभूत जो ज्ञान उसका जीव से उपचार से भेद करके उसके द्वारा जीव का कथन किया जाना संभव होनेसे जीव व्यवहारनय की दृष्टि से कथंचित् वाच्य-निर्वचनीय-प्रतिपाद्य होता है। ज्ञान का जीव के साथ तादात्म्य होनेसे उसका वस्तुतः जीव से भेद करना असंभव होनेसे उसके द्वारा जीव का प्रतिपादन किया जाना असंभव होनेसे जीव निश्चयनय की दृष्टि से कथंचित् वाच्य-निर्वचनीय-प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। अतः 'जीव वाच्य है' यह व्यवहारनय का पक्ष है और 'जीव वाच्य नहीं है' यह निश्चयनय का पक्ष-दृष्टि है। इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहार और निश्चय इन दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में-दृष्टियों में आसक्तियां-अभिनिवेश होती हैं। स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करके उस ज्ञानके द्वारा जो जानता है और जिसकी क्षायोपशमिकभावभूत श्रुतज्ञान के अंशरूप व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

त. प्र. :— ज्ञानमात्मनोऽसाधारणो धर्मः, तस्य परपदार्थेभ्यो जीवस्य व्यावर्तकत्वात्। तेन ज्ञानगुणेनात्मस्वामिकानामनन्तधर्माणामविनाभावः। तदविनाभूतानन्तधर्मज्ञानमात्मना परमार्थतस्तादात्म्यमापन्नमप्युपचारेणात्मनो विभिद्य तन्मुखेनानन्तधर्मप्रतिपादनसम्भवादनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुभूतस्यात्मनः प्रतिपादनोपपत्तेर्जीवो वाच्यः। एतच्च जीवस्य वाच्यत्वं व्यवहारनयदृष्ट्या सम्भवति, वस्तुतो ज्ञानिनोऽभिन्नस्य ज्ञानगुणस्योपचारेण भेदं विभाव्य ज्ञानद्वारेणात्मनः प्रतिपाद्यत्वोपपत्तेः। ज्ञानज्ञानिनोरन्योन्यतादात्म्यस्य सद्भावाज्ज्ञानस्य ज्ञानिनः परमार्थतो भेदस्य विभावनस्याशक्यानुष्ठानत्वाज्ज्ञानमुखेनानन्तधर्मण आत्मनः प्रतिपाद्यत्वाघटनान्न जीवो वाच्यः। एतज्जीवस्यानिर्वचनीयत्वं निश्चयनयदृष्टिमूलकं यतस्ततोऽय निश्चयनयस्य पक्षः। इत्यनेन प्रकारेण चिति विज्ञानघनस्वभावात्मनो विषये द्वयोर्निश्चयनयव्यवहारनययोर्द्वौ पक्षपातौ परस्परविरुद्धदृष्ट्यासक्तौ स्तः। यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण विज्ञानघनस्वभावात्मकशुद्धात्मस्वभावस्य ज्ञाता स विज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वाच्छुद्धात्मनस्तज्ज्ञानस्य च क्षायिकभावरूपत्वान्नयद्वयस्य च क्षायोपशमिकभावभूतश्रुतज्ञानांशभूतत्वाद्विज्ञानान्वयवैकल्याद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभूतिकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयवाच्यावाच्यत्वदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनः क्षपकश्रेण्यारूढस्य चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रस्वभाव एवास्ति भवति।

विवेचन :– ज्ञान आत्माका असाधारणधर्म है; क्यों कि वह परपदार्थों को जीव से या जीव को परपदार्थों से व्यावृत्त करता है–पृथक् बताता है। आत्मा अनंतधर्मात्मक होती है। आत्मा के उन अनंतधर्मों का आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान के साथ अविनाभाव होता है। उन अनंतधर्मों का ज्ञान के साथ अविनाभाव होनेसे ज्ञान के ग्रहण से उन अनंतधर्मों का भी ग्रहण हो जाता है। यद्यपि आत्मा के स्वभावभूत ज्ञानधर्म का आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध अनादि से बना हुआ है तो भी उसका स्वाश्रयभूत आत्मा से उपचार से भेद किया जाता है–वस्तुतः नहीं। इस-प्रकार जिसका उपचार से भेद किया जाता है ऐसे आत्मा के असाधारणधर्मभूत ज्ञान के द्वारा आत्मा का कथन किया जाना संभव होनेसे आत्मा वाच्य है। आत्मा अनंतधर्मात्मक होनेसे, उन अनंतधर्मों का ज्ञान के साथ अविनाभाव होनेसे और आत्मा के साथ तादात्म्य होनेसे ज्ञान से आत्मा के अनंतधर्मों का ग्रहण होनेसे संपूर्ण आत्मा का ग्रहण होनेके कारण ज्ञान के द्वारा आत्मा वाच्य–निर्वचनीय–प्रतिपाद्य होती है। यह आत्मा का वाच्यत्व व्यवहारनय की दृष्टि से बनता है; क्यों कि आत्मा से ज्ञान का उपचार से भेद किये बिना उसके द्वारा आत्मा का वाच्यत्व सिद्ध नहीं होता। यद्यपि ज्ञान का आत्मा से भेद किया जा सकता है तो भी वह भेद उपचारनिमित्तक होनेसे पारमार्थिक नहीं है; क्यों कि गुणगुणी में तादात्म्य होनेसे ज्ञानगुण को गुणी आत्मा से परमार्थतः भिन्न नहीं किया जा सकता। जब ज्ञान का आत्मा से परमार्थतः भेद नहीं किया जा सकता तब ज्ञान आत्मा से परमार्थतः भिन्न न होनेसे उसके द्वारा आत्मा का प्रतिपादन करना अशक्यप्राय है। इसप्रकार ज्ञान के द्वारा जीव प्रतिपाद्य न होनेसे वह वाच्य नहीं है। यह जीव का अनिर्वाच्यत्व निश्चयनय की दृष्टि से है; क्यों कि आत्मा और ज्ञान में जो भेद का अभाव है वह निश्चयनय की दृष्टि से है और वह परमार्थभूत है। यदि जीव से ज्ञानगुण को सर्वथा भिन्न माना तो ज्ञानगुण के भिन्नपदार्थस्वरूपता की सिद्धि हो जायगी। ज्ञानगुण के भिन्नपदार्थत्व की सिद्धि होनेसे स्वसिद्धान्तहानि का और परसिद्धान्ताभ्युपगम का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। वैशेषिक गुण को गुणी से सर्वथा भिन्न पदार्थ मानते है और 'उत्पन्नं द्रव्य क्षणं निर्गुणं तिष्ठति' ऐसा कहते हैं। एक क्षण के बाद उन दोनों का समवाय से संबंध घटित होता है ऐसा उनका कहना है। वे समवाय को भी भिन्नपदार्थरूप मानते हैं। ये उनकी मान्यताए युक्ति और आगम के विरुद्ध पडती हैं। उनकी इन मान्यताओं का जैन न्यायशास्त्रों में अकाट्य युक्तियों से परिहार किया गया है। ज्ञान को आत्मा से परमार्थतः भिन्न माना तो वैशेषिक सिद्धांत को स्वीकार करना पडेगा और युक्तिसिद्ध और आगमसिद्ध अपने सिद्धान्त का त्याग करना पडेगा। सारांश, व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा वाच्य है और निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा वाच्य नहीं है। इसप्रकार जीवद्रव्य कथंचित् वाच्य भी है और कथंचित् वाच्य नहीं भी है–अनिर्वाच्य है। इसप्रकार जीव के विषय में व्यवहाररूप और निश्चयरूप दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियां होती हैं। जो निर्विकल्पसमाधि के या स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करके शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है उसके विकल्पात्मक नयदृष्टियों का अभाव होता है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के बिना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति होना असंभव है। दूसरी बात यह है कि जिससमय जीव आत्मानुभूति में निमग्न होता है उससमय वह विज्ञानघनरूप बन जाता है। विज्ञानघनरूप परिणति में श्रुतज्ञान के अंशभूत नयविकल्पों का अंतर्भाव होना असम्भव है; क्यों कि श्रुतज्ञान क्षायोपशमिकभावरूप होता है और विज्ञान क्षायिकभावरूप होता है। जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उस क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की दृष्टि में उसकी आत्मा निर्विकल्पसमाधिकाल में और उसके अनंतर अनंतकालतक सर्वदा अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

एकस्य नाना, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८५ ॥

अन्वय :– एकस्य नाना, तथा परस्य न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्ष-पातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ :— द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से एक ज्ञानमात्रस्वभाववाली आत्मा विभागरहित होनेसे एकरूप होनेपर भी उस विभागरहित एक द्रव्य के द्वारा व्याप्त सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त जो चैतन्य के अंशरूप अनंत पर्यायें होती हैं उन पर्यायों की विवक्षा से आत्मा नानारूप होती है। यह व्यवहारनय का पक्ष है। सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त जो चैतन्य के अंशरूप अनंतपर्यायें होती हैं उसके समुदायरूप विभागरहित एकद्रव्य होनेसे उस विभागरहित एक द्रव्यत्व की विवक्षा से आत्मा नानारूप नहीं होती। यह द्रव्यार्थिकनय का या निश्चयनय का पक्ष है। अथवा आत्मा अनंत-धर्मात्मक होनेसे वह व्यवहारनय की दृष्टि से नानारूप होती है और परस्परभिन्न ऐसे अनंतधर्मों के समुदायरूप से परिणत हुए एक ज्ञप्तिमात्रस्वभावरूप से स्वयमेव विद्यमान होनेसे आत्मा का जो ज्ञानमात्रत्व होता है उस ज्ञान-मात्र में अचलितरूप से–निश्चलरूप से क्रमप्रवृत्त और अक्रमप्रवृत्त ऐसे जिस ज्ञानमात्रस्वभाव के साथ जिनका अविनाभाव होता है ऐसे अनंत धर्मों का समूह जो जितना दिखाई देता है वह उतना संपूर्ण होनेसे आत्मा निश्चय-नय की दृष्टि से एकरूप होती है–नानारूप नहीं होती। इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहार और निश्चय इन दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियों में–पक्षों में आसक्तियां (अभिनिवेश) होती हैं। स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उसका अनुभव करके जो जानता है और जिसकी क्षायोपशमिकभावभूत श्रुतज्ञान के अंशभूत व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रैकस्वभाववाली होती है।

त. प्र .— शुद्धद्रव्यार्थिकनयदृष्ट्या विज्ञानघनमात्रैकस्वभावस्यात्मनो विभागरहितत्वादखण्डत्वादेकत्वेऽपि तद्विभागविकलाखण्डैकात्मद्रव्यस्वरूपव्याप्तक्रमाक्रमप्रवृत्तचैतन्यांशभूतानन्तपर्यायस्वामित्वात्पर्यायार्थिकनयविवक्षया नानात्वं सम्भवति। उभयविधनानापरिणामवत्त्वात्पर्यायार्थिकनयापराभिधानव्यवहारनयार्पणया नानात्वमात्मनो यतो निरारेकं सम्भवति तत आत्मा नानेति व्यवहारनयस्य पक्षः। क्रमाक्रमप्रवृत्तचैतन्यांशभूतानन्तपरिणामसमुदायात्मकविभागविकलाखण्डैकद्रव्यत्वात्तद्विवक्षयाऽऽत्मनो न नानात्वं, अपि त्वखण्डैकद्रव्यत्वमेव। क्रमाक्रमप्रवर्तमानानामनन्तधर्माणां गुणीकृतत्वाभिन्नपर्यायद्रव्यमात्रविवक्षया प्रतिपादनान्न नानात्मेति निश्चयनयस्य पक्षः। यद्वाऽनन्तधर्मात्मकत्वादात्मनस्तदनन्तधर्मप्राधान्येनात्मनः प्रतिपादनाद्गुणीकृतविभावविकलाखण्डैकद्रव्यत्वस्यात्मनः पर्यायार्थिकनयापराभिधानव्यवहारनयदृष्ट्या नानात्वमवसेयम्। कथञ्चिदन्योन्यभिन्नानन्तधर्मसमुदायात्मकपरिणममानैकज्ञप्तिमात्रभावस्वभावस्यात्मनो विज्ञानघनमात्रैकस्वरूपेऽविचलितं निमग्नस्य क्रमाक्रमप्रवृत्तानां विज्ञानघनमात्रैकरूपात्मस्वभावेनाविनाभूतानां यावान्समुदायस्तावन्मात्रस्यात्मनो निश्चयनयदृष्ट्यैकरूपत्वम्। एवमात्मनो व्यवहारनयविवक्षया नानात्वं निश्चयनयविवक्षया चैकत्वमित्यभिप्रायः। इत्यनेन प्रकारेण चिति विज्ञानघनमात्रैकस्वभावात्मनो विषये द्वयोर्निश्चयव्यवहारनययोर्यथाक्रममात्मन एकत्वनानात्वप्रतिपादकयोर्द्वौ पक्षपातावात्मनो नानानानात्मकत्वरूपपरस्परविरुद्धदृष्ट्यासक्तौ स्तः। यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण विज्ञानघनस्वभावात्मकशुद्धात्मस्वरूपमनुभूय तज्ज्ञाता विज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वाच्छुद्धात्मनस्तज्ज्ञानस्य च क्षायिकभावरूपत्वान्नयद्वयस्य च क्षायोपशमिकभावभूतश्रुतज्ञानांशभूतत्वाद्विज्ञानान्वयवैकल्याद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभवकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयनानानानात्वदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनः क्षपकश्रेण्यारूढस्य चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रैकस्वभाव एवाऽस्ति भवति।

विवेचन :– प्रत्येक पदार्थ अनेकधर्मात्मक होता है। उसका यह अनेकधर्मात्मकत्व व्यवहारनय की दृष्टि से है। निश्चयनय की दृष्टि से पदार्थ एकधर्मात्मक होता है। पदार्थ के अनेक धर्मों का उसके व्यावर्तक एकधर्म के साथ अविनाभाव होनेसे उस एक धर्म में अंतर्भाव होता है। उसके एक धर्म के साथ उनका अविनाभाव होनेसे उस धर्म के ग्रहण से उन अनेक धर्मों का ग्रहण हो जानेसे पदार्थ का ग्रहण हो जाता है; क्यों कि पदार्थ अनेक गुणों का पुंजरूप होता है। इस विषय का प्रमाण देखिये–

'गुणविशेषग्रहणे सति रसादीनामग्रहणमिति, तन्न। किं कारणम्? तदविनाभावात्तदन्तर्भावसिद्धेः। रूपाविनाभाविनो हि रसादयो रूपग्रहणेन गृह्यन्ते।' (राजवार्तिक अ. ५, सू. ५, वा. ३)

'गुणविशेष का ग्रहण होनेपर रसादि के अग्रहण का प्रसंग उपस्थित हो जाता है' यह कथन ठीक नहीं है, इसका क्या कारण है? गुणविशेष के साथ रसादिगुणों का अविनाभाव होनेसे उस गुणविशेष में रसादिकों के अंतर्भाव की सिद्धि हो जानेसे रसादि के ग्रहण का अभाव हो जानेका प्रसंग उपस्थित नहीं होता। रूपगुण के साथ जिनका अविनाभाव है ऐसे रसादिकों का रूपगुण का ग्रहण करनेपर ग्रहण हो जाता है।" इसप्रमाण से उक्त अभिप्राय की सिद्धि हो जाती है। जब निश्चयनय की दृष्टि को गौण किया जाता है और व्यवहारनय की दृष्टि को मुख्यता दी जाती है तब पदार्थ के अनेकधर्मात्मकता की सिद्धि हो जानेसे वह नाना कहा जाता है और जब व्यवहारनय की दृष्टि को गौण किया जाता है और निश्चयनय की दृष्टि को मुख्यता दी जाती है तब पदार्थ के असाधारणधर्म की प्रधानता से पदार्थ नाना अर्थात् अनेकात्मक नहीं होता, एकरूप ही होता है। आत्मा पदार्थ है। अतः वह अनेकधर्मात्मक है। आत्मा का यह अनेकधर्मात्मकत्व व्यवहारनय की दृष्टि से है। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मपदार्थ विज्ञानघनमात्ररूप एकस्वभाववाला है। सहभावी और क्रमभावी परिणामों का विज्ञानघनमात्ररूप एक स्वभाव से कथंचित् भेद होनेसे उन परिणामों का अधिकरणभूत आत्मा व्यवहारनय की दृष्टि से नाना अर्थात् अनेकरूप है, फिर भले ही उनका विज्ञानघनरूपस्वभाव के साथ निश्चयनय की दृष्टि से अभेद हो। आत्मा के विज्ञानघनरूप एकमात्र स्वभाव के साथ क्रमभावी और अक्रमभावी परिणामों का अविनाभाव होनेसे उनका उस स्वभाव में अंतर्भाव होनेसे अभेद होनेके कारण उनका एकरूपत्व होनेसे आत्मा भी निश्चयनय की दृष्टि से एकरूप है अर्थात् नाना नहीं है, फिर भले ही उन धर्मों का व्यवहारनय की दृष्टि से अनेकत्व होनेसे आत्मा नानारूप हो। अथवा आत्मा अनन्तधर्मात्मक होनेसे और अनंतधर्मों की भिन्नता की प्रधानता से आत्मा के विभागविकल अखंड एकद्रव्य को गौण करके आत्मा का प्रतिपादन किया जानेसे पर्यायार्थिकनय की या व्यवहारनय की दृष्टि से उसका नानात्व–अनेकरूपत्व जानना। कथंचित् अन्योन्यभिन्न अनंतधर्मों के समुदायरूप परिणाम के रूप से परिणत होनेवाली ज्ञप्तिमात्ररूप एकस्वभाववाली विज्ञानघनमात्ररूप एक स्वरूप में निमग्न हुई आत्मा के विज्ञानघनमात्ररूप एक स्वभाव के साथ जिनका अविनाभाव मौजूद होता है ऐसे क्रमप्रवृत्त और अक्रमप्रवृत्त परिणामों का जो समुदाय होता है उस परिणामसमुदायप्रमाण आत्मा का निश्चयनय की दृष्टि से एकरूपत्व सिद्ध होनेसे वह नाना नहीं होती। इसप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा नाना है और निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा नाना नहीं है। इसप्रकार जीव के विषय में व्यवहाररूप और निश्चयरूप दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं। जो निर्विकल्पसमाधि के या स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के यथार्थस्वरूप का अनुभव करके उसके यथार्थ स्वरूप को जानता है उसके विकल्पात्मकनयदृष्टियों का अभाव होता है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के बिना शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति होना असंभव है। दूसरी बात यह है कि जिससमय जीव आत्मानुभूति में निमग्न होता है उससमय वह विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत हो जाता है। विज्ञानघनरूप परिणाम में श्रुतज्ञान के अंशभूत नयविकल्पों का अंतर्भाव होना असंभव है; क्यों कि श्रुतज्ञान क्षायोपशमिकभावरूप होता है और विज्ञान क्षायिकभावरूप होता है। जिसे शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उस क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की दृष्टि में उसकी आत्मा निर्विकल्पसमाधिकाल में और उसके अनंतर अनंतकालतक सर्वदा अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

एकस्य चेत्यो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८६ ।।

अन्वय :- एकस्य चेत्यः, परस्य तथा न इति चिति द्वयो. द्वौ पक्षपातौ । यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति ।

अर्थ :- एक नय की दृष्टि से अर्थात् निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा चेत्य अर्थात् स्वसंवेदनज्ञान का विषय बननेके योग्य है, अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय की दृष्टि से वह चेत्य अर्थात् स्वसंवेदनज्ञान का विषय बननेके योग्य नहीं है। इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहार और निश्चय इन दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियों में-पक्षों में आसक्तियां (अभिनिवेश) होती हैं। स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष-ज्ञान के द्वारा-अनुभवात्मक ज्ञान के द्वारा जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है और जिसकी क्षायोपशमिक-भावभूतश्रुतज्ञान के अंशभूत व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

त. प्र. :- शुद्धनिश्चयनयार्पणयाऽऽत्मा चेत्यः स्वसंवेदनज्ञानगोचरीभवनार्हो यतस्तत एकस्य शुद्धनिश्चयनयस्यात्मनः स्वसंवेदनज्ञानगोचरीभवनार्हत्वं पक्षो दृष्टिरभिनिवेशो वा। अशुद्धनिश्चयन-यार्पणयाऽज्ञानिनः स्वसंवेदनज्ञानात्मकपरिणामपरिणमनसामर्थ्याभावात्तद्रूपेण परिणतेरसम्भवात्सम्-पलब्धविशिष्टात्मशुद्धिजीववत्स्वसंवेदनज्ञानगोचरीभवनार्हो न भवतीति पक्षोऽशुद्धनिश्चयनयस्य व्यव-हारनयापराभिधानस्य। शुद्धनिश्चयनयार्पणयाऽऽत्मा चेत्योऽशुद्धनिश्चयनयार्पणया च न स चेत्य इत्य-भिप्रायः। इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्निश्चयव्यवहारनययोर्द्वौ चेत्योऽचेत्यश्चेति द्वौ पक्ष-पातौ परस्परविरुद्धदृष्ट्यासक्ती स्तः। यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण ज्ञानपञ्चकैकीभावात्मक-विज्ञानघनस्वभावरूपशुद्धात्मस्वरूपमनुभवविषयीकृत्य तज्ज्ञाता स ज्ञाता विज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वा-च्छुद्धस्यात्मनस्तज्ज्ञानस्य च क्षायिकभावरूपत्वान्नयद्वयस्य च क्षायोपशमिकभावभूतश्रुतज्ञानांशभूतत्वा-द्विज्ञानान्वयवैकल्याद्विज्ञानाद्दूरत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभवकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्ष-पातो विनष्टनयद्वयचेत्याचेत्यत्वदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनः क्षपकश्रेण्यारूढस्य चिदा-त्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रैकस्वभाव एवास्ति भवति। निर्विकल्पसमाधौ मत्यादिज्ञानपञ्चकस्य विज्ञानघनस्वभावत्वेन परिणतेः श्रुतज्ञानस्याभावाच्छ्रुतज्ञा-नांशभूतयोर्निश्चयव्यवहारनययोरप्यभावाद्दृष्टिभेदाभावः। ततश्च शुद्धात्मस्वरूपानुभवात्मकज्ञानस्य सम्भव इति भावः। ज्ञानापेक्षयेयमुक्तिः।

विवेचन :- जब जीव अपनी शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव करता है तब वह विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत होता है। विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत होना ही उसके स्वरूप का अनुभव करना है और उसके शुद्धस्वरूप का अनुभव करना ही स्वसंवेदन है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से ही आत्मा स्वसंवेदनज्ञान का विषय बननेके योग्य होती है। आत्मस्वरूप का अनुभव करनेकी योग्यता से युक्त आत्मा स्वयं कर्ता, विज्ञानघनस्वभाव से परिणत हुई आत्मा उसका प्राप्य कर्म और उसका स्वसंवेदनज्ञान शुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति का साधकतमसाधन होनेसे करण होती है। एक ही आत्मा का कर्तृत्व, कर्मत्व और करणत्व ये तीन भेद विवक्षाधीन होते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो तीनों भेद व्यवहारनय की दृष्टि से होते हैं, फिर भले ही वे भेद एक ही आत्मा के होनेसे निश्चयन-

यवृष्टिमूलक हों। परमार्थतः आत्मा एक अखंड द्रव्यरूप होती है। यह आत्मा का स्वसंवेदनज्ञानग्राह्यत्व निश्चयनय की दृष्टि से है। अशुद्ध–अज्ञानी आत्मा स्वसंवेदनज्ञानग्राह्य नहीं होती; क्योंकि अज्ञानी होनेसे उसके शुद्धस्वरूप से अनुभव करनेकी योग्यता का अभाव होता है। उसके शुद्धस्वरूप से अनुभव का विषय बनने की योग्यता का अभाव होनेसे वह चेत्य–स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा अनुभवनीय नहीं होती। अशुद्धनयरूप से परिणत हुई होनेसे उसकी विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणति नहीं हो सकती और विज्ञानघनरूपपरिणति का अभाव होनेसे उसके शुद्धात्मरूप से अनुभवनयोग्यता का भी अभाव होता है। इसप्रकार के अभाव के कारण वह चेत्य–अनुभवनयोग्य नहीं होती। अतः अशुद्ध निश्चयनय की अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा चेत्य नहीं होती है। इसप्रकार आत्मा के विषय में निश्चयरूप और व्यवहाररूप दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियों में आसक्तियां होती हैं। जो निर्विकल्पसमाधि के या स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा के यथार्थस्वरूप का अनुभव कर उसके यथार्थस्वरूप को जानता है उसके विकल्पात्मक नयदृष्टियों का अभाव होता है; क्यों कि श्रुतज्ञानांशभूत विकल्पों के अभाव के बिना शुद्ध आत्मा के विज्ञानघनस्वरूप की प्राप्ति होना असंभव है। दूसरी बात यह है कि जिससमय जीव आत्मानुभूति में निमग्न होता है उससमय मत्यादिरूप पांचों ज्ञान विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत हो जाते हैं और विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत हो जानेसे श्रुतज्ञान का भी अभाव हो जाता है। उसका अभाव हो जानेपर उसके अंशभूत नयविकल्पों का भी अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्था में श्रुतज्ञानांशभूत विकल्पों का अभाव हो जानेसे विज्ञानघनस्वभाव में उनका अंतर्भाव कैसे किया जा सकता है? और एक बात यह है कि श्रुतज्ञान का कथंचित् सद्भाव होनेपर भी वह क्षायोपशमिकभाव होनेसे क्षायिकभावरूप विज्ञान में उसका अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। जिसके शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होता है उस क्षपकश्रेण्यारूढ जीव की दृष्टि में उसकी आत्मा निर्विकल्पसमाधिकाल में और उसके अनंतर अनंतकालतक सर्वदा अविच्छिन्नरूप से शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

यहां 'जब आत्मा निर्विकल्पसमाधिकाल में आत्मानुभूति करती है तब वह विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत हुई होती है। विज्ञानघनस्वभावरूप परिणाम और केवलज्ञान भिन्नभिन्न नहीं होते; क्यों कि केवलज्ञान भी विज्ञानघनस्वभावात्मकपरिणामरूप ही होता है। जिस गुणस्थान में आत्मा की विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणति होती है उस गुणस्थान में केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होना चाहिये। यदि ऐसा ही होता है ऐसा माना तो आगेके गुणस्थानों की अनुपयुक्तता सिद्ध हो जायगी और इससे अभ्युपगमहानिनामक दोष आ जायगा। इस परिस्थिति में केवलज्ञानोत्पत्ति के पूर्वकाल में होनेवाली आत्मानुभूति के समय आत्मा की विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणति होती है ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं जचता' इसप्रकार जिज्ञासु के द्वारा आक्षेप किया जा सकता है। इसका समाधान नीचे उद्धृत किये जानेवाले उद्धरण से हो सकता है। देखिये–

आत्मलक्षणं तावज्ज्ञानम्। तच्चाखण्डप्रतिभासमयं सर्वजीवसाधारणं महासामान्यम्। तच्च महासामान्यं ज्ञानमयानन्तविशेषव्यापि। ते च ज्ञानविशेषा अनन्तद्रव्यपर्यायाणां विषयभूतानां ज्ञेयभूतानां परिच्छेदका ग्राहकाः। अखण्डैकप्रतिभासमयं यन्महासामान्यं तत्स्वभावमात्मानं योऽसौ प्रत्यक्षं न जानाति स पुरुषः प्रतिभासमयेन महासामान्येन ये व्याप्ता अनन्तज्ञानविशेषास्तेषां विषयभूता येऽनन्तद्रव्यपर्यायास्तान् कथं जानाति? न कथमपि। अथ एतदायातम्– यः आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानातीति। तथा चोक्तम्–

'एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः॥

अत्राऽऽह शिष्यः– "आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यातम्। तत्र तु पूर्वसूत्रे भणितं 'सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञानं भवति' इति। यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्ति, आत्मपरिज्ञानं कथं भविष्यति? आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथम्? तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्ति।" परिहारमाह–परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते। 'कथम्?' इति चेत्, लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते। तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहकं कथञ्चिदात्मैव भण्यते। अथवा स्वसंवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते तया रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानभावनया केवलज्ञानं च जायते। इति नास्ति दोषः। (प्रव. सा., अ. १, गा. ४९, ता. वृ.)

ज्ञान आत्मा का लक्षण अर्थात् असाधारण धर्म है। वह सभी जीवों में पाया जानेवाला अखण्ड प्रकाशरूप महासामान्य है। वह महासामान्य ज्ञान के परिणामभूत–पर्यायभूत अनंत विशेषों को व्याप्त करनेवाला होता है। वे ज्ञान के विशेष अर्थात् भिन्नभिन्नप्रकारक परिणाम ज्ञान के विषयभूत ज्ञेयभूत अनंतद्रव्यपर्यायों के ग्राहक अर्थात् जाननेवाले होते हैं। अखड–एक–प्रकाशरूप जो महासामान्य है वह जिसका स्वभाव होता है ऐसी आत्मा को जो प्रत्यक्षरूप से नहीं जानता वह पुरुष प्रकाशरूप महासामान्य के द्वारा अपने स्वरूप से व्याप्त किये गये जो ज्ञान के अनंत परिणाम होते हैं उन परिणामों के द्वारा जो अनंतद्रव्यपर्यायें होती हैं उनको कैसे जानता है? किसी भी प्रकार से नहीं जान सकता। इससे 'जो आत्मा को नहीं जानता वह सब नहीं जानता' यह (अभिप्राय) फलित हुआ। उसीप्रकार कहा भी है–

'सभी ज्ञेयभूत अनंत द्रव्यों के और उनकी अनंत पर्यायों के स्वभाव जिस में (प्रतिबिंबित) होते हैं ऐसे स्वभाववाला एकद्रव्य (अर्थात् आत्मा) होता है और एक आत्मा के ज्ञानरूप परिणामों में जिनके अपने स्वभाव (प्रतिबिंबित हुए) होते हैं ऐसे सभी ज्ञेय पदार्थ होते हैं। जिसने एक पदार्थ को (अर्थात् आत्मा को) परमार्थतः जाना है उसने सभी पदार्थों को परमार्थतः जाना है।'

यहां 'आत्मा का परिज्ञान होनेपर सभी पदार्थों का परिज्ञान होता है।' ऐसा कहा गया है। उस पूर्वसूत्र में तो 'सभी पदार्थों का परिज्ञान होनेपर आत्मा का परिज्ञान होता है' ऐसा कहा है। यदि ऐसा है तो जब छद्मस्थों को सभी पदार्थों का परिज्ञान नहीं होता तब आत्मा का परिज्ञान कैसे होगा? आत्मा के परिज्ञान का अभाव होनेपर आत्मभावना (आत्मस्वरूप का चिंतन) कैसे हो सकती है? आत्मभावना के अभाव में केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती" ऐसा शिष्य कहता है। अब इस कथन का परिहार करते हैं–परोक्षप्रमाणभूत श्रुतज्ञान के द्वारा सभी पदार्थ जाने जाते हैं। 'कैसे जाने जाते हैं?' ऐसा प्रश्न हो तो उसका उत्तर कहते हैं। छद्मस्थों के भी व्याप्तिज्ञानरूप से लोक, अलोक आदि का परिज्ञान होता है। केवल ज्ञान के विषयों को परोक्षरूप से जाननेवाला वह व्याप्तिज्ञान कथंचित् आत्मा ही है ऐसा कहा जाता है। अथवा–स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा आत्मा जानी जाती है, उससे आत्मभावना की जाती है और रागादिरूपविकल्पों से रहित उस स्वसंवेदनज्ञानभावना के कारण केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इसप्रकार दोष नहीं है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि केवलज्ञानी के समान छद्मस्थों के भी सभी पदार्थों का ज्ञान होता है। विशेष यह है कि केवली केवलज्ञान के द्वारा सभी ज्ञेय पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से जानते हैं और छद्मस्थ ज्ञानी जीव परोक्षप्रमाणभूत श्रुतज्ञान के द्वारा अर्थात् व्याप्तिज्ञान के द्वारा सभी ज्ञेय पदार्थों को जानते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक ज्ञेयपदार्थ का ज्ञान तब हो सकता है जब की वह स्वरूपादिचतुष्टय के ज्ञान से अस्तिरूप से और पररूपादिचतुष्टय के ज्ञान से नास्तिरूप से जाना जाता है। एक पदार्थ के अन्यपदार्थरूपत्वका अभाव उस पदार्थ में अन्य पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अभाव होनेपर होता है। आत्मा आत्मभिन्न पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और

भाव का जब अपने में होनेवाले अभाव को जानती है तब ही अपने यथार्थस्वरूप को जान सकती है अर्थात् परद्रव्य के स्वरूप आदि को जाननेपर ही अपने यथार्थस्वरूप को भी जान सकती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो आत्मा अपने स्वरूप को यथार्थरूप से जानती है वह परपदार्थों के स्वरूपों को भी जानती है। वे जो आत्मभिन्न पदार्थ हैं वे ही केवलज्ञानरूप विशदप्रत्यक्षप्रमाण के विषय हैं। अतः परोक्षप्रमाणभूत श्रुतज्ञान के विषय और केवलज्ञान के विषय समान-एक होनेसे छद्मस्थ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीव भी सभी पदार्थों को जानता है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

एकस्य दृश्यो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८७ ।।

अन्वयः– एकस्य दृश्यः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थः– स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा आत्मा का सामान्यमात्ररूप से ग्राह्यत्व शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से है। अतः यह शुद्धनिश्चयनय का पक्ष है। अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेसे आत्मा और शरीर में होनेवाले भेद का ज्ञान न होनेके कारण अज्ञानी को वह सामान्यमात्ररूप से भी ग्राह्य नहीं होती। इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहार और निश्चय इन दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में-दृष्टियों में आसक्तियां (अभिनिवेश) होती हैं। स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा-अनुभवात्मक ज्ञान के द्वारा जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है और जिसकी क्षायोपशमिकभावभूत श्रुतज्ञान के अंशभूत व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

त. प्र. :– जीवः स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण दृश्यः सामान्यमात्रत्वेन ग्राह्य इत्येकस्य शुद्धनिश्चयनयस्य पक्षो दृष्टिः। अनादेः कर्मबद्धत्वात्कर्मात्मनोरेकत्वाभावेऽपि तयोरेकत्वं जानत आत्मनो न स ग्राह्यः सामान्यमात्रत्वेन ज्ञेयः। अयं व्यवहारनयस्य पक्षः। कर्मात्मनोः परमार्थतो भेदे सत्यपि कर्मबद्धत्वेन योऽध्यवसायस्तस्योपचरितत्वासदग्राह्यत्वं व्यवहारनयार्पणयेति ज्ञातव्यम्। इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्निश्चयव्यवहारनययोर्द्वौ ग्राह्यश्चाग्राह्यश्चेति द्वौ पक्षपातौ परस्परविरुद्धदृष्ट्यासक्ती स्तः। यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण ज्ञानपञ्चकैकीभावात्मकविज्ञानघनस्वभावरूपशुद्धात्मस्वरूपमनुभवविषयीकृत्य तज्ज्ञाता स ज्ञाता विज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वाच्छुद्धात्मनस्तज्ज्ञानस्य च क्षायोपशमिकभावभूतश्रुतज्ञानांशभूतत्वाद्विज्ञानान्वयवैकल्याद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभवकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयग्राह्याग्राह्यत्वदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनः क्षपकश्रेण्यारूढस्य चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रैकस्वभाव एवास्ति भवति।

विवेचन :– दर्शन ज्ञान का एक विशिष्ट परिणाम होने से ज्ञान से कथंचित् अभिन्न है। वीतरागस्वसंवेदनज्ञान आत्मा के सामान्यविशेषात्मकस्वरूप को जानता है। सामान्यस्वरूप को जानना दर्शन का कार्य होनेसे ज्ञान का भी कार्य है। अतः स्वसंवेदनज्ञान का आत्मा के सामान्य अंश को जानना तब संभव हो सकता है जब आत्मा का पांच प्रकारवाला ज्ञान विज्ञानघनस्वभाव के रूप से परिणत होता है। अतः आत्मा का विज्ञानघनमात्रस्वभाव के रूप से परिणत होना और उसको सामान्यमात्ररूप से जानना निश्चयनय के अधीन है। चेतन आत्मा और अचेतन पुद्गल परमार्थतः परस्पर भिन्न होनेपर भी अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेसे अज्ञानी बनी हुई आत्मा देह

और आत्मा को अभिन्न समझती है। आत्मा और पुद्गल को अभिन्न-एकरूप समझना वास्तविक नहीं है, उपचरित है। उन दोनों की अभिन्नता उपचरित होनेसे व्यवहारनयाश्रित है। अज्ञानी आत्मा अपने को शरीर से अभिन्न समझनेवाली होनेसे उसके स्वसंवेदनज्ञान का अभाव होनेके कारण वह आत्मा को सामान्यरूप से भी नहीं जान सकती। शुद्ध आत्मा सामान्यमात्ररूप से परमार्थतः जाननेयोग्य होनेपर भी उसको उसरूप से न जाननेयोग्य कहना उपचरित होनेसे व्यवहारनयाश्रित है। तत्त्वज्ञानी स्वसंवेदनज्ञानात्मक अनुभूति के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जाननेवाला होनेसे वह दोनों नयों के पक्षों का त्याग कर देता है। ऐसे तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से शुद्धचैतन्यस्वभाववाली अर्थात् समयसाररूप होती है। इस विषय में ' एकज्ञायक ····· ।। १४० ' यह कलश देखनेयोग्य है।

एकस्य वेद्यो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।। ८८ ।।

अन्वय :– एकस्य वेद्यः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ :– स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा या वीतरागस्वसंवेदनज्ञान के द्वारा आत्मा अनुभवन के योग्य होती है। यह एक नय का अर्थात् निश्चयनय का पक्ष है। स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणति का या वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरूप परिणति का अभाव होनेसे उसके द्वारा आत्मा अनुभवन के योग्य नहीं होती। यह अशुद्धनिश्चयनय का अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय का पक्ष है। इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहार और निश्चय इन दो नयों के परस्परविरुद्ध दो पक्षों में-दृष्टियों में आसक्तियां (अभिनिवेश) होती है। स्वसंवेदनज्ञानरूप प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा–अनुभवात्मक ज्ञान के द्वारा जो जीव शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है और जिसकी क्षायोपशमिकभावभूत श्रुत–ज्ञान के अंशभूत व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली या विज्ञानघनमात्ररूप एक–स्वभाववाली होती है।

त. प्र. :– विज्ञानघनमात्रैकस्वभावोऽयमात्मा वीतरागस्वसंवेदनजनितानुभूतिमुखेन वेद्यो वेदनार्ह इत्ययमेकस्य निश्चयनयस्य पक्षः। अनादेर्मोहाक्रान्तत्वात्स्वसंवेदनज्ञानात्मकपरिणामपरिणतेरसम्भवाद्विज्ञानघनमात्रैकस्वभावसंवेदनसाधनभूतस्वसंवेदनज्ञानाभावात्स्वसंवेदनजनितानुभवमुखेन न तथा न वेद्यो वेदनार्ह इत्ययं परस्याशुद्धनिश्चयनयस्य शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहारनयाभिधानस्य पक्षः। इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्निश्चयव्यवहारनययोर्द्वौ वेद्यश्चावेद्यश्चेति द्वौ पक्ष–पातौ परस्परविरुद्धदृष्टयासक्ती स्तः। यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण ज्ञानपञ्चकैकीभावात्मक–विज्ञानघनमात्रैकस्वभावरूपशुद्धात्मस्वरूपानुभवगोचरीकृत्य तज्ज्ञाता स ज्ञायको विज्ञानघनमात्रैकस्व–भावस्त्वाच्छुद्धात्मनस्तज्ज्ञानस्य च क्षायिकभावात्मकत्वान्नयद्वयस्य च क्षायोपशमिकभावभूतश्रुतज्ञानां–शभूतत्वाद्विज्ञानान्वयवैकल्याद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभवकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वा–च्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयवेद्यावेद्यत्वदृष्टयासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनः क्षपकश्रेण्या–रूढस्य चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रैकस्वभावः समयसार–रूप एव वाऽस्ति भवति।

विवेचन :– शुभपरिणामों के प्रकर्ष से जब आत्मा की शुद्ध आत्मा के विज्ञानघनरूप स्वभाव का अनुभव करनेकी शक्ति अभिव्यक्त होती है तब उस शक्ति के द्वारा आत्मा अपने विज्ञानघनरूप स्वभाव का अनुभव करती है। इस विज्ञानघनरूप स्वभाव के अनुभव से वह अपने शुद्ध स्वरूप को जान सकती है। आत्मा की उस विशिष्ट शक्ति की अभिव्यक्ति होनेपर वह शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अवश्यमेव अनुभव करती है और उस अनुभव के द्वारा उसको जान सकती है। क्षपकश्रेण्यारूढ जीव शुद्ध आत्मा के स्वरूप की अनुभूति में निमग्न बना रहता है और उसके द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। अतः शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा वेद्य–जानने योग्य होती है यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। अनादिकाल से मोहाक्रांत होनेसे स्वसंवेदनज्ञानात्मक परिणाम के रूप से मोही आत्मा का परिणमन होना असंभव होनेके कारण विज्ञानघनमात्ररूपस्वभाव के संवेदन का साधनभूत स्वसंवेदनज्ञान का उसके अभाव होता है। उस अभाव के कारण स्वसंवेदनज्ञानजनित अनुभव के द्वारा मोही आत्मा वेद्य नहीं होती। अतः अशुद्धनिश्चयनय की अर्थात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा वेद्य नहीं है। जब उसके स्वरूपाचरणचारित्र का ही अभाव है तब वह वेद्य कैसे हो सकती है? मोही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को जानने की सामर्थ्य से रहित होनेसे शुद्ध आत्मा उसके द्वारा वेद्य नहीं हो सकती। अतः शुद्ध आत्मा शुद्धनय से वेद्य है और अशुद्धनय से शुद्ध आत्मा मोही जीव के द्वारा वेद्य नहीं है। इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों की दो परस्परवि द्ध दृष्टियां होती हैं। जिसने आत्मा के विज्ञानघनस्वभाव को अनुभूति के द्वारा जान लिया है उसके आत्मा वेद्य है और जिसने नहीं जाना उसके आत्मा वेद्य नहीं है। इसप्रकार के निश्चयनय के और व्यवहारनय के विकल्पों का अभाव हो जाता है। इन विकल्पों का अभाव हो जानेके कारण उसकी दृष्टि में आत्मा सर्वकाल अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनमात्ररूप एकस्वभाववाली या शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

एकस्य भातो, न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ८९॥

अन्वय :– एकस्य भातः, परस्य तथा न इति चिति द्वयोः द्वौ पक्षपातौ। यः तत्त्ववेदी च्युत–पक्षपातः तस्य चित् नित्यं खलु चित् एव अस्ति।

अर्थ :– यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से विज्ञानघनस्वभाववाली होनेसे स्वयमेव प्रकाशित होनेवाली है–वह दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं की जा सकती। यह शुद्ध निश्चयनय का पक्ष है। अनादिकाल से कर्मबद्ध होनेसे उसका विज्ञानघनस्वभाव कर्मावृत हुआ होनेसे कर्म का क्षय होनेपर प्रकाशित–प्रकट होनेवाला होनेके कारण परतः–(कर्मोपशम से) प्रकाशित होनेवाला होनेसे आत्मा स्वयमेव प्रकाशित होनेवाली नहीं हो सकती। इसप्रकार आत्मा के विषय में व्यवहार और निश्चय इन दो नयों के दो परस्परविरुद्ध पक्षों में–दृष्टियों में आसक्तियां (अभिनिवेश) होती हैं। स्वसंवेदनरूपप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा–अनुभवात्मक ज्ञान के द्वारा जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानता है और जिसकी क्षायोपशमिकभावभूतश्रुतज्ञान के अंशभूत व्यवहारनय की दृष्टि में और निश्चयनय की दृष्टि में आसक्तियां नष्ट हो गयी होती हैं उसकी दृष्टि में आत्मा नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से परमार्थतः शुद्धचैतन्यमात्र–स्वभाववाली होती है।

त. प्र. :– भातं भा। 'नब्भावे क्तोऽभ्यादिभ्यः' इति भावे नपि क्तः। अयं क्तप्रत्ययः काल–सामान्ये। भातं प्रकाशोऽस्यास्तीति भातः। 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयो नित्ययोगे। भातः स्वतःप्रकाश इत्यर्थः। अयमात्मा स्वतःप्रज्वलितचिज्ज्योतिः स्वतःप्रकाशो वा, न परतःप्रकाशः। यद्य–द्द्रव्यं तत्तत्स्वतःप्रकाशत्वस्वभावं, तत्स्वभावाभावे ज्ञानगोचरीभवनानर्हत्वप्रसङ्गात्। आत्मा द्रव्यम्। तस्मात्स्वतःप्रकाशः, भास्करवत्। तस्य स्वतःप्रकाशत्वस्वभावो न कुतश्चिदन्यत आयाति, न च विनाशं

प्राप्नोति । आयानापयानाभावात्तत्स्वभावस्य नित्यत्वमापद्यते । उदीरितकरनिकरो भास्करः स्वतःप्रकाशः । न तस्य स्वतःप्रकाशत्वमन्यतः कुतश्चिदागच्छति, न च विनाशं प्राप्नोति, तस्यान्यत आगमनात्पूर्वं विनाशानन्तरं च निःस्वभावतापत्तेस्तदभावापत्तिप्रसङ्गात् । विकीर्णकरोत्करो भास्करो मेघपटलावृतो भवतु वा न वा तत्सहभाविभावभूतः प्रकाशो यथोभयोरप्यवस्थयोर्निरन्तरस्तथात्मनः सहभाविभावभूतो विज्ञानघनस्वभावः कर्मावृतानावृतोभयावस्थयोर्निरन्तर एव विज्ञानघनमात्रैकस्वभावस्यानागन्तुकत्वादनपायित्वाच्च तस्यागन्तुकत्वेऽपायित्वे च निःस्वभावतापत्तेरात्मद्रव्यस्याभावापत्तिप्रसङ्गाच्च । अतः कर्मपटलतिरस्करिण्या तिरस्कृतस्याप्यात्मनो विज्ञानघनस्वभावस्य मेघपटलावृतभास्करप्रकाशरूपस्वभावस्येवानपायित्वात्सद्भावोऽस्त्येव । भास्करस्य स्वतःप्रकाशत्वस्वभावत्वाद्यथाऽन्यः कोऽपि पदार्थस्तं न प्रकाशयति तथात्मनोऽभिन्नस्य विज्ञानघनस्वभावस्यात्मनः प्रकाशकत्वादन्यः कोपि पदार्थस्तं न प्रकाशयति । भास्करस्य स्वभावभूतप्रकाशस्य स्वतःप्रकाशत्ववदात्मनो विज्ञानघनस्वभावस्यापि स्वतःप्रकाशत्वमिति भावः । अतो निश्चयनयदृष्ट्याऽऽत्मा स्वतःप्रकाश इति भावः । मेघपटलपटतिरस्कृते सति भास्करे मेघपटलाधस्तनप्रदेशस्थितपुरुषस्य मेघपटलोपरितनभास्करप्रकाशसद्भावस्य यथा प्रत्यक्षज्ञानं नोत्पद्यते तथा कर्मपटलावृतस्यात्मनोऽज्ञानिनो विज्ञानघनस्वभावस्य प्रत्यक्षज्ञानं न जायते । यथा भास्करभाभारप्रच्छादनक्रियाश्रयभूतत्वान्मेघपटलस्य तत्प्रच्छादनक्रियाकर्तृत्वं तथा स्वयमपसृत्य तत्प्रकाशाच्छादनापसारणक्रियाश्रयभूतत्वान्मेघपटलस्य तदपसारणक्रियाकर्तृत्वम् । ततश्च मेघपटलस्य कथञ्चिद्भास्करप्रकाशकत्वाद्भास्करस्य कथञ्चित्परतःप्रकाशत्वम् । एवमेवात्मनो विज्ञानघनस्वभावस्यावरणानावरणक्रियाद्वयाश्रयभूतत्वात्कर्मणस्तत्कर्तृत्वम् । कर्मणो विज्ञानघनरूपात्मस्वभावानावरणक्रियाकर्तृत्वाद्व्यवहारनयदृष्ट्याऽऽत्मस्वभावप्रकाशकत्वादात्मा कथञ्चित्स्वतःप्रकाशः । अतः आत्मा कथञ्चित्स्वतःप्रकाशोऽपि न । इत्यमुना प्रकारेण चित्यात्मनो विषये द्वयोर्निश्चयव्यवहारनययोर्द्वौ भातोऽभातश्चेति द्वौ पक्षपातौ परस्परविरुद्धदृष्ट्यासक्तौ स्तः । यस्तत्त्ववेदी स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षेण ज्ञानपञ्चकैकीभावात्मकविज्ञानघनस्वभावरूपशुद्धात्मस्वरूपमनुभवविषयीकृत्य तज्ज्ञाता स ज्ञाता विज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वाच्छुद्धात्मनस्तज्ज्ञानस्य च क्षायिकभावरूपत्वान्नयद्वयस्य च क्षायोपशमिकभावभूतश्रुतज्ञानांशभूतत्वाद्विज्ञान्वयवैकल्याद्विज्ञानाद्भिन्नत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपानुभवकाले विज्ञानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्च्युतपक्षपातो विनष्टनयद्वयभाताभातत्वदृष्ट्यासक्तिरूपविकल्पस्तस्यात्मनस्तत्त्ववेदिनः क्षपकश्रेण्यारूढस्य चिदात्मा नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन खलु परमार्थतश्चिदेव विज्ञानघनमात्रैकस्वभाव एवाऽस्ति भवति ।

विवेचन :— सूर्य स्वयं प्रकाशित होनेवाला है । वह किसी दूसरे पदार्थ के द्वारा प्रकाशित किया जानेवाला नहीं है । उसका प्रकाश न कहीं से बाहरसे आता है और न उसका कभी विनाश होता है । यदि उसका प्रकाश बाहर से कहीं से आता है और उसका विनाश होता है ऐसा माना तो उसके आनेके पहले और विनाश हो जाने के बाद उसके स्वभाव का उस समय अभाव होनेसे स्वयं उसका अभाव हो जायगा; क्यों कि स्वभाव का अभाव होनेपर स्वभाववान् का अभाव हो जाता है । जो जो द्रव्य होता है वह वह स्वयं प्रकट होनेवाला होता है; क्यों कि जो स्वयं प्रकट होनेवाला नहीं होता वह ज्ञान का विषय अर्थात् ज्ञेय नहीं हो सकता । आत्मा द्रव्य है । द्रव्य होनेसे आत्मा स्वयं प्रकट होनेवाली है । यदि वह स्वयं प्रकट होनेवाली न होती तो वह स्वसंवेदनज्ञान का कदापि विषय न होती और अनुभव के द्वारा कदापि न जानी जाती । सूर्य चाहे मेघों से-बादलों से आवृत-प्रच्छादित हो चाहे न हो उसका स्वभावभूत

प्रकाश का सद्भाव बना रहता है। बादलों से प्रच्छादित हुए सूर्य का प्रकाश बादलों के नीचे खडे हुए पुरुष को यद्यपि प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता तो भी बादलों के ऊपर आकाशप्रदेश में उसका सद्भाव होता है। यदि मेघावृत अवस्था में सूर्य के प्रकाश का सद्भाव न होता तो बादलों के दूर हो जानेपर सूर्यप्रकाश का पाया जाना असंभव हो जाता। अतः सूर्य चाहे मेघाच्छादित हो चाहे न हो दोनों अवस्थाओं में उसका प्रकाश बना रहता है। इसीप्रकार आत्मा चाहे कर्मावृत हो चाहे न हो उसके विज्ञानघनस्वभाव का सद्भाव बना रहता है। कर्मावृत हुई आत्मा का विज्ञानघनस्वभाव अज्ञानी जीव के द्वारा यद्यपि स्वानुभव के द्वारा जाना नहीं जा सकता तो भी आत्मा से अभिन्न उस स्वभाव का सद्भाव होता ही है। यदि कर्मावृत अवस्था में आत्मा के विज्ञानघनस्वभाव का सद्भाव न होता तो कर्मों का अभाव हो जानेपर उस विज्ञानघनस्वभाव का पाया जाना असंभव हो जाता। अतः आत्मा चाहे कर्मावृत हो चाहे न हो दोनों अवस्थाओं में उसके केवलज्ञानरूप विज्ञानघनस्वभाव का सद्भाव होता है; क्यों कि आत्मा की कर्मावृत अवस्था में उसका अभाव होनेपर कर्ममुक्त अवस्था में भी उसका अभाव बना रहता। सारांश, ज्ञेय होनेसे आत्मा स्वयं प्रकाशमान होती है यह शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। सूर्य मेघसमूह से–बादलों से आच्छादित होनेपर बादलों के नीचे खडे हुए पुरुष को जिसप्रकार बादलों के ऊपरके आकाशप्रदेश में विद्यमान होनेवाले सूर्यप्रकाश का ज्ञान प्रत्यक्षरूप से नहीं होता उसीप्रकार कर्मपटल से आवृत हुई आत्मा के विज्ञानघनमात्ररूप स्वभाव का ज्ञान अज्ञानिपुरुष को प्रत्यक्षरूप से नहीं होता। जिसप्रकार सूर्यप्रकाश को प्रच्छादित करने की क्रिया का आश्रयभूत होनेसे बादलों का समूह सूर्यप्रकाश को प्रच्छादित करनेकी क्रिया का कर्ता होनेसे कथंचित् प्रच्छादक कहा जाता है उसीप्रकार स्वयं दूर होकर सूर्यप्रकाश के आच्छादन को दूर करने की क्रिया का आश्रयभूत होनेसे बादलों का समूह सूर्यप्रकाश के प्रच्छादन को दूर करने की क्रिया का कर्ता होनेसे कथंचित् प्रकाशक कहा जाता है। इस दृष्टि से सूर्य कथंचित् दूसरे के द्वारा प्रकाशित किया जानेवाला होनेसे कथंचित् स्वयं प्रकाशित होनेवाला नहीं है। इसीप्रकार आत्मा के विज्ञानघनमात्ररूप स्वभाव को आवृत और अनावृत करने की क्रियाओं का आश्रयभूत होनेसे कर्म उन दोनों क्रियाओं का कर्ता होता है। कर्म आत्मा के विज्ञानघनरूप स्वभाव को अनावृत-प्रकट करनेकी क्रिया का आश्रयभूत होनेसे उस क्रिया का कर्ता होनेके कारण व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मस्वभाव को प्रकाशित करनेवाला होनेसे वह आत्मस्वभावप्रकाशक होनेके कारण आत्मा कथंचित् परसे प्रकाशित होनेवाली होनेके कारण कथंचित् स्वयं प्रकाशित होनेवाली नहीं कही जाती। इसप्रकार आत्मा के विषय में दो नयों की दो परस्परविरुद्ध दृष्टियां होती हैं। जिसने आत्मा के विज्ञानघनस्वभाव को अनुभूति के द्वारा यथार्थरूप से जान लिया है उसके 'आत्मा स्वयं प्रकाशित होनेवाली है और आत्मा स्वयं प्रकाशित होनेवाली नहीं है' इसप्रकार के निश्चयनय के और व्यवहारनय के अर्थात् अशुद्धनिश्चयनय के विकल्पों का अभाव हो जाता है। इन विकल्पों का अभाव हो जानेके कारण उसकी दृष्टि में आत्मा सर्वकाल अविच्छिन्नरूप से विज्ञानघनमात्ररूप एकमात्रस्वभाववाली या शुद्धचैतन्यमात्रस्वभाववाली होती है।

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिःसमरसैकरसस्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ।। ९० ।।

अन्वय :– एवं स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालां महतीं नयपक्षकक्षां व्यतीत्य अन्तर्बहिःसमरसैकरसस्वभावं अनुभूतिमात्रं एकं स्वं भावं उपयाति।

अर्थ :– इसप्रकार अपनी इच्छाओं के अर्थात् व्यवहारनय की और निश्चयनय की विवक्षाओं के कारण जिसमें विपुल विकल्पों का समूह प्रादुर्भूत हुआ होता है ऐसे नयदृष्टियों के महान् तुल्यबलविरोधात्मक विप्रतिषेध को-स्पर्धा को उल्लंघन करके आत्मा अंतरंग में और बाहर (नयविकल्प आदि से अविकृत अत एव) शान्तरस-रूप-एकमात्ररसात्मकस्वभाववाले अनुभूतिमात्ररूप अपने एक अर्थात् शुद्ध परिणाम को प्राप्त होती है अर्थात् शुद्ध परिणाम के रूप से परिणत होती है।

त. प्र. :— एवं जीवो व्यवहारनयविवक्षया बद्धो निश्चयनयविवक्षया न बद्ध इत्येवंप्रकारेण स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामात्मकर्तृकृतविवक्षावशप्रादुर्भवद्बद्धाबद्धादिप्रकारकविपुलविकल्पसमूहाम्। स्वस्यात्मन इच्छया व्यवहारनिश्चयनयविवक्षावशेन समुच्छलत्प्रादुर्भवदनल्पानां विपुलानां विकल्पानां जालं समूहो यस्याम्। ताम्। महतीं प्रबलां नयपक्षकक्षां निश्चयव्यवहारनयदृष्ट्योस्तुल्यबलविरोधात्मकं विप्रतिषेधम्। उभयनयदृष्ट्योः स्पर्धामित्यर्थः। कक्षा तुल्यबलविरोधात्मको विप्रतिषेधः। व्यतीत्यातिलङ्घ्य। परिहृत्येत्यर्थः। अन्तर्बहिःसमरसैकरसस्वभावमन्तर्बहिर्निश्चयव्यवहारनयद्वयनिमित्तकविवक्षाद्वितयजनितविकल्पवैकल्यनिबन्धनशान्तरसरूपैकमात्ररसस्वभावम्। समो विकल्पविकलत्वान्निर्विकारस्सम। स चासौ रसश्च समरसः। शान्तरस इत्यर्थस्तस्य निर्विकारत्वस्वरूपत्वात्। स एवैकोऽद्वितीयो रसः स्वभावो यस्य तत्। अन्तरङ्गे विकारवैकल्याच्छान्तरसे समुत्पन्ने सति बहिरप्यात्मनो नयविकल्पक्रोधादिस्वभावभावविकलता वरीवृश्यते। अतः शान्तरसस्यान्तर्बहिश्च तुल्यत्वमापद्यते। अनुभूतिमात्रमनुभवस्वरूपम्। स्वार्थेऽत्र मात्रट्। एकं केवलं शुद्धं स्वं स्वकीयं भावं परिणाममुपयाति प्राप्नोति। यः सकलनयविकल्पानतिलङ्घयति स शान्तरसस्वरूपानुभवनमात्रात्मकशुद्धपरिणामेन परिणमतीति भावः।

विवेचन :— 'आत्मा' इस शब्द से शुद्ध और अशुद्ध इन दोनों अवस्थावाली आत्मा का ग्रहण होता है; क्यों कि उन दोनों अवस्थाओं में वह ज्ञानस्वभाव से युक्त होती है। अशुद्ध अवस्था में उसका ज्ञानस्वभाव कर्मावृत होता है–उसका सर्वथा अभाव नहीं होता। 'संसारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्र से इस अभिप्राय का समर्थन होता है। प्रमाण से जाने गये पदार्थ के एकदेश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। इस नय के अध्यात्म की भाषा में व्यवहारनय और निश्चयनय ऐसे दो भेद हैं। अशुद्ध आत्मा को विषय बनानेवाले नय को अशुद्धनिश्चयनय कहते हैं। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से अशुद्धनिश्चयनय व्यवहारनयरूप है; क्यों कि अशुद्ध आत्मा के अशुद्ध परिणाम शुद्ध आत्मा के न होनेपर भी सामान्यतःआत्मा के कहे जानेपर शुद्धात्मस्वामिक कहे जानेसे वह कथन कथंचित् उपचरित बन जाता है। शुद्ध आत्मा को अपना विषय बनानेवाले नय को शुद्धनिश्चयनय कहते हैं। ये दोनों नय आत्मा के एकदेश को ही ग्रहण करते है, संपूर्ण आत्मद्रव्य को अर्थात् दोनों अवस्थावाले आत्मद्रव्य को ग्रहण नहीं करते। आत्मा को बद्ध, मूढ, रागी, द्वेषी, कर्ता, भोक्ता आदि जो कहा जाता है वह अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है और आत्मा बद्ध नहीं, मूढ नहीं, रागी नहीं, द्वेषी नहीं, कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं आदि जो कहा जाता है वह शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से कहा जाता है। अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा बद्ध आदि होने से शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से बद्ध आदि नहीं है ऐसा कहा जाता है और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा बद्ध आदि न होनेसे अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा बद्ध आदि है ऐसा कहा जाता है। यदि आत्मा सर्वथा बद्ध आदि होती तो उसकी अबद्ध अवस्था का अभाव होनेसे शुद्धनिश्चयनय के विषय का अभाव होनेसे शुद्धनिश्चयनय निरालब बन जानेसे उसका अभाव हो जायगा और यदि वह सर्वथा अबद्ध आदि होती तो उसकी बद्ध आदि अवस्थाओं का अभाव हो जाने से अशुद्धनिश्चयनय के विषय का अभाव हो जानेके कारण वह निरालंब हो जाने के कारण उसका भी अभाव हो जायगा। आत्मा की शुद्ध अवस्था का और अशुद्ध अवस्था का सद्भाव होने से दोनों नयों की चरितार्थता की सिद्धि हो जानेके कारण दोनों नयों की परस्परसापेक्षता की सिद्धि हो जाने से दोनों नय था मिथ्या नहीं हो सकते–नयाभासरूप नहीं हो सकते। नयाभासरूप न होनेसे उनकी सत्यता को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। आत्मा की अशुद्ध अवस्था नष्ट हो जानेसे अशुद्धनिश्चयनय निरालंब होनेवाला होनेके कारण वह भले ही कथंचित् मिथ्या हो; किंतु अशुद्ध अवस्था की अपेक्षा से वह सत्य भी है। आत्मा की अशुद्ध अवस्था नष्ट हो • अशुद्धनिश्चयनय निरालंब होनेसे उसका अभाव हो जानेसे निश्चयनय की

सापेक्षता का अभाव हो जानेसे वह निश्चयाभासरूप बन जाने के कारण उसका भी अभाव हो जाता है। आत्म-स्वरूप को जानते समय दोनों नयों का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाद और निर्विकल्प-समाधिजन्य आत्मज्ञान के पहले आत्मा की बद्धादि अवस्थाओं की हेयता को जाननेके लिये अशुद्धनिश्चयनय का प्रयोग और शुद्ध आत्मा की उपादेयता जानने के लिये शुद्धनिश्चयनय का प्रयोग विधेय है। जब वीतरागस्वसंवेदनज्ञान के द्वारा जीव अपने विज्ञानघनस्वभाव का अनुभव करने लगता है तब विकल्परहित अवस्था की आवश्यकता होती है; क्यों कि विकल्पों के अभाव के बिना आत्मा के स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता। दोनों नयों के पक्ष विकल्पात्मक होते हैं। अतः आत्मस्वरूप के अनुभूतिकाल के अनंतरपूर्वसमयतक दोनों नय कार्यकारी होनेसे उनका सद्भाव होता है और अनुभूतिकाल में उनकी कार्यकारिता का अभाव होनेसे उनका अभाव होता है।

ये दोनों नय तुल्यबल होनेसे उनमें विरोध होता है और इस विरोध का परिहार स्यात् या कथंचित् इस शब्द के द्वारा किया जाता है। इस अभिप्राय का समर्थन 'उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः' इस कलश से हो जाता है। यदि अशुद्धनिश्चयनयसंज्ञक व्यवहारनय सर्वथा मिथ्या होती तो उसकी तुल्यबलता का अभाव हो जाता है और उसके तुल्यबलता के अभाव में विरोध का अभाव हो जाता। विरोध के अभाव में बद्धाबद्धादिव्यवस्था टूट जाती। बद्धाबद्धादिव्यवस्था के टूट जानेपर आत्मा को सर्वथा शुद्ध या सर्वथा अशुद्ध माननेका प्रसंग उपस्थित हो जाता। आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानने से निश्चयनय का अवलंबन विफल बन जाता और सर्वथा अशुद्ध मानने से व्यवहारनय का अवलंबन विफल बन जाता। अतः व्यवहारनय को सर्वथा मिथ्या माननेसे आगमोक्त बद्धमूढादिव्यवस्था टूट जानेसे आगम की विफलता सिद्ध हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जानेके कारण व्यवहारनय को सर्वथा मिथ्या नहीं माना जा सकता। प्रकृत कलश में पाये जानेवाले 'नयपक्षकक्षां' इस सामासिकपद में प्रयुक्त किया गया 'कक्षा' यह शब्द तुल्यबलविरोध (Rivalry) का वाचक है। इससे भी दोनों नयों में होनेवाले विरोध के सद्भाव की सिद्धि हो जाती है। वस्तुस्वरूपविषयक जितने वचन होते है उतने ही नय होते हैं। अतः नयविकल्पों की अनल्पता की सिद्धि हो जाती है। व्यवहारनय के और निश्चयनय के इन सभी विकल्पों में विरोध का सद्भाव है। यदि व्यवहारनय को शुद्धनिश्चयनय जितनी बलवान् होती है उतनी बलवान् न माना तो अर्थात् दोनों नयों को तुल्यबल न माना तो व्यवहारनय को दुर्बल या निर्बल माननेका प्रसंग उपस्थित हो जानेसे विरोध का अभाव हो जानेसे विरोध का अभाव करने के लिये 'स्यात्' इस पद की आवश्यकता नहीं रहेगी और उससे 'उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के' इस कलश की निष्फलता सिद्ध हो जायगी। अतः व्यवहारनय को सर्वथा मिथ्या माननेसे निश्चयनय के साथ होनेवाले उसके विरोध का अभाव सिद्ध हो जानेसे उसको सर्वथा मिथ्यारूप मानना उचित-ठीक नहीं है। इन सभी विकल्पों के अभाव के बिना निर्विकल्पसमाधि की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती; क्यों कि उनके अभाव के बिना शांतरस का प्रादुर्भाव न होने से विज्ञानघनस्वभावरूप एकमात्रध्येयपर चिंता का-अंतःकरणव्यापार का निरोध नहीं किया जा सकता। अतः आत्मानुभूति के समय शांतरस की प्राप्ति के लिये दोनों नयों का अभाव आवश्यक होनेसे दोनों नयों की हेयता सिद्ध हो जाती है। 'हे भव्य आत्मा ! तू अनादिसे कर्मबद्ध हुई होनेसे बद्ध है, मूढ है, रागी बनी हुई है, द्वेषी बनी हुई है, तू अपने विभावभावों का कर्ता बनी हुई है और विभावभावों के रूप से परिणत हुई होने से उन परिणामों का भोक्ता है' इत्यादिरूप उपदेश जब दिया जाता है तब अशुद्धनिश्चयनय का होना योग्य है और "जीव परमार्थतः न बद्ध है और न मूढ हैं, न रागी है और न द्वेषी है, न कर्ता है और न भोक्ता है' इत्यादिप्रकार का उपदेश जब दिया जाता है तब शुद्धनिश्चयनय योग्य है। व्यवहारनय के द्वारा अशुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रकट करके शुद्ध आत्मा के स्वरूप का उपदेश देकर उसको उपादेय बताना आवश्यक है। यदि व्यवहारनय सर्वथा हेय माना तो देशना असंभव हो जायगी। अतः दोनों नयों की कथंचित् उपादेयता की और कथंचित् हेयता की सिद्धि हो जाती है। व्यवहारनय को सर्वथा मिथ्या मान लिया तो बद्धादि-अवस्थाओं को वे कथंचित् सत्य होनेपर भी सर्वथा मिथ्या मानना होगा। बद्धादि अवस्थाएं सर्वथा मिथ्या मानी गयी तो मोक्षमार्ग के उपदेश की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। बद्धादि अव-

स्थाएं सर्वथा मिथ्या नहीं हैं। अतः उनको अपना विषय बनानेवाला अशुद्धनिश्चयनय भी अर्थात् व्यवहारनय भी सर्वथा मिथ्या नहीं हो सकता। इस कारण से भी व्यवहारनय को सर्वथा मिथ्या नहीं माना जा सकता। समयसारगाथा ११ की तात्पर्यवृत्तिटीका में आचार्यश्रीजयसेन ने व्यवहारनयभूतार्थ भी है ऐसा कहा है। देखिये–

'ववहारो अभूवत्थो' व्यवहारोऽभूतार्थो 'भूवत्थो' भूतार्थश्च 'देसिवो' देशितः कथितश्च। न केवलं व्यवहारो देशितः 'सुद्धणओ' शुद्धनयोऽपि।

'व्यवहारनय अभूतार्थ है और भूतार्थ भी है ऐसा कहा है। न सिर्फ व्यवहार भूतार्थ है अपि तु शुद्धनय भी भूतार्थ है।' इस से स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय जिसप्रकार अभूतार्थ है उसी प्रकार भूतार्थ भी है।

तत्त्वार्थमहाशास्त्र में 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' इसप्रकार ध्यान का लक्षण दिया हुआ है। इस सूत्र में पाये जानेवाले 'अग्र' इस शब्द का 'अङ्गतीत्यग्रमात्मेति वा' इस वार्तिक के द्वारा आचार्य भट्टाकलङ्कदेव ने 'आत्मा' यह अर्थ भी होता है ऐसा स्पष्ट कर दिया है। 'ज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय इन कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से उत्तमसहननवाले जीव के अन्तःकरण व्यापार की आत्मा में जो अन्तर्मुहूर्तकालतक अवस्थिति होती है वह ध्यान है' ऐसा उसका अर्थ है। (जो जीव उत्तमसहननवाला होता है उसके ही ध्यान की सिद्धि होती है। राजवार्तिक में कहा है कि– 'वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसहनन, नाराचसंहननमित्येतत्त्रितयं संहननमुत्तमम्। कुतः? ध्यानवृत्तिविशेषहेतुत्वात्। तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव। ध्यानस्य त्रितयमपि।' वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तमसंहनन है। ये तीन सहनन उत्तम क्यों हैं? ध्यानरूपक्रियाविशेष के हेतु होने से वे सहनन उत्तम हैं। उन तीन प्रकार के सहननों में से एक आद्य सहनन ही मोक्ष का कारण है। तीनों भी सहनन ध्यान के कारण हैं' यहा आद्य सहनन को मोक्ष का कारण बताया है और आद्य तीन संहननों को ध्यान का कारण बताया है। कारण शब्द से यहां निमित्तकारण का ग्रहण अभीष्ट है, उपादानकारण का नहीं; क्यों कि ध्यान यह ज्ञान की क्रिया है और सहनन पुद्गल का परिणाम है। यदि निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर होता तो उसका प्रयोग अनुपयुक्त होनेसे ध्यान के लक्षण में उत्तमसंहनन का ग्रहण विफल हो जाता और हीनसहननवालों के और अत एव स्त्रियों के भी ध्यान की सिद्धि हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होगी। उत्तमसहनन ध्यान की क्रिया में सहकारी होता है। यदि वह सहकारी नहीं होता ऐसा माना तो उत्तमसहननशब्द का ग्रहण व्यर्थ पड जानेसे ध्यान का लक्षण दूषित हो जाता है। अतः निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता।)

जिस निर्विकल्पसमाधि में आत्मा के विज्ञानघनस्वभाव का अनुभव किया जाता है वह समाधि ध्यानरूप ही है। अनुभूति आत्मा का स्वकीय परिणाम है। प्रकृत कलश में पाये जानेवाले 'अनुभूतिमात्रं' इस पद का 'समरसैकरसस्वभावं' यह जो विशेषण पाया जाता है उसमें पाया जानेवाला 'समरस' यह शब्द विचारणीय है। 'सम' इस शब्द का अर्थ 'निर्विकार' ऐसा है। जो रस निर्विकार होता है वह शांतरस कहा जाता है। जिसमें प्रमाण, नय और निक्षेपों के विकल्पों का अभाव होता है वह अवस्था निर्विकार होती है। अनुभूतिकाल में प्रमाणनयादि के विकल्पों का अभाव होता है। इस अभिप्राय का समर्थन 'उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण' इस कलश से होता है। शांतरसरूप एकमात्र रस अनुभूति का स्वरूप है। यह अनुभूतिमात्ररूप परिणाम शुद्धस्वरूप होता है। जब आत्मा कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति के कारण शुद्ध आत्मा के स्वरूप के अनुभवन में एकतान होती है' तब आत्मा अंतरंग में शांतरसरूप से परिणत होती है और अंतरंग में शांतरसरूप से परिणत होनेसे उसकी बाह्य कायक्रिया और वचनक्रिया का अभाव होता है। अतः बाहर भी शांतरस की अभिव्यक्ति हो जाती है। अतः अंतरंग में बाहर जब शांतरस की अभिव्यक्ति हो जाती है तब आत्मस्वरूप का अनुभव होता है। जो व्यवहार और निश्चयइन दोनों नयों को जानकर दोनों नयों में से किसी भी एक नय के पक्ष को न पकडता हुआ

मध्यस्थ होता है वही शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव कर सकता है और मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। अतः निश्चयनय भी सर्वथा उपादेय नहीं है। इसी अभिप्राय को आचार्य अमृतचंद्र ने नीचे दिये जानेवाले कलश के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। देखिये–

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥ ६९ ॥

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ९१ ॥

अन्वय :– यस्य विस्फुरणं एव पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः एवं उच्छलत् इदं कृत्स्नं इन्द्रजालं तत्क्षणं अस्यति तत् चिन्महः अहं अस्मि।

अर्थ :– (सागरपर उठनेवाली) लहरों के समान असंख्य और अत्यंत चंचल विकल्पों के कारण प्रोक्त–प्रकार से उत्पन्न होनेवाले, दर्शनशक्ति को और ज्ञानशक्ति को प्रच्छादित करनेवाले इंद्रजाल को–इन्द्रजालसदृश मोह को जिसका विस्फुरणमात्र उसी क्षण दूर कर देता है वह चैतन्यज्योति मैं हूं।

त. प्र. :– यस्य चिज्ज्योतिषो विस्फुरणमेवाविर्भवनमेव। प्रकटीभवनमेवेत्यर्थः। पुष्कलोच्चल–विकल्पवीचिभिरसङ्ख्यातीतात्यन्तचञ्चलकल्लोलमालातुल्यविकल्पैः। पुष्कलास्सङ्ख्यातीताश्च ते उच्चला अत्यन्तचञ्चलाश्च पुष्कलोच्चलाः। विकल्पा वीचय इव विकल्पवीचयः। 'व्याघ्रादिभिरुप–मेयोऽतद्योगे' इत्युपमेयभूतानां विकल्पानामुपमानभूताभिर्वीचिभिः समासः। यथोच्चलिता वीचयः शान्त–स्वभावं सागरं प्रक्षुभ्नन्ति। तच्छान्तस्वरूपमाकुलीकुर्वन्तीत्यर्थः। तथोच्छलन्तः प्रादुर्भवन्तस्सङ्ख्या–तीता अत्यन्तचञ्चला विकल्पा मनसः शान्तिमपनयन्तीत्यर्थः। एवममुना प्रकारेण। प्रोक्तप्रकारेणे–त्यर्थः। उच्छलत् प्रादुर्भवदिदं कृत्स्नं सम्पूर्णमिन्द्रजालमिन्द्रजालसदृशं मोहनीयं कर्म तत्क्षणं चिज्ज्यो–तिषो विस्फुरणसमये एवास्यति दूरीकरोति। मोक्षयतीत्यर्थः। इन्द्रजालमिवेन्द्रजालम्। इन्द्रजालतुल्यं मोहमित्यर्थः। 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योस्। 'युक्तवद्रुसि लिङ्गसङ्ख्ये' इति युक्तवद्रुसि लिङ्गसङ्ख्ये। यथेन्द्रजालिकेन्द्रजालविद्या तद्विमोहितमतेः पुरुषस्य दृशिज्ञप्तिशक्ती भ्रामयति तथा मोहनीयं कर्म भावमोहाक्रान्तज्ञानस्य पुरुषस्य दृशिज्ञप्तिशक्ती भ्रामयति। अतो मोहनीयस्येन्द्रजाल–तुल्यत्वम्। आविर्भूतचैतन्यज्योतिषः पुरुषस्य मोहादिघातिचतुष्टयविनाशः शीघ्रमेव भवतीति भावः।

विवेचन :– जिसप्रकार वायु के वेग से समुद्र में उठनेवाली असंख्यात चचल लहरें समुद्र की शांति को नष्ट कर देती हैं उसीप्रकार उत्पन्न होनेवाले असंख्यात और चचल विकल्प आत्मा की शांति का विनाश कर देते हैं। इन विकल्पों से विशिष्ट प्रकार का इन्द्रजाल उत्पन्न होता है अर्थात् आत्मा की दर्शनशक्ति और ज्ञानशक्ति उपहत हो जाती हैं। इन्द्रजाल से–गारुडविद्या से दृष्टा पुरुष की दर्शनशक्ति और ज्ञानशक्ति उपहत हो जाने से जिसप्रकार दृष्टा को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का दर्शन और ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार मोहनीय के उदय के कारण नानाविध विकल्पों का प्रादुर्भाव होनेसे आत्मा की शुद्ध दर्शनशक्ति और ज्ञानशक्ति व्याहत हो जानेसे आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का दर्शन और ज्ञान नहीं होता। दर्शनशक्ति का और ज्ञानशक्ति का उपघात होना और वस्तु के यथार्थ स्वरूप का दर्शन और ज्ञान न होना इस दृष्टि से इन्द्रजाल का परिणाम और विकल्पसमूह का परिणाम इनमें समानता होनेसे इन्द्रजाल उपमान बनाया गया है। परिणामों की समानता यह साधारण धर्म है और वह

धर्म इस शब्द का वाच्य है। पुरुषार्थ के कारण जब आत्मा की स्वसंवेदनशक्ति प्रादुर्भूत होती है तब विकल्पों के कारणभूत मोह का स्वल्पकाल में अभाव हो जाता है और मोह का अभाव होने से अवशिष्ट तीन घातिकर्मों का अभाव हो जाता है और आत्मा सर्वज्ञरूप अवस्था को प्राप्त होती है। जिस वीतरागस्वसंवेदनज्ञान का प्रादुर्भाव होता है वही आत्मा की चैतन्यज्योति है।

'पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपम् ?' इति चेत्–

'जिसने दोनों नयों के पक्षों का उल्लंघन किया हुआ होता है ऐसे जीव का क्या स्वरूप है ?' ऐसा प्रश्न हो तो उसका समाधान करते हैं –

दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥ १४३॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः।
न तु नयपक्षं गृह्णाति कञ्चिदपि[1] नयपक्षपरिहीणः[2] ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थ– (समयप्रतिबद्धः) सुतरां निर्दोष और नित्यप्रकट होनेवाले चैतन्य से युक्त आत्मा के अर्थात् चैतन्यमात्ररूप आत्मा के अधीन बननेसे अर्थात् आत्मस्वरूप की अनुभूति में निमग्न हो जानेसे स्वयं विज्ञानमय बनी हुई (नयपक्षपरिहीणः) श्रुतज्ञानरूप परिणामों के स्वरूप से अन्वित श्रुतज्ञान के अवयवभूत परिणामरूप नयपक्षात्मकविकल्पों से रहित (द्वयोः अपि) व्यवहारसंज्ञक और निश्चयसंज्ञक दोनों भी (नययोः) नयों के (भणितं) कथन को (केवलं) केवल (जानाति तु) जानती ही है; (कञ्चन अपि नयपक्षं) किसी भी नयपक्ष को (न तु गृह्णाति) ग्रहण करती ही नहीं।

(छाया में दिये हुए 'परिहीनः' इस पाठ के स्थान में 'परिहीणः' यह पाठ रख दिया है; क्यों कि 'कृत्यचोऽभाभूपूङ्कम्गाम्प्यायीवेपोऽचः' इस सूत्र के अनुसार 'न' का 'ण' होता है। उसीप्रकार छायागत 'किञ्चिदपि' इस पाठ के स्थान में 'कञ्चिदपि' यह पाठ रख दिया है; क्यों कि वह 'नयपक्षं' इस पद का विशेषण है। 'नयपक्ष' यह शब्द पुल्लिङ्ग होनेसे उसका विशेषण भी पुल्लिंग होना चाहिये। पुल्लिंगपाठ कञ्चित् ' ऐसा होता है। आत्मख्याति में 'कञ्चन' यह पाठ पाया जाता है। अतः 'कञ्चित्' यह पाठ ही शुद्ध है।)

आ ख्या. :– यथा खलु भगवान् केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोः व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपं एव जानाति, न तु सतत–(स–)– मुल्लसित–सहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानभूमिकातिक्रान्ततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात् कञ्चन अपि नयपक्षं परिगृह्णाति। तथा किल य. श्रुतज्ञानावयवभूतयोः व्यवहारनिश्चयनयपक्षयो. क्षयोपशमविजृम्भितश्रुतज्ञाना–

---

१ किञ्चिदिति पाठस्य नयपक्षमित्यस्य विशेषणत्वात्पक्षशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वात्कञ्चिदिति पाठेन भाव्यम्। २ परिहीन इति पाठोऽयुक्त. 'कृत्यचोऽभाभूपूङ्कम्गाम्प्यायीवेपोऽच.' इति नस्य ण। अत परिहीण इत्येव पाठ साधु।

त्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेऽपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपं एव केवलं जानाति, न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञान-घनभूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मकसमस्तान्तर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रान्ततया समस्तनय-पक्षपरिग्रहद्दूरीभूतत्वात् कञ्चन अपि नयपक्षं परिगृह्णाति, स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतर. परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिः आत्मख्यातिरूपः अनुभूतिमात्रः समयसारः ।

त. प्र. :–यथा येन प्रकारेण खलु परमार्थतो भगवान्केवली विनष्टमतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूप-स्वज्ञानपर्याय आविर्भूतकेवलावबोधः श्रुतज्ञानावयवभूतयोः श्रुतज्ञानांशभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयो-रुपचारप्रधानव्यवहारद्रव्यप्रधाननिश्चयनयदृष्टयोर्विश्वसाक्षितया विश्वदृश्वत्वेन विश्ववेदस्त्वेन च केवलं स्वरूपमेव जानात्यवगच्छति । न तु नैव सततसमुल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यो-द्योतितस्वाभाविकनिर्दोषनिरवशेषकेवलावबोधतया । सकलं निरवशेषं च तत्केवलज्ञानं च सकलकेवल-ज्ञानम् । विमलं निर्दोषं च तत्सकलकेवलज्ञानं च विमलसकलकेवलज्ञानम् । सहजं स्वाभाविकं च तद्विमलसकलकेवलज्ञानं च सहजविमलसकलकेवलज्ञानम् । सततं नित्यं समुल्लसितमुद्योतितं सहज-विमलसकलकेवलज्ञानं यस्य स सततसमुल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानः । तस्य भावः सततसमु-ल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानता । तया । नित्यं सर्वकालमविच्छेदेन स्वयमेवात्मनैव विज्ञानघन-भूतत्वाद्दुद्भिन्नविज्ञानघनभूतत्वाच्छ्रुतज्ञानभूमिकातिक्रान्ततया श्रुतज्ञानस्वरूपपर्यायातिदूरीभूतत्वात् । श्रुतज्ञानस्य क्षायोपशमिकभावभूतस्य ज्ञानस्य भूमिकां स्वरूपमतिक्रान्तः श्रुतज्ञानभूमिकातिक्रान्तः। तस्य भावः । तया । समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्समस्तनयदृष्टयुररीकरणदूरीभूतत्वात् । समस्तानां सर्वेषां नयपक्षाणां नयदृष्टीनां परिग्रहाद्ग्रहणाद्दूरीभूतत्वात् । कञ्चनाऽपि कञ्चिदपि नयपक्षं नय-दृष्टिं व्यवहारनिश्चयनयदृष्टयोरन्यतरां कामपि नयदृष्टिं परिगृह्णाति स्वीकरोति । व्यवहारनिश्चयन-ययोः श्रुतज्ञानोपादानकावयवभूतत्वाच्छ्रुतज्ञानस्वरूपान्वितत्वात्तयोः श्रुतज्ञाने चान्तर्व्याप्यव्यापकभाव-सद्भावान्नयश्रुतज्ञानयोरेव परिणामपरिणामिभावो, न तु नयविज्ञानयोः, नयानां विज्ञानानुपादानकत्वा-द्विज्ञानस्वरूपानन्वितत्वात्तयोर्नययोर्विज्ञाने चान्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्परिणामपरिणामिभावानुपप-त्तेरिति भावः । तथा तेन प्रकारेण किल परमार्थतो यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोः श्रुतज्ञानांशभूतयोर्व्यव-हारनिश्चयनयपक्षयोर्व्यवहारनिश्चयनयदृष्टयोः क्षयोपशमविजृम्भितश्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गम-नेऽपि श्रुतज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमप्रकटीभूतश्रुतज्ञानोपादानकपरिणामप्रादुर्भवनेऽपि । क्षयोपशमेन श्रुतज्ञानावरणीयसञ्ज्ञकद्रव्यकर्मक्षयोपशमेन विजृम्भितं प्रकटीभूतं यच्छ्रुतज्ञानं तदात्मकानां तत्स्वरू-पान्वितानां विकल्पानां परिणामानां प्रत्युद्गमने प्रादुर्भवनेऽपि । परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया विज्ञानघनैकमात्रस्वभावभूतात्स्वभावभेदेन व्यवहारनिश्चयनययोः श्रुतज्ञानस्वरूपान्वितयोः परयोः विज्ञानाद्भिन्नस्वरूपयोर्व्यवहारनिश्चयनययोः परिग्रहात्स्वपरिणामत्वेन स्वीकरणात्प्रतिनिवृत्तं दूरीभूत-मौत्सुक्यं यस्य सः । तस्य भावः । तया । स्वरूपमेव क्षायोपशमिकभावभूतश्रुतज्ञानान्वितपरिणामत्वमेव केवलं जानाति, न तु नैव खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया सूक्ष्मतरग्रा-हितीव्रतरदृशिशक्त्यनुभूतनिर्दोषनित्यप्रकटचैतन्यमयात्मपदार्थाद्योतनतया । खरतरा सूक्ष्मतरग्राहितीव्रत-रा चासौ दृष्टिर्दृशिशक्तिश्च खरतरदृष्टिः । तया गृहीतोऽनुभवगोचरीकृतः सुनिस्तुषः सुतरां निर्दोषो

नित्योदितः स्वभावस्यात्मन्यविच्छेदेन नित्ययोगेन विद्यमानत्वान्नित्यं प्रकटीभूतश्चिन्मयश्चैतन्यमयश्चासौ समय आत्मपदार्थो यस्तत्र प्रतिबद्धोऽधीनः । तत्र निमग्न इत्यर्थः । तस्य भावः । तया । विज्ञानघनमात्रैकस्वभावानुभवनक्रियारूपनिर्विकल्पसमाधौ निमग्नत्वादित्यर्थः । तदात्वे यस्मिन्काले शुद्धात्माऽनुभूयते तस्मिन्नेव काले स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वाद्विज्ञानघनत्वेन परिणतत्वाच्छ्रुतज्ञानात्मकसमस्तान्तर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रान्तत्वाच्छ्रुतज्ञानस्वरूपान्वितसकलान्तर्बहिर्जल्परूपविकल्पात्मकपरिणामस्वरूपातिक्रान्तत्वेन । श्रुतज्ञानमात्मा येषां ते श्रुतज्ञानात्मकाः । श्रुतज्ञानोपादानकपरिणामत्वात्परिणामिभूतश्रुतज्ञानस्वरूपेणान्विता इत्यर्थः । श्रुतज्ञानात्मकाश्च ते समस्ता अन्तर्बहिर्जल्परूपा विकल्पाः श्रुतज्ञानात्मकसमस्तान्तर्बहिर्जल्परूपविकल्पाः । तेषां भूमिकां स्वरूपमतिक्रान्तोऽतिपतितः । विकल्पस्वरूपाद्दूरीभूत इत्यर्थः । तस्य भावः । तया । समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्सकलनयदृष्टिस्वीकारात्मकविकल्पेभ्यः प्रतिनिवृत्तत्वात्कञ्चनापि नयपक्षं काञ्चनाऽपि नयदृष्टिं परिगृह्णाति स्वीयत्वात्स्वस्मिन्नन्तर्भावयति । स आत्मा खलु परमार्थतो निखिलविकल्पेभ्यो नयज्ञानात्मकसकलपरिणामेभ्यः परतरो भिन्नतरः । अत्यन्तभिन्न इत्यर्थः । परमात्मा ज्ञानात्मा विज्ञानघनैकमात्रस्वभावादभिन्नः प्रत्यग्ज्योतिरन्तःप्रकटज्ञानतेजा आत्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रो यावन्मात्रोऽनुभूयते तावत्प्रमाणः समयसारः ।

टीकार्थ :– जिसप्रकार केवलिभगवान् विश्वस्थित संपूर्ण पदार्थों के ज्ञाता और द्रष्टा होने से श्रुतज्ञान के अंशभूत व्यवहारनय को और निश्चयनय को दृष्टियों के–पक्षों के केवल स्वरूप को ही जानते हैं, नित्यकाल अविच्छिन्नरूप से प्रकटरूप से रहनेवाले स्वाभाविक, निर्दोष और संपूर्ण केवलज्ञान के रूप से परिणत हुए होनेके कारण स्वयमेव नित्यकाल विज्ञानघनरूप होनेसे श्रुतज्ञानरूप पर्याय के स्वरूप से प्रतिनिवृत्त हुए होनेके कारण समस्त नयों के विषयभूत विकल्पों को स्वीकार करने से दूर हुए होने से किसी को भी अपनेमें–अपने विज्ञानघनस्वभाव में अंतर्भूत करते ही नहीं उसीप्रकार जो जीव क्षयोपशम से अर्थात् श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अभिव्यक्त हुए परिणामभूत श्रुतज्ञान के स्वरूप से अन्वित विकल्पों का प्रादुर्भाव होनेपर भी पर को अर्थात् उक्त विकल्पों को अपनेमें अंतर्भूत करनेकी उत्सुकता का अभाव हो जाने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहारनय और निश्चयनय के पक्षों के स्वरूप को ही केवल जानता है, सूक्ष्म पदार्थ को ग्रहण करनेवाली तीव्रतर दर्शनशक्ति के द्वारा अनुभव का विषय बनाये गये अत्यंत निर्दोष नित्यप्रकट चैतन्यमय आत्मा में–आत्मस्वरूपानुभूति में निमग्न हुआ होनेसे जिससमय आत्मस्वरूपानुभूति में निमग्न हुआ होता है उससमय स्वयमेव विज्ञानघनरूप से परिणत हुआ होनेसे श्रुतज्ञान के स्वरूप से अन्वित संपूर्ण अंतर्जल्परूप और बहिर्जल्परूप विकल्परूप-विकल्पात्मक परिणामों के स्वरूप से दूर हुआ होनेके कारण नयों के संपूर्ण पक्षों को अपनेमें अंतर्भूत करनेसे प्रतिनिवृत्त हुआ होनेसे किसी भी नयपक्ष को अपनेमें या अपने स्वभावभूत विज्ञान में अंतर्भूत नहीं करता, वह जीव परमार्थतः संपूर्ण विकल्पों से अत्यंत भिन्न परमात्मरूप, विज्ञानघनरूप एकमात्र स्वभाव से अभिन्न, अंतरंग में प्रकटरूप ज्ञानात्मक तेजवाला, आत्मख्यातिरूप अनुभूतिप्रमाण समयसार है ।

विवेचन :– भगवान् केवली के क्षायोपशमिकभावरूप मत्यादिरूप चारों ज्ञानपर्यायों का नाश होनेपर केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होता है । व्यवहारनय और निश्चयनय श्रुतज्ञान के अवयवभूत–अंशभूत परिणाम होनेसे वे दोनों नय श्रुतज्ञान के स्वरूप से अन्वित होते हैं । नय और श्रुतज्ञान इनमें अंतर्व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होनेसे वे श्रुतज्ञानस्वामिक होनेके कारण उनका श्रुतज्ञान में ही अंतर्भाव होता है । केवली के श्रुतज्ञान का अभाव होता है । श्रुतज्ञान क्षायोपशमिकभावरूप होता है और विज्ञान–केवलज्ञान क्षायिकभावरूप होता है । नय श्रुतज्ञानोपादानक होने से जिसप्रकार उनमें श्रुतज्ञान का स्वस्वरूप से अन्वय पाया जाता है उसप्रकार उनमें केवलज्ञान का स्वस्वरूप से अन्वय नहीं पाया जाता; क्यों कि स्वरूपभेद के कारण अपने उपादानकारणभूत श्रुतज्ञान से केवलज्ञान

भिन्न होता है। जिसप्रकार श्रुतज्ञान से केवलज्ञान भिन्न होता है उसीप्रकार केवलज्ञान से श्रुतज्ञान भी भिन्न होता है। श्रुतज्ञान के समान उसके नयरूपपरिणाम केवलज्ञान से पर अर्थात् भिन्न होते हैं। नयरूप परिणाम केवलज्ञान से भिन्न होनेके कारण उन परिणामों का केवलज्ञान में अंतर्भाव नहीं हो सकता। भगवान् केवली विश्वस्थ सभी परपदार्थों के द्रष्टा और ज्ञाता होनेसे नयों के स्वरूप को सिर्फ जानते हैं-उनको अपने स्वभावभूत केवलज्ञान में अंतर्भूत नहीं करते। भगवान् केवली के स्वाभाविक निर्दोष संपूर्ण केवलज्ञान सभी कालों में अविच्छिन्नरूप से प्रकटरूप बना हुआ होता है और केवलज्ञान की नित्यप्रकटता के कारण भगवान् स्वयं विज्ञानघनरूप होते हैं। वे केवलज्ञान के रूप से परिणत हुए होनेसे उनके श्रुतज्ञान का अभाव होता है। श्रुतज्ञान का अभाव होनेके कारण समस्त नयपक्षों को अपने स्वभावभूत ज्ञान में अंतर्भूत करनेसे पराङ्मुख होते हैं। पराङ्मुख होनेसे वे किसी भी नयपक्ष को अपनेमें या अपने स्वभावभूत केवलज्ञान में अंतर्भूत नहीं करते। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञानरूप परिणाम उत्पन्न होता है। विकल्प श्रुतज्ञान के स्वरूप से अन्वित होते हैं। जब जीव शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूतिरूप परिणाम के रूप से परिणत होता है तब स्वभावभेद के कारण श्रुतज्ञानस्वरूपान्वित विकल्परूपपरिणाम शुद्धात्मस्वरूपानुभूतिरूपपरिणाम से पर-भिन्न होते हैं। ऐसे इन श्रुतज्ञानात्मकविकल्परूप परिणामों का प्रादुर्भाव होनेपर भी पर के परिणामों को अपने स्वरूप में अंतर्भूत करनेकी उत्सुकता नष्ट हो जानेसे जो जीव श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहारनय के और निश्चयनय के स्वरूप को भगवान् केवली के भाँति केवल जानता है। सूक्ष्म पदार्थ के सामान्यमात्र का ग्रहण करनेवाली दर्शनशक्ति के द्वारा ग्रहण किये गये निर्दोष, नित्यप्रकट, चैतन्यमय आत्मा के ध्यान में जब वह जीव निमग्न होता है तब वह स्वयमेव विज्ञानमय बन जाता है। जब वह विज्ञानमय बन जाता है तब श्रुतज्ञान के स्वरूप से युक्त अंतर्जल्परूप और बहिर्जल्परूप विकल्पों के स्वरूप से प्रतिनिवृत्त हो जाता है अर्थात् विकल्प नहीं करता। विकल्पों से निवृत्त हो जानेसे समस्त नयों के पक्षों को अपनेमें अंतर्भूत नहीं करता। समस्त नयपक्षों को ग्रहण करनेवाला न होनेसे किसी भी नयपक्ष को अपनेमें अंतर्भूत नहीं करता। ऐसा सकल विकल्पों से भिन्न, परमात्मा बना हुआ, विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाव से अभिन्न, अंतरंग में प्रकट हुए ज्ञानरूप तेजवाला, आत्मख्यातिरूप और अनुभूतिप्रमाण वह जीव समयसार है।

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ।। ९२ ।।

अन्वय :- समस्तां बन्धपद्धतिं अपास्य चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतया एकं अपारं समयसारं चेतये।

अर्थ :- बंध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन समस्त कारणों का त्याग करके चैतन्य को धारण करनेवाला मैं श्रुतावरणकर्म के क्षयोपशम से प्रकट होनेवाले श्रुतज्ञान के स्वरूप से अन्वित विकल्पों का या कर्मोदयादिजन्य विभावपरिणामों का जिसमें अभाव होता है, ऐसी अवस्था ही आत्मा की उत्कृष्ट अवस्था होनेसे एकरूप अर्थात् शुद्ध, अनन्त समयसार का अर्थात् परमात्मा का-परमात्मस्वरूप का अनुभव करता हूं।

त. प्र. :- समस्तां सकलां बन्धपद्धतिं भावमिथ्यात्वादिरूपबन्धकारणपरम्परामपास्य दूरीकृत्य। तद्विनाशं कृत्वेत्यर्थः। चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतया चैतन्यात्मकस्वभावमात्रश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकटीकृतश्रुतज्ञानस्वरूपान्वितनयद्वयविकल्पात्मकपरिणामाभावरूपावस्थाविशेषरूपोत्कृष्टावस्थाविशेषत्वेन, चित्स्वभावमात्रप्रमाणप्रकटीकृतविधिप्रतिषेधरूपपरमार्थत्वेन, चित्स्वभावघनप्रमाणप्रतिष्ठापितोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकपरमार्थस्वरूपत्वेन, चित्स्वभावमात्रद्रव्यकर्मोदयादिनिमित्तकविभावभावाभावस्वभावपरमार्थेन चैकं शुद्धममेचकं वाऽपारमनन्तम्। अविनश्वरमित्यर्थः। समयसारं

परमात्मानं चेतयेऽनुभवगोचरीकरोमि। चित्स्वभावं बिभर्तीति चित्स्वभावभरः। यद्वा चित्स्वभावस्य भरः प्रकर्षः पूर्णता यस्मिन् सः। चित्स्वभावस्य भरो गाढता यस्मिन् सः। तादात्म्यापन्नचित्स्वभाव इत्यर्थः। भावितः प्रकटीकृतः भावानां नयद्वयविकल्पात्मकपरिणामानामभावो यस्मिन्स भावितभावाभावः। भावितभावाभावश्चासौ भावः पदार्थश्च भावितभावाभावभावः। स एव परमार्थः। तस्य भावः परमार्थता। तया। यद्वा भावितौ प्रमाणैः प्रकटीकृतौ भावाभावौ विधिप्रतिषेधौ यस्य स भावितभावाभावः। स चासौ भाव आत्मपदार्थश्च भावितभावाभावभावः। स एव परमार्थः। तस्य भावः। तया। यद्वा भावितः प्रमाणप्रतिष्ठापितः भाव उत्पादोऽभावो विनाशो भाव उत्पादव्यययोः स्थितिमद्द्रव्यं यस्य स भावितभावाभावभावः। स चासौ परमार्थश्च। तस्य भावः। तया। यद्वा द्रव्यकर्मोदयेन सहकारिकारणभूतेन भाविता जनिता भावा विभावभावाः भावितभावाः। तेषामभावो यत्र स भावितभावाभावः। भावितभावाभावश्चासौ भाव आत्मपदार्थश्च भावितभावाभावभावः। स चासौ परमार्थश्च। तस्य भावः। तया। चित्स्वभावभरश्चासौ भावितभावाभावभावश्च। स एव परमार्थः। तस्य भावः। तया।

विवेचन – शुद्ध आत्मा विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाली होती है। वह व्यवहारनय के और निश्चयनय के विकल्पों से और कर्मोदयादिनिमित्तक विभावभावों से रहित होती है। विभावभावों से रहित होना, विकल्पशून्य होना और शुद्धचैतन्य से युक्त होना उसका पारमार्थिक स्वरूप है। शुद्ध आत्मा का इसप्रकार का स्वरूप होनेपर भी संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध हुई होनेसे उसको शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती; क्यों कि मिथ्यात्वादिसंज्ञक द्रव्यकर्मों के उदयरूप निमित्त के कारण भावमिथ्यात्वादि के रूप से परिणत हो जानेसे उसके शुद्ध आत्मा का स्वरूप अभिव्यक्त नहीं होता। अतः शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति के लिये मिथ्यात्वादिरूप बंध के कारणों का अभाव करना सुतरां आवश्यक है। कारणों का अभाव होनेपर तज्जनितकार्यों का भी अभाव हो जाता है। बंधजनक कारणों का अभाव कर देनेपर आत्मा की विभावभावरूप परिणतियां नहीं होती और उन विभावभावात्मक परिणतियों का अभाव होनेपर जीव का स्वाभाविकभाव अभिव्यक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बंधक कारणों का अभाव कर देनेपर ही शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं।

'पक्षातिक्रान्तः एव समयसारः' इति अवतिष्ठते–

'जिसने दोनों नयों के पक्षों का उल्लंघन किया हुआ होता है वही समयसार होता है' यह निर्णीत हो जाता है–

सम्मद्दंसणणाणं एदं[1] लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो॥ १४४॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतं लभते इति केवलं व्यपदेशम्।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः॥ १४४॥

---

१ 'एसो' इति पाठान्तरम्।

अन्वयार्थ :– (**यः**) जो जीव (**सर्वनयपक्षरहितः**) बाह्य पदार्थ जिसके विषय पडते हैं ऐसे मतिज्ञान के इंद्रियानिंद्रियजनित सभी विकल्पों मे रहित होता हुआ बद्धाबद्धादिविकल्परूप नयदृष्टियो के अभिनिवेशो वे रहित होता है (**सः**) वह (**समयसारः**) समयसार (**भणितः**) कहा गया है। (**एष**) यह समयसार (**केवलं**) केवल (**सम्यग्दर्शनज्ञानं**) सम्यग्दर्शनज्ञान (**इति**) इसप्रकार की (**व्यपदेशं**) सज्ञा को (**लभते**) पाता है।

आ. ख्या. :– अयं एकः एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते। यः खलु अखिलनयपक्षाक्षुण्णतया विश्रान्तसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः। यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टम्भेन ज्ञानस्वभावं आत्मानं निश्चित्य ततः खलु आत्मख्यातये परख्यातिहेतून् अखिलाः एव इन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीः अवधीर्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालम्बनेन अनेकविकल्पैः आकुलयन्तीः श्रुतज्ञानबुद्धीः अपि अवधीर्य आत्माभिमुखीकुर्वन् अत्यन्तं अविकल्पो भूत्वा झगिति एव स्वरसत एव व्यक्तीभवन्तं आदिमध्यान्तविमुक्तं अनाकुलं एकं केवलं अखिलस्य अपि विश्वस्य उपरि तरन्तं इव अखण्डप्रतिभासमयं अनन्तं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विन्दन् एव आत्मा सम्यक् दृश्यते ज्ञायते च, ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसारः एव।

त. प्र. :– अयं निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्र एष आत्मैकश्शुद्धो निरञ्जनश्चैव सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं सम्यग्दर्शनज्ञानसञ्ज्ञां किल परमार्थतो लभते प्राप्नोति। यः खलु परमार्थतोऽखिलनयपक्षाक्षुण्णतया निखिलनयदृष्टयप्रक्षुब्धत्वेन। अखिलैर्निखिलैर्नयपक्षैर्विकल्परूपाभिर्नयदृष्टिभिरक्षुण्णतयाऽप्रक्षुब्धतया। श्रुतज्ञानांशात्मकनयदृष्टिरूपविविधकल्पाप्रक्षुब्धशान्तरसात्मकस्वभावत्वेनेत्यर्थः। विश्रान्तसमस्तविकल्पव्यापारो विनष्टसकलविकल्पकलाकलापात्मकक्रियाकलापः। विश्रान्ता विनष्टा समस्ता सकलाः विकल्पव्यापाराः विकल्पात्मकविशिष्टपरिणामरूपत्वेन परिणममानानां व्यापाराः क्रियाः यस्य सः। स समयसारः सकलविकल्पकलापादत्यन्तं भिन्नः परमात्मस्वरूपो ज्ञानघनस्वभावोऽन्तःप्रकटचैतन्यज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्र आत्मा। यतो यस्मात्कारणात्प्रथमतः प्रथमं श्रुतज्ञानावष्टम्भेन द्रव्यभावश्रुतज्ञानाद्वितयजनितसामर्थ्यावलम्बनेन ज्ञानस्वभावं विज्ञानघनैकमात्रस्वभावमात्मानं निश्चित्य निरारेकं यथार्थतया परिच्छिद्य ततो विज्ञानघनैकमात्रस्वभावस्यात्मनः परिच्छेदात्खलु परमार्थत आत्मख्यातय आत्मसिद्धय आत्मस्वरूपसमवाप्तये वा परख्यातिहेतूनज्ञानात्मकपरिणामपरिणतिनिबन्धनत्वाच्छुद्धात्मभिन्नत्वात्परोऽनन्तर्मुख इति ख्यातेर्बाह्यार्थोपलब्धेर्वा हेतून्। बहिरात्मत्वख्यातिनिबन्धनभूता इत्यर्थः। अखिला निखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरिन्द्रियानिन्द्रियात्मककरणजन्यज्ञानात्मकविकल्पानवधीर्य परित्यज्यात्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्व आत्मानुकूलीकृतमतिज्ञानरूपपरिणामस्तथा मतिज्ञानात्मकपरिणामवन्नानाविधनयपक्षालम्बनेनानेकप्रकारकनयदृष्टयवष्टम्भेन। नानाविधा बद्धाबद्धत्वादिप्रकाराः अनेकविधाश्च ते नयपक्षा नयदृष्टयश्च नानाविधनयपक्षाः। तेषामालम्बनमवष्टम्भः। तेन। अनेकविकल्पैर्दृष्ट्यात्मकैर्वाऽनेकैर्मानसपरिणामैः। नानाविधविचारात्मकमानसपरिणामैरित्यर्थः। आकुलयन्तीर्मनसः स्थैर्यमे–

कारणं विघटयन्तोः श्रुतज्ञानबुद्धीरपि श्रुतज्ञानोपादानकचिन्तनात्मकपरिणामभूतविकल्पानप्यवधीर्य निराकृत्य श्रुतज्ञानतत्त्वं श्रुतज्ञानरूपपरिणाममप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नात्मानुकूलीकुर्वन्नत्यन्तमत्यर्थम विकल्पो विकल्पशून्यो भूत्वा झगित्येव शीघ्रमेव स्वरसत एवात्मानुभूतिमात्रेणैव व्यक्तीभवन्तं प्रकटीभवन्तमादिमध्यान्तविमुक्तमखण्डमनाकुलमप्रक्षुब्धनिर्विकारस्वरूपशान्तरसस्वभावमेकं निरञ्जनत्वनिबन्धनशुद्धिभाग्विज्ञानमात्रैकस्वभावं केवलमखिलस्याऽपि विश्वस्योपरितरन्तमिव विश्वस्थनिखिलवस्तुजातात्स्वभावभेदाद्भिन्नत्वादुपर्यूर्ध्वं तरन्तमिव भासमानम्। अखिलेलामण्डलस्थितिकनिखिलवस्तुजाताद्भिन्नत्वेन विराजमानमित्यर्थः। अखण्डप्रतिभासमविकलानुभवनम्। अखण्डोऽविकलः प्रतिभासोऽनुभवो यस्य सः। तम्। पूर्णत्वेनानुभवगोचरीभवन्तमित्यर्थः। अनन्तमन्तरहितम्। अविनश्वरमित्यर्थः। विज्ञानघनं केवलज्ञानपिण्डभूतं परमात्मानं सर्वोत्कृष्टमात्मानं समयसारं शुद्धावस्थं विन्दन्नेव लभमान एव। अनुभवगोचरीकुर्वन्नेवेत्यर्थः। आत्मा सम्यक् पूर्णतया यथार्थतया वा दृश्यते दृशिक्रियाविषयीक्रियते। अवलोक्यत इत्यर्थः। अनुभूयते चेत्यर्थः। ज्ञायतेऽवगम्यते च। ततस्तस्मात्कारणात्सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव। सम्यग्दर्शनज्ञानद्वयस्य समयसारस्य चान्योन्यमभेद एवेति भाव:।

टीकार्थ :– यह अनुभूतिमात्ररूप एक अर्थात् शुद्ध और निरंजन आत्मा ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान संज्ञा को परमार्थत: पाता है। जो परमार्थत: सभी नयदृष्टियों के कारण प्रक्षुब्ध हुआ न होनेसे जिसका समस्त विकल्पों के रूप से परिणत होनेको क्रिया का अभाव हो गया होता है वह समयसार होता है। जिसकारण आत्मा प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से अर्थात् श्रुतज्ञान की सामर्थ्य से विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाली आत्मा को निश्चितरूप से जानकर उस आत्मा के निश्चय से स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा आत्मस्वरूप को जाननेके लिये शुद्ध आत्मा से भिन्न सशरीर अशुद्ध बहिरात्मा को या बाह्य पदार्थों को जानने के साधनभूत इंद्रियां और मन इनसे उत्पन्न होनेवाले सभी विकल्पों का परित्याग करके जिसने मतिज्ञानरूप ज्ञान के परिणाम को आत्मा के अभिमुख किया है अर्थात् बाह्य ज्ञेय पदार्थों से हटाकर आत्मा के साथ संबंध को प्राप्त कराया है, मतिज्ञानात्मक विकल्पों का परिहार करनेके समान अनेक प्रकार के नयपक्षों के आलंबन के कारण अभिव्यक्त होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा मानसिक एकाग्रता को विचलित करनेवाले श्रुतज्ञानात्मक परिणामों का परित्याग करके श्रुतज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को भी आत्मा के अभिमुख करनेवाली अर्थात् आत्मा के साथ संबंध को प्राप्त करनेवाली आत्यंतिकरूप से विकल्परहित होकर शीघ्र ही आत्मानुभव से ही व्यक्त होनेवाली आदि–मध्य–अन्तरहित अर्थात् अखण्ड, अनाकुल अर्थात् जिसका शान्तस्वरूप–विकारविकलस्वरूप प्रक्षुब्ध हुआ नहीं है ऐसी, केवल एक अर्थात् शुद्ध (विभावभाव–विकल), विश्वस्थ संपूर्ण पदार्थों से भिन्न, अखंडरूप से अनुभव में आनेवाली, अविनश्वर, केवल ज्ञानपिण्डरूप, परमात्मस्वरूप समयसार का अनुभव करनेवाली ही आत्मा संपूर्णरूप से यथार्थरूप से अनुभव का विषय बनायी जाती है उसकारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसार ही है।

विवेचन :– जिस को शुद्ध आत्मा का स्वरूप स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा अनुभवगोचर हुआ होता है उसके नयपक्षों का–नयदृष्टियों का अभाव हो जाता है; क्यों कि आत्मजिज्ञासुओं को ही नयपक्षो का अवलंब लेना पडता है, आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले को नही। नयों का अवलंब लेनेसे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान अंशरूप से होता है और वह ज्ञान अनुभवजन्य ज्ञान के सदृश अविकल नहीं होता। ज्ञान की आंशिकरूपता से आत्मा का स्वभावभूत ज्ञान अखंड होनेपर भी खंडित जैसा प्रतिभासित होता है। आंशिक ज्ञान से आत्मा के स्वरूप का पूर्णरूप से ज्ञान नहीं होता। जब आत्मा स्वस्वरूप की अनुभूति में निमग्न–एकतान होती है तब उसे वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरूप प्रत्यक्ष से संपूर्ण आत्मा का शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अविकलरूप से यथार्थ ज्ञान होता है और यथार्थ ज्ञान

होनेसे उसे नयों का अवलंब नहीं लेना पडता। आत्मस्वरूप का अनुभवजन्य ज्ञान होनेसे वह ज्ञान अविकल होनेके कारण नयों का अवलंब लेना न पडनेसे अखंडरूप ही होता है। आत्मा का स्वभावभूत ज्ञान अखंड होनेसे ज्ञान की विकल्परूप परिणाम के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का अभाव होता है। इसप्रकार अखंडज्ञानरूप विकल्परहित आत्मा समयसाररूप होती है। समयसारभूत इसी आत्मा की सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये संज्ञाएं होती हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से समयसारभूत आत्मा भिन्न नहीं होती। आत्मा और ज्ञान में परमार्थतः अभेद होने से और सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ज्ञान की पर्यायें होनेसे पर्याय और पर्यायी इन में अभेद होनेके कारण समयसारभूत आत्मा और सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इनमें भेद का अभाव होता है। आत्मा प्रथम श्रुतज्ञान के द्वारा विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाववाली अपनी आत्मा के स्वरूप का निश्चय करती है। श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा के शुद्धस्वरूप का निश्चय करनेपर आत्मा के स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न होनेवाले यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये आत्मा जिसप्रकार इंद्रियानिंद्रियग्राह्य बाह्य पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति के कारणभूत-साधनभूत इंद्रियां और मन इनके निमित्त से उत्पन्न होनेवाले बाह्य पदार्थों के ज्ञानरूप सभी विकल्पात्मक परिणामों का त्याग करती है और उन विकल्पात्मक परिणामों का त्याग करनेपर मतिज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को बाह्य पदार्थों से हटाकर आत्मा के साथ संबंध को प्राप्त कराती है और जिसप्रकार मतिज्ञानरूप परिणाम को बाह्य पदार्थों से हटाकर आत्मा के साथ संबंध को प्राप्त कराती है उसीप्रकार अनेक प्रकार के नयपक्षों का आलंबन लेनेके कारण उत्पन्न होनेवाले अनेक नयविकल्पों के द्वारा मानसिक एकाग्रता को विचलित करनेवाले श्रुतज्ञानात्मक नयविकल्परूप परिणामों का त्याग करके श्रुतज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को आत्मा के साथ संबंध को प्राप्त करानेवाली होती हुई आत्यंतिकरूप से विकल्पशून्य होकर शीघ्रही आत्मा से ही अभिव्यक्त होनेवाली, आदि-मध्य-अंतरहित अर्थात् अखंड, आत्मस्वरूप से प्रच्युत न हुई अथवा जिसका शांतस्वरूप विकृत नहीं हुआ है ऐसी, विभावभावशून्य, विश्वस्थ सभी पदार्थों से भिन्न, अखंडरूप से प्रकाशमान या अनुभव में आनेवाली, अविनश्वर, केवलज्ञान का पिंडभूत परमात्मभूत समयसार का अनुभव करनेवाली आत्मा जब संपूर्णरूप से या यथार्थरूप से अनुभव का विषय बनायी जाती है तब सम्यग्दर्शनरूप और सम्यग्ज्ञानरूप समयसार ही होती है। (समयसार आत्मानुभूति से ही अभिव्यक्त होता है विकल्पशून्य होनेसे अखंड होता है - अभेदक होता है, स्वस्वरूप से कदापि च्युत नहीं होता, शुद्ध होता है, विश्वस्थ सभी पदार्थों से भिन्न होता है, अखंड ज्ञानमय होता है, अविनश्वर होता है, विज्ञान का अर्थात् केवलज्ञान का पिंडरूप होता है, परमात्मस्वरूप होता है और सम्यग्दर्शनात्मक और सम्यग्ज्ञानात्मक होनेपर भी एक समयसाररूप ही होता है।)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ।। ९३ ।।

अन्वय :- निभृतैः नयानां पक्षैः विना अचलं अविकल्पभावं आक्रामन् स्वयं आस्वाद्यमानः यः समयस्य सारः भाति स एष विज्ञानैकरसः, पुण्यः अयं भगवान् ज्ञानं दर्शनं अपि, किं अथवा? अयं यत्किञ्चन अपि एकः।

अर्थ :- जिन्होंने आत्मस्वरूपरूप एकमात्र अग्रपर अपने मनोव्यापार को रोकलिया है ऐसे शांतरस में निमग्न हुए महापुरुषों के द्वारा निश्चल विज्ञानघनरूप अवस्था को प्राप्त होनेवाली होती हुई स्वयं अपने अनुभव का विषय बनायी गयी जो समय के सार के रूप से प्रकट होती है-अनुभव में आती है वह विज्ञानघनमात्ररूप एकमात्रस्वभाववाली, पुण्य अर्थात् शुद्ध अथवा आत्मा को सर्वथा शुद्ध करनेवाली (केवलज्ञानरूप अवस्था को प्राप्त

करानेवाली) अनादि और वीतराग आत्मा ज्ञानरूप और दर्शनरूप (भेदों से कथंचित् युक्त) होनेपर भी; अधिक क्या कहें ? वह कुछ भी होनेपर भी एकरूप होती है–एक समयसारमात्ररूप ही होती है।

त. प्र.:– निभृतैरात्मस्वरूपरूपैकाग्रनिरुद्धचिन्तैः । शुद्धात्मस्वरूपानुभूत्यात्मकनिर्विकल्पध्यानैकतानमनस्कारैरित्यर्थः। नयानां श्रुतज्ञानांशभूतामनेकनयानां पक्षैर्दृष्टिभिर्विना। मतिज्ञानमात्माभिमुखीकृत्य श्रुतज्ञानांशभूतनिखिलनयदृष्टिभूतानेकविकल्पकलापं परिहृत्येत्यर्थः। अचलं निश्चलम्। अप्रच्यवमानमित्यर्थः। अविकल्पभावं विज्ञानघनरूपैकमात्रस्वभावम्। विपर्यस्तः कल्पोऽवस्थाविशेषो विकल्पः। अज्ञानमित्यर्थः। नास्ति विकल्पोऽज्ञानं यस्य सोऽविकल्पः। यद्वा विकल्पो भेदः। स नास्त्यस्य सोऽविकल्पः। अखण्डः इत्यर्थः। अविकल्पश्चासौ भावः परिणामश्चाविकल्पभावः। तम्। तेनाज्ञानविकलं ज्ञानदर्शनादिभेदविकलं निर्विकल्पं वा भावमित्यर्थः। आक्रामन्प्राप्नुवन्। स्वयमात्मनाऽऽस्वाद्यमानोऽनुभवगोचरीक्रियमाणो यः समयस्य सम्यग्ज्ञानस्य। सम्समीचीनोऽयो ज्ञानं समयः। तस्य। सारः। आत्यनुभवजन्यज्ञाने प्रकटीभवति। स एव विज्ञानैकरसो विज्ञानघनैकमात्रस्वभावः पुण्यः शुद्ध आत्मानं केवलज्ञानस्वभावं प्रापयन्वा। पुराणश्चिरन्तनः। अनादिरित्यर्थः। अयं भगवान् विभावभावविकलत्वाद्वीतरागः पारमैश्वर्यसम्पन्नो वा पुमानात्मा ज्ञानं दर्शनमपि ज्ञानदर्शनात्मकपरिणाममेवान्मेचकोऽपि किमथवा किमधिकं यत्किञ्चनोऽप्ययममेचको विज्ञानघनैकमात्रस्वभावत्वादेक एकरूपः। विज्ञानघनमात्रैकस्वभाव एवेति भावः।

विवेचन:– विकल्पशब्द का अर्थ अज्ञान भी है और भेद भी है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अज्ञानभावशून्य या स्वभावभूत ज्ञान के मत्यादिज्ञानरूप भेदों से रहित या नयविकल्पात्मक परिणामों से रहित होती है; किंतु कर्मावृत अवस्था में वह अज्ञानभावरूप से परिणत हुई होती है और वह अज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप से परिणत होनेपर क्षायोपशमिकभावरूप होनेसे उसके मत्यादिभावरूप भेद होते हैं और क्षायिकभावरूप से परिणत होनेपर उसका एक केवलज्ञानरूप भी भेद होता है। जब इसके मोहनीयजन्य अज्ञानभाव का और ज्ञान की क्षायोपशमिक अवस्था का अभाव होता है तब आत्मा विज्ञानभावरूप से परिणत होकर मतिज्ञानादि भेदों से रहित होती है। जब आत्मा अनुभूति का विषय बनती है तब उसके पांचों ज्ञान विज्ञानघनमात्रैकस्वभावरूप से परिणत होते हैं और मत्यादिज्ञानों की विज्ञानमात्ररूप भाव से परिणति होनेपर वह अविकल्प अवस्था को प्राप्त होती है। आत्मा की अविकल्प अवस्था शुद्धनय की दृष्टि से अचल होती है। इस अविकल्प अवस्था का अनुभव नयपक्षों का त्याग कर देनेपर ही होता है- नयपक्षों का त्याग न करनेपर नहीं होता। इस अविकल्प आत्मा का जो अनुभव करते हैं वे नयपक्षों का त्याग करके जब विकल्पशून्य होते हैं और अपने आत्मस्वरूपपर अपने मनोव्यापार को रोकते हैं तब ही अनुभव कर सकते हैं। आत्मा कि यह अवस्था सम्यग्ज्ञान की सारभूत उत्कृष्ट अवस्था है। यह अविकल्प–अवस्थावाली आत्मा पुण्य अर्थात् शुद्ध या पावन अर्थात् आत्मा को शुद्धतम बनानेवाली होती है, वह चिरतन होती है, भगवान् अर्थात् वीतराग होती है। यह आत्मा यद्यपि ज्ञानरूप और दर्शनरूप भेदों के रूप से परिणत हुई होती है तो भी उसके ज्ञानरूप और दर्शनरूप भेद व्यवहारनयाश्रित हैं – निश्चयनयाश्रित नहीं हैं; क्यों कि वे दोनों भेद आत्मा के परिणाम होनेसे कथंचित् भिन्न होनेपर शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से परिणाम और परिणामी इनमें अभेद होनेसे आत्मरूप ही होते हैं। सारांश, व्यवहारनय की दृष्टी से आत्मा कुछ भी हो, किंतु, शुद्धनिश्चयनय की दृष्टी से वह विज्ञानघनरूप – एकमात्रस्वभाववाली होनेसे एकरूप ही है – अखंड है – भेदरूप नहीं है।

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।

विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माऽऽहरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥ ९४ ॥

अन्वयः– तोयवत् दूरात् एव निजौघात् च्युतः (सन्) भूरिविकल्पजालगहने दूरं भ्राम्यन् विवेकनिम्नगमनात् बलात् निजौघं नीतः विज्ञानैकरसः तदेकरसिनां अयं आत्मा आत्मानं आत्मनि एव आहरन् गतानुगततां सदा आयाति ।

अर्थ– जिसप्रकार बाढ आनेपर नद के उद्‌गमस्थानभूत दूरवर्ती स्थान से उछलता हुआ (गंदला) जल अपने प्रवाह से बाहर जाकर कदंब जैसे वृक्षों के समूह से युक्त जंगल में दूरतक फैलता है उसीप्रकार दूर से ही अर्थात् अनादिकाल से ही अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत हुआ जीव अनेक विकल्पों के समूहरूप जंगल में आत्यंतिकरूप से सभ्रांत होता हुआ अर्थात् आत्मस्वरूप का अनुभव करनेमें असमर्थ होता हुआ जिसप्रकार वही बाढ का जल कम होता हुआ नद के पात्र में जब नीचे जाता है तब जंगल में फैला हुआ जल नदपात्रगत अपने प्रवाह में जबरन ले जाया जाता है उसीप्रकार भेदज्ञानोत्पत्ति के पूर्वकाल में जो निम्न अज्ञानभाव होता है उसका जब विलय – अभाव हो जाता है तब वह (भेदज्ञानरूप अपनी) सामर्थ्य से अपने विज्ञानरूपस्वभाव को प्राप्त कराया जाता है अर्थात् भेदज्ञानरूप अपनी सामर्थ्य से आत्मस्वरूपानुभूति की ओर स्वयमेव खींचा जाता है । जिसप्रकार जंगल में फैला हुआ जबरन लाकर नद के मूल प्रवाह में छोडा गया बाढ का जल प्रवाह के साथ एकरूपता को प्राप्त होता है उसीप्रकार आत्मस्वरूपानुभूति की ओर खींचा गया, विज्ञान की अनुभूतिमात्ररूप विज्ञानघनरूप एकमात्रस्वभाव का अनुभव करनेवाला, अपनेको अपनेमें ही खींचकर लानेवाला जीव केवलज्ञानयुक्त अवस्था को प्राप्त होता है ।

त. प्र.– तोयवद्वाप्लुतोदकनदप्रवाहवत् । तोयं विपुलमस्त्यस्य तोयो नदजलपूरः । तद्वत् । ‘ ओऽभ्रादिभ्यः ’ इति भूम्न्यत्यो मत्वर्थीयो मत्वर्थीयस्य भूम्न्यपि विधानात् । दूरादेव नदपूरप्रवाहपक्षे दूरवर्तिनो नदोद्‌गमस्थानात्, जीवपक्षेऽनादेरेव । निजौघादात्मप्रवाहाश्रयभूतान्नदपात्रात् । नदप्रवाहस्य नदपात्राश्रयत्वान्नदपात्रस्याऽप्योघसञ्ज्ञा । ओघश्चात्र प्रवाहार्थवचनोऽपि नदपात्रार्थवचनो ग्राह्यः । निजस्य जलप्रवाहस्यात्मन ओघः स्वाश्रयभूतं नदपात्रम् । पक्षे निजस्य जीवस्य स्वस्य । जीवस्वामिकस्येत्यर्थः । ओघः सामान्यं । जलप्रवाहतुल्यशुद्धात्मस्वभावभूतविज्ञानप्रवाहं वा । निर्विकल्पो विज्ञानघनस्वभाव इत्यर्थः । तस्मात् । च्युतः प्रभ्रष्टः स्वाश्रयभूतनदपात्रं विहायान्यत्र तटप्रदेशे भ्राम्यन्नित्यर्थः । पक्षे विज्ञानघनरूपमेकमात्रं स्वस्वभावं शुद्धं विमुच्य विभावभावात्मकपरिणामरूपेण परिणमन्नित्यर्थः । भूरिविकल्पजालगहने नानाप्रकारककदम्बसदृशतरुसमूहव्याप्तकानने, पक्षे नानाविधनयविकल्पसमूहरूपकान्तारे । भूरिविकल्पा नानाप्रकारा जाला कदम्बसदृशा वृक्षाः भूरिविकल्पजालाः । जालः कदम्बवृक्षः । जाला इव जालाः कदम्बसदृशा वृक्षाः । ‘ देवपथादिभ्यः ’ इतीवार्थस्य कस्योप् । ‘ युक्तवद्व्यक्तिवचने लिङ्गसङ्ख्ये ’ इति जालवल्लिङ्गसङ्ख्ये । भूरिविकल्पजालानां गहनं काननं भूरिविकल्पजालगहनम् । तस्मिन् । पक्षे भूरिविकल्पा नानाप्रकारका नयविकल्पाः, ‘ जावदिया वयणपहा ’ इत्यादिवचनात् । तेषां जालं समूहः । तदेव गहनं दुष्प्रवेशमरण्यम् । तस्मिन् । दूरमत्यर्थम् । भ्राम्यन् परिभ्रमणं कुर्वन्, पक्षे भ्रमिं कुर्वन् । अनादेर्मोहाक्रान्तत्वात्संवृतस्वीयविज्ञानघनमात्रैकस्वभावत्वान्नानाविधविभावभावात्मकपरिणामैः परिणमन्नित्यर्थः । यद्वा नानाविधनयपक्षात्मकविकल्परूपपरिणामपरिणत्याऽनुभूतिमात्रमात्मस्वभावं विमुच्य बहिर्मुखीभूय बाह्यार्थान्स्वज्ञानविषयीकुर्वन्नित्यभिप्रायः । यद्वाऽऽकुलीभूय स्वशुद्धात्म–

स्वरूपानुभवनेऽसमर्थो भवन्नित्यर्थः । विवेकनिम्नगमनाद्वोभयतटमध्यगतजलप्रवाहाश्रयभूतनवपात्रे निम्नमधो गमनात् । विवेको आधारभूतं नवपात्रम् । पक्षे विवेकाद्भेदज्ञानान्निम्नस्याधस्तनस्य निम्नस्य विज्ञानघनमात्रैकस्वभावात्मज्ञानाभावरूपाज्ञानस्य गमनाद्विलयनाद्विवेकेन भेदज्ञानेन वा कारणभूतेन निम्नस्याज्ञानभावस्य गमनाद्विलयनाद्धेतोः । बलात् प्रसह्य, पक्षे कर्मोदयाभावाभिव्यक्तभेदज्ञानात्मकशक्तिविशेषात् । निजौघं स्वीयाश्रयभूतनवपात्रं, पक्षे निर्विकल्पकमत्यादिज्ञानपञ्चकैकीभावात्मकविज्ञानघनमात्रैकस्वभावानुभूतिमात्रावस्थाम् । नीतः प्रापितः । विज्ञानैकरसो निर्विकल्पमत्यादिज्ञानपञ्चकैकीभावात्मकविज्ञानरूपशुद्धानुभूतिविषयः । विज्ञानं निर्विकल्पकमत्यादिज्ञानपञ्चकैकीभावात्मकं शुद्धात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकश्शुद्धो रसोऽनुभूतेर्विषयो यस्य सः । यद्वा विज्ञानं शुद्धात्मस्वरूपस्यावगमनमनुभवनमेव वैकः शुद्ध रसः सुखमानन्दो वा यस्य सः । सुख-शुद्धात्मस्वभावानुभवयोर्वस्तुतोऽभेदान्मोहक्षोभाभावादाकुलताया अभावाच्छुद्धात्मस्वभावानुभवनमेव सुखं, सुखस्यानाकुलत्वैकलक्षणत्वात् । तदेकरसिनां विज्ञानघनैकमात्रस्वभावानुभवनक्रियानिमग्नानामयमात्माऽऽत्मानमात्मनि शुद्धस्वभाव आत्मन्येवाहरन्नयन् । गतानुगततां विज्ञानघनमात्रैकस्वभावयुक्तत्वं विशुद्धजलप्रवाहतुल्यविज्ञानप्रवाहयुक्तत्वं वा । गतं गतिः । 'नपुंसके भावे क्तः' इति भावे नपि क्तः । सर्वेषां गत्यर्थानां धूनां ज्ञानार्थकत्वाद्गतं ज्ञानमित्यर्थः । तत्र ज्ञानेन शुद्धात्मस्वभावभूतं विज्ञानं केवलज्ञानं वा ग्राह्यम् । गतं ज्ञानमनुगतः प्राप्तो गतेन ज्ञानेनानुगतो युक्तो वा गतानुगतः । यद्वा गतं गतिरस्यास्तीति गतः । 'अोऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयः । गतिमानित्यर्थः । विशेषणावगतेर्विशेष्यावगतिः । तेन जलौघ इत्यर्थः । गतो जलप्रवाह इव गतो विज्ञानप्रवाहः । 'देवपथादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योस् । 'युक्तवद्व्यक्तिवचनानि' इति जलप्रवाहार्थकगतशब्दवल्लिङ्गसङ्ख्ये । जलप्रवाहसदृशविज्ञानप्रवाहमनुगतः प्राप्तः गतानुगतः । तस्य भावः । ताम् । पक्षे, गतं गतिरस्यास्तीति गतो मौलः प्रवाहः । 'अोऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयोऽस्तिविवक्षायाम् । गतं मूलप्रवाहमनुगतो गतानुगतः । तस्य भावः । ताम् । सदा सर्वकालमायाति प्राप्नोति । अविनश्वरकेवलज्ञानावस्थां प्राप्नोतीत्यर्थः । यथा पूर्वं गहनगतं पश्चान्मौलं प्रवाहं प्रापितं नदपूरप्रवाहजलं मौलं प्रवाहमनुगच्छति तथाऽनादेर्विभावभावत्वेन परिणममान आत्माऽऽत्मना भेदज्ञानसामर्थ्यमात्मनो विज्ञानघनमात्रैकस्वभावानुभवनपरिणामं प्रापितस्सन्विज्ञानघनस्वभावात्मककेवलज्ञानस्वरूपेण परिणमतीति फलितोऽर्थः ।

विवेचन— यह जीव अनादिकाल से कर्मावृत हुआ होनेसे शुद्धात्मस्वरूपानभिज्ञतारूप अज्ञानभाव के रूप से परिणत होता आया है । इस अज्ञानभाव के कारण वह अपने क्षायोपशमिकभावभूत मतिज्ञान को आत्माभिमुख नहीं कर सकता और श्रुतज्ञानांशभूत अनेकविध नयविकल्पों के रूप से परिणत होनेवाला होनेसे श्रुतज्ञान को भी आत्माभिमुख नहीं कर सकता । बाह्यार्थ के ज्ञान के रूप से और नयविकल्पों के रूप से परिणत होनेवाला होनेसे वह आत्मस्वरूप की अनुभूति नहीं कर सकता । चतुर्थ गुणस्थान में होनेवाले सम्यक्त्वाचरणचारित्र के सद्भाव से आत्मा के सामान्यमात्ररूप अंश का ग्रहण होता है—मत्यादि पांचों ज्ञानों का एकीभावरूप विज्ञानात्मक विशेषरूप अंश का ग्रहण नहीं होता; क्यों कि वहां शुद्धोपयोग का सद्भाव नहीं होता—सिर्फ प्रारंभिक शुभोपयोग का सद्भाव होता है । शुद्धोपयोग का वहां सद्भाव नहीं होता; क्यों कि वहां राग का सद्भाव होता है । शुद्धोपयोग के अभाव के कारण आत्मा के विज्ञानघनस्वभावरूप विशेषांश के अनुभूतिजन्य ज्ञान का अभाव होनेसे जीव का स्वात्मविषयक अज्ञानभाव बना रहता है । अप्रमत्तगुणस्थान से शुद्धोपयोग को प्रारंभ होकर क्षीणकषाय गुणस्थान में उसका प्रकर्ष होता है

और इसीकारण अप्रमत्तगुणस्थान से आत्मस्वभाव के अनुभव को प्रारंभ हो जाता है । आत्मस्वभाव के अनुभव के कारण जीव परमार्थतः ज्ञानी बनता है । जबतक जीव अज्ञानी होता है तबतक उस अज्ञान के कारण वह शुद्धात्म-स्वभाव से च्युत होता है । जब उसके भेदज्ञानरूप सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता है तब उस सामर्थ्य से वह शुद्धात्म-स्वरूप की अनुभूति कर सकता है; क्यों कि भेदज्ञान का प्रादुर्भाव होनेके कारण उसको शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति हो जानेसे उसके अज्ञानभाव का अभाव हो जाता है । जो आत्मा के विज्ञानघनस्वभाव का अनुभव करता है वह विज्ञान की अनुभूति के रूप से परिणत होनेवाला जीव अपनी आत्मा को स्वयमेव अपने शुद्धस्वरूप की ओर खींचता है और उसकी अनुभूति से विज्ञानघनस्वभावरूप केवलज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् केवलज्ञान के रूप से परिणत हो जाता है ।

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥ ९५ ॥

अन्वयः— परं विकल्पकः कर्ता, केवलं विकल्पः कर्म । सविकल्पस्य कर्तृकर्मत्वं न जातु नश्यति ।

अर्थ— जो केवल अर्थात् जो ही नयदृष्टिरूप और विभावभावात्मकपरिणामरूप विकल्पों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता है वही जीव कर्ता होता है अर्थात् उक्तप्रकारक विकल्पों का उपादानकर्ता होता है । (जो उक्तप्रकारक विकल्परूप परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय नहीं होता वह शुद्ध जीव उक्तप्रकारक विकल्पों का कर्ता-उपादानकर्ता नहीं होता ।) केवल विभावभावात्मकपरिणामरूप और नयदृष्टिरूप विकल्प कर्म होता है अर्थात् उक्तप्रकारक विकल्प के उपादानभूत कर्ता का उक्तप्रकारक विकल्प में स्वस्वभाव का अन्वय होनेके कारण सद्भाव होनेसे उस कर्ता का उपादेयभूत कर्म होता है । (जो परिणाम उक्तविकल्परूप न होकर शुद्धज्ञानरूप होता है वह उक्तप्रकारक उपादानरूपकर्ता का उपादेयभूत कर्म नहीं होता ।) जो जीव उक्तप्रकारक विकल्पों से सहित होता है अर्थात् उक्तप्रकारक विकल्पोंके रूप से परिणत होता है उसके विकल्पों के उपादानकर्तृत्व का और विकल्परूपपरिणामात्मक कर्मत्व का नाश नहीं होता । (जो उक्तप्रकारक विकल्पों के रूप से परिणत नहीं होता उसके ही विकल्पविषयक कर्तृत्व का और विकल्परूपपरिणामात्मकपरिणति का अभाव होनेसे कर्मत्व का नाश-अभाव होता है ।)

त. प्र.— परं केवलं विकल्पको नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकविकल्परूपपरिणामपरिणतिक्रिया-श्रयः । विकल्पते विकल्परूपेण परिणमते इति विकल्पकः । 'ण्वुल्तृचौ' इति कर्तरि ण्वुः । यद्वा विकल्पं करोति विकल्पयति । 'मृदो ध्वर्थे णिज्बहुलम्' इति णिच् । विकल्पयतीति विकल्पकः 'ण्वुल्तृचौ' इति कर्तरि ण्वुः । उक्तप्रकारकविकल्पात्मकत्वेन स्वयं परिणममानो जीवः कर्तोपादानकर्ता भवति । यतश्शुद्धात्मस्वरूपानुभवजन्यज्ञानविकलोऽज्ञानिजीवो नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकविक-ल्परूपेषु स्वीयपरिणामेषु स्वाज्ञानरूपेण स्वभावेनान्वितो भवति ततस्स तेषां परिणामानामुपादानकर्ता भवतीति भावः । यो नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकविकल्परूपपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयो न भवति स तेषु स्वस्वरूपेणानन्वितत्वात्तेषामुपादानकर्ता न भवतीति ध्वनिः । यो विभावभावात्मकपरिणामा-नामुपादानकर्ता भवति स कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मात्मकपरिणामपरिणतेर्निमित्तकर्ता भवति यश्च विभावभावात्मकपरिणामानामुपादानकर्ता न भवति स कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलोपादानकद्रव्य-कर्मपरिणामपरिणतेर्निमित्तकर्ता न भवति । विकल्पक एवोपादानकर्ता निमित्तकर्ता च भवति, नाविक-ल्पक इति भावः । केवलं विकल्पो नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकविकल्परूपः परिणामो यः स स्वोपादानकर्तृभूतजीवस्वामिकाज्ञानस्वरूपेणान्वितत्वात्कर्म स्वोपादानभूताज्ञानिजीवात्मककर्तुरुपादेय-

भूतं कर्म भवति, कर्मवर्गणायोग्यपुद्‌गलोपादानकं द्रव्यकर्म च नैमित्तिकभावात्मकं कर्म भवति । यो नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकविकल्परूपात्परिणामाद्भिन्नः शुद्धज्ञानान्वितः परिणामः स उक्तप्रकारस्य कर्तुरुपादेयभूतं कर्म न भवतीति ध्वनिः । सविकल्पस्य नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकविकल्पसहितस्य तादृक्प्रकारकविकल्परूपपरिणामपरिणतस्येत्यर्थः । कर्तृकर्मत्वमुक्तप्रकारकविकल्पात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयीभवनरूपोपादानकर्तृत्वं कर्मवर्गणायोग्यपुद्‌गलोपादानकस्य द्रव्यकर्मणश्च हेतुकर्तृत्वं च नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकविकल्परूपपरिणामात्मकस्वोपादेयभूतकर्मत्वं च द्रव्यकर्मोदयालम्बननैमित्तिकभावभूतकर्मत्वं च न जातु न कदाचिदपि नश्यति विलयमृच्छति ।

विवेचन— जो विकल्पों को उत्पन्न करता है अर्थात् नयदृष्ट्यात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होता है वह जीव उन परिणामों में स्वस्वरूप से अन्वित हुआ होनेसे उन परिणामों का उपादानकर्ता होता है और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गल की द्रव्यकर्मरूप परिणति का मुख्यहेतु होनेके कारण निमित्तकर्ता–हेतुकर्ता होता है । इसप्रकार विकल्पों के रूप से परिणत होनेवाला जीव उपादानकर्ता और निमित्तकर्ता–हेतुकर्ता होता है । वे विकल्पात्मक परिणाम उपादानभूत अज्ञानिजीव के अज्ञानभाव से अन्वित होनेसे उस जीव के उपादेयभूत कर्म होते हैं और जीवस्वामिक विभावभावात्मक परिणाम निमित्त होनेसे नैमित्तिकभावभूत बना हुआ कर्मवर्गणायोग्यपुद्‌गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्मरूप परिणाम भी उसका कर्म होता है । जो उक्तप्रकारके परिणामों के रूप से परिणत नहीं होता वह उक्तप्रकारक परिणामों का उपादानकर्ता नहीं होता और उक्तप्रकारक परिणामों के रूप से परिणत न होनेसे उनका अभाव होनेसे वे परिणाम उक्तप्रकारक परिणामों के रूप से परिणत न होनेवाले जीव के कर्म भी नहीं होते। जो उक्तप्रकारक परिणामों के रूप से परिणत होता है उसके उन परिणामों के उपादानकर्तृत्व का और द्रव्यकर्मरूपपुद्‌गलपरिणामों के निमित्तकर्तृत्व का अभाव नहीं होता । परिणामी आत्मा और उसके उपादेयभूतपरिणाम इनमें तादात्म्य होनेसे–कथंचित् भेद न होनेसे परिणामी जीव ही कर्म होता है । जब वह अज्ञानिजीव उक्तप्रकारक परिणामों के रूप से परिणत होता है तब उसके कर्मत्व भी का अभाव नहीं होता । कर्तृत्व और कर्मत्व अज्ञानिजीव के परिणाम होनेसे और परिणाम और परिणामी में कथंचित् अभेद होनेसे वही अज्ञानिजीव कर्ता भी होता है और कर्म भी होता है । जो जीव उक्तप्रकारक परिणामों के रूप से परिणत नहीं होता वही जीव उक्तप्रकारक परिणामों का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्मों का निमित्तकर्ता–हेतुकर्ता नहीं होता और उक्तप्रकारक परिणामों के रूप से परिणत न होनेसे वह कर्म भी नहीं होता । सारांश, जो जीव उक्तप्रकारक परिणामों के रूप से परिणत होता है उसके कर्तृत्वभाव का और कर्मत्वभाव का अभाव नहीं होता और वही जीव उक्तप्रकारक परिणामों के रूप से जब परिणत नहीं होता तब उसके कर्तृत्वभाव का और कर्मत्वभाव का अभाव होता है । उक्तप्रकारक कर्तृत्वभाव का और कर्मत्वभाव का अभाव होनेपर ही विज्ञानघनरूपस्वभाव का अनुभव हो सकता है और उस अनुभव से ही केवलज्ञानात्मकविशुद्धज्ञानरूप से उसकी परिणति होती है, अन्यथा नहीं। अतः मुमुक्षु जीव को इन दोनों भावों का नाश–अभाव करना चाहिये ।

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ।। ९६ ।।

अन्वयः— यः करोति स केवलं करोति, यः तु वेत्ति तु स केवलं वेत्ति । यः करोति स क्वचित् न हि वेत्ति, यः तु वेत्ति स क्वचित् न करोति ।

अर्थ— जो नयदृष्ट्यात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होता है वह उक्त परिणामों के रूप से ही परिणत होता है और जो विज्ञानघनरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रियारूप परिणाम के रूप से

परिणत होता है वह उस परिणाम के रूप से ही परिणत होता है। जो नयदृष्ट्यात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होता है वह शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रियारूप परिणाम के रूप से कदापि परिणत नहीं होता और शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रियारूप परिणाम के रूप से जो परिणत होता है वह नयदृष्ट्यात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से कदापि परिणत नहीं होता।

त. प्र. – यो जीवः करोति शुभाशुभोपयोगयोस्तत्र जीवे सद्भावाच्छुद्धोपयोगस्य चाभावान्नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयी भवति स तत एव केवलं करोति नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियां जनयति। यस्तु यश्च वेत्ति मत्यादिविज्ञानपञ्चकैकीभावात्मकविज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियात्मकपरिणामरूपेण परिणमति स तु स एव केवलं शुद्धोपयोगसद्भावाच्छुभाशुभोपयोगयोरभावाच्च वेत्ति मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानपञ्चकैकीभावात्मकविज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियात्मकपरिणामरूपेण परिणतो भवति। यः करोति शुभाशुभोपयोगद्वयसद्भावान्नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकपरिणामरूपेण परिणमति स क्वचित्कस्मिंश्चिदपि काले न हि नैव वेत्ति मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानपञ्चकैकीभावात्मकविज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियात्मकपरिणामरूपेण परिणतो भवति, शुद्धोपयोगाभावाज्ज्ञप्तिकरोतिक्रियात्मकपरिणामद्वयोत्पत्तिकालभेदात्तयोर्युगपदुत्पत्त्यसम्भवाच्च। यस्तु यश्च वेत्ति मत्यादिविज्ञानपञ्चकैकीभावात्मकविज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियात्मकपरिणामरूपेण शुद्धोपयोगसद्भावात्परिणतो भवति स क्वचित्कस्मिंश्चिदपि काले न करोति नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियां न करोति, शुद्धोपयोगकाले नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिनिबन्धनशुभाशुभोपयोगद्वयासद्भावात्। अयमत्राभिप्रायः – यो नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकपरिणामरूपेण परिणतो भवति स शुभोपयोगवानेवाशुभोपयोगवानेव वा भवति, न शुद्धोपयोगवान्। शुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिनिबन्धनशुद्धोपयोगाभावाच्छुभोपयोगवानशुभोपयोगवान्वा जीवो नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकपरिणामरूपेणैव परिणमति, शुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियात्मकपरिणामरूपेण नैव परिणमति। यश्च शुद्धोपयोगवाञ्छुभाशुभोपयोगद्वयाभावाच्छुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियात्मकपरिणामरूपेण परिणमति स शुद्धोपयोगसद्भावकाले शुभाशुभोपयोगद्वयसद्भावासम्भवान्नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकपरिणामरूपेण नैव परिणमति। मिथ्यात्वादिगुणस्थानत्रयेऽशुभोपयोगो भवति, अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगो विद्यते, अप्रमत्तादिगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽस्ति। एतेषां गुणस्थानानां क्रमवर्तित्वाच्छुभाशुभशुद्धोपयोगानामपि क्रमवर्तित्वम्। यस्मिन्कालेऽशुभोपयोगो भवति तस्मिन्नेव काले शुभोपयोगो न भवति, विभिन्नस्वरूपपरिणामद्वयस्य युगपदुत्पत्त्यसम्भवादशुभोपयोगविनाशानन्तरमेव शुभोपयोगात्मकपरिणामस्य प्रादुर्भूतिसम्भवात्। यस्मिन्काले शुभोपयोगस्य सद्भावोऽस्ति तस्मिन्नेव काले शुद्धोपयोगात्मकपरिणामस्य सद्भावो न सम्भवति, शुभोपयोगात्मकपरिणामविनाशानन्तरमेव शुद्धोपयोगात्मकपरिणामस्य प्रादुर्भूतिसम्भवात्। एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगात्मकपरिणामानां युगपत्प्रादुर्भूत्यसम्भवाद्यस्मिञ्छुभोपयोगकालेऽशुभोपयोगकाले वा जीवो नयदृष्ट्यात्मकविभावभावात्मकपरिणामरूपेण परिणमति तस्मिन्नेव काले शुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियात्मकपरिणामनिबन्धनशुद्धोपयोगात्मकपरिणामस्य प्रादुर्भूत्यसम्भवादभावाच्छुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियात्मकपरिणामरूपेण न परिणमति, यस्मिंश्च शुद्धोपयोगकाले जीवः शुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियात्मकपरिणामरूपेण परिणमति

न्काले नयवृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामोत्पत्तिनिबन्धनशुभाशुभोपयोगात्मकपरिणामद्वयस्य विनष्टत्वादसद्भावान्नयवृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामरूपेण न परिणमति । अतो यः करोति स कदापि न वेत्ति, यश्च वेत्ति स न करोति कदापीति स्पष्टीभवति ।

विवेचन :– मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में अशुभोपयोग तरतमता से होता है; अविरत, देशविरत और प्रमत्तविरत इन तीन गुणस्थानों में शुभोपयोग तरतमता से होता है और अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसापराय, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय इन छह गुणस्थानों मे शुद्धोपयोग तरतमता से होता है । सभी गुणस्थान एक जीव के एकसाथ नहीं होते–क्रम से होते हैं । अतः तीनों उपयोग भी क्रम से होते हैं । अशुभोपयोग का अभाव होनेपर शुभोपयोग होता है और शुभोपयोग का अभाव होनेपर शुद्धोपयोग होता है । अशुभोपयोगरूप, शुभोपयोगरूप और शुद्धोपयोगरूप परिणामों की उत्पत्ति क्रमबद्ध होनेसे नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों की उत्पत्ति और विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को क्रियारूप परिणाम की उत्पत्ति भी क्रमबद्ध होती है । ये उत्पत्तियां क्रमबद्ध होनेसे जिससमय जीव शुभाशुभोपयोगों के कारण नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होता है उससमय शुद्धोपयोग का अभाव होनेसे विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रियारूप परिणाम के रूप से परिणत नहीं होता । अतः जो नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होता है वह विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को नहीं जान सकता; क्यों कि जबतक विकल्पों का सद्भाव होता है तबतक शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता । जिससमय शुद्धोपयोग के कारण जीव शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया के रूप से परिणत होता है उससमय शुभोपयोग का और अशुभोपयोग का अभाव होनेके कारण वह नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत नहीं होता; क्यों कि शुभोपयोग का और अशुभोपयोग का सद्भाव होनेपर ही जीव नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होता है । अतः जो जीव जिससमय विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया के रूप से परिणत होता है अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप को जानता है वह जीव उसीसमय नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत नहीं होता–जो करता है वह केवल करताही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है ।

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः, ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने, ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ९७ ॥

अन्वयः– ज्ञप्तिः करोतौ अन्तः न हि भासते, करोतिः च ज्ञप्तौ अन्तः न भासते । ततः ज्ञप्तिः करोतिः च विभिन्ने । ततः च ज्ञाता कर्ता न इति स्थितम् ।

अर्थ– जब शुद्धोपयोग होता है तब प्रादुर्भूत होनेवाली विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया अशुभोपयोग के और शुभोपयोग के कालों में प्रादुर्भूत होनेवाली नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया में प्रतिभासित–अनुभवगोचर होती ही नहीं । अशुभोपयोग के और शुभोपयोग के कालों में प्रादुर्भूत होनेवाली नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणत होनेकी क्रिया शुद्धोपयोग के काल में प्रादुर्भूत होनेवाली विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया मे प्रतिभासित–अनुभवगोचर नहीं होती । जब शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया में और नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप जाननेकी क्रिया में प्रतिभासित नहीं होती तब विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया और नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया भिन्नभिन्न है । जब विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी और नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रियाएं परस्परभिन्न होनेसे विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया का आश्रय होनेसे ज्ञाता बना हुआ जीव नयवृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होता हुआ कर्ता नहीं होता यह सिद्ध हुआ ।

त. प्र.– शुद्धोपयोगकाले प्रादुर्भवन्ती ज्ञप्तिर्विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियाऽशुभोपयोगकाले शुभोपयोगकाले वा प्रादुर्भवन्त्यां करोतौ नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियायामन्तर्मनसि न हि नैव भासते प्रकटीभवति। अनुभवगोचरतां यातीत्यर्थः। शुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियोत्पत्तिकालनयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियोत्पत्तिकालयोरन्योन्यभिन्नत्वादुत्पत्स्यमानाया ज्ञप्तिक्रियाया उत्पद्यमानायां नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियायां सद्भावाभावादनुभवगोचरीभवनानर्हत्वान्न ज्ञप्तिक्रिया करोतिक्रियायां भासत इति भावः। अशुभोपयोगकाले शुभोपयोगकाले वा प्रादुर्भवन्ती करोतिर्नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रिया शुद्धोपयोगकले प्रादुर्भवन्त्यां ज्ञप्तौ विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियायामन्तर्मनसि न हि नैव भासते प्रकटीभवति। अनुभवगोचरीभवतीत्यर्थः। शुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियोत्पत्तिकाल–नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियोत्पत्तिकालयोरन्योन्यभिन्नत्वादुत्पन्नविनष्टत्वात्करोतिक्रियाया उत्पद्यमानायां विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियायां सद्भावासम्भवादनुभवगोचरीभवनानर्हत्वान्न करोतिक्रियायां भासते इति भावः। ततो यस्मात्कारणाद्विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रिया नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियायां नावभासते यस्मात्कारणाच्च नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रिया विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियायां न प्रतिभासते तस्मात्कारणाज्ज्ञप्तिर्विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रिया नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रिया चेति द्वेऽपि क्रिये विभिन्नेऽन्योन्यभिन्ने स्तः। ततश्च यस्मात्कारणाद्विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रिया नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रिया चेति द्वेऽपि क्रिये स्वोत्पत्तिकालभेदात् परस्परभिन्ने स्तस्तस्मात्कारणाद्विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियाश्रयभूतो ज्ञाता नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयभूतः कर्ता नेति स्थितं सिद्धम्। यद्यपि ज्ञातुः कर्तुश्च कर्तृत्वमाधेयभूतक्रिययोर्जात्यपेक्षया समानं तथापि तयोर्व्यक्त्यपेक्षयाऽन्योन्यभिन्नत्वं यतस्ततो ज्ञातुः कर्तुश्च भिन्नत्वमित्यवसेयम्।

विवेचन.– प्रकरणानुसार ज्ञप्तिशब्द से शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया का ग्रहण होता है और करोतिशब्द से नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का ग्रहण होता है। विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रियारूप परिणाम शुद्धोपयोग की अवस्था में प्रादुर्भूत होता है और नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया अशुभोपयोग की और शुभोपयोग की अवस्थाओं में प्रादुर्भूत होती है। पहले तीन गुणस्थानों में अशुभोपयोग होता है, आगेके तीन गुणस्थानों में शुभोपयोग होता है और सातवें गुणस्थान में और उसके आगेके पांच गुणस्थानों में शुद्धोपयोग होता है। अतः विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया की प्रादुर्भूति का काल और नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का काल इनमें भेद होता है। इस कालभेद के कारण नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया जब प्रादुर्भूत होती है तब विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया भविष्यकाल में उत्पन्न होनेवाली होनेसे करोतिक्रिया के काल में उत्पन्न हुई न होनेसे वह अनुभवगोचर नहीं होती और विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जानने की क्रिया जब प्रादुर्भूत होती है तब नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का अभाव हो गया होनेसे वह अनुभवगोचर नहीं होती। जब विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया के रूप से परिणति होती है तब नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया प्रतिभासित न होनेसे और जब नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणति होती है तब विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया प्रतिभासित न होनेसे शुद्धात्मस्वरूप को

जाननेकी क्रिया और नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया एक दूसरी से भिन्न न होती–एकरूप होती तो पहले छह गुणस्थानों में विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता और आगेके छह गुणस्थानों में नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से होनेवाली परिणति का प्रादुर्भाव हो जाता। किंतु पहले छह गुणस्थानों में न विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान होता है और न आगेके छह गुणस्थानों में नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणाम के रूप से होनेवाली परिणति का प्रादुर्भाव होता है। अतः शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया और नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया परस्परभिन्न होती हैं–एकरूप नहीं होती। विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया तथा नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया अन्योन्यभिन्न होनेसे विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया की उत्पत्ति का आश्रयभूत ज्ञाता नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रयभूत होनेवाला कर्ता नहीं होता यह सिद्ध हो जाता है। सारांश, जब जीव नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होता है तब वह विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञाता नहीं होता और जब वह विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञाता होता है तब वह नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेवाला नहीं होता, क्यों कि कर्तृत्वरूप परिणाम और ज्ञातृत्वरूप परिणाम इनमें कालभेद होता है और अवस्थाभेद भी होता है।

> कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्माऽपि तत्कर्तरि
> द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ?।
> ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थितिः।
> नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ? ॥ ९८ ॥

अन्वयः– कर्ता कर्मणि (नियत) नास्ति, तत् कर्म अपि कर्तरि नियतं नास्ति। यदि द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते तदा कर्तृकर्मस्थितिः का ? ज्ञाता ज्ञातरि, कर्म कर्मणि इति वस्तुस्थितिः सदा व्यक्ता। [अथवा–ज्ञाता सदा ज्ञातरि, कर्म सदा कर्मणि इति वस्तुस्थितिः व्यक्ता।] तथापि बत एष मोहः रभसा नेपथ्ये किं नानटीति ?

अर्थ- (१) विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया का आश्रयभूत जीवरूप कर्ता नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत हुआ होनेसे कर्मसंज्ञा को प्राप्त हुए जीवरूप कर्म में स्वस्वरूप से अन्वित नहीं होता और नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत हुआ होनेसे कर्मसंज्ञा को प्राप्त हुआ जीवरूप कर्म विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया के आश्रयभूत जीवरूप कर्ता में नहीं होता अर्थात् एक जीव के ज्ञातरूप परिणाम और भावकर्मरूप परिणाम समकालभावी न होनेसे इनमें सहानवस्थायित्वरूप विरोध का सद्भाव होनेके कारण वे परिणाम जब समानाधिकरण नहीं हो सकते तब उन परिणामों से अभिन्न ऐसा द्वैधीभाव को प्राप्त हुआ जीव जिससमय शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञाता होता है तब नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत नहीं होता और जिससमय नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होता है तब वह विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञाता नहीं होता। अथवा–शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञाता जीव नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों में स्वस्वरूप से अन्वित नहीं होता तथा नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणाम शुद्धात्मस्वरूप को जाननेवाले जीव से अभिन्न न होनेसे अर्थात् भिन्न होनेसे उसमें नहीं रहते। (२) नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रयभूत अज्ञानिजीवरूप निमित्तकर्ता (पुद्गलोपादानक) द्रव्यकर्म में नहीं रहता अर्थात् स्वस्वरूप से अन्वित नहीं होता और द्रव्यकर्म (पुद्गलोपादानक होनेसे) नयदृष्टयात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेवाले

अज्ञानिजीवरूप हेतुकर्ता से भिन्न होनेसे उसमें नहीं रहता। (३) अपने उदयरूप निमित्त से अज्ञानिजीव के नयदृष्टघात्मक और विभावभावात्मक परिणामों का हेतुकर्ता होनेवाला द्रव्यकर्म अज्ञानिजीव के नयदृष्टघात्मक और विभावभावात्मक परिणाम उससे सर्वथा भिन्न होनेसे उनमें नहीं रहता है और अज्ञानिजीव के नयदृष्टघात्मक और विभावभावात्मक परिणाम (पुद्गलोपादानक) द्रव्यकर्म से भिन्न होनेसे उसमें नहीं रहते। जब अज्ञानिजीव के परिणामों में ज्ञानिजीव का, द्रव्यकर्म में अज्ञानिजीव का और अज्ञानिजीव के विभावपरिणामों में द्रव्यकर्मरूप से परिणत हुए पुद्गल का सद्भाव तथा अज्ञानोपादानक नयदृष्टघात्मक और विभावभावात्मक परिणामों का ज्ञानिजीव से अभेद, द्रव्यकर्म का अज्ञानिजीव के परिणामों से अभेद और अज्ञानिजीव के परिणामों का द्रव्यकर्म से अभेद इनका परिहार किया जाता है तब ज्ञानिजीव के, अज्ञानिजीव के और द्रव्यकर्म के कर्तृत्व की सिद्धि तथा नयदृष्टघात्मक और विभावभावात्मक अज्ञानोपादानक परिणामों के ज्ञातृजीवस्वामिक कर्मत्व की, द्रव्यकर्म के अज्ञानिजीवस्वामिक कर्मत्व की तथा नयदृष्टघात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के द्रव्यकर्मात्मक पुद्गलस्वामिक कर्मत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है? शुद्धात्मस्वरूप को जानने की क्रिया के रूप से परिणत होनेवाला जीव शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी शुद्धिशक्ति जिसकी आविर्भूत हुई होती है उसमें ही रहता है अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी अवस्था को छोडकर नयदृष्टघात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी अवस्था के रूपसे परिणत नहीं होता। नयदृष्टघात्मक और विभावभावात्मक परिणाम अज्ञानभावरूप से परिणत हुआ होनेसे कर्मसंज्ञा को धारण करनेवाले अज्ञानिजीव में ही रहता है अर्थात् नयदृष्टघात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी अवस्था को छोडकर शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी अवस्था के रूप से परिणत नहीं होता। कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल से उत्पन्न हुआ होनेसे द्रव्यकर्मसंज्ञा को धारण करनेवाला पुद्गल द्रव्यकर्म में ही रहता है अर्थात् द्रव्यकर्मरूप अवस्था को छोडकर शुद्धपुद्गलरूप अवस्था के, अज्ञानिजीवस्वामिक परिणामों की अवस्था के और ज्ञातृ-अवस्था के रूप से परिणत नहीं होता। इसप्रकार पदार्थ का स्वरूप सभी कालों में अभिव्यक्त बना रहता है। वस्तुस्वभाव इसप्रकार से सभी कालों में अभिव्यक्त बना हुआ रहनेपर भी बिना विचार के यह मोही जीव संसाररूप रंगमंचपर अरेरे! क्यों बारबार अभिनय कर रहा है?

त. प्र. :- कर्ता शुद्धात्मस्वरूपस्य ज्ञाता, शुद्धात्मस्वरूपज्ञप्तिक्रियाश्रयभूतत्वात्स्वतन्त्रत्वात्। शुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियाश्रयभूतत्वात्स्वतन्त्रत्वात्कर्तृलक्षणानुसारेणोत्तरत्र च 'ज्ञाता ज्ञातरि' इत्युक्तत्वात्कर्तृशब्देन शुद्धात्मस्वरूपस्य ज्ञातुरेव ग्रहणं भवति। तेन शुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियायाः भवति कर्ता शुद्धोपयोगरूपपरिणामपरिणतः कर्मणि नयदृष्टघात्मकविभावभावात्मकपरिणामे कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणि च नास्ति स्वस्वरूपेणान्वितो न भवति, शुद्धात्मस्वरूप-ज्ञातृ-नयदृष्टघात्मकविभावभावात्मकपरिणामयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावादुपादानोपादेयभावाज्ज्ञातृ-भावकर्मणोः कालभेदाच्च। कर्मापि नयदृष्टघात्मकविभावभावात्मकपरिणामोऽपि। यद्वा तत्कर्मापि तन्नयदृष्टघात्मकविभावभावात्मकपरिणामरूपं भावकर्माऽपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकं द्रव्यकर्माऽपि वा मृत्तिकोपादानकघटपरिणामस्य यथा तदुपादानभूतमृत्तिकाया भेदाभावात्तस्यां मृत्तिकायामस्ति, न च सुवर्णेऽस्ति तथा तत्कर्तरि तस्मिन्विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियाश्रयभूते कर्तरि नास्ति, विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियाश्रयभूतज्ञातृसञ्ज्ञककर्तृ-नयदृष्टघात्मकविभावभावात्मकपरिणामयोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावनिबन्धनोपादानोपादेयभावाभावात्कालभेदाच्च। यद्वा कर्ता नयदृष्टघात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयभूतोऽज्ञानिजीवरूपः कर्ताऽज्ञानिजीवस्वामिक-विभावभावात्मकपरिणामनिमित्तकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणि नास्ति स्वस्वरूपेणा-न्वितो न भवति, नयदृष्टघात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयभूतज्ञानिजीवरूपकर्तृ-कर्म-

वर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावनिबन्धनोपादानोपादेयभावाभावात्कालभेदाच्च । यद्वा कर्ताऽज्ञानिजीवस्वामिकविभावरूपभावकर्मात्मकपरिणामालम्बनः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानको द्रव्यकर्मरूपः पुद्गलद्रव्यपरिणामो द्रव्यकर्मात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयभूतत्वात्स्वतन्त्रत्वात्कर्मसञ्ज्ञामुपलभमानः कर्मणि नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकाज्ञानिजीवस्वामिकभावकर्मणि नास्ति स्वस्वरूपेणान्वितो न भवति, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मात्मकनिमित्तकर्तृ-नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकाज्ञानिजीवोपादानकभावकर्मणोरन्तर्व्याप्यव्यापकभावाभावनिबन्धनोपादानोपादेयभावाभावात्कालभेदाच्च । एवं ज्ञातृरूपकर्तृत्वविभावभावात्मककर्मत्वद्वन्द्व विभावभावात्मकपरिणामकर्तृत्वकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपनैमित्तिकभावात्मककर्मत्वद्वन्द्वं कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपनिमित्तकर्तृत्वाज्ञानिजीवस्वामिकनयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामरूपकर्मत्वद्वन्द्वं च यदि विप्रतिषिध्यते विरुध्यतेऽन्योन्यविरोधं प्राप्यते तदा कर्तृकर्मस्थितिर्विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपज्ञातुर्नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामोपादानकर्तृत्वस्य नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामानां च शुद्धात्मस्वरूपज्ञातृसञ्ज्ञककर्तृस्वामिककर्मत्वस्योपादेयभूतस्याज्ञानिजीवस्वामिकविभावभावात्मकपरिणामोपादानकर्तृत्वस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मणोऽज्ञानिजीवस्वामिकपरिणामभूतोपादेयरूपकर्मत्वस्य च, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मणोऽज्ञानिजीवस्वामिकपरिणामोपादानकर्तृत्वस्याज्ञानिजीवस्वामिकविभावभावात्मकपरिणामानां च कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलोपादानकद्रव्यकर्मरूपकर्तृस्वामिकोपादेयभूतकर्मत्वस्य च स्थितिः सिद्धिः का किंविशिष्टा ? न काऽपीत्यर्थः । ज्ञाता विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियाश्रयीभवज्जीवो ज्ञातरि प्रव्यक्तशुद्धात्मस्वरूपसंवेदनशक्त्यवस्थे जीवे, न नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयभूते कर्तरि । कर्म नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकाज्ञानिजीवस्वामिकपरिणामरूपं कर्म कर्मणि शुद्धात्मस्वरूपज्ञानाभावरूपाज्ञानभावात्मकत्वेन परिणतत्वात्कर्मत्वमापन्नत्वाल्लब्धकर्मसञ्ज्ञेऽज्ञानिजीवे, न विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूपसंवित्तिक्रियाश्रये ज्ञातरि जीवे । यद्वा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकं द्रव्यकर्म कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्ये, न शुद्धात्मस्वरूपस्य ज्ञातरि तदज्ञातरि वाज्ञानिजीवे । सदा सर्वकालं भवतीति वस्तुस्थितिर्वस्तुस्वभावो व्यक्ता स्पष्टा । यद्वा ज्ञाता सदा ज्ञातरि, कर्म सदा कर्मणीति वस्तुस्थितिर्वस्तुव्यवस्था व्यक्ता । किञ्च-कर्ता नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयभूतो जीवः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मात्मकपरिणामपरिणतौ मुख्यहेतुर्हेतुकर्ता वा सन्नपि स्वस्वरूपेण द्रव्यकर्मण्यनन्वितत्वात्तत्र नास्ति । तत् कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकं द्रव्यकर्माऽपि कर्तरि नयदृष्टयात्मकविभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रये जीवे नियतं निश्चयेन नास्ति । द्वन्द्वं शुद्धात्मस्वरूपज्ञानविकलाज्ञानिजीव-कर्मवर्गयोग्यपुद्गलद्रव्योपादानकद्रव्यकर्मणोर्युगलं यदि विप्रतिषिध्यते सहानवस्थानविरोधमाप्यते तदा तयोरज्ञानिजीवद्रव्यकर्मणोः कर्तृकर्मस्थितिः कर्तृकर्मव्यवस्था का ? न काऽपीत्यर्थः । ज्ञाता स्वव्यवसायकारी ज्ञातरि स्वस्मिन्नेव वर्तते नान्यस्मिन्कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्ये, कर्म च द्रव्यकर्म च कर्मणि स्वस्मिन्नेव वर्तते न द्रव्यान्तरभूते जीवद्रव्ये, द्रव्यमात्रस्य स्वप्रतिष्ठत्वात् परप्रतिष्ठत्वे सङ्करव्यतिकरदोषापत्तेः । ज्ञाता सदा ज्ञातरि कर्म सदा कर्मणि चेति वस्तुस्थितिर्वस्तुव्यवस्था व्यक्ता स्पष्टा । तथापि ज्ञातुः कर्तुः कर्मणश्च स्वप्रतिष्ठत्वे सत्यप्यन्योन्यभेदसद्भावेऽप्येष मोहो मोहाक्रान्तो जीवः । मोहोऽस्यास्तीति मोहः । मोहवानित्यर्थः । 'ओऽभ्रादिभ्यः' इत्यो मत्वर्थीयः । रभसाऽविमृश्य ।

शुद्धनिश्चयनयापेक्षया द्रव्यभावनोकर्मणामनात्मीयत्वमविमृश्य नेपथ्ये रङ्गमञ्चसदृशे संसारे। नेपथ्यं रङ्गभूमिरिव नेपथ्यम्। रङ्गभूमिसदृशः संसार इत्यर्थः। यथा रङ्गभूमे नानाविधवेषान्परिधाय नटो भृशं नटति तथा संसारेऽज्ञानिजीवो नानायोनिषु नानाविधानाकारान्विभावभावांश्चावाय वर्तते इति नेपथ्यसंसारयोरुपमानोपमेयभावः। तत्र नानटीति कर्तृकर्मवेषौ परिधाय किं भृशं नटति नानायोनिषु परिभ्रमति। बताऽहो नु कष्टम्।

विवेचन :– विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जानना भी एक विशिष्ट क्रिया है। विशिष्टशुद्धोपयोगवाला जीव उस क्रिया का आश्रय होनेसे कर्ता है। यहा कर्तृपद से शुद्ध आत्मा के स्वरूप को जाननेकी क्रियाका आश्रयभूत जीव ग्राहय है। कर्मपद से शुद्धात्मस्वरूपज्ञानाभावरूप अज्ञान के रूप से परिणत हुए जीव का ग्रहण होता है जिस-प्रकार भावक्रोध के रूप से परिणत हुआ जीव क्रोध होता है उसीप्रकार अज्ञानात्मकपरिणाम के रूप से – भावकर्म के रूप से परिणत हुआ जीव कर्म है। अज्ञानभावरूप परिणाम के रूप से अशुभोपयोगवाला और शुभोपयोग–वाला जीव परिणत होता है। यहां अज्ञान से शुद्धात्मस्वरूपज्ञानाभावरूप अज्ञान का ग्रहण अभीष्ट है। शुद्धोपयो–गवाला जीव शुद्धात्मस्वरूपज्ञातृभाव के रूप से परिणत होता है। अशुभोपयोग का काल और शुभोपयोग का काल शुद्धोपयोग के काल से भिन्न होता है; क्यों कि पहले तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग होता है, चौथे से छठे गुणस्थान के अंततक तरतमता से शुभोपयोग होता है और सातवें से आगेके छह गुणस्थानों में तरतमता से शुद्धोपयोग होता है। विज्ञानात्मक शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी शक्ति शुद्धोपयोग के बिना आविर्भूत नहीं होती। जिससमय यह शक्ति आविर्भूत होती है उससमय विभावभावों के रूप से परिणत होनेकी पर्यायस्वामिक अशुद्धिशक्ति का पर्याय का नाश होनेके कारण नाश हो गया होता है। एकसाथ दो विरोधिनी शक्तियों का आवि–र्भाव नहीं हो सकता। अतः जिससमय जीव अपने विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया के रूप से परि–णत होता है उससमय विभावभावात्मक परिणाम का अभाव हो गया होनेसे उस विभावभावात्मक परिणाम में शुद्धात्मस्वरूपज्ञात्रवस्था के रूप से परिणत हुए जीव का स्वस्वरूप से अन्वित होना असभव है। परिणामी और परिणाम इनमें पौर्वापर्य होता है। विभावभावात्मक परिणाम पूर्वकालवर्ती होनेसे उसमें उत्तरकालवर्ती परिणामी का स्वस्वरूप से अन्वित होना कदापि सभाव्य नहीं हो सकता। अतः ज्ञातृरूप कर्ता का विभावभावात्मक कर्म में सद्भाव नहीं हो सकता – ज्ञान की ज्ञातृरूप पर्याय जीव की भावकर्मरूप पर्याय से भिन्न होती है। विभावभावा–त्मक भावकर्म के रूप से परिणत होनेसे कर्मसंज्ञा को धारणकरनेवाले जीव की शुद्धात्मस्वरूपज्ञानाभावरूप अत एव अज्ञानरूप पर्याय की उत्पत्ति के काल में शुद्धात्मस्वरूप को जानने की क्रियारूप पर्याय अनुत्पन्न होनेसे–उत्पत्स्यमान (भविष्य में उत्पन्न होनेवाली) होनसे उसका अभाव होनेके कारण उसमे अज्ञानपर्याय का सद्भाव नही हो सकता। जीव की अज्ञानात्मक पर्याय और ज्ञानात्मक पर्याय इनमे सर्वथा भेद होनेसे अज्ञानात्मकपर्यायी और ज्ञानात्मकपर्यायी इनमें कथचित् भेद होनेके कारण कर्म का कर्ता में सद्भाव नहीं हो सकता। परिणाम और परि–णामी इनमें कथंचित् अभेद – तादात्म्य होता है। अज्ञानरूपपरिणाम और ज्ञानरूपपरिणाम इनमें कथचित् तादात्म्य – अभेद न होनेसे परिणामपरिणामिभाव का अभाव होनेके कारण कर्म का ज्ञाता में सद्भाव नहीं हो सकता। "सम्यक्त्व की उत्पत्ति होते ही जीव का अज्ञान नष्ट होकर उसका सम्यग्ज्ञान आविर्भूत होनेसे जीव ज्ञानी बन जाता है; क्यों कि उसको आत्मा का ज्ञान होता है। इसप्रकार ज्ञानी बन जानेपर भी विभावभावों के रूप से उसका परिणमन होता है। ऐसी अवस्था में 'ज्ञाता विभावभावो के रूप से परिणत नहीं होता' यह मतव्य कैसे स्वीकार्य हो सकता है ?" इसप्रकार की शंका उपस्थित हो सकती है। इसका समाधान – चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा के सामान्यांश का ज्ञान होता है – उसके विज्ञानरूप विशेषांश का ज्ञान नहीं होता। आत्मा द्रव्य होनेसे सामान्यविशेषात्मक होती है। आत्मा के सामान्यांश का ज्ञान होनेपर भी जबतक उसके विज्ञानरूप विशेषांश का ज्ञान नहीं होता तबतक एक प्रकार से अज्ञानी ही बना रहता है। उसके विशेषांश का ज्ञान विशिष्ट शुद्धि के

अभाव में नहीं होता । उसके विज्ञानरूप विशेषांश को जानने की विशिष्ट विशुद्धिशक्ति आविर्भूत होकर जब जीव अपने विज्ञानरूप स्वरूप को जानने लग जाता है तब ही वह विभावभावात्मकपरिणाम के रूप से परिणत नहीं होता । अतः उक्त शंका निरवकाश बन जाती है। सारांश, ज्ञाता आत्मा अज्ञानात्मक विभावभावों का उपादानकर्ता न होनेसे वह स्वस्वरूप से उन भावों में अन्वित नहीं होती और अज्ञानात्मक विभावभाव ज्ञाता आत्मा से भिन्न होनेसे उनका ज्ञाता आत्मा के साथ तादात्म्य न होनेसे उनका ज्ञाता आत्मा में सद्भाव नहीं होता ।

नयदृष्ट्यात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेवाला होनेसे उन परिणामों का अज्ञानिजीव कर्ता अर्थात् उपादानकर्ता होता है और वह अपने विभावभावात्मक परिणामों से कथंचित् अभिन्न होनेसे उनमें स्वस्वरूप से अन्वित होता है । अज्ञानिजीव की विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणति होनेपर कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से अपने आप परिणत होनेके कारण वह जीव निमित्तकर्ता – हेतुकर्ता होनेपर द्रव्यकर्मात्मक पुद्गलोपादानक परिणाम में स्वस्वरूप से अन्वित नहीं होता । अतः कर्ता इस शब्द से अज्ञानिजीवरूप निमित्तकर्ता का या हेतुकर्ता का ग्रहण हो जाता है । अतः अज्ञानिजीवरूप निमित्तकर्ता का पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म में स्वस्वरूप से अन्वय नहीं होता । अज्ञानिजीवरूप निमित्तकर्ता और पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म इनमें तादात्म्य का अर्थात् कथंचित् अभेद का अभाव होनेसे द्रव्यकर्म का अज्ञानिजीवरूप निमित्त कर्ता में सद्भाव नहीं होता ।

द्रव्यकर्म के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय होनेसे कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्मरूप परिणाम का कर्ता अर्थात् उपादानकर्ता होता है और उपादानकर्ता होनेसे वह अपने द्रव्यकर्मरूप परिणाम से कथंचित् अभिन्न होनेसे उसमें स्वस्वरूप से अन्वित होता है । पुद्गलरूप द्रव्यकर्म की उदयरूप से परिणति होनेपर परिणतिक्रियाभिमुख अज्ञानिजीव अपने आप विभावभावात्मक परिणाम के रूप से परिणत होनेके कारण वह पुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म निमित्तकर्ता – हेतुकर्ता होनेपर भावकर्मात्मक अज्ञानिजीवोपादानक परिणाम में स्वस्वरूप से अन्वित नहीं होता । अतः कर्ता इस शब्द से द्रव्यकर्मरूप निमित्तकर्ता का या मुख्यहेतु का ग्रहण हो जाता है । अतः द्रव्यकर्मरूपनिमित्तकर्ता का अज्ञानिजीवोपादानक भावकर्म में स्वस्वरूप से सद्भाव नहीं होता । द्रव्यकर्मरूप निमित्तकर्ता और अज्ञानिजीवोपादानक भावकर्म इनमें तादात्म्य अर्थात् कथंचित् अभेद न होनेसे भावकर्ता का पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म में सद्भाव नहीं होता ।

सारांश, शुद्धात्मस्वरूप को जाननेवाला ज्ञाता जीव और अज्ञानिजीवोपादानक विभावभावात्मक भावकर्म इनमें, विभावभावात्मकपरिणामों के रूप से परिणत होनेवाला अज्ञानिजीव और कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानक द्रव्यकर्म इनमें और कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्योपादानक उदयावस्थापन्न द्रव्यकर्म और अज्ञानिजीवोपादानक भावकर्म इनमें अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होनेके कारण उपादानोपादेयभाव न होनेसे पहले का दूसरेमें स्वस्वरूप से अन्वय न होनेसे पहले का दूसरेमें सद्भाव नहीं हो सकता ।

ज्ञाता के अज्ञानिजीव में या अज्ञानोपादानक भावकर्म में और पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म में, अज्ञानिजीव के द्रव्यकर्म में और द्रव्यकर्म के अज्ञानिजीवस्वामिक विभावभावात्मक भावकर्म में सद्भाव का तथा अज्ञानिजीव के या भावकर्म के और द्रव्यकर्म के शुद्धात्मस्वरूप के ज्ञाता के साथ अभेद का, द्रव्यकर्म के अज्ञानिजीव के साथ अभेद का और अज्ञानिजीवस्वामिक भावकर्म के पुद्गलोपादानक द्रव्यकर्म के साथ अभेद का प्रतिषेध किया जानेसे ज्ञानिजीव के साथ यथार्थ अर्थात् उपादानकर्तृत्व की, अज्ञानिजीव के और द्रव्यकर्म के यथार्थ अर्थात् उपादानकर्तृत्व की और विभावभावात्मक तथा द्रव्यकर्मात्मक परिणामों के कर्मत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है ? किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती । विज्ञानरूप शुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी क्रिया के रूप से परिणत होनेवाला जीव अपने ज्ञातृभाव में ही रहता है – ज्ञातृभाव को छोडकर अपनी अज्ञानरूप अवस्था में नहीं रहता अर्थात् नयदृष्ट्यात्मक और विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत नहीं होता । नयदृष्ट्यात्मक और विभावभावात्मक परिणामरूप कर्म के रूप से परिणत हुआ होनेसे कर्मसंज्ञा को धारण करनेवाले अज्ञानिजीव में रहता है अर्थात् ज्ञातृभावरूप से

परिणत नहीं होता । पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यकर्म द्रव्यकर्म में ही रहता है । वह द्रव्यकर्मरूप परिणाम अपनी अवस्था में शुद्धपुद्गलरूप से, ज्ञातृरूप से और अज्ञानिजीवरूप से परिणत नहीं होता । ज्ञाता, अज्ञानिजीव, भावकर्म और द्रव्यकर्म अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते; क्यों कि अपनी मर्यादा का उल्लंघन करनेसे वे अपने स्वरूप से च्युत हो जाते हैं । अपने अपने स्वभाव में रहना – अपने स्वरूप से च्युत न होना यह वस्तुस्वभाव सदा बना रहता है । वस्तु चाहे कारणरूप हो या चाहे कार्यरूप हो वह अपने स्वभाव का त्याग करनेवाली नहीं होती । ऐसी वस्तुस्थिति होनेपर भी मोहाक्रान्त जीव विचार न करके संसाररूपरंगमंचपर बारबार विविधभावों को अभिव्यक्त करता है यह बडे खेद की बात है ।

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्माऽपि नैव, ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि । ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चैश्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ।

अन्वयः– कर्ता यथा कर्ता न भवति, कर्म अपि (यथा) कर्म न भवति, ज्ञानं च यथा ज्ञानं भवति, पुद्गलः अपि (यथा) पुद्गलः (भवति) तथा अचलं, अन्तः व्यक्तं, उच्चैश्चिच्छक्तीनां निकरभरतः अत्यन्तगम्भीरं एतत् ज्ञानज्योतिः ज्वलितं [भवति] ।

अर्थ– कर्ता अर्थात् विभावभावात्मक परिणामों के रूप से होनेवाली परिणतिक्रिया का आश्रय होनेवाला कर्ता जीव जितने अंशों में कर्ता अर्थात् विभावभावात्मक परिणामों के रूप से परिणत होनेकी क्रिया का आश्रय नहीं होता और कर्म अर्थात् विभावभावात्मक भावकर्म जितने अंशों में कर्म अर्थात् विभावभावरूप नहीं होता, जो शुद्धज्ञानसदृश होनेपर भी शुद्धज्ञानरूप नहीं होता ऐसा ज्ञान जितने अंशों में ज्ञानरूप से अर्थात् शुद्धज्ञानरूप से परिणत होते जाता है अर्थात् विभावभावरूप से परिणत हुआ ज्ञान जितने अंशों में स्वस्वभाव के रूप से परिणत होते जाता है और जो शुद्धपुद्गलसदृश होनेपर भी शुद्धपुद्गल नहीं होता ऐसा पुद्गल जितने अंशों में पुद्गलरूप से अर्थात् शुद्धपुद्गलरूप से परिणत होते जाता है उतने अंशों में अचल – नित्य – स्थिरतम – स्थायी, अंतरंग में अर्थात् कर्मपटल के आवरण के अंदर अभिव्यक्त, उत्कृष्टतम (अनंत) चैतन्यशक्तियों के समूह से युक्त होनेसे परमगहन – अलक्ष्य यह ज्ञानतेज प्रकट होने लग जाता है ।

त. प्र.– कर्ता विभावभावात्मकपरिणामपरिणतिक्रियाश्रयभूतत्वात्कर्तृसञ्ज्ञां लभमानोऽज्ञानिजीवो यथा यावतांशेन कर्ता विभावभावात्मकपरिणामरूपेण परिणममानः कर्ता न भवति । चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवो मिथ्यात्वादिसञ्ज्ञकदर्शनमोहत्रितयरूपेणानन्तानुबन्धिभावकषायचतुष्टयरूपेण च परिणतो न भवति, पञ्चमगुणस्थानवर्ती जीवोऽप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्ञकभावकषायचतुष्टयरूपेण परिणतो न भवति, षष्ठगुणस्थानवर्ती जीवः प्रत्याख्यानावरणसञ्ज्ञकभावकषायरूपेण परिणतो न भवति, तत ऊर्ध्वं सञ्ज्वलनाख्यद्रव्यकषायोदये सत्यपि तस्याकिञ्चित्करत्वाच्छुद्धोपयोगविशेषाविर्भावाच्च सञ्ज्वलनाख्यभावकषायात्मकपरिणामरूपेण च परिणतो न भवति । एवं क्रमेण विभावभावात्मकपरिणामरूपेणाऽपरिणममानोऽशतोंऽशतः कर्तृभावं विमुञ्चति । कर्माऽपि कर्म च विभावभावात्मकमज्ञानिजीवस्वामिकं भावकर्म च यावतांशेन कर्म न भवति स्वीयं विभावभावात्मकभावकर्मत्वं विमुञ्चति । चतुर्थगुणस्थानवर्तिनो जीवस्य भावकर्माऽऽत्मनो दर्शनमोहनीयत्वस्वरूपमनन्तानुबन्धिभावकषायत्वस्वरूपं च विमुञ्चति, पञ्चमगुणस्थाने भावकर्माऽऽत्मनोऽप्रत्याख्यानावरणाख्यभावकषायत्वस्वरूपं परित्यजति, षष्ठगुणस्थाने भावकर्माऽऽत्मनः प्रत्याख्यानावरणाख्यभावकषायत्वस्वरूपं परिहरति, तत ऊर्ध्वं च सञ्ज्वलनाख्यद्रव्यकषायोदये सत्यपि तस्याऽकिञ्चित्करत्वाच्छुद्धोपयोगविशेषाविर्भावाच्च विभावभावात्मकं भावकर्म विलयमृच्छति । एवं क्रमेण विभावभावात्मकं जीवस्वामिकं भावकर्मांशतोंऽशतः कर्मभावं

विजहाति । ज्ञानं शुद्धज्ञानसदृशं शुद्धज्ञानाद्भिन्नं सम्यग्ज्ञानम् । ज्ञानमिव ज्ञानम् । 'इवपर्यादिभ्यः' इतीवार्थस्य कस्योस् । 'युक्तवद्व्यक्ति लिङ्गसङ्ख्ये' इति युक्तवल्लिङ्गसङ्ख्ये । विज्ञानरूपशुद्धस्वरूपाग्राहि ज्ञानं यद्यपि शुद्धं न भवति तथापि तत्सम्यग्ज्ञानव्यपदेशभाग्भवति, सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वात् । तज्ज्ञानं येनांशेन ज्ञानं विशुद्धिविशिष्टं भवति । येनांशेन तारतम्येन विशुद्धिभाग्भवतीत्यर्थः । पुद्गलः पुद्गलसदृशः शुद्धपुद्गलाद्भिन्नः । द्रव्यकर्मपरिणामपरिणत इत्यर्थः । पुद्गलः कर्मपरिणामपरिणतः पुद्गलो येनांशेन कर्मत्वं विहाय शुद्धपुद्गलो भवति । चतुर्थगुणस्थानवर्तिनः प्रकृतिसप्तकफलदानसामर्थ्यस्य विलयनाद्दर्शनमोहानन्तानुबन्ध्याख्यचारित्रमोहकर्मप्रकृतीनां शुद्धपुद्गलत्वेन परिणतिर्भवति, पञ्चमगुणस्थानेऽप्रत्याख्यानावरणाख्यद्रव्यकर्मणः फलदानसामर्थ्ये विनष्टे सति शुद्धपुद्गलत्वेन परिणतिर्भवति, षष्ठगुणस्थाने प्रत्याख्यानावरणाख्यद्रव्यकर्मणः फलदानसामर्थ्ये विलयं गते सति शुद्धपुद्गलत्वेन परिणतिर्भवति, तत ऊर्ध्वं सञ्ज्वलनस्य च फलदानसामर्थ्ये विनष्टे सति शुद्धपुद्गलत्वेन परिणतिर्भवति । एवं क्रमेण द्रव्यकर्म तारतम्येन शुद्धपुद्गलत्वेनांशतोंऽशतः परिणमति । जीवस्य कर्तृत्वं भावकर्मणश्च कर्मत्वं येनांशेन प्रविलीयेते, अज्ञानभावात्मकपरिणामपरिणतज्ञानस्य येनांशेन शुद्धिर्भवति द्रव्यकर्मणश्च येनांशेन शुद्धपुद्गलत्वमाविर्भवति तथा तेनांशेनाचलं स्थेष्ठम् । नित्यमित्यर्थः । अन्तः कर्मपटलाधोभागे । कर्मपटलावरणे सत्यपीत्यर्थः । व्यक्तं परिस्फुटम् । उच्चैरुच्चैश्शक्तीनामुत्कृष्टतमानां विच्छक्तीनां चैतन्यादुल्लसमानानामनन्तानां शक्तीनां निकरभरतः समूहस्योपचयात् । निकरस्य समूहस्य भरः सञ्चयो निकरभरः । ततो निकरभरतः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । अत्यन्तगम्भीरं परमगहनम् । छद्मस्थानामतर्क्यमित्यर्थः । एतज्ज्ञानज्योतिर्ज्ञानतेजो ज्वलितं प्रकाशितं भवति । भवतीत्यध्याहारः ।

विवेचन :– अज्ञानिजीव विभावभावों के रूप से परिणत होता है । क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति होनेपर दर्शनमोहनीय के रूप से और अनंतानुबंधी के रूप से वह परिणत नहीं होता । पांचवे गुणस्थान में वह अप्रत्याख्यानावरणभावकषायों के रूपसे परिणत नहीं होता, छठे गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणसंज्ञक भावकषायों के रूप से परिणत नहीं होता और आगेके छह गुणस्थानों में सज्वलनसंज्ञक भावकषायों के रूप से परिणत नहीं होता । इसप्रकार शुद्धात्मस्वरूप को पूर्णतः न जाननेवाले सम्यग्ज्ञानी जीव के कर्तृत्वभाव का अभाव होते जाता है और कर्तृत्व का अभाव क्रमशः जितने अंशों मे होते जाता है उतने अशो में भावकर्मों के कर्मत्व का भी अभाव होते जाता है । चौथे गुणस्थान में दर्शनमोहात्मक और अनतानुबंधिकषायात्मक परिणामों का अभाव होता है, पाचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणसज्ञकभावकषायात्मक परिणामों का अभाव होता है, छठे गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणसज्ञकभावकषायात्मक परिणामों का अभाव होता है और आगेके गुणस्थानों में सज्वलनसज्ञकभावकषायात्मक परिणामो का अभाव होता है । इसप्रकार चौथे गुणस्थान से आगेके गुनस्थानों में भावकर्म के कर्मत्व का क्रमशः अंशतः अभाव होते जाता है । जितने अंशों में कर्ता के कर्तृत्व का और भावकर्मत्व का अभाव होते जाता है उतने अंशों मे ज्ञान की विशुद्धि बढती जाती है और कर्मपुद्गलों की विशुद्धि बढती जाती है अर्थात कर्मपुद्गल कर्मत्वावस्था को छोडकर शुद्धपुद्गलरूप से परिणत होते जाते हैं । ज्ञान की विशुद्धि क्रम से बढनेपर विज्ञानरूपशुद्धात्मस्वरूप को जाननेकी अर्थात् उसका अनुभव करनेकी शक्ति आविर्भूत हो जाती है । इस शक्ति से जब वह शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करने लग जाता है तब उसके कर्मों की अनंतगुणी निर्जरा होने लग जाती है और कर्मों की अनंतगुणी निर्जरा होते होते संपूर्ण शुद्ध ज्ञान आविर्भूत हो जाता है । यह शुद्धज्ञान नित्य अर्थात् अविनश्वर, स्थायी, विभावरूप से परिणत न होनेवाला होता है । यह ज्ञान कर्मपटल से आवृत होनेपर भी बादलों के द्वारा आच्छादित सूर्यप्रकाश

जिसप्रकार बादलों के उपरितन प्रदेश में अभिव्यक्त बना रहता है उसीप्रकार कर्मपटल के भीतर अभिव्यक्त बना रहता है। यदि कर्मावृत अवस्था में विज्ञान का सर्वथा अभाव होता तो कर्मों का अभाव होते समय वह कहांसे आता ? ज्ञानमात्ररूप एक सहभाविपरिणाम में अंतर्भूत होनेवाली अनंत उत्कृष्ट शक्तियां ज्ञान से प्रादुर्भूत होती हैं। समयसार के परिशिष्ट में ' अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावान्तःपातिन्योऽनन्ताः शक्तयः उत्प्लवन्ते ' ऐसा वचन पाया जाता है। यह ज्ञान अनंत शक्तियों का संचयरूप होनेसे परमगहन है-छद्मस्थों के द्वारा अलक्ष्य है। जैसे जैसे जीव के कर्तृत्व और भावकर्मों के या जीव के कर्मत्व का अभाव होते जाता है और जैसे जैसे ज्ञान की विशुद्धि वृद्धिगत होती जाती है और कर्मपुद्गल कर्मावस्था का त्याग करते हुए शुद्धपुद्गलरूप से परिणत होते जाते हैं वैसे वैसे यह ज्ञान विशद होकर प्रकट होते जाता है।

आ. ख्या.-

इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषमुक्तौ निष्क्रान्तौ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ कर्तृकर्मप्ररूपको द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

त. प्र,– इत्यमुना प्रकारेण जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ कर्तृकर्मवेषविमुक्त उपादाननिमित्त–कर्तृवेषभावकर्मवेषाभ्यां विमुक्तो जीवो द्रव्यकर्मोपादानकर्तृवेषनैमित्तिकभावभूतभावकर्मकर्तृवेषद्रव्य–कर्मवेषेभ्यो विमुक्तोऽजीवश्च निष्क्रान्तौ।

इति मुक्तेन्दुवर्मविरचितायां तत्त्वप्रबोधिन्याख्यायामात्मख्यातिव्याख्यायां कर्तृकर्मप्ररूपको द्वितीयोऽङ्कः।

टीकार्थ– इसप्रकार भावकर्मों के उपादानकर्तृत्व के वेष को छोडकर, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल की द्रव्यकर्मरूप परिणति के निमित्तकर्तृत्व के वेष को छोडकर और भावकर्म के वेष को छोडकर जीव तथा द्रव्यकर्म के उपादान–कर्तृत्व के वेष को छोडकर, जीव की भावकर्मरूप परिणति के निमित्तकर्तृत्व के वेष को छोडकर और द्रव्यकर्म के वेष को छोडकर अजीव रंगभूमि से बाहर निकल गये।

विवेचन– क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति होनेपर भावकर्म और द्रव्यकर्म का क्रमशः अभाव होकर जीव की शुद्धज्ञानरूप से परिणति होती है।

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वर्णे करता सो
तार्कार बंधन आन तणूं फल ले सुख दुःख भवाश्रमवासो।
ज्ञान भये करता न बने तब बंध न होय खुलै पर पासो
आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो ॥

—पं जयचन्द्रजी



श्रीजयसेनाचार्यकृततात्पर्यवृत्तिः ।

वीतरागं जिनं नत्वा ज्ञानानन्दैकसम्पदम् ।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसञ्ज्ञिकाम् ॥

अथ शुद्धपरमात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्तररुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवनिर्मिते समयसारप्राभृतग्रन्थेऽधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितं व्याख्यानं क्रियते । तत्राऽऽदौ ' वंदित्तु सव्वसिद्धे ' इति नमस्कारगाथामादिं कृत्वा सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाषट्कं भवति । तदनन्तरं द्वितीयस्थले भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादनरूपेण ' ववहारेणुवदिस्सदि ' इत्यादिगाथाद्वयम् । अथ तृतीयस्थले निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिव्याख्यानमुख्यत्वेन ' जो हि सुदेण ' इत्यादिसूत्रद्वयम् । अतः परं चतुर्थस्थले भेदाभेदरत्नत्रयभावनार्थं तथैव भावनाफलप्रतिपादनार्थं च ' णाणम्हि भावणा ' इत्यादिसूत्रद्वयम् । तदनन्तरं पञ्चमस्थले निश्चयव्यवहारनयद्वयव्याख्यानरूपेण ' ववहारोऽभूदत्थो ' इत्यादिसूत्रद्वयम् । एवं चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन समयसारपीठिकाव्याख्याने समुदायपातनिका । तद्यथा-अथ प्रथमतस्तावद्गाथायाः पूर्वार्धेन मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमुत्तरार्धेन तु समयसारव्याख्यानं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवममलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

वन्दित्वा सर्वसिद्धान्ध्रुवाममलामनुपमां गतिं प्राप्तान् ।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदमहो श्रुतकेवलिभणितम् ॥

' वंदित्तु ' इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— वंदित्तु निश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभावरूपेण निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मकद्रव्यनमस्कारेण वन्दित्वा । कान् ? सव्वसिद्धे स्वात्मोपलब्धिसिद्धिलक्षणसर्वसिद्धान् । किंविशिष्टान् ? पत्ते प्राप्तान् । काम् ? गइं सिद्धगतिं सिद्धपरिणतिं । कथंभूताम् ? धुवं टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवामविनश्वराम् । अमलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेन शुद्धस्वभावसहितत्वेन च निर्मलां । अथवा अचलं इति पाठान्तरे द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारसंसारभ्रमणरहितत्वेन स्वस्वरूपनिश्चलत्वेन च चलनरहितामचलां । अणोवमं निखिलोपमारहितत्वेन निरुपमामद्भुतस्वभावसहितत्वेन अनुपमां । एवं पूर्वार्धेन नमस्कारं कृत्वाऽपरार्धेन संबंधाभिधेयप्रयोजनसूचनार्थं प्रतिज्ञां करोति । वोच्छामि वक्ष्यामि । किम् ? समयपाहुडं समयप्राभृतं । सम्यक् अयः बोधो यस्य भवति स समय आत्मा । अथवा सममेकीभावेनाऽयनं गमनं समयः । प्राभृतं सारम् । सारः शुद्धावस्था । समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं । अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतं । इणं इदं प्रत्यक्षीभूतम् । ओ अहो भव्याः । कथंभूतम् ? सुदकेवलीभणिदं प्राकृतलक्षणबलात्केवलिशब्ददीर्घत्वं । श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितम् । अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरदेवकथितमिति । सम्बधाभिधेयप्रयोजनानि कथ्यन्ते—व्याख्यानं वृत्तिग्रंथः, व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति । तयोस्सम्बन्धो व्याख्यानव्याख्येयसम्बन्धः । सूत्रमभिधानम् । सूत्रा_

र्थोऽभिधेयः । तयोः । सम्बन्धोऽभिधानाभिधेयसम्बन्धः निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः ॥ १ ॥

अथ 'गाथापूर्वार्धेन स्वसमयमपरार्धेन परसमयं च कथयामि' इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति;

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि ।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥ २ ॥

'जीवो चरित्त' इत्यादि जीवो शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावनिश्चयप्राणेन तथैवाशुद्धनिश्चयेन क्षायोपशमिकाशुद्धभावप्राणेन सद्भूतव्यवहारेण यथासंभवद्रव्यप्राणेन च जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः । चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हि ससमयं जाण जीवः चारित्रदर्शनज्ञानस्थितो यदा भवति तदा काले तमेव जीवं हि स्फुटं स्वसमयं जानीहि । तथाहि—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यद्रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्रैव रागादिपरिहारेण स्वसंवेदनज्ञानं, तत्रैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्र-मित्युक्तलक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतजीवपदार्थं हे शिष्य ! स्वसमयं जानीहि । पुग्गलकम्मपदे-सट्ठिद च तं जाण परसमयं पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तमेव जानीहि परसमयं । तद्यथा पुद्गलकर्मोदयेन जनिता ये नारकादिपर्याया रागादयः संज्ञाः पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहीति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञातव्यं ॥ २ ॥

अथ स्वगुणैकत्वनिश्चयगतः शुद्धात्मैवोपादेयः, कर्मबंधेन सहैकत्वगतो हेय इति । अथवा 'स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूपं, न पुनः परसमय' इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा, अथवास्य सूत्रस्यानन्तरं सूत्रमिद-मुचितं भवतीति निश्चित्य व्याख्यानसूत्रं प्रतिपादयति इति पातनिकालक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदी ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुंदरो लोके ।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

एयत्तणिच्छयगदो स्वकीयशुद्धपर्यायपरिणतः अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगतः समओ समयशब्देनात्मा । कस्माद्धेतोः ? सम्यगयते गच्छति परिणमति । कान् ? स्वकीयगुणपर्यायान् । इति व्युत्पत्तेः सव्वत्थसुंदरो सर्वत्र समीचीनः । क्व ? लोग लोके । अथवा सर्वत्रैकेन्द्रियाद्यवस्थासु शुद्धनि-श्चयनयेन सुंदर उपादेय इति । बंधकहा कर्मबंधजनितगुणस्थानादिपर्यायः । एयत्ते एकत्वे तन्मयत्वे या बन्धकथा प्रवर्तते तेण तेन पूर्वोक्तजीवपदार्थेन सह सा विसंवादिणी विसंवादिनीति[1] कोऽर्थः ? विसंवा-

१- 'विसंवादो' इति मुद्रित पाठ. ।

विनी कथा। प्राकृतलक्षणबलात् पुल्लिंगे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। विसंवादिणी असत्या होदि भवति। शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्वरूपं न भवतित्यर्थः। ततः स्वसमय एवात्मनः स्वरूपमिति ॥ ३ ॥

अथैकत्वपरिणतं शुद्धात्मस्वरूपं सुलभं न भवतीत्याख्याति–

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विभत्तस्स ॥ ४ ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

'सुदपरिचिदाणुभूदा' इत्यादि। सुदा श्रुता अनंतशो भवति। परिचिदा परिचिता सा पूर्वमनन्तशो भवति। अणुभूदा अनुभूतानन्तशो भवति। कस्य? सव्वस्स वि सर्वस्यापि जीवलोकस्य। कासौ? कामभोगबंधकहा कामाश्च भोगाश्च कामभोगाः। अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेन्द्रियद्वयं, भोगशब्देन घ्राणचक्षुःश्रोत्रत्रयं। तेषां कामभोगानां बन्धः सम्बन्धः। तस्य कथा। अथवा बन्धशब्देन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धस्तत्फलं च नरनारकादिरूपं भण्यते। कामभोगबन्धानां कथा कामभोगबन्धकथा। यतः पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति, ततो न दुर्लभा किन्तु सुलभैव। एयत्तस्स एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन स्वसंवेद्यशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य उवलंभो उपलम्भः प्राप्तिर्लाभः. णवरि केवलं अथवा नवरि किन्तु ण सुलभो नैव सुलभः। कथम्भूतस्यैकत्वस्य? विभत्तस्स विभक्तस्य रागादिरहितस्य। 'कथं न सुलभः?' इति चेत्, श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ॥ ४ ॥

अथ यस्मादेकत्वं न सुलभं भवति तस्मात्तदेव कथ्यते–

तं एयत्तविभत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥ ५ ॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

तं तत्पूर्वोक्तं एयत्तविभत्तं एकत्वविभक्तम्। अभेदरत्नत्रयैकपरिणतं मिथ्यात्वरागादिरहितं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः। दाएहं दर्शयेऽहं। केन? अप्पणो सविहवेण आत्मनः स्वकीयमतिविभवेन। आगमतर्कपरमगुरूपदेशस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेति। जदि दाएज्ज यदि दर्शयेय तदा प्रमाणं स्वसंवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यं भवद्भिः। चुक्किज्ज यदि च्युतो भवामि छलं ण घेत्तव्वं तर्हि छलं न ग्राह्यं, दुर्जनवदिति ॥ ५ ॥

'अथ कोऽयं शुद्धात्मा?' इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति–

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धा णादा जो सो दु सो चेव ॥ ६ ॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणन्ति शुद्धा ज्ञाता यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्तः प्रमत्तश्च । प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तान्तानि षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यन्तान्यष्टगुणस्थानानि गृह्यन्ते । स कः कर्ता ? जाणगो दु जो भावो ज्ञायको ज्ञानस्वरूपो योऽसौ भावः पदार्थः शुद्धात्मा । एवं भणंति सुद्धा शुद्धनयावलंबिनः । तर्हि किं भवति ? णादा जो सो दु सो चेव ज्ञाता शुद्धात्मा यः कथ्यते स तु स चैव ज्ञातैवेत्यर्थः ॥ ६ ॥ इति स्वतन्त्रगाथाषट्केन प्रथमस्थलं गतम् ।

अथानन्तरं यथा प्रमत्तादिगुणस्थानविकल्पा जीवस्य व्यवहारनयेन विद्यन्ते शुद्धद्रव्यार्थिकनिश्चयेन न विद्यन्ते तथा दर्शनज्ञानचारित्रविकल्पोऽपीत्युपदिशति—

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चारित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं ज्ञायक शुद्धः ॥ ७ ॥

ववहारेण सद्भूतव्यवहारनयेन उवदिस्सदि उपदिश्यते कथ्यते । कस्य । ? णाणिस्स ज्ञानिनो जीवस्य । किम् ? चरित्त दंसणं णाणं चारित्रदर्शनज्ञानस्वरूप । ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं शुद्धनिश्चयनयेन न पुनर्ज्ञानं, न चारित्रं, न दर्शनं । 'तर्हि किमस्ति ?' इति चेत् । जाणगो ज्ञायकः शुद्धचैतन्यस्वभावः । सुद्धो शुद्ध एव रागादिरहित इति । अयमत्रार्थः—यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः, पचतीति पाचकः, प्रकाशं करोतीति प्रकाशकः इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते । तथा जीवोऽपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोऽपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं, चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति ॥ ७ ॥

अथ 'यदि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचारित्राणि न सन्ति, तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्यो, न व्यवहार' इति चेत्, तन्न—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥ ८ ॥

जह ण वि सक्कं यथा न शक्यः । कोऽसौ ? अणज्जो अनार्यो म्लेच्छः । किं कर्तुम् ? गाहेदुं अर्थग्रहणरूपेण संबोधयितुम् । कथम्? अणज्जभासं विणा अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा । ता विना । दृष्टान्तो गतः । इदानीं दार्ष्टान्तमाह—तह तथा ववहारेण विणा व्यवहारनयेन विना परमत्थुवदेसणमसक्कं परमार्थोपदेशनं कर्तुमशक्यमिति । अयमत्राभिप्रायः—यथा कश्चिद्ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपल्ल्यां गतः

तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन्सन् निरीक्षते मेष इव, तथायमज्ञानिजनोऽप्यात्मेति भणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन्सन् भ्रान्त्या निरीक्षत एव। यदा पुनर्निश्चयव्यवहारनयज्ञपुरुषेण 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि जीवशब्दस्यार्थ' इति कथ्यते तदा सन्तुष्टो भूत्वा जानातीति। एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतम् ॥ ८॥

अथ पूर्वगाथायां भणितं व्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते, ततस्तमेवार्थं कथयतिः—

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥ ९॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम्।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥ ९॥

जो यः कर्त्ता हि स्फुटं सुदेण भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन अभिगच्छदि अभि समन्ताज्जानात्यनुभवति। कम्? अप्पाणं आत्मानं इणं इमं प्रत्यक्षीभूतं तु पुनः। किंविशिष्टम्? केवलं असहायं सुद्धं रागादिरहितं तं पुरुषं सुदकेवलिं निश्चयश्रुतकेवलिनं इसिणो परमर्षयः भणंति कथयन्ति लोगप्पदीवयरा लोकप्रदीपकराः लोकप्रकाशका इति। अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षणमुक्तम्।

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाण अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा ॥ १०॥

य श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १०॥

अथ "जो सुदणाण—" मित्यादि। जो यः कर्त्ता सुदणाणं द्वादशाङ्गद्रव्यश्रुतं सव्वं परिपूर्णं जाणदि जानाति सुदकेवलिं व्यवहारश्रुतकेवलिनं तमाहु जिणा तं पुरुषं आहुर्ब्रुवन्ति। के ते? जिनाः सर्वज्ञाः। 'कस्मात्?' इति चेत्, जम्हा यस्मात्कारणात् सुदणाणं द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्न भावश्रुतज्ञानं आदा आत्मा भवति। कथम्भूतम्? सव्वं सर्वं आत्मसंवित्तिविषयं परपरिच्छित्तिविषयं वा तस्मात्कारणात् सुदकेवली द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति। अयमत्रार्थः—यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति; यस्तु स्वशुद्धात्मानं न संवेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति। ननु तर्हि स्वसंवेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेऽपि श्रुतकेवली भवति, तन्न, यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञान तादृशमिदानीं नास्ति; किंतु धर्म्यध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः। एवं निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम्।

अथ गाथायाः पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामुत्तरार्द्धेनाभेदरत्नत्रयभावनां च प्रतिपादयतिः—

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे ॥

ज्ञाने भावना खलु कर्तव्या दर्शने चारित्रे च ।
तानि पुनस्त्रीण्यपि आत्मा तस्मात् कुरु भावनां आत्मनि ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रये भावना खलु स्फुटं कर्तव्या भवति । तानि पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यतः कारणात् तस्मात् कुरु भावनां शुद्धात्मनीति ॥

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफलं दर्शयति—

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

यः आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः मुनिः समाचरति ।
सः सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥

यः कर्ता आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः सन् मुनिः तपोधनः समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेनेत्यर्थः । इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाभावनाफल-व्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम् ।

अथ यथा कोऽपि ब्राह्मणादिविशिष्टो जनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषां ब्रूते, न च शेषकाले, तथैव ज्ञानी पुरुषोऽप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति, न च शेषकाले । कस्मात्? अभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति—

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ ११ ॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः ।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥ ११ ॥

ववहारो व्यवहारनयः अभूदत्थो अभूतार्थः असत्यार्थो भवति । भूदत्थो भूतार्थः सत्यार्थः देसिदो देशितः कथितः दु पुनः । कोऽसौ? सुद्धणओ शुद्धनयः निश्चयनयः । 'तर्हि केन नयेन सम्यग्दष्टिर्भवति?' इति चेत्, भूदत्थं भूतार्थं सत्यार्थं निश्चयनयं अस्सिदो आश्रितो गतः स्थितः खलु स्फुटं सम्मादिट्ठि हवदि जीवो सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यानम् । द्वितीयव्याख्यानेन पुनः ववहारो अभूदत्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः । न केवलं व्यवहारो देशितः सुद्धणओ शुद्धनिश्चयनयोऽपि । दुशब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोऽपीति व्याख्यानेन भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोपि द्विधा शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नयचतुष्टयम् । इदमत्र तात्पर्यम् यथा कोऽपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति, नागरिकः पुनः विवेकी जनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति,

तथा स्वसंवेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति, सद्दृष्टिर्जनः पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थनयाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति । अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति, किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः षोडशवर्णिकासुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत्केषाञ्चित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति–

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥ १२ ॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥ १२ ॥

सुद्धो शुद्धनयः निश्चयनयः । कथम्भूतः ? सुद्धादेसो शुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः णादव्वो ज्ञातव्यः भावयितव्यः । कैः ? परमभावदरसीहि शुद्धात्मभावदर्शिभिः । 'कस्मात् ?' इति चेत्, यतः षोडशवर्णिककार्तस्वरलाभवदभेदरत्नत्रयस्वरूपसमाधिकाले सप्रयोजनो भवति । निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः । ववहारदेसिदो व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण देशितः कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः पुण पुनः अधस्तनवर्णिकसुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति । केषाम् ? जे ये पुरुषा. दु पुनः अपरमे अशुद्धे असयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिताः । कस्मिन् स्थिताः ? भावे जीवपदार्थे । तेषामिति भावार्थः ॥ १२ ॥

एव निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पञ्चमं स्थलं गतम् । इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन पीठिका समाप्ता ।

अथ कश्चिदासन्नभव्य. पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्त्वं परिज्ञाय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं निजस्वरूपं भावयति । विस्तररुचिः पुनर्नवभिरधिकारैः समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद्भावनां करोति । तद्यथा– विस्तररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारैः समयसारव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्तरौद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ख्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते । तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूप भवतीत्येका पातनिका । अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तस्त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद्व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्तं भवन्ति, निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति–

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रवसंवरनिर्जरा बन्धो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥ १३ ॥

भूदत्थेण भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन अभिगदा अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाता सन्तः के ते ? जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षस्वरूपा नव पदार्थाः सम्मत्तं त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्वं भवंति । निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति । नव पदार्थाः भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तः सम्यक्त्वं भवन्तीत्युक्तं भवद्भिः । 'तत्कीदृशं भूतार्थपरिज्ञानम् ?' इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह– यद्यपि नवपदार्थाः तीर्थवर्त्तनानिमित्त प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था भण्यन्ते, तथाप्यभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्था शुद्धात्मस्वरूपं न भवन्ति । तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति । या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धि सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति, सा चैवानुभूनिर्गुणगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यम् । किं च, ये च प्रमाणनयनिक्षेपाः परमादितत्त्वविचारकाले सहकारिकारणभूतास्तेऽपि सविकल्पावस्थायामेव भूतार्थाः परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थाः । तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयते ॥ १३ ॥

इति नवपदार्थाधिकारगाथा गता । तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यन्तं जीवाधिकारः कथ्यते । तथाहि– सहजानंदैकस्वभावशुद्धात्मभावनामुख्यतया 'जो पस्सदि अप्पाणं' इत्यादिसूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयम् । तदनन्तरं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिद्वारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनामुख्यतया दंसणणाणचरित्ताणि इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयम् । ततः परं जीवस्याप्रतिबुद्धत्वकथनेन प्रथमगाथा, बन्धमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिपरिणामाणामेव कर्त्तेति तृतीया चेत्येवं कम्मे णोकम्मम्हि य इत्यादि तृतीयस्थले परस्परसबंधनिरपेक्षस्वतंत्रगाथात्रयम् । तदनन्तरमिन्धनाग्निदृष्टान्तेनाप्रतिबुद्धलक्षणकथनार्थं अहमेदमित्यादि चतुर्थस्थले सूत्रत्रयम् । अतः पर शुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणाभेदरत्नत्रयभावनाविषये योऽसावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थं अण्णाणमोहिदमदी इत्यादि पंचमस्थले सूत्रत्रयम् । अथ, निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मतत्त्वमजानन् 'देह एवात्मा' इति योऽसौ पूर्वपक्ष करोति तस्य स्वरूपकथनार्थं जदि जीवो इत्यादि पूर्वपक्षरूपेण गाथैका । तदनन्तर व्यवहारेण देहस्तवन निश्चयेन शुद्धात्मस्तवनमिति नयद्वयविभागप्रतिपादनमुख्यत्वेन ववहारेण भासदि इत्यादि परिहारसूत्रचतुष्टयम् । अथ परमोपेक्षालक्षणशुद्धात्मसंवित्तिरूपनिश्चयस्तुतिमुख्यत्वेन जो इंदिए जिणित्ता इत्यादि सूत्रत्रयम् । एव गाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलम । ततः परं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानमेव विषयकषायादिपरद्रव्याणां प्रत्याख्यानमिति कथनेन णाणं सव्वे भावा इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरमनन्तज्ञानादिलक्षणशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकस्वसंवेदनमेव भावितात्मनः स्वरूपमित्युपसंहारमुख्यतया अहमिक्को खलु सुद्धो इत्यादि सूत्रमेकम् । एवं दण्डकान्विहायाष्टाविंशतिसूत्रैः सप्तभिरन्तरस्थलैर्जीवाधिकारसमुदायपातनिका । तद्यथा–अथ प्रथमगाथायामबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतमविशेषमसंयुक्तं संसारावस्थायामपि शुद्धनयेन बिसिनीपत्रमृत्तिकावार्द्धिसुवर्णोष्ण्यरहितजलस्वरूपपञ्चविशेषणविशिष्टं शुद्धात्मानं कथयति–

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं ।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥ १४ ॥

जो पस्सदि यः कर्ता पश्यति जानाति । कम् ? अप्पाणं शुद्धात्मानम् । कथम्भूतम् ? अबद्धपुट्ठं द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं, जले बिसिनीपत्रवत् । अणण्णयं अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव, स्थासकोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत् णियदं नियतमवस्थितं, निस्तरङ्गोत्तरङ्गावस्थासु समुद्रवत् अविसेसं अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादिभेदरहितं, गुरुत्वस्निग्धत्वपीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत् असंजुत्तं असंयुक्तमसंबद्धं रागादिविकल्परूपभावकर्मरहितं, निश्चयनयेनोष्णरहितजलवदिति तं सुद्धणयं वियाणीहि तं पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजनीहीति भावार्थः ॥ १४ ॥

अथ द्वितीयगाथायां या पूर्वं भणिता शुद्धात्मानुभूतिः सा चैव निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयति–

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिनसासणं सव्वं ॥ १५ ॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषं ।
अपदेशसूत्रमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥ १५ ॥

जो पस्सदि यः कर्ता पश्यति जानात्यनुभवति । कम् ? । अप्पाणं शुद्धात्मानम् । किंविशिष्टम् ? अबद्धपुट्ठं अबद्धस्पृष्टम् । अत्र बन्धशब्देन संश्लेषरूपबन्धो ग्राह्यः, स्पृष्टशब्देन तु संयोगमात्रमिति । द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं, जले बिसिनीपत्रवत् । अणण्णं अनन्यं, मृत्तिकाद्रव्यवत् । अविसेसं अविशेषमभिन्नं, सुवर्णवत्; नियतमवस्थितं, समुद्रवत्; असंयुक्तं परद्रव्यसंयोगरहितं, निश्चयनयेनोष्णरहितजलवदिति । 'नियतासंयुक्तविशेषणद्वयं सूत्रे नास्ति, कथं लभ्यते?' इति चेत्, सामर्थ्यात् । तदपि कथम् ? 'श्रुतप्रकृतसामर्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थः' इति वचनात् । स पुरुषः पस्सदि पश्यति जानाति । किं तत् ? जिणसासणं जिनशासनं अर्थसमयरूपं जिनमतं सव्वं सर्वं द्वादशाङ्गपरिपूर्णम् । कथंभूतम् ? अपदेससुत्तमज्झं अपदेशसूत्रमध्यं । अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दः । द्रव्यश्रुतमिति यावत् । सूत्रपरिच्छित्तिरूप भावश्रुतम् । ज्ञानसमय इति । तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते । अयमत्र भावः– यथा लवणखिल्य एकरसोऽपि फलशाकपत्रशाकादिपरद्रव्यसंयोगेन भिन्नभिन्नास्वादः प्रतिभात्यज्ञानिनां, ज्ञानिनां पुनरेकरस एव तथात्माप्यखण्डज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्शरसगन्धशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खण्डखण्डज्ञानरूपः प्रतिभाति, ज्ञानिनां पुनरखण्डकेवलज्ञानस्वरूप एव । इति हेतोरखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवतीति मत्वा समस्तमिथ्यात्वरागादिपरिहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कर्त–

ख्येति । किञ्च मिथ्यात्वशब्देन दर्शनमोहो, रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यम् । अथ तृतीयगाथायां सम्यग्ज्ञानादिकं सर्वं शुद्धात्मभावनामध्ये लभ्यत इति निरूपयति—

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥

आत्मा स्फुटं मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥

आदा शुद्धात्मा खु स्फुटं मज्झ मम भवति । क्व विषये ? णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानसंवरयोगभावनाविषये । योगे कोऽर्थः ? निर्विकल्पसमाधौ परमसामायिके परमध्याने चेत्येको भावः । भोगाकाङ्क्षानिदानबन्धशल्यादिविभावरहिते शुद्धात्मनि ध्याते सर्वं सम्यग्ज्ञानादिकं लभ्यत इत्यर्थः । एवं शुद्धनयव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ।

इत ऊर्ध्वं भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रयं कथ्यते । तद्यथा—प्रथमगाथायां पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामपरार्द्धेन चाभेदरत्नत्रयभावनां कथयति—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं ।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ॥ १६ ॥

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना व्यवहारनयेन नित्यं सर्वकालं ताणि पुण जाण तिण्णि वि तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि अप्पाणं चेव शुद्धात्मानं चेव णिच्छयदो निश्चयतः शुद्धनिश्चयतः । अयमत्रार्थः— पञ्चेन्द्रियविषयक्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्पसमाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमस्तीति ॥ १६ ॥

अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनां दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥ १७ ॥

एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥ १८ ॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥ १७ ॥

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथा च श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥ १८ ॥

जह यथा णाम अहो स्फुटं वा कोवि कोऽपि कश्चित् पुरिसो पुरुषः रायाणं राजानं जाणिऊण छत्रचामरादिराजचिह्नैर्ज्ञात्वा सद्दहदि श्रद्धत्ते अयमेव राजेति निश्चिनोति तो ततो ज्ञानश्रद्धानानन्तरं तं तं राजानं अनुचरदि आश्रयत्याराधयति। कथम्भूतः सन्? अत्थत्थीओ अर्थार्थिको जीवि-(व?)-कार्थी पयत्तेण प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टान्तगाथा गता। एवं अनेन प्रकारेण हि स्फुटं जीवराया शुद्धजीवराजो णादव्वो निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञातव्यः। तह य तथैव सद्दहेदव्वो अयमेव निजानन्दैकस्वभावो रागादिरहितः शुद्धात्मेति निश्चेतव्यः अणुचरिदव्वो य अनुचरितव्यश्च निर्विकल्पसमाधिनाऽनुभवनीयः। पुनः सो एव स एव शुद्धात्मा दु पुनः मोक्खकामेण मोक्षार्थिना पुरुषेणेति दार्ष्टान्तः। इदमत्र तात्पर्यम्—भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपया परमात्मचिन्तयैव पूर्यतेऽस्माकं, किं विशेषेण शुभाशुभरूपविकल्पजालेनेति? एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं द्वितीयस्थले गतम्॥

अथ स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं कथ्यते। तद्यथा—स्वपरभेदविज्ञानाभावे जीवस्त्वज्ञानी भवति, परं किन्तु कियत्कालपर्यन्तमिति न ज्ञायते। एवं पृष्टे सति प्रथमगाथायां प्रत्युत्तरं ददाति—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥ १९ ॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥ १९ ॥

कम्मे कर्मणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि रागादिभावकर्मणि च णोकम्मम्हि य शरीरादिनोकर्मणि च अहमिदि अहमिति प्रतीतिः अहकं च कम्म णोकम्मं अहकं च कर्म नोकर्मेति प्रतीतिः यथा घटे वर्णादयो गुणा घटाकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्च, वर्णादिषु च घटः। इत्यभेदेन जा यावन्तं कालं एसा एषा प्रत्यक्षीभूता खलु स्फुटं बुद्धी कर्मनोकर्मणा सह शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजपरमात्मवस्तुनः ऐक्यबुद्धिः अप्पडिबुद्धो अप्रतिबुद्धः स्वसंवित्तिशून्यो बहिरात्मा हवदि भवति ताव तावत्कालमिति। अत्र भेदविज्ञानमूलां शुद्धात्मानुभूतिं स्वतः स्वयम्बुद्धापेक्षया परतो वा बोधितबुद्धापेक्षया ये लभन्ते ते पुरुषाः शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु विद्यमानेष्वपि मुकुरुन्दवदविकारा भवन्तीति भावार्थः॥

अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहितपरिणामस्तदा मोक्षो भवति। अजीवे देहादौ यदा रागादिपरिणामस्तदा बन्धो भवतीत्याख्याति—

जीवे व अजीवे वा संपदिसमयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंधमोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥

जीवे वा अजीवे वा संप्रतिसमये यत्रोपयुक्तः।
तत्रैव बन्धो मोक्षो भवति समासेन निर्दिष्टः ॥

'जीवे व' स्वशुद्धजीवे वा 'अजीवे वा' देहादौ वा 'संपदिसमयम्हि' वर्तमानकाले 'जत्थ

उवजुत्तो ' यत्रोपयुक्तः तन्मयत्वेनोपादेयबुद्ध्या परिणतः ' तत्थेव ' तत्रैव अजीवे जीवे वा ' बंधमोक्खो ' अजीवे देहादौ बन्धो, जीवे शुद्धात्मनि मोक्षः ' हवदि ' भवति ' समासेण णिद्दिट्ठो ' संक्षेपेण सर्वज्ञ-निर्दिष्ट इति। अत्रैवं ज्ञात्वा सहजानन्दैकस्वभावे निजात्मनि रतिः कर्तव्या, तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरक्तिरित्यभिप्रायः ॥

अथ शुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणां कर्त्ता, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥

यं करोति भावं आत्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य।
निश्चयतः व्यवहारात् पुद्गलकर्मणां कर्त्ता ॥

' जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्य भावस्स ' यं करोति रागादिभावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्त्ता भवति। ' णिच्छयदो ' अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्तेति। भावानां परिणमनमेव कर्तृत्वं। ' ववहारा ' अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् 'पोग्गलकम्माण' पुद्गलद्रव्यकर्मादीनां ' कत्तारं ' कर्तेति। ' कत्तारं ' इति कर्मपदं कर्तेति कथं भवति? इति चेत्, प्राकृते क्वापि कारकव्यभिचारो लिङ्गव्यभिचारश्च। अत्र रागादीनां जीवः कर्तेति भणितम्। ते च संसारकारणम्। ततः संसारभयभीतेन मोक्षार्थिना समस्तरागादिविभावरहिते शुद्धद्रव्यगुणपर्याय-स्वरूपे निजपरमात्मनि भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः। एवं स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

अथ यथा कोऽप्यप्रतिबुद्धः अग्निरिन्धनं भवति, इन्धनमग्निर्भवति, अग्निरिन्धनमासीत्, इन्धन-मग्निरासीत्, अग्निरिन्धनं भविष्यति, इन्धनमग्निर्भविष्यतीति वदति तथा यः कालत्रयेपि देहरागादि-परद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिबुद्धो बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयति—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २० ॥

आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि।
होहिदि पुणो वि मज्झं अहमेदं चावि होस्सामि ॥ २१ ॥

एदं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥ २२ ॥

अहमेतदेतदहं अहमेतस्याऽस्मि ममैतत्।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥ २० ॥

आसीन्मम पूर्वमेतत् अहमिदं चापि पूर्वकाले ।
भविष्यति पुनरपि मम अहमिदं चापि पुनर्भविष्यामि ॥ २१ ॥

एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति सम्मूढः ।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसम्मूढः ॥ २२ ॥

'अहमेदं एवमहं' अहं इदं परद्रव्य, इदं अहं भवामि । 'अहमेदस्सेव हि होमि मम एदं' अहमस्य सम्बन्धी भवामि मम सम्बन्धीदम् 'अण्ण जं परदव्व' देहादन्यद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्यं 'सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा' सचित्ताचित्तमिश्रं वा । तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्तं स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि । अथवा तपोधनापेक्षया सचित्तं छात्रादि, अचित्तं पिच्छकमण्डलुपुस्तकादि, मिश्रमुपकरणसहितच्छात्रादि । अथवा सचित्तं रागादि, अचित्तं पुद्गलादि, पञ्चद्रव्यरूपं मिश्रं गुणस्थान-जीवस्थानमार्गणादिपरिणतसंसारिजीवस्वरूपमिति वर्तमानकालापेक्षया गाथा गता । आसीत्यादि । 'आसि मम पुव्वमेदं' आसीत् मम पूर्वमेतत् 'अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि' अहमिदं चैव पूर्वकाले 'होहिदि पुणो वि मज्झं' भविष्यति पुनरपि मम 'अहमेदं चावि होस्सामि' अहमिदं चैव पुनर्भविष्यामि इति भूतभाविकालापेक्षया गाथा गता । एदमित्यादि । 'एदं' इमं तु पुनः 'असंभूदं' असद्भूतं कालत्रय-परद्रव्यसम्बन्धि मिथ्यारूपं 'आदवियप्पं' आत्मविकल्पं अशुद्धनिश्चयेन जीवपरिणामं 'करेदि' करोति 'संमूढो' सम्यङ्मूढः अज्ञानी बहिरात्मा 'भूदत्थं' भूतार्थं निश्चयनयं 'जाणंतो' जानन् सन् 'ण करेदि' न करोति 'दु' पुनः कालत्रयपरद्रव्यसम्बन्धि मिथ्याविकल्पं 'असमूढो' असम्मूढः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयभावनारतः । किं च यथा कोऽप्यज्ञानी अग्निरिन्धनं इन्धनमग्निः कालत्रये निश्चयेनैकान्तेनाभेदेन वदति तथा देहरागादिपरद्रव्यमिदानीमहं भवामि पूर्वमहमासं, पुनरग्रे भविष्यामीति यो वदति सोऽज्ञानी बहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मेति । एवं अज्ञानिज्ञानिजीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावनां दृढयति । यथा कोपि राजसेवकपुरुषो राजशत्रुभिः सह संसर्गं कुर्वाणः सन् राजाराधको न भवति, तथा परमात्माराधकपुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिभिः परिणममानः परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः । एवमप्रतिबुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम् ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

अथाप्रतिबुद्धसम्बोधनार्थं व्यवसायः क्रियते—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवे बहुभावसंजुत्तो ॥ २३ ॥

सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वी—भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥ २४ ॥

जदि सो पुग्गलदव्वी—भूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सक्का वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥ २५ ॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलो द्रव्यं ।
बद्धमबद्धं च तथा जीवे बहुभावसंयुक्तः ।। २३ ।।
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यं ।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदं ।। २४ ।।
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।
तच्छक्यं वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलो द्रव्यं ।। २५ ।।

अण्णाणेत्यादि व्याख्यानं क्रियते । 'अण्णाणमोहिदमदी' अज्ञानमोहितमतिः 'मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं' ममेदं भणति पुद्ग-(लं?)-लो द्रव्यं । कथम्भूतम् ? 'बद्धमबद्धं च' बद्धं सम्बद्धं देहरूपं अबद्धं च असंबद्धं देहाद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि 'तहा' तथा 'जीवे' जीवद्रव्ये 'बहुभावसंजुत्तो' मिथ्यात्वरागादिबहुभावसंयुक्तः । अज्ञानी जीवो देहपुत्रकलत्रादिकं परद्रव्य ममेदं भणतीत्यर्थः । इति प्रथमगाथा गता ।

अथास्य बहिरात्मनः सम्बोधनं क्रियते रे दुरात्मन ! 'सव्वण्हु' इत्यादि 'सव्वण्हुणाणदिट्ठो' सर्वज्ञज्ञानदृष्टः 'जीवो' जीवपदार्थः । कथम्भूतो दृष्टः ? 'उवओगलक्खणो' केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः 'णिच्चं' नित्यं सर्वकालं 'कह' कथं 'सो' स जीवः 'पुग्गलदव्वीभूदो' पुद्गलद्रव्यं जातः ? न कथमपि । 'जं' येन कारणेन 'भणसि' भणसि त्वं 'मज्झमिणं' ममेदं पुद्गलद्रव्यम् । इति द्वितीया गाथा गता । 'जदि' इत्यादि । 'जदि' यदि चेत् 'सो' स जीवः 'पुग्गलदव्वीभूदो' पुद्गलद्रव्यं जातः 'जीवो' जीवः 'जीवत्तं' जीवत्वं 'आगदं' आगतं प्राप्त 'इदरं' इतरत् शरीरपुद्गलद्रव्यं 'तो सक्का वत्तुं' ततः शक्यं वक्तुं 'जे' अहो अथवा यस्मात्कारणात् 'मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं' ममेदं पुद्गलद्रव्यमिति । न चैवम् । यथा वर्षासु लवणमुदकीभवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति, तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुद्गलद्रव्यं च मूर्त्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति तदा भवदीयवचनं सत्यं भवति । रे दुरात्मन् ! न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ततो जीवद्रव्यं देहाद्भिन्नममूर्तं शुद्धबुद्धैकस्वभावं सिद्धमिति । एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् । इत्यप्रतिबुद्धसम्बोधनार्थं पञ्चमस्थले गाथात्रयं गतम् ।

अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टकं कथ्यते । तत्रैकगाथायां पूर्वपक्षः, गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारः । गाथात्रये निश्चयस्तुतिरूपेण परिहार इति षष्ठस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा–प्रथमतस्तावत् यदि जीवशरीरयोरेकत्वं न भवति तदा तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्वृथा भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्यः पूर्वपक्ष करोति–

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।। २६ ।।

यदि जीवो न शरीरं तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ।। २६ ।।

'जदि जीवो ण सरीरं' हे भगवन्! यदि जीवः शरीरं न भवति 'तित्थयरायरियसंथुवी चेव' तर्हि 'द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ' इत्यादितीर्थकरस्तुतिः 'देसकुलजाइसुद्धा' इत्याचार्यस्तुतिश्च 'सव्वा वि हवदि मिच्छा' सर्वापि भवति मिथ्या 'तेण दु आदा हवदि देहो' तेन त्वात्मा भवति देहः। इति ममैकान्तिकी प्रतिपत्तिः। एवं पूर्वपक्षगाथा गता।

हे शिष्य! यदुक्तं त्वया तन्न घटते, यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्परसाध्यसाधकभावं न जानासि त्वमिति।

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एकट्ठो ॥ २७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥ २७॥

'ववहारणयो भासदि' व्यवहारनयो भाषते ब्रूते। किं ब्रूते? 'जीवो देहो य हवदि खलु इक्को' जीवो देहश्च भवति खल्वेकः 'ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एकट्ठो' न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च कदाचित्काले एकार्थः एको भवति। यथा कनककलधौतयोः समावर्तितावस्थायां व्यवहारेणैकत्वेऽपि निश्चयेन भिन्नत्वं तथा जीवदेहयोरिति भावार्थः। ततः कारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवनं युक्तं भवतीति नास्ति दोषः॥

तथाहि–

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥ २८॥

इममन्यं[1] जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवान् ॥ २८।

'इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी' इममन्यं[1] भिन्नं जीवात्सकाशाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः। 'मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं' पश्चाद्व्यवहारेण मन्यते संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवानिति। यथा सुवर्णरजतयोरेकत्वे सति शुक्लं सुवर्णमिति व्यवहारो न निश्चयः तथा शुक्लरक्तोत्पलवर्णः केवलिपुरुष इत्यादिदेहस्तवने व्यवहारेणात्मस्तवनं भवति, न निश्चयनयेनेति तात्पर्यार्थः॥

अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलिस्तवनं न भवतीति दृढयति–

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥ २९॥

१–'इदमन्य।' इति पाठो न युक्तः, देहशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वात्।

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवन्ति केवलिनः ।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ।। २९ ।।

'तं णिच्छये ण जुज्जदि' तत्पूर्वोक्तदेहस्तवने सति केवलिस्तवनं निश्चयेन न युज्यते। 'कथम्?' इति चेत्, 'ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो' यतः कारणाच्छरीरगुणा शुक्लकृष्णादयः केवलिनो न भवन्ति। तर्हि कथं केवलिनः स्तवनं भवति? 'केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि' केवलिगुणान् अनन्तज्ञानादीन् स्तौति यः स तत्त्वं वास्तवं स्फुटं वा केवलिनं स्तौति। यथा शुक्लवर्णरजतशब्देन सुवर्णं न भण्यते, तथा शुक्लादिकेवलिशरीरस्तवनेन चिदानन्दैकस्वभावकेवलिपुरुषस्तवनं निश्चयेन न भवतीत्यभिप्रायः।

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति ।। ३० ।।

अथ शरीरप्रभुत्वेऽपि सत्यात्मनः शरीरस्तवनेनाऽऽत्मस्तवनं न भवति निश्चयनयेन। तत्र दृष्टान्तमाह—यथा प्राकारोपवनखातिकादिनगरवर्णने कृतेऽपि नैव राज्ञो वर्णना कृता भवति, तथा शुक्लादिदेहगुणे स्तूयमानेऽप्यनन्तज्ञानादिकेवलिगुणाः स्तुता न भवन्तीत्यर्थः। इति निश्चयव्यवहाररूपेण गाथाचतुष्टयं गतम्।

अथानन्तरं 'यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति, तर्हि कीदृशी भवति?' इति पृष्टे सति द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियपञ्चेन्द्रियविषयान् स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन जित्वा योऽसौ शुद्धमात्मानं सञ्चेतयते स जिन इति जितेन्द्रिय इति। सा चैव निश्चयस्तुतिः। परिहारं ददाति—

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥ ३१ ॥

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं ।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः ।। ३१ ।।

'जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं' यः कर्ता द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियपञ्चेन्द्रियविषयान् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाऽधिकं परिपूर्णं शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति सञ्चेतयति 'तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू' तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेन्द्रियं भणन्ति ते साधवः। के ते? ये निश्चिताः निश्चयज्ञा इति। किञ्च ज्ञेयाः स्पर्शादिपञ्चेन्द्रियविषयाः ज्ञायकानि स्पर्शनादिद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाणि तेषां योऽसौ जीवेन सह सङ्करः संयोगः सम्बन्धः स एव दोषः। तं दोषं परमसमाधिबलेन योऽसौ जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थः।

अथ तामेव स्तुतिं द्वितीयप्रकारेण भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण कथयति । अथवा उपशम-श्रेण्यपेक्षया जितमोहरूपेणाह–

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बिंति ॥ ३२ ॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति ।। ३२ ।।

'जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं' यः पुरुषः उदयागतं मोहं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रैकाग्र्यरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाऽधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति 'तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बिंति' तं साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति कथयन्तीति । इयं द्वितीया स्तुतिरिति । किञ्च भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकायां भणितं भवद्भिः, तत्कथं घटते ? भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जक उदयागतो मोहः । तयोर्भाव्यभावकयोः शुद्धजीवेन सह सङ्करः संयोगः सम्बन्धः । स एव दोषः । तं दोषं स्वसंवेदनज्ञानबलेन योऽसौ परिहरति सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थः । एवमेव च मोहपदपरि-वर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसन-स्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि । अनेनैव प्रकारेणान्यान्यप्यसङ्ख्येयलोक-मात्रविभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ।

अथवा भाव्यभावकभावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुतिः कथ्यते । अथवा तामेव क्षपकश्रेण्य-पेक्षया क्षीणमोहरूपेणाह–

जियमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥ ३३ ॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ।। ३३ ।।

'जियमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स' पूर्वगाथाकथितक्रमेण जितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत् । कस्य ? साधोः शुद्धात्मभावकस्य 'तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं' तदा तु गुप्तिसमाधिकाले स साधुः क्षीणमोहो भण्यते । कैः ? निश्चयविद्भिः परमार्थज्ञायकैर्गणधरदेवादिभिः । इयं तृतीया निश्चियस्तुतिरिति । 'भाव्यभाव-कभावाभावरूपेण कथं जाता स्तुतिः ?' इति चेत्, भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जक उदयागतो मोहः । तयोर्भाव्यभावकयोर्भावः स्वरूपम् । तस्याऽभावः क्षयो विनाशः । सा चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्रायः । एवं रागद्वेष इत्यादिव्याख्यानं ज्ञातव्यः ॥ इति प्रथमगाथायां पूर्वपक्षः । तदनन्तरं गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारः । ततश्च गाथात्रये निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहारः । इति पूर्वपक्षपरिहारगाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलं गतम् ।

अथ रागादिविकल्पोपाधिरहितं स्वसंवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरणरूपेण गाथाचतुष्टयं कथ्यते। तत्र स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा, प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्तरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयम्। तदनन्तरं मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा, ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयम्। एवं सप्तमस्थले समुदायपातनिका। तथाहि—तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्निरर्थिका भवतीति पूर्वपक्षबलेन जीवदेहयोरेकत्वं कर्तुं नायातीति ज्ञात्वा शिष्य इदानीं प्रतिबुद्धः सन् 'हे भगवन्! रागादीनां किं प्रत्याख्यानम्?' इति पृच्छति। 'इति पृच्छति कोऽर्थः?' इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति। एवं प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेतिशब्दस्याऽर्थो ज्ञातव्यः।

णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥ ३४ ॥

ज्ञानं सर्वान् भावान् प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा।
तस्मात् प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमाज्ज्ञातव्यम् ॥ ३४ ॥

'णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं' जानातीति व्युत्पत्त्या स्वसंवेदनज्ञानमात्मेति भण्यते। (तं?) तज्ज्ञानं कर्तृ मिथ्यात्वरागादिविभावं परस्वरूपमिति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति—त्यजति—निराकरोति। 'तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं' तस्मात्कारणात् निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयान्मन्तव्यं ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति। इदमत्र तात्पर्यं—परमसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मात्मानमनुभवति। तदेवाऽनुभवनं निश्चयप्रत्याख्यानमिति॥

अथ प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्तमाह—

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥ ३५ ॥

यथा नाम कोपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुञ्चति ज्ञानी ॥ ३५ ॥

'जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि' यथा नाम अहो स्फुटं वा कश्चित्पुरुषो वस्त्राभरणादिकं परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति 'तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी' तथा तेन प्रकारेण सर्वान् मिथ्यात्वरागादिपरभावान् पर्यायान् स्वसंवेदनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण त्रिशुद्ध्या विमुञ्चति त्यजति स्वसंवेदनज्ञानीति। अयमत्र भावार्थः—यथा कश्चिद्देवदत्तः परकीयचीवरं भ्रान्त्या मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयानः सन् पश्चादन्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्राञ्चलमादायाच्छोट्य नग्नीक्रियमाणः सन् वस्त्रलाञ्छनं निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा तद्वस्त्रं मुञ्चति तथाऽयं ज्ञानी जीवोऽप्यतिविज्ञेन निर्विण्णेन गुरुणा 'मिथ्यात्वरागादिविभावा एते भवदीयस्वरूपं न भवन्ति; एक एव त्वम्' इति प्रतिबोध्यमानः सन् परकीयानिति ज्ञात्वा मुञ्चति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति। एवं गाथाद्वयं गतम्॥

अथ 'कथं शुद्धात्मानुभूतिमनुभवति?' इति पृष्टे सति मोहादिपरित्यागप्रकारमाह—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बिंति ॥ ३६ ॥

नास्ति मम कोऽपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः ब्रुवन्ति ॥ ३६ ॥

' णत्थि मम को वि मोहो ' नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कर्तृभूतेन भावयितुं रञ्जयितुमशक्यत्वात्कश्चिद्द्रव्यभावरूपो मोहः । 'बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को' बुध्यते जानाति । स कः ? कर्त्ता । ज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेकः । 'तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बिंति 'तं निर्मोहशुद्धात्मभावनास्वरूपं निर्ममत्वं ब्रुवन्ति वदन्ति जानन्ति वा । के ते ? समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायकाः पुरुषा इति । किन्त्व विशेषः—यत्पूर्वं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं व्याख्यातं तस्यैवेदं निर्मोहत्वं विशेषव्याख्यानमिति । एवमेव मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसङ्ख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ॥

अथ 'धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि मम स्वरूपं न भवन्ति' इति प्रतिपादयति—

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बिंति ॥ ३७ ॥

नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति ॥ ३७ ॥

' णत्थि मम धम्म आदी ' न सन्ति न विद्यन्ते धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था ममेति 'बुज्झदि' बुध्यते ज्ञानी । तर्हि किमहम् ? 'उवओग एव अहमिक्को' विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहं अथवा ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादित्यभेदेनोपयोग एवात्मा स जानाति । केन रूपेण ? यतोऽहं टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव एकः, ततो दधिखण्डशिखरिणीवत् व्यवहारेणैकत्वेपि शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूपं न भवतीति परद्रव्यं प्रति निर्ममत्वोस्मि ' तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बिंति ' तं शुद्धात्मभावनास्वरूपं परद्रव्यनिर्ममत्वं समयस्य शुद्धात्मनो विज्ञायकाः पुरुषा ब्रुवन्ति कथयन्तीति । किन्त्व इदमपि परद्रव्यनिर्ममत्वं यत्पूर्वं भणितं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं तस्यैव विशेषव्याख्यानं ज्ञातव्यम् ॥ इति गाथाद्वयं गतम् । एवं गाथाचतुष्टयसमुदायेन सप्तमस्थलं समाप्तम् ॥

अथ ' शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वं, तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसंवेदनं सम्यग्ज्ञानं, तत्रैव निजात्मनि वीतरागस्वसंवेदनं[1] निश्चलरूपं चारित्रमिति निश्चयरत्नत्रयपरिणतजीवस्य कीदृशं स्वरूपं भवति ?' इत्यावेदयन्सन् जीवाधिकारमुपसंहरति—

१– ' वीतरागस्वसंवेदननिश्चलरूपं ' इति मुद्रितः पाठः ।

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥ ३८ ॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥ ३८ ॥

'अहं' अनादिदेहात्मैक्यभ्रान्त्याऽज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोऽपि करतलविन्यस्तसुप्तविस्मृतपदचामीकरा-विलोकनस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमगुरुप्रसादेन प्रतिबुद्धो भूत्वा शुद्धात्मनि रतो यः सोऽहं वीत-रागचिन्मात्रं ज्योतिः। पुनरपि कथम्भूतः ? 'इक्को' यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः। 'खलु' स्फुटं। पुनरपि किंरूपः ? 'सुद्धो' व्याव-हारिकनवपदार्थेभ्यः शुद्धनिश्चयनयेन भिन्नः, अथवा रागादिविभावेभ्यो भिन्नोऽहमिति शुद्धः। पुनरपि किंविशिष्टः ? 'दंसणणाणमइओ' केवलदर्शनज्ञानमयः। पुनरपि किंरूपः ? 'सदारूवी' निश्चयनयेन रूपरसगन्धस्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्तः। 'ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि' इत्थ-म्भूतस्य सतः नैवास्ति ममान्यत्परमाणुमात्रमपि परद्रव्यं किमपि यदेकत्वेन रञ्जकत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति। कस्मात् ? परमविशुद्धज्ञानपरिणतत्वात् ॥ ३८ ॥

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलसप्तकेन 'जो पस्सदि अप्पाणं' इत्यादि सप्तविंशतिगाथाः। तदनन्तरमुपसंहारसूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः।

इति प्रथमरङ्गः ॥

अथानन्तरं शृङ्गारसहितपात्रवज्जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः। तत्र स्थलत्रयेण त्रिशद्गाथापर्यन्त-मजीवाधिकारः कथ्यते। तेषु प्रथमस्थले शुद्धनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति निषेध-मुख्यत्वेन 'अप्पाणमयाणंता' इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथादशकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र गाथादशकमध्ये परद्रव्यात्मवादे पूर्वपक्षमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं तदनन्तरं परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। अथाष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यं भवतीति कथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रयं कथ्यत इति समुदायपातनिका। तद्यथा—

अथ देहरागादिपरद्रव्यं निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्षं करोति—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥ ३९ ॥

अवरे अज्झवसाणे–सु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥ ४० ॥

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥ ४१ ॥

जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु के वि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥ ४२ ॥

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
तेण दु परप्पवाई णिच्छयवादीहिं णिदिट्ठा ॥ ४३ ॥

आत्मानमजानन्तो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित्।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ॥ ३९ ॥

अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमन्दानुभागगं जीवं।
मन्यन्ते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ॥ ४० ॥

कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छन्ति।
तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥ ४१ ॥

जीवकर्मोभय द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति ॥ ४२ ॥

एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसः।
तेन परात्मवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥ ४३ ॥

'अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई' आत्मानमजानन्तः मूढास्तु परद्रव्यमात्मानं वदन्तीत्येवंशीलाः केचन परात्मवादिनः 'जीवं अज्झवसाणं च तहा परूविति' यथाङ्गारात् कार्ष्ण्यं भिन्नं नास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति रागाद्यध्यवसानं कर्म च जीवं वदन्तीति । अथ 'अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं मण्णंति' अपरे केचनैकान्तवादिनः रागाद्यध्यवसानेषु तीव्रमन्दतारतम्यानुभावस्वरूपं शक्तिमाहात्म्यं गच्छतीति तीव्रमन्दानुभावगस्तं जीवं मन्यते । 'तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति' तथैवाऽपरे चार्वाकादयः कर्मनोकर्मरहितपरमात्मभेदविज्ञानशून्याः शरीरादिनोकर्म चापि जीवं मन्यन्ते । अथ—'कम्मस्सुदयं जीवं अवरे' अपरे कर्मण उदयं जीवमिच्छन्ति 'कम्माणुभागमिच्छंति' अपरे च कर्मानुभागं लतादार्वस्थिपाषाणरूपं जीवमिच्छन्ति । कथम्भूतः? स चानुभागः । 'तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो' तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां वर्तते यः स जीवो भवतीति । अथ—'जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु के वि जीवमिच्छंति' जीवकर्मोभयं द्वे अपि जीवकर्मणी शिखरिणीवत् खलु स्फुटं जीवमिच्छन्ति । अवरे संयोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति' अपरे केचन अष्टकाष्ठखट्वावदष्टकर्मणां संयोगेनापि जीवमिच्छन्ति । कस्मात्? अष्टकर्मसंयोगादन्यस्य शुद्ध-जीवस्यानुपपत्तेः । अथ 'एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा' एवंविधा बहुविधा बहुप्रकारा देहरागादिपरद्रव्यमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसो दुर्बुद्धयः 'तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा' तेन कारणेन तु पुनः देहरागादिकं परद्रव्यमात्मानं वदन्तीत्येवंशीलाः परात्मवादिनो निश्चयवादिभिः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टा इति पञ्चगाथाभिः पूर्वपक्षः कृतः ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अथ परिहारं ददाति—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति उच्चंति ॥ ४४ ॥

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यन्ते ॥ ४४ ॥

'एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा' एते सर्वे देहरागादयः कर्मजनितपर्यायाः पुद्गलद्रव्यकर्मोदयपरिणामेन निष्पन्नाः । 'केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति उच्चंति' केवलिजिनैः सर्वज्ञैः कर्मजनिता इति भणिताः । कथं ते निश्चयनयेन जीवा इत्युच्यन्ते? न कथमपि । किंच विशेषः—अङ्गारात् कार्ष्ण्यवद्रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति यदुक्तं पूर्वपक्षवादिना भणितं तदयुक्तं । कथमिति चेत्? 'रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्ति' इति पक्षः, 'परमसमाधिस्थपुरुषैः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेः' इति हेतुः । 'किट्टकालिकास्वरूपात् सुवर्णवत्' इति दृष्टान्तः । किञ्च अङ्गारदृष्टान्तोपि न घटते । 'कथम्?' इति चेत्, यथा सुवर्णस्य पीतत्व, अग्नेरुष्णत्वं स्वभावस्तथाङ्गारस्य कृष्णत्वं स्वभावः[1] । तस्य तु पृथक्त्वं कर्तुं नायाति । रागादयस्तु विभावाः स्फटिकोपाधिवत् । ततस्तेषां निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिबलेन पृथक्त्वं कर्तुं शक्यते इति । यदप्युक्तमष्टकाष्ठसंयोगखट्वा—

१— 'कृष्णत्वस्वभावस्य तु' इति मुद्रितः पाठः ।

यदष्टकर्मसंयोग एव जीवः, तदप्यनुचितम् । 'अष्टकर्मसंयोगादभिन्नः शुद्धजीवोस्ति इति' पक्षवचनं, 'अष्टकाष्ठसंयोगखट्वाशायिनः पुरुषस्येव परमसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसंयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धबुद्धैक-स्वभावजीवस्योपलब्धेः' इति दृष्टान्तसहितहेतुः । किञ्च 'देहात्मनोरत्यन्तं भेदः' इति पक्षः, 'भिन्न-लक्षणलक्षितत्वात्' इति हेतुः, 'जलानलवत्' इति दृष्टान्तः ॥ इति परिहारगाथा गता ॥

'अथ चिद्रूपप्रतिभासेऽपि रागाद्यध्यवसानादयः कथं पुद्गलस्वभावा भवन्तीति ?' चेत्–

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा बिंति ।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥ ४५ ॥

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना ब्रुवन्ति ।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥ ४५ ॥

'अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा बिंति' सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमयं भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा ब्रुवन्ति कथयन्ति । कथम्भूतं तत्कर्म[1] ? 'जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्च-माणस्स' यस्य कर्मणः फलं तत्प्रसिद्धमुच्यते, किम् ? व्याकुलत्वस्वभावत्वाद्दुःखमिति । कथम्भूतस्य कर्मणः? विशेषेण पच्यमानस्योदयागतस्य । इदमत्र तात्पर्यम्-अष्टविधकर्मपुद्गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षण-परमार्थसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दुःखम् । रागादयोप्याकुलत्वोत्पादकदुःखलक्षणाः । ततः कारणात् पुद्गलकार्यत्वाच्छुद्धनिश्चयनयेन पौद्गलिका इति ॥

'अष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यमेव' इति कथनरूपेण गाथा गता ।

'अथ यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तर्हि रागी द्वेषी मोही जीव इति कथं जीवत्वेन ग्रन्थान्तरे प्रतिपादिताः ?' इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति–

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिओ जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥ ४६ ॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥ ४६ ॥

'ववहारस्स दरीसणं' व्यवहारनयस्य स्वरूप दर्शितं यत्किकृतं? 'उवएसो वण्णिओ जिणवरेहिं' उपदेशो वर्णितः कथितो जिनवरैः । कथम्भूतः ? 'जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा' जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावाः परिणामा भण्यन्त इति । किं च विशेषः–यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्या-वलम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलम्बनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जना । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणम् । तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं

[1] 'यत्कर्म' इति मुद्रितः पाठः ।

सिद्धि न करोति । ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम् । तस्माद्व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः ।

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्याति–

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥ ४७ ॥

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥ ४८ ॥

राजा खलु निर्गत इति चैष बलसमुदयस्यादेशः ।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥ ४७ ॥

एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानां ।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥ ४८ ॥

'राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो' राजा हु स्फुटं निर्गत एव बलसमुदयस्यादेशः कथनं 'ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया' बलसमूहं दृष्ट्वा पञ्च योजनानि व्याप्य राजा निर्गतः इति व्यवहारेणोच्यते । निश्चयनयेन तु तत्रैको राजा निर्गत इति दृष्टान्तो गतः । इदानीं दार्ष्टान्तमाह–'एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं' एवमेव राजदृष्टान्तप्रकारेणैव व्यवहारः । केषाम् ? अध्यवसानादीनां जीवाद्भिन्नभावादीनां रागादिपर्यायाणां 'जीवो त्ति कदो सुत्ते ।' कथम्भूतो व्यवहारः ? रागादयो भावाः व्यवहारेण जीव इति कृतं भणितं सूत्रे परमागमे 'तत्थेको णिच्छिदो जीवो' तत्र तेषु रागादिपरिणामेषु मध्ये निश्चितो ज्ञातव्यः । कोऽसौ ? जीवः । कथम्भूतः? शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवपदार्थः । इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतम् ।

एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति कथनमुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोन्तराधिकारो व्याख्यातः । अथानन्तरं वर्णरसादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्धजीव एव उपादेय इति भावनामुख्यतया द्वादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दसुखसमरसीभावपरिणतः शुद्धजीव एवोपादेय इति मुख्यत्वेन 'अरसमरूवं' इत्यादिसूत्रगाथैका । अभ्यन्तरे रागादयो, बहिरङ्गे वर्णादयश्च शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीति तस्यैव गाथासूत्रस्य विशेषविवरणार्थं 'जीवस्स णत्थि वण्णो' इत्यादिसूत्रषट्कम् । ततः परं त एव रागादयो वर्णादयश्च व्यवहारेण सन्ति, शुद्धनिश्चयनयेन न सन्तीति परस्परसापेक्षनयद्वयविवरणार्थं 'ववहारेण दु' इत्यादि सूत्रमेकम् । तदनन्तरमेतेषां रागादीनां व्यवहारनयेनैव जीवेन सह क्षीरनीरवत्सम्बन्धो, न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण 'पंथे मुस्संतं' इत्यादि सूत्रमेकम् । ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य

पुनरपि व्यवस्थार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तसमर्थनरूपेण 'पंथे मुस्संतं' इत्यादि गाथात्रयम् । इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा–

'अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति, तर्हि कथम्भूतः शुद्धजीव उपादेयस्वरूपः ?' इत्यत्राह–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ४९ ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं ।
जानीहि अलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ ४९ ॥

'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं' निश्चयनयेन रसरूपगन्धस्पर्शशब्दरहितं मनोगतकामक्रोधादिविकल्पविषयरहितत्वेनाव्यक्तं सूक्ष्मम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ? शुद्धचेतनागुणम् । पुनश्च किंरूपम् ? 'जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं' निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिङ्गग्रहणं समचतुरस्रादिषट्संस्थानरहितं च यं पदार्थं तमेवंगुणविशिष्टं शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य ! जानीहि । इदमत्र तात्पर्य्यम्–शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्यसम्बन्धिवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायरहितः सर्वद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेषजीवान्तरभिन्नोऽनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेशसर्वकालब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्णभेदभिन्नजनसमस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभः स एवापूर्वः स चैवोपादेय इति मत्वा निर्विकल्पनिर्मोहनिरञ्जननिजशुद्धात्मसमाधिसञ्जातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति । एवं सूत्रगाथा गता ॥

अथ बहिरङ्गे वर्णादयोऽभ्यन्तरे रागादिभावाः पौद्गलिकाः शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति प्रतिपादयति–

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥

जीवस्य णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२ ॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केइ ॥ ५३ ॥

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गन्धो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न सहननं ॥ ५० ॥

जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्ययः न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥ ५१ ॥

जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्द्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥ ५२ ॥

जीवस्य न सन्ति कानिचिद्योगस्थानानि न बन्धस्थानानि वा ।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥ ५३ ॥

नो स्थितिबन्धस्थानानि जीवस्य न सङ्क्लेशस्थानानि वा ।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥ ५४ ॥

नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा सन्ति जीवस्य ।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥ ५५ ॥

वर्णगन्धरसस्पर्शास्तु रूपशब्दवाच्याः स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिश्च औदारिकादिपञ्चशरीराणि समचतुरस्रादिषट्संस्थानानि वज्रर्षभनाराचादिषट्संहननानि चेति । एते वर्णादयो धर्मिणः शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्तीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मिसमुदयलक्षणः पक्षः । आस्था सन्धा प्रतिज्ञेति यावत् । पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वादिति हेतुः । एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणाङ्गद्वयमनुमानं ज्ञातव्यम् । अथ रागद्वेषमोहमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपपञ्चप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तिरूपनोकर्माणि इति 'से' तस्य जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न सन्ति । कस्मात् ? पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ परमाणोरविभागपरिच्छेदरूपशक्तिसमूहो वर्ग इत्युच्यते । वर्गाणां समूहो वर्गणा भण्यते । वर्गणासमूहलक्षणानि स्पर्द्धकानि च कानिचिन्न सन्ति । अथवा कर्मशक्तेः क्रमेण विशेषवृद्धिः स्पर्द्धकलक्षणम् । तथा चोक्तं वर्गवर्गणास्पर्द्धकानां त्रयाणां लक्षणम्—

"वर्गः शक्तिसमूहोऽणोर्बहूना वर्गणोदिता ।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकः स्पर्द्धकापहैः" ॥

शुभाशुभरागादिविकल्परूपाध्यवसानानि भण्यन्ते । तानि च न सन्ति । लतादार्वस्थिपाषाण-शक्तिरूपाणि घातिकर्मचतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यन्ते । गुडखण्डशर्करामृतसमानानि शुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि भण्यन्ते । निम्बकाञ्जीरविषहालाहलसदृशान्यशुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि च । तान्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितमनोवचनकायवर्गणावलम्बनकर्मादानहेतुभूतात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपचतुर्विधबन्धस्थानानि सुखदुःखफलानुभवरूपाण्युदयस्थानानि गत्यादिमार्गणास्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ जीवेन सह कालान्तरावस्थानरूपाणि स्थितिबन्धस्थानानि कषायोद्रेकरूपाणि सङ्क्लेशस्थानानि कषायमदोन्दयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायक्रमहानिरूपाणि संयमलब्धिस्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन— " बादरसुहुमेइंदी बितिचउरिंदी असण्णिसण्णीणं । पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदस होंति" इति गाथाकथितक्रमेण बादरैकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानि च सर्वाण्यपि न सन्ति पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । 'कुतः ?' इति चेत्, यतः कारणादेते वर्णादिगुणस्थानान्ताः परिणामाः शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति । अयमत्र भावार्थः- सिद्धान्तादिशास्त्रेषु अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यन्तरे रागादयो बहिरङ्गे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोपि जीवा इत्युक्ताः । अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोधः। इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रषट्कं गतम् ॥

अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धान्तादौ जीवस्य वर्णादयो व्यवहारेण कथिताः, अत्र तु प्राभृतग्रन्थे निश्चयनयेन निषिद्धाः । तमेवार्थं दृढयति—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६ ॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्याः ।
गुणस्थानान्ता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥ ५६ ॥

व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्या गुणस्थानान्ता भावाः पर्यायाः; न तु केपि निश्चयनयेनेति । एवं निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता ।

अथ 'कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न सन्ति ?' इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददातिः—

एदेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥ ५७ ॥

एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः ।
न च भवन्ति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥ ५७ ॥

'एवेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो' एतैः वर्णादिगुणस्थानान्तैः पूर्वोक्तपर्यायैः सह सम्बन्धो यथैव क्षीरनीरसंश्लेषस्तथा मन्तव्यः । न चाग्न्युष्णत्वयोरिव तादात्म्यसम्बन्धः । 'कुतः' ? इति चेत्, 'ण य हुंति तस्स ताणि दु' न च भवन्ति तस्य जीवस्य ते तु वर्णादिगुणस्थानान्त भावाः पर्यायाः । कस्मात् ? 'उवओगगुणाधिगो जम्हा' यस्मादुष्णगुणेनाग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिकः परिपूर्ण इति । ननु वर्णादयो बहिरङ्गाः । तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत्सम्बन्धो भवतु, न चाभ्यन्तराणां रागादीनाम् । तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति नैवं, द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते । वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोपि व्यवहार एवेति भावार्थः ॥

अथ तर्हि कृष्णवर्णोऽयं धवलवर्णोऽयं पुरुष इति व्यवहारो विरोधं प्राप्नोतीत्येवं कृते सति व्यवहाराविरोधं दर्शयतीत्येका पातनिका । द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोधं लोकप्रसिद्धदृष्टान्तद्वारेण परिहरति–

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो, ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥ ५८ ॥

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥ ५९ ॥

एवं रसगंधफासा संठाणादी य जे समुदिट्ठा ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥ ६० ॥

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणन्ति व्यवहारिणः ।
मुष्यते एष पन्था न च पन्था मुष्यते कश्चित् ॥ ५८ ॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णं ।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारत उक्तः ॥ ५९ ॥
एवं गन्धरसस्पर्शा संस्थानादयः च ये समुद्दिष्टाः ।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयदृष्टारो व्यपदिशन्ति ॥ ६० ॥

'पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी' पथि मार्गे मुष्यमाणं सार्थं दृष्ट्वा व्यवहारिलोका भणन्ति । किं भणन्ति ? 'मुस्सदि एसो पंथो' मुष्यत एष प्रत्यक्षीभूतः पन्थाश्चौरैः कर्तृभूतैः 'ण य पंथा मुस्सदे कोई' न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षणः पन्था मुष्यते कश्चिदपि, किन्तु पन्थानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुष्यन्त इति दृष्टान्तगाथा गता । 'तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं' तथा तेन पथि सार्थदृष्टान्तेन जीवेऽधिकरणभूते कर्मनोकर्मणां शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा 'जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो' जीवस्य एष वर्णो जिनैर्व्यवहारतो भणित इति दार्ष्टान्तगाथा गता ।

'एवं रसगन्धफासा संठाणादी य जे समुद्दिट्ठा' एवमनेनैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तन्यायेन रसगन्धस्पर्शसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहादयो ये पूर्वगाथाषट्केन समुद्दिष्टाः 'सव्वे ववहारस्स य णिच्छयण्हू ववदिसंति' ते सर्वे व्यवहारनयस्याभिप्रायेण निश्चयज्ञा जीवस्य व्यपदिशन्ति कथयन्तीति नास्ति व्यवहारविरोधः इति दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतम् ।

एवं 'शुद्धजीव एवोपादेय' इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिः द्वितीयान्तराधिकारो व्याख्यातः । अतः परं जीवस्य निश्चयेन वर्णादितादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति पुनरपि दृढीकरणार्थं गाथाष्टकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्रादौ संसारिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्यं भवति, मुक्तावस्थायां नास्तीति ज्ञापनार्थं 'तत्थभवे' इत्यादिसूत्रमेकम् । ततः परं जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेशे सति जीवाभावो दूषणं प्राप्नोतीति कथनमुख्यत्वेन 'जीवो चेव हि' इत्यादिगाथात्रयम् । तदनन्तरमेकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवसमासानां जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यं नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं च 'एकं च दोण्णि' इत्यादिगाथात्रयम् । ततश्च मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं तथैवाभ्यन्तरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं च 'मोहणकम्म' इत्यादिसूत्रमेकम् । एवमष्टगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—

अथ 'कथं जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो नास्ति?' इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि दु वण्णादओ केई ॥ ६१ ॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवन्ति वर्णादयः ।
संसारप्रमुक्तानां न सन्ति तु वर्णादयः केचित् ॥ ६१ ॥

'तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी' तत्र विवक्षिताविवक्षितभवे संसारस्थानां जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवन्ति 'संसारपमुक्काणं' संसारप्रमुक्तानां 'णत्थि दु वण्णादओ केई' पुद्गलस्यवर्णादितादात्म्यसम्बन्धाभावात्, केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायैः सह यथा तादात्म्यसम्बन्धोऽस्ति तथा वा तादात्म्यसम्बन्धाभावादशुद्धनयेनापि न सन्ति पुनर्वर्णादयः केऽपि ॥ इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता ।

अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुराग्रहे सति दोषं दर्शयति—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई ॥ ६२ ॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषो हि ते कोऽपि ॥ ६२ ॥

'जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि' यथानन्तज्ञानाव्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवति, वर्णादिगुणा एव पुद्गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादयः सर्वे भावा मनसि मन्यसे यदि चेत्, 'जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई' तदा किं दूषणम्? विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव-

जीवस्य जडत्वादिलक्षणाजीवस्य च तस्यैव मते कोपि विशेषो भेदो नास्ति । ततश्च जीवाभावदूषणं प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥

अथ संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यसम्बन्धोऽस्तीति दुरभिनिवेशेऽपि जीवाभाव एव दोष इत्युपदिशति–

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥ ६३ ॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमई ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥ ६४ ॥

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवन्ति वर्णादयः ।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥ ६३ ॥
एवं पुद्‌गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते ।
निर्वाणमुपगतोपि च जीवत्वं पुद्‌गलः प्राप्तः ॥ ६४ ॥

'जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी' यदि चेत्संसारस्थजीवानां पुद्‌गलस्येव वर्णादयो गुणास्तव मतेन तवाभिप्रायेणैकान्तेन भवन्तीति 'तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा' ततः किं दूषणं ? संसारस्थजीवा अमूर्तमनन्तज्ञानादिचतुष्टयस्वभावलक्षणं त्यक्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षणं रूपित्वमापन्ना भवन्ति । अथ– 'एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमई' एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्‌गलद्रव्यमेव जीवः, नान्यः कोपि विशुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रस्तव लक्षणेन तवाभिप्रायेण हे मूढमते ! न केवलं संसारावस्थायां पुद्‌गल एव जीवत्वं प्राप्तः 'णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो' निर्वाणमुपगतोपि पुद्‌गल एव जीवत्वं प्राप्तः, नान्यः कोपि चिद्रूपः । 'कस्मात् ?' इति चेत्, वर्णादितादात्म्यस्य पुद्‌गलद्रव्यस्येव निषेधयितुमशक्यत्वादिति भवत्येव जीवाभावः । किं च संसारावस्थायामेकान्तेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते । 'कस्मात् ?' इति चेत्, केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्यैव मोक्षसञ्ज्ञा । सा च जीवस्य पुद्‌गलत्वे सति न सम्भवतीति भावार्थः ॥ एवं जीवस्य वर्णादितादात्म्ये सति जीवाभावदूषणद्वारेण गाथात्रयं गतम् ॥

अथैवं स्थितं बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियादिसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यंन्तं चतुर्दशजीवस्थानानि शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा देहगता वर्णादयोपीत्यावेदयति–

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा ।
बादरपज्जत्तिदरा पगडीओ णामकम्मस्स ॥ ६५ ॥
एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥ ६६ ॥

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पञ्चेन्द्रियाणि जीवाः ।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥ ६५ ॥

एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि तु करणभूताभिः ।
प्रकृतिभिः पुद्‌गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥ ६६ ॥

एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञिबादरपर्याप्तेतराभिधानाः प्रकृतयो भवन्ति । कस्य सम्बन्धिन्यः ? नामकर्मणः इति । अथ एताभिरमूर्त्तातीन्द्रियनिरञ्जनपरमात्मतत्त्वविलक्षणाभिर्नामकर्मप्रकृतिभिः पुद्‌गलमयीभिः पूर्वोक्ताभिर्निर्वर्त्तितानि चतुर्दशजीवस्थानानि निश्चयनयेन कथं जीवा भवन्ति ? न कथमपि । तथाहि– यथा रूक्मेण कारणभूतेन निर्वृत्तमसिकोशं रूक्मैव भवति तथा पुद्‌गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि तु जीवस्थानानि पुद्‌गलद्रव्यस्वरूपाण्येव भवन्ति, न च जीवस्वरूपाणि, तथा तत्रैव जीवस्थानदृष्टान्तेन तदाश्रिता वर्णादयोऽपि पुद्‌गलस्वरूपा भवन्ति, न च जीवस्वरूपा इत्यभिप्रायः ॥ ६५ । ६६ ॥

अथ– 'ग्रन्थान्तरे पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मजीवाः कथ्यन्ते । तत्कथं घटते ?' इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति–

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ६७ ॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव ।
देहस्य जीवसञ्ज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥ ६७ ॥

'पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव' पर्याप्तापर्याप्ता ये जीवाः कथिताः सूक्ष्मबादराश्चैव ये कथिताः 'देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता' पर्याप्तापर्याप्तदेहं दृष्ट्वा पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मविलक्षणपरमचिज्ज्योतिर्लक्षणशुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसञ्ज्ञा कथिता । क्व ? सूत्रे परमागमे । कस्मात् ? व्यवहारादिति नास्ति दोषः । एवं जीवस्थानानि जीवस्थानाश्रिता वर्णादयश्च निश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति कथनरूपेण गाथात्रयं गतम् ॥

अथ न केवलं बहिरङ्गवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति अभ्यन्तरमिथ्यात्वादिगुणस्थानरूपरागादयोपि न भवन्तीति स्थितम्–

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८ ॥

मोहणकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।
तानि कथं भवन्ति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥ ६८ ॥

'मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा' निर्मोहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षणपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतानाद्यविद्याकन्दलीकन्दायमानसन्तानागतमोहकर्मोदयात्सकाशात् यानीमानि वर्णितानि कथि-

तानि गुणस्थानानि । तथा चोक्तं "गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा" 'ते कह हवंति जीवा' तानि कथं भवन्ति जीवाः ? न कथमपि । कथम्भूतानि ? 'णिच्चमचेदणा उत्ता' यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि । अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसञ्ज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम् । एवमभ्यन्तरे यथा मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानानि जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा रागादयोपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति कथनरूपेणाष्टमगाथा गता ।

एवमष्टगाथाभिस्तृतीयान्तराधिकारो व्याख्यातः । ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति जीवाधिकारे व्याख्यातं अस्मिन्नजीवाधिकारेपि तदेवेति पुनरुक्तमिदम्, तन्न, विस्तररुचिशिष्यं प्रति नवाधिकारैः समयसार एव व्याख्यायते, न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञावचनम् । तत्रापि समयसारव्याख्यानमत्रापि समयसारव्याख्यानमेव । यदि पुनः समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभङ्ग इति नास्ति पुनरुक्तम् । अथवा भावनाग्रन्थे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादिग्रन्थवद्रागिणां शृङ्गारकथावद्वा पुनरुक्तदोषो नास्ति । अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता, अत्राजीवस्य मुख्यता, 'विवक्षितो मुख्यः' इति वचनात् । अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण । अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति निषेधमुख्यतया व्याख्यानम् । किंवत् ? एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति परिहारपञ्चकं ज्ञातव्यम् । एवं जीवाजीवाधिकाररङ्गभूमौ शृङ्गारसहितपात्रवद्व्यवहारेणैकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु शृङ्गाररहितपात्रवत्पृथग्भूत्वा निष्क्रान्ताविति ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां
शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेन त्रिंशद्गाथाभिरजीवाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥





अथ कर्तृकर्माधिकारः ॥ २ ॥

अथ पूर्वोक्तजीवाधिकाररङ्गभूमौ जीवाजीवावेव यद्यपि शुद्धनिश्चयेन कर्तृकर्मभावरहितौ तथापि व्यवहारनयेन कर्तृकर्मवेषेण शृङ्गारसहितपात्रवत्प्रविशत इति दण्डकान्विहायाष्टाधिकसप्तति-गाथापर्यन्तं नवभिः स्थलैर्व्याख्यानं करोतीति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपेण तृतीमाधिकारे समु-दायपातनिका । अथवा 'जो खलु संसारत्थो जीवो' इत्यादिगाथात्रयेण पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीव-पुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता, न च शुद्धनिश्चयेन शुद्धजीवस्वरूपमिति पञ्चास्तिकायप्राभृते यत्पूर्वं सङ्क्षेपेण व्याख्यातं तस्यैवेदानीं व्यक्त्यर्थं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकासमुदायकथनं तात्पर्यं कथ्यत इति द्वितीयपातनिका । प्रथमतस्तावत् 'जाव ण वेदि विसेसंतरं' इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथाषट्कपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्र गाथाद्वयमज्ञानिजीवमुख्यत्वेन, गाथाचतुष्टयं सज्ज्ञानिजीवमुख्यत्वेन कथ्यत इति प्रथमस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—

अथ क्रोधाद्यास्रवशुद्धात्मनोर्यावत्कालं भेदविज्ञानं न जानाति तावदज्ञानी भवतीत्यावेदयति:—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि ।
अण्णाणी ताव दु सो कोहाइसु वट्टदे जीवो ॥ ६९ ॥

कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥ ७० ॥

यावन्न वेत्ति विशेषान्तरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि ।
अज्ञानी तावत्तु स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ।। ६९ ॥

क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः सञ्चयो भवति ।
जीवस्यैवं बन्धो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ।। ७० ।।

'जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि' यावत्कालं न वेत्ति न जानाति विशेषान्तरं भेदज्ञानं शुद्धात्मक्रोधाद्यास्रवस्वरूपयोर्द्वयोः 'अण्णाणी ताव दु सो' तावत्कालपर्यन्तमज्ञानी बहिरात्मा भवति स जीवः । अज्ञानी सन्किं करोति ? 'कोधादिसु वट्टदे जीवो' यथा ज्ञानमहं इत्यभेदेन वर्तते तथा क्रोधाद्यास्रवरहितनिर्मलात्मानुभूतिलक्षणनिजशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतेषु क्रोधादिष्वपि क्रोधो-हमित्यभेदेन वर्तते परिणमतीति । अथ— 'कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स' उत्तमक्षमादिस्वरूपपरमात्म-विलक्षणेषु क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य जीवस्य । किं फलं भवति ? 'कम्मस्स संचओ होदी' परमात्म-प्रच्छादककर्मणः सञ्चयः आस्रव आगमनं भवति । 'जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं' तैलम्रक्षिते धूलिसमागमवदास्रवे सति ततो मलादितैलसम्बन्धेन मलबन्धवत्प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेश-लक्षणः स्वशुद्धात्मावाप्तिस्वरूपमोक्षविलक्षणो बन्धो भवति । जीवस्यैवं खलु स्फुटं भणितं सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैः । किं च यावत्क्रोधाद्यास्रवेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मस्वरूपं स्वसंवेदनज्ञानबलेन न जानाति तावत्का-लमज्ञानी भवति । अज्ञानी सन् अज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं न मुञ्चति । तस्माद्बन्धो भवति । बन्धात्संसारं परिभ्रमतीत्यभिप्रायः । एवमज्ञानिजीवस्वरूपकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम् ॥ ६९ ॥ ७० ॥

अथ 'कदा कालेऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिः ?' इत्येवं पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति–

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥ ७१ ॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञातं भवति विशेषान्तरं तु तदा न बन्धस्तस्य ॥ ७१ ॥

'जइया' यदा श्रीधर्मलब्धिकाले 'इमेण जीवेण' अनेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेन 'अप्पणो आसवाण य तहेव णादं होदि विसेसंतरं तु' यथा शुद्धात्मनस्तथैव कामक्रोधाद्यास्रवाणां च ज्ञातं भवति विशेषान्तरं भेदज्ञानं 'तइया' तदा काले सम्यग्ज्ञानी भवति । सम्यग्ज्ञानी सन् किं करोति ? अहं कर्ता भावक्रोधादिरूपमन्तरङ्गं मम कर्मेत्यज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं मुञ्चति । ततः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तौ सत्यां निर्विकल्पसमाधौ सति 'ण बंधो' न बन्धो भवति 'से' तस्य जीवस्येति ॥ ७१ ॥

अथ 'कथं ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोधः ?' इति पूर्वपक्षे कृते परिहारं ददाति–

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥ ७२ ॥

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।
दुःखस्य कारणमिति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥ ७२ ॥

क्रोधाद्यास्रवाणां सम्बन्धि कालुष्यरूपमशुचित्वं, जडत्वरूपं विपरीतभावं, व्याकुलत्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः सम्बन्धि निर्मलात्मानुभूतिरूपं शुचित्वं सहजशुद्धाखण्डकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानानन्तरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामयिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्तिं करोति जीवः । इति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधो भवति; नास्ति साङ्ख्यादिमतप्रवेशः । किं च– यच्चात्मास्रवयोः सम्बन्धि भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न वेति ? निवृत्तं चेत्, तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतरागसम्यक्त्वं च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बन्धनिरोधसिद्धिः । यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः ॥ ७२ ॥

अथ 'केन भावनाप्रकारेणायमात्मा क्रोधाद्यास्रवेभ्यो निवर्तते ?' इति चेत्–

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥ ७३ ॥

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥ ७३ ॥

'अहं' निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षं शुद्धचिन्मात्रज्योतिरहं 'इक्को' अनाद्यनन्तटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः 'खलु' स्फुटं 'सुद्धो' शुद्धो यः कर्तृकर्मकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणषट्कारकीयविकल्पचक्ररहितत्वाच्छुद्धश्च 'णिम्ममओ'[1] निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणमोहोदयजनितक्रोधादिकषायचक्रस्वामित्वाभावात् ममत्वरहितः । 'णाणदंसणसमग्गो' प्रत्यक्षप्रतिभासमयविशुद्धज्ञानदर्शनाभ्यां समग्रः परिपूर्णः । एवंगुणविशिष्टपदार्थविशेषोस्मि भवामि । 'तम्हि ठदो' तस्मिन्नुक्तलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थितः । 'तच्चित्तो' तच्चित्तः सहजानन्दैकलक्षणसुखसमरसीभावेन तन्मयो भूत्वा 'सव्वे एदे खयं णेमि' सर्वानेतान्निरास्रवपरमात्मपदार्थपृथग्भूतांस्तान् कामक्रोधाद्यास्रवान् क्षयं विनाशं नयामि प्रापयामीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

अथ यस्मिन्नेव काले स्वसंवेदनज्ञानं तस्मिन्नेव काले रागाद्यास्रवनिवृत्तिरिति समानकालत्वं दर्शयति—

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफलाणि य णादूण णिवत्तदे तेसु ॥ ७४ ॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।
दुःखानि दुःखफलानि च ज्ञात्वा निवर्तते तेषु ॥ ७४ ॥

'एदे जीवणिबद्धा' एते क्रोधाद्यास्रवा जीवेन सह निबद्धा सम्बद्धा औपाधिकाः, न पुनः निरुपाधिस्फटिकवच्छुद्धजीवस्वभावाः । 'अधुव' विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीवक्षणिकाः । ध्रुवः शुद्धजीव एव । 'अणिच्चा' शीतोष्णज्वरावेशवदध्रुवापेक्षया क्रमेण स्थिरत्वं न गच्छन्तीत्यनित्या विनश्वराः । नित्यश्चिच्चमत्कारमात्रशुद्धजीव एव । 'तहा असरणा य' तथा तेनैव प्रकारेण तीव्रकामोद्रेकवत् त्रातुं धर्तुं रक्षितुं न शक्यन्त इत्यशरणाः । सशरणो निर्विकारबोधस्वरूपः शुद्धजीव एव । 'दुक्खा' आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखानि भवन्ति कामक्रोधाद्यास्रवाः । अनाकुलत्वलक्षणत्वात्पारमार्थिकसुखस्वरूपः शुद्धजीव एव । 'दुक्खफलाणि य' आगामिनारकादिदुःखफलकारणत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः । वास्तवसुखफलस्वरूपः शुद्धजीव एव । 'णादूण णिवत्तदे तेसु' इति भेदविज्ञानानन्तरमेव इत्थम्भूतान्मिथ्यात्वरागाद्यास्रवान् ज्ञात्वास्रवेभ्यो यस्मिन्नेव क्षणे मेघपटलरहितादित्यवन्निवर्तते तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञानी भवतीति भेदज्ञानेन सहास्रवनिवृत्तेः समानकालत्वं सिद्धमिति । ननु 'पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं क्रियत इति पूर्वं प्रतिज्ञा कृता भवद्भिः,[2] व्याख्यानं पुनः अज्ञानिसञ्ज्ञानिजीवस्वरूपमुख्यत्वेन कृतं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं कथं घटत ?' इति, तन्न, जीवाजीवौ यदि नित्यमेकान्तेनापरिणामिनौ भवतस्तदा द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाविति । यदि च एकान्तेन परिणामिनौ तन्मयौ भवतस्तदैक एव पदार्थः, किन्तु कथञ्चित्परिणामिनौ भवतः । कथञ्चित्कोर्थः ? यद्यपि जीवः शुद्धनिश्चयेन स्वरूपं न त्यजति तथापि व्यवहारेण कर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति । यद्यपि रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति तथापि स्वरूपं न त्यजति स्फटिकवत् । तत्रैवं कथञ्चित्परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोग—

१– 'णिम्ममो' इति मुद्रित पाठः । २– 'सज्ञानि' इति मुद्रितः पाठः ।

परिणामं करोति । कदाचित्पुनश्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकाङ्क्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति । तदा काले द्रव्यभावरूपाणां पुण्यपापास्रवबन्धपदार्थानां कर्तृत्वं घटते । तत्र ये भावरूपाः पुण्यपापादयस्ते जीवपरिणामा, ये द्रव्यरूपास्ते चाजीवपरिणामा इति । यः पुनः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा स ज्ञानी जीवः । स मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगबलेन निश्चय-चारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपपरिणामपरिणतिं करोति तदा तेन परिणामेन संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यभावरूपाणां कर्ता भवति । कदाचित्पुनः निर्विकल्पसमाधि-परिणामाभावे सति विषयकषायवञ्चनार्थं शुद्धात्मभावनासाधनार्थं वा बहिर्बुद्ध्या ख्यातिपूजालाभ-भोगाकाङ्क्षानिदानबन्धरहितः सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्धशुद्धात्माराधकप्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्याय-साधूनां गुणस्मरणादिरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहुः । तथा कश्चिद्देव-दत्तः स्वकीयदेशान्तरस्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं करोति, वार्तां पृच्छति, तत्स्त्री-निमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति, तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणं दानादिकं च स्वयं शुद्धात्माराधनारहितः सन् करोति । एवमज्ञानिसंज्ञानिजीवस्वरूपव्याख्याने कृते सति पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गल-संयोगपरिणामनिर्वृत्ता इति पीठिकाव्याख्यानं घटते । नास्ति विरोधः । एवं ज्ञानिजीवव्याख्यान-मुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकाधिकारे गाथाषट्केन प्रथमान्तरा-धिकारो व्याख्यातः ॥ ७४ ॥

अतः परं यथाक्रमेणैकादशगाथापर्यन्तं पुनरपि सञ्ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानं करोति तत्रैकादशगाथासु मध्ये जीवः कर्ता मृत्तिका कलशमिवोपादानरूपेण निश्चयेन कर्म नोकर्म च न करोतीति जानन् सन् शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेन जानाति यः स ज्ञानी भवतीति कथनरूपेण 'कम्मस्स य परिणामं' इत्यादिप्रथमगाथा । ततः परं पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति, निश्चयेन न करोतीति मुख्यत्वेन सूत्रमेकम् । अथ कर्मत्वं स्वपरिणामत्वं सुखदुःखादिकर्मफलं चात्मा जानन्नप्युदयागतपरद्रव्यं न करोतीति प्रतिपादनरूपेण 'णवि परिणमदि' इत्यादिगाथात्रयम् । तदनन्तरं पुद्गलोपि वर्णादिस्वपरिणामस्यैव कर्ता, न च ज्ञानादिजीवपरिणामस्येति कथनरूपेण 'णवि परिणमदि' इत्यादिसूत्रमेकम् । अतः परं जीवपुद्गलयोरन्योन्यनिमित्तकर्तृत्वेऽपि सति परस्परोपादानकर्तृत्वं नास्तीति कथनमुख्यतया 'जीवपरिणाम' इत्यादि गाथात्रयम् । तदनन्तरं निश्चयेन जीवस्य स्वपरि-णामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्चेति प्रतिपादनरूपेण 'णिच्छयणयस्स' इत्यादिसूत्रमेकम् । ततश्च व्यवहारेण जीवः पुद्गलकर्मणां कर्ता भोक्ता चेति कथनरूपेण 'ववहारस्स दु' इत्यादिसूत्र-मेकम् । एवं ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिर्द्वितीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा–

अथ 'कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यते ?' इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति–

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ७५ ॥

'कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एवमादा जो जाणदि' यथा मृत्तिका कलशमुपादानरूपेण करोति तथा कर्मणः नोकर्मणश्च परिणामं पुद्गलेनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं न करोत्यात्मेति यो जानाति 'सो हवदि णाणी' स निश्चयशुद्धात्मानं परमसमाधिबलेन भावयन्सन् ज्ञानी भवति ॥ ७५ ॥ इति ज्ञानीभूतजीवलक्षणकथनरूपेण गाथा गता ।

अथ 'पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति' इति प्ररूपयति–

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

कर्त्ता आत्मा भणितः न च कर्त्ता केन स उपायेन ।
धर्मादीन् परिणामान् यः जानाति स भवति ज्ञानी ॥

'कत्ता आदा भणिदो' कर्त्तात्मा भणितः 'ण य कत्ता सो' न च कर्त्ता भवति स आत्मा 'केण उवायेण' केनाप्युपायेन नयविभागेन। 'केन नयविभागेन ?' इति चेत्, निश्चयेन अकर्त्ता व्यवहारेण कर्त्तेति। कान् ? 'धम्मादी परिणामे' पुण्यपापादिकर्मजनितोपाधिपरिणामान् 'जो जाणदि सो हवदि णाणी' ख्यातिपूजालाभादिसमस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति । इति निश्चयनयव्यवहाराभ्यामकर्तृत्वकर्तृत्वकथनरूपेण गाथा गता ।

अथ 'पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति' इति निरूपयति–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ७६ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायान्[1] ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥ ७६ ॥

'पुग्गलकम्मं अणेयविहं' कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं पुद्गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं 'जाणंतो वि हु' विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं सः । कः ? कर्त्ता, 'णाणी' सहजानन्दैकस्वभावनिजशुद्धात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी 'ण वि परिणमदि, ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए' तत्पूर्वोक्तं परद्रव्यपर्यायरूपं कर्म निश्चयेन मृत्तिका कलशरूपेणेव न परिणमति, न तादात्म्यरूपतया गृह्णाति, न च तदाकारेणोत्पद्यते । 'कस्मात् ?' इति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह तादात्म्यसम्बन्धाभावात् । तत एतदायाति–पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ।

अथ स्वपरिणामं सङ्कल्पविकल्परूपं जानतो जीवस्य तत्परिणामनिमित्तेनोदयागतकर्मणा सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति दर्शयति–

१– 'परद्रव्यपर्याये' इति मुद्रितः पाठः । अर्थवशाद्विभक्ति परिवर्त्य 'परद्रव्यपर्यायेण' इति पाठान्तरं ग्राह्यम् ।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥ ७७ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायान्[1] ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधं ॥ ७७ ॥

'सगपरिणामं अणेयविहं' क्षायोपशमिकं सङ्कल्पविकल्परूपं स्वेनात्मनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं स्वपरिणाममनेकविधं 'णाणी जाणंतो वि हु' निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वपरमात्मनो विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि 'हु' स्फुटं 'ण वि परिणमदि, ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए' तस्य पूर्वोक्तस्य स्वकीयपरिणामस्य निमित्तभूतसमुदायागतं पुद्गलकर्मपर्यायरूपं मृत्तिका कलशरूपेणेव शुद्ध-निश्चनयेन न परिणमति, न तन्मयत्वेन गृह्णाति, न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च । कस्मात् ? मृत्तिकाकलश-योरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह परस्परोपादानकारणाभावादिति । एतावता किमुक्तं भवति ? स्वकीय-क्षायोपशमिकपरिणामनिमित्तमुदयागतं कर्म जानतोपि जीवस्य तेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ॥

अथ 'पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य पुद्गलकर्मफलनिमित्तेन द्रव्यकर्मणा सह निश्चयेन कर्तृकर्म-भावो नास्ति' इति कथयति ।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ७८ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायान्[1] ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनन्तम् ॥ ७८ ॥

'पुग्गलकम्मफलमणंतं' उदयागतद्रव्यकर्मणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं सुखदुःखरूपं शक्त्यपेक्ष-यानन्तकर्मफलं 'णाणी जाणंतो वि हु' वीतरागशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसतृप्तो भेदज्ञानी निर्मलविवेकभेदज्ञानेन जानन्नपि 'हि' स्फुटं 'ण वि परिणमदि, ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए' वर्तमानसुखदुःखरूपं शक्त्यपेक्षानिमित्तमुदयागतं परपर्यायरूपं पुद्गलकर्म मृत्तिका कलशरूपेणेव शुद्धनयेन न परिणमति, न तन्मयत्वेन गृह्णाति, न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च । 'कस्मात् ?' इति चेत्, मृत्तिकाकलश-योरिव ते द्रव्यकर्मणा सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावादिति । किं च विशेषः—यदि पुद्गलकर्मरूपेण न परिणमति, न गृह्णाति, न तदाकारेणोत्पद्यते, तर्हि किं करोति ज्ञानी जीवः ? मिथ्यात्वविषयकषाय-ख्यातिपूजालाभभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धशल्यादिविभावपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वविकल्पशून्यं पूर्णकल-शवच्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थः ॥

एवमात्मा निश्चयेन द्रव्यकर्मादिकं परद्रव्यं न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ।

अथ 'जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं च जडस्वभावत्वादजानतः पुद्गलस्य निश्च-येन जीवेन सह कर्तृकर्मभावो नास्ति' इति प्रतिपादयति—

१– 'परद्रव्यपर्याये' इति मुद्रितः पाठः ।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥ ७९ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्यायान्[1] ।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ॥ ७९ ॥

'ण वि परिणमदि, ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए' यथा जीवो निश्चयेनानन्तसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा पुद्गलद्रव्यरूपेण न परिणमति, न च तन्मयत्वेन गृह्णाति, न तत्पर्यायेणोत्पद्यते । 'पुग्गलदव्वं पि तहा' तथा पुद्गलद्रव्यमपि स्वयमन्तर्व्यापकं भूत्वा मृत्तिकाद्रव्यं कलशरूपेणेव[2] चिदानन्दैकलक्षणजीवस्वरूपे ण नपरिणमति, न च जीवस्वरूपं तन्मयत्वेन गृह्णाति, न च जीवपर्यायेणोत्पद्यते । तर्हि किं करोति ? 'परिणमइ सएहिं भावेहिं' परिणमति स्वकीयैर्वर्णादिस्वभावैः परिणामैर्गुणैर्धर्मैरिति । 'कस्मात् ?' इति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव जीवेन सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावादिति ॥ एवं पुद्गलद्रव्यमपि जीवेन सह न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा गता ।

अथ 'यद्यपि जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्तृकर्मभावः' इत्यावेदयति—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥ ८० ॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो, कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१ ॥
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥ ८२ ॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमन्ति ।
पुद्गलकर्म निमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥ ८० ॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् ।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥ ८१ ॥
एतेन कारणेन तु कर्त्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥ ८२ ॥

'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति' यथा कुम्भकारनिमित्तेन मृत्तिका घटरूपेण परिणमति तथा जीवसम्बन्धिमिथ्यात्वरागादिपरिणामं निमित्तं लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं

१– 'परद्रव्यपर्याये' इति मुद्रितः पाठः । २– 'मृत्तिकाद्रव्यकलशकपेणेव' इति मुद्रित पाठः ।

कर्मत्वेन परिणमति । 'पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि' यथैव च घटनिमित्तेन 'एवं घटं करोमि' इति कुम्भकारः परिणमति तथैवोदयागतपुद्गलकर्म निमित्तं कृत्वा जीवोऽपि निर्विकारचिच्चमत्कारपरिणतिमलभमानः सन् मिथ्यात्वरागादिविभावेन परिणमतीति ।

अथ 'ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो' यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवो वर्णादिपुद्गलकर्मगुणान्न करोति । 'कम्मं तहेव जीवगुणे' कर्म च तथैवानन्तज्ञानादिजीवगुणान्न करोति । 'अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि' यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथाप्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुम्भकारयोरिव परिणामं जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्गलयोरिति । अथ–' एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ' एतेन कारणेन पूर्वसूत्रद्वयव्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूतिलक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेनाव्याबाधानन्तसुखादिशुद्धभावानां कर्ता तद्विलक्षणेनाशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां कर्ता भवत्यात्मा । कथम् ? यथा मृत्तिका कलशस्येति । 'पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं' पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मपर्यायाणामिति । एवं जीवपुद्गलपरस्परनिमित्तकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ।।

अथ तत एतदायाति–जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च भवति–

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ ॥
निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम् ॥ ८३ ॥

'णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि' यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च । एवं यद्यपि द्रव्यकर्मोदयासद्भावसद्भावात् शुद्धाशुद्धभावयोर्निमित्तं भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः केवलज्ञानादिशुद्धभावान्, तथैवाशुद्धपरिणतस्तु सांसारिकसुखदुःखाद्यशुद्धभावांश्चोपादानरूपेणात्मैव करोति । अत्र परिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यमिति । न केवलं करोति 'वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं' वेदयत्यनुभवति भुङ्क्ते परिणमति पुनश्च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखरूपेण शुद्धोपादानेन तमेव शुद्धात्मानमशुद्धोपादानेनाशुद्धात्मानं च । स कः ? कर्ताऽऽत्मेति जानीहि । एवं निश्चयकर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण गाथा गता ।।

अथ लोकव्यवहारं दर्शयति–

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं[1] ।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८४ ॥
व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधं ।
तच्चैव च वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधं ॥ ८४ ॥

१– 'अणेयविहं' इति मुद्रितः पाठः ।

'ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं[1]' यथा लोके यद्यपि मृत्पिण्ड उपादानकारणं तथापि कुम्भकारो घटं करोति तत्फलं च जलधारणमूल्यादिकं भुङ्क्ते इति लोकानामनादिरूढोऽस्ति व्यवहारः तथा यद्यपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यमुपादानकारणभूतं तथापि व्यवहारनयस्याभिप्रायेणात्मा पुद्गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं करोति 'तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं' तथैव च तदेवोदयागतं पुद्गलकर्मानेकविधं इष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण वेदयति अनुभवति इत्यज्ञानिनां निर्विषयशुद्धात्मोपलम्भसञ्जातसुखामृतरसास्वादरहितानामनादिरूढोऽस्ति व्यवहारः ॥ ८४ ॥

एवं व्यवहारेण सुखदुःखकर्तृत्वभोक्तृत्वकथनमुख्यतया गाथा गता । इति ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानरूपेणैकादशगाथाभिर्द्वितीयान्तराधिकारो व्याख्यातः । अतः परं पञ्चविंशतिगाथापर्यन्तं द्विक्रियावादिनिराकरणरूपेण व्याख्यानं करोति । तत्र चेतनाचेतनयोरेकोपादानकर्तृत्वं द्विक्रियावादित्वमुच्यते तस्य सङ्क्षेपव्याख्यानरूपेण 'जदि पुग्गलकम्ममिणं' इत्यादिगाथाद्वयं भवति । तद्विवरणद्वादशगाथासु मध्ये 'पुग्गलकम्मणिमित्तं' इत्यादिगाथाक्रमेण प्रथमगाथाषट्कं स्वतन्त्रम् । तदनन्तरमज्ञानिज्ञानिजीवकर्तृत्वाकर्तृत्वमुख्यतया 'परमप्पाणं कुव्वदि' इत्यादि द्वितीयषट्कम् । अतः परं तस्यैव द्विक्रियावादिनः पुनरपि विशेषव्याख्यानार्थमुपसंहाररूपेणैकादशगाथा भवन्ति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये व्यवहारनयमुख्यत्वेन 'ववहारस्स दु' इत्यादि गाथात्रयम् । तदनन्तरं निश्चयनयमुख्यतया 'जो पुग्गलदव्वाणं' इत्यादि सूत्रचतुष्टयम् । ततश्च द्रव्यकर्मणामुपादारकर्तृत्वमुख्यत्वेन 'जीवम्हि हेदुभूदे' इत्यादिसूत्रचतुष्टयम् । इति समुदायेन पञ्चविंशतिगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—

अथेदं पूर्वोक्तं कर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वनयविभागव्याख्यानं कर्मतापन्नमनेकान्तेन सम्मतमप्येकान्तनयेन मन्यते । किं मन्यते ? भावकर्मवन्निश्चयेन द्रव्यकर्मापि करोतीति चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणं द्विक्रियावादित्वं स्यात् । तान् द्विक्रियावादिनो दूषयति—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियावादित्तं पसज्जदि सम्मं जिणावमदं ॥ ८५ ॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा ।
द्विक्रियावादित्वं प्रसजति सम्यक् जिनावमतं ॥ ८५ ॥

'जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा' यदि चेत्पुद्गलकर्मोदयमुपादानरूपेण करोति तदेव च पुनरुपादानरूपेण वेदयत्यनुभवत्यात्मा 'दोकिरियावादित्तं पसजदि' तदा चेतनाचेतनक्रियाद्वयस्योपादानकर्तृत्वरूपेण द्विक्रियावादित्वं प्रसजति प्राप्नोति । अथवा 'दोकिरियाविदिरित्तो पसजदि सो' तत्र पाठान्तरे द्वाभ्यां चेतनाचेतनक्रियाभ्यामव्यतिरिक्तोऽभिन्नः प्रसजति प्राप्नोति स पुरुषः । 'सम्मं जिणावमदं' तच्च व्याख्यानं जिनानां सम्यगसम्मतम् । यश्चेवं व्याख्यानं मन्यते स निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपं निर्विकारचिच्चमत्कारमात्रलक्षणं शुद्धोपादानकारणोत्पन्नं निश्चयसम्यक्त्वमलभमानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ।

१– 'अणेयविहं' इति मुद्राङ्कित पाठः ।

अथ, 'कुतो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टिर्भवति ?' इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छंस्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति—

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥ ८६ ॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वन्ति ।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवन्ति ॥ ८६ ॥

'जम्हा दु अत्तभावं पुद्गलभावं च दो वि कुव्वंति' यस्मादात्मभावं चिद्रूपं पुद्गलभावं चाचेतनं जडस्वरूपं द्वयमप्युपादानरूपेण कुर्वन्ति 'तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति' ततस्तेन कारणेन चेतनाचेतनक्रियावादिनः पुरुषाः मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति। तथाहि—यथा कुम्भकारः स्वकीय-परिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि यद्युपादानरूपेण करोति तदा कुम्भकारस्याचेतनत्वं घटरूपत्वं च प्राप्नोति। घटस्य वा चेतनत्वं कुम्भकाररूपत्वं च प्राप्नोतीति तथा जीवोपि यद्युपादानरूपेण पुद्गलद्रव्यकर्म करोति तदा जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्यत्वं प्राप्नोति। पुद्गलकर्मणो वा चिद्रूपं जीवत्वं प्राप्नोति। किं च, 'शुभाशुभं कर्म कुर्वेहम्' इति महाहङ्काररूपं तमो मिथ्याज्ञानिनां न नश्यति। 'तर्हि केषां नश्यति ?' इति चेत्, विषयसुखानुभवानन्दवर्जिते वीतरागस्वसंवेदनवेद्ये शुद्धनिश्चयेन भूतार्थनयेनैकत्वव्यवस्थापिते चिदानन्दैकस्वभावे शुद्धपरमात्मद्रव्ये स्थितानामेव समस्तशुभाशुभपरभाव-शून्येन निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन शुद्धोपयोगभावनाबलेन सज्ज्ञानिनामेव विलयं विनाशं गच्छति। तस्मिन्महाहङ्कारविकल्पजाले नष्टे सति पुनरपि बन्धो न भवतीति ज्ञात्वा बहिर्द्रव्यविषये 'इदं करोमि' 'इदं न करोमि' इति दुराग्रहं त्यक्त्वा रागादिविकल्पजालशून्ये पूर्णकलशवच्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थे स्वकीयपरमात्मनि निरन्तरं भावना कर्तव्येति भावार्थः।

इति द्विक्रियावादिसंक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतम्।

अथ तथैव विशेषव्याख्यानं करोति—

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥

पुद्गलकर्मनिमित्तं यथात्मा करोति आत्मनः भावं ।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं ॥

'पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं' तथैवोदयागतद्रव्यकर्म निमित्तं कृत्वा यथात्मा निर्विकारस्वसंवित्तिपरिणामशून्यः सन्करोत्यात्मनः सम्बन्धिनं सुखदुःखादि भावं परिणामं 'पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं' तथैवोदयागतद्रव्यकर्मनिमित्तं लब्ध्वा स्वशुद्धात्मभाव-नोत्थवास्तवसुखास्वादमवेदयन्सन् तमेव कर्मोदयजनितस्वकीयरागादिभावं वेदयत्यनुभवति, न च द्रव्यकर्मरूपपरभावमित्यभिप्रायः।

अथ चिद्रूपात्मस्वभावात्मानं करोति तथैवाचिद्रूपान् द्रव्यकर्मादिकस्वभावान् परः पुद्गलः करोती-त्याख्याति—

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥ ८७ ॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं ।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥ ८७ ॥

'मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं' मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवस्वभावमजीवस्वभावं च । 'तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा' तथैव चाज्ञानमविरतिर्योगो मोहः क्रोधादयोऽमी भावाः पर्यायाः जीवरूपा अजीवरूपाश्च भवन्ति मयूरमुकुरन्दवत् । तद्यथा—यथा मयूरेण भाव्यमाना अनुभूयमाना नीलपीताद्याकारविशेषा मयूरशरीराकारपरिणता मयूर एव चेतना एव तथा निर्मला-त्मानुभूतिच्युतजीवेन भाव्यमाना अनुभूयमानाः सुखदुःखादिविकल्पा जीव एवाशुद्धनिश्चयेन चेतना एव । यथा च मुकुरन्देन स्वच्छतारूपेण भाव्यमानाः प्रकाशमानमुखप्रतिबिम्बादिविकारा मुकुरन्द एव अचेतना एव तथा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानभूतेन क्रियमाणा ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाः पुद्गल एव अचेतना एवेति ।

'अथ कतिविधो जीवाजीवो ?' इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु ॥ ८८ ॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः ।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं जीवस्तु ॥ ८८ ॥

'पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं' पुद्गलकर्मरूपं मिथ्यात्वं योगोऽविरतिर-ज्ञानमित्यजीवः । 'उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु' उपयोगरूपो भावरूपः, शुद्धात्मा-दितत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छित्तिविकारपरिणामो जीवस्याज्ञानं, निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीतव्रत-परिणामविकारोऽविरतिः, विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति जीवः । जीव इति कोऽर्थः ? जीवरूपा भावप्रत्यया इति ॥

अथ 'शुद्धचैतन्यस्वभावजीवस्य कथं मिथ्यादर्शनादिविकारो जातः ?' इति चेत्—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥ ८९ ॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥ ८९ ॥

'उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि' उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा । तस्य सम्बन्धित्वेना-नादिसन्तानापेक्षया त्रयः परिणामा ज्ञातव्याः । कथम्भूतस्य तस्य ? 'मोहजुत्तस्स' मोहयुक्तस्य । के ते परिणामाः ? 'मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो' मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य इति । तथाहि—यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवस्तथाप्यनादिमोहनीयकर्मबन्धवशान्मि-थ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपास्त्रयः परिणामविकाराः सम्भवन्ति । तत्रशुद्धजीवस्वरूपमुपादेयं मिथ्यात्वादि-विकारपरिणामा हेया इति भावार्थः ।

अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वमुपदिशति—

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥ ९० ॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरञ्जनो भावः ।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्त्ता ॥ ९० ॥

'एदेसु य' एतेषु च मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेषूदयागतेषु निमित्तभूतेषु सत्सु 'उवओगो' ज्ञान-दर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा 'तिविहो' कृष्णनीलपीतत्रिविधोपाधिपरिणतस्फटिकवत्त्रिविधो भवति । परमार्थेन तु 'सुद्धो' शुद्धो रागादिभावकर्मरहितः । 'णिरंजणो' निरञ्जनो ज्ञानावरणादिद्रव्य-कर्माञ्जनरहितः । पुनश्च कथम्भूतः ? 'भावो' भावः पदार्थः । अखण्डैकप्रतिभासमयज्ञानस्वभावेनैक-विधोऽपि पूर्वोक्तमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरिणामविकारेण त्रिविधो भूत्वा 'जं सो करेदि भावं' यं परिणामं करोति स आत्मा 'उवओगो' चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगो भण्यते तल्लक्षणत्वादुपयो-गरूपः । 'तस्स सो कत्ता' निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपरिणामच्युतः सन् तस्यैव मिथ्यात्वादित्रिविध-विकारपरिणामस्य कर्त्ता भवति, न च द्रव्यकर्मण इति भावः ॥ ९० ॥

अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वत एवो-पादानरूपेण कर्मत्वेन परिणमतीति कथयति—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥ ९१ ॥

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम् ॥ ९१ ॥

'जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स' यं भावं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामं शुद्धस्वभावच्युतः सन् आत्मा करोति तस्य भावस्य स कर्त्ता भवति । 'कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं' तस्मिन्नेव त्रिविधविकारपरिणामकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वयमेवोपादान-रूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति । किंवत् ? गारुडादिमन्त्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशान्तरे स्वयमेव तत्पुरुषव्यापारमन्तरेणापि विषापहारबन्धविध्वंसस्त्रीविडम्बनादिपरिणामवत् । तथैव च मिथ्यात्वरागादि-विभावविनाशकाले निश्चयरत्नत्रयस्वरूपशुद्धोपयोगपरिणामे सति गारुडमन्त्रसामर्थ्येन निर्विषविषवत्

स्वयमेव नीरसीभूय पूर्वबद्धं द्रव्यकर्म जीवस्यापुनर्भूत्वा निर्जरां गच्छतीति भावार्थः । एवं स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम् ॥

अथ निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञानं भण्यते । तस्मादज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह–

परमप्पाणं कुव्वदि अप्पाणं पि य परं करिंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९२ ॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः ।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥ ९२ ॥

'परं' परद्रव्यं भावकर्मद्रव्यकर्मरूपं 'अप्पाणं कुव्वदि' परद्रव्यात्मनोर्भेदज्ञानाभावादात्मानं करोति 'अप्पाणं पि य परं करिंतो' शुद्धात्मानं च परं करोति यः 'सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि' स चाज्ञानमयो जीवः कर्मणां कर्ता भवति । तद्यथा–यथा कोऽपि पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चैकत्वाध्यासा[1]द्भेदमजानन् शीतोऽहमुष्णोऽहमिति प्रकारेण शीतोष्णपरिणतेः कर्ता भवति, तथा जीवोऽपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नाया उदयागतपुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य चैकत्वाध्यवसायारोपात् परद्रव्यात्मनः समस्तरागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानाभावाद्भेदमजानन्नहं सुखी दुःखीति प्रकारेण परिणमन्[2]कर्मणां कर्ता भवतीति भावार्थः ।

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानात्सकाशात्कर्म न प्रभवतीत्याह–

परमप्पाणमकुव्वी अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥ ९३ ॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥ ९३ ॥

'परं' परं परद्रव्यं बहिर्विषये देहादिकमभ्यन्तरे रागादिकं भावकर्मद्रव्यकर्मरूपं वा 'अप्पाणमकुव्वी' भेदविज्ञानबलेनात्मानमकुर्वन्नात्मसम्बन्धमकुर्वन् 'अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो' शुद्धद्रव्यगुणपर्यायस्वभावं निजात्मानं च परमकुर्वन् 'सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि' स निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी जीवः कर्मणामकर्ता भवतीति । तथाहि–यथा कश्चित् पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चात्मनः सकाशाद्भेदज्ञानात् शीतोऽहमुष्णोऽहमिति परिणतेः कर्ता न भवति । तथा जीवोऽपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखानुभवभिन्नस्य भेदज्ञानाभ्यासात्परात्मनोर्भेदज्ञाने सति रागद्वेषमोहपरिणाममकुर्वाणः कर्मणां कर्ता न भवति । ततः स्थितं ज्ञानात्कर्म न प्रभवतीत्यभिप्रायः ॥ ९३ ॥

अथ 'कथमज्ञानात्कर्म प्रभवति' इति पृष्टे गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह–

१– 'चैकत्वाध्यासा–' इति मुद्रितः पाठः । २– 'परिणमत्कर्मणां' इति मुद्रितः पाठः ।

तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि कोहोहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९४ ॥

त्रिविध एष उपयोग असद्विकल्पं करोति क्रोधोऽहं ।
कर्त्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९४॥

'तिविहो एसुवओगो' त्रिविधस्त्रिप्रकार एष प्रत्यक्षीभूत उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा 'अस्सवियप्पं करेदि' स्वस्थभावस्याभावादसद्विकल्पं मिथ्याविकल्पं करोति। केन रूपेण? 'कोहोहं' क्रोधोहमित्यादि 'कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो' स जीवः तस्य क्रोधाद्युपयोगस्य विकल्पस्य कर्त्ता भवति। कथम्भूतस्य? 'अत्तभावस्स आत्मभावस्याशुद्धनिश्चयेन जीवपरिणामस्येति। तथाहि–सामन्येना-ज्ञानरूपेणैकविधोऽपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधो भूत्वा एष उपयोग आत्मा क्रोधा-द्यात्मनोर्भाव्यभावकभावापन्नयोः। भाव्यभावकभावापन्नयोः कोर्थः? भाव्यः क्रोधादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जकश्चान्तरात्मभावनाविलक्षणो भावक्रोधः। इत्थम्भूतयोर्द्वयोर्भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन्नि-र्विकल्पस्वरूपाद्भ्रष्टः सन् क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, तस्यैव क्रोधाद्युपयोगपरिणामस्या-शुद्धनिश्चयेन कर्ता भवतीति भावार्थः। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्म-नोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणाविक्षिप्त-चित्तस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता विभावपरिणामा ज्ञातव्या इति ॥ ९४ ॥

अथ–

तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९५ ॥

त्रिविध एष उपयोग असद्विकल्पं करोति धर्मादिकं ।
कर्त्ता त्रिविधाशुद्धोपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९५ ॥

'तिविहो एसुवओगो' सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोऽपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधः सन्नेष उपयोग आत्मा 'अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी' परद्रव्यात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोर-विशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषपरिणत्या च भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्म-नोऽसद्विकल्पमुत्पादयति। 'कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स' निर्मलात्मानुभूतिरहितस्यैव मिथ्याविकल्परूपजीवपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति। ननु धर्मास्तिकायोहमित्यादि कोपि न ब्रूते। तत्कथं घटते? इति। अत्र परिहारः। धर्मास्तिकायोहमिति यो सौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते। यथा घटाकारविकल्पपरिणति ज्ञानं घट इति, तथा तद्धर्मास्तिकायोहमित्यादिविकल्पं[1] यदा[2] ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति। तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थः। ततः स्थितं शुद्धात्म-संवित्तेरभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति ॥ ९५ ॥

१– 'कायोर्थमि–' इति मुद्रितः पाठः। २– 'विविकल्पः' इति मुद्रितः पाठः।

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धी[1] उ ।
अप्पाणं अवि य परं करेई अण्णाणभावेण ॥ ९६ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मन्दबुद्धिस्तु ।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥ ९६ ॥

'एवं' एवं ततः पूर्वोक्तगाथाद्वयकथितप्रकारेण 'पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि' क्रोधोहमित्यादिवद्धर्मास्तिकायोहमित्यादिवच्च क्रोधादिस्वकीयपरिणामरूपाणि तथैव धर्मास्तिकायादिज्ञेयरूपाणि च परद्रव्याणि आत्मानं करोति। स कः कर्ता? 'मंदबुद्धी[2] उ' मन्दबुद्धिर्निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानरहितः 'अप्पाणं अवि य परं करेदि' शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपाद्भिन्नं करोति। रागादिषु योजयतीत्यर्थः। केन? 'अण्णाणभावेण' अज्ञानभावेनेति। ततः स्थितं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टान्तेन धर्मादिज्ञेयविषये ध्यानाविष्टदृष्टान्तेन च शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति। तद्यथा—यथा कोपि पुरुषो भूतादिग्रहाविष्टो भूतात्मनोर्भेदमजानन् सन्नमानुषोचितशिलास्तम्भचालनादिकमद्भुतव्यापारं कुर्वन्सन् तस्य व्यापारस्य कर्ता भवति, तथा जीवोऽपि वीतरागपरमसामायिकपरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावात्कामक्रोधादिशुद्धात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन् क्रोधोहं कामोहमित्यादि विकल्पं कुर्वन्सन् कर्मणः कर्ता भवति। एवं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टान्तो गतः। तथैव च यथा कश्चिद् महामहिषादिध्यानाविष्टो महिषाद्यात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन्महामहिषोऽहं गरुडोऽहं कामदेवोऽहमग्निरहं दुग्धधारासमानामृतराशिरहमित्याद्यात्मविकल्पं कुर्वाणः सन् तस्य विकल्पस्य कर्ता भवति। तथा च जीवोऽपि सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावाद्धर्मादिज्ञेयपदार्थानां शुद्धात्मनश्च भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मविकल्पं करोति, तस्यैव विकल्पस्य कर्ता भवति। तस्मिन् विकल्पकर्तृत्वे सति द्रव्यकर्मबन्धो भवतीति। एवं धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये ध्यानदृष्टान्तो गतः। हे भगवन्! धर्मास्तिकायोयं जीवोयमित्यादिज्ञेयतत्त्वविचारविकल्पे क्रियमाणे यदि कर्मबन्धो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्त्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः। नैवं वक्तव्यम्। त्रिगुप्तिपरिणतनिर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया तु मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवञ्चनार्थं कर्तव्यः। तेन तत्त्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं च भवतीति नास्ति दोषः। किन्तु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मा साक्षादुपादेयः कर्तव्यः इति ज्ञातव्यम्। ननु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानविचारकाले वीतरागविशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः? किं सरागमपि स्वसंवेदनज्ञानमस्तीति? अत्रोत्तरं—विषयसुखानुभवानन्दरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं वीतरागमिति। इदं व्याख्यानं स्वसंवेदनज्ञानव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥ ९६ ॥

१—'मंदबुद्धीओ' इति मुद्रितः पाठः। २—'मंदबुद्धीओ' इति मुद्रितः पाठः। 'मंदबुद्धी' इति प्रथमैकवचनान्तः पाठः, न तु मंदबुद्धीओ इति। 'कुणदि' इत्येकवचनान्तपाठदर्शनादस्मकर्त्राप्येकवचनान्तेन भाव्यम्। 'ओ' इत्यव्ययं तु सम्बोधने पादपूर्तौ वा प्रयुज्यते। छायायां तु पाठस्य दर्शनात् गाथायां 'उ' इति पाठेन भाव्यम्।

ततः स्थितमेतत्—शुद्धात्मानुभूतिलक्षणसम्यग्ज्ञानान्नश्यति कर्मकर्तृत्वम्—

एदेण दु सो कत्ता आदा[1] णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तितं ॥ ९७ ॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः ।
एवं खलु यो जानाति स मुञ्चति सर्वकर्तृत्वं ॥ ९७ ॥

'एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहि परिकहिदो' एतेन पूर्वोक्तगाथात्रयव्याख्यानरूपेणाज्ञानभावेन स आत्मा कर्ता भणितः । कैः ? निश्चयविद्भिर्निश्चयज्ञैः सर्वज्ञैः । तथाहि— वीतरागपरमसामायिकसंयमपरिणताभेदरत्नत्रयस्य प्रतिपक्षभूतेन पूर्वगाथात्रयव्याख्यानप्रकारेणाज्ञानभावेन यदात्मा परिणमति, तदा तस्यैव मिथ्यात्वरागादिविकल्पस्याज्ञानभावस्य कर्ता भवति । ततश्च द्रव्यकर्मबन्धो भवति । यदा तु चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मानुभूतिपरिणामेन परिणति तदा सम्यग्ज्ञानी भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपस्याज्ञानभावस्य कर्ता न भवति । तत्कर्तृत्वाभावे हि द्रव्यकर्मबन्धोऽपि न भवति । 'एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं' एवं गाथापूर्वार्द्धव्याख्यानप्रकारेण मनसि योऽसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्चति । निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुञ्चति । एवमज्ञानात्कर्म प्रभवति सज्ज्ञानान्नश्यतीति स्थितम् । इत्यज्ञानिसज्ज्ञानिजीवप्रतिपादकमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गतम् । एवं द्विक्रियावादिनिराकरणविशेषव्याख्यानरूपेण द्वादशगाथा गताः ।

अथ पुनरप्युपसंहाररूपेणैकादशगाथापर्यन्तं द्विक्रियावादिनिराकरणविषये विशेषव्याख्यानं करोति । तद्यथा—परभावमात्मा करोतीति यद्व्यवहारिणो वदन्ति स व्यामोह इत्युपदिशति—

ववहारेण दु एवं[1] करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥ ९८ ॥

व्यवहारेण त्वेवं[2] करोति घटपटरथान् द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥ ९८ ॥

'ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि' यतो यथा अन्योन्यव्यवहारेणैवं 'दु' पुनः घटपटरथादिबहिर्द्रव्याणीहापूर्वेण करोत्यात्मा 'करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि' तथाभ्यन्तरेऽपि करणानीन्द्रियाणि च नोकर्माणि इह जगति विविधानि क्रोधादिद्रव्यकर्माणीहापूर्वेण विशेषेण करोतीति मन्यन्ते । ततोऽस्ति व्यामोहो मूढत्वं व्यवहारिणाम् ।

अथ स व्यामोहः सत्यो न भवतीति कथयति—

१— अत्र 'आदा' इत्यपि पाठः । २— अत्र 'त्वात्मा' इति पाठः । ३— 'तु' इति मुद्रितः पाठः ।

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत्।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥ ९९ ॥

'जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज' यदि स आत्मा परद्रव्याणि नियमेनैकान्तरूपेण करोति तदा तन्मयः स्यात् 'जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता' यस्मात्सहजशुद्धस्वाभाविकानन्तसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा परद्रव्येण सह तन्मयो न भवति। ततः स आत्मा तेषां परद्रव्याणामुपादानरूपेण कर्ता न भवतीत्यभिप्रायः ॥ ९५ ॥

अथ न केवलमुपादानरूपेण कर्ता न भवति किंतु निमित्तरूपेणापीत्युपदिशति–

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०० ॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकाणि द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवतः कर्त्ता ॥ १०० ॥

'जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे' न केवलमुपादानरूपेण निमित्तरूपेणापि जीवो न करोति घटं न पटं नैव शेषद्रव्याणि। 'कुतः?' इति चेत्, नित्यं सर्वकालं कर्मकर्तृत्वानुषङ्गात्। कर्स्तर्हि करोति? 'जोगुवओगा उप्पादगा य' आत्मनो विकल्पव्यापाररूपौ विनश्वरौ योगोपयोगावेव तत्रोत्पादकौ भवतः। 'सो तेसिं हवदि कत्ता' सुखदुःखजीवितमरणादिसमताभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदविज्ञानाभावाद्यदा काले शुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मस्वरूपाद्भ्रष्टो भवति तदा स जीवस्तयोर्योगोपयोगयोः कदाचित्कर्ता भवति, न सर्वदा। अत्र योगशब्देन बहिरङ्गहस्तादिव्यापारः। उपयोगशब्देन चान्तरङ्गविकल्पो गृह्यते। इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसङ्गात् मोक्षाभावः। इति व्यवहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता, न च परभावस्येति कथयति–

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ १०१ ॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ १०१ ॥

'जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा' ये कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामाः पर्याया ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपा भवन्ति 'ण करेदि ताणि आदा' तान् पर्यायान् व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिका कलशमिवात्मा न करोति गोरसाध्यक्षवत् 'जो जाणदि सो हवदि णाणी' इति यो जानाति मिथ्या-त्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति, न च परिज्ञानमात्रेण । इदमत्र तात्पर्यम्– वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीवः शुद्धनयेन शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्ता । किंवत् ? इति चेत्, पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् उष्णादिगुणानामग्निवत् अनन्तज्ञानादिगुणानां सिद्धपरमेष्ठिवदिति । न च मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्ता । इति शुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिविभावानाम-शुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिविभावानां च तद्रूपेण परिणमन्नेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यं, भोक्तृत्वं च । न च हस्तव्यापारवदीहापूर्वकं घटकुम्भकारवदिति । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन दर्शनावरणवेदनीय-मोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसञ्ज्ञैः सप्तभिः कर्मभेदैः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवच-नकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेण शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणा असङ्ख्येयलोकमात्रप्रमिता अन्येपि विभावपरिणामा ज्ञातव्याः ॥

अथाज्ञानी चापि रागादिस्वरूपस्याज्ञानभावस्यैव कर्ता, न च ज्ञानावरणादिपरद्रव्यस्येति निरूपयति–

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ १०२ ॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥ १०२ ॥

'जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता' सातासातोदयावस्थाभ्यां तीव्रमन्दस्वा-दाभ्यां सुखदुःखरूपाभ्यां वा चिदानन्दैकस्वभावेनैकस्याप्यात्मनो द्विधा भेदं कुर्वाणः सन् भावं शुभमशुभं वा करोत्यात्मनः स्वतन्त्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य भावस्य 'खलु' स्फुटं कर्ता भवति । 'तं तस्स होदि कम्मं' तदेव तस्य शुभाशुभरूपं भावकर्म भवति, तेनात्मना क्रियमाणत्वात् । 'सो तस्स दु वेदगो अप्पा' स आत्मा तस्य तु शुभाशुभरूपस्य भावकर्मणो वेदको भोक्ता भवति, स्वतंत्ररूपेण भोक्तृत्वात्, न च द्रव्यकर्मणः । किं च विशेषः– अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावा-नामेव कर्ता, न च द्रव्यकर्मणः । स चाशुद्धनिश्चयः यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसञ्ज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादान-रूपेण कर्तृत्वं भणितम् । तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवति ? इति तत्कथ्यते । औपाधिक-मुपादानमशुद्धं तप्तायःपिण्डवत् । निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत्, अनन्तज्ञाना-दिगुणानां सिद्धजीववत्, उष्णत्वादिगुणानामग्निवत् । इदं व्याख्यानमुपादानकारणव्याख्यानकाले शुद्धो-पादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थः ॥

अथ न च परभावः केनाप्युपादानरूपेण कर्तुं शक्यते–

जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥

यो यस्मिन् गुणो द्रव्ये सोन्यस्मिंस्तु सङ्क्रामति द्रव्ये ।
सोन्यदसङ्क्रान्तः कथं तत्परिणामयेद्द्रव्यम् ॥ १०३ ॥

'जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे' यो गुणश्चेतनस्तथैवाचेतनो वा यस्मिंश्चेतनेऽचेतने वा द्रव्ये अनादिसम्बन्धेन स्वभावत एव स्वत एव प्रवृत्तः सोऽन्यद्रव्ये तु न सङ्क्रामत्येव सोऽपि 'सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं' चेतनोऽचेतनो वा गुणः कर्ता अन्यद्भिन्नं द्रव्यान्तरमसङ्क्रातः सन् कथं द्रव्यान्तरं परिणामयेत्,तत्कथं कुर्यादुपादानरूपेण ? न कथमपि ।

ततः स्थितं आत्मा पुद्गलकर्मणामकर्तेति–

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि ।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥ १०४ ॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥ १०४ ॥

'दव्वगुणस्य य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि' यथा कुम्भकारः कर्ता मृण्मयकलशकर्मविषये मृत्तिकाद्रव्यस्य सम्बन्धि जडस्वरूपं वर्णादि मृत्तिका कलशमिव तन्मयत्वेन न करोति तथात्मापि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविषये पुद्गलद्रव्यकर्मसम्बन्धि जडस्वरूपं वर्णादि पुद्गलद्रव्यगुणसम्बन्धि स्वरूपं वा तन्मयत्वेन न करोति ।'तं उभयकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता' तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादि तद्गुणं वा तन्मयत्वेनाकुर्वाणः सन् तत्र पुद्गलकर्मविषये स जीवः कथं कर्ता भवति ? न कथमपि । चेतनेनाचेतनेन वा परस्वरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । अनेन किमुक्तं भवति ? यथा स्फटिको निर्मलोपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कोपि सदाशिवनामा सदा मुक्तोप्यमूर्तोपि परोपाधिना परिणम्य जगत् करोति । तत् निरस्तं । कस्मात् ? इति चेत्, मूर्तस्फटिकस्य मूर्तेन सहोपाधिसम्बन्धो घटते; तस्य पुनः सदामुक्तस्यामूर्तस्य कथं मूर्तोपाधिः ? न कथमपि, सिद्धजीववत् । अनादिबद्धजीवस्य पुनः शक्तिरूपेण शुद्धनिश्चयेनामूर्तस्यापि व्यक्तिरूपेण व्यवहारेण मूर्तस्य मूर्तोपाधिदृष्टान्तो घटत इति भावार्थः । एवं निश्चयनयमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ॥

अतः कारणादात्मा द्रव्यकर्म करोतीति यदभिधीयते स उपचारः–

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥ १०५ ॥

जीवे हेतुभूते बन्धस्य तु दृष्ट्वा परिणामं ।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥ १०५ ॥

'जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं' परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रय-लक्षणस्य भेदज्ञानस्याभावे मिथ्यात्वरागादिपरिणतिनिमित्तहेतुभूते जीवे सति मेघाडम्बरचन्द्रार्कपरिवे-षादियोग्यकाले निमित्तभूते सति मेघेन्द्रचापादिपरिणतपुद्गलानामिव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां ज्ञाना-वरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबन्धस्य परिणामं पर्यायं दृष्ट्वा 'जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण' जीवेन कृतं कर्मेति भण्यते उपचारमात्रेणेति।

अथ तदेवोपचारकर्मकर्तृत्वं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां दृढयति–

जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
तथा व्यवहारेण कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥ १०६ ॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यं ॥ १०७ ॥

'जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदं ति जपदे लोगो' यथा योधैः युद्धे कृते सति राज्ञा युद्धं कृतमिति जल्पति लोकः, 'तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण' तथा व्यवहारनयेन कृतं भण्यते ज्ञाना-वरणादिकर्म जीवेनेति। ततः स्थितमेतत्–यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वान्नोत्पादयति न करोति न बध्नाति न परिणमयति न गृह्णाति च तथापि अनादिबन्धपर्यायवशात वीतरागस्वसंवेदन-लक्षणभेदज्ञानाभावात् रागादिपरिणामस्निग्धः सन्नात्मा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कुम्भकारो घटमिव द्रव्यकर्मरूपेणोत्पादयति, प्रकृतिबन्धं करोति, बध्नाति स्थितिबन्धं, बध्नात्यनुभागबन्धं, परिणामयति प्रदेशबन्धं गृह्णातीति [च] व्यवहारनयस्याभिप्रायेण वक्तव्यं व्याख्येयमिति। अथवा उत्पादयति प्रकृति-बन्धं, करोति स्थितिबन्धं, बध्नात्यनुभागबन्धं, परिणामयति प्रदेशबन्धं, तप्तायःपिण्डो जलवत्सर्वात्मप्र-देशैर्गृह्णाति चेत्यभिप्रायः।

अथैतदेव व्याख्यानं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति–

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहाराद्द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥ १०८ ॥

'जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो ' यथा राजा लोके व्यवहारेण सदोषनिर्दोष-[1] जनानां दोषगुणोत्पादको भणित. 'तह जोवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ' तथा जीवोपि व्यव-हारेण पुद्गलद्रव्यस्य पुण्यपापगुणयोरुत्पादको भणितः । इति व्यवहारमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम् । एवं द्विक्रियावादिनिराकरणोपसंहारव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथा गताः । ननु निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोत्यात्मा बहुधा व्याख्यातम् । तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्धम्। पुनरपि किमर्थं पिष्टपेषणमिति? नैवं, हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानज्ञापनार्थमिति नास्ति दोषः । तथाहि– यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति तत एव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरणं सिध्यतीति [हेतु–] हेतुमद्भावव्याख्यानं ज्ञातव्यम् । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपे महाधिकारमध्ये पूर्वोक्तप्रकारेण 'जदि सो पुग्गलदव्व करेज्ज' इत्यादि गाथाद्वयेन सङ्क्षेपव्याख्यानं, ततः परं द्वादशगाथाभिस्तस्यैव विशेषव्याख्यानं, ततोऽप्येकादशगाथाभिस्त-स्यैवोपसंहाररूपेण पुनरपि विशेषविवरणमिति समुदायेन पञ्चविंशतिगाथाभिः द्विक्रियावादिनिषेधक-नामा तृतीयोत्तराधिकारः समाप्तः ।।

अथानन्तरं 'सामण्णपच्चया ' इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण सप्तगाथापर्यन्तं मूलप्रत्यय-चतुष्टयस्य कर्मकर्तृत्वमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तत्र सप्तकमध्ये जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादान-रूपेण जीवः कर्म न करोति, प्रत्यया एव कुर्वन्तीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयम् । अथवा शुद्धनिश्चय-विवक्षां ये नेच्छन्त्येकान्तेन जीवो न करोतीति वदन्ति [च ते] साङ्ख्यमतानुसारिणः । तान्प्रति दूषणं ददाति । कथम् ? इति चेत्, यदि ते प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्ति तर्हि जीवो न हि वेदकस्तेषां कर्मणा-मित्येकं दूषणम् । अथवा तेषां मते जीव एकान्तेन कर्म न करोतीति द्वितीयं दूषणम् । तदनन्तरं शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं जैनमताभिप्रायेणेति गाथात्रयम् । अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभागं नेच्छन्ति तान्प्रति पुनरपि दूषणम् । कथम् ? इति चेत्, जीवप्रत्यययोरे-कान्तेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येकं दूषणम्, एकान्तेन भिन्नत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीयं दूषण-मिति चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

तद्यथा– निश्चयेन मिथ्यात्वादिपौद्गलिकप्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति प्रतिपादयति–

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ।। १०९ ।।

तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ।। ११० ।।

एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा ।
ते जदि करंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ।। १११ ।।

---

[1]– 'सदोषिनिर्दोषि– ' इति मुद्रितः पाठः ।

गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११२ ॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यन्ते बन्धकर्तारः ।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥ १०९ ॥
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।
मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमान्तः ॥ ११० ॥
एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मात् ।
ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥ १११ ॥
गुणसञ्ज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात् ।
तस्माज्जीवोऽकर्त्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि ॥ ११२ ॥

'सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो' निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां पुद्गल एक एव कर्ता, भेदविवक्षायां तु सामान्यप्रत्यया मूलप्रत्यया खलु स्फुटं चत्वारो बन्धस्य कर्तारो भण्यन्ते सर्वज्ञैः। उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहवो भवन्ति। सामान्यं कोऽर्थः? विवक्षाया अभावः सामान्यम्। इति सामान्यशब्दस्यार्थः सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्य इति। 'मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा' ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बोद्धव्याः। अथ 'तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो' तेषां प्रत्ययानां गुणस्थानभेदेन पुनरिमो भणितो भेदस्त्रयोदशविकल्पः। केन प्रकारेण? 'मिच्छादिट्ठी-आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं' मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिभट्टारकस्य चरमसमयं यावदिति। अथ 'एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसम्भवा जम्हा' एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलु स्फुटम्। कस्मात्? पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं [इति] केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति। दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धाः, शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः। परमार्थतः पुनरेकान्तेन न जीवरूपाः, न च पुद्गलरूपाः, सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न सन्त्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति। एतावता किमुक्तं भवति? ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मात्? इति चेत्, पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात्। अथ मतं—सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति [इति] पूर्वमेव भणितं तिष्ठति। कथमुत्तरं प्रयच्छामः? इति। 'ते जदि करंति कम्मं' ते प्रत्यया यदि चेत् कुर्वन्ति कर्म तदा कुर्युरेव, जीवस्य किमायातम्? शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव, 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति वचनात्। अथ मतं जीवो मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्म भुङ्क्ते यतस्ततः कर्तापि भवतीति। नैवम्। 'ण वि तेसिं वेदगो आदा' यतः शुद्धनिश्चयेन वेदकोपि न हि तेषां कर्मणाम्। यदा वेदको न भवति तदा कर्तापि कथं भविष्यति? न कथमपि। इति शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव। अथवा ये पुनरे-

कान्तेनाकर्तेति वदन्ति तान्प्रति दूषणम् । कथम् ? इति चेत्, यदैकान्तेनाकर्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्ता प्राप्नोति । ततश्च सर्वथैवाकर्तृत्वे सति संसाराभाव इत्येकं दूषणम् । तेषां मते वेदकोपि न भवतीति द्वितीयं च दूषणम् । अथ च वेदकमात्मानं मन्यन्ते साङ्ख्याः । तेषां स्वमतव्याघातदूषणं प्राप्नोतीति । अथ—' गुणसण्णिदा दु कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ' ततः स्थितं गुणस्थानसञ्ज्ञिताः प्रत्ययाः एते कर्म कुर्वन्तीति यस्मादेवं पूर्वसूत्रेण भणितम् । ' तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ' तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषां कर्मणां जीवः कर्ता न भवति । गुणस्थानसञ्ज्ञिताः प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति व्याख्यानरूपेण गाथाचतुष्टयं गतम् ।

अथ न च जीवप्रत्यययोरेकत्वमेकान्तेनेति कथयति—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥ ११३ ॥

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥ ११४ ॥

अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥ ११५ ॥

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोपि तथा यद्यनन्यः ।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नं ॥ ११३ ॥

एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाऽजीवः ।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणां ॥ ११४ ॥

अथ पुनरन्यः क्रोधोऽन्य उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ॥ ११५ ॥

' जह जीवस्स अणण्णुवओगो ' यथा जीवस्यानन्यस्तन्मयो ज्ञानदर्शनोपयोगः । कस्मात् ? अनन्यवेद्यत्वादशक्यविवेचनत्वाच्च, अग्नेरुष्णत्ववत् । ' कोहो वि तह जदि अणण्णो ' तथा क्रोधोपि यद्यनन्यो भवत्येकान्तेन । तदा किं दूषणम् ? ' जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ' एवमभेदे सति सहजशुद्धाखण्डैकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवस्याजीवस्य चैकत्वमापन्नमिति । अथ ' एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ' एवं पूर्वोक्तसूत्रव्याख्यानक्रमेण य एव जीवः स एव तथैवाजीवो भवति नियमान्निश्चयात् । तथा सति जीवाभावाद्दूषणं प्राप्नोति । ' अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ' अयमेव च दोषो जीवाभावरूपः । कस्मिन् सति ? एकान्तेन निरञ्जननिजानन्दैकलक्षणजीवेन सहैकत्वे सति । केषाम्? मिथ्यात्वादिप्रत्ययनोकर्मकर्मणामिति । अथ प्राकृतलक्षणबलेन प्रत्ययशब्दस्य ह्रस्वत्व—

मिति । 'अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा' अथ पुनरभिप्रायो भवतां पूर्वोक्तजीवा–भावदूषणभयादन्यो भिन्नः क्रोधो जीवादन्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा क्रोधात्सकाशात् । 'अह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं' यथा जडः क्रोधो निर्मलचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नस्तथा प्रत्ययकर्मनोकर्माण्यपि भिन्नानि [इति] शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव[1] । किंच–शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्या–कर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यते एव । कस्मात् ? निश्चयव्यवहारयोः परस्परसा–पेक्षत्वात् । कथम् ? इति चेत्, यथा 'दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः' इत्युक्ते 'वामेन न पश्यति' इत्यनुक्तसिद्धमिति । ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते साङ्ख्यसदाशिवमतानुसारिणः, तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि । ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभावः, कर्मबन्धाभावे संसाराभावः, संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति । स च प्रत्यक्षविरोधः, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति । एवं प्रत्यय–जीवयोरेकान्तेनैकत्वनिराकरणरूपेण गाथात्रयं गतम् । अत्राह शिष्यः शुद्धनिश्चयेनाकर्ता, व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यातम् । तत्रैवं सति यथा द्रव्यकर्मणा व्यवहारेण कर्तृत्वं तथा रागादिभावकर्मणां चेति[2] द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्वं प्राप्नोतीति । नैवम् । रागादिभावकर्मणां योऽसौ व्यवहारस्तस्याशुद्ध–निश्चयसञ्ज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्यज्ञापनार्थम् । कथं तारतम्यम् ? इति चेत्, द्रव्यकर्माण्यचेतनानि, भावकर्माणि च चेतनानि, तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षयाऽचेतनान्येव[3] । अतः कार–णादशुद्धनिश्चयोपि शुद्धनिश्चयपेक्षया व्यवहार एव । अयमत्र भावार्थः–द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन । स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एवेति । एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे सप्तगाथाभिः चतुर्थोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।। ११३–११४–११५ ।।

अतः परं 'जीवे ण सयं बद्धं' इत्यादिगाथामादिं कृत्वा गाथाष्टकपर्यन्तं साङ्ख्यमतानुसारिशि–ष्यसम्बोधनार्थं जीवपुद्गलयोरेकान्तेनापरिणामित्वं निषेधयन् सन् कथञ्चित् परिणामित्वं स्थापयति। तत्र गाथाष्टकमध्ये पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयम् । तदनन्तरं जीवपरिणामित्वमुख्य–त्वेन गाथापञ्चकमिति पञ्चमस्थले समुदायपातनिका ।

अथ साङ्ख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति पुद्गलस्य कथञ्चित्परिणामस्वभावत्वं साधयति–

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जदि पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ।। ११६ ।।

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ।। ११७ ।।

१– 'तस्मात् एव' इति मुद्रितः पाठः । २– 'च' इति मुद्रितः पाठः । ३– 'अतः' इति मुद्रितः पाठः ।

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते[1] कहं तु[2] परिणामयदि चेदा ॥ ११८ ॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९ ॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिअ होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चव ॥ १२० ॥

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥ ११६ ॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममाणासु कर्मभावेन।
संसारस्याभावः प्रसज्यते साङ्ख्यसमयो वा ॥ ११७ ॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं तु[3] परिणामयति चेतयिता ॥ ११८ ॥
अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलद्रव्यं।
जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥ ११९ ॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्मैव भवति पुद्गलद्रव्यं।
तथा तज्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥ १२० ॥

'जीवे ण सयं बद्धं' जीवे अधिकरणभूते स्वयं स्वभावेन पुद्गलद्रव्यं कर्म बद्धं नास्ति। कस्मात्? सर्वदा जीवस्य शुद्धत्वात्। 'ण सयं परिणमदि कम्मभावेण' न च स्वयं स्वयमेव कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण परिणमति। कस्मात्? सर्वथा नित्यत्वात्। 'जदि पुग्गलदव्वमिणं' एवमित्थम्भूतमिदं पुद्गलद्रव्यं यदि चेद्भवतां साङ्ख्यमतानुसारिणां 'अप्परिणामी तदा होदि' ततः कारणात्तत्पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव भवति। ततश्चापरिणामित्वे सति किं दूषणं भवति? अथ– कार्मणवर्गणाभिरपरिणमन्तीभिः कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा संसारस्याभावः प्रसजति प्राप्नोति हे शिष्य! साङ्ख्यसमयवदिति। अथ मतम् 'जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेन[4]' कर्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिकर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति, ततः कारणात्संसाराभावदूषणं न भवेदिति चेत्, 'ते सयमपरिणमंते[5] कहं तु परिणामयदि णाणी' ज्ञानी जीवः स्वयमपरिणममानः सन् तत्पुद्गलद्रव्यं

१–'परिणमंतं' इति मुद्रितः पाठः। २–'णु' इति पाठान्तरम्। ३–'नु' इति पाठान्तरम्।
४–'भावेण' इति मुद्रितः पाठः। ५–'परिणमंतं' इति मुद्रितः पाठः।

किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावदपरिणममानं परिणामयति । न च स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । यथा जपापुष्पादिकं कर्तृ स्फटिके जनयत्युपाधिं तथा काष्ठस्तम्भादौ किं न जनयतीति ? अथैकान्तेन परिणममानं परिणामयति, तदपि न घटते । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । तर्हि जीवो निमित्तकर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमतु । तथा च सति किं दूषणम् ? घटपटस्तम्भादिपुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात् । स च प्रत्यक्षविरोधः । ततः स्थिता पुद्गलानां स्वभावभूता कथञ्चित्परिणामित्वशक्तिः । तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स पुद्गलः कर्ता यं स्वस्य सम्बन्धिनं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपरिणामं पर्यायं करोति तस्य स एवोपादानकारणं, कलशस्य मृत्पिण्डमिव, न च जीवः । स तु निमित्तकारणमेव । हेयतत्त्वमिदम् । तस्मात्पुद्गलाद्व्यतिरिक्तशुद्धपरमात्मभावनापरिणताऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन गम्यश्चिदानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेयः[1] । भेदरत्नत्रयस्वरूपं तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति ।

एवं गाथात्रयशब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्यः । व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्यः । साङ्ख्यं प्रति मतार्थो ज्ञातव्यः । आगमार्थस्तु प्रसिद्धः । हेयोपादेय[2]व्याख्यानरूपेण भावार्थोऽपि ज्ञातव्यः । इति शब्दनयमतागमभावार्थाः व्याख्यानकाले यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्याः । एवं पुद्गलपरिणामस्थापनामुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ।

साङ्ख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति जीवस्य कथञ्चित्परिणामस्वभावत्वं साधयति–

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥ १२१ ॥

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२२ ॥

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणाएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं ॥ १२३ ॥

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥ १२४ ॥

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥ १२५ ॥

१–'शुद्धनिश्चयेनोपादेयम्' इति मुद्रितः पाठः ।
२– 'हेयोपादान' इति मुद्रितः पाठः ।

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।
यद्येष तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥ १२१ ॥

अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।
संसारस्याभावः प्रसज्यते साङ्ख्यसमयो वा ॥ १२२ ॥

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वम् ।
तं स्वयमपरिणममानं कथं[1] परिणामयति क्रोधत्वम् ॥ १२३ ॥

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः ।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥ १२४ ॥

क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥ १२५ ॥

'ण सयं बद्धो कम्मे' स्वयं स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकान्तेन बद्धो नास्ति, सदा मुक्तत्वात् । 'ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं' न च आत्मा स्वयं स्वयमेव द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधादिभिः परिणमति । कस्मात् ? एकान्तेनाऽपरिणामित्वात् । 'जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि' यदि चेदेष जीवः प्रत्यक्षीभूतः तव मताभिप्रायेणेत्थम्भूतः स्यात्ततः कारणादपरिणाम्येव भवति । अपरिणामित्वे सति किं दूषणम् ? अथ–अपरिणममाने सति तस्मिन् जीवे स्वयं स्वयमेव भावक्रोधादिपरिणामैः तदा संसारस्याभावः प्राप्नोति हे शिष्य ! साङ्ख्यसमयवत् । अथ मतं 'पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामयदि कोहत्तं' पुद्गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोध उदयागतः कर्ता जीवं कर्मतापन्नं हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेनेति चेत्, 'तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं' अथ किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानं परिणामयेत् । कस्मात् ? न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । न ही जपापुष्पादयः कर्तारो यथा स्फटिकादिषु जनयन्त्युपाधिं तथा काष्ठस्तम्भादिष्वपि । अथैकान्तेन परिणममानं वा, तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमन्तरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणमतु[2] । कस्मात् ? इति चेत्, न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । तथा च सति मुक्तात्मनामपि कर्मोदयनिमित्ताभावेपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवन्ति । न च तदिष्टम्, आगमविरोधात् । अथ मतं 'अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी' अथ पूर्वदूषणभयात्स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणम(तो-)त्येषा तव बुद्धिः हे शिष्य ! 'कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा' तर्हि द्रव्यक्रोधः कर्ता[3] जीवं भावक्रोधत्वं परिणामयति करोति (इति) यदुक्तं पूर्वगाथायां तद्वचनं मिथ्या प्राप्नोति । ततः स्थितम्–घटाकारपरिणता मृत्पिण्डपुद्गलाः घट इव, अग्निपरिणतायःपिण्डोऽग्निवत् तथात्मापि क्रोधोपयोगपरिणतः क्रोधो भवति, मानोपयोगपरिणतो मानो भवति, मायोपयोगपरिणतो माया भवति, लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवतीति स्थिता सिद्धा जीवस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।

१– 'कथं नु' इति पाठान्तरम् । २– 'परिणमंतु' इति मुद्रितः पाठः । ३– 'जीवस्य' इति मुद्रितः पाठः ।

तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्ता यं परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादानकर्ता, द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव। तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिच्चमत्कारशुद्धभावेन परिणतः सन् सिद्धात्मापि भवति। किं च विशेषः ?– 'जाव ण वेदि विसेसंतरं' इत्याद्यज्ञानिज्ञानिजीवयोः सङ्क्षेपव्याख्यानरूपेण गाथाषट्के[1] यदुक्तं पूर्वं 'पुण्यपापादिसप्तपदार्थाः[2] जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्तास्ते च जीवपुद्गलयोः कथञ्चित्परिणामित्वे सति घटन्ते' (इति) तस्यैव कथञ्चित्परिणामित्वस्य विशेषव्याख्यानमिदम्। अथवा 'सामाण्णपच्चया खलु चउरो' इत्यादि गाथासप्तके यदुक्तं पूर्वं 'सामान्यप्रत्यया एव शुद्धनिश्चयेन कर्म कुर्वन्ति' इति न जीव इति (तत्) जैनमतम्। एकान्तेनाकर्तृत्वे सति साङ्ख्यानां संसाराभावदूषणम्। तस्यैव संसाराभावदूषणस्य विशेषदूषणमिदम्। कथम्? इति चेत्, तत्रैकान्तेन कर्तृत्वाभावे सति संसाराभावदूषणं, अत्र पुनरेकान्तेन परिणामित्वाभावे सति संसाभावदूषणं, यतः कारणाद्भावकर्मपरिणामित्वमेव कर्तृत्वं च भण्यते ॥ १२१–१२५ ॥

इति जीवपरिणामित्वे व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं गतम्। एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टगाथाभिः पञ्चमान्तराधिकारः समाप्तः।

अथ– 'जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि। अण्णाणी ताव दु' इत्यादिगाथाद्वये तावदज्ञानिजीवस्वरूपं पूर्वं भणितम्। स चाज्ञानी जीवो यदा 'विसयकसायुवगाढ' इत्याद्यशुभोपयोगेन परिणमति तदा पापाश्रवबन्धपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवति। यदा तु मिथ्यात्वकषायाणां मन्दोदये सति भोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिरूपेण दानपूजादिना परिणमति तदा पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीति पूर्वं सङ्क्षेपेण सूचितं 'जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हं पि। णादं होदि विसेसंतरं तु' इत्यादिगाथाचतुष्टयेन ज्ञानिजीवस्वरूपं च सङ्क्षेपेण सूचितम्। स च ज्ञानी जीवः शुद्धोपयोगभावपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन यदा परिणमति तदा निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि सङ्क्षेपेण निरूपितं पूर्वम्। निश्चयसम्यक्त्वस्याऽभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परम्परया निर्वाणकारणस्य तीर्थकरप्रकृत्यादिपुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितम्। तत्सर्वं जीवपुद्गलयोः कथञ्चित्परिणामित्वे सति भवतीति तत्कथञ्चित्परिणामित्वमपि पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां सङ्क्षेपसूचनार्थं पूर्वमेव सङ्क्षेपेण निरूपितम्। पुनश्च जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानकाले विशेषेण कथितम्। तत्रैवं कथञ्चित्परिणामित्वे सिद्धे सति अज्ञानिज्ञानिजीवयोः गुणिनोः पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां सङ्क्षेपेण सूचनार्थं सङ्क्षेपव्याख्यानं कृतम्। इदानीं पुनरज्ञानमयगुण–ज्ञानमयगुणयोः मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते; न च जीवाजीवगुणिमुख्यत्वेनेति। किमर्थम्? इति चेत्, तेषामेव पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां सङ्क्षेपसूचनार्थमिति। तत्र 'जो संगं तु मुइत्ता' इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथानवकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ गाथात्रयं ज्ञानभावमुख्यत्वेन तदनन्तरं गाथाषट्कं ज्ञानिजीवस्य ज्ञानमयो भावो भवत्यज्ञानिजीवस्याज्ञानमयो भावो भवतीति मुख्यत्वेन कथ्यते। इति षष्ठान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

१– 'गाथाषट्कं' इति मुद्रितः पाठः। २– 'पदार्थजीव' इति मुद्रितः पाठः।

तद्यथा– कथञ्चित्परिणामित्वे सिद्धे सति ज्ञानी जीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्येदं सूत्रत्रयं प्रतिपादयति–

जो संगं मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया बिंति ॥

यः सङ्गं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगात्मकं[1] शुद्धं ।
तं निस्सङ्गं साधुं परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥

'जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं' यः परमसाधुर्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा वीतरागचारित्राविनाभूतभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । कम् ? कर्मतापन्नं आत्मानम् । कथम्भूतम् ? विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वादुपयोगः । तमुपयोगं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? शुद्धं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितम् । 'तं णिस्संग साहु परमट्ठवियाणया बिंति' तं साधुं निस्सङ्गं सङ्गरहितं विदन्ति जानन्ति ब्रुवन्ति कथयन्ति वा । के ते ? परमार्थविज्ञायका गणधरदेवादय इति ।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बिंति ॥

यः मोहं तु मुक्त्वा ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानं ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥

'जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधिय मुणदि आदं' यः परमसाधुः कर्ता समस्तचेतनाचेतनशुभाशुभपरद्रव्येषु मोहं मुक्त्वात्मशुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन मनुते जानाति । कम् ? कर्मतापन्नं आत्मानम् ? किंविशिष्टम् ? निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनाधिकं परिणतं परिपूर्णम् । 'तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बिंति' तं साधुं कर्मतापन्नं जितमोहं निर्मोहं विदन्ति जानन्ति । के ते ? परमार्थविज्ञायकास्तीर्थंकरपरमदेवादय इति । एवं मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायबुद्ध्युदयशुभाशुभपरिणामश्रोत्रचक्षुर्घ्राणजिह्वास्पर्शनसञ्ज्ञानि विंशतिसूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेण निर्मलपरमचिज्ज्योतिःपरिणतेर्विलक्षणा असङ्ख्येयलोकमात्रविभावपरिणामा ज्ञातव्याः ।

अथ–

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया बिंति ॥

यः धर्मं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगात्मकं[1] शुद्धं ।
तं धर्मसङ्गमुक्तं परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥

१– 'उपयोगमप्पगं–' इति मुद्रितः पाठः ।

'जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं' यः परमयोगीन्द्रः स्वसंवेदनज्ञाने स्थित्वा शुभोपयोगपरिणामरूपं धर्मं पुण्यसङ्गं त्यक्त्वा निजशुद्धात्मपरिणतामेवरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । कम् ? कर्मतापन्नमात्मानम् । कथम्भूतम् ? विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगपरिणतम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? शुद्धं शुभाशुभसङ्कल्पविकल्परहितम् । 'तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया बिंति' तं परमतपोधनं निर्विकारस्वकीयशुद्धात्मोपलम्भरूपनिश्चयधर्मविलक्षणभोगाकाङ्क्षास्वरूपनिदानबन्धादिपुण्यपरिग्रहरूपव्यवहारधर्मरहितं विदन्ति जानन्ति । के ते ? परमार्थविज्ञायकाः प्रत्यक्षज्ञानिन इति । किं च कथञ्चित्परिणामित्वे सति जीवः शुद्धोपयोगेन परिणमति, पश्चान्मोक्षं साधयति । परिणामित्वाभावे बद्धो बद्ध एव, शुद्धोपयोगरूपं परिणामान्तरस्वरूपं न घटते । ततश्च मोक्षाभाव इत्यभिप्रायः । एवं शुद्धोपयोगरूपज्ञानमयपरिणामगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ।

तदनन्तरं यथा ज्ञानमयाज्ञानमयभावद्वयस्य कर्ता भवति, तथा कथयति–

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स[1] ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥ १२६ ॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य[2] ।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥ १२६ ॥

'जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स' यं भाव परिणामं करोत्यात्मा स तस्यैव भावस्यैव कर्ता भवति । 'णाणिस्स स णाणमओ' स च भावोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकत्वेन निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वारम्भापरिणतत्वाज्ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मख्यातिप्रतीतिसंवित्त्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति । 'अण्णाणमओ अणाणिस्स' अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः ॥ १२६ ॥

'अथ किं ज्ञानमयभावात्फलं भवति, किमज्ञानमयाद्भवति ?' इति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह–

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो, कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु, ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ॥ १२७ ॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः, करोति तेन कर्माणि ।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु, न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥ १२७ ॥

'अण्णाणमओ भावो अणाणिणो, कुणदि तेण कम्माणि' स्वोपलब्धिभावनाविलक्षणत्वेनाज्ञानमयभावो भण्यते । कस्मात् ? यस्मात्तेन भावेन परिणामेन कर्माणि करोत्यज्ञानी जीवः । 'णाणमओ णाणिस्स दु, ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि' ज्ञानिनस्तु निर्विकारचिच्चमत्कारभावनावशेन ज्ञानमयो भवति । तस्माज्ज्ञानमयभावात् । ज्ञानी जीवः कर्माणि न करोतीति । किं च, यथा स्तोकोप्यग्निः तृण–

१– 'कम्मस्स' इति पाठान्तरम् । २ 'कर्मणः' इति पाठान्तरम् ।

काष्ठराशिं महान्तमपि क्षणमात्रेण दहति तथा त्रिगुप्तिसमाधिलक्षणो भेदज्ञानाग्निरन्तर्मुहूर्तेनापि बहुभवसञ्चितं कर्मराशिं दहतीति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण तत्रैव परमसमाधौ भावना कर्तव्येति भावार्थः ।

अथ 'ज्ञानमय एव भावो भवति ज्ञानिनो जीवस्य; न पुनरज्ञानमयः, तथैवाज्ञानमय एव भवत्यज्ञानिजीवस्य; न पुनर्ज्ञानमयः, किमर्थम् ? इति चेत्–

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।

जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु[1] णाणमया ॥ १२८ ॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो ।

[2]तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥ १२९ ॥

ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।

यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः तु[3] ज्ञानमया ॥ १२८ ॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः ।

[4]तस्मात्सर्वे भावा अज्ञानमयाः अज्ञानिनः ॥ १२९ ॥

'णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो जम्हा' ज्ञानमयाद्भावान्निश्चयरत्नत्रयात्मकजीवपदार्थाज्ज्ञानमय एव जायते भावः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणो मोक्षपर्यायो यस्मात्कारणात् 'तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया' तस्मात्कारणात्स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानिनो जीवस्य सर्वे भावाः परिणामा ज्ञानमया ज्ञानेन निर्वृत्ता भवन्ति । तदपि कस्मात् ? 'उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति' इति वचनात् । न हि यवनालबीजे वपिते राजान्नशालिफलं भवतीति । तथैव च–'अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो' अज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थात् अज्ञानमय एव जायते भावः पर्यायो यस्मात्कारणात् 'तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स' यतः एवं तस्मात्कारणात्सर्वे भावाः परिणामा अज्ञानमया मिथ्यात्वरागादिरूपा भवन्ति । कस्य ? अज्ञानिनः शुद्धात्मोपलब्धिरहितस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्येति ॥ १२८–१२९ ॥

अथ तदेव व्याख्यानं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति–

कणकमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।

अयमयया भावादो जह जायंत तु कडयादी ॥ १३० ॥

कनकमयाद्भावाज्जायन्ते कुण्डलादयो भावाः ।

अयोमयकाद्भावाद्यथा जायन्ते तु कटकादय ॥ १३१ ॥

१– 'हु' इति पाठान्तरम् । २– 'जम्हा तम्हा भावा' इति पाठान्तरम् । ३–'खलु' इति पाठान्तरम् ।
४– 'यस्मात्तस्माद्भावा-' इति मुद्रितः पाठः ।

कनकमयाद्भावात्पदार्थात् 'उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति' इति कृत्वा कुण्डलादयो भावाः पर्यायाः कनकमया एव भवन्ति । अयोमयाल्लोहमयाद्भावात्पदार्थात् अयोमया एव भावाः पर्यायाः काटकादयो भवन्ति यथा येन प्रकारेणेति दृष्टान्तगाथा गता ।

अथ दार्ष्टान्तमाह—

अण्णाणया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥ १३१ ॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते ।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवन्ति ॥ १३१ ॥

'अण्णाणेति' तथा पूर्वोक्तलोहदृष्टान्तेनाज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थादज्ञानिनो भावाः पर्याया बहुविधा मिथ्यात्वरागादिरूपा अज्ञानमया जायन्ते । तथैव च पूर्वोक्तजाम्बूनददृष्टान्तेन ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमयाः सर्वे भावाः पर्याया भवन्ति । किं च विस्तरः—वीतरागस्वसंवेदनभेदज्ञानी जीवः यं शुद्धात्मभावनारूपं परिणामं करोति स परिणामः सर्वोपि ज्ञानमयो भवति । ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन ससारस्थितिं छित्वा देवेन्द्रलौकान्तिकादिमहर्द्धिकदेवो भूत्वा घटिकाद्वयेन मतिश्रुतावधिरूपं ज्ञानमयं[1] भावं पर्यायं लभते । ततश्च विमानपरिवारादिविभूतिं जीर्णतृणमिव गणयन्पञ्चमहाविदेहे गत्वा पश्यति । 'किं च पश्यति ?' इति चेत्, तदिद समवसरणं त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधनापरिणता गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते (स्म) परमागमे, ते दृष्टाः प्रत्यक्षेणेति मत्वा, विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा तु चतुर्थगुणस्थानयोग्या शुद्धात्मभावनामपरित्यजन्निरन्तर धर्म्यध्यानेन देवलोके कालं गमयित्वा, पश्चान्मनुष्यभवे राजाधिराजमहाराजार्द्धमण्डलीकबलदेवकामदेवचक्रवर्तितीर्थकरपरमदेवाधिदेवपदे लब्धेऽपि पूर्वभववासनावासितशुद्धात्मरूपभेदभावनाबलेन मोहं न गच्छति, रामपाण्डवादिवत् । ततश्च जिनदीक्षां गृहीत्वा सप्तर्द्धिचतुर्ज्ञानमयं[2] भावं पर्यायं लभते । तदनन्तरं समस्तपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थसुखामृतरसेन तृप्तो भूत्वा सर्वातिशयपरिपूर्णलोकत्रयाधिपाराध्यं परमाचिन्त्यविभूतिविशेषं केवलज्ञानरूपं भावं पर्यायं लभत इत्यभिप्रायः । अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरागादिमयमज्ञानभावं कृत्वा नरनारकादिरूपं भावं पर्यायं लभत इति भावार्थः ।

एवं ज्ञानमयाज्ञानमयभावकथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम् । इति पूर्वोक्तप्रकारेण पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपेण महाधिकारे कथञ्चित्परिणामित्वे सति ज्ञानिजीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता तथैव चाज्ञानिजीवोऽज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीति मुख्यतया गाथानवकेन षष्ठोन्तराधिकारः समाप्तः ॥

अथ पूर्वोक्त एवाज्ञानमयभावो द्रव्यभावगतपञ्चप्रत्ययरूपेण पञ्चविधो भवति । स चाज्ञानिजीवस्य शुद्धात्मैवोपादेय इत्यरोचमानस्य तमेव शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेनाजानतस्तमेव परमसमाधि—

1 'ज्ञानमयभावं' इति मुद्रितः पाठः ।

रूपेणाभावाय्यतश्च बन्धकारणं भवतीति सप्तमन्तराधिकारे समुदायपातनिका–

मिच्छत्तस्स दु उदयं जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं ।
उदओ[1] असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ॥ १३२ ॥
अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ ॥ १३३ ॥
तं जाण जोगउदयं जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥ १३४ ॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १३५ ॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥ १३६ ॥

मिथ्यात्वस्य तूदयो यज्जीवानामतत्त्वश्रद्धानम् ।
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवत्यविरमणं ॥ १३२ ॥
अज्ञानस्य तूदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।
यस्तु कषायोपयोगो स जीवानां कषायोदयः ॥ १३३ ॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्त्तव्यो विरतिभावो वा ॥ १३४ ॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १३५ ॥
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम् ॥ १३६ ॥

'मिच्छत्तस्स दु उदयं ज जीवाणं अतच्चसद्दहणं' मिथ्यात्वस्योदयो भवति जीवानामनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयं विहायान्यत्र यच्छ्रद्धानं रुचिरूपाऽऽदेयबुद्धिः 'असंजमस्स तु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं' असंयमस्य च स उदयो भवति जीवानामात्मसुखसंवित्त्यभावे सति विषयकषायेभ्यो यदनिवर्तनमिति । अथ–'अण्णाणस्स तु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी' अज्ञानस्योदयो भवति । यत्किम् ? भेदज्ञानं विहाय जीवानां विपरीतरूपेण परद्रव्यैकत्वेनोपलब्धिः प्रतीतिः 'जो दु

1–'असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं' इति मुद्रितः पाठः ।

कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ ' स जीवानां कषायोदयो भवति यः शान्तात्मोपलब्धिलक्षणं शुद्धोपयोगं विहाय क्रोधादिकषायरूप उपयोगः परिणाम इति । अथ–' तं जाण जोगउदयं जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ' तं योगोदयं जानीहि त्वं हे शिष्य ! जीवानां मनोवचनकायवर्गणाधारेण वीर्यान्तराय-क्षयोपशमजनितः कर्मादानहेतुरात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणः प्रयत्नरूपेण यस्तु चेष्टोत्साहो व्यापारोत्साहः ' सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ' स च शुभाशुभरूपेण द्विधा भवति । तत्र व्रतादिः कर्तव्यरूपः शोभनः । पश्चादव्रतादिरूपो वर्जनीयः । स चाशोभनः इति । अथ– ' एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ' एतेषु पूर्वोक्तेषु हेतुभूतेषु यत् मिथ्यात्वादिपञ्चप्रत्ययेषु कार्मणवर्गणागतं परिणतं यदभिनवं नवतरं पुद्गलद्रव्यं ' परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ' जीवस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकपरिणतिरूपपरमसामायिकाभावे सति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेणाष्टविधं परिणमतीति । अथ– त खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ' तत्पूर्वोक्तसूत्रोदितं कर्मवर्गणायोग्यमभिनवं पुद्गलद्रव्यं जीवनिबद्धं जीवसम्बद्धं योगवशेनागतं यदा 'भवति खलु स्फुटं' ' तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ' तदा काले पूर्वोक्तेषूदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु निमित्तभूतेषु सत्सु स्वकीयगुणस्थानानु–सारेण जीवो हेतुः कारणं भवति । केषाम् ? परिणामरूपाणां भावानां प्रत्ययानामिति । किंच–उदया-गतद्रव्यप्रत्ययनिमित्तेन मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्ययरूपेण परिणम्य जीवो नवतरकर्मबन्धस्य कारणं भवतीति तात्पर्यम् । अयमत्र भावार्थः– उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वं स्वभावं मुक्त्वा रागा–दिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमति तदा बन्धो भवतीति, नैवोदयमात्रेण, घोरोपसर्गेऽपि पाण्डवादिवत् । यदि पुनरुदयमात्रेण बन्धो भवति तदा सर्वदैव संसार एव । ' कस्मात् ?' इति चेत्, संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारेऽज्ञानिभावः पञ्च–प्रत्ययरूपेण शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां बन्धकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन पञ्चगाथाभिः सप्तमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥ १३२–१३६ ॥

अतः परं जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयमित्यष्टमान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

अथ निश्चयेन कर्मपुद्गलात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणाम इति प्रतिपादयति–

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु[1] होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥ १३७ ॥

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥ १३८ ॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः तु भवन्ति रागादयः ।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादिमापन्ने ॥ १३७ ॥

१–' हु ' इति पाठान्तरम् ।

एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।
तर्हि कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणाम. ॥ १३८ ॥

'जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी' यदि जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयेनोपादानभूतेन सह रागादिपरिणामा भवन्ति । 'एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा' एवं द्वयोर्जीवपुद्गलयोः रागादिपरिणामानामुपादानकारणत्वे सति सुधाहरिद्रयोरिव द्वयो रागित्वं प्राप्नोति । तथा सति पुद्गलस्य चेतनत्वं प्राप्नोति । स च प्रत्यक्षविरोध इति । अथ–' एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं' अथाभिप्रायो भवतां पूर्वदूषणभयादेकस्य जीवस्यैकान्तेनोपादान-कारणस्य रागादिपरिणामो जायते ' ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ' तस्मादिदं दूषणं कर्मोदयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य रागादिपरिणामो जायते । स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अथवा द्वितीयव्याख्यानं एकस्य जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयोपादानहेतुभिर्विना रागादिपरिणामो यदि भवति, तदा सम्मतमेव । किं च–द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्ता जीवः रागादि-भावकर्मणामशुद्धनिश्चयेन । स चाशुद्धनिश्चयः यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वविषयभूतस्यानुपचरितासद्भूत-व्यवहारस्यापेक्षया निश्चयसञ्ज्ञां लभते, तथापि शुद्धात्मद्रव्यविषयभूतस्य शुद्धनिश्चयस्यापेक्षया वस्तु-वृत्त्या व्यवहार एवेति भावार्थः ।

अथ निश्चयेन जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणाम इति निरूपयति–

जइ जीवेण सह च्चिअ[1] पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पुग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥ १३९ ॥

एकस्स दु[2] परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४० ॥

यदि जीवेन सहैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः ।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥ १३९ ॥
एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।
तर्हि जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥ १४० ॥

'एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण' एकस्योपादानभूतस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल-द्रव्यस्य द्रव्यकर्मरूपेण परिणामः । यत एवं ' ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ' तस्मात्का-रणाज्जीवगतमिथ्यात्वरागादिपरिणामोपादानहेतुभिर्विनापि द्रव्यकर्मणः परिणामः स्यात् ॥

इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवकर्मपुद्गलपरस्परोपादानकारण-निषेधमुख्यतया गाथात्रयेणाष्टमोन्तराधिकारः समाप्तः ।

१– 'च्चिय' इति मुद्रितः पाठः । २– 'दु' इति मुद्रितप्रतौ नोपलभ्यते ।

अथानन्तरं व्यवहारेण बद्धो निश्चयेनाबद्धो जीव इत्यादिविकल्परूपेण नयपक्षपातेन (नयपक्ष–) स्वीकारेण रहितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन पुण्यपापादिपदार्थेभ्यो भिन्नं शुद्धसमयसारं गाथाचतुष्टयेन कथयतीति नवमेऽन्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा–

'अथ किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्म ?' इति प्रश्ने सति नयविभागेन परिहारमाह–

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥ १४१ ॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितं ।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥ १४१ ॥

'जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं' जीवेऽधिकरणभूते लग्नं च कर्मेति व्यवहारनयपक्षो व्यवहारनयाभिप्रायः । 'सुद्धणयस्य दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं' शुद्धनयस्याभिप्रायेण पुनर्जीवेधिकरणभूते अबद्धं अस्पृष्टं कर्म इति निश्चयव्यवहारनयद्वयविकल्परूपं शुद्धात्मरूपं न भवतीति भावार्थः ।

अथ–यस्माद्बद्धादिविकल्परूपं नयस्वरूपमुक्तं तस्माच्छुद्धपरिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन बद्धाबद्धादिनयविकल्परूपो जीवो न भवतीति प्रतिपादयति–

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं ।
पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥ १४२ ॥

'कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं' जीवेधिकरणभूते कर्म बद्धमबद्धं चेति योऽसौ विकल्पः स उभयोपि नयपक्षपातः (नयपक्ष–) स्वीकार इत्यर्थः । 'पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो' नयपक्षातिक्रान्तो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा । तद्यथा–व्यवहारेण बद्धो जीव इति नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति, निश्चयेनाबद्धो जीव इति च नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति । निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्धजीव इति वचनविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति । कस्मात् ? इति चेत्, 'श्रुतविकल्पा नया' इति वचनात् । श्रुतज्ञानं च क्षायोपशमिकम् । क्षायोपशमिकस्तु ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितत्वात् । यद्यपि व्यवहारनयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूपं भण्यते तथापि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धजीवस्वरूपं न भवति । तर्हि कथंभूतं जीवस्वरूपम् ? इति चेत्, योसौ नयपक्षपातरहितस्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानन्दैकस्वभावं जीवस्वरूपं भवतीति । तथा चोक्तं–

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥ ६८ ॥

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ६९ ॥

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका ।
वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते ॥

हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात् ।
त्यक्त्वा हेयमुपादेयेऽवस्थानं साधुसम्मतं ॥

'अथ नयपक्षातिक्रान्तस्य शुद्धजीवस्य किं स्वरूपम् ?' इति पृष्टे सति पुनर्विशेषेण कथयति–

योऽसौ नयपक्षपातरहितः स्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहित-[1]
चिदानन्दैकस्वभावः ।

दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥ १४३ ॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीणः ॥ १४३ ॥

'दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ' यथा भगवान् केवली निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणितमर्थं द्रव्यपर्यायरूपं जानाति । 'णवरं तु समयपडिबद्धो' तथापि नवरि केवलं सहजपरमानन्दैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध अधीनः सन् 'णयपक्खपरिहीणो' सततसमुल्लसत्[2]केवलज्ञानरूपतया श्रुतज्ञानावरणीय-क्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपाताद्दूरीभूतत्वात् 'ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि' न तु नयपक्षं विकल्पं किमप्यात्मरूपतया गृह्णाति, तथायं गणधरदेवादिछद्मस्थजनोऽपि नयद्वयोक्तं वस्तुस्व-रूपं जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानन्दैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध अधीनः सन् श्रुतज्ञानावर-णीयक्षयोपजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चयेन दूरीभूतत्वान्नयपक्षपातरूपं (स्वीकारं?) विकल्पं निर्विकल्पसमाधिकाले शुद्धात्मस्वरूपतया न गृह्णाति ।

अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नयविकल्पस्वरूपसमस्तपक्षपातानति-[3]क्रान्त एव समयसार इत्येव तिष्ठति 'सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो' इन्द्रियानिन्द्रिय-जनितबहिर्विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहितः सन् बद्धाबद्धादिविकल्परूपनयपक्षपातरहितः समय-सारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा ततः कारणात्–

१–'रहितं चिदानंदैकस्वभावं' इति मुद्रितः पाठः । २–'सततमपुल्लसन्' इति मुद्रितः पाठः ।
३–'पक्षपातेनातिक्रान्त इति' मुद्रितः पाठः ।

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशं ।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो य स समयसारः ॥ १४४ ॥

'सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं' नवरि केवलं सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेशं सञ्ज्ञां लभते, न च बद्धाबद्धादिव्यपदेशाविति । एवं निश्चयव्यवहारनयद्वयपक्षपातरहितशुद्धसमयसार-व्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन नवमोन्तराधिकारः समाप्तः, इत्यनेन प्रकारेण 'जाव ण वेदि विसेसं' इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेणाज्ञानिसञ्ज्ञानिजीवयोः सङ्क्षेपसूचनार्थं गाथाषट्कम्, तदनन्तरम-ज्ञानिसञ्ज्ञानिजीवयोर्विशेषव्याख्यानरूपेणैकादश गाथाः, ततश्चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षण-द्विक्रियावादिनिराकरणमुख्यत्वेन गाथापञ्चविंशतिः, तदनन्तरं प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति समर्थनद्वारेण सूत्रसप्तकं, ततश्च जीवपुद्गलकथञ्चित्परिणामित्वस्थापनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं, ततः परं ज्ञानमयाज्ञान-मयपरिणामकथनमुख्यतया गाथानवकं, तदनन्तरमज्ञानमयभावस्य मिथ्यात्वादिपञ्चप्रत्ययभेदप्रतिपादन-रूपेण गाथापंचकं, ततश्च जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकर्तृत्वनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रय, ततः परं नयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारकथनरूपेण गाथाचतुष्टयं चेति समुदायेनाष्टाधिकसप्तगाथाभिर्नवभिरन्त-राधिकारैः ॥ १४४ ॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्य-वृत्तौ पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां सम्बन्धी पीठिकारूपस्तृतीयो महाधिकारः समाप्तः ॥२।



